WP 1.3

श्रीहरिः शरणम्

भूमिका

भारतीय-परम्परा के शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना, तत्तत्कालीन धुरन्धर विद्वानों ने तीन प्रकार से की है। प्रत्येक दर्शन अथवा शास्त्र के कुछ 'प्रकरण ग्रन्थ', कुछ 'वादग्रन्थ' और कुछ आकर-ग्रन्थ हुआ करते हैं।

सभी दर्शन अथवा शास्त्र के मूलग्रन्थ सूत्रात्मक हैं। सूत्र की परिभाषा, विद्वत्परम्परा में प्रसिद्ध है—

"स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥"

ये सूत्र, बहुतसारे सारगर्भित गम्भीर अर्थ को स्वल्प अक्षरों के द्वारा बता देते हैं। इन सूत्रों में एक अक्षर भी व्यर्थ या दोषपूर्ण नहीं होता है।

कालान्तर में मानव-मस्तिष्क में शनैः-शनैः जब कृशता का सञ्चार होने लगा तब मानव के कल्याणार्थ तत्तत्कालीन ऋषि-महर्षि-मुनि तथा विद्वन्मूर्धन्यों ने उन सूत्रों पर भाष्यों की रचना की। भाष्य के स्वरूप की परिभाषा इस प्रकार बताई गयी है—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्व-पदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

सूत्रानुसारी पदों के द्वारा सूत्रार्थ को बताकर शब्दशः व्याख्या करते हुए शास्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन शङ्कासमाधानपूर्वक जिसमें बताया जाता है, उसे भाष्य कहते हैं।

तदनन्तर मानव-मस्तिष्क को उर्वरित बनाने के हेतु एवं उसे नव-नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा से सम्पन्न कराने के लिये तत्कालीन प्रतिभा के धनी, सूत्र-भाष्य-गत सिद्धान्तों को करतलामलकवत् प्रत्यक्षदर्शी विद्वदग्रेसरों ने वाद-ग्रन्थों की रचनाएँ कीं। इन वाद-ग्रन्थों में अनेक युक्ति-प्रयुक्ति, तर्क तथा प्रमाणों के द्वारा पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षों को प्रदर्शित करते हुए सूत्र-भाष्यों के सिद्धान्तों का पूर्णतया समर्थन किया जाता है।

तदनन्तर तत्तच्छास्त्रों में प्रवेश पाने के इच्छुक बुद्धिमान् बालक छात्रों एवं शास्त्रों में अभिरुचि रखने वाले शास्त्रजिज्ञासु सर्वसाधारण अधिकारीजनों के कल्याणार्थ तत्तत्कालीन शास्त्ररहस्यवेत्ता विद्वच्छिरोमणियों ने तत्तच्छास्त्रों के प्रकरण-ग्रन्थों की रचनाएँ कीं।

जिन ग्रन्थों में शास्त्रीय परिभाषाओं को बताते हुए अल्प-स्वल्प युक्तियों, और तर्कों को देकर तत्तच्छास्त्रों के सिद्धान्तों को संक्षेप में बता दिया जाता है, उन्हें प्रकरण ग्रन्थ कहते हैं।

उक्त त्रिविध ग्रन्थों में से प्रस्तुत 'तत्त्वप्रदीपिका' ग्रन्थ, जो विज्ञ पाठकों के हाथों में स्थान प्राप्त करने जा रहा है, उसकी गणना 'वादग्रन्थों' में की जाती है।

अद्वैत वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों में से यह एक अन्यतम अत्युत्तम ग्रन्थ है। विद्वत्समाज में इस ग्रन्थ को बड़े ही आदर के साथ महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता आ रहा है। विद्वानों की राजधानी वाराणसी में तथा अन्यत्र भी जहाँ धुरन्धर विद्वान् वास्तव्य करते हैं, वहाँ इस ग्रन्थ का अध्ययनाध्यापन आज भी चल रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम "तत्त्वप्रदीपिका' है। इसीको 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' के नाम से भी कहा जाता है, तथापि विद्वानों के मानसपटल पर 'चित्सुखी' के नाम से ही इस ग्रन्थ की मुहर चिरकाल से लगी हुई है, जो अमिट हो गई है। विद्वत्समाज तथा संस्कृत-प्रेमी जनसमाज इस ग्रन्थ को 'चित्सुखी' के नाम से ही जान पाता है।

'चित्सुखी' के नाम से प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रसिद्धि का कारण यह है कि उक्त ग्रन्थ के रचयिता 'चित्सुख मुनि' हैं। इन्हीं को 'चित्सुखाचार्य' भी कहा जाता है। इनका वैदुष्य, नितान्त विश्वसनीय है, अत एव ये संस्कृत विद्वत्समाज की सुदृढ़ श्रद्धा के पात्र हैं। श्रद्धेय व्यक्ति समाज के मानसपटल पर सर्वदैव अंकित रहता है, और जो मन में रहता है, वही वाणी से निकल पड़ता है। अतः ग्रन्थ की प्रसिद्धि भी उसके रचयिता के नाम पर ही हुई होगी।

यह चित्सुखी अथवा तत्त्वप्रदीपिका नामक वादग्रन्थ, अद्वैत वेदान्तशास्त्र का शिखर ग्रन्थ है। अतः 'अद्वैत' और 'वेदान्त' इन दो शब्द से परिचित होना भी आवश्यक है।

'वेदस्य अन्तः वेदान्तः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद के सिद्धान्त को वेदान्त शब्द से कहा जाता है। वेद का सिद्धान्त, उसके अन्तिम भाग में निहित रहता है। इस अन्तिम भाग को ही 'उपनिषद्' कहा गया है। एवं च वेद के 'उपनिषद्' भाग

को 'वेदान्त' कहते हैं। उपनिषदों के वचनपुष्पों को संगृहीत कर भगवान् बादरायण ने उनको माला के रूप में ग्रथित कर 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की है। अतएव ब्रह्मसूत्र को भी 'वेदान्त' शब्द से कहा जाने लगा। उनपर रची गई व्याख्याओं को भी 'वेदान्त' समझा जाने लगा। श्रीमद्भगवद्गीता को तो उपनिषद्रूपी कामधेनु का दुग्धामृत ही कहा गया है—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"

इस कारण 'श्रीमद्भगवद्गीता' को भी वेदान्त शब्द से कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि 'उपनिषद्', 'ब्रह्मसूत्र' और 'श्रीमद्भगवद्गीता' इन तीनों ग्रन्थों को 'वेदान्त' शब्द से विज्ञलोग कहा करते हैं। इन तीन ग्रन्थों को 'प्रस्थान' की संज्ञा दी गई है। अतः ये तीन ग्रन्थ 'प्रस्थानत्रयी' शब्द से विद्वत्समाज में मान्यता को प्राप्त हुए हैं।

यह भी स्मरण रखना होगा कि वेदान्त में अनेक 'वाद' भी सर्वविश्रुत हैं। जैसे—'द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, और अद्वैत', किन्तु ये सभी 'वाद' किसी के द्वारा स्व-कल्पनाप्रसूत नहीं हैं। ये सभी वाद वेदों में उपलब्ध होते हैं। कालान्तर में तत्तत् आचार्यों ने इन उक्त वादों को अपने-अपने बुद्धिवैभव से विभूषित कर उनको पल्लवित मात्र कर दिया है। ये सभी वाद सुदूरतर अतिचिरन्तन काल से विद्वत्समाज में पूर्वपक्ष अथवा सिद्धान्तपक्ष का रूप धारण कर अध्ययन-अध्यापन में प्रचलित रहे। बादरायणसूत्र से भी उक्त तथ्य का आभास होता है। जैसे—भगवान् बादरायण ने 'आश्मरथ्य' आचार्य के मत का उल्लेख, प्रथमाध्यायगत चतुर्थ पाद के बीसवें सूत्र 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' कह कर किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये आचार्य, विशिष्टाद्वैतमत के प्रतिपादक होंगे।

उसी तरह द्वैतमत के पक्षपाती महर्षि जैमिनि तथा महर्षि औडुलोमी आदि भेदाभेदवादी अनेक आचार्यों का भी उल्लेख बादरायण ने किया है।

उसी तरह द्वैतमत का प्रतिपादन भी श्रुति में उपलब्ध है—

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥"

—(कठ उ.)।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति॥"

—(मुण्डक)

अर्जित कर्मफल के प्रकाशक देह में उत्कृष्ट हृदय के बीच आकाश में प्रविष्ट होकर कर्मफल को भोगने वाले, छाया और आतप के समान विरुद्ध स्वभाव के जीव और ईश्वर हैं।

दो सुन्दर पक्षवाले, एकसाथ रहने वाले मित्र, एक ही वृक्ष का आश्रय लेते हैं। उनमें से एक तो कर्म के फल को भोगता है, और दूसरा कर्मफल भोगे विना ही सदा प्रसन्न रहता है।

ये श्रुतिवचन जीव और ईश्वर में भेदप्रतिपादक द्वैत को ही बता रहे हैं।

तथा विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन भी श्रुति ने किया है—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मैवैतत्।'

—(श्वेताश्व.)।

'उद्‌गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च।'

—(श्वेताश्व.)।

'भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति, और प्रेरयिता ईश्वर ये तीनों ब्रह्म का ही स्वरूप हैं (ईश्वर, चित् और अचित् पदार्थ, त्रितयस्वरूप हरि हैं। यही विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त है)। 'उद्‌गीथ ॐकार, यह ब्रह्म का स्वरूप है। इसके तीन रूप हैं।' ये श्रुतिवचन विशिष्टाद्वैत को बता रहे हैं।

उसी तरह शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन भी श्रुति ने किया है—

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च॥"

—(श्वेताश्व.)।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

—(मुण्डक.)।

उस ब्रह्म से भिन्न कोई कार्य अथवा करण नहीं है। उसके सदृश या उससे अधिक कोई वस्तु नहीं है। उसकी विविध प्रकार की सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ हैं, और स्वाभाविक ही ज्ञान, बल और क्रिया (जानाति, इच्छति, यतते) सर्वज्ञता,

सर्वेच्छा, और सर्वसम्पादन की क्रिया है। अर्थात् स्वयं ब्रह्म, जगत् रूप में परिणत होता है, 'माया' की आवश्यकता नहीं है।

यह आत्मा प्रवचनादि पाण्डित्यबल से नहीं प्राप्त होता, किन्तु जिसपर अनुग्रह करके वह अपना स्वरूप प्रकट कर देता है, उसीके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है, इत्यादि अनेक श्रुतिवचन शुद्धाद्वैत को बता रहे हैं।

उसी प्रकार निम्बार्क मत (द्वैताद्वैत सिद्धान्त) का प्रतिपादन भी श्रुति भगवती ने किया है—

"स तपस्तप्त्वा........आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दम्प्रयन्त्य-भिसंविशन्ति।" —(तैत्तिरी. उ. भृगुव.)।

उसने तपस्या करके ब्रह्म को आनन्दमय जाना। आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्द से ही उत्पन्न होकर जीते हैं और मृत्यु के पश्चात् पुनः आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं।

'रसो वै सः रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति। को ह्येवान्यत् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति।'
(तैत्तिरी. उ. ब्रह्मव.)।

वह रस स्वरूप है। रस को पाकर मनुष्य आनन्दित हो जाता है, यदि इस विश्व में (हृदयाकाश में) रस नहीं होता तो कौन जीता और कौन कर्म करता? यही रसस्वरूप ब्रह्म, आनन्द देता है। इत्यादि अनेक श्रुतिवचन 'द्वैताद्वैत' को बता रहे हैं।

इसी तरह 'शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त' भी वेदान्तसम्प्रदायों के अन्तर्गत है। इस मत के संस्थापक—प्रचारक श्री रेणुकाचार्य हुए हैं। अनेक निगमागम उपनिषदादि श्रुतियों का अनुशीलन कर रेणुकाचार्य ने जीव-शिव की एकता का प्रतिपादन किया है। शक्ति विशिष्टाद्वैत वादी उक्त जीव-शिव के ऐक्य को 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' कहते हैं। 'अंग' नाम है जीव का और 'लिङ्ग' नाम है शिव का। लिङ्गाङ्गसामरस्य ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ है। शिवाद्वैतदर्शन में यह कहा गया है—

"लिङ्गं तत्पदमाख्यातमङ्गं त्वम्पदमीरितम्।
संयोगोऽसि पदं प्रोक्तमनयोरंगलिङ्गयोः॥"

'लिङ्ग' को 'तत्' पद से कहा गया है, 'अङ्ग' शब्द से 'त्वम्' पद को बताया है, और इन दोनों के संयोग को 'असि' पद से कहा है।

उसी प्रकार 'अद्वैतमत' का प्रतिपादन भी भगवती श्रुति ने किया है। नासदीय सूक्त में कहा गया है—

"तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्। तुच्छेनाभ्वपिहितं तदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायत।

—(ऋवे. १०।१२।९३)।

यह जो कहा जाता है कि सृष्टि से पूर्व अन्धकार से व्याप्त भेदाभेदशून्य अज्ञेय-कारण 'वारि' था। वह तुच्छ झूठी माया से आच्छादित 'आभु' सर्वव्यापी ब्रह्म था। उसी एक ब्रह्म ने ज्ञानरूप तपस्या के द्वारा अपने को अनेक रूपों में प्रकट किया।

छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" —(छां. उ. ६।२।१)।

हे सौम्य ! श्वेतकेतु ! पहले-पहल यह सद्रूप एक अद्वितीय ब्रह्म ही था।

बृहदारण्यक में स्पष्ट उल्लेख है—

"मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥"

—(बृह. उ. ४।४।१९)।

उस ब्रह्म का ज्ञान, शुद्ध मन के द्वारा ही होता है। उसके अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जो कोई उससे भिन्न (नाना) द्वैत देखता है, वह मृत्यु के चक्र में फँसा रहता है। इत्यादि सैकड़ों श्रुतिवचन अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि वेदान्त के उक्त सभी सम्प्रदाय श्रुतिप्रोक्त (वेद-मूलक) हैं, उन्हीं को पल्लवित कर समय-समय पर आचार्यों ने उन मतों को प्रचारित, प्रसारित किया है।

अतिप्राचीनतर काल से आज तक उक्त मतों के प्रसारित-प्रचारित होने पर भी अद्वैतवाद की प्रधानता को प्रायः सभी ने निष्पक्षता के साथ स्वीकार किया है, यहाँ तक कि विरोधी पक्षवालों ने भी उक्त तथ्य को मान लिया है। दर्शन, इतिहास, स्मृति, पुराण आदि जितने भी अनुसन्धानात्मक विचारधाराएँ हैं, उन सभी ने वेदान्तसिद्धान्त के नाम पर 'अद्वैतवाद' का ही ग्रहण किया है। गोस्वामी तुलसी-दासजी स्वयं रामानुजसम्प्रदाय के होते हुए भी रामायण में अद्वैतवाद को

दरसाया ही है। ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण को अद्वैतमत ही मान्य था। अद्वैतमत को लक्ष्य कर किसी का भाष्य अथवा कोई व्याख्या उपलब्ध न रहने से अद्वैतमत के सर्वप्रथम आचार्य के रूप में आद्यशङ्कराचार्य को ही माना जाता है। सत्ययुग से लेकर अद्वैतवाद के सभी आचार्यों का उल्लेख एक पौराणिक श्लोक में उपलब्ध होता है। तदनुसार कलियुग में अद्वैतमत के उद्धारक आद्यशंकराचार्य को ही बताया गया है—

"कृते ज्ञानप्रदः सत्यस्त्रेतायां दत्त एव च।
द्वापरे व्यासनामा तु कलौ शंकरनामधृक्॥"

भगवान् शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का इतना अधिक प्रचार-प्रसार किया कि तदुत्तरवर्ती प्रायः सभी अन्यान्य आचार्यों तथा मूर्धन्य विद्वानों ने भी अद्वैतवाद पर कुछ न कुछ खण्डन-मण्डन के रूप में लिख कर ही अपनी कृतार्थता समझी।

अद्वैतमत के समर्थक शिखरस्थ अन्यान्य ग्रन्थों के समान प्रस्तुत 'तत्त्वप्रदीपिका' (चित्सुखी) नामक ग्रन्थ की शैली, ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों की शैली के समान ही है। ब्रह्मसूत्रों को—'समन्वय, अविरोध, साधन और फल—इन चार अध्यायों में विभाजित किया गया है, उसी प्रकार प्रस्तुत तत्त्वप्रदीपिका को भी चार परिच्छेदों में विभाजित करके अद्वैत-तत्त्व का प्रतिपादन किया है। क्योंकि वेदान्त का वास्तविक उद्देश्य 'अद्वैत' का प्रतिपादन करना ही है।

सदानन्द योगीन्द्र ने अपने वेदान्तसार ग्रन्थ में बताया है—

'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।'

अर्थात् 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग हम मुख्य-गौण भेद से दो अर्थों में करते हैं। 'वेदस्य अन्तः—वेदान्तः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'वेदान्त' शब्द का मुख्य अर्थ तो 'उपनिषद्' है, और औपनिषदर्थ के अनुकूल अथवा उसी अर्थ के पोषक 'शारीरक-सूत्र' तथा उपनिषदर्थ के संग्राहक ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा इन्हीं से सम्बन्धित उनकी व्याख्या, भाष्य, वृत्ति आदि वाद-ग्रन्थ, प्रकरण ग्रन्थों में भी 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग गौण रूप से किया जाता है। एवं च वेदान्त शब्द का मुख्य अर्थ 'उपनिषद्' ही है। 'वेदान्त' शब्द को सुनते ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'वेद' क्या हैं? इस जिज्ञासा का समाधान महर्षि आपस्तम्ब के वचन से हो जाता है। वे कहते हैं—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् 'वेद' का विभाजन 'मन्त्र और ब्राह्मण' इन दो भागों में किया गया है। एवञ्च 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद' का अन्त 'उपनिषद्' है। कुछ 'उपनिषद्', मन्त्र-भागात्मक वेद के अन्तर्गत हैं, और कुछ

'उपनिषद्', ब्राह्मणभागात्मक वेद के अन्तर्गत हैं। जैसे—शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय संहिता का अन्तिम अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' है, और कृष्णयुजर्वेद की श्वेताश्वतर संहिता का अन्तिम भाग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' है। सामवेद की कौथुम शाखा के 'ताण्ड्यब्राह्मण', जिसे 'पञ्चविंशब्राह्मण' भी कहते हैं, उसके अन्तिम आठ भागों को 'छान्दोग्योपनिषद्' कहा जाता है। उसी तरह शुक्लयजुर्वेद की काण्वसंहिता के शतपथ ब्राह्मण में अन्तिम छह अध्यायों को 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहा जाता है। एवञ्च वेदों के अन्तिम भाग में ही सभी 'उपनिषदों' का समावेश है।

वेद के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान गुरुपरम्परा (सम्प्रदाय) से होने पर किसी भी वैदिक या वेदश्रद्धालु व्यक्ति को कभी स्वप्न में भी सन्देह नहीं हो सकता कि 'उपनिषदों' को 'वेद' कहें या न कहें। वेद के अन्तिम भागरूप 'उपनिषद्' ग्रन्थ, 'वेद' भी हैं, और 'वेदान्त' भी हैं, अत एव उपनिषदों के प्रति जनताजनार्दन के हृदय में अगाध श्रद्धा है।

मन्त्रभागात्मक वेद के उपनिषद् में मन्त्रस्वर और ब्राह्मणभागात्मक वेद के उपनिषद् में ब्राह्मण स्वर हुआ करते हैं। इन स्वरों से ही निश्चित अर्थ का ज्ञान होता है। आगे चलकर वेदान्तशास्त्र का श्रुति, स्मृति और न्याय के नाम पर तीन प्रकार से विभाजन किया गया है—उपनिषद् भाग को श्रुतिप्रस्थान के रूप में, श्रीमद्भगवद्गीता, सनत्सुजातसंहिता को स्मृतिप्रस्थान, और ब्रह्मसूत्र आदि को न्यायप्रस्थान के रूप में विभाजित कर दिया गया है।

उपनिषद् को वेदकाण्ड होने से 'ब्रह्मविद्या' कहा जाता है। यह ब्रह्मविद्या ही श्रेष्ठविद्या या पराविद्या के नाम से कही गयी है। शेष कर्मविषयक-विज्ञान को अपरा विद्या कहा गया है। इस कर्मविद्या का फल कालान्तर में प्राप्त होता है, तत्काल नहीं। यह कर्मफल, नश्वर होता है। किन्तु ब्रह्मविद्या का फल तत्काल मिलता है, और वह अविनाशी होता है। मोक्षप्राप्ति का एकमात्र कारण यह ब्रह्मविद्या ही है। कर्मविद्या, मोक्षप्राप्ति का साक्षात् कारण नहीं है, तथापि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में वह कारण अवश्य है। अत एव यह कहा गया है कि जो ब्रह्मविद्या नहीं जानता वह परमात्मा को नहीं जानता—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'।

भगवान् आद्यशंकराचार्य की सूक्ष्म दृष्टि में समस्त उपनिषद्रूप वेदान्तशास्त्र का तात्पर्य, 'अद्वैत' में ही है। एक ब्रह्म ही वस्तुतः सत्य है, दृश्यमान जगत् वास्तविक सत्य नहीं है। स्वाप्निक पदार्थ के समान वह मिथ्या है। जीव और ब्रह्म एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है, यानी एक ही हैं, दो नहीं हैं। यही उपनिषदों

का सिद्धान्त है। इसी तथ्य को—श्लोकार्ध से बता दिया गया है—

"श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥"

यह अद्वैतवाद या अद्वैतमत (अद्वैत-सम्प्रदाय) अत्यन्त प्राचीनतम है, नवीन नहीं है। श्री शंकराचार्य का कपोल-कल्पितवाद नहीं है। क्योंकि नासदीय सूक्त में अद्वैतवाद को ही बताया गया है, द्वैतवाद का उसमें नाम तक नहीं है। तथा छान्दोग्य, बृहदारण्यक में भी अद्वैतवाद का ही स्पष्ट उल्लेख है। तथा सांख्यसूत्र (१।२१-२४), (३।२, ८,१९) में अद्वैतवाद को वेदान्तमत माना गया है। न्यायसूत्र 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' के भाष्य में अद्वैतवाद ही वेदान्तसिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हुआ है। महाकवि भवभूति की—'एको रसः करुण एव विवर्त-भेदात्' तथा 'ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः' उक्तियों में अद्वैतवाद के सिद्धान्त को ही सूचित किया गया है। एवं 'सूतसंहिता' और 'योगवासिष्ठ' में अद्वैतवाद ही सर्वत्र अनुस्यूत है। नैषध-महाकाव्य (२१।८८) में श्रीहर्ष ने बुद्ध को भी अद्वैतवादी ही बताया है। शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' (३२८।१२९) में भी अद्वैतवाद का ही उल्लेख किया गया है। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा (श्लो. २४) में अद्वैतवाद की ही चर्चा की है। निष्कर्ष यह है कि अद्वैतवाद का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीनतम (अनादि) सिद्धान्त है। द्वैतवादी अपने समर्थन में जिन श्रुतिवाक्यों का उल्लेख किया करते हैं, उनमें किसी में भी द्वैतवाद का स्पष्ट समर्थन नहीं किया गया है। आपाततः देखने पर द्वैतवाद का आभासमात्र होता है, परन्तु विचार-शक्ति का उपयोग करने पर उन वाक्यों से द्वैतवाद का न समर्थन ही हो पाता है और न अद्वैतवाद का खण्डन ही हो पाता है।

अद्वैतवादी सर्वांशतः द्वैतप्रपञ्च का अपलाप नहीं करते हैं। वे भी सत्त्व-शुद्धि के लिये शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं तथा चित्त की एकाग्रता और निर्मलता के लिये उपासना भी करते हैं। वे उपास्य और उपासक के रूप में जीव-ब्रह्म का औपाधिकभेद मानते है, तथा तत्त्वसाक्षात्कार के लिये योगमार्ग को अपनाते हैं। उनका कहना इतना ही है कि द्वैतप्रपञ्च सत्य नहीं है, पारमार्थिक नहीं है। वह व्यावहारिक और मायामय है। अतः उपनिषदों में द्वैतप्रपञ्च का उल्लेखमात्र होना सम्भव है, परन्तु द्वैतप्रपञ्च की सत्यता का उल्लेख किसी भी उपनिषद् में नहीं किया गया है। द्वैतप्रपञ्च की मायिकता का उल्लेख तो उपनिषदों में स्पष्ट रूप से किया गया है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' से परमेश्वर का

माया के द्वारा अनेक रूपों में दृष्ट होना बताया गया है। कठोपनिषद् के 'ऋतं पिबन्तौ' मन्त्र में उपाधि के भेद से जीवात्मा और परमात्मा के रूप में आत्मा के भेद का प्रतिपादन किया गया है। 'जीआत्मा और परमात्मा वस्तुतः भिन्न हैं'—यह नहीं कहा गया है। अभिप्राय यह है कि व्यवहारदशा में अद्वैत-वादी भी जीवेश्वर-भेद, द्वैतप्रपञ्च, और परमात्मा-जीवात्मा का उपास्य-उपासकभाव मानते हैं। अद्वैतवादियों ने कहा भी है—

'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥'

मायासंज्ञक कामधेनु के दो बछड़े हैं—जीव और ईश्वर। ये दोनों अपनी इच्छानुसार द्वैतरूप दुग्ध का पान करें, परन्तु परमार्थतत्त्व तो 'अद्वैत' ही है।

अद्वैतवाद के प्रतिपादक, प्रचारक, प्रसारक के रूप में भगवान् आद्यशंकराचार्य (ई. ७८८, संवत् ८४५) को ही लोग मानते आ रहे हैं। ये अतिविलक्षण प्रतिभा के धनी थे। इनकी आकृति, वाणी अत्यधिक तेजस्विनी थी। इनकी अनुपम वाग्मिता असाधारण तर्कपटुता, सर्वातिशायिनी शेमुषी, के सामने मानवमात्र का मस्तक श्रद्धा और गौरव के साथ नत हुए विना नहीं रहता। इन्होंने अपने ३२ वर्ष के स्वल्पतर जीवन में राष्ट्रहितकारक प्रशंसनीय महत्त्वपूर्ण इतने कार्य किये, जो साधारण मनुष्य की शक्ति के वाहर है। उसके परिणामस्वरूप आज भी ये अपने कीर्तिमय शरीर से विश्व में विद्यमान हैं। अत एव इन्हें 'शिव का अवतार' कहा जाता है। ये केरल के नम्बूद्रीब्राह्मण थे। संन्यासदीक्षा लेने पर श्री गोविन्द-भगवत्पाद के शिष्य कहलाने लगे। श्री गोविन्दभगवत्पाद के गुरु आचार्य गौडपाद थे। आचार्य शंकर का इतिहास अतिसंक्षेप से एक पद्य के द्वारा बताया जाता है—

"अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥"

आपने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र), श्री गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका, विष्णुसहस्रनाम, सनत्सुजातीय, आदि ग्रन्थों पर भाष्य की रचना करके रहस्यपूर्ण उक्त ग्रन्थों को बोधगम्य बना दिया है।

इसके अतिरिक्त सौन्दर्यलहरी, उपदेशसाहस्री, तथा अनेकानेक देवी-देवताओं के स्तोत्र तथा उपदेशप्रद काव्यों की सरस-मधुर-प्रसादगुणपूर्ण शैली से रचना की है। अद्वैतवाद के प्रचारक-प्रसारक के रूप में प्रथम आचार्य श्री गौडपादाचार्य,—जो आचार्य शंकर के परमगुरु थे—को ही माना जाता है। उन्हीं की रचित माण्डूक्य-

कारिका, 'अद्वैतवाद' में आधारशिला का काम करती है। अपने परमगुरु के कार्य का उत्तरदायित्व सम्हाल कर उसे ही आचार्य शंकर ने अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ पूर्णता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा कर सर्वदा के लिये चिरस्थायी बना दिया।

तदनन्तर भगवान् श्री शङ्कराचार्य के शिष्य-प्रशिष्य परम्परा के अनेक धुरन्धर विद्वानों ने शतशः सहस्रशः ग्रन्थों की तथा व्याख्या ग्रन्थों की रचना करके अद्वैत-मत का प्राणपण से प्रचार-प्रसार कर उसे चिरस्थायी अमिट रूप प्रदान किया।

इसी परम्परा में चित्सुखाचार्य (१३ वीं शताब्दी) ने 'तत्त्वप्रदीपिका' ग्रन्थ की रचना कर चिरस्थायी प्रभूत यश प्राप्त कर लिया। इस ग्रन्थ में आपने न्याय-शैली का अवलम्ब कर वादपद्धति से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन तथा प्रसङ्गानुप्रसङ्गोपात्त अनेक विषयों का खण्डन-मण्डन करते हुए अद्वैतमत को परिपुष्ट किया है।

श्री चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' पर प्रत्यक्स्वरूप भगवान् (१५ शताब्दी) ने 'नयनप्रसादिनी' नामक अत्युत्तम प्रौढ व्याख्या का प्रणयन किया है। यह व्याख्या उच्चकोटि के वैदुष्य से परिपूर्ण होने के कारण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

(१) चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वप्रदीपिका के प्रथम परिच्छेद में १३ वादों पर बड़े ऊहापोह के साथ विचार किया है। जैसे—(१) ज्ञान की स्वप्रकाशता, (२) आत्मा की ज्ञानरूपता, (३) तमस् की भावरूपता, (४) जगत् का मिथ्यात्व, (५) भ्रम की सिद्धि, (६) अज्ञान का अनादित्व एवं भावरूपत्व, (७) अध्यास की सिद्धि, (८) वेदवाक्य में सिद्धार्थविषयिणी प्रमा की उत्पादकता, (९) अखण्डार्थता, (१०) स्वतः प्रमात्व, (११) अतिरिक्त शक्तिकल्पना, (१२) अभिहितान्वयवाद, (१३) वेदाऽपौरुषेयता। साथ ही प्रसङ्ग प्राप्त दृग्दृश्य-सम्बन्ध का निरसन, अध्ययनविधिविचार, और ख्यातिविचार भी किया है।

नयनप्रसादिनी के व्याख्याकार प्रत्यक्स्वरूप-भगवान् ने एक पद्य के द्वारा चित्सुखाचार्य के निरूपित १३ वादों का संकलन करके बताया है—

"विज्ञानं स्वप्रकाशं भवति च पुरुषस्तद् वपुर्भावरूपम्,
ध्वान्तं मिथ्याप्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोधः।
आरोपारोप्यसिद्धिः प्रमितिजनकताऽखण्डता स्वप्रभात्वम्,
शक्तिर्लक्ष्यः पदार्थान्वय इति कथिताः पौरुषेयो न वेदः॥"

(२) दूसरे परिच्छेद में नैयायिक और वैशेषिकों की ओर अपनी पैनी विचार दृष्टि से देखते हुए एक के सोलह और दूसरे के सात पदार्थों का खण्डन कर

दिया है, और अद्वैत-तत्त्व की सिद्धि-प्रक्रिया में उपस्थित होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध को निरस्त किया है। इस परिच्छेद में चतुर्दश पदार्थों का निरसन किया गया है। जैसे—(१) भेद, (२) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, (३) अभाव, (४) भाव, (५) अवयवीसहित परमाणु, (६) संयोग, (७) विभाग, (८) द्वित्वादि और जाति, (९) द्व्यणुकारम्भ, (१०) पाकज प्रक्रिया, (११) कारणत्व, (१२) काल, (१३) दिशा और (१४) भेदाभेद।

व्याख्याकार प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने उक्त चतुर्दश पदार्थों का एक पद्य में संग्रह कर दिया है—

"भेदो द्रव्यादिषट्कं क्षणनिधनमतं षट्प्रमाणान्यभावो,
भावः पश्चात् पराणुर्ह्यवयविसहितश्चान्ययोगो वियोगः।
द्वित्वादिर्जातिभानं द्व्यणुकपरिमिता पाकजप्रक्रियार्थो,
हेतुत्वं कालकाष्ठे जनिमदपि भिदाभेदवादो निरस्तः॥"

(३) तीसरे परिच्छेद में प्राधान्येन तीन विषयों का निरूपण किया गया है। जैसे (१) शब्द, अपरोक्षज्ञान का कारण है, (२) ज्ञान, मोक्ष का कारण है, (३) ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद का खण्डन।

इसीका संग्रह प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने एक अनुष्टुप् छन्द के द्वारा कर दिया है—

"शब्दः साक्षात्कारहेतुर्विद्या-मुक्तिफलप्रदा।
विद्यैव न तु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम्॥"

(४) चौथे परिच्छेद में—(१) बौद्धसम्मत-मुक्ति का खण्डन, (२) तार्किक-सम्मत, मुक्ति के स्वरूप का खण्डन, (३) सांख्यदर्शनसम्मत मुक्ति के स्वरूप का निरसन, (४) एकाविद्या और उसका विषय, (५) अविद्यानिवृत्ति का स्वरूप, (६) जीवन्मुक्ति का साधन—इन छह विषयों का वर्णन विशेषरूप से किया गया है।

प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने उक्त विषयों का संग्रह एक पद्य में इस प्रकार किया है—

"स्यात्यन्तोच्छेदरूपा क्षणिकनिरतिभिस्तार्किकैः कापिलैर्या,
सोक्ता मुक्तिर्निरस्ता दृढनयनिकरैरात्मपक्षे च मुक्तिः।

पकानेका त्रिदेकाश्रयविषयवती जीवभावैकहेतु-
र्याऽविद्या तन्निवृत्तिः परमसुखमयी जीवतश्चेति सोक्ता ॥

चित्सुखाचार्य का अपना एक स्वभाव है कि वे किसी विषय के पूर्वपक्ष और उसका खण्डन उपस्थित करते समय सम्भाव्यमान अनेक विकल्पों को सामने रख देते हैं, तदनन्तर प्रत्येक विकल्प का खण्डन, तर्कपूर्ण युक्तियों से कर देते हैं।

जैसे—ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का आरम्भ 'स्वप्रकाश' शब्द की चर्चा से किया है। यह चर्चा 'वाद' पद्धति से की गई है, क्योंकि इस ग्रन्थ को 'वादग्रन्थ' की कोटि में रखने के उद्देश्य से लिखा गया है। अतः चित्सुखाचार्य ने अपने इष्टदेव भगवान् नरसिंह के चरणारविन्द पर नमस्कार करने के व्याज (मिष = बहाना) से वाद के विषय 'स्वप्रकाश' पद को प्रदर्शित किया है। अर्थात् स्वप्रकाश-विषयक वाद (कथा) को उपस्थित किया है। ग्रन्थकार के इष्टदेव नरसिंह भगवान् स्वप्रकाश (स्वयं प्रकाश) चिदात्मस्वरूप हैं। 'स्वप्रकाश' शब्द की चर्चा आरम्भ करने के निमित्त पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हैं और प्रश्नों (विकल्पों) की झड़ी लगा दे रहे हैं। प्रश्न यह कर दिया है कि 'अथ कोऽयं स्व-प्रकाशशब्दार्थः' ? अर्थात् 'स्वप्रकाश' शब्द का अर्थ क्या है ? यानी 'स्वप्रकाशता' की परिभाषा क्या है ? 'स्वप्रकाशता' की परिभाषा (स्वप्रकाश शब्द का अर्थ) ग्यारह प्रकार से की जा सकती है।

जैसे—(१) किं स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः ?

अर्थात् क्या स्वत्वविशिष्ट (स्वरूपवत्व से युक्त)—प्रकाशरूपता को 'स्वप्रकाशता' कहा जाय ?

अथवा (२) स्वस्य स्वयमेव प्रकाशः स्वप्रकाशः ?

अर्थात् क्या स्वविषयक प्रकाशता को स्वप्रकाशता' कहा जाय ?

अथवा (३) सजातीयप्रकाशाऽप्रकाश्यत्वं—स्वप्रकाशः ?

क्या सजातीय प्रकाश से जो अप्रकाश्य हो, उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाय ?

अथवा (४) स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्वम्—स्वप्रकाशः ?

क्या अपनी सत्ता (वर्तमानता) में प्रकाश का अवश्य रहना, अर्थात् जब तक इसकी सत्ता है, तब तक प्रकाश के साथ वियोग न हो पाना, ही 'स्वप्रकाशता' है ?

अथवा (५) स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं—स्वप्रकाशः ?

क्या ज्ञान का अपने व्यवहार के प्रति कारण (हेतु) होना 'स्वप्रकाशता' है ?

अथवा (६) ज्ञानाऽविषयत्वम्—स्वप्रकाशः ?

क्या ज्ञान का विषय न होना, यानी—अप्रमेयता को स्वप्रकाश कहा जाय ?

अथवा (७) ज्ञानाविषयत्वे सति अपरोक्षत्वं—स्वप्रकाशः ?

क्या ज्ञान का विषय न होते हुए भी अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होना—स्वप्रकाश कहा जाय ?

अथवा (८) व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं—स्वप्रकाशः ?

क्या व्यवहार का विषय (व्यवहार्य) होते हुए ज्ञान का विषय न होना—स्वप्रकाश कहा जाय ?

अथवा (९) स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा स्वप्रकाशः ?

क्या स्वसम्बन्धी (स्वविषयक) व्यवहार में सजातीय अन्य की (दूसरे की) अपेक्षा न रहना 'स्वप्रकाशता' कही जाय ?

अथवा (१०) अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा स्वप्रकाशः ?

क्या अवेद्यता (ज्ञान का अविषय) होते हुए अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) व्यवहार का विषय होना 'स्वप्रकाशता' है ?

अथवा (११) 'तद्योग्यत्वं वा—स्वप्रकाशः ?

क्या अवेद्यता से युक्त अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता को स्वप्रकाशता कहा जाय ?

इस प्रकार **'स्वप्रकाश' का लक्षण ग्यारह प्रकार** से किया जा सकता है। ये ग्यारह प्रकार के लक्षण इसलिये नहीं किये गये हैं कि पूर्व-पूर्व लक्षणों के दोषों का उनके द्वारा निरसन किया जाय, अपितु—'स्वप्रकाशता' को बताने वाले इतने लक्षणों का निर्माण संभव हो सकता है, तथापि ये सभी लक्षण किसी न किसी दोष से ग्रस्त हैं, इनमें से कोई भी लक्षण निर्दुष्ट नहीं है।

क्योंकि—

(१) **प्रथम लक्षण**, वेद्य-ज्ञान में अतिव्याप्त हो जाता है।

(२) **द्वितीय लक्षण**, कर्मकर्तृभाव का विरोध होने से असम्भव दोष से दूषित हो रहा है।

(३) **तृतीय लक्षण** भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रदीप आदि प्रदीपान्तर से प्रकाशित नहीं हुआ करते और स्वयं, अ-स्वप्रकाश है, अतः अस्वयंप्रकाशरूप अलक्ष्य में लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है।

(४) **चतुर्थ लक्षण** भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखादि में उसकी अतिव्याप्ति हो रही है।

(५) **पञ्चम लक्षण** भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह प्रदीप आदि में अतिव्याप्त हो रहा है।

(६) **षष्ठ लक्षण** भी समुचित नहीं है, क्योंकि स्वयंप्रकाश ब्रह्म में प्रमाण-जन्य ज्ञान की विषयता ही रहती है, अविषयता नहीं। अतः यह लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है।

(७) **सप्तम लक्षण** भी ठीक नहीं है, क्योंकि असम्भव के कारण 'अविषयता' का तो निराकरण हो ही चुका है। अतः 'विषयता' का अर्थ यदि कर्मत्व करते हैं, तो **प्रभाकर मीमांसकों** के मतानुसार आत्मा में ज्ञानाश्रयता रहने के कारण उसमें अपरोक्षता मानी जायगी। इस रीति से अलक्ष्य में लक्षण का प्रवेश हो जाने से अतिव्याप्ति हो रही है।

(८) **अष्टम लक्षण** भी समुचित नहीं है, क्योंकि इस लक्षण में भी मोक्षादि-कालीन आत्मा में अव्याप्ति और ज्ञानविषयता का असम्भव आदि पूर्व प्रतिपादित दोष होते हैं। तथा **प्रभाकर मीमांसक** के अनुसार शुक्ति-रजतादि संसर्ग में यह लक्षण अतिव्याप्त भी हो रहा है। क्योंकि उसमें व्यवहारविषयता रहने पर भी **प्रभाकर** की दृष्टि से ज्ञानविषयता नहीं है।

(९) **नवम लक्षण** भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रदीपादि और घटादि सम्बन्धी व्यवहार में भी सजातीय पर (अन्य) की अपेक्षा न रहने से अतिव्याप्ति हो रही है।

(१०) **दशम लक्षण** भी निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि स्वयंप्रकाश वस्तु के अवेद्य रहने पर उसके विषय में विचार करना सम्भव ही नहीं हो सकता, यानी असम्भव है। **दूसरी बात** यह है कि स्वयम्प्रकाश आत्मा जब कि अपरोक्ष ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) का विषय (वेद्य) है, तब उसके विरुद्ध उसे अवेद्य कहना तो अपनी माता को वन्ध्या कहने के तुल्य ही होगा। अपि च सुषुप्ति-प्रलय-मोक्ष-कालीन आत्मा में व्यवहारविषयता का अभाव रहने से लक्षण की अव्याप्ति भी हो रही है। एवं च असम्भव, वचोव्याघात, और अव्याप्ति इन त्रिदोषों से लक्षण, ग्रसित हो रहा है, अतः यह लक्षण उचित नहीं है।

(११) **एकादशवाँ लक्षण** भी ठीक नहीं है, क्योंकि लक्षणघटक 'योग्यता' को यदि 'स्वयंप्रकाश का धर्म' कहें तो मोक्ष दशा में आत्मा निर्धर्मक रहने से

अव्याप्ति होगी, और यदि उस दशा में उसे निर्धर्मक न मानें तो अद्वैतियों का सिद्धान्त भंग हो जायगा। यदि 'योग्यता' को 'स्वयंप्रकाशकास्वरूप' कहें तो 'ज्ञानस्वरूप आत्मा' में भी व्यवहारनिरूपणीयता आजायगी तब 'ह्रस्वत्व' आदि के समान वह नित्य सापेक्ष हो जायगा। निरपेक्ष नहीं रह पायगा। ऐसी स्थिति में परमात्मा की स्वयम्प्रकाशता उक्त लक्षण से सिद्ध नहीं हो रही है। क्योंकि 'स्वयम्प्रकाशता' (स्वयंप्रकाश) का कोई लक्षण ही नहीं बन पा रहा है।

'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इस नियम के अनुसार स्वयंप्रकाशता का परीक्षण भी 'प्रमाण' के द्वारा **ग्रन्थकार** ने किया है।

किन्तु **ग्रन्थकार** प्रथमतः अपनी शैली के अनुसार **पूर्वपक्षी** के पक्ष का उत्थापन करने के लिये 'स्वयंप्रकाशता' की सिद्धि कर रहे हैं—'स्वयंप्रकाशता' की सिद्धि अनुमानप्रमाण से हो सकती है। जैसे—**'अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'**।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि यह अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि इस अनुमान में **'अप्रसिद्धविशेषणता'** दोष है। अर्थात् 'पक्ष' में जो 'साध्य' रूप विशेषण दिया है, वह अप्रसिद्ध है।

इस पर **वेदान्ती** का कहना है कि आपको ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि पक्ष में दिया हुआ जो विशेषण (अनुभूतिव्यवहार का हेतु जो प्रकाशत्व) है, वह उभयवादिप्रसिद्ध है, अर्थात् व्यवहार का हेतुभूत 'प्रकाश' दोनों को मान्य है। अतः उसे अप्रसिद्ध कह देना उचित नहीं है। क्योंकि 'स्व-व्यवहार का हेतु स्वयं होना' ही 'स्वप्रकाशता' है। इसलिये पक्षरूप 'अनुभूति' में अनुभूति-व्यवहारहेतुप्रकाशत्व' की जो प्रतिज्ञा की गई वह ठीक ही है।

किञ्च—'अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्व' रूप विशेषण का 'पक्ष' में असिद्ध रहना उचित ही है। अन्यथा (पक्ष में 'साध्य' यदि पूर्व से ही सिद्ध रहे तो) परार्थानुमान के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यों होगी? क्योंकि 'पक्ष' तभी होता है, जब उसमें 'साध्य' का सन्देह हो, **'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः'** यही तो पक्ष का स्वरूप है।

यदि **पूर्वपक्षी** यह कहे कि 'अनुव्यवसाय' ज्ञान में तो 'साध्य' का निर्णय (सिद्धि) रहता है, तब अनुभूति का अनुव्यवसायरूप जो अंश (भाग) है, उसमें **'सिद्ध-साधनता'** दोष हो जायगा।

उसपर **वेदान्ती** कहता है कि इस प्रकार से 'दोष' कह देना तुम्हें उचित नहीं होगा, क्योंकि **हम** वेदान्ती लोग 'अनुव्यवसाय' को मानते ही नहीं। उस स्थिति में

'अनुव्यवसाय' को अप पक्ष (धर्मी) का एकदेश (अंश-भाग) कैसे कह रहे हैं ? अतः पक्ष के एकदेश में 'सिद्धसाधनता' दोष आप नहीं दे सकते ।

उसपर **पूर्वपक्षी** पुनः कहता है कि **'स्वप्रकाशता'** की सिद्धि में आपके द्वारा प्रयुक्त किया गया 'अनुमानप्रयोग' ठीक नहीं है । इसप्रकार के अनुमानप्रयोग से 'स्वप्रकाशता' की सिद्धि नहीं हो सकेगी । क्योंकि आपने जो अनुमान **'अनुभूतिः, अनुभूतिहेतुप्रकाशः'** किया है, वह **'केवलव्यतिरेकी'** मानकर किया है । **'केवल-व्यतिरेकी हेतु'** उसे कहते हैं जिस 'हेतु' का. 'साध्य' के साथ सहचार निश्चित न हो । प्रकृत में तो **साध्य** (अनुभूतिव्यवहारहेतुभूतप्रकाशत्व) के अधिकरण में **'हेतु'** (अनुभूतित्व) की सत्ता निश्चित ही है । अर्थात् अनुभूति के व्यवहार का हेतुभूत 'प्रकाशत्व', जिस ज्ञान में सिद्ध है, वहीं पर यदि 'हेतु' भी रहे, तो 'हेतु' में 'केवलव्यतिरेकित्व' कैसे कहा जायगा ? व्यतिरेकी तो तभी कहा जायगा, जब कि उसका (हेतु का) साध्य के साथ सहचार नहीं रहेगा । साध्य के साथ उसका सहचार होने पर तो वह 'अन्वयी हेतु' कहलायगा । एवं च आपके द्वारा प्रयुक्त किया गया अनुमान, 'केवलव्यतिरेकी' न होकर 'अन्वयव्यतिरेकी' हो गया । क्योंकि 'प्रकाशत्व' रूप साध्य, जिस ज्ञान में निश्चित है, उसी ज्ञान में हेतु के रहने से उसकी केवल-व्यतिरेकिता भंग हो गई ।

यदि आप यही दुराग्रह करें कि **'साध्य'** (अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्व) के अधिकरण में हेतु (अनुभूतित्व) नहीं रहता, तब **सपक्ष** (निश्चितसाध्यवान् पक्ष) में न रहने वाला (अवृत्ति) **'हेतु'** (सपक्षाऽवृत्ति हेतु) **असाधारण अनैकान्तिक** (सव्यभिचार) कहा जाता है । एवं **"निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः"** जिसमें 'साध्य' के अभाव का निश्चय रहता है, उसे **'विपक्ष'** कहते हैं । उस साध्याभाव के अधिकरण (विपक्ष) में 'हेतु' का रहना (वृत्तित्व), अनुमान करने वाले को ही मान्य नहीं है । अर्थात् विपक्ष में हेतु की वृत्तिता को तो अनुमान करने-वाला स्वयं स्वीकार नहीं कर रहा है । अन्यथा 'हेतु' को **साधारण** (विपक्षवृत्ति) कहना पड़ेगा । अतः **निष्कर्ष** यह हुआ कि यह 'हेतु' न सपक्ष में रहता है, और न विपक्ष में ही रह रहा है, यानी दोनों में इस हेतु के न रहने से उसे **'असाधारण'** (सपक्ष-विपक्ष में न रहना, केवल पक्ष में ही रहना) कहा गया है । **केवल पक्ष** (पक्षमात्र) में वर्तमान रहने वाले 'हेतु' को **अनैकान्तिक** (अनिश्चित साध्यवाला) (दूषित हेतु) कहा गया है । जैसे —**'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्'** इस अनुमान प्रयोग में जो **'शब्दत्व'** हेतु है, वह **नित्य** 'आकाशादि' रूप सपक्ष और **'अनित्य घटादि'**

रूप विपक्ष दोनों में ही न रह कर **नैयायिकों** की दृष्टि से केवल 'शब्द' रूप **पक्ष** में ही रहता है, क्योंकि **'शब्दत्व'** को, शब्द का असाधारण धर्म कहा जाता है। 'नित्यत्व' रूप **साध्य** के साथ 'शब्दत्व' रूप **हेतु** का ऐकान्तिकत्व (नियत-सहचारवत्त्व) नहीं है।

उसी प्रकार **'अनुभूतित्व'** भी 'अनुभूति' रूप **'पक्ष'** मात्र में रहता (वृत्ति) है, और उसका (अनुभूति का) **असाधारण धर्म** भी है, तथा वह (अनुभूतित्व) अपने साध्य के साथ ऐकान्तिक नहीं है, अर्थात् अनैकान्तिक है। तथा अनुव्यवसाय रूप **सपक्ष** (निश्चित साध्य वाले पक्ष) में 'हेतु' की वृत्ति कहें, तो पक्ष के एक भाग (एकदेश) में 'सिद्धसाधनता' दोष होगा, जिसे दूर नहीं किया जा सकता। अर्थात् स्वसिद्धान्त में अनुव्यवसाय को 'असिद्ध' कह देने मात्र से **दूसरे के** (वादी के) मत में सिद्धसाध्य वाले अनुव्यवसाय में 'सिद्धसाधन' दोष को दूर नहीं किया जा सकता।

यदि **वेदान्ती** के मत (स्वसिद्धान्त) में अनुव्यवसाय का स्वीकार न करने मात्र से **वादी** के मत में स्वीकृत (सिद्ध) किये गये अनुव्यवसाय में सिद्ध-साधनता-दोष का निवारण होता हो तो—

अन्यथा ख्यातिवादी नैयायिक 'रजतलिप्साजन्यनियतपुरोवर्तिप्रवृत्तित्वादि' हेतु के बल पर 'इदं रजतम्' यह पुरोवर्ति शुक्तिविषयक ज्ञान, अन्य के आकार में होता है—यह सिद्ध करना चाहता है।

तब **वेदान्ती,** नैयायिकोक्त हेतु (रजतलिप्साजन्यनियतपुरोवर्तिप्रवृत्तित्वात्) में 'सिद्धसाधनता' दोष को बताते हुए कहता है कि **'रजतज्ञानं पुरोवर्तिविषयकं रजतेच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वात्'** अर्थात् 'इदं रजतम्' यह ज्ञान, 'पुरोवर्ति अनिर्वचनीय रजत–विषयकही है, शुक्ति विषयक नहीं है। इस प्रकार नैयायिक के अनुमान में सिद्धसाधनता दोष देगा। तब **अन्यथाख्यातिवादी** भी कह देगा कि 'अनिर्वचनीय रजत' को हमलोग स्वीकार ही नहीं करते। इतना कहने मात्र से ही **वेदान्ती** के द्वारा लगाये गये सिद्धसाधनता-दोष का परिहार वह कर देगा। यदि वचन मात्र से ही दोष का परिहार हो जाता है तो दोषपरिहारार्थं अनिर्वाच्यता के निरसनादि प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं होगी।

यह भी नहीं कह सकते कि **अन्यथाख्यातिवादी** के द्वारा किया गया 'पुरोवर्ति-विषयकत्व' का अनुमान, **अनिर्वचनीयवादी वेदान्ती** को लक्ष्य करके नहीं है, **अपितु अनुव्यवसायवादी** को लक्ष्यकर किया गया है।

किन्तु यह कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि **अनिर्वचनीयवादी** के मत से 'सिद्धसाधनता' दोष उपस्थित होता है, उस स्थिति में अन्यथाख्यातिवादी को मूक हो जाना पड़ेगा। उसी तरह **अनुव्यवसायवादी** को लक्ष्य कर के भी **'अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वात्'** यह प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनुव्यवसाय के एक अंश (भाग) में 'सिद्धसाधनता' दोष प्राप्त होता है।

इसपर **अन्यथाख्यातिवादी** यदि यह कहे कि हम उस **अनुव्यवसायवादी** को लक्ष्य करके उक्त अनुमानप्रयोग नहीं कर रहे हैं। हम अपना अनुमानप्रयोग तो **अनिर्वचनीयवादी** तथा **अनुव्यवसाय वादी** दोनों के अतिरिक्त किसी अन्य को लक्ष्य करके कर रहे हैं।

किन्तु उसका यह कहना भी उपहासास्पद ही होगा, क्योंकि उक्त दोनों से अन्य और है ही कौन ? जिसके लिये आप अनुमानप्रयोग कर रहे हैं।

इसपर यदि **अन्यथाख्यातिवादी** यह कहे कि हम **'अनुभूतिः'** इस पक्ष के साथ **'विवादपद'** को विशेषण के रूप में जोड़ देंगे। तब **'विवादास्पदीभूता अनुभूतिः'** यह कहा जायगा। विवाद का विषय तो अनिश्चित पदार्थ ही हुआ करता है। अर्थात् जहाँ 'साध्य' की सत्ता का निश्चय न रहने से वह विवाद का विषय बन गया है, यह कहने पर **'अनुव्यवसाय'** तो विवादास्पद (विवाद का विषय) होगा ही नहीं, क्योंकि 'अनुव्यवसाय' मे **'साध्य'** तो निश्चित रूप से रहता ही है। एवं च **'विवादास्पदीभूता अनुभूतिः'**के अन्तर्गत 'अनुव्यवसाय' का समावेश न हो पाने से उसकी (अनुव्यवसाय) की व्यावृत्ति (व्यवच्छेद) हो जायगी। जब वह 'पक्ष' के अन्तर्गत ही नहीं हो पायगा, तब उसमें **धर्मिभागता** (पक्ष का अंश = भाग) कैसे कही जा सकेगी ? जब वह धर्मी का 'भाग' ही नहीं, तब **पक्ष के एकदेश** (एक भाग) में 'सिद्धसाधनता' दोष भी नहीं कहा जा सकता।

अन्यथाख्यातिवादी यह भी कह सकता है कि 'अनुव्यवसाय' में 'साध्य' की प्रसिद्धि कहने पर 'हेतु' की केवलव्यतिरेकिता नहीं रह पाती, उसका (हेतुका) जो **'केवलव्यतिरेकित्व'** स्वरूप है वह नष्ट हो जाता है, और 'अनुव्यवसाय' को **साध्यसिद्धि** का स्थल न मानने पर 'साध्य की अप्रसिद्धि' पूर्ववत् बनी रहती है, यानी 'पक्ष' के विशेषणरूप 'साध्य' की प्रसिद्धि नहीं हो पाती।

यदि यह कहें कि **नैयायिक** ही 'अनुव्यवसाय' को साध्यप्रसिद्धि का स्थल मानते हैं। तब तो उसके लिये **'केवलव्यतिरेकी हेतु'** का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

इसी प्रकार अन्यान्य कितने ही प्रश्न मन में उठते हैं। जैसे—**'व्यवहारहेतुत्व'** को 'प्रकाश' (साध्यांश) का **'विशेषण'** कहा जाय, अथवा **'उपलक्षण'** कहा जाय ?

यदि 'व्यवहारहेतुत्व' को 'प्रकाश' का विशेषण कहते हैं, तो **मोक्षावस्था** (कैवल्यावस्था) में 'जीवात्मा' व्यवहारशून्य रहता है, यानी उसमें व्यवहारहेतुता (व्यवहारहेतुत्व) रूप विशेषण का अभाव रहता है। एवं च **विशेषण-विशिष्टसाध्य** के अभाव से उसकी स्वयंप्रकाशता का भी अभाव प्राप्त होगा।

उक्त आपत्ति को दूर करने के लिये यदि 'व्यवहारहेतुत्व' का अर्थ **'व्यवहार-हेतुत्वयोग्यता'** करते हैं, तब तो वह 'व्यवहारहेतुत्वयोग्यता', मोक्षावस्थापन्न-**जीवात्मा** में भी रहती है, उस कारण उसमें स्वयम्प्रकाशता का अभाव (अस्व-प्रकाशता) कहने का प्रसंग नहीं आवेगा।

किन्तु यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि यह भी विचार करना होगा कि उस 'योग्यता' को आप 'स्वयम्प्रकाशवस्तु' का **'स्वरूप'** समझ रहे हैं, अथवा 'स्वरूप' से **भिन्न** (अतिरिक्त) समझ रहे हैं ?

'योग्यता' को यदि 'स्वयम्प्रकाशवस्तु' का **स्वरूप** कहें तो उसमें **'नित्यसापेक्षता'** (सप्रतियोगिकत्व) कहनी होगी, अर्थात् 'योग्यता' को नित्यसापेक्ष रहना होगा। नित्यसापेक्षता भी एक दोष है।

अतः **'योग्यता'** को स्वरूपातिरिक्त कहें तो उसे (योग्यता को) **विशेषण** कहना होगा। तब वह **योग्यतारूप विशेष,** मोक्षावस्थापन्न **आत्मा** में न रहने से वही पूर्वोक्त दोष (मोक्षावस्थापन्न आत्मा में अस्वप्रकाशता) ही पुनः कायम रहेगा। क्योंकि मोक्षावस्था में **निर्विशेष आत्मा** रहता है।

अब यदि 'व्यवहारहेतुत्व' या 'व्यवहारहेतुत्वयोग्यता को' **उपलक्षण** कहें, और उससे उपलक्षित हुए 'प्रकाशात्मत्व' को **'साध्य'** रखें तो **'उपलक्षितत्व'** को साध्य (प्रकाशात्मत्व) का विशेषण कहना होगा, क्योंकि वह 'साध्य' के अन्तर्गत ही है। उस कारण मोक्षावस्था में स्वयम्प्रकाशत्वाभाव (अस्वप्रकाशता) रूप दोष, जो पहले प्राप्त हुआ था, वही पुनः कायम रहेगा।

यदि **'उपलक्षितत्व'** को 'साध्य' का विशेषण (साध्य के अन्तर्गत) न कहकर, साध्य के बहिर्भूत अर्थात् 'उपलक्षण' कहते हैं तब 'प्रकाशरूपतामात्र' को ही 'साध्य' कहना होगा। किन्तु वह 'प्रकाशस्वरूपता' (साध्य) **'प्रकाशरूपतामात्र'** में भी सिद्ध है। तब 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' करने का अवकाश ही कहीं नहीं रहता है।

इन उक्त दूषणों से ही **'अनुभूतिः अनुभाव्या न भवति, अनुभूतित्वात्'**— अर्थात् अनुभूति-(संविद्) अनुभाव्य (वेद्य) नहीं होती, क्योंकि उसमें 'अनुभूतित्व' (अनुभवस्वरूपत्व) रहता है, इत्यादि प्रयोगों का भी निरसन हो जाता है। क्योंकि उन प्रयोगों में भी **'अप्रसिद्धविशेषणता'** दोष दूर नहीं किया जा सकता।

अपि च—'ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वात् घटवत्' अर्थात् ज्ञान 'वेद्य' (अनुभाव्य) है, क्योंकि वह, वस्तुत्वविशिष्ट है जैसे घट। इस प्रतिप्रयोग (विरोधी प्रयोग) रूप विरोधीपक्ष (प्रतिपक्ष) का भी संभव हो सकता है। इस विरोधी प्रयोग के द्वारा **'सत्प्रतिपक्षितत्व'** दोष का भी संभव है। एवं च **बाधित होने से** उक्त अनुमान नहीं किया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि **'ज्ञानरूपवस्तु'** निर्धर्मक होने से 'वस्तुत्वधर्मरूप हेतु' ही 'पक्ष' में वेदान्तियों के मतानुसार असिद्ध है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि **कल्पित** या **अकल्पित** आदि विशेष का विचार न करें तो 'अनुभूतित्व' के समान **'सत्ताधिकरणत्वरूपवस्तुत्व'** भी उसी प्रकार **'पक्ष'** में सिद्ध है, जैसे कि 'अनुभूतित्व'। अर्थात् 'सत्ताधिकरणत्वरूप वस्तुत्व' में **'हेतुत्व'** सिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तुत्व' हेतु कल्पित है या अकल्पित है ? **यह प्रश्न** करना उचित न होगा। अन्यथा **'अनुभूतित्व'** के विषय में भी यही प्रश्न किया जायगा। अर्थात् यदि **वेदान्ती** 'अनुभूतित्व' हेतु को **'कल्पित'** कहेगा तो **परमत में** 'कल्पित' असिद्ध है और यदि **अकल्पित** (सत्य) कहे तो स्व-मत में 'असिद्ध है'। अतः **कल्पित-अकल्पितकोटिनिरपेक्ष** अनुभूतित्व के समान **'वस्तुत्व'** को भी 'हेतु' माना जाता है।

'ज्ञानं वेद्यम्' इस अनुमान में पुनः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि उसमें जो **साध्य** 'वेद्यत्व' है, वह **'वास्तविक'** (पारमार्थिक) है, या **'अवास्तविक'** (प्रातिभासिक यानी मिथ्या) है ? अथवा **व्यावहारिक** है ? या **'साधारण'** (वास्तविकता आदि विशेषण से रहित यत्किञ्चित् सामान्य) है ?

प्रथम (वास्तविकता) पक्ष में 'घटादि' **दृष्टान्त** को 'साध्य-शून्य' कहना होगा। क्योंकि **अद्वैतवादी वेदान्ती** 'घट' आदि में **'पारमार्थिक'** (वास्तविक) वेद्यत्व नहीं मानते, और **तीनों पक्षों में** 'सिद्धसाधनता' दोष होगा, क्योंकि **'अपारमार्थिक'** (अवास्तविक = मिथ्या) व्यावहारिक और साधारण 'वेद्यत्व' को तो— 'अनुभूति' में **वेदान्ती** मानते ही हैं।

वह **'अवास्तविक वेद्यत्व'**, 'वेद्यत्वाभाव' का **विरोधी भी** नहीं है, इसलिये 'अवास्तवादिस्वरूपवाले वेद्यत्व के रहते हुए भी **वास्तविक वेद्यत्वाभाव** (स्वप्रकाशत्व) की सिद्धि हो सकती है। एवंच इस रीति से **स्वयम्प्रकाशत्व** को सिद्ध किया जा सकता है।

इसपर **प्रतिवादी** कहता है कि वादी का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि **'घट'** में जैसा **व्यावहारिक** (प्रमाण-सिद्ध-व्यावहारिक) वेद्यत्व है वैसा ही **अनुभूति में वेद्यत्व** की सिद्धि का प्रयत्न करने पर भी **उसमें** 'स्वयम्प्रकाशत्व' की सिद्धि नहीं कर सकते। क्योंकि यदि **व्यावहारिक वेद्यत्व** के रहने पर भी 'अनुभूति' में यदि स्वयंप्रकाशत्व को मानोगे तो **'घट-पट' को भी** 'स्वप्रकाश' क्यों नहीं मानते ? **एवं च** 'अनुभूति' स्वयम्प्रकाश न होकर 'घट' के समान ही वेद्य है। क्योंकि **व्यावहारिकवेद्यत्व** भी **स्वप्रकाशत्व का** विरोधी ही है। एवंच **अनुभूति** में व्यावहारिक वेद्यत्व के विद्यमान रहते उसका **स्वप्रकाशकत्व** कैसे सिद्ध हो सकता है ?

एक **अन्य अनुमान प्रयोग से** भी 'अनुभूति' में 'वेद्यत्व' का होना सिद्ध किया जा सकता है, जैसे —**'अनुभूतिपदं, स्वगोचर-गोचरज्ञानजन्यं, पदत्वात्, कुम्भपदवत्'**—अर्थात् 'अनुभूति पद, स्व-वाच्यविषयक ज्ञान से जन्य है, क्योंकि उसमें 'पदत्व' है, जैसे—कुम्भपद, स्वगोचर (स्ववाच्यविषयक) ज्ञानजन्य है। इस अनुमान से भी **'अनुभूति' में वेद्यत्व** सिद्ध होता है।

फिर भी **इस दूसरे अनुमान में** शंका यह होती है कि इसमें जो **पहिला** 'गोचर' पद है, उससे क्या **'विषय मात्र'** विवक्षित है, या **'वाच्यार्थ'** विवक्षित है, अथवा **'लक्ष्यार्थ'** विवक्षित है ?

उक्त विकल्पों में से प्रथम पक्ष (विषयमात्र) और द्वितीयपक्ष (वाच्यार्थ) तो **'सिद्धसाधनता'** दोष प्राप्त होने से संगत हो नहीं सकते, क्योंकि **'अनुभूति' शब्द** का 'विषय' और 'वाच्यरूप' जो **अन्तःकरणवृत्तिविशिष्ट ज्ञान** (अनुभव) है, उसको ज्ञान का गोचर (विषय) मानते ही हैं। अर्थात् **अनुभूतिपदवाच्य जो अन्तःकरणवृत्तिविशिष्ट ज्ञान** (अनुभव) है, उसमें ज्ञानगोचरता (वेद्यता) मानते ही हैं। इस प्रकार के **'सभी ज्ञानों में 'साक्षिवेद्यता'** होती ही है।

किन्तु **तृतीय** (लक्ष्य) पक्ष में **मुख्य** (वाच्य) अर्थ की विवक्षा से प्रयुक्त (बोले गये) **'गङ्गा'** आदि पदों में व्यभिचार होगा। **इस पक्ष में** अनुमान का आकार यह होगा—,**अनुभूतिपदं स्वलक्ष्यविषयकज्ञानजन्यं, पदत्वात्, गङ्गा-**

पदवत्'। इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं—**अनुभूतिपदं, स्वगोचर (लक्ष्य) गोचर-ज्ञानजन्यं, पदत्वात्, पदान्तरवत्'**। यहाँ पर **'पदत्व' हेतु,** व्यभिचारी है। क्योंकि मुख्यार्थ (प्रवाह) की बोधेच्छा से उच्चारित **'गङ्गायां नावः सन्ति'** इत्यादि वाक्यों के 'गंगा' पद रूप **पदान्तर में** 'पदत्वरूप' **हेतु** तो है, किन्तु लक्ष्यविषयक-ज्ञान की जन्यता (**साध्य**) नहीं है, यानी 'साध्य' का अभाव है। यहाँ का **'गङ्गापद',** अपने मुख्यार्थ (प्रवाह) विषयक ज्ञानसे 'जन्य' है, अपने लक्ष्यार्थ (तीर) विषयकज्ञाने से जन्य नहीं है। अर्थात् **गङ्गारूप** जो पदान्तर है, उसमें 'लक्ष्यज्ञान-जन्यता' का अभाव है। **तात्पर्य** यह है कि **'गङ्गायां नावः सन्ति'** या **'गङ्गायां मत्स्याःसन्ति'** इत्यादि वाक्य, **लक्ष्यज्ञानजन्य नहीं होते**।

किन्तु यह शंका ठीक नहीं है, उसका समाधान यह होगा कि **'लक्षक'** पद को 'पक्षकोटि' में रखकर **'लक्षकपदत्व'** को 'हेतु' बनावेंगे, तथा **'लक्षक गङ्गादिपद'** को दृष्टान्त में रखेंगे। इतनी सामग्री तयार करके **'लक्ष्यविषयक-ज्ञानजन्यत्व'** का अनुमान करेंगे—**'लक्षकमनुभूतिपदं, स्वलक्ष्यविषयक-ज्ञानजन्यं, लक्षकपदत्वात्, लक्षकगङ्गादिपदवत्'**—इस प्रकार अनुमान करने पर **तृतीय पक्ष** (गोचर शब्द का 'लक्ष्य अर्थ'—स्वीकारने) **में** कोई दोष नहीं हो पाता है। क्योंकि जब **केवल** 'पदत्व' को 'हेतु' बनाते थे, तब लक्षक 'गंगा' पद को न लेकर **मुख्यार्थक** 'गंगा' पद को भी लेलिया जाता था, जिसमें 'पदत्व' हेतु, तो रहता था, किन्तु साध्य नहीं रहता था, उस कारण व्यभिचार दोष होता था। किन्तु जब **'लक्षकपदत्व'** को **हेतु** बना लिया, तब वह हेतु (लक्षकपदत्व), **'मुख्यार्थक गङ्गापद'** में नहीं रहता। अर्थात् **'लक्षकपदत्वरूप हेतु',** अब मुख्यार्थ के अभिप्राय से प्रयुक्त हुए 'गंगा' पद में नहीं रहता। उसमें तो केवल **शुद्ध 'पदत्व'** रहता है, किन्तु अब **उसे** हमने 'हेतु' के रूप में नहीं रखा है। अतः **तृतीय पक्ष में** कोई व्यभिचार दोष नहीं है।

फिर भी और एक प्रश्न मन में उदित होता है कि **वेदान्ती के 'अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वात्'** इस 'स्व-प्रकाशत्वानुमान' में पक्षभूत **'अनुभूति'** पद से **वेदान्ती को** क्या विवक्षित है, यानी 'अनुभूति' पद का **'वाच्य अर्थ'** विवक्षित है, या **'लक्ष्य अर्थ'** विवक्षित है ? इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि आप 'अनुभूति' पद के अभिधेय अर्थ (वाच्य अर्थ) को 'स्वप्रकाश' सिद्ध करना चाह रहे हैं ? या उसके लक्ष्य अर्थ को स्व-प्रकाश सिद्ध करना चाह रहे हैं ?

यदि **प्रथम पक्ष** (वाच्य अर्थ को स्वप्रकाश सिद्ध करना) स्वीकार करते हैं, तो आपको अपने पक्ष (सिद्धान्त) का त्याग करना होगा। उसका परिणाम यह

होगा कि **'अपसिद्धान्त'** नामक— निग्रहस्थान' से आप निगृहीत हुए समझे जायेंगे। क्योंकि **'अन्तःकरणवृत्तिविशिष्ट चेतन'** ही तो 'अनुभूति' पद का 'वाच्य अर्थ' है, किन्तु **वेदान्तियों** के सिद्धान्तानुसार उसे **'स्वप्रकाश' नहीं माना जाता,** अपितु— **'शुद्ध चेतन'** को ही **'स्वप्रकाश'** माना जाता है। अतः **अपने सिद्धान्त** (शुद्ध चेतन के स्वप्रकाशत्व) का अब आप त्याग करके उसके विरुद्ध **वृत्तिविशिष्ट चेतन** को 'स्वप्रकाश' कहेंगे तो उसे 'अपसिद्धान्त' ही कहा जायगा। क्योंकि **स्व-सिद्धान्त** को त्यागकर **उसके विरुद्ध**(स्वसिद्धान्त के विपरीत) कथाप्रसंग (बोलना) चलाने को ही **'अपसिद्धान्त'** कहते हैं— **'स्वसिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः'**–(न्या. सू. ५।२।२३)। एवञ्च प्रथम पक्ष का स्वीकार यदि आप करते हैं तो आप स्वयं **'निगृहीत'** हो रहे हैं।

उसी तरह यदि आप (अनुभूतिपद के लक्ष्यार्थ रूप) **द्वितीय पक्ष** (विकल्प) का स्वीकार करते हैं तो **'आश्रयाऽसिद्धि'** नामक दोष होता है। **'प्रमातृत्वादि** सभी धर्मों से रहित किसी **अद्वितीय वस्तु'** को ही 'अनुभूति' पद का **लक्ष्यार्थ,** आप बता रहे हैं, किन्तु आपके द्वारा बताये गये 'अनुभूति' पद के उक्त 'लक्ष्यार्थ को **प्रतिवादी** नहीं मान रहा है। अतः **किसी आश्रय के अभाव** में आप 'स्वप्रकाशत्व' को कहाँ सिद्ध करेंगे ? एवञ्च 'अनुभूति' पद के **वाच्यार्थ में** 'स्वप्रकाशता' न सिद्ध हो रही है और न ही उसके **'लक्ष्यार्थ' में** 'स्वप्रकाशता' सिद्ध हो पा रही है। अतः **आश्रयासिद्धि** दोष हो रहा है।

एक प्रश्न और भी 'स्वप्रकाशता' के सम्बन्ध में हो सकता है कि 'स्वप्रकाशता' को बताने वाला कोई **'प्रमाण' भी है, या नहीं ?**

यदि **प्रथमविकल्प** (प्रमाण है) का स्वीकार करते हैं, तो वह 'प्रकाशता', **प्रमाण से वेद्य** (प्रकाश्य) कहलायगी। उस स्थिति में उस 'प्रकाशता' को प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होना होगा। तब वह 'प्रकाशता' **पर-प्रकाश्य** हो जायगी, **'स्वप्रकाश्य'** नहीं रहेगी। अर्थात् उसकी **'स्वप्रकाशता भङ्ग** हो जायगी।

'स्वप्रकाशता के भंग होने की भीति से यदि **दूसरे विकल्प** (स्वप्रकाशता के होने में कोई प्रमाण नहीं) का स्वीकार करते हैं तो **'प्रमाणाभाव'** की स्थिति में 'स्वप्रकाशता' की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। क्योंकि किसी भी वस्तु की सिद्धि का होना 'प्रमाण' के ही अधीन रहता है। कहा भी है कि **'मानाधीना मेयसिद्धिः'।** एवञ्च **'उभयतः-पाशारज्जुः** है, उसके बन्धन से **वेदान्ती** बँध जाते हैं। इससे अधिक घोर विपत्ति, वेदान्तियों पर क्या हो सकेगी ? **निष्कर्ष** यह है कि **'स्वप्रकाशता'**

के अस्तित्व में न **कोई लक्षण** ही बन पा रहा है और **न प्रमाण ही** उपलब्ध हो रहा है। अतः **'स्वप्रकाशता' की सिद्धि करने में तत्पर रहना** 'आकाशपुष्प' के चयन के समान ही समझना चाहिये—यह कह कर पूर्वपक्षी ने **वेदान्तियों** पर घनघोर आक्रमण कर दिया है।

इसपर धैर्यशाली **वेदान्ती** बड़ी गम्भीरता तथा निर्भयता से उक्त **पूर्वपक्ष के** समाधानार्थ तत्पर हो जाता है।

वेदान्ती कहता है—

'अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याऽधीपदस्य नः।
संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणाऽसम्भवः कुतः॥'

हम वेदान्तियों के मत में अपरोक्ष-व्यवहार (प्रत्यक्ष बोल-चाल' के व्यवहार) में आने वाले **'अ-धीपद'** (अवेद्य = ज्ञान का अविषय) रूप **'स्वप्रकाशत्व'** के संभव रहते 'लक्षण' (स्वप्रकाश का लक्षण) संभव नहीं है—यह कैसे कहा जायगा ? अर्थात् जब कि **'अ-धी' शब्द** (ज्ञान का अविषय यानी ज्ञान का विषय न हो सकने वाला = न जाना जा सकने वाला यानी अवेद्य) लोगों के मुख से **उच्चारित** किया जा रहा है, यह कोई छिपी हुई बात नहीं है, सबके प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में 'स्वप्रकाश' पदार्थ का लक्षण ही नहीं है, यह कहना अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि ज्ञान का विषय न होते हुए भी यानी **'अवेद्य'** रहते हुए भी जिसका व्यवहार निरन्तर हो रहा है। अत एव वह **'स्वप्रकाश'** कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि **अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं 'स्वप्रकाशत्वम्'** —यही 'स्वप्रकाशत्व' का लक्षण है।

किञ्च—यह जो कहा था कि **'व्यवहारयोग्यत्व'** को **'लक्ष्यार्थ** के रूप में मानते हुए उसे **'ब्रह्मात्मा'** का धर्म कहा जाय तो मोक्षावस्था में अव्याप्ति होगी, क्योंकि मोक्षावस्था में 'ब्रह्मस्वरूप हुआ 'आत्मा' निर्धर्मक रहता है और उस अव्याप्ति के भय से यदि मोक्षावस्था में भी 'व्यवहारयोग्यता' रूप धर्म को उसमें स्वीकार किया जाय तो अपसिद्धान्त होगा।

किन्तु ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त **'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** रूप लक्षण में 'योग्यत्व' पद का अर्थ **'योग्यत्व' के 'अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व'** ही हमें विवक्षित है। अर्थात् 'योग्यता' के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता' ही यहाँ उक्त **'योग्यत्व** है। **जैसे**—गुणत्वात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व ही 'द्रव्यत्व' का स्वरूप समझा जाता है। इसको इस प्रकार भी समझ सकते हैं—जैसे, **'द्रव्य'** का लक्षण **न्यायलीलावतीकारने** 'गुणाश्रयो

द्रव्यम्' किया है। **किन्तु वैशेषिकों** के अनुसार उत्पत्तिक्षण में कोई भी **'द्रव्य'** किसी भी **'गुण'** का आश्रय नहीं होता है। इस प्रकार **उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य** में द्रव्यलक्षण की अव्याप्ति होती देख कर **'गुणाश्रयत्व'** का अर्थ किया जाता है कि **'गुणात्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदः'** यानी 'गुण' के अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व। यह **अनिधिकरणत्व,** उत्पत्तिक्षणावाच्छिन्नद्रव्य में भी रहता है। उसी तरह **वेदान्ती** भी उक्त **'योग्यता'** का अर्थ, उसके **'अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व'** करके अपने लक्षण की अव्याप्ति को दूर कर सकते हैं।

दूसरा दोष जो 'अपसिद्धान्त' कहा था, वह भी ठीक नहीं है, अर्थात् **'योग्यत्व'** धर्म के मानने से अपसिद्धान्त भी नहीं होता है, क्योंकि **पारमार्थिक** (वास्तविक) जो धर्मादिगुण हैं, उनका **अभाव,** 'ब्रह्मरूप आत्मा' में हम (वेदान्ती) स्वीकार करते ही हैं, और **काल्पनिक धर्मों** को 'संसारी जीवात्मा' में हम मानते ही हैं। इसी बात को श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—

'अक्षमा भवतः केयं साधकत्व-प्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥'

—(बृह. वार्ति. १।४।१२१६)।

अर्थात् **अद्वितीय आत्मा** में साधकत्व की कल्पना आपको असह्य क्यों रही है ? क्या आप यह नहीं देखते कि **आत्मा में** ही सम्पूर्ण संसार अज्ञानकल्पित है। इसी तरह **अध्यासभाष्य** के अवतर की व्याख्या करते हुए **पञ्चपादिकाचार्य** ने शंका उपस्थित की है—**'एकरस स्वप्रकाशरूप आत्मा** के धर्म ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? जिनका **विषयों में** अध्यास हो सके'।

स्वयं उपस्थापित शंका का समाधान करते हुए वे कह रहे हैं—**'आनन्द, विषयानुभव** (विषयों का अनुभव) और **नित्यत्व'**—ये सब धर्म, **'आत्मा'** में रहते हैं, यानी ये आत्मा के धर्म हैं। **वास्तव में** देखा जाय तो **'आनन्द आदि'** आत्मा से पृथक् नहीं हैं, ये तो तत्स्वरूप (आत्मा के स्वरूपभूत) हैं, किन्तु **दुःखादि** जो अनात्मपदार्थ हैं, उनकी अपेक्षा से पृथक् के समान भासित होते हैं।

'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते ॥'

इसलिये **उनको** 'धर्म' शब्द से कह देते हैं। यदि यह कहें कि 'संसारी जीवात्मा' में **'योग्यत्वादि' धर्म** की कल्पना से 'योग्यत्वादि धर्म' के अत्यन्ताभाव की

'आत्मा' में अनधिकरणता वैसी ही है जैसी 'द्रव्य' में गुणाश्रयता। किन्तु **मोक्षावस्था** में 'योग्यत्वादि धर्मों' की कल्पना **आत्मा में** कदाचिदपि नहीं की जा सकेगी। **एवञ्च** मोक्षावस्था में उक्त 'योग्यत्वादि धर्म' का **जीवात्मा में** अभाव रहने से लक्षण की **अव्याप्ति** यथास्थित रहेगी ही।

लक्षण में प्रयुक्त विशेषणों का कार्य भी देखना चाहिये, जिससे उनके औचित्य का पता लगता है। लक्षण में **'अवेद्यत्व'** पद से 'योग्यत्व' को विशेषित किया गया है यानी 'अवेद्यत्व' को 'योग्यत्व' का विशेषण बना दिया है, उसकारण अपरोक्ष-व्यवहार के योग्य **'घट'** आदि में **अतिव्याप्ति** नहीं हो पाती। **यदि** कोई पूछे कि 'अवेद्यत्व' को विशेषण के रूप में रखने के बजाय केवल उसी को (वेद्यत्व को) ही **स्वप्रकाश** का लक्षण कहें तो क्या हानि है ? **हानि यह होगी** कि भूतकालिक और भविष्यत्कालिक यानी भूत और भावी घटादि कार्यों में तथा नित्य अनुमेय (प्रत्यक्ष के अगोचर) **धर्म आदि में** अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि **सिद्धान्त की** दृष्टि में ये सब 'वेद्य' नहीं हैं।

इस पर **यह शङ्का** हो सकती है कि भूत-भावी पदार्थ तथा धर्मादि भी **अनुमान** और **आगम** से वेद्य हो सकते हैं, अतः उन्हें **'अवेद्य'** नहीं कहा जा सकता। क्योंकि **'अवेद्यत्व'** का अर्थ 'ज्ञानाविषयत्व' यानी ज्ञान का विषय न होना है। एवञ्च यह ज्ञानाविषयत्वरूप 'अवेद्यत्व' उनमें नहीं है। अपितु उनमें **परोक्षज्ञान के** द्वारा 'वेद्यत्व' ही है। अतः **'अवेद्यत्वमात्र'** लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

इसपर **सिद्धान्ती** उत्तर देता है कि 'अवेद्यत्व' का अर्थ **'ज्ञानाऽविषयत्व'** नहीं है, अपितु **फलव्याप्यत्वरूप वेद्यत्व का अभाव'**—यह अर्थ है। एवञ्च 'फलव्याप्यत्वरूप वेद्यत्व का अभाव' उनमें भी है। अर्थात् **धर्मादि में** शब्दजन्यवृत्ति की विषयता रहने पर भी **'फलव्याप्यता'** (फलविषयता) नहीं रहती। अतः केवल 'अवेद्यत्व' लक्षण की उनमें अतिव्याप्ति तो होती ही है। धर्म आदि में 'फलव्याप्यता' के न रहने का **कारण यह** है कि **'अभिव्यक्तविषयावच्छिन्न चैतन्य'** को ही 'फल' कहते हैं। 'विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति वहीं पर होती है, जहाँ 'इन्द्रिय' का **अपने योग्यविषय** के साथ सम्बन्ध (सन्निकर्ष) रहता है। **धर्मादि** तो इन्द्रिय के विषय बनने के योग्य ही नहीं है, क्योंकि **वे अतीन्द्रिय** हैं। इसलिये उनमें फल-विषयता (फलव्याप्यता) रूप **'वेद्यत्व'** का अभाव रहने से अतिव्याप्ति हो रही है।

सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि **'साधारण ज्ञान की विषयता'** (विषयत्व) **मात्र**, को 'वेद्यत्व' शब्द से विवक्षित नहीं किया गया है। अपितु **'अर्थाकार वृत्ति'** में स्थित **'चिदाभासरूप फल'** से व्याप्य होना (व्याप्यता या प्रकाशमान होना), यह

अर्थ, **'वेद्यत्व'** शब्द से यहाँपर विवक्षित है। इस 'वेद्यत्व' का धर्मादि में अभाव रहता ही है। इस प्रकार **'अवेद्यत्व' लक्षण की** 'धर्मादि' में अतिव्याप्ति होती ही है। क्योंकि आप्तवाक्य रूप विधिवाक्यादिविशिष्ट 'शब्दरूप' जो प्रमाण है, उसके आधार पर भूत-भावी, धर्मादि पदार्थ के आकार में परिणत हुई अन्तःकरण की जो **परोक्ष-विषयक वृत्ति** पैदा होती है, उसीसे अतीतादि पदार्थों का प्रतिपादनादि-व्यवहार तथा धर्मादि के अनुष्ठान का व्यवहार हुआ करता है। अर्थात् **विशिष्ट शब्द प्रमाण** के आधार पर जहाँ प्रत्यक्ष होता है, वहाँ **इन्द्रियजन्य अन्तःकरण वृत्ति**, विषय के प्रदेश में पहुँच कर विषयाकार हो जाती है और **उपाधिरूप विषय**, और **वृत्ति** के एकत्र हो जाने से **उपहित** दोनों **'चेतन'**, एक हो जाते हैं। तब **'वृत्ति'** से व्यक्त होकर 'विषय' प्रकाशित होता है, तथा **वृत्तिगत चिदाभास** भी विषय को विशेषरूप से प्रकाशित करता है। इसी को **'वेदन'** कहते हैं, और भूत-भावी के ज्ञान स्थान में (विषयदेश में) **'वृत्ति'** नहीं जाती। वह भीतर ही उत्पन्न होती है। **धर्म** आदि का ज्ञान, धर्म के प्रदेशरूप **अन्तःकरण में** उत्पन्न होता हुआ भी धर्मादि विषय की **अयोग्यता से**, 'वृत्तिविशेष' धर्माकार नहीं होती है। अतः उसे 'वेदन' शब्द से नहीं कहा जाता। अतएव उसका विषय **'ज्ञेय'** होता हुआ भी उसे 'वेद्य' नहीं कहते। यही **'ज्ञान'** और **'वेदन'** में अन्तर है।

उक्त विवेचन के अनुसार 'धर्म' आदि में **'फलव्याप्यत्व'** के न रहने पर भी योगियों को उसका प्रत्यक्ष होता है, इसलिये **धर्मादि में** भी अपरोक्षत्व (फलव्याप्यत्व) हो सकता है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'धर्म' आदि का ज्ञान, एकमात्र **'वैदिक विधिवाक्य रूप प्रमाण' से** ही होता है। इस तथ्य को **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** इस सूत्र के द्वारा **महर्षि जैमिनि** ने बताया है। **'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः'** अर्थात् 'चोदना और विधि' दोनों शब्द, 'एक ही अर्थ' के वाचक हैं, यानी पर्याय हैं। **तात्पर्य** यह है—**वेद के शब्द से** ही 'धर्म' को जाना जाता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि **योगियों को** 'धर्म' का प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि **'धर्म'**, कभी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से गम्य नहीं है।

इसपर **पूर्वपक्षी** का कहना है कि यदि **योगी**, 'धर्म' का प्रत्यक्ष नहीं कर सकेगा तो उसे (योगी को) **सर्वज्ञ** कैसे कहा जा सकेगा ? क्योंकि **सर्वज्ञ** उसी को कहा जा सकता है, जिसे विश्व की समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हो।

इसपर **वेदान्ती** कहता है कि **सर्वज्ञत्व** के होने में विश्व के यच्च-यावत् (संपूर्ण) पदार्थों का **द्रष्टृत्व**' प्रयोजक' नहीं है। अतः **द्रष्टृत्वाभाव से** सर्वज्ञत्वाभाव (सर्व-

दर्शित्वाभाव) की प्राप्ति नहीं होगी। 'योगी' को सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) तो कहते ही हैं। उसके 'सर्वज्ञत्व' (सर्वदर्शित्व) का अर्थ यही है कि 'सर्वयोग्य पदार्थों का द्रष्टृत्व' उसमें रहता है। अर्थात् 'श्रोत्र-नेत्र' आदि इन्द्रियों के द्वारा श्रवण, दर्शन होने के योग्य पदार्थों के दूर-व्यवहित होने पर भी उनका प्रत्यक्ष या श्रवण, योगी को हो जाता है। किन्तु दर्शन-श्रवण के योग्य न रहनेवाले (अयोग्य) पदार्थों का द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व योगी में भी नहीं रहता। अतः योगीको सर्वज्ञत्व (सर्वदर्शित्व) कहने का तात्पर्य यही है कि योगी, योग्य पदार्थों का द्रष्टा, श्रोता रहता है। साधारण व्यक्तियों में दूर-व्यवहित रहने वाले योग्य पदार्थों को देखने-सुनने की शक्ति नहीं होती। एवञ्च साधारण लोगों की अपेक्षा 'योगी' का सामर्थ्य, विलक्षण रहता है। क्योंकि योगसाधना के प्रभाव से उनके इन्द्रियों में साधारण लोगों की अपेक्षा 'सामर्थ्यातिशय' प्राप्त हुआ रहता है। 'धर्म' तो प्रत्यक्ष योग्य, पदार्थ है नहीं, इसलिये योगी को भी उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। प्रत्यक्ष तो उसी वस्तु का होता है, जिस वस्तु का 'रूप' हो। 'धर्म' कोई रूपवान् पदार्थ नहीं है, इस कारण उसका 'प्रत्यक्ष' न हो पाना उचित ही है। इन्द्रिय के अत्यन्त अयोग्य रहने वाले पदार्थ को भी योगी देख ले, सुन ले यह कदापि संभव नहीं है।

श्री कुमारिल भट्टपाद कहते हैं—

"यत्राप्यतिशयोदृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥"

अर्थात् किसी के इन्द्रिय में किसी उपाय से जो अतिशय (उत्कर्ष) दिखाई देता है, तो वहाँ भी कोई इन्द्रिय अपने निर्धारित विषय का उल्लंघन करता हुआ दिखाई नहीं देता। जैसे चक्षुरिन्द्रिय, उपायवश प्राप्त किये अपने सामर्थ्यातिशय से, दूरस्थित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भी वस्तु को देख ले, यह तो संभव है, किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि चक्षु से 'शब्द' को देख ले और श्रोत्र (कान) से नील-पीतादि रूप को देख ले। जिस इन्द्रिय का जो विषय (अर्थ) नियत है, उसका उल्लंघन, वह कदापि नहीं करता। यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि धर्म आदि में 'फलव्याप्यता' के न रहने से 'अवेद्यत्व' मात्र लक्षण करने पर अतिव्याप्ति होती है। उस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'अवेद्यत्व' में 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व' यह 'विशेषण' अवश्य देना होगा, जिससे अतिव्याप्ति नहीं होगी। आँख से प्रत्यक्ष-योग्य होने में 'रूप' को कारण कहा जाता है। वह 'धर्म' में न रहने से 'धर्म' का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। उसी तरह 'धर्म' का मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता,

क्योंकि संस्कार के समान ही वह भी मानस-प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। अर्जुन आदि को भी पुण्य के बल से तत्तदिन्द्रिय के योग्य वस्तु का ही प्रत्यक्ष हुआ था, 'धर्म' का नहीं। वस्तुतः जीवन्मुक्त योगी भी ईश्वरकोटि और अनीश्वरकोटि के भेद से दो प्रकार के होते हैं। ईश्वरकोटि के योगी के विषय में भगवती श्रुति कहती है कि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'—(मुं. उ. १।१।९), अर्थात् जो 'सर्वज्ञ' है वह 'सर्ववित्' है, अर्थात् जो सामान्यतया सब का ज्ञाता है, वह विशेष रूप से भी सब का ज्ञाता होता है। तथा 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'—(श्वेता. उ. ३।१९), नेत्ररहित होता हुआ देखता है, और कर्णरहित होता हुआ सुनता है।

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि 'धर्म' आदि में 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यत्व' इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होने पर भी 'अज्ञान, अन्तःकरण, अन्तःकरण के इच्छादिधर्म, तथा शुक्ति-रजत' आदि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति तो है ही, वह दूर नहीं हो पाई। क्योंकि इनमें 'फलव्याप्यता' (फलविषयता) नहीं है, इसलिये इन में, लक्षण-प्रदर्शित 'अवेद्यत्व' के रहने से और 'अहम् अज्ञानी' इस प्रकार की 'अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता के होने से अतिव्याप्ति हो रही है।

उसपर वेदान्ती कहता है कि उनमें 'अवेद्यत्व' है, यह कहना तो ठीक है, किन्तु उसके साथ 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यता' उनमें रहती है—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'यः साक्षात् अपरोक्षाद् ब्रह्म' यह श्रुति बताती है कि 'साक्षात् अपरोक्षता' तो 'अपरोक्ष-ब्रह्म-स्वरूप साक्षी' में ही अध्यस्त (कल्पित) रहती है। और उसमें अध्यस्त (कल्पित) रहने से ही 'अज्ञान' आदि में उस 'अपरोक्षता' की प्रतीति होती है। अर्थात् 'अधिष्ठान-साक्षी' की 'अपरोक्षता' उन अज्ञानादिकों में भासित होती है। इसलिये 'अहम् अज्ञः' इस प्रतीति के आधार पर उन अज्ञानादिकों' में 'अपरोक्षता' को मानना उचित नहीं है।

शङ्का—अपरोक्ष 'ब्रह्म' में 'अज्ञान' आदि कल्पित होने पर भी उसमें (अज्ञान आदि में) 'अपरोक्ष' शब्द का व्यवहार किया जाता है। उस व्यवहार के आधार पर ही 'अपरोक्षव्यवहार की योग्यता' को भी कल्पित कर लें तो क्या हानि है ?

समा०—'शुक्ति' को 'रजत' शब्द से व्यवहार करने के अयोग्य माना जाता है, तथापि भ्रमकाल में 'शुक्ति' को 'रजत' समझ कर 'शुक्ति' में 'रजत' शब्द का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् रजत-व्यवहारयोग्यता 'शुक्ति' में न रहने पर भी उसमें 'रजत-व्यवहार' होता रहता है। अतः व्यवहार होनेमात्र से उसमें 'व्यवहार-योग्यता' भी है, यह नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह है कि शुक्ति में रजत

व्यवहार की योग्यता के बिना भी 'रजतव्यवहार' की उपपत्ति हो जाती है। उतनेमात्र से उसमें व्यवहारयोग्यता की भी कल्पना करना उचित नहीं है।

शङ्का—यदि आप उपर्युक्त रीति से **'अध्यस्त पदार्थ'** में 'अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता' को नहीं स्वीकार करते हैं, तो आपके लक्षण में **'अवेद्यत्व'** विशेषण की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि **'अवेद्यत्व'** वेशेपण से व्यावर्तनीय (व्यवच्छेद्य) होने वाली ऐसी कोई 'वस्तु' ही नहीं है। आपने 'अवेद्यत्व' विशेषण से 'वेद्य घट–पटादि' की व्यावृत्ति जो बताई थी, वह तो अब 'प्रत्यक्षव्यवहार-योग्यत्व' मात्र से ही हो जायगी। क्योंकि आपके मत में 'घट–पट आदि पदार्थ' भी **'अध्यस्त'** (कल्पित) ही हैं। उस कारण उनमें **'साक्षात् अपरोक्षव्यवहार-योग्यता'** नहीं है, किन्तु वह **अधिष्ठानाधीन** है।

समा०—आपको ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिये। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होने वाले (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले) घट-पटादिकों में जो **'अपरोक्ष-व्यवहारयोग्यता'** है, उसे 'व्यवहार काल' में मानते ही हैं। अतः **'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** के कहने मात्र से उन घट-पटादिकों की व्यावृत्ति नहीं हो पाती है। उस कारण उनकी व्यावृत्ति के लिये **'अवेद्यत्व'** विशेषण देना सार्थक है, निरर्थक नहीं है।

तथापि यह जिज्ञासा हो सकती है कि **'अवेद्यत्वे सति प्रत्यक्षव्यवहार-योग्यत्वम्'** इस लक्षण में से **'व्यवहारयोग्यत्वम्'** इतना अंश यदि निकाल दें, और **'अवेद्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वम्'** (अवेद्यत्वविशिष्टमपरोक्षत्वम्) अर्थात् 'अवेद्यत्व से युक्त प्रत्यक्ष' को ही **'स्वप्रकाश'** कहें, यानी इतना ही 'स्वप्रकाश' का लक्षण करें तो भी कहीं **अतिव्याप्ति** (व्यभिचार) आदि दोष की संभावना नहीं है। अतः उतना बड़ा लक्षण करने की आवश्यकता क्या है ?

उक्त जिज्ञासा का **समाधान** यही है कि **'सन्देहनिवारणार्थं'** उतना बड़ा लक्षण किया गया है **'प्रत्यक्षव्यवहारयोग्यत्व'** के बजाय **'प्रत्यक्षत्व'** यदि कहते हैं, तो **'लाघव'** ही होगा, और अतिव्याप्ति भी नहीं होगी, यह हम भी जानते हैं, तथापि उतना बड़ा लक्षण बनाने में रहस्य यह है कि 'घट-पट' आदि पदार्थों में जो **अपरोक्षता** (प्रत्यक्षता) कही जाती है, **वह** उनमें **'अपरोक्षज्ञान की विषयता'** (प्रत्यक्षज्ञान की विषयता) के रहने से ही कही जाती है, उसी प्रकार **स्वप्रकाश वस्तु 'ब्रह्मात्मा'** में भी **'अपरोक्ष—विषयता'** के होने से ही प्रत्यक्षता (अपरोक्षता) कही जायगी, तब उस स्वयंप्रकाश वस्तु 'ब्रह्मात्मा' में 'अवेद्यता' (अवेद्यत्व)

कैसे रहेगी ? क्योंकि 'अपरोक्षज्ञानविषयतारूप प्रत्यक्षता' का 'अवेद्यता' (अवेद्यत्व) के साथ विरोध है। विरोध होने से किसी को व्याघात का भ्रम भी हो सकता है। वह न हो, इसलिये केवल 'अपरोक्षत्व' न कहकर **'अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व'** कहा गया है। यह 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व' पूर्वपक्षी को भी **'ब्रह्म'** में अभिमत है। एवं च पूर्वपक्षी के द्वारा अभिमत 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यता' के रहने से ही **'ब्रह्म'** में 'अपरोक्षता' मानी जाती है। 'अपरोक्षज्ञानविषयता' के कारण नहीं। अतः **'प्रत्यक्षता'** (अपरोक्ष) का **'अवेद्यता'** (अवेद्यत्व) के साथ कोई विरोध नहीं है।

शंका—इस पर **पूर्वपक्षी** कहता है कि **'अवेद्य ब्रह्म'** में 'व्यवहारयोग्यता' (व्यवहारविषयता) कैसे संभव हो सकती है ? क्योंकि लोकव्यवहार में बराबर देखते हैं कि जो 'वेद्य' रहता है वही व्यवहार्य यानी व्यवहार के योग्य (व्यवहार का विषय) हो पाता है। एक ओर आप 'अवेद्य' भी कहें और एक ओर उसे 'व्यवहार का विषय भी' कहें। ये दोनों परस्पर विरोधी बातें एक ही वस्तु में कैसे उपपन्न हो सकती हैं ?

समा०—पूर्वपक्षी के द्वारा की गई आशंका पर सिद्धान्ती उसकी आशंका का तात्पर्य उसी के मुख से निकलवाने के लिये उससे प्रश्न करता है कि क्या आप यह कहना चाह रहे हैं ? कि जो **'अवेद्य' होता है, वह व्यवहार का विषय नहीं** होता है' अथवा **'अपरोक्षव्यवहारविषयता'** के आधार पर **'वेद्यत्व'** का **अनुमान** करना चाह रहे हैं।

हमारे द्वारा उपस्थित किये गये प्रश्नात्मक दो विकल्पों में से **प्रथम विकल्प** का आश्रय कर अनिष्टापादन आप नहीं कर सकते, क्योंकि **अवेद्यत्व'** रूप आपादक और **'व्यवहार का विषय न होना** (व्यवहाराऽविषयत्व यानी अव्यवहार्य) रूप आपाद्य ये दोनों ही तार्किकों के मत में अप्रसिद्ध हैं। **अभिप्राय** यह है कि **'आत्मा में** यदि अवेद्यत्व (वेद्यत्व का अभाव) होगा, तो 'अपरोक्षव्यवहारविषयता' का अभाव (अपरोक्षव्यवहाराऽविषयत्व) भी होगा'—इस **अनिष्टापादन** (अनिष्टप्रसञ्जन) में आपादक होगा—**'अवेद्यत्व'** (वेद्यत्व का अभाव), और आपाद्य होगा—**'अपरोक्षव्यवहाराऽविषयत्व'** (अपरोक्षव्यवहारविषयता का अभाव)। ये दोनों ही तार्किकों के मत में अप्रसिद्ध हैं। उनके मत में 'वेद्यत्व' और 'अपरोक्षव्यवहारविषयत्व'—दोनों ही 'केवलान्वयी धर्म हैं, इसलिये उनका अभाव कहीं भी प्रसिद्ध (ज्ञात) नहीं है, अर्थात् अप्रसिद्ध है। प्रसञ्जन

(प्राप्ति) तो प्रसिद्ध का ही हुआ करता है, अप्रसिद्ध का कभी भी प्रसञ्जन नहीं हो सकता। **एवञ्च** 'वेद्यत्व और अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व (विषयत्व) दोनों 'केवलान्वयी' हैं क्योंकि **जीवात्मा** के लिये जो 'अवेद्य' है, वह भी **ईश्वर** के लिये 'वेद्य' रहता है। जब कि उनका 'अभाव' 'प्रसिद्ध ही नहीं है, तब किससे किसका आपादान होगा? अतः प्रथम पक्ष का स्वीकार आप नहीं कर सकते।

अब रहा **दूसरा विकल्प** (पक्ष), अर्थात् (अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व [विषयत्व] से 'वेद्यत्व' का अनुमान करना), उसे भी आप स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि ग्रन्थकार ने ही 'सत्प्रतिपक्ष' का निराकरण करते समय उसका भी खण्डन कर दिया है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रतिपक्ष का अवसर न होने से द्वितीय विकल्प का खण्डन यहाँ नहीं किया है। इसलिये हमने जो **'स्व-प्रकाश'** का **लक्षण** किया है, वह पूर्णतया **निर्दुष्ट** है।

उसी तरह **'स्वप्रकाशता'** के होने में **अनुमान प्रमाण** भी है। जैसे—**'अनुभूतिः स्वयं प्रकाशा, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'**—'अनुभव' (ज्ञान) स्वयं प्रकाश है, ज्ञान होने से, जो स्वयं-प्रकाश नहीं है, वह ज्ञान भी नहीं है, जैसे 'घट'। 'अनुभव' में ज्ञानत्व है, अतः उसमें 'स्व-प्रकाशत्व' है। 'स्वप्रकाशत्व' में यह प्रमाण हम ने दिया है। इस अनुमान प्रमाण में **'अप्रसिद्ध विशेषणता'**(अप्रसिद्ध-साध्यता) दोष है, यह भी आप नहीं कह सकते। क्योंकि **'सामान्यतो दृष्टानुमान'** से सामान्यतया **'विशेषण'** (साध्य) की सिद्धि हो जाती है। तब आप कैसे कह सकते हैं कि **'पक्ष'** (अनुभूति), अप्रसिद्धविशेषणवाला है। अर्थात् 'पक्ष' का 'विशेषण' अप्रसिद्ध है, यह आप नहीं कह सकते। न कह सकने में कारण यह है कि—

'सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे।
कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः॥'

यहाँ 'अपि' शब्द, को भिन्नक्रम' समझना चाहिये। अर्थात् सामान्यतोऽपि प्रसिद्धे विशेषणे अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः कथमिति कथय। कथमपीत्यर्थः।

सामान्यतोदृष्टानुमान का आकार यह होगा—

'वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात् शौक्ल्यवत्'।

अर्थात् **'वेद्यत्व'** धर्म, किसी-न-किसी **धर्मी में** रहने वाले 'अत्यन्ताभाव का 'प्रतियोगी' है, क्योंकि वह भी धर्म है, जैसे **शुक्लत्व** धर्म है, तो उसका 'अत्यन्ताभाव' भी कहीं-न-कहीं अवश्य ही होगा। उसी प्रकार **'वेद्यत्व'** धर्म का भी कहीं

'अत्यन्ताभाव' हो सकता है। तब जिस धर्मी में उसका अत्यन्ताभाव रहेगा, उसका प्रतियोगी 'वेद्यत्व' कहा जायगा। क्योंकि जिसका अभाव होता है, वही उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है। अतः उस 'वेद्यत्व' धर्म को अवश्य ही 'वेद्यत्वात्यन्ताभाव (अवेद्यत्व) वाला कह सकते हैं। उस अभावाधिकरणरूपी 'धर्मी' का भले ही किसी 'विशेषधर्मी' के रूप में निर्देश न भी हुआ हो, तो भी इतना तो निश्चित ही है कि कहीं-न-कहीं 'वेद्यत्वाऽभाव' है, अर्थात् 'अवेद्यत्व' कहीं-न-कहीं प्रसिद्ध है ही। एवं च सामान्यतोदृष्टानुमान से नामतः अनिर्दिष्ट किसी-न-किसी धर्मी (पक्ष) विशेष में विद्यमान 'अवेद्यत्वधर्म' के सामान्यरूप की सिद्धि तो हो ही जाती है।

उस **'अवेद्यत्व'** में **'अनुभूतिः स्वयम्प्रकाशा'** इस केवलव्यतिरेकी अनुमान से उस 'अनुभूति (पक्ष) विशेष' की 'अश्रितता' को बताया जा रहा है, जिसमें अपरोक्षव्यवहारविषयता सभी को सम्मत है। अभिप्राय यह है कि उक्त अनुमान में अप्रसिद्धविशेषणता को दूर करने के लिये **सिद्धान्ती** ने **'वेद्यत्वं, चिद्भिन्निष्ठ'** इस अनुमान का सहारा लिया है।

इस पर **पूर्वपक्षी** ने कहा कि आपके इस अनुमान से 'अवेद्यत्व' साध्य का जो विशेषणभाग है वही केवल प्रसिद्ध होगा, **सम्पूर्ण 'साध्य'** (अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व) नहीं।

उस पर **सिद्धान्ती** कहता है कि **'अनुभूति'**, जो 'पक्ष' है, उसमें **'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** तो रहता ही है, इस बात को तो वादी-प्रतिवादी दोनों मानते हैं। प्रश्न तो केवल 'अवेद्यत्व' रूप विशेषण का है, कि वह प्रसिद्ध है या नहीं? तो उस विशेषणभाग की प्रसिद्धि भी सामान्यतः हमने कर दी है, तब 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष क्यों दिया जा रहा है? अर्थात् 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष हमारे अनुमान में नहीं है। इस प्रकार 'केवलव्यतिरेकी' का प्रामाण्य, **उदयनाचार्य** के अनुसार बताया गया।

अब **न्यायलीलावतीकार** की रीति से भी उसे बताते हैं। **'यद्विपर्ययेऽसमीहितप्रसक्तिः तत् किञ्चिन्मानयोग्यम्'** यानी जिस पदार्थ का अभाव रहने पर 'अनवस्था' आदि अनिष्ट दोष प्राप्त होते हैं, वह पदार्थ, निश्चित ही किसी प्रमाण का विषय होता है—यह **सामान्य नियम** माना जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में वादी के विप्रतिपत्ति वाक्यों को सुनने से 'अनुभूति' अनुभव का विषय है, या नहीं? यह संशय होने लगता है। इसलिये 'अनुभूति' में किसी दूसरे अनुभव की विषयता

को यदि मानते हैं तो अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं। अतः अनुभवविषयता का 'अभाव' यानी अवेद्यता किसी प्रमाण का विषय अवश्य है। अर्थात् वह पदार्थ, कहीं पर प्रमाणयोग्य अवश्य रहता है—**'यस्य वैपरीत्यांगीकारे प्रमाणान्तरबाधादिप्रसक्तिः तत्प्रमाणयोग्यम्'**—इस 'सामान्य व्याप्ति' का ज्ञान होता है, यानी सामान्यरूप से ज्ञान होता है। जैसे—आकाश आदि के समान सर्वत्र 'जाति' का अभाव मानने पर 'गो' आदि में जो अनुगतप्रतीति होती है, उसके बाध का प्रसंग प्राप्त होने लगेगा, और 'गो' आदि के समान सर्वत्र 'जाति' के अभाव का अभाव (जाति) को मानते हैं, तो 'अनवस्था' दोष प्राप्त होता है, तथा 'जाति' में भी एक दूसरी 'जाति' माननी पड़ती है।

प्रकृत में प्रतिवादियों के विरुद्धवाक्य (विप्रत्ति) को सुनकर जब संशय होने लगता है और अनुभूति को अनुभव का विषय (अनुभाव्य) मानते हैं तो अनवस्था आदि अनिष्टदोष प्राप्त होते है। अतः अनुभाव्यत्व (अनुभवविषयत्व) के अभाव (अवेद्यत्व) का सामान्यरूप से कहीं प्रमाणविषयत्व है, ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् विशेषप्रमाण की जब जिज्ञासा होने लगती है, तब 'अनुभूतिः स्वयं प्रकाशा'—इस केवलव्यतिरेकी अनुमान को बताया गया है। इसलिये जो **'अप्रसिद्धविशेषणता'** दोष दिया गया है, वह उचित नहीं है।

अन्यथा यानी उक्त सामान्यव्याप्ति का स्वीकार न करने पर नैयायिक भी **'इच्छादयः, अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिता, अष्टद्रव्याऽनाश्रितत्वे सति गुणत्वात्'** इस अनुमान के द्वारा **'इच्छा'** आदि में **'अष्टद्रव्यातिरिक्त-द्रव्याश्रितत्व'** (इच्छा आदि में आठ द्रव्यों से अतिरिक्त अन्यद्रव्य की आश्रितता) चार्वादिकों के प्रति कैसे बता पायेंगे ? क्योंकि **'इच्छा'** आदि, भूम्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न अन्य किसी द्रव्य के आश्रित हैं, क्योंकि वे इच्छा आदि, 'गुण' हैं। इस अनुमान से **नैयायिक** 'आत्मा' की सिद्धि नहीं कर सकेंगे, क्योंकि **आठ द्रव्यों** से अतिरिक्त अन्य द्रव्य, अप्रसिद्ध है। इसलिये 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष होता है, और प्रसिद्ध रहने पर भी यदि वहाँ 'हेतु' रहता है, तो **'हेतु'** की 'अन्वयव्यतिरेकिता' के कारण 'केवलव्यतिरेकिता' का असंभव होता है। यदि 'हेतु' वह नहीं रहता है, यानी 'पक्ष' से अतिरिक्त 'साध्य के स्थान' में 'हेतु' नहीं रहता है, तो **पक्षमात्रवृत्ति 'गुणत्वरूपहेतु'** में 'असाधारण अनैकान्तिकता' प्राप्त होती है।

अतः नैयायिक जिस प्रकार अनुमानान्तर से 'विशेषगुणत्व और अष्टद्रव्याऽवृत्तित्व' सिद्ध होने पर ही **इच्छादयः, अष्टद्रव्यातिरिक्त-द्रव्याश्रिता, अष्टद्रव्या-**

नाश्रितत्वे सति गुणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा गन्धः'—इस व्यतिरेकी से ही अष्ट-**द्रव्यातिरिक्त-द्रव्याश्रितत्व** को 'इच्छा' आदि में सिद्ध कर सकते हैं। उसी प्रकार **वेदान्ती** भी 'स्वप्रकाशत्व' की सिद्धि कर सकते हैं।

शङ्का—उक्त '**सामान्यव्याप्ति और केवलव्यतिरेकी**' द्वारा तो सर्वत्र ही 'साध्य' की प्रसिद्धि की जा सकती है, तब तो '**अप्रसिद्ध-विशेषणता**' दोष कहीं होगा ही नहीं, यानी हमेशा के लिये उसीका अभाव हो जायगा।

समा०—**वेदान्ती** कहता है कि उक्त शंका ठीक नहीं है, '**अप्रसिद्धविशेषणता**' नामक दोष को कहीं अवसर न मिल पाने से उसका अस्तित्व ही संसार में नहीं रहेगा—ऐसा क्यों कह रहे हैं ? क्योंकि '**सामान्यतोदृष्टानुमान**' के क्षेत्र (विषय) से अतिरिक्त क्षेत्र '**भूमिः, शशविषाणोल्लिखिता, भूमित्वात्, यन्नैवं, तन्नैवम्, यथा—जलम्**'—में,—जो सामान्यतोदृष्टानुमानादि का अविषय है, यानी विषय नहीं है,—ऐसे स्थलों में 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष के लिये अवकाश (स्थान) है।

अथवा 'अनुभूति' में 'अवेद्यत्व' का अनुमान '**महाविद्या**' के प्रयोग से भी किया जा सकता है। '**महाविद्यानुमान**' का अर्थ यह है—'**महतीविद्या-महाविद्या, तदुपयोगि अनुमानं महाविद्यानुमानम्। विद्यायां महत्त्वञ्च द्वारात्पत्वरूपलाघवशालित्वेसति सिषाधयिषितार्थसाधकत्वम्**। टीकाकार ने द्वितीय परिच्छेद में बताया है कि **केवलान्वयिनिव्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वय-व्यतिरेकि साध्यविशेषं साधयन् हि महाविद्येति**'। **महाविद्याप्रयोग** (महाविद्यानुमान) का आकार यह है—'**अयं घटः, एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वाऽनधिकरणाऽन्यः पदार्थत्वात्, पटवत्**'—अर्थात् **यह घट**, इस घट से अन्य में रहनेवाले वेद्यत्व के अधिकरण से अन्य है, यानी एक व्यक्तिरूप घट, इस घट से अन्यत्वयुक्त वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य है, क्योंकि वह पदार्थ है, जैसे—पट। यहाँ पर एक व्यक्तिरूप घट से अन्यत्वयुक्त वेद्यत्व 'पट' में रहेगा, उसका अनधिकरण, 'एक व्यक्तिरूप घट' ही होगा, उससे अन्य (भेदयुक्त) 'पट' होगा। इस रीति से 'पटरूप दृष्टान्त' में 'हेतु' के स्थान (जगह) में 'साध्य' की प्रसिद्धि होती है, किन्तु 'एकव्यक्तिरूप घट, 'स्वान्यत्वयुक्त वेद्यत्व' का अनधिकरण आप ही (स्वयं ही) है। किन्तु उक्त 'वेद्यत्वानधिकरण' से अन्य, वह, स्वयं ही (आप ही) तो हो नहीं सकता। जब स्वान्यत्वयुक्त वेद्यत्व का अनधिकरण, उससे अन्य कोई भी हो, तब उस 'घट' (पक्ष) में तदन्यत्वयुक्त वेद्यत्वानधिकरण से 'अन्यत्व' (साध्य) की सिद्धि हो जायगी। अतः अनुभूति में 'तद्घटान्यत्व' के रहते हुए भी 'वेद्यत्व' का

अभाव रहता है, उस कारण 'तद्घटान्यत्वयुक्तवेद्यत्व' का अनधिकरणत्व रहता है, और उसका भेद 'एतद् घटव्यक्ति' में रहता है। इस रीति से (इस प्रकार की महाविद्या का प्रयोग करके) 'घट' में साध्य की प्रसिद्धि होती है। अतः 'अवेद्यत्व' की अप्रसिद्धि का दोष नहीं है। एवं च महाविद्याप्रयोग के द्वारा भी 'अवेद्यत्व' की प्रसिद्धि की जा सकती है।

महाविद्याप्रयोग उस अनुमान को कहते हैं, जिसके 'साध्य' का समन्वय, 'दृष्टान्त' में किसी अन्य पद्धति से किया जाय, और 'पक्ष' में किसी अन्य पद्धति से किया जाय।

तथाहि—प्रकृत अनुमान में 'एतद्घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्व के अनधिकरण का भेद',—'साध्य' है। 'शुद्ध वेद्यत्व' तो जहाँ-कहीं सर्वत्र रहता है, किन्तु 'एतद् घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्व' इस घट' से भिन्न 'पट' आदि में ही रहेगा, इस कारण, 'विशिष्टवेद्यत्व' का अधिकरण होगा 'पट आदि', और अनधिकरण होगा 'एतद् घट'। इस 'अनधिकरण' का भेद रहेगा, दृष्टान्तरूप 'पट' में ही। दृष्टान्तरूप 'पट' में 'भेद' रूप साध्य की प्रसिद्धि होने का कारण यह है कि उस 'पट' में एतद् घटान्यत्व' है। अन्यथा साध्यप्रसिद्धि न होती।

अब 'पक्ष' की ओर दृष्टि दीजिये—पक्षरूप जो 'एतद्घट' है, उसमें 'एतद् घटान्यत्व' नहीं है। अतः 'पक्ष' में 'साध्य' का समन्वय करने के लिये हमें बाध्य होकर 'पक्ष' से भिन्न किसी दूसरे को 'वेद्यत्व' का अनधिकरण अवश्य ही स्वीकार करना होगा, जो **एतद्घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्व** का अनधिकरण हो सके। उसमें भी यद्यपि **'एतद्घटान्यत्व'** रूप 'विशेषण' है, तथापि 'वेद्यत्व' रूप 'विशेष्य' के न रहने से उसे विशिष्ट का अधिकरण नहीं कह सकते, अपितु 'विशिष्ट' का अनधिकरण ही कहना होगा, और उससे अन्य—'पक्ष' होगा। एवञ्च **निष्कर्ष** यह है कि विवश होकर हमें जो 'वेद्यत्व' का अनधिकरण मानना पड़ा उस कारण 'अवेद्य' में अवेद्यता प्रसिद्ध हो गई।

प्रकृत **'स्वयं प्रकाशत्व'** के अनुमान में 'अप्रसिद्ध विशेष्यता' भी नहीं है, क्योंकि 'अनुभूति' रूप 'विशेष्य' (धर्मी = पक्ष), अपनी स्वप्रकाशता से ही प्रसिद्ध है, और वही 'हेतु' का 'आश्रय' भी है। अतः **'प्रसिद्ध अनुभूति'** रूप आश्रय की प्राप्ति हो जाने से 'हेतु' के आश्रय की भी 'असिद्धि' नहीं कह सकते, इसलिये **'आश्रयासिद्धि'** दोष भी नहीं है।

शङ्का—अनुभूति (चैतन्य) तो एकात्मस्वरूप हुआ करती है, अर्थात् एक ही है। अतः **'अनुभूतित्व' सामान्य** (जाति) की असिद्धि है। क्योंकि **उदयनाचार्य** ने

अपनी किरणावली में **छह धर्मों को** 'जाति' का बाधक बताया है। तथा।हि—**व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जाति-बाधक-संग्रहः'** ॥ अर्थात् 'आकाश' **व्यक्ति का अभेद** (एक) होने से (अनेकता का अभाव रहने से) सामान्य (जाति) का **'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्'** लक्षण 'आकाशत्व' धर्म में घटित (समन्वित) नहीं होता है, इस कारण 'आकाशत्व' धर्म को 'जाति' शब्द से नहीं कहा जाता। तथा **'घटत्व-कलशत्व'** ये पृथक् 'जाति' नहीं मानीं जातीं, क्योंकि व्यक्ति की **'तुल्यता'** उसमें बाधक है। तथा **'सङ्कर'** दोष से **'भूतत्व, मूर्तत्व' धर्म** को जाति' शब्द से नहीं कहा जाता। 'सङ्कर' उसे कहते हैं, जहाँ **'परस्परात्यन्ताभावाधिकरणवृत्तिधर्म'**, अन्यत्र कहीं एकत्र रहें। **'अनवस्था'** दोष भी 'जाति' के मानने में बाधक होता है। अतएव **'जाति'** पर **'जातित्व'** धर्म को 'जाति' शब्द से नहीं कहा जाता। **रूपहानि** (स्वरूप की हानि) भी **'अन्त्य विशेष'** में **'विशेषत्व' धर्म** को 'जाति' कहने में बाधक बनती है। तथा **'असम्बन्ध'** भी **'समवायत्व'** और **'अभावत्व'** धर्म को 'जाति' रूप समझने में बाधक होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि **'एकव्यक्तिवृत्तित्व** भी छह जाति-बाधकों में से एक है। अतः एक व्यक्ति रूप आकाश के समान **'अनुभूति'** (चैतन्य) भी एक ही व्यक्ति है। उस कारण 'अनुभूतित्व' धर्म को **जाति** नहीं कह सकते, तथापि **भिन्न-भिन्न उपाधियों के आधार पर** 'अनुभूति' व्यक्तियाँ भी अनेक हो सकती हैं। अतः कल्पभेद से अनेक 'चन्द्र' व्यक्तियों की कल्पना करके 'चन्द्रत्व' जाति के समर्थन के समान **औपाधिक भेद से** 'अनुभूति' व्यक्तियों को अनेक मानकर **'अनुभूतित्व' धर्म** को 'जाति' कहा जा सकता है। **'अनुभूतित्व'** को 'जाति' मान लेने से **पारमार्थिक एक अनुभूति के सिद्धान्त का** विरोध भी नहीं हो रहा है। क्योंकि जैसे **काल्पनिक प्रतिबिम्ब** अपने बिम्ब का साधन होता है, वैसे ही **काल्पनिक 'अनुभूतित्व'**—हेतु भी अपने 'साध्य' (स्वप्रकाशत्व) का साधक होता है। **एवञ्च** 'अनुभूति' के एक होने से 'अनुभूतित्व' हेतु में **'स्वरूपासिद्धि'** दोष का जो उद्भावन किया था, वह भी हमारी उक्त युक्ति से उपस्थित नहीं हो रहा है। अतः **'स्वरूपासिद्धि' दोष** भी नहीं है। **प्रतिवादी** भी 'अनुभूतित्व' सामान्य, (जाति) को मानता है, इसलिये उसके मत में भी हेतु (अनुभूतित्व) की असिद्धि नहीं है।

शङ्का—**वेदान्ती** 'अनुभूतित्व' को 'कल्पित' मानता है और **प्रतिवादी** उसको अकल्पित (सत्य) मानता है। अतः **वेदान्ती** का अभिमत 'अनुभूतित्व', **प्रतिवादी** के मत में तो 'असिद्ध' ही है, **उसी तरह** प्रतिवादी का अभिमत 'अनुभूतित्व'

वेदान्ती के मत में असिद्ध है। एवञ्च 'हेतु' की असिद्धि प्राप्त हो रही है, क्योंकि हेतु में **कल्पितत्व** और **अकल्पितत्वरूप** जो 'वैधर्म्य (विरोधी धर्म) है, उनमें से अन्यतर (दो में से एक) की असिद्धि प्रत्येक के मत में हो रही है। अर्थात् **प्रतिवादी** को 'कल्पित अनुभूतित्व' की असिद्धि, और **वेदान्ती** को 'अकल्पित अनुभूतित्व' की असिद्धि प्राप्त हो रही है।

समा०—उपर्युक्त शङ्का में कोई औचित्य प्रतीति नहीं हो रहा है। क्योंकि हमने कल्पित या अकल्पित किसी भी प्रकार के विशेष (भेद) की विवक्षा किये विना ही सामान्यरूप से 'अनुभूतिमात्र' को 'हेतु' बनाया है। अर्थात् **अवधीरित-कल्पिताऽकल्पितविशेष** यानी कल्पित या अकल्पित इस प्रकार का कोई भी विशेष (भेद) जिसमें नहीं है, ऐसे 'अनुभूतित्व' को यानी 'अनुभूतित्वमात्र' को सामान्यतया हेतु बनाया है, जो सामान्यतया प्रयुक्त 'अनुभूतित्व' मात्र हेतु, दोनों के मत में सिद्ध है। यानी किसी के भी मत में असिद्ध नहीं है।

अन्यथा (सामान्यरूप से अनुभूतित्वमात्र को यदि हेतु के रूप में प्रयुक्त न करें तो) **'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्'** इस प्रसिद्ध अनुमान में 'धूमवत्वात्' हेतु के विषय में भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यहाँ **'महानसीय धूम'** हेतु है, या **'पर्वतीयधूम'** हेतु है ? अर्थात् 'तद्देशनिष्ठत्व' (महानसदेशवृत्तित्व), और 'एतद्देश-निष्ठत्व' (पर्वतदेशवृत्तित्व) के विकल्प (भेद) प्रदर्शित करके 'असिद्धि' को बताया जा सकता है। **अभिप्राय** यह है कि 'धूम' में पर्वतीयत्व (पर्वतवर्तित्व) और महानसीयत्व (महानसवर्तित्व) धर्म से भेद मानकर यदि 'महानसवृत्ति धूम' को 'हेतु' कहें तो उसकी **'पर्वत'** (पक्ष) में असिद्धि (स्वरूपासिद्धि) होती है, क्योंकि महानसीयधूम 'पर्वत' में नहीं रहता। और यदि **'पर्वतवृत्तिधूम'** को हेतु कहें तो **'दृष्टान्त'**, साधन (हेतु) से रहित यानी 'दृष्टान्त' में **साधनाभाव** प्राप्त होता है, क्योंकि **'पर्वतीयधूम'**, महानसरूप दृष्टान्त में नहीं रहता। अतः **पर्वतीयत्व** और **महानसीयत्व** भेद को त्याग कर (पर्वतीयत्व-महानसीयत्व आदि कुछ भी विवक्षित न करके) जैसे **'धूमवत्त्व' मात्र** को 'हेतु' माना जाता है, उसी प्रकार **कल्पितत्व** (मिथ्यात्व) और **अकल्पितत्व** (सत्यत्व) भेद को त्याग कर 'अनुभूतित्व' मात्र को 'हेतु' माना गया है, जिससे 'अन्यतरासिद्धि' नहीं हो पाती।

यदि कोई अन्यथाऽसिद्धि की आशंका करे तो उसका भी परिहार करने के लिये ग्रन्थकार ने बताया है कि **'न च व्याप्यत्वाऽसिद्धिः'**। 'अनुभूतित्व' हेतु में **'स्वप्रकाशत्व'** साध्य की व्याप्ति रहने से **असिद्धिरूप** 'व्याप्यत्वाऽसिद्धि' भी—

नहीं है। क्योंकि 'हेतु' जब सोपाधिक (उपाधि के सहित) होता है, तभी उसे 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहा जाता है। किन्तु प्रकृत में तो 'हेतु' केवल व्यतिरेकी है। अतः केवलव्यतिरेकी हेतु में 'उपाधि' का संभव ही नहीं है। क्योंकि **'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः'** अर्थात् जो धर्म 'साध्य' का व्यापक और 'साधन' का अव्यापक रहता है, उसको 'उपाधि' कहते हैं। यथा—'धूमवान् वह्नेः' में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' को 'उपाधि' कहा गया है। यह 'आर्द्रेन्धसंयोग', 'धूम' (साध्य) का 'व्यापक' और 'वह्नि' (हेतु) का 'अव्यापक' रहता है। निष्कर्ष यह है कि साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापफ जो 'धर्म' रहेगा, वह 'अन्वयव्यतिरेकी' ही होगा। वह धर्म, 'केवलव्यतिरेकी हेतु' के 'साध्य' के साथ 'पक्ष' के अतिरिक्त स्थल में 'अन्वयी' कैसे हो सकेगा ? क्योंकि 'पक्ष' से अन्यत्र जिस 'साध्य' का निश्चय न हो, उसी 'साध्य' से युक्त रहने वाले 'हेतु' को 'केवलव्यतिरेकी' कहा करते हैं। उस प्रकार के 'साध्य' का सहयोग 'पक्ष' के अतिरिक्त स्थल में होना संभव ही नहीं है। 'पक्ष' में 'उपाधि' को 'साध्य' से अन्वित कहें, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभी (अनुमानारंभकाल में) प्रतिवादी को 'साध्य' सन्दिग्ध है, उसे उसका निश्चय नहीं हुआ है। प्रतिवादी को 'पक्ष' में यदि 'साध्य' का निश्चय हो तब तो हमारे अभीष्ट की ही (अनुभूति में स्वयम्प्रकाशता की ही) सिद्धि हो जायगी। 'उपाधि' कल्पित होने पर भी, वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किञ्च—'पक्ष' में 'उपाधि' के रहने पर उसमें (उपाधि में) साधन की व्यापकता भी अवश्य रहेगी, जिससे 'साधनाऽव्यापकत्व' (साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) रूप 'उपाधि' का लक्षण ही समन्वित नहीं हो पायेगा।

शंका—यदि 'साध्य' के सद्भाव में (साध्यसमानाधिकरणक) कोई उपाधि नहीं बन रहा है, अर्थात् 'साध्य के व्यापकत्वादिलक्षण' से युक्त कोई उपाधि नहीं हो पा रहा है, तब भी 'साध्याभावविषयक (साध्य के अभाव में) ही 'वस्तुत्व, गुणत्व' आदि को उपाधि मान लेंगे और उससे (उपाधि से) 'पक्ष' में साध्याभाव' का अनुमान कर लेंगे—**'अनुभूतिः, स्वप्रकाशत्वाभाववती, गुणत्वात् , इच्छादिवत्'**। प्रतिवादी 'अनुभूति' को 'आत्मा' का 'गुण' मानता है। इसलिये 'हेतु' की असिद्धि नहीं है।

समा०—किन्तु ऐसी शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि 'यत्र उपाधिः तत्र साध्याऽभावः' अर्थात् जहाँ 'गुणत्वरूप उपाधि' है, वहाँ 'स्वप्रकाशत्वरूप साध्य

नहीं है। इस प्रकार 'उपाधि' को 'साध्याभाव' के बोधकरूप में मानना होगा, और उसके लिये (उपाधि को साध्याभाव का बोधक या साधक बनाने के लिये) उपाधि को 'साध्याभाव' का 'व्याप्य' कहना होगा। अर्थात् 'जहाँ-जहाँ उपाधि हैं, वहाँ-वहाँ साध्याभाव है'—ऐसी व्याप्ति बनानी होगी। अन्यथा यानी 'उपाधि' को व्याप्य और 'साध्याभाव' को व्यापक न मानने पर 'उपाधि' के रहते हुए भी, 'अव्यापक' होने से 'साध्याभाव' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'साध्य' ही रहेगा। अर्थात् 'गुणत्व' रूप उपाधि के रहते 'स्वप्रकाशत्व' रूप साध्य रहेगा, किन्तु 'अनुभूति' रूप पक्ष में 'गुणत्व' रूप उपाधि के विद्यमान रहते (साध्य) स्थित रह सके, यह तो संभव नहीं है, क्योंकि 'अनुभूति' रूप पक्ष में 'गुणत्व' रूप उपाधि भी रहे और 'अनुभूतित्व' हेतु भी रहे, तो 'गुणत्व' रूप उपाधि को 'अनुभूतित्व' रूप हेतु की अपेक्षा अधिकदेशवृत्ति मानना होगा। तब 'गुणत्व' उपाधि, 'अनुभूतित्व' रूप हेतु (साधन) का 'व्यापक' ही बन जायेगा, अव्यापक नहीं। तब तो उसमें 'उपाधित्व' ही नहीं बन पायेगा, क्योंकि 'उपाधि' बनने के लिये उसे 'साधन' का अव्यापक होना चाहिये, अन्यथा वह उपाधि नहीं बन सकेगा। अतः 'पक्ष' से भिन्न कहीं अन्यत्र ही उपाधि (गुणत्व) के रहने पर 'साध्य' का सद्भाव कहना होगा, जिससे साध्य का व्यापक वह 'उपाधि' बन सके। ऐसा होने पर केवलव्यतिरेकत्व' का तो अभाव ही हो जायेगा, यानी 'हेतु' की केवलव्यतिकेता तो भंग ही हो जायेगी। अभिप्राय यह है कि साध्य का व्यापक होता हुआ, साधन का अव्यापक बनने वाला उपाधि तो अन्वय-व्यतिरेकी हेतु के स्थल में ही होता है, अन्यत्र नहीं। जैसे—**'पर्वतो धूमवान् वह्नेः'** यहाँ पर 'आर्द्रेन्धन संयोग' उपाधि होता है। उसका 'महानस' में अन्वय और 'ह्रद' में व्यतिरेक रहता है। 'वह्नि' रूप हेतु, तप्त अयोगोलक में भी रहता है, किन्तु वहाँ पर 'उपाधि' के न रहने से 'हेतु' (साधन) का अव्यापक और साध्यरूप धूम का व्यापक वह (आर्द्रेन्धनसंयोग) रहता है, तथापि वह स्वरूपतः नहीं, अपितु अपने अभाव (स्वाऽभाव) से 'धूम' रूप साध्य के आभाव का बोधक, बनकर 'वह्नि' के स्थानभूत (स्थानापन्न) तप्त अयोगोलक में रहता है। इस प्रकार के उपाधि का 'केवलव्यतिरेकी' स्थल में असंभव ही है। इस रीति से आश्रयाऽसिद्धि, स्वरूपाऽसिद्धि, और व्याप्यत्वाऽसिद्धि से रहित 'अनुभूतित्व' हेतु 'केवलव्यतिरेकी' है यह स्पष्ट होता है।

अभिप्राय यह है कि उक्त दोषों से बचने के लिये 'उपाधि' को 'साध्याभाव का व्याप्य' भी नहीं बना सकते। क्योंकि **'अनुभूतिः वेद्या वस्तुत्वात् घटवत्'** यह केवलान्वयी अनुमान करेंगे और उसके द्वारा प्रकृत पक्ष में 'स्वयं प्रकाशत्व' रूप

साध्य के अभाव को ही सिद्ध करना पड़ेगा, किन्तु वहाँ 'वस्तुत्व' में 'उपाधित्व' का होना असंभव है, क्योंकि 'वस्तुत्व' तो केवलान्वयी धर्म है। वह 'साधन' का व्यापक ही रहेगा, 'अव्यापक' नहीं। इसलिये 'अनुभूतित्व' हेतु को किसी भी प्रकार से 'असिद्ध' नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि 'स्वप्रकाशत्व' के अनुमान में 'अनुभूति' (स्वप्रकाशत्वाऽभाव-विशिष्ट को 'वेद्य' बताने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि वह भी 'वस्तु' है, जैसे 'घटपट' आदि वस्तुएँ 'वेद्य' हैं, वैसे ही 'अनुभूति' भी 'वेद्य' है। इस केवलान्वयी 'वस्तुत्व' रूप 'हेतु' से ही 'स्व-प्रकाशत्व' का अभाव 'वेद्य' है —यह कहना होगा, किन्तु यहाँ पर 'वेद्यत्व' के साधक 'वस्तुत्व' को मानने पर भी 'अनुभूतित्वहेतुक' अनुमान में उसे 'उपाधि' नहीं कह सकते। क्योंकि वस्तुत्व' तो 'केवलान्वयी' है। उसे यदि 'उपाधि' बनाना है, तो अनुभूतित्वरूप हेतु की अव्यापकता उसमें दिखानी होगी, किन्तु वह संभव नहीं है। क्योंकि 'साधन' (हेतु) का अव्यापक हुए बिना उसमें 'उपाधित्व' नहीं हो सकेगा। एवं च 'अनुभूतित्व' हेतु यहाँ पर 'असिद्धि दोष' से दूषित नहीं है।

उसी तरह 'अनुभूतित्व हेतु' विरुद्धदोष से भी दूषित नहीं हो रहा है। 'विरुद्ध हेतु' उसे कहते हैं, जो 'हेतु' साध्याभाव का साधक होता हो। जैसे, **'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'** में 'कृतकत्व' हेतु है। यह 'कृतकत्व' हेतु साध्याभाव (नित्यत्वाभाव) का साधक होने से 'विरुद्ध' हेतु है। साध्याऽभाव का साधक हेतु 'विपक्ष' में ही रहता है, इसी कारण वह 'साध्य' की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाता है। यह स्थिति 'अनुभूतित्व' हेतु की नहीं है। क्योंकि 'अनुभूतित्व' हेतु, वेद्य जो 'घट, पटादि' विपक्ष है, उसमें नहीं रहता है। अतः उसे 'विरुद्ध' नहीं कह सकते।

तथा 'अनुभूतित्व' हेतु को 'अनैकान्तिक' अर्थात् साधारण व्यभिचारी भी नहीं कह सकते। क्योंकि वह 'विपक्ष' में नहीं रहता। वह 'विपक्ष' से व्यावृत्त ही रहता है। **पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्'** में 'प्रमेयत्व' हेतु, साधारण-अनैकान्तिक (साधारण व्यभिचारी) है। क्योंकि वह (प्रमेयत्व हेतु), **वह्निरूप साध्यवदन्य-ह्रदवृत्ति** होने से व्यभिचारी है, अर्थात् साधारण व्यभिचारी है। साध्य 'वह्नि' है, साध्यवान् 'पर्वतादि' पक्ष है, उस (पक्ष) से अन्य जो 'जलह्रद', वह विपक्ष है, उसमें भी 'प्रमेयत्व' हेतु रहता है। इसलिये 'प्रमेयत्व' हेतु को साधारण अनैकान्तिक

कहा जाता है। वैसा हमारा 'अनुभूतित्व' हेतु नहीं है। इसलिये 'अनुभूतित्व' हेतु में साधारण अनैकान्तिक होने की शंका नहीं कर सकते।

तथा 'अनुभूतित्व' हेतु को 'असाधारण अनैकान्तिक' भी नहीं कह सकते। क्योंकि **'साध्याऽसमानाधिकरण हेतु'** को असाधारण अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे, **'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्'** में 'शब्दत्व' हेतु, नित्यत्व, (निश्चितसाध्यवान् सपक्षादि) और अनित्यत्व (निश्चितसाध्याभाववान् घटादि विपक्ष) दोनों से व्यावृत्त है, वह तो केवल 'शब्दमात्र' में ही रहता है। अतः 'शब्दत्व' हेतु, **'साध्य समानाधिकरण'** नहीं है, इस प्रकार उसकी असाधारणता का निश्चय हो जाने पर **'शब्दो नित्यः'** इस अनुमिति को वह नहीं होने देता। यह स्थिति 'अनुभूतित्व' हेतु की नहीं है। इस हेतु का कोई 'सपक्ष' ही नहीं है। जिससे वह व्यावृत्त हो, और विपक्ष 'घट' आदि हैं। **सपक्षवृत्तित्व और विपक्षवृत्तित्व** दोनों का अभाव, जिस 'हेतु' में रहता है, उस पक्षमात्रवृत्ति 'हेतु' को 'असाधारण अनैकान्तिक' कहा जाता है। एवं च 'असाधारण अनैकान्तिक' का लक्षण 'अनुभूतित्व' हेतु में घटित न हो पाने से उसको असाधारण अनैकान्तिक नहीं कह सकते।

शंका—यदि कोई यह कहे कि 'विपक्ष' में यानी अनुभाव्यत्वरूप (वेद्यत्वरूप) विरुद्ध पक्ष में 'बाधक तर्क' का 'अभाव' रहने से 'पक्ष' में ही 'साध्य' का सन्देह हो सकता है, उस कारण 'सन्दिग्ध अनैकान्तिकता' अवश्य होगी।

समा०—उक्त शंका के लिये कोई अवसर ही नहीं है, क्योंकि विपक्ष में बाधक तर्क है—**'अभूतिर्यदि वेद्या (अनुभाव्या) स्यात् तर्हि अनवस्था स्यात्'**। अर्थात् 'अनुभूति' यदि 'वेद्य' होगी तो अनवस्था होगी।

शंका—'अनुभूतिः अनुभाव्यैव'—अर्थात् 'अनुभूति, अनुभाव्य' ही होती है—ऐसा यदि नियम हो, तो 'अनवस्था' का भय भी हो, किन्तु वैसा कोई नियम तो है नहीं, तब अनवस्था का प्रश्न ही कहाँ है ?

प्रश्न—यदि अनुभूति के अनुभाव्य होने का (सभी अनुभूतियाँ 'वेद्य' ही हों,—ऐसा) नियम नहीं है, तो 'अननुभूत अनुभूति' से अर्थविषयकव्यवहार कैसे किया जायेगा ?

उत्तर—अर्थविषयक व्यवहार तो 'अनुभूति' की 'स्वरूपसत्ता' (अज्ञातसत्ता) से भी उपपन्न हो सकता है।

शंका—जिस अनुभूति में कोई प्रमाण न हो, उसकी 'अज्ञातसत्ता' का निश्चय भी कैसे हो पायेगा ? अतः अज्ञातसत्ता के निश्चय में किसी प्रमाण के न होने से

(निष्प्रमाण होने से) ही उससे व्यवहार की उपपत्ति का होना भी नहीं कह सकते। निष्कर्ष यह है कि एक **व्यवसायात्मक ज्ञान** होता है और तदनन्तर दूसरा **अनुव्यवसायात्मक ज्ञान** होता है। 'अनुव्यवसायात्मक द्वितीय ज्ञान' से व्यवसायात्मक प्रथम ज्ञान 'वेद्य' (अनुभाव्य) होता है। लोक में 'व्यवसाय' और 'अनुव्यवसाय' का जो शाब्दिक व्यवहार (उच्चारण, कथन) होता है, वह 'अनुव्यवसाय' की 'अज्ञातसत्ता (स्वरूपसत्ता) मात्र' से ही चलता रहता है, किन्तु जो अनुव्यवसाय (अनुभूति), किसी प्रमाण के द्वारा नहीं बताया गया है, उसकी 'अज्ञातसत्ता' (स्वरूपसत्ता) को भी कैसे जाना जायेगा ? क्योंकि जाना वही जाता है, जो प्रमाण से बताया गया हो। अतः अनुव्यवसाय (अनुभूति) की अज्ञातसत्ता भी अप्रामाणिक (प्रमाणरहित) होने से व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो रही है। अज्ञातसत्ता को अप्रामाणिक कहने का तात्पर्य यह नहीं हैं कि 'सत्ता' में प्रमाण ही नहीं है, अपितु जिज्ञासा होने पर अर्थात् यदा कदाचित् अज्ञात (अनुभूति, अनुव्यसाय आदि की) सत्ता की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) उत्पन्न होगी, तब 'व्यवहार' आदि लिङ्ग (हेतु) से 'सत्ता' का अनुमान कर लिया जायगा, यानी 'व्यवहारादि' हेतु से वह 'सत्ता' अनुमित (प्रमित = ज्ञात) हो जायेगी।

समा०—उक्त शंका उचित प्रतीत नहीं हो रही है। क्योंकि **'अयं घटः'**, और **'घटमहमनुभवामि'** अर्थात् यह घट है, और मैं घट का अनुभव करता हूँ, इन दो प्रकार के अनुभवों (व्यवसाय और अनुव्यवसाय) से अतिरिक्त कोई 'अन्य अनुभवपरम्परा' (अनुभूतिपरम्परा) किसी को भी ज्ञात नहीं है। अतः व्यवहारादि हेतु के बल पर 'सत्ता' की अनुमिति का स्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि **'अयं घटः'**, और **'घटमनुभवामि'** या **'घटं जानामि'** इन दोनों व्यवहारों से 'व्यवसाय', 'अनुव्यवसाय' की अनुमिति मान भी लें, तो 'अनुव्यवसायविषयक ज्ञान' की अनुमिति के लिये, किसी 'हेतु' के न रहने से 'अज्ञात अनुव्यवसाय की सत्ता' ही सिद्ध नहीं होगी, परम्परा की तो वार्ता ही कहाँ है ?

यदि **'अनुव्यवसायादिविषयक अनुभव** (ज्ञान) के बिना ही 'अनुभूतिः परम्परा की सत्ता' को मान लें, तो उसी प्रकार से (ज्ञान के बिना ही) 'प्रमेय' (घट, आत्मा) आदि की 'सत्ता' को भी मान लिया जायेगा, तब 'प्रमेय' की 'सत्ता' के लिये 'प्रमाण' के अन्वेषण की आवश्यकता ही क्यों होगी ? और यदि 'अनुव्यवसायविषयक घटं जानामि' को प्रमाण (हेतु) मानें अर्थात् प्रमाणान्तर के

आधार पर 'अनुभूतिपरम्परा' को माना जाय तो उस अनुव्यवसायविषयक (तृतीयज्ञानविषयक) प्रमाण का अन्वेषण करना होगा, तब तो 'अनवस्था' दोष तदवस्थ ही रहेगा।

शंका—'द्वितीय अनुभूति' (अनुव्यवसाय), स्वविषयक प्रमाण के अभाव में भी अपने 'स्वभावविशेष' से ही अपने विषय (प्रथम अनुभूति अर्थात् व्यवसाय) का व्यवहार (विशेष व्यवहार) सम्पन्न करा देगी।

समा०—फिर तो 'प्रथम अनुभूति' (व्यवसाय) भी अपने स्वभावविशेष से ही (अन्य किसी प्रमाण के बिना ही) अपना व्यवहार चला लेगी। तब तो 'अनुभूतिपरम्परा' का स्वीकार करना ही व्यर्थ है।

इस प्रकार 'अनुभूति' को अनुभाव्य (वेद्य) मानने पर 'अनवस्था' होगी, और द्वितीय, तृतीय आदि 'अनुभूति' में कहीं भी 'प्रमाण' न होने पर मूलपर्यन्त अनुभूति के स्वरूप की सिद्धि ही नहीं हो पायेगी, अर्थात् 'असिद्धि' ही रहेगी,—यही विपक्षबाधक **प्रबल तर्क** है। अतः 'सन्दिग्ध अनैकान्तिकता' भी नहीं हो सकती।

किञ्च 'स्व-विषय' के प्रकाशन के समय यदि 'अनुभूति' भी 'स्वयं प्रकाशित' न होती हो तो 'विषय-प्रकाश' होने के पश्चात् जिज्ञासु व्यक्ति को अपनी 'अनुभूति' में 'संशय' (मुझे घट का ज्ञान हुआ है, या नहीं?) अथवा 'विपर्यय' (मुझे घटाभाव का ज्ञान हुआ) अथवा 'विपरीत निश्चय' (मुझे ज्ञान ही नहीं हुआ, यह निश्चय) होना चाहिये। किन्तु किसी भी जिज्ञासु को 'अपनी अनुभूति' के विषय में इस प्रकार का 'संशय, या विपर्यय, या विपरीत निश्चय' होता नहीं है। क्योंकि जिज्ञासु (देखने वाले व्यक्ति) को पूछा जाय कि 'क्या आपने अमुक वस्तु को देखा है, या नहीं? तब वह देखने वाला व्यक्ति न तो 'संशय' प्रकट करता है, न 'विपर्यय' और न 'विपरीत प्रमा' (विपरीत निश्चय) ही प्रकट करता है, प्रत्युत 'मैंने उस 'वस्तु' को देखा है—यह दृढ़ता से कहता है, अर्थात् अपना निश्चय ही प्रकट करता है। इस कारण यह स्वीकार करना ही होगा कि 'अनुभूति' **स्वयं प्रकाशित** होती है, और 'स्व-विषयक व्यवहार' को करवाती है।

शंका—जैसे 'सुख' आदि स्वयं प्रकाश नहीं हैं, 'अन्य ज्ञान' से ही प्रकाशित होते हैं, फिर भी उनके विषय में कोई 'संशय' नहीं होता, वैसे ही 'विषयप्रकाश' के साथ-साथ 'प्रथम अनुभूति' भी किसी 'दूसरी अनुभूति' से प्रकाशित हो जायेगी।

एवं च 'अनुभूति' **परप्रकाश्य**—होती हुई भी 'सुख' आदि के समान ही अवश्य 'वेद्य' होने से उसमें भी 'संशय' आदि का न होना उचित ही है।

समा०—किन्तु उक्त शंका उचित प्रतीत नहीं हो रही है। जैसे, 'सुखादि-प्रकाश' का धर्मी 'विषय' होता है, वैसे ही 'अनुभूति' (अनुभव) के 'धर्मी' होनेपर 'सुखादि' के समान उसमें अवश्य 'वेद्यत्व' होनेपर भी 'अनवस्था' तो बनी ही रहेगी। अर्थात् 'दूसरी अनुभूति' में 'वेद्यत्व', **तीसरी अनुभूति से,** और 'तीसरी अनुभूति' में वेद्यत्व], **चौथी अनुभूति से** इस प्रकार अनवस्था दोष से मुक्ति पाना संभव नहीं होगा। अतः 'अनुभूति' को **स्वयं प्रकाश ही** मानना उचित होगा।

वेदान्तप्रक्रिया के अनुसार तो 'सुख' आदि का तथा 'समस्त मनोवृत्ति' का 'प्रकाश', **'स्वयं प्रकाश साक्षी चैतन्य' से** होता है। इसलिये 'अनवस्था' आदि दोषों का प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता, किन्तु प्रतिवादी तार्किक के मतानुसार 'घट-पटादि बाह्य विषयों' के ज्ञान की प्रक्रिया यह है कि 'आत्मा' का 'मन' के साथ संयोग होता है, तदनन्तर 'आत्मसंयुक्त मन' का 'इन्द्रिय' के साथ संयोग होता है, पश्चात् 'मनःसंयुक्त इन्द्रिय' का 'विषय' के साथ संयोग होता है, तब कहीं **घट-पटादि** बाह्य विषयों का ज्ञान होता है।

तार्किकों की इस प्रक्रिया के अनुसार 'घट-पटादि ज्ञान' का **'समवायि-कारण'** (उपादान) 'आत्मा' होगा, और **'असमवायी कारण'** आत्म-मनःसंयोग, होगा, तथा 'अदृष्ट' आदि **'निमित्तकारण'** होंगे।

इस स्थिति में **तार्किकों से** हम पूछाना चाहते हैं कि पहिले यह बताओ कि जिस 'आत्म-मनःसंयोग' (असमवायिकारण) से 'घट' का अनुभव (ज्ञान) उत्पन्न हुआ है, क्या 'उसी आत्ममनःसंयोग' (असमवायिकारण) से **'अनुव्यवसाय'** (दूसरे अनुभव = अनुभूति) की उत्पत्ति होती है ? अथवा 'अन्य (दूसरे) आत्म-मनःसंयोग' से 'अनुव्यवसाय' (दूसरे अनुभव) की उत्पत्ति होती है ?

प्रश्नात्मक दो पक्षों में से **प्रथमपक्ष** को आप स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि एक ही 'मनःसंयोग', दोनों (अनुव्यवसाय और व्यवसाय) का 'कारण' (उत्पादक) हो, तो 'दोनों ज्ञानों' (अनुव्यवसाय और व्यवसाय) की 'उत्पत्ति', एक साथ ही (एक-काल में ही) होनी चाहिये, किन्तु 'दोनों ज्ञानों' की उत्पत्ति एक-काल में होना कदापि और कथमपि संभव नहीं है। क्योंकि **तार्किक** (प्रतिवादी), प्रथम ज्ञानविषयक दूसरे (द्वितीय) ज्ञान को **'अनुव्यवसाय'** कहता है। उसकारण

'अनुव्यवसाय' (द्वितीयज्ञान) के प्रति 'व्यवसाय' (प्रथमज्ञान) कर्मकारक है। अतएव 'प्रथमज्ञान' (व्यवसायज्ञान) को **'जनक'** कहा गया है, और 'द्वितीयज्ञान' (अनुव्यवसायज्ञान) को **'जन्य'** कहा गया है। एवञ्च 'जन्य और जनक' दोनों 'एक ही समय' में उत्पन्न कैसे हो सकेंगे ? यदि यह कहें कि 'एक ही मनः संयोग' (असमवायी कारण.), 'व्यवसाय' और 'अनुव्यवसाय' रूप दोनों कार्यों को क्रमशः उत्पन्न करता है, तो यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि 'भिन्न-भिन्न असमवायिकारण' ही भिन्न-भिन्न कार्यों (ज्ञानों) को उत्पन्न कर सकते हैं। 'एक ही असमवायिकारण' से भिन्न-भिन्न दो कार्यों की उत्पत्ति नहीं हुआ करती।

अन्यथा एक ही संयोगरूप असमवायिकारण से 'अनेक कार्य' (ज्ञान) हों तो 'आत्म-मनः संयोग' के अतिरिक्त अन्य किसी संयोग की अपेक्षा ही नहीं होगी। तब एक ही समय में उस एक आत्म-मनः-संयोग से ही 'घट का अनुभव' और 'घट का स्मरण', तथा 'घटविषयक और स्मरणविषयकप्रत्यभिज्ञा' इन तीनों की उत्पत्ति होनी चाहिये, किन्तु वैसा होता नहीं है। अतः 'उनके असमवायीकारण' (मनः-संयोग) को क्रम से ही स्वीकार करना होगा। अर्थात् तीनों ज्ञानों के 'असमवायी-कारण' (आत्ममनःसयोग) भिन्न-भिन्न हैं और क्रमिक हैं—यह मानना होगा। 'अक्रमिक (क्रमरहित) कारण' से कार्यभेद का क्रम उचित नहीं है। यदि यह कहें कि 'विषयेन्द्रियसन्निकर्ष' आदि बाह्यसामग्री (कारण) के क्रम से 'कार्य (ज्ञान) का क्रम' हो सकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'क्रमभेद' के आधार पर 'कार्य का क्रम' स्वीकार करनेपर एक साथ 'इन्द्रियसंयुक्त घट, पटादि अनेक-विषयक, अनेक ज्ञानों' की उत्पत्ति एक समय में ही होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है। 'समूहालम्बन एक ही ज्ञान' हुआ करता है। अतः 'कार्यभेद' के लिये 'असम-वायीकारण का भेद' स्वीकार करना ही होगा।

द्वितीय पक्ष (दूसरे मनःसंयोग से अनुव्यवसाय की उत्पत्ति) भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'एक मनः संयोग' से घटज्ञान (व्यवसाय) उत्पन्न हुआ, उसी क्षण में 'अनुव्यवसाय' को उत्पन्न करने के लिये 'दूसरे मनः संयोगार्थ' को (संयोगान्तर को पैदा करने के लिये) 'मन' में **क्रिया** होगी, **द्वितीयक्षण** में उक्त 'क्रियाजन्य विभाग', **तृतीयक्षण** में 'विभागजन्य पूर्वसंयोग' का नाश, **चतुर्थक्षण** में 'उत्तरसंयोग' उत्पन्न होगा, उसके बाद **पञ्चमक्षण** में 'दूसरा ज्ञान' (अनुव्यवसाय) उत्पन्न हो पायगा। इस रीति से अनेक क्षणों के विलंब से अर्थात् 'व्यवसायज्ञान' के नष्ट हो जानेपर उत्पन्न होनेवाला 'अनुव्यवसायज्ञान', अपने से पूर्व स्थित 'व्यवसायज्ञान' का

प्रत्यक्ष रूप से ग्राहक (प्रकाशक) नहीं हो सकेगा, क्योंकि **प्रत्यक्ष** (अपरोक्ष) तो 'वर्तमान (विद्यमान) विषय' का ही हुआ करता है।

किञ्च— **ज्ञान** के प्रकाशित न होनेपर भी (अप्रकाशितज्ञान से भी) 'व्यवहार' किया जा सकता है–यह यदि कहें तो,जैसे 'विषय', **स्वयं-प्रकाश** नहीं है, तथापि वह (विषय), 'प्रकाश' का उत्पादक (जनक) है, उसीतरह 'ज्ञान' भी केवल 'दूसरे ज्ञान' का जनक ही हो सकता है। क्योंकि 'विषय' **स्वयं प्रकाशरूप** नहीं है। इसलिये वह, 'व्यवहार साधक' नहीं हो सकेगा। 'घट-पट आदि विषय' (पदार्थ) **स्वयं प्रकाश** हैं नहीं और न **एक-दूसरे के प्रकाशक ही** हैं। 'चक्षु' के समान ही **'ज्ञान'** भी स्वयं प्रकाशरूप है नहीं, तब वह 'ज्ञान' अपने से भिन्न दूसरे 'ज्ञान' को पैदा कर देने मात्र से किसी अर्थ (विषय) के व्यवहार में कारण (हेतु) कैसे बन सकता है ? और 'व्यवहार' के न बननेपर 'जगत् अन्धकारमय' हो जायगा।

शंका—'घटज्ञानवान् अहमस्मि', 'ज्ञातोघटः' [मैं घटज्ञानवाला हूँ, और घट ज्ञात है] इस प्रकार के प्रत्यक्ष होने से ही **'अनुभूति'** में 'वेद्यत्व' की प्रतीति होती है, तब **अनुभूति** की 'स्वप्रकाशता' को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त जो 'अनुभूतित्व' हेतु है, वह 'बाधित' हो जायगा।

समा०—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'वेद्यत्व' के बिना भी 'अनुभूति' की अपनी **स्वयं प्रकाशता** (स्वतः स्फुरण) से उक्त व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। **अपिच** 'विदितोघटः' [घट विदित है] इस 'अनुव्यवसाय' से 'घट' में ही 'वेद्यत्व' की प्रतीति होती है, 'अनुभूति' में नहीं। क्योंकि **'विदितो'-या 'ज्ञातो घटः'** इस वाक्य में **'विदितत्व'** (ज्ञातत्व), 'घट' का विशेषण है, 'ज्ञान' का नहीं। अपिच यह मान भी लें कि उक्त 'अनुव्यवसाय' से व्यवसाय रूप 'अनुभूति' का प्रत्यक्ष होता है, तथापि अनुभूति के प्रत्यक्ष होने से अनुभूतिगत 'वेद्यत्व' का तो प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, इसलिये 'प्रत्यक्ष' से 'अवेद्यत्व' का बाध नहीं हो रहा है। अर्थात् अवेद्यत्वसाधक 'अनुभूतित्व' हेतु को 'प्रत्यक्ष' के विरुद्ध नहीं कह सकते।

किञ्च 'व्यवसाय' में रहनेवाली जो 'अनुव्यवसाय' की वेद्यता है, उसका ग्रहण यदि **'अनुव्यवसाय'** से ही होना हो, तो **'अनुव्यवसाय'** को भी 'अनुव्यवसाय' का **'वेद्य'** कहना होगा, क्योंकि **'वेद्यत्व'** का विशेषण है, **'अनुव्यवसाय'**। इस रहस्य को इस प्रकार समझना चाहिये—**जैसे—सादृश्य** आदि धर्म, किसी न किसी अपने **प्रतियोगी** की अपेक्षा करते हैं, वैसे ही **'वेद्यत्व'** धर्म भी अपने **प्रतियोगी** की अपेक्षा करता है। अर्थात् **'वेद्यत्व'**, **'सादृश्य'** आदि पदार्थ (धर्म),

सापेक्ष हुआ करते हैं। केवल **'सादृश्य'** का या **'वेद्यत्व'** का ग्रहण कभी नहीं होता है, अपितु अपने प्रतियोगी से विशेषित हुए **'सादृश्य'** या **'वेद्यत्व'** का ही ग्रहण होगा। एवं च यहाँ पर भी अकेले (केवल) 'वेद्यत्व' का ग्रहण न होकर **'अनुव्यवसाय'** से विशेषित हुए 'वेद्यत्व' का ही **'अनुव्यवसाय'** से ग्रहण होगा। एवं च **'अनुव्यवसाय-विशिष्ट वेद्यत्व'** ही अनुव्यवसाय से ग्राह्य होने के कारण 'वेद्यत्व' के विशेषण बने हुए ,अनुव्यवसाय में भी ग्राह्यत्व (वेद्यत्व) प्राप्त होगा। तब **ग्राहक** और **ग्राह्य** एक ही होने से क्षणिक विज्ञान वादी **बौद्धसिद्धान्त** को ही आपने स्वीकार कर लिया कहना होगा। अर्थात् 'एक ही' (अनुव्यवसाय) में **कर्म-कर्तृ-भाव** के प्राप्त होने से **विरोध** प्राप्त होगा।

किञ्च—'वस्तुत्व' को हेतु बनाकर 'वेद्यत्व' साधक अनुमान में जो **सत्प्रति-पक्ष'** दोष बताया था, वह भी वस्तुतः नहीं है। क्योंकि 'वस्तुत्व' **हेतु** से 'वेद्यत्व' का अनुमान करने वाले को **'यद्‌यद् वस्तु, तत्तद् वेद्यम्'** (जो-जो वस्तु है, वह-वह वेद्य होती है) यह **व्याप्ति** बतानी होगी। तब उसे **प्रश्न** किया जा सकता है कि आपके द्वारा प्रदर्शित की गई 'व्याप्ति' का ग्राहक (प्रकाशक) **ज्ञान** (संवित्) 'व्याप्ति' के ग्रहण करते समय स्फुरित (प्रकाशित) होता है, या नहीं ? **प्रथम पक्ष** यदि स्वीकार करते हैं तो **'स्वयं से ही स्वयं का ग्रहण'** रूप, बौद्धों की 'स्व-प्रकाशता' प्राप्त होगी। अर्थात् बौद्ध मत में स्वीकृत 'स्व-प्रकाशता' की उपस्थिति होगी और 'व्याप्तिज्ञान के प्रकाश' (स्फुरण) को 'व्याप्तिज्ञान-जन्य' (व्याप्तिज्ञान-हेतुक) न मानकर स्वतन्त्ररूप में ('उस स्फुरण' = प्रकाश को) मानते हैं, तो **वेदान्तियों** के मत में स्वीकृत **'स्व-प्रकाशता'** को आपने स्वीकार कर लिया, यह कहा जायगा।

द्वितीय पक्ष (व्याप्ति-ग्रहण के समय में 'व्याप्ति ग्राहक ज्ञान' का प्रकाश [भान] न मानने पर) उसमें 'ज्ञानस्वरूप' (संवित्स्वरूप) वस्तुविशेष का 'अस्फुरण' (अप्रकाश यानी अज्ञान) होने से उसमें उक्त व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो पायेगा। उसकारण 'सर्वोपसंहारवती' (सर्वव्यक्तिव्यापिनी) 'व्याप्ति' का सर्वदा के लिए ही अस्त (समाप्ति) हो जायेगा। क्योंकि **'व्याप्तिग्रहण'** (जहाँ-जहाँ वस्तुत्व है, वहाँ-वहाँ वेद्यत्व है) काल में 'व्याप्तिग्राहक ज्ञान' का प्रकाश, न होने से उस ज्ञान में 'वेद्यत्व' नहीं है, किन्तु 'वस्तुत्व' है। अर्थात् 'व्याप्तिग्राहक-ज्ञान' में **'यत्र-यत्र वस्तुत्वं तत्र-तत्र वेद्यत्वम्'** इस प्रकार से व्याप्ति का ग्रहण न हो सकने के कारण व्यापकरूप से **'व्याप्ति'** गृहीत न हो सकेगी। तब

'व्याप्तिज्ञान' के बिना **'वस्तुत्व'** हेतु से **वेद्यत्व** का अनुमान कैसे होगा ? एवं च **व्याप्तिग्राहकज्ञान** में 'वस्तुत्व' तो है, किन्तु 'वेद्यत्व' नहीं है, उस कारण 'वस्तुत्व' **हेतु,** 'वेद्यत्व' का **व्यभिचारी** हो गया है। ऐसे व्यभिचरित **हेतु** में 'वेद्यत्वरूप साध्य' की व्याप्ति न रहने से 'व्याप्ति' का **भंग** हो गया है। **व्याप्तिज्ञान** के बिना 'वस्तुत्व' हेतु से 'वेद्यत्व' का अनुमान कैसे हो सकेगा ? और **व्याप्तिग्राहक ज्ञान** में 'वस्तुत्व' के रहते हुए भी **'वेद्यत्व'** के न रहने के कारण **व्यभिचारी कहे जाने वाले 'वस्तुत्व'** हेतु से प्रकृत में अनुभूतित्व **हेतु** को 'सत्प्रतिपक्षित' कैसे कह रहे हैं ? अर्थात् उसे आप 'सत्प्रतिपक्षदोष' से दूषित नहीं कर सकते। **भाट्टमीमांसक** भी **'वस्तुत्व' हेतु** को **व्यभिचरित** ही मानते हैं। क्योंकि भाट्ट-मीमांसक, **ज्ञातता** (ज्ञानजन्य-विषयनिष्ठ-प्राकट्य) में **वेद्यत्व** नहीं स्वीकार करते। वे तो **'ज्ञातता' को स्वप्रकाश** मानते हैं। **किन्तु** 'वस्तुत्व हेतु उसमें भी रहता है। **अतः** 'वस्तुत्व' हेतु, व्यभिचारी है।

नैयायिक आदि विद्वानों के मत में **'वेद्यत्व' एक धर्म** है, उस कारण **'घट-त्वधर्म'** के समान किसी न किसी में रहनेवाले **'अत्यन्ताभाव'** का वह **प्रतियोगी** होगा। तब कोई न कोई **अवेद्य पदार्थ** भी सम्भव होगा। **'वस्तुत्व'** हेतु तो **'केवलान्वयी'** है। अतः उसका भी **'विपक्ष'** कोई अवेद्य पदार्थ होगा। **उस विपक्ष में** 'हेतु' के **'वृत्तित्वाभाव'** (अवृत्तित्व) को **'विपक्षबाधकतर्क'** के बिना निश्चित रूप से नहीं कह सकते। **इसलिए** 'हेतु' में **'सन्दिग्ध अनैकान्तिकता'** के रहने से वह **'साध्यसाधक'** नहीं हो सकेगा। अर्थात् **अनैकान्तिक हेतु** से 'साध्य' का अनुमान नहीं किया जा सकेगा।

यदि यह कहें कि 'अनुभूतौ यदि वेद्यत्वं न स्यात्, वस्तुत्वमपि न स्यात्'। 'अनुभूति' में 'अवेद्यत्व' के रहने पर अर्थात् 'अनुभूति' को अवेद्य' मानने पर उसमें (अनुभूति में) 'वस्तुत्व भी नहीं रह पायेगा' —यही **'विपक्षबाधक तर्क'** है।

किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि **'स्वयं प्रकाश अनुभूति'** में 'वेद्यत्व' के बिना भी 'वस्तुत्व' का रहना **संभव हो सकता है**। इसी प्रकार **'वेद्यत्व'** के साधक **'लक्ष्यत्व'**, **'ज्ञायविषयत्व'** (अनुमानविषयत्व) आदि 'हेतुओं से **'वेद्यत्व'** साध्य का जो अनुमान किया जाता है, वहाँ पर (व्याप्तिग्रहण-काल में ग्राहक संवित् के स्फुरण या अस्फुरण पक्ष में) भी उन 'हेतुओं' में 'उक्त दोषों को समझ लेना चाहिए।

पहिले जो आक्षेप किया गया था कि 'लक्षक-पदत्व' रूप **हेतु से** 'लक्षक

अनुभूति' पद में 'लक्ष्य-विषयकज्ञानजन्यत्व' का **अनुमान** करना चाहिये, अर्थात् **'लक्ष्यविषयकज्ञानजन्यत्व'** अनुमेय है, जिससे **'स्वप्रकाशत्व'** का **भंग** हो जायेगा।

किन्तु वादी का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि **प्रतिवादी** के मत में **'अनुभूतिलक्षकत्व'** रूप हेतु, **'अनुभूति'** पद में असिद्ध है। **कारण यह है** कि आप के मत में 'अनुभूति' पद, 'अनुभूति' रूप अर्थ का **'वाचक'** ही है, 'लक्षक' नहीं है।

किञ्च—'लक्ष्यविषयकज्ञानत्वम्' इस वाक्य में 'लक्ष्यविषयकज्ञान' शब्द से (लक्ष्यज्ञानशब्द से) **'लक्ष्यकर्मकस्फुरण'** (प्रकाश) विवक्षित है? अथवा **'लक्ष्य-विषयकस्फुरण'** विवक्षित है? अथवा **'स्फुरणमात्र'** विवक्षित है? अथवा **'लक्ष्यविषयक अन्तःकरणवृत्ति'** विवक्षित है? **इतने विकल्प** आप के सामने हम उपस्थित कर रहे हैं। इनमें से **कौन सा पक्ष** आप स्वीकार कर सकते है?

उक्त **चार पक्षों** में से **प्रथम पक्ष** का स्वीकार आप कर नहीं सकते। क्योंकि 'अतीतादि' अर्थों (पदार्थों) के 'लक्षक पदों' में **व्यभिचार** होगा। कारण यह है कि 'अतीतादि पदार्थों' के **लक्षक पदों में** 'लक्षक पदत्व' रूप 'हेतु' तो रहता है, किन्तु 'लक्ष्य-कर्मक-स्फुरण' नहीं रहता। अतः 'लक्ष्यकर्मकस्फुरण' के न रहने (अभाव) से 'तज्जन्यत्व-**साध्य**' भी नहीं रहेगा अर्थात् 'साध्य' का **अभाव** रहेगा। क्योंकि 'वर्तमान पदार्थ' (वस्तु), **"क्रियाजन्य-फल'** का **आश्रय** होने से **कर्म** कहा जाता है। **प्रकृत प्रसंग** में 'ज्ञा' धातु का अर्थ 'ज्ञानक्रिया' है। 'धात्वर्थ' को 'क्रिया' कहते हैं। अतीतादि—(भूतकालिक) 'अर्थ', 'ज्ञानक्रियाजन्य विषयता' (ज्ञातता) रूप फल का न 'आश्रय' होता है और न 'ज्ञान', उससे जन्य है। इसलिए **'व्यभिचार'** हो रहा है। उसी तरह **द्वितीय, तृतीय** और **चतुर्थ** कल्पों में भी **'सिद्ध-साधनदोष'** उपस्थित होता है। क्योंकि 'अनुभूति' रूप स्फुरण में भी 'अनुभूतिविषयकत्व' रहता है। कारण यह है कि 'अनुभूतिरूप स्फुरण' (प्रकाश) भी 'अनुभूति' के व्यवहार का उत्पादक (जनक) है। इसलिये 'अनुभूति लक्षक पद' में अर्थात् **अनुभूतिविषयकस्फुरण की जन्यता**, 'अनुभूति'-रूप लक्षक पद में सिद्ध ही है यानी 'अनुभूतिविषयकज्ञानजन्यत्व' सिद्ध है। उसी को पुनः आप साधने का प्रयत्न कर रहे हैं, अतः **'सिद्धसाधन'** दोष है। और 'अनुभूति' तो 'स्फुरण' स्वरूप है। अतः उसे **'स्फुरणमात्र'** भी कह सकते हैं। उस कारण अनुभूतिलक्षक 'अनुभूति' पद में **'स्फुरणमात्रजन्यता'** भी सिद्ध है,

और उस 'अनुभूति के आकार' की '**अन्तःकरणवृत्ति**' भी होती है। अतः 'लक्ष्य-विषयक-अन्तःकरणवृत्तिजन्यता' अनुभूति के लक्षक 'अनुभूति' पद में सिद्ध ही है। उसी को पुनः साधने का प्रयत्न करने पर '**सिद्धसाधनता**' दोष कहलायेगा।

शंका—अब आप का एक प्रश्न और शेष रह जाता है, जिसमें आपने पूछा है कि 'अनुभूति' पद के '**वाच्यार्थ**' में '**स्वप्रकाशता** सिद्ध करना चाह रहे हैं ? अथवा 'अनुभूति पद के '**लक्ष्यार्थ**' में '**स्वप्रकाशता**' सिद्ध करना चाह रहे हैं ?

समा०—किन्तु यह प्रश्न ही **अनुचित** है। क्योंकि हम तो '**स्फुरणमात्र**' में **स्वप्रकाशता** को सिद्ध कर रहे हैं, जो 'स्फुरणमात्र' **उभय वादियों** के मत में स्वीकृत है। **अन्यथा** '**अनुभूति**' में '**वेद्यत्व**' का साधन करते समय **आपके समक्ष** भी **यही विकल्प** उपस्थित होगा, जिसे निवारण करना आपको कठिन हो जायेगा। अर्थात् 'अनुभूति' पद के 'वाच्यार्थ' में 'वेद्यत्व' को सिद्ध करने का प्रयत्न करोगे तो सिद्धसाधन दोष होगा और 'लक्ष्यार्थ' में 'वेद्यत्व' को सिद्ध करोगे तो आपके ही मत के अनुसार 'लक्ष्यार्थ' की 'असिद्धता' होगी। इसलिये 'वादी-प्रतिवादी' **दोनों को** मान्य रहने वाले 'स्फुरणमात्र' यानी **स्फुरणसामान्य** का ग्रहण करना ही उचित है। इस लिए **उसीमें** हम 'स्वप्रकाशता को सिद्ध कर रहे हैं।

पूर्वपक्षी—आपकी प्रक्रिया के अनुसार 'अनुभूति की **स्वप्रकाशता** के सिद्ध होने पर भी '**घटः, स्वप्रकाशः, घटत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा पटः**'—अर्थात् 'घट' स्वप्रकाश है, क्योंकि वह 'घटत्व' से युक्त है, 'जो वैसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है, जैसे 'पट'। इस **अनुमानाभास** (मिथ्यानुमान) के समान ही **आपके द्वारा** किये जाने वाले '**स्वप्रकाशत्वानुमान**' का '**हेतु**' असद्धेतु है, '**सद्धेतु**' नहीं है। **अतः** 'स्वप्रकाशत्वानुमान' भी अनुमानाभास ही है।

सिद्धान्ती—पूर्वपक्षी का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पृथु-वर्तुलाकार उदर वाला, कम्बुग्रीवादिमान् आकार (रूप) वाला और 'स्पर्श आदि गुणों वाला '**पदार्थ**' 'घट' शब्द का '**वाच्यार्थ**' होता है। अर्थात् उक्त आकृति वाला और स्पर्श करने योग्य पदार्थ को ही लोकव्यवहार में 'घट' शब्द से कहा करते है। इस प्रकार के ही 'घट' शब्द के 'वाच्यार्थ' में तो आप 'स्वप्रकाशत्व' को सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि उसको तो सभी कोई 'नेत्र' (आंख) तथा 'त्वक्' आदि इन्द्रिय से यानी '**प्रत्यक्ष**' प्रमाण से देखते हैं। **ऐसे** '**घट**' को यदि आप '**स्वप्रकाश**' कहेंगे तो 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के विरुद्ध आप कह रहे हैं—ऐसा सभी लोग कहेंगे। क्योंकि चक्षु-

रिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय प्रमाणों से ही 'घट' (घटशब्द-वाच्यार्थरूप पदार्थ) की सिद्धि होती है। अतः उसी को 'स्वयंप्रकाश' कहने में 'धर्मिसाधक प्रत्यक्ष प्रमाण', बाधक होगा।

पूर्वपक्षी —हम किसी **अलौकिक** (लोकोत्तर) 'घट' में 'स्वप्रकाशत्व' को सिद्ध कर रहे हैं, जिस 'घट, का प्रत्यक्ष, लोगों को नेत्र त्वक् आदि इन्द्रियों से नहीं होता है।

सिद्धान्ती —यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि उस प्रकार का कोई 'अलौकिक घट' कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। ऐसे अलौकिक घट की **अप्रसिद्धि** के कारण 'धर्मी' (पक्ष) की ही **'असिद्धि'** हो रही है। जब **'पक्ष'** ही नहीं है, तो **अनुमान** कहां करेंगे। अतः अलौकिक घट' में **स्वप्रकाशत्व** के अनुमान की बात करना तो उपहासास्पद ही होगा।

इस पर आप कदाचित् यह कह दें कि तुम्हारे (वेदान्तियों के) **स्वयंप्रकाशत्व** (अवेद्यत्व) के अनुमान' में भी **'अनुभूतित्व'** असिद्ध है। यानी 'अवेद्य अनुभूति रूप **'धर्मी'** असिद्ध है।

किन्तु यह आक्षेप करना ठीक नहीं होगा। क्योंकि 'अनुभूति' रूप **धर्मी** के ही प्रसिद्ध न रहने पर 'वेद्यत्व', 'अवेद्यत्व' का **विवाद ही** कैसे हो पायेगा ? अर्थात् अनुभूति धर्मी की प्रसिद्धि के विना उसके विषय में **वादी** कथा' (विवाद) ही नहीं कर पायेगा और यदि 'कथा' (विवाद) करता है तो 'अनुभूति को **'अप्रसिद्ध'** नहीं कह सकते। एवंच 'अनुभूति' को **अप्रसिद्ध** मत कहिये।

यह जो **पूर्वपक्षी** ने कहा था कि 'स्वप्रकाश अनुभूति' की प्रसिद्धि के लिये प्रमाण के सद्भाव में 'वेद्यत्व' प्राप्त होने से 'अस्वप्रकाशत्व' प्राप्त होता है, और प्रमाण के असद्भाव में 'धर्मी' की असिद्धि प्राप्त होती है। अतः **वेदान्तियों** के लिये 'उभयतः पाशारज्जुः' है।

उसपर **वेदान्ती** का कहना है कि हम वेदान्तियों के लिये उस प्रकार से 'उभयतः पाशारज्जुः' नहीं कह सकते। क्योंकि 'प्रमाण-जन्य स्फुरण' (प्रकाश, ज्ञातता, वेद्यता) की 'आश्रयता' अथवा 'स्फुरण' (ज्ञान) की **कर्मता** (ज्ञानजन्य-फल की आश्रयता) 'घट' आदि में रहती है। उस कारण 'घटादि' में जैसी 'विषयता' मानी जाती है, वैसी **'विषयता,** का यानी 'ज्ञानजन्य विषयता' का **'अनुभूति'** में अभाव रहने पर भी और **'प्रमाणजन्य अन्तःकरणवृत्ति'** की

विषयता (व्याप्तता) अर्थात् 'वृत्तिविषयता' को मान लेने पर भी उसकी **'स्वयं-प्रकाशता'** में कोई हानि नहीं पहुँच रही है और 'प्रमाणजन्य अन्तःकरणवृत्ति' की व्याप्यता (विषयता) उसमें (अनुभूति में) रहने के कारण ही **स्फुरण** (फल, ज्ञान यानी वृत्तिगत चिदाभास) की **विषयता** न रहने मात्र से **'अनुभूति'** में अप्रामाणिकता भी प्राप्त नहीं हो रही है क्योंकि **'व्यतिरेकव्यभिचार'** यानी 'केवल व्यतिरेक' का अभाव है। **अभिप्राय** यह है कि किसी भी 'कार्य-कारण-भाव' का ज्ञान **'अन्वय-व्यतिरेक'** से हुआ करता है। ऐसी स्थिति में **'फलव्याप्यता'** और **'प्रामाणिकता'** में यदि कार्य-कारणभाव देखना हो तो **'अन्वय-व्यतिरेक'** के द्वारा ही देखना चाहिये। जैसे— **'यत्र-यत्र फलव्याप्यत्वं, तत्र-तत्र प्रामाणिकत्वम्'**— जहाँ-जहाँ फलव्याप्यता रहेगी, वहाँ-वहाँ प्रामाणिकता भी रहेगी —इस प्रकार का **'अन्वय'** तो है, किन्तु **'यत्र-यत्र फलव्याप्यत्वाऽभावः तत्र-तत्र प्रामाणिकत्वाऽभावः'**—जहाँ-जहाँ फलव्याप्त्व नहीं रहेगा, वहाँ-वहाँ प्रमाणिकत्व भी नहीं रहेगा—इस प्रकार का **'व्यतिरेक'** (अभाव) नहीं घट रहा है। अर्थात् **फलव्याप्यता** और **प्रामाणिकता** का अन्वय तो घटित हो रहा है, किन्तु **व्यतिरेक** नहीं घट रहा है। यदि **'फलव्याप्यता'** और **'प्रामाणिकता'** का 'कार्यकारणभाव' निश्चित होता तो **'अनुभूति'** में **'फलव्याप्यता'** के अभाव में अर्थात् फलव्याप्यता के न रहने पर **'प्रामाणिकता'** का भी अभाव रहता, यानी प्रामाणिकता भी न रहती। अतः उन दोनों का **कार्य-कारणभाव** नहीं है। 'व्यतिरेक' के न घटने का कारण यह है कि **भाट्टमीमांसक,** 'भूत-भावी पदार्थों' में 'फलव्याप्यता' के बिना भी केवल वृत्तिव्याप्यता के न रहने मात्र से ही प्रामाणिकता मानते हैं। उक्त वृत्ति के विषय होने वाले **भूत-भावीपदार्थ,** जो स्फुरण (प्राकट्य-ज्ञातता) से रहित हैं, उनकी **'प्रामाणिकता'** भाट्टमीमांसक मानते हैं। उसी तरह **'अनुभूति'** में भी 'वृत्तिविषयता, होने के कारण 'प्रामाणिकता' रहती है। अतः वृत्ति का विषय बनने पर भी 'अनुभूति' के 'स्वयंप्रकाश' सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं हो रही है। **निष्कर्ष** यह है कि **'स्वयं प्रकाशता'** का अर्थ यह नहीं है कि 'किसी प्रमाण का विषय न होना', **अपितु** अपने अपरोक्ष व्यवहार में दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न करना ही **'स्वयं प्रकाशता'** है। यह 'स्वयं-प्रकाशता', हमारी 'अनुभूति' में निर्बाध विद्यमान है। यही कारण है कि 'चेष्टादिहेतुक अनुमान' का विषय होने वाला **दूसरे व्यक्ति** (पर-पुरुष) का 'ज्ञान' भी, अपने आधार (आश्रय) में (पर-पुरुष में) स्व-विषयक प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) व्यवहार की उत्पत्ति के लिए ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) अर्थात् प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं

करता है। अतएव 'स्वप्रकाश कहलाता है। इस प्रकार की 'स्व-प्रकाशता', अनुमान का विषय होने वाली 'अनुभूति' में है ही। क्योंकि **'अनुभूति'** भी अपने आश्रय में **प्रमाणान्तर** की अपेक्षा नहीं रखती, निरपेक्ष रहकर ही 'स्व-विषयक अपरोक्ष व्यवहार' का हेतु (कारण) होती है।

पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकता कि **'अनुभूतिः अस्वप्रकाशा, प्रामाणिकत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथा भूतादिकम्'**। क्योंकि यहाँ प्रयुक्त किये गये **'हेतु'** में 'केवल व्यतिरेक' का अभाव है।

उपर्युक्त रीति से **'अनुभूति'** की 'स्वप्रकाशता' को केवल-व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा बताया गया है। उसी तरह 'अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान' से भी **'अनुभूति'** की 'स्वप्रकाशता' को सिद्ध किया जा सकता है।

जैसे—**'स्वज्ञानं तव अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वविशिष्टवेद्यत्ववत् न भवति, ज्ञानत्वात्, मदीयज्ञानवत्'** अर्थात् तुम्हारा ज्ञान तुम्हारे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) व्यवहार की योग्यता के सहित वेद्य (वेद्यत्व) विशिष्ट-नहीं होता है, क्योंकि 'ज्ञानत्वविशिष्ट' है जैसा हमारा ज्ञान है। यहाँ 'प्रकाशरूप ज्ञान' में 'अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यताविशिष्ट-अवेद्यत्व (वेद्यत्वाऽभाव) तभी हो सकेगा, जब कि वह 'स्वप्रकाश' रहेगा, अन्यथा नहीं हो सकता। वह 'स्वप्रकाशत्व' तो प्रतिवादी के अपरोक्ष 'व्यवहार की योग्यताविशिष्ट वेद्यत्वाऽभाव', वादी के ज्ञान में भी विद्यमान है, और 'ज्ञानत्व' हेतु की स्थिति, 'पक्ष' और 'दृष्टान्त' में भी है। इस कारण **'अन्वयी हेतु'**, 'स्वप्रकाशत्व' का साधक होता है-यह स्पष्ट है।

शंका—उपर्युक्त अनुमान में **'मदसमवेतत्व'** अथवा **'मदन्यसमवेतत्व'** **उपाधि** है तब 'हेतु' के सोपाधिक रहने से वह (हेतु), साध्य का साधक कैसे हो सकेगा ?

समा०—**प्रतिवादी** की उक्त शंका, उचित नहीं है, क्योंकि **'उपाधि'** वही बन पाता है, जो 'साध्य' का **व्यापक** हो और 'साधन' का **अव्यापक** हो। ऐसी स्थिति में 'मदसमवेतत्व' या 'मदन्यसमवेतत्व' को उपाधि नहीं कह सकते, क्यों कि उसमें अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वयुक्त वेद्यत्वाभावरूप 'साध्य' की व्यापकता नहीं है, और 'ज्ञानत्वरूप साधन' की अव्यापकता भी नहीं है। अर्थात् प्रतिवादी के 'आत्मा' में समवेत 'धर्मादि' में उक्त 'प्रत्यक्षव्यवहारयोग्यत्वयुक्त वेद्यत्वाभाव' रूप 'साध्य' है और उक्त 'असमवेत रूप उपाधि नहीं है तथा **प्रतिवादी** के आत्मा में असमवेत परमाणुओं में उक्त 'वेद्यत्वाभाव' रूप साध्य है, किन्तु 'मदन्यसमवेतत्व' रूप

उपाधि नहीं है। क्योंकि 'परमाणु', किसी में समवेत नहीं होता है। 'कार्य' तो अपने कारण में समवेत होता है।

यदि यह कहा जाय कि **'मम अपरोक्षव्यवहाराऽयोग्यत्व'**—अर्थात् मेरे अपरोक्षव्यवहार की अयोग्यता—उक्त अनुमान में 'उपाधि' है।

किन्तु इसे भी यहाँ पर उपाधि नहीं सिद्ध कर सकते। क्योंकि 'उपाधि'-प्रदर्शन का प्रयोजन यही होता है कि **'पक्ष'** में 'साध्य के व्यापक' 'उपाधि' के अभाव से (उपाधि के न रहने पर) 'साध्य' के अभाव की अनुमिति करा देना। अर्थात् 'साध्याभाव' को 'हेतु' के स्थान में प्रदर्शितकर 'हेतु' को व्यभिचारी सिद्ध कर देना। एवं च 'उपाधि' के व्यतिरेक (अभाव) से 'साध्य' के व्यतिरेक (अभाव) को अनुमान से जाना जाता है। यदि **'व्यतिरेकानुमान'** ही सोपाधिक हो तो प्रथम अनुमान का 'हेतु' व्यभिचारी नहीं हो पाता। अर्थात् **'साध्याभाव'** रूप 'हेतु' में 'उपाधि' के लगजाने से **'उपाध्यभाव'** रूप 'हेतु', **व्याप्यत्वाऽसिद्ध** होता है। इस कारण वह 'साध्याभाव' का अनुमान नहीं करा सकता। तब **प्रथम अनुमान** के 'हेतु' की व्यभिचारिता सिद्ध नहीं होती।

उसी तरह **'मम अपरोक्षव्यवहाराऽयोग्यत्व'** को भी 'उपाधि' नहीं कह सकते। क्योंकि **'मम अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** के कारण 'यह ज्ञान', **'मम अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वविशिष्टवेद्यत्व'** से युक्त है, घट के समान। अर्थात् मेरे अपरोक्षव्यवहारयोग्य होने पर अवेद्य नहीं है। **'ममाऽपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वात्, इदं ममाऽपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यं न भवति, घटवत्'**। इस व्यतिरेक (उपाधि के अभाव से साध्याभाव) के अनुमान में **'ज्ञानेतरत्व'** (ज्ञान-भिन्नत्व) ही उपाधि हो जाता है। इस कारण **'हेतु'** व्यभिचारी हो जाता है। क्योंकि उक्त **'साध्य'** जहाँ (घट आदि में) है, वहाँ **'ज्ञानेतरत्व'** है, और **'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** रूप हेतु, जहाँ (ज्ञान में) है, वहाँ **'ज्ञानेतरत्व'** नहीं है। इस कारण **'ज्ञानेतरत्व'** को 'उपाधि' कहा जा सकता है।

इसी प्रकार अन्य और भी अनुमान किये जा सकते हैं, जिनसे 'स्वप्रकाशत्व' की सिद्धि हो जाती है। जैसे—**'विवादास्पदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वात्, घटज्ञानवत्'**—अर्थात् विवादास्पद (विवाद के विषय) ज्ञान, घटज्ञानभेदविशिष्ट (घट ज्ञान से अन्यत्व युक्त) वेद्यत्व के अनधिकरण हैं, क्योंकि वे, 'ज्ञानत्व' से युक्त हैं (उनमें ज्ञानत्व है), 'घटज्ञान' के समान। यहाँ पर 'घटज्ञान' रूप **दृष्टान्त** में **घटज्ञानभेद** (घटज्ञान से अन्यत्व)

रूप, 'विशेषण' के अभाव से विशिष्ट 'वेद्यत्व' का **अभाव** रूप 'साध्य' प्रसिद्ध है, और अन्यत्र **'स्वप्रकाशत्व'** से 'साध्य' सिद्ध है, अर्थात् 'वेद्यत्वाभाव' से 'स्वप्रकाशत्व' सिद्ध होता है। एवंच **'ज्ञानत्व'** हेतु से 'स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है।

इस **अनुमान** में कदाचित् कोई **'घटज्ञानत्व'** को 'उपाधि' के रूप में बता सकता है। क्योंकि **'घटज्ञानान्यत्वयुक्त-वेद्यत्वानधिकरणत्वरूप** 'साध्य' का व्यापक **'घटज्ञानत्व'** है, और वह **'ज्ञानत्व' रूप** 'साधन' (हेतु) का **अव्यापक** भी है। अतः यहाँ पर **'घटज्ञानत्व'** उपाधि है।

किन्तु **यह कथन** ठीक नहीं है। क्योंकि **'शरीरिजन्यत्व'** उपाधि में 'शरीरि-विशेषण' के समान, उक्त 'उपाधि' में भी **'घट-विशेषण'** भी व्यर्थ है। कहने का **अभिप्राय** यह है कि **नैयायिक विद्वान्** ईश्वर की सिद्धि करने के लिये अनुमान करते हैं—**'क्षित्यादिकं, सकर्तृकं, कार्यत्वाद घटवत्'**। इस अनुमान में पूर्वपक्षी **'शरीरिजन्यत्व'** को उपाधि के रूप में उपस्थित करता है। क्योंकि प्रसिद्ध **सकर्तृकत्व** (कर्तृजन्यत्व) रूप 'साध्य' का व्यापक **'शरीरिजन्यत्व'** है और वही, **'कार्यत्व'** रूप साधन (हेतु) का **अव्यापक** भी है। अतः **उक्त अनुमान** में **'शरीरिजन्यत्व'** उपाधि है।

उस पर **नैयायिक विद्वान्** कहते हैं कि आपकी प्रदर्शित की हुई **'उपाधि'** में **'शरीरी'** विशेषण व्यर्थ है। अर्थात् केवल **'जन्यत्व'** ही **'कर्तृजन्यत्व** रूप, साध्य' का व्यापक है, 'शरीरिजन्यत्व' नहीं। इसलिये **'शरीरी'** विशेषण लगाना व्यर्थ है। अतः यह 'विशिष्ट उपाधि', 'पक्षमात्र' का व्यावर्तक नहीं हो सकता। उसी प्रकार **'ज्ञानत्व'** मात्र से ही 'ज्ञानभिन्न' की व्यावृत्ति हो सकती है। **'घट' विशेषण,** व्यर्थ है। इसलिये 'घटज्ञानत्व' को 'साध्य' का व्यापक नहीं कह सकते। किञ्च 'घट' पद, घटज्ञानभिन्न-ज्ञान रूप 'पक्ष' का व्यावर्तक है, उस कारण **'घटज्ञानत्व'** को 'पक्ष' से इतर (भिन्न) ही कहना चाहिये। अर्थात् वह (घटज्ञानत्व) **'पक्षेतरत्व'** रूप ही है। उसे **'उपाधि'** नहीं कह सकते।

और विशेषण से रहित होने पर **'साधन'** (हेतु) का भी **'समव्यापक'** (अभिन्न) हो जाता है। अतः यहाँ पर 'उपाधि' नहीं है। इसलिये **'अनुभूति'** के 'स्वप्रकाशत्व' का अनुमान समस्त कलङ्क (दोष) से शून्य है, यानी निर्दुष्ट अनुमान है। इस दोषरहित अनुमानप्रमाण से ही ज्ञानस्वरूप आत्मा की स्वप्रकाशता भी सिद्ध हो रही है, तथा **'चिद्रूपत्व' 'अकर्मत्व',** और **'स्वयंज्योतिश्रुति'**—इन तीन हेतुओं के आधार पर भी 'ज्ञानरूप आत्मा' की

'स्वयंप्रकाशता' अकाट्यरूप से सिद्ध होती है। अर्थात् उसका खण्डन, कोई भी नहीं कर सकता। उक्त तीन हेतुओं का संग्राहक एक पद्य भी प्रसिद्ध है—

'चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयं-ज्योतिरितिश्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥'

प्रभाकर मीमांसक को लक्ष्य करके एक अनुमान प्रयोग किया गया है, जिससे **'आत्मा'** की **'संविद्रूपता'** (ज्ञानरूपता) सिद्ध की गई है। जैसे—**'आत्मा संविद्रूपः संवित्कर्मतामन्तरेण अपरोक्षत्वात् संवेदनवत्'**—अर्थात् 'आत्मा', संविद्रूप (ज्ञानरूप) है, 'संवित्' की 'कर्मता' प्राप्त किये विना ही 'अपरोक्ष' होने से, 'संवेदन' (ज्ञान) के समान।

उसी प्रकार **नैयायिक** को लक्ष्य करके भी एक अनुमान किया गया है, जिससे 'ज्ञानरूप आत्मा' की 'चिद्रूपता' को सिद्ध किया गया है। क्योंकि संवित्कर्मता के विना 'अपरोक्षत्व' (अपरोक्षव्यवहारविषयत्व) 'चिद् (ज्ञान) रूपता' से ही हो सकता है। जैसे—**'घट-तज्ज्ञानयोः सम्बन्धः आत्मनिष्ठः, ज्ञाननिष्ठत्वात्, पदविषयत्ववत्'**—अर्थात् 'घट' और उसके 'ज्ञान' का सम्बन्ध, आत्मवृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से, 'पदविषयता' के समान—इस अनुमान से **आत्मा** की 'चिद्-रूपता' सिद्ध होती है। क्योंकि **विपक्ष** (आत्मा के ज्ञानरूपत्वाऽभावपक्ष) में 'आत्मविषयक संशय, विपर्यय', का अभाव (संशय—विपर्ययादिविषयता का अभाव) बाधक है। **अभिप्राय** यह है कि यदि 'आत्मा' को **ज्ञानरूप** न माना जाय तो 'आत्मा' के विषय में 'संशय—विपर्यय' आदि होने चाहिये, किन्तु **'अहं वा, अनहं वा'**—ऐसा संशय (सन्देह) और 'नैव अहम्' ऐसा विपर्य (अपने अभाव का निश्चयरूप भ्रम) अपने आत्मा के प्रति किसी को नहीं होता है। एवं च इस प्रकार 'संशय—विपर्यय' आदि का न होना तभी उपपन्न होगा कि जब **'आत्मा'** को स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप' माना जायगा। अन्यथा नहीं।

शंका—जिस प्रकार सुख-दुःख आदि के होने पर उनका ज्ञान अवश्य होता है। 'सुख-दुःख' आदि पदार्थ, ज्ञानस्वरूप न रहने पर भी उनके विषय में कभी किसी को संशय', या विपर्यय नहीं होते है, उसी प्रकार 'आत्मा' के विषय में भी 'संशय-विपर्ययादि' नहीं होंगे। उसके प्रति संशयादि न होने के लिये उसे (आत्मा को) **ज्ञानस्वरूप** मानना उचित नहीं है।

समा०—उक्त **शंका ठीक नहीं है**, क्योंकि 'सुख-दुःख' आदि पदार्थों की सत्ता के समय, **'अन्तःकरणवृत्तिरूप'** जो 'अनित्यज्ञान' (जन्यज्ञान) है, अथवा

नैयायिक के अनुसार **आत्मनिष्ठ** जो **अनित्यज्ञान** (जन्यज्ञान है, उसका **अव्यभिचार** (सत्त्व) रहता है, अर्थात् व्यभिचार नहीं रहता। इसलिये सुखादि के प्रति संशयादि नहीं हुआ करते।

किन्तु **'आत्मा'** में 'सुख-दुःखादि' के समान 'आत्मा' की सत्ता के काल में 'अनित्यज्ञान' (जन्यज्ञान) का अव्यभिचार (सत्त्व) नहीं माना जा सकता। **अन्यथा** 'सुषुप्ति' का ही अभाव हो जायगा। क्योंकि **नैयायिक लोग** आत्मनिष्ठ (आत्म-वृत्ति) जन्यज्ञान (अनित्यज्ञान) के उपरम (निवृत्ति) को ही **'सुषुप्ति'** कहते हैं। यदि 'आत्मा' को सर्वदा ही 'जन्यज्ञान' से युक्त मानेंगे तो 'सुषुप्ति' कैसे हो सकेगी ? इसलिये 'आत्मा' के विषय में किसी को 'संशय' आदि न हो पाने से 'आत्मा' की ज्ञानस्वरूपता निर्बाध सिद्ध हो रही है।

शंका—'ज्ञान और आत्मा' का सम्बन्ध **आत्मवृत्ति** नहीं है अर्थात् अनात्म (आत्मभिन्न) वृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से, जैसे सत्ता—यह सत्प्रतिपक्ष दोष होगा।

समा०—यह 'सत्प्रतिपक्ष' की शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि 'ज्ञान' ही **आत्मा** है—यह सिद्धान्त जिनका है, उनके मत में 'ज्ञान' और 'आत्मा' के सम्बन्ध का ही अभाव है। उस कारण 'आश्रयाऽसिद्धि' दोष है। अर्थात् आश्रयासिद्धि दोष से दूषित यह प्रतिपक्ष है।

शंका—'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते (बृ. दा. उ. ४। ३। २३) अर्थात् द्रष्टा (आत्मा) की दृष्टि (ज्ञान) का विपरिलोप (अभाव) कभी नहीं होता है—इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति से द्रष्टा (आत्मा) और दृष्टि (ज्ञान) का सम्बन्ध प्रतीत होता है, इस प्रकार **'मानमनोहरकार'** ने 'ज्ञान' और 'आत्मा' का सम्बन्ध बताया है। तब आप उनके श्रुतिसिद्ध सम्बन्ध का आभाव कैसे बता रहे हैं ?

समा०—आपकी यह आशंका उचित नहीं है, क्योंकि श्रुति का अभिप्राय, सम्बन्धप्रतिपादन में नहीं है। वह तो केवल लोकप्रसिद्ध सम्बन्ध का अनुवाद कर रही है। अनुवाद के माध्यम से दृष्टि (ज्ञान) के विनाशित्वाऽभाव को बताने में उसका तात्पर्य है। क्योंकि "अप्राप्ते शास्त्रम् अर्थवत्" अज्ञात अर्थ के विधान करने में शास्त्र प्रमाण होता है-(शास्त्र अर्थवत् यानी सार्थक (सफल) होता है) यह न्याय, प्रसिद्ध है। अतः 'सम्बन्ध' के विधान करने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है, यह स्पष्ट होता है। उक्त श्रुति के वास्तविक (अभिधा शक्ति से प्रतिपादित) सम्बन्धरूप मुख्य अर्थ को यदि मानते हैं, तो अद्वैतबोधक श्रुति के साथ विरोध होता है। किन्तु

विरोध होना तो उचित नहीं है। क्योंकि 'राहोः शिरः' के समान कल्पित भेद (उपचार) के द्वारा भी सम्बन्धबोधक श्रुति की प्रवृत्ति का समर्थन किया जा सकता है। अतः उपर्युक्त शंका उचित नहीं है।

शंका—'सम्बन्धबोधक श्रुति और अद्वैतात्मबोधक श्रुति' ये दोनों श्रुतियाँ तुल्य-बल (तुल्यप्रमाण) है। अतः पूर्वोक्त बाध्य-बाधक-भाव को विपरीत (उलटा) ही क्यों न मान लिया जाय ? अभिप्राय यह है कि 'अद्वैतश्रुति' को गौणार्थक और 'सम्बन्धबोधक श्रुति' को मुख्यार्थक मान लें—यह नहीं हो सकता। क्योंकि तत्परत्व (स्वार्थपरत्व) और अतत्परत्व (स्वार्थपरत्वाभाव) के कारण दोनों में विशेष (भेद) की उपपत्ति हो जाती है। अतः दोनों में तुल्यबलता बताना उचित नहीं है। निष्कर्ष यह है कि संबन्ध-श्रुति और अद्वैतश्रुति दोनों की समानबलता को समझकर विपरीत बाध्य-बाधकभाव की कल्पना करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'अद्वैतश्रुति', अद्वैतपरक रहने से प्रबल है और 'संबन्धश्रुति' सम्बन्धपरक न होने से दुर्बल है। अतः दोनों की तुल्यबलता नहीं है। एवं च तुल्यबलता के आधार पर विपरीत बाध्य-बाधक भाव की कल्पना करना उचित नहीं है।

किंच—उपक्रमोपसंहारादि षड्विध (छहप्रकार के) तात्पर्यग्राहक लिङ्गों से युक्त अद्वैतश्रुति की अद्वैतपरता निश्चित हो जाती है और 'संबन्धबोधकश्रुति' तो उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यग्राहक लिंगों से युक्त नहीं है। अतः 'सम्बन्ध-बोधकश्रुति' की 'अतत्परता' का ज्ञान हो जाता है। वह तो केवल 'लोकप्रवाद' पर आधारित है। ऐसी स्थिति में तात्पर्य लिंगों से विशिष्ट हुई 'अद्वैतपरकश्रुति', लोकप्रसिद्ध संबन्ध (लोकप्रवाद) का अनुवाद करनेवाली 'सम्बन्धबोधकश्रुति' का बाध क्यो नहीं करेगी ? एवंच अद्वैतश्रुति उक्त कारणों से प्रबल हैं। इसलिये वही, दुर्बल रहनेवाली सम्बन्धबोधकश्रुति का बाध करेगी। अतः विपरीत बाध्य-बाधक भाव की कल्पना करना असंगत होगा। इस रीति से दोनों षष्ठी विभक्तियों के वैयधिकरण्य को मानकर भी सम्बन्धश्रुति की दुर्बलता दूर नहीं हो सकी।

अब हम यह बताना चाह रहे हैं कि दोनों षष्ठियों का वैयधिकरण्य ही नहीं है। दोनों के सामानाधिकरण्य से भी हम अपनी बात को सिद्ध कर सकते हैं। इसी बात को उदाहरण देकर बता रहे हैं। जैसे 'देवदत्तस्य गन्तुः धनम्' अर्थात् जानेवाले देवदत्त का धन है। यहाँ समानाधिकरण (अभेदार्थक) षष्ठीं विभक्ति की तरह 'द्रष्टुः दृष्टेः' इस श्रुति में भी 'द्रष्टारूप' जो 'दृष्टि' अथवा 'दृष्टिरूप' जो द्रष्टा, उसका विपरिलोप नहीं होता है। इस पद्धति से दोनों षष्ठी विभक्तियों का

अन्वय सामानाधिकरण्य (अभेदार्थक षष्ठी) से भी हो जाता है। तब 'द्रष्टा की दृष्टि'—इस प्रकार की व्यधिकरणता (भेदनिमित्त सम्बन्ध की) कल्पना करना निरर्थक है।

किञ्च—'न दृष्टेः द्रष्टारं पश्येः'—(बृह. उप. ३।४।२) अर्थात् 'दृष्टि' के 'द्रष्टा' को तुम नहीं देख सकते—इस श्रुतिवाक्य में जैसा **वैयधिकरण्येन** (व्यधिकरण) अन्वय किया गया है, वैसे ही **प्रकृत** में भी व्यधिकरणता (भेद) अभीष्ट हो तो 'अन्तःकरण' के परिणामरूप 'दृष्टि' (ज्ञान) का जो 'द्रष्टा', **अथवा** 'परिणामी-अन्तःकरणरूप 'द्रष्टा' की साक्षीरूप जो दृष्टि, **उसका** 'विपरिलोप' (नाश) नहीं होता है। इस प्रकार **अद्वैतश्रुति के अविरोधी** (अनुकूल) सम्बन्ध (अन्वय) के सम्भव रहते **'गुण-गुणिभाव'** से सम्बन्ध की कल्पना करना, तो मीमांसाशास्त्र की अनभिज्ञता का परिचय देना ही कहलायगा। अर्थात् अनधीतमीमांसाशास्त्र-वाले व्यक्ति को ही ऐसी कल्पना करना शोभादायक होगा।

किञ्च—जीव और **ईश्वर के भेद** को मानने वाला व्यक्ति, किसके नित्यदृष्टि-रूप सम्बन्ध को कह रहा है ? इसपर भी विचार करना होगा। भेदवादी व्यक्ति 'जीव' के 'नित्य दृष्टिरूप सम्बन्ध' को तो कह नहीं सकता, क्योंकि 'जीव' का 'ज्ञान' तो 'अनित्य' है। ईश्वर की नित्यदृष्टि के सम्बन्ध को भी वह नहीं कह सकता, क्योंकि ईश्वर का प्रकरण ही प्रस्तुत नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग तो यह चल-रहा है कि **'मैत्रेयी ब्राह्मण'** (बृह. उप. अध्याय २।४।५) में **"नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति"**—अरी मैत्रेयी ! 'पति' के प्रयोजन के लिये 'पति' प्रिय नहीं होता है, आत्मा के अपने ही प्रयोजन के लिये 'पति' प्रिय होता है। 'स्त्री' के प्रयोजन के लिये 'स्त्री' प्रिय नहीं होती, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'स्त्री' प्रिय होती है। 'पुत्रों' के प्रयोजन के लिये 'पुत्र' प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'पुत्र' प्रिय होते हैं। 'धन' के प्रयोजन के लिये 'धन' प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'धन' प्रिय होता है। 'ब्राह्मण' के प्रयोजन के लिये 'ब्राह्मण' प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'ब्राह्मण' प्रिय होता है,—इत्यादि वाक्यों के द्वारा पति, जाया आदि के 'प्रियत्व'-प्रतिपादन से ज्ञापित (बोधित) जीवात्मा को बताने का उपक्रम (आरम्भ) करके **"एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति"**—(बृ. उ. ४।५।१३) अर्थात् यह जीव इन भूतों से पृथक् होकर (उत्थित होकर) उन भूतों के नष्ट होते ही स्वयं नष्ट हो जाता है, यानी अपने औपाधिक रूपविशेष को

त्याग देता है। मरने पर (मोक्ष दशा में) 'विशेषज्ञान' नहीं रहता है। इस प्रकार से एक अवस्थान्तर को बताया जा रहा है। इसी प्रसंग में उस जीवात्मा के विनाश की आशंका करके उसके **विनाशाभाव** को बताया जा रहा है—"**अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति। यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्**" इति। अर्थात् अरी मैत्रेयी! यह आत्मा अविनाशी है, यानी नाशरूप धर्म से रहित है, किन्तु मोक्ष की अवस्था में विषयादिरूप मात्राओं (भूतों) से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तू जो यह समझ रही है कि वह देखता नहीं है, उसका तात्पर्य यह है कि वह साक्षात् स्वरूप से देखता हुआ भी विशेष रूप से नहीं देखता है—इत्यादि वाक्यों से उस जीवात्मा की अविनाशिता को ही बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह ईश्वर का प्रकरण नहीं है। उसी तरह **ज्योतिर्ब्राह्मण** में जाग्रत् आदि अवस्थाओं का निरूपण करते हुए "**अथ यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति**"—अर्थात् जिस स्वरूप में सोया हुआ जीवात्मा, किसी भोग को नहीं चाहता है, न किसी स्वप्न को देखता है—इस प्रकार से सुषुप्ति अवस्था (सम्प्रसाद का अवस्थान) का प्रसंग (अवतरण) उठाकर "**यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते**" इस वाक्य से सुषुप्ति की दशा में 'विशेषज्ञान' का अभाव रहने पर भी 'स्वरूपज्ञान' की नित्यता बताई गई है।

ईश्वरपक्ष में—उसको विशेष ज्ञान नहीं है, यह कहना ही अनुचित होगा, क्योंकि ईश्वर की सर्वज्ञता तो सर्वदा ही रहती है, और 'सुषुप्ति' आदि अवस्थाओं का भी उसमें अभाव है, अर्थात् इन सब अवस्थाओं से वह परे है। इसलिये 'ज्ञान और आत्मा' का सम्बन्ध 'अनात्मनिष्ठ' (अनात्मवृत्ति) है, यह अनुमान, **आश्रयाऽसिद्धि** दोष से दूषित है यह निश्चित होता है।

यह जो आशंका की गई थी कि '**ज्ञानम् आत्मा न भवति, गुणत्वात् रूपवत्**', तथा '**ज्ञानम् आत्मा न भवति अनित्यत्वात्**'—इत्यादि अनुमानप्रयोगों के विरुद्ध होने से 'आत्मा' को 'ज्ञानात्मक' (ज्ञानरूप) कैसे कहा जायगा? अर्थात् 'गुणत्व' और 'अनित्यत्व' हेतु के आधार पर 'रूप' आदि के समान 'ज्ञानरूपगुण' को 'आत्मा' नहीं कह सकते। यानी 'आत्मा' को 'ज्ञानरूप' नहीं कह सकते।

किन्तु जिस 'ज्ञान' को नित्य आत्मस्वरूप माना जाता है, उसे गुण या अनित्य कैसे कहा जायगा? अतः 'गुणत्व' हेतु, वादी-प्रतिवादी दोनों में से अन्यतर के

(वेदान्ती के) मत में 'असिद्ध' है। इसकारण वह अनुमान परास्त (खण्डित) हो जाता है।

शंका—पूर्वपक्षी, 'ज्ञान' में 'गुणत्व' की सिद्धि करने के लिये एक अनुमान-प्रयोग के द्वारा 'ज्ञान' में गुणत्व' की आशंका उपस्थित करता है। तथाहि—**'घट-तज्ज्ञानयोः सम्बन्धः गुणनिष्ठः, ज्ञाननिष्ठत्वात्, सत्तावत्, विपक्षे च जानामि इति प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वप्रसंगो बाधकः'**। अर्थात् 'घट' और उसके 'ज्ञान' का सम्बन्ध गुणनिष्ठ (गुणवृत्ति) है, क्योंकि वह (सम्बन्ध) ज्ञाननिष्ठ (ज्ञानवृत्ति) है, जैसे 'सत्ता' जाति। यानी 'सत्ताजाति' जैसे 'गुणवृत्ति' है, वैसे ही यह सम्बन्ध भी है। इसलिये 'ज्ञान' को 'आत्मा' का गुण क्यों नहीं स्वीकार करते? एवं च 'ज्ञान', 'आत्मा' का गुण है। 'ज्ञान' ही आत्मा नहीं है। अर्थात् 'ज्ञान' को ही आत्मा कहना ठीक नहीं है। यदि आप के ही पक्ष (विपक्ष=विरुद्धपक्ष) को स्वीकार किया जाय, अर्थात् 'ज्ञान' को आत्मा का गुण न मानकर उसे 'ज्ञानस्वरूप ही माना जाय तो **'अहं जानामि'**–मैं जानता हूँ—इस प्रकार की 'आत्मा' में 'ज्ञानाश्रयताविषयिणी जो प्रतीति' होती है, उसे 'निरालम्ब' (निरालम्ब–आश्रय-रहित) ही कहना होगा। अर्थात् उक्त प्रतीति को निर्विषय ही कहना पड़ेगा। एवं च 'आत्मा' को ज्ञानस्वरूप मानने में उक्त प्रतीति को निरालम्बनता का प्रसंग ही बाधक हो रहा है।

समा०—उपर्युक्त शंका उचित प्रतीत नहीं हो रही है। क्योंकि **'रूप-तज्ज्ञानयोः सम्बन्धो द्रव्यनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्, सत्तावत्'** अर्थात् 'रूप' और उसके 'ज्ञान' का सम्बन्ध, द्रव्यनिष्ठ (द्रव्यवृत्ति) है। क्योंकि वह 'ज्ञाननिष्ठ' (ज्ञान-वृत्ति) है, जैसे—'सत्ता', ज्ञाननिष्ठ (ज्ञानवृत्ति) है, वैसे ही यह 'सम्बन्ध' भी **'ज्ञानवृत्ति'** है,—यह **प्रतिप्रयोग** (सत्प्रतिपक्ष) किया जासकता है। अतः **'ज्ञान'** में **आत्म** (द्रव्य) रूपता ही सिद्ध होती है, **'गुणरूपता'** नहीं।

अब रही **'अहं जानामि'**—मैं जानता हूँ–इस 'अनुभव' (ज्ञान) की उपपत्ति। तो वह भी, **'अन्तःकरण'** के **'वृत्ति रूप ज्ञान'** की 'प्रमातृनिष्ठ आश्रयता' को **विषय कर लेने से** हो जाती है। तथा **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"**, **"प्रज्ञानं ब्रह्म"**, **"ज्ञानघन एव"**—विशुद्धविज्ञानस्वरूप–आनन्दरूप ब्रह्म है, **प्रकृष्ट ज्ञानरूप** ब्रह्म है, अखण्ड ज्ञानस्वरूप ही ब्रह्म है—इत्यादि श्रुतिवाक्यों से भी **'आत्मा** की 'चिद्-रूपता सिद्ध होती है।

शंका—पूर्वपक्षी कह रहा है कि **'विज्ञप्तिः**—विज्ञानम्, **प्रज्ञप्तिः** =

प्रज्ञानम्'—यह विग्रह (विवरण) नहीं है, जिस निरुक्ति के बलपर उक्त श्रुति-वाक्यों से 'आत्मा' को चिद्रूप (ज्ञानरूप) सिद्ध कर रहे हो। अपितु 'विज्ञप्तिः, प्रज्ञप्तिः विद्यते यस्मिन् तद् विज्ञानम् तत्-प्रज्ञानम् ब्रह्म' ऐसी अधिकारणार्थक (ज्ञानाश्रयार्थक) निरुक्ति से 'विज्ञान', 'प्रज्ञान' शब्द 'ब्रह्म' को बता रहे हैं। अतः 'विज्ञानब्रह्म' का अर्थ 'ज्ञानाधिकरण' ब्रह्म है। एवंच ये श्रुति वचन 'आत्मा' की 'चिद्रूपता' को नहीं बता रहे हैं।

समा.—वेदान्ती कहता है कि 'ज्ञान' शब्द को अधिकरणार्थक मानकर 'विज्ञानं ब्रह्म' का अर्थ, 'ज्ञानाधिकरण' (ज्ञानाश्रय) ब्रह्म'—अर्थ करना उचित नहीं होगा, क्योंकि ऐसा करने पर अद्वैतबोधक श्रुतिवचनों के साथ विरोध होगा। अतः 'चिद्रूपत्व' हेतु, सर्वथा निर्दुष्ट है, उस से 'आत्मा' का स्वप्रकाशत्व, और 'ज्ञानरूपत्व' सिद्ध हो रहा है।

द्वितीय 'हेतु' अकर्मत्व बताया था, उससे भी 'आत्मा' की 'स्व-प्रकाशता' सिद्ध होती है। क्योंकि 'आत्मा' में 'अकर्मत्व' न मानकर यदि उसमें 'वेद्यत्व' (कर्मत्व = ज्ञानजन्यफलाश्रयत्व) स्वीकार करें, तो एक ही में 'कर्मत्व' और 'कर्तृत्व' इन दो विरोधी धर्मों की प्राप्ति होगी। क्योंकि 'ज्ञान' रूप क्रिया का आश्रय 'आत्मा' है, अतः वही 'कर्ता' है, और स्वाश्रित ज्ञान की विषयता, उसी में (आत्मा में) रहने के कारण अर्थात् कर्तृरूप आत्मा की जो ज्ञानरूप क्रिया, उस से होनेवाली जो 'विषयता' वही फल है उसका आश्रय 'आत्मा' है, उस कारण वही 'कर्म' है। एवंच 'आत्मा में 'कर्तृत्व' और 'कर्मत्व' दो विरोधी—धर्म प्राप्त होते हैं। किन्तु एक ही 'आत्मा', 'ज्ञानक्रिया' का कर्ता, और 'ज्ञानजन्य-फल का आश्रय' हो, यह हो नहीं सकता। कोई 'अनात्म' पदार्थ, कभी—'ज्ञानाश्रय' अथवा 'ज्ञानरूप' नहीं होता है, जिसके 'कर्म' के रूप में 'आत्मा' को कह सकें।

शंका—'अहं सुखी'—मैं सुखी हूँ—इत्याकारक ज्ञान की 'कर्मता', 'सुखविशिष्ट आत्मा' में रहती है, और उस ज्ञान की कर्तृता 'शुद्ध आत्मा' में रहती है। इस प्रकार दोनों का आकार भिन्न होने से कोई विरोध नहीं माना जाता, क्योंकि विशिष्टं शुद्धात् अतिरिच्यते'—विशिष्ट वस्तु, शुद्ध वस्तु से भिन्न होती है-यह नियम है।

समा०—यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि इस तरह से तो 'कर्म—कर्तृविरोध' (कर्मत्व और कर्तृत्व का विरोध) का नाम ही संसार से नष्ट हो

जायगा। **'गमनादि क्रियाओं'** का भी **'शुद्ध आत्मा'** में—'कर्तृत्व' मानलेंगे, और 'गमनक्रियाविशिष्ट आत्मा' में 'कर्मत्व' मान लेंगे। **'विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यते'** नियम के अनुसार दोनों के आकार भिन्न-भिन्न हैं ही। तब **कर्म—कर्तृ विरोध'** के लिये अवसर ही कहाँ मिलेगा ?

शंका—प्रभाकर मीमांसक का कहना है कि 'आत्मा' में **'अकर्मत्व'** (ज्ञानकर्मत्वाभाव) भले ही रहे, किन्तु उसमें **'स्वप्रकाशत्व'** नहीं रह सकता। क्योंकि तत्तत्-अर्थविषयक ज्ञान का आश्रय होने से **अस्वप्रकाश** 'आत्मा' के स्फुरण की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात् **'आत्मा'** ज्ञान क्रिया का 'कर्म' न होने पर भी तत्तत्-घट आदि के चाक्षुषज्ञानों का आधार (आश्रय) रहने से, उन ज्ञानों के द्वारा ही उसका (आत्मा का) **प्रकाश** (स्फुरण) हो जाता है, जैसे—**'अहं घटं जानामि', 'मयि घटज्ञानम् अस्ति'** इत्यादि। **किञ्च—'क्रिया-फलभाक्त्वमात्रं कर्मत्वम्'** यह कर्मत्व का लक्षण नहीं है। **अन्यथा** 'नगरं गच्छति चैत्रः' में 'चैत्र' में भी **'कर्मत्व'** प्राप्त होगा। ज्ञानक्रिया का फल **'प्रकाश'** है, उसका **आश्रय** (भागी) **'आत्मा'** होता है, तथापि उसमें ज्ञानक्रिया की **'कर्मता'** नहीं मानी जाती। क्योंकि **'कर्म'** का लक्षण **'परसमवेतक्रियाफल-शालित्वं कर्मत्वम्** है। **'पर'** में समवेत (समवाय सम्बन्ध से वर्तमान) जो क्रिया, उससे उत्पन्न जो फल, उसका आश्रय जो होता है, उसे 'कर्म' कहते हैं। उसके अनुसार **'आत्मा'** में **परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्व** (फलवत्त्व) का अभाव है। उस में तो **'स्व—समवेतज्ञानजन्यफलशालित्व'** रहता है।

यदि यह कहें कि **'आत्मा'** में 'ज्ञानजन्यफलशालित्व' के रहने पर भी 'पर-समवेतक्रियाजन्यफल' का अभाव रहने से **'आत्मा'** में 'कर्मत्व' नहीं है, तो **'ज्ञान का आश्रय'** होने से उसका **'प्रत्यक्ष'** क्यों मानते हो ? इस प्रश्न का उत्तर तो यह है कि **'स्व-मानस प्रत्यक्ष ज्ञान'**, आत्मा में रहने पर भी उसमें **'अकर्मत्व'** उपपन्न हो सकता है, क्योंकि **'मानसप्रत्यक्षज्ञान में 'पर समवेतत्व'** नहीं है। इस रीति से 'अकर्मकत्व' तो 'आत्मा' की **मानस—प्रत्यक्षता** में भी समान है। **किन्तु** यह सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसमें 'मानसप्रत्यक्षज्ञान' की विषयता स्वीकार करने पर **'आत्मा'** में **'कर्मत्व'** का स्वीकार तो करना ही होगा, क्योंकि **'ज्ञानक्रिया'** सर्वदा **सकर्मक** हुआ करती है। अतः **'ज्ञानत्व'**, कर्म से व्याप्त होता है। तब **'कर्म'** रूप **'व्यापक** की निवृत्ति से **'ज्ञानत्व'** रूप **व्याप्य'** की भी 'मानस-ज्ञान' में से निवृत्ति हो जायगी। **'कर्म'** के बिना 'मानसज्ञान' हो नहीं सकता, और

'कर्म' के मानने पर **'कर्म-कर्तृभाव'** का विरोध उपस्थित होता है। 'ज्ञान' के आश्रय रूप से 'आत्मप्रत्यक्ष' में यह विरोध नहीं है। अतः **तुल्यता नहीं है**—यह **प्रभाकर मीमांसक** का अभिप्राय है।

समा०—किन्तु प्रभाकर मीमांसक का यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि यह नियम है—'ज्ञान' से भिन्न किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) तभी होगा, जब उस में 'ज्ञान' का कर्मत्व रहेगा। **प्रभाकर-मीमांसक** के मातानुसार 'आत्मा' भी 'ज्ञान' से भिन्न पदार्थ (वस्तु) है। उस में यदि 'कर्मत्व' नहीं होगा, तो उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? **ज्ञान** (संवित्) **के आश्रय रूप में** उसका अपरोक्षत्व मानने पर 'अनुमान' का विरोध होगा। **अनुमान** यह है—**'संवेदिता संविदाश्रयतया अपरोक्षो न भवति अपरोक्षत्वात् संवेदनवत्।'** अर्थात् ज्ञाता, ज्ञानाश्रयता के द्वारा कभी अपरोक्ष नहीं हो सकता, अपरोक्ष होने से, जैसे—'ज्ञान'। इस **अनुमान** से **प्रभाकर मीमांसक** का मत, बाधित हो जाता है।

यदि यह कहें कि 'स्वप्रकाश के साधक अनुमान' में **विपक्ष बाधक 'तर्क'** नहीं है। अतः 'तर्क' के न होने के कारण **'स्वप्रकाशत्व'** की सिद्धि नहीं हो सकती।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि यदि **'आत्मा'** का 'स्फुरणादिव्यवहार' किसी दूसरे ज्ञान के अधीन कहेंगे तो 'आत्मा', कभी 'उस ज्ञान' से रहित भी हो सकता है। तब-'आत्मा' के विषय में कभी 'संशय' भी होना चाहिये। जैसे—**'अहं वा, अनहं वा'** इत्यादि विकल्प के विषयत्वकी प्राप्ति ही विपक्ष-बाधक तर्क है।

दूसरा तर्क यह भी है कि **प्रभाकर मीमांसक 'घट'** आदि पदार्थों के ज्ञान में **'आत्मा'** का भी भान मानते हैं, क्योंकि इनके मत में **'त्रिपुटी प्रत्यक्ष'** होता है। तब तो 'घट' आदि पदार्थों के समान ही **'आत्मा'** का भी **चाक्षुप प्रत्यक्ष** होना चाहिये। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान की **भासमानता** ही चाक्षुप **प्रत्यक्ष** है। **किन्तु** जिस द्रव्य में 'रूप' नहीं रहता उस **नीरूप द्रव्य** का चाक्षुप प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकार से विरोधी **अनुमान** का भी प्रयोग (प्रतिपक्ष) हो सकता है। जैसे—**'आत्मा, चाक्षुपज्ञाने न प्रकाशते, अरुपिद्रव्यत्वात्, आकाशवत्'** इति। अतः **'आत्मा' स्वयं प्रकाश** है।

(३) अब पूर्व बताये गये **तृतीय हेतु** से भी 'आत्मा' की स्व-प्रकाशता सिद्ध

होती है। **"अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः"** (बृह० उप २।३।६) अर्थात् इस स्वप्नावस्था में यह 'आत्मा', स्वयं-प्रकाश रहता है। इस श्रुति से भी **'आत्मा'** का स्व-प्रकाशत्व सिद्ध होता है।

शङ्का—उक्त श्रुति स्वप्नावस्था के प्रकरण (अधिकार) का उपक्रम करके पढ़ी गई है। वहाँ आत्मा का प्रकाशक **'मन'** सतत विद्यमान (अनुपरत = अनिवृत्त) रहता है। अर्थात् उस अवस्था में भी आत्मा का प्रकाशक 'मन' रहता ही है। इस कारण 'आत्मा' में **'स्वयंप्रकाशता'** कैसे रह सकती है? अर्थात् आत्मा में **'स्वयंज्योतिःस्वरूपता'** नहीं रह सकती।

स्वप्नावस्था में **'मन'**, गज आदि के आकार में परिणत होकर स्वाप्नज्ञान का (अवभास = तात्कालिक ज्ञान का) **'कर्म'** बनकर स्थित रहता है। उस समय उस ज्ञान का अन्य कोई **'करण'** (साधन) भी नहीं है, कोई **'अन्य-ज्ञान'** भी उस समय करण नहीं है। इसलिये उस समय 'आत्मा' ही स्वयम्प्रकाश' हो सकता है। यह कहो तो वह भी ठीक नहीं होगा।

यदि वही 'गज' आदि के रूप से परिणत होगा तो गजादि रूप से परिणत हुए 'मन' का प्रत्यक्षत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'मन' इन्द्रिय को भी 'चक्षु' आदि के समान अतीन्द्रिय माना जाता है। **'अतीन्द्रिय पदार्थ'** 'अनुमेय' या 'आगमगम्य' हुआ करता है। एवं च परिणत हुआ 'मन', चाक्षुप प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता। अतः **'मन'** का 'आत्मा' के साथ 'संयोग सम्बन्ध' होकर जो ज्ञान उत्पन्न (जन्य) होता है, उस जन्यज्ञान का आधार **'आत्मा'** होता है। उस आधारता के कारण ही स्वयं शब्द का वाच्य 'आत्मा', 'ज्योति' शब्द से कहा जाता है।

अथवा—**'ज्योति का साधन'** होने से भी उसे 'ज्योति' शब्द से कह सकते हैं। क्योंकि उसी प्रकरण में **'वाचैवायं ज्योतिषास्ते अग्निनैवायं ज्योतिषास्ते'** (बृह. उप. ४।३।५) वाक् रूप ज्योति के द्वारा, अग्निरूप ज्योति के द्वारा—इन श्रुतियों में ज्योति के साधनभूत 'वाक्' आदि को 'ज्योति' कहा गया है। 'आत्मा' को 'स्वयंज्योति' नहीं कहा गया है। अतः 'आत्मा' स्वय ज्योतिःस्वरूप नहीं है। क्योंकि गुणाश्रय **'द्रव्यरूप आत्मा'**, को गुण (ज्योति = ज्ञान) रूप नहीं कह सकते।

समा०—यह **शङ्का** उचित प्रतीत नहीं हो रही है। उक्त शंका का समाधान सिद्धान्ती यह दे रहा है—

"सम्बन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानाऽसमवायिनः।
इन्द्रियत्वाऽविघाताच्च मनः प्रत्यक्षमात्मवत्॥"

पूर्वपक्षी ने जो कहा कि **'ज्ञान'** गुणरूप है और **'आत्मा'** द्रव्यरूप है। उसका खण्डन **सिद्धान्ती,** अनुमान प्रमाण के सहारे कर रहा है—**ग्रन्थकार** ने उपर्युक्त श्लोक के द्वारा **'अनुमान'** को ही प्रदर्शित किया है। जैसे—**'मनः प्रत्यक्षं, विज्ञानाऽसमवायिनो विज्ञानं प्रति असमवायिकारणस्य सम्बन्धस्य आश्रयत्वात्, आत्मवत्"** अर्थात् 'विज्ञान' के **असमवायिकारणसम्बन्ध** का आश्रय होने से **'आत्मा'** के समान। इस **अनुमान** से स्पष्ट है कि 'ज्ञानरूप-आत्मा' के **'असमवायिकारणसम्बन्ध'** का आश्रय होने से उस 'सम्बन्धरूप विज्ञान' के असमवायी कारण **'मन'** का **प्रत्यक्ष** होता है, और **इन्द्रियत्व** भी उपपन्न होता है। एवं च उसमें 'इन्द्रियत्व' का विघात न हो पाने से 'ज्ञान' के **असमवायि** कारण **'आत्मा'** के समान **नैयायिकों** की दृष्टि से **'मन'** का **प्रत्यक्ष** होता है। इस **अनुमान** से **'मन'** में प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हो जाती है। **'मन'** के प्रत्यक्ष होने से उसके **'इन्द्रियत्व'** का 'बाध' (व्याकोप) होगा, यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि **'साक्षीचैतन्य'** से वेद्य (प्रत्यक्ष) होने पर भी वह (मन) इन्द्रियजन्य-ज्ञान का विषय न होने के कारण उसे **'अतीन्द्रिय'** कहा जाता है। **अतः** हमारे द्वारा किया गया **'स्व-प्रकाशत्वानुमान',** समस्त कलङ्कों (दोषों) से रहित है। **एवञ्च** समस्त दोष-कलङ्कावकाश (प्रवेश) रहित **'आत्मा'** में स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है। और वही 'आत्मस्वरूप' **'प्रकाश'** (ज्ञान), 'अविद्याकल्पित प्रपञ्च' का अवभासक होता है, तथा 'अविद्यारूप' **'तम'** (अन्धकार) का निवर्तक भी होता है। इसलिये उस **'आत्मा'** को 'ज्योति' शब्द से कहा जाता है। जैसे—'रात्रि' के **भावरूप** 'अन्धकार' के निवर्तक और 'जगत्' के अवभासक (प्रकाशक) **सूर्य** आदि को **'ज्योति'** शब्द से कहा जाता है।

शङ्का—सूर्य, **'भावरूप** 'तम' का निवर्तन करने से' इतना सुनते ही न्याय-वैशेषिकमतवादी बड़ी असहिष्णुता से शंका करने के लिये उपस्थित होते हैं।

पूर्वपक्ष—न्याय-वैशेषिक विद्वानों का कथन है कि 'तम' (अन्धकार) को **'भावपदार्थ'** नहीं कह सकते। क्योंकि जो **भावपदार्थ,** परिगणित किये गये हैं, उनमें उसकी गिनती नहीं की गई है। **द्रव्यादि छह** ही भाव पदार्थ बताये गये हैं। उन छह भाव पदार्थों में से यदि 'द्रव्य' पदार्थ में उसका अन्तर्भाव कहें तो क्या 'पृथिवी' आदि **नौ द्रव्यों में से** कोई अन्यतम, यह (**'तम'** नाम का 'भाव

पदार्थ') माना जाय ? **अथवा** उन नौ द्रव्यों से **भिन्न** उसको माना जाय ? इन दो विकल्पों में से **प्रथम विकल्प** का स्वीकार तो कर नहीं सकते, क्योंकि **चतुर्दश-गुण वाले** 'पृथिवी'. 'जल', और 'आत्मा' में, तथा **ग्यारह गुणों वाले** 'तेज' में, **नौ गुणवाले** वायु में, **आठ गुणोंवाले** 'मन' में **छह गुणोंवाले** 'आकाश' में और **पाँच-पाँच गुणोंवाले** अविनाशी दिशा, और 'काल' में 'तम' का अन्तर्भाव नहीं कर सकते। क्योंकि **उनमें** अन्तर्भाव करने पर उनके उतने ही गुण, **'तम'** में भी प्राप्त होंगे, ओर **'आत्मा, काल, दिशा'** इन नित्य द्रव्यों' के अन्तर्गत मानने पर 'तम' को भी **नित्य** कहना होगा।

अब **द्वितीय पक्ष** अर्थात् यदि परिगणित 'नौ द्रव्यों' से भिन्न द्रव्य, उसे (तम को) कहा जाय, तो वह भी नहीं बन सकता। क्योंकि **निर्गुण-पदार्थ** में 'द्रव्यत्व' ही नहीं होता। 'द्रव्य' का लक्षण तो **'गुणवत्त्वं द्रव्यत्वम्'** है। अतः **'तम'** को द्रव्यान्तर नहीं कह सकते।

शङ्का—नीलकमल के दल के समान **श्याम** और **महत्त्वगुणवाला** (महान्) अन्धकार (तम) प्रतीत होता है। तब उसे (तम को) **निर्गुण** कैसे कह सकते हैं ?

समा०—यह **शङ्का** ठीक **नहीं है**। क्योंकि **गन्धादि गुण** के साथ **एक पृथ्वीरूप अर्थ** (वस्तु) में **'समवाय'** सम्बन्ध से रहनेवाला (समवायी) **'नील-रूप'**, उस **'गन्ध'** आदि गुण से व्याप्त रहता है। उस कारण 'गन्धादि गुण' का सहवर्ती **'नीलरूप'** (श्यामरूप) 'गन्धादिगुण' का **'व्याप्य'** है। इसलिये **व्यापक** 'गन्धादि' के अभाव में (गन्धादि के न रहने से) **'तम'** में 'श्याम' (नील) रूप भी नहीं रहेगा। अतः **'गन्ध'** के अभाव में **'नीलरूप'** का अस्तित्व 'तम' में होना कभी संभव नहीं है ;

किञ्च परिगणित **नौ** द्रव्यों से 'तम' को भिन्न द्रव्य यदि मानते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'तम' को **'निरवयव'** मानोगे या **'सावयव'** मानोगे ? **प्रथमपक्ष** यानी उसे (तम को) **'निरवयव'** तो कह नहीं सकते, क्योंकि **'निर-वयव'** पक्ष में **'आकाश'** आदि के समान उसे (तम को) **'नित्य'** कहना होगा। तब उसे **'आलोक'** (प्रकाश) से उसकी कभी निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी।

यदि उसे **'सावयव'** (कार्य) कहते हैं, तो उन अवयवों के आरंभक (कारण) **'परमाणुओं'** को **'सस्पर्श'** (स्पर्शयुक्त) मानेंगे या **'निःस्पर्श'** (स्पर्शरहित) मानेंगे ?

सस्पर्श मानने पर 'तम' में भी 'स्पर्श' की उपलब्धि माननी होगी। और 'तम' के आरम्भक कारणों को 'निःस्पर्श' (स्पर्शरहित) मानने पर उनकी अस्पर्शवत्ता के कारण 'मन' के समान 'द्रव्य' का आरम्भक उन्हें नहीं कहा जा सकेगा। अतः 'द्रव्य' के अन्तर्गत 'तम' को नहीं कह सकते।

उसीतरह 'तम' को 'गुणों' के अन्तर्गत भी नहीं मान सकते। क्योंकि 'तम' को यदि 'गुण' के अन्तर्गत कहें तो क्या 'रूप' में उसका अन्तर्भाव होगा? या अन्य गुणों में अन्तर्भाव होगा? यदि 'रूप' गुण में उसका अन्तर्भाव करते हैं तो 'रूपगुण' तो 'पृथिवी, जल, और तेज' इन तीनों में ही 'रूप' रहता है। इन तीनों में से किसी के 'रूप' में इसका अन्तर्भाव करने पर उक्त तीनों के 'सहचारी' गन्धादि गुणों की भी 'तम' में उपलब्धि कहनी होगी। किन्तु 'तम' में 'गन्धादि गुणों' की उपलब्धि होती नहीं है। 'तम' को 'आकाश तथा वायु' का भी 'गुण' नहीं कह सकते। क्योंकि 'आकाश' और 'वायु' दोनों ही 'नीरूप' हैं। 'तम' को 'दिशा, काल, और मन' का भी 'गुण' नहीं कह सकते। क्योंकि 'दिशा', काल और मन इन तीनों में कोई 'विशेषगुण' नहीं रहता। प्रशस्तपाद ने 'रूपादि विशेष गुणों का परिगणन किया है —"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-स्नेह-सांसिद्धिक-द्रवत्व-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-प्रयत्न-धर्माऽधर्म-भावना-शब्दा वैशेषिक-गुणाः" इन 'विशेष गुणों में से कोई भी 'दिशा, काल, मन' में नहीं रहता। 'तम' को 'आत्मा' का भी 'गुण' नहीं कह सकते। क्योंकि 'आत्मा' के गुणों का बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। किन्तु 'अन्धकार' (तम) के 'रूप' का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। अतः उसे 'आत्मा' का गुण नहीं कह सकते। 'तम' (अन्धकार) को 'कर्म' पदार्थ के अन्तर्गत भी नहीं कह सकते। क्योंकि वह 'संयोग-विभाग' का कारण नहीं है। वैशेपिकों ने 'संयोग-विभाग' के 'असमवायिकारण' को ही 'कर्म' माना है। 'तम' (अन्धकार) से कोई भी 'संयोग' अथवा 'विभाग' उत्पन्न नहीं होता। अतः उसे 'कर्म' के अन्तर्गत कभी नहीं माना जा सकता।

उसीतरह 'तम' (अन्धकार) को, 'सामान्य' (जाति), 'विशेष', और 'समवाय' के अन्तर्गत भी नहीं कह सकते। क्योंकि यह एक नियम है कि 'व्यक्ति' की 'उपलब्धि' (ज्ञान) के बिना 'जाति' की, 'आश्रय' की उपलब्धि (ज्ञान) के बिना 'विशेष' की, और 'सम्बन्धी' की उपलब्धि के बिना 'समवाय' की उपलब्धि नहीं हुआ करती। यदि 'तम' उक्त तीनों में से किसी के अन्तर्गत

होता तो 'उसकी' भी उपलब्धि **'व्यक्ति'** आदि के बिना न हो पाती। किन्तु **'तम'** की प्रतीति **'व्यक्ति'** आदि की प्रतीति के बिना ही होती है। एवं च **'तम'** का कोई **आधार** प्रतीत नहीं होता है। इसलिये उसका अन्तर्भाव **'सामान्यादि'** में नहीं हो सकता।

किञ्च-'तम' को **भावस्वरूप** अतिरिक्त पदार्थ यदि कहें, तो उसका उपलम्भक (प्रत्यायक-ज्ञापक) ही कोई नहीं है। **'नेत्रों'** को यदि उसका उपलम्भक (ज्ञापक) कहें तो 'नेत्रों' को बन्द कर लेने पर उसकी (तमकी) प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु होती है। नेत्र बन्द किये हुए व्यक्ति को यह अभिमान (अनुभव) होता है कि मैं **'तम'** को देख रहा हूँ।

किञ्च—'तम' को **'रूप'** या **'रूपवान्'** यदि कहते हैं कि 'आलोक' (प्रकाश) की सहायता से रहित (निरपेक्ष) **नेत्रेन्द्रिय** से 'उसका' प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि **'रूप'** या **'रूपवान्'** का प्रत्यक्ष 'आलोकसहकृत चक्षु' से ही हुआ करता है।

उसी तरह **'मन'** से भी उसका (तम का) प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि 'मन', **अन्तरिन्द्रिय** है। उसे बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष करने में **बाह्येन्द्रियों** की सहायता लेनी पड़ती है। बिना उनकी सहायता के वह (मन) **बाह्यपदार्थ** का प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं है।

तात्पर्य यह है कि **'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय'**—इन **छह भाव** पदार्थों में 'तम' का अन्तर्भाव कथमपि नहीं हो पारहा है। और यदि दुराग्रहवश कथंचित् किसी में अन्तर्भाव मान भी लें, तो उसका कोई प्रत्यायक (ज्ञापक) नहीं मिलता। **'प्रभा** (आलोक) का **अभाव'** स्वरूप ही **'तम'** है, यह सिद्ध हो रहा है।

सिद्धान्त—पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्तरीति से पूर्वपक्ष के उपस्थित करने पर सिद्धान्ती उसका खण्डन करता है—

"तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे।
द्रव्यान्तरन्तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥

सिद्धान्ती का कहना है कि 'तम' को 'तेजोऽभाव' रूप बताना ठीक नहीं है। वस्तुतः वह तो **'भावरूप'** है। 'तमालवृक्ष के पत्र के समान वह (तम) **श्यामल** (काला-नीला) वर्ण का है'—इस प्रकार निर्बाध (अकाट्य) प्रत्यक्ष रहता है। फिर भी उसको (तम को) द्रव्यान्तर (दशमद्रव्य) कहने में क्यों झिझक लग रही है ?

यानी सत्य का अपलाप क्यों कर रहे हैं ? क्योंकि **'तमालमालाश्यामलं तमः'**—तमाल की पङ्क्ति के तुल्य यह काला (नील) तम है—यह प्रतीति सभी को होती है। अतः इस प्रकार होनेवाली 'प्रतीति के विषय' को **'अभाव'** रूप कहना कैसे उचित होगा ? एवंच **'तम'** को 'भावपदार्थ' ही कहना चाहिये।

शङ्का—'अप्रतीति' में ही **'प्रतीति का भ्रम** होता है, 'यह क्यों न कहा जाय ? अर्थात् वास्तविक (यथार्थ) प्रतीति के अभाव में ही यह प्रतीति का भ्रम हो रहा है।

समा०—'प्रतीति' होती है, इसीलिये उसका (तम का) व्यवहार में प्रयोग किया जाता है। 'प्रतीति' यदि न होती तो उसका व्यवहार ही कभी न होता।

शङ्का—वस्त्र (पट) में शुक्लता के न रहने पर उसे 'काला' (मैला) कह दिया करते हैं, वैसे ही 'आलोक' (प्रभा) के न रहने पर (अभाव में) 'तम' को 'काला' कहा जाता है, किन्तु इस प्रकार कहने का व्यवहार 'औपचारिक' (गौण) ही है। अर्थात्—विवेक न रहने से (अविवेक के कारण) इस प्रकार का मिथ्या व्यवहार लोग किया करते हैं।

समा०—यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि किसी भी शब्द का 'गौण' (औपचारिक) व्यवहार, तभी किया जाता है, 'जब 'मुख्य अर्थ' में उस शब्द की प्रवृत्ति का कोई बाधक हो'। प्रस्तुत प्रसंग में 'मुख्यार्थता' में कोई बाधक नहीं है, तब 'श्यामल' को औपचारिक (गौण) क्यों कहा जायगा ? **अभिप्राय** यह है कि **'नीलं तमः'**—यह लोक-व्यवहार, सर्वत्र प्रसिद्ध है। और प्राणिमात्र का व्यवहार सर्वदा 'ज्ञानपूर्वक' ही हुआ करता है। इस कारण 'व्यावहारिक हेतुज्ञान', जब तक बाधित नहीं होगा, तब तक 'व्यवहार' को औपचारिक (गौण) नहीं कह सकते।

शङ्का—'तम' को 'रूपात्मक' या 'रूपवान्' मानने पर उसमें **'आलोक-निरपेक्ष चक्षुर्जन्यज्ञान'** की 'विषयता' का संभव न हो पाना ही 'बाधक' है इस प्रकार **'नील-तम'** का ज्ञान, बाधित (मिथ्या) है।

समा०—यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि आलोकविरोधी 'तम', आलोका-ऽभाव' से ही अभिव्यक्त होता है। इसलिये 'आलोकनिरपेक्षचक्षुर्विषयता' की सिद्धि 'तम' में उपपन्न हो जाती है।

शङ्का—सर्वत्र ज्ञानोत्पत्ति में 'चक्षुरिन्द्रिय' को आलोक (प्रकाश) की अपेक्षा

रहती है, तभी वह, ज्ञान को उत्पन्न कर पाता है। तब 'तम' का प्रत्यक्ष करने में आलोकनिरपेक्ष होकर वह (नेत्रेन्द्रिय) कैसे समर्थ हो पायेगा ?

समा०—यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि 'सामर्थ्य' तो 'कार्य' (फल) से गम्य (बोध्य) होता है। अन्यथा 'आलोकाऽभावरूप' माना हुआ जो 'तम' (अन्धकार) है, उसका भी प्रत्यक्ष, 'आलोकनिरपेक्ष चक्षु' से नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'तम' को 'आलोकाऽभावरूप' कहने पर उस 'अभाव' (तम) को 'रूपवत्प्रतियोगिक' कहना होगा, क्योंकि 'आलोक' रूपवान् है। तब जैसे— 'रूपवत्-घटादिप्रतियोगिक अभाव' का प्रत्यक्ष, 'आलोकनिरपेक्षचक्षु' से नहीं होता, अर्थात् आलोकनिरपेक्षचक्षुर्जन्यज्ञान का विषय नहीं होता है, उसी तरह आलोकाभावरूप 'तम' भी 'आलोक का विरोधी होने के कारण उसके (अभावरूप तम के) प्रत्यक्ष में 'चक्षुरिन्द्रिय' को 'आलोक' की अपेक्षा रहती है।

यही समाधान 'भावरूप अन्धकार' के प्रत्यक्ष में भी कहा जा सकता है। अर्थात् प्रकाश-विरोधी 'तम' के प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय को प्रकाश की आवश्यकता नहीं हुआ करती।

प्रकाशविरोधी 'तम' के प्रत्यक्ष में भी 'आलोकसापेक्ष चक्षुरिन्द्रिय' से ही प्रत्यक्ष होने का यदि दुराग्रह हो तो उसको दूर करने का कोई उपाय नहीं है।

शङ्का—यदि यह कहो कि नेत्र बन्द किये हुए व्यक्ति को नेत्र का व्यापार न होने पर भी उसे 'तम' का प्रत्यक्ष होता है। ऐसी स्थिति में 'तम' को चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय कैसे कह सकते हैं ?

समा०—उक्त आशंका करना उचित नहीं है। क्योंकि नेत्र बन्द रखने पर भी नेत्र की पलकों (पटलों) के अन्तरवर्ती 'तम' का 'नेत्र' के व्यापार से ही ज्ञान (उपलब्धि) हो जाता है। अर्थात् 'प्रत्यक्ष' होता है। जैसे दोनों श्रोत्र (कान) बन्द कर लेने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय के 'व्यापार' से ही 'भीतर के शब्द' का ज्ञान होता रहता है। इसी प्रकार से 'तम' का भी प्रत्यक्ष, नेत्र बन्द किये हुए व्यक्ति को उसके नेत्रव्यापार के चलते रहने के कारण उसे होता है। अतः 'तम' के प्रत्यक्ष का कारण आलोकनिरपेक्ष 'नेत्र' को ही समझना चाहिये।

शङ्का—यह जो कहा था कि 'पृथ्वी' में 'नीलरूप' का व्यापक जो 'गन्ध' है, उसके अभाव में, उसका व्याप्य 'नीलरूप' भी 'तम' में कैसे रह पायगा ?

समा०—यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'पृथिवी' में जो 'अनुष्णाशीत-

स्पर्श' है, वह 'पृथिवी' में रहने वाले 'गन्ध' का 'व्याप्य' है, और 'गन्ध' व्यापक है, किन्तु 'वायु' में 'गन्ध' (व्यापक) के न रहने पर भी प्रतीति के बलपर उसे (अनुष्णाशीत स्पर्श को) स्वीकार किया जाता है। उसी तरह 'तम' में 'गन्ध' के न रहने पर भी 'प्रतीति' के बल पर 'नीलरूप' को स्वीकार किया जा सकता है।

शङ्का—'पाकज' (तेजोजन्य भूमिवृत्ति) 'अनुष्णाशीत स्पर्श' ही 'गन्ध' का 'व्याप्य' है, अनुष्णाशीतस्पर्शसामान्य' व्याप्य नहीं है। इसलिये 'वायु' में 'गन्ध' के न रहने पर 'पाकज-अनुष्णाशीतस्पर्श' की ही निवृत्ति होगी। अर्थात् 'वायु' में 'व्यापक गन्ध' की निवृत्ति से 'व्याप्य पाकज-अनुष्णाशीतस्पर्श' की ही निवृत्ति होती है किन्तु 'अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श' तो 'वायु' में रहेगा ही। इसीलिये 'वायु' में 'पाकजस्पर्श' की निवृत्ति, व्यापक 'गन्ध' की निवृत्ति होने से होती है। उसी प्रकार यहाँ भी कह सकते हैं कि 'गन्ध' का व्याप्य 'पाकज नीलरूप' ही है। तम (अन्धकार) में 'गन्ध' की निवृत्ति से 'पाकज नीलरूप' की ही निवृत्ति होगी, किन्तु 'अपाकज नीलरूप' तो कायम रहेगा ही।

यदि यह कहें कि 'वायु' में 'अपाकज स्पर्श' के ग्राहक प्रमाण के सामान 'अपाकज नीलरूप' का ग्राहक प्रमाण यदि कोई रहे, तो आपका कहना उपपन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

उस पर यह कहना है कि 'सद्भाव' के ग्राहक 'प्रत्यक्ष' प्रमाण उभयत्र तुल्य है। 'वायु' में जिस प्रकार 'त्वक्' से 'अनुष्णाशीत अपाकज स्पर्श' का ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'तम' में भी 'चक्षुरिन्द्रिय' से 'अपाकज नीलरूप' का ज्ञान होता है। उस पर भी यदि 'अपाकज नीलरूप' को 'तम' में न माना जाय, तो 'वायु में भी 'अनुष्णाशीतस्पर्श' नहीं माना जायगा। दोनों में यही समानता है। अर्थात् 'अपाकज नीलरूप' के अस्तित्व का ग्राहक 'प्रत्यक्ष' प्रमाण यदि हो, तो उसके बलपर 'तम' में उसे माना जा सकेगा, किन्तु उसके अस्तित्व का ग्राहक 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है ही नहीं, तो यहाँ भी कह सकते हैं कि 'अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श' का ग्राहक प्रत्यक्ष और 'अपाकज नीलरूप' का ग्राहक प्रत्यक्ष—इन दोनों की कथा, तुल्य ही है।

शंका—'तम' में 'स्पर्श' का अभाव रहने से उसमें (तम में) 'रूप' के **सामान्याभाव** का अनुमान करेंगे—**'तमः रूपरहितं स्पर्शरहितत्वात् आकाशवत्'**। तब तम में 'नीलरूप' कैसे रहेगा ?

समा०—उक्त 'अनुमान', **कालात्ययापदिष्ट** (बाधित) है। क्योंकि 'रूप-रहितत्व' (रूपाभाव) यह 'साध्य' है, उसका, 'रूपग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण' से बाध हो जाता है। इसलिये 'तम' में 'रूपाभाव' का अनुमान नहीं किया जा सकता।

अन्यथा अर्थात् यदि 'तम' में 'स्पर्शरहितत्व' हेतु से (स्पर्शाभाव से) 'रूपाभाव' का अनुमान करेंगे, तो 'वायु' में भी 'रूपाभाव' हेतु से 'स्पर्शाभाव' का अनुमान कर सकते हैं। तथाहि—**'वायुःस्पर्शरहितः रूपरहितत्वात् , आकाशवत्'**—यह अनुमान का आकार होगा।

शङ्का—इस पर कोई यह कह सकता है कि **'व्यापकाभाव'** से **'व्याप्याभाव'** का अनुमान हुआ करता है। अतः रूपरहितत्व' (रूपाभाव) **हेतु** से स्पर्शरहितत्व' (स्पर्शाभाव) **साध्य** का अनुमान तभी कर सकेंगे, जब 'रूप' **व्यापक** और 'स्पर्श **व्याप्य** रहे। किन्तु **'रूपाभाव'** अपने **अधिकरण** 'वायु' में रहता है। इसलिये **'स्पर्श'** कभी भी **'रूप'** का व्याप्य नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में **'रूपाभाव'** हेतु से 'वायु' में **'स्पर्शाभाव'** साध्य का अनुमान कैसे हो सकेगा?

समा०—'रूपाभाव' का **'पक्ष'**—'वायु' है। **'पक्ष'** उसी को कहते हैं, जिसमें **'साध्य' का सन्देह** हो। यही कारण है कि **'व्याप्ति'** का प्रदर्शन, सर्वदा **'पक्ष'** से अन्यत्र ही किया जाता है। **'वायु'** से अन्यत्र तो **'स्पर्श'** का कहीं व्यभिचार नहीं है। जैसे—'वायु' से अन्यत्र 'रूपवान् पृथिवी, जल, तेज' में 'स्पर्श' नियमितरूप से रहता है। इसलिये 'स्पर्श' व्याप्य है और 'रूप' व्यापक है। अतः **'वायुः स्पर्शरहितः रूपरहितत्वात् आकाशवत्'** यह अनुमान किया जा सकता है। अर्थात् 'रूपाभाव' से 'वायु' में 'स्पर्शाभाव' का अनुमान हो सकता है। क्योंकि 'स्पर्श' की प्रतीति जो होती है, वह तो आभासरूप है, वास्तविक नहीं है। इसलिये उक्त अनुमान का प्रयोग करने में कोई रुकावट नहीं है।

कन्दलीकार का जो कहना है कि **'यत् स्पर्शरहितं न तद् द्रव्यारम्भकं यथा मनः'**—यह व्याप्ति है। इसलिये स्पर्श रहित होने से अंगीकृत परमाणुओं को द्रव्यारम्भक नहीं मान सकते। अर्थात् 'तम' के 'परमाणु', 'तम' रूप कार्य के आरंभक नहीं हो सकते हैं। तथाहि—**'तमःपरमाणवः द्रव्यानारम्भकाः स्पर्शाभावात् मनोवत्'**—यह अनुमान होगा। किन्तु उक्त 'अनुमान' भी **सोपाधिक** होने से ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त अनुमान में तदारब्ध द्रव्य **'वैयर्थ्य'** उपाधि है। अतः **'अस्पर्शवत्त्व'** और **'अनारम्भकत्व'** दोनों की व्याप्ति नहीं बन पा रही है।

अर्थात् **'मन'** में 'द्रव्याऽनारम्भकता' है, और 'व्यर्थता' भी है। 'मन' से जो आरब्ध है, उसका कोई 'फल' नहीं हो सकता। इसलिये **'व्यर्थता'** का 'साध्य' का **व्यापक** कह सकते हैं और 'स्पर्शाभावरूप हेतु, का वह **अव्यापक** भी है। क्योंकि 'वायवीय परमाणु' में **स्पर्शाभाव है,** परन्तु **'व्यर्थता'** नहीं है। अतः **'व्यर्थता'** में साध्यव्यापकता और साधनाव्यापकता रहने से 'व्यर्थता' (वैयर्थ्य) को 'उपाधि' कह रहे हैं। **'मन'** से जो आरब्ध है, उसका 'फल' इसलिये नहीं है कि 'मन' से आरब्ध 'द्रव्य' या तो **'शरीर'** होगा, या **'विषय'** या **'इन्द्रिय'** होगा। इनमें से किसी में भी **'भोगसाधनता'** (सार्थकता) नहीं हो सकती, क्योंकि **'पार्थिव', 'जलीय', 'तैजस'** और **'वायवीय'**—इन चतुर्विध शरीरों को ही प्रामाणिक (प्रमाणसिद्ध) माना गया है। इन 'चतुर्विध शरीरों' के अतिरिक्त कोई भी 'शरीर', इन्द्रियों का आश्रय हो नही सकता। तब वह 'भोग' का साधन कैसे बनेगा ? **दूसरी बात** यह है कि **'मन'** स्वयं अन्तरिन्द्रिय है, उससे—'आरब्ध द्रव्य', **इन्द्रियाश्रय** भी नहीं होगा। इसलिये वह **'शरीररूप'** से 'भोग' का साधन नहीं होगा। उसी तरह **'विषयरूप' से** भी भोग का साधन नहीं बन सकेगा, क्योंकि 'रूप-स्पर्श' से रहित 'मन' के द्वारा 'आरब्ध द्रव्य', रूपादिरहित होने के कारण 'इन्द्रियों' का विषय नहीं हो सकता। और 'शरीर' तथा 'इन्द्रिय' से भिन्न जो अवयवी (कार्य द्रव्य) होता है, उसे ही 'विषय' कहा जाता है। उसी तरह 'मनोजन्य द्रव्य', **इन्द्रियरूप से** भी भोग-साधन नहीं हो सकता। क्योंकि 'मन' स्वयं ही 'इन्द्रिय' होने से उससे (मन से) जन्य में 'इन्द्रियान्तरत्व' मानना व्यर्थ है। **तार्किक विद्वान्** 'शरीर, इन्द्रिय, विषय' से भिन्न (अनन्तर्गत) किसी अन्य द्रव्य को भोगसाधन मानते नहीं हैं।

जिनका स्पर्श हो नहीं सकता उन स्पर्शरहित **'आत्मा'** आदि द्रव्यों से भी **शरीर, इन्द्रिय, विषय** का आरम्भ नहीं होता है। अतः द्रव्यान्तरारम्भ की **'व्यर्थता'** रूप उपाधि 'मन' के ही समान है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'स्पर्शरहित परमाणुओं से आरब्ध रूपवाले 'तम' में **भोगसाधनता** का होना सम्भव है। अतः **'तम'** में 'आरम्भ' की **'व्यर्थता'** रूप उपाधि है। इसलिये **'उपाधि'** में 'साधना-व्यापकता' है। निष्कर्ष यह है कि जो **स्पर्शरहित** है, वह, 'द्रव्यान्तर का आरंम्भक' नहीं हो सकता'—यह **'व्याप्ति'** है। इस व्याप्ति में **'तदारब्धद्रव्य-व्यर्थकत्व'** रूप उपाधि को बताया गया था। क्योंकि मन और आत्मा में **'द्रव्यानारम्भकत्व'** साध्य भी है और **'तदारब्धकार्यव्यर्थकत्व'** उपाधि भी है। अतः साध्यव्यापकता

घट जाती है। 'तम' के परमाणुओं में 'स्पर्शरहितत्व' हेतु तो है। **'तदा-रब्धद्रव्यव्यर्थत्व'** रूप उपाधि वहां नहीं बन पा रहा है। यह समाधान तो हमने **परमत** के मन्तव्य के अनुसार कर दिया है। क्योंकि हमारे प्रतिद्वन्द्वी लोग **'तम'** की उत्पत्ति 'उसके परमाणुओं' से मानते हैं। **'तम'** के परमाणुओं में 'स्पर्शरहितत्व' **हेतु** तो है, किन्तु 'तदारब्धद्रव्यव्यर्थत्व' **उपाधि** नहीं है। अतः **'वैयर्थ्य'** उपाधि बताना निरर्थक ही है।

वास्तविकस्थिति तो यह है कि हमारी **वेदान्तप्रक्रिया** के अनुसार **'तम'** नामका द्रव्य, अपने 'परमाणु' रूप अवयवों से आरब्ध (उत्पन्न) नहीं होता है। क्योंकि उसकी (तम की) उत्पत्ति (जन्म) तो अपने मूलकारण 'मायाविशिष्ट ब्रह्म' से वैसे ही होती है, जैसे 'मेघमण्डल' से **महाविद्युत्** की उत्पत्ति होती है। **विवरणकार** कहते हैं कि **'आलोकविनाशितस्य च तमसः पुनर्मूलकारणादेव झटिति महाविद्युदादिजन्मवज्जन्म सिद्ध्यति'**। अतः स्पर्शरहित परमाणुओं से 'तम' की उत्पत्ति न होना हमारे मत से सिद्ध ही है, उसी को पुनः सिद्ध करने के लिये आप तैयार हो रहे हैं। अतः आपके उक्त अनुमान में हमारे मत से **'सिद्ध-साधनता'** हो रही है।

तथा **वेदान्त-सिद्धान्त** के अनुसार 'मन' को **अनारंभक** भी नहीं मानते हैं। क्योंकि 'मन' तो **सावयवद्रव्य** है, अतः उसको **परिणामी** (द्रव्यारम्भक) माना जाता है। तथा स्पर्शरहित 'आत्मा' को **सम्पूर्ण सृष्टि** का 'उपादानकारण' माना जाता है। इसलिये उक्त **अनुमान** में **'दृष्टान्तासिद्धि'** भी है। ये सब दोष उपस्थित होते हैं, उस कारण **'स्पर्शरहितत्व'** हेतु से 'तम' के अवयवों में **'तदना-रम्भकत्व'** सिद्ध नहीं हो पा रहा है। इसलिये 'तम' को **'सावयव द्रव्य'** कहा जा सकता है।

एवञ्च 'तम' **'रूपवान्'** होने से उसे **'द्रव्य'** ही कहना चाहिये। उसे **'तेज'** का **अभाव** कहना उचित नहीं है।

जिस प्रकार **'श्यामरूप'** हेतु के बल पर 'तम' में **'द्रव्यत्व'** सिद्ध किया गया हैं, उसी तरह **'चलनक्रिया'** अर्थात् **'चलत्व'** हेतु से भी उसे **आलोक** (प्रकाश) के समान **द्रव्यान्तर** सिद्ध किया जा सकता है। अतःवह (तम), **प्रकाशभावरूप** नहीं है।

शङ्का—'तम' में जो 'चलनक्रिया' बताई जा रही है, वह उसकी अपनी **स्वा-भाविक** नहीं है, किन्तु **'दीप'** आदि के हिलने से उसमें वह प्रतीत होती है। अर्थात्

'तम' में प्रतीयमान क्रिया, 'अन्य' की क्रिया का अनुसरण किया करती है। जैसे—'घट' की क्रिया का अनुसरण 'घट' का रूप किया करता है। अतः जैसे गुणात्मक रूप में 'क्रिया की प्रतीति' मिथ्या होती है, वैसे ही 'तम' में 'चलन-क्रिया' की प्रतीति भी मिथ्या ही कहनी चाहिये।

किन्तु यह उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। यदि यह भी कहा जाय कि 'तम', 'दूसरे की क्रिया' का अनुकरणमात्र करता है। अर्थात् 'तम' में जो 'चलन-क्रिया' की प्रतीति होती है, वह उसकी अपनी निजी नहीं है, अपितु 'दीपक' के हिलने-डुलने से उसमें (तम में) वैसी ही क्रिया की प्रतीति होती है। तब भी उसे (तम को) प्रकाशाभावरूप नहीं कह सकते। क्योंकि किसी 'अन्य द्रव्य' के अनुकरण (अनुविधान) करनेवाले 'द्रव्यान्तर' में भी उसकी अपनी स्वाभाविक चलनादि क्रिया हुआ करती है। जैसे 'आकरज' (खनिज) तेजोरूप सुवर्ण आदि' में, पीतरूपवाले पार्थिवांश के सम्बन्ध (समिश्रण) से उसके अनुकरण (अधः-पतन) को 'तेजोरूप सुवर्णादि' करते हैं, तथापि उन 'सुवर्णादिरूप तेज' की 'स्वाभाविक ऊर्ध्वचलनादि क्रिया' की प्रतीति न रहने पर भी वह नष्ट नहीं होती। प्रतीति न होने का कारण यह है कि 'पार्थिवद्रव्य' का सम्मिश्रण उसमें हुआ है। उस कारण उसके 'स्वाभाविक ऊर्ध्वचलन' की प्रतीति नहीं होती है। जैसे—'अग्नि' जब मन्द हो जाता है, तब उसके 'ऊर्ध्वज्वलन' की प्रतीति नहीं होती है। वैशेषिकों ने 'भौम, दिव्य, औदर्य, आकरज'—ये चार प्रकार के तेज माने हैं। तदनुसार यह विचार किया गया है। अब विचारणीय कोई बात शेष नहीं रह जाती।

उसपर भी यदि कोई दुराग्रह ही करे कि 'तम', किसी अन्य द्रव्य का अनुविधान (अनुकरण) करता ही है, तो उससे हम पूछ सकते हैं कि वह (तम) किस द्रव्य का अनुविधान करता है। क्या प्रकाश (आलोक) के अवरोधक छत्र आदि का अनुकरण करता है? अथवा 'तम' के निवारक 'दीपक' आदि का अनुकरण करता है? प्रथम विकल्प को तो स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि प्रकाश (आलोक) के अवरोधक 'पर्वत' आदि के निश्चल रहते हुए भी उनके छायारूप 'तम' (अन्ध-कार) का 'चलन', सूर्य की चलनक्रिया से अवगत होता है।

द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'दीपक के प्रकाश' (आलोक) के प्राप्त होनेपर 'तम' (अन्धकार = छाया) चला जाता है। और 'दीपक का प्रकाश' वहाँ से हट जाने पर 'तम' (अन्धकार = छाया) आ जाता है। एवञ्च 'आलोक'

के विपरीत 'तम' की क्रिया दिखाई देती है। अतः इस प्रकार के 'वैपरीत्य' को 'अनुकरण' नहीं कह सकते। 'तम और अन्धकार' ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं। विरोधी का अनुकरण कभी कोई नहीं करता। प्रकाश (तेज) के उदित होते ही 'तम' नष्ट हो जाता है, तब वह 'तेज' का अनुविधान (अनुसरण) कैसे कर सकता है ?-इस प्रकार **आलोकाभाव** के प्रतिबन्दी के रूप में **'तम'** के रूपवान् रहने पर भी उसका प्रत्यक्ष' **आलोकनिरपेक्ष चक्षुरिन्द्रिय** से होता है, यह बात कही गई। अब उसी बात को अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध करते हैं—

"चक्षुः प्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम्।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम्॥"

'प्रकाश' (आलोक) से अजन्य जो रूपवद्-द्रव्य का वीक्षण अर्थात् 'रूपी-द्रव्य का साक्षात्कार, उस 'साक्षात्कार' के करने में **चक्षुरिन्द्रिय,** समर्थ है—यह **प्रतिज्ञा** है। क्योंकि वह, 'रूपी द्रव्य' का ग्राहक है—यह **हेतु** है। जैसे—**त्वगिन्द्रिय,**—यह दृष्टान्त है।

उक्त पद्य के द्वारा संगृहीत **अनुमान** को इस प्रकार—विवृत कर सकते हैं—**'चक्षुः, आलोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकं, रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्'**—यहाँ पर 'चक्षुः'—**पक्ष** है, 'आलोकाऽजन्य''''''जनकत्व'—**साध्य** है, 'रूपिद्रव्य''''''त्वात्'—**हेतु** है, 'त्वगिन्द्रिय'—यह **दृष्टान्त** है अर्थात् 'आलोक की अपेक्षा न रखनेवाले चक्षु', **भावद्रव्यरूप-नीलरूपवाले 'तम'** (अन्धकार) के ग्राहक हैं, क्योंकि 'समस्त रूपिद्रव्य' के ग्राहक होने से, 'त्वगिन्द्रिय' के समान। एवञ्च **'तम'** को—**रूपवान् भावरूप द्रव्य** कहना चाहिये। वह **अभाव रूप** नहीं है।

शङ्का—**'तम'** को 'रूपवान्, भाव द्रव्य' सिद्ध करने के लिये जो **अनुमान प्रयोग** किया गया है, उसमें 'रूपरहित इन्द्रियत्व उपाधि' के उपस्थित हो जाने से वह **सोपाधिक**' हो गया है। अतः उससे 'तम' की **भावद्रव्यता** सिद्ध नहीं हो सकेगी। **'रूपरहित इन्द्रियत्व'** में उपाधित्व इस प्रकार होगा—**'आलोकाजन्य-रूपवद्द्रव्यसाक्षात्कारजनकत्व'** यह **साध्य** उपलब्ध होता है **'त्वगिन्द्रिय'** में, क्योंकि 'त्वक्', प्रकाश के बिना भी द्रव्य का बोधक होता है, और वहीं पर 'रूप-रहित इन्द्रियत्व' भी है। अतः **रूपरहित इन्द्रियत्व'** जिसे उपाधि बनाने जा रहे हैं, वह **'साध्य'** का व्यापक' हो जाता है। उसी तरह वह 'साधन' का 'अव्यापक' भी हो रहा है। तथाहि-**'रूपवद्द्रव्यग्राहकत्व'** जो 'हेतु' है, वह 'च:' में भी है,

'तम' में **प्रतीयमान क्रिया**, 'अन्य' की **क्रिया का** अनुसरण किया करती है। जैसे—**'घट'** की क्रिया का अनुसरण **'घट' का रूप** किया करता है। अतः जैसे **गुणात्मक रूप** में 'क्रिया की प्रतीति' मिथ्या होती है, वैसे ही **'तम'** में 'चलन-क्रिया' की प्रतीति भी मिथ्या ही कहनी चाहिये।

किन्तु यह **उपर्युक्त** कथन उचित नहीं है। यदि यह भी कहा जाय कि **'तम'**, 'दूसरे की क्रिया' का **अनुकरणमात्र** करता है। अर्थात् **'तम'** में जो **'चलन-क्रिया'** की प्रतीति होती है, वह उसकी अपनी निजी नहीं है, अपितु **'दीपक'** के हिलने-डुलने से उसमें (तम में) वैसी ही क्रिया की प्रतीति होती है। **तब भी** उसे (तम को) **प्रकाशाभावरूप** नहीं कह सकते। क्योंकि किसी 'अन्य द्रव्य' के अनुकरण (अनुविधान) करनेवाले 'द्रव्यान्तर' में भी उसकी अपनी **स्वाभाविक चलनादि क्रिया** हुआ करती है। जैसे 'आकरज' (खनिज) तेजोरूप सुवर्ण आदि' में, पीतरूपवाले पार्थिवांश के सम्बन्ध (सम्मिश्रण) से उसके अनुकरण (अधः-पतन) को 'तेजोरूप सुवर्णादि' करते हैं, तथापि उन 'सुवर्णादिरूप तेज' की 'स्वाभाविक ऊर्ध्वचलनादि क्रिया' की प्रतीति न रहने पर भी वह नष्ट नहीं होती। प्रतीति न होने का कारण यह है कि 'पार्थिवद्रव्य' का सम्मिश्रण उसमें हुआ है। उस कारण उसके 'स्वाभाविक ऊर्ध्वचलन' की प्रतीति नहीं होती है। जैसे—'अग्नि' जब मन्द हो जाता है, तब उसके 'ऊर्ध्वज्वलन' की प्रतीति नहीं होती है। **वैशेषिकों** ने **'भौम, दिव्य, औदर्य, आकरज'**—ये चार प्रकार के **तेज** माने हैं। तदनुसार यह विचार किया गया है। अब विचारणीय कोई बात शेष नहीं रह जाती।

उसपर भी यदि कोई दुराग्रह ही करे कि 'तम', किसी अन्य द्रव्य का अनुविधान (अनुकरण) करता ही है, तो उससे हम पूछ सकते हैं कि वह (तम) **किस द्रव्य** का अनुविधान करता है। क्या **प्रकाश** (आलोक) के अवरोधक **छत्र** आदि का अनुकरण करता है ? अथवा 'तम' के **निवारक** 'दीपक' आदि का अनुकरण करता है ? **प्रथम विकल्प** को तो स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि **प्रकाश** (आलोक) के अवरोधक 'पर्वत' आदि के निश्चल रहते हुए भी उनके **छायारूप** 'तम' (अन्ध-कार) का 'चलन', सूर्य की चलनक्रिया से अवगत होता है।

द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'दीपक के प्रकाश' (आलोक) के प्राप्त होनेपर 'तम' (अन्धकार = छाया) चला जाता है। और 'दीपक का प्रकाश' वहाँ से हट जाने पर 'तम' (अन्धकार = छाया) आ जाता है। एवञ्च 'आलोक'

के विपरीत 'तम' की क्रिया दिखाई देती है। अतः इस प्रकार के 'वैपरीत्य' को 'अनुकरण' नहीं कह सकते। 'तम और अन्धकार' ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं। विरोधी का अनुकरण कभी कोई नहीं करता। प्रकाश (तेज) के उदित होते ही 'तम' नष्ट हो जाता है, तब वह 'तेज' का अनुविधान (अनुसरण) कैसे कर सकता है ?-इस प्रकार **आलोकाभाव** के प्रतिबन्दी के रूप में **'तम'** के रूपवान् रहने पर भी उसका 'प्रत्यक्ष' **आलोकनिरपेक्ष चक्षुरिन्द्रिय** से होता है, यह बात कही गई। अब उसी बात को अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध करते हैं—

"चक्षुः प्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम्।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥"

'प्रकाश' (आलोक) से अजन्य जो रूपवद्-द्रव्य का वीक्षण अर्थात् 'रूपी-द्रव्य का साक्षात्कार, उस 'साक्षात्कार' के करने में **चक्षुरिन्द्रिय,** समर्थ है—यह **प्रतिज्ञा** है। क्योंकि वह, 'रूपी द्रव्य' का ग्राहक है—यह **हेतु** है। जैसे—**त्वगिन्द्रिय,**—यह दृष्टान्त है।

उक्त पद्य के द्वारा संगृहीत **अनुमान** को इस प्रकार—विवृत कर सकते हैं—**'चक्षुः, आलोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकं, रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्'**—यहाँ पर 'चक्षुः'—**पक्ष** है, 'आलोकाऽजन्य······जनकत्व'—**साध्य** है, 'रूपिद्रव्य······त्वात्'—**हेतु** है, 'त्वगिन्द्रिय'—यह **दृष्टान्त** है अर्थात् 'आलोक की अपेक्षा न रखनेवाले चक्षु', **भावद्रव्यरूप-नीलरूपवाले 'तम'** (अन्धकार) के ग्राहक हैं, क्योंकि 'समस्त रूपिद्रव्य' के ग्राहक होने से, 'त्वगिन्द्रिय' के समान। एवञ्च **'तम'** को—**रूपवान् भावरूप द्रव्य** कहना चाहिये। वह **अभाव रूप** नहीं है।

शङ्का—**'तम'** को 'रूपवान्, भाव द्रव्य' सिद्ध करने के लिये जो **अनुमान प्रयोग** किया गया है, उसमें 'रूपरहित इन्द्रियत्व उपाधि' के उपस्थित हो जाने से वह **सोपाधिक'** हो गया है। अतः उससे 'तम' की **भावद्रव्यता** सिद्ध नहीं हो सकेगी। **'रूपरहित इन्द्रियत्व'** में उपाधित्व इस प्रकार होगा—**'आलोकाजन्य-रूपवद्द्रव्यसाक्षात्कारजनकत्व'** यह **साध्य** उपलब्ध होता है **'त्वगिन्द्रिय'** में, क्योंकि 'त्वक्', प्रकाश के विना भी द्रव्य का बोधक होता है, और वहीं पर 'रूप-रहित इन्द्रियत्व' भी है। अतः **रूपरहित इन्द्रियत्व'** जिसे उपाधि बनाने जा रहे हैं, वह **'साध्य'** का व्यापक' हो जाता है। उसी तरह वह 'साधन' का 'अव्यापक' भी हो रहा है। तथाहि–**'रूपवद्द्रव्यग्राहकत्व'** जो 'हेतु' है, वह 'चक्षु' में भी है,

किन्तु वहाँ 'रूपरहित इन्द्रियत्व' नहीं है। अतः 'साधन' (हेतु) का अव्यापक भी हो जाता है। एवञ्च **'रूपरहितइन्द्रियत्व'** में 'साध्य' की **व्यापकता** और 'साधन' की **अव्यापकता** उपलब्ध हो जाने से उसे **'उपाधि'** कह सकते हैं :

समा०—इस तरह उपाधि बताकर 'तम' में 'रूपिद्रव्यता' के साधक अनुमान को दूषित करना उचित नहीं है। क्योंकि **त्वगिन्द्रिय** की उपर्युक्त 'साध्यवत्ता' होने पर **'रूपरहितेन्द्रियत्व'** को 'उपाधि' नहीं कह सकते। क्योंकि **व्यतिरेक-व्याप्ति** के न होने से 'साध्य' की व्यापकता 'उपाधि' में नहीं हो पाती। साध्य-व्यापक उपाधि के अभाव से साध्याभाव को बताने पर ही 'उपाधि' दूषक कहलाता है। साध्याभाव का बोधन तो, निरुपाधिक अनुमान से ही होता है। **'यद्रूप-वदिन्द्रियं तद् आलोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं न भवति, रूपरहित-त्वाभावात्, घ्राणवत्'**—जो रूपवान् इन्द्रिय है अर्थात् जो रूपरहित इन्द्रिय नहीं है, वह प्रकाशाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कार की उत्पादक नहीं होती, रूपरहित न होने से, जैसे—**'घ्राण'**। इस **व्यतिरेकव्याप्ति** में **'रूपिद्रव्याऽग्राहकत्व** (रूपवान् का ग्राहक न होना) उपाधि है। अर्थात् वह साध्य की व्यापक भी है, क्योंकि 'घ्राणादि इन्द्रियों में पार्थिवत्व होने से आलोकाजन्य रूपिद्रव्य के साक्षात्कार की जनकता का अभाव (रूपवद्-अग्राहकत्व) है, अर्थात् उसमें 'रूपरहितत्वाभावरूप 'हेतु' नहीं है। अतः 'आलोकाऽजन्य रूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकत्वाऽभावरूप साध्य (व्यापक) का व्यापक है, और 'रूपयुक्त इन्द्रियत्वरूप' (रूपरहितत्वाभावरूप) साधन (हेतु = व्याप्य) का (रूपवद्ग्राहकत्व) अव्यापक है। क्योंकि 'घ्राण' के पार्थिव होने से उसमें 'रूपरहितत्वाभावरूप' हेतु नहीं है। वह तो 'गन्धमात्र' का ग्राहक होने से 'रूपवत्' का ग्राहक भी नहीं है। तथापि 'चक्षुरिन्द्रिय' में 'रूपवद् अग्राहकत्व' उपाधि नहीं है, किन्तु 'रूपरहितत्वाभावरूप' हेतु है। अतः व्यतिरेक-साधक इस सोपाधिक हेतु से 'साध्याभाव' की सिद्धि नहीं हो रही है। इसलिये निरुपाधिक अनुमान से 'तम' की द्रव्यान्तरता सिद्ध हो जाती है। एवञ्च—'आलोक' (प्रकाश) के समान ही **भावरूप अज्ञानात्मक** 'तम' के विरोधी तथा 'जगत्' का अवभासक (प्रकाशक) 'आत्मा', **'ज्योति'** शब्द का वाच्य है। इसलिये **'अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'** यह श्रुति, जो उसके विषय में कही गई है, वह समुचित ही है। अतः सिद्धान्ती अपने सिद्धान्त को बताता है—

'साक्षिवेद्यं स्वराद्धान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुपं पुनः।
आचार्योऽसाधयद्युक्तिवैभवं स्वं विभावयन् ॥' इति।

ज्योतिः स्वरूप 'आत्मा' तो 'असङ्ग' है। अतः उसका 'दृश्य' (प्रकाश्य) के साथ 'संग' (सम्बन्ध) होना संभव नहीं है। और 'दृश्य प्रपञ्च' की **स्वतः सिद्धि** तथा **परतः सिद्धि** भी हो नहीं सकती। अतः **दृगात्मा** (ज्ञानस्वरूप आत्मा) में 'रज्जु-सर्प' के समान अध्यस्त होकर ही 'प्रपञ्च' की सिद्धि (उत्पत्ति या ज्ञप्ति) हुआ करती है। इस रीति से प्रपञ्च में 'मिथ्यात्व' भी सिद्ध होता है।

इस पर **सत्यत्ववादी** (प्रपञ्च को सत्य मानने वाला) शङ्का करता है—

शङ्का—सिद्धान्ती ने 'प्रपञ्च' को जो **मिथ्या** बताया, तो वह पहिले 'मिथ्यात्व' का लक्षण बतावे, जिससे—'मिथ्यात्व' क्या है ? यह अवगत हो सके। अतः **पूर्वपक्षी** पूछता है कि **'किं पुनरिदं मिथ्यात्वम् ?'**—इस प्रश्न को दस विकल्पों के द्वारा वह उपस्थित कर रहा है—

(१) **'प्रमाणागम्यत्वं वा ?** क्या प्रमाणविषयत्वाभावरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(२) **अप्रमाणज्ञानगम्यत्वं वा ?** क्या अप्रमाणज्ञानविषयत्वरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(३) **अयथार्थज्ञानगम्यत्वं वा ?** क्या अयथार्थज्ञान (भ्रमज्ञान) विषयत्वरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(४) **सद्विलक्षणत्वं वा ?** क्या सद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(५) **सदसद्विलक्षणत्वं वा ?** क्या सत् और असत् उभय से विलक्षणत्व (भिन्नत्व) ही मिथ्यात्व है ?

अथवा

(६) **अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा ?** क्या अविद्या और अविद्याकार्य में से अन्यतरत्व को मिथ्यात्व कहा जाय ?

अथवा

(७) **ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ?** क्या ज्ञान के द्वारा निवर्त्यत्व (बाध्यत्व) रूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(८) **प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा ?** क्या प्रतीति के आश्रय में अभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(९) बाध्यत्वं वा ? क्या मिथ्यात्वबुद्धिविषयत्व को मिथ्यात्व कहें ?

अथवा

(१०) स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा ? क्या अपने अत्यान्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व (अत्यन्ताभाव के समानाधिकरणरूप से प्रतीतिविषयत्व) ही मिथ्यात्वं है ?

उक्त दस विकल्पों में से प्रथम (१) विकल्प (प्रमाणाऽविषयत्व) जो किया है, उसे 'मिथ्यात्व' का लक्षण नहीं बना सकते। क्योंकि उसकी 'ब्रह्म' में अतिव्याप्ति होगी। कारण यह है कि वेदान्तसिद्धान्त में 'ब्रह्म' को स्वयं प्रकाश माना जाता है। वह किसी प्रमाण का विषय नहीं होता।

(२) दूसरा विकल्प (अप्रमाणज्ञानगम्यत्व) को भी मिथ्यात्व का लक्षण नहीं कह सकते, क्योंकि 'प्रपञ्च' को सत्य माननेवाले भी 'सत्य पदार्थ' में अप्रमाण-ज्ञान' की विषयता मानते हैं। इसलिये 'अर्थान्तर' हो जाता है। न्यायसूत्रकार 'प्रकृतार्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्' के अनुसार प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्राप्ति को 'अर्थान्तर' कहते हैं, जिसे 'निग्रहस्थान' माना जाता है। प्रकृत में 'सत्यत्व' के विरोधी 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करना था किन्तु 'सत्यत्व' का अविरोधी ही 'मिथ्यात्व' सिद्ध हो गया। यह वैसा ही हुआ, जैसे 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'। अतः अर्थान्तर हो जाता है। नैयायिक के अनुसार 'शुक्ति' में 'सत्यत्व' भी है, और 'रजताकार' से भासित होने के कारण 'इदं रजतम्' इत्याकारक अप्रमाण ज्ञान की विषयता भी है। अप्रमाणज्ञान का विषय केवल शुक्ति ही नहीं है, अपितु सम्पूर्ण सत्य प्रपञ्च में 'यह क्षणिक है', 'यह ब्रह्म का कार्य है', 'यह अनिर्वचनीय है',—इस प्रकार के 'अप्रमाण (मिथ्या)-ज्ञान' की विषयता को अन्य लोग मानते हैं। उसी प्रकार 'स्मृति' भी 'अप्रमाण ज्ञान' है, किन्तु उसके 'विषय' को 'सत्य' ही स्वीकार करते हैं। इस रीति से अतिव्याप्ति होने के कारण यह द्वितीय लक्षण भी ठीक नहीं है।

(३) अब मिथ्यात्व का तृतीय लक्षण 'अयथार्थज्ञानविषयत्व' भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'तत्तदारोप की अधिष्ठानता' होने से सभी, 'अयथार्थज्ञान' से ही गम्य माने गये हैं। अतः उक्त दोष इसमें भी प्राप्त हो रहे हैं।

(४) 'सद्विलक्षणत्व' इस चतुर्थ लक्षण में भी अतिव्याप्ति दोष है। क्योंकि 'सत्' से विलक्षण 'असत्' शशविषाणादि में भी मिथ्यात्व नहीं माना

जाता। किंतु उसमें लक्षण घटित होता है। यदि यह कहें कि 'शशविषाण' तो 'मिथ्या' ही है, तब उसमें लक्षण का घटित होना उचित ही है। किन्तु यह कहना उचित न होगा, क्योंकि 'मिथ्या संसार' में **'अपरोक्षज्ञानयोग्यत्व'** और **'सार्थक-क्रियासामर्थ्य'** का स्वीकार करनेवाले लोग **'शशविषाण'** की अपेक्षा **'संसार में विलक्षणता** (विषमता) मानते हैं। अतः **'शशविषाण'** में **'अमिथ्यात्व'** का स्वीकार किया है। इसलिये मिथ्या से भिन्न **'सत्य'** ही नहीं, अपि तु **'असत्'** भी है। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि 'शशविषाण' **सत्य** है। 'शशविषाण' **सत्य** नहीं है। क्योंकि **सप्रयोजन, प्रत्यक्ष** तथा **बाधित** 'प्रपञ्च' में मिथ्यात्व माननेवाले **निष्प्रयोजन, अप्रत्यक्ष** 'शशविषाण' में मिथ्यात्व नहीं मानते हैं, तथा **अबाधित 'ब्रह्म'** में मिथ्यात्व नहीं मानते हैं। अतः **'मिथ्या'** से भिन्न जैसा **'सत्य'** है, वैसे ही **'असत्'** भी 'मिथ्या से भिन्न ही है। एवञ्च अलक्ष्य 'असत्' में 'मिथ्यात्व' का लक्षण घटित होने से अतिव्याप्ति हो रही है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष-ज्ञानयोग्य, अर्थक्रियासामर्थ्यवाला विवक्षित लक्ष्य नहीं है।

(५) अब **'सदसद्विलक्षणत्व'** यह **पञ्चम** लक्षण भी 'मिथ्यात्व' का नहीं हो सकता। क्योंकि 'दो विरोधी धर्मों' में से एक का निषेध कर देने पर 'दूसरे' का विधि (होना) अनिवार्य हो जाता है। जैसे 'रात्रि' का निषेध करने पर 'दिवस' का और दिवस का निषेध करने पर 'रात्रि' का विधान स्वत एव होता है। **'सत्'** से विलक्षण **'असत्'** और **'असत्'** से विलक्षण **'सत्'** होता है। **एक देश** और **एक काल** में दोनों परस्पर विलक्षण धर्मों का **निषेध** नहीं हो सकता। 'सत्' तथा 'असत्' दोनों से विलक्षण 'कोई पदार्थ' है ही नहीं, जिसमें मिथ्यात्व का लक्षण घट सके। अतः 'सत्त्व, असत्त्वरूप विरोधी धर्म का 'प्रपञ्च' में निषेध नहीं किया जा सकता। एवञ्च 'निषेध' का असम्भव है।

(६) **'अविद्या-तत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा'** यह लक्षण भी उचित नहीं है। अर्थात् 'अविद्या और अविद्याकार्य' दोनों में अन्यतरत्व यह **षष्ठ लक्षण** भी उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ पर 'अविद्या' पद से **'अनिर्वचनीय अविद्या'** विवक्षित है? अथवा **'अग्रहण'** अथवा **'मिथ्याज्ञान'** विवक्षित है? यदि 'अनिर्वचनीय अविद्या' विवक्षित हो तो वह 'परमत' में प्रसिद्ध ही नहीं है। और 'अग्रहण' (ज्ञानाभाव), और 'मिथ्याज्ञान' (भ्रम, विपर्यय) रूप अविद्या में तथा उसके कार्य 'प्रवृत्ति, संस्कार' आदि में 'सत्यत्व' ही है। अर्थात् 'सत्यत्व' के होने से (सत्य के अविरोधी मिथ्यात्व का लक्षण बन जाने से) 'अर्थान्तर' हो जायगा। तब वह 'सत्य' के विरोधी-'असत्य' का लक्षण कैसे सिद्ध हो पायगा ?

(७) अब **'ज्ञान-निवर्त्यत्व'** यह सप्तम लक्षण भी उचित नहीं है। क्योंकि उसमें भी **'अर्थान्तर'** दोष उपस्थित होता है। **'नैयायिक'** विद्वान्, **'उत्तर-ज्ञान'** से **'पूर्वज्ञान'** की निवृत्ति मानते हैं। तब उत्तरज्ञान से निवर्त्यमान 'पूर्वज्ञान' की 'सत्यता' रहने से 'अलक्ष्य' में 'लक्षण' की अतिव्याप्ति होती है। **दूसरी बात** यह है कि प्रतिवादी के मतानुसार 'प्रपञ्च' की सत्यता रहनेपर भी 'महाप्रलय' के समय 'ईश्वर के ज्ञान' से 'प्रपञ्च' की निवृत्ति होने के कारण **'अर्थान्तर'** भी होता है। अभिप्राय यह है कि 'आत्मा' 'विभु द्रव्य' है। उसके 'ज्ञानादि' विशेष गुण होते हैं। वे, अपने 'उत्तरभाविज्ञानादि' से निवर्त्य होते हैं। इसप्रकार उत्तरभाविज्ञान से निवृत्त होनेवाले पूर्वभाविज्ञान के विषय-होनेवाले 'सुखादिगुण', सत्य हैं। यदि 'नित्यज्ञान से निवर्त्य' को 'मिथ्या' कहें तो 'अर्थान्तिर' होगा।

(८) अब मिथ्यात्व का **'प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा'** अर्थात् ज्ञायमान आश्रय में होनेवाले निषेध का प्रतियोगित्व,—यह अष्टम लक्षण भी ठीक नहीं है। क्योंकि लक्षण बनानेवाले को पहिले यह स्पष्ट करना होगा कि 'आश्रय', का 'प्रमाणज्ञान' से 'ज्ञायमान' होना अभीष्ट है अथवा 'भ्रान्ति' से 'ज्ञायमान' होना अभीष्ट है?

यदि **प्रथम विकल्प** को स्वीकार करते हैं तो 'प्रतिपन्न' शब्द का अर्थ होता है—**'प्रमाण से निश्चित'**। तब 'प्रमाण' से जो पदार्थ, जिस आश्रय में निश्चित हुआ हो, उसका 'निषेध' कैसे हो सकेगा? अन्यथा 'ब्रह्म' में जो प्रमाणसिद्ध ज्ञान-स्वरूपता, आनन्दस्वरूपता आदि उसका भी निषेध होने लगेगा। और **'भ्रान्ति से निश्चित (ज्ञायमान) होना'** यदि अभीष्ट अर्थ हो तो, 'भ्रान्ति' से ज्ञायमान आश्रय में होनेवाले निषेध की प्रतियोगिता 'सत्यवस्तु' में भी संभव हो सकती है। तब **'अर्थान्तर'** दोष होता है। **अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक** 'भ्रमस्थल' में किसी जगह 'निषिध्यमान पदार्थ की 'अन्यत्र सत्ता' स्वीकार करते ही हैं। अर्थात् 'शुक्ति' में 'रजत' निषेध के प्रतियोगी 'सत्य रजत'की सत्ता को अन्यत्र मानतेही हैं।

(९) अब मिथ्यात्व का नवम लक्षण **'बाध्यत्वं वा'**, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'बाध्यत्व' को **'बाधकज्ञानविषयत्व'** माना जाय? अथवा **'बाधकज्ञान-निवर्त्यत्व'** माना जाय?

दोनों पक्षों में 'अर्थान्तरता' पूर्णरूप से रहती है। 'शुक्ति' आदि सत्य पदार्थ में 'रजत' का भ्रम होने के पश्चात् 'नेदं रजतम्'-यह रजत नहीं है —अपितु 'शुक्ति' है,

इस प्रकार से 'बाधकज्ञान' की विषयता को 'सत्य शुक्ति' में माना जाता है। उसीतरह 'नेद रजतम्' इस बाधक-ज्ञान से, 'इदं रजतम्' इस पूर्वज्ञान की निवृत्ति मानी जाती है।

(१०) अब मिथ्यात्व का दशम लक्षण **'स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा'** यह भी ठीक नहीं है। अर्थात् अपने 'अत्यन्ताभाव' के अधिकरण में प्रतीयमानत्व (प्रतीतिविषयत्व)—यह दशम-लक्षण भी संगत नहीं है। क्योंकि **संयोग, विभाग, शब्द,** और **'आत्मा'** के विशेषगुणों को नैयायिकविद्वान् **'अव्याप्य वृत्ति'** कहते हैं। वे 'अपने अत्यन्ताभाव' के 'अधिकरण' में प्रतीयमान होते हैं, तो भी उनको **'सत्य'** माना जाता है। उसकारण 'अर्थान्तरता' प्राप्त होती है, उसका निवारण नहीं किया जा सकता। एवञ्च **प्रपञ्च** के 'मिथ्यात्व' का निर्वचन (लक्षण) नहीं हो पा रहा है।

मिथ्यात्व का निर्दुष्ट लक्षण जैसे नहीं है, वैसे ही 'प्रपञ्च' को **मिथ्या** मानने में कोई **प्रमाण** भी नहीं है। तथाहि—यदि **'प्रत्यक्ष'** प्रमाण से 'प्रपञ्च' को 'मिथ्या' कहें, तो वह संभव नहीं है। क्योंकि अभी ऊपर-'मिथ्यात्व' को सिद्ध करने के लिये जो **दश प्रकार** के लक्षण किये थे, उनमें से कोई एक प्रकार का भी 'मिथ्यात्व' यदि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से सिद्ध हो जाता तो 'मिथ्यात्व' को लेकर वादियों का 'विवाद' ही न होता।

शङ्का—यदि कोई कहे कि **'मिथ्यात्व'** का अस्तित्व **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** से सिद्ध नहीं हो पा रहा है, तो न सही। हम **'अनुमानप्रमाण'** से 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करेंगे। जैसे—**'विवादपदं'** (विवादास्पदः = विवादविषयः) **प्रपञ्चः, मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'**—अर्थात् विवाद का आस्पद (विषय) प्रपञ्च, मिथ्या है, दृश्य होने से, जैसे शुक्ति में रजत दृश्यरूप से भासित होता है। यह 'अनुमान' का आकार होगा।

समा०—'प्रपञ्चमिथ्यात्व' की सिद्धि उक्त अनुमानप्रयोग से नहीं की जा सकेगी। क्योंकि ऊपर दिये हुए 'दश लक्षणों' में से **'प्रमाणागम्यत्व'** रूप 'प्रथम-लक्षण', अथवा **'सदसद्वैलक्षण्य'** रूप 'पञ्चमलक्षण', अथवा **'अविद्यातत्कार्यान्यतरत्व'** रूप 'षष्ठलक्षण' से लक्षित किये गये **'मिथ्यात्व'** को 'अनुमान' से सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे तो **'अप्रसिद्धविशेषणता'** दोष प्राप्त होगा। यदि **'अयथार्थज्ञानविषयत्व'** रूप 'तृतीय लक्षण' से लक्षित 'मिथ्यात्व' को सिद्ध कर रहे हों तो वह 'मिथ्यात्व', तो **प्रभाकर** (गुरु) मीमांसक के मत में **'अप्रसिद्ध'**

है। और **शेष छह लक्षणों** से लक्षित 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करना चाहो तो **'सिद्ध-साधनता'** दोष की उपस्थिति होगी। इस प्रकार से **'मिथ्यात्व'** (साध्य) का अस्तित्व सिद्ध करना संभव नहीं है। **किञ्च**—आपके द्वारा प्रयुक्त अनुमान में जो **'दृश्यत्व'** हेतु दिया गया है, उसके 'अर्थ' का भी विचार करना होगा कि उसका अर्थ **'फलव्याप्यत्व'** है अथवा **'वृत्तिव्याप्यत्व** है? अथवा **'उभय साधारण'** है? उक्त 'तीन विकल्पों' में से **'फलव्याप्यत्व'** अर्थात् फलविषयत्व रूप **प्रथम विकल्प** का स्वीकार करना संभव नहीं है. क्योंकि **अतीन्द्रिय** 'धर्म-अधर्मसंस्कारादि' में 'फलव्याप्यत्व' नहीं रहता, यानी 'फलव्याप्यत्व' का अभाव है। अतः प्रपञ्च' रूप पक्ष' के 'धर्माधर्मरूप अतीन्द्रिय भाग (अंश), में **'दृश्यत्व-हेतु'** के न रहने से उसमें **'भागासिद्धि'** दोष हो जाता है, जिससे वह 'दृश्यत्व' हेतु **'भागासिद्ध'** (पक्ष के अतीन्द्रिय-भाग में असिद्ध) है। अतः **भागासिद्ध हेतु,** 'साध्य (मिथ्यात्व) की सिद्धि करने में असमर्थ है।

उसीतरह **'वृत्तिव्याप्यत्व'** अर्थात् वृत्तिविषयत्व रूप द्वितीय विकल्प का स्वीकार करना भी संभव नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व के विपक्षरूप **'ब्रह्म'** में भी वेदान्तियों ने 'वृत्तिव्याप्यता' (वृत्तिविषयता) स्वीकार की है। अतः **वृत्ति-व्याप्यत्वरूप** 'दृश्यत्व' हेतु, **'अनैकान्तिक'** (व्यभिचारी) है।

अब **'उभयसाधारण'** रूप तृतीय विकल्प भी संगत नहीं हो रहा है। क्योंकि वह भी **'ब्रह्म'** में व्यभिचारी है। इस रीति से **'दृश्यत्व'** हेतु के खण्डित हो जाने से ही **'जडत्व, अन्तवत्व'** (उत्पत्ति-नाशवत्व) **परिच्छिन्नत्वादि** हेतुओं का भी खण्डन हो जाता है। एवञ्च **'मिथात्व'** का निर्वचन नहीं हो पा रहा है।

इसपर यदि कहो कि हम एक 'अन्य अनुमान' से 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करेंगे। जैसे—**'अयं पटः, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, दृश्यत्वात्, घटवत्,** अर्थात् यह पट, अपने समवायिकारणभूत इन तन्तुओं में रहनेवाले 'अत्यन्ताभाव' का प्रतियोगी है। क्योंकि 'तन्तुओं' में 'पट', दृश्यमात्र है। तन्तुओं से पृथक् (भिन्न) उसका 'सत्यस्वरूप' अन्य कोई नहीं है। इसलिये जैसे **'घट'**, 'तन्तुओं' में रहनेवाले अपने 'अत्यन्ताभाव' का प्रतियोगी है, उसीप्रकार 'पट' भी 'प्रतियोगी' है।

किन्तु **यह अनुमान** भी 'प्रपञ्च-मिथ्यात्व' में प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि 'तन्तुवृत्ति अत्यन्ताभाव' और 'दृश्यत्व' हेतु इन दोनों में **दृश्यत्वहेतु** 'अनै-कान्तिक' (व्यभिचारी) है। क्योंकि 'तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव' में तथा 'दृश्यत्व' में भी 'हेतु' तो है, किन्तु उसमें 'एतत्तन्तुनिष्ठ-अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व है

अर्थात् 'प्रतियोगित्वरूप, साध्य', इनमें नहीं है। क्योंकि वहाँ 'अत्यन्ताभाव' का 'अत्यन्ताभाव' नहीं है और न 'दृश्यत्वाभाव' है। एवञ्च उन दोनों में 'दृश्यत्व' के रहनेपर भी 'तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व' ही है, 'प्रतियोगित्व' नहीं है।

शङ्का—यदि **'साध्य** तथा **हेतु'** दोनों में उक्त **'प्रतियोगित्व'** को मानलें तो **'तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अभाव'** कहना होगा। तभी दोनों में **'प्रतियोगित्व'** प्राप्त हो सकेगा। तब **'पक्ष'** में और **'दृष्टान्त'** में भी कहीं **'साध्य'** की सिद्धि ही नहीं होगी। और **'तन्तु'** में रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता **'दृश्यत्व'** 'हेतु' में मानने से उनकी (तन्तुओं की) **'अदृश्यता'** प्राप्त होगी। क्योंकि 'तन्तुओं' में 'दृश्यत्व' का **'अत्यन्ताभाव'** मान रहे हैं, तभी तो 'दृश्यत्व' में 'प्रतियोगिता' आपायेगी। तब 'तन्तुओं' में 'दृश्यत्व' के न रहने से 'तन्तु', अदृश्य हो जायेंगे।

तथा एक और विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि यह **'प्रपञ्च', प्रामाणिक** है? या **'अप्रामाणिक'** ?

यदि **'प्रामाणिक'** हो तो जिस प्रमाण से उसको प्रामाणिक सिद्ध करोगे, 'उसी प्रमाण' से उसके **'मिथ्यात्वानुमान'** का बाध हो जायगा। क्योंकि **'प्रमाण'** से जो अवगत होता है, उसकी **'सत्यता'** मानी जाती है।

यदि **'प्रपञ्च'** को **अप्रामाणिक** कहते हैं तो **'आश्रयासिद्धि'** (आश्रय का अभाव) होती है।

यदि यह कहो कि **'प्रपञ्चरूप आश्रय'**, प्रतीतिमात्र से तो सिद्ध है ही, अतः अनुमान में **'आश्रयासिद्धि'** दोष, नहीं होगा।

इसतरह प्रतीति होनेमात्र से ही **'आश्रयासिद्धि'** दोष दूर हो जायगा तो सभी के मत में 'सत्य, मिथ्या, दोष, गुण' आदि सभी कुछ प्रतीतिमात्र से ही सुलभ होने लगेंगे। 'केवल प्रतीति होनेमात्र से' ही सभी के मतों का मण्डन, खण्डन समझा जा सकता है, तब तो 'सम्पूर्ण व्यवहार' ही अव्यवस्थित हो जायगा।

यही प्रश्न **'साध्य, हेतु और दृष्टान्त'** के विषय में भी हो सकता है कि 'वे **प्रमाणसिद्ध** हैं, अथवा **नहीं** ?' यदि उन्हें प्रमाणसिद्ध मानते हैं तो 'दृश्यत्व' हेतु, उनमें 'व्यभिचरित' होता है। क्योंकि प्रामाणिकता रहने से उन्हें 'सत्य' कहना होगा, तब उनमें 'मिथ्यात्व' नहीं रहेगा और 'हेतु' तो रहेगा ही। एवञ्च मिथ्यात्व

के न रहनेपर भी अर्थात् 'सत्यत्व' में भी 'दृश्यत्व' हेतु के रहने से उसे व्यभिचारी मानना होगा।

और यदि 'प्रमाणसिद्ध' नहीं हैं, तो उनमें 'साध्यभाव', 'साधनभाव', 'दृष्टान्तभाव' नहीं है,—यही कहना होगा।

तब 'अनुमान' का संभव ही कैसे हो सकेगा? अर्थात् 'साध्य' आदि को 'अप्रामाणिक' माननेपर 'साध्य, हेतु, दृष्टान्त' का अभाव रहने से 'मिथ्यात्व' का अनुमान नहीं होगा। एवञ्च 'आश्रयासिद्धि' के समान ही 'साध्य' आदि की भी सिद्धि नहीं हो पा रही है।

जैसे **'प्रपञ्च'** के 'मिथ्यात्व' को **'प्रत्यक्ष'** और **'अनुमानप्रमाण'** से सिद्ध नहीं कर पा रहे हैं, उसीतरह सबसे प्रबल 'आगमप्रमाण' भी उसके मिथ्यात्व को सिद्ध नहीं कर सकता है।

उसपर वेदान्ती, अपने पूर्वपक्षी से कहता है कि **'एकमेवाऽद्वितीयम्'**-(छां. उ. ६।२।१) एक ही अद्वितीय है—इस आगमप्रमाण से **'प्रपञ्च'** में 'मिथ्यात्व' सिद्ध हो रहा है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**-(तै. उ. २।१।१) सत्य, ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप ब्रह्म है—इस 'आगमप्रमाण' से **'ब्रह्म'** में ही अद्वितीयत्व, अनन्तत्व को बताया गया है, उससे तद्भिन्न का अभाव अर्थात् 'प्रपञ्च' का **'मिथ्यात्व'** अवगत होता है। तथा **'नेह नानास्ति किञ्चन'**-(बृह. उ. ४।४।१९) ब्रह्म में नानात्व नहीं है—इस आगमप्रमाण से **'नानात्व'** (भेद) का 'निषेध' अर्थात् **प्रपञ्च** का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**-(ऋ. वे. मं. ६, अ. ४, सू. ४७, मं. १८)-परमेश्वर अपनी माया से अनेक रूपों को धारण करता है—इस वचन से भी भेद (प्रपञ्च) का मिथ्यात्व सिद्ध हो रहा है। तथा **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'**-(कठ उ. ४।१०)-वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है—यह वचन, **भेददर्शन** की निन्दा कर रहा है, उससे **भेदरूप प्रपञ्च** में 'मिथ्यात्व' सिद्ध हो रहा है। इत्यादि अनेक आगमवचनों से **प्रपञ्चमिथ्यात्व** का प्रतिपादन किये जानेपर भी आप कैसे कह रहे हैं कि **आगम प्रमाण** भी 'प्रपञ्चमिथ्यात्व' की सिद्धि नहीं कर पा रहे हैं?

उसपर **पूर्वपक्षी** कहता है कि जिन 'आगमप्रमाणों' को आपने **प्रपञ्च के मिथ्यात्व** में प्रस्तुत किया है, वे 'प्रपञ्च के मिथ्यात्व' को नहीं बता रहे हैं। **'एकमेवाऽद्वितीयम्'** यहाँ 'अद्वितीय' शब्द से केवल 'सजातीय द्वितीय वस्तु' का निषेध किया जा रहा है। 'समस्त प्रपञ्च' का निषेध (मिथ्यात्व) नहीं बताया जा रहा है। अर्थात् 'ब्रह्म' की सजातीय दूसरी वस्तु के निषेध में 'अद्वितीय' शब्द का तात्पर्य

है। जैसे—यदि कहा जाय कि इस गाँव में 'यह देवदत्त' ही एक **'अद्वितीय पुरुष'** है'। वैसे ही उक्त 'श्रुतिवचन' में भी समझना चाहिये। तथा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** यहाँ 'अनन्त' पद, **'पूर्वकालिक अन्त'** (प्रागभाव) और **'उत्तरकालिक अन्त'** (ध्वंसाभाव) के **अभाव** को बताता है, अर्थात् **'जन्म-मरणाभाव'** का बोधन करता है। एवञ्च लोकव्यवहारप्रसिद्ध **'प्रागभाव'** और **'प्रध्वंसाभाव'**-रहित के अर्थ में ही **'अनन्त'** शब्द का 'शक्तिग्रह' होता है। अर्थात् **'उत्पत्ति'** और **'ध्वंस'-रहित अर्थ** का ही अभिधायक **'अनन्त'** शब्द है। **'अन्योन्याभावाधिकरणत्व** (भेदाधिकरणत्व) की **अनधिकरणता'** (अभिन्नत्व = अद्वैतत्व)—यह अर्थ, **'अनन्त'** शब्द का नहीं है। अतः इस अर्थ में 'अनन्त' पद का शक्तिग्रह (व्युत्पत्तिग्रह) होना असंभव है। **'नेह नानास्ति किञ्चन'**-(बृह. उप. ४।४।१९) अर्थात् इस 'ब्रह्म में नानात्व नहीं'—यह आगमवचन भी **'कारणब्रह्म'** में 'नानात्व' का **निषेधमात्र** कर रहा है, 'प्रपञ्चमिथ्यात्व' में उक्त वचन का तात्पर्य नहीं है। **'इन्द्रो मायाभिः'** (ऋ. मं. ६ अ. ४ सू. ४७ मं. १८)-परमेश्वर अपनी माया से अनन्त रूप धारण करता है—**'चेतश्चित्तं क्रतुर्माया'** इत्यादि कोष के अनुसार यहाँ पर 'माया' शब्द, चित्त' और 'चित्तवृत्ति' (ज्ञान) का वाचक है। अतः यह या इस प्रकार के मन्त्रों का तात्पर्य तो 'चित्त' (अन्तःकरण) की तत्तत्-इन्द्रियद्वारक 'विविधवृत्तिरूप' **'उपाधियाँ'** (जो 'माया' शब्द से कही जाती हैं यानी वाच्य होतीं हैं) हैं, उनसे 'परमेश्वर' की **उपासनाविधि** (प्रतिपत्ति विधि) बताई गई है। 'प्रपञ्च के निषेध' में उनका तात्पर्य नहीं है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'**-(कठोप. ४।१०)-मृत्यु से मृत्यु को वह प्राप्त होता है—इसप्रकार के श्रुतिवचनों का तात्पर्य भी 'भेददर्शन' (भेदज्ञान) की निन्दा के द्वारा **'अभेदोपासना'** (अभेद-प्रतिपत्ति = चिन्तनोपासना) के **विधान में** ही है। 'प्रपञ्च के निषेध' (मिथ्यात्व) में उसका तात्पर्य नहीं है।

यदि कोई **'आगम'**, 'प्रपञ्चनिषेध' (प्रपञ्चमिथ्यात्व) को बताता भी हो तो उसका **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** से बाध हो जायगा। क्योंकि **'आगम'** को अपने 'स्वरूप-ज्ञानार्थ' तथा 'पद-पदार्थविभाग ग्रहण (शक्तिग्रह) में **'प्रत्यक्ष'** की अपेक्षा रहती है, किन्तु **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** को अपने कार्य सम्पादनार्थ **'आगम प्रमाण'** की अपेक्षा नहीं रहती। अतः 'प्रत्यक्ष प्रमाण' **स्वतन्त्र** होने से प्रबल है, और 'आगमप्रमाण', **परतन्त्र** (प्रत्यक्ष प्रमाण के अधीन) होने से 'दुर्बल' है। एवञ्च 'दुर्बल' होने से उसका बाध होता है। इसलिये **'प्रपञ्च का निषेध'** उससे नहीं किया जाता। किञ्च-**'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'**-कोई प्राणी, किसी भी प्राणी की हिंसा न करे,

'अग्नीपोमीयं पशुमालभेत'-(तै. सं. ६।१।११) अग्नीपोमदेवता के लिये जो छागपशु है, उसकी हिंसा (आलभन) करे, **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'**-ब्राह्मण का हनन नहीं करना चाहिये, **'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत'**-ब्राह्मणत्व के रक्षणार्थ ब्राह्मण का हनन करे, **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**–अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोम याग में 'षोडशि' नामक पात्र में 'सोमरस' का ग्रहण करे।, **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**–अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोमयाग में 'षोडशि' संज्ञकपात्र में 'सोमरस' का ग्रहण न करे–। **'उदिते जुहोति'**-सूर्य का उदय होनेपर होम करे–**'अनुदिते जुहोति'**-सूर्योदय के पूर्व ही होम करे–। इत्यादि श्रुति (आगम) वचन, परस्पर विरुद्ध अर्थ को बता रहे हैं। अतः ये सभी वचन 'व्याकुल' अर्थात् सन्देह से ग्रस्त हैं। ऐसी व्याकुलता (संदिग्धता) 'प्रत्यक्ष प्रमाण' में नहीं है। इसकारण 'आगम-प्रमाण' की अपेक्षा **'प्रत्यक्षप्रमाण'** प्रबल है, और **'आगमप्रमाण'** दुर्बल है।

किञ्च—**'प्रपञ्चमिथ्यात्व'** (अभेद या एकत्व) का बोधक 'आगमप्रमाण' तो 'उपचरित अर्थ' (गौण अर्थ) में प्रामाणिक माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि 'आगम प्रमाण' **गौण अर्थ** में सावकाश हो जाता है, किन्तु भेद-बोधक 'प्रत्यक्ष प्रमाण', को यदि **'अपने अर्थ'** में बाधित कर देंगे तो उसे कहीं भी 'प्रमाण' नहीं कहा जा सकेगा। उसका क्षेत्र तो एक मात्र 'भेद-बोधन' करना ही है। वहाँ भी यदि वह **निरवकाश** रहेगा तब उसे तो कहीं जगह ही नहीं रहेगी। एवंच उसकी **निरवकाशता** को देखकर उसे 'प्रत्यक्ष' की अपेक्षा प्रबल ही कहना होगा।

दूसरी बात यह है कि 'आगम प्रमाण' की अपेक्षा, **पूर्व-प्रतिष्ठित** होने से 'प्रत्यक्ष प्रमाण' अपने अर्थ में **'असञ्जातविरोधी'** है, और 'आगमप्रमाण' **सञ्जात-विरोधी** है, क्योंकि पहले से ही उसका **'विरोधी प्रत्यक्षप्रमाण'** उपस्थित है। एवञ्च **सञ्जात और असञ्जात विरोधियों में** 'सञ्जात-विरोधी' दुर्बल हुआ करता है। अतः **'आगम प्रमाण'** का ही बाध होगा।

वस्तुतः देखा जाय तो 'विरोध' भी नहीं है, क्योंकि **आगम** भी 'प्रपञ्च की सत्यता' को ही बताता है। तथाहि—**'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छां. उ. ६।१।४) मृत्तिका सत्य ही है, **त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्'**—सत्व, रज और तम ये तीन रूप सत्य ही है—अथवा यों कहिये 'तेज, जल और भूमि के रक्त, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप ही सत्य हैं, **'प्राणा वै सत्यम्'** (बृह. उ. २।१।२०) प्राण सत्य ही हैं—**'सच्च त्यच्चाऽभवत्'** (तै. उ. २।६)—'सत्' = व्यक्त पृथिवी, जल, तेज और 'त्यत्' = अव्यक्त वायु और आकाशरूप ब्रह्म हुआ। इत्यादि आगम वाक्यों ने 'प्रपञ्च को सत्य' ही बताया है। इसलिये कोई विरोध नहीं है।

अनुमान प्रमाण से भी 'प्रपञ्च' की सत्यता सिद्ध होती है—**"विवादास्पदीभूतः प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणसिद्धत्वात् आत्मवत्"**—अर्थात् विवाद का आस्पद (विषय) जो 'प्रपञ्च' (संसार) है, वह 'सत्य' है, प्रमाणसिद्ध (प्रामाणिक) होने से, जैसे 'आत्मा'। इस अनुमान से 'भिन्न वस्तु की सत्यता' सिद्ध की गई है।

अब **'भेद'** की सत्यता में भी 'अनुमान' बताते हैं—**'अयं घटः एतन्निष्ठबाध्य भेदातिरिक्त-भेदाश्रयः द्रव्यत्वात्पटवत्'** अर्थात् 'यह घट', इस घट-वृत्ति बाध्य (मिथ्या) भेद से भिन्न (सत्य) भेद का आश्रय है, द्रव्य होने से, जैसे—'पट', **सत्यभेद** का आश्रय है। उक्त दोनों अनुमानों से 'घटादि' में तथा 'सम्पूर्ण संसार' में आकाश, आत्मा, के भेद की सत्यता सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—'भेद को सत्य' मानने पर **'दृक्'** (ज्ञान) और **'दृश्य'** (विषय) के **सम्बन्ध** की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि **'ज्ञान'** (दृक्) और **'घट आदि विषय'** (दृश्य = ज्ञेय) का आपस में **'संयोग-समवाय'** आदि सम्बन्ध के होने का संभव नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि **'भेद'** अथवा **'भेदी** दृश्यवर्ग' को सत्य मानने पर उसका और उसके ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध कौन सा होगा ? 'संयोग' सम्बन्ध को कह नहीं सकते, क्योंकि 'संयोग' के 'गुण' होने से वह द्रव्यमात्रवृत्ति होगा। 'ज्ञान' तो गुण है, 'द्रव्य'-नहीं है। समवाय' सम्बन्ध को भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'ज्ञान' तो 'आत्मा' में समवेत (समवाय सम्बन्ध से) रहता है।

समा०—ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है क्योंकि **'ज्ञान'** और **'विषय'** का साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी 'तत्तद् विषय' के ज्ञान के निमित्तभूत (उत्पादक) **'इन्द्रिय, लिङ्ग, शब्द'** आदि का तत्तद् घट-पटादि विषयों के साथ **नियत सम्बन्ध** रहता ही है, यही घट-पटादि विषय के प्रति 'घटादिविषयकज्ञानों' का नियामक बन जायगा। अतः **'विषय' के साथ** 'ज्ञान' का सम्बन्ध न रहने पर भी, जिस विषय से सम्बन्धित 'इन्द्रिय, लिङ्ग, या 'शब्द' से जो ज्ञान होगा, वह ज्ञान, उसी विषय को ग्रहण करेगा, 'अन्य विषय' को नहीं। एवं च 'विषय' के साथ 'ज्ञान' का सम्बन्ध न रहने पर भी जिस विषय का तत्सम्बन्धी इन्द्रिय, लिङ्ग अथवा शब्द से जो ज्ञान होगा, वह उसी विषय का होगा, दूसरे विषय का नहीं। जैसे-घटसंयुक्त इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का विषय 'घट' ही होगा, 'पट' नहीं। इस प्रकार का नियम सिद्ध होनेपर 'ज्ञान' और 'विषय' का अतिरिक्त सम्बन्ध (साक्षात् सम्बन्धान्तर) न होनेपर भी किसी प्रकार का अतिप्रसंग अथवा अप्रसङ्ग नहीं है। अतः **'भेद को**

सत्य मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। प्रत्युत 'भेदरूप प्रपञ्च' को मिथ्या मानने पर, 'कर्म भेद' के प्रतिपादक (१) शब्दान्तर, (२) अभ्यास, (३) संख्या, (४) संज्ञा, (५) गुणान्तर, (६) प्रकरणान्तर—प्रमाणों में 'अप्रामाण्य' कहना होगा। अभिप्राय यह है कि पूर्वमीमांसाशास्त्र के द्वितीय अध्याय में यह बताया है कि 'भविता के भवनानुकूल व्यापार को भावना कहते हैं'। 'यज्ञ' भविता (होनेवाला) है। 'यजति, ददाति, जुहोति' में 'धातु' का अर्थ—याग, दान, होम के भेदे से भिन्न-भिन्न है, किन्तु 'प्रत्यय' (ति) का अर्थ, 'भावना' (विधि-प्रेरणा) एक ही है। ऐसी स्थिति में धात्वर्थ-युक्त शब्द 'जुहोति' आदि के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ (कर्म) का विधान 'शब्द भेद' के कारण होता है।

तथा 'समिधो जयति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति'—यहाँ पर 'यजति' क्रिया के, 'समान' (एक) रहने पर भी 'अभ्यास' के कारण 'पाँच कर्म' माने जाते हैं।

तथा 'सप्तदशप्राजापत्यान् पशून् आलभते'—यहाँ पर 'प्रजापति' देवता के एक रहने पर भी 'सप्तदश' संख्या के कारण कर्मभेद माना जाता है।

तथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' यहाँपर ज्योतिष्टोम याग से विलक्षण ज्योति अर्थात् 'विश्वज्योति' 'संज्ञा' (नाम) के कारण इस कर्म को 'ज्योतिष्टोम' से भिन्न माना गया है।

तथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्'—यहाँ पर 'आमिक्षा' और 'वाजिन' रूप गुण के भेद से दो भिन्न-भिन्न कर्म माने जाते हैं। तपे हुए दूध में 'दही' के डालने पर दूध फट जाता है, तब घनीभूत जो दूध का भाग है, उसे 'अमिक्षा' कहते हैं, और शेष जो जल भाग है, उसे 'वाजिन' कहते हैं।

तथा 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' यहाँपर 'प्रकरणान्तर' रहने से यह 'मासाग्निहोत्र' कर्म, नित्याग्निहोत्र' कर्म से भिन्न है। कहा भी है—

'शब्दान्तरं धातुभेदोऽभ्यासो विधेः पुनः श्रुतिः।
उत्पत्तिस्था द्वयादिसंख्या संज्ञा चाक्रमपूर्वगम्॥
सानुपादेयसम्बन्धोऽसंनिधिः प्रक्रियान्तरम्।
इति शब्दान्तरादीनामुक्तं लक्ष्म-विचक्षणैः॥

अनुपादेय पञ्चक निम्नलिखित हैं—

'देशः कालो निमित्तञ्च फलं संस्कार्यमेव च।
मीमांसानिपुणाः प्राहुरनुपादेयपञ्चकम्॥'

यदि **'भेदरूप प्रपञ्च'** को बाधित या मिथ्या कहेंगे तो भेद अर्थात् बाधित-अर्थ के प्रतिपादक उपर्युक्त **छह प्रमाणों** (कर्म-भेदक प्रमाणों) को 'प्रमाण' कैसे कहा जायगा ? अर्थात् उन्हें **अप्रमाण** कहना होगा।

शङ्का—ऊपर बताये गये कर्म-भेदक शब्दान्तरादि छह प्रमाण, तो लोकव्यवहार में प्रसिद्ध जो 'भेद' है, उसी का अनुवाद करते हैं, अनुवादक होने से **'अपूर्वार्थ-प्रतिपादकत्वरूप प्रामाण्य'** ही उनमें नहीं है, जिसका **'भेदमिथ्यात्व'** से बाध होगा।

समा०—उक्त आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अलौकिक कर्मों का भेद भी अलौकिक ही होता है। वह लोकव्यवहार से गम्य नहीं है। वैसा वैदिक कर्म, और तज्जन्य अपूर्व (अदृष्ट) का भेद—प्राकृत लोगों को अवगत नहीं हो पाता। अतः साधारण भेद' का ज्ञान, लोकव्यवहार से होने पर भी 'अलौकिक कर्मों के भेद' का ज्ञान, लोकव्यवहार से नहीं हो सकता। यदि उसे 'लोकव्यवहार' से ही अवगत होने का दुराग्रह ही हो तो 'शब्दान्तरादि छह अधिकरणों' का आरम्भ ही न हुआ होता, किन्तु मीमांसाशास्त्र में उनके विचार को निष्फल तो कह नहीं सकते। अतः 'प्रपञ्चमिथ्यात्व' का **लक्षण** एवं **प्रमाण** दोनों ही नहीं बन पा रहे हैं। प्रत्युत 'अनुमान' तथा 'आगम' प्रमाणों के तो **'भेदरूपप्रपञ्च'** में 'सत्यत्व' ही सिद्ध हो रहा है, मिथ्यात्व नहीं। अतः 'प्रपञ्च' **'मिथ्या'** नहीं है, अपितु **'सत्य'** है।

सिद्धान्ती—इस प्रकार **पूर्वपक्ष** के उपस्थित किये जाने पर **सिद्धान्ती** के द्वारा उसका **उत्तर** दिया जाता है। **सिद्धान्ती** कहता है—**'अत्रोच्यते'**। **पूर्वपक्षी** ने कहा था कि **'मिथ्यात्व'** का लक्षण किया जाना संभव ही नहीं है। उस पर **सिद्धान्ती** कह रहा है कि **'मिथ्यात्व'** का लक्षण किया जाना **असंभव** नहीं है, क्योंकि—

'सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता' ॥

अर्थात् 'स्वाश्रय' में रहनेवाले **अत्यन्ताभाव** का जो **प्रतियोगित्व** है, वही तो 'समस्त भाव पदार्थों' का **मिथ्यात्व** है। जैसे—'पटादि भाव पदार्थों' के आश्रय (उपादानकारणस्वरूप) जो 'तन्तु' आदि हैं, उनमें रहनेवाला (विद्यमान) जो 'अत्यन्ताभाव', उसकी **प्रतियोगिता** पटादि भाव पदार्थों में है, उस **प्रतियोगिता** को ही 'मिथ्यात्व' का लक्षण कहा जाता है। क्योंकि **'पटादि भाव पदार्थों'** की

सत्ता, अपने आश्रयभूत 'तन्तु आदि' से अन्यत्र तो संभव नहीं है, और 'कार्यरूप' होने से उस 'पट' आदि की स्वतन्त्रसत्ता हो नहीं सकती, और उसके अपने 'उपादानभूत आश्रय' में भी 'सत्ता' न रहे, तब तो हठात् गले पादुकान्याय से उन 'भाव पदार्थों' में 'मिथ्यात्व' ही सब प्रकार से सिद्ध होता है।

शङ्का—'स्वाश्रयत्वेन सम्मते उपादानकारणे स्वरूपेण विद्यमानात्यन्ता-भावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'—इस 'आश्रयघटित लक्षण' की निराश्रय नित्य परमाणु, आकाश और काल में उस अत्यन्ताभावीयप्रतियोगिता के नहीं रहने से अव्याप्ति हो रही है। किन्तु 'अनात्मतत्त्व' के कारण उन्हें 'मिथ्या' कहा जाता है। उनमें आपका किया हुआ मिथ्यात्वलक्षण घटित न हो पाने से वह अव्याप्ति-दोष से दूषित हो गया है।

समा०—किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म' से भिन्न जितना भी 'प्रपञ्च' है, वह 'कार्यरूप' है। अतः व्यवहारदशा में वह, अपने 'कारण' के आश्रित ही रहता है। उसका कारणाश्रितत्व उसी प्रकार से समझना चाहिये, जैसे—कल्पित 'रजत' आदि पदार्थ, 'शुक्ति' के आश्रित माना जाता है। अतः हमारे मिथ्यात्वलक्षण की 'सत्यस्वरूप ब्रह्म' में अतिव्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि 'सत्य ब्रह्म' तो निराश्रय है। अतः उसमें 'स्वाश्रयनिष्ठ-अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' की शङ्का करना संभव ही नहीं है।

शङ्का—नैयायिक विद्वानों के द्वारा स्वीकृत, एकदेशवृत्ति 'अव्याप्यवृत्ति'-संयोग, तथा 'शब्द आदि सत्य पदार्थों' में भी आपका 'मिथ्यात्वलक्षण' घटित हो जाता है। अतः 'अर्थान्तर' दोष उपस्थित होता है।

समा०—यह शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि 'संयोग', 'शब्द' आदि 'भावपदार्थ' हैं। अतः उनका और उनके 'अत्यन्ताऽभाव' का 'सामानाधिकरण्य' अर्थात् 'एक अधिकरणता' कभी हो नहीं सकती। यदि उनकी एकाधिकरणता मान ली जाय तो सभी जगह 'भाव और अभाव' की 'एकाधिकरणता' प्राप्त होगी। तब तो 'भाव और अभाव' का कहीं विरोध ही नहीं रहेगा। तब संसार से 'विरोध' नाम की वस्तु ही समाप्त हो जायगी। अर्थात् संसार में भावाऽभाव के विरोध को जलाञ्जलि देने का (त्यागने का) प्रसङ्ग आवेगा। यदि 'भाव और अभाव' में विरोध न मानने का दुराग्रह ही हो तो भी 'गोत्व, अश्वत्व-घटत्व, पटत्व आदि में विरोध का अपलाप तो कर नहीं सकते हो। अतः 'विरोध' पदार्थ

का अस्तित्व तो रहेगा ही। अतः संसार से **'विरोध'** नाम की **वस्तु ही उठ जायगी**—यह नहीं कह सकते।

उस पर हमारा कहना यह है कि **भाव** और **अभाव** का तो 'साक्षात् विरोध' हुआ करता है, और उसी विरोध के कारण अन्य पदार्थों में भी विरोध हुआ करता है। इस बात को विद्वत्समाज बराबर मानता आ रहा है। **'गोत्व** और **अश्वत्व'** का विरोध भी **'परस्परात्यन्ताभावव्याप्यत्वमूलक'** हुआ करता है।

यद्यपि **एकदेशावच्छेदेन** 'भाव और अभाव' का विरोध है, तथापि **भिन्न-देशावच्छेदेन** 'भाव और अभाव' दोनों एकत्र भी रहते हैं। इस प्रकार 'प्रदेशरूप उपाधि' के द्वारा **संयोग** और उसके **अभाव'** के विरोध का समाधान (निवारण) करने पर भी 'संयोग' रूप भाव' और उसके 'अभाव' का **भिन्नाधिकरणत्व** तो सिद्ध हो ही जाता है। ऐसी परिस्थिति में (सत्य पदार्थ में) 'मिथ्यात्व' का लक्षण कहाँ घटित हो रहा है ? और जब वहाँ घटित ही नहीं हो रहा है, तब उस लक्षण की **अतिव्याप्ति** की बात भी कैसे कही जायगी ? और **'अर्थान्तर'** भी कहाँ हो रहा है ?

एवञ्च हमारे सिद्धान्त में 'मिथ्यात्व' का जो लक्षण—**'स्वाश्रयनिष्ठ-अत्यन्ता-भावीय-प्रतियोगिता'** किया गया है, वह 'संयोग' आदि पदार्थों में भी घटित होता है। उस कारण वे 'संयोगादि पदार्थ' भी **सत्य** नहीं हैं। इसलिये **'मिथ्यात्व'** के लक्षण का अभाव (मिथ्यात्व की अनिरुक्ति = अनिर्वचन) नहीं है। उसी तरह 'मिथ्यात्व' में **प्रमाण का अभाव** (असत्त्व) भी नहीं है। क्योंकि 'अनुमान प्रमाण' से 'मिथ्यात्व' को सिद्ध किया जा सकता है। जैसे—'अवयवी'(अंशी) अवयव (अंश)-निष्ठ-अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है—इस प्रतिज्ञा में 'अंशित्वात्' हेतु है, अन्य अवयवी के समान। इसी को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—**'विमतः पटः एतत्तन्तुनिष्ठा-त्यन्ताभावप्रतियोगी, अवयवित्वात् पटान्तरवत्'** अर्थात् विवाद का विषयभूत पट, अपने आश्रयभूत तन्तुओं में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अवयवी होने से, पटान्तर के समान। 'पटमात्र' को पक्ष बनाकर उसमें एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ता-भावप्रतियोगित्व की सिद्धि करने पर **'अर्थान्तरता'**, क्योंकि किसी भी **पटान्तर** में 'एतत्तन्तुनिष्ठत्वाभाव' रहेगा ही। अतः उसकी (अर्थान्तरता की) निवृत्ति के लिये अनुमानवाक्य में **'विमतम्'** कहा गया है। अर्थात् **पटमात्र** को पक्षकोटि में न रखकर **'पटविशेष'** को ही 'पक्ष' बनाना चाहिये। सर्वत्र इसी प्रकार **'विशेष'** को ही पक्षकोटि में रखना चाहिये। प्रस्तुत में एतत्पटारम्भक तन्तु, एतत्तन्तु' ही

हैं। 'अन्योन्याभाव' के व्यवच्छेदार्थ, अनुमानवाक्य में 'अत्यन्ताभाव' का ग्रहण किया गया है। केवल इतना ही यदि कहें कि 'तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी', तो 'पटान्तर' को लेकर **अर्थान्तरता** होगी। तन्निवृत्त्यर्थं 'एतत्तन्तुनिष्ठ' कहा गया है। 'पटान्तर' का आरम्भ 'एतत्तन्तुओं' से नहीं है। अतः 'साध्य' सुप्रसिद्ध होने से **'अर्थान्तर'** नहीं है। पक्षकोटिप्रविष्ट 'पट' को अवयवी के रूप में मानने से 'प्रतिज्ञा और हेतु' में भी कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार इन तत्तत्तन्तुओं के गुण, कर्म, जाति आदि भी 'तत्तत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी' हैं,' तत्तद्रूप आदि होने से, अन्य रूप-गुणादि के समान। इस प्रकार के प्रयोगों की कल्पना सर्वत्र कर लेनी चाहिये। तथाहि—**'एतद्रूपम्, एतत्तन्तुनिष्ठ–अत्यन्ताभावप्रतियोगि, रूपत्वात्, इतररूपवत्'। 'एतच्चलनम्, एतत्तन्तुनिष्ठात्यान्ताभावप्रतियोगि, चलनत्वात्, अन्यचलनवत्'**। तथा – **तन्तुत्वं, तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, जातित्वात्, घटवत्'**। इसी प्रकार सत्ता आदि तथा समवाय के विषय में भी समझना चाहिये। **'अयम् अन्त्यविशेषः, एतदात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, विशेषत्वात्, आत्मान्तरगतविशेषवत्'**—यह विशेष के सम्बन्ध में हो गया। एवञ्च—'मिथ्यात्व' के होने में अनुमानप्रमाण है। अतः **'मिथ्यात्वसिद्धि'** में कोई प्रमाण नहीं है, यह नहीं कह सकते।

शङ्का—उक्त अनुमान प्रयोग में 'प्रामाणिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' को आप 'साध्य' बनाना चाह रहे हैं? अथवा 'प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' को साध्य बनाना चाह रहे हैं? इन दो पक्षों में से आप **प्रथम पक्ष** का स्वीकार इसलिये नहीं कर सकेंगे कि 'अभाव' यदि **प्रामाणिक** होगा, तब उसी के बलपर **'द्वैत'** ही सिद्ध हो जायगा, और 'प्रामाणिक अभाव' के प्रतियोगी 'घटादिभावपदार्थों' में 'प्रामाणिकता' प्राप्त हो जाने से उनमें 'मिथ्यात्व' सिद्ध नहीं हो सकेगा?

'प्रातिभासिक अभाव की प्रतियोगिता' रूप जो दूसरा पक्ष है, उसे भी आप स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि **'रजत में सीसे (रांगे)** का भ्रम होने पर **'यह सीसा ही है,** रजत नहीं है'—ऐसी प्रतीति होती है। यहाँपर 'रजत' में **रजतत्व का निषेध** 'प्रातिभासिक' है उस 'प्रातिभासिक निषेध' (अत्यन्ताभाव) का प्रतियोगी होने पर भी उस 'रजतत्व' में मिथ्यात्व नहीं है। अतः **अर्थान्तरता** दोष की प्राप्ति होगी। एवञ्च ऊपर प्रदर्शित 'दोनों पक्षों' में से किसी भी पक्ष का स्वीकार आप नहीं कर सकते।

समा०—उक्त शङ्का पर **सिद्धान्ती** कहता है कि पूर्वपक्षी ने जिन आपत्तियों को प्रदर्शित कर जो एक विभीषिका उपस्थित कर दी है, वह प्रभावहीन है। क्योंकि 'अभाव' को **प्रामाणिक** मानने पर भी 'द्वैत' की सिद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि 'भावरूप कोई भी द्वितीय पदार्थ' नहीं है। इस लिये **'ब्रह्म'** की 'अद्वयता' का बाध नहीं हो रहा है। **'सत्य'** का ज्ञान, केवल **'प्रमाण'** होने मात्र से नहीं होता है, अपितु **'तात्त्विक प्रमाण'** से 'सत्य' का ज्ञान होता है। जो **भावपदार्थ**, या **अभावपदार्थ**, 'केवल व्यावहारिक प्रमाणों' से जाने जाते हैं, उन 'व्यावहारिक भावपदार्थ', या 'अभावपदार्थों' से 'तात्त्विक प्रमाण' सिद्ध **पारमार्थिक 'ब्रह्म'** की 'अद्वैतता की निवृत्ति' की आशंका कैसे की जा सकेगी ?

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'प्रामाणिक अभाव' का 'प्रतियोगी' भी **प्रामाणिक** होता है। अतः उसमें 'मिथ्यात्व' सिद्ध नहीं हो सकेगा। किन्तु यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'प्रामाणिक अभाव' का 'प्रतियोगी' **सत्य** ही होता है—यह कोई **नियम नहीं** है। अतः 'द्वैत' की प्राप्ति नहीं होगी। प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी की 'सत्यता उस परिस्थिति में कह सकते थे कि यदि प्रामाणिक अभाव' (निषेध) के प्रतियोगीस्वरूप 'शुक्ति-रजतसंसर्ग' की सत्ता को किसी देश, किसी काल में **अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक** मानता होता। तथा **अख्यातिवादी प्रभाकर** के मत में संसर्गज्ञान के न हो पाने पर भी 'संसृष्टव्यवहार' से उपनीत (प्राप्त) संसर्ग के प्रामाणिक निषेध (अभाव) का प्रतियोगी, यदि प्रामाणिक माना गया होता। तथा—**विज्ञानवादी बौद्ध** के मत में बुद्धिरूप (ज्ञानरूप) जो 'रजत' है, उस रजत के आकार में आरोपित (आरोही) जो बाह्यवृत्ति (बहिष्ट्व) है, उसके 'प्रामाणिक निषेध' (अभाव) के प्रतियोगीरूप बाह्यवृत्तित्व (बहिष्ट्व) की सत्ता किसी भी देश, किसी भी काल में यदि मानी गई होती।

किन्तु **नैयायिक**, **प्रभाकर** और **बौद्ध** ये तीनों ही ऊपर वर्णित 'सत्ता' को नहीं स्वीकार करते हैं। उस कारण प्रामाणिक अभाव (निषेध) के 'प्रतियोगी' (भाव पदार्थ) को सत्य नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय विकल्प, 'प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' का स्वीकार न करने से ही वह निरस्त हो जाता है।

यह भी नहीं कह सकते कि 'धर्मिग्राहक प्रमाण' से 'मिथ्यात्वाऽनुमान' का

बाध हो जायगा, क्योंकि किसी भी 'तात्त्विक प्रमाण' से 'धर्मी' (प्रपञ्च) की सिद्धि नहीं हो रही है।

'धर्मी की असिद्धि' सुनकर **पूर्वपक्षी** हमारे 'मिथ्यात्वानुमान' में 'आश्रयाऽसिद्धि' दोष भी नहीं दे सकता, क्योंकि 'व्यावहारिक (लौकिक) प्रमाण' से 'आश्रय' (प्रपञ्च) की सिद्धि होती है।

शङ्का—भेदवादी (पूर्वपक्षी) कहता है कि 'प्रपञ्च' (धर्मी) की सिद्धि **'तात्त्विकप्रमाण'** से नहीं है—यह कथन उचित नहीं है। 'प्रपञ्च की प्रमिति' हम **अनुमानप्रमाण** से कर सकते हैं। तथाहि—**'प्रपञ्चः तत्त्वावेदकप्रमाणविषयः धर्मित्वात् आत्मवत्'**—इस अनुमान से 'प्रपञ्च' का स्वरूप 'तात्त्विकप्रमाण' (तत्त्वबोधकप्रमाण) का विषय हो सकता है।

समा०—किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा। क्योंकि 'निरुपाधिक अनुमान' (हेतु) से 'साध्य' की सिद्धि हुआ करती है। उक्त अनुमान में **'आत्मत्व'** उपाधि है। 'आत्मा' में 'तात्त्विकप्रमाण' की 'विषयता' है, और 'आत्मा' में 'आत्मत्व' भी है। अतः 'आत्मत्व' में **साध्य-व्यापकता** है, और 'धर्मित्व' रूप हेतु, 'प्रपञ्च' में है, किन्तु वहाँ 'आत्मत्व' नहीं है। अतः 'आत्मत्व' में 'साधन' की अव्यापकता है। अतः **'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्व'** रूप 'उपाधि' का लक्षण 'आत्मत्व' में घटित हो जाता है।

यदि यह कहो कि 'आत्मत्व' की **'व्यतिरेकव्याप्ति'** की सिद्धि 'साध्य' में नहीं है, इसलिये **'उपाधि'** में 'साध्यव्यापकता' कहाँ हो रही है? अभिप्राय यह है कि 'साध्यव्यापक उपाधि' के अभाव से 'साध्याभाव' की सिद्धि होनेपर ही 'साध्यव्यापकता' का निश्चय हुआ करता है। प्रकृत में 'प्रपञ्च' तो 'पक्ष' कोटि में है। **'आत्मत्व'** तो 'पक्षेतर' स्वरूप हैं। अतः **व्यतिरेक** की सिद्धि नहीं हो पारही है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा। क्योंकि भ्रम के कारण प्रतीत होनेवाले **'शुक्ति'रजतसंसर्ग'** में 'अनात्मत्व' (आत्मत्वाभाव) भी है, और 'तात्त्विक-प्रमाणविषयत्वाऽभाव' अर्थात् तत्त्वबोधकप्रमाण का 'अविषयत्व' भी है। इसकारण यह एक ऐसा उभयवादिसम्मत स्थल है, जहाँ **'व्यतिरेकव्याप्ति'** का निश्चय हो जाता है। अतः यहाँपर **'आत्मत्वाऽभाव'** के रहने से **'तत्त्वप्रमाणवेद्यत्व'** की प्रसिद्धि हो जाती है। दूसरी बात यह है कि 'शुक्ति-रजतसंसर्ग' रूप धर्मी में 'धर्मित्व' हेतु तो है, किन्तु 'उपाधि' नहीं है। अतः-**'धर्मित्व' हेतु** का व्यभिचार

(अव्यापकत्व) भी उपाधि' में है, इसलिये ऐसे व्यभिचरित 'हेतु' से **अभीप्सित-साध्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी।**

शङ्का—'शुक्ति-रजतसंसर्ग' तो 'मिथ्या' है। अतः उसमें 'धर्मित्व' हेतु नहीं रह सकता।

समा०—पहिले हमें यह बताओ कि **'शुक्तिरजतसंसर्गः न धर्मी मिथ्यात्वात्'** इस अनुमान में प्रयुक्त **'मिथ्यात्व' हेतु** के प्रति 'संसर्ग' को 'धर्मी' मानते हो या नहीं ? यदि उसे उक्त 'हेतु' का 'धर्मी' मानते हो तो 'धर्मित्व' का निषेध नहीं कर सकते। यदि 'संसर्ग' को 'मिथ्यात्व' हेतु के प्रति धर्मी नहीं मानते हो, तो भी 'आश्रय' ही असिद्धि रहने से 'निषेध' का संभव ही नहीं है। क्योंकि उसमें 'मिथ्यात्व' रहने के कारण ही 'धर्मित्व' का निषेध कर रहे थे। जब 'मिथ्यात्व' धर्म ही उसमें नहीं है, तब यह मिथ्या भी नहीं है। ऐसी स्थिति में 'मिथ्यात्व' हेतु से 'धर्मित्व' का निषेध कैसे होगा ? इस व्यावहारिक प्रमाणभूत साधनादि के मानने से ही पूर्वोक्त **आक्षेप**—'प्रतीतिमात्र से सिद्ध प्रपञ्च को आश्रय माननेपर दूषण-भूषण आदि भी सर्वत्र वैसे ही सुलभ होंने लगेंगे जिससे सभी वादों का विधान, सभी का निषेध होने लगेगा, कोई व्यवस्था नहीं रहेगी'—खण्डित हो जाता है। क्योंकि 'साधन' आदि की व्यवस्था, 'व्यावहारिक प्रमाण' से ही हुआ करती है। किसी प्रकार का आक्षेप, दूषण या भूषण तो 'वादकथा' के अंग माने जाते हैं। वादी-प्रतिवादी तथा मध्यस्थलोग, एकमत होकर जिसके विषय में कह दें कि 'ये प्रमाण-सिद्ध हैं', जिनका तीन-चार कक्षा तक बाध न हो, और जो तत्तत् आभासलक्षण के लक्ष्य न बन पाये हों, उसी प्रकार के 'व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध पदार्थों' में ही 'व्यावहारिक सत्यत्व' माना जाता है। उन पदार्थों में 'पारमार्थिक सत्यत्व' कभी नहीं माना जाता। क्योंकि सर्वथा 'बाधरहित तत्त्व' (सत्य) को कोई भी असर्वज्ञ व्यक्ति, 'आगमप्रमाण' के सिवाय 'अन्य किसी प्रमाण' से नहीं जान सकता। 'व्यावहारिक-प्रमाण' की विषयता को ही 'व्यावहारिक-सत्य' कहते हैं।

इस कथन से ही श्री कुमारिलभट्टपाद का जो मन्तव्य है, वह भी निरस्त हो जाता है।

'संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्।
सत्या चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम् ॥

श्रीकुमारिलभट्टपाद का कहना है कि—

सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थ-परमार्थयोः।
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्ष-सिंहयोः॥" इति।
(श्लो. वा. ५।६–७)॥

अर्थात् बौद्धों ने **'संवृति'** (तत्त्व को आवृत करनेवाली अविद्या) को 'सत्य' कहा है, किन्तु 'संवृति' में सत्यत्व नहीं रह सकता। यदि उसको 'सामान्य सत्य' न कहकर 'सत्यविशेष' कहें, तो उसे किस प्रमाण से सिद्ध कर सकेंगे? क्योंकि 'अनेक' में कोई एक 'विशेष' होता है। जब कि 'अविद्या मात्र' एक ही है, एवञ्च श्री कुमारिलभट्ट के अनुसार 'संवृति' (अविद्या) में सत्यत्व नहीं रह सकता। तब 'विशेष' का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि 'संवृति' सत्य है, तब उसमें 'संवृतित्व' (मिथ्यात्व) कैसे रह पायेगा? और यदि वह 'मिथ्या' है, तो उनमें 'सत्यत्व' कैसे रहेगा? 'अर्थ'-दो प्रकार का होता है, एक-'मिथ्या अर्थ' और दूसरा 'परमार्थ', इन परस्पर विरुद्ध पदार्थों (वस्तुओं) में 'सत्यत्वजाति' नहीं रहेगी, क्योंकि विरोध है। जैसे-वृक्ष और सिंह इन विरुद्ध पदार्थों में 'वृक्षत्व' जाति नहीं रहती। एवञ्च श्री कुमारिलभट्टपाद ने जो कहा कि 'अविद्या' में सत्यता नहीं है, अर्थात् उसमें असत्यता ही है',—इस कथन का खण्डन हो गया।

वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार तो 'मिथ्या (असत्य) प्रपञ्च' में ही लौकिक-वैदिकव्यवहार की अंगता होने से 'देह' में जैसे 'आत्मत्व' का व्यवहार किया जाता है, वैसे ही 'प्रपञ्च' में सत्यत्व का व्यवहार तभी तक होता है जब तक उसका बाध न हो। अतः 'अविधा' को व्यावहारिकरूप से 'सत्य', और पारमार्थिक रूप से 'असत्य' कहा गया है। एवञ्च दृष्टिकोण की भिन्नता से 'प्रपञ्च' को **सत्य** और **असत्य** कहा जाता है। इसलिये कोई विरोध नहीं है।

उक्त **'अंशित्व'** (अवयवित्व) हेतु **'असिद्ध'** भी नहीं है, क्योंकि 'पट' के **अवयवित्व** (अंशित्व) में किसी का वैमत्य नहीं है। **'हेतु'** में 'विरुद्ध' दोष भी नहीं है। क्योंकि **'एतत्तन्तुवृत्ति (एतत्तन्तुनिष्ठ) अत्यन्ताभाव'** के 'अप्रतियोगी' **विभु आत्मा** (विपक्ष) में **अवयवित्व** (अंशित्व) रूप 'हेतु' नहीं रहता है। **'हेतु'** में विरुद्धदोष' तभी आता है, जब वह **'विपक्ष'** में वृत्ति हो, ('विपक्ष' में रहता हो), यानी 'साध्याभाव' का साधक हो, तभी उसको **'विरुद्ध'** कहते हैं।

विपक्ष (निश्चितसाध्याभाववान्) से पृथक् रहने के कारण ही (विपक्षाऽवृत्ति होने से ही) वह 'हेतु' **अनैकान्तिक** (व्यभिचारी) भी नहीं है।

शङ्का—'इह तन्तुषु पटः'-इन तन्तुओं में पट है—इस 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से ही 'तन्तुओं' में 'वृत्तितारूप' से 'पट' का ज्ञान होता है। अतः उक्त अनुमान का विषय (साध्य), 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के द्वारा अपहृत हो जाता है। इसलिये **पटाभावरूप** 'साध्य' का बाध होता है। एवञ्च **हेतु** (अनुमान) में 'कालात्ययापदिष्टता' (बाध) प्राप्त होती है। अर्थात् 'हेतु' **बाधित** हो जाता है। उस **बाधित हेतु** से 'साध्य' की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

समा०—किन्तु यह आक्षेप करना ठीक नहीं है। क्योंकि 'पट' में 'एतत्तन्तुनिष्ठ—अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' को स्वीकार करने वाला, 'इह तन्तुषु पटः'—इन तन्तुओं में पट है—इस 'प्रत्यक्ष' को प्रमाण नहीं मानता। अतः जैसे—'इह नभसि नीलिमा'-इस आकाश में नीलिमा है—इत्याकारक 'प्रत्यक्ष' का विरोध रहने पर भी उसका बाधकर के **'आकाशम् अरूपि विभुत्वात् आत्मवत्'**—आकाश रूपरहित है, विभु होने से आत्मा के समान—यह 'अरूपित्वानुमान' किया ही जाता है, उसीप्रकार प्रकृत में भी 'मिथ्यात्वानुमान' की प्रवृत्ति हो सकती है।

शङ्का—इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि इस तरह से तो **'अग्निः शीतलः पदार्थत्वात् हिमवत्'** इत्याकारक अग्नि में शीतलता का अनुमान भी अकुण्ठितगति से प्रवृत्त होने लगेगा। तब तो बाध (कालात्ययापदिष्ट) संज्ञक हेत्वाभास की चर्चा ही संसार से लुप्त हो जायगी।

समा०—ऐसी शंका नहीं होनी चाहिये। क्योंकि जहाँ 'विरोधी कोई 'प्रमाण', जो दोनों पक्षों को मान्य होगा, उसके उपस्थित रहने पर **'बाध'** संज्ञक हेत्वाभास की चर्चा निरङ्कुशगति से चलेगी, उसे कौन रोक सकेगा ?

प्रकृत **'मिथ्यात्वानुमान'** में वैसा उभयपक्ष सम्मत प्रबल विरोधी प्रमाण' तो कोई उपस्थित नहीं है, तब 'बाध' की प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस प्रकार 'प्रत्यक्षविरोध' का निराकरण हो जाने से ही **'प्रपञ्चः सत्यः, प्रमाणसिद्धत्वात्'**—यह प्रत्यनुमान (सत्प्रतिपक्ष) भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि **'प्रमाणसिद्धत्वात्'** यह हेतु ही 'असिद्ध' है।

दूसरी बात यह है कि जिस 'प्रपञ्च' के सत्यत्व में 'नभनीलिमाप्रत्यक्ष' की समानता के कारण 'प्रत्यक्षप्रमाण' भी 'तत्त्वावेदकप्रमाण' नहीं बन सका, वहाँ 'प्रत्यक्षपादोपजीवी' (प्रत्यक्ष के अधीन) वराक (बेचारा) अनुमान' को प्रमाण

कैसे कहा जायगा ? अर्थात् **'अनुमान'** भी 'प्रपञ्च की सत्यता' का बोध नहीं करा सकता।

भेद की सत्यता सिद्ध करने के लिये जो—अनुमान **'अयं घटः एतद्घटत्वेसति एतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदाधिकरणं भवति, द्रव्यत्वात् पटवत्'**—पहले कहा था कि 'इस घट' में 'द्रव्यत्व' के होने से 'घटनिष्ठबाध्यभेद से अतिरिक्त भेद है—यह तो **'अयं घटः एतद्घटत्वेसति एतन्निष्ठबाध्यभेदत्वानधिकरणभेदाधिकरणं न भवति द्रव्यत्वात् पटवत्'**—इस अनुमान से सत्प्रतिपक्षित हो जाता है। तथा अद्वैत–प्रतिपादकश्रुति का विरोध रहने से भी बाधित है। अतः उपेक्षा करने योग्य है।

शङ्का—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुतिवचनों से 'प्रपञ्च' की सत्यता का ज्ञान स्पष्टतया हो रहा है। इसलिये 'अद्वैतप्रतिपादकश्रुति' को ही गौणार्थक (अन्यार्थपरक यानी उपचरितार्थक) क्यों न मान लिया जाय ?

समा०—ऐसा नहीं मान सकते। क्योंकि 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुतिवचन का तात्पर्य, मृत्तिका आदि 'प्रपञ्च की सत्यता' के प्रतिपादन में नहीं है, अपितु उसका तात्पर्य, 'किसी अन्य अर्थ में' है। वह अन्य अर्थ यह है कि—**'एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं'**—एक के जान लेने से सब का ज्ञान हो जाता है—यह प्रतिज्ञा करके **'ब्रह्म'** ही 'यच्च–यावत् समस्त प्रपञ्च' का 'कारण' होने से वह, 'सम्पूर्ण कार्यरूप प्रपञ्च' से अनन्य (अभिन्न) है, यह प्रदर्शित करते हुए उक्त प्रतिज्ञा के उपपादनार्थ, लोकव्यवहार में प्रसिद्ध 'घट, रुचकादि सुवर्णालंकार' आदि 'कार्यों' का, मृत्तिका. सुवर्ण, लोह' आदि कारणों से **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्'** इत्यादि श्रुतिवचनों के द्वारा **'अनन्यत्व'** (अभिन्नता) बताया गया है, न कि 'मृत्तिका आदि' की सत्यता। **भगवती श्रुति** को 'मृत्तिका आदि प्रपञ्च' की **सत्यता** अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि यदि उसे 'मृत्तिका आदि' की सत्यता ही बतानी होती तो वह **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा'** (छां. उ. ६।८।७)—एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है। वह आत्मा है—इन वचनों को न कहती। उसने तो इन वचनों के द्वारा **'ब्रह्म'** की ही सत्यता का प्रतिपादन किया है। 'प्रपञ्चरूप मृत्तिका' आदि की सत्यता मानने पर, **'ब्रह्म'** मात्र की सत्यता का प्रतिपादन उसके विरुद्ध होगा। एवञ्च **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** इत्यादि श्रुति वचनों को 'गौणार्थपरक' (अन्यार्थपरक) मानने से हमारे 'मिथ्यात्वानुमान' के साथ पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित 'आगमवचन' (श्रुतिवचन) के विरोध का भी निरसन हो जाता है।

किञ्च 'प्रपञ्चसत्यत्व' का अनुमान करने में **'दृक्-दृश्यसम्बन्ध'** (ज्ञान और विषय का सम्बन्ध) की अनुपपत्ति भी बाधक होती है। **पूर्वपक्षी** ने जो यह कहा था कि 'इन्द्रियों (करणों) के सन्निकर्ष' से ही 'दृग्-दृश्यसम्बन्ध' (ज्ञान-विषय-सम्बन्ध) की उत्पत्ति हो जायगी, किन्तु पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि **ईश्वर के ज्ञान** में 'विषय' का प्रकाश (स्फुरण) तो होता ही है। अतः उसके ज्ञान का 'विषय' के साथ सम्बन्ध मानना ही होगा, किन्तु ईश्वर का ज्ञान **'इन्द्रिय-जन्य'** नहीं हुआ करता। इसलिये वहाँ **'इन्द्रिय-सम्बन्ध'** का होना कदापि संभव नहीं है।

योगियों का ज्ञान यद्यपि इन्द्रिय (करण) जन्य होता है, तथापि जब उनकी युक्त (समाहित) अवस्था रहती है, उस समय 'इन्द्रिय' (अन्तः करण) से असम्बद्ध 'भूत-भविष्यत् बाह्य विषयों' का ज्ञान उन्हें होता रहता है। अतः उस समय उनके ज्ञान का तत्तद् विषयों के साथ सम्बन्ध मानना ही होगा। **तार्किक विद्वान्** उस स्फुरण (ज्ञान) को **'आत्ममनःसंयोग'** मात्र से स्वीकार करते हैं। इसलिये 'युक्त योगियों' को भी 'इन्द्रियसम्बन्ध' के बिना ही ज्ञान होता है— यह कहना होगा। क्योंकि 'भूत-भविष्यत्कालिक पदार्थों' के विद्यमान न रहने से उनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, और बाह्य पदार्थ के साथ 'मन' का सम्बन्ध, इन्द्रियों के बिना नहीं होता, क्योंकि बाह्यविषय के ज्ञान में **'मन'**, **इन्द्रियों** के अधीन रहता है।

उसी तरह हम जैसे **साधारण लोगों** को इन्द्रियों से होने वाले 'भ्रमात्मक ज्ञान' में भी इन्द्रिय से असम्बद्ध विषय (वस्तु) का ही स्फुरण हुआ करता है।

तथा हम लोगों के **'सोऽयं देवदत्तः'**—यही वह देवदत्त है—इत्यादि प्रमाण-जन्य ज्ञान' (प्रत्यभिज्ञा) में भी **इन्द्रिय से** असम्बद्ध **'तत्ता'** अंश का स्फुरण होता ही है, अर्थात् 'पूर्वदेश—कालसम्बन्ध' का प्रत्यक्ष माना ही जाता है। यदि यह कहें कि **'तत्ता'** अंश के साथ भी 'इन्द्रिय' का 'स्व-संयुक्त (इन्द्रिय-संयुक्त) विशेषणता' सन्निकर्ष (सम्बन्ध) हैं।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि **'समवाय'** से भिन्न (समवायेतर) 'भाव पदार्थ' का 'इन्द्रिय-सन्निकर्ष' के बिना भी यदि 'प्रत्यक्ष' होना स्वीकार किया जाय, तो **'अयं पर्वतोऽग्निमान्'**—यह पर्वत अग्निमान् है—यहाँ पर भी 'अग्निमत्व' का 'संयुक्त-विशेषणतासन्निकर्ष' से 'प्रत्यक्ष' ही हो जायगा। अर्थात् चक्षु से संयुक्त 'पर्वत' और उसका विशेषण 'अग्नि' इत्याकारक सम्बन्ध है।

तब 'प्रत्यक्षधर्मी' (प्रत्यक्षपक्षक) अनुमान मात्र का उच्छेद (अभाव) ही हो जायगा।

इस पर **पूर्वपक्षी** पुनः प्रकारान्तर से कह रहा है कि—

'अन्य सम्बन्ध' यदि नहीं बन पा रहा है तो 'ज्ञान और ज्ञेय' का **'विषय-विषयिभाव'** सम्बन्ध मान लीजिये।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि **'विषय-विषयिभाव'** की ही सिद्धि अभी नहीं हो पाई है। पहले यह विचारना होगा कि 'विषयत्व' और 'विषयित्व' क्या है ? क्या **ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वम्** ? और **'विषयनिष्ठ-ज्ञान-जनकत्वं विषयित्वम्'** है ? किन्तु इस प्रकार से 'विषयत्व और विषयित्व' का स्वरूप-निरूपण करना तो ठीक नहीं होगा। क्योंकि ऐसा स्वरूप निर्धारण करने पर जिज्ञासा होगी कि **'ज्ञानजन्य फल'** क्या है ? क्या **'ज्ञातता'** को 'फल' कहें, या **'व्यवहार'** को फल कहें ? 'ज्ञातता' (प्राकट्य) को तो 'फल' नहीं कह सकते, क्योंकि 'ज्ञातता' को 'फल मानने पर **'अतीत,** पदार्थों में 'ज्ञानजन्य-ज्ञातता' के अभाव से 'अविषयत्व' ('विषयत्व' का अभाव) होगा। किन्तु **अतीतादि पदार्थ भी** 'ज्ञान' के 'विषय' तो हुआ करते हैं। **अभिप्राय** यह है कि 'अतीत-पदार्थ' का ज्ञान 'वर्तमानकाल' में हो रहा है। वर्तमानकाल में होनेवाले ज्ञान की 'विषयता', **'अतीतपदार्थ'** में तभी हो सकेगी, जब 'वर्तमानकालिकज्ञान' से जन्य, 'ज्ञातता' रूप **फल** के वे 'आधार' (अधिकरण = आश्रय) बनें। किन्तु **अतीतादि पदार्थ,** जो इस वर्तमानकाल में विद्यमान ही नहीं है, वे 'वर्तमानकालिक ज्ञान'-जन्य फल के आधार कैसे हो सकेंगे ? एवञ्च 'अतीतादि पदार्थों' में **'ज्ञानजन्य-ज्ञाततारूप फल'** की 'आधारता' (आश्रयता) न रहने से उनमें 'विषयत्व' नहीं रह सकता। **दूसरी बात** यह है कि **'घटज्ञान' अपने 'फल' को 'घट' ही में उत्पन्न करता है**—ऐसा कोई नियम भी नहीं है। अर्थात् 'ज्ञान-ज्ञेय' का कोई सम्बन्ध हो तो, उसे 'फल की उत्पत्ति में 'नियामक' भी कहा जा सकता है। किन्तु वह सम्बन्ध ही तो अनिरूप्य है। अतः अतीतपदार्थ के विद्यमान न रहने से और किसी नियामक के न रहने से भी फलाधारतारूप 'विषयत्व' उस अतीत पदार्थ में नहीं रह सकता। अर्थात् वर्तमानकाल में होनेवाले अतीतविषयक ज्ञान की 'विषयता' अतीत पदार्थों में तभी हो पायेगी, जब उस ज्ञान से उत्पन्न होने वाली (जन्य) 'ज्ञातता' (ज्ञान का फल) की आधारता उन अतीत पदार्थों में रहे। किन्तु जो पदार्थ विद्यमान ही नहीं है, वह उस फल (ज्ञातता) का आधार कैसे

बन पायेगा ? इसलिये अतीतपदार्थ में 'ज्ञान जन्यज्ञाततारूप फल की आधारता न रहने से उसमें ज्ञान की विषयता नहीं बन सकेगी।

किञ्च—कोई भी ज्ञान, अपने 'ज्ञाततारूपफल' को उसी विषय पर उत्पन्न करे—ऐसा विधान करनेवाला कोई नियामक भी नहीं है। यदि किसी को नियामक कह दें तो वही 'विषयता' का भी नियामक हो जायगा। तब 'ज्ञानजन्य-ज्ञातता' (फल) की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है। एवञ्च ज्ञानजन्य फल, 'ज्ञातता' रूप नहीं है।

अब द्वितीय पक्ष का भी विचार कर लिया जाय। ज्ञानजन्यफल को 'व्यवहार'-रूप यदि माना जाय तो वह भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि वह 'व्यवहार', यथा 'आकर्षण' आदि है अथवा 'इच्छा' आदि है ? दोनों ही प्रकार का व्यवहार नहीं बन सकता। क्योंकि 'आत्मा' आदि विभु पदार्थों के ज्ञान से उनमें (आत्मादि विभु पदार्थों में) आकर्षणादि व्यवहार नहीं हो पाता है, तब उन विभु पदार्थों में ज्ञान की 'विषयता' कैसे बनेगी ? और 'रजत' (कलधौत) के आकर्षणादि (हिलाने-चलाने) से 'रजत में बैठे हुए मल में भी आकर्षणादि (हल-चल) व्यवहार नान्तरीयकरूप से (अनिवार्यरूप से) होता है, तब 'रजतज्ञानजन्य आकर्षणादि व्यवहार का आश्रय 'रजतगत मल' भी है। अतः उस 'मल' में भी 'रजतज्ञान' की 'विषयता' प्राप्त होगी।

उसी तरह 'इच्छा' रूप व्यवहार भी नहीं बन सकता। क्योंकि 'इच्छा' रूप व्यवहार का आधार (आश्रय) 'आत्मा' ही होता है। अतः 'आत्मा' से अन्य (भिन्न) पदार्थों में 'विषयता' नहीं बन सकेगी।

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि जिस ज्ञान से उत्पन्न (जन्य) अर्थात् 'ज्ञान-प्रतिबद्ध' (ज्ञाननिमित्तकज्ञानजन्य) जो हानोपादानादि का ज्ञान, उसका जो विषय होता है, अथवा हानोपादानादि की योग्यता का जो विषय होता है, उस को ही 'प्रथमज्ञान' का 'विषय' कहा जाय।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि हानोपादानादिज्ञान की 'विषयता' का निर्णय होनेपर ही 'प्रथमज्ञान' की 'विषयता' का निश्चय होगा। अभी तो 'विषयता' ही निरूप्यमाण (असिद्ध) है। इस प्रकार 'ज्ञानविषयता' की सिद्धि के लिये 'हानोपादानादिज्ञानविषयता' को स्वीकार करनेपर अर्थात् 'ज्ञानविषयता' के निरूपण में 'ज्ञानविषयता' की अपेक्षा रहने से 'आत्माश्रयदोष' होता है, क्योंकि

दोनों 'विषयता' एकस्वरूप हैं। एकस्वरूप न मानकर दोनों विषयताओं में 'भेद' कहें तो 'अन्योन्याश्रयदोष' होगा।

इसी प्रकार पुनः एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि 'हानोपादानादिज्ञान' अपनी विषयता की उपपत्ति के लिये दूसरे हानोपादानादिज्ञानों के उत्पादक (जनक) होते हैं या नहीं ? यदि नहीं होते हैं, तो वे निर्विषयक हो जायेंगे। क्योंकि हानोपादानादिज्ञानों की 'विषयता' कहीं है ही नहीं। हानोपादानादिज्ञान के जनक (उत्पादक) ज्ञान ही सविषयक हुआ करते हैं।

यदि प्रथमोत्पन्न हानोपादानादिज्ञान अपने को सविषयक बनाने के लिये अन्य (दूसरे) हानोपादानादिज्ञान को उत्पन्न करता है, तो दूसरा भी तीसरे ज्ञान को और तीसरा चौथे ज्ञान को उत्पन्न करेगा। इस प्रकार के उत्पादन का कभी विराम ही नहीं हो पायगा। इस प्रकार हानोपादानादिज्ञानों के अनुपरम (असमाप्ति) से 'विषयान्तर' में 'मन' का संचार (प्रवृत्ति) ही नहीं होगा, और न कभी 'सुषुप्ति' ही होगी। क्योंकि एकविषय के हानोपादानादिज्ञानों की 'धारा' सतत चलती ही रहेगी, और 'व्यवहारयोग्यता' रूप 'विषयत्व' मानने पर उस 'व्यवहारयोग्यता' में 'दूसरी योग्यता है, या नहीं ? क्योंकि 'व्यवहारयोग्यता' का भी ज्ञान होने से, उसमें 'व्यहारयोग्यत्व' मानना होगा। तब अनवस्था होगी, और 'योग्यता' में दूसरी 'योग्यता' के न मानने पर 'योग्यता' में 'विषयत्वाभाव' होगा, अर्थात् योग्यता' में ज्ञान' की विषयता सिद्ध नहीं होगी।

महामीमांसक प्रभाकर के शिष्य श्री शालिकनाथ मिश्र का कहना है कि 'विषयता' के निर्णयार्थ किसी लक्षण को धूण्ढने की आवश्यकता नहीं है। 'विषयता' का ज्ञान तो बहुत सरलता से हो सकता है—**'यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते सोऽर्थस्तस्याः संविदो विषयः'**—जिस ज्ञान (संविद्) में जो अर्थ (पदार्थ = वस्तु) अवभासित (अनुभूत होता है, वही (पदार्थ), उस ज्ञान का 'विषय' होता है। एवञ्च—'ज्ञान' में भासमानत्व (प्रकाशमानत्व) ही 'विषयता' (विषयत्व) का सरल लक्षण है। श्रीशालिकनाथ ने अपनी प्रकरणपञ्चिका में कहा है—

> 'अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
> वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्याऽवेद्यस्य लक्षणम् ॥'

किन्तु यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि **'संविदि'** यह सप्तमीविभक्त्यन्त पद है। यहाँ 'सप्तमी' विभक्ति से आपको क्या विवक्षित है ?—(१) क्या **अधिकरण** विवक्षित है ? अथवा (२) **विषय** विवक्षित **है** ? अथवा (३) **सम्बन्धिमात्र** विवक्षित है ? अथवा (४) **'सति'** के अर्थ में सप्तमी है ? यानी 'सतिसप्तमी' है। उक्त लक्षण से इन विकल्पों के उत्तर नहीं दिये जा सकेंगे। क्योंकि प्रथम विकल्प का स्वीकार इसलिये नहीं कर सकते कि 'संविदि' इस सप्तम्यन्त का अर्थ होगा—**'संविद्रूप** अधिकरण में'। किन्तु यह संभव नहीं हो पायगा, क्योंकि 'घट-पटादि' पदार्थ तो **बाह्य द्रव्य हैं,** और **'संविद्' आभ्यन्तर** गुण हैं। इसलिये घट-पटादि बाह्यद्रव्यों की जो अधिकरणता है, वह **आभ्यन्तर-**वृत्ति 'संविद्' रूप 'गुण' में कैसे बन पायगी ? 'संविद्रूप अधिकरण' में जो रहेगा, वह उसका 'विषय' कहलायेगा। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष की भी अधिकरणता 'संवित्' (ज्ञान) में नहीं होगी। अतः लक्षण की अव्याप्ति है। एवञ्च प्रथम विकल्प ठीक नहीं है।

'ज्ञानविषयत्व' रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि अभी वह **'विषयत्व'** ही निरूप्यमाण (विचारणीय = असिद्ध) है। उसीकी सिद्धि के लिये 'विषयत्व' को प्रदर्शित करते हैं तो **'आत्माश्रय'** दोष प्राप्त होता है। यदि **'मुक्तौकामना'** में 'विषयसप्तमी' मानकर 'मुक्तिविषयिणी कामना' अर्थ किया जाता है, उसीतरह **'संविदिघटः'** में भी विषयसप्तमी मानकर 'संविदि घटः' का अर्थ **'संविद्विषयक घट'** होगा। तब 'सम्विद्' में **विषयत्व** और 'घट' में **विषयित्व** के प्राप्त हो जाने से तो **'विषय-विषयिभावसम्बन्ध'** उलटा ही हो जायगा। क्योंकि **'सप्तमी'** विभक्ति का अर्थ 'विषयत्व' है, वह सप्तम्यर्थसम्बन्धी 'सम्विद्' में भासित होगा।

उसीतरह **तृतीय** (सम्बन्धिमात्र) **पक्ष** भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'घट' आदि पदार्थज्ञान के सम्बन्धी, 'नेत्र, अदृष्ट' आदि भी होते हैं। क्योंकि वे 'अपना ज्ञान' कराने में कारण होते हैं। इसलिये वे सभी अपने-अपने 'ज्ञान' के 'विषय' कहाने लगेंगे, तब **'अतिव्याप्ति'** होगी।

इसपर यदि कोई यह कहे कि **'सम्विदि'** में 'सप्तमी से यद्यपि **'सम्बन्धिमात्र'** प्रतीत होता है, तथापि **'संविदि भासते'** कहने से **'भासमानता'** भी 'विषय' का विशेषण होकर प्रतीत होती है। **अभिप्राय** यह है कि **'सप्तमी'** का अर्थ तो **'सम्बन्धिमात्र'** ही है, किन्तु केवल 'सम्बन्धी' विषय न होकर **'भासमान-सम्बन्धी'**

को 'विषय' समझना चाहिये। 'नेत्र, अदृष्ट' आदि, 'घट' के 'सम्बन्धी होनेपर' भी, वे, **'घटज्ञान'** में भासमान नहीं हुआ करते। अतः उनमें 'विषयता' की अतिव्याप्ति नहीं है। 'सम्विद्' (ज्ञान) का 'विषय' बनने के लिये **'पदार्थ'** को संविद् में भासमान होते हुए उसका (संविद् का) सम्बन्धी होना आवश्यक है। तभी वह पदार्थ 'संविद्' का विषय बन पाता है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि भासमानत्व (भानविषयत्व = ज्ञान-विषयत्व) तो अभी 'निरूप्यमाण' है, अभीतक उसका 'निरूपण' ही नहीं हो पारहा है। अतः **आत्माश्रय** दोष होगा। इसलिये तृतीयपक्ष ठीक नहीं है।

इसीतरह **चतुर्थ** (सति सप्तमी) पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस पक्ष में भी यह अर्थ होगा कि 'जिस-ज्ञान' के रहते जो 'अर्थ' भासता है, **वही अर्थ**, 'उस ज्ञान' का 'विषय' होता है, किन्तु **'भासमानत्व'** का अभी निर्णय (निरुक्ति) ही नहीं हुआ है, इसलिये **'आत्माश्रयता'** दोष प्राप्त होगा। यदि यह कहें कि 'ज्ञान' के रहते 'अर्थ' का **व्यवहारयोग्यत्व** होना ही 'भासमानत्व' है, तो यह भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि 'योग्यता' में पूर्वोक्त दूषण की पुनः प्राप्ति होगी।

बौद्धदार्शनिकों का कथन है कि जैसे **'घटज्ञानम्'** इत्याकारक ज्ञानगत 'आकार' के 'समर्थक हेतु' को उस ज्ञान का 'विषय' कहा जाय अर्थात् **'ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषयः'**। तब 'विषय-विषयिभाव' ठीक बन जायगा।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा। **'ज्ञान'** और **'ज्ञानगत आकार'** दोनों में कोई भी 'भेद' न रहने से (दोनों के एक रहने से) ज्ञानोत्पत्ति में हेतुभूत **'नयनादि'** सभी में 'ज्ञानगत आकार' की समर्पणक्षमता रहने से (ज्ञानाकार-समर्पकता रहने से) 'विषयता' होने लगेगी।

उक्त विपत्ति को दूर करने के लिये यदि यह कहें कि **'दृश्यमान'** होकर जो आकारसमर्पक होता हो, उसे 'विषय' कहेंगे। अर्थात् उसे ज्ञान का 'विषय' कहेंगे। तब 'नयन (नेत्र) आदि', जो ज्ञानहेतु हैं, उनमें 'विषयता' की प्राप्ति न होने से **अतिव्याप्ति** नहीं होगी।

यह कहनेपर भी सुलझना तो दूर रहा, और अधिक उलझन पैदा हो रही है, क्योंकि **जिसके बलपर** तुम 'विषयता' का निर्धारण करने की सोच रहे हो वह **'दृश्यमानता'** ही तो अभी सिद्ध नहीं है, अर्थात् उसीका अभीतक निरूपण नहीं हो पाया है।

यदि **'ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्'** अर्थात् 'ज्ञान के फल' को ही 'विषय' कहें, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अतीत और भविष्यत् के ज्ञान में और ईश्वरज्ञान में 'कर्मकारक' की जन्यता न रहने से 'उन ज्ञानों' में **निर्विषयता** प्राप्त होगी। **अभिप्राय** यह है—एक **कारकविशेष** को 'कर्म' कहते हैं। जैसे कर्त्ता, करण, सम्प्रदान आदि 'कारकविशेष' होते हैं। 'कारक' का अर्थ होता है—**'कारण-विशेष'**। 'कारण' वही होता है, जो अपने 'कार्य' से अव्यवहितपूर्व विद्यमान रहकर उसका (कार्य का) जनक (उत्पादक) होता है। ऐसी स्थिति में 'अतीत (भूत), भावी (भविष्यत्) पदार्थ' (विषय = वस्तु), अपने ज्ञान के अव्यवहित-पूर्व न रहने से, वे, 'ज्ञान' के **कर्म** नहीं हो सकते। इसलिये उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो रही है। उसीप्रकार 'ईश्वर का ज्ञान' नित्य रहने से कोई भी विषय (पदार्थ = वस्तु), उसका (ईश्वरीयज्ञान का) जनक नहीं है। अर्थात् 'कर्मकारक' को ईश्वरीयज्ञान का जनक, नहीं कह सकते। अतः ये 'दोनों ज्ञान', कर्मरहित होने से 'निर्विषय' कहे जायेंगे। तब उन ज्ञानों के विषयों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

उक्त दोषों से बचने के लिये यदि यह कल्पना करें कि **'सम्बन्धान्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषणं स तद्विषयः, विशेष्यश्च तेन विषयी'**—अर्थात् 'संयोग, समवाय' आदि-सम्बन्धान्तर के बिना जो पदार्थ, जिस 'ज्ञान' का **विशेषण** बनता है, वह पदार्थ, 'उस ज्ञान' का **'विषय'**, और 'विशेष्य' (ज्ञान), उसका **विषयी** होता है, अर्थात् उस विषय का प्रकाशक होता है।

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि **'मत्समवेतं रूपज्ञानमस्ति'** अर्थात् मुझमें समवेत रूपज्ञान है—यहाँ पर 'समवाय' में उक्त लक्षण का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है। क्योंकि 'ज्ञान' में **समवायविशिष्टता** के रहने से 'ज्ञान' का विशेषण 'समवाय' है। यहाँ पर सम्बन्धान्तर के बिना ही **'मत्समवाय'** और **'रूपज्ञान'** का 'विशेषण-विशेष्यभाव' हो रहा है। किन्तु 'मत्समवाय' और 'रूपज्ञान' में 'विषय-विषयिभाव' नहीं है। अतः 'अलक्ष्य' में लक्षण के चले जाने से **'अतिव्याप्ति'** हो रही है।

इसपर यदि यह कहें कि **'मुझ में रूपज्ञान समवेत है'**-इस **'अनुव्यवसाय-ज्ञान'** का विषय **'व्यवसायज्ञान'** (प्रथमज्ञान) होता है, क्योंकि **'समवायसहित व्यवसायज्ञान'**, 'अनुव्यवसायज्ञान' का विषय होता ही है, तथापि 'अनुव्यवसाय' का विषय होनेपर भी जिस 'व्यवसायज्ञान' का **वह समवाय** 'विशेषण' रहता है,

उस 'रूपज्ञान' का 'वह समवाय', **विशेषण** कहलायगा, 'विषय' नहीं कहलायगा। अर्थात् उस 'रूपज्ञान' का 'वह समवाय' 'विषय' नहीं होगा। इसरीति से 'विषय-विषयिभाव' का निरूपण नहीं बन पारहा है। इसकारण **'प्रपञ्च'** की 'आत्मा' में 'अध्यस्तरूप' से सिद्धि, 'प्रपञ्च को सत्यमाननेवालों' के मत में नहीं है। अतः 'प्रपञ्च की सत्यता' में 'उसके (प्रपञ्च के) दृश्यत्व' की **अनुपपत्ति** ही बाधक है, यही स्थिर रहा।

यह जो कहा गया था कि **भेद को मिथ्या** मानने पर 'कर्मभेद के प्रतिपादक **शब्दान्तरादि प्रमाण'** अप्रमाण कहलाएँगे, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि 'घट-पट' आदि के समान 'कर्मविषयक व्यावहारिक भेदमात्र' को ही तत्तत् स्थानों में **'शब्दान्तरादि प्रमाणों'** के द्वारा बताया गया है। वे शब्दान्तरादि प्रमाण' 'कर्मों' के 'सर्वथा अबाध्य (पारमार्थिक) भेद' को नहीं बताते। वे शब्दान्तरादिप्रमाण, कर्मों के अबाध्य भेद को बताने में उदासीन हैं। अर्थात् 'सत्यता के प्रतिपादन' में उनका तात्पर्य नहीं है। इसलिये समस्त विरोधों से रहित 'उक्त अनुमान', **'प्रपञ्च के मिथ्यात्व'** में प्रमाण है—यह सिद्ध होता है।

शङ्का—अद्वैत (सत्य ब्रह्म) की सिद्धि (ज्ञान) के लिये उक्त अनुमान-प्रमाण से 'प्रपञ्च के मिथ्यात्व' की सिद्धि की जा रही है, किन्तु प्रपञ्चान्तर्गत **'अनुमान'** भी आ जाता है। तब उसके **मिथ्यात्व** का ज्ञान हुए बिना **'अद्वैत'** का ज्ञान होना संभव नहीं है। अतः **जिज्ञासा** होती है कि 'उक्त अनुमान' के **मिथ्यात्व** की सिद्धि किसी **दूसरे अनुमान** से होती है, अथवा **उसीसे** (स्वेनैव = स्वरूप से ही) होती है? **प्रथम पक्ष** का स्वीकार करने पर **'अनवस्था'** होगी। क्योंकि पूर्व-पूर्व अनुमानों का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये उत्तर-उत्तर अनुमान की अपेक्षा (आवश्यकता) होती जायगी। यदि यह कहें कि अनुमान के मिथ्यात्व की की आवश्यकता (जिज्ञासा) होनेपर अनुमानान्तर की प्रवृत्ति होगी। जिज्ञासा के बिना प्रथम अनुमान के समय उत्तर-उत्तर अनन्त अनुमानों की अपेक्षा न होने से **मूलक्षयकरी अनवस्था** का प्रसंग नहीं आवेगा। **जिज्ञासितमात्र** के अनुमान करने में अनवस्था दोष नहीं होगा।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'जो-जो उक्त साधनवाला है, वह सब उक्त साध्यवाला है'—इस व्याप्ति—ज्ञान के समय तत्तद् अनुमानों में मिथ्यात्व का ज्ञान न रहने से सर्वोपसंहारवती (सर्वव्याप्य—विषयक = सर्व-व्यक्तियों में घटित होनेवाली) व्याप्ति नहीं बन पावेगी, और यदि उक्त व्याप्तिग्रहण

के समय सभी अनुमानों में 'मिथ्यात्व' का निश्चय है, तो अनुमान के मिथ्यात्व के लिये अनुमानान्तर की समाप्ति नहीं हो जायगी। अर्थात् व्याप्तिग्रहणकाल में ही तत्तदनुमानान्तर की अपेक्षा होगी, यानी **अनन्त अनुमान** एक ही समय में अपेक्षणीय होंगे। किन्तु यह तो संभव नहीं है, तब अनवस्था 'मूलक्षयकरी कैसे नहीं होगी ? **अवश्य** ही मूलक्षयकरी होगी।

अब यह कहें कि **'मिथ्यात्व का अनुमान,** 'अपने मिथ्यात्व' को भी स्वयं बता देता है'—इस द्वितीय पक्ष में **आत्माश्रय दोष** उपस्थित होता है, क्योंकि 'स्व' में **स्ववृत्तिता** नहीं हुआ करती। अतः 'स्वगत—मिथ्यात्व' का ग्रहण **'स्व'** से नहीं हो सकता।

समा०—यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि जैसे **'शब्द'** इत्याकारक पद, सभी 'घट-पटादिशब्दों' का बोधक होता है, यानी 'सभी घट-पटादि शब्दों' को विषय करता है, तथा 'शब्दत्वेन अपने स्वरूप' का भी बोधक होता है, अर्थात् अपने को भी विषय बना लेता है, तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चगत सत्यत्व का अनुमान, 'अपने में भी सत्यत्व' सिद्ध करता है। जैसे—**'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**—**'स्वश्चासौ अध्यायः = स्वाध्यायः'**—अपनी कुल—परम्परागत वेदशाखा का अध्ययन करना चाहिये—यह **वेदाध्ययनविधि** है। यह विधि, 'सम्पूर्ण वेदाध्ययन' का विधान करता है, **साथ ही** अपनी कुल—परम्परागत वेदशाखा के अध्ययन का भी विधान करता है। इसी प्रकार 'प्रपञ्च के मिथ्यात्व का अनुमान', अन्य के मिथ्यात्व को बताता है और साथ ही प्रपञ्चत्वेन 'अपने मिथ्यात्व' को भी बताता है। अतः कोई विरोध नहीं है। **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** वाक्य में **'तव्यत्'** प्रत्यय है। इस प्रत्यय से विधि' की प्रतीति होती है। क्योंकि 'लिङ्, लोट्, तव्य, तव्यत्, अनीयर्, यत्, लेट्' आदि प्रत्ययों से 'विधि का बोध होता है। उक्त वाक्य के सम्बन्ध में ऊपर जो कहा गया, वह **भाट्टमत के अनुसार** था।

शंका—किन्तु **प्रभाकरमीमांसक** का कहना है कि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** इस अध्ययनविधि से **'अध्ययन'** का विधान नहीं किया जा रहा है, अपितु 'अध्ययन' का विधान तो **'अध्यापनविधि'** से किया जाता है। क्योंकि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**—यह अध्ययनविधिवाक्य, अध्ययन' के **अनुष्ठापन** में समर्थ नहीं है। न हो सकने का कारण यह है कि वह 'अध्ययनविधि', **निर्नियोज्य** है, अर्थात् उस विधिवाक्य में 'किसी अधिकारी' को नहीं कहा गया है। 'विधि का काम 'प्रेरणा' करना है। किन्तु **उक्त विधिवाक्य** में प्रवृत्त होने वाले किसी

'अधिकारी व्यक्ति' का उल्लेख न होने से, वह 'विधि', किस व्यक्ति को अध्ययन में नियुक्त (प्रवृत्त) करेगा ? **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेत'** के समान किसी **कामनावाले** अथवा **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'** के समान **जीवनादिनिमित्त-वाला** कोई 'नियोज्य' (अधिकारी) व्यक्ति भी श्रुत नहीं हो रहा है। **'विश्वजिता-यजेत'** के समान 'नियोज्य' के न रहने पर भी 'विधि' के उपपत्त्यर्थ **कर्ता** की कल्पना के लिये सभी को अभीष्ट लगनेवाले **'स्वर्ग'** रूप 'सर्वसाधारण फल' की कल्पना कर ली जाती है, तब **तत्फलकामी** उस याग में 'अधिकारी' मान लिया जाता है। उस प्रकार यहाँ 'अध्ययन-विधिवाक्य' में **अधिकारी** (नियोज्य) की कल्पना (अध्याहार) के लिये कोई उचित शब्द भी नहीं है। क्योंकि 'अध्यापन-विधि' से ही अध्यापन के विषयरूप 'अध्ययन' की सिद्धि हो जाती है। तब वहाँ 'नियोग'–(अध्ययनविधि) का कोई कल्पक ही नहीं है।

यदि यह कहें कि **'अध्यापनविधि'** में भी 'कोई नियोज्य' (अधिकारी) श्रुत नहीं है। इसलिये वह भी **अध्ययनविषयक अध्यापन** का 'अनुष्ठापक' नहीं हो सकेगा। किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि **अध्यापनविधि** में 'आचार्यत्वकामनावान्' अपने में आचार्यत्व की कामनावाला **नियोज्य** (अधिकारी) श्रुत (प्रतीत) हो रहा है। श्रुति कह रही है कि **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत'** आठवर्ष के ब्राह्मण का उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) करे तदनन्तर उसको पढ़ावे। इस श्रुतिवाक्य में जो **'उपनयीत'** पद है, उसमें **सम्माननोत्सञ्जना-ऽऽचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः'** (पा. सू. १।३।३६)– सम्मानन= सम्पूजन, उत्सञ्जन = उत्क्षेपण, आचार्यकरण = आचार्यत्वसम्पादन, ज्ञान, भृति = वेतन, विगणन = ऋणापंणादि, और व्यय–इन अर्थों में **'णीञ्'** धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। **'उपनयीत, अध्यापयीत'** इन पदों से **'उपनयन और अध्यापन'** दोनों की 'एकप्रयोगता' (एकवाक्यता = एकसाध्यसाधनता) प्रतीत होती है। अतः उक्त श्रुति से 'उपनयनपूर्वक अध्यापन' से साध्य होनेवाले 'आचार्यत्व' की प्रतीति होती है। उस 'आचार्यत्व' के कामी (इच्छुक) की 'नियोज्यता' (अधिकारिता) की प्रतीति हो जाती है। अतः 'अध्यापनविधि' को 'निर्नियोज्य' (अधिकारी से रहित) नहीं कहा जा सकता। इसरीति से 'अध्यापन-विधि' के 'सनियोज्य' होनेपर वही (अध्यापनविधि ही) अपने **विषयभूत** 'अध्यापन' का 'अनुष्ठापक' बनकर उस 'अध्यापन' के साधक 'अध्ययन' में भी प्रवर्तक होता है। अर्थात् 'अध्ययन' में **अध्येता** को प्रवृत्त करता है। एवञ्च

'आक्षिप्त हुए अध्ययन' के बिना 'विधि' की अनुपपत्ति के कारण 'आक्षेपरूप अर्थापत्ति-प्रमाण' (अध्यापनान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाण) से ही **'अध्ययन'** में 'वटु' की प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है। इसलिये **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**—यह वाक्य, न **अध्ययनविधि** है, और न इससे—**प्रयुक्त अध्ययन** है, अतः **अध्यापनविधि** से ही 'अध्ययन प्रयुक्त होता है।

समा०—प्रभाकर मीमांसक ने जो कहा कि **'अध्यापनविधि'** में **नियोज्य** (अधिकारी) श्रुत है—यहाँ तक तो उसका कहना ठीक है, किन्तु **'अध्यापन-विधि'** से 'अध्ययन' की **प्रयुक्ति** होती है'—यह कहना उचित नहीं है। अर्थात् 'अध्यापनविधि' से 'अध्ययन की 'साध्यता' को कहना ठीक नहीं है। क्योंकि **प्रभाकर** का सिद्धान्त है कि 'काम्यकर्मों' में (काम्य-कर्मरूप करण अंश = याग आदि में) **'राग'** ही प्रवर्तक (मनुष्य की प्रवृत्ति कराने में हेतु) होता है, 'विधि' नहीं।

अतः उसी के सिद्धान्त की दृष्टि से 'अध्यापन' कर्म को भी **'काम्य'** कर्म ही कहना होगा। तब 'अध्यापनविषयक राग' से ही उसके (अध्यापन के) निष्पादक (साधक = उत्पादक) 'अध्ययन-विषयक अनुष्ठान' (प्रवृत्ति) का लाभ (सिद्धि) हो जायगा। अतः **अध्यापनविधि** में 'अनुष्ठापकत्व' (प्रयोजकत्व) की कल्पना करना उचित नहीं होगा। अर्थात् 'अध्ययन' को **अध्यापनविधि** से प्रयुक्त कहना ठीक नहीं है।

शङ्का—'अध्ययन' तो **'अध्यापन'** का 'अंग' है, उस कारण 'अध्ययन' में 'अध्यापन' विधि से ही प्रवृत्ति हो जायगी। तब 'अध्ययन' को 'अध्यापनविधि' से **प्रयुक्त** क्यों नहीं कह सकते ?

समा०—उक्त आशंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों का **अङ्गाङ्गिभाव** (शेष-शेषिभाव) मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः 'अध्ययन' को 'अध्यापन' का अंग कहना उचित नहीं है। अङ्गाङ्गिभाव' का निर्णय, मीमांसाशास्त्रोक्त **छह प्रमाणों** से किया जाता है। वे **छह प्रमाण** ये हैं—**(१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य; (४) प्रकरण, (५) स्थान, (६) समाख्या**। उक्त छह प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण ने भी 'अध्यापन' और 'अध्ययापन' इन दोनों में 'अङ्गाङ्गि-भाव' को नहीं बताया है। ऐसी स्थिति में 'अध्ययन' को अध्यापन' का **अंग** कह देना कहाँ तक उचित होगा ? अतः अङ्गाङ्गिभाव के न रहने से **'अध्ययन'** को 'अध्यापनविधि' से प्रयुक्त, नहीं कह सकते।

शङ्का—'अध्यापनविधि' से 'अध्ययन' को प्रयुक्त माना जाता है। इस प्रयुक्ति के बलपर ही 'अध्ययन' में अध्यापनाङ्गत्व स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

समा०—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि जो-जो 'प्रयुक्त' हो वह अपने 'प्रयोजक' का 'अङ्ग' भी बने, ऐसी व्याप्ति (नियम) नहीं है। यदि ऐसी व्याप्ति होती तो, 'अध्यापनविधि' से प्रयुक्त होने के कारण 'अध्ययन' को 'अध्यापन' का 'अंग' कह सकते थे, किन्तु 'प्रयुक्तत्व' तो 'अङ्गत्व' का व्यभिचारी है। क्योंकि 'भिन्ने जुहोति', 'स्कन्ने जुहोति'—ये वैदिक वाक्य हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—'कपाल' के भिन्न (टूट-फूट या सच्छिद्र) होने पर 'होम' करना चाहिये। इन वाक्यों से अवगत होता है कि 'कपाल' का 'भेदन, छेदन', 'हवन-कर्म' का 'प्रयोजक' (निमित्त) है। अर्थात् 'हवन (होम) कर्म', 'कपालभेदन' या 'छेदन' से प्रयुक्त है, किन्तु उसका (भेदन या छेदनरूप प्रयोजक का) वह (होम) 'अंग' नहीं है। अर्थात् 'होम' को 'भेदन' का 'अंग' कोई नहीं कहता। एवञ्च 'प्रयुक्ति' के व्यभिचारी होने से उसके बल पर 'अंगत्व' की सिद्धि नहीं की जा सकती।

किञ्च—'अध्ययन' में 'अध्यापनविधि-प्रयुक्तत्व' अभी सिद्ध (निश्चित) नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में 'प्रयुक्ति' के बलपर 'अंगत्व' को कैसे माना जायगा? अन्यथा 'अङ्गत्व' रहने पर 'प्रयुक्ति' की सिद्धि और 'प्रयुक्ति' के रहने पर 'अङ्गत्व' की सिद्धि होने से 'अन्योन्याश्रय' दोष भी होगा।

प्रश्न—'अध्ययन' को 'अध्यापनविधि' से प्रयुक्त कहनेवाले विद्वान् जब कि 'अध्ययनविधि' (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) में 'अधिकारी' को स्वीकार कर लेते हैं, तो उसी 'अधिकारी' को 'नियोज्य' (विधिविषय) क्यों नहीं मानते? क्योंकि 'अधिकारी' को ही 'नियोज्य' कहा जाता है। कर्मजन्य 'नियोग' अथवा 'अपूर्व' पर जो अपना 'अधिकार' समझता हो उसी को 'नियोज्य' कहते हैं।

उत्तर—'अधिकारी' को 'नियोज्य इसलिये नहीं कहते कि उसकी 'अपेक्षा' (आवश्यकता) नहीं है, क्योंकि 'कर्मानुष्ठान' की सिद्धि (सम्पादन) के लिये 'नियोज्य' की अपेक्षा हुआ करती है, किन्तु वह 'अनुष्ठान' तो 'अन्य' (अध्यापन-विधि) से ही सिद्ध (सम्पन्न) हो जाता है। इसलिये 'नियोज्य' मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

इस पर अध्ययनविधिवादी (सिद्धान्ती) कहता है कि 'अध्यापनविधिवादी' ने जो उत्तर दिया है, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कर्मानुष्ठानार्थ यदि 'नियोज्य'

की आवश्यकता नहीं है, तो 'अधिकारी' की भी आवश्यकता (अपेक्षा) नहीं होनी चाहिये। क्योंकि 'अध्ययन' के अनुष्ठान की सिद्धि 'अध्यापन' से ही हो जायगी। समझने की बात है कि **'अधिकारी'** ही तो 'नियोज्य' होता है, और 'अधिकारी' उसे कहा जाता है, जो 'कर्म' से उत्पन्न होनेवाले **फल** का 'भोक्ता' अपने को समझता हो। ऐसी स्थिति में अर्थात् 'अधिकारी' मानते हुए भी 'नियोज्य' को न मानना—यह **वाङ्मात्र** है, यानी—निरर्थक है। एवंच 'अधिकारी' को यदि मानते हो, तो 'नियोज्य' को आपने मान ही लिया है—यही कहा जायगा।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि **'विधिवाक्य'** का अर्थ होता है—'कर्तव्यकर्म', और 'कर्म' में 'कर्तव्यबुद्धि' तभी होती है, जब 'उस कर्म' में **'इष्टसाधनता'** रहे। 'कर्म' में रहनेवाली 'इष्टसाधनता' की प्रतीति किसे होनी चाहिये? यह जिज्ञासा होनेपर यही कहा जायगा कि अपने 'अभीष्ट फल' के भोग करने वाले (भोक्ता) 'अधिकारी' को ही 'कर्मगत इष्ट साधनता' की प्रतीति होनी चाहिये। क्योंकि 'अधिकारी' के बिना 'विधि' का स्वरूप ही नहीं बन पायगा। अर्थात् 'विधि' की पूर्णता नहीं हो सकेगी। अतः 'विधि' के **स्वरूप की निष्पत्ति** के लिये (विधि की पूर्णता के लिये) 'अधिकारी' की आवश्यकता होती है।

सिद्धान्ती कहता है कि 'पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि 'अधिकारी' की अपेक्षा (आवश्यकता) प्रदर्शित करने में जो **तर्क** (युक्ति), 'पूर्वपक्षी' ने उपस्थित किया है, **ठीक वही तर्क** 'नियोज्य' के विषय में भी दिया जा सकता है। क्योंकि 'नियोज्य' (नियोगरूपविधिविषय) के बिना भी 'नियोग' (विधि) की 'आकांक्षा' पूर्ण नहीं होती। अर्थात् 'नियोग' का **अपर्यवसान** (अपूर्णता) रहता है। जब कि **अन्यविधि** (अध्यापनविधि) से 'अध्ययन' के सिद्ध होने के कारण 'नियोग' भी सिद्ध हो जाता है। तब 'अधिकारी' के बिना 'विधि का पर्यवसान नहीं होगा—यह कथन निरर्थक ही है।

किञ्च यह भी विचारणीय है कि **'तम् अध्यापयीत'** इस विधिवाक्य से 'जीविकावृत्त्यर्थं' लोकप्रसिद्ध **'अध्यापन'** का 'विधान' हो रहा है, **अथवा** किसी 'अलौकिक **'नियोग'** (पुण्य-अपूर्व) का विधान किया जा रहा है? 'जीविकावृत्त्यर्थं लोकप्रसिद्ध 'अध्यापन' का विधान तो उक्त वाक्य (तम् अध्यापयीत) से हो नहीं सकेगा, क्योंकि 'जीविकावृत्त्यर्थ जो अध्यापन' है, वह तो **'याजन'** आदि के समान प्राप्त है, और 'विधान' तो **अप्राप्त** का ही हुआ करता है, 'प्राप्त' का नहीं। अतः उक्त वाक्य (अध्यापयीत) को **'अनुवाद'** कह सकते हैं। **मनु** ने

कहा है—'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाऽध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥

अर्थात् अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह—इन 'छह कर्मों' में से 'अध्यापन, याजन, और प्रतिग्रह'—ये तीन कर्म, 'ब्राह्मण' की जीविका के साधन हैं। एवंच 'याजनादि' के समान 'अध्यापन' की प्राप्ति (सिद्धि) रहने से उक्त वाक्य (अध्यापयीत) को 'अध्यापन-विषयक विधिवाक्य' ही नहीं कह सकते, जिसके अंगरूप में 'अध्ययन' को कहा जा सके।

अतः जैसे 'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्—इस विधिवाक्य से 'याजन' का विधान नहीं किया जा रहा है, अपितु 'इस अवेष्टिसंज्ञक इष्टि के द्वारा अन्नभक्षण की कामनावाला (अन्नाद्यकामनावान्) 'यजन करे'—यही अर्थ, उक्त विधिवाक्य का किया जाता है। उक्त श्रुति वाक्य का अर्थ यद्यपि यह प्रतीत होता है कि 'अदनीय (आद्य = भक्षणीय) अन्न की कामना करनेवाले से इस 'अवेष्टि कर्म' का अनुष्ठान करावे'—तथापि यह 'वाक्यार्थ' मीमांसाशास्त्र सम्मत नहीं है। अर्थात् इसवाक्य से 'याजन' का विधान नहीं है, किन्तु 'यजन' का विधान हो रहा है।

उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी 'अष्टवर्षो ब्राह्मणः उपगच्छेत् सोऽधीयीत'—आठवर्ष का ब्राह्मण गुरु के समीप जाय और अध्ययन करे—इसी वाक्यार्थ को स्वीकार करना होगा। एवं 'अलौकिक नियोग' (आज्ञा) के रूप में भी 'अध्यापन-विषयक विधि' नहीं हो सकता। अन्यथा 'याजन' में भी 'विधि' मानना होगा। किन्तु 'याजन' का विधान तो इष्ट नहीं हैं।

किञ्च—'अध्ययन' नित्यकर्म है। क्योंकि जो द्विज, वेद का अध्ययन किये बिना अन्य कर्मों के अनुष्ठान में परिश्रम करता है, वह अपने जीवनकाल में ही अन्वय सहित (कुलसहित) तत्काल शूद्र हो जाता है। मनु ने कहा है—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥' (मनु. २।१६८)

इस स्मृतिवचन से वेदाध्ययन के न करनेपर 'प्रत्यवाय' (पाप) बताया है। 'नित्यकर्म' के न करनेपर ही 'प्रत्यवाय' बताया गया है, 'काम्यकर्म' के न करनेपर किसी प्रत्यवाय को नहीं बताया गया है। 'अध्यापन' तो 'अनित्यकर्म' है, क्योंकि यह 'काम्यकर्म' है, अर्थात् वहाँ 'कामना' श्रुत हो रही है। ऐसी परिस्थिति में 'नित्यकर्म' की प्रयुक्ति, अनित्य (काम्य) कर्म से कैसे होगी? क्योंकि दोनों का विरोध है। किसी अन्य प्रकार से 'जीविका' की सिद्धि हो

जानेपर 'जीविका' के निमित्त जो **'अध्यापन'** है, उसका अभाव भी हो सकता है। उस समय जबकि **'अध्यापन'** है—ही नहीं, तब **वह** (अध्यापन) 'अध्ययन' का प्रयोजक (निमित्त) कैसे हो सकेगा ? और अध्ययनात्मक **नित्यकर्म** के लिये 'अध्यापन' को भी 'नित्य' माना जाय तो, उसकी काम्यता के साथ विरोध होगा। क्योंकि 'काम्यत्व'-और 'नित्यत्व' 'दो विरुद्ध धर्मों' की स्थिति 'अध्यापनात्मक एक कर्म' में नहीं हो सकती। इसलिये 'अध्ययन' को **'अध्ययनविधि'** से ही प्रयुक्त मानना होगा। एवञ्च जैसे 'अध्ययनविधि' स्वयं अपने को विषय करता है, अर्थात् **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** यह 'विधिवाक्य' जैसे स्वविषय 'अध्ययन' का विधायक होता है, उसीप्रकार 'मिथ्यात्व' का अनुमान भी स्व-विषय 'मिथ्यात्व' को भी सिद्ध कर सकता है। अतः मिथ्यात्व के अनुमान में 'अध्ययनविधि' का उक्त दृष्टान्त, असिद्ध नहीं है।

अथवा यदि यह मान भी लें कि 'अध्ययन' की प्रयुक्ति 'अध्यापनविधि' से ही होती है। तब भी जैसे 'अध्यापनविधि' समस्त वेदवाक्यों के 'अध्यापन' का विधान करता हुआ 'स्वविषयक अध्यापन' का भी विधान करता है उसीतरह हमारा-'मिथ्यात्वानुमान' भी अपने 'मिथ्यात्व' को भी सिद्ध करेगा। इस प्रकार से उक्त 'अध्यापनविधि' हमारे द्वारा निर्दिष्ट 'मिथ्यात्व' की सिद्धि में दृष्टान्त बन जायगा, अब अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है।

उसीप्रकार **'एकमेवाऽद्वितीयम्'** इत्यादि आगमवचन भी 'प्रपञ्च' के मिथ्यात्व में प्रमाण हैं। एवञ्च प्रपञ्च के 'मिथ्यात्व' में 'लक्षण और प्रमाण' दोनों ही उपपन्न हो रहे हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मा' में जो 'द्वैत-प्रपञ्च' की प्रतीति होती है, वह सब **अनिर्वचनीय 'अविद्या'** का विलास (लीला) मात्र है, वह 'सत्य' नहीं हैं। अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

पुनः **पूर्वपक्षी** कहता है कि 'अनिर्वचनीय अविद्या' के होने में न कोई लक्षण है और न प्रमाण ही है। अतः उसका 'विलास' कहकर 'प्रपञ्च' को **मिथ्या** कहना ठीक नहीं है।

उसपर **सिद्धान्ती** कहता है कि 'अविद्या' के होने में 'लक्षण' भी है और 'प्रमाण' भी है। वह **अज्ञान,** 'भाव' रूप है 'ज्ञानाऽभाव' रूप नहीं है।

'अज्ञान' का लक्षण **'भ्रमोपादानत्व'** है। 'भ्रम' के उपादान' को 'अज्ञान' कहते हैं।

इसपर **'अख्यातिवादी प्रभाकर मीमांसक'** का कहना है कि यह-लक्षण **'गोरेकशफत्वम्'** के समान 'असम्भव दोष' से ग्रस्त है, क्योंकि 'सभी ज्ञान' **यथार्थ** ही होते हैं।

उसपर **सिद्धान्ती** का कहना है कि 'भ्रम' को स्वीकार न करनेवाले **प्रभाकर** के मतानुसार 'शब्दरूप एक अधिकरण' में 'नित्यत्व-अनित्यत्वरूप दो विरुद्ध-धर्मों को विषय करनेवाली विप्रतिपत्ति ही नहीं हो सकेगी, तब शास्त्रार्थ के निर्णय में प्रवृत्ति कैसे हो पायगी ? और विप्रतिपत्ति' का निराकरण कैसे हो सकेगा ? अतः यही मानना होगा कि-**'रजत'** आदि के भ्रम में पुरोवर्ती **'शुक्तिखण्ड'** ही 'रजत' के रूप में प्रतीत होता है।

इसीप्रकार **'असत्ख्यातिवादी** बौद्धों' का कहना भी केवल प्रलापमात्र है। अतः **'भ्रम'** का विषय 'असत्' भी नहीं है। 'असत्ख्याति' में 'अन्यथानुपपत्ति' से भी 'आरोप्यमाण' की अन्यत्र सत्ता, सिद्ध नहीं होती।

आत्मख्याति को माननेवाला विज्ञानवादी बौद्ध कहता है की **'विज्ञानरूप रजत'** ही बाहर प्रतीत होता है। अतः **'रजत'** को 'विज्ञान' का आकार ही मानना चाहिये।

सिद्धान्ती का कहना है कि **आत्मख्यातिवादी** का कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मख्यातिवादी के मत में **'रजत'** तो 'ज्ञानरूप' है। **'ज्ञान'**, भीतर रहता है, उसकी 'बाह्यता' तो अत्यन्त **अलीक** (मिथ्या) है, फिर भी उसकी बाह्यता (इदन्ता) का ज्ञान (प्रतिभास) 'रजत' में होता ही है। उसीतरह 'अत्यन्त असत् रजत' के ज्ञान (प्रतिभास) की उत्पत्ति हो सकती है।

आत्मख्यातिवादी ने यह जो कहा था कि **'नेदं रजतम्'** से 'इदन्ता मात्र' का 'बाध' होने से 'स्व-मत' में **'लाघव'** है, और **सिद्धान्ती** (वेदान्ती) के मत में 'रजत' तथा 'इदन्ता' दोनों का बाध होने से **कल्पना-गौरव** है।

उसपर **सिद्धान्ती** का कहना है कि उक्त प्रकार से 'कल्पना-गौरव' बताना उचित नहीं है। क्योंकि जहाँ 'कल्पना' करनी होती है, वहाँ 'गौरव-लाघव' का विचार किया जाता है। कल्पना करने में लघुमार्ग अपनाना कल्पक की योग्यता का परिचायक होता है। यहाँपर तो **'इदं रजतम्'**-इस 'भ्रम-ज्ञान' से **'इदन्त्व-विशिष्ट-रजत'** की प्रसक्ति (प्राप्ति) हो रही है, और **'नेदं रजतम्'** इस **'अनुभव'** से, उसका 'बाध', 'अनुभव-प्रमाण' से सिद्ध है, **कल्पनीय** नहीं है। अर्थात् **काल्प-**

निकत्व का अभाव है। अतः **'कल्पना-लाघव'** का न्याय (युक्ति) यहाँ बताना उचित नहीं है।

यह जो कहा था कि **'विज्ञान'** (संविद्) से **'अभेद'** न माननेपर (विज्ञान के साथ एकता न मानने पर) **'रजत'** में 'अपरोक्षता' (प्रत्यक्षता) नहीं हो सकेगी।

उसपर **सिद्धान्ती** कहता है कि उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'बाह्यता' **विज्ञानरूप** नहीं है, फिर भी उसमें 'अपरोक्षता' (प्रत्यक्षता) रहती है। उसीतरह 'रजत' की भी 'प्रत्यक्षता' हो सकती है।

किञ्च—आरोपित 'रजत' की **सत्ता** 'बुद्धि' में भीतर मानेंगे, तो 'गुञ्जापुञ्ज' में आरोपित 'अग्नि' की 'बुद्धि' में सत्ता रहने से 'देह' में दाह होने लगेगा। यदि यह कहो कि 'बुद्धि' में वह 'अग्नि' तो आरोपित है, उसकी वास्तविक 'सत्ता' नहीं है। इसलिये 'देह' में 'दाह' नहीं होता है। तब तो आरोपित 'रजत', न बाहर 'सत्' है, और न भीतर 'सत्' है। इसलिये उसे **'अत्यन्त असत्'** अथवा **'अनिर्वचनीय'** ही कहना होगा। एवञ्च **'आरोपित रजत'** अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। इसरीति से **'अनिर्वचनीय रजत'** के भ्रम में 'लक्षण' और 'प्रमाण' जैसे सिद्ध हैं, उसीप्रकार **'द्वैत प्रपञ्च भ्रम'** भी सिद्ध होता है, और वेदान्तवाक्य से उत्पन्न, अधिष्ठानरूप-**अद्वितीय आत्मा** के ज्ञान से उसका विनाश होता है।

आगे चलकर 'ब्रह्म' रूप **सिद्ध अर्थ** में वेदान्तवाक्यों का परम तात्पर्य माना गया है। **'कार्यरूप अर्थ'** में **शब्द** से 'शक्तिग्रह' का होना संभव नहीं है। क्योंकि बालक-**'कार्यज्ञान'** को अपना 'प्रवर्तक' नहीं समझता, अपितु **'इष्टसाधनताज्ञान'** को ही अपना 'प्रवर्तक' समझता है। एवञ्च **'कृतियोग्य इष्टसाधनताज्ञान'** को ही 'कार्यज्ञान' में **हेतु** मानना चाहिये। क्योंकि **इष्टसाधनता** के बिना 'कार्य-ज्ञान' ही नहीं हो पाता है। इसके आगे **'नियोग', नियोज्य, यागादिकी फल-करणता, अखण्डार्थत्व, प्रामाण्यविचार, शक्तिविचार, आन्वितभिधान, अभिहिताऽन्वय** आदि विषयोंका ऊहापोह के साथ पर्याप्त विचार करते हुए **वेदान्तवाक्यों** की 'अपौरुषेयता' सिद्ध की गई है। उन **दोषरहित** वेदान्तवाक्यों से अखिल भेदरहित 'शुद्ध ब्रह्म' का बोध होता है। तब सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, और **जीव** अमर (मुक्त) हो जाता है। अतः श्रुति-स्मृति-पुराण आदि के द्वारा प्रतिपादित की गई **जीवन्मुक्ति** का केवल द्वेष के वशीभूत होकर अपलाप करना उचित नहीं है।

आजकल मेरा भ्रातुष्पुत्र **राजेश्वर** 'तत्त्वप्रदीपिका' का अध्ययन कर रहा है। उसे पढाने के लिये श्री हनुमानदास जी तथा स्वामी श्री योगीन्द्रानन्द जी की 'तत्त्वप्रदीपिका' की व्याख्याओं से मुझे बहुत सहायता प्राप्त होती है। दोनों की व्याख्याओं में अपनी-अपनी विशेषता पाईजाती है। मुझे आशा है कि अन्य विद्वानों को भी इन व्याख्याओं से सहायता अवश्य होगी। दोनों ही व्याख्याकार नारायण स्वरूप हैं। अतः उनके पादारविन्दपर अपनी प्रणामाञ्जलि को मैं अर्पित कर रहा हूँ।

वेदान्तशास्त्र के प्रस्तुत प्रौढ़ ग्रन्थ की प्रौढिमा की प्रसिद्धि से विद्वत्समाज भलीभाँति सुपरिचित है, तथापि सुकुमारमति छात्रों के द्वारा अनुभूयमान क्लेश-जनितपीडा से द्रवित होकर वीतराग, ब्रह्मनिष्ठ विद्वद्वरिष्ठ **श्री हनुमानदास-शास्त्रीजी** ने प्रस्तुत ग्रन्थ की व्याख्या राष्ट्रभाषा हिन्दी में रचकर जिज्ञासु छात्र-वर्ग तथा प्राकृतजनता को उपकृत किया है और उनके अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

वाराणसी के सुप्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वान् वीतराग, **स्वामी योगीन्द्रानन्द जी महाराज** की **तत्त्वप्रदीपिका** में सुरक्षित उनके विचारपीयूष से परिपूर्ण कतिपय रत्नमय वाक्य-शब्द तथा अंशों का भी व्याख्यातग्रन्थ की शोभा वृद्धि की दृष्टि से इस ग्रन्थ में व्याख्याकार के द्वारा संग्रह किया गया है। तदर्थ चौखम्बा संस्कृत संस्थान के अधिपति, विद्वत्समाज के स्नेहपूर्ण आशीर्वाद के परमास्पद **श्री मोहनदास,** चि० राजेन्द्रकुमार तथा **श्री व्रजरत्नदास गुप्त** स्वयं को ऋणी मानते हुए। सादर प्रणाम के साथ आपके आशीर्वाद की शुभ कामना करते हैं।

[वि. सं. २०४८ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा]

१३ दीनदयालनगर
दुर्गाकुण्ड वाराणसी।

गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

* ओम्–राम *

दो शब्द

अनादि अपौरुषेय वेदों का सर्वोत्कृष्ट स्थान भारतीय वाङ्मय में माना जाता है। वेदों में प्रधानतया तीन काण्ड हैं। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन तीनों काण्डों का उत्स मानवीय जीवन में परम ग्राह्य है। मनुष्य-जीवन के सर्वाङ्गीणविकास क्रम में इनका महत्त्व पूर्ण स्थान है। संसार का प्रत्येक मानव इन तीनों पक्षों से कथमपि अछूता नहीं रह सकता है। जीवन में इनकी उतनी ही अपेक्षा है, जितनी अन्न-जल की, जैसे अन्नादि के अभाव में जीवन स्थाई नहीं रह सकता है, उसी प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान के अभाव में मानवीय जीवन सार्थक नहीं हो सकता है।

पूर्वोक्त तीनों पक्षों में ज्ञानकाण्ड का महत्त्वपूर्ण मूर्धन्य स्थान है। ज्ञानकाण्ड को ही उपनिषद् कहा जाता है। औपनिषदीय ज्ञान ही श्रौत-सिद्धान्त है। उपनिषदों की संख्या अनेक हैं। समग्र श्रौतसिद्धान्तों का दोहन कर भगवान् वेदव्यास ने वेदान्त-दर्शन का निर्माण किया है। वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के ऊपर भारतीय आस्तिक दार्शनिक महापुरुषों ने भाष्य लिखकर अपना-अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जिसकी परिणति स्वरूप अनेक वादों के भारतीय धराधाम पर पावन ज्ञान के विचार जनसमूह को आज भी श्रवण, मनन निदिध्यासन करने को मिलते हैं।

भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने अद्वैतमूलक वेदान्तदर्शन पर भाष्य लिखा है। जिसकी मौलिकता सभी दर्शनकार मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। यह दर्शन समग्र-दर्शनों का मुकुट-मणि माना जाता है। मानवजाति के उन्नयन में इस दर्शन का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' वेदान्तदर्शन की प्रथम पृष्ठभूमि है। पुरुषार्थ चतुष्टय के परिवेश में ब्रह्म जिज्ञासाशील मनुष्य 'मुक्तः परिज्ञानात्' से अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का भव्य भाजन बनता है। 'नाऽल्पे सुखमस्ति' श्रुति भी कहती है कि अल्प परिच्छिन्न पदार्थों में सुख नहीं है। दुर्धर्ष माया के चाक-चिक्य

से सुखाभास ही प्रतीत होता है। वस्तुतः 'भूमैव सुखम्' सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही सुखस्वरूप है। उसकी लब्धि या साक्षात्कार ही वेदान्त दर्शन का मीमांसित प्रतिपाद्य ज्ञान है। अद्वैत ज्ञान पीठिका ही विविध विभ्रमों को ध्वंसकर मुक्ति प्रदान करती है।

अद्वैतज्ञान की सुखद छत्र-छाया में मानव अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करता है। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र में उद्घोष किया है कि इस संसार में ज्ञान से पावन दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञान द्वारा ही मुक्ति सम्भाव्य है, इसके अतिरिक्त सकाम कर्मादि बन्धप्रद ही हैं। 'प्रज्वालित ज्ञानमयः प्रदीपः' भगवान् वेदव्यास ने एक ऐसी अमर ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की है, जिसके द्वारा सारा भूमण्डल आलोकित हुआ है, आज भी हो रहा है, आगे भी होगा।

'वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः' श्रुति प्रतिपादित वेदान्त के ज्ञान विज्ञान के स्वनु-भूत निश्चयन से 'तरत्यविद्याम्' मनुष्य अविद्या से छूट जाता है। 'तरति शोकमात्म-वित्' आत्माज्ञानी शोक से रहित हो जाता है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' भगवान् श्रीकृष्ण ने कितना मनोरम बतलाया है। भगवान् को प्राप्त करनेवाला स्वयं माया के कठिन बन्धन से छुट जाता है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मज्ञानी प्रकृष्टपद को प्राप्त करते हुए तद् स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान के द्वारा ही कल्याण होता है 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' परमतत्त्ववेत्ता ही मृत्यु का अतिक्रमण करता है। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' ब्रह्मविद्या से ही अमृततत्त्व मोक्ष होता है। 'रसोव सः' वह परमात्मतत्त्व रस-स्वरूप है 'रसं लब्ध्वा ह्येप आनन्दी भवति' सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मानन्द रस की अनुभूतिकर जिज्ञासु सुख सम्पन्न होता है 'निरामण्यं ब्रह्म रसायनं पिब' यह भगवतीय सूक्ति भी निरामय ब्रह्म रस की समास्वादनपूर्वक अनुभूति बतलाती है। यह अद्वैतवाद का उदात्त विचार और सिद्धान्त है।

परन्तु भारत में विचार बाहुल्य का प्राबल्य सदा से रहा है, और आज भी है, जिसको लेकर प्रतिपत्ति विप्रतिपत्ति होती रही हैं। इन प्रतिपत्तियों को देखकर चित्सुखाचार्य ने 'तत्त्वप्रदीपिका' (चित्सुखी) का निर्माणकर विपक्षियों का मान मर्दन

किया है। यह ग्रन्थ वेदान्त दर्शन के ग्रन्थों में वादग्रन्थ माना जाता है। 'तत्त्व-प्रदीपिका' का महाविद्यानुमान का विशद विवेचन एक अभूतपूर्व विवेचन है। जिसका लोहा समस्तवादी स्वीकार करते हैं। 'तत्त्वप्रदीपिका' का प्रणयन ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों की अधारशिला को दृष्टिगत रखकर चार परिच्छेदों में किया गया है। जिसकी परिणति मानव जीवन में 'असतो माम सद् गमय, तमसो माम ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माम-अमृतं गमय' की शंखनाद करता है।

जिसकी सुखद ध्वनि से ध्वनित होकर मनुष्य असद् मार्ग से विरत होकर सद् मार्ग का अनुष्ठान करता है। अन्धकार मार्ग से विरत होकर प्रकाश मार्ग पर आरोहण करता है। दुःखार्णव रूप जन्म मरण के दुःखद चक्र से छुटकर अमृत = मोक्ष प्राप्त करता है। यही अद्वैतदर्शन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। भेद वादियों के सिद्धान्तगढ़ को धराशायी करने के लिये चित्सुखी, खण्डनखण्डखाद्यम्, अद्वैतसिद्धि जैसे वाद ग्रन्थों के निर्माण हुए हैं। जिसकी भूमिका अनेकता में एकता स्थापित कर नर से नारायण बनाने का सन्देश देती है। तत्त्वप्रदीपिका के गहनतम विचारों को समझने के लिए श्रीमत्प्रत्यक् स्वरूपाचार्य विरचित 'नयनप्रसादिनी' व्याख्या एक मनोरम व्याख्या है। जिसके सहयोग से चित्सुखी के काठिन्य भावों को हृदयंगम करना साधुकर है। 'विद्या सा या विमुक्तये' वस्तुतः वही विद्या-विद्या है जो मुक्ति की विधायिका हो, वेदान्त शास्त्र का जो प्रतिपाद्य प्रयोजन आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही है। वह ज्ञानकाण्ड की स्वानुभूति द्वारा ही सम्भावित है। कर्म उपासना ज्ञान के सहयोगी बनकर उसी में पर्यवसित हो जाते हैं।

परमपूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ स्वामी श्रीहनुमानदासजी साहब षट्शास्त्री ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से 'तत्त्वप्रदीपिका' की व्याख्या कर ग्रन्थ का हृदय खोल दिया है। चित्सुखी के स्वाध्यायी को इस व्याख्या से अपार लाभ होगा। ऐसी मेरी धारणा है। गहनतम दार्शनिक ग्रन्थों की गुत्थियों को सुलझाने में पू० श्रीस्वामीजी सिद्ध हस्त हैं। इनका अधिकांश जीवन दर्शनों के मीमांसित विचारों के आलोडनप्रत्यालोडन और प्रचार-प्रसार में संलग्न रहा है। जिसकी परिणति ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की हिन्दी व्याख्या, खण्डनखण्ड खाद्यम्, की हिन्दी व्याख्या,

गीता पर संस्कृत हिन्दी व्याख्या, ईश, केन, कठ पर हिन्दी संस्कृत व्याख्या प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र के मूलसूत्रों पर भी श्रीस्वामीजी ने हिन्दी में एक मनोरम व्याख्यान किया है। वेदान्त के चूडान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त श्रीसद्‌गुरु कबीर साहब के मूल ग्रन्थ बीजक का अमर भाषा में श्लोकबद्ध व्याख्यान किया है, जो इनकी वाग्मीता का परिचायक है।

भारतीय संस्कृति के उन्नयन में चौखम्बा संस्कृत संस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और आज भी है। इस संस्थान के माध्यम से वेद, वेदान्त, शास्त्र, पुराण, तन्त्र तथा मीमांसा प्रभृति विपुल साहित्य प्रकाशित होते आ रहे हैं और अभी भी हो रहे हैं। आज की भौतिकवाद के परिवेश में आध्यात्मिक प्रकाशन की महती आवश्यकता है। जिसकी पूर्ति में यह प्रकाशन संस्थान संलग्न है जो प्रसन्नता की बात है। इस संस्थान के समुन्नायक श्रीमोहनदास जी गुप्त इस कार्य को आगे बढ़ाने में हर प्रकार से दत्तचित्त होकर कर्तव्य परायण हैं। जिसकी बहुत आवश्यकता है। इनका परिवार भी इस कार्य में दत्तचित्त हैं—

आशा है इस कार्य से भारतीय संस्कृति की रक्षा होती रहेगी। आशुतोष भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि यह परिवार भारतीय विद्या का अधिक से अधिक प्रकाशन कर लोक कल्याण करते रहें। चित्सुखी पर स्वल्पात् स्वल्प में चर्चा की जो मात्र सूर्य को दीपक दिखाना है। आगे प्रभु के पावन नामों के साथ अब मैं विराम लेता हूँ।

ओंराम ओंराम ओं ओं राम!
राम ओं राम ओं ओम् ओम् राम!!

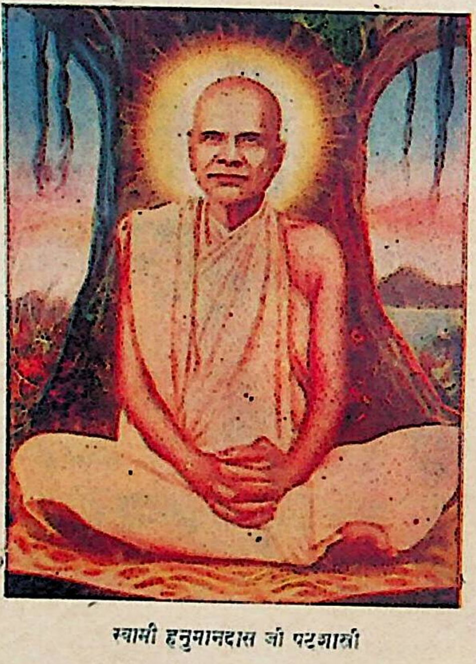
के० ६७/६६ ए० सद्‌गुरु कबीरहनुमत्
पुस्तकालय, महेश कालोनी,
ईश्वरगंगी वाराणसी १

स्वामीसुभद्रदासशास्त्री

विषयानुक्रमणिका

तृतीयपरिच्छेदे

चतुर्थपरिच्छेदे



स्वामी हनुमानदास जी षटशास्त्री

श्रीमच्चित्सुखाचार्यविरचिता

तत्त्वप्रदीपिका

स्वोपज्ञ 'नयनप्रसादिनी' संस्कृतटीकासहित-
'तत्त्वचन्द्रिका' हिन्दी-व्याख्योपेता

प्रथमः परिच्छेदः

स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो,
यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मतः ।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः,
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः ॥ १ ॥

❀ नयनप्रसादिनी ❀

यन्नित्यं निरवग्रहस्वमहिमाऽमेयस्वभाव महा-
मायावेशवशाद् व्यवर्तत वियद्वाय्वग्न्यबुर्वीमुखैः ।
भावैस्तत्तदनन्तविभ्रममयैर्विध्वस्तभेदोद्भवं,
निर्धूतावधिबोधमोदजलधिं वन्दे महीयो महः ॥ १ ॥

उन्निद्रशुभ्रसरसीरुहसंनिषण्णां
निर्गच्छदच्छरुचिनिर्जितचन्द्रकान्तिम् ।
हारोज्ज्वलां लिपितनुं स्फटिकाक्षकुम्भ-
मुद्राक्षपुस्तककरां प्रणमामि वाणीम् ॥ २ ॥

अविरलविगलितमदजलविलुलितमत्तालिमाल्यमनुलम्बः ।
सुविपुलकपोलफलको दलयतु लम्बोदरो दुरितम् ॥ ३ ॥

यद्विद्याधवलैर्बिभर्ति विबुधैः सर्वा दिवापीन्दुमु-
न्मीलत्कैरवकोरकाकुलरुचिं विश्वंभरेयं भृता ।
घोराज्ञानदुरन्तपङ्कनिकरप्रोत्सारिविद्यानदी-
मूलं नौमि मुनीन्द्रमन्वहमहं विद्यागिरिं तं गुरुम् ॥ ४ ॥

यत्पादपावनसरोजरजःपरागै-
रेते विनेयनिवहा निरजस्त्वमापुः ।
सत्यप्रकाशपरिशुद्धनिजानुभावं
प्रत्यक्प्रकाशमभिनौमि गुरुं यतीन्द्रम् ॥ ५ ॥

उद्यद्विद्यासुरसरिदियं निःसृता यत्सकाशाद्,
यत्पादाब्जं सकलविबुधोत्तंसलीलां बिभर्ति ।
हंसानां यद्विमलबहुवाग्जीवनं जीवनं तं,
वन्दे विद्यागुरुमविरतं मानसं तीर्थमार्यम् ॥ ६ ॥

अविनश्वरहचितत्त्वप्रदीपिकालोकनार्थिना क्रियते ।
अज्ञानतिमिरभेत्त्री मानसनयनप्रसादिनी टीका ॥ ७ ॥

दोषत्वमुज्ज्वलगुणा अपि यान्ति येषु
तैरुन्नतेः किमथवेह तिरस्कृतेः किम् ।
दोषोऽपि येषु गुणतामुपयाति भूयां-
स्तेभ्यो नमोस्तु सततं भुवि सज्जनेभ्यः ॥ ८ ॥

प्रारिप्सितस्य प्रकरणस्य निरन्तरायपरिसमाप्तिपरिपन्थिदुरितपरम्परानिवारणाय शिष्योपशिक्षयद्वारा प्रचयप्रचाराय शिष्टानुष्ठानप्रतिष्ठापनेन शिष्टपरिग्रहाय च प्रवरगुणगणोपवर्णनपूर्वकं परमेश्वरं परिपूजयन् आशीर्लक्षणमङ्गलमविगीतशिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिप्रमाणकमाचरितं शिष्यशिक्षार्थं ग्रन्थतो निबध्नाति—स्तम्भाभ्यन्तरेति । स हरिरज्ञानतत्कार्यहर्ता वः युष्मानव्याद्रक्षतात् । तस्यैव हरेर्विशेषणानि स्तम्भाभ्यन्तरेत्यादीनि । स्तम्भस्याभ्यन्तरं स्तम्भाभ्यन्तरं तत्र गर्भभावः स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावः । गर्भत्वं चेदमनभिव्यक्ततया वृत्तित्वं, न तु गृहान्तरावस्थितदेवदत्तवत्प्रकटतया । सर्वान्तरभावोऽनेन विवक्ष्यते मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीनामितिवत् । तेन न पौनरुक्त्यम् । तेन निगदव्याख्यातं निगदमात्रेण व्याख्यातम्; उपायान्तरनिरपेक्षतया स्पष्टीकृतमिति यावत् । तद्वैभवं तस्य स्वरूपस्य, तत्तादृगनुपममिति वा, वैभवं विभुत्वं येन, यस्येति वा । असौ स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवः । तदनेन सर्वगतत्वमुक्तं भवति । सर्वगतत्वमपि नैयायिकादेरिव वस्तुतः परिच्छिन्नं स्यादिति तन्निवृत्तये सर्वात्मतामाह—यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मत इति । पञ्चाननसम्बन्धि पाञ्चाननं पञ्चाननः सिंहः पञ्चसु दिक्ष्वाननमस्य विपरिवर्तत इति व्युत्पत्त्या विस्तृतास्यत्वाद्वा 'पचि विस्तार' इत्यस्मात्पञ्चशब्दव्युत्पत्तेः 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्य' इत्यमरसिंहोक्तेश्च । पञ्चजना मनुष्याः, 'स्युः पुमांसः पञ्चजना' इति तेनैवोक्तत्वात्, 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति समासाभिधानाच्च । तत्सम्बन्धि पाञ्चजन्यम् । पाञ्चाननं च तत्पाञ्चजन्यं चेति पाञ्चाननपाञ्चजन्यं तादृशं वपुः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुः नरसिंहात्मकमित्यर्थः । तेन वपुषा व्यादिष्टा विशेषेणोक्ता विश्वात्मता विश्वस्वरूपता येन, यस्येति वा स तथोक्तः । न च सर्वात्मकत्वकथनेनैव सर्वगतत्वसिद्धेर्वृथा पृथक्कथनमिति वाच्यं; अतत्परत्वात्, यदेतद्वादिभिरयादिप्रसिद्धं सर्वगतत्वं, सर्वात्मकत्वं तन्नूनं मया प्रकटितमित्युत्प्रेक्षाया विवक्षितत्वात् । तदेवं सर्वगतत्वं सर्वात्मकत्वं चोक्त्वा परमकारुणिकस्य भक्तानुग्रहीतृतामाह —प्रह्लादेति। प्रह्लादेनाभिहितार्थस्तस्मिन्स्तत्क्षणं

समसमयमेव मिलद् घटमानं दृष्टं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवत्साक्षात्कारसाधकत्वात्प्रमाणं यः स तथोक्तः। प्रमाणशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वात्प्रतिपिपादयिषिततया तत्पुरुषसमासतया स्वप्रधानत्वाच्च संगच्छत एव प्रमाणं हरिरिति सामानाधिकरण्यम्। सर्वात्मकस्य परमेश्वरस्य स्तम्भादिसर्ववस्तुगतत्वं हि प्रह्लादेन प्रत्यज्ञायि। तत्र चागमोऽनुमानं वा यत्तेन वक्तव्यं प्रमाणं तत्परोक्षमेवाहं तु साक्षात्कारयिष्यामीत्यभिमानेन स्तम्भोदरान्निरगादित्यर्थः। शरदिन्दुसुन्दरतनुः शरदिन्दुवत्सुन्दरा धवला तनुर्यस्य स तथोक्तः सिंहाद्रेश्चूडामणिः सिंहाद्रिचूडामणिः सिंहगिर्यलंकारः सिंहगिरिनिवासीत्यर्थः। य एवंविधः स हरिरित्यन्वयः। यद्यप्यत्र वैभवस्यार्थात्मकतया निगदव्याख्यातत्वं न सम्भवति तस्य ग्रन्थधर्मत्वात्तथापि समाधिप्रदर्शनार्थमयमन्यधर्मोऽन्यत्र निवेदितः। समाधिर्नाम काव्यविशेषस्य प्राणविशेषः। काव्यविशेषस्य हि दश प्राणाः कविभिः परिगणिताः; यथाहुः—

'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृता' इति। तथा—
'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥
कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च॥' (काव्यादर्शः परि० १)

इत्यत्र हि नेत्रक्रियारूपयोर्निमीलनोन्मीलनयोः कुमुदकमलयोरनेत्रयोरध्यारोपणं समाधिस्तथेहापि ग्रन्थधर्मस्यार्थे निवेदनात्समाध्यलंकारो दर्शितो भवति। पाञ्चालीवैदर्भीरीत्योश्चाञ्जसैव वैषम्यात्। अस्य च वेदान्तशास्त्रप्रकरणत्वात्तद्विषयादिभिस्तद्वत्त्वमस्तीति दर्शयितुं लेशतस्तदपि सूचितम्। तथाहि—हरिरित्यनेनाज्ञानतत्कार्यहारित्वदर्शनान्निर्धूतोपाधिव्याधिपरिशुद्धं प्रत्यग्रूपं ब्रह्म प्रयोजनं सूचितम्। व्याविष्टविश्वात्मत इत्यनेनारोपितमायतयाऽज्ञातं प्रत्यग्भूतं च ब्रह्म विषयो दर्शितः। प्रह्लादशब्देन तादृगधिकार्यंशब्दसूचितोऽपि सूचितः। अर्थाच्च शास्त्रफलयोर्हेतुहेतुमद्भावरूपः शास्त्रतत्त्वज्ञानफलयोश्च कार्यकारणभावरूपो तत्फलज्ञानतत्त्वयोश्च विषयविषयिभावरूपः शास्त्रतत्त्वयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप इति पञ्चविधः सम्बन्धो दर्शित इत्यनेनैव प्रकरणारम्भोऽपि समर्थितः॥ १॥

ॐ तत्त्वचन्द्रिका ॐ

वन्दे नित्यं चिदानन्दं निष्कलं निर्मलं स्वयम्।
अखण्डमभयं देवं गुरुं ब्रह्म परं पदम्॥ १॥
अवेद्यश्चापरोक्षव्यवहृतेर्विषयं विभुम्।
मनसा वचसा नौमि सच्चिदानन्दमव्ययम्॥ २॥
सम्मते स्वाश्रयत्वेन स्वाभावप्रतियोगिनम्।
भासयन्तं स्वमात्मानं स्वप्रकाशं भजाम्यहम्॥ ३॥

नमो नमोऽस्तु किल कर्मसाक्षिणे क्रियाकलादिविगतार्थभासिने।
अनन्तधामसदसत्स्वरूपिणे अनन्तपारगुरुमूर्तये नमः ॥ ४ ॥
शिवकरं शिववाक्यविशारदं प्रणततापतुदं तनुतारणम्।
निखिलधर्मतदङ्गदिवाकरं सुसदयं प्रणतोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

यह प्रसिद्ध कथा है कि प्रह्लाद हरिभक्त थे, और उनका पिता हरिविमुख था, अतः हरिभक्ति से प्रह्लाद को भी विमुख करना चाहता था, किन्तु प्रह्लाद हरिभक्ति से विमुख नहीं हुए और उन्होंने गृह के स्तम्भादि में सर्वत्र विभुहरि का वर्णन किया, तब क्रुद्ध उसके पिता ने उस निकटवर्ती स्तम्भ में मुष्टिप्रघात किया, और कहा कि यदि इसमें हरि है, तो वह प्रकट हो इत्यादि, फिर श्री भगवान् ने किसी अंश में सिंह (पञ्चानन नामक सम्बन्धी पाञ्चानन) रूप, युक्त, प्रकट होकर और किसी अंश में मानव (पञ्चजन नामक सम्बन्धी पाञ्चजन्य) रूप, युक्त, प्रकट होकर, प्रह्लाद के पिता का वध करके प्रह्लाद की रक्षा की। इत्यादि आशय से, आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया गया है कि—

जिस हरि ने स्तम्भ के अभ्यन्तर (भीतर) गर्भभाव से (वत्सादितुल्य अव्यक्त स्थिति से) निगद (स्पष्ट) व्याख्यात (व्यक्त प्रकट) तद्विभव (तिस अव्यक्त स्वरूप के विभुत्व) को किया है। अर्थात् स्तम्भाभ्यन्तर स्थिति से ही जिसके विश्वाभ्यन्तर गर्भत्वेन स्पष्ट व्याख्यात अव्यक्त स्वरूप की विभुता हो गई है। और पाञ्चानन (सिंह सम्बन्धी) पाञ्चजन्य (पञ्चजन मनुष्य सम्बन्धी) अंशतः उभय नर और सिंहात्मक (नरसिंह) वपु (शरीर) से जिस हरि ने विश्वात्मता विश्वरूपता व्यादिष्ट विशेष रूप से मानो व्याख्यात की है। और प्रह्लाद से कथित सर्वात्मत्व अर्थ में उसके कथन क्षण में ही मिलता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण रूप जो हरि हैं, तथा जो शरद ऋतु काल के धवल स्वच्छ सुन्दर चन्द्र तुल्य सुन्दर शरीरवाले, एवं सिंहाद्रि (नृसिंहाश्रम पर्वत) के चूडामणि (अलंकार स्वरूप) सिंहगिरि के विभूषण स्वरूप हैं, सो हरि आप (श्रोता वक्ता आदि) सब की रक्षा करें ॥ १ ॥

ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्ति व्यासशंकरशब्दितम्।
ज्ञानोत्तमाख्यं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥ २ ॥

तदेवमाशीर्वादेन परदेवता पूजिता। गुरुपूजयापि भवितव्यम्—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इति देवताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्यावगत्यावन्तरङ्गतावगमात्तदर्थं गुरुं नमस्करोति—ज्योतिर्यदित्यादिना। सत्यानन्देति। सत्यानन्दपदाभ्यां प्रकाशितं, अथवा सत्यानन्दात्मकं यत्पदं पद्यते इति पदं तेनोदितं स्फुरितम्। इत्थंभावे तृतीया, अनेन च गुरुदेवतयोरैक्यमुक्तम्। वेदान्तवेद्यवस्तुस्वरूपप्रतिपादकवेदान्तापेक्षितन्यायसूत्रणाय व्यासपदवीमवाप। पुनस्तदर्थाविष्करणाय शंकराचार्यतां तद्भाष्यार्थविवरणाय च ज्ञानोत्तमतामुपागमदिति भावः ॥ २ ॥

जो दक्षिणामूर्ति (शिव स्वरूप) ज्योति (चिदात्मा) वेदान्त सूत्र रचना के लिये व्यासदेव रूप से, और उसके भाष्य के लिये श्री शङ्कराचार्य रूप से प्रकट होने के कारण श्री व्यास और शङ्कर (शङ्कराचार्य) शब्द से शब्दित (शब्द से कथित) होती है। तथा ज्ञानोत्तम नामक श्री गुरु स्वरूप हुई है। उस सत्य आनन्द पद से कथित = प्रकाशित, सत्यानन्द प्रासव्य स्वरूप ज्योति (चिदात्मा ब्रह्म) की वन्दना करता हूँ। इनसे सद्गुरु और ज्योतिःस्वरूप की एकता कही गई है, और श्रुतिवर्णित गुरुभक्ति की ज्ञानान्तरङ्ग साधनता मानी गई है ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्तध्वंसप्रगल्भवाचाला ।
क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका विदुषा ॥ ३ ॥

यद्यपि शारीरकविषयादिनास्यापि परमविषयादिमत्त्वं सिद्ध्यति तथाप्यसाधारणान्यपराण्यपि वक्तव्यान्येव, अन्यथा पृथगारम्भवैयर्थ्यादित्यसाधारणान्याह—विप्रतिपत्तिव्रातेति। विप्रतिपत्तीनां व्रातः समूहस्तदेव ध्वान्तं तस्य ध्वंसे प्रगल्भा दृढतरन्यायोपेता वाचाला बहुभाषिणी "आलजाटचौ बहुभाषिणी"ति पाणिनिस्मरणात्, "स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाग्"इत्यभिधानाच्च । अनेनासंपूर्णोक्तिः परिहृता । प्रतीचो जीवस्य तत्त्वं पारमार्थिकं रूपं निरतिशयानन्दनिरस्तानर्थव्रातं ब्रह्म तस्य प्रदीपिकेव प्रदीपिका प्रकाशकत्वात् । एतदुक्तं भवति—यद्यपि शारीरकादितत्तद्ग्रन्थैः प्रत्यक्तत्त्वप्रकाशने करणभूतवेदान्तानां विप्रतिपत्तिनिरसनरूपोपकरणेतिकर्तव्यताकृत्यमपि कृतं तथापि तत्तदभिनवविप्रतिपत्तिव्रातनिवारणे तदेवास्यापि प्रयोजनं भवति । विप्रतिपत्तितिरोहितं तु विषयः । तत्काम्यधिकारी । तथाविधश्च सम्बन्ध इत्यस्त्येवासाधारणमस्य विषयादि, अत एव चारम्भणीयमिति । केचिद्विप्रतिपत्तीत्यादिना अवान्तरप्रयोजनस्य निर्देशः प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकेति प्रधानस्यैवेति वदन्ति ॥ ३ ॥

प्रथम श्लोक में हरि शब्द से ज्ञात, प्रत्यगभिन्न शुद्ध ब्रह्म अविद्यादि के हारक (नाशक) होने से वह ग्रन्थ का प्रयोजन (फल) रूप सूचित हुआ है। और व्यादिष्ट (व्याख्यात) विश्वात्मता शब्द से आरोपित जगद् विशिष्ट अज्ञात ब्रह्म विषय दर्शित हुआ है, प्रह्लाद शब्द से तत्तुल्य अधिकारी सूचित हुआ है, और हेतुहेतुमद्भावादि रूप शास्त्र फलादि के सम्बन्ध भी प्रथम श्लोक से सूचित हुए हैं, सो सब अनुबन्ध टीका में वर्णित हैं। और शारीरक के विषय प्रयोजनादि से ही इस ग्रन्थ को भी वस्तुतः विषयादिमत्त्व है, अतः यद्यपि पृथक् विषयादि निरूपणीय नहीं है, तथापि सर्वथा तुल्य विषयादि के होने पर पृथक् ग्रन्थारम्भ की निष्फलता की प्राप्ति होती है, अतः इस ग्रन्थ के विशेष प्रयोजनादि कहे गये हैं कि—विप्रतिपत्ति (विरुद्ध प्रतिपत्ति = ज्ञान) श्रुतिप्रतिपादित स्वयंप्रकाश अद्वैतवस्तु के ज्ञान से विरुद्ध ज्ञान। और तन्मूलक विरुद्ध वाद (कथन) का व्रात (समूह) रूप जो ध्वान्त (तम अन्धकार) उसके ध्वंस (नाश) में प्रगल्भा (प्रतिभाशाली दृढयुक्तियुक्ता) और वाचाला = बहुभाषिणी, प्रत्यक् तत्त्वदीपिका (अन्तरात्मतत्त्व = जीव के पारमार्थिक स्वरूप की प्रकाशिका = बोधिका) ग्रन्थ चित्सुख मुनि नामक विद्वान् से किया जाता है। भाव है कि यद्यपि विप्रतिपत्ति आदि का निवारण

शारीरकादि से भी किया गया है, तथापि अभिनव विप्रतिपत्ति आदि का निवारण इसका विशेष फल है। विप्रतिपत्ति से तिरोहित वस्तु इसका विषय है, इत्यादि ॥ ३ ॥

प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये ।
नमस्कुर्मो नृसिंहाय स्वप्रकाशचिदात्मने ॥ ४ ॥

अनन्तरवर्तिष्यमाणवादार्थं नरसिंहनमस्कारच्छलेन दर्शयति—प्रमाणेति । प्रमाणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिता जीवब्रह्मैक्याकारा चित्प्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिवृत्तिस्तत्प्रतिबिम्बितं वा चैतन्यम् । वाक्यापेक्षया च बहुत्वम् । प्रमाणमयैर्नखैर्निर्भिन्नो महामोहाख्योऽमरारिरसुरो येन तस्मै । अथ किमिति तत्कर्मकानुभवाजनकत्वं प्रमाणानामिति तत्राह—स्वप्रकाशेति । स्वप्रकाशा चित्सैवात्मा यस्य । अथवा स्वप्रकाशश्चिद्रूपश्चासावात्मा चेति विग्रहः । एतेन स्वप्रकाशरूपेऽतिशयानाधायकत्वेऽपि मोहनिवृत्तिलक्षणातिशयाधायकतया वेदान्तानां स्वप्रकाशे ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रमाणकृत्यं चोपपादितं भवति । तदनेन संविदात्मनोः स्वप्रकाशत्वं प्रतिज्ञातं तदेतद्द्वयमुत्तरत्र यथाक्रमं समर्थयिष्यते ॥ ४ ॥

आगे होनेवाले स्वप्रकाश विषयक वाद (कथा) के विषय को भगवान् नरसिंह के नमस्कार के व्याज (बहाने) से दर्शाया गया है कि—तत्त्वमसि, इत्यादि महावाक्य जन्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्माकारवृत्ति रूप प्रमाणात्मक नखों से (नखों द्वारा) निर्भिन्न (नष्ट) किये गये हैं, महामोह=अविवेकादि रूप अमरारि=असुर, जिससे, उस स्वप्रकाश (स्वयं प्रकाश) चिदात्मस्वरूप श्री नरसिंह भगवान् को हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

अथ कोऽयं स्वप्रकाशशब्दार्थः ? किं स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः ॥१॥ स्वस्य स्वयमेव प्रकाश इति वा ? ॥२॥ सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं वा ? ॥३॥ स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्वं वा ? ॥४॥ स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं वा? ॥५॥

अथ कोऽयमिति । अथशब्दोऽयमानन्तर्यार्थे । विषयादिसिद्ध्यनन्तरमित्यर्थः । अधिकारार्थो वा । स्वप्रकाशत्वस्य स्वयमनङ्गीकारादङ्गीकृतशब्दद्वारा विप्रतिपत्त्यधिकरणनिर्देशः कोऽयमिति । किंलक्षणक इत्यर्थः । स्वश्चेति । स्वत्वे सति प्रकाशत्वमित्यर्थः । घटादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै प्रकाशग्रहणम् । स्वस्येति । स्वविषयत्वे सति प्रकाशत्वं वेत्यर्थः । अर्थान्तरतानिवृत्त्यै प्रथमं विशेषणम् । शब्दशब्दादावनतिव्याप्त्यै प्रकाशग्रहणम् । द्वयमिहोक्तं भवति स्वस्य स्वस्मिन्प्रकाशत्वविधानं, अर्थात्प्रकाशान्तरव्यावृत्तिश्चेति । इदानीमुत्तरे विशेषं शङ्कते—सजातीयेति । अर्थान्तरतानिवृत्त्यै सजातीयग्रहणम् । एतच्च प्रदीपादेरपि स्वप्रकाशत्वं वाञ्छतो लक्षणम् । स्वसत्तायामिति । यावदस्य सत्ता तावत्प्रकाशेनावियोगः । वेद्यत्वे हि निलीनताया अपि संभवात्प्रकाशव्यतिरेकोऽनवस्था वा स्यादित्यर्थः । स्वव्यवहारेति । अविज्ञाते व्यवहारायोगादवश्यं ज्ञानेन स्वव्यवहारहेतुभूतेन भवितव्यम् । तद्रूपत्वं च तस्य स्वप्रकाशत्वं विवक्षितमित्यर्थः । यद्यपि न पूर्वपूर्वपक्षदोषपरिजिहीर्षया सर्वोत्तरोत्तरपक्षपरिग्रहस्तथापि संभाव्यमानत्वाद्विभिन्नदूषणत्वाच्च विनेयमतिविकासायोपन्यस्यन्ते ।

यहाँ मङ्गलाचरण विषय निर्देशादि के अनन्तरता अर्थक, अथ शब्द है, और (किं स्वप्रकाशत्वम्) पूर्वनिर्दिष्ट (स्वप्रकाशत्व क्या है) ऐसे सुगम प्रश्न को छोड़ कर (कोऽयं स्वप्रकाशशब्दार्थः) यह स्वप्रकाशशब्द का अर्थ क्या है, इस प्रश्न का तात्पर्य है कि, स्व-शब्द, आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति आदि का वाचक होता है, और आत्म वाचक स्वशब्द स्वयं शब्द के साथ समानार्थक होता है, तहाँ "सः स्वयं जानाति, त्वं स्वयं जानासि, अहं स्वयं जानामि" इत्यादि प्रयोगादि से स्वयं शब्दार्थ, कूटस्थ चेतनात्मा, प्रथम, मध्यम, उत्तम सब में व्यापक प्रकाश (साक्षी) स्वरूप सिद्ध होता है, सोई स्वप्रकाश शब्द में स्वशब्द का अर्थ है। और (यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते (१) यतः यह जीवात्मा सुषुप्ति में सद्ब्रह्म को प्राप्त करता है, स्वप्न में जाग्रत् के वासनाओं का ग्रहण करता है, जाग्रत् में यहाँ विषयों को भोगता है, और यतः इसका निरन्तर सर्वत्र सर्वकाल में भाव (सत्त्व प्रकाश) रहता है; अतः आप्नोति, आदत्ते, अत्ति, अतति, इति आत्मा कहा जाता है, इस कथन से आत्मा के तीन स्वरूप व्यावहारिक, एक पारमार्थिक त्रिगुस्वरूप सिद्ध होता है, सो पारमार्थिक स्वरूप यहाँ स्वशब्दार्थ है, ऐसा सिद्धान्त में माना जाता है, और उसकी स्वयं प्रकाशता भी सिद्धान्त में मान्य है, परन्तु प्रतिवादी नहीं मानता है, और वादी प्रतिवादी दोनों से अङ्गीकृत अर्थ द्वारा प्रायः कथा की प्रवृत्ति होती है। अतः वादी प्रतिवादी दोनों से अङ्गीकृत शब्द द्वारा प्रश्न किया गया है कि कोऽयं, किस लक्षण वाला, स्वप्रकाश शब्द का अर्थ है। और (आत्मनस्तत्प्रकाशत्व यत्पदार्थावभासनम्। नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिर्भवत्यान्ध्यं यतो निशि॥ अपरोक्षानुभूतिः) इस प्रकाशत्व को भी प्रतिवादी नहीं मानता है। अतः दीपादि में अतिव्याप्ति कहता है। प्रथमविकल्प है कि क्या स्वत्व (स्वत्वविशिष्ट=स्वरूपवत्वयुक्त प्रकाश रूपता, स्वप्रकाशता है। स्वरूपवत्ता घटादि में भी है। अतः प्रकाश कहा गया है॥ १॥ अथवा, स्वविषयक प्रकाशता है, प्रकाशता अग्नि आदि में भी है, अतः उनकी व्यावृत्ति के लिये स्वविषयकत्व कहा गया है। अर्थात् प्रकाशान्तराविषयत्वे सति स्वविषयक प्रकाशत्वविशिष्ट रूपता है, क्या॥ २॥ अथवा, सजातीय प्रकाश से अप्रकाश्य मानता है, इस पक्ष में दीपादि को भी स्वप्रकाश माना गया है॥ ३॥ अथवा अपनी सत्ता (वर्तमानता में) प्रकाशाऽभावरहिता=अर्थात् नियत=अवश्य प्रकाश मानता है क्या॥ ४॥ स्वव्यवहारहेतुताद्युक्त प्रकाशत्व है क्या, अर्थात् अज्ञात का व्यवहार नहीं हो सकता है, अतः व्यवहारहेतु ज्ञानरूपत्व स्वप्रकाशता है॥ ५॥

ज्ञानाविषयत्वं वा ?॥ ६॥, ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्वं वा ?॥ ७॥ व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं वा ?॥ ८॥, स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा ?॥ ९॥ अवेद्यत्वे, सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा ?॥ १०॥ तद्योग्यत्वं वा ?॥ ११॥

ज्ञानाविषयत्वं शशविषाणादेरप्यस्ति तच्छब्दजनितबुद्धेर्विकल्पमात्रतयार्थासंस्पर्शात्, यथाहुः पातञ्जलाः—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इतीत्यपरितोषात्पक्षान्तरं शङ्कते—ज्ञानाविषयत्वे सतीति। नच तृतीयषष्ठयोः संकरः; तथाभूतस्यापि प्रदी-

पस्य ज्ञानविषयत्वात् । अथ ब्रूयात्किमिदमपरोक्षत्वम् ? किमपरोक्षज्ञानविषयत्वम् ? किंवाऽपरोक्षज्ञानत्वम् ? नाद्यः; ज्ञानाविषयत्वज्ञानविषयत्वयोर्व्याघातात् । न द्वितीयः; सर्वस्यैव ज्ञानस्य स्वप्रकाशताश्रयणेन व्यर्थविशेषणत्वापातात्, अनपरोक्षज्ञानाभावाच्च । भवन्मते 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे'ति श्रुतेः, वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य च ज्ञानत्वं नेष्यते भवते-त्यतः पक्षान्तरं शङ्कते—व्यवहारेति । अखण्डार्थवादिनां व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञाना-विषयत्वं शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽप्यस्तीत्यतिव्याप्तिमालक्ष्य पक्षान्तरं कक्षीकरोति—स्वप्रतियद्धेति । असंभवनिवृत्त्यै सजातीयग्रहणम् । ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्वं पूर्व-मुक्तमिह तु तद्व्यवहारविषयत्वमिति न सप्तमदशमसंकरावसरः । मुक्तिदशायां व्यवहा-रानङ्गीकरणादव्याप्तिः स्यादत उक्तं तद्योग्यत्वं वेति ।

अथवा ज्ञानाऽविषयता=अप्रमेयता स्वप्रकाशता है ॥ ६ ॥ अथवा ज्ञानाविषयत्व-युक्तअपरोक्षत्व स्वरूप है॥७॥ अथवा व्यवहारविषयता युक्त ज्ञानाविषयत्व है॥८॥ अथवा स्वसम्बन्धी=स्वविषयक व्यवहार में सजातीय अन्य की अपेक्षा रहितत्व है ॥ ९ ॥ अथवा अवेद्य=ज्ञानाविषय होते हुए अपरोक्ष व्यवहार (कथनादि) विषयता है ॥ १० ॥ या अवेद्यतायुक्त अपरोक्षव्यवहार की योग्यता स्वप्रकाशता है ॥ ११ ॥ यहाँ पूर्व-पूर्व पक्ष में दोष की प्राप्ति होने पर उसके निवारण के लिये, उत्तर-उत्तर पक्ष का ग्रहण नहीं है, किन्तु इन लक्षणों के सम्भव होने से, इनमें पृथक् २ दोष दर्शनार्थक इनका कथन किया गया है। या कथञ्चित्पूर्व पूर्व में अरुचि होने पर उत्तरोत्तर का उपन्यास है, सो ऊहनीय है, या टीका से ज्ञातव्य है।

नाद्यः; वेद्यस्यापि ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभ्युपगमात् ॥ १ ॥ न द्वितीयः; कर्मकर्तृभावविरोधेन लक्षणस्यासंभवात् ॥ २ ॥ न तृतीयः; प्रदीपादेः सजा-तीयप्रकाशाप्रकाशस्यास्वयंप्रकाशत्वेन लक्षणस्यातिव्याप्तेः; घटादेरपि सजाती-यप्रकाशाप्रकाश्यस्य स्वप्रकाशत्वप्रसङ्गाच्च । न हि प्रदीपादौ ज्ञाने वा घटत्वादि-जातिरस्ति, येन घटादयः सजातीयप्रकाशप्रकाश्या भवेयुः । सत्तया सजाती-यत्वं तत्राप्यस्तीति चेत्, न; विशेषणवैयर्थ्यात्सत्ताविरहिणः प्रकाशस्यैवासंभ-वात्प्रकाशाप्रकाश्यत्वमित्येतावतैव चरितार्थत्वात् ॥ ३ ॥

अयथार्थान्तरतानिवृत्त्यै द्वितीयोत्थानं, विरोधपरिहाराय तृतीयोत्थानं, घटादावत-तिव्याप्तिपरिहाराय चतुर्थः, सुखादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पञ्चमः, प्रदीपेऽतिव्याप्तिपरिहाराय षष्ठः, सप्तमाष्टमनवमेषु चोत्क्रमेण । प्रदीपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै दशमः, एकादशोऽप्युक्तमिति संभवत्येव सर्वत्र पूर्वपूर्वानुपपत्तिपरिहारायोत्तरोत्तरोत्थानः । वेद्यस्यापीति । नहि तदस्य नान्यप्रकाशः ज्ञानताङ्गीकारादित्यर्थः । कर्मकर्तृभावेति । यद्यपीयं स्वस्येति षष्ठी संबन्धमात्रेऽपि संभवति तथाप्यविवक्षितविशेषे व्यवहारायोगाद्विशेषस्य च संनिहितप्रकाशनक्रियानुरोधेन कर्मणि व्यवस्थापनात्प्रसज्यतैव कर्मकर्तृभाव इत्यर्थः । प्रदीपादेरिति । नहि तदालोकान्तरेण प्रकाश्यते । यच्च ज्ञानं प्रकाशकं तद्विजातीयमि-

त्यर्थः। नच प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशत्वादनतिव्याप्तिरिति शङ्कनीयं, भौतिकस्य स्वप्रकाशताव्याघातादिति। न, विशेषणवैयर्थ्यादिति।

उक्त लक्षणों का खण्डन है कि आद्य=प्रथम लक्षण स्वत्वेसति प्रकाशता=स्वत्वयुक्त प्रकाशरूपता। यह युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से अनुव्यवसायादि से वेद्य (ज्ञेय=अस्वप्रकाश) वृत्तिरूप ज्ञान की भी स्वप्रकाशता मानी जाती है (प्राप्त होती है)। उसमें भी स्वत्वे सति (परभिन्नत्वे सति=असाधारण स्वरूपत्वे सति) प्रकाशता है, अतः अलक्ष्य में लक्षण की प्राप्तिदोष से दुष्ट यह लक्षण है। यद्यपि स्वशब्द के अर्थ आत्मा को माना जाय तो (स्वत्वे=आत्मत्वे सति प्रकाशत्वं=स्वप्रकाशत्वम्) यह लक्षण होगा, सो सर्वथा सिद्धान्त में अदुष्ट होगा, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान आत्मा नहीं है। और वस्तुतः वृत्तिरूप ज्ञान में प्रकाशत्व भी सिद्धान्त के अनुसार नहीं है, किन्तु तप्तलोहगत अग्नि के दाहकत्व के समान, वृत्तिगत ब्रह्मात्मा के प्रकाशत्व वृत्ति में भ्रम से भासता है, इतना भेद है कि आत्मा (ब्रह्म) सामान्य प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है, और वृत्ति के सात्विक (स्वच्छ) होने से चिदाभास सहित ब्रह्मात्मा ही वहाँ विशेष प्रकाश स्वरूप हो जाता है, या तप्त लोहपिण्ड के समान ब्रह्मात्मा और चिदाभास सहित होकर वृत्ति विशेष प्रकाश रूप (ज्ञान शब्दभागिनी) हो जाती है, वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है, किन्तु साक्षिभास्य होने से वृत्ति वेद्य है। प्रतियादी के मत में आत्मा प्रकाश स्वरूप नहीं है, किन्तु आत्मा का गुण रूप ज्ञान घटादि विषय का प्रकाश स्वरूप है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) इत्यादि में भी ज्ञान शब्द का (ज्ञानवत्) ज्ञानवाला अर्थ, प्रतिवादी मानता है। अतः प्रतिवादी मत के अनुसार दुष्ट है ॥ १ ॥

इसी प्रकार से, स्वस्य स्वयमेव प्रकाशः=स्वविषयक प्रकाशः (स्वप्रकाशः) यह दूसरा लक्षण भी दुष्ट है, क्योंकि एकमें एक क्रिया के कर्मत्व और कर्तृत्व के विरुद्ध होने से लक्षण का असम्भव होता है। कोई इस लक्षण का लक्ष्य नहीं सिद्ध होता है। अर्थात् जैसे (घटं पश्यति) (घट को कोई देखता है ऐसे जहां कहा जाता है, वहां देखने वाला कर्ता होता है, दर्शना देखना क्रिया होती है, उस क्रिया दर्शन विषयता रूप फल वाला घट उस कर्ता से भिन्न होता है।) कर्ता और कर्म इसी प्रकार से सर्वत्र भिन्न होता है। प्रकृत में (स्वस्य स्वयमेव प्रकाशः) अपना आप ही ज्ञान है, इस वाक्य में उक्त दर्शन के समान प्रकार शब्द का अर्थ (ज्ञान) रूप क्रिया होता है और जिसको ज्ञान होता है,वह उस क्रियाका कर्ता होता है, जिस वस्तु का ज्ञान होता है,वहाँ कर्ता और कर्म भिन्न ही होता है, जैसे कि (देवदत्तो घटं जानाति) देवदत्त घट को जानता है,यहां देवदत्तज्ञान का कर्ता, घट ज्ञान का कर्म भिन्न है, और धातु के अर्थ को क्रिया कहा जाता है, ज्ञान भी ज्ञाधातु का अर्थ होता है, क्रिया का जनक आश्रय कर्ता कहा जाता है, कर्मत्वेनाभिमत से भिन्नवृत्ति क्रिया (व्यापार) प्रयत्न जन्य फलाश्रय को कर्म कहा जाता है, ग्रामं गच्छति, हरिं पश्यति, इत्यादि। प्रकृत में यदि अपना प्रकाश आप ही होगा, तो प्रकाश (ज्ञान) रूप क्रिया का कर्ता और कर्म स्वरूप एक के विरुद्ध होने से असम्भव होगा। वस्तुतः सिद्धान्त में आत्मभिन्न लक्षणादि सब व्यवहार कल्पित होते हैं, अतः राहोः शिरः, पुरुषस्य चैतन्यम्। इत्यादि विकल्पवृत्ति (कल्पित भेद ज्ञानादि)

के समान भेद के आरोप द्वारा यह लक्षण भी समीचीन है, परन्तु प्रतिवादी मत के अनुसार अयुक्त है ॥ २ ॥

सजातीय प्रकाश से अप्रकाशमानता, रूप यह तृतीय भी स्वप्रकाश का लक्षण युक्त नहीं है। क्योंकि प्रदीप सूर्यादि भी सजातीय=प्रदीपान्तर सूर्यान्तरादि से प्रकाशित नहीं होते हैं, किन्तु (यद्भासा भास्यते सूर्यः) जिस ब्रह्मात्मा के प्रकाश से सूर्य प्रकाशते हैं, इत्यादि शास्त्रादि के अनुसार अन्य से प्रकाशित वेद्यादि होते हैं, अतः अस्वयं प्रकाशरूप अलक्ष्य में लक्षण की प्राप्ति से यह लक्षण भी अयुक्त है। केवल प्रदीपादि में ही नहीं, किन्तु घटादि में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि घटादि भी सजातीय प्रकाश से प्रकाशित नहीं होते हैं, घटादि के सजातीय अन्य घटादि हैं, सो उनके प्रकाशक नहीं हैं, घटादि के प्रकाशक प्रदीप ज्ञानादि में घटादि की सजातीयता नहीं है, प्रदीपादि में यदि घटत्वादि होते तो सजातीयता होती, सो उनमें घटत्वादि हैं नहीं, कि जिन घटत्वादि के प्रदीपादि में रहने से घटादि सजातीय प्रकाश से प्रकाशित हो। यदि कहा जाय कि द्रव्य गुण कर्म में व्यापक सत्ता नामक जाति घटादि में और उन प्रदीपादिकों में भी रहती है। अतः सत्ता द्वारा घटादि के सजातीय-प्रदीपादि से घटादि के प्रकाश होने से, सजातीय प्रकाशाऽप्रकाश्यत्व, रूप लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी सजातीयता मानने पर=सजातीय यह विशेषण ही व्यर्थ होगा, विशेषण किसी की व्यावृत्ति करके सार्थक होता है। यहां विजातीय प्रकाश के निवारण के लिये सजातीय विशेषण सार्थक हो सकता था, परन्तु सत्ता द्वारा सजातीयता मानने पर सत्तारहित प्रकाश के अभाव से व्यावर्त्यरहित विशेषण होगा, अतः प्रकाशाप्रकाश्यत्व, इतना ही लक्षण सार्थक होगा। वस्तुतः प्रकाश का ही सजातीय प्रकाश ही हो सकता है, घटादि प्रकाश रूप नहीं है, अतः घटादि में अतिव्याप्ति का कथञ्चित् प्रसङ्गाऽऽपादन है, अर्थात् तृतीय लक्षण का (प्रकाशत्वे सति सजातीय प्रकाशाऽप्रकाश्यत्व) अर्थ है, इस अर्थ को समझे बिना घटादि में अतिव्याप्ति हो सकती है, यह भाव है। और सिद्धान्त में, वृत्तिरूप विजातीय प्रकाश से आत्मविषयक आवरण के भङ्ग से कथञ्चित् वृत्ति से आत्मा के प्रकाश (अभिव्यक्ति) होने पर भी, आत्मा के एक होने से सजातीयता आदि के अभाव से, आत्मा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप होता हुआ सजातीय प्रकाश से अप्रकाश्य (अप्रकाशित) है, अतः स्वयं प्रकाश है। प्रतिवादी के मत में आत्मा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप नहीं है, किन्तु आत्मा का गुण ज्ञान है, और (सुखी-अहम् अस्मि) इत्यादि ज्ञान का विषय है, अतः स्वयंप्रकाश नहीं है ॥ ३ ॥

नापि चतुर्थः; सुखादावतिव्याप्तेः सुखादेरपि स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारात् ॥ ४ ॥ न पञ्चमः; प्रदीपादावतिव्याप्तिः; प्रदीपादेरपि स्वव्यवहारे हेतुत्वात्प्रकाशत्वाच्च। अथ ज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं विवक्षितं, तदपि न; अनुव्यवसायेऽतिव्याप्तेः। तस्य वेद्यत्वेऽपि व्यवसायज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्वात्, प्रदीपज्ञानमिदमिति व्यवहारहेतौ प्रदीपप्रकाशेऽतिव्याप्तेश्च। किंच व्यवहारहेतुत्वं विशेषणम्? उपलक्षणं वा? नाद्यः; सुषुप्तिप्रलयादावव्याप्तेः। न द्वितीयः; उपल-

क्षितत्वस्यापि विशेषणत्वे प्रागुक्तदोषानुषङ्गात्, स्वरूपमात्रत्वे तु ज्ञानं प्रकाश इत्येव स्यात्, तथा सति न लक्षणसिद्धिः ॥ ५ ॥

एवं हि विशेषणस्य सार्थक्यं यदि कयापि जात्या साजात्यहीनः कश्चित्प्रकाशः स्यात्! न चैवमस्ति; जातिमतः सर्वस्यापि अन्ततः सत्तया साजात्यादित्यर्थः। प्रकाशाव्यभिचारात् । साक्षिणेश्वरज्ञानेन वा मानसप्रत्यक्षेण वेत्यर्थः। घटादावपि तुल्यमेतत् । स्वव्यवहारे हेतुत्वादिति। व्यवहारो ह्येतद्विषयोऽभिज्ञाभिवदनं वा हानादिर्वा कर्मकारकप्रदीपजन्य इत्यर्थः। अथ ज्ञानेति। स्वव्यवहारेत्यत्र प्रस्तुतं ज्ञानमेव स्वशब्देनाभिधीयते न विषयमात्रम्। तद्व्यवहारहेतुत्वं च न दीपादेरस्ति, प्रदीपादेर्ज्ञानाप्रकाशत्वात्। अतो नातिव्याप्तिरिति भावः । अनुव्यवसायेतीश्वरज्ञानस्याप्युपलक्षणम्। अथानुव्यवसायज्ञानमेव स्वप्रकाशवादे न संप्रतिपन्नं, यत्रातिव्याप्तिरुच्येत संप्रतिपन्नत्वे वा तस्यापि व्यवसायवदेव पक्षतेति तत्राह—प्रदीपज्ञानमिति। विशिष्टवेदनस्य विशेषणालम्बनत्वनियमात् विषयजन्यत्वाच्च तज्ज्ञानस्य प्रदीपज्ञानमिदमित्यनुव्यवसायस्याभिज्ञारूपव्यवहारस्य स्वविषयज्ञानविशेषणीभूतप्रदीपजन्यत्वमस्तीति ज्ञानव्यवहारहेतौ प्रदीपेऽतिव्याप्तिः स्यादेवेत्यर्थः । अभिवदनं वा व्यवहारस्तस्यापि परम्परया व्यावर्तकप्रदीपजन्यत्वाद्व्यवहारहेतुत्वमिति। व्यवहारहेतुत्व मिति। स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमित्यत्र व्यवहारहेतुत्वं प्रकाशस्य विशेषणमुपलक्षणं वेत्यर्थः। उपलक्षितत्वमप्युपलक्षिते नाम तस्य धर्मः? स्वरूपं वा? आद्ये, तदप्युपलक्षणं? विशेषणं वा? नाद्यः, अनवस्थापातात्। द्वितीयं निरस्य द्वितीयद्वितीयं शङ्कते—स्वरूपमात्रत्वे त्विति। न लक्षणसिद्धिरिति। लक्ष्यस्वरूपमात्रत्वात्तस्य जडज्ञानवादिभिरपि तावन्मात्राङ्गीकाराच्चेत्यर्थः।

स्वसत्ता काल में स्वप्रकाशाभावरहितत्व=नियत (अवश्य) प्रकाशमानत्व यह यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुख दुःखादि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, सुखादि भी अपनी सत्ता काल में, प्रकाशाऽभाव रहित नियत प्रकाश वाले ही होते हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है कि अज्ञात सुखादि नहीं रहते हैं। और (सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। योग सू० ४।१८) सुखादिरूपचित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, क्योंकि उनका प्रभु (प्रकाशक) पुरुष (आत्मा) अपरिणामी है। अतः सदा वृत्तियों को प्रकाशता है, अतएव प्रकाशाऽव्यभिचारी=नियत प्रकाशवाले सुखादि में लक्षण की अतिव्याप्ति है ॥ ४ ॥

स्वयं व्यवहार हेतुतायुक्त प्रकाशत्व प्रकाशत्वे सति स्वव्यवहार हेतुत्व, यह पञ्चमलक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि इसकी प्रदीपादि में अतिव्याप्ति है, प्रदीपादि को भी स्वव्यवहार (स्वविषयक शब्दप्रयोग ग्रहण त्यागादि) में हेतुत्व और प्रकाशत्व है। यदि कहा जाय कि ज्ञानविषयक व्यवहार हेतुत्वे सति प्रकाशत्वम्, ऐसा लक्षण विवक्षित (अभिप्रेत) है, आत्मा निज ज्ञानस्वरूप विषयक व्यवहार का हेतु होता हुआ प्रकाश

(ज्ञान) स्वरूप है, प्रदीपादि नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं है, तो भी अतिव्याप्ति का निवारण नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त विवक्षा से प्रदीपादि में अतिव्याप्ति के वारण होने पर, अनुव्यवसाय (ज्ञानविषयक ज्ञान) में अतिव्याप्ति होती है। अनुव्यवसाय के वेद्य (अस्वप्रकाश) होते भी, वह व्यवसायरूप ज्ञान के व्यवहार का हेतु है, व्यवसाय का प्रकाश रूप है, स्वप्रकाश नहीं है, अतः अतिव्याप्ति है। यदि कहा जाय कि स्वप्रकाशवाद में अनुव्यवसाय प्रसिद्ध है (अमान्य है) तो भी (प्रदीपज्ञानमिदम्) ऐसा व्यवहार (शब्द प्रयोग) के हेतु प्रदीपरूप प्रकाश में अतिव्याप्ति होगी, ज्ञान के विशेषण रूप से वह भी स्वज्ञान के व्यवहार में हेतु है। और (स्वव्यवहार हेतु प्रकाशत्व) इस लक्षण में व्यवहार हेतुत्व, यह प्रकाश का विशेषण है, या उपलक्षण है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, यदि विशेषण कहा (माना) जाय, तो मुक्ति प्रलयादि अवस्था में व्यवहार के अभाव से व्यवहार हेतुत्व के अभाव होने पर अव्याप्ति होगी। कि जिससे अदुष्ट लक्षण नहीं होगा। और दूसरा, उपलक्षण स्वरूप भी व्यवहार हेतुत्व को नहीं माना जा सकता है। क्योंकि उपलक्षण निमित्तक जो प्रकाश में उपलक्षितत्व धर्म होगा, उसमें भी जिज्ञासा होगी कि वह प्रकाश का विशेषण है, या उपलक्षण है, वहां विशेषण मानने पर, पूर्वोक्त मोक्षादि अवस्था में अव्याप्ति होगी, मोक्षादि अवस्था में व्यवहार के अभाव से तन्निमित्तक उपलक्षितत्व का भी अभाव ही रहेगा। उपलक्षितत्व को उपलक्षण मानने पर अनवस्था होगी, क्योंकि फिर जिज्ञासा होगी कि उपलक्षितत्वरूप उपलक्षण निमित्तक उपलक्षितत्व विशेषण है, या उपलक्षण है, इत्यादि। यदि कहा जाय कि उपलक्षितत्व उपलक्षित का धर्म विशेषण या उपलक्षण नहीं होता है, किन्तु स्वरूप होता है, तब तो व्यवहारहेतुत्वादि विशेषण के अभाव से (ज्ञानं प्रकाशः) ज्ञानरूप प्रकाश स्वप्रकाश है— यही लक्षण रह जाता है, सजातीय विजातीय के व्यावर्तक विशेषण युक्त लक्षण होता है। सो नहीं सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

नापि षष्ठः; स्वयंप्रकाशत्वसाधकानुमानागमादिजन्यज्ञानविषयत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वात्तस्याप्यविषयत्वे कथाप्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥ ६ ॥ नापि सप्तमः;- अविषयत्वस्यैवासंभवेन निरस्तत्वाद्विषयत्वशब्देन कर्मत्वविवक्षायां गुरुमतानुसारिणामात्मन्यतिव्याप्तेश्च तस्य ग्राहकतया सिद्धस्याविषयत्वेऽप्यपरोक्षतायास्तैरङ्गीकारात् ॥ ७ ॥ नाप्यष्टमः; प्राचीनदोषानुषङ्गात्; शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽख्यातिवादिनामतिव्याप्तेश्च। तस्य व्यवहारविषयत्वेऽपि तैर्ज्ञानविषयतानङ्गीकारात् ॥ ८ ॥ नापि नवमः; स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वस्य प्रदीपादौ घटादौ च भावेनातिव्याप्तेः। सत्तया सजातीयत्वविवक्षायां तु तद्व्यवहारस्यापि सत्तया सजातीयादृष्टादिजन्यतया तदपेक्षत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात् ॥ ९ ॥

ज्ञानाविषयत्वे सतीत्यत्र यदिदं ज्ञानविषयत्वं प्रतिषिध्यते तत्किं वेद्यत्वं ? ज्ञानकर्मत्वं वा ? नाद्यः, तन्निषेधासंभवस्य दर्शितत्वादित्याह—अविषयत्वेति । द्वितीयं निषेधति—विषयत्वेति । प्राभाकराणां मते संविदाश्रयतया सिद्धस्यात्मनो ज्ञानाकर्मत्वेनापरोक्षतायास्तैरङ्गीकारादतिव्याप्तिरित्यर्थः । ईश्वरादीनां तज्ज्ञानाकर्मतयाऽपरोक्षे

जगति भ्रमविषयसंसर्गे च वेदान्तिनां च साक्षिवेद्यसुखादावतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । प्राचीनदोषानुषङ्गादिति । व्यवहारविषयत्वस्य मुक्तिदशायामसंभवाज्ज्ञानाविषयत्वनिरासाच्चेत्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—शुक्तीति । शुक्तिरूप्यसंसर्गस्य ज्ञानविषयत्वं तेषामनभिमतं तथा सत्ययथार्थज्ञानाङ्गीकारापातादिति भावः । साजात्यं किमत्यन्तं ? यथाकथंचन वा ? आद्ये, प्रदीपे प्रसक्तिरुक्ता, द्वितीयेऽप्यनपेक्षामात्रं घटादेरप्यस्ति । अपेक्षावत्त्वानधिकरणत्वविवक्षायामाह–सत्त्वयेति । अदृष्टादेः सर्वोत्पत्तिमन्निमित्ततया सत्तावत्तया च तज्जन्यव्यवहारस्य सजातीयपरसापेक्षतया लक्षणासंभवादित्यर्थः । पूर्वोक्तव्यर्थविशेषणत्वमपि द्रष्टव्यम् ।

ज्ञानाऽविषयत्व=अप्रमेयत्व रूप भी षष्ठ लक्षण नहीं युक्त है, क्योंकि ब्रह्मात्मा के स्वयं प्रकाशत्व के साधक अनुमान आगम (शास्त्रवेद) आदि से जन्य ज्ञान (प्रमाण) की विषयता ही (स्वयंप्रकाश) ब्रह्मात्मा में रहती है, अविषयता नहीं, अतः इस लक्षण का होना असम्भव है। यदि उक्त ब्रह्मात्मा को स्वप्रकाशत्व साधक अनुमानादि का विषय नहीं माना जाय, अनुमानादि का अविषयत्व ब्रह्म में माना जाय, तो ब्रह्म विषयक कथा (विचार) की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। ब्रह्म विषयक गुरु शिष्य का विचार भी नहीं सिद्ध होगा, इत्यादि ॥ ६ ॥

ज्ञानाविषयत्वे सति अपरोक्षत्व, यह सप्तम लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि उक्त रीति से निरस्त=खण्डित होने से ज्ञानाऽविषयता का ही होना ब्रह्म में असम्भव है। और विषयताशब्द का यदि कर्मत्व अर्थ विवक्षित हो, और भाव हो कि क्रियाजन्य फलाश्रय कर्म होता है, ब्रह्मज्ञान स्वरूप स्वयंप्रकाश है, अतः अनुमानादिजन्य ज्ञान का विषय होता हुआ भी घटादि के समान प्रकाशरूप फल का आश्रय नहीं होता है, अतः (ज्ञानाकर्मत्वे सति प्रकाशत्व) यह स्वयंप्रकाश का सुष्ठु लक्षण है। तो कहा जाता है कि यह भाव भी युक्त नहीं है, तो भी अतिव्याप्ति है, क्योंकि गुरु (श्रीभट्टशिष्यप्रभाकर) मतानुसारियों के सम्मत (अस्वयंप्रकाश) आत्मा में इस प्रकार मानने पर अतिव्याप्ति इस लक्षण की होगी। वे प्रभाकरानुयायी आत्मा को ज्ञान का विषय (कर्म) स्वरूप नहीं मानते हुये, सर्वज्ञान में ज्ञान के आश्रयरूप से आत्मा के अपरोक्ष प्रकाश को मानते हैं, अतः ज्ञानाविषयत्व रूप ज्ञानाकर्मत्व रूप लक्षण की उस अलक्ष्य में प्राप्ति होने से यह लक्षण दुष्ट है। यद्यपि स्वसिद्धान्तानुसार दोषाभिधान उचित होता है, अन्यथा सर्वशून्यतावादी नास्तिकमतानुसार, ब्रह्मात्मा के अभाव को कहकर, स्वप्रकाशत्व की कथा का ही कोई विच्छेद करेगा, तथापि आस्तिक प्रतिवादी के मतानुसार भी दोषाभिधान यहां उचित माना गया है, अतएव प्रथम अनुव्यवसाय में अतिव्याप्ति कही गयी है, और प्रभाकरानुयायी को तार्किक का सहोदर माना गया है। और खण्डन खण्ड-खाद्यकार ने जो नास्तिकवाद से भी तार्किक का उपालम्भ किया है, सो पंक्तिदूषकता से किया है, यहां अपवाद है, इत्यादि ॥ ७ ॥

व्यवहारविषयत्वयुक्त ज्ञानाऽविषयत्वरूप, अष्टम लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि मोक्षादि अवस्था में व्यवहार विषयत्व के विषयत्व के अभावसे, तथा, स्वयंप्रकाशत्व साधक

अनुमानादि जन्य ज्ञान के विषयत्व से पूर्वोक्त अव्याप्ति तथा ज्ञानाविषयता का असम्भव रूप दोष प्राप्त होता है और अख्यातिवादी (प्रभाकर) मत के अनुसार भ्रमस्थानके शुक्ति रजतादि के संसर्ग में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि अख्याति वाद में इदं रजतम्, ऐसा ज्ञान जहां शुक्ति में होता है वहाँ शुक्ति के इदं अंश का यथार्थ ही ज्ञान होता है, और अन्यत्र सत्य पूर्व दृष्ट रजत का स्मरण होता है, अतः इदं अंश का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है, और रजत का स्मरण रूप ज्ञान रहता है, इस रीति से दो ज्ञान रहते हैं) और उनके विषय भी भिन्न-भिन्न दो रहते हैं, परन्तु विषय और ज्ञान के विवेक (पार्थक्य की अख्याति (अप्रतीति) दोष के बल से रहती है, ऐसा मानने से इस मतवादी को अख्यातिवादी कहा जाता है, इस मत में भ्रम नहीं माना जाता है, यदि शुक्ति में अवर्तमान रजत के संसर्ग का ज्ञान माना जाय, तो भ्रम मानना होगा, अतः, इदं रजतं, इस ज्ञान को संसर्गाविषयक मानते हैं,और विवेकज्ञान रहित ज्ञानद्वय से संसर्ग का व्यवहार मानते हैं। इससे (व्यवहार विषयतायुक्त ज्ञानाविषयत्व) शुक्तिरजतसंसर्ग में होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ॥ ८ ॥ स्वसम्बन्धी (स्वविषयक) व्यवहार में सजातीय अन्याऽनपेक्षत्व, रूप नवम लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि प्रदीपादि और घटादि सम्बन्धी व्यवहार में भी सजातीय अन्य की अपेक्षा नहीं है, अतः अतिव्याप्ति दोषयुक्त यह लक्षण है, प्रदीपादि के व्यवहार में ज्ञान अदृष्टादि की अपेक्षा होती है, परन्तु ज्ञानादि प्रदीपादि के सजातीय नहीं हैं। यदि सत्ता जाति से ज्ञानादि में प्रदीपादि की सजातीयता को माने कि जिससे सजातीय की अपेक्षा से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो तब तो लक्षण की असम्भवता की प्राप्ति होगी, क्योंकि अदृष्टरूप गुण में सत्ता जाति रहती है, और शब्दादि रूप व्यवहार में भी सत्ता रहती है, अतः ब्रह्म सम्बन्धी व्यवहार भी अदृष्ट रूप स्वसजातीयपेक्षा के होने से, स्वसजातीयानपेक्षत्व का उसमें असम्भव है। जन्यमात्र का अदृष्ट कारण होता है, अतः ब्रह्म व्यवहार का भी अदृष्ट कारण है ॥९॥

नापि दशमः; अवेद्यत्वेऽनुमानाद्यगोचरतया कथानवतारप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात्; अपरोक्षव्यवहारविषयत्वमिति शब्देन प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् तद्विपरीतावेद्यत्वाभिधाने मे माता वन्ध्येतिवद् व्याघाताच्च सुषुप्तिप्रलयमोक्षेष्वव्याप्तेश्च, तदा व्यवहारस्यैवासंभवेन तद्विषयताभावात् ॥ १० ॥ नाप्येकादशः; उक्तव्यवहारयोग्यताया धर्मत्वे मोक्षदशायामव्याप्तेरद्वैतवादिनामपसिद्धान्तापातात्, स्वरूपत्वे च ज्ञानस्वभावस्यात्मनो व्यवहारनिरूपणीयत्वात्सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गात् ॥ ११ ॥ तदेवं न स्वप्रकाशलक्षणं पश्यामः।

अपरोक्षेति। अपरोक्षज्ञानमप्यपरोक्षव्यवहारो भवत्येवाभिज्ञाव्याप्तत्वात्तत्र व्याघात इत्यर्थः। अभिव्यक्तविवक्षायां तु तस्य स्वविषयज्ञानप्रयोज्यत्वाद्व्याघातः।

अवेद्यत्व युक्त अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व, रूप दशम लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि अवेद्य (अज्ञेय) होने पर, अनुमान आगमादि के अविषय होने से कथा की अनवतार (अप्रवृत्ति) की प्राप्ति को प्रथम दर्शाया जा चुका है (कहा गया है) और अपरोक्ष व्यवहारविषयत्व इस शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्व स्वकण्ठ (मुख) से उक्त हो

जाता है। क्योंकि अज्ञात का व्यवहार हो नहीं सकता है, इस प्रकार से स्वमुख से कथित प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्व से विपरीत अवेद्यत्व के कहने पर, मेरी माता वन्ध्या है। इस कथन के समान यह कथन व्याघात (विरोध) युक्त है। और सुषुप्ति प्रलय मोक्षावस्था में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योंकि उस सुषुप्ति आदि काल में व्यवहार के असम्भव से ही व्यवहार विषयता का भी अभाव ही रहता है ॥ १० ॥

एकादश लक्षण का सम्भव ब्रह्मात्मा में नहीं है, क्योंकि (अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहार योग्यत्व) यह एकादश लक्षण है, वहां इस योग्यत्व को ब्रह्म का धर्मरूप लक्षण माना जाय तो निर्धर्म निर्गुण अद्वैत ब्रह्मवादियों को अपसिद्धान्त (स्वसिद्धान्त का त्याग) की प्राप्ति होगी। और उक्त योग्यत्व को यदि ब्रह्मात्मा का स्वरूप माना जाय तो ज्ञान स्वभाव वाले आत्मा को भी योग्यत्व के व्यवहारनिरूपणीयत्व (साध्यत्व) द्वारा निरूपणीयत्व प्राप्त होने में सप्रतियोगिकत्व (साध्यत्व सापेक्षत्व) की प्राप्ति होगी स्वतः सिद्ध स्वरूप ब्रह्मात्मा इस लक्षण से सिद्ध नहीं होगा, अतः उक्त रीति से स्वप्रकाश का लक्षण नहीं दीखते हैं ॥ ११ ॥

नापि प्रमाणम्। अथानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशोऽनुभूतित्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानं प्रमाणम्। न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः; अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशः परेषामपि हि प्रसिद्धस्ततोऽनुभूतेस्तत्स्वरूपत्वप्रतिज्ञोपपद्यते। न चानुव्यवसायज्ञाने साध्यस्य सिद्धत्वाद्भागे सिद्धसाधनता; तत्स्वरूपस्यैवासंमतत्वेन तस्य धर्मिभागतानङ्गीकारादिति चेत्, मैवम्; अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशो यत्र सिद्धस्तत्र हेतोर्वृत्तौ, केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात्, अवृत्तौ सपक्षाप्रवेशिनोऽसाधारणानैकान्तिकत्वापातात्। वृत्तावपि भागे सिद्धसाधनताया दुष्परिहरत्वात्। न च स्वस्यासिद्धतामात्रेण परसिद्धे साध्यवति धर्मिणि सिद्धसाधनतायाः परिहारः।

ननु प्रमाणबलात्स्वप्रकाशत्वे सिद्धे तदनुगुणं यत्किंचिल्लक्षणमपि भविष्यति यतो लक्षणमपि प्रमाणान्तरसिद्धस्येतरेभ्यो व्यावर्तकं व्यवहारहेतुर्वा भवेदित्यत आह—नापि प्रमाणमिति। न्यायरत्नदीपावलीकृतमनुमानमुपन्यस्यति—अथानुभूतिरित्यादिना। प्रकाशत्वस्य यत्किंचिद्व्यवहारहेतुत्वस्य च परैरङ्गीकारात्सिद्धसाधनता स्यादित्यनुभूतिग्रहणम्। न चाप्रसिद्धविशेषणता; अनुभूतिव्यवहारस्योभयसिद्धतया तद्धेतुभूतप्रकाशस्यापि सम्मतत्वात्केवलं व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्विप्रतिपत्तेः, तथा चानुभूतिव्यवहारहेतुत्वाप्रसिद्धिरलंकार एव। वह्निमत्त्वादीनामपि महीधरादिसम्बन्धस्यानुमानगम्यत्वादितरथा सिद्धसाधनतापातादिति—तदिदमाह—नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्यादिना। तदेतद् दूषयति—मैवमिति। अयमभिसंधिः—न तावदनुभूतिव्यवहारहेतुरविवक्षितस्थलविशेषः प्रकाशः सिद्ध्यतीति स्वयमङ्गीकारं; महदिति सम्भवः, सम्मतिपक्षगुभयोः क्वेति न ज्ञायत इति। कस्य चायमविवक्षितस्थलविशेषः सिद्ध्यतीति विवेचनीयम्? न तावत्स्वपक्षे, तस्य संविद्रूपतया निर्णीतत्वादपरथा परं प्रति प्रसाधनायो-

गात् । यदाह 'निश्चितौ हि वादं कुरुत' इति । नापि परस्य; तस्याप्यनुव्यवसायेन निर्णीतत्वात् । अत एव नोभयोः । तस्मादविवक्षितस्थलविशेषः सिद्ध्यतीत्यस्य न कंचनार्थं पश्यामः । न च केवलव्यतिरेकिण्यप्रसिद्धविशेषणता नाम न दूषणमिति मन्तव्यं, तथा सति वसुधा शशविषाणोल्लिखिता वसुधात्वादित्यादिना शशविषाणादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । अथ तत्र प्रमाणान्तरबाध्यतया दुष्टता नाप्रसिद्धविशेषणतयेति ब्रूषे, तन्न; बाधकासिद्धेः । नहि शशविषाणादीनामभावावेदकं प्रमाणमस्ति । तस्य प्रमाणान्तरयोग्यताऽयोग्यतयोरभावासिद्धेः । अथ नियमेन प्रमाणानुपलम्भो बाधकः, ततोऽतिरिक्ता तर्हि का नामाप्रसिद्धविशेषणतेति घट्टकुटीप्रभातायितम् । अथ विपक्षे बाधकतर्काभावात्स किं विपक्षे बाधकस्तर्कः प्रमाणानुज्ञाद्वारोपयोगी ? स्वातन्त्र्येण वा ? नान्त्यः, तर्कस्य प्रमाणानुज्ञाव्यापारमन्तरेणोपयोगाभावात् । प्रथमे तु तर्काभावात्प्रमाणाभाव एव सिद्ध्यति सैव चाप्रसिद्धविशेषणतेति सिद्धं नः समीहितम् । किंच केवलव्यतिरेकित्वादेव केवलव्यतिरेकिणि न दूषणमप्रसिद्धविशेषणता केवलान्वयिन्यन्वयव्यतिरेकिणि च सपक्षवत्यप्रसिद्धविशेषणताशङ्कैव नास्तीति हता बतेयमप्रसिद्धविशेषणताकथा तपस्विनी । तस्माद्यत्रायं प्रसिद्धः स सपक्षः स्वीकर्तव्यः,तथा वोच्यमानदूषणगणग्रासो दुर्निरसन इति । सपक्षवृत्त्यवृत्त्योः केवलव्यतिरेकित्वाहानिरसाधारणाऽनैकान्तिकता चेति दूषणद्वयमुक्तम्, तत्र मा नामायं भूत्केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेक्येव भवत्विति शङ्कमानं प्रत्याह—वृत्तावपीति । यत्तूक्तं स्वप्रकाशवादिनो नानुव्यवसायो नाम ज्ञानग्राहकं ज्ञानमस्ति तत्कथं तस्य धर्मिता कथंतरां तत्र सिद्धता कथंतमां सिद्धसाधनतेति तत्राह—नच स्वस्यासिद्धतामात्रेणेति ।

प्रमाण भी स्वप्रकाश अर्थ में कोई नहीं है, ऐसा कहने पर प्रमाण दर्शाया गया है कि अनुभूति (ज्ञानस्वरूप आत्मा) अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः (अनुभूति के व्यवहार का हेतुप्रकाशस्वरूप) है । क्योंकि उसमें अनुभूतित्व है, जो ऐसा अनुभूति व्यवहार हेतु प्रकाशस्वरूप नहीं है, सो अनुभूतित्ववाला भी नहीं है, अर्थात् अनुभूतित्व, अनुभूति व्यवहारहेतु प्रकाशत्व की सत्ता में व्याप्य होकर प्रमाण (अनुभूतित्व का ज्ञानरूप प्रमाण है) अतः यह अनुमान आत्मा के (अनुभूति के) स्वप्रकाशता में प्रमाण है । स्वव्यवहार का हेतु स्वयं होना यही स्वप्रकाशता है । यदि कहो कि अनुभूति (आत्मा) में अनुभूति हेतु प्रकाशत्व पक्ष का विशेषण प्रतिवादी मत में असिद्ध है, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनुभूति का व्यवहारवादी प्रतिवादी दोनों को सिद्ध है, तथा व्यवहार हेतु प्रकाश दोनों को मान्य है, इस प्रकार से अनुभूति के व्यवहार का हेतु प्रकाश प्रसिद्ध है, और पक्ष में तो प्रतिवादी को असिद्ध होना उचित ही है, पक्ष में प्रतिवादी को साध्य सिद्ध हो तो परार्थानुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती है । सन्दिग्धसाध्यवान् ही पक्ष होता है, अतः अनुभूति में उक्त अनुभूति हेतुप्रकाशत्व (प्रकाशस्वरूपत्व) की प्रतिज्ञा सिद्ध (युक्त) है । यदि कहा जाय कि प्रतिवादी मत में अनुव्यवसाय ज्ञान में साध्य की सिद्धि (निश्चय) से अनुव्यवसायरूप अनुभूति भाग (अंश) में सिद्ध साधनतारूप

दोष प्राप्त होता है तो ऐसा कहना=समझना उचित नहीं, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त में ज्ञान की स्वप्रकाशता से ज्ञानविषयक ज्ञानस्वरूप अनुव्यवसाय का स्वरूप ही असम्मत होने के कारण उसमें धर्मि भागता (पक्षांशता) नहीं मानी जाती है, अर्थात् अनुव्यवसाय रूप अनुभूति वेदान्त में नहीं मानी जाती है, अतः भाग में सिद्धसाध्यता नहीं हो सकती है।

उक्त अनुमान युक्त नहीं है, अतः उससे भी स्वप्रकाशता नहीं सिद्ध हो सकती है। क्योंकि अनुभूति के व्यवहार का हेतुस्वरूप प्रकाशत्व जहां (जिस ज्ञान में) सिद्ध है, वहां यदि हेतु भी रहता है, तब तो हेतु में केवल व्यतिरेकित्व नहीं रहता है, व्यतिरेकी हेतु वही होता है कि जिसका साध्य के साथ सहचार निश्चित नहीं हो, और प्रकृत में व्यतिरेकी हेतु का प्रयोग किया गया है, साध्य के सहचार का ज्ञान होने पर वह अन्वयी हेतु समझा जायगा, और साध्य स्थान (अनुभूति व्यवहारहेतु प्रकाशत्व स्थान) में हेतु के नहीं रहने पर, सपक्ष (निश्चित साध्यवान्पक्ष) में अप्रवेशी (अवृत्ति) हेतु को असाधारण अनैकान्तिकता (सव्यभिचारता) की प्राप्ति होगी। निश्चित साध्याभाववाला विपक्ष कहा जाता है, उसमें हेतु की वृत्तिता तो अनुमान का प्रयोग करनेवाला मानता ही नहीं है, और निश्चित साध्यवाले में भी यदि हेतु नहीं हो, तो वह सपक्ष विपक्ष उभय से व्यावृत्त (निवृत्त) होकर पक्षमात्र में वृत्ति अनैकान्तिक (अनिश्चित साध्यवाला) दुष्ट हेतु कहा जाता है। जैसे (शब्दो नित्यः शब्दत्वात्) यह शब्दत्व नित्य आकाशादि और अनित्यघटादि रूप सपक्ष विपक्ष से व्यावृत्त होकर, नैयायिक मतानुसार पक्ष (शब्द) मात्र में वृत्ति है, और शब्द का असाधारण धर्म है, और साध्य के साथ ऐकान्तिक (निश्चित नियत सहचारवाला) नहीं है, ऐसा ही अनुभूतित्व अनुभवरूप पक्ष मात्रवृत्ति उसका असाधारण धर्म और अनैकान्तिक है। और सपक्ष (साध्ययुक्त पक्ष) में हेतु के रहने पर, उस अनुव्यवसाय रूप सपक्ष भाग में सिद्धसाधनता दोष दुष्परिहार है। अनुव्यवसाय को स्वसिद्धान्त में असिद्धतामात्र से, परमत से सिद्धसाध्यवाले धर्मी=अनुव्यवसाय में सिद्धसाधनता का परिहार (निवारण) नहीं हो सकता है।

अन्यथाऽन्यथाख्यातिवादिभिः केनचिद्धेतुना रजतज्ञानस्य पुरोवर्तिविषयत्वे साधिते वेदान्तिना चानिर्वचनीयपुरोवर्तिरजतविषयत्वेन सिद्धसाधनत्वेऽभिहिते नास्माकं तत्सिद्धमिति वचनमात्रेणान्यथाख्यातिवादिनश्चरितार्था भवेयुः। अथ नानिर्वचनीयवादिनं प्रति अयं प्रयोगस्तस्य सिद्धसाधनतापत्तेः; तर्ह्यनुव्यवसायवादिनं प्रत्यप्ययं प्रयोगो न स्याद्भागे सिद्धसाधनत्वप्रसङ्गात्, स्वप्रकाशवादिनं प्रति सिद्धसाधनत्वादप्रयोग इति मूकीभाव एव स्यात्।

विपक्षे बाधिकां प्रतिबन्दीं गृह्णाति—अन्यथान्यथेति। केनचिद्धेतुनेति। रजतार्थिनो नियमेन पुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्रजतेच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्वेत्यादिनेत्यर्थः। अस्त्वनुव्यवसायवादिनं प्रत्यप्रयोगः यस्य तु तन्नास्ति तं प्रति निरुपसर्गः प्रयोग इत्यत आह—स्वप्रकाशवादिनमिति।

यदि स्वसिद्धान्त (वेदान्त) में अनुव्यवसाय के अस्वीकारमात्र से परसिद्ध अनुव्यवसाय में सिद्धसाधनता का निवारण हो, तो अन्यथाख्यातिवादी जहां नियत पुरोवर्तित्वादि हेतु से भ्रान्त रजतज्ञान को पुरोवर्तिविषयकत्व अनुमान करते हैं, कि (इदं रजतम्) यह रजत है, ऐसा ज्ञान आगे वर्तमान शुक्तिविषयक (अन्यथा) अन्य रूप से होता है, वहाँ यदि वेदान्ती अनिर्वचनीय (कल्पित) रजत विषयकत्व से, अनुमान में सिद्धसाधनत्व दोष कहेंगे, तो, अन्यथा ख्यातिवादी भी, मेरे मत में अनिर्वचनीय रजत मान्य नहीं है, अतः सिद्ध साधन नहीं है, ऐसा वचन मात्र कहकर चरितार्थ (कृतार्थ) होंगे, सिद्धसाधनता की निवृत्ति के लिये, यत्नान्तर (अनिर्वाच्य का खण्डनादि) नहीं करना होगा, इत्यादि । यदि कहा जाय कि अन्यथा ख्यातिवादी, यह पुरोवर्तिविषयकत्व का अनुमान अनिर्वचनीयवादी के प्रति नहीं प्रवृत्त होता है, क्योंकि अनिर्वचनीयवादी के प्रति सिद्धसाधनता का प्रसङ्ग होता है, तो अनुव्यवसायवादी के प्रति भी (अनुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः) इस अनुमान का प्रयोग नहीं होगा, क्योंकि अनुव्यवसाय भाग (अंश) में सिद्ध साधनता की प्राप्ति होती है,यदि कहा जाय कि अनुव्यवसायवादी के प्रति यह अनुमान प्रयोग नहीं होकर अन्य के प्रति होगा, तो सो कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि अनुव्यवसायवादी से अन्य तो कोई स्वप्रकाशवादी होगा, अतः उसके प्रति सिद्धसाधनता से अप्रयोग की प्राप्ति से मूकीभाव=मौन ही धारण करना होगा।

अथ विवादपदेनानुव्यवसायस्य व्यवच्छेदान्नास्य धर्मिभागतेति मतिः; तथापि तस्य साध्यविशेषणप्रसिद्धस्थलत्वेनाभ्युपगमाद्धेतोः केवलव्यतिरेकित्वाभावस्तदवस्थः, तदनङ्गीकारे च न विशेषणप्रसिद्ध्युपपत्तिः । अथ परं प्रत्येव तस्य प्रसिद्धिस्थलता; तर्हि तं प्रति केवलव्यतिरेकिप्रयोगायोगः । किं च व्यवहारहेतुत्वस्य प्रकाशविशेषणतायां, कैवल्ये तदभावात्स्वयंप्रकाशताभावः; व्यवहारहेतुत्वयोग्यतायां च स्वरूपातिरिक्तायां स एव दोषः । अथ तदुपलक्षितप्रकाशात्मत्वमेव साध्यं; तथाप्युपलक्षितत्वस्य साध्यान्तर्भावे स एव दोषः । अनन्तर्भावे च प्रकाशस्वरूपताया एव साध्यत्वात् तस्याश्चान्यत्रापि सिद्धत्वान्न केवलव्यतिरेक्यनुमानावकाशः ।

ननु विवादपदमित्यनुभूतेर्विशेषणं प्रक्षिप्यते तथानुव्यवसायस्य परसंप्रतिपन्नसाध्यस्य व्यावर्तनमिति तत्राह—अथेति । तत्रेदं वक्तव्यं—किमनुव्यवसायज्ञानं स्वपक्षसंमतं ? न वा ? न यदि; तदा व्यर्थं विशेषणता । अथ संमतं, तदा कथं स्वप्रकाशता; कथं वा केवलव्यतिरेकितेति । तदेतदमुना सुगमभङ्ग्यन्तरेण पुरोदितं केवलव्यतिरेकिताऽयोगमाह—तथापीति । साध्यविशेषणेति । साध्यमेव विशेषणं, पक्षं प्रति विशेषणत्वात्तस्य । न च तावन्मात्रं पक्षीकृत्यानुव्यवसायवदनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्वसाधनाद्व्यतिरेकितास्तु । अनुव्यवसायाङ्गीकारानङ्गीकारयोरुक्तदिशा दृष्टान्ताभावयोः प्रसङ्गात् । यानि च स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमिति पक्षे पक्षे व्यवहारहेतुत्वस्य विशेषणोपलक्षणपक्षविकल्पेन दूषणान्युक्तानि तान्यत्र प्रसरन्तीत्याह—किंच व्यवहारहे-

तुषस्येति। ननु व्यवहारहेतुत्वयोग्यता विवक्षिता। सा च तदानीमप्यस्ति योग्यताया यावद्वस्तुभावित्वादित्याशङ्क्य, तर्हि सा स्वरूपातिरिक्ता ? तदनतिरिक्ता वा ? अतिरिक्तापि विशेषणम् ? उपलक्षणं वेति विकल्प्य, विशेषणपक्षं दूषयति—व्यवहारेति। स्वरूपातिरिक्तायां विशेषणतायां चेत्यध्याहर्तव्यम्। उपलक्षणत्वे पक्षद्वयं शङ्कते—अथेति। तया योग्यतया, तेन व्यवहारहेतुत्वेन वोपलक्षितं यत्प्रकाशात्मकत्वं तदेव साध्यमित्यर्थः। तदापि वक्तव्यं यत्तदुपलक्षितत्वं तद्विशेषणम् ? उपलक्षणं वा ? आद्यं दूषयति—तथापीति। स एव दोष इति। कैवल्यावस्थायां तदभावादस्वयंप्रकाशत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। उपलक्षितत्वस्योपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—अनन्तर्भावे चेति। तस्याश्चान्यत्रापीति। अनुव्यवसायादिष्वपीत्यर्थः। एतेनानतिरिक्तपक्षोऽपि निरस्तो वेदितव्यः।

उक्त आपत्ति के वारण के लिये कहा जाय कि, विवादपद (विषय) यह, अनुभूति रूप पक्ष का विशेषण लगाया जायगा, और अनिश्चित वस्तु विवाद का विषय होता है, अनुव्यवसाय में साध्य (व्यवहारहेतु प्रकाशत्व) निश्चित होने से उसका व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) हो जायगा, अतः उस अनुव्यवसाय को धर्मि भागता (पक्षांशता) नहीं रहेगी, इससे अंश में सिद्धसाध्यता भी नहीं रहेगी। तो भी उस अनुव्यवसाय को साध्य की प्रसिद्धि का स्थान होने के कारण, और उसको साध्यप्रसिद्धि के स्थान रूप से स्वीकार करने पर, हेतु के केवल व्यतिरेकित्व का अभाव पूर्व के समान रहता है, और नहीं मानने पर पक्ष के विशेषण रूप साध्य की प्रसिद्धि नहीं सिद्ध होती है, यदि कहा जाय कि, पर (नैयायिक) के ही प्रति उस अनुव्यवसाय को साध्यप्रसिद्धि की स्थानता है, मेरे अभ्युपगमादि की आवश्यकता नहीं है, सो बस नैयायिक के प्रति केवलव्यतिरेकि प्रयोग अयुक्त है। और यहां यह भी विचारणीय है कि व्यवहारहेतुत्व यह साध्यांश प्रकाश का विशेषण है, या उपलक्षण है. उसको विशेषण मानने पर, कैवल्य (मोक्ष) अवस्था में आत्मा में व्यवहारहेतुत्व के अभाव से, विशेषण विशिष्ट साध्य के अभाव से स्वप्रकाशता के अभाव की प्राप्ति होगी। और यदि कहें कि व्यवहार हेतुत्व से व्यवहार हेतुतायोग्यत्व विवक्षित है, सो मोक्षावस्था में भी रहता है, अतः अस्वप्रकाशता नहीं प्राप्त होगी, तो सो कहना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि वह योग्यत्व स्वरूप से अतिरिक्त विशेषण होगा, तो मोक्षावस्था में नहीं रहने से पूर्वोक्त दोष ही प्राप्त होगा, मोक्षावस्था में निर्विशेषण आत्मा रहता है। योग्यत्व को उपलक्षण माना जाय, और योग्यत्व से उपलक्षित प्रकाशत्व मात्र को साध्य माना जाय, तो भी उपलक्षितत्व को साध्य के अन्तर्भाव (विशेषण) मानने पर वह मोक्षावस्था में अस्वप्रकाशता की प्राप्ति पूर्वोक्त दोष ही रहेगा, यदि उपलक्षितत्व को साध्य के अन्तर्भाव नहीं करें, विशेषण नहीं मानें, किन्तु उपलक्षण मानें, तो प्रकाशस्वरूपता के ही साध्य होने से, और उस प्रकाशस्वरूपता को अन्यत्र (अनुव्यवसाय में) भी सिद्ध होने से केवल व्यतिरेकि अनुमान का अवकाश (स्थान) नहीं रहता है। योग्यता आदि के स्वरूपत्वपक्ष में नित्य सापेक्षता की प्राप्तिरूप दोष प्रथम कहा जा चुका है।

एतेनानुभूतिरनुभाव्या न भवत्यनुभूतित्वादित्यादिप्रयोगोऽपि परास्तः; तत्राप्यप्रसिद्धविशेषणताया दुष्परिहरत्वात्; ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद्घटवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च। नच हेत्वसिद्धिः; सत्ताधिकरणत्वलक्षणवस्तुत्वस्यावधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वादिवद्धेतुत्वोपपत्तेः।

उक्तदूषणजातं प्राचीनाचार्योदीरितानुमानेऽप्यतिदिशति—एतेनेति। एतेनेत्येतदेव विवृणोति—तत्रापीति। तदेवं स्वप्रकाशत्वे संभाव्यमानानुमानानि दूषयित्वा वेद्यत्वेऽप्यनुमानमाह—ज्ञानमित्यादिना। प्रतिप्रयोगेति। प्रतिपक्षसाधकेत्यर्थः, सत्प्रतिपक्षता वा। ननु किमिदं वस्तुत्वं हेतूक्तं किं काल्पनिकसत्त्वम्? आहोस्विद्वास्तवसत्त्वमिति? नाद्यः, उभयासिद्धेः। नोत्तरः, अद्वैतवादिनः साधनविकलत्वादित्यत आह—नच हेत्वसिद्धिरिति। साधनवैकल्यस्याप्युपलक्षणमेतत्। अथवा किं वस्तुत्वं नाम काल्पनिको धर्मः? उताकाल्पनिकः? नाद्यः, तवासिद्धेः। नोत्तरः, ममासिद्धेरित्याशङ्कायामविवक्षितविशेषमादायायं परिहारः। सत्ताधिकारणत्वेति। स्वरूपसत्ता विवक्षिता। अनुभूतित्वादिवदिति। यथा ह्यनुभूतित्वादिति स्वप्रकाशत्वादिहेतौ कोऽयमनुभूतित्वं नाम धर्मः किं कल्पितः? उताकल्पितः? नाद्यः, परस्यासिद्धेः, न द्वितीयः स्वस्यासिद्धेरिति विकल्पिते साधारण्येनैव परिहारस्तद्वदित्यर्थः।

अनुभूतिः (संविद्) अनुभाव्य (वेद्य) नहीं होती है। क्योंकि उसमें अनुभूतित्व (अनुभवस्वरूपत्व) रहता है, इत्यादि प्रयोग भी पूर्वोक्त दूषणों से परास्त (निरस्त) हो गया। क्योंकि उनमें भी अप्रसिद्धविशेषणता दोष दुष्परिहर (दुर्निवार) है। और वस्तुत्व के कारण ज्ञानवेद्य (अनुभाव्य) है। इस प्रति प्रयोग (विरोधी प्रयोग) रूप प्रतिपक्ष (विरोधी पक्ष) का भी सम्भव है, अतः बाधित होने से उक्त अनुमान नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि ज्ञानस्वरूप वस्तु के निर्धर्मक होने से वस्तुत्व धर्म रूप हेतु पक्ष में वेदान्त के अनुसार असिद्ध है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कल्पित अकल्पित विशेषता के अवधीरण (अविचार) पूर्वक, अनुभूतित्वके समान सत्ताऽधिकरणत्व स्वरूप वस्तुत्व को हेतुत्व सिद्ध होता है। अर्थात् अनुभूतित्व हेतु को यदि वेदान्ती कल्पित कहें तो परमत में कल्पित असिद्ध है, यदि अकल्पित सत्य कहें, तो स्वमत में असिद्ध है, अतः परवादी के साथ कथाकाल में कल्पितादि विकल्प से रहित साधारण रूप से अनुभूतित्व को हेतु माना जाता है, वैसे ही वस्तुत्व भी हेतु मान्य है।

ननु किमिदं साध्यमानं वेद्यत्वं— वास्तवम्? उतावास्तवम्? आहोस्विद्व्यावहारिकम्? अथवा साधारणम्? आद्ये, साध्यविकलं निदर्शनमितरेषु सिद्धसाधनत्वमिति चेत्, मैवम्; घटादेरिव व्यावहारिकप्रमाणसिद्धवेद्यतापादनेऽपि स्वप्रकाशत्वासिद्धेः। किं चानुभूतिपदं स्वगोचरगोचरज्ञानजन्यं पदत्वात्कुम्भपदवत्। ननु किमत्र गोचरशब्देन विषयमात्रमुच्यते? किंवा वाच्योऽर्थः? अथ लक्ष्यो वा? न तावत्प्रथमद्वितीयौ; सिद्धसाधनतापत्तेः।

अभ्युपेयते हि अनुभूतिशब्दवाच्यस्यान्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य ज्ञानस्य ज्ञानगोचरता। तृतीये, तु मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदैर्व्यभिचार इति चेत्,

अत्र गङ्गापुरीभट्टारकोदीरितदूषणमनुवदति—ननु किमिदमित्यादिना। नैवम्। घटादेरिवेति। नहि घटादेरिवानुभूतेरपि वेद्यत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धमिति मन्तुमुचितम्। तथा सति नैयायिकादेरिव जड्यापि संविदाऽर्थप्रथनसिद्धौ घटादिप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्युपन्यासानवसरात्तद्दूषणानां स्वमतेऽप्यनुपङ्गप्रसङ्गाच्च। न च नैयायिकाद्युपगतजडतायाः समारोपितत्वाङ्गीकारादस्त्येवानुभूतेरपि व्यावहारिकवेद्यतेति सांप्रतं; तस्याः शुक्तिरजतादेरिव व्यवहाराक्षमत्वात्। अतो व्यावहारिकवेद्यत्वसाधनमपि विरुणद्धेयव राद्धान्तमिति भावः। वेद्यत्वेऽनुमानान्तरमाह—किं चानुभूतिपदमित्यादिना। स्वगोचर एव गोचरो यस्य तज्ज्ञानं स्वगोचरगोचरज्ञानं तज्जन्यः. शब्दनित्यत्ववादिनां प्रयोगस्य तज्जन्यत्वाच्छब्दोऽपि तज्जन्य इत्युच्यते। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै स्वगोचरग्रहणम् अत्रापि तैरुद्भावितदूषणमनुवदति—ननु किमत्रेति। सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—अभ्युपेयते हीति। अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्येति हेतुगर्भं विशेषणम्। यस्मादन्तःकरणवृत्तिविशिष्टमतो ज्ञानगोचरतेत्यर्थः। मुख्यार्थविवक्षयेति। एवं हि तदा प्रयोगः स्यात्—विवादपदं स्वलक्ष्यविषयज्ञानजन्यं पदत्वारसंप्रतिपन्नवदिति। एतच्चानैकान्तिकं, मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदानां तल्लक्ष्यतीरादिज्ञानजन्यत्वाभावात्तेषां मुख्यार्थज्ञानमात्रजन्यत्वादित्यर्थः।

उक्त अनुमान में शङ्का होती है कि, उससे साध्यमान (सिद्ध किया जाता हुआ) वेद्यत्व कैसा है। वास्तव (परमार्थिक) है, या अवास्तव (प्रातिभासिक=मिथ्या) है। अथवा व्यावहारिक है। या साधारण (वास्तविकता आदि विशेषणरहित यत्किञ्चित्सामान्य) है। तहाँ प्रथम वास्तविकता पक्ष में घटादि दृष्टान्त (निदर्शन) साध्य शून्य होगा, क्योंकि अद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में पारमार्थिक वेद्यत्व घटादि में है नहीं, और अन्य तीनों पक्षों में सिद्धसाधनता होगी, क्योंकि अवास्तवादि स्वरूप वेद्यत्व की अनुभूति में वेदान्ती मानते ही हैं। अवास्तव वेद्यत्व, वेद्यत्वाभाव का विरोधी नहीं होता है, अतः अवास्तवादि वेद्यत्व के रहते भी वास्तविक वेद्यत्वाभाव (स्वप्रकाशत्व) भी सिद्ध होता है। प्रतिवादी का समाधान है कि नैवम् (ऐसा नहीं कहो) क्योंकि घटादि में जैसी व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध व्यावहारिकवेद्यता रहती है, वैसी वेद्यता की भी अनुभूति में आपादन (सिद्ध) करने पर, स्वप्रकाशत्व नहीं सिद्ध होगा, किन्तु घट के समान वेद्य होगा। और, अनुभूतिपद, स्वगोचर (वाच्य) गोचर (विषयक) ज्ञान जन्य है, कुम्भ पद के समान पद होने से, जैसे कुम्भपद स्वगोचर ज्ञान जन्य है, वैसे अनुभूति पद भी है, इस अनुमान से भी अनुभूति में वेद्यत्व सिद्ध होता है। फिर इस दूसरे अनुमान में शंका है कि इसमें प्रथम गोचर पद से, विषयमात्र कहा जाता है, या वाच्यार्थ कहा जाता है अथवा लक्ष्यार्थ कहाजाता है। तहाँ सिद्धसाधनता की प्राप्तिसे प्रथम द्वितीय पक्ष बन नहीं सकता है। क्योंकि अनुभूतिशब्दका विषय तथा वाच्यस्वरूप अन्तःकरणकी वृत्ति विशिष्ट

(युक्त) ज्ञान को (अनुभवको) ज्ञान का गोचर (विषय) वेद्य माना ही जाता है, इस प्रकार के सभी ज्ञान साक्षिवेद्य होते हैं। और तृतीय (लक्ष्य) पक्ष में मुख्य (वाच्य) अर्थ की विवक्षा से प्रयुक्त (उच्चारित) गङ्गादि पदों द्वारा व्यभिचार होगा, क्योंकि, अनुभूतिपदं स्वगोचर (लक्ष्य) गोचर ज्ञानजन्यं पदत्वात् पदान्तरवत्। तहाँ मुख्यार्थक गङ्गा पद-रूप पदान्तर में पदत्व रूप हेतु के रहते भी लक्ष्यज्ञानजन्यता का अभाव रहता है। जैसे कि (गङ्गायां मत्स्यः) इत्यादि वाक्य लक्ष्य ज्ञान जन्य नहीं रहते हैं।

मैवम्; लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वेन लक्षकगङ्गादिपदवल्लक्ष्यज्ञानजन्यत्वानुमानात्। किंचानुभूतिपदाभिधेयस्य स्वप्रकाशत्वमभिधीयते भवद्भिः-उत लक्ष्यस्य ? नाद्यः; अपसिद्धान्तापातात्। न द्वितीयः; प्रतिवादिनं प्रत्याश्रयासिद्धेः। सकलधर्मातीतस्याद्वितीयस्यानुभूतिपदलक्ष्यस्य परैरनङ्गीकारात्। किंच स्वप्रकाशतायां सति प्रमाणे तद्वेद्यत्वमसति च साधकाभावादेव न तत्सिद्धिरिति सैषोपनिषदानामुभयतःपाशारज्जुरित्यलमतिविस्तरेण।

तदेतद् दूषयति—मैवमिति। लक्षकपदत्वं हेतुस्तथा च नानैकान्तिकमित्यर्थः। पदमात्रं पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वादित्युक्ते भागासिद्धिबाधौ स्यातामिति लक्षकपदमित्युक्तम्। उभयवादिसंप्रतिपन्नानुभाव्यवाचकानुभूतिलक्षकपदं चात्र विवक्षितं, तेन नाश्रयासिद्धिसिद्धसाधने। किंच यावत्किंचित्स्वप्रकाशत्वानुमानमुपन्यस्यते तस्य सर्वस्य धर्म्येव तावन्न निरूपणपद्धतिमध्यास्ते इत्याह—किंचानुभूतीति। अपसिद्धान्तेति। अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य स्वप्रकाशत्वानाश्रयणादित्यर्थः। प्रतिवादिनं प्रतीति। न तावदनुभूतिपदलक्ष्यस्य यस्य कस्यचित्प्रमातुर्वा प्रमेयस्य वा स्वप्रकाशता सिसाधयिषिता, येनाश्रयासिद्धिर्न भवेत्, किंत्वद्वितीयानादिनिधनात्मभूतज्ञानस्य, तस्य परं प्रत्यसिद्धेरविशत्येवाश्रयासिद्धिपिशाचिकेति भावः। किंच स्वप्रकाशतायां प्रमाणसद्भावासद्भावयोः प्रमेयासिद्धिरिति व्याघातलक्षणतर्कयुगलविरोध इत्याह—किंच स्वप्रकाशतायामिति।

उक्त शंका का समाधान है कि उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि लक्षक पद को पक्ष करके लक्षकपदत्व रूप हेतु से लक्षक गङ्गादि पद के समान लक्ष्य ज्ञानजन्यत्व का अनुमान किया जाता है कि लक्षक अनुभूतिपद, स्वगोचर (लक्ष्य) गोचर (विषयक) ज्ञान जन्य है, लक्षक पद होने से, (लक्षक गङ्गादिपदवत्) ऐसा अनुमान करने पर व्यभिचार नहीं रहता है, क्योंकि लक्षक पदत्व मुख्यार्थके अभिप्राय से प्रयुक्त पद में नहीं रहता है, पदत्व रहता है, सो अब हेतु नहीं है। और यह भी विचारणीय है कि आप वेदान्ती जो अनुमान का प्रयोग करते हैं कि (अनुभूतिः-अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः) तहां अनुभूतिपद को अभिधेय (वाच्य) को आप स्वप्रकाश सिद्ध करना चाहते हैं, या लक्ष्यको सिद्ध करना चाहते हैं। तहां अपसिद्धान्त (स्वपक्षत्याग) की प्राप्ति से प्रथम पक्ष बन नहीं सकता है, क्योंकि अन्तःकरण की वृत्तियुक्त ज्ञान (अनुभूतिपद वाच्य) को आप स्वप्रकाश मानते नहीं हैं, उससे विरुद्ध स्वप्रकाशत्व का स्वीकार अपसिद्धान्त होगा।

और दूसरा (लक्ष्य) पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रतिवादी के प्रति आप से स्वीकृत अनुभूतिपद के लक्ष्यार्थ की असिद्धि से आश्रयासिद्धि की प्राप्ति होती है, कर्तृत्वादि सब धर्म से रहित अद्वितीय आप से स्वीकृत अनुभूतिपद का लक्ष्य प्रतिवादी से माना नहीं जाता है, तो स्वप्रकाशत्व उसके प्रति आप कहां सिद्ध करेंगे।

और यह भी विचारणीय है कि, स्वप्रकाशता में कोई प्रमाण है, या नहीं, तहां प्रमाण के रहने पर प्रमाण से वेद्यत्व की प्राप्ति से स्वप्रकाशता नहीं रहती है, यदि स्वप्रकाशता की रक्षा के लिये प्रमाण का अभाव माना जाय, तो प्रमाण के असत्व से (स्वप्रकाशत्व के साधक प्रमाण के अभाव से) ही स्वप्रकाशत्व की सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार से यह प्रमाण के सत्वाऽसत्व ही उपनिषद्वेत्ताओं को उभयतःपाशारज्जु (बन्धन) है। इससे अधिक आपत्ति क्या होगी। यहां तक पूर्व पक्ष है।

अत्रोच्यते—

अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य नः।
संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः ॥ १ ॥

न तावत्स्वयंप्रकाशे लक्षणासंभवः; अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणत्वात्। नच योग्यतालक्षणधर्माङ्गीकारेऽव्याप्तिर्मोक्षदशायां तदसंभवादपसिद्धान्तापत्तिश्चेति शङ्कनीयं; योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात्, गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणस्य द्रव्यत्ववत्, तेन नाव्याप्तिः। नाप्यपसिद्धान्तः, काल्पनिकधर्माणां संसारदशायामभ्युपगमात्।

एवं स्वप्रकाशत्वे प्रमाणलक्षणे समाक्षिप्य समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यत इत्यादिना। तत्र लक्षणं तावच्छ्लोकेन गृह्णाति—अपरोक्षेत्यादिना। नः अस्माकं पक्षे अपरोक्षव्यवहृतेर्व्यवहारस्य योग्यस्य। व्यधिकरणे षष्ठ्यौ। तथाऽधीपदस्य संविद्विषयस्य स्वप्रकाशस्य संभवे सति, स्वप्रकाशस्येति पदमुपर्यपि संबध्यते द्वारमध्यस्थमणिवत्। अतस्तस्य स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः ? न कुतोपीति योजना। संगृहीतलक्षणं विवृणोति—न तावदित्यादिना। अपसिद्धान्तापत्तिश्चाद्वैतवादिन इतरदशायामपीति शेषः। नच शङ्कनीयमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—योग्यत्वात्यन्तेति। कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेव। अनुत्पत्तिविनाशवन्तं हि संसर्गाभावविशेषमत्यन्ताभावमुपगच्छन्ति तार्किकाः। तथा च यदि कदाचिदपि तत्प्रतियोगी स्यात्तदा तत्पूर्वं वा तदुत्तरकालं वा तदभावो मन्तव्यः, न समसमयं विरोधात्। नचान्योन्याभावतत्प्रतियोगिघटयोश्च समसमयवर्तमानत्वाच्च विरोध इति वचनीयम्; तस्य तादात्म्यप्रतियोगित्वात्तस्य कदाचिदप्यभावात्। इतरथा घटसंसर्गाभावघटान्योन्याभावयोः संकरप्रसङ्गात्। अथ घटप्रतियोगित्वे समानेऽपि संसर्गतादात्म्यरूपविशेषणभेदादसंकरस्तयोरेवं तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन संसर्गतादात्म्ययोरेवोभयत्र प्रतियोगित्वं न घटस्येति मूकीभावः, तदितराभावेषु वायं नियमः। विस्तरेण चैतदुपरिष्टादुपपाद-

यिष्यते । ततश्च प्रतियोगिपूर्वकालीनत्वे विनाशित्वमुत्तरकालीनत्वे तूत्पत्तिमत्त्वं स्यात्त-त्तश्च प्रागभावप्रध्वंसयोरन्यतरत्वं प्रसज्येत । तस्मात्कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तद-त्यन्ताभावानधिकरणमेवेति सिद्धम् । ततश्चैतदङ्गीकर्तव्यम् । इतरथा गुणवद् द्रव्यमिति कणादोक्तगुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वभङ्गप्रसङ्गात् । प्रथमक्षणे हि गुणवत्त्वाभावेना-व्याप्तेः । यथा चैतत्तया द्वितीयपरिच्छेदे द्रव्यलक्षणखण्डनप्रस्तावे विस्तरेण निवेदयि-ष्यते । तस्मात्तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव तत्र शरणं, तदत्रापि समानमभिनिवेश-मपहायेत्यभिसंधेराह—गुणवत्त्वात्यन्तेति । यद्यप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्यन्ताभा-वानधिकरणत्वमेव लक्षणं संभवति तथाप्यामुक्तेर्विद्यमानयोग्यताऽस्यागायेदमुक्तम् । भवत्वेवमव्याप्तिपरिहारोऽपसिद्धान्तव्याधेः किमौषधमित्यत आह—नाप्यपसिद्धान्त इति ।

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर अब यहाँ कहा जाता है कि, नः (हमारे) मत में, अपरोक्ष व्यवहार के योग्य अर्थापद (बुद्धि=ज्ञानाऽविषय=अवेद्य) को स्वप्रकाशत्व के सम्भव होने पर, स्वप्रकाश के लक्षण का असम्भव कैसे होगा ॥ १ ॥ क्योंकि प्रथम यह कहना है कि, स्वप्रकाश विषयक (स्वप्रकाश के) लक्षण का असम्भव नहीं है। 'अवेद्यत्व युक्त अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व' उसका लक्षण है। और जो प्रथम कहा गया था कि व्यवहार योग्यता को, लक्ष्य ब्रह्मात्मा का यदि धर्म माना जायगा तो मोक्षावस्था में अव्याप्ति होगी, क्योंकि मोक्षावस्था में निर्धर्मा ब्रह्मात्मा रहता है। और मोक्ष में भी योग्यता रूप धर्म को मानने पर अपसिद्धान्त होगा, सो शंका यहां कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उक्त योग्यत्व के अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व ही यहां उक्त योग्यत्व रूप लक्षण विवक्षित है। और जो वस्तु कभी कहीं रहती है, उसके अत्यन्ताऽभाव का अनधिकरणत्व (तत्स्व-रूप ही) उसमें सदा रहता है। अतः अव्याप्ति आदि नहीं हो सकते हैं। इसको ऐसे समझना चाहिए कि जैसे वैशेषिक मत में, गुणवत्त्व, क्रियावत्त्व, समवायिकारणत्व द्रव्य का लक्षण किया जाता है, और द्रव्य को ही गुणादि का समवायी उपादान कारण माना जाता है, अतः आद्यक्षण में निर्गुण निष्क्रिय द्रव्य उत्पन्न होता है। जहां गुणवत्त्वादि लक्षण की अव्याप्ति होती है, तहां गुणवत्त्व का गुणवत्त्वाऽत्यन्ताभावाऽनधिकरणत्व अर्थ करने पर अव्याप्ति नहीं रहती है, क्योंकि उत्पत्ति क्षण में भी वह अत्यन्ताभावानधिक-रणत्व रहता ही है, इसी प्रकार से उक्त योग्यताऽत्यन्ताभाव के अधिकरणत्व को आत्मा में नहीं रहने से अनधिकरणत्व सदा रहता है, अतः लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है। और योग्यत्व धर्म के मानने से अपसिद्धान्त भी नहीं होता है, क्योंकि पारमार्थिक गुण धर्मादि का अभाव ब्रह्मात्मा में वेदान्ती मानते हैं, और काल्पनिक (मिथ्या) धर्मों को आत्मा में संसार (सृष्टि) काल में मानते ही हैं। अतएव बृहदारण्यक वार्तिककार, श्री सुरेश्वराचार्य जी का वार्तिक है कि—

"अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्" ॥

इति सुरेश्वराचार्यवचनात्। "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति

धर्मा" इति पञ्चपादिकाचार्यवचनाच्च। मोक्षदशायां च विवक्षितधर्माभावेऽपि
कदाचित्सत्त्वेन तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य गुणाश्रयो द्रव्यमितिवत्सिद्धेः।
अपरोक्षव्यवहारयोग्यघटाद्यावतिव्याप्तिपरिहारार्थमवेद्यत्वे सतीति विशेष-
णम्। नचैतावदस्तु लक्षणमिति वाच्यम्; तथा सत्यतीतानागतयोर्नित्यानुमेयेषु
च धर्मादिष्वतिव्याप्तेः।

कः खल्वेवं वदेत्संसारदशायामपि काल्पनिकधर्मा न सन्तीति किं परः ? किं वा
स्वयूथ्यः कश्चित् ? परश्चेद्वियदाद्यारोपसमर्थनेन समर्थनीयः। उत्तरमाप्तवाक्येन संमत-
यति—अक्षमा भवत इत्यादिना। अद्वितीयात्मनः साधकत्वकल्पनायां केयमक्षमा
असहिष्णुता भवतः किं तत्रैव समस्तप्रपञ्चं कल्पितं न पश्यसि ततोऽत्यल्पमिदमित्यर्थः।
"विषयिणस्तद्धर्माणां च"त्यध्यासभाष्यावयवं व्याचक्षाणैः पञ्चपादिकाकृद्भिः—ननु
विषयिणश्चिदेकरसस्य कुतो धर्मा ये विषयेऽध्यस्येरन्नित्याक्षिप्य समाहितं—

'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते'॥ इति।

ननु संसारदशायां कल्पनासंभवः मोक्षदशायां तु तदभावादव्याप्तिरित्यत आह—मोक्ष-
दशायामिति। यद्यप्ययमपि कश्चन धर्मस्तथापि परैस्तदभावरूपत्वेनाङ्गीकृतत्वाद्
अभावभावयोरेवंविधस्थलेष्वनतिरेकस्वीकाराच्च न दोषः। एतच्च पूर्वोक्तस्यैव
विवरणम्। इदानीं लक्षणविशेषणानां कृत्यमाह—अपरोक्षेत्यादिना।

अद्वितीय ब्रह्मात्मा के जगत्साधकत्व (हेतुत्व) की कल्पना में आपको यह अक्षमा
(असहिष्णुता) क्या हो रही है, क्या आप सम्पूर्ण संसार को उस ब्रह्मात्मा में ही
कल्पित नहीं देख रहे हैं। अतः साधकत्व की तो अति अल्प कल्पना है, सो मान्य है।
और अध्यासभाष्य के अवयव का व्याख्यान करते हुए श्रीपञ्चपादिकाऽऽचार्य ने, "एकरस
प्रकाशस्वरूप आत्मा के धर्म ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं, कि जिनका विषयों में अध्यास
हो सके" इस प्रकार से शंका करके कहा है कि, आनन्द, विषयों का अनुभव, और
नित्यत्व, ये आत्मा के धर्म हैं, वस्तुतः आनन्दादि आत्मा से पृथक् नहीं है, तत्स्वरूप हैं,
परन्तु अनात्मा दुःखादि की अपेक्षा से पृथक् के समान भासते हैं, अतः धर्म कहे जाते हैं,
इत्यादि। यदि कहा जाय कि संसार अवस्था में योग्यत्वादि धर्म कल्पना सम्भव है,
परन्तु मोक्षदशा में कल्पना के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति होगी, तो उत्तर है कि
मोक्षदशा में विवक्षित (उक्त योग्यत्वादि) धर्म के अभाव रहते भी, कभी, संसारावस्था
में, धर्म के सत्त्व रहने से, उस धर्म के अत्यन्ताभाव के अनधिकरणत्व (अत्यन्ताभाव के
अधिकरणत्व का अभाव) सदातन सिद्ध होता है। जैसे कि गुणाश्रय द्रव्य सदातन
सिद्ध होता है। अपरोक्ष व्यवहार के योग्य घटादि में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये,
उक्त योग्यत्व का अवेद्यत्व विशेषण है, यदि कहा जाय कि, अवेद्यत्व, इतना ही स्वप्रकाश
का लक्षण रहे, तो सो कहना युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वैसा लक्षण करने पर,

अतीत (भूत) और अनागत (भावी) कार्यों में तथा नित्य (सदा) अनुमेय (प्रत्यक्षागोचर) धर्मादि में अतिव्याप्ति होगी, सिद्धान्त के अनुसार वे सब वेद्य नहीं हैं।

ननु तेषामप्यागमवेद्यत्वान्नावेद्यत्वमिति चेत्, मैवम्; फलव्याप्यतालक्षणवेद्यत्वस्य तत्राभावात्। तत्र विशिष्टशब्दप्रमाणबलात्तदाकारधीवृत्तिसमुल्लासमात्रादेव तद्व्यवहार इति वेदवादिनां प्रक्रिया। न च योगिप्रत्यक्षगम्यतया अपरोक्षत्वं धर्मादीनां; चोदनैकप्रमाणवेद्यत्वात्तेषाम्। न चैतावता सर्वदर्शित्वाभावो योगिनाम्; सर्वदर्शित्वशब्देन योग्यसर्वद्रष्टृत्वस्य विवक्षितत्वात्—

'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥'

इति न्यायात्। अतो धर्मादिव्यवच्छेदार्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीति विशेषणम्।

अवेद्यत्वशब्देन ज्ञानाविषयत्वमभिमतमिति भ्रान्तः शङ्कते—नन्विति। फलव्याप्यतेति। विषयावच्छिन्नं चैतन्यमभिव्यक्तं फलमिति वेदान्तवादिनां मतम्। अभिव्यक्तिश्चेन्द्रियद्वारा अर्थसंनिकृष्टमनःपरिणामविशेषः। नचैवंविधः परिणामविशेषोऽदृष्टादिषु संभवति; तेषामिन्द्रियायोग्यत्वात्। एतेनातीतादि व्याख्यातम्। तस्मान्न धर्मादीनां फलावच्छेदकतया वेद्यत्वमित्यर्थः।

'यथानयैव व्यवहारसिद्धिरद्धा भवेत्कल्पनयान्यथा न।
तथोदितं तत्तदगाधधीभिरतो वयं विस्तरतो विभीताः॥'

ननु यदि न वेद्यत्वं तेषां कथं तर्हि तेषु विज्ञानमनुष्ठानमित्यादिव्यवहार इत्यत आह—तत्रेति। विशिष्टशब्दप्रमाणं विधिवाक्यादि। धीवृत्तिरन्तःकरणपरिणामस्तस्य समुल्लास उदयस्तन्मात्रादित्यर्थः। ननु यद्यपि धर्मादीनां नास्मदादिप्रत्यक्षगम्यत्वं तथापि योगिनां भवति तत्प्रत्यक्षमत एव वेद्यत्वमित्यत आह—नचेति। अयमभिसंधिः—न तावद्धर्मादीनां बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं, रूपादिहीनतया तदुपहितमर्यादाविषयाणामिन्द्रियाणां तत्राप्रवृत्तेः। मानसत्वं तु तेषामात्मगुणत्वेऽपि संस्कारवदयोग्यत्वेन दूरनिरस्तम्। अथ विशिष्टादृष्टसामर्थ्यात्तेषां तेषु विषयेषु सामर्थ्यमिति मतं, तर्हि तदेव हि विशिष्टादृष्टज्ञानं कथंकारमेषामुदेति? अज्ञातेषु तेषामनुष्ठानायोगात्। अथ योग्यन्तरवचनात्तदाऽन्धपरम्परा। अथ नित्यसिद्धेश्वरवचनात्; स्यादेवं यदि नित्यसिद्ध ईश्वरः सिद्ध्येत। आगमबलादीश्वरसिद्धिरिति चेत्तत् किमीश्वरवचनतया प्रमाणमपौरुषेयतया वा। प्रथमे त्वितरेतराश्रयं, तद्विरचनात्तत्प्रामाण्यं, तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धिरिति। उत्तरे त्वपराद्धान्तः। यथा चानुमानजातमपि न पराभिमतेश्वरे वर्तते, यथा चापौरुषेयत्वं वेदस्य, तत्सर्वमग्रग्रन्थे निवेदयिष्यते। अथागमाज्ज्ञातेष्वनुष्ठानमिति। अस्तु तर्हि स एवागमस्तत्र प्रमाणम्, अवश्यापेक्षणीयत्वात्कृतं तदुपजीविभिर्योगिभिरिति। ननु यदि न योगिनामयोग्यविषयेषु सामर्थ्यं, कुतं तर्हि तेषां सर्वदर्शित्वप्रद-

शंकशास्त्राधिना। अत आह—नचैतावतेति। प्रमाणान्तरबलात्सर्वशब्दः संकोचनीय इत्यर्थः। यत्रापि विषयेऽतिशयो दृष्टः पार्थसंपातिप्रभृतीनां विश्वरूपाशोकवनिकानिहितसीतादिषु, सोऽतिशयः स्वार्थानतिलंघनाद् द्रष्टव्यः। अनतिलंघनमेवाह—दूरसूक्ष्मादीति। योग्य एव विषये दूरवर्तिनि सूक्ष्मे वा दर्शनं तत्र, न पुना रूपादौ श्रोत्रादेर्वृत्तिरिति भट्टोक्तेरर्थः।

शंका होती है कि भूत और भावी को तथा धर्मादि को भी अनुमान और आगम से वेद्यता सिद्ध होती है, अतः अवेद्यत्व नहीं रहता है, क्योंकि ज्ञानाऽविषयत्व अवेद्यत्व शब्द का अर्थ होता है, सो उनमें नहीं है, किन्तु परोक्षज्ञान से वेद्यत्व ही है, अतः अवेद्यत्व मात्र लक्षण की भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। उत्तर है कि यह शंका युक्त नहीं क्योंकि साधारण ज्ञान विषयत्व मात्र वेद्यत्व विवक्षित नहीं है, किन्तु अर्थाकार वृत्ति निष्ठ चिदाभास रूप फल से व्याप्यता (प्रकाशमानता) रूप वेद्यता होती है, उसका उक्त धर्मादि में अभाव रहता है। अतः अवेद्यत्व लक्षण की अतिव्याप्ति होती ही है। क्योंकि विशिष्ट शब्द (विधिवाक्य आप्तवाक्यादि) रूप प्रमाण के बल से, भूतभावी धर्मादि अर्थाकार धी (अन्तःकरण) की परोक्षवृत्ति की उत्पत्तिमात्र से ही उनके कथन अनुष्ठानादि व्यवहार होते हैं, यह वेदवादियों की प्रक्रिया है। भाव है कि शब्दादि के प्रत्यक्ष ज्ञानस्थान में इन्द्रियजन्य अन्तःकरण की वृत्ति विषय स्थान में जाकर विषयाकार होती है, और उपाधिरूप विषय और वृत्तिके एकत्र होनेसे उपहित चेतन यह दोनों एक हो जाता है, और वृत्ति से व्यक्त होकर विषय को प्रकाशता है, वृत्तिगत चिदाभास भी विषय को विशेष रूप से प्रकाशता है, वही वेदन (विज्ञान) कहा जाता है और भूतभावी के ज्ञानस्थान में विषयदेश में वृत्ति नहीं जाती है, भीतर उत्पन्न होती है। धर्मादि के ज्ञान धर्मादिदेश अन्तःकरण में उत्पन्न होने पर भी विषय धर्मादि की अयोग्यता से वृत्ति विशेष धर्माकार को नहीं प्राप्त होती है, अतः वह वेदन नहीं कही जाती अतएव उसका विषय ज्ञेय होते भी वेद्य नहीं होता है (यः सर्वज्ञः सर्ववित्) इस श्रुति में भी ज्ञान और वेदन का भेद माना गया है, इत्यादि।

योगियों के प्रत्यक्ष का विषय होनेसे धर्मादि को अपरोक्षत्व (फल व्याप्यत्व) होगा, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि चोदना (वैदिक विधि वाक्य) रूप एक प्रमाण से ही उन धर्मादि को जाना जाता है, ऐसा (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) चोदना (विधि) ही जिसका लक्षण (प्रमाण) है सो अर्थ धर्म कहा जाता है, इत्यादि पूर्वमीमांसा में निर्णय किया गया है। यदि कहा जाय कि धर्मादि के ज्ञानके बिना योगियों को सर्वज्ञत्व कैसे होगी, तो कहा जाता है कि, एतावता, धर्मादि के अपरोक्ष ज्ञानाऽभाव से योगियों के सर्वदर्शित्व (सर्वज्ञत्व) के अभाव की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि योगिविषयक सर्वदर्शित्व शब्द से श्रोत्र नेत्रादि के द्वारा श्रवण दर्शनादि योग्य दूर व्यवहितादि शब्दादि का द्रष्टृत्व ही विवक्षित है, अयोग्य धर्मादि का द्रष्टृत्व विवक्षित नहीं है, क्योंकि तप योगादि जन्य अदृष्टादि बल से जिन योगियों के इन्द्रियों में अतिशय (सामर्थ्य विशेष) देखा गया है, सो सामर्थ्य भी इन्द्रियों के विषय का उलंघन (त्याग) नहीं

करता है, अतः रूपविषयक दूर सूक्ष्म के दर्शन में श्रोत्रवृत्तिता (श्रोत्रजन्यता) नहीं हो सकती है, इसी रीति से धर्मादि विषयक धर्मादि विषय नेत्रादिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान योगी को भी नहीं हो सकता है, क्योंकि नेत्रादि से प्रत्यक्षयोग्यता के कारण रूपादि धर्मादि में नहीं हैं, संस्कार के समान अयोग्य होने से मानस प्रत्यक्ष भी धर्मादि का नहीं होता है। अर्जुन आदि को भी पुण्य बल से तत्तदिन्द्रिय योग्य का ही प्रत्यक्ष हुआ, धर्मादि का नहीं। वस्तुतः जीवन्मुक्त योगी, ईश्वर कोटि और अनीश्वर कोटि भेद से दो प्रकार के माने गये हैं, और ईश्वर के विषय में श्रुति कहती है कि (यः सर्वज्ञः सर्ववित्। मुण्डक १।१।९) जो सर्वज्ञ (सामान्य रूप से सर्व का ज्ञाता) है, और सर्ववित् (विशेष रूप से सर्व का ज्ञाता) है। तथा (पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। श्वेता ३।१९) आँख रहित होता हुआ देखता है, कर्ण रहित होता हुआ सुनता है। इत्यादि, ऐसे ईश्वर को भट्टमत के अनुसार नहीं मानने पर, धर्मादि में अतिव्याप्ति के वारण के लिये, अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व यह विशेष्य अवश्य लक्षण में देना चाहिये, या (अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वम्) इस प्रकार से विशेषण करना चाहिये, ईश्वर के स्वीकार-पक्ष में भी (ईश्वरादन्यैरवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्) ऐसा लक्षण समझना चाहिये ॥

नन्वज्ञानान्तःकरणतद्धर्मेच्छादिषु शुक्तिरजतादिषु च लक्षणातिव्याप्तिस्तदवस्था, तेषामपि फलव्याप्यत्वाभावेनावेद्यत्वात्, अहमज्ञ इत्याद्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाच्चेति चेत्, सत्यम्; अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्षव्यवहारयोग्यता तेषाम्, अध्यस्ततयैव तेषां सिद्धेः। ननु तथाप्यपरोक्षमिति व्यवहारदर्शनात्तद्योग्यता तत्र कल्पनीयेति चेत्, मैवम्; रजतादिव्यवहारयोग्येऽपि शुक्तिशकलादौ रजतादिव्यवहारादर्शनात्। नन्वेवं सत्यवेद्यत्वविशेषणस्य न व्यवच्छेद्यमस्ति, त्वन्मते घटादेरध्यस्ततया अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावात्, मैवम्; व्यवहारदशायां तेषां प्रत्यक्षप्रमाणविषयाणामपरोक्षव्यवहारयोग्यताङ्गीकरात्।

फलव्याप्यत्वाभावेनेति। प्रमाणाविषयत्वेन केवलसाक्षिवेद्यत्वादित्यर्थः। परिहरति—सत्यम्। अवेद्यत्वेऽपीति। नाज्ञानादीनां साक्षादपरोक्षता साक्षिवेद्यतया तेषां साक्षादपरोक्षाध्यासाद्वैवापरोक्षत्वादित्यर्थः। उत्तरौ चोद्यपरिहारौ स्पष्टार्थौ। ननु यदि स्वतोऽपरोक्षत्वं चैतन्यस्यैवाज्ञानादीनां तु तदध्यासादपरोक्षत्वमस्तीति नापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति ब्रूषे; तर्हि घटादावपि तुल्यमिति न तेषामप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वप्राप्तिरस्माकमव्यवच्छेद्यार्थं सत्यवेद्यत्वविशेषणं व्यर्थमिति शङ्कते—नन्वेवमिति। व्यवहारदशायामिति। यद्यपि वास्तवापरोक्षत्वाभावो घटादेरज्ञानादेश्च समानस्तथाप्यर्थक्रियाक्षममपरोक्षं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं सत्त्वमिव घटादेरस्ति अज्ञानादेस्तु तन्नास्ति प्रत्यक्षादिविषयताया अभावात्। अतः शुक्तिरजतादिसत्त्वं प्रातीतिकमित्यर्थः।

फिर शंका होती है कि, अज्ञान, अन्तःकरण के धर्म इच्छा आदि और शुक्ति रजतादि में लक्षण की अति व्याप्ति तदवस्थ (अवश्य) है। क्योंकि उन अज्ञानादि में भी फल व्याप्यता के अभाव से अवेद्यत्व रहता है, और मैं अज्ञानी हूं, कामी हूं, इत्यादि व्यवहार से अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता भी सिद्ध होती है। उत्तर है कि उनमें अवेद्यत्व है, यह आपका कथन सत्य है किन्तु अवेद्यत्व के होते अपरोक्षव्यवहारयोग्यता उनमें नहीं रहती है, क्योंकि अपरोक्ष ब्रह्म स्वरूप साक्षी में अध्यस्त (कल्पित=सिद्ध) होने से ही उनकी सिद्धि होती है, अधिष्ठान साक्षी की अपरोक्षता उनमें भासती है, अतः उक्त व्यवहाराधीन उनमें अपरोक्षव्यवहार की योग्यता नहीं मानी जा सकती है। यदि शंका हो कि अज्ञानादि के अपरोक्ष ब्रह्मात्मा में अध्यस्त होने पर भी उनमें अपरोक्ष ऐसा व्यवहार (शब्द प्रयोग) के दर्शन (ज्ञान) से, उनमें साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान की योग्यता कल्पनीय (अनुमेय) है, तो यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि रजतादि व्यवहार के अयोग्य भी शुक्तिशकल (खण्ड) आदि में भ्रमकाल में रजतादि का व्यवहार देखा जाता है, अतः व्यवहारमात्र से व्यवहारयोग्यता की कल्पना नहीं हो सकती है। योग्यता के विना अध्यासमात्र से भी तत्तद् व्यवहार होता है॥

शंका होती है कि उक्त रीति से अध्यस्त में अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता को नहीं मानने पर, लक्षण में अवेद्यत्व विशेषण से व्यवच्छेद्य (व्यावर्तनीय) कोई वस्तु नहीं रह जाती है, उससे वेद्य घटादि की व्यावृत्ति कही गई थी, सो अब, प्रत्यक्ष व्यवहार योग्यत्व मात्र से ही व्यावृत्त हो सकता है, क्योंकि आप वेदान्ती के मत में घटादि भी अध्यस्त ही है, अतः उसमें साक्षात् अपरोक्ष व्यवहार योग्यता नहीं है, किन्तु अधिष्ठानाधीन है, ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि व्यवहार दशा में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय उन घटादिकों की अपरोक्ष व्यवहार योग्यता मानी जाती है, अतः अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व से उनकी व्यावृत्ति नहीं होने के कारण उनकी व्यावृत्ति के लिये अवेद्यत्व विशेषण सार्थक है॥

तथाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वमेव लक्षणमस्तु व्यभिचाराभावादिति चेत्,
सत्यम्; अपरोक्षज्ञानविषयत्वेनैव घटादेरपरोक्षत्वाङ्गीकाराद्, अत्रापि तथा-
त्वाद्व्याघात इति विभ्रमो माभूदिति तद्व्यवहारेणैव प्रतिवादिनामपि संप्रति-
पन्नेन तदेव स्फुटीक्रियत इति न कश्चिद्दोषः। कथं तर्हि अवेद्यस्य व्यवहारयो-
ग्यत्वमिति चेत्; किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वं न स्यादित्यनिष्टप्रसञ्जनम्?
उत व्यवहारविषयत्वाद्वेद्यत्वानुमानम्? नाद्यः; आपाद्यापादकयोरुभयोरपि
परेषामप्रसिद्धेः। नेतरः; तस्य सप्रतिसाधननिरासमये निराकरिष्यमाण-
त्वात्। तस्मादनाविलं स्वप्रकाशलक्षणम्।

ननु तथापि व्यवहारयोग्यतापदस्य कृत्यं न पश्यामः, अवेद्यतापदेन घटादिव्यावृ-
त्तेरपरोक्षतापदेनाज्ञानादिव्यावृत्तेरिति शङ्कते—तथापीति। परिहरति—सत्यमिति।
अयमर्थः—अपरोक्षज्ञानविषयेऽपि तावदपरोक्षशब्दः प्रयुज्यते। तत्रापरोक्षमित्युक्ते
व्यावृत्तिशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमवेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानं व्यवहार-योग्यतापदग्रहणमिति।

वस्तुतस्तु न प्रसरत्येव घटादिष्वपरोक्षत्वं, तस्या प्रमात्वावान्तरजातितयाऽप्रमायां घटादावभावात्। नच मिथ्याज्ञानेऽपि भावात्प्रमात्वेन परापरभावाभावान्न जातिरिति वाच्यम्; तथारोपाङ्गीकाराच्छब्दप्रयोगस्यापि तन्मार्गत्वात्। अन्यथा घटत्वादेरप्यपलापप्रसङ्गात्सुवर्णनिर्मितेऽपि घटशब्द-प्रयोगेण पृथिवीत्वादिना परापरभावाभावस्यापि शक्यवचनत्वात्। यद्यपि व्यवहारो ज्ञानमपि भवति तथाप्यवेद्यत्वविशेषणानुरोधेन शब्दप्रयोग एव स्वीक्रियते। तेन न पूर्वपक्षावसरोक्तदूषणप्रसरः। यद्यपि योग्यताव्यतिरेकेणापि लक्षणं शक्यसमर्थनं तथापि सुषुप्तौ तदभावेऽपि योग्यत्वस्य सत्तोऽत्यागाय तद्ग्रहणम्। व्यवहारविषयत्वादेव ज्ञानविषयत्वमपि सिद्ध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—कथं तर्हीति। तदेतत्प्रसङ्गो वा? प्रसाधनं वेति विकल्प्य दूषयति—किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वमित्यादिना। आपाद्यापादकयोरिति। क्वचित्प्रमितेन पक्षे चाहार्यारोपितेन क्वचिद्व्यापकतया प्रमितं पक्षे चानभिमतमापाद्यत इति हि स्थितिस्तदिहावेद्यत्वेनापादकेन प्रमितेन भवितव्यम्। न चैतत्सर्वं प्रत्यक्षमिति मन्यमानस्य संभवति। नापि व्यवहाराविषयत्वस्य प्रमितिरिति केन किमापाद्यत इत्यर्थः। तस्य सप्रतिसाधननिराससमय इति। लक्षणदूषणसमये प्रत्यनुमानप्रयोगोऽनवसरनिरस्त इत्यर्थः॥

फिर भी जिज्ञासा होती है कि (अवेद्यत्वे सति प्रत्यक्षव्यवहारयोग्यत्वं) इस लक्षण में व्यवहारयोग्य, इतना भाग निष्फल है, (अवेद्यत्वे सति अप्रत्यक्षत्वम्) अवेद्यत्व युक्त प्रत्यक्ष जो होता है, सो स्वप्रकाश है, इतना ही लक्षण रहे, तो भी कहीं व्यभिचार (अतिव्याप्ति) नहीं होता है, तहाँ कहा जाता है कि यद्यपि प्रत्यक्ष व्यवहार योग्यत्व के स्थान में, प्रत्यक्षत्व कहने से लाघव है, और अतिव्याप्ति भी नहीं है, यह कहना सत्य है, तथापि-घटादि की अपरोक्षता अपरोक्ष ज्ञान विषयत्व से ही मानी जाती है, अतः ब्रह्मात्मा में भी वैसी ही अपरोक्षज्ञान विषयत्व रूप प्रत्यक्षता लक्षण से प्राप्त होगी, किन्तु उसका अवेद्यत्वके साथ विरोध होनेसे व्याघात का भ्रम होगा सो भ्रम न हो इसके लिये, अपरोक्षत्व मात्र नहीं कहकर, प्रतिवादी को सम्मत अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व शब्द द्वारा ही प्रतिवादी का सम्मत लक्षण स्फुट किया जाता है, क्योंकि प्रतिवादी को भी ब्रह्म में अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व सम्मत है, और व्यवहार को अवेद्यत्व के साथ प्रत्यक्ष कोई विरोध नहीं है, इत्यादि॥

यदि कोई कहे कि अवेद्य ब्रह्म को व्यवहार योग्यत्व या विषयत्व कैसे होगा, लोक में तो वेद्य ही व्यवहार का विषय वा योग्य देखा जाता है। तहाँ कहने वाले से पूछा जा सकता है कि, क्या, अवेद्यत्व के रहने पर, व्यवहार विषयत्व नहीं होगा, इस प्रकार के अनिष्टाऽऽपादन (प्राप्ति) में आपका तात्पर्य है, या अपरोक्ष व्यवहार विषयता से वेद्यत्व के अनुमान में तात्पर्य है। तहाँ प्रथम पक्ष तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि अवेद्यत्व रूप आपादक, और व्यवहाराऽविषयत्वरूप आपाद्य, ये दोनों ही आप तार्किकों के मत में अप्रसिद्ध हैं, और कहीं प्रसिद्ध का ही अन्यत्र प्रसञ्जन (प्राप्ति प्रदर्शन) हो सकता है। अप्रसिद्ध का नहीं। तार्किकमत में वेद्यत्व, और अपरोक्ष व्यवहारविषयत्व (योग्यत्व)

दोनों केवलान्वयी हैं, क्योंकि जीव से अवेद्यादि भी ईश्वर से वेद्यादि हैं। अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व से वेद्यत्व का अनुमानरूप दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि सत्प्रतिपक्ष के निराकरण प्रसङ्ग में उसका आगे निराकरण (खण्डन) करना है. लक्षण के दूषणादि समय प्रतिपक्ष का अवसर नहीं है॥ अतः स्वप्रकाश का लक्षण निर्दोष है॥ लक्षण का समर्थन करके, आगे प्रमाण का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाता है—

प्रमाणमपि—अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानम्। न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम्; यतः—

सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे।
कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः॥ २॥

तथा हि—वेद्यत्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात् शौक्ल्यवदिति सामान्यतो दृष्टानुमानेनानिर्धारितधर्मिविशेषनिष्ठस्यावेद्यत्वधर्मस्य प्रसिद्धत्वात्, केवलव्यतिरेकिणश्चोभयवादिसंप्रतिपन्नापरोक्षव्यवहारयोग्यानुभूतिविशेषावलम्बनताया एव समर्प्यमाणत्वात् नाप्रसिद्धविशेषणता।

तदेवं लक्षणं समर्थयित्वा प्रमाणं समर्थयितुमुपक्रमते—प्रमाणमपीति। स्वप्रकाशलक्षणसंभवेऽपि तादृग्रूपं साध्यं प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा। आद्ये सिद्धसाधनता केवलव्यतिरेकिताव्याकोपश्च। द्वितीयेऽप्रसिद्धविशेषणता इत्यत आह—नचेति। हेतुमवतारयति—यत इति। श्लोकेन हेतुमाह—सामान्यत इति। सामान्यतोऽनुमानेन सामान्यतो दृष्टेन। प्रसिद्धेऽपि विशेषण इत्यत्रापि सामान्यत इत्यनुषञ्जनीयम्। अनिर्धारितधर्मिविशेषतयेत्यर्थः। अत एव सामान्यतोदृष्टानुमाने नानिर्धारितधर्मिविशेषनिष्ठस्येति विवरणम्। अभिन्नक्रमः। सामान्यतोऽपि प्रसिद्धे विशेषणे अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः कथमिति कथय? न कथमपीति योजना। अत्र च सामान्यत इति सिद्धसाधनतापि सामान्यतोदृष्टमेवाह—तथाहि वेद्यत्वमित्यादिना। अभावप्रतियोगीत्युक्ते अन्योन्याभावेन वेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानेनार्थान्तरता स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावग्रहणम्। नचास्तित्वेन व्यभिचारः, तस्य पक्षत्वात् पक्षतुल्यत्वाद्वा। अभिधेयत्वादिष्वपीयमेव गतिः। अन्ततः स्वस्मिन्नेवाभावादात्माश्रयप्रसङ्गात्, उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव दोषत्वमिति प्रक्रियामात्रं, नियमेन प्रमाणानुपलब्धेरविशेषादिति। अत्र च वेद्यत्वप्रसिद्धेश्चेव यद्यपि तदनधिकरणत्वमपि प्रसिद्धं, प्रतियोगिप्रसिद्धेश्चैवाभावप्रसिद्धेः तथापि सुहृद्भूत्वेदमाहेति द्रष्टव्यम्। अनिर्धारितेति। अनिर्धारितो यो धर्मिविशेषस्तन्निष्ठस्येत्यर्थः। °ननु भवत्ववेद्यत्वसिद्धिरपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वस्य कुतः सिद्धिरित्यत आह—केवलव्यतिरेकिणश्चेति। अथवा मानान्तरेणावेद्यत्वसिद्धौ किमनेनानुमानेनेत्यत आह—केवलेति। केवलव्यतिरेकिण इति पञ्चमी। प्रथमपक्षे त्वयमर्थः। अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तावदनुभूतावेव तथापि संप्रतिपन्नं तादृगनुभूतौ त्वावेद्यत्वमन्यतः स्वरूपेण सिद्धं यदा साध्यते तदा किमपरमत्राप्रसिद्धं येनाप्रसिद्ध-

विशेषणता स्यादिति । द्वितीये तु सामान्यतः सिद्धस्यानुमानेन धर्मिविशेषे साधनान्नानर्थक्यमित्यर्थः । एतेन केवलव्यतिरेकितापि रक्षिता अन्यत्र प्रसिद्धयनभ्युपगमात् ।

अनुभव (ज्ञान) स्वयं प्रकाश है, ज्ञानत्व होने से, जो स्वयं प्रकाश नहीं है, वहाँ ज्ञानत्व भी नहीं है, जैसे कि घट है। अनुभव में ज्ञानत्व है, अतः स्व प्रकाशत्व है। यह अनुमान, स्वयं प्रकाशत्व में प्रमाण भी है। इस अनुमान में अप्रसिद्ध विशेषणता (अप्रसिद्ध साध्यता) दोष भी नहीं है, क्यों कि, सामान्यतो दृष्टानुमान से सामान्यतः विशेषण (साध्य) की सिद्धि होने पर आप कहेंगे कि यह अनुभूति रूप पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण (साध्य) वाला कैसे रह सकता है। सामान्यतो दृष्टानुमान का आकार है कि (वेद्यत्व रूप धर्म, किसी में वर्तमान अत्यन्ताऽभाव का प्रतियोगी है क्योंकि यह धर्म हैं, जैसे शुक्लत्व धर्म है,तो उसका कहीं अत्यन्ताभाव अवश्य है, ऐसे ही वेद्यत्व का भी कहीं अभाव है। इस सामान्यतो दृष्टानुमान से अनिर्धारित (विशेषरूप से अनिर्णीत) धर्मी (पक्ष) विशेष में वर्तमान अवेद्य धर्म (साध्य) की प्रसिद्धि होने से, और (अनुभूतिः स्वयं प्रकाशा.) इस व्यतिरेकी अनुमान द्वारा, उभय वादी से सिद्ध मान्य अपरोक्ष व्यवहार योग्य अनुभूति विशेष आलंबता (आलम्बनता-आश्रयताका ही साध्य में समर्पण (साधन) होने से अप्रसिद्धता नहीं रहती है, किन्तु सामान्यतो दृष्टानुमान से अनिर्णीत पक्ष में अवेद्यत्व के सामान्य रूपकी सिद्धि के बाद केवल व्यतिरेकी से प्रतिपक्षी सम्मत भी अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व से पक्ष में साध्य की सिद्धि होती है। क्योंकि अवेद्यत्व प्रतिवादी नहीं मानता है, उसकी सिद्धि सामान्यतो दृष्टाऽनुमान से सिद्ध होती है, अन्यांश तो उभयमत सिद्ध ही है ॥

यद्वा यद्विपर्यये असमीहितप्रसक्तिस्तत्क्वचिन्मानयोग्यमिति सामान्यव्याप्तिः। इह चानुभूतिरनुभाव्या भवति नवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशये सत्यनुभाव्यत्वे सत्यसमीहितप्रसक्तेस्तद्विपर्ययस्य सामान्यतो मानयोग्यत्वाधिगमात्, विशेषप्रमाणापेक्षायां व्यतिरेकिण उपन्यासात् नाप्रसिद्धविशेषणता। अन्यथा कथमिच्छादीनामष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं नैयायिकादयोऽपि साधयेयुरष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यस्याप्रसिद्धावप्रसिद्धविशेषणता, प्रसिद्धौ च हेतोस्तत्र वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वासंभवः, अवृत्तौ चासाधारणानैकान्तिकतापत्तिः। न चैवं सत्यप्रसिद्धविशेषणताया अदूषणतापत्तिः; उक्तसामान्यतोदृष्टानुमानगोचरत्वासंभवे शशविषाणोल्लिखिता भूरित्यादौ तस्याः सावकाशत्वात्।

एवमुदयनरीत्या केवलव्यतिरेकिणः प्रामाण्यं समर्थितम्, संप्रति लीलावतीकाररीत्याप्याह—यद्वेति। यस्य वैपरीत्याङ्गीकारे प्रमाणान्तरबाधादिप्रसक्तिस्तत्प्रमाणयोग्यमिति सामान्याकारेण व्याप्तिः। व्याप्तहेतोः पक्षधर्मतामाह— इह चेति। वादिनः सर्वत्र विपक्षबाधाप्रमाणोन्नयनम् ? तथाच गतं घटादिप्रत्यक्षेणाविमर्शपूर्वकेणेत्यत आह —संशये सतीति। कोटिद्वयाप्रसिद्धया साधारणधर्मदर्शनाभावान्न संशयोऽत उक्तम्—

विप्रतिपत्तेरिति । इदं च प्रयोगशरीरं—वेद्यत्वमनुभवनिष्ठ प्रामाणिकात्यन्ताभाव-प्रतियोगि तर्कादिबाधितत्वात् यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरजतादि यथा वा घटत्वादि । तर्कमात्रं चेदिदमित्याशङ्क्य प्रस्तुतानुमानोपयोगमाह—विशेषप्रमाणापेक्षायामिति । अत्र सामान्यतोऽनुमानेनेतिसामान्येन प्रमाणोन्नयनेनेति योजनीयम्। एतदेव प्रतिबन्द्या साधयति अन्यथेति । अनुपपत्तिसाम्यं तावदाह-अष्टद्रव्यव्यतिरिक्तेति । तत्र वृत्ताविति । अत्र ह्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यप्रसिद्धौ तदाश्रितगुणादीनां सपक्षत्वम् । तथा च तत्र हेतुवृत्त्यवृत्त्योर्दूषणद्वयं स्यादित्यर्थः । एवमनुपपत्तौ समानायामस्मदुक्तविधामन्तरेण नापरा विधाऽस्तीति भावः । तथाहि इच्छादयो गुणाः अनित्यत्वे सत्यस्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् गन्धवदित्यादिना गुणत्वे स्थिते गुणत्वापरजातिमत्तया नियतैकद्रव्यव्यवच्छेदकतया विशेषगुणत्वे च सिद्धे सतीच्छादयः क्वाचिदाश्रिताः गुणत्वाद्रूपवदिति सामान्यतोदृष्टानुमानेनानिर्धारिते कस्मिंश्चिदाश्रये सिद्धे न तावत्स्पर्शवद्विशेषगुणाः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, प्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वाद्वा । नाप्याकाशविशेषगुणाः बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् । नापि दिक्कालमनसां विशेषगुणत्वादिनाऽष्टद्रव्याश्रयत्वानुपपत्तौ सिद्धायामिच्छादयोऽष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रयाः, तेष्वनुपपद्यमानत्वे सति गुणत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा गन्धादीति केवलव्यतिरेकिणैव सिद्धिरिति । नन्वेवंविधपरिहारज्ञानस्य सर्वत्र सुलभत्वाद्गता अप्रसिद्धविशेषणतातपस्विनीत्यत आह—नचैवं सतीति । एतदुक्तं भवति—न सर्वत्रैवंविधः परिहारः सुलभः असमाधेयाप्रसिद्धविशेषणत्वानामपि 'भूमिः दाशविपाणोल्लिखिता' इत्यादीनां संभवात् तेषु चास्याः साम्राज्यमिति । तदेवमृजुरीत्याऽप्रसिद्धविशेषणतां परिजहार ।

यद्वा (अथवा) जिस पदार्थ के विपर्यय (वैपरीत्य = अभाव) के मानने (रहने) पर अनवस्था बाधादि अनिष्ट की प्राप्ति हो, वह पदार्थ कहीं प्रमाण योग्य (प्रमाण का विषय) अवश्य रहता है । यह सामान्य व्याप्ति (नियम) है । जैसे आकाशादि के समान सर्वत्र जाति के अभाव मानने पर गवादि में अनुगत प्रतीति की बाधापत्ति होती है, गवादि के समान सर्वत्र जाति के अभाव के अभाव (जाति) को मानने पर अनवस्था प्राप्त होती है, जाति में भी जाति प्राप्त होती है, इत्यादि । यहाँ प्रकृत में तो अनुभूति अनुभाव्य (अनुभव का विषय) होती है, या नहीं, इस प्रकार प्रतिवादियों की विप्रतिपत्ति (विरुद्धवाक्य) से संशय होने पर, अनुभूति को अनुभाव्यत्व (अनुभवविषयत्व) माना जाय तो अनवस्था आदि अनिष्ट की प्राप्ति होती है, अतः उस अनुभाव्यत्व (अनुभवविषयत्व) के अभाव (अवेद्यता) के सामान्य रूप से कहीं मानयोग्यता के ज्ञान होने पर, फिर विशेष प्रमाण की अपेक्षा (जिज्ञासा) होती है, तब उक्त व्यतिरेकी अनुमान का उपन्यास (उल्लेख) किया गया है कि (अनुभूतिः स्वयं प्रकाशा) इत्यादि, अतः अप्रसिद्धविशेषता दोष नहीं है ।

अन्यथा (उक्त सामान्य व्याप्ति के अस्वीकार करने पर) नैयायिकादिभी इच्छादि को अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व कैसे चार्वाकादि के प्रति सिद्ध कर सकेंगे । अर्थात्

इच्छा आदि, भूमि आदि आठ द्रव्य से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित हैं, क्योंकि गुण है। इस अनुमान से आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकेंगे, क्योंकि आठ द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्य के अप्रसिद्ध रहते अप्रसिद्ध विशेषणता होती है, और प्रसिद्ध होने पर भी यदि वहाँ हेतु रहता है, तो हेतु की अन्वयव्यतिरेकिता से केवल व्यतिरेकिता का असम्भव (अभाव) होता है। और पक्ष से अतिरिक्त साध्य के स्थान में हेतु के नहीं रहने पर पक्षमात्र वृत्ति-गुणत्व हेतु में असाधारण अनैकान्तिकता की प्राप्ति होती है। अतः अनुमानान्तर से विशेष गुणत्व और अष्ट द्रव्यावृत्तित्व सिद्ध होने पर (इच्छादयोऽष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रिता, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गन्धः) इस व्यतिरेकी से ही अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व नैयायिकादि भी इच्छादि में सिद्ध कर सकते हैं, इसी प्रकार से वेदान्त में स्वप्रकाशत्व की सिद्धि होती है। शंका होती है कि उक्त सामान्य व्याप्ति और केवल व्यतिरेकी द्वारा तो सर्वत्र साध्य की प्रसिद्धि की जा सकती है, तो अप्रसिद्ध विशेषणता रूप दूषण का ही अभाव प्राप्त होता है, उत्तर है कि दूषण का अभाव नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि (भूमिः, शशविषाणोल्लिखिता, भूमित्वात्, यन्नैवं, तन्नैवम् यथा जलम्) इत्यादि सामान्यतो दृष्टानुमानादि के अविषय स्थान में अप्रसिद्धविशेषणता का अवकाश है, स्थान है।

अथवा अयं घट एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः पदार्थत्वात्पटवदित्यादिमहाविद्याप्रयोगैरप्यवेद्यत्वप्रसिद्धिरप्यूहनीया।

ये तु वक्ररीतिं रोचयन्ते तान्प्रति महाविद्याभिरपि साध्यप्रसिद्धिं सुलभयति—अथवेति। अयं घटः वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्ववेद्यत्ववादिनोऽनुमानात्पुरस्तात्तदनधिकरणासिद्धेरत उक्तं—घटान्यत्वे सतीति। घटत्वानधिकरत्व इति यावत्। तथा च सर्वघटेषु सिद्धसाधनं, तत उक्तं—एतदिति। एतस्य च घटस्य वेद्यत्वाधिकरणत्वेऽपि स्वान्यत्वं प्रत्यनधिकरणत्वात्तथाविधघटान्यत्वस्य च पटादावेव प्रसिद्धेर्नाप्रसिद्धविशेषणतासिद्धसाधनते इत्यर्थः। घटमात्रं पक्षीकृत्यैतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते घटान्तरमादायार्थान्तरता, घटान्तरस्याप्येतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणादेवस्मादन्यत्वात्तद्व्यवच्छेदार्थमयमिति पदम्। एतस्यैव घटस्य एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वं साध्यमाने घटान्तरमादायार्थान्तरताया अनवकाशात्। एतद्घटान्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते व्याहृतिः स्यादेतद्घटस्यैतद्घटान्यत्वायोगात् तदर्थं वेद्यत्वपदम्। अत्र चैतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणमयं घटस्तदन्यत्वमादाय पटादौ साध्यप्रसिद्धिः। पक्षे त्वेतद्घटस्यैतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वमेतद्घटान्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा ? वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा स्यात् ? आद्ये, व्याहृतिः। एतस्यैव घटस्यैतद्घटान्यत्वायोगात्। अत एतद्घटान्यत्वे-सति वेद्यत्वानधिकरणमन्यत्किंचिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यवेद्यत्वसिद्धिः। आदिग्रहणेन 'वेद्यत्वं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्तिधर्माधिकरणं मेयत्वादि' इत्यादि संगृहीतम्। एतदपि सामान्यतोऽनुमानेनेति संगृहीतमेव।

अथवा महती विद्या के हेतु प्रयोगों के द्वारा भी अवेद्यत्व की प्रसिद्धि अनुभूति में ऊहनीय (अनुमेय) है। प्रयोग (अनुमान का आकार) यह है कि (यह एक व्यक्तिरूप घट, इस घट से अन्यत्व युक्त वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य है, पदार्थ होने से, पट के समान) यहाँ एक व्यक्ति घट से अन्यत्व युक्त वेद्यत्व पट में रहेगा, उसका अनधिकरण, एक व्यक्ति घट ही होगा, उससे अन्य (भेदवाला) पट होगा, इस प्रकार से पटरूप दृष्टान्त में तो हेतु के स्थान में साध्य की प्रसिद्धि होती है, परन्तु एक व्यक्ति, स्वान्यत्व युक्त वेद्यत्व का अनधिकरण आप ही है, तब तो उक्त वेद्यत्वानधिकरण से अन्य आप हो नहीं सकता है, किन्तु स्वान्यत्वयुक्त वेद्यत्व का अनधिकरण, उससे अन्य कोई भी हो, तो उस घट रूप पक्ष में तदन्यत्वयुक्त वेद्यत्वानधिकरण से अन्यत्व रूप साध्य की सिद्धि होती है, अतः अनुभूति में तद्घटान्यत्व के रहते भी वेद्यत्व के अभाव से, तद्घटान्ययुक्तवेद्यत्व का अनधिकरणत्व रहना है और उसका भेद एतद्व्यक्ति घट में रहता है, इस प्रकार से घट में साध्य की प्रसिद्धि होती है, सो अनुभूति में वेद्यत्वाभाव (अवेद्यत्व) को सिद्ध करती हुई होती है, अतः अवेद्य की अप्रसिद्धि रूप दोष नहीं है, अनुमान के पदकृत्यादि टीका में द्रष्टव्य हैं।

नाप्रसिद्धविशेष्यतापि: अनुभूतेः प्रसिद्धत्वात्। अत एव नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः। नापि स्वरूपासिद्धिः; कल्पितव्यक्तिभेदनिष्ठस्य चन्द्रत्वसामान्यस्येवा-नुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमे सिद्धान्ताविरोधात्। कल्पितस्यापि प्रतिबिम्बा-दिवत्साधकत्वसंभवात्। न च प्रतिवाद्यसिद्धिस्तेनाप्यनुभूतित्वसामान्यस्याभ्यु-पगमात्।

नाप्रसिद्धविशेष्यतापीति। विशेष्यं धर्मि। तदेवं पक्षदूषणान्यपाकृत्य हेतुदूषणा-न्यपाकरोति—अत एवेत्यादि। अत एवं विशेष्यरूपस्य धर्मिणः प्रसिद्धिस्तत एवेत्यर्थः। ननु किमिदमनुभूतित्वं नाम? न तावज्जातिः, अनुभूतेरेकत्वाङ्गीकारेण व्यक्त्यभेदस्य जातिबाधकत्वात्। यदाह—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह' इति।

अत एव नोपाधिरपि। अनुगतो ह्युपाधिर्भवति अद्वैतविरोधश्चोभयत्रापि तुल्य इत्यसिद्धिरेव हेतोरित्यत आह—नापीति। यथाच कल्पितस्यापि साधकत्वं तथा मिथ्यात्ववादे व्युत्पादयिष्यते।

प्रकृत = प्रदर्शित स्वप्रकाशत्व के अनुमान में अप्रसिद्ध विशेष्यता (अप्रसिद्धधर्मिता) दोष भी नहीं है, क्योंकि अनुभूति रूपधर्मी (पक्ष) स्वप्रकाशता से ही प्रसिद्ध है। और वही हेतु का आश्रय है, अत एव = प्रसिद्ध अनुभूति के ही आश्रय होने से हेतु के आश्रय की असिद्धि भी नहीं है। यहाँ यदि शंका हो कि वेदान्त में सत्यानुभूति के एकात्मस्वरूप होने से अनुभूतित्वरूप (सामान्य) जाति की असिद्धि है, क्योंकि (व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥१॥) व्यक्ति के अभेदादि

छः जाति के बाधक न्यायवैशेषिक सिद्धान्तमें माने गये हैं) आकाश की व्यक्ति के अभेद (एक) होने से अनेकता के अभाव से (नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्) इस लक्षण का आकाशत्व में अभाव रहता है, अतः आकाशत्व जाति नहीं मानी जाती है, व्यक्ति की तुल्यता से घटत्व कलशत्व पृथक् जाति नहीं मानी जाती है, सङ्करदोष से भूतत्व मूर्तत्व जाति नहीं जाती है) परस्परात्यन्ताभावाधिकरणवृत्तिधर्म कहीं एकत्र रहें तो सङ्कर कहा जाता है। जाति में जाति मानते तो अनवस्था होती है, अन्त्य विशेष में जाति माने तो स्वतो व्यावृतत्व स्वरूप की हानि होती है। समवाय में सम्बन्धाभाव की प्राप्ति होती है, यह स्पष्ट अन्यत्र द्रष्टव्य है। प्रकृत में अनुभूति के एक होने से अनुभूतित्व की स्वरूपासिद्धि की प्राप्ति होने पर कहा जाता है, कि स्वरूपासिद्धि भी नहीं है, क्योंकि चन्द्रव्यक्ति के एक होते भी प्रतिबिम्बादि रूप, तथा दिवलादि भेद से भिन्नस्वरूप कल्पित व्यक्ति भेद में वर्तमान चन्द्रत्व जाति के समान अनुभूतित्व जाति के मानने में सिद्धान्त से विरोध नहीं होता है, पारमार्थिक एक अनुभूति सिद्धान्त का बाध नहीं होता है और जैसे कल्पित प्रतिबिम्बत्व कल्पित भेदयुक्त बिम्ब का साधक (अनुमापक) होता है, कल्पित अनुभूतित्व भी वैसे ही स्वप्रकाशत्व का साधक होगा। प्रतिवादी को भी अनभूतित्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी भी अनभूतित्व रूप सामान्य (जाति) का स्वीकार करता है।

नच कल्पिताकल्पितत्ववैषम्याद्धेतोरन्यतरासिद्धिराशङ्कनीया, अवधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वमात्रस्योभयवादिसिद्धत्वात्। अन्यथा धूमवत्त्वादावपि तदेतद्देशनिष्ठत्वादिविकल्पेनासिद्ध्यादेर्दुष्परिहरत्वात्। न च व्याप्यत्वासिद्धिः; सोपाधिकस्यैव तथात्वात्, केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेरसंभावात्। उपाधिर्हि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः, स चान्वयव्यतिरेकी कश्चिद्धर्मः। स कथं केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्येनान्वयी स्यात्। न च पक्षे साध्येनान्वयः; तत्र साध्यस्याद्यापि संदिग्धत्वात्। निश्चये च सिद्धं नः समीहितमिति किमुपाधिः करिष्यति। पक्षे चोपाधिवृत्तौ, साधनव्यापकता च दुर्वारा। न च साध्यसद्भावे मा भूदुपाधिः, साध्याभावे पुनरुपाधिः कश्चिद्भविष्यतीति वाच्यम्; तथाहि—यत्रोपाधिरस्ति तत्र साध्यं नास्तीति साध्याभावस्य गमकत्वेनोपाधिरेष्टव्यः। अन्यथोपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो व्यापकतया न वर्तते चेत्, उपाधिसद्भावे साध्यं स्यात्। तच्च न पक्षे; तत्रोपाधिसद्भावे तस्य साधनव्यापकत्वप्रसङ्गात्। तस्मादन्यत्रोपाधिसत्त्वे साध्यस्य सत्त्वं स्यादिति वाच्यम्। तथा च केवलव्यतिरेकित्वभङ्गप्रसङ्गः।

ननु प्रतिवादिना पारमार्थिकी जातिराद्रियते, भवता तु काल्पनिकीत्यन्यतरासिद्धिरित्यत आह—नच कल्पितेति। अवधीरितः कल्पिताकल्पितरूपो विशेषो येनानुभूतित्वमात्रेण तत्तथोक्तम्। उक्तपरिहारानङ्गीकारे स्वव्याहतिं बाधकमाह—अन्यथेति। तदेतद्देशेति। धूमवत्त्वं किं महानसनिष्ठं हेतुरुत पर्वतनिष्ठम्। आद्येऽसिद्धिः, द्वितीये

साधनविकलं निदर्शनमिति दूषणे नोदीरितपदवीव्यतिरेकेण परित्राणमस्तीत्यर्थः। अन्यथाऽसिद्धिं परिहरति—नच व्याप्यत्वासिद्धिरिति। एषा हि हेत्वाभासानां स्थितिर्व्याप्यत्वे सति पक्षधर्मतया प्रमितत्वं सिद्धत्वं तद्विपरीतमसिद्धत्वम्। तत्र व्याप्तेरसिद्धौ व्याप्यत्वासिद्धिरित्यभिधीयते। पक्षधर्मत्वाऽसिद्धिस्तु त्रिधा। तत्राश्रयस्वरूपासिद्धावाश्रयासिद्धिस्तद्विशेषणपक्षसत्त्वाप्रतीत्या तु सिद्धसाधनमिति। इमामपि द्विविधां केचिदभिदधति साध्याकाराप्रसिद्ध्या साध्यस्वरूपासिद्ध्या चेति, प्रथमाऽसिद्धसाधनताभिधाना द्वितीया त्वप्रसिद्धविशेषणमिति। एतत्तु केवलपक्षदूषणतयैव वृद्धव्यवहारे प्रसिद्धं, हेतुस्वरूपासिद्धौ तु स्वरूपासिद्धिरिति। तत्र व्याप्यत्वासिद्धिर्नाम सोपाधिकः सम्बन्धः, निरुपाधिकसंबन्धस्य व्याप्तित्वात्सोपाधिकत्वे च निरुपाधिकसम्बन्धवैधुर्यादिति। तदेतत्सर्वमभिसंधायाह—सोपाधिकस्यैव तथात्वादिति। भवतु तर्ह्युपाधिरपि किमेतावता? इत्यत आह—केवलव्यतिरेकिणि चेति। केवलव्यतिरेकिण्युपाध्यभावं वक्तुमुपाधिलक्षणमनुवदति—उपाधिर्हीति। साधनाव्यापक उपाधिरित्युक्ते शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्रहणार्हत्वमुपाधिः स्यात्तदर्थं साध्यव्यापक इत्युक्तम्, तथेत्युक्ते सामान्यवत्त्वादिनाऽनित्यत्वसाधने कृतकत्वमुपाधिः स्यात्तदर्थं साधनाव्यापक इत्युक्तम्। एतेन पक्षेतरत्वमपि व्याख्यातं, तस्यापि साध्यव्यापकत्वे उपाधित्वादितरथाऽनुपाधित्वादिति। भवत्वेवं ततः किमायातमित्यत आह—स चान्वयव्यतिरेकीति। साध्यव्यापकत्वमन्वयः, साधनाव्यापकत्वं व्यतिरेकः, तदुभयवान्धर्मः कश्चिदुपाधिरित्यर्थः। अस्त्वेतावतापि प्रस्तुते किमित्यत आह—स कथमिति। तत्र वक्तव्यं किं पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यव्यापकत्वं किंवा पक्ष एवाभिप्रेतमिति। नाद्य इत्याह—स कथमिति। केवलव्यतिरेकिणि प्रवर्तमानः स उपाधिः पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्येन कथमन्वियात्न कथमपीति योजना। केवलव्यतिरेकिणीति हेतुगर्भं विशेषणम्। नहि केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यं संभवति अविद्यमानसपक्षत्वादित्यर्थः। न द्वितीय इत्याह—न च पक्ष इति। तत्र साध्यानिर्णयादित्याह—तत्र साध्येति। विपक्षे दण्डमाह—निश्चये चेति। साध्यापहारो ह्युपाधेः कृत्यं, तत्र साध्यमेव चेन्निर्णीतं किं कुर्वन्नयमुपाधिः स्यादित्यर्थः। दूषणान्तरमाह—पक्षे चेति। साधननिष्ठात्यन्ताभाववत्त्वं ह्युपाधेः साधनाव्यापकत्वम्। तत्र पक्षेऽपि चेदुपाधिर्वर्तते कथं तत्रैव तस्यात्यन्ताभावः स्यात्। न चान्यत्र, केवलव्यतिरेकिसाधनस्यान्यत्राभावादिति भावः। ननु न वयं साध्यसद्भावे उपाधिं ब्रूमः, येन साध्यव्यापकता दुःसाध्या अपितु साध्याभाव इत्यत आह—नच साध्यसद्भाव इति। नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—तथाहि यत्रोपाधिरिति। तथाहि तथा सतीत्यर्थः। उपाधिना हि साध्याभावप्रमितिं वाञ्छता साध्याभावं प्रति गमकत्वेन व्याप्यत्वेनोपाधिरेष्टव्य इत्युक्तम्। व्यापकत्वे दोषमाह—अन्यथेति। अन्यथा व्यापकत्वेनाङ्गीक्रियमाणे, व्यापकतयोपाधेरिति संबन्धः। व्यापकस्य चोपाधेरधिकवृत्तित्वसंभवात्,

उपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो यदि न वर्तेत, संभवति ह्यवर्तनं न्यूनवृत्तेः साध्याभावस्य। तत उपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भावः स्यात्साध्याभावाभावस्य. साध्यरूपत्वात्तन्नान्तरीयकत्वाद्वेत्यर्थः। अव्यापकतयेति वा पदच्छेदः। साध्याभावस्य व्यापकत्वाभावेनेत्यर्थः। भवतूपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भावः किमतः? तत्र वक्तव्यं किं पक्षे? उत तद्व्यतिरिक्तस्थले? आद्यं प्रत्याह—न पक्ष इति। तत्र हेतुमाह—तत्रोपाधिसद्भाव इति। यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम्। द्वितीयं परिशेषयति—तस्मादिति। भवत्वेवं ततः किमिति। केवलव्यतिरेकिताक्षोपमपहाय न किंचिदित्याह—तथा चेति।

उक्त अर्थ में यह शंका हो कि, वेदान्त में अनुभूतित्व को कल्पित माना जाता है, और प्रतिवादी उसको सत्य (अकल्पित मानता है) अतः वेदान्त सम्मत अनुभूतित्व प्रतिवादी मत में असिद्ध है, और प्रतिवादी सम्मत वेदान्त में असिद्ध है, इस प्रकार से हेतु के कल्पितत्व और अकल्पितत्व रूप वैधर्म्य से (विरोधि धर्म से) अन्यतर (दो में से एक) की असिद्धि प्राप्त होती है। प्रतिवादी को कल्पित की असिद्धि, वेदान्ती को पारमार्थिक की असिद्धि प्राप्त होती है, तो कहा जाता है कि यह शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि अवधीरित (अनादृत) कल्पित अकल्पित विशेष (भेद) वाला सामान्य अनुभूतित्व मात्र को हेतु माना गया है। सो वादी प्रतिवादी दोनों के मत में सिद्ध है। (अन्यथा) यदि ऐसा सामान्य हेतु को नहीं माना जाय, तो धूमवत्वादि रूप प्रसिद्धानुमान के हेतु में भी तद्देश (महानसदेश) एतद्देश (पक्ष पर्वतादि देश) निष्ठत्व (वर्तित्व) आदि विकल्प (भेद) से असिद्धि आदि की दुष्परिहरता = दुर्वारता होगी। अर्थात् धूम में पर्वत वर्तित्व, महानसवर्तित्व धर्म से भेद मान कर यदि महानसवृत्ति को हेतु माना जाय तो उसकी पक्ष में असिद्धि प्राप्त होती है और पर्वतवृत्ति को हेतु माना जाय साधन (हेतु) रहित दृष्टान्त प्राप्त होता है, अतः पर्वतीयत्व=महानसीयत्व भेद को त्याग कर जैसे धूमवत्व हेतु माना जाता है, वैसे ही सत्यत्व मिथ्यात्व भेद को त्याग कर, अनुभूतित्व मात्र हेतु को मानने पर अन्यतरासिद्धि नहीं होती है।

व्याप्यत्वासिद्धि (अनुभूतित्व रूप हेतु में उक्त साध्य की व्याप्ति की असिद्धि) भी नहीं है, क्योंकि सोपाधिक (उपाधियुक्त) हेतु में व्याप्यत्वासिद्धि होती है, और केवल व्यतिरेकी अनुमान में उपाधि का सम्भव नहीं है। क्योंकि साध्य के व्यापक और साधन के अव्यापक किसी धर्मादि को उपाधि कहते हैं, जैसे कि (धूमवान् वह्नेः) यहाँ आर्द्रेन्धनाग्निसंयोग उपाधि होता है, सो धूम का व्यापक और अग्निरूप हेतु का अव्यापक रहता है। सो उपाधि अन्वयव्यतिरेकी कोई धर्म रूप होता है। सो उपाधि केवल व्यतिरेकी अनुमान में पक्ष से भिन्न स्थान में साध्य के साथ अन्वय (सम्बन्ध) वाला कैसे होगा, क्योंकि पक्ष से अन्यत्र जिस साध्य का निश्चय नहीं हो, उसी साध्यवाला हेतु को केवल व्यतिरेकी कहा जाता है। पक्ष में उपाधि साध्य के साथ अन्वित होगा, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि पक्ष में अभी (अनुमानारम्भ काल में) प्रतिवादी को साध्य सन्दिग्ध है। निश्चित नहीं हुआ है। यदि पक्ष में प्रतिवादी को साध्य का निश्चय हो, तब तो हमारा अभीष्ट (अनुभूति के स्वप्रकाशत्व) ही सिद्ध हो गया। कोई उपाधि कल्पित भी हो, तो उपाधि हमारी हानि क्या करेगो। और दूसरी बात

यह है कि पक्ष में उपाधि की स्थिति से तो साधन की व्यापकता उपाधि में दुर्वार होगी, साधन की व्यापकता अवश्य होगी, कि जिससे साधनाऽव्यापकत्व (साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) रूप उपाधि का लक्षण ही नहीं रहेगा।

यदि कहा जाय कि साध्य के सद्भाव में (साध्य के स्थान में) साध्य के व्यापकत्वादि लक्षणवाला उपाधि नहीं हो, तो भी साध्याभावविषयक कोई गुणत्वादि उपाधि होगी, अर्थात् उपाधि से पक्षादि में साध्य के अभाव का अनुमान होता है, अतः प्रकृत में भी (अनुभूतिः, स्वप्रकाशत्वाभाववती, गुणत्वात्, इच्छादिवत्) प्रतिवादी मत में अनुभूति आत्मगुण है, अतः हेतु की असिद्धि नहीं है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जहाँ उपाधि (गुणत्व) है, तहाँ साध्य (स्वप्रकाशत्व) नहीं है, इस प्रकार से साध्याभाव के बोधक रूप से उपाधि को मानना होगा, अन्यथा (उपाधि को व्याप्य और साध्याभाव को व्यापक नहीं मानने पर) उपाधि के रहने पर भी साध्याभाव व्यापक रूप से यदि नहीं रहेगा, तो उपाधि के रहते साध्य रहेगा (गुणत्व के रहते स्वप्रकाशत्व रहेगा) परंतु वह पक्ष में (अनुभूति में) उपाधि के रहते साध्य रहे, यह बात नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि अनुभूति में गुणत्व के रहने पर, और वहाँ अनुभूतित्व के रहने पर, अनुभूतित्व से अधिक देशवृत्ति गुणत्व हेतु का व्यापक होगा, फिर उसमें उपाधि का लक्षण ही नहीं रहेगा। अतः पक्ष से अन्यत्र ही उपाधि के रहते ही साध्य के सत्व को कहना होगा, कि जिससे साध्य की व्यापकता उपाधि में सिद्ध हो। परंतु ऐसा मानने पर केवल व्यतिरेकित्व का भङ्ग (अभाव) होगा। भाव है कि साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक उपाधि ही अन्वय व्यतिरेकी हेतु के स्थान में ही होती है, अन्यत्र नहीं जैसे कि (धूमवान् पर्वतः, वह्नेः) यहाँ आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है, उसका महानस में अन्वय हृद में व्यतिरेक रहता है, और अग्निरूप हेतु तप्त अयः (लोह) पिण्ड में भी रहता है, वहाँ उपाधि के नहीं रहने से हेतु का अव्यापक और साध्य का व्यापक आर्द्रेन्धन संयोग है, सो स्वरूप से नहीं, किंतु स्वाभाव से धूम रूप साध्य के अभाव का बोधक, अग्नि के स्थान तप्तपिण्डादि में होता है, ऐसी उपाधि का केवल व्यतिरेकी में असम्भव है अतः उक्त रीति से, आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि से रहित अनुभूतित्व रूप केवल व्यतिरेकी हेतु है।

प्रकृते चानुभूतिर्वेद्या वस्तुत्वाद्घटवदिति केवलान्वयिनानुमानेन हि स्वयंप्रकाशत्वव्यतिरेको वक्तव्यः। तत्र च नोपाधिः संभवति; साधनाव्यापकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तदेवं नासिद्धो हेतुः। नापि विरुद्धः; वेद्येषु विपक्षेष्वनुभूतित्वहेतोरवृत्तेः। नाप्यनैकान्तिकः; विपक्षाद्व्यावृत्तेरेव। नाप्यसाधारणः; सपक्षाभावात्। विपक्षे बाधकतर्काभावात्सन्दिग्धानैकान्तिकतेति चेत्, मैवम्, अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात्। न च वाच्यमवश्यवेद्यत्वाभावान्नानवस्था व्यवहारस्य तत्स्वरूपसत्तामात्रेणाप्युपपत्तेरिति; तद्विषयप्रमाणानुदये तत्सत्ताया अप्यनिश्चयात् तत एव व्यवहार इत्यप्यसिद्धेः। अथ यदा कदाचित्तत्सत्ताजिज्ञासोदये व्यवहारादिना केनचिल्लिङ्गेन सापि प्रमीयत इति मतं, तन्न; घट इति घटमनुभवामीति चानुभूतिद्वयातिरिक्तायास्तत्तदनुभूतिपरम्परायगाहि-

काया: कस्याश्चिदनुभूतेरनुभवागोचरत्वात्। अन्तरेण तदनुभवं तत्सत्ताभ्युपगमे, प्रमेयसत्ताया अपि तथाभ्युपगमोपपत्तौ प्रमाणगवेषणावैयर्थ्यापातात् तत्रापि च प्रमाणगवेषणायां पूर्वोक्तानवस्था तदवस्थैव स्यात्।

ननु मा भूदुक्तदोषपराधिक्लेशानुकर्षिततया साध्याभावं प्रति व्यापकत्वमुपाधेः, व्याप्यत्वे का नामानुपपत्तिरिति तत्राह—प्रकृते चेति। अनुमानेनेति। हेतुनेत्यर्थः। अत्र हि स्वप्रकाशत्वलक्षणसाध्याभावो वेद्यत्वम्। यत्रच वस्तुत्वं तत्र च वेद्यत्वं गमकत्वेनाभिमतमिति तदेवोपाधिस्तस्य च केवलान्वयित्वेनाभिमततया सर्वनिष्टस्य साधनवत्यपि विद्यमानत्वात्साधनाव्यापकत्वं दुर्लभमित्यर्थः। अत्र च प्रकृतग्रहणं केवलान्वयिग्रहणं चोपलक्षणम्। सर्वकेवलव्यतिरेकिणि पक्षनिष्ठतयाशङ्क्यमानसर्वोपाधेः साधनव्यापकत्वात्। एतेन साध्याभावसमव्याप्तः कश्चिदुपाधिरस्तीति पक्षोऽपि निरस्तः। किंच यदा साध्याभावं प्रति व्याप्य उपाधिरिष्यते, तदा साध्याभावव्यावृत्तावुपाधिव्यावृत्तिरप्येष्टव्या, व्यापकात्यन्ताभावनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनो व्याप्यत्वात्, संभवद्व्यतिरेकयोश्च व्यतिरेकव्याप्तेरप्येष्टव्यत्वात्। तथाच साध्याभावव्यावृत्तावुपाधेरपि व्यावृत्तिः किं पक्षे? उतान्यत्र? नाद्यः, पक्षे साध्याभावाभावरूपसाध्यस्याद्याप्यनिर्णयात्। नाप्यन्यत्र; केवलव्यतिरेकिताकोपादिति। अत्र कश्चित्—साध्याभावसाधनाभावसंबन्धभङ्गकतया विपक्षे एवोपाधिं निदध्यादिति, तत्तु साध्यशब्दार्थानवबोधविजृम्भितमिति न तदपराधः कश्चित्। एवं हि साध्याभावाव्यापकत्वे सति साधनाभावव्यापक उपाधिरित्युक्तं स्यात्तथा च कथं साध्यव्यापकत्वम्? न हि साधनाभावः साध्यम्। अविप्रतिपन्नत्वात्। कुत्र च साध्याभावाव्यापकत्वमवसेयम्? न तावत्पक्षे; तत्र साध्याभावानिर्णयात्। नाप्यन्यत्र, तथासति साधनाभावाव्यापकतया तत्पक्षव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य केवलव्यतिरेकिसाधनाभाववत्त्वात्। बहु चात्र वक्तव्यमस्ति विस्तरभयात्तु नोच्यते। ननु भवतु विपक्षवृत्त्यभावात्सपक्षेऽसति सपक्षाप्रवेशाभावाच्च विरुद्धानैकान्तिकतानामव्यवसितानामभावः। विपक्षे बाधकतर्काभावात्तु संदिग्धानैकान्तिकताकिंवदन्त्याः का नु प्रतिक्रियेति शङ्कते— विपक्षे बाधकेति। नन्वनुभूतिरनुभाव्यैवेति यदि नियमः स्यात्, स्यादनवस्था। नत्वयं नियम इति मतमाशङ्क्य निषेधति—नच वाच्यमित्यादिना। ननु यदि नानुभाव्यतानियमः, अननुभूततया तर्हि कथमर्थे व्यवहार इति शङ्कां स एव परिहरति—व्यवहारस्येति। तत्स्वरूपसत्तामात्रेण। अज्ञातेनेत्यर्थः। नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—तद्विषयेति। स्यादेवं, यदि तज्ज्ञानमन्तरेण तत्सत्ता निश्चीयेत, नत्वेतदस्ति प्रमाणाभावे दुरवधारणसत्ताकत्वादितरथाऽसत्त्वमेव कथं नाध्यवसीयते। यथोक्तं "को ब्रूते सती सा वित्तिरिति"। तस्मात्सत्त्वमपि तस्य प्रमाणादेवावगन्तव्यमित्यर्थः। यदत्र तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्तं तदाशङ्क्य—अर्थेति। अयमर्थः—नास्माभिः सत्तायां प्रमाणमेव नास्तीत्युच्यते अपितु जिज्ञासायां सत्यां, नतु पुनः स्वोदयसमसमयमेवेति। तस्याश्चातीतायाः प्रत्यक्षाविषय-

त्वात् व्यवहारादिना लिङ्गेनेत्युक्तम्। आदिशब्देन च स्मरणं गृह्यते। परिहरति—तन्नेति। अयं भावः—भवेदेवं यदि काचिदेवंविधा वित्तिः स्यात्सैव त्वनुपलब्धिविरुद्धा। न हि संसारमण्डले कस्यचिदर्थाध्यक्षो व्यवसायानुव्यवसायातिरिक्ता तत्तद्वित्तिपरम्पराग्राहिका काचिदपि वित्तिरनुभूयते। किन्तु तेनोपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभाव एवावसीयते। योगिप्रभृतीनां तु तदस्तित्वे न ते प्रमाणमस्तीति। अथ माभूदनुभवस्तथापि तत्कल्पयाम इत्यत आह—अन्तरेणेति। तदनुभवं तादृशवित्त्यनुभवमित्यर्थः। न वयमेवमेव कल्पयामः अपितु प्रमाणबलादिति चेत्तत्राह—तत्रापीति। तृतीयज्ञान इत्यर्थः।

उक्त अनुभूति के स्वप्रकाशत्तारूप साध्याभावसाधक उपाधि के अभाव को ही साधनाऽव्यापकत्व से दर्शाते हैं कि, प्रकृत (स्वप्रकाशत्वानुमान) में (अनुभूति, वेद्य= स्वप्रकाशत्वाऽऽभाववाली है) क्योंकि वस्तु है, अतः जैसे घट वेद्य है, वैसे अनुभूति भी वेद्य है) इस केवलान्वयी वस्तुत्व रूप (अनुमान) हेतु से ही स्वप्रकाशत्व का व्यतिरेक (अभाव=वेद्यत्व) वक्तव्य (कहना) होगा, परन्तु यह वस्तुत्व वेद्यत्व का साधक माना गया भी, अनुभुतित्व हेतुक अनुमान में उपाधि नहीं हो सकता है, क्योंकि वस्तुत्व के केवलान्वयी होने से अनुभूतित्वरूप साधन (हेतु) के अव्यापकत्व कहना अशक्य है। और साधनाऽव्यापकत्व के बिना उपाधि नहीं कहा जा सकता है। अतः उक्त रीति से अनुभूतित्व हेतु असिद्ध नहीं है। विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि साध्य के अभाव का साधक हेतु विरुद्ध कहा जाता है (जैसे शब्दो नित्यः कृतकत्वात्) यहाँ कृतकत्व है, और साध्याभाव साधक हेतु विपक्ष में ही रहता है। और यहां अनुभूतित्व रूप हेतु विपक्ष रूप वेद्य (घटादि) में नहीं रहता है। अनुभूतित्व अनैकान्तिक (साधारण व्यभिचारी) नहीं है। क्योंकि विपक्ष से व्यावृत्त ही रहता है, विपक्ष वृत्तिसाधारण अनैकान्तिक होता है। असाधारण अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि सपक्ष नहीं है, और जिस हेतु का सपक्ष विपक्ष दोनों हो, परन्तु वह हेतु सपक्ष विपक्ष दोनों से व्यावृत्त होकर पक्षमात्र में रहता हो, तो वह असाधारण अनैकान्तिक कहा जाता है, जैसे कि (शब्दो नित्यः शब्दत्वात्) यह शब्दत्व हेतु निश्चित साध्यवान् सपक्ष आकाशादि और निश्चित साध्याभाववान् विपक्षघटादि दोनों से व्यावृत्त होकर पक्ष (शब्द) मात्र में रहता है। अतः असाधारण है, अनुभूतित्व ऐसा नहीं है, क्योंकि उसका विपक्ष तो घटादि है, परन्तु सपक्ष है नहीं कि जिससे व्यावृत्त हो। यदि कहा जाय कि विपक्ष (अनुभूति में अनुभाव्यत्व=वेद्यत्वरूप विरुद्धपक्ष) में बाधक तर्क के अभाव से पक्ष में ही साध्य के संशय होने के कारण संदिग्ध अनैकान्तिकता होगी, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अनुभूति यदि अनुभाव्य (वेद्य) होगी, तो अनवस्था की प्राप्ति होगी, यह विपक्ष बाधक तर्क है। अवश्य वेद्यत्व के अभाव से अनवस्था नहीं होगी, किन्तु अनुव्यवसाय से व्यवसाय वेद्य होगा, और अनुव्यवसाय के अज्ञात स्वरूपसत्तामात्र से ही व्यवसाय अनुव्यवसाय का व्यवहार (कथनादि) होगा। ऐसा कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुव्यवसाय विषयक प्रमाण (ज्ञान) के अनुदये (अनुत्पत्ति) रहते, उसकी सत्ता के भी अनिश्चय से, उसके स्वरूप सत्तामात्र से ही व्यवहार कहना होना भी असिद्ध है।

यदि कहा और माना जाय कि जब कभी अज्ञात अनुभूति (अनुव्यवसाय) आदि की सत्ता की जिज्ञासा होगी, तब वह सत्ता भी व्यवहारादि लिङ्ग (हेतु) से प्रमित (अनुमित) होगी, और होती है। तो सो मानना नहीं बन सकता है, क्योंकि, घट है और घटका अनुभव करता हूँ। इस दो अनुभव से अन्य, तत्तदनुभवों के परम्परा (प्रवाह) को ग्रहण करनेवाली किसी अनुभूति (अनुभव=ज्ञान) के अभाव से (अनुभव नहीं होने से) उक्त अनुमिति नहीं मानी जा सकती है, अर्थात् उक्त (अयं घटः) और (घटं जानामि) इन दोनों व्यवहारों से, व्यवसाय अनुव्यवसाय की अनुमिति मानी भी जाय तो अनुव्यवसाय विषयक ज्ञान को अनुमिति के लिये ही कोई हेतु नहीं रहने से अज्ञात अनुव्यवसाय की सत्ता नहीं सिद्ध होगी परम्परा की बात तो दूर रही और और यदि अनुव्यवसायादि विषयक अनुभव (ज्ञान) के विना उनकी सत्ता मानी जाय तो घटादि आत्मादि प्रमेय की सत्ता की भी उसी प्रकार से ज्ञान के बिना ही स्वीकार की प्राप्ति से, प्रमाण के अन्वेषण में व्यर्थता की प्राप्ति होगी, और यदि अनुव्यवसाय विषयक (घटं जानामि) इसको हेतु (प्रमाण) मानकर, उस अनुव्यवसायविषयक तृतीय ज्ञानविषयक प्रमाण का अन्वेषण (खोज) किया जाय तो पूर्वोक्त अनवस्था तदवस्थ ही रहेगी।

अथ सा स्वविषयप्रमाणमन्तरेण स्वभावभेदादेव स्वविषयभेदव्यवहारं जनयेत्; जनयेत् सैव तर्हि तथा स्वव्यवहारमिति व्यर्थाऽनुभूतिपरम्पराभ्युपगतिः। तदेवमनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनुभूतिस्वरूपासिद्धिप्रसङ्गस्यैव विपक्षे बाधकतर्कत्वात्, न संदिग्धानैकान्तिकता। किञ्चानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत, तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदेहो विपर्ययो वा विपरीतप्रमा वोदियात्। न च कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति पृष्टोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति संविदभावं वा प्रमिणोति, किन्तु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थे व्यवहारं जनयतीति युक्तम्। न च सुखादिवदन्याधीनप्रकाशत्वेऽपि संशयाद्यविषयत्वोपपत्तिः, सति धर्मिणि तद्वदेवावश्यवेद्यत्वेऽनवस्थादोषस्थ्यात्।

ननु तादृशी संवित् स्वज्ञापकप्रमाणमन्तरेणैव स्वरूपविशेषात्स्वविषये व्यवहारं प्रवर्तयतु, नह्येकस्य यादृगेव स्वभावस्तादृगेव सर्वस्येति नियमनं, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गादिति शङ्कते—अथ सेति। स्वभावभेदात्। स्वभावविशेषादित्यर्थः। स्वविषयभेदव्यवहारमिति। स्वविषयविशेषव्यवहारमित्यर्थः। परिहरति—सैव तर्हीति। स्वव्यवहारमिति। स्वविषयव्यवहारमिति यावत्। अन्तिमायां यो न्यायः स प्रथमायामप्यस्तु, "प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः" इति न्यायादित्यर्थः। तृतीयज्ञानमेव वा तच्छब्दावमृष्टं तदा स्वविषयवत्स्वस्मिन्नपि तथा व्यवहारं प्रवर्तयेत्तन्न्यायेन चाद्यस्य स्वप्रकाशता सिद्ध्यतीति द्रष्टव्यम्। किं चानुभूतिरियं भवतु स्वप्रका-

शत्वं च माभवत्विति वदन्प्रष्टव्यः किं अर्थप्रकाशनसमयेऽनुभूतिर्न प्रकाशत एव ? प्रकाशमाना वा परत ? इति । नाद्य इत्याह—किंचानुभूतिरिति । अप्रकाशमानेपि सर्वत्र संदेहादिर्नास्ति जिज्ञासाभावादपि तदभावोपपत्तेः । नहि हिमगिरिदरिविहारिकेसरिसटासंख्यासु संदिहते जनाः, असंदिहाना वा विपर्यस्यन्ति, अविपर्यस्यन्तो वाऽभावं प्रमिण्वन्ति, अप्रमिण्वन्तो वा तत्तत्वं विनिश्चिन्वन्तीत्यत उक्तं—जिज्ञासोरिति । जिज्ञासायां सत्यामपि संदेहादिनोंदेति अभावनिर्णयादपि तेषामभावोपपत्तेरत उक्तं—विपरीतप्रमा वोदियादिति । एतदुक्तं भवति—यत्र विषये प्रमितिरपि नास्ति जिज्ञासा च यकास्ति तस्याः स्फुरणदशायां संदेहादिर्भवेदेवेति । नचैतदत्रास्तीत्याह—नच कश्चिदिति । निश्चयमेवाभिनयति—इदमहमद्राक्षमिति । इदानीं द्वितीयं निषेधति—नच सुखादिवदिति । हेतुमाह—सति धर्मिणीति । धर्मी अनुभवः । तद्वदेवेति सुखादिवदेवेत्यर्थः । अथवा सति धर्मिणीति । द्वितीयज्ञाने सतीत्यर्थः । तद्वदेवेति प्रथमज्ञानवदित्यर्थः । तथासत्यनवस्था प्रसरत्येवेति भावः । नच सुखादिप्रतिबन्दी, तत्राप्यस्मन्मते तत्साधकसाक्षिणः स्वप्रकाशत्वेनानवस्थानवतारात्, भवतामेव तत्रापि दोषत्वात् । तदेवमर्थप्रतीतिसमये संविदः स्फुरणमनवस्थाभयादन्यनिबन्धनं न भवतीत्युक्तम् ।

यदि कहा जाय कि सा (वह दूसरी अनुभूति=अनुव्यवसाय) स्वविषयक प्रमाण के बिना ही, अपने स्वभाव भेद (विशेष) से ही अपने विषय (व्यवसाय) के भेद व्यवहार (विशेष व्यवहार) सिद्ध करेगी, तो कहा जाता है कि सा (वह) प्रथमा अनुभूति (व्यवसाय) ही तथा (स्वभाव विशेषसे) स्वव्यहार को सिद्ध (उत्पन्न) करेगी, फिर अनुभूति परम्परा की अभ्युपगति (अभ्युपगम=स्वीकार) व्यर्थ ही है । इस उक्त रीति से अनुभूति को अनुभाव्य (वेद्य) मानने पर अनवस्था होगी, और द्वितीय तृतीयादि में कहीं भी प्रमाण के अभाव होने पर मूलपर्यन्त अनुभूति के स्वरूप की असिद्धि की प्राप्ति होगी, सोई उक्त विपक्ष में बाधक तर्क है, अतः संदिग्ध अनैकान्तिकता नहीं है । और यह विचारणीय है कि स्वविषय के प्रकाशन के समय यदि अनुभूति स्वयं नहीं प्रकाशती हो, तो तथा सति (विषय मात्र के प्रकाश होने पर) उसके अनन्तर उत्तर क्षण में जिज्ञासु को अपनी अनुभूतिविषयक, संशय, विपर्यय, वा विपरीत प्रमा होना चाहिये कि, मुझे घट का ज्ञान हुआ या नहीं, या मुझे घटाभाव का ज्ञान हुआ, या मुझे ज्ञान नहीं हुआ ऐसा निश्चय होना चाहिये । परन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि किसी द्रष्टा से उसके शीघ्र दृष्टपदार्थविषयक प्रश्न किया जाय कि आपने अमुक मनुष्य को देखा कि नहीं, तो वह अनन्तर क्षण में संशय नहीं करता है, न विपर्यय करता है, न विपरीत प्रमा करता है, किन्तु निश्चय ही करता है, कि मैंने इसको देखा है । अतः स्वयं प्रकाशमान ही अनुभूति अर्थ विषयक व्यवहार को सिद्ध करती है, ऐसा ही मानना युक्त (उचित) है । यदि कहा जाय कि सुखादि के समान अनुभूति के भी अन्य के अधीन प्रकाश होते भी सुखादि के समान ही अवश्य वेद्य होने से संशयादि नहीं होते हैं, तो कहा जाता है कि जैसे सुखादि प्रकाश का धर्मी,

विषय, होता है, प्रकाश स्वरूप नहीं होता है, वैसे ही अनुभूति के धर्मी होने पर, सुखादि के समान अवश्य वेद्यत्व भी होने पर अनवस्था रूप दुरवस्थता (कठिनाई) होगी ही ।

किञ्च येन मनःसंयोगेन घटानुभूतिर्जनिता तेनैवानुव्यवसायस्यापि जन्म? उत संयोगान्तरेण ? नाद्यः; अनुव्यवसायं प्रति कर्मकारकतया जनकस्य व्यवसायस्य तज्जन्यानुव्यवसायस्य च यौगपद्यायोगात्, करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यानङ्गीकाराच्च यतोऽसमवायिकारणभेद एव ज्ञानभेदहेतुरभ्युपेयते । अन्यथापेक्षणीयान्तरासंभवेन युगपदेव घटानुभवस्मरणयोरनुभवान्तरस्य च तद्विषयस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अक्रमाच्च कारणात्कार्यभेदक्रमायोगात्, बाह्यसामग्र्यवच्छेदकक्रमभेदन कार्यक्रमाभ्युपगमे युगपदेव संप्रयुक्तेषु घटपटादिषु युगपदेवानेकज्ञानजन्मप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; घटज्ञानोदयसमये मनसि क्रियाततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगविनाशस्तत उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरमित्यनेकक्षणविलम्बेनोत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यापरोक्षतया पूर्वज्ञानग्राहकत्वानुपपत्तेः । किञ्च चक्षुरादिवदप्रकाशमानस्यैव ज्ञानस्य स्वातिरिक्तज्ञानजननेनार्थव्यवहारहेतुत्वाभावात् जडानां च स्वतः परस्परतो वा प्रकाशमानत्वायोगात् ज्ञानमपि न प्रकाशते चेन, किमपि न प्रकाशेतेति जगदान्ध्यप्रसङ्ग इत्यादिविपक्षबाधकस्तर्क उन्नेयः ।

इदानीं तात्कालिकं तद्विषयं ज्ञानमेव निरूपयितुं न शक्यते कारणाभावादित्याह—किंच येनेति । 'व्यवसाजनकसंयोगेनैवानुव्यवसायजन्मेत्याद्यं पक्षं निराचष्टे— नाद्य इति । तत्र किं युगपदेव ज्ञानद्वयं जनयति स मनःसंयोगः ? उत पर्यायेण ? नाद्यः, जन्यजनकयोः समसमयमेव जन्माभावादित्याह—अनुव्यवसायं प्रतीति । न द्वितीय इत्याह—करणस्येति । प्रत्ययपर्यायः प्रत्ययपरम्परा । प्रत्ययपर्यायि सामर्थ्याभावं विवृणोति— यत इति । अस्यैव भेदकत्वानङ्गीकारे दण्डमाह—अन्यथेति । यत्र संस्कारसहितमिन्द्रियं प्रत्यभिज्ञां जनयति तत्र घटविषययोरनुभवस्मरणयोस्तद्घटविषयानुभवान्तरस्य चेति ज्ञानत्रयस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । तत्र हेतुः— अपेक्षणीयांतरासम्भवेनेति । संयोगभेदस्यानङ्गीकारात्, विषयस्य चैकत्वादेव संपन्नत्वात्संस्कारस्य संप्रयोगस्य च विद्यमानत्वादिति भावः । तदेवं कार्यभेदो दृश्यमानस्तदुत्पादकासमवायिकारणभेदं कल्पयतीत्युक्तम् । इदानीं कार्यक्रमोऽपि क्रमवत्कारणमन्तरेणानुपपद्यमानोऽसमवायिकारणक्रमं कल्पयति, ततश्च तस्यानेकत्वमित्याह—अक्रमाच्चेति । ननु भवतु कारणक्रमः, स त्वसमवायिकारणस्य न भवति; अपि तु बाह्यसामग्री या विषयेन्द्रियसंप्रयोगादिस्तदीय इत्याशङ्क्य नहि यत्र युगपदेव विषयेन्द्रियसंप्रयोगस्तत्र युगपदेवानेकानि ज्ञानानि जायेरन् नतु तदस्ति, तस्मात्तत्रापि कार्य-

क्रमप्रयोजनको बाह्यसामग्र्यतिरिक्तस्तदान्तरस्य कारणस्य क्रमो वक्तव्यस्तत्र चात्ममनसोरेकत्वेन क्रमायोगात्परिशेषात्तयोः संयोगलक्षणासमवायिकारणक्रम एव प्रयोजक इत्याह—बाह्यसामग्रीति। न चादृष्टमात्रभेदाद्, अतिप्रसङ्गात्। तदेवं प्रथमज्ञानजनकसंयोगादेव द्वितीयज्ञानजन्मेत्ययं पक्षो निरस्तो वेदितव्यः। इदानीं संयोगान्तरादनुव्यवसायजन्मेति द्वितीयं पक्षं निरस्यति—न द्वितीय इति। अवर्तमानग्राहकप्रत्यक्षाभावादित्यर्थः। पूर्वं संवित्स्फुरणानुपपत्तिर्बाधिकेत्युक्तमिदानीं सर्वस्फुरणानुपपत्तिरूपं बाधकमाह—किंचेति। एवं हि तेषामभ्युपगमः, ज्ञायमानमेव ज्ञानमर्थव्यवहारहेतुरिति न नियमो निलीनस्यापि तस्य चक्षुरादिवद्व्यवहारहेतुत्वसम्भवादिति। नचैषोऽपि युक्तः। तथा सति चक्षुरादिवदेवार्थप्रकाशकत्वं स्यान्नतु प्रकाशत्वं, प्रकाशत्वं च सिद्धमतो न चक्षुरादिसाम्यमित्यर्थः। किंच तदपि ज्ञानं पूर्वज्ञानवदेवेति न किंचिदपि ज्ञानमर्थप्रकाशं स्यात्। जडानां च जडत्वादेव न स्वयं परस्परेण वा प्रकाशसम्भव इति 'अन्धस्यैवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इत्याभाणकभागितयैव जगत एव घोरान्धकारनिकरकूपोदरनिपातापात इत्याह—जडानां चेत्यादिना।

और भी विचारणीय विषय है कि वेदान्त में तो स्वयं प्रकाश साक्षी से सुखादि का तथा सब मनोवृत्ति का प्रकाश होता है, अतः अनवस्था आदि का भय नहीं है, प्रतिवादी मत में, आत्मा का मन के साथ संयोग होता है फिर आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है, मनःसंयुक्त इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होता है, तब बाह्य विषय का ज्ञान होता है, तहाँ आत्मा उस ज्ञान का समवायी कारण (उपादान) होता है, और आत्म के साथ मन का संयोग असमवायी नामक कारण होता है, अदृष्टादि-निमित्त कारण होते हैं, तहाँ विचारणीय है कि जिस मनःसंयोग से घट का अनुभव (ज्ञान) जनित (उत्पन्न) होता है, उसी संयोग से अनुव्यवसाय का जन्म होता है, अथवा दूसरे संयोग से अनुव्यवसाय होता है, तहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रथम ज्ञानविषयक दूसरे ज्ञान को प्रतिवादी अनुव्यवसाय कहते हैं, अतः अनुव्यवसाय के प्रति व्यवसाय नामक प्रथम का ज्ञान कर्मकारक रूप से जनक (हेतु) होता है, और उससे जन्य अनुव्यवसाय होता है, अतः पिता पुत्र के समान दोनों का यौगपद्य (समकालिक समहेतुक उत्पत्ति) का सम्भव नहीं है, यौगपद्य अयुक्त है। यदि कहा जाय कि एक मनःसंयोग से एक काल में व्यवसाय अनुव्यवसाय हों, तब यौगपद्य हो, परन्तु क्रम से दोनों की उत्पत्ति मानी जाय तो यह दोष नहीं रहेगा, तो सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि करणों का प्रत्यय पर्याय (ज्ञान परम्परा) में सामर्थ्य नहीं माना गया है, अतः एक संयोगयुक्त मनरूपकरण ज्ञान को क्रम से उत्पन्न नहीं कर सकता है, अत एव असमवायी कारण (रूपकरण) के भेद ही को ज्ञानभेद का हेतु माना जाता है। अन्यथा (यदि एक संयोग से अनेक ज्ञान हो तो) आत्मा और मन सब ज्ञानों का तुल्य कारण है, संयोगान्तर भी अपेक्षणीय नहीं हो, एक ही संयोग से अनेक ज्ञान माना जाय तो, युगपद् (एक ही काल में) ही घट का अनुभव और स्मरण की प्राप्ति

होगी, उस घट विषयक तथा स्मरण विषयक प्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति होगी, क्योंकि घट विषय एक है, और उसके पूर्वदर्शनादि जन्य संस्कार का भी सम्भव है, तहाँ अपेक्षणीयान्तर (संयोगान्तर) के असम्भव से ज्ञानत्रय की समकाल में प्राप्ति होगी। अतः उनके असमवायी कारण (मनःसंयोग) को अवश्य भिन्न-भिन्न क्रमिक मानना होगा, क्योंकि अक्रम (क्रमरहित) कारण से कार्यभेद का क्रम अयुक्त है (हो नहीं सकता है) यदि कहा जाय कि मनःसंयोगरूप अन्तःकरण के एक होते भी बाह्य इन्द्रिय विषय संयोगादि कारण के क्रम से कार्य ज्ञान का क्रम होगा, तो सो कहना भी नहीं बन सकता है, बाह्य सामग्रीरूप अवच्छेद (व्यावर्तक) के क्रम भेद से कार्यक्रम को मानने पर भी, समकाल में इन्द्रियों से संयुक्त घटपटादि विषयक समकाल में ही अनेक ज्ञान के जन्म की प्राप्ति होगी, और ऐसा होता नहीं, समूहाऽलम्बन एक ही ज्ञान होता है, अतः असमवायी कारण भेद मन्तव्य है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, अर्थात् संयोगान्तर से अनुव्यवसाय होता है, यह पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि एक मनःसंयोग से घट ज्ञान के उत्पन्न होने पर उसी समय (क्षण) में अनुव्यवसाय के लिये संयोगान्तर का हेतु मन में क्रिया होगी, दूसरे क्षण में क्रियाजन्य विभाग होगा, फिर तीसरे क्षण में विभाग से पूर्वसंयोग का नाश होगा, चौथे क्षण में उत्तरसंयोग होगा, तब उसके बाद अनुव्यवसाय होगा, इस प्रकार से अनेक क्षण के विलम्ब से जन्य अनुव्यवसाय ज्ञान को पूर्वज्ञान का प्रत्यक्षरूप से ग्राहक (प्रकाशक) होना असम्भव है, क्योंकि वर्तमान विषय का ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। और दूसरी बात है कि यदि ज्ञान स्वयं प्रकाशस्वरूप नहीं रहता है, न चक्षु आदि के समान अपने से भिन्न प्रकाश को उत्पन्न करके विषय का प्रकाश करता है, तो चक्षु आदि के समान ही अप्रकाशमान (अप्रकाशस्वरूप) ज्ञान को स्वातिरिक्त ज्ञान के जनन (उत्पत्ति) द्वारा घटादि अर्थ के व्यवहार के हेतुत्व के अभाव से तथा जड़ ज्ञान और अर्थों को स्वतः वा परस्पर घटपटादि के समान प्रकाशमानता के अयोग (अभाव) से ज्ञान भी यदि नहीं प्रकाशेगा, तो कुछ भी नहीं प्रकाशेगा, न कोई व्यवहारसिद्ध होगा, इस प्रकार से जगत में अन्धता (केवल जडता = चैतन्यशून्यता) की प्राप्ति होगी, इत्यादि विपक्ष बाधक तर्क कल्पनीय हैं। अर्थात् चक्षु प्रकाशक है, प्रकाशस्वरूप नहीं है, तैसा ही यदि ज्ञान जड़ हो, तो चक्षु से जैसे प्रकाश की उत्पत्ति होती है, तैसे ज्ञान से अन्य प्रकाश की उत्पत्ति नहीं होने के कारण और स्वयं भी प्रकाशस्वरूप नहीं होने के कारण घट और घट ज्ञान में जडता तुल्य रहते कौन किसको प्रकाशेगा इत्यादि।

ननु घटज्ञानवानहमस्मि ज्ञातो घट इति प्रत्यक्षेणैवानुभूतेर्वेद्यत्वप्रतीतेः कालात्ययापदिष्टतेतिचेत्, न; वेद्यत्वव्यतिरेकेण तस्याः स्वतःस्फुरणेनापि तादृग्व्यवहारोपपत्तेः। किञ्च विदितो घट इत्यत्रानुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वमवसीयते न तु वित्तेः, विदितत्वस्य घटविशेषणत्वात्। अपि चानुभूतेः प्रत्यक्षतायामपि तत्प्रत्यक्षेणैव तदनुभाव्यत्वस्याप्रत्यक्षीकरणान्न प्रत्यक्षविरुद्धता। अन्यथानुव्यवसायेन व्यवसायस्य स्वविशेषितवेद्यत्वग्रहणे विशेषणतया स्वस्यापि स्वेन वेद्यत्वापातात् सौगतमतानुमति-

प्रसङ्गः। न च वेद्यत्वापादकवस्तुत्वाद्यनुमानविरोधः; व्याप्तिग्रहणासिद्धेः। तथाहि-वस्तुत्वाद्वेद्यत्वं साधयता यद्यद्वस्तु तत्तद्वेद्यमिति व्याप्तिरभ्युपेया। तथासत्यस्या व्याप्तेर्ग्राहिका संविद्व्याप्तिग्रहणसमये स्फुरेत्? न वा? आद्ये, स्वेनैव स्फुरणे सौगतमतानुमतस्वप्रकाशतापत्तिः। तत्स्फुरणस्य स्वहेतुताया अप्यनङ्गीकारे वेदान्तसिद्धान्ताभिमतं स्वयंप्रकाशत्वं त्वयाभ्युपगतं स्यात्।

प्रत्यक्षविरुद्धकालातीततामाशङ्कते—नन्विति। घटविशेषितज्ञानावग्राहि वा ज्ञानविशेषितघटावग्राहि वोभयथापि ज्ञानग्राह्यमेवेदमित्यर्थः। अत्र तावदेवंविधशब्दप्रयोगस्य विषयस्फुरणेन भवितव्यं, तत्तु यथायथं ज्ञानस्य स्वरूपस्फुरणेन घटस्य तु तेनैव स्फुरणेनेत्येवं स्फुरणेऽपि संभवत्येवायं व्यवहार इति नायं ज्ञानस्य वेद्यत्वापादनक्षम इत्याह—न, वेद्यत्वव्यतिरेकेणेति। विदितो घट इत्यत्राधिकमाह—किंचेति। अथवा व्यवहारस्यानुभूतिविषयत्वमङ्गीकृत्यान्यथासिद्धिरभिहिता। इदानीं तु तदेव नास्तीत्याह—किंचेति। एवं हि वेदनस्यापि विदितत्वं व्यवहारविषयत्वं वा स्यात्। यदि विदित इति पदं वेदनेन समन्वियान्नत्वेतत्, घटेनैव तस्यान्वयादित्यर्थः। किंच भवतु वानेन ज्ञानेन स्फुरणं तथाप्येतज्ज्ञानवेद्यत्वमनेनैव गृह्यते? अन्येन वा? न तावदन्येन; तदानीं प्रथमस्यातीततया सन्निष्ठवेद्यताया अप्रत्यक्षत्वात्। न द्वितीयः, अपराद्धान्तापातादित्याह—अपिचानुभूतेरिति। सौगतमतानुप्रवेशो ज्ञानस्यैव स्वग्राहकत्वेन क्रियाकर्मभावस्वीकारः। सत्प्रतिपक्षतां परिहरति—नचेति। येयं व्याप्तिग्राहिणी संवित्समस्तं वस्तु तद्गतवेद्यत्वं च गृह्णाति, सापि स्फुरति? न वा? यदि स्फुरति? तदा स्वेनान्येन वा? स्वेनेति तावन्न घटत इत्याह—स्वेनेति। न वयं क्रियाकर्मभावं ब्रूमो येन तथागतमतापातः स्यात्किन्तु संविद्रूपत्वमित्यत आह—तत्स्फुरणस्येति। अन्येनेति त्वनवस्थया दूषितप्रायमित्युपेक्षितम्।

शंका हो कि, मैं घट ज्ञानवाला हूँ, और घट ज्ञात है, इस प्रकार के प्रत्यक्ष से ही अनुभूति के वेद्यत्व की प्रतीति से, अनुभूति के स्वप्रकाशत्व के साधक अनुभूतित्व हेतु में, कालात्ययापदिष्टता (बाधितत्व) है, तथा प्रत्यक्ष से विरुद्धता है। यदि यह शंका हो तो युक्त नहीं है, वेद्यत्व के बिना ही अनुभूति के स्वतः स्फुरण (स्वयंप्रकाश) स्वरूपता से भी वैसे उक्त व्यवहार की सिद्धि होती है। और दूसरी बात यह है, विदितो (ज्ञातो) घटः इस अनुव्यवसाय से घट के ही विदितत्व (ज्ञातत्व) ज्ञात (प्रत्यक्ष) होता है, ज्ञान के नहीं, क्योंकि ज्ञातो घट, इस वाक्य में विदितत्व (ज्ञातत्व) घट का विशेषण है। ज्ञान का नहीं। और यदि अनुव्यवसाय से व्यवसायरूप अनुभूति की प्रत्यक्षता हो भी तो भी उस अनुभूति के प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय से ही, उस अनुभूति (व्यवसाय) के अनुभाव्यत्व (वेद्यत्व) का प्रत्यक्ष नहीं किया जाता है, अतः अवेद्यत्व साधक अनुभूतित्व का इस प्रत्यक्ष से विरुद्धता नहीं है। अन्यथा (अनुव्यवसाय से व्यवसायगत स्वजन्यवेद्यत्व के प्रत्यक्ष=ग्रहण होने पर) अनुव्यवसाय से स्वविशेषित (अनुव्यवसाय विशेषणयुक्त) व्यवसाय के ग्रहण होने से विशेषण रूप से अपने से

अपनी वेद्यता (ज्ञेयता) की प्राप्ति से सौगत (क्षणिक विज्ञानवादी बुद्ध) मत की स्वीकृति प्राप्त होगी। भाव यह है कि अनुव्यवसाय से व्यवसाय में वेद्यत्व होता है, उस वेद्यत्व के ग्रहण में वेद्यत्व के साधक अनुव्यवसाय जबतक अपने स्वरूप को नहीं ग्रहण करेगा, तब तक स्वसिद्ध व्यवसायगत वेद्यत्व को ग्रहण नहीं कर सकेगा और वेद्यत्व साधक अपने को आप ग्रहण करेगा। ऐसा माना जाय तो सौगत मत प्राप्त होता है। एक ही में कर्मकर्तृभाव विरोध प्राप्त होता है।

और वेद्यत्वसाधक वस्तुत्वादि अनुमान (हेतु) से जो विरोध (प्रतिपक्ष) कहा था, सो विरोध भी नहीं है, क्योंकि वेद्यत्व के वस्तुत्व में व्याप्तिज्ञान की असिद्धि है, हो नहीं सकती है। सो दर्शाया जाता है कि वस्तुत्व हेतु से वेद्यत्व को सिद्ध (अनुमान) करने वाले को, जो जो वस्तु है, सो सो वेद्य है। यह व्याप्ति माननी होगी। और ऐसा मानने पर, विचार करना होगा कि, इस व्याप्ति का ग्राहक (प्रकाशक) सम्विद् (ज्ञान) इस व्याप्ति ग्रहण के समय स्फुरता (प्रकाशता) है, और उसमें व्याप्तिगृहीत हो जाती है। या उस समय वह नहीं प्रकाशता है, न उसमें व्याप्ति गृहीत होता है, तहाँ प्रथम पक्ष में अपने से ही अपने स्फुरण (प्रकाश) की प्राप्ति से तो सौगत मत में स्वीकृत स्वप्रकाशता की प्राप्ति होगी। और उस व्याप्तिज्ञान के स्फुरण (प्रकाश) को व्याप्ति ज्ञान हेतुक (व्याप्तिज्ञानजन्य) नहीं मानकर, प्रकाश को मानने पर, वेदान्त सिद्धान्ताभिमत स्वप्रकाशता आप में स्वीकृत हो जायगी।

द्वितीये तु संविल्लक्षणवस्तुविशेषस्यास्फुरणादेव सर्वोपसंहारवतो व्याप्तेरेवास्तमियात्तत्र कुतोऽनुमानप्रसरः कुतस्तरां च प्रकृतस्य हेतोः सप्रतिसाधनता। अपि च भाट्टानां ज्ञाततायां व्यभिचारात् नैयायिकादेश्च वेद्यत्वस्यापि धर्मतयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादवेद्यस्यापि कस्यचित्संभवेन वस्तुत्वादेः केवलान्वयित्वेनाभिमतस्यापि हेतोः संभावितविपक्षतया विपक्षबाधकतर्कमन्तरेणाप्रयोजकत्वात्। नह्यनुभूतेरवेद्यत्वे वस्तुत्वानुपपत्तिः; स्वतःसिद्धतायामपि तदुपपत्तेः। लक्ष्यत्वन्यायविषयत्वहेत्वोरपि यथोक्तमूहनीयम्।

अस्फुरणं दूषयति—द्वितीये स्थिति। सर्वोपसंहारवती सर्वं क्रोडिका। सर्वव्यक्तिनिष्ठा इति यावत्। तदेव साधारण्येन व्याप्त्यसिद्धिमभिधाय प्रतिदर्शनमपि दर्शयति—अपिचेति। भाट्टानां प्राकट्यं स्वप्रकाशमित्यर्थः। यस्य तु नैयायिकस्य स्वप्रकाशं न किंचिदप्यस्ति तस्य पूर्वोदितानुमानेन वेद्यत्वरहितं किंचित्साधयित्वा तत्र हेतोरस्तुत्यनिश्चयात्संदिग्धानैकान्तिकता वक्तव्या इत्याह— नैयायिकादेश्चेति। नन्वेतदेव विपक्षे बाधकं यद्वस्तुत्वहानिरित्यत आह—नहीति। वस्तुत्वं हि स्फुरणाभावे निवर्तेत अवेद्यस्यापि स्वतःस्फुरणोपपत्तेः। नान्तरेण वेद्यत्वमनुपपत्तिर्वस्तुत्वस्येत्यर्थः। एतेनेदमप्यपास्तं यदाह मानमनोहरकारः "ज्ञानं प्रत्यक्षवेद्यं वस्तुत्वाद्घटव" दिति। यच्च तार्किकैरुत्प्रेक्ष्यते वेद्यत्वसाधनाय लक्ष्यत्वान्यायविषयत्वादिति च, तत्रापि यल्लक्ष्यं यच्च न्यायविषयं तद्वेद्यमिति व्याप्तिग्राहिणि ज्ञाने लक्ष्ये न्यायविषये च स्फुरत्यस्फुरति च पूर्वोक्तविकल्पदोषाः समाना इत्याह—लक्ष्यत्वेति।

दूसरे पक्ष में (व्याप्ति के ग्रहण-काल में व्याप्ति-ग्राहक-ज्ञान के प्रकाश को नहीं मानने पर) संवित्स्वरूप वस्तुविशेष के अस्फुरण (अज्ञान) से ही उसमें उक्त व्याप्ति के ग्रहण नहीं होने के कारण, सर्वोपसंहार वाली (सर्वव्यक्तिव्यापिनी) व्याप्ति ही अस्त (नष्ट) हो जायगी। उक्त व्याप्ति-ग्राहक ज्ञान के व्याप्ति ग्रहण-काल में प्रकाश नहीं होने से, उसमें, यत्र यत्र वस्तुत्व तत्र तत्र वेद्यत्व, यह व्याप्ति नहीं गृहीत हो सकने के कारण व्यापक रूप से व्याप्ति नहीं गृहीत होगी। फिर ऐसा होने पर व्याप्ति ज्ञान के बिना वस्तुत्वसे वेद्यत्व का अनुमान कैसे होगा, और व्याप्ति-ग्राहक ज्ञान में वस्तुत्वके रहते वेद्यत्व के नहीं रहने के कारण व्यभिचारी वस्तुत्व से प्रकृत हेतु अनुभूतित्व को प्रतिसाधनता (प्रतिपक्षता) कैसे होगी, किसी प्रकार से नहीं। और इस वस्तुत्व को भट्टों के मत में ज्ञातता (ज्ञानजन्यविषयनिष्ठ प्राकट्य) में व्यभिचार है, क्योंकि भाट्ट लोग ज्ञातता में वेद्यत्व नहीं मानते हैं, उसको स्वयंप्रकाश मानते हैं, और उसमें भी वस्तुत्व रहता है। अतः व्यभिचारी हेतु है। और नैयायिकादि के मत में भी वेद्यत्व की धर्मता के कारण घटत्वादि के समान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व से अवेद्य भी किसी पदार्थ की सम्भावना से केवलान्वयिरूप से स्वीकृत भी वस्तुत्वादि हेतु की सम्भावित विपक्षता अवस्था में विपक्षबाधक तर्क के बिना सन्दिग्ध अनैकान्तिता से वस्तुत्व हेतु को अप्रयोजकता (असाधनता) है। यदि कहा जाय कि अवेद्यत्व रहते अनुभूति के वस्तुत्व भी नहीं रहेगा। वस्तुत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी यही विपक्ष बाधक तर्क है, तो सो कहना युक्त नहीं क्योंकि स्वतःसिद्धता (स्वयंप्रकाशता) अवस्था में भी वेद्यत्व के बिना ही वस्तुत्व की सिद्धि होती है, शून्यत्व की प्राप्ति नहीं होती है। लक्ष्यत्व, न्यायविषयत्व (अनुमान विषयत्व) हेतु से वेद्यत्व का जो अनुमान किया जाता है, वहाँ भी उन हेतुओं के व्याप्ति-ग्रहण-काल में ग्राहक संविद के स्फुरण अस्फुरण पक्ष में उक्त दोष ज्ञातव्य हैं।

नच लक्षकपदत्वेन लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमेयं; हेतोरसिद्धत्वात्। न ह्यनुभूतिपदमनुभूतिं लक्षयतीति तवाभिमतं, तद्वाचकत्वेनैव स्वीकारात्। किंच लक्ष्यज्ञानशब्देन लक्ष्यकर्मकं स्फुरणं ? किंवा तद्विषयम् ? उत स्फुरणमात्रं ? किंवा तद्विषयान्तःकरणवृत्तिर्विवक्ष्यते ? नाद्यः; अतीताद्यर्थलक्षकपदेषु व्यभिचारात्। नेतरे; सिद्धसाधनत्वात्। अस्ति हि तत्त्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकत्वेन तद्विषयत्वम्। अस्ति च स्फुरणमात्रमनुभूतेः स्फुरणरूपत्वात्तदाकाराया वृत्तेः स्वीकाराच्च। अनुभूतिपदवाच्यस्य लक्ष्यस्य वा स्वप्रकाशत्वमित्यपि विकल्पोऽनुपपन्नः, उभयवादिसंप्रतिपन्नस्फुरणमात्रस्य स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनात्। अन्यथा वेद्यत्वसाधनेऽपि तवास्य विकल्पस्य दुष्परिहरत्वात्।

यत्तूक्तं लक्षकपदत्वादेव लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमीयत इति तत्राह—नचेति। हेतुमाह—नहीति। अयमर्थः—नहि यस्य कस्यचिल्लक्षकमनुभूतिपदं पक्षः। तथा सति प्रमात्रादिलक्षकानुभूतिपदस्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनताप्रसङ्गात्। तस्मादनुभूतिलक्षकमनुभूतिपदं पक्ष इति वक्तव्यम्। तथाच तादृशा-

नङ्गीकाराङ्गीकारयोराश्रयासिद्धयपसिद्धान्तयोरन्यतरापात इति । अथानुभाव्यवाच-कानुभूतिलक्षकपदं पक्षीकुर्यात्तं प्रति साध्यं विकल्पयति—किंचेति । लक्ष्यकर्मकस्फुर-णजन्यत्वमतीतादिवस्तुलक्षकपदस्य नास्ति । अतीतादीनामिदानीमभावेनानुभवावच्छेद-कत्वाभावात् । अतोऽनैकान्तिकमित्याह—अतीताद्यर्थेति । तद्विषयस्फुरणजन्यत्वसाधने सिद्धसाधनतामुपपादयति–अस्ति हीति । येन हि यस्य व्यवहारः प्रवर्तते तस्य हि स विषयभेदः स्वतन्त्र इत्यभिप्रायः । तत्स्फुरणमात्रेण जन्यत्वसाधने तृतीय पक्षे सिद्ध-साधनतामाह–अस्ति चेति । लक्ष्यस्वभावभूतस्फुरणस्यापि लक्ष्यस्फुरणत्वादित्यर्थः । चतुर्थे पक्षे सिद्धसाधनतां दर्शयति–तदाकाराया इति । अन्यथेति । अनुभूतिपदवा-च्यस्य चेत्सिद्धसाधनं, लक्ष्यस्य चेत्तथासिद्धिरिति विकल्प्य दूषणे साधारणांशग्रहणमेव कारणमित्यर्थः ।

प्रथम जो यह कहा गया था कि लक्षक पदत्वरूप हेतु से लक्षक अनुभूति पद में लक्ष्य विषयक ज्ञानजन्यत्व अनुमेय है, कि जिससे स्वप्रकाशता का भङ्ग होगा, सो कहना वादी का नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रतिवादिमत में अनुभूतिपद में अनुभूतिलक्षकत्वरूप हेतु की असिद्धि है । अनुभूतिपद, अनुभूति का लक्षण द्वारा बोधक है। यह आप प्रतिवादी को अभिमत (स्वीकृत) नहीं है । क्योंकि अनुभूतिपद को उस अनुभूति के वाचक रूप से ही आप स्वीकार करते हैं, लक्षक रूप से नहीं । और यह भी विचारणीय है कि, लक्ष्यविष-यकज्ञानत्वम्. इस वाक्य में लक्ष्यविषयक ज्ञान शब्द से, लक्ष्यकर्मक स्फुरण (प्रकाश) विवक्षित है ।

अथवा लक्ष्यविषयक स्फुरण, या स्फुरणमात्र, या लक्ष्यविषयक अन्तःकरण की वृत्ति विवक्षित है। वहाँ प्रथमपक्ष युक्त नहीं है। क्योंकि अतीतादि अर्थ के लक्षक पदों में व्यभिचार है, वहाँ लक्षकपदत्वरूप हेतु रहता है, परन्तु लक्ष्यकर्मक स्फुरण के अभाव से तज्जन्यत्व साध्य का अभाव रहता है, क्योंकि वर्तमान वस्तु क्रिया-जन्य फल का आश्रय होने से कर्म होता है। प्रकृत में ज्ञाधातु का अर्थ ज्ञान क्रिया है, धात्वर्थ को क्रिया कहते हैं। भूतादि अर्थ ज्ञानजन्य विषयता (ज्ञातता) रूप फल का आश्रय नहीं होता है । न ज्ञान उससे जन्य होता है। अतः व्यभिचार है । और अन्य तीनों पक्ष भी युक्त नहीं हैं। क्योंकि सिद्धसाधनता है। अनुभूति रूप भी स्फुरण (प्रकाश) को अनुभूति के व्यवहार की जनकता से अनुभूति विषयकत्व है ही, अतः अनुभूतिविषयक ज्ञानजन्यत्व अनुभूतिलक्षक पद में सिद्ध है। और अनुभूति के स्फुरण स्वरूप होने से स्फुरणमात्र भी अनुभूति है । अतः स्फुरणमात्र जन्यता भी अनुभूति लक्षक अनुभूतिपद में सिद्ध है ।और उस अनुभूति के आकार वाली अन्तःकरण की वृत्ति भी होती ही है । ऐसी मानी जाती है । अतः लक्ष्य-विषयक अन्तःकरणकी वृत्तिसे जन्यता लक्षक अनुभूतिपद में सिद्ध होने से सिद्धसाधनता है। और अनुभूति पद के वाच्य को या लक्ष्य को स्वप्रकाशत्व है, वह विकल्प प्रश्न) अयुक्त है। क्योंकि उभयवादी से स्वीकृत निश्चित स्फुरण मात्र के स्वप्रकाशत्व का प्रतिपादन किया जाता है । अन्यथा ऐसा नहीं मानने पर (अनुभूति में वेद्यत्व के साधने में तुझे भी यह विकल्प दुर्निवार होगा) अर्थात् अनुभूतिपद के वाच्य में वेद्यत्व को साधोगे तो सिद्धसाधनता होगी । लक्ष्य में

वेद्यत्व को सिद्ध करना चाहो, तो आप के मत में लक्ष्य की असिद्धता होगी। अतः उभयस्वीकृत सामान्य का ग्रहण ही उचित है॥

नन्वेवमपि घटः स्वयंप्रकाशो घटत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा पट इत्याभाससमानयोगक्षेमता हेतोरिति चेत्, मैवम्; पृथुबुध्नोदराकारस्य घटशब्दवाच्यस्य स्पर्शरूपादिमतश्चक्षुःस्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वेन संमतस्य स्वप्रकाशत्वसाधने प्रत्यक्षविरोधादतद्विषयस्य चाप्रसिद्धत्वेन धर्म्यसिद्धिः। न चात्राप्यवेद्यस्यानुभूतित्वमप्रसिद्धमिति वाच्यम्; तथा सति तस्या वेद्यत्वावेद्यत्वयोर्वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। न चैवमुभयतः पाशारज्जुः; अनुभूतेः प्रमाणजन्यस्फुरणाश्रयतया स्फुरणकर्मतया वा घटादिवद्विषयभावाभावेऽपि प्रमाणजनितान्तःकरणवृत्तिव्याप्यत्वेन विषयताङ्गीकारेऽपि स्वप्रकाशत्वाव्याघातात्। उक्तवृत्तिव्याप्यत्वेऽपि स्फुरणव्याप्यत्वाभावापराधेन नाप्रामाणिकतापि, केवलव्यतिरेकाभावात्, अतीतानागतयोः स्फुरणविरहिणोरुक्तवृत्तिव्याप्ययोर्भाट्टैः प्रामाणिकत्वाभ्युपगमात्, चेष्टादिलिङ्गकानुमानविषयस्यापि परज्ञानस्य स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने ज्ञानान्तरनिरपेक्षतया स्वप्रकाशत्वोपपत्तेश्च।

उक्तानुमानस्य यद्यपि विशेषतो दूषणं न स्फुरति तथापि अस्त्याभाससमानयोगक्षेमत्वं, तथाच यदितरस्य दूषणं तदस्यापि समानमिति शङ्कते—नन्वेवमिति। अत्र किं रूपादिमान्घटः पक्षीक्रियते? उतालौकिकः कश्चित्? नाद्यः; धर्मिग्राहकप्रमाणबाधादित्याह—मैवमिति। चक्षुःस्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वे हेतुः—स्पर्शरूपादिमत इति। द्वितीयं दूषयति—अतदिति। न चात्रापीति। रूपादिहीनस्य यथा घटत्वमप्रसिद्धमेवमित्यर्थः। हेतुमाह—तथा सतीति। विप्रतिपत्तिरेव वेद्यावेद्यसाधारणानुभूतिप्रसिद्धौ प्रमाणमित्यर्थः। यच्च प्रमाणसद्भावे वेद्यत्वादस्वप्रकाशत्वमभावे च प्रमाणाभावादसिद्धिरित्युभयतःपाशारज्जुरित्युक्तं तदपि नास्तीत्याह—न चैवमिति। स्फुरणाश्रयतयेति भाट्टाभिप्रायेणोक्तं, स्फुरणकर्मतयेतीतराभिप्रायेण। एतदुक्तं भवति—न प्रमाणप्रवृत्तिमात्रादनुभवकर्मत्वं येनास्वप्रकाशता स्यादपि तु तदाकारान्तःकरणवृत्तिरेव प्रमाणैर्जन्यते। नच वृत्तिविषयतामात्रादस्वप्रकाशता स्यात्प्रकाशप्रकाश्यस्वाभावात्स्वरूपप्रकाशाभिव्यञ्जकमात्रत्वाद् वृत्तेः। तेन न वेद्यत्वप्रसक्तिर्नाप्यप्रामाणिकमिति। ननु वृत्तिव्याप्यत्वमात्रान्न प्रामाणिकत्वमपितु स्फुरणव्याप्यतया, घटादौ तथा दर्शनादित्यत आह—उक्तेति। कुतः? केवलव्यतिरेकाभावात्। नहि संभवद्व्यतिरेकयोरन्वयमात्राद्धेतुहेतुमद्भावनिश्चयः, अतिप्रसङ्गात्। मा भूत्तुरगखरवर्णयोर्हेतुहेतुमद्भावः, संभवति ह्यन्वय इति भावः। किंच तौतातितैस्तावदेवं वक्तुमयुक्तं, प्राकट्यानाधारयोरप्यतीतानागतयोः ज्ञानमात्रविषयतया प्रामाणिकत्वाङ्गीकारादित्याह—अतीतेति। तार्किकाणां वृत्तिफलविभाग एव नास्तीति न पर्यनुयोगावकाशः। तदेवं वृत्तिविषयत्वमात्रेणापि

प्रामाणिकत्वमस्तीत्युपपादितम् । इदानीं वृत्तिविषयत्वेऽपि स्वप्रकाशत्वक्षतिर्नास्तीत्युपपादयति—चेष्टादीति । स्वाश्रये स्वाधारे । नहि प्रमाणावेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वं किंतु स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वम् । तच्च स्वप्रकाशत्वसाधकप्रमाणगम्यत्वेपि न विरुद्ध्यते प्रमाणान्तरनिरपेक्षतयैव स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनकत्वादित्यर्थः । एवं व्यतिरेक्यनुमानेन स्वप्रकाशत्वं समर्थितम् ।

एवमपि (उक्तरीति से अनुभूति की स्वप्रकाशता की सिद्धि होने पर भी) घट स्वयं प्रकाश है, घटत्व वाला, होने से; जो (ऐसा) स्वयं प्रकाश नहीं है, सो ऐसा, घटत्व वाला भी नहीं है। जैसे कि पट है, इस अनुमानाभास (मिथ्यानुमान) के समान ही आप के स्वप्रकाशत्व अनुमान के हेतु की योगक्षेमता (साधनता) है। ऐसा यदि कोई कहे तो, वह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि पृथु (स्थूल) गोल उदर रूप आकार वाला, तथा स्पर्श रूपादिवाला जो घटशब्द का वाच्यार्थ है, और नेत्र त्वग् इन्द्रियरूप प्रमाण से सिद्ध (प्रत्यक्ष) रूप से सबको सम्मत (सबसे स्वीकृत) है, उस घट के स्वप्रकाशत्व को साधने पर प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध होगा, और नेत्रत्वक् के अविषय स्वरूप अलौकिक घट के स्वप्रकाशता को साधने (अनुमान करने) पर, उस घट की अप्रसिद्धि से धर्मी (पक्ष) की ही असिद्धि है । अतः वह अनुमान हो नहीं सकता है। यदि कहें कि इस वेदान्ती के स्वयं प्रकाशत्वरूप अवेद्यत्व के अनुमान में अनुभूतित्व असिद्ध है । अर्थात् (अनुभूति रूप धर्मी असिद्ध है) तो सो कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि तथा सति (अनुभूतिधर्मी के अप्रसिद्ध रहने पर) उस अनुभूति के वेद्यत्व अवेद्यत्व विषयक वादियों की विप्रतिपत्ति (विवाद) के अभाव की प्राप्ति होगी, अनुभूति की प्रसिद्धि के विना वादी उस विषयक कथा नहीं कर सकेंगे, और कथा होती है। अतः अनुभूति अप्रसिद्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भी उभयतः (दोनों तरफ) पाशारज्जुः (बाधा बन्धन) है । अर्थात् स्वप्रकाश अनुभूति की प्रसिद्धि के लिए प्रमाणके सत्त्व रहनेपर वेद्यत्व (अस्वप्रकाशत्व) की प्राप्ति होती है, और प्रमाण के अभाव अवस्था में धर्मी की असिद्धि प्राप्त होती है । यह उभयतः पाशारज्जु है । तो यह दोष नहीं है । क्योंकि प्रमाणजन्य स्फुरण (प्रकाश-ज्ञातता वेद्यता) की आश्रयता रूप से या स्फुरण कर्मता (ज्ञानजन्य फलाश्रयता) रूप से घटादि के समान अनुभूति में ज्ञानविषयत्व के अभाव रहते भी, और प्रमाण से जन्य अन्तःकरण की वृत्ति की व्याप्यता (विषयता) से वृत्तिविषयता को मानने पर भी स्वप्रकाशत्व का व्याघात (अभाव) नहीं प्राप्त होता है । और उक्त अन्तःकरण की वृत्ति से व्याप्यत्व (विषयत्व) होने पर भी, स्फुरण (ज्ञान=वृत्तिगत चिदाभास) से व्याप्यत्व (प्रकाश्यत्व) के अभावरूप अपराध (न्यूनता) से अनुभूति में अप्रामाणिकताकी प्राप्ति भी नहीं होती है । क्योंकि केवल व्यतिरेक का अभाव है । भाव है कि अन्वय व्यतिरेक से कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है, तहाँ फलव्याप्यता और प्रामाणिकता में यदि कारणकार्यभाव निश्चित हो, तो अनुभूति में फलव्याप्यता के अभाव से प्रामाणिकता का भी अभाव हो, परन्तु यहाँ, यत्र यत्र फल व्याप्यत्वं, तत्र तत्र प्रामाणिकत्वं (जहां-जहां फलव्याप्यता है, तहां-तहां प्रामाणिकता है) इस प्रकारका अन्वय तो है । किन्तु (यत्र यत्र फल व्याप्यत्वाभावस्तत्र तत्र प्रामाणिक-

त्वाऽभावः) जहाँ-जहाँ फलव्याप्यत्व नहीं है, वहाँ-वहाँ प्रामाणिकत्व नहीं है—इस प्रकार व्यतिरेककारणत्व निश्चय का हेतु नहीं है। क्योंकि भूतभावी पदार्थों में फलव्याप्यता के विना ही भट्टमत में प्रामाणिकता मानी जाती है। अतः अन्वय के रहते भी, केवल व्यतिरेकमात्र के भाव से कारणता का यहाँ निश्चय नहीं होता है। स्फुरण (प्राकट्य) से रहित भूत भावी उक्तवृत्ति विषयों की प्रामाणिकता भट्टों से मानी गई है, वैसे ही वृत्तिविषयता से अनुभूति में प्रामाणिकता होती है। और वृत्ति के विषय होने पर भी स्वप्रकाशत्व की क्षति नहीं होती है। अत एव चेष्टादि लिङ्ग (हेतु) जनित अनुमिति ज्ञान का विषय भी परपुरुषवर्ती ज्ञान को स्वाश्रय (पर पुरुष) में, स्वविषय के अपरोक्ष व्यवहार के उत्पादन में ज्ञानान्तर की निरपेक्षता के कारण स्वप्रकाशता की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। भाव है कि प्रमाणाऽविषयत्व (प्रमाणाऽवेद्यत्व) स्वप्रकाश का लक्षण नहीं है। किन्तु स्वविषय के अपरोक्ष व्यवहार के उत्पादन में प्रकाशान्तर (ज्ञानान्तर) की निरपेक्षता ही स्वप्रकाशत्व है। ऐसी स्वप्रकाशता, स्वप्रकाशता के साधक अनुमान के विषय अनुभूति में रहती ही है। क्योंकि स्वाश्रय में प्रमाणान्तर की अपेक्षा के विना स्वविषय के अपरोक्ष व्यवहार का हेतु होती है। 'अनुभूतिः अस्वप्रकाशा, प्रामाणिकत्वाद्, यन्नैवं, तन्नैवम्, यथा भूतादिकम्' ऐसा अनुमान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि इस हेतु में केवलव्यतिरेक का अभाव है। इत्यादि ॥

किंच त्वज्ज्ञानं तवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यं न भवति ज्ञानत्वान्मदीयज्ञानवत्। न च मदसमवेतत्वं मदन्यसमवेतत्वं वोपाधिः; साध्याव्याप्तेः, त्वदीयधर्मादिषु त्वत्समवेतेष्वसमवेतेषु च परमाणुपूक्तसाध्यसद्भावेऽप्युपाधेरभावात्। न च ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमुपाधिः; ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादिदं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यं न भवति घटवदिति व्यतिरेके ज्ञानेतरत्वस्यैवोपाधित्वात्। विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वाद् घटज्ञानवत्।

ये तु चक्रनयवर्त्मानुसारिणस्तान्प्रत्यभिनवरीतिसुरभिमन्वयव्यतिरेकिप्रयोगमाह—किंच त्वज्ज्ञानमिति। त्वज्ज्ञानं वेद्यं न भवतीत्युक्ते अप्रसिद्धविशेषणता। तन्निवृत्त्यर्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीत्युक्तम्। वेद्यत्वाभावस्याप्रसिद्धत्वेऽप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितस्य परमाण्वदृष्टादेः प्रसिद्धत्वेन नाप्रसिद्धविशेषणता। तावत्युक्तेऽर्थान्तरता तदीयज्ञानस्य परं प्रत्युक्तरूपत्वात्, तदर्थं तवेत्युक्तम्। एवमपि परकीयज्ञानमादायार्थान्तरता तस्यैतं प्रति तथात्वादत उक्तं—त्वदिति। एतदीयस्य च ज्ञानस्यैतं प्रत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वाद्वा? वेद्यत्वानधिकरणत्वाद्वा? नाद्यः; व्याघातात्। उत्तरं तु सिद्धयदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वलक्षणं स्वप्रकाशत्वमादाय सिद्धयतीति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, अन्यज्ञाने चैतदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वात् तद्गर्भवेद्यत्वानधिकरणत्वमिति साध्यप्रसिद्धिः। अन्यदीयज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे मदसमवेतत्वं

मदन्यसमवेतत्वं वोपाधिरित्याशङ्क्य निरस्यति—न चेति । कुतः ? साध्याव्यापकत्वात् । तदेव विवृणोति—त्वदीयेति । त्वददृष्टसंस्कारयोस्त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितयोस्त्वदसमवेतत्वत्वदन्यसमवेतत्वयोरुपाध्योरभावेन साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः । उत्तरस्योपाधेः साध्याव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—असमवेतेष्विति । परमाण्वाकाशादीनां नित्यत्वादसमवेतत्वेनान्यसमवेतत्वस्य सुतरामभावादित्यर्थः । उपाध्यन्तरमाशङ्क्य निराकरोति—न चेति । प्रतिवादिज्ञानस्य तदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वे तदपरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमुपाधिः, तथाच वादिज्ञानेऽयमुपाधिर्व्यावर्तमानः साध्यमपहरतीत्युपाधिवादिनोऽभिमतं तद्दूषयितुं हेतुमाह—ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यादिनोपाधित्वादित्यन्तेन । उपाधिं वदतोपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेकोऽनुमातव्यः, सर्वोपाधीनामेवंस्वाभाव्यात् । युक्तं चैतत्साध्योपाध्योर्व्याप्यव्यापकभावार्थं तदभावयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमात् । तत उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि निरुपाधिसंबन्धो वक्तव्यः । तस्मादभावयोरप्युपाधिर्निविशमानो दूषयेदेव प्रथमोपाधिमित्यभिसंधाय तद्व्यतिरेकयोरयमुपाधिरुपन्यस्तस्तत्र ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्युपाधिव्यतिरेकनिर्देशः । शेषः साध्यव्यतिरेकनिर्देशः । अनयोः संबन्धे ज्ञानेतरत्वमुपाधिरित्यर्थः । तदेवं व्यतिरेकानुन्नायकत्वात्साध्याव्यापकत्वाच्चानुपाधित्वे सिद्धे पूर्वोक्तहेतुरप्रत्यूह इत्यभिप्रायः । ननु यथा ज्ञानत्वव्यतिरेकस्यज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं ब्रूषे एवं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यस्य हेतोर्व्यतिरेकस्य ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्योपाधित्वं परेणापि सुवचमिति षण्ढमैथुनायितं चक्रकापत्तिश्च—ज्ञानेतरत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानत्वस्य प्रतिवादिसाध्यव्यतिरेकरूपत्वदीयसाध्योन्नायकत्वे सिद्धे ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं, तस्योपाधित्वे व्यतिरेकानुन्नायकत्वान्ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्यानुपाधित्वं, तस्यानुपाधित्वे च ज्ञानत्वस्य प्रथमसाध्यंप्रति हेतुत्वमिति । तस्मान्नेयं रीतिश्चतुरश्रेणीरीतिसरणिमधिरोहतीति । आकर्ण्यतां तावदवहितहृदा ग्रन्थकारहृदयं, ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वस्य प्रथमसाध्यव्यतिरेकोन्नायकत्वं तावदसंगतम् । वेद्यत्वं ह्यनेन साधनीयम् । नच तदप्रसिद्धं, येन ममापरोक्षेति विशेषणान्तरसार्थक्यं स्यात् । तस्मान्मद्वेद्यमिदं मद्व्यवहारयोग्यत्वादित्येवालमिति व्यर्थविशेषणत्वादहेतुरेवायम् । अत एव न तद्व्यतिरेकस्योपाधितेति । ननु एतदेवोच्यतां किमनेनाजागलस्तनायमानेन, सत्यम्; इयमपि काचन रीतिस्तार्किकैरङ्गीकृतेति प्रदर्शनार्थम् । तथाहि माननमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेणास्मत्प्रकरणे—विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं कार्यत्वात् चेष्टादिवदित्यनुमानम्, व्यर्थविशेषणेनापि शरीरिजन्यत्वव्यतिरेकेण 'विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं न भवति । शरीरंजन्यत्वाद्', इति सत्प्रतिपक्ष्यते स्म । तथा, विवादाध्यासितमूर्तं प्रयत्नजं परमाणुव्यतिरिक्तत्वे सति मूर्तत्वात, गन्धः प्रयत्नजः गन्धत्वात्पटवत्तद्गन्धवच्चेति, ईश्वरात्- ननुमाने च, न शरीरिणाऽजन्यत्वादित्यनेन प्रकरणसमत्वम् । नापि तज्जन्यत्वमुपाधिर-

कार्यत्वस्योपाधेर्व्यतिरेकस्य व्यर्थविशेषणत्वाच्चेतिवत्। तस्मान्न कश्चिदपि कलङ्कशङ्कावकाशः। तथैव रीत्यानुमानान्तरमाह— विवादपदानीति। ज्ञानमात्रपक्षीकरणे घटज्ञानांशे सिद्धसाधनता तदर्थं विवादपदानीति ग्रहणं वेद्यत्वानधिकरणमित्युक्तेऽसिद्धविशेषणता, तन्निवृत्यर्थं घटज्ञानान्यत्वे सतीति विशेषणं वेद्यत्वानधिकरणत्वतया सिद्धत्वेऽपि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञाने प्रसिद्धं घटज्ञानस्य घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वादेव, अन्यत्वं चात्र तत्वानधिकरणत्वं, घटज्ञानान्यत्वानधिकरणानीत्युक्ते व्याहृतिस्तेषां घटज्ञानान्यत्वादेव, तदर्थं वेद्यत्वग्रहणं, घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, व्याघातात्। तस्माद्वेद्यत्वानधिकरणत्वसिद्धिः। पूर्वानुमानं समग्रलक्षणवतः सद्भावे, इदं त्ववेद्यत्वमात्र इति विशेषः।

केवल व्यतिरेकी अनुमान से अनुभूति के स्वप्रकाशत्व को सिद्ध करके, अन्वयव्यतिरेकी से सिद्धि दर्शाते हैं कि आपका ज्ञान, आप के अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता युक्त वेद्य (वेद्यत्व वाला) नहीं होता है। क्योंकि ज्ञानत्व वाला है। जैसा हमारा ज्ञान है। यहाँ प्रकाश स्वरूप ज्ञान को अपरोक्ष व्यवहार की योग्यतायुक्त अवेद्यत्व स्वप्रकाश होने ही से हो सकता है। सो प्रतिवादी के अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता से युक्त वेद्यत्वाभाववादी ज्ञान में वर्तमान है। और ज्ञानत्वहेतु पक्ष दृष्टान्त में है। अतः अन्वयी हेतु स्वप्रकाशत्व का साधक है। यहाँ, मदसमवेतत्व (प्रतिवादी में असमवेतत्व) या मुझसे अन्य में समवेतत्व, वादी ज्ञान में है, यही उपाधि हैं, अर्थात् मम (प्रतिवादी के) अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व युक्त वेद्यत्वाभाव रूप साध्य के व्यापक और ज्ञानत्व रूप साधन के अव्यापक ये धर्म हैं, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि ये दोनों धर्म उक्तसाध्य के व्यापक नहीं हैं। प्रतिवादी में समवेत धर्मादि में भी उक्त प्रत्यक्षव्यवहार युक्त वेद्यत्वाभाव रूप साध्य है। और उक्त असमवेतरूप उपाधि नहीं है। तथा परमाणु में भी उक्त साध्य है। मदन्यसमवेतत्व रूप उपाधि नहीं है, क्योंकि परमाणु किसी में समवेत नहीं होता है, कार्यादि कारणादि में समवेत होते हैं। फिर भी यदि कहें कि (ममापरोक्षव्यवहाराऽयोग्यत्व) मेरे अपरोक्षव्यवहार की अयोग्यता, उक्त अनुमान में उपाधि है। तो सो कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि उपाधि का तो यही फल होता है कि साध्य के व्यापक उपाधि के अभाव प्रदर्शन द्वारा उसके साध्य के अभाव हेतु के स्थान में प्रदर्शन से हेतु को व्यभिचारी सिद्ध कर दिया जाय, सो उपाधि के व्यतिरेक द्वारा साध्य के व्यतिरेक के अनुमान से सिद्ध किया जाता है. यहाँ वह व्यतिरेकानुमान ही सोपाधिक हो तो, प्रथम अनुमान के हेतु की व्यभिचारिता नहीं सिद्ध होती है। तथा हि (ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादिदं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यं न भवति) उक्त उपाधि के अभाव रूप मेरे अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता के कारण, यह मेरा ज्ञान मेरे अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व अवेद्यत्व रूप साध्य वाला भी नहीं है, घट के समान वेद्यत्व वाला ही है। इस व्यतिरेक (उपाधि के अभाव से साध्याभाव के अनुमान में ज्ञानेतरत्व (ज्ञानभिन्नत्व) ही उपाधि हो जाता है। अतः व्यभिचारी हेतु हो जाता है। उक्त साध्य जहाँ घटादि में है, वहाँ ज्ञानेतरत्व है। और

अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व हेतु ज्ञान में है, वहाँ ज्ञानेतरत्व नहीं है। अतः साध्यव्यापक साधनाव्यापक उपाधि है॥

उक्त रीति से स्वप्रकाशत्व का साधक अन्य-अन्य अनुमान है कि (विवाद के विषय-ज्ञान, घट जाने से अन्यत्व (भेद) युक्त वेद्यत्व के अनधिकरण हैं, ज्ञानत्व होने से, घट ज्ञान के समान) यहाँ घटज्ञान रूप दृष्टान्त में घटज्ञान से अन्यत्व रूप विशेषण के अभाव से विशिष्ट वेद्यत्व का अभाव रूप साध्य प्रसिद्ध होता है, और अन्यत्र स्वप्रकाशत्व से साध्य सिद्ध होता है, (वेद्यत्वाभाव से स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है) ज्ञानत्व हेतु स्वप्रकाशत्व को सिद्ध करता है॥

न च घटज्ञानत्वमुपाधिः, शरीरिजन्यत्वोपाधाविव व्यर्थविशेपणत्वात्। तस्माद्विगलितसकलकलङ्कमनुभूतेः स्वप्रकाशत्वानुमानमिति सिद्धम्।

एतेनात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं व्याख्यातम्।

तथाहि—

'चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः' ॥ ३ ॥

घटज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे घटज्ञानत्वमुपाधिमाशङ्क्य निषेधति—नचेति। यथाहि—विवादपदं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवदित्यत्र शरीरिजन्यत्वं व्यर्थविशेपणत्वादनुपाधिः, जन्यत्वमात्रेण साध्यव्याप्तिसिद्धेरितरस्य पक्षमात्रव्यावर्तकत्वात्, एवं ज्ञानत्वमित्येनेनैव ज्ञानव्यतिरिक्तव्यावृत्तौ सिद्धायां घटपदस्य पक्षीकृतघटज्ञानव्यतिरिक्तज्ञानव्यवच्छेदकत्वात्पक्षेतरतयाऽयमनुपाधिरित्याह—शरीरेति।

अवीतपदमाचार्यैरकार्यन्वयगोचराः।
महाविद्याः पुनर्दिव्या दीव्यन्त्यत्रानिवारितम्॥

तथाहि—विमतं ज्ञानमेतज्ज्ञानविज्ञानविषयत्वे सति वेद्यत्वरहितज्ञानविषयः पदविषयत्वात् घटवदित्यादिमहाविद्याभिरपि समर्थनीयं स्वप्रकाशत्वं, फलाविषयत्वादिसाधनाच्च व्याहतिः। स्वप्रकाशसमर्थनमुपसंहरति—तस्मादिति।

विज्ञानस्वप्रकाशत्वमात्मस्वप्रकाशत्वेऽप्यतिदिशति—एतेनेति। यद्यपि विज्ञानस्वप्रकाशतयैव तद्रूपस्यात्मनः स्वप्रकाशता सिद्धा, तथापि तद्रूपतायामेव विवादात्तत्समर्थनार्थमधिकयुक्तिप्रदर्शनार्थं च वादान्तरारम्भः। हेतून्प्रमाणानि संगृह्णाति श्लोकेन—चिद्रूपत्वादित्यादिना।

यदि यहाँ इस उक्त अनुमान में, घटज्ञानत्व रूप उपाधि कहें कि, घट ज्ञानान्यत्व युक्त वेद्यत्वानधिकरणत्व रूप साध्य का घटज्ञानत्व व्यापक है, और ज्ञानत्व रूप साधन (हेतु) का अव्यापक है। अतः उपाधि है, तो सो नहीं कह सकते हैं। क्योंकि शरीरिजन्यत्व उपाधि में शरीरिविशेषणता के समान, इस उपाधि में भी घटविशेषण व्यर्थ है। अर्थात् ईश्वर की सिद्धि के लिये (क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटवत्) पृथिवी आदि अंकुरादि, कर्ताजन्य हैं, कार्य होने से, घट के समान यह अनुमान किया जाता है।

वहाँ प्रसिद्ध कर्तृजन्यत्व का व्यापक, और कार्यत्व का अव्यापक, शरीरी (जीव) जन्यत्व उपाधि के प्रयोग करने पर, नैयायिक कहते हैं कि इस उपाधि में शरीरी विशेषण व्यर्थ है, जन्यत्व ही कर्तृजन्यत्व का व्यापक है। अतः पक्ष मात्र का व्यावर्तक यह विशिष्ट उपाधि नहीं हो सकता है। इसी प्रकार से, ज्ञानत्व मात्र से ज्ञानभिन्न की व्यावृत्ति हो सकती है। घट पद, घट ज्ञानभिन्न ज्ञान रूप पक्ष की व्यावृत्ति के लिये होने से यह घट ज्ञानत्व पक्षेतरत्व रूप है, सो उपाधि नहीं हो सकता है, और विशेषण से रहित होने पर ,साधन का भी समव्यापक हो जाता है (अभिन्न हो जाता है) अतः उपाधि का अभाव है। अत एव सब कलङ्क (दोष) से रहित अनुभूति की स्वप्रकाशता का अनुमान है, यह सिद्ध हुआ और इसीसे विज्ञान स्वरूप आत्मा के स्वप्रकाशत्व सिद्ध व्याख्यात यद्यपि हो गया, तथापि विज्ञान स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा को सिद्ध करने के लिये कहते हैं कि चिद्रूपत्व १, अकर्मत्व, २, और स्वयंज्योतिः, ३ यह श्रुति, इन तीनों हेतुओंसे भी आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध होता है, कि जिसका निवारण करने में कोई समर्थ नहीं है ॥ ३ ॥

आत्मा संविद्रूपः संवित्कर्मतामन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्राभाकरं प्रत्यनुमानात्; घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः आत्मनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्पदविषयत्ववदिति नैयायिकादीन्प्रत्यनुमानादात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः। विपक्षे चात्मनः संशयविपर्यासगोचरत्वापत्तिर्बाधिका—नह्यात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्संदिग्धे, नैवाहमिति वा विपर्यस्यति। न चैतत्स्वप्रकाशज्ञानरूपतामन्तरेणावकल्पते। न चान्तरेणापि ज्ञानरूपतां दुःखादिवदेतदुपपद्यत इति शङ्कनीयम्; तेषां स्वसत्तायां ज्ञानाव्यभिचारात्तदुपपत्तेः। न चात्मन्येवमभ्युपगम्यते; सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात्। न च ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मवृत्तिर्ज्ञानवृत्तित्वात् सत्तावदिति शङ्कनीयम् ; ज्ञानमेवात्मेत्यभ्युपगच्छतां ज्ञानात्मनो संबन्धस्यैवाभावादाश्रयासिद्धेः। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति द्रष्टृदृष्ट्योः संबन्धः श्रुतित एवाधिगत इति मानसनोहरकारः प्रातिष्ठिपदिति चेत् , मैवम् ; श्रुतेर्लोकप्रसिद्धसंबधानुवादेन दृष्टेर्विनाशित्वाभावमात्रप्रतिपादनपरत्वात् , "अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थव"दिति न्यायात् , मुख्यार्थेऽद्वैतश्रुतिविरोधात् , राहोः शिर इतिवदुपचारेणापि संबन्धश्रुतेर्वृत्त्युपपत्तेश्च।

प्रथमं समर्थयते—आत्मा संविद्रूप इति। अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं, चापरोक्षत्वं नापरोक्षज्ञानविषयत्वमपरोक्षज्ञानत्वं वा। तेन न साधनवैकल्यासिद्धी, घटादेरतीतादेश्च व्यवच्छेदाय विशेषणद्वयम्। घटतज्ज्ञानेति। यद्यपि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावो नाम न भावरूपः कश्चित्संबन्धस्तथाप्यभावरूपत्वादस्यैवाश्रितत्वं, सिद्धान्ते त्वाध्यासिकः संबन्धोऽत्र, संबन्धस्य संबन्धिमात्रनिष्ठत्वात्, संबन्धिभूतज्ञानघटयोरन्यतरस्यात्मत्वमादायात्मनिष्ठत्वं पर्यवस्यति, तत्रापि घटस्यात्मत्वमुभयवाद्यनभिमतमिति निष्प्रतिपन्नज्ञानस्यात्मतामापादयति। पदस्य विषयत्वं पदविषयत्वम्। ज्ञानरूपत्वाभावे बाधक-

माह— विपक्षे चेति। संशयाद्यविषयत्वं स्वप्रकाशत्वव्याप्तं न भवति, दुःखादाव-दर्शनादित्याशङ्क्य निषेधति— न चान्तरेणेति। सुषुप्त्यभावप्रसङ्गादिति। एतन्निष्ठजन्यज्ञानेनैतस्य प्रकाशाव्यभिचारेऽस्य न सुषुप्तिः स्यात्। एतन्निष्ठकार्यज्ञानोपरमस्यैतत्सुषुप्तित्वादित्यर्थः। सत्प्रतिपक्षतामाशंक्य निषेधति—नचेति। अत्रापि सम्बन्धस्यानात्मवृत्तित्वमन्यतरस्यानात्मतामादाय पर्यवस्यति। तत्राप्यात्मनोऽनात्मता व्याहतेति ज्ञानस्यानात्मत्वसिद्धिः। ननु मानमनोहरकारेण, स च ज्ञानाश्रयः 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतौ द्रष्टृदृष्ट्योः संबन्धप्रतीतेरिति ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः समर्थितः, तत्कथमाश्रयासिद्धिरिति शङ्कते— नहि द्रष्टुरिति। नेयं श्रुतिः सम्बन्धप्रतिपादिका अन्यपरत्वादिति परिहरति—मैवमिति। तत्परत्वाभावे च कारणमाह—अप्राप्त इति। अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्। "अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण" मिति तत्र तत्र जैमिनिनोक्तत्वादित्यर्थः। एवमनुवादकतया परिहारमुक्त्वा प्रकारान्तरेण परिहरति—मुख्यार्थ इति। एतेन देवताधिकरणन्यायोऽप्यनवकाशीकृतः।

आत्म, संविद् (ज्ञान) स्वरूप है। संविद् के कर्मता के विना ही अपरोक्ष होने से, ऐसा है, जैसे संवेदन, (ज्ञान) है प्रभाकर के प्रति इस प्रयुक्त अनुमान से, और घट तथा उस घट के ज्ञान का सम्बन्ध, आत्मवृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से ऐसा है। पद-विषयता के समान, वह सम्बन्ध आत्मवृत्ति है। नैयायिकादि के प्रति प्रयुक्त इस दूसरे अनुमान से भी आत्मा की चिद्रूपता की सिद्धि होती है। क्योंकि संवित्कर्मता के विना अपरोक्षत्व (अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व) चिद् (ज्ञान) रूपता से ही हो सकता है। और घट ज्ञान का सम्बन्ध आत्मवृत्ति भी आत्मा में ज्ञानरूपता से हो सकता है। और विपक्ष (आत्मा के ज्ञानरूपत्व के अभाव रूपपक्ष) में, आत्मविषयक संशय विपर्यय का अभाव बाधक है। यदि आत्मा ज्ञानरूप नहीं हो तो आत्मा में संशय विपर्यय ज्ञान विषयता की प्राप्ति होगी। सोई विपक्ष का बाधक है। क्योंकि अहं वा-अनहं वा, मैं हूं, वा मैं नहीं हूं—इस प्रकार से आत्मविषयक संशय कोई नहीं करता है। अथवा (नैवाहं) मैं नहीं हूं, ऐसा विपर्यय (निजाभाव का निश्चयरूप भ्रम) नहीं करता है। सो यह संशय भ्रम का अभाव स्वप्रकाश ज्ञानरूपता के विना सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

यदि शंका हो कि ज्ञानरूपता के विना भी सुखदुःखादि के समान आत्मामें संशयादि की अविषयता सिद्ध हो सकती है, अर्थात् सुखादि के होने पर उनका ज्ञान अवश्य होता है, उनके संशयादि नहीं होते हैं, ऐसे ही आत्माके संशयादि नहीं होंगे। इसके लिये ज्ञान स्वरूप आत्मा को मानना ठीक नहीं है, तो कहा जाता है कि यह शंका ही होना ठीक नहीं है। क्योंकि उन दुःखादि की सत्ताकाल में अन्तःकरण की वृत्तिरूप अनित्यज्ञान का, या नैयायिक सम्मत आत्मनिष्ठ अनित्यज्ञान का अव्यभिचार (सत्व) रहता है। उसीसे उनके संशयादि के अभाव की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। आत्मा में सुखादि के समान आत्मा की सत्ता काल में अनित्य (जन्य) ज्ञानका अव्यभिचार (सत्व) नहीं माना जाता है। अन्यथा सुषुप्ति का अभाव प्राप्त होगा। क्योंकि आत्मवृत्तिजन्य ज्ञान की निवृत्ति को ही न्यायमत में सुषुप्ति माना जाता है। यदि सदा उस ज्ञान सहित आत्मा

रहेगा, तो सुषुप्ति नहीं होगी। अतः उक्त संशयादि के अभाव से आत्मा की ज्ञानरूपता उचित है। और (ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध) अनात्म (आत्मभिन्न) वृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से, सत्ता के समान। इस प्रकार सत्प्रतिपक्षरूप शङ्का भी यहाँ कर्तव्य नहीं है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है। ऐसा मानने वालों के सिद्धान्त में ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध का ही अभाव है। अतः आश्रयासिद्धि दोष से दुष्ट यह प्रतिपक्ष है। यदि कहा जाय कि द्रष्टा (आत्मा) की दृष्टि (ज्ञान) का विपरिलोप (अभाव) कभी नहीं होता है। इस अर्थ को कहने वाली श्रुतिसे ही द्रष्टा-आत्मा और दृष्टि-ज्ञानका सम्बन्ध अधिगत (ज्ञात = प्रतीत) होता है। इस प्रकार मानमनोहरकार ने प्रतिपादन किया है, तो श्रुतिसिद्ध सम्बन्ध का अभाव कैसे माना जाय, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि श्रुति का सम्बन्ध प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है, किन्तु लोकव्यवहार से सिद्ध लोक में (ज्ञात) सम्बन्ध के अनुवाद द्वारा दृष्टि की विनाशिता के अभावमात्र (नित्यत्व-मात्र) के प्रतिपादन परत्व (प्रतिपादन में तात्पर्य) श्रुति को है। क्योंकि (अप्राप्त) लोकादि से प्रसिद्ध अर्थ में शास्त्र अर्थवत् (सफल) होता है। 'लोकादि से अज्ञात अर्थ में शास्त्र प्रमाण होता है' ऐसा न्याय (युक्ति) भी है। और सम्बन्ध को कहने वाली श्रुति के मुख्यार्थ रूप से सम्बन्ध को माना जाय तो उस मुख्यार्थ विषयक श्रुति को अद्वैत बोधक श्रुति के साथ विरोध होता है। सो विरोध उचित नहीं, अतः राहोः शिरः, राहु का शिर इस के समान उपचार (कल्पितभेद) द्वारा भी सम्बन्ध श्रुति की वृत्ति (स्थिति) बनती है, अत एव उक्त शंका कर्तव्य नहीं है॥

न चानयोस्तुल्यबलतया विपर्ययः, तत्परत्वातत्परत्वविशेषोपपत्तेरुपक्रमोप-संहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिः कथं लोकप्रवादोपजीविनीं संबन्ध-श्रुतिं न बाधेत। देवदत्तस्य गन्तुरितिवद् द्रष्टुर्दृष्टेरिति द्रष्टृरूपाया दृष्टेः, दृष्टिलक्षणो वा यो द्रष्टा तस्य, विपरिलोपो नास्तीति सामानाधिकरण्येन षष्ठ्योः संबन्धसंभवे वैयधिकरण्यस्य कल्पनायोगात्। न 'दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्य दाविव वैयधिकरण्येऽप्यन्तःकरणपरिणामरूपाया दृष्टेर्यो द्रष्टेति वा परिणामिनोऽन्तः-करणस्य द्रष्टुः साक्षिभूता या दृष्टिस्तस्या विपरिलोपो नास्तीति वाऽद्वैत-श्रुत्यनुगुणे संभवति संबन्धे गुणगुणिभावेन संबन्धकल्पना अविदितमीमांसा-वृत्तान्तस्यैव परं शोभते।

नन्वद्वैतश्रुति विरोधादन्यथाभावोऽस्याः किमिति कल्प्यते विपरीतमेव वा किं न स्यात् श्रुत्योस्तुल्यबलत्वात् 'तुल्यं हि सांप्रदायिक'मिति न्यायादित्याशङ्क्य तत्परत्वा-तत्परत्वविशेषान्नेत्याह— नचेति। तत्परत्वमेव तस्याः कथमवगम्यतेऽतत्परत्वं चान्या इत्यत आह—उपक्रमेति। 'आत्मा वाऽरे' 'यत्र त्वस्ये'ति चाद्वैतेनोपक्रमोपसंहारौ। 'इदं सर्वं सलिल एक' इति चाभ्यासः। जीव-ब्रह्मैक्यं च प्रमाणान्तरागोचरम्। 'एता-वदरे' इति फलश्रवणम्। 'अस्य महत एतेभ्यः' इति सृष्ट्यादिरर्थवादः। दुन्दुभ्या-दिदृष्टान्तैरुपपादितं तदेतदादिशब्देन गृहीतम्। लोकप्रवाद इत्यनेनानुवादकतया संबन्धश्रुतेरतत्परत्वमुक्तं, कथं न बाधेत? बाधेतैवेत्यर्थः। एवंच यदत्र तेनैव गर्जितं

"न चानाम्नायप्रतीत आम्नातो भवितुमर्हतीत्यादि" "तत्राप्युपचारप्रवृत्तेः सुलभत्वा"-दित्यन्तं तत्सर्वं प्रमत्तप्रलपितायितम्। यत्तु नच प्रत्यक्षं, तस्य भेदग्राहकत्वादित्युक्तं तदपि भेदनिर्भर्त्संनसमये सम्यगुपरिष्टाद्भस्मसाद्भावयिष्यामः। तदेवं वैयधिकरण्यं षष्ठयोरङ्गीकृत्य पर्यहार्षीत्, संप्रति वैयधिकरण्यमेव नास्ति सामानाधिकरण्येनाप्युपपत्तेरिति सनिदर्शनमाह—देवदत्तस्येति। ननु 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये' रित्यत्र यथा वैयधिकरण्यमेवमत्रापि किं न स्यादित्यत आह— न दृष्टेरिति। अन्तःकरणवृत्तिसाक्षिणो वान्तःकरणसाक्षिणो वा भिन्नौ संबन्धितया निर्दिश्येते न तु ज्ञानात्मानाविस्यर्थः। अद्वैतश्रुत्यनुगुणे संबन्धे संभवतीत्यन्वयः। अद्वैतश्रुत्यविरुद्धानेकप्रकारे परिस्फुरत्यपि यत्तस्य विरुद्ध एव प्रकारः पर्यस्फुरत्तत्र तद्दौर्भाग्यमेव परं कारणमित्यभिप्रायः।

सम्बन्ध बोधक श्रुति और अद्वैतात्म बोधक श्रुति, इन दोनों की तुल्यबलता (तुल्यप्रमाणता) के कारण पूर्वोक्त बाध्यबाधक भाव से विपर्यय नहीं हो सकता है, अर्थात् अद्वैत श्रुति गौणार्थक हो, सम्बन्ध बोधक मुख्यार्थक हो, ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्परत्व (स्वार्थपरत्व) और अतत्परत्व (स्वार्थपरत्वाभाव) से दोनों में विशेष (भेद) की उपपत्ति से तुल्यबलत्व का अभाव है। और उपक्रमोपसंहारादि षड्विध तात्पर्यलिङ्ग से अद्वैतबोधक श्रुति की अद्वैतपरता निश्चित हो जाती है, उक्त तात्पर्य लिङ्ग के अभाव से सम्बन्धबोधक श्रुति की अतत्परता का ज्ञान होता है, इस अवस्था में तात्पर्यलिङ्गों से युक्त श्रुति, लोकप्रवाद (लोकप्रसिद्ध सम्बन्ध) का, अनुजीवन (अनुवाद) करने वाली सम्बन्ध बोधक श्रुति को कैसे नहीं बाधेगी। और, (देवदत्तस्यगन्तुर्धनम्), गन्ता देवदत्त का धन है। इस समानाधिकरण (अभेदार्थक) षष्ठी विभक्ति के समान, 'द्रष्टुर्दृष्टेः' यहाँ भी द्रष्टा स्वरूप दृष्टि का या दृष्टि स्वरूप द्रष्टा का विपरिलोप नहीं होता है। इस प्रकार से सामानाधिकरण्य (अभिन्नार्थकता) रूप से दोनों षष्ठीविभक्तियों के सम्बन्ध के सम्भव होते, व्यधिकरणता (भेदनिमित्तसम्बन्ध) की कल्पना अयुक्त है। और 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देखते हो, इत्यादि के समान, प्रकृत में (उक्त श्रुति में) व्यधिकरणता (भेद) माना जाय (भेद इष्ट हो) तो, अन्तःकरण का परिणामरूप दृष्टि (ज्ञान) का जो द्रष्टा, या परिणामी अन्तःकरण रूपद्रष्टा की साक्षीस्वरूप जो दृष्टि उसका विपरिलोप (नाश) नहीं होता है। इसप्रकार से अद्वैत श्रुति के अनुसार (उसके अविरोधी) सम्बन्ध (अन्वय) के सम्भव होते (रहते) गुणगुणिभाव से सम्बन्ध की कल्पना अज्ञातमीमांसावृत्तान्त वाले को केवल शोभता है। अर्थात् यह कल्पना मीमांसा के अज्ञान को सूचित करती है।

किंच जीवेश्वरयोर्भेदमभ्युपगच्छता नित्यदृष्टिसबन्धः कस्योच्यत इति विवेचनीयम्। न तावज्जीवस्य; तस्यानित्यज्ञानाभ्युपगमात्। नापीश्वरस्य; मैत्रेयीब्राह्मणे 'नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवती' त्यादिना पतिजायादिसंसूचितं जीवमुपक्रम्य तस्यैव 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती' त्यवस्थान्तरप्रतिपादनावसरे विनाशमाशङ्क्य

'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति। 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वा' दित्येवमविनाशितोपपादनात्।

इयं श्रुतिरेव तावत्त्वत्पक्षे नार्थवती दूरेतरां त्वभिमतसंबन्धे प्रामाण्यमित्याह—किंचेति। नापीश्वरस्येति। यद्यपीदं मैत्रेयीब्राह्मणं जीवानुवादेन तस्य ब्रह्मात्मताप्रतिपादनपरं नतु जीवपरं जीवब्रह्मभेदपरं वेति 'वाक्यान्वयाद्' इत्यत्र प्रतिपादितं, तथापि बोधितस्य ब्रह्मताप्रतिपादनमिति शोधनसमये जीवस्याप्येवंस्वभावता वक्तव्येत्यभिप्रेत्य प्रियादिसंसूचितस्याविनाशितोपपादनादित्युक्तं, तेनात्रेश्वरज्ञानस्य कारणरहिततायामिमां श्रुतिं प्रमाणयन् वादिवागीश्वरोऽप्युपहसितः। एतेभ्य इत्यादिश्रुतेरयमर्थः—यान्येतानि कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि पञ्चभूतानि, एतेभ्यो भूतेभ्यः। हेतौ पञ्चमी। समुत्थाय सम्यगुत्थाय पृथग्भूत्वा यथोदकेभ्यो हेतुभ्यश्चन्द्रात्प्रतिबिम्बचन्द्राणां पृथग्भावस्तद्वत्तान्येवानुविनश्यति तानि भूतानि ब्रह्मविद्यया समूलं विनश्यन्त्यनुविनश्यति, उपाधिप्रलयात्तत्प्रयुक्तावच्छेदोऽपि निवर्तत इत्यर्थः। न प्रेत्येति। शरीरद्वयं परित्यज्य संज्ञा विशेषविज्ञानं नास्ति तदापादकानामुपाधीनामभावादित्यर्थः। अवस्थान्तरेति। मोक्षावस्थाप्रतिपादनावसर इत्यर्थः। विनाशमिति। संज्ञा नास्तीति ज्ञाननाशाभिधानादित्यर्थः। प्रतिवचनमिदम्। अरे मैत्रेयि ! अयमात्मा अविनाशीति। विनाशशब्देन विक्रिया विवक्ष्यते साऽस्य नास्तीत्यर्थः। तथानुच्छित्तिधर्मा, उच्छित्तिः स्वरूपनाशः स धर्मोऽस्य नास्तीत्यनुच्छित्तिधर्मा। कस्तर्हि संज्ञा नास्तीत्यस्यार्थ इत्यत आह— मात्रेति। मात्राभिर्विषयेन्द्रियाद्याकारपरिणतैर्भूतैरसंसर्गः परमस्य भवति न स्वरूपविनाशः। यद्वै तन्न पश्यतीति। वै इत्यवधारणे। यत्तन्न पश्यत्येवेति मन्यस इत्यर्थः। पश्यन्वै तन्न पश्यति। तत्र हेतुः—नहीति। हि यस्माद् द्रष्टुरात्मनो दृष्टेः स्वरूपभूताया इति वा पूर्वोक्तप्रकारेण वा विपरिलोपो न विद्यत इत्यन्वयः। तत्रापि हेतुः—अविनाशित्वादिति। स्वरूपविनाशाभावात्,अथवा अविनाशित्वमपक्षयरहितत्वमित्येवं विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनादित्यर्थः।

और यह विवेचनीय (विचारणीय) है कि जीव और ईश्वर के सत्य भेद को मानने वाला किसकी नित्यदृष्टि के सम्बन्ध को कहता है। जीव की नित्य दृष्टिके सम्बन्ध को तो उक्त श्रुति में कह नहीं सकता है। क्योंकि उस जीव के ज्ञान को अनित्य माना जाता है। ईश्वर की नित्यदृष्टि के सम्बन्ध को भी यहाँ नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ईश्वर का प्रकरण नहीं है, किन्तु मैत्रेयी ब्राह्मण (बृहदारण्यक चतुर्थ अ० ४) में 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' मैत्रेयि ! पतिके काम (भोग)के लिये पति प्रिय नहीं होता है। इत्यादि वाक्यों द्वारा पतिजाया (स्त्री) आदि के प्रियत्व के कथन से संसूचित (बोधित) जीव के कथन का उपक्रम (आरम्भ करके) 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय

तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' यह जीव इन भूतों से समुत्थित होकर (पृथक् हो कर) उन भूतों के नाश होने पर स्वयं नष्ट हो जाता (औपाधिक स्वरूप विशेष को त्याग देता है) मरने पर मोक्ष अवस्था में विशेष ज्ञान नहीं रहता है, इस प्रकार से अवस्थान्तर के प्रतिपादन के अवसर में, उस जीव के विनाश की शंका करके "अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति, यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते-अविनाशित्वात्" अरे मैत्रेयि ! यह आत्मा अविनाशी है, नाशरूप धर्म से रहित है, परन्तु मोक्षादि अवस्था में विषयादिरूप मात्राओं (भूतों) से इसको सम्बन्ध नहीं होता है। जो नहीं देखता है ऐसा समझती है, सो साक्षात्स्वरूप से देखता हुआ ही विशेष रूप से नहीं देखता है। इत्यादि से उस जीवात्मा की ही अविनाशिता का उपपादन किया गया है। अतः ईश्वर का प्रकरण नहीं है ॥

ज्योतिर्ब्राह्मणे च जागराद्यवस्थोपन्यासपुरःसरम् 'अथ यत्र सुप्तो न कंचन स्वप्नं पश्यती'ति संप्रसादावस्थानमवतार्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनात्, ईश्वरपक्षे च विशेषविज्ञानाभावस्य वक्तुमयुक्तत्वात्तस्य सर्वदा सर्वज्ञत्वात् सुपुप्त्याद्यवस्थाभावाच्च। तस्माज्ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मनिष्ठ इत्यनुमानमाश्रयासिद्धमिति सिद्धम्। यत्तु गुणत्वादनित्यत्वाज्ज्ञानमात्मा न भवति रूपादिवदित्यनुमानं तत्सर्वमन्यतरासिद्धतयापास्तम्।

जागरादीति। 'स वा एष' इत्यादिना जागराद्यवस्थोपन्यासपूर्वकमित्यर्थः। यत्रेति। यत्र यस्मिन्ननन्ते सुप्तो जीवः न कंचन कामं जाग्रत्स्वप्नयोर्ये कामास्तेषु न कमपि कामं कामयते तथा न कंचन स्वप्नम्। स्वप्नशब्देन तद्विषयाणि ज्ञानान्यभिधीयन्ते। जाग्रद्दर्शनमपि मिथ्याविषयत्वात्स्वप्नशब्देन निर्दिश्यते न कंचनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः। कमपि स्वप्नं न पश्यतीत्यर्थः। संप्रसादावस्थानमिति। संप्रसादः सुपुप्त्यवस्था, सम्यक्प्रसीदत्यस्यां जीवस्वरूपमिति व्युत्पत्त्या, तस्यामवस्थानं संप्रसादावस्थानं तदवतार्योत्तरत्रेति वाक्यशेषः। भवत्वेवं ततः किमित्यत आह—ईश्वरपक्ष इति। अनुपपत्त्यन्तरं चाह—सुपुप्त्यादीति। ननु ज्ञानमात्मा न भवति गुणत्वाद्रूपवत्तथा ज्ञानमात्मा न भवत्यनित्यत्वादित्यादिप्रयोगविरोधात्कथमात्मनो ज्ञानात्मकत्वमित्यत आह—यत्त्विति। यस्य हि नित्यात्मस्वरूपताभिमता विज्ञानस्य, तस्य कथं गुणत्वमनित्यत्वं वाभिमतमित्यर्थः।

और ज्योति ब्राह्मण में जाग्रदादि अवस्थाओं के कथनपूर्वक "अथ यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति" जिस स्वरूप में सोया हुआ जीव किसी भोग को नहीं चाहता है, न किसी स्वप्न को देखता है। इस प्रकार सम्प्रसाद (सुपुप्ति अवस्था) का अवतरण (प्रसङ्ग) रचकर फिर उसके बाद "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इस वाक्य से सुपुप्ति में विशेष ज्ञानों के अभाव

होते भी स्वरूप ज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है, और ईश्वर पक्ष में ईश्वर के विशेष ज्ञानों के अभाव को कहना अयुक्त है। क्योंकि उस ईश्वर को सदा सर्वज्ञत्व रहता है, और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का अभाव रहता है। अतः ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध अनात्मवृत्ति है, यह अनुमान आश्रयासिद्ध है यह सिद्ध हुआ। और जो यह अनुमान किया जाता है कि गुणत्व और अनित्यत्व हेतु से रूपादि के समान ज्ञानरूप गुण आत्मा नहीं है, सो ज्ञान में गुणत्व रूप हेतु अन्यतर (वेदान्त) मत में असिद्ध है। इसीसे वह सब अनुमान परास्त (खण्डित) हो जाता है॥

अथ घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः गुणनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावद्विपक्षे च जानामीति प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वप्रसंगो बाधक इति चेत्, मैवम्; रूपतज्ज्ञानयोः संबन्धो द्रव्यनिष्ठो ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावदिति प्रतिप्रयोगसंभवात्, जानामीति चानुभवस्यान्तःकरणवृत्त्याश्रयप्रमातृविषयतयाप्युपपत्तेः। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'ज्ञानघन एव' इत्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः। न चाधिकरणपरतया ज्ञानशब्दो योज्यः; अद्वैतश्रुतिविरोधात्। तस्मात्साधूक्तं चिद्रूपत्वादिति।

गुणत्वसाधकानुमानं शङ्कते—अथेति। अत्रापि संबन्धिमात्रनिष्ठस्य गुणनिष्ठत्वमन्यतरसंबन्धिनि गुणत्वमन्तरेण न घटते, घटस्य च गुणत्वमुभयानभिमतमिति ज्ञानस्य गुणत्वसिद्धिः, यदि च ज्ञानस्य गुणत्वं न स्यात्तदा जानामीति ज्ञानाश्रयं विषयीकुर्वतः प्रत्ययस्य निर्विषयताऽऽपतेत्, तत्स्वरूपत्वे तत्प्रत्याधारतायोगादिति बाधकमाह—विपक्षे चेति। इदं च प्रतिप्रयोगेण निरुन्धे—मैवम्। रूपेति। अत्रापि रूपस्य द्रव्यत्वमुभयवादिविप्रतिपिद्धमिति ज्ञानस्य द्रव्यत्वसिद्धिः। यत्तु बाधकमुक्तं तदन्तःकरणवृत्तिमादाय शाम्यतीत्याह—जानामीति। तदेवमनुमानाच्चिद्रूपत्वमुक्त्वा तदनुग्राहकमागममप्याह—विज्ञानमिति। यत्तु मानमनोहरकृतोक्तं "ज्ञानशब्देन ज्ञायते अस्मिन्नित्यधिकरणवचन" इति तद्दूषयति—नचेति। 'करणाधिकरणयोश्चे'त्यधिकरणेऽपि ल्युड्विधानादित्यर्थः।

यदि शंका हो कि घट और उसके ज्ञान का सम्बन्ध गुणवृत्ति है, क्योंकि ज्ञानवृत्ति है जैसे कि सत्ता जाति गुणवृत्ति है, वैसे यह सम्बन्ध है, अतः ज्ञान आत्माका गुण है, आत्मा नहीं, यदि यहाँ विरुद्ध पक्ष माना जाय कि ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप है, तो मैं जानता हूँ, इस प्रकार की आत्मा में ज्ञानाश्रयता के ज्ञानको निरालंबता (निर्विषयता) की प्राप्ति होगी। तो कहा जाता है कि ऐसी शंका यहां कर्तव्य नहीं है, क्योंकि, रूप और उसके ज्ञान का संबंध द्रव्यवृत्ति है, क्योंकि ज्ञानवृत्ति है, जैसे कि सत्ता ज्ञानवृत्ति है वैसे यह संबंध है, इस प्रतिप्रयोग के संभव होने से ज्ञान में आत्म (द्रव्य) रूपता की सिद्धि होती है, गुणरूपता नहीं। और (मैं जानता हूँ) इस अनुभव (ज्ञान) की उपपत्ति (सिद्धि) तो अन्तःकरण की वृत्ति की प्रमाता आश्रयता विषयक होने से भी बनती है। और "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, ज्ञानघन

एव" विशुद्धविज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, प्रकृष्ट आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, अविरल अखण्ड ज्ञानस्वरूप ही ब्रह्म है, इत्यादि श्रुतियों से भी आत्मा की चिद्रूपता की सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि 'विज्ञप्तिः प्रज्ञप्तिः, विज्ञानं प्रज्ञानं' ऐसा विग्रह (शब्दार्थ=विवरण) नहीं है कि जिससे इन श्रुतियों द्वारा चिद्रूपता की सिद्धि हो, किन्तु, विज्ञप्तिः, प्रज्ञप्तिः, विद्यते यस्मिन् तद्विज्ञानं प्रज्ञानं ब्रह्म, इस प्रकार से अधिकरण (ज्ञानाश्रय) अर्थ द्वारा विज्ञान प्रज्ञान शब्द ब्रह्म में योजनीय (प्रयोक्तव्य) हैं। अतः ये श्रुतियाँ चिद्रूपता को नहीं कहती हैं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार से अद्वैत श्रुतियों से विरोध होगा, अतः स्वप्रकाशत्व ब्रह्मात्मा के ज्ञानस्वरूपत्व का साधक चिद्रूपत्व हेतु सर्वथा युक्त कहा गया है।

अकर्मत्वाच्चात्मनः स्वप्रकाशत्वम्, वेद्यत्वे स्वाश्रयज्ञानविषयतया कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात्। न च सुखादिविशिष्टस्याहं सुखीत्यादिज्ञानकर्मत्वं केवलस्य च कर्तृत्वमित्याकारभेदादविरोधो, गमनादिक्रियास्वपि केवलस्य कर्तृत्वं-गमनविशिष्टाकारेण च कर्मत्वमित्याकारभेदेनाविरोधात्कर्मकर्तृभावविरोधस्य सर्वत्रोच्छेदप्रसङ्गात्।

द्वितीयं हेतुं विवृणोति—अकर्मत्वाच्चेति। नन्वकर्मत्वमेव कथं यावता मानसप्रत्यक्षोऽयमिष्यत इत्यत आह—वेद्यत्व इति। स्वाश्रयं यज्ज्ञानं तद्विषयतयेत्यर्थः। स्यादेतदुपाधिवशात्किमित्यनेकाकारता न स्यात्। दृश्यते ह्येकस्यापि देवदत्तस्यानेकाकारता पिता भ्राता मातुलः श्याल इत्यादिः। संभवति चात्रापि सुखादिविशिष्टाकारेणाहं सुखीति ज्ञेयत्वं, केवलस्य तु ज्ञातृत्वमित्युपाधिभेदस्तत्राह—नच सुखादीति। पित्रादीनां स्वरूपेणैकत्वेऽपि प्रतियोगिनानात्वात्संभवति तदपेक्षयानेककल्पनाविषयत्वमिह तूपाधिविशिष्टस्यैव तं प्रति कर्तृत्वं कर्मत्वं चेति निप्रतिषिद्धं नियमेनानुपलब्धेर्गमनादावप्येवंविधोपाधिभेदेनाविरोधप्रसङ्गादित्यर्थः।

अकर्मत्वरूप द्वितीय हेतु से भी आत्मा के स्वप्रकाशत्व (ज्ञानस्वरूपत्व) सिद्ध होता है। क्योंकि आत्मा के वेद्यत्व कर्मत्व (ज्ञानजन्य फलाश्रयत्व) को माना जाय, तो वेद्यत्व होने पर, स्वाश्रयज्ञान की विषयता से एक में कर्मत्व और कर्तृत्वरूप विरोध की प्राप्ति होगी। एक ही आत्मा ज्ञानक्रिया का कर्ता, और ज्ञानजन्यफल का आश्रय हो, यह बन नहीं सकता है। अनात्मा ज्ञानाश्रय या ज्ञानरूप नहीं होता है कि जिसका आत्मा कर्म हो सके। यदि कहा जाय कि (विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यते) विशिष्ट वस्तु शुद्ध से भिन्न हो जाता है। इस न्याय से, सुखादि से विशिष्ट (युक्त) आत्मा में 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान की कर्मता रहती है। और केवल (शुद्ध) आत्मा में ज्ञान की कर्तृता रहती है, अतः आकार के भेद से विरोध नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि गमनादि क्रियाओं में भी केवल को कर्तृत्व, गमनादियुक्त आकार से कर्मत्व मानने पर आकार भेद से अविरोध होनेपर कर्तृत्व कर्मत्व के विरोध का सर्वत्र अभाव प्राप्त होगा।

तथापि नात्मनः स्वप्रकाशत्वं, तत्तदर्थसंवेदनाश्रयतयापि स्फुरणोपपत्तेः। न चास्य क्रियाफलभाजोऽपि कर्मत्वं; परसमवेतक्रियाफलशालित्वाभावात्।

न चैतन्मानसप्रत्यक्षेऽपि समानं; जानातेः सदा सकर्मकतया कर्मणा व्याप्तस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेरिति चेत्, मैवम्, संविद्व्यतिरिक्तस्य संवित्कर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमादात्मनः कर्मत्वाभावे तदनुपपत्तेः। संवेदिता संविदाश्रयतयाऽपरोक्षो न भवति अपरोक्षत्त्वात्संवेदनवदिति। न च विपक्षे बाधकतर्काभावः; स्वसत्तायां प्रकाशव्यभिचारवतः प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे कदाचित्संशयादिगोचरत्वप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्, आत्मनो घटादिज्ञाने भासमानत्वाङ्गीकाराच्च घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत, तज्जनितज्ञाने भासमानताया एव तत्त्वात्, नीरूपस्य च द्रव्यस्य चाक्षुषत्वायोगात्, आत्मा चाक्षुषज्ञाने न प्रकाशते, अरूपिद्रव्यत्वादाकाशवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च।

अत्र प्राभाकरः शङ्कते—तथापीति। यद्यप्यकर्मत्वं तथापि तत्तदर्थविषयाणि यानि संवेदनानि तदाश्रयतया स्फुरणरूपतामन्तरेणापि स्फुरणोपपत्तेरिति योजना। पूर्वं चिद्रूपता तु प्रतिसाधिता। अत्र स्वकर्मत्वस्यान्यथोपपत्तिः परिह्रियत इति न जानिता। ननु कर्मतैवास्य किमिति नास्ति ज्ञानक्रियाफलभावत्वात्क्रियाफलभाजश्च कर्मत्वादिति नैयायिकमतमाशङ्क्य स एव निषेधति—न चास्येति। न क्रियाफलभात्वमात्रं कर्मत्वम्, नगरं गच्छति चैत्र इत्यत्र चैत्रस्यापि कर्मत्वप्रसङ्गात्। तस्मात्परसमवेतक्रियाफलशालित्वं कर्मत्वं, तच्चास्य नास्ति स्वसमवेतत्वाज्ज्ञानक्रियाया इति भावः। ननु तर्हि संविदाश्रयतयेति किमित्ययमाग्रहः, मानसप्रत्यक्षत्वेऽपि परसमवेतक्रियाफलविकलतया कर्मताऽभावेन कर्मत्वविरोधाभावादित्यत आह—न चैतदिति। तथा सति ज्ञानतामेव जह्यात् आत्मनः कर्मत्वाभावादन्यस्य च कर्मणोऽनङ्गीकारादित्यर्थः। तदेतन्निरस्यति—मैवमिति। यदि संविद्व्यतिरिक्तः स्यात्तर्हि कर्मतयैवापरोक्षव्यवहारविषयः स्याद्विषयेषु तथा व्याप्तेस्तेन कर्मत्वं व्यावर्तमानं संविद्व्यतिरिक्तत्वे सत्यपरोक्षत्वं व्यावर्तयतीत्याह—संविदिति। संविदाश्रयतयाऽपरोक्षत्वे चानुमानविरोधमाह—संवेदितेति। बाधनिवृत्त्यै प्रथमविशेषणं, परप्रसिद्ध्यापि प्रतियोगिप्रसिद्धिः। एवं च सति संविदधीनप्रकाशत्वतदप्रकाशत्वविकल्पेन यदत्र कैश्चिद्दूषणमुक्तं तदप्यनवकाशीकृतम्। यत्तु तैरेवोक्तं विपक्षबाधकतर्काभावादिति तत्र विपक्षबाधकतर्कमाह—स्वसत्तायामिति। प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे नित्यज्ञानस्यानङ्गीकारात्स्वसत्तायां प्रकाशव्यभिचारवत इति योजना। तेन च सुखादिव्यावृत्तिः। यत्तु तैरेवाद्रष्टृत्वोपाधिहतत्वाच्चेत्युक्तं तदसत्पक्षेतरत्वात्पर्वतेतरत्वादिवद्व्यतिरेकानिर्णयेन साध्याव्यापकत्वात्, तर्कान्तरविरोधमाह—आत्मन इति। आत्मनो घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत घटादिज्ञानेषु भासमानताङ्गीकारादिति योजना। ननु चक्षुरसंयुक्तस्य कथं चाक्षुषत्वमित्यत आह—तज्जनितज्ञान इति। अन्यथा चक्षुःसंयुक्ततया परमाण्वादेरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्सोयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाने तत्ताया अचाक्षुषत्वा-

पत्तेश्च, सर्वगतात्मवादिनां तस्यापि भावादिति भावः। भवतु तर्हि चाक्षुपत्वमपि, नच नीरूपस्य चाक्षुपत्वाभावः; रूपादौ व्यभिचाराद् द्रव्यत्वविशेपणेऽपि वियदादौ भाट्टानां व्यभिचारादित्यत आह—नीरूपस्य चेति। किमयं समयवलादिति, न; प्रमाणवलादित्याह—आत्मा चाक्षुपज्ञान इति। रूपत्वसामान्यादिषु व्यभिचारनिवारणाय द्रव्यग्रहणम्। घटादिव्यभिचारविघटनायारूपिग्रहणम्। नच भाट्टानां साध्यविकलता दृष्टान्तस्य, तत्प्रत्यक्षत्वे प्रमाणाभावात्प्रत्युताकाशमचाक्षुपमरूपिद्रव्यत्वात्सर्वदाऽस्पर्शवद्द्रव्यत्वान्मनोवत्सर्वगतत्वादात्मवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। नचान्तरत्वमुपाधिर्गुरुत्वादौ साध्याव्याप्तेः।

यहाँ प्रभाकर मतानुसार शंका होती है, कि तथापि आत्मा में ज्ञानकर्मत्वाभाव होते भी स्वप्रकाशत्व आत्मा को नहीं है, क्योंकि कर्मता के बिना ही तत्तत् चाक्षुपादि घटादि के ज्ञानों के आश्रय (आधार) रूप से उन ज्ञानों द्वारा ही आत्मा का स्फुरण (प्रकाश) सिद्ध हो जाता है कि घट को मैं जानता हूं, मुझ में घट का ज्ञान है, इत्यादि। और इस प्रकार से ज्ञान क्रिया के प्रकाश रूप फल के भागी (आश्रय) आत्मा के होते भी इसको ज्ञानक्रिया के कर्मत्व नहीं होता है। क्योंकि पर में समवेत (समवायसम्बन्ध से वर्तमान) क्रियाजन्य फल वाला कर्म होता है, और आत्मा को परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्व (फलवत्त्व) का अभाव है, स्वसमवेतज्ञानजन्यफलशालित्व होता है, यदि कहा जाय कि ज्ञानजन्य फलशालित्व होते भी परसमवेतक्रियाजन्यत्व के फल में अभाव होने से आत्मा में कर्मत्व नहीं होता है, तो ज्ञानाश्रयता से उसका प्रत्यक्ष क्यों माना जाता है, स्वमानसप्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा के होने पर भी अकर्मता सिद्ध हो सकती है, क्योंकि मानस ज्ञान में परसमवेतत्व नहीं रहा है, तो यह कहना नहीं बनता है कि मानस प्रत्यक्ष में अकर्मत्व, आश्रयता मूलक प्रत्यक्ष के समान है, क्योंकि जानाति (ज्ञा) धातु की सदा सकर्मता के कारण वह धातु का अर्थ (ज्ञान) सदा कर्म से व्याप्त रहता है, अतः कर्म की निवृत्ति होने पर ज्ञानत्व भी निवृत्त होगा, कर्म के बिना मानस ज्ञान हो नहीं सकता है, और कर्म मानने पर कर्मकर्तृभाव विरोध होता है, ज्ञान के आश्रय रूपसे आत्मप्रत्यक्ष में यह विरोध नहीं है। अतः तुल्यता नहीं है, यह प्रभाकर का आशय है। परन्तु यह आशय युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान से भिन्न वस्तु का ज्ञान के कर्मत्वरूप से ही अपरोक्षत्व का नियम है, प्रभाकर मत में ज्ञान से भिन्न आत्मा के कर्मत्व के अभाव रहते उसके प्रत्यक्षत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। और, ज्ञाता, ज्ञानाश्रय रूप से प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि उसमें अपरोक्षत्व है। जैसे कि ज्ञान है, वैसा ज्ञाता है। इस अनुमान से प्रभाकर मत बाधित होता है। और यदि कहो कि स्वप्रकाशत्व के साधक अनुमानों के विपक्ष का बाधक तर्क नहीं है अतः तर्काभाव से स्वप्रकाशत्व की नहीं सिद्धि हो सकती है, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि आत्मा की अपनी सत्ता (वर्तमानता) काल में प्रकाश के व्यभिचार (अभाव) वाले होने पर, तथा प्रकाशान्तर (ज्ञानान्तर) के अधीन व्यवहार वाले होने पर कभी संशयादि (अहं,अनहं वा) इत्यादिविकल्पादि के विषयत्व की प्राप्ति ही विपक्ष का बाधक तर्क है। और प्रभाकर मत के अनुसार घटादि के ज्ञान में आत्मा के भासमानत्व के स्वीकार करने से घटादि के समान आत्मा में भी

चाक्षुषत्व (चक्षुजन्य ज्ञान प्रकाश्यत्व) की प्राप्ति होगी, क्योंकि चक्षुजन्य ज्ञान में भासमानत्व ही चाक्षुषत्व होता है। नीरूप द्रव्य (आत्मा) में चाक्षुषत्व युक्त नहीं है। और आत्मा चाक्षुषज्ञान में नहीं प्रकाशता है, क्योंकि प्रकाश के समान रूपरहित आत्म स्वरूप द्रव्य है। इस विरोधी प्रयोग (प्रतिपक्ष) का भी सम्भव है। अतः आत्मा स्वयं प्रकाश है।

'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति'रिति श्रुतेश्चात्मा स्वप्रकाशः। ननु स्वप्नावस्थामधिकृत्येदमाम्नायते, तत्र मनसोऽनुपरमान्न स्वयंज्योतिष्ट्वम्। न च मनसो गजाद्याकारपरिणतस्यावभासकर्मतयैवावस्थानात्करणान्तराभावाच्चात्मैव स्वयंज्योतिः स्यादिति शङ्कनीयम्; मनसश्चक्षुरादिवदिन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः, तस्मान्मनःसंयोगजन्यज्ञानाधारत्वेन स्वयंशब्दवाच्यः आत्मा ज्योतिरित्यभिधीयते, ज्योतिःसाधनत्वाद्वा 'वाचैवायं ज्योतिषा,' 'अग्निनैवायं ज्योतिषे' त्येतत्प्रकरणपठितवागग्न्यादिवत्, न त्वात्मा स्वयंज्योतिरिति, द्रव्यस्य गुणत्वानुपपत्तेरिति चेत्।

तृतीयं हेतुं विवृणोति—अत्रायमिति। शङ्कते—नन्विति। अयमर्थः—न तावत्स्वप्नावस्थायां स्वप्रकाशत्वं श्रुत्या दर्शयितुं शक्यम्; इन्द्रियस्य मनसो विद्यमानतया व्यतिरेकनिर्णयाभावादन्यथाजागरेऽपि तद्व्युत्पादनसंभवेन स्वप्नावस्थाश्रयणवैफल्यादिति सिद्धान्तिमतमाशङ्क्य दूषयति—नच मनस इत्यादिना शङ्कनीयमित्यन्तेन। तत्र हेतुमाह—मनस इति। यदि हि मनसो दृश्यतयावस्थानं स्यान्न स्यात्तर्हि करणत्वं नत्वेतदस्ति। मनस इन्द्रियत्वेनायोगिनः प्रत्यतीन्द्रियत्वात्। शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं साक्षात्प्रतीतिसाधनमितीन्द्रियलक्षणान्मनोऽतीन्द्रियमिन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदिति प्रयोगसंभवाच्चेत्यर्थः। कस्तर्हि श्रुतेरर्थः? इत्यत आह—तस्मादिति। ज्योतिर्लक्षणप्रकाशाधिकरणत्वाज्ज्योतिरित्यभिधीयते। ज्योतिःसाधनतया वा ज्योतिःशब्दः, वागादिवदित्यर्थः। उपपत्तिविरुद्धश्चायमर्थ इत्याह—द्रव्यस्येति। ज्ञानस्य गुणत्वादात्मनो द्रव्यत्वाच्चेत्यर्थः।

इस स्वप्नवस्था में यह आत्मा स्वयंप्रकाश रहता है। इस अर्थ को कहनेवाली श्रुति से आत्मा स्वयंप्रकाश सिद्ध होता है, परन्तु यहाँ शंका होती है कि यह श्रुति स्वप्नावस्था के अधिकार=प्रकरण को आरम्भ करके पढ़ी गई है और वहाँ मन के अनुपरत (अनिवृत्त) रहने के कारण मन आत्मा का प्रकाशक रहता ही है, अतः आत्मा को स्वयंज्योतिः स्वरूपत्व नहीं रहता है। यदि कहा जाय कि मन तो उस अवस्था में, गज (हस्ती) आदि रूप से परिणत रहता है, अतः अवभास (तात्कालिक ज्ञान) के कर्म रूप से उसकी स्थिति रहती है, ज्ञान के करणान्तर का भी अभाव रहता है, अतः वहाँ आत्मा ही स्वयंप्रकाश हो सकता है, तो ऐसा नहीं कहना चाहिये, यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मन को भी चक्षु आदि के समान इन्द्रियत्व होने से यदि वही गजादि रूप से परिणत होगा, तो गजादिरूप मन के प्रत्यक्षत्व की असिद्धि होगी, क्योंकि इन्द्रिय अतीन्द्रिय(अप्रत्यक्ष)

होती हैं अनुमेय या आगमगम्य होती हैं। अतः मनके आत्मा के साथ संयोग से जन्य ज्ञान की आधारता से ही आत्मा स्वयं शब्द का वाच्य और ज्योति कहा जाता है। अथवा ज्योतिके साधनत्वसे भी ज्योति कहा जाता है, क्योंकि उसी प्रकरण में 'वाचैवायं ज्योतिषाऽस्ते अग्निनैवायं ज्योतिषास्ते' वाक् ज्योति से यह रहता है, अग्नि ज्योतिसे यह रहता है, इत्यादि ज्योतिः के साधनों में ज्योतिः शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः वाक् आदि के समान आत्मा में, ज्योतिशब्द के प्रयोग को समझना चाहिये। अतः आत्मा स्वयंज्योतिःस्वरूप नहीं है, और गुणाश्रय द्रव्यस्वरूप आत्मा को गुणत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है, यह यदि शंका हो तो आगे समाधान है कि—

मैवम् ; यतः—

'संबन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानासमवायिनः।
इन्द्रियत्वाविघाताच्च मनः प्रत्यक्षमात्मवत् ॥ ४ ॥

मनः प्रत्यक्षं ज्ञानासमवायिकारणाधारत्वात् आत्मवदित्यनुमानान्मनसोऽपि प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः। न च प्रत्यक्षत्वे सति इन्द्रियत्वव्याकोपः, तस्य साक्षिवेद्यस्याप्येन्द्रियकज्ञानाविषयत्वेनेन्द्रियत्वाव्याकोपात्। तस्मान्निरस्तसमस्तकलङ्कावकाशमात्मनः स्वप्रकाशत्वम्। तच्चात्मरूपमविद्यापरिकल्पितप्रपञ्चावभासकत्वादविद्यातमोनिवर्तकत्वाच्च ज्योतिःशब्दाभिधेयं, यथा भावरूपशार्वरादितमोनिवर्तनेन जगदवभासकमादित्यादि ज्योतिरिति सिद्धम्।

तदेतदप्यपाकरोति—मैवमिति। हेतुमवतारयति—यत इति। श्लोकेनानुमानमाह—संबन्धस्येति। मनः प्रत्यक्षं विज्ञानासमवायिनो विज्ञानं प्रत्यसमवायिकारणस्य संबन्धस्याश्रयत्वेन हेतुनात्मवदित्यनुमानं संगृहीतम्। यत्तु प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियत्वव्याघात इति तत्राह—इन्द्रियत्वाविघाताच्चेति। न चेन्द्रियाजन्यायोगिसाक्षात्काराविषयो मन इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदिति प्रयोगः। नैयायिकादेरप्रसिद्धविशेषणत्वादुक्तहेतुव्यतिरेकस्योपाधित्वाच्च। संगृहीतमनुमानं विवृणोति—मनइत्यादिना। ज्ञानासमवायिकारणमात्ममनःसंयोगः। ज्ञानाधारत्वादित्युक्ते असिद्धिस्तथाऽसमवायिकारणाधारत्वादित्युक्ते परमाण्वादिषु व्यभिचारस्ततो विशेषणद्वयमिदं, इन्द्रियत्वाविघाताच्चेति विवृणोति—नचेति। ननु कथं ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो ज्योतिःशब्दवाच्यता यावता भूतविशेष एवायं ज्योतिःशब्दो व्युत्पन्न इत्यत आह—तच्चेति। तमोनिवर्तनेनावभासके हि ज्योतिःशब्दः प्रयुज्यते तदिहापि समानमित्यर्थः।

ऐसा नहीं कहो, क्योंकि, आत्मा के साथ सम्बन्ध के आश्रय होने से, उस सम्बन्ध रूप विज्ञान के असमवायी करण रूप मन को इन्द्रियत्व के अविघात होने से ज्ञानासमवायिकारण आत्मा के समान मन को भी न्यायमतानुसार प्रत्यक्षत्व है। अतः स्वप्न में गजादि रूप से परिणत मन प्रत्यक्ष होता है ॥ ४ ॥ मन प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह ज्ञान के समवायि करण सम्बन्ध का आधार है, जैसे कि आत्मा है, इस अनुमान से मन

को भी प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है। मन के प्रत्यक्षत्व होने पर उसके इन्द्रियत्व का व्याकोप (बाध) होगा, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, क्योंकि साक्षी से वेद्य (प्रत्यक्ष) उस मन के इन्द्रियजन्य ज्ञान के अविषयत्व से (अनैन्द्रियकत्व रूप) इन्द्रियत्व का बाध नहीं होता है। अतः समस्त दोष कलङ्कावकाश (प्रवेश)रहित आत्मा में स्वप्रकाशत्व है। और वह आत्म स्वरूप प्रकाश अविद्या से परिकल्पित (सिद्ध) प्रपञ्च (संसार) का अवभासक और अविद्या रूप तम का निवर्तक होने से ज्योतिशब्द का अभिधेय (वाच्य) होता है, ज्योति शब्द से कहा जाता है जैसे कि भाव स्वरूप रात्रि आदि के अन्धकार (तम) के निवर्तन द्वारा जगत का अवभासक (प्रकाशक) सूर्यादि ज्योति इस शब्द का अर्थ सिद्ध हैं।

ननु तमो न भावरूपं, भावेष्वनन्तर्भावात्। तद्धि पृथिव्याद्रिव्याणामन्यतमम्? अन्यद्वा स्यात्? नाद्यः। क्षितिसलिलात्मसु चतुर्दशगुणेषु, तेजसि एकादशगुणे, मातरिश्वनि नवगुणे, मनसि चाष्टगुणे, नभसि षड्गुणे, दिक्कालयोः पञ्चगुणयोरविनाशिनोरनन्तर्भावात्। अन्तर्भावे तु तावद्गुणवत्त्वप्रसङ्गात्, आत्मादावन्तर्भावे नित्यत्वापत्तेश्च।

'भावाभावातिगाऽविद्यातत्त्वे दृष्टान्तितं तमः।
वृद्धैस्तदस्य भावत्वं वादेनानेन साध्यते ॥'

भावरूपतमोनिवर्तनेनेत्युक्तं तदिदममृष्यमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु तमो न भावरूपमिति। हेतुमाह—भावेष्विति। षट्पदार्थान्यतमत्वं हि भावत्वम्। तदिह तदन्यतमत्वं व्यावर्तमानं भावत्वमपि व्यावर्तयतीत्यर्थः। तत्र किं द्रव्यान्तर्भूतमुत्तरपक्षकान्तर्भूतं वा द्रव्यान्तर्भावे पृथिव्यादिनवान्यतममन्यद्वेति विकल्प्य नवान्तर्भावं निषेधति—नाद्यः। क्षितीति। तत्र रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारास्चतुर्दश क्षितिगुणाः, गन्धरहिताः स्नेहसहितास्ते एव चतुर्दश सलिलगुणाः, संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यसंस्काराश्चतुर्दशात्मगुणाः, आत्मा चात्रापरः। रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारा इत्येकादश गुणास्तेजसः, रूपद्रवत्वहीनास्ते एव नव गुणा वायोः। स्पर्शरहितास्ते एवाष्ट मनसो गुणाः। एतेनेश्वरोऽपि गृहीतः। शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः षड् गगनगुणाः। शब्दवर्जितास्ते एव पञ्च दिक्कालयोः एतेष्वनन्तर्भावादित्यर्थः। ननु किमित्यनन्तर्भाव इत्यत आह—अन्तर्भावे त्विति। यस्मिन्यस्यान्तर्भावोऽभिमतस्तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। नित्यद्रव्यान्तर्भावेऽधिकं दूषणमाह—आत्मादाविति। तथा चालोकानिवर्त्यत्वमिति शेषः।

भावरूप शार्वरादितमःशब्दरूप प्रश्नबीज के प्राप्त होने पर न्याय वैशेषिक मतवादी की शंका उपस्थित होती है कि तम अन्धकार भावपदार्थ रूप नहीं है किन्तु तेज का अभाव रूप है, क्योंकि तम का भाव स्वरूप द्रव्यादि छः पदार्थ में अन्त

र्भाव नहीं हो सकता है, यदि उसका द्रव्य में अन्तर्भाव कहें, तो क्या वह पृथिवी आदि नव द्रव्यों में (अन्यतम) किसी एक स्वरूप होगा, या इन नवों से अन्य होगा। तहाँ प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता है। (नव के अन्तर्गत तम नहीं हो सकता है) क्योंकि चौदह = चौदहगुणों वाले भूमि जल आत्मा में, ग्यारह गुण वाला तेज में, नव गुण वाली वायु में, आठ गुण वाले मन में, छह गुण वाले आकाश में, पांच पांच गुण वाले अविनाशी दिशा और काल में तम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। उनके अन्तर्भाव हो तो जिसके अन्तर्भाव माना जायगा, उसके परिगणित गुणवत्ता की तम में प्राप्ति होगी। और आत्मादि नित्य द्रव्य के अन्तर्गत होने पर नित्यत्व की प्राप्ति से प्रकाश से निवृत्ति नहीं होगी।

नापि द्वितीयः, निर्गुणस्य द्रव्यत्वानुपपत्तौ द्रव्यान्तरत्वमस्य सुतरामनुपपत्तेः। नीलोत्पलदलश्यामं महच्चोपलक्ष्यमाणं तमः कथं निर्गुणमिति चेन्न। नीलरूपस्य गन्धाद्येकार्थसमवायिनस्तद्व्याप्तस्य तदभावे भावायोगात्। अपि च द्रव्यान्तरत्वे न तावन्निरवयवत्वं, नित्यत्वेनालोकानिवर्त्यत्वापत्तेः। सावयवत्वे च तदारम्भकाणां स्पर्शवत्त्वे तस्मिन्नपि स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गादस्पर्शवत्त्वे च तेषां मनोवद्द्रव्यारम्भकत्वायोगात्।

नवबहिष्ट्वं दूषयति—नापि द्वितीय इति। तत्र वक्तव्यं किं गुणवद् ? उत निर्गुणमिति ? निर्गुणपक्षं दूषयति—निर्गुणस्येति। गुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वेन तद्रहितस्य द्रव्यत्वव्याघातादित्यर्थः। प्रथमं शङ्कते—नीलेति। रूपपरिमाणगुणवत्त्वोपलम्भादित्यर्थः। परिहरति—नेति। पृथिव्यां हि नीलरूपं गन्धादिभिर्व्याप्तमतस्तन्निवृत्तौ तमसि नीलरूपमपि निवर्तेतेत्यर्थः। भावायोगादिति पदच्छेदः। भंग्यन्तरेणापि द्रव्यान्तरत्वं दूषयति—अपि चेति। तत्किं निरवयवमुतावयवारभ्यम् ? नाद्य इत्याह—न तावदिति। निरवयवद्रव्यस्यारम्भवन्नित्यत्वादित्यर्थः। द्वितीयेऽपि किं स्पर्शवदारभ्यं तद्रहितारभ्यं वा ? प्रथमे प्राह—तदारम्भकाणामिति। समवायिकारणगतविशेषगुणस्य कार्ये सजातीयगुणारम्भकत्वनियमादिति भावः। द्वितीयं दूषयति—अस्पर्शवत्त्वे चेति। यत्स्पर्शरहितं न तद्द्रव्यारम्भकं यथा मन इत्यर्थः। उत्तरपक्षकान्तर्भावं क्रमेण दूषयति—नापीति। गुणपक्षेऽपि किं रूपान्तर्भूतमितरान्तर्भूतं वा ? आद्येऽपि किं पृथिव्यादित्रयवृत्तीतरवृत्ति वा ? आद्यं निराचष्टे—रूपान्तर्भाव इति। इतरवृत्तितामपि क्रमेण दूषयति—नापीति। नभस्वान्वायुः। विशेषगुणरहितत्वादिति। दिक्कालमनसां विशेषगुणशून्यत्वमिति सिद्धान्तादित्यर्थः। चक्षुर्मात्रग्राह्यस्येतरगुणान्तर्भावस्त्वसम्भवनिरस्तः।

परिगणित नव द्रव्य से भिन्न द्रव्य तम है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि गुणवत्त्व द्रव्य का लक्षण है, अतः निर्गुण पदार्थ की द्रव्यता की ही अनुपपत्ति (असिद्धि) रहते द्रव्यान्तरत्व की अत्यन्त अनुपपत्ति है। यदि कहा जाय कि नील कमल

दल के तुल्य श्याम और महान (महत्त्वगुणयुक्त) प्रतीयमान (ज्ञात) अन्धकार निर्गुण कैसे कहा जा सकता है, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि गन्धादि के साथ एक भूमि रूप अर्थ(वस्तु) में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला(समवायी) नीलरूप उस गन्धादि से व्याप्त रहने के कारण व्यापक गन्धादि के अभाव रहते रह नहीं सकता है, अतः गन्धादि के अभाव होते उस नीलरूप का तम में भाव(सत्व)होना अयुक्त है और तम के द्रव्यान्तरत्व पक्ष में उसको निरवयव, या सावयव कहा जाय तो निरवयव तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि निरवयवत्वपक्ष में आकाशादि के समान नित्यत्व से आलोक (प्रकाश) से अनिवर्त्यता (अनाश्यता) की प्राप्ति होगी और सावयवत्व (कार्यत्व) पक्ष में, यदि उनके आरम्भक (कारण) परमाणु आदि को स्पर्शयुक्त माना जाय, तो उस तम में भी स्पर्श के उपलम्भ (ज्ञान) का प्रसङ्ग होगा कि तम में स्पर्श का ज्ञान होना चाहिये। और तम के आरम्भकों को स्पर्शरहित मानने पर उनकी अस्पर्शवत्ता के कारण मन के समान द्रव्यारम्भकत्व का उनमें असम्बन्ध (अभाव) होगा। इस प्रकार से द्रव्य के अन्तर्गत तम नहीं हो सकता है।

नापि गुणाः; रूपान्तर्भावे पृथिव्यादित्रितयगुणत्वे च तत्सहचारिणां गुणान्तराणामप्युपलब्धिप्रसङ्गात्। नापि नभोनभस्वतोर्गुणः; तयोररूपत्वात्। नापि दिक्कालमनसाम्; एतेषां विशेषगुणरहितत्वात्। नाप्यात्मनः; तस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षगुणानधिकरणत्वात्। नापि कर्म; संयोगविभागयोरकारणत्वात्। नापि सामान्यविशेषसमवायाः; तेषां व्यक्त्याश्रयसम्बन्धिनामुपलब्धिमन्तरेणानुपलम्भनियमात्। न हि सामान्यस्येव व्यक्तिविशेषाणामिव चाश्रयः समवायस्येव संबंधी तमसः कश्चिदुपलभ्यते। न चास्य तमस उपलम्भसंभवः; तदुपलम्भकाभावात्। नच लोचनमुपलम्भकं; तद्व्यापारे तदनुपलम्भापातात्। अस्ति च निमीलितनयनस्यापि तमः पश्यामीत्याभिमानः। अपि च रूपत्वे रूपवत्त्वे वाऽऽलोकाजन्यचक्षुर्जन्यसाक्षात्कारविषयत्वं न स्यादालोकसहकृतस्यैव चक्षुषस्तत्र सामर्थ्यात्। नापि मनस्तदुपलम्भकं; बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तस्य बहिरप्रवृत्तेः। तस्मात्षट्स्वपि भावेष्वनन्तर्भावात्तद्भावे वोपलम्भकाभावाच्च, प्रभाभावस्तम इति।

कर्मान्तर्भावं निराकरोति—नापीति। संयोगविभागयोरसमवायिकारणत्वस्य कर्मलक्षणत्वात्तमसश्च तदभावादित्यर्थः। सामान्यादित्रयधर्माणामभावं तमसि दर्शयति—नहीति। सामान्यत्वे व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वं, विशेषत्वे चाश्रयप्रतीत्यपेक्षा, समवायत्वे च संबन्धिप्रतीत्यपेक्षा स्यादित्यर्थः। एवं भावत्वे निःस्वभावापत्तिमुक्त्वा प्रतीत्यनुपपत्तिमाह—नचेति। प्रत्यक्षं तावदनुभूयते। तत किं चाक्षुषम्? उत मानसं? स्पार्शनादिकं त्वनुपलम्भपराहतम्। नाद्य इत्याह—नचेति। अस्मत्पक्षे निमीलितलोचनस्यापि संतमसालोचनं संभवति, आलोकाभावस्यान्तरस्य चक्षुषा ग्रहणसंभवादालोकानपेक्षत्वात्भ्रावपक्षे त्वालोकापेक्षाया वक्ष्यमाणत्वात्; पदार्थान्तरस्याप्यान्तरस्य ग्रहणप्रसङ्गाच्चेति

भावः । रूपगुणत्वे रूपवद्द्रव्यत्वे चानुपपत्त्यन्तरमाह—अपि चेति । आलोकेनाजन्य-श्चक्षुर्जन्यश्च यः साक्षात्कारस्तद्विषयत्वं न स्यादस्ति च तदित्यर्थः । रूपघटादिव्यभि-चारायाद्यविशेषणम्, ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यस्यास्मदादिस्पार्शनप्रत्यक्षवेद्यस्य च घटादेर्निवृत्त्यै चक्षुर्जन्यग्रहणम् । अस्मत्पक्षे त्वालोकाभावस्यालोकानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षप्रतियोगिकतया च प्रत्यक्षत्वान्नानुपपत्तिरिति भावः । मानसत्वं निषेधति—नापि मन इति । तमश्च बहिरुपलब्धेरिति शेषः । उपसंहरति—तस्मादिति । तद्भाव इत्यन्तर्भूतत्वेऽपीत्यर्थः । अयमत्र प्रयोगः—तमःपदमालोकाभाववाचकमालोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचकत्वादालोका-भावपदवदिति ।

अन्धकार को गुणान्तर्भावता भी नहीं है, क्योंकि रूप के अन्तर्गत तम को मानें तो पृथिवी जल .तेज इन तीनों ही में रूप रहते हैं, अतः उन तीनों में किसी के रूप तम के होने पर वहीं इस अन्धकार के सहचारी (सहवृत्ति) गन्धादि गुण का भी ज्ञान तम के साथ ही प्राप्त होगा, आकाश और वायु का गुण भी रूपात्मक तम नहीं हो सकता है, क्योंकि वे दोनों रूपरहित हैं, दिशा काल और मन का भी गुण तम नहीं हो सकता है । क्योंकि दिशा काल और मन ये विशेष गुण से रहित रहते हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक(स्वाभाविक) द्रवत्व, बुद्धि, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, धर्म-अधर्म भावना-संस्कार, और शब्द विशेष गुण कहे जाते हैं । ये सो आत्मा और भूतों में वैशेषिक मतानुसार रहते हैं, दिशा आदि में नहीं, आत्मा का गुण भी तम नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मा में बाह्य इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष गुण का अनधिकर-णत्व है, और तम बाह्य इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषय प्रत्यक्ष माना जाता है । कर्म के अन्तर्गत भी तम नहीं है, क्योंकि संयोग और विभाग के कारणत्व तम में नहीं है, और वैशेपिक मत में संयोग और विभाग के असमवायिकरण रूप ही कर्म को माना जाता है, और सामान्य (जाति) विशेष और समवाय के अन्तर्गत तम नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यक्ति, आश्रय, और सम्बन्धी की उपलब्धि (ज्ञान) के विना इन जाति आदि की अनुपलब्धि का नियम है, अन्धकार यदि इन के अन्तर्गत होगा, तो इसकी भी उप-लब्धि व्यक्ति आदि की उपलब्धि के विना नहीं होगी, और सामान्य की व्यक्ति के समान, विशेषों के आश्रय के समान और समवाय के सम्बन्धी के समान तम के कोई व्यक्ति आश्रय या सम्बन्धी उपलब्ध (ज्ञात) नहीं होता है, अतः सामान्यादि के अन्तर्गत तम नहीं हो सकता है । और तम को भावस्वरूप मानने पर, उस तम के ज्ञान का सम्भव नहीं है । क्योंकि उसके उपलम्भक (प्रत्यक्षज्ञान जनक) का ही अभाव है । नेत्र उपलम्भक (ज्ञापक) है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि नेत्र तम का उप-लम्भक होगा, तो, नेत्र के अव्यापार (दर्शनाभाव) काल में तम के अज्ञान की प्राप्ति होगी, नेत्र के व्यापार के विना तमका ज्ञान नहीं होगा, परन्तु ऐसा होता है नहीं, क्योंकि निमीलित (बन्द) नेत्र वाले को भी अभिमान (अनुभव) होता है कि मैं तम को देखता हूँ । और दूसरी बात है कि यदि अन्धकार रूपात्मक होगा या रूपवाला होगा तो प्रकाश से अजन्य केवल नेत्रजन्य (प्रकाशनिरपेक्ष चक्षुजन्य) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होगा, क्योंकि प्रकाश सहित ही नेत्र को रूप और रूपवान् के ज्ञान में सामर्थ्य है । और

मन भी तम का ज्ञान नहीं कर सकता है, क्योंकि बाह्य इन्द्रिय की अपेक्षा (सहायता) रहित उस मन की बाह्यप्रवृत्ति नहीं होती है, अतः द्रव्य गुणादि छह भाव पदार्थों में अन्तर्भाव नहीं होने से, और कथञ्चित् अन्तर्भाव मानने पर भी उसके उपलम्भक के अभाव से प्रभा=प्रकाश का अभाव स्वरूप ही तम सिद्ध होता है।

अत्रोच्यते—

तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥ ५ ॥

अस्ति हि तमस्तमालमालाश्यामलमिति प्रतीतिः। न चाप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रमः, तद्व्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः। न चायमौपचारिक आलोकाभावे, शौक्ल्याभावे पटादौ नीलव्यवहार इवेति युक्तम्; मुख्ये बाधकाभावात्। रूपत्वे रूपवत्त्वे वा आलोकानपेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वासंभवो बाधक इति चेत्, मैवम्; आलोकविरोधिनस्तमसश्चालोकाभावव्यञ्जनीयतया तन्निरपेक्षचक्षुर्विषयत्वोपपत्तेः, सामर्थ्यस्य कार्यगम्यत्वात्। न चेद् आलोकाभावस्यापि रूपवदभावतया घटाभाववदालोकनिरपेक्षचक्षुर्विषयत्वं न स्यात्, तद्विरोधितया तदनपेक्षत्वं तु प्रकृते समानमन्यत्राभिनिवेशात्।

समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यत इति। श्लोकेन प्रमाणमुपदर्शयति—तमालेति। तमालवच्छ्यामलमिति ज्ञानं तमालश्यामलज्ञानं तस्मिन्निर्बाधे स्फुटे जाग्रति स्फुरति सति अकस्मान्निष्कारणं द्रव्यान्तरं तमः विशेषणैरुदयत् कस्मादपलप्यते। अयुक्तो ह्यकस्मादपलापोऽतिप्रसङ्गादिति योजना। अत्र जाग्रतीत्यनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यं परिहृतम्। स्फुट इति संशयः परिहृतः। निर्बाध इति विपर्ययपर्युदासः। श्लोकं विवृणोति—अस्ति हीति। अत्र प्राभाकरावलम्बिनः प्राहुः—प्रतीतिरेव तावन्नोदेति। यस्तु प्रतीतिव्यवहारः स तु प्रतीत्यभाव एव प्रतीतिभ्रमः। यथाहुरदृष्टौ ध्वान्तदृष्टिवदिति, तन्निराचष्टे—नचेति। तत्र हेतुः—तद्व्यवहारस्येति। अस्ति तावदेवंविधः संसर्गव्यवहारः। स च तादृशज्ञानमन्तरेणानुपपन्नः। चेतनव्यवहारस्य ज्ञानपूर्वकत्वनियमादित्यर्थः। यथा चैतत्तथोदर्केऽख्यातिप्रत्याख्याने प्रख्याप्यते। न चालोकादर्शनविषयज्ञानमेव तमः पश्यामीति व्यवहारहेतुस्तस्याचाक्षुषतया इदमिति व्यवहाराद्यनुपपादकत्वादिति भावः। एतेनैतदपि परास्तम्। यदाह मानमनोहरस्तमसि प्रमाणाभावमुपन्यस्य नीलं तम इति प्रतीतिः प्रमाणमिति चेन्न, नीलबुद्ध्यसिद्धेः, उक्तं नाथेनापि—"अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रमो मन्दानामिति"। यत्तु तेनैवोक्तं—"कथं तर्हि पदप्रयोग इति चेत्सिताभावे उपचारादभितं नीलमिति हि लौकिकः प्रयोग" इति। तदेतदनुवादपूर्वकं दूषयति—न चायमित्यादियुक्तमित्यन्तेन। पटादौ शौक्ल्याभावे नीलस्य व्यवहार इवालोकाभावेऽयमौपचारिक इति न युक्तमित्यन्वयः। मुख्ये बाधकाभावा-

दिति तत्र हेतुः। यत्त्वत्रापि तेनोक्तं "मुख्ये किं बाधकमिति चेदालोकनिरपेक्षस्य चक्षुषो रूपप्रत्ययजनकत्वानुपपत्तेः, कारणाभावे कार्यं जायत इति दुर्घटमि"ति। तदेतदर्थतः शङ्कते—**रूपत्व इत्यादिना**। परिहरति **मैवमिति**। रूपवत्त्वेऽपीतर-रूपवद्वैलक्षण्यमस्तीत्यन्यथासिद्धमित्यर्थः। नन्वितरत्रालोकसापेक्षस्य चक्षुषः कथं तमन्तरेण तमसि सामर्थ्यमित्यत आह—**सामर्थ्यस्येति**। एतदेव प्रतिबन्द्या समर्थयते—**नचेदित्यादिना**। यदि हि रूपवत्त्वमात्रेणालोकसापेक्षताप्राप्तिस्तदा रूपवदभावत्वा-दालोकाभावेऽपि घटाद्यभाववदालोकं किमिति नापेक्षते चक्षुरित्यर्थः। प्रसङ्गसाम्य-मुक्त्वा परिहारं समीकरोति—**तद्विरोधितयेति**। न चाभिव्यञ्जकतयाप्यवश्यापे-क्षणीये सत्यालोकाभावे तावतैव तमःशब्दसार्थक्यात् कृतमधिकान्धकारकल्पनयेति वाच्यम्, यतः कल्पयन्तं प्रति अयं पर्यनुयोगः, न प्रत्यक्षं प्रमाणयन्तं प्रति आभासतो-द्भावनीयेति चेदुद्भाव्यताम्, सैव तु केनेति विवेचनीयम्? नहि न नीलं तम इति प्रत्यक्षमस्ति बाधकम्, अनुमानमिति चेत्तस्यैव तावदध्यक्षविरुद्धस्तद्विषयस्य बाधव्याधिं समाधत्स्व। तदेवमालोकनिरपेक्षचक्षुःप्रवृत्त्यनुपपत्तिः परिहृता।

अब यहाँ तम में तेजोऽभावरूपता का खण्डन और भावरूपता का प्रतिपादन किया जाता है कि 'तमाल नामक वृक्ष के समान श्यामल (काले) तम के ज्ञान के निर्बाध स्फुट (प्रत्यक्ष) जाग्रत् (वर्तमान) रहते अकस्मात् (निष्कारण) द्रव्यान्तर रूप तम किस कारण से अपलपित होता है (अभाव रूप कहा जाता है)। अर्थात् अन्धकार है—ऐसी प्रतीति के विषय को अभाव रूप कहना उचित नहीं है, तेज का अभाव रूप कहा जाय, तो भी सामान्य तेज का अभाव तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त गर्म (तेजयुक्त) कोठरी में भी अन्धकार रहता है, और काले रूपयुक्त के ज्ञान से विशेष तेज का अभाव रूप भी नहीं कहा जा सकता है ॥ ४ ॥ तमालमाला (पंक्ति) के समान श्यामल तम है; ऐसी प्रतीति अवश्य (अस्ति) होती है। यदि कहा जाय कि अप्रतीति (यथार्थ प्रतीति के अभाव) में ही यह प्रतीति का भ्रम होता है, कि मुझे नील तम का ज्ञान हुआ है, मनुष्य को ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि मुझे तम के अभाव का ज्ञान हुआ है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तम की यथार्थ प्रतीति के बिना उसके कथनादिव्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि पटादि में शुक्लता के अभाव रहते जैसे नील का व्यवहार होता है कि पट काला है, ऐसा ही आलोक के अभाव में यह औपचारिक (गौण) व्यवहार होता है कि तम काला है अर्थात् अविवेक से मिथ्या व्यवहार होता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहार की मुख्यता में बाध के बिना उसमें गौणता नहीं मानी जा सकती है। भाव है कि 'नीलं तमः' यह व्यवहार प्रसिद्ध है। और चेतन का व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है, अतः व्यवहार के हेतु ज्ञान के बाधित (मिथ्या औपचारिक) हुए बिना व्यवहार औपचा-रिक नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि तम के रूपात्मक वा रूपवाले होने पर आलोकनिरपेक्ष नेत्रजन्य ज्ञान के विषयत्व का असम्भव बाधक है, इससे नीलतम का ज्ञान बाधित (मिथ्या) सिद्ध होता है तो ऐसा कहना भी नहीं चाहिये, क्योंकि आलोक

विरोधी तम की आलोकाभाव से व्यञ्जनीयता (अभिव्यक्ति) के कारण आलोक निरपेक्षचक्षुर्विषयता की तम में सिद्धि होती है (बनती है) यदि कहा जाय कि आलोक सापेक्ष ज्ञान जनक नेत्र में आलोक के बिना ज्ञान का सामर्थ्य नहीं है, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि सामर्थ्य कार्य से गम्य (ज्ञातव्य) होता है, जाना जाता है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो, आलोक का अभाव स्वरूप माना गया हुआ अन्धकार का भी आलोकनिरपेक्ष चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि आलोकाऽभाव रूप तम के रूपवत् आलोक रूप प्रतियोगी (सम्बन्धी) वाले होने के कारण घटाभाव के समान आलोक निरपेक्ष चक्षु का विषय नहीं होगा। यदि कहा जाय कि आलोकाऽभावरूपतम को आलोक विरोधिता के कारण उस अभावरूप तम के प्रत्यक्ष में चक्षु को आलोक की अपेक्षा नहीं होती है। तो प्रकृत अन्धकार रूप भाववस्तु के चाक्षुष ज्ञान में भी यह समाधान तुल्य है कि प्रकाशविरोधी अन्धकार के प्रत्यक्ष में चक्षुप्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है, दुराग्रह से अन्यत्र यह समाधान है, दुराग्रह का नहीं।

न च निमीलितनयनस्य लोचनव्यापाराभावेऽपि तमस उपलम्भादचाक्षुपत्वं; तत्रापि पक्ष्मपटलान्तर्वर्तितमसश्चक्षुर्व्यापारादेवोपलब्धेः, पिहितकर्णपुटस्य श्रोत्रव्यापारादेवान्तरशब्दोपलब्धिवत्। यत्तु गन्धाभावे तद्व्याप्तं नीलरूपमपि न स्यादिति, तदपि न; अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यां गन्धादिव्याप्तस्य तदभावेऽपि मरुति प्रतीतेरेवाङ्गीकारवदिहापि प्रतीतेरेव नीलरूपस्य गन्धाभावेऽप्यभ्युपेयत्वात्। अथ पाकजस्यैवानुष्णाशीतस्पर्शस्य गन्धादिना व्याप्तिस्तर्हीहापि पाकजस्यैव कालिमगुणस्य गन्धादिना व्याप्तिरिति तुल्यम्। सद्भावग्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयत्र समानत्वात्। न च स्पर्शाभावात्तमसो रूपवत्त्वाभावः; रूपग्राहकप्रत्यक्षविरोधे हेतोः कालात्ययापदिष्टतया तदभावानुमानानुदयात्। अन्यथा रूपाभावेन पवनेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य दुर्निवारत्वात्, अन्यत्र रूपवतामेव स्पर्शवत्त्वनियमात्। न चास्पर्शवत्त्वादेव तमःपरमाणूनां मनोवदनारम्भकत्वमनुमातुं युक्तम्; तत्र वैयर्थ्यस्योपाधेः सद्भावात्। न हि शरीरतया विषयेन्द्रियतया वा मनआरब्धद्रव्यस्य भोगसाधनता संभावनीया; पार्थिवादिचतुर्विधशरीरानन्तर्भूतस्येन्द्रियानाश्रयस्य शरीरतया भोगसाधनतानुपपत्तेः। न च विषयतया, रूपस्पर्शशून्यारब्धस्य तद्रहितत्वेन विषयत्वायोगाच्छरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी विषय इत्यङ्गीकारात्। नापीन्द्रियतया; मनस एवेन्द्रियत्वात्तदारब्धेन्द्रियान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात्। न च शरीरेन्द्रियविषयानन्तर्भूतस्य कार्यद्रव्यस्य भोगसाधनत्वं परैरङ्गीक्रियते। आत्मादीनामपि पुनरस्पर्शवतां शरीरेन्द्रियविषयारम्भासंभवात्समानमेव द्रव्यान्तरारम्भवैयर्थ्यम्। इह पुनस्तमसो महतो रूपवतः संभवति भोगसाधनत्वमिति नारम्भवैयर्थ्यम्। किंचास्मन्मते न तमस्तमोवयवैरारब्धं, तस्य मूलकारणान्मेघमण्डलान्महाविद्युदादिजन्मवज्जन्माभ्युपगमात्। न च मनसोऽनारम्भकत्वं, तस्यापि सावयव-

द्रव्यत्वेन परिणामित्वाभ्युपगमात्, आत्मनश्च स्पर्शरहितस्य सर्वजगदुपादानकारणत्वाभ्युपगमाच्च ।

यत्तु चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्युपलम्भादचाक्षुषत्वमिति तदनूद्यासिद्धिमाह—नच निमीलितेति । नच रूपवदन्तरग्रहप्रसङ्गः, तस्यालोकसापेक्षत्वात् । नचेन्द्रियाणामन्तः प्रवृत्तिर्न दृष्टचरी येनायमलौकिकः क्लृप्तः स्यादित्याह––पिहितेति । तत्र शब्द इत्यादिप्रतीतेः श्रोत्रमपि गत्वा ग्राहीति भावः । इत्यमुपलम्भकसिद्धिरुक्ता । अथ यदुक्तं नीलरूपमस्य न संभवति, तद्व्यापकगन्धवैधुर्यादिति तदनूद्याभाससमानयोगक्षेमतां दर्शयन्बाधकमाह—अनुष्णाशीतस्पर्शस्येत्यादिना । अत्र हि गन्धव्यावृत्त्या नीलरूपव्यावृत्तिरनुमित्सिता । सा चायुक्ता; रूपोपलब्धिविरोधात् । यदि चैवमपि नानुमन्यसे, तर्हि गन्धव्यावृत्त्याऽनुष्णाशीतस्पर्शमपि पवनाद्व्यावर्तयेदित्यर्थः, अथ नानुष्णाशीतस्पर्शमात्रस्य गन्धेन व्याप्तिः, अपि तु तद्विशेषस्य पाकजन्मनस्तर्हीहापि न नीलरूपमात्रस्य गन्धेन व्याप्तिः । किंतु पाकजस्यैवेत्याह––अथ पाकजस्यैवेति । नन्वपाकजस्पर्शवदपाकजनीलरूपसिद्धावेतत्स्यात्तदेव तु कुतः प्रमाणादित्यत आह—सद्भावग्राहिण इति । ननु तमो रूपरहितं स्पर्शरहितत्वादाकाशवदित्यनुमानविरोधाद्रूपवत्त्वमेव नास्तीति कुतस्तद्विशेपनीलरूपवत्ता ? इत्यत आह––नच स्पर्शेति । एतदपि पवनस्पर्शप्रतिबन्द्या समर्थ्यते—अन्यथा रूपाभावेनेति । वायुः स्पर्शरहितः रूपरहितत्वादाकाशवदित्यस्यापि सुवचत्वात्, प्रतीतेराभासतयाऽनुमानोदयस्य सुवचत्वादित्यर्थः । अस्यैव व्याप्तिमाह—अन्यत्रेति । यत्तु यत्स्पर्शरहितं न तद्द्रव्यारंभकं यथा मन इति व्याप्त्या स्पर्शरहिततयाङ्गीकृततमःपरमाणूनां द्रव्यारम्भकताभ्युपगमव्याघात इति कन्दलीकारोक्तदूषणं तदनूद्य निराकरोति—न चास्पर्शवत्त्वादेवेति । तत्रेति । मनसि द्रव्यानारम्भकत्वे तदारब्धकार्यवैयर्थ्यमुपाधिः, अतो नास्पर्शवत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थः । वैयर्थ्यमेव विवृणोति—नहीति । शरीरतया भोगसाधनताभावमाह—पार्थिवादीति । अयमर्थः—पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानि चतुर्विधानि हि शरीराणि प्रमाणयन्ति । तत्र पार्थिवानि कानि ? यानीमान्यनुभूयन्ते । आप्यादीनि तु तत्तच्छास्त्रगम्यानीति ते स्थितिः । पुनश्चातुर्विध्यानवरुद्धशरीरसद्भावे प्रमाणमस्तीति तदारब्धस्य न शरीरता । अत्र च मृतशरीरवदभोगसाधनतायामिन्द्रियानाश्रयत्वं हेतुः । तत्र च हेतुरनन्तर्भूतत्वं, विषयताऽभावमाह—नच विषयतयेति । रूपस्पर्शशून्यान्तकरणारब्धमपि रूपस्पर्शशून्यमत एव विषयत्वरहितं, द्रव्येषु रूपवत्सु स्पर्शवत्सु वा बाह्येन्द्रियप्रवृत्तेरित्यर्थः । तमःपवनयोर्व्यवच्छेदाय रूपस्पर्शग्रहणम् । उक्तं च मानमनोहरकारेण—शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोवयवी हि विषय इति । नच रूपस्पर्शरहितस्यावयवित्वं, कार्यत्वे सति रूपस्पर्शवतोऽवयवित्वादिति भावः । मनआरब्धस्येन्द्रियतां निषेधति–मनस एवेन्द्रियत्वादिति । ननु मास्तु त्रिविधान्तर्भावः,

अनन्तभूतस्यैव किमिति भोगसाधनत्वं न स्याद् गुणादिवदित्यत आह—नच शरीरेति। कार्यद्रव्यस्येत्यत्र हृदयं—तत्र कालादीनां सर्वोत्पत्तिनिमित्ततया भोगसाधनतास्तीति। तत्र बाधपरिहाराय कार्यग्रहणम्। उक्तोपाधेरात्मादिष्वपि साध्यव्याप्तिमाह—आत्मादीनामिति। प्रकृतस्य तु पुनस्तमसो विपततया भोगसाधनतयोपाधेः साधनाव्यापकत्वमाह—इह पुनरिति। उपलक्षणं चैतत्स्पर्शवत्त्वस्यापि। सुखस्पर्शा चूतच्छाया, उष्णस्पर्शा वटच्छायेति प्रतीतेः। न चेदं परमाण्वादिवदणु; येन विषयतयापि न भोगाय स्यादित्याह—महत इति। तत्प्रतीत्या चायमारम्भवादः समर्थितः नास्माकमयं समर्थनीयः। न ह्यस्माकमनिर्वचनीयाचिन्त्यसामर्थ्याविद्यासचिवब्रह्मविवर्तवादिनामेतादृशानुपपत्त्याभासपांशुभिः परिभव इत्याह—किञ्चास्मन्मत इति। भाट्टरीत्या वा पुरोक्तं, मूलकारणमखण्डमायावद् ब्रह्म। महाविष्णुदादीति। द्वयणुकादिपरम्परावलम्बो निरस्तः। पुनरपि सिंहावलोकितेन आरम्भमेव निर्वाहयति—तत्र यन्मनसोऽनारम्भकत्वं दृष्टान्तितम्, तदभ्युपगम्य वैयर्थ्यमुपाधिरुक्तस्तदेव तु नास्यस्मत्पक्षे तस्यापि सावयवतया परिणामित्वेनारम्भकत्वादित्याह—नच मनस इति। अन्यथानैकान्तिकतां चाह—आत्मनश्चेति।

निमीलित (बंद) नेत्र वाले को नेत्र के व्यापार (नेत्र से दर्शन) के अभाव रहते भी भीतर तम का ज्ञान होता है, अतः तमोज्ञान में चाक्षुषत्व (चक्षुर्जन्यत्व) नहीं रहता है। तो यह समझना युक्त नहीं है, क्योंकि उस चक्षु की निमीलित अवस्था में भी नेत्र पटलों (पलकों) के अन्तरवर्ती तम का नेत्र के व्यापार से ही उपलब्धि (ज्ञान) होती है। जैसे कि दोनों कानों (श्रोत्रों) का बन्द रखने वाले को भी श्रोत्र के व्यापार से ही भीतर के शब्द का ज्ञान होता है, इसी प्रकार से तम ज्ञान को समझना चाहिये, इस प्रकार से तम की उपलब्धि का कारण नेत्र है। और जो यह कहा था कि भूमि में नील रूप का व्यापक गन्ध के अभाव रहते गन्ध का व्याप्य (गन्ध से न्यून देशवृत्ति) नील रूप भी तम में नहीं रह सकता है, सो भी कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुष्णाशीत (उष्णशीत से विलक्षण) स्पर्श के पृथिवी में गन्धादि से व्याप्त रहते भी वायु में गन्धादि के अभाव होते भी उस स्पर्श की प्रतीति से वायु में उस स्पर्श को माना जाता है। ऐसे ही तम में भी गन्ध के अभाव रहते भी प्रतीति बल से नीलरूप भी अभ्युपेय (स्वीकारार्ह) है। यदि कहा जाय कि पाकज (तेजजन्य भूमिवृत्ति) अनुष्णाशीत स्पर्श को ही गन्धादि से व्याप्यता रहती है। सामान्य को नहीं, और वायु में अपाकज अनुष्णाशीत रहता है। अतः वायु में पाकजस्पर्श की व्यापक गन्ध की निवृत्ति से निवृत्ति होती ही है, ऐसे ही व्यापक गन्ध की निवृत्ति से तम की निवृत्ति होगी, तो यहाँ भी कहा जा सकता है कि पाकज कालिमा ही पृथिवी में गन्धादि से व्याप्त रहता है, सामान्य-या अपाकज नहीं, अतः तम में पाकज गन्ध की निवृत्ति से पाकज नीलता की निवृत्ति होगी अपाकज की नहीं यह तुल्यता है। यदि कहा जाय कि वायु में अपाकज स्पर्श के ग्राहक प्रमाण के समान अपाक नीलरूप का ग्राहक प्रमाण हो, तब तो उक्त कथन बन सकता है, अन्यथा नहीं। तब कहा जाता है कि

सद्भाव के ग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण उभयत्र तुल्य हैं। वायु में जैसे त्वक् से अनुष्णाशीत अपाकज स्पर्श का ज्ञान होता है, इसी प्रकार से तम में नेत्र से अपाकज नीलरूप का ज्ञान भी होता है, तो भी यदि अपाकज नील रूप तम में नहीं माना जाय तो वायु में भी अनुष्णाशीत नहीं माना जायगा, तुल्यता ही है। यदि कहा जाय कि स्पर्शवत्ता के अभाव से तम में आकाश के समान रूपाऽभाववत्ता को अनुमान द्वारा नील रूप के अभाव का अनुमान होता है, क्योंकि आकाश के समान सामान्य रूप के अभाव होते नील रूप भी उसी में नहीं सिद्ध हो सकता है तो कहा जाता है कि तम रूप ग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण से विरोध रहते (अन्धकारः रूपाभाववान्, स्पर्शरहितत्वात्) इस अनुमान के हेतु स्पर्शरहितत्व के कालात्ययापदिष्ट (बाधित साध्य वाला) होने से उस रूप के अभाव के अनुमान का उदय नहीं हो सकता है। अन्यथा (यदि तम में स्पर्शाभाव से रूपाऽभाव का अनुमान हो) तो वायु में भी रूपाऽभाव से स्पर्शाभाव का अनुमान दुर्निवार होगा। क्योंकि वायु से अन्यत्र रूपवाले ही पृथिवी जल तेज को स्पर्शवत्त्व का नियम है। अतः अनुमान होग ही कि वायु स्पर्शरहित है, रूपरहित होने से, आकाश के समान, स्पर्शवत्ता की प्रतीति की आभासता मान लेने से वह अनुमान को नहीं रोक सकेगा। और जो कहा गया था कि मन के समान स्पर्शरहित होने के कारण तम के परमाणु तमरूप कार्यके आरम्भक नहीं हो सकते हैं, सो भी युक्त नहीं है। क्योंकि (तमःपरमाणवः, द्रव्यानारम्भकाः स्पर्शाभावात् मनोवत्) यहाँ व्यर्थता ही उपाधि है, मनमें द्रव्यानारम्भकता है, वहाँ व्यर्थता है। मन से आरब्ध का कोई फल नहीं हो सकता है, अतः व्यर्थता साध्य का व्यापक है, स्पर्शाभाव का अव्यापक है, क्योंकि वायु परमाणु में स्पर्शाभाव है, परन्तु व्यर्थता नहीं है, अतः साध्यव्यापक साधनाऽव्यापक व्यर्थता उपाधि है। और मन से आरब्ध का फलाभाव इसलिये है कि मन से आरब्ध द्रव्य में शरीररूप से वा विषयरूप से या इन्द्रियरूप से भोग की साधनता का सम्भव नहीं है, क्योंकि पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय, चतुर्विध शरीर के अन्तर्गत, मन से आरब्ध द्रव्य नहीं होगा, अतः शरीर रूप से भोगसाधनता नहीं हो सकती है। और स्वयं अन्तरिन्द्रिय मन है। उससे आरब्ध द्रव्य इन्द्रियाश्रय भी नहीं होगा, अतः शरीर रूप से भोग का साधन नहीं होगा, विषय रूप से भी भोग का साधन नहीं हो सकता है, क्योंकि रूपस्पर्श से रहित मन से आरब्ध द्रव्य को भी रूपादि रहितत्व के कारण इन्द्रियों के विषयत्व होना अयुक्त है। और शरीर इन्द्रिय से भिन्न अवयवी (कार्यद्रव्य) विषय होता है, ऐसा माना जाता है, और इन्द्रिय रूप से भी मनोजन्य द्रव्य भोगसाधन नहीं होगा, क्योंकि मन के ही इन्द्रिय होने से मनोजन्य में इन्द्रियांतरत्व मानना व्यर्थ है। और शरीर इन्द्रिय तथा विषय, इन तीन के अनन्तर्गत कार्यद्रव्य की भोगसाधनता को ही तार्किक मानते हैं। स्पर्शरहित आत्मादि को शरीर इन्द्रिय विषय रूप द्रव्यारम्भ के असम्भव से द्रव्यान्तरारम्भ की व्यर्थता रूप उपाधि मन के समान ही है, और प्रकृत में महान् रूपवाले तम को भोग साधनता का सम्भव है, अतः तम में आरम्भ की व्यर्थता रूप उपाधि नहीं है। अतः उपाधि में साधनाऽव्यापकता है। और वस्तुतः यह तम का परमाणुओं से आरम्भ का समर्थन पररीति से किया गया है। हमारे वेदान्त मत में तमरूप द्रव्य तम के परमाणु रूप अवयवों से आरब्ध (जन्य) नहीं होता है,

क्योंकि जगत के मूल कारण मायी ब्रह्म से ही इस प्रकार जन्म उत्पत्ति मानी जाती है कि जैसे मेघमण्डल से महान् विद्युत आदि की उत्पत्ति होती है। आलोक से विनाशित तम की फिर मूल कारण से ही शीघ्र उत्पत्ति होती है, इत्यादि अन्यत्र लिखा गया है। अतः स्पर्शरहित परमाणु जन्यता के वेदान्त मत में अभाव से वेदान्त में सिद्धसाधनता उक्त अनुमान को है। और वेदान्त में मन को भी अनारम्भकत्व नहीं है, क्योंकि उस मन के सावयवद्रव्य होने से उसको भी परिणामी माना जाता है। और स्पर्शरहित आत्मा को समस्त जगत विवर्त का वैवर्ती उपादान कारण माना जाता है, अतः उक्त अनुमान में दृष्टान्त की असिद्धि है और अन्धकार रूपवान् होने से द्रव्य है, तेज का अभाव नहीं॥

चलत्वाच्चालोकवत्तमो द्रव्यान्तरम्। अन्यानुविधाननियमान्न स्वाभाविकं चलनमस्य घटरूपादिवदिति चेत्, न; द्रव्यस्यापि सुवर्णादिवद्द्रव्यान्तरानुविधानेऽपि स्वाभाविकचलनोपपत्तेः। तथाहि—आकरजस्य तेजसः सुवर्णादेः पार्थिवद्रव्योपष्टम्भात्पतनादिप्रतिभासेऽपि न स्वाभाविकं चलनमुपरुध्यते। किंचेदमनुविधानम्—किमालोकाचरकातपत्राद्यनुविधानम्? किंवा निवर्तकप्रदीपाद्यनुविधानम्? नाद्यः; निश्चलेऽप्यचलादौ तच्छायायाश्चलनोपलम्भात्। नापि द्वितीयः; वैपरीत्यादालोकागमने गच्छति छायेति प्रतीतेर्गमने चागच्छतीति प्रतीतेः, तद्विरोधित्वान्न तदनुविधानानुपपत्तेः।

तमो द्रव्यं रूपवत्त्वाद्घटवदित्युक्तमिदानीं क्रियावत्त्वादपि द्रव्यत्वमाह—चलत्वाच्चेति। असिद्धिं शङ्कते—अन्येति। घटरूपादिवदिति। घटगतगुणानां क्रियारहितानां यथा घटगमनानुविधानेऽपि न स्वाभाविकं गमनमेवमित्यर्थः। तत्किं तमः स्वाभाविकचलनहीनमन्यचलनानुविधायित्वाद्रूपादिवदित्यनुमिनोषि? तथाच सुवर्णेऽनैकान्तिकं तत्र ह्यनुच्छिन्नद्रवत्वस्याकरजतेजसः सुवर्णस्य कठिनपार्थिवद्रव्येण नित्यमवष्टम्भात् तच्चलनाद्यनुविधाननियमोऽस्ति। न चैतावता स्वाभाविकत्वहानिश्चलनस्येति परिहरति—न। द्रव्यस्यापीति। आकरजं तेजोविशेष आकरेषु जायत इति व्युत्पत्त्या। चतुर्विधं हि तेजो वैशेषिकैः परिगणितम्—भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजं चेति। ननु न वयमनुमिमीमहे अपि तर्हि प्रमाणमेव नास्ति चलनवत्त्वे, प्रतीतिरत्वन्यानुविधानेनान्यथासिद्धेति ब्रूम इति, तर्ह्यनुविधानमेव नास्त्यनिरूपणादित्याह—किंचेदमनुविधानमिति। न किमपीत्यर्थः। किं यन्निमित्तं छायाद्यात्मकं तमस्तदनुविधत्ते? किंवा यन्निवर्त्यं तदनुविधत्त? इति विकल्पयति—किमालोकेत्यादिना। नाद्यः; नियमाभावादित्याह—निश्चलेऽपीति। द्वितीयोऽप्ययुक्तः, विपरीतभानादित्याह—नापि द्वितीय इति। आगमन इति पदच्छेदः। यदि हि तदनुविदध्यात्तदा तस्मिन्गच्छति गच्छतीति, आगच्छत्यागच्छतीति प्रतीतिः स्यान्नतु तदस्तीत्यर्थः। तद्विरोधित्वाच्चेति। यस्य हि यदुदयसमसमयमेव विनाशस्तस्य कथं तदुदयानन्तरं स्थितिः?

तत्क्रियानुकरणं वा ? अस्थिरस्यानुकरणादिति भावः। तदनेन भावत्वविभावनेनो-त्पत्तिमत्त्वेन गुणवत्तया द्रव्यत्वदीपनेन च परैरनागन्तुकत्वनिरूपणेन चोपलम्भकोन्मी-लनेन च गुणवत्त्वाद्यनुगुणप्रमाणवैभवपरिचयपरिहृतमानमानसोदयनदैन्यमभ्यपनोदितं मन्तव्यम्।

नील रूपवत्ता से तम के द्रव्यान्तरत्व को सिद्ध करके कहा जाता है कि 'चलत्वाच्च' चलत्व (क्रियावत्त्व) हेतु से भी सिद्ध होता है कि, आलोक (प्रकाश) के समान तम (अंधकार) द्रव्यांतर है, अभाव रूप नहीं। यदि कहा जाय कि अन्धकार में स्वाभाविक चलन क्रिया नहीं रहती है, क्योंकि वह क्रिया अन्य की क्रिया का अनुविधान (अनुसरण=अनुकरण) नियम से करती है, जैसे घट की क्रिया का अनुकरण घट का रूप करता है, वहाँ गुणात्मक रूप में क्रिया की प्रतीति मिथ्या होती है वैसे ही अन्धकार में चलन क्रिया की प्रतीति मिथ्या होती है, तो यह कहना ठीक नहीं, मान लें कि तम अन्य की क्रिया का अनुकरण करता है, तो भी वह अभाव रूप नहीं सिद्ध हो सकता है, किंतु द्रव्यरूप तम का ही वह द्रव्यांतर का अनुकरण, सुवर्णादि के समान द्रव्यान्तर के अनुकरण करने पर भी स्वाभाविक चलन सिद्ध होता है। जैसे कि आकरज (खनिज) तेज रूप माने गये सुवर्णादि में पीत रूप वाले पार्थिवांश के सम्बन्ध से उसके अनुकरण (अधः पतनादि) को सुवर्णादि रूप तेज करते हैं, पतनादि की प्रतीति उन में होती है, तो भी उनके स्वाभाविक ऊर्ध्वचलन नष्ट नहीं हो जाता है, पार्थिव द्रव्य के सम्बन्धन रूप प्रतिबंधक से ऊर्ध्व चलन की प्रतीति नहीं होती है, जैसे कि मंद्राग्निकी ऊर्ध्व चलन की प्रतीति नहीं होती है। भौम, दिव्य, औदर्य आकरज, चार प्रकार के तेज वैशेषिक मत में माने जाते हैं, उसके अनुसार विचार हुआ। अब विचारणीय यह है, अर्थात् यह अनुविधान सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि क्या आलोक के निरोधक छत्रादि (छत्ता आदि) का अनुकरण तम करता है, या आलोक तमनिवर्तक प्रदीपादि का अनुकरण तम करता है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है। क्योंकि आलोक के अवरोधक पर्वतादि के निश्चल रहते भी उनके छाया रूप अंधकार का चलन सूर्य क्रिया से उपलब्ध (ज्ञात) होता है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि विपरीतता देखी जाती है कि आलोक के आने पर छाया (अंधकार) चली जाती है, ऐसी प्रतीत होती है। और आलोक के गमन करने पर, (चल जाने पर) तम आता है, ऐसी प्रतीत होती है, यहाँ वैपरीत्य है, अनुकृति नहीं। अन्धकार का तेज विरोधी है, विरोधी का अनुकरण नहीं हो सकता है। अतः तेज का अनुकरण करना तम के लिये अयुक्त है। जिस तेज के उदय होते ही तम नष्ट होता है, उस तेज का अनुसरण भी कैसे करेगा।

किञ्च—

'चक्षुःप्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम्।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम्॥ ॥

चक्षुरालोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकं रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्त्वगि-

न्द्रियवत्। न च रूपरहितेन्द्रियत्वमुपाधिः; यद्रूपवदिन्द्रियं तदालोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं न भवति घ्राणवदिति व्यतिरेकव्याप्तौ, रूपवद्ग्राहकत्वस्यैवोपाधित्वात्। तत्सिद्धमेतत्तमो द्रव्यान्तरमिति। इत्थमालोकवदेव भावरूपाज्ञानतमोविरोधिन आत्मनो जगदवभासकस्य ज्योतिःशब्दवाच्यत्वात्।

तस्य त्वसङ्गस्य दृश्यसङ्गानिरूपणात् दृश्यप्रपञ्चस्य स्वतः परतश्चासिद्धेर्दृगात्मन्यध्यस्ततयैव सिद्धिरिति सिद्धं मिथ्यात्वम्। किं पुनरिदं मिथ्यात्वं ? (१) प्रमाणागम्यत्वं वा (२) अप्रमाणज्ञानगम्यत्वं वा ? (३) अयथार्थज्ञानगम्यत्वं वा ? (६) अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा ? (७) ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ? (८) प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा ? (९) बाध्यत्वं वा ? (१०) स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा ?। नाद्यः; ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वप्रसङ्गात्, तस्य स्वप्रकाशत्वेन त्वया सर्वप्रमाणगोचरत्वानङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः; सद्वादिभिरपि तस्याङ्गीकृतत्वेनार्थान्तरत्वात्, तस्य तस्य शुक्तिशकलादेस्तेन तेन रजताद्याकारेण प्रतीयमानतयाऽप्रमाणज्ञानविषयत्वात्, सर्वस्य प्रपञ्चस्य क्षणिकमिदं ब्रह्मकार्यमिदमनिर्वचनीयमिदमिति च मिथ्याज्ञानगोचरतायाः परैरभ्युपगमात्, स्मृतेरप्रमाणतया तद्विषयस्य तथात्वाङ्गीकाराच्च। न तृतीयः; उक्तदोषानुपक्तेरेव। न चतुर्थः; सद्विलक्षणस्यापि शशविषाणादेरमिथ्यात्वात्। न पञ्चमः; एकतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकतया तदसंभवात्। न षष्ठः; अनिर्वचनीयाविद्याया अप्रसिद्धत्वात्। अग्रहणमिथ्याज्ञानलक्षणाविद्यायास्तत्कार्यस्य च प्रवृत्तिसंस्कारादेः सत्यत्वात्। न सप्तमः; ज्ञाननिवर्त्यस्यापि ज्ञानसुखादेः सत्यत्वात्, सर्वस्य सत्यत्वेऽपि परैरीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारात्। नाष्टमः; प्रमाणेन यदुपाधौ यः प्रतिपन्नस्तत्र तस्य निषेधासंभवाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। भ्रान्तिप्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि संभवेनार्थान्तरत्वाद्, अन्यथाख्यातिवादिभिरपि क्वचिन्निषिद्धस्यान्यत्र सत्तास्वीकारात्। न नवमः; बाधकज्ञानविषयत्वं तन्निवर्त्यत्वं वा बाध्यत्वमित्यभ्युपगमेऽप्यर्थान्तरतायास्तादवस्थ्यात्, शुक्त्यादेरपि बाधकज्ञानविषयत्वाङ्गीकारात्, बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमाच्च। न दशमः संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तीनां स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानामपि परैः सत्यत्वाङ्गीकारादर्थान्तरताया दुरतिक्रमत्वात्। तदेवं न प्रपञ्चमिथ्यात्वनिरुक्तिः।

पूर्वमालोकाभावप्रतिबंद्या रूपवत्यपि तमस्यालोकनिरपेक्षचक्षुषः प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तमिदानीं तत्रैवानुमानमप्याह—किंच चक्षुरित्यादिना श्लोकेन। प्रकाशनमालोकस्तेनाजन्यं यद्रूपवद्वीक्षणं रूपद्रव्यसाक्षात्कारस्तत्क्षमं तत्समर्थमिति प्रतिज्ञा। तत्र

हेतुमाह—रूपीति। रूपवद्द्रव्यग्राहकत्वात् यथा त्वगिन्द्रियमित्यर्थः। संगृहीतमनुमानं विवृणोति—चक्षुरित्यादिना। आलोकाजन्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्ते आलोकाभावतयाऽर्थान्तरता, तदर्थं द्रव्यग्रहणम्। आलोकाजन्यद्रव्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्तेऽर्थान्तरता, भाट्टनये कालादीनामपि तथात्वात्। यथाह मानमनोहरः—विवक्षितासाधनं चेति, तदर्थं रूपिग्रहणम्। घटादिप्रतीतिजनकत्वेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमालोकाजन्येत्युक्तम्। अनुमानादेर्व्यावृत्त्यर्थं हेताविन्द्रियग्रहणम्। इन्द्रियत्वादित्युक्ते घ्राणानैकान्तिकता तस्य द्रव्यग्राहकत्वाभावात्। तदर्थं द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वादित्युक्तम्। तावत्युक्ते प्रतिवादिनो मनःयनैकान्तिकता, तस्यात्मद्रव्यग्राहकत्वेऽपि रूपिद्रव्ये स्वातन्त्र्येण ग्राहकत्वाभावात्, तदर्थं रूपीत्युक्तम्। साध्यहेत्वोर्द्रव्यपदं स्पष्टार्थमित्येके। एवं च सति मानमनोहर- भ्रमोऽप्यनवसरनिरस्तः। त्वगिन्द्रियस्योक्तसाध्यवत्तायां रूपरहितेन्द्रियत्वं नोपाधिस्तस्य व्यतिरेकव्याप्त्यभावेन साध्याव्यापकत्वादित्याह—यद्रूपवदित्यादिना। व्यतिरेकासिद्ध्यैव चादृष्टादौ चेन्द्रियसन्निकर्षे चोलूकादिदृष्टौ च साध्याव्याप्तिनिवृत्त्यै मनुष्येन्द्रियत्वविशेषितोक्तसाध्यस्योपाधेर्विधानमपि निरस्तं मन्तव्यम्। एवंच सति यदनुमानं तमःपदमित्यादि, तदुक्तप्रमाणबलाद्भावरूपत्वे निर्णीते कालातीतं, विपक्षे बाधकाभावात् शङ्कितोपाधिता च। नचालोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वहानिस्तस्यालोकविरोधितया तदभावव्यञ्जकत्वेनाप्युपपत्तेः, तमःपदस्य नानार्थवाचकत्वसिद्धावप्यस्य चरितार्थत्वेन तमसोऽभावत्वासिद्धेश्च। आलोकसंसर्गाभावस्तमःपदवाच्यो न भवति अभावत्वाद् घटाभाववदित्यादिना सत्प्रतिपक्षं चाभावप्रमाणगम्याभाववादिनः साधनवैकल्यं च दृष्टान्तस्येत्यादिदोषादुपेक्ष्यम्। मनस्त्वं स्पर्शवदवृत्तिवेगवद्वृत्तिजात्यन्यन्मेयत्वाद्घटवदिति तमसो द्रव्यान्तरत्वसिद्धिरित्यप्येके।

साक्षिवेद्यं स्वराद्धान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुषं पुनः।
आचार्योऽसाधयद्युक्तिभिर्भवं स्वं विभावयन्॥

वादार्थमुपसंहृत्य प्रयोजनमाह—इत्थमित्यादिना। अभावविलक्षणाविद्यासिद्धिः फलमित्यर्थः। ज्योतिःशब्दवाच्यत्वाद्। युज्यते श्रुतिः 'अत्रायं पुरुष' इत्यादिकेति शेषः।

वक्ष्यमाणवादार्थं प्रस्तावयति—दृश्यप्रपञ्चस्येत्यादिना।

कार्यं वाचारम्भणं भेदलीढं सत्यं सत्त्वं त्वेकमेवाद्वितीयम्।
इत्यद्वैते श्रौत एवाह युक्तीर्युक्त्याभासोद्भूतविभ्रान्तिभित्त्यै॥

दृगात्मन्यध्यस्ततया दृश्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमित्युक्तं, तदिदमसहमानः प्रपञ्चसत्यत्ववादी मिथ्यात्वलक्षणमाक्षिपति—किं पुनरिति। आक्षेपमेव संभवत्सर्वप्रकारनिरसनेन निर्वाहयितुं संभवत्प्रकारान् विकल्पयति—प्रमाणेत्यादिना। प्रमाणविषयत्वा-

भावादप्रमाणविषयत्वमन्यदेव, अप्रमाणमपि द्वेधा यथार्थमयथार्थं च, तथा स्मृतिविपर्ययश्च तेन प्रथमद्वितीयतृतीयकल्पसंकरकलङ्काभावः। अविद्यातत्कार्ययोरिति। अव्याप्तिनिवृत्त्यै अन्यतरग्रहणम्। बाधकज्ञानविषयशुक्त्यादेस्तन्निवर्त्यपूर्वज्ञानादेश्च प्रतिपन्नोपाधौ बाधाभावान्न सप्तमाष्टमनवमसंकरः। प्रतिपन्नोपाधिः प्रतीतमधिष्ठानम्। स्वात्यन्तेति। पूर्वं स्वाधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावमात्रप्रतियोगित्वं विवक्षितम्, इह तु स्वात्यन्ताभावस्य स्वस्य चैकत्र वर्तमानतया प्रतीतिरिति नाष्टमदशमसंकरः शङ्कनीयः। सर्वप्रमाणेति। गोचरता चात्र वेद्यता न पुनर्विषयत्वमेव। तद्विवक्षायां च नैयायिकादेरसिद्धिः, सर्वस्यापि यथाकथंचन प्रमाणविषयत्वात्। सद्वादिभिरपीति। ये हि प्रपञ्चसत्यत्ववादिनस्तैरपि सत्यस्यैव शुक्तिकादेरधिष्ठानतयाऽप्रमाणज्ञानगम्यत्वस्वीकारात्सत्यस्येऽप्युपपद्यमानमर्थान्तरमेवेत्यर्थः। तदेव विवृणोति— तस्य तस्येति। अत्यल्पं चेदं शुक्तिकादावङ्गीकृतमिति सर्वस्यैव प्रपञ्चस्यैवंविधत्वमेवाङ्गीकृतमिति स्फुटतरमर्थान्तरमित्यर्थः। अर्थान्तरोदाहरणान्तरमाह–स्मृतेरिति। उक्तदोषेति। तत्त दारोपाधिष्ठानतया सर्वस्यायथार्थज्ञानगम्यत्वाङ्गीकारादित्यर्थः। सद्विलक्षणस्येति। न च शशविषाणस्यापि मिथ्यात्वादनतिव्याप्तिरिति वचनीयम्। मिथ्याभूतप्रपञ्चस्यापरोक्षज्ञानयोग्यत्वमर्थक्रियासामर्थ्यं च स्वीकुर्वद्भिः शशविषाणगौपम्येष्टेरमिथ्यात्वं स्वीकृतमेव शशविषाणस्य। नचैवं सत्यद्वैतविरोधः सदद्वैताभ्युपगमादप्युपपत्तेरतोऽतिव्याप्तिरनतिलङ्घनीयेति भावः। एकतरेति। सत्त्वनिषेधेऽसत्त्वं नान्तरीयकमसत्त्वनिषेधे च सत्त्वं नान्तरीयकम्। "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थिति"रिति न्यायात्। अतोऽसम्भवीदं लक्षणमित्यर्थः। न षष्ठ इति। अविद्यातत्कार्ययोरित्यत्र केयमविद्या विवक्षिता? किमनिर्वचनीयदण्डायमानाऽविद्या? किंवाऽग्रहणमिथ्याज्ञानात्मिका? प्रथमेऽसिद्धिलक्षणस्येत्याह—अनिर्वचनीयेति। उत्तरस्मिन्नर्थान्तरतेत्याह— अग्रहणेति। ज्ञाननिवर्त्यस्येति। आत्मविशेषगुणानामपर्यायमुत्पत्तिमनिच्छतामुत्तरेणोत्तरेण पूर्वपूर्वनिवृत्तिस्वीकारेष्टेरर्थान्तरत्वमित्यर्थः। न केवलं सुखादेरेव; सर्वस्यैव संहरणीयस्य प्रपञ्चस्येश्वरज्ञानेन निमित्तभूतेन निवृत्तिस्वीकाराद्भवतितरामर्थान्तरत्वमित्याह—सर्वस्येति। परिणामवाद्यभिप्रायेण वा। नाष्टम इति। प्रतिपन्नोपाधावित्यत्र प्रतिपत्तिशब्दस्य कोऽर्थः? किं प्रमाणज्ञानमुत भ्रान्तिज्ञानमाहो साधारणम्? आद्यं प्रत्याह—प्रमाणेनेति। द्वितीयं प्रत्याह—भ्रान्तीति। न केवलं संभवः, स्वीकृतं चान्यथाख्यातिवादिभिरित्याह— अन्यथाख्यातीति। एतेन साधारणपक्षोऽपि निरस्तः। किमिदं बाध्यत्वमभिमतं? किं बाधकज्ञानविषयत्वमुत तन्निवर्त्यत्वम्? उभयथाप्यर्थान्तरतेत्यभिप्रेत्याह—न नवम इति। प्रथमोदाहरणमाह—शुक्त्यादेरपीति। द्वितीयमाह—बाधकज्ञानेनेति। संयोगविभागेति। अयमर्थः—संयोगविभागयोरव्याप्यवृत्तितां स्वीकुर्वद्भिस्तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमङ्गीक्रियते। नच तत्रापि घटावयवानादाय संयोगविभागयोर्भिन्नाधिकरणता वक्तव्योपपादना। तथा सति

तदवयवसंयोगस्यापि तदवयववृत्तितापरम्परया परमाणावेव परिनिष्ठेति नाध्यक्षपथमवतरेदयं संयोगयोगीति तदनिच्छताप्यच्छमतिना यत्रैव संयोगस्तत्रैव तदत्यन्ताभावोऽप्यभ्युपेयः। नच प्रमाणविनिवेशितयोर्विरोधशङ्काकाशोऽतिप्रसङ्गात्, शब्दस्य चाकाशे वर्तमानस्य प्रदेशभेदमादायाप्येकस्मिन्नेव नभसि भावाभावौ समानाधिकृतौ स्वीकृतौ। एवं सर्वगतात्मवादिनामात्मविशेषगुणानां तत्राप्यतिपीडने साक्षाद्देशैकाधिकरण्यं प्रदेशवृत्तीनामिति तु तदनुरुन्धानेनोक्तम्। अत्र ब्रह्मण्यनतिव्याप्त्यै द्वितीयस्योत्थानम्, अर्थान्तरतानिवृत्त्यै तृतीयचतुर्थयोः, असत्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पञ्चमः, असंनिवृत्त्यै षष्ठः, असंभवातिव्याप्तिनिवृत्त्यै सप्तमः, अष्टमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेव, असंभवार्थान्तरयोर्निवृत्त्यै नवमः, दशमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेवेति ॥

चक्षुः, प्रकाशन (आलोक) से अजन्य रूपवाली वस्तु के वीक्षण (ज्ञान) में क्षम (समर्थ) है क्योंकि रूपी (रूपवान्) का ग्राहक इन्द्रिय है, जैसे कि त्वक है। अतः जैसे त्वक प्रकाश के बिना द्रव्य का ज्ञापक होता है वैसे चक्षु भी होता है ॥ ६ ॥ अर्थात्—आलोकानपेक्षचक्षु रूपवाले अन्धकाररूप भावद्रव्य का ग्राहक है। इस अर्थ में अनुमान प्रमाण भी है कि, चक्षुः, आलोकाऽजन्यरूपवद् द्रव्य के साक्षात्कार का जनक है, रूपवद् द्रव्य के ग्राहक होने से, त्वगिन्द्रिय के समान। यहाँ रूप रहित इन्द्रियत्व उपाधि है, क्योंकि आलोकाजन्य रूपवद् द्रव्य साक्षात्कारजनकत्व, त्वक् में है, वहाँ रूप रहित इन्द्रियत्व साध्य का व्यापक है, और रूपवद् द्रव्यग्राहकत्व रूप हेतु चक्षु में भी है, वहाँ रूपरहित इन्द्रियत्व नहीं है, अतः साधन का अव्यापक उपाधि है। ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि साध्य के व्यापक उपाधि के अभाव द्वारा साध्याभाव के बोधन से उपाधि में दूषकता होती है, और साध्याभाव का बोधन निरुपाधिक अनुमान से होता है, अन्यथा नहीं। प्रकृत में चक्षुः (रूपवदिन्द्रियं), 'प्रकाशानपेक्षरूपवद्-द्रव्यसाक्षात्काराऽजनकम्, रूपरहितत्वाभावात् घ्राणवत्।' इस साध्याभाव के अनुमान के लिये व्याप्ति-ग्रहण में रूपवद् अग्राहकत्व, रूपवान् का ग्राहक नहीं होना, उपाधि हो जाता है। क्योंकि प्रकाशानपेक्ष-रूपवद्-द्रव्य-प्रकाशाऽजनकत्व जहाँ है, वहाँ घ्राणादि में रूपवद् अग्राहकत्व भी है, अतः साध्य का व्यापक है, और रूपरहितत्वाभाव रूप हेतु का रूपवद् ग्राहकत्व अव्यापक है। क्योंकि घ्राण के पार्थिव होने से, उसमें रूप रहितत्वाभावरूप हेतु नहीं है, गन्धमात्र का ग्राहक होने से रूपवद् का ग्राहकत्व भी नहीं है यद्यपि, तथापि नेत्रेन्द्रिय में रूपवद् अग्राहकत्व उपाधि नहीं है। और रूप रहितत्व भावरूप हेतु है, अतः इस उपाधियुक्त व्यतिरेक साधक हेतु से साध्याभाव नहीं सिद्ध होने के कारण, तम को उक्त द्रव्यान्तरत्व सिद्ध हो गया। और इसी प्रकार से आलोक के समान ही भावरूप अज्ञानात्मक तम के विरोधी जगद्-अवभासक (प्रकाशक) आत्मा में ज्योतिशब्द वाच्यत्व है। और (अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः) यह श्रुति भी युक्त है। और उस ज्योतिः स्वरूप आत्मा के असङ्ग होने के कारण प्राकाश्य दृश्य के साथ सङ्ग (सम्बन्ध) के अनिरूपण (असिद्धि) से, तथा दृश्य प्रपञ्च की आत्मप्रकाशादि के बिना स्वतः वा अन्य किसी से सिद्धि के अभाव से दृगात्मा (ज्ञान स्वरूप आत्मा) में

ही रज्जु सर्प के समान अध्यस्त रूप से प्रपञ्च की सिद्धि (उत्पत्ति ज्ञप्ति) होती है। अतः प्रपञ्च में मिथ्यात्व भी सिद्ध होता है।

यहाँ प्रपञ्च के सत्यत्ववादी शंका करते हैं कि, (किं पुनरिदं मिथ्यात्वम्) फिर यह मिथ्यात्व क्या है, मिथ्यात्व का लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि, वही क्या प्रमाणाऽगम्यत्व = प्रमाण विषयत्वाभाव रूप है ॥१॥ या अप्रमाणज्ञानगम्यत्व = अप्रमाण ज्ञान विषयत्व रूप है, ॥ २ ॥ या अयथार्थज्ञान विषयत्व = भ्रमविषयत्व रूप है. ॥ ३ ॥ या सद्विलक्षणत्व = सद्भिन्नत्व रूप है ॥४॥ या सत् और असत् उभय से विलक्षणत्व = भिन्नत्व रूप है, ॥ ५ ॥ या अविद्या और अविद्याकार्य में अन्यतरत्व (एकरूपत्व) है ॥ ६ ॥ या ज्ञान निवर्त्यत्व (बाध्यत्व) रूप है ॥ ७ ॥ या प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्व = प्रतीत्याश्रय में अभाव प्रतियोगित्व रूप है ॥ ८ ॥ या बाध्यत्व = मिथ्यात्व बुद्धिविषयत्व रूप है ॥ ९ ॥ या अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व=अत्यन्ताभाव के समानाधिकरण रूप से प्रतीतिविषयत्व रूप है ॥ १० ॥ इन में आद्य (प्रथम) (प्रमाणाऽविषयत्व) रूप मिथ्या का लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि वेदान्त में ब्रह्म के स्वप्रकाश होने से वह किसी प्रमाण का विषय नहीं माना जाता है। अतः उस में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ॥ १ ॥ दूसरा, अप्रमाणज्ञानगम्यत्व, रूप लक्षण भी नहीं हो सकता है। क्योंकि सत्यवादी भी अप्रमाण के विषय सत्य को मानते हैं। अतः अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है (प्रकृतार्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्) इस न्यायसूत्र के अनुसार, प्रकृतार्थ से सम्बन्ध रहित अर्थ की प्राप्ति को अर्थान्तर कहते हैं। सो एक प्रकार का निग्रह स्थान रूप दोष होता है। प्रकृत में मिथ्या का लक्षण करना है, उस मिथ्या के असम्बन्धी (विरुद्ध) सत्य में लक्षण प्रवृत्त होता है, क्योंकि तत्तत् शुक्ति शकल (खण्ड) आदि को भी तत्त्व रजतादि आकार से प्रतीयमान (प्रतीतिविषय) होने के कारण शुक्तिखण्डादि अप्रमाण ज्ञानगम्य (अप्रमाण ज्ञान के विषय) होते हैं, केवल मिथ्या रजतादिक ही उन (इदं रजतम्) इत्यादि अप्रमाण ज्ञान के विषय नहीं होते हैं। और सब प्रपञ्च में यह क्षणिक है, यह ब्रह्म का कार्य है यह अनिर्वचनीय है। इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान विषयता को अन्यवादी मानते हैं। और स्मृति को अप्रमाण होने से स्मृति के विषय सत्य को भी अप्रमाण ज्ञान का विषय मानते हैं, वहाँ अतिव्याप्ति है ॥ २ ॥ तृतीय = अयथार्थज्ञानविषयत्व, लक्षण नहीं बन सकता है। क्योंकि उक्त दोषों की ही इसमें भी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥ सद्विलक्षणत्व रूप चतुर्थ लक्षण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सत् से विलक्षण (असत्) शशविषाणादि को विवक्षित मिथ्या नहीं माना जाता है, और उसमें लक्षण की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि शशविषाण भी मिथ्या है, उस में लक्षण की प्राप्ति उचित ही है। तो सो कहना उचित नहीं, क्योंकि मिथ्यास्वरूप संसार में अपरोक्ष ज्ञानयोग्यत्व और सार्थक क्रियासामर्थ्य को मानने वालों से संसार में शशविषाण से विषमता (विलक्षणता) मान्य (इष्ट) है। अतः शशविषाण में अमिथ्यात्व स्वीकृत है। अत एव लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि, वह प्रत्यक्षज्ञानयोग्य अर्थक्रियासामर्थ्य वाला विवक्षित लक्ष्य नहीं है ॥ ४ ॥ पञ्चम, सदसद्विलक्षणत्व रूप लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि विरोधी दो में से एक के निषेध करने पर एक दूसरे की विधि, नान्तरीयक, व्याप्य रूप से हो जाती है, जैसे

रात्रि के निषेध से दिवस की और दिवस के निषेध से रात्रि की विधि होती है, एक देश काल में दोनों का निषेध हो नहीं सकता है, वैसे ही सत्त्व असत्त्व रूप विरोधी धर्म का प्रपञ्च में निषेध नहीं हो सकता है। अतः निषेध का असम्भव है ॥ ५ ॥ अविद्या और अविद्याकार्य के अन्यतरत्व, रूप षष्ठ लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि अनिर्वचनीय अविद्या यदि अविद्या शब्द के अर्थ रूप से विवक्षित हो, तो वह परमत में अप्रसिद्ध है, और (ज्ञानाभाव) मिथ्या ज्ञान (भ्रम विपर्यय) रूप अविद्या में तथा उसके कार्य प्रवृत्ति संस्कारादि में सत्यत्व से अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अर्थात् यह सत्य के विरोधी असत्य का लक्षण नहीं सिद्ध होता है ॥ ६ ॥ सप्तम (ज्ञान निवर्त्यत्व) लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि उत्तर ज्ञानादि से पूर्व के ज्ञानादि की निवृत्ति न्यायादि में मानी जाती है। वहाँ ज्ञान से निवर्त्य पूर्व ज्ञानादि के सत्य होने से अलक्ष्य में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। और सब संसार के प्रतिवादीके मत में सत्य होते हुये भी महाप्रलयादिकाल में संसार की ईश्वर ज्ञान से निवृत्ति होने के करण अर्थान्तरता की प्राप्ति होगी ॥ ७ ॥ प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्व। यह अष्टमलक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिपन्न शब्द का यदि प्रमाण से निश्चित अर्थ हो, तो प्रमाण से जो पदार्थ जिस आश्रय (स्थान) में निश्चित हुआ, वहाँ उसका निषेध होना अयुक्त है। अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा ब्रह्मात्म के प्रमाणनिश्चित आनन्दस्वरूपता आदि का भी निषेध होने लगेगा। और भ्रान्ति से निश्चित यदि प्रतिपन्न शब्द का अर्थ हो, तो भ्रान्ति से निश्चित अधिकरण में निषेध के प्रतियोगित्व सत्य में भी सम्भव होने के कारण अर्थान्तरता की प्राप्ति होगी। केवल सम्भव मात्र नहीं है किन्तु भ्रान्ति स्थान में सर्वत्र अन्यथाख्याति वादी तार्किक भ्रम निश्चित रजतस्थान शुक्ति में रजत के निषेध के प्रतियोगी सत्य रजत की सत्ता को अन्यत्र मानते ही हैं ॥ ८ ॥ बाध्यत्व रूप नवम लक्षण भी नहीं बन सकता है, क्योंकि बाधक ज्ञानविषयत्व, या बाधक ज्ञान निवर्त्यत्व (नाश्यत्व) स्वरूप बाध्यत्व को मानने पर भी अर्थान्तरता ज्यों की त्यों बनी रहती है, यतः शुक्ति आदि में रजतादि की भ्रान्ति के अनन्तर नेदं रजतम्, यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति है—इत्यादि बाधक ज्ञान के विषयत्व सत्य शुक्ति में माना जाता है, तथा उस बाधक ज्ञान से पूर्ववृत्ति ज्ञान की बाधक ज्ञान से निवृत्ति मानी जाती है। अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीतिविषयत्व, रूप दशम लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रदेश वृत्ति (अपने अधिकरण के एक देश में वृत्ति) अव्याप्यवृत्ति, संयोग, विभाग, शब्द और आत्मा के विशेषगुणों को नैयायिक, अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान होते भी इन को सत्य मानते हैं। अतः अर्थान्तरता का अतिक्रमण (निवारण) अशक्य (असाध्य) है। इस प्रकार से प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निर्वचन (निर्णय=लक्षण) नहीं हो सकता है।

नापि तत्र प्रमाणम्। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षं तत्र क्रमते; उक्तप्रकाराणामन्यतमस्यापि मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वे तत्र वादिनां विवादाभावप्रसङ्गात्। न च विवादपदं, मिथ्यादृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्यनुमानम्; प्रमाणागम्यत्वस्य सदसद्वैलक्षण्यस्याविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वस्य वा साधनेऽप्रसिद्धविशेषण-

त्वादयथार्थज्ञानगम्यत्वस्य गुरुमतेऽप्रसिद्धत्वात्, इतरेषु च सिद्धसाधनत्वात्। किंच दृश्यत्वं नाम फलव्याप्यत्वं वा। वृत्तिव्याप्यत्वं वा। साधारणं वा। नाद्यः; अतीन्द्रियेषु तदभावेन भागासिद्धत्वात्। न द्वितीयः, ब्रह्मणोऽपि वेदान्तिभिर्वृत्तिव्याप्यत्वाभ्युपगमादनैकान्तिकत्वात्। न तृतीयः, ब्रह्मण्यनैकान्तिकत्वादेव। एतेन जडत्वाद्यन्तवत्त्वपरिच्छिन्नत्वादयो हेतवो निरस्ताः, तत्रापि साध्यानिरुक्तेः।

अथायं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी दृश्यत्वाद् घटवदिति चेत्, न; तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावे दृश्यत्वहेतौ चानैकान्तिकत्वात्, तयोर्दृश्यत्वेऽपि तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्। प्रतियोगित्वे वा तन्निष्ठात्यन्ताभावाभावात्पटस्य तत्प्रतियोगित्वलक्षणसाध्यासिद्धिस्तन्तूनामदृश्यता च स्यात्। किं च प्रपञ्चस्य प्रामाणिकत्वे, मिथ्यात्वानुमानानां धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधः। अप्रामाणिकत्वे, चाश्रयासिद्धिः। प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे च दूषणदूषणादेरपि प्रतीतिमात्रसिद्धस्य सर्वत्र संभवात्सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गः। एवं साध्यहेतुदृष्टान्तानामपि प्रामाणिकत्वे, दृश्यत्वहेतोस्तत्रानैकान्तिकता अप्रामाणिकत्वे वा साध्यसाधनाद्यभावादनुमानासिद्धिः।

नापि तत्र प्रमाणमिति। यद्यपि लक्षणमपि प्रमाणविशेष एव, तथापि न तत्स्वरूपसिद्धिपरम्, अपि त्वितरव्यावृत्तिं व्यवहारं चोपहरति। प्रमाणं तु लक्षितमेव स्वरूपं साधयतीति सर्वत्रानयोः पृथगाक्षेपसमर्थने द्रष्टव्ये। प्रत्यक्षं न माणमित्युक्तं तत्र हेतुमाह— उक्तप्रकाराणामिति। अयमर्थः—भवदुक्तप्रकाराणामन्यतमं मिथ्यात्वम्, तस्य तु न कस्यचिदप्यत्र प्रत्यक्षसिद्धिः। यदि हि प्रत्यक्षतः सिद्धयेन्न कोऽपि विप्रतिपद्येत। नहि प्रत्यक्षसिद्धे घटादौ विवदन्ते, विवदन्ते चाद्यापि वादिनो मिथ्यात्व इत्यर्थः। ननु मा भूत्प्रत्यक्षम्, अनुमानं भवत्वित्यत आह—नच विवादपदमिति। दशधा हि मिथ्यात्वसंभवः। तत्र प्रमाणगम्यत्वादिरूपसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणता, अविद्येहाप्यनिर्वचनीया विवक्षिता। इतरयोस्तस्यामसंप्रतिपन्नत्वात्। नन्वयथार्थज्ञानगम्यत्वात्मकं साध्यं तथा, च नाप्रसिद्धविशेषणताऽत आह—अयथार्थेति। यद्यप्यस्माकमिदं प्रसिद्धं तथाप्यख्यातिवादिनामप्रसिद्धविशेषणता, सोऽपि तावदेवं मिथ्यात्वे विप्रतिपन्न इत्यर्थः। भवतु तं प्रति, त्वां प्रति तु को दोष इत्यत आह— इतरेषु चेति। पक्षत्रयातिरिक्तेष्वित्यर्थः। तथाच यथा चैतत्तथा तत्तल्लक्षणदूषणसमयेऽर्थान्तरं दर्शयतोपपादितम्। उपलक्षणं चैतत्। तेन यथासंभव सद्वैलक्षण्यादिप्रयुक्तदूषणमूहनीयम्। तदेवं साध्यनिरूपणमुक्त्वा हेतोरप्यनिरुक्तिमाह— किंचेति। अतीन्द्रियेष्विति। कृतोपपादनमिदं स्वप्रकाशलक्षणसमये अदृष्टादेः वेद्यतामावेदयद्भिरस्माभिस्तेन भागासिद्धो हेतुः। शुक्तिरूप्यादिव्यतिरिक्तमखिलं जडं पक्षः। अतोऽतीतादेरपि पक्षतया तत्रावृत्ते-

रित्यर्थः। नन्वविवक्षितविशेषे तृतीये पक्षे का क्षतिरित्यत आह—न तृतीय इति। ब्रह्माणीति। अविवक्षितविशेषसाधारणस्य यं कंचन विशेषमादायापि पर्यवसानादित्यर्थः। ननु विवादपदं मिथ्या जडत्वादाद्यन्तवत्त्वात्परिच्छिन्नत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदिति प्रयोगो मिथ्यात्वे प्रमाणमित्यत आह—एतेनेति। अतिदिश्यमानमेव विशदयति—तत्रापीति। अनुमानान्तरं शंकते—अयं पट इति। एतत्तन्तवः, एतत्पटसमवायिकारणतन्तवस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति योजना। अभावप्रतियोगीत्युक्ते कार्यकारणभेदवादिनां तार्किकाणामेतत्तन्तुष्वेतत्पटान्योन्याभावप्रागभावप्रध्वंसाभावस्वीकारेणार्थान्तरता, तदर्थमत्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्तं, तावत्युक्ते यत्किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थं तन्तुनिष्ठेत्युक्तम्। एतत्पटस्यैतत्पटाजनकत्वेनाभिमततन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन पुनरपि सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थमेतदिति तन्तुविशेषणम्। एतत्तन्तुशब्देन च वादिनो जनकत्वेनाभिमततन्तव उच्यन्ते। पटान्तरापेक्षया सिद्धसाधनतापरिहारायायमिति पटविशेषणम्। घटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावः प्रसिद्ध इति साध्यप्रसिद्धिस्तदेतद् दूषयति—नेति। एवं ह्यनुगिन्वता यद्यद् दृश्यं तत्तदेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति व्याप्तिरेष्टव्या। न चेयमस्ति। एतत्तन्तुषु योऽयमस्य पटस्यात्यन्ताभावः साध्यते, न तस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमस्ति। तत्स्वीकारे च तत्साध्यस्यैवाभावादनुमानं व्याहतं स्यादथच तत्र दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्तः। इदं च वादिनं प्रत्येव, तादृग्विधविपक्षस्य सत्यत्ववादिनोऽसिद्धेस्तथा दृश्यत्वहेतावप्युक्तसाध्यं नास्त्येतत्तन्तुषु दृश्यत्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे तन्तूनामदृश्यतया साध्यासिद्धिप्रसङ्गादथ च दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्तः। इदं तूभयानुमतं तदेतदाह—तन्निष्ठेत्यादिना अदृश्यता च स्यादित्यन्तेन। मिथ्यात्वसाधकानुमानजातस्य च साधारणदूषणमाह—किंचेत्यादिना। बाध इति। प्रमाणगम्यत्वस्यैव सत्त्वादिति भावः। ननु न वयं प्रमितमप्रमितं वाश्रयमाश्रया, नापि शशविषाणायमानम्, अपि तु प्रतीतिमात्रसिद्धं, प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ तदतिरिक्तप्रमितत्वस्याप्याश्रयकोटिनिवेशने न किंचन मानं पश्याम इत्यत आह—प्रतीतिमात्रेति। अयमर्थः—न प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनदूषणते। तथा सति सर्वदर्शनानामपि साधनबाधनप्रसङ्गात्तत्त्वोपप्लवप्रसङ्गात्, क्व नाम तादृशानि साधनानि दूषणानि वा न सन्ति यानि प्रतीतिपथमपि नावतरेयुः? शब्देनापि तत्प्रतीतीनां वाक्यजननत्वादिति। आश्रयोक्तं विकल्पं साध्यादिष्वतिदिशति—एवमिति। तथाहि तेषां प्रामाणिकत्वे सत्यत्वेन विपक्षतया तत्र वर्तमानो हेतुरनैकान्तिकः स्यादप्रामाणिकत्वे च यथायथमप्रसिद्धविशेषणतास्वरूपासिद्धयाश्रयहीनताः प्रसज्येरन्निति भावः।

प्रपञ्च के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण भी नहीं है। प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण की तो इसमें प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि उक्त दश प्रकार (लक्षण) वाले में से यदि कोई प्रकार का मिथ्यात्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता, तो उस मिथ्यात्व विषयक वादियों के विवाद

का अभाव ही होता। और, विवादपद (विवादास्पद = विवाद का विषय प्रपञ्च) मिथ्या है, क्योंकि दृश्य हैं, जैसे कि शुक्ति का रजत हो, वैसा जगत है। यह अनुमान भी मिथ्यात्व में प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त, प्रमाणागम्यत्व रूप प्रथम, या सदसद् वैलक्षण्य रूप पञ्चम, अविद्यातत्कार्यान्यतरत्व रूप षष्ठ, लक्षण लक्षित को अनुमान से सिद्ध करने पर अप्रसिद्ध विशेषणत्व की प्राप्ति होती है। अयथार्थज्ञान-विषयत्व रूप तृतीयलक्षणलक्षित गुरुमत में अप्रसिद्ध है। इनसे अन्यपक्षों में सिद्धसाधनता दोष है। इस रीति से साध्य का अस्तित्व असम्भव है। हेतु भी विचारणीय है कि दृश्यत्व क्या है। फलव्याप्यत्व है, या वृत्तिव्याप्यत्व है, वा साधारण है, वहाँ प्रथम फल व्याप्यत्व पक्ष बन नहीं सकता है, क्योंकि अतीन्द्रिय धर्म संस्कारादि में फलव्याप्यत्व के अभाव से पक्ष के भाग (अंश) धर्मादि में हेतु नहीं रहता है, अतः भागासिद्ध हेतु साध्य का साधक नहीं है। द्वितीय (वृत्तिव्याप्यत्व) भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि वेदान्ती ब्रह्म को भी वृत्तिव्याप्य मानते हैं, अतः यह वृत्ति व्याप्यत्व रूप दृश्यत्व हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) होगा। तृतीय साधारण पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि वह भी ब्रह्म में व्यभिचारी होगा। इस दृश्यत्व हेतु के खण्डन से ही, जडत्व, अन्तवत्त्व, परिच्छिन्नत्व आदि रूप मिथ्यात्व के साधक माने गये हेतुओं का खण्डन सिद्ध हो गया। क्योंकि उन हेतुओं के स्थान में भी साध्य का निर्वचन नहीं हो सकता है।

दूसरा अनुमान किया जाय कि (यह पट, इसी पट के समवायी कारण रूप इन तन्तुओं में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हैं, क्योंकि तन्तुओं में पट दृश्यमात्र है, तन्तुओं से भिन्न उसका सत्य स्वरूप नहीं है। अतः जैसे घट तन्तुओं में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है वैसे पट भी है। यह अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि तन्तु वृत्ति अत्यन्ताभाव में, और दृश्यत्व हेतु में दृश्यत्वहेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। कारण है कि तन्तु निष्ठात्यन्ताभाव में तथा दृश्यत्वमें भी हेतु है, परन्तु उक्ततन्तु निष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व रूप साध्य इन में नहीं है, क्योंकि वहाँ अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव नहीं है, न दृश्यत्वाभाव है। अतः उन दोनों में दृश्यत्व होते भी तन्तु-निष्ठ अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगित्व है, और यदि तन्तुनिष्ठात्यन्तका भाव और दृश्यत्व हेतु में तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व हो (माना जाय) तब तो तन्तुनिष्ठा-त्यन्ताभाव का अभाव होगा, कि जिससे पट को अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिरूप साध्य के पक्ष में वा दृष्टान्त में कहीं सिद्धि नहीं होगी, और तन्तु में दृश्यत्व के अत्यन्ताभाव से अदृश्यता की प्राप्ति होगी। और प्रपञ्च के मिथ्यात्व के अनुमान करने वाले को विचारना चाहिये कि प्रपञ्च में प्रामाणिकत्व है, या नहीं, वहाँ प्रामाणिकत्व होने पर मिथ्यात्व साधक अनुमानों का धर्मी (प्रपञ्च) के ग्राहक प्रमाणों से बाध होगा। क्योंकि पूर्व प्रमाण से ज्ञात को सत्यता ही होगी। और प्रपञ्च के अप्रामाणिक रहने पर आश्रयासिद्धि (आश्रय का अभाव) होगी। यदि कहा जाय कि प्रामाणिकत्व अप्रामाणिकत्व विकल्प को त्याग कर, प्रतीतिमात्र से सिद्ध को अनुमान की आश्रयता होगी, इससे आश्रया-सिद्धि नहीं होगी, तो कहा जा सकता है प्रतीतिमात्र से सिद्ध सत्य मिथ्या दूषण भूषण (दोष गुण) सब मत में सुलभ होने से, सभी वाद (मत का मत) माना विधि और निषेध प्राप्त होगा, अमुक सत्य हेतु से विधि वा निषेध करना, इत्यादि कथा का नियम नहीं रहेगा। इसी प्रकार से साध्य हेतु और दृष्टान्त के प्रामाणिक होने पर, और दृश्यत्व

हेतु के वहाँ रहने पर अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि प्रामाणिकता से सत्यता के रहने के कारण मिथ्यात्व नहीं रह सकेगा, और हेतु तो रहेगा ही। और साध्यादि के अप्रामाणिक होने पर, साध्य हेतु दृष्टान्त के अभाव से मिथ्यात्व का अनुमान नहीं होगा, इस प्रकार से आश्रयासिद्धि के समान साध्यादि की असिद्धि प्राप्त होती है।

नाप्यागमः प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानम्। तथाहि—न तावत् 'एकमेवाद्वितीयं' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' त्यत्र ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वानन्तत्वप्रतिपादनाद् द्वितीयवस्तुनोऽभावः प्रतीयत इति युक्तं वक्तुम्; अद्वितीयशब्दस्य तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरत्वात्, अस्मिन्ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीयः पुरुष इतिवत्। अनन्तपदस्य च प्रागुत्तरकालीनान्ताभावपरत्वात्तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरन्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेन तत्र व्युत्पत्त्ययोगात्। 'नेह नानास्ति किंचने'त्यादेश्चागमस्य कारणे ब्रह्मणि नानात्वनिषेधपरत्वात् 'इन्द्रो मायाभि' रित्यादेश्च तत्तदिन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधिभिर्मायाशब्दाभिधेयैः स्वशक्तिविशेषैर्वा भेदेन परमेश्वरप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात्। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती'त्येवंविधायाश्च श्रुतेर्भेददर्शननिन्दयाऽभेदप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात्।

आगमस्य च स्वरूपावगतौ पदपदार्थविभागप्रतिपत्तौ च प्रत्यक्षादिसाकाङ्क्षत्वात्प्रत्यक्षस्य चागमानपेक्षत्वात्। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि', अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोती'ति च परस्परं व्याकुलत्वात्। प्रत्यक्षादेश्च तदभावात्। आगमस्य चोपचरितार्थत्वेनापि तत्र सावकाशत्वादनवकाशत्वाच्च भेदग्राहिणः प्रत्यक्षादेः। पूर्वसिद्धतया चागमेभ्यस्तस्य प्रतीप्सितत्वात्तद्विरोधे तेषामेव बाधात्। 'मृत्तिकेत्येव सत्यं', 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं', 'सच्च त्यच्चाभवदि'ति च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिपादनात्।

ननु मा भूदनुमानान्मिथ्यात्वम्, आगमादागमिष्यतीत्यत आह—नाप्यागम इति। तत्र वक्तव्यं किम् 'एकमेवाद्वितीय' मित्यद्वितीयशब्दाद् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वसिद्धिरिति मन्यसे? किंवा 'सत्यं ज्ञानमनन्त' मित्यनन्तश्रुत्या? किंवा 'नेह नानास्ती' ति ब्रह्मणि नानात्वनिषेधात्? आहोस्वित् 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इति मायाभिर्बहुभवनाभिधानात्? उत 'मृत्योः स मृत्यु' मिति द्वैतदर्शननिन्दया? तत्र नाद्यद्वितीयाविस्याह—न तावदित्यादिना। न युक्तं वक्तुमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—अद्वितीयशब्दस्येति। यथा खल्वस्मिन्ग्रामे अयमेक एवाद्वितीयः पुरुषः इत्यत्र शौर्यौदार्यातिशयादिना सजातीयः पुरुषः प्रतिषिध्यते, न तु तद्व्यतिरिक्तं समस्तं वस्तु, तस्कस्य हेतोस्तस्य तस्य वस्तुनस्तत्तत्प्रमाणोपनीततयाऽशक्यनिषेधत्वात्, तद्वदिहापि

समस्तं मानोपनीतं वस्तु निषेद्धुमशक्नुवानाऽद्वैतश्रुतिस्तत्सजातीयं ब्रह्मान्तरं निषेधतीत्यर्थः। भवत्वद्वितीयश्रुतेरियं गतिः, अनन्तशब्दस्य को निवारकः ? इत्यत आह—अनन्तपदस्य चेत्यादि। वस्तुपरिच्छेदाभावस्य परस्पराभावाधिकरणत्वराहित्यरूपस्य लोकेऽप्रसिद्धतया तथागृहीतसंगतिकत्वात्कालपरिच्छेदाभावमाकाशादौ प्रसिद्धमभिधत्त इति भावः। प्रागुत्तरकालीनान्तौ, प्रागभावप्रध्वंसौ, अनेकान्योन्याभावपक्षे एकानधिकरणस्यापि तत्सिद्धेर्नाद्वैतसिद्धिरिति तदधिकरणत्वानधिकरणेत्युक्तं, तृतीयं पक्षं निषेधति—नेह नानास्तीति। इदं हि वाक्यमिह पदावमृष्टे प्रस्तुते कारणे ब्रह्मणि नानात्वं निषेधति। तथाच न नाना ब्रह्म किं त्वेकमिति स्यात्। ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तु किमायातमित्यर्थः। चतुर्थं निषेधति—इन्द्रो मायाभिरिति। अत्र हि मायाशब्देन बुद्धिवृत्तयोऽभिधीयन्ते। 'चेतश्चित्त क्रतुर्माये' ति चित्ताभिधायकतावगमान्मायाशब्दस्य। तत्रच चित्तस्यैकत्वात्कथं मायाभिरिति बहुवचनोपपत्तिरित्यत उक्तं—तत्तदिन्द्रियेति। स्वत एकस्यैव सतश्चित्तस्यानेकेन्द्रियोपाधिकवृत्तिभेदादिदं बहुवचनम्। अतस्तैरुपाधिभिः परमेश्वरो बहुधोपास्यत इत्यर्थः। अथ वा याः परमेश्वरस्येच्छाज्ञानक्रियाशक्तयो मायाशब्दाभिधेयास्तासामपि श्रुत्यादिषु मायाशब्दाभिधानदर्शनात्ताभिश्च परमेश्वरः प्रत्युपासकं बहुरूपमाविर्भवति। अवतारभेदैर्वा बहुधा व्यवह्रियते इत्यर्थः। ननु 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' संसारात्संसारं प्रतिपद्यत इति भेददर्शनात्संसाराविमोककथनादतत्त्वज्ञानत्वमवगम्यते, अतएव तद्विषयस्य भेदस्यातत्त्वतेति भेदस्य मिथ्यात्वमियमेव श्रुतिर्गमयतीति पञ्चमं पक्षं निरस्यति-मृत्योरिति। नास्याः श्रुतेरत्र तात्पर्यमपुरुषार्थत्वात्, अपि त्वभेदध्यानविधौ, तत्स्तुत्यर्थं च भेददर्शननिन्दा। यथोदिते जुहोतीति विहितोदितहोमस्तुतयेऽनुदितहोमनिन्दा 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ती'ति। यथा चानुदितहोमस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमुदितहोमस्य निन्दा 'यथाऽतिथये प्रद्रुताये' ति। ततोऽन्यपरादस्मात्प्रत्यक्षविरुद्धोऽर्थो न लभ्यत इत्यर्थः।

ननु प्रत्यक्षागमयोरुभयोः प्रमाणत्वाविशेषे केन वैषम्येणेदमवधार्यते यत्प्रत्यक्षादिविरोधे श्रुतिरेव तदनुरोधेन व्याख्येया न विपरीतमित्यत आह—आगमस्य चेति। अथवा आगमस्वभावपर्यालोचनया नात्र तात्पर्यमित्युक्तं. इदानीं भवतु वागमस्तत्परस्यापि प्रत्यक्षादिभिर्विरोधे बाध्यत एवेत्यभिप्रेत्यागमस्य दौर्बल्ये कारणान्याह—आगमस्य चेति। एषां हेतूनां तद्विरोधे तेषामेव बाधादित्युत्तरप्रतिज्ञायां संबन्धः। यथाहि शब्दः स्वरूपग्रहणे वाऽबाधितं प्रत्यक्षादिकमपेक्षते न तथा प्रत्यक्षादि स्वरूपादिप्रतिपत्तौ शब्दप्रमाणमपेक्षते, तेन सापेक्षनिरपेक्षयोर्विरोधे सापेक्षागमबाध इत्यर्थः। किंच परस्परविगीततयाऽतिकलहेनैव तावदुपहता आगमाः, किमु वक्तव्यमविगीतानुपहतप्रत्यक्षादिविरोध इत्याह—न हिंस्यादित्यादिना। ब्रह्मणे, ब्राह्मणत्वाय। आलभतिर्विशसनपरः। यस्मिन्गृह्यमाणे षोडश शस्त्राणि शस्यन्ते स ग्रहविशेषः षोडशी। यथा ह्येकस्यैव हिंसाहिंसे, ग्रहस्यैकस्मिन्नेव ग्रहणाग्रहणे, होमस्य चैकस्यैकस्मिन्नेव

प्रयोगेऽनुदितोदितकालसंबन्ध इति परस्परविरुद्धानधिगमयत्यागमो, न तथा प्रत्यक्षादीत्याह—प्रत्यक्षादेश्चेति। सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलवदिति न्यायः, सावकाशाश्चागमा इत्याह—आगमस्य चोपचरितार्थत्वेनेति। यथा ह्यागमस्य मुख्यलक्षणागुणात्मकानेकवृत्तिमत्तया अन्यतमानुपपत्तावन्यतमामादायापि प्रामाण्यनिर्वाहो, न तथा प्रत्यक्षादेर्वृत्त्यन्तरमस्ति शब्दधर्मत्वात्तासामित्यर्थः। संजातासंजातविरोधिनोः संजातविरोधि दुर्बलं, संजातविरोधिनश्चागमाः प्रथमोपजातपदभेदावबोधकाध्यक्षादीननुवर्तमाना इत्याह—पूर्वसिद्धतयेति। किंचाभ्युपगम्य विरोधमिदं प्राबल्यमभिहितम्। वस्तुतस्तु विरोध एव नास्ति आगमेभ्य एव प्रपञ्चसत्यतावगमादित्याह—मृत्तिकेत्यादिना। त्रीणि रूपाणीति—लोहितशुक्लकृष्णानीत्यर्थः। सदिति भूतत्रयम्। त्यदिति वाय्वाकाशौ द्वौ। अत्र च सदिति खुरवश्रवणेनोपन्यस्तम्। भेदग्राहिप्रत्यक्षादीति येयमागमविभीषिकोक्ता, तत्र प्रत्यक्षं सर्वजनीनमिति न तत्र किंचिद्वक्तव्यमस्ति।

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष वा अनुमान प्रपञ्च के मिथ्यात्व में प्रमाण नहीं है, तो इन दोनों से प्रबल वेद रूप प्रमाण से तो प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होता ही है, क्योंकि एकमेवाद्वितीयम्, इससे द्वितीय प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होता है ॥ १ ॥ सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म, यहाँ अनन्त श्रुति से सिद्ध होता है, ॥ २ ॥ नेह नानास्ति किञ्चन, यहाँ नानात्व निषेध सिद्ध होता है ॥ ३ ॥ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, यहाँ माया द्वारा मिथ्या बहुरूपता कथन से सिद्ध होता है ॥ ४ ॥ और (मृत्योः स मृत्युमाप्नोति) इत्यादि भेददर्शन की निन्दा से भेदरूप प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होता है ॥ ५ ॥ वहाँ कहा जाता है कि प्रपंच के मिथ्यात्व में ये उक्त कोई आगम (श्रुति) प्रमाण नहीं हैं, प्रथम और द्वितीय (एकमेवाद्वितीयम्-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) ये श्रुतियाँ ब्रह्म के अद्वितीयत्व अनन्तत्व का प्रतिपादन करती हैं, अतः द्वितीयवस्तु का अभाव प्रतीत होता है, यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि अद्वितीय शब्द का ब्रह्म के सजातीय दूसरी वस्तु के निषेध में तात्पर्य है। प्रपंच के निषेध (मिथ्यात्व) में नहीं। जैसे कि कहा जाता है, कि इस ग्राम में यह देवदत्त ही अद्वितीय पुरुष है। इसी के समान उक्त श्रुति है। और अनन्त पद के पूर्वोत्तर कालिक अन्त (अभाव) के अभाव बोधक होने से (जन्ममरण रहित बोधक होने से) उसी अर्थ में अनन्त पद की व्युत्पत्ति (शक्ति का ग्रहण) होता है। अत उत्पत्ति और ध्वंस रहित अर्थ ही अनन्त पद का लोक में प्रसिद्ध है। अन्योन्याभाव (भेद) अधिकरणत्व का अनधिकरणत्व (अभिन्नत्व=अद्वैतत्व) की अनन्त पद के अर्थ रूप से प्रसिद्धि नहीं है। अतः उस अर्थ में व्युत्पत्ति (शक्ति) ग्रह का अयोग (असम्भव) है। नेह नानास्ति किंचन, इत्यादि आगम भी परमात्मा में 'नानात्व का निषेध मात्र परक (तात्पर्य वाला), प्रपंच मिथ्यात्व में उसका तात्पर्य नहीं है। और (इन्द्रो मायाभिः) यहाँ माया शब्द (चेतश्चित्तं क्रतुर्माया) इत्यादि अभिधान के अनुसार, चित्त और चित्त वृत्ति ज्ञानादि का वाचक है। अतः माया शब्द के वाच्यार्थ, तत्तदिन्द्रिय जन्यचित्त वृत्ति रूप उपाधियों द्वारा, या अपने ज्ञानादि शक्ति विशेषों के द्वारा परमेश्वर नाना रूपता को प्राप्त होता है, यह श्रुति का अर्थ है। और औपाधिक

भेद द्वारा परमेश्वर की प्रतिपत्ति विधि (उपासना विधि) में श्रुति के तात्पर्य होने से प्रपंच के निषेध में तात्पर्य का अभाव है। और (मृत्योः स मृत्युमाप्नोति) इस प्रकार वाली श्रुतियों का भी भेददर्शन (ज्ञान) की निन्दा = द्वारा अभेद की प्रतिपत्ति (चिन्तनोपासना) विधि में तात्पर्य है। अतः प्रपंच के निषेध (मिथ्यात्व) में तात्पर्य का अभाव है। और आगम को अपने स्वरूप के ज्ञान में, तथा पदपदार्थ के विभाग शक्त शक्यार्थ के ज्ञान में प्रत्यक्षादि की अपेक्षा होती है, और प्रत्यक्षप्रमाण को आगम की अपेक्षा नहीं होती है, अतः प्रत्यक्ष स्वतन्त्र होने से प्रबल है, और आगम प्रत्यक्षाधीन होने से दुर्बल है, अत एव आगम कहीं प्रपंच निषेधादि परक होगा भी तो प्रबल प्रत्यक्ष से विरोध के कारण बाधित होगा, या गौणार्थक किया जायगा। और (न हिंस्यात्सर्वा भूतानि) सब प्राणियों में कोई किसी प्राणी की हिंसा नहीं करे। अग्नीषोमीयं पशुमालभेत—अग्निषोमदेवता वाले पशु का आलम्भ करे। ब्राह्मणो न हन्तव्यः। ब्राह्मण हननयोग्य नहीं है। ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत ब्राह्मणता के लिये ब्राह्मण का आलम्भ करे। अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, अतिरात्र नामकयाग में षोडशिनामक पात्र में सोमरस का ग्रहण करे। नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति-अतिरात्र में सोमरस का ग्रहण षोडशिपात्र में नहीं करे। उदिते जुहोति, सूर्योदय होने पर हवन करे। अनुदिते जुहोति, सूर्य के अनुदित रहते हवन करे। इत्यादि आगम परस्पर विरोध के कारण व्याकुल (संशयादि ग्रस्त) हैं। प्रत्यक्षादि में ऐसी व्याकुलता नहीं है। व्याकुलता का अभाव है, इससे भी आगम से प्रत्यक्षादि प्रबल हैं। और अभेद एकत्वादि जगन्मिथ्यादि बोधक आगम का तो उपचरितार्थ (गौणार्थ) रूप से उस गौणार्थ में सावकाशत्व होता है। भेद ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भेद के बिना निरवकाश होने से तथा आगम से प्रथम सिद्धता के कारण प्रतिष्ठित (निश्चित = विरोधरहित) होने से उन प्रत्यक्षादिकों के साथ विरोध होने पर, उन आगमों का ही बाध होता है, अतः प्रत्यक्षादि प्रबल हैं। और प्रत्यक्ष आगम के विरोध को मान कर प्रत्यक्ष की प्रबलता कही गई है, वस्तुतः विरोध नहीं है, क्योंकि 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' मृत्तिका ही सत्य है। "त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्" तेज जल और भूमि के रक्त, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप ही सत्य हैं। "प्राणा वै सत्यम्" प्राण अवश्य सत्य है। (सच्च त्यच्चाभवत्) सत् = व्यक्त पृथिवी, जल, तेज और त्यत = अव्यक्त वायु, आकाश रूप वह ब्रह्म हुआ। इत्यादि शास्त्र भी प्रपंच को सत्य ही प्रतिपादन करता है, अतः विरोध नहीं है।

विवादास्पदीभूतः प्रपचः, सत्यः, प्रमाणसिद्धत्वादात्मवदिति, अयं घट एतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदाश्रयः द्रव्यत्वात्पटवदित्यनुमानतोऽपि वियदादेरात्मनां च सत्यभेदसिद्धिः। नच भेदस्य सत्यत्वे दृग्दृश्ययोः सम्बन्धानुपपत्तिर्बाधिका, तत्तत्प्रतिपत्तिहेतुभूतेन्द्रियलिङ्गादेस्तत्तद्विषयसम्बन्धादेव तदुत्पन्नज्ञानानां तत्तद्विषयं प्रति नियमसिद्धावन्तरेणापि संबन्धान्तरमतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात्। शब्दान्तराभ्याससंख्यादेश्च कर्मभेदप्रतिपादकप्रमाणस्य भेदमिथ्यात्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गः। नच तस्य लोकसिद्धभेदानुवादकत्वसंभवः; तादृक्कर्मापूर्वभेदस्य लोकतोऽसिद्धेः, सिद्धत्वे च शब्दान्तराद्यधिकरणानारम्भप्रसङ्गात्। तदेवं

मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरसंभवादनुमानागमाभ्यां प्रपंचस्य सत्यत्वापादनाच्च मिथ्यात्वमिति ।

अत्रोच्यते—न तावल्लक्षणासंभवः; यतः—

सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥७॥

तथाहि—पटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितैव तेषां मिथ्यात्वम् । न हि तेषामन्यत्र सत्ता संभविनी । तत्रापि चेत्सा न स्यात्तदा गले पादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत । न च निराश्रयेषु नित्येषु भावेषु सा नास्तीति लक्षणस्याव्याप्तिः; ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यतया कारणाश्रितत्वस्य व्यवहारदशायां रजतादेरिव शुक्त्याद्याश्रितताया: स्वीकारात् । नाप्यतिव्याप्तिः; सत्यस्य ब्रह्मणो निराश्रयत्वात्तस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिताया: शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् ।

अनुमानं दर्शयति—विवादेति । प्रपञ्चमात्रस्य सत्यत्वसाधने शुक्तिरूप्यसंसर्गादौ बाधः स्यात्, तेषामपरोक्षतया बाध्यतया च सदसद्विलक्षणतया मिथ्यात्वात्, तथा घटाद्यनुगतसत्तांशे सिद्धसाधनता, तन्निवृत्त्यर्थं विवादास्पदग्रहणम् । न चासिद्धो हेतुः, प्रत्यक्षे प्रदर्शितागमे चाविवादादिति । भिन्नवस्तुसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं, भेदस्यापि सत्यत्वेऽनुमानमाह—अयं घट इति । अथवा व्यावहारिकतात्त्विकत्वादिस्वकपोलकल्पितविकल्पमादाय यद्ययं विवदिषुरद्वैतवादी, तर्हीयमेव नीरन्ध्रा रीतिर्भवत्वित्याह—अयं घट इति । भेदाश्रय इत्युक्ते कल्पितभेदमादाय सिद्धसाधनम्, तदर्थं बाध्यभेदातिरिक्तग्रहणं, तावति वाऽप्रसिद्धविशेषणता, अद्वैतवादिनः सर्वभेदानां बाध्यत्वादत उक्तं—एतन्निष्ठेति । पदार्थान्तरनिष्ठभेदस्यैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदत्वेन नाऽप्रसिद्धविशेषणता, पक्षे चैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तत्वं भेदस्यैतन्निष्ठातिरिक्तत्वान्न संभवति एतन्निष्ठत्वादेव । अतो बाध्यभेदातिरिक्तसत्यभेदसिद्धिः । अतिरिक्तत्वं चात्राभेदानधिकरणत्व तेन नार्थान्तरता । इत्यनुमानतोऽपीति । एवंप्रकारानुमानत इत्यर्थः । ननु प्रतिकूलतर्कपराहतत्वात् शङ्कितोपाधिदुष्टमिदमनुमानद्वयम् । तथाहि—भेदस्य भेदिनो वा द्रव्यवर्गस्य सत्यत्वे, तस्य तज्ज्ञानस्य च कः संबन्धः ? इति विवेचनीयम् । न तावत्संयोगः; तस्य गुणत्वेन द्रव्यमात्रवृत्तित्वात्, ज्ञानस्य गुणत्वात् द्रव्यत्वाभावात् । नापि समवायः; आत्मसमवेतत्वाज्ज्ञानस्य । नाप्यन्यः कश्चित्षट्पदार्थनियमानुगुणः संभवति । नाप्यभावः; अभावतज्ज्ञानयोः संबन्धाभावप्रसङ्गात् । किंच यत्र यत्रास्यान्तर्भावस्तस्य तस्य तज्ज्ञानेन संबन्धो न स्यात्स्ववृत्तिविरोधादिति । तदेतद्दूषयति—नचेति । हेतुमाह—तत्तदिति । नियामको हि संबन्धः । संभवति च तत्र नियमः, तत्तज्ज्ञानानां तत्तदर्थैः स्वतन्त्रसंबन्धाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानजनकेन्द्रियलिङ्ग-

शब्दादीनां तत्तदर्थैः सह संबन्धेनेत्यर्थः । एवं प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य स्वानुमानस्य विपक्षे बाधकतर्कमाह—शब्दान्तरेति । अयमर्थः—शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणप्रकरणान्तरैः कर्मभेदो निरूपितो द्वादशलक्षण्यां द्वितीयाध्याये । (१) तत्र यजति ददाति जुहोतीत्यादौ धातुभेदेन धात्वर्थभेदेऽपि भावना भिद्यते न वा ? इति संदेहे धातूनां भेदेऽपि भावनावाचकलिङादेः सर्वत्र प्रत्यभिज्ञयाऽभेदावगमात् धात्वर्थस्य च भावनां प्रति गुणभूतत्वाद् गुणभेदेन प्रधानभेदस्यान्याय्यत्वात् अभेद एवेति पूर्वपक्षय्य धातोरिति विवक्षितैकवचनेन सूत्रेणैकधातोरुपरि प्रत्ययविधानात्सर्वत्र धात्वर्थानुरञ्जितायाः भावनायाः प्रतीतेरेकानुरञ्जितायाश्चान्यानुरञ्जनायोगात्प्रतिधात्वर्थं भिद्यत एव भावनेति राद्धान्तितं.'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादि' त्यत्र । अयमर्थः—शब्दान्तरे धात्वन्तरे सति कर्मभेदः, भावनाभेदो भवितुमर्हति । कुतः ? कृतानुबन्धत्वात् तेनैव कृतावच्छेदत्वात् भावनाया इति । सोयं शब्दान्तरात्कर्मभेदः । (२) तथा 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजती' त्यादिषु पञ्चकृत्वो यजतिश्रुतौ किं प्रथमविहितस्यैव यागस्य पुनः पुनरभ्यासः ? उत पञ्चापि विधयः ? इति संदेहे शब्दान्तरे सति कर्मभेदस्य पूर्वाधिकरणे वर्णनात् इहैकस्यैव यजतेः पुनःपुनः श्रवणात् तस्यैवायमभ्यास आदरार्थं इति पूर्वपक्षय्याप्रवृत्तप्रवर्तकत्वाद्विधेः सर्वेषां च प्राथम्यार्हतया विध्यनुवादविनिगमाभावादानर्थक्यपरिहाराय भिन्नविधितया कर्मभेद इति सिद्धान्तितम्, 'एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्या' दित्यत्र । अयमर्थः—एकस्य विधेः पुनःश्रवणमपि एवं कर्मभेदकं, कुतः?अविशेषात् विध्यनुवादविशेषाभावात्। इतरथा पुनःश्रवणं हि यस्मादनर्थकं स्यादिति । आनर्थक्ये वा हेतुरविशेषादिति । सोयमभ्यासात्कर्मभेदः । (३) तथा 'सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभते'इत्यत्र किं सप्तदशपशुकमेकं कर्म' उत सप्तदश कर्माणि विधीयन्ते?इति संशये प्राजापत्यानित्यत्र कृतैकशेषाणां पशूनां तद्धितेनैकप्रजापतिदेवताकत्वबोधनादेककर्मत्वमिति प्रापय्य राद्धान्तितम्, एककर्मत्वे हि एक एवातिदेशः स्यात्। ततश्चैकपशुनिष्ठमेकादशावदानमतिदेशप्राप्तमेकपशौ निष्पन्नमितीतरेषामदृष्टार्थता स्यात् । सप्तदशकर्मत्वे तु प्रतिपशु एकादशावदानसिद्धिरिति दृष्टार्थताऽतः कृततद्धितदेवतासम्बन्धतया देवतासम्बद्धानामेकशेष इति सप्तदश कर्माणीति । इदं भाष्यकारीयं मतम् । वार्तिककारीयं तु 'तिस्र आहुतीर्जुहोती'त्यत्रैकस्य जुहोतेः श्रवणादेकहोमत्वम् । त्रित्वं तु एकादशप्रयाजादिवदावृत्त्येति प्राप्ते राद्धान्तः—त्रित्वस्य तावज्जुहोतिसामानाधिकरण्यमुत्सर्गतो होमभेदकमेकातिरिक्तसंख्यायाः पृथक्त्वसामानाधिकरण्यस्वरसत्वात् । कचित्त्वगत्याऽपवादः । एकादशप्रयाजादौ प्रकृतौ पञ्चत्वावधारणात् । नचेह तथा बाधकमस्तीति होमभेद इति । तदुक्तं 'पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्या' दिति । संख्ययापि हेतुना कर्मभेदः स्यात् । कुतः ? कर्मपृथक्त्वनिवेशात् , कर्मपृथक्त्वेनैव तस्या निवेशात् एकातिरिक्तसंख्यायाः कर्मपृथक्त्वसामानाधिकरण्यादित्यर्थः । सोयं संख्यया कर्मभेदः । (४)तथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन

यजेते'त्यत्र ज्योतिर्विश्वज्योतिःशब्दयोः प्रकृतज्योतिष्टोमानुवादकत्वं कर्मान्तरविधायकत्वं वा ? इति संशये सत्येपशब्दस्य सर्वनाम्नः प्रकृतावमर्शित्वात् ज्योतिरादिशब्दस्य तत्समानाधिकरणत्वात्पूर्वकर्मैवानूद्य सहस्रदक्षिणालक्षणगुणान्तरं विधीयते इति प्राप्ते ज्योतिष्टोमशब्दस्य ज्योतिरादिशब्दानां च स्वरूपविलक्षणत्वात् भिन्नार्थत्वे संभवत्येकदेशलक्षणयैकार्थत्वकल्पनाया अगतिकगतित्वाद् सर्वनाम्नश्च प्रस्तोष्यमाणपरामर्शितयापि संभवात् नामान्तरं कर्मान्तरं गमयतीति साधितं 'संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगा'-दित्यत्र । अयमर्थः—संज्ञा च पूर्वविलक्षणा कर्मभेदिका । कुतः ? उत्पत्तिसंयोगात् । कर्मस्वरूपज्ञापनसमय एव तस्य नाम्नः संयोगादिति । (५) तथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन' मित्यत्र द्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितयागके किं पूर्वकर्मानुवादेनोत्तरत्र वाजिनगुणविधानम् ? उत कर्मान्तरं तद्गुणकम् ? इति विशये वाजिभ्य इत्यत्र वाजमन्नमेषामिति व्युत्पत्त्याऽमिक्षान्नयुक्तविश्वदेवदेवताककर्मानुवादेन वाजिनगुणविधानादेककर्मत्वमिति प्राप्ते वैश्वदेवीत्यत्र विश्वे देवा देवता अस्या इत्यर्थेऽण्प्रत्ययविधानादन्तर्णीतिदमा परामृष्टामिक्षायास्तद्धितनिर्दिष्टविश्वदेवसंबन्धेन श्रौततया प्रबलेन सह 'वाजिभ्यो वाजिन' मिति पदद्वयात्मकवाक्यावगतवाजिनसम्बन्धस्य विकल्पसमुच्चययोरभावाद्वाजिनगुणविशिष्टकर्मान्तरविधानमिति सिद्धान्तितं 'गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वा'दित्यत्र । गुणश्च कर्मभेदकः, अपूर्वकर्मसंयोगे पूर्वकर्मसम्बन्धाभावे सति । कुतः ? वाक्ययोः समत्वात् समे हि तदा वाक्ये भवतः ततोऽविघातमनेकं कर्मेत्यर्थः । सोयं गुणान्तरात्कर्मभेदः । (६) तथाऽसन्निहितदेशकालनिमित्तफलसंस्कार्यसंबन्धकर्मवाक्येषु 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यादिषु किं प्रकृताऽग्निहोत्रादौ मासादिगुणविधानम्? उत तद्गुणकं कर्मान्तरविधानम् ? इति संदेहे कर्मान्तरविधाने गौरवप्रसङ्गादग्निहोत्रशब्देन तदनूद्य गुणमात्रविधानमिति पूर्वपक्षिते मासादेरनुपादेयतया साक्षाद्विधानायोगादग्निहोत्रादेश्च विच्छिन्नप्रकरणतया प्रत्यभिज्ञाभावाच्च मासादिगुणविशिष्टं कर्मान्तरमेव विधीयते, अग्निहोत्राद्धिधर्मातिदेशार्थं चाग्निहोत्रादिनामोपदेश इति प्रकरणान्तरात् कर्मान्तरत्वं निरधारि 'प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्व' मित्यत्र । अयमर्थः—प्रकरणान्तरे सति प्रयोजनान्यत्वं विधेयभावनान्यत्वं स्यान्नतु पुनः पूर्वकर्मानुवादेन तत्र गुणविधानमिति । तत्र—

'शब्दान्तरं धातुभेदोऽभ्यासो विधेः पुनःश्रुतिः ।
उत्पत्तिस्था द्व्यादिसंख्या संज्ञा चाङ्गमपूर्वगम् ।
सानुपादेयसंबन्धोऽसंनिधिः प्रक्रियान्तरम् ।
इति शब्दान्तरादीनामुक्तं लक्ष्म विचक्षणैः ॥'

तदेतदखिलमभोगिधावेव निधीयेत भेदमिथ्यात्व इति । ननु शब्दान्तरादीनां न भेदे प्रामाण्यं तस्य लोकसिद्धतयाऽप्रतिपाद्यत्वादित्यत आह—नच तस्येति । भेदमात्रस्य लोकसिद्धत्वेऽप्यलौकिककर्मभेदोऽप्यलौकिक इत्यर्थः । सिद्धत्वे च बाधकमाह—सिद्धत्वे चेति । उपसंहरति—तदेवमिति ।

तत्र लक्षणं श्लोकेन संगृह्णाति—**सर्वेषामिति**। सर्वेषां भावानां मृषात्मता मिथ्यात्वमिदं यत्स्वाश्रयत्वेन संमतेऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं नित्यमविद्यमानत्वमिति योजना। श्लोकं विवृणोति—**तथाहीति**। **अभिमता इति**। प्रमितव्यावृत्तिस्तेन च बाधः परिहृतः। नन्वेतावतापि किमिति मिथ्यात्वमिति चेत्तत्र वक्तव्यं किमन्यत्र सन्त्विति? उत स्वतन्त्रा एव सन्त्विति? नाद्यः; प्रमाणाभावादित्याह—**नहीति**। द्वितीयं प्रतिषेधति—**तत्रापीति**। अयमर्थः—न तावदात्मप्रदेशामनाश्रितत्वं कार्यत्वेन समवायिकारणाश्रितत्वात् सामान्यादीनामपि धर्मत्वात्समानमाश्रितत्वं तस्मादाश्रितानामन्यत्र प्राप्त्यभावात्प्राप्तदेशेऽपि चेदसत्त्वमापद्यत एव तदा बलान्मिथ्यात्वमिति। ननु भवत्वाश्रितानामेवं मिथ्यात्वमनाश्रितानां परमाण्वाकाशादीनामाश्रयाभावेनोक्तलक्षणाभावात् मिथ्यात्वेप्टेश्चाव्याप्तिरित्यत आह—**नच निराश्रयेष्विति**। लक्षणपदं तु मध्यस्थमणिवन्नेयम्। तेन सत्ताभावाल्लक्षणस्येत्यपि पर्यवस्यति। चिदधिकरणायुक्तन्यायेन तेषामप्यस्त्येव कार्यत्वमित्यर्थः। कार्यत्वं चेदं कल्पितत्वं, तेन नाविद्यायामव्याप्तिः। यथा चैतत्तथा द्वितीयपरिच्छेदे प्रसाधयिष्यते। अद्वितीयासङ्गस्य ब्रह्मणः कथं मिथ्याभूतविषयदाद्याश्रयत्वमिति मतिमपाकर्तुं व्यवहारदशायामित्युक्तम्। ननु सन्मात्रं ब्रह्म सत्ता च घटपटाद्याश्रिताऽतस्तत्राप्युक्तलक्षणस्य गमयसमर्थत्वाल्लक्षणस्यातिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—**नाप्यतिव्याप्तिरिति**। सत्यं सन्मात्रं ब्रह्म, तस्य तु घटादिसमवायोऽसिद्धः, घटादीनामेव तत्र कल्पितत्वादिति भावः।

हिन्दी—विवाद का आस्पद (विषय) प्रपञ्च (संसार) सत्य है। प्रमाण सिद्ध (प्रमाणिक) होने से, जैसे आत्मा। और यह घट, इस घटवृत्ति बाध्य (मिथ्या) भेद से भिन्न (सत्य) भेद का आश्रय है। द्रव्य होने से, जैसे कि पट सत्य भेद का आश्रय है। इत्यादि अनुमान से भी आकाशादि के आत्माओं के घटादि में तथा सब संसार में सत्यत्व की सत्य भेद की सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि भेद के सत्यत्व में दृश् (ज्ञान) और दृश्य वस्तु के सम्बन्ध की अनुपपत्ति बाधक है। क्यों कि ज्ञान और घटादि विषयों को परस्पर संयोग समवायादि सम्बन्धों का सम्भव नहीं है। तो सो कहना युक्त नहीं है। क्योंकि ज्ञानों को तत्तद्विषय के व्यवस्थित रूप से प्रकाशकत्व के लिये स्वस्व विषय के साथ उनके सम्बन्ध अपेक्षित हैं। जहाँ ज्ञान को विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होने पर भी तत्तत् विषयों के ज्ञान के हेतु रूप, इन्द्रिय, लिङ्ग और शब्दादि का तत्तत् घटादि विषयों के साथ नियत सम्बन्ध ही उन से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों का तत्तद् विषयों के प्रतिनियामक होगा। अतः विषय के साथ ज्ञान का सम्बन्ध नहीं रहने पर भी

जिस विषय सम्बन्धी इन्द्रिय लिङ्ग वा शब्द से जो ज्ञान होगा, सो उसी विषयक होगा, अन्य विषयक नहीं। इस प्रकार से नियम की सिद्धि होने पर ज्ञान के साक्षात् सम्बन्धान्तर के विना भी अतिप्रसक्ति (विषया नियति) की प्राप्ति नहीं है। अतः भेद के सत्यत्व में बाधा नहीं है। और भेदरूप प्रपञ्च को मिथ्या मानने पर, कर्म भेद के प्रतिपादक प्रमाण रूप शब्दान्तर १, अभ्यास २, संख्या ३, संज्ञा ४, गुणान्तर ५, और प्रकरणान्तर ६, इन छवों प्रमाणों में अप्रमाणता की प्राप्ति होगी। अर्थात् पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय में यह विचार किया गया है कि भविता के भवनाकूल व्यापार को भावना कहते हैं, तहाँ यज्ञादि भविता (होने वाला) है, सो, यजति, ददाति, जुहोति में धातु का अर्थ रूप, यजन, दान, हवनादि, अनेक हैं, परन्तु प्रत्यय का अर्थ भावना (विधि-प्रेरणा) रूप अर्थ एक है, तहाँ धात्वर्थयुक्त शब्द के भेद से जुहोति आदि से भिन्न भिन्न अर्थ (कर्म) का विधान, शब्द भेद से होता है ॥ १ ॥ तथा समिधो यजति, तनूनपातं यजति, ईडो यजति, बर्हिर्यजति। स्वहाकारं यजति, यहाँ यजति क्रिया के एक होते भी अभ्यास से पांच कर्म माने गये हैं ॥ २ ॥ सप्तदशप्राजापत्यान् पशूनालभेत, यहाँ प्रजापतिरूप देव के एक होते भी सप्तदश संख्या से कर्मभेद माना गया है ॥ ३ ॥ और (अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत) यहाँ, ज्योतिष्टोम, याग से विलक्षण ज्योति—विश्वज्योति नाम होने से इसको ज्योतिष्टोम से भिन्न माना गया है ॥ ४ ॥ और वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्, तहाँ तप्त दूध में दही देने से फट कर जो गाढा सा हो जाता है, उसको आमिक्षा कहते हैं, और पानी सा होता है उसको वाजिन कहते हैं। अतः आमिक्षा और वाजिन रूप गुण के भेद से दो कर्म माना गया है ॥ ५ ॥ और मासमग्निहोत्रं जुहोति, यहाँ प्रकरणान्तर से कर्मान्तर का विधान माना गया है (अग्निहोत्रं जुहुयात्) इससे विहित अग्निहोत्र में मासरूप गुण का विधान नहीं माना गया है, इनका विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है। यदि प्रपञ्च मिथ्या हो, तो इन कर्म भेदप्रतिपादक प्रमाणों में अप्रमाणता होगी। यदि कहा जाय कि उक्त शब्दभेदादि को लोकसिद्ध व्यवहारिक भेद के अनुवादकत्व का सम्भव है, अतः अपूर्व अर्थ का प्रतिपादकत्व रूप प्रमाणत्व ही उनमें नहीं है कि जिसका भेदमिथ्यात्व से बाध होगा, तो सो कहना उचित नहीं; क्योंकि जैसा भेद, शब्दान्तरादिरूप प्रमाण से प्रतिपादित होता है, तादृश (वैसा) कर्म अपूर्व (अदृष्ट) का भेद लोक से सिद्ध नहीं होता है। अतः भेदमात्र के लोक-सिद्ध होते भी, अलौकिक कर्मों का भेद भी अलौकिक ही है। और यदि लोकसिद्ध हो (लोक प्रसिद्ध माना जाय) तो, शब्दान्तरादि रूप उक्त पूर्व मीमांसा के छह अधिकरणों (विचारात्मक सूत्रों) के अनारम्भ की प्राप्ति होगी (उन

अधिकरणों का आरम्भ निष्फल होगा। अतः इस उक्त रीति से, प्रपञ्च के मिथ्यात्व के लक्षण और उस मिथ्यात्व विषयक प्रमाण, इन दोनों के अभाव से, तथा अनुमान और आगम द्वारा प्रपञ्च में सत्यत्व के प्रतिपादन (सिद्धि) से प्रपञ्च में मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु सत्यत्व है। यहाँ तक पूर्वपक्ष कहा गया है॥ "अत्रोच्यते" अत्र यहाँ सिद्धान्त–उत्तर पक्ष कहा जाता है कि–प्रथम लक्षण का असम्भव प्रतिवादी ने कहा है, परन्तु मिथ्यात्व के लक्षण का असम्भव नहीं है। क्योंकि (सब भावों, अनात्मपदार्थों, का जो उनके आश्रय रूप से सम्मत, स्वीकृत, स्थान में अत्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही उन पदार्थों में मिथ्यात्व है। जैसे कि-पट आदि भावों (पदार्थों) के आश्रय (उपादान कारण) रूप से अभिमत (सम्मत) जो तन्तु आदि हैं, उनमें वर्तमान जो अत्यन्ताभाव (तन्तु आदि से पृथक् घटादि के सत्व का अत्यन्ताभाव) उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता (निमित्तता—सम्बन्धिता) ही उन पटादि को मिथ्यात्व है। क्योंकि उन पटादिकों की सत्ता स्वाश्रय से अन्यत्र तो सम्भव नहीं है, कार्य होने से स्वतन्त्र सत्ता हो नहीं सकती है। और यदि आश्रय में भी सत्ता नहीं हो तो बलात् उनमें मिथ्यात्व ही पर्यवसित (सर्वथा सिद्ध) होता है। यदि कहा जाय कि नित्य अतएव निराश्रय परमाणु कालादि में वह अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता नहीं है, और अनात्मत्व से उनको भी मिथ्या माना जाता है, अतः उन लक्ष्यों में इस लक्षण की अव्याप्ति है। तो सो कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मात्मा से भिन्न सब पदार्थ में कार्यता होने से, सब पदार्थ को कारणाश्रितत्व व्यवहारावस्था में है, सो भी कारणाश्रितत्व इस प्रकार से माना जाता है कि जैसे कल्पित (मिथ्या) रजतादि की शुक्ति आदि आश्रितता मानी जाती है। और इस लक्षण की सत्य स्वरूप ब्रह्म में अतिव्याप्ति भी नहीं है, क्यों कि सत्य ब्रह्म के निराश्रय होने से उसके स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता की शंका करना भी अशक्य (असम्भव) है।

न च परैः प्रदेशवृत्तितयाभ्युपगतेषु संयोगशब्दादिषु सत्येष्वपि लक्षणस्य सद्भावादर्थान्तरता; भावाभावयोरेकाधिकरणत्वाभ्युपगमे सर्वत्रैव तथाभावापत्तेर्विरोधस्य जगति दत्तजलाञ्जलिताप्रसङ्गात्। भावाभावयोर्हि साक्षाद्विरोधस्तन्मुखेनैवान्यत्रेति परीक्षकपरिषदां संमतत्वात्, प्रदेशोपाधिभेदेन वा तत्र विरोधसमाधाने भावात्यन्ताभावयोर्भिन्नाधिकरणत्वेन लक्षणस्य तत्र सत्ये कुतः संभवः? कुतस्तरां चातिव्याप्तिः? कुतस्तमां चार्थान्तरता? तदेवं न मिथ्यात्वानिरुक्तिः।

नापि मानासत्त्वम् ; अनुमानसद्भावात् । तथाहि—

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः ।
अंशित्वादितरांशीव दिगेवैव गुणादिषु ।। ८ ।।

विमतः पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अवयवित्वात्पटान्तरवत् । एवमेतद्गुणकर्मजात्यादयोऽपि तत्तत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः तत्तद्रूपत्वादितरतत्तद्रूपवदित्येवमादिप्रयोगः सर्वत्रैवोहनीयः ।

ननु किं प्रामाणिकैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यं ? किं वा प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ? नाद्यः ; अभावानां प्रामाणिकत्वे तैरेव द्वैतापत्तेः, प्रामाणिकाभावप्रतियोगित्वे च भावानामपि प्रामाणिकतया न मिथ्यात्वसिद्धिः । न द्वितीयः ; रजते सीसविभ्रमे सीसमेवैतन्न रजतमिति रजते रजतत्वप्रतिषेधे प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि रजतत्वस्यामिथ्यात्वेनार्थान्तरत्वापातादिति चेत्, मैवम् ; अभावानां प्रामाणिकत्वेऽपि सदद्वैताव्याकोपात् । कथं च व्यावहारिकप्रमाणोपस्थापितस्वभावैर्भावैरभावैर्वा तत्त्वावेदकप्रमाणोपनीतस्याद्वैतस्य व्याकोपाशङ्कावकाशः ? नापि प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनोऽपि शुक्तीदमंशरजताकारद्वयालिङ्गितस्य, संसर्गस्य, 'इदं रजतम्'–इत्येकज्ञानोपनीतस्य, केवलतद्व्यवहारोपनीतस्य, वा धीरूपरजताकारोपारोहिणो बहिष्ट्वस्य वा कुत्रचिद्देशे काले वा केनचिदपि वादिना सत्ता स्वीक्रियते; येन प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनः सत्तां भावाः प्रतिपद्येरन् । द्वितीयस्तु विकल्पोऽनङ्गीकारपरास्तः । न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः; धर्मिणस्तत्त्वावेदकाप्रमाणसिद्धत्वानभ्युपगमात् । तर्ह्याश्रयासिद्धिरितिचेत्, न; सांव्यावहारिकप्रमाणोपनीतस्याप्याश्रयत्वोपपत्तेः । प्रपञ्चस्तत्त्वावेदकप्रमाणविषयः धर्मित्वादात्मवदिति चेत्, न; आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् । नच व्यतिरेकासिद्धिः ; अनात्मनः शुक्तिरजतसंसर्गादेस्तत्त्वावेदकप्रमाणाविषयस्योभयवादिसिद्धस्य व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य सद्भावात्, धर्मित्वहेतोः शुक्तिरजतादिसंसर्गधर्मिणि व्यभिचाराच्च । नासौ धर्मी मिथ्यात्वादिति चेत्, न ; एतमेव हेतुं प्रति धर्मित्वाधर्मित्वयोस्तदयोगात् । एतेन प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे दूषणभूषणादेरपि तथाभूतस्य सुलभत्वात् सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्ग इत्यपास्तम् ; वादिप्रतिवादिमध्यस्थानां प्रमाणसिद्धमेतदिति संमत्यालम्बनतया त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्याश्रयस्य दूषणभूषणादेश्च तत्र तत्र कथाङ्गताङ्गीकारात् ; तादृशव्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्यैव च व्या-

वहारिकसत्यत्वेन स्वीकारात्, सर्वथा बाधवैधुर्यस्यागमेतरप्रमाणैरसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात्। एतेनेदमपास्तम्, यदाहुर्भट्टाचार्याः—

"संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्।
सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत्सत्यता कथम्॥
सत्यत्वं नच सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः।
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः॥" इति।

(श्लो० वा० ५।६,७)

वस्तुतोऽसत्यस्यैव यावद्बाधं देहात्मभाववल्लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गतया सत्यत्वेन व्यवहारात्।

नायमसिद्धो हेतुः; पटस्यांशित्वे वादिनोरविवादात्। नापि विरुद्धः; एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनि विपक्षे आत्मनि अंशित्वस्यावृत्तेः। नानैकान्तिकोऽपि; विपक्षाद्व्यावृत्तेरेव। इह तन्तुषु पट इत्यादिनैव प्रत्यक्षेण तन्तुनिष्ठतया पटस्यावगमात्तदपहृतविषयतया कालात्ययापदिष्टतेति चेत्, मैवम्; पटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वता तस्य प्रामाण्यानङ्गीकारादिह नभसि नीलिमेति प्रत्यक्षाभिमतप्रत्ययबाधेनारूपित्वानुमानप्रवृत्तिवदत्राप्यनुमानप्रवृत्त्युपपत्तेः। नचैवं सति दहनशैत्यानुमानादेरप्यप्रतिबद्धप्रसरतया कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रास्तमियादिति वाच्यम्; तत्र तत्रोभयवादिसंमतप्रबलप्रमाणे परिपन्थिनि जाग्रति तस्या निरंकुशप्रसरत्वात्, प्रकृते च तथाभावाभावात्। एतेन प्रमाणसिद्धत्वादिति प्रत्यनुमानविरोधोऽपास्तः; प्रमाणसिद्धत्वस्यैवासिद्धेः। यत्र प्रत्यक्षमपि न तत्त्वावेदकं प्रमाणं, तत्र का कथा तत्पादोपजीविनो वराकस्यानुमानादेः प्रमाणतायाम्?

यत्पुनरेतस्य घटस्य द्रव्यत्वादेतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदवत्त्वानुमानं, तदप्यद्वैतागमविरोधात्कालात्ययापदिष्टमित्युपेक्षणीयम्। 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मित्याद्यागमेन प्रपञ्चस्य सत्यतावगमादद्वैतागम एवोपचरितार्थः किं न स्यादिति चेत्, न; तस्यान्यपरत्वात्। तथाहि—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय ब्रह्मणः सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेन तां प्रतिज्ञामुपपादयितुं लोकेऽपि घटरुचकादिकार्याणां मृल्लोहादिकारणादनन्यत्वं दर्शयति—'मृत्तिकेत्येव सत्यं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्य' मित्यादिना। न तु तेषां वास्तवत्वमभिप्रैति; 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे' त्यन्तेन ब्रह्मण एव सत्यत्वप्रतिपादनविरोधात्। एतेन मिथ्यात्वानुमानस्यागमविरोधोऽप्यपास्तः।

यत्तु पूर्वपक्षिणोक्तं संयोगादिभिः स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणैरर्थान्तरतेति तदनूद्य दूषयति—**नच परैरिति**। नच वस्तुसतां संयोगादीनामत्यन्ताभावसामानाधिकरण्ये प्रमाणमस्ति व्यवहारस्तु विभ्रममात्रशरीरैरनिर्वचनीयैरपि सेत्स्यतीति न सोऽस्य साधक इति भावः। ननु किमिति जलाञ्जलिर्दीयते, यावता भावाभावावपहाय भावभेदेष्वेव गोत्वाश्वत्वघटत्वप्रभृतिष्वयं प्राणान्धारयतीत्यत आह—**भावाभावयोरिति**। परीक्षकाणां परिषत्सभा। नहि गोत्वाश्वत्वयोस्तत्त्वं विरोधः, अपितु परस्परात्यन्ताभावाविनाभूतत्वम्। तद्यदि भावाभावयोर्न विरोधः का नु नाम तदा तदाघ्रातयोर्विरोधवार्तेति भावः। नन्वेकस्मिन्नपि प्रदेशभेदमादाय संयोगादेर्वर्तनम्, अतो न विरोधोच्छेद इति निरुद्धगतेः पूर्वपक्षिणो मतमाशङ्क्यातिव्याप्तिं परिहरति—**प्रदेशेति**। **कुतः संभव इति** तदङ्गीकाराभिप्रायम्। अङ्गीकारप्रयुक्तत्वादर्थान्तरतायाः। स्यादेतत्, यद्यपि लक्षणमिदमक्षीणं तथापि तल्लक्षणलक्षितस्य मिथ्यात्वस्यात्र सद्भावे किं प्रमाणम्? नहि लक्षणमस्तीति सर्वत्र तत्सत्ता सिध्यत्यतिप्रसङ्गादित्यत आह—**नापीति**। अंशिनोऽवयविनः स्वावयवनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिन इति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—**अंशित्वादिति**। इतरावयवीवेति दृष्टान्तः। अनवयविरूपगुणादिष्वतिदिशति—**दिगेषैवेति**। दिङ्मार्गः। श्लोकोक्तमनुमानं विवृणोति—**विमत इत्यादिना**। पटमात्रं पक्षीकृत्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे साधितेऽर्थान्तरता, पटान्तरस्यैतत्तन्तुनिष्ठत्वाभावात्तन्निवृत्त्यर्थं विमत इत्युक्तम्। पटविशेष इत्यर्थः। सर्वत्र चैवं विशेष एव पक्षीकर्तव्यः। अत्रैतत्पटारम्भकास्तन्तव एतत्तन्तवः। अन्योन्याभावादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावग्रहणम्। तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्ते तन्त्वन्तरमादायार्थान्तरता तदर्थमेतत्तन्तुनिष्ठेत्युक्तम्। पटान्तरे त्वेतत्तन्तुभिरनारब्धे सुप्रसिद्धं साध्यम्। **अवयवित्वात्** अवयवित्वेन संमतत्वात्। तेन न प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः। दिगेषैवेत्येतद्विवृणोति **एवमिति**। एतद्रूपमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि रूपत्वादितररूपवत्। एवं स्पर्शादिष्वपि। एतच्चलनमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि चलनत्वादन्यचलनवत्। तथा तन्तुत्वं तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि जातित्वाद्घटत्ववत्। एवं सत्तादयोऽप्यनुमेयाः। एवं समवायेऽपि द्रष्टव्यम्। अयमन्त्यविशेष एतदात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी विशेषत्वादात्मान्तरगतविशेषवदिति विशेषेषु।

स्यादेतत्, पटादीनां तन्त्वादिषु यदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यते स किं प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा स्यात्? इति विकल्प्य दूषयति पूर्ववादी—**किं प्रामाणिकेत्यादिना**। प्रामाणिको यस्तन्निष्ठात्यन्ताभाव इति विग्रहः। **तैरेवेति**। यानत्यन्ताभावान्प्रति प्रतियोगित्वं तन्तुब्रह्मादौ पटप्रपञ्चादेः साध्यते तैरेव

प्रामाणिकैरित्यर्थः । किंच एष ह्यभावानां स्वभावो यत्प्रतियोगिनिरूपणीयत्वम् । तथा च यद्यभावाः प्रामाणिकाः, सुतरां तन्निरूपकाः भावाः; तथा चाद्वैताशैव नोदेतीत्याह—**प्रामाणिकाभावेति** । एतेन सदद्वैतमेवाद्रियते इति वेदान्तिनां किंवदन्त्यपोदिता । अप्रामाणिकपक्षं दूषयति —**नेति** । अप्रमाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं न मिथ्यात्वं, सत्यस्यैव रजतत्वस्य सीसविभ्रमविषये रजते भ्रान्तिप्राप्तात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य परैर्मिथ्यात्वास्वीकारादित्याह—**रजत इति** । तमाक्षेपं परिहरति—**मैवमिति** । तत्र प्रमाणगम्यत्वं सत्त्वमित्यभ्युपेत्य परिहरति—**अभावानामिति** । इममभ्युपगमं त्यजन् राद्धान्तरहस्यमादाय परिहरति—**कथं च व्यावहारिकेति** । न प्रमाणमात्रगम्यत्वात् सत्त्वमायाति । देहात्मत्वादौ तथाभावाभावात्, अपि तु तात्त्विकप्रमाणगम्यत्वात् । नचैतत् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याभावस्य भावस्य वास्ति, येनाद्वैतसंकोचावकाशः स्यादिति भावः । यत्तु प्रामाणिकाभावपक्षे प्रतियोगिभूतैर्भावैरद्वैतविरोध इति तत्परिहरति—**नापि प्रामाणिकेति** । अयमर्थः—नैवं व्याप्तिरस्ति यत्प्रामाणिकाभावप्रतियोगि तत्प्रामाणिकमिति । यतः शुक्तीदमंशरजताकारयोरेकज्ञानोपनीतस्य संसर्गस्य प्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि क्वचिदपि देशे कदाचिदपि काले सत्त्वमन्यथाख्यातिवादिभिर्नेष्यते । तथाऽख्यातिवादिभिः संसर्गज्ञानाभावेऽपि संसृष्टव्यवहारोपनीतस्य संसर्गस्य । तथा विज्ञानवादिभिरपि धीरूपं यद्रजतं तत्रारोपितस्य बहिष्ट्वस्येत्येव यथादर्शनं व्यभिचारादिति । यत्त्वप्रमाणिकाभावप्रयुक्तदूषणमुक्तं तदभावस्य प्रामाणिकतास्वीकरात्] निरनुयोज्यानुयोगमित्याह—**द्वितीयस्त्विति** । तत्त्वाश्रयस्य प्रामाणिकत्वाप्रमाणिकत्वविकल्पेन दूषणमुक्तं तत्परिहरति—**न चेति** । प्रमाणमात्रगम्यस्यात्यन्तिकसत्त्वाभावादिति भावः । सत्त्वं चेन्नास्ति तर्हि असदेव । तथा च शशविषाणवदेवानर्थक्रियाक्षममिति शङ्कते—**तर्हीति** । देहात्मभावादिवद्व्यावहारिकसत्त्वमादाय परिहरति—**न । सांव्यावहारिकेति** । यथाच सदसद्विलक्षणाप्यपरा कोटिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे निर्वक्ष्यते । तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वाभावेन धर्मिग्राहकबाधः परिहृतस्तत्र बाधसिद्ध्यर्थं तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमप्यनुमिनोति पूर्ववादी—**प्रपञ्च इति** । ननु कथमात्मत्वमुपाधिः ? साध्यव्यापकत्वानिर्णयात् । तथा हि यत्रात्मत्वं नास्ति तत्र तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमपि नास्तीति साध्याभावेनोपाध्यभावव्यतिरेकव्याप्तिः । न चैषा शक्यनिर्णया । आत्मत्वरहिते प्रपञ्चे साध्याभावानिर्णयात् । तस्मात्पर्वतेतरत्वादिवत्पक्षेतरोयमित्यत आह—**न च व्यतिरेकेति** । शुक्तिरूप्यसंसर्गादौ सर्वथा प्रमाणयोग्ये शक्य उभयाभावो निर्णेतुमित्यर्थः । अनैकान्तिकतां चाह—**धर्मिस्त्वेति । संसर्गधर्मिणीति** । संसर्ग एव धर्मी । हेतोस्तत्रावृत्तिमाशङ्कते—**नासाविति** । परिहरति—**नेति** । अयमर्थः—मिथ्यात्वादितीममेव

हेतुं प्रति संसर्गो धर्मी ? नवा ? आद्ये धर्मित्वमशक्यनिषेधम् । द्वितीयेप्यशक्यनिषेधमेव, निषेधकहेतोराश्रयासिद्धत्वादिति । यत्तु प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनादित्वेऽतिप्रसक्तिरित्युक्तं तदप्येव सति परिहृतमित्याह—**एतेनेति**। व्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्य साधनदूषणत्वाभ्युपगमेनेत्यर्थः। एतेनेत्येतदेव विवृण्वन्सांव्यावहारिकप्रमाणशरीरमेव दर्शयति—**वादिप्रतिवादीत्यादिना** । **त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्येति** । त्रिचतुरपर्वस्वबाधितस्येत्यर्थः । स्यादेतत्; कतिपयपुरुषस्य कतिपयकालं बाधविधुरमित्यबोधविषयस्य साधनादिभावश्चेदभ्युपेयते तर्हि सिद्धान्तविरोधः, यतो व्यावहारिकसत्त्वयुक्तस्य वेदान्तिभिः साधनादित्वमङ्गीक्रियत इत्यत आह—**तादृशेति**। ननु किमत्यय संकोचः ? आत्यन्तिकमेव सत्त्वं किं न स्वीक्रियते ? इत्यत आह—**सर्वथेति** । सर्वपुरुषसर्वदेशकालापेक्षयेत्यर्थः । तर्हि ब्राह्मणोऽपि तादृशं सत्त्वमशक्यज्ञानमित्यत उक्तम्—**आगमेतरेति**। नन्वागमेतरैरपि प्रमाणैः सर्वज्ञेन केनचित्तादृशं ज्ञायतामित्यत उक्तम्—**असर्वज्ञेनेति**। सर्वज्ञस्य तु कस्यचित्तादृशं प्रमाणमस्ति प्रपञ्चविषयमित्यत्र नार्वाग्दृशां प्रमाणमस्ति, प्रत्युतागमविरोधादभावनिर्णय इति भावः। व्यावहारिकसत्त्वं नाम न सत्त्वविशेषः, अपित्वेवंविधज्ञानविषयत्वमित्यनेनैव भट्टपादोक्तदूषणमप्यपास्तमित्याह—**एतेनेदमिति**। संवृतिसत्यमिति यद्बौद्धैरुच्यते तद्दूष्यते—**संवृतेर्न तु सत्यत्वमिति**। अत्र च संवृणोति तत्त्वमिति संवृतिरविद्या तस्याः सत्यत्वमयुक्तं तत्र हेतुमाह—**सत्यभेद इति**। 'इदं संवृतिसद्; इद परमार्थसदिति' वदता किं सत्यविशेषः कश्चित्संवृतिसत्यं नाम स्वीक्रियते ? उतासदेव ? द्वितीये सत्यशब्दो नार्थवान् । प्रथमे प्राह—**सत्यभेद इति ?** कुतोयं सत्यभेदः ? न कुतोपि प्रमाणादित्यर्थः। किमिति। प्रमाणाभाव इति ? विरुद्धत्वादित्याह—**सत्या चेदिति**। विरुद्धत्वाज्जातिव्यक्तिभावो नास्तीत्युक्तम्, इदानीं सदसतोः परस्परविरुद्धयोः सत्यत्वजातिसंबन्धोपि न घटत इत्याह—**सत्यत्वमिति** । तत्र दृष्टान्तः—**नहि वृक्षत्वमिति**। एतेनेत्यस्यैव विवरणं—**वस्तुत इति**। नचात्रानेतन्निष्ठत्वमुपाधिः; आकाशादौ साध्याव्यापकत्वात् । नाप्येतदनिष्ठत्वम्; तस्यैव साध्यत्वात् । नाप्येतन्निष्ठत्वरहिततया प्रतीयमानत्वम्; संयोगादौ तव साध्याव्याप्तेः । एतेनैतदवयवानारब्धत्वमपि निरस्तम् । न च द्रव्यत्वविशेषितम्; गुणादौ साध्याव्याप्तेः । नच द्रव्यत्वविशेषिते साध्ये द्रव्यत्वविशेषितोयमुपाधिः; व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या पक्षेतरत्वादिति । स्वरूपासिद्धिं परिहृत्य विरुद्धत्वं परिहरति—**नापि विरुद्ध इति**। अत्र ह्यात्मा विपक्षस्तस्य सर्ववस्तुस्वरूपतया तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाभावात् । नच तस्मिन्निरवयवेंऽशित्वं वर्तते इत्यर्थः। एतेनैतन्निष्ठगुणादि व्याख्यातम् । एवमेतदत्यन्ताभावस्यैतत्तन्तुनिष्ठतास्वीकारे तस्याप्येतदनिष्ठत्वाङ्गीकारे तु तदभावादेव बाधं शङ्कते—**इह तन्तुष्विति**। परिहरति—

मैवमिति। यत्तदवोचामाभिमतग्रहणेन बाधपरिहार इति तस्यैतदुत्थानम्। यथा ह्याकाशनीलिमग्राहिप्रत्यक्षविरोधेऽप्याकाशमरूपि विभुत्वादात्मवदित्याद्यनुमानमुदेति, तत्कस्य हेतोः ? दूरतरत्वायादर्थाभावेऽवगते वस्तुतकारणाभावेऽप्युत्पद्यमानत्वात्, तथेहाप्यद्वैतपरसकलश्रुतिस्मृतिबलादर्थाभावेऽवगते जायमानं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षाभास इति नानुमानानुदय इत्यर्थः। नन्वनुमानबाधाभिप्रायेण प्रत्यक्षाभासीकरणं सर्वत्र तुल्यमिति वह्निनानुष्णतानुमानेऽपि न प्रत्यक्षबाधः स्यादिति यत्तं कालात्ययापदिष्टकथयेत्यत आह—**न चैवं सतीति**। हेतुमाह—**तत्र तत्रेति**। अयमभिसंधिः अग्निरनुष्ण इत्यत्र निषेध्यमुष्णत्वं क्वचित्प्रमितं ? न यदि; तदा प्रतियोग्यप्रमित्याऽभावप्रमित्यभावात् अप्रसिद्धविशेषणता। नच भ्रान्तिसिद्धस्य निषेधः, अर्थक्रियायां बाधाभावात्। तस्मात्प्रमितमिति वक्तव्यम्। नच तदग्निव्यतिरिक्तस्थलेऽस्तीत्युभयवादिसंप्रतिपन्नमस्ति तत्र प्रमाणम्। अतस्तद्विरोधादनुमितिर्नोदेतीत्यनिरुद्धैव बाधप्रवृत्तिरिति। प्रकृते तु न तथोपजीव्यमस्ति किंचित्प्रमाणं येन बाधः स्यादित्याह—**प्रकृते चेति**। प्रत्यक्षविरोधं परिहृत्य यदुक्तं पूर्ववादिना प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणिकत्वादिति तद्विरोधं परिहरति—**एतेनेति**। तस्यैव विवरणं—**प्रमाणेति**।

नन्वेतदेव किं न स्यात्प्रमाणमिति तत्राह—**यत्रेति**। अथवा प्रत्यक्षविध्वंसनन्यायं कैमुतिकन्यायेन संभाव्यमानसर्वानुमानेष्वतिदिशति—**यत्रेति**। अनिर्देश्यैव वा विवरणमिदम्। अनुभवविरोधपरिहाराय तत्त्वावेदकमित्युक्तम्।

यत्तु भेदसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं तदनूद्य निराकरोति—**यत्पुनरिति**। अयं घट एतद्घटत्वे सति एतन्निष्ठबाध्यभेदत्वानधिकरणभेदाधिकरणं न भवति द्रव्यत्वात्पटवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षतापि द्रष्टव्या। न चैतन्मृदनारब्धत्वमुपाधिः; व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धेः। परसिद्धया च साध्यप्रसिद्धिः। ननु कथमद्वैतागमविरोधस्तस्यागमान्तरविरोधेनातत्परत्वादिति शङ्कते—**मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिना**। पौर्वापर्यपर्यालोचनया अद्वैतश्रुतिशेषत्वमितरश्रुतेरवसीयते, तद्यदि मृदादिसत्यत्वमपीयं श्रुतिः प्रतिपादयेत् शेषिविरोधः स्यात्। अतः कारणव्यतिरेकेण कार्यमनिर्वचनीयमित्येतावन्मात्रपरा सा श्रुतिः, अद्वैतश्रुतिस्तु स्वप्रधानत्वादनन्यपरेत्यभिप्रेत्याह—**न तस्यान्यपरत्वादिति**। **एकविज्ञानेनेति**। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' त्यनेनेति शेषः। तथा—**सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेनेति**। 'सदेव सोम्येद'मित्यादिनेति शेषः। अथ कुतो वास्तवसत्यत्वमेव न प्रतिपाद्यत इति चेदुपसंहारविरोधादित्याह—**ऐतदात्म्यमिति**। **एतेनेति**। अन्यपरत्वादित्यर्थः।

हिन्दी—इस उक्त लक्षण विषयक शंका होती है कि पर (प्रतिवादी नैयायिकों) से, प्रदेश (एक देश) वृत्तिरूप से स्वीकृत अव्याप्यवृत्ति संयोग शब्दादि सत्य

पदार्थों में भी इस लक्षण की सत्ता से अर्थान्तरता दोष की प्राप्ति होती है, तो कहा जाता है कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि संयोगादिभाव, और उनके अत्यन्ताभाव की एकाधिकरणता को मानने पर, सर्वत्र ही तथा भाव की आपत्ति (भावाभाव की एकाधिकरणता की प्राप्ति) से संसार में भावाभाव के विरोध की दत्ताञ्जलिता (त्याग) का प्रसङ्ग होगा। यदि कहा जाय कि भावाभाव में विरोध नहीं रहने पर भी, गोत्व अश्वत्व घटत्व पटत्व आदि में विरोध रहेगा ही, अतः संसार में विरोध का त्याग नहीं होगा, तो कहा जाता है कि भावाभाव को ही साक्षात् विरोध रहता है, और उसी विरोध द्वारा अन्यत्र विरोध होता है, यह परीक्षक (विद्वत्) परिषदों (समूहों सभाओं) को सम्मत है। गोत्व अश्वत्व का विरोध भी परस्परात्यन्ताभाव व्याप्यत्वमूलक होता है। यदि कहा जाय कि वृक्षादि के प्रदेश (अवयव) भेद से कहीं संयोग रहेगा, कहीं संयोग का अत्यन्ताभाव रहेगा, एक प्रदेश में कपिसंयोग और तदत्यन्ताभाव नहीं रहता है, अतः भावाभाव का विरोध है ही, अविरोध नहीं, तो कहा जाता है कि इस प्रकार से प्रदेशरूप उपाधि के द्वारा वहाँ संयोग शब्दादि स्थान में विरोध के समाधान (निवारण) करने पर, संयोग शब्दादि-रूप भाव और उनके अभावों के भिन्नाधिकरणत्व के सिद्ध हो जाने से, वहाँ सत्य में लक्षण का सम्भव कैसे, अर्थात् अब वहाँ लक्षण की प्राप्ति उक्त स्वीकृत अविरोधी रूप में नहीं है, तो फिर अतिव्याप्ति वा अर्थान्तरता भी किसी प्रकार से नहीं है। किन्तु सिद्धान्त सिद्ध स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता तो संयोगादि में भी है ही॥ अतः उक्तरीति से मिथ्यात्व की अनिरुक्ति—अनिर्वचन—लक्षण का अभाव नहीं है॥ और मिथ्यात्व के प्रमाण का असत्त्व (अभाव) भी नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रमाण का सद्भाव (सत्त्व) है कि—अंशी—अवयवी—कार्य, अपने अंशों—अवयवों में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी है। अंशी होने से, अन्य अंशी के समान, यह अंशी भी॥ इसी प्रकार से गुणादि विषयक मिथ्यात्व का अनुमान किया जा सकता है, यह दिग्मार्ग दर्शन कराया गया है॥ ८॥ श्लोक का विवरण है कि (विवाद का विषय घट, एतत् निजाश्रय तन्तुओं में वर्तमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। अवयवी होने से, घटान्तर के समान है। इसी प्रकार से, इन तन्तुओं के गुण कर्म जाति आदि भी, इन तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, तत्तद् रूप-गुणादि होने से, अन्य रूपगुणादि के समान। इस प्रकार के प्रयोग सर्वत्र ऊहनीय (कल्पनीय) हैं॥

उक्तार्थ में प्रतिवादी की शंका है कि, एतन्निष्ठ (स्वाश्रयवृत्ति) प्रामाणिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व साध्य है, अथवा प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव के

प्रतियोगित्व साध्य है। तहाँ प्रथम पक्षयुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अंशि आदि के अत्यन्ताभावों के प्रामाणिक (सत्य) होने पर उनसे ही द्वैत की प्राप्ति होगी। और अभावों के प्रामाणिक होने पर, भावों में भी पारमार्थिक (प्रामाणिक) अभाव के प्रतियोगित्व से भावों को प्रामाणिकत्व होगा, अतः उनमें मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होगी। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि रजत में सीसा के भ्रम होने पर, प्रतिति होती है कि (यह सीसा ही है। रजत नहीं है) तहाँ रजत में रजतत्व के प्रतिषेध होने पर, प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगि रजतत्व में अमिथ्यात्व के कारण अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है। सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी आपत्ति नहीं है, क्योंकि अभावों के प्रामाणिक होने पर भी सत्य अद्वैत का बाध नहीं होता है। क्योंकि प्रमाणमात्र से गम्य सत्य नहीं होता है, किन्तु तात्त्विक (सत्य) प्रमाण से गम्यसत्य होता है। तो व्यावहारिक प्रमाणों से सिद्ध (उपस्थापित) स्वभाव वाले (सत्त्ववाले) भाव वा अभावों से तत्त्वावेदक (सत्यबोधक) प्रमाण से सिद्ध अद्वैत के बाध की शंका का अवकाश (प्रवेश) भी कैसे हो सकता है। और प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगि को भी प्रामाणिकत्व होने से सत्त्व होगा कि जिससे द्वैत की प्राप्ति होगी। यह शंका भी युक्त यहीं, क्योंकि शुक्ति के इदम् अंश और कल्पित रजत का आकार इन दोनों से आलिङ्गित (युक्त) इन दोनों का सम्बन्ध, इदं रजतम् , यह रजत है, इस एक ज्ञान से उपनीत (ज्ञात) होता है। और नेदं रजतम्, यह रजत नहीं, इस प्रतीति के विषय-प्रामाणिक अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भी होता है। परन्तु उस संसर्ग की सत्ता नहीं हो जाती है। न किसी देश कालादि में उसकी सत्ता को अन्यथा ख्यातिवादी मानते हैं। इसी प्रकार से प्रभाकर मत में इदं और रजताकार के संसर्ग को ज्ञान को नहीं मानने पर भी, इदं रजतम्, इस केवल व्यवहार से उपनीत (प्राप्त) संसर्ग के प्रामाणिक निषेध का प्रतियोगी संसर्ग प्रामाणिक नहीं माना जाता है। और विज्ञानवादी मत में अन्तर्गत बुद्धिरूप रजताकार में आरोही (आरोपित) बहिष्ट्व (बाह्यवृत्तित्व) के प्रामाणिक निषेध प्रतियोगि की किसी देश काल में वा किसी वादी से सत्ता नहीं मानी जाती है, कि जिससे प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी रूप भाव पदार्थ सत्ता को प्राप्त करेंगे॥ दूसरा, प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व, रूपविकल्प तो अस्वीकार से ही परास्त (त्यक्त) है। मिथ्यात्व अनुमान के धर्मी के ग्राहक प्रमाण से अनुमान की बाधा नहीं होती है, क्योंकि धर्मि प्रपञ्च को तत्त्वबोधक प्रमाण से सिद्ध नहीं मानते हैं, धर्मी को वस्तुतः प्रामाणिक नहीं मानने पर आश्रयासिद्धि होगी, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सांव्यवहारिक (लौकिक) प्रमाण से सिद्ध

(प्राप्त) प्रपञ्च को भी आश्रयत्व हो सकती है। यदि कहा जाय कि (प्रपञ्च, तत्त्वबोधक प्रमाण का विषय है, उक्त अनुमान का धर्मी (पक्ष) होने से, आत्मा के समान है। इस अनुमान से प्रपञ्च तत्त्व बोधक प्रमाण का विषय स्वरूप सिद्ध होता है, तो सो कहना युक्त नहीं है। क्योंकि निरुपाधिक अनुमान (हेतु) से साध्य की सिद्धि होती है, उक्त अनुमान में आत्मत्व, ही उपाधि है। तात्त्विक प्रमाण विषयत्व आत्मा में है, तहाँ आत्मत्व है, अतः साध्य का व्यापक है। और धर्मित्वरूप हेतु प्रपञ्च में भी है, वहाँ आत्मत्व नहीं रहता है। अतः साधन का अव्यापक है। यदि कहा जाय कि साध्य व्यापक उपाधि के अभाव से साध्याभाव की सिद्धि होने पर, साध्यव्यापकत्व का निश्चय होता है, प्रकृत में प्रपञ्च तो पक्ष है, आत्मत्व पक्षेतरत्व रूप है, अतः व्यतिरेक की सिद्धि नहीं हो सकती है, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि, अनात्मा (आत्मत्व-रहित) शुक्ति रजत के भ्रमसिद्ध संसर्गादि स्वरूप तत्त्वबोधक प्रमाण के अविषय उभयवादी से स्वीकृत व्यतिरेक प्रदर्शन स्थान के सद्भाव होने से वहाँ आत्मत्वा-भाव से तत्त्वप्रमाणवेद्यत्व की प्रसिद्धि होती है। और उक्त अनुमान के धर्मित्व रूप हेतु का शुक्तिरजतादिरूप धर्मी में व्यभिचार है, अर्थात् वहाँ तत्त्वाऽऽवेदक प्रमाणविषयत्व रूपसाध्य नहीं है, और हेतु है, अतः उस हेतु से उक्त साध्य सिद्ध नहीं हो सकता है, वह हेतु उक्त उपाधि का व्यापक भी नहीं है, उपाधि हेतु का अव्यापक है। यदि कहा जाय कि शुक्ति रजत संसर्ग के मिथ्या होने से वह धर्मी ही नहीं हो सकता है, कि जहाँ धर्मित्व व्यभिचारी हो, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि (शुक्ति रजतसंसर्गः, न धर्मी, मिथ्यात्वात्) इस मिथ्यात्व हेतु के प्रति संसर्ग धर्मी है, या नहीं, यदि इस हेतु का धर्मी है, तो धर्मित्व का निषेध नहीं हो सकता है, मिथ्यात्व हेतु के प्रति धर्मी नहीं है, तो भी आश्रय की असिद्धि से निषेध का असम्भव है। उसमें मिथ्यात्व होता तो धर्मित्व का निषेध होता, जब मिथ्यात्व धर्म उसमें नहीं है, तब तो वह मिथ्या भी नहीं है, फिर मिथ्यात्व से कहाँ धर्मित्व का निषेध होगा। और इस व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध साधनादि के मानने से उक्त अव्यवस्था प्रसङ्ग का भी खण्डन हो गया कि जो प्रथम कहा गया था कि, प्रतीतिमात्र से सिद्ध प्रपञ्च को आश्रयमानने पर, दूषण भूषणादि भी वैसे ही सर्वत्र सुलभ होंगे कि जिससे सब वाद की विधि और निषेध प्राप्त होगा। कोई व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि व्यावहाकि प्रमाण से ही साधनादि की व्यवस्था हो जाती है। अतएव वादी प्रतिवादी मध्यस्थ की सम्मति द्वारा, यह साधनादि प्रमाण सिद्ध हैं, इस प्रकार से कथा के आलम्बन (विषय) रूप से कथा के तीन चार कक्षा (कोटि) में अविश्रान्त (अबाधित) तत्तत् आभासों (दोषों) से अयुक्त

आश्रय की और दूषण भूषणादि की तत्तत् वादादि कथाओं में अङ्गता मानी जाती है। क्योंकि तादृश = त्रिचतुरादि कक्षा में अबाधित आभासलक्षण हीन, व्यावहारिक प्रमाण सिद्ध को ही व्यावहारिक सत्य स्वरूप माना गया है। पारमार्थिक प्रमाण सिद्ध को नहीं। और सर्वथा बाधरहित (सत्य) को आगम भिन्न प्रमाणों द्वारा कोई असर्वज्ञ जान भी नहीं सकता है। इसी से जो श्रीकुमारिलभट्टाऽऽचार्य ने कहा है, सो भी अपास्त (निरस्त) हो गया। उनका कथन है कि, बुद्धों ने जो संवृत्ति (तत्त्व को आवृत करने वाली) अविद्या को सत्य कहा है, परन्तु सम्वृत्ति को सत्यत्व नहीं है। यदि उसको सामान्य सत्य नहीं कह कर सत्यविशेष कहें, तो सत्यभेद (सत्यविशेष) भी यह कैसे हो सकता है। क्योंकि अनेक में कोई एक विशेष होता है। एक अविद्यामात्र होने पर विशेष नहीं हो सकता है। और यदि सम्वृति सत्य है, तो मिथ्या संसार क्या है। और यह संसार यदि मिथ्या है। तो संसार रूपता को प्राप्त सम्वृति में सत्यता कैसे है। और मिथ्या परमार्थरूप संसार संवृत्ति में विरोध से सत्यत्व सामान्य भी नहीं रह सकता है, जैसे कि वृक्ष और सिंह में वृक्षत्व नहीं रहता है। यह भट्ट की उक्ति इससे अपास्त हुई कि अविद्यादि में वस्तुतः असत्यता ही है। परन्तु असत्य को ही ज्ञान से बाध पर्यन्त (बाध से पूर्वकाल में) देह में आत्मत्व के समान लौकिक वैदिकव्यवहार के अङ्ग (साधन) रूप से सत्य मान कर सत्यरूप से व्यवहार (कथन) होता है, अतः व्यवहारिक रूप से अविद्यादि को सत्य और पारमार्थिक रूप से असत्य कहने में दृष्टिकोण के भेद के कारण विरोध नहीं है इत्यादि॥

उक्त अंशित्व हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि पट के अंशित्व में वादियों का विवाद नहीं है। विरुद्ध भी हेतु नहीं है। क्योंकि एतत् तन्तुवृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी विभु आत्मस्वरूपविपक्ष विपक्ष में अंशित्व (अवयवित्व) रूप हेतु नहीं रहता है। और विपक्ष वृत्ति (साध्याभाव-साधक) हेतुविरुद्ध कहा जाता है। और विपक्ष (निश्चितसाध्याभाव-वान्) से व्यावृत्त रहने से ही अनैकान्तिक (व्यभिचारी) भी हेतु नहीं है। यदि कहा जाय कि (यहाँ इन तन्तुओं में पट है) इत्यादि प्रत्यक्ष से ही तन्तुओं में वृत्तिता रूप से पट के अवगम (ज्ञान) से उक्त अनुमान के विषय (साध्य) के अपहृत (अभाव) हो जाने के कारण अनुमान में कालात्ययापदिष्टता (बाध) प्राप्त होती है तो ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि पट में एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता को मानने वाले, इह तन्तुषु पटः। इस उक्त प्रत्यक्ष में प्रमाणता नहीं मानते हैं। अतः जैसे (इह नभसि नीलिमा) इस आकाश में नीलता है, इस प्रत्यक्ष

रूप से अभिमत ज्ञान को बाध कर (आकाशम्, अरूपि, विभुत्वात्, आत्मवत्) आकाश, रूप रहित है, विभु होने, आत्मा के समान) इस अनुमान की प्रवृत्ति (सिद्धि) होती है, वैसे ही यहाँ भी मिथ्यात्वानुमान की प्रवृत्ति बनती है। यदि कहा जाय कि इस रीति से तो अग्नि की शीतता आदि के अनुमान की भी अप्रतिहतप्रवृत्ति से कालात्ययापदिष्ट (बाध) की कथा ही सर्वत्र लुप्त हो जायगी। तो सो कहना युक्त नहीं, तत्तत्स्थानों में उभयवादी सम्मत विरोधी प्रमाण के रहने पर उस कालात्ययापदिष्ट (बाध) कथा की निरङ्कुशप्रवृत्ति होगी। प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में तो वैसा = उभयवादी सम्मतविरोधी प्रबल प्रमाण के भाव (सत्त्व) का अभाव है। अतः यहाँ बाध की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इन प्रत्यक्ष विरोध के निराकरण से ही (प्रपञ्चः, सत्यः, प्रामाणिकत्वात् (प्रमाणसिद्धत्वात्) यह प्रत्यनुमान (प्रतिपक्ष) रूप विरोध भी अपास्त = निरस्त हो गया) क्योंकि प्रमाणसिद्धत्व रूप हेतु की ही असिद्धि है। और जिस संसार के सत्यत्व में नभ नीलिमाप्रत्यक्ष तुल्यता के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण भी तत्त्वावेदक (सत्त्वबोधक) प्रमाण नहीं हो सकता है। तहाँ प्रत्यक्ष पादोपजीवी (प्रत्यक्षाधीन) वराक (अपमानित = बेचारे) अनुमानादि की प्रमाणता में क्या कहना है, अनुमानादि भी प्रपञ्च की सत्यता में प्रमाण नहीं हो सकते हैं। और जो भेद की सत्यता में प्रथम अनुमान कहा था कि (इस घट को, द्रव्यत्व से, एतत् घटनिष्ठ बाध्य भेद से भिन्न भेदवत्त्व है) सो अनुमान भी अद्वैत बोधक श्रुति विरोध से बाधित होने के कारण उपेक्षणीय है। यदि कहा जाय कि (मृत्तिकेत्येव सत्यम्) इत्यादि श्रुति से प्रपञ्च की सत्यता के ज्ञान से अद्वैत श्रुति ही उपचारितार्थ = (गौणार्थक) क्यों न मानी जाय, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुति का प्रपञ्च की सत्यता में तात्पर्य नहीं है, वह अन्यार्थ परक है। जैसे कि—एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म की सर्वकारणता के द्वारा सब कार्यों से अनन्यता (अभिन्नता) के प्रदर्शन पूर्वक उक्त प्रतिज्ञा को सिद्ध (प्रतिपादन) करने के लिये लोक में भी घट रुचक (निष्क-सुवर्णभूषण) आदि कार्यों की मृत्तिका लोहादि कारणों से अनन्यत्व को (अभेदको) 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्' इत्यादि वचनों से श्रुति दर्शाती है। उन मृत्तिकादि के सत्यत्व में श्रुति का तात्पर्य नहीं है, उन की सत्यता को श्रुति नहीं मानती है। क्योंकि यदि (मृत्तिकेत्येव सत्यम्) इससे सत्यत्व का प्रतिपादन हो, तो (एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा) इस अणु स्वरूप यह सब है। वह सूक्ष्म सत्य है, वह आत्मा है, यहाँ तक अग्रिम वचनों से ब्रह्म के ही सत्यत्व के प्रतिपादन

से विरोध होगा। इस अन्य परत्व से आगम को मिथ्यात्व अनुमान के साथ विरोध का निवारण हो गया ॥

दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिश्च सत्यत्वानुमानस्य बाधिका। न च करणसंबन्धादेव संबन्धोपपत्तिः; ईश्वरज्ञानेऽकरणजन्येऽपि विषयाणां स्फुरणात्, करणजन्येष्वपि योगिज्ञानेषु युक्तावस्थायामन्तःकरणासंबद्धानामतीतानागतानां बाह्यार्थानां च स्फुरणात्। न च मनसो बहिरर्थैः संबन्धः; परतन्त्रं बहिर्मन इति न्यायात्, अस्मदादीनां चैन्द्रियिकविभ्रमेष्विन्द्रियासंबद्धानामेव स्फुरणाङ्गीकारात्, अस्मदादिप्रमाणजन्येऽपि ज्ञाने सोयं देवदत्त इत्यादौ तत्तांशस्य करणासंबद्धस्यापि प्रत्यक्षताभ्युपगमात्। नच तत्तायामपीन्द्रियेण सह संयुक्तविशेषणतालक्षणः संनिकर्षः समवायेतरभावस्येन्द्रियसंप्रयोगमन्तरेणापि प्रत्यक्षतायामथं पर्वतोऽग्निमानित्यत्राग्निमत्त्वस्यापि संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वापत्तेः प्रत्यक्षधर्मिकानुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गः।

अस्तु तर्हि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावः संबन्ध इतिचेत्, न; तदनिरूपणात्। तथा हि न तावज्ज्ञानजन्यफलाधारत्वं, विषयत्वं विषयनिष्ठफलजनकत्वं च विषयित्वमिति युक्तम्; विकल्पासहत्वात्। तत्फलं ज्ञातता? व्यवहारो वा? नाद्यः; अतीतादौ तदभावेनाविषयत्वप्रसङ्गात्। तत्रैव फलजननेष्यनुगतनियामकायोगात्, तद्योगे वा तस्यैव विषयत्वनियामकतोपपत्तेः। न द्वितीयः; कराकर्षणादेर्व्यवहारस्यात्मादावभावात्, कलधौतमलादेरपि नान्तरीयकतया तद्व्यवहारविषयस्य तज्ज्ञानविषयतापत्तेः। नापीच्छादिः; आत्मन एव तदाधारतया तदन्यस्याविषयत्वप्रसङ्गात्।

अथ ज्ञानप्रतिबद्धहानादिलक्षणज्ञानगोचरत्वं तद्यग्यत्वं वा विषयत्वम्, न; ज्ञानगोचरत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। हानादिज्ञानानां च हानादिज्ञानान्तराजनकतया निर्विषयत्वप्रसङ्गात्, जनकत्वे वा हानादिज्ञानानुपरमाद्विषयान्तरसंचाराभावः सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयाताम्। व्यवहारयोग्यत्वं विषयत्वमित्यङ्गीकारे च योग्यतायां योग्यतान्तराभ्युपगमेऽनवस्था, तदनभ्युपगमे योग्यताया विषयत्वाभावः।

बाधकतर्कसंभवाच्च शङ्किताऽप्रयोजकत्वं सत्यत्वानुमानमित्याह—**दृग्दृश्ययोरिति**। पूर्ववाद्युक्तामन्यथोपपत्तिमनूद्य दूषयति—**नचेति**। नायं सार्वत्रिकः, ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य तद्विषयाणां च नियमाभावप्रसङ्गादित्यर्थः। अथ जन्येष्वयं नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह—**करणजन्येष्वपीति**। युक्तावस्थायां ह्यात्ममनोयोगमात्रादेवाशेषार्थज्ञानमिति तार्किकाणां मतम्। अतीतादीनां

चाविद्यमानत्वादेव संबन्धानर्हत्वम् । अथ च विषयास्तत्र परिस्फुरन्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । ननु युक्तावस्थायां कथमव्याप्तिर्यावता मनोलक्षणेन्द्रियसंबन्धादेव तत्रापि नियमोपपत्तिरिति तत्राह—**न च मनस इति** । अथ विशिष्टादृष्टसामर्थ्यसचिवमनोयोगियोगिज्ञानं विहायायं नियम इति तर्हि तेष्वव्यतिव्याप्तिरित्याह—**अस्मदादीनां चेति** । अधिष्ठानस्येन्द्रियसंबद्धत्वेऽप्यारोप्यतत्संसर्गयोस्तदभावात्संस्कारद्वारा प्रत्यासत्तेश्चातिप्रसक्तत्वादिति भावः अथ विभ्रमत्वात्तत्र यथा तथा भवतु, प्रमाणेष्वयं नियम इति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अस्मदादिप्रमाणजन्येपीति** । **तत्तांशस्येति** । तद्देशकालविशिष्टांशस्येत्यर्थः । एतच्च प्रत्यभिज्ञानस्यानुभवैकत्ववादे । ननु चक्षुषा सम्प्रयुक्तस्तावद्देवदत्तः तस्य च विशेषणं तत्ताऽतः सम्प्रयुक्तविशेषणताप्रत्यासत्त्या भूतलविशेषणघटाभाव इवेन्द्रियेण किमिति न गृह्यते इति तत्राह—**नच तत्तायामिति** । आत्मद्वारा चायं सम्बन्धः शङ्कनीयः । हेतुमाह—**समवायेतरभावस्येति** । भावस्येत्यभावव्यावृत्तिः । समवायस्येन्द्रियासंप्रयुक्तस्यापि ग्रहणं परैरङ्गीक्रियत इत्यत उक्तं—**समवायेतरेति** । गुणादीनां तु संयुक्तसमवायादि नास्मत्समतं तेषां द्रव्यतादात्म्येन समवायासिद्धेः, संबन्धान्तराभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । विद्यमानेतिविशेषणाच्च प्रत्यभिज्ञायां तत्ताव्यवच्छेदः । **संयुक्तविशेषणतयेति** । चक्षुषा संयुक्तः पर्वतस्य विशेषणमग्निरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—समवायाभावातिरिक्तस्यापि चेत्संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वं तर्हि प्रत्यक्षे धर्मिणि न क्वाप्यनुमानं प्रवर्तेत सर्वत्र प्रत्यक्षत्वसंभवादिति । संबन्धान्तरमाशङ्कते—**अस्तु तर्हीति** ।

ज्ञानजन्येति । ज्ञानेन जन्यं यत्फलं तत्प्रत्याधारत्वं विषयत्वं तादृशफलजनकत्वं च विषयित्वमिति न च युक्तमित्यर्थः । **विकल्पासहत्वादिति** । विकल्पे सति दूषणासहत्वादित्यर्थः । ज्ञातता प्राकट्यम्, एतच्च भाट्टाभिप्रायेण । **अतीतादाविति** । फलजननसमयेऽतीतादेरविद्यमानत्वादेव फलाधारत्वानुपपत्तेः, अत एव तज्जनकत्वं ज्ञानस्य न संभवति, अतस्तत्राव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—**तत्रैव फलजनन इति** । अयमर्थः—यत्फलं प्रत्याधारत्वं विषयस्योच्यते, तत्फलं तत्रैव नान्यत्र जनयति विज्ञानमित्यत्रापि किंचिन्नियामकमस्ति ? न वा ? यदि नास्ति, तर्हि नियतकार्यायोगः । यदाह—

'भवेत्सर्वत्र सत्ता वानियमेऽन्यानपेक्षया ।
नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य संभवः ॥' इति ।

अगति ज्ञानज्ञेययोः संबन्धे नियमायोगाच्च । द्वितीये दूषणमाह—**तद्योगे चेति** । यदि यत्किंचिन्नियामकं स्वभावोऽन्यद्वा समाश्रीयते तर्हि तदेव विषयत्वनियामकमस्तु कृतं तदुपजीविना प्राकट्येनेत्यर्थः । तदुक्तं कुसुमाञ्जलौ—

'स्वभावनियमाभावादुपकारोऽपि दुर्घटः ।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥' इति ।

न द्वितीय इति। कोऽयं व्यवहारोऽभिमतः ? किं कराकर्षणादिः ? उतेच्छादिः ? आद्यं प्रत्याह—**कराकर्षणादेरिति**। आदिशब्देन भक्षणादि विवक्षितं, तस्य च विभौ स्पर्शरहिते चात्मादावसंभवादव्याप्तिरित्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—**कलधौतेति**। कलधौतं रजतं, रजतमलस्यापि नान्तरीयकतया रजतज्ञानप्रयुक्तादानादिभावत्वमस्तीति तदपि रजतज्ञानविषयः स्यादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—**नापीति**। इच्छाधारः आत्मैवेति अनात्मवर्गे लक्षणमव्यापकमित्यर्थः । नचेच्छादिविषयत्वं, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात् । विषयत्वस्य लक्षणान्तरं शङ्कते—**अथ ज्ञानेति**। घट इति ज्ञानाद्धानादिज्ञानं जायते तत्प्रति विषयत्व हानादियोग्यत्वमेव वा यत्तत्पूर्वज्ञानं प्रति विषयत्वमित्यर्थः । एतेनातीतादि संगृहीतं, तदेतदात्माश्रयेण दूषयति—**न, ज्ञानगोचरत्वस्यैवेति**। किंच हानादिज्ञानानां हानादिज्ञानान्तरजनकत्वमस्ति ? न वा ? यदि नास्ति, तदा हानादिज्ञानानां निर्विषयत्वप्रसङ्गः । अस्ति च तदतोऽव्याप्तिरित्याह—**हानादिज्ञानानामिति**। प्रथमं दूषयति—**जनकत्वे चेति**। ज्ञानान्तरजनकत्वेन तज्ज्ञानानामपि सविषयत्वसिद्ध्यर्थं ज्ञानान्तरजनकत्वे घटादिज्ञानानुत्पादः सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयातामित्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—**व्यवहारयोग्यत्वमिति**। उपलक्षणं चैतत्प्रथमपक्षस्यापि । तेन हानादिज्ञानगोचरत्वेऽपि गोचरत्वान्तरमस्ति ? न वा ? तच्चस्ति; तदानवस्था । अथ नास्ति; तर्हि तस्यानिर्विषयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् ।

दृग्दृश्य (ज्ञान विषय) के सम्बन्ध की अनुपपत्ति (प्रसिद्धि) भी प्रपञ्च सत्यत्व की बाधिका है, पूर्ववर्णित करणों (इन्द्रियों) के सम्बन्ध से दृग्दृश्य का सम्बन्ध (नियम) नहीं बन सकता है, क्योंकि इन्द्रियों से अजन्य ईश्वर के ज्ञान में भी विषयों का स्फुरण (प्रकाश) होता है, अतः उस ज्ञान के साथ विषयों का सम्बन्ध होना चाहिये और करणजन्य भी योगियों के ज्ञानों में, युक्त (समाहित) अवस्था में, अन्तःकरण के असम्बन्धी अतीत अनागत बाह्य पदार्थों का स्फुरण आत्ममनःसंयोग मात्र से तार्किक मत में माना जाता है। वहाँ करण सम्बन्ध के बिना ही ज्ञान होता है, क्योंकि अतीत अनागत के अविद्यमानता से सम्बन्ध नहीं हो सकता है। और बाह्य अर्थ के साथ मन का सम्बन्ध इन्द्रियों के बिना नहीं होता है। क्योंकि, बाहर के ज्ञान के लिये मन परतन्त्र (इन्द्रियाधीन) रहता है, यह न्याय (नियम) माना जाता है। और हम लोगों के इन्द्रियजन्य भ्रमात्मक ज्ञानों में इन्द्रियों से सम्बन्ध रहित पदार्थों का स्फुरण होता है, तथा माना जाता

है। और हम लोगों के प्रमाणजन्य भी (सोऽयं देवदत्तः) वही देवदत्त यह है, इत्यादि प्रत्यभिज्ञान रूप ज्ञान में करण से सम्बन्ध रहित भी तत्ता, अंश (पूर्व देशकाल सम्बन्ध) की प्रत्यक्षता (स्फुरण) मानी जाती है। यदि कहा जाय कि ज्ञान तत्ता में भी इन्द्रिय के साथ तत्ता का स्वं (इन्द्रिय) संयुक्त विशेषणता रूप सम्बन्ध रहता है, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि समवाय से भिन्न भावपदार्थ की इन्द्रिय संयोग के विना भी यदि प्रत्यक्षता मानी जाय तो (पर्वतोऽग्निमान्) पर्वत अग्निवाला है। यहाँ भी अग्निमत्ता की संयुक्त विशेषणता से प्रत्यक्षता की प्राप्ति होगी, जिससे प्रत्यक्षधर्मी (पक्ष) वाले अनुमान मात्र का उच्छेद (अभाव) प्राप्त होगा। अन्य सम्बन्ध के सिद्ध नहीं होने पर ज्ञानज्ञेय का विषय-विषयिभाव (विषयत्व = विषयित्व) रूप सम्बन्ध हो, यदि ऐसा कहा जाय तो, उस विषय-विषयिभाव [के अनिरूपण (असिद्धि) से यह कहना भी नहीं बनता है। कैसे नहीं बनता है, सो कहा जाता है, सुनिये, प्रथम विचारिये कि विषयत्व क्या है, क्या ज्ञानजन्यफला-धारत्व है, और विषयित्व क्या है, क्या, विषयवृत्तिफल जनकत्व है, ये दोनों युक्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि विकल्प को नहीं सह सकते हैं (विकल्प होने पर दूषणरहित नहीं सिद्ध होते हैं) विकल्प होता है कि विषयत्वलक्षणघटक वह ज्ञानजन्य फल ज्ञातता (प्राकट्य) रूप होता है, या व्यवहार रूप होता है, वहाँ, आद्य (प्रथम) पक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि अतीतादि पदार्थों में ज्ञानजन्य-ज्ञातता के अभाव से उनमें अविषयत्व की प्राप्ति होगी, और वे भी ज्ञान के विषय होते हैं। और घटज्ञान घट ही में फल जनक हो, इसमें भी अनुगत नियम का अभाव है, अर्थात् ज्ञान ज्ञेय का कोई सम्बन्ध हो तो सम्बन्ध फल जनन में नियामक हो सकता, वह सम्बन्ध अनिरूप्य है। अतः भूतादि पदार्थ के अविद्यमान रहने से तथा नियामक अभाव से भी फलाधारता रूप विषयत्व नहीं हो सकता है। यदि उस ज्ञान की विषयता का नियामक कोई योग (सम्बन्ध स्वभावादि) विषय के साथ है, तो उसीसे विषयत्व नियामकता की सिद्धि ...ेगी, ज्ञानजन्य फल की कल्पना विषय-विषयिभाव व्यर्थ है। ज्ञानजन्य फल ...र होता है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि वह व्यवहार ...ाकर्षणादि रूप है, या इच्छादि रूप है, दोनों प्रकार नही बन ... आत्मादि के ज्ञान से विभु आत्मादि का आकर्षण नहीं हो ...ि [में ज्ञान की विषयता भी नहीं सिद्ध होगी। और ...कर्षणादि व्यवहार के विषय नान्तरीयक (व्याप्य) ...ेता है, अतः उस मत में भी रजतज्ञान की ... आदि भी व्यवहार रूप नहीं माना जा

अलमिह लक्षणान्तरगवेषणापरिश्रमेण यस्यां संविदि योऽर्थोऽभासते स तद्विषय इति लक्षणनिरुक्त्युपपत्तेरिति चेत्, मैवं; विकल्पासहत्वात्।

शालिकनाथोक्तलक्षणमवतारयति—**अलमिह लक्षणान्तरेति**। यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते सोऽर्थस्तस्याः संविदो विषय इत्यर्थः। उक्तं च पञ्चिकाप्रकरणे—

'अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्य संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यस्य लक्षणम्॥' इति (प्र० पं० नय० २३)

सकता है, क्योंकि आत्मा को ही इच्छा आदि के आधार होने से, आत्मा से अन्य को ज्ञान के अविषयत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि ज्ञानप्रतिबद्ध (ज्ञाननिमित्तक-ज्ञानजन्य) जो हान (त्याग) ग्रहणादि का ज्ञान, उस ज्ञान का विषयत्व, वा हानादि ज्ञानजन्य हानादि योग्यताविषयत्व है। तो वह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अभी विषयता ही निरूप्यमाण है, (असिद्ध है) और ज्ञानविषयता की सिद्धि के लिये हानादि ज्ञानविषयता को मानने पर, दोनों विषयता के एकस्वरूप होने पर आत्माश्रय होगा, भेद-पक्ष में अन्योन्याश्रयादि होगें। और दूसरी यह बात है कि हानादि के ज्ञान विषयता की सिद्धि के लिये यदि दूसरे हानादि ज्ञानों को नहीं उत्पन्न करें तो उन हानादि ज्ञानों को हानादि ज्ञानान्तर के अजनक होने से उनमें निर्विषयत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि उक्तरीति से हानादि ज्ञान के जनक ही ज्ञान विषय वाला होता है, और यदि प्रथम (पहले) का हानादि ज्ञान अपनी सविषयता की सिद्धि के लिये दूसरे हानादि ज्ञान को उत्पन्न करे तो इसी प्रकार दूसरा तीसरे को भी उत्पन्न करेगा, तब तो इस प्रकार के हानादि ज्ञान के जनकत्व होने पर हानादि के ज्ञानों के अनुपरम (असमाप्ति) से विषयान्तर में मन ज्ञान का संचार (प्रवृत्ति) नहीं होगा, सुषुप्ति का अभाव प्राप्त होगा। और व्यवहारयोग्यत्व रूप विषयत्व को मानने पर, व्यवहार-योगत्व का भी ज्ञान होने से उसमें व्यवहारयोग्यत्व मानना होगा, तो इस प्रकार अनवस्था होगी, और योग्यता में योग्यता के उपरम (अभाव,) होने पर, योग्यता में योग्यता को मानने पर योग्यता को विषयत्व का अभाव होगा। योग्यता में ज्ञानविषयत्व नहीं होगा।

प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथ का कहना है कि विषयत्व के लक्षणा-न्तर के अन्वेषणरूप परिश्रम को त्याग देना चाहिये, उसका कोई फल नहीं है, और जिस सम्विद् (सम्विदि ज्ञान) में जो अर्थ (पदार्थ) अवभासता (अनुभूत होता) है, प्रकाशता है; वह अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। अतः ज्ञान में भासमानत्व ही विषयत्व का सुगम लक्षण है। परन्तु ऐसा कहना

संविदीति सप्तम्या किमधिकरणं विवक्ष्यते ? अथ विषयः ? किं वा संबन्धिमात्रं ? सति सप्तमी वा ? नाद्यः; घटादिद्रव्याणां वाह्यानामान्तरसंविल्लक्षणगुणाधिकरणतानुपपत्तेः। न द्वितीयः; तस्यैव निरुप्यमाणत्वात्, संविदो विषयत्वं घटादीनां च विषयित्वमिति वैपरीत्यापत्तेश्च। न तृतीयः; संविज्जकनतया तत्संवन्धिनो नयनादृष्टादेरपि तद्विषयत्वप्रसङ्गात्। संविदि

तदेतद्दूपयति—**मैवमिति**। **घटादिद्रव्याणां संविल्लक्षणगुणाधिकरणतानुपपत्तेरेति**। उपलक्षणं चैतद्गुणकर्मसामान्यविशेषाणामिदमनिष्टं न भवतीत्यत उक्तं—**वाह्यानामान्तरत्त्वेति**। ततश्च तेपु लक्षणस्याव्याप्तिरिति भावः। विपयसप्तमीपक्षं निराचष्टे—**न द्वितीय इति**। विपयत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वादात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः। किंच संविदीति सप्तम्या संविदो विपयत्वाभिधाने वैपरीत्यमपि स्यादित्याह—**संविद इति**। संवन्धिमात्रमिति तृतीयपक्षं निराचष्टे—**न तृतीय इति**। संविदीति कोर्थः, संवित्संवन्धीति, तथाच नयनाद्यपि तथेति घटज्ञानस्य नयनाद्यपि विपयः स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। नच तस्यापि विपयत्वादनतिव्याप्तिर्विशेपपरत्वात्। इतरथा वस्तुमात्राभिधानापातात्। ननु यद्यपि संवन्धिमात्रं सप्तम्या प्रतीयते तथापि भासत इति विशेपणात् भासमानतया संवन्धि विवक्षितार्। तथाचाप्रकाशमाननयनादिव्यावृतिरिति शङ्कते—**संविदीति**। भावविपयत्वं हि भास-

---

युक्त नहीं है, क्योंकि यह लक्षण विकल्प (विचार) को नहीं सह सकता है। विकल्प होता है कि 'सम्विदि' इस पद में सप्तमी विभक्ति का अधिकरण अर्थ विवक्षित (वक्तुं इष्ट) है या विषय अर्थ है। या सम्बन्धी मात्र अर्थ है या सति अर्थक सप्तमी है। वहाँ प्रथम कल्प नहीं बन सकता, क्योंकि उस पक्ष में सम्विदि के अधिकरण में रहने वाला सम्विद् का विषय कहा जायगा। और बाह्य घटादि द्रव्य की अधिकरणता अनन्तर वृत्ति ज्ञानरूप गुण में हो नहीं सकती है, अतः अयुक्त है। गुण, कर्मादि का भी अधिकरण ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः लक्षण की अव्याप्ति है। दूसरा कल्प (पक्ष) ज्ञानविषयत्व रूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अभी वह विषयत्व निरूप्यमाण, विचारणीय = असिद्ध है। उसके साधन के लिये विषयत्व के प्रदर्शन से आत्माश्रयता होगी। और सम्विद्गत सप्तमी विभक्ति से विषयत्व के कथन करने पर सम्विद में विषयत्व और घटादि में विषयित्व की सिद्धि से विपरीतता की प्राप्ति होगी, क्योंकि सप्तम्यर्थविपयत्व सप्तम्यर्थसम्बन्धी सम्विद् में भासेगा, जैसे कि, मुक्तौ कामना, यहाँ मुक्तिविषयक कामना भासती है॥ तृतीय कल्प भी नहीं बन सकता है। क्योंकि घटादि ज्ञान के नेत्र, अदृष्टादि भी कारण रूप से सम्बन्धी होते हैं, अतः वे सब भी घटादि

भासत इति भासमानताया विशेषणत्वान्न नयनादावतिप्रसङ्ग इति चेत्, न; भासमानताया एवाद्याप्यनिरूपितत्वात् न चतुर्थः; भासमानत्वानिरुक्तेरेव।

ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषय इति चेत्, न; ज्ञानतदाकारयोर्भेदाभावेन सर्वेषामपि ज्ञानहेतूनां तदाकारसमर्पकतया विषयत्वप्रसङ्गात्। दृश्यमान-

---

मानत्वं तथाचात्माश्रयत्वमिति परिहरति--न, भासमानतया इति। सतिसप्तमी-पक्षं निराचष्टे--न चतुर्थ इति। अत्रापि संविदि सत्यां यद्भासते स विषय इति वक्तव्यम्। तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः। न च ज्ञाने सति व्यवहारयोग्यत्वमेवार्थस्य भासमानत्वमिति वाच्यम्; योग्यतायां पूर्वोक्तदूषणापातात्।

सौगताभिमतं लक्षणं शङ्कते--ज्ञानेति। घटज्ञानं पटज्ञानमिति योयं ज्ञानाकारस्तदर्पको यो हेतुः स विषय इत्यर्थः। तेन च नयनादिव्यावृत्तिः। उक्तं हि--

'भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥' इति

ज्ञान के विषय होने (कहाने) लगेगें, अतः अतिव्याप्ति होगी॥ यदि कहा जाय कि सम्विदि, में सप्तमी से सम्बन्धी मात्र प्रतीत होता है, परन्तु उसमें भासमानता विशेषण से नेत्रादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि सम्विद में भासता हुआ जो सम्विद का सम्बन्धी हो, वह सम्विद् का विषय होता है। नेत्रादि घटादि ज्ञान में भासते नहीं हैं, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो वह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि भासमानत्व, भान (ज्ञान) विषयत्व ही है, सो भासमानत्व ही अभी निरूप्यमान है। अतः आत्माश्रयता होगी। चतुर्थ (सति सप्तमी) पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्ष में भी अर्थ होगा जिस ज्ञान के रहते जो अर्थ भासता है, वह अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। और भासमानत्व की अभी निरुक्ति (निर्णय) नहीं हुई है, अतः आत्माश्रयता होगी। ज्ञान के रहते अर्थ के व्यवहारयोग्यत्व ही भासमानत्व है। यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि योग्यता में प्रथम दूषण कहा गया है, उसकी प्राप्ति होगी।

सौगत (बुद्ध) मत के अनुसार कहा जाय कि, 'घटज्ञानम्' इत्यादि ज्ञान के आकार=स्वरूप, उस प्रकार के अर्थ का (साधक) ज्ञान के हेतु को ज्ञान का विषय कहा जाता है, तो वह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञानाकार में भेद के अभाव से सभी ज्ञानहेतुओं में ज्ञानाकारसमर्पकता (साधनता) के कारण, सभी ज्ञानहेतुओं में विषयत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि दृश्यमानता रूप से जो ज्ञानाकार का समर्पक

तया तदाकारसमर्पको विषय इतिचेत्, न; दृश्यमानताया एवाद्याप्यनिरूपणात्। न च ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्; अतीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेनाविषयत्वप्रसङ्गात्। संबन्धान्तरमन्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषणं स तद्विषयो, विशेष्यं च तेन विषयीति चेत्, न; मत्समवेतं रूपज्ञान-

---

दूषयति—नेति। ननु यद्यपि नयनादीनां ज्ञानस्वभावभूताकारहेतुत्वमस्ति तथापि दृश्यमानतयाऽऽकारहेतुत्वं नास्ति तादृशं च लक्षणं विवक्षितमिति शङ्कते—**दृश्यमानतया इति**। लक्षणान्तरं दूषयति—**नचेति**। तत्र हेतुः—**अतीतादीति**। कर्म नाम कारकविशेषः। कारकं च कारणविशेषः। कारणं च कार्ये संभवति, तेन नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तद्विषयस्य च विषयविषयिभावं न व्याप्नोतीदं लक्षणम्। अतीतादेस्त्वविद्यमानत्वादेव नियतप्राक्क्षणसत्त्वलक्षणकारणत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। उपलक्षणं चैतदनुमानादेः, कर्मत्वं च तत्फलभाक्त्वं तच्च दूषितं पुरस्तात्। लक्षणा-

---

होता है, वह ज्ञान का विषय होता है, नेत्रादि ऐसे नहीं है, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि दृश्यमानता ही तो विषयत्व है, और उस दृश्यमानता का ही अभी निरूपण (प्रतिपादन) नहीं हुआ है। ज्ञानकर्मत्व (ज्ञानफलत्व) विषयत्व है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अतीतादि के ज्ञान को और ईश्वरज्ञान को कर्मकारकजन्यत्व के अभाव से उन ज्ञानों में अविषयत्व (निर्विषयत्व) की प्राप्ति होगी। अर्थात् कारकविशेष को कर्म कहा जाता है, और कर्ता, कर्म, करणादिकारण विशेष कारक होता है। वह कार्य-कारण से अव्यवहित पूर्व वर्तमान रहकर कार्य का जनक होता है। वहाँ भूत, भावी अर्थज्ञान से पूर्व वर्तमानता के अभाव से वह ज्ञान का कर्म नहीं हो सकता है। और ईश्वरीय ज्ञान के नित्य होने से उसका जनक कर्मकारक नहीं हो सकता है। अतः कर्मरहित वे दोनों ज्ञान निर्विषय होगें। और उन ज्ञानों के विषयों में लक्षण की अव्याप्ति होगी। संयोग-समवायादि सम्बन्धान्तर के विना जो पदार्थज्ञान का विशेषण होता है, वह उसका विषय होता है और उस विशेषण से जो ज्ञान विशेष्य (प्रधान) होता है, वह ज्ञानविषयी (उस विषय का प्रकाशक) होता है। यदि ऐसा कहा जाय, तो वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि (मत्समवेतं रूपज्ञानमस्ति) मुझमें समवाय वाला रूप का ज्ञान है। यहाँ समवाय में इस लक्षण का व्यभिचार (अति व्याप्ति) है। समवाय वाला ज्ञान के होने से समवाय ज्ञान का विशेषण है, वहाँ सम्बन्धान्तर के विना ही मत्सम्बन्धी समवाय और रूपज्ञान को विशेषणविशेष्यभाव होते भी मत्समवेत समवाय और रूपज्ञान को विषयविषयिभाव नहीं है, अतः अलक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति रूप अतिव्याप्ति है। यदि कहा जाय कि मुझ में रूपज्ञान समवेत है, इस अनुव्यवसाय

मित्यत्र व्यभिचारात्। संबन्धान्तरमन्तरेणैव मत्समवायस्य रूपज्ञानस्य च विशेषणविशेष्यभावेऽपि मत्समवायरूपज्ञानयोर्विषयविषयित्वाभावात्, तत्र समवायस्यानुव्यवसायज्ञानविषयत्वेऽपि रूपज्ञानाविषयत्वात्। तदेवं विषयविषयिभावानिरूपणात्, आत्मन्यध्यस्ततया चासिद्धौ, प्रपञ्चस्य सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तिर्बाधिकेति स्थितम्। न च भेदस्य मिथ्यात्वे शब्दान्तरादेः कर्मभेदप्रतिपादकस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः; घटपटादेरिव व्यावहारिकस्यैव भेदमात्रस्य

न्तरं शङ्कते—**संबन्धान्तरमिति**। ज्ञानस्य विशेषणं विषय इत्युक्ते ज्ञानगतसत्तादिजातिष्वात्मनि चक्षुरादिषु च समवायकार्यकारणभावसंबन्धाभ्यां यथायथं ज्ञानं प्रति विशेषणेष्वतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं संबन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्तम्। यद्यपि घटतज्ज्ञानयोः कार्यकारणभावोऽस्ति तथापि स नेश्वरज्ञानेऽतीतादौ च संभवत्यनतिरिक्तश्चेत्यभिप्रायः। **विशेष्यं चेति**। तेन विशेषणेनेत्यर्थः। तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**न, मत्समवेतमिति**। मत्समवेतमित्यत्र हि समवायो ज्ञानं प्रति विशेषणं, न चानयोः संयोगसमवायादिसंबन्धान्तरमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अस्यैव प्रपञ्चः संबन्धान्तरमित्यादिः। ननु मत्समवेतं ज्ञानमित्यस्यानुव्यवसायस्य च विषयविषयिभावाल्लक्ष्यमेव समवायः, तत्र च तल्लक्षणगमनमनुगुणमेवेत्यत आह—**तत्र समवायस्येति**। अनुव्यवसायं प्रति विषयत्वेऽपि यत्प्रति विशेषणं, तत्प्रति विषयत्वमित्यर्थः। एवं नास्ति घटज्ञानमित्यादावभावस्यापि घटज्ञानादिविषयत्वप्रसङ्गः। प्रतिपादितं बाधकतर्कमुपसंहरति—**तदेवमिति**। यत्तु शब्दान्तराद्यप्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यादिना मिथ्यात्वे बाधकमुक्तं तदपि भेद्यकर्मसमानस्वभावव्यावहारिकमेव सन्तं भेदं प्रतिपादयति, नतु ब्रह्मवत्पारमार्थिकमित्यन्यथाप्युपपन्नमित्याह—**न च भेदस्येति**। निरूपितमनुमान-

---

ज्ञान का विषय व्यवसायज्ञान होता है, वहाँ समवाय सहित व्यवसाय ज्ञान अनुव्यवसाय का विषय होता ही है, तो वह कहना सत्य है, तो भी अनुव्यवसाय का विषय होने पर भी जिस व्यवसायज्ञान का वह समवाय विशेषण रहता है, उस रूप ज्ञान का वह समवाय विशेषण रहता हैं, उस रूपज्ञान का वह समवाय विषय नहीं रहता है, अतः इस उक्त रीति से विषय-विषयिभाव के अनिरूपण (असिद्धि) से प्रपञ्च की आत्मा में अध्यस्तरूप से असिद्धि रहते, प्रपञ्च के सत्यत्व में दृश्यत्व की अनुपपत्ति बाधक है, यह स्थिर हुआ।

प्रथम जो कहा था, कि भेद के मिथ्या होने पर शब्दान्तरादि रूप जो कर्म भेद के प्रतिपादक प्रमाण हैं, उनमें अप्रमाणता प्राप्त होगी, वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि घट-पटादि के समान कर्मविषयक व्यावहारिक भेद मात्र को ही तत्तत् स्थानों में शब्दान्तरादि रूप प्रमाणों से प्रतिपाद्यमान (प्रतिपादित) होने से उन कर्मादिकों के बाध्य के अयोग्यता स्वरूप सत्यत्व के प्रतिपादन में उन शब्दान्त-

कर्मगोचरस्य तत्र तत्र शब्दान्तरादिभिः प्रतिपाद्यमानत्वात्तद्गतबाधायोग्यतालक्षणस्य सत्यत्वस्य प्रतिपादने तेषामौदासीन्यात्। तदेवं निरस्तसमस्तप्रत्यनीकमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानमिति सिद्धम्।

नन्वस्यानुमानस्य मिथ्यात्वं किमनुमानान्तरेण सिद्धयति? किं वा स्वेनैव? आद्येऽनवस्था—तस्य तस्यानुमानस्य मिथ्यात्वसाधनेऽनुमानान्तरापेक्षणात्। जिज्ञासायां सत्यां तत्तदनुमानप्रवृत्तेर्नानवस्था मूलक्षयकरीति चेत्, न; यद्यदुक्तसाधनं तत्तदुक्तसाध्यमिति व्याप्तिग्रहणसमये तस्य तस्यानुमानस्य

मुपसंहरति—**तदेवमिति**। तथा विमतः संसर्गः एतद्घटैतरसंसर्गान्यतरान्याबाध्यान्यः प्रमेयत्वादित्यादयोऽप्यत्र महाविद्या द्रष्टव्याः।

यद्यपीदमनुमानं घटादिमिथ्यात्वं साधयति तथापि न स्वस्य तत्साधयितुमलम्, आत्माश्रयात्। नाप्यन्येन, अनवस्थापातात्। तथाच नाद्वैतसिद्धिः। धर्मित्वादीनां च कियतां हेतूनामस्मिन्ननुमानेऽनैकान्तिकत्वमित्यभिप्रेत्य प्रत्यवतिष्ठते—**नन्वस्यानुमानस्येत्यादिना**। शङ्कते—**जिज्ञासायामिति**। यदि हि प्रथमानुमानसमसमय एवानन्तानुमानस्फुरणापत्तिः स्यात्तदानुपलब्धिपराहततया मूलक्षयकरी, नात्र तदस्तीत्यर्थः। दूषयति—**यद्यदुक्तसाधनमित्यादिना**। तत्तदनुमानजातस्य मिथ्यात्वेन

रादिकों की उदासीनता है (सत्यता के प्रतिपादन में उनका तात्पर्य नहीं है) अतः समस्त विरोध-विरोधी अनुमानादि के निराकरणपूर्वक प्रपञ्चमिथ्यात्व विषयक अनुमान प्रमाण सिद्ध हुआ।

शङ्का होती है कि अद्वैत सत्य ब्रह्म की सिद्धि (ज्ञान) के लिये उक्त अनुमान से प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि की जाती है। जहाँ प्रपञ्चान्तर्गत इस अनुमान के मिथ्यात्व के ज्ञान विना अद्वैत का ज्ञान नहीं हो सकता है, वहाँ इस अनुमान के मिथ्यात्व की सिद्धि क्या अनुमान्तर से होती है, या स्वेनैव=स्वरूप से ही, स्वकीय मिथ्यात्व सिद्ध होता है। वहाँ प्रथम पक्ष में अनवस्था होगी, क्योंकि तत्तत् उत्तरोत्तर अनुमानों के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिये अनुमानान्तर की अपेक्षा (आवश्यकता) होती जायगी। यदि कहा जाय कि अनुमान के मिथ्यात्व की जिज्ञासा होने पर अनुमान की प्रवृत्ति से मूलक्षयकरी अनवस्था नहीं होगी, क्योंकि यदि प्रथम अनुमान के समय में ही अनन्त अनुमान की स्फुरणापत्ति होती, तो अनन्त की अनुपलब्धि असम्भवादि से बाधित होने से मूलक्षयकरी अनवस्था होती। जिज्ञासित मात्र के अनुमान मात्र में यह दोष नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो जो अनात्मा अंशित्वादि साधन वाला है, वह सब उक्त मिथ्यात्व साध्य वाला है, इस व्याप्तिग्रहणकाल में तत्तत् अनुमानों के मिथ्यात्व के अज्ञात रहने पर, सर्वोपसंहारवाली (सर्वव्याप्य विषयक) व्याप्ति नहीं सिद्ध होगी और तत्तत्

मिथ्यात्वानधिगमे सर्वोपसंहारवती व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् । अधिगमे च तदधिगमाय तत्तदनुमानान्तरं तदैवापेक्षणीयमिति कथय कथं न मूलक्षतिः ? द्वितीये तु स्वात्मनि वृत्तिविरोधः, स्वगतमिथ्यात्वस्य स्वेनैव ग्रहणादिति चेत्, मैवम्; शब्दशब्दवत्प्रपञ्चसत्यत्वानुमानवदध्ययनविधिवच्चाविरोधात् ।

ननु नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनम् ; तस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वात् ।

साध्ययद्वैचक्तित्वात् व्याप्तिग्रहणकाले सर्वेषामेव स्फुरणापत्त्या मूलक्षतेरित्यर्थः । स्वेनैव स्वमिथ्यात्वसाधने दूषणमाह--**द्वितीये त्विति** । तमिममाक्षेपं परिहरति--**मैवम् । शब्दशब्दवदित्यादिना** । यथाहि--शब्दशब्दः शब्दत्वाक्रान्तं शब्दजातं विषयीकुर्वन्स्वमपि विषयीकरोति, यथा वा सर्वप्रपञ्चसत्यत्वानुमानं स्वात्मन्यपि सत्यतां साधयतीति भवद्भिरभिमन्यते, यथा वा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधिः स्वाध्यायशब्दवाच्यसमस्तवेदराशेरध्ययनं विदधानस्तदन्तर्वर्तिनः स्वात्मनोऽपि विधत्ते तेषु यः परिहारोद्धारभेदादिः सोऽत्रापि समान इत्यर्थः ।

अध्ययनविधेर्विधायकत्वमुक्तममृष्यमाणः प्राभाकरः प्राह—**ननु नाध्ययनेति** । नन्वविहितस्य कथमनुष्ठानमित्यत आह—**तस्येति** । ननु श्रूयमाणे विधौ

अनुमानों से मिथ्यात्व के अधिगम (ज्ञान) होने पर, उस मिथ्यात्व के अधिगम के लिये, तत्तदनुमानान्तर की उस व्याप्ति ग्रहण काल में ही अपेक्षा होगी, अनन्त अनुमान समकाल में अपेक्षणीय होगें, तो उनके असम्भव से यह अनवस्था मूलक्षयकरी कैसे नहीं हो, अर्थात् अवश्य मूलक्षयकरी होगी । मिथ्यात्व का अनुमान अपने मिथ्यात्व को भी स्वयं ग्रहण करता है । इस दूसरे पक्ष में तो स्वात्मा में स्ववृत्ति (आत्माश्रय) रूप विरोध है । यदि स्ववृत्ति मिथ्यात्व का अपने ही से ग्रहण होता है तो यहाँ तक पूर्वपक्ष है । अब उत्तर है कि मैवम्–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि शब्द तो यह शब्द (पद) घट-पटादि शब्दों का बोधक होता हुआ शब्दत्वेन अपने स्वरूप का भी बोधक होता है और प्रपञ्च के सत्यत्व का अनुमान अपने को भी सत्यत्वेन सिद्ध करता है और (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) वेद अध्येतव्य है, यह वेदाध्ययन विधि, अन्य वेद वाक्यों के अध्ययन की विधि को प्रतिपादन करती हुई, वेदान्तर्गत अपने अध्ययन की विधि का प्रतिपादन करती है । इसी प्रकार प्रपञ्च के मिथ्यात्व का अनुमान अन्य के मिथ्यात्व को सिद्ध करता हुआ प्रपञ्चत्वेन अपने मिथ्यात्व को भी सिद्ध करता है, अतः कोई विरोध नहीं है ।

लिङ्, लोट्, तव्य, तव्यत् प्रत्ययान्त से विधि मानी जाती है, अतः प्राचीनमतानुसार स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, इस वाक्य से अध्ययन विधि का कथन प्रथम

तथाहि—अध्ययनविधिर्न स्वविषयाध्ययनस्यानुष्ठापनक्षमः; निर्नियोज्यत्वात्। नह्यत्र कामी जीवनादिनिमित्तवान्यः कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयते। नापि विश्वजिदादिवत्कल्पयितुं शक्यः, अध्यापनविधिप्रयुक्तित एव तद्विष-

---

कथमेतत्प्रयुक्तत्वं तत्राह—**तथाहीति**। स्वविषयरूपमध्ययनं स्वविषयाध्ययनम्। ननु यद्यप्यत्र स्वर्गादिवत्काम्यं, नित्य वा जीवनादिवत्किंचिन्निमित्तं न श्रूयते, तथापि यथा 'विश्वजिता यजेत,' 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ती'त्यत्र वाऽश्रूयमाणोऽपि स्वर्गकाम्यधिकारी कल्पितः। तथा हि 'विश्वजिता यजेते'त्यत्राश्रूयमाणोऽधिकारी कल्प्य? उत न? इति संदेहे द्वारमित्यत्र क्रियान्वयं विना कारकाणामिव विषयेण पर्यवसितान्विताभिधानस्य भार्यस्याधिकारिणा विनानुपपत्त्यभावात् अनध्याहार इति प्रापय्य राद्धान्तितम्। कर्तृव्यापारकृतेः कर्त्रा विनानुपपत्तेस्तन्निरूप्यकार्यस्याप्यनुपपत्तिरिति सोऽध्याहर्तव्यः। स चासंबद्धकार्यसंबन्धो न संबद्धयत इति स्वसंबन्धित्वेन कार्यबोद्धा नियोज्यो भवति। तत्रापि सर्वकल्पनायां नैरर्थक्यात् यस्य कस्यचित्कल्पनायां विनिगमनाभावात्सर्वाभिलषितस्वर्गकामोऽधिकारी कल्पितः 'चोदनायां फलाश्रुते'रित्युपक्रम्याधिकरणत्रयेण, 'सः स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वा'दित्यन्तेन। एवं पिण्डपितृयज्ञेऽमावास्यायामिति कालपर? उत कर्मपर? इति संशय्य कर्मपरत्वात्तदङ्गत्वमिति पूर्वपक्षस्य कर्मपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गात् कालपरत्वमादाय स्वतन्त्राधिकारत्वेन स्वर्गकामाधिकार्यध्याहृतः—'पिण्डपितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्या'दित्यत्र, तद्वदत्र किं न स्यादित्यत आह—**नापि विश्वजिदादिवदिति**। ननु 'तमध्यापयीते'त्यत्रापि न कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयतेऽतो निर्नियोज्यत्व-

---

किया गया है, परन्तु यहाँ प्रभाकर जी का कहना है कि, अध्ययन विहित अध्ययन का अनुष्ठान नहीं किया जाता है। क्योंकि उस अध्ययन का अनुष्ठान अध्यापन विधि से होता है। वह दर्शाया जाता है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, यह अध्ययन विधि, अपने विषय (अर्थ) रूप अध्ययन के अनुष्ठापन (साधन = उत्पादन) में क्षम (समर्थ) नहीं है, क्योंकि यह अध्ययन विधि, निर्नियोज्य (अधिकारी रहित) है, अर्थात् यह विधि अध्ययन का विधान करती हैं, परन्तु जिसको विधि से नियोग (प्रेरणा) किया जाय, अध्ययन में नियुक्त (प्रवृत्त) किया जाय, उस को यह विधि नहीं बताती है। क्योंकि इस विधि में (दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत) स्वर्ग की इच्छा वाला दर्शपौर्णमास नामक यज्ञ द्वारा स्वेष्ट का सम्पादन करे, इस वाक्य गत स्वर्गका मी के समान कोई कामी अधिकारी नहीं श्रुत है। न 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'—जीवन काल में सदा अग्निहोत्र करे, इसके समान जीवनादिनिमित्तक कोई नियोज्य प्रतीत होता है और 'विश्वजिता यजेत' इत्यादि में नियोज्य के नहीं रहते भी कर्ता के बिना विधान की अनुपपत्ति से

यस्याध्ययनस्य सिद्धौ नियोगसिद्धेः कल्पकाभावात् । नचाध्यापनविधेरपि निर्नियोज्यतयाननुष्ठापकत्वम्, आचार्यकरणकामस्य नियोज्यस्य प्रतीतेः । तथा हि—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीते'ति श्रूयते । तत्र 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणे'ति सूत्रेणाचार्यकरणे नयतेरात्मनेपदविधानात्,

---

मुभयोः समानमिति कथमेतत्प्रयुक्तविषयत्वमितरस्य, तत्राह—**न चाध्यापनेति** । हेतुमाह-**आचार्यकरणकामस्येति** । आत्मनो यदाचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादनं तत्कामस्येत्यर्थः । नन्वाचार्यकरणकाम इत्यपि न श्रूयते इति तत्राह—**तथा हि ह्यष्टवर्षमिति** । श्रूयतां नाम, तावतापि किमायातमाचार्यकरण इति तत्राह—**तत्र संमाननेति** । 'समाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' । अयमर्थः—यद्यपि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इति कर्तृगामिफलाभिधायिनो नयतेरात्मनेपदं सिद्धं तथाप्यकर्त्रभिप्रायार्थोयमारम्भः, संमाननादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु नयतेर्धातोरात्मनेपदं स्यात् । तत्र संमाननं पूजनं, यथा नयते चार्वी लोकायते, चार्वो बुद्धिमानाचार्यो लोकायते मते शिष्यान्नयते । ते हि सद्युक्तिभिराचार्येण प्रतिष्ठापितबुद्धयः सन्तः पूजिता भविष्यन्ति इत्यात्मनेपदार्थः । उत्सञ्जनमुत्क्षेपणं, यथा माणवकमुन्नयते उत्क्षिपतीत्यर्थः । आचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादनं, यथा माणवकमुपनयते आत्मानमाचार्यीकर्तुं माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः, यथा नयते चार्वी लोकायते तन्मते प्रमेयत्वं निश्चिनोतीत्यर्थः । भृतिर्वेतना, यथा कर्मकरानुपनयते, भृतिदानेन समीपीकरोतीत्यर्थः । विगणनमृणादेर्निर्यातनं, यथा मद्राः करं विनयन्ते, करदानेन निवर्तयन्तीत्यर्थः । व्ययो धर्मादिषु विनियोगः, यथा शतं विनयते सहस्रं विनयते, धमार्थं विनियुङ्क्ते इत्यर्थः । अथ कथमेतेष्वित्युक्तम्, अजां ग्रामं नयती-

---

सभी के प्रति स्वर्गरूप सामान्य फल के कामी अधिकारी की जैसे कल्पना (अध्याहार) होती है, वैसे यहाँ अधिकारी (नियोज्य) की कल्पना (अध्याहार) के योग्य (शब्द) नहीं है । क्योंकि अध्यापनविधि-निमित्तक ही अध्यापन के विषयरूप अध्ययन की सिद्धि होने पर नियोग = अध्ययन विधि की सिद्धि से कल्पक (अध्याहार के हेतु) अनुपपत्ति का अभाव हो जाता है । यदि कहा जाय कि अध्यापन विधि भी निर्नियोज्य है, अतः वह भी अध्ययन-अध्यापन का अननुष्ठापक (असाधक) होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अध्यापन विधि में अपने में आचार्यत्व को सिद्ध करने की कामना वाले नियोज्य की प्रतीति होती है । प्रतीति का हेतु श्रुति है कि ('अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत') आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन (यज्ञोपवीतादि संस्कार) करे और फिर उसको अध्ययन करावे । यहाँ उपनयीत, इस पद में (सम्माननोत्सञ्जनाऽऽचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः) सम्मान = सम्पूजन, उत्सञ्जन (उत्क्षेपण) आचार्यत्वसम्पादन, ज्ञान,

'उपनयीत, तमध्यापयीते'ति चोपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतावगमात्, उपनयनपूर्वकाध्यापनसाध्याचार्यत्वप्रतीतौ तत्कामिनो नियोज्यत्वावगमात् न निर्नियोज्यताध्यापनविधेः। तथा च स्वविषयस्याध्यापनस्यानुष्ठानं प्रयुञ्जानोऽध्यापनविधिस्तन्निष्पादकमध्ययनमपि प्रयुंक्ते, तेन विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणेनान्यत एवाध्ययनसिद्धेर्नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति।

त्यादिषु विनिवृत्तये इति। तस्मादुपनयीतेति श्रौतमेवाचार्यकरणमित्यर्थः। ननु भवतूपनयनस्याचार्यकरणं फलं तत्र श्रूयत इति, किमायातमध्यापनस्य सनियोज्यत्व इति तत्राह—**उपनयीत तमध्यापयीतेति चेति। एकप्रयोगतेति।** 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत उपनीय च तमध्यापयीते'ति क्त्वाश्रुतेरेकप्रयोगतावगम्यते वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेतेतिवदित्यर्थः। तथा चैकदेशस्य वानुष्ठानात्फलासिद्धिरिति सोपनयनाध्यापनादाचार्यत्वसिद्धिरिति भावः। तथा च स्मृतिः—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते' ॥ इति। (मनु० २।१४०)

ननु भवतूपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतयाङ्गाङ्गिभावावगमादङ्गे श्रुतस्याङ्गिनि उपसंहारस्तस्य त्वनित्यस्याचार्यकरणस्य कथं नियोज्यविशेषणत्वं, नह्यत्र स्वर्गादिवत्कामिशिरस्कत्वं प्रतीयते इत्यत आह—**तत्कामिन इति।** रात्रिसत्रन्यायेन फलत्वं विपरिणम्यते इति भावः। नन्वध्यापनविधिः स्वविषयमध्यापनं विहाय कथमध्ययनं प्रयुञ्जीतेत्याशङ्क्याह—**तथा च स्वविषयस्येति।** ननु विधिर्हि सर्वत्र स्वविषये तदङ्गे वा पुरुषमनुष्ठापयति, नचाध्यनस्याध्यापनाङ्गत्वे किंचन श्रुत्यादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति, नचोपकारमात्रादङ्गत्वं, गोदोहनधनार्जनादेरप्यङ्गत्वप्रसङ्गात्। नचैतद्युक्तम्, उक्तं हि 'यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वादि'ति तत्राह—**तेन विध्याक्षेपेति।** तार्कीयप्रमाणाभावेपि चातुर्थिकमस्ति प्रमाणमित्यर्थः।

वेतन, विगणन = ऋणार्पणादि और व्यय, इन अर्थों में णीञ् धातु से आत्मनेपद होता है। इस सूत्र से आचार्यकरण अर्थ में, णीञ् धातु से आत्मने पद का विधान् किया गया है और उपनयीत, अध्यापयीत, इन वाक्यों से उपनयन, अध्यापन इन दोनों की एक प्रयोगता (एकवाक्यता = एकसाध्यसाधनता) अवगत (ज्ञात) होती है। अतः उपनयनपूर्वक अध्यापन से साध्य आचार्यत्व की प्रतीति होने पर, उस आचार्यत्व के कामी की नियोज्यता (अधिकारिता) की प्रतीति होती है, अतः अध्यापन विधि को निर्नियोज्यता (निरधिकारिता) नहीं है। इस प्रकार अध्यापन विधि के सनियोज्य होने पर वह अध्यापन विधि ही अपने विषय अध्यापन को सिद्ध (प्रयुक्त) करती हुई, उस अध्यापन के साधक अध्ययन को भी सिद्ध करती है (अध्ययन में अध्येता का प्रवर्तक होती है)। अतः विधि का आक्षेप

अत्रोच्यते—भवतु नाम सनियोज्यताऽध्यापनविधेः, तथापि नाध्यापनविधिप्रयुक्तताऽध्ययनस्य सिद्ध्येत्; कामाधिकारे करणांशे रागस्यैव प्रवर्तकत्वात्, अध्यापनस्यापि काम्यत्वात्, तद्विषयरागेणैव तन्निष्पादकेऽध्ययनेऽनुष्ठानलाभात् अध्यापनविधेरनुष्ठापकत्वकल्पनानुपपत्तेः। नचाध्यापनाङ्गत्वादध्ययने विधितः प्रवृत्तिराशङ्कनीया; तत्र श्रुत्यादीनामन्यतमप्रमाणस्यादर्शनात्। नचाध्यापनविधिप्रयुक्तत्वादध्ययनस्य तदङ्गत्वं; प्रयुक्ते-

समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यते इति। अत्र तावदध्यापनविधेरपि समानमेव निर्नियोज्यत्वमुपनयनस्याङ्गत्वेन तत्र श्रूयमाणस्यापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वादुपसंहारायोगादङ्गीकृत्यापि तावदुपादानमन्यथैवोपपत्त्या दूषयति—भवतु नामेति। हेतुमाह—कामाधिकार इति। अधिकारो नियोगः एष हि प्राभाकरराद्धान्तः। अन्यतोऽप्रवृत्तः खलु पुरुषः शास्त्रेण प्रवर्तनीयस्तथा च काम्यनियोगेषु फलवदेव करणांशेपि रागतः एव प्रवृत्तः, इतिकर्तव्यतासु तु शास्त्रेण प्रवृत्त इति। अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह—अध्यापनस्यापीति। ननु भवतु करणांशेऽध्यापने कामतः प्रवृत्तिस्तदङ्गेऽध्ययने किमिति विधिर्न प्रवर्तयति ज्योतिष्टोमाङ्गेष्विव दीक्षणीयादिषु, न च दृष्टार्थत्वादविधेयत्वं; तत्तन्नियमोपेताध्ययनजन्यादृष्टस्यावघातादिष्विवान्यतोऽप्राप्तस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—न चाध्यापनेति। ननु श्रुत्यादिप्रमाणभावेपि तत्प्रयुक्तत्वलक्षणोपादानप्रमाणात्तदङ्गत्वमुक्तमिति तत्राह—न चाध्यापनविधीति।

रूप अध्ययन के विना अनुपपत्ति से, अध्ययन का आक्षेप रूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही अध्ययन की सिद्धि होने से अध्ययनविधिनिमित्तक अध्ययन नहीं होता है।

अब यहाँ इस शंका का समाधान कहा जाता है कि उक्त रीति से अध्यापन विधि को सनियोज्यता = (साधिकारिता) हो, तो भी अध्यापन विधि प्रयुक्तता (अध्यापन विधि साध्यता) अध्ययनविधि को नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि प्रभाकर का ही सिद्धान्त है कि कामाधिकार (कामविधि) में काम्य कर्म रूप करण अंश (यज्ञादि) में राग ही को प्रवर्तकत्व (प्रवृत्तिहेतुत्व) होता है—विधि को नहीं और अध्यापन भी काम्य कर्म है, अतः उस अध्यापन विषयक राग से ही, उस अध्यापन के निष्पादक (साधक) अध्ययन विषयक अनुष्ठान (प्रवृत्ति) के लाभ (सिद्धि) हो जाने से अध्यापनविधि को अध्ययनानुष्ठापकत्व (साधकत्व) कल्पना अनुपपन्न (अयुक्त) हो जाता है। अध्ययन में अध्यापन की अङ्गता से अध्ययन में अध्यापन विधि से ही प्रवृत्ति होती है। यह शंका भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि अध्ययन में अध्यापन की अङ्गता का बोधक श्रुति आदि रूप कोई प्रमाण नहीं दीख पड़ता है। श्रुति = विधायकादि स्वतन्त्रवचन १। शब्दसामर्थ्य रूप लिङ्ग २। सापेक्ष वचन रूप समभिहार वाक्य, ३। उभयाऽऽकांक्षा रूप प्रकरण, ४। देश-

व्यभिचारात्। न हि 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति इत्यादौ भेदनादिना प्रयुच्यमानो होमस्तदङ्गमङ्गीक्रियते। तत्प्रयुक्तेरध्ययनस्याद्याप्यसिद्धेः, अङ्गत्वेन प्रयुक्तिः प्रयुक्तौ च तदङ्गत्वमिति परस्पराश्रयता च। किं चाध्यय-

---

भिन्ने जुहोतीत्यादौ भेदनादीनां निमित्तत्वेन नैमित्तिकहोमं प्रति प्रयोजकत्वमस्ति, अथ च नाङ्गित्वं; भेदनादीनां निमितत्वेनाननुष्ठेयतयाङ्गित्वानुपपत्तेः। अतः प्रयुक्तिर्व्यभिचारणीत्यर्थः। अङ्गीकृत्य प्रयुक्तिमेतदुक्तं सैव तु नास्तीत्याह— **तत्प्रयुक्तेरिति**। रागस्यैवोभयत्र प्रयोजकत्वादिति भावः। नन्वङ्गत्वात्प्रयुक्तिरित्यत आह—**अङ्गत्वेन प्रयुक्तिरिति**। किंच नोपादानात्मकं किंचिन्मानं; मेयानिरूपणात्। तस्माच्छ्रुत्यादिषट्केण विनियोगो, नचात्र ते, यत्तु प्रोक्षणादेः क्रत्वर्थत्वमुपादानलभ्यमिति तन्न; श्रुत्यैवापूर्वसाधनत्वे व्रीह्यादिगते विनियोगात्। तथापि कथमपूर्वार्थत्वम् ? उच्यते—व्रीहीणां तण्डुलपिष्टपुराडाशयागप्रणालिकयाऽपूर्वसाधनत्वमस्ति तथाविधांश्चोद्दिश्य विधीयमानं सर्वस्य द्वारद्वारिभावव्यवस्थितस्याङ्गं भवतीति, पश्वेकत्वादीनामपि श्रुत्यैव विनियोगसिद्धिः, ज्योतिष्टोमादेश्च फलार्थत्वं वाक्यादिभिरिति। यच्च निर्नियोज्यत्वमध्ययनविधेरुक्तं तदपि दूषयति—**किं चाध्ययनविधाविति**। पूर्ववादी नियोज्यानङ्गीकारे कारणमाह—**अनुष्ठान-**

सामान्य रूप स्थान ५। यौगिक शब्द रूप समाख्या ६। ये छः अङ्गता के बोधक प्रमाण होते हैं, वह यहाँ नहीं है। यदि कहा जाय कि अध्यापन विधि से प्रयुक्त (अध्यापन विधि की सिद्धि के लिये अध्यापन विधि निमित्तक अध्ययन विधि के होने से अध्ययन को उस अध्यापन के अङ्गत्व) है, अतः अध्यापन विधि से अध्ययन में प्रवृत्ति होती है तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रयुक्ति का व्यभिचार है। अर्थात् जो-जो जिस-जिस से प्रयुक्त हो, सो-सो उस-उस प्रयोजक का अङ्ग हो ऐसी व्याप्ति नहीं है। व्याप्ति होती तो अध्यापन विधि से प्रयुक्त अध्ययन अध्यापन का अङ्ग होता, और भिन्ने जुहोति, स्कन्ने जुहोति, कपाल के भिन्न = सच्छिद्र होने पर हवन करे, यहाँ कपाल के भेदन, छेदन, हवन का प्रयोजक (निमित्त) होता है, परन्तु भेदनादि की अङ्गता को होम में नहीं माना जाता, अतः प्रयुक्ति के व्यभिचारी होने से अङ्गत्व का साधक नहीं है और वस्तुतः अध्यापन से अध्ययन की प्रयुक्ति (सिद्धि) की अभी सिद्धि (निर्णय) नहीं हुई है, क्योंकि राग ही अध्ययन-अध्यापन दोनों में प्रयोजक (हेतु) है और अङ्गत्व से प्रयुक्ति (साध्यता) से उसका अङ्गत्व, इस प्रकार से अन्योन्याश्रयता की प्राप्ति होती है और यह भी विचारणीय है कि अध्ययन विधि में अधिकारी को मानने वाले आप उस अधिकारी को नियोज्य (विधि विषय) क्यों नहीं मानते हैं। यदि कहें कि कर्मानुष्ठान की सिद्धि के नियोज्य की अपेक्षा होती है, वह

नविधावधिकारिणमङ्गीकुर्वता नियोज्यः कस्मान्न स्वीक्रियते इति वाच्यम्? अनुष्ठानसिद्धये नियोज्योऽपेक्षितव्य तच्चान्यत एव सिद्धमिति नासावङ्गीक्रियत इति चेत्; तर्हि अधिकार्यपि नापेक्षणीयः, अनुष्ठानस्यान्यत एव सिद्धेः। अधिकारी विधिपर्यवसानायापेक्ष्यत इति चेत्; नियोज्येऽपि तुल्यं, तेनापि विना नियोगापर्यवसानात्। अन्यतोपि विषयानुष्ठानसिद्धया च नियोगसिद्धौ का नाम विधेरपर्यवसानवाचोयुक्तिः? किं च तमध्यापयीतेति

सिद्धये इति। दूषयति—**आधिकार्यपीति**। अनुष्ठानार्थमधिकार्यपेक्षा तच्चेदन्यतः सिद्धं किमर्थमधिकार्यपेक्ष्यत इत्यर्थः। शङ्कते—**अधिकारीति**। अयमभिसंधिः—यद्यपि कार्यमेव नियोगापरपर्यायं वाक्यार्थस्तथापि तदेवेष्टसाधनतानिबन्धनं यथाहुः—'फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यते'ति। तच्चेष्टसाधनत्वं कस्येति भोक्तारमधिकारिणमाकाङ्क्षमाणं न तावत्पर्यवस्यति यावन्नाधिकारिविशेषप्रतीतिरिति, तदेतन्नियोज्येपि तुल्यं नियोगस्यापि नियोज्यव्यतिरेकेणापर्यवसानादिति परिहरति—**नियोज्येपीति**। आपाद्यदूषणमिदम्, आधानादिनियोगेषु तैरनङ्गीकारात्। किं च विषयसिद्धिद्वारा स्वसिद्धिर्हि विधेः पर्यवसानं सा चेदन्यतोपि सिद्धा पर्यवसित एव विधिरित्यधिकार्यपेक्षापि निर्निबन्धनेत्याह—**अन्यतोपीति**। अध्यापनस्य विधेयत्वमङ्गीकृत्यैतदुक्तं तदेव नास्तीत्याह—**किं चेति**। तत्र किं वृत्त्यर्थे यदध्यापनं तदेव

अनुष्ठान (अन्य) अध्यापन विधि से सिद्ध हो जाता है। अतः नियोज्य मानने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः वह नियोज्य नहीं माना जाता, तो वह कहना भी उचित नहीं। ऐसा होने पर तो अधिकारी भी अपेक्षणीय नहीं होगा, क्योंकि अनुष्ठान (अध्ययन) की सिद्धि भी अध्यापन से ही हो जाती है। भाव यह है कि अधिकारी ही नियोज्य होता है कि जो कर्मजन्य फल के अधिकारी अपने को समझता है, फिर अधिकारी को मानकर नियोज्य को नहीं मानना वाङ्मात्र है। यदि कहा जाय कि कर्तव्य कर्म विधि वाक्य का अर्थ होता है और कर्म में कर्तव्यता इष्टसाधनता से होती है और वह इष्टसाधनत्व किसका होना चाहिये, ऐसी आकांक्षा के होने पर, इष्टफलभोक्ता अधिकारी के बिना विधि का पर्यवसान (अन्त) नहीं होता है, अर्थात् विधि पूर्ण नहीं होती है, अतः विधि के पर्यवसान (सर्वथा समाप्ति = पूर्णता) के लिये अधिकारी अपेक्षणीय होता है। तो कहा जाता है कि नियोज्य के विषय में भी यह तुल्य ही अपूर्णत्व है। क्योंकि नियोज्य (नियोगरूप विधि विषय) के बिना, नियोग आदि (आज्ञा आदि) का अपर्यवसान होता है और जब अन्य अध्यापन विधि से भी उसका तथा अध्ययन विधि का विषय अध्ययन-अध्यापन सिद्ध होता है, उसकी सिद्धि से नियोग (विधि) भी सिद्ध ही हो गया। नियोग (विधि) की सिद्धि हो गई। अब विधि के अपर्यवसानवाक्

च नायमध्यापने विधिः; वृत्त्यर्थत्वेनाध्यापनस्य याजनवत्प्राप्तत्वात्। उक्तं हि—

'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः' ॥ इति। (मनु. १०।७६)

'तस्माद्यथैतयाऽन्नाद्यकामं याजये'दित्यादिषु याजनं न विधीयते, किन्तु एतयान्नाद्यकामो यजेतेति वाक्यार्थः। तथेहाप्य'ष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्सोधीयाते'ति वाक्यार्थः स्वीकार्यः। नचालौकिकनियोगार्थत्वेनाध्यापने विधिः; याजनेति तथाप्रसङ्गात्। अपि चाध्ययनं नित्यं—

विधेयम्? उतालौकिकनियोगार्थः कश्चित्? नाद्य इत्याह—**वृत्त्यर्थत्वेनेति**। अध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहात्मकानां षण्णां कर्मणां मध्ये त्रीणि जीविका जीवनसाधनम्। तान्येवाह—**याजनेत्यादिना**। ननु यदि न विधानं कथं तर्हि उपनयीताध्यापयीतेति विधीयत इत्यत आह—**तस्माद्यथैतयेति**। एतयाऽवेष्टया, यथाहि न तावद्यथाश्रुति याजनं विधातुं शक्यं वृत्त्यर्थत्वेन तत्र स्वत एव प्रवृत्तत्वादतोऽप्राप्तप्रयोज्यरूपसाक्षात्कर्तृव्यापारयागपरो विधिस्तथेहाप्यन्यतोऽप्राप्तप्रयोज्यमाणवकव्यापारावुपगमनाध्ययने विधीयते इत्यर्थः। न द्वितीय इत्याह—**नचालौकिकेति**। सिंहावलोकितेन अध्यापनविधेयत्वपक्ष एव दूषणान्तरमाह—**अपि चाध्ययनमिति**।

की युक्ति क्या है। यह कथन निष्फल है और यह भी विचारणीय है कि वृत्ति (जीविका) के लिये जो अध्यापन प्रसिद्ध है, उसीका (तमध्यापयीत) इससे विधान माना जाता है। या किसी अलौकिक नियोग (पुण्य) के लिये विधि मानते हैं। वहाँ प्रथम पक्ष में विधि नहीं हो सकता है, अनुवाद ही सकता है। क्योंकि वृत्त्यर्थक रूप से अध्यापन याजनादि के समान प्राप्त (सिद्ध) है। अतः अध्यापन विषयक विधि ही नहीं है कि जिसके अङ्गादि रूप से अध्ययन की सिद्धि हो। मनुस्मृति में कहा गया है कि यजन = यज्ञ करना १, याजन = यज्ञ कराना २, अध्ययन ३, अध्यापन ४, दान करना ५, और प्रतिग्रह = दान लेना ६, इन षट् कर्मों में याजन, अध्यापन और विशुद्ध परिग्रह ये तीन कर्म ब्राह्मण के जीविका रूप हैं। अतः जैसे (एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत) इस श्रुति का अर्थ यद्यपि प्रतीत होता है कि (इस अवेष्टि = कर्म द्वारा आद्य = अदनीय अन्न की कामना वाले को यजन (यज्ञ) करावें तथापि मीमांसा में माना गया है कि 'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत' इत्यादि में याजन का विधान नहीं किया जाता है, किन्तु (एतयाऽन्नाद्यकामो यजेत) इस अवेष्टि द्वारा आद्य अन्न की कामना वाला यज्ञ करे, यह इस श्रुति रूप वाक्य का अर्थ है। इसी प्रकार यहाँ भी मान्य अर्थ है कि (अष्ट वर्षों ब्राह्मण उपगच्छेत्सोऽधीयीत) आठ वर्ष का ब्राह्मण गुरुकुल में जाय और वह

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥'

इत्यादिनाऽकरणे प्रत्यवायस्मरणात् । अध्यापनं चानित्यं; काम्यत्वात् । तथाच कथं नित्यमनित्येन प्रयुज्येत, विरोधात् । तस्मादध्ययनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमिति न दृष्टान्तासिद्धिः । अस्तु वाध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनं तथाप्यध्यापनविधिरखिलवेदवाक्याध्यापनं विदधानः स्ववाक्याध्यापनमपि

सान्वयः सवंशः । **विरोधादिति** । काम्यं हि कामनाधीनं कामना हि कादाचित्की उपायान्तरादपि तत्फलप्राप्ती यदा स्वविषयं नानुष्ठापयति तदा नित्यमध्ययनं कथं प्रयुञ्जीत; अविद्यमानस्याप्रयोजकत्वात् । अथ स्वयमपि यावत्प्रयोज्यं विद्यमानं तदा काम्यत्वविरोध इति । अलं वा गुरुभिर्विवादेन । 'भवत्वध्ययनमध्यापनविधिप्रयुक्तं तथापि स एवाध्यापनविधिर्दृष्टान्त इत्याह—**अस्तु वेति** ।

अध्ययन करे । और अलौकिक नियोगार्थत्व (आज्ञा) रूप से भी अध्यापन विषयक विधि नहीं हो सकती है, क्योंकि अध्यापन विधि के अलौकिक नियोगार्थक (नियुक्त्यर्थक) होने पर, याजन में भी वैसी ही विधि प्राप्त होगी, वह इष्ट नहीं है और दूसरी एक वात यह है कि, अध्ययन रूप कर्म नित्य कर्म है । क्योंकि "जो द्विज वेदों का अध्ययन नहीं करके अन्य कर्मादि में श्रम करता है, वह अन्वय (वंश सहित) जीवन काल में ही शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त करता है ।" इत्यादि स्मृतियों से अध्ययन के अकरण (अभाव) में प्रत्यवाय (पापदोष) कहा गया है और नित्य कर्म के ही अभाव से प्रत्यवाय माना जाता है, काम्य कर्म के अभाव से नहीं । और अध्यापन अनित्य कर्म है, क्योंकि वह काम्य कर्म है तो फिर नित्य कर्म अनित्य से कैसे प्रयुक्त (सिद्ध) होगा । क्योंकि जीविका निमित्त अध्यापन का किसी अन्य प्रकार से जीविका की सिद्धि काल में अभाव भी हो सकता है, फिर स्वभाव काल में वह अध्यापन अध्ययन का प्रयोजक (साधक) नहीं हो सकता है और नित्य अध्ययन के नियोजन (साधन) के लिये अध्यापन की भी नित्य वर्तमानता मानी जाय तो, उसकी काम्यता से विरोध होता है । काम्यता नित्यता दोनों विरोधी हैं, अतः एक अध्यापन में रह नहीं सकती है । अतः अध्ययनविधिप्रयुक्त (अध्ययन विधि निमित्तक) ही अध्ययन होता है, इससे मिथ्यात्व के अनुमान में अध्ययन विधि का उक्त दृष्टान्त की असिद्धि नहीं है, किन्तु स्वाध्याय विधि वाक्य जैसे स्वविषयक अध्ययन का विधायक होता है, वैसे मिथ्यात्वानुमान स्वविषयक मिथ्यात्व को सिद्ध करता है । अथवा विवाद की आवश्यकता नहीं है । अध्यापन विधि प्रयुक्त (हेतुक) ही अध्ययन हो, तथापि अध्यापन विधि, जैसे सब वेद वाक्यों के अध्यापन का विधान करती हुई, स्वविषयक अध्यापन का

विद्यत्त इति स एव दृष्टान्तो भविष्यतीत्यलमतिविस्तरेण।

तथैकमवाद्वितीयमित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम्। नचाद्वितीयशब्दस्तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरः; संकोचे कारणाभावात्, एकत्वविशेषणेनैव सजातीयस्य निषेधत्वात्, सजातीयमात्रनिषेधपरत्वे चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानस्य वाचारम्भणशब्दस्य चैतदात्म्यमिदं सर्वमित्याद्युपसंहारस्य च बाधप्रसङ्गात्। नत्वेकमित्येकत्वसंख्याविधानपरं तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरिति वाच्यम्; एकं रूपमेका संख्या एकोऽभाव इत्यादावपि प्रयोगात्। आनन्त्यमप्युभयान्ताभाव एव, तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरित्यपि न; पूर्वापर-

---

तदेवमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वे प्रमाणमभिहितम्। अथागममपि प्रमाणयति—**तथैकमेवेति**। पूर्वपक्षोक्तदूषणमनूद्य दूषयति—**नचेति**। **संकोच इति**। अद्वितीयमित्यत्र द्वितीयमात्रवाचिनो द्वितीयशब्दस्य द्वितीयविशेषे तन्निष्ठनिषेधकनञस्तद्विशेषनिषेधे वा संकोचे प्रमाणाभावादित्यर्थः। अन्यतः सिद्धत्वाच्च नानेन तन्निषेध्यमित्याह—**एकत्वविशेषणेति**। किंच सजातीयमात्रनिषेधपरत्वे समस्तद्वैतनिषेधपरताप्रतिपादकोपक्रमपरामर्शोपसंहाराणाच्च विरुद्धयेरन्नित्याह—**सजातीयेति**। नन्वेकशब्दो न सजातीयनिषेधपरोऽपितु एकत्वसंख्याविधानपरः। यथाह मानमनोहरकारः—'एकत्वसंख्यामाचष्टे तत्रैव लोके व्युत्पत्तेः लोकशक्तेश्च वेदे बोधकत्वा'दिति। तत्राह—**नचैकमिति**। संख्यारहितेष्वपि रूपसंख्याभावेषु प्रयोगाद्बाधकाभावाच्च औपचारिकत्वशङ्कापीति भावः। यत्तु तेनैवोक्तम् 'आनन्त्यं पुनरुभयान्ताभाव एव तत्रैव लोके व्युत्पत्तेरि'ति तदप्यनूद्य दूषयति—**आनन्त्यमपीति**। तत्र हेतुः—**पूर्वापरेति**।

भी विधान करती है। वैसे ही मिथ्यात्व अनुमान भी स्वकीय मिथ्यात्व को भी सिद्ध करेगा, इस प्रकार से वह अध्यापन विधि ही दृष्टान्त होगा, अतिविस्तार की आवश्यकता नहीं है।

जैसे अनुमान प्रपञ्च के मिथ्यात्व में प्रमाण है, वैसे ही "एक मेवाद्वितीयम्" इत्यादि आगम = शास्त्र = श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं। इस श्रुति में अद्वितीय शब्द ब्रह्म सजातीय वस्त्वन्तर के निषेधार्थक है, यह प्रथम कहा था वह युक्त नहीं है। विजातीय निषेधादि से संकोच में कोई कारण नहीं है, और कारण के बिना सामान्य निषेधपरक वाक्य विशेषार्थपरक नहीं हो सकता है। और एकत्व विशेषण से ही विजातीय निषिद्ध हो जाता है, अतः वह सजातीय का निषेध अन्यथासिद्ध है। अद्वितीय पद से उसका निषेध कर्तव्य नहीं है। और यदि सजातीय मात्र के निषेधार्थक अद्वितीय शब्द हो, तो एक के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा रूप समस्त द्वैत निषेधविषयक तात्पर्य वाला उपक्रम का, तथा वाचारम्भण शब्द रूप परामर्श = उपपत्ति का और एतदात्म्यमिदं सर्वम्,

कालानवच्छेदस्यैवेहानन्तपदेन विवक्षायां नित्यमाकाशमनन्तं चेति प्रयोगानुपपत्तिप्रसङ्गात्। न चान्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणे व्युत्पत्त्यभावो दोषः; अन्तशब्दस्य देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्ने व्युत्पन्नत्वात्तस्य

अस्ति तावन्नित्यमाकाशमनन्तं चेति प्रयोगः, तत्र यद्यन्तपदेनैव पूर्वापरकालावच्छेदरूपोभयान्तोऽभिधीयते तन्निषेधश्चानन्तपदेनोच्यते तदा नित्यशब्दः पुनरुक्तः स्यादित्यर्थः। अथ देशकालकृतोऽन्तः उभयान्तस्तथापि पुनरुक्तिरिति भावः। यत्तु पूर्वपक्षिणा व्युत्पत्त्यभावोऽभिहितस्तं दूषयति—**न चान्योन्याभावेति**। सर्वत्र ह्यभाववाचकशब्दानां प्रतियोगिवाचकशब्दव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्तिस्तत्कुतो हेतोः? यौगिकत्वाद्यौगिकानां चावयवव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्तेः समुदायव्युत्पत्त्यनपेक्षणात्। तदिहान्तपदस्यावच्छेदत्रये व्युत्पत्तेर्नञस्तन्निषेधव्युत्पन्नत्वान्न पृथक् समुदायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षेत्याह—**अन्तशब्दस्येति**। यत्तु नेह नानेत्यत्र ब्रह्मणि नानात्वनिषेधादेकं

इस स्वरूप ही सब संसार है, इस उपसंहार का बाध प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि श्रुतिगत एक शब्द सजातीय द्वैत के निषेधार्थक नहीं है किन्तु 'एकम्' यह शब्द एकत्व संख्या के विधानपरक है, क्योंकि एकत्व संख्या में ही उस एक शब्द की व्युत्पत्ति (शक्ति-ग्रह) होती है। तो वह कहना अयुक्त है, क्योंकि, एकं रूपम्, एका संख्या, एकोऽभावः, इत्यादि वाक्यों में भी एक शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु रूप, संख्या, और अभाव में, एकत्व संख्या रहती नहीं है, किन्तु द्रव्यमात्र वृत्ति गुणात्मक संख्या होती है। और एक शब्द के सजातीय निषेध परता में कोई बाध नहीं है, अतः सजातीय निषेधपरक ही श्रुति में एक शब्द है। और अनन्तता भी पूर्वापर अन्त = प्रागभाव प्रध्वंस का अभाव ही है, क्योंकि उभय अन्त के अभाव में अनन्त शब्द की व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) होती है। यह कथन भी युक्त नहीं है। क्योंकि पूर्वापर काल के अनवच्छेद (अन्तरहितत्व) मात्र ही यहाँ अनन्त पद से विवक्षित हो, तो (नित्यमाकाशमनन्तञ्च) इस प्रयोग की अनुपपत्ति (असिद्धि) प्राप्त होगी। क्योंकि नित्य शब्द से ही पूर्वापर परिच्छेद का अभाव कहा जाता है, अतः नित्य शब्द के साथ पठित अनन्त शब्द पुनरुक्त या अनर्थक होगा और जो यह कहा था कि, अन्योन्याऽभावाधिकरणत्व के अनधिकरणार्थ में अनन्त शब्द की व्युत्पत्ति नहीं है, अर्थात् सर्वभेदरहित अखण्डार्थ में अनन्त शब्द की शक्ति नहीं है, अतः उस व्युत्पत्ति का अभाव ही अद्वैतवाद में दोष है, वह दोष भी नहीं है। क्योंकि यौगिक शब्दों में अवयवों में अवयव की व्युत्पत्ति से समुदाय व्युत्पत्ति सिद्ध होती है, और अभाववाचक शब्दों की प्रतियोगिवाचक की व्युत्पत्ति से व्युत्पत्ति होती है। प्रकृत में अन्त शब्द देश, काल और वस्तु से

नञ्समासे त्रिविधस्याप्यन्तस्य निषेधकतोपपत्तौ पृथग्व्युत्पत्त्यनपेक्षत्वात्। "नेह नानास्ति किंचने"ति च न ब्रह्मणि नानात्वं निषिध्यते; अप्रसक्तत्वात्। नहि लोकतः श्रुतितो वा वादिप्रसिद्धितो वा ब्रह्मणि नानात्वं प्रसक्तं येन प्रतिषिद्ध्येत। नानाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तताभावाच्च न नानात्वनिषेधः। तन्निषेधे वा संकोचे कारणाभावात् सजातीयविजातीयस्वगतनानात्वनिषेधाद् ब्रह्माद्वैतमेव पर्यवस्येदिति स एव घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तः प्रसज्येत।

ब्रह्मेति सिद्ध्यति न तु द्वैतनिषेध इत्युक्तं तन्निषेधति—**नेह नानेति**। अयमभिसन्धिः—प्रसक्तं हि सर्वत्र निषेध्यं, नाप्रसक्तम्। यत्र तु क्वचिदप्रसक्तस्यापि निषेधो यथा "नान्तरिक्षे न दिवि" इत्यत्र, तत्र गत्यन्तरं नास्ति। नच तत्रापि निषेधपरत्वं, अर्थवादो ह्ययं रुक्मोपधानस्य, रुक्ममुपदधातीत्यनेनैकवाक्यत्वात्, तस्माद्यथाकथंचन तत्स्तुतावेव तात्पर्यम्। अत्र तु द्वैतनिषेधपरत्वमिति वैषम्यं, तदिहापि प्रसक्तद्वैतप्रपञ्चनिषेधपरत्वं युक्तं नाप्रसक्तेश्वरनानात्वनिषेधपरत्वमिति। किंच नानात्वनिषेधपरत्वे नानाशब्देन द्व्येकयोरित्यत्र द्वित्वैकत्ववत् नानात्वं लक्षणीयं, न च विना कारणं सा युक्ता, अतिप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षादिविरोधस्तु कारणं हृदि विपरिवर्तमानं पुरस्तादेव निरस्तं तदनेनाभिसन्धिनाह—**नानाशब्दस्येति**। भवतु नानाशब्देन नानात्वाभिधानं गोशब्देन गोत्वस्येव तथापि सङ्कोचे कारणाभावात् समस्तप्रतियोगिकनानात्वनिषेधादद्वैतसिद्धिरित्याह—**तन्निषेधे चेति**। नानाशब्दस्य च नानात्ववाचकत्वेऽपि तदुक्तिवैयर्थ्यं तदुपलक्षितव्यक्तिवचनत्वे चेह गौर्नास्तीतिवत्तज्जातीयनिषेधसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम्।

परिच्छिन्न अर्थ में व्युत्पन्न (गृहीत शक्ति वाला) है। उसका नञ् के साथ समास होने पर, देश, काल और वस्तु कृत तीनों प्रकार के अन्त की निषेधकता की सिद्धि से फिर अनन्त शब्द की पृथक् व्युत्पत्ति की अपेक्षा नहीं रहती है। और 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह श्रुति ब्रह्म में नानात्व का निषेध करती है, द्वैत का नहीं, यह कहा था, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि किसी प्रकार से प्रसक्त (प्राप्त) का निषेध किया जाता है, ब्रह्म में नानात्व अप्रसक्त (अप्राप्त) है। लोकव्यवहार से वा श्रुति से या वादि प्रसिद्धि से ब्रह्म में नानात्व प्राप्त नहीं है कि जिससे प्रतिषिद्ध हो सके। और नाना शब्द के भावप्रत्ययान्तता के अभाव से भी नानात्व का निषेधार्थ नहीं है। किसी प्रकार से नाना शब्द का नानात्व अर्थ हो और नानात्व का निषेध हो, तो भी संकोच में प्रमाण के (कारण के) अभाव से सजातीय विजातीय स्वगत नानात्व के निषेध से अद्वैत ब्रह्म ही सिद्ध होगा कि जिससे वही घट्टकुटीप्रभात न्याय प्राप्त होगा॥

न चेन्द्रो मायाभिरितीन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधावीश्वरस्य भेदोऽवभासत इत्येतावत्परमिदं वाक्यं नतु द्वैतनिषेधपरमिति युक्तम्; ईश्वरस्य नित्यानुमेयस्यैन्द्रियकबुद्धिवृत्तिविषयत्वानङ्गीकारात्। मायाशक्तिविशेषाभिधाने च 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशे'ति वाक्यशेषो न संगच्छेत। इन्द्रियबाहुल्याभिधानस्य मायाशक्तिविशेषाभिधानं प्रत्यनुपयुक्तत्वात्। 'अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि चे'ति वाक्यशेषे सर्वस्येश्वरात्मकत्वप्रतिपादनविरोधाच्च। मृत्योः स मृत्युमिति च नाभेदप्रतिपत्ति-

---

या तु श्रुत्यन्तरस्यान्यथासिद्धिरुक्ता पूर्वपक्षिणा तामनुवादपूर्वकं दूषयति—**न चेन्द्र इत्यादिना**। प्रत्यक्षयोग्यं खल्वैन्द्रियकबुद्धिवृत्तौ प्रतीयते, ईश्वरस्त्वतीन्द्रियो न तथेति न बुद्धिवृत्त्यभिप्रायेणायं मायाशब्द इत्यर्थः। नीरूपत्वादव्याप्यत्वादनवतारप्रकरणत्वाच्च न योगीन्द्रियापेक्षयेति भावः। यत्त्वीश्वरशक्तयो वेत्युक्तं तत्राह—**मायाशक्तीति**। असङ्गतिमेवाह—**इन्द्रियेति**। तत्र हि दशशतहरयोऽस्य युक्ता इतीन्द्रियाणि हरिशब्देनोच्यन्ते। तद्बाहुल्याभिधानं नेश्वरशक्तिप्रतिपादानोपयोगीत्यर्थः। उत्तरत्र तेषां हरीणामीश्वरमात्रतया बोधनमपि स्वपक्षे विरुद्धयते तेषां भिन्नत्वाभ्युपगमादित्याह—**अयं वै हरय इति**। नच निमित्तत्वाभिप्रायेण, सामनाधिकरण्यानुपपत्तेरिति भावः। यत्तु मृत्योः स मृत्युरित्यभेददर्शनस्य विधित्सितस्य स्तुतिर्नतु द्वैतनिषेधपरमिति तत्राह—**मृत्योरिति**। यदि ह्यभेदप्रतिपत्तिमात्रं विधित्सितं तदा द्वैतनिषेधो व्यर्थः। प्रत्युतानर्थकरश्चाद्वैततत्त्वभ्रान्तिप्रसक्तेरिति भावः। किंच

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" यह श्रुतिवाचक, इन्द्रियद्वारक बुद्धि वृत्तिरूप उपाधि में ईश्वर का भेद भासता है। इसी अर्थ में तात्पर्य वाला है, द्वैतनिषेध में तात्पर्य वाला, यह श्रुति वाक्य नहीं है। यह भी पूर्व का कथन युक्त नहीं है। क्योंकि ईश्वर के नित्यानुमेय (सदा अनुमानगम्य) होने से, ईश्वर में इन्द्रियवृत्ति विषयता नहीं मानी जाती है। और माया शब्द से ईश्वर शक्तियाँ कही जाती हैं, यह कहना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि माया शक्तिविशेष के कथन करने पर 'युक्त ह्यस्य हरयः शतादश' यह वाक्यशेष सङ्गत नहीं होगा। अर्थात् जब शक्ति वाला एक ईश्वर का अभिधान होता है, तब तो जीव रूपता को 'उपाधि से, प्राप्त जीवस्वरूप ईश्वर के प्रत्येक दृष्टि से दश इन्द्रिय रूप दश हरि का कथन तथा समुदाय दृष्टि से सैंजड़ों का कथन सङ्गत होता है, माया शक्ति मात्र के कथन में युक्त नहीं होगा। क्योंकि इन्द्रियबाहुल्याभिधान का माया शक्ति के अभिधान के प्रति कोई उपयोग नहीं है (फल नहीं है) और (अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च मन्वानो मनःशृदावन् श्रोत्रम्) इत्यादि श्रुत्यन्तर के अनुसार यह ईश्वर (ब्रह्मात्मा) ही दश-दश भिन्न-

विधिः; नेह नानास्ति किंच नेति द्वैतनिषेधवैयर्थ्यात्, अनुवासनप्रकरणत्वाच्च। पूर्वापरालोचनायां चास्य प्रकरणस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ तात्पर्याधिगमात्। ननु पूर्वापरवाक्यानामुपासनपरतापि दृश्यते 'आयुर्होपासतेऽमृतं, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादो वसु-

---

निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मज्ञानप्रकरणोत्कर्षश्चोपासनापरत्वे इत्याह—अनुवासनेति। अस्यैव प्रपञ्चः— पूर्वापरेति। ननु 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृत'मिति विज्ञाय शास्त्रतः प्रज्ञां साक्षात्कारलक्षणां संपादयेदिति च, तथा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादोऽन्नमा समन्तादृदद् वसुदानो धनप्रद इति यो वेद स वसु धनं विन्दते लभते इति, तत्रैव पूर्वोत्तरभागयोरुपासनाश्रवणादुपासनाप्रकरणमेतदिति चोदयति—ननु

भिन्न प्राणियों में इन्द्रिय रूप से है, और बहुत अनन्त सहस्र रूप से है। इस वाक्य शेष में सब के ईश्वरात्मकत्व के प्रतिपादन से भी माया शक्ति अभिधान पक्ष में विरोध है। अतः माया शक्ति मात्र का अभिधान नहीं है किन्तु शक्ति वाला अद्वैत ब्रह्म ही का 'इन्द्रो मायाभिः' इस श्रुति से अभिधान किया गया है और 'मृत्योः समृत्युमाप्नोति' इसको पभेद की स्तुति उपासनारूप प्रतिपत्ति (चिन्तना) परक प्रथम कहा था, वह अभेद की प्रतिपत्ति विधि नहीं है, क्योंकि प्रतिपत्ति विधि होने पर 'नेहनानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से द्वैतनिषेध की व्यर्थता प्राप्त होगी, अतः वह द्वैतदर्शन की निन्दापरक है, और उपासना का प्रकरण भी नहीं है, क्योंकि पूर्वापर वाक्य के आलोचना (दर्शन विचार) करने पर, इस प्रकरण का निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मत्व की प्रतिपत्ति (अनुभूति) में ही तात्पर्य का ज्ञान होता है। शङ्का होती है कि पूर्वापरक वाक्यों की उपासनापरता भी देखी जाती है—

आयुर्होपासतेऽमृतम्, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥

ज्योतिस्वरूप अमृत = अमरणधर्मा ईश्वर की आयुरूप से देव उपासना करते हैं। उस आत्मा को उपासना, चित्तशुद्धि आदि द्वारा परोक्षरूप से जान कर फिर शास्त्र गुरु उपदेश से प्रकृष्ट प्रज्ञा अपरोक्षानुभव का सम्पादन करे। वह अज आत्मा इन्द्रादि सबको वश में रखने वाला सबका शासन कर्ता ईश्वर है। वह आत्मा अन्नाद = अन्नभक्षक = सर्वसंहर्ता है और कर्म फलरूप वसु का दाता है। ऐसा समझ कर जो उसकी उपासना करता है वह वसु = कर्मफल को पाता है। इत्यादि उपासना विधि सुनी जाती है। तो कहा जाता है कि ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि उपासना का अनुवाद प्रसङ्ग से आ गया है। निष्प्रपञ्च ब्रह्मप्रकरण में ही ब्रह्मस्तुति के लिये वह उपासना का अनुवाद है, विधि नहीं, अन्यथा वाक्यभेद होगा। अतः "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत तमेव मन्ये आत्मानम् ॥"

दानो विन्दते वसु य एवं वेदेत्यादिश्रवणादिति चेत्; मैवं, प्रसङ्गागतत्वादुपासनानुवादस्य। तमेव धीरो विज्ञायेति च "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना" इति पूर्वोदिताकाशादितत्त्वाधारतया सप्रपञ्चताप्रसक्तावबधारणस्य तन्निवारणपरत्वात्। प्रज्ञां कुर्वीतेति च प्रज्ञाशब्देन विज्ञानशब्दाभिधेयपरोक्षज्ञानातिरिक्तसाक्षात्काराभिधानाङ्गीकारे तस्यानवधिसुखरूपात्मसाक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः सर्वस्य वशीत्यादेः स्तुतिपरतया गुणविधानार्थत्वाभावात्।

आगमस्य च स्वरूपप्रतीतौ पदपदार्थसंबन्धावगमे च प्रत्यक्षादिसापेक्षत्वेऽपि तस्य तद्विषयस्य च पारमार्थिकत्वांशस्यानुपजीव्यत्वात्तद्बाधनेऽपि

पूर्वापरेति। **प्रसङ्गागतत्वादिति**। निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रकरण एव स्तुत्यर्थमुपासनानुवादः स न तु विधिर्वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यर्थः। किंच तमेव धीर इति, तमेव मन्य इति चैवकाराभ्यां तस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः पञ्चप्राणादयः आकाशश्च प्रतिष्ठित इति पूर्ववाक्यारोपिताकाशादिप्रपञ्चव्यावर्तनान्निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वमेवेत्याह—**तमेव धीर इति**। निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वेऽपि तत्साक्षात्कारविधिपरत्वं भवत्विति नेत्याह—**प्रज्ञामिति**। यत्तु सर्वस्य वशीत्यादिगुणकं य एवं वेदेत्युपासनं विधत्ते इति तत्राह—**सर्वस्य वशीत्यादेरिति**। प्रतिपादितं खल्विदं 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इत्यत्र।

उपजीव्यविरोधं परिहरति—**आगमस्येति**। **तस्येति**। प्रत्यक्षस्य। एत-

---

धीर उस आत्मा को ही जान कर प्रज्ञा करे। उसी आत्मा को मैं अमृत मानता हूँ। इत्यादि श्रुतियाँ एवकार से उस सप्रपञ्चता का ब्रह्मात्मा में निवारण करती है, जो कि (यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः) जिसमें पांच पांच जन और आकाश प्रतिष्ठित = स्थिर है, इस श्रुति से पूर्वकथित आकाशादि तत्त्वों की आधारता से परब्रह्म में सप्रपञ्चता प्रसक्त (प्राप्त) होती है, उसके प्रसक्त होने पर अवधारण को उसके निवारणपरत्व होता है और प्रज्ञां कुर्वीत, यहाँ प्रज्ञा शब्द से विज्ञान शब्द का वाच्य परोक्षज्ञान से अतिरिक्त साक्षात्कार के अङ्गीकार करने पर उस प्रत्यक्ष की अनवधि (नित्य) सुख स्वरूप आत्मसाक्षात्कारता से फलरूपता होने के कारण उसमें विध्येयत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वर्गादिफल के उद्देश्य से (फल के लिये) यज्ञादि साधन विधेय होता है, फल नहीं। 'सर्वस्य वशी' इत्यादि वाक्य को भी स्तुतिपरता है (स्तुति में तात्पर्य है) सर्ववशित्वादि गुण वाले की उपासना का विधान वह वाक्य नहीं करता है। अतः गुणविधानार्थत्व का अभाव है और अद्वैत आगम को जो स्वापेक्षित प्रत्यक्षादि से विरोध कहा था, वह विरोध नहीं है, क्योंकि आगम को अपने स्वरूप के ज्ञान में तथा पदपदार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान में प्रत्यक्षादि सापेक्षत्व होते भी तो उस प्रत्यक्षादि के

विरोधाभावात्, सांव्यवहारिकभेदाभावस्य ज्ञानोदयनान्तरीयकतया श्रुतिबाध्यत्वाभावात् न व्यावहारिकभेदसापेक्षतया श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः। नच न हिंस्यादित्यादिवाक्येषु परस्परपराहतिः; सामान्यविशेषभावेनेच्छा-

---

दुक्तं भवति निषिध्यमानं तदीयपारमार्थिकत्वं नापेक्ष्यते यच्चापेक्ष्यते सांव्यवहारिकं रूपं न तद्बाध्यत इति। ननु सांव्यवहारिकमपि रूपमागमेन बाध्यमेवेतरथाऽद्वैतानुपपत्तेरतस्तत्रैवोपजीव्यविरोधो दुर्निवारण इति तत्राह—**सांव्यवहारिकेति**। यथा तेषां वास्तवत्वज्ञानं तत्त्वप्रतिपत्तिविरोधि न तथा सांव्यवहारिकाकारज्ञानमिति भावः। तदेतदखिलमद्वैतश्रुतीनामन्यथासिद्धिपथपरिधावनव्यथितचेतसे शालिकनाथायाकथयत्। यत्तु कृत्स्नस्यैव च वेदस्य परस्परपराहत्योपहतत्वमुक्तं तत्परिहरति—**नचेति। सामान्यविशेषभावेनेति**। भिन्नविषयत्वस्योपलक्षणमिदं, मुख्यसामान्यविशेषभावाभावात्। यथाहवनीये जुहोतीति होममात्राधिकरणतया प्राप्तस्याहवनीयस्य पदे जुहोतीति विशेषविधानात् तदितरहोमविषयतया सङ्कोचः। नहि तथेह

और उस प्रत्यक्षादि के विषय घटादि के पारमार्थिकत्व अंश के अनुपजीव्यत्व, अनपेक्षितत्व (अहेतुत्व) होने से आगम से पारमार्थिकत्व के बाध प्रत्यक्षादि में होने पर भी उपजीव्य (हेतुरूप = अपेक्षित = प्रत्यक्षादि) से आगम के विरोध का अभाव है। अर्थात् आगम यदि अपने अपेक्षित व्यावहारिक प्रत्यक्षादि रूप भेद का खण्डन करता तो विरोध होता, और पारमार्थिक द्वैत खण्डन से व्याहारिक के साथ विरोध नहीं होता है ओर सांव्यवहारिक भेद के अभाव (बाध) को ज्ञानोदय से अन्तरीयकता रहती है, अतः ज्ञान के उदय होते ही व्यावहारिक भेद का स्वयं अवश्य बाध होता है, अतएव व्यावहारिक भेद में श्रुतिबाध्यत्व के अभाव से व्यावहारिक भेद की सापेक्षता के कारण श्रुति की अप्राणता नहीं प्राप्त होती है। अर्थात् श्रुति स्वोपजीव्य का विरोधी है। अतः अप्रमाण है। यह नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि श्रुति उपजीव्य का विरोधी है और 'न हिंस्यात्' इत्यादि सब वेद वाक्यों में जो परस्पर विरोध कहा था, वह भी परस्पर आकृति (खण्डन = हनन) रूप नहीं है, क्योंकि कहीं सामान्य-विशेषभाव से, कहीं इच्छा के विकल्प से, कहीं व्यवस्थित विकल्प से अविरोध की सिद्धि होती है। वहाँ, मा हिंस्यात्, यह श्रुति वैध हिंसा में प्रवृत्त ही नहीं होती है, बाधक को समझ कर उससे अन्यत्र प्रवृत्त होती है। यदि सामान्य रूप से प्रवृत्त भी होती है तो बाधक विशेष शास्त्र अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होने देता है, अतः विरोध नहीं होता है और षोड़शिपात्र के ग्रहण अग्रहण इच्छा के अनुसार होते हैं। अतः विरोध नहीं है, ग्रहण की इच्छा हो तो ग्रहण करे, नहीं इच्छा हो तो नहीं करे, कर्म की पूर्ति

विकल्पेन वा व्यवस्थितविकल्पेन वाऽविरोधोपपत्तेः। नच कर्मज्ञानकाण्डयोर्भेदाभेदविषयतया कर्मानुष्ठानतत्त्यागप्रतिपादकतया च विरोधः; विद्याविद्यावस्थाभेदेन विद्वदविद्वत्पुरुषविषयतया चाविरोधात्। तदेवं मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादनिर्वचनीयानाद्यविद्याविलसित एवायमात्मनि द्वैतप्रपञ्च इत्यलमतिप्रपञ्चेन।

ननु भोः! केयमनिर्वचनीयाविद्या नाम? नहि ज्ञानाभावव्यतिरेकेण

हिंसामात्रविषयतया निषेधः प्रवर्तते येन विशेषे सङ्कोचमर्हेदपितु रागप्राप्तहिंसायां, तावतापि निषेधोपपत्तौ न क्रतुप्रकरणेपि निषेधपदप्रक्षेपकल्पना तस्यां प्रमाणाभावात्। प्रत्युत यदर्था प्रवृत्तिस्तदर्थः प्रतिषेध इति न्यायेनानृतवदनाज्यभागादिप्रतिषेधस्येवास्यापि क्रत्वर्थत्वं स्यात्। तथाच विधिप्रतिषेधयोनयोर्ग्रहणवद्विकल्पः स्यादित्यनर्थपरंपरैव स्यात्तस्मादुर्वर्णितविभिन्नविषयत्वस्य केवलमुपलक्षणमिदं, ग्रहणाग्रहणयोरिच्छया विकल्पः, उदितानुदितहोमयोः शाखाभेदेन व्यवस्थितविकल्पः। कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोर्विरोधं—**नचेत्यादिना**। विद्याऽविद्यावस्थाभेदेनाभिन्नभिन्नवस्तुप्रतिपादनयोरविरोधः, कर्मतत्त्यागविधानयोस्तु विद्वदविद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छुद्धान्तःकरणः परोक्षज्ञानवान्वा विद्वान्। यथाहि न हिंस्यात्सर्वाभूतानीति फलांशे निषिद्धस्य श्येनेनाभिचरन्यजेतेत्यस्यानवबुद्धप्रतिषेधवाक्यार्थं पुरुषं प्रति प्रवृत्तिरितरस्य त्वितरं प्रतीति विभागस्तद्वदिति भावः। वादार्थमुपसंहरति—**तदेवमिति**।

अनिर्वचनीयाद्यविद्येत्युक्तमुपश्रुत्य प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति**। ननु सर्वेषामेव

उभयथा होती है और उदितानुदित होम में शाखाभेद से व्यवस्थित विकल्प होता है। अर्थात् जिसकी शाखा में जैसा विहित हो वैसा करे। इसमें कोई विरोध नहीं है और कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड रूप वेदों की भेद और अभेद रूप विरुद्ध विषयता से, तथा कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग रूप विरुद्धार्थप्रतिपादकता से दोनों काण्डों को परस्पर विरोध है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि विद्या अविद्या अवस्था के भेद से विद्वान् और अविद्वान् पुरुषविषयता दोनों काण्डों की भिन्न-भिन्न है, कर्मकाण्ड अज्ञ के लिये भेद का प्रदर्शन पूर्वक कर्मकर्तव्यता का विधान करता है और ज्ञानकाण्ड जिज्ञासु विवेकी के लिये अभेद का प्रदर्शनपूर्वक कर्मत्याग का विधान करता है। अतः विषय अधिकारी के भेद से विरोध नहीं है। अतः इस उक्त रीति से मिथ्यात्वविषयक लक्षण और प्रमाण के उपपन्न (सिद्ध) होने से, यह भी सिद्ध हो गया कि आत्मा में अनिर्वचनीय अनादि अविद्या का विलास (लीला) कार्य रूप ही द्वैत प्रपञ्च है, सत्य नहीं, अब अतिविस्तार की आवश्यकता नहीं है।

अनिर्वचनीय शब्दरूप प्रश्न बीज को सुनकर प्रश्न है कि हे भाई यह

काचिदविद्या प्रसिद्धा उपपन्ना वा। ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसयोरेव न जानामीत्यविद्यात्वेन लोके व्यावहारिकव्यवहारोपलम्भात्। अविद्येति च विद्यापदेन समस्यमानस्य च नञस्तदभावस्तद्विरोधी तदन्यो वार्थोऽभ्युपेयः। आद्ये विद्याभावस्यापि वेद्याभाववन्नानिर्वचनीयता। द्वितीये तु संशयविपर्यासादेर्विद्याविरोधिनो गुणान्तरस्य वा नानिर्वचनीयतोपपत्तिः; प्रसिद्धभावस्वभावत्वस्य व्याकोपात्। न तृतीयोपि; विद्यातिरिक्तस्य समस्तस्याविद्यात्व-

---

मोक्षवादिनामनित्याशुचिदुःखरूपसंसारे नित्यशुचिसुखख्यात्यभिरतिनिदानमविद्या प्रसिद्धैव किमत्र वक्तव्यमित्यत आह—**नहि ज्ञानाभावेति**। ननु सामान्येन प्रसिद्धविद्याया उपपत्तिवलादनाद्यनिर्वचनीयत्वमायातीत्यत आह—**उपपन्ना वेति**। अभाव एव प्रसिद्धिं निदर्शयति—**ज्ञानेति**। प्रागभावप्रध्वंसयोरिति सप्तमी। व्यावहारिका व्यवहारकर्तारः तेषां व्यवहारोपलम्भादित्यर्थः। एवं प्रसिद्धचभावमेवाभिधायोपपत्त्यभावमाह—**अविद्येति**। अविद्येत्यत्र नञस्तावदर्थत्रयं संभवति तच्च निर्वचनीयभावाभावयोरेवान्तर्भवति नानिर्वचनीयः कश्चिदविद्याशब्दार्थ इत्यर्थः। **विद्याभावस्यापीति**। यथा वेद्यस्य घटादेरभावो नानिर्वचनीयः, भावाभावविलक्षणत्वाङ्गीकारादनिर्वचनीयस्य, तथा ज्ञानाभावस्यापि नानिर्वचनीयत्वमित्यर्थः। विद्याविरोध्यविद्येति द्वितीयपक्षं विषेधति—**द्वितीये त्विति**। एवमविद्याशब्दात्तावदनिर्वचनीयानाद्यविद्याप्रतीत्यभावमुक्त्वा लक्षणप्रमाणनिरूपणादपि तदभावमाह—

अनिर्वचनीय अविद्या नाम वाली वस्तु क्या है। यदि कहा जाय कि (अनित्याशुचि दुःखानात्मस्वरूप संसार में नित्य शुचि सुखात्मता के ज्ञान रूप अविद्या मोक्ष वादियों के यहाँ प्रसिद्ध है, तो कहा जाता है कि ज्ञानाभाव से भिन्न रूप से कोई अविद्या नहीं प्रसिद्ध है, उपपन्न (सिद्ध) हो सकती है। क्योंकि ज्ञान के प्रागभाव और प्रध्वंस में ही ('न जानामि') नहीं जानता हूँ, इस प्रकार से अविद्या रूप से व्यावहारिकों का व्यवहार लोक में उपलब्ध (ज्ञात) होता है और अविद्या इस पद में विद्या पद के साथ समस्यमान, समास वाला, नञ् का, विद्या का अभाव १, या विद्या का विरोधी, २, या विद्या से अन्य ३, यही अर्थ मन्तव्य हो सकते हैं। वहाँ प्रथम पक्ष में विद्या के अभाव में भी वेद्य के अभाव के समान अनिर्वचनीयता नहीं रहती है, क्योंकि भावाभाव से विलक्षण को अनिर्वचनीय माना जाता है और वेद्य घटादि के अभाव समान विद्या के अभाव में अभाव से विलक्षणता नहीं रहती है। दूसरे विद्या विरोधी पक्ष में भी, विद्या के विरोधी संशय भ्रमादि को या ज्ञानेच्छादि रूप आत्मा के गुणान्तर को अनिर्वचनीयता नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि उनमें अनिर्वचनीयता मानने पर प्रसिद्ध भावस्वभाव से विरोध होगा (भावस्वभाव का बाध होगा) विद्या से अन्यत्व रूप

प्रसङ्गात्। नचास्या लक्षणं प्रमाणं वा पश्यामः। न तावज्ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं; पूर्वज्ञानस्यापि तन्निवर्त्यस्याज्ञानत्वप्राप्तेः। अनादित्वविशेषणाददोष इति चेत्, न; ज्ञानप्रागभावे व्यभिचारात् अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमिति चेत्, न; अनादेर्भावस्यात्मवन्नित्यत्वेन निवर्त्यत्वानुपपत्तेः। अथ चिरन्तनमतानुसारेणानादेरेव भावस्य परमाणुगतश्यामत्वादेरिव निवर्त्यत्वमुच्येत; तर्हि तस्मिन्नेवेश्वरज्ञाननिवर्त्येऽतिव्याप्तिः, त्वदुक्तलक्षण-

---

नचास्या इति। तत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तल्लक्षणं ? अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ? अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ? अनादित्वे सत्यनिर्वचनीयत्वं वा ? भ्रमोपादानत्वं वा ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। निर्वचनीयतयाङ्गीकृतपूर्वज्ञानादिष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीये तु प्रागभावेऽतिव्याप्तिमाह—**अनादित्वेति**। तृतीयेऽसंभवमाह—**अनादीति**। आधुनिकैः पार्थिवपरमाणुविशेषगुणानां पाकजत्वाङ्गीकाराच्चिरंतनग्रहणम्—**तर्हि तस्मिन्निति**। तैरेव चिरंतनैस्तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तकविनाशाङ्गीकारादतिव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः। **त्वदुक्तलक्षणस्यापीति**। त्वदुक्तं लक्षणं यस्य श्यामत्वादेः स तथोक्तः। चतुर्थं शङ्कते—**अथेति**। किमिदमनिर्वचनीयत्वं नाम ? न तावन्निर्वचनाविषयत्वम्; अनेनैव प्रकारेण निरुच्यमानत्वान्नापि सदसद्विलक्षणत्वं; परस्परविरुद्धयोर्भा-

---

तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उस पक्ष में विद्या से अन्य समस्त ब्रह्मात्मादि को अविद्यात्व की प्राप्ति होगी। इस अविद्या के लक्षण का प्रमाण भी नहीं दिखते हैं। क्योंकि 'ज्ञाननिवर्त्यम्-अज्ञानम्' इस प्रकार से ज्ञान निवर्त्यत्व उसका लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञान से निवर्त्य पूर्व ज्ञान का भी अविद्यात्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि अनादित्व विशेषण से दोष नहीं होगा, अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्य (अज्ञान) होता है। ऐसे पूर्व ज्ञानादि नहीं है तो भी ज्ञान के प्रागभाव में व्यभिचार (लक्षण का अतिव्याप्ति) होगा। अनादि भाव होते ज्ञान से निवर्त्य अज्ञान है, ऐसा लक्षण करने से, भावत्व विशेषण से प्रागभाव में अतिव्याप्ति नहीं होगी, यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अनादि भाव में आत्मा के समान नित्यत्व की प्राप्ति से निवर्त्यत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। यदि चिरन्तनों (प्राचीन आचार्यों) के मतानुसार अनादि ही परमाणुगत श्यामतादि के निवर्त्यत्व के समान, अनादि अज्ञान के निवर्त्यत्व (विनाशित्व) कहा जाय, तो उस अनादि ईश्वर ज्ञान से निवर्त्य (विनाश्य) श्यामतादि में ही अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि आप से उक्त (कथित) लक्षण वाले में भी उस ईश्वर के ज्ञान से निवर्त्य में अज्ञानत्व नहीं है, अतः अलक्ष्य में लक्षण

स्यापि तस्याज्ञानत्वाभावात्। अथानाद्यनिर्वचनीयमज्ञानं, तदपि न; निर्वचनागोचरताया भावाभावविलक्षणतायाश्चासंभवित्वात्। भ्रमोपादानमज्ञानमित्यपि न; आत्मन्यतिव्याप्तेः। सत्योपादानत्वे भ्रमस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् नात्मोपादानमिति चेत्, न; भ्रमस्यापि स्वरूपसत्यत्वात्। विषयापहाराद्धि तत्र मिथ्येति व्यवहारो न स्वरूपापहारात् तथात्वे चैतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः। अस्तु वा यत्किंचिदविचारि-

---

वाभाववदुभयवैलक्षण्यस्याप्यसंभवात्। असंभवीदं लक्षणमित्याह—**निर्वचनेति**। **भ्रमोपादानमज्ञानमिति**। आत्मनोऽपि हि जगद्विभ्रमाधिष्ठानत्वमङ्गीक्रियते भवद्भिरन्यथा जन्माद्यधिकरणाद्यनारम्भप्रङ्गात्। अङ्गीकृतमस्माभिश्चात्मनो विभ्रमसमवायिकारणत्वमिति भावः। आत्मनि लक्षणावृत्तिं शङ्कते—**सत्योपादानत्व इति**। नायमनिष्टप्रसङ्ग इति परिहरति—**न**। **भ्रमस्यापीति**। ननु स्वरूपमात्रसत्यत्वे कथं मिथ्याज्ञानत्वप्रसिद्धिरित्यत आह—**विषयेति**। स्वरूपस्याप्यपहारे प्रत्यभिज्ञाविरोधमाह—**तथात्वे चेति**। **अनादित्वेति**। अज्ञोऽहमिति ज्ञानराहित्यमेव प्रतीयते ननु तस्याज्ञानस्यानादित्वभावत्वे। अतो नेदमभिमतसाधकमित्यर्थः। स्यादेतत्—अस्ति तावत्सुप्तोत्थितस्य एतावन्तं कालं न किंचिदवेदिषमिति परामर्शः,

---

की प्रवृत्ति अतिव्याप्ति है। यदि (अनाद्यनिर्वचनीयत्वं), अनादि होते अनिर्वचनीयरूपता, अज्ञान का लक्षण कहें, तो वह कहना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि वह अनिर्वचनीयत्व क्या है? निर्वचनाऽगोचरत्व है, या भावाऽभावविलक्षणत्व है, इन दोनों में असम्भावितत्त्व है। अर्थात्, निर्वचनाविषयत्व और भावाभावविलक्षणत्व ये दोनों प्रकार के लक्षण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि निर्वचनाऽविषयत्व इस शब्द से ही उसका निर्वचन (कथन) हो जाता है, तथा विरुद्ध होने से भाव और अभाव दोनों से विलक्षणत्व भी नहीं हो सकता है। जैसे सदसद्-विलक्षणत्व नहीं हो सकता है। भ्रम का उपादान अज्ञान है। यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि इस लक्षण की भ्रमोपादान अधिष्ठान आत्मा में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि आत्मा भ्रम का उपादान-कारण नहीं है, क्योंकि भ्रम के सत्यात्मोपादान वाले होने पर भ्रम में भी सत्यता की प्राप्ति होगी। सत्योपादानक भ्रम सत्य होगा, उसकी निवृत्ति नहीं होगी। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भ्रम में सत्यत्व होना अनिष्ट नहीं है, भ्रम के भी स्वरूप का सत्त्व रहता ही है। भ्रम के विषय का अभाव रहता है। अतः विषय के अपहार (बाध) से ही भ्रमज्ञान विषयक मिथ्यात्व का व्यवहार होता है, भ्रम के स्वरूप के अपहार (अभाव) से नहीं, क्योंकि यदि तथात्व (भ्रम के स्वरूप का अपहार मान्य) हो, तो, मुझे इतने समय तक यह रजत है, ऐसी प्रतीति होती रही, इस प्रत्यभिज्ञा रूप अनुभव

तरमणीयं लक्षणं तथापि तत्र किं प्रमाणम् ? अज्ञोऽहमित्यनुभव इति चेत्, न; तस्य ज्ञानाभावविषयत्वेनाप्युपपत्तेः, अनादित्वभावत्वयोस्त्वनभिमतयोरस्यानुभवस्यौदासीन्याच्च। नापि सुप्तोत्थितस्य 'न किंचिदवेदिषं', गाढं मूढोऽहमासमि'तिपरामर्शानुपपत्तिसिद्धः ;सुषुप्तिकालीनोऽनुभवः प्रमाणं; त्वन्मते ज्ञानाभावस्यापि साक्षिसिद्धस्य परामर्शोपपत्तेः। अस्मन्मते चेदानीमेव ज्ञानाभावस्यानुमीयमानतया परामर्शासंप्रतिपत्तेः ननु कथं ज्ञानाभावस्य

सच सुषुप्तिकालीनमज्ञानानुभवं गमयति, अननुभूते परामर्शायोगात्। स चानुभवस्तत्र प्रमाणमिति तदेतद्दूषयति—नापीति। सुषुप्तिकालीनज्ञानाभावगमकतया त्वन्मते तावदन्यथासिद्धमस्मन्मते तूत्थानानन्तरकालीनमनुमानं पूर्वकालीनज्ञानाभावविषयमित्युभयथापि विवक्षितासिद्धिरित्याह—त्वन्मत इति। या तु वेदान्तपक्षेऽन्यथासिद्धिरुक्ता, सा न युक्ता; धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ निर्विशेषचिन्मात्रादप्रतीतेरिति शङ्कते—ननु कथमिति। प्रथमं निर्विकल्पकानु-

---

से विरोध होगा। अथवा कोई अविचारित रमणीय, विचार के बिना सुन्दर-भासता हुआ सदसद्विलक्षणत्वादि लक्षण हो, तो भी उसमें प्रमाण क्या है ? यदि कहा जाय कि (अज्ञोऽहम्) मैं ज्ञानी नहीं हूँ, यह अनुभव ही प्रमाण है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस अनुभव की तो ज्ञानाभावविषयत्व रूप से भी उपपत्ति (सिद्धि) हो सकती है। अर्थात् इस अनुभव से ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है, अतः आप के अभिमत अनादित्व और भावत्व में इस अनुभव की उदासीनता है, अर्थात् इस अनुभव का विषय आप से स्वीकृत अनादि भावरूप अज्ञान नहीं है, अतः यह अनुभव उस विषयक प्रमाण भी नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि, प्रथम सो कर उठे = जागे हुए को परामर्श (स्मरण) होता है कि मैं सुषुप्तिकाल में कुछ नहीं जाना, गाढ (गम्भीर) निद्रायुक्त मूढ था, यह परामर्श अनुभव के विना हो नहीं सकता है, अतः इस परामर्श की अनुपपत्ति (असम्भवता) से सिद्ध (कल्पित = अनुमित) सुषुप्ति कालिक अज्ञान का अनुभव अज्ञान के सत्त्व में प्रमाण है, तो यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि आप वेदान्ती के मत में साक्षी से सिद्ध (भासित) ज्ञानाभाव का भी उक्त परामर्श (स्मरण) हो सकता है और मुझ तार्किक मत में इदानीं (जागने पर ही ज्ञानाभाव की अनुमीयमानता = अनुमानज्ञेयता) से परामर्श की असंप्रतिपत्ति (असिद्धि) है। अर्थात् तार्किक मत में सुषुप्ति कालिक ज्ञानाभाव को अनुमेय माना जाता है और अज्ञान का स्मरण नहीं माना जाता है, तो स्मरण सिद्ध अनुभव के अभाव से वह प्रमाण भी नहीं हो सकता है। यदि शंका हो कि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी अनुयोगी के ज्ञान की अपेक्षा होती है, अतः अभाव सविकल्पक ज्ञान का विषय होता है,

निर्विकल्पकचैतन्यगोचरतया सिद्धिः ? तत्सिद्धेर्धर्मिप्रतियोगिज्ञानपराधीनत्वात्, सुषुप्तौ च तदसंभवादिति चेत्, न; ज्ञानाभावस्यापि स्वरूपेण भेदादिवन्निर्विकल्पकसिद्धस्य सविकल्पकदशायां धर्मिप्रतियोगिज्ञानपराधीनतया स्फुटतरव्यवहारविषयत्वोपपत्तेः। नचासिद्धे तत्कालीने धर्मिण्यात्मनि, ज्ञानाभावस्येदीनामेवानुमीयमानत्वासिद्धिः; प्रतिपन्ने हि प्रातश्चत्वरादौ धर्मिणि सायंसमये तत्र गजाभावानुमानमुपलभ्यत इति वाच्यम्, सम्प्रतिपन्नोदयास्तमयवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमययोरन्तरालकालमनुमाय

भूतस्यापि पश्चात् सविकल्पकविषयतया विशिष्टव्यवहारहेतुत्वं भवति। नच नित्यसापेक्षतया निर्विकल्पकाविषयत्वं, भेदसादृश्यादिभिर्व्यभिचारादिति परिहरति—न। **ज्ञानाभावस्यापीति**। ननु भवत्वस्मत्पक्षेऽन्यथासिद्धिस्त्वत्पक्षे तु कथमनुमानत्वमस्य सौषुप्तिकात्मनस्तदानीमननुभवात् तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानायोगात्। तथाहि प्रातश्चत्वरे गजो नासीदित्यत्र प्रातःकालीनचत्वरानधिगमे गजाभावानुमानाभाव इति शङ्कां निराकरोति—**नचासिद्ध इति**। नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**संप्रतिपन्नेति**। यद्यपि सुषुप्तिसमये तत्कालीनात्मनो न ज्ञानमस्ति तथाप्युत्तरकाले संभवत्येवानुमानेन तस्य ज्ञानं, तथाह्यनिद्राणस्य संप्रतिपन्नोदयास्तमययोरन्तरालका-

---

तो ज्ञान के अभाव की निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य की विषयता रूप से कैसे सिद्धि होगी, क्योंकि उस ज्ञानाभाव की सिद्धि (अनुभूति) को धर्मि (अनुयोगी) और प्रतियोगी के ज्ञानात्मक पर की अधीनता रहती है। और सुषुप्ति में उस अनुयोगी के ज्ञान का असम्भव है, अतः साक्षी से अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भेदादि के समान, स्वरूप से निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा सिद्ध (ज्ञात) ज्ञानाभाव को भी सविकल्पक अवस्था रूप जाग्रत् काल में धर्मी प्रतियोगी के ज्ञानपराधीनता रूप से स्फुटतर व्यवहार विषयत्व की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। यदि शंका है कि उस सुषुप्ति काल के अप्रसिद्ध (अज्ञात) आत्मस्वरूप धर्मी (पक्ष) में इस वर्तमान जाग्रत काल में ही ज्ञानाभाव को अनुमीयमानत्व (अनुमान विषयत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रातः काल में प्रतिपन्न (ज्ञात) चत्वर (प्राङ्गण) आदि धर्मी में सायंकाल में गजों (हाथियों) के अभाव का अनुमान होता है, कि स्मरणाभाव से प्रातःकाल में वही (चत्वर में) हस्ती नहीं था, प्रातःकालादि में अज्ञात में हस्ती का ज्ञान नहीं हो सकता है, इसी प्रकार सुषुप्ति काल में अज्ञात आत्मा में जागने पर न्यायमतानुसार ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जाग्रत काल में सम्प्रतिपन्न (निश्चित) उदय-अस्त

कालाख्येन लिङ्गेनानुमिते धर्मिण्यात्मनि ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः। भवत्वेवं धर्मिसिद्धिस्तथापि न ज्ञानाभावानुमाने लिङ्गमस्ति, अस्मर्यमाणत्वस्य नियमेनास्मर्यमाणत्वस्य वा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादौ निर्विकल्पकानुभूते चानैकान्तिकत्वादिति चेत्, न; ज्ञानसामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गाज्ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः। तदेव कुतः सिद्धमिति न वाच्यम्; तत्सिद्धेरुभयवादिसिद्ध-

---

लानुभवान्निद्राकालात्पूर्वोत्तरास्तमयोदयकालयोस्तत्कालत्वेन हेतुनान्तरालकालवत्तमनुमाय तस्याप्यात्मवत्त्वं कालत्वेनेतरकालवदनुमाय तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानमप्रत्यूहमित्यर्थः। उक्तं च तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनाचार्यैरपवर्गप्रकरणे–'पूर्वापरावस्थयोरेकत्वप्रत्यभिज्ञानेन मध्यावस्थायामपि तत्सामान्येनोपनया'दिति। अभ्युपगम्य धर्मिसिद्धिं, हेत्वसिद्धिं शङ्कते—**भवत्वित्यादिना**। अन्तरालकालीनात्मा दुःखादिज्ञानाभाववानस्मर्यमाणतदानीन्तनदुःखादित्वादिति हेतुः। पथि गच्छतस्तृणादिस्पर्शेष्वनन्तरमस्मर्यमाणेष्वनैकान्तः। नियमेनेति विशेषणेऽपि निर्विकल्पकानुभूतेऽनुदिनसविकल्पकेऽनैकान्त इत्यर्थः। **उभयवादिसिद्धत्वादिति**। विशेषविज्ञानो-

---

के अन्तराल काल के समान विवादास्पद भी उदय-अस्त के अन्तराल सुषुप्तिकालिक समय का अनुमान करके काल नामक लिङ्ग से अनुमित धर्मी रूप आत्मा में ज्ञानाभाव के अनुमान की सिद्धि होती है। अर्थात् सुषुप्तिपूर्वोत्तरकालिकौ, उदयास्तमयौ, अन्तरालयुक्तौ, उदयास्तमयत्वात्, प्रतिपन्नउदयास्तकालवत्। स चान्तरालकालः, आत्मविशिष्टः, कालत्वात्, कालान्तरवत्। इस प्रकार से ज्ञात आत्मा में अनुमान से तार्किकमतानुसार ज्ञानाभाव का अनुमान सुषुप्ति में होता है अतः सुषुप्ति में उक्त परामर्शादि से अनिर्वाच्य अज्ञानविषयक सुषुप्ति का अनुभव प्रमाण नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि उक्त रीति से सुषुप्तिकालिक आत्मस्वरूप धर्मी की प्रसिद्धि हो, ज्ञानाभाव के अनुमान में लिङ्ग नहीं है। यदि कहा जाय कि, अस्मर्यमाणत्व (स्मरणविषयत्वाभाव) या नियमेन अस्मर्यमाणत्व, ज्ञानाभावानुमान के लिङ्ग हैं कि यदि सुषुप्ति में ज्ञान होता तो कभी स्मरण भी ज्ञान का होता इत्यादि, तो कहा जाता है कि ये दोनों हेतु चलते हुये के तृणस्पर्शादि में और निर्विकल्पक ज्ञान से अनुभूत विषय में व्यभिचरित हैं, क्योंकि चलते में अनेकतृणादि के स्पर्श होते हैं, वहाँ उनका ज्ञान होता ही है, परन्तु दृढ संस्कार के अभाव से सबका स्मरण नहीं होता है, अतः ज्ञानाभाव रूप साध्य के अभाव स्थान में अस्मर्यमाण हेतु की वृत्तिता है। तृणस्पर्श का तो कोई स्मरण होता भी है किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान से अनुभूत का कभी कोई स्मरण नहीं होता है, अतः वहाँ दूसरा हेतु व्यभिचारी है। इस प्रकार से लिङ्ग का अभाव कहना उचित नहीं है। क्योंकि ज्ञान की सामग्री के अभाव रूप लिङ्ग से ज्ञानाभाव का

त्वात्। अन्यथा वेदान्तिनामपि सुषुप्तिकाले घटपटादिविशेषज्ञानाभावानुमानं न स्यात्। ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकसाक्षिवेद्यतानङ्गीकारात्। नचावस्थाभेदसंभिन्नभावरूपाज्ञानपरामर्शसामर्थ्यसिद्धतदनुभवादेव तद्विरोधिनो ज्ञानस्याभावानुमानम्; भावरूपाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च परं प्रत्यद्याप्यसिद्धत्वात्।

यत्तु कैश्चिदनुमानं रचितम्—न तावदज्ञानं ज्ञानाभावः अभावमानागम्यत्वात्, संप्रतिपन्नवत्। अभावो ह्यभावस्य प्रत्यक्षस्य वा विषयः परे-

---

परमस्य त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थः। अतश्चैवमङ्गीकर्तव्यमित्याह—**अन्यथेति**। ननु नास्माकं सामग्र्यभावात्तदनुमेयमपितु साक्षिसिद्धमिति तत्राह—**ज्ञानाभावस्येति**। तत्काले निर्विकल्पकवेद्यत्वेऽपि न तावतोत्तरकालं विशिष्टव्यवहार इत्यनुमानमेव शरणमित्यर्थः। तेन च न पूर्वोत्तरयोर्व्याघातः। ननु परामर्शबलाद्भावरूपाज्ञानसिद्धौ तद्बलात्तद्विरोधिघटादिज्ञानाभावानुमानमस्मन्मते न सामग्र्यभावादिति वैषम्यमिति तत्राह—**न चावस्थेति**। अवस्थाभेदः सुषुप्तिरूपावस्थाविशेषस्तेन यद्विशेषितं भावरूपमज्ञानं तत्परामर्शसामर्थ्येन सिद्धो यस्तदवस्थाऽज्ञानानुभवो न किंचिदेतावन्तं कालमवेदिषमित्येवंविधस्तस्मादिति योजना।

न्यासकारकृतमनुमानमुद्भावयति—**यत्तु कैश्चिदिति**। हेतुमेव समर्थयते—**अभावोहीत्यादिना**। अभावस्येति भाट्टाभिप्रायेण, प्रत्यक्षस्येति तार्किकाभिप्रायेण। **सम्प्रतिपन्नवदिति**। शुक्तिरूप्यसंसर्गवदित्यर्थः। मानागम्यत्वे तत्साध-

---

अनुमान सिद्ध होता है। ज्ञान की सामग्री का अभावरूप लिङ्ग ही कैसे सिद्ध हुआ यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञानाभाव तथा ज्ञानसामग्री का अभाव उभयवादी से सिद्ध (मान्य) है, अन्यथा वेदान्तियों को भी घटपटादि के विशेष ज्ञानों के अभाव का अनुमान नहीं होगा। क्योंकि सप्रतियोगिक ज्ञानाभाव की निर्विकल्पकसाक्षिवेद्यता नहीं मानी है। अतः उसका अनुमान से ही ज्ञान माना जाता है। यदि कहा जाय कि सुषुप्ति रूप अवस्थाभेद विशेष से सम्भिन्न (युक्त) भावरूप अज्ञान के परामर्श (स्मरण) से सिद्ध उस भावरूप अज्ञान के अनुभव बल से ही उस अज्ञान के विरोधी विशेष ज्ञान के अभाव का अनुमान होता है तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि भावरूप अज्ञान और उसका परामर्श भी प्रतिवादी के प्रति असिद्ध है।

जो किसी ने अनुमानाकार रचा है कि अज्ञान, ज्ञानाभावस्वरूप नहीं है, (अभावग्राहक प्रमाण रूप प्रत्यक्ष वा अनुपलब्धि से अगम्य होने से, सम्प्रतिपन्न घटादि के समान, क्योंकि अभाव का ज्ञान भट्टमत में अभाव (अनुपलब्धि) से होता है, तार्किकमत में प्रत्यक्ष से होता है, अतः अभाव, अभाव (अनुपलब्धि) का

णेष्यते; अज्ञानं च न मानगम्यं माननिवर्त्यत्वात्संप्रतिपन्नवदिति। तदन्ये नानुमन्यन्ते; अज्ञानस्य मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगायोगात्। एतन्मानगम्यत्वे वा मानगम्यं न भवतीति स्ववचनव्याघातात्। नचात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधन इव न स्ववचनव्याघातादिदोषापत्तिः; तत्र वृत्तिव्याप्यत्वेपि फलाव्याप्यत्वेनाविरोधात्। इह च वृत्तिव्याप्यत्वानङ्गीकरात्। नच प्रमाणनिवर्त्यस्य प्रमाणागम्यत्वनियमः; प्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यस्य तद्धेतोस्संस्कारस्य नित्यपरोक्षतया साक्षिसिद्धत्वा-

---

नायानुमानप्रयोगो व्याहतोऽनुमान प्रयोगे च मानागम्यत्वं व्याहतमिति दूषयति—**तदन्य इत्यादिना**। ननु यथात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधनेपि न वेद्यत्वप्रसक्तिस्तद्वत्प्रमाणेनैवाप्रामाणिकत्वसाधनेपि न प्रामाणिकत्वप्रसक्तिरिति तत्राह—**नचात्मन इति**। प्रमाणनिवर्त्यत्वादिति हेतोरनैकान्तिकतां चाह—**नच प्रमाणेति**। संस्कारस्य हि कार्यापवर्गित्वात् तत्कार्यप्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यत्वं, अथ च साध्यं नास्तीत्यर्थः। अनुव्यवसायनिवर्त्येन च तद्गम्येन परसंमतेन व्यवसायेनानैकान्तं द्रष्टव्यम्, विवरणकारोक्तार्थापत्तिमाशङ्क्य निषेधति—**नचेत्यादिना युक्तमित्यन्तेन**।

या प्रत्यक्ष का विषय प्रतिवादी से माना जाता है। और अज्ञान प्रमाण से गम्य (ज्ञेय) नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान (प्रमाण) से निवर्तनीय है, सम्प्रतिपन्न (शुक्ति रजतादि संसर्गादि के समान) परन्तु इन अनुमानों को अन्य नहीं मानते हैं, क्योंकि अज्ञान में प्रमान से अगम्यता (प्रमाणविषयता) हो, तो उस अज्ञान के साधक अनुमान का प्रयोग अयुक्त होगा, उसको सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। और यदि इस अनुमान रूप साधक प्रमाण से अज्ञानगम्य हो, तो अज्ञानमानगम्य नहीं होता है, इस अपने वचन का ही व्याघात (बाध) होता है। यदि कहा जाय कि आत्मा के अवेद्यत्व के अनुमान से साधने (सिद्ध करने) पर भी जैसे स्ववचन व्याघात नहीं होता है, वैसे यहाँ अज्ञान साधन में भी स्ववचन व्याघातादि दोष नहीं होंगे, तो वह कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि उस आत्मा में वृत्तिव्याप्यत्व (वृत्तिविषयत्व) के रहते भी आभास रूप फल व्याप्यत्व के अभाव से अवेद्यत्व साधने में विरोध नहीं होता है। और यहाँ अज्ञान में तो वृत्तिव्याप्यत्व नहीं माना जाता है, अतः विरोध है। और प्रमाण निवर्त्य में प्रमाणागम्यत्व का नियम भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण से निवर्त्य उस प्रत्यभिज्ञा के हेतु रूप संस्कार के नित्य (सदा) परोक्षता के कारण साक्षिसिद्धत्व के अभाव से उसमें अनुमान प्रमाण से गम्यत्व (ज्ञेयत्व) माना जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण से निवर्त्य तद्धेतु संस्कार में अनुमान प्रमाण गम्यत्व होता है यदि शङ्का हो कि

भावेनानुमानगम्यत्वाङ्गीकारात् । नच त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादिव्यवहारोऽत्यन्तसुषुप्ते ज्ञायमाने वाऽसंभाव्यमानोऽतिरिक्तमेव ज्ञानाभावादज्ञानं गमयति । अवगतेंऽशेऽवगतत्वादेव न जानामीतिव्यवहारायोगादनवगतेंशे चानवगतत्वादेव प्रश्नानुपपत्तेरिति युक्तम् ; त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तेः, प्रतिवादिवाक्यादव-

---

ननु सामान्यांशं ज्ञातमनूद्य विशेषांशेऽज्ञाते प्रश्न इति तत्राह— **अवगतेंऽश इति**। ततश्च स एवार्थो ज्ञातश्चाज्ञातश्च वक्तव्यः, नचैतज्ज्ञानाभावपक्षे घटते, ज्ञानेन विरोधात्। अस्मत्पक्षे तु नित्यचैतन्यस्याज्ञानसाधकत्वादविरोध इति भावः । न युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह–**त्वदुक्तमर्थमिति**। नांशतो ज्ञानाज्ञानविषयत्वमर्थस्यापि तु तत्रैवप्रमाणज्ञानाभावतदितरज्ञानयोः सह वर्तनं ब्रूमः। नचैवं सति विरोधः नापि प्रश्नानुपपत्तिरिति भावः। न केवलमत्रैवेयं गतिरपि तु सर्वत्रैव दूष्यस्थल इत्याह—**प्रतिवादीति**। प्रमाणानवगतस्य कथमनुवाद इत्याशङ्कायां वायं ग्रन्थः । आगमं निषेधति—

(त्वदुक्तमर्थं न जानामि) आप के कहे अर्थ को मैं नहीं जानता हूं, इत्यादि व्यवहार, अत्यन्तसुषुप्त = (अत्यन्त अज्ञात) विषयक, या अत्यन्त ज्ञानविषयक असम्भाव्यमान होता हुआ ज्ञानाभाव से अतिरिक्त ही अज्ञान को सिद्ध करता है। क्योंकि अत्यन्त अज्ञातविषयक प्रश्न नहीं हो सकता है। अतः कोई शिष्य गुरु से सुने हुए अर्थ को प्रथम समझकर फिर भूल जाने पर पूछता है कि अभी मैं आपके कहे हुए अर्थ को नहीं जानता हूं। फिर भी कहिये, वहां सर्वथा ज्ञान हो तो भी पूछना नहीं बनता है, सर्वथा अज्ञान हो, तो भी पूछना नहीं बनता है, अतः मानना होगा कि पूछने वाले में ज्ञान और अज्ञान दोनों रहते हैं, वहां विरोध से ज्ञानाऽभावरूप अज्ञान नहीं रह सकता है, और भाव रूप अज्ञान हो, तो दोनों में सहवृत्तित्व बन सकता है। अन्यथा अवगत (ज्ञात) अंश में अवगत (ज्ञात) होने ही से न जानामि यह व्यवहार अयुक्त होगा, और अज्ञातांश में अनवगत (अज्ञात) होने ही से प्रश्न की अनुपपत्ति होगी, और भावरूप अज्ञान पक्ष में, ब्रह्मात्मारूप ज्ञान से सामान्य रूप से अर्थ का ज्ञान रहता है, विशेष रूप से भावात्मक अज्ञान रहता है, सामान्यचेतन रूप ब्रह्म अज्ञान का भी भासक होने से अज्ञान का विरोधी नहीं होता है, अतः प्रश्न बनता है, अतः उक्त व्यवहार से भाव रूप अज्ञान सिद्ध होता है। उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि, आप से कहे गये अर्थ को मैं प्रमाण से नहीं जानता हूं, इस प्रकार के अर्थपरता (बोधकता) रूप से (त्वदुक्तमर्थं न जानामि) आप से कथित अर्थ को न जानता हूं, इस व्यवहार की उपपत्ति सिद्धि, हो सकती है, अतः इस व्यवहार से भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रतिवादी के वाक्य से अवगत (ज्ञात)

गतार्थस्यानुवादपुरःसरं प्रमाणासंभवेन सर्वैर्वादिभिर्निराकरणाङ्गीकारात् । नापि 'नासदासीन्नो सदासी'दित्युपक्रम्य 'तम आसीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्', 'इन्द्रो मायाभि'रित्याद्यागमस्तत्र प्रमाणम् ; तमःशब्देन सांसारिक-पुरुषाणां प्रलयकालीनज्ञानाभावस्यैवोच्यमानत्वात् , माया शब्देन च पर-मेश्वरज्ञानशक्तेरेव तत्स्वरूपभूतायाः संकीर्तनात् तदेवमनिर्वचनीयाज्ञाने लक्षणप्रमाणयोरसंभवत्तादृगज्ञानमस्तीत्येतदेवाज्ञानमिति सिद्धम् ।

अत्रोच्यते । न तावल्लक्षणासंभवस्तथाहि—

अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते ।

नापीति । तदानीं प्रलयकालेऽसन्नासीत्सदपि नासीदिति प्रतिषेधे किं तर्हि तम आसीदित्येका श्रुतिः, मायां त्वित्यपरा, इन्द्रो मायाभिरित्यप्यन्या । प्रलयकाले ये संसारिणां ज्ञानाभावास्तेऽत्र तमःशब्दाभिधेयाः न त्वदभिमतमज्ञानमित्यर्थः । इतर-श्रुत्योरन्यथासिद्धिमाह —**मायाशब्देन चेति** । **तत्स्वरूपभूतेति** । **प्रकृतिः** स्वभाव-भूतेत्यर्थः । उपसंहरति—**तदेवमिति** । एतदेवाज्ञानं मोढ्यमित्यर्थः ।

लक्षणं श्लोकेन संगृह्णाति—**अनादिति** । पूर्वज्ञानादेः प्रागभावस्यात्मनश्च

अर्थ का अनुवादपूर्वक, प्रमाणाऽसम्भव के कारण सब वादियों से निराकरण का स्वीकार किया जाता है। अर्थात् प्रतिवादी से कथित अर्थ को यदि प्रामाणिक माना जाय तो निराकरण अयुक्त हो, और उसका ज्ञान ही नहीं हो तो अज्ञात का निराकरण नहीं हो सकता है, अतः प्रतिवादी वाक्य से ज्ञात को भी प्रमाण से अज्ञात (असिद्ध) मानकर जैसे खण्डन किया जाता है, वैसे ही प्रश्न भी हो सकता है। यदि कहा जाय कि (नासदासीन्नोऽसदासीत्) महाप्रलय में सदसत् = कार्य-कारण नहीं थे। ऐसा उपक्रम (आरम्भ) करके किया था, ऐसी आकांक्षा पर कहा गया है कि (तम आसीत्) तम था। और (मायां तु प्रकृतिं विद्यात्) माया को प्रकृति समझना चाहिये । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" ईश्वर मायाओं से बहुरूप होता है। इत्यादि आगम उस भावरूप अज्ञान में प्रमाण है, यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ये आगमभावरूप अज्ञानार्थ में प्रमाण नहीं है। क्योंकि तमः शब्द से सांसारिक पुरुषों के प्रलयकालिक ज्ञानाभाव ही कहा गया है। और माया शब्द से परमेश्वर की ज्ञानशक्ति जो ईश्वर के स्वभावरूप प्रकृत्यात्मक है, उसका संकीर्तन (कथन) किया गया है। अतः उक्तरीति से अनिर्वचनीय अज्ञान के लक्षण और प्रमाण के असम्भव से तादृक् (अनिर्वाच्य) वैसा अज्ञान है। ऐसा समझना ही अज्ञान है। यहाँ तक पूर्व पक्ष हुआ।

अत्रोच्यते = अब यह उत्तर पक्ष कहा जाता है कि, पूर्व वर्णित अविद्या के लक्षण का असम्भव नहीं है, अतः लक्षण दर्शाया जाता है कि—

जो अनादि भावरूप वस्तु विज्ञान से विलीन = नष्ट हो जाती है, वह अज्ञान

तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥ ९ ॥

अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरस्यमज्ञानमिति लक्षणमिह विवक्षितम् । न तावदिहाव्याप्तिः, सर्वेषामप्यज्ञानानामुक्तरूपत्रयानुगमात् । नाप्यतिव्याप्तिः; अनादेर्भावस्यात्मनो निवर्त्यत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्याप्यभावात्, तदन्यस्य च परमाणोस्तद्गतश्यामत्वादेश्च स्वरूपतोऽनङ्गीकृतस्य दूरत एवानादित्वानङ्गीकारात् । नचासंभवित्वं, भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारादात्मवदनादिभावत्वेनानिवर्त्यत्वानुमानानुपपत्तेः ।

यथायथं विशेषणैर्व्यावृत्तिः । संगृहीतं लक्षणं विवृणोति—**अनादित्वे सतीत्यादिना** । ननु चिरंतनमतानुसारेण पार्थिवपरमाणुविशेषगुणेष्वतिव्याप्तिरुक्तेति तत्राह—**तदन्यस्य चेति** । एतच्च द्वितीयपरिच्छेदे विवरिष्यते । यच्चानादित्वे सति भावरूपं तदनिवर्त्यं यथात्मेत्यनुमानविरोधादसंभवीदं लक्षणमिति तद्दूषयति—**नचासंभवित्वमिति** । अयं भावः—किमिदं भावत्वं हेतुकृतं ? किं वस्तुत्वं ? उताभावविलक्षणत्वम् ? नाद्यः; असिद्धेः । न द्वितीयः, वस्तुत्वस्यैवोपाधित्वादिति ।

है । यह अज्ञान का लक्षण विद्वान् कहते हैं ॥ ९ ॥

अर्थात् अनादित्व युक्तभावस्वरूप विज्ञान निरस्यत्व (विनाश्यत्व), अज्ञान का लक्षण विवक्षित है । इस लक्षण में अव्याप्तिदोष नहीं है, क्योंकि सभी अज्ञानों में उक्त (अनादित्व, भावरूपत्व और ज्ञाननिवर्त्यत्व) इन तीनों रूपों का अनुगम (अन्वय) है । अतिव्याप्तिदोष भी नहीं है, क्योंकि अनादि भाव स्वरूप आत्मा में निवर्त्यत्व के अभाव से ज्ञाननिवर्त्यत्व का भी अभाव है, आत्मा से अन्य जो परमाणु और उनके श्यामत्वादि स्वरूप से ही वेदान्त में अनङ्गीकृत हैं, (नहीं माने जाते हैं), उनके अनादित्व का अनङ्गीकार तो बहुत दूर से है, अर्थात् उनको किसी प्रकार से भी अनादि नहीं माना जाता है, कि जिनमें अतिव्याप्ति हो, इस लक्षण में असम्भवित्व (असम्भवता) दोष भी नहीं है, क्योंकि भावाभावविलक्षण अज्ञान में वस्तुतः अभाव विलक्षणत्व मात्र से भावत्व का उपचार (गौण व्यवहार) होता है । वस्तुतः भावत्व अज्ञान में नहीं रहता है । अतः अनादिभावरूप हेतु से आत्मा के समान उसमें अनिवर्त्यत्व के अनुमान की अनुपपत्ति है । अर्थात्, अज्ञानम्, अनिवर्त्यम् , अनादिभावत्वात् , ऐसे अनुमान उक्त अनुमान में बाधा नहीं हो सकती है, क्योंकि वस्तुतः भावत्व के अभाव से यह हेतु ही असिद्ध है ।

नचैवंविधे मानासंभवः, यतः—

देवदत्तप्रमा तत्स्थप्रमाभावातिरेकिणः ।
अनादेर्ध्वंसिनी मात्वादविगीतप्रमा यथा ॥ १० ॥

विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठप्रमाऽभावातिरिक्तानादेर्निवर्तकं प्रमाणत्वाद्यज्ञदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम् । ये तु प्रमा प्रमाप्रागभावनिवृत्तिरेव न तु निवर्तिकेति मन्यन्ते, तान्प्रति—देवदत्तप्रमा तन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवृत्तिरिति प्रयोक्तव्यम् । नचैतदसमवेतत्वमेतद-

---

प्रमाणाक्षेपं परिहरति—**न चैवंविध इति** । श्लोकेनानुमानं संगृह्णाति—**देवदत्तेत्यादिना** । देवदत्तप्रमेति धर्मिनिर्देशः, तत्स्थेत्यादिः साध्यनिर्देशः । मात्वादिति हेतुनिर्देशः । अविगीता अविप्रतिपन्ना । यज्ञदत्तप्रमेति दृष्टान्तः । संग्रहं विवृणोति—**विगीतमित्यादिना** । इत्थमत्र प्रयोगः—देवदत्तप्रमाणज्ञानमेतन्निष्ठप्रमाणाभावत्वानधिकरणानादिनिवर्तकं प्रमाणत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणवदिति । अत्र चाभावत्वानधिकरणेत्येवालम् । अनादिनिवर्तकमित्युक्ते प्रागभावमादायार्थान्तरता तदर्थं प्रमाणाभावत्वानधिकरणेत्युक्तम् । तावति चाप्रसिद्धविशेषणता प्रमाणाभावत्वानधिकरणस्यानादेर्ज्ञाननिवर्त्यस्य तेनानङ्गीकारादात्मनश्च तन्निवर्त्यत्वानङ्गीकारात् तदर्थं देवदत्तनिष्ठेत्युक्तम् । यज्ञदत्तनिष्ठप्रमाणे हि देवदत्तनिष्ठत्वे सति प्रमाणाभावत्वानधिकरणानादेस्तत्प्रागभावस्य निवर्तके सुप्रसिद्धमेव साध्यमिति नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये । पूर्वज्ञानसुखादिव्यवच्छेदायानादिग्रहणम् । पक्षे चैतन्निष्ठप्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणत्वमेतन्निवर्त्यस्यानादेरेतन्निष्ठत्वानधिकरणत्वेन न संभवति । अन्यनिष्ठप्रागभावं प्रत्यन्यनिष्ठस्यानिवर्तकत्वात् । तस्मादेतन्निष्ठत्वे सति यत्प्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणमनादि ज्ञाननिवर्त्यं च, तदभिमताज्ञानमेवेति तत्सिद्धिः । नन्वभावनिवृत्तिरेव भावः, नहि भावव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिर्नाम संभवतीति केषांचिन्मतम् । तथा च यज्ञदत्तप्रमाणस्य स्वप्रागभावनिवृत्तित्वात्, निवर्तकत्वलक्षणसाध्याभावात्साध्यविकलो दृष्टान्त इति तत्राह—**ये त्विति** । व्याप्यत्वासिद्धिं परिहरति—**नचैतदिति** । सत्प्रतिपक्षमाशङ्क्य परिहरति—

उक्त अनिर्वचनीय स्वरूप वाली ऐसी अविद्या में प्रमाण का असम्भव (अभाव) भी नहीं है । क्योंकि देवदत्त की प्रमा, देवदत्तनिष्ठप्रमाऽभाव से व्यतिरेकी भिन्न अनादि की ध्वंसिनी (विनाशिनी) है, मात्वात् प्रमात्व होने से, अविगीत (अविप्रतिपन्न) प्रमा के समान, अर्थात् विगीत (विवाद-विषय), देवदत्तनिष्ठ (वर्ती) प्रमाण ज्ञान, देवदत्तवृत्तिप्रमाऽभावातिरिक्त अनादि का निवर्तक है, प्रमाणत्वात् (प्रमाण होने से), यज्ञदत्तादि वृत्ति प्रमाण ज्ञान

न्यसमवेतत्वं वा तत्रोपाधिः, साध्याव्याप्तेः—एतत्समवेतसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानामेतन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादेः स्वप्रागभावस्य निवर्तकत्वेन साध्ये विद्यमानेऽपि त्वदुक्तोपाधेरभावात् । नच विवादपदमनादेर्भावस्य निवर्तकं न भवति पदार्थत्वात्संप्रतिपन्नवदिति प्रत्यनुमानविरोधः; सत्ताद्रव्यत्वाद्यनिवर्तकत्वेन सिद्धसाधनत्वात् । ननु संप्रतिपन्नात्मादिपदार्थाति-

---

नच विवादपदमिति । संप्रतिपन्नवदिति । घटवदित्यर्थः । अत्र किमनादिभावस्य यस्य कस्यचिदनिवर्तकत्वं साध्यते । किं वोभयसंप्रतिपन्नानादिभावव्यतिरिक्तस्यानादेर्भावस्याभावविलक्षणस्य ? आद्यं प्रत्याह—सत्तेति । द्वितीयं शङ्कते—नन्विति । नच निगीता प्रमा प्रमाऽभावातिरिक्तैतन्निष्ठानादिनिवर्तकत्वानधिकरण प्रमात्वात् यज्ञदत्तप्रमावत् इति प्रसाधनादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावाद्भवति प्रतिप्रयोग इति वाच्यम् । देवदत्तनिष्ठं प्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठानाद्यभावानिवर्तकत्वात्यन्ताभावानधिकरणं प्रमाणज्ञानत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणज्ञानवदित्यभाससमानयोगक्षेमत्वात् । नच देवदत्तप्रमा देवदत्तनिष्ठत्वे सति देवदत्तप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवर्तकत्वानधिकरणं प्रमात्वात् यज्ञदत्तप्रमावदिति सत्प्रतिपक्षता । एतन्निष्ठनिवर्तकत्वानधिकरणत्वस्योपाधेः, एतत्सुखादौ च व्यतिरेकसिद्धिः । अभावविलक्षणाज्ञाने प्रत्यक्षमपि प्रमाणमाह—

के समान । यह अनुमान अनादि अज्ञान में प्रमाण है । इस अनुमान से प्रमाण अभाव से अतिरिक्त अनादि अज्ञान पक्ष में सिद्ध होता है, और दृष्टान्त में देवदत्तगत प्रमाऽभाव से अतिरिक्त अज्ञान प्रमाप्रागभाव के निवर्तकत्व यज्ञदत्तादि के प्रमा में प्रसिद्ध है । जो कोई मानते हैं कि प्रमा, प्रमा के प्रागभाव की निवृत्ति स्वरूप ही होती है । उससे प्रागभाव की निवृत्ति से पृथक् नहीं होती, अतः प्रमा निवर्तिका नहीं है, उनके प्रति प्रयोग होगा कि (देवदत्तप्रमा, देवदत्तगतप्रमा, प्रागभावातिरिक्तानादिनिवृत्तिरूपा, प्रमात्वात्), इस अनुमान में एतत् (देवदत्त) असमवेतत्व, वा एतदन्य समवेतत्व उपाधि है, अतः असत् हेतु है, ऐसा नहीं कह सकते हैं । क्योंकि उन दोनों में साध्यव्यापकत्व का अभाव है । यतः एतत् देवदत्तसमवेत सुखदुःख-इच्छा-द्वेषप्रयत्नों को देवदत्तनिष्ठ प्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त अनादि स्व (निज) प्रागभाव के निवर्त्यकत्व से, उन सुखादिकों में साध्य के विद्यमान रहते भी तदसमवेतत्व तदन्यसमवेतत्व नहीं रहते हैं । अतः साध्यव्यापकता के अभाव से उपाधि नहीं हो सकते हैं । यदि कहें कि (विवादपद = विवादविषयप्रमाज्ञान), अनादिभाव का निवर्तक नहीं है, पदार्थ होने से, घट के समान (सम्प्रतिपन्नवत्) इस प्रति अनुमान से विरोध (प्रतिपक्षता) है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सत्ता द्रव्यत्वादि अनादिभाव के अनिवर्तकत्व से इस अनुमान में सिद्धसाधनता है । यदि शङ्का हो कि, विगीता प्रमा, सम्प्रतिपन्नवादि-

रिक्तस्य भावस्याभावातिरिक्तस्य चानादेर्न निवर्तकमिति विशेषणादिदमदूषणमिति चेत्, न; तस्य तवाप्रसिद्धतयाऽप्रसिद्धविशेषणत्वापत्तेः। किंच 'न किंचिदवेदिपमि' ति परामर्शसिद्धसौषुप्तिकानुभवोऽप्यत्र प्रमाणम्। नच ज्ञानाभावविषयोऽयमनुभवः, अभावप्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगिबोधपराधीनतया तदभावे तस्यानुभवितुमयोग्यत्वात्। नच भेदसादृश्यादिवत्स्वरूपेणाभावस्यापि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यता; तथात्वे सादृश्यादिवदेव भावत्वापत्तेः, निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यो भाव इति परैर्लक्षणाङ्गीकारात्। नायं सुषुप्तिकालीनानुभवजं परामर्शः, किंतूत्थितस्येदानीमेव सौषुप्तिकज्ञानाभावानु-

---

किं चेति। उत्थितस्य न किंचिदवेदिषमिति परामर्शादुन्नीतो यः सौषुप्तिकानुभवः सोपि प्रमाणमित्यर्थः। ननु किमिति निर्विकल्पकानुभवायोग्यत्वं यावता भेदसादृश्यादिवत्संभव उक्तस्तत्राह—**न च भेदसादृश्येति।** ननु किमिति भावत्वापत्तिः ? नहि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यत्वसाम्यात्सादृश्यभेदयोरैक्यमिति तत्राह—**निर्विकल्पकेति।** यत्तु तेनोक्तमस्मत्पक्षे तु नायं परामर्श इत्यादि तदनूद्य दूषयति—**नायमित्यादिना।** ननु किमिति सामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गासिद्धिः ? यावता ज्ञाना-

---

प्रतिवादिसम्मत, आत्मादि पदार्थातिरिक्त, अभावातिरिक्त अनादिभाव का निवर्तक नहीं होती है, ऐसा विशेषण (साध्य) होने से सिद्धसाधनता नहीं होगी, तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि ऐसे साध्य (अनादि भव) की आपके मत में अप्रसिद्धि होने से, अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होगी। और (सुपुप्तौ न किञ्चिदवेदिषम्) सुषुप्ति में मैंने कुछ जाना नहीं, इस परामर्श से (जाग्रतकालिक स्मरण से) सिद्ध = (अनुमित) सुषुप्तिकालिक अनुभव भी भावस्वरूप अज्ञान के सत्त्व में प्रमाण है। क्योंकि यह सुषुप्तिकालिक अनुभव ज्ञानाऽभावविषयक नहीं हो सकता है, उसमें यह कारण है कि, अभाव की प्रतीति, धर्मी (अनुयोगी) और प्रतियोगी, इन दोनों के ज्ञानाधीन होती है, अतः अनुयोगी-प्रतियोगी के ज्ञान के अभाव रहते उस अभाव का सुषुप्ति में अनुभव होना अशक्य है, भेदसादृश्यादि के समान, अभाव को भी स्वरूप से निर्विकल्पक बुद्धिविषयत्व की योग्यता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि सादृश्यादि के समान निर्विकल्पक बुद्धि के विषय होने पर सादृश्यादि के समान ही भावत्व की प्राप्ति होगी। यतः निर्विकल्पक से वेद्य भाव होता है, ऐसा अन्य लोगों से भाव का लक्षण माना गया है, और जो कहा था कि (न किञ्चिदवेदिषम्) यह सुषुप्ति कालिक अनुभवजन्य परामर्श (स्मरण) नहीं होता है, किन्तु सुषुप्ति से ऊठे (जागे) हुए को जाग्रत् काल में ही सुषुप्तिकालिक ज्ञानाभाव का अनुमान होता है, वह वक्तव्य नहीं है, क्योंकि उस अभाव के अनुमापक लिङ्ग (हेतु) की असिद्धि (अभाव) है। कहा जाय कि सुषुप्ति-

मानमिति च न वाच्यम्, तदनुमापकलिङ्गासिद्धेः। नच सामग्र्यभावो लिङ्गम्, तस्याप्यसिद्धेः। नच ज्ञानाभावेन तस्यानुमानम्; अन्योन्याश्रयतापत्तेः, सामग्र्यभावाज्ज्ञानाभावानुमानं तदभावाच्च सामग्र्यभावानुमानमिति। नचैवं सति वेदान्तिनामपि ज्ञानाभावानुमानासंभवः; अवस्थाभेदसंभिन्नभावरूपाज्ञानसंवेदनादेव सुषुप्त्यवस्थायां तद्विरुद्धस्य ज्ञानस्य तत्सामग्र्याश्चाभावानुमानात्, त्वयापि गत्यन्तराभावादेवमेव ज्ञानाभावानुमानस्यावश्याभ्युपेयत्वात्। नचैवंविधमज्ञानमद्याप्यसिद्धमिति वाच्यम्; तत्प्रमाणस्य दर्शितत्वात्।

त्वदुक्तमर्थं न जानमीति व्यवहारान्यथानुपपत्तिरपि भावरूपाज्ञान-

---

भावेनैव शक्यानुमानं तद्वैकल्यमिति तत्राह—**नच ज्ञानाभावेनेति**। यच्च तेनोक्तमन्यथा भवतामपि घटपटादिज्ञानाभावानुमानं न स्यादिति तदनूद्य परिहरति—**नचैवं सतीति**। मम तु भावरूपाज्ञानबलादुभयाभावः शक्यानुमान इत्यर्थः। तवापीयमेव गतिर्नान्येत्याह—**त्वयापीति**। तत्त्वेवंविधाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च मां प्रत्यसिद्धिरिति तत्राह—**नचैवंविधमिति**। परामर्शस्याप्युपलक्षणमिदं तस्यापि समर्थनात्।

अर्थापत्तिमपि प्रमाणयति—**त्वदुक्तमर्थमित्यादिना**। पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य

कालिक ज्ञान की सामग्री का भाव लिङ्ग है, वह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सामग्री के अभाव की भी असिद्धि (अज्ञान) है। ज्ञान के अभाव से सामग्री के अनुमान होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी, अर्थात् सामग्री के अभाव से ज्ञानाभाव का अनुमान, और ज्ञानाभाव से सामग्री के अभाव का अनुमानरूप परस्पराश्रयता की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि इस प्रकार से सामग्री अभाव से ज्ञानाभाव के अनुमान को नही मानने पर वेदान्तियों को भी सुषुप्तिकालिक ज्ञानाभाव का अनुमान असम्भव होगा। वे भी ज्ञानाभाव का अनुमान अन्योन्याश्रय से नहीं कर सकेंगे, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि अवस्थाभेद (विशेष) सुषुप्ति से सम्भिन्न (युक्त) भावरूप अज्ञान के साक्षीस्वरूप संवेदन (ज्ञान) से ही उस अज्ञान से विरुद्ध ज्ञान के और उसकी सामग्री के अभाव का अनुमान होता है। अतः आप को भी गत्यन्तर के अभाव से इसी प्रकार ज्ञानाभाव के अनुमान को अवश्य मानना होगा। ऐसा भावरूप अज्ञान अभी तक असिद्ध है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि उस अज्ञानविषयक अनुमान प्रदर्शित हो चुका है॥

'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' आपके कहे अर्थ को मैं नहीं जानता हूं, इस व्यवहार की अन्यथा (भावरूप अज्ञान के बिना) अनुपपत्ति भावरूप ज्ञान के

सद्भावे मानम्। नच प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तिः त्वदुक्तेर्थे प्रमाणज्ञानं मम नास्तीत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्; तद्विशेषणतयार्थस्यापि प्रमाणेनाधिगतत्वात्, स्ववचनव्याघातापत्तेः। एतद-तिरिक्तप्रमाणज्ञानं त्वदुक्तेऽर्थे मम नास्तीति वदतो वचनव्याघातदोषानुषङ्ग एवास्यापि ज्ञानस्य पूर्ववदेव प्रमाणजन्यत्वात्। नच सामान्यतः प्रमाणे-नार्थस्याधिगमेपि विशेषानधिगमाददोषः; विशेषस्याप्यधिगमानधिगमयोः

निषेधति—नचेत्यादिना। त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीति यदिदं ज्ञानं तत्ताव-त्प्रमाणमेव, यथार्थानुभवत्वात्। तथा चैतज्ज्ञानविषयान्तर्गततयैतद्विषयभूतस्यार्थ-स्यापि प्रमाणतो ज्ञातत्वात्तन्निषेधवचनविरोध इत्याह—**त्वदुक्तेऽर्थे इति।** ननु प्रमाणतो न जानामीत्यस्यायमर्थः—एतदज्ञातत्वग्राहिप्रमाणव्यतिरिक्तं प्रमाणज्ञानं नास्तीति। तत्राह—**एतदतिरिक्तेति।** अत्राप्येवंविधज्ञानस्य पूर्वनिर्दिष्टादतिरिक्त-प्रमाणत्वादेव तदविषयत्ववचनं व्याहतमित्यर्थः। ननु सामान्यतः प्रमितस्य विशेष-तोऽनधिगमोद्भावनान्न व्याहतिरिति तत्राह—**नच समान्यत इति। पूर्वोक्तेति।** पूर्वपक्षसमयोक्तेत्यर्थः। ननु त्वन्मतेपि कथं ज्ञायमानेऽर्थे न जानामीति व्यवहारः

सद्भाव (सत्त्व) में प्रमाण है। प्रमाण से आपके कहे अर्थ को नहीं जानता हूं, ऐसे अर्थपरता (तात्पर्य से भी) उक्त व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि, आपके कहे अर्थविषयक प्रमाण ज्ञान मुझे नहीं है, इस प्रकार के विशिष्टविषय ज्ञान को प्रमात्व है, क्योंकि यह यथार्थ ज्ञान है, और इस ज्ञान के अन्तर्गत रूप से उसके विषय के अन्तर्गत स्वरूप अर्थ भी प्रमाण से ज्ञात हो जाता है। अतः उस अर्थ को प्रमाणज्ञान का अविषय कहना विरुद्ध होता है। अर्थात् उस ज्ञान में विशेषण रूप से अर्थ का भी प्रमाण से ही ज्ञान होता है, अतः प्रमाण से अज्ञात कहने पर स्ववचन का व्याघातापत्ति होगी। यदि कहें कि, त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामि (त्वदुक्त अर्थ के अज्ञातत्व ग्राहक) इस प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाणरूप ज्ञान, आपके अर्थविषयक मुझे नहीं है। तो ऐसे कहने वाले को भी वचन का व्याघात दोष ही है। क्योंकि इस ज्ञान को भी पूर्व के समान प्रमाण जन्यत्व है। अर्थात् पूर्वकथित प्रमाण से नहीं जानता हूं। इससे अतिरिक्त प्रमाणत्व ही दूसरे कल्पको है, कि जो कहा गया है कि त्वदुक्त अर्थ के प्रज्ञातत्व ग्राहक प्रमाणज्ञान मुझे नहीं है। यदि कहा जाय कि सामान्य रूप से प्रमाण से अर्थ के ज्ञान होने पर भी, विशेषरूप से अज्ञात रहने के कारण 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' ऐसा कहने पर व्याघात दोष नहीं हो सकता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि विशेष के भी ज्ञानाज्ञान उभय अवस्था

पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । ननु भावरूपमप्यज्ञानं ज्ञाननिरस्यमभ्युपगम्यते भवद्भिस्तत्कथं ज्ञायमानेर्थे न जानामीति व्यवहारः, मैवम्; अस्मन्मतेऽज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणावोध्यत्वात्; प्रमाणज्ञानोदयात्प्राक्कालेऽज्ञानं तद्विशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्धोऽज्ञात इत्यनुवादगोचरो भवति, भवति च प्रश्नार्हं इत्यविरोधात् । उक्तं च सम्प्रदायविद्भिः––"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञातया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवे"ति ।

किंच 'तम आसीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'त्याद्यागमोपि तत्र

यावता ज्ञानाभाववदज्ञानमपि ज्ञाननिवर्त्यमेवेति चोदयति––**नन्विति** । न तत्राज्ञाननिवर्तकं प्रमाणज्ञानं तद्बोधकमपि तु साक्षिचैतन्यम् । नच तदज्ञाननिवर्तकं तत्साधकत्वादिति परिहरति – **मैवमिति । प्रमाणावोध्यत्वादिति** । अभावव्यावृत्तेरेवानुमानादिप्रमाणैर्वोध्यमानत्वादिति भावः । अत एव पूर्वं प्रमाणज्ञानं नोत्पन्नं साक्षिणैवाज्ञानविशिष्टतयैवार्थो निर्जात इत्यत एवानुवादप्रश्नौ घटेते इत्याह–– **प्रमाणज्ञानोदयादिति** ।

आगममपि प्रमाणयति––**किंच तम आसीदित्यादिना** । यत्तु जीवानां

में पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती । अर्थात् विशेष यदि ज्ञात हो, तो 'न जानामि' यह कहना नहीं बनेगा, अज्ञात हो तो प्रश्नानुपपन्न (असिद्ध) होगा । शङ्का है कि भावरूप भी अज्ञान ज्ञान से निरसनीय है, ऐसा आप (वेदान्ती) मानते हैं, तो समझे बिना अज्ञात अर्थविषयक प्रश्न के असम्भव से आपके मत में ज्ञात ही अर्थविषयक न जानामि, यह व्यवहार होता है, वह कैसे होता है, क्योंकि जाने हुए में न जानामि यह कहना विरुद्ध है । उत्तर है कि ऐसी शङ्का हमारे मत में नहीं कर्तव्य है, क्योंकि हमारे मत में अज्ञान में प्रमाणायोग्यता है, और साक्षी से अज्ञान के सिद्ध होने से उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है । अतः प्रमाणायोग्यत्व अज्ञान में है । और प्रमाणज्ञान के उदय से पूर्वकाल में अज्ञान और अज्ञान से विशेषित (अज्ञात) साक्षी से सिद्ध रहता है, वही अज्ञात इस अनुवाद का विषय होता है, और साक्षिवेद्य (साक्षी से ज्ञात) होने से प्रश्न के योग्य होता है, अतः अविरोध है, क्योंकि साक्षीरूप ज्ञान अज्ञान का भी साधक होता है, और प्रमाणजन्य ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है, अतः भावरूप अज्ञान को ज्ञाननिवर्त्य मानना आदि युक्त ही है । सम्प्रदायवेत्ताओं ने कहा है कि, ज्ञात रूप से वा अज्ञातरूप से सब वस्तु साक्षि चैतन्य का विषय ही है । अतः चैतन्य से ज्ञातप्रमाण से अज्ञातविषयक प्रश्न सिद्धान्त में बनता है, अन्यथा नहीं ।

"तम आसीत्, मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादि आगम भी उस भाव-

प्रमाणम् । नच तमःशब्देन ज्ञानाभावः कथ्यते; नासदासीदित्यभावं व्यावर्त्य तम आसीदिति प्रतिपादनात् । नच परमेश्वरज्ञानशक्तिर्माया; 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'मायामेतां तरन्ति ते,' 'तरत्यविद्यां विततां योगी माया'मित्यादिना ज्ञाननिवर्त्ये मायाशब्दप्रयोगदर्शनात् । तदेवं लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादनादिभावरूपाज्ञानमस्तीति सिद्धम् ।

किंच भ्रमोपादानज्ञानमिति लक्षणेऽपि न दोषः । नचात्मन्यति-

तात्कालिकज्ञानाभावस्तमश्शब्दाभिधेय इति तन्न । नासदासीदित्यभावस्यापि अनिषेधादित्याह—**नच तम इति** । नच प्रागभावप्रध्वंसवर्गस्यानाद्यनन्तस्य सद्भावादशक्यनिषेधतेति वाच्यम् । तयोरप्युत्पत्तिविनाशवत्तायाः साधयिष्यमाणत्वात् । मायाशब्दस्यान्यथासिद्धिमुक्तां निराचष्टे—**नच परमेश्वरेति** । ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वानङ्गीकारादिति भावः । उपसंहरति—**तदेवमिति** ।

पञ्चममपि मतं शक्यसमर्थनमित्याह—**भ्रमोपादानमिति । नचात्मनीति** । कूटस्थस्य तस्य वियदादिविकाराभावादविद्यावेशवशाद्विकारे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन तस्या एव विकारः । नचैवं सांख्यसिद्धान्तसङ्गतेरिह गन्धिता, परमेश्वराध्यस्तानिर्वचनीयाविद्यापरिणामस्य विवर्तापरनाम्नः स्वीकारादीदृशमेव हेतुत्वमभिप्रेत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत' इत्यादिसृष्टिश्रुतयस्तथा 'जन्माद्यस्य यतः, प्रकृतिश्चे'त्याद्यधिकरणान्यपि । अत एव धातुसमीक्षायां ब्रह्मविद्र्यकाण्डे भर्तृहरिभिरभिहितम्—

रूप अज्ञान में प्रमाण हैं। तम शब्द से ज्ञानाभाव कहा जाता है, यह कहा था सो युक्त नहीं, क्योंकि, नाऽसदासीत्, इससे अभाव का निषेध करके, तम आसीत्, इससे तम का प्रतिपादन किया गया है। परमेश्वर की ज्ञानशक्ति रूप भी माया नहीं है, क्योंकि परमेश्वर की ज्ञानशक्ति परमेश्वरस्वरूप नित्य है, और 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' फिर अन्त में सब माया की निवृत्ति होती है। (मायामेतां तरन्ति ते) इस माया को वे लोग तर जाते हैं, "तरत्यविद्यां विततां योगी मायाम्" योगी विस्तृत अविद्या और माया को तरता है। इत्यादि वाक्यों द्वारा ज्ञान से निवर्त्य अर्थ में माया शब्द के प्रयोग के देखने से माया शब्द का नित्य ईश्वरीय शक्ति ही अर्थ नहीं हो सकता है। अतः उक्तरीति से लक्षण प्रमाण के सिद्ध होने से अनादिभावरूप अज्ञान है, यह सिद्ध हुआ।

भ्रम का उपादान अज्ञान कहा जाता है, इस लक्षण में भी दोष नहीं है, कहा जाय कि आत्मा में अतिव्याप्ति है, तो वह कथन युक्त नहीं। क्योंकि

व्याप्तिः; तस्य केवलस्य कूटस्थस्य कस्याप्यनुपादानत्वात् । सत्योपादानत्वे च विभ्रमस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात् ; नच विभ्रमोऽपि स्वरूपतः सत्यः; तथात्वे प्रमाणज्ञानवदेव विषयापहारलक्षणबाधस्याप्यसंभवप्रसङ्गात् । नचैतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः; अनिर्वचनीयस्यापि विभ्रमस्याभावविलक्षणतया तथात्वेनानुसन्धानोपपत्तेः । नच स्वरूपसत एवासीदिति प्रतिसन्धानम्; एतावन्तं कालमिहादर्शे मुखमासीत्स्फटिकश्च लोहित आसीदित्याद्यनुसन्धानदर्शनात् । प्रयोगश्च, विगीतो विभ्रमः एत-

'शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः ।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी ततः ॥' इति

परिणामित्वमात्रं चात्रोपादानत्वमभिप्रेतं, यत्तु विभ्रमस्यापि स्वरूपेण सत्यत्वान्नेदमनिष्टमिति तत्राह—**नच विभ्रमोऽपीति** । यदि हि घटादिज्ञानवत्स्वरूपेण सत्यो विभ्रमः स्यात्ततस्तद्वदेव यथार्थोऽपि स्यादित्यर्थः । अत एवाहुराचार्याः—'सदसद्भ्यामनिर्वाच्याविद्या वेद्यैः सह भ्रम' इति । प्रत्यभिज्ञाविरोधमुक्तं परिहरति—**नचैतावन्तमिति** । ननु सद्विलक्षणस्यासतः कथमासीदिति प्रतिसंधानविषयत्वमिति तत्राह—**नच स्वरूपसत एवेति** । भ्रमोपादानाज्ञाने प्रमाणमाह—**विगीत इति** । अत्राप्य-

केवल (शुद्ध) कूटस्थ (निर्विकार) चेतनात्मा को किसी भी कार्य के उपादानत्व नहीं है, और यदि विभ्रम सत्य उपादान वाला होगा, तो उस विभ्रम को भी सत्यता की प्राप्ति होगी । विभ्रम भी स्वरूप से सत्य है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि विभ्रम के स्वरूप से सत्य होने पर, प्रमाणज्ञान के समान ही विषय का अपहार (बाध) रूप ज्ञान (विभ्रम) के बाध का भी असम्भव होगा । यदि कहा जाय कि विभ्रम को स्वरूप से भी सत्य नहीं मानने पर, इतने काल तक यह रजत भासता था, यह भ्रमोत्तरकालिक अनुभव से विरोध होगा, यह अनुभव भ्रम के स्वरूप सत्त्व को ग्रहण करता है, तो कहा जाता है कि इस अनुभव से विरोध नहीं है, क्योंकि (तस्माद्वा एतस्मादात्मादात्मन आकाशः सम्भूतः जन्माद्यस्य यतः) इत्यादि श्रुति सूत्र के अनुसार, अपनी अनिर्वचनीय अविद्या द्वारा अनिर्वचनीय जगत् का कारण आत्मा होता है, वहाँ व्यावहारिक वस्तु और उनका ज्ञान व्यवहार काल में अबाधित रहते हैं, अनिर्वचनीय विभ्रम में व्यावहारिक सत्त्व भी नहीं रहता है, तो भी अभाव से विलक्षणतामात्र से उक्त वर्तमान रूप अनुसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) की सिद्धि होती है । स्वरूप से सत्य का आसीत् (इतने काल तक भासता था) यह प्रतिसन्धान होता है । यह कहना ही युक्त नहीं, क्योंकि इतने काल तक इस दर्पण में मुख था, स्फटिक, लोहित (रक्त) था । इत्यादि स्वरूप सत्त्वरहित का भी अनुसन्धान देखा जाता है । विभ्रम के

ज्ञानकारणाबाध्यातिरिक्तोपादानः विभ्रमत्वात् देवदत्तादिविभ्रमवत् । दर्शित एव च सत्योपादानत्वे सत्यत्वप्रसङ्गो विपक्षे बाधकस्तर्कः । तस्माद्य- दुपादानो विभ्रमस्तदज्ञानमिति सिद्धम् ।

ननु तथाप्यसंभवि लक्षणं, सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेन विभ्रमाणा-

---

तिरिक्तकारणस्य द्रव्यस्य परैरबाध्यत्वाङ्गीकारात् तदर्थमेतज्ज्ञानकारणेत्युक्तम् । एत- ज्ज्ञानकारणत्वानधिकरणोपादान इत्युक्ते व्याहतिस्तदर्थमबाध्यत्वानधिकरणेत्युक्तम् । ततश्चाबाध्यत्वानधिकरणबाध्याज्ञानोपादानकत्वसिद्धिर्विभ्रमस्य । दृष्टान्ते त्वेत- ज्ज्ञानकारणातिरेकमादाय साध्यप्रसिद्धिः । अन्तिमसमर्थनमुपसंहरति—**तस्मादिति ।**

'इत्यध्यक्षानुमानार्थापत्तिशब्दैः प्रसाधिता ।
अविभक्ते परेऽविद्या भावाभावविभागदा ।।
एषा साक्षात्साक्षिचैतन्यवेद्याऽविद्यानादिः स्वीकृता स्वे कृतान्ते ।
वादिभ्रान्त्यापादिताभावभावादेर्भिर्मानैः केवलं भेदिताऽत्र ।।
शास्त्रैकगम्येऽपि यथा ह्यपूर्वे परप्रमाणान्निरणायि भेदः ।
यथाच रज्जूरगयोर्विभागं परे प्रभिण्वन्ति परानुबन्धात् ।।'

विभ्रमोपादानमज्ञानमित्युक्तं, तत्र विभ्रमाणामेवाभावादुपादानत्वमसंभवीत्य- ख्यातिवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तथाप्यसंभवीति ।** किमिदं विभ्रमत्वेन विव- क्षितं ? किं यथार्थज्ञानविशेषः यथास्माकं ? उतायथार्थज्ञानम् ? नाद्यः । तदुपा- दानस्यात्मनोन्तःकरणस्य वा अविद्यात्वाभावात् । न द्वितीय इत्याह—**सर्वप्रत्य- यानामिति । विभ्रमाणामेवाभावादिति** ज्ञानानामयथार्थत्वाभावादित्यर्थः ।

उपादान अज्ञान विषयक अनुमान रूप प्रयोग भी हो सकता है कि (विगीत विवादास्पद) विभ्रम, एतत् ज्ञानकारण (अधिष्ठानात्मा) का बाध्य कारण से अतिरिक्त उपादान वाला है, विभ्रम होने से, देवदत्तादि विभ्रम के समान। इस अनुमान से प्रबाध्य से अतिरिक्त भावस्वरूप अज्ञान की पक्ष में सिद्धि होती है। और दृष्टान्त में एतत् ज्ञान के अबाध्य कारण आत्मा से अतिरिक्त देव- दत्तात्मा को मानकर साध्य की प्रसिद्धि होती है, और सत्योपादानत्व पक्ष में सत्यत्व की प्राप्तिरूप विपक्ष का बाधक तर्क प्रदर्शित कराया गया है। अतः जिस उपादान वाला विभ्रम होता है, वह अज्ञान है, यह सिद्ध हुआ ।

विभ्रम को नही मानने वाले अख्यातिवादी प्रभाकर मतानुसार शङ्का है कि उक्त अनुमान के करने पर भी (भ्रमोपादानत्व) रूप लक्षण सम्भावना रहित है। क्योंकि सब ज्ञानों के यथार्थ होने के कारण विभ्रमों का अभाव है, तो विभ्रमोपादानत्व कैसे हो सकता है। और विवादास्पद (भ्रमत्वेनभिमत),

मेवाभावात्, विगीताः प्रत्यया यथार्थाः प्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानात्, अन्यथान्याकारस्य प्रत्ययस्यान्यालम्बनतायामनुभवविरोधात्, संविदां स्वविषयव्यभिचारे चानाश्वासप्रसङ्गात्, असतोऽपि संसर्गादेरवभासमानतायामसत्ख्यातेरपि दत्तावसरतया सौगतमतानुप्रवेशप्रसङ्गात्, असतश्च

ननु कुतः सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वसिद्धिरित्यनुमानादित्याह— **विगीता इति**। अंशतः सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विगीतग्रहणम्। अयथार्थव्यवहारहेतुभूतज्ञानानां पक्षीकरणाच्च नाश्रयासिद्धिः। विपक्षे बाधकमाह— **अन्यथेति**। भासमानतया हि विषयत्वं नतु सत्तया, नापि कारणतयाऽतिप्रसङ्गात्। नच रजतज्ञाने शुक्तिका चकास्ति। तथाचाचेत्यमानशुक्तिकालम्बनत्वकल्पनायां विरुध्यत्येव रजतानुभव इति भावः। तथाच नयग्रीध्यां—'अत्र ब्रूमो य एवार्थं' इत्यादिना विषयलक्षणमुक्त्वोक्तं तेन —

'अन्यस्य चान्यथाभानं प्रतीत्यैव पराहतम्।
परस्मिन्भासमानेऽपि न परं भासते यतः' ॥ इति।

स्थाने तत्त्वानधिकरणपदं प्रक्षेप्तव्यम्। अबाध्यत्वानधिकरणोपादान इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्वत्रोपादानबाधकान्तरमाह— **संविदामिति**। तदप्युक्तं—

यदि स्वार्थं परित्यज्य काचिद्बुद्धिः प्रवर्तते।
व्यभिचारवती स्वार्थे कथं विश्वासकारणम्' ॥ इति।

अपसिद्धान्तापत्तिरपि बाधिकेत्याह— **असतोपीति**। यदि च बहिरसदिदं प्रतीयेत साकारतापि विज्ञानस्य स्यात्। तदप्युक्तं 'अयथार्थत्वपक्षे च ज्ञानं साकारमापत्ते'दिति। तदेव संविद्विरोधानाश्वासासत्ख्यातिप्रसङ्गान्बाधकानुक्त्वा कारणानिरूपणं दर्शयन्नकारणककार्यप्रसङ्गमपि बाधकं बध्नाति— **असतश्चेति**। तदप्युक्तं 'अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारण'मिति। नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुर-

---

ज्ञान, यथार्थ होते हैं, ज्ञान होने से सर्वसम्मत यथार्थज्ञान के समान, अन्यथा = अयथार्थ ज्ञान को मानने पर, अन्याकार (रजताकार) ज्ञान को अन्य (शुक्ति) अवलम्बनता (शुक्तिविषयता) मानने पर अनुभव से विरोध होगा, कि रजत के ज्ञान में शुक्ति भासती है। और दूसरी बात है कि ज्ञानों को अपने विषय से व्यभिचार हो, स्वविषय के विना ज्ञान हो, तो ज्ञानों में अविश्वासता की प्राप्ति होगी कि सूर्यादि का ज्ञान यथार्थ है या नहीं, और भ्रम में शुक्ति, रजत आदि के असत् संसर्गादि की अवभासमानता (ज्ञातता) मानने पर, असत् ख्यातिवादि को भी अवसर देने से सौगत मत का अनुप्रवेश (स्वीकार) प्राप्त होगा। और असत् संसर्गादि के कारण के अनिरूपण (असिद्धि) से भी, भ्रम होना असम्भव

संसर्गादिः स्फुरणकारणानिरूपणात्, चक्षुरादेश्च संप्रयुक्तमात्रग्राहित्वात्, देशान्तरनिवेशिनः स्वरूपासतश्च संप्रयोगायोग्यत्वात्, दोषाणां च स्वारसिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिरोधमात्रहेतुत्वात् मूषिकाघ्रातशालिबीजादौ तथादृष्टत्वात्, दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मनो दग्धस्यावेत्रबीजत्वेन दोषाणां विपरीतकार्यकारणतां प्रत्यनुदाहरणत्वात्। सर्वत्र च प्रतीयमानयोः

वसीयते कारणमिति तत्राह—**चक्षुरादेरिति**। अस्तु तर्ह्यारोप्येणापि संप्रयोग इति तत्राह—**देशान्तरेति**। देशान्तरनिवेशिनो रजतादेः स्वरूपेणासतश्च नष्टपुत्रादेरिति योजना। ननु दोषदूषिताक्षादेरस्ति मिथ्याप्रत्ययजननसामर्थ्यमिति तत्राह—**दोषाणां चेति**। स्वाभाविकशक्तिप्रतिबन्धमात्रं दोषकृत्यं नत्वतिशयाधानमित्यर्थः। ननु दावदाहोपहतवेत्रबीजानां हरिद्राजलावसिक्तहरिद्राङ्गारपरिप्लुष्टहारीतमांसस्य च दशरात्रं कांस्यपात्रोषितस्य सर्पिषश्च दृष्टं विपरीतं रम्भाकाण्डारम्भकत्वं मरणकारणत्वं चेति तत्राह—**दावदहनेति**। दोषाणां विपरीतकार्यकारणतां प्रति दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मनोऽनुदाहरणत्वात्, कुतः? दग्धस्यावेत्रबीजत्वेनेति योजना। उक्तं हि 'भस्मकादिषु कार्यस्य विघातादेव दोषते'ति। ननु संसृष्टव्यवहारदर्शनात्संसर्गज्ञानपूर्वकत्वमितरत्रेवानुमीयत इत्यत आह—**सर्वत्रेति**। सुषुप्त्यातौ सर्वत्र संसृष्टव्यवहारप्रसक्तिवारणाय प्रतीयमानयोरित्युक्तम्। नन्विदं विपर्ययस्थलमात्रलोभेन सकलसमीचीनव्यवहारवर्तिसंसर्गज्ञानजात हेतुपरिहरणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्व'मिति न्यायमनुसरतीत्यत

है, क्योंकि चक्षु आदि स्वसम्बद्धमात्र के ग्राहक होते हैं। देशान्तर में जो वर्तमान हैं, या जिनका स्वरूप ही नहीं है, उनके साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध की योग्यता नहीं रहती है। यदि कहा जाय कि दोषदूषित इन्द्रियों में मिथ्या ज्ञान के हेतु शक्ति हो जाती है, तथा असन्निकृष्टादि अर्थों को ग्रहण करने की शक्ति हो जाती है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि दोषों को स्वाभाविक कार्यजनन शक्ति के प्रतिरोध का हेतुत्व है, मूषिका से दूषित शालि (धान) बीजादि में ऐसा ही (शक्ति प्रतिरोध ही) देखा जाता है। यदि कहा जाय कि दावाग्निदग्धवेत्र (बेंत) बीज से कदली काण्ड 'केला' के जन्म होने से दोषों में विपरीत कार्य की कारणता सिद्ध होती है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि दोषों की विपरीत कार्य कारणता के प्रति, दावाग्नि से दग्ध वेत्र-बीज से कदलीकाण्ड के जन्म को उदाहरणता (दृष्टान्तता) नहीं हो सकती है, दग्ध को वेत्र-बीजत्व ही नहीं रहता है कि जिससे उदाहरण हो। यदि कहा जाय कि भ्रमस्थान में संसर्ग-

संसर्गिणोः संसर्गव्यवहारस्यासंसर्गाग्रहनिबन्धनत्वात्, संसर्गज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनायां गौरवात्। असंसर्गाग्रहप्रसञ्जितसंसर्गव्यवहारमात्रबाधनादेव बाधकस्य बाधकतोपपत्तेः। इदमितिप्रत्ययस्य च दोषदूषितचक्षुर्जन्यतयानाकलितविशेषस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वात्; रजतमिति चासंनिहितविशेषविषयस्य संप्रयोगलिङ्गाद्यजन्यतया संस्कारमात्रकारणत्वेन स्मरण-

---

आह—**संसर्गज्ञानस्यापीति**। नन्वयथार्थज्ञानानङ्गीकारे नेदं रजतमिति बाधकबोधेन किं बाधितव्यमिति तत्राह—**असंसर्गाग्रहेति**। ननु सर्वमेतदिदं रजतमिति संसर्गग्राहिप्रत्ययविरुद्धमित्याशङ्क्य नेदमेकं ज्ञानमपितु ग्रहणस्मरणात्मकमगृहीतविवेकं ज्ञानद्वयमित्याह—**इदमितिप्रत्ययस्य चेत्यादिना**। इदमितिप्रत्ययस्य ग्रहणरूपत्वादित्युत्तरत्रान्वयः। अस्य च ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्यापि स्वस्य स्वविषयस्य चेतरस्मादविवेचकत्वस्य वक्ष्यमाणस्यानाकलितविशेषत्वस्य च सिद्ध्यर्थं दोषदूषितेत्युक्तम्। भवत्वेवमेतद्रजतमित्यत्र का वार्तेति? परिशेषात्स्मृतिरित्याह—**रजतमिति**। असंनिहितत्वेनासंप्रयोगादप्रत्यक्षत्वम्, अगृहीतव्याप्तिकत्वादनुमेयत्वमस्यासंभवि। अननुभूतरजतस्य च प्रत्ययो नोत्पद्यते, तस्मात्सदृशदर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारस्य संजायमानैषा स्मृतिरेवेति भावः। तदुक्तं 'परिशेषात्स्मृतिरेवेति निश्चयो जायतेऽत्र' इति। ननु स्मृतेर्गृहीतग्रहणस्वभावायास्तद्विपरीतात् ग्रहणाद्गृह्यमाणाच्च गव-

---

के व्यवहार से उस व्यवहार के हेतुज्ञान में भी संसर्ग विषयत्व के अनुमान से भ्रम की सिद्धि होती है, तो वह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि सर्वत्र ही प्रतीत संसर्गियों के संसर्ग (सम्बन्ध) का व्यवहार (कथन) असंसर्गाऽग्रह (असम्बन्ध के अज्ञान) निमित्तक होता है, यथार्थ ज्ञानस्थान में भी सम्बन्ध-ज्ञाननिमित्तक सम्बन्ध का व्यवहार ही नहीं होता है कि जिसके दृष्टान्त से अनुमान हो सके। और असंसर्गाग्रहनिमित्तक व्यवहार की सिद्धि होते, संसर्गज्ञान का भी व्यवहार में हेतुत्वकल्पना करने पर गौरव होगा। यदि कहा जाय कि अयथार्थ ज्ञान को नहीं मानने पर 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, इस बाधक ज्ञान से किसका बाध होगा, तो कहा जाता है कि असंसर्ग के अज्ञान से प्राप्त संसर्ग के व्यवहार मात्र के बाध से ही बाधक ज्ञान (नेदं रजतम् इत्यादि) की बाधकता सिद्ध होती है। यदि कहें कि सब ज्ञान के यथार्थ होने पर ही भ्रमत्व प्रसिद्धि की सिद्धि कैसे होगी, तो कहा जाता है कि 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में 'इदम् यह ज्ञान विशेषाविषयक होता है, वहाँ दोषदूषित नेत्रजन्यता से उस ज्ञान को विशेषविषयत्व नहीं होता है, किन्तु सामान्यमात्र की ग्रहणरूपता होती है। और रजतम्, यह जो ज्ञान होता है, वह असन्निहित विशेषविषयक होने से, तथा इन्द्रियसम्बन्ध लिङ्गादि से अजन्यता से संस्कारमात्र जन्यत्व के कारण स्मरण

त्वात्, तस्य च दोषहेतुकत्वेन तत्तांशागोचरतया स्वविषयाविवेचकत्वात्। तयोश्चान्योन्यसंसर्गसाकांक्षसामान्यविशेषालम्बनयोः स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतासंसर्गयोर्निरन्तरोत्पन्नयोः स्वरूपेण यथार्थयोरप्ययथार्थव्यवहारप्रवर्तकयोर्विभ्रमत्वप्रसिद्धेरप्युपपत्तेः। तदेवं प्रत्ययानां यथार्थत्वेन स्वरूपतो

यादिस्मृतिवत्स्यार्थस्य स्वस्य च किमिति न विवेचकत्वमिति तत्राह—**तस्य चेति**। दुष्टमनोयोगित्वात् तद्देशकालवैशिष्ट्यं न गृह्णातीत्यविवेचकत्वमित्यर्थः। तथापि कथं स्वरूपतो विषयतश्च विभिन्नाभ्यामाभ्यां संसृष्टप्रवृत्तिरित्यत आह—**तयोश्चेति**। **सामान्यविशेषेति**। इदमिति सामान्यमात्रं, रजताकारो विशेषः। नन्विदं ज्ञानमिदमि प्रवर्तयतु रजतज्ञानं च रजते, किमिति रजतार्थिनः पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिस्तत्राह—**स्वरूपतो विषयतश्चेति**। स्यादेतत् किमिदमेकैकं व्यवहारहेतुः? उत मिलितम्? नाद्यः, पृथक्प्रदेशे प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; क्षणिकज्ञानयोर्मेलनायोगादित्यत आह—**निरन्तरोत्पन्नयोरिति**। यद्यपि मेलनं न संभवति तथापि नैरन्तर्येणोत्पत्तिरेव तथाविधप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः। विनश्यदविनश्यतोः सहावस्थानं वा नैरन्तर्येण विवक्षितम्। ननु यथार्थज्ञानानामपि विभ्रमत्वे सर्वेषामेव किमिति न विभ्रमत्वसिद्धिरिति तदनुपपत्तिरेव विपर्यये प्रमाणमित्यत आह—**स्वरूपेणेति**। तदुक्तं नयवीथ्यां—

संनिहितरजतशकले रजतमतिर्भवति यादृशी सत्या।
भेदानध्यवसायादियमपि तादृक्परिस्फुरति॥
साधारणं हि रूपं तस्याश्चास्याश्च विद्यते तेन।
तन्मात्रप्रतिभानात्समानतामेव मन्यन्ते॥
तत्तुल्यव्यवहारप्रवृत्तिरपि युज्यते चातः।
तद्विनिवारणकारणबाधकभावोऽयं बाधकस्यापि॥'

इति वृत्तवादसंगतिगर्भं पूर्वपक्षमुपसंहरति—**प्रत्ययानामित्यादिना**। एतेन पीतः शङ्ख इत्यादिप्रत्यया अपि व्याख्याताः, तेषु ग्रहणाविवेकसमाश्रयणात्। स्वप्न-

---

रूप होता है, वहाँ उन स्मरण के दोषजन्य होने से तत्ता अंश को अन्य स्मरण के समान विषय नहीं करता है, अतएव अपने विषय का विवेचक (इदम् अंश से भिन्न रूप से बोधक) नहीं होता है, इस प्रकार परस्पर संसर्गसाकांक्ष, इदं रूपसामान्य और रजतरूप विशेष-विषयक दोनों ज्ञान, स्वरूप से और विषयरूप से अज्ञात संसर्ग वाले निरन्तर उत्पन्न होते हैं, वहाँ स्वरूप से यथार्थ होते भी अयथार्थ व्यवहार के हेतु होने के कारण विभ्रमत्व प्रसिद्धि की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। अतः इस उक्तरीति से सब ज्ञानों की यथार्थता

विभ्रमत्वाभावात् विभ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणमलक्षणमेवेति।

अत्रोच्यते; नैतत्सारं यतः—

स्वीकारे विभ्रमाणां स्यात्स्वीयसिद्धान्तबाधना।
अनभ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता॥ ११॥

विगीतविभ्रमाभ्युपगमे सिद्धान्तविरोधात्, अनभ्युपगमे हेतोराश्रयासिद्धेरनुमानानुदयात्। अयथार्थव्यवहारहेतोर्ज्ञानस्य पक्षीकरणाददोष इति चेत्, न; यथार्थस्यापीश्वरज्ञानस्य सर्वव्यवहारहेतोरयथार्थव्यवहारं प्रत्यपि हेतुतया तत्र तार्किकाणां सिद्धसाधनत्वात्। इदं रजतमित्यत्रापीदमंशविषयस्य वृत्तिज्ञानस्यायथार्थव्यवहारहेतोरप्यधिष्ठानविषयस्य वेदान्तिभिर्यथार्थत्वा-

---

संशययोश्च स्मरणाविवेकत्वमिति सिद्धान्तयति—**नैतत्सारमित्यादिना**। श्लोकं विवृणोति—**विगीतेति**। ननूभयसंमतायथार्थव्यवहारे हेतुज्ञानमात्रपक्षीकरणादुभयपरिहार इति गङ्गापुरीयं मतं शङ्कते—**अयथार्थेति**। अयथार्थव्यवहारहेतोर्यथार्थत्वसाधने तार्किकाणां तावदीश्वरज्ञानमादायार्थान्तरमिति दूषयति—**न। यथार्थस्यापीति**। भवतु तान्प्रति, त्वां प्रति तु किमायातमिति तत्राह—**इदं रजतमित्यत्रेति**। अयमर्थः—इदं रजतमित्यत्रेदमित्यन्तःकरणपरिणामः प्रत्यक्षः, रजतमिति तु रजतरूपसंस्कारानुरञ्जितेदमंशावच्छिन्नात्माविद्यापरिणामः; तयोरेकसाक्षिवेद्यत्वेनैकफलत्वादेकज्ञानत्वमिति हि सिद्धान्तः। ततश्चेदमंशज्ञाने सिद्धसाधनमिति। अन्यथाख्यातिवादिनामपीदमंशज्ञाने समानमेतत्। 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय'

के कारण स्वरूप से विभ्रमत्व के अभाव से, व्यवहारमात्र विभ्रम के होने से, विभ्रमोपादानत्व रूप लक्षण ही है। यह पूर्व पक्ष है॥

अब यहाँ समाधान (उत्तर) कहा जाता है। क्योंकि यह उक्त मत सार नहीं है। यतः (जिससे)

उक्त वादी यदि विभ्रम को मानते हैं, तो सिद्धान्त से विरोध होता है, उन विभ्रमों को नहीं मानने पर आश्रयऽसिद्धि उद्धत (प्रकट) होती है॥ ११॥

अर्थात् विगीत भ्रम को मानने पर स्वसिद्धान्त से विरोध होगा, नहीं मानने पर, उक्त—विगीताः प्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वात्, इस प्रत्ययत्व हेतु के आश्रय (पक्ष) की असिद्धि से अनुमान का अनुदय होगा। यदि उभयवादी सिद्ध अयथार्थ व्यवहार के हेतु ज्ञान को पक्ष करने से उक्त आश्रयासिद्धि दोष का अभाव आप कहें, तो दोषाभाव नहीं कह सकते। क्योंकि सब व्यवहार का हेतु यथार्थ भी ईश्वर का ज्ञान अयथार्थव्यवहार के प्रति भी हेतु होता है, अतः उस ज्ञान में तार्किकों को सिद्धसाधनता होगी। और "इदं रजतम्" यहाँ भी इदम् अंशविषयक, अयथार्थ व्यवहार के हेतु रूप भी अधिष्ठानविषयक वृत्ति

ङ्गीकारात् । ज्ञानत्वं यथार्थमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वात्प्रमात्ववदिति विवक्षितमिति चेत्, मैवम्; मात्रशब्देनायथार्थवृत्तिव्यावृत्तिविवक्षायामयथार्थव्यवहारे ज्ञानत्वस्य वृत्त्यभावेन सिद्धसाधनत्वात् । अयथार्थवृत्तित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेत् न, दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वस्य तत्रोपाधेः ।

यथार्थशब्देन च सदर्थविवक्षायां नायं सर्प इत्यादिबाधविरोधात्,

इति न्यायात् । धर्मिप्रयुक्तदूषणपरिहाराय रीत्यन्तरमाह—**ज्ञानत्वमिति** । यथार्थवृत्तित्वमात्रसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मात्रग्रहणम् । तथा ज्ञानवृत्तित्वादियुक्ते सत्तायामनैकान्तिकत्वं, अयथार्थव्यवहारेऽपि तस्याः वृत्तेस्तन्निवृत्यर्थं मात्रग्रहणम् । अत्र मात्रशब्देन किमयथार्थवृत्तित्वाभावमात्रं विवक्षितं ? किं वाऽयथार्थवृत्तित्वानधिकरणत्वम् ? प्रथमं प्रत्याह—**मैवम् । मात्रशब्देनेति** । अयथार्थो हि व्यवहारस्तत्रापि समनस्तत्र च ज्ञानत्वस्यावृत्तिरस्तीत्यर्थान्परमित्यर्थः । ज्ञानत्वमनुभवमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वादित्याभासमानयोगक्षेमता च द्रष्टव्या । द्वितीयं शङ्कते—**अयथार्थेति** । अत्र दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वमुपाधिः । नच साधनव्यापकता; दुष्टसामग्रीप्रसूतग्रहणस्मरणयोरपि ज्ञानत्वस्य वृत्तेः । व्यवहारत्वसत्त्वादिना व्यतिरेकसिद्धिः । मात्रग्रहणं तु व्यर्थमेव विषमव्याप्तेरप्युपाधित्वात् ।

किञ्चोभयोरप्यनुमानयोः साध्यगतयथार्थशब्दस्य कोऽर्थः ? किं सत्त्वम् ? उतासद्व्यावृत्तत्वम् ? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—**यथार्थशब्देनेत्यादिना** । ननु

रूप ज्ञान को वेदान्ती यथार्थ मानते हैं, उसमें सिद्धसाधनता होगी । यदि कहें कि (ज्ञानत्व, यथार्थज्ञानमात्रवृत्ति है, ज्ञानमात्रवृत्ति होने से, प्रमात्व के समान) ऐसा अनुमान विवक्षित है, तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि मात्रशब्द से यदि, अयथार्थ वृत्ति की व्यावृत्ति (अयथार्थवृत्तित्वाभाव) विवक्षित हो, तो अयथार्थ व्यवहार में ज्ञानत्व की वृत्तिता के अभाव से सिद्धसाधनता की प्राप्ति होगी, क्योंकि आप के मत में अयथार्थ ज्ञान नहीं माना जाता है, किन्तु अयथार्थ व्यवहार तो माना ही जाता है, और उसमें ज्ञानत्व नहीं रहता है, अतः उससे अन्य ज्ञान में वृत्तिज्ञानत्व सिद्ध ही है । यदि (अयथार्थवृत्तित्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व) मात्र शब्द से विवक्षित हो, तो अयथार्थव्यवहार मात्र में अवृत्तिता से सिद्ध साधनता नहीं होने से अयथार्थ ज्ञान में अवृत्तित्व रूप साध्य की पक्ष में सिद्धि होगी, तो यह भी युक्त विवक्षा नहीं है । क्योंकि "दुष्टसामग्र्यजन्यमात्रवृत्तित्व" उपाधि है ।

वह यह उक्त साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है । और यथार्थविषयाः तथा यथार्थमात्रवृत्ति यहां यथार्थ शब्द से सत्यार्थ की विवक्षा हो, तो

तुच्छव्यावृत्तार्थविवक्षायां चास्मान्प्रति सिद्धसाधनत्वात्। किं चायथार्थ-प्रत्ययोस्तीत्यस्य प्रत्ययस्य यथार्थत्वे तस्य सालम्बनत्वाय कश्चिदप्ययथार्थ-प्रत्ययोऽभ्युपेयः; तथा सति तत्रैव हेतोरनैकान्तिकता। अयथार्थत्वे तस्य प्रत्ययस्य कण्ठोक्त एव व्यभिचारः। अयथार्थप्रत्ययोऽस्तीत्येतादृशः प्रत्ययो नास्ति किंतु व्यवहारमात्रं पदार्थानामसंसर्गाग्रहनिबन्धनमिति चेत्, मैवम्; सर्वत्र संसर्गव्यवहारस्य व्यवह्रियमाणपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्वनियमात्। अन्यथा मध्यमवृद्धव्यवहारेऽप्यसंसर्गाग्रहादेव तदुपपत्तेर्व्युत्पित्सोः संसर्गज्ञा-

---

भवतूत्तरपक्षे त्वां प्रति सिद्धसाधनत्वमन्यथाख्यातिवादिनं प्रति किं दूषणमिति तदर्थं सर्वसाधारणं दूषणं वक्तुमुपक्रमते--**किंचेत्यादिना**। अयथार्थः प्रत्ययोऽस्तीति वाक्य-जन्या तत्प्रयोगमूलभूता वा प्रतीतिरुत्पद्यते न वा? आद्ये यथार्थाऽयथार्था वा? उभ-यथाप्येतत्प्रत्ययविपर्ययेणैतत्प्रत्ययेन वानैकान्तिकत्वमुक्त्वाऽनुत्पत्तिपक्षं शङ्कते--**अय-थार्थेति**। असंसर्गाग्रहमात्रात् संसृष्टव्यवहारो न युक्तः संसर्गज्ञानमन्तरेण संसृष्टव्यव-हारानुपपत्तिनियमादिति परिहरति--**मैवमिति**। एवं नियमानङ्गीकारे बाधक-माह--**अन्यथेति**। गामानयेति हि उत्तमवृद्धेनोक्ते मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिं दृष्ट्वा बाल इत्थमाकलयति--नूनमनेन पदकम्बेनैतावदर्थविषयं ज्ञानं संसृष्टप्रवृत्तिहेतुभूत-

---

'नायं सर्पः' यह सर्प नहीं है, इस बाध से विरोध होगा, क्योंकि सब ज्ञान सदर्थ-विषयक है, और ज्ञानत्व सदर्थक ज्ञानवृत्ति है, ऐसा अर्थ दोनों अनुमान का होगा, तहाँ सदर्थ का बाध नहीं हो सकेगा और तुच्छ सदर्थ से व्यावृत्त (भिन्नार्थ) की विवक्षा मानने पर, अर्थात् सब तुच्छार्थभिन्न विषयक होते हैं, ज्ञानत्व तुच्छार्थक भिन्न ज्ञानवृत्ति होता है, ऐसा मानने पर, हमारे (वेदान्ती) के प्रति सिद्धसाधनता होगी, क्योंकि वेदान्त में मिथ्या भ्रमविषय को भी असत् (तुच्छ) शशशृङ्गादि से भिन्न ही माना जाता है। और अयथार्थ ज्ञान है, इस ज्ञान के यथार्थ होने पर, उस ज्ञान की आलम्बनता (विषयकता) के लिये कोई अयथार्थ ज्ञान मन्तव्य होगा, और अयथार्थ ज्ञान को मानने पर उसमें ज्ञानत्व हेतु की अनैकान्तिकता (व्यभिचारिता) होगी और यदि (अयथार्थ-प्रत्ययोस्ति) अयथार्थज्ञान है, इसी ज्ञान में अयथार्थत्व हो, तो आपके कण्ठ से कथित ही व्यभिचार है, क्योंकि हेतु ज्ञानत्व इसमें है, और साध्य रूप यथार्थत्व नहीं है। यदि कहें कि "अयथार्थ ज्ञान है" ऐसा ज्ञान नहीं होता है, किन्तु पदार्थों के असंसर्गाग्रह (असम्बन्धाज्ञान) निमित्तक ऐसा व्यवहार मात्र होता है, तो ऐसा कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि सर्वत्र सब व्यवहारों को, व्यवहारविषय पदार्थों के संसर्ग के ज्ञान पूर्वकत्व का नियम है, अर्थात् पदार्थों के संसर्ग के ज्ञान-पूर्वक ही सभी पदार्थों का सर्वत्र सब व्यवहार होता है। अन्यथा यदि ऐसा नियम

नानुमानाभावाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गः। एवमनुमानाभास इव सदनुमानेऽप्यसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च; ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेः।

मुत्पादितमिति, पश्चादावापोद्धाराभ्यां पदार्थविशेषेषु पदविशेषसामर्थ्यं गृह्णातीति व्युत्पत्तिपरिपाटी। तदत्रापि संसृष्टव्यवहारस्य संसर्गाग्रहादेवोपपत्तौ संसृष्टपदार्थविषयप्राथमिकज्ञानानुदयात्तन्मार्गसङ्गतिग्रहायोगाद्गतं शब्दप्रामाण्येनेत्यर्थः। न केवलं शब्दप्रामाण्यस्यैवायं वियोगोऽपि त्वनुमानस्यापीत्याह—एवमिति। यथा हि शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वाद् घटवदित्यनुमानाभासे संसृष्टव्यवहारोऽसंसर्गाग्रहमात्रात्, तद्वन्नित्यः शब्दो ध्वनितद्धर्मव्यतिरिक्तत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्यत्रापीत्यर्थः। प्रत्यक्षेऽप्याह—प्रत्यभिज्ञेति। तत्र हेतुः—ज्वालैकत्वेति।

नहीं हो, तो उत्तम वृद्ध की आज्ञा से होने वाले मध्यम वृद्ध के व्यवहार में भी संसर्गाग्रह से ही उस व्यवहार की सिद्धि होने से व्युत्पत्ति (शब्दशक्तिज्ञान) के इच्छुक को उत्तम मध्यम वृद्ध के व्यवहार से संसर्गविषयक शक्तिज्ञान के अभाव से शब्द की प्रमाणता का अभाव प्राप्त होगा। अर्थात् पिता, आचार्यादि व्युत्पन्न (शक्तिज्ञ) पुत्र-शिष्यादि को कहते हैं कि (घटमानय = पटमपसारय) घट लाओ, पट को हटाओ, तो वहाँ बैठा हुआ व्युत्पन्न बालक उस मध्यम वृद्ध के आनयनादि को देखकर, समझता है कि इनको इन शब्दों से इस अर्थ का ज्ञान हुआ है कि जिससे इन्होंने यह आनयनादि व्यवहार किया है, और इन शब्दों से इनको इस अर्थ का ज्ञान हुआ है, अतः इन शब्दों की इस अर्थ में शक्ति है, इस प्रकार से बालक ऊहापोहादिपूर्वक शब्दार्थ को समझता है कि जिससे शब्दों में प्रमाणता होती है, यदि संसर्गज्ञान के बिना ही प्रवृत्ति हो तो, संसर्गविषयक शक्ति ज्ञान के अभाव से (शक्तिज्ञान के अनुमान नहीं करने से) बालक व्युत्पन्न नहीं होगा और न शब्द में प्रमाणता होगी। यद्यपि शक्तिज्ञान के हेतु व्याकरणादि भी हैं, तथापि प्रथम और मुख्य हेतु व्यवहारदर्शन ही है। इसीप्रकार, अनुमानाभास = मिथ्या अनुमान के समान, सदनुमानों में भी असंसर्गाग्रह (असम्बन्ध के अज्ञान) से ही संसर्गव्यवहार की सिद्धि से पक्ष में साध्य के सम्बन्ध के ज्ञान रूप अनुमान का उच्छेद होगा, तथा प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य का उच्छेद होगा, क्योंकि दीपादि के अनेक ज्वालाओं में एकत्व व्यवहार के समान सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा में भी असंसर्गी ज्ञान से ही संसर्गव्यवहार की सिद्धि होगी।

यत्र दोषशङ्का नास्ति तत्र संसर्गज्ञानानुमानादुपपद्यत एव शब्द-प्रामाण्यं, अन्यथान्यथाख्यातिवादिनोऽपि विपर्ययाशङ्कया व्युत्पत्तिविरहाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गो दुर्वार इति चेत्, मैवम्; तव संसर्गज्ञानानुमान-लिङ्गानिरूपणात्। तथाहि—किं दोषाभावः संसर्गज्ञानानुमापकः? किं वा व्यवहारमात्रं? उताविसंवादिव्यवहारः? नाद्यः; दोषाभावस्य संसर्ग-ज्ञानस्य च व्यभिचारित्वात्, सत्यपि दोषाभावे सामग्रीवैकल्ये संसर्गज्ञाना-

---

दोषशङ्कासदसत्त्वाभ्यां नियममन्यथाख्यातिवादिप्रतिवन्द्या शङ्कते—**यत्र दोषे-त्यादिना**। अन्यथाख्यातिवादिनामपि उत्तमवृद्धप्रयुक्तशब्दात्संसृष्टज्ञानमनुमाय तत्र बालस्य व्युत्पत्तिरित्यभिमतं, तथा सति यथा क्वचिदविपर्ययेऽपि विपर्ययशङ्का तथा तत्रापि विपर्ययशङ्का सावकाशेति तन्मार्गव्युत्पत्तेरभावात् शब्दप्रामाण्यभङ्ग एव। विपर्ययशङ्कोपशमश्च तत्र दोषशङ्कोपशमात्तदस्मन्मतेऽपि समानमित्यर्थः। दूषयति—**मैवमिति**। अस्यायं व्यवहारः संसर्गज्ञानपूर्वकः न पुनरसंसर्गाग्रहादित्यत्र न किंचि-ल्लिङ्गमस्तीत्यर्थः। संभवन्ति लिङ्गानि विकल्प्य दूषयंल्लिङ्गाभावमेवोपपादयति—**तथाही त्यादिना**। यत्र दोषाभावस्तत्र संसर्गज्ञानमिति व्याप्तिर्नास्तीत्युक्तं तदेव विवृणोति—**सत्यपि दोषाभाव इति**। ननु न दोषाभावमात्रात्संसर्गज्ञानमनुमिनुमः

यदि कहें कि जहाँ दोष की आशङ्का नहीं हो, वहाँ सत्पुरुष वृद्ध के व्यवहारादि द्वारा संसर्गज्ञान के अनुमान से शब्द की प्रमाणता सिद्ध ही होती है। अन्यथा ऐसी व्यवस्था नहीं मानी जाय तो, अन्यथाख्याति मत में भी उत्तम वृद्ध के शब्द से मध्यम ज्ञान के अनुमान करके जो बालक की व्युत्पत्ति मानी जाती है, वह नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि विपर्यय की शङ्का से व्युत्पत्ति का अभाव होगा, कि जिससे शब्दप्रमाणता के अभाव का प्रसङ्ग दुर्वार होगा। यदि कहें कि जहाँ विपर्य्य ज्ञान की शङ्का नहीं हो सकती है, वहाँ संसर्ग ज्ञान के अनुमान से व्युत्पत्ति आदि की सिद्धि होती है। तो इसी प्रकार अख्याति मत में भी जहाँ दोष की आशङ्का नहीं होती है, वहाँ संसर्ग के ज्ञान का अनुमान होता है कि जिससे शब्द की प्रमाणता भी रक्षित रहती है। यह ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि आपके अख्यातिवाद में, संसर्गज्ञान के अनुमान के लिङ्ग (हेतु) का निरूपण नहीं हो सकता है, क्योंकि विचारणीय है कि, संसर्गज्ञान का अनुमापक (अनुमिति हेतु), क्या, दोषाऽभाव है, या व्यवहार मात्र है, अथवा अविसम्वादि व्यवहार है? वहाँ प्रथम दोषा-भाव, संसर्ग का अनुमापक लिङ्ग नहीं हो सकता है। क्योंकि दोषाभाव व्यभिचारी है, जहाँ दोषाभाव हो, वहाँ संसर्ग ज्ञान हो, यह व्याप्ति नहीं है, अत एव दोषाभाव के रहते भी संसर्गज्ञान की सामग्री के नहीं रहने पर संसर्ग का ज्ञान नहीं होता

नुदयात्। नच दोषाभावविशिष्टसामग्रीसद्भावेन संसर्गज्ञानानुमानम्; सामग्र्याः कार्यैकसमधिगम्यत्वात्। सति संसर्गज्ञाने सामग्र्यनुमानं तदनुमाने च संसर्गज्ञानमिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः; इदं रजतमित्याद्ययथार्थव्यवहारे व्यभिचारात्। नापि तृतीयः; विनापि संसर्गग्रहं संसृष्टयोरसंसर्गाग्रहादेव तदुपपत्तेः, त्वन्मते घटत्वतद्व्यक्त्योः समवायस्या-

---

किंतु तद्युक्तसामग्रीसद्भावात्तथाच न व्यभिचारः, यस्मिन् सति भवत्येव कार्यमिति सामग्रीलक्षणादिति तत्राह–**नच दोषाभावेति**। भवेदेवं यदि सामग्र्येव ज्ञायेत, नत्वेतत्; तस्याः कार्यैकमन्यतया संसर्गज्ञानलक्षणकार्यज्ञानतत्सामग्रीज्ञानयोः परस्पराश्रयप्रसङ्गादित्याह—**सामग्र्या इति**। **इदं रजतमिति**। नहि तत्र संसर्गज्ञानं तवाभिमतमिति भावः। **विनापीति**। अविसंवादिव्यवहारस्यापि संसृष्टयोरर्थयोरसंसर्गाग्रहादेवोत्पत्तिसंभवात् न संसर्गज्ञानं विना काचिदनुपपत्तिर्येन तदनुमापयेदित्यर्थः। अत्र च विसंवादिव्यवहाराद्वैषम्यार्थं संसृष्टयोरित्युक्तम्। तेनैतदुक्तं भवति—असति संसर्गेऽसंसर्गाग्रहादुत्पद्यमानो व्यवहारो विसंवादीतरस्त्वविसंवादीति। न केवलमस्योक्तवर्त्मना शङ्कितानैकान्त्यमपितु स्पष्टमेव त्वन्मत इत्याह—**त्वन्मत इति**। **घटत्वेति**। घटत्वतद्व्यक्तिसंसृष्टव्यवहारस्तावदविसंवादी। नचात्र व्यवहारसमये संसर्गज्ञानमस्ति, तत्संसर्गस्य समवायस्य त्वन्मते प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात्, अनुमानस्य चाविसंवादिव्यवहारलिङ्गतया प्रागसिद्धेः। ततस्तत्राविसंवादिव्यवहारस्य संसर्ग-

---

है। यदि दोषाभाव युक्त सामग्री सत्त्व से संसर्ग के ज्ञान का अनुमान कहें, तो नहीं कह सकते हैं। क्योंकि सामग्री भी एक कार्यमात्र अधिगम्य (अनुमेय) होती है, अतः संसर्ग के ज्ञान होने पर, उससे सामग्री का अनुमान होगा, और सामग्री के अनुमान होने पर उससे संसर्ग का ज्ञान होगा, तो इस प्रकार परस्पराश्रय (अन्योन्याश्रय) की प्राप्ति होगी। दूसरा = व्यवहार मात्र भी संसर्ग ज्ञान का लिङ्ग नहीं हो सकता है। क्योंकि (इदं रजतम्) इत्यादि अयथार्थ व्यवहार में व्यवहार व्यभिचारी है। तीसरा = अविसम्वादी (सफल प्रवृत्ति जनक) व्यवहार भी संसर्ग ज्ञान का अनुमापक लिङ्ग नहीं हो सकता है। क्योंकि संसृष्ट (सम्बद्ध) पदार्थ के संसर्ग ज्ञान के बिना भी असंसर्गाग्रह से ही उस अविसम्वादी व्यवहार की सिद्धि होती है, और अख्याति मत में घटत्व और घट व्यक्ति के समवाय की अप्रत्यक्षता से संसर्ग के ज्ञान नहीं रहते भी सम्वादी व्यवहार देखने से हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) भी होता है। और व्यवहार के अविसम्वाद (सफलत्व) को ज्ञान देशान्तर कालान्तर के

प्रत्यक्षतया संसर्गाग्रहेऽपि संवादिव्यवहारदर्शनेनानैकान्त्याच्च। व्यवहाराविसंवादस्य च देशान्तरकालान्तराधीनाधिगमतया व्यवहाराधिगमसमयेऽनधिगतत्वेनातल्लिङ्गत्वात् बालस्य मध्यमवृद्धसमवायिसंसर्गज्ञानानुमानानुदये व्युत्पत्तिविरहप्रसङ्गात्। नच प्रतीतिविरोधः; रजताकारायाः प्रतीतेः शुक्तिकालम्बनतानभ्युपगमात्। नहि रजतं शुक्तिरिति परैरपि प्रतीतिरूपेयते। इदमाकारस्य तु रजतज्ञानालम्बनतामनभ्युपगच्छतस्तवैव प्रतीतिविरोधः। इदं रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपुरःसरमादानादिव्यवहारदर्शनात्।

ज्ञानपूर्वकत्वं व्यभिचरतीत्यर्थः। स्वरूपासिद्धिं चाह—**व्यवहारेति**। अविसंवादस्य कालान्तराधिगम्यत्वात् मध्यमवृद्धवर्तिज्ञानानुमानसमये दुरधिगमतया लिङ्गत्वाभावेन सङ्गतिग्रहणायोगात् पुनरपि स एव दुरात्मा शब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग आगत इत्यर्थः। एवमनुमानं दूषितम्। यस्तु रजतज्ञानस्यान्यालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति बाधकतर्कोऽभिहितस्तं परिहरति—**नचेति**। तत्र किं रजताकारप्रतीतिं प्रति शुक्तेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोधः ? इदम्मात्रस्य वा ? आद्योऽनङ्गीकारपरास्त इत्याह—**रजतेति**। द्वितीयं दूषयति—**इदमाकारस्यत्विति** । प्रतीतिमेवाभिनयति—**इदं रजतमिति**।

अधीन होने के कारण मध्यम वृद्ध के व्यवहार के ज्ञान के समय, उस अविसम्वादी व्यवहार के अज्ञात होने के कारण वह उस ज्ञान के हेतुरूप लिङ्ग नहीं हो सकता है, अतः बालक को भी मध्यम वृद्ध में समवाय वाले (सम्वेत) संसर्ग ज्ञान के अनुमान के अनुदय (अनुत्पत्ति) रहते, व्युत्पत्ति (शक्तिज्ञान) का अभाव प्राप्त होता है (शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है)। और रजतज्ञान को अन्य विषयकत्व होने पर प्रतीति विरोध कहा था, वह प्रतीतिविरोध नहीं है। क्योंकि रजताकार ज्ञान को अन्य विषयक मानने पर प्रतीतिविरोध होता, यहाँ तो इदमाकार ज्ञान को इदं वस्तु विषयक माना जाता है। रजताकार ज्ञान को शक्ति का विषयक नहीं माना जाता है कि जिससे प्रतीति विरोध हो। रजत शुक्ति है, ऐसी प्रतीति अन्यवादी भी नहीं मानते हैं। बल्कि इदमाकार को रजत ज्ञान के विषय रूप नहीं मानने वाले आप से अख्याति वादी को ही प्रतीति विरोध है। क्योंकि 'इदं रजतम्' यह वस्तु रजत है, इस प्रकार से समानाधिकरणता (अभेद) के द्वारा, पुरोवर्ती वस्तुविषयक अङ्गुलियों से निर्देशपूर्वक उसके ग्रहणादि रूप व्यवहार देखा जाता है, अतः पुरोवर्तिविषयक ज्ञान को नहीं मानने वाले को प्रतीतिविरोध है, अन्य को नहीं।

नच संविदां विषयव्यभिचारादनाश्वासप्रसङ्गः; विसंवादिव्यवहार-जनकत्वपक्ष इवास्मन्मतेऽप्याश्वासोपपत्तेः। नचासतः संसर्गादेरवभासाभ्युपगमादसत्ख्यातिप्रसङ्गः; भासमानस्य संसर्गादेः सद्विलक्षणतावदसद्विलक्षणताया अप्यङ्गीकारात्। नचायथार्थज्ञानजन्मनि करणाभावः, दोषदूषितचक्षुरादेस्तत्करणत्वोपपत्तेः ज्ञानानामाजानतो यथार्थव्यवहारजनकत्वेऽपि दोषवशादयथार्थव्यवहारहेतुत्ववदेव दुष्टानां करणानां विपरीतज्ञानहेतुताया

अनाश्वासप्रसङ्गं पूर्वोक्तं परिहरति—**नचेति**। येन हि नियामकेन क्वचिद्विसंवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि संविदां न सर्वत्र तच्छङ्कया प्रवृत्त्युच्छेदः, स नास्मन्मतेऽपि दण्डवारित इत्याह—**विसंवादीति**। किंच बोधकतया स्वतःप्रमाणत्वात् ज्ञानानामव्यभिचारस्य चानुमानमात्राङ्गतया प्रमाणमात्राननुप्रवेशित्वात् सितासितव्यभिचारेऽपि चक्षुषः प्रामाण्याङ्गीकाराच्च नाऽनाश्वासशङ्कापि। तृतीयं बाधकं परिहरति—**नचासत इति**। नानिर्वचनीयवादिनामयं दोष इत्यर्थः। एतेन साकारताप्रसङ्गोऽपि परिहृतः। अन्यथाख्यातिवादिनां तु त्वदीयव्यवहारेण समानयोगक्षेमत्वमिति द्रष्टव्यम्। यस्तु कारणाभावाद्विपर्यासापलापस्तं परिहरति—**नचायथेति**। ननु समीचीनज्ञानहेतुभ्यो नयनादिभ्यः कथमसमीचीनज्ञानजन्म ? नहि जातु कुटजबीजाद्वटाङ्कुरप्ररोह इत्याशङ्क्य तत्र प्रतिबन्द्या परिहारमाह—**ज्ञातानामिति**। **आजानतः**, स्वभावतः। यत्तु दोषोपहतेभ्योऽपि न मिथ्याज्ञानजन्य

जो कहा था कि भ्रम मानने पर भ्रम के स्थान में ज्ञानों को विषय से व्यभिचार (राहित्य) होने पर, सर्वत्र अविश्वास होगा, सो भ्रम के विषय व्यभिचारिता से सर्वत्र अविश्वास की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि विसम्वादी व्यवहार जनकत्व पक्ष में भी सर्वत्र विसम्वादि जनकत्व की शङ्का से विश्वास का अभाव नहीं होता है, वैसे हमारे मत में भी भ्रमस्थान में विषय के साथ ज्ञान का व्यभिचार रहते भी सर्वत्र अविश्वास नहीं होगा, किन्तु विश्वास होगा कि जिससे निःसंदेह प्रवृत्ति भी होगी, अभ्यस्त विषयता आदि से बाधा भावादि से विश्वासादि होगें इत्यादि। और कहा था कि असत् संसर्गादि के ज्ञान को मानने पर, उस स्वीकृति से असत् ख्यातिवाद रूप बुद्ध मत का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) होगा, सो कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि भ्रम से भासमान संसर्गादि में सद्विलक्षणता के समान असद्विलक्षणता भी मानी जाती है। असद्विलक्षणता नहीं मानने पर असत् ख्याति प्राप्त होती, वह बात नहीं है और जो कहा था कि, असत् = अयथार्थ ज्ञान के जन्म में समर्थ कारण का अभाव है, अतः अयथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है, यह भी निर्मूल शङ्का है। क्योंकि दोषों से दूषित नेत्रादि को भ्रम के कारणत्व सिद्ध होता है। जैसे ज्ञानों को आजानतः (स्वभाव से) यथार्थ व्यवहार के जनकत्व होते भी दोष के बल

अपि सम्भवात्। यथाच दवदाहस्य वेत्रबीजविनाशकत्वं रूपान्तरजनकत्वं च तथा दोषाणामपि यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वमयथार्थज्ञानजनकत्वं च किं न स्यात्? सर्वत्र चासंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारमभ्युपगच्छतः शब्दलिङ्गादिप्रामाण्यभङ्गस्य दर्शितत्वादेव कल्पनागौरवस्यादूषणत्वात्। असंसर्गाग्रहमात्रस्य व्यवहाराप्रसञ्जकत्वादेव तत्प्रसञ्जितायथार्थव्यवहारबाधकत्वेन बाधकस्य बाधकत्वोपपादनासम्भवात्। नच व्यवहारव्यवच्छेदो बाधः;

प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकमात्रत्वाद् दोषाणामित्युक्तं तत्परिहरति—**यथाच दवदाहस्येति**। दवो वनवह्निः तेन यो दाहस्तस्येत्यर्थः। मा भूद्वनवह्निदग्धवेत्रबीजान्युदाहरणं, मा च भूत्तेषां वेत्रबीजता, दाहस्यैव तावदुभयकारकत्वमनुमतं तदेव भवतूदाहरणमित्यर्थः। यत्तु संसर्गज्ञानस्यापि संसृष्टव्यवहारहेतुत्वे कल्पनागौरवादसंसर्गाग्रह एव सर्वत्र संसृष्टव्यवहारहेतुरित्युक्तं तत्राह—**सर्वत्रचेति**। प्रमाणबलात्प्राप्तगौरवं न दोषः।

'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।
बालाग्रशतभागोपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः॥'

इति न्यायादिति भावः। तदेवं संसर्गज्ञाने संसृष्टव्यवहारान्यथानुपपत्तिं प्रमाणमभिधाय बाधान्यथानुपपत्तिमपि प्रमाणयति—**असंसर्गेति**। **उपपादनासंभवादिति**।

से अयथार्थ व्यवहार के हेतुत्व भी होता है, वैसे दोषरहित करणों को सत्यज्ञानहेतुत्व होते भी दुष्टकरणों की विपरीतज्ञानहेतुता का भी सम्भव है और जैसे दाग्नि को वेत्रबीजनाशकत्व और रूपान्तर जनकत्व होता है, वैसे ही दोषों को भी यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्व और अयथार्थज्ञानजनकत्व क्यों न होगा। और सर्वत्र असंसर्गाग्रह से ही संसर्ग के व्यवहार को मानने वाले के मत में शब्द, लिङ्गादि की प्रमाणता के भङ्ग को दर्शाया ही गया है। अतः संसर्ग के ज्ञान को भी संसृष्ट व्यवहार के हेतु मानने पर जो गौरव दोष कहा था वह दोष नहीं है, क्योंकि उसके बिना अनुमानादि में प्रमाणता ही नहीं होती है, अतः फलमुखकल्पना गौरव को दूषणत्व नहीं है। और असंसर्गाग्रह मात्र को विशिष्ट व्यवहार के अप्रसञ्जक (असाधक) होने से ही, उस असंसर्गाग्रह से प्रसञ्जित (प्रसक्त = सिद्ध) अयथार्थ व्यवहार के बाधकत्व रूप से बाधक (नेदमादि) के बाधकत्व के उपपादन (साधन) का असम्भव है, अतः बाधकत्व की अनुपपत्ति भी संसर्गज्ञान का साधक है, यदि कहा जाय कि संसर्ग के अभावादि का ज्ञान बाध नहीं कहा जाता है, कि जिस बाध की अनुपपत्ति से भ्रम को संसर्ग विषयक माना जाय, किन्तु ग्रहणादि व्यवहार का उच्छेद (अभाव) बाध कहा जाता है, वह संसर्ग ज्ञान के बिना भी कथन रूप व्यवहार मात्र से हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि

अतदर्थिनां तत्र व्यवहारानुदये नेदं रजतमित्यादिज्ञानस्याबाधकत्वप्रसङ्गात्। तदर्थिनां च व्यवहारविच्छेदकस्य बाधकत्वे चोरादिज्ञानस्यापि तद्विच्छेदकस्य बाधकतापत्तेः।

नच तद्योग्यताविच्छेदो बाधः; तद्विच्छेदे, समयान्तरे पुनस्तत्र व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। योग्यताप्रतिबन्धो बाध इत्यपि न; विवेकज्ञानवेलायां

तदनुपपत्तिरपि संसर्गज्ञानसाधिकेतिशेषः। अङ्गीकृत्य तदीयं बाधं तद्धेतुत्वं ज्ञानस्य निरस्तम्, इदानीं स एव तु न घटतेऽव्याप्तेरित्याह—**नच व्यवहारेति**। अस्ति हि विरक्तस्यापि कस्यचित्पुरोवर्तिनीदं रजतमिति भ्रान्तिर्नेदं रजतमिति बाधश्च। नच तत्र व्यवहारोऽतदर्थित्वाद् अतोऽव्याप्तिरित्यर्थः। लक्षणान्तरं शङ्कते—**तदर्थिनामिति**। **चोरादीति**। यदा हि कश्चित्क्वचिद्देशे यागे चोरादिज्ञानाद्विच्छिन्नोद्योगो भवति तत्र चोरादिज्ञानस्य यागादिबाधकत्वं स्यादित्यर्थः।

ननु येयं व्यवहारयोग्यता पुरोवर्तिनो रजताद्यात्मना, तद्विच्छेदो बाधस्तथाच नाव्याप्तिरपि, विरक्तस्यापि योग्यतानपायादिति तत्राह—**नच तद्योग्यतेति**। तर्हि योग्यताप्रतिबन्धमात्रं बाधस्तथाच प्रतिबन्धापाये पुनरपि तत्रैव भ्रमिष्यतीति तत्राह—**योग्यतेति**। सति पुष्कलकारणे कार्यानुत्पत्तिर्हि शक्तिप्रतिबन्धकल्पिका सा चात्र नास्ति विवेकग्रहणेन विवेकाग्रहस्य निरासादित्यर्थः। लक्षणान्तरं दूष-

---

जो कोई विरक्त रजतार्थी नहीं है, उसको इदं रजतम्, का ज्ञान होने पर, उस विषयक ग्रहणादि व्यवहार, विरक्तता से उदित नहीं हुआ, और फिर नेदं रजतम्, इस ज्ञान का बाधकत्व होता है, अब आप के मतानुसार उस विरक्त ज्ञान में बाधकत्व नहीं होगा, क्योंकि व्यवहार का उदय ही नहीं हुआ है कि जिसका व्यवच्छेद हो। रजतादि के इच्छुक के व्यवहार के विच्छेद को बाध कहें, तो तदर्थी के व्यवहार के विच्छेदक (नाशक) को बाधकत्व होने पर चोरादि के ज्ञान को व्यवहार विच्छेदक होने से उसमें बाधकता की प्राप्ति होगी। अर्थात् किसी रजतार्थी को सामने भ्रम से रजत दीख पड़ा, और सामने चोर या कोई विरोधी दीख पड़ा कि जिसके भयादि से रजत के ग्रहणादि नहीं कर सका, वहाँ चोरादि के ज्ञान ही व्यवहार का व्यवच्छेदक हुआ, अतः उसमें बाधकता प्राप्त होगी।

व्यवहार योग्यता के व्यवच्छेदक को बाध कहें कि जिससे विरक्त के लिये भी रजतादि रूप से व्यवहार की योग्यता रहने से उसका नेदं रजतम्, इससे विच्छेद होगा, अव्याप्ति नहीं रहेगी। तो वह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि किसी स्थान में बाधा से व्यवहार योग्यता के व्यवच्छेद होने पर, फिर कभी उसी स्थान में भ्रम से व्यवहार होता है, उसका अभाव प्राप्त होगा। व्यवहार योग्यता का प्रतिबन्ध बाध है। अतः प्रतिबन्ध के अभावकाल में फिर भी भ्रममूलक व्यवहार होगा, यह कहना

हेत्वभावादेव फलासिद्धौ प्रतिबन्धकल्पनानवकाशात्। नचाग्रहणनिवृत्ति-र्बाधः; सर्वग्रहणानां तथात्वेन बाधरूपत्वप्रसङ्गात्। अतो न व्यवहारनिवा-रणेन बाधकस्य बाधकतोपपत्तिः। रजतगोचरविज्ञानस्य च दोषदूषित-लोचनजन्यतया परिशेषासिद्धौ संस्कारमात्रजन्यतया स्मृतित्वकल्पना-योगात्। नन्वसंयुक्तत्वेन रजतज्ञानं प्रत्यकारणस्य रजतस्य न तद्गोचरत्वं, सर्वत्र साक्षात्कारिज्ञाने तज्जनकस्यैव विषयत्वादिति चेत्, न; प्रत्यभिज्ञायां

यति—**नचाग्रहणेति**। सर्वाणि हि ज्ञानानि स्वप्रागभावनिवर्तकानि निवृत्तिर्वेति बाधकत्वं बाधत्वं वा स्यात्, तथाच सर्वेऽप्यभ्रान्ताः स्युरित्यर्थः। नच विवेकाग्रहनि-वृत्तिर्बाधः, सर्वभेदज्ञानानां बाधकत्वप्रसिद्ध्यभावादित्यपि द्रष्टव्यम्। अन्यथोपपत्ति-निराकरणमुपसंहरति—**अत इति**। परिणताज्ञाननिवृत्तिर्बाधस्तथाच तत्परिणाम-रूपमिथ्याज्ञानतदर्थौ विना न बाधसिद्धिरितिखण्डनकार्यः। यत्तु परिशेषात्स्मृति-रित्युक्तं तद्दूषयति—**रजतगोचरेत्यादिना**। असंप्रयुक्तविषयत्वं साक्षात्कारित्वेऽनुप-पन्नमिति शङ्कते—**नन्विति**। दूषयति—**न प्रत्यभिज्ञायामिति**। येषां हि प्रत्यभि-ज्ञानमेकं ज्ञानं तेषां तत्तापि चाक्षुष्येवेत्यर्थः। तत्र चक्षुषा संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या

भी युक्त नहीं, क्योंकि शुक्ति, रजत के विवेक काल में असंसर्गाग्रह (विवेकाज्ञान) रूप हेतु के अभाव से ही व्यवहार रूप फल की असिद्धि होते, प्रतिबन्ध कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती है। शुक्ति आदि के अग्रहण (अज्ञान = अविवेक) की निवृत्ति बाध है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सभी ज्ञानों को स्वप्रागभाव रूप अग्रहण के निवर्तक होने से, तथा सभी विवेक ज्ञानों को अविवेक के निवर्तक होने से सब ज्ञान को बाध रूपता की प्राप्ति होगी, अतः व्यवहार के निवारण मात्र से बाधक के बाधकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु अविद्या के परिणाम रूप ज्ञान अर्थसंसर्ग की बाधकता से बाधकत्व की सिद्धि होती है। और जो कहा था कि शुक्ति में रजत ज्ञान के कारण के अभाव से परिशेषतः संस्कार ही कारण है अतः रजत का स्मरण होता है, यह कथन भी युक्त नहीं है। क्योंकि रजतविषय के विज्ञान के दोषदूषित नेत्रजन्य होने से परिशेष की असिद्धि होने पर, संस्कार मात्र जन्यता से स्मृतित्व की कल्पना अयुक्त (असम्भव) हो जाती है। यदि कहें कि नेत्र से असंयुक्त होने के कारण, रजतज्ञान के प्रति कर्म रूप से अकारण रजत को रजत ज्ञान के विषयत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि सभी प्रत्यक्षज्ञान में उस ज्ञान के जनक (कर्म) को ही ज्ञान विषयत्व होता है। तो यह संशय भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रिय से असम्बद्ध (सम्बन्ध रहित) भी तत्ता को ज्ञान

तत्ताया अपि गोचरत्वात्। तत्र संस्कारसचिवमिन्द्रियं तत्तां गोचरयति संस्कारोपस्थापितत्वात्तत्ताया इति चेत्, प्रकृतेऽपि तर्हि संस्कारोपनीतं रजतं दोषकलुषितेन्द्रियेण विषयीक्रियत इति न दोषः।

तथापि समारोपे किं प्रमाणमिति चेद्, उच्यते—

नयनं नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिणः।
ज्ञानस्य कारणं तत्त्वाद्यदेव नयनान्तरम् ॥ १२ ॥

एतच्चक्षुरेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकं चक्षुष्ट्वादिन्द्रिय-

---

चाक्षुषत्वेऽत्रापि सा समेत्याह—तत्र संस्कारेत्यादिना। प्रत्यभिज्ञावदेव तत्रोल्लेख-यथार्थत्वप्रसङ्गवारणाय दोषकलुषितेत्युक्तम्।

यद्यपि सर्वत्रत्ययथार्थ्यमप्रामाणिकं नापि विपक्षे कश्चिद्बाधकस्तथापि समारोपसद्भावे किं प्रमाणं? नहि परपक्षप्रतिषेधमात्रात्स्वपक्षसिद्धिरित्यधिकविवक्षायाशङ्कयति—तथापीति। श्लोकेनानुमानं संगृह्णाति—नयनमिति। अत्र नयनविशेषः पक्षसाध्ययोर्निधातव्यः। कारणमित्यन्ता प्रतिज्ञा। तत्त्वादिति। नयनत्वादिन्द्रियत्वाद्वेति हेतुः। यथैव नयनान्तरमिन्द्रियान्तरं वेति दृष्टान्तः। एतदेव विवृणोति—एतच्चक्षुरित्यादिना। एतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरण-ज्ञानजनकमिति च साधनीयम्। अन्यथा पूर्वकालैतज्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजन-कत्वस्योत्तरकाले संभवेन सिद्धसाधनत्वात्। तत्र चक्षुर्मात्रपक्षीकरणे चक्षुरन्तर-जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणेनैतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानेनार्थान्तरता तन्निवृत्त्यर्थमेतच्च-क्षुर्ग्रहणम्। एवं साध्येपि द्रष्टव्यम्। यथार्थज्ञानत्वानधिकरणज्ञानजनकमित्युक्ते प्राभाकराणामप्रसिद्धविशेषणता विरुद्धता च, तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्जन्येत्युक्तम्। चक्षुरन्तरजन्यज्ञानस्य यथार्थत्वेनाङ्गीकारेऽप्येतच्चक्षुर्जन्यत्वाभावादेवैतच्चक्षुर्जन्यत्वे सति यथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमस्तीति नाप्रसिद्धविशेषणत्वसाध्यवैकल्ये। व्याहति-निवृत्त्यै यथार्थपदम्। पक्षे त्वेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतच्चक्षुर्जन्यत्वा-

---

गोचरत्व होता है। यदि कहा जाय कि वहाँ तो, तत्ता को संस्कार से उपस्थापित (स्मृत) होने से संस्कार सहित इन्द्रिय तत्ता को विषय करती है, तो प्रकृत में भी संस्कार से उपनीत (उपस्थापित) रजत को दोष-दूषित इन्द्रियविषय करती है, अतः दोष नहीं है।

उक्त रीति से सब ज्ञान के यथार्थ नहीं होने पर भी जिज्ञासा हो कि समारोप (भ्रमरूप ज्ञान) में क्या प्रमाण है, तो कहा जाता है कि—

नयनविशेष नयनजन्य सम्यग् ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान का कारण है, नयन होने से, नयनान्तर के समान ॥ १२ ॥

अर्थात् यह एक चक्षु इस चक्षुजन्य यथार्थज्ञानातिरिक्त ज्ञान का जनक है,

त्वाद्वा चक्षुरन्तरवदिन्द्रियान्तरवच्च। नच चक्षुश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यरिक्तज्ञानजनकं न भवति इन्द्रियत्वात् घ्राणवदिति प्रकरणसमता, मनस्यनैकान्तिकत्वात्, तस्य साधारणकारणस्य चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तरसादिज्ञानजनकत्वात्। चक्षुषश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यरिक्तरसादिज्ञानाजनकतया सिद्धसाधनत्वाच्च। नच बहिरिन्द्रियत्वादिति विशेषणान्नानैकान्तिकता; तत्रापि सिद्धसाधनातयास्तादवस्थ्यात्।

नधिकरणत्वान्न संभवति, व्याघातात्। तस्माद्यथार्थज्ञानत्वानधिकरणं किञ्चिच्चक्षुर्जन्यं ज्ञानं सिद्ध्यतीति चाक्षुषायथार्थज्ञानसिद्धिः। एवं लिङ्गाभासादिकमपि पक्षीकृत्य साधनीयम्। सत्प्रतिपक्षतामाशङ्क्य दूषयति—**नच चक्षुरित्यादिना।** यथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकं न भवतीत्युक्ते व्याप्यत्वासिद्ध्या बाधानैकान्तिकत्वे स्यातां तन्निवृत्त्यर्थं चक्षुर्जन्येत्युक्तम्। चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानाजनकत्वं, चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वाभावाद्वा व्यतिरिक्तज्ञानाजनकत्वाद्वा। आद्यः पक्षो व्याहतः। द्वितीयस्तु सिद्धचक्षुर्यथार्थज्ञानजननिवारणेन सिद्धमि-त्यर्थः। अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—**तस्येति।** सिद्धसाधनतां चाह—**चक्षुष इति।** मनस्यनैकान्तिकतापरिहाराय विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—**नचेति।** प्रकारान्तरेण

चक्षु होने से या इन्द्रिय होने से, अन्य चक्षु या इन्द्रियान्तर के समान। यह अनुमान प्रमाण है, क्योंकि एतच्चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान से अतिरिक्त भ्रमरूप ज्ञान ही पक्ष में सिद्ध होता है, और दृष्टान्त में एतच्चक्षुजन्ययथार्थ ज्ञान से अतिरिक्त तच्चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान से भी साध्य की प्रसिद्धि होती है। यदि कहें कि (चक्षुः, चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान का जनक होता हुआ अतिरिक्त ज्ञान का जनक नहीं होता है, इन्द्रिय होने से, (घ्राण के समान) इस प्रकार से प्रकरण समता (सत्प्रतिपक्षता) दोष से पूर्वानुमान दुष्ट है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह इन्द्रियत्व हेतु मन में अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। मन के सब ज्ञान के साधारणकारण होने से चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान के जनक होता हुआ, उससे अतिरिक्त रसादि के ज्ञान का भी मन जनक है, अतः चक्षुजन्य यथार्थज्ञानातिरिक्त ज्ञानाजनकत्व रूप साध्य मन में नहीं है, और इन्द्रियत्व रूप हेतु है, और चक्षु को चक्षुर्जन्य यथार्थज्ञानजनकत्व होते भी तदतिरिक्त रसादि ज्ञान के अजनक होने से सिद्ध साधनता दोष भी है। यदि कहें कि बहिरिन्द्रियत्वात् इस प्रकार से इन्द्रिय रूप हेतु में बहिः विशेषण लगाने से अनैकान्तिकता नहीं होगी, क्योंकि मन में साध्य नहीं है, तो बहिरिन्द्रियत्व भी नहीं है। तो भी उक्त सिद्धसाधनता की स्थिति वैसी ही रहती है, यदि कहें कि नेत्रजन्य यथार्थज्ञान का जनक होता हुआ, अतिरिक्त ज्ञान-

नच यथोक्तयथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणतया साध्यस्य विविक्षितत्वाददोषः; घ्राणादिषु चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वस्यैवोपाधेः सत्त्वात्। नच व्यतिरेकोपसंहारस्थलाभावः, मनसश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकस्यातिरिक्तज्ञानजनतया व्यतिरेकोपसंहारभूमित्वात्।

सिद्धसाधनतापरिहारमाशङ्क्य निषेधति—**नच यथोक्तेति**। अतिरिक्तज्ञानजनकत्वाभावमात्रं न साध्यं किन्तु तदत्यन्ताभावस्तथाच न सिद्धसाधनम्, अयथार्थज्ञानजनकत्ववादिनामतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावासिद्धेः। अत्र च बहिरिन्द्रियत्वादित्येव हेतुः, अन्यथा मनस्यनैकान्तः। तत्र हेतुः—**घ्राणादिष्विति**। ननु यत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानाजनकत्वं नास्ति तत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकः क्व निश्चितः? इत्यत आह—**नच व्यतिरेकेति**। नच तथाप्यान्तरेन्द्रियत्वमुपाधिः; आन्तरपदस्य पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वात्। तथा प्रमाणत्वमनुभवाद्व्यावृत्तं अनुभवत्वातिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वावान्तरजातित्वात् स्मृतित्ववत्। प्रमानुभूत्योश्च लक्ष्यलक्षणभावाङ्गीकाराद्भेदसिद्धिः। पूर्वं चाक्षुपविश्रमतद्भावे प्रमाणमुक्तम्।

जनकत्वात्यन्ताभावाधिरणत्व रूप साध्य के विवक्षित होने से सिद्धसाधनता दोष नहीं होगा, क्योंकि चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञान जनकत्व युक्त तदतिरिक्त ज्ञान जनकत्वाभाव मात्र साध्य नहीं है, कि जिससे रसादि के ज्ञान के अजनक होने से चक्षु में सिद्धसाधनता हो, कि अतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभाव, विवक्षित है, और अयथार्थ ज्ञान के जनकत्ववादी के मत में अतिरिक्त ज्ञान के जनकत्व का अत्यन्ताभाव प्रसिद्ध है, अतः सिद्ध साधनता नहीं है और बहिरिन्द्रियत्व हेतु है, अतः मन में अनैकान्तिकता नहीं है। यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि घ्राणादि में, चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानाऽजनकत्व उपाधि का सत्त्व है। घ्राणादि में (चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानजनकत्व युक्त अतिरिक्त ज्ञानजनत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व) रूप साध्य है, और उक्त उपाधि भी है, अतः उपाधि साध्य का व्यापक है, और नेत्र रूप पक्ष में बहिरिन्द्रियत्व रूप हेतु है, और उपाधि नहीं है, अतः साधन का अव्यापक है। जिज्ञासा (शङ्का) होती है कि घ्राणादि में तो साध्य के साथ उक्त उपाधि की अन्वयव्याप्ति समझी गई, परन्तु व्यतिरेकोपसंहार (उपाधि के अभाव से साध्याभाव का प्रदर्शन) के स्थान का अभाव है। अर्थात् चक्षुर्जन्यज्ञानाजनकत्व रूप उपाधि जहाँ नहीं है, वहाँ चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानजनकत्व युक्त अतिरिक्त ज्ञानजनकत्वाभावाधिकरणत्व भी नहीं है। इस व्यतिरेक का कोई स्थान नहीं है, तो यह युक्त नहीं, क्योंकि चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानजनक मन को अतिरिक्त ज्ञानजनकत्व होने से व्यतिरेकोपसंहारभूमित्व (स्थानत्व) है।

विवादपदानि पदानि स्वस्मारितपदार्थान्वयप्रतिपादकानि आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदकदम्बकत्वाद् गामानयेत्यादिपदकदम्बवत् । नच योग्यतावत्त्वमुपाधिः, साध्येन समव्याप्त्यभावात् । आकाङ्क्षासन्निधिरहितपदेषु योग्यतावत्त्वेऽपि साध्याभावात् । नचाकाङ्क्षादिमत्त्वे सति योग्यतावत्त्वमुपाधिः; व्यर्थविशेष्यापातात् । नह्याकांक्षासन्निधिमत्त्वे सति योग्यताभावेनान्वय-

---

इदानीं शब्दविभ्रमं साधयति—**विवादपदानीति**। पदमात्रपक्षीकरणे गामानयेत्यादिषु यथार्थज्ञानजनकेषु सिद्धसाधनता तदर्थं विवादपदग्रहणम् । आकाङ्क्षासन्निधिमान्त्यन्ति पदानीत्यर्थः । पदानां देवदत्तोऽयमधीत इति वक्तृविशेषानुमापकतयाप्यन्वयप्रतिपत्तिजनकत्वेन सिद्धसाधनताऽत उक्तं—**स्वस्मारितेति**। पदकदम्बकत्वात्पदसमूहत्वादित्युक्ते उरगस्तुरगः खदिर इत्यादिपदसमूहेष्वनैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । तावत्युक्ते 'गामानय प्रासादं पश्ये'त्यत्र साकांक्षयोरप्यसन्निहिततया परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोर्गो पश्येत्यनयोरनैकान्तिकता तन्निवृत्यर्थं सन्निधिमदिति । तावत्युक्ते च, 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इति वाक्ये राज्ञ इति पुरुष इति च पदयोः सन्निधिमत्त्वेऽपि नैराकांक्ष्येण परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोरनैकान्तिकता तदर्थमाकांक्षाग्रहणम् । किं समव्याप्तित्वादिनायमुपाधिर्दीयते ? विषमव्याप्तित्वादिना वा ? नाद्य इत्याह—**साध्येनेति**। तदेव विवृणोति—**आकांक्षेति**। ननु न व्ययमन्वयप्रतीतिजनकत्वे योग्यतावत्त्वमात्रमुपाधिं ब्रूमः, किन्त्वाकांक्षासन्निधिमत्त्वविशेषितं तथाच समव्याप्तिरस्त्येवेत्यत आह—**नचाकांक्षेति**। हेतुमाह—**व्यर्थविशेष्येति**। आकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेपि यदि कश्चिद्योग्यताभावापराधेनान्वयप्रतीतिर्न स्यात्ततः साध्यव्याप्तिसिद्ध्यर्थं योग्यतावत्त्वमुपादेयम्, नचैतदस्ति तादृशां सर्वेषां पक्षत्वादेव साध्याभावनिर्णयस्थलत्वाभावात्, अतः पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वमित्यर्थः। तदेव विवृणोति—**नह्याकांक्षासन्निधीत्यादिना**। द्वितीयं दूषयति—**नचेति**। अत्रापि पक्षेतरत्वमेवो-

---

चाक्षुषादि भ्रम के समान शब्द से भी भ्रम होता है। उसका साधक अनुमान है कि (विवाद विषय = इदं रजतम् इत्यादि) पद, स्वस्मारितार्थ के अन्वय के प्रतिपादक = बोधक, होते हैं, आकांक्षासन्निधि वाले पदसमूह होने से, गामानय, इत्यादि पदसमूह के समान। यदि कहें कि योग्यतावत्त्व उपाधि है, क्योंकि, गामानय, इत्यादि में साध्य है, अर्थाऽबाध रूप योग्यता है और पक्ष में हेतु के रहते भी अर्थाऽबाध रूप योग्यता के नहीं रहने से साधन का अव्यापक है, तो यह उपाधि कहना युक्त नहीं, क्योंकि उपाधि के दो भेद होते हैं, एक साध्य उपाधि की समव्याप्ति होती है, और एक विषयव्याप्ति होती है, परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव हो तो वह समव्याप्ति होती है, एक में व्याप्यता और अन्य में व्यापकता ही हो तो वह

ज्ञानाजनकत्वमुभयवादिसम्प्रतिपन्नस्थले दृष्टमस्ति। अयोग्यार्थविषयाणामाकांक्षासंनिधिमत्पदानां सर्वेषां पक्षीकरणात्। नच योग्यतावत्त्वस्य विषमव्यापकत्वेनोपाधिता; यदयोग्यार्थं तदन्वितप्रतिपत्तिजनकं न भवतीति व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य पूर्वोक्तन्यायेन दर्शयितुमशक्यत्वात्। नच विवादपदानि पदानि स्वस्मारितार्थान्वयप्रमितिजनकानि, आकांक्षासंनिधिमत्प-

---

पाधिव्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकेण व्याप्त्यनिर्णयात्। जरद्गवादिवाक्यानां पक्षतुल्यत्वात्, 'खदिरस्तुरग' इत्यादिपदानामाकाङ्क्षाद्यभावादेवान्वयप्रतीत्यजनकत्वादित्यभिप्रेत्याह—**यदयोग्यार्थमिति**। आभाससमानयोगक्षेमतामाशङ्क्य निषेधति—**नचेति**। नेदं रधतमिति समनन्तरबाधकप्रमाणविरोधात् प्रमितिजनकत्वानुमानं कालातीतम्, नैवम् प्रतीतिमात्रजनकत्वानुमाने किञ्चिद्बाधकमस्ति, उक्तानां संविद्धि-

---

विषम व्याप्ति कहाती है, प्रकृत में साध्य के साथ समव्याप्ति का अभाव है, क्योंकि आकांक्षा-सन्निधि रहित पदों में योग्यता के रहते भी साध्य का अभाव रहता है, जैसे कि (अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषमपसारय) यह आता है पुत्र राजा का पुरुष को हटाओ। भाव है कि आकांक्षा सन्निधि के नहीं रहते भी यहाँ केवल योग्यता से बोध होता है कि, ये राजा के पुत्र आते हैं अन्य पुरुषों को हटाओ, अन्यथा, यह पुत्र आता है, राजा के पुरुषों को हटाओ, ऐसा बोध की प्राप्ति होती। अतः यहाँ पदों में योग्यता रूप उपाधि है, स्मारितापदार्थान्वयप्रतिपादकत्व रूप साध्य नहीं है। यदि आकांक्षादि युक्त योग्यतावत्त्व उपाधि कहें, तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि व्यर्थ विशेष्यता की प्राप्ति होती है। यतः, आकांक्षा सन्निधि युक्तत्व रहते, योग्यता के अभाव से अन्वयज्ञानाऽजनकत्व जहाँ हो, ऐसा स्थान कोई उभयवादी सम्मत दृष्ट नहीं है, और योग्यतावत्त्व विशेष्य की तभी सार्थकता होती कि जब उभय सम्मत कोई ऐसा स्थान होता, सो है नहीं, क्योंकि अयोग्यार्थविषय वाले आकाङ्क्षा-सन्निधि युक्त सब पदों को पक्ष किया गया है। अतः वह साध्याभाव का निर्णीत स्थान नहीं हो सकता है, अत एव यह उपाधि पक्षेत्तरत्व रूप है, अतः अनुपाधि है। यदि कहें कि योग्यता वत्त्व को विषम व्यापकत्व रूप से उपाधिता है। [अर्थात् जहाँ स्वस्मारित पदार्थान्वय प्रतिपादकत्व है, वहाँ योग्यतावत्त्व है, (वह उक्त साधन का अव्यापक है। तो यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि, जो अयोग्यार्थक (योग्यता रहित) पद समूह है, वह अन्वितार्थ (वाक्यार्थ) ज्ञान का जनक नहीं है, इस प्रकार उपाध्यभाव से साध्याभाव के उपसंहार के स्थान को पूर्वोक्त न्याय से देखना अशक्य है, अर्थात् पक्ष से भिन्न ऐसा स्थान नहीं है, यदि कहा जाय कि (विवादविषय = इदं रजतम् = इत्यादि पदसमूह, स्वस्मारितार्थ की प्रमिति =

दत्वात्, गामानयेति पदवदित्याभाससमानयोगक्षेमता; तत्र बाधकप्रमाण-विरोधेन कालात्ययापदिष्टत्वात्। प्रतीतिमात्रसाधने नु बाधाभावात्। उक्तं चैतद्भट्टाचार्यैः—'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति ही'ति। विपक्षे च प्रतिपक्षाप्रतिपत्तौ तन्निराकरणाय कथारम्भासम्भवो बाधकः। तथाहि—शब्दोऽनित्य इति शब्दस्यानित्यत्वे वादिना प्रतिपादिते यदि न तत्प्रतिवादी प्रतिपद्येत तदा वादिना परिषदा च विज्ञातस्यापि स्वयम-

---

रोधादीनां प्रागेव परिहृतत्वादित्यभिप्रेत्याह—**तत्र बाधकेति**। शशविषाणं खपुष्पमित्याद्यसत्यर्थेऽत्यन्तायोग्येऽप्याकांक्षासन्निधिमाञ्छब्दो ज्ञानं करोतीति भट्ट-वार्तिकार्थः। योग्यतारहितस्याप्याकांक्षादिमतः प्रतीतिजनकत्वानङ्गीकारे प्रतिवा-दिवाक्याच्छब्दोऽनित्य इत्यादेरयोग्ययोः शब्दानित्यत्वयोः संसृष्टप्रतीत्यनुपपत्तौ तदनुवादाभावेन तन्निराकरणाय ग्रन्थकरणादिरूपकथानारम्भप्रसङ्गो बाध इत्याह—**विपक्षे चेति**। एतदेव विकल्पपूर्वकं विवृणोति—**तथा हीति**। यदि न बुद्धयेत ? बुध्येत वा ? इत्यपि द्रष्टव्यम्। आद्ये तन्निराकरणमशक्यमित्यपि द्रष्टव्यम्। न केवलमप्रतिबुद्धस्य निराकरणमशक्यं निग्रहस्थानापत्तिश्चेत्याह—**तदा वादिनेति**। इदं च विशेषणं "अविज्ञातं चाज्ञानमिति" सूत्रस्थचकारानुकृष्टोऽर्थोऽविज्ञातार्थाति-व्याप्तिपरिहारः प्रयोजनम्। 'परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञाता-

---

प्रमाज्ञान के जनक हैं, आकाङ्क्षा सन्निधि वाले पदसमूह होने से, गामानय, इत्यादि पदों के समान) इस अनुमानाऽऽभास (मिथ्यानुमान) के समान ही उक्त अनुमान की योगक्षेमता है, अर्थात् इस अनुमान के समान वह अनुमान दोष युक्त है, तो यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि इस अनुमान में नेदं रजतम्, यह रजत नहीं है, इस बाधक प्रमाण के विरोध से कालात्ययापदिष्टता (बाधितता) दोष है, अतः इस ज्ञान में अप्रमात्व के निश्चय से प्रमात्व की अनुमिति नहीं हो सकती है, और प्रतीतिमात्र साधन, स्वस्मारितार्थ प्रतिपादकत्त्व (बोधकत्व) में कोई बाधक नहीं है। क्योंकि, प्रतीति मात्र साधनत्व तो 'इदं रजतम्, में क्या कहना है, अत्यन्त अयोग्य आकाङ्क्षा सन्निधि वाले शशविषाणादि पद भी प्रतीति मात्र के जनक होते हैं, यह श्रीभट्टाचार्य कुमारिल भट्ट ने कहा है कि—(अत्यन्त असत्य अर्थ विषयक ज्ञान को भी शब्द उत्पन्न करता है)। और विपक्ष में, योग्यतारहित = आकांक्षादि युक्त पदों में प्रतीति जनकत्व नहीं मानने में, कथा के आरम्भ का असंभव बाधक है, क्योंकि यदि योग्यता रहित आकांक्षादि युक्त पदों द्वारा वादी से कथित अर्थ की प्रतीति प्रतिवादी को नहीं हो, तो प्रतिपक्ष की अप्रतीति रहते उसके निराकरण के लिये कथा का आरम्भ नहीं हो सकता है, अर्थात् (शब्दोऽनित्यः) शब्द अनित्य है, इस प्रकार से वादी (नैयायिक) के शब्दानित्यत्व के प्रतिपादन करने पर, यदि प्रतिवादी = मीमांसक

विज्ञातेऽविज्ञानं नाम निग्रहस्थानमापद्येत। प्रतिपत्तौ वा विपर्ययाभ्युपगमप्रसङ्गः; नहि शब्दस्यानित्यत्वज्ञानं तन्नित्यत्ववादिनो यथार्थम्।

किञ्चैकाधिकरणविरुद्धधर्मद्वयप्रतिपत्तिलक्षणा विप्रतिपत्तिरेव भवन्मते न भवेत् तत्र कुतस्तरां कथाप्रवृत्तिः? कुतस्तमां च विप्रतिपत्तिनिरासः? अपि च सर्वस्य वाक्यस्य संसर्गप्रतीत्यजनकत्वेऽनृतापार्थकनिरर्थकभेदो न स्यात्, समुदायार्थप्रतीतौ सत्यामपि यदर्थो वाधितो भवति तद्वाक्यमनृतमुच्यते,

---

र्थमि'ति सूत्रम्। त्रिरभिहितमपीति। वादिनेति शेषः। द्वितीये आह—**प्रतिपत्तौ वेति**। तस्यैव प्रपञ्चः **नहि शब्दस्येति**।

दूषणान्तरमाह—**किं चेति**। एकं शब्दादिकमधिकृत्य विरुद्धधर्मविषायण्यौ प्रतिपत्ती हि विप्रतिपत्तिर्न पुनर्भिन्नाधिकरणे नाप्यविरुद्धार्थविषयिण्यौ। नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरित्यनयोर्नित्य आत्मा विभुश्चेत्यनयोर्वा विप्रतिपत्तित्वाभावात्। सेयं विपर्यासानङ्गीकारे न भवेत्, नापि व्यवहारद्वयमात्रम्। अप्रतिपत्तौ विरुद्धधर्मप्रतिपत्तित्वाभावात्। प्रतिपत्तित्वे च विरुद्धधर्माध्यासेनार्थस्यैव भेदापत्तिरित्यर्थः। ननु तादृशधर्मद्वयस्य प्रस्तुतधर्मिव्यतिरिक्तानिष्ठतयाऽग्रहणात्तथाव्यवहार इति चेन्न। एकनिष्ठत्वाप्रतिपत्तौ व्याप्तिग्रहाभावादनुमानानुदयादिति। वाधकान्तरमाह—**अपि चेति**। **सर्वस्येति**। वाक्यमात्रस्येति यावत्। अनृतादीनां प्रसिद्धं विवेकं दर्शयति 'तदभावापादनाय—**समुदायार्थेत्यादिना**। अत्र चानृतशब्देन प्रतिज्ञा-

---

उसको नहीं समझेगा, तो वादी और परिषद = मध्यस्थ, से ज्ञात अर्थ को नहीं जानने के कारण, अज्ञान नामक निग्रह स्थान (कथाऽनधिकार) को प्राप्त होगा। वादी और परिषद से तीन बार कथित अर्थ के अज्ञान को अज्ञातार्थ रूप निग्रहस्थान न्यायदर्शन में कहा गया है, और यदि वादी के (शब्दोऽनित्यः) इस वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान प्रतिवादी को होता है, तो विपर्यय के अभ्युपगम (स्वीकार) का प्रसङ्ग होता है, क्योंकि शब्द के अनित्यत्व का ज्ञान, शब्द के नित्यत्ववादी को यथार्थ नहीं हो सकता है।

भ्रम को नहीं मानने वाले आप के मतानुसार, एक शब्द रूप अधिकरण में विरुद्ध नित्यत्व, अनित्यत्व रूप दो धर्म के ज्ञान स्वरूप विप्रतिपत्ति (विरुद्ध पक्ष का ग्रहण) ही नहीं हो सकता है, तो वहाँ निर्णयार्थक कथा की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, और विप्रतिपत्ति (विरोध) का निराकरण कैसे हो सकता है, और यदि सभी वाक्यों को संसर्ग की प्रतीति के अजनकत्व है, अतः कोई वाक्य यदि संसर्ग की प्रतीति के जनक नहीं हैं, तो, अनृत, अपार्थक, निरर्थक यह भेद नहीं होगा। क्योंकि जहाँ पदसमुदाय के अर्थ की प्रतीति होते भी जिसका अर्थ बाधित होता है, उस वाक्य को अनृत (प्रतिज्ञा संन्यासादि) कहते है, जैसे, नदी के

यथा नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीति विप्रलम्भकवचनम्, यत्रावयवार्थ-प्रतीतौ सत्यामपि समुदायार्थाप्रतीतिस्तदपार्थकम्, यथा 'दश दाडिमानि पडपूपाः कुण्डमजाजिन'मित्यादि। अवयवार्थप्रतीतेरपि यत्राभावस्तन्नि-रर्थकं यथा 'नित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वात् खछठथव'दिति। स चायमनृतापार्थकादिभेदः क्वचिदपि शब्दस्य संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे न संभवतीत्यलमतिविस्तरेण। यदसत्तन्न प्रकाशते यथा गगनकुसुमम्, असच्च शुक्तिरजततादात्म्यमितिचेत्, मैवं; गगनकुसुमस्यापि तच्छब्दात्प्र-

---

संन्यासो निरनुयोज्यानुयोगोऽसिद्धिविशेषश्च विवक्ष्यते। अपार्थकमाह—यत्रेति। "पौर्वापर्ययोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकं" "वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थक"मित्यक्षपादसूत्रा-दित्यर्थः। क्वचिदपीति। एतेषु मध्ये क्वचिदपीत्यर्थः, संसर्गप्रतीतिमनुमानेनापल-पन्सत्प्रतिपक्षयति—यदसदिति। दूषयति—मैवमिति। नन यदसत्तदपरोक्षतया न प्रकाशते इति साध्यं, तत्र व्यर्थविशेषणत्वात्। किंच तादात्म्यं प्रतीतं न वा

किनारे = तट, पर पांच फल हैं, ऐसा किसी वञ्चक का वचन अनृत होता है और जहाँ वाक्य के अवयवार्थ की प्रतीति होने पर भी समुदाय के अर्थ की अप्रतीति हो, वहाँ उस वाक्य को अपार्थक कहा जाता है, जैसे (दशदाडिमानि, षडपूपाः; कुण्डमजाजिनम्) दश दाडिम छै मालपूआ, कुण्डा, बकरा का चर्म, ये अपार्थक है। जहाँ अवयवार्थ की प्रतीति का भी अभाव हो, वहाँ निरर्थक कहा जाता है, जैसे (शब्द नित्य है) क च ट त प, ग ज ड द ब होने से ख छ ठ थ के समान। इन अनृतादिकों के लक्षण न्यायदर्शन में निरूपित है। परन्तु कहीं भी शब्दों के संसर्ग के जनक नहीं होने पर, ये अनृतादि के भेद नहीं हो सकेगें, फिर इनके द्वारा निग्रहादि नहीं हो सकने से कथा ही अव्यवस्थित हो जायगी, अब अतिविस्तार की आवश्यकता नहीं है। यदि कहें कि जो असत् होता है, वह प्रकाशता नहीं है, जैसे कि, गगनपुष्प नहीं प्रकाशता है। और शुक्तिरजत का तादात्म्य (अभेद), भी असत् है, अतः वह भी नहीं प्रकाशता है। अर्थात् = (विवादास्पद पद, स्वस्मारितार्थान्वियप्रतिपादक हैं, आकांक्षासन्निधिमत्पदसमूह होने से, गामानय, इत्यादि के समान) यह पूर्वोक्त अनुमान (विवादास्पद पद, स्वस्मारितार्थान्विय के प्रतिपादक नहीं होते हैं, असदन्वयार्थकपदार्थप्रतिपादकत्वात्। गगनकुसुमपदवत्) इस अनुमान से सत्प्रतिपक्ष वाला है, अतः स्वसाध्य का साधक नहीं है, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि गगनकुसुम की भी गगनकुसुम शब्द से प्रतीति होती है, अतः गगनकुसुम के प्रतीयमान = (प्रतीतिविषय) होने से गगन और कुसुम का असत् सम्बन्ध भी भासता है, इससे दृष्टान्त साध्यरहित है। और जिस शुक्ति, रजततादात्म्य की अप्रकाशता को अख्यातिवादी सिद्ध करते हैं,

तीयमानत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तादात्म्यस्य च प्रतीतावन्यथाख्यातिस्वीकारात्, अप्रतीतावाश्रयासिद्धेः, असंसर्गाग्रहबलेन च तद्व्यवहारे तत्रासत्त्वाप्रतीतौ हेतोरपक्षधर्मत्वात्। तस्माद्रजतादिविभ्रमे पुरोवर्तिशुक्तिशकलादि रजताद्यात्मनावभासत इति सिद्धम्।

भवत्वेवं विभ्रमसद्भावः, विभ्रमालम्बनं तु किमसत्? सदेव वा?

यस्यायमप्रकाशः साध्यते, उभयथापि दूषणमाह—**तादात्म्यस्य चेत्यादिना**। ननु तादात्म्यं तावत्प्रतीयते अन्यत्र, शुक्तिरजते च प्रतीयेते, तेषां चासंसर्गाग्रहाद-प्रतीतेऽपि विशिष्टतादात्म्ये तद्व्यवहार इति तत्राह—**असंसर्गाग्रहेति**। आश्रयाप्रतीतौ तन्निष्ठतया हेतोरप्यप्रतीतावसिद्धिः स्यात्। तथोक्तम् 'एकदेशदर्शनं खल्वनुमापक'मिति। भाष्यकारैरप्येकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धिरिति। एतेन शुक्ती रजताकारेण न प्रकाशते तद्रूपेणासत्त्वात् यथा घटः पटरूपेणेति मुरारिरप्यपास्तः; प्रमाणस्मृतिविवक्षायां सिद्धसाधनत्वात्, भ्रान्तिविवक्षायां तत्राप्रसिद्धविशेषणता साध्यविकलश्च दृष्टान्त इत्यादेश्च। वादार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

आरोपं निरूप्यारोप्यं निरूपयति—**भवत्वेवमित्यादिना**। सदेवेत्यन्यथाख्यात्यात्मख्यात्योर्निर्देशः। उभयात्मकमिति तु भेदाभेदवादिनोऽन्यथाख्यातिविशेषस्य,

---

उस तादात्म्य की प्रतीति उन्हें होती है, या नहीं, यह विचारणीय है, यदि तादात्म्य की प्रतीति होती है, तो अन्यथाख्याति का स्वीकार करना होगा, क्योंकि तादात्म्य के अभावस्थान में तादात्म्य की प्रतीति हुई है और अप्रतीति नहीं होती हो, तो आश्रयासिद्धि होगी। क्योंकि शुक्तिरजत तादात्म्य, प्रकाशविषय नहीं होता है, असत् होने से, गगनकुसुमवत्। इस अनुमान से ही तादात्म्य में प्रकाशाऽविषयत्व सिद्ध किया जाता है। वहाँ तादात्म्य की प्रतीति के बिना किस में प्रकाशाऽविषयत्व सिद्ध किया जा सकता है, यदि कहें कि तादात्म्य की प्रतीति के बिना ही असंसर्गाऽग्रह के बल से तादात्म्य का व्यवहार होता है। अतः व्यवहार मात्र से आश्रय की सिद्धि से आश्रयासिद्धि नहीं होती है, तो वह कहना युक्त नहीं, उस असत् तादात्म्य के व्यवहार होने पर भी, वहाँ असत् के असत्त्व की अप्रतीति रहते हेतु को अपक्षधर्मता (पक्षाऽवृत्तित्व) की प्राप्ति होगी। अतः यह सिद्ध हुआ कि रजतादिविभ्रम में पुरोवर्ती शुक्तिखण्डादि रजतादि रूप से भासते हैं, रजतादि का स्मरणमात्र नहीं होता है।

इस उक्त रीति से विभ्रम का सद्भाव हो, किन्तु विभ्रम का आलम्बन (विषय) का है, यह विचारणीय है कि, वह आलम्बन (भ्रमज्ञान का विषय रजतादि) असत् है, या सत् ही है, या सदसत् उभय स्वरूप है, या उभय विलक्षण है, वहाँ प्रथम पक्ष असत् नहीं माना जा सकता है, क्योंकि असत् रजतादि में अपरोक्षाव-

किं वोभयात्मकम् ? उतोभयविलक्षणम् ? इति विवेचनीयम् न तावदसत्; असतोऽपरोक्षावभासानर्हत्वात्, तदादित्सया प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च। क्वचिद-सद्विशेषेऽपि प्रतिभासप्रवृत्ती किं न स्यातामिति चेत्, न; विशेषाधिकरण-त्वे तुच्छत्वानुपपत्तेस्तस्य निःस्वभावत्वात्। सद्वैलक्षण्यमात्रेणासत्त्वाभिधाने मायावादिमतप्रवेशात्। अन्तरेणापि ज्ञेयसामर्थ्यं निःस्वभावेऽप्यसति स्वका-रणविशेषसमासादितस्वभावविशेषज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिमदिति

उभयविलक्षणमिति तु सिद्धान्तस्य। प्रथममसत्ख्यातिं निराचष्टे—**न तावदिति। अपरोक्षेति।** शाब्दप्रतीतिव्यावृत्त्यै। ननु यद्यपि शशविषाणादौ प्रवृत्तिप्रतीती न दृष्टे तथाप्यसद्विशेषे रूप्यादौ किं न स्यातामिति शङ्कते—**क्वचिदिति।** सतः खल्वयं सामान्यविशेषभावो न त्वसत इति परिहरति—**नेति।** अथासत्त्वं नाम न निःस्वभावत्वं येनेदं दूषणं स्यात् अपितु सद्वैलक्षण्यं तत्राह—**सद्वैलक्षण्येति।** असतोऽप्यापरोक्ष्यं संपादयत्यसद्वादी। **अन्तरेणापीति।** यद्यपि निःस्वभावमस-ज्ज्ञेयं तथापि तस्य ज्ञेयस्य सामर्थ्यमन्तरेण स्वकारणविशेषात्समनन्तरप्रत्ययादा-सादितः प्राप्तः स्वभावविशेषो येन विज्ञानेन तत्तथा। तादृशविज्ञानमेवाविद्य-याऽसत्प्रकाशनशक्तिलक्षणया असत्प्रकाशनशक्तिमदिति योजना। एतदुक्तं भवति—यद्यप्यधिपतिसहकार्यालम्बनसमनन्तरात्मकेभ्यः प्रत्ययेभ्यश्चतुर्भ्यश्चित्तचैत्ता उत्प-द्यन्ते इति स्थितिस्तथापि भ्रान्तिस्थलेष्वालम्बनप्रत्ययस्यासत्त्वात् अनर्थक्रियाक्ष-मत्वादत एव तत्संयुक्तस्याधिपतेश्चक्षुरादेस्तत्सहकारिणश्चालोकस्य सहकारि-प्रत्ययस्याभावेऽपि समनन्तरप्रत्ययलक्षणपूर्वज्ञानमात्रात् स्वभाववैचित्र्यवशाद्विज्ञानमुत्प-द्यते स्मृतिज्ञानमिव विषयमन्तरेण सामग्रीमात्रप्रयोज्यमिति तदेतद्दूषयति—**तर्हि**

भास (ज्ञान) की अयोग्यता से उसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकेगा। और अपरोक्ष ज्ञान नहीं होने पर उसके आदान (ग्रहण) की इच्छा से जो प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्ति की असिद्धि होगी। यदि कहा जाय कि शशशृङ्गादि असत् की प्रतीति आदि नहीं होने पर भी कहीं रजतादि विशेष असत् की प्रतीति, तद्विषयक प्रवृत्ति क्यों न मानी जाय, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशेष (भेद = धर्म) के अधि-करणत्व होने पर, तुच्छत्व (असत्व) की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। निःस्व-भाव को असत् कहा जाता है, सामान्य विशेष स्वभाव वाला सत् पदार्थ होता है, शुक्ति, रजत यदि विशेष स्वभाव वाला होगा तो असत् नहीं रहेगा। यदि कहें कि सत् से विलक्षणता मात्र से रजतादि को असत् कहा जाता है, निःस्वभावत्व से नहीं, तब तो मायावाद वेदान्तमत का प्रवेश (स्वीकार) होगा। यदि कहें कि असत् के निःस्वभाव होते भी और भ्रम के विषय रूप ज्ञेय के सामर्थ्य के विना भी स्व-कारण विशेष पूर्व प्रत्यय से प्राप्त स्वभाव विशेष वाला विज्ञान ही अविद्या से असत्

चेत्; तर्हि वक्तव्यं किमस्याः शक्तेः शक्यमिति? यद्यसदेव, किमेतस्याः कार्यम्? उतैतज्ज्ञाप्यम्? नाद्यः; असतोऽकार्यत्वात् प्रकाशनशक्तित्वव्याघाताच्च। न द्वितीयः; प्रकाशान्तराभावात्, अनवस्थानाच्च। तदेव विज्ञानमसतः प्रकाश इति चेत्, न; विज्ञानाश्रयां शक्तिं प्रति विज्ञानस्यैव शक्त-

---

वक्तव्यमित्यादिना। प्रकाशनशक्तित्वेति। व्यञ्जकत्वात्प्रमाणस्य प्रमेयोत्पादकत्वमयुक्तमित्यर्थः। प्रकाशान्तरेति। एतज्ज्ञाप्यमिति कोऽर्थः? एतज्जनितज्ञानस्य विषय इति। तथाच यदनया शक्त्या जन्यं ज्ञानं तत्किं ज्ञानान्तरम्? आश्रयभूतमेव वा? नाद्यः। असज्ज्ञानमन्तरेण द्वितीयज्ञानानुपलब्धेरुपलब्धो वाऽनवस्थानाच्चेत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—तदेवेति। दूषयति—न; विज्ञानाश्रयामिति। स्यादेतत्-सत्यमाश्रयविषयसापेक्षा शक्तिर्विषयाभावे न भवेत्, शक्तिरेव तु न स्वीक्रियते किं तर्हि विज्ञानमात्रमेव, तस्य च तथाविधमेव रूपं कारणविशेषादाहितं येन परित्यक्तशक्ति-

---

के प्रकाशन की शक्ति वाला होता है, तो, यह भी कहना चाहिये कि इस शक्ति का शक्य (कार्य = साध्य) क्या है, अर्थात् पदादि में शक्ति रहती है, तो उसका शक्य अवश्य रहता है, जैसे शक्ति वाला ज्ञान का शक्य होगा, तो वक्तव्य है कि सत् या असत् शक्य (ज्ञान का विषय) है, यदि कहें कि असत् ही शक्य है, तो भी यह वक्तव्य है कि वह असत् शक्य उस ज्ञान की शक्ति का कार्य है, या उसे ज्ञाप्य (बोधनीय) है। प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि असत् में कार्यत्व नहीं रह सकता है, दूसरी बात है कि ज्ञान में प्रकाशनशक्ति होती है, उत्पादन शक्ति नहीं, यदि कार्योत्पादन शक्ति होगी तो प्रकाश शक्तित्व का व्याघात (बाध) होगा। ज्ञान में ज्ञानत्व ही नहीं रहेगा। दूसरा (ज्ञाप्यत्व) पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रकाशान्तर (ज्ञानान्तर) का अभाव है। भाव है कि ज्ञान (प्रकाशन शक्ति वाला) ज्ञापक होगा, तब शक्य ज्ञाप्य होगा और वहाँ शक्ति जन्य ज्ञान का विषय ज्ञाप्य कहायगा, और यहाँ शक्ति वाला ज्ञान एक है, ज्ञानान्तर का अभाव है अतः ज्ञाप्य रूप शक्य नहीं हो सकता है। यदि दूसरा ज्ञान मान भी लें, तो वह ज्ञापनशक्ति वाला होगा, अतः उससे भी शक्य ज्ञाप्य होगा, तो अनवस्था होगी, यदि कहें कि शक्तिमान् एक ही ज्ञान असत् का प्रकाशक और प्रकाशस्वरूप रहता है, उससे ज्ञानान्तर उत्पन्न नहीं होता है कि जिससे अनवस्था हो। तो यह कहना भी बन नहीं सकता है, क्योंकि जो शक्ति का आश्रय विज्ञान शक्य का जनक है, वही विज्ञान, विज्ञानाश्रित शक्ति के प्रति उसी विज्ञान के शक्य रूप से (कार्य रूप से) विषय नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रकाशक ही प्रकाश का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि एक ही को एक ही समय सिद्ध (शक्तजनक) रूप से शक्ति का आश्रयत्व, और असिद्ध (कार्य) रूप से उस शक्ति का विषयत्व नहीं हो

शक्यतया विषयत्वानुपपत्तेः। नह्येकस्यैकदैव सिद्धतया शक्त्याश्रयत्वमसिद्धतया च तद्विषयत्वं संभवति, युगपदेव सिद्धसाध्यत्वविरोधात्। शक्यमेव तर्हि शक्तेर्माभूदिति चेत्, न; शक्तेः कस्य कुत्रेति शक्तशक्यनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्। अस्तु तर्हि स्वकारणविशेषासादितस्वभावभेदं विज्ञानमेवासतः प्रकाश इति चेत्, न; सदसतोः संबन्धानिरूपणात्। असदधीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्संबन्ध इतिचेत्, न; तदधीननिरूपणत्वस्यापि संबन्धान्तराधीनत्वादसतश्च निरुपाख्यत्वात्संबन्धाधारतानुपपत्तेः। ज्ञान-

---

कमपि तदसत्प्रकाशो भवतीति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। दूषयति—**नसदसतोरिति**। ननु शून्यवादिना कथं विज्ञानसत्त्वमभिमतं येन सदसतोरिति शक्यवचनं स्यात् सत्यं, शून्यवादिविशेषोयम्, का तर्हि शून्यवादिता ? विज्ञेयस्य सर्वथा शून्यत्वाङ्गीकारात्। योगाचारेण हि बहिःशून्यता वेद्यस्याङ्गीकृता। अनेन त्वन्तरेऽपीति ततो विशेषः। यथाचैतत्तथा भट्टशंभुना तत्तदभियुक्तवचनान्युदाहरता :"अस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिन" इत्यत्रोपपादितम्। **सम्बन्धानिरूपणादिति**। यदि हि अविद्यात्मिका शक्तिः स्वीकृता स्यत्तदा सांवृतः कोऽपि संबन्धः, तामपि परिहरतः को नु नामानयोः संबन्धः स्यादित्यभिप्रायः। असत्प्रकाशोऽयमिति यदिदमसदधीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्तेनासता तस्य संबन्ध इति शङ्कते—**असदधीनेति**। दूषयति—**न, तदधीनेति**। संबद्धयोर्हि निरूप्यनिरूपकभावो दृष्टः, न हि जातु धौतकलधौतकलशधवलिम्ना तालफलकालिमा निरूप्यमाणो दृष्टचर इत्यर्थः। भवतु संबन्धान्तरमपि संयोगादिलक्षणमिति नेत्याह—**असतश्चेति**। अथ घटस्य प्रकाश इतिवत् किं न स्यादिति तत्राह—**ज्ञानजन्येति**। असत्त्वाद्धेतोर्ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वात् अपरोक्षज्ञानविषयभावानुपपत्तेः, घटादि-

---

सकता है, यतः 'युगपद' = एक समय ही एक में सिद्धत्व और साध्यत्व का रहना विरुद्ध है। यदि कहा जाय कि शक्य का निरूपण नहीं हो सकता है, तो शक्ति का शक्य नही रहे, शक्य नहीं माना जाय, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि शक्ति का निरूपण (ज्ञान) शक्त और शक्य के निरूपणाधीन होता है, अतएव शक्ति की चर्चा होनेपर जिज्ञासा होती है कि, किस कार्य की शक्ति, किसमें रहती है, इत्यादि। यदि कहें कि ऐसा होने पर, स्व (विज्ञान) कारण (पूर्वप्रत्यय) विशेष से प्राप्त स्वभाव भेद (विशेष) वाला विज्ञान ही असत् का प्रकाश स्वरूप रहे, यही मन्तव्य है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि, असत् का प्रकाश, कहने से सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति द्वारा असत् का प्रकाश के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, और असत् के साथ सत् प्रकाश को सम्बन्ध का निरूपण नहीं हो सकता है, (बन नहीं सकता है)। यदि कहें कि विषयाधीन ज्ञान के आकाशादि का निरूपण होता है, अतः

ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वाच्च घटादिवदसतो ज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः। अयमसदनुभव इत्यसता विना नानुभवो निरूप्यत इति तेनाविनाभावः संबन्ध इति चेत्, मैवम्; अतदुत्पत्तेरतदात्मनश्चानुभवस्य तदविनाभावा-

---

वदिति दृष्टान्तो व्यतिरेके। शङ्कते—**अयमसदनुभव इति**। अयमर्थः—अस्ति तावदयं निरूप्यनिरूपकभावनियमः, तेन हेतुना तेनासता तस्य ज्ञानस्य-अविनाभावः कश्चिदस्ति मूलभूत इति विकल्प्यते इति। परिहरति—**मैवमत-दुत्पत्तेरिति**। अयमभिसन्धिः—त्रिविधो ह्यविनाभावः सौगतसमये, स्वभावः कार्यमनुपलब्धिश्च। यदाह कीर्तिर्न्यायबिन्दौ—'त्रिरूपाणि च त्रीण्येव च लिङ्गा-न्यनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेती'ति। तत्रानुपलब्धिरर्थाभावावेदिका, यथा यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः, यथान्यत्र क्वचिद्दृष्टः क्वचिद्देशविशेष उपलब्धिलक्षण प्राप्तो घटपटादिर्नोपलभ्यते, नोपलभ्यते च शशविषाणादिरर्थ इति साधर्म्यवत्प्रयोगः। स्वभावकार्याख्यौ तु भावबोधकौ यथा वृक्षशिंशपात्वयोः यथा वाऽग्निधूमयोरिति। तदप्युक्तं कीर्तिना—

'कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्नतु दर्शनात्॥ इति॥

असत् के ज्ञान में असत् विषयाधीन निरूपणत्व (निरूप्यमाणत्व) ही ज्ञान का उस असत् के साथ सम्बन्ध है, तो वह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि निरूप्य निरूपक भाव भी सम्बन्धान्तराधीन होता है, अतः असदधीन निरूपणत्व को भी सम्बन्धान्तराधीनता प्राप्त होगी, और असत् को निरुपाख्य (निःस्वरूप) होने के कारण, उसको सम्बन्ध की आधारता नहीं हो सकती है, और घटादि के समान ज्ञानजन्य विशेषता ज्ञातता रूप अतिशय (आधिक्य) अनाधारता से भी असत् को ज्ञान विषयत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) है। यदि कहा जाय कि, यह असत् का अनुभव है, इस प्रकार का अनुभव असत् के बिना निरूपित (सिद्ध) नहीं होता है। अतः उस असत् के साथ अविनाभाव (व्याप्यत्व) रूप सम्बन्ध इस ज्ञान को है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि असत् से अनुभव की उत्पत्ति नहीं होती है, न असदात्मक अनुभव है, अतः असत् के साथ अनुभव का अविनाभाव (व्याप्यत्व) होना असम्भव है, अग्नि से धूम की उत्पत्ति होती है, वहाँ अविनाभाव रहता है, और शिंशपा (शीशों) में वृक्ष स्वभावत्व रहता है, अतः शिंशपात्व को वृक्षत्व के साथ अविनाभाव (वृक्षत्व के बिना असद्भाव) रूप सम्बन्ध रहता है। टीका में श्लोक है कि "कार्य कारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमोऽ-दर्शनान्नतु दर्शनात्" अर्थात् समक्ष में दर्शन, विपक्ष में अदर्शन रूप अन्वय-व्यतिरेक से अविनाभाव का नियम (निश्चय) नहीं होता है, किन्तु कार्यकारण भाव या

संभवात् । तस्मात्स्वप्रत्ययासादितस्वभावभेदं विज्ञानमेवासत्प्रकाश इत्यसत्ख्यातिवादिनामसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाणं नासत् ।

नापि सत्; नेदं रजतमित्यादिबाधविरोधात् । यत्र बाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेत्, न; तत्र प्रमाणानिरूपणात् । तथाहि—भ्रान्त्यनुभवस्तत्र प्रमाणम्? उत बाधानुभवः? किंवा भ्रमानुपपत्तिः? बाधानुपपत्तिर्वा? असत्ख्यात्यनुपपत्तिर्वा? नाद्यः; तस्य पुरोवर्तिरजतसत्तामात्रगोचरतयाऽसंनिहिततत्सत्तायामौदासीन्यात् । न द्वितीयः; बाधानुभवस्यापि पुरोवर्ति-

---

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न भवतीत्यर्थः । तदिह ज्ञानस्यासल्लक्षणार्थबोधकस्वाभाव्यादनुपलब्धिता दूरापेता, सदसतोः स्वभावस्वभाविस्वाभावाच्च, न स्वभावाविनाभावः उक्तं हि न्यायबिन्दौ—'स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः स्वभाव' इति, विज्ञानस्यासदुत्पत्त्यभावाच्च न कार्यकारणभाव इति । असत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—**तस्मादिति** ।

सत्ख्यातिं निराकरोति—**नापीति** । न वयमत्रैव सत्त्वं ब्रूमः येन बाधविरोधः स्यादपित्वन्यत्रेति शङ्कते—**यत्रेति** । भवेदेवं तद्यन्यत्र सत्त्वे प्रमाणं स्यात्तु तदिति परिहरति—**न तत्रेति** । संभावितप्रमाणानि विकल्प्य दूषयति—**भ्रान्त्यनुभवे-**

नियामक स्वभाव से होता है, असत् अनुभव को न कार्यकारण भाव है, न नियामक स्वभाव रूप सम्बन्ध है । अतः स्वप्रत्यय (कारण) से प्राप्त स्वभावभेद (विशेष) वाला विज्ञान ही असत् का प्रकाश है, यह असत्वादी का मिथ्या प्रलाप है, इससे सिद्ध हुआ कि आरोप्यमाण भ्रमज्ञान का सर्वथा असत् नहीं रहता है ।

"नेदं रजतम्" इत्यादि बाधरूप ज्ञान के साथ विरोध होने से भ्रम ज्ञान का विषय सत् भी नहीं रहता है, यदि सत्वादी कहें कि जहाँ पुरोदेश में बाधित होता है, उससे अन्यत्र सत् रहता है, उसी की यहाँ प्रतीति होती है, अतः वस्तुतः देशमात्र का बाध होता है कि यहाँ नहीं है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जो यहाँ भासता है, उसकी अन्यत्र सत्ता में प्रमाण का अभाव है (प्रमाण नहीं दीखता है) क्योंकि विचार कर्त्तव्य है कि अन्यत्र सत्ता में भ्रान्ति रूप अनुभव प्रमाण है, अथवा बाध रूप अनुभव प्रमाण है, अथवा भ्रम की अनुपपत्ति प्रमाण है, या बाधाऽनुपपत्ति प्रमाण है, या असत् ख्याति की अनुपपत्ति है, प्रथम बाधानुभव, अन्यत्र सत्त्व में प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि भ्रान्ति रूप अनुभव को पुरोवर्ती रजत सत्ता मात्र गोचरता (विषयकता) से, असन्निहित अन्यत्र उस रजत की सत्ता में उस भ्रान्ति की उदासीनता रहती है । दूसरा बाध रूप अनुभव भी प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि बाधानुभव को भी पुरोवर्ती में आरोपित वस्तु के अभाव विषयक होने से वह देशान्तर में उसकी सत्ता का आवेदक (बोधक) नहीं

न्यारोपिताभावविषयस्य देशान्तरतत्सत्तानावेदकत्वात् । न तृतीयः; रजतावभासस्य यथाप्रतीतपुरोवर्तिरजतसत्तां विनानुपपत्तावपि देशान्तरे तदीयसत्तामन्तरेणानुपपत्त्यभावात् । न चतुर्थः; बाधस्य प्रसक्तप्रतिषेधात्मनस्तत्रैव तत्सत्ताक्षेपकतयाऽन्यत्र तत्सत्तानाक्षेपकत्वात् । नच वाच्यमन्यत्रापि तस्यासत्त्वे तत्रापि कुतो न तस्य बाधः स्यादिति; तत्र तस्याप्रसक्तेरेव बाधाभावोपपत्तौ तत्सत्ताध्यवसायायोगात् । नेदं रजतमिति पुरोवर्तिनि

त्यादिना । प्रत्यक्षमर्थापत्तिर्वा इत्यर्थः । भ्रमानुपपत्तिं दूषयति—**न तृतीय इति ।** अत्यन्तासतः संसर्गस्याप्यपरोक्षप्रतीतिमङ्गीकुर्वतो रजतस्यापि तथाप्रतीतिसंभवान्न सत्तापेक्षेति सूचितम्—अनुपपत्तावपीत्यपिना । **तत्रैव तत्सत्तेति ।** सन्निधिरित्यर्थः ननु यद्यन्यत्राप्यसदत्रेव तत्रापि बाधः स्यान्नत्वेतदस्ति ततो नूनमवगच्छामोऽन्यत्र सदिति तत्राह—**नच वाच्यमित्यादिना । हेतुमाह—तत्र तस्येति ।** बाधाभावस्त्वन्यथासिद्धः इत्यर्थः । ननु न वयं रजतबाधान्यथानुपपत्त्या रजतसत्त्वं ब्रूमः, अपि तु तादात्म्यमात्रबाधो धर्मिभूतं रजतं क्वापि परिशिनष्टीत्याशङ्क्य निषेधति—**नेदमिति ।** अयमर्थः—कथमिदमवधार्यते तादात्म्यनिषेधोऽयम् ? न धर्मिनिषेध इति । यदि हि धर्मिणो रजतस्य मानान्तरात्सत्त्वमवसीयेत तदा प्रसक्तस्यापीदमंशस्यैवाबाध इत्यवधार्येत, नत्वेतदस्ति; नहि दूरस्थस्थावरयोर्भेदाग्रहात्परस्परात्मत्वारोपे

हो सकता है, तीसरा भ्रमाऽनुपपत्ति भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि रजतावभास (ज्ञान) की जैसे पुरोवर्ती में आरोपित रजत की सत्ता के बिना अनुपपत्ति है, उस अनुपपत्ति के होते भी, देशान्तर में उस रजत की सत्ता के बिना अनुपपत्ति का अभाव है, अतः देशान्तरस्थ का अर्थापत्ति से ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके बिना भी भ्रम सिद्ध होता है । चतुर्थ बाधानुपपत्ति भी अन्यत्र सत्त्व में प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रसक्त (प्राप्त) का प्रतिषेधरूपबाध को जहाँ प्रतिषेध करता है, वहाँ ही उस प्रतिषेध्य वस्तु की सत्ता की आक्षेपकता (प्रापकता) होने से अन्यत्र उसकी सत्ता का अनाक्षेपक (अप्रापक) होता है, अबोधक होता है, अर्थात् प्रसक्ति के बिना प्रतिषेध नहीं हो सकता है, अतः जहाँ सत्ता की प्रसक्ति होती है, वहाँ निषेध भी होता है, अन्यत्र सत्ता से इस निषेध को कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, यदि कहें कि पुरोवर्ती देश में जैसे यह रजत नहीं है, वैसे ही यदि अन्यत्र भी नहीं है (प्रमाणाभाव से नहीं माना जाता है) तो अन्यत्र भी पुरोवर्ती के समान ही बाध क्यों नहीं होगा, और बाध होगा, तो प्रसक्ति भी होगी, तो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, तत्र, अन्यत्र अप्रसक्ति से ही बाधाभाव की सिद्धि होती है, अतः वहाँ बाध न होने से उसकी सत्ता का निश्चय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि बाधाऽभाव अन्यथा सिद्ध है । यदि कहा जाय कि, नेदं रजतम्, यह, पुरोवर्ती में रजत के तादात्म्य (अभेद) के निषेधात्मक बाध रूप

रजततादात्म्यनिषेधात्मबाधानुभवो रजतमर्थात् क्वापि परिशिनष्टीति चेत्, न; तथासति वनस्पत्योरिव विविक्तयोर्द्वयोरप्यत्रैवान्तरं प्रतीतिप्रसक्तेः। नापि पञ्चमः; असतः संसर्गस्येव रजतस्याप्यसतः ख्यात्युपपत्तेः।

अथाधुनिकस्य कस्यचिन्मतानुसारेणेदं रजतमिति ज्ञानमिदमाकार-रजताकारयोर्न संसर्गग्राहकमपितु तयोरेकज्ञानसंसर्गिणोर्भेदाग्रहादयथार्थ-व्यवहारो गृह्यमाणयोर्भेदाग्राहि सविकल्पकमेकं विज्ञानं विभ्रम इति भ्रम-

---

नेदिष्ठं तिष्ठतश्च विवेकग्रहात्तादात्म्यांशनिषेधे तत्रैवान्तरप्रतीतिवदनयोरस्ति प्रतीतिः। एतदुक्तं भवति–प्रसक्तयोस्तादात्म्यांशनिषेधो धर्मिणोस्तत्रैव समनन्तरप्रतीत्या व्यासस्तन्निवृत्तौ निवर्तत इति। नच तत्र संनिहितयोस्तादात्म्यारोप इह तु सन्निहितासन्निहितयोरिति वैषम्यम्; एतादृशेषु तादात्म्यारोपासंप्रतिपत्तेः, द्वावेतौ नैक इतिवद्बाधनाच्च। असतः ख्यात्यनुपपत्तिरिति पञ्चमं पक्षं निषेधति—**नापि तञ्चम इति।** असत एव संसर्गस्यापरोक्षतया ख्यातिरिति यस्य मतं तस्य का नु नामानुपपत्तिरसतो रजतस्य प्रतीतावित्यर्थः।

न्यायकल्पतरावुदीरितमाशङ्कते—**अथाधुनिकस्येति।** न संसर्गोऽत्र प्रतीयते येनासतः प्रकाशमानता स्यात्। तद्दृष्टान्तेन च रजतस्य सत्त्वं निषेधेताऽपितु शुक्तिरजतयोः स्वरूपमात्रग्राहीदमेकं विज्ञानमित्यर्थः। तर्हि किं तत्संसृष्टव्यवहारो निर्निबन्धनः? न, भेदाग्रहनिबन्धन इत्याह—**अपि त्विति।** कथं तर्ह्यख्यातेर्भेदस्तत्राह—**गृह्यमाणयोरिति।** एकं विज्ञानमित्यख्यातेर्भेदः, सविकल्पकमिति च

अनुभव, तादात्म्य का निषेध करता है, रजत का नहीं, अतः अर्थात् (तात्पर्य से) रजत को कहीं परिशेष (अबाधित) सिद्ध करता है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि तादात्म्य मात्र का बाध हो, रजत का बाध नहीं हो, तो बाध के बाद में रजत और शुक्ति की पृथक्-पृथक् प्रतीति होनी चाहिये कि जैसे दूर से दो वृक्ष के तादात्म्य की प्रतीति होती है, और समीप में जाने पर तादात्म्य के बाध होने पर वृक्षों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। पञ्चम असत् की ख्याति की अनुपपत्ति भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि संसर्ग के समान असत् रजतादि की भी प्रतीति की सिद्धि हो सकती है, इसकी प्रतीति के लिये अन्यत्र सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ किसी आधुनिक मत के अनुसार से शङ्का होती है कि (इदं रजतम्) यह रजत है, यह भ्रम ज्ञान, इदमाकार (पुरोवर्ती वस्तु, और रजताकार के संसर्ग का ग्राहक नहीं होता है। अपितु किन्तु) उन एक ज्ञान में सम्बन्ध वाले शुक्ति और रजत के भेद के अग्रहण से उस ज्ञान से अयथार्थ (भ्रम) का व्यवहार होता है, और गृह्यमाण (शुक्ति, रजतादि) के भेद का अग्राहक (अप्रकाशक) सविकल्पक एक ज्ञान भ्रम कहा जाता है, यह भ्रम का लक्षण माना जाता है, अर्थात्

लक्षणाभ्युपगमात् । तथा च नासतः कस्यचित्ख्यातिरिति कश्चिद्ब्रूयात्, तं प्रति ब्रूयात्—मध्यमवृद्धव्यवहारेऽप्येकज्ञानोपारोहिणोः संसर्गिणोरसंसर्गाग्रहादेव व्यवहारोपपत्तौ बालस्य संसर्गज्ञानानुमानानुदयाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात् । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेऽप्यसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च; ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरिति गुरुमत-

---

वस्तुमात्रग्राहिणो निर्विकल्पकाद्विवेचितः, नेदं रजतमित्यादिभ्यश्च भेदाग्राहीति व्यावृत्तिः, घट इत्याद्येकैकवस्तुग्राहिविज्ञानमितरस्माद्भेदं न गृह्णाति, उक्तरूपं चातस्तन्निवृत्त्यर्थं गृह्यमाणयोरित्युक्तम् । एकैकेन ज्ञानेन तु भेदवत्पटादेरप्यग्रहणाद्व्यावृत्तिः । फलितमाह—**तथा चेति** । तदेतद्दूषयति—**तं प्रति ब्रूयादिति** । एकज्ञानोपारोहस्वीकारेऽपि संसर्गज्ञानापलापसाम्याद् अख्यातिवादिनि संसर्गज्ञानापलापिन्युक्तं शब्दानुमानप्रत्यक्षाप्रामाण्यप्रसङ्गं दोषमत्राप्याह—**मध्यमवृद्धेत्यादिना** । किं चैकस्मिन्नेव घटे स एवायं घटो न भवतीति विभ्रमे लक्षणमव्यापकम् । विद्यमान-

---

प्रभाकर यहाँ इदन् अंश के अपरोक्ष ज्ञान को, और रजत के स्मरण को स्वीकार करते हैं और ये आधुनिक दोनों विषयक एक ज्ञान मानते हैं, यह विलक्षणता हैं, अतः ऐसा होने पर संसर्गाऽविषयत्व प्रभाकर और आधुनिक मत में तुल्य ही है, जहाँ प्रथम कहा गया है कि प्रभाकर मत में भी असत् संसर्ग के समान असत् रजत की भी ख्याति मान लें तो असत् ख्याति की उपपत्ति हो जायगी, वहाँ यह प्रभाकर के अनुयायी कोई कहता है कि उक्त रीति से असत् किसी संसर्ग की भी ख्याति नहीं होती है कि जिससे उसी के समान असत् रजत की ख्याति मानी जाय। परन्तु उस की यह शंका अयुक्त है, अतः (तं प्रति ब्रूयात्) उसके प्रति कहना चाहिये कि, आप का कथन युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त (इदं रजतम्) इसी ज्ञान के समान, मध्यम वृद्ध के व्यवहार में भी, एक ज्ञान में उपारोही (प्राप्त विषय स्वरूप) संसर्गियों (सम्बन्धियों) के असंसर्गाग्रह से ही घटानयनादि व्यवहार की सिद्धि होने पर श्रोता द्रष्टा बालक को संसर्ग ज्ञान के अनुमान के अनुदय से शब्द की प्रमाणता के अभाव की प्राप्ति होगी। और इसी प्रकार से अनुमानाऽऽभास के समान सदनुमान में भी असंसर्गाऽग्रह से ही संसर्ग व्यवहार की सिद्धि होने पर, अनुमान का उच्छेद होगा। और प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता का भी उच्छेद (अभाव) होगा। क्योंकि अनेक दीपज्वाला में एकत्व व्यवहार के समान सभी प्रत्यभिज्ञाओं में असंसर्गाऽग्रह से ही संसर्ग व्यवहार की सिद्धि होगी, इस प्रकार से गुरु (प्रभाकर) मत के निरसन (निराकरण) से ही गुरुमत के परिपोषण में निपुण बुद्धि वाले का मत भी निरस्त हो गया। अतः पृथक् निरसन की आवश्यकता नहीं है। और कणाद

निरसनेनैव गुरुमतपरिपोषणनिपुणमतेर्मतं निरस्तमिति । किं च कणभक्षाक्षचरणमतमवलम्ब्यैवमन्यथाख्यातिमन्यथावर्णयतो द्वितीयसूत्रे मिथ्याज्ञानविवेचनवेलायाम्—'इहात्मनि मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारं वर्तते, तद्यथाऽनित्ये नित्यमिति सभये निर्भय'मित्यादिभाष्यविरोधः । 'कः पुनर्विपर्ययः? अतस्मिंस्तदिति प्रत्यय'इत्युद्द्योतकरवार्तिकविरोधश्च प्रसज्येतेति ।

'वध्यतां वध्यतां बालो नानेनार्थोऽस्ति जीवता ।
स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद् यः कुलाङ्गारतां गतः ॥'

भेदयोरिति विशेषणेऽपि दूरगिरिशिखरतरुनिकरमात्रग्राहिप्रत्ययेऽतिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । एतन्मतदूषणमुपसंहरति —**इति गुरुमतेति** । किं च कणादाक्षपादमतावलम्बिना तावदिदं वक्तुं न युक्तम्, भाष्यवार्तिकविरोधेनापसिद्धान्तापातादित्याह— **किंच कणभक्षेत्यादिना** । **द्वितीयसूत्रे**—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग' इति । **आत्मनीत्यधिकरणे** सप्तमी । अत्र ह्यनित्ये इत्यादिसप्तम्या आधाराधेयरूपसंबन्धग्राहित्वं विभ्रमस्य कण्ठोक्तमिति भावः । **स्वपक्षहानीति** । प्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपुवचनम् । अन्तिमपक्षोक्त-

---

और अक्षचरण (गौतम) मत को अवलम्बन करके इस प्रकार की अन्यथाख्याति को अन्यथा (विकृत रूप) से वर्णन करने वाले को न्यायभाष्यकार और वार्तिककार से विरोध सिद्ध होता है, क्योंकि न्यायदर्शन के दूसरे सूत्र मे, मिथ्या (भ्रम) ज्ञान के विवेचन (विवरण) काल में भाष्यकार श्रीवात्स्यायन मुनि ने कहा है कि (तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्ते प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारं वर्तते, आत्मनि तावन्नास्तीति, अनात्मन्यात्मेति, दुःखे सुखमिति, अनित्ये नित्यमिति, अत्राणे त्राणमिति, सभये निर्भयमिति) आत्मा से मोक्ष पर्यन्त बारह प्रमेयविषयक अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान (भ्रम) होता है, जैसे कि आत्मविषयक, नहीं है, अनात्मविषयक, यही आत्मा है, दुःख विषयक, यह सुख है, अनित्य विषयक, यह नित्य है । अरक्षक में रक्षक है, सभय में निर्भय है, इत्यादि । यहाँ सर्वत्र सप्तमी विभक्ति से आधाराऽऽधेय रूप सम्बन्ध भ्रम का विषय दर्शाया गया है और वार्तिककार ने कहा है कि (कः पुनर्विपर्ययोऽनस्मिंस्तदिप्रत्ययः) वह विपर्यय (भ्रम) क्या = अतद् में तद् ऐसा ज्ञान विपर्यय है, यहाँ भी आधाराऽऽधेय भाव सम्बन्ध भ्रम का विषय दर्शाया गया है, अतः सम्बन्ध को भ्रम का विषय नहीं मानने वाले को भाष्य और वार्तिककार से विरोध अवश्य प्राप्त होगा । और भाष्यवार्तिक विरोधी के ऊपर महापुरुषों का फटकार लागू होगा कि जैसे हिरण्यकश्यप का फटकार लागू हुआ था कि—

यह बालक मारा जाय, मारा जाय, इसके जीवित रहने का कोई फल नहीं है, क्योंकि यह अपने पक्ष की हानि के कर्ता होने से कुलाङ्गारता को प्राप्त हुआ है ।

इति न्यायविषयतामयं नातिवर्तते । तस्मादसत्ख्यात्यनुपपत्तिरपि नान्यत्र सत्तावेदिकारोपितस्य ।

कुत्रचेदमारोपितमन्यत्र भवद्भवेत्? न तावद्देशान्तरादौ, तस्यासन्निहितस्य द्रष्टुमयोग्यत्वात्। दुष्टं करणं विप्रकृष्टमपि द्रष्टुं शक्नोतीतिचेन्न; दुष्टकरणस्य पुंसः सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात्। अतो दोषोऽप्यसदनिर्वचनीयं वा दर्शयति, दृष्टानुसारात्। तदेवं न देशान्तरादावारोप्यसद्भावः।

अस्तु तर्हि बुद्धौ, स्वरूपेणासतो गगनारविन्दादिवदप्रतिभासात्, नेदं

दूषणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

तदेवं साधारण्येनारोपितस्यान्यत्र सत्त्वं नास्तीत्युक्तमिदानीं विशेषतो-दूषयितुमुपक्रमते—**कुत्र चेदमिति**। अन्यथाख्यातिं निराकरोति—**न तावदिति**। ननु यदि न दुष्टाक्षस्य विप्रकृष्टद्रष्टृत्वं कुतस्तर्हि दोषस्य दोषत्वमिति तत्राह—**अतो दोषोऽपीति**। प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकत्वे सति विपरीतकार्यनिष्पादको दोषः, तदिहाप्यसदनिर्वचनीयं वा सत्त्वेन भासयतोऽस्तीत्यर्थः। **दृष्टानुसारादिति**। असत्संसर्गावभासकत्वस्य ज्ञाने त्वयैव स्वीकारादित्यर्थः।

आत्मख्यातिमवतारयति—**अस्तु तर्हीति**। तत्र युक्तीराह—**स्वरूपेणासत इत्यादिना**। नन्वस्य सत्त्वकल्पने नेदं रजतमिति बाधविरुद्धमिति नेत्याह—**नेदं**

इस न्याय (नीति) विषयता को यह उक्त वादी त्याग नहीं सकता है। अतः असत्ख्याति की अनुपपत्ति भी आरोपित की अन्यत्र सत्ता का बोधक नहीं हो सकती है।

क्योंकि यह आरोपित अन्यत्र होता हुआ कहाँ होगा, देशान्तरादि में तो हो नहीं सकता है। क्योंकि असन्निहित को देखना अयोग्य है, यदि कहा जाय कि दुष्ट नेत्र रूप करण विप्रकृष्ट (दूरस्थ) को भी देख सकता है। तो वह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर, दुष्ट करण वाले पुरुष को सर्वदर्शित्व की प्राप्ति होगी, यदि कहा जाय कि दोष से यदि दूर दर्शनादि नहीं हो सकता, तो दोष से होता क्या है, तो कहा जाता है कि (अतः) दूरदर्शनादि के नहीं हो सकने से दोष भी असत् अथवा अनिर्वचनीय को दर्शाता है, दृष्ट के अनुसार यही मानना उचित है, असत्संसर्ग के अवभास को माना ही जाता है, वैसे ही असत् वस्तु भी भास सकते हैं। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि देशान्तर आदि में आरोप्य वस्तु का सद्भाव (सत्त्व) नहीं रहता है।

यहाँ आत्मख्याति वादी (बुद्धि रूप आत्मा की रजतादि रूप से प्रतीतिवादी) कहते हैं कि आरोप्य के बहिःसत्त्व नहीं होने पर बुद्धि रूप आत्मा में ही वह

रजतमिति बाधस्येदंतामात्रगोचरत्वात्, द्वयोर्बाधकल्पनायां कल्पना-गौरवात्, नेदं रजतमिति च रजते बाधादर्शनात्। नचेदंतानिषेधे सत्य-निदंतया बहिरपि व्यवस्थोपपत्तौ कुतः संविदाकारतेति सांप्रतम्; व्यव-हितस्यापरोक्षसंविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तेः, संविदाकारो रजतं संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्रयोगोपपत्तेः। ननु संप्रयोगो नाम किमिन्द्रियसंयोगादिविशेषः? किं वा संबन्धमात्रम्? नाद्यः; रूपादिनाऽनै-

---

रजतमिति। अथ किमिति न द्वयं निषेधतीत्यत आह—**द्वयोर्बाधकल्पनायामिति**। अनुभवमपि प्रमाणयति—**नेदं रजतमिति**। नन्विदंतानिषेधे सत्यनिदंतया विप्रकृष्टं वस्त्वत्यन्तसन्निधानं स्वात्मरूपप्रत्ययात्मकं कुतस्त्यमिति तत्राह—**न चेदंतानिषेधे सतीति**। हेतुमाह—**व्यवहितस्येति**। संप्रयोगरहितस्येति यावत्। संविदाकार-तायानुमानमपि प्रमाणमाह—**संविदाकारो रजतमित्यादिना**। घटादेरनुमेयस्य न व्यवच्छेदार्थं संप्रयोगमन्तरेणेत्याद्युक्तम्। यदत्र न्यायदीपावल्यां दूषणमुक्तं तदनूवदति—**नन्वित्यादिना**। **रूपादिनेति**। संयोगमन्तरेणापरोक्षता रूपादेः,

---

सिद्ध हो सकता है, क्योंकि गगन कमलादि के समान सर्वथा स्वरूप से असत् का अप्रतिभास (अप्रतीति) होता है, अतः प्रतीति का विषय असत् नहीं हो सकता किन्तु बुद्धि में उत्पन्न होता है। और भीतर होता है, बाह्यता की प्रतीति मिथ्या होती है, अतः 'नेदं रजतम्' इस बाध को भी इदन्ता मात्र गोचरता होती है। अर्थात् इस बाध से रजत की बहिर्वृत्तिता मात्र का निषेध किया जाता है, बुद्धिस्थ रजत का नहीं, क्योंकि इदन्त्व और रजत दोनों के बाध की कल्पना करने पर कल्पना गौरव होगा, और नेदं रजतम्, इससे रजत विषयक बाध नहीं दीखता है, किन्तु इदन्ता विषयक ही दीखता है। अतः जैसे (नायं शंखः पीतः) यहाँ पीतिमा का बाध नहीं होता है, किन्तु नेत्रगत पीतिमा के इदन्त्व का बाध होता है, वैसे यहाँ बुद्धिगत रजत के इदन्त्व का बाध होता है, यदि कहा जाय कि बाध से इदन्ता मात्र के निषेध होने पर अनिदं (असन्निकृष्ट) रूप से बाहर भी उस आरोप्य की व्यवस्था (स्थिति) की उपपत्ति हो सकती है, फिर सम्विदाकारता (बुद्ध्या-कारता) कैसे हो सकती है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि व्यवहित पदार्थ को अपरोक्ष सम्विद् (ज्ञान) के साथ एकता के बिना उसके अपरोक्षत्व की अनुपपत्ति होगी। और उसकी सम्विदाकार विषयक प्रयोग (अनुमान) भी प्रमाण है कि (रजत, सम्विदाकार है, सम्बन्ध के बिना अपरोक्ष होने से, सम्वेदन (ज्ञान) के समान), इस प्रयोग से सम्विदाकारता की सिद्धि होती है। यहाँ शंका होती है कि यह संप्रयोग नामक, क्या इन्द्रिय के संयोगादि विशेष विवक्षित है, या सम्बन्ध मात्र विवक्षित है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि संयोगादि के बिना रूपादि

कान्त्यात्। द्वितीये तु विशेषणासिद्धिः। दृष्टान्ते साधनविकलता च। नह्याध्यासिकसंवन्धं विनास्माकं रूप्यं तद्धीश्चापरोक्षा, धीरूपत्वे च रजतादेर्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्; इन्द्रियसन्निकर्षानधीनापरोक्षत्वस्य विवक्षितत्वात्। संवेदनस्य चेन्द्रियसंवन्धमन्तरेणैव स्वतःसिद्धतया साक्षिसिद्धत्वेन वा साधनवैकल्याभावात्। न च धीरूपत्वे रजता-

---

समवायमन्तरेण च शब्दव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य; तथापि संविद्रूपता नास्तीत्यनैकान्त्यम्। न च तत्रापि संविद्रूपताङ्गीकारादिति वाच्यम्; तथा सति विपक्षासंभवेन संप्रयोगमन्तरेणेति विशेषणवैयर्थ्यात्। संवन्धमात्रविवक्षायां तद्राहित्यविशेषणमसिद्धम्, चैतन्येनाध्यासिकसंवन्धस्वीकाराद्रजतसंवेदनयोः। अत एव दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यं चेत्याह—**द्वितीये त्विति**। तर्कबाधमप्याह—**धीरूपत्वे चेति**। तदेतत्परिहरति पूर्ववादी—**मैवमित्यादिना**। न संवन्धमात्रराहित्यं विवक्षितं, किन्त्विन्द्रियसम्वन्धराहित्यम्, तेन नानैकान्तिकताऽसिद्धी इत्यर्थः। साधनवैकल्यं परिहरति—**संवेदनस्य चेति**। रूप्यज्ञानस्येत्यर्थः। **स्वतःसिद्धतयेति** बौद्धाभिप्रायेण। **साक्षिसिद्धतयेति** स्वाभिप्रायेण। तर्कविरोधं परिहरति—**न चेति**। पूर्वपक्षमुप-

---

की अपरोक्षता होती है, और केवल समवाय के विना शब्दातिरिक्त सब की प्रत्यक्षता होती है, अतः हेतु की उनमें वर्तमानता है, सम्विद्रूपता साध्य नहीं है। अतः हेतु व्यभिचारी है। यदि कहें कि रूपादि में भी सम्विद्रूपता है, क्योंकि सब की सम्विद्रूपता मानी जाती, तब तो विपक्ष के असम्भव से सम्प्रयोगमन्तरेण यह विशेषण व्यर्थ होगा, क्योंकि उससे व्यवच्छेद्य का अभाव है। दूसरे पक्ष में विशेषणासिद्धि और दृष्टान्त में साधन की विकलता (अभाव) रूप दो है, क्योंकि, हमारे मन में आध्यासिक सम्वन्ध के विना रूप्य (रजतादि) वा उसकी बुद्धि की अपरोक्षता नहीं होती है, और शुक्ति आदि में भासित रजतादि को यदि बुद्धिस्वरूपत्व हो, तो भ्रान्ति के विना भी रजतादि के दर्शन का प्रसङ्ग होगा। उक्त अनुमान विषयक ऐसी शंका होने पर आत्मख्याति का कहना है कि—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उक्त अनुमान में सम्प्रयोगमन्तरेण इससे सम्वन्ध मात्र रहितता नहीं विवक्षित है, किन्तु इन्द्रियसन्निकर्षानधीनत्व (इन्द्रिय सम्बन्ध रहितता) विवक्षित है। अतः सम्वेदन के इन्द्रिय सम्बन्ध के विना ही बुद्धिवाद में स्वतः सिद्ध होने से अथवा वेदान्त में साक्षि द्वारा सिद्ध होने से दृष्टान्त (संवेदन) में साधन की विकलता का अभाव है। जो कहा गया था कि रजतादि के बुद्धि स्वरूप होने पर, भ्रान्ति के विना भी उनके दर्शन का प्रसङ्ग होता है, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि

देर्भ्रान्ति विनापि दर्शनप्रसङ्गः; धियोऽन्यत्वेऽपि पटादिवद्भ्रान्ति विनापि दर्शनप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। ततो धीरूपमेव रूप्यमिति चेत्,

तदयुक्तम्; अत्यन्तालीकाया अपि वाह्यतायाः प्रतिभासवदत्यन्तासतोपि रजतादेः प्रतिभासोपपत्तेः। नच नेदं रजतमितीदन्तामात्रमेव वाध्यते, कल्पनालाघवादिति न्याय्यम्; इदं रजतमिति प्रतिपन्नविशिष्टरजतस्य नेदं रजतमिति वाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनीयत्वाभावात्। अतएव कल्पनालाघवन्यायानवतारात्। नच संविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तिः; वाह्यतावत्तदुपपत्तेः। किंचारोपितं वुद्धौ चेत्; गुञ्जापुञ्जादौ

संहरति—**तत इति**। न तावदसतः ख्यात्यनुपपत्तिः, वहिष्ट्वे तदभावादित्याह—**अत्यन्तालीकाया इति**। नच न्याय्यमित्युक्तं तत्र हेतुः—**इदं रजतमिति**। कल्पनायां हि लाघवमनुसरणीयम्, नचात्र कल्पना, प्रमाणमार्गागतत्वादितरथाऽतिप्रसङ्गादहं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति भावः। अनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—**नच संविदैक्यमिति**। तदेवमप्रामाणिकत्वमुक्त्वा प्रमाणवाधं चाह—**किञ्चारोपितमि-**

बुद्धि से अन्य होने पर भी पटादि के समान भ्रान्ति के बिना ही दर्शन का प्रसङ्ग तुल्य ही है, अतः दोनों मतों में तुल्य दोष होते, स्वमत से अन्य मत में दोष कहना अनुचित है। अतः बुद्धि रूप ही कल्पित रजत रहता है, यह मन्तव्य है। यह विज्ञानवाद का सिद्धान्त है।

परन्तु यह अयुक्त है, (समीचीन नहीं है) क्योंकि जैसे उस मत में रजत को भीतर रूप माना जाता है, अतः उसकी वाह्यता अत्यन्त अलीक (मिथ्या) मानी जाती है, तो भी उसका प्रतिभास (ज्ञान) माना जाता है वैसे ही अत्यन्त असत् रजतादि के प्रतिभास की उपपत्ति (सिद्धि) हो सकती है, और जो कहा था कि, नेदं रजतम्, इससे इदन्ता मात्र वाधित होता है, क्योंकि ऐसा मानने से कल्पना का लाघव होता है, अन्यथा गौरव होता है, सो भी कथन न्याय्य (उचित) नहीं है, क्योंकि जहाँ कल्पना करना हो, वहाँ लाघव गौरव का विचार किया जाता है, यहाँ तो, इदं रजतम्, इस भ्रम से प्रतिपन्न (निश्चित) प्रसक्त, प्राप्त, इदन्त्वविशिष्ट रजत को नेदं रजतम्, इस प्रकार से वाध के अनुभवसिद्ध होने से काल्पनिकत्व का अभाव है, अतएव कल्पनालाघवन्याय (युक्ति) की यहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और सम्विद के साथ एकता के विना अपरोक्षता की अनुपपत्ति भी नहीं कही जा सकती है, क्योंकि वाह्यता में सम्विद के साथ एकता के विना भी जैसे उसकी प्रत्यक्षता होती है, वैसे रजतादि की प्रत्यक्षता की सिद्धि हो सकती है। और यदि विज्ञानवादी आरोपित की सत्ता बुद्धि में भीतर मानते हैं, तो गुञ्जा (करजनी) पुञ्जादि में अग्नि के आरोप होने पर वह अग्नि देह में सिद्ध होगी, अतः उसमें देह

दहनसमारोपे देहदाहप्रसङ्गः। बुद्धावपि तस्यातात्त्विकत्वादप्रसङ्ग इति चेत्; तर्हि न तद्बहिः सन्नान्तरित्यत्यन्तासदनिर्वचनीयं वा स्यात्, गत्यन्तराभावात्। संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वादिति हेतुर्बहिष्ट्वेऽप्यबुद्ध्याकारे वर्तत इति सव्यभिचारः। तस्मान्नासत्। नापि सत्समारोपितम्। नापि सदसद्रूपम्; विरोधात्। अविरोधे वा न भ्रान्तिबाधौ; द्वयोरपि परमार्थविषयत्वात्। कारति। उभ...ैकाकारप्रतिभासो भ्रम इति चेत्; तर्हि बाधस्यापि भ्रमतरनिं...त... एकाल...कारविषयत्वात्। सर्वज्ञानानां च सर्वात्मनाऽनवभा-

---

...धर्म... ...यद्यपि बृक्षादान्तरं न वस्तु सदतो न दाहादिरिति तं प्रत्याह—**तर्हीति**। तत्त्वेसि...भ्रान्तापत्तिरित्यर्थः। यत्त्वनुमानमुक्तं तद्बहिष्ट्वेऽनैकान्तिकमित्याह—**संप्र...मित्यादिना**। सत्ख्यातिनिराकरणमुपसंरति—**तस्मादिति**। अस्तु तर्हि सदसदात्मकमारोपितम्। यथाहुः—

> 'स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
> वस्तूनि ज्ञायते किंचिद्रूपं कैश्चित्कदाचन॥' इति

तत्राह—**नापि सदसद्रूपमिति**। ननु यद्यपि परमार्थविषयत्वमुभयोस्तथाप्युभयाकारस्य सतोऽर्थस्यैकाकारग्राहित्वात् पूर्वज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्कते—**उभयाकारस्येति**। तर्ह्यसदाकारमात्रग्राहिणो बाधकस्यापि स्याद्भ्रान्तित्वमित्याह—**तर्हीति**। अत्यल्पंचेदम्, सर्वज्ञानानामेवैवंभावाद् भ्रान्तित्वप्रसक्तिरित्याह—**सर्वज्ञानानां चेति**।

का दाह प्राप्त होगा। यदि कहें कि बुद्धि में भी उस आरोपित के अवास्तविक (असत्य) होने से दाह की प्राप्ति नहीं होती है, तब तो वह आरोपित न बाहर सत्य है, न भीतर सत् है, तो अत्यन्त असत् या अनिर्वचनीय होगा। गत्यन्तर (मार्गान्तर) नहीं है, संप्रयोग (संयोग) बिना ही अपरोक्षता रूप हेतु, अबुद्ध्याकार बहिष्ट्व (इदन्त्व) में भी रहता है। अतः सव्यभिचार (अनैकान्तिक) है। अतएव आरोपित वस्तु न सत् है, न असत् है, न सत् असत् उभय स्वरूप है, क्योंकि उभय स्वरूपता में विरोध है। यदि उभय रूपता में अविरोध हो (सत्त्व असत्त्व दोनों धर्म एक में रह सकता हो) तो इदं रजतम्, और नेदं रजतम् ये भ्रान्ति और बाध नहीं हो सकेगें। क्योंकि दोनों को परमार्थ (सत्य) विषयकत्व से बाध्य-बाधक भाव नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि आरोपित वस्तु के सद्-असद् उभयाकार होते भी उसके एक सत्याकार का प्रतिभास (ज्ञान) भ्रम कहा जाता है, तब तो केवल असदाकार बाध को भी भ्रमत्व प्राप्त होगा। क्योंकि उस बाध को भी एकाकार विषयत्व रहता है, और सभी वस्तु के सदसद् उभय स्वरूप होने पर, सभी ज्ञानों को सर्वात्मना (सदसदुभय रूप से) अनवभासक होने से सब ज्ञानों में

सकत्वाद्भ्रान्तित्वप्रसङ्गो दुर्वारः स्यात्। तस्माद् गत्यन्तराभावादनिर्वचनीयमारोपितमिति सिद्धम्।

ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वम्--किं निरुक्तिविरहः ? किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरहः ? नाद्यः; इदं रजतमित्यादिनिरुक्तेरङ्गीकारात्। न द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। तथाहि निरुक्तेर्निमित्तं ज्ञानम्। अर्थविशिष्ट- नाद्यः; रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायस्या कल्पनीयत्वाभावात्।

वैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वा-

आरोपितमनिर्वचनीयमित्युपसंहृतं तदाक्षिपति—नन्विति : गुञ्जापुञ्जादौ विरहोऽनिर्वचनीयत्वं ? किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरहः ? किं वा ज्ञानवि... अथवा प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमिति ? तत्र प्रथमं निषेधति- ...आह— इत्यादिना। **निरुक्तेर्निमित्तमिति**। निर्वचनसंबन्धि हि निर्वचनीयं, तच्च निमित्तं ज्ञानमपि भवति, कारणतया संबन्धित्वात्। तथा विषयतयाऽर्थोऽपि। तयोर्विरहश्चेदनिर्वचनीयत्वं विवक्षितमित्यर्थः। ज्ञाननिमित्तविरहं दूषयति—**नाद्य इति**। विषयज्ञानं हि शब्दप्रयोगे निमित्तं तच्च त्वयाप्यभ्युपेयते इत्यर्थः। अर्थविरहपक्षं

भ्रान्तित्व का प्रसङ्ग दुर्निवार होगा। अतः गत्यन्तर के अभाव से आरोपित वस्तु अनिर्वचनीय है, यह सिद्ध हुआ।

आरोपित को अनिर्वचनीय कहने पर शङ्का (जिज्ञासा) होती है कि—यह अनिर्वचनीयत्व क्या है, अर्थात् अनिर्वचनीय का लक्षण क्या है ? क्या निरुक्ति (निर्वचन) का अभाव है, या निरुक्ति निमित्त का अभाव अनिर्वचनीयत्व है। यहां प्रथम लक्षण नहीं कहा जा सकता क्योंकि, इदं रजतम्, इत्यादि रजतादि विषयक निर्वचन (कथन) का अङ्गीकार किया जाता है। निरुक्तिनिमित्त का विरह रूप दूसरा लक्षण भी नहीं बन सकता है, क्योंकि वह विकल्प (विचार) को नहीं सह सकता, विचार करने पर युक्त नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि निरुक्ति का निमित्तकारण रूप ज्ञान होता है, और विषय रूप से अर्थ होता है, वहां विचारणीय है कि निरुक्ति का निमित्त क्या मन्तव्य है, ज्ञान या अर्थ है, कि जिसका विरह अनिर्वचनीयत्व है, वहां प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि निरुक्तिनिमित्त रूप रजतादि के ज्ञान को मायावादी भी मानते हैं, अतः उनका विरह नहीं कहा जा सकता है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि निरुक्ति का निमित्त विषय रूप अर्थ को नहीं माना जाय, तो सत् अर्थ के भी अभाव रहते असत् ख्याति का प्रसङ्ग होगा, असत् अर्थ के भी विरह रहते सत् अर्थ का प्रसङ्ग होगा, और लोकसिद्ध परस्पर विरुद्ध सदसद् दोनों के विरह (अभाव) की तो, अन्यतर (एक) के निषेध, को इतर (अन्य) की विधि से नान्तरीयकत्व (व्याप्यत्व) के नियम दर्शन से ही अनुपपत्ति

द्वितीयः अर्थस्यापि सतो विरहेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गात्, असतोपि विरहे सत्त्वप्रसङ्गात्। उभयविरहस्य च परस्परविरुद्धयोर्लोकसिद्धयोरन्यतरनिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वनियमदर्शनादेवानुपपत्तेः। भावाभावयोरलौकिकयोः स्वकपोलपरिकल्पितयोर्निषेधसमुच्चयाङ्गीकरणे तु लौकिकसदसतो-[illegible]षेधात् न निरुक्तिनिमित्तार्थासंभवः। अतो न सदसद्विलक्षणमनिर्वचकारीति। [illegible] [illegible]बाध्यत्वम्; बाध्यत्वशब्देन निवर्त्यत्वाङ्गीकारे पूर्वज्ञानस्य तरनि[illegible] [illegible] एकाल[illegible]ननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्वापातः। विश्वस्य चेश्वर- [illegible] [illegible]र्वाच्यत्वं स्यात् इति लक्षणस्यातिव्याप्तिः। अथ बाध्य- [illegible] [illegible]र्थकज्ञानविषयत्वम्; तदा शुक्त्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्वं स्यात्,

तत्त्वसि[illegible]

दूषयति—**न द्वितीय इति**। अर्थविरह इति कोऽर्थः? किं सन्नर्थो नास्तीति? तर्हि सन्नेवार्थं इत्यसत्ख्यातित्वमेव न पुनरनिर्वचनीयत्वमित्याह—**अर्थस्यापीति**। अथासन्नर्थो नास्तीति? तर्हि सन्नेवार्थ इति सत्ख्यातित्वमेवेत्याह—**असतोऽपि विरह इति**। ननूभयोरप्यर्थयोर्विरहोऽर्थविरहस्तथा च नार्थान्तरतेति तत्राह—**उभयविरहस्य चेति**। तत्र किं लोकप्रसिद्धसदसतोर्विरहोऽनिर्वचनीयत्वम्? उत स्वमतसङ्केतितयोः? नाद्यः; असंभवादित्याह—**लोकसिद्धयोरिति**। द्वितीये आह—**भावाभावयोरिति**। निषेधयोः समुच्चयः निषेधसमुच्चयः। तृतीयं निषेधति—**नापि ज्ञानबाध्यत्वमिति**। तत्र वक्तव्यं किं बाधकज्ञाननिवर्त्यत्वम्? किंवा बाधकज्ञानविषयत्वम्? किंवा कालत्रयनिषेधप्रतियोगित्वम्? तत्र प्रथमं निषेधति—**बाध्यत्वशब्देनेति**। द्वितीयं दूषयति—**अथ बाध्यत्वं नामेति**। अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानं हि त्वन्मते बाधकं तथाच स्पष्टैवातिव्याप्तिः। अस्मन्मतेऽपि

है। यदि लोकप्रसिद्ध सदसत् अर्थ के विरह को नहीं मान कर, स्वकपोल (अपने गाल मुख मन) से कल्पित अलौकिक भावाभाव (सदसत्) के निषेध को समुच्चय (समूह) माने भी, तो लौकिक सदसद् के निषेध के अभाव से निरुक्ति के निमित्त का असम्भव (अभाव) नहीं हो सकता है। अतः सदसद् से विलक्षण अनिर्वचनीय नहीं हो सकता है। ज्ञानबाध्यत्व भी अनिर्वचनीयत्व नहीं हो सकता है। क्योंकि बाध्यत्व शब्द से, क्या तो बाधक ज्ञाननिवर्त्यत्व, या बाधकज्ञान विषयत्व, अथवा कालत्रयनिषेधप्रतियोगित्व, अर्थ माना जा सकता है। यहाँ बाध्यत्व शब्द का निवर्त्यत्व अर्थ माना जाय तो बाधक रूप उत्तर ज्ञान से पूर्वज्ञान में और संस्कार में निवर्त्यत्व के होने से उनमें अनिर्वाच्यता की प्राप्ति होगी। और सब संसार में प्रलय कालिक ईश्वर ज्ञान से निवर्त्यत्व होने के कारण अनिर्वाच्यता होगी। अतः लक्षण का अतिव्याप्ति दोष है। और यदि बाधकज्ञानविषयत्व को बाध्यत्व कहें, तो शुक्ति आदि में और ब्रह्म में अनिर्वाच्यता होगी, क्योंकि उन दोनों

तयोरधिष्ठानतया बाधकज्ञानविषयत्वात् । अथ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च बाध्यत्वमिति, मैवम् ; मायाविवर्तस्य पुरोवर्तिरजतस्य तथाविधनिषेधविषयत्वानङ्गीकाराल्लक्षणस्याव्याप्तेः, लौकिकपरमार्थरजतस्यात्र तथाविधनिषेधविषयत्वाङ्गीकारादनिर्वाच्यत्वापत्तिरिति लक्षणस्यातिव्याप्तेश्च । एतेन प्रतिपन्नोपाधौ निषे[illegible]यत्वाभावात् । नीयत्वमित्यपास्तम् । पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजत[illegible]दैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वायां विलीयमानायां तत्परिणामतया स्वयमेव विलीय[illegible]ेत ; गुञ्जापुञ्जादौ निषेधाविषयत्वात् ।

किं चात्र प्रमाणम् ? ख्यातत्वे सति बाध्यत्वानुपपत्ति:—[illegible]दित्याह—

कल-

नेदं रजतमित्यत्राधिष्ठानमपि स्फुरतीत्यर्थः । तृतीयं दूषयति—**मैवमिति** । त्वन्मतेऽनिर्वचनीयरजतस्य तत्रैवाविद्ययोत्पन्नत्वात्प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च न कालत्रयेऽप्यभावः शक्याङ्गीकारोऽतोऽव्याप्तिः; कस्मिंश्चिदपि लक्ष्येऽवर्तमानत्वादित्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—**लौकिकेति** । तृतीयपक्षोक्तं दूषणं चतुर्थेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति** । अतिदिश्यमानामव्याप्तिमेव विवृणोति—**पुरोवर्त्तिनीति** । अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनाधिष्ठानाज्ञानमेव बाध्यते । तत्परिणामरूपयोस्तु ज्ञानज्ञेययोः स्वयमेव विलय इति हि तव समयः । तथा च रूप्यादेर्निषेध्यत्वाभावादव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः ।

एवं लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणं प्रतिक्षिपति—**किंचात्र प्रमाणमित्यादिना ।**

को भी अधिष्ठान रूप से बाधक ज्ञान विषयत्व होता है । यदि कहें कि (शुक्ति में रजत न हुआ, न है और न होगा) इस प्रकार से तीनों काल में आरोपित की सत्ता का निषेध रूप बाध होता है, और उस बाध का विषयत्व बाध्यत्व होता है । तो ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि, शुक्ति के अज्ञान रूप माया का विवर्त (प्रातिभासिक) पूर्वोवर्ती रजत के वर्तमान काल में रहने के कारण तथाविध (त्रैकालिक), निषेध के विषयत्व के अनङ्गीकार से उसमें लक्षण की अव्याप्ति होती है । और लौकिक परमार्थ रजत के इस शुक्ति में त्रैकालिक निषेध के अङ्गीकार से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । इसीसे प्रतिपन्नोपाधि (निश्चित स्वाश्रय) में निषेध्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्, यह लक्षण भी निरस्त हो गया । क्योंकि पुरोवर्ती में ज्ञात रजत के अधिष्ठान के ज्ञान से माया (अज्ञान) के विलीयमान (नष्ट) होने पर, उस माया के परिणामरूपता के कारण स्वयं विलीयमान रजत को, नेदं रजतम्, इस निषेध के विषयत्व नहीं होता है, अर्थात् अधिष्ठान के ज्ञान से अधिष्ठान का अज्ञान बाधित होता है उसका कार्य आप ही निवृत्त होता है, अतः लक्षण की अव्याप्ति है ।

इस अनिर्वचनीयत्व में प्रमाण क्या है । अर्थात् प्रमाण नहीं है । यदि

नरशृङ्गादेरख्यानात्सतश्च चिदात्मनो बाधाभावाद् उभयस्य चेह दर्शना-दितिचेत्, न; देशान्तरे सत्त्वात्ख्यातेरिहासत्वाद्वाधस्यापि संभवाद् अन्य-थाप्युपपत्तेः। किं चासतो भानमनुपपन्नमित्यसत्; असतोपि तच्छब्दाद्भा-नात्। अन्यथा त्वपार्थकत्वं वाक्यस्य, प्रयुक्तपदानां संभूयकारित्वनियको[illegible] किं चेदं सद्विवक्षितम्? किं सत्तायुक्तम्? अथाबाध्यम्? उत [illegible] सत्तायुक्तस्य प्रपञ्चस्य भवन्मते बाध्यतया यत्स-तरन्निर्जत[illegible] एकाल[illegible]

—[illegible] धर्मत्व[illegible]ये सतीत्यादिना। अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—असतो [illegible] ...[illegible]धुना। इमामर्थापत्ति मानमनोहरकारोक्तान्यथाप्युपपत्त्या दूषयति—तत्त्वेसिद्धसप्रश्नेरित्यादिना। अनुदयमप्याह—किं चेति। यद्यसतो न भानं कथम-[illegible]बोधकं स्यात्? यदि चाबोधकमसत्पदं कथमापार्थकं नाम निग्रहस्थानं न भवेत्? इति भावः। निरर्थकं चात्रापार्थकत्वेन विवक्षितम्। नन्वसतोऽभानादि-त्यत्रासत्पदस्याबोधकत्वेऽपीतरपदानां बोधकत्वात्कथमपार्थकता? तत्राह—प्रयुक्त-पदानामिति। इदमपि तेनैवोक्तं, यदाह 'असतो भासनायोगा'दित्यादिनाशङ्क्य प्रथमे त्वसत्पदस्य बोधकत्वेऽसतो भासनायोगादित्यनेन व्याघातः। अन्यथानर्थकत्वं प्रयुक्तपदानां संभूयकारित्वनियमादिति। यत्तु तेनैव द्वितीये सत इति कोऽर्थ इत्या-दिदूषणमुक्तं तदाह—किं चेदं सद्विवक्षितमित्यादिना। प्रथमं दूषयति—नाद्य इति। यत्सत्तायुक्तं तदबाध्यमिति व्याप्तिः क्व दृष्टा? न तावत्प्रपञ्चे, तस्य

कहा जाय कि (ख्यातत्वे = ज्ञातत्वे सति बाध्यत्वानुपपत्तिः) ज्ञात होते बाध्यता की असिद्धि रूप अर्थापत्ति प्रमाण है, क्योंकि असत् नरशृङ्गादि के ज्ञान नहीं होते हैं, और सत् चेतनात्मा का बाध नहीं होता है, और शुक्तिरजतादि में ख्यातत्व (ज्ञातत्व) और बाध (बाधत्व) दोनों देखे जाते हैं। अतः सत् और असत् से विलक्षणत्व रूप अनिर्वचनीयत्व सिद्ध होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि देशान्तर में सत्ता से ज्ञान के यहाँ सन्मुख असत्त्व से बाध के सम्भव से अन्यथा (अनिर्वचनीयता के बिना भी) उपपत्ति (ख्यातत्वे सति बाध्यत्व की सिद्धि) हो सकती है और असत् का भान (ज्ञान) अनुपपन्न है। यह कहना असत् है, क्योंकि असत् का भी असत् शब्द से भान (ज्ञान) होता है। अन्यथा यदि असत् शब्द से असत् अर्थ का भान न हो तो असत् का भान नहीं होता है इत्यादि आपके वाक्य को अपार्थकत्व होगा, क्योंकि एक वाक्य में प्रयुक्त (उच्चारित) सब पदों को सम्भूय (मिलकर) कार्यकारित्व (वाक्यार्थ बोधक-त्व) होता है, अतः एक पद के भी अनर्थक होने पर वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। और जो कहा गया है कि (सत् चिदात्मा का बाध नहीं होता है) वहाँ सत् कैसा विवक्षित है। क्या सत्तायुक्त सत् विवक्षित है अथवा अबाध्यत्व या ब्रह्मस्वरूपत्व विवक्षित है। यहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि

तदबाध्यमिति व्याप्तेरसिद्धेः। न द्वितीयः; यदबाध्यं तदबाध्यमिति साध्याविशिष्टत्वापत्तेः। न तृतीयः; सिद्धसाधनत्वात्, अर्थान्तरत्वाच्च। किं चान्यथैवोपपत्तिरप्यूहनीया; सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत्ख्यात्यनुपपत्तेः,

---

सत्तायुक्तत्वेऽपि बाध्यत्वेन व्यभिचारभूमित्वात्। नापि ब्रह्मणि, तस्याबाध्य[illegible] निर्धर्मकत्वेन सत्तायुक्तत्वाभावादिति भावः। द्वितीये तु [illegible]र्थत्वाभावात्। कोऽर्थः? योऽयमबाध्यस्तस्य बाधाभावादिति, तथा [illegible]वदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वान्न द्वितीय इति। यद्ब्रह्मस्वरूपं तदबाध्यमिति हि [illegible]तु; गुञ्जापुञ्जादौ स्यार्थस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्सिद्धसाधनं प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वे[illegible] [illegible]दित्याह—येत्यर्थः। त्रीणि हि दूषणानि अर्थापत्तेः–अन्यथैवोपपत्तिरन्यथाप्युपपत्तिरनु[illegible] [illegible]कल्प-तत्रान्यथाप्युपपत्तिमनुदयं चोक्त्वाऽन्यथैवोपपत्तिमाह—**किं चेति**। सद्वैलक्षण्ये[illegible]-लक्षण्ये उभयवैलक्षण्ये चानुपपद्यमानाभ्यां ख्यातिबाधाभ्यां सदसदात्मकत्वमेव रजतादेः सिद्ध्यतीत्यर्थः। स्यादेतत्—सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत् ख्यात्यनुपपत्तिरित्युक्तमयुक्तम्; सद्वैलक्षण्यस्य सप्रतियोगिकतयाऽनेकज्ञानापेक्षस्य कल्पनागौरवेण भानाभावं

सत्तायुक्त प्रपञ्च की बाध्यता आपके मत में मानी जाती है। अतः यत् (जो) सत् (सत्तायुक्त) है, तत् (सो) अबाधित है, यह व्याप्ति नहीं बन सकती है। और दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, उस पक्ष में अर्थ होगा कि, यत् (जो) सत् (अबाध्य) है, वह अबाध्य है। ऐसा होने से हेतु रूप सत्त्व और अबाध्य साध्य की एकता हो जाती है, अतः साध्य के समान हेतु की असिद्धि ही प्राप्त है, सत्त्व से अबाध्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। तृतीय ब्रह्मस्वरूप भी सत्त्व नहीं कहा सकता है, क्योंकि इस पक्ष में सिद्धसाधनता की प्राप्ति होगी (जो ब्रह्मस्वरूप है, सो अबाध्य है) यह तो मेरे मत में भी सिद्ध ही है। और अर्थान्तरत्व की भी प्राप्ति होगी, क्योंकि इस व्याप्ति से शुक्ति, रजतादि के प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती है, ब्रह्मस्वरूप अबाध्य है, इससे प्रपञ्च अनिर्वचनीय है, यह नहीं सिद्ध होता है। और ब्रह्म के समान अबाध्यत्व के अभाव में तथा नरशृङ्ग के समान आख्यातत्व के अभाव से, अबाध्यत्व आख्यातत्व के अभाव से सदसद्विलक्षणता की अपेक्षा अन्यथा ही उपपत्ति ऊहनीय (कल्पनीय है) अर्थात् सद्विलक्षणत्व होने पर नरशृङ्ग के समान ख्याति की अनुपपत्ति है, असद्विलक्षण होने पर आत्मा के समान बाध की अनुपपत्ति है, अतः सदसद् उभय विलक्षण में ख्याति और बाध दोनों की अनुपपत्ति से सदसदुभयात्मकत्व की सिद्धि होती है कि जिससे बाध और ख्याति दोनों की उपपत्ति होती है। यदि शंका हो कि बाधाभाव और (अभान) भानाभाव के प्रयोजक (हेतु) सत्त्व और असत्त्व ही होते हैं। सदसद्

असद्विलक्षणत्वे चात्मवद्बाधायोगादुभयविलणस्योभयानुपपत्तेः। नच वाच्यं सदसत्त्वे बाधाभावाभानप्रयोजके न तु तद्वैलक्षण्ये गौरवादिति; असतोपि तत्पदात्प्रतिभानेन सतोपि प्रपञ्चस्य बाध्यत्वदर्शनेनोक्तोत्तरत्वात्। तदेवं नार्थापत्तिरनिर्वचनीये प्रमाणम्।

को[illegible] [illegible] तर्ह्यनुमानम्--विवादपदमनिर्वाच्यं, भ्रमविषयत्वात् यन्नैवं तन्नैवं तरनिजत[illegible] एकाल[illegible] [illegible]विशेषणः पक्षः; इच्छादीनामष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रितत्वा-[illegible] [illegible]द्धविशेषपरिशेषाभ्यां तत्प्रसिद्ध्युपपत्तेरितिचेत् न. [illegible] धर्मत्व [illegible] विपक्षे वर्तमानतया विरुद्धत्वात्। गुणत्वलिङ्गेन

तत्त्वसिद्धिप्रयोजकत्वायोगात्, एवमसद्वैलक्षण्येऽपि, तस्मादसत्त्वमेवाभाने प्रयोजकं तद्वि[illegible]त्वमत्र लक्ष्यति, तथा बाधाभावेऽपि सत्त्वमेव प्रयोजकं लघुत्वादेव, तदिह बाधो दृश्यमानः सद्वैलक्षण्यं गमयति ख्यातिश्चासद्वैलक्षण्यमिति, तदेतदाशङ्क्य निषेधति--**नच वाच्यमित्यादिना**। उक्तान्यथोपपत्तिमेव दूषणमाह--**असतोऽपीति**।

एवमर्थापत्तिं दूषयित्वाऽनुमानं शङ्कते--**अस्तु तर्हीति**। तत्र हि भ्रमविषयत्वं हेतुरधिष्ठानतया भ्रमे प्रतिभासमाने शुक्त्यात्मादौ वर्तत इति विरुद्ध इत्याह--**न शुक्त्यादाविति**। किं च तथा तत्र गुणत्वेन सामान्यतः क्वचिदाश्रितत्वसाधनम्, नैवमनिर्वाच्यत्वस्य सामान्येन साधने लिङ्गमस्ति किञ्चित्, ततो वैलक्षण्यमित्याह--**गुणत्वेति**। अप्रसिद्धविशेषणतापरिहारान्वयव्यतिरेक्यनुमानं न्यायरत्नदीपावलीस्थं

से विलक्षणत्व नहीं, क्योंकि सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व को प्रयोजक मानने पर गौरव होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि असत् की भी असत् पद से प्रतीति होने के कारण, यथा सत् प्रपञ्च के बाध्यत्व के दर्शन से सत्त्व और असत्त्व अबाध्यत्व और अभानत्व का प्रयोजक नहीं हो सकता है, यह उत्तर प्रथम दिया गया है। अतः इस उक्त रीति से अर्थापत्ति अनिर्वचनीय में प्रमाण नहीं है।

अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, तो भी अनुमान प्रमाण है ही—कि (विवाद का विषय (शुक्ति रजतादि अनिर्वचनीय है, भ्रम का विषय होने से, जो ऐसा अनिर्वाच्य नहीं है, वह भ्रम का विषय भी नहीं है, जैसे आत्मा) पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण (साध्य) वाला है। ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इच्छादि के अष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रितत्वानुमान के समान सामान्य रूप से प्रसिद्धि और विशेष परिशेष के द्वारा उस विशेषण (साध्य) की प्रसिद्धि हो सकती है। सामान्य रूप प्रसिद्धि की चर्चा प्रथम हो चुकी है। ऐसी शङ्का होने पर वादी का कथन है कि यह अनुमान युक्त नहीं है, क्योंकि शुक्ति आदि और आत्मस्वरूप विपक्ष (साध्या-भावस्थान) में भी भ्रान्तिविषयत्व रूप हेतु के रहने से यह हेतु विरुद्ध है। और साध्य की अप्रसिद्धि भी है ही, क्योंकि जैसे गुणत्व रूप लिंग (हेतु) से इच्छादि में सामान्य

क्वचिदाश्रितत्वप्रसाधनवदनिर्वाच्यत्वसाधने लिङ्गाभावात् । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया विमतं सदसद्विलक्षणं दोषप्रयुक्तभानत्वात् भ्रान्तिसिद्धतादात्म्यवदिति प्रयुञ्जीत, तदप्यसत्; दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । नहि शुक्तिरजततादात्म्यस्य सदसद्वैलक्षण्यं परीक्षकैरभ्युपगम्यते, येनोभयवादिसिद्धतया तस्य दृष्टान्तता स्यात् । अथ भावरूपतया... ...र्थत्वाभावात् । भानाद्बाधाच्च तस्य सदसद्वैलण्यं युक्त्या साध्येत्... ...दक्यमन्तरेणापरोक्षत्वात्साधयितुं शक्यमिति व्यर्थोऽयं वकबन्धविधिप्रय... ...नेन; गुञ्जापुञ्जादौ भानत्वम् ? किं दोषजन्यज्ञानविषयत्वम् ? उत दोष... ...त्व ।

...द्वित्याह—
...रनुद ... कल-

शङ्कते—**अथैतद्दोषेति** । साध्यवैकल्यमेव विशदयति—**नहि शुक्तीति** । अथ... त्म्यस्य प्रथमं युक्त्या सदसद्वैलक्षण्यं प्रसाध्य तद्दृष्टान्तेन प्रपञ्चस्य तत्साध्यते, तर्हि सैव युक्तिरत्रैवोपन्यस्यतामलमनेन दण्डसर्पमारणन्यायेनेत्याह—**अथ भावरूपतयेत्यादिना** । भवतु वा यथाकथंचित्परं तथापि हेतुरेवायं न घटत इत्याह—**किं चेत्यादिना** । भानशब्देन ज्ञानमभिधीयते ? प्राकट्यं वेत्यर्थः । प्रथमेऽनैकान्तिकता-

---

रूप से क्वचिदाश्रितत्त्व सिद्ध होता है कि (इच्छादि, किसी के आश्रित हैं, गुण होने से, रूपादि के समान) इस प्रकार से अनिर्वाच्यत्व रूप साध्य की सामान्य रूप से सिद्धि के लिङ्ग का अभाव है। अतः साध्याऽप्रसिद्धि दोष का निवारण नहीं हो सकता है। यदि कोई इस दोष का निवारण की इच्छा से प्रयोग (अनुमान) करें कि (विमत = शुक्ति, रजतादि, सदसद् से विलक्षण हैं, दोषप्रयुक्त (जन्य) भान के विषय होने से, भ्रमसिद्ध शुक्ति, रजत तादात्म्य (अभेद) के समान) तो यह प्रयोग भी असत् है, क्योंकि दृष्टान्त साध्य रहित है, कारण है कि शुक्ति, रजत का तादात्म्य सदसद् से विलक्षण है। यह परीक्षकों से स्वीकृत नहीं हुआ हैं, कि जिससे उभयवादी से सिद्धता के कारण उसकी दृष्टान्तता हो सके। यदि भावरूप से, अपरोक्षत्व से और ज्ञान से बाध के कारण, उस तादात्म्य की सदसद् विलक्षणता को युक्ति (अनुमान) से सिद्ध करें, तो रजत के भी वह सदसद् विलक्षणत्व उसी प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है। फिर यह तादात्म्य में सदसद् विलक्षणता साधन द्वारा रजत में साधनरूप वकबन्धविधि प्रयास व्यर्थ है। और साध्य की प्रसिद्धि किसी प्रकार से हो भी, तो दोषप्रयुक्त भानत्व रूप हेतु ठीक (सत्य) नहीं है, क्योंकि विचारणीय है कि, दोषप्रयुक्त भानत्व, क्या दोषजन्य ज्ञान विषयत्व रूप है, या दोषजन्य प्राकट्य (प्रत्यक्षत्व = ज्ञानता) आश्रयत्व है। अर्थात् दोषप्रयुक्त भानत्वात्, यहाँ भान शब्द से

नाद्यः; ज्ञानस्यैकत्वेन तज्ज्ञानविषयाधिष्ठाने व्यभिचारात्। न द्वितीयः; प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्--नहि देशकालव्यवहितस्य रजतादेर्दोषजन्यभानाश्रयत्वमुपपद्यतेऽभ्युपेयते वा परैः। किं चेदमनिर्वचनीयत्वं न भ्रान्तिज्ञानानुकूलम्, नापि बाधकज्ञानानुसारि; भ्रान्तौ सदिदं रजतमिति सत्त्वेन को... [illegible]मित्यसत्त्वेन स्फुरणात्।

तदनिर्व[illegible] एकाले[illegible]तशब्दो न जातिनिबन्धनस्तत्र जातेरभावात्, —[illegible] धर्मत्वा[illegible]ध्यत्वप्रसङ्गात्। नाप्यौपाधिकः; पाचकादिशब्द-[illegible] ...वदबाधा...

[illegible]तत्वसिद्धिप्रयोगादेत्याति। अधिष्ठानज्ञानस्यादोषजन्यत्वादितरस्य च ज्ञानत्वानङ्गीका-...वदव [illegible]त्यप्येके। द्वितीये स्वरूपासिद्धिरित्याह—**न द्वितीय इत्यादिना**। यद्यपि स्व[illegible] भ्रमस्य साक्षिवेद्यतास्वीकारादस्त्येवापरोक्ष्यं तथापि विषयावच्छिन्नाभिव्यक्तचैतन्यरूपाप्राकट्यं नास्तीत्यपि द्रष्टव्यम्। किं च यदुपपादनायेदमनिर्वचनीयत्वमाद्रियते ताभ्यामेव भ्रान्तिबाधाभ्यां विरोधादयुक्तमेतदित्याह—**किं चेदमिति**।

रजतशब्दप्रयोगानुपपत्तिरप्यनिर्वचनीयत्वबाधिकेत्याह—**अपि चानिर्वचनीयेति**। तत्र वक्तव्यं किमयमनिर्वचनीये रजते रजतशब्दो जातिनिबन्धनः? किंवोपाधिनिबन्धनः? किंवाक्षादिशब्दवद्रूढः? इति विकल्प्याद्यं निषेधति—**न जातिनिबन्धन इति**। अङ्गीकारे बाधकमाह—**भावे चेति**। रजतत्वाधिकरणं हि रजतं नाम तदिदमपि चेत्तथाविधं तद्वदेवाबाध्यमपि स्यादित्यर्थः। द्वितीयं निषेधति—

ज्ञान या प्राकट्य कहा जाता है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि दोषप्रयुक्त, इदं रजतम्, यह ज्ञान एक होता है, वह शुक्ति के इदन्तांश रूप अधिष्ठान और रजत दोनों को विषय करता है। अतः उस ज्ञान के विषय अधिष्ठान में हेतु व्यभिचारी है। दूसरा (दोषजन्य प्राकट्याश्रयत्व) भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वादी के प्रति असिद्ध है, वादी उस ज्ञान के विषय देश काल व्यवहित रजतादि को मानता है, और उस व्यवहित में दोषजन्य भानाश्रयत्व (प्राकट्य) नहीं बन सकता है, न वादी से माना जा सकता है। और जिस भ्रान्ति और बाध की सिद्धि के लिये, इस अनिर्वचनीयता को सिद्ध करना चाहते हैं, वह अनिर्वचनीयत्व न भ्रान्ति के अनुकूल है, न बाधक ज्ञान के अनुसारी है। क्योंकि भ्रान्ति में 'सदिदं रजतम्' इस प्रकार से सत् रूप से रजत भासता है, और बाध में 'नेदं रजतम्' इस प्रकार असत्त्व रूप में रजत भासता है।

अनिर्वचनीयत्व सत्त्व असत्त्व से विलक्षण है। और अनिर्वचनीय अर्थ में रजत शब्द की प्रवृत्ति जातिनिमित्तक नहीं हो सकती है, क्योंकि उसमें रजतत्व जाति नहीं रहती है। और यदि उसमें रजतत्व जाति का भाव (सत्त्व) हो, तो सत्य रजत के समान ही अबाध्यता की प्राप्ति होगी। क्रिया आदि उपाधि

वदखण्डशब्दत्वात् उपाधेरनिरूपणाच्च । नाप्यक्षादिशब्दवद्रूढः; स्वभ्रान्तिमात्रसिद्धस्यान्यत्रादृष्टचरत्वेन रजतस्य तेनागृहीतसंबन्धत्वात् । किं चानिर्वचनीयं चेद्रजतम्, न प्रतीयेत । तथा हि किं दुष्टेन्द्रियेण तत्प्रतीतिः? उत संस्कारात्? अथवा साक्षिचैतन्यात्? नाद्यः; तस्य प्रतिभासमात्रशरीरतया संप्रयोगायोग्यत्वात् । न द्वितीयः, अननुभूते संस्कारा[भ]ावात

...ायस्वाभावात् ।
...नदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वा-
...ेत ; गुञ्जापुञ्जादौ

नापीति । हेतुमाह—अखण्डशब्दत्वादिति । अर्थाभि... ...प्रत्ययावयवशक्त्या पचिक्रियासंबन्धाभिधानेन तद्युक्त... ...ण्वुलादिवत्कर्त्रादिविहितप्रत्ययाभावादित्यर्थः । अथ यथा... ...पाधिवाचकत्वं तद्वत्किं न स्यादित्यत आह—उपाधेरिति । ...त्याह—नाप्यक्षादीति । यद्यप्यक्षादौ न सर्वत्रानुगतः कश्चिज्जातिरुपाधिर्वा... ...कल-साधारणशब्दत्वं तथापि विभीतकत्वदिदेवनत्वादिभिरवान्तरधर्मैः शक्यः सङ्गतिग्रहः, आकाशादेश्चानादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्धतया, इह तु न तथाविधमपि किंचिदस्ति, भ्रान्तिसिद्धस्य प्रतीतिमात्रजीवनत्वात् । प्रतीतेश्च प्रत्यात्मवृत्तित्वादतोऽगृहीतसङ्गतिकत्वादप्रयोग एवात्र रजतशब्दस्य प्रसज्येतेत्यर्थः । अनिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिरपि बाधिकेत्याह—किं चानिर्वचनीयंचेदिति । इन्द्रियेण प्रतीतिरिति प्रथमं पक्षं निराचष्टे—नाद्य इति । इन्द्रियव्यापारात्पूर्वमेव निर्वृत्तं पश्चादिन्द्रियसंप्रयोगाज्ज्ञायमानं ह्यैन्द्रियकम्, न चैवं प्रतीतिमात्रशरीरं रजतमित्यर्थः । अननुभूत इति । प्रतीतिसमसमयशरीरस्य पूर्वानुभवाभावात्संस्काराभावे न ततः

(धर्म) निमित्तक भी रजत शब्द की अनिर्वचनीय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । जैसे कि पाचकादि शब्दों में सखण्डत्व है, पच धातु पाकक्रिया का वाचक है, अक् (ण्वुल्) प्रत्यय कर्तावाचक है, अतः प्रकृति प्रत्यय मिलकर पाककर्ता का बोधक होता है । ऐसा (यौगिक) रजत शब्द नहीं है, क्योंकि अखण्ड (अयौगिक) है । और जाति से अतिरिक्त जातित्वादि धर्म रूप उपाधि के अनिरूपण (अप्रसिद्धि) से भी औपाधिक नहीं है, और अक्षादि शब्द के समान रूढ भी नहीं है, क्योंकि अक्षादि शब्दों की विभीतक (हरड) पासा, इन्द्रिय अर्थों में जैसे जाति उपाधि के बिना ही परम्परा प्रसिद्धि रूप रूढि से शक्तिग्रह होता है, वैसे रजत शब्द की अनिर्वचनीय में शक्ति का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि अपनी भ्रान्ति मात्र से सिद्ध रजत के अन्यत्र अदृष्टचर (अदृष्ट-विषय) होने के कारण, उस रजत के साथ रजत पद की शक्ति रूप सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता है, अपने भ्रम से सिद्ध रजत अपने-अपने को भासता है । अन्य को नहीं, अतः रूढि से भी मिथ्या रजत में अगृहीत शक्ति वाला रजत शब्द रहता है । और यदि अनिर्वचनीय रजत है, तो वह प्रतीत नहीं हो सकता है । क्योंकि यदि उसकी प्रतीति हो, तो किससे प्रतीति होगी, दुष्ट इन्द्रिय से या संस्कार से

न तृतीयः; इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिनः केवलसाक्षिवेद्यत्वासंभवात् । नचाधिष्ठानविषयतयान्वयतिरेकयोरन्यथासिद्धिः; तथासति ज्ञानद्वयस्वीकारेणाख्यातिमतानुमतिप्रसङ्गः । नच संसर्गप्रतीतेरभ्युपगमान्नाख्याति-

---

को [illegible] क्षिवेद्यतां निराचष्टे—न तृतीय इति । यत्र हीन्द्रियादिव्यातरनिजत [illegible] एकाल [illegible] ादी तत्साक्षिवेद्यं नाम इतरथातिप्रसङ्गात्, नचेह [illegible] धर्मत्वा [illegible] ति । ननु यद्यप्यधिष्ठानविषयतया अन्वयव्यतिरेक- [illegible] वदधा [illegible] मिन्द्रियजम्, अपि त्वविद्यापरिणाम इति ज्ञानद्वित्वतत्त्वसिद्धिप्रयोगादेवा [illegible] संसर्गज्ञानस्वीकारान्नाख्यातिप्रसक्तिरिति तत्राह—नच [illegible] वदव [illegible] क चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिष्ठानोपक्षये स्पर्शनेनापि तद्ग्रहे तादृश-

---

अथवा साक्षी चैतन्य से होगी, यह विचारणीय है । तथा प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि उस अनिर्वचनीय का प्रतिभास (प्रतीति) मात्र शरीर (स्वरूप) हैं, अतः प्रतीति से प्रथम अविद्यमानता, अयोग्यता आदि के कारण इन्द्रिय संयोग के अयोग्य है । इन्द्रिय व्यापार से प्रथम सिद्ध वस्तु इन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय होता है, प्रतिभास मात्र स्वरूप वाला ऐसा नहीं है । दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रथम अननुभूत (अज्ञात) विषयक संस्कार का अभाव रहता है । और वह प्रतिभासित प्रथम का अननुभूत ही रहता है । तृतीय साक्षिचैतन्यविषयता भी नहीं हो सकती है । क्योंकि इन्द्रिय के अन्वय व्यतिरेक को अनुसरण करने वाले को केवल साक्षि वेद्यत्व का अभाव रहता है । अर्थात् इन्द्रिय व्यापार के विना जिस अज्ञानादि का प्रत्यक्ष होता है, वह साक्षिवेद्य कहा जाता है, भ्रमसिद्ध रजतादि ऐसे नहीं हैं, इनका प्रत्यक्ष इन्द्रियों की सहायता से होता है । अतः ये साक्षिवेद्य नहीं हो सकते हैं । यदि कहा जाय कि रजत साक्षिवेद्य ही है, किन्तु अधिष्ठान, इदन्ता, विषयता रूप से इन्द्रिय के अन्वय व्यतिरेक हैं, अतः रजतज्ञान में वे अन्यथासिद्ध (कारणता रहित) हैं । अर्थात् शुक्ति रूप अधिष्ठान का ज्ञान इन्द्रिय से होता है, और रजत का साक्षी से अविद्या वृत्ति द्वारा प्रकाश होता है, तो ऐसा मानने पर दो ज्ञान के स्वीकार होने से अख्याति मत की अनुमति (स्वीकृति) प्राप्त होगी । यदि कहा जाय कि अख्यातिवादी दो ज्ञान अधिष्ठान और अध्यस्त रजत विषयक मानते हैं, परन्तु इदं रजत के कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध विषयक ज्ञान को नहीं मानते हैं, वहाँ संसर्ग के अविद्या की वृत्ति रूप ज्ञान के स्वीकार से अख्यातिवाद का प्रसङ्ग नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तथापि (संसर्ग को अधिक विषय मानने पर भी)

प्रसङ्गः; तथापि विज्ञानद्वयाभ्युपगमेनाख्यातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इदमाकारविषयमिन्द्रियजन्यं ग्रहणं रजततत्संसर्गविषयं साक्षिचैतन्यमित्यभ्युपगमात्। तदित्थं लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणान्नानिर्वचनीयावभासो विभ्रम इति।

अत्रोच्यते—

प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। ...यत्वाभ...त्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदि... ...दैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वा-

सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारासहत्वे सति सद... ...चेत्; गुञ्जापुञ्जादौ यथा...

भ्रमप्रसङ्गः। न च तेन सादृश्याग्रहादप्रसङ्गः, विसदृशेऽपि त... ...दित्याह— त्वाभ्युपगममेव प्रकटयति—इदमाकारेत्यादिना। रजततत्संसर्ग... ...कल- काराविद्यापरिणामस्याप्युक्तलक्षणम्। पूर्वपक्षमुपसंहरति—तदित्थमिति।

तत्र लक्षणं श्लोकेन संगृह्णाति—प्रत्येकमिति। यत्प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन च विचारपदवीं विचारमार्गं न गाहते न प्रविशति तदनिर्वचनीयमिति वेदान्तवेदिन आहुरिति योजना। अत्र सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न गाहते यत्तदनिर्वाच्यमित्युक्ते सदसतोरतिव्याप्तिः, तयोरप्युभयप्रकाराभ्यामनिर्वाच्यत्वादत उक्तम्—प्रत्येकमिति। तयोः प्रत्येकं विचारसहत्वात्। तावत्युक्ते समुदितयोः सदसतोरतिव्याप्तिः, तदर्थं—सदसत्त्वाभ्यामित्युक्तम्।

संगृहीतं लक्षणं विवृणोति—सत्त्वेनासत्त्वेनेत्यादिना। एतदुक्तं भवति—न प्रकारत्रितयप्रतियोगिकाभाववत्त्वमनिर्वचनीयत्वं किंतु प्रकारत्रयप्रतियोगिकाभाव-

---

विज्ञान द्वय के अभ्युपगम (स्वीकार) से अख्याति का प्रसङ्ग दुर्वार होगा। क्योंकि इदमाकार विषयक इन्द्रियजन्य ज्ञान का और रजत रजतसंसर्ग विषयक साक्षिचैतन्य का अभ्युपगम से अख्यातिवाद हो ही जाता है। अतः इस उक्त रीति से लक्षण और प्रमाण के अनिरूपण (अभाव) से अनिर्वचनीय का अवभास (हीन प्रतीति) भ्रम कहा जाता है, यह लक्षण नहीं सिद्ध हो सकता है। यहाँ तक अनिर्वचनीय का पूर्व पक्ष है। आगे उत्तर है कि—

(अत्रोच्यते) अब यहाँ समाधान (उत्तर) कहा जाता है कि अनिर्वाच्य का लक्षण यह है कि जो वस्तु सत्त्व और असत्त्व प्रत्येक (एक-एक) रूप से, और सत्त्व असत्त्व उभय रूप से विचार मार्ग में नहीं आ सकता हो (विचार से सत्यादि स्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता हो) वेदान्तवेत्ता उसको अनिर्वाच्य कहते हैं॥ १३॥

अर्थात् सत्त्व रूप से असत्त्व रूप से विचाराऽसह (विचाराऽविषय) होता हुआ, जो सत्त्व असत्त्व उभय रूप से भी विचार को नहीं सह सकता, वह अनि-

तदनिर्वाच्यम् । न चैवंसत्यव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा; सर्वभ्रमगोचराणां तथा भावनियमात् सदादीनां च तत्तद्विचारसहत्वेन परैरभ्युपगमाच्च । एवं च सति निरुक्तिविरहः; किं वा निरुक्तिनिमित्तस्य च विरह इत्यादिविकल्पोऽकाण्डताण्डवितम् ; निरुक्तेर्निमित्तभूतायाः प्रतीतेस्तदालम्बनस्य चार्थस्य व्यवहारगोचरत्वेऽपि सदसदादिप्रकारैर्निश्चित्य वक्तुमनर्हत्वांगीकारात् । [illegible]रविरुद्धयोः सदसत्त्वयोर्निषेधसमुच्चयोऽनुपपन्नोऽन्यतरनि[illegible] एकाल[illegible]न्तरीयकत्वादिति युक्तम् ; निषेधसमूच्चयस्य [illegible] धर्मत्वा[illegible]

[illegible]वदधा[illegible] । अव्याप्त्य[illegible]भावमाह––**सर्वभ्रमेति** । अतिव्याप्त्य[illegible]तत्त्वसि[illegible]प्रयोगादेवा[illegible] एवं च सति यदुदयनेन तात्पर्यपरिशुद्धौ हि द्वितीयसूत्रे [illegible]वदव शे[illegible] न[illegible]जितं 'किमिदमनिर्वचनीयत्वम् ? किं निरुक्तिविरह एव ?' आनयना[illegible] व[illegible]शानाकलितपराभिसंन्धिना संभ्रान्तमित्याह––**एवं च सतीति** । कार्यमा[illegible]मनवसरनर्तनम् । तत्र हेतुः––**निरुक्तेरिति** । न निरुक्तिमात्रस्य [illegible]ऽभावोऽनिर्वचनीयत्वं किंतु सदादिप्रकारैर्निश्चित्य वक्तुमनर्हत्वमित्यर्थः । यत्त्वत्रापि तेनोक्तं तदनूद्य निराकरोति––**न च परस्परेति** । समुच्चयानुपपत्तौ हेतुः––**अन्यतरनिषेधस्येति** । न च युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह––**निषेधसमुच्चयस्येति** । अनुपपन्न इति कोऽर्थः, यदि प्रमाणयुक्त्याघातं न सहत इति

वाच्य है। ऐसा लक्षण करने पर इस लक्षण की कहीं अव्याप्ति वा अतिव्याप्ति नहीं है। क्योंकि सभी भ्रम के विषयों को इस लक्षण से लक्षित स्वरूपता है, अतः अव्याप्ति नहीं है। और सदादि (सत्य-असत्य) को सत्त्व असत्त्व रूप से विचार सह (विचार विषय) अन्य वादी भी मानते है, सत्यात्मा को सत्त्वेन मानते हैं, नरशृङ्गादि को विचार से असत् मानते हैं, अतः विचाराऽसहत्व रूप लक्षण की उनमें अतिव्याप्ति नहीं है। इस उक्त रीति से लक्षण के सिद्ध होते भी जो निरुक्ति विरह, या निरुक्ति निमित्त विरह, अनिर्वाच्यता है, इत्यादि विकल्प है, वह अकाण्डत्ताण्डवित (अनवसरनृत्य) रूप है। क्योंकि निरुक्ति निमित्त ज्ञान का, या निरुक्ति निमित्त ज्ञान के विषय अर्थ (रजतादि) का विरह नहीं कहा जाता है। किन्तु इस ज्ञान और विषय के व्यवहार गोचर (व्यवहार के विषय) होते भी, सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्व प्रकारों (भेदों) से युक्तरूप से निश्चयपूर्वक कथनानर्हत्व अनिर्वचनीयत्व माना जाता है। और जो यह कहा था कि परस्पर विरुद्ध सत्त्व और असत्त्व दोनों के निषेध का समुच्चय (संमेलन) अयुक्त = असम्भावित है। क्यों कि दोनों में से एक का निषेध अन्य के 'विधानविधि' सत्त्व से नान्तरीयक (व्याप्य) रहता है। वह कथन युक्त नहीं है, क्यों कि निषेधसमुच्चय के

तात्त्विकत्वानङ्गीकारात् । तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्रप्रकटनाय तद्विलक्षणत्वाभिलापः । न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं वास्तवं संभवति; तथा सति तस्यापि तात्त्विकत्वप्रसङ्गात् । न चैकतरनिषेधोऽन्यतरविधिनान्तरीयकः; अनिर्वचनीयवादिनं प्रति व्याप्त्यसिद्धेः ।

ज्ञानबाध्यत्वं वाऽनिर्वचनीयत्वम् । न च पूर्वज्ञानसं[illegible]तिव्याप्तिः; तयोर्ज्ञाननाश्यत्वेऽपि ज्ञानबाध्यत्वाभावात् । बाधो[illegible]यमन्तरेणापरोक्षत्वा[illegible]पाधावभावबोधनम् । न च पूर्वज्ञानस्य तत्संस्कारस्य [illegible]चेत्; गुञ्जापुञ्जादौ [illegible]मनि नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेत्यभावो बो[illegible]

[illegible]सिद्धमेवेदमस्माकमद्वैतवादिनामिति भावः । कस्तर्हि सदस[illegible] [illegible]ऽसद्भावादित्याह— [illegible] कल-तत्तत्प्रतियोगीति । प्रतियोगी सत्त्वादिः । किमुत्तरकातर[illegible]मिति । [illegible] न, अन्यथाऽसंभवादित्याह—**न हि स्वरूपत इति** । स्वरूपेण [illegible] सदसत्त्वाभ्यां [illegible]रूपस्य प्रपञ्चस्य योऽयं सदसद्वैलक्षण्यं धर्मः तस्य कथं सदादित्वे[illegible] प्रविशति तद्-तथात्वे वा तदाश्रयस्यापि तथात्वप्रसङ्गादित्यर्थः । किं चाङ्गीकृत्य [illegible]मदमुक्तं सैव नास्तीत्याह—**न चैकतरेति** ।

तृतीयमपि लक्षणं समर्थयते—**ज्ञानबाध्यत्वं चेति** । पूर्वज्ञानादौ ज्ञानबाध्यत्व-लक्षणाभावं दर्शयितुं बाधस्वरूपमाह—**बाधो हि नामेति** । अभावबोधनप्रकारमेवानुकरोति—**नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो चेति** । यत्त्वीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्व-स्वीकारादतिव्याप्तिरिति तत्राह—**ईश्वरज्ञानेन चेति** । अत्यन्ताभावबोधनं हि

तात्त्विकत्व (यथार्थत्व) को नहीं मानते हैं, किन्तु तत्तत् (सत्त्व, असत्त्व, सदसत्त्व) रूप प्रतियोगी की दुर्निरूपता मात्र को प्रकट (व्यक्त) करने के लिये सदसद्विलक्षणत्व कहा जाता है, कि जिससे शुक्ति, रजतादि में सत्त्वादिरूपता का अभावात्मक अनिर्वचनीयत्व अनुभूत होता है, और वह सदसद्विलक्षण भी उन रजतादि का पारमार्थिक स्वरूप नहीं रहता है, क्यों कि जो स्वरूप से दुर्निरूप्य है, उसका कोई (सदसद्विलक्षणत्वादि) स्वरूप भी वास्तव (सत्य) हो, ऐसा सम्भव नहीं है, क्यों कि (तथा सति) उन विलक्षणत्वादि धर्म के तात्त्विक होने पर, उन धर्मी को भी तात्त्विकत्व प्राप्त होगा। और परस्पर विरोधी में से एक का निषेध अन्य की विधि (सत्त्व) से व्याप्त होता है, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्यों कि अनिर्वचनीयवादी के प्रति यह व्याप्ति असिद्ध है, क्योंकि ब्रह्मभिन्न सब संसार में सत्त्वासत्त्व उभय का निषेध माना जाता है।

'ज्ञानबाध्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्' यह भी निर्दोष लक्षण है, उत्तर ज्ञान से नष्ट होने वाले पूर्व ज्ञान और संस्कार में प्रथम इस लक्षण की अतिव्याप्ति कही गई है, यह अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि उत्तर ज्ञान से पूर्व ज्ञान और संस्कार के

च मुद्गरप्रहारेणेव घटादेः प्रपञ्चस्य प्रध्वंस एव क्रियते नाभावबोधनमतो नातिव्याप्तिः। एतेन बाधकज्ञानविषयत्वाच्छुक्त्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्वप्रसङ्ग इत्यपास्तम्, धर्मितया बाधकज्ञानप्रतिपन्नत्वेऽपि बोध्यमानाभावप्रतियोगित्वाभावात्। अत एव प्रतिपन्नोपाधौ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च बाध्यत्वमिति केचिदाचार्याः। न चाव्याप्त्यतिव्याप्ती; शुक्ति[illegible] प्रतिपन्नस्य रजतस्य कालत्रयेऽपि तत्र सत्ताभावस्य नेदं रजत[illegible] एकाल[illegible]ध्यमानत्वात्, लौकिकपरमार्थरजतस्य देशान्तरादौ [illegible] धर्मत्वा[illegible]

[illegible] ...वदवधा[illegible] [illegible]र्थः। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**धर्मितयेति**। यत्तु बाधतत्त्वेसि[illegible]प्रयोगादेवा[illegible]ध्यो दूषयाम्बभूव, तदपि परिहर्तुमुपक्रमते—**अतएवेति**। [illegible]वदय शे[illegible] नि[illegible]धनमत एवेत्यर्थः। अव्याप्ति निराकर्तुमाह—**शुक्तिशकले** आनयना[illegible] त[illegible]ह नेदं रजतमित्यस्यायमर्थः, यदिदानीं रजतं न भवतीति भावः। कार्यमा[illegible]लौकिकपरमार्थरजतविषयस्तथा च तत्रैव तावदतिव्याप्तिः अत्र ना[illegible] [illegible]ाह—**लौकिकपरमार्थेति**। तत्रेदं वक्तव्यम्—किं यत्रेदं सत्त्वेन

नाश के होने पर भी, उत्तर ज्ञान से उनमें बाध्यत्व का अभाव रहता है, अर्थात् उत्तर ज्ञान से पूर्व ज्ञानादि का बाध नहीं होता है। क्योंकि प्रतिपन्न (निश्चित) उपाधि (आश्रय) में सर्वथा अभाव के बोधन को बाध कहा जाता है, और पूर्व ज्ञान के तथा संस्कार के निश्चित आश्रय आत्मा में आत्माश्रित ज्ञान नहीं था वा संस्कार नहीं था, इस प्रकार से अभाव का बोध उत्तर ज्ञान से नहीं होता है, और ईश्वर के ज्ञान से भी मुद्गर प्रहार से घटादि के प्रध्वंस के समान प्रपञ्च का प्रध्वंस ही किया जाता है। किसी के प्रति प्रपञ्च के अभाव का प्रबोधन नहीं किया जाता है, अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति नहीं है, इसीसे बाधक ज्ञान के विषयत्व से शुक्ति आदि को और ब्रह्म को भी अनिर्वाच्यत्व प्राप्त होगा, यह पूर्वोक्त दूषण निरस्त हो गया। क्योंकि धर्मी (अधिष्ठान) रूप से बाधक ज्ञान से प्रतिपन्न (बोधित) होते भी, बोध्यमान अत्यन्त अभाव के प्रतियोगित्व का उनमें अभाव रहता है। और इस अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को अनिर्वचनीय कहा जाता है। अत एव किसी आचार्य ने कहा है कि प्रतिपन्नोपाधि में न था, न है, न होगा, इस प्रकार से त्रैकालिक सत्तानिषेध को बाध कहा जाता है, और उस बाध के विषयत्व बाध्यत्व होता है। इस लक्षण की कहीं अव्याप्ति और अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि शुक्ति शकल (खण्ड) में ज्ञान रजत के उस शुक्ति शकल में त्रैकालिक सत्ता के अभाव का 'नेदं रजतम्' इस बाध से बोध होता है। और देशान्तरादि में सत्त्व रूप से प्रतीत (ज्ञात) लौकिक परमार्थ (व्यावहारिक) रजत का उस देशान्तरादि में असत्त्व का बोधन अशक्य

सत्त्वेन प्रमितस्य तत्रासत्त्वबोधनस्याशक्यत्वात्। तस्य शुक्तिकाशकले कालत्रयासत्त्वं बोध्यत इतिचेत्, न; तस्यात्राप्रसक्तेः। रजताभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिरितिचेत् मैवम्; रजताभास इत्यप्रतीतेरिदं रजतमित्येव प्रतीतेश्च। प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्तदाभासता पश्चान्निश्चीयते इतिचेत्; एवं तर्हि नाव्याप्तिः, प्रतिपन्नोपाधौ तस्य निषेधस्य त्वयाङ्गीकारात्। अत एव न देशान्तरादौ प्रमितस्य लौकिकपरमार्थरजतस्यैत्[illegible]तियोगित्वम्; आभासविषयत्वात्तस्य। अन्यथा जगति रजतमेव [illegible]वदैक्यमन्तरेणापल्लौकि-

[illegible]नौ चेत्; गुञ्जापुञ्ज

प्रमितं हट्टादौ तत्रैव निषेधः? किंवा शुक्तौ? न तावद् [illegible] प्रमाणविरोधादित्यभिधाय द्वितीयं शङ्कते—**तस्य शुक्तिका**[illegible]त्वादित्याह—तस्य न निषेधः संभवतीति परिहरति—**न; तस्येति**। ननु य[illegible]। कल[illegible] प्रसक्तिस्तथापि रजताभासः प्रतीतस्तद्द्वारा रजतत्वसाम्यात् [illegible]मिति। शङ्कते—**रजताभासेति**। तत्र किं भ्रमकाले रजताभासत्वाव[illegible] सदसत्त्वाभ्यां उत दैवगत्या तथाभूतस्य स्वरूपेण? नाद्य इत्याह—**मैवं रजताभासे**[illegible]विशति नद्- शङ्कते—**प्रतिपन्नेति**। तत्किं प्रतिपन्नशुक्तिकाद्युपाधौ रजतादेः कालत्रयसत्तानिषेधरूपबाधविषयत्वमङ्गीकृतं रजतादेराभासतासिद्धये? तथाचायुष्मतैवाव्याप्तिः परिहृतेत्याह—**एवं तर्हीति**। ननु तथापि तद्द्वारा लौकिकरजतप्रसक्तिरप्यस्तीति नेत्याह—**अत एवेति। आभासविषयत्वादिति**। आभासविषयत्वेन त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थः। न केवलं तवाङ्गीकारः अनुपपन्नश्च लौकिकरजतनिषेध इत्याह—**अन्यथेति**। रजततदाभासयोरैक्यायोगाद्रजताभाससम्यग्रजतविषयकप्रतीतिद्वयाना-

है, और उस देशान्तरस्थ का ही शुक्ति का शकल में असत्त्व (अभाव बोधित) (ज्ञात) होता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उस दूरस्थ की शुक्ति का शकल में प्रसक्ति (प्रतीति प्राप्ति) नहीं रहती है, और प्रसक्त का प्रतिषेध होता है, अतः देशान्तरस्थ में अतिव्याप्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि रजताऽऽभास (मिथ्या रजत) की प्रसक्ति ही दूरस्थ व्यावहारिक रजत की भी प्रसक्ति है, क्योंकि रजतत्वेन उसकी भी प्रसक्ति हो सकती है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि 'इदं रजतम्' इस प्रकार से प्रसक्ति होती है, 'रजताऽऽभास' ऐसी प्रतीति नहीं होती है, अतः रजताभास की प्रसक्ति से अन्य की प्रसक्ति भी नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि प्रतिपन्नोपाधि में निषेध से पश्चात् उस रजत की आभासत्ता निश्चित होती है प्रथम नहीं सो सत्य है, तो भी ऐसा होने पर अव्याप्ति नहीं रह जाती है, क्योंकि प्रतिपन्नोपाधि में उस प्रतीयमान के त्रैकालिक अभाव को आपने मान लिया है। भाव है कि प्रतीति काल में प्रातिभासिक रजत के सत्त्व से त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता रूप लक्षण की अव्याप्ति है, ऐसा पूर्वपक्षी

कपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनाल्लौकिकरजतात्मत्वेनापरीक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्या । न चैवं सत्यन्यथाख्यातेः; प्रसक्तिः, संसर्गवत्संसर्गिणोऽपि ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या सदसद्विलक्षणताङ्गीकारात् ।

वाच्चाप्रसक्त[illegible] एकालस्य निषेध इति वक्तव्यम्, तथा च यत्र यत्र प्रमितं तत्र सर्वत्र [illegible] धर्मत्वा । नन्वेवं सति विवरणकाराचार्यवचनविरोध इत्यत [illegible] ...वदघा[illegible] लौकिकपरमार्थरजतात्मत्वेन चेत्प्रतीतं निषिध्यते, तर्ह्यन्य-तत्त्वसिद्धिप्रयोगादेवाप[illegible]स्थरजतस्यात्र प्रतीतस्य निषेध इति हि तेषामपि मत-...वदव [illegible] न[illegible] सतीति । संसर्गवदिति । संसर्गस्य सदसद्वैलक्षण्याङ्गीकारा-आनयना[illegible] त[illegible]त्यादिवादिभ्यः सिद्ध एव भेदः, संसर्गिणस्तु लौकिकपरमार्थरजत-कार्यमा[illegible] सदसद्वैलक्षण्यस्वीकारात् प्रसिध्यतितरां भेद इत्यर्थः । लौकिक-[illegible]

का आशय था, परन्तु रजतादि की आभासता की सिद्धि के लिये कालत्रय में सत्ता के निषेधरूप बाध के विषयत्व के स्वीकार से आप से ही अव्याप्ति निवारित हो गई, अर्थात् प्रतीति के रहते भी रजत की सत्ता नहीं रहती है । और (अत एव) प्रसक्त का प्रतिषेध होने ही से, देशान्तरादि में प्रमित लौकिक परमार्थ रजत को इस निषेध की प्रतियोगिता नहीं होती है । क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस निषेध को आभास विषयकत्व रहता है, अतः लौकिक रजत में अतिव्याप्ति नहीं होती है । और (अन्यथा) यदि निषेध का प्रतियोगी लौकिक रजत हो, तो इस निषेध कर्ता के लिये संसार में रजत ही नहीं रह जायगा । परन्तु ऐसा मानने पर विवरणाचार्य से विरोध होगा, क्योंकि उन्होंने लौकिक रजत को निषेध का प्रतियोगी कहा है, तो कहा जाता है कि लौकिक रजत को प्रतियोगी मानने पर उक्त रजताभाव की प्राप्ति होने के कारण, आचार्य का ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये कि (लौकिक परमार्थ रजत ही नेदं रजतम् इस निषेध का प्रतियोगी है, यह पूर्वाचार्य की वचन युक्ति भी 'पुरोवर्ती' में रजतार्थी की प्रवृत्ति को देखने से लौकिक रजत रूप से अपरोक्ष प्रतीतिविषय रजत का तीनों कालों में यह लौकिक रजत नहीं है, इस प्रकार के निषेध की प्रतियोगिता को मानकर, आचार्य ने कहा है । व्यावहारिक रजतरूप से प्रतीत का निषेध मानने पर अन्यथाख्याति की प्राप्ति होगी, यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि संसर्ग के समान संसर्गी के भी प्रतीति और बाध की अनुपपत्ति से उसमें सदसद से विलक्षणता को स्वीकार किया जाता है, वहाँ शुक्ति रजत के तादात्म्य सम्बन्ध को अनिर्वाच्य मानने ही से अन्यथाख्याति से वैलक्षण्य हो जाता है, रजत की अनिर्वाच्यता के अस्वीकार करने पर

एवं च सति कुतोऽतिव्याप्तिः ?

प्रमाणं च तत्र ख्यातत्वे सति बाध्यत्वान्यथानुपपत्तिः । न च देशान्तरे सत्त्वादत्रासत्त्वाच्च ख्यातिबाधयोरन्यथाप्युपपत्तिः; अन्यत्र सत्ताया इह प्रतीत्यहेतुत्वात् । न हि भूमावम्भोरुहं सदिति दुष्टाक्षस्यापि नभसि तदवभासते । अप्रतीतत्वादेव च बाधायोगात् । न चासतोऽभाने शब्दस्यापार्थकत्वप्रसङ्गः; अपरोक्षभानाभावस्येह [illegible]त्, परोक्ष-भानस्य चानिराकरणात् । न च सच्छब्दार्था[illegible]ध्यमिति [illegible]

परमार्थरजताप्रतिषेधादेवातिव्याप्तिः परिहृतेत्याह—एवं [illegible]।

लक्षणं समर्थयित्वार्थापत्तिं तावत्प्रमाणमाह—प्रमाणं [illegible]दित्याह—[illegible] मुक्तां परिहरति—न च देशान्तरेत्यादिना । ननु दुष्टाक्षस्या[illegible] इति, नेत्याह—न हि भूमाविति । एवं प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्ति [illegible] तां परिहरति—अप्रतीतत्वादेव चेति । यत्त्वसतो भानाभावेऽ[illegible] पार्थकत्वप्रसङ्ग इति तत्परिहरति—न चासत इति । नासतो भानम[illegible]-ध्यतेऽपित्वपरोक्षभानम् । तथा च नान्यथोपपत्तिरपार्थकत्वं चेत्यर्थः । यत्तु सच्छब्दार्थं त्रिधा विकल्प्य दूषणमुक्तं तत्परिहरति—न च सच्छब्दार्थेति । शुक्ति-

---

तो किसी प्रकार से अन्यथाख्याति कही नहीं जा सकती है । इस उक्त रीति से लौकिक रजत में निषेध प्रतियोगिता के अभाव से उसमें उक्त लक्षण की अति-व्याप्ति कैसे हो सकती है—किसी प्रकार से नहीं ।

ख्यातत्व (ज्ञातत्व) युक्त बाध्यत्व की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण, भी उस अनिर्वचनीयार्थ विषयक है । देशान्तर में रजत के और शुक्ति में असत्व से प्रतीति और बाध की अन्यथा ही सिद्धि हो जा सकती है । अनिर्वाच्यता के विना अनुपपत्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अन्यत्र की सत्ता शुक्ति देश में रजत की प्रतीति का हेतु नहीं हो सकता है, दुष्ट नेत्र में भी यह शक्ति नहीं रहती है कि जिससे दूर व्यवहित का दर्शन कर सके, क्योंकि भूमि में कमल सत् है, इससे यह नहीं होता है कि दुष्ट नेत्र वाले को आकाश में वह कमल भासता हो । और देशान्तर के रजत के अप्रतीति होने ही के कारण उसका बाध भी नहीं हो सकता है (उसका बाध मानना अयुक्त है) यदि कहें, कि असत् अर्थ का यदि भान (ज्ञान) न हो तो असत् शब्द के प्रयोग को अनर्थकता होगी, अतः असत् शब्द युक्त (असद्भाति) इत्यादि वाक्य का प्रयोग भी नहीं होगा । प्रयोग होने पर अनर्थक समझा जायगा । यह कहना युक्त नहीं (असत् नहीं भासता है) यहां अपरोक्ष भान का अभाव विवक्षित है । अतः शब्द से परोक्ष ज्ञान होता ही है, (असतो न भानम्) इत्यादि से परोक्ष ज्ञान का निराकरण नहीं किया है ।

व्याप्त्यसिद्धिः; त्वयापि द्वे तत्त्वे सदसती इति तत्त्वं व्यवस्थापयता यदेव सत्त्वेन व्यवस्थापितं तस्यैव मयापि व्यवहारदशायामबाध्यत्वोक्तेः। न चान्यथैवोपपत्तिः; सदसत्त्वयोरेवाबाधाभानप्रयोजकत्वोपपत्तौ तदितरवैलक्षण्यस्य तत्प्रयोजकत्वकल्पनायां गौरवात्। न चासतोऽपि तत्पदात्प्रतिभासनात्सत्तायुक्तस्यापि प्रपञ्चस्य बाधाभ्युपगमात्तयोरप्रयोजकत्वम्; अपरीक्षतयाऽभान [illegible]व्यवहारदशायां चाबाध्यत्वस्येह विवक्षितत्वात्।

एकाल[illegible]

रूप्यार [illegible] धर्मत्वा[illegible]टार्दा व्याप्तमित्यर्थः। दूषणान्तरं परिहरति—न चेति। [illegible] ...वदंधा[illegible]—कम, असतोऽपि तच्छब्दाद्भानात्। नापि सत्त्वमबाधातत्त्वसिद्[illegible]प्रयोगादेवा[illegible] बाधाङ्गीकारादित्युक्तमिति तत्राह—न चासतोऽपीत्या...[illegible]वदव शे[illegible] न[illegible] [illegible]रिहारमप्राप्याह—अपरोक्षतयेति। नन्वबाध्यत्वे सत्त्वं प्रयोजकआनयना[illegible] त [illegible]लक्षण्यं बाध्यत्वे प्रयोजकं स्वीकर्तव्यम्, तथा च प्रयोजकगौरवं स्यात्, कार्यमा[illegible] [illegible]प। मत्पक्षे त्वसत्त्वं बाध्यत्वे प्रयोजकं सत्त्वं च प्रतीताविति लाघवमिति [illegible]न्याय[illegible]दीपावलीयमाशङ्क्य तत्रापि व्यतिरेकेऽसद्वैलक्षण्यमबाधे प्रयोजकं सद्वैलक्षण्यं

और जो यह कहा है कि, सत् शब्दार्थ की अनिरुक्ति (अनिर्वचन = अनिर्णय) से, जो सत् है, वह अबाध्य है, यह व्याप्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, वह भी कथन अयुक्त है, क्योंकि तुम नैयायिक (न्याय प्रथम सूत्र के भाष्यकार) ने भी (द्वेतत्त्वे सदसती) सत् असत् दो पदार्थ हैं, इस प्रकार से तत्त्व (वस्तु) के व्यवस्थापन (निर्णय) करते हुए, जिस वस्तु को उन्होंने तत्त्व (सत्त्व) रूप से व्यवस्थापित (सिद्ध) किया है, उसी को मैं भी व्यवहारावस्था में अबाध्य कहता हूं और अन्यथा ही उपपत्ति कही गई थी कि, सद्विलक्षणता से नरशृङ्गादि की अप्रतीति होती है। असद्विलक्षणता से आत्मा में अबाध्यता है, अतः अभान अबाधता के प्रयोजक (हेतु) सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व हैं, और शुक्ति रजत की ख्याति और बाध देखे जाते हैं, अतः उसमें सद् असद् विलक्षणत्व का अभाव सिद्ध होता है, और सदसद् विलक्षणत्व के अभाव है अतः वह सदसत् स्वरूप है, और सद्रूपता से ख्याति असद्रूपता से बाध की उपपत्ति होती है, परन्तु इस प्रकार से अन्यथोपपत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि सत्त्व और असत्त्व को ही अबाध और अभानके प्रयोजकत्व रहते, उस सत्त्वासत्त्व से इतर (अन्य) वैलक्षण्य (विलक्षणता) में अभान अबाध्यत्व प्रयोजकत्व की कल्पना में गौरव होता है। यदि कहें कि असत् की भी असत् पद से प्रतीति होती है, तथा सत्तायुक्त प्रपञ्च का भी बाध माना जाता है, अतः असत्त्व और सत्त्व, अभान और अबाध्यत्व के प्रयोजक नहीं हो सकते हैं, तो कहना युक्त नहीं। क्योंकि अभानगत भान शब्द से अपरोक्ष ज्ञान विवक्षित है, सामान्य ज्ञान नहीं। और अबाध्य शब्द से भी व्यवहारदशा

ननु सत्त्वासत्त्वयोरेवाबाध्यत्वाभानप्रयोजकत्वे यत्सद्विलक्षणं तद्बाध्यं यदसद्विलक्षणं तत्ख्यातीति व्यतिरेके गौरवं स्यात्। सत्त्वासत्त्वयोस्तु ख्यातिबाधप्रयोजकतायां लाघवमिति चेत्, मैवम्; तवापि व्यतिरेके गौरवस्य तुल्यत्वात्, अख्यात्यबाध्यत्वयोः सदसद्वैलक्षण्यस्य प्रयोजकत्वाङ्गीकारात्। एवमपि प्रयोजकत्वविनिगमनायां को हेतुरितिचेत्; पक्षान्तरे ख्यात्यसंभवः। तथाहि—न तावत्सत्त्वादध्यस्तस्य ख्यातिः, तस्येहा... ; सतश्च ख्यातौ भ्रान्तिबाधयोरनुपपत्तेश्च। असत्त्वे चापरोक्षतया भेदैक्यमन्तरेणः।

चाभाने प्रयोजकमिति गौरवं समानमित्याह—मैवं तवा... चेत्; गुञ्जापु...नगण-
दोपत्वे किमित्यन्यतरपक्षे पक्षपात इति शङ्कते—एवमपीदि... ...गादित्याह—
सत्त्वं भाने प्रयोजकमिति पक्षे बाध्यस्य किं सत्त्वात् स्फुर... ... कल-
नाद्य इत्याह—न तावत्सत्त्वादिति। दूपणान्तरमाह—सतश्चेति।
पाठे द्वितीयपक्षनिपेधः। चस्त्वर्थः। स च दूपितपक्षात्पक्षान्तरपरिग्रहः...सदसत्त्वाभ्यां निपेधति—असत्त्व इति। द्वितीययोजनायां तथैव हेतुः।
...ति तुद-

में अबाध्यता विवक्षित हैं, सर्वदा अबाध्यत्व नहीं, शुक्ति रजत का प्रत्यक्ष भान होता है, और व्यवहार दशा में बाध होता है, अतः अभान प्रयोजक असत्त्व और अबाधप्रयोजक सत्त्व दोनों से विलक्षणता के कारण अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि होती है, और भान तथा बाध की अनुपपत्ति से असत्सत् से विलक्षणता का ज्ञान होता है। यदि शङ्का हो कि सत्त्व और असत्त्व को ही अबाध्यत्व और अभान के प्रयोजक मानने पर, जो सद्विलक्षण होता है वह बाध्य होता है, और जो असद्विलक्षण होता है, उसकी ख्याति होती है, इस प्रकार से शुक्ति रजत में सत्त्व असत्त्व के व्यतिरेक निश्चय में गौरव होगा। और सत्त्व असत्त्व को ही ख्याति बाध में प्रयोजक मानने पर लाघव होता है तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि आपके मत में गौरव की तुल्यता है, अख्याति और अबाध्यत्व के प्रयोजक सदसद्विलक्षणत्व को आप भी मानते हैं, सद्विलक्षणत्व अख्याति का असद्विलक्षणत्व अबाधत्व का प्रयोजक आप के मतानुसार है। यदि कहें कि इस प्रकार से दोनों पक्ष में तुल्य गौरव होने पर, दोनों में से एक ही प्रयोजकता की विनिगमना (निर्णय) में क्या हेतु है। तो कहा जाता है कि पक्षान्तर में (अनिर्वाच्यता से भिन्न सद्रूपता आदि पक्ष में) ख्याति का असम्भव ही निर्णायक है। क्योंकि सत्त्व होने से अध्यस्त की प्रतीति होती है, यह नहीं कह सकते हैं, सत् की यहां (शुक्ति में) ख्याति का सत्त्व नहीं है, और सत् की ख्याति हो तो भ्रान्तित्व और बाध की अनुपपत्ति होगी। और असत्त्व हो तो अपरोक्ष रूप से ज्ञान की अनुपपत्ति होगी। अतः उक्त रीति से ख्याति बाध की अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति अनिर्वचनीयत्व में प्रमाण है।

अनुमानमप्यत्र प्रमाणम्—विमतमनिर्वचनीयं बाध्यत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथात्मेति । संसर्गस्यैव बाध्यत्वाद्रजतस्य बाध्यत्वं सिद्धमितिचेत्, न; द्वयोरपरोक्षतया प्रतिभासमानयोः संसर्गमात्रनिषेधे वनस्पत्योरिव विविक्तयोः बाधोत्तरकालमुभयोरपि इहावभासप्रसङ्गात् । न चाप्रसिद्ध-विशेषणः पक्षः । यस्मात्—

एकालम्बनसंसर्गनिषेधे सदसत्त्वयोः ।
धर्मत्वाद्रूपरसवत्सिद्धानिर्वचनीयता ॥ १४ ॥

...वदाधा...

तत्त्वसि... सप्रयोगादेवा...

...वदव शे...। न...-पुक्तानुमानमपि प्रमाणयति—**अनुमानमपीति** । **विमत**-आनयना... त...यादीत्यर्थः । अत्र च सदसद्विलक्षणत्वमनिर्वचनीयत्वं साध्यमिति न कार्यमा... ...ता । असिद्धिमन्यथाख्यातिवादी शङ्कते—**संसर्गस्येति** । परिहरति—... त्रा असंनिहितबाधनिवारणाय **परोक्षतयेत्युक्तम्** । सामान्यतो दृष्टानुमानेनानिर्वचनीयतां साधयन्नप्रसिद्धविशेषणतां परिहरति—**एकालम्बनेति** । धर्मत्वाद्धेतोः सदसत्त्वयोरेकालम्बनसंसर्गनिषेधे एकनिष्ठसंसर्गाभावे एकाधिकरणात्यन्ताभाव इति यावत् । तस्मिन्साधिते रूपरसवदनिर्वचनीयता सिद्धा भवति इति योजना । संग्रहं

अनुमान भी इस अनिर्वचनीयत्व में प्रमाण है कि (विमतम् = अध्यस्तं रजतादिकम् , अनिर्वचनीयम्, बाध्यत्वात् = यन्नैवं तन्नैवम् यथाऽऽत्मेति) विवाद विषय रजतादि, अनिर्वचनीय है, बाध्य होने से, जो अनिर्वचनीय नहीं है, वह बाध्य भी नहीं है, जैसे आत्मा है । यदि कहें कि 'नेदं रजतम्' इससे रजत का संसर्गमात्र बाध्य होता है, रजत नहीं । अतः हेतु असिद्ध है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि रजत और संसर्ग दोनों भ्रमकाल में अपरोक्षरूप से प्रतिभासित = प्रतीत, होते हैं, वहाँ 'नेदं रजतम्' इससे संसर्गमात्र के निषेध (बाध) होने पर, दूरस्थ वनस्पति के संसर्ग मात्र के बाधित होने पर जैसे वनस्पति पृथक्-पृथक् स्थिर रहता है, वैसे शुक्ति, रजत को पृथक्-पृथक् स्थिर रहना चाहिये, और बाध के बाद दोनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होनी चाहिये, और ऐसा होता नहीं है, अतः दोनों का बाध होता है । और उक्त अनुमान में अप्रसिद्ध विशेषण (साध्य) वाला पक्ष है, यह भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि—

धर्मत्वरूप हेतु से रूप, रस, के समान किसी एक आलम्बन (आश्रय = आधार) में, सत्त्व असत्त्व दोनों के निषेध सिद्ध होने पर, अनिर्वचनीयता सामान्यतः सिद्ध हो जाती है ॥ १४ ॥

विवादाध्यासिते सदसत्त्वे एकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनी धर्मत्वाद् रूपरसवदिति अनिर्धारितधर्मिनिष्ठतया सामान्यतः सिद्धस्य सदसद्वैलक्षण्यस्य

विवृणोति—**विवादाध्यासिते इति**। अत्र च भावत्वाभावत्वे सत्त्वासत्त्वे एकधर्मिनिष्ठौ यावत्यन्ताभावौ तत्प्रतियोगिनी धर्मत्वात्, यौ धर्मौ तावेकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनौ, यथा रूपरसौ तथाचाम्, ततस्तथेति प्रयोगः। भिन्नाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितयार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थम्—**एकधर्मीत्युक्तम्**। सत्त्वमसत्त्वानधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मत्वात् रूपादिवदिति तु प्रयोगशरीरम्। न चार्थान्तरता; सतोऽसतो वोभयात्यन्ताभावद्वयाधिकरणत्वा[illegible]कत्वाभावादेकत्वे वा सदसदन्तर्भूततायामुभयाभावाधिकरणत्वा[illegible] च सिद्धं नः समीहितमिति क्वार्थान्तरता। नच प्रमेयत्वादौ व्य[illegible]ति। वेदान्तिमते पूर्वोदितन्यायेनैवात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्। [illegible] सदसत्त्वाभ्यां [illegible]नुमानम्, धर्मत्वहेतौ रूपादावनैकान्तिकत्वात्। अपरे त्वेवमेतदनुमानं [illegible]ति तदमासुः—सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि अनात्मनिष्ठ[illegible]भावप्रतियोगित्वाद्रूपादिवदित्यत्र विवक्षितम्। तेन चैतत्परिहृतं भवति—धर्मत्वहेतोर्वाच्यत्वादिना व्यभिचारः। अथ तस्यापि निर्धर्मके ब्रह्मण्यभावेनाव्यभिचारः; तर्हि तस्मिन्नेव ब्रह्मणि निर्धर्मकतयोक्तसाध्यसिद्धेः, न जडानिर्वाच्यतासिद्धिरित्यर्थान्तरता स्यादिति। नच व्याघातः; परस्परविरुद्धयोरपि नित्यत्वानित्यत्वयोरिव शुक्तिरजतादिसंसर्गेषु व्यावृत्तिसंभवात्। अतएव विवादाध्यासिते सत्त्वासत्त्वे एकानात्मनिष्ठसंसर्गाभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्पराभावरूपत्वात्, नित्यत्वानित्यत्ववदिति न सत्प्रतिपक्षतापि, आरोपितसंसर्गे एवोभयव्यावृत्त्या साध्यविकलत्वादिति। तदेतदसमीचीनमिव, मेयत्वादेरपि, सर्वधर्मविधुरे ब्रह्मण्यवृत्तेरव्यभिचारभूमित्वात्। न चार्थान्तरता; निर्धर्मके ब्रह्मण्यत्यन्ताभावस्याप्यवृत्तेः, वृत्तौ वा सत्त्वस्यापि वृत्तेरनर्थान्तरत्वात्। कथं तर्हि सत्त्वासत्त्वयोस्तत्तदत्यन्ताभावरूपयोर्ब्रह्मण्येव वर्तनम्? किमत्र चित्रं प्रत्यायकश्रुतौ सत्यां, परस्परप्रतिक्षेपरूपभावाभावयोः संयोगादेरेकवृत्तितेष्टेश्च, स्वस्मिन्नेव च मेयत्वाद्यवृत्तेर्वृत्तीचात्माश्रयात्। प्रसाधयिष्यते चायमर्थः। व्याघातस्तु नियमानङ्गीकारेणात्रैव परिहृतः। न च नित्यत्वानित्यत्वव्यावृत्तारोप्यसंसर्ग उदाहरणम्। अत्यन्ताभावरूपस्य तस्य नित्यतायाः परैरङ्गीकृतत्वात्। न हि सत्ता तत्र जातिरूपिणि स्वरूपसत्त्वाङ्गीकारात्। असिन्त्वात्मकस्य च तस्या-

---

अर्थात् (विवाद विषय सत्त्व असत्त्व, एकधर्मी वृत्ति अत्यन्ताऽभाव के प्रतियोगी हैं, धर्म होने से, रूप रस के समान। अतः जैसे रूप रस का आकाशादि एक ही धर्मी में अभाव रहता है, वैसे सत्त्व असत्त्व का कहीं एक धर्मी में अभाव है, और जहाँ दोनों का अभाव है वह अनिर्वचनीय है, इस प्रकार अनिर्धारित

केवलव्यतिरेकिणो रजतधर्मिनिष्ठतयोपसंहारादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावात्। न चानिर्वचनीयत्वे सदिदं रजतमिति भ्रमानुभवविरोधः; अधिष्ठानेदंतासंसर्गवत्तत्सत्तासंसर्गस्यापि अनिर्वचनीयस्यैव भ्रमेऽनुभवात्। अपि च ब्रह्मणीव पारमार्थिकसत्तायाः प्रपञ्च इव च व्यावहारिकसत्ताया अभावेऽपि प्रातिभासिकसत्तास्वीकारेण सदिदं रजतमित्यनुभवो न विरुद्धयते। न च नेदं रजतमित्यसत्त्वानुभवविरोधः, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव तत्र

भावेऽपीष्टेरिति, एतेन सामान्यादीनां नित्यत्वं व्याख्यातम्। तद्यथान्यासमेवास्त्वनुमानम्, अलमतिवैदग्धीप्रकटनेन। **केवलव्यतिरेकिण** इति पञ्चमी। ननु सदिदं [illegible]सप्रयोगादेवा[illegible]बाधितमिदं सद्वैलक्षण्यानुमानमिति तत्राह—**न चानिर्व**[illegible]। न[illegible] यथा ह्यपुरोवर्तिनो रजतस्य पुरोवर्त्यधिष्ठानारोपात् पुरोआनयना[illegible]त। तथासद्विलक्षणरजतस्य सदधिष्ठाने समारोपितत्वात् सद्बुद्धिकार्यमा[illegible] पुनः सत्त्वादिति परिहरति—**अधिष्ठानेति**। अथवा सदिदं रजत[illegible]प्रातीतिकसत्त्वमनुभूयते, पारमार्थिकव्यावहारिकवैलक्षण्यं चानिर्वचनीयत्वं साध्यत इति नानुभवविरोध इत्याह—**अपि चेत्यादिना**। सदसद्विलक्षणतायां भ्रान्तिबाधानुभवविरोधो ह्यधस्तादभिदधे। तत्र भ्रान्तिविरोधं परिहृत्य बाधविरोधं परिहरति—**न च नेदमिति**। नेदं रजतमिति कोऽर्थः? नेदं मदभिमतरजतमिति।

धर्मिनिष्ठता रूप से सामान्य रूप से सिद्ध सदसद् वैलक्षण्यरूप अनिर्वचनीयत्व का केवल व्यतिरेकी अनुमान से रजत धर्मिवृत्तिता रूप से उपसंहार (स्थिति) होने से अप्रसिद्ध विशेषणत्व का अभाव होता है। यदि कहें कि उक्त रीति से अध्यस्त को अनिर्वचनीयत्व हो, तो भ्रमकालिक (सदिदं रजतम्) यह रजत सत्य है, इस अनुभव से विरोध होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अधिष्ठान इदन्ता के समान, अनिर्वचनीय सत्ता के संसर्ग का भी भ्रम में अनुभव होता है, रजत के सत्त्व का नहीं। और वस्तुतः अनिर्वचनीय में पारमार्थिक व्यावहारिक सत्ता से वैलक्षण्य कहा जाता है, सामान्य सत्ता से नहीं। अतः (सदिदं रजतम्) इस सामान्य सत्ताप्रतीति तो अनिर्वचनीयता से विरोध नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता के शुक्ति रजतादि में अभाव रहते भी प्रातिभासिक सत्ता के स्वीकार से, यह रजत सत् है, यह अनुभव विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि इस अनुभव का विषय प्रातिभासिक सत्त्व रहता है, अन्य नहीं। यदि कहें कि प्रातिभासिक सत्त्व को अनिर्वचनीय में मानने पर, तथा असत्त्व से विलक्षणता मानने पर 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, इस बाध रूप असत्त्वानुभव से विरोध होगा, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि लौकिक क्रिया (भूषणादि) में सामर्थ्यस्वरूप जो

निषिध्यमानत्वात् । न चानिर्वाच्ये रजतशब्दप्रयोगायोगः; सविकल्पकरजतानुभवसंस्कारजन्यतया रजतभ्रमस्य तद्वाचकशब्दोल्लेखोपपत्तेः । न चानिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिः; शुक्त्यवच्छिन्नात्मचैतन्यस्था-

---

तथाचार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव निषेधान्न तद्वैलक्षण्यानुमानं विरुणद्धीत्यर्थः । सदसद्वैलक्षण्यमनिर्वचनीयत्वं मतं तन्निर्वाहावसरतया च पूर्वोदितलौकिकपरमार्थरजतविषयत्वनिषेधेन न विप्रतिषेधशङ्कापीति भावः । दोषान्तरमुक्तं परिहरति — न चानिर्वाच्य इति । रजतानुभवसंस्काररञ्जिता ह्यविद्या रजतज्ञानाकारेण विवर्तते । अननुभूतरजतस्य भ्रान्त्यनुपपत्तेः । स चानुभवः सविकल्पक [illegible] शब्दोल्लेख [illegible] । तथा तत्संस्काररञ्जिताविद्या तद्बुद्धिवत्तच्छब्दप्रयोगेऽपि हेतुरिव [illegible] रजतबुद्धिवद्रजतजातीयबुद्धिरप्युदेति । ततश्च तच्छब्दप्रयोग इति [illegible]ति । रजतत्वजात्याद्यसंभवात्तत्संस्कार एव शरणमिति भावः । या तु प्रत्यक्षसत्त्वान्यां प्रतीत्यनुपपत्तिरुक्ता तां परिहरति — न चानिर्वचनीयेति । शुक्त्यवच्छिन्न [illegible] तद-तदविद्यापरिणामो हि रजतम्, न तु केवलशुक्त्यविद्यापरिणामः; शुक्तेरविद्याकार्यस्य स्वकारणाविद्यां प्रत्याश्रयत्वायोगात् ।

तदुक्तमाचार्यैरिष्टसिद्धिकारैः—

> 'शुक्त्यवस्थात्ममोहोत्था रूप्यधीः शुक्तिमोहजा ।
> कथ्यते मृदवस्थात्मजातो मृज्जो यथा घटः ॥' इति ।

तत्स्थेनैव चैतन्येन रजतमपि वेद्यमित्यर्थः । रजतस्य शुक्तिसामानाधिकरण्योपपाद-

---

व्यावहारिक सत्त्व, उसीको उस प्रातिभासिक रजत में निषिद्धत्व 'नेदं रजतम्' इस अनुभव से होता है, प्रातिभासिक सत्त्व को नहीं, लौकिक सत्त्व से असत्त्व से विलक्षणत्व अनिर्वचनीयत्व है, वहाँ लौकिक सत्त्व के निषेधद्वारा अनिर्वचनीयत्व के अनुकूल ही 'नेदं रजतम्' यह अनुभव होता है, विरोधी नहीं। यदि कहा जाय कि शक्तिग्रहादि के अभाव से अनिर्वाच्य में रजत शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि भ्रान्तिज्ञान के सविकल्पक सत्य रजतादि के ज्ञानजन्य संस्कारजन्य होने के कारण, वह भ्रान्तिज्ञान रजतादि के वाचक शब्दों को भी विषय करता है, अतः ज्ञानानुकूल शब्द के उल्लेख (प्रयोग) की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। इन्द्रियसम्बन्धादि के अभाव से अनिर्वचनीय की प्रतीति नहीं हो सकती है, यह कहा था, परन्तु अनिर्वचनीयत्व होने भी रजत की प्रतीति की अनुपपत्ति नहीं है। क्योंकि शुक्ति से अवच्छिन्न (शुक्तिदेशमात्र वृत्ति) आत्मचैतन्याश्रित अविद्या के विवर्त (कार्य) होने के

विद्याविवर्ततया चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तेन प्रतीत्युपपत्तेः। न च संप्रयोगाभावादपरोक्षत्वानुपपत्तिः; अध्यस्तस्यापरोक्षतायां संप्रयोगानपेक्षत्वात्। अन्यथा भवतोऽपि रजततत्संसर्गयोरपरोक्षत्वाभावापातात्। अधिष्ठानसंप्रयोगादेवापरोक्षत्वमस्मन्मतेऽपि तुल्यम्, अन्यत्र स्वपक्षपातात्। न चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं रजतस्य; तयोरधिष्ठानग्रहणेनान्यथा-

---

नाय शुक्त्यवच्छिन्नेत्युक्तम्। नन्विन्द्रियसंप्रयोगाभावे कथमपरोक्षता ? तत्राह—न च संप्रयोगेति। न केवलमस्माकमयं नियमभङ्गोऽपि भवतोऽपीत्याह—अन्यथेति। ननु न देशान्तरस्थं रजतं रजतज्ञानविषयोऽपितु पुरोवर्ति वस्तु, तच्चेन्द्रियसंयुक्तमितीन्द्रियसंप्रयोगादेवापरोक्षं तर्हीदमस्मन्मतेऽपि समाननिति प्रौढिमारूढः प्राह— ...वदव... नन्विन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः सतोः कथं तदभावो येनैवं परिह्रियत आनयना... तयोरिति। अधिष्ठानग्राहकेन्द्रियग्राह्यतामन्तरेणारोप्यस्यापरोक्ष-

---

कार्यम... ...ग चैतन्य में अध्यस्त (कल्पित = सिद्ध) होने से उस चेतन से अविद्या की वृत्ति द्वारा उसकी प्रतीति की सिद्धि होती है। यदि कहें कि प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रियसम्बन्ध होता है, और प्रतिभास स्वरूप वाले रजतादि के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध हो नहीं सकता है, अतः सम्प्रयोग (सम्बन्ध) के अभाव से रजतादि के अपरोक्षत्व की अनुपपत्ति है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अध्यस्त की अपरोक्षता में सम्प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती है। अन्यथा (अपेक्षा होने पर) आप को भी रजत और उसके संसर्ग के अपरोक्षत्व का अभाव प्राप्त होगा, क्योंकि दूरस्थ रजत के ज्ञान को मानने पर भी उसके साथ नेत्र का सम्बन्ध नहीं रहता है। यदि कहें कि दूरस्थ रजत, रजतज्ञान का विषय हमारे मत में नहीं होता है, किन्तु पुरोवर्ती वस्तु रजतज्ञान का विषय होता है, शुक्ति रजतरूप से भासती है, वह इन्द्रिय से संयुक्त रहती है, अतः इन्द्रियसंयोग से ही अपरोक्ष ज्ञान होने के कारण हमारे मत में अधिष्ठान शक्ति के साथ सम्प्रयोग से अपरोक्षत्व होता है, तो मैं कहता हूँ कि मेरे मत में भी वह अपरोक्षत्व तुल्य है। परन्तु स्वपक्षपात से अन्यत्र की यह बात है। यदि कहें कि रजत को इन्द्रिय अन्वयव्यतिरेक अनुविधायित्व है, अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्धि नियत प्रतिभासत्व प्रतीत होता है, अतः साक्षिभास्यत्व नहीं हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अधिष्ठान (इदन्ता) के ग्रहण में उपयोग (फल) होता है। अतः वह अन्वयव्यतिरेक रजतज्ञान में अन्यथासिद्ध (अहेतु) है। यदि शङ्का हो कि रजत का ज्ञान यदि इन्द्रियजन्य नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठान (इदन्ता) मात्र का ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है, तो स्पर्शन (त्वक्) इन्द्रिय से अधिष्ठान के गृहीत (ज्ञात) होने पर भी चाक्षुष (चक्षुजन्य) रजत का

सिद्धत्वात् । न चैवं सति स्पर्शनेनाधिष्ठाने गृहीतेऽपि चाक्षुषो रजतविभ्रमः स्यादिति वाच्यम्, सादृश्यदर्शनजन्ये विभ्रमे तेनैवेन्द्रियेण सादृश्यस्य ग्रहणनियमात् । अन्यथा तवापि तिक्तो गुड इति विभ्रमो न भवेत् । आरोप्यस्य रसस्य रसनेन्द्रियग्राह्यतया द्रव्यग्राहकस्पर्शनेन्द्रियागोचरत्वात् । तस्मात्तत्राधिष्ठानग्रहण एवेन्द्रियस्योपयोग इति त्वयापि वक्तव्यम् । तथा च न तत्प्रकृतेऽपि दण्डवारितम् । न च ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यातिप्रसङ्गः; इदमंशावच्छिन्नसाक्षिचैतन्यस्यैवाधिष्ठानज्ञानफलभूतस्य स्वमायाविवर्तरज-

---

तायां बाधकमाशङ्क्य परिहरति—**न चैवं सतीति** । न तत्रारोप्याधिष्ठानयोरेके-न्द्रियग्राह्यत्वनियमाद्भ्रमानुदयः, अपि तु सादृश्यजन्यभ्रमेषु सादृश्याधि[illegible]के-केन्द्रियग्राह्यतानियमात् तदभावापराधादित्याह—**सादृश्येति** । यदि [illegible] त्समानेन्द्रियग्राह्यत्वनियमदुराग्रहादुक्तरीतिर्न रोचेत, तं प्रति बाधकम[illegible] **तवापीति** । विभिन्नेन्द्रियग्राह्यतामेव हेतुमाह—**आरोप्यस्येति** । तदेवमधि[illegible]न्यां एवेन्द्रियोपयोगमुपपाद्य ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यात्यापत्तिमुक्तां परिहरति—**न [illegible]-ज्ञानेति** । कोऽयं ज्ञानभेदः ? किं ज्ञप्तिभेदः ? उतान्तःकरणवृत्तिभेदः ? नाद्य इत्याह—**इदमंशेति** । उभयोरपीदमंशावच्छिन्नैकसाक्षिवद्यत्वेन फलभेदाभावादित्यर्थः । द्वितीये

विभ्रम होना चाहिये । तो ऐसी शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि सादृश्यदर्शनजन्य विभ्रम में, तेन (अधिष्ठानग्राहक इन्द्रिय से ही) सादृश्य के ग्रहण का नियम रहता है, और त्वक् से सादृश्य का ग्रहण नहीं होता, अतः त्वक् गृहीत में चाक्षुषभ्रम की आपत्ति नहीं हो सकती है । अन्यथा (यदि ऐसा नियम आदि नहीं माने जायें) तो (तिक्तो गुडः) गुड तिक्त है, यह विभ्रम आप के मत में नहीं होगा, क्योंकि आरोप्य तिक्त रस की रसनेन्द्रिय ग्राह्यता से उसमें द्रव्यग्राहक स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्यता नहीं है, अतः अधिष्ठान ग्रहण में इन्द्रिय का उपयोग होता है, यह आप (तार्किक) को भी कहना होगा, ऐसा होने पर प्रकृत रजतभ्रम में भी इन्द्रिय से अधिष्ठान का ज्ञान हो, और साक्षि से रजत का ज्ञान हो, तो उसका दण्ड से वारण नहीं किया जा सकता है, और सादृश्य ज्ञान में चक्षु के कारण होने से चक्षुगृहीत में ही रजतभ्रम हो सकता है, स्पर्शन गृहीत में नहीं । तिक्त का भ्रम सादृश्य ज्ञान जन्य नहीं होता है, स्पर्शनेन्द्रिय से गृहीत गुड़ में रसना से तिक्त ज्ञान में कोई विरोध नहीं है । यदि कहें कि रजत भ्रम अधिष्ठान के चाक्षुष ज्ञान और रजत के साक्षी रूप ज्ञान द्वय के अ[illegible]कार से अख्याति मत का प्रसङ्ग होगा, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि वस्तुतः ज्ञानस्वरूप चेतनात्मा है, अन्तःकरणादि की वृत्तियाँ उसके व्यञ्जक होने से ज्ञान कही जाती है और 'इदं रजतम्' इस भ्रम में, इदमंशावच्छिन्न (इदमाकारवृत्तिनिष्ठ) जो साक्षि चैतन्य है, वही

तादिसिद्धित्वात् अन्तःकरणवृत्तिलक्षणज्ञानद्वयानङ्गीकारात्। तदेवं लक्षण-प्रमाणयोरनिर्वचनीये रजतादिविभ्रमे संभवात् तद्वद् द्वैतप्रपञ्चविभ्रमोऽपि वेदान्तवाक्यप्रमाणजन्याधिष्ठानाद्वितीयात्मविज्ञानाद्विलीयत इति सिद्धम्।

ननु कथं वेदान्तवाक्यानां सिद्धार्थबोधकत्वम्? सकलपदानां लोके कार्ये

प्राह—**अन्तःकरणेति**। न चैकत्रान्तःकरणपरिणामोऽपरत्राविद्यापरिणाम इति ज्ञान-भेदः; अविद्यापरिणामस्य ज्ञानाभासत्वेन ज्ञानताऽसिद्धेः। उक्तं हि—'अविद्या वेद्यैः सह भ्रमः' इति। वादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना**। भेद-प्रपञ्चस्याविद्यापरिणामतया शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयोपितत्वात् तदधिष्ठानाद्वैत-तत्त्वसिद्धिः फलमित्यर्थः।

इत्यनिष्टविपरीतबुद्धितत्तुच्छसद्विषयवाददूषणात्।
व्यक्तमुक्तमिह तत्तदुक्तिभिः शक्यनिर्वचनतानिवारणम्॥

वेदान्तवाक्यजन्याद्द्वितीयात्मविज्ञानादित्युक्तम्। तदसङ्गतम्; सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्याभावादिति कार्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**ननु कथमिति**। ननु भवतु लौकि-

---

अधिष्ठान ज्ञान में (इदमाकारवृत्ति में) फलभूत (प्रतिबिम्बित) होता है। और वही अपनी माया (अविद्या) के विवर्त रूप रजतादि की सिद्धि (ज्ञान) स्वरूप होता है। अतः ज्ञान का भेद नहीं रहता है। और उसका अभिव्यञ्जक अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान द्वय का अङ्गीकार नहीं किया जाता है, यदि कहा जाय कि अधिष्ठानांश की वृत्ति, नेत्रजन्य अन्तःकरण का परिणाम रूप होती है, और रजताकार अविद्या का परिणामरूप मानी जाती है। अतः वृत्तिद्वय रूप दो ज्ञान का अङ्गीकार है ही, तो यह दोष भी नहीं है, क्योंकि अविद्या-परिणाम के ज्ञानाऽऽभास (मिथ्या) होने से उसमें ज्ञानता असिद्ध है। अतः इस उक्त रीति से, अनिर्वचनीय रजतादि के विभ्रम में लक्षण और प्रमाण के सम्भव होने पर, उसीके समान, वेदान्तवाक्यरूप प्रमाणजन्य, अधिष्ठान स्वरूप अद्वितीय आत्मा के विज्ञान से द्वैतप्रपञ्च रूप विभ्रम भी विलीन होता है, यह सिद्ध हुआ।

वेदान्तवाक्यजन्य अद्वितीय आत्मज्ञान से प्रपञ्च विलय को सुनकर, पूर्व मीमांसा से शिक्षितों को संशय होता है कि वेदान्तवाक्यों को सिद्धार्थ की बोधकता कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती है, क्योंकि पदशक्ति ज्ञानाधीन वाक्यों की अर्थबोधकता होती है, और लोक में प्रथम वर्णित रीति से मध्यम वृद्ध के व्यवहार दर्शनादि द्वारा कार्य (साध्य) अर्थविषयक ही पदों की शक्ति का ज्ञान प्रथम बालक को होता है, उत्तम वृद्ध के 'घटमानय' इत्यादि वाक्यों से घटानयनादि क्रिया युक्त मध्यम वृद्ध को देखकर, प्रवृत्ति हेतु ज्ञान का अनुमान

एव सङ्केतिग्रहणात् लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इति न्यायात्। लोके च प्रवर्तकवचनश्रवणसमनन्तरं श्रोतुः प्रवृत्तिमुपलभ्य प्रवृत्तिलिङ्गेन प्रवर्तकप्रत्यये पदसमुदायस्य सामान्यतः सामर्थ्यमधिगम्य पुनरावापोद्वा-

---

कानां कार्ये शक्तिग्रहो वैदिकानां तु किमायातमित्यत आह —लोकावगतेति। निर्णीतं खल्विदं प्रमाणलक्षणे आकृत्यधिकरणे तदर्थचिन्तया। तथाहि —स्वरवर्ण-लोपागमादिवैलक्षण्यात् अनध्यायादिधर्मभेदाल्लौकिकवैदिकव्यपदेशाच्च स्पष्टभेद-यूपादिशब्दसाहचर्याच्च गोशब्दादेरपि लोकवेदयोर्भेदस्तद्भेदादश्वबालादिशब्देष्वर्था-न्तरदर्शनात् 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति, तेजो वै घृत'मित्यादिपूत्तानवहनादिविपरी-तलिङ्गाच्चार्थभेद इति प्रापय्य प्रतिविदधे, प्रत्यभिज्ञया तावदेकत्व गङ्क[illegible]पदानाम-वगम्यते। न च स्वरवर्णलोपागमादिवैषम्यमात्रात् प्रत्यभिज्ञायमानशब्द[illegible] तथार्थोऽपि स एव, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उत्तानवहनादि तु स्तुतिर्न गवादिभे[illegible] पादकम्, तस्माद्भेदकाभावादभेदावगमाच्च शब्दार्थयोरैक्यमेव कवेदयोरिति लो[illegible]न्यां दाधिकरणे स्थितम्। नन्वस्तु लोकगृहीतसङ्केतिशब्दानां वेदेऽपि बोधकत्वं कथमेतावता सिद्धार्थबोधकत्वाभावः? तत्राह —लोके चेति। अयमर्थः—गामानयेत्युत्तमवृद्ध-वचनश्रवणसमनन्तरं मध्यमवृद्धस्य गवानयनं दृष्ट्वा व्युत्पित्सुरित्थमाकलयति बालः, ज्ञानपूर्विकेयमस्य प्रवृत्तिः स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिवदिति। तथैव स्वात्मदृष्टान्तेन प्रवर्तकप्रत्यये शब्दपूर्वकत्वं चानुमाय तस्मिञ्छब्दानन्तर-भाविनि शब्दस्य शक्तिं गृह्णाति, तदनु च प्रयोगान्तरेषु गां बधानाश्वमानयेत्यादि-ष्वानयनगोशब्दयोरुद्धारे तदर्थयोरप्युद्धारात् प्रक्षेपे च प्रक्षेपदर्शनाद् अन्वयव्यतिरे-काभ्यां गवादिविशेषेषु पदविशेषस्य सामर्थ्यं गृह्णाति। सर्वत्र च कार्यान्वयाव्यभि-

---

करता है, और अन्वयव्यतिरेक से उस क्रियाज्ञान के कारण पदों को समझता है, कि यह प्रवृत्तिज्ञानजन्य है, फिर सर्वत्र कार्य (क्रिया) के सम्बन्ध को देखकर क्रियान्वित में शक्ति को समझता है, सिद्धार्थ में नहीं। यदि कहा जाय कि लौकिक शब्दों की शक्ति का ज्ञान उक्त रीति से हो, वैदिक शब्दों की शक्ति का ज्ञान सिद्धार्थ में भी होता है, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि (य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः) प्रायः जो लौकिक शब्द हैं, वही वैदिक शब्द हैं, तथा (लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः) लोक में ज्ञात सामर्थ्य वाले शब्द वेद में भी अर्थ के बोधक होते हैं। यह न्याय (युक्ति नियम) है और लोक में 'गामानय' इत्यादि प्रवर्तक (प्रवृत्तिजनक) वचन सुनने के बाद श्रोता की प्रवृत्ति को समझकर (देखकर) फिर उस प्रवृत्ति रूप लिङ्ग (हेतु) से प्रवर्तक ज्ञान में पदसमूह के सामान्य रूप से सामर्थ्य (शक्ति) को समझकर, फिर पदान्तर के आवाप (आदान) और वाक्यगत प्रथम पद के

राभ्यां च प्रत्येकं कार्यान्विते पदानां सङ्गतिग्रहणात्, आनयनादिलक्षण-कार्यविशेषे व्यभिचारेऽपि कार्यमात्रस्य सर्वत्राव्यभिचारात्तदन्वितस्वार्थेषु पदानां सामर्थ्याधिगमात्। न चान्तरेणापि व्यवहारं पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं श्रोतुर्मुखविकासादिना लिङ्गेन हर्षमनुमाय, तद्धेतुप्रत्यये वाक्यस्य सामर्थ्यं सामान्यतोऽधिगम्यावापोद्धाराभ्यां पुनः पुत्रादिपदानां तनयाद्यर्थविशेषेषु सङ्गतिग्रहो दृश्यते इति वाच्यम्; परिशेषाव-

---

चारात्तदन्वितपदार्थेषु सामर्थ्यं गृह्णाति, न पुनः पदार्थमात्रे, नाप्यन्यमात्रान्वितेषु, प्रथमावगताव्यभिचारिकार्यान्वयपरित्यागे प्रमाणाभावादिति। ननु कथं कार्यान्विते सामर्थ्यग्रहः, यावता पश्यानय बधानेत्यादावन्यदन्यत्कार्यं प्रतीयते अतो व्यभिचाराद् गवादिवदेव शब्दविशेषाभिधेयत्वमेव न सर्वशब्दसामर्थ्यप्रतियोगित्वमिति तत्राह— **आनयनादिलक्षणेति**। प्रकृत्यभिधेयबन्धनादिव्यभिचारेऽपि प्रत्ययाभिधेयानुगतकार्यमात्रं न व्यभिचरतीत्यर्थः। ननु यत्र प्रवृत्तिलिङ्गमवलम्ब्य सङ्गतिग्रहः, तत्रैवं भवतु; यत्र तु मुखविकासादिलिङ्गाद्धर्षहेतुसिद्धार्थमनुमाय शब्दस्य सङ्गतिग्रहः, यथा पुत्रस्ते जात इत्यादिषु तत्रावश्यं कार्यमन्तरेणैव सिद्धार्थे शब्दशक्तिराश्रयणीयेति तत्राह— **नचान्तरेणापीति**। न च वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह— **परिशेषेति**।

उद्धार (उद्वाप = त्याग) द्वारा कार्यान्वित अर्थ में प्रत्येक पदों की शक्ति का ज्ञान होता है, (अर्थात्, गामानय, घटमानय, पटमानय) इत्यादि में सर्वत्र आनय के दर्शन से घटादि पदों की आनयनान्वित अर्थ में शक्ति का ज्ञान होता है और गामानय में गौ के स्थान में घट का आवाप होता है, गौ का उद्वाप होता है, इससे पृथक्-पृथक् शक्ति का ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि (गामानय, गां बधान, गां पश्य) गौ लाओ, गौ को बाँधो, गौ को देखो, इन वाक्यों में सर्वत्र एक क्रिया नहीं रहती है, अतः सर्वत्र एक क्रिया के अन्वय के अभाव से घटादि के समान क्रिया में भी विशेष रूप से शक्ति का ज्ञान हो सकता है, सामान्य क्रिया अन्वित रूप से नहीं। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आनयनादि रूप क्रिया विशेष में व्यभिचार (सर्वत्र में अन्वयाभाव) होते भी सामान्य कार्य मात्र (प्रवर्तक भावना रूप व्यापार) का सर्वत्र अव्यभिचार (अन्वय) रहता है, अतः उससे अन्वित अपने-अपने अर्थों गवादि पदों के शक्ति का ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि आनयनादि रूप व्यवहार (व्यापार क्रिया) वाचक शब्द के बिना ही (ते पुत्रो जातः) तेरा पुत्र जन्मा, इत्यादि वाक्य सुनने के बाद, श्रोता के मुखविकासादि (प्रसन्नता) आदि लिङ्ग से उसके हर्ष (आनन्द) का अनुमान करके, फिर उस हर्ष के हेतु ज्ञानविषयक पद के सामर्थ्य को सामान्य रूप से समझकर, फिर आवाप उद्धार द्वारा पुत्रादि पदों की तनयादि रूप अर्थ

धारणानुपपत्तेः, प्रियासुखप्रसवादेरपि हर्षहेतोः संभवात्। यत्र च प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीति प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्प्रसिद्धेतरपदार्थोऽप्रसिद्धमधुकरपदार्थः समधिगतविभक्त्यर्थश्च यं मधुपाने कर्तारं पश्यति, तं मधुकरशब्दवाच्यत्वेन प्रप्येति। तत्रापि न कार्यपरताव्याकोपः,

---

अयमभिसन्धिः—न तावत्प्रवर्तकवाक्येष्विव सिद्धार्थवाक्येषु प्रवर्तकविशेषानुमापकानयनादिप्रवृत्तिवदस्ति हर्षहेतुविशेषानुमापकं प्रत्यक्षलिङ्गम्, मुखविकासादि तु हर्षहेतुमात्रमनुमापयति। तद्विशेषस्तु परिशेषात्प्रार्थनीयः। न चैवं संभवति, पुत्रजन्मवदेव सुखप्रसवादेरनेकस्योपप्लवमानत्वात् विनिगमनाभावादतः पुत्रशब्दस्य सङ्गतिग्रहो दूरोत्सारित इति। यथाहुः नाथाः प्रमाणपारायणे—'न च पारिशेष्येण तत्प्रतिपादकताध्यवसायः; भूतभविष्यद्वर्तमानानां सन्निहितव्यवहितानां संभवात् पारिशेष्यावधारणाया अत्यन्तदुष्करत्वा'दिति। स्यादेतत्—अस्ति प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यादिवाक्यं श्रुतवतः पुरुषस्य मधुकरप्रातिपदिकार्थमात्रमजानतः समयान्तरे सरसीरुहोदरविपरिवर्तिमधुकरमधुपानमवलोकयतः, प्रसिद्धपदसमव्याहारबलान्मधुकरशब्दस्य मधुकरशब्दार्थे सिद्धे सङ्गतिग्रह इति तत्राह—**यत्र चेति।**

विशेष में शक्ति (सामर्थ्य) का ज्ञान देखा जाता है। अतः कार्यान्वित ही में शक्तिज्ञान के नियम को नहीं माना जा सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि हर्ष के हेतु अन्य के अभाव से पुत्रजन्म का ही परिशेष रूप से अवधारण की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती है, प्रिया के सुख से प्रसवादि रूप हर्ष के हेतुओं का भी सम्भव है, अतः किसी अन्य कारण से हर्ष की सम्भावना होने पर उक्त रीति से पुत्र पद की सिद्धार्थ में शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि (प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति) विकसित कमल के मध्य में मधुकर मधु पीता है। इस वाक्य को सुनने पर, मधुकर शब्द के अर्थ को जानने वाला पुरुष भी, यदि कहीं मधुपान करते हुए भ्रमर को देखता है, तो विभक्त्यर्थ को कमलोदर मधु अर्थ को जानने वाला वह पुरुष प्रसिद्धार्थक पदों के सम्बन्ध से क्रियान्वयरहित मधुकर में मधुकर पद की शक्ति को ग्रहण करता है। अतः क्रियाऽन्वित में शक्तिग्रह का नियम नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वहाँ भी कार्यपरत्व का व्याकोप (बाध = अभाव) नहीं होता है। वैसी व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) को भी व्यवहारनिमित्तक मधु, कमलादि पद के कार्यविषयक प्रथम के शक्तिग्रह निमित्तक होने से उसके अनुसार ही कार्यान्वित रूप से व्यवस्थित (निश्चित) किया जाता है, अर्थात् अन्य पदों की शक्ति को व्यवहार द्वारा कार्यान्वित में समझने पर, उसके अनुसार ही क्रिया पद के अध्याहार से मधुकर पद की शक्ति को क्रिया अन्वित में समझा जाता है। यदि कहा जाय

तादृश्या अपि व्युत्पत्तेर्व्यवहारनिबन्धनप्रथमकार्यव्युत्पत्तिनिबन्धनतया तदानुगुण्येन व्यवस्थानात्, पुत्रस्ते जात इत्यादेश्च सिद्धार्थप्रयोगस्य लाक्षणिकत्वेनाप्युपपत्तेः। परस्परान्वयस्य कार्यान्वयाव्यभिचारात्। पुत्रस्ते जातस्तं पश्येति वक्तव्येऽपि कार्ये, विव्रियतामिति पदावधीरणेन

किमिति न कार्यपरताव्याघोर इति तत्राह—तादृश्या अपीति। सोऽपि हीतरपदानां सङ्गतिं गृहीत्वा तत्समभिव्याहारादस्य सङ्गतिं गृह्णाति। इतरपदानां च व्यवहारबलात्प्रवर्तककार्यान्विते प्रथमतेर सङ्गतिर्ग्रहीतव्या। न हि तथापि प्रसिद्धपदार्थसमभिव्याहारः शक्यपरिग्रहः, अनवस्थादोषस्यात्। तथा चोपजीव्यैकप्रयोजकानुगुण्येनात्राप्यध्याहृतकार्यान्विते शक्तिर्ग्राह्येत्यर्थः। कथं तर्ह्यगृहीतसङ्गतिकानां सिद्धार्थे प्रयोगः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिपदानाम्? तत्राह—पुत्र इति। ननु 'अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते' इति लक्षणालक्षणात् अभिधेयकार्यान्वयसंबन्धः सिद्धार्थान्वयस्य लिलक्षयिषितस्य वक्तव्यस्तत्राह—परस्परान्वयस्येति। कार्यान्वयस्य परस्परान्वयविशेषत्वादित्यर्थः। उक्तं च नाथेन—"कार्यान्वयो हि परस्परान्वयाव्यभिचारीत्यविवक्षिता कार्यान्वयं परस्परपदार्थान्वयविवक्षयापि लक्षणया लोकः शब्दं प्रयुङ्क्ते" इति। अर्थलक्षणया परिहृत्य वाक्यैकदेशलक्षणया च परिहरति—पुत्रस्ते जात इति। यथा हि द्वारं विव्रियतामिति प्रयोक्तव्ये द्वारमिति वाक्यैकदेशं प्रयुङ्क्ते, न

कि शक्तिज्ञानरहित पदों का (पुत्रस्ते जातः) इत्यादि का सिद्धार्थ में कैसे प्रयोग होगा, तो कहा जाता है कि वहाँ (पुत्रस्ते जातः) इत्यादि प्रयोग की लक्षणा से भी सिद्धि हो सकती है, जैसे कि (द्वारं विव्रियताम्) द्वार खोलो, ऐसा जहाँ कहना चाहिये, वहाँ 'विव्रियताम्' इस पद का अवधीरण (अनादर = त्याग) करके, द्वारम्, इतना ही का प्रयोग रहता है, तो 'विव्रियताम्' इस क्रियापद का अध्याहार होता है, वैसे ही प्रकृत में 'पुत्रस्ते जातस्तं पश्य' तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ उसको देखो, ऐसा कहना चाहिये वहाँ (पुत्रस्ते जातः) इतना ही लक्षणा दृष्टि से कहा जाता है, परन्तु लक्षण शक्यसम्बन्ध को कहते हैं, जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहाँ तीर के साथ प्रवाह का सम्बन्ध लक्षणा रूप होता है, उस द्वारा गङ्गा पद तीर का बोधक होता है, वैसा यहाँ यद्यपि साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तथापि परस्पर अन्वय को कार्यान्वयत्व का अव्यभिचार है (कार्यान्वय को ही परस्परान्वयविशेष रूपत्व है) अर्थात् पुत्रजन्म के पिता निमित्तक होने से जन्म द्वारा दोनों का सम्बन्ध है, और उस सम्बन्ध से तं पश्य इस अध्याहृत अर्थ का लक्षण से बोध होता है। तथा 'तं पश्य' इस अध्याहार से प्रेरणा (भावना) की प्रतीति होती ही है, उससे जनित दर्शन का विषय पुत्र होगा अतः पुत्र को दर्शनक्रिया द्वारा पिता के साथ और पिता द्वारा प्रेरणा के साथ सम्बन्ध रूप

द्वारमिति प्रयोगवत्प्रयोगोपपत्तेः। ननु न कार्यान्विते पदानां सामर्थ्यमध्यवसातुं शक्यम्, कार्यस्य कार्यान्तराभावेन कार्यपदस्य कार्यान्वितस्वार्थाभिधायित्वानुपपत्तेः, योग्येतरान्विताभिधाने च प्रयोजकद्वैविध्यापातादिति चेत्, न; कार्यान्वयान्वयिनि कार्यपरपदार्थान्विते वा पदशक्तिग्रहणाभ्युपगमे प्रयोजकद्वैविध्याप्रसक्तेः।

चैतावता विन्नियतामिति नाध्याहरन्ति व्यवहर्तारः, तद्वत्तं पश्येति वक्तव्ये कार्ये, तद्व्यतिरेकेण पुत्रस्ते जात इत्येवं प्रयुङ्क्ते। अध्याहाराच्च वाक्यं पूर्णमित्यर्थः। उक्तप्रयोजकस्य कार्यपदे व्यभिचारं शङ्कते—**नन्विति**। ननु तस्य योग्येतरान्विताभिधायित्वं भवत्वित्यत आह—**योग्येतरेति**। अनुगतं प्रयोजकं दर्शयन् परिहरति—**न कार्येति**। कार्यान्वयः कार्यरूपोऽन्वयस्तदन्वयि तदाधारः, स च कार्यमितरच्च भवति संबन्धस्य द्वयाधारत्वात्। तत्र सामर्थ्यं सर्वपदानामस्ति च कार्यपदस्येत्यर्थः। नयविवेककारोक्तं प्रयोजकमाह—**कार्यपरेति**। कार्यपरं यत्पदं तस्य योऽर्थः तेनान्विते सामर्थ्यमिति। तथा च न प्रयोजकभेदः, कार्यपदस्यापि कार्यपरगवादिपदार्थान्वितकार्यशक्तित्वादितरेषामपि कार्यपरलिङादिपदाभिधेयकार्यान्वितगवादिनिष्ठशक्तित्वादित्यर्थः।

लक्षणा से कार्यान्वयी का बोध होता है। फिर भी शङ्का हो कि कार्याऽन्वित में पदों की शक्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि 'घटमानय' यहाँ घट तो आनयन रूप क्रिया से अन्वित है, किन्तु आनयनादि रूप कार्य के कार्यान्तर (क्रियान्तर) के अभाव से कार्यवाचक पदों को कार्यान्वित अर्थ के वाचकत्व की अनुपपत्ति (असम्भव) है, अतः उनसे अन्वितार्थ विषयक शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस शङ्का का उत्तर है कि योग्येतरान्वित के कथन में भी पदों की शक्ति रहती है, तो कार्यान्वय योग्य इतर घट के साथ अन्वित कार्यवाचक में भी शक्तिग्रह हो सकता है, तो ऐसा मानने पर शक्तिग्रह में प्रयोजक (विषय रूप हेतु) की द्विविधता की प्राप्ति होगी। क्योंकि कहीं कार्यान्वित में शक्ति होगी, कहीं कार्ययोग्येतरान्वित में शक्ति होगी। इस शङ्का का समाधान है कि कार्यान्वयान्वयी (कार्य सम्बन्धसम्बन्धी) में वा कार्यपरपदार्थान्वित में पदों की शक्ति को मानने से प्रयोक द्वैविध्य की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि कार्य का जो अन्वय (सम्बन्ध) उस सम्बन्धी कार्य और कार्यसम्बन्धी अन्य दोनों होते हैं, क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्धी द्वय निष्ठ होता है। इसी प्रकार 'गामानय' इत्यादि में दोनों पद कार्यपरक (कार्यबोध के तात्पर्य से उच्चारित) रहते हैं, वहाँ, 'आनय' आदि साक्षात् कार्यपरक (कार्य बोधक) होते हैं। आनयनादि द्वारा गो आदि पद कार्य के बोधक होते हैं।

यत्तु कैश्चिदुच्यते कार्यान्वियान्वयिनि इत्यत्र किं कार्यं विशेषणमन्वयस्य ? किं वोपलक्षणम् ? नाद्यः; अन्वयस्य कार्यविशिष्टस्य सम्बन्धद्वयप्रसङ्गात्। युगपच्च कार्यान्वययोर्विशेषणता विशेष्यता चापद्येत। न चैतत्सर्वमुपपन्नम्, अलौकिकत्वात्। नापि द्वितीयः; कार्यस्य शब्दशक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति, तदसत्; कार्यान्वयान्वयिनीति कार्यस्य संबन्धव्यावर्तकमात्रताया विवक्षितत्वात्। तत्र यथा गवादिपदार्थानामकार्यरूपाणां तत्सं-

---

अत्र रत्नदीपावलीकृतः प्रथमं प्रयोजकं दूषयांबभूवुः, तदनुवदति—**यत्त्वित्यादिना**। **संबन्धद्वयप्रसङ्गादिति**। कार्यान्वियेत्यत्रैकः संबन्धस्तदन्वयीत्यत्रापर इत्यर्थः। किं च कार्यान्वियेत्यत्र कार्यस्य विशेषणत्वमन्वयस्य च विशेष्यत्वम्, अन्वयीत्यत्र चान्वयस्य विशेषणत्वं कार्यस्य विशेष्यत्वमिति युगपदेव विशेषणत्वविशेष्यत्वे प्रत्येकमनयोरन्योन्यापेक्षया स्यातामित्याह—**युगपच्चेति**। उभयमप्यस्तु, को दोषः ? इत्यत आह—**न चेति**। **शक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति**। विशेषणस्यैव क्रियान्वयित्वनियमात्कार्यस्य च विशेषणत्वाभावात् अन्वयवत एव शक्तिगोचरत्वं न तु कार्यस्येत्यर्थः। तदेतत्परिहरति—**तदसदिति**। नात्र कार्यस्यान्वयं प्रति विशेषणत्वोपलक्षणत्वे विवक्षिते अपितूभयानुगतव्यावर्तकत्वमात्रं विवक्षितम्। नचैतदसिद्धमित्याह—**तत्र यथेति**। कार्यंतदितरसंबन्धस्योभयनिष्ठत्वादितरवदेव कार्य-

---

यहाँ कोई शङ्का करते हैं कि (कार्यान्वियान्वयी) यहाँ कार्य के अन्वय के अन्वय वाला, यह अर्थ भासता है, वहाँ कार्य अन्वय का विशेषण है, अथवा उपलक्षण है वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि अन्वयविशिष्ट कार्य के अन्वय होने पर कार्य को दो सम्बन्ध की प्राप्ति होगी, एक विशेषण रूप सम्बन्ध कार्य का अन्वयरूप रहेगा, और विशेषण युक्त वह अन्वयी (अन्वय वाला) होगा, अतः दूसरा सम्बन्ध प्राप्त होगा, और एक ही काल में कार्य और अन्वय दोनों को विशेष्यता और विशेषणता भी प्राप्त होंगे, अर्थात् अन्वयविशिष्ट होने से अन्वय का विशेष्य कार्य होगा, फिर अन्वयी होने से अन्वय का विशेषण होगा, इसी प्रकार प्रथम विशेषण रूप अन्वय फिर विशेष्य होगा, और ये उभय-उभय रूपता सब उपपन्न (युक्त सिद्ध) नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ये अलौकिक हैं, लोक में प्रसिद्ध नहीं है। और दूसरा उपलक्षण पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि उपलक्षणरूप कार्य को शब्दशक्ति का विषयत्व नहीं होगा, कार्य से उपलक्षित अन्वित में शक्ति होगी, कार्य में नहीं, विशेषण को विधेय के साथ सम्बन्ध होता है, उपलक्षण को नहीं। यह शङ्का अयुक्त है। क्योंकि कार्यान्वियान्वयी, इस कथन में कार्य के अन्वय के प्रति विशेषणत्व वा उपलक्षणत्व विवक्षित नहीं है, किन्तु कार्य की सम्बन्ध व्यावर्तकमात्रता (सम्बन्धनिरूपकता मात्र) विवक्षित है। वहाँ जैसे अकार्य-

वन्धनिरूपकता तथैव कार्यस्यापि, संबन्धस्योभयनिष्ठत्वात्। इतरथा योग्येतरान्वयपक्षेऽप्यन्वययोग्येनेतरेणान्वयस्य विवक्षितत्वात्, अन्वयस्य विशेषणोपलक्षणपक्षयोरुक्तदोषानुषङ्गस्तुल्य एव स्यात्। उपलक्षणपक्षेऽपि कार्यस्य शब्दशक्तिविषयत्वं न व्याहन्यते, कार्योपलक्षितत्वस्यान्वयविशेषणतया कार्यस्यापि परम्परया शब्दशक्तिप्रतियोगित्वोपपत्तेः। एवमनभ्युपगच्छतः स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्येवमादिलक्षणमपि

मपि निरूपकमित्यर्थः। एतदेव प्रतिवन्द्या साधयति—**इतरथेति**। योग्येतर इत्यत्रान्वयं प्रतीति वक्तव्यम्, यत्किंचिद्योग्यताया अन्वयानुपपादकत्वात्। तथा चान्वययोग्येनेतरेणान्वित इत्यत्राप्यन्वययोग्यान्वययोरुक्तदूषणानतिवृत्तिः, अन्वयविशेषितयोग्यविशेषितत्वात्। अन्वयस्योपलक्षणत्वे त्वभिहितान्वयवादत्वापात इत्यर्थः। एतेन व्यावर्तकत्वप्रयुक्तदोषोऽपि परिहृत इत्यभिप्रायः।

विशेषविवक्षायामप्युपलक्षणपक्षे न दोष इत्याह—**उपलक्षणपक्षेऽपीति**। कार्योपलक्षितोऽन्वय इति कोऽर्थः? कार्यविशेषितोपलक्षितत्वविशेषितोऽन्वय इति। न चोपलक्षितत्वमप्युपलक्षणमेव; अनवस्थानात्। ततश्च परम्परया कार्यस्याप्यन्वयशरीरविनिवेशितया शब्दशक्तिगोचरत्वमित्यर्थः। यदि चोपलक्षणत्वापराधादेवास्यन्तमननुप्रवेश इत्याशयः; तर्ह्यनित्यत्वलक्षणमपि न सिद्ध्येत्। तत्र हि स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति लक्षणे प्रच्युतेर्विनाशस्योपलक्षणतया सत्तानन्वयात् केवलसत्तायोगित्वमनित्यत्वमपि स्यात्। तथा चात्मादेरनित्यत्वमित्यतिव्याप्तिस्तदेतदाह—**एवमनभ्युपगच्छत इति**। कार्यं लक्षणम्। इष्टप्रसङ्गतां परि-

---

स्वरूप गौ आदि पदार्थों को कार्यसम्बन्धनिरूपकत्व (साधकत्व) रहता है, वैसे ही कार्य को भी रहता है, क्योंकि सम्बन्ध उभयसम्बन्धी वृत्ति होता है। 'इतरथा' इस व्यवस्था को नहीं मानने पर, योग्येतरान्वय पक्ष में भी अन्वय योग्य इतर के साथ अन्वय के विवक्षित होने से अन्वय के विशेषण और उपलक्षण पक्ष में वर्णित दोष का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) तुल्य ही होगा और वस्तुतः उपलक्षण पक्ष में भी कार्य की शब्दशक्ति विषयता व्याहत (निवृत्त) नहीं होती है, क्योंकि कार्योपलक्षितत्व को अन्वय के विशेषण होने से उपलक्षक कार्य को भी परम्परा सम्बन्ध से शब्दशक्ति के प्रतियोगित्व (सम्बन्धित्व = विषयत्व) सिद्ध हो जाती है, उपलक्षित में शक्तिग्रह काल में उपलक्षण भी अवश्य स्मृत होता है, अतः उसमें शक्तिगृहीत होता है। ऐसा नहीं मानने वाले यदि उपलक्षण को शक्ति का विषय नहीं मानेंगे, तो (स्वप्रच्युति-उपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वम्) स्वनाशोपलक्षित सत्ता वाले में अनित्यत्व होता है। इत्यादि उनका लक्षण भी सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि प्रच्युति (नाश) कार्य (विधेय लक्षण) में उपलक्षणता के कारण अनन्वय

न निर्वहति; प्रच्युतेः कार्यानन्वये सत्तायोगित्वमात्रस्यैव लक्षणत्वादात्मादेरप्यनित्यत्वापत्तेः। स्वयमेव चानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाश इति प्रतिज्ञाय मोक्षदशायां व्यवहारहेतुत्वाभावात् लक्षणस्याव्याप्तिमाशङ्क्य व्यवहारहेतुत्वमुपलक्षणमित्यङ्गीकृत्योपलक्षितत्वमपि क्वचित्साध्यं यथा विनाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति स्वकीयग्रन्थे निबद्धत्वात्। एतेन विवादपदानि पदानि न कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमन्ति पदत्वात् कार्यपदवदित्यनुमानमपास्तम्; विशेषणोपलक्षणपक्षयोरुक्तदूषणोद्धरणात् कार्यवदस्यापि कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमत्त्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादपदानि पदानि कार्यपराणि पदत्वात्कार्यपदवदिति प्रयोग-

---

हरति—**स्वयमेवेति**। सिद्धे व्युत्पत्तिदूषणेन कार्यव्युत्पत्तिसमर्थनेन च तर्कबाधविपक्षबाधकतर्काभावाभ्यामनुमानमपि दूषितमित्याह—**एतेनेति**। यजेतेत्यादौ लिङादिव्यवच्छेदाय विवादपदग्रहणम्; इतरथा दृष्टान्तासिद्धेः। दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं चाह—**कार्यपदस्यापीति**। विशेषणोपलक्षणेत्येतदादिर्वायं ग्रन्थः। स्वपक्षेऽनुमानं दर्शयन् बाधमप्याह—**विवादपदानीति**। कार्यभावार्थपदयोः सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विवादपदग्रहणम्। ननु 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादीनि पदानि सिद्धब्रह्मस्वरूपपर्यवसितानि, विध्यश्रवणात्, विधिसन्निधिश्रवणाभावाच्च। द्रष्टव्य इत्यादेश्च विधित्वं न संभवति। उपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा संस्काराहम्, यथाहुः—'भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हती'ति। न चात्र प्रोक्षितव्रीहीणामिव विज्ञानसंस्कृत-

---

(असम्बन्ध) रहने पर, सत्तायोगित्व मात्र ही लक्षण अनित्य का होगा, कि जिससे आत्मादि में भी अनित्यत्व की प्राप्ति होगी और आपने स्वयं ही अनुभूति, अनुभूति के व्यवहार का हेतु प्रकाशस्वरूप है, ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर मोक्षावस्था में व्यवहारहेतुत्व के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति की आशङ्का करके, व्यवहारहेतुत्व को उपलक्षण मानकर, कहीं उपलक्षितत्व भी साध्य (साध्यान्वयी) होता है, जैसे विनाशोपलक्षित सत्तायोगित्व अनित्यत्व होता है, इस प्रकार अपने ग्रन्थ में निबन्धन (लेख) किया है। एतेन, इस सिद्धार्थ में शक्तिग्रह के खण्डन और कार्य में व्युत्पत्ति के प्रतिपादन से विवादास्पद पद, कार्यान्वयाऽन्वयी में शक्ति वाले नहीं हैं, पद होने से, कार्य पद के समान, यह अनुमान भी निरस्त हो गया। क्योंकि विशेषण उपलक्षण पक्ष के दोषों का उद्धार (वारण) कर दिया गया है, और कार्यपद को भी कार्यान्वयाऽन्वयी में शक्तिमत्ता होने से दृष्टान्त को साध्यविकलता (साध्यशून्यता) है। और विवादास्पद पद कार्यपरक हैं, पद होने से, कार्यबोधक पद के समान। इस प्रकार के प्रतिपक्ष का भी सम्भव है। अतः उक्त अनुमान अपास्त हो गया। यदि कहा जाय कि, पदत्व हेतु, 'विज्ञान-

संभवाच्च । न च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिपदेषु व्यभिचारः; तेषामपि द्रष्टव्य इत्यादिविधिशेषतया कार्यपरत्वात् । तदेवं सकलपदानां कार्यपरत्वान्न सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां प्रामाण्यमिति ।

अत्रोच्यते—न तावत्सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्त्यसंभवः । प्रागुन्नीतन्यायेन पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यादपि व्युत्पत्तिसंभवात् । न च तत्र पारिशेष्यावधारणानुपपत्तिः; यतः—

स्यात्मनः क्वचित्क्रतौ विनियोक्ष्यमाणत्वम् । शुद्धबुद्धब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानस्य समस्तप्रवृत्तिविरोधित्वात् । नापि कृष्णविषाणादिवद्विनियुक्तत्वम्, येन चात्वालप्रासनेनेव ज्ञानेनात्मा संस्क्रियते । नापि सुवर्णं भार्यमित्यत्र सुवर्णेन विभृयादितिवदात्मना पश्येदिति विनियोगभङ्गः; दर्शनस्य प्रमाणपराधीनतयाऽविधेयत्वात् । साक्षात्कारस्य फलतया विधानानर्हत्वात् । विधिपरत्वे च ब्रह्मासिद्धेः, अतिस्पष्टो व्यभिचार इति तत्राह—**न च विज्ञानमिति** । अयमभिसन्धिः—यद्यपि यथाश्रुते संस्कारपक्षोऽनुपपन्नस्तथापि सुवर्णभरणसक्तुहोमादिवाद्वनियोगभङ्गे न किंचिदस्ति बाधकम् । न च दर्शनाविधेयत्वं बाधकम्; ध्यानत्वात्तस्य विधेयत्वमायुष्मताप्यनुमन्यते । यथाह श्रुतिः—'निदिध्यासितव्यः' इति । न च ब्रह्मासिद्धिः; यूपादिवत्तत्सिद्धेरपि संभवात् । ततस्तद्विधिविषयापेक्षितमात्मानं सत्यज्ञानादिरूपं समर्थयन्ति सन्त्यमूनि पदानि न कार्यपरतामतिवर्तन्ते । सर्ववेदान्तप्रत्ययतया चाश्रूयमाणस्थलेष्वपि समर्थयन्त्येव विधिमिति । उपसंहरति—**तदेवमिति** ।

प्राथमिकव्युत्पत्तौ सिद्धे सिद्धायां प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात् व्युत्पत्तिः स्वत एव सिध्यतीति तां समर्थयते—न **तावदित्यादिना** । परिशेषोपपत्तिं श्लोकेनो-

---

मानन्दं ब्रह्म' इत्यादि सिद्धार्थक पदों में व्यभिचारी है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वे पद सब भी 'द्रष्टव्यः' आनन्दस्वरूप ब्रह्मात्मा दर्शनीय है, इत्यादि विधि के शेष (अङ्ग) कर्म हैं, अतः उनको भी कार्यपरत्व है । अत एव उक्त रीति से सब पदों को कार्यपरक होने से वेदान्तवाक्यों की सिद्ध ब्रह्म में प्रमाणता नहीं हो सकती है । यहाँ पूर्व पक्ष समाप्त हुआ ।

अत्रोच्यते (अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है) कि प्रथम तो यह कहना है कि सिद्धार्थ विषयक बालक की प्राथमिक व्युत्पत्ति (शक्ति ग्रह) का असम्भव नहीं है । क्योंकि पूर्व दर्शित सिद्धार्थ पद समभिहारादिन्याय से 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्य से भी व्युत्पत्ति का सम्भव है और वहाँ पुत्र जन्म रूप ही हर्ष हेतु की परिशेषता के अवधारण (निश्चय) का भी असम्भव नहीं है । क्योंकि—

दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा ।
वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः ॥ १५ ॥

यो हि परिदृष्टचैत्रप्रहर्षहेतुपुत्रजन्मा पुत्रपदालिप्तकुङ्कुमाङ्कितपट-प्रदर्शकेन वार्ताहारेण सह चैत्रसकाशं गतः, तस्य दिष्टचा वर्धसे चैत्र ! पुत्रस्ते जात इति वार्ताहारव्यवहारश्रवणसमनन्तरं समुन्मीलत्पुलकसकल-कलेवरमुत्फुल्लगण्डयुगलमुल्लसितनयनयुगलं चैत्रमवलोकयतस्तत्प्रमोद-लिङ्गेन स एव नूनमनेन मदवलोकितः सुतसंभवः प्रमोदहेतुरेतस्माद्वाक्याद-धिगत इति परिशेषावधारणोपपत्तेः । न च प्रियासुखप्रसवस्यापि संभवा-

पनिबध्नाति—**दृष्टेत्यादिना** । दृष्टा चैत्रसुतोत्पत्तिर्येन तस्य दृष्टचैत्रसुतोत्पत्ते-स्तत्पदेन तस्य पुत्रस्य पदेनाङ्कितं चिह्नितं वासो वस्त्रं यस्य हस्तेऽसौ तत्पदा-ङ्कितवासास्तेन तत्पदाङ्कितवाससा वार्ताहारेण सह यातस्याविदितार्थभावस्य च पुंसः परिशेषविनिश्चितेः संभवादित्यर्थः । अत्र च विज्ञातपुत्रजन्म विहायाविज्ञातहर्ष-हेतुकल्पनमयुक्तमिति दर्शयितुं दृष्टेत्यादिविशेषणम् । विज्ञातादपि प्रियासुख-प्रसवाद्विशेषदर्शनार्थं तत्पदाङ्कितेति । अस्यैव श्लोकस्यार्थं विवृणोति—**यो हीत्यादिना** । यत्तु तत्पदाङ्कितवाससेति विशेषणस्य प्रयोजनमुक्तं तद्दर्शयति शङ्कानिरासपूर्वकम्—**न च प्रियेति** । तत्र किं पुत्रजन्मैव तत्सूचकम् ? किं वान्यत् ? आहो संभावनामात्रात्तच्छङ्का ? आद्ये प्रथमप्रतीतपुत्रजन्मपरित्यागे

चैत्र के पुत्र की उत्पत्ति को देखने वाला, यदि चैत्रपुत्र पद से अङ्कित (चिह्नित) वस्त्र वाले वार्ताहार (सन्देशदायक) के साथ चैत्र के पास में जाता है, तो उसको चैत्र के प्रसन्नता का हेतु पुत्र का जन्म ही परिशेष रूप से निश्चित होता है ॥ १५ ॥

जो मनुष्य चैत्र के प्रहर्ष के हेतु उनके पुत्र के जन्म को देखा है, वह पुत्र पद में आलिप्त कुङ्कुमाङ्कित पट के प्रदर्शक वार्ताहार के साथ चैत्र के पास में प्राप्त होकर, चैत्र ? भाग्य से बढ़ते हो, तेरा पुत्र जन्मा है, इस प्रकार के वार्ता-वाहक के कथन-श्रवण के बाद देखता है कि चैत्र का सम्पूर्ण देह समुन्मीलत्पुलक (रोमाञ्च) वाला हो गया है, दोनों कपोल (गाल) खिल गये हैं, नेत्र दोनों विकसित हैं । इस प्रकार से देखने वाले उस पुरुष को उस प्रमोद के लिङ्ग (चिह्न) से निश्चय होता है कि इस चैत्र ने मुझ से अवलोकित (दृष्ट) प्रमोद हेतु पुत्रजन्म को इस वार्ताहार के वाक्य से अवश्य समझा है । इस प्रकार परिशेष की सिद्धि होती है । प्रिया के सुखपूर्वक प्रसवरूप आनन्द हेतु के भी सम्भव होने से परिशेष के अवधारणा की अनुपपत्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि पुत्रपदाङ्कित पट प्रदर्शन रूप जन्म लिङ्ग के समान, प्रियासुख प्रसव के सूचक

त्परिशेषावधारणानुपपत्तिः; पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियासुखप्रसवसूचकाभावात्। न च विद्यमानतामात्रेण तत्रापि शङ्कावकाशः; कार्येऽप्युपानच्छत्रदण्डाद्याहरणलक्षणावान्तरकार्यदर्शनेन शङ्काप्रसरस्य दुर्निवारत्वात्। एवमुक्तरीत्या सिद्धेऽपि प्राथमिकव्युत्पत्तेः सभवात्प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारनिवन्धनव्युत्पत्तावपि सिद्धार्थपरता न व्याहन्यते, मुख्यार्थविषयतया सिद्धेऽपि प्रयोगयोगे लाक्षणिकत्वकल्पनानुपपत्तेः।

कारणाभावात् तत्रैव सङ्गतिग्रहो युक्तः। द्वितीयं निषेधति—**पुत्रपदाङ्कितेति**। तृतीयं निषेधति—**च न विद्यमानतेति**। विशेषनिर्णयकारणाभावेऽपि संभावनामात्रेण चेद्विपरीतशङ्कोदयस्तर्हि गवानयनवदेव छत्राद्यानयनमपि तेन क्रियते इति तेषामपि शब्दार्थताशङ्कया अनिर्णयः स्यादित्यर्थः। एतेन तदपि निरस्तम्। यदाह भवनाथः—'नच स्वाधिगततत्प्रिये तद्धीरिति गलत्वरायदधृतिस्तत्रैवानेकस्य संभवात् सुतो जातः, सुता ते॰सुखं प्रियेरयादेरिति' एवं सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्तिसमर्थनेन। तत्पूर्वप्रसिद्धार्थसमभिव्याहारनिवन्धनव्युत्पत्तिरपि समर्थित्याह—**एवमुक्तरीत्येति**। यत्तु सिद्धार्थपरपदप्रयोगो लाक्षणिक इत्युक्तम्, तत्राह—**मुख्यार्थेति**।

का अभाव है। यदि कहें कि सुखप्रसवादि की विद्यमानता मात्र से उनकी शंका हो सकती है कि जिससे परिशेष का अवधारण नहीं हो सकेगा। तब तो 'गामानय' इत्यादि कार्य में भी उपानत्, छत्र, दण्डादि के आनयन स्वरूप अवान्तर (गौण) वर्तमान अनेक कार्य के देखने से आनयन कर्ता में शङ्का प्राप्ति की दुर्निवारिता होगी। अतः इस उक्त रीति से सिद्धार्थ में भी प्राथमिक व्युत्पत्ति की सिद्धि सम्भव होने से (विकसित कमल में मधुकर मधु पीता है) इत्यादि प्रसिद्ध पद सम्बन्धनिमित्तक भी व्युत्पत्ति होती है और उसमें भी सिद्धार्थपरता का व्याघात (अभाव) नहीं होता है और जो कहा था कि सिद्धार्थक पद लाक्षणिक प्रयुक्त होते हैं, यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि मुख्यार्थक रूप से प्रयोग के योग (युक्तता = सम्भव) होते लाक्षणिकत्व की कल्पना नहीं हो सकती है। अन्वयानुपपत्ति तात्पर्यानुपपत्ति रूप लक्षणाबीज के विना लक्षणा नहीं मानी जा सकती है। यदि कहा जाय कि (पुत्रस्ते जातः) इत्यादि प्रयोग करने वाले को प्रथम व्युत्पत्ति काल में (पुत्रं पश्य) पुत्र को देखो, (तं गृहाण) उसको धरो, इत्यादि क्रियाऽन्वित स्वार्थ (सिद्धार्थ) में शक्तिग्रह (ज्ञान) होता है। अर्थात् क्रियाऽन्वित में सामान्य रूप से शक्ति को जान कर, आवापोद्वाप से विशेष रूप से जानकर प्रयोक्ता प्रयोग करता है, अतः वह स्वशक्तिग्रहानुसार लाक्षणिक प्रयोग रहता है।

नच प्रथमावगतकार्यान्वियानुरोधेन लक्षणाश्रयणम्; प्रथममपि 'पुत्रस्ते देशान्तरादागतः' 'पुत्रस्ते गच्छति,' 'पुत्रस्ते सुखी,' 'पुत्रस्ते निरामयः' इत्यादिप्रयोगेष्वावापोद्धाराभ्यां पुत्रादिपदानां स्वस्वार्थे व्युत्पत्तेरुपपत्तेः। प्रथमव्युत्पत्त्यनुसारेण च लक्षणाश्रयणे लोके भावार्थकार्ये व्युत्पत्तेर्वेदे तदसंभवात्, यजेतेत्यादिशब्दानामबोधकताप्रसङ्गः। कामाधि-

---

ननु प्रथमं प्रयोक्तुः व्युत्पत्तिकाले पुत्रादिपदानामावापोद्धारेण कार्यान्वितस्वार्थे सङ्गतिग्रहः पुत्रं पश्येत्यादिकार्यवाक्येषु कृतस्तदनुरोधात्स्वप्रयोगसमयेऽपि सिद्धार्थप्रयोगो लाक्षणिक इति तत्राह—**नच प्रथमेति। इत्यादिप्रयोगेष्विति।** सिद्धार्थप्रयोगेष्वित्यर्थः। किंच प्रथमं योग्येतरविशेषकार्यान्विते व्युत्पन्नस्यान्यत्र योग्येतरमात्रान्विते प्रयोगो लाक्षणिक इति यदि ब्रूषे, तर्हि लोके धात्वर्थात्मककार्ये व्युत्पन्नस्य वेदे तस्य लाक्षणिकतया कार्यतानङ्गीकारात् लिङादेर्लाक्षणिकत्वं प्रसज्येत। तथा काम्यनियोगे फलदातृनियोगे व्युत्पन्नस्य नित्येषु लाक्षणिकतापातः। तथा नित्यनैमित्तिकविधिषु स्वतन्त्रकार्ये गृहीतसङ्गतिकस्य तदङ्गप्रयाजादिषु परतन्त्रकार्ये लाक्षणिकतापातः। यद्यप्यनुवादाशङ्कया न झटिति नियोगान्तरबोधकत्वमङ्गवाक्यगततिङादेरिति प्राभाकरराद्धान्तस्तथाप्यङ्गनियोगाभिधायित्वमिष्यत एवारादुपकारकाङ्गवाक्येषु, इतरथा तदुपकारासंभवाद्, अनन्यविषयत्वाच्च। सन्निपत्योपकारकेषु तदुभयाभावादनुवादकत्वमेवेति तेदेतदाह—**प्रथमव्युत्पत्तीत्यादिना। अबोधकतेति।** अपूर्वस्य वाच्यभावार्थसंबन्धाद्दृष्टेर्लक्ष्यत्वस्याप्यभावादित्यर्थः।

यह कहना भी नहीं बनसकता है कि प्रथमावगत कार्यान्वयानुसार से लक्षणा का आश्रयण अवश्य किया जाय। क्योंकि प्रथम भी (पुत्रस्ते देशान्तरादागतः) तेरा पुत्र देशान्तर से आया है। तेरा पुत्र जाता है, तेरा पुत्र सुखी है, तेरा पुत्र निरामय (अरुग्ण) है, इत्यादि सिद्धार्थ प्रयोगों में भी आवापोद्वाप द्वारा पुत्रादि पदों को अपने-अपने अर्थविषयक शक्तिग्रह होता है और वस्तुतः प्रथम कार्यान्वित ही में शक्तिग्रह को मानकर और उस प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वत्र लक्षणा मानने पर, वैदिक (यजेत) यज्ञ से स्वेष्ट को सिद्ध (प्राप्त) करे। इत्यादि शब्दों को अनवबोधकता प्राप्त होगी। अर्थात् उनमें शक्ति का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि लोक में (घटमानय) इत्यादि वाक्यों से (भावार्थ) धात्वर्थ रूप कार्य (क्रिया) विषयक व्युत्पत्ति (शक्ति ज्ञान) होती है। और वेद में उस धात्वर्थ रूप क्रियाविषयक व्युत्पत्ति का अभाव रहता है, अर्थात् वेद में धात्वर्थ करण रूप से अन्वित होता है और अदृष्ट फल साधक होता है और वह लिङ्लोटादि का वाच्य होता है। लोक में धात्वर्थ विषयक गृहीत शक्ति से लक्षणा द्वारा उसका बोध नहीं हो सकता अतः वह स्वतन्त्र अदृष्ट स्वरूप कार्य का बोधक हो सकता है।

कारे च प्रथमं कामसाधने नियोगे लिङ्गादिपदानां व्युत्पत्तेः, नित्यनैमित्तिकाधिकारे लाक्षणिको लिङ्गादिप्रयोगः स्यात्। एवं नित्यनैमित्तिकयोः स्वतन्त्रकार्ये पदशक्त्यधिगतेरङ्गवाक्ये परार्थकार्ये लिङादिपदप्रयोगो मुख्यो न स्यात्।

अथावधीरितभावार्थकामसाधनस्वतन्त्रविशेषं कार्यमात्रं व्युत्पत्तिगोचरः, सर्वत्र तस्याव्यभिचारात् लाघवाच्चेति मतम्, तर्हीहापि योग्येतरान्विते पदशक्तेरव्यभिचाराल्लाघवाच्चेति समः समाधिः। एवं च सति कार्यान्वयान्वयिनि पदशक्तिरित्यपास्तम्; अन्वितमात्रस्य प्रयोजकत्वे संभवति कार्यान्वयान्वयिनीति कल्पनायां गौरवात्। न च कार्यपरपदार्था-

---

अथ तेषां संग्रहायानुगतरूपे व्युत्पत्तिरिति ब्रूषे? तर्हि सर्वसंग्रहार्थं योग्येतरान्विते व्युत्पत्तिरित्येव स्वीकुरु, सर्वानुगतप्रयोजकलाभात् लाघवाच्चेत्याह—**अथावधीरितेति**। अवधीरितः। परित्यक्तः भावार्थरूपकामसाधनादिविशेषो येन तत्तथोक्तम्। एवं सतीत्यस्यैव विवरणमन्वितमात्रस्येति। द्वितीयं प्रयोजकं दूषयति—**न चेति**। किं कार्यपरं यत्पदं तदर्थेनान्वित इति विवक्षितम्? उत कार्यपरो यः

लक्षणा द्वारा बोधता बाधक माने तो अबोधकता की प्राप्ति होगी। क्योंकि लिङ्थर्थ अपूर्व (अदृष्ट) का धात्वर्थ भाव के साथ सम्बन्ध नहीं देखा गया है, अतः लक्ष्यत्व नहीं हो सकता है। कथञ्चित् सम्बन्ध माने तो लिङादि अदृष्ट के वाचक नहीं रहेंगे। लाक्षणिक होगें, और लाक्षणिक माने नहीं जाते हैं। और कामविधि प्रकरण में प्रथम कामसाधन अदृष्टविषयक लिङादि का शक्तिग्रहण होगा, तो नित्य-नैमित्तिक अधिकारविधि में लाक्षणिक लिङ्गादि का प्रयोग प्राप्त होगा। इसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मों के स्वतन्त्र कार्य में पद की शक्ति के ग्रहण होने पर, प्रयजादि पदार्थ कार्य वाले अङ्ग वाक्यों में लिङादि पद का प्रयोग मुख्यार्थक नहीं होगा।

यदि कहा जाय कि लौकिक भावार्थ कामसाधन (अपूर्व) स्वतन्त्र नित्यापूर्व रूप विशेषों का अवधीरण (अनादर=त्याग) करके सर्वसंग्रह के लिये कार्यमात्र व्युत्पत्ति का विषय होता है, क्योंकि कार्य का सर्वत्र अव्यभिचार (अन्वय) होने से लाघव है, तो इस सिद्धार्थ व्युत्पत्तिवाद में भी योग्येतरान्वित में पदशक्ति के अव्यभिचार से और लाघव से यही पक्ष युक्त है, यह समाधान तुल्य है, अर्थात् ऐसा होने से कार्यान्वयी में शक्ति पक्ष अपास्त हुआ। क्योंकि अन्वयी मात्र में शक्तिग्रह के द्वारा प्रवृत्तिप्रयोजकता होते कार्यान्वयी में शक्ति की कल्पना में गौरव है। अर्थात् मीमांसक विशेष कहते हैं कि व्यवहार विशेष के लिये शब्द का प्रयोग होता है कि जिससे बालक को शक्तिग्रह होता है और वह शब्दप्रयोग केवल सिद्धार्थक

न्वितस्वार्थे शक्तिः; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—कार्यपरत्वं पदधर्मः ? किं वा पदार्थधर्मः ? नाद्यः; सर्वपदानां लिङादिपदवत्कार्यपरत्वे पर्यायितापत्तेः । अथ पर्यायतापरिहाराय मुख्यगौणसाक्षात्परम्परादिभेदेन कार्यपरतां विशिष्यात्, न तर्ह्येकप्रयोजकत्वलाभः, मुख्यादिविशेषणानां सर्वपदेष्वेकरूपताभावात् । न हि सिंहो देवदत्त इत्यादौ सिंहादिशब्दानां मुख्यगौण-

---

पदार्थस्तदन्वित इति विवक्षितम् ? इति विकल्प्य आद्यं दूषयति—**सर्वपदानामिति** । ननु कार्यपरत्वेऽपि न कार्यपर्यायिता कार्यपदं मुख्यवृत्त्या तत्परमितरद् गौण्या, अथवा कार्यपदमव्यवधानेन तत्परमितरद्व्यवधानेनेत्यवान्तरविशेषादित्याशङ्क्य परिहरति—**न तर्हीति** । न हि मुख्यवृत्त्या तत्परत्वमेव जघन्यवृत्त्यातत्परत्वमेवमितरदपीत्यर्थः तदेव निदर्शयति—**न हीति** । किमिति तथा न स्यादित्यत

नहीं होता है, किन्तु क्रिया-अन्वित ही सिद्धार्थक का प्रयोग होता है, तहाँ याग होमादि में जहाँ स्वर्ग साधनता बोधित होती है, तहाँ क्षणिक क्रिया रूप यागादि से स्वर्गादि हो नहीं सकते हैं, अतः स्थायी अपूर्व लिङाद्यर्थ रूप कार्य (अदृष्ट) को मानते हैं । वेद में उस कार्य से अन्वित अर्थ को वेदवाक्य कहा जाता है । मतान्तर में क्रियान्वयी में नहीं किन्तु सर्वत्र इतरान्वयी में शक्तिग्रह माना जाता है, इतर क्रिया हो, या अन्य हो इसमें आग्रह नहीं रहता है, और वस्तुतः शेश्वरवाद में अदृष्ट की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है (स सर्वधीवत्यनुभूतसर्वः) वह ईश्वर साक्षी स्वरूप से मायावृत्ति से सब प्राणी की बुद्धिवृत्ति से सबको जानता है, वहाँ सब की बुद्धिवृत्ति रूप ज्ञान नष्ट होकर भी कर्मादि फलपर्यन्त वासनारूप से वर्तमान रहता है, वहीं जन्मायु भोगादि फलप्रद होता है । विलक्षण अपूर्व मानने की आवश्यकता नहीं रहती है, इत्यादि । यदि कहें कि इतरान्वित में शक्ति होते भी कार्यपरक इतरान्वित में ही शक्ति रहती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि यह विकल्प (विचार) को नहीं सह सकता है । क्योंकि विचार करिये कि कार्यपरत्व पद का धर्म है, या अर्थ का धर्म है । वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि सब पदों के कार्यपरक (कार्यबोधक) होने पर लिङादिपद के समान सब होने से पर्यायिताऽऽपत्ति (एकार्थतापत्ति) होगी । यदि पर्यायता के निवारण के लिये मुख्य, गौण परम्परादि भेद से कार्यपरता को विशेषित (भेदयुक्त) करें कि लिङादि मुख्य (शक्ति) वृत्ति से साक्षात् कार्यबोधक होते हैं और अन्य पद लक्षणा गौण वृत्ति या परम्परा से क्रिया के बोधक होते हैं । तब एक प्रयोजकता (हेतुता) का लाभ (ज्ञान) नहीं, होगा, क्योंकि मुख्यादि विशेषणों की सब पदों में एकरूपता नहीं रहती हैं जैसे कि (सिंहो देवदत्तः) देवदत्त सिंह है । इत्यादि वाक्यों में सिंहादि शब्दों को मुख्य और गौण अर्थों में तत्परत्व एक स्वरूप नहीं है । यदि एक स्वरूप

गोस्तत्परत्वमेकरूपम्, तथा सति देवदत्तादेरपि केसरादिमत्त्वप्रसंगात्। नापि द्वितीयः; पदार्थानां कार्यबोधकत्वेन तत्परत्वाभावात्। अथ कार्यशेषत्वं कार्यपरत्वं पदार्थानाम्; तर्हि कार्यशेषत्वं कार्यपदार्थस्य नास्तीति तदन्विताभिधायिकारकपदानां कार्यपरपदार्थान्विताभिधायित्वं न स्यादिति न किंचिदेतत्। यत्पुनरनुमानं कार्यपराणि पदानि पदत्वात्कार्यपदवदिति, तदपि 'न पिबेन्न हन्यादि'त्यादिनिषेधवाक्यस्थपदैरनैकान्तम्। न हि तत्र

आह—तथा सतीति। मुख्यवृत्त्या तत्परत्वं हि केसरादिमत्त्वमादाय तदेव चेत्तत्परत्वं गौणेऽपि स्यात्, स्यादेव केसरादिमत्त्वमनीत्यर्थः। द्वितीये किं पदार्थानां कार्यपरत्वं कार्यबोधकतया? उत साधकतया? नाद्यः; पदार्थानां बोधकत्वाभावात्। बोधकत्वे वा धूमादिवत्। लिङ्गतयाऽनुमेयत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह—पदार्थानामिति। द्वितीयं शङ्कते—अथेति। दूषयति—तर्हीति। अयमर्थः—न कार्यस्य कार्यशेषत्वं भेदाभावादतस्तदन्वितार्थाभिधायिनां गवादिपदानां नोक्तरूपवत्तेति। निषेधवाक्येषु साध्याभावं दर्शयन्ननैकान्तिकतां स्फोरयति—न हि तत्रेति। प्राप्ता या हननक्रिया तन्निषेधादनिष्टसाधनतावबोधाच्चपुरुषस्यौदासीन्यं तद्व्यतिरेकेणेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—सर्वत्र भावार्थनिष्ठो विधिर्दध्याद्यात्रपि भावार्थनिष्ठस्यैव सतो विधेरन्यतः प्राप्तत्वात्तस्याप्राप्ते शक्तिमात्रमुपसंक्रामति।

हो तो देवदत्त को भी केसरादिमता प्राप्त होगा। कार्यपरत्व पदार्थ विशेषण है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि कार्यान्वित पदार्थों को कार्यबोधकत्व रूप से कार्यपरत्व का अभाव रहता है, कार्यादि के बोधक पद होते हैं, अर्थ नहीं। धूमादि लिङ्ग के समान यदि बोधक पदार्थ होंगें, तो कार्य अनुमेय हो जायगा। यदि कहा जाय कि कार्यान्वयी पदार्थों को कार्यशेषत्व (कार्याङ्गत्व) कार्यपरत्व है। तब तो शेषकार्यस्वरूप पदार्थ को कार्यशेषत्व नहीं रहता है, अतः उसके कार्यपरत्व के अभाव से उससे अन्वितार्थ के वाचक कारक पदों को भी कार्यपरक पदार्थान्वितार्थवाचकत्व नहीं होगा अतः यह पक्ष कुछ नहीं है और जो यह अनुमान का प्रयोग किया था कि (कार्यपरक पद हैं, पदत्व होने से, कार्यपद के समान) यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि (न पिबेत् = न हन्यात्) मद्यादि अपेय नहीं पिये, प्राणी का हनन नहीं करे। इत्यादि निषेध वाक्यस्थ पदों के द्वारा उस पदत्व को व्यभिचार है, यहाँ पदत्व रहता है, और प्राप्त क्रिया पान हनन की निवृत्ति रूप उदासीनता से भिन्न कोई अनुष्ठेय (कर्तव्य) क्रिया नहीं प्रतीत होती है। भावार्थ विधेय होता है। हननादि के प्रागभाव के अनादि होने से यह अनुष्ठेय नहीं हो सकता है। नञ् का वही अर्थ है, प्रध्वंस विधेय नहीं हो सकता है, प्राप्त का नाश क्षणिक होने से स्वयं निवृत्त हो जाता है। यदि कहा जाय कि (नेक्षेतो-

प्राप्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण किंचिदनुष्ठेयमवबोध्यते, हननप्रागभावस्यानादित्वेनाननुष्ठेयत्वात्। न हन्यामिति संकल्पस्य विधारकप्रयत्नस्य वा विधानाभ्युपगमे तस्याप्रतीयमानतया लक्षणाप्रसङ्गात्। प्राप्तक्रिया-

---

'यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादवपि द्रव्यदेवतासंबन्धानुमितयागविषयत्वमेव, तदिहाभावो न भावार्थः ततस्तद्विषयावृत्तौ तद्घातविधिरपि व्यावर्तत इति। तदिदमाह—**अनुष्ठेयमिति**। किं च प्रागभावो ह्यत्र नञाभिधेयः प्रध्वंसे वैयर्थ्यात्, क्षणिकत्वात्क्रियायाः स्वत एव निवृत्तेः, स चानादिरननुष्ठेय इत्याह—**हननेति**। ननु यथा 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्र नेक्षिष्य इति सङ्कल्पविधिपरत्वं व्यवस्थितं "तदुत्सर्गे कर्मणीत्यधिकरणे" तद्वदिह पर्युदासवृत्त्या हननविरोध्यहननसंकल्पो विधीयताम्, अथवा हननोद्यतदेहेन्द्रियादेर्विधारकसमाग्रीघटं कंचन प्रयत्नमन्तरेण नाकस्मादौदासीन्यं भवितुमर्हतीति स एवात्र विधीयतामिति, तत्राह—**नेति**। न तावदत्र संकल्पः श्रौतः। किमिति न श्रौतः? यावता तदन्यद्विरोधितदभावा यथायथं नञोऽर्थाः स्वर्यन्ते तद्विरोधी च संकल्प इति चेन्न, अभावस्यैव मुख्यार्थत्वात्। इतरयोस्तु तदनुपङ्गादेव लक्षणादिवृत्त्यन्तरेण प्रयोगोपपत्तेः। इतरथाऽनेकत्र शक्तिकल्पनाप्रसङ्गात्। एवं प्रयत्नोऽपि न श्रौतः, श्रौतसंभवे च लक्षणा न युक्ता। एतेन नञः प्रकृत्यर्थसंबन्धेनाहननं कुर्यादिति कल्पनमपि प्रत्युक्तम्। नेक्षेतेत्यत्र तु तस्य व्रतमित्युपक्रमादनुष्ठेयार्थविधिपरतावगमात् लक्षणयापि पर्युदासवृत्तिराश्रितेति वैषम्यादित्यर्थः। तत्किमिदानीमकस्मादेव हननोन्मुखानां देहेन्द्रियाणां तत उपरम इति? नेत्याह—**प्राप्तेति**। अयं भावः—इष्टसाधनत्वज्ञानात्प्रवृत्तिरनिष्टसाधनत्वज्ञानाच्च निवृत्तिरित्यनन्तरमेव समर्थयिष्यते। तदिह यद्धन्यादिति प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां रागतः प्राप्तहनने इष्टसाधनतामनूद्य तन्नेति निषिध्यतेऽनर्थसाधनता च बोध्यते, तत्रापि प्रत्यक्षविरोधात् सहसेष्टसाधनताऽभावं बोधयितुमशक्नुवानः प्रतिषेधस्तदधिगमाय तामनर्थसाधनतामेवावेदयति, ततश्च विरलरागस्यानिष्ट-

---

धन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन) उदय अस्त समय के सूर्य को कभी नहीं देखूंगा, दीक्षित पुरुष ऐसा सङ्कल्प करे, इत्यादि विधि के समान, न मारूंगा, इस प्रकार के हनन विरोधी संकल्प का या शरीरेन्द्रिय की विरुद्ध प्रवृत्ति से विधारक (निरोधक) प्रयत्न विशेष का (न हन्यात्) इत्यादि वाक्यों से विधान (विधि) मान लिया जाय कि जिससे अनुष्ठेयार्थ सिद्ध हो, तो उक्त वाक्य से प्रतीयमान अर्थपरकता से लक्षण की प्राप्ति होगी। नेक्षेतेत्यादि में व्रत के प्रसङ्ग से वैसा अर्थ होता है। प्रकृत में प्राप्त हननादि क्रियाओं में इष्ट साधनता के अभाव तथा

याश्चेष्टसाधनत्वाभावबोधादेव निवृत्तेर्वाक्यस्य चरितार्थत्वोपपत्तेश्च ।

न च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिवचसां प्रतिपत्तिशेषत्वम्, विकल्पासहत्वात् । तथा हि किं शाब्दी प्रतिपत्तिर्विधेया ? उत भावनात्मिका ? अथ साक्षात्कारलक्षणा ? नाद्यः; तस्याः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशब्दादिवद्विदितपदपदार्थसंगतेः स्वयमेवोत्पत्तेः । न द्वितीयः; ज्ञानप्रकर्षहेतुत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेन भावनाया अविधेयत्वात् । न तृतीयः; साक्षात्कारस्य ब्रह्मरूपत्वेन नित्यत्वेनाविधेयत्वात् । अन्तःकरणपरिणतिरूपत्वे चानन्द-

---

साधनताज्ञानादौदासीन्यमिति विवृत्तं निषेधावाक्यमतो न विधिनात्र किंचित्कृत्यमिति ।

यत्तु विज्ञानादिपदेष्वेव विधिनिष्ठतोपपादनेन व्यभिचारवारणम्, तद्दूषयति —न चेति । न च वचनीयं स्वर्गकामादिवाक्येष्वप्यध्ययनविधित एव बोधनमिति यतोऽत्रापि स एव शक्नोतीति; पृथग्विध्यपेक्षानवकाशादिति, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रविश्रान्तत्वाच्च । **अन्वयव्यतिरेकेति** । गान्धर्वशास्त्रादौ षड्जादिस्वरग्राममूर्छनासाक्षात्कार इत्यर्थः । तृतीयेऽपि साक्षात्कारः किं ब्रह्मस्वभावभूतः ? किं वान्तःकरणपरिणामरूपः ? नाद्यः, इत्याह—**साक्षात्कारस्येति** । द्वितीयं दूषयति—**अन्तःकरणेति** । नहि फलं विधेयं यथाहुः—'तस्य॰ लित्सार्थलक्षणे'तीति भावः । तर्कि

अनिष्टसाधनता के बोध से ही निवृत्ति के सिद्ध होने से वाक्य की चरितार्थता सिद्ध हो जाती है । अन्य विधि की आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

जो यह कहा था कि (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म) इत्यादि वाक्य (प्रतिपत्ति = ज्ञानविधि के शेष = अङ्गरूप है) इत्यादि, सो भी युक्त नहीं है, प्रतिपत्ति विधि शेषत्व इन्हें नहीं है । क्योंकि विधिशेषत्व विचाराऽसह है । ज्ञान विधि मानने पर, शाब्दी = शब्दजन्या परोक्षा प्रतिपत्ति विधेय होगी, या भावनात्मिका चिन्तना ध्यान स्वरूपा, अथवा साक्षात्कार स्वरूपा, विधेय होगी । वहाँ प्रथमा विधेय नहीं हो सकती है । क्योंकि पद-पदार्थ की सङ्गति (सम्बन्ध) के जानने वाले को जैसे (स्वर्गकर्मो यजेत) इत्यादि शब्दों से स्वर्गादि का परोक्ष ज्ञान होता है, वैसी ही उस शाब्दी वित्ति (प्रतिपत्ति) की स्वयं उत्पत्ति होने से विधि की आवश्यकता नहीं रहती है, दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि भक्ति ध्यानादि रूप भावना को ज्ञान के प्रकर्षत्व (वृद्धि आदि) के हेतुत्व लौकिक अन्वय व्यतिरेक से ही सिद्ध है । अतः भावना को विधेयत्व नहीं हो सकता है । तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सत्य साक्षात्कार के ब्रह्मस्वरूप होने से नित्यता से ही वह अविधेय है, और यदि अन्तःकरण की वृत्तिरूप प्रतिपत्ति का विधान माना जाय तो, अन्य वृत्ति का विधान कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि

साक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः । 'द्रष्टव्यः' इत्यादिपदानां चार्हार्थतयाप्युपपत्तेः,

अथापि सिद्धार्थव्युत्पत्तौ किं मानमिति चेत्, उच्यते—

विवादाध्यासितः सिद्धः शब्दव्युत्पत्तिगोचरः।
मेयत्वान्न्यायगम्यत्वात् तवाभिमतकार्यवत् ॥ १६ ॥

न च कार्यत्वमुपाधिः; व्यतिरेकासिद्धेः । यत्कार्यं न भवति नासौ शब्दव्यु-

---

प्रमत्तप्रगीतमिदं "द्रष्टव्यः" इत्यादिवाक्यमित्यत आह—'द्रष्टव्यः' इत्यादिपदानामिति । 'अर्हे कृत्यतृचश्चे'ति कृत्यप्रत्ययानामर्हार्थेऽपि विधानात् । "कृत्याः प्राङ् ण्वुलः" इति तव्यादीनां कृत्यसंज्ञत्वाच्चेत्यर्थः । एवं च सति सिद्धेऽर्थे व्युत्पत्त्यसंभवेन वेदान्तानामपि आत्मा ज्ञातव्य इति विधिनैकवाक्यतया कार्यपरत्वं शालिकनाथोक्तं थूत्कृतम् । यच्च तेन परमानन्दादित्वस्यानुभवपराहतत्वात् अभिनवकल्पनायाश्चायुक्तेर्निर्विकारत्वस्य च विज्ञानादिविकारवत्तया अयुक्तेनानन्दादिपरत्वमित्युक्तं तत्सर्वं चतुर्थपरिच्छेदे एवाचार्येण तुच्छीकरिष्यते ।

ननु युक्तिरियम् यदेतावदभिहितम्, प्रमाणमभिधीयतामिति शङ्कते—अथापीति । तत्र तावत्कार्यस्यापि पदशक्तिगोचरतामङ्गीकृत्यानुमानमाह—विवादेति श्लोकेन । कार्यान्विते सिद्धसाधनताव्यवच्छेदाय विवादाध्यासितग्रहणम् । कार्यान्वयरहित इत्यर्थः । व्यतिरेकासिद्धिमेव विवृणोति—यत्कार्यमिति । ततश्च पक्षे-

---

अन्य वृत्ति वस्तुतः प्रतिपत्ति नहीं है, ब्रह्माकार वृत्ति ही प्रतिपत्ति कही जा सकती है, उसको अन्तःकरण के परिणाम रूप होते भी आनन्द स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार स्वरूप होने से फलरूपता के करण उसमें विधेयता की अनुपपत्ति है, क्योंकि फल विधेय नहीं होता है, किन्तु फल के लिये साधन विधेय होता है, यदि कहा जाय कि उक्त रीति से यदि ज्ञान का विधान नहीं हो सकता है, तो (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः) अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही द्रष्टव्य है, इस श्रुति से आत्मदर्शन का विधान कैसे किया गया है। तो कहा जाता है कि दर्शन का विधान नहीं है किन्तु (अर्हे कृत्यतृचश्च) इस सूत्र से कृत्यसंज्ञक तव्यप्रत्यय के होने से 'द्रष्टव्य' इत्यादि पदों की अर्ह (योग्य) अर्थकता से भी सिद्धि हो सकती है कि (आत्मा दर्शन के योग्य है) इत्यादि।

सिद्धार्थ विषयक युक्त वर्णित हुई, फिर भी सिद्धार्थ विषयक व्युत्पत्ति में प्रमाण क्या है, यदि ऐसी जिज्ञासा हो तो, कहा जाता है कि—

विवादविषय सिद्धार्थक शब्द, (ब्रह्मात्मादि) व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) का विषय होता है, मेयत्व (प्रमेयत्व) तथा न्यायगम्यत्व से (तव) प्रभाकर सम्मत कार्यवत् ॥१६॥

यह अनुमान प्रमाण है। कार्यत्व उपाधि इसमें नहीं हो सकता है, क्योंकि

त्पत्तिगोचरो तथा संप्रतिपन्नमिति व्यतिरेकव्याप्तेः परं प्रति दर्शयितुमशक्यत्वात्। नन्वाकृतेरेव शब्दार्थत्वाद्व्यक्तेस्तदभावात्तत्रानैकान्तिकमिति चेत्, मैवम्; आकृतेः शब्दार्थत्वेऽपि तस्या एव शब्दार्थत्वमिति नियमानङ्गीकारात्, "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" इत्यक्षचरणपक्षपातिभिरङ्गीकारात्, आकाशादिपदानां च व्यक्तिवचनतया मीमांसकैरप्यभ्युपगमात्, व्यक्तिशब्दस्य च व्यक्तिवाचकत्वात्। ननु तत्रापि व्यक्तित्वोपाधेरेव वाच्यत्वं न व्यक्तेस्तस्या लक्ष्यत्वादितिचेत्, मैवम्; क्वचिच्छब्दान्तरवाच्यस्यैव

तरत्वमिति भावः। केचित्त्विदमेवानुमानमुद्भाव्य दूषयांबभूवुः—"तदसत्। कार्यान्वयोराधिक्यत्वात् गवादिव्यक्त्याऽनैकान्त्याच्च आकृतिः शब्दार्थं इति हि स्थिताः शब्दार्थविदः" इत्यादिना। तत्रोपाधिः परिहृतः, अनैकान्त्यं परिहर्तुमुद्भावयति—नन्वाकृतेरिति। किं नैयायिकादिसाधारणमिदमनैकान्तिकत्वम्? किंवा मीमांसकप्रत्येव? नाद्य इत्याह—आकृतेरिति। आकृतिराकारः सास्नादिमत्त्वं सूत्रे विवक्षितम्। द्वितीयेऽपि सकलशब्दानां जातिवाचकत्वं तेषामप्यसिद्धं जातिरहितेष्वपि भावादित्याह—आकाशादीति। ननु तथापि गवादिव्यक्तिष्वनैकान्तिकत्वस्य कः परिहारः? तत्राह—व्यक्तिशब्दस्येति। व्यक्तिशब्देनापि न व्यक्तिरभिधीयते किन्तु सर्वव्यक्तिष्वनुस्यूतव्यक्तित्वोपाधिरेवेति शङ्कित्वा परिहरति—मैवं

कार्य और इस साध्य के व्यतिरेक व्याप्ति की असिद्धि से यह कार्यत्व पक्षेतरत्व मात्र है। अतएव (जो कार्य नहीं है) वो शब्दशक्ति का विषय नहीं ही है। जैसे अनुक निश्चित वस्तु है। इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति (पर) प्रभाकर मिश्र वादी के प्रति दर्शाना अशक्य है। मेयमात्र के व्युत्पत्ति के विषय होने से व्यतिरेक व्याप्ति प्रदर्शन के स्थान का अभाव है। यदि शङ्का हो कि पूर्वमीमांसा में आकृति (आकारविशेष) को ही शब्द का अर्थ (वाच्य) माना गया है, अतः व्यक्ति को शब्दार्थ नहीं होने से, उसमें व्युत्पत्ति ग्रह के विषयत्व रूप साध्य नहीं रहता है, और मेयत्वरूप हेतु रहता है, अतः हेतु अनैकान्ति (व्यभिचारी) है। तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि आकृति के शब्दार्थ होते भी आकृति को ही शब्दार्थत्व है, अन्य को नहीं, ऐसा नियम नहीं माना जाता है। क्योंकि (व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः) व्यक्ति आकृति और जाति तीनों पद के वाच्य होते हैं, यह न्यायदर्शन में कहा गया है। उसीको अक्षचरण (गोतम) पक्षपाती मानते हैं। और व्यक्ति की एकता आदि के कारण अमूर्त और जातिरहित के वाचक आकाशादि पदों को मीमांसक भी व्यक्तिवाचक मानते ही हैं। और व्यक्ति शब्द को भी व्यक्तिवाचकत्व है। यदि कहें कि उन व्यक्तियों में भी व्यक्तित्व रूप उपाधि

शब्दान्तरलक्ष्यत्वाभ्युपगमात्, व्यक्तिः शब्दवाच्या न भवतीति स्ववचनव्याघाताच्च। तस्मात्सिद्धं सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमिति।

अङ्गीकृत्यैतदवोचाम—कार्ये प्रामाण्यमेव शब्दस्यानुपपन्नम्, तत्र सङ्गतिग्रहणायोगात्। ननु कथं तत्र सङ्गतिग्रहणायोगः; प्रवृत्तिदर्शनात्

क्वचिदिति। अस्ति मीमांसकानामभ्युपगमः शब्दान्तरवाच्यमेव शब्दान्तरलक्ष्यमिति। तथा च व्यक्तेरपि यत्किंचिच्छब्दवाच्यत्वं मंतव्यमितिरथा लक्षणानुपपत्तेरित्यर्थः। नन्विमं नियममभ्युपगच्छद्भ्यः किमुत्तरं देयमिति तत्राह—**व्यक्तिरिति**। व्यक्तिः शब्दवाच्या न भवतीत्यत्र यस्या व्यक्तेः शब्दवाच्यत्वं निषिध्यते सा तावद्व्यक्तिशब्देनाभिधेया, इतरथा कस्यायं निषेधः स्यात्ततश्च परस्परं व्याघात इत्यर्थः। न च तत्रापि व्यक्तिशब्दलक्षितस्य शब्दवाच्यत्वनिषेध इति वाच्यम्। यतः किं नाम तल्लक्षितमिति पर्यनुयोगे लक्षणापरंपराश्रयणमन्तरेण निरुत्तराऽऽपातादिति।

यत्तदवोचाम कार्यस्य शक्तिगोचरत्वमङ्गीकृत्येति, तदुद्घाटयति—**अङ्गीकृत्यैतदिति**। तत्र कार्ये सङ्गतिग्रहणपरिपाटीं दर्शयति पूर्ववादी—**नन्विति**। **प्रवृत्तिदर्शनादीति**। स्वतन्त्रस्य प्रवृत्तिदर्शनादीति यावत्। इतरथा बलवदनिच्छलिलंघेन नुद्यमानप्रवृत्तावनैकान्तिकता स्यादिति। नन्विष्टसाधनत्वज्ञानादेवात्मनि प्रवृत्तिर्दृष्टा न कार्यज्ञानादतस्तदेव परत्राप्यनुमीयतेऽतो विरुद्धो हेतुः, साध्यविक-

---

ही व्यक्ति शब्द का वाच्य (शक्य) होता है, व्यक्ति नहीं, क्योंकि उस व्यक्ति को लक्षण से समझा जाता है, अतः उसमें लक्ष्यत्व रहता है, शक्यत्व नहीं, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि कहीं शब्दान्तर के वाच्य को ही किसी शब्दान्तर के लक्ष्यत्व युक्त माना जाता है, जैसे कि (तीरे-ग्रामः) वाक्यगत तीर शब्द के वाच्य को ही (गङ्गायां ग्रामः) यहाँ गङ्गा शब्द का लक्ष्य माना जाता है। और व्यक्ति शब्द का वाच्य नहीं होता है, यह कथन व्याघात (विरोध) युक्त है, क्योंकि व्यक्ति शब्द से व्यक्ति को शक्य रूप से कहते हुए, उसका निषेध नहीं बन सकता है। इस उक्त रीति सिद्ध ब्रह्मविषयक वेदान्तों (उपनिषदों) की प्रमाणता सिद्ध हुई।

प्रथम जो यह कहा गया है कि (तवाभिमत कार्यवत्) प्रभाकराभिमत कार्य के समान। इत्यादि। वह मानो परोक्ष रूप से ज्ञात के समान को मान कर, कहा गया है। मानो कार्य के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जान कर कहा गया है। वस्तुतः कार्य के यथार्थ प्रत्यक्ष अनुभव की बात यह है कि कार्यविषयक शब्द की प्रमाणता ही अनुपपन्न (असिद्ध) है। क्योंकि उस कार्य विषयक शब्द की शक्ति के ग्रहण का प्रयोग (असम्भव) है। प्रभाकरानुयायी की शङ्का है, उस कार्यविषयक शक्तिग्रह का अयोग कैसे है, अर्थात् अयोग नहीं है, क्योंकि

प्रवर्त्तकज्ञानमनुमाय तस्य च प्रवर्त्तकज्ञानत्वादेवात्मीयप्रवर्त्तकज्ञानवत्कार्यंविषयकतामध्यवस्यानन्तरं शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्य शब्दजन्यत्वावगमेन तत्रैव शब्दशक्तेर्ग्रहणात्। न च स्वात्मनि प्रवर्त्तकबोधस्येष्टसाधनविषयत्वात्परप्रवृत्तावपि तदेव प्रवर्तकतयानुमीयते न कार्यमिति वाच्यम्; अतीतानागतविषयेष्विष्टसाधनज्ञानेषु प्रवर्तकत्वव्यभिचारात्। अथ कृतिसाध्येष्टसाधनत्वज्ञानं प्रवर्त्तकम्, तर्हि कार्यमेव नामान्तरेण

लब्ध दृष्टांत इतीमां शङ्कां निषेधति—**न चेति। तदेवेति।** ज्ञायमानतया विवक्षितम्, तेन न पूर्वापरव्याघातः। तत्र किमिष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्त्तकम्? किंवा कृतियोग्यताविशेषणविशिष्टतज्ज्ञानम्? आद्ये प्राह—**अतीतानागतेति।** द्वितीयं शङ्कते—**अथेति।** कृतिः पुरुषप्रयत्नस्तेन साध्यं यदिष्टसाधनं तज्ज्ञानमिति योजना। तर्ह्यविप्रतिपत्तिः कार्यस्य चैवं रूपत्वादित्याह—**तर्हीति।** यद्यपि भावार्थस्य कृतिसाध्यत्वमस्ति, तथापि कार्योपाधित्वान्न प्राधान्येन तदस्तीति भावः। एतदेव शालि-

---

वृद्धवचन से मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति को देखने से, प्रवर्तक (प्रवृत्तिहेतु) ज्ञान का अनुमान द्रष्टा को होता है कि (यह मध्यम वृद्ध की स्वतन्त्र प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक हो रही है, स्वतन्त्र प्रवृत्तित्व से मेरी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के समान) इस प्रकार ज्ञान का अनुमान करके, फिर उसके प्रवर्तक रूप ज्ञान होने से, उस प्रवर्तक ज्ञानत्व रूप हेतु से अपने प्रवर्तक ज्ञान के समान (निज ज्ञानदृष्टान्त द्वारा) उस मध्यम वृद्ध के ज्ञान में कार्यविषयता का अनुमान से निश्चय होता है कि (यह प्रवृत्ति का हेतु ज्ञान, कार्यविषयक हुआ है, प्रवृत्ति का हेतु होने से, मेरे ज्ञान के समान) फिर उस ज्ञान को शब्द के साथ अन्वय, व्यतिरेक वाला जान कर, ज्ञान में शब्दजन्यत्व के ज्ञान से उस कार्यविषयक ही गामानय, इत्यादि की शक्ति का ग्रहण होता है। यदि कहा जाय कि अपने में प्रवर्तक ज्ञान को इष्टसाधनता विषयक बालक समझता है, अर्थात् इष्टसाधन समझकर बालक प्रवृत्त होता है, अतः मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति में हेतु रूप उस इष्टसाधनता ज्ञान का ही प्रवर्तक रूप से अनुमान किया जा सकता है, कार्य का अनुमान नहीं हो सकता है। कार्य विषयक ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती है, तो यह कथन उचित नहीं। क्योंकि अतीत अनागत विषयक इष्टसाधन ज्ञानों में प्रवर्तकत्व का व्यभिचार (अभाव) रहता है। यदि कहें कि भूत, भावी में कृतिसाध्यत्व नहीं रहता है, और प्रकृत में कृति (यत्न) साध्य इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवर्तक होता है, उसीका बालक अनुमान करता है। तब तो कार्य को ही नामान्तर द्वारा प्रवर्तक आपने भी स्वीकार किया, क्योंकि उस कार्य को ही कृतिसाध्यत्व होता है (कृतिसाध्यं

प्रवर्तकं त्वयाप्यङ्गीकृतम्, तस्यैव कृतसाध्यत्वात् 'कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते' इत्यभिधानात्। तथापि कृतिसाध्येष्टसाधनज्ञानमेव प्रवर्तकं न केवलं कार्यज्ञानमिति चेत्, मैवम्; इष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोधं प्रति हेतुतयाऽन्यथासिद्धेः। उक्तं हि—

'किन्तु स्वयं क्लेशरूपं कर्म यत्कार्यतां व्रजेत्।
फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यता॥' इति।

कनाथवचनेन द्रढयति—**कृतिसाध्यमिति**। कृतिसाध्यं कार्यमित्युक्ते भावार्थेऽतिप्रसक्तिस्तदर्थं प्रधानमित्युक्तम्, प्राधान्यं चेदं कृत्युद्देश्यत्वम्, तावति चोक्ते फलेऽपि स्यात्तदर्थं कृतिसाध्यमित्युक्तम्, तत्र कृतिसाध्यत्वं कृत्यन्वयव्यतिरेकरूपानुमानगम्यम्, कृतिप्राधान्यं च मानसप्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षानुमानगम्यं बालस्य स्वात्मनि कार्यम्, यथौदनः पाकश्चेत्यर्थः। भवतु कार्यस्याप्येवंविधत्वं तथापि न कार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिरिति शङ्कते—**तथापीति**। नेष्टसाधनताज्ञानं प्रवृत्तेर्हेतुरपि तु कार्यताज्ञानमेव, तज्ज्ञानाच्च प्रवृत्तिरित्याह—**मैवमीति**। अत्रापि वाक्यार्थमातृकागतं तद्वचनमेव प्रमाणमित्याह—**उक्तं हीति**। अयमर्थः—हितसाधनताकार्यतयोः पूर्वम् भेद उक्तः, अनन्तरं हितसाधनेष्वेव किमिति कार्यतामतिर्न्यत्रेति शङ्कां परिहरन्त आहुः शालिकनाथाः—**किंत्विति**। सत्यमस्त्वयं नियमः, किन्त्वयं तत्र विशेषः—यत्कर्मकार्यतां व्रजेत् तत्स्वयं क्लेशरूपमेव। कथं तर्हि तस्य कार्यत्वम्? नहि दुःखाकरस्य कार्यत्वमुपपद्यते, यथाहुः—'अकर्तव्यो दुःखफलः' इत्यत आह—**फलसाधनता तत्रेति**। तस्यैव विवरणम्—**तेन कार्यतेति**। अथवा फलसाधनता तत्र कथं कारणम्? यावता प्रवृत्तिं प्रत्येव कारणं तदिति केचित्तत्राह—**तेनेति**। तेन कार्यतास्य भवति, नतु प्रवृत्तेरिति। अतएव तैरुक्तम् "ज्ञापककोटिनिविष्टा फलसाधनता कार्यतामनुरुध्यते। नत्वसौ तदात्मैवेति।"

प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते) यत्न से [साध्य जो प्रधान = धात्वर्थभिन्न अदृष्ट वह कार्य कहा जाता है—ऐसा कहा गया है। तो भी यदि कहा जाय कि कृतिसाध्य इष्टसाधन का ज्ञान ही प्रवर्तक होता है, केवल कार्य का ज्ञान प्रवर्तक नहीं होता है, तो यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि इष्टसाधनता का ज्ञान कार्यता ज्ञान के प्रति हेतु होने से प्रवृत्तिजनन में घटजनन में कुलाल के पिता के समान अन्यथासिद्ध (कारणतारहित) है। यह शालिकनाथ ने कहा है कि—

हितसाधन ही कार्य (कर्तव्य) होता है, किन्तु उसमें भी यह विशेष है कि स्वयं क्लेश रूप भी जो कर्म कार्यता को प्राप्त होता है (कर्तव्य होता) उस कर्तव्यता में फल (इष्ट) साधनता कारण रहता है, उस कारणता से कार्यता कर्म में होती है)।

ननु चिकीर्षैवैषा ममेदं कार्यमिति, न तु तदतिरिक्तं कार्यं नामात्र किंचित्प्रतीयत इतिचेत्, मैवम्; अन्तरेणापि कार्यधियं समीहितसाधनतामात्रावबोधात् सुधामरीचिमण्डलोदयादौ ;चिकीर्षाया अप्यनुपपत्तेः। न चास्याः कार्यधियः कृतियोग्यतामात्रमालम्बनम्; कृतियोग्ययोरपि दुःखतत्साधनयोस्तददर्शनात्। नापि समीहितसाधनम्; अतीतवर्तमानयोः समी-

---

ननु कार्यसिद्धिरेव कुतः प्रमाणात्? तावन्ममेदं कार्यमिति बुद्धिः प्रमाणम्, तस्याश्चिकीर्षामात्रतयार्थासाधकत्वादिति शङ्कते—नन्विति। कोऽस्याभिसन्धिः? किं कार्यमेव नास्तीति? उत तत्रेयं प्रमाणं न भवतीति? नाद्यः, तदनङ्गीकारे चिकिर्षाया एवानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न चेष्टसाधनतामात्रावबोधात्तदुपपत्तिः, सुरतारम्भपरिश्रान्तसुदरीसमीहितसाधनेऽपि सुधामरीचिमण्डलोदये मलयमारुतरङ्गसङ्गमेव वा असाध्यस्वभावे चिकीर्षाऽभावादित्याह—**मैवमन्तरेणेति**। द्वितीये त्वनन्यगतिकत्वादेवैव भविष्यति प्रमाणमिति भावः। भवत्वियमिच्छातिरेकिणी, तथापि कृतियोग्यतामेवालम्बते न तदतिरिक्तं किंचित्कार्यमस्ति तत्राह—**न चास्या इति**। साधयितुं योग्यत्वमस्ति दुःखादेरपि, न कार्यबुद्धिविषयत्वमिति तदतिरिक्तमेवास्या विषय इत्याह—**कृतियोग्ययोरिति**। अस्तु तर्हीष्टसाधनत्वमेवास्या विषय इति तत्राह—**नापीति**। तत्र हेतुः—**अतीतेति**। ननु यद्यपि साधनेऽपि दर्शनात्फलमात्रमस्य आलम्बनं न भवति नाप्युभयमेकैकव्यभिचारात्, तथाप्युभयानुगतमिच्छा-

---

यदि शङ्का हो कि (ममेदं कार्यम्) मेरा यह कर्तव्य है, यह चिकीर्षा (कार्येच्छा) का स्वरूप है, इससे अतिरिक्त कार्य वस्तु कुछ भी प्रतीत नहीं होता है कि जिस का कार्य नाम हो, तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि कार्यता ज्ञान के बिना भी इष्टसाधनता मात्र के ज्ञान से (सुधामरीचिमण्डल) चन्द्रोदयादि विषयक भी चिकीर्षा (कर्तुमिच्छा) की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि वह असाध्य है, अतः मानना होगा कि साध्य स्वभाव वाले कार्य विषयक ही चिकीर्षा होती है, अतएव (ममेदं कार्यम्) यहाँ कार्यज्ञान वर्तमान रहता है, तभी चिकीर्षा होती है, यदि कहा जाय कि चिकीर्षा से भिन्न कार्यबुद्धि हो, परन्तु इस कार्यबुद्धि का कृतियोग्यता मात्र विषय रहता है। तो यह कहना भी युक्त नहीं, कृतियोग्य (यत्नसाध्य) भी दुःख और दुःखसाधनों में कार्यताबुद्धि नहीं देखी जाती है, अतः कृतियोग्यता से अतिरिक्त ही कार्यबुद्धि के विषय को मानना उचित है। इष्टसाधन रूप समीहित साधन ही कार्यबुद्धि का विषय हो, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अतीत, वर्तमान इष्टसाधन में कार्यबुद्धि का अभाव रहता है, अतीत का स्वरूप नहीं रहता है, वर्तमान इष्टसिद्ध रहता है, उसमें

हितसाधनयोस्तदभावात्। नापि फलमेव; तत्साधनेऽपि दर्शनात्। नापि फलतत्साधनयोरनुस्यूतमभिलापगोचरतामात्रमस्या आलम्बनम्; अभिलापमात्रगोचरेऽपि सुधामरीचिमण्डलादौ तदभावस्य दर्शितत्वात्। तस्मादेभ्योऽतिरिक्त एव कश्चिदाकारः कार्यधीगम्यः, स एव चाकारः कृतिसाध्यः कृत्युद्देश्यः कार्यमित्युच्यते। स एव प्रवर्तकतया स्वात्मन्यधिगतत्वाच्छब्दशक्तेर्गोचरः।

तथापि कथमलौकिकनियोगे वैदिकलिङ्गादिशब्दानां व्युत्पत्तिरिति चेत्; उच्यते—यद्यपि लोकव्युत्पत्त्यनुसारेण क्रियायाः कार्यत्वं प्राप्तम्,

---

गोचरत्वमात्रमस्य आलम्बनमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तव्यभिचारमेवाह—**अभिलापेति**। परिशेषादतिरिक्तमेवालम्बनमित्युपसंहरति—**तस्मादिति**। ननु भवत्वतिरिक्तं तथापि कथं कार्यत्वमिति तत्राह—**स एवेति**। तथापि कथमस्य शब्दार्थत्वावगतिस्तत्राह—**स एवेति**। **स्वात्मनीति**। बालस्येति शेषः।

कार्यमात्रस्य शब्दार्थत्वेऽपि नियोगस्य शब्दार्थत्वमयुक्तम्, अलौकिकत्वेन तत्रागृहीतसंगतिकत्वादिति शङ्कते—**तथापीति**। अलौकिकत्वेऽपि विमर्शात्मकतर्कतः संभाविते सङ्गतिग्रहमुपपादयति—**यद्यपीत्यादीना**। **क्रियाया इति**। भावार्थस्येत्यर्थः। स्वर्गकामो यजेतेत्येतन्नियोज्यसमर्पणपरं न तु फलपरमिति हि गुरुमतम्, तथा च षष्ठाद्ये राद्धान्तितमतस्तत्समर्पकपदेन समभिव्याहारात् सहपाठात् क्रियातिरिक्तं नियोगमवगमयन्ति लिङादय इत्युत्तरेण सम्बन्धः। ननु कर्त्रपेक्षत्वात्कार्यस्य

साध्यता (कार्यता) नहीं हो सकती है। स्वर्ग सुखादि फल ही कार्यबुद्धि का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि फल के साधनों में भी कार्यबुद्धि देखी जाती है। फल और साधन दोनों में व्यापक इच्छा विषयता मात्र को भी इस कार्यबुद्धि का विषय नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इच्छामात्र के विषय चन्द्रमण्डलादि में कार्यबुद्धि विषयता के अभाव को प्रथम दर्शाया गया है। अतः इन इष्टसाधनादिकों से अतिरिक्त ही कोई आकार (वस्तु) कार्यबुद्धि से गम्य (ज्ञेय) होता है। और वही आकार कृतिसाध्य, कृत्युद्देश्य, कार्य (यत्न से साध्य, यत्न का उद्देश्य = लक्ष्य) इन शब्दों से कहा जाता है। और उसी आकार को प्रवर्तक रूप से बालक के अपने मन में ज्ञात होने के कारण, मध्यम वृद्ध के व्यवहार से वही आकार शब्द शक्ति का विषय रूप बालक को सिद्धित होता है।

यदि शङ्का हो कि उक्त रीति से कार्य विषय शब्दशक्ति का ज्ञान लोक में होने पर भी लोक से अप्रसिद्ध अलौकिक नियोग (अदृष्ट) विषयक वैदिक लिङादि शब्दों की व्युत्पत्ति (शक्ति ज्ञान) कैसे हो सकती है। तो समाधान कहा जाता है कि यद्यपि लोक की व्युत्पत्ति के अनुसार धात्वर्थ रूप क्रिया को

तथापि वेदे स्वर्गकामो यजेतेति नियोज्याभिधायिना स्वर्गकामपदेन समभिव्याहारात्, 'नियोज्यः सच कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुध्यते' इतिन्यायात्। तस्य च कमिसंवन्धात्साध्यस्वर्गविशिष्टस्य क्षणप्रध्वंसिन्यां क्रियायां कालान्तरभाविस्वर्गसाधनयोग्यतावैधुर्येण कार्यताबुद्धयनुपपत्तेः क्रियातोऽतिरिक्तं कालान्तरभाविफलसाधनं नियोगमेव नियोज्यं प्रति लिङादयः कार्यमवगमयन्ति। तच्च स्वात्मनि पुरुषं नियुञ्जानं नियोग इति, मानान्तरा-

---

तत्समर्पकत्वमेव स्वर्गकामादिपदस्येत्यत आह—**नियोज्यः स चेति**। यः कार्यं स्वकीयत्वेन बुध्यते स नियोज्य इति न्यायान्नियोगसंबन्धबोद्धा नियोज्येन भवितव्यमितरथाकर्तृत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। तथापि भावार्थसंबन्धबोद्धैव नियोज्यो भवतु, कुतो नियोगसिद्धिरिति तत्राह—**तस्येति**। स्वर्गकाम इति काम्यस्वर्गविशिष्टत्वात् सिद्धे च कामाभावात् साध्यस्वर्गविशिष्टः प्रतीयते नियोज्यः, एवंविधस्य च भावार्थक्रियायां ममेदं कार्यमिति कार्यताबुद्धयनुपपत्तेः, तत्र हेतुः—क्षणध्वंसिन्यामिति। मर्दनादिव्यावृत्त्यर्थं कालान्तरभावीत्युक्तम्। तदुक्तम्—

'लिङादिस्तत्र कार्यं चेत्क्रियामेवावबोधयेत्।
समन्वयो नियोज्येन तदानीमेव हीयते'॥ इति॥

(प्र. पं. पृ. १८३)

ननु कथमस्य नियोगत्वम्, आज्ञा हि नियोगः, न चापौरुषेये वेदे सा संभवति, अत एव नापूर्वत्वमिति तत्राह—**तच्च स्वात्मनीति**। अथवा अपूर्वस्य शब्दार्थत्वे नियमस्य वाक्यार्थता कथमिति तत्राह—**तच्च स्वात्मनीति**। पुरुषाभिप्रायरूपप्रैषाद्यभावेऽपि परस्परव्यभिचारिषु तेष्वनुगतप्रवर्तकत्वरूपो नियोगः शब्दार्थः, स चात्रापि संभाव्य इत्यर्थः। स्यादेतत्-स्वर्गसाधनत्वयोग्यताबलेन खल्वलौकिकनियोगाङ्गीकारः,

---

ही कार्यत्व प्राप्त (सिद्ध) होता है, तथापि वेद में (स्वर्गकामो यजेत) स्वर्ग की इच्छा वाला यज्ञ से इष्ट को प्राप्त करे। यहाँ नियोज्य (यज्ञ में नियुक्त होने वाला कर्ता) का वाचक, स्वर्गकाम, पद के साथ समभिहार, यजेत, के पाठ से, नियोज्य कर्ता के प्रति लिङादि कार्य के बोधक होते हैं, क्योंकि नियोज्य कर्ता वही होता है जो कार्य को अपना कर्तव्य समझता है, यह न्याय (नियम) है। और नियोज्य को कमि (काम) रूप सम्बन्ध से स्वर्गयुक्त (स्वर्गकामी) को क्षणविध्वंसी क्रिया में कालान्तर में होने वाले स्वर्ग की साधन योग्यता के अभाव के कारण कार्यता बुद्धि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः भावार्थ रूप क्रिया से अतिरिक्त कालान्तरभावी फल के साधन रूप नियोग को ही नियोज्य के प्रति लिङादि कार्य रूप अवगम (ज्ञान) कराते हैं। यह कार्य रूप वस्तु नियोग इससे कहा जाता है कि अपने में पुरुष का नियोजक (प्रवर्तक) होता है। मानान्तर से

पूर्वतया अपूर्वमिति च व्यपदिश्यते। न च फलजनकतया फलं प्रति शेषत्वाद् अपूर्वस्य प्राधान्यप्रच्युतिः; स्वसिद्धयनुकूलनियोज्यलाभायैव फलशेषतावलम्बनात्। स्वशेषभूतगर्भदासोपकाराय संविदधानस्य स्वामिन इव प्राधान्यानुपरोधात्।

तदुक्तम्—

'स्वात्मसिद्धयनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये।
कुर्वंत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव न'॥ इति।

तथा च वरघाताय कन्योद्वहनम्, यतः 'कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते' इति कार्यलक्षणमायुष्मन्मते, तत्र स्वर्गं प्रति साधनतया तच्छेषस्य न प्राधान्यमिति तत्राह—**न च फलेति**। यदि परसिद्धयर्थमयं व्याप्रियेत तदा स्यात्प्राधान्यविघातः, नतु तदस्ति, नहि स्वर्गोऽस्य स्यादिति नियोगव्यापारोऽपितु कथंकारं मामयं साधयेदिति, तदर्थमेव खल्वयमस्मै स्वर्गं ददाति गर्भदासोपकर्तेव स्वामी, तथाच कुतः प्राधान्यप्रच्युतिरित्याह—**स्वसिद्धीति**। **संविदधानस्य**। संविधानं योगक्षेमं कुर्वत इत्यर्थः।

स्वात्मसिद्धीति। अनुष्ठानं विना नियोगासिद्धेः कर्त्रा विना च तस्यासिद्धेः अधिकारिणं विना कर्तुरभावान्नियोज्यं विना च तदभावाद् अकामानुगुणे च कामिनियोगत्वायोगात् तदिदमानुकूल्यम्। अपिर्भिन्नक्रमः। स्वर्गादिकं कुर्वदपि प्रधानमिति। प्रतिपादिततर्कोपसंहारपूर्वकमुपपादितं नियोगशब्दार्थे प्रतिबन्दीग्रहण-

---

प्रथम अज्ञात होने के कारण अपूर्व कहा जाता है। शंका होती है कि (कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते) यह प्रथम कहा गया है, किन्तु फलजनकता से फल के प्रति शेषता (अङ्गता) के कारण अपूर्व की प्रधानता नहीं रह जाती है। परन्तु यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि स्वसिद्धि के अनुकूल (हेतुरूप) नियोज्य के लाभ के लिये ही फलशेषता का अवलम्बन नियोग करता है, फलसिद्धि के लिये नहीं, अतः फल का शेष नहीं होता है। जैसे स्वशेष (अङ्ग) गर्भदास (नित्यभृत्य) के उपकार के लिये सम्यक् विधि करने वाला भी स्वामी प्रधान ही रहता है, वैसे फलार्थक होने पर भी कार्य प्रधान रहता है।

ऐसा कहा भी है—

अपनी सिद्धि के अनुकूल नियोज्य की सिद्धि के लिये स्वर्गादि फल को करता हुआ भी कार्य प्रधान ही रहता है। अर्थात् कर्ता को अनुष्ठानादि के बिना नियोग की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः उनमें कार्यानुकूलता रहती है, तथापि प्रत्ययार्थ कार्य प्रधान ही रहता है।

तदेवमलौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपाहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहारा-ल्लिङादीनां तत्र संबन्धग्रहणोपपत्तेरुपपन्नं तत्राम्नायस्य प्रामाण्यम्। प्रयोगश्च विवादाध्यासिता लिङादयः एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायिनः कार्याभिधायित्वाद् गामानयेत्यादिपदवतिति। विपक्षे यागातिरिक्तकार्यान-

---

पूर्वक्रमुपसंहरति—तदेवमिति। यूपादीति। यथा खलु यूपाहवनीयादौ 'यूपं तक्षति, यूपमष्टास्रीकरोति, यूपमनक्ति, अर्द्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधाती'त्यादि-वाक्यपर्यालोचनया संस्कृतौ कौचन दार्वग्निविशेषौ 'यूपे पशुं निवन्धाति' 'आह-वनीये जुहोति'त्यत्र यूपाहवनीयशब्दार्थाविति निर्णीयते। आदिशब्देन यववराहा-दिग्राह्यम्। विवादेति। कार्याभिधायिन इत्युक्ते भावार्थाभिधानेन सिद्धसाधनता तन्निवृत्त्यर्थं क्रियातिरिक्तेत्युक्तम्, तथाचाप्रसिद्धविशेषणता तन्निवृत्यर्थमेतत्पदम्। क्रिया-न्तराभिधायिपदेषु च सुप्रसिद्धं साध्यम्, पक्षे चैतदभिधेयक्रियातिरिक्तकार्यत्वमेतद-

---

अतः उक्त रीति से नियोग के अलौकिक होते भी यूप, आहवनीय, आदि शब्दों के समान प्रसिद्धार्थक पदान्तर के साथ पाठसम्बन्ध से लिङादि के उक्त कार्य के साथ सम्बन्ध ग्रहण की सिद्धि से उस कार्यविषयक वेद की प्रमाणता सिद्ध होती है। अर्थात् (यूपं तक्षति, यूपमष्ठास्त्री करोति, यूपमनक्ति, अर्द्धोदिते सूर्ये आह-वनीयमादधाति, आहवनीये जुहोति) यूप को छिलता है। आठ कोण युक्त करता है, चिकना करता है। अर्द्धोदित सूर्य काल में आहवनीय में अग्नि का आधान करे, आहवनीय में हवन करे। इन सब विधि वाक्यों में अन्य पद के सम्बन्ध से यूपादि अर्थ का निर्णय होता है, वैसे कार्य का निर्णय होता है। इस विषय में प्रयोग (अनुमान) भी है कि (विवादास्पदलिङादि, एतत् प्रसिद्ध अभिधेय [धात्वर्थ] क्रियाऽतिरिक्त कार्य के वाचक हैं, कार्यवाचक होने से, गामानय, इत्यादि पद के समान) यहाँ क्रियाभिधायी मात्र कहने पर, धात्वर्थाभिधान (कथन) से सिद्ध साधनता होती, उसकी निवृत्ति के लिये क्रियाऽतिरिक्त कहा गया है, परन्तु क्रियातिरिक्त मात्र कहने पर भी अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होगी, क्योंकि गामानय, इत्यादि क्रियातिरिक्त के अभिधायी (वाचक) नहीं है, अतः एतत्, यह कहा गया है, अतः अर्थ होता है कि लिङादि के प्रसिद्ध विधि निमन्त्रणादि रूप तथा भावना (आज्ञाप्रेरणादि) रूप क्रियाओं से, तथा यजादि धात्वर्थ रूप क्रिया से अतिरिक्त (नियोग) के वाचक लिङादि है। इस प्रकार पक्ष में साध्य सिद्ध होता है, और गामानय, इत्यादि में क्रियान्तराभिधेयकत्वेन साध्य की प्रसिद्धि होती है। नियोग में कार्यत्व के रहते भी क्रियात्व के अभाव से क्रियातिरिक्त साध्य की पक्ष में सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि (हेतुरस्तु

भ्युपगमात् यागस्य च स्वर्गसाधनत्वानुपपत्तेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधक इति।

अत्रोच्यते—भवेदिष्टमनोरथो यदि स्वात्मन्यपि कार्यबोधस्य प्रवर्त्तकत्वमध्यवसीयेत, समीहितसाधनताया एव तु स्वात्मनि प्रवर्तकत्वाध्यवसायात् न च भूतादौ व्यभिचारः; यतः—

कार्यस्यावगतेर्हेतुर्यादृशं हितसाधनम्।

नभिधेयत्वे सति क्रियात्वाद्वा, एतदभिधेयत्वे सति क्रियात्वानधिकरणत्वाद्वा, आद्यमभिधायकत्वसाधनव्याहतम्, द्वितीयं सिध्यत् क्रियात्वानधिकरणकार्यनियोगमादाय सिध्यतीति नियोगसिद्धिः।

तदेतत्कार्ये व्युत्पत्तिसमर्थनं दूषयितुमुपक्रमते—**उच्यत इति। समीहितसाधनताया इति।** तद्बोधनम्, विषयेण विषयिलक्षणात्। ततश्च तस्यैव परत्राप्यनुमानेन तत्रैव शब्दशक्तिः, न तु कार्ये इत्यभिप्रायः। इष्टसाधनतावबोधस्य भूतादौ प्रवर्तकत्वव्यभिचारं पूर्वोक्तमनूद्य श्लोकेन परिहरति—**कार्यस्येति।** यादृशमिष्टसाधनत्वं कृतियोग्यताविशिष्टं तव कार्यज्ञाने हेतुस्तादृशमेव प्रवृत्तिहेतुराश्रीयते मया

साध्यं माऽस्तु) हेतु रहे, परन्तु साध्य नहीं रहे, अर्थात् अदृष्टवाचक लिङादि नहीं है, तो इस विरुद्ध पक्ष में नश्वर याग होमादि से अतिरिक्त स्थायी कार्य के अस्वीकार से, तथा क्षणिक यागादि में स्वर्गसाधनत्व की अनुपपत्ति से स्वर्गकामी याग से इष्ट को सिद्ध करे, इत्यादि वाक्यों में अप्रमाणता की प्राप्ति होगी। अतः यह अप्रामाण्य प्रसङ्ग ही विपक्ष का बाधक है, अतएव उक्त अनुमान अदृष्ट में प्रमाण है।

उक्त लिङादि की कार्यविषयता में कहा जाता है कि--आप का यह इष्ट मनोरथ सत्य होता, यदि बोध इच्छुक बालक स्वात्मा में भी उक्त कार्यबोध को प्रवर्तक निश्चय करता, किन्तु वह तो इष्टसाधनता के ज्ञान को ही अपने मन में प्रवर्तक समझ सकता है—अप्रसिद्ध कार्यता को नहीं। अतः मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति में भी उसी इष्टसाधनता के ज्ञान को हेतु रूप से अनुमान द्वारा समझ सकता है, और इष्टसाधनता में ही लिङादि की शक्ति का ज्ञान व्यवहार से बालक को होता है, कार्य से नहीं। और जो प्रथम कहा गया था कि भूत-भावी में इष्टसाधनता के ज्ञान होते भी प्रवर्तकत्व नहीं होता है। अतः उसमें प्रवर्तकत्व का व्यभिचार है, वह कहना युक्त नहीं। क्योंकि जैसा—

कृतियोग्य, हित (इष्ट) साधन कार्य के ज्ञान का हेतु आपके मत में

प्रवृत्तेस्तादृशं हेतुर्व्यभिचारस्ततः कुतः ॥ १७ ॥

येनापि हि कार्यावबोधस्यैव प्रवर्तकत्वमभ्युपेयतेऽभ्युपेयते एव तेनापीष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोधं प्रति हेतुता, तदभावे कार्यबोधानुपपत्तेः। तत्रापीष्टसाधनतामात्रस्य भूतादौ व्यभिचारात् कृतियोग्येष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानहेतुरित्यभ्युपेयम्, तथा च तादृगिष्टसाजताबोधस्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तौ किमन्तर्गडुना कार्यविबोधेन। न चेदृगिष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानम्; तस्य तज्ज्ञानं प्रति हेतुत्वाभ्युपगमात्। न च ममेदं कार्यमिति चिकीर्षामपहाय कार्यज्ञानं नाम किंचिदुपलभामहे। न च चिकीर्षैव कार्यधियमन्तरेणानुत्पद्यमाना तां कल्पयतीति युक्तम्। कृतियोग्येष्टसाधन-

---

ततः कुतो व्यभिचार इति योजना। श्लोकं विवृणोति—**येनापीति**। ननु कृतियोग्येष्टसाधनज्ञानमेव कार्यज्ञानं नत्वनयोर्धूमाग्निबोधवज्जन्यजनकता यदाह— 'यथा खल्वेकधीवेद्यत्वेऽप्याकृतितो व्यक्तिधीरुक्ते'ति। तथाच तस्य प्रवर्तकत्वाश्रयणमस्मदनुकूलमेवेति तत्राह—**न चेति**। हेतुमाह—**तस्येति**। 'फलसाधनता तत्र करणं तेन कार्यता, इति स्वीकारात् हेतुहेतुमतोरैक्यमनुपपन्नमित्यर्थः। यत्तु ममेदं कार्यमिति बुद्धेः परिशेषात्कार्यविषयत्वमुक्तं तदप्यसिद्धं तस्याश्चिकीर्षारूपत्वादित्याह—**न च ममेदमिति**। यत्त्विष्टसाधनतामात्राच्चिकीर्षानुत्पत्तेस्तद्धेतुः कार्यं स्वीकर्तव्यमिति तदपि विशिष्टेष्टसाधनस्वीकारात्परिहृतमित्याह—**न चेत्यादिना**।

होता है, वैसा ही इष्टसाधनता के ज्ञान को प्रवृत्ति के हेतुत्व माना जाता है, तो व्यभिचार कैसे हो सकता है ॥ १७ ॥

जो कार्य ज्ञान को प्रवृत्ति का हेतु मानते है, वह भी इष्टसाधनता के ज्ञान को कार्यज्ञान के प्रति हेतु मानते हैं, क्योंकि इष्टसाधनता ज्ञान के अभाव रहते, कार्य (कर्तव्य) बुद्धि की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं होती है। अतः उस कार्यबोध स्थान में भी इष्टसाधनता मात्र का भूतादि में व्यभिचार से (प्रवृत्ति हेतुत्व के अभाव से) कृतियोग्य (वर्तमान) इष्टसाधनता ज्ञान को ही कार्यता ज्ञान का हेतु मानना होगा। फिर ऐसा होने पर, कृतियोग्य (यत्नयोग्य) इष्टसाधनता ज्ञान को ही प्रवृत्ति हेतुत्व सिद्ध होने पर, अन्तर्गडु (गलगण्ड तुल्य निरर्थक) कार्यज्ञान का क्या फल हो सकता है। ऐसा इष्टसाधनता का ज्ञान ही कार्यता ज्ञान है, अतः अन्तर्गडु तुल्य नहीं है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उस इष्टसाधनता ज्ञान को आपने कार्यता ज्ञान के प्रति हेतु माना है और (ममेदं कर्तव्यम्) मेरा यह कर्तव्य है, इस प्रकार की चिकीर्षा (कर्तव्येच्छा) को छोड़कर (इसके बिना) कार्य नामक कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती है। यदि कहें कि, कार्यज्ञान के बिना अनुत्पद्यमान (असिद्ध) होती हुई चिकीर्षा ही कार्य बुद्धि की

तावबोधादेव चिकीर्षाया अप्युपपत्तेः ।

न च कृतिसाध्यं प्रधानमिति कार्यलक्षणं युक्तम्, फलेऽतिव्याप्तेः । अथ साक्षात्कृतिसाध्यत्वं विवक्षितं न च तत्फलेऽस्तीति मतम्; मैवम् । नियोगे तदभावेनाव्याप्तेः, भावार्थस्यैव साक्षात्कृतिसाध्यत्वात् । अथ साध्यैकस्वभावत्वम् न; प्रागभाववत्सु व्यभिचारात् । न च सदा साध्यैकस्वभावत्वम्, यागाद्यनुष्ठानोत्तरकालमपि तस्य साध्यैकस्वभावत्वे कदा-

---

तदेवं कार्यस्याप्रवर्तकत्वं प्रमाणाभावं चोक्त्वा तल्लक्षणमुक्तं दूषयति—**न च कृतीति** । फलमपि हि कृतिसाध्यं कृत्युद्देश्यतया प्रधानं चातस्तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । नन्वव्यवधानेन कृतिसाध्यत्वं विवक्षितम्, नच तत्फलेऽस्ति नियोगव्यवधानात्तस्येति शङ्कते—**अथेति** । तर्ह्यसिद्धिर्धात्वर्थस्यैव साक्षात्कृतिलक्षणप्रयत्नसाध्यत्वात् नियोगस्य तद्व्यवधानादिति दूषयति—**मैवमिति** । किमिदं साध्यैकस्वभावत्वम् ? किं साधनार्हत्वाधिकरणत्वम् ? किंवा सिद्धत्वानधिकरणत्वम् ? आद्ये प्रागभाववत्सूत्पत्तियोग्येष्वतिव्याप्तिरित्याह—**प्रागभावेति** । द्वितीयं दूषयति—**न च सदेति** ।

कल्पना कराती है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कृतियोग्य इष्टसाधनता के ज्ञान से ही चिकीर्षा की सिद्धि (उत्पत्ति) होती है, उसकी उत्पत्ति में कार्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है (उक्त रीति से कार्य के प्रवर्तत्व और प्रमाण के अभाव का वर्णन हुआ, लक्षण का भी अभाव कहा जाता है कि—

कृति से साध्यप्रधान कृति का उद्देश्य कार्य होता है। यह लक्षण जो कहा गया था, वह कार्य का लक्षण युक्त नहीं है। क्योंकि इस लक्षण की फल स्वर्गादि में अतिव्याप्ति है, क्योंकि फल ही कृति का उद्देश्य रहता है। यदि कहें कि कृति से साक्षात् साध्यत्व कार्य का लक्षण विवक्षित है, अतः फल में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि कृति से अपूर्व द्वारा फल की सिद्धि होती है, साक्षात् नहीं, तो ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि नियोग नामक कार्य में उस कृतिसाक्षात् साध्यत्व के अभाव से उसमें लक्षण की अव्याप्ति होगी, धात्वर्थ रूप भावार्थ को ही साक्षात्कृति साध्यता से, उसमें लक्षण की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि साध्यैक स्वभावता कृतिसाध्यत्व का अर्थ है, और धात्वर्थ साध्य और सिद्ध दोनों स्वभाव वाले होते हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो वह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रागभाव वाले सब वस्तु साध्यैकस्वभाव वाली होती हैं, उनमें लक्षण का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगा। यदि कहें कि सदा साध्यैकस्वभावत्व विवक्षित है, अतः प्रागभाव वाले में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रागभाव काल में उनमें साध्यत्व रहता है, बाद में नहीं, तो यह कहना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि यागादि के अनुष्ठान के उत्तर काल में भी नियोग के सदा साध्यैकस्वभाव

चिदपि नियोगासिद्धौ स्वर्गासिद्धिप्रसङ्गात्। अस्तु वा यत्किंचिदविचारितरमणीयं लोके कार्यम्, तथापि कथं वैदिकलिङादिशब्दादलौकिकनियोगस्य प्रतिपत्तिः? मानान्तरानधिगते तस्मिँल्लिङादेः सङ्गतिग्रहणायोगात्। अधिगमे वा "अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते', इति कपोलकल्पितापूर्वत्वभङ्गप्रसङ्गः। न च कार्यमात्रेऽवसितसङ्गतिका लिङादयः शब्दाः नियोज्याभिधायिस्वर्गकामादिपदसमभिव्याहारसामर्थ्यात्क्रियातिरिक्तमेव कार्यमवगमयंति, आशुतरविनाशिन्याः क्रियायाः कालान्तरभाविस्वर्गादि-

---

एवंलक्षणके नियोगे तत्सिद्धयर्थं प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना व्याघातात्, फलसिद्धिः पूर्वोक्तयोग्यताविरहश्च। तथाच स्वात्मसिद्धयनुकूलस्येत्यादिशालिकया केवलं विलपितमेव स्यादित्यर्थः। एवं कार्यमात्रस्य लक्षणानि दूषयित्वा तद्विशेषं नियोगं दूषयति—**अस्तु वेति**। तादृशो नियोगः किं प्रमाणान्तरेण न गृहीतः? किंवा गृहीतः? उभयथापि दूषणमाह—**मानान्तरेत्यादिना**। ननु नात्यन्तमलौकिकत्वमस्य यावता कार्यताकारेण लोकप्रसिद्धस्यैव सतो विशेषमात्रनिर्णयो वाक्यविशेषविमर्शाद्भवति। यथाहुः—

'व्युत्पत्तिरपि कार्येऽर्थे व्यवहारानुसारिणी।
किंतु निर्धारणामात्रं वेदवाक्यविमर्शजम्॥' इति॥

(प्र. पं. पृ. १९२)

तदेतत्पूर्वपक्षावसरोक्तमनूद्य दूषयति—**न चेत्यादिना**। न च युक्तमित्युक्तम्, तत्र

रहने पर, कभी नियोग सिद्ध ही नहीं होगा, और नियोग की असिद्धि से नियोग जन्य स्वर्गादि की असिद्धि प्राप्त होगी। अतः ऐसे नियोग के लिये प्रवृत्ति आदि की अनुपपत्ति से इसकी कथा प्रलाप मात्र है। अथवा अविचारित रमणीय (अविचारित सुन्दरता वाला) यत्किञ्चित् कार्य लोक में हो और उसका ज्ञान भी लोक में हो। तथापि वैदिक लिङादि शब्द से अलौकिक नियोग का ज्ञान कैसे होता है अर्थात् नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाणान्तर से अज्ञात उस नियोग में लिङादि की शक्ति का ज्ञान होना अयुक्त (असम्भव) है। यदि शक्तिग्रह के लिये मानान्तर से उसका अधिगम (ज्ञान) मानें, तो (अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते) इस वेद से अन्य मानान्तर से प्रथम अगृहीत होने से मानान्तर के अविषय (अपूर्व) को अपूर्व कहा जाता है, यह स्वकपोल (मुख) से कल्पित अपूर्वत्व का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहें कि सामान्य लौकिक कार्य मात्र में निश्चित सङ्गति (शक्ति सम्बन्ध) वाले लिङादि शब्द यद्यपि रहते हैं, तथापि नियोज्यवाचक स्वर्ग कामादि पद के साथ पाठ के सामर्थ्य से क्रिया से अतिरिक्त ही के बोधक होते हैं, क्योंकि अतिशीघ्र विनश्वर क्रिया यागादि को कालान्तर

साधनतानुपपत्तेरिति युक्तं वक्तुम्। अनुपपत्तिवेद्यत्वे मानान्तरगोचरत्व-प्रसङ्गात्।

ननु नेयमर्थापत्तिः, तर्क एवायमुपन्यस्तः, तेन तर्काधिगते नियोगे सङ्गतिग्रहः सङ्गच्छते; तर्कस्यामानत्वात्। प्रमाणानुग्राहकस्तर्को नतु प्रमाण-मिति हि परीक्षका इति चेत्, मैवम्; तर्कगोचरत्वेऽपि प्रमाणान्तरगोचर-त्वस्यापरिहार्यत्वात्। तथाहि—प्रमाणान्तराधिगतव्याप्यव्यापकभावयोरे-काभ्युपगमेन द्वितीयस्य नियतप्रसञ्जनरूपस्तर्कः। यथा यद्ययं वह्निमान्न

हेतुमाह—**अनुपपत्तीति**। अर्थापत्तिः खल्वनुपपत्तिः। तथाच मानान्तरगम्यत्वाद-पूर्वत्वनिवारणमित्यर्थः।

पूर्ववादिहृदयं शङ्कते—**नन्विति**। अपूर्वत्वं निर्वाहयति—**तर्कस्येति**। यद्यपि तर्कः स्वयं न प्रमाणं तथापि तद्विषयः प्रमाणविषय एव, तथा चोक्तदोषानुषङ्ग इत्याह—**मैवमिति**। तदेव दर्शयितुं तर्कस्वरूपमाह—**तथाहीति**। **एकाभ्युपगमेनेति**। व्याप्याहार्यारोपेणेत्यर्थः। अनेन चानुमानेऽतिव्याप्तिः परिहृता। नियप्रसञ्जनं तर्क इत्युक्ते यद्यनित्यः स्यान्मूर्तः स्यादित्यादिप्रसङ्गाभासेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाणान्तरे-

---

भाव स्वर्गादि की साधनता की अनुपपत्ति है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि उक्तरीति से यागादि में स्वर्गसाधनता की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से अपूर्व की कल्पना करने पर, अनुपपत्ति रूप मानान्तर से वेद्य होने के कारण मानान्तरगोचरत्व की प्राप्ति होगी कि जिससे अपूर्वता का अभाव होगा।

यदि शङ्का हो कि स्वर्गसाधनता की असिद्धि से अपूर्व की कल्पना, यह अर्थापत्ति रूप नहीं है। किन्तु तर्क (ऊहा) स्वरूप है, उसीका यह उपन्यास (कथन) किया गया है। तेन हेतुना (उस कारण), तर्क से ज्ञात नियोग में लिङादि की शक्ति का ज्ञान होता है। और तर्क के प्रमाण नहीं होने पर तर्क से अधिगत में भी मानान्तरानधिगतता से अपूर्वता रहती है, क्योंकि प्रमाणों का अनुग्राहक (सहायक) तर्क होता है। प्रमाणस्वरूप नहीं, इस प्रकार परीक्षक (विवेकी) कहते हैं। तो ऐसी शंका युक्त नहीं। क्योंकि नियोग के तर्कविषय होने पर भी प्रमाणान्तर गोचरत्व अपरिहार्य (अनिवार्य) है। वह इस प्रकार से है कि प्रमाणान्तर से जिनके व्याप्य-व्यापकभाव गृहीत हुए हैं, उनमें से एक के स्वीकार द्वारा दूसरे के अवश्य प्रसज्जन (प्रापन) को तर्क कहा जाता है। (यदि गृहे धूमः स्यात्, तर्हि अग्निरपि स्यात्) यदि घर में धूम होगा, तो अग्नि भी होगी ही, यदि पर्वत में अग्नि का अभाव होता, तो धूम का भी अभाव होता, इत्यादि व्याप्यारोप से व्यापकारोप रूप तर्क होता है, तो जैसे यदि यह अग्निवाला नहीं होता तो धूम वाला भी नहीं होता, यह तर्क होता है। इसी

स्याद्धूमवानपि न स्यादिति । तथा च यद्ययं लिङादिः क्रियातिरिक्तकार्याभिधायी न भवेत्तदा न स्वर्गकामपदेन समभिव्याह्रियेत, समभिव्याह्रियते चायम्; तस्मात्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायकः इति प्रसङ्गरूपेऽपि तर्के द्वयोरापाद्यापादकभावयोस्तदभावयोश्च धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोस्तदभावयोरिव मानान्तरगोचरता कथं न स्यात्? न चापाद्यापादकभावोऽपि; क्रियातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वेन तदभावस्याप्रसिद्धत्वात् । अप्रमाणभूतश्च तर्कः ।

स्याद्युक्तम् । नियतपदं तु व्यर्थमेव । उदाहरति—**यथेति** । प्रकृतस्थलेऽप्यापाद्यापादके विवेचयति—**तथा चेति** । अस्य च विपर्यये पर्यवसानं दर्शयति—**समभिव्याह्रियते चायमिति** । **कथं न स्यादिति** । इतरथा मूलशैथिल्यादिति भावः । अभ्युपगम्यापाद्यापादकभावं प्रमाणान्तरगोचरत्वप्रसक्तिरुक्ता स एव नास्ति अप्रसिद्धविशेषणत्वादित्याह—**न चेति** । अत्र हि क्रियातिरिक्तकार्यानभिधायकत्वमापादकं स्वर्गकामपदासमभिव्याहारश्चापाद्यः, तत्रातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वादेव तदनभिधानमप्रसिद्धमेवेत्यर्थः । एवं तर्कगोचरत्वेऽपि प्रमाणान्तरगम्यत्वमापादितमिदानीमप्रमाणरूपत्वमपि स्वन्मते तर्कस्य न शक्यसमर्थनम्, स्मृतिव्यतिरिक्ताप्रमाणज्ञानस्य भवतानङ्गीकारात् । स्मृतेश्चाननुभूतचरतयाऽनुपचितसंस्कारेऽनुपपत्तेरित्याह—**अप्रमाणभूतेत्यादिना** । ननु वयमेतल्लक्षणं न कक्षीकुर्मः यत्संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति, येनाननुभूते संस्काराभावात्स्मृत्यनुपपत्तिः स्यात्किं तु सापेक्षं ज्ञानमिति शङ्कते—

प्रकार प्रकृत में, यदि यह लिङादि क्रियातिरिक्त नियोगार्थवाचक नहीं हो, तो स्वर्गकाम पद के साथ उच्चारित नहीं हो, किन्तु यह लिङादि स्वर्गकाम पद के साथ पढ़ा जाता है, अतः यह क्रियातिरिक्त अर्थ का वाचक है। इस प्रकार प्रसङ्ग (कल्पना) रूप भी तर्क के रहते भी आपाद्य (अतिरिक्त अर्थवाचकत्व) और आपादक (स्वर्गकाम पद के साथ पाठ) को, तथा उनके अभावों को धूमवत्त्व, अग्निमत्त्व और उनके अभावों के समान मानान्तर विषयता कैसे नहीं होगी, अवश्य होगी। और आपाद्य आपादक (कार्यकारण) भाव मान कर नियोग में प्रमाणान्तर गोचरता कही गई है। वस्तुतः उक्त आपाद्य-आपादक भाव भी नहीं है, क्योंकि क्रिया से भिन्न कार्य (नियोग) के अप्रसिद्ध होने से उसके अभाव को भी अप्रसिद्धता ही है, यहाँ क्रियातिरिक्तकार्यानभिधायकत्व आपादक है, और स्वर्ग कामपदाऽनभिहार आपाद्य है, वहाँ अतिरिक्त कार्य की अप्रसिद्धि से उसका अनभिधान भी अप्रसिद्ध है, प्रतियोगी की प्रसिद्धि से अभाव की प्रसिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

तर्क विषय होने पर, प्रमाणविषयत्व भी कहा गया है, अब तेरे मत में

स्मृत्यनुभवभेदेन ज्ञानद्वैराश्यवादिना स्मृतावन्तर्भवतीति वाच्यम् । न चात्रा-ननुभूते नियोगे स्मृतिः संभवति, संस्कारजन्यायाः स्मृतेस्तदभावेऽभावात् । ननु पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति न ब्रूमः, किंतु सापेक्षं ज्ञानम् । अस्ति चात्र प्रमाणानुग्राहकतया तर्कस्य तदपेक्षा, ततो नोक्तदोषः इति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किमुत्पत्तौ सापेक्षत्वम्? उत विषयाववोधे ? नाद्यः; प्रमाणज्ञानानामपीन्द्रियलिङ्गादिसापेक्षतया स्मृतित्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; विषयाववोधेऽपि सापेक्षत्वे स्मृतेः प्रदीप-

---

नन्विति । प्रकृततर्के च लक्षणं वर्तयते—अस्ति चात्रेति । यदिदमस्य सापेक्षत्वं तत्क्व ? स्वोत्पत्तौ ? उक्तविषयाववोधे ? आद्येऽपि यत्किंचिदपेक्षा ? उत ज्ञानापेक्षा ? आद्ये आह— नाद्य इति । एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः । लिङ्गज्ञानसापेक्षस्याप्यनु-मानस्यास्मृतित्वात् । द्वितीयं निरस्यति—विषयेति । विषयाववोधे विषयव्यवहार-जनने, कारणेन कार्यलक्षणात् तत्र सापेक्षत्वे प्रदीपवज्ज्ञानत्वं न स्यादित्यर्थः ।

अप्रमाणरूपत्व भी तर्क को नहीं हो सकता, क्योंकि स्मृति से अतिरिक्त ज्ञान को आप अप्रमाण नहीं मानते है और अननुभूत की स्मृति हो नहीं सकती है । अतः कहा जाता है कि, यदि अप्रमाण रूप तर्क है, तो स्मृति अनुभव रूप दो प्रकार के ज्ञानवादी को स्मृति के अन्तर्गत तर्क है, ऐसा कहना होगा, परन्तु अननुभूत नियोग की स्मृति का सम्भव नहीं है, क्योंकि संस्कारजन्य स्मृति के होने से अनुभवजन्य संस्कार के अभाव रहते स्मृति का भी अभाव रहता है । यदि कहें कि पूर्व अनुभवजन्य जो संस्कार उस संस्कार मात्रजन्य ज्ञान स्मृति होती है, ऐसा स्मृति का लक्षण हम नहीं कहते हैं, किन्तु सापेक्षं ज्ञानं स्मृतिः, ऐसा लक्षण मानते हैं । और तर्क में भी प्रमाणानुग्राहकता होने से इस तर्क को प्रमाण की अपेक्षा रहती है, अतः इसको स्मरण रूप होने से प्रमाणता के अभाव के कारण तर्क विषय नियोग में प्रमाणान्तर विषयत्व रूप उक्त दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । तो ऐसा कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि तर्क के प्रमाणापेक्षत्व विकल्पाऽसह है । अर्थात् विचार से सिद्ध होने वाला नहीं है । विचार यह है कि, तर्क अपनी उत्पत्ति में प्रमाण की अपेक्षा करने से स्मृति कहाता है, या अपने विषय के बोध में प्रमाण की अपेक्षा करता है । वहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यदि उत्पत्ति में सापेक्ष होने से तर्क स्मृति हो, तो प्रमाण ज्ञानों को भी इन्द्रिय लिङ्गादि सापेक्षता से स्मृतित्व की प्राप्ति होगी । दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि यदि स्वविषयाववोध प्रकाशों में (विषयत्व व्यवहार में) भी यदि स्मृति रूप तर्कसापेक्ष होगा, तो वह ज्ञान ही नहीं कहा जायगा, सापेक्षाव बोधक प्रदीप के समान, उसमें ज्ञानत्वाऽभाव प्राप्त होगा । यदि स्मृति को ज्ञान

वज्ज्ञानत्वाभावप्रसङ्गात्, अपसिद्धान्तापत्तिश्च ।

"प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः ॥
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ॥"
(प्र. पं. अमृ. १)

इति शालिकनाथवचनविरोधात् ।

न चार्थापत्तिगम्यत्वमपि; कृतेर्भावार्थजननद्वाराऽपूर्वसाधनत्ववत्क्रि-

---

प्रमाणमनुभूतिरिति । प्रमाणसामान्यलक्षणम् । अनुभूतेर्लक्षणमाह—**सा स्मृतेरन्येति** । स्मृतिव्यतिरिक्तम् ज्ञानमित्यर्थः, तेन च स्मृतेः प्रामाण्यं निवारितम् । स्मृतेरपि लक्षणमाह—**स्मृतिः पुनरित्यादिना** । अनुमानप्रत्यभिज्ञादिव्यावृत्त्यर्थं मात्रग्रहणमिति प्रकरणपञ्चिकाप्रमाणपारायणश्लोकार्थः ।

एवमनुपपत्तिमङ्गीकृत्यापूर्वत्वक्षतिरापादिता । इदानीमनुपपत्तिरेव नास्त्यन्यथैवोपपत्तेरित्येतत्प्रतिबन्दीपूर्वकमाह—**न चार्थापत्तीति** । यथा हि यजेतेत्यत्र कृतिसाध्यनियोगाभिधायिना लिङा कृतिनियोगयोः प्रतीतेरुभयोश्चैकपदत्वेन साध्यसाधनभावप्रतीतौ भावार्थविषयकत्वेन तज्जनकत्वनियमात्कृतेर्नियोगस्य चाभावार्थत्वात् प्रकृत्यभिधेयभावार्थमुत्पाद्य तद्द्वारा नियोगसाधनता कृतेर्भवद्भिरङ्गीक्रियते तथा क्रियाया एव क्षणिकाया अप्यपूर्वान्तरव्यापारायाः फलसाधनत्वोपपत्तौ न स्वतन्त्रनियोगव्यतिरेकेण काचनानुपपत्तिरित्यर्थः । यत्पुनरत्र कैश्चिदुक्तम्—अपूर्वकल्पनायामपि साधनसाधनतैव यागस्य न तु साक्षात्साधनता यागस्येति तत्कल्पनायामपि तदवस्थैवानुपपत्तिरिति, तन्न; व्यापारतयैव कल्पना तेन चाव्यवधानात् । यदि च तत्कल्पनामात्राद्व्यवधानं तर्ह्यवगूरणादावपि स्यादिति प्रतिबन्दीं गृह्णाति—

स्वरूप नहीं माने, तो अपसिद्धान्त (सिद्धान्त का त्याग) भी प्राप्त होगा। क्योंकि—

अनुभूति = अनुभव रूप ज्ञान, प्रमाण होता है, वह स्मृति से अन्य होता है। और पूर्व ज्ञान के संस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को स्मृति कहा जाता है।

इस शालिक नाथ के वचन से (सिद्धान्त से) विरोध होता है। इस मत में भ्रमरूप अनुभव नहीं माना जाता है, अतः स्मृतिभिन्न सब ज्ञान प्रमाण माना जाता है। और स्मृति को भी ज्ञान माना जाता है।

प्रथम अनुपपत्ति को मानकर, अपूर्वत्व का अभाव कहा गया है, अब अनुपपत्ति का भी अभाव कहा जाता है कि, अर्थापत्ति से गम्यत्व भी नियोग को नहीं हो सकता है। क्योंकि कार्यनामक नियोग के बिना स्वर्गादि फल की अनुपपत्ति नहीं है, आप (प्रभाकर) के मत में जैसे कृति (यत्न) को धात्वर्थ रूप भावार्थ के जनन (उत्पादन) द्वारा अपूर्व (कार्य) साधनत्व माना जाता है। वैसे धात्वर्थ

याया एवापूर्वावान्तरव्यापाराया: स्वर्गसाधनत्वोपपत्तेः । अपि च 'यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातया'दित्यत्रावगूरणकर्मण: क्षणिकस्यापि दुरितापूर्वजननद्वारा कालान्तर्भावि शतयातनाफलसाधनत्ववत्क्षणिकाया अपि यागक्रियाया अपूर्वजननद्वारा स्वर्गसाधनता किं न स्यात् ? नन्ववगूरणे दुरितापूर्वकल्पना कामाधिकारे क्रियातिरिक्तनियोगसिद्ध्युत्तरकालीना । तथाहि—तत्राशुतरविनाशिन्या: क्रियाया: कालान्तरभाविफलसाधनत्वासामर्थ्यात्तदतिरिक्तापूर्वस्य फलसाधनत्वे स्थिते पश्चादवगूरणेऽपि कालान्त-

---

अपि चेति । यः पुरुषो ब्राह्मणायावगुरेच्छस्त्रमुद्यमेत्, उद्यतायुधं तदेवावगूरणं शतेन यातयात् । इत्थंभावे तृतीया । यावत्परत्रानेन दुःखमुत्पाद्यते तत: शतगुणयातनामनुभावयेत् । अथवा शतेन संवत्सरेण यातयात् । तावत: संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानातीति वाक्यशेषात् । अत्र हि कालान्तरभाविशतयातनादेः न क्षणिकावगूरणादि साधनमिति किंचिद्दुरितापूर्वं कल्पनीयमिति । न च तदपि श्रौतम्; दुःखफलतया अकार्यत्वेनाशक्यार्थत्वात् । यस्त्ववगूरणे तादृशापूर्वकल्पनमेव काम्येषु वाक्येषु स्वतन्त्रनियोगं गमयति तमन्तरेण तदनुपपत्तेरिति नयविवेककारेणोक्तं तदुद्भावयति—**नन्विति** । तत्सिद्ध्युत्तरकालतामेव दर्शयति—**तथाहीत्यादिना** । अदृष्टचरस्य कल्पनानुपपत्तेः कामाधिकारसिद्धो नियोगोऽत्र कल्प्यत इत्यर्थः । अन्यत्र सिद्धावेव

रूप क्रिया को ही अपूर्व रूप अवान्तर (मध्यवर्ती) व्यापार द्वारा स्वर्गसाधनत्व हो सकता है, अतः स्वतन्त्र अपूर्व (नियोग) के बिना कोई अनुपपत्ति नहीं है । अर्थात् क्षणिक क्रिया के व्यापार रूप अदृष्ट के होने से अदृष्ट द्वारा क्रिया फल का जनक होती है, अतः स्वतन्त्र अदृष्ट के बिना अनुपपत्ति नहीं है । अत एव (यो ब्राह्मणायाऽवग्रस्तं शतेन यातयेत्) जो ब्राह्मण को मारने के लिये शस्त्र उठाता है, उसको वह कर्म सौ गुना दण्ड देता है, या सौ वर्ष तक यमयातना भोगाता है । यहाँ जैसे क्षणिक भी अवगुरण कर्म को पापरूप अपूर्व की उत्पत्ति के द्वारा कालान्तरभावी शत यातना रूप फल के साधनत्व होता है, वैसे ही क्षणिक भी याग रूप कर्म को अपूर्व द्वारा कालान्तरभावी स्वर्गसाधनत्व क्यों न होगा । यहाँ शंका होती है कि अवगुरण में पापरूप अपूर्व की कल्पना, काम्य यागादि प्रकरण में क्रिया से अतिरिक्त नियोग की सिद्धि के बाद ही हो सकती है । क्योंकि काम्य प्रकरण में शीघ्र विनाशी क्रिया में कालान्तरभावी फलसाधन सामर्थ्य के अभाव से उससे भिन्न फलसाधन अपूर्व के स्थित (निश्चित) होने पर, फिर अवगुरण के भी कालान्तरभावी शत यातनारूप फल भी दुरित (पाप) रूप अपूर्व द्वारा ही कल्पित होता है, तो अवगुण दृष्टान्त से नियोग की असिद्धि कैसे होगी उस नियोग की सिद्धि के उत्तरकालिकत्व, उस उत्तरकालिक अवगुरणदृष्ट कल्पना में है । पूर्व

रभाविशतयातनाफलमपि दुरितापूर्वद्वारैवेति कल्प्यते, तथा सति कथं नियोगासिद्धिः? तत्सिद्ध्युत्तरकालीनत्वादुत्तरकल्पनाया इति चेत्, मैवम्, कृतिसाध्ये नियोगे प्रतीते कृतेर्भावार्थैकविषयत्वात्, नियोगस्य चाभावार्थरूपत्वात्साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवात्, भावार्थं साधयन्ती कृतिर्नियोगं साधयतीति यथा कल्प्यते। अत एव चाघटितसंघटकतया भावार्थोऽपि विषयः करणं न नियोगं प्रतीति गीयते। यथाहुः—

"कृतितत्साध्यमध्यस्थो यागादिर्विषयो मतः।
कार्ये संघटिताकारे करणत्वेन संमतः॥" इति॥

तथा लोकावगतसामर्थ्यैर्लिङादिशब्दैरधिगतफलसाधनभावायाः क्रियाया

हेतुः—तत्सिद्धीति। सत्यमन्यत्र दृष्टं कल्प्यते तत्तु तत्रावान्तरव्यापारत्वेनैव दृष्टं न तु स्वतन्त्रत्वेनेत्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमित्यादिना। अयं च कृतेर्भावार्थजननद्वारेत्यस्य प्रपञ्चोऽपि। अत्र च यागादिधात्वर्थस्य नियोगं प्रति विषयत्वाङ्गीकरणं करणत्वाङ्गीकरणं च गमकमित्याह—अत एव चेति।

एतदेव भवनाथवचनेन द्रढयति—कृतीति। कृतिः प्रयत्नः तत्साध्यो नियोगस्तयोर्मध्यस्थो यागदानहोमादिधात्वर्थो विषयो मतः। षिञो बन्धनकर्मणो विषयशब्दव्युत्पत्तेः। कृतिं नियोगादौ घटयतो धात्वर्थस्य युज्यते विषयत्वं तथा कार्येऽसंघटिताकारे स एव च विषयः तस्मिन्नेव करणत्वेन च संमत इति श्लोकयोजना। एतदुक्तं भवति—प्रतिपत्त्युपाधौ विषत्वं सिद्ध्युपाधौ करणत्वमित्यस्ति तयोर्भेद इति। दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथा लोकावगतेत्यादिना। गवानयनादिक्रियैव

सिद्ध के अनुसार पश्चाद्भावी हो सकता है, पश्चाद्भावी के अनुसार पूर्ववृत्ति नहीं होती है। यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि, कृति (यत्न) साध्य नियोग के प्रतीत होने पर, कृति के भावार्थ (धात्वर्थ) विषयक होने से, और नियोग के अभावार्थत्व (अधात्वर्थत्व) से नियोग में साक्षात्कृतिसाध्यत्व के असम्भव से जैसे कल्पना की जाती है कि धात्वर्थ को सिद्ध करती हुई कृति नियोग को सिद्ध (उत्पन्न) करती है। अत एव (धात्वर्थ में कृतिविषयता होने से) अघटित (यत्न के साथ असम्बद्ध नियोग) के संघटक होने से भावार्थ भी विषय और करण नियोग जनन के प्रति कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है:—

कृति और कृति से साध्य नियोग के मध्य में स्थित यागादि कृति का विषय माना गया है, कृति से असंघटित आकार वाले कार्य में करण रूप से यागादि माना गया है।

इसी प्रकार लोक से अवगत (ज्ञात) सामर्थ्य वाले लिङादि शब्दों द्वारा

नियोगमन्तरेणापि स्वजन्यापूर्वावान्तरव्यापारद्वारा फलसाधनत्वसंभवे तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एवावगूरणेऽपि दुरितापूर्वकल्पनायां संभाविन्यामलोकवेदसिद्धनियोगकल्पनानुपपत्तेः । इतरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वभङ्गोऽपरिक्लृप्तनियोगवाचकत्वकल्पना, अपूर्वस्य फलसाधनत्वकल्पना, यागस्य च फलनियोगयोः करणत्वकल्पना चेति गौरवं प्रसज्येत ।

किं च यथा तवाग्नेयादीनामुत्पत्त्यपूर्वावान्तरव्यापाराणां परमापूर्वसाधनभावस्तथास्मन्मतेऽप्यपूर्वावान्तरव्यापाराया एव क्रियाया ईश्वरप्रसा-

---

तावत्फलसाधनत्वेनाधिगता लिङादिशब्दैः, तद्यदि क्षणिकत्वादनुपपन्नं तर्ह्यवान्तरव्यापारवत्यास्तस्या एव साधनत्वमास्थेयम् । एवं दृष्टमनुगृहीतं भवति, इतरथा हि दृष्टहानिरदृष्टकल्पना प्रसज्येयाताम् । अत एव तद्दृष्टान्तेनावगूरणेऽपि तत्कल्पनासिद्धेर्न नियोगेन विनानुपपत्तिरित्यर्थः । युक्तं चैतदितरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वमात्रेण व्यवहारोपपत्तौ अलौकिकबहुकल्पनाप्रसङ्ग इत्याह—**इतरथेति । अपूर्वस्येति** । अपूर्वस्य फलं प्रति साधनत्वकल्पनेत्यर्थः । **यागस्येति** । अपूर्वफलयोरेकैव भावना एकमेकमेव करणं एकैकैव च भाव्यतेति हि तेपामभ्युपगमः । उपलक्षणं चैतत्, यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वकल्पनायाः । प्रतिपत्त्यनुबन्धितया तस्य करणत्वादपि प्राथमिकत्वात् ।

एवं प्रतिबन्दीं समर्थ्याग्नेयादिप्रतिबन्द्यापि क्रियाया एव फलसाधनतामुपपादयति—**किंचेति ।** 'आग्नेयोऽष्टाकपालः, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पय' इति यागत्रयं दर्शत्रयं नाम । आग्नेयोऽष्टाकपालो यागः, आज्यहविष्कश्चोपांशुयागः, अग्नीषोमीयैकादश-

---

जिन यागादि क्रियाओं में स्वर्गादि फलसाधनत्व का ज्ञान होता है, वह क्रिया ही स्वतन्त्र नियोग के बिना ही स्वजन्य अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा स्वर्गादि फलों के साधन हो सकती है, इस प्रकार यागादि में फल साधनत्व के सम्भव होने पर, उसी दृष्टान्त के अवलम्बन से ही उक्त अवगुरण में भी पाप रूप अपूर्व की कल्पना की सम्भावना होने पर, लोक वेद से असिद्ध नियोग की कल्पना नहीं हो सकती है । ऐसा नहीं मानने पर लिङादि के निर्णीत क्रियावाचकत्व का अभाव होगा, अनिर्णीत नियोग वाचकत्व की कल्पना होगी, अपूर्व में फल के प्रति साधनता की कल्पना होगी । और याग में फल और नियोग दोनों के करणत्व की कल्पना आदि गौरव प्राप्त होगा ।

दूसरी बात यह है कि जैसे आपके मत में, आग्नेय, ऐन्द्रादि उत्पत्ति विधिजन्य आग्नेयादि कर्म अपने उत्पत्त्यपूर्व रूप अवान्तर व्यावार द्वारा परमापूर्व (फलापूर्व) के साधनता को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार मेरे मत में भी अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार वाली, या ईश्वर की प्रसन्नता रूप अवान्तर वाली क्रिया

दावान्तरव्यापाराया वा फलसाधनतोपपत्तेर्न नियोगकल्पनावकाशः। न चोत्पत्त्यपूर्वाणामेव परमापूर्वसाधनत्वमाग्नेयादीनां तु तत्साधनतैवेति युक्तं वक्तुम्; प्रमाणाभावात्। तथाहि—किं 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यधिकारवाक्येनैषां परमापूर्वसाधनत्वमवगतम्? उत 'आग्नेयोऽष्टा-

---

कपालयागश्चेति पौर्णमासत्रयम्। एतेषां च परमं दर्शपूर्णमासापूर्वं प्रति करणत्वं 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', इति विधिना बोधितम्, न च क्षणिकानामुदीच्योपकारो घटते इत्यवान्तरव्यापाररूपाणि षडपूर्वाणि कल्प्यन्ते। न च तावताग्नेयादीनां साधनताऽभाव इति भवतामपि संप्रतिपन्नं तथाप्यस्मन्मते क्रियैवापूर्वावान्तरव्यापारा स्वर्गसाधनं नत्वपूर्वम्। अथ ईश्वरप्रसाद एवापूर्वस्थानेऽभिषिच्यतां तस्य श्रुतिस्मृतिपुराणगणनिर्णीतत्वादित्यर्थः। यथा चास्मन्मते तत्तद्देवतायागावैयर्थ्यम् 'देवता वा प्रयोजये'दित्यधिकरणाविरोधश्च, तथा 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्र वर्णितं वाचस्पतिमिश्रैः। ननु नाग्नेयादिष्वपूर्वाणामवान्तरव्यापारत्वम् अपितु तान्येव परमापूर्वं प्रतिसाधनम्, आग्नेयादीनि तु तत्साधनानीत्याशङ्क्य दूषयति—**न चोत्पत्तीत्यादीना**। अधिकारवाक्यं फलसंबन्धबोधकं वाक्यं नियोज्यसमर्पकं वा, उत्पत्तिवाक्यं कर्मस्वरूपबोधकम्। आद्येऽपि पक्षे दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यनेन वा यजेतेत्यनेन वा। प्रथमे प्राह—**दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्येति**। आग्नेयादिकर्मसमुच्चयवाचक-

---

(यागादि) स्वर्गादि फल का साधन हो सकती है। अतः नियोग की कल्पना का अवकाश (स्थान) नहीं है। यदि कहें कि तीन दर्श और तीन पौर्णमास याग होते हैं। जहाँ याग स्वरूपबोधकविधि उत्पत्तिविधि कही जाती है। फलसम्बन्धबोधकविधि अधिकारविधि कही जाती है, वहाँ (दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः) यह अधिकारविधि है। और (आग्नेयोऽष्टाकपालः) इत्यादि उत्पत्तिविधि हैं। वहाँ आग्नेयादि के अनुष्ठान से जो अपूर्व होता है, उसको उत्पत्त्यपूर्व कहते हैं। वहाँ तीन दर्शयाग से तीन अपूर्व की उत्पत्तिपूर्वक फिर तीनों से एक समुदायापूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है। इसी प्रकार पौर्णमास में भी मानी जाती है। उन दोनों समुदायाऽपूर्व से परमापूर्व माना जाता है। परन्तु आग्नेयादि यागों को उत्पत्त्यपूर्व द्वारा परमापूर्व के कारण मान कर, कहा गया है कि क्रिया ही कारण है, नियोग कल्पना का अवकाश नहीं, वहाँ यदि कहा जाय कि उत्पत्त्यपूर्वों को ही परमपूर्व के प्रति साक्षात् साधनत्व है, आग्नेयादि के प्रति द्वारत्व (व्यापारत्व) उक्त अपूर्वों को नहीं है। अतः आग्नेयादि को परमापूर्व के साधन उत्पत्त्यपूर्व के साधनत्व ही है। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि परमापूर्व की साधनता उत्पत्त्यपूर्व में है, इस अर्थ में प्रमाण का अभाव है। क्योंकि विचारणीय है कि (दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत); इस अधिकार वाक्यों से

कपालः' इत्याद्युत्पत्तिवाक्यैः ? नाद्यः; दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्य कर्मसमुदायवाचकत्वात्, यजेतेति च परमापूर्वाभिधानात्। नापि द्वितीयः; दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यधिकारवाक्यसंनिधिसमाम्नातानामुत्पत्तिवाक्यानामधिकारापूर्वानुवादशङ्काकुण्ठितशक्तीनां द्रागित्येवापूर्वान्तरप्रत्ययजनकतानाश्रयणात्। अन्यथाधिकारवाक्यसंनिधिपरिपठितसमिदादिवाक्यस्थलिङादिशब्दानामपि स्वतन्त्रकार्याभिधायकत्वे ग्राहकग्रहणभङ्गप्रसङ्गः। प्रयोजनप्रयोजनिभावेनान्विताभिधानं ग्राहकग्रहणमित्यभ्युपगमात्, स्वतन्त्राणां च

त्वादुत्पत्त्यपूर्वाभिधायकत्वादित्यर्थः। द्वितीयं निषेधति—यजेतेति चेति। भावार्थविशिष्टपरमापूर्वाभिधायकत्वादित्यर्थः। उत्पत्तिवाक्यैरिति पक्षं दूषयति—नापीति। एष हि तेषामभ्युगमः—आग्नेयादिवाक्यैरपूर्वान्तराणि नाभिधीयन्ते, प्रधानापूर्वसंनिधिपठिततया तदनुवादाशङ्कया कुण्ठितशक्तित्वात्। केवलं कर्मस्वरूपमात्रं तत्र शाब्दम्। योग्यतावैधुर्याभावाच्च प्रकरणिनान्विताभिधानं कारणान्तरवशाच्चापूर्वाणां कल्प्यत्वमिति सोऽयं भज्येतैवमभ्युपगच्छत इत्यर्थः। न केवलमनुवादाशङ्कयानभिधायकमनिष्टप्रसङ्गाच्चेत्याह—अन्यथेति। दर्शपूर्णमासाभ्यामित्याद्यधिकारवाक्यप्रकरणपठितसमिदादिवाक्यानामप्याग्नेयादिवाक्यवदपूर्वाभिधायकत्वात्। अपूर्वस्य च कृतिसाध्यं प्रधानं यदित्युक्तलक्षणवत्तया प्रधानत्वात्प्रधानयोश्चाङ्गाङ्गिभावाभावात्तद्बोधकग्राहकसंज्ञकप्रयोगवचनेन परिग्रहो न स्यादित्यर्थः। आपाद्य चेदं दूषणम्।

इन उत्पत्त्यपूर्वों की परमापूर्वसाधनता समझी जाती है, अथवा; आग्नेयोऽष्टाकपालः) इत्यादि उत्पत्ति विधि वाक्यों से समझी जाती है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि (दर्शपूर्णमासाभ्याम्) इस पद को कर्मसमुदाय का वाचकत्व है, और (यजेत) इससे परमापूर्व कहा जाता है—उत्पत्त्यपूर्व नहीं। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता हैं। क्योंकि (दर्शपूर्णमासाभ्याम्) इस अधिकार वाक्य के सन्निधि में पठित उत्पत्ति वाक्यों की शक्ति अधिकाराऽपूर्व के अनुवादकत्व शङ्का से कुण्ठित रहती है, अतः शीघ्र ही अपूर्वान्तर की ज्ञानजनकता का आश्रयण नहीं कर सकता है। अर्थात् उनसे अपूर्वान्तर का बोध नहीं हो सकता है, और कर्मस्वरूप के बोधक उत्पत्ति वाक्य को अदृष्टबोधक आप मानते भी नहीं हैं। अन्यथा = यदि आग्नेयादि वाक्य को स्वतन्त्र अपूर्वान्तर बोधकत्व होगा, तो अधिकार वाक्य के सन्निधि में पठित समिदादि (समिधो यजति) इत्यादि वाक्यगत लिङादि को भी स्वतन्त्र कार्य (अपूर्व) वाचकत्व होने पर ग्राहण अङ्गी (प्रधान) से अङ्गों के ग्रहण का भङ्ग (अभाव) प्राप्त होगा, क्योंकि सब प्रधान हो जायगें। प्रयोजन प्रयोजनी भाव (अङ्गाङ्गी भाव) अन्वित (सम्बद्ध) के कथन को ग्राहक ग्रहण इस शब्द से कहा और माना जाता है। और स्वतन्त्रों को परस्पर

प्रयोजनप्रयोजनिभावासंभवात्। आग्नेयादीनामेव त्वधिकारापूर्वं प्रत्यवगतकरणविषयभावानां क्षणिकत्वेन तदनुपपत्तौ तत्सिद्ध्यर्थमेवावान्तरव्यापारतयोत्पत्त्यपूर्वाङ्गीकरणात्।

कश्चायं नियोज्यो नाम यदन्वयात्क्रियातिरिक्तनियोगसिद्धिः? स किं

परमापूर्वेण ग्राहकग्रहणस्वरूपं दर्शयति—**प्रयोजनेति**। प्रयोजन प्रधानं नियोगः, प्रयोजनिनः तत्प्रकरणपठितसकलपदार्थास्तदन्विततया प्रधाननियोगस्याभिधानं ग्राहकग्रहणमित्यर्थः। कथं तर्ह्याग्नेयादीनां क्षणिकानां सेतिकर्तव्यताकानां परमापूर्वनिर्वर्तकत्वमित्यत आह—**आग्नेयादीनामेव त्विति**। अवगतोविषयभावः करणभावश्च येषां ते तथा। **अङ्गीकरणादिति**। यत्रानन्यनिष्ठभावार्थलक्षणविषयलाभस्तत्राभिधायकत्वकल्पना अन्यत्र केवलकल्पनेत्यर्थः। अत्र भवनाथः प्राह—"न क्षणिकां क्रियां व्यवहितस्वर्गं प्रति साधनत्वेनाभिदधाति शब्दः। अतः कल्पनानुपपत्तेः अपूर्वकल्पनातः प्रागयोग्यत्वात् आग्नेयादीनां स्वपूर्वं प्रति योग्यत्वादन्विताभिधानम्" इति, तन्न; नहि क्षणिकत्वाद्व्यवहितत्वमात्राद्वाऽयोग्यत्वम्, तैलपानादावदर्शनात्। निरन्वयविनाशस्तत्राप्यसिद्धः, आग्नेयादेरिव च क्षणिकस्यापि योग्यताऽस्त्यतः कारणान्तरमप्रयोजकम्।

एवं नियोगस्याशाब्दत्वमुपपाद्य तद्व्यावर्तकं नियोज्यं दूषयति—**कश्चायमिति**। ननु नियोगदूषणसमये नियोज्यदूषणमकाण्डताण्डवमिव नेत्याह—**यदन्वया-**

प्रयोजन प्रयोजनी भाव का असम्भव है। क्योंकि सब अपने-अपने अपूर्व के प्रति अङ्ग रूप से अन्विन्वयित होने के कारण निराकांक्ष हो जायगें, अपूर्व प्रधान ही होता है, अतः स्वापूर्व से अन्विन्वयित अन्य के साथ अङ्ग रूप से अन्विन्वयित नहीं होंगे। अतः परमापूर्व के बोधक वाक्य से प्रयाजादि का अङ्ग रूप से ग्रहण नहीं होगा। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर इतिकर्तव्यता क्षणिक आग्नेयादि को परमापूर्व के साधकत्व (हेतुत्व) कैसे होगा तो कहा जाता है कि जिन आग्नेयादि के अधिकारापूर्व (प्रधानापूर्व) के कारणत्व और विषयत्व (साधनत्व) ज्ञात हैं, उन्हें क्षणिक होने से करणत्वादि की अनुपपत्ति होने पर उस करणत्वादि की सिद्धि के लिये ही अवान्तर व्यापार रूप से उत्पत्ति अपूर्व को माना जाता है (स्वतन्त्र रूप से = प्रधान रूप से) नहीं। उक्त रीति से नियोग की शब्दार्थता निषेध किया गया है। अब उसके व्यावर्तक (भेदक) नियोज्य का खण्डन किया जाता है कि—

जिस नियोज्य के अन्वय (सम्बन्ध) से क्रिया (धात्वर्थ) से अतिरिक्त नियोग की सिद्धि होती है, वह नियोज्य क्या है? क्या कार्य (नियोग) के

कार्यं प्रति गुणभूतः ? प्रधानभूतो वा ? नाद्यः; गुणत्वे कर्तृत्वान्वयान्तर्भावात्। न द्वितीयः; प्राधान्येऽधिकार्यन्वयापातात् गुणप्रधानभावातिरिक्तप्रकारान्तरासंभवाच्च। कार्यमात्मीयत्वेन योऽवबुध्यते स नियोज्य इति चेत्; तथाभूतावबोधस्यापि गुणप्रधानभावान्तर्भावेणोक्तदूषणापत्तेः। क्रियाकार्यं प्रति गुणभूतत्वं कर्तृत्वं क्रियातिरिक्तं प्रति गुणभूतत्वमेव नियोज्यत्व-

---

दिति। **गुणत्व इति**। क्रियां प्रति गुणभूतश्चेतनः कर्तैव न तु तदतिरिक्त इत्यर्थः। तेन न समिदादिषु व्यभिचारः। इदं च निगूढाभिसन्धेर्दूषणम्। **प्राधान्य इति**। क्रियां प्रति प्राधान्यं नाम तत्फलभोक्तृत्वमत्र विवक्षितं चेतनत्वाविशेषितं वा तदेव चाधिकारित्वमित्यर्थः। तेन च व्रीह्यादिव्यावृत्तिः। ननु गुणप्रधानभावव्यतिरिक्त एव कश्चित्प्रकारो भवत्विति तत्राह—**गुणप्रधानेति**। स्वतन्त्रयोः संबन्धाभावप्रसङ्गादिति भावः। **तथाभूतेति**। आत्मीयत्वं नामात्मसंबन्धित्वम्। न च निराकाङ्क्षयोः संबन्ध इत्यन्तर्भवत्येव गुणप्रधानभावे सोऽपीत्यर्थः। यो निगूढोऽभिसन्धिरुक्तस्तमुद्घाटयितुं शङ्कते—**क्रियाकार्यमिति**। द्विविधं हि कार्यं क्रियारूपं तदतिरिक्तनियोगरूपं च। तत्र प्रथमं प्रति गुणभूतत्वं कर्तृत्वम्, द्वितीयं प्रति गुणभूतत्वं नियोज्यत्वमिति गुणभावे समानेऽपि यत्प्रति गुणभावस्तद्वैषम्यादिदं वैषम्यमित्यर्थः।

प्रति गुणस्वरूप है या प्रधान स्वरूप है। आद्य (गुणस्वरूप) नहीं हो सकता है। क्योंकि क्रिया के प्रति चेतनात्मा के गुणत्व होने पर वह कर्तृत्वाऽन्वय के अन्तर्गत होगा। क्रिया के प्रति चेतन ही कर्ता रूप से अन्वित हो सकता है, अन्य नहीं, और वह कर्ता (समिधो यजति) इत्यादि में तथा लौकिक क्रियाओं में भी अन्वित रहता है। अतः उसके अन्वय से क्रिया से अतिरिक्त नियोग की सिद्धि नहीं हो सकती है। कार्य के प्रति प्रधान रूप से अन्वय होता है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि नियोज्य में प्राधान्य होने पर उसको अधिकारी (कर्मफल भोक्ता चेतन) रूप से अन्वय प्राप्त होगा। और इस सम्बन्ध से भी क्रिया से भिन्न नियोग नहीं सिद्ध होगा। और गुणप्रधान भाव से अतिरिक्त अन्य प्रकार के सम्बन्ध का असम्भव है। अतः स्वतन्त्र नियोज्य और नियोग के सम्बन्ध का अभाव प्राप्त होता है। यदि कहें कि (कार्य को जो आत्मीय = अपना समझता है, सो नियोज्य कहा जाता है) सो कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि तथाभूत (आत्मीय) बोध वाले को भी गुणप्रधान भाव वाले के अन्तर्गत होने से उक्त दोष की प्राप्ति होती है। यदि कहें कि क्रिया (धात्वर्थ) रूप कार्यप्रति गुण स्वरूपत्व कर्तृत्व होता है और क्रियातिरिक्त कार्य (नियोग) के प्रति गुणभूतत्व ही नियोज्यत्व है। इस प्रकार से गुणभूतत्व के तुल्य होते भी विषय के

मिति विषयभेदाद् भेद इति चेत्; मैवम्। क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धौ, नियोज्यान्वयसिद्धिः, नियोज्यान्वयसिद्धयधीना च क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात्।

न च नियोगस्य कृत्युद्देश्यत्वम्; अपुरुषार्थत्वात्। सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ तदुभयसाधनं वा पुरुषार्थः। न चैषामन्यतमो नियोगः, येन पुरुषार्थतया कृत्युद्देश्यः स्यात्, न च स्वर्गादिसाधनतया पुरुषार्थत्वम्; नित्य-

---

दूषयति—**मैवमिति**। विषयनियोज्यनिरूप्यः कश्चित्कार्यविशेषे नियोगो नाम, यथाहुः—

'कार्यत्वेन नियोज्यं यः स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ।
नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते॥'

तथाच नियोज्यनिरूपणान्नियोगनिरूपणं संप्रति नियोगेन तं निरूपयसीति परस्पराश्रय इत्यर्थः।

यच्च कृत्युद्देश्यत्वं प्राधान्यं जेगीयते गुरुमतानुसारिभिस्तदपि दूषयति—**न च नियोगस्येति**। पुरुषार्थत्वप्रयोजकं दर्शयन्नपुरुषार्थतामेव विवृणोति—**सुखेति**। ननु किमिति न पुरुषार्थत्वं यावता स्वर्गादिसाधनतया सुखसाधनत्वमस्तीत्याशङ्क्य नित्यनियोगे फलरहिते कृत्युद्देश्यता न स्यादित्याह—**न चेत्यादिना**। स्यादेतत्—लोके खल्वियं कथा यत्सुखादिचतुष्टयान्यतमं स पुरुषार्थ इति, वेदे तु नियोगसिद्धि-

---

भेद से भेद होता है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि क्रिया से अतिरिक्त कार्य (नियोग) की सिद्धि होने पर, उसका नियोज्य के साथ अन्वय की सिद्धि होगी, और नियोज्य के अन्वय के अधीन क्रिया में अतिरिक्त कार्य की सिद्धि होगी, इस प्रकार से परस्पराश्रय (अन्योन्याश्रय) प्राप्त होगा।

और जो कहते हैं कि (कृति का उद्देश्य प्रधान नियोग होता है) वह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि कृति के उद्देश्यत्व नियोग को नहीं हो सकता है। पुरुषार्थ = पुरुष = जीवात्मा, का अर्थ (फल) कृति का उद्देश्य होता है। नियोग को अपुरुषार्थत्व है। सुख और दुःख का परिहार (नाश) पुरुषार्थ होता है, या सुख दुःखाभाव का साधन पुरुषार्थ होता है, इनमें से किसी स्वरूप नियोग नहीं है कि जिससे पुरुषार्थ रूप से कृति का उद्देश्य (लक्ष्य) हो सके। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को सुख तथा सुखसाधनता रूप से ही पुरुषार्थ कहा जाता है। यदि कहा जाय कि स्वर्गसुखसाधनता रूप से नियोग में पुरुषार्थत्व है, तो वह भी नहीं बन सकता है। क्योंकि नित्य-नैमित्तिक नियोग में स्वर्गसाधनता के अभाव से वह कृति का उद्देश्य नहीं होगा, यदि कहें कि उक्त सुख तत्साधनादि लौकिक पुरुषार्थ

नैमित्तिकनियोगयोस्तदभावेन कृत्युद्देश्यतावैधुर्यापातात्। नियोगसिद्धेरेव च पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थक्यप्रसङ्गात्। ननु कामाधिकारे फलकामिनो नियोज्यत्वात्फलं प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वात् तत्साध्यस्य नियोगस्य फलान्तरसाधनता। नित्ये तु न फलकामिनोऽधिकारः; नापि फलं प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वम्; किंतु नियोगं प्रत्येव विषयत्वं करणत्वं च, अन्यथा नित्यकाम्यवैषम्यानुपपत्तेः तस्मान्नित्येषु नियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थ इति चेत्; मैवम्; नित्यकाम्यवैषम्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वात्। तथाहि द्वयोः फलवत्त्वाविशेषेऽपि

रेव पुरुषार्थ इति तत्राह—**नियोगसिद्धेरेवेति**। शङ्कते—**नन्विति**। अयमर्थः—नियोगसिद्धिस्तु सर्वत्र पुरुषार्थो भवत्येव। न च काम्येषु स्वर्गसाधनत्वाभावप्रसङ्गः; स्वर्गकामिनस्तत्राधिकारित्वात्। स्वर्गकरणस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वाच्च। तेन भवतु नाम तत्र स्वर्गोऽपि फलं न तावता नियोगस्यापुरुषार्थता। अतएव च काम्येषु साध्यविवृद्धिरिति वृद्धाः। नित्येषु न तादृशोऽधिकारी, नापि तादृशी विषयकरणे, अपित्वकामिनियोगं प्रत्येव विषयः करणं चातो विवृद्धिरहितं नियोगमात्रं तत्र पुरुषार्थः। अवश्यं चैवं मन्तव्यम्, इतरथोभयथाप्यतिरिक्तफलकल्पे तदभावे वा नित्यकाम्यविभागानुपपत्तेरिति। तदेतन्नित्यकाम्ययोर्व्यतिरिक्तफलकल्पेऽपि प्रकारान्तरेण वैषम्यं दर्शयन्दूषयति—**मैवमित्यादिना**। विश्वजिदादिसंग्रहार्थमाह—

कहे जाते हैं, वैदिक तो नियोग की सिद्धि ही पुरुषार्थ है। तो इस प्रकार से नियोगसिद्धि के पुरुषार्थ स्वरूप होने पर, नियोग की स्वर्गसाधनता का स्वीकार अनर्थक सिद्ध होगा। यदि शंका हो कि नियोग की सिद्धि तो सर्वत्र पुरुषार्थ होता ही है, किन्तु कामाधिकार (प्रकरण) में फलकामी के नियोज्य (अधिकारी) होने से फल के प्रति करण स्वरूप ही याग को नियोग के प्रति विषयत्व से उस याग से साध्य नियोग को फलान्तर की साधनता होती है और नित्य कर्म में तो फलकामी का अधिकार नहीं रहता हैं, न फल के प्रति करण स्वरूप ही याग को नियोग के प्रति विषयत्व होता है, किन्तु नियोग के प्रति ही विषयत्व और करणत्व याग को रहता है। अन्यथा यदि काम्य नित्य दोनों सफल हों, या दोनों निष्फल हों, तो नित्य काम्य में विषमता की अनुपपत्ति होगी। अतः नित्य कर्मों में अन्य फल रहित नियोग की सिद्धि ही पुरुषार्थ है। इस प्रकार की शङ्का युक्त नहीं है। क्योंकि नित्य काम्य कर्मों के तुल्य सफल होते भी विषमता की अन्यथा (अन्य प्रकार से) उपपत्ति होती है। अतः दोनों के फलवत्त्व के तुल्य होते भी, जहाँ स्वर्गादि की कामना निमित्त रूप से सुनी जाती है या (विश्वजित्)

यत्र कामना निमित्ततया श्रूयते कल्प्यते वा तत्काम्यम्, यत्र पुनर्नैवं यदकरणे च प्रत्यवायस्तदितरदिति वैषम्यात्। नित्यनैमित्तिकयोश्च फलशून्यत्वे हि तत्साधनताबुद्धया प्रवृत्तिरेव पुंसां न स्यात्। ननु नियोगसिद्धेः परमपुरुषार्थत्वात्तत्साधने यागादौ हितसाधनबुद्ध्यैव प्रवृत्तिः, "नियोगार्थसिद्धेः किमन्यत्प्रयोजनं सर्वविधीनाम्" इति गुरुणैवोदीरितत्वादिति चेत्, मैवम्; तथा सति तवापि नित्यकाम्यवैषम्यभङ्गप्रसङ्गात्। तथाहि फलं प्रति करणीभूते यागादौ रागत एव प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु वैधी कामाधिकारे, नित्येषु

कल्प्यते वेति। ननु फलत्वं चेत्सर्वत्र समानं किमिति नित्येऽपि विश्वजिदादिवदेव न कल्प्यते कामः? किमिति वा न काम्यत्वम्? इत्यत उक्तम्—**यदकरणे चेति**। यत्र प्रत्यवायश्रवणं तत्र न कल्प्यमित्यर्थः। नित्ये हि न फलं नित्यमिति खण्डलकार्थः। वैषम्यान्तरं वा, यदकरणे प्रत्यवायो न दृश्यते तत्काम्यम्, यत्र च श्रूयते नियतं निमित्तं तन्नित्यम्, तत्र च तच्छ्रवणेऽप्यनियतं निमित्तं तन्नैमित्तिकमिति विभागः। 'कर्मणा पितृलोकः' इति शास्त्राच्च नित्यानां फलवत्ताधिगमः, नित्येषु प्रवृत्तिलाभाच्चैवमेव वैषम्यं युक्तमित्याह—**नित्यनैमित्तिकयोश्चेति**। ननु किमिति न प्रवृत्तिः तावता नियोगो हितम्, तत्साधनं च यागः; ततो हितसाधने प्रवृत्तिः संभवतीति शङ्कते—**ननु नियोगेति**। वैषम्यभङ्गमेवोपपादयति—**तथा हि फलं प्रतीति**। यत्र करणे रागात् प्रवृत्तिस्तत्काम्यम्, यत्र पुनः करणेऽपि

आदि के समान कामना कल्पित होती है। वह कर्म काम्य कहा जाता है और जहाँ ऐसी अवस्था न हो, कामना न श्रुत न हो, न कल्पित हो, किन्तु जिस कर्म के नहीं करने पर, प्रत्यवाय (पाप) कहा गया हो, और करने पर पाप का अभाव फल हो, तो काम्य से अन्य कर्म नित्य कहा जाता है, इस प्रकार दोनों के सफल होते भी विषमता होती है। यदि नित्य नैमित्तिक कर्मों को सर्वथा फलशून्यत्व हो, तो फलसाधनता बुद्धि से पुरुषों की प्रवृत्ति ही उनमें नहीं होगी। यदि शंका हो कि नियोग रूप अर्थ की सिद्धि को ही परम पुरुषार्थता हैं, अतः उसके साधन यागादि में हितसाधनता बुद्धि से ही प्रवृत्ति होती है। सब विधियों का नियोग रूप अर्थ की सिद्धि से अन्य क्या प्रयोजन (फल) होगा, नियोगार्थसिद्धि ही फल है, यह गुरु (प्रभाकर) ने ही कहा है। तो ऐसी शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार से आपको नित्य काम के वैषम्य का अभाव प्राप्त होगा, जैसे कि कामाधिकार में आप जानते हैं कि फल के प्रति करण स्वरूप यागादि में राग से प्रवृत्ति होती है, और इतिकर्तव्य (साधनानुष्ठान) में विधि से प्रवृत्ति होती है। और नित्य कर्मों में यागादि करण और अङ्गरूप इतिकर्तव्य दोनों में विधि से ही

तु करणेतिकर्तव्यतयोर्विधित एव प्रवृत्तिरिति वैषम्यं तवाभिमतम्, तच्चेदं भज्येत; नियोगस्य फलरूपत्वेन तत्करणे यागादावपि रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेः।

किंचेदं यागस्य फलं प्रति करणत्वम् श्रुतिलिङ्गादिगम्यम्? उत नियोगानुपपत्तिगम्यम्? नाद्यः श्रुत्यादेरदर्शनात्। 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादौ

विधितः प्रवृत्तिस्तन्नित्यमिति हि नित्यकाम्यवैषम्यमभिमतम्, तन्न स्यात्। नित्येष्वपि करणीभूतयागादिषु रागादेव प्रवृत्तेरित्यर्थः।

यदुक्तं पूर्वं फलं प्रति करणीभूतस्य यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वमिति तदपि दुर्निरूपमित्याह—**किं चेदमित्यादिना**। किमः श्रुतिलिङ्गादिगम्यमित्यनेनान्वयः। चस्तु किंचार्थः। **श्रुत्यादेरदर्शनादिति**। यथा हि इष्टसाधनतावाक्यार्थवादिनामस्माकं स्वर्गयागयोः साध्यसाधनभावः श्रौतः, यथा च भावनावाक्यार्थवादिनां भाट्टानां वाक्यगम्यः साध्यसाधनभावः। यथाहुः पार्थसारथिमिश्राः—'नहि तत्र स्वर्गकामस्य यागस्य वा साध्यत्वं साधनत्वं वा केनचिदुक्तम्, पदद्वयसमभिव्याहारादेव तु सम्बन्धे कल्पयितव्ये असाधकं तु तादर्थ्या'दिति न्यायेन 'कामिनः प्राधान्यं यागस्य च गुणत्वं कल्प्यते' इति। तन्मतेऽपि फलसंबन्धः श्रौत इष्टसाधनरूपत्वात् विधेर्न तथा भवद्भिरभ्युपगम्यते औपादानिकत्वाङ्गीकारादित्यर्थः। किं तर्हि प्रकृति-

---

प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की विषमता आप को मान्य है। यह विषमता अब नष्ट हो जायगी। क्योंकि नियोग के फल रूप होने से उसके करण यागादि में भी राग से प्रवृत्ति की सिद्धि होगी कि जिससे नित्य काम्य का वैषम्य नहीं रहेगा।

जो प्रथम कहा गया है कि काम्य कर्म में फल के प्रति करणस्वरूप याग को नियोग के प्रतिविषयत्व होता है, वहाँ क्या यह याग को फल के प्रति करणत्व, श्रुतिलिङ्गादि रूप अङ्गत्व बोधक प्रमाणों से गम्य (ज्ञेय) होता है? अथवा नियोग की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से गम्य होता है? वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृत में श्रुति आदि दीख नहीं पड़ते हैं। (स्वर्गकामो यजेत) इत्यादि में फल के प्रति करणत्व की प्रतीति प्रकृति-प्रत्यय से नहीं होती है। किन्तु फल शिरस्क (फल की हेतुता वाला) नियोग की ही याग से साध्यत्व की प्रतीति मानी जाती है। अर्थात् याग से नियोग सिद्ध होता है और नियोग से फल होता है, यहाँ नियोग में फल साधनता श्रुति से नहीं सिद्ध होती है, किन्तु अर्थात् सिद्ध होती है, अतः दैवगति से नियोग फल का साधन होता है, और फल शिरस्क नियोग को साध्यत्व होता है। फल को नहीं, इस प्रकार से स्वर्गकामो यजेत, इस वाक्य को फलपरक (बोधक) नहीं होने से फल और

फलं प्रति करणत्वस्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामप्रतीतेः, यागेन फलशिरस्कस्य नियोगस्यैव साध्यत्वप्रतीतेरभ्युपगमात्। लिङ्गादीनां चानाशङ्कनीयत्वात्। नापि द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। किं नियोगः स्वसिद्धये यागस्य फलकरणत्वं कल्पयति ? उत फलसिद्धये ? स्वस्य फलकामिकृतिसाध्यत्वसिद्धये वा ? न प्रथमः स्वसाधनीभूतयागानुष्ठानादेव स्वस्य सिद्धेः। न द्वितीयः; स्वसिद्ध्यैव फलस्यापि सिद्ध्युपपत्तेः। न चरमः; यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वा-

---

प्रत्ययाभ्यामभिधीयते ? इत्यत आह—**यागेनेति**। यजेतेत्यस्य यागेन नियोगः इत्यर्थः। स च नियोगो दैवगत्या फलसाधनमिति तच्छिरस्कस्य साध्यत्वं ननु फलस्य। फलपरत्वाभावाच्च तद्वाक्यस्य न फलयागयोः साध्यसाधनभाव इत्यर्थः। अस्तु तर्हि लिङ्गवाक्यादीनि प्रमाणमिति तत्राह—**लिङ्गादीनां चेति**। नियोगानुपपत्तिलक्षणोपादानिकत्वं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। **फलकामीति**। फलकामिनो यः प्रयत्नस्तेन साध्यत्वं यन्नियोगस्य तन्नोपपद्यते यागस्य तद्घटकस्य स्वर्गकरणत्वाभाव इत्यर्थः। **साधनत्वाभाव इति**। न हि यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वम्, प्रमाणाभावात्, नियोगो हि वाक्यार्थस्तं प्रत्येवेतरेषां शेषत्वावगमात्, व्यवहितत्वेनायोग्यत्वाच्च न कामिनस्तस्मिन्साधनताबुद्धिः कर्तृव्यापारगोचरगोचरतया करणता तु स्यात्। यथाह भवनाथः—'न स्वर्गकामो व्यवहितसाधनं यागादि कार्यतया बोद्धुमल'मिति। एतदुक्तं भवति—फलं प्रति साधनत्वाभावेऽपि फलसाधनीभूतनियोगसाधनत्वादेव यथा यागस्य फलकामिनस्तद्द्वारा नियोगे प्रवृत्तिर्घटते तथा प्रकृतेऽपीति। ननु यदि न यागः स्वर्गं प्रति करणं कथं तर्हि तत्कामिनो यागे प्रवृत्तिः ?

याग को साध्यसाधन भाव श्रुति से नहीं सिद्ध होता है। और लिङ्गादि की तो आशङ्का भी नहीं की जा सकती है। शब्दसामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं। यहाँ ऐसे कोई शब्द नहीं हैं। नियोग की अनुपपत्ति से भी याग को फल के प्रति करणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि दूसरा पक्ष विचाराऽसह है, विचार है कि, क्या यह नियोग अपनी सिद्धि के लिये याग के करणत्व की कल्पना करता है, या फलसिद्धि के लिये अथवा फलकामी की कृति से अपनी साध्यता की सिद्धि के लिये याग के करणत्व की कल्पना करता है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि नियोग अपने साधन स्वरूप याग के अनुष्ठान से ही सिद्ध हो जाता है, अतः उसको अपनी सिद्धि के लिये याग में फलकरणता कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि याग से स्वसिद्धि (नियोगसिद्धि) द्वारा ही फल की भी सिद्धि हो जाती है, फिर उक्त कल्पना का कोई फल नहीं हो सकता है। अन्तिम पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि याग में स्वर्गसाधनत्वाऽभाव के समान करणत्वाऽभाव के

भाव इव करणत्वाभावेऽपि स्वर्गसाधनीभूतनियोगं प्रति करणत्वादेव स्वर्गकामिकृतिव्याप्यत्वोपपत्तेः। यागादेः फलं प्रत्यकरणत्वे तत्कामिनस्तत्र कथं प्रवृत्तिरिति चेत्; साधनत्वाभावेऽपि तत्र तस्य प्रवृत्तिरनुपपन्नेति तुल्यम्। किं च साधनत्वाभावे तद्विशेषरूपकरणत्वमपि न स्यात्, 'साधकतमं करण'-मिति पाणिनिस्मरणात्।

अथ परोद्दिष्टकृतिव्याप्यत्वं तेन साधनत्वाभावेऽपि करणता किं न

अनुपाये प्रवृत्त्यभावादिति शङ्कते—**यागादेरिति**। अकरणे प्रवृत्त्यदर्शनवदसाधनेऽपि प्रवृत्तिर्न दृष्टा, तदिहासाधनेऽपि प्रवृत्तिमङ्गीकुर्वतोऽकरणे प्रवृत्तिर्न विरुध्यते दर्शनस्य नियामकत्वानङ्गीकारादिति परिहरति—**साधनत्वेति**। साधनसाधनत्वात्प्रवृत्त्युपपत्तिं ब्रुवाणस्य करणकरणत्वादित्युत्तरम्। न च यत्कामिनो यत्र नियोगस्तत्तस्य साधनमित्यपि नियमः; ग्रामाद्यसाधनेऽपि भोजनादौ 'ग्रामकामो भुङ्क्ष्वे'ति निर्ज्ञातविशेषणेऽन्नभोजनार्थं नियोगदर्शनात्। अथ कर्तृव्यापारगोचरगोचरत्वात्करणमिति; तन्न; साधनत्वरहितस्य करणत्वाङ्गीकारे व्याहतेः, सामान्यव्यावृत्तौ विशेषव्यावृत्तेरित्याह—**किंचेति**। **साधकतममिति**। तमपा साधनविशेषत्वमुक्तमिति भावः।

न साधनविशेषः करणमपि त्वन्यदुद्दिश्य प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यं यथा छेदनोद्देश्येन

रहते भी स्वर्गसाधन नियोग के प्रति याग के करणत्व से स्वर्गकामी के कृति के विषयत्व याग में हो सकता है। अर्थात् प्रमाणाभाव से स्वर्ग के प्रति याग को साधनत्व नहीं है, किन्तु नियोग के वाक्यार्थ होने से नियोग के प्रति यागादि को अङ्गत्व है, अतः कर्ता के व्यापार (यत्न) के विषय नियोग के विषय होने से नियोग करण याग होता है, और कर्ता के यत्न से साध्य होता है। यदि कहा जाय कि यागादि को फल के प्रति करणत्व के अभाव रहते, फल कामी की उस यागादि में कैसे प्रवृत्ति होगी, तो कहा जा सकता है कि जैसे याग में फलसाधन के अभाव रहते भी फलकामी की प्रवृत्ति अनुपपन्न (असिद्ध) नहीं माना जाता है, वैसे करणत्वाभाव रहते भी अनुपपन्न नहीं होगा, अर्थात् फल साधन अदृष्ट के साधन होने से जैसे यागादि में प्रवृत्ति मानते हैं, वैसे फल के करण अदृष्ट (नियोग) के करण होने से प्रवृत्ति सिद्ध होगी। और दूसरी बात यह है कि याग में फलसाधनत्व के अभाव रहते, साधनत्वविशेषरूप करणत्व भी नहीं रहेगा, क्योंकि 'साधकतमं करणम्' विशिष्ट साधक (साधन) को ही इस सूत्र से करण कहा गया है।

यदि कहा जाय कि जो पर (अन्य) को उद्देश्य करके प्रवृत्त कृति (यत्न) का

स्यादिति चेत्; तर्हि नियोगस्यापि परोद्दिष्टकृतिव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गः, तस्यापि स्वर्गादिफलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वात्। अथ साक्षादिति विशेषणाददोषः, मैवम्; इतिकर्तव्यस्य प्रयाजादेरङ्गजातस्य धात्वर्थतया साक्षात्कृतिव्याप्यत्वेन करणत्वप्रसङ्गात्। उभयोः साधनत्वाविशेषे करणेतिकर्तव्यतालक्षणो विभागो न सिद्ध्येदिति चेत्, न; तथापि नियोगसाधने

प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यत्वं हि कुठारादेः करणत्वं तत्कुतो व्याघातः? इति शङ्कते—**अथेति**। तदिदमतिव्यापक स्वर्गं प्रत्यकरणस्यानियोगस्य स्वर्गोद्देशितृप्रयत्नव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गादिति दूषयति—**तर्हीति**। आपाद्य चेदम्। ननु परोद्दिष्टकृत्या साक्षाद्व्याप्यत्वं करणत्वं तथा च न नियोगेऽतिव्याप्तिः तस्य भावार्थव्यवधानादिति शङ्कते—**अथेति**। तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि भावार्थस्य साक्षात्कृतिव्याप्यतया यागवदेव करणत्वप्रसङ्ग इत्यतिव्याप्त्या दूषयति—**मैवमिति**।

यत्तु साधनत्वव्यावृत्तौ करणत्वव्यावृत्तिरित्युक्तं तत्परिहरन् शङ्कते—**उभयोरिति**। प्रयाजादेः पडचागस्येव स्वर्गं प्रति साधनत्वाविशेषे प्रयाजादेरितिकर्तव्यतात्वमितरस्य करणत्वमिति प्रसिद्धो विभागो न स्यात्। अतः करणेतिकर्तव्यताविभागलोभादेनासाधनस्यैव यागस्य स्वर्गं प्रति करणत्व स्वीकर्तव्यमित्यर्थः। परिहरति—**न तथापीति**। यथाहि नियोगं प्रति साधनत्वाविशेषेऽप्ययं विभागस्तथा

व्याप्य (विषय) होता है, वह करण कहा जाता है। जैसे कि छेदन को उद्देश्य करके प्रवृत्त यत्न के विषय कुठारादि करण कहाते हैं। अतः साधनत्व के अभाव रहते भी इस लक्षण वाले में करणता क्यों न होगी, तो कहा जाता है कि इस प्रकार से तो नियोग को भी स्वर्ग से उद्देश्य से प्रवृत्त कृति के विषय होने से उसमें करणता प्राप्ति होगी। क्योंकि उस नियोग को भी स्वर्गादि फल के उद्देश्य से प्रवृत्त कृति की विषयता है। यदि कहें कि जो परोद्देश कृति के साक्षात् व्याप्य हो, (कृति का साक्षात् विषय हो) वह करण कहाता है, ऐसा भावार्थ है—नियोग नहीं। अतः उक्त दोष नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इतिकर्तव्य रूप प्रयाजादि अङ्गसमूह को भी धात्वर्थता के कारण साक्षात् कृति विषयत्व रहता है, अतः उनमें भी करणत्व प्राप्त होगा। इस प्रकार में साधनता रहित से करणता हो, ऐसा लक्षण करण का नहीं सिद्ध होसकता है। यदि शङ्का हो कि याग को साधन मानने पर आग्नेयादि याग और प्रयाजादि रूप इतिकर्तव्य (अङ्ग) दोनों में साधनत्व के तुल्य होने में करण और इतिकर्तव्यता रूप विभाग (भेद) नहीं सिद्ध होगा, अतः इस विभाग की सिद्धि के लिये साधनतारहित याग को स्वर्ग रूप फल के प्रति करण मानना उचित है। तो यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि आप के मन्तव्य के अनुसार भी यद्यपि फल (स्वर्गादि) की साधनता याग में नहीं

यागे तदितिकर्तव्येषु च साधनत्वाविशेषाद्विभागानुपपत्तेस्तुल्यत्वात्। न च करणांशे रागतः प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु विधित इति विभागो युक्तः; सेतिकर्तव्यताकस्यैव करणतया तत्र रागतः प्रवृत्तेरवर्जनीयत्वात्, तथा लोके दृष्टत्वात्। एतेन श्येनाग्नीषोमीयवैषम्यमप्यपास्तम्; श्येनवदग्नीषोमीयेऽपि रागतः प्रवृत्तेः समानत्वात्। न च प्रथमतो नियोगेनैव संबद्धेतिकर्त-

---

स्वर्गं प्रतीति भावः। यश्च कामाधिकारे करणेतिकर्तव्यताविभागो गुरुमतानुसारिभिः परिकल्प्यते, तमपि प्रसङ्गाद् दूषयति—**न च करणांश इति**। अथवा साधनत्वाविशेषेऽपि कामाधिकारे करणत्वप्रयोजकमाशङ्क्यानेन दूष्यते। तत्र हेतुः—**सेतिकर्तव्यतेति**। यथा ह्युद्यमननिपातनव्यापारविशिष्टस्यैव कुठारस्य करणत्वं न तु केवलस्य तथा सेतिकर्तव्यताकं करणम्। तत्र चेद्रागतः प्रवृत्तिस्तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि रागत एव सेति न विभाग इत्यर्थः। अथवा इतिकर्तव्यतासाध्योपकारसापेक्षत्वात्करणस्य तदपेक्ष्येष्वपि रागतः प्रवृत्तिरित्यर्थः। तथा नित्ये विभागानुपपत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। करणेतिकर्तव्यतयो रागतः प्रवृत्तिसाम्यापादनेन श्येनाग्नीषोमीययागयोरपि वैषम्यमपास्तमित्याह—**एतेनेति**। एतेनेत्यस्यैव विवरणं **श्येनवदिति**। ननु नेतिकर्तव्यतासु रागतः प्रवृत्तिः, प्रथमत एव नियोगेन संबन्धात्तस्य च रागविषयत्वाभावात्। यागस्य तु नैवं प्रथमतः फलसंबन्धित्वात् फलस्य च रागविषयता तत्करणेऽपि रागत एव प्रवृत्तिरित्यत आह—**न च प्रथमत इति**।

रहती है, तथापि नियोग की साधनता याग और इतिकर्तव्य दोनों में तुल्य रहती है। अतः उक्त विभाग की अनुपपत्ति तुल्य ही है। यदि नियोग के प्रति साधनत्व तुल्य रहते भी विभाग हो, तो स्वर्ग के प्रति साधनत्व रहते भी विभाग रह सकता है। यदि कहें कि करणांश (याग) में राग से प्रवृत्ति होती है, और इतिकर्तव्य में विधि से प्रवृत्ति होती है, इसी विशेषता से साधनत्व तुल्य होते भी विभाग युक्त है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इतिकर्तव्यता सहित ही याग में फल का कारणता होने से उस याग में राग से प्रवृत्ति होने पर, इतिकर्तव्यों में भी राग से प्रवृत्ति अनिवार्य होगी। क्योंकि उद्यमन निपातन रूप इतिकर्तव्यता (प्रकार) सहित ही कुठार की करणता लोक में देखी जाती है। अतः उक्त विभाग नहीं बन सकता है और एतेन = इस करण और इतिकर्तव्य में रागमूलक तुल्य प्रवृत्ति प्रतिपादन से ही, श्येनादि रूप अभिचार और अग्नीषोमीयादि की विषमता भी अपास्त (निरस्त) हो जाती है। क्योंकि श्येनादि के समान अग्नीषोमीयादि में राग से प्रवृत्ति की तुल्यता रहती है। यदि कहें कि इतिकर्तव्यों में राग से प्रवृत्ति नहीं होती है, प्रथम नियोग के साथ ही सम्बन्ध वाली इतिकर्तव्यता, पीछे नियोगप्रयुक्त (नियोगद्वारा) फल के सम्बन्ध वाली होती है, और प्रथम सम्बन्धी नियोग राग का

ङ्गता पश्चात्तत्प्रयुक्ता फलेन संबध्यते, यागस्य तु फलं प्रति करणीभूतस्यैव नियोगेन पश्चात्संबन्धः इति वैषम्यम्; ग्राहकग्रहणदशायां प्राकरणिकसकलपदार्थानामविशेषण नियोगसंबद्धानां तद्वशादेव परस्परसंबन्धस्य पार्ष्ठिकस्याङ्गीकारात्, फलं प्रति करणत्वस्य विध्याक्षेपलक्षणोपादानाधीनतया तत्प्रतीतेर्विशिष्टनियोगप्रतीत्युत्तरकालीनत्वात्।

हेतुमाह—**ग्राहकेति**। न प्रथमतः फलेन यागस्य संबन्धः अप्रकरणित्वात्फलस्याप्रकरणिता चेतरेणासंबन्धत्वात्। तेनेतिकर्तव्यतावदेव यागोऽपि नियोगशेषतया ग्राहकेण गृहीतः पश्चात्तमेव प्रधानान्वयं निर्वोढुं तद्द्वारेण परस्परान्वयः, स च पृष्ठतो भवतीति पार्ष्ठिकस्तस्यां च दशायां यागस्वर्गयोरप्यन्वय इति भवतामङ्गीकार इत्यर्थः। किं च विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणात्फलकामिकृतिव्याप्यतानुपपत्तिलक्षणान्नियोगफलयोः संबन्धोऽभिप्रेयते। आक्षेपश्च विषयनियोज्यविशिष्टनियोगप्रतीत्याऽतोऽपीतरप्राकरणिकवन्नियोगेनैव विषयभूतयागस्य प्रथमं संबन्धो वक्तव्यः। न तु फलेनेत्याह—**फलं प्रतीति**। तस्मादुभयत्र रागतो वा विधितो वा प्रवृत्तिः समानेत्यर्थः।

विषय नहीं होता है। फल के प्रति करण स्वरूप याग को राग के विषय फल से प्रथम सम्बन्ध होता है, पीछे नियोग के साथ सम्बन्ध होता है, अतः करण में राग से प्रवृत्ति होती है, यह विषमता है। तो यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि, ग्राहक (अङ्गी) प्रधान से अङ्गों के ग्रहण की अवस्था में नियोग के साथ सम्बन्ध वाले प्रकरणी (प्रकरण पठित) सब पदार्थों का उस प्रधान के साथ सम्बन्ध के बल से ही पीछे परस्पर सम्बन्ध माना जाता है। अतः याग को प्रथम फल के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। क्योंकि फल प्रकरण वाला नहीं है, किन्तु प्रभाकर मत में नियोग प्रकरणी (प्रधान) है, वही सब का ग्राहक है, उससे जैसे इतिकर्तव्यता गृहीत होती है, तैसे याग भी अङ्गरूप से गृहीत होता है, फिर उस प्रधान के साथ सबके सम्बन्ध को निवाहने (रखने) ही के लिये परस्पर पीछे यथायोग्य सम्बन्ध होता है, उसको पार्ष्ठिक कहा जाता है। और उस पार्ष्ठिक सम्बन्धावस्था में याग और स्वर्गकामी का सम्बन्ध होता है, प्रथम नहीं, यह आप मानते हैं। अतः प्रथम करण रूप से फल के साथ याग के सम्बन्ध को कहना उचित नहीं है। और आक्षेप नामक विधि के व्यापार (विध्याक्षेप) रूप उपादान नामक प्रमाण के अधीन फल के प्रति याग के करणत्व की प्रतीति होती है, अतः विशिष्ट (ससाधन) नियोग की प्रतीति के उत्तर काल में फल के प्रति करणत्व की प्रतीति होती प्रथम नहीं। अतः दोनों में राग से या विधि से समान ही प्रवृत्ति होगी, विषमता नहीं हो सकती है।

कथं चैवं सति 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'ति विधौ जाग्रति रागतः प्रवृत्तौ निषेधानुप्रवेशादधर्मता स्यात्? नहि विधिसंस्पृष्टे निषेधः प्रवर्तमानोऽनर्थतां बोधयितुमीष्टे। तथा सति षोडशिग्रहणस्यापि नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वप्रसङ्गात्। उक्तं हि भट्टाचार्यैः—

'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम्।
विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिवत्॥' इति।

(श्लो. वा. २।२०३)

ननु यद्यप्युभयत्र रागतः प्रवृत्तिः समाना तथापि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'ति निषेधानुप्रवेशादधर्मता श्येनयागस्येतरस्य न तथा तदभावादिति वैषम्यमिति नेत्याह—**कथं चैवं सतीति**। रागतः प्रवृत्तिस्तावदुभयत्र समानेत्यावेदितम्। तथा सति विधिस्पर्शास्पर्शाभ्यां वैषम्यं वक्तव्यम्। न चैतदपि; श्येनेऽपि विधेर्विद्यमानत्वादिति भावः। एतदेव षोडशिप्रतिबन्द्या समर्थ्यते—**न हि विधिसंस्पृष्ट इत्यादिना**। विधिसंस्पृष्टेऽपि चेन्निषेधादनर्थत्वं तर्ह्यतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति विहितस्यापि षोडशिग्रहणस्य नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वभङ्गप्रसङ्गः। न चैतद्युक्तम्। आह हि—

'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम्।
विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिवत्॥' इत्यर्थः।

---

५५ यहाँ शङ्का होती है, कि (एवं सति) जैसे याग और इतिकर्तव्यों में राग से और विधि से प्रवृत्ति होती है, वैसे ही (श्येनेनाभिचरन् यजेत) इस विधि के रहते और राग से प्रवृत्ति होने पर, (न हिंस्यात् सर्वा भूतानि) इस निषेध के अनुप्रवेश (प्रवृत्ति) से श्येनयाग को ही अधर्मता कैसे होगी। क्योंकि विधिसंस्पृष्ट (विधि विषय) में प्रवृत्त भी निषेध वाक्य अनर्थता (अधर्मता) को बोध कराने में समर्थ नहीं होता हैं। तथा सति (यदि विधि संस्पृष्ट में भी निषेध वाक्य अधर्मता बोधित करे) तो, षोडशिग्रहण को (षोडशिनं गृह्णाति) इससे विहित होने पर भी (नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति) अतिरात्र नामक याग में षोडशि नामक पात्र का ग्रहण नहीं करें। इस निषेध से अनर्थता (अधर्मता) की प्राप्ति होगी। परन्तु ऐसा होना युक्त नहीं है। अत एव भट्टाचार्य ने कहा है कि—

यद्यपि विधिस्पृष्ट में निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती है, प्रवृत्त होने पर तादृश (विधि रहित के समान) अनर्थत्व नहीं समझा जाता है, जैसे षोडशि ग्रहण के निषेध होते भी षोडशिग्रहण से अनर्थ नहीं समझा जाता है।

ननु विधेर्द्विविधो व्यापरो भावार्थफलयोः साध्यसाधनसंवन्धवोधो भावार्थानुष्ठानबोधश्चेति । तत्रैव चानुष्ठानवोधो यत्र भावार्थेऽन्यतो न प्रवृत्तिः, श्येनादौ च फलोपायत्वेऽधिगतें रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेर्नानुष्ठापकत्वम्, ततश्च निषेधप्रवेशाच्छ्येनादेरनर्थत्वमिति चेत्, न; उक्तोत्तरत्वात्। उक्तं हि—सेतिकर्तव्यस्यैव करणत्वात्तत्र रागतः प्रवृत्तावितिकर्तव्येऽपि तत एव प्रवृत्तो श्येनवदग्नीषोमीयस्यापीतिकर्तव्यस्यानर्थता प्रसज्येतेति। ननु 'अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहती'ति प्रायश्चित्तविधानादनर्थता

व्यापारद्वैविध्यं विधेर्दर्शयन् श्येनयागस्याधर्मतामुपपादयति पूर्ववादी—नन्वित्यादिना। तदेतदग्नीषोमीयहिंसायामपि समानमिति परिहरति—न; उक्तोत्तरत्वादिति। प्रकारान्तरेणाधर्मतामाशङ्कते—नन्विति। अहीनोऽहर्गणनिर्वर्त्यः क्रतुविशेषः 'अह्नः खः क्रतावि'ति समूहे गम्यमाने अहन्शब्दात्खप्रत्ययविधानात्। परि-

---

उक्त रीति से विधिस्पृष्ट श्येन में अधर्मता के अभाव प्राप्त होने पर शंका होती है। अर्थात् पूर्ववादी श्येन में अधर्मता का उपपादन करता है कि—विधिवाक्य के दो प्रकार के व्यापार होते हैं। एक तो भावार्थ (धात्वर्थ) और फल के साध्यसाधनभाव रूप सम्बन्ध को समझाना, और दूसरा भावार्थ के अनुष्ठान (आचरण) को समझाना और वहाँ ही विधि से अनुष्ठान का बोध होता है कि जहाँ अन्य प्रमाणों से भावार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। और श्येनादि में तो फल की उपायता (साधनता) के ज्ञान होने पर, राग से ही प्रवृत्ति की सिद्धि होने से विधि को अनुष्ठापकत्व (अनुष्ठान जनकत्व) नहीं रहता है, अतः निषेध के प्रवेश (प्रवृत्ति) से श्येनादि के अनर्थत्व की सिद्धि होती है। यह शङ्का भी यहाँ युक्त नहीं है। क्योंकि इसका उत्तर प्रथम कहा गया है कि—जहाँ इतिकर्तव्यता सहित याग को करणत्व होता है, वहाँ याग में राग से प्रवृत्ति होने पर इतिकर्तव्यों में भी राग से ही प्रवृत्ति होने पर, श्येन के समान अग्नीषोमीय के भी इतिकर्तव्य में राग से प्रवृत्ति होने के कारण (अग्नीषपोमीयं पशुमालभेत्) इससे विहित कर्म को अनर्थता प्राप्त होगी। उक्त रीति से श्येन और अग्नीषोमीय में विषमता नहीं हो सकेगी। यदि शङ्का हो कि (अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति) श्येनादि अभिचार और त्रिरात्रादि अहर्गणसाध्य अहीन नामक कर्मों को करने वाला तीन कृच्छ्र चान्द्रायण व्रतों द्वारा उन कर्मजन्य पापों को नष्ट करता है। इस स्मृति में प्रायश्चित्त के विधान से श्येनादि में अनर्थता (पापरूपता) का निश्चय होता है, कि जिससे अग्नीषोमीयादि पुण्यकर्मों से श्येनादि में विलक्षणता सिद्ध होती है, तो इस शङ्का का समाधान है कि इस मनुस्मृति में प्रायश्चित्त का

निश्चीयत इति चेत् मैवम् ; नैमित्तिकत्वेनाप्यस्योपपत्तेः । यथा हि—"वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदे"दित्यनृतवदनविधानानन्तरं "तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजै"रिति नैमित्तिकत्वेन सारस्वतश्चरुर्निर्वाप्यो विधीयते नत्वनृतवदनजनितपापनिवर्हणाय; अनृतवदनं कामतो-

---

हरति—मैवमिति । निषिद्धत्वानिर्णये प्रायश्चित्तानिर्णयात् तद्विधानस्य च नैमित्तिकत्वेनाप्युपपत्तेः निषिद्धत्वविधानात्प्रायश्चित्तत्वे प्रायश्चित्तविधानाच्च निषिद्धत्वे परस्पराश्रयमिति भावः । ननु व्यपोहतीति दोषनिवर्हणश्रवणात्प्रायश्चित्तत्वमिति तत्राह—यथा हि वर्णिनामिति । यत्र यस्मिन्समये ब्राह्मणादीनां वधः प्राप्नोति तत्र तदा साक्ष्यनृतं वदेत् । अनृतवदनमवदनस्याप्युपलक्षणम् । ततश्च यदि वदनमात्राद्वधः प्राप्नोति तदा न वदेत् । यदा तु सत्यवदनात्तदानृतं वदेदित्यर्थः । तत्पावनायेति तच्छुद्धयर्थम् । द्विजैस्त्रैवर्णिकैः । सारस्वतः सरस्वतीदेवताकश्चरुः । निर्वाप्यः निर्वपणेन यागपर्यन्तं लक्ष्यते । ननु तत्पावनायेति श्रवणात्प्रायश्चित्ततैव किं न स्यादिति तत्राह—नत्वनृतवदनेति । तत्र हेतुः—अनृतवदनेति । कामतः प्राप्तं ह्यनृतवदनं नानृतं वदेदिति निषिद्धं निषिद्धानुष्ठाने च प्रायश्चित्तम्, प्रकृते तु विधितः प्रवृत्तेर्न प्रायश्चित्तं युक्तं निषिद्धानुष्ठानशङ्काभावादित्यर्थः । एवं च

विधान नहीं है कि जिसमें अनर्थता सिद्ध हो, किन्तु यह तीन कृच्छ्रव्रत रूप नैमित्तिक कर्म का विधान है कि श्येन कर्म रूप निमित्त के प्राप्त होने पर तीन कृच्छ्र से शुद्धि कर्तव्य होता है, अतः नैमित्तिक रूप से भी इस व्रतविधान की सिद्धि हो सकती है, जैसे कि (वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्) सत्य बोलने से जहाँ ब्राह्मणादि वर्णवालों का वध प्राप्त हो, वहाँ साक्षी झूठ बोले–सत्य नहीं। इस प्रकार से याज्ञवल्क्यस्मृति में अनृत (मिथ्यावादन) विधान के अनन्तर (तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः) उस अनृत रूप निमित्त के प्राप्त होने पर, उसकी शुद्धि के लिये सारस्वत = सरस्वतीदेवताक, चरु = ओदनविशेष का निर्वाप (अर्पण) द्विजों का कर्तव्य होता है। इस स्मृति से नैमित्तिक कर्म रूप से ही सारस्वत चरुनिर्वाप्य विहित होता है। अनृतवदन निमित्तक पापनिवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त रूप से नहीं विहित होता है। क्योंकि उक्त अनृतवदन (मिथ्याकथन) में काम से अप्रवृत्ति होने से तथा विधि से ही प्रवृत्ति के स्वीकार से नानृतं वदेत्-इस निषिद्ध पाप की सम्भावना नहीं रहती है, कि जिसकी निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त का विधान हो। इसी प्रकार अन्यत्र (अभिचारमहीनं च) इत्यादि में समझना चाहिये कि नैमित्तिक विधि है—प्रायश्चित्त नहीं। अतः इस उक्त रीति से

ऽप्रवृत्तेर्विधित एव तत्र प्रवृत्त्यङ्गीकारात् एवमत्रापि। तदेवं नित्यकाम्यवैषम्यस्य वक्तुमशक्यत्वान्नित्यवत्काम्येपि नियोगस्य फलसाधनत्वकल्पना निःप्रामाणिका; पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थकताप्रसङ्गात्।

न च स्वर्गादिसाधनत्वे नियोगस्य प्राधान्यमपि संभवति; स्वर्गादिसुखशेषत्वात्। न च स्वानुकूलनियोज्यसिद्धये स्वर्गादिकं साधयतो नियोगस्य स्वामिवत्प्राधान्यानुपघातः; दृष्टान्तवैषम्यात् तथा हि—द्वौ तत्र स्वामिभृत्ययोः प्रयत्नो स्वार्थोद्देशेन प्रवृत्तौ परस्परमुपकुर्वाते, न तथेह नियोगस्य चेतनता, येन स्वकीयप्रयत्ने स्वर्गमात्मार्थतया आक्षिपेत्, प्रत्युत गर्भदा-

---

विषयविभागेन प्रायश्चित्तव्यवस्थापनमपि कैश्चित्क्रियमाणमयुक्तमित्यवान्तरविचारमुपसंहरति—**तदेवमिति**।

यच्च प्राधान्यसमर्थनं कृतं स्वर्गादिसाधनत्वेऽपि तद्दूषयति—**न चेति**। पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—**न चेति**। गर्भदासस्वामिनोश्चेतनतया स्वस्वप्रयोजनोद्देशेन प्रवृत्तिर्युक्ता, अत्र तु नियोगस्य स्वामिस्थानीयता न युक्ता; अचेतनत्वात्। अत एव न प्रवृत्तिरपीत्यर्थः। न केवलं नियोगस्य प्राधान्याभावः, प्रत्युत स्वर्गं प्रति शेषत्वमेवेत्याह—**प्रत्युतेति**। ननु कथमिदमवधार्यते स्वर्गशेषो नियोगः ननु विपरीत-

---

नित्य और काम्य कर्म में विषमता नहीं कही जा सकती है, सफलता से उभय में काम से प्रवृत्ति होगी, या उभय में विधि से ही प्रवृत्ति होगी। अतः यदि नित्य में नियोग की फलसाधनता नहीं मान्य हो, तो नित्य के समान ही काम्य कर्म में भी नियोग की फलसाधनत्व कल्पना निष्प्रामाणिक है, और यदि आपके मत में नियोग ही पुरुषार्थ हो, तो नियोग की स्वर्गसाधनता स्वीकार में अनर्थकता की प्राप्ति होती है। अतः नियोग पुरुषार्थ नहीं हो सकता है।

नियोग में स्वर्ग साधनत्व होते भी जो नियोग के प्रधानत्व को कहा था, उस प्राधान्य (प्रधानत्व) का भी सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वर्गादि सुख के शेषत्व (अङ्गत्व) नियोग में रहता है, वह स्वर्ग का साधन है, साध्य प्रधान होता है—साधन नहीं। और जो वह कहा था कि अपने (नियोग के) अनुकूल नियोज्य की सिद्धि के लिये स्वर्गादि फल को सिद्ध करते हुए भी नियोग की प्रधानता का भृत्योपकारक स्वामी के समान अभाव नहीं होता है, वह दृष्टान्त के विषम होने से कथनयुक्त नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में स्वामी और भृत्य के दो प्रयत्न प्रवृत्त होते हैं, वे स्वार्थ के उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं, और परस्पर उपकार करते हैं। प्रकृत में यहाँ नियोग की चेतनता नहीं है कि जिससे अपने प्रयत्न में स्वर्ग को (आत्मार्थता) साधन रूप से आक्षेप करेगा। प्रत्युत (उल्टा) गर्भदास के स्थान

सस्थानीयो नियोज्यः स एव स्वर्गाय प्रवृत्तो नियोगमेव स्वर्गशेषतया स्वीकुर्यात्। न च स्वर्गादिसुखस्यान्यार्थता, स्वभाववैपरीत्यापत्तेः। यदर्थं सर्वं यच्च नान्यार्थं तत्सुखमिति हि सुखस्य लक्षणमाक्षते, तत्कथमन्यशेषता स्वर्गादिसुखस्य भवेत्? न चालौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपाहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहारात्संबन्धग्रहणम्; तत्र यूपाहवनीयादेर्यूपं तक्षतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्तिगम्यत्ववन्नियोगस्यार्थापत्तिगम्यत्वानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे बाऽपूर्वत्वव्याघाताच्च। यत्तु लिङादेः क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वानुमानम्, तत्प्रत्यनुमानपराहतत्वादसाधनम्। तथाहि—

विवादाध्यासिताः शब्दाः क्रियाकार्याभिधायिनः।

मिति? इति तत्राह—**न चेति**। अथवा पूर्वमचेतनत्वान्नियोगस्य न स्वर्गस्य तच्छेषत्वमित्युक्तम्। इदानीं स्वभावविरोधादपि न तथेत्याह—**न च स्वर्गादिति**। यच्च नान्यार्थं तत्सुखमित्युक्ते दुःखेऽपि स्यादत उक्तम्—**यदर्थमिति**। स्वर्गादिसुखस्यान्यशेषत्वं यच्च नान्यार्थमिति लक्षणविरुद्धमित्यर्थः। यत्तु यूपाहवनीयादि दृष्टान्तितं तदपि वैषम्यं दर्शयन् परिहरति—**न चालौकिकत्वेऽपीति**। प्रत्यनुमानमेव श्लोकेन दर्शयति—**विवादाध्यासिता इति**। लौकिकलिङादौ सिद्ध-

---

में नियोज्य है, वही स्वर्ग के लिये प्रवृत्त होता हुआ नियोग को ही स्वर्ग के शेष (साधन) रूप से स्वीकार करेगा, और स्वर्गादि सुख को अन्यार्थता (नियोगार्थता) हो नहीं सकती है, क्योंकि ऐसा होने पर साध्यसाधनादि स्वभाव की विपरीतता की प्राप्ति होगी, यह प्रसिद्ध है कि जिसके लिये सब साधन किये जाते हैं। और जो अन्य के लिये साधन रूप नहीं होता है, वही सुख कहा जाता है, यही सुख का लक्षण कहा गया है। फिर स्वर्गादि सुख को अन्य (नियोग) की शेषता (अङ्गता) कैसे हो सकती है—किसी प्रकार से नहीं। और जो कहा था कि नियोग के अलौकिक होते भी यूपादि के समान प्रसिद्धार्थक पद के साथ पाठ से शक्ति का ग्रहण होता है। सो यूपादि को दृष्टान्त कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि वहाँ यूपादि को (यूपं तक्षति) इत्यादि प्रसिद्धार्थक पदसमभिहार की अन्यथा (यूपपदवाच्यतादि के विना) अनुपपत्ति (अर्थापत्ति) प्रमाणगम्यत्व के समान, नियोग को अर्थापत्ति गम्य नहीं माना जाता है, न आगमभिन्न किसी प्रमाण का विषय माना जाता है, यदि अर्थापत्ति से गम्यत्व (ज्ञेयत्व) का स्वीकार हो, तो अपूर्वत्व का व्याघात होगा। और जो लिङादि के क्रियातिरिक्त कार्यवाचकत्व का अनुमान कहा था, सो भी प्रतिपक्षानुमान से पराहत (निरुद्ध) होने के कारण अपने साध्य का साधन (साधक) नहीं हो सकता है। प्रतिपक्ष का स्वरूप है कि—

विवाद विषय वैदिक लिङादिशब्द, क्रिया रूप कार्य के वाचक हैं, कार्य = क्रिया

कार्यंप्रत्ययहेतुत्वाद् आनयेत् यदि शब्दवत् ॥ १८ ॥

इष्टसाधनवादिनो वेदान्तिनः प्रति साध्यविकलत्वाच्च । लौकिकलिङादिशब्दानामपि श्रेयःसाधनबोधकत्वाभ्युपगमात्, व्यापकानुपलब्धिपराहतत्वाच्च । तथाहि—तदभिधायकत्वं तत्र सङ्गतिग्रहणेन व्याप्यम्, तच्च मानान्तरानधिगतादपूर्वाद्व्यावर्तमानं लिङादीनां तदभिधायकतां व्यावर्तयति । न च क्रियातिरिक्तकार्यानभिधाने स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः; क्रियाया एवापूर्वावान्तरव्यापारायाः परमेश्वरप्रसादा-

---

साधनतापरिहाराय विवादपदम् । वैदिकलिङादयः इत्यर्थः । क्रियारूपं कार्यं क्रियाकार्यं तदभिधायिन इत्यर्थः । नियोगेनार्थान्तरतानिरासाय क्रियाग्रहणम् । न च लौकिकलिङादित्वमुपाधिः, लौकिकपदवैयर्थ्येन पक्षेतरत्वात् । नन्वेवमपि स्वपक्षे किं प्रमाणम् ? न तावदिदमेव, प्रतिरोधमात्रतया स्वपक्षासाधनत्वात् । नैतत्सारम्; बाधकत्वेन प्रतिरोधकत्वासिद्धेः । समबलबोधितसाध्यविपर्ययत्वं हि प्रतिरुद्धत्वम्, न चात्र समबलत्वं अधिकबलत्वादितरस्य दुर्बलत्वात्तदाह—इष्टसाधनेति । वादिनो वेदान्तिन इति च द्वितीया । साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—लौकिकेति । एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वे गामानयेत्यादिपदं हि पूर्ववादिना दृष्टान्तितम् । न च तत्रापि कार्याभिधायित्वमिष्टसाधनताभिधायित्वाङ्गीकारात् गयेत्यर्थः । इदं चासिद्धेरप्युपलक्षणम् । दूषणान्तरं चाह—व्यापकेति । व्यापकं विवेचयन् तदनुपलब्धिमिहोपलम्भयति—तथा हीत्यादिना । यद्यद्विषयस्याभिधायकम्, तत्तस्य गृहीतसङ्गतिकमिति व्याप्तम् । न च प्रमाणान्तरानधिगतेऽपूर्वे तत्संभव इति व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरग्निव्यावृत्त्येव धूमव्यावृत्तिरित्यर्थः । यस्तु तेन विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तमपि प्रशिथिलमूलमुन्मूलयति—न च क्रियातिरिक्तेति ।

के ज्ञान के हेतु होने से, आनय इत्यादि शब्द के समान ॥ १८ ॥

लिङादि के इष्टसाधन वाचकत्ववादी वेदान्ती के प्रति आनयनादि दृष्टान्त में साध्य विकलता होने से दोनों में समबलता नहीं है । क्योंकि लौकिक लिङादि शब्दों में भी श्रेयःसाधनबोधकत्व ही वेदान्ती से माना जाता है । और व्यापक की अनुपलब्धि से पराहत (नष्ट) होने से भी उक्त अनुमान अयुक्त है । जैसे कि (घट का अभिधायक, घटविषयक सङ्गतिग्रह से व्याप्य रहता है । अर्थात् सङ्गतिग्रह के बिना घट पद घट का बोधक नहीं होता है, किन्तु शक्ति के ज्ञानपूर्वक बोधक होता है, अतः शक्तिग्रह बोधकत्वव्यापक होता है, वह व्यापक शक्तिग्रह, मानान्तर से अज्ञात अपूर्व से व्यावृत्त होकर लिङादि के वाचकत्व को भी व्यावृत्त करता है । अतः उक्त अनुमान से उक्त साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है । और क्रियातिरिक्त कार्य के अकथन होने पर (स्वर्गकामो यजेत) इत्यादि

वान्तरव्यापाराया वा फलसाधनत्वोपपत्तेः प्रदर्शितत्वात्। तदेवं विधिवाक्यानामपि सिद्धार्थबोधकत्वाद्विधिसंस्पर्शविधुराणां सत्यज्ञानादिवाक्यानामखण्डैकरसब्रह्मलक्षणसिद्धार्थविबोधकत्वं सुतरां सिद्धयतीति सिद्धम् ।

ननु कथं वेदान्तानामखण्डार्थत्वम् ? तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, तत्र प्रमाणासंभवाच्च तथाहि—किमिदमखण्डार्थत्वम् ? किं निर्विशेषवस्तुपरत्वम् ? उत निर्भेदार्थनिष्ठत्वम् ? आहोस्विदपर्यायिशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम् ? अथवा तेषामेवैकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम् ? संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वं वा ? नाद्यः; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—पदानां

यादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** ।

"हितसाधनतामवलम्ब्य यदा ववृते विधिबोधकवाक्यमपि ।
परमामृतबोधविधौ सुतरां परमात्मनि वेदशिरांसि तदा ॥"

अखण्डबोधकत्वमुक्तमाक्षिपति—**ननु कथमित्यादिना** । अखण्डार्थत्वस्य संभवल्लक्षणानि दूषयति—**किमिदमित्यादिना** । खण्डशब्दस्य च विशेषं भेदं चार्थमादाय प्रथमद्वितीययोः प्रवृत्तिस्तृतीयचतुर्थयोः स्वविवक्षावशात् । **तेषामेवेति** । अपर्यायिशब्दानामेवेत्यर्थः । पञ्चमस्तु खण्डशब्दस्य संसृष्टमर्थमादाय, निर्विशेषाणामप्यन्त्यविशेषाणां भिन्नत्वस्य परैरङ्गीकारात् नाद्यद्वितीयसङ्करः । तात्पर्यमभिहितेषु लक्षितेषु वा संभवति यथा गङ्गायां यादांसीति, यथा वा गङ्गायां घोष इति;

शास्त्र में अप्रमाणता प्राप्त होगी, यह कहा था, वह भी युक्त नहीं, क्योंकि अपूर्वरूप अवान्तर व्यापार वाला, या परमेश्वरप्रसाद रूप अवान्तर व्यापारवाली यागादि रूप क्रिया ही को फलसाधनत्व की सिद्धि होती है, यह प्रदर्शित कराया गया है, और उसी फलसाधन के बोधक होने से शास्त्र प्रमाण होता है। इस उक्त रीति से लिङादि के इष्टसाधनता बोधकत्व के स्वीकार करने पर विधि वाक्यों को भी सिद्धार्थ बोधकत्व होता है, तो विधिसम्बन्धरहित सत्य ज्ञानादि वाक्यों को अखण्ड एकरसब्रह्मस्वरूप सिद्धार्थ बोधकत्व स्वतः सिद्ध होता है—यह सिद्ध हुआ।

अखण्ड एकरससिद्धार्थबोधकत्व सिद्ध हुआ, इस शङ्का बीज को पाकर शङ्का होती है कि वेदान्त वाक्यों को अखण्डार्थकत्व कैसे हो सकता है, क्योंकि उस अखण्डत्व का निर्वचन (लक्षण वर्णन) अशक्य है, तथा ब्रह्म के अखण्डत्व में प्रमाण का असम्भव है। प्रथम यह विचारणीय है कि वेदान्त को यह अखण्डार्थत्व क्या है, क्या निर्विशेष वस्तुपरत्व है, अथवा निर्भेदार्थनिष्ठत्व है, अथवा अपर्याय शब्दों की प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायिता (बोधकता) है, या अपर्याय शब्दों की एक प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायिता है, या संसर्गागोचर प्रमाजनकता है, वहाँ विकल्पाऽसहविषय होने से प्रथम पक्ष मान्य

निर्विशेषवस्तुपर्यवसायित्वमभिधायकतया ? लक्षकतया वा स्यात् ? न प्रथमः; तस्यात्यन्तमप्रसिद्धतया संबन्धाग्रहणेन पदानां तत्पर्यवसायित्वासंभवेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः अप्रसिद्धत्वादेवाभिधेयाविनाभावस्य लक्षणाहेतोरसंभवेन प्राचीनदोषानुषङ्गप्रसङ्गात्। न चाभिधेयाविनाभावं विनापि 'गरमभ्यवहरे'त्यादिगिरामिव वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिका; अत्यन्ताप्रसिद्धत्वेन गगनारविन्दादेरिव लक्ष्यत्वानुपपत्तेः।

तमुभयमपि प्रकारं विकल्प्य दूषयति—**तस्यात्यन्तमिति**। अन्त्यविशेषाणां भवद्भिरनङ्गीकारादिति भावः। लक्षणापक्षं दूषयति—**नापीति**। अभिधेयाविनाभूतं हि लक्ष्यं दृष्टं यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसति इत्यत्र गङ्गाऽविनाभूतं तीरं गङ्गापदेन, न पुनरविनाभूतम्। अविनाभावश्चायं भूयः संबन्धदर्शनमात्रम्, मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चपुरुषयोर्मुख्याविनाभावाभावेऽपि लक्षणादर्शनात्। न चान्त्यताप्रसिद्धस्य निर्विशेषवस्तुनोऽभिधेयाविनाभावः संभवतीति लक्षणाऽसंभवाल्लक्षणाऽसंभव इत्यर्थः। नन्वभिधेयासंबद्धमपि क्वचिल्लक्ष्यं दृष्टं यथा कश्चित् किमस्य गृहे भोक्तव्यम् ? इति केनचित्पृष्टः तन्निवारयन्नाह–विषं भुङ्क्ष्वेति। न चात्र लक्ष्यमाणैतद्गृहनिष्ठभोजननिवृत्तेः विषभक्षणस्य च संबन्धोऽस्ति। अथ च लक्ष्यते, तत्कस्य हेतोः ? वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेः। एवमत्रापि सत्यादिवाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेरेव किमिति न लक्षणेत्यत आह—**न चाभिधेयेति**। तत्र हेतुः—**अत्यन्ताप्रसिद्धेति**। अनुपपत्तिरपि हि योग्ये लक्षणां प्रवर्तयति न त्वयोग्ये, इतरथा खपुष्पादेरपि लक्षणाप्रसङ्गात्, तस्मात् प्रामाण्यानुपपत्तिरपि अन्यपरतायामेव बीजम्, न त्वखण्डार्थतायामिति भावः।

नहीं हो सकता है। क्योंकि पदों को निर्विशेषवस्तु पर्यवसायित्व (निर्विशेषवस्तुपरत्व) अभिधायक (वाचक) रूप से या लक्षक रूप से होगा। वहाँ निर्विशेषपरत्व प्रथम (वाचक) रूप से हो नहीं सकता हैं, क्योंकि उस निर्विशेष के अत्यन्त अप्रसिद्ध होने पर सम्बन्ध के ग्रहण नहीं होने से पदों की तत्पर्यवसायिता के असम्भव से लक्षण के असम्भावितत्व की प्राप्ति होती है। द्वितीय लक्षकता रूप से भी निर्विशेषपरत्व शब्दों को नहीं हो सकता है। क्योंकि निर्विशेष वस्तु के अप्रसिद्ध होने ही से, लक्षणा के हेतु वाच्यवाचक भाव के असम्भव से लक्षणा के असम्भव द्वारा लक्षण का असम्भव रूप पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है, अर्थात् शक्य (अभिधेय) का सम्बन्ध रूप लक्षणा होती है। अतः भिधेय का अविनाभूत (व्याप्य) लक्ष्य होता है, जैसे गङ्गापद के वाच्य से अविना भूत तीर लक्ष्य होता है, अत्यन्ताऽप्रसिद्धवस्तु को अभिधेय के अविनाभूत होने का सम्भव नहीं,

अथ निर्भेदवस्तुपरत्वम् ? तदपि न; निर्भेदत्वस्यानिरुक्तेः । तथाहि— निर्भेदत्वं नाम किं भेदाभावविशिष्टत्वम् ? उत भेदाभावोपलक्षितत्वम् ? नाद्यः, तत्परत्वे वाक्यस्य निर्घटं भूतलमितिवत्संसृष्टार्थत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; तत्रापि संसृष्टार्थत्वस्यानतिवृत्तेः । तथाहि—भेदस्य योऽभावस्तै-

---

द्वितीयं दूषयति—**अथ निर्भेदवस्त्विति** । निर्भेदत्वं नाम भेदाभावविशिष्टत्वमिति प्रथमपक्षं दूषयति—**नाद्य इति**। यथा हि निर्घटं भूतलमिति घटाभावविशिष्टभूतलबोधकस्य नाखण्डार्थमेवं तत्रापीत्यर्थः । भेदाभावोपलक्षितत्वपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । तत्रापि वक्तव्यं किं भेदाभावोपलक्षितत्वविशिष्टम् ? उत वस्तुमात्रम् ? इति । आद्ये प्राह—**भेदस्य योऽभाव इत्यादिना** । द्वितीयं शङ्कते—

अतः लक्षणा के अभाव से लक्षण का असम्भव है । यहा शङ्का होती है कि अभिधेय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध के विना भी कहीं लक्षणा देखी जाती है, जैसे कोई अपने मित्र या पिता से पूछा कि अमुक मनुष्य के यहाँ से भोजन के लिये निमन्त्रण आया है, उसके गृह में भोजन करना चाहिये या नहीं, तो वह मित्र वा पिता, नहीं ऐसा नहीं कह कर, (शत्रुगृहे विषमाहर) शत्रु के घर में विष का आहार करो (विषं भुङ्क्ष्व) विष खाओ ऐसा कहता है, तहाँ शत्रु गृह में भोजन की निवृत्ति लक्ष्यार्थ रहता है, परन्तु उसको शक्यार्थ के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं रहता है, तो भी मित्र वाक्य की प्रमाणता की अनुपपत्ति से ही भोजन की निवृत्ति लक्षित होती है, वैसे ही (तत्त्वमसि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) इत्यादि वाक्य की प्रमाणता की अनुपपत्ति ही लक्षण की आक्षेपिका (हेतु) होगी । परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि प्रामाण्य की अनुपपत्ति भी अत्यन्त अप्रसिद्ध के कारण लक्षणा के अयोग्य विषयक लक्षणा का हेतु नहीं हो सकती है किन्तु योग्यविषयक लक्षणा का हेतु हो सकती है । अन्यथा गगन पुष्पादि की भी लक्षणा प्राप्त होगी । और अखण्डार्थ गगन कमलादि के समान अप्रसिद्ध है, अतः उसके लक्ष्यत्व की अनुपपत्ति है।

निर्भेद-पदार्थ-निष्ठत्व रूप जो निर्भेदवस्तुपरत्व, दूसरा लक्षण है, वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि निर्भेदत्व का निर्वचन नहीं हो सकता । विचारणीय है कि निर्भेदत्व क्या है, क्या भेदाभाव विशिष्टत्व है, या भेदाभावोपलक्षितत्व है, उनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि वेदान्तवाक्य के भेदाभाव विशिष्ट परक होने पर निर्घटं भूतलम्, घटाऽभाव वाला भूतल है, इत्यादि के समान वेदान्त को सखण्डार्थत्व प्राप्त होगा । भेदाभावोपलक्षितत्व रूप दूसरा पक्ष में भी संसृष्टार्थत्व की निवृत्ति नहीं होने से यह पक्ष भी युक्त नहीं । क्योंकि भेद का जो अभाव, उस उपलक्षण से उपलक्षित वस्तु परत्व (वाचकत्व) होने पर, संसृष्टार्थता कैसे नहीं होगी, संसृष्ट (संसर्ग युक्त) कहा जाता है, और उपलक्षण का संसर्ग भासता है,

नोपलक्षणेनोपलक्षितवस्तुपरत्वे कथं न संसृष्टार्थता ? वस्तुमात्रमेव तत्र प्रतिपाद्यम्, भेदाभावस्तु द्वारमिति चेत्, तथापि नाखण्डार्थता; उपलभ्यमाणस्य स्वेतरेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतीतावखण्डार्थत्वासंभवात्। अप्रतीतौ चानुपलक्षकत्वादेवोपलक्षणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः; शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यत्रापर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायि-

---

वस्तुमात्रमेवेति। दूषयति—**तथापीति**। भेदाभावेन यद्ब्रह्म लक्ष्यते तत्किमितरेभ्यो व्यावृत्तं प्रतीयते ? न वा ? प्रथमे प्राह—**उपलक्ष्यमाणस्येति**। व्यावृत्तिविशिष्टस्याखण्डत्वाभावादित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**अप्रतीताविति**। कादाचित्कव्यावर्तकमुपलक्षणं नाम तस्य चाव्यावर्तकत्वं व्याहतमित्यर्थः। अपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वमिति तृतीयं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। यस्य हि लक्षणवाक्यं लक्ष्यप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसितमिति मतं तस्येमे लक्षणवाक्ये लक्ष्यजलानलस्वरूपपर्यवसिते, तथापि नाखण्डार्थतां भिन्नत्वाल्लक्ष्ययोरित्यर्थः। अथवा पयःपावकशब्दयोरपि शीतोष्णस्पर्शवन्तावेवार्थौ जातिमात्रपरत्वायोगात्। तथा च शीतोष्णस्पर्शवच्छब्दयोः पयःपावकशब्दयोश्च प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमस्ति, नचात्राखण्डार्थतेत्यर्थः। अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थत्वमिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—

अतः संसृष्टार्थत्व प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि उपलक्षण पक्ष में वेदान्त वाक्यों में अखण्ड वस्तु मात्र ही प्रतिपादनीय रहता है, भेद का अभाव तो द्वार मात्र (अखण्डार्थ के ज्ञान में निमित्त मात्र) रहता है, तो भी अखण्डार्थता नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि भेदाऽभाव से जो ब्रह्म उपलक्षित होता है, उस उपलक्ष्यमाण (उपलक्षित) ब्रह्म की स्वेतर से व्यावृत्त रूप से प्रतीति होने पर अखण्डार्थत्व का असम्भव है, क्योंकि व्यावृत्तिविशिष्ट को अखण्डत्व का अभाव रहता है। और यदि उपलक्ष्यमाण वस्तु इतर से व्यावृत्त रूप से प्रतीति नहीं हो, तब तो उपलक्षण के अनुपलक्षकत्व से ही उपलक्षण में व्यर्थता प्राप्त होगी। क्योंकि कादाचित्क व्यावर्तक उपलक्षण कहा जाता है, उपलक्ष्य में इतरव्यावृत्तत्व नहीं होने पर, उसके व्यावर्तकत्व का अभाव होगा। अपर्याय शब्दों के प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायित्व रूप, तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि शीतोष्णस्पर्श वाले जलाग्नि हैं। इस लक्षणवाक्य में अपर्याय शब्दों को प्रातिपदिकार्थमात्र पर्यवसायित्व (प्रातिपदिकार्थ मात्र के बोधकत्व) होते भी अखण्डार्थत्व नहीं देखा जाता है। यद्यपि ये लक्षण रूप वाक्य हैं, अतः जल अग्नि रूप प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायी माने जाते हैं, तथापि लक्ष्य के भिन्न होने से अथवा पयःवाचक शब्द के शीतस्पर्शवान्, उष्णस्पर्शवान् अर्थ होने से अखण्डार्थत्व नहीं है। अपर्याय शब्दों के

त्वेऽप्यखण्डार्थत्वादर्शनात् । नापि चतुर्थः; तथासत्येकेनैव तत्प्रतिपत्तेः पदान्तरप्रयोगस्य वैयर्थ्येन लक्षणस्यासंभवित्वापातात् । व्यवच्छेद्यभेदाद-वैयर्थ्यमिति चेन्न । तदनिरुक्तेः । तथाहि—किं व्यवच्छेद्यानां व्यावृत्तयः पदैः प्रतिपाद्यन्ते ? अथवा तद्विशिष्टम् ? आहोस्विदुपलक्षितं स्वरूपमात्रं वा ? तत्र न प्रथमद्वितीयौ; तथासति संसृष्टार्थत्वेनाखण्डार्थत्वानुपपत्तेः । नापि तृतीयः; तत्राप्यन्यतो व्यावृत्तस्य प्रतिपादने प्राचीनदोषानुषङ्गात् ।

नापि चतुर्थः इति । यदि ह्येकमेव वस्तु बुबोधयिषितं तदेकेनैव बुद्धमिति पदान्तरप्रयोगो वृथैव स्यात्, न च पदमात्रं वाक्यमस्ति तस्मादसंभविलक्षणमित्यर्थः । यद्यप्येकमेव लिलक्षयिषितम्, तथापि व्यवच्छेद्या बहवः सन्ति असत्यजाड्यादयः । न चैकपदमात्रात्सर्वेषां व्यवच्छेदः; तदर्थमात्रेणेतरेषां विरोधाभावात् । अतो न पदान्तरवैयर्थ्यमिति शङ्कते—**व्यवच्छेद्येति** । दूषयति—**न तदनिरुक्तेरित्या-दिना** । तद्व्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनं व्यवच्छेदविशिष्टवस्तुप्रतिपादनं च संसृष्टार्थ-तया अखण्डार्थताविरोधीति दूषयित्वा व्यवच्छेदोपलक्षितवस्तुप्रतिपाननमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति** ।

एकप्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायित्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इस वाक्य में एक ही पद से उस वक्तव्यार्थ की प्रतीति होने से पदान्तर के प्रयोग की व्यर्थता के कारण लक्षण के असम्भावित्व की प्राप्ति होगी, कारण है कि अनर्थक होने से एक पद से भिन्न पद का प्रयोग अयुक्त होगा, और एक पद मात्र वाक्य नहीं हो सकता है, अतः उक्त लक्षण वाक्य के प्रयोग का असम्भव होगा । यदि कहा जाय कि यद्यपि लक्षण से बोधनीय वस्तु ब्रह्म एक हैं, उसका बोध किसी एक पद से भी हो सकता है, परन्तु सजातीय-विजातीय से व्यावृत्त वस्तु का बोध स्वरूप लक्षण का फल होता है, और जिनसे लक्ष्य को व्यावृत्त करना होता है, उन व्यवच्छेद्य (निवार्य) असत्यादि वस्तुओं के बहुत होने से उनके व्यवच्छेदन द्वारा सब लक्षण गत पद सार्थक हो जाते हैं, तो यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि उस व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) का निर्वचन (निर्णय) नहीं हो सकता है, वह दर्शाया जाता है कि क्या व्यवच्छेद्य असत्यादि के व्यावृत्तियों को सत्यादि पदों से प्रतिपादन किया जाता है, या व्यावृत्ति युक्त वस्तु (ब्रह्म) का प्रतिपादन किया जाता है, अथवा व्यावृत्ति से उपलक्षित स्वरूप मात्र का प्रतिपादन होता है । यहाँ प्रथम द्वितीय पक्ष तो बन नहीं सकता है, क्योंकि सप्रतियोगिक इतर व्यवच्छेद्यमात्र के या व्यवच्छेद्यविशिष्ट के प्रतिपादन के उक्त रीति से संसृष्टार्थक होने से अखण्डार्थत्व की असिद्धि होती है । व्यवच्छेद्य से उपलक्षित वस्तुमात्र का प्रतिपादन रूप तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता है,

स्वरूपमात्रप्रतिपादने च पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यस्य दर्शितत्वात् ।

नापि पञ्चमः । तथात्वस्यात्यन्तादृष्टचरत्वेन लक्षणासंभवित्वात् । ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्येषु दृष्टं संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति चेत्, मैवम्; लक्षणवाक्यैरपि लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतिपादनात् तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वेन प्रतिपादनाद्वा लक्षणवाक्यानामपि संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः। ननु सोऽयं देवदत्त इत्यादिषु देवदत्त-

---

संसर्गागोचरप्रयोजनकत्वमिति पञ्चमपक्षं दूषयति—**नापीति** । सर्वत्र हि वाक्यार्थस्य पदार्थसंसर्गतया वा संसृष्टपदार्थतया वा संसर्गग्राहि वाक्यमित्यसंभवि लक्षणमित्यर्थः । सिद्धान्त्यभिमतसंभवस्थमाशङ्कते—**ननु प्रकृष्टेति** । अत्र हि चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रं पृष्ठमेतद्वाक्यविषयः न पुनः प्रकर्षादिसंसर्गस्याबुभुत्सितत्वादिति, तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । तदितरव्यावृत्तिर्वा तच्छब्दव्यवहारो वा लक्षणार्थः, उभयथापि संसृष्टार्थपरतानतिवृत्तिः । तदिह प्रकर्षादिसंसर्गपरताऽभावेपि भवत्येव विधान्तरेण संसृष्टार्थत्वमित्यर्थः । उदाहरणान्तरमाशङ्कते—**ननु सोऽयं देवदत्त**

क्योंकि इस पक्ष में भी अन्य से व्यावृत्त के प्रतिपादन करने पर उपलक्षितत्व से विशिष्ट के प्रतिपादन होने से अखण्डार्थता नहीं रहती हैं, और लक्ष्यस्वरूप के एक पद से लक्षित होने पर 'स्वरूपमात्र के प्रतिपादन करने पर' पदान्तर निरर्थक होते हैं, यह पूर्व वर्णित दोष प्राप्त होता है। वह पदान्तर के प्रयोग की व्यर्थता प्रथम दर्शाई गई है।

(संसर्गाऽगोचरप्रमाजनकत्वम् = अखण्डार्थत्वम्) यह पञ्चम लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि तथात्व के (संसर्गाविषयत्व के) लोक में अत्यन्त अदृष्टविषय (अत्यन्त अज्ञात) होने से यह लक्षण असम्भव दोषयुक्त है। यदि शङ्का हो कि (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः) इन ताराओं में अधिक प्रकाश वाला चन्द्र है, किसी के प्रश्नविषयक उत्तर रूप इत्यादि लक्षण वाक्यों में संसर्गविषयक प्रमाजनकत्व देखा गया है, क्योंकि चन्द्रस्वरूप मात्र विषयक प्रश्न होने से स्वरूपमात्र विषयक ही उत्तर हो सकता है, प्रकाशादि परिचायक रहते हैं। उनके संसर्गादि विवक्षित नहीं रहते हैं, इत्यादि, तो ऐसी शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि लक्षण वाक्यों द्वारा भी सजातीय विजातीय से व्यावृत्त (भेदविशिष्ट) रूप से लक्ष्य का प्रतिपादन किया जाता है, अथवा तत्तत् शब्द (चन्द्रादिशब्द) से व्यवहर्तव्य (वाच्यत्व) रूप से प्रतिपादन किया जाता, अतः लक्षण वाक्यों में भी संसृष्टार्थत्व का अभाव नहीं हो सकता है। फिर भी यदि शङ्का हो कि (सोऽयं देवदत्तः) इत्यादि वाक्यों में

गतभेदभ्रमव्युदासेन तत्स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वमपर्यायशब्दानां दृष्टमिति चेत्, मैवम्; तत्रापि परोक्षदेशकालोपलक्षितस्यैतद्देशकालविशिष्टत्वप्रतिपादकतया संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः, तावतैव च भेदभ्रमव्युदासादुभयपदलक्षणाभ्युपगमे गौरवप्रसङ्गाच्च। तदेवं नाखण्डार्थत्वनिरुक्तिः।

नापि तत्र प्रमाणम्। प्रकृष्टप्रकाश इति वाक्यार्थश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थस्तत्प्रश्नोत्तरार्थत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा वाक्यान्तरार्थ इति व्यति-

---

इति। देवदत्तैक्यस्यैकैकपदादपि सिद्धेर्वाक्यवैयर्थ्यमाशङ्क्योक्तम्—**भेदभ्रमव्युदासेनेति**। यद्यपि लक्षणवाक्यमिदं न भवति, तथापि महावाक्याखण्डार्थत्वसंभावनाया भवत्येव भूमिरितीदमाशङ्कितम्। यदि ह्युभयोरपि लक्षणया देवदत्तमात्रपर्यवसितमिदं स्यात्तदाखण्डार्थत्वम्, नत्वेतदस्ति, एतद्देशकालसंसर्गप्रतिपादनपरत्वात्, तत्पदस्यैव केवलं लक्षणाश्रयणात् तावन्मात्रादेव भेदभ्रान्तिनिवृत्तेः, विना कारणं लक्षणायामतिप्रसङ्गात्तदेतदाह—**मैवं तत्रापीति**। **गौरवप्रसङ्गादिति**। प्रथमं मुख्यार्थप्रतीतिस्तत्परित्यज्य तत्संबन्धादर्थान्तरप्रतीतिश्चेति बहु कल्प्यमित्यर्थः। एतेनार्थादेकत्वप्रतिपादनाद्वारं साक्षादेकत्वप्रतिपादनमित्यपि परास्तम्, लक्षणागौरवादेव।

यदत्र न्यायरत्नदीपावल्यामनुमानमुक्तम्; तदनुवदति—**प्रकृष्टेत्यादिना**। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम्; संसृष्टपदार्थानां वाक्यार्थत्वेन चन्द्रपदार्थस्यापि तत्स्वीकारात्। तत्प्रश्नस्योत्तरं यद्वाक्यं तदर्थत्वादित्यर्थः। अत्र साध्यश्चन्द्रप्राति-

---

तत्त् पद से एक विभक्ति से देवदत्त गत भेदभ्रम के निवारण द्वारा देवदत्त के स्वरूप मात्र पर्यवसायित्व, अपर्यायवाचक शब्दों को देखा गया है। तो यह शङ्का भी युक्त नहीं, क्योंकि उस 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में भी परोक्ष देश काल से उपलक्षित के एतद्देशकाल विशिष्टत्व की प्रतिपादकता से संसृष्टार्थत्व की निवृत्ति नहीं होती है, और तावता (केवल तत्पद में लक्षण से) परोक्ष कालादि के उपलक्षितत्व के बोध होने से भेदभ्रम का निवारण हो जाता है, और सोऽयं के तत् इदम् दोनों पद में लक्षण मानने पर गौरव की प्राप्ति होती है, अतः उभय पद में लक्षण मानकर अखण्डार्थत्व का वर्णन युक्त नहीं। इस उक्त रीति से अखण्डार्थत्व की निरुक्ति (लक्षण) नहीं हो सकती है।

उस अखण्डार्थ में कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि 'प्रकृष्टप्रकाश यह वाक्यार्थ, चन्द्ररूप प्रातिपादिकार्थमात्रार्थ वाला है, चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र विषयक प्रश्न का उत्तर होने से, जो प्रश्न का उत्तर नहीं, वह प्रातिपदिकार्थ मात्र पद नहीं, यथा वाक्यान्तरार्थ'। यह व्यतिरेकी अनुमान प्रमाण है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह विचार में नहीं ठहरता है, वह दर्शाया जाता

रेक्यनुमानमस्तीति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थोऽन्यत्र प्रसिद्धः? न वा? आद्ये तत्र हेतोर्वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्व-व्याघातः। अवृत्तौ तु सत्यपि सपक्षे तत्र हेतोरवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकता। द्वितीये पुनरप्रसिद्धविशेषणतैव। अन्वयव्यतिरेकितायां च यो यत्प्रश्नोत्तरार्थं इति व्याप्तिरभ्युपेया। तथाच त्वत्करे कति वराटका इति प्रश्नस्य पाणौ पञ्च वराटका इति प्रतिवचने व्यभिचारः। न च विमतमखण्डार्थं लक्षणवाक्यत्वात्पृथुबुध्नोदराकारः कुम्भ इति

पदिकार्थः क्वचित्प्रसिद्धो न वेति विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना**। ननु माभूत्केवलव्यतिरेकिता, अन्वयव्यतिरेकिता तु भवतु, किमेतावतेत्यत आह—**अन्वयेति**। कति वराटका इति प्रश्नोत्तरार्थे वराटकसङ्ख्याविशेषे वराटकप्रातिपदिकार्थत्वं नास्ति सङ्ख्यासंबन्धपरत्वाद्वाक्यस्येत्यर्थः। वराटकः कपर्दकः। न च तत्प्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधौ व्याप्तिः; क्वचिदपि प्रातिपदिकमात्रनिष्ठवाक्यासंप्रतिपत्तेः। अन्यथा तस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तौ एतत्प्रसाधनवैयर्थ्यापातादिति। अतएव चन्द्रप्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधावपि न व्याप्तिः, असिद्धेरेव। आनन्दबोधाचार्यानुमानमुद्भाव्य दूषयति—**विमतमित्यादिना**। विज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः। **उक्तप्रकारेणेति**। इतरव्यावृत्तेर्व्यवहारस्य वा बोधनादित्यर्थः। स्वपक्षे चानुमान-

---

है कि—चन्द्रप्रातिपदिकार्थ मात्र साध्य पक्ष से अन्यत्र प्रसिद्ध है, या नहीं, यदि प्रसिद्ध है, और वहां हेतु भी रहता है, तो अन्वयव्यतिरेकिता से इस अनुमान के केवल व्यतिरेकित्व का अभाव होगा। और प्रसिद्ध साध्य के स्थान में हेतु की अवृत्ति (अभाव) होने पर, सपक्ष के रहते भी उसमें हेतु के नहीं रहने से असाधारण अनैकान्तिकता होगी। और चन्द्रप्रातिपदिकार्थ के अन्यत्र अप्रसिद्धत्व रूप दूसरे पक्ष में, अप्रसिद्ध विशेषणता ही दोष होगा। और अन्वयव्यतिरेकिता होने पर (जो वाक्य जिस प्रश्न का उत्तरार्थक होता है, सो उस प्रश्न के प्रातिपदिकार्थ मात्रार्थ वाला भी होता है) ऐसी व्याप्ति माननी पड़ेगी। और ऐसा मानने पर (तेरे हाथों में कितने वराटक = कौड़ियां हैं) इस प्रश्न के उत्तर रूप (हाथ में पांच कौड़ियां हैं) इसमें व्यभिचार होता है, क्योंकि यहां प्रश्न के उत्तरत्व हेतु है, और प्रातिपदिकार्थपरत्व रूप साध्य नहीं है, संख्यासम्बन्धपरत्व उत्तर वाक्य को है, वराटक रूप प्रातिपदिकार्थमात्र परत्व नहीं है। (विमत = विज्ञानादि वाक्य अखण्डार्थक है, लक्षणवाक्य होने से, पृथु बुध्न उदर आकार वाला कुम्भ, है, इस वाक्य के समान) यह अनुमान भी अखण्डार्थ में प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि लक्षण वाक्यों को भी उक्तरीति से संसृष्टार्थपरक होने से दृष्टान्त में

वाक्यवदित्यनुमानं मानम्; लक्षणवाक्यानामप्युक्तप्रकारेण संसृष्टार्थपरतया दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। तदेवं लक्षणप्रमाणयोरभावान्नाखण्डार्थत्वं शब्दानाम्। विवादाध्यासितं पदार्थसंसर्गप्रतीतिजनकं वाक्यत्वाद् गवानयनादिवाक्यवत्। न च जरद्गवादिवाक्ये व्यभिचारः; तस्य वाक्याभासत्वात्। आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति हि वाक्य-

---

माह पूर्ववादी—विवादाध्यासितमिति। सत्यज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः। प्रतीतिः प्रमितिः। प्रयोगद्वये च संसृष्टापदार्थस्य पदार्थसंसर्गस्य वा पक्षीकरणे बाधस्तदितरस्य त्वप्रसिद्धेराश्रयासिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम्। जरद्गवेति।

'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति भद्रकाणि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन्रुमायां लशुनस्य कोर्थः'॥

इति श्लोकादावित्यर्थः। वाक्याभासतामेव दर्शयति—आकाङ्क्षेति। न तत्र योग्य-

---

साध्यविकलता है। अतः उक्त रीति से अखण्डार्थ में लक्षण और प्रमाण के अभाव से शब्दों की अखण्डार्थता नहीं सिद्ध होती है। क्योंकि लक्षणवाक्य से भी इतरव्यावृत्ति वा व्यवहर्तव्यत्व का ही बोध होता है। और सखण्डार्थता में प्रमाण है कि (विवादास्पद = सत्यज्ञानादिवाक्य, पदार्थ के संसर्ग की प्रतीति के जनक हैं, वाक्य होने से, गवानयनादि वाक्य के समान) यदि कहें कि जरद्गवादि[1] निरर्थक वाक्य में वाक्यत्व हेतु का व्यभिचार है, क्योंकि वहाँ वाक्यत्व रहता है, और साध्य नहीं रहता है, तो कहा जाता है कि व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि (जरद्गवादि निरर्थक पद समूह में वाक्याभासत्व (मिथ्या वाक्यत्व) रहता है, वाक्यत्व नहीं। वाक्यवेत्ता लोग (आकांक्षा सन्निधि योग्यता वाले पदों को ही वाक्य

---

१. जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति भद्रकानि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः॥

यह जरद्गवादि वाक्य है कि, कम्बलपादुका युक्त बुद्धगौ = बैल, द्वार पर स्थिर होकर भद्रक = मङ्गल गाता है और पुत्र की इच्छा वाली ब्राह्मणी उससे पूछती है कि—हे राजन! रुमा = नमक की खान = ऊपर भूमि में लशुन का क्या फल है। बैल में सास्ना नामक गलकम्बल से अन्य की योग्यता नहीं है। या, पशुपति = ईश्वर के ज्ञानादि से रहित अज्ञ जीव जरद्गव (बैल) अविद्यागत आवरण विक्षेप शक्ति रूप कम्बलपादुका से युक्त होकर, मानव देह रूप मुक्ति द्वार पर स्थिर होकर भी विषय की गीत को गाता है, उसको मोक्षकामा ब्रह्मविषया बुद्धिरूप ब्राह्मणी पूछती है कि राजन् स्वप्रकाश रुमा प्रज्ञानेत्र में विषय लशुन का क्या फल है, ऐसा अर्थ भी करते हैं।

विदः। न च खं छिद्रमित्यादौ व्यभिचारः; तस्यापि लक्षणवाक्यत्वेन लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वेनाखण्डार्थत्वाभावात्। न च विपक्षे बाधकतर्काभावः; संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे वाक्यत्वाभावप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्। तदेवं नाखण्डार्थता वेदान्तानामिति।

अत्राभिदध्महे—न तावल्लक्षणासंभवो:; यतः—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता॥ १९॥

अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थता न चेदमसंभवि

तास्तीत्यर्थः। ननु खं छिद्रमित्यत्र वाक्यत्वमस्ति, न च साध्यमस्ति, अनेकपदार्थाभावेन संसर्गाभावादतो व्यभिचार इति तत्राह—**न च खं छिद्रमितीति**।

अत्र समाधातुमुपक्रमते—**अत्रेति**। **संसर्गेति**। गिरामपर्यायशब्दानां या संसर्गाविषयत्वे सति सम्यग्धीहेतुता इयमखण्डार्थतोक्ता। अथवा तेषामेव शब्दानां तत्प्रातिपदिकार्थता तदिति संसर्गराहित्येन लक्षितमेकत्वं परामृशति—एकप्रातिपदिकार्थतेति लक्षणसंग्राहकश्लोकयोजना। अनेन च चतुर्थपञ्चमपक्षौ परिगृहीतौ। श्लोकं विवृणोति—**अपर्यायेति**। हस्तः कर इत्यादौ व्यभिचारवारणायापर्यायग्रहणम्। इन्द्रियव्यावृत्त्यै शब्दग्रहणम्। गामानयेत्यादिव्यवच्छेदार्थं संसर्गगोचरग्रहणम्।

कहते हैं। जरद्गवादि वाक्य में योग्यता के अभाव से वाक्याभासत्व रहता है। यदि कहें कि (खं छिद्रम्) आकाश विवरस्वरूप, अवकाश (स्थानप्रद) है। इत्यादि में वाक्यत्व हेतु का व्यभिचार है, क्योंकि आकाश के एक होने से अनेक पदार्थों के अभाव होने के कारण संसर्गप्रतीति जनकत्व रूप साध्य नहीं है, हेतु है, तो यह कहना युक्त नहीं, उस वाक्य को भी लक्षणस्वरूप वाक्य होने से, लक्ष्य की सजातीय विजातीय से व्यावृत्ति के प्रतिपादनपरत्व के कारण अखण्डार्थत्व का अभाव रहता है। यदि कहें कि इस अनुमान के विपक्ष का बाधक कोई तर्क नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि संसर्ग की प्रतीति के अजनकत्व रूप विपक्ष के वाक्यत्वाभाव का प्रसङ्ग ही बाधक तर्क है। संसर्गप्रतीति के अजनकत्व रहते वाक्यत्व नहीं रह सकता है। अतः उक्त रीति से वेदान्तवाक्यों की अखण्डार्थता नहीं सिद्ध होती है।

यह पूर्व पक्ष हुआ। अत्राभिदध्महे, यहाँ उत्तर कहते हैं कि अखण्डार्थक लक्षण का असम्भव नहीं है। क्योंकि—

गिराओं = वाक्यों को संसर्गाऽविषयक सम्यक् ज्ञान की जो जनकता है, वही अखण्डार्थता नहीं कही गई है। यद्वा यह प्रातिपादिकार्थता रूप है॥ १९॥

अपर्याय शब्दों में संसर्गविषयक प्रमाजनकत्व अखण्डार्थता है, (यह

लक्षणम्; प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येषु तत्सद्भावात्। न च लक्षणवाक्यमपि संसृष्टार्थं लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिवैशिष्ट्यप्रतिपादनपरत्वात्तत्तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वप्रतिपादनाद्वेति युक्तम्; विकल्पासहत्वात्। किं प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं साक्षादन्यतो व्यावृत्तिं प्रतिपादयति? किंवा स्वरूपप्रतिपादनेनार्थात्? नाद्यः; व्यावृत्तिप्रतिपादकशब्दाभावात्। नापि द्वितीयः; नान्तरीयकतया सिध्यतोऽर्थस्य शब्दार्थत्वाभावात्, 'यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः' इति न्यायात्। अन्यथा गामानयेत्यादिवाक्येष्वश्वाद्यानयनव्यावृत्तेरपि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। नन्वयं चन्द्र इति व्यवहर्तव्यः, प्रकृष्टत्वे सति

वाक्याभासव्यावृत्त्यर्थं प्रमितिग्रहणम्। **तत्सद्भावात्**। लक्षणसद्भावादित्यर्थः। तत्रापि संसृष्टार्थत्वं पूर्ववादिनोक्तमनूद्य तं दूषयितुम् विकल्पयति—**किं प्रकृष्टेत्यादिना**। साक्षादित्यभिधानेनेत्यर्थः। **अर्थादिति**। नान्तरीयकतयेत्यर्थः। यश्चार्थाच्छ्रुतार्थनान्तरीयकतया लभ्यते, न च स चोदनार्थो वेदार्थ इति शबरस्वामिवाक्यार्थः। न चाश्वाद्यानयनव्यावृत्तिरपि तद्वाक्यार्थः, वाक्यभेदप्रसङ्गादिति भावः। ननु माभूद्व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वम् व्यवहारसाधनमेव लक्षणप्रयोजनं ब्रूमः- तावताप्यखण्डार्थता खण्डितैवेति शङ्कते—**नन्वयमित्यादिना**। चन्द्ररूपार्थविशेषितव्यव-

---

प्रथम कहा गया है। यह लक्षण असम्भवतादोष युक्त नहीं है। क्योंकि प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्यों में इन अखण्डार्थबोधकत्व का सद्भाव (सत्त्व) है। लक्षण वाक्य को भी संसृष्टार्थत्व (सम्बन्धयुक्तार्थवत्त्व) रहता है, क्योंकि लक्ष्य को सजातीय विजातीय से व्यावृत्ति विशिष्ट रूप से प्रतिपादनपरत्व से तथा तत्तत् शब्दों द्वारा व्यवहर्तव्यत्व के प्रतिपादन से लक्षण वाक्य के संसृष्टार्थत्व को प्रथम कहा गया है। तो कहा जाता है कि वह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि विचारायोग्य है। विचार यह है कि, क्या प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्य, साक्षात् अन्य से लक्ष्य की व्यावृत्ति (भेद) का प्रतिपादन करता है, अथवा लक्ष्यस्वरूप के प्रतिपादन के द्वारा फलितार्थ रूप से (व्याप्यता रूप से) प्रतिपादन करता है। प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त लक्षण वाक्य में व्यावृत्ति वाचक शब्द का अभाव है। दूसरा पक्ष भी अमान्य है, क्योंकि नान्तरीयक (व्याप्य) रूप से सिद्ध होने वाले अर्थ में शब्दार्थत्व (शब्द वाच्यत्व) का अभाव रहता है, यह शबर स्वामी ने कहा है कि, जो अर्थ अर्थ से (श्रुतार्थ के व्याप्य रूप से) लब्ध ज्ञात होता है, वह चोदनार्थ (वेदार्थ) नहीं होता है। इस न्याय से यहाँ भी फलितार्थ लक्षण वाक्यार्थ नहीं होता है, अन्यथा 'गामानय' इत्यादि वाक्यों में भी अश्वादि के आनयन की व्यावृत्ति को भी वाक्यार्थत्व प्राप्त होगा, और उसको भी वाक्यार्थ मानने पर वाक्य भेद की प्राप्ति होगी। यदि शङ्का हो कि (यह चन्द्र, चन्द्र इस

प्रकाशत्वात्, यन्नैवं न तदेवं यथा नक्षत्रादि, न तथा चायम्, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेकितया लक्षणवाक्यं पर्यवस्यति, तथा च कथमखण्डार्थता? चन्द्र इति व्यवहर्तव्यतालक्षणधर्मवैशिष्ट्यप्रतिपादनपरत्वादिति चेत्, मैवम्; 'चन्द्रतया व्यवहर्तव्यः' इति किं चन्द्ररूपार्थविशेषितो व्यवहारः कर्तव्यः? उत चन्द्रशब्दमात्रविशेषितो व्यवहारः? आद्ये चन्द्रविशिष्टं व्यवहारं यदि नाज्ञासीत्तदा लक्षणवाक्यादपि विषयविशेषितकर्तव्यतां तस्य कथमधिगच्छेत्? नह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निसंबन्धमधिगमयितुं शक्यः। अथाधिगतवान् तदा लक्षणवाक्यरूपमनुमानं निष्प्रयोजनम्,

---

हारकर्तव्यतासाधने दोषमाह—**आद्य इति**। यस्य कर्तव्यतामात्रं साध्यते स किं चन्द्रविशेषितो व्यवहारः प्रतिवादितोऽज्ञातः? ज्ञातो वा? यद्यज्ञातस्तदाऽप्रसिद्धविशेषणत्वम्। अविदितदहनं प्रतीव दहनानुमानप्रवृत्ताविस्याह—**तदा लक्षणवाक्यादपीति**। अपिना स्वरूपसाधकत्वं लक्षणस्य सूच्यते। द्वितीयं दूषयति—

शब्द से व्यवहार योग्य है, प्रकृष्ट प्रकाश युक्त होने से, जो ऐसा = प्रकृष्ट प्रकाश युक्त, नहीं है। वह इस प्रकार का = चन्द्र शब्द से व्यवहार योग्य भी नहीं है। जैसे कि नक्षत्रादि है, और यह चन्द्र नक्षत्रादि के समान प्रकृष्ट प्रकाशरहित नहीं है। अतः न तथा (चन्द्र शब्द से अव्यवहर्तव्य भी नहीं है) इस प्रकार से केवलव्यतिरेकी अनुमानरूपता से लक्षण वाक्य सिद्ध होता है, तो लक्षण वाक्य को अखण्डार्थता कैसे हो सकती है, क्योंकि इस अनुमान के अनुसार चन्द्र इस शब्द से व्यवहर्तव्यता स्वरूप धर्मविशिष्टता के प्रतिपादनपरत्व लक्षण वाक्य को सिद्ध होता है। यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि (चन्द्र इति व्यवहर्तव्यः = चन्द्रतया व्यवहर्तव्यः) इस साध्य का क्या अर्थ है? क्या, चन्द्र रूप अर्थ से विशेषित व्यवहार कर्तव्य अर्थ है, या चन्द्रशब्द मात्र विशेषित व्यवहारकर्तव्य अर्थ है। प्रथम पक्ष में यदि श्रोता चन्द्रविशिष्ट व्यवहार को नहीं जानता हो, तो लक्षण वाक्य से भी उस चन्द्रविशिष्ट व्यवहार रूप विषय से विशेषित कर्तव्यता को कैसे समझ सकता है। [अर्थात् जिस व्यवहार की कर्तव्यता को सिद्ध करते हैं, वह चन्द्रविशेषित व्यवहार ज्ञात है, या अज्ञात है। यदि अज्ञात है, तो अप्रसिद्ध विशेषणता होगी। तो जैसे अग्नि को नहीं जानने वाला अनुमान से अग्नि के सम्बन्ध को नहीं जान सकता, वैसे चन्द्र विशेषित व्यवहार को नहीं जानने वाला, व्यवहार के कर्तव्यता के साथ सम्बन्ध को भी अनुमान से नहीं जान सकता है, और यदि वह श्रोता (प्रतिवादी) वा जिज्ञासु चन्द्र विशेषित व्यवहार को जानता है, तो उसके प्रति लक्षण वाक्य रूप अनुमान प्रयोग निष्फल है, क्योंकि ज्ञात का ज्ञापन रूप अनुमान

ज्ञातस्यैव ज्ञापनात्। अथ सामान्यतो जानात्यस्ति कश्चिद्विषयश्चन्द्रव्यवहारस्येति, विशेषतस्तु न जानातीत्युच्यते; तथापि किं सामान्यतो व्यवहारस्य निमित्तवत्तां जानाति? किं वा व्यवहारविशेषस्य? आद्ये प्रकृतानुपयोगः; व्यवहारविशेषस्य विचार्यमाणत्वात्। द्वितीयेऽपि चन्द्रलक्षणार्थविशेषापरिज्ञाने तद्विशिष्टव्यवहार एव विज्ञातुमशक्यः। ज्ञाते

अथेति। चन्द्रव्यवहारस्य कर्तव्यतामात्रमेव तावत्साध्यते, न पुनरग्निसंबन्ध इवान्यत्र सिद्धस्यान्यत्र संबन्धः, केवलव्यतिरेकिताभङ्गात् तच्चैकत्रचित्सिद्धं सिद्धमनुमानसाध्यमित्यर्थः। ज्ञाताज्ञातविकल्पोक्तदोषं परिहरन्नाशङ्कते—**अथ सामान्यत इति**। अयमर्थः—यद्यपि न स्थलान्तरे सिद्धिः केवलव्यतिरेकित्वात्, तथापि नाप्रसिद्धत्वं सामान्यतः सिद्धत्वादिति तदेतद्दूषयति—**तथापीति**। कीदृशमिदं सामान्येन ज्ञानम्? किं वक्ष्यमाणदिशा चन्द्रशब्दविशेषितत्वासिद्धेश्चन्द्रलक्षणार्थाज्ञानाच्चाश्वकर्णादिव्यवहारमात्रस्य नाम चन्द्रव्यवहार इति ततो व्यवहारमात्रं निमित्तवदिति? किंवा चन्द्रव्यवहारो निमित्तमात्रवानिति? आद्ये गवादिव्यवहारमात्रस्य निमित्तवत्त्वज्ञानं न चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतानुमानस्याप्रसिद्धविशेषणतां निवारयति, न ह्यग्निमत्त्वप्रसिद्धिरनित्यत्वानुमाने तां वारयितुमलमित्यभिप्रेत्याह—**आद्ये प्रकृतानुपयोग इति**। द्वितीये चन्द्रविशेषितव्यवहारः किं चन्द्रलक्षणार्थविशेषितो व्यवहारः? उत चन्द्रशब्दविशेषितः? द्वितीयस्तु प्राथमिकद्वितीयविकल्पसमानजीवनः। प्रथमेऽपि किं चन्द्रोऽविदितः? विदितो वा? आद्ये प्राह—**द्वितीयेऽपि चन्द्रेति**। द्वितीये प्राह—**ज्ञाते चेति**। चन्द्रशब्दविशेषितो व्यवहारः साध्यत इति

है। यदि कहा जाय कि श्रोता सामान्य रूप से जानता हो कि चन्द्र व्यवहार का कोई विषयविशेष है, परन्तु विशेष रूप नहीं जानता हो, तो उसके लिये अनुमान का प्रयोग सार्थक होता है, तो भी विचार कर्तव्य है कि सामान्य रूप से व्यवहार की निमित्तवत्ता (कर्तव्यता) को जानता है। या व्यवहारविशेष की निमित्तवत्ता को जानता है। अर्थात् लक्षण रूप निमित्त वाली व्यवहार मात्र की कर्तव्यता को समझता है, या व्यवहारविशेष की कर्तव्यता को लक्षणनिमित्त वाली समझता है। प्रथम पक्ष में कहा जाता है कि सामान्य ज्ञान का प्रकृत में उपयोग नहीं है, व्यवहार मात्र निमित्त वाला है, इसका विचार यहाँ नहीं किया जा रहा है, किन्तु विशेष चन्द्रविशेषित व्यवहार विचार्यमाण है, दूसरे व्यवहार विशेष की सनिमित्तता (लक्षणहेतुकता) पक्ष में भी चन्द्रस्वरूप अर्थविशेष के अज्ञान रहते, तद्विशिष्ट व्यवहार को जानना अशक्य है। और जान लेने पर लक्षण वाक्य में व्यर्थता कही गई है। चन्द्रशब्द विशेषित व्यवहार की सिद्धि के लिये लक्षण रूप अनुमान है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि लक्षण के

च लक्षणवाक्यवैयर्थ्यमित्युक्तम् । नापि द्वितीयः; लक्षणं विनापि गवादिशब्दानामिव वृद्धव्यवहारादेव वाच्यवाचकसंबन्धग्रहोपपत्तेः । पूर्वं प्रतिपन्न एव वाच्यवाचकभावो लक्षणवाक्येन स्मार्यत इति चेत्, न; अवगतसंवन्धस्य तत्र तच्छब्दादेव संम्बन्धस्मरणोपपत्तौ लक्षणाभिधानवैयर्थ्यात् । अवगतसंवन्धस्यापि शब्दस्य लक्षणवाक्यादेव संबन्धस्मरणनियमे, लक्षणवाक्यस्थपदानामपि प्रत्येकं लक्षणवाक्यैः संवन्धस्मरणप्रसङ्गादनवस्थादुरवस्था स्यात् । तस्माद् गवानयनादिवाक्यपदाप्तोपदेशतयैव लक्षणवाक्यमवबोधकम् । तच्च सर्वं स्वरूपमात्रे पर्यवस्यति, अर्थात्पुनरन्यतो व्यावृत्तिः फलतीति युक्तम् ।

द्वितीयंपक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । अत्र चन्द्रशब्दः प्रयोक्तव्य इति वाच्यवाचकसङ्गतिग्रहो हि यदा लक्षणप्रयाजनं तदा लक्षणं व्यर्थमन्तरेणापि लक्षणं गवादिपदानामिव सङ्गतिग्रहसंभवादित्यर्थः । प्रथमतोऽवगतस्यापि शब्दसंबन्धस्य लक्षणवाक्यात्स्मरणसाधनमप्यनर्थकम्, गवादिपदानामिवान्तरेणापि लक्षणं स्मरणसंभवादित्युक्तम्; इदानीं न केवलमानर्थक्यमपि त्वनवस्थालक्षणानर्थोऽपि स्यादित्याह—**अवगतसंवन्धस्यापीति** । तत्तद्वाक्यस्थपदानामपि तैस्तैरर्थैः संबन्धो लक्षणैरेव स्मारयितव्यः, एवं तत्तत्स्मारकवाक्यपदानामपीति न कश्चिदपि स्यादित्यर्थः । तत्किं लक्षणमेव तेषु ग्रन्थेषु न प्रयोक्तव्यम्? तथा च सत्यं ज्ञानमनन्तमिति ब्रह्मलक्षणेन तत्प्रयुक्तजन्माद्यधिकरणेनापीत्य आह—**तस्मादिति** । न लक्षणमनुमानतयोपयुज्यते, अपि तु शब्दप्रमाणतयेत्यदः । ननु भवतु लक्षणं शब्दतयोपयोगि किमायातमखण्डार्थतायामिति तत्राह—**तच्च सर्वमिति** । उक्तमेतत्पुरस्तादेव स्वरूपमात्रं शब्देन बोध्यते इतरव्यावृत्तिस्त्वार्थिकी न चार्थिकः शब्दार्थ इति ।

विना भी गो आदि शब्दों के समान वृद्धव्यवहार से ही वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का ग्रहण होता है, वहां लक्षण प्रणयन व्यर्थ है । यदि कहा जाय कि प्रथम ज्ञात ही वाच्य-वाचक भाव को लक्षण वाक्य द्वारा स्मरण कराया जाता है । तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि उस ज्ञात पक्ष में सम्बन्ध को जानने वाले को वाचक शब्द से ही सम्बन्ध के स्मरण की सिद्धि हो सकती है, फिर स्मरण के लिये लक्षण का कथन व्यर्थ है । यदि ज्ञात सम्बन्ध वाले शब्द के लक्षण वाक्य से ही सम्बन्ध के स्मरण का नियम माना जाय, तो लक्षण वाक्यस्थ प्रत्येक पदों के लक्षण वाक्य द्वारा सम्बन्ध की प्राप्ति से, तत्तत् लक्षणस्थ पदार्थों के सम्बन्धों के अन्य लक्षण वाक्य द्वारा स्मृति की प्राप्ति से अनवस्था प्राप्त होगी । अतः लक्षण अनुमान रूप से बोधक नहीं होता है, किन्तु गवानयनादि वाक्य के समान आप्तोपदेश रूप से ही बोधक होता है । और वह सब लक्षण वाक्य लक्ष्य के स्वरूप मात्र में बोधक रूप से स्थिर होता है, अन्य से व्यावृत्ति तो अर्थात् (व्याप्य) रूप से फलित (सिद्ध) होता है, शब्दार्थ रूप से नहीं ।

नन्वेवमपि नैतल्लक्षणम्; अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः, नित्यः संबन्धः समवाय इत्येवमादिसंबन्धप्रतिपादकलक्षणवाक्येष्वव्याप्तेः। तेषां संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वादिति चेत्, मैवम्; तेषामपि स्वस्वपदस्मारितपदार्थानामन्योन्यसंसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वात्। संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वशब्देन चास्यैवार्थस्य विवक्षितत्वात्। नाप्यतिव्याप्तिः; संसर्गप्रमितिजनकेषु गवानयनादिवाक्येषु लक्षणाभावात्।

यद्वा अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपादिकार्थमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता।

यद्यपीद संभवति, तथाप्यव्यापकमिदं लक्षणम्, संयोगसमवायात्मकसंबन्धस्य यल्लक्षणवाक्यं तस्य लक्ष्यसंसर्गविषयत्वेन संसर्गागोचरत्वलक्षणांशाभावादिति शङ्कते—**नन्वेवमपीति**। संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति कोऽर्थः? यद्बोधयति तदीयसंसर्गागोचरत्वे तत्प्रमितिजनकत्वमिति, अस्ति चैतदत्रापि, नहि संयोगस्य समवायस्य वा तत्तद्विशेषणसंसर्गबोधपरमिदं वाक्यं तस्याबुभुत्सितत्वादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**मैवं तेषामपीति**। न च विषं भुङ्क्ष्वेत्यादिसर्वलक्षणावाक्येष्वतिव्याप्तिः, प्रतिपिपादयिषितससर्गगोचरत्वात् तदभावस्येह विवक्षितत्वात्।

यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थतेति श्लोकावयवं विवृणोति—**यद्वा अपर्यायेत्यादिना।**

फिर भी शङ्का होती है कि ऐसा होने पर भी यह अखण्डार्थ का लक्षण नहीं बन सकता है। क्योंकि लक्षण वाक्य को अखण्डार्थक माना गया है, और अपर्याय शब्दों में संसर्गाऽविषयक प्रमाजनकता अखण्डार्थता है, वह संयोग-समवाय के लक्षण में अव्यापक है, क्योंकि (अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः नित्यसम्बन्धः समवायः) अप्राप्त दो द्रव्य की प्राप्ति को संयोग कहा जाता है और नित्य सम्बन्ध को समवाय कहा जाता है, इस प्रकार के लक्षण संसर्ग विषयक ही प्रमिति के जनक होते हैं, अतः यहाँ उक्त लक्षण की अव्याप्ति है, क्योंकि सम्बन्ध प्रतिपादकत्व है, अतः संसर्गागोचर प्रमितिजनकत्व नहीं है, यह शङ्का भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उन लक्षणों को भी तत्तत् लक्षण पदों से स्मारित पदार्थों के संसर्गागोचर प्रमिति जनकत्व है, अर्थात् उन लक्षणों से स्मारित संयोग और समवाय के संसर्गागोचर ही प्रमिति के जनकत्व उन लक्षणों को है संयोग-समवाय का स्वरूप संसर्ग रूप है, इससे अव्याप्ति नहीं हो सकती है, संसर्गागोचर प्रमिति जनकत्व शब्द से इसी उक्त अर्थ को विवक्षितत्व है, संयोग वा समवाय के तत्तद् विशेषण के बोधन परक वे वाक्य नहीं हैं, क्योंकि वे बुभुत्सित नहीं हैं, स्वरूप मात्र बुभुत्सित है, इस लक्षण की कहीं अतिव्याप्ति भी नहीं है। क्योंकि संसर्गप्रमिति जनक गवानयनादि वाक्यों में लक्षण का अभाव है।

अथवा, 'यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता' इस श्लोकांश के अनुसार अपर्याय शब्दों

न चैवं पदान्तरवैयर्थ्यम्; व्यावर्त्यभेदादर्थवत्त्वोपपत्तेः। तथाहि—लोके प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टपदेनाप्रकृष्टखद्योतादेः प्रकाशपदेनाप्रकाशात्मप्रकृष्टसंतमसादेश्च व्यवच्छेदेन बुभुत्सितश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थः प्रतिपाद्यते, अन्यथा वक्तुरबुभुत्सितमर्थं प्रतिपादयतोऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गात्। न च व्यावृत्तिपरत्वे व्यावृत्तिमत्परत्वे वा संसृष्टार्थत्वम्, स्वरूपमात्रपरत्वे च पदान्तरवैयर्थ्यमिति वाच्यम्; व्यावृत्तिद्वारा पदानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वाङ्गीकारात्, व्यावर्त्यभेदेनावैयर्थ्याच्च। तथा वेदेऽपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं

यद्यप्येकपदलक्ष्यमेव पदान्तरपर्यवसानभूमिस्तथापि नैकपदव्यावर्त्यमेव पदान्तरव्यावर्त्यं जाड्यानृतादीनां विभिन्नत्वात् ततो न संसृष्टार्थतावैयर्थ्ये इत्युक्तम्। एतदेव लौकिकोदाहरणेन दर्शयति—**तथा हीत्यादिना**। संतमसं विष्वक्तमः। अत्र च व्यवच्छेदेनेति व्यवच्छेदानां द्वारतोक्ता। **प्रतिपाद्यत इति**। तात्पर्यविषयत्वं तेन न शून्यनिष्ठतापत्तिः। ननु किमिति स्वरूपमात्रपरताश्रयणं न पुनर्यथाश्रुतप्रकर्षादिसंसर्गपरत्वमिति तत्राह—**अन्यथेति**। यदि हि स्वरूपमात्रे पृष्टे गुणादिसंसर्गं प्रतिपादयेत्तर्ह्यश्रद्धेयवचनः स्यादित्यर्थः। यत्तु पूर्वपक्षिणा त्रेधा विकल्प्य दूषणद्वयमुक्तं तन्निराकरोति—**न च व्यावृत्तीति**। ननूक्तं स्वरूपमात्रपरत्वे पदान्तरवैयर्थ्यमिति तत्राह—**व्यावर्त्यभेदेनेति**। तदेवं लौकिकेषूदाहृत्य विवक्षितसत्यादिवाक्येषु लक्षणं वर्तयति—**तथा वेदेऽपीति**। ननु स्ववाच्यप्रक्षेपेण वा पदानां विरोधिव्यावर्तनम्?

की एक प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायिता = एकप्रातिपदिकार्थ मात्र बोधकता अखण्डार्थता है। इस प्रकार के लक्षण होने पर, पूर्वोक्त पदान्तर की व्यर्थता दोष भी नहीं है। क्योंकि व्यावर्त्य के भेद से तत्तद् व्यावृत्ति द्वारा सब पदों की अर्थवत्ता (सार्थकता) की सिद्धि होती है। जैसे कि लोक में (प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः) इस लक्षण गत प्रकृष्ट पद से, अप्रकृष्ट प्रकाश वाले खद्योतादि की व्यावृत्ति होती है, प्रकाश पद से अप्रकाशात्मक प्रकृष्ट अन्धकार की व्यावृत्ति होती है, और उन दोनों के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) द्वारा बुभुत्सित चन्द्र प्रातिपदिकार्थमात्र लक्षण से प्रतिपादित (बोधित) होता है। अन्यथा यदि संसर्गादि परत्व हो तो अबुभुत्सित (बोद्धुमनिच्छित) अर्थ को प्रतिपादन करने वाले वक्ता में अनवधेय (अश्राव्य) वचनता की प्राप्ति होगी। व्यावृत्ति परत्व या व्यावृत्तिमत् पदार्थ परत्व होने पर लक्षण को संसृष्टार्थत्व होगा, और स्वरूप मात्र परत्व होने पर पदान्तर में व्यर्थता होगी, यह पूर्वोक्त दोष वक्तव्य नहीं है। क्योंकि व्यावृत्ति द्वारा पदों की स्वरूपमात्र में पर्यवसायिता (निश्चलता) के अङ्गीकार से तथा व्यावर्त्य भेद से पदों की अव्यर्थता से उक्त दोष की प्राप्ति नहीं होती है। तथा इस लौकिक लक्षण के समान ही वेद में भी, सत्य, पाप, आनन्द, अनन्त, आत्म शब्द भी अनृत, जड़, दुःख,

ब्रह्म' इत्यादौ सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मशब्दा अनृनजडदुःखान्तवत्त्वानात्मत्व-भ्रान्तिनिवृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति। न चैवमनेकाकारविज्ञान-जनकत्वात्पदानां लक्ष्यस्य ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वप्रसङ्गः; लक्षणासमये भिन्ना-कारविज्ञानजनकामपि पदानां तत्तद्भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रप्रयोजनकतया लक्ष्ये ब्रह्ममात्रे तात्पर्येण पर्यवसानात्। एवं च तत्तच्छब्दजन्यविज्ञानानां तत्त-द्भिन्नाकारसमर्पिणां नान्तरीयकतया तत्तद्विरोध्याकारनिवर्तकत्वाद्वाक्य-स्याखण्डार्थत्वसिद्धिः।

उक्तं चैतत्सुरेश्वराचार्यैः—

अप्रक्षेपेण वा ? न तावद् द्वितीयः। विरोध्यदर्शनेनानृतादिव्यावृत्तेरशक्यज्ञानत्वात्। प्रथमे तु विभिन्नैर्ज्ञानत्वादिभिराकारैर्ब्रह्मणोऽप्यनेकाकारत्वमिति तत्राह—**न चैव-मनेकाकारेति**। लक्षणासमय इति सामीप्यात् लक्षणाप्राक्समयो विवक्ष्यते। न हि तत्ताकाराः प्रतिपिपादयिषिता इति प्रतिपाद्यन्ते किन्तु कथं नु नामानृताद्यारोप-रहितब्रह्मप्रतिपत्तिरिति ? तथावदनृतादिव्यावृत्तिस्तावदेव सत्यत्वाद्याकाराणां स्थितिः, निवृत्तेषु तु तेषु एते एवाकारा अनृता जायन्ते; कः खलु विशेषोऽनृतादि-भिराकाराणामद्वैतविरोधे ? तस्मादेकानन्दव्यक्तिपरमेव सत्यादिवाक्यं न सत्यत्वादि-परं नाप्यनृतादिव्यावृत्तिपरमित्यर्थः। विधिमुखेषु वाक्येषु उक्तन्यायं निषेधमुखेन प्रतिपादकेऽव्यतिदिशति—**एवं च तत्तच्छब्दजन्येति**। तदेतद्विरोधनिवृत्त्यर्थमेव तत्तदाकारविधानं किञ्चिदुक्तम्, तत्तदाकारविरोधिनिवृत्तेश्चाशब्दत्वमुक्तम्, तदाचार्य-वचनेन द्रढयति—**उक्तं चैतदिति**। तैत्तिरीयके वार्तिके सत्यं ज्ञानेमनन्तमिति

अन्तवत्त्व, अनात्मत्व की भ्रान्ति की निवृत्ति द्वारा लक्ष्य ब्रह्म को भी अनेकाऽऽकारत्व का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि लक्षण के आरम्भ के समय में भिन्न-भिन्न अनेकाकार विज्ञानों के जनक पदों को भी तत्तत् असत्त्वादि की भ्रान्ति की निवृत्ति मात्र की प्रयोजकता (हेतुता) होने से लक्ष्य स्वरूप ब्रह्म मात्र में तत्परता (मुख्य रूप) से पर्यवसान (स्थित) होता है। अर्थात् भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये प्रथम शब्दों से अनेकाऽऽकार प्रतिपादित होते हैं। भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर अनेकाकार भी नहीं रहते हैं, सब एक आनन्द स्वरूप में पर्यवसन्न (लीन) होते हैं। इस उक्त रीति से तत्तद् भिन्नाकार के समर्पक (प्रकाशक) तत्तत् सत्यादि शब्दजन्य विज्ञानों को नान्तरीयक (व्याप्य) रूप से तत्तत् असत्त्वादि विरोधी आकारों के निवर्तक होने के कारण वेदान्त वाक्य को अखण्डार्थकत्व की सिद्धि होती है।

इस उक्त अर्थ को इसी प्रकार से आचार्य श्रीसुरेश्वराचार्य ने तैत्तिरीय वार्तिक में कहा है—

"प्रतिपद्य पदार्थं हि विरोधात्तद्विरोधिनः ।
पश्चादभावं जानाति वध्यघातकवत्पदात् ॥ १ ॥
शब्दात्प्रतीयते तावत्सङ्गतिर्धर्मधर्मिणोः ।
मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः ॥ २ ॥
तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् ।
स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम् ॥ ३ ॥

वाक्यव्याख्यानसमये इति शेषः । पदात्सत्यादेः पदार्थं सत्यत्वादि ब्रह्मणि प्रतिपद्य ज्ञात्वा तेन विरोधाद्धेतोर्विरोधिनोऽनृतादेरभावं जानाति । तत्र निदर्शनम्—**वध्यघातकवदिति** । यथा खल्वाखुभूषितां भूमिं दृष्ट्वाऽर्थान्मार्जाराभावोऽवगम्यते एवमिति । तत्किमुभयमपि शाब्दम् ? आहोस्विदन्यतरद् ? इति तत्राह—**शब्दादिति** । प्रथमं धर्मधर्मिणो सत्यत्वादेः ब्रह्मणश्च संगतिः शब्दात्प्रतीयते तावताचास्यास्तात्पर्याविषयत्वं द्योत्यते, अपोहस्तु विरोधिव्यावृत्तिर्मानान्तरादनुपपत्तिलक्षणात् ज्ञायते तेन स अपोहस्तु न शाब्दः । तत्र किं त्रयाणामविशिष्टोयं न्याय इति ? नेति ? वैषम्यमाह—**तत्रानन्त इति** । तत्र तेषु मध्येऽनन्तः अनन्तशब्दार्थः अन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणं व्यावर्तकं साक्षादेव ब्रह्मणो व्यावर्तकमित्यर्थः । परिशिष्टौ तु सत्यज्ञानशब्दौ स्वार्थसमर्पणप्रणाड्या व्यवधानेन विशेषणम् । न हि यथाऽनन्तमित्युक्तेऽन्ताभावः साक्षात्प्रतीयते तथा सत्यं ज्ञानमित्यत्रानृताद्यभावः, अपि तु स्वार्थ-

---

सत्यादि पदों से ब्रह्म में सत्यत्वादि पदार्थ को जान कर, फिर उन सत्यत्वादि के साथ विरोध से उनके विरोधी असत्यत्वादि के अभाव को इस प्रकार से जिज्ञासु जानता है कि जैसे वध्य (मूसकादि) युक्त स्थान को देखकर वहाँ उनके घातक बिल्ली आदि के अभाव को समझता है ॥ १ ॥

इत्यादि शब्दों से प्रथम सत्यत्वादि धर्म और ब्रह्मरूप धर्मी की सङ्गति का ग्रहण होता है। फिर अर्थापत्ति रूप प्रमाणान्तर से असत्यत्वादि का अपोह (निवारण) होता है, अतः वह अपोह शाब्द (शब्दजन्य ज्ञान का विषय) नहीं कहा जाता है ॥ २ ॥

वहाँ, सत्यं ज्ञानम्, अनन्तम्, इन पदों में अनन्त शब्द का अर्थ, अन्तवाली वस्तु की व्यावृत्ति द्वारा साक्षात् ही ब्रह्म का विशेषण होता हैं, और परिशिष्ट सत्य और ज्ञान शब्द स्वार्थ के अर्पण द्वारा ब्रह्म का विशेषण होता है। अर्थात् अनन्त शब्द से साक्षात् अन्तरहित ब्रह्म का ज्ञान होता है। और सत्य तथा ज्ञान पद से अनृतत्व जड़त्व रहित ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं होता है, किन्तु सत्यत्वादि के विधान द्वारा होता है ॥ ३ ॥

तद्विरोध्यर्थसंत्यागः सामर्थ्यात्स्यान्न शब्दतः।" इति।

न च गुणगुण्यादिभावप्रतिपादनेऽपि तत्तद्विरोध्याकारनिवृत्त्युपपत्तेः कथमखण्डैकरसत्वसिद्धिरिति वाच्यम्; ब्रह्मशब्दार्थमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात्। सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुप्रतिपादनपरब्रह्मानन्तशब्दाभ्यां विरोधाच्च, एकधैवानुद्रष्टव्यमेकमेवाद्वितीयमित्याद्येकरसत्वप्रतिपादकवाक्यविरोधाच्च, नेह नानास्ति किंचनेत्यनेकरसत्वप्रतिषेधाच्च।

विधानव्यवधानेनेत्यर्थः। तर्हि तयोर्विरोधिव्यवच्छेदः किंनिबन्धनः? इति तत्राह—**तद्विरोधीति**। एतच्च **मानान्तरादपोहस्तु** इत्यस्यैव प्रपञ्चः।

ननु विरोध्याकारनिवृत्तिरखण्डार्थतामन्तरेण संसर्गपरत्वेऽपि सेत्स्यति किमर्थमखण्डार्थताऽऽग्रहः? इति तत्राह—**न चेति**। लौकिकवाक्येषु संसर्गपरतायामुक्तं बोधकं प्रकृतेऽप्याह—**ब्रह्मशब्देति**। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतस्य ब्रह्ममात्रस्य बुभुत्सितत्वादित्यर्थः। न केवलमबुभुत्सितार्थपरत्वं बुभुत्सितार्थपरानन्तादिपदविरोधश्चेत्याह—**सर्वत इति**। साक्षादेवैकार्थप्रतिपादकानन्ताकारनिवारकश्रुत्यन्तरविरोधश्चेत्याह—**एकधैवेत्यादिना**।

अतः उस सत्यत्वादि अर्थ के विरोधी अनृतत्वादि अर्थ का त्याग (अपोह) अर्थतः (अर्थापत्ति) से होता है। शब्द से नहीं।

कहा जाय कि सत्यत्वधर्म और धर्मीभाव, तथा ज्ञानगुण और गुणीभावादि के सत्यादि पदों से प्रतिपादन करने पर ही, तत्तत् अनृतत्वादि विरोधी आकारों की निवृत्ति की सिद्धि होते अखण्डैकपरमत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है, अर्थात् अखण्डार्थता के बिना भी विरोधी की निवृत्ति हो सकती है, फिर अखण्डार्थता के स्वीकार का क्या फल है, तो कहा जाता है कि (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) ब्रह्मज्ञ परमपद पाता है। इस उपक्रम (आरम्भ) में ब्रह्म के श्रवण होने से ब्रह्म मात्र की जिज्ञासा होती है, अतः ब्रह्ममात्र को बुभुत्सितत्व (बोधेच्छाविषयत्व) रहता है, गुणधर्मादि को नहीं। और सब प्रकार से अनवच्छिन्न (भेद रहित) वस्तु के प्रतिपादन परक ब्रह्म अनन्त पद के साथ विरोध से, तथा (एकधैवानुद्रष्टव्यम्, एकमेवाद्वितीयम्) इत्यादि एकरसत्व के प्रतिपाद वाक्यों के साथ विरोध से, और (नेह नानास्ति किञ्चन) इस अनेक रसत्व के प्रतिषेध से, उक्त गुणगुणी आदि भाव का प्रतिपादन नहीं हो सकता है, और अखण्डता के स्वीकार से विरोध नहीं होता है।

न चाप्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मणो लक्ष्यत्वासंभवः; प्रत्यगात्मतया स्वतः सामान्येन प्रसिद्धत्वात्। न च तथात्वे लक्षणवैयर्थ्यम्; लक्षणस्य विशेषाकारसमर्पणार्थत्वात्। अन्यथा 'गन्धवती पृथिवी' 'नित्यज्ञानाधार ईश्वरः' इत्यादिलक्षणानामपि लक्ष्यस्याप्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वयोर्वैयर्थ्यापातात्। एतेन 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि तत्कालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यत इत्येतन्निरस्तम्;। देवदत्तस्वरूपमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात्। एतत्कालवैशिष्ट्यस्य दृष्टत्वेनाबुभुत्सितत्वात्। न च पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यप्रति-

---

६३ ननु प्रसिद्धमेव लक्ष्यं नत्वप्रसिद्धं गगनारविन्दादेर्लक्ष्यत्वादर्शनात्, अप्रसिद्धं च ब्रह्म सर्वप्रमाणागम्यत्वादिति तत्राह—**न चेति**। अथवा लक्षणलक्ष्यत्वमत्राक्षिप्य समर्थ्यते। स्वप्रकाशस्य प्रत्यागात्मतया प्रसिद्धिरस्तीति संभवत्येव लक्ष्यत्वमित्यर्थः। न केवलमस्माकमेवेयं रीतिः, अपितु सर्वेषामेव लक्षणवादिनामित्याह—**अन्यथेति**। घटादिषु सामान्येन प्रसिद्धस्य पृथिवीव्यवहारस्येतरेभ्यो भेदस्य च परमाण्वादिभूगोलकान्तसमुदायेऽप्रसिद्धस्य लक्षणेन साधनमिति पराङ्गीकारादित्यर्थः। यत्तु 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्राखण्डार्थताऽभावाय पूर्वपक्षिणोक्तम् तत्राप्युक्तन्यायमितिविशति—**एतेनेति**। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**देवदत्तस्वरूपेति**। नन्वितरदपि बुभुत्सितं किं न स्यात्? नहि देवदत्तमात्रमत्र केनचित्पृष्टं येन लक्षणवाक्यवत्तन्मात्रमेव बुभुत्सितं स्यादिति तत्राह—**एतदिति**। न केवलमबुभुत्सितत्वादप्रतिपाद्यत्वं बुभुत्सितैक्यविरोधाच्चेत्याह—**न चेति**। तत्किमेतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितेनैक्यं बोधयति? किं वा पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेन? नाद्य इत्याह—

यदि कहें कि अखण्ड एकरस ब्रह्म के अप्रसिद्ध होने से वह लक्ष्य नहीं हो सकता है, तो कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रत्यगात्म (अन्तरात्म) स्वरूप होने से स्वतः (ब्रह्म ही) अहंभादि वृत्ति द्वारा सामान्य रूप से प्रसिद्ध (ज्ञात) होता है। यदि कहा जाय कि (तथात्वे) प्रसिद्ध होने पर लक्षण में व्यर्थता है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि लक्षण को सत्यानन्दादि विशेषाकार के समर्पणार्थकत्व है, अतः सार्थकता है। सभी लक्षणवादी को लक्ष्य की सामान्य रूप से प्रसिद्धि और विशेष रूप से अप्रसिद्धि मन्तव्य है, अन्यथा, (गन्धवती भूमिः, नित्यज्ञानाधार ईश्वरः) इत्यादि लक्षणों को भी लक्ष्य की प्रसिद्धित्व अवस्था में व्यर्थता की प्राप्ति होगी। इस उक्त अखण्डार्थता के प्रतिपादन से (सोऽयं देवदत्तः) यहाँ भी तत्कालोपलक्षित की एतत्काल विशिष्टता का प्रतिपादन किया जाता है; यह कथन निरस्त हो गया, क्यों कि वहाँ देवदत्त के स्वरूप को ही बुभुत्सितत्व है, और एतत्कालवैशिष्ट्य (वृत्तित्व) के दृष्टत्व (प्रत्यक्षत्व) से वह अबुभुत्सित है, और पूर्वकालोपलक्षित में एतत्कालविशिष्टता के प्रतिपादन करने से भी भेदभ्रान्ति का निवारण सिद्ध

पादनेऽपि भेदभ्रमनिरासः सिध्यतीति वाच्यम्; एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्धासंभवेन तदुपलक्षितत्वस्यासंभवात्, तयोरभेदप्रतिपादनशक्यत्वात्।

ननु तथापि पूर्वकालोपक्षितस्यैतत्कालवैशिष्टचसंभवात्संभवत्येव तयोरभेदप्रतिपादनमितिचेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। किं पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेनाभेदः प्रतिपाद्यत इत्युच्यते? किं वा पूर्वकालोपलक्षिते वर्तमानकालवैशिष्टचलक्षणधर्मप्रतिपादनेनार्थादभेदः सिद्धचतीति? नाद्यः; विशिष्टाविशिष्टस्वरूपयोरभेदासंभवात्। तथा सति वर्तमानकालविशिष्टस्य पूर्वमपि सद्भावप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः; साक्षादेवाभेदप्रतिपादने

एतत्कालेति। संबद्धं खलूपलक्ष्यं नासंबद्धम्। न चैतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्धः संभवति, एतत्काले पूर्वकालाभावादतो न तयोरैक्यमित्यर्थः।

द्वितीयं शङ्कते—**नन्विति**। किमुपलक्षितस्य विशिष्टेनाभेदः शब्दगम्यः? किं वोपलक्षिते वैशिष्टचमात्रं शब्दार्थः? अभेदस्त्वानुपपत्तिक इति विकल्प्य दूषयति—**मैवमित्यादिना**। एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितस्वरूपस्य चैक्यासंभवेन प्रथमं पक्षं दूषयति–**नाद्य इति**। किमित्यसंभवस्तत्राह—**तथा सतीति**। द्वितीये तु शब्दाद्विशिष्टमर्थाच्च स्वरूपमात्रैक्यमिति कल्पनागौरवाद्वरं शब्दादेवोभयोपलक्षितस्यैक्यप्रतिपादनमित्याह—**साक्षादेवेति**। ननु साक्षाच्छब्दादभेदप्रतिपत्तावुभयोरपि

होता है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि एतत्काल से विशिष्ट को पूर्वकाल के साथ सम्बन्ध के अभाव से पूर्वकाल सम्बन्ध से उपलक्षितत्व का असम्भव है। क्योंकि सम्बन्ध वाला ही उपलक्ष्य होता है, और एतत्कालविशिष्ट को पूर्वकाल के साथ सम्बन्ध का सम्भव नहीं है। अतएव पूर्वकालोपलक्षित और एतत्कालविशिष्ट इन दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं हो सकता है।

फिर भी यदि शंका हो कि यद्यपि एतत्कालविशिष्ट को पूर्वकालीन लक्षित के साथ एकता नहीं हो सकती है, तथापि पूर्वकाल से उपक्षित को एतत्कालविशिष्ट के सम्भव होने से उन दोनों के अभेद का प्रतिपादन हो ही सकता है, तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि विचार से यह भी सिद्ध नहीं हो सकता हैं। विचार यह है, कि, पूर्वकालोपलक्षित का एतत्कालविशिष्ट के साथ अभेद का प्रतिपादन सोऽयं देवदत्तः इससे किया जाता है, यह आप कहते हैं। या पूर्वकाल से उपलक्षित में वर्तमान काल से विशिष्टता रूप धर्म के प्रतिपादन से अर्थात् अभेद सिद्ध होता है, यह आप कहते हैं। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि एतत्कालविशिष्ट और अविशिष्ट (पूर्वकालोपलक्षित) के स्वरूप के अभेद का होना असम्भव है, क्योंकि

संभवति परम्परया तत्प्रतिपादनाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । उभयपदलक्षणाश्रयणे कल्पनागौरवात्तथाश्रीयत इति चेत्, मैवम्; अत्रापि परम्पराया अभेद-प्रतिपादनात्साक्षादभेदप्रतिपादने बुद्धिलाघवस्य दर्शितत्वात् । तथापि विनि-गमनायां को हेतुरिति चेत्; बुभुत्सितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादनलाभ एवेति ब्रूमः । उक्तं च प्रतिज्ञावचनस्य साधनाङ्गत्वमाचक्षाणेनाचार्यवाचस्पतिना— "अनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किंचिदुच्यते

लक्षणा प्रसज्येत, ततो वरमेकलक्षणया पारस्पर्याश्रयणमिति शङ्कते—**उभयेति** । पारंपर्यकल्पनातो लक्षणाश्रयणं न्याय्यं व्यापारवत्प्रमाणगौरवात्, व्यापारगौरवस्य लघीयस्त्वात् । यदुद्दिश्य च वाक्यं प्रवर्तते तस्य बुभुत्सितस्याभेदस्य साक्षात्प्रतिपादनं भवति उद्दिष्टस्य पारंपर्येणेति क्लिष्टकल्पना स्यात्, तदेतद्धृदि निधाय परिहरति—**मैवमत्रापीति** । अनधिगतपराभिसन्धिः शङ्कते— **तथापीति** । विनिगमना निर्णयः । अभिसन्धिमुद्घाटयन्परिहरति—**बुभुत्सितेति** । बुभुत्सितस्यार्थिकप्रतिपत्तेः साक्षा-त्प्रतिपत्तिरभ्यर्हितेत्यत्राचार्यवाचस्पतिवचनमपि प्रमाणयति—**उक्तं चेति** । हेतूदाह-रणावयवद्वयवादिनं सौगतं प्रति प्रतिज्ञानानन्तर्यं हेतोर्ब्रुवतेत्यर्थः । अत्र च यत्कृतकं तदनित्यमित्युदाहरणनिर्देशः । कृतकश्च शब्द इति हेतुनिर्देशः । एतदुक्तं भवति— यद्यप्युदाहरणहेतुनिर्देशादप्यर्थाच्छब्दस्यानित्यत्वं पर्यवस्यति, तथापि साक्षादनिर्देशा-

---

(तथा सति) यदि एतत्कालविशिष्ट व्यक्ति पूर्वकालोपलक्षित से अभिन्न हो तो एतत्कालविशिष्ट का पूर्वकाल में भी सद्भाव (सत्त्व) प्राप्त होगा । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि भाग त्याग लक्षणा से साक्षात् ही अभेदप्रतिपादन के सम्भव रहते, उक्त धर्म के प्रतिपादन द्वारा परम्परा से अर्थतः उस प्रतिपादन के आश्रयण को अयुक्तत्व है । यदि कहें कि दोनों पद (ब्राह्मणोऽयम्) में लक्षण मानने पर कल्पना गौरव होता है, अतः उक्त धर्म के प्रतिपादनपूर्वक अर्थतः अभेद का आश्रय करते हैं, तो यह कहना भी युक्त न होगा, क्योंकि इस पक्ष में भी परम्परा से अभेद का प्रतिपादन होता है, अतः बुद्धि की गौरवता है । उभय पद में लक्षणा द्वारा साक्षात् अभेद के प्रतिपादन में बुद्धि के लाघव दर्शाया गया है । तथापि एक पक्ष में लक्षणा लाघव है, एक पक्ष में बुद्धि लाघव है, वहाँ इनके विनिगमना (एक पक्ष के उत्कर्ष निर्णय) में कौन हेतु है कि जिससे कोई एक पक्ष माना जाय, यदि ऐसा प्रश्न हो, तो उत्तर है कि बुभुत्सितार्थ का साक्षात्प्रतिपादन रूप लाघव ही हेतु है । बुभुत्सित के आर्थिक ज्ञान की अपेक्षा साक्षात् ज्ञान श्रेष्ठ होता है, इसी तात्पर्य से प्रतिज्ञा वचन के साधनाङ्गत्व को कहते हुए आचार्य श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि (अनित्य शब्द के बुभुत्समान (बोधेच्छुक) के प्रति (अनित्यः शब्दः) ऐसा न कह कर, जो कुछ दृष्टान्त कहा जाता है कि—जो कार्य होता है

यत्कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकश्च शब्द इति वा, तत्सर्वमसंद्धबुद्धया न प्रत्येति प्रतिवादी" इति। एतेनोभयपदलक्षणास्वीकारे गौरवदोषो निरस्तो वेदितव्यः। बुभुत्सितार्थप्रतिपादनप्रयोजनतायां गौरवस्यैवोचितत्वात् प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इति न्यायात्। तदेवमखण्डार्थत्वे न लक्षणासंभवः।

नापि प्रमाणासंभवः। तथाहि—

सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि।
अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत् ॥ २० ॥

सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थसंसर्गातिरिक्तेऽर्थे प्रमाणं प्रमाणत्वाच्चक्षुरादिवत्।

पराधमात्रादिदमसंबद्धबुद्धयभिधानमिति। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—बुभुत्सितार्थेति। लक्षणसमर्थनमुपसंहरति—तदेवमिति। प्रमाणं श्लोकेन संगृह्णाति—

सत्यज्ञानादीति। सत्यज्ञानादिगीर्विवादपदमेतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे य एते सत्यादयः पदार्थास्तेषां संसर्गव्यतिरिक्ते संसर्गरहिते प्रमाणमिति प्रतिज्ञानिर्देशः। शेषं विशदम्। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै संसर्गव्यतिरेकिणीत्युक्तं, तथापि यत्किंचित्संसर्गव्यतिरिक्तत्वे-नार्थान्तरता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम्। यद्यपि गामानयेत्यादिवाक्यं संसर्गविषयं तथा-प्येतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे प्रमाणमेवेति न व्यभिचारः। ततश्चासंसृष्टार्थप्रमितिजन-कत्वसिद्धिः एतदेव विवृणोति—सत्यादिवाक्यमित्यादिना। पूर्वमद्वैतश्रुतीनाम-

---

वह अनित्य होता है, अथवा शब्द कार्य है, यह हेतु कहा जाता है, उन सबको असम्बद्ध (सम्बन्ध रहित) बुद्धि से प्रतिवादी नहीं समझता है। अर्थात् उदाहरण और हेतु=उपनय के कथन से यद्यपि शब्द के अनित्यत्व सिद्ध होता है। तथापि साक्षात् प्रतिज्ञा के विना असम्बद्ध बुद्धि होती है, अतः साक्षात् कथन युक्त है। इसीसे दोनों पद में लक्षणा के स्वीकार होने पर भी गौरव रूप दोष को निरस्त (निवारित) समझना चाहिये। क्योंकि बुभुत्सितार्थ (जिज्ञासितार्थ) के प्रति-पादन रूप प्रयोजन (फल) की सत्ता रहते गौरव की ही उचितता (मान्यता) रहती है। अतः श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है कि—प्रमाणवाली अनन्त अदृष्ट वस्तु कल्पनीय है। इस न्याय से यहाँ भी उभय पद में लक्षण कल्पनीय है। अतः इस उक्त रीति से उपनिषद् के अखण्डार्थत्व में लक्षण का असम्भव नहीं है। किन्तु सम्भव ही है।

प्रमाण का भी असम्भव नहीं है, यह दर्शाया जाता है कि सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, इत्यादि गीः = वाक्य, इन सत्यादि अर्थों के संसर्ग के व्यतिरेकी अभाव वाले अर्थ स्वरूप मात्र में प्रमाण है। प्रमाण होने से, नेत्रादि प्रमाण के समान ॥ २० ॥

यहाँ सिद्धसाधनता की निवृत्ति के लिये संसर्गव्यतिरेकिणी कहा है। यत्किञ्चित्

विपक्षे चैकरसत्वप्रतिपादकश्रुतीनामुदाहृतानामप्रामाण्यप्रसङ्गः, बुभुत्सिते ब्रह्मणि प्रामाण्याभावप्रसङ्गश्च बाधकस्तर्क उन्नेयः। यत्तु वाक्यत्वाद् गवानयनादिवाक्यवत् संसर्गपरत्वानुमानम्, तदेदरसत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्कालात्ययापदिष्टम्, उक्तरीत्या च संसर्गप्रतीतिजनकत्वाभावेऽपि वाक्यत्वोपपत्तेः संदिग्धव्यतिरेको हेतुः। आकांक्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति वाक्यविदः, ननु संसर्गप्रमितिजनकान्यपीति; विशेषणवैयर्थ्यात्। आचार्यशबरस्वामिना च 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे

प्रामाण्यप्रसङ्ग उक्तः, इदानीं सत्यज्ञानादिवाक्यस्य गुणगुण्यादिपरत्वेऽप्यप्रामाण्यप्रसङ्गमाह—**बुभुत्सितेति**। पूर्वपक्षिणोऽनुमानं दूषयति—**यत्त्वित्यादिना**। विपक्षबाधकतर्काभावाच्छङ्कितोपाधितां चाह—**उक्तेति**। उक्तनीत्या वाक्यत्वोपपत्तेरिति संबन्धः। ननु संसर्गपरत्वाभावे वाक्यत्वभङ्गप्रसङ्ग एव बाधक इत्यत आह—**आकाङ्क्षेति**। ननु प्रामाणाण्यभङ्गप्रसङ्गो बाधको नेत्याह—**आचार्येति**। शब्दविज्ञानाच्छब्दविषयज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे प्रमाणान्तरेण तथा चानधिगते यद्विज्ञानं जायते

संसर्गव्यतिरिक्तता से अर्थान्तरता की निवृत्ति के लिये एतत् पद है, गामानय, इत्यादि वाक्य भी एतत् संसर्ग व्यतिरे की अर्थ में प्रमाण ही हैं। इत्यादि। अतः सत्यादि वाक्य, एतत्=सत्यादि पदार्थसंसर्ग से अतिरिक्त अर्थ में प्रमाण है, चक्षु आदि के समान। यह अनुमान संसर्गरहित अखण्डार्थ में प्रमाण है। इस अनुमान के विपक्ष (विरोधी पक्ष) में, एकरसत्व के प्रतिपादक पूर्वोदाहृत श्रुतियों की अप्रमाणता की प्राप्ति, तथा जिज्ञासित ब्रह्मविषय के श्रुतियों की प्रमाणता के अभाव की प्राप्ति बाधक तर्क उन्नेय (प्रदर्शनीय) है, और जो वाक्यत्व हेतु से गवानयनादि वाक्य के समान, संसर्ग का अनुमान प्रथम दर्शाया गया था कि (विवादास्पद सत्यादि वाक्य, पदार्थसंसर्ग प्रमिति जनक हैं) इत्यादि। वह अनुमान एकरसत्व के प्रतिपादक श्रुति के विरोध से कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है। और उक्त रीति से संसर्गप्रतीति के जनकत्व के लक्षण वाक्यादि में अभाव रहते भी वाक्यत्व की सिद्धि से, सन्दिग्ध व्यतिरेक = साध्याऽभाव वाला वाक्यत्व हेतु है, क्योंकि वाक्यत्व के रहते भी लक्षण वाक्यों में उक्त साध्य नहीं रहता है, अतः अन्य वाक्यों में साध्याऽभाव का संशय हो सकता है। संसर्गपरत्वाभाव में वाक्यत्व का भङ्ग ही बाधक है, अतः उक्त संशय नहीं हो सकता है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि (अकांक्षा सन्निधि योग्यता वाले पदसमूह रूप वाक्य होता है, यह वाक्यवेत्ता कहते हैं, संसर्गप्रमिति जनकों को भी वाक्य नहीं कहते हैं। अतः वाक्य के लक्षण में स्मृतिजनकत्व विशेषण की व्यर्थता सिद्ध होती है, तथा उक्त पक्ष में विशेषण की (साध्य की) व्यर्थता है, और आचार्य श्री शबर स्वामीं ने (शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेर्थे विज्ञानम्)

विज्ञानमि'त्येतावत एव लक्षणस्याभिधानात् । प्रातिपदिकमात्रार्थप्रश्नोत्तरत्वानुपपत्तिश्च, लौकिकवैदिकलक्षणवाक्यानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वे प्रमाणम् । प्रदर्शिता च तत्रानुपपत्तिः—अबुभुत्सितार्थप्रतिपादनेऽनवधेयवचनत्वप्रसक्तिरिति । तदेवमशेषोपनिषदामखण्डैकरसे ब्रह्मणि स्वतः सिद्धमेव प्रामाण्यमिति सिद्धम् ।

तच्छास्त्रं शब्दप्रमाणमिति शाबरवाक्यार्थः । अत्र चानुवादविसंवादव्यवच्छेदायासन्निकृष्टपदम् । अपेक्षितादिपदनिराकरणायार्थग्रहणम् । अनुमानत्वनिराकरणाय शब्दविज्ञानग्रहणम् । एतावदेवाचार्यैर्लक्षणमभिहितं शब्दप्रमाणस्य न तु संसर्गविषयत्वमपीत्यर्थः । द्वितीयपक्षेऽप्यर्थापत्तिं प्रमाणमाह—**प्रातिपदिकेति** । अनुपपत्तिमेव दर्शयति—**अबुभुत्सितेति** । वादार्थमुपसंहरन् वर्तिप्यमाणमेवोद्घाटयति—**तदेवमिति** ।

अद्वैतवादे सत्यादिपदपर्यायतां तथा ।
अपर्यायेऽद्वयध्वंसं वादी वागीश्वरोऽब्रवीत् ॥
तस्य वाच्यार्थनानात्वाल्लक्ष्यस्यैक्यसमाश्रयात् ।
न पर्यायाद्वयध्वंसावित्यनुत्तरमुत्तरम् ॥

यत्तु प्रकृष्टप्रकाशशब्दावपि प्रकर्षादिबलात्प्रवृत्ताविति, तदबुभुत्सितत्वेनात्रैव परिहृतम् । यत्तु पृथक्प्रवृत्तयोः प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोरेकत्र प्रयोगाद्युज्यते अर्थविशेषबोधकत्वम्, न तथेह, लौकिकज्ञानादेरपि ब्रह्मत्वादिति । तत्रोपहितज्ञानादेर्न ब्रह्मस्वरूपत्वमनुपहितं तु न वाच्यमित्यस्त्येव पृथक्प्रवृत्तिः ज्ञानादिशब्दस्येति न कोऽपि व्यतिकरः ।

अद्वयसत्सुखबोधविताने देहहृषीकमनोमतिहीने ।
विश्वविवर्तनिदानमबोधं घ्नन्ति वचांसि स यत्र परोऽस्मि ॥

इतना ही शब्द (वाक्य) रूप प्रमाण का लक्षण कहा है । अर्थ है कि (शब्द विषयक श्रावण (श्रोत्र जन्य) ज्ञान से, प्रमाणान्तर से अनधिगतार्थ विषयक जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान का जनक शास्त्र शब्दप्रमाण कहा जाता है) इनमें संसर्ग विषयकत्व नहीं सिद्धि होता है । और लौकिक-वैदिक लक्षण वाक्यों के एक प्रातिपदिकार्थ मात्र में पर्यवसायित्व (तात्पर्य वत्त्व) में प्रातिपदिकार्थ मात्र के प्रश्नत्व तथा उत्तरत्व की अनुपपत्ति प्रमाण है । वह अनुपपत्ति दर्शाई गई है कि अजिज्ञासितार्थ के प्रतिपादन करने पर वक्ता में अनवधेय वचनत्व (अश्रद्धेय = उपेक्ष्य वचनवत्त्व) की प्रसक्ति (प्राप्ति) होती है । अतः उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि सब उपनिषदों की अखण्ड एकरसब्रह्मविषयक स्वतः सिद्ध ही प्रमाणता है, अर्थात् इतिहास, पुराण, स्मृति आदि में प्रत्यक्ष अनुमान वेदादि मूलक प्रमाणता होती है, वेद में स्वतःप्रमाणता रहती है, उपनिषद् वेद हैं, अतः स्वतःप्रमाण है ।

ननु किमिदं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम् ? न तावत्स्वत एव जन्म; स्वस्य स्वहेतुकत्वविरोधात्। नापि प्रमाणादेव जन्म; ज्ञानस्य गुणत्वेन स्वप्रामाण्यं प्रति समवायिकारणत्वासंभवात्। नापि ज्ञानसामग्रीतो जन्म; प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे च जन्मासंभवात्। तथाहि—उपाधिपक्षे स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य बाधात्यन्ताभावः प्रामाण्यम्। न च तस्योत्पत्तिः संभवति;

स्वतःसिद्धमेव प्रामाण्यमित्युक्तमुपश्रुत्य परतः प्रामाण्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति**। तत्र लक्षणं तावदाक्षिपति—**न तावदित्यादिना**। तत्र किं स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म स्वतःप्रामाण्यं नाम ? आहोस्वित्स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वम् ? उत स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् ? अथवा ज्ञानसामग्रीजन्यप्रमाश्रितत्वम् ? किंवा ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यप्रमाश्रितत्वम् ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। **विरोधादिति**। स्वस्यैव स्वकारणतया प्राक्क्षणे सत्त्वं, कार्यतया च प्रागसत्त्वमिति व्याघातादित्यर्थः। द्वितीयं निषेधधि—**नापीति**। एतच्च स्वशब्दस्य स्वीयवचनत्वमाश्रित्य। स्वाश्रयप्रामाण्यजनकत्वे हि समवायिकारणतया द्रव्यत्वापातो ज्ञानस्येत्यर्थः। तृतीयं निषेधति—**नापि ज्ञानेति**। तत्सामग्र्यामपि हि यथाकथंचित्स्वीयतया स्वशब्दो भवत्येवेति भावः। तदेतदसंभवेन दूषयति—**प्रामाण्यस्येति**। बाधात्यन्ताभावो घटादेरप्यस्तीति ज्ञानस्येत्युक्तम्। तथापि स्मृतावतिव्याप्तिस्तदर्थं **स्मृतित्वानधिकरणस्येति**। अबाध्यानुभवत्वमित्यर्थः। विषयापहारश्च बाधस्तदभावश्चापाततः संशयादेरप्यस्तीत्यत्यन्तग्रहणम्। अत्र च भ्रमादौ धर्म्यंशे जातिसङ्करप्रसङ्गात् प्रामाण्यमुपाधिरिति केचित्। अपरे तु तत्र गौणं व्यवहारमादाय जातिरिति वदन्ति,

---

उक्त रहस्य को नहीं जानने मानने वाले परतः प्रामाण्यवादी शंका करते हैं कि, यह प्रामाण्य (प्रमात्व) के स्वतस्त्व क्या है (स्वतः एव प्रमाण का जन्म स्वतः प्रामाण्य है (१), स्वाश्रयज्ञानजन्यत्व है (२), या स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्व है (३), या ज्ञानसामग्रीजन्यप्रमाश्रितत्व है (४), या ज्ञानसामग्री मात्र जन्य प्रमाऽऽश्रितत्व है (५), या वहाँ, स्वतः एव (प्रामाण से ही प्रामाण्य का जन्म कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि स्व को स्वहेतुकत्व (स्वजन्यत्व) मे विरोध है, प्रामाण्य-आप अपना पिता और पुत्र नहीं हो सकता है। स्वाश्रय प्रमाण (प्रमा) ज्ञान से प्रामाण्य का जन्म भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि समवायिकरणता द्रव्य में होती है, ज्ञान में गुणत्व के रहने से, उसमें अपने प्रामाण्य के प्रति समवायिकारणता का होना असम्भव है। स्वाश्रय ज्ञान की सामग्री से जन्यत्व रूप तीसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रामाण्य में उपाधित्व या जातित्व रहते उसके जन्म होना असम्भव है। उपाधिपक्ष में, स्मृतित्वानधिरण ज्ञान का बाधाऽत्यन्ताभाव प्रामाण्य का स्वरूप है, उस अत्यन्ताऽभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है,

अत्यन्ताभावत्वादेव । नापि जातेर्जन्म; नित्यत्वात् ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं प्रमायाः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति चेत् मैवम् ; अप्रमाया अपि स्वतस्त्व-प्रसङ्गात्, तस्या अपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वात् । अथ ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं स्वतस्त्वम्, अप्रमा तु न तन्मात्रजन्या, दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वादिति चेत्, मैवम् ; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्री-जन्यत्वं मात्रशब्दार्थः ? किं वा दोषासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् ? नाद्यः; परतः प्रामाण्यवादिमतानुप्रवेशप्रसङ्गात् । तेऽपि हि दोषाभावसहकृतज्ञान-सामग्रीजन्यत्वमेव परतः प्रामाण्यमितीच्छन्ति । नापि द्वितीयः; विशेष-

---

तेनेदं द्वैविध्यमुक्तम्। चतुर्थं शङ्कते—**ज्ञानसामग्रीति**। यदिदं प्रमाया ज्ञानसामग्री-जन्यत्वं तत्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति योजना । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**मैवमिति**। ज्ञानविशेषो ह्यप्रमा, विशेषसामग्र्यां च सामान्यसामग्र्यनुप्रविशति, शिंशपासामग्र्यामिव वृक्षसामग्री, इतरथा तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। अतः परत-स्त्वेनाभिमताप्रामाण्येऽपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वश्रितेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । **अप्रमाया अपीति**। अप्रामाण्यस्येत्यर्थः। पञ्चमं शङ्कते—**अथेति**। अप्रमायामतिव्याप्तिपरि-हारं मात्रग्रहणेन विवक्षितम्, स एव विवृणोति—**अप्रमा त्विति**। अत्र मात्रग्रहणेना-प्रमासामग्रीरूपदोषासाहित्यद्वारेण तदभावसाहित्यमपि ज्ञानसामग्र्यां विवक्षितम् ? उतासाहित्यमात्रम् ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति**। एवं स्वतःप्रामाण्यं परतस्त्वेऽप्युपपद्यते इत्यर्थान्तरमित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। यथा हि प्रमाणज्ञानहेतोर्विशेषदर्शनस्याभावोऽप्रमाणज्ञानहेतुः, एवमप्रमाणज्ञानहेतो-

---

अत्यन्ताऽभाव होने ही से उसमें नित्यत्व रहता है। जाति का भी जन्म नहीं होता है, उसमें भी नित्यत्व रहता है। ज्ञानसामग्रीजन्यत्व प्रमा के प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, यदि ऐसा कहें, तो यह कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि इस प्रकार से अप्रमा को भी स्वतस्त्व प्राप्त होगा, क्योंकि उसको भी ज्ञानसामग्रीजन्यत्व है। यदि कहें कि ज्ञान को सामग्रीमात्र से जन्यत्व स्वतःप्रामाण्य कहा जाता है, अप्रमा तो ज्ञान-सामग्री मात्रजन्य नहीं होती है, उसमें दोषसहित ज्ञानसामग्रीजन्यत्व रहता है, तो ऐसा कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि यह पक्ष विकल्प को नहीं सह सकता है, विकल्प यह है कि, दोषाऽभाव सहित ज्ञानसामग्रीजन्यत्व लक्षण गत मात्र शब्द का अर्थ है, या दोषाऽसहकृत ज्ञानसामग्रीजन्यत्व है, अर्थात् ज्ञानसामग्री में दोषाऽभाव युक्तत्व विवक्षित है, या दोषरहितत्व विवक्षित है, प्रथम पक्ष को नहीं मान सकते हैं, क्योंकि परतः प्रामाण्यवादी मत का अनुप्रवेश प्राप्त होगा, परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक भी दोषाऽभावसहकृत (सहित) ज्ञानसामग्रीजन्यत्व को ही परतःप्रामाण्य इस शब्द का अर्थ मानते हैं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो

दर्शनस्य भ्रमनिवृत्तिहेतुत्वे तद्विपर्ययस्य भ्रमहेतुत्ववद्दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यं ज्ञानमप्रमेत्यङ्गीकुर्वता प्रमां प्रति दोषाभावस्य हेतुताया अनिराकार्यत्वात् । नन्वीश्वरज्ञान इव दोषाभावस्यावर्जनीयतया अस्मत्प्रमास्वपि तथासन्निधिः किं न स्यात् ? नहीश्वरज्ञानेऽपि दोषाभावः प्रयोजक इति युक्तं वक्तुम् ; तत्प्रयुक्तत्वस्य तदन्तर्भूतसामग्रीजन्यत्वानतिरेकात् , तस्य च नित्यतया विशिष्टसामग्रीजन्यत्वादिति चेत् , मैवम् ; अन्तरेणापि तत्सामग्री-

---

दोषस्याभावोऽपि प्रमाणहेतुर्भवत्येव । एवमवधृतस्वाभाव्यादनयोरित्यर्थः । यद्यपि प्रमासामग्र्यां दोषाभावाऽविघातस्तथापि न हेतुतयाऽपित्ववर्जनीयसन्निधेराकाशवत् । युक्तं चैतत्, इतरथा नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तदनुत्पाद्यतया प्रामाण्याभावप्रसङ्गादिति शङ्कते—**नन्विति** । जन्या प्रमा दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्या न भवति प्रमात्वादीश्वरप्रमावदिति भावः । साध्यवैकल्यं परिहरति—**न हीति** । ननु जन्यत्वाभावेऽपि तत्प्रयुक्तत्वं किं न स्यादित्यत आह—**तत्प्रयुक्तत्वस्येति** । **तदन्तर्भूतेति** । स दोषाभावादिरन्तर्भूतो यस्यां सामग्र्यां सा तदन्तर्भूता सामग्री, अथवान्तर्भाव एवान्तर्भूतम् , भावे निष्ठा, तदन्तर्भाववती सामग्रीत्यर्थः । न तद्गर्भसामग्रीजन्यत्वं तत्प्रयुक्तत्वम् , नहि गुणवत्त्वप्रयुक्तं द्रव्यत्वमित्यत्र गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोर्जन्यजनकभावः; परस्परमेकस्योपाधित्वात् परस्य च जातित्वात्, किं तर्हि समव्यापकत्वमात्रेण प्रयोज्यप्रयोजकभावः, एवमत्रापीति परिहृति—**मैवमिति** । अनित्ये स्वाश्रयद्वारा कादा-

---

सकता है । क्योंकि भ्रमाधिष्ठान के विशेष दर्शन को भ्रमनिवृत्ति के हेतुत्व रहने पर उसके विपर्यय (विशेष दर्शन के अभाव) को जैसे भ्रमहेतुत्व होता है, वैसे ही दोषयुक्त ज्ञानसामग्रीजन्य ज्ञान अप्रमा होता है, ऐसा स्वीकार करने वाले से प्रमा के प्रति दोषाऽभाव की हेतुता का निवारण नहीं किया जा सकता है, और दोषाभाव की हेतुता के रहने पर परतःप्रामाण्य वाद का अनुप्रवेश होगा ही । यदि कहा जाय कि यद्यपि प्रमाज्ञान की सामग्री में दोषाभाव का उक्त रीति से अनिवार्यता रूप से आकाश के समान सम्बन्ध रहता है, तथापि वह प्रमाज्ञान का हेतु नहीं होता है, क्योंकि जैसे ईश्वरज्ञान में अवर्जनीय रूप से दोषाऽभाव रहता है, उसी प्रकार से हम सब के प्रमाज्ञान में ईश्वरज्ञान के समान ही दोषाभाव की सन्निधि क्यों न होगा । और ईश्वर के ज्ञान में दो भाव के सम्बन्ध रहते भी, दोषाऽभाव ईश्वरज्ञान का प्रयोजक (हेतु) है, ऐसा कहना युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि दोषप्रयुक्तत्व को दोष जिसके अन्तर्गत हो ऐसी सामग्री से जन्यत्व के साथ अनतिरेक (अभेद) रहता है । अर्थात् दोषयुक्त सामग्री से जन्य में दोषप्रयुक्तत्व (जन्यत्व) होता है, दोष उसका प्रयोजक हेतु होता है, और उस ईश्वरज्ञान के नित्य होने से दोषयुक्त सामग्रीजन्यत्व का होना असम्भव है, अतः कैसे अवर्जनीय

जन्यत्वं नित्यद्रव्येषु गुणवत्त्वप्रयुक्तद्रव्यत्ववत्तत्प्रयुक्तत्वोपपत्तेः। न च दोषाभावस्याभावत्वादेवाकारणत्वम्; विशेषदर्शनाभावस्य भ्रमहेतुत्ववत्प्रामाणाभावस्य प्रमेयाभावप्रमितिहेतुत्ववद्विहिताकारणस्य प्रत्यवायहेतुत्ववच्च तदुपपत्तेः।

चिरकत्वमपि कथंचित्संभाव्यमिति नित्यद्रव्येष्वित्युक्तम्। नन्वभावस्य कारणतैवायुक्ता, निःस्वभावत्वादिति तत्राह—**न चेति**। किमिदं निःस्वाभावत्वम्? यद्यसत्त्वम्, तत्किं सत्तानधिकरणत्वम्? तर्हि गतं सामान्यादीनां बुद्धिकारणत्वेन। न च स्वरूपसत्त्वरहितत्वम्, तदसिद्धम्। यथाहोदयनः—'नह्यसौ विधिरूपेण तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा, इतरथा भावस्यापि तथात्वापाता'दिति। अथ भावत्वानधिकरणत्वम्? किमेतावता? किं चाभावस्य कार्यत्वमङ्गीक्रियते? न वा? न यदि, तदा प्रध्वंसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यता स्यात्। अस्ति चेत्, कारणत्वेन किमपराद्धम्। कः खलु विशेषो नियतप्राक्क्षणसतः प्रागसत्त्वे सति सत्तायोगित्वसत्त्वे? अथान्यथैवाभूत्वाभावित्वाद्यात्मकं तत्र कार्यत्वं शिक्षयसि कारणत्वमपि तथा शिक्षयेति मूकीभावः। उक्तं चोदयनेन—'भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः' इति। किंच न सर्वत्र भावरूपा एव दोषाः, येन तदभावस्याभावतया न कारणत्वम्, अपि त्वभावरूपा अपि सन्ति दोषाः, तदभावस्य न किमिति कारणता स्यात्। अथ भावस्य तत्र तत्र दृष्टचरं कारणत्वं न त्वभावस्येति, तत्र; अभावस्यापि तत्र तत्र दर्शनास्स्वीकाराच्च भवद्भिरित्याह—**विशेषदर्शनेत्यादिना**। साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनाभ्यां सर्वत्र भ्रम इत्यर्थः। भाट्टानेव प्रत्याह—**प्रमाणाभावस्येति**। योग्यानुपलब्ध्या ह्यभावप्रमितिरङ्गीक्रियते अनुपलब्धिश्चोपलब्ध्यभाव इत्यर्थः। मतद्वयसंमतमुदाहरणमाह—**विहिताकरणेति**। ये त्वत्र—

'स्वकाले यदकुर्वन् हि करोति यदचेतनः।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते॥'

दोषप्रयुक्तत्व ईश्वरज्ञान में नहीं है, इसी प्रकार स्वतःप्रामाण्यवाद में अवर्जनीय दोषप्रयुक्तत्व प्रमाज्ञान में नहीं माना जाता है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि ईश्वरज्ञान में दोषयुक्त सामग्रीजन्यत्व के अभाव रहते भी दोषप्रयुक्त हो सकता है, जैसे कि नित्य द्रव्यों में गुणवत्त्व प्रयुक्त (गुणवत्त्व निमित्तक) द्रव्यत्व होता है। फिर इसी प्रकार दोषाभाव प्रयुक्तप्रमात्व प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि दोषाभाव के अभाव होने ही से उसमें कारणत्व नहीं रह सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशेषज्ञानाभाव को भ्रमहेतुत्व के समान, प्रमाणाभाव (अनुपलब्धि) को प्रमेयाभाव प्रमिति हेतुत्व के समान, विहित कर्माकरण (नित्य कर्माननुष्ठान) को प्रत्यवाय (पाप) हेतुत्व के समान, दोषाभाव भी वह प्रयोजकत्व होता है।

न च प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे मानमस्ति। प्रामाण्यं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत् दोपजन्यत्वेन व्यभिचारो मा भूदिति ज्ञानैकधर्मत्वादित्युक्तम्। तथा प्रामाण्यमुक्तविधमप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात् प्रत्यक्षत्ववदित्यनुमानं मानमिति केचित्, तन्न; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किं तथाविधव्यक्तिवृत्तितामात्रं विवक्षितम्?

इति ब्रुवते, तैरप्यतिप्रसक्तिपरिहारायाकुर्वन् यदन्यत्करोतीति वचनादभावहेतुताऽभ्युपगमप्रत्याख्याना।

एवं लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणमाक्षिपति—**न च प्रामाण्येति**। रत्नदीपावलीकृतमनुमानमुद्भावयति—**प्रामाण्यमिति**। ज्ञानहेतुजन्याश्रयत्वसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मात्रग्रहणम्, ज्ञानैकधर्मत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति तत्र व्यभिचारवारणायाप्रामाण्येतरत्वे सतीत्युक्तम्। घटत्वादिव्यावृत्त्यै ज्ञानग्रहणम्। उत्तरविशेषणकृत्यमाह—**दोपेति**। तद्धि व्याधेरपि धर्म इति न ज्ञानैकधर्म इत्यर्थः। तदीयमेवानुमानान्तरमाह—**तथेति**। ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति अत उक्तम्—**अप्रामाण्येतरत्वे सतीति**। सत्तागुणत्वज्ञानत्वैर्व्यभिचारनिवारणाय ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वग्रहणम्।

नैयायिक विशेपावयव-सम्बन्ध-दोपाऽभावादिरूपगुणजन्यप्रमात्व को मानते हैं, अतः उस स्वसिद्धान्त में स्थितिपूर्वक ज्ञानसामग्री मात्र जन्यत्व रूप स्वतः प्रमाण्य के लक्षण को निपेध करके अब स्वतस्त्व विपयक प्रमाण का अभाव कहते हैं कि (प्रामाण्य के स्वतस्त्व में प्रमाण भी नहीं है) वहाँ स्वतः प्रमाणवादी के अनुमान दर्शाते हैं कि (प्रामाण्य, ज्ञान हेतुमात्रजन्य आश्रय वाला है, अप्रमात्व से भिन्न होता हुआ ज्ञान मात्र धर्मत्व से, ज्ञानत्व के समान) ज्ञान हेतुजन्याश्रयत्व साध्य करने पर सिद्धसाधन होता, उसके वारण के लिये मात्र कहा है। ज्ञानैकधर्मत्व अप्रमात्व में भी है, अतः अप्रमाण्येतरत्व कहा है। घटत्वादि के वारण के लिये ज्ञान का ग्रहण है। अप्राण्येतरत्व इतना ही हेतु रहता तो दोपजन्यत्व उसका अर्थ होता, और उसका पक्ष में वृत्तित्व का व्यभिचार होता, क्योंकि दोपजन्यत्व तो व्याधि का धर्म है, अतः प्रामाण्येतरत्व युक्त ज्ञानैकधर्मत्व कहा, उसमें पक्षवृत्तित्व है। इसी प्रकार का अनुमानान्तर है कि (प्रामाण्य, उक्तविध = ज्ञानहेतु मात्रजन्य आश्रय वाला है, अप्रामाण्यभिन्नत्व युक्त ज्ञानत्व से न्यूनदेशवृत्तित्व वाला होने से, प्रत्यक्षत्व के समान)। इस अनुमान में सत्तागुणत्व ज्ञानत्व द्वारा व्यभिचारवारण के लिये ज्ञानत्व न्यूनवृत्तित्व का ग्रहण है। इन अनुमानों को कोई स्वतःप्रामाण्य में प्रमाण कहते हैं, परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमान विकल्पायोग्य है। उक्त अनुमानों में (ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमात्र साध्य

उतान्यावृत्तित्वे सति तथाविधव्यक्तिवृत्तित्वम् ? नाद्यः; अंशतः सिद्धसाधनत्वात् अनुव्यवसायानुमित्युपमितीनां स्वतःप्रमात्वस्य परैरप्यङ्गीकारात्। न द्वितीयः; आद्यप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, ज्ञानत्वस्य दोषजन्याप्रमाणज्ञानवृत्तित्वस्याप्यङ्गीकारात्। नाप्रमाणज्ञाने ज्ञानत्वस्य वृत्तिस्तस्य ज्ञानाभासत्वादितिचेत्, मैवम्; तथा सत्यप्रामाण्येतरत्वे सति इति विशेषणस्य वैयर्थ्यात्, अप्रमाणज्ञानस्य ज्ञानाभासत्वेनाप्रामाण्यस्य ज्ञानवृत्तित्वाभावात् द्वितीयानुमाने च संशयत्वादिना व्यभिचारः। तथाहि—तदपि ह्यप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्ति भवति, न तु भवति ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयम्, तिमिरादिदोषजन्याश्रयत्वात्। दृष्टान्तस्य साध्यविकलता

अत्र किं ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमात्रं साध्यम् ? किं वा ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यावृत्तित्वे सति ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमिति विकल्प्याद्येंऽशतः सिद्धसाधनमाह—**अंशत इति**। यथा चैतेषां स्वतः प्रमात्वं तैरङ्गीकृतं तथा सिद्धान्ते दर्शयिष्यते। साध्यविकलत्वमेव दर्शयति—**ज्ञानत्वस्येति**। दोषजन्येत्यतिरिक्तजन्यत्वमुक्तम्। अत्रान्तरासिद्धान्तिमतमवलम्ब्य कश्चिच्चोदयति—**नाप्रमाणेति**। उक्तं हि अविद्या वेद्यैः सह भ्रम इत्यभिमानः। एवं प्रकृतदूषणं परिहरतो विशेषणवैयर्थ्यम्, तथाचैकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवत इत्याह—**मैवमिति**। व्यभिचारमेव स्फोरयति—**तथाहीति**। दूषणान्तरं

विवक्षित है अथवा ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यावृत्तित्व-युक्तज्ञान-हेतुमात्र-जन्य-वृत्तित्व विवक्षित है) इसमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि अनुव्यवसाय अनुमिति उपमिति के स्वतःप्रमात्व को अन्य भी मानते हैं, अतः उन अंशों में सिद्धसाध्यत्व की प्राप्ति होती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि आद्य प्रयोग, अनुमान में ज्ञानत्व रूप दृष्टान्त को साध्य विकलत्व प्राप्त होता है। ज्ञानत्व को दोषजन्य अप्रमाण ज्ञान में भी वृत्तित्व को माना जाता है, अतः ज्ञान हेतु से अतिरिक्त=दोषजन्य ज्ञान में अवृत्तित्व ज्ञानत्व को नहीं रहता है। यदि कहें कि अप्रमाण ज्ञान (भ्रम) में ज्ञानत्व नहीं रहता है, क्योंकि वह ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानाऽऽभास (मिथ्याज्ञान) है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि अप्रमा ज्ञान नहीं हो तो अप्रामाण्येतरत्वे सति (अप्रामाण्येतरत्व युक्त) इस विशेषण की व्यर्थता होगी। अप्रमा के ज्ञान नहीं होने पर अप्रमात्व भी ज्ञानवृत्ति नहीं होगा, फिर उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेषण व्यर्थ होगा। ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात्—इतना ही हेतु उचित होगा। अप्रमाण ज्ञान के ज्ञानाभास होने के कारण उसमें ज्ञानत्व नहीं रहेगा। द्वितीय अनुमान में संशयत्वादि से व्यभिचार है। अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वसंशयत्वादि में भी रहता है, परन्तु तिमिरादि दोषजन्याऽऽश्र-

च; प्रत्यक्षत्वस्यापि परतः प्रामाण्यवादिना ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयत्वानाश्रयणात्। प्रमात्वमेव यस्य ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयं न भवति, गुणविशिष्टज्ञानसामग्रीजन्यवृत्तित्वात्, तस्य कथं तदवान्तरजातिप्रत्यक्षत्वं तद्धेतुमात्रजन्याश्रयं स्यात् ?

अस्ति च परतस्त्वेऽपि प्रयोगः—अनीश्वरप्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वाद्घटवत्। ननु किं ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितोऽस्ति कश्चिद्विशेषः ? किं

चाह—**दृष्टान्तस्येति**। तस्यैव विवरणं **प्रत्यक्षत्वस्यापीति**। ननु किमिति प्रत्यक्षत्वं नाङ्गीक्रियते, नहि तत्प्रमात्वमित्यत आह—**प्रमात्वमेवेति**। गुणविशिष्टसामग्रीजन्यप्रमाश्रयं प्रमात्वमिति यस्याङ्गीकारः स कथं तदवान्तरजातिं प्रत्यक्षत्वं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमङ्गीकुर्यादित्यर्थः। गुणग्रहणं दोषाभावस्याप्युपलक्षणम्।

एवं स्वतस्त्वलक्षणप्रमाणे दूषयित्वा परतस्त्वे कुसुमाञ्जलीयमनुमानं दर्शयति—**अनीश्वरप्रमेति**। इदं च तत्र युक्तं प्रक्षिप्तमीश्वरप्रमायां बाधासिद्धी मा भूतामिति। यदस्य रत्नदीपावल्यामनुमानदूषणमुक्तं तदुद्दिधीर्षुरनुवदति—**ननु किं ज्ञानव्यक्तेरिति**। किं ज्ञानत्वाश्रयो या ज्ञानरूपिणी व्यक्तिस्ततो भिन्ना प्रमात्वा-

---

यत्व से ज्ञान हेतुमात्रजन्याश्रयत्वरूप साध्य नहीं रहता है, अतः हेतु को संशयादि में व्यभिचार है। संशयत्व को अप्रमात्व से भिन्न मान कर, यह दोष कहा गया है। और प्रत्यक्षत्व रूप दृष्टान्त में साध्यविकलता है, क्योंकि परतः प्रामाण्यवादी ने प्रत्यक्षत्व की भी ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयता को नहीं माना है। और जिसके मत में प्रमात्व ही ज्ञानहेतुमात्रजन्य आश्रय वाला नहीं होता है, किन्तु गुणविशिष्टज्ञानसामग्रीजन्य वृत्तित्व से ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयत्व का प्रमात्व में अभाव रहता है। उस वादी के मत में प्रमात्व के अवान्तर (व्याप्य) जातिप्रत्यक्षत्व को ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्व कैसे होगा।

उक्त रीति से स्वतस्त्व के लक्षण प्रमाण को दूषित ठहरा कर, परतःवादी कहते हैं कि, परतस्त्व में प्रयोग भी है कि (अनीश्वरप्रमा, विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वात्, घटवत्) जीव की प्रमा, विज्ञान के हेतु से अन्य हेतु के अधीन होती है, कार्य होने से, घट के समान। बाध और असिद्धि के वारण के लिये प्रमा का अनीश्वर विशेषण है, इससे अनित्य प्रमा, यह अर्थ होता है। और वह प्रमा विज्ञान के हेतु सामान्य आत्ममनःसंयोग से अतिरिक्त इन्द्रिय-विशेषावयवादि के साथ सम्बन्ध से होती है, अतः सम्बन्ध गुण कहा जाता है। यहाँ शंका होती है कि ज्ञान व्यक्ति को (ज्ञान को) प्रमा व्यक्ति (प्रमा स्वरूप) से कोई विशेष (भेद) है, या नहीं है अतः प्रमा व्यक्ति (स्वरूप) ही ज्ञानव्यक्ति है।

वा प्रमाव्यक्तिरेव ज्ञानव्यक्तिः ? आद्ये प्रत्यक्षज्ञानव्यक्त्या स्पष्टो व्यभिचारः; प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तेर्विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावात्। द्वितीयेऽपि जन्यापि विज्ञानरूपा प्रमा न ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनेति बाध इति चेत्, मैवम्; ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितो भेदाभावेऽपि विज्ञानत्वप्रमात्वधर्मयोर्भेदात्। ततश्च घटत्वस्य पृथिवीत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधन इव प्रमाया विज्ञानत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधने बाधाभावात्। विपक्षे च प्रमात्वस्य विज्ञानत्वप्रयोजकमात्रप्रयोज्यत्वात्, ज्ञानत्ववदप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति बाधकस्तर्क उन्नेयः। ननु ज्ञानसामग्र्या एवानिरूपणात् तदति-

---

श्रयः प्रमाव्यक्तिः ? किं वा नेति-विकल्प्याद्ये व्यभिचारमाह—**प्रत्यक्षेति**। द्वितीये ज्ञानरूपायाः प्रमाव्यक्तेर्ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वसाधनं व्याहतम्, ज्ञानं ज्ञानहेतुत्वाधिकरणजन्यमिति हि तदर्थः स्यादित्याह—**द्वितीयेपीति**। तदेतद्दूषयति—**मैवमिति**। यद्यपि व्यक्त्योर्भेदो नास्ति तथापि ज्ञानत्वप्रमात्वयोर्भेदात् प्रमाया अपि ज्ञानत्वप्रयोजकव्यतिरिक्तप्रयोज्यत्वमुपपद्यते, यथा ह्येकस्मिन्नेव घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वानां विभिन्नप्रयोजकतया द्रव्यादीनामपि विभिन्नप्रयोज्यतेत्यर्थः। ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावे च बाधकमाह-**विपक्षे चेति**। यदि ज्ञानहेतुमात्रप्रोज्येयं तर्हि प्रत्प्रयोज्यज्ञानवृत्तिज्ञानत्ववत्प्रमात्वमप्यप्रमायां वर्ततेत्यर्थः। ननु साध्यमेवेदं नाङ्गं धारयति, ज्ञानहेतोरेवानिरूपणादीन्द्रियादीनां परस्परव्यभिचारादात्ममनःसंयोगस्य च सुखादिसाधारण्यात्। अतस्तदतिरिक्तहेतुरपि दुर्निरूप इति शङ्कते—**नन्विति**।

आद्य पक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति द्वारा स्पष्ट ही व्यभिचार है, क्योंकि ज्ञानत्व धर्म वाले प्रत्यक्ष अनित्य ज्ञान में कार्यत्व रूप हेतु रहता है, और विज्ञान के हेतु से अतिरिक्त हेत्वधीनत्व का अभाव रहता है। अर्थात् प्रमा व्यक्ति में ज्ञानहेत्वतिरिक्त हेत्वधीनत्व के रहते भी उससे भिन्न प्रत्यक्ष अनित्य ज्ञान व्यक्ति में नहीं रहता है, और कार्यत्व हेतु रहता है, अतः स्पष्ट व्यभिचार है। और दूसरे पक्ष में प्रमा व्यक्ति के ज्ञानव्यक्तिस्वरूप ही होने के कारण जन्य (कार्य) स्वरूप भी विज्ञानरूपा प्रमा विज्ञानहेत्वतिक्त हेतु के अधीन नहीं हो सकती है, अतः बाधरूप दोष है। यह शंका युक्त नहीं। क्योंकि ज्ञान व्यक्ति को प्रमाव्यक्ति से भेद के अभाव रहते भी विज्ञानत्व और प्रमात्व धर्मों में भेद रहता है, ज्ञानत्व प्रयोजक से भिन्न प्रमात्व का प्रयोग हो सकता है, अतः घटत्व के पृथिवित्व प्रयोजकातिरिक्त प्रयोजकत्व के साधन (अनुमान) के समान, प्रमा के विज्ञानत्व प्रयोजकातिरिक्त प्रयोजकत्व के साधन में बाध नहीं हो सकता है। और प्रमात्व के विज्ञानत्व के प्रयोजक (हेतु) मात्र से प्रयोज्य (जन्य) होने पर, ज्ञानत्व के समान प्रमात्व की अप्रमाज्ञान में वृत्तिता होगी, यह विपक्ष बाधक तर्क प्रयोक्तव्य है। विज्ञान प्रयोजक से अतिरिक्त प्रयोज्यत्व के प्रमा में कहने पर शंका होती है कि इन्द्रियादि के परस्पर व्यभिचारादि से, ज्ञानसामग्री

रिक्तहेत्वधीनत्वं दुर्ज्ञानमिति चेत् मैवम्; एवं सत्यप्रमायाः परतस्त्वं दत्तजलाञ्जलिः स्यात्। तदपि हि ज्ञानसामग्रीनिरूपणाधीननिरूपणं, तस्य दोषानुपक्तविज्ञानसामग्रीजन्यताप्रतिज्ञानात्। तस्मान्नोत्पत्तौ प्रमायाः स्वतस्त्वम्।

नापि ज्ञप्तौ। तथाहि—नीलसंवेदनस्य प्रामाण्यं नीलसंवेदनेनैवावेद्यत इति स्वतस्त्वमुच्यते? किंवा तद्वेदनग्राहकमात्रग्राह्यत्वेन? नाद्यः; तस्य तत्राप्रमाणत्वात्। तथाहि—यदेतन्नीलप्रकाशनप्रत्यक्षं तन्नीलं प्रति तावत्प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वात्। स्वप्रामाण्यपरिच्छित्तौ तु कथं

दूषयति—**मैवमिति**। अवश्यं तावद्दोषानुपक्तविज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रमायां मन्वानेन ज्ञानसामग्री तावन्निरूपणीया, सा च नास्मन्मते दण्डवारिता, भवितव्यं च तया, अन्यथा विलक्षणकार्यादर्शनप्रसङ्गादिति भावः।

किमाश्रयज्ञानवेद्यत्वं प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम्? किं वा ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वम्? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति**। नीलसंवेदनस्य स्वप्रामाण्यग्राहकत्वाभावमेवोपपादयति—**तथा हीति**। इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ह्यनीश्वरप्रत्यक्षं

का ही निरूपण नहीं हो सकता है, ज्ञान की सामग्री क्या है, तो उसके अनिरूपण रहते, तदतिरिक्त हेत्वधीनत्व का प्रमा में ज्ञान होना दुर्ज्ञान (असम्भव) है, परन्तु ऐसी शंका नहीं होनी चाहिये, इन्द्रियादि में परस्पर व्यभिचार होते भी तत्तत् ज्ञानों के प्रति पृथक् २ अन्वयव्यतिरेक से उन्हें ज्ञानहेतु मानना चाहिये, क्योंकि हेतु नहीं मानने पर स्वीकृत अप्रमा की परस्ता भी दत्तजलाञ्जलिरस्त्यक्ता हो जायगी, क्योंकि दोषयुक्त ज्ञानसामग्रीजन्यत्व ही अप्रमा में परतस्त्व वेदान्त में भी माना जाता है, और वह परतस्त्व भी ज्ञानसामग्रीनिरूपणाऽधीन निरूपण वाला है। और उसकी दोषयुक्त ज्ञानसामग्रीजन्यता की प्रतिज्ञा (स्वीकृति) की गई है। अतः उक्त रीति से प्रमा की स्वतस्त्व (ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्व) नहीं है।

प्रमा की ज्ञप्ति (ज्ञान) में भी स्वतस्त्व (ज्ञानज्ञापक ज्ञेयत्व) नहीं है। क्योंकि नीलज्ञान के प्रमात्व नीलज्ञान से ही संवेदित (प्रकाशित) होता है, इस प्रकार का स्वतस्त्व माना जाता है। या जहाँ नीलज्ञानग्राहकमात्र से ग्राह्यत्व रूप से स्वतस्त्व माना जाता है, वहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि नील ज्ञान को नील ज्ञानगत प्रमात्व के प्रति अप्रमाणत्व रहता है। जो यह नील का प्रकाशन रूप प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह नील के साथ इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण नील के प्रति प्रत्यक्ष (प्रमाण) होता है, और स्वगत प्रामाण्य की परिच्छित्ति (प्रकाशन) में तो वह प्रमाण कैसे होगा, क्योंकि उसको ग्राह्येन्द्रिय के

तत्प्रमाणम् ? तस्य वहिरिन्द्रियैरसन्निकर्षात् । अपि च तत्प्रत्यक्षं विज्ञानस्यैव प्रामाण्यं गृह्णीयात् ? उत तत्फलस्य ? नाद्यः; ज्ञानस्य फललिङ्गानुमेयत्वेन तस्याप्रत्यक्षतया तत्प्रामाण्यस्यापि प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । फलस्यापि स्वप्रकाशतया बाह्येन्द्रियाविषयत्वात्, तद्गतयथार्थत्वलक्षणप्रामाण्यस्यापि

तदिदं वहिरिन्द्रियस्यान्तरस्य वा प्रामाण्येन संनिकर्षादुत्पद्यते इति वक्तव्यं प्रत्यक्षवादिना, तत्र वहिरिन्द्रियग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्यान्तर्धर्मत्वादेवासंभवीत्याह— **तस्येति** । नापि मानसत्वम् । तदा हि प्रामाण्यस्य मनःसंनिकर्षसमये तत्सत्त्वार्थं तदाश्रयज्ञानस्यापि सत्त्वं वक्तव्यम्, तथा च न तदेव ज्ञानं स्वाश्रितप्रामाण्येन्द्रियसन्निकर्षादुत्पत्तुमर्हति, सिद्धस्वभावात् । ज्ञानान्तरस्योत्पत्तौ तु परतःप्रामाण्यप्रसक्तिरिति, लिङ्गादिजन्यत्वाभावाच्च नानुमित्यादिरूपताशङ्कापि । किं चेदं प्रामाण्यमिति वा तत्तेन गृह्यते तत्प्रामाण्यमिति वा । आद्ये ज्ञाननिष्ठतया अग्रहणात् गृहीते तस्मिन् संशयप्रसङ्गः । द्वितीये स्वविशेषितप्रामण्यग्रहणे त्वग्रहापत्तिः । अपि च यथातथा भवतु, तत्तु कस्य प्रामाण्यं गृह्णातीति भाट्टं प्रति विकल्पयति—**अपि चेत्यादिना** । तत्फलं प्राकट्यम्, प्राकट्यलिङ्गानुमेयं विज्ञानं भाट्टैरभ्युपेयत । न चाप्रत्यक्षगतं प्रामाण्यं भवितुं प्रत्यक्षमर्हति । न च स्पर्शशब्दादितुल्यता; जातित्वात् । जातेरेव व्यक्तिप्रत्यक्षतानियतप्रत्यक्षत्वम्, वक्ष्यते च जातित्वमतमनन्तरमेवेति भावः । फलगतप्रामाण्यग्रहणपक्षेऽपि किं वहिरिन्द्रियेण ? आन्तरेण वा ? नाद्य इत्याह—**फलस्यापीति** । अर्थनिष्ठत्वादेव नान्तरप्रत्यक्षत्वमपि । यदि कश्चिदात्मनिष्ठत्वं मन्वीत सुचरितमिश्रमतानुसारेण तथापि स्वप्रकाशत्वादेवाविषयत्वे तद्गतप्रामाण्यमविषयः इत्यपि द्रष्टव्यम् । ज्ञानग्राहकादेव तत्प्रामाण्यग्रहणं ज्ञप्ति-

---

साथ सम्बन्ध नहीं रहता है, और बाह्य इन्द्रिय के सम्बन्ध से वह नील ज्ञान हुआ है, अतः वह नील के प्रति प्रमाण है, ज्ञान के प्रति नहीं । प्रमात्व ज्ञान का धर्म है, ज्ञान के ज्ञान विना तद्गत प्रमात्व का ज्ञान नहीं हो सकता है, और अन्तर्गत ज्ञान के साथ वहिरिन्द्रिय के सम्बन्ध का अभाव रहता है, और स्वतःप्रामाण्यवादी भट्टानुयायी भी होते हैं, अतः उनके प्रति प्रश्न है कि वह प्रत्यक्ष विज्ञान के प्रामाण्य (प्रमात्व) का ग्रहण करेगा, या उस ज्ञान से जन्य, फल (प्राकट्य=ज्ञातता) के प्रामाण्य का भी ग्रहण करेगा । वहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है । भट्टमत में फल (प्राकट्य) रूप लिङ्ग से ज्ञान के अनुमेय (अनुमान से ज्ञेय) उसकी अप्रत्यक्षता से तद्गत प्रामाण्य की प्रत्यक्षता की सिद्धि नहीं हो सकती है । (घट, विषयता सम्बन्ध से ज्ञान वाला है, ज्ञातता वाला होने से) इस प्रकार से अनुमान मानते हैं और ज्ञातता रूप फल को भी स्वप्रकाशता के कारण बाह्य इन्द्रिय का विषयत्व नहीं होता है, और ज्ञातता के बाह्य विषय वृत्ति होने से अन्तरिन्द्रिय मन

वाह्येन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः। नापि द्वितीयः; ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वे प्रामाण्यस्य क्वचिदपि ज्ञाने प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयाभावप्रसङ्गात्। ननु ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेप्यर्थविशेषितत्वस्य सांशयिकत्ववत्प्रामाण्यस्यापि सांशयिकत्वमुपपद्यते। तथाहि—कुम्भज्ञानस्याम्भो विषयोऽभून्न वेति संशयाना दृश्यन्ते जनाः, साम्भसामनम्भसामपि कुम्भानामुपलम्भात्। एवं प्रामाण्येऽपि संशयः किं न स्यादिति चेत्, मैवम्; अम्भसः कुम्भग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वानङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वाऽविशेषेण सकलकलशानां

स्वतस्त्वमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। दृश्यते हि क्वचिज्ज्ञाने प्रतीतेऽपि प्रामाण्ये संशयः, स न स्यात्; ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेरित्यर्थः। तत्र ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेप्युपपन्नः संदेहः ज्ञानगततदर्थविशेषितत्वस्य ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेऽपि तत्र संदेहदर्शनादतः प्रशिथिलमूलस्तर्कः हेतुश्च सव्यभिचार इत्योदयनं परतस्त्वानुमानं केचिद्दूषयांबभूवुः, तत्प्रसङ्गादनूद्य दूषयति—**नन्वित्यादिना**। ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वे समानेऽपि कुम्भसलिलयोर्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वात् सोदकेऽपि कुम्भे कुतश्चिन्निमित्तात्सलिलग्राहकसामग्रीवैकल्याद्विषयत्वोपप्लवेन संभवत्यपि तावत्यंशे संशयः, इह तु न तथा किंचिदस्ति संशयकारणमिति परिहरति—**मैवमिति**। बाध-

---

से भी वह गृहीत नहीं हो सकता है अतः उस फल (ज्ञातता) गत यथार्थत्व स्वरूप प्रामाण्य भी बाह्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है। (ज्ञानग्राहक मात्र से ग्राह्यत्व) रूप दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ज्ञानगत प्रामाण्य के ज्ञानग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्यत्व होने पर, जो कहीं ज्ञान के ग्रहण होने पर उसके प्रामाण्यविषयक संशय होता है, वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि धर्मी के सामान्य ज्ञान होते जिस धर्मविशेष का ज्ञान नहीं होता है; और संस्कार से धर्म का स्मरण मात्र होता है, उसका संशय होता है, धर्मी के निश्चय से निश्चित धर्म प्रमात्व का संशय नहीं हो सकता है कि यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है। यदि कहा जाय कि प्रामाण्य के ज्ञानग्राहक मात्र ग्राह्य होते भी, जैसे ज्ञानगत अर्थविशेषितत्व (अर्थविषयकत्व) के ज्ञात होते भी संशय होता है, वैसे प्रामाण्य के संशयविषयत्व का भी सम्भव है, जैसे कि सजल निर्जल दोनों प्रकार के घट के होने से कहीं घट के ज्ञान होने पर भी मेरे ज्ञान का जल भी विषय हुआ या नहीं, अर्थात् मुझसे ज्ञात घट सजल था, या निर्जल था ऐसा संशय करने वाले दीख पड़ते है, इसी प्रकार से प्रामाण्यविषयक संशय क्यों नहीं होगा। तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि जल को कुम्भग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य नहीं माना जाता है, यदि घट ग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य जल को माना जाय तो सब घटों को सामान्य रूप से

सलिलवत्त्वप्रसङ्गात् । तस्मान्नारिकेलफलान्तर्गतसलिलादिवद्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वादेव तत्र संशयः । प्रामाण्ये तु न तथेति युक्तमुत्पश्यामः । किं च विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यतायां प्रामाण्यस्य शुक्तिकारजतादिबुद्धिष्वपि तद्ग्रहप्रसङ्गः, सत्यम्; गृहीतमेव तत् बाधकादपनीयते । यथाहुः—

'तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैः अपोद्यते ॥' इति ॥ (श्लो. वा. २।५३)

तस्मादस्माकमिष्टप्रसञ्जनमिति चेत्, मैवम्; परतः प्रामाण्यप्रसङ्गात् । तथाहि—प्रसक्तमपि प्रामाण्यं रजतादिबुद्धिषु बाधकज्ञानादपनीयते इति वदतां बाधकज्ञानाभावनिबन्धनमेव प्रामाण्यावधारणमभ्युपगतं स्यात् ।

कान्तरमाह—**किं चेति** । पूर्वमुत्पत्तिस्वतस्त्वे विभ्रमेऽपि तत्सत्त्वं स्यादित्युक्तम्; संप्रति ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तदुच्यत इति न जामिता । उत्सर्गतः प्राप्तस्यापि तत्र तस्यापवादमाह स्वतःप्रामाण्यवादी—**सत्यमिति** । सत्यमर्धाङ्गीकारे । अनङ्गीक्रियमाणांशमाह—**बाधकादिति** । बोधात्मकत्वेन, ज्ञानत्वादेव; शुक्तिरजतादिबुद्धेरपि प्रमाणता प्राप्ता गृहीता तथाप्यर्थान्यथात्वज्ञानैः प्रतीतार्थस्यान्यथात्वबोधकैः बाधकज्ञानैर्हेतूत्थदोषज्ञानैर्हेतुगतदोषज्ञानैश्चापोद्यते बाध्यत इति भट्टोक्तेरर्थः, परतःप्रामाण्यमापादयन्ननिष्टतामेव समर्थयते—**मैवमिति** । प्राप्तप्रामाण्यस्यापि बाधकज्ञानादप-

---

जलवत्त्व ही प्राप्त होगा, अतः नारियल के फलान्तर्गत जलादि के समान घटजल के घटग्राहक सामग्री से भिन्न से ग्राह्यत्व होने ही के कारण वहाँ संशय होता है, और स्वतःप्रामाण्यवाद में प्रामाण्य में वैसा भिन्न सामग्रीग्राह्यत्व नहीं है, अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में वैषम्य है, अतएव संशयाभावापत्ति युक्त ही कहा गया है। और यह भी आपत्ति है कि यदि ज्ञानग्राहक सामग्री मात्र से प्रामाण्य का ग्रहण होगा, तो शुक्ति आदि में रजतादि के भ्रम ज्ञानों में भी प्रामाण्य ज्ञान की प्राप्ति होगी, ज्ञानग्राहक सामग्री वहाँ भी रहती है। यदि कहा जाय कि यह बात सत्य ही है, वहाँ प्रामाण्य ग्रहण होता ही है, किन्तु गृहीत भी प्रामाण्य फिर बाधक बलवत् प्रमाण से अपनीत (निवारित) होता है, अतएव श्री भट्ट जी ने कहा है कि—

ज्ञानात्मक होने से शुक्ति-रजतादि ज्ञानों में भी यद्यपि प्रमाणता (प्राप्त) गृहीत होती है, तथापि अर्थ के अन्यथात्व (मिथ्यात्व) के ज्ञान से हेतु (करण) गत दोषादि के ज्ञान से प्रामाण्य बाधित हो जाता है। तो यह कहना स्वतस्त्ववादी का युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार से परतः प्रामाण्य की प्राप्ति होती है। शुक्ति रजतादि ज्ञानों में प्राप्त भी प्रामाण्य बाधक ज्ञान से निवारित होता है, ऐसा कहने वाले बाधक ज्ञानाभाव निमित्तक ही प्रामाण्य निश्चय को मानेंगे, अतः ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न बाधक ज्ञानाभाव से प्रामाण्य के ग्रहण होने के कारण परतः प्रामाण्य ग्रहण की प्राप्ति होगी ही।

न च ज्ञप्तिस्वतस्त्वे मानमस्ति। ननु 'प्रमा स्वतो ज्ञायते परनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वात् ज्ञानवत्', तथा 'प्रामाण्यं स्वतो ज्ञायते अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत्' इत्यस्त्येवानुमानमिति चेत्, मैवम्; आद्यप्रयोगे परतः प्रामाण्यवादिनं प्रति हेतोरसिद्धेः, दृष्टान्ताभावाच्च। न हि पक्षीकृतां प्रमां विपक्षकुक्षिनिक्षिप्तामप्रमां च विहाय ज्ञानस्यापरा कोटिरस्ति, या दृष्टान्तपदवीमुपारोहेत्। द्वितीये च प्रयोगे प्राभाकरस्य स्वयंप्रभत्वे

वादे तत्सदसत्त्वाभ्यामप्रामाण्यप्रामाण्यव्यवस्थेति परतःप्रामाण्यापत्तिः प्राप्नोतीत्यर्थः।

ज्ञप्तिस्वतस्त्वानिरुक्तिमुक्त्वा प्रमाणमपि तत्राक्षिपति—**न चेति**। रत्नदीपावलीयमनुमानमुद्भावयति—**ननु प्रमेति**। **स्वतो ज्ञायत इति**। ज्ञानज्ञापकमात्राज् ज्ञायते। **परनिरपेक्षेति**। ज्ञानसामग्रीमात्रादुत्पन्नत्वादित्यर्थः। परतःप्रामाण्यवादिनः परनिरपेक्षोत्पत्तित्वं प्रमाया अप्रसिद्धमिति दूषयति—**मैवमिति**। किं च प्रमाणाप्रमाणाभ्यां द्वैराश्यमेव ज्ञानस्य। तत्र प्रमाणवर्गः पक्षः सर्वः, इतरस्तु विपक्षः ततो दृष्टान्तोऽपि नास्तीत्याह—**दृष्टान्तेति**। अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वादिति द्वितीयानुमानेऽपि गुरुमतभाट्टमतयोर्यथायथमनैकान्तिमाह—**द्वितीये चेति**। ज्ञाततयानुमेयं हि ज्ञानं भाट्टमते ततो ज्ञाततानुमेयत्वं नाम कश्चिज्ज्ञानस्य धर्मस्तस्मि-

---

प्रामाण्य के ज्ञान के स्वतस्त्व की अनिरुक्ति कही गई। अब प्रमाण की अनिरुक्ति कही जाती है कि—प्रामाण्य के स्वतस्त्व में प्रमाण भी नहीं है। यदि कहा जाय कि (प्रमा, स्वतः ज्ञात होती है, परनिरपेक्ष उत्पत्ति वाली होने से, ज्ञान के समान) तथा (प्रामाण्य, स्वतःज्ञात होता है, अप्रामाण्य से भिन्न होता हुआ ज्ञानैकधर्मत्व से, ज्ञानत्व के समान) ये अनुमान प्रमाण हैं, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रथम अनुमान में परतःप्रमाण्यवादी के प्रति हेतु असिद्ध है। और दृष्टान्त का भी अभाव है। क्योंकि प्रमा, अप्रमा दो प्रकार के ज्ञान होते हैं, उनमें प्रमा सपक्ष स्वरूप है, अप्रमा विपक्ष रूप है। उनसे भिन्न कोई ज्ञान का स्वरूप नहीं है कि जो सपक्ष रूप दृष्टान्त हो सके। अतः पक्षकृत प्रमा विपक्ष के अन्दर प्रविष्ट अप्रमा को छोड़कर ज्ञान के कोटचन्तर के अभाव से दृष्टान्त का अभाव है। और दूसरे प्रयोग (अनुमान) में अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वरूप हेतु, प्रभाकर के स्वयं प्रभात्व रूप ज्ञानैक (ज्ञानवृत्ति) धर्म में, तथा भट्ट के (ज्ञातताऽनुमेयत्व) धर्म में व्यभिचारी है। क्योंकि उन दोनों में ज्ञानैकधर्म होते भी ज्ञानैक सामग्री मात्र ग्राह्यत्व साध्य का अभाव रहता है। अन्यथा यदि ज्ञानग्राहक सामग्री मात्र से वे दोनों धर्म ग्राह्य होते, तो उन विषयक वादियों के विवाद के अभाव की प्राप्ति होगी, जैसे कि ज्ञानविषयक विवाद का अभाव रहता है। परन्तु ज्ञान के

ज्ञानैकधर्मे, भाट्टस्य च ज्ञाततानुमेयत्वधर्मे व्यभिचारः। तयोर्ज्ञानैकधर्मत्वेऽपि ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वाभावात्। अन्यथा तत्र वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसक्तेः। ज्ञप्तिपरतस्त्वे चानुमानं न्यायकुसुमाञ्जलावाह स्म चोदयनः 'प्रामाण्यं परतो ज्ञायते अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रामाण्यवत्।' विपक्षे प्रामाण्ये संशयो न स्यात् ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेर्बाधकस्तर्कः।

ननु नैवमनुमानमुदेति, धर्मिहेत्वोरसिद्धेः। तथाहि—प्रामाण्यं प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गावगम्यं भवद्भिरुपगम्यते, तस्य च लिङ्गस्य प्रवृत्तिः

न्नित्यर्थः। ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वधर्मेऽव्यभिचारो द्रष्टव्यः। अथ किमिति तयोरपि न स्वतो ज्ञानमिति तत्राह—**अन्यथेति**। यदि हि ज्ञानग्राहकादेव तयोरपि ज्ञानं स्यात्तर्हि ज्ञानवदेव तयोरपि न विवादो वादिनां स्यात्, विवदन्ते चेत्यर्थः। सांशयिकत्वादित्युक्ते भागासिद्धिः स्यात्, न हि करतलस्पर्शवत्त्वादिप्रत्यक्षे मुग्धोऽपि संदिग्धे। तत उक्तम्—**अनभ्यासदशायामिति**। विपक्षे बाधकस्तर्क इति संबन्धः।

यदत्र रत्नदीपावल्यां दूषणमुक्तं तदनुवदति—**ननु नैवमिति**। **प्रवृत्तिसामर्थ्येति**। 'विमतमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा ज्ञानाभासः' इति व्यतिरेकिणाऽनुमानादित्यन्वयिना वा। अनभ्यासदशापन्नेषु प्रामाण्यमनुमीयते संशयाच्च प्रवृत्तिः, अभ्यासदशापन्नेषु तु तज्जातीयत्वलिङ्गेन इत्यभ्युपेयत इत्यर्थः। क्वचिदनिर्णीतस्य साधारणधर्मदर्शनाद्युपस्थापिततया संशयकोटिताऽभावात् तन्निर्णय-

---

स्वप्रकाशत्व और ज्ञातता के अनुमेयत्व में विवाद रहता है। अतः ज्ञानग्राहक से ग्राह्यत्व का अभाव भी सिद्ध होता है। और न्यायकुसुमाञ्जलि में श्री उदयनाचार्य ने कहा है कि (प्रामाण्यं, परतः, ज्ञात होता है, अनभ्यास दशा में सांशयिक होने से, अप्रामाण्य के समान) अर्थात् जिस विषय का बार-बार अनुभव होता है, तज्जन्य सफल प्रवृत्ति आदि से वहाँ प्रमात्व का संशय नहीं होता, किन्तु कहीं किसी वस्तु का प्रथम ज्ञान होता है तो अवश्य प्रामाण्य का संशय होता है। यदि ज्ञानग्राहक सामग्री से, प्रामाण्य गृहीत हो तो ज्ञान के ग्रहण होने पर प्रामाण्य के भी गृहीत होने से अनभ्यास दशा में भी प्रामाण्य संशय नहीं होना चाहिये। ज्ञान के निश्चायक हेतु से ही प्रामाण्य के निश्चय के प्राप्त होने से यह विपक्ष में बाधक तर्क है।

यहाँ शङ्का होती है कि इस प्रकार का अनुमान ही नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रामाण्य रूप धर्मी और सांशयिकत्व रूप हेतु की असिद्धि है, प्रामाण्य को आप प्रवृत्तिसामर्थ्य (संवादित्व) लिङ्ग (हेतु) से अवगम्य (अनुमेय) मानते हैं और संवादि प्रवृत्ति रूप लिङ्ग की प्रामाण्यविषयक प्रवृत्ति (अनुमापकत्व) संशय-

प्रामाण्ये संशयपूर्विका । असंदिग्धे सिषाधयिषाभावात्, अनुमाना-प्रवृत्तेः । तत्संशयश्च क्वचिन्निश्चयाधीन इति प्रामाण्ये संशयनिश्चय-योरन्योन्याश्रयादनवस्थानाद्वा नैकमपि सिद्ध्येदिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात् किं स्वार्थानुमानमसंदिग्धे न प्रवर्तते ? किंवा परार्थम् ? नाद्यः; सद्यःसमुन्मीलितविलोचनस्य शिखरिशिखरविपरिवर्त-मानधूमलेखावलोकनसमनन्तरमप्रत्यूहं धूमध्वजमनीषासमुन्मेषात् । नापि द्वितीयः; विपर्यस्तमपि प्रति प्रतिवादिनमनुमानप्रयोगोपगमात् । अन्यथा जल्पवितण्डयोः प्रमाणतर्काभ्यां स्वपरपक्षसाधनोपालम्भासंभवात् । 'संदिग्धे .

स्य च संशयसापेक्षानुमानाधीनत्वात्संशयनिर्णययोः परस्परसापेक्षत्वे परस्पराश्रयात् संशयान्तरनिर्णयान्तरापेक्षायामनवस्थानाच्च नैकमपि सिद्धयति, लोकसिद्धं च किंचिद्रूपं सर्वत्र प्रमाणतः सिद्धमभिवाञ्छतो नास्ति । अतो निर्णीतप्रामाण्याभावाद्धर्म्य-भावः संशयाभावाच्च हेत्वभाव इति खण्डलार्थः । अत्र विकल्पपूर्वकं संशयव्यतिरे-केणापि निश्चयनुपपादयन्धर्मिहेतू समर्थयते—**मैवमित्यादिना** । शिखरी पर्वतः तस्य शिखरमग्रिमभागः, अप्रत्यूहं निर्विघ्नम्, धूमध्वजो वह्निर्मनीषा बुद्धिः, स्वार्था-नुमानं च हितसाधनादिज्ञानप्रामाण्यानुमानमित्यर्थः । परार्थानुमानेऽपि न संशय-पूर्वकत्वनियमः, विपर्यस्तं प्रत्यपि प्रयोगादित्याह—**विपर्यस्तमिति** । **जल्पवित-ण्डयोरिति** । नहि तत्र संदिहानः प्रतिवादी, यं प्रत्यनुमानं प्रयुज्येत, अपि तु

पूर्वक हो सकती है । क्योंकि असन्दिग्ध में सिषाधयिषा (साधनेच्छा) के अभाव से अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है और वह संशय भी कहीं निश्चय के अधीन होता है । निश्चित के संस्कार द्वारा कहीं स्मरणपूर्वक कोटचन्तर के स्मरण होने पर संशय होता है । अतः प्रमात्व के संशय में प्रमात्व–अप्रमात्व दोनों के स्मरण अपेक्षित है, इस प्रकार से प्रामाण्यविषयक संशय और निश्चय में अन्योन्याश्रय से वा अनवस्था से एक भी नहीं सिद्ध होगा । अर्थात् कहीं प्रथम निश्चय हो तो संस्कारस्मृतिपूर्वक संशय से अनुमान हो, और अनुमान हो तो निश्चय हो, अनुमान के विना निश्चय नहीं होता है । जो कहीं निर्णीत नहीं है, वह साधारण धर्म-दर्शनादि द्वारा संशय को नहीं उत्पन्न कर सकता है और उसके निर्णय को संशया-धीन-अनुमानाधीन होने से संशय-निर्णय को परस्परापेक्षत्व है, संशयान्तर निर्णयान्तर की अपेक्षा होने पर अनवस्था होगी, कि जिससे एक भी नहीं सिद्ध होगा । परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है । क्योंकि विचाराऽसह है, विचार है कि क्या स्वार्थानुमान असन्दिग्ध में नहीं प्रवृत्त होता है, या परार्थाऽनुमान नहीं प्रवृत्त होता है । वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि खुले नयनवाले को पर्वत के शिखर पर वर्तमान धूमरेखा दर्शन के अनन्तर शीघ्र ही निर्विघ्न अग्नि का अनुमान होता है,

न्यायः प्रवर्त्तते' इति वचनस्यायोगव्यवच्छेदपरत्वात्, क्वचित्साधकबाधकप्रमाणानुदयात्संदेहे सति न्यायप्रवृत्त्युपपत्तेः। न चानभ्यासदशायामिति विशेषणस्य वैयर्थ्यम्; असिद्धिवारकत्वात्। न च व्यभिचारवारकमेव हेतोर्विशेषण-

---

विपर्यस्तः। तथा चाह वाचस्पतिः—'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इति। वादे तु स्वत एव वाहार्यो वा संशयोऽस्ति नत्वितरयोरित्यर्थः। ननु 'संदिग्धे न्यायः प्रवर्तते' इति वृद्धवचनस्य तर्हि का गतिरित्यत आह—संदिग्धे इति। नैतत्संदेहाभावेऽनुमाननिवृत्तिपरम्, अपि त्वनुमानस्थले संदेहोऽप्यस्तीत्ययोगव्यावृत्तिपरमित्यर्थः। अयोगव्यावृत्तिमेवोपपादयति—क्वचिदिति। यच्च तैरेवानभ्यासदशायामिति विशेषणं व्यर्थं व्यभिचारानिवारकत्वादसिद्धिपरिहाराय च विशेषणप्रक्षेपायोगादित्युक्तम्, अनभ्यासदशायामित्यादिना तदनूद्य दूषयति—न चानभ्यासेत्यादिना। रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्ते मनस्यनैकान्तिकता तदर्थं रूपस्यैवेत्युक्तम्, तथा चासिद्धिः द्रव्यसामान्यादेरपि व्यञ्जकत्वाच्चक्षुषस्तदर्थं रूपादिषु मध्य इत्युक्तम्, यद्यपि रसाग्राहकत्वे सति रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्त एव मनस्यपि न व्यभिचार, तथाप्यसिद्धिपरिहारार्थमपि भवति विशेषणमिति दर्शयितुमिदं चिरन्तनैर्विशेषणं प्रक्षिप्तमिति भावः। तत्किमनु-

---

उसमें संशयादि की अपेक्षा नहीं होती है। परार्थानुमान में भी संशय की अपेक्षा नहीं होती है। क्योंकि संशयज्ञान उभयकोटिक होता है और जो वादी विपर्यस्त (विपर्ययज्ञान युक्त) है, अत एव संशयरहित है। उस प्रतिवादी के प्रति अनुमान का प्रयोग होता है। अन्यथा जल्प और वितण्डारूप कथाओं में प्रमाण और तर्क के द्वारा परस्पर पक्षों के साधन और खण्डन का असम्भव होगा, अत एव (निश्चित है कि वादं कुरुतः) स्वस्वपक्ष के निश्चय वाले वादी प्रतिवादी वाद (कथा) करते है। इस प्रकार से श्रीवाचस्पति मिश्र जी ने कहा है। शङ्का है कि (सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तते) इस वृद्ध वचन की क्या गति होगी, यदि संशय बिना भी अनुमान की प्रवृत्ति होती है, तो यह वचन बाधित होता है, उत्तर है कि यह वचन अयोगव्यवच्छेद परक है। अर्थात् अनुमान में कहीं भी संशय का सम्बन्ध नहीं होता है, इसका निषेधपरक यह वचन है, क्योंकि जहाँ कहीं स्वपक्षसाधक, परपक्ष बाधक प्रमाणों के अनुदय (अप्रतीति) रहती है, वहाँ सन्देह के रहते भी न्याय (अनुमान) की प्रवृत्ति होती है। और अनभ्यासदशायाम्, यह हेतु का विशेषण व्यर्थ है, यह नहीं समझना चाहिये, क्योंकि भागाऽसिद्धि-वारण के लिये सार्थक है, अर्थात्, सांशयिकत्वात्, इतना ही हेतु होता, तो अभ्यासदशा में सांशयिकत्व के नहीं रहने से भागाऽसिद्धि होती, और विशेषण से अभ्यास दशा में हेतु नहीं रहता है, न साध्य रहता है। क्योंकि वहाँ सफल प्रवृत्ति आदि से प्रामाण्य नहीं जाना जाता है, न प्रामाण्य का संशय होता है। यदि कहा जाय कि व्यभिचार का वारक ही हेतु का विशेषण सार्थक होता है। यह नियम है, तो कहा जाता है कि

मिति नियमः; चक्षुस्तैजसं रूपादिपु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्; प्रदीपवदित्यादिचिरंतनानुमानेष्वसिद्धिनिवारकाणां विशेषणानां बहुलमुपलम्भात्। अपि चासिद्धिनिवारणार्थेऽपि विशेषणोपादाने न दोषं पश्यामः। क्षित्यादिकर्मकर्तृकं शरीर्यजन्यत्वादाकाशवदित्यादाविव व्याप्यत्वासिद्धिरिति चेत्, मैवम्; तत्राकर्तृकत्वे साध्ये तदेकदेशस्याजन्यत्वस्यैवोपाधितया विशिष्टस्य

पक्षो व्याप्तवचनेनैव साध्योऽयमर्थ इति मत्वा तं प्रत्यनुपपत्त्यभावं दर्शयति— **अपि चेत्यादिना**। दोषं शङ्कयति—**क्षित्यादिकमिति**। अत्र ह्यजन्यत्वादित्युक्तेऽङ्कुरादेर्जन्यत्वादसिद्धिः स्यात्तदर्थं शरीर्यजन्यत्वादित्युक्तम्। तदत्र यथाऽसिद्धिपरिहाराय विशेषणे कृते व्याप्यत्वासिद्धिः अजन्यत्वस्यैवाकर्तृकत्वोपाधित्वात्तद्वदिहापि स्यादित्यर्थः। न तत्राद्धिपरिहारप्रयोजनविशेषणवद्व्याप्यत्वासिद्धिः, किं तर्हि तदेकदेशस्योपाधित्वसंभवात्। न चात्र तथा सांशयिकत्वस्यैकदेशस्योपाधित्वमिति परिहरति—

यह नियम नहीं है, क्योंकि चक्षुः (नेत्र), तैजस, (तेज) का कार्य है, रूपादि गुणों में रूप का ही अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) होने से, प्रदीप के समान। इत्यादि पुराने अनुमानों में असिद्धिवारक विशेषण बहुत उपलब्ध होते हैं। यहाँ, रूप का ही अभिव्यञ्जक होने से, इतना ही हेतु का स्वरूप होता तो असिद्धि की प्राप्ति होती, क्योंकि चक्षु रूप का ही व्यञ्जक नहीं होता है, किन्तु रूपवाले द्रव्यों का भी व्यञ्जक होता है, अतः उस असिद्धि के वारण के लिये (रूपादि गुणों में) यह विशेषण दिया गया है कि जिससे असिद्धि का वारण होता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। और असिद्धि-वारणार्थक विशेषण के ग्रहण में कोई दोष भी नहीं दीखता है कि जिसमें उसका ग्रहण नहीं किया जाय। यदि कहें कि (क्षिति=पृथिवी आदि, अकर्तृक हैं, शरीरी कर्ता से अजन्य होने से, आकाश के समान) इत्यादि के समान व्याप्यत्वाऽसिद्धि दोष है, क्योंकि यहाँ अजन्यत्व कहने पर पृथिवी अंकुरादि के सावयवता से जन्यत्व होने के कारण असिद्धि होती, उसके वारण के लिये शरीरी विशेषण दिया गया, अतः जैसे यहाँ असिद्धिवारणार्थक विशेषण से व्याप्यत्वासिद्धि होती है, वैसे अन्यत्र भी होगी। तो यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि शरीरी अजन्यत्व में असिद्धिवारक विशेषणनिमित्तक व्याप्यत्वासिद्धि नहीं मानी जाती है, किन्तु उस अकर्तृकत्व साध्य में शरीरी अजन्यत्व हेतु के एकदेश जन्यत्व को उपाधिता से विशिष्ट हेतु में व्याप्यत्वाऽसिद्धि होती है। अकर्तृकत्वरूप साध्य का अजन्यत्व व्यापक है, और शरीरी अजन्यत्व का अव्यापक है, शरीरी अजन्यत्व अंकुरादि में रहता है, परन्तु अजन्यत्व नहीं रहता है। अतः सोपाधिकता से व्याप्यत्वासिद्धि है, यह उदयनाचार्य ने कहा भी है कि, शरीरी इस विशेषण द्वारा

व्याप्यत्वासिद्धेः। उक्तं हि—'एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयाऽसिद्धिरापद्यते' इति। प्रकृते तु परतो ज्ञाने न सांशयिकत्वमुपाधिः; स्फीतालोकविपरिवर्तिनां परतो ज्ञायमानानामपि घटादीनां सांशयिकत्वादर्शनात्। ननु प्रामाण्यस्य परतो ज्ञानेऽनवस्था, तत्तत्प्रामाण्यग्रहणायान्यस्यान्यस्य प्रमाणस्यापेक्षणादतः प्रतिकूलतर्कपराहतं परतःप्रामाण्यानुमानमितिचेत्, मैवम्; मानान्तरस्यावश्यंभावनियमाभावात्।

न च स्फुरत एव मानस्यार्थनिश्चायकत्वमन्यथा ज्ञानेऽप्यनन्तरं संदेहापत्तेरिति वाच्यम्; ज्ञाततयानुमेयं ज्ञानमिति मते निलीनस्यापि ज्ञानस्यार्थ-

---

मैवमित्यादिना। एकामसिद्धिमिति। स्वरूपासिद्धिं परिहरतो व्याप्यत्वासिद्धिरिति बौद्धधिक्कारे उदयनेनोक्तमित्यर्थः। परतो ज्ञायमानानामिति। ज्ञानग्राहकातिरिक्तग्राह्याणामित्यर्थः। प्रकृतानुमानस्य तर्कपराहतिं शङ्कते—ननु प्रामाण्यस्येति। येन हि प्रमाणेन प्राथमिकस्य प्रामाण्यं गृह्यते तत्प्रामाण्यमपि प्रमाणान्तरेणैवमुत्तरत्रापीत्यनवस्थेत्यर्थः। उक्तं च वाचस्पतिमिश्रैः—'परं हि तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयते अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानं तद्गोचरं नान्तरीयकार्थान्तरदर्शनं वा तत्सर्वं स्वयमवोधितप्रामाण्यमाकुलं सत्कथं प्रवर्तकज्ञानं पूर्वमनाकुलये'दिति।

ननु कथमवश्यंभावनियमाभावः यावता स्फुरत एव प्रमाणस्य स्वविषयनिश्चायकत्वनियमात् तदुत्तरप्रमाणानामपि भवितव्यमेव स्फुरणेनेति, नेत्याह—न च स्फुरत एवेति। न च वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुः—ज्ञाततयेति। स्वतःप्रामाण्येपि

एक स्वरूपासिद्धि के वारण (परिहार) करने वाले को दूसरी व्याप्यत्वाऽसिद्धि प्राप्त होती है, और प्रकृत में तो प्रामाण्य के परतःज्ञान में, अनभ्यासदशा में सांशयिकत्व हेतु के एकदेश सांशयिकत्व उपाधि नहीं है, क्योंकि पूर्णप्रकाश में वर्तमान ज्ञानग्राहक अतिरिक्त से गृह्यमाण भी घटादिकों में सांशयिकत्व नहीं देखा जाता है, अतः साध्यव्यापकता नहीं होने से उपाधिता नहीं है। यदि शङ्का हो कि ज्ञानगत प्रामाण्य के अन्य ज्ञान से ग्रहण होने पर अनवस्था होगी, क्योंकि तत्तत् प्रामाण्यों (प्रमाणत्वों) के ग्रहण (ज्ञान) के लिये अन्य-अन्य प्रमाणों की अपेक्षा होगी, अतः इस प्रतिकूल तर्क से परतः प्रामाण्य का अनुमान पराहत (नष्ट) है, तो ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिये, क्योंकि पूर्वप्रमाणविषयक प्रमाणान्तर को अवश्यंभाव का नियम नहीं माना जाता है, न रहता है।

यदि कहें कि स्फुटतः (प्रकाशमान) ही प्रमाण (ज्ञान) की अर्थनिश्चायकत्व (बोधकत्व) हो सकता है। अन्यथा ज्ञान के बाद अज्ञानविषयक भी संशय की प्राप्ति होगी कि मुझे ज्ञान हुआ या नहीं। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि

निश्चायकत्वात्। स्वयं वेदनं संवेदनमिति वदतः प्राभाकरस्यापि मते प्रामाण्यस्य तद्धर्मस्य तद्गतगुणत्वादेरिव न स्वतःस्फुरणम्, तस्यापि संवेदनवत्स्वयंप्रभावत्वावत्तेः। तथात्वे चाप्रमात्वस्यापि स्वत एव स्फुरणप्रसङ्गात्, ततश्चाप्रामाण्यं परतः प्रतीयते इति स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गः। वेदान्तिनां च प्रामाण्यस्य साक्षिवेद्यत्वेन स्फुरणनियमादिदं प्रमाणमप्रमाणं वेति संदेहो न भवेत्। न च प्रमाणं स्वत एव फलं जनयति, हानोपादानोपेक्षालक्षणस्य त्रिविधस्यापि फलस्य वस्तुज्ञानातिरिक्तगुणदोषमाध्यस्थ्य-

---

समानैवानस्थेत्यपि द्रष्टव्यम्। भवतु भाट्टान्प्रति अज्ञायमानप्रकाशहेतुत्वावादिनो व्यभिचारः, स्वप्रकाशवादिनं प्रभाकरं प्रति किं वक्तव्यमित्याह—**प्राभाकरस्यापीति**। तत्र किं ज्ञानगतं प्रामाण्यं अर्थप्रकाशनसमसमये ज्ञानेन स्फुरति? स्वत एव वा? न तावज्ज्ञानेन; पूर्वमेव निरस्तत्वात्। द्वितीयं निषेधति—**न स्वतःस्फुरणमिति**। कुतो न स्वतःस्फुरणमिति तत्राह—**तस्यापीति**। ततोऽपि वा किमनिष्टमिति तत्राह—**तथात्वे चेति**। तथाप्यपरितुष्यन्तं प्रत्याह—**ततश्चेति**। ननु साक्षिवेद्यवृत्तिज्ञानवादिनां तत्समये च साक्षिणैव प्रामाण्यमपि स्फुरतीति वदतामखण्डितैव व्याप्तिरित्यत आह—**वेदान्तिनां चेति**। तेषां सन्देहानुपपत्तिरेव बाधिकेत्यर्थः। एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वं दूषयित्वा परतस्त्वं समर्थितम्, इदानीं व्यवहृतावपि तदुभयं व्याकरोति—**न च प्रमाणमिति**। नच वस्तुज्ञानमात्राद्धाना-

---

ज्ञातता से ज्ञान अनुमेय होता है, इस भट्ट मत में निलीन (अज्ञात) ही ज्ञान को अर्थनिश्चायकत्व होता है। वेदन (ज्ञान) स्वयं प्रकाश है, ऐसा कहने वाले प्रभाकर के मत में भी ज्ञान के धर्मरूप प्रामाण्य का ज्ञानगत गुणत्वादि के समान स्वतः स्फुरण (प्रकाश) नहीं होता है। उसका स्वतः स्फुरण हो तो ज्ञान के समान उसके धर्मप्रामाण्य को भी स्वयंप्रकाशत्व (स्वयंप्रभावत्व) की प्राप्ति होगी, और यदि प्रामाण्य को तथात्त्व (स्वयं प्रकाशत्व) होगा, तो अप्रमात्व का भी स्वतःस्फुरण ही प्राप्त होगा, और अप्रमात्व के स्वतःस्फुरण को मानने पर, अप्रामाण्य परतः प्रतीत होता है, यह निजसिद्धान्त का भङ्ग प्राप्त होगा, इस प्रकार से भाट्ट प्रभाकर के स्वतःप्रामाण्यवादी मत की भी अनवस्था होगी, यदि सब ज्ञान ज्ञात हो करके ही निश्चायक हों। वेदान्ती के मत में तो प्रामाण्य के साक्षिवेद्यत्व होने से प्रामाण्य के स्फुरण के नियम से यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है, ऐसा संशय नहीं होना चाहिये, यह संशयानुपपत्ति स्वतःप्रामाण्य में बाधक है। अतः प्रामाण्य का स्वतःग्रहण में सर्वमत में दोष प्राप्त होने के कारण परतः प्रामाण्य ही युक्त है। उक्त रीति से प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान में स्वतस्त्व नहीं, किन्तु परतस्त्व कहा गया है, व्यवहार रूप फल को ज्ञान स्वतः नहीं उत्पन्न करता है। क्योंकि हान (त्याग) उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा रूप तीनों प्रकार के फलों

दर्शनपूर्वकत्वाभ्युपगमात्, तस्माद्वेदान्ताः स्वत एव प्रमाणमिति न प्रामाणिकप्रतीतिपथमवतरति ।

अत्राभिदध्महे—न तावत्प्रमायाः स्वतस्त्वानिरुक्तिः, यतः—

आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता ।
तदन्यतः प्रमायास्तत्स्वतस्त्वमिति तद्विदः ॥ २१ ॥

विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वं नाम । न चैतल्लक्षणमव्यापकम्; सर्वप्रमाणानुगमात् । न चाजन्यत्वादव्या-

---

दयोऽपि तु इष्टसाधनतादिज्ञानात्ततश्च घटज्ञानस्येष्टसाधनतादिज्ञानाधीनव्यवहारजनकत्वं तस्य व्यवहृतौ परतस्त्वमित्यर्थः ।

लक्षण तावत्समर्थयते—**न तावदिति** । श्लोकेन लक्षणं संगृह्णाति—**आहुरित्यादिना** । यद्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदन्यतः तदतिरिक्तसामग्रीतोऽजन्यता प्रमायास्तत्स्वतस्त्वं प्रमास्वतस्त्वमिति तद्विद आहुरिति योजना ।

लक्षणवाक्यं विवृणोति—**विज्ञानेति** । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति विज्ञानसामग्रीत्वानधिकरणजन्यत्वानधिकरणत्वं स्वतस्त्वमित्यर्थः । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति परतःप्रामाण्यवादिभिश्च स्वीक्रियत इत्यतिव्याप्तिरर्थान्तरता वा स्यात् तन्निवृत्त्यर्थं तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वमित्युक्तम् । ननु कथं नाव्यापकं यावतेश्वरज्ञानेऽजन्येऽव्याप्तिः विशेषणाभावादिति तत्राह—**न चाजन्यत्वादिति** । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वं यदप्रमासु प्रसिद्धं तदत्यन्ताभाववत्त्वं हि

को, वस्तु के ज्ञान से अतिरिक्त दोषदर्शन, गुणदर्शन और माध्यस्थदर्शन पूर्वकत्व माना जाता है । अर्थात् वस्तु के ज्ञानमात्र से उनके ग्रहण त्यागादि फल नहीं होते हैं, किन्तु वस्तुज्ञान से भिन्न इष्टसाधनता रूप गुण के ज्ञान से ग्रहण, अनिष्ट साधनता रूप दोष के ज्ञान से त्याग, और दोष गुण से साहित्य रूप माध्यस्थ के ज्ञान से उपेक्षा होती है । अतः वेदान्त वाक्य = उपनिषद्, स्वतःप्रमाण हैं, यह कथन प्रामाणिक प्रतीति का विषय नहीं होता है । अर्थात् यह कथन मिथ्या है । यह पूर्वपक्ष हुआ ।

(अत्राभिदध्महे) अब यहाँ उत्तर कहते हैं कि प्रमा के स्वतस्त्व की अनिरुक्ति (लक्षण का अभाव) नहीं है क्योंकि—

प्रमा की जो विज्ञान-सामग्री से जन्यत्व युक्त तदन्य से अजन्यता है, वही प्रमा की स्वतस्ता है, इस प्रकार उसे स्वतस्त्ववेत्ता कहते हैं ॥ २१ ॥

विज्ञानसामग्री से जन्यत्व होता हुआ तदतिरिक्त हेतु से अजन्यत्व प्रमा के स्वतस्त्व प्रसिद्ध है । प्रमाण-सामग्रीजन्यत्व अप्रमा में भी रहता है, अतः अतिव्याप्तिवारण के लिये, तदन्याऽजन्यत्व कहा गया है । यह लक्षण अव्यापक नहीं

प्तिरीश्वरज्ञाने; तस्याजन्यत्वेऽपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तकारणजन्यत्वलक्षणविशिष्टधर्मवत्त्वाभावात्। नाप्यतिव्यापकम्; अप्रमाया विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात्। अस्ति चेह मानमनुमानम्, तथा हि—

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतः।
जायते व्यतिरिक्तत्वादप्रमातः पटादिवत्॥ २२॥

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति अप्रमातिरिक्तत्वात्

लक्षणं एतच्चेश्वरज्ञानेऽस्तीति नाव्याप्तिरित्यर्थः। अत्र चाप्रमाव्यतिरिक्तं सर्वं लक्ष्यसमानयोगक्षेमम्, पराभिमतपरतस्त्वव्यतिरिक्तस्वतस्त्वस्य विवक्षितत्वात्। श्लोकविवरणयोः प्रमापदस्य प्रकृतोपयोगमात्रनिबन्धनत्वात्। अत एव वक्ष्यमाणानुमाने पटादीनां सपक्षीकरणम्। एवं च सति पटादिष्वव्याप्तिपरिहारार्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वग्रहणमिति द्रष्टव्यम्। स्पष्टार्थं वा विज्ञानग्रहणम्।

प्रमायामुक्तस्वतस्त्वसद्भावेऽनुमानमाह—श्लोकेन—**प्रमेति**। अत्र जायत इत्यन्ता प्रतिज्ञा, अप्रमातो व्यतिरिक्तत्वादिति हेतुः। अतरिक्तसामग्रीजन्या न भवतीत्युक्ते बाधः। यत्किंचिद्व्यतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वात्तदर्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सतीत्युक्तम्। तावत्युक्ते परतस्त्वेऽप्युपपद्यमानतयार्थान्तरा तदर्थमुत्तरं विशेष्यग्रहणम्। ईश्वरज्ञाने विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वाभावलक्षणं साध्यमस्ति,

---

है, क्योंकि सब प्रमाण (प्रमा) में यह लक्षण अनुगत है। यदि कहें कि ईश्वरज्ञान के अजन्य होने से जन्यत्वघटित लक्षण की उसमें अव्याप्ति है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ईश्वरज्ञान के अजन्य होते भी उसमें ज्ञानसामग्रीजन्यत्व युक्त अन्य सामग्रीजन्यत्व स्वरूप विशिष्ट धर्मवत्त्वाभाव रूप लक्षण है। यहाँ ज्ञानसामग्री जन्यत्व युक्त तदन्य सामग्रीजन्यत्व स्वरूप विशिष्ट धर्म अप्रमाज्ञान में रहता है, उसका अत्यन्ताभाव ईश्वरज्ञान में रहता ही है, अतः अव्याप्ति नहीं है, अतिव्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि अप्रमाज्ञान ज्ञानसामग्री से जन्य होता हुआ अन्य से भी जन्य होता है, और प्रमा लक्षण में अन्य हेत्वजन्यत्व प्रविष्ट है। उक्त स्वतस्त्व में अनुमान प्रमाण भी है। जैसे—

प्रमा, विज्ञानसामग्री से जन्य होती हुई अन्य से नहीं उत्पन्न होती है। अप्रमा से भिन्न होने से। पटादि के समान॥ २२॥

यहाँ प्रमा अतिरिक्त सामग्रीजन्य नहीं होती है, यत्किञ्चित् व्यतिरिक्त सामग्री जन्यता से ज्ञानसामग्रीजन्यत्व कहा है इत्यादि। यहां ज्ञानत्वानधिकरणत्व उपाधि है, क्योंकि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति अतिरिक्तजन्यत्वाभाव रूप साध्य का पटादि में व्यापक है और प्रमा में साधन का अव्यापक है, अतः उपाधि है।

पटादिवत् । न च ज्ञानत्वानधिकरणत्वमुपाधिः; ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः । नापि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः; तज्ज्ञानसामग्रीजन्यं तज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्यप्रमाणवदिति व्यतिरेकिव्याप्तावप्रमात्वस्यैवोपाधित्वात् । विपक्षे च विज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्पत्तिसंभवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोपाभावस्य वा कारणत्वकल्पनागौरवप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः । एतेन—'प्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वात्पटवत्' इति योऽय-

---

नच ज्ञानत्वानधिकरणत्वरूपोपाधिः; अतः साध्याव्याप्तेरनुपाधिरित्याह—**ईश्वरेति** । ननु तर्हि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः, तथा चेश्वरज्ञानेऽपि विद्यमानत्वान्न साध्याव्याप्तिरिति तत्राह—**नापीति** । नायमुपाधिर्व्यतिरेके सोपाधिकतया साध्यव्यापकत्वादित्याह—**यज्ज्ञानेत्यादिना** । ईश्वरप्रमायां चाप्रमात्वस्य व्यतिरेकसिद्धिः । न चाप्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति प्रमातिरिक्तत्वात् पटवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । दोपान्वयव्यतिरेकबाधात्, प्रतियोग्यप्रसिद्धया अप्रसिद्धविशेपणत्वाच्च । विपक्षे बाधकतर्कमाह—**विपक्षे चेति** । यत्तु पूर्वपक्षे परतस्त्वेनानुमानमुदयनीयमुक्तं तत्रापि गौरवतर्कपराहत्याशङ्कितोपाधितामतिदिशति—**एतेनेति** । सत्प्रतिपक्षतां चाह—**प्रमेत्यादिना** । ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वानधिकरणत्वमात्रसाधने दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम् । अतिरिक्तदोपजन्यत्वादप्रमायास्तन्निवृत्यर्थं दोपातिरिक्तेत्युक्तम् । दोपातिरिक्तजन्या न भवति इत्युक्ते बाधस्तदर्थमुत्तरं विशेपणम् । दोपव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्यत्वं दोपजन्यत्वाद्वा ? ज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्य-

---

ऐसी शंका यहाँ नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ईश्वरज्ञान में उक्त रीति साध्य है, और ज्ञानत्वानधिकरण रूप उपाधि नहीं है, अतः साध्य का अव्यापक है, ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व उपाधि कहें, क्योंकि ईश्वरज्ञान में भी ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व रहता है , अतः साध्य का व्यापक है, तो कहा जाता है कि ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व भी उपाधि नहीं हो सकती है। क्योंकि साध्यव्यापक उपाधि के अभाव से साध्याभाव के साधक व्यतिरेकी व्याप्ति का स्वरूप होगा कि (जो ज्ञानसामग्री जन्य है, वह ज्ञानसामग्री से जन्य होता हुआ अन्य सामग्री से भी जन्य है जैसे अप्रमा, और इस व्यतिरेकी व्याप्ति में अप्रमात्व ही उपाधि हो जाता है क्योंकि ज्ञानसामग्री से जन्य होता हुआ अन्य साधन से जन्यत्व रूप साध्य अप्रमा में है, वहाँ अप्रमात्व रूप उपाधि भी है, अतः साध्य का व्यापक है, और प्रमा में ज्ञानसामग्रीजन्यत्व रूप हेतु है, परन्तु अप्रमात्व नहीं है, अतः साधन का अव्यापक है । और विज्ञान की सामग्रीमात्र से ही प्रमा की उत्पत्ति के सम्भव रहते उससे अतिरिक्त गुण या दोपाभाव में प्रमात्व के कारणत्व की कल्पना करने पर गौरव की प्राप्ति बाधकतर्क है । इस उक्त हेतु से ही (प्रमा, विज्ञान हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन

मुदयनस्य परतस्त्वेऽपि प्रयोगः सोऽपि परास्तः। प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति प्रतिसाधनग्रस्तत्वाच्च। न च प्रमात्वस्य विज्ञानसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वादप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति वाच्यम्; तत्र प्रयोजकाभावादेव प्रयोज्यस्याप्रसक्तेः। दोषासहकृतज्ञानसामग्रीप्रयोज्यं हि प्रमात्वम्, तत्र दोषस्यैव सद्भावात् कथं प्रमात्वस्य वर्तमानत्वसंभावनापि समुद्भवेत्? दोषस्याप्रमाहेतुत्वे तदभावस्य गले पादुकान्यायेन प्रमां प्रति हेतुत्वं स्यादिति चेत्; स्यादेवं यद्यनन्यथासिद्धावन्वय-

---

त्वाद्वा? नाद्यः; प्रमायामुभयानभिमतं हि तत्। द्वितीयेऽभीष्टसिद्धिः। न च सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै प्रथमं विशेषणम्; अनधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात्। न चाप्रमात्वमुपाधिः; ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः। यत्तु स्वतस्त्वे बाधकतर्कः उक्तः, विज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वे ज्ञानत्ववदप्रमाणवृत्तित्वमपि स्यादिति तत्परिहरति—**न चेति**। प्रयोजकमेव दर्शयन् तदभावं दर्शयति—**दोषेत्यादिना**। अत्रापि पूर्वपक्षोक्तं स्मारयति—**दोषस्येति**। नान्वयव्यतिरेकमात्रात्कार्यकारणभावावसायः। माभूद्धूमपैङ्गलयोस्तथाभावः, स्तोऽन्वयव्यतिरेकाविति। किंत्वनन्यथासिद्धाभ्याम्। न चात्र तथाविधाविति परिहरति—**स्यादेवमिति**। प्रमोत्पत्तौ या विरोधिन्यप्रमा तदुत्पत्ति-

---

होती है। कार्य होने से, पट के समान) यह जो उदयनाचार्य का परतस्त्वविषक प्रयोग (अनुमान) है। वह भी परास्त (निरस्त) हो गया और (प्रमा, दोषभिन्न जो ज्ञानहेतु उससे अतिरिक्त जन्य नहीं होती है, ज्ञानत्व होने से अप्रमा के समान) इस प्रतिपक्ष से भी उक्त अनुमान ग्रस्त है। और इस अनुमान में दोषभिन्न ज्ञानहेत्वतिरिक्त अजन्यत्व, दोषजन्यत्व से, या ज्ञानहेत्वतिरिक्त अजन्यत्व से हो सकता है, यहाँ प्रमा में दोषजन्यत्व तो वादी-प्रतिवादी कोई मानता नहीं है, अतः ज्ञानहेत्वतिरिक्ताऽजन्यत्व से पक्ष में साध्य की सिद्धि होती है और दोषजन्यत्व से दृष्टान्त में साध्य प्रसिद्ध होता है। प्रथम जो कहा था कि प्रमात्व के विज्ञानसामग्री मात्र प्रयोज्य (जन्य) होने पर, अप्रमाज्ञान में भी प्रमात्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि अप्रमा भी ज्ञानसामग्रीजन्य होती है। यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि उस अप्रमा में प्रमात्व के प्रयोजक के अभाव से ही प्रयोज्य (साध्य) अप्रमात्व की प्रसक्ति (प्राप्ति) नहीं हो सकती है। अर्थात् दोषाऽसहकृत (दोषरहित) ज्ञानसामग्री से प्रयोज्य प्रमात्व होता है, और उस अप्रमात्व में प्रयोक रूप दोष का ही सद्भाव (सत्त्व) रहता है, तो अप्रमा में प्रमात्व के वर्तमानत्व की सम्भावना भी कैसे प्रकट हो सकती है। यदि कहें कि दोष में अप्रमाहेतुत्व के होने पर, दोषाभाव में बलात् प्रमा के प्रति हेतुत्व अवश्य होगा, कि जिससे परतस्त्व की प्राप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उक्त रीति से दोषाभाव को प्रमात्व के प्रति प्रयोजकत्व होता, यदि

व्यतिरेकौ कारणत्वावेदकौ स्याताम्, तौ तु विरोध्यप्रमाप्रतिबन्धकत्वेनोपक्षीणौ न कारणमात्रत्वमावेदयतः। तथा चाहुर्भट्टपादाः—

'तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः' ॥ इति
(श्लो० वा० २।६५)

नन्वेकस्यापि दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वं प्रमाहेतुत्वं च किं न

प्रतिबन्धकविषयावित्यर्थः। यथा च न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, तथोपरितनवादे विवरिष्यते। यत एवं स्वतःप्रामाण्यं तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभाव एव परं जायते, न तु प्रमाणोत्पत्तिः। ननु तर्हि दोषाभावादेव भवतु प्रामाण्यम्, तथापि सैव परतःप्रामाण्यपिशाचिका विशेदिति तत्राह—**तदभावत इति**। दोषाभावादप्रामाण्यद्वयस्य मिथ्यात्वसंशयत्वलक्षणस्यासत्त्वमेव जायते, अनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्यस्यानाद्यभावतया दोषादुत्पत्त्यसंभवेन तदभावेनाभावस्याप्यसंभवात् तेन कारणेनोत्सर्गो ज्ञानसामग्रीमात्रप्रयुक्तत्वलक्षणोऽनपोदितः अपोदितो न भवतीति भट्टवार्तिकार्थः।

भवतु दोषाभावस्य विरोधिप्रतिबन्धकत्वम्, तथापि किमायातं प्रमानुत्पादकत्वे ? नहि संस्कारस्य स्वजनकानुभवविनाशकत्वमित्येतावता स्मृतिं प्रति हेतुत्वमपनीयत इत्याशङ्कय वैधर्म्येण परिहरति—**नन्वित्यादिना**। ननु किमिति तत्र कारणान्तरानिरूपणम् ? यावता संस्कारनाश एव स्मृतिकारणं भवत्विति। नेत्याह—

इस दोषाभाव के कारणत्व के आवेदक (बोधक) अन्यथासिद्धरहित प्रमात्व के प्रति अन्वयव्यतिरेक होते। परन्तु यहाँ तो अकस्मात् आगत गर्दभादि अन्यथासिद्ध वस्तु जैसे घट के प्रति कारण नहीं होते हैं, वैसे ही अन्यथासिद्ध दोषाभाव प्रमात्व के प्रति प्राप्त होता है, क्योंकि दोषाभाव को जो प्रमात्व के साथ वह अन्वयव्यतिरेक हैं, वे प्रमा के विरोधी अप्रमा के प्रतिबन्धकत्व रूप से ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाते हैं। अतः वे दोषाभाव के अन्वयव्यतिरेक दोषाभाव में प्रमा के कारणमात्रत्व का आवेदन (बोध) नहीं कराते हैं। इस प्रकार से श्री भट्टपाद ने कहा भी है कि—

गुणों से दोषों का अभाव होता है। और उस दोषाऽभाव से मिथ्यात्व संशयत्व रूप अप्रामाण्य द्वय का असत्व (अभाव) होता है, अतः प्रतिबन्धक के अभाव से ज्ञानसामग्री मात्र से उत्सर्ग=सामान्य प्रमा अनिवारित (निर्विघ्न) उत्पन्न होती है।

शंका होती है कि एक ही दोषाभाव के विरोधी अप्रमा के प्रतिबन्धक होते भी प्रमा के प्रति कारण भी दोषाभाव हो सकता है, ऐसा क्यों नहीं होगा। एक ही

स्यात् ? एकस्यापि संस्कारस्यानुभवनाशकत्वस्मृतिहेतुत्वयोरपि दर्शनादिति चेत्, मैवम्; तत्र संस्कारस्यानुभवनाशकत्वेऽपि स्मृतेः संस्कारातिरिक्त-कारणान्तरानिरूपणात्, उभयहेतुताया अवश्याश्रयणीयत्वात्। न च तत्रापि संस्कारनाशात्स्मृतिः किं न स्यादिति वाच्यम्; स्मृतिसमुदयव्यतिरेकेण संस्कारनाशस्यैवासंभवात्। प्रकृते तु ज्ञानसामग्रीत एव प्रमोद्भवसंभवे दोषाभावस्यापि तद्धेतुत्वकल्पना निष्प्रामाणिका। तस्मात्प्रमा विज्ञान-सामग्रीमात्रादेव जायत इति सिद्धम्।

तथा प्रमाज्ञप्तिरपि विज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव। न च तथात्वे विज्ञान

न च तत्रापीति। नित्यद्रव्येषु गुणनाशस्य गुणान्तरोत्पादनियतत्वादिति भावः। एवं तत्रानन्यगतिकत्वमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह—**प्रकृते त्विति**। एतेनाप्रामाण्ये दोषाणामन्यथासिद्धिरुदयनोपादितापोदिता। तत्र हेत्वन्तराभावादभावहेतुताया निरस्तत्वादिति। न च सामग्र्यैक्ये ज्ञानप्रमालक्षणकार्यभेदानुपपत्तिर्बाधिका; एक-स्मादप्यग्निसंयोगात्पार्थिवपरमाणौ रूपरसगन्धस्पर्शदाहादीनां बहूनामङ्गीकारात्। प्रागभावभेदस्य च तदभावे कार्याभावलक्षणव्यतिरेकाभावादकारणत्वात्।

उत्पत्तिस्वतस्त्वमुपसंहृत्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वमपि निर्वक्ति—**तथा प्रमेति**। यत्तत्रा-प्युक्तं विज्ञानग्राहकसाक्षिमात्रग्राह्यत्वेन प्रामाण्यस्य संदेहो न स्यात्, ज्ञानवदेव निर्णीतत्वादिति तत्परिहरति—**न चेति**। तथा हि भवतां धर्मिमात्रज्ञानं स्वत एव

संस्कार के अनुभवनाशकत्व और स्मृतिहेतुत्व देखे जाते हैं, वैसे ही दोषाभाव में प्रमाप्रतिबन्धत्व और प्रमाहेतुत्व हो सकते है, परन्तु ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि वहां संस्कार में अनुभवनाशकत्व होते भी संस्कार से अतिरिक्त स्मृति के कारण के अनुपलम्भ से संस्कार को स्मृति का भी कारण अशक्यता से अगत्या माना जाता है। प्रमात्व का ज्ञानसामग्री कारण है, अतः दोषाऽभाव इसका कारण नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि उस संस्कार के स्मृतिकारणत्व के स्थान में संस्कार-नाश को ही मान लेने पर संस्कारनाश से स्मृति क्यों न होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति के विना संस्कारनाश का ही असम्भव है, स्मृति की उत्पत्ति रूप ही संस्कार का नाश होता है, अतः संस्कारनाश की कारणता स्मृति की उत्पत्ति में नहीं हो सकने से संस्कार में अगत्या उभय कारणता मानी जाती है। और प्रकृत में तो ज्ञानसामग्री से ही प्रमा की उत्पत्ति के सम्भव होते दोषाऽ-भाव में भी प्रमा हेतुत्व की कल्पना निष्प्रमाणिक है। अतः ज्ञानसामग्री मात्र से प्रमा उत्पन्न होती है यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार प्रमा की उत्पत्ति के स्वतस्त्व का प्रतिपादन हुआ।

उक्त रीति से प्रमा की ज्ञप्ति (ज्ञान) बोधक सामग्री से ही होती है। अतः ज्ञप्ति में भी स्वतस्त्व रहता है। शंका हुई थी ज्ञप्ति में स्वतस्त्व होने पर जैसे विज्ञान

इव प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयानुदयप्रसङ्गः; स्वतःप्रमाणत्वेन भवदभिमतधर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च स्फुरत्यपि सुगतमतानुसारिणामप्रमाणमेवेति विपर्यासदर्शनात्, स्वतःप्रमाणत्वेन भवदङ्गीकृतानुमित्यादावपि ज्ञायमानायां चार्वाकस्य प्रामाण्ये विप्रतिपत्त्युपलब्धेः। स्वरूपभेदवादिनां च गृह्यमाणेऽपि स्थाणोः स्वरूपे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदेहस्य पुरुष एवेति विपर्ययस्य चोपलम्भात्। सत्यपि प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्धकदोषादिसमवधानात्तत्र संशयविपर्यासयोरुपपत्तौ प्रकृतेऽपि समं समाधानमन्यत्राभिनिवेशात्। न च

प्रमाणम्, सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तमिति स्वीकारात्। तथानुव्यवसायज्ञानप्रामाण्यमपि तत्तज्ज्ञानस्फुरणसमय एव स्फुरति, तथापि तत्र बौद्धानां धर्मधर्मिभावाद्यपलापाय बहिष्ट्वारोपवादिना स्वप्रकाशज्ञानरुचीनाप्रामाण्यबुद्धया विपर्यासः, तथानुमित्युपमित्योरपि भवदभिमतस्वाभाविकमानभावोऽप्यार्वाकवैशेषिकयोर्विपर्यासः। यथा वा प्राभाकरार्कबन्धुप्रभृतीनां स्वरूपभेदवादिनां स्वरूपे स्फुरत्यपि भेदाग्रहात् संदेहविपर्ययौ तथात्रापि किं न स्यातामित्यर्थः। समाधानसाम्यं दर्शयितुं तन्मुखेनैव समाधानमुद्भावयति—**सत्यपीत्यादिना**। प्रतिभासस्य पुष्कलकारणे सत्यपि प्रबलप्रतिबन्धकवशात् तत्र तत्र संशयाद्युत्पत्तिरत्रापि समानेत्यर्थः। यत्तु ज्ञप्तिस्वतस्त्वे

के ज्ञात होने पर उसका संशय नहीं होता है, वैसे ही प्रमात्व के ज्ञात हो जाने के कारण, ज्ञान प्रमा हुआ या अप्रमा हुआ, ऐसा संशय प्रमात्व विषयक भी नहीं होना चाहिये। यह शंका युक्त नहीं हैं। क्योंकि आप शंका करने वाले, सब ज्ञान को धर्मी अंश में स्वतः प्रमाण मानते हैं, तथा अनुव्यवसाय को स्वतःप्रमाण मानते हैं, वहाँ आपके मतानुसार स्वतःप्रमाण रूप से प्रकाशित भी धर्मीज्ञान और अनुव्यवसाय में बुद्धमतानुसारी (अनुयायी) को ये अप्रमाण ही हैं ऐसा विपर्यय ज्ञान होता है, यह जानते हैं। इसी प्रकार स्वतःप्रमाण रूपेण आप से स्वीकृत यथार्थ अनुमिति आदि के भी ज्ञायमान (ज्ञात) रहते भी चार्वाक के प्रमाण्य की विप्रतिपत्ति (अभाव बुद्धि) देखी (समझी) जाती है। घटपटादि के भेद को पृथक् (अन्योऽन्याभाव) नहीं मान कर स्वरूप मात्र को भेद मानने वालों के मत में स्थाणु के स्वरूप को गृहीत होने पर भी स्थाणु है या पुरुष है, ऐसे संशय के तथा पुरुष ही है ऐसे विपर्यय की उपलब्धि से, मानना होगा कि ज्ञान के पुष्कल (बहुत) कारण के रहते भी प्रतिबन्धक दोष के सम्बन्ध से तत्तत् स्थानों में संशय और विपर्यय की सिद्धि होती है। अतः प्रकृत में भी तुल्य समाधान है कि कहीं दोषबल से ज्ञान के स्वरूप के ग्रहण होने पर भी प्रमात्व का संशय होता है, आग्रह की बात दूसरी है कि ज्ञान के ग्रहण होने पर संशय नहीं होना चाहिये

ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यग्रहणे मिथ्यारजतादिबुद्धिषु प्रामाण्यग्रहणप्रसङ्गः; प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्य कारणदोषावगमबाधबोधाभ्यामपनयात्। न च ताभ्यामपनये तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहणहेतुत्वोपपत्तौ परतः प्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्; दोषबाधबोधयोरनुदयमात्रेण प्रामाण्यस्फुरणोररीकरणात्। तथाचाहुर्भट्टपादाः—

'यदा स्वतःप्रमाणत्वं तदान्यन्नैव मृग्यते।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः' ॥ इति
(श्लो० वा० २।५२)

तेन बाधकमुक्तं तत्परिहरति—**न चेति**। हेतुमाह—**प्रसक्तस्यापीति**। ननु कारणदोषज्ञानबाधकज्ञानाभ्यां चेत्प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्यापनयस्तर्हि तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुत्वं स्यादिति युक्तमिति तत्राह—**न च ताभ्यामिति**। न वयमप्रामाण्यज्ञाने करणदोषज्ञानबाधकज्ञानवत्प्रामाण्यावगमे तयोरभावज्ञानं कारणमाश्रयामहे, अपि तु तज्ज्ञानानुदयमात्रम्, तेन न परतःप्रामाण्यापत्तिरित्यर्थः। उररीकरणं स्वीकारः। दोषाभावादिज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुताऽभावं भट्टाचार्यवचनेन द्रढयति—**तथा चाहुरिति**। यदा स्वतःप्रमाणत्वकस्याश्रीयते तदान्यज्ज्ञानग्राहकातिरिक्तं नैव मृग्यते। ननु दोषाभावज्ञानमतिरिक्तं मृग्यत इति तत्राह—**निवर्तत इति**। दोषज्ञानानुदयमात्रात् अयत्नतो मिथ्यात्वशङ्का निवर्तत इत्यर्थः। न च दोषज्ञानानुदयमादायैव परतस्त्वापत्तिरिति वचनीयम्; विरोधिबुद्ध्युदयप्रतिबन्धकतयैव कृतसमाधानत्वात्।

इत्यादि। यदि कहें कि ज्ञानबोधक मात्र से ही प्रामाण्य के ग्रहण होने पर मिथ्या रजतादि ज्ञान में भी उनके ग्राहक से प्रामाण्य का ग्रहण (ज्ञान) प्राप्त होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रसक्त (प्राप्त) भी प्रामाण्यग्रहण का कारण दोष के ज्ञान और बाध से निवारण हो जाता है। यदि कहा जाय कि कारण के दोषज्ञान और बाधज्ञान इन दोनों से अप्रमा में प्रमात्व के अपनय (निवारण) होने पर, दोषज्ञान के और बाधज्ञान के अभाव को प्रमाण्यज्ञान में हेतुत्व की प्राप्ति होने पर परतस्त्व की प्राप्ति प्रामाण्यग्रहण में होती है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि दोषज्ञान और बाधज्ञान के अनुदय मात्र से प्रामाण्यज्ञान को उररी (स्वीकार) किया जाता है। उन ज्ञानों के अभावों को प्रमाज्ञान का हेतु नहीं माना जाता है कि जिससे परतस्त्व की प्राप्ति हो। दोषाऽभावादि ज्ञान के प्रमात्वज्ञान की हेतुता के अभाव को श्रीभट्टपाद ने भी कहा है कि—

जब प्रमात्व स्वतः ग्राह्य होता है, तब अन्य ज्ञानग्राहक से भिन्न का अन्वेषण नहीं किया जाता है। दोषज्ञान के अनुदय मात्र से यत्न के बिना ही मिथ्यात्व की शंका निवृत्त होती है अतः दोषाभावज्ञान को प्रमात्वज्ञान का हेतु नहीं माना जाता है।

अन्यथा तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यस्फुरणहेतुत्वेन तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यावगमाय तत्तदभावावगमान्तराणामप्यवश्याश्रयणीयत्वादनवस्था, तथा चानभ्यासदशायां सांशयिकत्वादिति हेतोः स्पष्टमनैकान्तिकत्वम्। स्वतःप्रमाणत्वेन भवदभिमतेष्वेवानुमानोपमानानुव्यवसायधर्म्यध्यवसायेषु व्यभिचारस्य दर्शितत्वात्। उक्तं चैतदनुमानादेः स्वतःप्रामाण्यमाचार्यवाचस्पतिना न्यायवार्तिकटीकायाम् "विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यदि पुनरेवं नाभविष्यन्न समर्थां प्रवृत्तिमकरिष्यत्,

---

दोषाभावावगमस्यापि प्रामाण्यहेतुत्वेऽनवस्थाबाधकमाह—**अन्यथेति**। येन हि दोषाभावज्ञानेनाद्यस्य प्रामाण्यमवगम्यते, तत्प्रामाण्यावगमार्थमपि दोषाभावज्ञानान्तरं गवेषणीयम्। एवंकारमुपर्युपरीत्यनवस्थेत्यर्थः। यत्तु ज्ञप्तिपरतस्त्वेऽनुमानमुदयनीयम्, तत्राप्युक्तं दूषणमतिदिशति—**तथा चेति**। तथा चेत्येतदेवोद्घाटयति—**स्वतःप्रमाणत्वेनेति**। ननु यद्यनुमानादि स्वतःप्रमाणमिति परैरङ्गीकृतं स्यात् स्यादयं मनोरथस्तदेव तु कुत इति इत्राह—**उक्तं चैतदिति**। प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति प्रथमभाष्यव्याख्यानावसर इति शेषः—**समर्थप्रवृत्तीति**। फलाभिसन्धिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यर्थः। व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—**यदि पुनरेवमिति**। **अभविष्यदिति** च क्रियातिपत्तौ लृङो रूपम्। अत्र चोपेक्षाज्ञानानां पक्षत्वेनानुपादानान्न भागासिद्धिः। व्यतिरेकी सर्वत्र सपक्षाभावमभ्युपेत्य वर्तत इति नासाधारणानैकान्तिकता। ननु नास्त्येव वादी यः प्रामाण्यनिश्चये विप्रतिपद्येत। नहि प्रामाण्यं स्वीकृत्य तन्निश्चये विप्रतिपत्तिः; स्वीकारस्य निश्चयमूलत्वात्। नाप्यस्वीकृत्य; प्रमाणशून्यविप्रतिपत्तेः सर्वत्र सुलभतया सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गात्। अनिश्चिते तु प्रामाण्ये तदतद्रूपसंदेहोऽपि क्वचिद् दुर्लभः; विशेषस्मृतेरभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्च संशयानाम्। नापि सर्वत्राप्रामाण्यप्रसञ्जनम्; प्रामाण्यग्रहणोपायनिराकरणस्याप्रामाण्येऽपि तुल्यत्वात्त-

---

अन्यथा यदि दोषाभावज्ञान को भी प्रमात्वज्ञान का हेतु माना जाय, तो दोषाभाव के ज्ञान से प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होगा, फिर उस ज्ञान के प्रामाण्य ज्ञान के लिये अन्य दोषाभावज्ञान की आवश्यकता होगी, इस प्रकार से तत्तत् दोषाभावज्ञानान्तरों की अवश्य स्वीकार्यता से अनवस्था होगी। ऐसा होने पर (प्रामाण्य, परतः गृहीत होता है, अनभ्यासदशा में सांशयिक होने से, अप्रामाण्य के समान) इस अनुमान के, अनभ्यादशा में सांशयिकत्व, यह हेतु स्पष्ट ही अनैकान्तिक है, क्योंकि स्वतःप्रमाणत्व रूप से नैयायिकों से स्वीकृत ही अनुमान, उपमान अनुव्यवसाय धर्मी ज्ञानों में व्यभिचार दर्शाया जा चुका है। अनुमानादि के इस स्वतःप्रामाण्य को श्री आचार्यवाचस्पति ने न्यायवार्तिकटीका में कहा है कि (विवादास्पद ज्ञान, अर्थाऽव्यभिचारी (सार्थक) होता है, समर्थ = सफल प्रवृत्ति का जनक होने से, यदि ज्ञान एवं अर्थाऽव्यभिचारी न होता, तो सफल प्रवृत्ति को भी नहीं सिद्ध कर

यथा प्रमाणाभास इति व्यतिरेकी। वा। अनुमानस्य स्वतःप्रमाणतया अन्वयस्यापि संभवात्।" तथा—"अनुमानस्य तु परितो निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्।" "एतेनोपमानं व्याख्यातम्" इत्यादि। सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्च—विवादस्थले प्रमात्वं विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यम् अप्रमामात्रवृत्तित्वान-

दस्ति प्रामाण्यादिकं तन्निश्चयश्च, तदुपायस्तच्चिन्तामर्हति। एवञ्चान्वयोऽस्त्येव तत्कथं केवलव्यतिरेकीत्याशङ्क्य संप्रत्युत्तरमाह—**अन्वयव्यतिरेकीति**। नन्वनुमानमेव कथं स्वतःप्रमाणं यद्दृष्टान्तादन्वयित्वमित्याशङ्क्य तत्रापि तदीयमेव ग्रन्थं पठति—**तथानुमानस्येति**। परितः सर्वप्रकारेण निरस्ता समस्तविभ्रमाशङ्का यस्येति विग्रहः। अनुमेयेनाग्नचादिना यल्लिङ्गमव्यभिचारि तेनोत्पन्नत्वात्। प्रत्यक्षज्ञानं ह्यर्थादुत्पद्यमानमपि न गृहीताव्यभिचारादुत्पद्यते, अपि तु सत्तामात्रेणावस्थितादेव। एवमिन्द्रियादीन्यपि न गृहीताव्यभिचारीणि, व्यभिचारीणि वा अर्थेन, शाब्दज्ञानं तु नार्थादुत्पन्नम्। न च शब्दस्यार्थाव्यभिचारस्तस्मान्न तयोः स्वतोऽव्यभिचारग्रहणमिति। प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयत्वं वा अर्थाव्यभिचारायानुसरणीयम्। अनुमानोपमानानुव्यवसायधर्मिज्ञानानां धर्मिज्ञाने स्वत एव तत्, व्याप्तिपक्षधर्मत्वग्राहकेणैवानुमाने, कारणतः स्वरूपतश्च व्यभिचाराशङ्कानिरासात्, उपमानेऽप्यतिदेशवाक्यसादृश्यज्ञानयोः प्रामाण्यावधारणेन तन्निरासादनुव्यवसायेऽप्यज्ञातानुव्यवसायादित्यर्थः। एवमनैकान्तिकतामुक्त्वा सत्प्रतिपक्षतामप्याह—**सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्चेति। विवादस्थल इति**। अनुमित्यादिव्यतिरिक्तस्थल इत्यर्थः। इयरथांशतः सिद्धसाधनतापातादिति, परतःप्रामाण्यवादिनोऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै मात्र-

सकता, जैसे कि प्रमाणाभास सफल प्रवृत्ति को नहीं सिद्ध करता है। यह व्यतिरेकी अनुमान कहा है। या अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भी हो सकता है। क्योंकि अनुमान की स्वतःप्रमाणता से अन्वय का भी सम्भव है। इसी प्रकार से, पुनः श्रीवाचस्पतिमिश्र जी ने कहा है कि (निरस्त समस्त विभ्रम शंका वाले अनुमान के तो स्वतःप्रामाण्य होता है, क्योंकि वह अनुमेय अग्नि के साथ अव्यभिचारी लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न होता है। इसीसे उपमान भी व्याख्यात हो गया, क्योंकि उसमें भी सादृश्यज्ञान और अतिदेश वाक्य (गोसदृशो गवयः) इत्यादि में प्रामाण्यता के अवधारण से व्यभिचारशंका का अभाव रहता है, अतः स्वतःप्रामाण्यगृहीत होता है, प्रत्यक्ष में ऐसा नहीं रहता है। इत्यादि। और उक्त परतःसाधक अनुमान में सत्प्रतिपक्षसाधनत्व भी है कि (अनुमित्यादि से भिन्न विवाद स्थान में प्रमात्व, विज्ञानग्राहकसामग्री मात्र से ग्राह्य है। अप्रमामात्र वृत्तित्व के अनधिकरणत्वयुक्त होता हुआ ज्ञानैकवृत्तिजातित्व होने से, ज्ञानत्व के

धिकरणत्वे सति ज्ञानैकवृत्तिजातित्वात् ज्ञानत्ववत् ।

ननु कथं प्रमात्वम् जातिः ? साक्षात्कारित्वेन तस्य परापरभावासंभवात् । तथा हि—यदि साक्षात्कारित्वं परम्, तदा तदपरसामान्यस्य प्रमात्वस्य परसामान्याविनाभावनियमात्सर्वैव प्रमा साक्षात्कारिण्येवेत्यनुमानादेः परोक्षस्याप्रमात्वमेव भवेत् । अथापरम्, तदा साक्षात्कारित्वस्य प्रमात्वाविनाभावादिदं रजतमित्यादिसाक्षात्कारिणो विभ्रमस्य प्रमात्व-

---

ग्रहणम् । गुणत्वादिव्यभिचारवारणाय ज्ञानैकवृत्तीत्युक्तम् । अप्रमात्वसंशयत्वादिव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमप्रमावृत्तित्वानधिकरणेत्युक्तम् । साधनवैकल्यनिवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम् । प्रमामात्रवर्तिना प्रमान्यान्यत्वादिना व्यभिचारनिवृत्त्यर्थं जातिग्रहणम् । तस्यान्योन्याभावत्वेन प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वेन विवक्षितत्वात् ।

उदयनीयां विशेष्यासिद्धिं शङ्कते—**ननु कथमिति** । साक्षात्कारित्वप्रमात्वयोः परापरभावाभावं स एवोपपादयति—**तथाहीत्यादिना** । अत्र साक्षात्कारित्वं किं परं व्यापकं प्रमात्वमपरं व्याप्यमिति मतम् ? विपरीतं वा ? नाद्य इत्याह—**यदीति** । साक्षात्कारित्वव्याप्यत्वे प्रमात्वस्य तद्रहितेषु परोक्षेष्वनुमानादिषु प्रमात्वं न स्यादस्ति च तदतो न व्याप्यमित्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—**अथापरमित्यादिना** । यदि हि साक्षात्कारित्वं प्रमात्वावान्तरजातिस्तदा तद्रहितेषु विभ्रमेषु साक्षात्कारित्वं न स्यात्; यदि स्यात्तर्हि तद्व्यापकं प्रमात्वमपि स्यादित्यर्थः ।

समान) गुणत्वादि में व्यभिचारवारण के लिये ज्ञानैकवृत्तित्व विशेषण है । अन्य विशेषण का फल टीका से ज्ञेय है ।

शंका होती है कि प्रमात्व को जाति कैसे माना जा सकता है, क्योंकि साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) और प्रमात्व को परापरभाव (व्याप्य-व्यापकभाव) का असम्भव है, अर्थात् जाति में कोई पर जाति होती है, जैसे सत्ता सबसे पर (व्यापक) जाति मानी जाती है । अन्य उससे अपर जाति है, इसीप्रकार से सर्वत्र नियत व्याप्य-व्यापकभाव जाति में माना जाता है, इसके बिना जातित्व का अभाव माना जाता है । यहाँ परापरभाव है नहीं, क्योंकि यदि साक्षात्कारित्व प्रमात्व से पर (विभु) होगा, तो उस साक्षात्कारि से अपर (व्याप्य) सामान्य (जाति) रूप प्रमात्व को परसामान्य के अविनाभावित्व (व्याप्यत्व) के नियम से सभी प्रमा साक्षात्कारिणी (प्रत्यक्षस्वरूपा) ही होगी । अतः परोक्ष अनुमानादि को अप्रमात्व ही प्राप्त होगा । और यदि साक्षात्कारित्व परमात्व से अपर जाति हो, तो साक्षात्कारित्व को प्रमात्व के अविनाभावी (व्याप्य) होने के कारण इदं रजतम्, इत्यादि साक्षात्कारी (प्रत्यक्ष) भ्रम को भी प्रमात्व प्राप्त होगा । इस प्रकार से परापरभावरहित में जातित्व नहीं हो सकता है, प्रमात्वरहित भ्रम में प्रत्यक्षत्व

प्रसङ्गः। किं च यदि प्रमात्वं जातिस्तदा सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इत्येषा परिभाषा परिलुप्येत। एकस्यैवेदं रजतमिति ज्ञानस्य धर्म्यंशे प्रमात्वमप्रमात्वं चेतरांशे इति जातिसङ्करप्रसङ्गादिति चेत्, मैवम्; साक्षात्कारित्वस्य रजतादिविभ्रमावृत्तित्वात्। तत्रतद्व्यवहारस्येन्द्रियसंप्रयोगजन्यतोपाधिमात्रेणोपपत्तेः, धर्म्यंशे प्रमाव्यवहारस्य चाबाधितानुभूतित्वोपा-

---

ततः परापरभावशून्ययोरेकत्र वृत्तौ सङ्करः स्यात्स च जातिबाधकः यथा वक्ष्यति—सङ्कर इति। सङ्करान्तरमाह—**किंचेति**। यदि प्रमात्वं जातिस्ततो जातिसङ्करपरिहाराय विभ्रमेष्वप्रमात्वाधिकरणेषु सा नेष्टव्या, ततश्च सर्वज्ञानानां धर्म्यंशे प्रामाण्यं प्रकारे रजतादौ विपर्यय इति यौक्तिकपरिभाषा निरर्थका स्यादित्यर्थः। साक्षात्कारित्वमपरं प्रमात्वं परम्, विभ्रमेषु न साक्षात्कारित्वं व्यवहारस्तु औपाधिकस्ततो न जातिसङ्कर इति परिहरति—**मैवमिति**। प्रमात्वाप्रमात्वसङ्करं परिहृति—**धर्म्यंशे इति**। न चाबाधितानुभूतित्वसंभवे तद्व्यञ्ज्या जातिरपि तत्र भवेदिति वाच्यम्। प्रसाधने सङ्करबाधात्, प्रसञ्जने विपर्ययपर्यवसानात्। न तावदिदं प्रयोजकं मीमांसकानां यथाह सूत्रकारः—'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण'मिति। तथा तन्त्रान्तरकारोऽपि—'असन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञान'मिति। संशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानानि स्वतदतिरिक्तवृत्तित्वानधिकरणजातिमन्ति जातिमत्त्वात्संप्रतिपन्नवदिति च प्रमात्वजातावनुमानम्। अत्र चैतदवसेयम्। परसिद्धान्तमाश्रित्यैवं जातिसङ्करपरिहार इति। यतः—

रहता है। प्रत्यक्षत्वरहित अनुमानादि में प्रमात्व रहता है, इसप्रकार से परस्पर के अत्यन्ताभावाधिकरणवृत्तिधर्मों की प्रत्यक्ष प्रमा में वृत्तिता से संकर है। और प्रमात्व यदि जाति होगा, तो सब ज्ञान धर्मी अंश में अभ्रान्त (प्रमा) रहता है, प्रकार (विशेषण) में विपर्यय होता है, यह परिभाषा लुप्त हो जायगी। क्योंकि इस नियम के अनुसार इदं रजतम्, इस ज्ञान को इदम् अंश में प्रमा, रजतत्व अंश में अप्रमा मानने पर संकर होगा, वह जातित्व का बाधक होगा, और जाति को मानने पर इस नियम का अभाव होगा। क्योंकि एक ही इदं रजतम् , इस ज्ञान को धर्मी अंश में प्रमात्व इतरांश में अप्रमात्व से जातिसंकर का प्रसङ्ग होगा ही। उत्तर है कि ऐसी आपत्ति नहीं है क्योंकि साक्षात्कारित्व रजतादि विभ्रमों में नहीं रहता है। अतः प्रमात्व को पर और प्रत्यक्षत्व को अपर मानने पर उक्त दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रत्यक्ष भ्रम में प्रत्यक्षत्व के नहीं रहते भी जो उसमें प्रत्यक्षत्व का व्यवहार (कथन) होता है, वह इन्द्रियसम्बन्धजन्यता रूप उपाधि (काल्पित धर्म) से होता है। इसी प्रकार भ्रमज्ञान के धर्मी अंश में प्रमात्व

धिनिबन्धनतयापि संभवात्। न चैवं सर्वत्रोपाधिनिबन्धन एवास्तु प्रमाव्यवहारः, कृतं जातिकल्पनयेति वाच्यम्; प्रमिणोमीत्यबाधितानुगतव्यवहारस्य गौर्गौरिति व्यवहारस्येव जातिमन्तरेणानुपपत्तेः। उपाधिमादाय जातिप्रत्याख्यानस्य गोत्वादिष्वपि तुल्यत्वात्। तस्माद्यत्र—

'विज्ञानत्वमधिष्ठानधियामारोपितेषु यत्।
अविद्यापरिणामत्वाद्विज्ञानाभासता मता॥
तेन यत्तत्र विज्ञानं तत् प्रमाणमुपेयते।
अप्रमाणं न विज्ञानं तत् क्व सङ्करसंभवः॥'

ननु तर्हि सर्वमेव ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं च ज्ञानाभास इति ज्ञानस्य परतोऽप्रामाण्यमिति वचस. कोऽर्थः? न कोपि। विज्ञानं परतः प्रमाण अपि तु स्वत इत्येतावदुपपादनीयम्, अथवा अप्रामाण्यं परत इत्यस्यैवायं पर्यवसितोऽर्थः यद्विज्ञानव्यतिरिक्तसमवाय्यप्रामाण्यमिति। सामग्रीभेदस्य कार्यभेदनियमात् अप्रमायाश्च ज्ञानविशेषत्वस्यासिद्धेरिति। न च सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेऽख्यातिमतापातः, अविद्यापरिणामरूपभ्रमारोप्ययोरङ्गीकारेण ततो विशेषादिति। नन्वेकत्रोपाधिनिबन्धश्चेत्प्रामाण्यव्यवहारः सर्वत्र तन्निबन्धनः एव भवतु किमित्यर्धजरतीयं कल्प्यत इति तत्राह—**न चैवमिति**। तत्र किं कल्पकं नास्तीत्युच्यते? अन्यथासिद्धिर्वा? प्रथमे प्राह—**प्रमिणोमीति**। एष ह्युत्सर्गः यदनुवृत्तव्यहारस्यानुवृत्तालम्बनमिति, तच्चेत् कथमपि दुःसंपादम्, तदाऽगत्यैवाश्रीयते साधारणशब्दतो यथाक्षादीनाम्। संभवति चेहानुवृत्तोऽर्थः तत्रापि वक्ष्यमाणबाधकाभावे जातित्वमेवेति भावः। द्वितीये प्राह—**उपाधीति**। यदि हि संभवेप्युपाधिना जातिप्रत्याख्यानं तदा गोत्वादिष्वप्यनाश्वासः स्यात् तत्तद्व्यञ्जकस्यैवोपाधेः संभवादित्यभिप्रायः। ननु तर्हि पाचकादावपि किमिति जातिर्न कल्प्यते? अस्ति हि अनुवृत्तप्रत्ययत इति तत्राह—**तस्मादिति**। यत्रैकैव व्यक्तिः यथाकाशत्वादौ, न तत्र जातित्वकल्पना। अनुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वाभा-

---

व्यवहार का अबाधित अनुभूतित्व उपाधिनिमित्तिकता से सम्भव होता है। प्रमात्व उसमें नहीं रहता है। यदि कहा जाय कि सर्वत्र उपाधिनिमित्तक ही प्रमात्व का व्यवहार हो, प्रमात्व में जातित्व की कल्पना निष्फल है, क्योंकि धर्मी अंश के ज्ञान में जैसे जाति के विना उपाधि से प्रमात्व का व्यवहार होता है, वैसे ही सर्वत्र होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि (प्रमिणोमि) प्रमाज्ञान से मैं जानता हूं। इस प्रकार के अनुगत (अनेक ज्ञानविषयक) व्यवहार की गौः गौः इस व्यवहार के समान जाति के विना अनुपपत्ति है, अतः अनुगत गौ इस व्यवहार से गोत्व जाति मानी जाती है, वैसे ही प्रमात्व भी मन्तव्य है। उपाधि को मान कर यदि प्रमात्व जाति का खण्डन किया जाय तो गोत्वादि

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः' ॥

इत्युक्तबाधकानामन्यतमोपि बाधको न प्रसरति, तत्र जातिनिमित्तो

वात्, अनेकसमवेतत्वाभावाच्च। तस्य च तल्लक्षणत्वात्। तथा यत्र तुल्यव्यक्तित्वं यत्र कुम्भत्वकलशत्वयोः, न तत्रोभयोर्जातित्वं एकयैवानुगतव्यवहारसिद्धेः, इतरथा पर्यायत्वविलयप्रसङ्गात्। तथा यत्र सङ्करप्रसक्तिः परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र स्थितिर्तथा दण्डित्वकुण्डलित्वयोस्तत्रापि न जातित्वम्। प्रथमस्य दूषणत्वं शृणु! परस्परपरिहारेणैव वर्तमानतयावधृतस्वभावयोरेकत्र प्रतीतिरुत्पद्यमाना 'माता मे वन्ध्ये' तिवत्तद्विरुद्धार्थविषयतया अप्रमाणीभवतीति प्रमाणाभावादेव तदभावः परस्परपरिहारेण वर्तमानयोः सामान्ययोरेकत्र समावेशे तदतज्जातीयविरोधोच्छेदापत्तिश्चेति, तथा यत्रानवस्थाप्रसक्तिः यथा सत्तायाम्, सत्तास्वीकारे तत्रापि न जातिकल्पना। यत्र रूपहानिप्रसक्तिरागन्तुकत्वादिनाऽनित्यत्वहानादिना यथा पाचकत्वादौ, यथा वा विशेषेषु, तत्रापि न जातिकल्पना। यत्र जातिकल्पनायां व्यवस्था सह संबन्धाभावः, यथा समवाये जातिकल्पनायां समवायाभावात् जातिव्यवस्थोश्च तन्नियमात्र तत्रापि जातिरिति किरणावलीकारसंहितजातिबाधकानां अन्यतमस्यापि यत्राभावस्तत्र जातित्वमितरत्रोपाधित्वनिनि

में भी खण्डन की तुल्य ही प्राप्ति होगी। अतः व्यक्ति का अभेद १, तुल्यत्व २, संकर ३, अनवस्था ४, स्वरूपहानि ५, असम्बन्ध ६, ये छः जाति के बाधकों में से कोई भी बाधक जहां नहीं प्राप्त होता हो, वहां जातिनिमित्तक व्यवहार होता है। अन्यत्र उपाधिनिमित्तक होता है, यह विभाग ज्ञातव्य है। आकाश की एक व्यक्ति होने से अनुवृत्ति हेतुत्व के अभाव से आकाशत्व को जाति नहीं माना जाता है। घटत्व, कलशत्व की तुल्यदेशवृत्तिता से दोनों की भिन्न जाति नहीं मानी जाती है। संकर का प्रथम वर्णन हुआ है, सब जाति में जातित्व जाति को मानने पर अनवस्था प्राप्त होती है, क्योंकि अन्य जाति के साथ जातित्व के संग्रह के लिये जातित्व में भी जाति को मानने पर इसीप्रकार से अन्य-अन्य जाति की प्राप्ति से अनवस्था होती है। और विशेष नामक पदार्थ में जाति को मानने पर उसकी जाति से व्यावृत्ति की प्राप्ति होने पर स्वतोव्यावृत्तस्वरूप की हानि की प्राप्ति होती है, यह वैशेषिक का ही मान्य विशेष पदार्थ है, समवाय में जाति मानने पर संयोगादि सम्बन्धों का असम्भव होता है। अतः समवाय में जाति नहीं मानी जाती है। इसका प्रसङ्ग प्रथम भी आया है।

इस उक्त रीति से प्रमात्व की सिद्धि होने से, ज्ञानैकनिष्ठ जातित्वात्, यह हेतु का विशेष्यांश असिद्ध नहीं होता है। और ज्ञप्ति के परतस्स्वरूप विपक्ष में

व्यवहार इतरत्र तूपाधिनिवन्धन इति विभागो द्रष्टव्यः। तस्माज्ज्ञानैक-निष्ठजातित्वादिति न विशेष्यासिद्धो हेतुः। विपक्षे चानवस्थाप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः। न च निलीनस्यैव प्रमाणस्यार्थे व्यवहारजनकत्वोपपत्तेर्नानवस्थेति वाच्यम्; तथात्वनिश्चायकप्रमाणानुदये तदस्तित्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्।

अस्तु तर्हि ज्ञानस्य स्वत एव स्फुरणम्, तथापि तत्प्रामाण्यं तद्गत-गुणत्वादिवदन्यत एव स्फुरिष्यति को विरोध इति चेत्, मैवम्; तस्यादित एव प्रमाणत्वेनास्फुरणे तद्विपये निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हि ज्ञातमित्ये-

---

खण्डनार्थः। प्रमात्वजातिसमर्थनेऽस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयितुमुपसंहरति—**तस्मादिति**। ज्ञप्तिपरतस्त्वे बाधकमाह—**विपक्षे चेति**। पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—**नचेत्यादिना**।

ननु भवतु तदस्तित्वलोभाज्ज्ञानस्य स्वतःस्फुरणम्, प्रामाण्यं तु किमिति न परतःस्फुरतीति प्राभाकरं प्रति पूर्वोक्तं स्मारयति पूर्वपक्षी—**अस्तु तर्हीति**। अर्थे तु निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रथमतः प्रमाणतया स्फुरण एव घटते, नेतरथेति परिहरति—**मैवं तस्यादित इति**। तद्विपये तस्य ज्ञानस्य विषय इत्यर्थः। एतदेव विपक्षे बाधकेन विवृणोति—**नहीति**। मरुभूमिषु मरीचिका मरुमरीचिकाः। नन्वप्रामाण्यस्फुरणादेव तत्र प्रवृत्त्यभावः न प्रामाण्यास्फुरणात्, प्रामाण्यास्फुरणेऽपि प्रवृत्तिर्घटते इति

अनवस्था का प्रसङ्ग बाधक तर्क है, तत्तत् ज्ञानों के ग्राहक अनन्त ज्ञानों की प्राप्ति परतस्त्ववाद में होगी। और जो कहा गया था कि निलीन (अज्ञात) ही प्रमाण (प्रमा) को अर्थविषयक व्यवहारजनकत्व की उपपत्ति (सिद्धि) से अनवस्था नहीं होगी, वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अज्ञात प्रमाण में तथात्व (प्रमाणत्व) के निश्चायक (निश्चयजनक) प्रमाण (ज्ञान) के अनुदय (अनुत्पत्ति) रहते, उसके अस्तित्व का ही निश्चय होना अशक्य है।

व्यवहारजनकत्व तो दूर रह जाता है, ज्ञान स्वतःप्रकाश तो है नहीं कि जिससे अस्तित्व की सिद्धि हो, और उससे व्यवहार हो। यदि कहा जाय कि प्रमाण के स्वरूपास्तित्व की सिद्धि के लिये प्रभाकर-मतानुसार प्रमाण के स्वरूप का स्वतः-स्फुरण (प्रकाश) हो, तो भी तद्गत गुणत्वादि के समान ज्ञान के प्रामाण्य (प्रमात्व) का अन्य ज्ञान से ही (अन्य साधन से ही) स्फुरण (ज्ञान) हो, तो क्या विरोध है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि उस विषयज्ञान के प्रथम ही प्रमात्व के स्फुरण (ज्ञान) नहीं होने पर, उस ज्ञान के विषय में निःशङ्क प्रवृत्ति की असिद्धि होगी, वस्तु ज्ञात हो गई इतना समझ लेने से प्रवृत्ति नहीं

तावता प्रवृत्तिः, मरुमरीचिकादौ सत्यपि विज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चये प्रवृत्त्यदर्शनात्। अस्तु तर्ह्यप्रामाण्यास्फुरणे प्रामाण्यस्फुरणमन्तरेणापि ज्ञानमात्रात्प्रवृत्तिरितिचेत्, मैवम्; विज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ययोरस्फुरणे संशयान्निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। अस्ति चानाभ्यासदशायां नववनस्थलीस्थितेषु फलितरसालादिषु तत्फलादानेच्छोर्निःशङ्कप्रवृत्तिः। अपि च त्वयापि पारलौकिकफलसाधनेषु निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनाभ्युगता। न च कृष्यादौ संशयेति प्रवृत्तिर्दृष्टेति वाच्यम्; तत्र निःशङ्कप्रवृत्तेरभावात्। एवं च यत्र यत्र निःशङ्कप्रवृत्तिः, तत्र तत्र प्रामाण्यनि-

---

प्रस्तुतं तत्किं केन संगतमिति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। प्रामाण्यास्फुरणे न निःशङ्कप्रवृत्तिरुपपन्नेति परिहरति—**मैवं विज्ञानस्येति**। ननु ज्ञानोदयसमसमयमेव निःशङ्कप्रवृत्तिः क्व दृष्टा! यद्बलादिदं साध्यते इति तत्राह—**अस्ति चेति**। रसाल आम्रः। अपि च त्वयापि पारलौकिकसाधनेषु इहलौकिकेषु अनभ्यासदशापन्नेषु च निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेति स्वीकृता, तत्साम्यात्सर्वनिःशङ्कप्रवृत्तिस्थलेषु शक्यं प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वमनुमातुमित्यभिप्रेत्याह—**अपि च त्वयेति**। ननु संशयादपि निःशङ्कप्रवृत्तिः कृष्यादौ दृष्टा इति सव्यभिचारः इति तत्राह—**न च कृष्यादाविति**। एवं पारलौकिकेषु निःशङ्कप्रवृत्तेर्निर्णयपूर्वकत्वस्य च व्याप्तिनिश्चयात् सर्वत्रैवं शक्यानुमानमित्याह—**एवं च यत्र यत्रेति**। यदि च संशयात् प्रवृत्तिस्तदा संशयस्य कोटिद्वयसमानत्वा-

---

होती है, क्योंकि मरुभूमि की मरीचिका (सूर्यकिरण रूप मृग तृष्णा) आदि में जलादि के ज्ञान होने पर भी उसकी अप्रमाणता के निश्चय से प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। यदि कहा जाय कि मरुमरीचिका आदि के ज्ञान में अप्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक है, तो अप्रामाण्य के अस्फुरण (अज्ञान) रहते प्रामाण्य के ज्ञान के बिना भी ज्ञानमात्र से प्रवृत्ति हो सकती है, प्रामाण्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि विज्ञान के प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों के अज्ञान काल में भी प्रामाण्यादि के संशय से निःशङ्क प्रवृत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है। और अनभ्यास दशा में भी नवीन वनस्थली में स्थित फलयुक्त रसालों (आम्र वृक्षों) में उनके फलग्रहण की इच्छा वाले की निःशङ्क प्रवृत्ति होती है। अतः ज्ञानग्राहक से प्रामाण्य गृहीत होता ही है, अन्यथा ऐसी प्रवृत्ति का सम्भव नहीं है। और आप परतःप्रामाण्यवादियों ने भी, पारलौकिक फलों के साधन रूप यज्ञादि में निःशङ्क प्रवृत्ति को प्रामाण्यनिश्चयाधीन माना है। अतः सर्वत्र प्रामाण्यज्ञानाधीन निःशंक प्रवृत्ति मानना उचित है। यदि कहा जाय कि संशय रहते भी कृषि आदि में निःशंक प्रवृत्ति देखी जाती है। तो यह कहना उचित नहीं, वहाँ निःशङ्क प्रवृत्ति का अभाव रहता है। अत इसप्रकार से

अथाधीनैव सेत्यभ्युपगन्तव्यमपरथा प्रामाण्यानिश्चयान्निवृत्तेरपि प्रसङ्गात् । न च फलेपि परतस्त्वम् ; ज्ञेयाभिव्यक्तिलक्षणफलस्य ज्ञानमात्रादेव सिद्धेः । उपादानादीनां पुनरिष्टसाधनादिज्ञानाधीनतया तद्विषयप्रमाणस्य तत्रापि

त्प्रवृत्तिवन्निवृत्तिरपि स्यात् । नचानक्षजत्वाद्वैषम्यम् ; वैधर्म्यमात्रत्वात् । अथाप्रामाण्यानिश्चयान्न निवृत्तिः प्रामाण्यानिश्चयान्न प्रवृत्तिरित्यपि पश्य ? तस्मान्निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेत्यभिप्रेत्याह—**अपरथेति** । यदत्र कुसुमाञ्जलावुदयनेन झटिति प्रचुरसमर्थप्रवृत्तेः स्वतः प्रामाण्यानधीनतामुपपादयतोक्तम्—'झटिति प्रवृत्तिर्हि'त्याद्युपक्रम्य 'इच्छा च प्रवृत्तेः कारणं सा च समीहितोपायताज्ञानमपेक्षते तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवं सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षात्, प्रामाण्यग्रहणं तु न केनाप्यंशेनोपयुज्यते उपयोगेऽपि वा स्वत इति कुत एतदिति ? तदपि तस्करस्य पुरतः कक्षे सुवर्णमपलपतः सर्वाङ्गोद्घाटनमिव, यतः समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छां जनयति, इत्यत्रैव स्फुटः स्वतः प्रामाण्योपयोगः । किं च क्वचिदपि चेत् निःशङ्कसमर्थप्रवृत्तिः संशयादुत्पद्यते, तर्हि सर्वत्रैवं तथाभावसंभवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति प्रामाण्यस्य जलाञ्जलिरेवं यदतः स्यादिति । एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वमुपपाद्य व्यवहृतौ स्वतस्त्वमुपपादयति—**न च फलेऽपीति** । यदि तावज्ज्ञानानां ज्ञेयाभिव्यक्तिः फलम्, यथाहुः—

'ज्ञेयाभिव्यक्तितो यस्मान्न च ज्ञानात्फलान्तरम् ।
दृश्यते कर्म्यवज्ञातस्तदर्थं विधिकल्पना ॥'

इति । तच्च फलं ज्ञानमात्रादेव न पुनरन्यनिबन्धनमित्यर्थः । अथोपादानाद्येव सर्वत्र फलं विज्ञानस्य, तच्चेष्टसाधनादिज्ञानाधीनमिति परतस्त्वं पुरस्तादेव वर्णितमिति तत्राह—**उपादानादीनामिति** । न वस्तुमात्रज्ञानफलमुपादानादि, अपि तु

जहाँ-जहाँ निःशङ्क प्रवृत्ति होती है, वहाँ-वहाँ वह प्रवृत्ति प्रामाण्यनिश्चयाधीन ही होती है, यह मानना चाहिये, अन्यथा प्रामाण्य के अनिश्चय से निवृत्ति की भी प्राप्ति होगी । क्योंकि प्रामाण्य के निश्चय के बिना पारलौकिक कर्मादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, संशय से प्रवृत्ति होने पर कहीं निवृत्ति भी हो सकती है । अप्रामाण्य निश्चय से निवृत्ति होती है, अतः प्रामाण्य निश्चय से ही निःशङ्क प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं । प्रमात्व की उत्पत्ति और ज्ञान में स्वतस्त्व का प्रतिपादन करके उसके फल (व्यवहार) में कहते है कि (न च फलेऽपि परतस्त्वम्) ज्ञान के फल में परतस्त्व (ज्ञानसामग्री से अन्य निमित्तकत्व) नहीं है क्योंकि ज्ञेय की अभिव्यक्ति और व्यवहार रूप दो फल ज्ञान के माने जाते हैं । उनमें ज्ञेय की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) रूप फल की सिद्धि ज्ञानमात्र से ही होती है । और उपादान (ग्रहण) आदि रूप व्यवहार की इष्टसाधनादि ज्ञानाधीनता (तद्विषयक

फलजनकत्वं स्वत एव । तस्मादवधीयैव गुणगणमनपेक्ष्यैव दोषाभावं स्वशक्त्यैव स्वार्थमावेदयन्ति वेदान्ताः इति सिद्धम् ।

ननु स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्तां शक्तिमेव न जानीमः, तत्र प्रमाणाभावात् । तथा हि स्फोटादिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्तिस्तत्र प्रमाणम्? उतोपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिः ? नाद्यः; स्वरूपादेव पावकादेः

गुणदोषमाध्यस्थ्यज्ञानानां तेषां च स्वत एव तज्जनकत्वमिति तत्रापि वर्णितस्वतस्त्वं न व्यभिचरतीत्यर्थः । वादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तस्मादिति** ।

'इति स्वतस्त्वं परितः प्रसाधितं प्रमाणमात्रस्य सतः स्वतो यदा ।
निषिद्धपुंदोषकथेषु लीलया समस्तवेदान्तवचस्सु सिध्यति ॥'

स्वशक्त्यैव वेदान्ताः स्वार्थमावेदयन्तीत्युक्तं तत्र स्वरूपसहकार्यातिरिक्तशक्त्यसहिष्णवस्तार्किकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**नन्वित्यादिना** । समवधानं मेलनम् । तत्र किं कार्योत्पत्तिप्रयोजकधर्ममात्रं शक्तिः ? किं वातीन्द्रियत्वे सति तादृशो धर्मः ? किं मृदादिगतातीन्द्रियप्रयोजकधर्मविशेषो वा ? मृदादिस्वरूपमात्रगतस्तादृशो वा ? प्रथमे त्वविवादः, घटत्वाग्नित्वादिजातीनामङ्गीकारात् । द्वितीयेऽपीश्वरेच्छादीनामङ्गीकारादविवादः । तृतीयेऽपि कालादिसंयोगस्य मृदादावङ्गीकारादविधानमेव । चतुर्थश्चेत्तत्राह—**तत्र प्रमाणाभावादिति** । तत्र किमर्थापत्तिः ? अनुमानम् ? आगमो वा प्रमाणम् ? तत्रार्थापत्तिं द्विधा विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना** । कार्योत्पत्त्यनुपपत्तिर्वा, इदमस्योपादानं दुग्धादि दध्योदेनं पुनस्तिलादीति, तिलाद्येव तैलस्य न पुनर्दुग्धादीति योयं नियमस्तदनुपपत्तिर्वेत्यर्थः । स्यादेतत्—यदि स्वरूपसहकारिसमवधानमात्रात्कार्योत्पत्तिः प्रतिबन्धदशायामपि किमिति नोत्पद्यते स्फोटादिः । नहि तदाग्निरनग्निः सहकारिणो वेन्धनादयोऽनिन्धनादयः । तस्माद्यत्प्रतिबन्धा-

---

प्रमाण) से उपादानादि विषयक इष्टसाधनता ज्ञान को उस उपादानादि में फलजनकत्व स्वतः होता है। अतः आप्तोक्तित्वादि गुण-गण और भ्रमप्रमादादिरूप दोषाभाव की अपेक्षा नहीं करके अपनी शक्ति से ही वेदान्त अपने अर्थ को समझाते हैं, यह सिद्ध हुआ ।

यहाँ नैयायिक शङ्का करते हैं—कारण का स्वरूप और सहकारी का समवधान (संग्रह सम्मेलन) से अतिरिक्त कोई शक्ति पदार्थ नहीं जानी जाती है। क्योंकि उसमें प्रमाण का अभाव है, यदि प्रमाण है, तो क्या स्फोट (दाह से फोड़ा) आदि स्वरूप कार्य की शक्ति के विना अनुपपत्ति रूप उसमें प्रमाण है, या उपादान कारण और उपादेय (कारण और कार्य) भाव के नियम की अनुपपत्ति प्रमाण है। प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकाभाव

प्रतिवन्धकाभावादिसहकार्युपबृंहितात्, स्फोटादिलक्षणकार्योत्पत्त्युपपत्तावतीन्द्रियशक्तिकल्पनानुपपत्तेः। न चाभावस्याकारणत्वात्प्रतिवन्धकाभावो न सहकारीति सांप्रतम्, किमन्वयव्यतिरेकित्वं नास्ति? उताभावस्य कारणत्वेऽनिष्टप्रसक्तिः? नाद्यः; भाववदभावस्यापि कार्यान्वयव्यतिरेकित्वात्। न द्वितीयः; योग्यानुपलब्धेरभावप्रमितिहेतुत्वात्, विवेकाग्रहस्य च विभ्रमहेतुत्वात्। ननु किं प्रतिबन्धकप्रागभावस्य कारणत्वम्? उत तत्प्रध्वंसस्य? नाद्यः; उत्तम्भकसद्भावे सत्यपि प्रतिवन्धके विनापि प्राग-

---

त्कार्यं नोत्पद्यते, सैव शक्तिरित्यनुपपन्नैव कार्योत्पत्तिरन्तरेण शक्तिमिति तत्राह—**प्रतिबन्धकाभावादीति**। एतदुक्तं भवति—प्रमाणद्वयविरोधोऽर्थापत्तिः, यथा देवदत्तस्य जीवनग्राहकस्य गृहाभावग्राहकस्य च विरोधो बहिर्भावं कल्पयति विरोधपरिहृत्यै। न चात्र तथाविरोधः, स्फोटोत्पत्त्यनुत्पत्तिग्राहकयोरग्निमात्रे विरोधेऽपि प्रतिवन्धाभावतद्राहित्यवदग्निविषयत्वेन विरोधशान्तेरिति। ननु न प्रतिवन्धकाभाववदग्निविषयतया विरोधः शाम्यति, अभावस्य कारणताभावादिति तत्राह—**न चाभावस्येति**। किंच भाट्टैस्तावदेवमयुक्तं वक्तुमित्याह—**योग्येति**। गुर्वनुवर्तिनः प्रत्याह—**विवेकाग्रहस्येति**। विभ्रमशब्दोऽयथार्थव्यवहारपरो गुरुनये। अथ प्रतिवन्धकाभावस्य कारणत्वं विकल्प्यैकैकं व्यभिचारेण दूषयति शक्तिवादी—**नन्वित्यादिना**। यदा ह्युत्तम्भकः प्रतिबन्धकसविधं निधीयते तदा सत्यपि प्रतिवन्धके मण्यादौ कार्यमुत्पद्यते, न तत्र प्रागभावोऽस्तीत्यर्थः। इय-

---

रूप सहकारी सहित अग्नि आदि के स्वरूप से ही स्फोटादि स्वरूप कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि होने पर, अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना नहीं हो सकती है। अभाव की अकारणता से प्रतिबन्धकाऽभाव सहकारीकारण नहीं हो सकता है, ऐसा कहना युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि अभाव के कारणत्वाभाव में क्या कारण है, क्या प्रतिबन्धकाभाव में कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेकित्व रूप कारणताबोधक धर्म नहीं है, अथवा अभाव के कारणत्व में कोई अनिष्ट की प्राप्ति होती है, वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि भावस्वरूप कारण के समान अभाव को भी कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेकित्व होता है, दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं है। क्योंकि योग्यानुपलब्धि के अभाव के ज्ञान हेतुत्व को माना जाता है, और विवेकाऽग्रह के विभ्रम हेतुत्व को माना जाता है। अतः अभाव में हेतुत्व इष्ट है, अनिष्ट नहीं, अत एव प्रतिबन्धकाभाव भी कारण होता है। यदि शङ्का हो कि प्रतिबन्धक के प्रागभाव को कारणत्व होता है, या प्रतिबन्धक प्रध्वंस को कारणत्व होता है, वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उत्तम्भक (उत्तेजक) सूर्यकान्तमणि आदि के सद्भावकाल में प्रतिबन्धक

भावं कार्यदर्शनात्। न द्वितीयः; प्रतिबन्धकानुदयेऽपि कार्योपलब्धेरिति चेत्, मैवम्; उत्तम्भकमणिमन्त्राद्यभावसहकृतस्यैव प्रतिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वात्; तेन तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावसहकृतस्यैव कारणत्वान्न व्यभि-

---

मपि प्रवन्धकध्वंसव्यभिचारभूमिर्भवत्येव, तथाप्यसाधारणं दूषणमाह—प्रतिबन्धकेति। नह्यनुदितप्रतियोगी प्रध्वंसः संभवतीति भावः। तदेतत्परिहरति—मैवमिति। नास्माभिर्मण्यादिस्वरूपमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमुच्यते, अपितूत्तम्भकाभावविशिष्टस्य। न च तादृशमुत्तम्भकसन्निधानेऽस्तीति तदापि प्रतिबन्धकप्रागभावस्य न व्यभिचार इत्यर्थः। उक्तं च कुसुमाञ्जलावुदयनेन—"प्रतिबन्धकोत्तम्भकाले तर्हि व्यभिचारः? स्यात्, यदि यादृशे सति कार्यानुदयस्तादृशे एव सत्युत्पादः, नत्वेवम्; तदापि प्रतिपक्षस्याभावात् असत्प्रतिपक्षो हि प्रतिबन्धकोऽभिमता, न सत्प्रतिपक्षः। स च तादृशो नास्त्येव, यस्त्वस्ति नासौ प्रतिपक्षः" इति। स्यादेतत्—प्रतिबन्धकाभावस्य सामग्र्यन्तःपातित्वमयुक्तम्, अनियतहेतुकत्वप्रसङ्गात्। तथाहि—यत्राग्न्यादिसमवधाने प्रतिबन्धकमण्याद्यभावे झटिति कार्यमुत्पद्यते, तत्र विशेष्यमण्यादि-

---

मणि के भी रहने से उसके प्रागभाव के बिना भी वहाँ स्फोटादि अग्नि के कार्य देखे जाते हैं। अतः प्रागभाव में कारणता का निश्चय नहीं हो सकता है, और दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रतिबन्धक के अनुदय (प्रागभाव) रहते भी दाहादि कार्य की उपलब्धि (ज्ञान) होती है, प्रतिबन्धक ध्वंस के बिना कार्य की सिद्धि से प्रतिबन्धकध्वंस में भी कारणत्व नहीं माना जा सकता है। नैयायिक कहते हैं कि यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उत्तेजक मणि, मन्त्रादि के अभावयुक्त ही प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्त) मणि, मन्त्रादि की प्रतिबन्धकता रहती है। अतः उत्तेजक के समकाल में विशेषणभाव प्रयुक्त विशिष्ट प्रतिबन्धक का अभाव ही रहता है, अतः दाह होना उचित ही है। उस समय उत्तेजकाभाव युक्त प्रतिबन्धक मणि का प्रागभाव रहता है, अतः वहाँ प्रतिबन्धक प्रागभाव सहित के कारणत्व से कहीं व्यभिचार नहीं है, प्रतिबन्धकभाव का सर्वत्रान्वय है। जहाँ केवल अग्नि है, और प्रतिबन्धक मणि नहीं है, वहाँ उत्तेजकाऽभावविशिष्ट के विशेष्याभाव से दाह होता है, और जहाँ उत्तेजक प्रतिबन्धक दोनों हैं वहाँ उत्तेजकाभावरूप विशेषण के अभाव से दाह होता है, अतः दाह में अनियत हेतुकत्व प्राप्त होता है, ऐसी शङ्का के होने पर कहा गया है कि एतेन (इससे) अनियत हेतुकत्व भी अपास्त हुआ अर्थात् वक्ष्यमाण युक्ति से अनियत हेतुकत्व नहीं रहता है। क्योंकि सर्वत्र प्रतिबन्धक संसर्गाभावविशिष्ट को ही कारण माना जाता है, अर्थात् विशेष्याभाव विशेषणाभाव में पृथक्-पृथक् कारणत्व नहीं मानकर, प्रतिबन्धक के प्रागभावप्रध्वंस अत्यन्ताभाव

चारः। एतेनानियतहेतुकत्वमप्यपास्तम् । सर्वत्र प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव-विशिष्टस्यैव कारणत्वाङ्गीकारात् । अन्यथानुपलब्धावप्युपलब्धिप्रागभाव-प्रध्वंसाभावविकल्पेनाभावप्रमितेरनियतहेतुकताया दुष्परिहरत्वात् । शक्ति-पक्षेऽप्यप्रतिबद्धाया एव तस्याः कारणत्वादभावविकल्पोत्थदोषतत्परिहारयोः समानत्वात् ।

ननु न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, प्रतिबन्धापेक्षस्तदभावः कार-

प्रतिबन्धकाभावादिति वक्तव्यम् । यत्र मण्यादौ विद्यमानेऽपि उत्तम्भकसन्निधौ कार्यमुत्पद्यते, तत्रोत्तम्भकाभावरूपविशेषणाभावादिति नैकहेतुनिरूपणमिति तत्राह—**एतेनेति** । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**सर्वत्रेति** । न विशेषणाभावो विशेष्याभावो वा हेतुस्तयोरप्रतिबन्धकत्वात् , किंतु विशिष्टाभावः, सचोभयथापि न भिद्यते । यथा-हि–केवलदण्डसद्भावे दण्डपुरुषसद्भावे द्वयाभावे केवलपुरुषाभावः सर्वत्राविशिष्टः, तथा केवलोत्तम्भकसद्भावे, प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे, द्वयाभावे वा, केवलप्रतिबन्धकाभावोऽविशिष्टः । संसर्गाभावशब्देन तद्विशेषप्रागभावादित्रितयं विवक्षितम् । प्रागभावप्रध्वंसाद्यपेक्षया चेदमनियतहेतुकत्वमाक्षिप्य परिह्रियते । तदा च संसर्गाभावशब्दोऽप्यनुगुणः त्रयानुगतत्वात् 'यस्मिन्न सति कार्यं न जायते यस्मिन्सत्येव कार्यं जायते इत्येवं संसर्गाभावमात्रस्यैव प्रयोजकत्वा'दित्युदयनोक्तेश्च । अतश्चैवमेवाङ्गीकर्त्तव्यम् , अन्यथाऽनुपलब्धेरप्यभावप्रमितिहेतुतायामपि उक्तदूषणसाम्यादित्याह—**अन्यथेति** । अलं वा स्थलान्तरप्रतिबन्धा शक्तावेवेयं सुग्रहा—सापि ह्यप्रतिबद्धा कार्याय प्रभवति, ततस्तत्रापि प्रतिबन्धकाभावे समानावेवेमावाक्षेपपरिहारावित्याह—**शक्तिपक्षेऽपीति** ।

एवमभावविकल्पप्रयुक्तदोषे परिहृते प्रकारान्तरेण प्रतिबन्धकाभावस्य कारणतामाक्षिपति शक्तिवादी—**नन्विति** । यस्तदभावः प्रतिबन्धकाभावः कारणमसौ प्रतिबन्धापेक्षः तन्निरूपणीयत्वात्, यश्च कारणाभावः प्रतिबन्धः सोऽपि कारणापेक्षः तन्निरूपणी-

---

को संसर्गाभावशब्द से एकरूपेण ग्रहण करके प्रतिबन्धक संसर्गाभावविशिष्ट को कारण मानने से अनियतहेतुकत्व नहीं रहता है । अन्यथा (अनियतहेतुता के इस परिहार को नहीं मानने पर) अनुपलब्धि में भी उपलब्धि के प्रागभाव प्रध्वंसाभाव के विकल्प (भेद) से अभाव ज्ञान में अनियत हेतुकता को दुर्निवारणत्व होगा । और शक्तिवाद पक्ष में भी अप्रतिबद्ध ही शक्ति में कारणत्व होने से प्रतिबन्धक के अभावभेद से जन्य दोष और उसके निवारण में तुल्यता रहेगी ।

फिर शंका होती है कि प्रतिबन्धकाऽभाव में करणता ही नहीं है कि जिसके प्रागभावादि के विकल्प होंगे । क्योंकि जो तदभाव (प्रतिबन्धकाभाव) कारण माना जाता है, वह अभाव होने से प्रतियोगी सापेक्षनिरूपण वाला होगा, और

णम्, कारणापक्षश्च तदभावः प्रतिवन्ध इत्यन्योन्याश्रयग्रस्तत्वात्, प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिवन्धकः, इत्यङ्गीकारादिति चेत्, मैवम्; अवधोर्यैवाभावस्य कारणतां कार्यानुदयमात्रेणैव मन्त्रादेः कार्यप्रतिकूलतावगमात्, अनवलम्ब्यैव च मणिमन्त्रादेः कार्यप्रतिवन्धकतां तदभावस्या-

---

यत्वादेव। ततश्च प्रतिवन्धाभावरूपकारणस्य कारणाभावरूपप्रतिबन्धस्य च परस्पराधीननिरूपणादन्योन्याश्रयतेत्यर्थः। ननु कारणाभावस्य प्रतिवन्धत्वे स्यादयमन्योन्याश्रयस्तदेव तु कथम्, यावता कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्ध इति तत्राह—**प्रतिवन्ध इति**। अयमर्थः—न तावत्कार्यानुत्पादः प्रतिबन्धः, तस्यानादितया प्रतिबन्धकाधीनत्वाभावात्। नापि तस्य कालान्तरसंबन्धः; कालस्यैकत्वात्, औपाधिकानेकत्वे च कालोपाधेर्मण्याद्यजन्यत्वात्। कर्त्तार्हि कारणाभावात्कार्याभाव इति परिभाषार्थः? भावधर्मोपचारात्, सामग्रीकार्ययोः पौर्वापर्यनियमः तदभावयोरप्युपचारात्प्रयुज्यते, वस्तुतस्तु समसमयत्वमेव। कस्तर्हि प्रतिबन्धः? इति हृदि निधायोक्तमुदयनेन—

'भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः।
प्रतिवन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिवन्धकः' ॥ इति। (न्या० कु० १।१०)

अत्र पूर्वार्धेनाभावस्य कारणतानिरूपणेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमुक्तम्। उत्तरार्धेन च प्रतिबन्धप्रतिवन्धकौ निर्दिष्टौ। प्रतिवन्धो नाम विसामग्री, सामग्रीवैकल्यं मन्त्रादि, तद्धेतुस्तु मन्त्रप्रयोक्ताप्रतिवन्धकः इति, तस्मात्सामग्रीप्रतिवन्धयोरस्त्येवान्योन्याश्रयतेति। यद्यप्युभयाभावत्वमुभयस्य तथाप्यन्योन्यनिरपेक्षस्य शक्यनिरूपणत्वान्नान्योन्याश्रयत्वमिति परिहरति—**मैवमिति**। मन्त्रादेः स्वाभावकारणतयाज्ञानमन्तरेणैव कार्यानुदयेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यप्रतिकूलतालक्षणप्रतिबन्धकत्वावगमादित्यर्थः। मन्त्राद्यभावस्य कारणत्वमपि मन्त्रादिप्रतिवन्धकत्वज्ञानव्यति-

---

जो कारण का अभावरूप प्रतिवन्ध (प्रतिवन्धक) है, वह भी (तदभाव) कारणाभाव रूप होने से कारणापेक्षनिरूपणीय होगा। इसप्रकार से अन्योन्याश्रय से ग्रस्त होने से प्रतिबन्धकाऽभाव कारण नहीं हो सकता है। अतएव कहा है कि (विसामग्री सामग्री की विकलता (अभाव) प्रतिबन्ध है, सो मणिमन्त्रादि स्वरूप है, उसका हेतु प्रयोक्ता प्रतिवन्धक है) अतः सामग्री और प्रतिवन्ध को अन्योन्याश्रयता है ही। यह शंका भी युक्त नहीं है। क्योंकि प्रतिवन्धकाभाव की कारणता की अपेक्षा नहीं करके ही प्रतिबन्धक मन्त्रादि की कार्यप्रतिकूलता का ज्ञान होता है। तथा प्रतिबन्धक मणिमन्त्रादि के कार्यप्रतिबन्धकता के अवलम्बन (अपेक्षा) के विना ही उनके अभाव में अन्वयव्यतिरेक से ही स्वतन्त्र करणता का निश्चय होता है। इसप्रकार से परस्पर अपेक्षा के अभाव से अन्योन्याश्रय नहीं रहता है। और यह भी विचारणीय है कि उक्त कारण (प्रतिबन्धकाभाव) और प्रति-

न्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कारणताध्यवसायात्। किं चेदमन्योन्याश्रयत्वमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा स्यात्? नाद्य,; मन्त्रतदभावयोः परस्परहेतुत्वाभावात्। नापि द्वितीयः; अज्ञातयोरपि मन्त्रतदभावयोः कार्यं प्रति प्रतिकूलत्वकारणत्वयोरुपपत्तेः। ननु कार्याभावावसेयकार्यप्रतिकूलभावा मन्त्रादयः शक्तेरपह्नवाय कारणाभावरूपा इष्यन्ते, अत एव मन्त्राद्यभावोऽपि कारणमिष्यते, ततो मन्त्रतदभावनिष्ठप्रतिवन्धकत्वकारणत्वयोरन्योन्योपाधिकत्वादुत्पत्तौ

रेकेणैव शक्यं ज्ञातुमित्याह—**अनवलम्ब्यैव चेति**। यथाह्यन्यादेः कारणत्वं कार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तथा मन्त्राद्यभावस्यापीत्यर्थः। एवं साधारण्येन परिहारमुक्त्वा विकल्प्याह—**किं चेति**। यद्यपि मन्त्रादिप्रागभावस्य मन्त्रादिं प्रति हेतुता संभवति, तथापि तं प्रति न हेतुता मन्त्रादेरत आह—**परस्परेति**। ज्ञप्तौ परस्पराश्रयं परिहरति—**नापीति**। नहि यद्यत्कारणं तत्सर्वं ज्ञातमेव कारणम्, चक्षुरादेरदर्शनात्। एवं प्रतिवन्धाभावोऽपीति भावः। तमिममुदयनीयमन्योन्याश्रयतापरिहारं परिजह्रुः न्यायरत्नदीपावलीकृतस्तदनुवदति—**नन्विति**। यद्यपि कार्यानुदयोदयान्वयव्यतिरेकावसेये मन्त्रतदभावयोः प्रतिवन्धकत्वकारणत्वे, तथापि सामग्रीवैकल्यरूपतया मन्त्रादेः प्रतिबन्धकत्वं न तु स्वरूपेण। एवं तदभावस्यापि प्रतिवन्धकाभावतया कारणत्वं न स्वरूपेण, तथा च प्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरपरिहार्यैव सत्ताज्ञप्त्योरन्योन्याश्रयतेति खण्डलकार्थः। दूषयति—

बन्धक मणि-मन्त्रादि की उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय होगा या ज्ञान में होगा, वहां उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्रतिवन्धक मन्त्रादि और उनके अभाव में परस्पर हेतुत्व का अभाव है। दूसारा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि अज्ञात भी मन्त्रादि और उनके अभाव के कार्य के प्रति प्रतिकूलत्व और कारणत्व की सिद्धि होती है। ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं होती है कि जिससे ज्ञान में अन्योन्याश्रय हो सके, जैसे इन्द्रिय अज्ञात होते अपने कार्य के हेतु होते हैं। वैसे वे दोनों स्वकार्यकारी होते हैं। फिर भी शंका होती है कि कार्य के अभाव से अवसेय (ज्ञेय) कार्यप्रतिकूलता है जिन के, ऐसे मन्त्रादि, शक्ति के अपह्नव (नाश) के लिये कारणाभाव रूप माने जाते हैं। अत एव मन्त्रादि का अभाव भी कारण माना जाता है। अतः मन्त्र और मन्त्राभाववृत्ति कार्यप्रतिवन्धकत्व और कारणत्व में अन्योन्य (परस्पर) उपाधित्व (निमित्तकत्व) होने से उत्पत्ति और ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयता दुर्वार है, क्योंकि मन्त्राभाव से कारण की सिद्धि और कारणाभाव से प्रतिवन्ध की सिद्धि होती है। भाव यह है कि यद्यपि कार्य के अनुदय-उदय के साथ अन्वयव्यतिरेक से मन्त्र और मन्त्राभाव के प्रतिवन्धकत्व और कारणत्व निश्चित होते हैं। तथापि सामग्री की विकलता

ज्ञप्तौ वान्योन्याश्रयता दुर्वारेति चेत्, न; उक्तोत्तरत्वात्-अन्तरेणैवाभावस्य कारणतावावगमं मन्त्रादेः कार्याभावमात्रेण कार्यप्रतिकूलभावस्यावगन्तुं शक्यत्वात्, तदभावकारणत्वस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सुकरावगम्यत्वात् इति। न च शक्त्यनङ्गीकारे प्रतिबन्धासंभवः, मणिमन्त्रादिसन्निधानासन्निधानयोः स्वरूपस्याविशेषादिति वाच्यम्; कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्ध-

---

नेति। उक्तमेवोत्तरं दर्शयति—**अन्तरेणेत्यादिना**। यद्यपि कोष्ठगत्या विघ्नत एवायमर्थः, तथापीतरेतरनिरपेक्षत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतीयमानमनुभवसिद्धं न युक्तिसहस्रेणापि शक्यनिवारणमित्यर्थः। ननु प्रतिबन्धान्यथानुपपत्तिः शक्तौ प्रमाणम्। तथाहि—अग्न्यादिस्वरूपं तावन्न प्रतिबध्यते, पूर्ववदेवाविकलमुपलभ्यमानत्वात्तस्माद्यदनेन प्रतिबध्यते तदतीन्द्रियं शक्तिनामेति तदिदं सहेतुकमनूद्य प्रतिषेधति—**न चेत्यादिना वाच्यमित्यन्तेन**। तत्र हेतुः—**कार्यौदासीन्येति**। अग्न्यादिस्वरूपावैकल्येऽपि मन्त्रादिसन्निधाने कार्योत्पादं प्रत्युदासीनाः भवन्त्यग्न्यादयः, अयमेव प्रतिबन्ध इत्यर्थः। शक्तिपक्षेऽप्ययमेव प्रतिबन्धशब्दार्थो वक्तव्यः, स मत्पक्षेपि

रूप से मन्त्रादि की प्रतिबन्धकता होती है, स्वरूप से नहीं, इसी प्रकार से मन्त्राभाव प्रतिबन्धकाऽभाव रूप से कारणत्व होता है, स्वरूप से नहीं। अतः प्रतिबन्धकत्व और कारणत्व को सत्त्व और ज्ञान मे परस्पराश्रयता अपरिहार्य है। परन्तु यह शंका युक्त नहीं, इसका उत्तर कहा गया है कि, अभाव की कारणता के ज्ञान के बिना ही कार्याभावमात्र के स्वरूप से मन्त्रादि कार्यप्रतिकूलता का ज्ञान हो सकता है। तथा प्रतिबन्धकाभाव के कारणत्व का भी अन्वयव्यतिरेक से ही निर्विघ्न ज्ञान होता है, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है। यदि कहा जाय कि शक्ति को नहीं मानने पर, मणिमन्त्रादि से प्रतिबन्ध (स्फोटादि कार्य का निरोध) ही होना असम्भव है, क्योंकि मणिमन्त्रादि के सामीप्य और असामीप्य से अग्नि के स्वरूप में कोई विशेष (भेद) नहीं होता है। अतः अग्नि के स्वरूप का तो प्रतिबन्ध होना नहीं है, उससे अतिरिक्त अतीन्द्रिय शक्ति हो तो उसके प्रतिबद्ध होने से कार्य की अनुत्पत्ति हो सकती है, इस प्रकार से शक्ति के बिना प्रतिबन्ध की अनुपपत्ति शक्ति में प्रमाण है। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि शक्ति को नहीं मानने पर भी मणिमन्त्रादि के सामीप्य से अग्नि में कार्य (दाहादि) से उदासीनता हो जाती है। यही प्रतिबन्ध शब्द का वाच्यार्थ है, और यही मन्त्रादि के असन्निधिकाल से सन्निधिकाल में विशेषता है, शक्ति का नाश नहीं। शक्तिवाद में भी यह उदासीनता रूप ही प्रतिबन्ध मन्तव्य है, अन्यथा प्रतिबन्ध का स्वरूप दुर्विवेक (दुर्ज्ञेय) है। क्योंकि शक्ति का नाश रूप प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है।

शब्दाभिधेयस्य विशेषत्वात्, अन्यथा शक्तिपक्षेऽपि प्रतिबन्धस्य दुर्विवेकत्वात्। नहि शक्तेर्नाशः प्रतिबन्धः, प्रतिबन्धापाये कार्याभावप्रसङ्गात्। न च स्फोटाख्यकार्योत्पत्तये शक्त्यन्तरं तत्रोत्पन्नम्; तत्कारणानिरूपणात्। न च प्रतिबन्धाभावः कारणम्; अभावस्य कारणतानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे वा तस्यैव स्फोटादिकार्यंजनकत्वमस्तुः कृतमतीन्द्रियशक्तिकल्पनादुर्व्यसनेन। शक्तेः शक्त्यन्तरं प्रतिबध्यते इति वदतोऽनवस्था, तस्मात्कार्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वापन्नातीन्द्रियशक्तिकल्पनावकाशः।

समान इति प्रतिबन्दी गृह्णाति—**अन्यथेति**। एतदेव शक्तिपक्षे परिशेषयति—**न हीत्यादिना**। ननु सा शक्तिर्विनष्टैव, उत्तरकालं तु शक्त्यन्तरमुत्पन्नं तदा कार्योदय इति तत्राह—**न च स्फोटाख्येति**। न तावदग्निसामग्रीतस्तस्योत्पादः; तस्या नष्टत्वात्। नाप्याश्रयभूताग्नेः; तस्याऽशक्तस्यानुत्पादकत्वात्। उत्पादकत्वे वा कार्यं तथा इति कृतं शक्तिपिशाचिकया। शक्तश्चेत्सैव शक्तिः कार्येऽप्यस्तु, मुधोत्पाद्या शक्तिः, तस्मात्कारणान्तरानिरूपणान्न शक्त्यन्तरोत्पाद इति भावः। ननु किमिति कारणाभावः, यावता प्रतिबन्धाभावादेवेयमुत्पद्यतामिति तत्राह—**न चेति**। ननु शक्तेरपि शक्तिरस्ति सैव प्रतिबध्यतामिति तत्राह—**शक्तेरिति**। तत्राप्युक्तदूषणपरिहाराय शक्तिप्रतिबन्धो वक्तव्यः, तथाचानवस्थेति भावः। प्रथमार्थापत्तिदूषणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

यदि प्रतिबन्धक के आने से शक्ति का नाशरूप प्रतिबन्ध हो तो प्रतिबन्धक द्वारा शक्ति के नाश के बाद शक्तिप्रतिबन्ध के अपाय (अभाव) होने पर भी दाहरूप कार्य का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि प्रथम की शक्ति के नष्ट होने पर भी प्रतिबन्धक के अपाय से स्फोटादि कार्य की उत्पत्ति के लिये फिर वहाँ दूसरी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जिस कारण से दूसरी शक्ति उत्पन्न होगी उसका निरूपण नहीं किया जा सकता है कि वह क्या है? यदि कहें कि प्रतिबन्धाभाव अन्य शक्ति का कारण है, तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अभाव की कारणता नहीं मानी जाती है। यदि अभाव की कारणता को मानलें, तो उस प्रतिबन्धाभाव को ही स्फोटादि कार्य के प्रति जनकत्व हो सकता है, फिर अतीन्द्रियशक्तिकल्पना के दुर्व्यसन (आग्रह) का कोई फल नहीं है। यदि कहें कि प्रतिबन्धक से अग्नि की शक्ति का नाश नहीं होता है, किन्तु शक्ति के शक्त्यन्तर प्रतिबद्ध हो जाती है कि जिससे दाह नहीं होता है, तो ऐसा कहने वाले को अनवस्था की प्राप्ति होगी। अतः कार्य की अन्यथा (शक्ति के बिना) भी उपपत्ति (सिद्धि) होने से अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना का अवकाश (स्थान) नहीं है।

नापि द्वितीयः, उपादानोपादेयभावनियमस्याप्यनादिसिद्धवृद्धव्यवहारावसिततत्कार्यानुकूलस्वभावभेदादेवोपपत्तेः। अन्यथेयमिहैव किमिति शक्तिर्नान्यत्रेतिपर्यनुयोगे कः स्वभावभेदादन्यः परिहारः स्यात् ? तस्मादर्थापत्तिद्वयमपि नात्र प्रमाणम्। अस्तु तर्ह्यनुमानम्, तथाहि-विमतमजनकदशातो जनकदशायामतिशययोगि, कारकत्वात् कुण्ठकुठारवदिति चेत्, न; सहकारिसमवधानातिशयेनैव सिद्धसाधनत्वात्। अस्तु तर्ह्यग्निरतीन्द्रियसामान्यव-

---

अनादिसिद्धो यो वृद्धव्यवहारस्तेनावसितो यस्तत्तत्कार्यानुकूलस्वभावस्य भेदो विशेषः तस्मादेवोपादानोपादेयनियमोपपत्तेः तदर्थमपि शक्तिर्न कल्पनीयेति द्वितीयामर्थापत्तिं दूषयति—**उपादानेति**। यदि हि स्वभावो नियामको न स्वीक्रियते तर्हि शक्तावपि न स्यान्नियम इत्याह—**अन्येति**। तिमिरादिप्रयोगमनुवदति—**विमतमिति**। विमतमग्न्यादि। अतिशययोगीत्युक्ते अविद्यमानदशातो विद्यमानदशायां सत्त्वलक्षणातिशययुक्तत्वात् सिद्धसाध्यता तदर्थमजनकेति विशेषणम्। इदं शक्तिसाधकं न भवति, सहकारिसमवधानस्यातिशयस्यापि जनकावस्थायां साधकतयार्थान्तरत्वादिति परिहरति—**न। सहकारीति**। न्यायरत्नदीपावलीस्थमनुमानमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति**। 'निष्क्रियाश्रय इत्युक्ते सामान्याभावाद्याश्रयत्वेन सिद्धसाधनं तदर्थं सामान्यवदित्युक्तम्। तथापि गुणकर्मभ्यां सिद्धसाधनता तदर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम्। तेजोद्व्यणुकरूपादिना सिद्धसाधनतापरिहारार्थंतत्सामान्यग्रहणम्। तस्यैन्द्रियकसामान्यवत्त्वात्। वाय्वाश्रयत्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै निष्क्रियेत्युक्तम्। गुरुत्वगुणाश्रयः पार्थिवमाप्यं वाऽत्र दृष्टान्तः। गुरुत्वत्वजातेरतीन्द्रियतया गुरुत्वाश्रयस्योक्तरूप-

---

उपादान उपादेयभाव के नियम का अन्यथा अनुपपत्ति रूप दूसरा भी शक्ति में प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि अनादिसिद्ध वृद्धव्यवहार से निश्चित कार्यानुकूल स्वभावभेद से ही उपादान-उपादेयभाव नियम की सिद्धि हो जाती है, कि मृत्तिका से घट होता है, तिल से तैल होता है, अन्यथा नहीं होता है। (अन्यथा) यदि स्वभाव को उपादानोपादेयभाव का नियामक नहीं माना जाय तो यह दाहादि की शक्ति इस अग्नि में ही क्यों है, अन्यत्र क्यों नहीं है, ऐसा प्रश्न होने पर, स्वभावविशेष से अन्य क्या परिहार (उत्तर) होगा। अतः कार्यानुपपत्ति, नियतोपादानत्वानुपपत्ति रूप दोनों अर्थापत्ति इस शक्ति में प्रमाण नहीं हो सकती हैं। यदि कहें कि अर्थापत्ति के प्रमाण नहीं हो सकने पर, अनुमान प्रमाण हो सकता है कि (विमत = अग्नि आदि, अजनक अवस्था से जनकावस्था में किसी अतिशय (विशेष पदार्थ) से युक्त रहते हैं, कारक होने से, कुण्ठित कुठारादि के समान) तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सहकारी के सान्निध्य रूप अतिशय से ही सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है कि जिससे अर्थान्तरत्व हो जाता

न्निष्क्रियाश्रयः कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवदिति प्रयोगः । तेजोद्व्यणुकमतीन्द्रियरूपस्य वायोश्चाधिकरणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियेत्युक्तमतः शक्तिसिद्धिरिति कश्चित् । तन्न ; योगिस्वीकारवादिनं प्रत्यतीन्द्रियविशेषणस्याप्रसिद्धत्वात् । विमतं न गुरुत्वजातिविषयमिन्द्रियत्वादस्मच्चक्षुर्वदित्यतीन्द्रियसिद्धिरिति चेन्न । योगिनमनङ्गीकुर्वतो मीमांसकस्याश्रयासिद्धेः, तत्सिद्धौ वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् । अस्तु तर्ह्यस्मदाद्यभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणम्, नैवम् ; अनुव्यवसायप्रत्यक्षगोचरतया

त्वात् तेजसि गुरुत्वासंभवेन शक्तिसिद्धिः । तदुक्तमेव व्यावर्त्यमाह—**तेज इति** । तदेतद्दूषयति—**योगीति** । तार्किकाणां हि सर्वं योगिप्रत्यक्षमित्यतीन्द्रियविशेषणस्यासिद्धत्वात् अप्रसिद्धिविशेषणः पक्ष इत्यर्थः । अत्र तैरेव गुरुत्वत्वजातेर्योगिनः प्रत्यतीन्द्रियत्वसमर्थनेनैवाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये परिहृते । तदनुवदति—**विमतमिति** । योगीन्द्रियमित्यर्थः । एवमनुमिमानस्य योगीन्द्रियं प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा ? द्वितये प्राह—**योगिनमिति** । प्रथमे प्राह—**तत्सिद्धौ चेति** । साध्यं विशेषयति—**अस्तु तर्हीति** । तथाप्यप्रसिद्धविशेषणतामाह—**नैवमिति** । यदा हि परमाणुं

है। फिर भी कोई कहते हैं कि (अग्नि, अतीन्द्रिय सामान्य = जाति वाले निष्क्रिय का आश्रय है, कारण होने से, गुरुत्वाश्रय के समान) यह अनुमान प्रमाण है, इससे अतीन्द्रिय शक्ति की सिद्धि होती है। तेज का द्व्यणुक अतीन्द्रिय रूप और वायु का आश्रय होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिये अतीन्द्रिय सामान्यवत् और निष्क्रिय कहा गया है, रूपत्व जाति अतीन्द्रिय नहीं, और वायु निष्क्रिय नहीं अतः उनके आश्रय की व्यावृत्ति होती है, और शक्ति के अतीन्द्रिय होने से उसकी जाति भी अतीन्द्रिय रहती है, और अद्रव्यता से शक्ति निष्क्रिय रहती है, उसकी अनुमान से अग्नि में सिद्धि होती है। निष्क्रियाश्रय, इतना ही साध्य का स्वरूप होता, तो सामान्य अभावादि के आश्रयत्व से सिद्धसाधनता होती, अतः सामान्यवत् कहा कि जिससे सामान्यादि में जाति के अभाव से उनकी व्यावृत्ति होती है। गुरुत्व गुण का आश्रय पृथिवी जल दृष्टान्त है, क्योंकि गुरुत्व जाति के अतीयता से दृष्टान्त की सिद्धि होती है, तेज में गुरुत्व के अभाव से शक्ति सिद्ध होती है। परन्तु यह अनुमान भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ योगी को मानने वाले के प्रति अतीन्द्रिय विशेषण की असिद्धि है। यदि कहें कि (विमतं = योगीन्द्रियं, न गुरुत्वजाति = गुरुत्वत्वविषयम्, इन्द्रियत्वात् = हमारे चक्षु समान) इस अनुमान से अतीन्द्रिय की सिद्धि से विशेषण की असिद्धि नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि योगी को नहीं मानने वाले मीमांसक के प्रति, योगीन्द्रिय रूप आश्रय की असिद्धि होती है। यदि आश्रय की सिद्धि

सर्वस्यास्मदादिविशेषणस्वीकारेऽपि पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात् । अनुव्यवसायेतरास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्ध्यगोचरत्वाभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणमितिचेत्, न प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणावगाहिविशिष्टज्ञानवादे सर्वेषामप्यैन्द्रियकत्व-

---

ज्जानाम्याकाशं जानामीत्यनुव्यवसायो जायते, तदा परमाण्वादि तज्ज्ञानं चानुव्यवसायस्य मानसप्रत्यक्षस्य विषयो भवति, एवं सर्वोऽप्यैन्द्रियकज्ञानविषय इत्यप्रसिद्धमतीन्द्रियत्वमस्मदादि प्रत्यपीत्यर्थः। अनुव्यवसायेतरत्वे सतीति विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—**न प्रमाणान्तरेति**। येषां हि व्योमशिवप्रभृतीनां मते सुरभिचन्दनमित्यादिविशिष्टज्ञानानि प्रमाणान्तरेण घ्राणादिनोपनीतगन्धादिकमपि विषयीकुर्वन्ति प्रत्यभिज्ञेव तत्तांशमिति मतं तन्मते सर्वस्य यत्किञ्चित्प्रत्यक्षार्थविशेषणतया ऐन्द्रियकबुद्धिवेद्यत्वसंभवात्, अप्रसिद्धविशेषणता तदवस्थेत्यर्थः। अथ विशिष्टज्ञानानुव्यवसायातिरिक्तास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्ध्यविषयत्वमतीन्द्रियत्वमभिप्रेतमिति विशेषणपरंपरामेव प्राणधारणनिरपत्रपतया परिगृह्णीयात्, स प्रष्टव्यः किमत्राश्रयशब्देन संयोगितयाधाराधेयभावो विवक्षितः? समवायितया वा? नाद्यः; दृष्टान्ते

हो तो योगी के इन्द्रिय रूप धर्मी के सर्वार्थकता के ग्राहक अनुमान शास्त्रादि प्रमाण से ही उक्त साध्य का बाध होगा, क्योंकि हमलोगों के इन्द्रियों से विलक्षण योगीन्द्रियों को समझाता हुआ प्रमाण, योगीन्द्रियों में अतीन्द्रिय विषयकत्व को भी समझायेगा। यदि कहें कि उक्त अतीन्द्रियत्व विशेषण हमलोगों के इन्द्रियों के अभिप्राय से रहे, तो यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अस्मदादि विशेषण को लगाने पर भी, परमाणु को जानता हूं, आकाश को जानता हूं, गुरुत्व को जानता हूं, इस प्रकार के मानस अनुव्यवसाय के विषय सब ही पदार्थ के होने से पूर्वोक्त विशेषणासिद्धि दोष तदवस्थ (वैसा ही बना) रहता है। मन भी इन्द्रिय है, मन का अविषय कोई वस्तु उक्त रीति से है नहीं, अतः अतीन्द्रियत्व की अप्रसिद्धि रहता ही है। यदि कहें कि अनुव्यवसाय = मानसप्रत्यक्ष से भिन्न हमलोगों के इन्द्रियजन्य ज्ञान अविषयत्व के अभिप्राय से अतीन्द्रियत्व विशेषण है। अतः विशेषणासिद्धि नहीं है, तो यह कहना भी व्यर्थ है। क्योंकि प्रमाणान्तर से गृहीत विशेषण को 'ज्ञानलक्षण' अलौकिक सम्बन्ध, से ग्रहण करने वाले विशिष्ट ज्ञान को मानने वाले के मत में सब पदार्थ के इन्द्रियविषयत्व की सम्भावना से पूर्वोक्त विशेषणासिद्धि दोष का निवारण नहीं हो सकता है। अर्थात् घ्राण से गृहीत गन्ध का ज्ञानलक्षणसम्बन्ध से जो नेत्रज ज्ञान मानते हैं, एक गो व्यक्ति में गोत्व के ज्ञान से गोत्व रूप सामान्य लक्षणा सम्बन्ध से सब गोव्यक्ति के नेत्रज प्रत्यक्ष को मानते हैं, उनके मत में घट में पदार्थत्व के नेत्र से ज्ञान होने पर सब पदार्थ सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से चाक्षुषज्ञान

संभावनया पूर्वोक्तदोषानुत्तारात्। आश्रयपदस्य च समवाय्यर्थतायां भाट्टस्य समवायानङ्गीकारवादिनोऽप्रसिद्धिविशेषणत्वात्, वह्नौ स्थितिस्थापकसंस्कारसिद्धेः, सिद्धसाधनत्वाच्च। ननु कथं सिद्धसाधनत्वम्, तत्सत्त्वे मानाभावादिति चेत्, मैवम्; विमतः स्थितिस्थापकसंस्कारवान् रूपवत्त्वात्कटवदित्यनुमानसद्भावात् न च स्थितिस्थापककार्यवत्त्वमुपाधिः; उत्पन्नमात्रविनष्टकटादिषु कार्यानुपलम्भेऽपि तथाविधसंस्काराभ्युपगमेन साध्याव्याप्तेः। किं च यः स्वसिद्धान्तानुसारेण सिद्धसाधनतां ब्रूयात्, स कथमनुमानशतैरपि स्वसिद्धान्तात्प्रच्याव्येत? कथं वा तदीयसिद्धसाधनताभिधानं प्रत्युद्ध्रियेत?

साध्यवैकल्यात्। द्वितीये प्राह—**आश्रयपदस्येति**। साधारणाकारविवक्षायां सिद्धसाधनतामाह—**वह्नाविति**। अत्रापि तदीयपरिहारमुद्भावयति—**ननु कथमिति**। अस्मिन्नप्यनुमाने तदीयं दूषणमुद्भाव्य दूषयति—**न चेति**। साध्याव्यापकत्वेनोपाधिं परिहरति—**उत्पन्नेति**। न हि यत्र स्थितिस्थापकवत्त्वं तत्र तत्र तत्कार्यवत्त्वमस्ति, यदा ह्युत्पन्नः कटोऽनुत्पादितपूर्वास्थानसमानसंस्थानादिस्थितिस्थापककार्यो विनश्यति तदा साध्यवत्त्वेऽप्युपाधेरभावात् साध्याव्याप्तिरित्यर्थः। अत्र चोत्पन्नमात्रेति अनुपादितकार्यवत्त्वमात्रं विवक्षितम्, इतरथा तत्र साध्याभावस्यापि सुवचत्वादिति।

के विषय होते हैं, अतः अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं है। और आश्रय पद का समवायी अर्थ हो, तो समवाय को नहीं मानने वाले तादात्म्यवादी भट्ट के मत में अप्रसिद्ध विशेषणता होगी अग्नि में स्थितिस्थापक संस्कार की सिद्धि से सिद्धसाधनता होगी। यदि शङ्का हो कि अग्नि में सिद्धसाधनता कैसे होगी, उसमें स्थितिस्थापक के सत्त्व में प्रमाण नहीं है। तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि (विमताग्नि, स्थितिस्थापक संस्कार वाली है, रूपवाली होने से, कट के समान) इस अनुमान रूप प्रमाण का सत्त्व है, यदि कहें कि इस अनुमान में स्थितिस्थापक कार्यवत्त्व उपाधि है, वह हेतु का अव्यापक और साध्य का व्यापक है, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि उत्पन्न होते ही कटादि जहाँ नष्ट हो गये, वहाँ संस्कारादि गुण सहित उत्पन्न हुए परन्तु संस्कार का कार्य नहीं हो सका, अतः वहाँ कार्य अनुपलम्भ होते भी स्थितिस्थापक संस्कार के स्वीकार से उपाधि साध्य का व्यापक नहीं हो सकता है। और दूसरी बात है कि जो मीमांसक अपने सिद्धान्त के अनुसार से स्थितिस्थापक में सिद्धसाधनता को कहेगा, वह सैंकड़ो अनुमान द्वारा भी अपने सिद्धान्त से कैसे प्रच्युत किया जायगा। या उसके सिद्धसाधनता कथन का निवारण किया जायगा, उसके सिद्धान्तानुसार दोष रहेगा ही।

अस्तु तर्हि स्थितिस्थापकेतरातीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय इति प्रयोग इति चेत्, मैवम्; तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिनं प्राभाकरं प्रत्यर्थान्तरत्वापातात्, वह्नेरतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियकर्माश्रयत्वात्। कारणत्वादिति हेतोः शक्त्यानैकान्त्यात्, शक्तेश्च शक्त्यन्तराभ्युपगमेऽनवस्थापातात्। जनकशक्तियोगिन एव कारणत्वेन विवक्षितत्वात् न शक्तावनैकान्तिकतेति चेत्,

---

ननु यदि स्वसिद्धान्तानुरोधेन सिद्धसाधनतां वदतोऽनुमानैस्तदीयसिद्धान्तात्प्रच्यावनमशक्यम्, सिद्धसाधनता वा अपरिहार्या, तर्हि स्थितिस्थापकेतरेति विशेषणीयमिति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। तथापि प्राभाकरमते कर्मणार्थान्तरता, तन्मते कर्मण्यप्रत्यक्षे निष्क्रियेऽतीन्द्रियसामान्यवत्त्वादिरूपसाध्यस्य विद्यमानत्वादित्याह—**मैवमित्यादिना**। तथाहि यद्यत्कादाचित्कं तत्स्वाश्रयातिशयपुरःसरं दृष्टम्, यथा संयोगविभागजन्यं कार्यं संयोगविभागलक्षणस्वाश्रयातिशयपुरःसरमिति व्याप्त्या संयोगविभागयोरपि कादाचित्कत्वात् स्वाश्रयातिशयपूर्वकत्वमनुमीयते योऽसावतिशयः, तत्कर्मेति तेषां मतम्। तस्माद्भवत्येव तेनाऽर्थान्तरतेतिभावः। एवं प्रतिज्ञानिबद्धदूषणान्युक्त्वा अनैकान्तताञ्चाह—**कारणत्वेति**। ननु किमित्यनैकान्तता? यतः शक्तेरपि साध्यवत्तया सपक्षत्वादिति तत्राह—**शक्तेश्चेति**। उक्तं च लीलावतीकारेण 'शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थितेः, अनपेक्षत्वे तया एव व्यभिचारा'दिति। स्यादेतत्—यदि न शक्तेः सपक्षत्वम्, तर्हि हेतुरेव तत्र न वर्तत इति शङ्कते—**जनकशक्तीति**। शक्तिमद्धि कारणं नतु शक्तिरित्यर्थः। तर्हि हेतोरसिद्धिरित्याह—**मैवमिति**। कारणत्वादिति कोऽर्थः? शक्तियोगित्वादिति, तथा च विशेषणस्यैतदनुमानात्प्रागसिद्धेरसिद्धिरेव हेतोरित्यर्थः। अथ ब्रूयान्मानान्तरादेव

भट्टमतानुसार दोष का निवारण, नहीं हो सकता ह। तो, (स्थितिस्थापक भिन्न = अतीन्द्रिय समान्यवान् निष्क्रिय आश्रय अग्नि है) ऐसा साध्य का स्वरूप हो, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा साध्य के स्वरूप को मानने पर भी कर्म के अप्रत्यक्षत्ववादी प्रभाकर के प्रति अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अतीन्द्रिय सामान्य वाले निष्क्रिय कर्म का आश्रय अग्नि को प्रभाकर मानते हैं, अतः कर्म से अर्थान्तरता होती है। अग्नि को उनके मत में अतीन्द्रियसामान्यवत् निष्क्रिय कर्माश्रयत्व है। और कारणत्व रूप हेतु शक्ति में अनैकान्तिक है, क्योंकि शक्ति में उक्त साध्यरूप शक्ति नहीं रहती है और कारणत्वरूप हेतु रहता है। हेतु की अव्यभिचारिता के लिये शक्ति में अन्य शक्ति मानें तो अनवस्था होगी। यदि कहा जाय कि, जनक होता हुआ शक्ति योगवाले शक्तिमान को कारण कहा जाता है, शक्तिमान ही कारण रूप से विवक्षित है, अतः शक्ति में अनैकान्तिकता हेतु नहीं है, क्योंकि शक्ति में शक्ति के अभाव से केवल शक्ति में कारणत्व भी नहीं रहता है, तो

मेवम् ; शक्तियोगित्वस्य विशेषणशक्त्यसिद्धावसिद्धेः, मानान्तरात्तत्सिद्धौ कृतमनया ग्रन्थकथाकन्याकदर्थनया, गुणादावनैकान्त्यं च । गुणादेरप्यतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयत्वे च घटादिवद्द्रव्यत्वप्रसङ्गान्न यथोक्तशक्त्याश्रयत्वोपपत्तिः ।

अस्तु तर्हि विवादाध्यासितः स्फोट उभयवादिसंप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्यः कार्यत्वाद्घटवदिति प्रयोग इति चेत्, मैवम्, प्रति-

---

विशेषणं साधयामीति, तत्राह—**मानान्तरादिति** । ग्रन्थमयी कथाकन्या तत्तद्विसदृशविशकलितग्रथितत्वात् तया कदर्थनमुद्वेजनं तेन कृतमलमित्यर्थः । अनैकान्तिकतोदाहरणान्तरमाह—**गुणादावपीति** । तथाहि—द्रव्यगुणकर्मणामेव हि सामान्यवत्त्वम्, तत्र निष्क्रियत्वविशेषणात् यद्यपि द्रव्याश्रयत्वं नायाति, आश्रितद्रव्यस्यावयवित्वेन सक्रियत्वात्, तथापि गुणकर्मणोरन्यतराश्रयत्वं स्यादेव, तच्च द्वयमपि द्रव्यलक्षणं द्रव्यत्वव्याप्तं वा, अतो गुणादेरपि प्रसज्येतैव द्रव्यत्वमिति तद्भयात्तद्रहितत्वं वक्तव्यम्, तथाच तत्र कारणत्वं वर्तत इत्यनैकान्तिकमित्यर्थः ।

अनुमानान्तरं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । स्फोटकारणत्वानधिकरणकारणजन्य इत्युक्ते व्याहृतिस्तदर्थमुभयवादिसंप्रतिपन्नेरयुक्तम् । अप्रसिद्धविशेषतानिवृत्त्यै स्फोटग्रहणम् । उभयवादिसप्रतिपन्नकारणातिरिक्तकारणं भवति प्रनिबन्धकाभावस्त्वया विप्रतिपन्नत्वात् अतस्तेनार्थान्तरत्वमिति दूषयति—**मैवमिति** । भावजन्य इति विशेषणा-

---

ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है । क्योंकि विशेषण रूप शक्ति की असिद्धि रहते शक्तियोगित्व (शक्तिमत्व) रूप विशिष्ट हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती है । अर्थात् शक्तिमान को कारण कहा जाता है, और इस अनुमान से प्रथम अनीश्वरवादी के मत में शक्ति ही नहीं सिद्ध है, अतः शक्तिविशिष्ट हेतु की असिद्धि है । यदि किसी प्रमाणान्तर द्वारा अनुमान से प्रथम ही शक्ति की सिद्धि हुई हो, तो इस ग्रन्थात्मक कथाकन्या कदर्थन (निर्माण) का कोई फल नहीं है । और गुणादि में भी कारणत्व हेतु अनैकान्त (व्यभिचारी) है, क्योंकि गुणादि में अतीन्द्रिय जातियुक्त निष्क्रिय आश्रयत्व रूप साध्य नहीं रहता है, और हेतु रहता है, और यदि गुणादि को भी अतीन्द्रिय सामान्यवत् निष्क्रिय गुरुत्वादि के आश्रयत्व होगा तो घटादि के समान द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी ।

यदि कहें कि उक्त अनुमान में दोष है तो (विवाद-विषय स्फोट, उभयवादी से मान्य स्फोटकारण अग्नि से अतिरिक्त कारण से जन्य होता है, कार्य होने से, घट के समान) यह अनुमान शक्ति में प्रमाण हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि शक्तिवादी प्रतिवादी को असम्भव प्रतिबन्धकाभाव में उभयवादी

बन्धकाभावेन प्रतिवादिनोऽसंप्रतिपन्नेन कारणेन सिद्धसाधनत्वात्। भावजन्य इति विशेषणेऽपीश्वरेण सिद्धसाधनत्वात्। ननु माभूदर्थापत्तिः प्रमाणम्, मास्म भूदनुमानम्, 'व्रीहीन्प्रोक्षति, यूपं तक्षति, अग्निनादधीत' इत्याद्याः श्रुतयः एव प्रमाणम्। तथा हि व्रीहीनित्यादिवाक्येषु द्वितीयाश्रुत्या ग्रामं गच्छतीत्यादिष्विव व्रीह्यादीनां कर्मतावगमात्। तेषु कश्चिदतीन्द्रियः प्रोक्षणजन्योऽतिशयोऽस्तीत्यवसीयते, दृष्टस्य फलान्तरस्यादर्शनात्। स चायमतिशयः शक्तिरिति शक्तिवादिभिर्गृह्यत इति, मैवम्;

दभावेन नार्थान्तरतेति चेन्नेत्याह—भावेति। ननु यद्यपि सहजशक्तावर्थापत्तिरनुमानं वा न सम्भवति, तथाप्याधेयशक्तावागमः प्रमाणमस्तीति तद्बलात्सहजशक्तिरपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—नन्विति। ननु नैतेष्वागमेषु शक्तिवाचकं पदमुपलभ्यत इति तत्राह—तथा हीति। क्रियाजन्यातिशयभावत्वं हि कर्मत्वमित्यर्थः। अतीन्द्रियत्वे हेतुमाह—दृष्टस्येति। उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्काराणां मध्येऽतीन्द्रियसंस्कारः प्रोक्षणादिक्रियाफलमित्यर्थः। तावतापि कथं शक्तिसिद्धिः? तत्राह—स चेति। परिहरति—मैवमिति। आत्मनो गुणोह्यदृष्टं नानात्मसु व्रीह्यादिषु संभवति। न चैतावता प्रोक्षणादिविध्यानर्थक्यम्; कर्तृसंस्कारकत्वात्। यथाह—संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिरिति भावः। ननु व्रीहीनिति द्वितीयया व्रीहीणां संस्कार्यत्वावगमात्, तत्संस्कृता व्रीहय इति प्रसिद्धेश्च, तद्विरुद्धश्चेतनसंस्कारस्वीकार

सम्मत से भिन्नत्व होने के कारण उसके द्वारा नैयायिक मतानुसार सिद्धसाधनता होती है, और प्रतिवादी को अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है। यदि कहें कि (अतिरिक्त कारणभावजन्य) ऐसा साध्य मानने से प्रतिबन्धकाभाव से सिद्धसाधनता नहीं होगी, तो यह कहना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि शक्तिवादी मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते है, अतः उभयवादीसम्मत कारण से भिन्न भावरूप ईश्वर से सिद्धसाधनता होगी। फिर भी शंका होती है कि, यदि अर्थापत्ति और अनुमान शक्ति में प्रमाण नहीं हो सकते हों, तो नहीं हों, तो भी (व्रीहीन् प्रोक्षति। यूपं तक्षति। अग्नीनादधीत) धानों का प्रोक्षण करे, यूप को छीले, अग्नियों का आधान करे। इत्यादि श्रुतियाँ ही प्रमाण है, क्योंकि (व्रीहीन् प्रोक्षति, इत्यादि वाक्यों में द्वितीया विभक्ति रूप श्रुति से (ग्रामं गच्छति) इत्यादि से ग्रामगत कर्मता के समान व्रीहि आदि की कर्मता की प्रतीति होती है और क्रियाजन्यफलवत्त्व कर्मता होती है, अतः उन व्रीहि आदिकों में प्रोक्षणादिजन्य कोई अतीन्द्रिय अतिशय (फल) होता है, यह समझा जाता है। क्योंकि वहाँ दृष्ट फलान्तर के नहीं देखने से, अतीन्द्रिय फल को माना जाता है। और यह अतिशय रूप फल शक्ति है, इसप्रकार से शक्तिवादियों से शक्ति का ग्रहण स्वीकार किया जाता है, अतः

संस्काराख्यादृष्टस्य चेतनगतस्याचेतनेषु व्रीह्यादिषु समवायासंभवात्। घटविषयंज्ञानजनितभावनाया घटविषयत्ववत् व्रीहिप्रोक्षणाद्युद्भूतसंस्कारस्यापि तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदीयत्वप्रतीत्युपपत्तेर्व्रीह्यादिषु शक्तिकल्पनायां प्रमाणाभावात्। तस्मान्न शक्तिसद्भावे प्रमाणमस्ति। तथाच प्रयुक्तं लीलावतीकारेण—'विवादाध्यासितं न निजरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियसापेक्षम्, प्रमाणेन तथानुपलभ्यमानत्वात्, यत्प्रमाणेन यथा नोपलभ्यते न तत्तथाभूतं तथा नीलं पीतरूपम्, इति। अत्र च निजरूपमात्रसंबद्धशब्देन द्विष्ठस्य संप्रयोगादेर्व्यावृत्तिः क्रियत इति।

इति तत्राह—**घटविषयेति**। तथा हि घटविषयज्ञानादुत्पन्नः संस्कारो घटसंस्कार इत्युच्यते, तत्कस्य हेतोः ? घटविषयत्वात्, न पुनर्घटाधारत्वात्, एवमत्रापीत्यतो न द्वितीयाश्रुतिः प्रसिद्धिर्वा व्रीह्यादिगतशक्तिसाधिकेत्यर्थः। प्रयोगमेव दर्शयति—**विवादेति**। अग्न्यादीत्यर्थः। अतीन्द्रियापेक्षं न भवतीत्युक्ते बाधः स्यात्, ईश्वरेच्छादृष्टादिसापेक्षत्वात्। तदर्थं निजरूपसंबद्धेत्युक्तम्। नावत्युक्ते चादृष्टवदात्मसंयोगादिसापेक्षत्वाद्बाधः स्यात्तदर्थं निजरूपमात्रसंबद्धेत्युक्तम्। तस्य द्विष्ठत्वेन व्यापित्वेन तदभावादिति।

श्रुतियाँ शक्ति में प्रमाण हैं। यह युक्तिप्रदर्शन भी नहीं बन सकता है, क्योंकि संस्कार नामक अदृष्ट चेतन में रहने वाली वस्तु है, चेतनगत अदृष्टों के अचेतन व्रीहि आदि में समवाय का असम्भव है। अतएव प्रोक्षणादि क्रिया से पुरुष का संस्कार माना गया हैं। यदि कहा जाय कि प्रोक्षणादि से चेतन पुरुषगत संस्कार हो, तो प्रोक्षणादि से व्रीहि आदि को संस्कृत क्यों माना जाता है, तो कहा जाता है कि जैसे घट विषयक अनुभव रूप ज्ञानजनित भावना नामक संस्कार को घटविषयक कहा जाता है, इसी प्रकार से व्रीहि आदि के प्रोक्षणादि से संस्कार को भी व्रीहि आदि विषयक क्रिया से जन्यता मात्र के कारण व्रीहि आदि के संस्कार रूप से प्रतीति की सिद्धि होती है, व्रीहि आदि में वृत्तिता से नहीं। अतः व्रीहि आदि में अदृष्टात्मक शक्ति की कल्पना में प्रमाण का अभाव है। अतएव शक्ति के सद्भाव (सत्त्व) में प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार से लीलावतीकार ने भी अनुमान का प्रयोग किया है कि (विवादास्पद = अग्नि आदि, निज स्वरूप मात्र से सम्बन्ध वाले अतीन्द्रिय सापेक्ष कार्यकारी नहीं होते हैं, प्रमाण से तथाऽनुपलभ्यमान होने से), जो प्रमाण से जैसा उपलब्ध नहीं होता है, वह वैसा नहीं रहता है। जैसे प्रमाण से नील, पीत रूप नहीं अनुभूत होता हैं, तो नील, पीत रूप नहीं होता है। इस प्रयोग में निज रूप मात्र सम्बद्ध शब्द से संयोगादि दो में वृत्ति वस्तु की व्यावृत्ति की जाती है। अतीन्द्रिय सापेक्ष नहीं होता है, इतना ही कहने पर बाध होता, क्योंकि ईश्वरेच्छा अदृष्टादि सापेक्षता रहती है, अतः निजस्वरूप सम्बद्ध कहा गया है। इत्यादि।

अत्रोच्यते—न तावच्छक्तौ प्रमाणाभावः, यस्मात्—

परास्य शक्तिर्विविधा, सर्गाद्या भावशक्तयः।
इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्तिः केन निवार्यते ॥ २३ ॥

'न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥'
'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।'
'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्'।

तत्र तावच्छक्तावागमं प्रमाणयति श्लोकेन—**परेति**। विवृणोति—**न तस्येति**। तस्येश्वरस्य कार्यं स्थूलशरीरं करणं सूक्ष्मशरीरं न विद्यते, तथा तेन परमेश्वरेण समोऽभ्यधिको वा न दृश्यते श्रुतिस्मृत्योरित्यर्थः। तथा शक्तिः परोत्कृष्टा विविधैव बहुप्रकारा श्रूयते तथा ज्ञानलक्षणबलस्य क्रिया संपादनं स्वाभाविकी। अथवा ज्ञानबलेन क्रिया जगन्निर्माणादि स्वाभाविकी नान्याधीनेति। अथवा ज्ञानं च बलं च क्रिया चेत्येतत्सर्वं स्वाभाविकम् स्वरूपतादात्म्येनाध्यस्ताचिन्त्यामायाशविजृम्भितमिति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रस्यार्थः।

श्लोकोक्तश्रुतेरुपलक्षणत्वात्समानविषयश्रुत्यन्तराण्याह—**ते ध्यानयोगेत्यादिना**। ये किं कारणमित्यादिबहुविधं संदिहते स्म ब्रह्मवादिनः, ते ध्यानमेव योगो ध्यानयोगः तं ध्यानयोगमनुगताः प्राप्ताः सन्तोऽपश्यन् दृष्टवन्तः। किम्, देवात्मशक्तिम्, देवो द्योतनात्मकश्चासावात्मा चेति देवात्मा ब्रह्म तस्य शक्तिमनाद्यनिर्वचनीयाचिन्त्यानन्तशक्तिमयीं महामायां स्वगुणैः सत्वरजस्तमोमयैर्वियदादिकार्यैर्निगूढां छन्नामित्यर्थः। य एकोऽवर्णः करणकर्मव्युत्पत्त्या नाम रूपं च वर्णस्तद्रहितः सन्

यह पूर्वपक्ष हुआ (अत्रोच्यते) यहाँ उत्तर रूप सिद्धान्त कहा जाता है कि शक्तिविषयक प्रमाण का अभाव नहीं है, क्योंकि—

इस ईश्वर की विविध प्रकार की परा शक्ति है, तथा सर्गादिविषयक भावस्वरूप शक्तियाँ हैं, इत्यादि श्रुति, स्मृति से ज्ञात शक्ति किससे निवारित हो सकती है ॥ २३ ॥

उस सर्वात्मा ईश्वर के कार्य = शरीर, करण = इन्द्रिय नहीं है, न उसके तुल्य वा अधिक दीखते हैं, किन्तु इसकी परा = उत्तमा, विविधा शक्ति सुनी जाती है, और स्वाभाविकी सर्वज्ञत्वादिरूप ज्ञानक्रिया और सर्वाधारत्वादि रूप बलक्रिया सुनी जाती है।

वे ब्रह्मवादी लोगों ने ध्यानयोग में प्राप्त होकर, अपने सत्त्वादि गुणों से निगूढ = आवृत्त, ईश्वर की शक्ति को देखा = समझा, जो एक अवर्ण = नामरूपरहित, होता हुआ भी शक्ति के सम्बन्ध से बहुधा वर्णों को सिद्ध करता है।

'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणास्तास्तु सर्गाद्याऽभावशक्तयः ॥'
"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैर्गीयमाना शक्तिः शक्यते कथमपह्नोतुम् ? न चैतानि वचांसि स्वरूपसहकारिमात्रप्रतिपादकानि ; कार्यकरणादिसहकारिनि-

---

शक्तियोगात् बहुधा बहुप्रकारं वर्णान्विदधातीति च श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्री । स्मृतिं विवृणोति —शक्तय इति । तथा विष्णुपुराणे —

'निर्गुणस्याप्रमेयस्य विशुद्धस्य परात्मनः ।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽप्युपपद्यते ॥'

इति मैत्रेयेण पृष्टे प्रत्युवाच पराशरः—'शक्तयः' इत्यादि । सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः—अचिन्त्या अनिर्वचनीयत्वात् , ज्ञानगोचराश्च तत्तदुपासनासूपाधितां याता अचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्ति यतोऽतः परमेश्वरस्यापि ताः सर्गाद्या भावशक्तयः सन्ति । एतदुक्तं भवति—सर्वभावानामेव तावच्छक्तयः सन्तीति किमु वक्तव्यं ब्रह्मणः परमेश्वरस्यातः ताभिः सर्गादिकर्तृत्वमुपपद्यत इति । अथवा सर्वभावानामिति कर्मणि षष्ठी, ज्ञानगोचराः अचिन्त्याः शक्तयस्तावत्सन्ति यतोऽतस्ताः सर्गाद्या भावशक्तयो ब्रह्मणः सन्ति, अन्यस्य तादृग्विधशक्तिनियन्तुरभावादतः सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणः उपपद्यते इत्यर्थः । पुराणान्तरवचनमुदाहरति—**सर्वज्ञतेत्यादिना** । अचिन्त्यशक्तिरिति तु प्रकृतोपयोगिनी । विधिज्ञा वेदज्ञाः परमेश्वरज्ञा इति वा । नन्वेतेषु शक्तिशब्दः स्वरूपसहकारिमात्रपरः, नातीन्द्रियशक्तिपर इत्यत आह—**न चैतानीति** । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति सहकारिनिषेधेन शक्तेरुच्यमानत्वाच्च सहकारिमात्रपरत्वमित्यर्थः । शक्तेर्ब्रह्मस्वरूपत्वाभावे हेतुमाह—

जिससे सब पदार्थों की अचिन्त्य ज्ञानविषय शक्तियाँ हैं । अतः ब्रह्म की भी सर्गादिविषयक भाव = क्रिया, शक्तियाँ हैं ।

सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्त शक्तिमत्ता, अनन्त शक्तिमत्ता, ये छह महेश्वर के अङ्ग विधिज्ञ = वेदज्ञ, कहते हैं ।

इत्यादि सैकड़ों श्रुतिस्मृतियों से वर्णित शक्ति का अपलाप कैसे किया जा सकता है, अतः श्रुति-स्मृति शक्तिविषयक प्रमाण हैं । यदि कहें कि ये सब वचन स्वरूप के सहकारी मात्र के प्रतिपादक हैं, अतीन्द्रिय शक्ति के प्रतिपादक नहीं हैं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कार्य-करणादि रूप सहकारियों के निराकरण पूर्वक उस शक्ति का प्रतिपादन किया गया है । श्रुति-स्मृति वर्णित शक्ति को ब्रह्मरूपत्व भी नहीं है, क्योंकि (पराऽस्य शक्तिः) इत्यादि वाक्यगत षष्ठी विभक्ति

रासपुरःसरं तस्याः प्रतिपादनात्। न च स्वरूपत्वमपि शक्तेः; परास्येत्यादिषष्ठया स्वरूपातिरिक्तत्वप्रतिपादनात्, 'अस्य शक्तिर्विविधा' 'तास्तु शक्तयः' इति च नानात्वेन श्रूयमाणाया एकरूपब्रह्मत्वासंभवाच्च। न चासां श्रुतिस्मृतीनामर्थवादत्वम्; उपक्रमोपसंहारादिलिङ्गैरीश्वरस्वरूपत्वाध्यवसायात् नैयायिकादिभिरेतासामीश्वरस्वरूपपरत्वाभ्युपगमाच्च।

अथैवमपि नार्थापत्त्यनुमाने विना तार्किकमन्यस्तुष्यति भवान्, तदर्थापत्त्यनुमानोपन्यासेन भवन्तं परितोषयामः। तथा हि—स्फोटादिकार्यान्यथानुपपत्तिक्षणोदाहृतैवार्थापत्तिः। ननु तत्राप्युदितैवान्यथाप्युपपत्तिः, प्रतिबन्धकाभावसहकृतादेव वह्निस्वरूपात्कार्योत्पत्तेः। न च प्रागभावप्रध्वंसाभावादिविकल्पेनाभावस्याकारणत्वम्; शक्तावपि तत्प्रसङ्गस्य

परास्येति। षष्ठया शक्तेः ब्रह्मस्वरूपाद् भेदप्रतिपादनात् विविधेति शक्तय इति च बहुत्वाभिधानात्स्वेनैव स्वस्य भेदायोगात् एकस्यानेकत्वायोगाच्चेत्यर्थः। नैयायिकादिभिः स्वीकृतं चासामीश्वरपरत्वमित्याह—**नैयायिकेति**।

परितोषयामः। परितोषयिष्यामः। प्रथमामर्थापत्तिं समर्थयते—**तथा हीति**। **स्फोटादीति**। प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तेरप्रतिबद्धायाः कारणत्वं न

द्वारा शक्ति में ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन किया गया है, और (अस्य शक्तिर्विविधा, तास्तु शक्तयः) इत्यादि वाक्यों से नाना प्रकार के बहुरूप से श्रूयमाण शक्तियों को एकस्वरूप ब्रह्मत्व का असम्भव है। इन श्रुति-स्मृतियों को अर्थवादत्व (स्तुतिमात्रत्व) भी नहीं हैं, क्योंकि उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्य लिङ्गों के द्वारा ईश्वरस्वरूप के प्रतिपादनपरत्व का निश्चय होता है।

नैयायिकादिकों ने इन श्रुति आदि की ईश्वरपरता को माना है। यदि ऐसा होने पर, अपने को तार्किक मानने वाले आप अर्थापत्ति और अनुमान के बिना सन्तुष्ट नहीं होते हैं, तो अर्थापत्ति और अनुमान के कथन द्वारा परितुष्ट करेगें। और स्फोटादि रूप कार्य की शक्ति के बिना अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण प्रथम कही गई है। यदि कहें उनमें अन्यथा (शक्ति के बिना) उपपत्ति (कार्यसिद्धि) कही गई है कि, प्रतिबन्धकाऽभाव सहित अग्नि के स्वरूप से ही स्फोटादि कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, और प्रागभाव, प्रध्वंसाभावादि के विकल्प (भेद) से प्रतिबन्धकाभाव में अकारणत्व भी नहीं हो सकता है, क्योंकि शक्ति में भी उक्त प्रागभावादि विकल्प प्रसङ्ग की तुल्यता है, प्रतिबन्धक से अप्रतिबद्ध शक्ति में ही करणत्व रहती है, वहाँ भी प्रतिबन्धकाभाव के प्रागभावादिविषयक विकल्प हो सकता है। तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि आपका कथन विकल्पाऽसह है, सो दर्शाया

तुल्यत्वात्, अप्रतिबद्धाया एव शक्तेः कारणत्वादिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथा हि—यदि प्रतिबन्धकाभावः कारणं न स्यान्न स्यात्तर्हि शक्तिरपि कारणमिति प्रतिकूलतर्कमात्रमिदम्? किं वा भवति च शक्तिः कारणं ततः प्रतिबन्धकाभावोऽपि कारणमिति विपर्यये पर्यवसानादभावस्य कारणत्वसाधकं वा? नाद्यः; तर्कमात्रस्योपालम्भानङ्गत्वात्। नेतरः; भवति च शक्तिः कारणमिति विपर्ययस्य शक्तिमनिच्छता वक्तुमशक्यत्वात्। न च परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनम्; प्रमितप्रतियोगिकनिषेधवादिनः शक्तिरपि कारणं न भवेदित्येवंविधनिषेध-

---

स्यादिति यदुक्तं तद्विकल्प्य दूषयति—मैवमिति। प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तिकारणत्वापत्त्यापादनलक्षणप्रतिकूलतर्कं दर्शयित्वा विपर्यये पर्यवसानरूपप्रमाणादभावस्य कारणतासाधकत्वमिति द्वितीयं पक्षं दर्शयति—भवतीत्यादिना। विपर्यये पर्यवसानरहितस्य तर्काभासत्वान्न ततः प्रतिपक्षनिराकरणसिद्धिरित्याह—नाद्य इति। द्वितीयं दूषयति—नेतर इति। एवं हि विपर्ययपर्यवसानम्। मृदादिविशेषणप्रतिबन्धाभावः कारणम्, प्रतिबन्धाभावत्वात् शक्तिविशेषणप्रतिबन्धाभाववदिति। नचैतच्छक्यानुमानम्; दृष्टान्तस्याश्रयहीनत्वादिदोषग्रस्तत्वादित्यर्थः।

ननु द्विविधस्तर्कः स्वपक्षसाधकानुकूलः प्रतिपक्षदूषकश्च, तत्राद्यस्य विपर्यये पर्यवसानमपेक्षितम्, इतरथा साधकानुकूलत्वासिद्धेः, चरमस्य तु न तदपेक्षितम्, परसिद्धव्याप्तिमादाय परस्यानिष्टप्रसक्तेः शक्यकरणत्वात्तादृशश्चायमिति तत्राह—न चेति। तत्र हेतुः—प्रमितेत्यादि। यस्य हि मते प्रमितेऽधिकरणे प्रमितप्रतियोगिक एव निषेधः, नाप्रमितप्रतियोगिकस्तस्य वादिनः 'यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं

जाता है कि क्या यह आपका प्रतिकूल तर्क मात्र है कि (यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण नहीं होगा, तो शक्ति भी कारण नहीं हो सकेगी। अथवा शक्ति कारण होती है, अतः प्रतिबन्धकाभाव भी कारण होता है, इसप्रकार से तर्क के विपर्यय में पर्यवसान (स्थिति) से प्रतिबन्धकाभाव के कारणत्व का साधक यह आपका वचन है। वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि तर्कमात्र को उपालम्भ (प्रतिपक्ष निराकरण) का अङ्ग (साधन) नहीं माना जाता है, क्योंकि विपर्यय में पर्यवसानरहित तर्क तर्काऽऽभास होता है। दूसरा पक्ष कहें, तो वह भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि (कारण रूप शक्ति है) इस विपर्यय को शक्ति नहीं मानने वाला नहीं कह सकता है। यदि कहें कि स्वपक्षसाधक तर्क में विपर्ययावसानापेक्षित रहता है, परपक्षदूषण में नहीं, अतः परपक्षसिद्ध व्याप्ति के द्वारा, पर के अनिष्ट का प्रतिपादन हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जो मानता है कि जो वस्तु कहीं प्रमित रहती है, उसीका निषेध हो सकता है,

स्याप्यसिद्धेः। तथापि जल्पकथामवधीर्य प्रतिबन्धकाभावस्याकारणत्वे प्रतिबद्धापि शक्तिः किमिति कार्यं न जनयेदिति सुहृद्भावेन पृच्छतः किमुत्तरमिति चेत्, श्रूयतां तर्हि दर्शनरहस्यम्?—सति पुष्कलकारणे

न भवेत् तर्हि शक्तिरपि कारणं न भवेदिति शक्तिकारणत्वं निषेद्धुं न शक्यम्। शक्तेस्तत्कारणत्वस्य चाप्रमितत्वात्, प्रमितत्वे वा स्वरूपेण निषेधानुपपत्तेः। उक्तं च प्रमितस्यैव निषेधप्रतियोगित्व धर्मित्वं चोदयनेन—

'व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता॥' इति (न्या. कु. ३।२)

तदिहं भवतु नाम विपर्ययापर्यवसाय्यपि तर्कः, निषेध एव शक्तिकारणत्वस्यापादयितुं न शक्यत इति भावः। वस्तुव्यावृत्तिं बुभुत्सुः पृच्छति—**तथापीति**। यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं न भवेत् प्रतिबन्धे विद्यमानेऽपि किमिति शक्तिः कार्यं न जनयेदित्यर्थः। अत्र सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकताऽभावं तावदाह—**सतीत्यादिना**। कारणाभावव्यवच्छेदार्थं सति पुष्कलकारण इत्युक्तम्। कार्योत्पत्तिं प्रति कारणपौष्कल्ये सति यदुत्पत्तिविरोधि तत्प्रतिबन्धकमिति शक्तिवादिन इष्टम्, तेन प्रतिबन्धसमयेऽपि कारणपौष्कल्यान्न प्रतिबन्धाभावस्य कारणान्तर्भाव इति भावः। यदत्रोदयनेन 'सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धकः, इति मतमसहमानेनोक्तम् 'ये तु प्रतिपादयन्ति कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्धः' इति। तैः प्रतिबन्धमकुर्वन्त एव प्रतिबन्धका इत्युक्तं भवति। तथाहि—कार्यानुत्पाद इति कोऽर्थः? कार्यप्रागभावो वा स्यात्? कार्यप्रागभावस्य कालान्तरप्राप्तिर्वा स्यात्? नाद्यः; तस्यानादित्वेन मणिमन्त्राद्यजन्यत्वात् न द्वितीयः; कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात्। अथ कालभेदक उपाधिः कालान्तरम्, तस्य तावत्स्वकारणजन्यत्वेन न मण्यादिजन्यत्वम्। अथ प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिर्मन्त्रजन्यः, न; प्रागभावस्यानादित्वेन तदवच्छिन्नकालोपाधेरपि मन्त्रादिजन्यत्वानुपपत्तेः। तस्मात्सामग्रीतत्कार्ययोः पौर्वापर्यनियमादभावयोरपि पौर्वापर्यभाव उपपद्यते। वस्तुतस्तु तुल्यकालत्वमेवेति नायं पन्थाः, किंतु सामग्रीवैकल्यं प्रति-

---

अन्य का नहीं, उस प्रमितप्रतियोगिक निषेधवादी से (शक्ति भी कारण नहीं होगी) इसप्रकार का निषेध की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि शक्ति और उसके कारणत्व उसका प्रमित नहीं है, और यदि प्रमित है, तो भी स्वरूप से निषेध की सिद्धि नहीं हो सकती हैं। क्योंकि जल्प कथा (विजिगीषु वादी-प्रतिवादी कथा) को छोड़कर यदि प्रतिबन्धकाऽभाव के अकारण होते प्रतिबद्ध शक्ति भी कार्य को क्यों नहीं उत्पन्न करती है, इसप्रकार से सुहृद्भाव से पूछने वाले के प्रति क्या उत्तर है? ऐसी जिज्ञासा हो, तो सुनो? दर्शन के रहस्य को सुनाते हैं। पुष्कल (पूर्ण) कारण के रहते कार्य की

कार्योत्पादविरोधि प्रबन्धकमिति हि शक्तिवादिनः। तेन न सामग्रीवैकल्या-त्तत्र कार्यानुदयः. किंतु विरोधिसद्भावादेव। न च सामग्रीवैकल्यमेव प्रतिबन्धः; लोकप्रसिद्धिविरोधात् नहि कुशूलनिहितबीजानि क्षितिपवन-पाथस्तेजस्संसर्गविरहितानि तन्तवो वा मञ्जूपानिहितास्तुरीवेमकुविन्दा-दिविरहिणः प्रतिबद्धा इति प्रतियन्ति लौकिकाः। सामग्रीविधुरतामात्रस्य

बन्धपदार्थो मुख्यः, स च मन्त्रादिरेव न त्वसौ प्रतिबन्धकः। न च तस्याऽकिंचित्करत्वं दोषाय, तत्प्रयोक्तारस्तु प्रतिबन्धाः, ते च किंचित्कराः' इति। तदेतदपि गर्जनं कारणानां का कार्योदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धकत्वेन निर्वक्ष्यमाणत्वात् आकाशमुष्टि-हननायते। किंच भवतु कालस्य प्रागभावस्य चानादित्वं कालोपाधेश्च स्वकारणा-धीनत्वात् मन्त्राद्यजन्यत्वं च, तथापि प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिस्तत्संबन्धो वा किमिति मन्त्रादिजन्यो न भवेत्? नहि स प्रागभावः, नाप्युपाधिमात्रः, नापि काल-मात्रम, तस्मात्सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक इत्ययमेव पन्थाः। ननु भवत्वयं प्रतिबन्धकस्ततः किमिति तत्राह—**तेनेति**। सामग्रीवैकल्यस्य प्रति-बन्धकत्वाभावान्न ततः कार्यानुत्पादः, किंत्वन्यस्माद्विरोधिन इत्यर्थः। ननु सत्यं न सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धकम्, किंतु प्रतिबन्ध इति तत्राह—**न च सामग्रीति**। प्रसिद्धिविरोधमेव दर्शयति—**न हीति**। पाथ उदकम्। यदि हि सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धः, ततः सहकारिरहितबीजेषु सहकारिरहिततन्तुषु वा प्रतिबद्धबुद्धिः स्यात्, नत्वेतदस्ति, ततो नियमेन बुद्ध्यनुपलब्धिरर्थाभावनिवेदिका इत्यर्थः। इतश्च न सामग्रीवैकल्यमात्रं प्रतिबन्ध इत्याह—**सामग्रीविधुरेति**। अस्ति तावादेदमस्य कारणमयं प्रतिबन्धभाव इति विभागः। इतरथा प्रतिबन्धसहितकारणानां सामग्री-त्वाभावप्रसङ्गात्। सचायं विभागस्त्वत्पक्षे न सिद्ध्येत्। सर्वस्यैव कारणस्य स्व-

---

उत्पत्ति का विरोधी प्रतिबन्धक होता है, ऐसे शक्तिवादी कहते हैं। अतः प्रतिबन्ध के समय भी कारण की पुष्कलता से प्रतिबन्धकाभाव कारण के अन्तर्गत नहीं होता है। अतः प्रतिबन्धकाऽवस्था में कारणसामग्री के अभाव से कार्य की अनुत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु विरोधी के सद्भाव से कार्य की अनुत्पत्ति होती है, यदि कहें कि सामग्री की विकलता (अभाव) प्रतिबन्धकरूप नहीं हो, किन्तु वही प्रतिबन्ध (कार्यनिरोध) रूप हो, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि लोक-प्रसिद्धि विरोध से ऐसा नहीं माना जा सकता है। सामग्री-विकलता को लोक में प्रतिबन्ध रूप नहीं माना जाता है, अतएव, भूमि, पवन, जल, तेज के सम्बन्ध से रहित, कुशूलस्थ (कोठी में स्थित) बीजों को तथा तुरी, वेम, कुविन्दादि (जुलाहे आदि) के सम्बन्ध से रहित मञ्जूषा (पेटारी) में रखे गये तन्तुओं को लौकिक

च प्रतिबन्धतायाम् समस्तस्यापि हेतुजातस्य प्रतिबन्धाभावतयैवोपक्षीणत्वात् 'इदमस्य कारणमयं च प्रतिबन्धाभावः' इति परीक्षकाणां विशेषावधारणमेव न स्यात् । अभावस्याकारणत्वे कार्येणान्वयव्यतिरेकविरोध इति चेत्, मैवम्; अन्यथासिद्धत्वात्, 'अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणक्लृप्तिं कुर्वाते' इति न्यायात्। तर्ह्यनुपलब्धेरप्यभावोपलम्भहेतुता न भवेत्, विरोधिन्या भावोपलब्धेरभावतया तदन्वयव्यतिरेकयोरप्यन्य-

---

वैधुर्यलक्षणप्रतिबन्धाभावरूपत्वादित्यर्थः । तदेवं सामग्रीवैकल्यप्रतिबन्धनिरसनेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमपि निरस्तम्, तत्रान्वयव्यतिरेकविरोधं शङ्कते—**अभावस्येति**। विरोध्यभावविषयतयान्यथासिद्धत्वात् न तावदभावस्य कारणत्वं कल्प्यत इत्याह—**मैवमित्यादिना**। उक्तश्चायमर्थः स्वतःप्रामाण्यवादे।

एवं शक्तिप्रतिबन्धां परिहृतायां पूर्वोदितां प्रतिबन्दीं स्मारयति पूर्ववादी—**तर्ह्यनुपलब्धेरिति**। शक्यं हि तत्रापि वक्तुम् घटाभावोपलब्धेर्विरोधिनी घटोपलब्धिस्तदभावश्च तदनुपलब्धिरतो योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावोपलब्धेश्चान्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकत्वात् न कार्यकारणभाव इत्यभावप्रमाणाभावः स्यादित्यर्थः। यद्यप्येवम्, तथापि कारणान्तराभावादगत्यानुपलब्धेरनन्यथासिद्धायास्तत्र कारणत्व-

---

पुरुष प्रतिबद्ध नहीं समझते हैं। यदि सामग्री की विकलता प्रतिबन्ध हो, तो सहकारीरहित उक्त बीजों में और तन्तुओं में प्रतिबद्ध बुद्धि लौकिकों को होना चाहिये, और सामग्री की विधुरता (अभाव) मात्र को प्रतिबन्धकता होने पर (प्रतिबन्धक मानने पर) सब हेतुसमूह को प्रतिबन्धकाभाव रूप से ही उपक्षीण (चरितार्थः समाप्त) होने से प्रतिबन्धकाभाव के अन्तर्गत सब हेतु के होने से यह तन्तु आदि इस पट का कारण है, यह प्रतिकूल देश, कालादि का अभाव प्रतिबन्धकाभाव है, इसप्रकार से परीक्षकों (विद्वानों) का विशेष (भेद) का अवधारण (निश्चय) नहीं होगा। इस प्रकार से प्रतिबन्धकाभाव को कारणकोटि से भिन्न ही समझना चाहिये। यदि कहें कि प्रतिबन्धकाभाव के अकारण होने पर कार्य के साथ उसके अन्वयव्यतिरेक में विरोध होगा (अन्वयव्यतिरेक कारणता का बोधक होता है, वह कारणता के बिना नहीं होना चाहिये) तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ये अन्वयव्यतिरेक अन्यथासिद्ध हैं। अनन्यथासिद्ध अन्वयव्यतिरेक कारण के निश्चय कराते हैं, और कार्य के प्रतिबन्धक कार्यविरोधी का जो अभाव होता है, तद्विषयक अन्वयव्यतिरेक को अन्यथासिद्धत्व है, क्योंकि वह विरोधी का अभाव विरोधी के निवारण रूप से हेतु है, साक्षात् नहीं, और उसका अन्वयव्यतिरेक भी साक्षात् हेतु का अन्वयव्यतिरेक नहीं है, अतः अन्यथासिद्ध हैं। यदि शंका हो कि जैसे विरोधी के अभावरूप होने से प्रतिबन्धकाभाव

थासिद्धेर्वक्तुं सुकरत्वादिति चेत्, न; तद्व्यतिरेकेणाभावोपलम्भकारणानिरूपणात्। इन्द्रियमेव कारणमिति चेत्, न; तस्याभावेन सन्निकर्षाभावात्। संयोगसमवाययोस्तत्राभावात्, विशेषणविशेष्यभावस्य च संबन्धान्तरगर्भस्यैव प्रत्यक्षाङ्गत्वात्, न तत्राभावस्य प्रत्यक्षगम्यत्वम्; किंत्वनुपलब्धिगम्यतैवेति निश्चीयते। अन्यथायं पर्वतो वह्निमानित्यत्र वह्नेरपि संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्।

माश्रितम्। इह तु न तथेति वैधर्म्येण परिहरति—**न तदिति**। गत्यन्तरं शङ्कते—**इन्द्रियमिति**। सन्निकर्षाभावमेवाह—**संयोगेति**। द्रव्ययोर्हि संयोगो गुणत्वान्न चाभावो द्रव्यम्, तथा कार्यद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषणामेव समवायः, नचैषामन्यतमोऽभाव इत्यर्थः। ननु संयुक्तविशेषणत्वादिकमस्ति संबन्धान्तरमिति तत्राह—**विशेषणेति**। संबन्धाभावादप्रत्यक्षत्वमुक्तमुपसंहरति—**न तत्रेति**। यदि च संयुक्तविशेषणतैव प्रत्यक्षबुद्धिनिमित्तं तर्हि प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छेदः स्यादित्याह—**अन्यथेति**।

को कारण नहीं माना जाता है, वैसे ही घटाभावज्ञान के विरोधी घटज्ञान का अभावरूप अनुपलब्धि में भी विरोधी घटज्ञान के निवारणरूपता से उसके अन्वय-व्यतिरेक में भी अन्यथासिद्धत्व कहा जा सकता है, अतः अनुपलब्धि को भी अभावज्ञान की हेतुता नहीं होगी। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि अनुपलब्धि के बिना अभावज्ञान के अन्य कारण का निरूपण नहीं हो सकता है, अतः अगत्या अनुपलब्धि को अभावज्ञान का कारण माना जाता है, यदि कहें कि इन्द्रियाँ अभावज्ञान के कारण हो सकती हैं, तो कहना युक्त नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ सम्बन्ध के बिना कारण नहीं होती हैं, और अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्यों का परस्पर संयोगसम्बन्ध होता है। इन्द्रिय का अभाव में संयोग नहीं हो सकता है, द्रव्य में द्रव्य, गुणादि का समवाय होता है, गुणकर्म में जाति का समवाय होता है, अभाव में इन्द्रिय के समवाय का अभाव रहता है। और विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध भी संयोगादि सम्बन्धान्तर गर्भ (अङ्ग) वाला होकर प्रत्यक्ष का अङ्ग (साधन) होता है। जैसे कि नेत्रसंयुक्त नील पटे में नेत्रसंयुत विशेषणता सम्बन्ध से पीतरूपाभाव का प्रत्यक्ष माना जाता है। वहाँ भी अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेयत्व नहीं होता है, किन्तु अनुपलब्धि से ही ज्ञेयत्व होता है, ऐसा निश्चय किया जाता है, अन्यथा यदि संयुक्त विशेषणता सम्बन्धद्वारा इन्द्रियजन्य अभाव के ज्ञान को माना जाय, तो (अयं पर्वतो वह्निमान्) यह पर्वत अग्नि वाला है, यहाँ भी नेत्रसंयुक्त विशेषणतासम्बन्ध से अग्नि के प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी, कि जिससे प्रत्यक्ष धर्मिक (प्रत्यक्ष पक्ष वाले) अनुमानों का अभाव प्राप्त होगा।

नन्वसंबद्धस्यैवाभावस्येन्द्रियग्राह्यत्वमस्तु, तत्प्रतीतेरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनापरोक्षत्वात् गत्यन्तराभावच्चेति चेत्, मैवम्; अयोगिप्रत्यक्षप्रमिताविन्द्रियाणां संबद्धार्थग्राहकत्वनियमस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, अभावप्रतीतेरपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणग्रहणमात्र एवोपक्षीणतयान्यत्रासिद्धत्वाच्च। नन्वधिकरणग्रहणमात्रोपक्षीणत्वमन्वयव्यतिरेकयोरयुक्तम्; अन्धस्य त्वगिन्द्रियेणोपनीतघटादौ रूपाभावप्रती-

---

नन्वपरोक्षाभावप्रतीतिरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकी वान्यथानुपपन्नावसंबद्धस्यापि ग्रहणं कल्पयत एव, यथा हि भावेषु विशेषणविशेष्यभावस्य मूलसंबन्धनिबन्धनत्यात- न्निबन्धनस्यापि च स्वीकारस्तथाऽभावे तदभावेऽपि प्रतीतिबलादेवाङ्गीकार इति शङ्कते—नन्विति। नन्वेतदपरोक्षं स्वप्नादिवद्भ्रान्तिरेवेत्याशङ्क्य मैवं बाधाभावादित्याह—गत्यन्तरेति। विशिष्टप्रतीतेरुभयवादिसंमतत्वात् मूलसंबन्धरहितोऽपि विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यक्षाङ्गमिति वक्तव्यम्, नतु तथाविधस्य प्रत्यक्षाङ्गत्वे मानमस्ति, अपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वात्। प्रापकप्रमाणाभावादयोगीन्द्रियाणां संबद्धार्थग्राहकत्वनियमभङ्गो नाङ्गीकरणीयः। इदं निर्घटं भूतलमिति व्यवहारस्यायं घटो गुरुरयं पर्वतो वह्निमानित्यादिव्यवहारवदधिकरणप्रत्यक्षतामात्रेणोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमिति। योगीन्द्रियव्यावृत्त्यै अयोगीति पदम्। आपरोक्ष्यानुपपत्तेरनुदयमाह—अभावेति। स्वप्नापरोक्षवद्भ्रान्तित्वादित्यर्थः। विशेषणादिभावे तु गत्यन्तरं नास्ति, आश्रयापरोक्ष्याच्च निर्घटं भूतलमिति प्रतीतिर्घटो गुरुरयमित्यादिवदिति भावः। अधिकरणविषयत्वेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिरयुक्ता, अतिप्रसङ्गादिति शङ्कते—नन्विति। यदि ह्यभावस्य नेन्द्रियग्राह्यता, तर्ह्यन्धस्यापि त्वगादिना घटादावधिकरणे गृहीते तत्र रूपाभावग्रहणप्रसङ्गः। तत्र हेतुः—

यदि शंका हो कि सम्बन्धरहित ही अभाव को इन्द्रियविषयत्व हो (माना जाय) क्योंकि अभाव के ज्ञान में इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक के नियम के अपरोक्षत्व से तथा गत्यन्तर के अभाव से भी इन्द्रिय में अभावज्ञान की कारणता सिद्ध होती है। तो यह शंका युक्त नहीं। क्योंकि अयोगी के प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध वाले अर्थ के ही ग्राहकत्व के नियम का निराकरण करना अशक्य है। और अभावज्ञान में अपरोक्षत्व की असिद्धिता से इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक को अधिकरण के ग्रहण मात्र में ही उपक्षीण (चरितार्थ) होने से उनमें अन्यथासिद्धत्व हो जाता है। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक को अधिकरण के ग्रहण में उपक्षीण कहना अयुक्त है। क्योंकि अभावज्ञान स्थान में यदि इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक को अधिकरणग्रहण मात्र ही, उपयोग (फल) हो, तो अन्धे को त्वक् इन्द्रिय द्वारा ज्ञात घटादि में रूपाभाव का ज्ञान होना चाहिये, यह

तिप्रसङ्गात्, अधिकरणस्य गृहीतत्वात्, इन्द्रियस्य चाभावाग्राहकत्वात्। तस्मादन्धस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाभावादेव रूपाभावप्रतीत्यनुदय इति वाच्यम्। तथा चाभावस्यैन्द्रियकत्वसिद्धिरिति चेत्, मैवम्; अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमतेऽप्यनन्धस्यापि मेर्वादौ घटतद्रूपाद्यभावस्य चक्षुपत्वं किं न स्यात्? ननु तत्र प्रतियोगिनश्चाक्षुपत्वेऽप्यधिकरणस्याचाक्षुपत्वान्न तत्र रूपाभावश्चाक्षुप इति चेत्, एवं तर्हि मन्मतेऽपि नान्धस्य त्वगिन्द्रियगृहीते घटादौ रूपाभावप्रतीतिः। प्रतियोगिग्राहकेणा-

---

अधिकरणस्येति। भवत्वधिकरणस्य ग्रहणम्, तथाप्यन्धस्य चक्षुरिन्द्रियाभावात् कथं रूपाभावप्रत्यक्षमिति चेत्तत्राह—**इन्द्रियस्येति**। तस्माद्यद्वैकल्यादभावाग्रहणं तदिन्द्रियमभावग्राहकं वक्तव्यमित्याह—**तस्मादिति**। ताभिमामुदयनीयामनुपपत्ति परिहरति—**मैवमिति**। तस्यापि मते प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमभावस्याभिमतं तस्यासन्निहितमेर्वादौ घटाद्यभावः किमिति चक्षुपा न गृह्यते? इति पर्यनुयोगे यः परिहारः प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्रहणमधिकरणस्य सोऽस्मन्मतेऽपि समान इति खण्डलकार्थः। यदि प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणे गृहीतेऽभावस्य योग्यानुपलब्धिगम्यत्वम्, तर्हि गन्धग्राहकेन्द्रियागोचरे कुसुमे रूपग्राहकेन्द्रियागोचरे च वायौ गन्धरूपयोरभावो न योग्यानुपलब्धिगम्य इति प्रत्यक्षो वक्तव्यः, स न स्यात्, प्रत्यक्षत्वं चैवंविधस्थलेपु समाहितमुदयनेन, आकाशे शब्दाभावस्य श्रोत्रत्वसमर्थनात्। एवं हि मेने—'धर्मिसन्निकर्षो निदानं न पुनर्धर्मिग्रहणं भूतलादौ तु दैवगत्या योग्यत्वात् युक्तम्, घुणाक्षरन्यायेन धर्मिधिपणा समुन्मिपति, नत्वभावग्रहणोपयोगितया, तस्मादिन्द्रियसन्निकृष्टे धर्मिण्यभावः प्रत्यक्ष एवेति ततः शब्दाभावः प्रत्यक्षः' इति। परि-

---

आपत्ति प्राप्त होती है। क्योंकि उसको अधिकरण गृहीत हुआ है, और इन्द्रिय को अभावग्राहकत्व नहीं है। अतः जिस नेत्र के अभाव से अन्धे को अधिकरण के ज्ञान होने पर भी रूप के अभाव का ज्ञान होता है, वह नेत्ररूपाभाव के प्रतियोगी का ग्राहक है, और जिस इन्द्रिय से जिसके प्रतियोगी का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय के रहते उस अभाव का ज्ञान होता है। यह कहना होगा, और ऐसा होने पर अभाव को इन्द्रियविषयत्व की सिद्धि होती है, तो कहा जाता है कि, इसप्रकार से यदि इन्द्रियविषयत्व अभाव को है, तो अभाव में प्रतियोगिग्राहक इन्द्रियग्राह्यत्व (विषयत्व) वादी के मत में भी, इन्द्रिय से असन्निहित मेरु आदि में अनन्ध को भी घट तथा उसके रूपादि के अभाव का चाक्षुपज्ञान क्यों नहीं होता है। यदि कहा जाय कि वहाँ प्रतियोगी में चाक्षुपत्व होते भी अधिकरण के अचाक्षुपत्व (नेत्रासन्निहितत्व) से वहाँ रूपाऽभाव चक्षुजन्य ज्ञान का विषय नहीं होता है। तो इसी प्रकार से मेरे मन में भी अन्धे को त्वक् इन्द्रिय से गृहीत घटादि में रूपाभाव की प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि रूपादि प्रतियोगी के ग्राहक

धिकरणस्य घटादेरग्रहणात् । तर्हि घ्राणागोचरकुसुमादौ वायौ वाऽचाक्षुषे गन्धस्य रूपस्य चाभावप्रत्यक्षो न स्यादितिचेत्, मा भूत्; तत्र प्रमाणान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहाराविरोधात् । न च सर्वत्र षष्ठप्रमाणवादिनामनुपलब्धिगम्य एवाभाव इति नियमः । व्यापकाभावाद्व्याप्याभावस्य कारणाभावेन कार्याभावस्य वाऽनुमेयत्वाङ्गीकारात् ।

हरति—**माभूदिति** । अत्र तावद्वाय्वादौ रूपाद्यभावस्य चाक्षुषत्वे कोशपानमेव शरणम् । तद्व्यवहारस्य प्रमाणान्तरवेद्यत्वेनाप्युपपत्तेः । प्रत्युत प्रतियोगिवद्धर्मिणोऽप्यभावनिरूपकत्वात् तदप्रतीतावप्रतीतिरेव । नह्यस्त्येवं प्रतीतिर्घटाभाव इति, इह घटाभाव इत्येव प्रतीतेः । उक्तं च वृद्धैः 'सद्भ्यामभावो निरूप्यते नासद्भ्या'-मिति । न चैतदुभयनिरूप्यसंयोगादिप्रतियोगिकाभावविषयम् । संकोचे प्रमाणाभावात् । तस्माद्धर्मिग्रहणमपि कारणमेवाभावग्रहणे तद्रहितेषु च प्रमाणान्तरवेद्यत्वमित्यपरिपन्थी पन्थाः, प्रमाणान्तरं च कुसुमे गन्धानुपलब्धिरेव, तदभावेऽनुमानम्, वायावपि द्रव्यत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजात्यनधिकरणत्वादिभिरनुमानमित्यादि स्यात् । एतच्चस्य वादिनः प्रत्यक्षानुमानागमैः यथायथमभावो गृह्यते इति मतम्, तस्यैव स्यात् । यस्य तु योगत्वे सत्यनुपलब्ध्येकवेद्योऽभावः प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियगृहीत एव धर्मिणि, तस्य स्वराद्धान्ते विरोधः स्यादिति तत्राह—**न चेति** । अयमर्थः—यदि वक्ष्यमाणतत्तद्वृद्धसंमतिवशात् प्रमाणान्तरगम्यत्वमप्यभावस्यास्ति, तदा योग्यानुपलब्धिगम्यस्थल एव प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणग्रहणनियमः, तत्कस्य हेतोः ? तत्तदविनाभूतकारणव्यतिरिक्तकारणपौष्कल्यं हि योग्यत्वं तदन्तःपाति चेन्द्रियमिति तदभावेऽपि योग्यत्वं न भवेत् । यत्र तु प्रमाणान्तरगम्यत्वं तत्र तद्विरहेऽपि शक्योऽभावो ग्रहीतुमिति ।

इन्द्रिय से अधिकरण रूप घटादि का ग्रहण अन्धे को नहीं होता है । फिर भी यदि शंका हो कि, यदि "प्रतियोगीग्राहक इन्द्रिय से अधिकरण के गृहीत होने पर ही योग्यानुपलब्धि से अभाव का ज्ञान होता है, तो गन्धाभाव के प्रतियोगी गन्ध के ग्राहक घ्राण से घ्राण के अविषय पुष्पादि में गन्धाभाव का ज्ञान नहीं होना चाहिये, तथा रूपाभाव के प्रतियोगी रूप के ग्राहक चक्षु से चक्षु के अविषय वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, तो यह शंका युक्त नहीं । क्योंकि वहाँ घ्राण से या चक्षु से अधिकरण का ग्रहण नहीं हो, न अभाव से अभाव का ज्ञान हो, तथापि प्रमाणान्तर से अभाव के वेद्य होने पर भी उसके व्यवहार में कोई विरोध नहीं आता है, और अनुपलब्धि षष्ठप्रमाणवादी के मत में भी सर्वत्र अनुपलब्धि से ही अभाव का ज्ञान होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि व्यापक के अभाव से व्याप्य के अभाव को और कारण के अभाव से कार्य के अभाव को अनुमेय = अनुमानगम्य माना जाता है ।

उक्तं हि भट्टपादैः—

"नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते ।
विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयोः ॥" (श्लो. वा. ५।१२१)

तथा च ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रैः "विपर्ययाभावस्तु युक्तोऽनुमातुं हेत्वभावे फलाभावः" इति तस्मादनुपलब्धेरनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकबलादभावप्रतीतिहेतुता स्थलविशेषेऽवसीयते । प्रस्तुते च स्वपुष्कलकारणादेव कार्योत्पत्त्युपपत्तौ न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, अन्योन्याश्रयता चास्य

व्यापकाभाववद्व्याप्याभावानुमाने भट्टसंमतिमाह—उक्तं हीति । अग्निधूमयोर्भावयोर्यादृशी नियम्यत्वनियन्तृत्वे गम्यगमकत्वे संमते ते एव गम्यगमकत्वे तदभावयोर्विपरीते प्रतीयेते । धूमो गमको वह्निर्गम्यः इति हि भावयोः स्थितिः, अभावयोस्तु तद्वैपरीत्येनाग्न्यभावो गमको धूमाभावो गम्य इति स्थितिरित्यर्थः ।

कारणाभावेन कार्याभावानुमाने मण्डनमिश्रवचनमुदाहरति—तथा च ब्रह्मेति । 'नहि कारणसद्भावे कार्यसत्तावियोगता' इति श्लोकविवरणे दोषाभावादग्रहाशङ्का निवर्तत इत्यख्यातिपक्षेऽविनिगम्यत्वमुक्त्वा स्वपक्षे वैषम्यमाह स्म, दोषाभावाद्विपर्ययज्ञानाभावः शक्योऽनुमातुं हेतोरभावे फलाभावस्य नियमादिति । अन्यथानुपपत्तिबलादभावस्य कारणतासमर्थनमुपसंहरति—तस्मादिति । प्रतिबन्धकाभावस्य तु न कारणत्वे किंचन प्रमाणमित्याह—प्रस्तुते चेति । उक्तान्योन्याश्रयमपि समर्थयते—अन्योऽन्येति । नन्वत्राप्युक्त एव परिहारः कार्यप्रातिकूल्यस्वरूपप्रतिबन्धकत्वमनु-

---

भट्टपाद ने भी कहा है कि भावों को जैसा व्याप्य-व्यापक भाव होता है, वही व्याप्य-व्यापक भाव उनके अभाव में विपरीत ही प्रतीत होते हैं (व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते, तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते) अर्थात् धूमगमक व्याप्य हेतु होता है, और अग्निगम्य व्यापक साध्य होता है, तो अभाव अवस्था में अग्नि का अभावगमक व्याप्य होता है, धूमाऽभावगम्य व्यापक होता है । अतः अभाव से भी अभाव का अनुमान होता है ।

ब्रह्मसिद्धि में श्रीमण्डन मिश्र ने भी कार्याभाव से कारणाऽभाव का अनुमान कहा है कि (विपर्यय ज्ञान का अभाव तो अभाव रूप हेतु से अनुमान के योग्य है । क्योंकि हेतु के अभाव रहते फल का अभाव होता है) इत्यादि । अतः स्थलविशेष में अनन्यथासिद्ध अन्वयव्यतिरेक के बल से अनुपलब्धि की अभावप्रतीति की हेतुता मानी जाती है, सर्वत्र नहीं है । प्रकृत स्फोटादि की सिद्धि में तो पुष्कल कारण से ही कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि होते प्रतिबन्धकाऽभाव की कारणता नहीं सिद्ध होती है । और प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने वाले इस वादी के

मते दुर्वारा। यद्यपि मण्यादेः कार्यप्रतिकूलत्वमन्वयव्यतिरेकावसेयम्, तथापि विसामग्रीरूपतालक्षणं यदिदं प्रतिबन्धत्वं तत्तदीयाभावस्य सामग्र्यन्तर्भावविज्ञानसापेक्षम्, प्रतिबन्धो विसामग्रीत्यङ्गीकारात्। तेन प्रतिबन्धत्वसामग्रीत्वयोरन्योन्यापेक्षयैवाधिगतिरिति परस्पराश्रयता कथं न स्यात्? ननु मण्याद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षमस्तु नाम मण्यादेर्विसामग्रीत्वज्ञानम्, तथापि तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वह्निस्वरूपवत्सामग्र्यन्तर्भावावगतिसंभवान्नान्योन्याश्रयतेति चेत्, मैवम्;

त्परयन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवावसीयते इति तत्राह—यद्यपीति। वैसामग्र्यं हि प्रतिबन्धः, प्रतिबन्धाभावलक्षणकारणवैकल्यं च वैसामग्र्यं, तथाच मण्याद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावविज्ञानसापेक्षं मण्यादेर्वैसामग्र्यरूपप्रतिबन्धत्वज्ञानं मण्यादेश्च प्रतिबन्धत्वज्ञानाधीनं तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानम्, प्रतिबन्धाभावलक्षणकारणवैकल्येन वैसामग्र्योपपादनादिति वक्तव्यमन्योन्याश्रयत्वमिति खण्डलकार्यः। प्रतिबन्धत्वस्य स्याभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानापेक्षज्ञानत्वेऽपि तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावः प्रतिबन्धज्ञानानपेक्षः शक्यो ज्ञातुम्, न ह्यग्न्यादेः कारणत्वं तत्तदभावस्य विसामग्रीत्वज्ञानाधीनमिति परस्पराश्रयपरिहारं पुरैवोक्तं स्मारयति पूर्ववादी—नन्विति। परिहरति—मैवमिति। अनुगतरूपमादाय ह्यन्वयव्यतिरेकौ प्रतीयेते, नतु व्यावृत्तम्। तस्यानन्तत्वेनाशक्यज्ञानत्वात्, घटविशेषचिकीर्षया मृद्विशेषोपादानानुपपत्तेश्च। न ह्येतद्व्यक्तिः प्रत्येतद्व्यक्तेरन्वयव्यतिरेकावभूताम्। तद्विशेषस्य प्रागनुत्पत्तेः। अनुगतेनापि तादृशा भवितव्यं यदनतिप्रसङ्गि, तदिह प्रतिबन्धाभावस्यापि कार्यं प्रति हेतुत्वं व्यावृत्ताकारेणाशक्यग्रहणं सदनुगतं पुरस्करोति, रूपमभावत्वं चानुगतमप्यतिप्रसङ्गि। न चाभावेषु जातिरस्ति, तत्प्रतिबन्धाभावत्वमनुगतरूपमुपाधिमादाय

मत में अन्योन्याश्रय दुर्वार है, यद्यपि प्रथम कहा है कि मणि आदि की कार्यप्रतिकूलता अन्वयव्यतिरेक से ज्ञेय है। तथापि विसामग्रीता (सामग्री-रहितता) रूप जो प्रतिबन्धक काल में यह प्रतिबन्धत्व होता है, वह उस प्रतिबन्धक के अभाव के सामग्री के अन्तर्भाव ज्ञानाऽपेक्ष होता है, अर्थात् प्रतिबन्धकाभाव में सामग्री के अङ्गत्व (अंशत्व) के ज्ञानसापेक्ष विसामग्रीता रूप प्रतिबन्धक में प्रतिबन्धत्व होता है। क्योंकि प्रतिबन्धो विसामग्री, ऐसा माना जाता है। अतः प्रतिबन्धत्व सामग्रीत्व की परस्परापेक्षा से ही अधिगति (अनुभूति) होने पर परस्पराश्रयता कैसे नहीं होगी। यदि शंका हो कि, मणि आदि के अभाव में सामग्री अन्तर्भाव के ज्ञान सापेक्ष, मणि आदि की विसामग्रीतास्वरूप का ज्ञान हो, तो भी मणि आदि के अभाव को अन्वयव्यतिरेक से ही अग्निस्वरूप के समान सामग्री के अन्तर्भाव के ज्ञान के सम्भव होने से अन्योन्याश्रयता नहीं है। तो ऐसी

विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किं मण्याद्यभावाः प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतया अवसीयन्ते ? अथवा प्रतिबन्धाभावत्वोपाधिना क्रोडीकृताः ? नाद्यः ; मण्याद्यभावानामनन्तानामुपसंग्राहकं विना प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाध्यवसानस्य पुरुषायुषेणाप्यशक्यत्वात् । नापि द्वितीयः ; तथा सति विसामग्रीलक्षणप्रतिबन्धज्ञानाधीनप्रतिबन्धाभावत्वोपाधिज्ञानमन्तरेण मण्याद्यभावानां सामग्र्यन्तर्भावस्य दुरधिगमतयान्योन्याश्रयताया दुरुत्तरत्वात् । न च शक्तिपक्षे प्रतिबन्धासंभवः, शक्तिमनभ्युपगच्छतामिव शक्तिमभ्युपगच्छतामपि कारणानां कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धतोपपत्तेः । वैसामग्र्यस्य

कार्येणान्वयव्यतिरेकावयगन्तव्यौ । यदाहोदयनः—'माभूज्जातिः, न तदुपहितगृहीतानामेव व्यवहाराङ्गत्वम् । सर्वत्रोपाधिमद्व्यवहारलोपप्रसङ्गादित्यतोऽयं दुष्परिहर एव दुरात्मा परस्पराश्रयस्तदेतद्विकल्पपूर्वकमाह—**विकल्पेत्यादिना** । यस्तु शक्तिपक्षे कः प्रतिबन्धः ? नहि शक्तेर्नाश इत्यादिना प्रतिबन्धाभावोऽभिहितस्तत्राह—**न चेति** । ननु न परस्य कार्यौदासीन्यं प्रतिबन्धोः, येनेदं समीक्रियते, अपितु वैसामग्र्यमेव तत्राह—**वैसामग्र्यस्येति** । उदीरितरीतिः परस्पराश्रयः । यदत्र लीलावतीकारेणार्थापत्तिमाशङ्क्योक्तम् "तत्रान्यथैवोपपत्तेः, मणिमन्त्रादिना दाहप्रतिपक्षभूतस्य क्षेत्रसमवायिनोऽदृष्टभेदस्योत्पादनात् । अग्न्यन्तरेणापि तस्य पुरुषस्य दाहो न स्यादिति चेन्न । प्रतिनियताग्निसाध्यदाहप्रतिपक्षस्यैवादृष्टस्य जननात्" इति । तत्रत्वेतावद्-

---

शंका युक्त नहीं, क्योंकि मणि आदि के अभाव के अन्वयव्यतिरेक विकल्पाऽसह है। विकल्प यह है कि, अन्वयव्यतिरेक द्वारा क्या प्रत्येक मणि आदि के अभाव कारण रूप से निश्चित होते हैं, अथवा प्रतिबन्धाऽभावत्व रूप उपाधि (धर्म) से संगृहीत (अनुगत) होकर कारण रूप से निश्चित होते हैं, यहाँ प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता है। क्योंकि अनुगत रूप को ग्रहण करके ही अन्वयव्यतिरेक की प्रतीति हो सकती है (उपसंग्राहक) अनुगमक के बिना अनन्त मणि आदि के अभावों के प्रत्येक अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण होना पुरुष के जीवन भर में भी अशक्य है। दूसरा पक्ष भी नहीं मान्य हो सकता है, क्योंकि उस रीति से विसामग्री स्वरूप प्रतिबन्धज्ञानाधीन प्रतिबन्धाभावस्वरूप उपाधि का ज्ञान होगा, और उस ज्ञान के बिना मणि आदि के अभावों की सामग्री के अन्तर्भाविता के दुरधिगम होने में अन्योन्याश्रयता दुर्निवार है। यदि कहें कि अन्यत्र जो हो सो हो, शक्ति पक्ष में प्रतिबन्ध का असम्भव है, क्योंकि शक्तिनाशादि रूप प्रतिबन्ध का प्रथम निषेध किया गया है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि शक्ति को नहीं मानने वालों के समान, शक्ति को मानने वाले के मत में भी कारणों की कार्य से उदासीनता को ही प्रतिबन्धता हो सकती है। यदि कहें कि कार्योदासीनता प्रतिबन्ध

प्रतिबन्धस्योदीरितरीत्या निरस्तत्वात् । अतः प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वासंभवान्न कार्यार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिः ।

उपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिरपि शक्तौ प्रमाणमेव । ननु तत्र स्वभावभेदादेवोपपत्तेरन्यथोपपत्तिरुक्तेति चेत् मैवम्; तथा सति सर्वत्र स्वभाववादपादप्रसारिकया सामान्यसमवायविशेषादेरपि पराकरणप्रसङ्गात् । तथाहि—सत्तायां स्वभावभेदादेव सदिति व्यवहारवत् द्रव्या-

---

त्कव्यम्, किमग्निविशेषोद्देशेन मन्त्रादिः प्रयुक्तः ? किंवा दाहो न स्यादिति दाहकाग्निमात्रमुद्दिश्येति ? स्वयमेव परिभाव्यतामिति । किंच दाहानुकूलमहापातकनिकेतने पुंसि दाहप्रतिकूलक्षुद्रादृष्टप्रभावस्याप्यसंभवात्, औपधिलिप्तकाष्ठादिष्वदाहाभावप्रसङ्गाच्च, इदमपि तेनैव शङ्कितमिति चेत्; सत्यं शङ्कितम् परिहारस्त्वसंबद्धः । तत्राप्यौपधिलेपकारिपुरुषसमवेतादृष्टस्य दाहप्रतिपक्षभूतस्योत्पादादिति हि परिहारस्तत्र किं पुरुषकृतौपधिलेपादृष्टोत्पत्तिरौपधिलेपमात्राद्वा । नाद्यः; पवनाद्युपनीतौपधिसंपर्के काष्ठादावग्निसंयुक्तेऽदाहभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; काष्ठादावप्यदृष्टोत्पादापातात् । तदलमनेन लीलावतीविलासवतो विलपनेन ? प्रथमार्थापत्तिसमर्थनमुपसंहरति—अत इति ।

द्वितीयार्थापत्तिं समर्थयते—उपादानेति । तत्र किं शक्तिवादिनोऽप्यन्ततः स्वभावभेदग्रहणमेव शरणं तद्वरमादावेव स्वभावाश्रयणमिति अभिसन्धिरागुप्तानाम् ? आहो क्वचिदपि स्वभावातिरिक्तशक्तौ प्रमाणं नास्तीति ? आद्यं प्राह—तथा सतीति । नागान्यायभ्रमं यथायथमुपपादयति—तथा हीत्यादिना ।

नहीं मानते हैं, किन्तु विसामग्रीता को प्रतिबन्ध मानते हैं, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि उक्त अन्योन्याश्रय रूप रीति से विसामग्रीत्व रूप प्रतिबन्ध निरस्त हो चुका है । अतः प्रतिबन्धाभाव की कारणता के असम्भव से प्रतिबन्धाभाव द्वारा शक्ति के बिना ही स्फोटादि कार्य रूप अर्थापत्ति कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति रूप प्रमाण की (प्रमाण फल की) अन्यथासिद्धि नहीं है ।

उपादान-उपादेयभाव नियम की अन्यथा अनुपपत्ति भी शक्ति के सत्त्व में प्रमाण है । शंका होती है कि स्वभावभेद से ही उपादानोपादेयभाव की सिद्धि होने से अन्यथा (शक्ति के बिना) ही उपपत्ति (उपादानोपादेयभाव की सिद्धि) हो सकती है, वह अन्यथा उपपत्ति प्रथम कही गई है, परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं क्योंकि उक्त रीति से सर्वत्र स्वभाववाद की पादप्रसारिका (बुद्धि) द्वारा सामान्य समवायविशेषादि का भी पराकरण (निराकरण) प्राप्त होगा । क्योंकि सत्ता में सत्ता जाति के अभाव से जैसे स्वभावभेद से ही सत् इस व्यवहार को माना जाता है, उसीप्रकार से स्वभाव की पादप्रसारिका द्वारा द्रव्यादि में भी सत्

दिष्वपि सद्व्यवहारोपपत्तौ सत्तासामान्यापलापः प्रसज्येत। एवं 'समवायवानयं घटः' इत्यादाविव संबन्धमन्तरेणापि गुणकर्मादेर्विशेषणत्वोपपत्तौ समवायापह्नवः स्यात्। विशेषाणां विशेषान्तरमन्तरेणैव व्यावृत्तिव्यवहारहेतुत्ववच्च नित्यद्रव्याणामपि स्वभावभेदादेव तथात्वोपपत्तौ विशेषपदार्थपरित्यागप्रसङ्गः। अथ यत्र यत्र प्रमाणमस्ति तत्र तत्र वस्त्वन्तराधीन एव तद्व्यवहारः; यत्र तु तन्नास्ति, तत्र तत्स्वभावभेदादेव व्यवहार इति व्यवस्थेति चेत्, हन्तैवमत्रापि प्रमाणसद्भावादेव स्वरूपातिरेकिणी शक्तिरङ्गी-

---

सत्तायामनवस्थाभयात्सत्तान्तरमन्तरेणैव स्वभावविशेषात्सद्व्यवहारहेतुत्वाङ्गीकारवदितरत्रापि स्यादिति सत्तापलापः, तथा समवायवानयं घट इत्यत्रापि अनवस्थाभयादन्तरेणैव समवायान्तरं समवायस्य घटं प्रति विशेषणत्ववच्छुक्लः पटश्चलति चैलाञ्चलमित्यत्रापि गुणकर्मणोः स्वभावभेदादेव विशेषणविशेष्यभावप्रसङ्गात् समवायापलापः। तथा चान्त्यविशेषेषु परस्परव्यावृत्तिः स्वभाववशात्, तत्तस्य हेतोर्विशेषेषु विशेषान्तरस्वीकारे तेषामप्यनुगतरूपवत्तया रूपादिवदन्त्यविशेषत्वहानेः, अनवस्थानाच्च। क्वचित्तत्रगत्या निर्विशेषत्वस्वीकारे च तेषामेवान्त्यविशेषत्वादिति, तद्वन्नित्यद्रव्याणामपि स्वभाववशाद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वं योगिनामित्यन्त्यविशेषापलाप इति खण्डनकार्थः। उपलक्षणं चैतत्, कालादेस्तत्संबन्धमन्तरेण सत्त्ववदितरेषामपि स्यादिति कालाद्यपलाप इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयमाशङ्क्य परिहरति—**अथेत्यादिना**। उपादानादिग्रहणमुपलक्षणं चक्षुरादीनां रूपादिग्रहणनियमस्यापि। नहि

व्यवहार की स्वभाव से सिद्धि होने पर सत्ता रूप सामान्य का अपलाप (अनङ्गीकार) प्राप्त होगा। इसीप्रकार से (समवाय वाला यह घट है। इत्यादि के ही असमान, अर्थात् समवाय के सम्बन्धान्तर के बिना स्वभाव से समवायवत्ता के समान) सम्बन्ध के बिना ही गुण-कर्मादि की विशेषणता की सिद्धि होने पर समवाय का अपह्नव (अपलाप) होगा। और जैसे विशेषों को विशेषान्तर के बिना ही स्वभाव से व्यावृत्ति व्यवहार के हेतुत्व होता है, वैसे ही नित्य द्रव्यों को भी स्वभावविशेष से ही (तथात्व) व्यावृत्तिव्यवहारहेतुत्व की सिद्धि होने पर, विशेष पदार्थ के परित्याग का प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि जहां-जहां सत्ता सम्बन्धादि के सत्त्व में प्रमाण हैं, वहां-वहां सत्ता आदि वस्त्वन्तर के अधीन ही सत्तद् व्यवहार होता है, और जहां प्रमाण नहीं है, वहां उस स्वभावविशेष से ही व्यवहार होता है, ऐसी व्यवस्था है। तो कहा जाता है कि ऐसी व्यवस्था है तो हन्त (हर्ष) की बात है, इस शक्तिविषयक प्रमाण के सद्भाव होने से ही, अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न शक्ति को मानिये, स्वभाव वाद के

क्रियताम्, कृतं स्वभाववादपादावलम्बनकातरतयेत्यलमतिविस्तरेण ।

अनुमानमपि तत्र प्रमाणम् । तथाहि—

स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्ठसंश्रयः ।
दहनो गुणयोगित्वाद् गुरुत्वाश्रयकुम्भवत् ॥ २४ ॥

वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियस्थितिस्थापकेतरभावाश्रयः गुणवत्त्वात् घटवत् । न चेश्वरवादिनामतीन्द्रियत्वमसिद्धम्; प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणानालम्ब-

---

सन्निकर्षमात्रात्तत्संभवः; रसादेरपि तत्स्यात् ।

एवमर्थापत्तिं समर्थयित्वा अनुमानमपि समर्थयितुं श्लोकेन संगृह्णाति—**स्थितिस्थापकेति** । दहनः इति धर्मिनिर्देशः । पूर्वार्द्धेन साध्यनिर्देशः । सङ्ग्रहं विवृणोति—**वह्निरित्यादिना** । आकाशादिसंयोगव्यावृत्त्यर्थमद्विष्ठेत्युक्तम् । रूपादिव्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम् । प्रत्यक्षावयविनः पक्षत्वाद् द्व्यणुकादिगतरूपेण नार्थान्तरता । स्थितिस्थापकनिवृत्त्यै स्थितिस्थापकेतरेत्युक्तम् । अतीन्द्रियाकाशाद्यन्योन्याभावस्याग्निगतस्य व्यावृत्त्यर्थं भावग्रहणम् आश्रयग्रहणेन चायुतसिद्धतया सिद्धसंबन्धित्वं विवक्षितम् । तेन न वायुपरमाणुभिरर्थान्तरता । गुरुत्वमादाय घटादौ साध्यप्रसिद्धिः । आकाशादौ च परममहत्त्वादिना । पूर्ववाद्युक्तमनूद्य दूषयति—**न चेत्यादिना** । प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणालम्बनव्यतिरिक्तमनुव्यवसायातिरिक्तं च यदस्मदादिप्रत्यक्षं तदविषयत्वमतीन्द्रियत्वं विवक्षितं, तच्च गुरुत्वादौ प्रसिद्धं तेन न पूर्वोक्तत्रिविधाप्रसिद्धविशेषणतावतार इति प्रशस्तपादवचनसंमतिपूर्वकं दर्शयति—**प्रमाणान्तरेति** । भाष्ये भावनाग्रहणं स्थितिस्थापकस्याप्युपलक्षणम् । कुण्डमिव बदराणामाश्रयो भवति वायोरप्यग्निरिति तेनार्थान्तरता, इति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितीये भाट्टं प्रत्यप्रसिद्ध-

---

पादावलम्बनरूप कायरता का कोई फल नहीं है, अतिविस्तार का भी फल नहीं है।

अनुमान भी उस शक्ति में प्रमाण है, यह दर्शाते हैं—

दहन = अग्नि, स्थितिस्थापक धर्म से अन्य अद्विष्ठ अतीन्द्रिय पदार्थ का आश्रय है, गुण वाला होने से, गुरुत्वाश्रय घट के समान ॥ २४ ॥

अर्थात् अग्नि, अद्विष्ठ, अतीन्द्रिय स्थितिस्थापकान्यभाव वस्तु का आश्रय है। गुणवान् होने से, घट के समान। यहाँ आकाशादि के संयोग की व्यावृत्ति के लिये अद्विष्ठ (दो में अवृत्ति) कहा गया है। रूपादि की व्यावृत्ति के लिये अतीन्द्रिय कहा गया है। प्रत्यक्ष अवयवी के पक्ष होने से द्व्यणुकादिगत रूप से अर्थान्तरता नहीं होती है। अर्थात् गुणवत्त्व हेतु में प्रत्यक्ष गुणवत्त्व कहने से अर्थान्तरता नहीं होती है। अग्निनिष्ठ आकाशान्योन्याभाव की व्यावृत्ति के लिये भाव का ग्रहण है। इत्यादि। प्रथम कहा था कि सर्वज्ञ योगी और ईश्वरवादी के मत में अतीन्द्रियत्व असिद्ध है। यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाणान्तर से प्राप्त विशेषणाविषयक

नानुव्यवसायेतरास्मदादिप्रत्यक्षाविषयत्वस्यातीन्द्रियशब्दार्थस्य गुरुत्वादौ भावनादौ च प्रसिद्धत्वात्, 'गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रियाः' इति प्रशस्तपादैरुक्तत्वात्। ननु किमिहाश्रयशब्देनाधारत्वमात्रं विवक्षितम्? उत तत्समवायित्वम्? नाद्यः; वह्नेः कदाचित्परमाण्वाधारत्वसम्भवेन सिद्धसाधनत्वात्। नापि द्वितीयः; समवायमनिच्छतो भाट्टस्याप्रसिद्धविशेषणत्वादिति चेत्. मैवम्; समवायानङ्गीकारेऽपि स्वीयरूपादीनामिवायुतसिद्धतया वह्नेर्विशिष्टधर्माधारत्वस्याश्रयशब्देन विवक्षितत्वात्। न चातीन्द्रियकर्माश्रयत्वेन मीमांसकस्यार्थान्तरता; शक्तिवादिनोऽपि प्राभा-

---

विशेषणतामाह—**नापि द्वितीय इति**। अस्ति तावदग्नेर्वाय्वाश्रयत्वविलक्षणाश्रयत्वं स्वकीयरूपस्पर्शादि प्रति, तन्मास्तु नाम समवायित्वं स्वरूपादितुल्यमेवेदमाश्रयत्वमभिमतं तेन नार्थान्तरताऽप्रसिद्धविशेषणते इत्याह—**मैवमिति। अयुतसिद्धतयेति।** द्वयोरन्यतरस्य वा पृथगाश्रयित्वराहित्यं वा पृथग्गतिमत्त्वराहित्यं वा अयुतसिद्धिस्तद्वत्तयेत्यर्थः। ननु तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकरस्यार्थान्तरतेति तत्राह—**न चेति**। भाट्टवेदान्तिनोस्तावदक्षीणमिदमनुमानं तयोः कर्मप्रत्यक्षवादित्वात्, प्राभाकरस्य तु भ्रान्तिमात्रमप्रत्यक्षत्वाभिमानः। तथा हि कादाचित्कातिशयः स्वश्रयातिशयपूर्वक इति न तावद्व्याप्तिरस्ति। तस्यामेव क्रियायां व्यभिचारात्। या या क्रिया सा कदाचित्की न वा, नचेन्नित्यतया संयोगादिनित्यतापत्तिः। कादाचित्की चेदतिशयान्तरपूर्वकत्वेऽनवस्था। अतत्पूर्वकत्वे हेतोस्तत्रैव

(ज्ञानसामान्यलक्षणसन्निकर्षाजन्य) अनुव्यवसायभिन्न, हमलोगों के प्रत्यक्ष के अविषयत्व रूप अतीन्द्रियत्व है। उसकी गुरुत्वादि में भावना आदि में प्रसिद्ध है, अतः असिद्धि नहीं है। वैशेषिक दर्शन के भाष्यकर्ता प्रशस्तपाद ने कहा है कि (गुरुत्व, धर्म, अधर्म, भावना = संस्कार, अतीन्द्रिय हैं) शङ्का है कि, इस अनुमान में आश्रय शब्द का आधारत्व मात्र विवक्षितार्थ है, या अतीन्द्रिय का समवायित्व (उपादानत्व) विवक्षितार्थ है, वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि अग्नि को भी कभी अतीन्द्रिय परमाणु के आधारत्व के सम्भव से सिद्धसाधनता की प्राप्ति होगी। और दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध को नहीं मानने वाले भट्ट मत में अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होगी। यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि समवाय को नहीं मानने पर भी, अग्नि को जैसे अपने रूपादि की अयुतसिद्धता से आधारता होती है वैसे ही विशिष्ट धर्म (अतीन्द्रिय) की आधारता, आश्रय शब्द से विवक्षित है। दो या एक को पृथक् आश्रयित्वाभाव, या पृथक् गतिमत्त्वाभाव अयुतसिद्धि कही जाती है; वह अयुत सिद्धता गुणादि में रहती है। मीमांसक प्रभाकर मत के अनुसार, अतीन्द्रिय

करवद्भाट्टवेदान्तिनोः कर्मातीन्द्रियत्वस्यासिद्धत्वात्। विपक्षे च वह्निस्वरूपस्यैव कारणत्वात् प्रतिबन्धकाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वात्, मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोरविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः। न चैवंविधधर्माश्रयत्वे गुणकर्मादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गः; तेषां गुणानधिकरणत्वात्। न चैवंविधधर्माश्रयत्वाद् गुणाधिकरणत्वमपि स्यादिति वाच्यम्; प्रसङ्गस्य विपर्ययापर्यवसायित्वात्। न हि यद्गुणानधिकरणं तदेवंविधधर्माधिकरणं न भवतीति प्रतिवादिसंप्रतिपन्नमुदाहरणमस्ति, येनायं प्रसङ्गो

व्यभिचार इति भावः। विपक्षे वाधकमाह—**विपक्षे चेति**। विपक्षे मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोः। अनादरे सप्तमी। अविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः, कुतः? अग्निस्वरूपस्यैव कारणत्वात्। प्रतिबन्धाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वादिति योजना दूषणान्तरमुक्तं निराकरोति—**नचैवमिति**। यद्यपि शक्तिवादिनां गुणादिष्वप्येवं धर्मोऽभिमतस्तथापि माभूद् गुरुत्वस्थितिस्थापकादेरुक्तरूपतत्तदवान्तरजात्याश्रयत्वमात्राद् द्रव्यत्वप्रसक्तिः। अथ तदप्यनेकवृत्तित्वादद्विष्ठमपि भवतीति मतं तथापि गुणवत्त्वं द्रव्यत्वप्रयोजकम्। नच तद्गुणादावप्यस्तीति न द्रव्यत्वप्रसक्तिरित्याह—**तेषामिति**। तर्ह्यनेनैव गुणाधिकरणत्वमपि प्रसञ्जनीयमिति तत्राह—**न चैवमिति**। प्रशिथिलमूलतया आपादनं दूषयति—**प्रसङ्गस्येति**। एवं ह्यस्य विपर्ययः, विप्रतिपन्नं गुणादि एव विधधर्मानधिकरणं गुणानधिकरणत्वादिति। नचात्र व्याप्तिरस्ति, शक्तिगुरुत्वाश्रयव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात्। अस्तु तर्हि शक्तिरेव

कर्माश्रयत्व से अर्थान्तरता भी नहीं हो सकती है, क्योंकि शक्तिवादी भाट्ट वेदान्ती को भी प्रभाकर के समान कर्म के अतीन्द्रियत्व असिद्ध है, अर्थात् शक्तिवादी-प्रभाकर के समान कर्म के अतीन्द्रियत्व को नहीं मानते है, अतः इनका अनुमान अदुष्ट है। और विपक्ष (शक्ति के अभाव पक्ष) में, अग्नि के स्वरूप को ही दाहादि के कारण होने से, प्रतिबन्धकाऽभाव के कारणत्व के प्रथम निरस्त होने से, प्रतिबन्धक मणि के सान्निध्य, असान्निध्य दोनों अवस्था में अविशेष (तुल्य) दाहादि कार्य की सिद्धि की प्राप्ति बाधक तर्क है। प्रथम जो कहा गया था कि, ऐसे धर्म के आश्रय होने पर गुण, कर्मादि को द्रव्यत्व प्राप्त होगा, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि गुणादि को द्रव्यत्वबोधक (साधक) गुणाधिकरणत्व का अभाव है। यदि कहें कि ऐसे धर्म (शक्ति) के आश्रयत्व होने पर गुणादि के अधिकरणत्व भी गुणादि को होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह तर्क (प्रसङ्ग) विपर्ययपर्यवसायी नहीं है। अर्थात् जो गुणादि वस्तु गुण का अनधिकरण है, वह ऐसे = अद्विष्ठ (अतीन्द्रिय स्थितिस्थापकातिरिक्तभावधर्म का अनाश्रय है। इस प्रकार का प्रतिवादी से स्वीकृत उदाहरण नहीं है, कि जिससे यह प्रसङ्ग विपर्यय-

विपर्यये पर्यवसायी स्यात्; शक्तिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात्। द्वितीयानुमानेऽपि मायावादिनं प्रति नेश्वरकारणत्वेन सिद्धसाधनता। तस्योभयवादिसंमतकारणातिरिक्तत्वाभावादीश्वरकारणत्वस्य वेदान्तिभिरभ्युपगमात्, जन्यभावजन्य इति विशेषणान्तरप्रक्षेपेण भाट्टस्याप्यर्थान्तरपरिहारसम्भवात्। न चैवं सति नित्येषु शक्त्यभावप्रसङ्गः;

विपर्ययपर्यवसानभूमिः, तस्याः गुणानधिकरणत्वादद्विष्ठातीन्द्रियत्वादिविशिष्टधर्माश्रयत्वाच्च। तथा शक्तावपि शक्तिस्वीकारेणानवस्थापातादिति चेन्, मैवम्; नैयायिकादिमते तदसिद्धेः। नच परसिद्धेन दृष्टान्तेन प्रसङ्गः प्रसरमासादयतीति सांप्रतम्; उभयवादिप्रमितस्यसाधनाङ्गतानियमभङ्गप्रसङ्गादिति भावः। एवं प्रथमानुमानं समर्थयित्वा स्फोटः संप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्य इत्यनुमानेऽर्थान्तरतामुक्तां परिहरति—**द्वितीयेति**। ननु भवतु वेदान्तिभिरीश्वराङ्गीकारादुभयवादिसंप्रतिपन्नत्वेन तदतिरिक्तत्वाभावान्नेश्वरेणार्थान्तरता, मीमांसकानां त्वनीश्वरवादित्वाद्भवत्येव तेनार्थान्तरतेति तत्राह—**जन्यभावेति**। तथा च न नित्येश्वरेणार्थान्तरतेति भावः। भाट्टस्यापीत्युपलक्षणम्। तर्हि नित्यगतनित्यशक्तावव्याप्तिरित्याशङ्क्य निषेधति—**न चेत्यादिना**। नित्यद्रव्येषु द्रव्यत्वेन नित्यगुणेषु गुणत्वेन सामान्यादिषु च शक्त्यन्यनित्यत्वेन संप्रतिपन्नवदेव शक्त्यनुमानादिति भावः। स्यादेतद्-साध्यता नाम, नित्यता तु कथं स्यात्? यावता शक्त्युपाधावेकरूपायां नित्यत्वा-

---

पर्यवसायी हो, भाव है कि विवादास्पद गुणादि, एवं धर्म का अनधिकरण है, गुणानधिकरण होने से, ऐसे विपर्यय का कहीं व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता है। क्योंकि शक्ति और गुरुत्व के आश्रय से भिन्न सब पक्षकोटि में निविष्ट (निक्षिप्त) है। अतः उक्त अनुमान से शक्ति की सिद्धि होती है। दूसरा अनुमान है, (विवादविषय = स्फोट, उभयवादि-संप्रतिपन्न (निश्चित) स्फोटकारण (अग्नि) से अतिरिक्त कारणजन्य होता है, कार्य होने से, घट के समान) इस अनुमान में मायावादी के प्रति ईश्वरकारणता से सिद्धसाधनता नहीं हो सकती है, क्योंकि ईश्वरकारणत्व में उभयवादी संमत कारण से अतिरिक्तत्व का अभाव है। ईश्वरकारणत्व को वेदान्ती मानते हैं। अतिरिक्त कारणजन्य, इसके स्थान में अतिरिक्तजन्य भावजन्य, ऐसा विशेषणान्तर युक्त साध्य के स्वरूप को रखने से अनीश्वरवादी भाट्ट मत में भी अर्थान्तरता के परिहार का सम्भव है, क्योंकि इसप्रकार से नित्य ईश्वर द्वारा अर्थान्तरता नहीं हो सकती है। यदि कहें कि उक्त जन्यत्व विशेषण से अनित्य वस्तु में अनित्य शक्ति की सिद्धि होगी, नित्य में नित्य शक्ति की सिद्धि नहीं होने से उसमें अनुमेय शक्तिलक्षण की अव्याप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनित्यों में शक्ति की सिद्धि होने पर, उसी दृष्टान्त को

अनित्येषु शक्तिसिद्धौ तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एव नित्येष्वपि तत्सिद्धेः सलिल-परमाणुरूपादिवन्नित्येषु तस्याश्च नित्यत्वोपपत्तेः ।

व्रीहीन् प्रोक्षतीत्यादिद्वितीयाश्रुतिभिश्च व्रीह्यादिषु अतीन्द्रियशक्ति-सद्भावसिद्धिः । न चादृष्टस्य चेतनधर्मस्याचेतनेषु व्रीह्यादिष्वसंभवात् तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदीयत्वप्रतिपत्त्युपपत्तेश्च द्वितीयाश्रुतिर्गौणीति

नित्यत्वविरोधादिति तत्राह—**सलिलेति**। इदमत्राकूतम्—नेयं शक्तिरेकैव, येनैकस्याः शक्तेर्जन्यत्वमजन्यत्वं च विप्रतिपिध्यते, अपि तु प्रतिपदार्थविभिन्ना तथा-चावयविषु अनित्यत्वेऽपि रूपस्य पाथःपावकपरमाणुषु अनित्यत्ववन्नित्यत्वं किं न स्यादिति ?

आधेयशक्तावागमं प्रमाणं समर्थयते—**व्रीहीनिति**। यत्तु मुख्यार्थानुपपत्त्युप-न्यासेनार्थान्तरत्वमुक्तम्, तदनूद्य दूषयति—**न चेत्यादिना, वाच्यमित्यन्तेन**। तत्र

अवलम्बन करके नित्यों में भी शक्ति की सिद्धि होगी, कि (नित्य द्रव्य शक्ति वाले हैं, द्रव्यत्व वाले होने से, अनित्य द्रव्यवत् । नित्य गुण शक्ति वाले हैं, गुण होने से अनित्य गुणवत्) इत्यादि । शङ्का हो कि शक्ति की अनुमान से सिद्धि हो, परन्तु उसकी नित्यता कैसे सिद्ध होगी, क्योंकि शक्तित्व धर्म को नित्य, अनित्य शक्तियों में वर्तने में विरोध होगा, तो उत्तर है कि यह कोई विरोध का विषय नहीं है, क्योंकि जैसे जलपरमाणुओं के नित्य रूपादि में रूपत्वादि रहते हैं । और वही रूपत्वादि अनित्य रूपादि में भी रहते हैं, वैसे ही नित्य, अनित्य, अनन्त शक्तियों में शक्तित्व रहेगी अतः नित्य में भी अनित्य वृत्ति शक्तित्व की सिद्धि होती है । यह टीका का आशय है । वस्तुतः भाव है कि भूमिपरमाणु के नित्य होते भी पीलु (परमाणु) पाकवाद में पाक से परमाणु के रूप, रसादि पूर्व के नष्ट होते हैं, और फिर अनित्य उत्पन्न होते हैं, इसीप्रकार से नित्य परमाणु आदि में अनित्य शक्ति के अनुमान से सिद्ध होने के कारण नित्य शक्ति ही नहीं है कि जहाँ अव्याप्ति हो[1] ।

(व्रीहान् प्रोक्षति) इत्यादि द्वितीया विभक्ति श्रुति से भी व्रीहि आदि में अतीन्द्रिय शक्ति के सद्भाव की सिद्धि होती है । जो प्रथम कहा गया था, कि चेतन धर्म अदृष्ट के अचेतन व्रीहि आदि में असम्भव होने से व्रीहि आदि विषयक प्रोक्षणादि क्रिया से अदृष्ट की जन्यता मात्र के कारण अदृष्ट में व्रीहिसम्बन्धित्व की सिद्धि से द्वितीया श्रुति गौणी है । उसका आत्मधर्म अदृष्ट की व्रीहिप्रोक्षण निमित्तकता के बोधन मात्र में तात्पर्य है । व्रीहिवृत्तिता में तात्पर्य नहीं है । यह

---

१. जलपरमाणु में भी द्वयणुक के रूप, रस, स्वसमवायिसम्बन्ध से रहते हैं, और द्वयणुक के नाश से उनका नाश होता है । इत्यादि ।

वाच्यम् ; धर्माधर्मलक्षणादृष्टविलक्षणस्यैव कस्यचिदतिशयस्य तण्डुलपिष्ट-पुरोडाशादिपरम्परया प्रधानापूर्वजननसामर्थ्यापरनामधेयस्याभ्युपगमात् । अन्यथा स्वरूपेणैव व्रीह्यादीनां तत्साधनत्वे प्रोक्षणादिविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, दृष्टस्यासंभवे चादृष्टस्यैव कल्पनीयत्वात्, सम्भवति च मुख्ये लक्षणा-

---

हेतुमाह—**धर्माधर्मेति** । नास्माभिर्धर्माधर्मात्मकादृष्टं व्रीह्यादिष्वभ्युपेयते, अपि तु तद्विलक्षणम् । नह्यतीन्द्रियातिशयः सर्वो धर्माधर्माभिधानः; गुरुत्वादेरपि तत्प्रसङ्गात् । यौ हि सुखदुःखफलौ पुरुषार्थावतिशयौ पुरुषसमवेतौ, तौ नाम पुण्यापुण्याभिधानौ । एतादृशानि तु श्रुत्वर्थानि, तथैव श्रुत्यादिप्रमाणैरवगमादित्यर्थः । यथा च प्रोक्षणादीनां गुणकर्मतया स्वतन्त्रतापूर्वकल्पनानवकाशः, भेदलक्षणे भावार्थपादे 'तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि' इत्यत्रोक्तम् । ननु व्रीहीणामेव प्रोक्षितानां तण्डुलादिपरंपरया प्रधानापूर्वनिर्वर्तकत्वमस्तु, किमत्रादृष्टेन विनानुपपन्नमिति ? तत्राह—**अन्यथेति** । एतदनुपपत्त्यात्मकम्, प्रमाणान्तरमेव वोच्यते, त्रिविधं ह्यङ्गं दृष्टार्थमदृष्टार्थंनुभयार्थं चेति । तत्र दृष्टार्थेष्वपि नियमादृष्टमस्त्येव, केवलं दृष्टे विधिवैयर्थ्यात्, अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थत्वात् । अतोऽविध्यन्यथानुपपत्तिरप्यदृष्टसाधिकेत्यर्थः । ननु दृष्टसंभवेनादृष्टकल्पनाऽयुक्तेति तत्राह—**दृष्टस्येति** । ननु भवतु विध्यन्यथानुपपत्त्याऽदृष्टम्, तच्च चेतनसमवायि, चेतनधर्मत्वात् भावनावत् इति तत्राह—**संभवति चेति** । अयमर्थः—व्रीहीन्प्रोक्षतीति द्वितीयाश्रुत्या व्रीहीणामेव प्रोक्षणेन संस्कार्यत्वं श्रुतम्, नतु सक्तूनामिव होमेन भस्मसाद्भूतानां विनियोक्ष्यमाणत्वानुपपत्तिः, येन सक्तुभिरितिवद् व्रीहिभिरिति श्रुतविनियोगभङ्गावकाशः । न च तीर्थस्नानादिवत्कर्तृधर्मता; तदिह न विषयतामात्रेण द्वितीया श्रूयते, किंतु संस्कारजन्यातिशयाधारतया । तथा सति लक्षणा स्यात् । न च विना कारणं लक्षणा, अतिप्रसङ्गात् ।

कहना युक्त नहीं, क्योंकि वहाँ धर्माधर्म स्वरूप अदृष्ट से विलक्षण किसी अतिशय (संस्कार) को व्रीहि में मानते हैं, कि जो प्रोक्षित धान के चावल, आँटा, पुरोडाशादि परम्परा से प्रधानाऽपूर्व (फलापूर्व) के जनन सामर्थ्य रूप अन्य नाम वाला होता है । अन्यथा प्रोक्षणजन्य संस्कार को नहीं मानने पर, स्वरूप से ही व्रीहि आदि को प्रधानापूर्व के साधन होने पर प्रोक्षणादि विधि में अनर्थकता की प्राप्ति होगी । और जहाँ दृष्ट फल का असम्भव हो वहाँ अदृष्ट की कल्पना ही युक्त होता है, प्रोक्षण का दृष्ट फल नहीं है, अदृष्ट की कल्पना युक्त है । और अदृष्ट कल्पना द्वारा श्रुति के मुख्यार्थ के सम्भव रहते, लक्षणा (गौणी वृत्ति) आश्रयण का अवकाश नहीं हो सकता है । अर्थात् द्वितीया विभक्ति से प्रोक्षणजन्य संस्कार की व्रीहि में प्रतीति होती है, कर्ता में नहीं, यदि कर्ता में अदृष्ट को मानकर क्रिया की विषयता मात्र से व्रीहि में मानने पर लक्षणा सिद्ध होगी, कारण के

श्रयणस्यानवकाशत्वात्। एतेन लीलावतीकारस्यापि निराकृतः प्रयोगः। प्रमाणानामागमार्थापत्त्यनुमानानां दर्शितत्वेन प्रमाणेनानुपलभ्यमानत्वादिति हेतोरसिद्धेः। तदेवमर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्पदानां तदभिहितेभ्यः पदार्थेभ्यः सन्निधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिर्लक्षणया सिद्धयतीति सिद्धम्।

न चागमैकभूमिषु प्रमाणान्तरावतारः, येन विरोधशङ्कापि स्यात्। तदुक्तं भाष्यकृद्भिः—'न विधौ परः शब्दार्थः' इति। यत्तु श्रीवल्लभेन शक्त्यपह्नवायानुमानमुक्तम्, तदप्युक्तप्रकारेण दूषितमित्याह—**एतेनेति**। एतेनेत्येतद्विवृण्वन्नसिद्धिमाह—**प्रमाणानामिति**। किं च यच्छब्दतच्छब्दयोस्तावदर्थपर्यालोचनायामनुमानशरीरं पूतिकूष्माण्डायते। तथा हि यत्तच्छब्दाभ्यां साध्यविवक्षायां यथा नीलं पीतरूपेणेति दृष्टान्तासङ्गतिः। नीलरूपविवक्षायां तु पक्षासङ्गतिः। अन्यश्चानुगतोऽर्थोऽनतिप्रसङ्गी दुर्निरूपः, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। तथाहि—विवादपदं स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियसापेक्षं जन्यजनकत्वादात्मवदिति शक्यमनुमातुम्। नचात्रात्मत्वमुपाधिः; स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियगुरुत्वसापेक्षाणां पतने पाषाणादीनामात्मत्वाभावेन साध्याव्यापकत्वात्। न च विवादपदं स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियभावनासापेक्षमदृष्टसापेक्षमिति वा जनकत्वादात्मवदित्यपि प्रसङ्गेनाभाससमानयोगक्षमेता, आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात्। यच्च तेनोक्तं शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थितिः, अनपेक्षत्वे तथैव व्यभिचार इति, तदसत्; शक्तस्य कारणत्वाभ्युपगमात्। न चान्ततः प्रतीतिं प्रत्यपि कारणत्वमस्तीति वचनीयम्; प्रत्यक्षप्रतीतेरेवार्थजन्यत्वात्। शक्तेश्चाप्रत्यक्षत्वात्। अनुमानादीनां तु नार्थजन्यत्वमितरथाऽतीताद्यनुमानानुदयप्रसङ्गात्, न च योगिनामतीताद्यपि प्रत्यक्षमितिप्रत्यक्षेप्यर्थजन्यत्वं शक्यभञ्जनम्; अतीतादीनां प्रत्यक्षत्व एव विवादात्। यथाह परमर्षिः—'विद्यमानोपलम्भनादिति'। वाक्यार्थमुपसंहरन् शक्तिसमर्थनस्य समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना**। अर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्पदानां पदैरेव स्वाभिहितपदार्थेभ्यो द्वारभूतेभ्यः सन्निधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिर्लक्षणया सिद्धयतीति सिद्धमित्यन्वयः।

बिना लक्षणा युक्त नहीं होती है, इत्यादि। इस शक्तिप्रतिपादन से ही लीलावतीकार का प्रयोग भी निराकृत हो गया, क्योंकि आगम, अर्थापत्ति, अनुमान प्रमाणों के प्रदर्शित होने के कारण, उनके "प्रमाणेन अनुपलभ्यमानत्व" रूप हेतु असिद्ध (बाधित) हो गया। अतः उक्त रीति से पदों की अर्थबोधन शक्ति के सद्भाव से, उन पदों से कथित पदार्थों के द्वारा सन्निधि, योग्यता आदि के बल से पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति लक्षणा से होती है, यह सिद्ध हुआ। सर्वत्र ही वाक्यार्थ लक्ष्य होता है, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

ननु पदानामेवान्योन्यान्वितस्वार्थाभिधायकत्वसंभवे किमिति पदार्थानां लक्षणयान्योन्यान्वयप्रतिपत्तिजनकत्वमास्थीयते ? तथा हि—योग्येतरान्वितस्वार्थेषु पदानामावापोद्धारदर्शनात्तत्रैव सामर्थ्यमध्यवसीयते। यद्यपि प्रतिप्रयोगं विशेषान्तरतत्संसर्गयोर्व्यभिचारः, तथापि योग्येतरान्वितस्य स्वार्थमात्रस्याव्यभिचारात्, प्रथमावगतयोग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसाम-

---

इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्या सहायोहिता।
शक्तिर्विभ्रमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोदधे-
र्निर्धूताखिलभेदगन्धममलं वन्दे भवानीपतिम्॥

पदार्थान्वयप्रतिपत्तिः पदैर्लक्षणया सिद्ध्यतीत्युक्तम्, तत्र पदार्थानामन्वितावस्थापि पदैरभिधेयैव न लक्ष्येति अन्विताभिधानवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्तेतराम्—**नन्वित्यादिना**। श्रौतत्वसंभवे लक्षणा न न्याय्या, मुख्यागुणयोर्मुख्यस्याभ्यर्हितत्वादिति भावः। नन्वन्विते सामर्थ्याश्रयणाद्वरं स्वरूपमात्रे सामर्थ्याश्रयणमतिलाघवात्, इतरथा गौरवप्रसङ्गादिति तत्राह—**तथा हीति**। प्रमाणगर्भगौरवं न दोषायेति भावः। नन्वेकस्मिन्प्रयोगे बन्धनान्वितं गोत्वं प्रतीयते, अपरस्मिन्नानयनान्वितम्, अपरत्र दर्शनान्वितमिति व्यभिचारिणी पदार्थान्तरादन्वयी, अव्यभिचारि च, गोत्वम्, अव्यभिचारिणि सामर्थ्यं युक्तमाश्रयितुमैकरूप्यादतः पदार्थमात्रमेव पदगोचरम् इति तत्राह—**यद्यपीति**। ननु किमित्येवं व्यभिचारिणोरपि पदार्थान्तरतत्संसर्गयोरनुगतमेकं रूपमानाय अनुगतशक्तिकल्पनानिर्बन्ध इति तत्राह—**प्रथमेति**। तदुक्तं वाक्यार्थमातृकायां नाथेन—

'आकाङ्क्षासन्निधिप्राप्तयोग्यार्थान्तरसंगमात्।

यहाँ अन्विताभिधानवादी (योग्येतरान्वितशक्तिवादी) शंका करते हैं कि, पदों को ही परस्पर अन्वितस्वार्थवाचकत्व के सम्भव रहते, पदार्थों के परस्पर अन्वयज्ञानजनकत्व को लक्षणा द्वारा क्यों माना जाता है। क्योंकि पदों के आवापोद्वाप के दर्शन (द्वारा) से, उस योग्येतरान्वित स्वार्थ में ही सामर्थ्य (शक्ति) का निश्चय होता है, यद्यपि प्रत्येक प्रयोग में विशेषान्तर और तत्तत् संसर्ग का व्यभिचार रहता है, अर्थात् 'घटमानय' इससे घटमानय में विशेष पदार्थ भिन्न रहता है। घटं पश्य, इसमें उन दोनों से सम्बन्ध विलक्षण रहता है, अतः ये व्यभिचारी हैं, और पदार्थ मात्र की अव्यभिचारी अर्थ में शक्ति मानना चाहिये, तथापि योग्येतरान्वित स्वार्थ मात्र का भी सर्वत्र अव्यभिचार (सम्बन्ध) रहता है, अतः प्रथम 'गामानय' इत्यादि से ज्ञात योग्येतरान्वित स्वार्थकथन सामर्थ्य के अनुसार,

र्थानुसारेण प्रयोगान्तरेष्वपि तथैव कल्पयिष्यते ।

ननु किमनभिहितेन पदार्थेनान्वित स्वार्थमवबोधयति गोपदम्? उत पदान्तराभिहितेन? नाद्यः; एकस्मादेव पदात्तत्तदर्थावबोधसंभवेन पदान्यरस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। तथाहि—गामानयेत्यत्र गोपदं यावदानयपदेन गोपदार्थान्वितस्वार्थो नाभिधीयते, न तावत्तदन्वितस्वार्थमभिधातुमर्हति; एवं तदपि पदं यावत्स्वार्थान्वितमर्थं गोपदं नाभिदध्यात्, तावत्तदन्वितस्वार्थं नाभिधत्ते। ततश्च गोपदेन तद-

---

स्वार्थानाहुः पदानीति व्युत्पत्तिः संश्रिता यदा ॥
अन्वयव्यभिचाराभ्यां तदा दोषो न कश्चन ॥'

इति (प्र. पं. परि. पृ. ५)

प्रयोगान्तरेषु तुरगमानयेत्यादिषु इत्यर्थः।

अत्राभिहितान्वयवादिनामाक्षेपमवतारयति—**नन्वित्यादिना**। येन पदार्थान्तरेणान्वितं स्वार्थमभिदधाति गोपदं तत्किमन्येनानभिहितम्? उताभिहितम्? आद्ये पदान्तरवैयर्थ्यम्, विनैव तदभिधानं तदन्वयलाभात्, एकपदादेव सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्गात्। न च योग्येतरमात्रान्विताभिधानेऽपि तद्विशेषान्विताभिधानसिद्धये पदान्तरोपादानम्, विशेषान्विताभिधानेष्वभिहितानभिहितविकल्पस्य तुल्यत्वात्। द्वितीयं दूषयति—**न द्वितीय इति**। आनय इति पदेन गोत्वान्विततयाऽऽनयनाभिधाने सति आनयनान्वितं गोत्वं गोपदमभिदध्यात्, एवं गोपदेनानयनान्विते गोत्वेऽभिहिते तदन्वितमानयनमानयेतिपदमभिदध्यादित्यन्योन्याश्रय इति खण्डलकार्थः। ननु नात्र परस्पराश्रयताया अवतारः, परस्परनिरपेक्षाणि प्रथमं पदानि पदार्थानसंसृष्टान-

---

'तुरगमानय' इत्यादि प्रयोगान्तरों में भी उस प्रथमावगति के समान ही अन्वितार्थ में शक्ति की कल्पना हो सकेगी, अन्वित रूप से पदार्थ सर्वत्र तुल्य हैं। इत्यादि।

अब अभिहितान्वयवादी की शङ्का है कि, क्या किसी पद से अनभिहित (अकथित) पदार्थ के साथ अन्वित अपने अर्थ का गोपद (शब्द) बोधक होता है, अथवा पदान्तर से अभिहित (कथित) के साथ अर्थ के अन्वय का बोधक होता है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि गामानय इस वाक्य में गोपद से ही आनय पद के अर्थ से अन्वित स्वार्थ के कथन होने पर, इतरान्वित गोपदार्थ का एक पद से ही बोध होने के कारण 'आनय' इस पदान्तर में व्यर्थता की प्राप्ति होगी। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि, परस्पराश्रयता की प्राप्ति होती है, जैसे कि (गामानय) यहाँ जब तक 'आनय' पद से गोपदार्थान्वित स्वार्थ कथित नहीं होगा, तब तक गोपद आनयनार्थ से अन्वित स्वार्थ को नहीं

न्वितस्वार्थेऽभिहिते पश्चादानयपदेन तदन्वितः स्वार्थोऽभिधातव्यः, सति च
तस्मिन् गोपदेन स्वार्थोऽभिधातव्यः इति व्यक्तमेव परस्पराश्रयत्वम्।
पदार्थमात्राभिधानपूर्वके तु तदन्विताभिधाने द्विरभिधानमप्रमाणमनुपपद्य-
मानं चापद्येत, ननु द्विरभिधानं न पदजातस्य, साहचर्यवशात् स्वार्थेषु
प्रथमं स्मारकाणां पश्चादन्विताभिधायकत्वाभ्युपगमादिति चेत्, मैवम्;

भिधाय पश्चादन्योन्यान्वितांस्तानेव पदार्थानभिदधत इति तत्राह—**पदार्थमात्रेति।**
न केवलमेवं कल्पनायां प्रमाणाभावः; अपि तु प्रमाणविरोधश्चेत्याह—**अनुपपद्यमानं**
चेति। तथाहि संसृष्टांशेऽपि चेत् पदानि गृहीतसंगतिकानि, तमपि प्रथममेवा-
भिदध्युः, अगृहीतसंगतिकत्वे पश्चादपि नाभिदध्युः, इत्यस्त्येवानुपपत्तिः, सकृत्प्रयुक्त-
शब्दस्य विरम्य व्यापारानुपपत्तिर्वानुपपत्तिः। ननु न प्रथममभिधायकानि पदानि,
येन द्विरभिधानं प्रसज्येत, अपि तु प्रथमं पदार्थेषु स्मृतिरेव जायते, सहचरितदर्श-
नात्, सहचरितानि हि पदार्थैः प्रथमपदान्यनुभूतानि देवदत्तदर्शनादिवत्तत्सहचरित-
यज्ञदत्ते, अनन्तरं तु संसृष्टदशायां स्मारितानां पदार्थानामभिधानमिति तदेतच्छङ्क-
यित्वा परिहरति—**मैवमिति।** अन्वितपदार्थैः साहचर्यमेवोपपादयति—**न हि पदमिति।**

कह सकता है। इसीप्रकार से जब तक गोपद से आनयनान्वित स्वार्थ नहीं कहा
जायगा, तब तक वह आनय पद भी गोऽर्थान्वित स्वार्थ को नहीं कहेगा। अतः
गोपद से आनयनान्वितार्थ के कहने पर, पीछे आनय पद से गोऽर्थ अन्वित स्वार्थ
वक्तव्य होगा। और गवार्थ से अन्वित उस आनयन पदार्थ के कथित होने पर,
गोपद से आनयनान्वित स्वार्थ वक्तव्य होगा, इसप्रकार से स्पष्ट ही परस्पराश्रय
है। यदि कहा जाय कि प्रथम सब पद अपने-अपने शुद्ध (अनन्वित अर्थ को कहते
हैं, फिर अन्वित अर्थों को कहते हैं, ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय नहीं होगा, तो
कहा जाता है कि इसप्रकार से पदार्थ मात्र के कथनपूर्वक फिर पदार्थान्वित के
कथन पर, प्रमाणरहित द्विवार का कथन और अनुपमद्यमान (अयुक्त) अर्थ
प्राप्त होगा। क्योंकि यदि अन्वितार्थ में शक्ति गृहीत होगी तो प्रथम ही उस
अन्वितार्थ को भी पद कहेगें, अन्वित में शक्ति गृहीत नहीं हो तो पीछे भी उनका
पद से ज्ञान नहीं हो सकता है, इत्यादि अनुपपत्ति है। यदि कहा जाय कि पद-
समूह को = अपने अर्थों को, दो बार नहीं कहना होता है, क्योंकि प्रथम पद अपने-
अपने अर्थों के वाचक (बोधक) नहीं होते है, किन्तु शक्तिग्रह काल में पदों को
अर्थ के साथ साहचर्य (सम्बन्ध) का ज्ञान होता है, अतः अर्थसहचरित (सम्बन्धी)
पदों के श्रवण से, साहचर्य के बल से प्रथम पद अपने अर्थ के स्मरणमात्र कराते
हैं, फिर पीछे स्मृतिजनक (स्मारक) पदों को अन्वितार्थवाचकत्व होता है,
ऐसा मानने से द्विवार अर्थबोधकत्व की प्राप्ति नहीं होती है। तो ऐसा कहना

साहचर्यदर्शनदशायामन्वितानामेवानुभूततया तथैव स्मरणस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। न हि पदं पदार्थमात्रप्रतिपत्तये प्रयुज्यते, किंतु व्यवहाराय, स चान्वित एवेति कथमनन्वितानामेव पदार्थानां पदेभ्यः स्मृतिः स्यात्? तथा च गां पश्येति प्रयोगे गोपदेन पूर्वानुभूतानयनान्वितस्वार्थस्य स्मारितत्वात्पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गतं प्रसज्येत, एवं प्रासादं पश्येत्यत्र प्रासादान्वितस्वार्थाभिधायकत्वात्पश्येति पदस्य, न गोपदं तेन संबध्येत। तथा च वाक्यार्थः क्वापि परिनिष्ठितो न सिद्ध्येत्। नन्वव्यभिचाराद्-

---

व्यवहारसमर्थसंसृष्टपदार्थैः साहचर्यात्तादृगर्थस्मारकपदानां पदार्थमात्रस्मारकत्वमप्रसिद्धमित्यर्थः। अङ्गीकारे च दूषणान्तरमाह—**तथा चेति**। अयमर्थः—गामानयेति प्रयोगे गोपदस्यानयनान्वितगोत्वेन साहचर्योपलम्भात् गां पश्येति प्रयोगेऽपि कारकभिधायिगोपदमानयनान्वितमेव गोत्वं स्मारयेदिति पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थस्मारकमसङ्गतं प्रसज्येत। एवं तस्मिन्नेव प्रयोगे गोपदमपि पश्येत्यनेन क्रियावाचिनाऽनाकाङ्क्षितार्थस्मारकमसङ्गतमेव स्यात्, पश्येत्यस्य प्रयोगान्तरेऽर्थान्तरसाहचर्यदर्शनादिति। उक्तामव्यवस्थां सर्ववाक्येष्वतिदिशति—**तथा चेति**। साहचर्याविशेषेऽपि पदार्थान्तरवैषम्यं शङ्कते—**नन्विति**। व्यभिचारेऽपि भूयोदर्श·

युक्त नहीं, क्योंकि साहचर्य (शक्तिसम्बन्ध) के दर्शन (ज्ञान) दशा (अवस्था = काल) में अन्वित पदार्थों के ही अनुभूत होने के कारण उसी प्रकार से अन्वित के स्मरण को अवश्य आश्रयण करना (मानना) होगा, शुद्ध का नहीं। क्योंकि पदार्थ के ज्ञान के लिये पद का प्रयोग (उच्चारण) नहीं किया जाता है, किन्तु व्यवहार के लिये प्रयोग किया जाता है। और वह व्यवहार अन्वित में होता है, तो अनन्वित पदार्थों का ही स्मरण कैसे होगा। और उक्तरीति से अन्वित में शक्तिग्रह और अन्वित की स्मृति को मानने पर, जिसको शक्तिग्रह काल में 'गामानय' इस वाक्य से आनय से अन्वित गोपदार्थ में गोपद की शक्ति का ज्ञान हुआ है, उसको 'गां पश्य' गौ को देखो, इस प्रयोग में शक्तिग्रहण के अनुसार गोपद से पूर्वानुभूत आनयन से अन्वित स्वार्थ (गोपदार्थ) के स्मारित (स्मृतिविषय) होने से, पश्य यह पद अनाकांक्षित अर्थवाला असङ्गत प्राप्त (सिद्ध) होगा। इसीप्रकार से (प्रासादं पश्य) प्रासाद को देखो, यहाँ पश्य इस पद के प्रासादान्वित अर्थ के वाचक होने से (गामानयगत) गोपद उस पश्य पद के साथ सम्बन्ध वाला नहीं होगा (पश्यार्थ से अन्वित स्वार्थ को गोपद नहीं कहेगा) और ऐसा होने पर कहीं भी परिनिष्ठित (निश्चित) वाक्यार्थ नहीं सिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि साहचर्य (शक्ति) ग्रहण काल में यद्यपि इतरान्वित अर्थ में गोपद की शक्ति का ज्ञान होता है, तथापि अन्वय के व्यभिचारी (भिन्न-भिन्न) होने से,

गोपदं स्वार्थमात्रमेव स्मारयति, नार्थान्तराणि, तेषां व्यभिचारित्वादिति चेत्, मैवम्; पट्वभ्यासादरप्रत्ययैराहिताया भावनायाः प्रबोधवत्याः स्मरणहेतुत्वाङ्गीकारात्। तत्प्रबोधस्य च व्यभिचारिण्यर्थान्तरे परिगणितप्रणिधानसाहचर्यादिजन्मनोऽविशेषात्। परिगणिता हि स्मृतिहेतवः "प्रणिधानाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रिताश्रयसंबन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयव्याप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियाराग-

---

नाद्याहितसंस्कारोद्‌बोधादुत्पद्यमाना स्मृतिर्नान्वितान्वितपदार्थयोर्विशिष्यत इति परिहरति—**मैवमिति**। भावना संस्कारः। सकृद्‌गृहीतेऽपि तडिदादौ पटुप्रत्ययः, कण्डिकादावभ्यासप्रत्ययः, अद्भुतेष्वादरप्रत्ययः, तथाप्यप्रबुद्धस्य न स्मृतिजनकत्वमिति प्रबोधग्रहणम्। ननु भावनोद्‌बोध एव न तथा व्यभिचारिणि, यथा अव्यभिचारिणि पदार्थमात्र इति, तत्राह—**तत्प्रबोधस्येति**। प्रबोध उद्‌बोधः। परिगणितेभ्यः प्रणिधानसाहचर्यादिभ्यो जन्म यस्य प्रबोधस्य तस्येत्यर्थः। भगवदक्षपादेन परिगणितानेव शास्त्रान्तरे स्मृतिहेतून्दर्शयति —**परिगणिता हीति**। **स्मृतिहेतवः**। संस्कारोद्‌बोधनद्वारेति शेषः। प्रणिधानं मनोऽवधानम्। अभ्यासः प्रसिद्धः। लिङ्गं व्याप्तिसंस्कारः। लक्षणं धवलच्छत्रादिचिह्नं राजादिसंस्कारोद्‌बोधकम्। सादृश्यं शुक्तिभास्वरतादि रजतादिसंस्कारोद्‌बोधकम्। परिग्रहः स्वीकारः कलत्रादिसंस्कारस्य। एवमाश्रिताश्रयावपि परस्परसंस्कारस्य। सम्बन्धः सहचारः सहचरितसंस्कारस्य। आनन्तर्यं पूर्वतनपदार्थसंस्कारस्य। वियोगः कामिन्यादौ। एककार्यमेकस्मादुत्पन्नकार्याणामन्यतमसंस्कारस्य। विरोधः सर्पनकुलादौ। अतिशयेनातिशयिते। व्याप्त्या व्याप्यव्यापकयोः। व्यवधानं प्रियतमव्यवहिते। सुखदुःखादि तज्जातीयस्य तद्धेतोश्च। अर्थित्वमर्थनीये। अर्थित्वं तु अप्राप्तविषये पुनःपुनरिच्छा। तेनेच्छया न पौनरुक्त्यम्। क्रियारागः क्रियाशक्तिः स्वविषयस्य। धर्माधर्मौ गुणा-

---

स्वार्थ मात्र के साथ अव्यभिचार होने से गोपद स्वार्थ मात्र का ही स्मरण कराता है, अर्थान्तरों का नहीं, क्योंकि उनमें व्यभिचारित्व (भिन्नत्व अनियतत्व) रहता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि पटु (तीव्र कुशल) अभ्यास, आदरपूर्वक जनित ज्ञान से जनित उद्‌बोध युक्त संस्कार की स्मृतिहेतुता मानी गई है, और परिगणित= प्रणिधान साहचर्यादि से जन्म वाले उस संस्कार के उद्‌बोध (अभिव्यक्ति) को व्यभिचारी अर्थान्तर में अविशेष (सहचारी अर्थ के तुल्य) होता है। स्मृति संस्कार उद्‌बोध के हेतु न्यायदर्शन में परिगणित हैं कि प्रणिधान (ध्यान), अभ्यास, लिङ्ग (व्याप्तियुक्त हेतु), लक्षण (चिह्न), सादृश्य, परिग्रह (परिवार), आश्रित (भृत्यादि), आश्रय, सम्बन्ध (सहचार), आनन्तर्य, वियोग, एककार्य, विरोध, अतिशय (विशेष) व्याप्ति, व्यवधान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भय,

धर्माधर्माः" प्रामाणिकैः, अस्ति चेह योग्येतरान्वयस्यापि साहचर्यं स्मरणहेतुः। तस्मात्पदैरभिहिताः पदार्थाः एवाकाङ्क्षादिमन्तः परस्परान्वयं बोधयन्तीति युक्तमाश्रयितुम्।

मैवम्; त्वयापि पदार्थविषयाः प्रत्ययाः प्रमाणविपर्ययसंशयादिष्वनन्तर्भावात्स्मृतय एष्टव्याः, ताश्चान्वितगोचरा न स्वरूपमात्रगोचरा इति

शुभविषयसंस्कारोद्बोधकी। यस्मादेवमन्विताभिधानपक्षो न घटतेऽतोभिहितान्वयपक्ष एव श्रेयानित्युपसंहरति अभिहितान्वयवादी —**तस्मादिति**।

अत्रान्विताभिधानवादी स्वपक्षदूषणं प्रतिबन्द्या समादधाति—**मैवमित्यादिना**। पदार्था एव पदैरभिधीयन्ते, तदन्वयस्तु लक्ष्यते इति यस्याभिहितान्वयवादिनो मतं तेनापि पदार्थविषयाः प्रत्ययाः प्रमाणत्वेन नाभ्युपगन्तुं शक्याः। अनधिगतार्थगन्तृत्वाभावात्, सर्वस्य सत्त्वप्रसङ्गाच्च। नापि विपर्ययसंशयत्वाभ्याम्, यथार्थनिश्चयत्वात्। अतः परिशेषात्स्मृतय एवैष्टव्याः। ताश्च न पदार्थमात्रगोचराः, सहचरितदर्शनात् खल्वयं संस्कारोद्बोधः, साहचर्यं चान्वितैः पदार्थैः नत्वनन्वितैरित्यायुष्मतैवावेदितम्। तथाच कथं त्वन्मतेऽपि पदार्थमात्रस्य प्रथमं स्मरणम्? सोऽयमात्मीय एव बाणो भवन्तं प्रहरतीति भावः। ननु द्विविधा स्मृतिः पदजनिता, साहचर्यादभिधानाच्च। तत्र साहचर्यमन्वितेऽपि समानम्। अभिधानं तु पदार्थमात्रे।

अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म और अधर्म ये सब प्रमाणियों से संस्कार के उद्बोध द्वारा स्मरण के हेतु कहे गये हैं। और यहाँ भी योग्येतरान्वय के स्मरण का हेतु साहचर्य है, अतः पद से कथित पदार्थ ही आकांक्षादि वाले होते हुए परस्पराऽन्वय के बोधक होते हैं।

अन्विताऽभिधानवादी कहते हैं कि उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि, आप को भी प्रमाणविपर्यय, संशय, निद्रा आदि के अनन्तर्भाव से पदार्थविषयक ज्ञानों को स्मृतिस्वरूप मानना होगा। अर्थात् यद्यपि आप कहते हैं कि पदों से पदार्थ कहे जाते हैं, और उनका अन्वय आकांक्षा से लक्षित होता है, तथापि पद से पदार्थविषयक ज्ञानों को प्रमाणरूप नहीं मान सकते हैं, क्योंकि वे ज्ञान अनधिगतार्थ विषयक नहीं होते हैं, और यथार्थ होने से संशयविपर्यय भी नहीं हो सकते हैं, अतः परिशेष से स्मृतिस्वरूप होंगे, किन्तु पदार्थमात्र विषयक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि सहचरित पद के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार से स्मृति होती है, और सहचारज्ञान अन्वितपदार्थ के साथ ही पदों के सहचार को ग्रहण करता है, अतः तज्जन्य संस्कार से अन्वित का ही स्मरण आपके मत में भी होगा। पदार्थ के स्वरूपमात्र विषयक नहीं होगा, तो अन्विताभिधानवाद के तुल्य ही दोष आपके मत में प्राप्त होगा। ऐसा

तुल्यो दोषः। न च वाच्यमभिधानतः स्मारितमेव वाक्यार्थान्वयि, न साहचर्यमात्रादिति; गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यादौ पदानभिहिततीरादीनां वाक्यार्थानन्वयप्रसङ्गात्। अभ्यासातिशयश्च पदार्थस्मरणहेतुः। स च यथा पदानां स्वार्थेषु, न तथार्थान्तरेषु; तेषां व्यभिचारित्वात्। तथा च स्वरूपमात्रेणैव पदेभ्यः स्मारिताः पदार्थाः आकाङ्क्षादिमन्तः पदैरन्विता

अभिधानद्वारा च यत्स्मारितं तदेव वाक्यार्थान्वयोपयोगि नेतरदिति ब्रूमः, देवदत्त! गामानयेत्यादौ तत्सहचरितयज्ञदत्तादेरन्वयादर्शनात्ततो वैषम्यमिति तत्राह—**न चेति**। हेतुमाह—**गङ्गायामिति**। यदि ह्यभिधानेन स्मारितमेव वाक्यार्थोपयोगि, तर्हि तीरादिपदार्थानां वाक्यार्थान्वयो न स्यात्तेषामभिधानाभावान्मुख्यार्थसाहचर्यादेव स्मारितत्वादित्यर्थः। तत्किमेवमनुपपत्तिसाम्यापादनेन निवृत्तो भवन् तथा च मतानुज्ञाराजयक्ष्मकक्षीकारः स्यादित्यतः स्वपक्षे परिहारमाह—**अभ्यासेति**। यस्मादव्यभिचारिपदार्थेष्वभ्यासातिशयात्तावन्मात्रस्य प्रथमं स्मरणोपपत्तिः, अतः पूर्वोक्तः परस्पराश्रयपरिहारः स्थित एवेत्याह—**तथाचेति**। तदुक्तम् शाब्दनिर्णये—

> 'क्रमेणावगतानर्थान् युगपत्संहृतानथ।
> अभिमीरन्पदानीति नान्योन्याश्रयदोषता॥' इति॥

नाथैरपि—'श्रूयमाणं पदं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम्।
> न्यायसंपादितव्यक्ति पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम्॥
> स्मृतिसन्निहितैरेवमर्थैरन्वितमात्मनः।
> अर्थमाह पद सर्वमिति नान्योन्यसश्रयः॥' इति॥

यत्तु सर्वेषां पदानामन्योन्यानाकाङ्क्षितार्थसमर्पणमापादितं तत् न; अभिधानापर्यवसानाद्वा अभिहितार्थापर्यवसानाद्वा पदार्थान्तरे पुरुषस्य जिज्ञासा ह्याकाङ्क्षा नाम यथाहुः—

> 'अभिधानावसाना हि जिज्ञासार्थाच्च जायते।
> प्रयोजनावसानाच्च पदार्थे सा निवर्तते॥' इति॥

नहीं कह सकते हैं कि वाचक शब्द से स्मारित पदार्थ ही वाक्यार्थ में अन्वय वाला होता है, साहचर्य मात्र से स्मारित नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर (गङ्गायां घोषः प्रतिवसति) गङ्गा में अहीर का ग्राम बसता है, इत्यादि वाक्यों में पद से अकथित तीरादि का वाक्यर्थ में अनन्वय (अन्वयाऽभाव) प्राप्त होगा। और अभ्यास का अतिशय पदार्थ के स्मरण का हेतु होता है, और वह अभ्यास का अतिशय जैसा पदों का स्वार्थों में होता है, वैसा अर्थान्तर में नहीं होता है, क्योंकि अर्थान्तरों को पद के साथ सम्बन्ध का नियम नहीं रहता है, अतः उनमें व्यभिचारित्व रहता है। अतएव अव्यभिचारी सम्बन्ध के कारण पदों द्वारा स्वरूप मात्र से स्मारित आकांक्षादि वाले पदार्थ फिर अन्वित रूप से पदों से कहे जाते हैं, अतः

अभिधीयन्त इति न परस्पराश्रयता। नापि पदान्तरानाकाङ्क्षा; आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, सा चाभिधानापर्यवसानादभिहितार्थापर्यवसानाद्वा भवति। यथा वृक्ष इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तेस्स्मरणात्तेनैव तस्यान्विताभिधानासम्भवादन्यस्य चानभिधानादभिधानपर्यवसानायैवा-काङ्क्षा। यथा वा 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र कार्यस्य विषयकरणान्वित-तया प्रतीतस्यैवापर्यवसानाद्विशिष्टाधिकारिकल्पना। तदेवंभूताकाङ्क्षा-

---

नायेनापि 'अन्वितस्याभिधानार्थ'मित्यादि। तदिहाभिधानानवसानजनिता-काङ्क्षा पदार्थान्तरेऽपि समाना, तद्विशेषनिर्णयस्तु सन्निहितयोग्यतादावमर्शादिति नि-श्चेत्य परिहरति—नापीति। नच पदवाच्यात्मके अन्यतरानाकाङ्क्षा कारणद्वया-भावादिति वाच्यम्; अश्रूयमाणे हि तथा, श्रूयमाणे तु रक्तादन्यायेनाकाङ्क्षा-कल्पनात्। अभिधानपर्यवसानोदाहरणमाह—यथा वृक्षेति। वृक्ष इति पदेनापि हि पदत्वादन्वितो वृक्षोऽभिधातव्यः, स च केनान्वित इति विमर्शे न तावद्वृक्षं वृक्षै-रित्यादौ कर्मकरणादिभिरिव विभक्त्यर्थेन। प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविधानात्। 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इति प्रातिपदिकार्थादिष्वर्थेषु प्रथमां पाणिनिः स्मरति स्म। नच पदार्थान्तरमभिहितमस्ति। तस्मादभिधानपर्यवसाना-यैव तत्र तिष्ठतीत्यादौ जिज्ञासेत्यर्थः। अभिहितापर्यवसानस्योदाहरणमाह—यथा वेति। विषयो धात्वर्थः, स एव करणं हि पदान्तरश्रवणादभिधानपर्यवसानेऽप्यभिहि-तापूर्वापर्यवसानमस्ति। विषयो नियोज्यव्यावृत्तो हि नियोगः प्रतीयमानोऽनुष्ठानाय कल्प्यत इति विषयवन्नियोज्येऽप्यस्त्येवाकाङ्क्षेत्यर्थः। प्रतिपादितामाकाङ्क्षां प्रकृतेऽपि दर्शयति—तदेवमिति। यद्यप्यन्योन्याश्रयादिदोषो नास्ति, तथाप्यभिहितपदार्थेभ्य

परस्पराश्रयता नहीं है। और कहा गया था कि अन्विताऽभिधान पक्ष में (गामानय) यहाँ गाम् पद से ही आनयनाऽन्वित गोपदार्थ के कथन हो जाने से, आनयन पद की आकांक्षा नहीं रहेगी, वह पदान्तर की अनाकांक्षा दोष भी नहीं है, क्योंकि आकांक्षा प्रतिपत्ता (ज्ञाता) की जिज्ञासा को कहा जाता है। और वह जिज्ञासा अभिधान के (वाक्य के) अपर्यवसान (अपूर्णता) से, या अभिहित (कथित) के अपर्यवसान से होती है। जैसे कि 'वृक्षः' यहाँ प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति के स्मरण (विधान) से, उस प्राति-पदिकार्थ के साथ उस वृक्ष रूप प्रातिपदिकार्थ के अन्विताभिधान के असम्भव से और अन्य किसी पद के अनभिधान से उस अभिधान की पूर्णता के लिये ही 'तिष्ठति' इत्यादि पद की आकांक्षा होती है, या जैसे (विश्वजिता यजेत) यहाँ विषय और करण रूप याग से अन्वित से प्रतीत ही कार्य (अदृष्ट) के अपर्य-वसान से ही विशिष्ट (विनियोज्य स्वर्गकामी) अधिकारी की कल्पना होती

वशात्पदानामन्विताभिधानं न विरुध्यते। ननु तथापि पदानामन्विताभिधाने सामर्थ्यं न कल्पनीयम्, पदस्मारितानामेव पदार्थानामाकाङ्क्षादिवशादन्योन्यान्वयप्रत्यायकत्वोपपत्तेरिति चेत्, मैवम्; मानान्तराधिगतानां पदार्थानां वाक्यार्थप्रत्यायकत्वादर्शनात्।

ननु—'पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्रेषाशब्दं च शृण्वतः।
खुरनिक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः'॥
(श्लो० वा० वाक्य० ३५८)

इतिन्यायादस्त्येव पदार्थानां संसर्गबोधजनकत्वमिति चेत्, न; अनुमानादर्थापत्तेर्वा तत्र संसर्गावगात्। तथाहि—एषां पदार्थानामेकाधिकरणतया-

---

एव संसर्गसिद्धौ पदानामपि सामर्थ्यकल्पनायां कल्पनागौरवं दूषणमित्यभिहितान्वयवादी शङ्कते—नन्विति। यदि हि पदार्थानां संसर्गबोधकत्वं स्यात्तदा तदपहाय पदानामपि सामर्थ्यकल्पनायां स्यादेव गौरवम्, नतु तदस्ति, प्रमाणान्तरगृहीतपदार्थेष्वदर्शनादित्याह—मैवमिति। उक्तं च नाथेन—

'किंतु तेषां न दृष्टैरा शक्तिर्मानान्तरोद्गती।
कल्प्या विशिष्टार्थपरपदसंस्पर्शनाश्रिते॥' (प्र. पं. वाक्य. परि. पृ. १०)

प्रमाणान्तरगृहीतानामाप्यस्त्येव संसर्गबोधकत्वमिति शङ्कते—नन्विति। अत्र हि दृश्यमानं श्वेतिमारूपमव्यक्तरूपं श्रूयमाणौ च ह्रेषाखुरनिक्षेपशब्दौ श्वेतोऽश्वो धावतीति संसर्गबुद्धिं जनयन्तीत्यर्थः। अत्र किमेकनिष्ठतयावगतमेतत्त्रयं संसर्गबोधकम्? विशकलिततया वा? प्रथमेऽनुमानतां दर्शयति—तथा हीति। यत्र ह्येतत्त्रयमेक-

---

है। अतः ऐसी आकांक्षा के बल से पदों का अन्विताऽभिधान विरुद्ध नहीं होता है। यहाँ अभिहितान्वयवादी यदि कहते हैं कि उक्तरीति से पदों की शक्ति अन्विताऽभिधान में माननी पड़ती है, वह अन्विताभिधान में पदों के सामर्थ्य (शक्ति) कल्पना योग्य नहीं है, क्योंकि पदों से स्मारित पदार्थों को ही आकांक्षादि के बल से परस्परान्वयबोधकत्व की सिद्धि हो सकती है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि मानान्तर से ज्ञात पदार्थों की अन्वयार्थ रूप वाक्यार्थबोधकता नहीं देखी जाती है।

यदि शङ्का हो कि (श्वेतिमा अरूप = अस्पष्ट रूप, को दूर से देखने वाले ह्रेषा = अश्वशब्द, को सुनने वाले और खुरविक्षेप के शब्द को भी सुनने वाले को श्वेत अश्व दौड़ता है, यह ज्ञान हो जाता है) इस प्रकार से अन्य प्रमाण से उपस्थित पदार्थों को भी संसर्ग रूप वाक्यार्थ के बोधजनकत्व है ही, तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि वहाँ अनुमान से या अर्थापत्ति से संसर्ग का ज्ञान होता है, उपस्थित पदार्थों से नहीं। वहाँ यदि अव्यक्त रूप, ह्रेषा, खुरविक्षेप शब्द, ये तीनों एक अधिकरण में वृत्ति रूप से ज्ञात होते हैं, तो प्रत्ययजनक रूप से अनुमान से सिद्ध

वगतानां प्रत्यायकत्वेनानुमानानतिरेकः, विशकलितावगतानां वार्थान्तराभावे निश्चितेऽर्थापत्तिरेव परिशिष्यते, अनिश्चिते त्वनध्यवसाय एव। अपि च शब्दसामर्थ्याजन्यत्वे वाक्यार्थप्रत्ययस्य पदार्थाख्यं सप्तमं प्रमाणमभ्युपेयं स्यात्, प्रत्यक्षादिषु तस्यानन्तर्भावात्। किं च पदार्थानामनभिहितानां संसर्गबोधकत्वाभावादभिहितानामेव तदेष्टव्यम्, तथा च पदार्थानां संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यम्, पदानां च पदार्थेषु तत्सामर्थ्याधानसामर्थ्यमिति द्वयं कल्पनीयमिति कल्पनागौरवमभिहितान्वयवादिनः, अन्विताभि-

---

त्वावगतं तत्राश्वत्वं दृष्टमिति व्याप्त्या बोधकत्वादनुमानमित्यर्थः। द्वितीयेऽर्थापत्तितामाह— विशकलितेति। नन्वर्थान्तराभावे विनिश्चितेऽनुपपत्त्याश्वत्वबोधकत्वाद्भवेदर्थापत्तित्वमर्थान्तराभावोऽपि यदा न निश्चितस्तदा कथमर्थापत्तित्वमिति तत्राह—अनिश्चिते त्विति। किञ्च शब्दाजन्यत्वे संसर्गबुद्धेरप्रामाणिकत्वं पदार्थाख्यसप्तमप्रमाणाभ्युपगमो वा प्रसज्येत, प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावादित्याह—अपि चेति। अथ पदस्मारितानामेवेदं सामर्थ्यम्, तर्ह्यनेकशक्तिकल्पनागौरवं स्यादित्याह— किं चेति। पदार्थानां तावत्संसर्गबुद्धिजननसामर्थ्यम् एकम्, अपरमपि पदानां पदार्थेषु संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यमुत्पादयितुं सामर्थ्यम्, पदैरेवाभिहितपदार्थेषु तादृशं सामर्थ्यमाधीयते; अनभिहितेषु सामर्थ्यादर्शनात्। नैवमस्मत्पक्षे, अन्वितस्वार्थेषु पदानामेकसामर्थ्याश्रयणात्। यद्यप्यर्थसामर्थ्यादन्विते सामर्थ्यकल्पनायां गौरवमस्ति, यथापि न सामर्थ्यद्वित्वम्, अपि तु स्थौल्यमात्रमिति भावः। अत्र च सामर्थ्यद्वयाभिधानं प्राथमिकपदार्थबुद्धेः साहचर्यात्स्मृतित्वमभिप्रेत्य; तच्च परिहारा-

---

नहीं होते हैं। क्योंकि जहाँ-जहाँ ये तीनों अवगत हुए हैं, तहाँ-तहाँ अश्वत्व देखा गया है, अतः व्याप्ति से = बोधकत्व से, अनुमान है। और विशकलित (व्यधिकरण) रूप से ज्ञात इन तीनों के आश्रय अर्थान्तर के अभाव के निश्चित रहते अर्थापत्ति से अश्व का बोध होता है। अर्थान्तर के अभाव के अनिश्चय रहते अनध्यवसाय (निश्चयात्मक) ज्ञान होता है। और वाक्यार्थज्ञान के शब्दसामर्थ्य से अजन्य शब्दार्थ से जन्य होने पर, पदार्थ नामक सप्तम प्रमाण, अभिहितान्वयवादी को मानना होगा, क्योंकि प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों में उस पदार्थ रूप प्रमाण का अन्तर्भाव नहीं है. और, अनभिहित पदार्थों को संसर्गबोधकत्व के अभाव से अभिहितों पदार्थों के ही बोधकत्व को मानना होगा। और ऐसा होने पर पदार्थों के संसर्गज्ञानजननसामर्थ्य और पदों के पदार्थों में उस सामर्थ्याधान (स्थापन) का सामर्थ्य ये दो कल्पनीय होंगे, अतः अभिहित अन्वयवादी को इसप्रकार से कल्पनागौरव होगा। और अन्विताभिधानवादी को तो पदों के योग्येतरान्वित-

धानवादिनस्तु पदानां योग्येतरान्वितस्वार्थाभिदानसामर्थ्यमेकमेव कल्पनीयमिति कल्पनालाघवमित्ययमेव पक्षः श्रेयानिति।

अत्राभिहितान्वयवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—

विनाभिधेयस्मरणमन्वयाप्रतिपत्तितः।
तत्तत्पदार्थस्मृतयस्तेषामन्वयबोधिका ॥ २५ ॥

पदकदम्बकश्रवणसमनन्तरमपि कुतश्चिन्मानसापराधादनुपजनितपदार्थस्मृतेर्वाक्यार्थप्रत्ययानुदयादुदयाच्चोपजातपदार्थस्मृतेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थस्मृतीनां वाक्यार्थप्रत्ययहेतुत्वं तावदवसीयते। न च पदार्थस्वरूपमात्रविषयस्मृतीनामन्योन्यान्वयबोधकत्वमनुपपन्नमन्यत्रादृष्टत्वादिति वाच्यम्। स्मरणमात्रस्य सामर्थ्याभावेऽपि समभिव्याहृतपदकम्बकसमुपजनि-

वसरे स्वयमेव स्फुटीकरिष्यति। उभयसाधारणत्वाद् वावधीरितं पदार्थस्मृतिजनन-सामर्थ्यमिति।

अभिहितान्वयवादे अन्वयव्यतिरेकौ तावत्प्रमाणमाह–विनेत्यादिना श्लोकेन। अभिधेयपदार्थस्य स्मरणं विनान्वयस्य वाक्यार्थस्याप्रतिपत्तिरित्यत्राविगानमायुष्मतोऽपि। ततोऽवश्यापेक्षणीयाभिधेयस्मरणैः स्मृतैर्वाभिधेयैरन्वयव्यतिरेकवद्भिरन्वयो बोध्यत इत्ययमेव श्रेयानिति श्लोकार्थः। श्लोकं विवृणोति—पदेत्यादिना। कदम्बकं समूहः। एवं पूर्वार्धेनान्वयव्यतिरेकौ प्रदर्श्य उत्तरार्धं व्याचष्टे—अन्वयेति। पूर्वपक्षिणोऽनुशयबीजमुन्मूलयति—न चेत्यादिना। विशकलितपदार्थमात्रस्मृती-

स्वार्थाभिधानसामर्थ्य एक ही कल्पनीय होता है, अतः कल्पना का लाघव है, अतएव यह पक्ष श्रेयान् है।

यहाँ अभिहितान्वयवादी प्रतिपक्षी होते हैं और कहते हैं कि—

अभिधेय = वाच्य, के स्मरण के बिना अन्वय (वाक्यार्थ) का ज्ञान नहीं होता है, अतः उन पदार्थों की स्मृतियाँ या स्मृतपदार्थ उन पदार्थों के अन्वय के बोधक होते हैं ॥ २४ ॥

पदसमूह के श्रवण के बाद भी किसी मानस अपराध से अनुपजनित पदार्थ स्मृति वाले को वाक्यार्थ के ज्ञान का उदय (जन्म) नहीं होता है। और उपजात (उपजनित) स्मृति वाले को वाक्यार्थज्ञान का उदय होता है। इसप्रकार से अन्वयव्यतिरेक द्वारा पदार्थस्मृति के वाक्यार्थज्ञान हेतुत्व का अवश्य निश्चय होता है। यदि शङ्का हो कि पदार्थों के स्वरूपमात्रविषयक स्मृतियों में परस्पर अन्वयबोधजनकत्व अनुपपन्न (अयुक्त = असिद्ध) है, तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि स्मरणमात्र (विशकलितक्रमोदरन्न) के सामर्थ्य के अभाव होते भी सम-

तपदार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षादिसहकारिणीनां संभवत्येव तद्बोधकत्वम्, सहकारिभेदोपादानात् कथमन्यथा संस्कारेन्द्रिययोरन्यत्र परस्परसंगतार्थाविषययोः प्रत्यभिज्ञायां पूर्वापरदेशकालसंसृष्टैकवस्तुबोधकत्वम्? परस्परसहकारितया तथात्वं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न च पदार्थस्मृतीनां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वे सप्तमप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्गः, लिङ्गप्रकरणस्थानाना-

---

नामदर्शनेऽपि पदस्मारितपदार्थस्मृतीनां सहकारिवशादुपपद्यत इत्यर्थः। **सहकारीति**। सहकारिणो भेदो विशेषस्तत्संबन्धादित्यर्थः। अन्यत्रादृष्टस्य कथं कल्पनमित्याशङ्क्य प्रतिबन्दीं गृह्णाति—**कथमिति**। यथान्यत्र विभिन्नविषयनिष्ठतया दृष्टयोश्चक्षुःसंस्कारयोः प्रत्यभिज्ञायां सहकारिवैचित्र्यवशात्सोऽयं देवदत्त इत्येकार्थविषयत्वमेवमत्रापि संभाव्यत इत्युपपाद्य सप्तमप्रमाणत्वं पदार्थानामापादितं परिहरति—**न चेति**। तथा हि—श्रुतिवाक्यसमाख्यानां शब्दरूपत्वेऽपि लिङ्गप्रकरणस्थानानां न शब्दरूपत्वम्। अथ च न शब्दात्पृथक्प्रमाणत्वम्, तथेहापीत्यर्थः। यद्यपि प्रकरणमप्यङ्गवाक्यापेक्षं प्रधानवाक्यमिति शब्दरूपमेव प्रतीयते, तथापीतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अर्थरूपत्वादशब्दत्वमभिप्रेतमिति द्रष्टव्यम्, अविनियोजकत्वाच्च। न हि लिङ्गादीनि साक्षाद्विनियोजकानीति। लिङ्गादिभ्यो वैधर्म्यं दर्शयितुं तदनुना-

---

भिव्याहृत (सहघटित) पदसमूह से जनित आकांक्षादि सहकारी वाली पदार्थ के स्मृतियों को सहकारीभेद के ग्रहण से अन्वयबोधकत्व का सम्भव है ही, अन्यथा (विभिन्न विषयक स्मृतियों को एकवाक्यार्थ-बोधजनकत्व को नहीं मानने पर) संस्कार और इन्द्रिय को अन्यत्र परस्पर संगतार्थ (मिलितार्थ) अविषयक होते, प्रत्यभिज्ञा में पूर्वापर देशकाल संयुक्त एकवस्तुबोधकत्व कैसे होगा। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र असन्निहित विषय के स्मृति का जनक होता है, इन्द्रियाँ सन्निहित विषय के ज्ञान का जनक होती है, परन्तु दोनों मिलकर प्रत्यभिज्ञा के जनक होते हैं, वैसे ही आकांक्षादि सहित स्मृति वाक्यार्थबोध के जनक होती हैं। अर्थात् परस्पर सहकारिता से जैसे संस्कार और इन्द्रिय को प्रत्यभिज्ञाजनकत्व होता है, वैसे प्रकृत में भी परस्पर सहकारित्व तुल्य है। और कहा गया था कि पदार्थ स्मृति वा स्मृतिविषय पदार्थों को अन्वयबोधक होने पर, इनको सप्तम प्रमाण मानना होगा। वह सप्तम प्रमाणाऽभ्युपगम प्रसङ्ग भी नहीं है, क्योंकि अङ्गता के बोधक—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छः प्रमाणों में श्रुति, वाक्य और समाख्या (यौगिक पद) इन तीनों के शब्दस्वरूप होते भी लिङ्गप्रकरण और स्थान इन तीनों को शब्दस्वरूपत्व नहीं रहता है, तो भी उनको शब्द से पृथक् प्रमाण नहीं माना जाता है, किन्तु शब्द के अन्तर्गत माना जाता है, वैसे ही यहाँ लिङ्ग, प्रकरण, स्थान के समान पदार्थ स्मृति वा स्मृत पदार्थ को शब्दप्रमाण के अन्तर्भावत्व की सिद्धि से सप्तम प्रमाण मानने का

मिव शब्दप्रमाणान्तर्भावोपपत्तेः। ननु लिङ्गादिषु श्रुतिं कल्पयित्वैव विनियोगप्रतीतेः स्वीकाराच्छाब्दत्वं न विरुद्धयते, इह तु पदार्थस्मृतीनां स्मृतानां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वमिति वैषम्यम्। शब्दावगतपदार्थजन्यत्वेनान्वयप्रतीतेः शाब्दत्वे, चक्षुषावगतधूमजन्यस्यापि वह्निज्ञानस्य चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्; अन्वयप्रतीतिं जनयतां पदानामवान्तरव्या-

---

न्तमाह— **नन्विति**। शब्दस्यार्थस्यापेक्षितोऽर्थः शब्देनैव समर्पणीयः, न प्रमाणान्तरेण। न हि त्रयो ब्राह्मणा आगताः कठश्च माठरश्चेत्युक्ता तृतीयमङ्गुल्या निर्दिशन्तं सन्तः प्रशंसन्ति, प्रशंसन्ति तु कौण्डिन्य इति शब्देनैव समर्पयन्तम्। तद्विहापि श्रुतिभिरेव चेत्तत्तदङ्गानि समर्प्यन्ते, समस्यन्ते तदा श्रुतप्रधानेन, नेतरथेति श्रुतिकल्पनयैवैषां लिङ्गादीनां विनियोजकत्वम्, न स्वातन्त्र्येण। श्रुतिकल्पनायां च त्वरामन्थरतातारतम्येनैषां प्राबल्यदौर्बल्ये, यथाह परर्षिः—'अर्थविप्रकर्षा'दिति। अन्येऽपि—

> "एकद्वित्रिचतुष्पञ्चवस्त्वन्तरायकारिणाम्।
> श्रुत्यर्थं प्रति वैषम्यं लिङ्गादीनां प्रतीयते॥" इति।

प्रकृते तु वैषम्यमाह— **इहत्विति**। न शब्दस्येति शेषः। नन्वशब्दत्वेऽपि पदार्थानां शब्दावगतत्वात्तज्जन्यप्रतीतिरपि शाब्दी एवेति नातिप्रसङ्ग इत्याशङ्कयाह— **शब्दावगतेति**। तामिमां शङ्कां परिहरति सिद्धान्ती— **मैवमिति**। नात्र शब्दावगतपदार्थजन्यत्वमात्रादन्वयप्रतीतेः शाब्दत्वमुच्यते, येनानुमितेरपि चाक्षुषत्वप्रसक्तिः, किंतु शब्दावान्तरव्यापाररूपपदार्थस्मरणजन्यत्वात्। उक्तं हि (श्लो० वा० ७।३४२, ३४३)

> 'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
> वर्णास्तथापि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
> वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
> पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥' इति।

ततो नातिप्रसक्तिरिति भावः। ननु तथापि पदार्थैर्व्यवधानात् पदानां कथमन्वय-

---

प्रसङ्ग नहीं होगा। पुनः यदि शङ्का होती है कि शब्द की आकांक्षा शब्द ही से पूर्ण होती है, इस नियम के अनुसार लिङ्गादि से शब्द रूप श्रुति की कल्पना द्वारा ही लिङ्गादि में विनियोग (अङ्गबोधकत्व) की प्रतीति के स्वीकार से वहाँ शाब्दत्व (शब्दप्रमाणतत्व) विरुद्ध नहीं होता है और यहाँ तो पदार्थ स्मृति या स्मृत पदार्थों को ही अन्वयबोधकत्व होता है, शब्द को नहीं यह विषमता है, अतः लिङ्गादि के समान शब्दप्रमाण के अन्तर्गतत्व नहीं हो सकता है। यदि शब्द से अवगत (स्मृत) पदार्थजन्यता से अन्वयप्रतीति के शाब्दत्व (शब्दजन्यत्व) को माने (उस अन्वयप्रतीति में शाब्दत्व हो) तो नेत्र से ज्ञात व्याप्य धूमजन्य व्यापक अग्निज्ञान को भी चाक्षुषत्व प्राप्त होगा। तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि अन्वय की प्रतीति (ज्ञान) को उत्पन्न करने वाले पदों का, पदार्थों का स्मरण अवान्तर

पारत्वात्पदार्थस्मरणानाम्। न च स्वव्यापारव्यवधानाद्व्यापारवतः करणत्वं विहन्यते; यागादीनामपूर्वव्यवधानेन फलसाधकानामकरणत्वप्रसङ्गात्। न च चक्षुषो लिङ्गज्ञानमवान्तरव्यापारः; अगृहीताविनाभावस्यानुमानानुदयात्, अचाक्षुषस्थलेऽपि लिङ्गस्य बोधकत्वात्। गुरुमतानुसारिभिरपि लिङ्गप्रकरणादीनामन्तरेणैव श्रुतिकल्पनं विनियोजकानां शब्दप्रमाणान्तर्भावाभ्युपगमाच्च।

प्रतीतिं प्रति करणत्वम्? तद्व्यनन्तरफलत्वमिति तत्राह—**न चेति। यागादीनामिति।** गुरुमतेऽपि यागस्य फलं प्रति करणत्वमस्त्येवेति भावः। पदार्थेभ्यो लिङ्गज्ञानस्य वैधर्म्यमाह—**न चेति।** अथ किमिति न व्यापारस्तत्राह—**अगृहीतेति।** तज्जन्यस्तदाश्रितो यस्तत्क्रियाहेतुः स हि तद्व्यापारो नाम। तथा च कथं चक्षुषि व्याप्रियमाणेऽप्यगृहीतव्याप्तिकस्य लिङ्गज्ञानमनुत्पद्यमानं चक्षुर्व्यापारः स्यात्? नहि धूमज्ञानमात्रं लिङ्गज्ञानम्, अपि तु व्याप्तस्य सतः पक्षधर्मतया ज्ञानमिति भावः। चक्षुर्व्यतिरेकेणोत्पद्यमानत्वादपि न तद्व्यापारत्वमित्याह—**अचाक्षुषेति।** अथवा न चक्षुर्जन्यानुमितिः; तस्मिन्सत्यपि नियमेनोत्पत्त्यभावात्। असति चोत्पत्तेः रतो नेदं तस्य व्यापार इति ग्रन्थार्थः। यत्तु लिङ्गप्रकरणादि उदाहृतम्, तदन्विताभिधानवादिनः प्राभाकरस्य भवत्येवोदाहरणम्। श्रुतिकल्पनाव्यतिरेकेणैव लिङ्गादीनि विनियोजकानीति हि गुरूणां मतमित्याह—**गुरुमत इति।**

(मध्यगत व्यापार) होता है, और पदार्थ स्मृति के व्यापार होने से, उस व्यापार के व्यवधान से व्यापार वाले पदों के अन्वयबोध के प्रति करणत्व विनष्ट नहीं होता है, यदि व्यापार के व्यवधान से करणत्व का विघात हो, तो स्वर्गादिफलसाधक यागादि को भी फलजनन में अपूर्व द्वारा व्यवधान होने से उन यागादिकों में अकरणता की प्राप्ति होगी। (तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः) करण से जन्य होकर, करणजन्य का जनक जो हो वह व्यापार कहा जाता है, और व्यापार वाला ही कारण=करण कहा जाता है। अतः व्यापार करणत्व का बाधक नहीं, किन्तु साधक होता है। और नेत्र का लिङ्गज्ञान अवान्तर व्यापार नहीं होता है कि जिससे लिङ्गज्ञान द्वारा अग्नि के ज्ञान का हेतु हो सके, क्योंकि अविनाभाव (व्याप्ति) ज्ञानरहित पुरुष को नेत्र से धूम के ज्ञान होने पर भी अग्नि का अनुमान (ज्ञान) नहीं होता है, अतः वहाँ अनुमान करण व्याप्तिज्ञान है कि जिसके होने से अनुमान होता है। और चाक्षुषस्थान में भी लिङ्गज्ञान को बोधकत्व होता है। अतः लिङ्गज्ञान चक्षु का व्यापार नहीं है। और लिङ्गादि श्रुति की कल्पना द्वारा विनियोजक होते हैं, यह कहा था, वह नियम नहीं है, क्योंकि प्रभाकरमतानुगामी लिङ्गादि से श्रुति की कल्पना के बिना ही विनियोजक लिङ्गप्रकरणादि को शब्दप्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं।

ननु त्वयाप्यभिहितान्वयवादे तिस्रः शक्तयः कल्पनीयाः; पदानां ताव-दर्थस्वरूपानुभवजननशक्तिः, अर्थानां चान्योन्यान्वयप्रत्यायनशक्तिः, तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामिति। पदानां साहचर्येणार्थस्मारकत्वे पुनः शक्तिद्वयं कल्पनीयम्, पदार्थानामन्वयबोधनशक्तिः, तेषु तदाधानशक्तिश्च पदानाम्, अन्विताभिधाने तु पदानामन्योन्यान्वितस्वार्थाभिधानशक्तिरेकैवेति कल्पनालाघवमिति चेत्, मैवम्; त्वयाप्यर्थान्तरे तदन्वये स्वार्थे च पदशक्तीनां कल्पनीयत्वात्। न चार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायकमपि पदं स्वार्थस्यैव वाचकम्, नार्थान्तरतदन्वययोर्जातिवाचकमपि पदं व्यक्तितदन्व-

---

यत्तु शक्तिकल्पनागौरवमुक्तम्, तत्परिहर्तुमुत्थापयति—नन्विति। ननु कथं शक्तित्रयकल्पना? यावता साहचर्यवशादेव प्रथमं स्मृतिः पदार्थेषूत्पद्यते भवतामिवेति, तर्हि शक्तिद्वयमवश्यंभावीत्याह—पदानामिति। यत्तु पूर्वपक्षे स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तम्; तदत्र स्पष्टीकृतम्। स्वपक्षे च लाघवं स्मारयति—अन्वितेति। अत्राभिहितान्वयवाद्यन्विताभिधानेऽपि शक्तित्रयकल्पनामापादयन्परिहरति—मैवमिति। स्यादेतत्—यथा नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतरूपजातिवाचकमपि पदं नानेकात्मकव्यक्तीनां तदन्वयस्य समवायस्य वा वाचकम्, गोत्ववाचकं यथा तद्व्यक्तितदन्वययोरवाचकम्, तद्वदन्यान्वितस्वार्थवाचकमपि पदं स्वार्थमात्रमेव वक्तीति न शक्तित्रयं कल्पनीयमिति तत्राह—न चेति। किं यद्वैगत्यान्वितं तद्वाचकमित्यन्वयस्योपलक्षणत्वम्?

अब यहाँ अन्विताऽभिधानवादी शङ्का करते हैं कि आप को अभिहिताऽन्वयवाद में तीन शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है। प्रथम पदों की अर्थस्वरूपाऽनुभवजननशक्ति, दूसरी अर्थों की परस्पर अन्वयबोधन शक्ति, तीसरी पदों की अर्थवृत्तिशक्त्याधानशक्ति, माननी पड़ती है। पदों को साहचर्य से स्वार्थ के स्मारकत्व हो, बोधकत्व नहीं हो, तो भी दो शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। पदार्थों की अन्वयबोधन शक्ति, और पदों की पदार्थों में अन्वयबोधनशक्त्याधानशक्ति, और अन्विताभिधानवाद में तो पदों की अन्योन्याऽन्वित स्वार्थाभिधानशक्ति एक ही मान्य है, अतः कल्पनालाघव है, अभिहितान्वयवादी कहते हैं कि यह शङ्का युक्त नहीं है। क्योंकि आप को भी अन्योन्योऽन्वित स्वार्थाभिधानशक्ति के मानने से तीन शक्ति माननी पड़ती है, क्योंकि, अन्योन्योऽन्वित इत्यादि का अर्थ होता है, अर्थान्तरान्वित-स्वार्थाभिधानशक्ति, अर्थान्तर में, अर्थान्तर के अन्वय में, और स्वार्थ में, ये तीन पद शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। यदि कहें कि नित्यत्वयुक्त अनेक समवेतस्वरूप जाति के वाचक भी पद, जैसे अनेक व्यक्ति और समवायसम्बन्ध के वाचक नहीं होते हैं, इसीप्रकार अर्थान्तर से अन्वित स्वार्थ के वाचक पद भी अर्थान्तर और उनके अन्वय का वाचक नहीं होता है, किन्तु स्वार्थ का ही वाचक होता है, अतः तीन

ययोरिवेति वाच्यम्; विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं जातिवाचकपदेन व्यक्तेरिव लक्ष्यत्वमर्थान्तरतदन्वययोः? उत वाच्यत्वम्? नाद्यः; पदानामन्विताभिधानभङ्गप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; वाच्यत्वे तयोरपि शक्तेरवश्यकल्पनीयतया गौरवस्य तादवस्थ्यात्। किंचैकैकस्य पदस्य श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा तत्तत्पदार्थस्मरणजननशक्तिः, पुनरेकस्मरणगोचराणां च तेषामेव पदानामन्योन्यान्वितपदार्थाभिधानशक्तिः, सकलपदगोचरस्यास्मरणस्य पदेष्वन्विताभिधानशक्त्याधानशक्तिश्चेति शक्तित्रयकल्पना-

---

आहोस्विदन्वितस्य वाचकम्? इति विशेषणत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति**। अभिहितान्वयवादिभिरप्येवमभ्युपगमाद्भावस्येति भावः। द्वितीये तु शक्तित्रयमवश्यंभावीत्याह— **न द्वितीयः इति**। स यदि ब्रूयात्रान्विताभिधानवादे शक्तित्रयम्, नह्येतदर्थत्रयम् अपि तु एक एव विशिष्टोर्थः, परंतु सविशेषणत्वमिव शक्तेरिति, तं प्रकारान्तरेण शक्तित्रयमापादयति— **किंचेति**। एषा हि अन्विताभिधानपरिपाटी—प्रथमं श्रूयमाणैः स्मर्यमाणैर्वा पदैरन्योन्यासंसृष्टार्थाः प्रत्याय्यन्ते, अन्त्यपदोच्चारणानन्तरं चैकस्मृत्यारूढानि तान्येव पदानि पदार्थानन्योन्यान्विततया प्रतिपादयन्तीति। तथा च पदार्थमात्रेषु संसृष्टपदार्थेषु च प्रत्ययाधाने पदानां सामर्थ्यद्वयम्, सकलपदविषयस्मरणस्य सकलपदेष्वन्विताभिधानसामर्थ्यं तृतीयम्, एकस्मृत्यानारूढपदानां तत्सामर्थ्याभावादित्यर्थः। ननु शक्तित्रयकल्पनायामुभयोः

शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि आप का कथन विचार-कसौटी पर नहीं टीक सकता है। विचार यह है कि क्या जातिवाचक शब्द के जैसे व्यक्ति लक्ष्य माना जाता है वैसे अर्थान्तर और उसका अन्वय स्वार्थवाचक शब्द के लक्ष्य होते हैं, या वाच्य होते हैं, यदि लक्ष्य कहें तो पदों के अन्विताऽभिधान शक्ति का भङ्ग प्राप्त होता है। और उन दोनों में वाच्यत्व होने पर, उन दोनों में भी पद की शक्ति अवश्य कल्पनीय होगी कि जिससे गौरव ज्यों का त्यों रहे। यदि कहें कि अन्विताऽभिधान में तीन शक्ति नहीं कल्पनीय है, क्योंकि अर्थान्तरान्वित स्वार्थ तीन अर्थ नहीं है, किन्तु एक ही विशिष्ट अर्थ है, अतः सविशेषण विषयक शक्ति में भी एकत्व है, तो यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि अन्विताभिधानवाद में भी माना जाता है कि प्रथम श्रूयमाण या स्मर्यमाण एक-एक पद की तत्तत् असंसृष्टपदार्थ विषयक स्मरण जननशक्ति रहती है, फिर एकस्मरण विषयक उन ही पदों की परस्पर अन्वित पदार्थाभिधान शक्ति दूसरी रहती है, और सब पदविषयक स्मरण की पदों में अन्विताभिधान शक्ति के आधान (स्थापन) शक्ति रहती है, अतः इसप्रकार से तीन शक्ति की कल्पना अन्विताभिधानवाद में भी

न्विताभिधानवादेऽपि तुल्या। न चाभिहितान्वयवादेऽपि शक्तिकल्पनागौरवस्य तुल्यत्वात् विनिगमनाभाव आशङ्कनीयः; विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तपदकदम्बसमभिव्याहारान्यथानुपपत्त्या पदस्मारितानामर्थानामन्योन्यान्वयस्य लक्ष्यमाणत्वेनोपपत्तेः शक्तेरकल्पनीयत्वात्, 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इति न्यायात्। उक्तं च 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जनः' इति।

ननु नेयं लक्षणा भवितुमर्हति, तथाहि—

समानायां कोऽयमाग्रहः यदभिहितान्वयवाद एव श्रेयानिति? तत्राह—न चेति। अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः, लभ्यते चान्योन्यान्वयोऽपि व्यवहारः समर्थसंसृष्टपदार्थबोधार्थं प्रयुक्तपदस्मारितेभ्यः पदार्थेभ्यः। न च तस्याशाब्दत्वम्, शब्दैरेव लक्ष्यमाणत्वादतो न शक्तिद्वयमिति खण्डनकारः। एतदुक्तं भवति—पदानां पदार्थस्मृतिजनकत्वं तवापि तुल्यम्, स्मृतपदार्थानामन्वयप्रतिपत्तिहेतुतामात्रमपि तुल्यमेव, इतरथा प्राथमिकपदार्थस्मृतेस्तवापि वैयर्थ्यात्, करणत्वं तु ममापि नेष्यते, पदानां पदार्थान्वयप्रतिपत्तिजननसामर्थ्याधानसामर्थ्यं भवदीयसमुदायस्मृतिसामर्थ्येन तुल्यम्, पदानां स्मृतपदार्थान्वयबोधने यत्सामर्थ्यमभिधानात्मकं त्वया परिकल्प्यते, तन्मत्पक्षे नास्तीति मत्पक्षे लाघवमिति। जने मध्यमवृद्धे लोकव्यवहार इति वा पदसमभिव्याहृतिरुत्तमवृद्धस्य पदप्रयोगो वा विशिष्टार्थप्रयुक्तेति मण्डनमिश्रोक्तियोजना।

परस्परान्वये पदानां लक्षणैव वृत्तिर्नतु मुख्येत्युक्तम्, तदाक्षिपति मुख्यवृत्तिमन्वानोऽन्विताभिधानवादी— **ननु नेयमिति**। लक्षणाभावं दर्शयितुं शाब्दिकनाथोक्तं तल्लक्षणमाह— **तथाहीति**। वाच्यस्यार्थस्य गङ्गादिरूपस्य वाक्यार्थे घोषप्रतिवासादि-

---

अन्वयवाद के तुल्य ही है। यदि शङ्का हो कि अभिहितान्वयवाद में भी शक्तिकल्पना गौरवतुल्य ही है, तो विनिगमनाऽभाव (एक पक्ष के श्रेष्ठत्व के बोधक युक्ति प्रमाणादि का अभाव है) तो ऐसी शङ्का करने योग्य नहीं है। क्योंकि अभिहितान्वयवाद में, विशिष्टार्थ के बोधननिमित्तक पदसमूह के समभिहार (सहोच्चारण) की अन्यथाऽनुपपत्ति से पदों द्वारा स्मारित अर्थों के परस्पर सम्बन्ध की लक्षणा से ही सिद्धि (ज्ञान) होने से शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है, श्री शबर स्वामी ने कहा है कि (अनन्यलभ्यः शब्दार्थः) लक्षणा आदि से अलभ्य शब्द का शब्दार्थ होता है। और श्री मण्डन मिश्र ने कहा है कि (विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जने) जन में = लोकव्यवहार में, विशिष्टार्थ की प्रतीतिनिमित्तक (लिये) समभिव्याहृति (पदप्रयोग) की जाती है।

अन्विताभिधानवादी की उक्तार्थ में शङ्का होती है कि पदों की यह वर्णित अन्वय में लक्षणा नहीं हो सकती है, क्योंकि लक्षणा के लक्षण का यहाँ अभाव है। लक्षणा का लक्षण है कि—

'वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः ।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥' इति ।
(प्र० पं० वाक्य० परि० पृ० १३)

न च 'ओदनं चैत्रः पचति पिठरे' इत्यादौ चैत्रपिठरादीनामर्थानां वाक्यर्थसंबन्धानुपपत्तिः । न च पदार्थैर्लक्षितायाः पदार्थानामन्वितावस्थायाः पुनरन्वयान्तरशालिता, तेनेयं न लक्षणा तल्लक्षणविरहादिति चेत्, मैवम्; अव्यापकत्वादेतस्य लक्षणालक्षणत्वासंभवात् । न हि विषं भुङ्क्ष्वेत्यादावेतल्लक्षणमस्ति । तत्र सर्वेषां पदानां लक्षकत्वेन वाच्यार्थाभावात्, वाच्यार्थाविनाभूतस्य वाक्यार्थेन पुनरन्वयाभावाच्च ।

रूपे संबन्धानुपपत्तौ सत्यां वाच्यार्थसंबन्धवशात्प्राप्तस्य वाक्यार्थान्वियाद्धेतोर्या शब्दस्य तत्र प्रवृत्तिः लक्षणेति श्लोकार्थः । प्रकृते च वाच्यार्थानां वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तिरूपलक्षणभागो नास्तीत्याह—**न चेति** । पिठरं भाण्डम् । यस्तु तत्संबन्धवशात् प्राप्तस्यान्वयादिति लक्ष्यमाणार्थस्य पुनर्वाक्यार्थेऽन्वय उक्तः, सोऽपि नास्तीत्याह—**न च पदार्थैरिति** । नह्यत्र वाक्यार्थद्वयमस्ति, येन वक्ष्यमाणवाक्यार्थस्य वाक्यार्थसंबन्धो भवेत्, स्वेनैव स्वसम्बन्धानुपपत्तेरिति भावः । लक्षणमेवेदं लक्षणाया न संभवति, अव्यापकत्वात्, अतो नैतदभावमात्राल्लक्षणात्वक्षय इति परिहरति अभिहितान्वयवादी—**मैवमित्यादिना** । वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तितः, अत्र कोऽयं वाक्यार्थोऽभिमतः ? किं न्यायपरिशोधनया निष्पन्नोऽर्थः ? किंवा क्रिया ? आहोस्वित्परिशिष्टपदवाच्योऽर्थः ? नाद्यः; तदानीमनिष्पन्नत्वाद्वाक्यार्थस्येत्यभिप्रेत्याह—**न हीति** । नापि द्वितीयः; विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र क्रियाया अविवक्षितत्वात् भुङ्क्ष्वेरस्यापि तन्निवृत्तिपरत्वात् । अत एव न तृतीय इत्याशयवानाह—**तत्रेति** । इतरोऽपि लक्षणांशो नास्तीत्याह—**वाच्यार्थेति** । नहि भोजननिवृत्तिव्यतिरेकेणापरो वाक्यार्थोऽस्ति येनान्वियादिति भावः ।

वाच्यार्थ गङ्गादि के सम्बन्ध की वाक्यार्थ (घोषादि) में अनुपपत्ति से उस वाच्यार्थ के सम्बन्ध के बल से प्राप्त (ज्ञात) तीरादि का वाक्यार्थ में अन्वय लक्षणा कही जाती है ।

प्रकृत में (चैत्र पिठर में ओदन पकाता है) इत्यादि वाक्यों में चैत्र पिठरादि अर्थों को वाक्यार्थ में अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है, और पदार्थों की लक्षित अन्वय अवस्था की पुनः पदार्थों के द्वारा अन्वयान्तरशालिता नहीं है, अर्थात् दो वाक्यार्थ नहीं है कि जिससे लक्ष्य वाक्यार्थ सम्बन्ध हो, अतः लक्षणा के लक्षण के अभाव से यहाँ लक्षणा को मानना युक्त नहीं । अभिहितान्वयवादी कहते हैं कि ऐसी शङ्का युक्त नहीं । क्योंकि उक्त लक्षण के अव्यापक होने से इसको लक्षणा के लक्षणत्व का असम्भव है । क्योंकि (विषं भुङ्क्ष्व) इत्यादि लक्षणा में यह लक्षण नहीं है । क्योंकि वहाँ सभी पद के लक्षक होने से कोई वाच्यार्थ नहीं है, और वाच्यार्थ के अविनाभूत (व्याप्य लक्ष्यार्थ) का फिर वाक्यार्थ के साथ अन्वय का भी अभाव है ।

यदपि—

'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे ।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥'

इतिलक्षणालक्षणम्, तदप्यव्यापकम्। कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वती'त्येतल्लक्षणाऽव्यापकत्वात्, 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वती'ति श्रूयमाणत्वात्, प्रसिद्धाग्निहोत्रे चोपसदामभावात्कर्मान्तरेऽग्निहोत्रशब्दः प्रसिद्धाग्निहोत्रसाधर्म्याल्लक्षणया वर्तते। न च तत्र मानान्तर-

---

लक्षणान्तरमप्यनुवदति— **यदपीति** । मुख्यार्थस्य परिग्रहे मानान्तरविरोधे सति मुख्यार्थेनाविनाभूते संबद्ध इति यावत् । मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्राविनाभावादर्शनात्, तस्मिन्नविनाभूते या प्रतीतिः सा लक्षणोच्यते इति योजना। अस्ति कुण्डपायिनामयनगतं कर्म 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'ति श्रूयमाणम्, तत्र चाग्निहोत्रशब्दो गौण्या प्रयुज्यते इति स्थितम् । उक्तं 'क्रियाभिधानम्' इत्यत्र । 'गौण्यपि हि गुणलक्षणयोगेन वर्तते इति लक्षणोच्यते'। लक्षितलक्षणा हि गौणी, न च तत्र एतल्लक्षणमस्तीत्यव्याप्त्या दूषयति— **तदित्यादिना** । ननु किमिति गौणः, मुख्य एवाग्निहोत्रशब्दः किं न स्यात् ? अत आह— **उपसद्भिरिति**। एतच्च भाष्यकारीयं मतम्, वार्तिककारमतं त्वनुपादेयमाससंबन्धात्, विच्छिन्नप्रकरणत्वाच्च, प्रत्यभिज्ञाभावाच्च कर्मान्तरमिति । तच्च दर्शितं प्रकरणान्तराधिकरणमनुक्रामद्भिरस्माभिर्मिथ्यात्ववादपूर्वपक्षावसरे । अस्तु लक्षणात्वम्, लक्षणस्य तत्र कथमनाव इति ? मानान्तरविरोधाभावादित्याह— **न चेति**। यथा हि गङ्गायां घोष इत्यत्र तद्वाक्यव्यतिरेकेण मानान्तरविरोधो मुख्यार्थपरिग्रहे, न तथेह प्रमाणान्तरविरोधः, तदर्थस्य तदयोग्यत्वात् केवलमेतद्वाक्यव्यापारपर्यालोचनया मुख्यार्थापरित्यागादिति भावः । एवं पराभिमतलक्षणं दूषयित्वा सर्वलक्षणानुगतं लक्षणमुपसंहारफले-

---

तीरादि के समान यहाँ अन्वययोग्य अर्थान्तर नहीं है। और जो दूसरा लक्षणा का लक्षण है कि (शब्द के मुख्यार्थ के ग्रहण करने पर मनान्तर से विरोध हो, वहाँ मुख्यार्थ के साथ अविनाभूत (नियतसम्बन्धी) अर्थविषयक प्रतीति लक्षणा कही जाती है।

यह लक्षणा का लक्षण भी अव्यापक है। क्योंकि कुण्डपायी के अयनगत (मासमग्निहोत्रं जुहोति) यहाँ लक्षणा है, परन्तु इस लक्षण की उसमें अव्याप्ति है। क्योंकि (उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति) उपसद् द्वारा कर्मानुष्ठान करके मासपर्यन्त अग्निहोत्र करे। इसप्रकार से उपसद् कर्मानुष्ठानपूर्वक यह मासाग्निहोत्र सुना जाता है, और (अग्निहोत्रं जुहोति) इससे विहित प्रसिद्ध नित्य अग्निहोत्र में उपसदों के अभाव से कर्मान्तर में यह अग्निहोत्र शब्द प्रसिद्ध अग्निहोत्र

विरोधः, तदर्थस्य मानान्तरागोचरत्वात्। तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव लक्षणं लक्षणायाः, सर्वलौकिकवैदिकलक्षणायां व्यापकत्वात्। तथा हि 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति, आदित्यो यूपः, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इत्यादावस्ति पदार्थमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिः। ननु तत्र वाच्यार्थान्वयानुपपत्तिरप्यस्ति, तत्कथमिदमेव लक्षणमिति नियम्यते? इति चेत्, मैवम्; वाच्यार्थान्वयानुपपत्त्यभावेऽपि लोकवेदयोर्लक्षणादर्शनात्। तथाहि लोके——

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च योऽभिजानाति सेवितुम्॥'

नाह—तस्मादिति। लौकिकवैदिकलक्षणासु लक्षणव्याप्तिमेव दर्शयति—तथा हीति। आदित्यो यूप इत्यत्रादित्यशब्दस्तेजस्वित्वलक्षणापरः। निर्णीतं खल्विदं प्रमाणलक्षणे नामधेयपादे—'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः इत्यत्र सारूप्यादादित्यशब्दो यूपे वर्तते' इति। नन्वेतेषूदाहरणेष्व स्मल्लक्षणमपि वाच्यार्थस्य वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्त्यात्मकमस्ति तत्कथं निर्णयः? इति शङ्कयित्वा तल्लक्षणरहितेऽपि स्वकीयलक्षणानुवृत्त्या लक्षणान्वयं लोकवेदयोर्दर्शयति—**मैवमित्यादिना। सुवर्णपुष्पामिति**। सुवर्णमयपुष्पशालिनीं पृथ्वीं चिन्वन्तीति तत्र योजना। अथवा पृथिवीं सुवर्णपुष्पां चिन्वन्ति पृथिव्येव सुवर्णपुष्पा यथा भवति तथा चिन्वन्ति संपादयन्ति। एवं तु नाम बहुसुवर्णमुपार्जयन्तीत्यर्थः। तांश्च त्रीनाह—**शूरश्चेत्यादिना। कैमर्थक्येति** (पृ. ३१९)। नहि वायोः क्षेपि-

---

की समता के कारण लक्षणा से वर्तता है, और वहाँ मानान्तर से विरोध नहीं है। क्योंकि उस वैदिक अर्थ में मानान्तर की विषयता नहीं है। अतः पदों की पदार्थ-स्वरूपमात्रपरता के होने पर जो वाक्य में प्रमाणता की अनुपपत्ति प्राप्त होती है, वही लक्षणा की आक्षेपिका (बोधिका) होती है। अतः प्रामाण्यानुपपत्ति ही लक्षणा का लक्षण है, यह लक्षण लौकिक-वैदिक सब लक्षणाओं में व्यापक है, अतः उक्त अव्यापकत्व दोषरहित है, क्योंकि (गङ्गायां घोषः प्रतिवसति, आदित्यो यूपः, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुहोति) इत्यादि लौकिक-वैदिक सब वाक्यों की पदार्थमात्रपरता अवस्था में वाक्यप्रमाणता की अनुपपत्ति होती है। यदि शङ्का हो कि प्रदर्शित उदाहरणों में वाच्यार्थान्वयानुपपत्ति भी तो लक्षणा का बीज है, तो फिर प्रामाण्यानुपपत्ति ही लक्षण है, ऐसा नियम कैसे कर सकते हैं, तो यह शङ्का युक्त नहीं। क्योंकि वाच्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति के अभाव रहते भी लोक और वेद में लक्षणा देखी जाती है। जैसे कि—

शूर, विद्वान्, सेवा के मर्मज्ञ सेवक ये तीन पुरुष सुवर्ण पुष्प वाली पृथिवी का सञ्चय करते हैं।

इत्यादौ पदार्थानामन्वयसंभवेऽपि निष्प्रयोजने तात्पर्यासम्भवेन वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेः, प्रतीयमानवाक्यार्थं हित्वा शूरादित्वं संपदोहेतुरिति ध्वनिना सूच्यते। तथा च वेदे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठ' संभवत्येव वाच्यार्थान्वये कैमर्थ्यवशेन देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मणः प्राशस्त्यं लक्ष्यते। तस्माद्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति निश्चिनुमः। अस्ति चेहापि लोकानुसारतो विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनामर्थमात्रपरत्वे पदानां प्रामाण्यानुपपत्तिः। 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जनैः' इति न्या-

---

ध्यत्वं प्रमाणान्तरेण विरुध्येत। अविरुद्ध एव तु तस्मिन्नस्तावति निष्प्रयोजनतया पर्यवसानाभावात् किमर्थमिदमित्यपेक्षावशेन रक्ताटन्यायेन वा नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन वा देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मप्राशस्त्यमिति वाक्यार्थः। एवं लौकिकवैदिकवाक्यानुलक्षणस्यानुगतिं दर्शयित्वा प्रकृतेऽपि तदनुगतिमाह—अस्तीति। विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्ता समभिव्याहृतिरुच्चारणं येषां पदानां तानि विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनि तेषामित्यर्थः। अर्थः पदार्थः। ननु वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तेः अन्वयान्तरशालित्वस्य च सर्वलक्षणास्वननुगमेऽपि तत्सम्बन्धवशप्राप्तेरस्त्यन्वयः, इह च

इत्यादि में पदार्थों के अन्वय के सम्भव होते भी निष्प्रयोजन (अहेयानुपादेय) अर्थ में वाक्य के तात्पर्य के असम्भव के कारण वाक्य के प्रामाण्य की अनुपपत्ति से वाक्य से प्रतीत होने वाले अर्थ को त्याग कर, शूरत्वादि सम्पत्ति के हेतु हैं, यह ध्वनि (व्यञ्जना वृत्ति) से सूचित होता है। इसी प्रकार से वेद में भी (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता) वायु शीघ्रगामी देव हैं। इत्यादि में वाच्यार्थ अन्वय के सम्भव रहते भी यह किस प्रयोजन के लिये कहा गया है, ऐसी किमर्थता की आकांक्षा से देवता की प्रशस्तता (श्रेष्ठता) की लक्षणा द्वारा कर्म की प्रशस्तता लक्षित होती है। अतः वाक्य के प्रामाण्य की अनुपपत्ति ही लक्षण की आक्षेपिका है, यह निश्चय करते हैं। यहाँ भी लोकानुसार से विशिष्टार्थ के बोधननिमित्त समभिव्याहृति (उच्चारण) वाले पदों के स्वार्थमात्र परक होने पर इनके प्रामाण्य की अनुपपत्ति है (लोक में विशिष्टार्थ बोधनिमित्तक ही समभिव्याहृति होती है) इस न्याय से भी पदों की विशिष्टार्थपरता सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि वाक्यार्थ में सम्बन्ध की अनुपपत्ति से सम्बन्धान्तरवत्त्व रूप लक्षणा के लक्षण की सर्व लक्षणा में व्याप्ति नहीं होते भी वाक्यार्थ के सम्बन्ध वश से अन्विताभिधानवाद में तीरादि अर्थ की प्राप्ति का अन्वय होता है। और इस अभिहितान्वयवाद में पदार्थों के ही वाक्यार्थ होने से (गङ्गायां घोषः) इत्यादि में वाक्यार्थ के सम्बन्ध से तीरादि की प्राप्ति (लक्षणा से बोध) नहीं होगी। तो कहा जाता है कि अभिहितान्वयवाद में

यात्। अस्ति च शब्दानामर्थरूपसम्बन्धवशप्राप्तिरन्वितावस्थायाम्, तथा चार्थरूपबोधनसामर्थ्यान्नाधिकसामर्थ्यद्वयकल्पनापि।

ननु पदानां संस्कारोन्मेषमात्रोपयोगान्नाभिधातृत्वम्, पदार्थानामपि स्ववाचकपदसंस्कारोन्मेषकाणां तत्स्मारकतयाभिधायकत्वप्रसङ्गादितिचेत्,

---

पदार्थानामेव वाक्यार्थत्वात् न तत्संबन्धात्प्राप्तिरिति तत्राह—**अस्ति चेति**। वाक्यार्थस्वरूपाणां परस्परं यः संबन्धः तद्द्वारपरंपरयान्वितावस्थायां शब्दानां प्राप्तिरस्तीत्यर्थः। अथवा अर्थस्वरूपाणां यो वाक्यार्थेनान्वयः, विशिष्टस्वरूपयोस्तादात्म्याङ्गीकारात्, तद्वशाच्छब्दानामपि प्राप्तिरस्ति वाक्यार्थ इत्यर्थः। एवं च यदन्विताभिधानवादिनामतिरिक्तसामर्थ्यद्वयम्, पदानामन्वितबोधनसामर्थ्यमेकम्, स्मृतेश्च पदेष्वन्वितबोधनसामर्थ्याधानसामर्थ्यमपरमिति, तदपि निष्प्रयोजनं नास्मिन्मतेऽस्तीत्याह—**तथा चेति**।

स्यादेतत्—न पदानां पदार्थाभिधायकत्वम्, येन तत्सामर्थ्यादधिकं न कल्पनीयं स्यात्, अपि तु साहचर्यवशात्संस्कारोन्मेषकतया स्मारकत्वम्। नचैतदेवाभिधायकत्वम्; अर्थानामपि शब्दाभिधायकत्वप्रसङ्गात्; अस्ति च तेषामपि शब्दस्मारकत्वमिति। ततश्च तदतिरिक्ताभिधाव्यापारस्वीकारेऽन्विताभिधानवादस्वीकार इत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। यद्यपि स्मारकत्वं पदतदर्थयोः समानं, तथापि पदानामेवाभिधायकत्वं लौकिकप्रसिद्धं नेतरस्येति परिहरति—**न पदानामिति**। नन्वन्य एवाभिधाव्यापारः शब्दस्य, भाट्टैरभ्युपेयते, तत्कथं स्मारकाणामेव प्रसिद्धि-

---

भी पदार्थों की अन्वितावस्था में शब्दों की अर्थरूप सम्बन्धवश से क्षीरादि की प्राप्ति होती है। अर्थात् पदों से अर्थों के स्मरण होने पर, शब्दों के समभिव्याहारादिवश से अर्थों का अन्वय भासता है, वही वाक्यार्थ रहता है, उसके द्वारा शब्दों की वाक्यार्थ में प्राप्ति होती है, और इसप्रकार से अर्थ के स्वरूपबोधन के सामर्थ्य से अधिक सामर्थ्य द्वय की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। अर्थात् अन्विताभिधानवाद में, पदों में अन्वित बोधनसामर्थ्य, और स्मृति के पदों में अन्वित बोधनसामर्थ्याधान सामर्थ्य ये दो अधिक मानना होता है। और अभिहितान्वयाभिधान में इनकी आवश्यकता नहीं रहती है। अतः लाघव है।

अब यह शङ्का होती है कि पदों को स्ववाच्यार्थविषयक संस्कार के उन्मेष (उद्बोधन) द्वारा स्मृति के हेतुमात्र में उपयोग होने से, अर्थात् स्मृतिमात्र के हेतु होने से, पदार्थ के वाचक पद नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इसप्रकार से यदि वाचकत्व हो, तो पदार्थों को भी स्ववाचक पदों के संस्कार के उद्बोधन द्वारा पदों की स्मृति के हेतु होने से पदों की वाचकता की अर्थों में प्राप्ति होगी। अतः स्मरण से अतिरिक्त शब्दव्यापार के लिये अन्विताभिधान का स्वीकार करना

न पदानामेव पदार्थस्मारकाणामभिधातृत्वस्य लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धिसिद्धस्यानिवारणीयत्वात्, शब्दविषयविज्ञानस्यैव पदार्थस्मरणजननशक्त्युपहितस्याभिधाव्यापारत्वेन स्वीकारात्, अन्यस्य च परिस्पन्दप्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्य विभौ विभुगुणे वा शब्दे चैतन्यानधिकरणे दुर्निरूपत्वात्। तस्मात्समभिव्याहृतपदकदम्बकस्मारितपदार्थानां परस्परान्वयप्रत्ययो लाक्षणिकः शाब्दश्चेति सर्वमवदातम्। तथाचोक्तं मीमांसावार्तिककारमिश्रैः—

वशादभिधायकत्वमिति तत्राह—**शब्देति**। अथवा स्मृतिजननशक्तिविशिष्टं शब्दविज्ञानमभिव्यापारः, नचैवं विधौ व्यापारोऽर्थस्यास्तीति कथमभिधायकत्वप्रसक्तिः? इत्याह—**शब्दविषयेति**। अथवाभिधायकत्वं न निवारयामः, किंतु स्मरणजनकतातिरिक्तमेव तत्स्वीकर्तव्यमिति तत्राह—**शब्दविषयेति**। पदजनितविज्ञाने परिशेषात्स्मृतित्वेन तज्जनकत्वमेव शब्दस्याभिधायकत्वमित्यर्थः। अत्र वक्तृविशेषानुमापकशब्दविज्ञाने तदनभिधानरूपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै शब्दग्रहणम्। ननु परिस्पन्दः प्रयत्नो वा अन्य एव व्यापारो लोकप्रसिद्धः, यथा वा कौमारिलानामात्मनः, तत्कथं विज्ञानस्य व्यापारत्वम्? इत्याशङ्क्याह—**अन्यस्येति**। विभाविति भट्टनये। विभुगुण इति काणादादिनये। तदनेन मूर्तद्रव्यानुविधायिपरिस्पन्दो निरस्तः। प्रयत्ननिरासायाह—**चैतन्येति**। अयमभिसन्धिः—तज्जन्यस्तदाश्रितश्च तत्क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इति चक्षुःसंयोगादौ यद्यपि दृष्टस्तथापि श्रोत्रशब्दसन्निकर्षे तज्जन्यत्वाभावेऽपि तद्व्यापारत्वं दृष्टम्, तथा अपूर्वस्य यागाश्रयत्वाभावेऽपि यागजन्यतया तद्व्यापारत्वमभ्युपगतम्, तदिहापि शब्दविषयविज्ञानस्य शब्दाश्रयत्वाभावेऽपि तज्जन्यत्वादपि भवति तद्व्यापारत्वमिति। स्वपक्षदूषणसमाधानमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

लाक्षणिकत्वेऽत एव शाब्दत्वे च भट्टपादसंमतिमाह—**तथा चेति**। ननु तथापि

उचित है। तो यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि यद्यपि स्मृति के जनक पद और अर्थ दोनों होते हैं, परन्तु अर्थों में वाचकत्व की न प्रसिद्धि है, न बन सकता है, किन्तु पदार्थ स्मारक पदों के ही वाचकत्व लौकिक परीक्षक की प्रसिद्धि से प्रसिद्ध है, वह अनिवारणीय है, क्योंकि पदार्थ के स्मरण की उत्पत्ति शक्तियुक्त शब्दविषयक विज्ञान को अभिधा (वाचक शब्द) का व्यापार माना गया है। उस विज्ञान से अन्य परिस्पन्द प्रयत्न रूप व्यापार का भाट्ट मत से विभु वा न्याय मत से विभुगुण स्वरूप चैतन्यानधिकरण शब्द में निरूपण होना कठिन है। अतः समभिव्याहृतपदसमूह से स्मारित पदार्थों का परस्परान्वय ज्ञान लाक्षणिक शब्दजन्य होता है, वह सब शुद्ध है, अन्य शक्तिकल्पना की आवश्यकता नहीं है। इसीप्रकार से मीमांसावार्तिककार मिश्र ने भी कहा है कि—

'न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः॥' इति।
(श्लो० वा० वाक्य० २२९)

प्रयोगश्च—

शब्दास्तात्पर्यविषयव्यतिषङ्गस्य लक्षकाः।
तत्तात्पर्याभिधानत्वात् क्ष्वेलं भुङ्क्ष्वेति शब्दवत्॥ २६॥

विवादपदानि पदानि. लक्षणया पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिमत्तिपराणि, अन्वितप्रतिपत्तिपरत्वे सति पदत्वाद्विषं भुङ्क्ष्वेति पदकदम्बवत्।

न च पदानि स्वार्थपरित्यागेन लक्षणयान्वयप्रतिपत्तिपराणि उक्तसाधनत्वात् त्वदुदाहृतवाक्यवदित्याभाससमानयोगक्षेमता। अस्यैव त्वदुदा-

---

वाक्यार्थस्य लाक्षणिकत्वे किं प्रमाणम्? नह्येतदभियुक्तवचनैकगम्यमिति तत्राह—**प्रयोगश्चेति**। तात्पर्यं विषयो व्यतिषङ्गसंबन्धस्तस्य लक्षका इति साध्यनिर्देशः। विषं भुङ्क्ष्वेति शब्दवदित्यर्थः। श्लोकेन संगृहीतमनुमानं विवृणोति—**विवादपदेति**। विषं भुङ्क्ष्वेत्यादौ सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विवादग्रहणम्। अन्विताभिधानेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै लक्षणयेत्युक्तम्। **पदार्थानामिति**। अन्वयिनां न पुनः स्वसमारितानाम्। तेन न दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम्। पक्षे च सामर्थ्यात्स्वसमारितान्यसिद्धिः, इतरस्यासंभवात्। गौरश्व इत्यादिपदैरनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ प्रथमं विशेषणम्। लिङ्गिलिङ्गसंबन्धपरलिङ्गव्यवच्छेदाय पदग्रहणम्। अनन्वितानधिकरणेत्यपि विशेषणीयमिति केचित्, इतरथा स्वपुत्रानुमादकपदेषु व्यभिचारादिति।

आभाससमानयोगक्षेमतां निराकरोति—**न चेति**। उदाहृतानुमानवाक्ये वाच्या-

---

हमारे मत में पद वाक्यार्थविषयक सामर्थ्य को नहीं त्यागता है = वाक्यार्थ बोध के लिये भी सामर्थ्य रखता है, सर्वत्र वाक्यार्थ लक्ष्यमाण ही होता है।

अनुमान के लिये प्रयोग भी है कि—

शब्द, तात्पर्य विषय सम्बन्ध के लक्षक होते हैं, तात्पर्य विषय अर्थ के वाचक होने से 'क्ष्वेलं विषं भुङ्क्ष्व, इस वाक्य के समान॥ २६॥

अर्थात् विवादास्पद पद, लक्षणा द्वारा पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध के प्रतिपादन परक हैं, अन्वित के प्रतिपादन परक होते हुए पद होने से, विषं भुङ्क्ष्व = विष खाओ, इस पदसमूह के तुल्य।

यहाँ कहा जाय कि (पद, स्वार्थ को त्याग कर लक्षणा द्वारा अन्वय के ज्ञानपरक होते हैं, अन्वय ज्ञानपरक होते पदत्व रूप साधन वाला होने से, विषं भुङ्क्ष्व के समान) इस प्रकार के अनुमानाऽऽभास के समान, उक्त अनुमान की योगक्षमता है, अर्थात् इसीके समान वह असदनुमान है, और इससे वह प्रतिपक्षित हो जाता

हृतानुमानवाक्यस्य स्वार्थपरित्यागापरित्यागयोस्तदनुपपत्तेः। तथा हि स्वार्थपरित्यागे विशिष्टसाध्यप्रतीत्यभावादेवाविघातकत्वात्, अपरित्यागे च तत्रैवानैकान्तिकत्वात्, मुख्यार्थबाधोपाधिप्रयुक्तत्वाच्च स्वार्थपरित्यागस्य। इह च बाधाभावान्न स्वार्थपरित्यागानुमानम्, तस्मादभिहितान्वयवाद एव श्रेयानिति केचिदाचार्याः। न चैवमपसिद्धान्तः; भाष्यकार-

---

र्थपरित्यागापरित्यागयोः प्रकृताविघातं दर्शयति—**तथा हीत्यादिना**। **अनैकान्तिकत्वादिति**। तत एव व्याघाताभावादव्याघात इति शेषः। उपाधिमप्याह—**मुख्यार्थेति**। साधनव्याप्तिं परिहरति—**इह चेति**। किं चेदमन्विताभिधानं नाम न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम्; अविप्रतिपत्तेः। नापि पदार्थाभिधायकशब्दस्यान्विते तात्पर्यम्; अत्राप्यविवादादेव। नापि पदार्थमात्रे गृहीतसंगतिकस्यान्विताभिधायकत्वम्; पदार्थसंगतेस्तन्मात्रोपक्षीणत्वात्, इतरथाऽतिप्रसङ्गात्। अन्वितपदार्थसंगतिबलेन तत्प्रतिपादनं तदिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्, किमन्वयविशेषवति संगतिग्रहः? किं वान्वयमात्रवति? आद्ये, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वक्षतिः। अन्वयपदार्थप्रतीत्योः समसमयतया योग्यतादिप्रतिसन्धानविरहिणामपि पदार्थप्रतीतिवदन्वयप्रतीत्यापत्तिश्च। द्वितीयस्त्वसंभवनिरस्तः। नह्यन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकस्यान्वयविशेषवद्वाचकत्वं संभवति, जातौ गृहीतसंगतिकस्यापि व्यक्तिवाचकत्वप्रसङ्गात्। अन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकेन तावन्मात्रमभिधीयते विशेषस्तु लक्ष्यत इति चेत्, हन्त! पदार्थाभिधायिभिरेव शब्दैरयं लक्ष्यताम्, कृतमन्तर्गडुनान्वयमात्रेण प्रमाणप्रयोजनरहितेनेत्यलम्। केचिदाचार्याः, वाचस्पतिमिश्रप्रभृतयः। यदि चैवं न्यायपरिशुद्धेऽपि पक्षे विवरणकारादिमतमवलम्ब्यापसिद्धान्तगन्धितां कश्चिदावक्ष्यात्,

---

है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आप के इसी उदाहृत अनुमान वाक्य के स्वार्थपरित्याग और परित्याग में उस तुल्ययोगक्षेमता की अनुपपत्ति हो जाती है। क्योंकि स्वार्थ के परित्याग करने पर विशिष्ट साध्य की प्रतीति के अभाव से ही पूर्व अनुमान का विघातक नहीं हो सकता है। और अपने अर्थ के परित्याग नहीं करने पर उक्त साधनवत्व हेतु वहां ही अनैकान्तिक हो जाता है। और मुख्यार्थ का बाध रूप उपाधि = निमित्त हेतुकत्व स्वार्थपरित्याग में रहता है, और वहां बाध के अभाव से स्वार्थपरित्याग द्वारा लक्षणा से अन्वयप्रतिपत्ति (ज्ञान) परत्व का अनुमान नहीं होता है। अथवा आप के अनुमान में, मुख्यार्थबाध रूप उपाधि है, वह स्वार्थपरित्याग का प्रयोजक होता है, अतः मेरे अनुमान में स्वार्थबाध के नहीं रहने से स्वार्थत्याग का अनुमान नहीं किया जा सकता है। अतः अभिहितान्वयवाद ही श्रेयान् है, ऐसा कोई आचार्य मानते हैं। इसप्रकार मानने पर अपसिद्धान्त नहीं होता है। क्योंकि भाष्यकार को भी यह सम्मत है। (तत्तु समन्वयात्)

संमतत्वात् । तथा च समन्वयसूत्रे वेदान्तवाक्यानि प्रस्तुत्य भाष्यकारः प्रतिपादयति स्म—"न च तद्गतानां पदार्थानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्" । तत्र च पदार्थानामेवान्योन्यान्वयप्रत्यायकता प्रतीयते, मण्डनमिश्रादिभिरत्यङ्गीकृतत्वात् ।

पदार्थान्तरतुल्यत्वाद्विध्यकाङ्क्षानिबन्धनः ।
न संसर्गः पदार्थानां स्वशब्दैस्तु प्रकाशिताः ॥
सम्बन्धयोग्यरूपेण तस्मात् संबन्धभागिनः ।
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जनः ॥' इति ।
(ब्र० सि० पृ० १११)

व्यवहारे भट्टनय इत्यङ्गीकारात् भट्टपादैश्च वाक्यार्थस्य सर्वत्र लाक्षणिकत्वस्वीकारात् । 'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः'

तन्मुखं भाष्यकारप्रभृतिवृद्धवचनप्रतिबन्धेन विदधाति—न चेत्यादिना । पदार्थान्तरेति । पदार्थानां संसर्गो न विध्याकांक्षानिबन्धनः, कुतः ? विधेरपि पदार्थान्तरतुल्यत्वात्, तस्मात्संबन्धयोग्यरूपेण स्वशब्दैः प्रकाशिताः, पदार्थाः स्वयमेव संसर्गभागिनः । संबन्धयोग्यतया पदार्थप्रकाशे कारणमाह—विशिष्टार्थेति । सप्रयोजन-

---

इस समन्वय सूत्र में वेदान्तवाक्यों के प्रसङ्ग करके भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है कि वेदान्तगत पदार्थों का ब्रह्मस्वरूप विषयक निश्चित समन्वय के अवगम्यमान (ज्ञात) होने पर अर्थान्तर (विधि-विषयत्वादि) की कल्पना युक्त नहीं हो सकती है, क्योंकि अर्थान्तर की कल्पना करने पर श्रुत की हानि और अश्रुत की कल्पना का प्रसङ्ग होगा । इस भाष्य में पदार्थों की ही परस्पर संसर्गबोधकता की प्रतीति होती है, और मण्डन मिश्रादि से भी यह सिद्धान्त माना गया है कि—

पदार्थों का संसर्गविधि की आकांक्षा निमित्तक नहीं होता है, अर्थात् विध्यर्थ निमित्तक नहीं होता है, क्योंकि विधि भी नियोगादि पदार्थान्तर तुल्य है । अतः स्ववाचक शब्दों से सम्बन्ध योग्य स्वरूप से प्रकाशित अर्थ स्वयं ही संसर्गभागी होते हैं । क्योंकि जन (लोक) में विशिष्टार्थ निमित्तक ही समभिव्याहृति होती है ।

व्यवहार में वेदान्ती भी भट्टनीति को अङ्गीकार करते हैं, और भट्टपाद ने वाक्यार्थ को सर्वत्र लाक्षणिक माना है, और (वाक्यार्थ सर्वत्र लक्ष्यमाण ही होता है, ऐसी स्थिति है) यह भट्टपाद ने कहा है, अतः पौरुषेय वाक्यों के समान अपौरुषेय

इति। तस्मात्पौरुषेयवाक्येभ्य इवापौरुषेयेभ्यो वेदान्तवाक्येभ्यो लक्षणया यथोक्तलक्षणं ब्रह्म सिद्धयतीति सिद्धम्।

ननु कथमपौरुषेयत्वं वेदान्तानाम्? तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। नन्वपौरुषेया वेदाः संप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवदित्यनुमानमस्तीति चेत्, मैवम्; विशेषणासिद्धेः। पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्याभ्युपगमात्। अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं च किमप्रमीयमाणकर्तृकत्वं विवक्षितम्? उत स्मरणागोचरकर्तृकत्वम्? नाद्यः, "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत," "त्रयो वेदा अजायन्त, ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः

कथनं वादार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति।**

संसृष्टपरवाक्येषु संसृष्टार्थस्य लक्षणा।
अखण्डार्थपरं वाक्यमखण्डस्यैव लक्षणम्॥
यद्वा—अखण्डार्थपरेष्वादावस्ति संसर्गलक्षणा।
तस्यापि च ततस्त्यागस्तेन नाखण्डखण्डना॥

अपौरुषेयेभ्य इत्युक्तमसृष्यमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमिति।** जीर्णकूपारामादिव्यभिचारवारणाय सम्प्रदायाविच्छेदे सतीत्युक्तम्। कालिदासादिवचस्सु व्यभिचारवारणायास्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्युक्तम्। विशेषणासिद्धिमेवाह—**पौरुषेयेति।** अस्मर्यमाणेत्यत्रापि स्मृतिपदं किं मूलप्रमितिपरम्? किं वा मुख्यवृत्ति? इति विकल्प्याद्ये तदविषयत्वं वेदकर्तुरसिद्धमित्याह—**नाद्यस्तस्माद्यज्ञादिति।** तस्मात्प्रकृताद्यज्ञाद्यज्ञरूपिणः परमेश्वरात् सर्वहुतः हुतं हुत् यस्मिंस्तत्सर्वं विद्यते स सर्वहुत् ततः सर्वहुतः सकाशात्, अथवा सर्वं जुहोतीति सर्वहुत् यष्टापि स एवेति

वेदान्त वाक्यों से भी यथोक्त सत्यादि लक्षण वाला ब्रह्म सिद्ध (ज्ञात) होता है यह सिद्ध हुआ।

अपौरुषेय इस प्रश्नबीज को पाकर, कहा जाता हैं कि, वेदान्त को अपौरुषेयत्व कैसे हो सकता है। क्योंकि अपुरुष रचितत्व के प्रतिपादक प्रमाण का अभाव है। यदि कहा जाय कि (वेद, अपौरुषेय हैं। सम्प्रदाय अविच्छेदपूर्वक अस्मर्यमाणकर्तृक होने से, आत्मवत्) यह अनुमान प्रमाण है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशेषण की असिद्धि है, पौरुषेय वेदवादी प्रलय में सम्प्रदाय के विच्छेद को मानते हैं। और अस्मर्यमाण कर्तृत्वविशेष्य भाग से क्या अप्रमीयमाण कर्तृकत्व विवक्षित है, अथवा स्मरणाविषयकर्तृकत्व विवक्षित है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि (उस सर्वहुत यज्ञ नामक पूज्यपरमात्मा से ऋग्, सामवेद उत्पन्न हुए, सब छन्द हुए, यजुर्वेद उससे उत्पन्न हुआ। तीन वेद उत्पन्न हुए,

सामवेद आदित्यात्," "इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानि" इत्यादिश्रुतिभिः कर्त्तुः प्रमीयमाणत्वात्। नापि द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमेकेनास्मरणं विवक्षितम्? उत सर्वास्मरणम्? नाद्यः; मुक्तकश्लोकादावानैकान्तिकत्वात्। न द्वितीयः, सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञविज्ञानाविषयत्वात्। ननु "वाचा विरूप! नित्यया," "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै," "नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्," "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा"—इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यो वेदस्य नित्यत्वावगमात् पौरुषेयत्वप्रतिपादकानि कल्पादौ तत्सं-

---

यावत्। प्रलयकाले वा सर्वं स्वमात्रतया जुहोतीति सर्वहुत् ततः ऋगादयो जज्ञिरे उत्पन्ना इति पुरुषसूक्तार्थः। त्रयो वेदा इति श्रुत्यन्तरम्। इदं सर्वमित्यपरा श्रुतिः। मुक्तकेति। विप्रकीर्णाः श्लोकाः मुक्त-श्लोकाः तेषु यैः कैश्चिदस्मर्यमाणकर्तृकत्वमस्ति नचास्त्यपौरुषेयत्वमित्यर्थः। नित्यत्वप्रतिपादकागमविरोधात् सृष्टिश्रुतीनामन्यार्थत्वम् शङ्कते—नन्वित्यादिना। हे विरूप! वृष्णे! नित्यया वाचा सुष्टु स्तुतिं चोदयस्वेत्यर्थः। तथा यः परमेश्वरो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति विहिताय च तस्मै वेदान् प्रहिणोति प्रददाति। उपदिशतीति यावत्। न तु करोतीति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रार्थः। नाचिकेतमिति कठवल्लीश्रुतिः। अनादिनिधनेति स्मृतिः। आदिनिधनरहिता, अत एव नित्या उत्सृष्टेत्युपदिष्टेत्यर्थः। अतत्परत्वादासां न्यायसापे-

---

ऋग्वेद ही प्रथम अग्नि से उत्पन्न हुआ, यजुर्वेद वायु से, सामवेद सूर्य से हुआ। इस सब को रचा और ऋग्, यजुः, साम को रचा) इत्यादि श्रुतियों से वेदकर्ता प्रमीयमाण (प्रमाणविषय) होता है। विकल्पाऽसह होने से दूसरा पक्ष (स्मरणाविषयकर्तृकत्व) भी युक्त नहीं हो सकता है। विकल्प है कि, क्या किसी एक से अस्मर्यमाणत्व विवक्षित है अथवा सबसे अस्मर्यमाणत्व विवक्षित है? वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि मुक्तक (विप्रकीर्ण) श्लोक आदिकों में यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वहाँ किसी से अस्मर्यमाणत्व रहता है। और अपौरुषेयत्व साध्य नहीं रहता है। और दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि सर्वाऽस्मरण को असर्वज्ञ के ज्ञान का विषय होना असम्भव है, सर्व के ज्ञानपूर्वक ही सर्व के अस्मरण को कोई जानेगा, सो सर्वज्ञ ही होगा, अल्पज्ञ नहीं। अतः अपौरुषेयत्व में प्रमाण का अभाव है। यदि कहा जाय कि (वाचा विरूप नित्यया) हे विरूप! नित्य वाक् से सुस्तुति के लिये प्रेरणा करें। जो परमात्मा प्रथम ब्रह्मा को सिद्ध करता है, फिर उसको वेद देता है। मृत्यु से सनातन नाचिकेतोपाख्यान कहा गया। उत्पत्ति अन्तरहित नित्य वाक् स्वयंभू से उपदिष्ट हुई। इत्यादि श्रुति" स्मृति वाक्यों से वेद के नित्यत्व के ज्ञान होने से, वेद के पौरुषेयत्व के प्रतिपादक

म्प्रदायप्रवर्तकत्वपराणीति चेत्, मैवम्; 'वाचा विरूप! नित्यया' इत्यस्य वाक्यस्य वृष्णे चोदस्व सुष्टु स्तुतिम्" इति वाक्यशेषादग्निस्तुतिविधिपरत्वावगमात् अन्यार्थदर्शनस्य प्राप्त्यभावे प्रमाणत्वानुपपत्तेः। "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति" इत्यस्य च पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोः साधारणत्वात्, स्वयं निर्मायापि वेदानां प्रदानसम्भवात्। 'मृत्युप्रोक्तं सनातनम्' इत्यस्य वाक्यस्य उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते' इति वाक्यात् उपाख्यानानुवचनश्रवणप्रशंसापरत्वात्। 'अनादिनिधना नित्या' इति स्मृतेश्च प्रतिमन्वतरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते' इति स्मृत्यन्तरविरोधेनानिर्णायकत्वात्। एवं च नित्यत्वप्रतिपादकानामन्यार्थतया पौरुषेयत्वप्रतिपादकवाक्याबाधकत्वात् पौरुषेयत्वमेव वेदानां निश्चिनुमः।

क्षाणां तदभावे नास्ति स्वार्थे प्रामाण्यम्, अतो न सृष्टिश्रुतिविनिवारकत्वमिति परिहरति—**मैवमित्यादिना**। **अन्यार्थेति**। अन्यशेषे वाक्ये यद्दर्शनं पदसमभिव्याहारमात्रम्, तदन्यार्थदर्शनम्। साधारण्यमेव दर्शयति—**स्वयमिति**। **उपाख्यानेति**। उपाख्यानस्यानुवचनं श्रवणं च यत्तयोः प्रशंसापरत्वादित्यर्थः। स्मृतेः स्मृत्यन्तरविरोधमाह—**अनादीति**।

वाक्यकल्प के आदि में वेदों के अध्ययन, अध्यायनादि के सम्प्रदाय प्रवर्तकत्व परक हैं, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि (वाचा विरूप नित्यया) इस वाक्य की (वृष्णे चोदस्व सुष्टुं स्तुतिम्) इस वाक्य शेष (अङ्ग) से अग्नि की स्तुतिपरत्व का अवगम होता है, और अन्यार्थक (स्तुत्यर्थक) जो नित्यत्वादि का दर्शन है, उसको अनित्यत्वादि की प्राप्ति के अभाव में प्रमाणत्व की अनुपपत्ति है। और (यो वै वेदांश्च प्रहिणोति) इसको पौरुषेयत्व, अपौरुषेयत्व दोनों पक्ष में साधारणत्व है। क्योंकि स्वयं निर्माण (रचना) करके भी वेदों के प्रदान का सम्भव है। 'मृत्युप्रोक्तं सनातनम्' इस वाक्य को (उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते) नाचिकेत उपाख्यान को कह सुनकर बुद्धिमान ब्रह्मलोक में पूज्य होता है, इस वाक्य से उपाख्यान के अनुवचन (कथन) श्रवण की स्तुतिपरत्व सिद्ध होता है। और (अनादि निधना नित्या) इस स्मृति को (प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते) हर एक मन्वन्तर में यह वेद अन्य सिद्ध होता है। इस स्मृत्यन्तर के साथ विरोध होने के कारण अनिर्णायकत्व है। इस प्रकार से नित्यत्व प्रतिपादक वाक्यों की अन्यार्थता से पौरुषेयत्व प्रतिपादक वाक्य के अबाध से वेदों के पौरुषेयत्व का ही निश्चय कहते हैं।

अनुमानतोऽपि तथात्वमध्यवस्यामः—वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदासवाक्यवदिति; वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवत्। ननु—

'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनरूपत्वादधुनाध्ययनं यथा॥

(श्लो० वा० वाक्य० ३६६)

इत्यनुमानात्संप्रतिसाधनतेति चेत्, मैवम्; सर्ववेदाध्ययनपक्षीकारे दृष्टान्तासिद्धेः, अतीतकालीनाध्ययनपक्षीकारे चांशतः सिद्धसाधनत्वात्, सर्गकालीनाध्ययनपक्षीकारे सर्गमनङ्गीकुर्वतो मीमांसकस्याश्रयासिद्धेः।

'भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा॥'

एवं नित्यत्वानुमानागमदूषणपूर्वकमनित्यत्वागमं प्रदर्श्यानुमानमप्यनित्यत्वे दर्शयति—**अनुमानेति**। गीतिरूपेषु हुंफडादिस्तोभभागेषु चासिद्धिपरिहारार्थं वाक्यानीति विशेषणम्। ईश्वरकृतत्वेऽप्यनुमानमाह—**वेदेति**। उन्मत्तवाक्ये प्रत्यक्षादौ च व्यभिचारवारणाय विशेषणद्वयं गृहीतम्। सत्प्रतिपक्षतां शङ्कते—**नन्विति**। अत्र किं कृत्स्नं वेदाध्ययनं पक्षः? उतातीतकालीनम्? उत सर्गकालीनाध्ययनम्? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—**मैवमित्यादिना**। आभाससमानयोगक्षेमतया दौर्बल्यमाह—**भारतेति**। ननु तत्र व्यासः कर्तेति स्मर्यते 'को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षा-

---

अनुमान से भी तथात्व=पौरुषेयत्व, का निश्चय करते हैं कि (वेदवाक्य पौरुषेय है, वाक्य होने से, कालिदासादिवाक्यवत्)। वेदवाक्य, आप्तप्रणीत=रचित है, प्रमाण होते वाक्य होने से, मनु आदि वाक्यवत्। यदि कहें कि—

सब वेद के अध्ययन, गुरु से अध्ययनपूर्वक हुए हैं। वेदाऽध्ययन स्वरूप होने से, आधुनिक अध्ययन के समान।

इस अनुमान से पूर्वानुमान को सत्प्रतिपक्षता है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सब वेदाऽध्ययन को पक्ष करने पर, दृष्टान्त की असिद्धि प्राप्त होती है, अतीत कालिक अध्ययन को पक्ष करने पर, अतीत कालिक कुछ अध्ययन अंश में सिद्धसाधनता होती है, सृष्टिकालिक अध्ययन को पक्ष करने पर सृष्टि को नहीं मानने वाले मीमांसक के मत में आश्रयाऽसिद्धि होती है।

और सब महाभारत का अध्ययन, गुरु से अध्ययनपूर्वक है। भारताऽध्ययन होने से, वर्तमानभारताऽध्ययन के समान।

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात्। अथ तत्र कर्तृस्मृत्या बाधः—

'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्।
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ॥'

तर्हि इहापि सकर्तृकताप्रतिपादकश्रुतिभिर्बाध इति समानम्। विपक्षे चाप्ताप्रणीतत्वात् बालोन्मत्तादिवाक्यवदप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः। अथ बालोन्मत्तादिवाक्यानामनाप्तप्रणीतत्वेनाप्रामाण्यम्, इह तदभावादाप्तवाक्यवत्प्रामाण्यमुपपद्यत इतिचेत्, मैवम्; अनाप्ताप्रणीतवाक्यस्य जगत्याप्तप्रणीतत्वनियमदृष्टेः, अन्यथा वक्तुरभावे वाक्यस्योत्पत्तिप्रती-

---

न्महाभारतकृद्भवेत् ?' इत्यादौ तेन बाधाद्वैपम्यमिति तत्राह—**अथेति**। शङ्कितोपाधितां निराकरोति पूर्ववादी—**विपक्षे चेति**। सोपाधितया प्रशिथिलमूलतां शङ्कते—**अथेति**। अनाप्ताप्रणीतं वेदाप्तप्रणीतमेवेति नित्यत्वाभावाद्वाक्यस्येति हृदि निधाय परिहरति—**मैवमिति**। आत्मादिषु व्यभिचारवारणाय वाक्यग्रहणम्। ननु न वक्त्रा शब्दानां निष्पादनं क्रियते, किन्त्वभिव्यक्तिरेव, तेन वक्त्रभावो नानुत्पत्ति-

---

इस आभास अनुमान के तुल्य उक्त अनुमान है। यदि कहें कि भारत के कर्ता के स्मरण (कथन) से उसमें सदा गुरु-अध्ययनपूर्वकत्व का बाध हो जाता है, वहाँ कर्ता का स्मरण है कि—

कृष्णद्वैपायन व्यास को नारायण प्रभु समझो, क्योंकि पुण्डरीकाक्ष भगवान् से अन्य महाभारत का कर्ता कौन हो सकता है।

तो कहा जाता है कि इस वेद में सकर्तृकता के बोधक श्रुतियाँ निर्बाध हैं, अतः उभयत्र कर्तृस्मरण तुल्य है, श्रुतियाँ प्रथम कही गई हैं। और विपक्ष में (आप्त-प्रणीतत्वाभाव पक्ष में) आप्त से प्रणीतत्व के कारण बालोन्मत्तादिवाक्य के समान वेद में अप्रामाण्य का प्रसङ्ग बाधक तर्क है। यदि कहा जाय कि बालोन्मत्तादि वाक्यों को अनाप्तप्रणीतत्व के कारण अप्रमात्व होता है, यहाँ वेद में तो अनाप्त-प्रणीतत्व का अभाव है, अतः आप्तवाक्य के समान प्रमाणत्व की सिद्धि होती है, तो कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनाप्तप्रणीत वाक्य की लोक में आप्तप्रणीतता के नियम को देखा गया है, अन्यथा यदि अनाप्त अप्रणीत, आप्तप्रणीत भी नहीं हो तो वक्ता के अभाव से वाक्य की उत्पत्ति और प्रतीति दोनों का असम्भव है, वक्ता, के बिना वेद की उत्पत्ति और प्रतीति नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि नित्य शब्द वेद ही नहीं, किन्तु सब शब्द उत्पत्तिरहित हैं, और उनका वक्ता भी है, परन्तु वक्ता के व्यापार (उच्चारण) से शब्द की अभिव्यक्ति मात्र होती

त्योरसंभवात् । अथाभिव्यक्तिरेव शब्दानां वक्तृव्यापारान्नोत्पत्तिः, मैवम्; एवं सति पाषण्डाद्यागमानामपि नित्यत्वप्रसङ्गात् । किं च शब्दोऽनित्यः कृतको वा सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटवदित्यनुमानेन शब्दानां कृतकत्वेन पौरुषेयत्वसिद्धिः । न च मीमांसकं प्रति योगिव्यवच्छेदार्थमस्मदादिपदं व्यर्थम्, तेन योगिनामनभ्युपगमादिति वाच्यम्; स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थत्वात् । तथा च निरन्तनाचार्याणामपि स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थं विशेषणोपादानं दृश्यते—नित्यः शब्दो ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति । न हि वर्णनित्यत्ववादिमते

व्याप्त इति प्रशिथिलमूलतां शङ्कते—**अथेति** । अतिप्रसक्त्या परिहरति—**मैवमिति** । तदेवं सदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गं नित्यत्वे बाधकमभिधायानित्यत्वेऽप्यनुमानमाह—**किंचेति** । अथायमभिव्यक्तिवादित्वान्मीमांसकः कृतत्वे एव विवदेत्तर्हि तदपि साधनीयमित्याह—**कृतको चेति** । ईश्वरप्रत्यक्षेष्वाकाशादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमिन्द्रियप्रत्यक्षत्वादित्युक्तम् । तथापि मनोग्राह्यात्मनि व्यभिचारस्तदर्थं बाह्येति । तथापि योगिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षपरमाण्वादिषु व्यभिचारस्तदर्थमस्मदादीत्युक्तम्, तथापि सामान्ये व्यभिचारस्तदर्थं सामान्यत्वे सतीत्युक्तम् । अत्रात्मवादीति विशेषणं मीमांसकं प्रति व्यर्थम्, तेन तन्निवर्त्यंयोग्यनङ्गीकारात्तदुद्धारे च स्वन्मते व्यभिचार इति केचिद् दूषणमूचिरे, तत्परिहरति—**न चेति** । ननु न स्वमतमात्रव्यभिचारनिवारणाय विशेषणं युक्तमदृष्टचरत्वादिति तत्राह—**तथा चेति** । ध्वनिषु तद्धर्मोदत्तादिषु च व्यभिचारनिवारणायोक्तं ध्वनिधर्मान्यत्वेसतीति । स्वमतसंमतं व्यभिचारवारकत्वं दर्शयति—**नहीत्यादिना** । वर्णग्रहणं शब्दपरम् ।

है, उत्पत्ति नहीं । तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर तो शब्दात्मक होने से पाषण्डादिरूप आगमों को भी नित्यत्व प्राप्त होगा । और (शब्द, अनित्य हैं वा कृतक = कार्य हैं, जातिमान् होते हुए हमारे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने से घटवत्) इस अनुमान से शब्दों (वेदों) में कृतकत्व (कार्यत्व) से पौरुषेयत्व की सिद्धि होती है । यदि कहें कि हेतु में जातिमान् यह विशेषण जाति में व्यभिचार वारण के लिये हैं, यह तो उचित है, परन्तु योगी के बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण, आदि में व्यभिचारवारण के लिये अस्मदादि इन्द्रिय (हमारे इन्द्रिय) कहा है । वह युक्त नहीं है । क्योंकि योगी के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) के लिये अस्मदादि यह पद मीमांसक के प्रति व्यर्थ है, वे लोग योगी को नहीं मानते हैं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि स्वमत के अनुसार योगी प्रत्यक्ष के विषय परमाणु आदि में व्यभिचार वारण के लिये 'अस्मादि' पद दिया गया है । और इस प्रकार पुराने आचार्यों का भी स्वमत के अनुसार व्यभिचार वारणार्थक विशेषण का ग्रहण देखा गया है ।

वर्णातिरिक्ता ध्वनय उदात्तादयो वा तद्धर्माः सन्ति, ये व्यावर्तेरन्, स्वमते तु ध्वनेस्तद्धर्माणां चोदात्तादीनां सद्भावादुपपद्यते ध्वनिधर्मान्यत्वे सतीति विशेषणम्।

न चोपान्त्यादिशब्देषु भागासिद्धिः; श्रोत्रग्राह्यशब्दविशेषस्यैव पक्षीकरणात्। न चैवमपि विशिष्टधर्मिहेत्वोरसिद्धिस्तत्तच्छ्रोत्रेष्वेकस्यैव शब्दस्य समवायानङ्गीकारात्, एकस्य शब्दस्य बहूनां प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरिति

एतदुक्तं भवति—व्यभिचारमात्रनिवृत्त्यापि भवति सार्थक्यं हेतोरिति।

यच्च दूषणान्तरमुच्यतेऽस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमुपान्त्यादिषु नास्तीति भागासिद्धिरिति तत्राह—**न चोपान्त्यादीति**। ननु तथापि धर्म्यसिद्धिः, भेरीदण्डसंयोगान्निमित्तकारणात् भेर्याकाशसंयोगादसमवायिकारणात् महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथममेकः शब्द उत्पद्यते, तस्य च शब्दस्य विभुगुणतया आश्रयद्वारा स्वतो वा गमनानुपपत्तेः प्रदेशान्तरोत्पन्नत्वात् स्वभावभेदाद्वा न श्रोत्रेण संबन्धः, ततश्च तस्माच्छब्दादसमवायिकारणात् अदृष्टादिनिमित्तकारणादाद्यशब्दाश्रयाकाशप्रदेशानन्तराकाशप्रदेशेषु समवायिकारणेषु सर्वतो दिशि शब्दा उत्पद्यंते, तेभ्यश्चान्ये तेभ्यश्चान्ये इति वीचीसंतानवत् यावच्छ्रोत्रसमवेतशब्दं शब्दसंताना उत्पद्यन्ते, तत्र यः कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशप्रदेशे शब्द उत्पद्यते, स श्रोत्रसमवायात् श्रोत्रेण गृह्यते, स च न श्रोत्रान्तरग्राह्यः, तत्रासमवेतत्वात् स्वभावभेदाद्वेति वैशेषिकादिदर्शनम्, ततश्च न वादिप्रतिवादिश्रोत्रग्राह्य एकः शब्दोऽस्तीति धर्म्यसिद्धिः, अतएवोभयसंमतहेत्वसिद्धिरिति, तदेतदनूद्य निराकरोति—**न चैवमित्यादिना**। जात्युत्तरतां दर्शयितुं पर-

---

जैसे कि (शब्द, नित्य है। ध्वनि ध्वनिधर्म = उदात्तादि से अन्य होते हुए श्रवण-विषय होने से, शब्दत्व के समान) वर्ण के अनित्यत्ववादी के मत में वर्ण से भिन्न ध्वनि वा उदात्तादि उनके धर्म नहीं हैं, कि जो इस हेतु विशेषण से व्यावृत्त किये जाय। किन्तु स्वमत (शब्द नित्यत्व मत) में ध्वनि और ध्वनि के धर्मों के शब्द से पृथक् सत्त्व होने के कारण उनकी व्यावृत्ति के लिये ध्वनिधर्मान्यत्वे सति यह विशेषण युक्त होता है।

यदि कहा जाय कि धाराप्रवाह रूप से उत्पन्न वा व्यक्त होने वाले शब्दों में जो अन्तिम कर्णदेश में उत्पन्न वा व्यक्त होते हैं उनका प्रत्यक्ष होता है, उपान्त्यादि का नहीं, अतः उपान्त्यादि शब्दों में भागासिद्धि है, तो कहा जाता है कि श्रोत्र से ग्राह्य शब्दविशेष को ही पक्ष करने से भागासिद्धि नहीं होती है। यदि कहा जाय कि श्रोत्रग्राह्य विशेष शब्द को पक्ष करने पर भी विशिष्ट (उभय सम्मत) धर्मी और हेतु की असिद्धि है, क्योंकि तत्तत् श्रोत्रों (कर्णों) में एक ही शब्द के समवाय को नहीं माना जाता है, अतः एक शब्द के बहुल के प्रत्यक्षत्व की अनुपपत्ति है।

वाच्यम्; शब्दनित्यत्वानुमानेऽप्यस्य दोषस्य तुल्यतया स्वव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वापत्तेः, तथाहि—भवदिन्द्रियग्राह्यः शब्दः पक्षः ? अस्मदिन्द्रियग्राह्यो वा ? नाद्यः; प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धेः। न द्वितोयः; वादिनं प्रत्यसिद्धेः। तस्माल्लोकप्रसिद्धशब्दत्वजात्याधार एव शब्दो नित्यत्वसाधने पक्ष इति वाच्यम्। एवमनित्यत्वसाधनेऽपीति न कश्चिद्दोषः। न च स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात् कालात्ययापदिष्टमनित्यत्वानुमानम्; प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वेन व्यक्तिविषयत्वेन च संदिह्यमानाया बाधकतानुपपत्तेः। ननु विवादाध्यासितः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वात् संप्रतिपन्न-

---

पक्षेपि विकल्पसाम्यमुत्तरसाम्यं च दर्शयति—**तथा हीत्यादिना**। लोकप्रसिद्धः, श्रावणत्वेन लोकप्रसिद्धः। ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितमिदमनित्यत्वानुमानम्, स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञया गकारस्थैर्यमवगम्यत इति तत्राह—**न च स इति**। यथाहि—ज्वालादौ जातिमवलम्ब्य प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तमाना न व्यक्तिस्थैर्यसाधिका तद्वदिहापीत्याह—**प्रत्यभिज्ञाया इति**। न केवलं वेदप्रणयनोत्सादनव्याकुर्वतो मीमांसकस्य प्रणयनात् प्राक्कालोत्पादोत्तरकालप्रणयनकालानामसिद्धया धर्म्यसिद्धिः, किंतु प्रथमपक्षे वेदसर्गात्प्राक्कालोऽपि वेदाध्ययनप्रयुक्त इति प्रतिज्ञाविरोधश्चाधिक

अतः कोई एक शब्द उभयसम्मत पक्ष हो सकता है। न सामान्यवत्त्वे सति, इत्यादि हेतु उभय सम्मत हो सकता है, तो कहा जाता है कि शब्द नित्यत्वानुमान में भी इस दोष के तुल्य होने से स्वव्याघातकत्व होने के कारण जाति उत्तरत्व (असदुत्तरत्व) की आपत्ति होती है। यह दर्शाया जाता है कि आपके मतानुसार नित्यत्वानुमान में आपके इन्द्रिय से ग्राह्य शब्द पक्ष है, या हमारे इन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष शब्द पक्ष है, प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि वह प्रतिवादी के प्रति असिद्ध है, और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि वह वादी के प्रति असिद्ध है। विभु नित्य शब्द वाद में भी अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति दृष्टि से यह सिद्धि, असिद्धि की प्राप्ति होती है। अतः लोकप्रसिद्ध शब्दत्व जाति का आधार शब्द को ही नित्यत्व साधन पक्ष में पक्ष कहना होगा, तो इसीप्रकार से अनित्यत्व साधन पक्ष में भी कहा जा सकता है, अतः कोई विरोध नहीं है। यदि कहें कि (स एव गकारः) वही गकार है, जो पहले सुना था। इस अभेदग्राहक प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से विरोध होने से भेदग्राहक अनित्यत्व का अनुमान कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हो जाता है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के जातिविषयकत्व और व्यक्तिविषयकत्व के विकल्प से सन्देहविषय होने से उसमें बाधकता की अनुपपत्ति है। यदि कहा जाय कि (विवादास्पद काल, वेदाऽध्ययन युक्त रहता है, काल होने से, सम्प्रतिपन्न = निश्चित

कालवदिति प्रत्यनुमानविरोध इति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्; तथाहि— किं वेदप्रणयनात्प्राक्काल: ? कि वा तदुत्पादोत्तरकाल: ? उत सर्गकाल: पक्षीक्रियते ? पक्षत्रयेऽपि मीमांसकस्य धर्म्यसिद्धिः, प्रथमे च प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातोऽतिरिच्यते, कालिदासादिवाक्यपाठेप्येवमनुमानोत्थानादाभाससमानयोगक्षेमता चानुमानस्य। नन्वशरीरस्येश्वरस्य ताल्वादिविवृतिरूपवर्णोच्चारणासम्भवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्येति चेत्, मैवम्; स्वभावतोऽशरीरस्यापि परमेश्वरस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणोपपत्तेः। तदेवं वेदपौरुषेयतानुमानस्य निरस्तसमस्तदूषणतया वेदाः पौरुषेया इति प्राप्तम्।

इत्याह—**प्रथमे चेति**। दूषणान्तरं चाह—**कालीति**। ननु यदीश्वरो वेदकर्ता तर्हि शरीरी स्यादिति तर्कविरुद्धं वेदकर्तृत्वानुमानमिति शङ्कते—**नन्विति**। इष्टप्रसङ्गतया परिहरति—**मैवमिति**। लीलया विग्रहस्य ग्रहणं लीलाविग्रहग्रहणम्।

वर्तमान काल के समान) इस प्रत्यनुमान (प्रतिपक्ष) से विरोध है, इससे अध्ययन विषय वेद में नित्यत्व सिद्ध होता है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ पक्ष विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि वेदप्रणयन से पूर्वकाल को, या वेदोत्पत्ति से उत्तर काल को अथवा सर्गकाल को इस अनुमान में पक्ष किया जाता है, वहाँ तीनों पक्ष में मीमांसक को धर्मी की असिद्धि है, वेद के प्रणयनादि के निषेध करने वाले के मत में वे तीन विशेष काल नहीं हैं। और प्रथम पक्ष में प्रतिज्ञागत पदों को व्याघात (विरोध) रूप अधिक दोष है, क्योंकि वेद प्रणयन से पूर्वकाल को वेदाऽभाव के कारण वेदाऽध्ययनयुक्तत्व नहीं हो सकता है। और कालिदासादिरचित वाक्य के पाठों (अध्ययनों) में भी इसप्रकार के अनुमान (प्रयोग वाक्यरचना) उत्थान हो सकने से इस अनुमान को आभास की तुल्ययोगक्षेमता है। कहा जा सकता है कि (विवाद विषयकाल, कालिदासवाक्याध्ययन युक्त रहता है, काल होने से, वर्तमानकालवत्)। यदि शङ्का हो कि वेद को नित्य नहीं मानने पर, अल्पज्ञ जीव से तो सर्वज्ञकल्प वेद की रचना हो नहीं सकती है, ईश्वर से वेद के उच्चारणादि रूप रचना को मानना होगा, और शरीररहित ईश्वर के ताल्वादि स्थानों से विवृत्ति (प्रकटीकरण) रूप वर्णोच्चारण के असम्भव से वेद के वह ईश्वर प्रणीतत्व कैसे हो सकता है, तो ऐसी शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि स्वभाव से अशरीरी परमेश्वर को भी भक्तानुग्रह के लिये लीलामय विग्रह (शरीर) के ग्रहण की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। अतः उक्त रीति से वेद के पौरुषेयत्वाऽनुमान समस्त दोषरहित होने से वेद पौरुषेय हैं, यह सिद्ध हुआ। यहाँ पूर्व पक्ष समाप्त हुआ।

अत्र समाधिः—

श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम्।
मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना तु न श्रूयते ॥ २७ ॥ इति।

किमिदं पौरुषेयत्वं नाम, यत्र श्रुतयः स्मृतयश्च प्रमाणत्वेनोदाहृताः? किं पुरुषाद्युत्पत्तिमत्त्वं वेदानां पौरुषेयत्वम्? उत प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वम्? तत्राद्योऽङ्गीक्रियते, आकाशवन्नित्यत्वेन सर्वगतत्वेन कालतो देशतश्च क्रमशून्यानां वर्णानामनित्योच्चारणप्रतिपत्तिक्रमविशिष्टानां

सिद्धान्तयति—अत्र समाधिरिति। समाधिः समाधानम्। अभिधीयत इति शेषः। अत्र किं पुरुषादुत्पन्नत्वमात्रं पौरुषेयत्वं सिषाधयिषितम्, यथास्मदादिभिरहरहरुच्चार्यमाणो वेदः? किं वा प्रमाणेनार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय विरचितत्वात्मकं वेदानां पौरुषेयत्वम्, यथास्मदादिभिरेव बध्यमानग्रन्थपद्धतिः? आद्ये त्वविवादः। द्वितीयेऽपि किमागमबलात् तत्साधनम्? अनुमानाद्वा? नाद्य इत्याह—श्रुतीति श्लोकेन। श्रुतिष्वीश्वरात् श्रुतीनां केवलं जन्म श्रुतम्, नतु पुनरुपलभ्यविरचनम्, तत्पुनरनुमीयते, तच्चायुक्तम्, वक्ष्यदोषादित्यर्थः। विषयविवेचनपूर्वकं श्लोकं व्याचष्टे—किमित्यादिना। ननु नित्यस्य कथं पौरुषेयत्वमिमं विनुदन्नाद्याङ्गीकारमेव विवृणोति—आकाशवदित्यादिना। क्रमविशेषवान् शब्दराशिर्हि वेदः, क्रमश्च कालतो देशतो वा नियतः, स चोभयविधोऽप्यत्र न संभवति, वक्ष्यमाणनित्यत्वप्रमाणबलान्नित्यानां विभूनां च शब्दानां कालतो देशतो वा क्रमासंभवात्। प्रतीयते च, तेनाभिव्यञ्जकोच्चारणप्रतिपत्त्योरन्यतरक्रमोपरागात्क्रमवत्त्वं वक्तव्यम्, तयोरुच्चारणप्रतिपत्ती अनित्ये, इति तत्क्रमविशिष्टः शब्दराशिरपि तदुपाधावनित्य एवेति इष्टमेवेदृशं पौरुषेयत्वमित्यर्थः। ननु प्रतिपुरुषं क्रमद्वाराऽनित्यत्वे कथं स एवायं

(अत्र समाधिः) अब यहाँ (समाधि) समाधान कहा जाता है—

श्रुतियों में श्रुतियों का केवल ईश्वर से जन्म सुना गया है। प्रमाणान्तर से उपलब्ध अर्थविषयक वेद की रचना तो श्रुति से नहीं कही जाती है ॥ २७ ॥

यहाँ विचारणीय है कि, यह पौरुषेयत्व नामक कौन वस्तु है, कि जिसमें श्रुति, स्मृतियों का प्रमाणता रूप से उदाहरण दिया गया है। क्या पुरुषाधीन उत्पत्तिमत्त्व वेदों का पौरुषेयत्व है? अथवा प्रमाणान्तर द्वारा अर्थों को जानकर रचनात्मकत्व पौरुषेयत्व है? यहाँ प्रथम पक्ष का अङ्गीकार किया जाता है, क्योंकि, आकाशतुल्य नित्य सर्वगत होने से कालदेशकृत क्रम से रहित, अनित्य-उच्चारण ज्ञान के क्रमयुक्त पूर्वपूर्व के क्रमानुस्मृति निमित्तक तत्तत्सदृश उत्तर-उत्तर क्रम वाले वेदशब्द के वाच्य (अर्थ) स्वरूप वर्णों की वर्तमान काल से भी पुरुषाधीन उत्पत्तिमत्ता से, सृष्टि काल में भी श्रुति से तथाभूत (उत्पत्तिमत्त्व)

पूर्वपूर्वक्रमानुस्मृतिनिमित्ततत्तत्सदृशोत्तरोत्तरक्रमवतां वेदशब्दवाच्यानां सांप्रतमपि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्तया सर्गसमयेऽपि श्रुत्वा तथात्वस्य प्रतिपादयितुमुचितत्वात्। द्वितीयस्तु न; प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्रेश्वरेण वेदा विरचिता इति श्रुतिभिरप्रतिपादितत्वात्। न च पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वश्रवणान्यथानुपपत्त्यैव प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वं सिध्येत्; इदानीमस्मदादिभिरुच्चार्यमाणवेदवाक्येषु मालतीमाधवादिवाक्येषु च व्यभिचारात्। एतेन—प्रमाणभूतवाक्यस्य रचनान्यथानुपपत्त्या मानान्तरोपलब्धेऽर्थे विरचितत्वकल्पनापि प्रयुक्ता; अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणमन्वादि-

---

वेद इति प्रत्यभिज्ञानमिति? तत्राह—**पूर्वेति**। क्रमस्येदं प्रथमतया पौरुषेयत्वभङ्गमाशङ्क्य वेदमुत्तरम्—**सांप्रतमपीति**। सृष्टिश्रुत्याप्येतदविरुद्धमेव प्रतिपादयितुमुचितमित्यर्थः। एवं पूर्वार्धं व्याख्यायोत्तरार्धं व्याचष्टे—**द्वितीय इत्यादिना**। अदर्शनं हेतुमाह—**प्रमाणेति**। स्यादेतत्—यद्यपि न साक्षात् श्रुतोऽयमर्थः, तथापि श्रुतोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते पौरुषेयत्वम्, सोऽपि हि भवति कश्चित् श्रुतो व्यापारः। यथाहुः—'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा'दिति। तत्रेदं वक्तव्यम्—किं पुरुषाधीनोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते? उत प्रमाणभूतवाक्यरचनान्यथानुपपत्त्या? नाद्य इत्याह—**न चेति**। प्रागुक्तरीत्या वेदवाक्यानि काव्यवाक्यानि न उच्चारणसमये सृज्यन्ते, तत्र प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनव्यतिरेकेण पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वमुपपद्यमानं न वेदेष्वपि तत्कल्पयतीत्यर्थः। द्वितीये पक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**।

के प्रतिपादन में उचितत्व है। दूसरा पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाणान्तर से समझकर उस सृष्टिकाल में ईश्वर से वेद विरचित हुये, यह अर्थ श्रुतियों से प्रतिपादित नहीं है। यदि कहा जाय कि, पुरुषाधीन उत्पत्तिमत्व के श्रवण की अन्यथा अनुपपत्ति से ही प्रमाणान्तर से जानकर विरचितत्व की सिद्धि होगी, तो यह नहीं कह सकते हैं। क्योंकि सृष्टि के आदिकाल में वेदों का उच्चारण ही तो उसकी रचना हो सकती है, और इस समय भी हम लोगों से उच्चार्यमाण वेदवाक्यों में, और मालतीमाधवादि वाक्यों में हम लोगों से विरचितत्व उच्चार्यमाणत्व है। प्रमाणान्तर से उनके अर्थों की उपलब्धिपूर्वक विरचितत्व नहीं है, अतः व्यभिचार है। इसीसे प्रमाणस्वरूप वाक्य की रचना की अन्यथा अनुपपत्ति से मानान्तर से उपलब्ध अर्थ विषयक ही विरचितत्व की कल्पना निरस्त हो गई, क्योंकि हमलोगों से उच्चार्यमाण प्रमाणस्वरूप मनुस्मृति आदि वाक्यों में व्यभिचार है। उनका उच्चारण रूप रचना हमलोग करते है, परन्तु उनके अर्थ को प्रमाणान्तर से जान करके ही उच्चारण नहीं करते है। और यदि विरचितत्व की अन्यथानुपपत्ति मानान्तरोपलब्ध विषयक रचना

वाक्येषु व्यभिचारात्। किं च यदि विरचितत्वान्यथानुपपत्तिर्मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचनां कल्पयेत्, हन्तैवम् 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्या'दिति वेदानामग्न्यादिभ्यो जन्मस्मरणात् तत्तत्कर्तृकतया ईश्वरकर्तृकत्वनियमो न स्यात्। अथ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिवाक्ये वेदानामीश्वरकर्तृकत्वाधिगमादधिष्ठातृदेवतापरं तत्तद्वाक्यमिति कल्प्येत, तर्हि 'ब्रह्म स्वयम्भु, वाचा विरूप नित्यया, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्योऽपि वेदानां नित्यत्वावगमात्। तस्माद्यज्ञादित्यादिवाक्यं सम्प्रदायप्रवर्तकत्वपरमिति कल्पना न प्रकृतेऽपि दण्डवारिता। नन्वेषामन्यपरत्वान्नैतेभ्यो नित्यत्वसिद्धिरिति चेत्, मैवम्; देवताधिकरणन्यायेन प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरस-

---

किं च भवतैवायमङ्गीकर्तव्योऽर्थः, इत्युपत्तिश्रुतेरन्यथासिद्धौ प्रतिबन्दीमाह—**किंचेत्यादिना**। अथ श्रुत्यन्तरवशादन्यथा नेतव्यं तदिदमिति, तदस्मन्मतेऽपि समानमित्याह—**अथेत्यादिना**। ब्रह्म वेदः। पूर्वपक्षाशयमनुवदति—**नन्वेषामिति**। **देवताधिकरणन्यायेनेति**। द्वेधा हि वाक्यार्थो द्वारभूतः, प्रधानं चेति! तत्र प्रधाने तात्पर्यं द्वारे स्वतत्परमपि प्रमाणम्। अबाधितासंदिग्धानधिगतार्थबोधकत्वं हि प्रमाणत्वम्। न चान्यपरैरपि मन्त्रादिभिः प्रतीयमानो वज्रहस्त-

---

की कल्पना का हेतु हो, तब तो आनन्द ही है। (ऋग्वेद प्रथम अग्नि से, यजुर्वेद वायु से और सामवेद सूर्य से हुआ। इसप्रकार से वेदों के अग्नि आदि से जन्म सुनने के कारण वेदों में तत्तत् देवकर्तृकता से ईश्वरकर्तृकत्व के आपका नियम नहीं रहेगा। इससे ईश्वर से वेद की उत्पत्ति श्रुति वेद के पौरुषेयत्व में प्रमाण भी नहीं सिद्ध होगी। यदि कहें कि (उस सर्वहुत यज्ञपुरुष से ऋक् साम उत्पन्न हुए) इत्यादि वाक्यों में वेद के ईश्वरकर्तृकत्व के ज्ञान से अधिष्ठातृदेवतापरक अग्न्यादिकर्तृत्व बोधक तत्तत् वाक्य हैं, ऐसी कल्पना हो सकती है। तो कहा जाता है कि (ब्रह्म स्वयंभूः) ब्रह्म=वेद, स्वयं प्रकट होता है (वाचा विरूप नित्यया, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा) इत्यादि सैकड़ों श्रुति, स्मृति से वेदों की नित्यता के ज्ञान होने से "तस्माद् यज्ञात्" इत्यादि वाक्य सम्प्रदाय (अध्ययन, अध्यापन) प्रवर्तकत्व परक हैं, ऐसी कल्पना प्रकृत (अपौरुषेय वेदवाद) में भी दण्डवारित नहीं है। यदि शंका हो कि (वाचा विरूप नित्यया) इत्यादि को अन्यार्थपरत्व है, तो यह प्रथम कहा गया है कि ये अग्नि की स्तुति आदिपरक हैं, अतः इनसे वेद के नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, सो यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि शारीरकगत देवताधिकरण न्याय से, प्रमाणान्तर की प्राप्ति और विरोध से रहित अन्य गुणार्थपरक वाक्यों की अप्रधान स्वार्थ में भी प्रमाणता होती है,

तोन्यपराणामपि स्वार्थे प्रामाण्योपपत्तेः।

एतेन वाक्यत्वादिति पौरुषेयत्वानुमानपि परास्तम्। पुरुषप्रणीतत्वमात्रसाध्ये सिद्धसाधनत्वात्। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वसाधने च मालतीमाधवादिष्वनैकान्तिकत्वात्। तथा च प्रमाणत्वे सति वाक्य-

---

न्द्रादिलक्षणोऽर्थः संदिग्धः, नापि विपर्यस्तः, बाधाभावात्, प्रमाणान्तरायोग्यत्वाच्चानधिगत इति प्रमाणमेव तस्मिन्नपि मन्त्रादयः। न चार्थभेदे वाक्यभेदप्रसक्तिः; प्रधानार्थस्य भेदाभावात्, अवान्तरवाक्यस्येष्टत्वाच्च। न चातत्परत्वादप्रामाण्यम्; अतत्परस्याप्यर्थवादस्य द्वारभूतार्थे प्रामाण्यस्वीकारात्। इतरथा तद्द्वारातरप्रधानेऽपि तत्प्रामाण्याभावाद् 'गुणवादस्तु' 'तत्सिद्धिः' इत्यादि सूत्राणामनारम्भप्रसङ्गात्। विशिष्टविधौ च तात्पर्याविषयेऽपि विशेषणे प्रामाण्यस्यावश्यस्वीकर्तव्यत्वात्। तत्रापि विशेषणांशे तत्परं विध्यन्तरमुन्नीयते इति चेत्, किं तदुन्नायकं विशिष्टविधानमेवेति चेत्, हन्त! परस्पराश्रयप्रसङ्गात् विशिष्टविधिप्रवृत्तौ च विध्यन्तरोन्नयनं विध्यन्तरप्रवृत्तौ च विशिष्टविधानमिति। न च प्रमाणान्तरगोचरत्वं विशेषणस्य सर्वत्र संभवति; वारयन्तीत्यादौ तदभावात्, तस्मादतत्परमपि प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरभावे प्रमाणमेवेति सोऽयं देवताधिकरणन्यायसारः। तेनासामपि श्रुतीनां वेदनित्यत्वे प्रामाण्यमस्त्येवेत्यर्थः।

ननु नेदं पौरुषेयत्वं श्रुतं श्रुतसामर्थ्यसिद्धं चेति अस्माभिः स्वीक्रियते, किन्त्वनुमानबलादिति, तत्राह—**एतेनेति**। एतद्विवृणोति—**पुरुषेति**। **मालतीमाधवादिष्विति**। यद्यपि प्रथमं कविकृतवाक्येषु साध्याभावान्न व्यभिचारः, तथाप्यस्मदुच्चार्यमाणमालतीमाधवादिवाक्ये व्यभिचारः। नहि तत् तद्वाक्यम्, तस्यान्यत्वादित्यर्थः। कविकृतेऽप्यौत्प्रेक्षिककल्पितकथापरेषु वाक्येषु व्यभिचार इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयानुमानेऽपि सिद्धसाधनतामाह—**तथेति**। अत्रापि किमाप्तेनोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम्? किं वोपलब्धविरचनम्? प्रथमे सिद्धसाधनतां

जैसे वज्रहस्तादि शब्दों की यहाँ इन्द्रादि अर्थ में प्रमाणता बताई गई है, वैसे ही यहाँ स्तुतिपरक श्रुतियों की स्वार्थ (वेदनित्यता) में प्रमाणता होगी।

इसी, 'वाक्यत्वात्' इस हेतु से पौरुषेयत्वानुमान भी निरस्त हो गया। क्योंकि पुरुषप्रणीतत्व मात्र के साधन पर सिद्धसाधनत्व की प्राप्ति होती है। प्रमाणान्तर से अर्थ की उपलब्धि के बिना पुरुषाधीन उच्चारितत्व रूप पौरुषेयत्व माना ही जाता है। और प्रमाणान्तर से अर्थ की उपलब्धिपूर्वक रचितत्व के साधने पर, मालतीमाधवादि के हमलोगों से उच्चारित वाक्यों में अनैकान्तिकता होती है क्योंकि कवि भले ही प्रमाणान्तर से अर्थ को समझकर वाक्य का उच्चारण किया हो, हमलोग वैसा उच्चारण नहीं करते हैं। और ऐसा होने पर

त्वादाप्तप्रणीतत्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनता। आप्तेनोच्चार्यमाणतया तत्प्रणीतत्वस्यापौरुषेयवादिभिरप्यभ्युपगमात्। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वानुमाने तु हेतोरन्यथासिद्धिः। अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणेदानींतनवेदवाक्यानामिव सर्गकालीनानामपि तेषामीश्वरेणोच्चार्यत्वमात्रेणापि प्रमाणवाक्यत्वोपपत्तौ प्रमाणान्तराधिगतिपूर्वकविरचितत्वस्यानुमातुमशक्यत्वात्, तस्य च सर्वज्ञत्वादतीतकल्पान्तरगतवेदापरोक्ष्यसंभवात्। अविग्रहस्यापि तस्य भक्तानुकम्पितया लीलाविग्रहग्रहणेन तदुच्चारणोप-

---

विशदयति—**आप्तेनेति**। स्यादेतत्—द्वितीय एव नः पक्षः सिषाधयिषितः। न चेदानीमुच्चर्यमाणवेदवाक्यैरनैकान्तिकता; तेषामपि पक्षतुल्यत्वेनान्तः परमेश्वरविरचितत्वस्येष्टत्वादिति, तत्राह—**प्रमाणेति**। अन्यथासिद्धिमेव दर्शयति—**अस्मदादीति**। यदि हि विरचनं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनेन व्याप्तम्, तदास्मदादावपि तथा स्यात्, नचास्ति, ततोऽवगम्यते—नूनमनयोः सम्बन्धोऽन्यप्रयुक्तः इति भावः। स्यादेतत्—कल्पाङ्गीकारे निर्लेपं प्रलीनस्य चिरकालातीतस्य संस्कारप्रमोषात् कथमीश्वरेणापि शक्यः पूर्ववद्वेद उच्चारयितुमिति? तत्राह—**तस्य चेति**। न तावन्निर्लेपः प्रलयः, तत्संस्काररञ्जितमायोपबृंहितपरमेश्वरस्य मूलकारणस्य वा विद्यमानत्वात्। अत एव तत्संस्कारवशात् तत्सदृशक्रमवद्वेदोच्चारणमपि संभवतीत्यर्थः। तथापि ताल्वादिकरणरहितस्य कथं कर्तृत्वं संप्रदायप्रवर्तकत्वं चेति? तत्राह—**अविग्रहस्यापीति**। अभ्युपगम्येदमुच्यते, वस्तुतस्त्वीश्वरस्य शरीरादिनोपदेष्टृत्वमेव नास्ति, कल्पादिभुवामतीतकल्पानुष्ठितविशिष्टज्ञानपरंपरापरितुष्टपरमेश्वरानुग्रहवशान्निरतिशयज्ञानसमृद्धानां हिरण्यगर्भप्रभृतीनां बुद्धौ यो वेदानामाविर्भावः, स खलु परमेश्वरस्य वेदोपदेष्टृत्वं नाम। इदमेव च यो वै

वाक्यत्व हेतु से आप्तप्रणीतत्व अनुमान में भी सिद्धसाधनता होती है, क्योंकि आप्त से उच्चार्यमाणता रूप से आप्तप्रणीतत्व को अपौरुषेयवादी भी मानते हैं। प्रमाणान्तर से अर्थ को जानकर विरचितत्व के अनुमानपरक हेतु को अन्यथा सिद्धि (साध्याऽसाधकता) है। क्योंकि हमलोगों से उच्चार्यमाण वेदवाक्यों के समान सृष्टिकालिक उच्चार्यमाण उन वेदों की भी ईश्वर से उच्चार्यमाणत्व से ही प्रमाणवाक्यता की सिद्धि होते प्रमाणान्तर से अर्थ की उपलब्धिपूर्वक विरचितत्व की अनुमति करना अशक्य है। और उस ईश्वर को सर्वज्ञ होने से अतीत कल्पान्तरगत वेदों के अपरोक्ष का होना सम्भव है, अतः सर्वथा नवीन वेद की रचना की आवश्यकता ईश्वर को नहीं हो सकती है। और वस्तुतः शरीररहित ईश्वर को भी भक्तानुकम्पा वाले होने से लीलामय शरीर के धारण द्वारा उस वेद के उच्चारण की सिद्धि होती है। वस्तुतः कल्प के आदि में होने वाले पूर्व

पत्तेश्च । एतेन—सर्गकालीनाध्ययनस्य पूर्वपूर्ववेदाध्ययनपुरःसरत्वमपि समर्थनीयम् । न चाश्रयासिद्धिः; वेदान्तिभिः सर्गाङ्गीकारात् । न च भारताध्ययनस्य तथात्वप्रसङ्गेनाभाससमानयोगक्षेमता; तत्र दृढतरकर्तृस्मरणेन बाधात् । न चेहापि कर्तृश्रुत्या बाधः; तस्याः संप्रदायप्रवर्तकत्वपर-

---

वेदांश्चेति श्रुत्याप्युच्यते, न तत्र शरीरेण किंचित्कृत्यमिति । यत्तु वेदाध्ययनस्यानिदंप्रथमतायामनुमानमुद्भाव्य दूषितं पूर्ववादिना, तदपि संस्काराप्रमोषादित्यादिना समर्थितमित्याह—**एतेनेति** । यत्तु तेनाश्रयासिद्धिरित्युक्तम्, तत्र भवतु मीमांसकं प्रत्ययं दोषः, नास्मान्प्रतीति परिहरति—**न चेति** । तन्मतेऽपि यादृगहोरात्रादिपरिगणनाविशिष्टस्य सर्गकालत्वं पराङ्गीकृतम्, तत्कालः शक्यः पक्षीकर्तुमिति द्रष्टव्यम् । आभाससमानयोगक्षेमतां परिहरति—**न चेति** । ननूक्तमत्रापि कर्तृप्रतिपादकश्रुतिस्मृती विद्येते इति तत्राह—**न चेहापीति** । अथ किमित्युपलभ्यविर-

---

कल्प के उपासना, तप आदि से ईश्वरानुग्रह से विज्ञानयुक्त हिरण्यगर्भ देव, ऋषियों की बुद्धि में जो वेद आविर्भूत होता है, वही ईश्वर की वेदाऽध्यापकता है। इससे सृष्टिकालिक पूर्व-पूर्व वेदाऽध्ययनपूर्वकत्व भी समर्थनीय है, क्योंकि ईश्वर कृपा से हिरण्यगर्भादि को पूर्वकल्प से गुरु से अधीत वेदों का ही उन्हें स्मरण होता है, तपोबल से उनका संस्कार लुप्त नहीं होता है। और जो प्रथम मीमांसकमत में सर्ग के अनङ्गीकार से सर्गकालिक अध्ययन रूप पक्ष की असिद्धि कहा था, वह वेदान्त में आश्रयासिद्धि नहीं है, क्योंकि वेदान्ती सर्ग को मानते हैं। अतः अनुमान कर सकते हैं कि (सर्गकालिक वेदाऽध्ययन, पूर्वसर्गकालिक वेदाऽध्ययनपूर्वक होता है, या गुरु-अध्ययनपूर्वक होता है, वेदाध्ययन होने से वर्तमान वेदाऽध्ययन के सम्मान) और जो कहा गया था कि (भारताऽध्ययन, गुरु-अध्ययनपूर्वक होता है, भारताऽध्ययन होने से, वर्तमान भारताध्ययनवत्) इस अनुमान से भारताध्ययन को गुरु-अध्ययनपूर्वकत्व प्राप्त होने से उक्त वेदविषयक अनुमान आभासानुमान के तुल्य योग-क्षेम वाला है। ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि भारत में दृढ़तर कर्ता के स्मरण से गुरु-अध्ययनपूर्वकत्व अनुमान का बाध हो जाता है। वेद में कर्तृस्मरणरूप बाधक नहीं है। यदि कहें कि प्रथम वेदकर्ता के प्रतिपादक श्रुति कही गई है, अतः बाध तुल्य ही है। तो कहा जाता है कि वेदकर्ता प्रतिपादक श्रुति, स्मृति की सम्प्रदायप्रवर्तकपरता से भी उपपत्ति (युक्तता) होती है, अन्यथा उसकी कर्तृप्रतिपादकता के होने पर वेद नित्यत्वप्रतिपादक वाक्यों की अनवकाशता (निष्प्रयोजनता) प्राप्त होगी। और वेद में यह नित्यत्व पुरुष की अस्वतन्त्रता स्वरूप

तथाप्युपपत्तेः, अन्यथा नित्यत्वप्रतिपादकवाक्यानामनवकाशत्वप्रसङ्गात्; भारतस्य नित्यत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावाच्च।

न च वेदानामनाप्ताप्रणीतत्वादाप्तप्रणीतत्वमनुमातुं युक्तम्; आत्माकाशादौ व्यभिचारात्। अथ शब्दत्वे सतीति विशेषणाददोषः, मैवम्;

चयिता कर्तैवाभिः श्रुतिभिः न स्वीक्रियते? तत्राह—**अन्यथेति**। नित्यत्व चेदं पुरुषास्वातन्त्र्यम्, न पुनः सर्वथैव, निःश्वसितमित्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात्। उक्तं वृद्धैः—'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता' इति। स्यान्मतम्—वयमपि तावद्वेदमुच्चारणद्वारेण विरचयामः, परमेश्वरेऽपि चेत्तथैव रचयति, ननु पूर्वक्रममन्यथयति, नाप्युपलभ्यार्थं विरचयति, कस्तर्हि विशेषः परमेश्वरस्य मादृशेभ्यः? येन निःश्वसितमित्यादिश्रुतयः परमेश्वरमेव कर्तारमावेदयन्तीति; उच्यते; उपादानत्वात्स खलु परमेश्वरः प्रतिसंचरसमये समस्तमेव जगत्संहरन् वियदादिवदेव वेदात्मकमपि शब्दराशिं संहरति; महासर्गसमये च तत्तद्वासनावासिताचिन्त्यशक्तिराशिमहामायासहायमापन्नः शब्दाकारेण विवर्तते, तदनु च पूर्वक्रमसदृशक्रमवच्छब्दराशिरूपवेदाकारेण विवर्तते, सर्गादिभुवां हिरण्यगर्भप्रभृतीनां च तमुपदिशतीति शब्दकर्तृत्वं सम्प्रदायप्रवर्तकत्वं चेश्वरस्यैवेत्युच्यते। यद्यपि सर्वज्ञस्येश्वरस्य वेदार्थविषयमपि ज्ञानमस्ति, तथापि न तस्य वेदनिर्माणे कारणभावः, पूर्वपूर्वक्रमानुसरणमात्रेण तत्सदृशक्रमनिर्माणक्षमत्वात्। अस्मदादीनामिवेदानीन्तनभारतादिक्रमनिर्माणे, तेन नापौरुषेयत्वक्षतिः। नन्वेवं भारतस्यापि संप्रदायप्रवर्तयितैव व्यासः, न तु कर्तेति तस्याप्यपौरुषेयत्वं स्यादिति तत्राह—**भारतस्येति**।

यच्चानाप्ताप्रणीतत्वे सत्याप्तप्रणीतत्वमेवायाति गत्यन्तराभावादित्युक्तम्, तत्र किमनाप्ताप्रणीतत्वमात्रेणाप्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते? शब्दत्वविशेषितेन वा? नाद्य इत्याह—**न चेति**। द्वितीयं शङ्कते—**अथेति**। तत्रापि किमाप्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते? उपलभ्य विरचनं वा? आद्ये प्राह—**मैवमिति**। द्वितीये तु पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः। यत्तु पाषण्डायागमानामप्यपौरुषेयत्वमेवं सति स्यादित्युक्तम्,

---

है। पूर्वस्मरणपूर्वक उच्चारणकर्ता तो होते ही हैं। और भारत के नित्यत्व का प्रतिपादक प्रमाण नहीं है, अतः उक्त योगक्षेमतुल्यता नहीं हो सकती है।

अनाप्तप्रणीतत्व हेतु से वेदों के आप्तप्रणीतत्व का अनुमान कहा था, वह युक्त नहीं, क्योंकि वैसा अनुमान किया नहीं जा सकता है, आत्मा, आकाशादि में अनाप्तप्रणितत्व (आप्तप्रणितत्वाऽभाव) रूप हेतु व्यभिचारी है, आप्तप्रणीतत्व रूप साध्य के नहीं रहते हेतु वर्तमान है। यदि कहें कि हेतु में (शब्दत्वे सति) इस विशेषण के लगाने से व्यभिचारदोष नहीं रहेगा, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि

आप्तप्रणीततामात्रस्य पूर्वोक्तन्यायेन वेदेऽप्यङ्गीकारात्। न चैवं सति पाषण्डाद्यागमानामपौरुषेयत्वम्; मानान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्तत्पुरुषविरचितत्वस्य सौगतादिभिः स्वयमेवाङ्गीकारात्प्रसिद्धेश्च। न च सामान्यवत्वे सत्यस्मदादिबहिरिन्द्रियप्रत्यक्षतया वर्णानां कृतकत्वानुमानम्; अस्मदादिबहिरिन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालाकाशादेर्नित्यत्वेन भाट्टं प्रत्यनैकान्त्यात्, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। श्रोत्रं नित्यद्रव्यग्राहकं निरवयवेन्द्रियत्वात् मनोवदिति भाट्टमतेन प्रयोगसंभवात्। न च श्रोत्रं न नित्यद्रव्यग्राहकम्, अनित्यभूत-

---

तत्राह—**न चेति**। अथ तदङ्गीकारे भ्रान्तो नैयायिकादीनामिव वेदपौरुषेयत्वे इति तत्राह—**प्रसिद्धेश्चेति**। ननु सर्वमेतच्छब्दनित्यत्वे सति स्यात्तदेव तु नास्ति, अनुमानाच्छब्दानित्यत्वसाधनान्नित्यत्वप्रमाणदूषणाच्चेति, तत्राह—**न चेति**। अत्र तावदेकदेशिमतेन दूषणमाह—**अस्मदादीति**। आकाशमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वात् आत्मवत्, दिक्कालाकाशानि अस्मदादिप्रत्यक्षाणि विभुत्वादात्मवत्, श्रोत्रं विभुग्राहकमिन्द्रियत्वान्मनोवदित्यादिना च तेषां प्रत्यक्षत्वसिद्धेः। न संबन्धासंभवो बाधः; अजसंयोगसंभवात्। वक्ष्यते च तत्र प्रमाणं द्वितीयपरिच्छेदे। तन्मतेनैव सत्प्रतिपक्षतामप्याह—**सदिति**। जातौ सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्यपदम्, घ्राणे रूपे वानैकान्त्यनिवृत्त्यै हेतौ पदद्वयम्। प्रत्यनुमानविरोधं निराचष्टे—**न चेति**।

पूर्वोक्त रीति से वेद में भी आप्तप्रणीतता (आप्तोच्चारितता) मात्र के स्वीकार से हेतु की अन्यथासिद्धि (निरर्थकता) सिद्धसाधनता प्राप्त होती है। इसप्रकार से पाषण्डादि आगमों को अपौरुषेयत्व होगा, यह प्रथम कहा था, वह प्रसङ्ग भी नहीं हो सकता है। क्योंकि मानान्तर से अर्थों को समझकर तत्तत् पुरुषों से विरचितत्व का सौगतादि से स्वयं अङ्गीकार किया गया है, और ऐसी प्रसिद्धि भी है कि तत्तत् आगम तत्तत् पुरुषों से विरचित हैं। और (सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादि बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षविषयता से जो वर्णों की अनित्यता का अनुमान प्रथम कहा था, वह भी युक्त नहीं, क्योंकि भाट्ट के प्रति अस्मदादि बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व को अनैकान्तिकता है, कालाकाशादि के नित्यत्व से और भाट्ट मत में कालाकाशादि के प्रत्यक्षत्व से यह अनैकान्तिकता होती है। और उक्त अनुमान में सत्प्रतिपक्षता भी है। क्योंकि (श्रोत्र, नित्य द्रव्य का ग्राहक है, निरवयव इन्द्रिय होने से, मन के समान। आकाश, अस्मदादि के प्रत्यक्ष का विषय है, प्रदेश वृत्ति विशेष गुण वाला होने से, आत्मा के समान, दिक्कालाऽऽकाश, हम लोगों के प्रत्यक्ष विषय हैं, विभु होने से, आत्मा के समान) इत्यादि भट्ट मत से प्रयोग का सम्भव है। अर्थात् आकाश, दिशा, काल के स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी, इस काल में, इस देश में, अमुक दिशा में सूर्य है, इत्यादि विशेषण विशिष्ट रूप से

विशेषगुणग्राहकं वा, बहिरिन्द्रियत्वादिन्द्रियत्वाद्वा चक्षुर्वदिति प्रत्यनुमानबाधः; प्रथमानुमाने नयनस्य नित्यगगनादिग्राहकत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्; द्वितीये च ध्वनिग्राहकतया सिद्धसाधनत्वात्। व्यक्तिभेदासिद्धौ च 'स एवायं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वकल्पनानुपपत्तेः, तद्विरोधश्च अनित्यत्वानुमाने दुर्वारः। न च 'द्रुतो गकारो विलम्बितो गकारः' इति विरुद्धधर्मसंसर्गित्वाद् गकारव्यक्तिभेदसिद्धिः; तस्याः प्रतीतेर्ध्वनिविषयतया वर्णविषयत्वाभावेन प्रामाणिकविरुद्धधर्मसंसर्गस्यासिद्धेः।

अनित्यो यो भूतविशेषगुणस्तस्येत्यर्थः। वेदान्तिप्रभाकरयोर्मते सिद्धसाधनतापरिहाराय अनित्यग्रहणम्। शब्दनिष्ठद्वित्वादिना भाट्टं प्रत्यर्थान्तरतानिवृत्त्यै विशेषग्रहणम्। नभोगुणत्वार्थं भूतपदम्। मानसप्रत्यक्षात्मवादिनां मनसि व्यभिचारवारणाय बहिरिन्द्रियेत्युक्तम्। अत्रापि भाट्टमतेन दूषणमाह—**प्रथमेति**। नैयायिकादीनां च योगीन्द्रियैर्व्यभिचारः। असमदादिविशेषणं च परस्य व्यर्थमिति द्रष्टव्यम्। तावतापि तव मते किं दूषणमस्य? इत्याशङ्क्य प्रत्यभिज्ञाबाधं दर्शयितुं तस्या अपि जातिविषयत्वेनोक्तामन्यथासिद्धिं परिहरति—**व्यक्तीति**। अथ कथं व्यक्तिभेदासिद्धिर्यावतोदात्तानुदात्तादितारतम्यादिविरुद्धधर्माध्यासाद् भेद एव गकारादेरवसीयते इति? तत्राह—**न चेति**। अत्र किं प्रामाणिकविरुद्धधर्माध्यासाद्भेदः साध्यते? प्रातीतिकाद्वा? आद्येऽसिद्धिमाह—**तस्याः प्रतीतेरिति**। यदि व्यक्तिभेदः स्यात्तदा द्वौ गकाराविति स्यात्, न पुनर्द्विर्गं उच्चरित इति। तदिह स्वारसिकं

आकाशादि प्रत्यक्ष होते हैं। इत्यादि तात्पर्य है। यदि कहें कि (श्रोत्र, नित्य द्रव्य का ग्राहक नहीं है, बहिरिन्द्रिय होने से, नेत्रवत्। या श्रोत्र, अनित्य भूत विशेष गुण का ग्राहक होता है, इन्द्रिय होने से, नेत्रवत्) इन विरोधी अनुमानों से पूर्व अनुमानों का बाध होता है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भट्ट मत के अनुसार नेत्र नित्य गगनादि का ग्राहक होता है, अतः प्रथम अनुमान में दृष्टान्त नेत्र साध्यरहित है। और दूसरे अनुमान में भट्ट मत में भी अनित्यभूत विशेष गुण ध्वनि ग्राहता से सिद्धसाधनता होती है। और (सोऽयं गकारः) इस प्रत्यभिज्ञा को जातिविषयक कहा था वह भी अयुक्त है, क्योंकि जहाँ प्रमाण से व्यक्तिभेद सिद्ध रहता है, वहाँ प्रत्यभिज्ञा को जातिविषयक माना जाता है, वर्णों के जन्यत्व निमित्तक व्यक्तिभेद की असिद्धि रहते (सोऽयं गकारः) इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के जातिविषयत्व की अनुपपत्ति से, अनित्यत्वानुमान में उक्त प्रत्यभिज्ञाविरोध दुर्वार है। यदि कहें कि, यह गकार द्रुत (शीघ्र उच्चारित) हुआ, यह विलम्बित गकार हुआ, इसप्रकार से विरुद्ध द्रुतत्व, विलम्बितत्व धर्म के संसर्गित्व के कारण गकार की व्यक्तिभेद की सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि उक्त प्रतीति की ध्वनिविषयकता से वर्णविषयकता के अभाव के कारण प्रामाणिक

प्रातीतिकस्य च तस्य मणिकृपाणादिष्विवाननस्य भेदासाधकत्वात्। वेदान्तवादिभिः सर्गस्य तद्विशेषितकालस्य चाङ्गीकारात्। अतीतकालशब्देन

प्रत्यभिज्ञयैक्यं प्रतीयते, विरुद्धधर्मसंसर्गस्तु परोपाधिकः। न च परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्यं विहन्यते, मा हि भून्नभसोपि कुम्भाद्युपाधिभेदादाजानतो भेद इति, तेनानुवृत्तिव्यवहारः स्वरूपेण, व्यावृत्तव्यवहारस्तूपाधिनिदान इत्यनवद्यम्। उक्तं च वृद्धैः—

'तेन यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णादेव लभ्यते।
व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति गत्वादिगीर्वृथा॥' (श्लो० वा० स्फोट २६)

द्वितीयेऽप्यनैकान्तिकतामाह—**प्रातीतिकस्येति**। यथा हि मणिकृपाणदर्पणादिषु तद्भेदेन भिन्नमिव प्रतीयमानमपि मुखं न स्वतो भिद्यते, एवमित्यर्थः। एतेन तीव्रादिधर्मोपितत्वादुत्कर्षनिकर्षवत्त्वादित्यादिकमनित्यत्वसाधकहेतुजातमपहस्तितं मन्तव्यम्। तथाच—

प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा। अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते॥

किंच सामान्यवत्त्वे सतीत्यनुमाने शब्दमात्रपक्षीकारेऽपि ध्वन्यंशे सिद्धसाधनता तदितरत्वविशेषणे चानिष्टाव्यवच्छेदाद्वैयर्थ्यम्, हेतोश्चोपान्त्यादिष्वसिद्धिः। अन्त्यशब्दपक्षीकारे च पूर्ववदेव वैयर्थ्यम्, तथा स्वमतेन सोपाधिकत्वम्, अश्रावणत्वस्योपाधित्वात्। शब्दत्वादिनिवर्त्यसद्भावाच्च न पक्षेतरत्वम्। एतेनेदमप्यपास्तम् यदाह मानमनोहरकारः—"अनित्यः शब्दः, इन्द्रियविशेषगुणत्वात्, चक्षूरूपवत्" इति। तत्रापि हि समानं ध्वन्यंशे सिद्धसाधनत्वं तदितरविशेषणे वैयर्थ्यमश्रावणत्वोपाधिहतत्वं चेति। उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽप्यभावस्य प्रत्यक्षतां महता संरम्भेण समर्थयन्नेव निवृत्तकोलाहलः, उत्पन्नः शब्द इति व्यवहारचरणैकशरणः प्रत्यक्षमेव शब्दानित्यत्वे प्रमाणयति स्म, स च विरुद्धधर्मसंसर्गस्योपाधिकत्वोपपादनन्यायेन दत्तबलिरेव वेतालः। योऽपि नित्यत्वे सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो न्यायभूषणकारोक्तः, सोऽपि ध्वनिसंस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमान्निरस्तः। यत्तु युगपदिन्द्रियसंबद्धत्वेन प्रतिनियतसंस्कारसंस्कार्यत्वाभावानुमानम्, तद्भवन्मत एवात्मन्यनैकान्तिकमित्यलमतिकलकलेन। यत्तु वैदिक्यानुपूर्वी इदं प्रथमा वर्णानुपूर्वीत्वात्संप्रति पन्नवदित्यनुमानं नैयायिकानाम्, तदसत्; विगीतः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वादिदानींतनवदिति सत्प्रतिपक्षत्वात्। यत्तत्र पूर्वपक्षिणोक्तं तत्परिहरति—**वेदान्तवादिभिरिति**।

विरुद्ध धर्मसंसर्ग की असिद्धि है। और प्रातीतिक (औपाधिक) उक्त विरुद्ध धर्म तो, जैसे मणिकृपाणादि में मुख के औपाधिक धर्म वर्तुलत्वादि मुखभेद के साधक नहीं होते हैं, वैसे ही वे गकारादि के भेद के साधक नहीं हो सकते हैं। और भट्ट मत के अनुसार सर्गकाल की असिद्धि से आश्रय (पक्ष) की असिद्धि कहा था वह भी कथन युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तवादी सर्ग को और सर्गयुक्त काल को मानते हैं, अतः अतीतकाल शब्द से उस सर्गविशिष्ट काल को पक्ष करके अनुमान की

तत्पक्षीकारेणानुमानप्रवृत्तावपि न धर्म्यसिद्धिः । न चाभाससमानयोगक्षेमता; भारताध्ययनानामनादित्वनिरासेन पुरस्तान्निरस्तत्वात् । एवमपौरुषेयतया वेदान्तानामसंभाविताशेषपुरुषदोषसंसर्गेभ्यस्तेभ्यो विगलितनिखिलभेदविशुद्धब्रह्मप्रमितिः सिद्धयतीति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखाचार्यमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां प्रथमः परिच्छेदः ।

वादार्थमुपसंहरन्प्रथमपरिच्छेदार्थं संकलयति—**एवमपरुषेयतयेत्यादिना** । अत्र च पुरुषदोषासंभवग्रहणमितरशब्ददोषासंभवस्याप्युपलक्षणम्, तेन स्वतःप्रामाण्यशक्त्यभिहितान्वयापौरुषेयसिद्धार्थप्रामाण्यकार्यप्रामाण्यवादानां संग्रहः कृतः । विगलितनिखिलभेदग्रहणेनाखण्डवाक्यार्थप्रपञ्चमिथ्यात्वतदुपपादकभावरूपाज्ञानतदुपयोगितमःख्यातिविशेषविचाराः संगृहीताः । परिशुद्धब्रह्मग्रहणेन विज्ञानात्मस्वप्रकाशवादौ संगृहीताविति परिच्छेदार्थः सकलः संकलित इति सर्वं निर्मलम् ।

विज्ञानं स्वप्रकाशं भवति च पुरुषस्तद्वपुर्भविरूपम्,
ध्वान्तं मिथ्या प्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोधः ।
आरोपारोप्यसिद्धप्रमितिजनकताऽखण्डता स्वप्रमात्वम्,
शक्तिर्लक्ष्यः पदार्थान्वय इति कथिताः पौरुषेयो न वेदः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यग्रूपभगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्यायां नयनप्रसादिन्यां प्रथमः परिच्छेदः ।

प्रवृत्ति होने पर भी धर्मी (पक्ष) की असिद्धि नहीं होती है कि (सर्गकाल, वेदाध्ययन युक्त था, काल होने से, वर्तमान काल के समान) आभास अनुमानों के समान, इस अनुमान की योगक्षेमता नहीं है, भारत अध्ययनों के अनादित्व के निराकरण से योगक्षेमतुल्यता प्रथम ही निरस्त हो चुकी है। उक्त रीति से वेदान्तों की अपौरुषेयता के कारण, जिनमें अशेष (सब) पुरुषदोषों के संसर्ग का सम्भव नहीं; उन वेदान्तों से सब भेदरहित विशुद्ध ब्रह्म की प्रमिति (अनुभूति) होती है, यह सिद्ध हुआ ।

वेदान्तवेद्यसद्ब्रह्म तत्रैवास्ति समन्वयः ।
वेदान्तानां ततो ज्ञेयं ध्येयं तद्धि मुमुक्षुभिः ॥ १ ॥

श्री स्वामी हनुमानदासजी महाराजकृत चित्सुखी प्रथम परिच्छेद की हिन्दी टीका समाप्त ।

द्वितीयः परिच्छेदः

ननु कथं विगलितनिखिलभेदब्रह्मप्रतिपत्तिः ? प्रत्यक्षादिविरोधात् । तथाहि—प्रत्यक्षेण तावदिदमस्माद्भिन्नमिति नीलपीतादेर्भेदमध्यवस्यामः ।

नमस्ये मानौघैः प्रमितममितं स्थाणुमनिशं
समस्तज्ञं लोकत्रितयनयनं सन्नियनमम् ।
सकालं कालारिं सकलवपुषं निष्कलमुमा-
सहायं कामारिं भवमभवमीशं पशुपतिम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणि वेदान्तानामुदितोऽद्वैते समन्वयस्तस्य ।
भेदावगाहिमानैर्विरोधनुत्यै परः परिच्छेदः ॥ २ ॥

यद्यप्यद्वये ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं साधितम्, तथापि भेदग्राहिप्रत्यक्षादि-विरोधादसाधितसमं तत्, अतोऽनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्याभावेऽपि विरोधान्मिथ्यात्व-लक्षणमप्रामाण्यं भवेत्, कः खलु विशेषः स्वगोचरशूराणां प्रत्यक्षादीनामागमेभ्यः ? इति प्रामाणिकभेदवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमित्यादिना** । अनेन परि-च्छेदयोर्विषयविषयिभावलक्षणासंगतिरपि दर्शिता, पूर्वस्य विषयत्वादुत्तरस्य विषयि-त्वादिति । अत्र मण्डनमिश्रैर्भेदवस्तुनोः किमेकैकग्राहकं प्रत्यक्षम् ? उतोभयग्राहकम् ? उभयग्रहपक्षेऽपि युगपत्क्रमेण वा ? क्रमपक्षेऽपि किं पूर्वं ? किमपरम् ? इति

समन्वयं परिज्ञाय ज्ञेयं यदद्वयं परम् ।
परमानन्दरूपं तत्सत्तनोतु सुमङ्गलम् ॥

यद्यपि वेदान्त का अद्वय ब्रह्म में समन्वय कहा गया है, तथापि प्रत्यक्ष भेद से विरोध रहते उसका निश्चय नहीं हो सकता है, अतः प्रत्यक्ष भेदविरोध के निवारण द्वारा उक्त अर्थ को स्थूणानिखनन न्याय से दृढ़ करने के लिये द्वितीय परिच्छेद का आरम्भ प्रतीत होता है, यहाँ प्रामाणिक भेदवादी को प्रथम प्रतिवादी रूप खड़ा किया गया है। अतः उसका प्रश्न है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध रहते सब भेद से रहित अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष जो सबसे प्रबल प्रमाण है, उसीसे 'यह इससे भिन्न है' इस प्रकार से नील, पीतादि के भेद को निश्चय करते हैं। यहाँ यदि मत (विचार)

अथ मतम्—किं प्रत्यक्षं भेदमेव गोचरयति? उत वस्त्वपि? तदापि भेदपूर्वकं तद्गोचरयेत्? तत्पूर्वकं वा भेदम्? युगपदेव वोभयम्? नाद्यः; धर्मिप्रतियोगिवस्तुप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। अत एव न भेदग्रहपूर्वको वस्तुग्रहः। नच वस्तुग्रहपुरस्सरो भेदग्रहः; बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात्। नापि युगपदुभयग्रहः; कार्यकारणबुद्ध्योर्यौगपद्यायोगात्। धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिर्हि भेदप्रतिपत्तेः कारणम्, सन्निहितेऽपि धर्मिण्यसन्निहितप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदप्रतिपत्तिव्यतिरेकस्य वादिप्रतिवादिनोः संमतत्वादिति मैवम्; स्वरूपभेदवादिनं प्रत्येतेषां विकल्पानामनवसरदुःस्थत्वात्, वस्तु-

---

विकल्प्य दूषयद्भिर्भेदग्राहित्वमेव प्रत्यक्षस्य नास्तीत्युक्तम्, तदनुवदति पूर्ववादी—**अथ मतमिति**। वस्त्वेवेति तु पक्षस्तदनर्थबीजमिति परित्यक्तः। धर्मिप्रतियोगिरूपं वस्तु धर्मिप्रतियोगिवस्तु। इदमेव दूषणमुभयग्रहेऽपि भेदग्रहपूर्वकवस्तुग्रहपक्षेऽप्यतिदिशति—**अत एवेति**। कार्यकारणभावमेवोपपादयति—**धर्मिप्रतियोगीति**। ननु यद्यपि भेदप्रतिपत्तिसमये धर्म्यादिज्ञानमन्वेति, तथापि न तावता कारणत्वं शक्याध्यवसायम्, व्यतिरेकाभावादितरथा नभसोऽपि निमित्तकारणतापतात्, अस्ति ह्यन्वय इति, तत्राह—**सन्निहितेऽपीति**। तमिममनूदितं पक्षं प्रतिक्षिपति—**मैवमिति**।

हो कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' क्या भेद को ही विषय करता है, अथवा वस्तु = अनुयोगी प्रतियोगी को भी विषय करता है, तदापि (वस्तु के ग्रहण काल में भी) भेदपूर्वक वस्तु को विषय करता है, या वस्तुपूर्वक भेद को विषय करेगा। यहाँ प्रथम पक्ष (भेदमात्र का ग्रहण) नहीं बन सकता है, क्योंकि धर्मी = अनुयोगी और प्रतियोगी, के ज्ञान के बिना भेद को जानना अशक्य है, अत एव भेद के ग्रहणपूर्वक वस्तु के ग्रहण को भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वस्तु के ज्ञान के बिना प्रथम भेद का ग्रहण ही नहीं होगा, तो तत्पूर्वक वस्तु का कैसे ग्रहण होगा। वस्तु के ग्रहणपूर्वक भेद का ग्रहण हो, यह पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विरामपूर्वक बुद्धि का व्यापार नहीं होता है, अर्थात् एक ही ज्ञान प्रथम वस्तु को ग्रहण करके फिर भेद को ग्रहण करे, ऐसी शक्ति ज्ञान में नहीं है ऐसा हो तो एक ज्ञान ठहर-ठहर कर सबका प्रकाश करे, ज्ञानान्तर की आवश्यकता ही नहीं हो। एक काल में दोनों का ग्रहण हो, यह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि कार्यकारण रूप ज्ञान की समकालता का असम्भव है। धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान भेदज्ञान का कारण है, भेदज्ञान कार्य है, अतः कारण को कार्य से अव्यवहित पूर्व काल में होना चाहिये, एक काल में नहीं। धर्मी के सन्निहित रहते भी, असन्निहित प्रतियोगी के ज्ञान के बिना भेदप्रतीति के अभाव को वादी-प्रतिवादी दोनों मानते हैं, अतः धर्मीप्रतियोगी दोनों के ज्ञान में भेदज्ञान की कारणता निश्चित है। 'अत्र प्रामाणिक' भेदवादी कहते हैं कि ऐसा प्रश्न विचार

ग्रहस्यैव भेदग्रहत्वात्। न च वस्तुस्वभावस्यैव भेदत्वे तद्ग्रहस्य प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गः; वस्तुस्वभावतया भेदस्यानपेक्षदृष्टिदृष्टस्य सविकल्पके व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षत्वोपपत्तेः। दृश्यते हि प्रादेशमात्रपरिमाणवस्तुनोऽनपेक्षदृष्टिदृष्टस्य ह्रस्वं दीर्घमिति सविकल्पके व्यवहारे न्यूनाधिकपरिमाणवस्तुग्रहसापेक्षता। न च धर्मभेदवादिनं प्रत्यप्येते विकल्पाः प्रसरमर्हन्ति; युगपदुभयग्रहेऽपि विरोधाभावात्। असन्निहिते धर्मिणि प्रति-

---

किं वस्तुस्वरूपमेव भेद इति तस्य मतं प्रतीमानि दूषणान्युच्यन्ते ? किं वा धर्मभेदवादिनं प्रति ? प्रथमे चौरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायः, उच्यमानदूषणानां तदविषयत्वादित्याह—**स्वरूपभेदेति**। ननु वस्तुस्वभावत्वमेव भेदस्य न घटते, तथा सति घटस्वभाववदेव प्रतियोग्यनपेक्षितत्वप्रसङ्गात्, प्रतियोगिसापेक्षश्च सर्वत्र भेदः प्रतीयत इति, तत्राह—**न च वस्तुस्वभावस्येति**। अत्र यदि वस्तुस्वभावो भेदः स्यात्तर्हि सापेक्षप्रतीतित्वं न स्यादिति ह्यापादनम्, तच्चायुक्तम्, वस्त्वेव भेद इति वदन्तं मां प्रति व्याप्त्यसिद्धेः प्रशिथिलमूलत्वादित्याह—**वस्तुस्वभावतयेति**। प्रतीतिविशेषो व्यवहारविशेषप्रयुक्तः, न वस्त्वतिरेकप्रयुक्त इति भावः। अथैवमापाद्यते—यदि हि निरपेक्षदृष्टिदृष्टं स्यात्, नस्यात्तर्हि सापेक्षदृष्टिदृष्ट इति, तत्रापि प्रशिथिलमूलतामाह—**दृश्यते हीति**। दीर्घमिति व्यवहारे न्यूनवस्तुग्रहापेक्षा, ह्रस्वव्यवहारे त्वधिकग्रहापेक्षा। अधिकत्वं चात्र दीर्घत्वं विवक्षितमित्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयः, नेत्याह—**न च धर्मभेदवादिनमिति**। ननु कथं युगपदुभयग्रहः ? यावता कार्यकारणभावस्तदुभयग्रहयोर्वर्णितः, असन्निहितप्रतियोगिस्थले स्थितव्यतिरेकत्वादिति तत्राह—**असन्निहिते धर्मिणीति**। यथा हि—विभिन्नेन्द्रियग्राह्यसन्निहित-

---

या शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि स्वरूपभेदवादी के प्रति इन विकल्पों की अनवसरता से विकल्प दूरस्थ है, वस्तु का ग्रहण ही भेद का ग्रहण होता है। यदि कहा जाय कि वस्तुस्वभाव (स्वरूप) ही भेद हो, तो भेदज्ञान में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये, तो कहा जाता है कि—प्रथम वस्तुस्वभावस्वरूप' से अनपेक्ष दृष्टि से दृष्ट (प्रत्यक्ष) भेद के सविकल्पक = विशेषधर्मविषयक, व्यवहार में प्रतियोगिसापेक्षत्व की सिद्धि होती है, ज्ञान में नहीं। अनपेक्ष दृष्टि से दृष्ट प्रादेशमात्र (वितस्तिमात्र) वस्तु के ह्रस्व-दीर्घ इसप्रकार के विकल्पक व्यवहार में न्यूनाधिक परिमाण वाली वस्तु के ग्रहण की अपेक्षा देखी जाती है, स्वरूपमात्र के ग्रहण में नहीं, ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। धर्मी वस्तुस्वरूप भेद को नहीं मानकर वस्तु के धर्मरूप भेद को मानने वाले भेदवादी के प्रति भी ये पूर्वोक्त विकल्प नहीं प्राप्त हो सकते हैं। क्योंकि एक काल में वस्तु और अभाव (भेद) दोनों के ग्रहण होने पर भी विरोध का अभाव है, क्योंकि धर्मी या प्रतियोगी के

योगिनि वा युगपदुभयग्रहाभावेऽपि सन्निहितस्थले दण्डी देवदत्त इतिवदपर्यायमेवोभयग्रहोपपत्तेः। न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वादनवस्थादोषापत्तिः; मूलक्षतेरभावात्, 'मूलक्षतिकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषणम्' इति न्यायात्।

ननु धर्मपक्षेऽपि धर्मिणो भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगितायां परस्पराश्रयदोषः, स्तम्भात्कुम्भस्य भेदसिद्धौ, कुम्भात्स्तम्भस्य भेदसिद्धिरिति।

विशेषणविशेष्यज्ञानयोर्विशिष्टज्ञानपूर्वभावित्वेऽप्येकेन्द्रियग्राह्यसन्निहितस्थले पूर्वभावित्वं नास्थीयते, तत्कस्य हेतोः ? व्याप्तेः संकोचात्, व्याप्तिसंकोचश्च दर्शनबलादेव, तथेहाप्यसन्निहितस्थले पौर्वापर्यदर्शनेन वस्तुभेदयोरग्निविशिष्टपर्वतवत् प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि सन्निहितस्थले योगपद्यं भवतु, को दोषः ? इत्यर्थः। **मूलक्षतेरिति।** मूलं प्राथमिकभेदप्रतीतिस्तत्क्षतेरभावादज्ञायमानानामेव भेदानां प्रथमभेदोपपादकत्वादित्यर्थः।

धर्मभेदपक्षे धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोः परस्पराश्रयदोषमाशङ्कते—**ननु धर्मपक्षेऽपीति।** परस्पराश्रयमेवाभिनयति—**स्तम्भादिति।** ननु न भेदेन प्रतिपन्नस्य

असन्निहित (दूर) रहते, एक काल में दोनों के ग्रहण के अभाव होते भी धर्मी प्रतियोगी के सन्निहित स्थान में 'दण्डी देवदत्तः' इसके समान (अपर्याय) युगपद् ही दोनों को ग्रहण (ज्ञान) की सिद्धि होती है। अर्थात् विभिन्नेन्द्रियग्राह्य असन्निहित विशेषण-विशेष्य के ज्ञान की विशिष्ट ज्ञान से प्रथम स्थिति रहती है, क्योंकि वैसे स्थान और विशेष्य के ज्ञानविशिष्ट ज्ञान के हेतु होते हैं, परन्तु एकेन्द्रिय से ग्राह्य सन्निहित स्थान में विशेषणादि ज्ञान में पूर्वकाल भावित्व नहीं मानते हैं, क्योंकि दण्डी इस ज्ञान में विशेषणविशेष्यविशिष्ट ज्ञानों में समकालिकत्व देखा जाता है। यदि कहें कि धर्मभेदवाद में तत्तत् भेदों को भेदान्तर से भेद्यत्व (भेदवत्त्व) होने के कारण अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। अर्थात् धर्म रूप भेद धर्मी से भिन्न होगा, तो भेद वाला होने से भिन्न कहा जायगा, तो फिर जिस भेद से भेद वाला होगा, वह भी अपने धर्मी भेद से भिन्न होगा, तो इस प्रकार से अनवस्था होगी, तो कहा जाता है कि मूल क्षति के अभाव से यह अनवस्था दोष स्वरूप नहीं है, क्योंकि मूलक्षतिकारिणी अनवस्था को दूषण रूप कहते हैं, ऐसा न्याय माना गया है। पहिली भेद की प्रतीति मूल है, अज्ञात भी आगे के भेद उस प्रथम भेद के साधक होते हैं, अतः मूल की क्षति नहीं होती है।

फिर भी यदि शङ्का हो कि, धर्मभेद पक्ष में भी धर्मी=अनुयोगी, से भेदपूर्वक (भिन्न स्वरूप से) प्रतिपन्न (निश्चित) को प्रतियोगिता हो तो परस्पराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष प्राप्त होता है क्योंकि स्तम्भ (अनुयोगी) से कुम्भ के भेद

अप्रतिपन्नभेदस्य तु प्रतियोगितायां दुष्परिहरः स्वात्मनोऽपि तत्प्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्; विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपेण च स्फुरतोर्धर्मिप्रतियोगित्वोपपत्तौ एकस्मिन् भेदग्रहप्रसङ्गाभावात्। ननु क्षीरनीरयोर्विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपग्रहणे भेदग्रहो न दृश्यत इति चेत्, मैवम्; तत्र समानाभिहारलक्षणदोषप्रतिबन्धादेव तदग्रहोपपत्तेः। एतेन दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्गः प्रत्युक्तः।

उक्तञ्च—

प्रतियोगिता, येनायमनन्तरो दोषः प्रसृज्येत, अपि तु स्वरूपेण प्रतीतस्येति, तत्राह— **अप्रतिपन्नेति**। तदेतत्परिहरति—**मैवमिति**। न स्वरूपेण प्रतीतिमात्रं विवक्षितम्, अपितु विद्यमानभेदत्वमपि। तथाच स्वस्य स्वस्मात्तदभावान्न भेदग्रहप्रसङ्गः, नाप्यन्योन्याश्रयतेत्यर्थः। तदप्यप्रयोजकमिति शङ्कते—**ननु क्षीरेति**। समानैरभिहारोमिश्रणम्; प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादो न कारणत्वं विहन्तीति भावः। यच्च विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण प्रतीतेः प्रतियोगित्वधर्मित्वप्रयोजकतायां दूषणं कैश्चिद् उच्यते, दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्ग इति, तत्राप्युक्तं परिहारमतिदिशति— **एतेनेति**।

की सिद्धि होने पर, कुम्भ (प्रतियोगी) से स्तम्भ के भेद की सिद्धि होगी। और धर्मी से अनिश्चित भेद वाले को प्रतियोगिता हो, तो अनुयोगी को भी वह प्रतियोगिता प्राप्त होगी। अर्थात् अपने स्वरूप में अपना भेद प्राप्त होगा (आप अपने से भिन्न होगा) यह सम्भव नहीं। तो कहा जाता है कि—यह शङ्का युक्त नहीं। क्योंकि विद्यमान भेद वाले को ही स्वरूप से ज्ञात होने पर धर्मित्व प्रतियोगित्व की सिद्धि होती है, वहाँ स्वरूप से ज्ञान में अन्योन्याश्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती है, और एक अनुयोगी के स्वरूप में विद्यमान भेद के अभाव से भेदग्रहण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि विद्यमान भेद वाले क्षीर-नीर के स्वरूप के ज्ञान होने पर भी पृथक् प्रतियोगित्व-अनुयोगित्व के ज्ञान बिना भेद का ज्ञान नहीं देखा जाता है, इसीप्रकार अन्यत्र स्वरूप से स्फुरणमात्र से भेद का ग्रहण नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वहाँ दूध-पानी के भेदग्रहण में समानाभिहार (समस्वभाव-वालों के मेल) रूप दोष से प्रतिबन्ध होने ही से भेद के अज्ञान की सिद्धि होती है, स्वरूपमात्र के ग्रहण से नहीं। इसीसे दूरस्थ वनस्पतियों के भी स्वरूपग्रहण से उनके भेद का भी ग्रहण होना चाहिए, यदि स्वरूपग्रहण से कहीं भेद का ग्रहण होता है तो यह भेदग्रहण का प्रसङ्ग भी निरस्त हो गया, क्योंकि वहाँ भी दूरता दोष भेदग्रह में प्रतिबन्धक हो जाता है।

कहा भी है कि—

'अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च' ।। इति (सां.का. ७)

किं चैकस्यामेव निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपत्प्रतिभासे सत्येकं भेदिनं प्रतियोगीकृत्यैतस्मादयं भिन्नस्सविकल्पकबोधोपपत्तौ कुतः परस्पराश्रयो दोषः ? एतेन भेदभेदिनोर्भेदान्तरप्रतीतिमन्तरेण विशेषण-विशेष्यभावासंभवाद् भेदस्य विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा प्रतीतिनियमा-दनवस्था मूलक्षयकरी स्यादित्यपि प्रत्युक्तम् ; विद्यमानभेदयोः स्वरूपेण

अत्र च प्रतिबन्धमात्रमतिदेश्यमतिदूरत्वप्रतिबद्धत्वात्तयोः । **अतिदूरादिति** । अतिदूराद् गिरिशिखरवर्तितर्वादौ, अतिसामीप्याल्लोचननिलीनसलिलबिन्द्वादौ, इन्द्रियघातादन्धादेः, मनोऽनवस्थानात्तीव्रदुःखाद्युदये, अतिसौक्ष्म्यात्परमाण्वादौ, व्यवधानादपवरकान्तरवर्त्तिषु, अभिभवाद्दिवादीपादौ, समानाभिहारान्नीराशये नीरदमुच्यमान-नीरेषु यथावद्ग्रहणप्रतिबन्धो भवति । चस्त्वनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन दुग्धादिषु दध्या-देरनुद्भवादग्रहोऽपि गृहीतः । तेन नानुपलब्धिमात्रादतीन्द्रियप्रधानाद्यपलाप इति सांख्यार्यार्थः ।

प्रकारान्तरेण परस्पराश्रयं परिहरति—**किंचैकस्यामेवेति** । यदि धर्मि प्रति-योगिसापेक्ष एव सर्वदा भेदः प्रतिभायात्तदा स्यादयं दोषः, नत्वेतदस्ति, निर्विकल्प-कसंविदि निरपेक्षप्रतीतिसंभवादित्यर्थः । यच्च कैश्चिदुच्यते—विशेषणतया विशेष्य-तया वा सर्वत्रः भेदः प्रतीयते, तच्च द्वयं भेदेन प्रतीतस्य । तथाच विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा प्राथमिकभेदप्रतीतिर्भेदान्तरप्रतीतिपूर्विका, तदपि भेदान्तरं तथैवे-त्यनन्तभेदप्रतीत्यापत्त्या मूलक्षतिकारिण्येवानवस्थेति; तदप्युक्तेन परिहृतमित्याह—**एतेन भेदभेदिनोरिति** । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**विद्यमानेत्यादि** ।

अतिदूरता, अतिसमीपता, इन्द्रिय का नाश, मन की चञ्चलता, अति सूक्ष्मता, व्यवधान, बलवत्तेज आदि से अभिभव, समानाभिहार से विद्यमान वस्तु आदि के ज्ञान नहीं होते हैं ।

यदि धर्मी प्रतियोगी के ज्ञानपूर्वक ही भेदज्ञान का नियम हो तो अन्योन्याश्रय हो सकता है, परन्तु ऐसा नियम नहीं है, अतः एक ही निर्विकल्पक ज्ञान में भेद और भेदवाले के युगपद (एक साथ) प्रतिभास (प्रकाश) होने पर, फिर एक भेद वाले को प्रतियोगी मानकर यह इससे भिन्न है, इसप्रकार के सविकल्पक ज्ञान की सिद्धि होते परस्पराश्रय दोष किससे हो सकता है ? इसीसे यह भी प्रत्युक्त (खण्डित) हो गया कि जो कोई कहते हैं कि भेद की विशेषण रूप से या विशेष्य रूप से प्रतीति का नियम है, और भेद भेदी के भेदान्तर की प्रतीति के बिना विशेषण-विशेष्यभाव का असम्भव है, अतः मूलक्षयकरी अनवस्था होगी, यह इससे प्रत्युक्त हुआ कि,

स्फुरतोरेव धर्मिप्रतियोगित्ववद् विशेषणविशेष्यभावस्याप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्यक्षप्रमितिगोचरो भेदः ।

अनुमानमपि लिङ्गविशेषात् लिङ्गिविशेषप्रत्यायकत्वाद्भेदे प्रमाणम् । आगमोऽपि शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणप्रक्रियानामधेयैः कर्मोपासनादिभेदमेव बोधयति । उपमानमपि प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टपरोक्षगोविषयमनेन सदृशी मदीया गौरिति भेदमेव गृह्णाति । अर्थापत्तिरपि 'तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधि' इति व्यवस्थान्यथानुपपत्तिप्रभवाभेदमेवालिङ्गते । योग्यानुपलब्धिरप्यन्योन्याभाव लक्षणं भेदं बोधयत्येव । तदेवं भेदग्राहकप्रत्यक्षादिविरोधान्नाद्वैतं प्रतिपादयितुमर्हन्ति वेदान्ताः । प्रयोगश्च—घटः घटनिष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदाश्रयः दृश्यत्वात् पटवत् । अत्राभिदध्महे--

---

एवं प्रत्यक्षगम्यत्वं भेदस्योक्त्वाऽनुमानादिरपि भेद गमयतीत्याह—**अनुमानमपीत्यादिना** । सुरभिधूमेन चन्दनदहनानुमानमितरव्यावृत्तवस्तूनि प्रमाणमित्यर्थः । शब्दान्तराद्यधिकरणान्यनुक्रान्तानि प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे । यद्यप्युपासनान्यपि कर्मैव, तथापि मानसत्ववैषम्येण भेदेन निर्दिष्टानि । आदिशब्देन निर्गुणविद्याया इतरेभ्यो भेदसंग्रहः । उक्तलक्षणमेवोपमानं दर्शयति—**अनेन सदृशीति** । अन्योन्याभावः इत्युपलक्षणम्, भूतलादौ घटादिसंसर्गाभावस्यापि बोधकत्वात् । अत्र च साक्षादेव प्रमेयो भेदः, भविष्यन्ति चैतेषां प्रमाणानां लक्षणानि तत्तत्खण्डनसमये । भेदसत्यत्वेऽप्यनुमानं मानमाह—**प्रयोगश्चेति** । व्याख्यातं चैतत्प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे पूर्वपक्षावसरसमये ।

जैसे विद्यमान भेद वाले के प्रथम स्वरूप से स्फुरण ज्ञान होने पर ही फिर धर्मित्व प्रतियोगित्व की प्रतीति होती है । इसीप्रकार से प्रथम स्वरूप से प्रतीति होने पर विशेषणविशेष्य भाव की सिद्धि होगी, इसलिए अनवस्था नहीं होगी । अतः उक्त रीति से प्रत्यक्षप्रमा का विषय भेद सिद्ध हुआ ।

लिङ्गविशेष हेतु, विशेषीलिङ्गी विशेष का बोधक होता है, अतः अनुमान भी भेद में प्रमाण है । अर्थात् सुगन्ध धूम से चन्दनादि की अग्नि का अनुमान, इतर से व्यावृत्त साध्य का बोधक होता है । शब्दान्तर अभ्यास, संख्या, गुण, प्रकरण, नाम द्वारा आगमी कर्म उपासना आदि के भेद को ही समझता है । प्रत्यक्ष दृष्ट गवय सादृश्य युक्त परोक्ष गोविषयक उपमान भी इसके सदृश मेरी गौ है, इसप्रकार से भेद का ही ग्रहण करता है । तिलों से ही तैल होता है, दूध से ही दधि होता है, इसप्रकार की व्यवस्था की अनुपपत्ति से जन्म वाली अर्थापत्ति भी भेद को ही आश्रयण करती है । अन्योन्याभाव रूप योग्यऽनुपलब्धि भी वृक्षादि में पिशाचादि के भेद को बोध कराती ही है । अतः इस प्रकार से भेद के बोधक प्रत्यक्षादि के साथ विरोध होने से वेदान्त अद्वैत का प्रतिपादन नहीं कर सकता है । इस विषयक प्रयोग भी है कि (घट, घटवृत्ति मिथ्या भेद से भिन्न भेद का आश्रय है, दृश्य होने से, पटवत्) । यहां सिद्धान्त कहते हैं कि—

सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः ।
एकाभावादसंदेहान्न रूपं वस्तुनो भिदा ॥ १ ॥

न तावत्स्वरूपं भेदः; प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गात्। न च प्रादेशमात्रपरिमाणस्य ह्रस्वदीर्घादिव्यवहार इव सविकल्पकव्यवहारे भेदस्यापि प्रतियोगिसापेक्षत्वम्; वैषम्यात्। तथाहि—प्रादेशमात्रपरिमाणं स्वतो न्यूनाधिकपरिमाणाभ्यामेकद्रव्यसमवायविरोधिधर्मद्वयविशिष्टतयोपलम्भे प्रतियो-

---

स्वरूपभेदपक्षे दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**सापेक्षत्वादिति**। न रूपं वस्तुनो भिदेत्यनेनैषां हेतूनामन्वयः। सापेक्षप्रतीतिकत्वाद् भेदस्य, वस्तुनश्च निरपेक्षप्रतीतिकत्वात्। तथा सावधेः सप्रतियोगिकस्य भेदस्य तत्त्वे वस्तुस्वरूपत्वे सति तद्द्वारा प्रतियोगिनामपि धर्मिस्वरूपत्वाददद्वैतप्रसङ्ग इति द्वितीयो हेतुः। तथाविदारणात्मकस्य भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वे तस्यापि विदीर्णतयैकाभावात् तन्निमित्तानेकाभावाच्च शून्यतापातादिति तृतीयो हेतुः। तथा स्वरूपत्वे भेदस्य धर्मिणि दृष्टमात्र एव तत्स्वरूपभेदोऽपि, दृष्ट इति संदेहो न भवेत्। उपलक्षणं चैतत् विपर्ययस्यापि। विशेषाग्रहनिबन्धनौ हि तौ तद्ग्रहणे न स्यातामिति चतुर्थो हेतुः। एतेभ्यो हेतुभ्यो न स्वरूपं वस्तुनो भिदा भेद इति श्लोकयोजना।

श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। पूर्वपक्ष्याशयमुन्मूलयति—**न चेति**। वैषम्यमेव विवृणोति—**तथाहीति**। स्वतो न्यूनपरिमाणेन स्वतोऽधिकपरिमाणेन च नह्येकद्रव्ये समवायविरोधि यद्धर्मद्वयं दीर्घत्वह्रस्वत्वात्मकम् अस्य प्रादेशमात्रपरिमाणस्य तद्विशिष्टतया प्रतीतावेव प्रतियोग्यपेक्षा, न स्वरूपमात्रप्रतीताविति न भेदस्यो-

---

भेद के प्रतियोगी सापेक्ष होने से तथा सावधिक होने से भेद वस्तु का स्वरूप नहीं है, और सावधि भेद को भी यदि तत्त्व (वस्तुस्वरूपत्व) हो, तो भेद द्वारा प्रतियोगी भी धर्मी में प्रविष्ट होगा कि जिससे अद्वैत का प्रसङ्ग होगा। और भेदात्मक वस्तु के होने पर सर्वत्र एक का अभाव प्राप्त होगा, और स्वरूप के ज्ञान से तदात्मक भेद के ज्ञात होने से स्वरूप के ज्ञान होने पर भेदविषयक संशय नहीं हो सकेगा। अतः भिदा (भेद) वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता है ॥ १ ॥

भेद वस्तुस्वरूप नहीं है, क्योंकि यदि वस्तुस्वरूप भेद होगा तो उसमें प्रतियोगी की अपेक्षा से रहितत्व प्राप्त होगा, वस्तुस्वरूप प्रतियोगी अपेक्षारहित रहता है, यदि कहा जाय कि पूर्ववर्णित रीति से निर्विकल्पक ज्ञानकाल में भेद को प्रतिसापेक्षत्व नहीं रहता है किन्तु प्रादेशमात्र परिमाण को ह्रस्व, दीर्घादि व्यवहार के समान सविकल्पक व्यवहार में भेद को भी प्रतियोगी सापेक्षत्व होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में दार्ष्टान्ति से विषमता है। क्योंकि अपने से न्यूनाधिक परिमाणों के साथ, एक द्रव्य में समवाय के विरोधी ह्रस्वत्व,

गिनमपेक्षते इत्यस्त्येव तत्र मेयभेदः। प्रकृते तु न तथा, स्वरूपस्यैव भेदत्वात्। यदि चास्मादयं भिन्न इति प्रतियोगिघटिततया प्रतीयमानो भेदो वस्तुनः स्वरूपं स्यात्, तदा तस्य सपरिकरस्य भेदस्य स्वरूपेऽन्तर्भावात् प्रतियोगिनोऽपि स्वरूपतया निमज्जनादद्वैतमेव पर्यवस्येत्। अथ प्रतियोगी भेदस्य स्वरूपे नान्तर्भूतः, किन्तु तटस्थ एव तन्निरूपकस्ततो नाद्वैतापत्तिरिति, मैवम्; प्रतियोगिनो भेदस्वभावानन्तर्भावेऽपि स्वभावभूतस्य भेदस्य वस्तुस्वभाववदेवान्यनिरूप्यत्वानुपपत्तेः। किंच कुम्भं प्रति स्तम्भस्य यत्प्रतियोगित्वं तदपि स्तम्भस्य स्वरूपेऽन्तर्भूतं चेत्कुम्भस्यापि स्तम्भात्मना पर्यवसानादद्वैतापत्तिः। धर्मत्वे च कुम्भोऽपि स्तम्भधर्मतामनुप्रविशेत्,

---

दाहरणं तदित्यर्थः। सावधेश्चेत्यादि द्वितीय हेतुं विवृणोति--**यदि चेत्यादिना**। **घटिततयेति**। विशिष्टतयेत्यर्थः। ननु न प्रतियोगिविशिष्टो भेदः, किंतु तदुपलक्षितः, तेन भेदस्य धर्मिस्वभावत्वेऽपि न प्रतियोगिनस्तदनन्तर्भूतस्य धर्मिस्वभावतेत्याह–**अथ प्रतियोगीति**। परिहरति–**मैवम्; प्रतियोगिन इति**। तदानीमद्वैतप्रसङ्गाभावेऽपि धर्मिवदेव तत्स्वरूपभूतभेदोऽपि न प्रतियोगिनिरूप्य; स्यादित्ययमेव दोषः स्यादित्यर्थः। तथा स्तम्भस्य यदिदं कुम्भं प्रति प्रतियोगित्वं नानावधिघटितम्, तदपि स्तम्भस्य स्वरूप धर्मो वा। आद्ये सावधेस्तस्य तत्त्वे स्वभावत्वेऽद्वैतप्रसङ्गः। कुम्भस्यापि प्रतियोगित्वान्तर्भूततया स्तम्भान्तःपातित्वादिति योजनान्तरं विवक्षन्नाह–**किंच कुम्भमिति**। द्वितीये दूषणमाह—**धर्मत्व इति**। ननु कुम्भविशेषितप्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वेऽपि न विशेषणीभूतकुम्भस्य स्तम्भधर्मता, तथा लोके दर्शनाभावा-

---

दीर्घत्व रूप धर्मद्वय विशिष्ट रूप से अपनेविषयक ज्ञान के होने पर प्रादेशमात्र परिमाण प्रतियोगी की अपेक्षा करता है, अतः वहाँ स्वरूपप्रतीति में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होती है, उससे भिन्न मेय (ज्ञेय) है कि जिसकी वहाँ अपेक्षा होती है, प्रकृत में तो वैसा नहीं है, स्वरूप ही भेद है, उसमें अन्य की अपेक्षा नहीं हो सकती है। और इससे यह भिन्न है इस प्रकार से प्रतीति का विषयभेद प्रतियोगीघटित (युक्त) होता हुआ अनुयोगी वस्तु का स्वरूप हो, तो उस सपरिकर = सविशेषण = प्रतियोगी युक्त, भेद के अनुयोगी के स्वरूप के अन्तर्भाव होने से प्रतियोगी की भी अनुयोगी स्वरूपता से अनुयोगी स्वरूप में निमज्जन (लय) होने से अद्वैत ही सिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि प्रतियोगी भेद के स्वरूप में अन्तर्गत नहीं होता है, किन्तु तटस्थ रह करके ही उस भेद का निरूपक (परिचायक) होता है, अर्थात् भेद का उपलक्षण होता है, विशेषण नहीं। अतः उपलक्षित भेद के स्वरूपमात्र होते भी प्रतियोगी पृथक् रहता है, अत एव अद्वैतापत्ति नहीं होती है, तो यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि इस प्रकार से प्रतियोगी को भेदस्वभाव (स्वरूप) के अनन्तर्भाव होते भी स्वभाव स्वरूप भेद के वस्तुस्वभाव के समान ही,

कुम्भविशेषितस्य प्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वात् । अथ विशेष्यांशस्य धर्मतायामपि न विशेषणस्य तद्धर्मता देवदत्तश्चित्रगुरित्यादौ बहुव्रीहिसमासाभिहितस्वामित्वस्य देवदत्तधर्मतायामपि गवां चित्रतायाश्च देवदत्ताद्भिन्नत्वेन धर्मत्वादर्शनादिति, सत्यम् ; एषा विभीषिका तदा समुन्मिषेद्यदि लोके क्वापि कमपि भेदं परमार्थसत्यमभ्युपगच्छेम । यदा पुनरद्वैतमेव परमार्थमवलम्ब्य समस्तं भेदजातं प्रत्याचिख्यासामः, तदा घटस्य स्तम्भधर्मतायां गवां देवदत्तधर्मतायां वा कं विशेषमवलोकयसि ? येनैवमुपालंभसे । दृष्टचरं चैतत् विशिष्टस्य धर्मतायां विशेषणानामपि तद्धर्मत्वं तेषु तेषु

दिति शङ्कते—**अथ विशेष्यांशस्येति** । चित्रगुरित्यत्र चित्रा गावो यस्येति षष्ठ्या स्वामित्वं देवदत्तस्य विशेषणीभूतमभिधीयते, स्वाम्यस्य विशेषणं चित्रा गावः, चित्रगवां स्वामीति, तत्र चित्रगवां न देवदत्तविशेषणत्वं स्वविशेष्यस्वाम्यस्य तद्विशेषणत्वेऽपि, तद्वदित्यर्थः । देवदत्तादिति स्वामित्वपरं धर्मिणो धर्मलक्षणया, भिन्नत्वेनेति च युतसिद्धिपरम् । यस्य भेदमात्रमेवाप्रामाणिकमविद्याविजृम्भितमत एव प्रत्युक्तविशेषणादिव्यवहारोऽपि तादृश इति मतम्, तस्य कथं पक्षविशेष एव व्यभिचारभूमिः स्यात् ? इति परिहरति—**सत्यम् ; एषेत्यादिना** । किंचादर्शनादिति कोऽर्थः ? किं नियमेन ? किं वा क्वचिदपि ? अन्त्ये व्याप्त्यभावादशक्यप्रसञ्जनमिति, तत्र क्वाचित्कादर्शनमतिप्रसञ्जकम् । प्रथमस्त्वसिद्ध इत्याह—**दृष्टचरं चैतदिति** । अत्र हि भावत्वादि विशेषणं कृतकत्वादेः । इतरथा विशेषणविशेष्या-

---

अन्य प्रतियोगी से निरूप्यत्व नहीं हो सकता है । और कुम्भरूप अनुयोगी भेदस्वरूप के प्रति जो स्तम्भ की प्रतियोगिता है, वह भी यदि स्तम्भ के स्वरूप के अन्तर्भूत है तो कुम्भ को भी स्तम्भरूपता से सिद्ध होने के कारण अद्वैततापत्ति होगी । वह प्रतियोगित्व यदि धर्म है, स्तम्भ के अन्तर्भूत नहीं है, तो कुम्भ भी स्तम्भ धर्मता में विशेषण रूप से प्रविष्ट होगा, क्योंकि कुम्भविशेषण युक्त प्रतियोगित्व को स्तम्भधर्मत्व होता है । यदि कहें कि विशेष्यांश प्रतियोगित्व की धर्मता होने पर विशेषांशनिरूपक प्रतियोगी की तद्धर्मता नहीं होती है, अत एव (चित्रगुर्देवदत्तः) चित्रगौवाला देवदत्त है, इत्यादि में बहुव्रीहि समास से कथित स्वामित्व में देवदत्तधर्मता होते भी स्वामित्व के विशेषण गौ, गौ का विशेषण चित्रा में देवदत्त से भिन्नता के कारण देवदत्त के धर्मत्व नहीं देखा जाता है । तो यह कहना सत्य है । परन्तु यह विभीषिका (डराना) तब उत्थित हो सकती है, यदि लोक में कहीं भी किसी भी भेद को परमार्थसत्य हम मानते हों, जब हम परमार्थ अद्वैत का अवलम्बन करके समस्त भेदसमूह का प्रत्याख्यान करना चाहते हैं, तो घट की स्तम्भधर्मता में या गौओं की देवदत्त धर्म में किस विशेष को देखते हो कि जिससे

बहुषु स्थलेषु। तद्यथा शब्दोऽनित्यः भावत्वे सति कृतकत्वात्; नित्यः ध्वनिर्धर्मान्यित्वे सति श्रावणत्वात्, अनित्यः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वादित्यादिषु। तदेवं स्तम्भस्य कुम्भधर्मता कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेति सर्वस्यान्योन्यधर्मतायामशेषवस्तुधर्मकमेकमेव धर्मि पर्यवस्येत्, न चैवमुपलभ्यते। किंच विदारणात्मकभेदस्य भावस्वभावतायां न किंचनैकं वस्तु स्यात्। अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधात्। परमाणुरपि नैक इति न तत्समाहाररूपोऽनेकोऽपि स्यात्। भेदस्य च

सिद्धयोरभावप्रसङ्गात्। तथा शब्दस्यापि तद्विशेषणम्। तदेवं क्षुद्रोपद्रवं समाधाय, प्रकृतदूषणोपजीवनेन दूषणान्तरमाह—**कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेत्यादिना**। स्तम्भो धर्मो यस्यासौ कुम्भस्तद्धर्मा तद्भावः स्तम्भधर्मता। अयमर्थः—यदा हि स्तम्भं प्रति प्रतियोगित्वं कुम्भस्य तदा तस्य कुम्भस्वरूपत्वेऽद्वैतापातः। धर्मत्वेऽपि तद्द्वारा स्तम्भोऽपि कुम्भधर्म इत्यन्योऽन्यधर्मत्वं स्यात्तत्रश्च यद्घटारूढो यः पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति घटना स्यात्। एवमेकस्य विश्वप्रतियोगितायां विश्वधर्मकत्वं स्यात्, एवमितरेषामपि स्यात्, अतश्च न धर्मधर्मिभावादिकल्पना, अस्यामनेकधर्मकमेव वस्तु पर्यवस्येदिति। एकाभावादित्येतद्विवृणोति—**किंचेति**। तत्र हेतुः—**अभेदेति**। अभेदेन सहैकस्मिन्नर्थे वर्तत इति तथोक्ता। ननु माभूदेकम्, अनेकमेव समस्तं वस्तु, तथाच बौद्धैः स्वरूपभेदवादिभिरवयविव्यतिरेकेणैव परमाणुपुञ्जेष्वेकस्थूलादिप्रत्ययोऽभ्युपगम्यत इति, तत्राह—**परमाणुरपीति**। अथवा निरवयवपरमाणूनामविदारणात्मकत्वा-

---

ऐसा उपालम्भ करते हो। और तत्तत् बहुत स्थानों में विशिष्ट की धर्मिता होने पर विशेषणों की भी तद्धर्मिता देखी भी जाती है। जैसे कि (शब्दोऽनित्यः भावत्वे सति कृतकत्वात्) शब्द अनित्य है, भाव होते कार्य होने से। (नित्यः ध्वनिर्धर्मान्यित्वे सति श्रावणत्वात्) ध्वनि नित्य है धर्म से अन्य होता हुआ श्रावण होने से (ध्वनिः अनित्यः सामान्यत्वे सति अस्मादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्) ध्वनि अनित्य है, सामान्य वाला होता हुआ हम लोगों के बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य होने से। यहाँ कृतकत्व के विशेषण भावत्व में शब्द की धर्मता, ध्वनिधर्मान्यत्व श्रावणत्व के विशेषण में ध्वनि की धर्मता, ऐसे ही सामान्यवत्त्व में पक्षविशेषणता है, इत्यादि। अतः इसप्रकार से स्तम्भ को कुम्भधर्मता कुम्भ को भी स्तम्भधर्मता होगी, और इसप्रकार से सबमें परस्पर धर्मता होने पर अशेष वस्तु रूप धर्म वाला एक ही धर्मी सिद्ध होगा। परन्तु ऐसा उपलब्ध (ज्ञात) नहीं होता है। और विदारण (भेदन) आत्मक भेद के भाव वस्तुस्वरूप होने पर कोई एक वस्तु सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि अभेद के साथ एक अर्थ में समवायसम्बन्ध से रहने वाली एकता को भेद के साथ

वस्तुस्वभावत्वेऽन्यापेक्षत्वनिरासादेव "अन्यापेक्षं वस्तुस्वरूपं भेदो नतु केवलमतो नोक्तदोषः" इत्यपि निरस्तम्। यदि च स्वरूपं भेदस्तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टं न क्वचिदपि संशयावकाशः, तथा विपर्ययस्यापि। भेदस्वभावस्य वस्तुनस्तथैवावभासनात्तस्मान्न स्वरूपभेदे प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तथा धर्मभेदेऽपि—

युगपद्-ग्रहणायोगादनवस्थाप्रसङ्गतः।
परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः ॥ २ ॥

त्तत्समूहरूपानेकात्मकमस्तीत्याशङ्क्य तत्सरूपस्यापि भेदात्मकत्वादुक्तदोषोपपादनमनेन क्रियते। अत्र केचिदद्वैतैकाभावप्रसङ्गदूषणद्वयपरिहारायेदं वदन्ति—द्विविधं वस्तूनां स्वरूपम्, स्वारसिकमन्यापेक्षं चेति, तत्रान्यापेक्षं रूपं भेदो न स्वारसिकमिति, तत्राह—भेदस्येति। असंदेहादिति। हेतुं विवृणोति—यदि चेति। अयमर्थः—अस्ति यज्ञदत्ते दृष्टे कदाचित् दृष्टचरदेवदत्तस्य सोऽयं देवदत्तो न वेति संदेहः, तत्कस्य हेतोः? ततो भेदाग्रहात् स न स्यात्। स्वरूपभेदवादिनः स्वरूपग्रहे तन्मात्रभेदस्यापि गृहीतत्वात्, भेददर्शनेन च संदेहानवकाशात्। एवं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादौ, तथा विपर्ययोऽपि, संदेहग्रहणं विपर्ययस्याप्युपलक्षणमिति।

एवं स्वरूपभेदं दूषयित्वा धर्मभेदेऽपि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—युगपद्विति। धर्मभेदेऽपि न प्रत्यक्षा धीः प्रमाणम्, कुतः? धर्मिप्रतियोगिभेदानां युगपद्ग्रहणायोगात्, दण्डचादावपि युगपत्प्रतिपत्तेः स्वपरासंमतत्वात्, तथानवस्था-

---

विरोध रहता है, परमाणु भी एक नहीं रहेगा, अतः उसका समाहार रूप अनेक भी नहीं होगा। और भेद के वस्तुस्वभावत्व (स्वरूपत्व) होने पर, अन्यापेक्षत्व के खण्डन से ही, अन्यापेक्ष वस्तुस्वरूपभेद होता है, केवल वस्तुस्वरूप नहीं। अतः अद्वैतता आपत्ति आदि उक्त दोष नहीं है, यह कथन भी निरस्त हो गया। और यदि स्वरूप मात्र भेद है, तो धर्मी के अनुयोगी के प्रत्यक्ष होने पर स्वरूप देख ही गया, कहीं भी भेद के संशय का अवकाश नहीं रह जाता है, इसीप्रकार से विपर्यय का भी अवकाश नहीं रहता है, क्योंकि भेदस्वभाव वाली वस्तु के तथैव (उस भेद स्वभाव से ही) भासने से, उससे वह अभिन्न है ऐसा भ्रम नहीं हो सकता है, न वही देवदत्त है या अन्य है, ऐसा संशय हो सकता है। और संशय-विपर्यय होता है अतः स्वरूपभेद में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार से धर्मस्वरूप भेद में भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। क्योंकि—

धर्मी, प्रतियोगी और भेद इन तीनों का युगपत् ग्रहण नहीं हो सकता है, और अनवस्था का प्रसङ्ग है, तथा परस्पराश्रयता की प्राप्ति होती है, अतः धर्मभेद में भी अक्षधी = प्रत्यक्ष बुद्धि, प्रमाण नहीं है ॥ २ ॥

यद्यपि दण्डदेवदत्तौ तुल्योपलम्भयोग्यत्वेन युगपद् गृह्येते, तथापि न तयोर्विशेषणविशेष्यभावस्तदैव प्रत्येतुं युक्तः; विशिष्टप्रत्ययस्य विशेषणविशेष्यस्वरूपप्रत्ययाधीनत्वात्—

'विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा संकलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा॥' (न्या. ली. पृ. ७०)

इति भट्टमतानुसारिभिः स्वीकारात्। तथा तार्किकैरपि—"समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः श्वेतबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" इति काणादसूत्रात्। अस्यायमर्थः—पटसमवायिनः श्वैत्याच्छौक्लचगुणात् कर्मकारणभूतात्तस्मिन् गुणे शौक्ल्यमिति मतिरुपजायते, तस्याश्च श्वैत्यबुद्धेर्हेतोर्गुणविशिष्टे शुक्लमिदमिति बुद्धिरुपजायते, ते च बुद्धी कार्यकारणभूते इति। तथाच

प्रसङ्गतः, भेदेन प्रतीयमानयोरेव विशेषणविशेष्यभावनियमादनन्तभेदप्रतीतिं विना प्रथमभेदप्रतीतेरसंभवान्मूलक्षयाक्षतेः। तथा धर्मिप्रतियोगिनोरपि पूर्वन्यायेन प्रतीयमानयोरेव धर्मिप्रतियोगित्वप्रतीतिनियमात् भेदस्य च निर्विकल्पके निरपेक्षप्रत्यक्षत्वे स्वभावहानिप्रसङ्गेन पूर्वोक्तपरस्पराश्रयस्यापि विश्रान्तत्वादिति श्लोकार्थः।

आद्यं हेतुं विवृण्वन्पूर्वोक्तं दृष्टान्तं विघटयति—**यद्यपीति**। कः खल्वित्थं कथयेद्विशेषणादिप्रत्ययानधीना विशिष्टप्रतिपत्तिरिति? किं भट्टभुजावलम्बी? किं वा तार्किककरावलम्बी? प्रथमे भट्टाचार्यवचनविरोधमाह—**विशेषणमिति**। **लौकिकीं स्थितिमिति**। विशेषणविशेष्यत्वयोग्यतामित्यर्थः। तेन च संयोगस्य द्विष्ठत्वाद्दण्डी पुरुष इतिवत्पुरुषी दण्ड इत्यपि स्यादिति शङ्का परिहृता। संकलनमेकीकारः, स चैकज्ञानोपारोहः। द्वितीयेऽप्याह—**तथा तार्किकैरपीति**। न केवलं परैरङ्गीकरणम्,

---

यद्यपि दण्ड और देवदत्त तुल्य = एक प्रत्यक्ष ज्ञान, योग्यता के कारण युगपद् गृहीत (ज्ञात) होते हैं, तथापि उनके विशेषण-विशेष्यभाव उसी एक काल में जानने के योग्य नहीं है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान को विशेषण-विशेष्य स्वरूप ज्ञानाधीनत्व रहता है। भट्टानुयायियों ने स्वीकार किया है कि—विशेषण, विशेष्य, सम्बन्ध और लौकिक स्थिति=विशेषण-विशेष्य योग्यता को ग्रहण करके, और इनका संकलन=संमेलन, एक ज्ञानारोह करके तथा=विशिष्ट रूप से कोई जानता है, अन्यथा नहीं। तथा तार्किकों ने भी (समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः श्वेतबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते) इस काणाद सूत्र से वैसा ही माना है, इस सूत्र का अर्थ है कि—पट के समवायी तन्तुओं की श्वेतता = शौक्ल्य, गुण का ज्ञान, कर्मरूप कारण, स्वरूप से उस पट के गुण में शुक्लता की बुद्धि होती है, उस श्वैत्य बुद्धिरूप हेतु से गुणविशिष्ट पट में, यह शुक्ल है, ऐसी बुद्धि होती है, वे दोनों बुद्धियाँ परस्पर कार्यकारण स्वरूप होती हैं। इसीप्रकार से (सुरभि चन्दनम्) सुगन्ध चन्दन है। यहाँ

सुरभि चन्दनमिति सौरभस्य गुणस्य घ्राणेन्द्रियैकगोचरस्य चन्दनस्य लोचनगोचरस्यैकेन्द्रियाविषयत्वात् क्रमेण गृहीतयोरेव विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरित्यनिच्छताप्यभ्युपेयम्, तथा च सर्वत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतीतावयमेव न्याय इत्यस्मादिदं भिन्नमिति धर्मिप्रतियोगिज्ञानपुरस्सरमेव तद्विशिष्टभेदज्ञानमेष्टव्यम्', तथाच सति न युगपदुभयग्रहसंभवः। भेदभेदिनोश्च भेदेऽनवस्थापि तदवस्थैव। न चानन्तभेदाभ्युपगमेऽपि मूलक्षतेरभावादनवस्थाऽदोषाय; भेदस्य 'इदमतो भिन्नमयमनयोर्भेदः' इति वा विशिष्टत्वेनैव प्रतीतिनियमात्, भेदनैव च प्रतिपन्नस्य विशेषणत्वात्। ततश्च पूर्वपूर्वभेदप्रतीतिमन्तरेणोत्तरोत्तरभेदप्रतीतेरसंभवात् युगपदनन्तभेदप्रतीतेरयोगाच्च

युक्तिरप्यत्रास्तीत्याह—**तथा च सुरभीति**। अस्तु तर्हि विभिन्नेन्द्रियग्राह्ययोरेवम्, एकेन्द्रियग्राह्येषु का वार्तेति? तत्रापि विमतं विशिष्टप्रत्यक्षं विशेषणादिप्रत्ययोत्तरकालीनं विशिष्टप्रत्ययत्वात्सुरभिचन्दनमिति प्रत्ययवदित्यनुमानं विवक्षन्नाह—**तथा चेति**। न च भिन्नेन्द्रियजन्यत्वमुपाधिः, व्यतिरेके प्रकृतहेतुव्यतिरेकस्योपाधेः। अस्तु, प्रकृते किं स्यादत आह—**इतीति**। तदेवं युगपद्ग्रहणायोगादित्येतदुपपाद्य द्वितीयं हेतुं विवृणोति—**भेदभेदिनोश्चेति**। पूर्वपक्ष्याशयमनुवदति—**न चानन्तभेदेति**। हेतुमाह—**भेदस्येति**। प्रतीतिनियमादित्युत्तरत्रान्वयः। विशेषणादिभावेन हि भेदः प्रतीयते, न च भेदेन प्रतीतस्य, एवं द्वितीयो भेदः पूर्वभेदवद्भिन्नतया प्रतीयमान एव प्रथमं भेदं प्रति विशेषणं भवति, इयं तृतीयोऽपीत्यनन्तभेदप्रतीतिप्रसक्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्ह्यनन्तभेदप्रतीतिः, तत्राह—**युगपदिति**।

सुगन्ध गुण घ्राणेन्द्रियमात्र का विषय होता है, चन्दन नेत्र का विषय होता है, अतः दोनों को एकेन्द्रिय के विषय नहीं होने के कारण क्रम से गृहीत ही दोनों में विशेषण विशेष्य भाव की प्रतीति होती है, यह अनिच्छुक को भी मानना होगा। और ऐसा होने पर सर्वत्र विशेषण-विशेष्यभाव की प्रतीति में यही न्याय प्रवृत्त होगा, अतः यह इससे भिन्न है, इस ज्ञान को धर्मी प्रतियोगी के ज्ञानपूर्वक ही उनसे विशिष्ट भेदज्ञान मानना होगा। और ऐसा होने पर विशेषण अनुयोगी आदि और विशिष्ट भेद दोनों को एक काल में ग्रहण का सम्भव नहीं है। और भेद तथा भेदी = अनुयोगी प्रतियोगी के भेद रहते अनवस्था भी तदवस्थ है। और अनन्त भेद को मानने पर भी सब भेद की प्रतीति की अनावश्यकता से मूल भेद की क्षति नहीं होती है, अतः अनवस्था दोषावह नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि यह इससे भिन्न है या यह इन दोनों का भेद है, इस प्रकार से भेद के विशिष्ट रूप से ही प्रतीति के नियम होने से और भेदेन (भिन्न रूप से) ज्ञात में ही विशेषणता के होने से दोषावह अनवस्था होगी। क्योंकि भिन्न रूप से ज्ञात की विशेषणता से पूर्व भेद की प्रतीति के बिना उत्तरोत्तर भेद की प्रतीति के असंभव होने से और

जातैव मूलक्षतिः । अथ विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण गृहीतस्य विशेषणतोपपत्तौ

क्रमपक्षे विषयान्तरसंचारोच्छेदादिप्रसङ्गापादनार्थश्चकारः । अत्र मानमनोहरकारो नृत्यति स्म—"नच भेदानवस्था बाधिका, भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्, भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात् । न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्, दृष्टान्तभेदाविघाटे तेनोत्थाने दोषाभावात् । सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य पाकिनः खारिकातैलदातृत्वाभ्युपगम इव, दृष्टान्तभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव । उपजीव्यस्य प्रबलत्वेन बाधात्, स्वात्मव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वाच्च । एतेन दृश्यत्वादयो निरस्ताः । नचानिर्वचनीयत्वं भेदस्य, प्रमाणाभावात्"इति गायन् । तत्र तावद्भेदानवस्थाया बाधकत्वम्, उक्तरीत्या मूलक्षयकरित्वादित्यवेहि । न च व्यवहारादर्शनात्प्रसञ्जकाभावः, घटो भिन्नो घटस्य भेद इति विशेषणविशेष्यभावेन भेदव्यवहारस्यैव विहस्तस्य समस्ताधस्तनभेदपद्धतिप्रसञ्जकत्वात् । ननु तर्ह्ययमेवानन्तभेदान्कल्पयन्नारूढमूलः प्रौढो भवेत् ; न जानीमः किमारूढमूलतया प्ररूढः ? किंवाऽनुपलब्धिपराहततत्तन्मूलतया निर्मूललूनसस्यवद्विलीयेतेति । यत्त्वेकभेदबलेनान्यभेदानुमानं मायावादिमततया आशङ्क्य दृष्टान्ताव्याघातयोर्दूषणमुक्तम्, तल्लोकोत्तरप्रज्ञस्य तवैव शोभते, कः खल्वनुन्मत्तोऽनिर्वचनीयसर्वभेदमायावादिमततयैवमाशङ्केत ? अथ योऽयं विशेषणविशेष्यभूतभेदव्यवहारो भेदपरम्पराप्रसञ्जकः तत्रैवेदं दूषणद्वयमास्तामिति चेत्, न; दृष्टान्तभेदानङ्गीकारात् । तर्हि व्याप्तिराहित्यं स्वव्याघातकत्वं चेति चेत्, न; प्रामाणिकत्वाभावेऽपि विशेषणादिभावस्य भिन्नतया प्रतीतेश्च व्यभिचाराभावात् । तत्र दृष्टं स एव प्रामाणिको भेद इति चेत्, न; प्रामाणिकत्वासिद्धेः । तर्ह्यसाधकमिति चेत्, न; प्रतिबिम्बदेहात्मभावादीनामिव व्यावहारिकसतोऽपि लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्तेः, तत्रापि मुग्धोऽयं मिथ्यात्ववादम् व्याचक्षीत । व्याघातश्च यदि शून्यताकारणम्, तन्न; अन्यथाकरणात् ; यद्यनिरूपितरूपतापादनम्; अनुमोदय एव तत्र । एतेन दृश्यत्वादयोऽपि समर्थिताः । नचानिर्वचनीयत्वे प्रमाणाभावः; तल्लक्षणप्रमाणयोरुद्घोषितत्वादनिर्वचनीयवादे । एवं चैतादृशमुत्तरदानं पिण्याकयाचिने खारिकातैलदानं वा सकललोकवेदनिन्दितवैशेषिकदर्शनमदिरामत्ताय मरणान्तिकप्रायश्चित्तरूपतीव्रतरतर्कतप्तमदिराधारादानं वेत्यात्मनि परिभावयेत्यलम् ! पूर्वोक्तानवस्थापरिहारमुद्भाव्य दूषयति—**अथेत्यादिना** । यत्त्वत्रापि तेनोक्तं समा-

---

युगपत् (अनन्त अनेक भेद की प्रतीति के असम्भव होने से मूलक्षति होगी ही । अर्थात् विशेषण-विशेष्य रूप से ही भेद प्रतीत होता है, और वह विशेषणादि रूपता भिन्न रूप से ज्ञात में होती है, अतः प्रथम भेद भिन्न रूप से दूसरे भेद वाला होने पर विशेषण होगा, ऐसे ही द्वितीयादि भेद होंगे कि जिन अनन्तों की असिद्धि से मूल की क्षति होगी । और जो कहा था कि स्वरूप से गृहीत विद्यमान भेद की विशेषणता की सिद्धि होने पर अनन्त भेद की अप्रतीति यथा हानि करेगी, तो यह

भेदाप्रतीतिः किं करिष्यतीति ? तन्न, क्षीरनीरयोर्दूरस्थवनस्पत्योश्च तथात्वाप्रतीतेः। न च तत्र दूरत्वादिदोषप्रतिबन्धात्तदग्रह इति वाच्यम्; विद्यमानभेदयोरपि भेदेनाप्रतीतौ विशेषणविशेष्यभावाग्रहे सिद्धे कारणविशेषोपन्यासस्य निष्प्रयोजकत्वात्। नह्युभयवादिसंमतं तथाविधं स्थलमस्ति, यत्र विद्यमानभेदयोः स्वरूपप्रतिपत्तिमात्रेण विशेषणविशेष्यभावग्रहणम्। एतेन भिन्नतया प्रतिपन्नयोरेव धर्मिप्रतियोगिभाव इतीतरेतराश्रय-

---

नाभिहारादिप्रतिबन्धादग्रहणमिति, तदनूद्य दूषयति—न च तत्रेति। अयमभिसन्धिः—तत्र तेषां परस्परं भेदो गृहीतः ? न वा ? यदि गृहीतस्तदा दोषशतैरपि न विपर्ययादि शक्यमुत्पादयितुम्, असाधारणाकारग्रहणेऽपि भ्रमोत्पत्तावतिप्रसङ्गात्। ततो भेद एव न गृहीतस्तदग्रहे चातिदूरत्वादि कारणमिति वक्तव्यम्, तथाचास्मदुक्तं प्रयोजकमनुसृत्यैव तत्र कारणवर्णनमनुकूलमेवेति। किंच भवदभिमतप्रयोजकस्य प्रयोजकत्वं क्व वा दृष्टम् ? येनास्य प्रतिबन्धकतेत्याह—न ह्युभयवादीति। प्रतिबन्धरहितस्थलेऽपि क्षीरनीरयोः स्वरूपप्रतीतिमात्राद्धर्म्यादिभावादृष्टेर्भेदप्रतीतिपूर्वकत्वे चान्योन्याश्रयता स्यादेवेत्यर्थः। यस्तु धर्मिप्रतियोगिभेदबाधयोरितरेतराश्रयपरिहारोऽभिहितः पूर्ववादिना तत्राप्युक्तदूषणमतिदिशन्परस्पराश्रयत्वादिति श्लोकावयवं विवृणोति—**एतेनेति**। तस्यैव विवरणम्—**भिन्नतयेति**। परिहारान्तर-

---

कहना युक्त नहीं, क्योंकि दूरस्थ वनस्पति और क्षीर-नीर के स्वरूप से ग्रहण होने पर भी तथात्व=विशेष्य-विशेषणभाव की प्रतीति नहीं होती है और जो कहा था कि वहाँ दूरत्वादि दोष रूप प्रतिबन्धक से भेद का ग्रहण नहीं होता है, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि भिन्न रूप से प्रतीयमान में ही विशेषण-विशेष्यभाव होता है, यह नियम है, वहाँ विद्यमान भेद वाले की भी भिन्नरूप से अप्रतीति रहते विशेषण-विशेष्यभाव के अग्रहण के असिद्ध होने पर उसमें दोषरूप कारणविशेष के कथन को निष्प्रयोजकत्व है, अर्थात् विशेषण-विशेष्य रूप से अग्रहण में भेदेन अग्रहण रूप मुझ से वर्णित हेतु को ही आप भी पुष्ट करते हैं, आपका कथन किसी विशेष अर्थ का बोधक नहीं है। उभयवादी संमत ऐसा कोई स्थान = उदाहरण, नहीं है कि जहाँ विद्यमान भेद वाले के स्वरूप के ज्ञान मात्र से विशेषण-विशेष्य-भाव का ग्रहण होता हो। अतः (एतेन) भिन्न रूप से प्रतीत के विशेषण-विशेष्य-भाव के स्वीकार से, भिन्न रूप से ज्ञात में धर्मी प्रतियोगिभाव हो सकता है, अतः अन्योन्याश्रय वज्रलेप (अनिवार्य) रहता है। और भी कहा था कि निर्विकल्पक ज्ञान में भेद, अनुयोगी और प्रतियोगी ये तीनों अंगुलित्रय के समान युगपद् भासते हैं, फिर यह इससे भिन्न है, इसप्रकार के सविकल्पक व्यवहार की सिद्धि होने से इतरेतराश्रयता कैसे है, अर्थात् नहीं है, ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि

दोषो वज्रलेपायते। न च निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपदङ्गुलित्रयवदवभासनादिदमस्माद्भिन्नमिति सविकल्पकव्यवहारोपपत्तेः कथमितरेतराश्रयतेति वाच्यम्; निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात्, नित्यं प्रतियोगिघटित एव तस्मिन्प्रमाणप्रसरात्।

कश्चायं धर्मभेदः ? किमन्योऽन्याभावः ? किं वा वैधर्म्यम् ? उत पृथक्त्वम् ? आहोस्विद् भिन्नलक्षणयोगित्वम् ? तत्र तावत्—

नान्योन्याभावरूपोऽयं द्वैताभावप्रसङ्गतः।
तादात्म्यस्याप्यमानत्वात्प्रतियोग्यनिरूपणात् ॥ ३ ॥

गुक्तं दूषयति—**न च निर्विकल्पिकायामिति**। निष्प्रतियोगिकभेदसद्भावे प्रमाणमेव नास्तीत्यर्थः। एतेन प्रतियोगित्वेनाप्रतीतावधिकरणत्वेनास्मृतौ च प्रतियोविस्मृतिरित्यादि बौद्धधिक्कारस्थमुदथनीयसमाधानमपि निरस्तं मन्तव्यम्।

तदेवं साधारण्येन धर्मभेददूषणमुक्त्वा विशेषतोऽपि दूषणानि दर्शयितुं विकल्पयति—**कश्चायमिति**। वैधर्म्यं घटत्वपटत्वनित्यत्वादि लक्षणालक्षणसाधारणम्। लक्षणं त्वसाधारणम्। तेन च न द्वितीयचतुर्थसङ्करः। अन्योऽन्याभावभेदे दूषणं श्लोकेन संगृह्णाति—**नान्योन्येति**। अयं भेदोऽन्योऽन्याभावरूपो न भवति, कुतः ? सप्रतियोगिकस्यान्योन्याभावस्य धर्मस्य धर्मिस्वभावत्वे विश्वप्रतियोगिकान्योऽन्याभावद्वारा विश्वस्यापि धर्मिभूतवस्तुमात्रत्वाद् द्वैतस्यैवाभावप्रसङ्गतः, धर्मत्वे पूर्वोक्तानवस्था विश्वधर्मवत्ता च घटादेरित्यादि वहिरेव दातव्यम्। किंचान्योन्याभावस्यैवानिरूपणात्तद्रूपोऽपि भेदो दुर्निरूप इति कथम् ? तादात्म्यप्रतियोगिको ह्यभावोऽन्योन्याभावः। तच्च सर्वत्र भेदवादिनस्तार्किकस्याप्रामाणिकम्, ततस्तन्निरूप्याभावोऽपि प्रतियोग्यनिरूपणादप्रामाणिक इत्याह—**तादात्म्यस्येति**। अथ तादात्म्यं घटपटयोः प्रमितम्, तर्हि तत एव तन्निषेधरूपोऽन्योन्याभावस्तयोर्न घटते। एवं

निष्प्रतियोगिक भेद को प्रमाणविषयत्व नहीं है। सदा प्रतियोगी युक्त ही भेद में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। उक्त रीति से सामान्य रूप से धर्मस्वरूप भेद का दूषण कहा गया है, विशेष रूप से दूषणों को दर्शाने के लिये विकल्प है कि—

(कश्चायं धर्मभेदः) यह धर्मरूप भेद क्या है ? क्या अन्योन्याभाव है, अथवा वैधर्म्य है, या पृथक्त्व है, यद्वा भिन्नलक्षणयोगित्व है, वहाँ प्रथम अन्योन्याभाव स्वरूप भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि परस्पर सब के अभाव होने पर द्वैत का अभाव प्राप्त होगा, तादात्म्य प्रतियोगिक भेद को मानने पर द्वैत का अभाव नहीं प्राप्त होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि तादात्म्य के भी प्रमाण के अविषय होने से भेद के प्रतियोगी का निरूपण नहीं हो सकता है ॥ ३ ॥

अन्योऽन्याभावोऽपि हि यस्माद् भेदस्तं प्रतियोगिनमपि धर्मतया स्वस्मिन्नन्तर्भावयेत्। तथाच विश्वप्रतियोगिघटितान्योऽन्याभावस्य वस्तुनो भेदेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, वस्तु तावन्मात्रत्वे कथं नाद्वैतं पर्यवस्येत् ? किंच तादात्म्यप्रतियोगिकाऽभावोऽन्योऽन्याभाव इति तद्वादिभिरभ्युपेयते, तथाचाभावप्रतियोगिभूतस्तम्भकुम्भयोस्तादात्म्यं यदि न प्रमाणगोचरस्तदा कथं

सर्वत्रेति, पुनरप्यद्वैतापात इति घट्टकुटीप्रभातम्। नचान्यत्र प्रमिततादात्म्यस्यान्यत्र निषेधः, संसर्गाभावत्वप्रसङ्गादित्यपि द्रष्टव्यम्। अस्तु तर्ह्यन्य एवान्योन्याभावप्रतियोगीति, तत्राप्येतदेवावृत्त्या योजनीयम्। प्रतियोग्यनिरूपणादिति श्लोकयोजना। श्लोकं विवृणोति—**अन्योऽन्याभावोऽपीत्यादिना**। अन्योऽन्याभावोऽपि हि भेदो यस्मात्प्रतियोगिनः सकाशादेष्टव्यः तमपि प्रतियोगिनं स्वस्मिन्नन्तर्भावयन्कथं न धर्मतया स्वस्य घटधर्मत्वात्तमपि घटधर्मतयैवान्तर्भावयेत्। घटधर्मतामापादयेदित्यर्थः। तथापि द्वैताभावः कथमित्यत आह—**तथा चेति**। यदुक्तमस्माभिर्बहिरेव दातव्यमिति तत्प्रथनमाह—**वस्तुनो भेद इति**। द्वितीयं हेतुं विवृणोति—**किंच तादात्म्येति**। अभावं निरूपतया प्रतियोगिना विशेषणेनोपलक्षणेन वा भवितव्यम्। उभयथापि तस्याप्रामाणिकत्वे तद्विशिष्टं तदुपलक्षितं वाऽप्रामाणिकमेव स्यादित्यर्थः। वादीन्द्रस्तु पक्षधर्मत्वादीनां धर्माणामभावत्वमुररीकृत्य प्रतियोगिपर्यनुयोगे प्राह—वस्तुतस्तु न किंचिदिति। तं प्रत्येतावद्वक्तव्यं वस्तुतस्तु नाभावत्वमपीति। अनिषेधात्मकत्वेऽभावत्वव्याघातान्निषेधात्मकत्वे तु निषेध्यप्रतियोगिनमनङ्गीकृत्य न निस्तार इति।

घट में पट का अन्योन्याभाव रूप भेद भी जिस प्रतियोगी पट से भेदरूप होगा, उस प्रतियोगी पट को भी धर्मरूप (पटभेद रूप) से अपने में विशेषण रूप से अन्तर्भाव करेगा। अपने घट का धर्म होता हुआ पट को भी घट का धर्म सिद्ध करेगा। इसप्रकार से विश्वप्रतियोगी युक्त अन्योन्याभाव को धर्मीरूप वस्तु से भेद रहते अनवस्था प्राप्त होगी, घटप्रतियोगिक भेदरूप पटप्रतियोगिक भेद होगा, फिर तत्स्वरूप अन्यप्रतियोगिक होगा, इसप्रकार से अनन्तविश्वप्रतियोगी अनन्त भेदपरम्परा होगा। और वस्तु तावन्मात्र = धर्मी मात्र, भेद के होने पर पट प्रतियोगिक भेद के पट विशेषण सहित घटरूप होने पर विश्वप्रतियोगिक भेद किसी एकरूपता को प्रतियोगी सहित प्राप्त होगा, तो अद्वैत कैसे न सिद्ध होगा। और (तादात्म्य = अभेद, प्रतियोगिक अभाव को अन्योन्याभाव कहा जाता है) इसप्रकार से तादात्म्यप्रतियोगिक भेदवादी मानते हैं, तो यदि भेदरूप अभाव के प्रतियोगीस्वरूप स्तम्भ, कुम्भ का तादात्म्य प्रमाण का विषय नहीं है तो उस तादात्म्य का अभाव प्रामाणिक कैसे होगा, अर्थात् प्रतियोगी की प्रामाणिकता के बिना अभाव प्रामाणिक नहीं हो सकता है। अतः कुम्भ के भेद को जो प्रतिपादन

तदभावः प्रामाणिकः स्यात्? एवं कुम्भस्य विश्वप्रतियोगिकं तादात्म्यमादावेव प्रमितमित्यद्वैतसिद्धावूर्ध्वमपि तद्विरोधिनोऽन्योऽन्याभावग्रहस्य न समुदयः स्यात्, उपजीव्यविरोधात्। ननु कुम्भः स्तम्भो न भवतीति स्तम्भप्रतियोगिकोऽभावो यः कुम्भमाश्रित सोऽन्योन्याभाव इति कथमप्रमितप्रतियोगित्वप्रसक्तिः? मैवम्; प्रतियोगिभेदाभावादन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदाभावप्रसङ्गात्। स्तम्भः कुम्भे नास्ति, कुम्भः स्तंभो

प्रतियोग्यनिरूपणादित्यस्य द्वितीययोजनां दर्शयितुं शङ्कामाह—**ननु कुम्भ इति**। न तादात्म्यप्रतियोगिकोऽन्योन्याभावः, किंतु स्तम्भादिप्रमितपदार्थप्रतियोगिकः, तत्र कथमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम्। अथवा भवतु तादात्म्यप्रतियोगिकत्वम्, तथापि नोक्तदूषणद्वयसंभवः, स्तम्भादिस्वरूपमात्रत्वात्तस्यातिरिक्ततादात्म्ये प्रमाणाभावादिति शङ्कते—**नन्विति**। दूषयति—**मैवमिति**। प्रतियोग्यभेदमेव दर्शयति—**स्तम्भ इत्यादिना**। अयमभिसन्धिः—स्तम्भः कुम्भे नास्तीति संसर्गाभावोऽपि स्तम्भप्रतियोगिकः कुम्भाधिकरणक एव। न च संसर्गप्रतियोगिकोऽसौ न स्तम्भप्रतियोगिक इति वाच्यम्; तथासति संसर्गमात्रस्यैव प्रत्ययप्रसङ्गात्। स्तम्भविशेषितसंसर्गनिषेधे तु स्तम्भोऽपि प्रतियोगिकोटिं टीकत इति पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यम्। तथाचान्योन्याभावोऽपि चेत्स्तम्भप्रतियोगिकः, व्यक्तमतिव्याप्तिस्तल्लक्षणस्येति। एतेन तादात्म्यं नाम घटस्वरूपमित्यपि निरस्तम्; घटमात्रोच्छेदप्रसङ्गादेव। न च स्तम्भस्य कुम्भे निषेधः, संसर्गाभावत्वापातात्। तस्माद्घटस्य स्तम्भस्वरूपत्वं निषेध्यम्, तथाचायमर्थो न क्वचित्प्रमित इति नोक्तदूषणलङ्घनशङ्कालता। न च प्रतियोग्यैक्येऽपि प्रागभावादिवदनयोरपि भेदः स्यादिति वाच्यम्, असिद्धेः, पूर्वोत्तरकालवितस्वरूपविशेषणत्रयविशिष्टस्यैव घटस्य तथापि प्रतियोगित्वात्, तद्वदेव संसर्गाभावान्तरतापा-

---

करना चाहता है, उसको विश्वप्रतियोगिक तादात्म्य (अभेद) स्वरूप कुम्भ को मानना होगा, फिर इसप्रकार से कुम्भ के विश्वप्रतियोगिक तादात्म्यस्वरूप आदि ही में (भेदज्ञान से प्रथम ही) प्रमित हुआ, तो इसीसे अद्वैत की सिद्धि होने पर, उसके बाद भी उस अद्वैत प्रमिति के विरोधी अन्योन्याभाव के ज्ञान का समुदाय नहीं होगा, क्योंकि उपजीव्य तादात्म्य से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि, तादात्म्य प्रतियोगिक अन्योन्याभाव नहीं होता है, किन्तु स्तम्भादि प्रमित पदार्थ प्रतियोगिक होता है, अतः (कुम्भः स्तम्भो न भवति) कुम्भ स्तम्भ नहीं होता है, इस प्रतीति का विषय जो अभाव है, वह स्तम्भप्रतियोगिक कुम्भाश्रित अभाव अन्योन्याभाव है। तो अप्रमित (अप्रसिद्ध) प्रतियोगिकत्व की प्राप्ति कैसे है? तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस रीति से प्रतियोगी के भेद के अभाव से अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव में भेद के अभाव की प्राप्ति होगी क्योंकि (स्तम्भः

न भवतीत्युभयत्रापि स्तम्भस्यैव प्रतियोगिताङ्गीकारात् । प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽत्यन्ताभावः प्रतियोग्यनिष्ठत्वे सत्यकादाचित्कोऽभावोन्योऽन्याभाव इति लक्षणभेदादभावयोर्भेद इति चेत्, मैवम्; यत्किंचित्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योऽन्याभावेऽपि भावादतिव्याप्तेः । स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं विवक्षितमिति चेत् मैवम्; स्वशब्देनात्यन्ताभावोपादानेन तत्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योऽन्याभावेऽपि भावेनातिव्याप्तेस्तदवस्थत्वात् । पटे घटो नास्तीत्यत्यन्ताभावस्य घटः प्रतियोगी, पटप्रतियोगिकान्योऽन्या-

---

ताच्च । लक्षणभेदाद्भेदं शङ्कते—**प्रतियोगिनिष्ठ इति** । नहि स्वस्मिन्स्वयं वर्ततेऽतः प्रतियोगिन्यपि वर्तत एवात्यन्ताभावः । न च प्रमेयत्वादावसंभवः; प्रमेयत्वादेस्सकलवस्तुनिष्ठत्ववादिनां स्वस्मिन्निवान्यत्रात्यन्ताभावाभावात्, अन्यमते तु स्वस्मिन्नप्यत्यन्ताभावात् । एतेन चेतरेतराभावसंसर्गाभाववर्गोऽपि व्यवच्छिन्नः । नह्यन्योन्याभावः स्वप्रतियोगिनि वर्तते; तस्यैव तदन्यत्वापत्तेः । एवं प्रागभावप्रध्वंसाभावावपि, तत्समये प्रतियोगिनोरेवाभावेन तत्र वृत्तेः शङ्कितुमप्यशक्यत्वादिति, सादृश्यादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम् । अपरे तु रूपादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम्, प्रागभावादिव्यवच्छेदायाकादाचित्कविशेषणं द्रष्टव्यमिति वदन्ति । इदं चान्योन्याभावनिष्कर्षायोक्तम्; इतरथा प्रकृतानुपयोगात् । अन्योन्याभावलक्षणमाह—**प्रतियोगीति** । अकादाचित्केति प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरुत्पत्तिविनाशवत्तया कादाचित्कयोर्व्यवच्छेदः, तावति चात्यन्ताभावेऽपि स्यादित्याद्यं विशेषणम् । तत्रात्यन्ताभावलक्षणं दूषयति—**मैवमिति** । प्रतियोगिनिष्ठत्वं शब्देन यत्किंचित्प्रतियोगिनिष्ठत्वं स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं वा विवक्षितमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**यत्किंचिदिति** । द्वितीयं शङ्कते—**स्वेति** । अत्रापि स्वशब्देनाभावमात्रं विवक्ष्यते ? अत्यन्ताभावो वा ? प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । द्वितीये प्राह—**मैवं स्वशब्देनेति** । अत्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठमेवान्योन्याभावस्य दर्शयति—**पटे घट इत्यादिना** । तेनैव च

कुम्भे नास्ति, कुम्भः स्तम्भो न भवति) स्तम्भ कुम्भ में नहीं है, स्तम्भ कुम्भ नहीं होता है । इन दोनों स्थानों में स्तम्भ की ही प्रतियोगिता मानी जाती है । यदि कहें कि प्रतियोगिवृत्ति अभाव अत्यन्ताऽभाव कहा जाता है, और प्रतियोगी में अवृत्ति होता हुआ कादाचित्क अभाव अन्योऽन्याभाव कहा जाता है, इसप्रकार से लक्षण के भेद से अभावों में भेद होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सामान्यरूप से यत्किञ्चित् प्रतियोगिवृत्तित्व कहा जाय तो अन्योन्याऽभाव में भी यत्किञ्चित्प्रतियोगिवृत्तित्व के रहने से अतिव्याप्ति होगी । यदि कहें कि स्वप्रतियोगिवृत्तित्व विवक्षित है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वशब्द से अत्यन्ताभाव के ग्रहण करने पर, उसके प्रतियोगी में अन्योन्याभाव के वृत्तित्व होने से अतिव्याप्ति

भावोऽपि घटे वर्त्तत इति। किंचेदं प्रतियोगित्वम्? निरूपकत्वं चेत्? धर्मिणोऽपि प्रतियोगित्वप्रसङ्गः। अथ पञ्चम्यन्तशब्दवाच्यत्वम्, तर्हि घटः पटो न भवतीत्यत्रान्योन्याभावे पटस्य प्रतियोगिता न स्यात्, पञ्चम्यन्तशब्देनानिर्देशात्। अथ धर्मिणोऽन्यत्वे सति निरूपकत्वं प्रतियोगित्वम्, तदपि न; प्रतियोगित्वस्यानिरूपणादेव धर्मिप्रतियोगिकान्यत्वस्याद्याप्यसिद्धेः। तदेवं नान्योऽन्याभावो भेदः।

नापि द्वितीयः, वैधर्म्ये वैधर्म्यान्तराभ्युपगमेऽनवस्था। अनभ्युपगमे

तल्लक्षणादात्माश्रयभावात्। नचान्योन्याभावप्रतियोगिनिष्ठत्वं लक्षणं वाच्यम्; प्रागभावादावपि भावात्। अनेकान्योन्याभावपक्षे तेनैव चानैकान्तिकता। यस्मिञ्च प्रतियोगिनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामभाववैलक्षण्यं विवक्षितं तदेव प्रतियोगित्वं दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमित्यादिना**। एतदपि प्रतियोग्यनिरूपणादित्यर्थः। ननु न निरूपकत्वमात्रं प्रतियोगित्वम्, येन धर्मिण्यपि प्रसङ्गः, किंतु धर्म्यन्यत्वे सति निरूपकत्वमिति शङ्कते—**अथेति**। धर्म्यन्यत्वं हि धर्मिप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वम्, न च प्रतियोगित्वमद्यापि सिद्धमित्यात्माश्रयत्वमिति परिहरति—**तदपि नेत्यादिना**। एतेनान्योन्याभावलक्षणमपि निरस्तम्। तत्रापि प्रतियोगिप्रयुक्तदूषणानां सुवचत्वादिति।

वैधर्म्यपक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। वैधर्म्ययोरपि घटत्वपटत्वयोर्भेदोऽस्ति? नवा? आद्ये स्वरूपान्योन्याभावयोर्दूषितत्वात् वैधर्म्यमेव मन्तव्यम्। तथाचानवस्थेत्याह—**वैधर्म्य इति**। ननु नानवस्था वैधर्म्यान्तरास्वीकारात्।

तदवस्थ ही रहती है, क्योंकि (पटे घटो नास्ति) पट में घट नहीं है, इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव का घट प्रतियोगी है, और पटप्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव भी घट में रहता है। और जिस प्रतियोगी में वृत्तित्व अवृत्तित्व से अभाव में भेद मानते हैं, यह प्रतियोगित्व क्या है, यदि निरूपकत्व (सम्बन्धी रूप से बोधकत्व) प्रतियोगित्व हो, तो धर्मी को भी प्रतियोगित्व प्राप्त होगा, यदि पञ्चम्यन्त शब्दवाच्यत्व प्रतियोगित्व हो, तो (घटः पटो न भवति) इस प्रतीति विषय अन्योन्याभाव में पट की प्रतियोगिता नहीं होगी, क्योंकि पट का पञ्चम्यन्त शब्द से निर्देश नहीं है। यदि कहें कि धर्मी से अन्यत्वयुक्त निरूपकत्व प्रतियोगित्व है, तो यह भी लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रतियोगित्व के अनिरूपण से ही धर्मिप्रतियोगिक अन्यत्व (भेद) की भी अभी सिद्धि नहीं हो सकती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्योन्याभावरूप भेद नहीं है।

दूसरा वैधर्म्य (घटत्व पटत्वादि विरोधी धर्म) स्वरूप भी भेद नहीं हो सकता है। क्योंकि वैधर्म्य में वैधर्म्य (घटत्व में घटत्व) माने तो अनवस्था

वा वैधर्म्ययोरेकतापत्त्या तद्धर्मिणोरप्येकतापत्तावद्वैतप्रसङ्गः। नापि तृतीयः पृथक्त्वे पृथक्त्वान्तराभावादेव धर्मिणस्तस्यैकतापत्तेः। किंच पृथक्त्वस्य गुणत्वान्निर्गुणेषु पृथक्त्वगुणासम्भवेन भेदो न स्यात्। तत्रान्योऽन्याभावनिबन्धनो भेदव्यवहार इति चेत्तर्हि द्रव्येष्वपि तन्निबन्धन एव तद्व्यवहारोऽस्तु कृतं पृथक्त्वेन, तत्सत्तावेदकप्रमाणाभावाच्च। अथाकाशः स्पर्शवद्गुणासमवायिकारणाद्विष्ठगुणयोराश्रयः द्रव्यत्वाद् भूतत्वाद्वा पटारम्भक-

---

यथाहोदयनो बौद्धधिक्कारे 'अनवस्था हि प्रवाहं प्रापयति, गन्धे गन्धान्तराभ्युपगम इवे'ति तदाह—**अनभ्युपगमे चेति**। तयोर्हि भेदाभावे घटत्वमेव पटत्वमिति तदधिकरणं घटोपि पटः स्यादेवमितरदपीत्यद्वैतापात इत्यर्थः। पृथक्त्वपक्षं दूषयति—**नापीति**। पृथक्त्वस्य धर्मिणो भेदाङ्गीकारेऽनवस्थाभयादभेदापत्तिः स्यात्। तथा च घटस्वरूपमात्रं न भेदः प्रतिषिद्धत्वादित्यद्वैतापात इत्यर्थः। अत्र त्वधिकमपि दूषणमाह—**किंचेति**। तत्र गुणादिष्वित्यर्थः। पृथक्त्वमेव तावदप्रामाणिकं तद्रूपभेदः सुतरामप्रामाणिक इत्याह—**तत्सत्तावेदकेति**। अत्र मानमनोहरस्थमनुमानं शङ्कते—**अथाकाश इति**। स्पर्शवद्द्रव्यगतगुणं प्रत्यसमवायिकारणभूतौ यावद्विष्ठगुणौ तयोरधिकरणमित्यर्थः। अद्विष्ठगुणाधिकरणमित्युक्ते शब्दपरममहत्त्वाधिकरणत्वेनार्थान्तरता तदर्थमितरद्विशेषणम्। तावन्मात्रोक्तौ वाकाशतन्तुसंयोगविभागाभ्यामाकाशपटसंयोगविभागलक्षणस्पर्शवद् गुणौ प्रत्यसमवायिकारणाभ्यामर्थान्तरता, तन्निवृत्त्यर्थमद्विष्ठेत्युक्तम्। तेनैकत्वसंख्यैकपृथक्त्वयोः सिद्धिः। तथाहि—आकाशतदितरवृत्तित्वात्स्पर्शवद् गुणा भवन्ति द्वित्वद्विपृथक्त्वादयस्तत्कारणे चैकत्वैक-

---

होगी। और वैधर्म्य में भेदरूप वैधर्म्य के नहीं मानने पर, तथा नहीं रहने पर वैधर्म्य की एकता की आपत्ति से उनके धर्मियों की भी एकता की आपत्ति से अद्वैत का प्रसङ्ग होगा। तृतीय = पृथक्त्व रूप, भी भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि पृथक्त्व में पृथक्त्व मानकर पृथक्त्व में धर्मी से भेद माने तो अनवस्था होगी और पृथक्त्व में अन्य पृथक्त्व के अभाव से ही धर्मी और पृथक्त्व की एकता की प्राप्ति होगी, जिससे धर्मी में भेदाभाव से अद्वैतापत्ति होगी। और दूसरी बात है कि पृथक्त्व के चौबीस गुण के अन्तर्गत होने से निर्गुण गुणों में पृथक्त्व गुण के असम्भव से गुणों में भेद का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहें कि गुणों में पृथक्त्व के नहीं रहते भी अन्योन्याभाव निमित्तक भेद का व्यवहार होता है, तो द्रव्यों में भी अन्योन्याभाव निमित्तक ही भेद का व्यवहार हो सकता है, द्रव्य में पृथक्त्व से भेद का व्यवहार मानना निष्फल है, और पृथक्त्व की सत्ता के बोधक प्रमाण के अभाव से, पृथक्त्व ही अप्रामाणिक है, अतः पृथक्त्व रूप भेद

तन्तुवत्। तेन वियद्गतयोरेकत्वपृथक्त्वयोः सिद्धिं मानमनोहरकारः प्रत्यतिष्ठिपदिति चेत्, न; वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तेन कारणगुणानां कार्ये गुणान्तरारम्भस्यानभ्युपगमात्, स्पर्शवत्त्वोपाध्युपहतत्वाच्च।

नचान्त्यावयविनामनारम्भकत्वादेव तादृशगुणानधिकरणानामपि स्पर्शवत्त्वेन साध्यसमव्याप्त्यभावादेवानुपाधित्वम्; विषमव्यापकोपाध्य-

---

पृथक्त्वे इत्यर्थः। साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—तेनेति। आरम्भवादिनां खल्वियं प्रक्रिया यत्समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणत्रयात्कार्योत्पत्तिरिति। यस्य तु पुनरज्ञातरशनेव पवनाशनादिभावेनैकमात्मतत्त्वमनादिभावाविद्यासहायं वियदाद्याकारेण विवर्तत इति मतम्, न तस्यैषा परिभाषेत्यर्थः। व्याप्यत्वासिद्धिं चाह—स्पर्शवत्त्वेति।

यत्त्विममेवोपाधिमुद्भाव्य तेनोक्तं स्पर्शवतां घटादीनामपि तथाविधगुणद्वयाश्रयत्वप्रसङ्गादिति, तदेतत्प्रतिसाधनमनूद्य दूषयति—नचान्त्यावयविनामिति। नचानुपाधित्वमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—विषमव्यापकेति। अयमर्थः—पक्षादुपाधि-

---

को होना असम्भव है। और जो मानमनोहर ने पृथक्त्व में अनुमान प्रमाण कहा है कि (आकाश, स्पर्श वाले द्रव्य के गुण 'द्वित्व-द्विपृथक्त्व' के असमवायी कारण, अद्विष्ठ गुण 'एकत्व-एकपृथक्त्व' का आश्रय है। द्रव्यत्व वा भूतत्व से, पटारम्भक-तन्तुवत्) यहाँ अद्विष्ठ गुणाश्रय, इतना ही कहा जाता तो शब्द परममहत्त्व द्वारा अर्थान्तरता होती, अतः अन्य विशेषण दिये गये हैं, इत्यादि। और इस अनुमान से आकाशगत एकत्व एक-पृथक्त्व की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है, वह युक्त नहीं हैं, क्योंकि वेदान्ती के प्रति दृष्टान्त साध्यरहित है, वेदान्ती कारणगुणों को कार्य में गुणान्तर का आरम्भक नहीं मानते हैं, अतः तन्तुगुण में पटगुण आरम्भकता के दृष्टान्त से एक पृथक्त्व में स्पर्शवद् वृत्ति द्विपृथक्त्व के असमवायिकारणत्व कैसे सिद्ध होगा। और स्पर्शवत्त्व उपाधि से भी यह अनुमान उपहृत (नष्ट) होता है, क्योंकि स्पर्शवद्गुण = रूप, का असमवायिकारण तन्तुओं में, स्पर्शवत्त्व, साध्य का व्यापक है। और आकाशादि में साधन द्रव्यत्व रहता है, स्पर्शवत्त्व नहीं रहता है, अतः साधन का अव्यापक है।

यदि कहें कि घटादि रूप अन्त्यावयवी में आरम्भकता नहीं रहने से वह उक्त असमवायिकारण का आश्रय भी नहीं रहता है, अतः तादृश गुणों के अनधिकरण अन्त्यावयवियों के स्पर्शवान् होने से साध्य के साथ समव्याप्ति के अभाव से, 'स्पर्शवत्त्व' उपाधि नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विषम व्याप्ति वाला उपाधि माना जाय तो भी कोई दोष नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान होना उपाधि का फल होता है, वह विषम

ङ्गीकारेऽपि दोषाभावात्। न चैतत्पर्वतान्यत्वादेः पक्षेतरत्वस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गो दोषः; य एतत्पर्वतोऽसावनग्निमानिति व्यतिरेकासिद्ध्यैव तस्य दुष्टत्वात्।

'एकसाध्यविनाभावे मिथः संवन्धशून्ययोः।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः॥'

व्यावृत्त्या साध्यस्य विनिवर्तनम्। उपाधिफलमस्मिंश्च समवद्विषमः क्षमः। स्वव्यावृत्त्या साध्यस्य पक्षाद्व्यावृत्त्या व्यापकप्रमित्युत्पत्तिप्रतिवन्धो वा हेतोरपहृतसाध्यतया विपक्षभूते पक्षे वर्तमानस्यानैकान्तिकतापादनं वोपोधेः कृत्यमिति हि नूतनोन्नयनम्। तच्च समव्याप्तिवद्विषमव्याप्तिरपि शक्नोति संपादयितुमग्निमत्त्वमिव निवर्तमानं धूमवत्त्वं व्यावर्तयितुमतो विषमव्याप्तिरपि सम्भवत्येवोपाधिरिति। अभ्युपगम्य चैतदुक्तम्। वस्तुतस्तु समव्याप्तिरेवायम्, अन्त्यावयविनां पक्षतुल्यत्वेन साध्याभावानिर्णयात्। विपक्षत्वे च द्रव्यत्वादेस्तत्रानैकान्तिकत्वात् सपक्षत्वे च तत्रोपाधेरपि वृत्तेः समव्याप्तित्वादिति। नन्वधिकव्याप्तेरप्युपाधित्वे पक्षेतरत्वमप्युपाधिः स्यात्, तथा च गतं धूमानुमानेन, अधिकव्याप्तेरुपाधित्वानभ्युपगममेन हि पक्षेतरत्वनिवारणमिति; तत्राह—**नचैतत्पर्वतेति**। यदि हि पक्षेतरत्वस्य साध्यव्यापकता स्यात् स्यादयं दोषः, नत्वेतदस्ति, एतत्पर्वतेतरत्वरहितेऽप्येतत्पर्वतेऽग्निमत्त्वविरहानिश्चयेन व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या साध्याव्यापकत्वात्, ईदृशश्च सर्वत्र पक्षेतरः। यत्र तु साध्योपाध्यो व्यतिरेकव्याप्तिनिर्णयस्तत्र न पक्षेतरत्वसंज्ञा, अपितूपाधित्वमेवेत्यभिसन्धिराह—**य एतत्पर्वत इति**।

अत्रोदयनलक्षणविरोधमाशङ्क्य परिहरति—**एकसाध्येति**। मिथः परस्परं संबन्धशून्ययोर्धर्मयोरेकेन साध्येनाविनाभावे विरूप्यमाणे सहभावोऽविनाभावः तस्मिन् सति यदत्ययः यस्याभावः साध्याभावाविनाभावी साध्याभावेन व्याप्तः स

उपाधि मे भी होता है। यदि कहें कि विषयव्याप्ति (अधिक व्याप्ति) से भी उपाधित्व हो, तो एतत् पर्वतेतरत्वादि रूप पक्षेतरत्व को भी उपाधित्व होगा, विषम व्याप्ति को उपाधित्व मानने में यह दोष है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि पक्षेतरत्व के अभाव से साध्य का अभाव नहीं सिद्ध होता है, ऐसा नहीं होता है कि जो एतत् पर्वत है, वह अग्नि वाला है। इसप्रकार से व्यतिरेक की असिद्धि से ही उस पक्षेतरत्व को दुष्ट उपाधि कहा जाता है, विषम व्याप्ति से नहीं। हेतु की व्याप्ति से रहित जो धर्म, अर्थात् व्याप्ति रूप सम्बन्ध से रहित हेतु उपाधि के होते—

'एक साध्य के साथ अविनाभावी (सहवृत्ति) जो हो, और जिसका अभाव साध्याभाव का अविना भावी (व्याप्य) हो उसको उपाधि कहते हैं।'

इति चोपाधिलक्षणस्य समासमव्यापकयोस्तुल्यत्वात्। "समवायः समवेतः सम्बन्धत्वात् संयोगवदि"ति प्रयोगे संबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिरिति विषमव्यापकोपाधेरुद्योतकराचार्यैरङ्गीकारात्। अपि चान्यो-

---

तदभावप्रतियोगी उपाधिः, अत्र च मिथः संबन्धशून्ययोरिति साधनाव्यापकत्वमुक्तम्। अत्रापि साध्याभावस्य व्यापकत्वमुपाध्यभावस्य व्याप्यत्वं च प्रतीयते, तेन न साध्यस्य व्याप्यत्वमुपाधेश्च व्यापकत्वं सिध्यति, तच्च द्वयमग्निधूमवद्विषमव्याप्तित्वेपि घटत इति नायं समव्याप्तित्वगमक इत्यर्थः।

न केवलमगमकः, विषमव्याप्तितागमकश्चेतरथोद्योतकराचार्यवचनविरोधप्रसङ्गादित्यभिसन्धेस्तदीयग्रन्थमाह—**समवायः समवेतः इत्यादिना**। संयोगे हि संबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिः। कार्यत्वं च समवायाद्व्यावर्त्तमानं संबन्धत्वे सति समवेतत्वं व्यावर्त्तयति। तत्रापि संबन्धत्वमुभयवादिसंमतमिति समवेतत्वव्यावृत्तिरुपाधिफलम्। यद्यप्ययं साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, नतु केवलसाध्यव्यापकस्तथापि विषमव्याप्तिकत्वेन प्रकृतोदाहरणम्, साधनावच्छिन्नसाध्येन च विषमव्याप्तिकता, कार्याणामपि गुणादीनामुक्तसाध्यवत्त्वाभावात्।

एतेन—

'समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा समे।
समे न यदि नो व्याप्नस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः॥

इति भट्टाचार्यवचनमपि प्रतिघटितं मन्तव्यम्। वस्तुतस्तु उभावपि प्रकारौ संग्राह्यौ। न ह्येतत्सामान्यलक्षणमपि तु विशेषलक्षणम्, तस्य चानेकप्रकारत्वं न दोषाय, सामान्यलक्षणं त्वत्यन्ताभावप्रतियोगिधर्म इति, अभावमात्रप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्त्यन्योन्याभाववत्त्वात्, स च नोपाधिः, तस्य सर्ववस्तुनिष्ठतया साधनव्यापकत्वेन साध्यानपहारित्वादत उक्तमत्यन्ताभावेति। धर्मग्रहणं तु परमाण्वादीनामनाश्रितानामुपाधित्वनिरसनार्थमिति। नवीनानामुन्नयनम्। यथा चैतत्सर्वमविचारितरमणीयं तथोदर्के दर्शयिष्यते। इदानीं सर्वस्य धर्मभेदस्य साधारणमाश्रयानिरूपणं दूषणमाह—**अपि चेत्यादिना**। किं परस्परं विभिन्नं घटादिकमालिङ्गन्ते भेदाः? उताभिन्नम्?

यह उपाधि का लक्षण समव्यापक, असमव्यापक दोनों में तुल्य रहता है। और (समवाय, समवेत समवायसम्बन्ध वाला है, सम्बन्ध होने से संयोगवत्) इस प्रयोग में सम्बन्धत्व युक्त समवेतत्व (साधनावच्छिन्नसाध्य) में कार्यत्व उपाधि है, इसप्रकार से विषम व्यापक उपाधि को भी उद्योतकराचार्य ने माना है। कार्यत्व उपाधि उक्त साधनावच्छिन्न साध्य का विषम व्यापक है। अपि च (और यहाँ

न्याभावादयो भेदाः किं भिन्नमेव धर्मिणं परिरभन्ते ? उताभिन्नम् ? नाद्यः, अनन्तभेदाभ्युपगमप्रसङ्गात् । अस्तु, किं नः छिन्नमिति चेत्, शृणु—क्रमेण तेषां धर्मिणा सम्बन्धे धर्मिणश्च घटादेः कादाचित्कत्वेन तत्सम्बन्धासम्भवः । संभवे वाऽतीतानागतानां च भेदानां क्रमसम्बन्धाय घटोऽनादिरनन्तश्च स्यात् । अथ युगपदेव धर्मिणा सर्वे भेदास्संवद्ध्येरन्, तर्हि भिन्ने भेदस्थितिरिति पक्षक्षतिः; भेदसम्बन्धं विना तस्य भिन्नत्वानुपपत्तेः । तत्संबन्धेनैव च भिन्नत्वे, किंभेदविशिष्टे किंभेदस्थितिरिति नियामकाभावादेकोऽपि भेदो न

इत्यर्थः । ननूत्तरोत्तरभेदवर्तनार्थं पूर्वपूर्वाश्रयभेदेऽनन्तभेदश्चेत्प्रसज्येत, तत्प्रसज्यतां नाम, अज्ञायमानतयोपपादकत्वेन मूलक्षयाभावादित्याशङ्क्य परिहरति—शृण्विति । तत्रानन्तानां भेदानां क्रमेण घटे वर्तमानत्वम् ? युगपद्वा ? क्रमपक्षे तु सावधिके वस्तुनि तेषामसम्भव इत्याह—क्रमेणेति । असंभवमेव विपक्षं बाधकेन द्रढयति—संभवे वेति । किमिति पक्षक्षतिरिति तत्राह—भेदसंबन्धमिति । यदीदानीमेव निष्पन्नं घटमाश्रयते भेदस्ततः पूर्वमभिन्नत्वात्तस्य स्यादेव पक्षक्षतिरित्यर्थः । ननु यद्यपीयं प्रथमैव प्रवृत्तिस्तथापि प्रथमः स्वपरनिर्वाहकतया स्वस्य परस्य चाश्रयभेदं संपादयति, तदुपरि चोत्तरोत्तरमुत्तरोत्तरस्य तथाबलवतिशूरः पदातिः परदुर्गेषु परेषामाननश्च कपाटविघटनेन द्वारमापादयति, तद्वदिति तत्राह—तत्संबन्धेनेति । स्यादेवं यदा पदातिरिव कश्चिद् भेदः प्रमाणेन प्रथमप्रवृत्त इति निर्णीयेत नत्वेतदिति भावः । केन भेदेन विशिष्टे घटदौ कस्य भेदस्य स्थितिरिति योजना । युगपदवबद्धचमानैर्भेदैरेवाधारभेदशङ्कायां वायं ग्रंथः । एवमविनिगम्यत्वमुक्त्वा प्राग्लोपापत्तिं चाह—

यह विचारणीय है कि) अन्योन्याभावादि रूप भेद, क्या भिन्न धर्मी का आश्रयण करते हैं, या अभिन्न में रहते हैं ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भिन्न में रहेंगे, तो जिस भेद से धर्मी भिन्न होगा, वह भेद भी भिन्न में रहेगा, तो इसप्रकार से अनन्त भेद का स्वीकार करना प्राप्त होगा । यदि कहें कि अनन्त भेद हो, उससे हमें क्या हानि है ? तो हानि सुनो कि अनन्त उन धर्मों के धर्मी के साथ क्रम से सम्बन्ध में अनन्त काल चाहिये, और घटादि धर्मी के कादाचित्क होने से उन अनन्तों भेदों के साथ सम्बन्ध का असम्भव है । यदि उनके सम्बन्ध का सम्भव हो तो अतीत अनागत भेदों के क्रम से सम्बन्ध के लिये घटरूप धर्मी अनादि और अनन्त होगा । और यदि सब भेद युगपत् धर्मी के साथ सम्बन्ध वाले होंगे, तो भिन्न में भेद की स्थिति होती है, इस पक्ष का त्याग होगा, क्योंकि भेद के सम्बन्ध के विना उस धर्मी के भिन्नत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। और [illegible] भेद के सम्बन्ध से ही भिन्नत्व होने पर, अनन्त भेद में से किस भेद [illegible] में कौन भेद की स्थिति होती है इसमें नियामक के अभाव से एक भी भेद सिद्ध नहीं

भवेत्। उत्तरोत्तरेणैव च भेदेन पूर्वपूर्वभेदोपयोगोपपत्तावनन्तभेदाभ्युपगमोऽपि निष्फलः स्यात्। एवमपि भेदाः स्वीक्रियेरन्, यदि भेदपरम्पराभरमन्थरा कापि संविदुदयमासादयेत्।

तथाचाहुः खण्डनकाराः—

"प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत्।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्सा त्रिदोषता॥"

इति। (खं. पृ. २०७)

न द्वितीयः, अभिन्नेपि चेद् भेदो निविशेत्तदा तदपि नैकं स्यादित्येकाभावादनेकमपि न सिद्ध्येत्।

उत्तरोत्तरेति। प्रतीतिक्रमापेक्षयोत्तरमुपपादकं पूर्वमुपपाद्यम्, घटपटयोर्भेदव्यवहारसिद्धिर्हि प्रथमभेदोपयोगः, स चोपपादकेन द्वितीयेन सिध्यतीति मुधा प्राथमिकभेदः। एवमग्रेऽग्रेपीत्यर्थः। तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः 'अग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्चुनक इ न भेदप्रवाहः किमालम्बेत' इति। प्रमाणापगममपि दूषणमाह—**एवमपीति**। विषयभूतया भेदपरंपरया मन्थरा अलसेत्यर्थः। उक्तदूषणत्रितयं श्रीहीरतनयोक्त्योपोद्बलयति—**तथा चाहुरिति**। भेदानवस्थितिमास्थातुः प्राग्लोपादिभिर्दोषैरचिकित्स्या त्रिदोषता चिकित्सामतिक्रान्तो यस्त्रिदोषो वातपित्तश्लेष्मणां प्रकोपः सन्निपातस्तद्भावः स्यादिति श्रीहर्षोक्तेरर्थः। धर्मरूपो भेदो भिन्ने वर्तत इति प्रथमपक्षो निरस्तः। अभिन्ने वर्तत इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। यदि पटादभिन्ने घटे वर्तमानः पटाद्घटं भिन्द्यात्पटमपि पटाद् भिन्द्यात् समानयोगक्षेमत्वादिति भावः।

होगा। और उत्तरोत्तर भेद से ही पूर्व-पूर्व भेद के फल की सिद्धि होने पर, किसी एक अन्तिम भेद से धर्मी में भिन्न बुद्धि हो सकती है, फिर भी अनन्त भेद का स्वीकार निष्फल होगा। इसप्रकार के भी अनन्त भेद माने जायँ, यदि भेद परम्परा के भार से मन्द गति वाली कोई सम्विद् = अनुभूति, उदित हो तो खण्डनकार ने कहा है कि—

भेदानवस्थितिमास्थातुः = भेद की अनवस्था को मानने वाले को उत्तरोत्तर भेद से पूर्व-पूर्व की निष्प्रयोजनता रूप प्राग् लोप, अविनिगम्यत्व और प्रमाणापगम, द्वारा अचिकित्सा त्रिदोषता (सन्निपात) होती है।

अभिन्न में भेद रहता है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अभिन्न में यदि भेद निविष्ट होगा, तो एक अभिन्न वस्तु नहीं रह सकेगी, पट से घट को भिन्न करता हुआ भेद घट से भी घट को भिन्न करेगा। इसीप्रकार से सबको स्वरूप से भिन्न करेगा, तो कोई एक वस्तु नहीं सिद्ध होगी।

नापि वैलक्षण्यं भेदः, आत्माश्रयत्वात्। नानालक्षणयोगो हि वैलक्षण्यम्, नानात्वं च भिन्नत्वापरपर्यायमद्याप्यसिद्धम्, तेन च तत्सिद्धौ तत्सिद्धिरिति। किंच नानालक्षणयोगोऽपि दुर्निरूपः। तथा हि—द्रव्यादीनां षण्णां लक्षणानि नानाविधान्यभ्युपगम्यन्ते।

तत्र तावद्गुणाश्रयो द्रव्यमित्यलक्षणम्, यतः—

अव्याप्तेरप्यतिव्याप्तेर्द्रव्यं नैव गुणाश्रयः।

भिन्नलक्षणयुक्तत्वं भेद इति चतुर्थं धर्मभेदविकल्पं दूषयति—**नापीति**। अत्र चान्योन्याश्रयद्वारा तत्फलमात्माश्रयः, स च ज्ञप्तौ। आत्माश्रयमेव सुबोधेन ग्रन्थेन विवृणोति—**नानालक्षणेति**। लक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तद्रूपोऽपि भेदो दुर्निरूप इत्याह—**किंचेति**। तानि च दूषयितुं संकलयति—**तथा हीति**। यानि नानालक्षणानि अभ्युपगम्यन्ते, तानि द्रव्यादीनां न तु लक्षणानि, तत्प्रधानत्वादतस्तेषां दुर्निरूपत्वे दुर्निरूपतराणि तदवान्तरलक्षणानीत्यभिप्रायः।

भेदज्ञाने प्रविध्वस्ते भेदज्ञानैकविभ्रमान्।

आगमापायिनः सर्वानागमा बाधितुं क्षमाः॥

द्रव्यलक्षणं दूषयति—**तत्र तावदिति**। आश्रयत्वं गुणकर्मणोरप्यस्ति, तत्तज्जात्याधारत्वादत उक्तम्—**गुणाश्रय इति**। तथा गुणो द्रव्यमित्युक्ते व्याघातस्तदर्थं गुणस्येत्युक्तम्। तथापि तत्संबन्धिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमाश्रयग्रहणम्। श्लोकेन दूषणं संगृह्णाति—**अव्याप्तेरिति**। गुणाश्रयो द्रव्यमिति यत्तन्नैव न भवत्येव तल्लक्षणम्,

---

एक के अभाव से अनेक भी नहीं सिद्ध होगा, कि जिससे सर्वशून्यता प्राप्त होगी। भिन्नलक्षणयुक्तत्व रूप चतुर्थ कल्प भी नहीं बन सकता है, क्योंकि वैलक्षण्य को भेद मानने पर आत्माश्रयता प्राप्त होती है। नानालक्षण का योग (सम्बन्ध) वैलक्षण्य कहा जाता है, और भिन्नत्व रूप दूसरा नाम वाला नानात्व अभी सिद्ध नहीं हुआ है, उस नानात्व रूप से भेद की सिद्धि होने पर उस वैलक्षण्य की सिद्धि होगी, इसप्रकार से भेद की सिद्धि में भेद के आश्रयण से आत्माश्रय होता है। और नानालक्षणयोग रूप वैलक्षण्य में नानालक्षणयोग भी दुर्निरूप है, यह दर्शाया जाता है कि, द्रव्यादि छः पदार्थों के नाना प्रकार के लक्षण माने जाते हैं, उन लक्षणों के सिद्ध होने पर, नाना लक्षणों का योग हो सकता है, परन्तु ये लक्षण भी दुर्निरूप हैं। क्योंकि—

प्रथम (गुणाश्रयो द्रव्यम्) गुण का आश्रय द्रव्य होता है, यह द्रव्य का लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि—

द्रव्य गुण का समवायकारण होता है, अतः प्रथम क्षण में द्रव्य निर्गुण उत्पन्न होता है, अतः आद्यक्षण में लक्ष की अव्याप्ति होती है, क्योंकि आद्यक्षण में गुण का

आद्ये क्षणे गुणाभावाद् गुणादावपि वीक्षणात् ॥ ४ ॥

उत्पन्नमात्रं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठतीत्यङ्गीकारादव्याप्तेः। गुणादिष्वपि चतुर्विंशतिर्गुणाः इत्यादि संख्यागुणान्वयवीक्षणादतिव्याप्तेः। न च तत्र संख्यावत्त्वप्रतीतिर्विभ्रमः, नवैव द्रव्याणीत्यादाविव बाधकादर्शनात्। अथ

कुतोऽव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चेति योजना। ते एव क्रमेणोत्तरार्धेन विवृणोति—**आद्ये** इति।

आद्यक्षणे गुणाभावं दर्शयन्नव्याप्तिमेव विवृणोति—**उत्पन्नमात्रमिति**। कार्यस्य गुणस्य समवायिकारणं वक्तव्यम्, तच्चाश्रयभूतं द्रव्यमेवेति तस्य गुणात्प्राक्क्षणवर्तित्वं वक्तव्यम्, नियतप्राक्क्षणसतः कारणत्वादित्यवयविपु गुणवत्त्वम्, लक्षणं नास्तीत्यव्याप्तिः। ननु केनैवमुक्तं यावल्लक्ष्यं लक्षणेन भवितव्यमिति ? तथा हि कादाचित्कमपि पतनभावत्वं गुरुद्रव्यलक्षणमेवमत्रापि किं न स्यादिति ? उच्यते; लक्षणं हि केवलव्यतिरेक्यनुमानविशेषः; तथाचाद्यक्षणवर्त्यपि द्रव्यं पक्ष एव, न च तत्र हेतुवृत्तिरित्यसिद्धिः स्यात्। पतनस्यापि लक्षणत्वमसप्रतिपन्नम्। किंचोत्तरक्षणे गुणोत्पत्तौ उत्पन्नमात्रस्यानुत्पन्नगुणस्यापि क्वचिद्विनाशसंभवात्तत्र सर्वथैवाव्यापकमिदं स्यात्। अपि च गुणस्य क आश्रय इति पृष्टे किमुत्तरं देयम् ? यदि द्रव्यमिति, तदा परस्पराश्रयम्, अथान्यत्किंचित्सकलगुणाश्रयानुगतमनतिप्रसक्तं चाभिधीयेत, तर्हि तदेव भवतु लक्षणमितीतरद्व्यर्थम्। द्रव्यविलक्षणगुणाज्ञाने च लक्षणासिद्धिः। तज्ज्ञाने च चक्रकपरस्पराश्रयात्माश्रयाणीति तदेतच्छ्लोकस्थापिना दर्शितम्। गुणादावपीत्येतद्विवृण्वन्नतिव्याप्तिं दर्शयति—**गुणादिष्वपीति**। स्यादेतत्—अगुणा गुणा इति लक्षणात्तेषु संख्यावत्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तेति तत्राह—**न च तत्रेति**। बाधाभावान्न भ्रमत्वमितरथाऽतिप्रसङ्गात्। अत्र लीलावतीकारः प्राह—'गुणाश्रयो द्रव्यम्', अत्र यद्यपि संबन्धो न सदातनः, योग्यता तु स्वरूपमननुगतं च, द्रव्यत्वं तु क्लृप्तम्, तथाप्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदो लक्षणार्थ इति। तदेतद्धृदि निधाय शङ्कते—**अथ मतमिति**। अभिनवं वक्रं च यन्नयवर्त्म न्यायमार्गस्तदनुसारिणामित्यर्थः। वक्रमार्गमेव दर्शयति—

अभाव रहता है, और गुणादि में संख्या रूप गुण के देखने से अतिव्याप्ति होती है, गुणाश्रयत्व द्रव्य का लक्षण नहीं हो सकता है॥ ४॥

उत्पन्नमात्र द्रव्य क्षणमात्र अगुण = गुणरहित, रहता है, ऐसा स्वीकार करने से अव्याप्ति होती है। और गुणादि में भी चौबीस गुण हैं इत्यादि संख्या रूप गुण के सम्बन्ध के देखने से अतिव्याप्ति होती है, गुण में संख्यावत्त्व की प्रतीति विभ्रम रूप है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि नव ही द्रव्य हैं, यहाँ जैसे बाध नहीं दीखता है, वैसे ही गुणादि में बाधक नहीं दीखता है। यदि माना जाय कि ऋजु

मतम्, आस्तामिदमृजुपथप्रस्थितानां दूषणाभिधानम्, अस्माकं पुनरभिनव-वक्रनयवर्त्मानुसारिणां नैषा विभीषा समुन्मिषति, यतो गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणतामेव गुणाधिकरणतामाचक्ष्महे, तेन नाव्याप्तिर्नाप्यतिव्याप्तिः। गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे इति प्रशस्तपादभाष्यदर्शनादिति, मैवम्; तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः। सोऽपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावस्तस्यानधिकरणम्, स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्तेः। अथानेकत्वादत्यन्ताभावानामत्यन्ताभावेऽभावोऽस्ति, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। किमेकैकगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं द्रव्यलक्षणम्? उत सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावा-

---

यत इत्यादिना। तथाप्यतिव्याप्तिरित्याह—**मैवम्; तत्रैवेति**। किं गुणवत्त्वात्यन्ताभावोऽनेकः? किं वैकः? एकत्वे तावदाह—**सोऽपि हीति**। योऽपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावः सोऽपि हि स्वस्यानधिकरणमेव, स्वस्मिन्स्वस्यावृत्तेरिति। न च प्रमेयत्वादिवत्केवलान्वयित्वं येनाधुनिकनीत्यापि स्ववृत्तिता स्यात्। केवलान्वयित्वे च भग्नं द्रव्यलक्षणमिति भावः। अनेकत्वपक्षमुद्भाव्य दूषयति—**अथानेकत्वादित्यादिना**। अत्र तावत्प्रतियोगिभेदादभावभेदो वक्तव्यः। नह्यभावस्य स्वतो भेदोऽस्ति, निर्विशेषत्वात्, तथाच गुणवत्त्वभेदो वक्तव्य इति स्थिते विकल्पयति—**किमेकैकेत्यादिना**। रूपादिगुणानां मध्ये यदेकैकगुणवत्त्वं तत्प्रतियोगिकोऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा? उत चतुर्विंशतिगुणैर्यानि चतुर्विंशतिगुणवत्त्वानि तेषां योऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा? इत्यर्थः। प्रथमेऽपि किं नियतस्य कस्यचित् अत्यन्ताभावनधिकरणत्वम्? अनियतस्य वा? नियमपक्षे दूषणमाह—

(अवक्र) पथगामियों के दूषणों का कथन हो, अभिनव वक्रपथगामी हमलोगों को यह विभीषिका (दोष) नहीं उत्पन्न होती है, क्योंकि, गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता को ही हम गुणाधिकरणता कहते हैं, वह गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता आद्यक्षण में भी द्रव्य में रहती है, और गुणादि में नहीं रहती है। अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति रूप दोष नहीं है। गुणादि पाँचों को ही निर्गुणत्व = निष्क्रियत्व है, यह प्रशस्तपाद भाष्य में देखा गया है, तो यह मानना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि उसी गुणात्यन्ताभाव में उस द्रव्य लक्षण की अतिव्याप्ति है। वही अत्यन्ताऽभाव, उस अत्यन्ताभाव का अनधिकरण है, क्योंकि अपने में अपनी वृत्ति (स्थिति) नहीं होती है। यदि कहें कि गुणात्यन्ताभाव के भी अनेक होने से अत्यन्ताभावों का अत्यन्ताभाव में भी अत्यन्ताभाव है, अतः अत्यन्ताऽभावानधिकरणत्व रूप लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, तो ऐसा कहना नहीं बनता है, यह कथन विकल्पाऽसह है। विकल्प यह है कि अनेक अत्यन्ताभाव होने पर क्या एक-एक गुणात्यन्ताभावानधिकरणत्व द्रव्य का लक्षण है, अथवा सर्वगुणात्यन्ताभावान-

नधिकरणत्वम् ? नोभयम्, उभयत्राप्यव्याप्तेः तथाहि—रूपादीनां गुणानामनेकत्वात्तदेकगुणाधिकरणस्यापि तदितरगुणात्यन्ताभावाधिकरणत्वादेव तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वाभावात्। सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य सर्वस्मिन्नसम्भवात्। सति हि सर्वगुणाधिकरणत्वे सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणता स्यात्। न च सर्वगुणाधिकरणत्वमेकैकस्यास्तीति कथं नाव्याप्तिः ? अथ चतुर्विंशतिगुणानामन्यतमगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता विवक्षिता, तदपि न, अन्यतमशब्देन रूपादेरेवैकैकस्य सर्वस्य वा विवक्षायां पूर्वाभिहिताव्याप्तिदोषस्य तदवस्थत्वात्।

रूपादीनामिति। रूपात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे वाय्वादिष्वसिद्धिरेवमितरत्रापीति भावः। सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वपक्षं दूषयति—**सर्वेति**। सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं तत्प्रतियोगिसर्वगुणाधिकरणत्वे सति स्यात्, नचैतदस्ति। नहि तदस्ति किंचिद्द्रव्यं यच्चतुर्विंशतिगुणाधिकरणमिति असंभव एव लक्षणस्येत्यर्थः। अनियतपक्षं शङ्कते—**अथेति**। किमन्यतमशब्देन प्रत्येकं समुदितं वा विहायान्यस्य कस्यचिन्निर्देशः ? उतैतयोरेवान्यतरस्योभयस्य वा ? नाद्यः; तथाविधस्य तस्य नियमेनादर्शनात्, उत्तरत्र तूक्तमेव दूषणमित्याह—**अन्यतमशब्देनेति**। अथ भावत्वे सति गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमित्युच्येत, तन्न; रूपादावतिव्याप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्। ननु संयोगात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे को दोषः ? तदत्यन्ताभावस्यैकत्वे तस्मिन्नेवातिव्याप्तिः' अनेकत्वे पुनः किमेकैकसंयोगात्यन्ताभावः ? सर्वसंयोगात्यन्ताभावः ? अन्यतमसंयोगात्यन्ताभावो वा ? इति विकल्पैरुन्मूलनात्। एतेन विभागपरिमाणसङ्ख्यापृथक्त्वैरपि लक्षणनिरुक्तिप्रत्याशानवकाशीकृता वेदितव्या।

धिकरणत्व लक्षण है। दोनों लक्षण नहीं बन सकता है, दोनों ही में अव्याप्ति रूप दोष है, क्योंकि रूपादि गुणों के अनेक होने से उनमें से किसी एक गुण के अधिकरण को भी उससे अन्य गुण के अत्यन्ताभाव के अधिकरण होने से ही उस अत्यन्ताभाव के अनधिकरणत्व का अभाव हो जाता है, और द्रव्य के लक्षणानुसार अनधिकरणत्व होना चाहिये। सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणत्व का सर्वलक्ष्य में असम्भव है। क्योंकि कहीं सर्वगुणाधिकरणत्व रूप प्रतियोगी के होने पर, सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणता हो सकती है, और सर्वगुणाधिकरणत्व एक-एक द्रव्य को नहीं है तो अव्याप्ति कैसे नहीं होगी। यदि कहें कि चौबीस गुणों में से अन्यतम गुणवत्त्वाऽत्यन्ताभावानधिकरणता विवक्षित है, तो वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अन्यतम शब्द से एक-एक रूपादि की या सब की विवक्षा होने पर पूर्वकथित अव्याप्ति दोष की तदवस्थता रहती है।

किञ्चास्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिष्वपि सङ्ख्यापृथक्त्वगुणयोः प्रतीतेः कथं नातिव्याप्तिः ? न च प्रशस्तपादभाष्यं मनुवचनम्, येन निर्गुणता गुणादीनां प्रामाणिकी स्यात। न च मन्तव्यम्, गुणेष्वपि गुणाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसक्तेः सङ्ख्यापृथक्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति, रूपादिषु तदभ्युपगमेऽपि सङ्ख्यापृथक्त्वयोः सङ्ख्यापृथक्त्वान्तरानभ्युपगमेनैवानस्थापरिहारात्। यथा

किंचैवं विवेक्षायामपि न पूर्वोक्तातिव्याप्त्युपशम इत्याह—**किंचेति**। यत्तु प्रशस्तपादवचनान्निर्गुणत्वं गुणानामुक्तम्, तत्राह—**नच प्रशस्तेति**। अत्र किरणावलीकारः प्राह—'समानजातीयगुणाभावस्तावदनवस्थाप्रसङ्गात्, रूपादौ रसादिवेगान्तर्भावे मूर्तत्वप्रसङ्गात्। बुद्ध्यादीनां च प्रतिसन्धात्रात्मगुणत्वेन व्यवस्थितेरप्रसक्तिरेव, शब्दस्य नभोनियमात्, गुणेषु गुणयोगे च समवायिकारणत्वप्रसक्तौ द्रव्यत्वापत्तेर्गुणत्वव्याघातः, एवं रूपावयवि रूपेष्वेव वर्तते इति घटादेर्नीरूपत्वप्रसङ्ग इत्यादि, एवं निर्गुणत्वे निष्क्रियत्वे च रसादयो गच्छन्ति चतुर्विंशतिर्गुणा महान् शब्द इत्यादयो व्यवहारास्तदेकार्थसमवायादिना साधर्म्येण गौणाः समर्थनीयाः' इति। तदेतदाशङ्क्य दूषयति—**न च मन्तव्यमिति**। अनवस्थाग्रहणं तदुक्तबाधकान्तराणामप्युपलक्षणम्। न च मन्तव्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**रूपादिष्विति**। अयमर्थः—सत्यं सजातीयगुणाङ्गीकारेऽनवस्था, विजातीयसंख्यापृथक्त्वयोराश्रयणे किं बाधकम्? न च समवायिकारणत्वप्रसक्तिर्बाधिका; इष्टत्वात्संख्यादिसमवायिकारणत्वस्य। अत एव द्रव्यत्वप्रसक्तिरपि नानिष्टाय। कथं च द्रव्यत्वप्रसक्तिः? यदि ह्येतद्द्रव्यलक्षणं स्यात्, स्याद् द्रव्यत्वप्रसङ्गः, तदेव त्वयापि न निर्णीतम्। न च रूपाद्यारब्धत्वे सङ्ख्याया रूपादिवृत्तित्वान्न द्रव्ये संख्या स्यादिति वचनीयम्। गुणेऽपि पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्, प्रत्ययसाम्याच्च। यथा तु तन्तुशौक्ल्यव्यतिरेकेण पटेऽपि शौक्ल्यमङ्गीक्रियते प्रतीतिबलात्, एवमत्रापि सङ्ख्याद्वयं किं न स्यात्? न च सङ्ख्यायां सङ्ख्यान्तरस्वीकारादनवस्थाप्रसक्तिः; तत्र पृथक्त्वस्वीकारात् पृथक्त्वे

इस वक्र लक्षण के करने पर भी गुणादि में भी संख्या और पृथक्त्व गुण की प्रतीति से अतिव्याप्ति कैसे नहीं होगी। यद्यपि प्रशस्तपाद भाष्य में गुण को निर्गुण निष्क्रिय कहा गया है, तथापि प्रशस्तपाद भाष्य मनु का वचन नहीं है कि जिससे गुणादि की निर्गुणता प्रामाणिकी होगी। ऐसा नहीं मान सकते कि गुणों में भी संख्या पृथक्त्व गुण को मानने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी, अतः गुणों में संख्या पृथक्त्व की प्रतीति भ्रान्ति रूप होती है। क्योंकि रूपादि में प्रतीति के अनुसार संख्या पृथक्त्व को मानने पर भी संख्या पृथक्त्व में अन्य संख्या पृथक्त्व के नहीं मानने से ही अनवस्था नहीं होगी, जैसे संयोगसम्बन्ध में समवायसम्बन्ध को

भवतां संबन्धे संबन्धान्तरमङ्गीकुर्वतामपि समवाये तदनभ्युपगमादेवानवस्थापरिहारः। द्रव्यगतसङ्ख्यापृथक्त्वाभ्यामेव तदेकार्थसमवायलक्षणप्रत्यासत्त्या गुणादिष्वपि तद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था तत्कल्पनेति चेत्, मैवम्; विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्। अथ गुणानामनेकत्वेऽपि द्रव्यस्यैकत्वदर्शनात्कथं गुणसङ्ख्यया द्रव्ये तद्व्यवहारः? तर्हीहापि माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमिति न दीयते दृष्टिः? नवैव द्रव्याणि चतुर्विंशतिर्गुणा इति सङ्ख्यावैषम्यात्–अथावान्तरद्रव्यसङ्ख्यासंभवनिमित्तोऽयं व्यवहारः, तर्हि परार्द्धसङ्ख्याव्यवहारोऽपि गुणेषु स्यात्। द्रव्येषु तत्संभवात्, द्रव्यगतसत्तासामान्यादि-

---

च सङ्ख्यास्वीकारादिति, भवदुररीकृता चेयं रीतिरित्याह—**यथा भवतामिति**। अन्यथोपपत्तिं शङ्कते—**द्रव्यगतेति**। द्रव्यगतसङ्ख्यादिप्रतीतेरपीयं समाना गतिरित्याह—**मैवमिति**। गुणगतसङ्ख्यया द्रव्ये संख्याप्रतीतिरशक्योपपादना। गुणानामनेकत्वेऽपि तदाश्रयद्रव्यस्यैकत्वात्। अन्यथा आश्रयद्रव्यस्यानेकत्वप्रसङ्गादिति शङ्कते—**अथ गुणानामिति**। एषामुपपत्तिरत्रापि तुल्या। यदि हि द्रव्यसङ्ख्ययैव गुणेषु सङ्ख्या स्यात्तदा द्रव्याणां नवसङ्ख्यावत्त्वादतिरिक्तगुणा न भवेयुरिति परिहरति—**तर्हीति**। नन्ववान्तरद्रव्येषु चतुर्विंशतिसङ्ख्यासद्भावात्तन्निमित्तो व्यवहार इति शङ्कते—**अथावान्तरेति**। तर्हि चतुर्विंशतित्वनियमः किं कृत? अधिकसङ्ख्यानामपि द्रव्येषु विद्यमानत्वात्। न च चतुर्विंशतिजातिनिमित्तं चतुर्विंशतित्वम्; जातेरेव चतुर्विंशतित्वासंभवादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**तर्हि परार्द्धेति**। अतिप्रसङ्गं चाह—**द्रव्यगतेति**। तदेवं "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यमिति"

मानने वाले भी आपके मत में समवाय में समवाय के अस्वीकार से ही अनवस्था का परिहार होता है, वैसे यहाँ परिहार होगा। यदि कहें कि द्रव्यवृत्ति संख्या और पृथक्त्व से ही उन दोनों के साथ एक अर्थ रूप = द्रव्य में रूपादि गुणादि के समवायसम्बन्ध से ही गुणादि में भी संख्या पृथक्त्व का व्यवहार हो सकता है, अतः गुणादि में संख्या पृथक्त्व की कल्पना व्यर्थ है, तो ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि विपर्यय को भी सुवचत्व हो सकता है कि गुण-गत संख्या पृथक्त्व का ही स्वसमवायि समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में संख्यादि का व्यवहार हो सकता है, अतः द्रव्य में उनकी कल्पना व्यर्थ है। यदि कहें कि एक किसी द्रव्यगत गुण के अनेक होते भी द्रव्य के एकत्व को देखा जाता है, तो गुणगत संख्या से द्रव्य में उसका व्यवहार कैसे माना जा सकता है, तो उन कहने वाले को माध्यस्थ का अवलम्बन करके (पक्षपात छोड़कर) इधर भी दृष्टि क्यों नहीं देना बनता है कि नव ही द्रव्य हैं, और चौबीस गुण हैं, अतः संख्या की विषमता से द्रव्यगत संख्या से गुण में संख्या का व्यवहार नहीं कहा जा सकता है, यदि कहें कि अवान्तर द्रव्य

भिरेव गुणकर्मणोरपि सद्व्यवहारोपपत्तौ तत्र सत्तासामान्यकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। एतेन समवायिकारणं द्रव्यमित्यपास्तम्। जातमात्रस्य तदभावात्, तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य चात्यन्ताभावे एव व्यभिचारात्, रूपादिगुणानामपि सङ्ख्यापृथक्त्वसमवायिकारणत्वसंभवात्।

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वजातियोगित्वं द्रव्यलक्षणम्, न;

द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि नो द्रव्यलक्षणम्।
तज्जातिव्यञ्जकाभावात्तन्मानस्यानिरूपणात् ॥ ५ ॥

द्रव्यत्वं जातिमभ्युपगच्छता तज्जातिव्यञ्जकं किंचिदवश्यमभ्युपेयम्, नच

काश्यपसूत्रोक्तलक्षणेषु गुणत्वलक्षणं दूषयित्वा तदीयलक्षणान्तरेऽपि तदेव दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**। अतिदिश्यमानाव्याप्त्यतिव्याप्ती विशदयति—**जातमात्रस्येति**।

लक्षणान्तरं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। जातियोगित्वं गुणकर्मणोरप्यस्तीति द्रव्यत्वग्रहणम्। नियतव्यञ्जकप्रमाणयोरभावाद् द्रव्यत्वजातिरेवासिद्धा, ततस्तद्युक्तलक्षणमप्यसिद्धमिति श्लोकेन दूषयति—**द्रव्यत्वेति**। तज्जातिव्यञ्जकाभावादित्येतद्विवृणोति—**द्रव्यत्वं जातिमिति**। न च व्यञ्जकनियमो नास्तीति युक्तम्; तथासति

(द्रव्य मध्यगत पाषाण सुवर्ण मृत्तिकादि द्रव्य) गत चौबीस संख्या के सम्भव निमित्तक यह गुण में चौबीस संख्या का व्यवहार होता है, तब तो परार्द्ध (अन्त्यं मध्यं परार्द्धं) इस प्रकार से वर्णित अन्तिम संख्या का व्यवहार भी गुणों में होगा, क्योंकि अवान्तर द्रव्य में परार्द्ध संख्या का भी सम्भव रहता है। और संख्या के समान द्रव्यगत सत्ता सामान्यादि से ही गुण कर्म में सद्व्यवहार की सिद्धि होते गुण कर्म में सत्तासामान्य की कल्पना में व्यर्थता प्राप्त होती है। एतेन = (इस गुणवत्त्व लक्षण के निराकरण से ही) 'समवायिकारणं द्रव्यम्' = समवायिकारण द्रव्य होता है, यह लक्षण भी निरस्त हो गया, क्योंकि जातमात्र = उत्पत्तिक्षणवृत्ति द्रव्य में गुणादि की उत्पत्ति के अभाव से समवायिकारणत्व नहीं रहता है। और समवायिकारणत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व का समवायिकारणत्व अत्यन्ताभाव में ही व्यभिचार (अतिव्याप्ति) रहता है। रूपादि गुणों को संख्या पृथक्त्व के समवायिकारणत्व का सम्भव है।

उक्त लक्षण के नहीं हो सकने पर, द्रव्यत्वजातियोगित्व = 'द्रव्यत्वजातिमत्व लक्षण हो, यह भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि—

द्रव्यत्वजातियोगित्व द्रव्य का लक्षण नहीं है, उसमें कारण है कि उस जाति के व्यञ्जक का अभाव है, और द्रव्यत्व जाति के प्रमाण का भी निरूपण नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

द्रव्यत्व जाति को मानने वाले को उस जाति का व्यञ्जक अवश्य किसी

तन्निरूपणं सुशकम्; गुणविशिष्टस्य तद्व्यञ्जकत्वे विशेषणभूतस्य गुणस्यापि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वापत्तेः। रूपादीनामपि सङ्ख्यादिगुणवतां तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्गाच्च। एतेन समवायिकारणस्यापि तद्व्यञ्जकता निरस्ता। स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्वं व्यञ्जकमिति चेत्, किमिदं स्वातन्त्र्यम्? किमाश्रयप्रतीतिमन्तरेण प्रतीतियोग्यत्वम्? उतानाश्रितत्वमेव? नाद्यः; शब्दादेरपि तत्संभवात्।

किं त्वया दृष्टम्? किं वा श्रुतम्? इति पृष्टे न जानामि दृष्टं श्रुतं वेति, ज्ञातं तावदिति प्रत्यक्षत्वादी सन्दिग्धम्। न व्यञ्जकास्फुरणव्यतिरेकेण संदेहकारणं तत्रास्ति; ज्ञानस्याश्रयभूतस्य मानसप्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात्। तस्माज्जातिमिच्छता नियतव्यञ्जकं वक्तव्यमेव। तत्र किं गुणवत्वं तद्व्यञ्जकम्? समवायिकारणत्वं वा? स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्वं वा? नाद्य इत्याह—**गुणविशिष्टस्येति। तद्व्यञ्जकतयेति।** द्रव्यत्वजातिव्यञ्जकतयेत्यर्थः। यस्य हि विशेषणाद्यनतिरिक्तं विशिष्टं तस्यायं दोषः, यस्य त्वतिरिक्तं तस्य घटादिव्यक्तरव्यद्रव्यतापातः, तन्मात्रस्य विशिष्टाभावादित्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयं दूषयति—**एतेनेति।** तत्र हि समवायविशिष्टस्य कारणस्य तद्व्यञ्जकत्वे समवायस्यापि तद्व्यञ्जकत्वाद् द्रव्यत्वप्रसङ्गः। सङ्ख्यादिसमवायिकारणत्वाद् गुणकर्मणोरपि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। तृतीयं शङ्कते—**स्वातन्त्र्येणेति। शब्दादेरपीति।** शब्दस्य वायुस्पर्शस्य रसगन्धयोश्चेति गुणानामेवाश्रयप्रतीतिनिरपेक्षप्रतीतीनां स्वातन्त्र्यसंभवेन तद्व्यंजकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। अवयविद्वव्यादिः, तेषामप्यवयवप्रतीतिव्यतिरेकेणाप्रतीतेरिति केचित्।

को मानना होगा, परन्तु व्यञ्जक का निरूपण सुशक (सहज) नहीं है। क्योंकि गुणविशिष्ट को द्रव्यत्व के व्यञ्जक होने पर, विशेषण रूप गुण में भी द्रव्यत्व व्यञ्जकता होने से गुण को भी द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी और संख्यादि गुण वाले रूपादि में भी द्रव्यत्व व्यञ्जकता के होने से उनमें द्रव्यत्व का प्रसङ्ग होगा। इसीसे समवायिकारणत्व की भी द्रव्यत्व व्यञ्जकता निरस्त हो गई, क्योंकि समवाय विशिष्ट कारण में व्यञ्जकता होने पर विशेषण समवाय में भी व्यञ्जकता होने से द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी, स्वतन्त्र रूप से प्रतीति योग्यत्व द्रव्यत्व का व्यञ्जक है, क्योंकि गुणादि द्रव्याश्रित रहते हैं, और द्रव्य स्वतन्त्र रहता है, यदि ऐसा कहें, तो भी विचारणीय है कि वह स्वतन्त्रता क्या है, क्या आश्रय के ज्ञान के बिना ज्ञान योग्यत्व है, या अनाश्रितत्व ही है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि शब्दादि में भी उस स्वातन्त्र्य का सम्भव है, शब्द, वायु का स्पर्श, रस और गन्ध इनकी प्रतीति आश्रय की प्रतीति के बिना होती है, अतः स्वातन्त्र्येण प्रतीति

न द्वितीयः; अवयविनामद्रव्यत्वापत्तेस्तेषामवयवाश्रितत्वात्। तदेवं न व्यञ्जकं द्रव्यत्वजातेः।

नापि प्रमाणमस्ति। द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगतप्रत्ययः प्रमाणमितिचेत्, न; सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकामुपलभमानस्य लौकिकस्य तदेवेदं द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्, परीक्षकाणां चानुगतप्रत्यये पिप्रतिपत्तेः। रत्नतत्त्वमिवोपदेशसहकृतप्रत्यक्षेणैव द्रव्यत्वमीक्षत इत्यपि स्वशिष्यधीवन्धनमेव, रत्नतत्त्वस्येव

अनाश्रितत्वं स्वातन्त्र्यमिति द्वितीयं दूषयति—**न द्वितीय इति**। अवयवाश्रितावयविनां स्वातन्त्र्याभावेन द्रव्यत्वाव्यञ्जकत्वात्तत्र तज्जात्यभावेनाद्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः।

तन्मानस्यानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**नापि प्रमाणमिति**। तत्र प्रमाणं प्रत्यक्षं शङ्कते—**द्रव्यं द्रव्यमिति**। अनुगतप्रत्ययवेदनीयं हि सामान्यम। अस्ति चात्रानुवृत्तप्रत्यय इत्यर्थः। किं तदेवेदमिति बुद्धयाजातिसिद्धिः, किं वैकाकारप्रत्ययमात्रात्। प्रथमे लौकिकानामियं बुद्धिः? परीक्षकाणां वा? नाद्यः इत्याह—**न सुवर्णमिति**। द्वितीये प्राह—**परीक्षकाणामिति**। यत्तु श्रीवल्लभेनोक्तम्—"जातिसमवायस्य रत्नतत्त्ववद्ग्राह्यादिति"। तं प्रत्याह—**रत्नतत्त्वमिवेति**। यत्तु तेनोक्तम्—"प्रतारणैवेति चेन्न, रत्नशास्त्रेपि प्रतारणप्रसक्तेरिति" तत्र रत्नतत्त्वे वैधम्यमाह—

योग्यत्व होने से द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी।

दूसरा अनाश्रयत्व रूप भी स्वतन्त्रता नहीं हो सकती है, क्योंकि अवयवी = कार्य द्रव्यों के अवयवाश्रित रहने से स्वतन्त्रता के अभाव से उनको अद्रव्यत्वापत्ति होगी। अतः उक्त रीति से द्रव्यत्व जाति का कोई व्यञ्जक नहीं सिद्ध होता है। जैसे गोत्व का व्यञ्जक सास्नादि होता है, वैसा कोई है नहीं।

द्रव्यत्व जाति में प्रमाण भी नहीं है, यदि कहें कि द्रव्य-द्रव्य इस प्रकार के पृथिवी में अनुगत ज्ञान द्रव्यत्व में प्रमाण है, तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सुवर्ण को देखकर मृत्तिका को देखने वाले लौकिक पुरुष को यह प्रतीति नहीं होती है कि वही द्रव्य यह है अर्थात् सुवर्ण मृत्तिका में अनुगत द्रव्यत्व लौकिक पुरुष को नहीं भासता है, परीक्षकों को भी अनुगत प्रत्यय में विप्रतिपत्ति (विरोध) रहता है। जैसे कि अन्धकार में किसी को द्रव्यत्व भासता है, किसी को नहीं भासता है। यदि कहा जाय कि, रत्नतत्त्व (स्वरूप) के समान उपदेश सहकृत प्रत्यक्ष से ही द्रव्यत्व जाति जानी जाता है, तो यह भी अपने शिष्य की बुद्धि का बन्धन ही है (वञ्चना ही है:) यथार्थ नहीं। क्योंकि जाति की रत्नतत्त्वतुल्यता में सब परीक्षकों

जातेः सर्वपरीक्षकासंमतत्वात् । धर्माधर्मयोरदृष्टत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्गाच्च, अदृष्टमदृष्टमित्यभयोरप्यनुगतप्रत्ययदृष्टेः ।

यदपि लीलावतीकारमतम्—"आकाशकालदिशः सत्तेतरजातिमत्यः संयोगविभागजनकत्वात् कर्मवत् । नच कर्मत्वमप्रसिद्धम् । चलतीत्यनुगतप्रत्ययवेद्यत्वादिति" । तदपि मन्दम्, कर्माप्रत्यक्षवादिनां चलतीति प्रत्ययस्य संयोगविभागप्रवाहविषयतया कर्मविषयतानङ्गीकारात् कर्मत्वासिद्धौ

रत्नतत्त्वस्येवेति । द्वितीये दूषणमाह—**धर्माधर्मयोरिति** । यदि ह्येकाकारबुद्धिमात्राज्जातिसिद्धिस्तर्हि धर्माधर्मयोरप्यदृष्टमदृष्टमित्येकाकारबुद्धेरदृष्टत्वं नाम जातिः स्यात्, नचैतदिष्टम्, अनुगतजातिव्यञ्जकाभावादित्यर्थः ।

एवं प्रत्यक्षं निरस्यानुमानमपि द्रव्यत्वजातौ निरस्यति—**यदपीति** । जातिमत्य इत्युक्ते सत्तया सिद्धसाधनत्वं तन्निवृत्त्यर्थं सत्तेतरेत्युक्तम् । तथा चाकाशत्वादेरभावाद् द्रव्यत्वजातिसिद्धिरित्यर्थः । अत्र च संयोगजनकत्वं संयोगप्रागभावस्याप्यस्ति, एवं विभागप्रागभावस्यापि विभागजनकत्वमस्तीति तद्व्यभिचारपरिहारायोभयजनकत्वादित्युक्तम्, हेतुद्वयं वात्र विवक्षितम् । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं स एव परिहरति—**न चेति** । अत्र प्राभाकरमते दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमाह—**तदपि मन्दमिति** । किंच कालाकाशदिशः सत्ताद्रव्यत्वातिरिक्तजातिमत्यः संयोगविभागजनकत्वात्कर्मवदित्यनुमानसम्भावादाभाससमानयोगक्षेमत्वम् । विपक्षबाधकाभावाच्च शङ्किताप्रयोजकमित्यपिना सूचितम् । द्रव्यत्वजातावनुमानान्तराणि शङ्कते—

की सम्मति नहीं है, रत्नतत्त्व में किसी परीक्षक को विवाद करते नहीं देखा जाता है, और द्रव्यत्व में विवाद होता है। और यदि अनुगत बुद्धिमात्र से जाति मानी जाय तो, धर्माधर्म दोनों में भी अदृष्ट=अदृष्ट ऐसी अनुगत बुद्धि होने से अदृष्टत्व जाति की स्वीकृति प्राप्त होगी। और अनुगत जाति व्यञ्जकाभाव से यह इष्ट नहीं है।

जो लीलावतीकार का मत है कि (आकाश, काल, दिक्, सत्ताभिन्न जाति वाले हैं, संयोग, विभाग के जनक होने से, कर्म = क्रिया के समान) एक व्यक्तित्व के कारण आकाशत्वादि जाति के अभाव से इस अनुमान द्वारा द्रव्यत्व जाति की सिद्धि मानी गई है। कर्मत्व (दृष्टान्त) अप्रसिद्ध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि चलति (चलता है) इस अनुगत प्रतीति से कर्मत्व वेद्य (ज्ञेय) होता है। वह मत भी मन्द है, क्योंकि कर्म को अप्रत्यक्ष कहने वाले 'चलति' इस ज्ञान की–संयोग-विभाग-प्रवाह-विषयता से कर्मविषयता को नहीं मानते हैं, अतः कर्मत्व की असिद्धि होने पर दृष्टान्त कर्मसाध्य रहित सिद्ध हो जाता है। द्रव्यत्व जाति की सिद्धि के लिये जो

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। आत्मा शावलेयवृत्त्यवृत्तिशावलेयनिष्ठजातिमान्संयोगित्वाच्छावलेयवत्। जलादेश्च पक्षतुल्यत्वान्न तेन व्यभिचारः। तथा, सत्ता दिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वात् पटवत्। आत्माऽनात्मवृत्तिरूपावृत्तिजातिमान् रूपान्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद्घटवदिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिरितिचेत्, मैवम्, संयोगित्वहेतोर्वेगवत्त्वोपाधि-

---

आत्मेत्यादिना। शावलेयनिष्ठजातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता, तदर्थं शावलेयवृत्त्यवृत्तीत्युक्तम्। तस्याश्च शावलेयवृत्तित्वे सति गुणकर्मणोरपि वर्तमानत्वाद् व्यवच्छेदः। तावन्मात्रोक्तावात्मत्वेन सिद्धसाधनता, तदर्थं शावलेयनिष्ठेत्युक्तम्। तथापि शावलेयात्मवृत्तिद्वित्वादिधर्मैरर्थान्तरता, तदर्थं जातिग्रहणम्। दृष्टान्ते गोत्वेन साध्यप्रसिद्धिः। पक्षे च तद्व्याघातादुभयनिष्ठद्रव्यत्वसिद्धिः। ननु संयोगित्वमस्ति जलादौ, नास्ति चैवंविधा जातिरिति तत्राह—**जलादेरिति**। द्वितीये तु जातेरन्येत्युक्ते घटत्वान्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं दिक्कालाकाशनिष्ठेत्युक्तम्। तावत्युक्ते तन्निष्ठगुणादन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं जातिग्रहणम्। अयचानुमानत्रयसूचनाय तथेति ग्रहणम्। इतरथा चैयर्थ्यादिति या सा दिगादिनिष्ठा जातिः, तद्द्रव्यत्वमिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिः। तृतीये तु जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता तदर्थं रूपावृत्तीत्युक्तम्। तावति चात्मत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं अनात्मवृत्तीत्युक्तम्। रूपान्यत्वेनार्थान्तरतापरिहाराय जातिग्रहणम्। रूपेऽनेकान्तिकतापरिहाराय रूपान्यत्वे सतीत्युक्तम्। रूपत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः। सामान्यादिषु व्यभिचारवारणाय सामान्यवत्त्वग्रहणम्। तत्राद्यहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिमाह—**मैवं संयोगीति**। द्वितीयानुमाने दूषयति—

अनुमान किये जाते हैं कि (आत्मा, शावलेय=शवला=चित्रा गौवत्स वृत्ति रूपादि में अवृत्ति शावलेय वृत्ति जाति वाला है, संयोगी होने से, शावलेय के समान) यहाँ दृष्टान्त में गोत्व से साध्य की प्रसिद्धि होती है, परन्तु पक्ष में गोत्व के बाध से पक्ष दृष्टान्त उभय वृत्ति द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है। जलादि पक्ष तुल्य है, अतः जलादि से व्यभिचार नहीं होता है, उनमें व्यभिचार की शंका से साध्य की भी शंका होगी तो कोई हानि नहीं है॥ १॥ इस प्रकार का अन्य अनुमान है कि (सत्ता–दिक्, काल, आकाश, वृत्ति जाति से अन्य है, मेय होने से, पटवत्) यहाँ दिशा आदि में वृत्ति द्रव्यत्व जाति सिद्ध होती है॥ २॥ (आत्मा, अनात्मवृत्ति रूपाऽवृत्ति जातिमान्, रूप से अन्य होता हुआ सामान्य वाला होने से, घटवत्) यहाँ सत्ता की व्यावृत्ति के लिये रूपाऽवृत्ति कहा है। आत्मत्व की व्यावृत्ति के लिये अनात्मवृत्ति कहा है इत्यादि। इन अनुमानों से द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है, ऐसे यदि कहें तो कहना युक्त नहीं। क्योंकि ये निर्दोष अनुमान नहीं है। प्रथमानुमान के संयोगित्व हेतु वेगवत्त्व उपाधि से उपहत है। क्योंकि गवादि दृष्टान्त वृत्ति साध्य का व्यापक वेगवत्त्व है, और सर्वद्रव्यवृत्ति संयोगित्व का अव्यापक है। और

हतत्वात् मेयत्वहेतोश्च सत्तामनङ्गीकुर्वतामाश्रयासिद्धेः। दिक्कालाकाशनिष्ठजातित्वेन तस्या एव विवक्षितत्वे चाप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च। प्रमेयत्वगुणवत्त्वज्ञानाधारत्वोपाधिभिरेव यथायोग्यं सद्द्रव्यमात्मेति व्यवहारोपपत्तौ तत्तत्सामान्यस्वीकारवैयर्थ्येन सामान्यवत्त्वहेतोरप्यसिद्धेः। तदेवं जातौ व्यञ्जकप्रमाणयोरसंभवेनाकाशवृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि,

---

मेयत्वेति। न चाजातिरूपस्यापि पक्षत्वाश्रयासिद्धिः; दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्। किंच दिक्कालाकाशनिष्ठजात्यन्यत्वं किं सत्तान्यत्वेन? किं वा द्रव्यत्वान्यत्वेन? उभयथाप्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः। तत्र प्रथमे व्याघाताच्चरमेऽसिद्धेरित्याह—**दिक्कालेति**। सत्ता गुणवृत्तिदिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वादित्यपि संभवादाभाससमानता नेति द्रष्टव्यम्। तृतीयहेतोः स्वरूपासिद्धिमाह—**प्रमेयत्वेति**। अयमभिसन्धिः—त्रिभिः खलु जातिभिरात्मनः सामान्यवत्त्वमभिमतम्, तासु च न किंचित्प्रमाणमस्ति, अनुवृत्तप्रत्ययस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात्, अनुमानस्य चैतादृशत्वात्। अस्तु वानुवृत्तव्यवहारस्तथापि प्रमेयत्वादितत्तदुपाधिभिरेवायं व्यवहारः शक्यसमर्थनः। न च प्रमेयत्वस्य सत्तात्वे चाक्षुषत्वं न स्यात्; प्रमाविषयत्वस्य चाक्षुषत्वादिति वचनीयम्; सामान्यत्वेऽप्यचाक्षुषत्वस्य तदवस्थत्वात्। स्वरूपसद्विशेषो हि सामान्यं नाम। न च प्रमेयत्वातिरिक्तं स्वरूपसत्त्वमस्ति। रूपैकार्थसमवायाच्चाक्षुषत्वमितरत्रापि तुल्यम्, अभावत्वं तु प्रमेयत्वादेः शपथसाध्यमिति, यानि च महाविद्यानुमानानि द्रव्यत्वजातौ प्रवर्तन्ते, तान्यपि परमाणुनिराकरणवादे निवेदनीयदूषणदूषितानीति नोदाहृतानि आचार्येण। तदेवं व्यञ्जकप्रमाणयोरसिद्ध्या द्रव्यत्वजातेरसिद्धौ तत्पुरस्कारेण यानि शिवादित्यमिश्रेण लक्षणानि लक्षणमालायामुक्तानि, तान्यपि निरस्तानीत्याह—**तदेवमिति**। अत्र चाकाशवृत्तीत्याद्येकं लक्षणम्, क्रियासमानाधिकरणेत्याद्यपरम्, संयोगवद्वृत्तीत्यादि-

---

मेयत्व रूप हेतु सत्ता को नहीं मानने वालों के प्रति आश्रयासिद्धि है। और इस अनुमान से प्रथम द्रव्यत्व जाति के असिद्ध होने के कारण, दिक्, काल, आकाश निष्ठ जाति रूप से उस सत्ता के ही विवक्षित होने पर अप्रसिद्ध विशेषणता भी सत्ताऽनभ्युपगम वादी के लिये होती है। और तृतीय अनुमान के सामान्यवत्त्व हेतु असिद्ध है, क्योंकि, प्रमेयत्व, गुणवत्त्व, ज्ञानाधारत्व रूप उपाधियों से ही यथायोग्य, सत्, द्रव्य, और आत्मा इन व्यवहारों की सिद्धि होते, सद्व्यवहार के लिये सत्ता, द्रव्यव्यवहार के लिये द्रव्यत्व और आत्मव्यवहार के लिये आत्मत्व रूप तत्तत् सामान्य स्वीकार की व्यर्थता से सामान्यवत्त्व हेतु की असिद्धि होती है। प्रमेयत्व उपाधि से सद्व्यवहार, गुणवत्त्व उपाधि से द्रव्यव्यवहार और ज्ञानाधारत्व उपाधि से आत्मव्यवहार के सिद्ध होते सत्ता आदि की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस उक्त रीति से जाति के व्यञ्जक और प्रमाण के अभाव से (आकाशवृत्ति-

क्रियासमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि, संयोगवद्वृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि द्रव्यमित्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि महाविद्यालक्षणानि निरस्तानि वेदितव्यानि।

तथा गुणलक्षणमपि न युक्तं लक्षयामः।

लक्षणान्तरम्। तत्र सत्ताव्याप्यजातियोगिद्रव्यमित्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिः गुणत्वकर्मत्वादीनामपि सत्ताव्याप्यत्वात्तदर्थमाकाशवृत्तीत्युक्तम्। तावत्युक्तेऽपि गुणादावतिव्याप्तिः, तेषामप्याकाशवृत्तिसत्ताजातियोगित्वात्तदर्थं सत्ताव्याप्येत्युक्तम्। आकाशगुणान्योन्यत्वमित्याद्याकाशवृत्तिसत्ताव्याप्यान्योऽन्याभावादिरूपधर्मयोगिगुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय जातिग्रहणम्। द्वितीये सत्तावान्तरजातियोगीत्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिः, तदर्थं क्रियासमानाधिकरणेत्युक्तम्। तावति च सत्तायुक्तगुणादावतिव्याप्तिः स्यात्, तदर्थं सत्तावान्तरेत्युक्तम्। अत्र च सत्तासाक्षाद्व्याप्यत्वं सत्तावान्तरत्वम्। अनेन न घटत्वादिकमादायाव्याप्तिभ्रमः। तृतीयेऽपि गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय संयोगवद्वृत्तीति विशेषणम्। सत्तामादाय गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय सत्तावान्तरग्रहणम्। आदिग्रहणेन जातिमन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोग्याकाशवृत्तिजातियोगित्वं कार्यसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वा रूपसमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि वा स्पर्शसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वा रससमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वेत्यादीनि लक्षणानि संगृहीतानि। **महाविद्यालक्षणानीति**। महाविद्यारीत्या प्रवृत्तानीत्यर्थः। द्रव्यलक्षणखण्डनेन च तद्विशेषपृथिव्यादिलक्षणान्यपि खण्डितानि वेदितव्यानि। सामान्याभावे तद्विशेषस्य सुतरामसंभवात्, तल्लक्षणानामपि जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तत्वाच्च। गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवीत्यादिरूपाणि हि तानि, तत्र द्रव्यत्वजातिदूषणेन तदवान्तरत्वमपि दूषितमेव। प्रदर्शयिष्यते च जातिमात्रस्य खण्डनम्, ततोऽपि तद्गर्भाणि लक्षणानि दुर्भराणि। वादीन्द्रस्तु एतानि लक्षणानि दूषयित्वा स्वमतेन कार्याश्रयो द्रव्यं गुणाभावो द्रव्यमित्यादिलक्षणान्युदाजहार, तानि च तत्रैव निरस्तप्रायाणीति।

नन्वेतावतापि न नानालक्षणवत्त्वेन भेदासिद्धिः, गुणलक्षणवत्त्वभेदसिद्धेः, गुणलक्षणानामक्षीणत्वात्तदर्थं तान्यपि खण्डयति—**तथा गुणलक्षणमपीति**। तत्र

सत्ताव्याप्यजातियोगि = जातिमत्, द्रव्यम्, क्रियासमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि, द्रव्यम् और संयोगवद्वृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि द्रव्यम्, इत्यादि जाति के स्वीकारपूर्वक प्रवृत्त महाविद्या के सब लक्षण निरस्त हो गये, ऐसा समझना चाहिये, अतः इनके निराकरण के लिये पृथक् यत्न कर्तव्य नहीं है। लक्षणों के पदकृत्य = टीका स्वविचार से ज्ञातव्य है।

उक्त रीति से गुण का भी युक्त = निर्दोष लक्षण नहीं देखता हूँ। क्योंकि—

सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् ।
अन्योऽन्याश्रयतापत्तेर्गुणस्याद्याप्यसिद्धितः ॥ ६ ॥

"सामान्यवानगुणः संयोगविभागयोर्निरपेक्षो न कारणं गुणः" इति कन्दलीकारस्य गुणलक्षणं तावदयुक्तम्; सिद्धे गुणे अगुण इति लक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च गुणसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वदूषणग्रस्तत्वात् । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्,—"सामान्यवानचलनात्मकः समवायिकारणताहीनो गुणः" इत्यपि नः, रूपादीनामपि समवायिकारणत्वस्य दर्शितन्यायेन संभवात्त-

---

'द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारण निरपेक्षः' (वै. सू. १।१।१६) इति गुणलक्षणपरं सूत्रम् । तदर्थतया च कंदलीकाराद्यभिमतलक्षणं तावद् दूषयति—**सामान्यवानित्यादिना** । अन्योन्याश्रयतायामेव हेतुः, गुणस्येति । यदि हि गुणो ज्ञातः स्यात्तदा गुणरहितत्वज्ञानं स्यात् , स चैतल्लक्षणव्यतिरेकेण नाद्यापि सिद्धः । एतल्लक्षणेन सिद्धावन्योऽन्याश्रयतेत्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—**सामान्येत्यादिना** । सामान्यादिव्यावृत्त्यर्थं सामान्यवानिति विशेषणम् । द्रव्यव्यवच्छेदायागुण इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदाय संयोगविभागेत्यादिविशेषणम् । संयोगविभागयोर्हि निरपेक्षकारणं कर्म, तन्न भवति यत्स गुण इत्यर्थः । वादीन्द्रस्तु पृथक्त्वानाश्रयः सङ्ख्यानाश्रयः संयोगकारणत्वे सति विभागनिरपेक्षकारणत्वरहितो गुण इत्यादि प्रत्यवादीत्, तन्न; सङ्ख्यापृथक्त्वाद्याश्रयत्वस्य पूर्वमेवोपवर्णनात् । अन्योन्याश्रयतापरिहाराय श्रीवल्लभीयलक्षणमनुवदति—**यत्त्विति** । उक्तं च वैधर्म्यपरिच्छेदे इति शेषः । अत्रापि सामान्यादिव्यावृत्त्यै सामान्यवानित्युक्तम् । द्रव्यव्यवच्छेदाय समवायिकारणताहीनः इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदायाचलनात्मक इत्युक्तम् । तत्र "कार्यं यत्र समवैति, तत्सम-

---

सामान्यवान होता हुआ, अगुण हो इत्यादि भी इस गुण का लक्षण नहीं हो सकता है, इस लक्षण में अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है, क्योंकि गुण की असिद्धि है ॥ ६ ॥

(समान्यवान् = अगुणः संयोगविभागयोर्निर्पेक्षो न कारणम् = गुणः) जो जाति वाला होता हुआ निर्गुण हो और संयोग विभाग के निरपेक्ष कारण नहीं हो, अर्थात् कर्म से भिन्न हो, वह गुण कहाता है, यह कन्दलीकार के गुण का लक्षण है, वह अयुक्त है । क्योंकि प्रथम गुण रूप प्रतियोगी की सिद्धि हो, तो उस सिद्ध गुण का निषेधरूप अगुण यह लक्षणांश सिद्ध हो और लक्षण की सिद्धि होने पर गुण की सिद्धि होने से अगुण की सिद्धि होगी, अतः इसप्रकार अन्योन्याश्रय दूषण से ग्रस्त यह लक्षण है, अतः युक्त नहीं है । और जो लीलावतीकार ने कहा है कि (सामान्यवान्= अचलनात्मक = कर्मान्य = समवायिकारणताहीन = द्रव्यान्य गुण कहा जाता है) यह भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि रूपादि में भी समवायिकारणत्व के दर्शित

हीनतालक्षणस्य लक्षणांशस्यासंभावितत्वात्; सामान्यवान्स्पर्शरहितो द्रव्याश्रयः कर्मातिरिक्तो गुणः इत्यपि न; गुणात्कर्मणो भेदासिद्धौ कर्मव्यावृत्तेरयुक्तत्वात्। अन्यथा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि विशेषणोपादानप्रसङ्गात्। तथा च गुणपदार्थे किरणावलीकारः 'तस्माद्वरो भूषणः कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगात्' इति।

वायिकारणमिति" परेषां समवायिकारणलक्षणम्, तच्च पूर्वोक्तन्यायेन पृथक्त्वादिप्रति गुणादेरप्यस्तीत्यसंभव इत्यर्थः। एतेन केवलनिमित्तकारणे वर्तमानापरजातीयत्वं वा समवाय्यसमवायिकारणतारहिते वर्तमानापरजातीयत्व वेति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि परिभूतं मन्तव्यम्। उक्तन्यायेन सर्वगुणानामपि पृथक्त्वादिसमवायिकारणतया केवलनिमित्तकारणत्वसमवायिकारणत्वरहितत्वयोरभावादिति। किरणावलीयं लक्षणं दूषयति—**सामान्यवान् स्पर्शरहित इत्यादिना**। कर्मातिरिक्तं इत्युक्ते द्रव्येऽतिव्याप्तिस्तदर्थं द्रव्याश्रय इत्युक्तम्। तथापि कार्यद्रव्याव्याप्तिस्तदर्थं स्पर्शरहित इत्युक्तम्। यदि गुणाद्भेदेन कर्मज्ञानं स्यात्कर्मातिरिक्तता गुणस्य ज्ञायेत, नचैतदस्ति, गुणानिर्णये तद्व्यतिरेकस्यापि कर्मणो ज्ञातुमशक्यत्वात्, एतल्लक्षणेन च गुणं निश्चित्य ततोऽतिरिक्तं कर्म ज्ञात्वा तदतिरिक्तत्वविशेषणज्ञानं वाच्छतश्चक्रकापत्तिरित्यभिसन्धिराह—**गुणात्कर्मण इति**। यदि गुणादज्ञातभेदादपि कर्मणः सकाशादतिरिक्तत्वं सिद्धवद्व्यपदिश्येत, तदा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि किमिति न विशेषणं क्षिप्यते लक्षणे? समानं ह्युभयोरपि गुणादज्ञातभेदत्वं व्यतिरेकानङ्गीकारश्च प्रतिवादिन इत्याह—**अन्यथेति**। उक्तश्चायामर्थो गुणपदार्थपूर्वपक्षोपसंहारसमये किरणावलीकारेणेत्याह—**तथा चेति**। यस्मान्न कर्मणो भेदकमस्ति, तस्माद् भूषणो वरः श्रेष्ठः। कथं कर्मापि गुणः? तल्लक्षणयोगादिति हि

रीति से सम्भव होने पर समवायिकारणता हीनता स्वरूप लक्षणांश के असम्भावितत्व है, अर्थात् कार्य का जहाँ समवाय हो वह समवायी कहाता है, और पूर्वोक्त रीति से पृथक्त्वादि के प्रति गुणादि को भी समवायित्व है, अतः समवायिकारणता हीन गुण नहीं हो सकता है। इसीप्रकार से (सामान्य वाला = स्पर्शरहित = द्रव्याश्रित = कर्मान्य गुण होता है) यह लक्षण भी नहीं बन सकता है। क्योंकि गुण-कर्म के भेद की सिद्धि के बिना कर्म व्यावृत्ति की अयुक्तता है, अन्यथा (गुण से कर्म में भेद को जाने बिना यदि कर्मान्यत्व विशेषण दिया जाय) तो रूपातिरिक्त, रसातिरिक्त इत्यादि विशेषण का भी ग्रहण प्राप्त होगा। इसी प्रकार से गुण पदार्थ के निरूपण में किरणावलीकार ने कहा है कि (तस्माद्वरो भूषणः = कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगात्) जिससे कर्म का भेद नहीं है, अतः भूषण वर है, कि जो मानता है कि गुण के लक्षण के योग (सम्बन्ध) से कर्म भी गुण है।

ननु गुणत्वजातियोगी गुणः । न च व्यञ्जकाभावः; सामान्यवत्त्वे सति संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वस्यैव गुणत्वव्यञ्जकत्वात् । नापि गुणत्वजातौ प्रमाणाभावः, संयोगः संयोगत्वातिरिक्तावान्तरजातिमान्, जातिमत्त्वात् कर्मवदिति तत्सिद्धिरिति चेत् ?

अत्र ब्रूमः—

गुणत्वजातियोगोऽपि न भवेद्गुणलक्षणम् ।
अन्योऽन्याश्रयदुष्टत्वाज्जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च ॥ ७ ॥

तन्मतमित्यर्थः । तस्माद्वादिनः सकाशादिति वार्थः । एतेन कर्मान्यत्वे सति सामान्यैकाश्रयो गुण इति सर्वदेवीयमपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम् । पृथक्त्वाद्याश्रयतया सामान्यैकाश्रयत्वस्यासिद्धेरिति ।

ननु गुणत्वजातिरेव नास्ति, तद्व्यञ्जकप्रमाणयोरभावादिति, तत्राह—न च व्यञ्जकेति । द्रव्यकर्मणोर्व्यवच्छेदाय संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वमित्युक्तम् । द्रव्यं हि संयोगविभागयोः समवायिकारणं भवति, कर्म त्वसमवायिकारणम् । गुणस्तु न तथा । यद्यपि संयोगविभागयोरस्ति तज्जनकत्वम्, तथापि संयोगजनकत्वे सति विभागजनकत्वरूपोभयजनकत्वं न संयोगस्यास्ति, संयोगस्य संयोगं प्रत्येवासमवायिकारणत्वात् । एवं विभागस्यापि विभागं प्रत्येव । अजनकत्वं च समवाय्यसमवायिकारणत्वराहित्यम्, तेनेश्वरेच्छादिसंग्रह इति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति भावः । **संयोग इति** । संयोगो जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता, तदर्थमवान्तरजातिमानिति कृतम् । तथाच संयोगत्वेनार्थान्तरता तदर्थं संयोगत्वातिरिक्तेत्युक्तम् । यासाववान्तरजातिस्तद्गुणत्वमिति तत्सिद्धिरिति भावः ।

गुणत्वजातेस्तद्व्यञ्जकस्य चान्योन्याश्रयदुष्टत्वाद् गुणत्वजातियोगोऽपि गुणलक्षणं न भवेदिति श्लोकेन दूषयति—**गुणत्वजातियोगोपीति** ।

शंका होती है कि (गुणत्वजातियोगी गुणः) गुणत्व जाति वाला गुण कहा जाता है, यह गुण का लक्षण है, और जाति के व्यञ्जक का अभाव नहीं है, क्योंकि सामान्यवत्त्व युक्त संयोग-विभागात्मक कार्यद्वयाऽजनकत्व ही गुणत्व का व्यञ्जक है । गुणत्व जाति में प्रमाण का अभाव भी नहीं है । क्योंकि (संयोग, संयोगत्वाऽतिरिक्ताऽवान्तर जाति वाला है, जाति वाला होने से कर्मवत्) यह अनुमान गुणत्व जाति में प्रमाण है, इससे कर्मत्व तुल्य गुणत्वरूप अवान्तर जाति की सिद्धि होती है ।

(अत्र ब्रूमः) यहाँ उत्तर कहते हैं कि—

गुणत्व जाति और उसके व्यञ्जक के अन्योन्याश्रय से दुष्टत्व के कारण गुणत्व जाति का योग सम्बन्ध रूप भी गुण का लक्षण नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

सिद्धे हि सत्तासामान्ये वा तद्विशिष्टव्यञ्जकसिद्धिस्तत्सिद्धौ च सामान्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयत्वात् अनिष्टवियोगेष्टसंयोगोद्देशेनानुष्ठानसमुपजनितधर्मे संयोगविभागहेतौ लक्षणस्यासंभवित्वात्, तथाभिचारादिजनिते दुरिते शत्रोरिष्टवियोगानिष्टसंयोगहेतौ च लक्षणस्यासंभवित्वात्। न च तयोर्निमित्तत्वेनैव जनकत्वम्, नतु समवायिकारणतयाऽसमवायिकारणतया वेति वाच्यम्; आत्मनिष्ठसंयोगविभागहेतोरदृष्टस्य कार्यैकार्थसमवायिनोऽसमवायिकारणलक्षणोपपत्तेः; समवायित्वासमवायित्वकारण-

---

अन्योन्याश्रयं विशदयति—**सिद्धे हीति**। येन गुणत्वजातिर्नाद्रियते, तेन सत्तापि जातिर्नाद्रियते एवेति तद्गर्भव्यञ्जकस्य तद्घटकजातेश्चासिद्धिरित्यर्थः। व्यञ्जकस्याव्यापकतां चाह—**अनिष्टवियोगेति**। संयोगविभागद्वयाजनकत्वं तत्रासंभवीत्यर्थः। सत्तासामान्यमात्रं विवक्षित्वा अन्योन्याश्रयपरिहारमाशङ्क्य वायं ग्रन्थः। ननु तदुभयासमवायिकारणत्वसमवायिकारणत्वयोरभावो लक्षणं विवक्षितम्, अस्ति चादृष्टस्यापि तदभावः, निमित्तकारणत्वात्तस्येति तत्राह—**न च तयोरिति**। समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यमसमवायिकारणम्। प्रत्यासत्तिश्च द्विविधा—लघ्वी बृहती च, उत्पाद्येन कार्येण सहैकार्थे कारणे स्वस्य यः समवायः सा लघ्वी प्रत्यासत्तिः, यथा तन्तुसंयोगस्य तत्कार्यस्य पटस्य चैकतन्तुसमवायः। तत्कारणेन सहैकार्थे समवायो बृहती, यथा पटगतशौक्ल्यासमवायिकारणस्य तन्तुशौक्ल्यस्य तत्कारणेन पटेन सहैकत्र तन्तौ समवायः। तदत्र संयोगं प्रति विभागं प्रति च समवायिकारणे आत्मनि संयोगेन सह वर्तमानस्यादृष्टस्यास्ति लघ्वी प्रत्यासत्तिरित्यसमवायिकारणं भवत्येवादृष्टमित्यर्थः। किंच यस्य द्रव्यगुणादिभेदमात्रमेवाद्याप्यसिद्धम्, तस्य समवाय्यसमवायिकारणविभागोऽपि न सिद्ध इत्याह—**समवायित्वेति**। एवं व्यञ्जकं

सत्तारूप सामान्य के या गुणत्वरूप सामान्य के प्रथम सिद्ध होने पर, सामान्य विशिष्ट (युक्त) उक्त व्यञ्जक की सिद्धि हो सकती है. और व्यञ्जक की सिद्धि होने पर सामान्य की सिद्धि हो सकती है, इसप्रकार से परस्पराश्रयता होती है। और अनिष्ट के वियोग इष्ट के संयोग के उद्देश (इच्छा) से कर्मानुष्ठानसमुपजनित (जन्य) इष्ट संयोग अनिष्ट विभाग के हेतुरूप धर्म में लक्षण के असम्भावित्व है (अर्थात् धर्मरूप गुण में लक्षण की अव्याप्ति है) इसीप्रकार से श्येनादि अभिचारादि जनित दुरित (पाप) स्वरूप, शत्रु के इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग हेतु स्वरूप, गुण में भी लक्षण की अव्याप्ति है। यदि कहें कि व्यञ्जक लक्षणगत संयोग-विभागाजनकत्व शब्द से संयोगविभागाऽसमवायिकारणत्वाऽभाव विवक्षित है। और उक्त अदृष्टद्वयनिमित्त रूप से इष्ट अनिष्ट के संयोगवियोगादि के हेतु होते हैं, अतः अव्याप्ति नहीं है। क्योंकि संयोगविभाग के असमवायिकारणता का

भेदस्याद्याप्यसिद्धेश्च । नापि तत्र प्रमाणम्; जातिमत्त्वहेतोरसिद्धेः । कर्मत्वा-देरसिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । गुणत्वजातेरसिद्धौ 'संयोगाजन्य-

---

दूषयित्वानुमानं दूषयति—नापीति । वक्ष्यमाणसामान्यमात्रखण्डनेन सत्ताकर्मत्वजात्योरप्यसिद्धिरिति भावः । एतेन रूपादयो रूपत्वाद्यतिरिक्तावान्तरजातिमन्तः सामान्यवत्त्वात्कर्मवदिति लीलावतीकारानुमानमपि निरस्तम् । गुणः कर्मव्यावृत्तजातिमान् कार्यत्वात्तुरगवदिति सर्वदेवः, तदपि द्रव्यत्वजात्यनङ्गीकारेण परिहृतम् । संयोगित्वाद्युपाधिहतत्वाच्च, प्रध्वंसेनानैकान्त्यं च, रूपत्वादिनार्थान्तरत्वाच्चेति, यानि शिवादित्यमिश्रेण गुणत्वजातिगर्भाणि गुणलक्षणानि विवक्षितानि, तत्त्वयप्येकप्रहारेण परिहरति—**गुणत्वजातेरित्यादिना** । जातिमान् गुण इत्युक्ते द्रव्येऽतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमानाधिकरणेत्युक्तम् । एवं सति कर्मण्यतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमवायिकारणावृत्तीत्युक्तम् । एवं च सति संयोगेऽव्याप्तिस्तस्य संयोगासमवायिकारणत्वेन तदवृत्तिजातिमत्त्वस्यासंभवात्, तत उक्तम् संयोगाजन्येति, संयोगाजन्यो यः संयोगस्तं प्रत्यसमवायिकारणं यत्तदवृत्तिजातिमानित्यर्थः । एतच्च संयोगस्याप्यस्त्येव, तस्य संयोगजन्यसंयोगासमवायिकारणत्वेऽपि संयोगाजन्यसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणत्वाभावात् संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणावृत्तिजातिमत्त्वसम्भवादतो नाव्याप्तिरिति भावः । द्वितीयेऽपि लक्षणे विभागविशेषेऽव्याप्तिपरिहाराय विभागाजन्येति विशेषणम् । शेषं पूर्ववत् । आदिग्रहणेनापेक्षणावृत्तिसंयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमानित्यादि संगृह्यते । यत्तु तेन "रूपाद्यन्यतमत्वं वा तच्च तदन्यान्यत्वम्" इति रीत्या सर्वत्र लक्षणनिर्वचनं कृतम्, तदप्यनन्तरोक्तान्योन्याश्रयग्रस्तम् । रूपादिज्ञाने तदन्यत्वज्ञानं तदन्यत्वज्ञाने च रूपादिज्ञानमिति । किंच रूपादिविशिष्टान्योन्याभावो वा तदुपलक्षितान्योन्याभावो वा लक्षणोपयोगी । आद्ये कर्मादीनां रूपादिमत्त्वं रूपादीनामपि कर्मादिमत्त्वं स्यात् । अन्योन्याभावद्वयं प्रति वर्गद्वयस्य विशेषणत्वात् । द्वितीयेऽप्युपलक्षितत्वं विशेषणम्? उपलक्षणं वा? द्वितीयेऽनवस्था ।

अभाव इनमें है ही, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि आत्मवृत्ति इष्ट-अनिष्ट के संयोग का हेतु जो होता है, उसको कार्यरूप संयोग के साथ एकात्मस्वरूप अर्थ में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण असमवायिकारणत्व की सिद्धि होती है। असमवायिकारण का लक्षण उसमें संघटित होता है। और समवायित्व असमवायित्व रूप से कारण भेद की भी असिद्धि होने से उक्त कथन युक्त नहीं हो सकता है, कि लक्षण में समवायिकारणत्व विवक्षित है इत्यादि। और (नापि तत्र प्रमाणम्) उस गुणत्व जाति में कोई प्रमाण भी नहीं है। क्योंकि गुणत्वसाधक अनुमान का जातिमत्त्व हेतु ही असिद्ध है। और कर्मत्वादि की असिद्धि से दृष्टान्त को साध्यविकलत्व (साध्यरहितत्व) है। गुणत्व जाति की असिद्धि रहने, संयोगा-

संयोगासमवायिकारणावृत्तिसंयोगासमानाधिकरणजातिमान्विभागाजन्यवि-भागासमवायिकारणावृत्तिविभागासमानाधिकरणजातिमान् गुणः' इत्येव-मादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि गुणलक्षणानि निरस्तानि।

तथा कर्मलक्षणमपि दुर्लक्ष्यम्। न तावत्संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्मेति। यतः—

प्रथमे परम्परयोभयोरप्युभयवत्त्वं स्यात्। अन्योऽन्याभावात्यन्ताभावयोश्च प्रागेव प्रत्युक्तं निर्वचनम्। प्रत्याख्यास्यते च यद्वादीन्द्रेण तदुभयान्तरत्वं नामैकान्योन्याभाववत्त्वे सति इतरान्योन्याभाववत्त्वानधिकरणत्वमिति निर्वचनं कृतम्—"एतदन्योन्याभावानित्यत्वान्यतराधिकरणं शब्दत्वात्यन्ताभावानित्यत्वान्यतराधिकरणम्" इत्यादिषु, तदप्ययुक्तम्। तथा सति हि रूपाद्यन्यतमत्वं नाम रूपान्योन्याभावाधिकरणत्वे सति रसादित्रयोविंशत्यन्योन्याभावाधिकरणत्वरहितत्वमिति लक्षणार्थः स्यात्। तथा च सत्यन्योन्याभावद्वयानधिकरणत्वं वा एकैकान्योन्याभावानधिकरणत्वं वा लक्षणं विवक्ष्यते? उभयथाप्यनुपपत्तिः; उभयान्योन्याभावानधिकरणत्वस्याव्याप्तेः। नहि रूपे रसान्योन्याभावो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, नापि रूपान्योऽन्याभावो रसादौ नास्तीति। एकैकान्योऽन्याभावानधिकरणत्वपक्षे रूपादिप्रतियोगिकाभावविशेषविवक्षायां रसादिष्वव्याप्तिस्तदवस्था। अनियतविवक्षायां तु अनुगतलक्षणक्षय इति।

ततो वादीन्द्र! दर्पस्ते तदन्यतरतादिषु।
अखण्डितनिरुक्त्युत्थः पण्डितंमन्य! खण्डितः॥

क्रमप्राप्तं कर्मलक्षणं खण्डयति—**तथा कर्मलक्षणमपीति**। श्रीधराचार्याभिप्रेतं लक्षणं तावद्दूषयति—**न तावदिति**। अनपेक्षपदेन द्रव्यव्यावृत्तिः। संयोगविभागद्वयग्रहणेन संयोगविभागव्यावृत्तिस्तयोस्संयोगजनकत्वे सति विभागाजनकत्वात्; तस्य चेष्टत्वादित्यर्थः। **संयोगविभागयोः**, सयोगविभागयोरनपेक्षतया यो

जन्य संयोगासमवायिकारणावृत्ति-संयोगासमानाधिकरणजातिमान् गुणः ॥ १ ॥ द्रव्य की व्यावृत्ति के लिये, संयोगासमानाधिकरण कहा है। कर्म की व्यावृत्ति के लिये संयोगासमवायिकारणावृत्ति कहा है, संयोगज संयोग का संयोग भी असमवायिकारण होता है, अतः उसमें व्याभिचारण के लिये कहा गया है, संयोग से अजन्य जो संयोग का असमवायिकारण इत्यादि। विभागाजन्य विभागासमवायिकारणावृत्ति विभागासमानाधिकरण जातिमान् गुणः ॥ २ ॥ इत्यादि जाति के प्रवेशपूर्वक प्रवृत्त लक्षण सब निरस्त हो जाते हैं।

इसीप्रकार से कर्म का लक्षण भी दुर्निरूप्य है। संयोग, विभाग दोनों का इतर निरपेक्ष कारण कर्म होता है। संयोग, संयोगज संयोग का कारण होता है, विभाग, विभागज विभाग का कारण होता है, परन्तु दोनों के कारण ये दोनों नहीं होते

यथाश्रुतेऽसंभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तितः।
नानपेक्षतया हेतुः कर्म योगविभागयोः ॥ ८ ॥

नानपेक्षतया संयोगविभागहेतुत्वं कर्मणः; समवायिकारणेश्वरेच्छादेशकालादृष्टापेक्षणात्।

अथैवं निरुच्यते—पश्चाद्भावि निमित्तं नापेक्षते कर्म, तेन चेश्वरेच्छासमवायिकारणादयो व्यावर्त्यन्ते, तेषां पूर्वभावितया पश्चाद्भावित्वाभावादिति, मैवम्; उत्तरसंयोगे कर्तव्ये प्रश्चाद्भाविन्याः पूर्वसंयोगनिवृत्तेरपेक्ष्यमाणत्वात्। पश्चाद्भाविभावरूपं निमित्तं नापेक्षते इति चेत्, न; पूर्व-

---

हेतुः तत्कर्मेति न लक्षणम्, कुतः ? यथाश्रुतेऽसंभवित्वात्। स्वातिरिक्ते कस्मिंश्चिदप्यनपेक्षाया असंभवित्वात्। तथा निरुक्तेरपि स्वोत्पत्त्यनन्तरमुत्पद्यमानानपेक्षेत्यादिरूपाया अप्ययुक्तितः इति श्लोकयोजना। श्लोकं विवृणोति—**नानपेक्षतयेति**।

द्वितीयं पादं शङ्कापूर्वकं विवृणोति—**अथैवमित्यादिना**। **व्यावर्त्यन्ते**। अनपेक्षात इति शेषः। कर्मत्वादिति वा। तेषां पश्चाद्भाविकर्मापेक्षितत्वात्। दूषयति—**मैवमुत्तरेति**। एषा हि परिपाटी वैशेषिकाणाम् 'उत्पन्नमात्रात्कर्मणः स्वाश्रये पूर्वसंयुक्ताद्विभागो जायते ततः पूर्वसंयोगनाशस्तत उत्तरसंयोगोत्पत्तिः' इति। तत्रोत्तरसंयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगनाशं पश्चाद्भाविनमपेक्षते कर्मेत्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थः। ननु भावरूपं पश्चाद्भाविनं नापेक्षते इत्यनपेक्षाशब्दार्थो विवक्षितस्ततो नासम्भव इति

हैं। अतः संयोग, विभाग में अतिव्याप्ति नहीं है, अनपेक्ष पद से द्रव्य की व्यावृत्ति होती है, यह कर्म का लक्षण नहीं बन सकता है। क्योंकि—

यथाश्रुत में असम्भावित्व है, और निरुक्ति भी अयुक्त है, अन्य की अनपेक्षापूर्वक संयोग, विभाग का हेतु कर्म नहीं होता है ॥ ८ ॥

अर्थात् इतर की अपेक्षारहित संयोग, विभाग के हेतुत्व कर्म को नहीं है, क्योंकि समवायिकारण, ईश्वरेच्छा, देश, काल तथा अदृष्ट की अपेक्षा होती है।

यदि ऐसा निर्वचन करें कि अपनी उत्पत्ति के बाद उत्पन्न होने वाले किसी निमित्तकारण की अपेक्षा कर्म नहीं करता है, अतः ईश्वरेच्छा समवायिकारणादि व्यावृत्त हो जाते हैं, उनकी अपेक्षा होते भी लक्षण अदुष्ट रहता है, क्योंकि उन ईश्वरेच्छादिकों के पूर्वभावी होने से पश्चाद्भावित्व का उनमें अभाव रहता है, ऐसा निर्वचन भी युक्त नहीं, क्योंकि कर्म से पूर्व संयोग के नाशपूर्वक उत्तर संयोग के कर्तव्य स्थान में अपने से पश्चाद्भावी पूर्वसंयोग के नाश की अपेक्षा उत्तर

संयोगनिवृत्तिक्षणस्य भावस्यैव पश्चाद्भाविनोऽप्यपेक्ष्यमाणत्वात् । यदनन्तरं संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मेति च कर्मलक्षणे तत्सामग्र्यामपि तत्संभवादतिव्याप्तिः । न च कर्मैव सामग्री; तथा सति विभागोत्पत्तिसमसमयमेव

शङ्कित्वा परिहरति—**न पूर्वसंयोगेति** । यस्मिन् क्षणे पूर्वसंयोगनाशः स कर्मणः पश्चाद्भावी, औत्तराधिकस्योत्पाद्यत्वाद्भावरूपश्चातस्तदपेक्षत्वात् कर्मणस्तदवस्थ एव पूर्वदोष इत्यर्थः । स्यादेतत् , यदनन्तरं संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मेति लक्षणम्, न चेश्वरेच्छादिषु प्रसक्तिः, तेषु सत्स्वपि यावत्कर्मोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नाप्यनपेक्षाक्षिप्तकुड्योद्यद्वावसरे इति, तत्राह—**यदनन्तरमिति** । ननु नात्र कर्मातिरिक्तसामग्र्यस्ति, यत्रातिव्याप्तिरुच्येतेति तत्राह—**न च कर्मैवेत्यादिना** । यदि हि कर्ममात्रं सामग्री, तदासति भवत्येवेति नियमात् विभागोत्पत्तिसमसमयमेव पूर्वसंयोगनाशोत्तरसंयोगोत्पत्ती स्याताम् , नचैवमिष्यते युज्यते वा, पूर्वसंयोगस्य विभागव्यतिरेकेण नाशकाभावात् , आश्रयस्य चानष्टत्वात् , अनिवृत्ते च पूर्वसंयोगे नोत्तरसंयोगोत्पत्तिः । अतः पृथगेव सामग्री, तथाचातिव्याप्तिरिति भावः । पूर्वसंयोगनाशस्य च समसमयत्वापादनं पूर्वभाविन्वस्योपलक्षणम् , तद्व्यतिरेकेणोत्तरसंयोगानुत्पत्तेः । वादीन्द्रः प्राह—'विभागकुर्वद्रूपत्वापरपर्यायविभागजननशीलत्वस्य धर्मविशेषस्यानपेक्षकारणत्वसब्दार्थत्वात् तस्य पदार्थान्तरव्यावृत्तस्य कारणमात्रविभागकारणाकारणविभागविभागजनकविभागकारणकर्मनिष्ठस्य 'एतद्विभागानपेक्षकारणम् इदं विभागानपेक्षकारणमित्यनुभवसिद्धत्वात्' इति; तदसत् । न खलु स्वत्कुतर्कानुपहतबुद्धेरेवमनुभवोऽस्ति । विभागजनकत्वं च विभागस्य विभञ्जयिष्यते । या तु महाविद्या अनपेक्षकारणत्वसाधनायोक्ता, सा तदीयविडम्बनोक्त-

---

संयोगजनन में होती है । यदि कहें कि पश्चाद्भावी भाव की अपेक्षा कर्म नहीं करता है, पूर्वसंयोग निवृत्ति तो अभाव है, तो यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि पूर्वसंयोगनिवृत्तिक्षण काल रूप जो कर्म से पश्चाद्भावी भाव ही है, वह भी उत्तरसंयोग जनन में अपेक्ष्यमाण होता है । यदि कहें कि (जिसके अनन्तर उत्तर क्षण में संयोग, विभाग की उत्पत्ति होती है, वह कर्म है । इस लक्षण की ईश्वरेच्छादि में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि ईश्वरेच्छादि के रहते भी कर्म के बिना संयोग, विभाग की उत्पत्ति नहीं होती है । तो कहा जाता है कि यह लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि इस लक्षण के संयोग, विभाग की सामग्री में अतिव्याप्ति होती है । यदि कहे कि कर्म ही संयोग, विभाग की सामग्री है तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कर्ममात्र के ही सामग्री होने पर, कर्म से विभाग की उत्पत्ति के समकाल में ही पूर्वसंयोग की निवृत्ति की और उत्तरसंयोग की उत्पत्ति की प्राप्ति होगी, क्योंकि संयोग, विभाग की सामग्री के रहते कार्य में विलम्ब होना अयुक्त

पूर्वसंयोगनिवृत्तेरुत्तरसंयोगस्य चोत्पत्तिप्रसङ्गात्, सत्यां सामग्र्यां कार्यं विलम्बायोगात्। अस्तु तर्हि संयोगविभागयोरसमवायिकारणं कर्मेति लक्षणम्। न च संयोगविभागयोरतिव्याप्तिः, तयोरेकैककारणत्वात्, अत्र चोभयकारणत्वस्य विवक्षितत्वादिति चेत्, मैवम्; कर्मविशेषे लक्षणस्याव्याप्तेः। तथाहि–यदा पटारम्भकावयवतन्त्वादिनिष्ठेन कर्मणावयवान्तराद्विभागोद्भवः, तस्मिन् समये तदारब्धावयविनिष्ठं कर्म यदि भवति, तदावयवानां विभागादवयव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिसमयेऽवयविकर्मणा

दोषविडम्बितेति नादरणीया। तदेवमेकद्रव्यमगुणं संयोगविभागानपेक्षकारणमिति सौत्र लक्षणं दूषयित्वा लीलावतीलक्षणमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति**। निमित्तकारणेश्वरेच्छादौ समवायिकारणद्रव्ये चातिव्याप्तिपरिहारायासमवायिकारणग्रहणम्। ननु तथापि संयोगविभागयोरतिव्याप्तिस्तयोरपि यथायथं तयोरसमवायिकारणत्वादिति, तत्राह—**न चेति**। उभयं प्रत्यसमवायिकारणत्वं विवक्षितं ततो नातिव्याप्तिरित्यर्थः। उक्तं च लीलावतीकारेण "द्वित्वे तात्पर्यम्, तेन संयोगविभागव्युदासः" इति। मिलितसंयोगविभागजनकत्वरूपकर्मलक्षणस्याव्याप्तिमाह—**मैवमित्यादिना**। कर्मविशेषमेव दर्शयन्नव्याप्तिं विवृणोति—**तथाहि यदेति**। अत्र तावदवयवकर्मानन्तरमवयविन्यपि कर्म संभवतीति वक्ष्यते। तथासत्यवयवभूततन्तुकर्मणा अवयविभूतपटारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पत्तिसमयेऽवयविगतकर्मणापि विभागः शक्योत्पादः; अवयविनोऽविनष्टत्वात्। उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्तु असंभविनी। तदानीमाश्रयस्यावयविनः पटस्यासमवायिकारणभूतावयवसंयोगनाशान्नष्टत्वात्, असमवायिनाशात्समवायिनाशाद्वाऽवयविनाश इति सिद्धान्तात्, ततश्च तस्मिन्कर्मण्यव्याप्तिरुभयजनकत्वलक्षणस्येत्यर्थः। अवयविनो नाशादित्यस्यैव विवरणं संयोगि-

---

है। परन्तु पूर्वसंयोग की निवृत्ति के बिना उत्तरसंयोग होता नहीं है, अतः कर्म मात्र से उत्तरसंयोग का पृथक् सामग्री है, उसमें अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि (संयोग, विभाग दोनों का असमवायिकारण कर्म कहा जाता है, यह निर्दोष लक्षण रहे) क्योंकि इसकी संयोग, विभाग में अतिव्याप्ति नहीं है, संयोगज संयोग का संयोग असमवायिकारण होता है। विभागज विभाग का विभाग कारण होता है, अतः उनको एक-एक के कारणत्व है, दोनों के नहीं? अतः अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ दोनों के कारणत्व विवक्षित है, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं। कर्मविशेष में इस लक्षण की अव्याप्ति है। यह दर्शाया जाता है कि, जब पटारम्भक अवयव तन्तु आदि वृत्ति कर्म से अवयवान्तर का विभाग उत्पन्न हुआ, उसी समय उन तन्तुओं से आरब्ध अवयवी पटवृत्ति कर्म यदि होता है, तो उस समय अवयवों के विभाग से अवयवी के आरम्भक अवयवसंयोग की निवृत्ति के समय अव-

तस्मिन्नेवावयविनि यतः कुतश्चिद्विभागो जायते। तत्र समवायिकारणावयवसंयोगनिवृत्त्यनन्तरमवयविनो नाशान्नोत्तरसंयोगोत्पत्तिः। संयोगिनोऽवयविन एवाभावात्। तत्रावयविनिष्ठस्य कर्मण उभयासमवायिकारणत्वाभावादव्याप्तिः कथं न भवेत्? न चावयवकर्मान्तरमवयविनि कर्म न जायत इति वाच्यम्; हस्तचलनानन्तरं देवदत्तचलनस्य, शाखाचलनानन्तरं शाखिचलनस्य दृष्टत्वात्। न चोत्तरसंयोगानुत्पत्तौ कर्मणोऽनुपयोग्यत्वप्रसङ्गः, विभागजननेनापि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः। न हि यावदशेषप्रयोजनसिद्धिस्तावद्वस्तुनोऽवस्थाननियमः; बीजादेरङ्कुराद्यजननेऽपि नाशाद्युपलम्भात्।

अस्तु वोभयकारणत्वं कर्मणः, तथाप्यसमवायिकारणता निरूपणीया।

नोऽवयविन इति। यत्तद्वक्ष्यते इत्युक्तम्, तदाह—**न चावयवेति**। अवयवावयविनोर्युगपत्कर्मोत्पत्तावप्येषा समानैव। उत्तरसंयोगोत्पत्त्यनुपपत्तेस्तत्रापि तुल्यत्वात्। ननु नास्ति तथाविधं कर्म यद्विभागमात्रमेवोत्पाद्योपरमेत्, स्वप्रयोजनासमर्थस्य सृष्टिवैयर्थ्यात्, यथाहुर्विभागप्रकरणे प्रशस्तपादाः 'उत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपयोग्यत्वप्रसङ्गः' इति, तत्राह—**न चोत्तरेति**। यदि मन्येत विभागमात्रजननेऽपि समस्तप्रयोजनानिष्पत्तेर्वैयर्थ्यमेवान्यत्र कर्मणस्तथैव दृष्टत्वादिति, तत्राह—**न हि यावदिति**।

संप्रत्यतिव्याप्तिं दर्शयितुमसमवायिकारणतामत्रत्यां निष्कर्षति—**अस्तु वेत्यादिना**। ननु किमत्र निरूपणीयमस्ति? प्रसिद्धं तल्लक्षणमित्याह पूर्ववादी—

यवी के कर्म से उस अवयवी में जिस किसी से विभाग होता है, वहाँ समवायिकारण रूप अवयवों के संयोग की निवृत्ति के अनन्तर अवयवी का नाश हो जाता है, अतः उसमें उत्तरसंयोग की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि संयोगी (आश्रय) अवयवी का ही अभाव हो जाता है। अतः वहाँ अवयवी वृत्तिकर्म में संयोग, विभाग उभय कारणत्व के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति होती है। अवयवकर्म के अनन्तर अवयवी में कर्म ही नहीं होता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि हस्तचलन के अनन्तर देवदत्तचलन को और शाखाचलन के अनन्तर शाखी (वृक्ष) चलन को देखा जाता है। कर्म से उत्तरसंयोग की अनुत्पत्ति हो तो उस कर्म में अनुपयोग्यत्व (निष्फलत्व) प्राप्त होगा। ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विभागजनन से भी पुरुषार्थ (सफलत्व) की सिद्धि हो जाती है। और जब तक अशेष = सम्पूर्ण प्रयोजन = फल की सिद्धि नहीं हो, तब तक वस्तु की स्थिति हो ऐसा नियम नहीं है, अतएव अङ्कुरादि की उत्पत्ति के बिना भी बीजादि का नाश देखा जाता है।

अथवा कर्म को संयोग, विभाग उभय कारणता हो, तथापि असमवायिका-

समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणमिति चेत्, केयं प्रत्यासत्तिः ? कार्यैकार्थसमवायः, कारणैकार्थसमवायश्चेति चेत्, न; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—उभयविधप्रत्यासन्नता असमवायिकारणशब्देन कर्मलक्षणेऽपि विवक्षिता ? उतान्यतरा ? नाद्यः; अनङ्गीकारादसंभवाच्च। न ह्यन्त्यावयविनिष्ठस्य कर्मणः संयोगविभागसमवायिकारणेनान्त्यावयविना सहैकस्मिन्नर्थे समवायः संभवति, कर्मण एकद्रव्यमात्रवृत्तित्वात्। न द्वितीयः; कारणैकार्थसमवायस्यानङ्गीकारादेव। कार्यैकार्थसमवायस्य तु

समवायिकारणेति। कार्येणोत्पद्यमानेन पटादिना सहैकस्मिन्नर्थे यः समवायस्तन्तुसंयोगादेः, सा तावदेका लब्ध्यभिधाना प्रत्यासत्तिः। तथोत्पद्यमानपटशौक्ल्यादेर्यत्समवायिकारणं पटादि तेन सहैकार्थे तन्त्वादौ तन्तुशौक्ल्यादेर्यः समवायः सा बृहत्यभिधाना इति द्वितीया प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। कारणैकार्थसमवायाभावं दर्शयन्नुभयाभावं विवृणोति—न ह्यन्त्यावयविनिष्ठस्येति। पटगतसंयोगकारणं कर्म पट एव प्रवर्तते, न तन्तुषु, तेन न कारणैकार्थसमवाय इत्यर्थः। अन्यतरपक्षे बृहतीं दूषयित्वा लब्ध्यामतिव्याप्तिमाह—कार्येति। अदृष्टेऽतिव्याप्तिं दर्शयितुं

रणता निरूपणीय है। यदि कहा जाय कि (समवायिकारण में प्रत्यासन्न कार्यजनन में अवधृत सामर्थ्य वाला जो होता है, वह असमवायिकारण होता है, तो भी जिज्ञासा होती है कि प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) क्या है कि जिससे प्रत्यासन्न (सम्बद्ध) कहा जाता है, यदि कहें कि (कार्यैकार्थसमवाय) पटादि कार्य के साथ तन्तु आदि समवायिकारण रूप एक अर्थ में तन्तुसंयोगादि का समवाय, और (कारणैकार्थसमवाय) पटादि के रूपादि के समवायिकारण तन्तु आदि के साथ तन्तु आदि में तन्तु के रूपादि को कारणैकार्थसमवाय, प्रत्यासत्ति है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह प्रत्यासत्ति का लक्षण विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, कर्म के लक्षण में असमवायिकारण शब्द से, ये दोनों प्रकार की प्रत्यासन्नता विवक्षित हैं, या दोनों में से कोई एक विवक्षित है। प्रथम पक्ष तो नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उभयथा कारणता का कर्म में अनङ्गीकार भी है, और असम्भव है, क्योंकि अन्त्यावयवी घटवृत्ति कर्म को घटवृत्ति संयोग, विभाग से असमवायी कर्म के कारण अन्त्यावयवी घट के साथ एक अर्थ में वृत्तित्व का सम्भव नहीं है, अर्थात् घटवृत्ति कर्म उस घट के साथ कपाल में नहीं रह सकता है, न कपालगत कर्म घटगत कर्मज संयोग, विभाग का कारण हो सकता है, क्योंकि कर्म स्वाश्रयगत संयोग, विभाग का कारण होता है, अन्य का नहीं। और कर्म के एक द्रव्य मात्र वृत्तित्व होने से जो अवयवी में रहता है, वह अवयव में नहीं रह सकता है। अतः अवयवी घटवृत्ति कर्म में कारणैक समवेतत्व प्रत्यासत्ति नहीं बन सकती है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि कारणैकार्थ समवाय के अनङ्गीकार से अन्त्यावयवी कर्म की उक्त

लक्षणान्तर्भावेऽतिव्याप्तेः। यन्निष्ठौ संयोगविभागौ तन्निष्ठतया संयोगविभागयोर्यत्कारणं तत्कर्मेति हि तथालक्षणार्थः संपद्येत। तथा चात्ममनसोः संयोगविभागजनकादृष्टेऽतिव्याप्तिः कथं न स्यात्? कार्येण संयोगविभागाख्येन सह तज्जनकादृष्टस्यात्मन्येकस्मिन्नर्थे समवायात्। गुणान्यत्वे सतीति विशेषणादयमदोष इति चेत्, न; तदोभयकारणताभिधानस्य

लक्षणं निष्पन्नं दर्शयति—**यन्निष्ठाविति**। कार्यैकार्थसमवायमदृष्टे संपादयति—**कार्येणेति**। न च प्रत्यासत्तावपि कर्मण एवासमवायिकारणता नादृष्टस्येति निर्वचनीयम्, तल्लक्षणस्यातिव्याप्त्यापातात्, उभयोरपि तदुपपत्तेश्च। न चादृष्टचरकल्पना; उभयासमवायिकारणत्ववदुपपत्तेः। न च कल्पनागौरवम्; अवयवनिष्ठरूपादीनामनेकेषामप्यवयविरूपादिकं प्रत्यसमवायिकारणत्वकल्पनावदुपपत्तेः। न च विभिन्नजातीयादेककार्यानुत्पादः; बहुत्वप्रचयाभ्यां महत्त्वस्यैवोत्पत्तिसंभवात्, उभयासमवायिकारणत्वस्य वस्त्वन्तरेऽनुपलब्धचरस्यापि कर्मणि कल्पनात्संयोगविभागविशेषेऽप्यदृष्टस्य च प्रत्यासत्तेरसमवायिकारणत्वकल्पनायां दोषाभावात्। न चादृष्टस्यासमवायिकारणत्वे सर्वनिमित्तकारणत्वानुपपत्तिः; कालादीनां स्वगुणसमवायिकारणानामपि निमित्ततावदुपपत्तेरिति। अतिव्याप्तिमदृष्टे परिहरति पूर्ववादी—**गुणान्यत्वे सतीति**। गुणत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः। दूषयति—**न; तदेति**। एकैकजनकसंयोगविभागव्यवच्छेदाय हि उभयकारणता कर्मलक्षणे विवक्षिता। तौ च गुणान्यत्वग्रहणेनैव निरस्तौ, तत उभयकारणत्वविशेषणं व्यर्थं स्यात्, अतो द्वित्वे तात्पर्यमिति केवलं लीलावत्या विलपितमेव भवेदिति भावः। गुणा-

---

रीति से कारण के साथ एकार्थ में वृत्तिता के अनङ्गीकार से ही वह विवक्षित नहीं हो सकता है, कार्यैकार्थसमवाय को लक्षण के अन्तर्भाव करें, तो लक्षण होगा कि—संयोग, विभागरूप कार्य के साथ एक अर्थ में रहकर जो संयोग, विभाग का कारण हो वह कर्म है। परन्तु इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि जिसमें संयोग, विभाग वर्तमान हों, उसीमें वर्तमान होकर जो संयोग, विभाग का कारण हो वह कर्म है, यही उक्त लक्षण का अर्थ सिद्ध होगा। और ऐसा लक्षणार्थ सिद्ध होने पर आत्मा और मन के संयोग और विभाग के जनक अदृष्ट में अतिव्याप्ति होती ही है—भला अतिव्याप्ति क्यों नहीं होगी। क्योंकि कार्यरूप संयोग, विभाग के साथ उनके जनक अदृष्ट का आत्मस्वरूप एक अर्थ में समवाय रहता है। यदि कहें कि उक्त लक्षण में (गुणान्यत्वे सति) यह विशेषण लगाने से गुणरूप अदृष्ट में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि गुणान्यत्व विशेषण देने पर संयोग, विभाग एक-एक कारण की व्यावृत्ति के लिये जो लक्षण में संयोग, विभाग दोनों की कारणता का कथन है वह व्यर्थ होगा, क्योंकि गुणान्यत्व पद से

वैयर्थ्यापातात्, गुणान्यत्वपदेनैव विभागजनकविभागस्य च व्यवच्छेदात्। एवं विभागाजन्यविभागासमवायिकारणं कर्मेत्यपि लक्षणं निरस्तम्; असमवायिकारणताया दुर्निरूपत्वात्। विभागाजन्यत्वविशेषणं च व्यर्थम्; व्यवच्छेद्याभावात्। न च विभागजविभागव्यवच्छेदार्थमिति वाच्यम्; कर्मण एव तदुत्पत्तौ विभागस्यैवाप्रामाणिकत्वात्।

ननु यत्तावदिह वंशावयवेषु प्रवर्तमानं कर्म, तद्द्रव्यारम्भकसंयोग-

---

न्यत्वं चासिद्धम्; अद्यापि कर्मलक्षणानिर्णयात्। गुणलक्षणानां च परागुच्छिन्नत्वादिति वा भावः। उक्तं लक्षणमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति**। अतिदिश्यमानमेव विवृणोति—**असमवायिकारणताया इति। दुर्निरूपत्वादिति**। यथाऽदृष्टे न संभवति, तथा निरूपयितुमशक्यत्वात्तत्राऽदृष्टेऽतिव्याप्तिस्तदवस्था, गुणान्यत्वविशेषणे च पूर्ववद्वैयर्थ्यमित्यर्थः। व्यर्थविशेषणत्वं चाह—**विभागाजन्येति**। ननु त्रिविधो विभागः, अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजो विभागजश्चेति, तत्राद्यः सक्रियेण निःक्रियस्य, यथा स्थाणोः श्येनेन। द्वितीयस्तु सक्रिययोः, यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा। तृतीयस्तु कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्चेति। तत्राद्यो यः खलु पटावयवस्य स्वगतकर्मणा पटावयवान्तराद्विभागो जायते, स तु विभागः पूर्वतनारम्भकसंयोगनाशान्तरकालीनावयविनाशसहकृतः स्वाश्रयस्याकाशदेशाद्विभागमारभते। द्वितीयस्तु हस्तावयवाकाशयोर्विभागाद्धस्ताकाशविभागः इति, एवञ्च सति यदि विभागासमवायिकारणं कर्मेत्येवोच्यते, तदा विभागेऽतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं विभागाजन्येति विशेषणमिति, तत्राह—**न च विभागजेति**। अत्र च विभागजशब्दस्तत्कारणविभागोपलक्षणार्थः। हेतुमाह—**कर्मण एवेति**। न क्वचिदपि विभागो विभागजन्यः, किंतु वंशदलविभागजनकादेव कर्मणो वंशदलादेराकाशस्य च विभाग इत्यर्थः।

अत्र वंशदलाकाशविभागस्य कर्मजन्यत्वं दूषयन्विभागजन्यत्वं वैशेषिकः परिशेषयति—**ननु यत्तावदित्यादिना**। तत्रावयवगतं कर्म किमवयवान्तराद्विभाग-

---

ही विभागजनक विभाग की और संयोगजनक संयोग की व्यावृत्ति हो जायगी। इसीप्रकार से विभागाऽजन्य विभाग का असमवायिकारण कर्म होता है, यह लक्षण भी निरस्त हो गया। क्योंकि असमवायिकारणता की दुर्निरूपता है। और विभागाऽजन्यत्व विशेषण भी व्यर्थ है। क्योंकि उससे व्यवच्छेद्य कोई वस्तु है नहीं। यदि कहें कि विभागज विभाग के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) के लिये होने से विशेषण सार्थक है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जिसको विभागज विभाग कहा जाता है, उसकी कर्म से ही उत्पत्ति होने के कारण विभागज विभाग अप्रामाणिक है।

यहाँ शंका होती है कि विभाग कैक प्रकार का होता है, जैसे कि एक अन्यतर-

विरोधिन विभागमुत्पादयत्तदैव नाकाशादिभिः सह विभागमुत्पादयति, यस्मादाकाशादिविभागजनकत्वं कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तमुपलभ्यते नलिनदलेषु । न हि तत्र द्रव्यविनाशः प्रत्यक्षाधिगतः; तदेवेदं नलिनमिति प्रत्यभिज्ञानात्। नाप्यनुमानतः; दध्यादिष्विव व्यूहान्तरस्य तदुन्नायकस्य लिङ्गस्यादर्शनात् । तथा च पद्मपत्रस्य

जननसमय एवाकाशादिभ्यो विभागमारभते ? समयान्तरे वा ? द्वितीये तु प्रथमपक्षदूषणमेवातिदेक्ष्यति । प्रथमं दूषयति—**तदैव नेति**। द्रव्यस्य वंशावयविनः आरम्भको यो वंशावयवयोः संयोगस्तद्विरोधिनं विभागमुत्पादयतीति योजना । ननु किमिति नोत्पादयतीत्याशङ्क्य तत्रानुमानं बाधकं दर्शयितुं व्याप्तिं तावत्संपादयति—**यस्मादिति** । **आकाशादिविभागेति**—द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागोपलक्षणम् । तथा च किरणावलीकारः—'यत्कर्म द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभते, न तद्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनम्, यत्त्वेवम्, न तत्तद्विरोधिनमिति, विकसत्कमलकुड्मलादौ तथा तद्दर्शनाच्चैतदवधारणीयम्, इति (किर० पृ० २३४)। अथ कथं कमलकुड्मलदलविदलनेऽपि विभागस्य द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधित्वम्, न पुनरारम्भकसंयोगविरोधित्वमिति ? तत्राह—**न हि तत्रेति**। यदि हि द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी स्यात्ततो विकसनसमये नलिनावयवी नश्येत्, न चैतत्प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वावसातुं शक्यते, अतो न तदारम्भकसंयोगविरोधी स

कर्मज होता है, जैसे वृक्ष से पक्षी का विभाग होता है, दूसरा उभयकर्मज होता है, जैसे दो मेष-मल्लादि का विभाग होता है, तीसरा विभागज विभाग होता है। वह कारणमात्र विभाग विभागजन्य कारणाऽकारण विभाग कहा जाता है। वहाँ जो यह बांस के फाड़ते समय बांस के अवयवों में वर्तमान कर्म होता हैं, वह उस बांसरूप द्रव्य के आरम्भक तदवयव संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता हुआ, उसी समय आकाशादि के साथ उन बांस के अवयवों के विभाग को नहीं उत्पन्न कर सकता है-न करता है। क्योंकि कमलदलों में कर्म के आकाशादि विभागजनकत्व को द्रव्यारम्भक संयोगविरोधी विभागानाऽऽरम्भकत्व से व्याप्त देखा जाता है। अर्थात् कमलदल में जो कर्मज आकाशादि से विभाग होता है, वह द्रव्यारम्भक संयोग का विरोधी नहीं होता है। क्योंकि वहाँ दलों में विभाग होने पर भी द्रव्यरूप कमल का विनाश प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं उपलब्ध होता है, क्योंकि वही यह कमल है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, अनुमान से भी कमलदल-विभाग में कमलविरोधित्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि दूध के विकार दधि आदि में व्यूहान्तर (रचनान्तर) के समान रचनान्तर का बोधक कोई लिङ्ग नहीं देखा जाता है। अतः सिद्ध होता है कि पद्मपत्र (दलों का उपलभ्यमान पत्रान्तर से

पत्रान्तराद्विभागः उपलभ्यमानो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी, किंतु स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगजातकर्मण उत्पन्नो यः संयोगः सत्येव द्रव्ये द्रव्यारम्भके च संयोगे पद्मपत्रयोर्वर्तते, तमेव निवर्तयति, यथांगुल्योर्विभागः प्रयत्नोत्पादितं संयोगमेव निवर्तयति न तु द्रव्यारम्भकसंयोगम्, तस्मादंगुलिविभागवत्पद्मपत्रक्रियाजनितो विभागो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधीति व्याप्तिनिश्चये प्रयोगः—'विवादाध्यासिता वंशदलक्रिया नाकाशादिविभागारम्भिका द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वाद्यन्नैवं न तदेवं यथा पद्मपत्रक्रिया'। एककर्महेतुकत्वे च विभागयोर्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधित्वा-

---

विभाग इत्यर्थः। व्यूहः आकारः। कार्यद्रव्यान्तरमिति यावत्। कस्य तर्हि विरोधीत्यत आह—**किंत्विति**। स्पर्शवद्द्रव्यं चन्द्रातपादि। द्रव्यारम्भकसंयोगे च सत्येव यः संयोगः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगजातकर्मण उत्पन्नः पद्मदलयोर्वर्तते तमेव निवर्तयतीत्यर्थः। अत्र च संप्रतिपन्नमुदाहरणमाह—**यथाङ्गुल्योरिति**। तदेवं कमलकलिकाविकासकर्मणि समर्थितां व्यतिरेकव्याप्तिमुपसंहृत्य प्रयोगमारचयति—**विवादाध्यासितेति**। **नाकाशादीति**। न द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भिकेत्यर्थः। पद्मपत्रकर्मणि विभागारम्भके व्यभिचारवारणाय द्रव्यारम्भकेति विशेषणम्। **यन्नैवमिति**। यद्द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकम्, न तद्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकमित्यर्थः। विपक्षे बाधकमाह—**एककर्मेति**। उक्तं च किरणावल्याम्—'कार्यविपर्ययाद्भवितव्यं कारणविरोधेन, नहि कार्यं विरुद्धमविरुद्ध-

---

विभाग द्रव्यारम्भक संयोग का विरोधी नहीं होता है, किन्तु स्पर्श वाले द्रव्य सूर्य, चन्द्रादि के किरण के संयोग से जन्य जो कर्म, उससे उत्पन्न जो संयोग होता है, वह द्रव्य कमल के रहते और कमलारम्भक संयोग के रहते पद्म और पद्मपत्र में रहता है, और वह कर्मजन्य विभाग उस द्रव्यानारम्भक संयोग को ही निवृत्त करता है। जैसे कि अङ्गुलियों का विभाग प्रयत्नजन्य संयोग को ही निवृत्त करता है, द्रव्यारम्भक संयोग को नहीं। अतः अङ्गुलि विभाग के समान पद्मपत्र क्रियाजन्य विभाग द्रव्यारम्भक संयोग का विरोधी नहीं होता है। ऐसी व्याप्ति के निश्चय होने पर, प्रयोग किया जाता है कि (विवादास्पद वंसदल क्रिया आकाशादि विभाग का आरम्भक नहीं होती है, द्रव्यारम्भक संयोगविरोधि विभागारम्भक होने से, जो क्रिया ऐसी नहीं है = द्रव्यानारम्भक संयोगविरोधी विभाग का जनक है, वह ऐसी द्रव्यारम्भक संयोगविरोधी विभाग का जनक भी नहीं है, जैसे पद्मपत्र की क्रिया है, कारण का द्रव्यजनकसंयोगविरोधी विभाग और अविरोधी विभाग, इन दोनों के एककर्महेतुकत्व (हेतुजन्यत्व) होने पर, द्रव्यारम्भक संयोगविरोधित्व और अविरोधित्वरूप विलक्षणता नहीं हो सकेगी, क्योंकि कारण की विचित्रता के बिना

विरोधित्ववैलक्षण्यमनुपपन्नम् कारणावैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यस्याकस्मिकत्व-प्रसङ्गादिति विपक्षे बाधकस्तर्कः। तदेवमवयवक्रिया अवयवविभागकाले पश्चाद्वा नाकाशादिविभागमारभते। तस्मादाकाशवंशावयवयोर्विभागो न क्रियाजः। न चासमवायिकारणमन्तरेण कार्योत्पत्तिः शक्याभ्युपगन्तुम्। न चान्तरेण क्रियामन्यदसमवायिकारणमवयवविभागातिरेकि शक्यमुपपादयितुम्। अवयवविभागस्त्ववशिष्यते। स च तस्य प्रत्यासन्न एकार्थसमवायादिति सिद्धो विभागजो विभागस्तद्व्यावृत्त्यर्थं च विभागाजन्यत्व-विशेषणमिति चेत्,

मैवम्; व्याप्तेरसिद्धत्वादनध्यवसितत्वः।

जातीयं कारणमिति संभवति' इति। उपपादितं कर्मानारभ्यत्वमुपसंहरति—तदेवमिति। यत्तदवोचाम द्वितीयेऽतिदेक्ष्यतीति, तदाह—पश्चाद्वेति। तत्रापि समानोऽयमविनाभाव इति भावः। तथापि विभागजन्यत्वं कथमित्याशङ्क्य तत्र परिशेषं दर्शयिष्यन्सामान्यतो दृष्टानुमाने प्राप्ते हि परिशेषावसर इति तदाह—न चासमवायिकारणमिति। प्रसक्तप्रतिषेधे सत्यन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेष इति परिशेषविदः। तदिह प्रसक्तं कर्म प्रतिषिद्धम्, अन्यत्राप्रसङ्गमाह—न चान्तरेणेति। उभयं हि प्रत्यासन्नतयाऽसमवायिकारणं संभवति, एकं वंशदल-कर्म, अपरं तु कर्मोत्पन्नस्तद्गतो विभागः, तत्र कर्मण ईदृशी दशा ततो विभागा-तिरेकी न संभवतीत्यर्थः। अन्यत्राप्रसंगमुक्त्वा शिष्यमाणे संप्रत्ययमाह—अवयवेति। अत्र चासमवायिकारणलक्षणं संपादयति—स च तस्येति। उपसंहरति—सिद्ध इति। परिनिष्पादितपरिश्रमस्य प्रकृतोपयोगमाह—तद्व्यावृत्त्यर्थं चेति।

तत्रानुमानं तावद्दूषयति कर्मजत्वसंभवेन परिशेषं विघटयितुम्—मैवमित्या-दिना श्लोकेन। अत्र किं व्यतिरेकभूमावाकाशादिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भक-

---

कार्य की विचित्रता में निर्हेतुकता की प्राप्ति होगी। यह विपक्ष में बाधक तर्क है। अतः उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि अवयव की क्रिया (कर्म) अवयव = वंसदलादि, के विभाग काल में या उसके पीछे आकाशादि के विभाग को नहीं उत्पन्न करती है, अतः आकाश और वंसावयव का विभाग क्रियाजन्य नहीं होता है, और असम-वायिकारण के बिना आकाशवंसदलविभाग रूप कार्य की उत्पत्ति को माना नहीं जा सकता है, और क्रिया के बिना, अवयवविभाग से भिन्न, आकाशवंसदल-विभाग के असमवायिकरण को कोई उत्पन्न नहीं कर सकता है, अतः अवयव क्रिया जन्य अवयवविभाग ही अवशेष रहता है, वह कार्य = आकाशवंसदलविभाग के साथ एक अर्थ वंसदल में समवाय से प्रत्यासन्न (स्थिर) रहता है वही आकाशवंसदल-विभाग को उत्पन्न करता है, अतः विभागज विभाग सिद्ध हुआ, उसकी व्यावृत्ति के लिये कर्मलक्षण में विभागाजन्यत्व विशेषण उचित है।

इस शंका का समाधान है कि (उक्त व्याप्तिप्रदर्शन अयुक्त है, क्योंकि व्याप्ति

यौगपद्यप्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम् ॥ ६ ॥

न तावदाकाशादिविभागजनकस्य कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानुत्पादकत्वं क्वचित्प्रत्यक्षसिद्धम्, आकाशादिविभागस्यातीन्द्रियस्य क्रियान्वयव्यतिरेकयोः प्रत्यक्षतोऽधिगन्तुमशक्यत्वाद्व्याप्त्यसिद्धेः । अनध्यवसितश्चायं हेतुः, आकाशादिविभागानारम्भके रूपादौ सत्यपि सपक्षे ततो

संयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ व्याप्तिर्गृह्यते ? किंवा द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ ? आद्ये प्राह—**व्याप्तेरसिद्धत्वादिति** । आकाशादिविभागस्याप्रत्यक्षत्वेन तज्जनकत्वमपि कर्मणोऽप्रत्यक्षमतो न प्रत्यक्षत्वसिद्धिर्व्याप्तेरित्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—**अनध्यवसितत्वत इति** । आकाशादिविभागानारम्भकत्वमस्ति रूपादौ, न च तत्र हेतुरस्तीत्यर्थः । किं च वंशदलयोर्विभागस्याकाशवंशदलविभागस्य च हेतुहेतुमत्त्वकल्पनापि अनुपपन्ना, आकाशप्रत्यक्षवादिनामुभयोरपि विभागयोः प्रत्यक्षेण यौगपद्यप्रतीतेरित्याह—**यौगपद्येति** । अथवाकाशप्रत्यक्षवादिमते व्याप्तिसिद्धिमाशङ्क्येदमुक्तम्, योजना तु पूर्ववत् ।

श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । दिक्कालादिषु सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणतया उभयविधविभागजनकेषु व्यभिचारोऽपि द्रष्टव्यः । अनध्यवसितत्वत इत्येतद्विवृणोति—**अनध्यवसित इति** । अत्र चोक्तो विशेषो न प्रविस्मर्तव्यः । उपलक्षणं चैतत्सत्प्रतिपक्षस्यापि । तथाहि—विमतं कर्म आकाशादिदेशेन विभागमारभते आरम्भककर्मत्वात् संप्रतिपन्नवत्, विभागो वा कर्मजन्यः विभागत्वात्संप्रतिपन्नवत् इति शक्यं सत्प्रतिपक्षयितुम् । तेन च पदार्थतत्त्वनिर्णयोक्तदोषोऽपि परिहृतः ।

की असिद्धि है । आकाश के प्रत्यक्षत्व मानने वाले को दोनों विभाग युगपत् प्रतीत होते हैं, अतः विभागों में कार्यकारणभाव अनिश्चित है ॥ ६ ॥

आकाशादि विभागजनक कर्म को द्रव्यारम्भक संयोगविरोधी विभागानुत्पादकत्व के ही प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है । क्योंकि अतीन्द्रिय आकाशादि विभाग को क्रिया के साथ अन्वयव्यतिरेक को प्रत्यक्षप्रमाण से समझने में अशक्य होने के कारण उक्त व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है । अर्थात् आकाशादि विभागजनक कर्म, द्रव्यारम्भक संयोगविरोधी विभाग का जनक नहीं, यह प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि आकाश के अप्रत्यक्ष होने से उनके विभागादि के जनकता भी अप्रत्यक्ष ही रहती है, अतः उनके साथ क्रिया के अन्वयव्यतिरेकादि के ज्ञान के अभाव से व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता है । और (द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधि-विभागारम्भकत्वात्) यह हेतु अनयसित (अनिश्चित) सपक्षत्व रूप से ज्ञात नहीं है । क्योंकि आकाशादि विभाग के अनारम्भक रूपादि सपक्ष के रहते

व्यावृत्तत्वात् । अपि च क्रमकल्पनेयमनुपपन्ना, आकाशादिविभागप्रत्यक्ष-वादिनां विभागद्वयस्यापि यौगपद्यप्रतीतेः । न च शतपत्रपत्रशतव्यतिभेदानु-भववद्विभ्रमोऽयमनुभवः, बाधकाभावात् । न चोपन्यस्तानुमानं बाधकम्, तस्यानध्यवसितत्वेनापहस्तितत्वात् । "विवादाध्यासितं विभागजन्यगुणा-धिकरणं नित्यद्रव्यत्वादात्मवत् । अस्ति ह्यात्मनो विभागविषयं प्रत्यक्षज्ञानं

एतेन व्यभिचारानध्यवसितत्वनिवारणाय कर्मणा हेतुसाध्ययोर्विशेषणमपि निष्फली-कृतम् । न च द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वमुपाधिः, उभयविध-विभागजनकेश्वरादौ साध्याव्याप्तेरिति, उत्तरार्धं व्याचष्टे—**अपि चेति**। ननु पूर्वापरीभूतयोरपि विभागयोरतिशैघ्र्याद्यौगपद्यविभ्रमोऽयम्, यथातितीक्ष्णसूच्या कमलदलशतवेधे युगपद्विद्धत्वाभिमान इति, तत्राह—**न च शतपत्रेति**। शतपत्रं कमलम् । व्यतिभेदः वेधः । अपहस्तितत्वाद्धस्तपरिहारमात्रेण परास्तत्वात् । उपलक्षणं चैतद्यौगपद्यप्रत्यक्षबाधव्यभिचारसत्प्रतिपक्षत्वानाम् । विभागाजन्यत्वेऽनु-मानान्तरविरोधं शङ्कते—**विवादाध्यासितमिति** । आत्माकाशव्यतिरिक्तनित्य-द्रव्याणि पक्षः । दृष्टान्ते साध्यं दर्शयति—**अस्ति ह्यात्मन इति** । विभागविषयं यत्प्रत्यक्षज्ञानं तद्विभागजन्यगुणः । एवमाकाशे शब्दो विभागजन्यगुणः । न च ताभ्या-मेवार्थान्तरता; परमाण्वादेर्ज्ञानशब्दाधिकरणत्वाभावात् । ततश्च योऽसौ विभागजन्यो गुणः परमाण्वादिनिष्ठः स विभागजन्यविभाग इत्यर्थः । ब्रह्माद्वैतवादिवेदान्तिमते

भी उसमें हेतु नहीं रहता है, और जो आप के क्रम की कल्पना है कि प्रथम कर्म से वंसदल विभाग के बाद विभागज विभाग होता है, सो अनुपपन्न (अयुक्त) है, क्योंकि आकाशादि के विभागों के प्रत्यक्षवादियों को दोनों विभागों की साथ ही एक काल में प्रतीति होती है । यदि कहें कि शतपत्र (कमल) के सौ पत्ते के भेदन में क्रम के होते भी अतिशीघ्रता से जैसे व्यतिभेदन (वेधन) में युगपदता भ्रम से प्रतीत होती है, वैसे ही प्रकृत में विभाग द्वय की समकालता भ्रम से भासती है, तो बाधकाऽभाव से यह कहना युक्त नहीं हो सकता है । और पूर्वो-पन्यस्त (पठित) अनुमान भी युगपत् प्रतीति का बाधक नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके हेतु के पूर्ववर्णित रीति से अनध्यवसित (अनिश्चित) होने के कारण वह अपहस्तित (क्षिप्त = त्यक्त) है । यदि कहें कि (विवादाध्यासित = नित्यपरमाणु आदि, विभागजन्य गुण के अधिकरण हैं, नित्य द्रव्य होने से, आत्मवत्) यहाँ आत्मा को विभागविषयक, विभागरूप कर्मकारकजन्य प्रत्यक्षज्ञान रहता ही है, अतः दृष्टान्त में साध्य की विकलता नहीं है, आत्माऽऽकाश से भिन्न नित्य द्रव्य पक्ष है, क्योंकि वे दोनों द्रव्य के अजनक हैं, अतः यह जो विभागजन्य गुण सिद्ध होता है, वह परमाणुवृत्ति विभागज विभाग द्वयणुक निवृत्ति काल में सिद्ध

तत्कर्मकारकजन्यं तेन न साध्यविकलो दृष्टान्तः" इति मानमनोहरकारोक्तमनुमानं बाधकमिति चेत्, मैवम्, वेदान्तिनं प्रति हेतोरसिद्धेः। तेनात्मव्यतिरिक्तनित्यानङ्गीकारात्, आत्मनो गुणानधिकरणत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। किंच नित्यविशेषणं व्यर्थम्; जीवाकाशव्यतिरिक्तस्य द्रव्यजातस्य विभागजन्यगुणाधिकरणतया विप्रतिपद्यमानस्य पक्षीकृततया पक्षव्यापकद्रव्यत्वहेतुमात्रेणैव साध्यसिद्धेर्नित्यपदव्यावर्त्याभावात्। अस्तु तर्हि द्रव्यत्वमात्रं हेतुरिति चेत्, न; विभुत्वोपाध्युपहतत्वात्। न च दिक्कालेश्वरेषु पक्षैकदेशेषु साधनव्यापकता; पक्षीकृतपरमाण्वादिषु तदभावात्।

किंच कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकस्य नभोभाग-

परमाण्वादीनां नित्यत्वमसिद्धमिति विशेषणासिद्धया हेतुं दूषयति—**मैवमिति**। दूषणान्तरमाह—**आत्मन इति**। व्यर्थविशेषणतया चासिद्धिमाह—**किंचेति**। अनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यर्थं नित्यपदम्, अद्रव्यस्य द्रव्यपदेनैव व्यावृत्तेः। न च तद्व्यावृत्त्यर्थम्, पक्षतुल्यत्वादतो वैयर्थ्यमित्यर्थः। आत्माकाशयोक्तगुणवत्त्वे विभुत्वमुपाधिः। न च साधनव्यापकता, पक्षीकृतपरमाणुमनसोरुपाधेरभावादित्याह—**न; विभुत्वेत्यादिना**। ननु कालो विभागजन्यगुणाधिकरणं द्रव्यत्वादात्मवदित्यत्र को दोषः? विशेषगुणवत्त्वोपाधिहतत्वं विहाय न किंचिदन्यत्।

आभाससमानयोगक्षेमतां चाह—**किंचेति**। विमतं कर्म न द्रव्यानारम्भक-

---

होता है। अतः इसप्रकार का मानमनोहरकार कथित अनुमान विभाग यौगपद्य प्रतीति का बाधक है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वेदान्ती के प्रति हेतु की असिद्धि है, आत्मा से भिन्न नित्य कोई पदार्थ वेदान्ती का मान्य नहीं है, और वेदान्ती मत में आत्मा के गुणानधिकरण होने से दृष्टान्त साध्यहीन है। और हेतु का नित्य विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि जीव और आकाश से भिन्न सब द्रव्य के विभागजन्य गुणाधिकरण रूप विप्रतिपत्ति के विषय होने के कारण सबको पक्ष कर लेने पर पक्ष का व्यापक द्रव्यत्व हेतु मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, अतः नित्य पद से व्यावर्त्य (निवारणीय) का अभाव है। तो द्रव्यत्व मात्र हेतु रहे, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, द्रव्यत्व हेतु विभुत्व उपाधि से उपहत होता है। यदि कहें कि दिशा, काल, ईश्वर रूप पक्ष के एकदेश में, उपाधिसाधन द्रव्यत्व का व्यापक हो जाता है, तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि पक्षरूप परमाणु आदि में द्रव्यत्व रहता है, और विभुत्व नहीं रहता है, अतः साधन का व्यापक विभुत्व नहीं होता है, आत्माकाश में साध्य का व्यापक होता है।

और यह भी विचारणीय है कि, द्रव्यारम्भक संयोगविरोधि विभागजनक

विभागाजनकत्वे द्रव्यारम्भकसंयोगजनकस्य तदजनकसंयोगजनकत्वमङ्गु-ल्याकाशसंयोगजनककर्मण इव न स्यात्, तथा च तन्तुद्वयसंयोगजनकात् कर्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगो न स्यात्। नन्वङ्गुल्याकाशसंयोगाच्छरीराकाश-संयोगवत्तन्त्वयवाकाशसंयोगादेव तन्त्वाकाशसंयोगोपपत्तेर्नायं दोष इति चेत्, एवं तर्हि द्वयणुकजनकसंयोगासमवायिकारणात् परमाणुकर्मणः पर-माण्वाकाशसंयोगो न भवेत्, न हि तत्रावयवसंयोगात्परमाण्वाकाशसंयोगः, निरवयवत्वात्। अपि चैवं वंशदलावयवाकाशविभागादेव दलाकाशविभा-

---

संयोगजनकं द्रव्यारम्भकसंयोगजनकत्वात् न यदेवं न तदेवं यथांगुल्याकाशसंयोग-जनकं कर्मेत्यपि शक्यमनुमातुमिति खण्डलकार्थः। भवत्वेवं किं नश्छिन्नमिति? तत्र गूढाभिसन्धिस्तावदाह—**तथा चेति**। द्वितन्त्वारब्धपटारम्भको यस्तन्तुद्वय-संयोगस्तज्जनकात्कर्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगस्य द्रव्यानारम्भकस्योत्पत्तिर्न स्यादित्यर्थः। अभिसन्धिमविद्वान् श्रीवल्लभः शङ्कते—**नन्विति**। अयमर्थः—यथा हि संयोगज-संयोगविशेषस्य शरीराकाशसंयोगस्य तदवयवाङ्गुल्याकाशसंयोगादेव जन्म, न कर्मणः, तथा तन्त्वाकाशसंयोगोऽपि तदवयवाकाशसंयोगादेव भवेदिति कर्मा-जन्यत्वमिष्टमेवेति। अभिसन्धिमुद्घाटयन्परिहरति—**एवं तर्हीति**। अवश्यं हि निरवयवपरमाण्वाकाशसंयोगस्य तदवयवसंयोगजन्यत्वासंभवात् द्वयणुकारम्भकपर-माणुसंयोगजनकपरमाणुकर्मजनितत्वं वक्तव्यम्। तदेव मम प्रतिबन्दीस्थलम-स्त्विति भावः। अनिष्टान्तरं चाह—**अपि चेति**। शक्यते हि तत्रापि वक्तुम्,

---

कर्म को आकाशांश से विभागाजनकत्व के होने पर, द्रव्यारम्भक संयोगजनक कर्म को द्रव्यानारम्भक संयोगजनकत्व नहीं होगा, जैसे अङ्गुलि-आकाशसंयोग-जनक कर्म को द्रव्यारम्भक संयोगजनकत्व नहीं होता है, तो तन्तुद्वय संयोगजनक कर्म से द्रव्यारम्भक तन्तु आकाशसंयोग की भी उत्पत्ति नहीं होगी। यदि कहें कि अङ्गुलि-आकाश के संयोग से शरीराकाश के संयोग के समान तन्तु के अवयव आकाश के संयोग से ही तन्तु-आकाश के संयोग की उत्पत्ति के होने से यह दोष नहीं रहेगा, अर्थात् शरीरगत संयोगज संयोग कर्म के बिना ही अङ्गुलि संयोग से सिद्ध होता है, वैसे ही तन्तु में कर्म के बिना अवयवसंयोगज संयोग तन्तु में होगा, अतः पटजनक कर्म से तन्तु आकाश के संयोग के नहीं होने पर भी तन्तु आकाश के संयोग की अनुपपत्तिरूप दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर, द्वयणुक के जनक संयोग को असमवायिकारण परमाणु के कर्म से परमाणु और आकाश का संयोग नहीं होगा, क्योंकि वहाँ अवयव के संयोग से परमाणु आकाश का संयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि परमाणु को निरवयवत्व है, और दूसरी बात है कि उक्त रीति से अवयव के सम्बन्ध से अवयवी के सम्बन्ध को मानने पर, वंसदल के अवयव के विभाग से ही दलाकाश के विभाग की सिद्धि होने

गोपपत्तेर्दलयोर्विभागस्याकाशविभागं प्रति हेतुता न स्यादिति दलयोर्विभागादाकाशविभागः स्वाभिमतो न सिद्ध्येत्, तस्मादसमवायिकारणापेक्षिणो वंशदलाकाशविभागस्य वंशदलक्रियैवासमवायिकारणमिति न पारिशेष्याद्विभागस्य विभागजनकत्वसिद्धिः। न च कर्मैकहेतुकत्वे विभागयोरुक्तवैलक्षण्यानुपपत्तिः, कर्मैकहेतुकयोः संयोगविभागयोरिव वैलक्षण्योपपत्तेः। तस्माद्विभागजविभागाभावात्तद्व्यावृत्त्यर्थं विभागाजन्यत्वविशेषणं कर्मलक्षणे व्यर्थम्। व्यञ्जकप्रमाणयोर्निरस्तत्वाच्च कर्मत्वजातेरभावे तद्योगित्वमपि लक्षणं परास्तम्।

न वंशदलयोर्विभागाद्वंशदलाकाशयोर्विभागः। किंतु वंशदलावयवाकाशयोर्विभागादिति, तस्य च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टं स्यादिति भावः। तदेवं कर्मजन्यत्वसंभवात्परिशेषासिद्धिमुपसंहरति—**तस्मादिति**। यस्तु विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तं प्रशिथिलमूलयति—**न चेति**। यथा कर्मैकहेतुत्वेऽपि संयोगविभागयोः परस्परं वैषम्यम्, तथेहापीत्यर्थः। एतेन कार्यविरोधात्कारणविरोधोन्नयनमपि किरणावलीयं निरस्तम्। विरुद्धयोरेव संयोगविभागयोरेककर्मजन्यत्वात् प्रासङ्गिकस्यास्य विचारस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तस्मादिति**। ननु संख्याऽवृत्तिसंयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमदिति 'वा संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणवृत्तिसंयोगत्वासमानाधिकरणजातिमद्वेत्यादीनि शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणानि भविष्यन्तीति तत्राह—**व्यञ्जकेति**। उक्तलक्षणानि खलु व्यञ्जकानि भवन्ति, तानि च यथायथं दूषितानि, प्रमाणं च प्रत्यक्षं द्रव्यखण्डनावसरे दूषितम्, अन्यच्च न निरूप्यते अतस्तादृशी नास्ति जातिरित्यर्थः।

से दलों के विभाग को आकाश-विभाग के प्रति हेतुता नहीं होगी, अतः दलों के विभाग से स्वाभिमत आकाश-विभाग नहीं सिद्ध होगा। अतः असमवायिकारण की अपेक्षा करने वाले वंसदल आकाश-विभाग का वंसदल की क्रिया ही असमवायिकारण है, अतः परिशेष से विभाग को विभागजनकत्व नहीं सिद्ध होता है। कर्मैकहेतुत्व के होने पर विभागों में उक्त द्रव्यारम्भक संयोगविरोधित्व अविरोधित्व रूप विलक्षणता नहीं होगी, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कर्मैकहेतुक उत्तरसंयोग और पूर्वविभाग में जैसे विलक्षणता होती है, वैसे ही उनमें विलक्षणता की सिद्धि होगी। अतः विभागज विभाग के अभाव से उसकी व्यावृत्ति के लिये, कर्म के लक्षण में विभागाजन्यत्व विशेषण व्यर्थ है। और व्यञ्जक और प्रमाण के निरस्त होने से कर्मत्व जाति के अभाव होने पर कर्मत्वजातियोगित्व भी कर्म का लक्षण खण्डित हो गया।

सामान्यस्य दुर्लक्षत्वाच्च तद्विशिष्टानि लक्षणानि सर्वाण्यपि निरस्तानि वेदितव्यानि। तथाहि किमिदं सामान्यम्? किमनुवृत्तप्रत्ययकारणम्? उतानुवृत्तप्रत्ययप्रमाणकम्? अथवानुवृत्तत्वम्? आहोस्विन्नित्यत्वे सत्यनुवृत्तत्वम्? अथवा नित्यमेकमनेकसमवेतम्? तत्र—

अतिव्याप्त्या निराकुर्यादाद्यं पक्षचतुष्टयम्।
अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्त्यं प्रतिक्षिपेत्॥ १०॥

न तावदाद्यः; सामग्र्यां तदेकदेशेषु चातिव्याप्तेः, तेषामपि तत्प्रत्ययकारणत्वात्। नापि द्वितीयः; अनुवृत्तप्रत्ययस्य स्वकारणानुमापकतया कारणस्यापि तत्प्रमाणकत्वादतिव्याप्तेः; न तृतीयः; अनुवृत्तप्रत्ययस्य

किंच सामान्यमेव यदा दुर्लक्षम्, तदा दुर्लक्ष्यतराणि तदवान्तरकर्मत्वादिसामान्यानि दुर्लक्ष्यतमानि च तद्गर्भलक्षणानीत्याभिसन्धाय सामान्यखण्डनं प्रस्तावयति—**सामान्यस्येति**। तत्र किमनुवृत्तज्ञानं प्रति कारणं सामान्यम्? तज्ज्ञानेन प्रमीयमाणं वा? अनुवृत्तं वा? नित्यत्वे सत्यनुवृत्तं वा? नित्यमेकमनेकसमवेतं वा? इति विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना**। असमवेतस्यापि समवायवदनुवृत्तिसंभवान्न चतुर्थपञ्चमपौनरुक्त्यम्। तत्र, तेषु मध्ये, इत्युत्तरश्लोकस्योपकारः।

पक्षचतुष्टयेऽप्यतिव्याप्तिं दर्शयन्पूर्वार्धं व्याचष्टे—**न तावदित्यादिना**। तदेकदेशा धर्मादयः। इदं चासाधारणसाधारणकारणविवक्षयोर्यथायथमुत्तरम्। न च विषयतयाकारणमिति विशेषणीयम्; गौरिति विशिष्टव्यवहारे व्यक्तेरपि तथात्वापातात्। **नापि द्वितीय इति**। यथानुवृत्तप्रत्ययः कारणतया सामान्यमनुमापयति, एवं सामग्रीं तदेकदेशांश्चेति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। **न तृतीय इति**। अनेकवृत्तिर्ह्यनुवृत्तिः,

---

सामान्य (जाति) के दुर्लक्ष्य होने से, सभी सामान्ययुक्त लक्षणों को निरस्त समझना चाहिये, यह दर्शाया जाता है कि—यह सामान्य क्या है। क्या अनुवृत्त = अनुगत, ज्ञान का कारण है, या अनुवृत्त ज्ञानरूप प्रमाण वाला है, अथवा अनुवृत्तत्व धर्म स्वरूप है, या नित्यत्व युक्त अनुवृत्तत्व है, या नित्य एक अनेक समवेत स्वरूप है, इनमें—प्रथम के चार लक्षणों का अतिव्याप्ति से, और पञ्चम का अनेकत्व की अनिरुक्ति से निरसन करना चाहिये॥ १०॥

प्रथम-अनुगत, ज्ञानकारणत्व रूप लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि इस लक्षण की अनुगत ज्ञान की सामग्री, और उस सामग्री के एकदेश धर्मादि में अतिव्याप्ति होती है, ये सब भी अनुगत ज्ञान के कारण हैं। दूसरा लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि अनुगत ज्ञान अपने कारण का अनुमापक (हेतु, लिङ्ग रूप से बोधक) होता है, अतः उसको अपने कारण के प्रमापक होने से, उसके कारण में अनुवृत्त प्रत्ययप्रमाणकत्व = अनुवृत्तज्ञानप्रमाणवत्त्व लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अनुवृत्तत्व रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि अनेक में

संयोगादिष्वपि भावात्; नापि चतुर्थः, नित्येष्वनेककार्यवृत्तिषु परमाणुषु व्यभिचारात्। नापि पञ्चमः, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमनेकत्वसंख्याविशिष्टेषु समवेतत्वमनेकसमवेतत्वम्? उताश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वम्। आहोस्वित् स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वम्? न प्रथमः; गुणकर्मवृत्तिसामान्येष्वव्याप्तेः, अद्रव्यत्वेन गुणकर्मणोः संख्यानधिकरणत्वात्। नापि द्वितीयः; अन्त्यै-

---

सा च संयोगविभागद्वित्वादिष्वप्यस्तीति तेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः। **अनेककार्यवृत्तिष्विति**। संयोगिनामपि वृत्तिरस्त्येव, इतरथा—कुण्डेषु बदराणां वृत्त्यभावप्रसङ्गादिति भावः। समवायेऽप्यतिव्याप्तिः। असम्बन्धत्वविशेषणेऽपि पूर्वमुत्तरम्। नन्वस्तु पञ्चमस्तथा च नातिव्याप्तिः। समवेतशब्देन परमाण्वाकाशादिव्यावृत्तेर्नित्यपदेनैव संयोगादेरिति। तथाच श्रीवल्लभः—"नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमिति। एकपदेन चान्त्यविशेषव्यावृत्तेः" इति। तत्राह—**नापीति**। दूषणपरयोत्तरार्धं योजयति—**किमनेकत्वेत्यादिना**। अनेकत्वसंख्या द्वित्वादिसंख्या। **स्वाश्रयेति**। स्वस्य सामान्यस्य य आश्रयस्तत्प्रतियोगिकान्योन्याभाववान् यस्तस्मिन्समवेतत्वम्। एवं ह्यनेकाश्रयत्वमुक्तं भवति; तस्यैव तस्मादन्यत्वायोगादित्यर्थः। अनेकत्वसंख्याविशिष्टे समवेतत्वमनेकसमवेतत्वमित्युक्तम्, गुणत्वकर्मत्वतदवान्तरजातिषु तद्गर्भलक्षणस्याव्याप्तेरित्याह—**न प्रथम इत्यादिना**। तत्र हेतुः—**अद्रव्यत्वेनेति**। **अन्त्यैर्विशेषैरितीदं** ह्यन्त्यविशेषाणामपार्थिवपरमाणुविशेषगुणानामीश्वरज्ञानादीनां नित्यद्रव्यसमवेतैकत्वसंख्यापृथक्त्वपरिमाणामानुपलक्षणम्। तेषां नित्यत्वात्तदाश्रयाणां च यत्किंचिदाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वादतोऽतिव्याप्तिस्तेष्वित्यर्थः।

वृत्तित्व अनुवृत्तत्व कहा जाता है, और संयोग, विभाग द्वित्वादि भी अनेकवृत्ति होते हैं, अतः अनुवृत्तत्व के संयोगादि में रहने से उनमें अतिव्याप्ति है। नित्यत्वयुक्त अनुवृत्तत्व यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि नित्यत्वयुक्त अनेक द्व्यणुकादि कार्यवृत्ति (संयुक्त) परमाणुओं में इसका व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है। (नित्यमेकमनेकसमवेतम्) यह पञ्चम भी युक्त नहीं, क्योंकि यह विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि यह अनेक समवेतत्व क्या है? क्या अनेक संख्या युक्त में समवेतत्व है या आश्रय प्रतियोगिक भेदवत् समवेतत्व है अथवा स्वाश्रय प्रतियोगिक भेदवत् समवेतत्व है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि गुण और कर्म में वृत्तिसामान्यों में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, कारण है कि गुण और कर्म के अद्रव्य होने से उनमें संख्या रूप गुण नहीं रहता है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अन्त्यविशेष और परमाणुओं के द्वारा व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है, क्योंकि उनको

विशेषैः परमाणुरूपैश्च व्यभिचारात्, तेषामपि यत्किंचिदाश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वात्। न तृतीयः; स्वशब्देन जातिविवक्षायामात्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। नित्यत्वं च स्वप्रच्युत्यनुपलक्षितसत्तायोगित्वम ? प्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं वा ? स्वप्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं वा ? न प्रथमः, जातेर्जात्यनधिकरणत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वात्। न द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। किं तत्प्रतियोगित्वं यदनधिकरणत्वं नित्यतामभिदधासि ? किं तन्निरूपकत्वम् ? उत तेन सहानवस्थितत्वम् ? नाद्यः, जातेर्ध्वंसोऽन्य इत्यत्र जातेरपि ध्वंसनिरूपकत्वात्। न

स्वशब्देनेति। स्वाश्रयेत्यत्र स्वशब्देन यत्किंचिद्विवक्षायां पूर्वोक्तदोषः, जातिविवक्षायां तेनैव तल्लक्षणादात्माश्रयः, पूर्वोक्तातिव्याप्तिश्च। तेषामपि सामान्याश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वादिति भावः। एवमनेकसमवेतत्वानिरुक्त्या लक्षणं दूषयित्वा नित्यत्वानिरुक्त्यापि तद् दूषयति—**नित्यत्वं चेति**। इदमपि श्लोकस्थचशब्देनासूचि। प्रच्युतिर्विनाशः, तेनानुपलक्षितसत्तायुक्तत्वं सत्तायामसंभवि, निःसामान्यत्वात् सामान्यस्येति प्रथमं पक्षं दूषयति—**न प्रथम इति**। आत्मादिष्वव्याप्तिः; तत्र वर्तमानसत्ताया अपि घटादिप्रच्युत्युपलक्षितत्वात्। एतेन स्वरूपसत्ताविवक्षापि प्रतिक्षिप्ता, प्रमेयत्वरूपस्य तस्यानुवृत्तस्य तथात्वात्, इतरस्य च व्यावृत्तस्यानुगतनित्यशब्दार्थत्वायोगात्। स्वप्रच्युतीति विशेषणे चात्माश्रयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम्। प्रतियोगित्वविकल्पस्य प्रकृतोपयोगित्वमाह—**यदनधिकरणत्वमिति**। किं प्रध्वंसनिरूपकत्वम् ? किं वा प्रध्वंससहानवस्थितत्वमित्यर्थः ? आद्ये तत्प्रतियोगित्वानधिकरणत्वं प्रध्वंसानिरूपकत्वमिति यावत्, तच्चासिद्धमित्याह—**नाद्यः, जातेरिति**।

भी नित्यत्व है और यत्किञ्चिद् आश्रय गुणादि प्रतियोगिकभेदवान् में समवेतत्व है। तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि स्वशब्द से जाति के ग्रहण करने पर आत्माश्रयत्व की प्राप्ति होगी, यत्किञ्चित् को स्वशब्द से ग्रहण करने पर पूर्वोक्त अतिव्याप्ति होगी। और लक्षणगत नित्यत्व क्या है, स्वप्रच्युति = नाश से अनुपलक्षित सत्तायोगित्व है, या प्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्व है, या स्वप्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्व है। यहाँ प्रथमपक्ष अयुक्त है, क्योंकि पटत्वादि जाति के सत्ताजाति के अनधिकरण होने से सत्तायोगित्व लक्षण का असम्भव है। विकल्पाऽसह होने से दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि वह ध्वंसप्रतियोगित्व क्या है कि जिसके अनधिकरणत्व रूप नित्यता को कहते हो, क्या उस ध्वंस का निरूपकत्व ध्वंसप्रतियोगित्व है, या उस ध्वंस के साथ अनवस्थितत्व ध्वंसप्रतियोगित्व है। यहाँ आद्य पक्ष में असम्भवता है, क्योंकि जैसे, घटध्वंसः, कहने पर ध्वंस की निरूपकता घट में भासती है, वैसे (जातेर्ध्वंसोऽन्यः) जाति से ध्वंस अन्य है, ऐसा कहने से जाति में भी ध्वंसनिरूपकता भासती है, क्योंकि ध्वंस अन्य है, ऐसा कहने पर अपेक्षा

द्वितीयः, सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्वानां घटध्वंसेन सह पृथिव्यामनवस्थानात् । नापि तृतीयः; जातिप्रध्वंसस्यैवाप्रसिद्धतया तत्प्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धेः । ननु ब्रह्मणि तवापि नित्यत्वं सिद्धं तत्किं जातावपलपसि ? मैवम् , ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्वधर्मानधिकरणत्वात् । कथं तर्हि तद्व्यपदेश इति चेत्;

ध्वंसोऽन्य इत्यत्र कस्मादन्यत्वम् ? इत्यपेक्षायां जातेरिति जातिनिरूपिकेत्यर्थः । नचान्यत्वं प्रत्येव तदिति वाच्यम् । सतो घटस्य ध्वंस इत्यादौ विशेषणतया तस्यापि तथात्वात्, स्वरूपभेदवादिनां तस्यापि भावाच्चेति । द्वितीयेपि ध्वंसासामानाधिकरणत्वस्य तत्प्रतियोगित्वे तदनधिकरणत्वं नाम ध्वंसासमानाधिकरणत्वानधिरणत्वं वक्तव्यम् । नचैतदित्याह—**न द्वितीय इति** । यद्यपि कपाले सामानाधिकरण्यमस्ति, तथापि तन्त्वादिरूपपृथिव्यादौ तदभावादसमानाधिकरणत्वानधिकरणत्वं नास्तीत्यर्थः । स्वध्वंसेनेति तु तृतीयपक्षदूषणेनैव दूषयिष्यते । यत्किंचित्प्रध्वंसाप्रतियोगित्वं संयोगादेरप्यस्तीति तत्र लक्षणस्यातिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । स्वध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं नित्यत्वमिति । तृतीयं पक्ष दूषयति—**नापीति** । ननु ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्वं नास्तीति वक्तुमयुक्तम्, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, नित्यं विभुं सर्वगतं च' इत्यादिश्रुतिविरोधादिति शङ्के—**कथं तर्हीति** । नात्र नित्यत्वं

होती है, किससे अन्य है ? तो कहा जाता है कि जाति से अन्य है, इसप्रकार से जाति को निरूपकता होती है इत्यादि । अतः ध्वंसप्रतियोगित्वनिरूपकताऽनधिकरणत्व जाति में नहीं रह सकती है, ध्वंस के साथ अनवस्थित्व रूप दूसरा पक्ष भी असम्भव है, क्योंकि घट के ध्वंस के साथ फूटे घट के कपाल में घट के नहीं रहने से घट को ध्वंस का प्रतियोगी कहा जायगा, वैसे ही तन्तु, वृक्षादि रूप पृथिवी में वर्तमान सत्ताद्रव्यत्व पृथिवीत्वादि को कपालवृत्ति घटध्वंस के साथ अनवस्थिति से ध्वंसप्रतियोगिता प्राप्त होगी । यद्यपि कपाल में सत्ता आदि को घटध्वंस के साथ समानाधिकरणता है ही, तथापि तन्तु आदि में नहीं है, यह कथञ्चिदुक्ति है, क्योंकि सत्तादि तो सर्वत्र एक है । परन्तु वह भी खण्डनीय है । (स्वप्रध्वंस-प्रतियोगित्वानधिकरणत्व नित्यत्व है, यह तृतीय पक्ष भी असम्भवयुक्त है, क्योंकि जाति के प्रध्वंस के ही अप्रसिद्ध होने से उसके प्रतियोगित्व की भी अप्रसिद्धि है । और प्रतियोगित्व की प्रसिद्धि के बिना उसकी अनधिकरणता कैसे कही जायगी । शंका होती है कि आपके मतानुसार ब्रह्म में नित्यत्व सिद्ध है, तो फिर जाति में उस नित्यत्व का क्यों अपलाप करते हैं (अभाव कहते हैं), तो उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है । ब्रह्म में नित्यत्व धर्म सिद्ध नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के निर्धर्मक (निर्गुण) होने से नित्यत्व धर्म का अधिकरण ब्रह्म नहीं है, तो यदि शंका हो कि (आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः नित्यं विभुं सर्वगतम्) इत्यादि नित्यत्व का कथन कैसे होता है ?

विनाशस्य दुर्निरूपत्वादिति ब्रूमः। ननु घटादेरपि विनाशो दुर्निरूपः, सत्यम्; स्वरूपेण परमार्थस्य तदनिरूपणे नित्यत्वव्यपदेशात्, घटादेश्चातथात्वात्। त्वं पुनः सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमित्यादिभाष्यदर्शनान्नित्यत्वं साधर्म्यमिच्छसि।

नाम धर्मो विवक्षितः, अद्वैतश्रुतिविरोधात्, किंतु दुर्निरूपविनाशत्वादिति परिहरति— **विनाशस्येति**। ननु ब्रह्मव्यतिरिक्तानिर्वाच्यत्ववादिनो घटादेरपि विनाशो दुर्निरूप इत्याशङ्क्य परिहरति— **सत्यम्; स्वरूपेणेति**। यथाहि-रज्जुसर्पादेर्नाशो दुर्निरूपः। नचैतावता तेषु नित्यत्वव्यपदेशस्तत्कस्य हेतोः? धर्मिणो दुर्निरूपत्वात्तथा वियदादेरपि, ब्रह्मणस्तु स्वरूपेणापि परमार्थत्वात् स्वरूपेण परमार्थत्वे सति दुर्निरूपविनाशत्वलक्षणनित्यत्वसंभवान्नित्यत्वव्यपदेश इत्यर्थः। नन्वस्मन्मतेऽपीदमेव नित्यत्वं सामान्यस्य भवत्विति तत्राह— **त्वं पुनरिति**। तथाहि— "सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषत्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्वं च" इति प्रशस्तपादभाष्यम्। तत्र च स्वात्मसत्त्वं स्वरूपसत्त्वम्। बुद्धिलक्षणत्वं बुद्धिभिर्ह्येतानि लक्ष्यन्ते। अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यम्। अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवोऽन्त्या विशेषाः। इह प्रत्ययहेतुः समवायः। अकारणत्वं चानात्मगुणकार्यं प्रति, तत्र च नित्यत्वं साधर्म्यमभिप्रेतम्। साधर्म्यं समानो धर्म इत्यर्थः। एतेन नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतमिति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि निरस्तम्।

तो उत्तर है कि ब्रह्म विनाश के दुर्निरूपत्व के कारण उसको नित्य कहते हैं, नित्यत्व धर्म से नहीं। यदि शंका हो कि ब्रह्म से भिन्न को अनिर्वचनीय मानने वाले आप के मत में घटादि का ध्वंस भी अनिर्वाच्य होने से दुर्निरूप है, अतः उसमें भी नित्यत्व व्यवहार की प्राप्ति होगी, तो शंका सत्य है, परन्तु स्वरूप से परमार्थ वस्तु के उस नाश के अनिरूपण होने पर नित्यत्व का व्यवहार होता है, ब्रह्मात्मास्वरूप से परमार्थ है, अतः दुर्निरूप विनाश वाला वह सत्य कहा जाता है—नित्य कहा जाता है। रज्जु सर्प के समान घटादि स्वरूप से परमार्थ नहीं है, अतः उनके विनाश के दुर्निरूप होते भी नित्य नहीं कहे जाते हैं। आप तो ऐसा नित्यत्व नहीं मान सकते हैं, क्योंकि (सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वम् = अकार्यत्वम् = अकारणत्वम् = असामान्यविशेषत्वम् = नित्यत्वम्= अर्थशब्दानभिधेयत्वं च) इत्यादि वैशेषिकभाष्य के दर्शन से सामान्यादि तीनों के नित्यत्व साधर्म्य को आप मानते हैं। उक्त एक ब्रह्म को परमार्थ सत्य को नहीं मानते हैं। स्वात्मसत्व (स्वरूपसत्त्व = सत्ताजातिरहितत्व) बुद्धिलक्षणत्व (बुद्धिप्रमाणकत्व) अकार्यत्व (अनादित्व) अकारणत्व (अनात्मगुण कार्य का अकारणत्व) अपरसामान्यशून्यत्व, नित्यत्व, अर्थशब्दाऽवाच्यत्व, ये सामान्यादि तीनों के समान धर्म हैं। यह भाष्य का अर्थ है।

अस्तु तर्हि मनस्त्वात्मत्वातिरिक्तनित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सति समवेतं सत्तानाश्रयः सामान्यमिति सामान्यलणमिति चेत्, न; यतः—

जातेरद्याप्यसिद्धेश्च सत्तादेरप्यसिद्धितः ।
तदनाश्रयतान्यत्वलक्षणेऽन्योऽन्यसंश्रयः ॥ ११ ॥

जातिमात्रलक्षणसिद्धौ सत्तात्मत्वमनस्त्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ चात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति सत्तानाश्रयः इति लक्षणविशेषणसिद्धिरिति परस्पराश्रयता ।

शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति** । सत्तानाश्रयः सामान्यमित्युक्ते अभावसमवाययोरतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं समवेतमित्युक्तम् । तावपि चान्त्यविशेषेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सतीत्युक्तम् । एवंचात्मत्वमनस्त्वयोरव्याप्तिस्तयोर्नित्यमात्रसमवेतत्वात् । अत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति, आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तं यन्नित्यमात्रसमवेतं तदन्यत्वे सतीत्यर्थः । द्रव्यगुणकर्मव्यावर्तनाय सत्तानाश्रय इत्युक्तम् । जातिरेव तावदद्यापि न सिद्धा, अत एव तद्विशेषसत्तात्मत्वमनस्त्वानामप्यसिद्धिस्ततश्च सत्तानाश्रयत्वेनात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वेन च सामान्यलक्षणेऽन्योन्याश्रयः स्यादिति संग्रहश्लोकार्थः ।

अन्योऽन्यसंश्रयं विशदयति—**जातिमात्रेति** । ननु यद्यपि सत्तादीनां जातिभेदत्वम्, तथापि न तेषां सामान्यज्ञानाधीननिरूपणमतो नान्योन्याश्रयतेति, तत्राह—

यदि कहें कि (मनस्त्व आत्मत्व से अतिरिक्त नित्यमात्र में समवेत से अन्य होता हुआ समवेत सत्ताऽनाश्रय सामान्य होता है । यह लक्षण सामान्य का माना जाय) सत्तानाश्रय मात्र कहें, तो अभावसमवाय में अतिव्याप्ति होगी, अतः समवेत कहा है । अन्त्य विशेष में अतिव्याप्ति वारण के लिये नित्यमात्र समवेत से अन्य कहा है, ऐसा होने पर आत्मत्व मनस्त्व में अव्याप्ति होती, उसके वारण के लिये, आत्मत्व मनस्त्व से अन्य नित्यमात्र समवेत इत्यादि कहा गया है । परन्तु ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है । क्योंकि—

अभी जाति की असिद्धि से सत्ता आदि की भी असिद्धिता के कारण सत्ताऽनाश्रयता आत्मत्व मनस्त्वान्यत्व युक्त लक्षण में अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है ॥११॥

जातिमात्र के लक्षण की सिद्धि होने पर सत्ता आत्मत्व मनस्त्व की सिद्धि होगी, और उन सत्ता आदिकों की सिद्धि होने पर, आत्मत्व, मनस्त्व अतिरिक्त और सत्तानाश्रय इन लक्षण के विशेषणों की सिद्धि हो सकती है, अतः परम्पराश्रयता होती है । यदि कहा जाय कि सत्ता आत्मत्वादि के जातिभेदत्व होते भी सामान्यज्ञानाधीन निरूपण नहीं होने से अन्योन्याश्रय नहीं होगा, तो सामान्य

तथाहि—घटवृत्तिवृत्तित्वे सत्यात्मवृत्तिर्जातिः सत्तेति परैरभ्युपेयते, न धर्म-मात्रं भावमात्रं वा। धर्ममात्रत्वे घटवृत्तिरूपादेरात्मनश्चान्योन्याभावेऽति-व्याप्तेः। भावमात्रत्वे वाऽपरजातिमत्त्वलक्षणे धर्मे गुणकर्मणोरात्मनि च वर्तमानेऽतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात्, अतः परिशेषादेवंविशेषिता जातिः सत्तेति वाच्यम्, तथासति कथं नान्योन्याश्रयता? तथात्मत्वमनस्त्वलक्षणे च?

तथाहीति। जातिः सत्तेत्युक्ते गुणत्वादावतिव्याप्तिरत उक्तमात्मवृत्तीति। तथाप्यात्मत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तीत्युक्तम्, तथापि द्रव्यत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तिवृत्तीत्युक्तम्। घटवर्त्तिनी ये गुणकर्मणी तद्वृत्तीत्यर्थः। ननु घटवृत्तिवृत्तिरात्मवृत्तिभावः सत्ता, अथवा तथाविधो धर्मविशेषः कश्चिदिति सत्तालक्षणमस्तु, न जातिविशेषणं युक्तम्, येनान्योऽन्याश्रयता स्यादिति, तत्राह—**न धर्ममात्रमिति**। **घटवृत्तीति**। रूपादेरात्मनश्च यो धर्मभूतो घटान्योन्याभावस्तत्रैतल्लक्षणमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। भावमात्रत्वे दूषणमाह—**भावेति**। अस्ति हि गुणकर्मणोरात्मनश्चापरजातिमत्त्वं धर्मः, स च भावरूपोऽप्रतिषेधात्मकत्वात्, इतरथातिप्रसङ्गात्। किंच विशिष्टरूपमिदम्, विशिष्टं च विशेषणविशेष्यतत्संबन्धात्मकम्, नच तेषां नियमेनाभावत्वमिति कथमीदृशानामभावान्तर्भावः? यथाह—

विशेषणं विशेष्यं च तत्संबन्धफलार्पकम्।
ज्ञानरूपं स्वसामर्थ्याद्वैशिष्ट्यमिति कीर्त्यते॥' इति॥

(न्या० ली० पृ० ७०)

ततश्च तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेत्यंशेऽप्यन्योन्याश्रयमाह—**तथात्मत्वेति**। तयोरपि जातिगर्भत्वाल्लक्षणस्येत्याह—**तथाहीति**। सत्ताद्रव्यत्व-

---

ज्ञानाधीन निरूपणत्व दर्शाया जाता है कि (घटवृत्ति गुणादि में रहता हुआ जो आत्मवृत्ति जाति होती है, वह सत्ता कही जाती है, यह अन्यलोग मानते हैं (जातिः सत्ता, कहें तो गुणत्वादि में अतिव्याप्ति होगी, अतः आत्मवृत्ति कहा, तो भी आत्मत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिये घटवृत्तिवृत्ति कहा है। यहाँ जाति के स्थान में धर्ममात्र या भावमात्र नहीं कहा जा सकता है। यदि धर्मादि मात्र कहे जाते तो अन्योन्याश्रय नहीं होता, परन्तु कहे नहीं जा सकते हैं, क्योंकि धर्ममात्र के कहने पर, घटवृत्ति रूपादि और आत्मा के अन्योन्याश्रय में अतिव्याप्ति होगी। अन्योन्याश्रय भी घटवृत्तिवृत्ति और आत्मवृत्ति धर्म है, जाति कहने से यह दोष नहीं होता है। इसीप्रकार से धर्ममात्र के कहने पर, अपरजातिमत्त्वस्वरूप गुण, कर्म और आत्मा में वर्तमान धर्म में तदवस्थ अतिव्याप्ति होती है। अतः परिशेषता से घटवृत्तिवृत्तित्वविशिष्ट आत्मवृत्ति, ऐसी विशेषित जाति को सत्ता कहना होगा, तो आन्योन्याश्रय कैसे न होगा। इसीप्रकार से आत्मत्व, मनस्त्व के जाति-

तथाहि—घटावृत्तित्वे सत्यात्मनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिरात्मत्वम्, एवमाकाशावृत्तित्वे सति मनोनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिर्मनस्त्वम्, न तु धर्ममात्रं भावमात्रं वा। तदुभयनिष्ठान्योऽन्याभावे बहुत्वसंख्यायां च व्यभिचारात्। तथा न तदतिरिक्तत्वलक्षणे कथं न प्राचीनदोषानुषङ्गः? कथं च सत्सदित्यबाधितप्रत्यये सति सत्ताया गोत्वादावभावः? न चैकार्थसमवायात्सदिति प्रत्ययः, गुणकर्मणोरपि तथोपपत्तौ सत्ताऽभाव-

---

योरतिव्याप्तिपरिहाराय घटावृत्तीत्युक्तम्। उदकत्वगुणत्वाद्यतिव्याप्तिवारणायात्मनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनीत्युक्तम्। मनस्त्वलक्षणमाह—**एवमिति**। अत्रापि सत्ताद्रव्यत्वाद्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमाकाशावृत्तीत्युक्तम्। घटत्वादिष्वतिव्याप्तिपरिहाराय मनोनिष्ठेत्यादिविशेषणम्। यदि हि धर्ममात्रमात्मत्वमनस्त्वे स्याताम्, तदा तदुभयनिष्ठावात्ममनोनिष्ठौ यावन्योन्याभावौ आत्मनि घटान्योऽन्याभावो मनसि चाकाशान्योन्याभावस्तयोरतिव्याप्ती स्याताम्। अथ भावमात्रम्, तदात्मवृत्तिज्ञाने मनोनिष्ठबहुत्वसंख्यायां चातिव्याप्ती स्यातामित्यर्थः। बहुत्वसंख्याग्रहणं ज्ञानादेरप्युपलक्षणम्। प्राचीनदोषोऽन्योऽन्याश्रयः। सत्तानाश्रय इति विशेषणं सत्ताव्यतिरिक्तगोत्वादिष्वसिद्धम्, गोत्वं सद्द्रव्यत्वं सदित्यबाधितानुवृत्तप्रत्ययवशात्तेषामपि सत्ताश्रयत्वप्रतीतेरित्याह—**कथं च सत्सदिति**। ननु गोत्वादिषु सदिति प्रत्ययो न सत्तानिमित्तः, किंतु सत्तया सहैकस्मिन्नर्थे गवादौ समवायादिति, तत्राह—**न चैकार्थेति**। गुणकर्मणोरपि द्रव्ये तदेकार्थसमवायात्तदुपपत्त्या सत्ताऽभावः प्रसज्येत, एवमवयविष्वपीति भावः। किंच यदि सत्तैकार्थसमवायात्तत्र सदिति व्यवहारस्तर्हि

घटित (युक्त) लक्षण में अन्योन्याश्रय है, वह दर्शाया जाता है। (घट में अवृत्तित्वयुक्त आत्मनिष्ठात्यन्ताभाव की अप्रतियोगी जाति आत्मत्व है) इसी प्रकार आकाश से अवृत्तित्वयुक्त मनोवृत्ति अत्यन्ताभाव की अप्रतियोगी जाति मनस्त्व है। आत्मत्वलक्षण में सत्ता द्रव्यत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिये घटावृत्तित्व कहा है। और मनस्त्व में आकाशाऽवृत्तित्व कहा है। इन लक्षणों में भी जाति के स्थान में धर्ममात्र वा भावमात्र नहीं कह सकते हैं, धर्ममात्र कहने पर तदुभय, आत्मा और मनोवृत्ति अन्योन्याऽभाव में अतिव्याप्ति होती है, आत्मा में घट आत्मा का अन्योन्याभाव रहता है, मन में आकाश का अन्योन्याभाव रहता है, और भावमात्र के ग्रहण करने पर, आत्मवृत्ति ज्ञान और मनोवृत्ति बहुत्वसंख्या में अतिव्याप्ति होगी। अतः जातिघटित आत्मत्व मनस्त्व के होने पर आत्मत्व मनस्त्व से अतिरिक्तत्व युक्त लक्षण में प्राचीन दोष (अन्योन्याश्रय) कैसे नहीं प्राप्त होगा। और सत्ताऽनाश्रय, यह विशेषण भी सत्ताभिन्न गोत्वादि में असिद्ध है, क्योंकि गोत्वं सत् है, द्रव्यत्व सत् है, इसप्रकार से सत् सत् इस अबाधित ज्ञान के रहते गोत्वादि में सत्ता

प्रसङ्गात्। सत्तासमवाययोः सदिति व्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च। विवादाध्यासितं सत्तारहितमपरजातिरहितत्वात् सत्तावदिति बाधकमिति चेत्, नैवम्; सद्गोत्वं सदश्वत्वमित्यादिप्रत्यक्षविरोधे कालात्ययापदिष्टत्वात्, अन्यथा गुणकर्मणी सत्तारहिते अद्रव्यत्वात्सत्तावदित्यपि स्यात्। अथ तत्रानुभवविरोधः, स न प्रकृतेऽपि दण्डवारितः। तस्मादसंभवित्वात्सत्तानाश्रय इत्यलक्षणमेतत्।

सत्तायाः सत्तान्तराभावेन समवायस्य चासमवायित्वेन सत्तैकार्थसमवायो नास्तीति सद्बुद्धिस्तत्र न स्यादित्याह—**सत्तासमवाययोरिति**। किंच सत्तायामेवाव्याप्तिः, तस्याः सत्ताश्रयत्वात्। नचात्माश्रयान्योन्याश्रयानवस्थाः, उत्पत्तिज्ञप्त्यप्रतिबन्धकतया प्रमेयत्वादाविव भवन्मते दूषणत्वाभावादिति। विवादाध्यासितमिति गोत्वं विवक्षितम्, जातिरहितत्वादित्युक्ते साध्याविशिष्टता तदर्थमपरग्रहणम्। नहि द्रव्यत्वादिषु द्रव्यत्वादिकमस्तीति तेऽपि मतमिति भावः। यदि प्रतीतावनादरस्तर्हि गुणादावपि न जातिसिद्धिरुक्तानुमानस्य तत्रापि प्रचारादित्याह—**अन्यथेति**। शिवादित्यमिश्रलक्षणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

का अभाव कैसे माना जा सकता है। यदि कहें कि एकार्थ समवायसम्बन्ध से गो आदि द्रव्यवृत्ति सत्ता की गोत्वादि में प्रतीति होती है, क्योंकि गोत्वादि और सत्ता दोनों द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहते हैं। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर गुण और कर्म में भी एकार्थ समवाय से द्रव्यवृत्ति सत्ता की प्रतीति की सिद्धि हो सकने से उनमें भी सत्ता का अभाव प्राप्त होगा। और यदि गोत्व-द्रव्यत्वादि में एकार्थ समवाय से सत्त्व की प्रतीति होती है, तो सत्ता और समवाय में सत् इस व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा, क्योंकि दूसरी सत्ता नहीं कि जिसके साथ सत्ता का एकार्थ में समवाय हो, और समवाय के समवाय के अभाव से उसको भी सत्ता के साथ एकार्थसमवाय का असम्भव है। यदि कहें कि (विवादास्पद = गोत्व, द्रव्यत्व, समवायादि, सत्तारहित हैं, अपर जातिरहित होने से सत्तावत्) यह अनुमान गोत्वादि में सत्तावत्त्व का बाधक है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सद्गोत्व, सदश्वत्व इत्यादि इत्यादि प्रत्यक्ष के साथ विरोध से अनुमान कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हो जाता है, अन्यथा प्रत्यक्ष से बाध नहीं मानने पर (गुण, कर्म सत्तारहित हैं, अद्रव्य होने से, सत्तावत्) इस अनुमान से गुण, कर्म में भी सत्ता का अभाव सिद्ध होगा। यदि कहें कि गुणादि में सत्ता के अनुभव से अनुमान को विरोध है, तो प्रकृत गोत्वादि में भी वह विरोध दण्ड से निवारित नहीं हुआ है, वहाँ विरोध है। अतः असम्भावित होने से सत्ताऽनाश्रय, यह सामान्य का लक्षण नहीं हो सकता है।

विशेषलक्षणमपि दुर्निरूपम् । तथाहि—'नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषाः' इति न लक्षणम्, यतः—

नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वमयोगपरिहारतः ।
न लक्षणमतिव्याप्तेस्तवात्मत्वमनस्त्वयोः ॥ १२ ॥

आत्मत्वं मनस्त्वं च नित्यद्रव्येष्वेव वर्तत एवेति तयोरतिव्याप्तिः । ननु कालाकाशादिषु नित्यान्तरेष्वसत्वान्न तत्सर्वत्र नित्येषु वर्तते विशेषास्तु

कन्दलीकारोक्तलक्षणामनुवदति—**नित्येष्वेवेति**। द्रव्येषु ये वर्तन्ते ते विशेषा इत्युक्तेऽभावसामान्यसमवायेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं द्रव्येष्वेवेत्युक्तम् । तथापि गुणकर्मणोः प्रागभावप्रध्वंसयोश्चातिव्याप्तिस्तदर्थं नित्येष्वेवेत्युक्तम् । तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोर्नित्यद्रव्यगतगुणविशेषेषु चातिव्याप्तिरत उक्तं वर्तन्त एवेति । अनेन कदाचिद्वृत्तिः क्वचिद्वृत्तिश्च व्यावर्त्यते । तेन नित्यद्रव्ये कादाचित्कत्वाचित्कानां ज्ञानादीनामकादाचित्कानामपि क्वाचित्कानां मनस्त्वादीनां व्यवच्छेदः, तेषां कालतो देशतश्चावृत्तेरपि विद्यमानत्वाद्वर्तत एवेत्ययमंशो न संभवतीति भावः । तदलक्षणमित्युक्तम्, तत्र दूषणं श्लोकेन संगृह्णाति—**नित्यद्रव्येति**। यदिदं वर्तत एवेत्ययोगपरिहारतो नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वं लक्षणमुक्तम्, तन्न लक्षणम् । कुतः ? त्वन्मते आत्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तेरिति श्लोकयोजना । अद्वैतवादिनो मनसो नित्यत्वं नास्ति, नाप्यात्मत्वं जातिरित्यत उक्तं तवेति । संग्रहं विवृणोति—**आत्मत्वमिति**। पूर्ववादी हृदयं शङ्कते—**ननु कालेति**। तर्हि सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वं किमेकैकविशेषणम् ? कि

विशेष पदार्थ का लक्षण भी दुर्निरूप हैं। क्योंकि (नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याविशेषाः) इस भाष्य के व्याख्यान में लिखा गया है कि—

(नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषाः) नित्य ही में, द्रव्य ही में जो रहते ही हैं वे विशेष पदार्थ हैं। जो वर्तता है, वह विशेष है, इतना ही कहने पर अभाव सामान्य समवाय में अतिव्याप्ति होती, उसके वारण के लिये द्रव्येष्वेव कहा गया है, तो भी गुण-कर्म प्रागभाव प्रध्वंस में अतिव्याप्ति वारण के लिये नित्येष्वेव कहा है। कदाचित् वृत्तिज्ञानादि, क्वचिद् वृत्तिमनस्त्वादि के वारण के लिये वर्तन्त एव कहा है। परन्तु यह लक्षण युक्त नहीं है। क्योंकि—

वर्तते एव इस कथन से अयोग के निवारण द्वारा जो नित्य द्रव्यैकवृत्तिरूप लक्षण कहा है, वह लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि आपके मतानुसार आत्मत्व मनस्त्व में अतिव्याप्ति होती है ॥ १२ ॥

अर्थात् आत्मत्व मनस्त्व नित्य द्रव्य में ही वर्तता है। अतः उन दोनों में अतिव्याप्ति है। यदि कहें कि कालाकाशादि नित्यान्तर में आत्मत्व, मनस्त्व नहीं

नैवम्, वर्तन्त एवेति नियमादिति चेत्, न; प्रतिविशेषमव्याप्तेः सर्वेषां सर्वत्राभावात्। यज्जातीयमेवं स विशेष इति लक्षणार्थं इति चेत्, न, विशेषत्वजातेरनङ्गीकरणात्। उपाधेर्विवक्षितत्वाददोष इति चेत्, न; तदुपाधिसिद्धौ तदुपजीविनो लक्षणस्य वैयर्थ्यापातात्, असिद्धौ च लक्षणस्य दुरवधारणत्वात्।

एकद्रव्याः स्वभावसन्तो विशेषा इत्यपि न लक्षणम्; एकद्रव्यत्वस्य

वा संभूयमानानाम्? नान्त्यः, अनुगतलक्षणायोगात्। प्रथमे प्राह—**प्रतिविशेषमिति**। नन्वन्त्य एव पक्षः, नचानुगतलक्षणासिद्धिः, अयोगान्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यावृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यवृत्तिजातिमत्त्वमिति लक्षणादिति शङ्कते—**यज्जातीयमिति**। **अनङ्गीकरणादिति**। सामान्यादीनां त्रयाणामित्युपक्रम्यासामान्यविशेषवत्त्वमिति प्रशस्तपादैः साधर्म्याभिधानात्, अन्त्यविशेषत्वहानेश्च, जातिमत्त्वे ह्यत्यन्तव्यावृत्तत्वं न स्यात्। अत एवाश्रयस्यापि नात्यन्तव्यावर्तकाः स्युः। ननु यज्जातीयमित्यत्र यदुपाधिकमित्युपाधिसामान्यं विवक्षितमित्याशङ्क्य तस्यैवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरहितस्य लक्षणत्वमस्त्ववश्याश्रयणीयत्वात् कृतं तदुपजीविनानेनेति। दूषयति—**न तदुपाधिसिद्धाविति**। एतदेव विपक्षे बाधकतर्केण द्रढयति—**असिद्धौ चेति**।

श्रीवल्लभोदयनयोर्लक्षणमनुवदति—**एकद्रव्या इति**। स्वभावसन्तो विशेषाः इत्युक्ते सामान्यसमवाययोरतिव्याप्तिरत उक्तं एकद्रव्या इति। एकमेव द्रव्यम्,

---

रहता है, अतः आत्मत्वादि सब नित्य में नहीं रहते हैं, और विशेष तो ऐसे नहीं हैं, क्योंकि रहते ही हैं, यह नियम है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रत्येक सब विशेष सब नित्य में रहते हैं, ऐसा नहीं होने से, एक विशेष एक ही में रहता है। अतः इस लक्षण की प्रति विशेष में अव्याप्ति होगी, क्योंकि सब विशेषों का एक से अन्य सब नित्य में अभाव रहता है। जिस विशेषत्व जाति वाला सब नित्य द्रव्य में रहता हो, उसको विशेष कहते हैं। यह उक्त लक्षण का अर्थ है, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि विशेषत्व जाति नहीं मानी जाती है। यदि कहें कि विशेषत्व उपाधि की विवक्षा से दोष नहीं रहेगा, विशेषत्व उपाधि वाला सब नित्य द्रव्य वृत्ति होगा। तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि उस उपाधि की सिद्धि होने पर, विशेषत्ववत्त्व रूप विशेष के लक्षण के सिद्ध हो जाने से तदुपजीवी अन्य लक्षण की व्यर्थता होगी, और उपाधि की नहीं सिद्धि होने पर लक्षण की दुरवधारणता होगी।

(एकद्रव्याः स्वभावसन्तः) एक द्रव्यस्वरूप आश्रय वाले स्वभाव से सत् स्वरूप=सत्तारहित विशेष होते हैं, यह लक्षण भी नहीं युक्त है। क्योंकि एक

दुर्निरूपत्वात्। तथाहि किमिदमेकद्रव्यत्वम्? किमेकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतत्वम्? उताद्विष्ठत्वम्? नाद्यः, द्रव्यनिष्ठसामान्येष्वतिव्याप्तेः, तान्यपि ह्येकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतानि स्वभावसन्ति च, सत्तासामान्यरहितत्वात्। नापि द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। तदपि क्वचिद्वृत्तित्वे सत्यन्यावृत्तित्वम्? उताश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववदवृत्तित्वम्? न प्रथमः, प्राचीनदोषानुषङ्गात्, सामान्यान्यपि हि किंचिन्निष्ठत्वे सति तदन्यावृत्तीनि, सर्वत्रावृत्तेः। अत एव न द्वितीयः; सर्वावृत्तित्वेनाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववदवृत्तित्वस्यापि सामान्येषु भावात्। स्वाश्रय-

---

आश्रयो येषां तत्त्ववयविसंयोगादिवदनेकं ते तथोक्ताः। एकद्रव्या इत्येवोक्ते रूपादिगुणकर्मणोरतिव्याप्तिस्तदर्थं स्वभावसन्त इत्युक्तम्। तदेतदेकद्रव्यानिरुक्तया दूषयति—**किमिदमित्यादिना**। एकत्वसंख्यावति वर्तमानत्वे सति स्वभावसत्त्वं द्रव्यगतसामान्येष्वस्तीत्यतिव्याप्तिरित्याह—**द्रव्यनिष्ठेति**। स्वभावसत्त्वे हेतुः—**सत्तासामान्येति**। सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वमिति भावः—अद्विष्ठत्वमिति कोऽर्थः? क्वचिद्वर्तमानत्वे सति क्वचिद्वर्तमानत्वं द्विष्ठत्वं तदभावोऽद्विष्ठत्वमिति, किंवा स्वाश्रयान्योऽन्याभाववति वर्तमानत्वं द्विष्ठत्वं तदभावोऽद्विष्ठत्वमिति? नाद्यः इत्याह—**न प्रथम इति**। प्राचीनदोषमेवानुषञ्जयति—**सामान्यान्यपि हीति**। सामान्यान्यपि गुणादिषु वर्तमानानि गुणादिष्वेकत्र वृत्तित्वे सति तदन्याभावाद्यवृत्तीत्युक्तलक्षणकानीत्यर्थः। अत एवेत्यतिदिष्टं विशदयति—**सर्वावृत्तित्वेनेति**। सामान्यादिष्ववृत्तित्वेन सर्ववृत्तित्वाभावादिति भावः। ननु तादृगवृत्तित्वमात्रमत्र न विवक्षितम्, किंतु स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वम्, न तत्सामान्येष्वस्ति, तेषामनेकवृत्तित्वेनोक्तरूपत्वाभावादिति शङ्कते—**स्वाश्रयेति**। अत्र

द्रव्यत्व दुर्निरूपणीय है। यह एक द्रव्यत्व क्या है? क्या एकत्वसंख्याविशिष्ट द्रव्यसमवेतत्व है, या अद्विष्ठत्व है? द्रव्यनिष्ठसामान्य में अतिव्याप्ति से प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि द्रव्यवृत्तिसामान्य भी एकत्वसंख्यविशिष्ट आकाशादि में रहते हैं, स्वरूप से सत् सत्तारहित माने जाते हैं। अतः सत्ता सामान्यरहितत्व रहता है। अद्विष्ठत्व भी एकद्रव्यत्व नहीं हो सकता है। क्योंकि वह विकल्पाऽसह हैं। विकल्प है कि, वह अद्विष्ठत्व भी. क्वचिद् वृत्तित्वयुक्त अन्यावृत्तित्व रूप है। अथवा आश्रयप्रतियोगिक अन्योन्याऽभाववदवृत्तित्व रूप है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है, सामान्य भी किसी में वृत्ति होते तदन्य में अवृत्ति होते हैं। क्योंकि सामान्यों की सर्वत्र अवृत्ति (अस्थिति) रहती है। अतएव दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है। सर्व में अवृत्ति होने ही के कारण

प्रतियोगिकान्योऽन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेत्, न; स्वशब्देन विशेषविवक्षायामात्माश्रयप्रसङ्गात्। एतदात्मवृत्तित्वे सत्येतन्दन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इति प्रतिव्यक्तिलक्षणं विवक्षितमिति चेत्, न; अन्योन्याश्रयत्वात्। नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिहेतवो विशेषाः परैरभ्युपगम्यन्ते। ततश्च विशेषसिद्धौ नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिस्तत्सिद्धौ च

स्वशब्देन किं प्रकृतविशेषा गृह्यन्ते ? यत्किञ्चिद्वा ? द्वितीये त्वसंभवः। प्रथमे विशेषैरेव विशेषलक्षणादात्माश्रयत्वमित्याह—**न स्वशब्देनेति**। एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वासंभवेन यद्दूषणमुक्तम्, तन्निवृत्त्यर्थं प्रति विशेषं पृथग्लक्षणं शङ्कते—**एतद्दिति**। नित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इत्युक्ते व्याहतिः, अस्मिन्नप्यवर्तनप्रसङ्गात्तन्निवृत्त्यर्थं एतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तीत्युक्तम्। तथाप्येतदात्मन्यतिव्याप्तिस्तदर्थमेतदात्मवृत्तित्वे सतीत्युक्तम्। एतदात्मवृत्तिरित्येवोक्तावात्मत्वादिनार्थान्तरता, तदर्थमेतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरित्युक्तम्। अत्र सत्तारहित्यमप्यवगन्तव्यम्। वृत्तिशब्देन समवायस्य च विवक्षा, इतरथा तन्मात्रवृत्त्यन्योन्याभावादौ सुखादौ चातिव्याप्तिप्रसङ्गात्। अन्योऽन्याश्रयं विवृणोति—**नित्येति**। तथाहि—अनित्यद्रव्याणामाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेर्न तेषु विशेषसद्भावे प्रमाणम्, गुणकर्मणोरपि स्वाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेः, सामान्यमात्राश्रयत्वाच्च, तेषु न विशेषसिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रमाणम्, नित्यानामपि विभिन्नलक्षणानां पार्थिवाप्यपरमाण्वादीनां पार्थिवत्वादिनैव व्यावृत्तिरित्यतस्तुल्यलक्षणनित्यद्रव्यव्यावृत्तिहेतवो विशेषाः स्वीक्रियन्ते। एवं च सति तादृग्विशेषसिद्धावेतदात्मसिद्धिरेतदात्मज्ञप्तौ च विशेषज्ञप्तिरिति परम्पराश्रयत्वमित्यर्थः। अथानुमानादिप्रमाणान्तरेणैतदात्मादिरूपनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यधिगतिः; तर्हि विशेषकल्पनं मुधा। न च योगिनां प्रत्यक्षतया व्यावृत्त्यधिगत्यर्थं तत्कल्पनम्। पृथक्त्वेनैव तदुपपत्तेर्व-

---

स्वाश्रयप्रतियोगिक अन्योन्याऽभाववान् में अवृत्तित्व भी सामान्यों में रहता है। यदि कहें कि स्वाश्रयप्रतियोगिक भेदवान् में वृत्तित्वानधिकरणत्व विवक्षित है। वह सामान्य में नहीं है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि स्वशब्द से विशेष की विवक्षा करने पर आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि एतत् आत्मवृत्ति होता हुआ एतदन्य नित्यद्रव्यावृत्ति एतदात्मा का विशेष होता है, इसप्रकार से प्रतिव्यक्ति पृथक्-पृथक् विशेष का लक्षण विवक्षित है। तो यह कहना भी युक्त नहीं, इसप्रकार से अन्योन्याश्रय प्राप्त होता है। क्योंकि नित्य द्रव्यों के भेद के हेतुरूप विशेषों को वैशेषिक मानते हैं। अतः विशेष की सिद्धि होने पर नित्य द्रव्यों के भेद की सिद्धि हो सकती है (ज्ञान हो सकता है) और नित्य द्रव्यों के भेद के ज्ञान होने पर तद्वृत्तिविशेष का उक्त रीति से पृथक्-पृथक्

विशेषाधिगतिरिति कथं नान्योन्याश्रयः ? अन्यत एव चेद् भेदाधिगमस्तदा विशेषाधिगमो व्यर्थः स्यात् ।

आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सति नित्यमात्रसमवेतः सत्तारहितो विशेष इत्यपि न लक्षणम् , परममहत्त्वसामान्येऽतिव्याप्तेः । अस्ति हीदं परममहदिदं परममहदित्यनुवृत्तप्रत्ययबोध्या परममहत्परिमाणेषु परममहत्त्वं जातिः । न च तत्र व्यञ्जकाभावः, नित्यमहत्परिमाणस्यैव तद्व्यञ्जक-

---

क्षमाणत्वादित्यभिसन्धिराह—**अन्यत एव चेदिति** । किञ्चैतदात्मविशिष्टस्यैतल्लक्षणम् ? उपलक्षितस्य वा ? आद्ये विशेषणासिद्धिः । न ह्येतदात्मविशिष्टस्यैतदात्मवृत्तित्वं संभवति, अंशत आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । द्वितीये त्वसंभवः, एतदात्मोपलक्षितस्याप्येतदात्मवृत्तित्वाभावात्, तस्कस्य हेतोः ? तदपि ह्येतदुपलक्षितत्वविशिष्टं तदुपलक्षितं वा स्यात् । अन्त्येऽनवस्था । आद्ये फलतो विशेषणपक्षान्न विशेष इति ।

शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषयति—**आत्मत्वेति** । सत्तारहितो विशेष इत्युक्ते समवायाभावयोरतिव्याप्तिस्तदर्थं समवेत इत्युक्तम् । तथापि सामान्येतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रेत्युक्तम् । तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तिरत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सतीति । सत्तारहित इति द्व्यणुकादिव्यवच्छेदः । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**परममहत्त्वेति** । ननु परममहत्त्वं नाम न सामान्यमस्ति, प्रमाणाभावात्, इति तत्राह—**अस्तीति** । अनुवृत्तप्रत्ययस्यासति बाधके जातिविषयत्वमिति हि त्वदङ्गीकारः, स चात्राप्यस्तीत्यर्थः । परममहत्परिमाणं महत्त्वावान्तरजातिमान् महत्परिमाणत्वाद्धस्तवितस्त्यादिपरिमाणवदित्यनुमानादपि तत्सिद्धिरवगन्तव्या । ननु नात्र नियतव्यञ्जकमस्ति, नित्यपरिमाणत्वस्य पारिमाण्डल्यसाधारण्यादिति, तत्राह—**न च तत्रेति** । न नित्यपरिमाणत्वं व्यञ्जकमपि तु नित्यमहत्परिमाणत्वमिति भावः । ननु तर्हि तेनैव व्यञ्जकेनानुवृत्त-

---

ज्ञान होगा तो अन्योन्याश्रय कैसे नहीं होगा ? यदि अनुमानादि अन्य प्रमाणों से नित्य द्रव्यों के भेद का ज्ञान हो तो विशेष को मानना व्यर्थ होगा ।

आत्मत्व, मनस्त्व से भिन्न नित्यमात्र समवेत सत्तारहित विशेष कहाता है । यह लक्षण भी युक्त नहीं है । क्योंकि परम महत्त्वरूप सामान्य में इसकी अतिव्याप्ति होती है । यह परम महत् है, यह परम महत् है, इसप्रकार की अनुवृत्त (अनुगत) बुद्धि से ज्ञेय परममहत् परिमाण वालों में यह परममहत्त्व रूप जाति अवश्य है । यदि कहें कि उसमें व्यंजक का अभाव है, तो यह कहना युक्त नहीं, नित्य महत्परिमाण को ही उसका व्यञ्जकत्व है, तो उस परम महत्परिमाण से ही परममहद् व्यवहार की सिद्धि होते जाति की कल्पना व्यर्थ है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि व्यञ्जक को मानकर जाति के निराकरण करने पर

त्वात्। तर्हि तेनैव परममहद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था जातिकल्पनेति च न वाच्यम्; व्यञ्जकमादाय जातिनिरासे गोत्वादेरपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात्। न चैवं परमाणुत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्गः, तत्र पृथिवीत्वादिना परापरभावस्यानिरूपणात्। यदि पृथिवीत्वं परम्, तर्हि परमाणुत्वस्य पृथिवीत्वाव्यभिचारात् सलिलादिपरमाणुषु परमाणुत्वं न स्यात्। अथापरम्, तर्हि परमाणुत्वस्य परत्वे पृथिवीत्वं परमाणुत्वं न व्यभिचरेदिति सर्वा पृथिवी परमाणुरेव स्यात्, तेन न परमाणुत्वं जातिः, न चैवमत्र बाधकमस्तीति परममहत्त्वजातौ भवेदेवातिव्याप्तिः। नित्यमात्रसमवेतत्वं च किंचिन्नित्य-

---

व्यवहारसिद्धावधिकजातिकल्पना मुधेति तत्राह—तर्हीति। आभाससमानयोगक्षेमतामाशङ्क्य परिहरति—न चैवमिति। तत्र जातिसङ्करप्रसङ्गो बाधकः, नेह तथास्ति किंचिदित्याह--तत्रेति। परापरभावाभावमेव विवृणोति—यदीति। पृथिवीत्वस्य परत्वे तन्न्यूनवृत्तेः परमाणुत्वस्य तद्रहितसलिलपरमाणुषु वृत्तिर्न स्यात्, अस्ति च तदित्यर्थः। परमाणुत्वस्य परत्वे दूषणमाह—अथापरमिति। परमाणुत्वस्य परत्वेन तन्न्यूनवृत्तेः पृथिवीत्वस्य तद्रहितद्व्यणुकादिषु वृत्तिर्न स्यादित्यर्थः। समुदायदूषणमुक्त्वाऽवयवानिरूपणादपि दूषयति—नित्यमात्रेति। एकनित्यवृत्तित्वम्? सर्वनित्यवृत्तित्वं वा विवक्षितम्? आद्ये सर्वविशेषाव्याप्तिः। सर्वविशेषाणां एकनित्यद्रव्यवृत्त्यभावात्। द्वितीये न क्वापि संभवः, एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यावृत्तेरिति खण्डलकार्थः। एकनित्यद्रव्यवृत्तित्वमपि किमेकत्वनित्यत्वविशिष्टद्रव्यवृत्तित्वम्? तदुपलक्षितद्रव्यवृत्तित्वं वा? द्रव्यमात्रवृत्तित्वं वा? आद्ये संख्यानित्यत्वयोरपि विशेषाधारत्वप्रसङ्गादसंभवि लक्षणम्।

गोत्वादि जाति के निराकरण का प्रसङ्ग होगा। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि परममहत्त्व के समान, परम अणुत्व जाति के अभ्युपगम (स्वीकृति) की प्राप्ति होगी। क्योंकि उस परमाणुत्व में पृथिवीत्वादि के साथ परापरभाव के अनिरूपण (असिद्धि) से उसमें जातित्व नहीं सिद्ध हो सकती है। यदि पृथिवीत्व परमाणुत्व से हर (व्यापक) हो, तो परमाणुत्व को पृथिवी के साथ अव्यभिचार (नियत सम्बन्ध) से जलादि परमाणुओं में परमाणुत्व नहीं रहेगा और यदि पृथिवीत्व परमाणुत्व से अपर (व्याप्य) हो, तो परमाणुत्व के परत्व रहने पर, पृथिवीत्व परमाणुत्व को नहीं त्यागेगा, परमाणुत्वरहित में पृथिवीत्व नहीं रहेगा, अतः सब पृथिवी परमाणु ही होगी। अतः पृथिवी परमाणु में पृथिवीत्व परमाणुत्व के संकर होने से परमाणुत्व जाति नहीं माना जाता है और इस परममहत्त्व जाति में ऐसा कोई जातित्व का बाधक नहीं है। अतः उसमें उक्त विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ही। और उक्त लक्षण में, नित्यमात्र समवेतत्व का किञ्चिन्नित्य समवेतत्व,

समवेतत्वम् ? सर्वनित्यसमवेतत्वं वा ? उभयथापि लक्षणस्याव्याप्तिः। सर्वेषां विशेषाणां एकनिष्ठत्वाभावाच्च।

किं चात्र प्रमाणम् ? "समानजातिगुणकर्मकार्याः परमाणवोऽन्योन्य-व्यावर्तकधर्मसमवायिनः द्रव्यत्वात् गवादिवत्।" तथा "सत्ता सामान्य-समवायातिरिक्तभावासंसर्गिणो जातित्वाद्गोत्ववत्" इति लीलावतीका-

---

द्वितीयतृतीययोस्तु द्रव्यमात्रवृत्तित्वं स्यादुपरञ्जकस्य कार्यानन्वयात्। तथाच सर्वद्रव्य-सामान्येऽतिव्याप्तिः। तथा सत्ताविशिष्टे तज्ज्ञानसुखादावतिव्याप्तिः, तेषामप्युक्त-लक्षणत्वात्, सत्ताश्रयत्वं तत्रास्तीति चेन्नूनं बधिर इव भवानाभाति, कथमन्यथा सत्ताविशिष्ट इति विशेषणं शृण्वतः शङ्का स्यात् ? नहि सत्ताविशिष्टेऽपि सत्तास्ति, अंशत आत्माश्रयप्रसङ्गादिति। न च नित्यत्वानधिकरणासमवेतत्वं तदिति वाच्यम्, नित्यमात्रनिष्ठकार्यप्रतियोगिकप्रागभावप्रध्वंसयोर्व्यभिचारात्। न च भावत्वविशेषम्; पूर्वोक्तजातावतिव्याप्तेः।

किंच किमेतैर्लक्षणैर्लक्ष्यम्, द्रव्यादिपञ्चकम् ? उतातिरिक्तम् ? नाद्यः, असिद्धेः। नान्त्यः, तत्र प्रमाणाभावेनासिद्धत्वादित्यभिसंधिराह —**किंचात्र प्रमाणमिति**। श्रीवल्लभीयमनुमानद्वयं शङ्कते—**समानेति**। अत्र च जातिभिर्गुणैः कर्मभिस्तदार-ब्धकार्यैश्च व्यावर्तकैरर्थान्तरतापरिहाराय तैः समानताग्रहणम्। निरवयवद्रव्यत्वा-दिभिर्घटादिव्यावर्तकैरर्थान्तरतापरिहारायान्योन्येत्युक्तम्। गवादिषु च गोत्वादिना साध्यप्रसिद्धिः। **तथा सत्तेति**। भावासंसर्गिणीत्युक्ते सामान्यसमवायासंसर्गित्वसाध-नेन तत्सिद्धिपर्यवसानार्थान्तरता तथाऽसंसर्गिणीत्युक्तेऽभावासंसर्गित्वपर्यवसायितया-

---

या सर्वनित्य समवेतत्व, स्वरूप विवक्षित है। दोनों प्रकार के लक्षण की अव्याप्ति (असम्भव) है। अर्थात् प्रथम पक्ष में सब विशेषों में अव्याप्ति है, क्योंकि सब विशेष की एकनित्य द्रव्य में वृत्तित्व नहीं रहता है। दूसरे पक्ष में कहीं सम्भव नहीं है, एक-एक विशेष को सर्वनित्य द्रव्य में वृत्तित्व का अभाव है।

इस विशेष में प्रमाण क्या है ? अर्थात् प्रमाण का अभाव है। (समान, जाति गुण, कर्म और कार्य वाले परमाणु, परस्पर व्यावर्तक धर्म के समवाय वाले हैं, द्रव्य होने से, गौ आदि के समान) तथा (सत्ता, सामान्य समवायभिन्नभाव से असम्बन्ध (असमवाय) वाली है, जाति होने से, गोत्ववत्) यहाँ प्रथम अनुमान में जाति, गुण, कर्म और कर्मारब्ध कार्य भी व्यावर्तक होते हैं, जो उनके द्वारा अर्थान्तरता की व्यावृत्ति के लिये जाति आदि की समानता कही गई है, अन्योन्य व्यावर्तक धर्म होगा, वह विशेष होगा, और दूसरे अनुमान में जिस भाव से सत्ता में असम्बन्ध सिद्ध करना है, वह विशेष सिद्ध होगा। अतः ये लीलावतीकार से उद्भा-वित अनुमान विशेषार्थ में प्रमाण हैं, ऐसा यदि कहा जाय, तो कहना युक्त नहीं है,

रोन्नीतमनुमानं प्रमाणमिति चेत्, मैवम्; आद्यप्रयोगे पृथक्त्वेन सिद्धसाधनत्वात्। नच वाच्यम्—पृथक्त्वस्य पृथक्त्वान्तरसदृशत्वान्न ततो व्यावृत्तत्वबुद्धिसिद्धिः; या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धिः, सा न तत्सदृशधर्मकार्या, यथाश्वात्कुञ्जरस्य, तदणोरपि नाण्वन्तराद्व्यावृत्तबुद्धिः सदृशधर्मकार्या" इति;

र्थान्तरता, तदुभयनिवृत्त्यर्थं सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्युक्तम्। यस्माच्च भावात् सा व्यावर्त्यते सोऽन्त्यविशेषः। द्रव्यादित्रयासंसर्गित्वस्य व्याघातादिति। दूषयति—**मैवमित्यादिना**। अत्र किमयोगिनः प्रतिव्यावर्तकधर्मसमवायित्वं विवक्षितम्? योगिनः प्रति वा? नाद्यः; तेषां परमाणुसाक्षात्काराभावात्। द्वितीये तु योगिनः परमाणुव्यावृत्तिज्ञानमेव कुतः सिद्धम्? येन व्यावर्तकधर्मापेक्षा। अथ ब्रूयात् समानजातिगुणकर्मकार्याः परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकसमवायिधर्मविशिष्टबुद्धिविषया द्रव्यत्वाद् घटवदिति, तत्राह—**पृथक्त्वेनेति**। तदाह पातञ्जलः योगिविवेकजज्ञानविषयं दर्शयन् पृथक्त्वदूषणावसरे-'तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधिः जातिभेदश्चान्यत्वधीहेतुः' इति। तत्त्वसारटीकाकारोऽपि—इति सर्वभेदप्रत्ययस्यान्यथासिद्धेर्नान्त्यविशेषकल्पने'ति 'भूतचरेण देहसम्बन्धेन मुक्तात्मभेदो योगिबुद्धिगम्य उन्नेयः' इति च। इममपि दोषं स एव परिजहार—यत आह 'नच पृथक्त्वादिकमेव परमाण्वन्तरात्परमाणोर्व्यावर्तकबुद्धिजनकमस्तु, तस्य परमाण्वन्तरवृत्तिपृथक्त्वादिना सदृशत्वात्। या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धिः सा न तत्सदृशधर्मकार्या यथाश्वात्कुञ्जरस्य। तदणोरपि नाण्वन्तराद्व्यावृत्तिस्तत्सदृशधर्मकार्या' इति। तदेतदनूद्य निराचष्टे—**न च वाच्यमित्यादिना**। **न तत्सदृशेति**। तद्धर्मसदृशः धर्मस्तत्सदृशधर्मः। नच वाच्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**अयं विशेष इति**। एतेन नित्य-

निर्दोष अनुमान प्रमाण होता है, ये निर्दोष नहीं हैं। क्योंकि प्रथम प्रयोग में पृथक्त्व से सिद्ध साधनता है, पृथक्त्व ही परमाणुओं का व्यावर्तक धर्म है। यदि कहें कि पृथक्त्व को पृथक्त्वान्तर के साथ सदृशता होने से उससे व्यावृत्तत्व बुद्धि की सिद्धि नहीं हो सकती है, अर्थात् गो सदृश गवय है, क्योंकि गवय के सदृश गो है, इसके समान घट से पृथक् पट है, क्योंकि पट से पृथक् घट है, इसप्रकार से सादृश्य के समान पृथक्त्व भी अन्य पृथक्त्व के समान है तथा सापेक्ष है, और व्यावर्तक विशेष है, यह पदार्थ जाति आदि ऐसे नहीं होते हैं, क्योंकि जो जिस किसी से व्यावृत्त बुद्धि होती है वह तत्सदृश धर्म का कार्य नहीं होती है, जैसे की अश्व से कुञ्जर, (हाथी) की व्यावृत्त बुद्धि होती है, यह अश्ववृत्ति धर्म के सदृश धर्म से नहीं होती है, उन दोनों के व्यावर्तक अवयव जाति आदि सदृश नहीं रहते हैं, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, तब अणु की भी अण्वन्तर से व्यावृत्त बुद्धि सदृश धर्म रूप विशेष का कार्यात्मक नहीं हो सकेगी, विशेषों में भी यह विशेष है, यह विशेष

अयं विशेषोऽयं च विशेषः, इति विशेषेष्वपि सदृशबुद्धेः स्वीकारात्। द्वितीयोऽपि प्रयोगः—

आश्रयासिद्धिदुष्टत्वादप्रसिद्धविशेषणात्।
प्रमाणतामश्नुवीत न प्राभाकरभाट्टयोः ॥ १३ ॥

सत्ताजातेरनङ्गीकारात् प्राभाकरं प्रत्याश्रयासिद्धिरुदिता। एवं समवायस्य चानङ्गीकाराद्भाट्टं प्रति समवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्यप्रविद्धविशेषणः पक्षः। विशेषाख्यभावानभ्युपगमेऽपि तदसंसर्गित्वसिद्धेरर्थान्तरता च। किंच सामान्यसमवायातिरिक्तभावशब्देन द्रव्यगुणकर्मा-

---

द्रव्यव्यावृत्तिहेतवोऽन्त्यविशेषा इत्यपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम्। द्वितीयोऽपि प्रयोग इत्यस्य प्रमाणतां नाश्नुवीतेत्युत्तरश्लोकस्थपदेनान्वयः।

तत्र हेतुभूतानि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**आश्रयेति**। आश्रयासिद्धचप्रसिद्धविशेषणतयोर्यथायथं प्राभाकराणां भट्टानां च संबन्धः। इदमेव दूषणद्वयं विवृणोति—**सत्ताजातेरित्यादिना**। सर्वसाधारणं चार्थान्तरत्वं दूषणमाह—**विशेषाख्येति**। सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गित्वं साध्यमानं न नियमेन तत्सत्तां साधयति, तदभावेऽपि तदसंसर्गित्वोपपत्तेः। नहीदमसंसर्गित्वं नाम विभागः येन समवायिकारणतया तस्यापि सत्त्वमपेक्षेत। नच तदसंर्गित्वस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य धर्म्यपेक्षेति वाच्यम्। अत्यन्तासतोऽपि प्रतियोगित्वधर्मित्वयोरुपपत्तेरिति भावः। भङ्ग्यन्तरेणाप्रसिद्धविशेषणतामाह—**किंचेति**। अपसिद्धान्तापत्तिमेव दर्शं-

---

है, इसप्रकार से विशेषत्व रूप से सदृश बुद्धि का स्वीकार किया जाता है, अतः वह पृथक्त्व के समान ही व्यावर्तक नहीं होगा। और दूसरा प्रयोग (अनुमान) भी—

प्राभाकर और भाट्ट मत में आश्रयासिद्धि से दुष्ट होने के कारण, तथा अप्रसिद्ध विशेषणता से प्रमाणत्व को नहीं प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

अर्थात् सत्ता जाति को नहीं मानने पर प्राभाकर के प्रति आश्रयासिद्धि कही गई है (प्रकट हुई है) और इसीप्रकार समवाय के अनङ्गीकार से भाट्ट के प्रति, समवायातिरिक्त भावाऽसंसर्गिणी यह अप्रसिद्ध विशेषण (समवाय) वाला पक्ष हो जाता है। और विशेष नामक पदार्थ को नहीं मानने पर भी तदसंसर्गित्व की सत्ता में सिद्धि होने से अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अर्थात् विशेष पदार्थ द्रव्यमात्र वृत्ति हो, तो भी सत्ता जाति में नहीं रहने से सत्ता उसके असंसर्गिणी हो सकती है, और विशेष के अभाव से भी असंसर्गिणी हो सकती है। और उक्त अनुमान प्रयोग में, सामान्यसमवायातिरिक्त भाव, शब्द से द्रव्य, गुण, कर्म, कहे जाते हैं, या विशेष कहा जाता है, अथवा भावमात्र कहा जाता है। यहाँ आद्य पक्ष

व्यभिचोद्यन्ते ? किं वा विशेषाः ? भावमात्रं वा ? नाद्यः; अपसिद्धान्तापातात्, सत्ताया द्रव्यगुणकर्मसु वृत्तेः स्वयमङ्गीकृतत्वात्। न द्वितीयः, विशेषाणामद्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात्। नापि तृतीयः, विकल्पासहत्वात्। असंसर्गित्वपदेन किमसंसर्गितामात्रं विवक्षितम् ? उत संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वम् ? नाद्यः, सिद्धसाधनत्वात्, अतीतानागतव्यक्तिभिः सत्ताया अप्यसंसर्गित्वस्वीकारात्। नापि द्वितीयः; दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, गोत्वस्यापि किंचिद्भावसंसर्गित्वेन तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वाभावात्। आकाशं गुणसामान्यव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद्घटवदिति मान-

---

यति—**सत्ताया इति। अङ्गीकृतत्वादिति।** द्रव्यादीनां त्रयाणां सत्तासंबन्ध इति भाष्यमतस्तादृशभावात्सत्ताया व्यावृत्तिसाधनमयुक्तमिति भावः। ननु न विशेषात्मकभावादसंसर्गित्वं साधयामः; येनाप्रसिद्धविशेषणता, अपि त्वविवक्षितविशेषाद्भावमात्रादिति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति।** भावासंसर्गिणात्यन्तासंसर्गित्वाभावमात्रम् ? किंवा संसर्गित्वात्यन्ताभावः ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति।** तामेव विवृणोति—**अतीतेति।** भावमात्रादससर्गित्वमात्रं हि सत्तायाः सिसाधयिषितम्, तच्चातीतादिभ्यः सिद्धमिति न विशेषसिद्धिः, सिद्धसाधनं चेदमर्थान्तरत्वम्। साध्यवैकल्यमेव दर्शयति—**गोत्वस्यापीति।** बाधश्च द्रष्टव्यः। किंच सत्ता सामान्यसमवायविशेषातिरिक्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद् गोत्ववदित्यनुमानसंभवादाभाससमानयोगक्षेमत्वम्, विपक्षे बाधकतर्काभावाच्छङ्किता प्रयोजकता च। मानमनोहरकारीयमनुमानं शङ्कते—**आकाशमिति।** एतच्च तदीयविवादपदविवरणम्। एतच्च विभुद्रव्यमात्रोपलक्षणम्। समवायीत्युक्ते शब्दादिगुणस्य सामान्यस्य च समवायित्वेनार्थान्तरता, तदर्थं गुणसामान्यव्यतिरिक्तेत्युक्तम्। घटे च कर्मणा

युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अपसिद्धान्त = सिद्धान्तत्याग, की प्राप्ति होगी, सत्ता के द्रव्य, गुण, कर्म वृत्तित्व को वैशेषिक सिद्धान्त में स्वयं माना जाता है, उसका त्याग प्राप्त होगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि विशेषों के अभी असिद्ध होने से अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होती है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि यह विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि असंसर्गित्व पद से क्या असंसर्गित्व मात्र विवक्षित है, अथवा संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व विवक्षित है, वहाँ आद्य पक्ष अयुक्त है, क्योंकि सिद्धसाधनता प्राप्त होती है, अतीत अनागतभाव व्यक्ति के साथ सत्ता के भी असंसर्गित्व को माना ही जाता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में साध्यविकलता की प्राप्ति होती है, गोत्व को भी किसी भाव के साथ संसर्गित्व (गो-समवेतत्व) होने से संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व का अभाव रहता है। (आकाश, गुणसामान्य से अतिरिक्त के समवाय वाला है, द्रव्य

मनोहरकारोक्तमनुमानान्तरमस्तीति चेत्, मैवम्; प्राभाकरं प्रति शक्त्या सिद्धसाधनत्वात्, तेन शक्तेर्गुणसामान्यव्यतिरिक्ताया वियदाश्रयताश्रयणात्। समवायमनभ्युपगच्छतोर्भाट्टवेदान्तिनोरप्रसिद्धविशेषणत्वात्, वेगवत्त्वोपाध्युपहतत्वाच्च। तस्मान्न विशेषलक्षणमपि साधु।

नापि समवायलक्षणम्। तथाहि—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुर्यः संबन्धः स समवायः" इति समवायलक्षणपरं परेषां भाष्यम्। अस्य चायमर्थः—युतसिद्धिरुभयोरपि संबन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्, सा ययोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ, तयोः सम्बन्धः समवायः, यथा तन्तुपटयोः। तत्र यद्यपि तन्तवः स्वारंभकावयवाश्रिता-

---

साध्यसिद्धिः। आकाशे न तदभावाद्विशेषसिद्धिः। अस्यार्थान्तरत्वमाह—मैवमिति। शक्तिः पदार्थान्तरमिति हि गुरूणां मतम्, तत्समवायिप्रयुक्तं च दूषणमाह—भाट्टेति। व्याप्यत्वासिद्धिमाह—वेगवत्त्वेति। इदमप्याभाससमानयोगक्षेमम् शक्यतेऽनुमानुम्, आकाशं गुणसामान्यविशेषव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद्घटवदिति।

यं च समवायमवलम्ब्यामुकसमवाय्यमुकसमवायीति निरर्गलं जल्पसि, सोऽपि समवायो दुर्निरूपः इत्याह—नापि समवायेति। तत्र प्रशस्तपादोक्तं लक्षणमनुवदति—तथाह्ययुतसिद्धानामिति। भाष्यं व्याचक्षाणः कृत्स्नस्य तस्य लक्षणपरतां दर्शयति—अस्य चायमर्थ इति। तत्रायुतसिद्धेः युतसिद्धिज्ञानाधीनत्वं तावद्दर्शयति—युतसिद्धिरिति। ननु कथं तन्तुपटयोरयुतसिद्धिः? यावता पटसंबन्धिव्यतिरेकेण तन्तूनां स्वावयवाश्रितत्वमिति, तत्राह—तत्र यद्यपीति। उभयोः पृथगाश्रयाश्रितत्वं

होने से, घट के समान) यह मानमनोहरकार का कहा हुआ अनुमानान्तर विशेष में प्रमाण है। यदि ऐसा कहें, तो युक्त नहीं, क्योंकि प्राभाकर के प्रति शक्ति से सिद्ध साधनता की प्राप्ति होती है, क्योंकि प्राभाकर ने गुणसामान्य से भिन्न शब्दादि के अनुकूल शक्ति को आकाशाश्रित माना है। और समवाय को नहीं मानने वाले भाट्ट तथा वेदान्ती के प्रति अप्रसिद्ध विशेषणता है। और वेगवत्त्व उपाधि से अनुमान उपहत है। क्योंकि घटरूप दृष्टान्त में रहने से साध्य का व्यापक है, और (पक्ष) आकाश में नहीं रहने से साधन का अव्यापक वेगवत्त्व है। अतः विशेष का लक्षण भी साधु (सत्य) नहीं है।

समवाय का भी साधु (निर्दोष) लक्षण नहीं है। यह दर्शाया जाता है (अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः) यह समवाय के लक्षणपरक प्रस्तपाद का भाष्य है, और इसका यह अर्थ है कि दो सम्बन्धियों में भी परस्पर के त्यागपूर्वक पृथक्-पृथक् आश्रय के आश्रित रहना युतसिद्धि कही जाती है। वह पृथक् आश्रयवृत्तित्व जिन दोनों को नहीं हो, वह

स्तथापि पटस्य तन्त्वाश्रितत्वान्न द्वयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्। तेनानित्यानां द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिः, अयुतसिद्धिस्तु तद्विपरीता। नित्यानां तु पृथग्गमनयोगित्वं युतसिद्धिस्तद्विपरीतायुतसिद्धिः, यथाकाशद्रव्यत्वयोः। तत्रायुतसिद्धयोः संवन्ध इत्येतावति लक्षणे सुखस्य धर्मस्य च कार्यकारणभावसंम्वन्धोपि समवायः स्यात्। आत्मैकाश्रिततया

युतसिद्धिः। न चेह तथात्वम्, पटस्य सम्बन्धितन्तुव्यतिरिक्तनाश्रितत्वादित्यर्थः। फलितमाह—तेनेति। द्वयोरपि संबन्ध्यतिरिक्ताश्रयाश्रयित्वम्, युतसिद्धिस्तद्विपरीता अयुतसिद्धिरित्यर्थः। नन्वियं चेद्युतसिद्धिर्गतं तर्हि परमाणूनां युतद्धिया, भवितव्यं च तया, इतरथा परमाण्वोः संयोगाभावेन द्वयणुकादिकार्यानारम्भप्रसङ्गात्, सदातनभावप्रसङ्गात् द्वयणुकादेः अयुतसिद्धपरमाणुसंबन्धस्य सदातनत्वादित्यत आह—अनित्यानामिति। का तर्हि नित्यानां परमाणुमनसामाकाशादिभिः परस्परं च युतसिद्धिः? इति तत्राह—नित्यानां त्विति। यथाकाशद्रव्यत्वयोरिति। नहि तत्रान्यतरस्यापि पृथग्गतिमत्त्वमस्ति, यथाकाशपरमाण्वोरिति भावः। उक्तश्चायं विभागस्तदीयभाष्ये। सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्, इयं तु नित्यानाम्, अनित्यानां तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति। इदानीं श्रीधराचार्यरीत्या विशेषणानामुपयोगं दर्शयति—तत्रेत्यादिना। ननु कथं सुखधर्मयोरयुतसिद्धिरिति तां दर्शयति—आत्मैकेति। उभयोः परस्परानाश्रयत्वे सति परस्पराश्रयातिरिक्ताश्रयत्वं हि युतसिद्धिस्तद्राहित्यं चानयोरस्तीति भावः। इदं तु चिन्त्यम्—कथमनयोः परस्पराश्रयातिरिक्तानाश्रययोयुतसिद्धिरिति ? द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयि-

---

दोनों अयुतसिद्ध कहाते हैं, और उन दोनों का सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। जैसे कि तन्तु और पट का सम्बन्ध होता है। यद्यपि तन्तु, पट इन दोनों में से एक तन्तु स्वारम्भक अवयव के आश्रित रहते हैं, तथापि पट को तन्तु के आश्रितत्व होने से दोनों को परस्पर त्यागपूर्वक पृथक् आश्रय में वृत्तित्व नहीं रहता है। अतः अनित्यों में दो पदार्थों के पृथगाश्रयवृत्तित्व को युतसिद्धि कहते हैं। और उससे विपरीत अयुतसिद्धि होती है। और नित्य पदार्थों में पृथग् गमनयोगित्व युतसिद्धि कहाता है, उससे विपरीत अयुतसिद्धि होती है, जैसे आकाश द्रव्यत्व में अयुतसिद्धि रहती है। वहाँ (अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय होता है) इतना ही लक्षण कहा जाय, तो सुख और धर्म का कार्यकारणभावसम्बन्ध भी समवाय कहा जायगा। क्योंकि एक आत्मा के आश्रित रहने से उन दोनों में भी अयुतसिद्धत्व है। अतः इस अतिव्याप्ति को वारण के लिये कहा है कि (आधार्याधारभूताम्) इसप्रकार से सुख और धर्म के सम्बन्ध में अतिव्याप्ति के वारण होने पर भी

तयोरयुतसिद्धत्वात्तदर्थमाधर्याधारभूतानामिति पदम्। एवमप्याकाशस्याकाशपदस्य च वाच्यवाचकसंवन्धः समवायः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमिह प्रत्ययहेतुरिति पदम्। न हि तस्मात्संबन्धादिहेदमिति बुद्धिर्जायते; केवलाकाशस्यैव प्रतीतेः। आधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुरित्येतावति लक्षणे कुण्डवदरसंवन्धेऽतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमयुतसिद्धानामिति पदम्। तेन समस्तमेवेदं समवायलक्षणम्, इति कन्दलीकारः।

तदसत्—

न स्यादयुतसिद्ध्यादि समवायस्य लक्षणम्।
विशेषणविशेष्यत्वसंवन्धे व्यभिचारतः॥ १४॥

त्वाभावस्यैवायुतसिद्धत्वोपपत्तौ परस्परपरिहारविशेषणवैयर्थ्यात्। न च नित्यरीत्या, अनित्यत्वात्। तृतीयविशेषणकृत्यमाह—**एवमपीति**। अस्त्याकाशतद्वाचकाकाशादिपदयोरयुतसिद्धिराधाराधेयभावश्चाकाशविशेषगुणत्वात्तस्येति भावः। इत आरभ्य सिद्धान्तोपक्रमं निगदव्याख्यातम्। **कन्दलीकार इति**। किरणावलीकारपक्षे हि न समस्तमिदं भाष्यं लक्षणम्, अपि त्वयुतसिद्धानां सम्बन्ध इत्येतावत्। तेन च नित्यः सम्बन्ध इति लक्षणमुक्तं भवति। इह प्रत्ययहेतुरिति च तत्र प्रमाणोपन्यासः। इह प्रत्ययस्य च निर्विषयत्वेनासंभवपरिहारायाधाराधेयभूतानामिति विषयनिर्देश इति भाष्ययोजनेति भावः।

तदेतद्दूषयति—**तदसदिति**। अयुतसिद्धिं पुरस्कृत्य यदिदं लक्षणमुक्तं तन्न स्यात्। कुतः? विशेषणविशेष्यत्वसंबन्धे व्यभिचारादिति श्लोकयोजना। उत्तरार्ध

आकाश और आकाश पद का जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है, वह समवाय होगा, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, उसकी निवृत्ति के लिये, इह प्रत्यय हेतु, यह पद लक्षण में कहा है। वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से (यह यहाँ है), आकाश में आकाश शब्द है, ऐसी प्रतीति नहीं होती है, किन्तु केवल आकाश की प्रतीति होती है (आधार्य आधार स्वरूपों इह = अत्र प्रत्यय का हेतु) इतना ही लक्षण करने पर, कुण्ड = कुण्डे और बदर = बेर के सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि कुण्डे में रखे बैर के संयोग में लक्षण संघटित होता है, अतः अयुतसिद्धानाम्, यह पद कहा गया है, कुण्ड और बैर युतसिद्ध पदार्थ हैं। अतः यह समस्त ही यह भाष्यसमवाय का लक्षण है। यह कन्दलीकार कहते हैं।

परन्तु यह लक्षण असत् (असाधु) है। क्योंकि—

विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध में व्यभिचार = अतिव्याप्ति, से समवाय के अयुतसिद्धि आदि लक्षण नहीं हो सकते हैं॥ १४॥

इह भूतले घटाभाव इति विशेषणविशेष्यभावलक्षणेऽपि संबन्धे लक्षणस्यातिव्याप्तिः। अस्ति हि तत्रायुतसिद्धिर्भूतलघटाभावयोः, भूतलस्य स्वावयवाश्रितत्वेऽप्यभावस्य भूतलातिरिक्ताश्रयाभावात्। अस्ति चाधार्याधारभाव इह प्रत्ययश्च। अथ भावयोरीदृशः सम्बन्धः समवायः, तथापीह पटे रूपसमवायो रूपसमवायवान् पट इति विशेषणविशेष्यभावे लक्षणस्यातिव्याप्तिः, उक्तलक्षणस्य तत्रापि संभवात्। अथ गुणगुणिनोः क्रियाकारकयोरवयवावयविनोर्जातिजातिमतोर्विशेषतद्वतोश्च यः संबन्ध उक्तरूपः समवाय

विवृणोति—**इह भूतल इति**। ननु यद्यपि तयोराधाराधेयभावः प्रतीयते, तथापि कथमयुतसिद्धिरिति ? तत्राह—**अस्ति हीति**। अन्यतरस्य पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावे भवत्येवायुतसिद्धिरिति भावः। निगदव्याख्यानेन ग्रन्थेन लक्षणविशेषं तत्र वर्तयति—**अस्ति चेति**। विशेषणान्तरं शङ्कते—**अथेति**। तथापि भावरूपगुणगुण्यादिनिष्ठसमवायसमवायिगतविशेषणविशेष्यभावेऽतिव्याप्तिरित्याह—**तथापीति**। शङ्कते—**अथ गुणगुणिनोरिति**। क्रियाकारकयोः; कर्मतद्वतोरित्यर्थः। ननु किमनेनाधिकरणमाशङ्क्यते ? यावतात्रैव पूर्वमप्यतिव्याप्तिरुदीरितेति, सत्यम्; दुष्टोऽस्याभिप्रायः। स चाभिप्रायदोषोऽनन्तरमेवाविर्भविष्यति। पञ्चसु हि स्थलेषु समवायसंभवत्स्वेतेषूक्तविधः संबन्धः समवायः, विशेषणविशेष्यभावस्त्वतिरिक्तेष्वपि व्यवहारप्रसक्तेति नातिव्याप्तिरिति भावः। तथाप्युक्तातिव्याप्तितादवस्थमिति परिहरति—

अर्थात् इस भूतल में घट का अभाव है, इस प्रतीति के विषय, विशेषणविशेष्यभाव स्वरूपसम्बन्ध में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति है, क्योंकि वहाँ भूतले घटाभावः की भी अयुतसिद्धि है, क्योंकि भूतल के स्वावयव आश्रित होने पर भी भूतल वृत्ति अभाव को भूतलातिरिक्त आश्रय का अभाव है, और आधार्याऽऽधारभाव भी है। और इह (अत्र) ऐसा ज्ञान भी होता है। यदि कहें कि भावपदार्थों का ऐसा सम्बन्ध समवाय होता है। भावाऽभाव का नहीं। तो भी (इह पटे रूपसमवायः, रूपसमवायवान् पटः) इस पट में रूप का समवाय है, रूप के सम वाला पट है। यहाँ प्रथम प्रतीति में पट विशेषण है, और समवाय विशेष्य है, दूसरे में विपरीत है परन्तु विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति है, क्योंकि उक्त लक्षण उसमें भी है। यदि कहें कि, गुणगुणी, क्रियाकारक, अवयव-अवयवी, जाति-जातिमान्, और विशेष-विशेषवान्, इनका ही जो परस्पर उक्त लक्षण वाला सम्बन्ध होता है, उसको समवाय कहा जाता है, तो भी अदुष्ट लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि उनके ही परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव रूप सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है। यदि कहें कि उनमें समवाय और

इति चेत्, न, तेषामेवान्योन्यविशेषणविशेष्यभावेऽतिव्याप्तेः। तत्र समवायस्यैवेह प्रत्ययहेतुत्वं नेतरस्येति चेत्, न; एवमपीहाकाशे शब्द इत्यत्रेहशब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धे इह प्रत्ययहेतावतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात्। तत्र हि गुणगुणिनोराधार्याधारभूतयोरयुतसिद्धयोरिह प्रत्ययहेतुरिहेतिशब्दाकाशयोरस्ति वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धः। किंचाधार्याधार-

---

न; तेषामेवेति। योऽसावभिप्रायदोषः पूर्वमुद्घृतस्तमुद्गिरन् पर्यनुयुङ्क्ते-तत्र समवायस्यैवेति। यद्यपीह पटे रूपमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावोऽप्यस्ति, तथापि नासाविह प्रत्ययहेतुः, तत्कस्य हेतोः? अमुख्यत्वात्। औपचारिकः खल्वयं विशेषणविशेष्यभावः संबन्धः। न च मुख्यसंभवेऽप्यौपचारिकाश्रयणं युक्तम्। न खलु बलवर्मणि क्रौर्यशौर्यरोषविस्तृततरोन्नद्धस्कन्धादिगुणयोगात्सिंहशब्दः प्रवृत्तः सिंहेऽपि तन्निमित्तः प्रयुज्यते, अस्ति हि तदिति, तस्मात्समवाय एव तत्र हेतुरिति। अत्र तावदिदं वक्तव्यम्—कथं विशेषणविशेष्यभावस्यौपचारिकत्वमिति? नियामकत्वं वा? संबद्धबुद्धिजनकत्वं वा संबन्धत्वम्? तच्च सर्वं संयोगादिभ्यो विशेषणविशेष्यभावस्य न विशिष्यते। न च मूलसंबन्धापेक्षत्वादौपचारिकत्वम्; संयोगस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। न च मूलसंबन्धाभावादौपचारिकत्वम्, सर्वत्रासिद्धेः, समवायेऽपि तथाभावप्रसङ्गाच्च। तदेतदपिना सूचयन्दूषणान्तरमाह—एवमपीति। यद्यप्याकाशवाचकपदमात्रवाच्यवाचकभावस्येह प्रत्ययहेतुत्वं नास्ति, तथापीहाकाशे शब्द इत्यत्रेह शब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धेऽतिव्याप्तिः स्यादित्यर्थः। एतदेव विवृणोति—तत्र हीति। गुणगुणिनोरिति। इहेतिशब्दाकाशयोरित्यर्थः। न च तत्रापि समवाय एवेह प्रत्ययहेतुर्न वाच्यवाचकभाव इति वचनीयम्, तथा सति अगृहीतसंगतिकामनामपीहेति पदश्रवणादिहेति बुद्ध्युदयप्रसङ्गात्। अस्ति हि समवाय इति। किंचाधाराधेयभूतानामिति विशेषणं व्यर्थम्; इह प्रत्ययहेतुरित्यनेनैवाधार्याधारभावस्यापि सिद्धत्वादित्याह—किंचेत्यादिना। उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ।

विशेषण-विशेष्यभाव के रहते भी समवाय को ही इह प्रत्यय का हेतुत्व रहता है, अन्य को नहीं। तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर भी (इह आकाशे शब्दः) इस आकाश प्रदेश में शब्द है। यहाँ इह शब्द का और आकाश का जो वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है, वह इह प्रत्यय का हेतु है, उसमें अतिव्याप्ति तदवस्थ है। क्योंकि इह शब्दरूप गुण आकाशरूप गुणी परस्पर आधार्य आधारस्वरूप है, और अयुतसिद्ध हैं, उन इह इस शब्द और आकाश का इह प्रत्यय का हेतु वाच्य-वाचकस्वरूप सम्बन्ध है। अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी। और उक्त लक्षण में (आधार्य-आधारभूतानाम्) यह विशेषण व्यर्थ है।

भूतानामिति व्यर्थं विशेषणम्। अयुतसिद्धयोरिह प्रत्ययहेतुः सम्बन्ध इत्येतावत्यपि लक्षणे भवतामव्याप्त्यतिव्याप्त्याभावात्, अनाधार्याधारभूतयोरिह प्रत्ययस्यैवानुदयात्। अस्तु तर्ह्येतावल्लक्षणमिति चेत्, न; तत्रापि प्रागुक्तवाच्यवाचकसंबन्धेऽतिव्याप्तेः।

भवतु तर्ह्यर्वाचीनमतानुसारेण नित्यः सम्बन्धः समवाय इति लक्षणमिति चेत्, न; विशेषणविशेष्यभाव एव व्यभिचारात्। सोऽनित्यः प्रतियोगिनोरनित्यत्वादिति चेत्, तथापि नित्यप्रतियोगिकविशेषणविशेष्यभावे व्यभिचारस्य तुल्यत्वात्, प्रतियोगिनोरनित्यत्वेन संबन्धानित्यत्वापादनस्य

लक्षणान्तरं शङ्कते—**भवत्विति**। एतच्चैतद्व्याप्यार्थतयोदयनेन समर्थितं लक्षणम्, तदेव श्रीवल्लभवादिवागीश्वरसर्वदेवानां संमतं लक्षणम्। अत्र च संयोगव्यवच्छेदाय नित्यग्रहणम्। आत्मादिव्यवच्छेदाय संबन्धग्रहणम्। ननु न विशेषणविशेष्यभावे लक्षणप्रसक्तिः, तस्य नित्यत्वाभावात्। घटतद्रूपादिप्रतियोगिको ह्ययं संबन्धः, स च प्रतियोग्यनित्य इत्यनित्य एवायमिति शङ्कते—**सोऽनित्य इति**। तत्रायमेकोऽनेको वा? एकत्वे नित्यवृत्तित्वोभान्नित्यत्वमस्यापि वक्तव्यम्, तथा च तत्रातिव्याप्तिः। अनेकत्वे प्राह—**तथापीति**। न खलु सर्वत्रानित्ययोरेव विशेषणविशेष्यभावः, नित्यानामप्यात्मतज्जातिप्रभृतीनामात्मत्वजातिमानित्यादौ विशेषणविशेष्यभावदर्शनात् ततश्च तत्र न प्रतियोगिद्वाराप्यनित्यत्वमित्यर्थः। किंचानित्यप्रतियोगिस्थलेऽपि न विशेषणविशेष्यभावस्यानित्यता, समवायेऽपि तथाभावप्रसङ्गादित्याह—**प्रतियोगिनोरिति**। शिवादित्यमतं शङ्कते—

क्योंकि (अयुतसिद्धों का इह प्रत्यय का हेतु सम्बन्ध समवाय है) इतना ही लक्षण करने पर, इह प्रत्यय हेतु इससे आधार्य-आधारभाव का लाभ हो जाता है, अतः आप के मतानुसार अतिव्याप्ति-अव्याप्ति का अभाव रहता है। क्योंकि अनाधार्य आधार स्वरूप सुख-धर्मादि में इह प्रत्यय का उदय नहीं हो सकता है। यदि कहें कि (इतना ही लक्षण रहे) तो यह नहीं कह सकते हैं। क्योंकि इस लक्षण के मानने पर भी पूर्वोक्त वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति रहती है।

अर्वाचीन (नवीन) मतानुसार जो नित्य सम्बन्ध समवाय कहा जाता है, यह लक्षण रहे, यदि ऐसा कहें, तो कहा जाता है, कि, यह लक्षण भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि विशेषण-विशेष्यभाव में ही इसका व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है। यदि कहें कि अनित्य घटादि और उनके रूपादि प्रतियोगियों के अनित्य होने से उनका वह विशेषण-विशेष्यभाव भी अनित्य होगा, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो कहा जाता है कि अनित्य प्रतियोगिक के अनित्य होने भी, नित्यप्रतियोगी, परममहत्त्व आत्मादि के विशेषण-विशेष्यभाव में अतिव्याप्ति तुल्य ही है। और प्रतियोगी के अनित्यत्व से सम्बन्ध के अनित्यत्व का आपदन (आपत्ति)

समवायेऽपि समानत्वाच्च। भावरूपत्वे सतीति विशेषणादयमदोष इति चेत्, न; अजसंयोगे व्यभिचारात्। स एव नास्तीति चेत् मेवम्; प्रमाणसिद्धत्वात्—आकाशमात्मना संयुज्यते संयोगित्वाद्धटवत्। न च क्रियावत्त्वमूर्तत्वादिरुपाधिः; तद्व्यतिरेकेऽसंयोगित्वस्यैवोपाधित्वात्। किंचाकाशमा-

---

भावरूपत्वे सतीति। तथाप्यजसंयोगेऽतिव्यापकम्, स हि विभुद्रव्यसंयोगत्वान्नान्यतरोभयकर्मभ्यां जायते, नापि संयोगजः, कारणाकारणसंयोगाज्जायमानः खलु कार्याकार्यसंयोगः संयोगजसंयोगः। न च विभुद्रव्यसंयोगस्यैवंभावः, तेषामकारणत्वेन तत्संयोगस्य कारणाकारणसंयोगजन्यत्वाभावादतस्तत्रातिव्याप्तिरित्याह—**नाजसंयोग इति।** नन्वजसंयोग एव नास्ति प्रमाणाभावाद्यथाह भाष्यकारः—'नाजः संयोगोऽस्ति नित्यपारिमाण्डल्यवत्पृथगनभिधानात्' इति। तदेतच्छङ्कते—**स एवेति।** विभुद्रव्ययोरपि संयोगेऽनुमानं मानमाह—**आकाशमिति।** इदमनुमानमाशङ्क्य मानमनोहरकारो दूषयामास। "तत्र क्रियावत्त्वस्य मूर्तत्वस्य परत्वापरत्वयोर्वोपाधेः, आत्माकाशेन न संयुज्यते अमूर्तत्वाद्रूपादिवत्" इति ब्रुवाणः। तत्रोपाधिं दूषयति—**न चेति।** उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि व्याप्तिरेष्टव्या, अन्यथा साध्याव्यापकत्वप्रसङ्गात्, सा च नास्ति, सोपाधिकत्वादित्याह—**व्यतिरेक इति।** रूपादावमूर्तत्वात्मसंयोगित्वाभावयोर्व्याप्त्यावसंकोचित्वमुपाधिस्तथा च व्यतिरेकव्याप्तिभङ्गात् साध्योपाध्योरपि व्याप्तिभङ्ग इत्यर्थः। एतेन मानमनोहरोक्तं प्रत्यनुमानमपि निरस्तम्। स्पष्टं च साध्यव्यापक उपाधिः। आत्मना संयुज्यते इति कोऽर्थः? आत्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वानाक्रान्तसंयोगाधिकरणमिति। तथाच कथं मूर्तत्वादिरुपाधिः संभवति? आत्मन्येव साध्याव्याप्तेः। यच्च तेन स्वानुमानेऽद्रव्यत्वमुपाधिमाशंक्योक्तमाकाशे तदभावेन साध्याव्याप्तेरिति, तदप्येवं साध्यव्याख्याने क्रियमाणे निरवकाशम्, उपाधिवदेव साध्यस्याप्याकाशेऽभावेन साध्यव्याप्तेरीक्ष्यमाणत्वात्। मूर्तत्वं च पक्षेतरत्वान्नोपाधिः। तथाहि—परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्तत्वम्, तत्र,

---

तो समवाय में भी तुल्य है। यदि कहें कि (भावस्वरूप होता हुआ नित्यसम्बन्ध समवाय होता है) इसप्रकार से भावत्व विशेषण से विशेषण-विशेष्यभाव में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि विशेषण-विशेष्यभाव भावरूपत्व नहीं रहता है, किन्तु भेदस्वरूप होने से अभावत्व रहता है, नीलादि गुणों से बोधित भेद ही घटादि में विशेष्यता होती है, और वही भेद ज्ञापकतासम्बन्ध से नीलादि में विशेषणता रूप होता है। तो कहा जाता है कि भावरूपत्व विशेषण देने पर भी दोषाभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि अब भी अजसंयोग (नित्य पदार्थों के संयोग) में अतिव्याप्ति है। यदि कहें कि यह अजसंयोग ही नहीं है कि जिसमें अतिव्याप्ति होगी। तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि (आकाश, आत्मा के

त्मना संयुज्यत इत्यात्मसंवन्धाधार इति साध्ये क्रियावत्वमूर्तत्वयोरुपाधित्वमेव नास्ति, आत्मनि साध्याव्याप्तेः। तस्मादुक्तयुक्त्या न समवायस्य लक्षणसंभवः।

परिमाणवत्त्वमित्यनेनैव साध्यव्याप्तिसिद्धौ परिच्छिन्नग्रहणं पक्षीकृताकाशतत्तुल्यविभुद्रव्यव्यावृत्त्यर्थमिति कथं न पक्षेतरः ? सोऽयमविदितस्वपरसाध्यसतत्त्वो निर्विषयानेव दूषणाभासानाहोपुरुषिकयैव भाषमाणो 'निमित्तादपराद्धेपोर्धानुष्कस्येव वल्गितम्' इति न्यायविषयतां नातिवर्तते। नित्यत्वानिरूपणाच्च तद्विशिष्टलक्षणासिद्धिः। तथाहि—तत्किं ध्वंसाप्रतियोगित्वम् ? स्वध्वंसाप्रतियोगित्वं वा ? आद्ये संयोगेऽतिव्याप्तिः; तस्यापि यत्किंचिद्ध्वंसाप्रतियोगित्वात्। नेतरः, आत्माश्रयात्, प्रतियोगिध्वंसादेश्चानिरूपणात्। किंच—

तत्तल्लक्षणवल्लक्ष्ये तत्तल्लक्ष्म न विद्यते।
आत्माश्रयादतोऽव्याप्तिस्तेषु स्यात् सर्वलक्ष्मणाम् ॥ १ ॥
नच तेषामलक्ष्यत्वं पट्पदार्थातिरेकतः।
नचात्यन्तमसत्त्वं तद्बुद्धेर्बाधाद्यभावतः ॥ २ ॥
नाभाववर्गनिक्षेपः तेषामप्रतियोगिनः।
प्रतियोग्यनिरूप्यस्याभावता नातिसक्तितः ॥ ३ ॥

किंच—'तत्तत्कालेषु लक्ष्माणि वर्तेरन् वा न वा वद।
वर्तेरन् यदि च तत्तत्कालेऽतिव्याप्तिरापतेत् ॥ ४ ॥
न चेत्तदा तदा स्वेषु लक्ष्येष्वव्याप्तिरक्षता।
न च तत्समवायित्वं तत्तद्धर्मेष्वसंभवात् ॥ ५ ॥

नित्यः संबन्ध इति लक्षणं किं संप्रतिपन्नसंयोगादिसंबन्धस्य ? तदतिरिक्तस्य कस्यचिद्वा ? नाद्यः; अपसिद्धान्तापातात्।

साथ संयुक्त होता है, संयोगी होने से, घटवत्) इस अनुमान प्रमाण से अजसंयोग सिद्ध होता है। यदि कहें कि क्रियावत्त्व मूर्त्तत्वादि इस अनुमान में उपाधि है, तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि साध्यव्यापक उपाधि से, उस उपाधि के अभाव द्वारा साध्याभाव के बोधन कराने पर उपाधि रहती है, प्रकृत में जहाँ मूर्तत्व-क्रियावत्त्व का अभाव है, वहाँ रूपादि में आत्मसंयोगित्व का अभाव है, इस व्यतिरेकव्याप्ति में असंयोगित्व उपाधि हो जाता है; अतः व्यतिरेकव्याप्ति के अभाव से साध्य उपाधि में व्याप्यव्यापकभाव नहीं सिद्ध होता है। और दूसरी बात है कि (आकाश, आत्मा के साथ संयुक्त होता है) इसका अर्थ है कि आत्मसम्बन्ध का आधार आकाश है, और वही आधारत्व साध्य है, वहाँ क्रियावत्त्व मूर्तत्व को उपाधित्व नहीं हो सकती है, क्योंकि आत्मा में साध्य का व्यापक मूर्त्तत्वादि नहीं हो सकते हैं, अतः उक्त युक्ति से समवाय के लक्षण का सम्नव नहीं है।

प्रमाणमपि तत्र प्रत्यक्षम्? अनुमानं वा? नाद्यः; तदभवात्। इह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षमस्तीति चेत्, न; विचारासहत्वात्। समवायो ह्याधारबुद्धि कुर्याद्? आधेयबुद्धि वा? उभयबुद्धि वा? सर्वथापि नोपपद्यते। तन्तुपटयोरुभयोरप्याधारबुद्धेराधेयबुद्धेरुभयबुद्धेश्चाविशेषेण प्रसङ्गात्। जातिजातिमन्तौ मिथःसम्बद्धावित्यस्त्येवानुभवान्तरमिहेति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—अस्मिन्ननुभवे समवायस्तदीयत्वेन वान्यदीयत्वेन वा स्वरूपेण वा प्रथत इति वक्तव्यम्? नाद्यः; तदीयत्वस्य संवन्धान्तरायत्तत्वेनानवस्थापातात्। न द्वितीयः; अन्यत्रैव संवन्धबोध-

---

न द्वितीयः; तस्मिन् प्रमाणाभावादित्यभिसन्धिराह—**प्रमाणमपीति**। ननु किमिति प्रमाणाभावः? प्रत्यक्षस्य सत्त्वादिति शङ्कते—**इह तन्तुष्विति**। यथाहि—तन्तुबुद्धेः पटः बुद्धेश्च विषयतया हेतुभूतौ तन्तुपटौ प्रतीयेते, तथेहेति बुद्धेर्जनकतया समवायोऽपि प्रतीयते इत्यभिमानः प्रत्यक्षवादिनः। दूषयति—**नेति**। पक्षत्रयेति दूषणमाह—**तन्तुपटयोरिति**। आधारबुद्धिमात्रजनकत्वे इह तन्तुषु पटेषु इत्युभयत्राप्याधारबुद्धि कुर्यात्। द्वितीये तु तन्तवः पटे वर्तन्त इत्याधेयबुद्धिमेव कुर्यात्। तृतीये तु तन्तुष्वाधाराधेयबुद्धि पटेऽप्याधाराधेयबुद्धि कुर्यादित्यर्थः। अविशेषेणोभयबुद्धेरिति चान्वयः। प्रत्यक्षान्तरं शङ्कते—**जातिजातिमन्ताविति**। **तदीयत्वेनेति**। जातिजातिमदधीनत्वेनेत्यर्थः। **स्वरूपेण चेति**। अपराधीनतया वेत्यर्थः। **नाद्य इति**। तत्संबन्धं विना तदीयत्वानुपपत्तेः समवायस्यापि संबन्धान्तरवत्त्वेऽनवस्था स्यादित्यर्थः। अनवस्थापि द्वितीयपक्षे द्रष्टव्या। प्रथमपक्षेऽनवस्था-

---

उन समवाय में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण है, प्रत्यक्ष तो नहीं है, समवाय विषयक प्रत्यक्ष का अभाव है। यदि कहें कि इन तन्तुओं में पट है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान समवाय में प्रमाण है, क्योंकि तन्तु और पट की तन्तुपट शब्द से प्रतीति होती है, और (इह तन्तुषु पटः) इसमें इह शब्द से समवाय की प्रतीति होती है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि, (इह तन्तुषु पटः) यह विचारासह है। विचार है कि इस प्रतीति में समवाय आधार ज्ञान को सिद्ध करेगा, या आधेय बुद्धि को, अथवा दोनों बुद्धि को सिद्ध करेगा। सर्वथा इसका उपयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि तन्तु पट दोनों के सम्बन्ध स्वरूप होने से दोनों में आधार बुद्धि या आधेय बुद्धि या उभय बुद्धि को तुल्य रूप से उत्पन्न करेगा, ऐसा प्राप्त होता है। भाव है कि सप्तमी विभक्ति से तन्तु में आधारता प्रतीति होती है, तत्साहचर्य से पट में आधेयता प्रथमा से प्रतीत होती है, यह समवाय का फल नहीं हो सकता है। यदि कहें कि (जाति और जाति वाले परस्पर सम्बन्ध वाले हैं) यह दूसरा अनुमान समवाय में प्रमाण है, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि यह अनुमान विकल्पासह है। विकल्प यह है कि इस अनुमान में समवाय, तदीयत्वेन (जाति-

प्रसङ्गात्। न तृतीयः; क्वचिदपि संवन्धप्रत्ययानुपपत्तेः। असत्येव संवन्धे तदीयत्वमनुभवसिद्धमिति चेत्, न; जात्यादेरप्यसत्येव संवन्धे तदीयत्वानुभवप्रसङ्गात्, असत्ख्यातिप्रसङ्गाच्च। असत्येव संवन्धे संवन्धिभ्यां निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारे जातेरपि संवन्धान्तरमन्तरेण व्यक्त्या निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारप्रसङ्गः। नानुमानमपि; लिङ्गाभावात्। विवादा-

---

परिहारं शङ्कते—**असत्येव सम्बन्ध इति**। इह यदि गोत्वमित्यादौ तदीयत्वेनैव समवायः प्रतिभाति। न च तावता संबन्धवत्त्वम्; अप्रतीतेः। न च संबन्धाभावे तदीयत्वबुद्ध्यभावः, जातिव्यक्तिसमवायबुद्धीनामेव स्वभाववशात्तदीयत्वव्यवहार-जनकत्वादिति भावः। एवं तर्हि समवायोऽपि न सिद्ध्यति, तत्तत्स्थलेऽपि संबन्धि-बुद्धिभिरेव जात्यादीनां तदीयत्वबुद्धिसंभवादिति दूषयति—**न जात्यादेरपीति**। दूषणान्तरमाह—**असत्ख्यातीति**। यदि हि संबन्धव्यतिरेकेण तदीयत्वं प्रतीयते, तदा सम्बन्धाभावे एव तत्संबन्धित्वप्रतीतिरित्युक्तं स्यात्, ततोऽन्यत्र सदन्यत्र प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातित्यागः असत्ख्यातिस्वीकारश्च स्यात्। न चान्यत्र सतः समवायस्य तत्र प्रतीतिः, अन्यथापि तदभावस्यापादितत्वादिति भावः। विषया-भावे जायमानशुक्तिरजतसंसर्गप्रत्ययवद्भ्रान्तित्वं वा असत्ख्यातित्वम्। ननु सम-वायस्य समवायिभ्यां यदिदं निरूप्यत्वं तत्कृतेयं तदीयत्वख्यातिस्तेन नासत्ख्याति-प्रसङ्गः, निरूप्यनिरूपकभावस्यैव तदालम्बनत्वादिति, तत्राह—**असत्येवेति**। तदेवं प्रत्यक्षं दूषयित्वाऽनुमानं दूषयति—**नानुमानमिति**। अनुमानं शङ्कते—**विवादेति**। इह पटे रूपसमवाय इत्यादीहप्रत्यये बाधपरिहाराय विवादाध्यासितग्रह-

---

व्यक्ति अधीनत्वेन) जाति आदि के सम्बन्धित्व रूप से, या अन्यदीयत्व = अन्य-सम्बन्धित्व रूप से, अथवा स्वरूप से = अपराधीन = स्वतन्त्र रूप, से प्रतीत होता है। वहां प्रथम पक्ष युक्त नहीं क्योंकि तदीयत्व = तत्सम्बन्धित्व, सम्बन्धान्तराधीन होने से अनवस्था की प्राप्ति होती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि उस रीति से जाति जातिमान से अन्य में ही समवाय सम्बन्ध का बोध प्राप्त होगा। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि समवाय के स्वरूप से स्वतन्त्रमान होने पर किसी अनुयोगी-प्रतियोगी में उसका सम्बन्ध रूप से ज्ञान नहीं होगा। यदि कहें कि जातिव्यक्ति का समवाय के साथ सम्बन्ध के नहीं रहते भी सम्बन्धी जाति व्यक्ति के सम्बन्धित्व अनुभव समवाय में सिद्ध है। इससे अनवस्था प्रथम पक्ष में नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि इसप्रकार से जाति आदि के व्यक्ति आदि के सम्बन्ध के नहीं रहने भी तदीयत्वानुभव की प्राप्ति होगी। और असत् ख्याति की भी प्राप्ति होगी। और समवाय को अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध के नहीं रहते भी सम्बन्धियां से निरूपण (ज्ञान) होने से तदीयत्वेन (तत्सम्बन्धि-त्वेन) समवाय में व्यवहार होता हो, तो जाति के भी सम्बन्धान्तर (समवाय)

व्यासित इह प्रत्ययः सम्बन्धपुरःसरोऽबाधितेहप्रत्ययत्वादिह कुण्डे बदराणीतिप्रत्ययवदित्यनुमानमस्तीति चेत्, न, विशेषणविशेष्यभावाधाराधेयभावसंबन्धादिना सिद्धसाधनत्वात्। विशेषणविशेष्यादेरेव मूलसंबन्धपुरःसरत्वं सिषाधयिषितमिति न सिद्धसाधनत्वमिति चेत्, न; इह भूतले घटाभाव इत्यस्मिन्नेव विशेषणविशेष्यभावप्रत्ययेऽनैकान्त्यात्।

णम्। जात्यादिप्रतियोगीत्यर्थः। इह शङ्खे पीतमित्यादिप्रत्ययेषु व्यभिचारपरिहारायाबाधितग्रहणम्। असंबद्धपदाप्रत्ययव्यवच्छेदाय इति विशेषणम्। तथा च कुण्डबदरादिवज्जातिषु संयोगासंभवात् समवायसिद्धिरित्यर्थः। नेदं समवायसाधकम्, जात्यादेर्विशेषणविशेष्यभावादिसाधकतयाप्यर्थान्तरत्वादिति परिहरति—न, विशेषणेति। नन्विह प्रत्ययस्य संबन्धपुरस्सरत्वमनुमिन्वतामयमभिप्रायः—यत्तत्र्यविशेष्यभावस्य मूलभूतः सेऽस्यतीति शङ्कते—विशेषणविशेष्यादेरिति। तत्किमिदानीं जात्यादिगोचरो विशेषणविशेष्यभावः संबन्धान्तरपूर्वकः विशेषणविशेष्यभावत्वाद् दण्डचादिविवेत्यनुमिनोषि? तथाचानैकान्तिकत्वम्। "इह भूतले घटाभावः, इह पटे रूपसमवायः" इत्यादिविशेषणविशेष्यभावस्य संबन्धान्तरपूर्वकत्वाभावादिति दूषयति—नेति। अत्र च शङ्कायामपि विषयवाचकपदं विषयिप्रत्ययस्य लक्षकम्, प्रत्ययशब्दो वा परिहारे प्रमादलिखितः, अतो विषयस्य लक्षकत्वे "तत्प्रत्ययेनैकान्तिकत्वाभिधानमयुक्तम्" इति नाशङ्कितव्यम्।

के बिना ही व्यक्ति से जाति के निरूपण होने से जाति में तदीयत्व का व्यवहार प्राप्त होगा, कि जिससे समवाय की सिद्धि नहीं होगी। समवाय में अनुमान प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि लिङ्ग (हेतु) का अभाव है। यदि कहें कि (विवाद विषय इह प्रत्यय = अस्मिन् घटे घटत्वं यह ज्ञान, सम्बन्ध-ज्ञानपूर्वक होता है, अबाधित इह प्रत्यय होने से, इस कुण्ड में बेर हैं, इस ज्ञान के समान) यह अनुमान समवाय में प्रमाण है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशेषणविशेष्यभाव, आधाराधेयभाव सम्बन्धादि से इस अनुमान में सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है। यदि कहें कि विशेषण-विशेष्य ज्ञान के मूल सम्बन्धपूर्वकत्व सिषाधयिषित है, अर्थात् अनुमान से विशेषण-विशेष्य ज्ञान के मूल रूप समवाय के ज्ञान को सिद्ध करना है कि (विशेषण-विशेष्यभाव का ज्ञान, किसी सम्बन्धज्ञानपूर्वक होता है, विशेषण-विशेष्यभाव का ज्ञान होने से, दण्डि-पुरुष इस ज्ञानवत्) अतः सिद्धसाधन नहीं है। तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि (इस भूतल में घट का अभाव है) यहां इसी विशेषण-विशेष्यभाव के ज्ञान में, हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि यहां विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्धान्तरपूर्वक नहीं रहता है।

यच्च लीलावतीकारेणानुमानमुक्तम्—"जात्यादिगोचरो विशिष्टव्यवहारः संबन्धनियतो भावमात्रविषयाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वात् सघटं भूतलमिति व्यवहारवत्, सामानाधिकरण्यज्ञानमबाधितसम्बन्धज्ञानपुरःसरमबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानत्वाद्दण्डकुण्डले देवदत्तसंसृष्टे इति ज्ञानवत्" इति, तदप्ययुक्तम्, प्रागुक्तनीत्या सिद्धसाधनत्वात्। अथ विशेषणविशेष्यभावादेः सम्बन्धत्वमेव नास्ति, अद्विष्ठत्वात्, द्विष्ठत्वे चोभयत्रापि विशेषणबुद्धेर्विशेष्यबुद्धेश्चाविशेषेण जननप्रसङ्गात्, एवमाधाराधेयभावोऽपि,

---

अत्र लीलावतीकारः पूर्वपक्षावसरे स्वयमेवैतानि दूषणानि उद्भाव्य सिद्धान्तेऽनुमिमाय। तदनुवदति—**यच्च लीलावतीकारेणेति**। अघटं भूतलमित्यादिषु बाधपरिहारार्थं जात्यादिगोचर इत्युक्तम्। अबाधितविशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते अघटं भूतलमिति विशिष्टव्यवहारेऽनैकान्तिकत्वम्, तदर्थं भावमात्रेत्युक्तम्। भावमात्रविषये विशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते पीतः शङ्ख इत्यादिव्यवहारेऽनैकान्तिकता, तदर्थमबाधितेत्युक्तम्। इमौ घटपटावित्यादिव्यवहारव्यावर्तनाय विशिष्टपदम्। सघटं भूतलमित्यत्र संयोगमादाय साध्यसिद्धिः। अनुमानान्तरमपि तदीयमुद्भावयति—**सामानाधिकरण्यज्ञानमिति**। अबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानं पक्षः। इतरथा भ्रान्तिस्थले बाधासिद्ध्योः प्रसङ्गात्। रूपं समवेतमिदं रजतमित्यादिस्थलेऽविचारितसंबन्धज्ञानेनार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थमबाधितग्रहणम्। तादृशस्थलेष्वनैकान्तिकतानिवृत्त्यर्थं च हेतावबाधितग्रहणम्। 'घटः पटः' इत्यादिज्ञानव्यवच्छेदाय सामानाधिकरण्यपदम्। इदं समवायस्य प्रत्यक्षत्वसाधनाय प्रत्युक्तम्, "न्यायनये तु प्रत्यक्ष एव समवायः" इत्युपक्रम्य नैयायिकमतेन समवायप्रत्यक्षतोपन्यासात्। तदेव दूषयति—**तदप्ययुक्तमिति**। प्रागुक्तनीतिर्विशेषणविशेष्यभावः संबन्धः। ननु विशेषणविशेष्यभावादेः संबन्धत्वमेव नास्ति, तत्कुतस्तेनार्थान्तरतेति शङ्कते—**अथेति**। नन्वद्विष्ठत्वमेव कुतः? तत्राह—**द्विष्ठत्वे चेति**। विशेषणविशेष्यत्वनियमो न स्यादित्यर्थः। इमामेव न्यायमाधाराधेयभावेऽप्याह—**एवमिति**। तत्रापि बदरादेराधारत्वं कुण्डा-

---

जो लीलावतीकार ने अनुमान कहा है कि (जाति आदिविषयकविशिष्ट व्यवहार, सम्बन्धनियत = अवश्य सम्बन्धनिमित्तक, होता है, भावमात्र विषयक अबाधित विशिष्ट व्यवहार होने से, सघट भूतल इस व्यवहार के समान)। (सामानाधिकरण्य = नीलो घटः, इत्यादि ज्ञान, अबाधित सम्बन्धज्ञानपूर्वक होता है, अबाधित सामानाधिकरण्य ज्ञान होने से, दण्ड कुण्डल देवदत्त में सम्बन्ध वाले हैं। इस ज्ञान के समान) यह अनुमान भी अयुक्त है। क्योंकि पूर्वोक्त रीति से विशेषण-विशेष्यभाव द्वारा सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है। यदि शंका हो कि विशेषण-विशेष्यभावादि में सम्बन्धता ही नहीं है, क्योंकि संयोगादि सम्बन्ध द्विष्ठ होते हैं, और ये द्विष्ठ नहीं होते हैं, विशेषण में विशेषणज्ञान विशेष्य

ततो न सिद्धसाधनतेति चेत्, मैवम्; द्विष्ठत्वेऽपि कुण्डे बदराणीति प्रतिनियताधाराधेयभावबुद्धिजनकसंयोगवत्, तन्तुषु पट इति प्रतिनियतप्रतीतिजनकसमवायवच्च बुद्धिवैचित्र्यजननोपपत्तेः, प्रतिवादिनाङ्गीकृतस्य बाध-

---

देराधेयत्वं च प्रतीयेत इत्यर्थः। दूषयति—**मैवमिति**। यथा हि कुण्डबदरसंयोगस्य द्विष्ठत्वाविशेषेऽपि कुण्ड एवाधारबुद्धिं करोतीति ब्रूपे, बदरेषु, बदरेष्वेवाधेयबुद्धिम्, नतु कुण्डे, तत्कस्य हेतोः? स्वभावविशेषादेव। एवमाधाराधेयभावादेरपीत्यर्थः। स्यान्मतम्—न संयोगित्वमात्रात् कुण्डादेराधाराधेयभावः, किं तर्हि? बदरपतनप्रतिबन्धकत्वं कुण्डस्य तदाधारत्वम्, बदराणां च तत्प्रतिबद्धगुरुत्वाधिकरणत्वं तदाधेयत्वम्। तच्च द्वयं प्रतिनियतमेवेति वैषम्यमिति, तत्राह—**तन्तुषु पट इतीति**। न हि तत्रावयविगुरुत्वमवयवैः प्रतिबध्यते। नित्यप्रतिबन्धप्रसङ्गेनावयविनो नियमेन पतनाभावप्रसङ्गात्, रूपाद्याधारत्वाभावप्रसङ्गाच्च। न हि तेषां पतनमस्ति यत्प्रतिबन्धकतया तदाधारत्वं स्यात्। नचौपचारिकत्वम्; मुख्ये बाधाभावात्, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च। तस्मात्तन्तुषु पट इत्यत्रोभयोः समवायाश्रयत्वाविशेषेऽपि समवाये स्वभावविशेषादेव तन्तुष्विह बुद्धिः पटे चाधेयबुद्धिरित्यङ्गीकार्यम्, सच स्वभावविशेषोऽत्रापि समानः। अथ तत्र समवायस्यैकत्वेऽपि व्यञ्जकशक्तिवैचित्र्यात्प्रतिनियमः, यथोक्तं भाष्यकृता समवायैकत्वेन द्रव्यत्वगुणकर्मसङ्कराशङ्कायाः परिहारमुपसंहरता—'यथा कुण्डदध्नोः संयोगैकत्वेपि भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः, तथा द्रव्यत्वादीनां समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधाराधेयत्वनियम इति मतम्, तर्हि इहाप्याधाराधेयभावस्यैकत्वेऽपि व्यञ्जकशक्तिवैचित्र्याद्वैचित्र्यव्यवहारः' इति समं समाधानमन्यत्राभिनिवेशादिति भावः। किंच प्रतिवादिना स्वसिद्धान्तानुरोधेनाधाराधेयादिसंबन्धेऽर्थान्तरत्वेऽभिहिते न वैशेषिकेण स्वानङ्गीकारमात्रात्तच्छक्यपरिहारम्, तस्य स्वसिद्धान्तात्प्रच्यावनाभावादित्याह—**प्रतिवादीति**। एवमर्थान्तरतामुक्त्वानुमानत्रयहेतुष्वबाधितेति विशेषणप्रयुक्तदूषणा-

---

में विशेष्याभाव रहता है, और यदि द्विष्ठ ये भी हों, तो विशेषण-विशेष्य दोनों में विशेषण ज्ञान और विशेष्य ज्ञान के तुल्यरूप से जनक प्राप्त होंगे। इसीप्रकार से आधार में आधारत्व तथा आधेय में आधेयत्व रहता है, इत्यादि। अतः सिद्धसाधनता नहीं है। यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि विशेषण-विशेष्यभावादि के द्विष्ठत्व होते कुण्ड में बदर हैं, यहाँ संयोग के द्विष्ठ होते भी जैसे प्रतिनियत आधाराधेय भाव ज्ञान का जनक संयोग होता है, तन्तुओं में पट है, यहाँ प्रतिनियत प्रतीति का जनक समवाय होता है, वैसे ही विशेषण-विशेष्य भावादि में बुद्धि की विचित्रता के कारणत्व की सिद्धि हो सकती है, अर्थात् द्विष्ठ होते भी विशेषण-विशेष्य में विशेषणत्व, विशेष्यत्व रूप विचित्र बुद्धि का हेतु हो सकता है। और स्वसिद्धान्त के अनुसार विशेषण-विशेष्यादि भावों को मान कर सिद्धसाधनता के कहने पर,

नङ्गीकारमात्रेण सिद्धसाधनतायाः परिहर्तुमशक्यत्वात् । किंचेदमबाधितत्वं सर्वानुमानेषु विवक्षितम् ? किं प्रत्यक्षेणाबाधितत्वम् ? उत युक्त्या ? किं वा व्यवहारे बाधराहित्यम् ? नाद्यः; नीलं नभः प्रादेशिकः सवितेत्यादि-विशिष्टव्यवहारे व्यभिचारात् । नापि द्वितीयः, युक्तिबाधविरहस्यात्राप्य-सिद्धेः । तथाहि—समवायः स्वतन्त्रः ? परतन्त्रो वा ? नाद्यः; समवायि-

---

न्याह—**किंचेदमिति । नाद्य इति ।** प्रत्यक्षेणाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वं नीलं नभ इत्यादिष्वस्ति, नहि तत्र प्रत्यक्षेण वैपरीत्यमनुभूयते, तदयोग्यत्वात्तेषाम्, अथापि न साध्यमस्ति, नैल्यादेर्वियदादेश्च संबन्धासंभवादित्यर्थः । युक्तिबाधविरहितत्वमबाधितत्वं प्रकृतेप्यऽसिद्धमिति सप्रपञ्चं दर्शयति—**नापि द्वितीय इत्यादिना ।** यदि समवायः स्वतन्त्रस्तदा स्वतन्त्रयोः संयोगव्यतिरिक्तसंबन्धाभावादद्रव्यत्वेन तस्या प्यसंभवात् सबन्धिभ्यामसंबद्ध इति वक्तव्यम् । असंबद्धस्य च न तद्घटकत्व-मतिप्रसङ्गादित्याह—**नाद्यः समवायिभ्यामिति ।** परतन्त्रपक्षे दूषणमाह—**नापि द्वितीय इति ।** पराधीनं हि परतन्त्रं नाम, नचासंबद्धस्य तदधीनता, अतिप्रस-ङ्गात् । तथाचानवस्थेति भावः । ननु संबन्धिभ्यां संबद्धोऽपि समवायो न संबन्धा-न्तरेण, येनानवस्था स्यात्, अपि तु संबन्धात्मकतया, स्वभावादेव । यथाहुर्भाष्य-काराः—'यथा द्रव्यगुणकर्मणां सदात्मकस्य स्वभावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति, एव-मविभागिनां वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति' इति । तदेतच्छङ्कते—

प्रतिवादी से अङ्गीकृत के अनङ्गीकार मात्र से सिद्धसाधनता का परिहार नहीं हो सकता है और उक्त तीनों अनुमानों के हेतुओं में अबाधितत्व क्या विवक्षित है, क्या प्रत्यक्ष से अबाधितत्व विवक्षित है, या युक्ति से अबाधितत्व विवक्षित है, अथवा व्यवहार में बाधा रहितता विवक्षित है, प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि (नीलं नभः, प्रादेशिकः सविता) आकाश नीला है, सूर्य स्वल्प देशवृत्ति हैं, इत्यादि विशिष्ट व्यवहार में व्यभिचार है। नीलं नभः इत्यादि में प्रत्यक्ष से अबाधित विशिष्ट व्यवहारत्व है, क्योंकि प्रत्यक्ष से वहाँ बाध नहीं होता है, प्रत्यक्ष से बाध योग्यता का अभाव है। अतः हेतु है और साध्य नहीं है। क्योंकि नीलता और आकाशादि का सम्बन्ध नहीं है, अतः विशिष्ट व्यवहार-सम्बन्ध-पूर्वक-सम्बन्ध नियत या अबाधित सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक नहीं रहता है। अतः सर्वत्र साध्य का व्यभिचारी हेतु है। दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि युक्ति से बाधरहितत्व की यहाँ असिद्धि (अभाव) है, यह दर्शाया जाता है कि समवाय स्वतन्त्र या परतन्त्र है, आद्य स्वतन्त्र पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि स्वतन्त्र रहने पर, समवायी (समवाय के अनुयोगी-प्रतियोगी)

भ्यामसम्बन्धे पदार्थान्तरवत्तद्घटकत्वाभावप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, सम्बन्धिभ्यां सम्बन्धे सम्बन्धान्तरसापेक्षत्वेनानवस्थाप्रसङ्गात्। अथ समवायः सम्बन्धिभ्यां सम्बन्धे सम्बन्धान्तरं नापेक्षते, तस्य सम्बन्धिसम्बन्धनपरत्वात्, नहि तस्मिन्सति सम्बन्धिनावसम्बद्धौ भवतोऽतो नानवस्थेति चेत्, न; संयोगस्याप्युक्तनीत्या सम्बन्धान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः; नीलं नभ इत्यादावपि व्यवहारे बाधाभावेन व्यभिचारस्य तादवस्थ्यात्।

घटस्तद्वृत्त्यनित्यान्यभावसम्बन्धवानयम् ।
सम्बन्धित्वादिति स्याच्चेन्नाभावे व्यभिचारतः ॥ १५ ॥

अयं घट एतद्घटनिष्ठानित्यत्वानधिकरणभावरूपसम्बन्धवान्सम्बन्धित्वा-

---

अथेति। संबन्धिनोर्यत्संबन्धनं घटनं तत्परत्वात्तत्स्वरूपत्वादित्यर्थः। एतदेव विवृणोति—नहि तस्मिन्निति। अयमत्र ग्रन्थितोऽर्थः—समवायः संबन्धान्तरेण संबद्धः संबन्धित्वाद्घटवदिति सिद्धान्तिनोऽभिमतम्। तत्र चासंबन्धत्वमुपाधिरिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रेतम्, तत्र सिद्धान्ती संयोगे साध्याव्यापकतामाह—न संयोगस्यापीति। न चासमवायत्वमुपाधिः, पक्षेतरत्वात्। नचातेजस्त्वन्यायः; संप्रतिपन्नबाधकाभावादिति। व्यवहारे बाधाभावोऽबाध्यत्वमिति तृतीयपक्षे व्यभिचारमाह—नापि तृतीय इत्यादिना। एतेन "विवादाध्यासितं नित्यसंबन्धेन संबद्धं द्रव्यात्वादाकाशवत्" इति मानमनोहरकारोक्तमपि निरस्तम्, विशेषणविशेष्यभावेनार्थान्तरत्वादिति।

अनुमानान्तरमुद्भावयति श्लोकेन—घट इत्यादिना। संगृहीतमनुमानं विवृणोति—अयं घट इति। एतद्घटनिष्ठश्चानित्यत्वानधिकरणं च भावरूपश्च यः

के साथ असम्बन्ध रहते पदार्थान्तर के समान उन दोनों के घटकत्व = योजकत्व, का अभाव प्राप्त होगा, दूसरा परतन्त्र पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सम्बन्धियों के साथ समवाय के सम्बन्ध के रहने (मानने) पर सम्बन्धान्तर की सापेक्षता से अनवस्था की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि परतन्त्र रहते भी समवाय, सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध में सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करता है, किन्तु उस समवाय के सम्बन्धी के सम्बन्ध संयोजनपरत्व होने से, उसके रहते सम्बन्धी असम्बद्ध (सम्बन्धरहित = वियुक्त) नहीं रहते हैं, न होते हैं। अतः अनवस्था नहीं प्राप्त होती है। तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि संयोग को भी सम्बन्धियों के सम्बन्धनपरक होने से सम्बन्धान्तर की अपेक्षा उक्त रीति से नहीं होगी। अतः सम्बन्धान्तरानपेक्षत्व का प्रसङ्ग होगा। व्यवहार में बाधरहितत्व रूप तृतीय अबाधितत्व पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, नीलं नभः, इत्यादि में भी व्यवहार में बाध के अभाव होने पर व्यभिचार की तदवस्थता है।

यह घट, इस घट वृत्ति अनित्य सम्बन्ध से अन्य भावस्वरूप सम्बन्ध वाला होगा—ऐसा यदि कहा जाय, तो युक्त नहीं, अभाव में व्यभिचार से ॥ १५ ॥

अर्थात् (यह घट, इस घटवृत्ति अनित्यत्वानधिकरणभावस्वरूप सम्बन्ध

त्पटवदिति चेत्, मैवम्; अभावे हेतोर्व्यभिचारात्, तस्यापि विशेषणविशेष्य-भावसम्बन्धेन सम्बन्धित्वाङ्गीकारात्। अथ भावत्वादिति हेतुः, तथापि समवाये व्यभिचारात्। द्रव्यत्वादिति प्रयोगेऽपि संयोगनित्यतापादकतयार्था-

---

संबन्धस्तदधिकरणमिति योजना। विशेषणविशेष्यादिरूपाभावात्मकसंबन्धेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै भावग्रहणम्। भावरूपसंबन्धवानित्युक्ते संयोगेनार्थान्तरता, तदर्थमनित्यत्वानधिकरणमित्युक्तम्। तथाचाप्रसिद्धविशेषणता, तन्निवृत्त्यर्थं एतद्घटनिष्ठेत्युक्तम्। घटान्तरसंयोगे साध्यप्रसिद्धिः तस्या नित्यत्वाधिकरणत्वेपि एतद्घटनिष्ठत्वे सत्यानित्यत्वानधिकरणत्वमस्त्येव; एतद्घटनिष्ठत्वानधिकरणत्वात्। गुणादयश्च पक्षतुल्या इति न व्यभिचाराशङ्कावकाशः। नाभावे व्यभिचारतः इत्यंशं व्याचष्टे—**अभाव इति**। नहि तस्य भावरूपसंबन्धाधिकरणत्वसंभवः, अभावस्य भावाधिकरणत्वात्। अथ च विशेषणविशेष्यभावेन तत्र संबद्धत्वमस्तीत्यर्थः। अभावे हेतोर्वृत्तिमेव दर्शयति—**तस्यापीति**। हेत्वन्तरं शङ्कते—**अथेति**। तथापि समवायेऽनैकान्तिकता, अद्रव्यत्वेनासंयोगित्वादनवस्थाभयाच्च न समवायवत्त्वम्, अथ च भावत्वं समवायस्यास्तीत्यर्थः। अस्तु तर्हि द्रव्यत्वादिति हेतुस्तथा च न व्यभिचारोपद्रवस्तत्राह—**द्रव्यत्वादितीति**। इदं हि भावरूपे नित्ये कस्मिंश्चित् संबन्धे विश्राम्यतीति, तथा च संयोगनित्यतयापि सार्थक्यादर्थान्तरमित्यर्थः। ननु कथमर्थान्तरता, यावता संयोगस्य नित्यतैव न संभवति? तन्नित्यत्वेऽनित्यघटादिनिष्ठत्वानुपपत्तेः। अथ कथमनुपपत्तिः? घटाद्यभावदशायामनाधारस्य स्थित्यनुपपत्तेः, असमवेतस्य च गुणत्वानुपपत्तिः कदाचिदसमवेततया

वाला है। सम्बन्धी होने से, पट के समान) विशेषण विशेष्यभाव को वारण के लिये भावरूप कहा है, संयोग को वारण के लिये अनित्यत्वाऽनधिकरण कहा है, इत्यादि। और दृष्टान्त रूप पट में पटान्तर के संयोग से साध्य की प्रसिद्धि होती है, यद्यपि वह अनित्यत्व का अधिकरण रहता है, तथापि एतद् घटवृत्तित्व युक्त अनित्यत्व का अनधिकरण रहता है। गुणादि पक्ष तुल्य हैं, अतः उनमें व्यभिचार नहीं है। यह अनुमान भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि सम्बन्धित्व हेतु का अभाव में व्यभिचार है, क्योंकि, उस अभाव को भी विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध से सम्बन्धित्व माना जाता है। यदि सम्बन्धित्व के स्थान में भावत्व हेतु कहा जाय, तो भी समवाय में व्यभिचार होगा, क्योंकि अद्रव्य होने से उसमें संयोग नहीं रहता है, और अनवस्था के भय से समवाय नहीं माना जाता है, और भावत्व रहता है। द्रव्यत्व को हेतुरूप से प्रयोग करने पर भी वह संयोग में नित्यता का साधक होगा, तो अर्थान्तरता का प्रसङ्ग होगा, यदि कहा जाय कि अनित्य घटादि को

न्तरत्वप्रसङ्गः। न चानित्यस्य घटादेर्नित्यसम्बन्धाधिकरणत्वानुपपत्तिः; समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेः। अतो यथा समवायस्य स्वभावसामर्थ्यादेवात्मनि परत्र च सम्बद्धव्यवहारहेतुत्वम्, एवं गुणगुण्यादेरपि स्वभावसामर्थ्यादेव सम्बद्धव्यवहारहेतुत्वोपपत्तेर्न कल्पनागौरवानवस्थादुःस्थसमवायस्वी-

---

स्थितस्य युतसिद्धतया कदाचिदप्यसमवायादिति, तथाह—न चानित्यस्येति। तत्किमियं राजाज्ञा? नेत्याह—समवायेति। अयमभिसन्धिः—षण्णामपि पदार्था-नामित्युपक्रम्याश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति भाष्यकारैर्भणनात्समवायस्याश्रितत्वं वक्तव्यम्, तत्रानित्यघटादिविगमे यः परिहारः स चात्रापि भविष्यति। अथ तत्र समवायस्यैकत्वात्कतिपयनित्यपदार्थद्वयाश्रिततया नाश्रितत्वभावताव्याघातः, संयोगस्यैवयं केन वार्यते? अथ तत्र घटसंयोगः पटसंयोग इति बुद्धिभेदात्संयोगभेदः समवायेऽपि दीयतां दृष्टिः! "अस्ति रूपसमवायः गन्धसमवायः" इति बुद्धिभेदः। अथ घटासमवेतसंयोगस्य घटगुणत्वानुपपत्तिः, युतसिद्धतया च समवायानुपपत्तिरिति नूनं बधिर इव भवांल्लक्ष्यते, कथमपरया समवायमेव निराकुर्वन्तं प्रत्यननुरूपाणि ईदृशानि च वचनानि जल्पसि? किंच—

असंसिद्धस्य रूपादेः समवायो न सिद्ध्यति।
संसिद्धस्यापि रूपादेः समवायो न सिद्धयति॥

अलब्धात्मकस्य रूपादेः संबन्धित्वाभावाल्लब्धात्मकस्य संबन्धो वक्तव्यस्तथाचोघट्टलगुडवृत्तान्तापात इति, तस्मात्साधूक्तम्—समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेरिति। तत्किं समवायनाममात्र एवायुष्मतः प्रद्वेषः? न त्वर्थे? यावता भवतापि भावरूपनित्यसंबन्धः संयोगो नाम स्वीकृत इति। तदिदं भिक्षुकपादप्रसारणं पूर्ववादिनः परिहरन्नुपसंहरति—अतो यथेति। नास्माभिस्तादृशः संयोगः स्वीक्रियते, कथं तर्हि न गुणादीनामन्यत्वापत्तिस्तत्संबन्धव्यवहारस्य वा न निर्विषयता? तत्तत्स्वभाववशादेव तयोरुपपत्तिरित्यवेहि! तथासति धर्मधर्मिभावस्यैवोद्धारप्रसंग इति चेन्नोच्चैर्भणितव्यम्, यदि कोऽप्यस्मयर्णमाकर्णयेन्मद्देतदद्वैतवादिभ्योऽस्मभ्यं मर्मोद्घाटितं स्यादिति, अवश्यं न समवायं स्वीकृत्यापि स्वभाववाद एवालम्बनं तदवश्यापेक्षणीयस्वभाव एव सर्वत्राश्रीयतां किमनवस्थाकल्पनागौरवलोहगन्धाधायिनाऽप्रा-

---

नित्यसंयोगसम्बन्ध के अधिकरणत्व की अनुपपत्ति से ही संयोग में नित्यता का साधक प्रमाण नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनित्य घटादि को नित्य समवाय की आधारता के समान नित्य संयोग की आधारता की भी उपपत्ति (सिद्धि) होगी। अतः जैसे समवाय के स्वभाव सामर्थ्य से ही अपने स्वरूप में और अन्य में सम्बद्ध व्यवहार का हेतुत्व समवाय को होता है, इसी प्रकार से गुण-गुणी आदि को भी स्वभावसामर्थ्य से ही सम्बद्ध व्यवहार के हेतुत्व की सिद्धि होने से कल्पना के गौरव और अनवस्था से दुरवस्थिति वाले समवाय के स्वीकार

कारावकाशः । तदेवं लक्षणासम्भवात्प्रमाणाभावाच्च न समवायस्य द्रव्यादिभ्यो भेदसिद्धिः । अतो न क्वापि लक्षणभेदाद् भेदसिद्धिरिति सिद्धम् ।

गाणितेन समवायकल्पनादुर्व्यसनेनेत्यर्थः । समवायदूषणमुपसंहरति—**तदेवमिति ।** भिन्नलक्षणयुक्तत्वं भेद इति पक्षदूषणमुपसंहरति—**अतो न क्वापि लक्षणभेदादिति ।** किञ्च लक्षणानामेव तावदनुगतलक्षणमस्ति ? न वा ? न यदि, तदा तेषामितरव्यावृत्ततया ज्ञानं न स्यात्, तदन्तरेणापि वा तथा ज्ञाने पदार्थेष्वपि तथैव स्यादिति लक्षणक्षतिः । अथास्ति किञ्चिदनुगतं लक्षणलक्षणम् ? किं तत् ? सजातीयविजातीयव्यावर्तकत्वमिति चेन्न, सामान्यादिलक्षणेष्वव्याप्तेः । नहि ते जातिमन्तः, येन तत्सजातीयमन्यत्तैर्लक्षणैर्व्यवच्छेद्यं स्यात् । किञ्चैवं द्रव्यादीनामपि लक्षणं न स्यात्, सामान्याद्यव्यवच्छेदकत्वात् । नहि सामान्यादयः सजातीयतया विजातीयतया वा व्यवच्छेदमर्हन्ति, जातिरहितत्वादेव, प्रमेयाभिधेयादिलक्षणेषु चाव्याप्तिः । नहि तत्र किञ्चिद्व्यवच्छेद्यमस्ति, तस्य प्रमितौ प्रमेयतयाऽव्यवच्छेद्यत्वादप्रमितौ च किं व्यवच्छेद्यं स्यात् ? एवमभिधेयत्वेऽपि । किञ्चेदं साजात्यमभिमतं व्यवच्छेद्यस्य ? किं लक्ष्यमात्रवृत्तिजात्या ? किं यथा कथाचन ? नाद्यः; लक्ष्यस्यापि व्यवच्छेदापातात् । न द्वितीयः, विजातीयपदवैयर्थ्यात् । अन्ततः सत्तयापि जातिमतां साजात्यात् । विजातीयव्यावर्तकमिति चेन्न; सामान्यादिलक्षणेष्वव्याप्तेः । नहि ते जातिमन्तः, जातिरहितानां च वैजात्यस्याप्यभावात् । जातिशब्दस्योपाधिपरत्वेऽप्येते दोषा दुरुद्धराः । एतेन लक्ष्यलक्षणमपि प्रत्युक्तम् ; तस्याप्युक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात् । न च सामान्यादीनामपि सामान्यवत्ता, अनवस्थानात् । नचेदृगनवस्थादीनामदूषणत्वं, अवैषम्यात् ; अदर्शननियमसाम्यात् । एवमुपाधावुपाधिस्वीकारेऽपि, तत्तल्लक्षणानिरुक्तेश्च जातिलक्षणं च खण्डितम्, खण्डयिष्यते च जातिः । तेन जातिद्वारोपाधिद्वारा वा वादीन्द्रादिभिरुत्प्रेक्ष्यमाणलक्षणान्यपि क्षुण्णानि मन्तव्यानि । अपि च—

> वादीन्द्रस्येष्टदा तावन्महाविद्या पुलोमजा ।
> सा न सव्यभिचारादिदोषैः संदूषितात्मना ॥ १ ॥
> तामेव दूषयन्नेष तत्पादे निपतन्नपि ।
> कथंकारं मदोन्मत्तः श्रद्धेयवचनो भवेत् ॥ २ ॥
> पक्षतद्धर्मवृत्तित्वाद्युपन्यासनिभ रीतिभिः ।
> जाता साध्यप्रसीमा एताः पारिप्लवानहाः ॥ ३ ॥

का अवकाश नहीं रहता है । अतः इस उक्त रीति से लक्षण के असम्भव तथा प्रमाण के अभाव से द्रव्यादि से समवाय के भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है । इसी लक्षण के असम्भव से लक्षण के भेद से भी कहीं भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है, यह सिद्ध हुआ ।

अन्ये मन्यन्ते—माभूल्लक्षणभेदाद्भेदः, तथापि सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाद्बीजादीनां भेदः सिद्ध्यति। तथाहि—यदि कुसूलनिहितं बीजं तदानीमङ्कुरजनने समर्थम्, तर्हि तदेवांकुरं जनयेत्, यद्यदा यज्जनन-

---

नोपादेया महाविद्यामुद्रिता जातु जातयः।
तत्त्वं चापि स्वीययत्नाज्जिगीषयिषुभिर्बुधैः ॥ ४ ॥
शक्यते च सर्वप्रकारविप्लवो महाविद्याभिः।
साधयितुं ग्रन्थगौरवभयान्न प्रतन्यते सः ॥ ५ ॥
तस्मात्—'लक्ष्यलक्षणभावोयमलक्ष्योऽभिन्नवस्तुनि ।
त्वद्धुर्यैवान्वितमनिर्वाच्याविद्याविजृम्भितम् ॥ ६ ॥
इति षट्पदार्थमतखण्डनया परिशुद्धनिद्धनसुखैकनिधिः।
प्रतिषिद्धभेद इह यः परमः प्रतिपादितस्तमभिनौमि भवन् ॥ ७ ॥

ननु वैधर्म्यभेदनिरसनेनैव लक्षणभङ्गवादिनामपि भेदहेतुर्विभञ्जित एव, सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपि वैधर्म्यरूपत्वात्, अतो मुधैवायं क्षणभङ्गवादावतार इति, उच्यते—न तावत्सुगतमते वैधर्म्यरूपो भेदः, स्वरूपभेदनादित्वात्तथागतानाम्। नापि सामर्थ्यासामर्थ्ययोर्धर्मरूपत्वम्, यतस्तयोः सत्त्वासत्त्वात्मकतया स्वरूपत्वम्, अतः स्वरूपभेदस्यैवायं विशेषो भङ्ग्यन्तरेण निराक्रियते। अथवा प्रत्यक्षतो भेदाधिगतिं निराकृत्यानुमानिकभेदाधिगतिविध्वंसोऽनेन क्रियते, तत्र क्षणभङ्गवादिनो वावदति 'एकस्वभावत्वायोगात् सामर्थ्यस्य च स्वभावत्वात् समर्थस्वभावस्यासमर्थस्वभावत्वमयुक्तम्, स्वभावहानिप्रसङ्गात्, अत एकत्वेन भवद्भिरभिमन्यमानमपि भिन्नमेव।

यदा च समर्थक्षणादसमर्थक्षणमेव प्रत्यभिज्ञायमानमपि भिद्यते, तदा किमु वक्तव्यमप्रत्यभिज्ञायमानतया अप्रतीयमानैक्यानां घटपटप्रभृतीनां भेद इति? तदेतदाह—**अन्ये मन्यन्त इति**। धर्मनिर्देशश्चायं परकीयरीत्या। स्यादेतत्, यदि विरुद्धधर्मसंसर्गः स्यात्तदा बीजक्षणानां भेदः, स तु कुतः? यावता समर्थमेव कुसूलनिहितमपि बीजमङ्कुरजनन इति तत्राह—**यदि कुसूलनिहितमिति**। तत्र जनकत्वेन सामर्थ्यस्य व्याप्तिं दर्शयन्व्यापकजनकत्वनिवृत्त्या व्याप्यसामर्थ्यनिवृत्तिमनुमिनोति—**यद्यदेत्यादिना**। कुसूलनिहितं बीजसमर्थमङ्कुरोत्पादे, तदानीं तदजनकत्वाद्यदेवं तदेवं यथा पदार्थान्तरमिति पररीत्या न प्रयोगः, स्वकीयरीत्या तु यद्यत्र जनयति तत्रासमर्थं यथा पदार्थान्तरम्, न जनयति चेदं कुसूलनिहितं बीजमिति स्वभावहेतुः। तदेवं प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामसामर्थ्यमुपपादितम्, इदानीं क्षणान्तर-

---

अन्य बुद्धमतानुयायी मानते हैं कि लक्षण के भेद से पदार्थों में भेद न हो, तो भी सामर्थ्य असामर्थ्य स्वरूप विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से बीजादि के भेद की सिद्धि होती है। क्योंकि यदि कुसूल (अन्नागार कोष्ठ) में धरा हुआ बीज वहाँ ही अङ्कुर के जन्म में समर्थ होता, तो कोठी में रहते ही अङ्कुर को उत्पन्न

समर्थं तत्तदैव तत्करोति यथा सामग्री, न च कुर्वदुपलभ्यते, तस्मादसमर्थम्, सहकारिसमवधाने च समर्थमिति, सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः। न च समर्थस्यापि सहकारिसमवधानाभावादजनकत्वमिति संदिग्धव्यतिरेकिता; जनकस्वभावत्वे तस्य सहकारिसमवधानाभावेऽपि स्वभावविरोधादेवाजनकत्वानुपपत्तेः। सहकारिसमवधाने जनकमजनकं चान्यदेति स्वभाव इति चेत्, मैवम्; एकस्यानेकस्वभावतानुपपत्तेः। किञ्च यदि सहकारिसम-

---

स्वस्य सामर्थ्यं दर्शयति विरुद्धधर्माध्याससिद्धये—**सहकारीति**। तत्रापि यदि सहकारिसमवेतं बीजसमर्थमङ्कुरजनने स्यान्न जनयेदिति प्रसङ्गः यद्यज्जनयेत्तत्तत्र समर्थं यथा सामग्री, जनयति चेदमिति विपर्ययः। धर्मद्वयप्रतिपादनमुपसंहरति—**इति सामर्थ्येति**। ननु तदानीं तदजनकत्वादिति हेतुरनैकान्तिको विपक्षाद्व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात्। यदि हि समर्थस्याजनकत्वमसंभव्येवेति निर्णीयेत, तर्ह्येव विपक्षव्यतिरेकनिर्णयः; न च तदस्ति, समर्थस्यापि सहकारिमेलनाभावादजनकत्वसंभवात्। तस्मात्संदिग्धविपक्षव्यतिरेकित्वात् संदिग्धानैकान्तिकमेव। यथाहुः—

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते। .
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकावलम्' ॥ इति

तत्राह—**न च समर्थस्यापीति**। तत्र वक्तव्यं किं बीजस्य जनकत्वं स्वभावः? उत जनकत्वमजनकत्वम् आहोस्विदजनकत्वमेवेति? तत्र प्रथमं दूषयति—**जनकस्वभावस्य इति। स्वभावविरोधादेवेति**। स्वभावभूतेन जनकत्वेन विरोधादजनकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—**सहकारीति**। दूषयति—**मैवमेकस्येति**। स्वोहि भावः स्वभावः। असाधरण इति यावत्। तथाचोभयस्वभावत्वे किं युगपदुभयं स्वभावभूतम्? पर्यायेण वा? नाद्यः; भवद्भिरेव सहकारिसमवधानासम-

---

करता। क्योंकि जो जिस समय जिसके जन्म में समर्थ होता है, वह उसी समय उसको करता हैं (जन्माता है) जैसे की खेत, बीज, पानी आदि की सामग्री (समूह) अपने समय में अङ्कुर को पैदा करती है। परन्तु कुसूलस्थ बीज कुर्वद् (वर्तमान कार्य करता हुआ) नहीं उपलब्ध होता है, नहीं देखा जाता है। अतः वह असमर्थ रहता है, और क्षेत्र, पानी आदि सहकारी के समवधान (साथ) होने पर समर्थ होता है, इसप्रकार से सामर्थ्य, असामर्थ्य रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध होता है, और धर्मभेद से पदार्थ में भेद सिद्ध होता है, यदि कहा जाय कि कुसूलस्थ बीज के भी अङ्कुर जनन में समर्थ रहते, सहकारी भूमि, जलादि के साथ समवधान (सम्बन्ध) के अभाव से अजनकत्व होता है, अतः अजनकत्व हेतु सामर्थ्याभाव साध्य के व्यभिचारी है असामर्थ्याभाव के अभाव का निश्चय नहीं होने पर सन्दिग्ध व्यतिरेकिता है, तो यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि बीज के जनकस्वभावत्व के रहते, उसको सहकारी समवधान के

वधानमपि स्वभावान्तर्भूतम्, तदा तदपि तदैव सम्पद्येत, स्वभावस्यानपायात् । अथाजनकत्वं स्वभावः, तदा न कदाचिदप्यङ्कुरं जनयेत् । अथ सहकारिसमवधानानन्तरभाविनः कार्यात्समनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावः; तर्हि कुसूलनिहितावस्थायामपि बीजस्य यथावर्णितस्वभावो भवेत्, तत्स्व-

---

वधानावस्थतया व्यवस्थापनात्, नित्यं कार्यसत्त्वासत्त्वयोः प्रसङ्गाच्च । द्वितीये तु नोभयोरपि स्वभावता, तस्योभयत्रानुगच्छतोऽपि तयोरननुगमनेन भेदावसायादिति भावः । यदि च सहकारिसमवधानासमवधानव्यवस्थया जनकत्वाजनकत्वयोरप्येकत्र व्यवस्थाभिप्रेयते, सापि न संभवतीत्याह—**किञ्चेति** । तथाच-तदसमवधानाभावात्तत्प्रयुक्ताजनकत्वमपि तस्य नास्तीति जनकैकस्वभावत्वं स्यात् ; तथा च पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः । सहकारिसमवधानस्याप्यस्वभावत्वपक्षमुत्तरत्राशङ्क्य निराकरिष्यति । अजनकत्वमेव स्वभाव इति तृतीयं पक्षं शङ्कते—**अथाजनकत्वमिति** । ननु नात्यन्तं जनकत्वमजनकत्वं वास्य स्वभावः, किं तर्हि ? सहकारिसमवधाने सति यत्कार्यं भवति तस्मादनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावः, तेन न सहकारिसमवधानाभावेऽपि जनकत्वम्, नापि सहकारिसमवधानेऽप्यजनकत्वमित्याह—**अथ सहकारीति** । दूषयति—**तर्हीति** । एवंविधः स्वभावः कुसूलनिहितावस्थायामप्यस्य विद्यते इति तदापि कार्यजन्मप्रसङ्ग इत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—**तत्स्वभावस्येति** । यत्तदाशङ्क्य निराकरिष्यतीत्युक्तम्, तदाह—**अथेति** । ननु यद्यनुपकारिण्यपेक्षानुपपन्ना, तर्ह्युपकुर्वन्त्येव सहकारिणः कारणस्येति शङ्कते परि-

---

अभाव रहते भी स्वभावविरोध से ही अजनकत्व की अनुपपत्ति है । अर्थात् स्वभाव रूप जनकत्व हो तो स्वभावविरोध से ही कहीं कभी अजनकत्व नहीं हो सकता है । अतः कुसूलस्थ बीज समर्थ नहीं रहता है, अतएव अजनकत्व हेतु व्यभिचारी भी नहीं है । यदि सहकारी के समवधान रहते बीज कार्य का जनक होता है, असमवधान रहते अजनक होता है, समर्थ रहने भी ऐसा होना उसका स्वभाव है । तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि एक में अनेक स्वभावता की अनुपपत्ति है । और यदि सहकारी का समवधान भी कारण के स्वभाव के अन्तर्गत हो जाता है, तो वह भी उस कारणस्वरूप ही सिद्ध होगा, क्योंकि स्वभाव का कभी अपाय (अभाव) नहीं होता है, तब कुसूलस्थ को भी जनकत्व प्राप्त होगा, क्योंकि स्वभावभूत सहकारी समवधान वहाँ भी रहता ही है । यदि बीजमात्र का अजनकत्व स्वभाव हो, तो वह कभी भी अङ्कुर को नहीं उत्पन्न करेगा । यदि कहें कि जनकत्व या अजनकत्व स्वभाव सदा नहीं रहता है, किन्तु सहकारी समवधान के अनन्तर होने वाले कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना कारण का स्वभाव होता है, तब तो कहा जा सकता है कि स्वभावभूत सहकारीकारण के स्वरूप के अन्तर्गत रहता ही है, अतः कुसूलस्थिति अवस्था में भी बीज का उक्त

भावस्य तदानीमभावे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्। अथ सहकारिसमवधानं न स्वभावः; तर्हि तत्कारणस्योपकरोति? न वा? न चेद्, अनपेक्षणीयत्वम्। उपकरोति चेत्, उपकारो वस्तुनो भिन्नः? न वा? भिन्नत्वे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन स एव कार्यजनक इति न स्थिरस्य कारणता। अभिन्नत्वे तु पूर्वावस्थस्य वस्तुनः सांप्रतमुपकाराभिन्नतयोत्पत्त्यसम्भवाद्वस्त्वन्तरोत्पत्तेः क्षणिकस्यैव कारणताप्रसङ्गः। उपकारस्य वस्तुतन्मात्रत्वे च सहकारिसमवधानात्पूर्वमपि तद्भावात्तदापि कार्यजननम्, सहकारिसमवधानवैयर्थ्यं च

हरति—**उपकारो वस्तुन इति**। उपकारस्य वस्तुनो भिन्नत्वे वस्तुनः कारणत्वं न स्यात्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यैव कारणत्वादिति परिहरति—**भिन्नत्व इति**। द्वितीये दूषणमाह—**अभिनत्व इति**। अत्र वक्तव्यं किं वस्तुन उपकारादभेदः? उपकारस्य वा वस्तुनोऽभेदः? प्रथमे प्राह—**पूर्वावस्थस्येति**। उपकारः खल्विदानीमुत्पद्यते पूर्वसिद्धस्य च वस्तुनस्तदभेदे तस्यैव पुनरुत्पत्तिः प्रसज्येत, तच्चायुक्तम्, द्विरुत्पत्त्यभावात्, अतोऽन्यस्यैवोत्पत्तिर्वक्तव्या, तथा च कथय कथं न क्षणिकस्य कारणापत्तिः? इत्यर्थः। दूषणमाह—**उपकारस्येति**। वस्तुनः पूर्वमेव विद्यमानत्वात्तदभिन्नोपकारोऽपि पूर्वमेव विद्यत इति तदापि कार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः। दूषणान्तरमाह—**सहकारिसमवधानेति**। वस्तुस्वभावस्य तस्य तत्पूर्वमपि भावादिति

वर्णित स्वभाव रहेगा, क्योंकि उस स्वभाव के उस समय अभाव होने पर स्वभाव का परित्याग प्राप्त होगा, और स्वभाव के परित्याग नहीं होने पर कुसूलस्थिति अवस्था में भी अङ्कुर के जनन की प्राप्ति होती है। यदि सहकारी का समवधान कारण का स्वभाव नहीं है, ऐसा माना जाय, तो भी विचारणीय है कि वह सहकारी समवधान, कारण का उपकार (साहाय्य) करता है, या नहीं। यदि साहाय्य नहीं करता है, तब तो उसमें अनपेक्षणीयत्व रहेगा, कार्य के लिये उसकी अपेक्षा नहीं हो सकेगी। और यदि कारण का उपकार करता है, तो उस सहकारी का उपकार कारण रूप वस्तु से भिन्न होता है, या अभिन्न होता है, यह विचारणीय है। यदि उपकार में कारण रूप स्थिर वस्तु से भिन्नत्व हो, तो प्राप्ताप्राप्त विवेक (अन्वयव्यतिरेक के ज्ञान) से वह उपकार ही कार्य का जनक होगा। स्थिर वस्तु की कारणता नहीं सिद्ध होगी। उपकार के कारण से अभिन्नत्व होने पर तो पूर्वावस्था वाली वस्तु की वर्तमान काल में उपकार के साथ अभिन्न रूप से उत्पत्ति के असम्भव से पूर्वोत्पन्न की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकने से, वस्त्वन्तर की उत्पत्ति होने के कारण क्षणिक को ही कारणता प्राप्त होता है। उपकार में बीजादि वस्तुमात्रत्व होने पर, तो सहकारी सम्बन्ध से प्रथम भी वस्तुमात्र के रहने से उस समय भी कार्य जन्म की प्राप्ति होगी, और सहकारी के समवधान में व्यर्थता प्राप्त होगी। यदि कहा जाय कि उपकार वस्तु के तत्त्व (स्वरूप) और अनतिरिक्त

प्रसज्येत। अथोपकारो वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयः; तदा तस्यैव कारणत्वमिति न वस्तुनः कारणता। न च वस्तुनोऽप्यन्वयव्यतिरेकित्वात् कारणता, केवलव्यतिरेकाभावात्—सत्युपकारे वस्त्वभावापराधेन कार्याभावानुपलम्भात्। तदेवं सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाज्जनका-

---

भावः। भेदाभेदप्रयुक्तदूषणपरिजिहीर्षोरनिर्वाच्यमतमुद्भावयति—अथेति। दूषयति—तदेति। यथा भेदेनानिर्वचनीयत्वम्, तथाऽभेदेनापीति न वस्तुस्वरूपत्वमुपकारस्य। तथाच क्षणिकस्य कारणत्वं दुरपवादम्; वस्तुनश्चाकारणतापत्तिरतिरिच्यत इति न भिन्नपक्षात्फलतो भेद इति भावः। ननु किमिति वस्तुनोऽकारणता, यावतान्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यापि कारणत्वमवसीयते इतरथोपकारस्यापि तन्न स्यादिति? तत्राह—न च वस्तुनोपीति। हेतुमाह—केवलेति। तदेव विवृणोति—सत्युपकार इति। यथा हि बीजे विद्यमानेप्युपकाराभावादनुत्पत्तिमभ्युपैषि, न तथोपकारे विद्यमानेऽपि वस्तुनोऽभावादनुत्पत्तिः शक्यनिदर्शना, अभेदवादिनो व्याघातात्, भेदवादेऽप्युपकार्याभावे उपकारस्यैवासम्भवात्, अनिर्वचनीयेऽपि भेदपक्षप्रयुक्तदूषणानुषङ्गादिति भावः। तदित्थं बाधकपद्धतिभिः संदिग्धव्यतिरेकितानिरसनेनाजनकत्वादसामर्थ्यानुमानमप्रत्यूहमिति स्थितम्, तथा च—विरुद्धधर्माध्यासः सिद्ध इत्याह—तदेवमिति। एवमुपपादितप्रकारेण यदा विरुद्धधर्मसंसर्गः सिद्धस्तदा तस्मादेव हेतोर्भेदसिद्धिरपि भवतीति योजना। सहकारिभिराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकम्, अन्यथा तदभावे तदुदयापत्तेः। बीजं चातिशयमादधानं सहकारिणोऽपेक्षते, अन्यथा सर्वदोपकारवत्तावङ्कुरस्यापि सर्वदोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात्तमतिशयार्थमपि सहकारिभिरपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिरतिशयान्तरमाधेय बीजे, तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन बीजं सहकारिसापेक्षं जनकमित्युपकारजनकोपकारजननार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिरुपकारान्तरं बीजे जनयितव्यमिति तत्तदतिशयार्थमपेक्ष्यमाणसहकारिसंपाद्यबीजवृत्त्यतिशयानवस्थेति—यद्वा बीजवर्तिनि

से अनिर्वचनीय है, अर्थात् उपकार होता है, परन्तु वस्तु से भिन्न या अभिन्न रूप से कहा नहीं जा सकता है, तो कहा जाता है कि उसी अद्भुत स्वरूप वाले को कारणत्व होगा, स्थिर वस्तु को कारणता नहीं होगी। यदि कहें कि अन्वयव्यतिरेकित्व (अन्वयव्यतिरेकवत्त्व) से वस्तु बीजादि में भी कारणता सिद्ध होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि, केवलव्यतिरेक का अभाव है, उपकार के रहते वस्तु के अभाव से कार्याभाव का ज्ञान नहीं होता है। अतः वस्तु के अभाव रहते कार्य का अभाव होता है, इस व्यतिरेकव्याप्ति में व्यभिचार है, उक्त रीति से सहकारी से ही कार्य की सिद्धि होने से सहकारी के अभाव से कार्याभाव कहा जा सकता है, वस्तु के अभाव से नहीं। अतः उक्त रीति से सामर्थ्य, असामर्थ्य स्वरूप विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से जनक, अजनक के भेद की सिद्धि होती है। इस विषयक

जनकयोर्भेदसिद्धिः। प्रयोगश्च—कुसूलस्थं बीजं सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्नं विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वाद्दहनतुहिनवत्। तथा—कुसूलस्थं बीजमङ्कुरजनकबीजाद्भिन्नं कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसम्बन्धित्वाद्घटवत्। एतामेव व्याप्तिमुपजीव्य यत् सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेन क्षणिकतामाचक्षते

सहकारिभिरतिशये क्रियमाणे बीजमपि सहकारिभिरपेक्षणीयमिति बीजेन सहकारिष्वतिशय आधेयः। एवं बीजेन सहकारिष्वतिशय आधीयमाने सहकारिणोऽपेक्षणीया इति तैर्बीजे पूर्वमतिशयान्यतरमाधेयम्, तस्मिन्नप्यतिशते सहकारिभिर्बीजस्य क्रियमाणे बीजमपेक्षणीयमिति बीजेन पूर्वं सहकारिष्वतिशयान्तरमाधेयमित्यनवस्थितिः। उपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणो बीजनिरपेक्षः कार्यं जनयति ? बीजसापेक्षो वा ? आद्ये बीजादेरहेतुतापातः। द्वितीये तु बीजादिनापेक्ष्यमाणेनोपकारेणातिशय आधेयः। एवमाहितोऽप्यतिशयः कार्यार्थं बीजादीनपेक्षत इति बीजादीनां तत्राप्यतिशयान्तरमाधेयमित्यप्यनवस्थितिरित्यपि ज्ञेयं वादीन्द्रस्थम्। ननु किमनेन प्रमाणं भेदसिद्धावुक्तं भवति ? तत्राह—**प्रयोगश्चेति**। बीजमात्रस्य सहकारिमध्यनिष्ठबीजाद्भेदसाधनेऽर्थान्तरता। यत्किंचिद्बीजस्य ततो भेदसाधनेनाप्युपपत्तेः। बाधापत्तिश्च, तत एव तस्य भेदप्रसङ्गात्। हेतोरसिद्धिश्च, तत उक्तम्—**कुसूलस्थमिति**। तथा यतः कुतश्चिद्भेदसाधने बीजमात्राद्भेदसाधने चार्थान्तरता, तदर्थं सहकारिमध्यमध्यासीनादिति विशेषणम्। बीजादिति चाध्याहर्तव्यम्। अत्र च तदेवेदमिति परेषां प्रत्यभिज्ञास्पदस्य भेदसाधनान्न क्षुद्रोपद्रवः। यदि कश्चिद्यत्तदोरन्वयस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वक्रतां मन्वानो न परितुष्येत् तं प्रत्येवमनुमातव्यम्—विप्रतिपन्नबीजं सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्नं तदङ्कुरं प्रत्यसमर्थत्वात् संप्रतिपन्नवदिति। अनुमानान्तरमाह—**तथेति**। अत्राप्यङ्कुरजनकबीजाद्भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेन विप्रतिपन्नं बीजं पक्षः। कार्यापेक्षयाऽव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तो यः क्षणस्तत्संबन्धित्वादित्यर्थः। अङ्कुरजनकबीजे स्वान्योन्याभावरहिते व्यभिचारवारणायातीतपदम्। तस्यापि कार्याव्यवहितोत्तरक्षणातिरिक्तकार्योत्पत्तिपूर्वक्षणसंबन्धित्वात्। जनकबीजे व्यभिचारनिरासार्थमसिद्धिपरिहारार्थं चातिरिक्तपदम्। ननु क्षणिकत्वसिद्धावेतत्स्यात्, यद् अजनकावस्थातो जनकावस्थं भिन्नमिति, स्थितिपक्षे तदनुपपत्तेः, न च क्षणिकत्वे मानमस्तीति, तत्राह—**एतामेवेति**। यदा हि अर्थक्रियाकारित्वाकारित्वयोः सामर्थ्यासामर्थ्याभ्यां व्याप्तिः, सामर्थ्यासामर्थ्य-

अनुमान भी है कि (कुसूलस्थ बीज, सहकारि मध्यस्थ बीज से भिन्न है, विरुद्ध धर्मसंसर्गि होने से, अग्नि-हिम के समान) तथा (कुसूलस्थ बीज, अङ्कुरजनक बीज से भिन्न है, कार्याव्यवहित पूर्वक्षण से अतिरिक्त क्षण के सम्बन्धी होने से, घट वत्)। इसी व्याप्ति का आश्रयण करके (यत् सत् तत् क्षणिकम्, अर्थक्रियाकारित्वात्) इस अनुमान से सब वस्तु की क्षणिकता का कथन क्षणभंगवादी

क्षणभङ्गवादिनः। नच 'य एवाहं रूपमद्राक्षं स एवाहमिदानीं स्पर्शमनुभवामि' इति 'स एवायं घटः' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधः, सामग्रीभेदात् पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वानुपपत्तेः। तथाहि--सा मे माता स मे पितेत्यादाविन्द्रियनिरपेक्षस्य संस्कारस्य स्मरणकारणत्वादयं घट इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानेष्विन्द्रियस्य संस्कारनिरपेक्षस्य कारणतावगमादुभयोः सम्भूय कारणतानुपपत्तिः। स इत्ययमिति च पारो-

---

योश्च धर्मिभेदेन, तदार्थक्रियाकारित्वात्मकं सत्त्वं समर्थक्षणस्य क्षणिकतां साधयति, क्षणान्तरसत्त्वे तस्यैवासमर्थत्वप्रसङ्गात्, असमर्थस्य चानर्थक्रियाकारित्वात्, अनर्थक्रियाकारिणश्चार्थक्रियाकारित्वं व्याहतमिति सत्त्वक्षणिकत्वयोः प्रतिबन्धसिद्धिः, स्थिरस्य च क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारित्वाऽकारित्वानुपपत्तेर्विपक्षव्यतिरेकसिद्धिरिति भावः। ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेणात्मानात्मपदार्थजातस्य स्थैर्यमवसीयते, ततस्तदपबाधितविषयं कालात्ययापदिष्टमिदमनुमानमिति, यत्राह--नच य एवाहमिति। अत्र किं ज्ञानद्वयमिदम्? एकमेव वाभिप्रेयते? द्वित्वपक्षे ततः स्थैर्याशासनं षण्ढमुद्वाह्य मुग्धयोषितः पुत्रप्रार्थनमिव। तदा हि स एवाहं स एवायमिति बालुकावद्विशकलितयोरैक्यानवगाहित्वात्। द्वितीयस्त्वसिद्ध इत्याह--सामग्रीत्यादिना। स इत्यंशे संस्कारादिरेव सामग्री, अयमंशे च संप्रयोगादिरिति, तथा स इत्यंशे पारोक्ष्यमयमित्यंशे चापारोक्ष्यमिति सामग्रीभेदाद् विरुद्धधर्माध्यासाच्च न प्रत्यभिज्ञानमेकमित्यर्थः। ननु संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयैकसामग्रीत्वात्कथं सामग्रीभेद इति? तत्राह—तथाहीत्यादिना। अन्यत्र पृथक्कार्यजनकतयावधृतस्वभावयोरपि विभिन्नकार्यजनकत्वमेवेत्यर्थः। विरुद्धधर्माध्यासे तु विप्रतिपत्तिशङ्कैव नास्तीत्याह—स

करते हैं। यदि कहा जाय कि, जो मैंने ही रूप को देखा था, वही मैं इस समय स्पर्श का अनुभव करता हूँ। वही यह घट है, क्षणभङ्ग वाद में, इत्यादि। प्रत्यभिज्ञाओं का विरोध प्राप्त होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सामग्री के भेद से तथा परोक्षता, अपरोक्षता रूप विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञा को एक ज्ञानरूपत्व की अनुपपत्ति है, क्योंकि, (वह मेरी माता, वह मेरा पिता) इत्यादि स्थानों को इन्द्रिय की अपेक्षारहित संस्कार को स्मरण की कारणता रहती है, और (यह घट) इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानो में संस्कारनिरपेक्ष इन्द्रिय की कारणता का ज्ञान होता है, अतः इन्द्रिय और संस्कार दोनों के साथ होकर ज्ञान कारणता की अनुपपत्ति है, स्वतन्त्र जो कार्य कर सकता है, वह परस्पर परतन्त्रता का आश्रयण क्यों करेगा, और प्रत्यभिज्ञा में, स (वह) इस प्रकार से परोक्षत्व, और अयम्

क्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मसंसर्गस्य स्फुटमुपलम्भाच्च। ज्ञानभेदात्प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षत्वाभावान्न प्रकृतानुमानस्य प्रत्यक्षविरोधः, तस्माद्विरुद्धधर्मसंसर्गाद् वस्तूनां भेदसिद्धिरिति।

अत्रोच्यते—

सिद्धे भेदे विरोधे च धर्मयोर्धर्मिभेदधीः।
तयोर्नाद्यापि संसिद्धिर्धर्मिभेदस्तदा कुतः ? ॥ १६ ॥

अशेषभेदानपाकुर्वतोऽद्वैतवादिनो यदा भेदमात्रमेव नास्ति, तदा कुतो धर्मयोर्भेदः ? कुतस्तरां विरोधः ? कुतस्तमां च तदधीनो धर्मिभेदाध्यवसायः ? अन्यतो वा भेदविरोधयोः सिद्धौ तत एव धर्मिभेदसिद्धिः, कृतमनुमानेना-

---

इति। फलितमाह—**ज्ञानभेदादित्यादिना**। **प्रत्यक्षत्वाभावादिति**। समस्तस्येति शेषः। पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

विरुद्धधर्माध्यासाद्वस्तुभेदसाधनेऽन्योन्याश्रयं श्लोकेन संगृह्णाति सिद्धान्ती—**सिद्धे भेद इति**। धर्मयोर्जनकत्वाजनकत्वाद्यात्मकयोः परस्परं भेदे सिद्धे सति विरोधसिद्धिः, अभिन्नस्य विरोधाभावात्, तयोः सिद्धे विरोधे तदाश्रयतया धर्मिणोः कुसूलनिहितसहकारिसमेतबीजयोर्भेदबुद्धिः स्यात्। यदा च तयोर्भेद एव न सिद्धस्तदा विरोधस्य तद्द्वारकधर्मिभेदस्य च कुतः सिद्धिः ? परस्पराश्रयादित्यर्थः। श्लोकं विवृणोति—**अशेषेत्यादिना**। अद्वैतवादिन इति पदच्छेदः। ननु कथमन्योन्याश्रयता ? यावता प्रत्यक्षेण धर्मयोर्भेदः सिद्ध्यति, ततश्च विरोधसिद्धिस्ततश्च धर्मिभेदसिद्धिरित्यत आह—**अन्यत इति**। तत्र वक्तव्यं कीदृशं तद्भेदग्राहिप्रत्यक्षमभिमतम् ? किं निर्वि-

---

(यह) इसप्रकार से प्रत्यक्षत्व रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध स्फुट (स्पष्ट) उपलब्ध होता है, अतः प्रत्यक्ष परोक्ष स्वरूप दो ज्ञान के प्रत्यभिज्ञा में भेद होने से प्रत्यभिज्ञा के एक प्रत्यक्षत्व को अभाव होने से प्रकृत अनुमान को प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष से विरोध नहीं है। अतः विरुद्ध धर्म के संसर्ग से वस्तुओं के भेद की सिद्धि ही है। यहाँ तक पूर्व पक्ष हुआ।

(अत्रोच्यते) अब समाधान कहा जाता है कि—जनकत्वाजनकत्व धर्मों के भेद के सिद्ध होने पर तथा विरोध के सिद्ध होने पर, धर्मी रूप बीज में भेदबुद्धि हो सकती है, और धर्म तथा विरोध की सिद्धि अभी नहीं हुई है, तो धर्मी का भेद किससे हो सकता है ॥ १६ ॥

अर्थात् सब भेदों का निराकरण करने वाले अद्वैतवादी के मत में जब भेद मात्र ही नहीं है, तब धर्मों का भेद किससे सिद्ध होगा और धर्मों के भेद बिना विरोध किससे होगा, और विरोध के विरोधाधीन धर्मिभेद का निश्चय कैसे होगा। यदि कहा जाय कि, किसी प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण से धर्मभेद और विरोध

जागलस्तनायमानेन विरुद्धधर्माध्यासेन ? कश्चायं धर्मयोर्विरोधः, येन विरुद्धधर्मसंसर्गित्वेन भेदोऽभिधीयते ? किं सहानवस्थायित्वम् ? वध्यघातकभावो वा ? भावाभावरूपत्वं वा ? तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं वा ?

कल्पकम् ? सविकल्पकं वेति ? न तावत्सविकल्पकम्, तस्य प्रामाण्याभावाद्भवन्मते। नापि निर्विकल्पकम्, तस्य वस्तुमात्रग्राहितया स्वलक्षणातिरिक्तविकल्पागोचरत्वात्। यथाहुः 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्ष'मिति। भेदस्यापि स्वलक्षणमात्रत्वे स्वरूपभेदविमर्दनप्रस्तावोक्तदोषानध्यस्यामः। एतेनेदमप्यपास्तम् यथाहुस्तथागताः–'वर्तमानं परिच्छिन्ददवर्तमानताव्यावृत्तिमपि परिच्छिनत्ति' इति। अवर्तमानताव्यावृत्तेर्वर्तमानतायाश्च धर्मत्वे प्रत्यक्षागोचरत्वात्, स्वरूपत्वे चैकस्योभयस्वभावस्यायोगात्। नचवर्तमानतैवावर्तमानताव्यावृत्तिः; भावाभावयोरैक्यायोगात्। यथाहात्मतत्त्वविवेककृत्—

'विधिरात्मास्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः।
सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि लज्जते ?' इति॥

भूतभविष्यतोश्चावर्तमानत्वात् तद्व्यावृत्तेरप्युभयविधायाः एकरूपवर्तमानतात्मकत्वायोगात्, भविष्यतश्चावर्तमानभूतव्यावृत्तत्वेऽपि वर्तमानत्वाभावात्, भूतस्य चाभविष्यदवर्तमानभूतव्यावृत्तत्वेपि वर्तमानत्वाभावात्, वर्तमानतावगाहितायां उत्पन्नावगाहितारूपतया उत्पन्नबुद्धेरवर्तमानव्यावृत्त्यवगाहितया पुनरुत्पत्त्यभावात्, जन्ममात्रव्यापारत्वाच्च बुद्धेः। तस्मान्न प्रत्यक्षं भेदावभासनायालम्। अनुमानं त्वनन्तरमेव निराकरिष्यते। नदेतादृशी दर्शनस्थितिः। आचार्यस्तु–भवतु वा यत्किंचित्प्रमाणम्, तथापि तत एव धर्मिभेदस्यापि सिद्धेर्मुधा धर्मभेदोपन्यास इति प्रौढिमारूढः प्राह —**अन्यतो चेति**। पूर्वं भेदासिद्ध्या विरोधासिद्धिरुक्ता। अधुना धर्मिभेदापादनकोविदः कोऽपि विरोधो दुःसाध्य इत्यभिप्रेत्याह —**कश्चायमित्यादिना**। जनकत्वात्यन्ताभाववति धर्मिण्यजनकत्वस्य वृत्तिरिति चतुर्थविकल्पार्थः। किं सहानवस्थायित्वमिति प्रथमे पक्षे यदिदमवस्थानस्य साहित्यं निषिध्यमानं तत्किं देशतः ? कालतो वा ? इति विकल्प-

---

की सिद्धि होती है, तो कहा जाता है कि अन्य प्रमाणों से भेद और विरोध की सिद्धि होने पर, अन्य प्रमाण से ही धर्मियों के भेद की सिद्धि होगी, अजागलस्तनतुल्यविरुद्धधर्माध्यास रूप अनुमान का कोई फल नहीं है। और यह धर्मों का विरोध क्या है कि जिससे विरुद्धधर्मसंसर्गित्व द्वारा धर्मी का भेद कहा जाता है, क्या वह विरोध, सहाऽनवस्थायित्व है, या वध्यघातक भाव रूप, या भावाऽभाव रूपत्व है या परस्पर के अत्यन्ताभाव समानाधिकरणत्वरूप है। प्रथम पक्ष में भी क्या एक काल में सहानवस्थायित्व विवक्षित है, अथवा एक अधिकरण में सहस्थित्यभाव विवक्षित है, वहाँ एक काल में जनकत्व

प्रथमे किमेकस्मिन्काले सहानवस्थायित्वम् ? उतैकस्मिन्नधिकरणे ? नाद्यः, एकस्मिन्नपि क्षणे धर्मिभेदेन जनकत्वाजनकत्वयोः सहावस्थानात्। नेतरः; एकजनकस्याप्यन्याजनकत्वेन जनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्नधिकरणे सहभावात्। एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकत्र धर्मिणि सहानवस्थायित्वमिति चेत्, न, स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः। क्षणभङ्गवादिनोऽपि तत्कार्यजनकस्यैकस्य क्षणान्तरे तदजनकत्वेन तयोरेकत्रैव वस्तुनि साहित्यात्।

यति—प्रथम इति। एकस्मिन्नपि क्षण इति। एकक्षणे सहानवस्थायित्वरूपो विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरसिद्धः। एकस्मिन्नपि क्षणे बीजवीरणयोरङ्कुरं प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्वर्तमानत्वादित्यर्थः। द्वितीयेऽपि विरोधोऽसिद्धः। एकस्मिन्नपि धर्मिणि जनकत्वाजनकत्वयोः कार्यभेदापेक्षया वर्तमानत्वादित्याह—नेतर इत्यादिना। नन्वेकधर्मित्ववदेकविषयत्वमप्यपेक्षितम्, तादृशश्च विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरस्त्येवेति शङ्कते—एककार्येति। ईदृशश्च विरोधो न क्वापि संप्रतिपन्नः, स्थायिवादिनामेकस्यैकं प्रत्येव कालभेदेन जनकत्वाजनकत्वयोः सर्वत्रैवाङ्गीकारादित्याह—न; स्थायिवादिनमिति। क्षणभंगवादिनं प्रत्यसिद्धिमाह—क्षणभेङ्गति। यदिदमितानींतनाङ्कुरजननसमर्थं बीजं तत्कालान्तरे तं जनयेत् ? न वा यदि जनयेत्सिद्धान्तमनुसन्धत्स्व। ननु क्षणान्तरे तदेव नास्ति कथं तस्य जनकत्वम् ? मास्तु, स्वक्षण एव तं किमिति न जनयेत् ? स्वानन्तरक्षणवर्तिनं प्रत्येव समर्थं तदिति चेत्, एवं तर्ह्यसमर्थं तत्त्रेति वचनीयम्। तथाच तस्यैव बीजस्य तत्कालीनमङ्कुरं प्रति जनकत्वमन्यकालीनं तमेव प्रत्यजनकत्वमिति तादृशमपि सहावस्थानं

अजनकत्व धर्म के विरोध रूप प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि धर्मी के भेद से एक ही काल में जनकत्व और अजनकत्व की साथ ही में स्थिति रहती है। इतर एकाधिरण में विरोध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एक कार्य का जनक होता है, और उससे अन्य कार्य का अजनक होता है, अतः एक में कार्यभेद की दृष्टि से जनकत्व, अजनकत्व दोनों रहते हैं, विरोध नहीं दीखता है। यदि कहें कि एक कार्य रूप प्रतियोगी वाले जनकत्व अजनकत्व को (अर्थात् एक कार्य निरूपित जनकत्वाजनकत्व को) एक धर्मी में सहानवस्थायित्व रूप विरोध विवक्षित है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि स्थायी धर्मीवादी के प्रति इस विरोध की असिद्धि है, सहकारी के अभाव रहते जो जिस कार्य का अजनक रहता है, वही सहकारी को पाकर उस कार्य का जनक हो जाता है, और क्षणभङ्गवादी के मत में भी उस एक कार्य के जनक एक धर्मी को क्षणान्तर में उसी कार्य के जनकत्व का अभाव रहता है, अतः जनकत्वाजनकत्व का एक वस्तुओं में सह-

नापि द्वितीयः; वध्यघातकभावस्य युगपदेकधर्मिनिष्ठयोरेव धर्मयोः सम्भवेनाश्रयभेदासाधकत्वात्। नापि तृतीयः; कार्यभेदं प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपयोरेकस्मिन्नपि भावात्, एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन् वस्तुनि क्षणभेदेन भावाच्च। नापि चतुर्थः, स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः।

किंच सहकारिसमवधाने यः कार्यमुत्पादयति, स भावः सहकारिविरह-

त्वयैवानुमतमित्यर्थः। वध्यघातकभावपक्षं निषेधयति—**नापि द्वितीय इति।** अजातस्य भिन्नाधिकरणस्य वा घातकत्वाभावादेकाधिकरणे वर्तमानयोरेव वध्यघातकभावो वक्तव्यः, तदिहेदृशो विरोधोऽनयोः संभवति? न वा? इति तावदास्तां विचारः। संभवेऽपि नाधिकरणभेदकः, प्रत्युत तदैक्यापादकः इत्यर्थः। भावाभावरूपो विरोध इति तृतीयं पक्षं निषेधयति—**नापि तृतीय इति।** ननु विषयभेदेन वर्तमानयोर्जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपत्वेति न विरोधः; परस्परनिषेधरूपत्वाभावात्। नहि पटाभावो घटश्च परस्परं विरुध्येते, अस्ति भावाभावरूपतेति, तस्मादेकविषययोरनयोर्विरोध इति, तत्राह—**एककार्येति।** कृतोपपादनं चेदमनन्तरमेव। जनकत्वाजनकत्वयोः परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं विरोध इति चतुर्थं पक्षं निषेधति—**नापि चतुर्थ इति।** यस्य हि स्थायिवादिनो जनकत्वमजनकत्वं चैकत्र वर्तत इति नियमस्तं प्रति कथं तयोः परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं सिद्धवदुदाह्रियेतेत्यर्थः।

तदेवं स्वपक्षे विरुद्धधर्माध्यासं परिहृत्य परपक्ष एव समासञ्जयति—**किंचेति।**

वृत्तित्व रहता है, दूसरा वध्यघातकभाव विरोध भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि एक धर्मीवृत्ति धर्मों में एक काल में ही वध्यघातकभाव के सम्भव होने से वे धर्म-धर्मी के भेद के साधक नहीं हो सकते हैं, एक धर्मी में जायमान जनकत्व अजनकत्व का बाधक होता है। तृतीय भावाभाव रूप विरोध नहीं है, क्यों कि कार्य भेद के प्रति जनकत्वाजनकत्व रूप भावाभाव का एक धर्मी में भी भाव (सत्त्व) रहता है। और एककार्यप्रतियोगिक (एक कार्य का) जनकत्वाजनकत्व का क्षणभेद से एक वस्तु में सत्त्व रहता है। चतुर्थ = परस्परात्यन्ताभाव-समानाधिकरणत्व रूप विरोध नहीं है, क्योंकि स्थायिवादी के प्रति इस विरोध की असिद्धि है, एक धर्मी में ही कालभेद से जनकत्व, अजनकत्व माने जाते हैं। अतः परस्पर अत्यन्ताभाव-समानाधिकरणत्व नहीं रहता है, किन्तु परस्पर समानाधिकरणत्व रहता है।

विचारणीय यह है कि जो भाव सहकारी के रहते कार्य को उत्पन्न करता है,

काले तत्र समर्थः ? न वा ? समर्थश्चेत् ? तदापि जनयेत्, न चेत् ? तदेव वस्तु शक्तमशक्तं चेति दुर्निवारो विरोधः। सहकारिविरहकाले सोऽसन् नत्वसमर्थ इति चेत्, न, सहकारिविरहकाले येयमसद्रूपता सा सहकारिसन्निधानकालेऽपि विद्यते ? न वा ? विद्यते चेत्, स्वकाल एवासत्त्वप्रसङ्गः। न चेत् ? न तर्हि सहकारिविरहकाले तदसद्रूपम्, असद्रूपाभावेऽप्यस्य भावात्। अथैकमेव वस्तु सहकारिभावाभावयोः सद्व्यवहारयोग्यम्; तथैव

ननु न सहकारिविरहकालीनकार्यं प्रत्यसमर्थं तत्, किं तर्हि ? सहकारिवियोगसमये तदेव नास्ति, ततो न विरुद्धधर्माध्यास इति शङ्के—**सहकारीति**। तर्हि सहकारिविरहसमये येनासद्रूपेण भवति तत्कारणम्, तत् सहकारिसमवधानसमयेपि विद्यते ? नवा ? प्रथमे सद्रूपावस्थायामप्यसत्त्वं स्यात्। द्वितीये तु पूर्वसिद्धस्य वस्तुनः पश्चाद्भाव्यसत्त्वं न स्वभावः, असत्त्वावस्थायाः पूर्वमपि वस्तुनो विद्यमानत्वादिति परिहरति **नेत्यादिना**। ननु यद्यपि तदेकम्, तथाप्युभयव्यवहारालम्बनं भवति सहकारिसमवधानासमवधाननिबन्धनत्वेन, विरोधाभावादिति शङ्कते—**अथैकमेवेति**। स एव तर्हि न्यायः सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपीत्याह—**तर्हीति**। स्यादेतद्यदि च सत्त्वासत्त्वयोर्निदर्शनेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोराश्रयणं भवति, तर्हि सहकारिविरहकालेऽसत्त्वम्।

वही भाववस्तु सहकारी के अभाव काल में उस कार्य के लिये समर्थ रहता है, या नहीं ? यदि समर्थ हो तो उस सहकारी विरहकाल में कार्य को उत्पन्न करना चाहिये। यदि सहकारी विरहकाल में समर्थ नहीं है, तो वही वस्तु समर्थ और असमर्थ है, यह दुर्निवार विरोध है। यदि कहें कि सहकारी के विरहकाल में वह वस्तु असत् हो जाती है, रहती ही नहीं है, असमर्थ नहीं होती है, कि जिससे उक्त विरोध हो, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सहकारी के विरहकाल में जो यह असत् स्वरूपता होती है, वह सहकारी के सन्निधि काल में रहती है, या नहीं। यदि उस समय भी असद्रूपता रहती है, तब तो वह धर्मी अपनी वर्तमानता काल में ही असत् होगी, स्वकाल में उसमें असत्त्व का सम्बन्ध होगा, कि जिससे कार्यजनकत्व नहीं हो सकेगा। यदि सहकारी सन्निधान काल में असद्रूपता नहीं रहती है, तो सहकारी के विरहकाल में भी असत्स्वरूप धर्मी नहीं होगा। असत् (असमर्थ) स्वरूप के अभाव रहते भी इस वस्तु का भाव रहता है। यदि कहें कि एक ही वस्तु सहकारी के भावाऽभाव काल में सदसद् व्यवहार के योग्य होती है, तो उसी प्रकार से स्थिर वस्तु भी शक्त (समर्थ) अशक्त व्यवहार के योग्य होता है, यह तुल्यता है, असामर्थ्य को छोड़ कर अन्य असत्त्व नहीं है, परन्तु

र्हि स्थिरमपि शक्ताशक्तव्यवहारयोग्यमिति तुल्यम्; न चासामर्थ्यं विहा-
यान्यदसत्त्वमस्ति । अथैकस्मिन्नेव वस्तुनि सहकारिसमवाधानानन्तरं
कार्यजननस्वभावता तद्विरहे चासमर्थस्वभावतेत्युभयमप्यविरुद्धम्, तुल्यमिद-
मस्मन्मतेऽपि । तथापि सहकारिसमवधाने यत्समर्थरूपं तदेव चेत्प्रागप्यस्ति
पूर्वमपि कार्यप्रसवप्रसङ्ग इति चेत्, न; यत्तत्र कार्येऽसमर्थं रूपं तदेव चेत्सह-
कारिसमवधानेऽपि ततोऽजननप्रसङ्ग इति तुल्यत्वात् । न च सहकारिणां

तथाच क्षणिकत्वैवेति, मत स्थैर्याजयेत, तत्राह —**न चासामर्थ्यं विहायेति** । यदिदं
सहकारिविरहकालेऽसत्त्वम्, तद्भवन्मये तावदसामर्थ्यरूपम्, अर्थक्रियासामर्थ्यस्य सत्त्वा-
भ्युपगमात्; तथा नैतादृशासत्त्वमेतादृशक्षणिकत्वं न नास्माभिरपि दुष्यतीति
भावः । अथ वा सहकारिविरहकाले यदिदमसत्त्वम्, तदसामर्थ्यम्, ततश्चा-
सदेव तच्चासमर्थमित्ययुक्तमुक्तमित्याह —**न चासामर्थ्यमित्यादिना** । सामर्थ्यम्
हि सत्त्वमङ्गीक्रियते, ततश्चासत्त्वमप्यसामर्थ्यमेवेत्यर्थः । शङ्कते —**अथैकस्मि-
न्निति** । इयं न निरुद्धगतिसौगतशङ्का । अहो सामर्थ्यासामर्थ्ययोरेकत्र समावेशोऽयं यदायुक्तत-
यास्मत्समीहितं स्वीकृतमित्यभिप्रेत्याह—**तुल्यमिदमिति** । यद्यपि भावयोः समा-
नम्, तथापि स्थिरपक्षेऽनुपपत्त्यन्तरमस्तीति शङ्कते—**तथापीति** । स्थैर्यवादिना सह-
कारिसमवधाने सामर्थ्यमेवम् रूपं प्रागपि वर्तत इति वचनीयम्, तथाच प्रागपि
कार्यप्रसवप्रसंग इत्यर्थः । अस्य मिथो विरोधेन तर्काभासतां दर्शयितुं प्रतिप्रसङ्ग-
माह—**न सहकारीति** । अङ्कुरक्षणोत्पादकमपि बीजक्षणं सहकारिविरहे तस्मिन्ने-
वासमर्थमिति वक्तव्यम्, अन्यथा तद्विरहेऽपि जनकत्वप्रसङ्गात् तस्माच्च तदसमर्थम् तदेव
समर्थमपि, तथाच तस्मादुत्पत्तावसामर्थ्यादप्युत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अजननप्रसङ्ग
इति वा पदच्छेदः । एवं सहकारिसमवधानासमवधानयोः सामर्थ्यासामर्थ्यं चाविरुद्ध-
मिति प्रौढिमारूढेणोक्तम् । वस्तुतस्तु समर्थमेव, समर्थमपि सहकारिवैकल्ये न जनक-
मिति स्थितिः । यत्तु समर्थस्यापि सहकारिसाकल्य एव जनकत्वमित्युक्तमयुक्तम्,

---

ऐसा होने से क्षणिकत्व नहीं सिद्ध होता है । यदि कहें कि एक ही वस्तु में सहकारि
समवधान के अनन्तर कार्यजनन स्वभावता होती है । और सहकारी के अभाव
रहते असमर्थ स्वभावता रहती है, अतः दोनों ही स्वभाव अविरुद्ध हैं । तो यह अवि-
रोध मेरे मत में भी तुल्य है । तो भी यदि कहें कि सहकारिसमवधान काल में
जो समर्थ स्वरूप वस्तु का रहता है । वही स्वरूप यदि प्रथम भी रहता है, तो प्रथम
भी कार्य की उत्पत्ति की प्राप्ति होती है । तो यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि आपके
मत में भी जो सहकारी के विरह काल में असमर्थस्वरूप रहता है, वही स्वरूप
यदि सहकारिसमवधान काल में भी रहता है, तो उससे कार्य अजननप्रसङ्ग तुल्य है ।
और सहकारियों का कारण रूप वस्तुस्वभाव के अन्तर्भाव नहीं है कि जिससे

स्वभावेऽन्तर्भावः, येन गलेपादुकान्यायेन तेपामपि तदेव समुदयः स्यात्किन्तु भवन्मते समर्थक्षणोत्पादकानां क्षितिपवनपाथस्तेजसामिव सहकारितैव। न च सहकारिकृतोपकारस्य भेदाभेदविकल्पानुपपत्तिः; वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वात्, लोकसिद्धकारणताया अप्रत्याख्येयत्वात्। न च केवलव्यतिरेकाभावः; उपकारवस्तुनोर्भेदानभ्युपगमात्, उपकारकारणताया

सहकारिणां स्वभावान्तर्भावे यावत्कारणभावित्वेन सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षिणोक्तम्, तदनङ्गाकारपरास्तमित्याह—**न च सहकारिणामिति**। यथाहि सौगतानां मते क्षित्यादिचतुर्विधधातूनां समर्थबीजक्षणोत्पादकत्वमेव न समर्थलक्षणस्वभावान्तर्भावः। एवमस्मन्मतेऽपि सहकारित्वमेव न स्वरूपत्वम्। इयांस्तु विशेषः—भवन्मते तज्जनकत्वमस्मन्मते तदुपकारकत्वमित्यर्थः। यच्चोपकारकत्वपक्षेपि तेनोक्तम्, तदनूद्य निराचष्टे— **न च सहकारिकृतेति**। अनुपपत्तिरुपकारस्येति शेषः। नन्वनिर्वचनीयोपकारस्य कारणत्वे कारणस्य कारणत्वं न स्यादित्युक्तमेव, तत्राह—**लोकसिद्धकारणताया इति**। कारणस्येति शेषः। नन्वत्राप्युक्तं केवलव्यतिरेको नास्तीति, तत्राह— **न च केवलेति**। कैवल्यं चेदमनौपाधिकत्वमितरथानुपयोगात्, केवलस्य वस्तुमात्रस्येति वा, यदि कारणादुपकारस्य भेदः स्यात् स्यात्तदा कारणस्यापि पृथक्केवलव्यतिरेकप्रार्थनम्, नत्वेतदस्ति, भेदेनाप्यनिर्वचनीयत्वादित्यर्थः। ननु तथा-

---

बलात् उनका भी कुसूलस्थ बीज काल में ही उदय (प्राकटच) हो जाय। किन्तु आप के मत में समर्थ क्षण के उत्पादक भूमि पवन, जल, तेज के समान सहकारियों में सहकारिता ही रहती है। अर्थात् आप के मत में पृथिवी आदि कार्य क्षण (समर्थ बीज) के उत्पादक होते हैं, समर्थ क्षणरूप स्वभाव के अन्तर्गत नहीं होते हैं। ऐसे ही हमारे मत में सहकारित्व होता है, स्वरूपत्व नहीं। और जो सहकारी कृत उपकार होते हैं उनके भेदाभेद के प्रथम विकल्प किये गये हैं, वह भेदाभेद विकल्प से सहकारिकृत उपकार की अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि उपकार रूप वस्तु तत्त्व (सत्य) अर्थात् वस्तुस्वरूपत्व और अन्यत्व रूप से अनिर्वचनीयत्व है। उपकार के अनिर्वचनीय होते भी लोकसिद्ध कारण की कारणता प्रत्याख्येय (खण्डनीय) नहीं है। और जो प्रथम कहा था कि केवलव्यतिरेक का अभाव है, वस्तु के अभाव रहते कार्य का अभाव हो, ऐसा केवलव्यतिरेक नहीं है, वस्तु के नहीं रहते सहकार से कार्य होता है, इत्यादि। यह कहना नहीं बनता है, क्योंकि केवलव्यतिरेक का अभाव नहीं है, उपकार और वस्तु में भेद नहीं माना जाता है, उपकार की कारणता को ही वस्तु की कारणता मानी जाती है, अतः उपकार के अन्वयव्यतिरेक, कारण वस्तु के अन्वयव्यतिरेक होते हैं। प्रथम का प्रयोग (अनु-

एव वस्तुकारणताभ्युपगमात्। प्रयोगस्तु धर्मयोर्विरोधनिरासेनैव निरस्तः। अनैकान्तिकश्च, सहकारिमध्यमध्यासीनस्य विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वेऽपि स्वतो भेदाभावात्। कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसम्बन्धित्वादित्यपि हेतुः स्थायिवादिनो मते तस्यैव तथाविधक्षणसम्बन्धित्वात्तस्मिन्नेवानैकान्तः। तदेवं प्रसङ्गतद्विपर्ययोरपास्तत्वात् क्षणिकत्वानुमानं दूरोत्सारितम्।

प्यनुमाने किं दूषणमिति? तत्राह—**प्रयोगस्त्विति**। पूर्वोक्तप्रकारेण विरोधानिनिरूपणे क्वचिदसिद्धिः क्वचिद्विरुद्धत्वं क्वचिदनैकान्तिकत्वमित्यर्थः। अविवक्षितविशेषेऽपि विरोधेनैकान्तिकमाह—**अनैकान्तिकश्चेति**। तद्धि सहकारिमध्यमध्यासीन कालान्तरीयमङ्कुरम् न जनयति, जनयति च तात्कालिकमिति विरुद्धधर्माध्यासवत्। अथ च स्वयं स्वस्मान्न भिद्यते इति तत्रानैकान्तिकत्वमित्यर्थः। सहानवस्थायित्ववध्यघातकत्वभावाभावविरोधेषु यथायथमसिद्ध्यादयो ज्ञेयाः। यद्वा कुसूलनिहितसहकारिसमवहितबीजयोः परस्परविरुद्धधर्मसंसृष्टत्वस्याविशिष्टत्वात् सत्यपि विरुद्धधर्मसंसर्गे सहकारिसमवहितस्य स्वप्रतियोगिकभेदानधिकरणत्वादनैकान्तिकत्वमित्याह—**अनैकान्तिकश्चेति**। द्वितीयानुमानेऽप्यनन्तरानैकान्तिकमाह—**कार्याव्यवहितेत्यादिना**। यत् सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेप्युक्तं दूषणमतिदिशति—**तदेवमिति**। यदि सहकारिसहितं बीजं तद्विरहकालीनबीजान्न भिद्येतार्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वं न स्यादिति प्रसङ्गः, तच्चेदं तस्माद्भिद्यते इति तद्विपर्ययः, तयोः स्थायिन्यपि जनकत्वसमर्थनेन निरासात्सत्त्वहेतुकं क्षणिकत्वानुमानमपि निरस्तमित्यर्थः।

मान तो धर्मों के विरोध के निराकरण से ही निरस्त हो गया। (कुसूलस्थं बीजं, सहकारिमध्यासीनाद् भिन्नं, विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वात्) इसका धर्मभेद निराकरण से निरास हुआ, क्योंकि सहकारिमध्यासीन को विरुद्धधर्मसंसृष्ट (संयुक्त) होने पर भी स्वरूप से भेद का अभाव रहता है। और विरुद्धधर्मसंसृष्टत्व अनैकान्तिक भी इसीसे है, क्योंकि बीज भेदरूप साध्य के नहीं रहते भी रहता है। दूसरे अनुमान का हेतु (कार्याव्यवहित) इत्यादि भी अनैकान्तिक है, क्योंकि स्थायिवादी के मत में उस अंकुरजनक बीज को ही अतीत क्षण से अतिरिक्त क्षणयुक्तित्व होता है, अतः उसीमें अनैकान्तिक है, अतः इस उक्त रीति से, प्रसङ्ग और विपर्यय के अपास्त होने से क्षणिकत्वानुमान-दूरोत्सारित (निरस्त) हुआ। (यदि सहकारि सहित बीज, तद्रहित कालिक बीज से भिन्न हो, तो अर्थक्रिया-कारित्व रूप सत्त्व भी नहीं होगा। यह प्रसङ्ग है। अर्थक्रियाकारित्व वाला यह सहकारियुक्त है, यह उस असहकारियुक्त से विपर्यय है) इत्यादि।

किंचेदं क्षणिकत्वम्? किं क्षणसम्बन्धित्वम्? क्षणान्तरासम्बन्धित्वे सति क्षणसम्बन्धित्वं वा? क्षणान्तरमात्रासम्बन्धित्वे सति क्षणसम्बन्धित्वं वा? उत्पत्तिक्षणे सत्त्वं वा? स्वोत्पत्तिक्षणे सत्त्वं वा? स्वोत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वं वा? एकक्षणावस्थायित्वं वा? अनेकक्षणानवस्थायित्वविशेषितं वा? न तावत्प्रथमः; सिद्धसाधनत्वात् अनेकक्षणावस्थायिनोऽपि घटादेः क्षणसम्बन्धित्वात्। न द्वितीयः; अर्थान्तरत्वात्ः क्षणान्तरासम्बन्धित्वेप्यनेकक्षणसम्बन्धित्वाविरोधात्। घटादीनामनेकक्षणसम्बन्धिनामपि स्वप्रध्वंसादिक्षणासम्बन्धित्वस्याभ्युपगमात्। न तृतीयः; व्याघातात्, तत्सम्बन्धिक्षणस्यापि क्षणविशेषत्वेन क्षणान्तरत्वे सति क्षणान्तरमात्रासम्बन्धाभावात्।

साध्यनिष्ठक्षणिकत्वस्याप्रसिद्धविशेषणत्वसिद्धसाधनत्वयोरन्यतरापात इति दिदर्शयिषुर्विकल्पयति— **किंचेत्यादिना**। क्षणान्तरासंबन्धित्वमात्रत्वे सति क्षणसंबन्धित्वं द्वितीयः पक्षः। तृतीयस्तु क्षणान्तरसंबन्धित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वे सति क्षणसंबन्धित्वमिति विशेषः। सिद्धसाधनतामेव विवृणोति— **अनेकक्षणेति**। न केवलं क्षणान्तरेण केनचिदसंबन्धोऽनेकक्षणसंबन्धेन न विरुध्यत इति संभावनामात्रम्, किं तर्ह्युपगतश्चानित्येषु पदार्थेषु स्थायिवादिभिरित्याह —**घटादीनामिति**। व्याघातमेव दर्शयति —**तत्संबन्धीति**। क्षणान्तरत्वाक्रान्तं यत्तत्संबन्धात्यन्ताभाववत्त्वे सति क्षणसंबन्धित्वमिति हि तृतीयः पक्षः, तच्च व्याहतम्। येन हि क्षणेन संबध्यते सोपि यत्किंचित्क्षणापेक्षया क्षणान्तरमेव। तथा च तेनाप्यसंबन्धः संबन्धश्चेत्या-

---

यह क्षणिकत्व क्या है—क्या क्षणसम्बन्धित्व है १, या क्षणान्तराऽसम्बन्धित्वे युक्तक्षणसम्बन्धित्व है २, या क्षणान्तरमात्रासम्बन्धित्वयुक्त क्षणसम्बन्धित्व है ३, या उत्पत्तिक्षणसत्त्व है ४, या स्वोत्पत्तिक्षणसत्त्व है ५, या स्वोत्पत्तिक्षणमात्र सत्त्व है ६, या एकक्षणावस्थायित्व है ७, या अनेकक्षणानवस्थायित्वयुक्त एकक्षणावस्थायित्व है ८। सिद्धसाधनता होने से प्रथम पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि अनेकक्षणावस्थायी घटादि को क्षणसम्बन्धित्व रहता ही है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, क्षणान्तरासम्बन्धी होते भी अनेकक्षणसम्बन्धित्व में विरोध नहीं होता है, अनेकक्षणसम्बन्धी घटादि को भी स्वध्वंसादिक्षणाऽसम्बन्धित्व को माना जाता है, अतः अक्षणिक घट में भी ध्वंसक्षणासम्बन्धित्वयुक्त क्षणसम्बन्धित्व सिद्ध होता है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि परस्पर व्याघात (विरोध) है। क्षणान्तर मात्र के साथ असम्बन्धित्व क्षणसम्बन्धित्व यह तृतीय पक्ष है, यहाँ जिस क्षण से सम्बद्ध होता है, वह क्षण भी किसी क्षण की अपेक्षा क्षणान्तर होता है, अतः क्षणान्तर के साथ सम्बन्ध और असम्बन्ध यह विरोध होता है। तत्सम्बन्धी क्षण के भी क्षणविशेषत्व से (क्षणान्तरत्व होने से) क्षणान्तर मात्र के साथ

न चतुर्थः; सिद्धसाधनत्वात्, अनेकक्षणसम्बन्धेप्युत्पत्तिक्षणसम्बन्धाविरोधात् । अत एव न पञ्चमः । नापि षष्ठः, स्वशब्देनाङ्कुराद्येकैकविवक्षायां तदुत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वस्य घटादिष्वभावेन क्षणिकत्वाभावप्रसङ्गात् । सर्वविवक्षायां तु लक्षणासम्भवित्वम्, एकैकस्य सर्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वासम्भवेन तन्मात्रसत्त्वासंभवात् । नापि सप्तमः, अनेकक्षणसत्त्ववादिभिरप्येकक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारात् । नाप्यष्टमः, प्रध्वंसाद्यनेकक्षणानवस्थायित्वस्यैकक्षणावस्थायिनि स्थायिन्यपि सम्भवात् ।

उत्पत्तिक्षणानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमित्यपि न,

---

पातात् व्याघातः स्यादित्यर्थः । **अत एवेति** । यत एवानेकक्षणसतोऽप्युत्पत्तिक्षणसत्त्वसम्भवः, अत एव स्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वमपि संभवतीति सिद्धसाधनमित्यर्थः । **नापि षष्ठ इति** । स्वोत्पत्तीत्यत्र स्वशब्देन किं प्रतिनियतः कश्चिदभिधीयते ? सर्वे वा पदार्थाः ? आद्येऽव्याप्तिः । सर्वपदार्थानामेकपदार्थोत्पत्तिक्षणसत्त्वाभावेन तेषु क्षणिकेषु लक्षणाभावादित्यर्थः । द्वितीयेऽसंभवमाह—**सर्वेति** । सप्तमपक्षेऽपि सिद्धसाधनतामाह— **नापि सप्तम इति । नाप्यष्टम इति** । उत्पत्तिक्षणावस्थायित्वेन यावदेकक्षणावस्थायित्वमस्ति प्रध्वंसक्षणमारभ्योत्तरानेकक्षणानवस्थायित्वं नास्तीति स्थायित्वेऽप्युपपत्तेरनिरस्तत्वमित्यर्थः ।

लक्षणान्तरं दूषयति—**उत्पत्तिक्षणेति** । उत्पत्तिक्षणमनन्तरक्षणवर्तिध्वंस-

---

असम्बन्ध का अभाव हो जाता है । सिद्धसाधनता से चतुर्थ पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि अनेक क्षण के साथ सम्बन्ध होते भी उत्पत्तिक्षण के साथ सम्बन्ध से विरोध नहीं रहता है, अतः उत्पत्तिक्षणसत्त्व स्थायि में भी रहता है । अतएव पञ्चम स्वोत्पत्तिक्षण सत्त्व भी सिद्ध साधनता से अयुक्त है । स्वोत्पत्तिक्षणमात्र सत्त्व यह षष्ठ पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि स्वशब्द से अंकुरादि एक-एक की विवक्षा करने पर अंकुरादि की उत्पत्तिक्षणमात्र में सत्त्व के घटादि में अभाव से क्षणिकत्व के अभाव का प्रसङ्ग होगा और स्वशब्द से सब पदार्थों की विवक्षा करने पर तो लक्षण में असम्भावित्व होगा, क्योंकि एक-एक पदार्थ को सब की उत्पत्तिक्षण में सत्त्व के असम्भव से सब की उत्पत्तिमात्र में सत्त्व का असम्भव है । एकक्षणावस्थायित्व रूप सप्तम पक्ष भी युक्त नहीं, क्षणिकत्व का साधक नहीं है, क्योंकि अनेकक्षणसत्त्ववादी भी एक क्षणावस्थायित्व को मानते हैं, अतः सिद्धसाधनता है । अष्टम पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि ध्वंसादि अनेक क्षण में अनवस्थायित्व का एक उत्पत्तिक्षण में स्थायी स्थायी वस्तु में भी सम्भव रहता है ।

उत्पत्तिक्षण के अनन्तर क्षणवर्ती ध्वंस का प्रतियोगित्व क्षणिकत्व है, यह लक्षण भी नहीं हो सकता है । क्योंकि स्थिर पदार्थों को भी जिस किसी को

स्थिराणामपि यस्य कस्यचिदुत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वोपपत्तेः। एतेन स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वमपि निरस्तम्, स्वशब्दखण्डनस्य पूर्ववदत्रापि तुल्यत्वात्। अथास्य घटस्यैतद्घटोत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमेवं प्रतिव्यक्ति क्षणिकत्वलक्षणमूहनीयमिति चेत्, मैवम्, एवंविधक्षणिकत्वसाधने सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वापातात्; न ह्यतीतानागतानां च सतामेतदुत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वमस्ति; तत्तद्ध्वंसानामेतद्घटोत्पत्त्यनन्तरक्षणेऽनुत्पन्नत्वात्।

प्रतियोगित्वं स्थायिनि न संभवतीत्यभिमानः। अत्र किमुत्पत्तिक्षणशब्देन यथाश्रुतोऽर्थो विवक्षितः? स्वोत्पत्तिक्षणो वा? आद्ये प्राह—**स्थिराणामपीति**। स्थिरस्यापि हि यो ध्वंसक्षणस्तत्पूर्वक्षणोपि यस्यकस्यचिदुत्पत्तिक्षणो भवतीत्यर्थान्तरमित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**एतेनेति**। तत्रापि स्वशब्देन किं ध्वंसप्रतियोगी विवक्षितः? किं वा प्रतिनियतः कश्चित्? आद्येऽनन्तरदोषानुषङ्गः। द्वितीये तु षष्ठपक्षोक्ताव्याप्तिरित्याह—**स्वशब्देति**। ननु न समस्तक्षणिकेषु अनुगतमिदमाचक्ष्महे लक्षणम्, येनैवमव्याप्तिः स्यात्किंतु प्रतिविशेषं पृथगेवेत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**अथेति**। अनन्तरत्वं चात्रोत्तरत्वं विवक्षितम्, तस्य स्थैर्येऽप्युपपद्यमानतया अर्थान्तरतापरिहारायाव्यवहितग्रहणम्। तत्किं यत् सत्तत्क्षणिकमित्यत्र सत्त्वहेतुना एतादृशं क्षणिकत्वं सिसाधयिषितम्? तथाचानैकान्तिकत्वम्। गणरात्रान्तरितपदार्थानां चैतद्घटोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणक्षणिकत्वाभावेन विपक्षत्वात् सत्त्वहेतोश्च तत्र वर्तमानत्वादित्याह—**एवंविधेत्यादिना**। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः इति च द्रष्टव्यम्। अथ किमिति तत्र नास्ति? तत्राह—**तत्तद्ध्वंसानामिति**।

उत्पत्ति के अनन्तर क्षणवर्तिध्वंस के प्रतियोगित्व की सिद्धि हो सकती है, इसीसे स्वोत्पत्ति के अनन्तरक्षणवर्ती ध्वंस के प्रतियोगित्व रूप लक्षण भी निरस्त हो गया, क्योंकि स्वशब्द खण्डन को पूर्व के समान यहाँ भी तुल्यता है। यदि कहें कि, इस एक व्यक्ति घट को इस घट की उत्पत्ति से अव्यवहित उत्तर क्षणवृत्ति ध्वंसप्रतियोगित्व है। इसप्रकार से प्रति व्यक्ति क्षणिकत्व लक्षण ऊहनीय है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार के क्षणिकत्व के साधने पर क्षणिकत्व के सत्त्वरूप साधन को अनैकान्तिकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि अतीत अनागत जो सत् हैं, उनमें एतत् वर्तमान उत्पत्ति से अव्यवहित अनन्तर क्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व रूप साध्य नहीं है, क्योंकि तत्तत् ध्वंसों को एतद् घट की उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में उत्पन्नत्व नहीं रहता है और सत्त्व रहता है। अतः अनैकान्तिकता होगी (यत् सत् तत् क्षणिकम्) यह व्याप्ति नहीं सिद्ध होगी। इसी वक्ष्यमाण

एतेनोत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वं क्षणिकत्वमित्यपि निरस्तम्; यत्किंचिदुत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वस्य स्थायिष्वपि भावात्, स्वशब्देन विशेषणेऽपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्, प्रतिव्यक्तिलक्षणे च सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वात्। घटत्वात्पटत्वादित्यादिप्रयोगसाधनाभ्यूहने चानागतघटपटादिष्वनैकान्तिकता तदवस्थैव। सर्वश्चायमुदितो हेतुकलापः पूर्वोदितप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधितया कालात्ययापदिष्टः। यत्पुनरुक्तं सामग्रीभेदाद्विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वानुपपत्तिरिति, तदयुक्तम्;

उक्तं दूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति**। उत्पत्तिक्षणस्य यः प्रध्वंसस्तेनासमानकालीनत्वं यदुत्पद्यमानस्य तत्क्षणिकत्वम्, स्थिरस्य ह्यनेकक्षणावस्थायिनो नोत्पत्तिक्षणप्रध्वंसासमानकालीनत्वम्, तेन नार्थान्तरत्वमित्यर्थः। असम्भवपरिहारार्थं चोत्पत्तिपदम्। एतेनरयेतद्विवृणोति—**यत्किंचिदित्यादिना**। पूर्वोक्तदोषोऽव्याप्तिः। अथ विशेषलक्षणमिदं विवक्ष्यते, तदा पूर्वोक्तमनुमानदूषणं स्यादित्याह—**प्रतिव्यक्तीति**। ननु विशेषलक्षणविवक्षायां न सत्त्वादिति हेतुरभिधित्सितः, किंतु घटत्वात् पटत्वादित्यादिव्यावृत्तधर्मा, अतो नानैकान्तिकता, तत्राह—**घटत्वादिति**। तथाप्यनागतेषु घटेष्वभिप्रेतसाध्यरहितेष्वनैकान्तिकता। एवं पटत्वादेरपीत्यर्थः। एतद्घटत्वादित्यादिहेतुविवक्षायां व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम्। एवं साध्यप्रयुक्तदूषणान्युक्त्वा बाधमप्याह—**सर्वश्चायमित्यादिना**। ननु कथं संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयसामर्थ्यत्वम्? यावतान्यत्र निरपेक्षयोर्दृष्टयोरत्रापि तयोः साहित्याभावो वर्णित

हेतु से (उत्पत्तिक्षण का जो ध्वंस, उस ध्वंस के साथ असमानकालिकत्व क्षणिकत्व है) यह लक्षण भी निरस्त हो गया। क्योंकि यत्किञ्चित् उत्पत्तिक्षण के ध्वंस के असमानकालिकत्व का स्थायि वस्तु में भी भाव (सत्त्व) रहता है। घट की उत्पत्तिक्षण के ध्वंस के साथ पट को भी असमान कालीनत्व हो सकता है। स्वशब्द से विशेषणयुक्त लक्षण करने पर (स्वोत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्व कहने पर) पूर्वोक्त सत्त्वानिर्वचन दोष का सम्बन्ध होगा, और प्रतिव्यक्ति लक्षण करने पर, उक्त सत्त्वसाधन (हेतु) में अनैकान्तिकता होगी, सत्त्व के स्थान घटत्व, पटत्व आदि हेतु को मानने पर (साधन रूप से कल्पना करने पर) अनागत घट-पटादि में अनैकान्तिकता तदवस्थ रहेगी। घटत्वादि अनागत घटादि में भी रहेंगे, और प्रकृतसाध्य वहाँ नहीं रहेगा। और क्षणिकत्व के साधक यह सब कथित हेतुसमूह, पूर्व वर्णित प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के साथ विरोध से कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हैं। और जो प्रथम कहा था कि सामग्री भेद से तथा विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के एकत्व की अनुपपत्ति है, वह

संप्रयोगसंस्कारयोः संभूयसामग्रीत्वात् । न चान्यत्र संप्रयोगसंस्कारयोः प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयोः कारणत्वादेकज्ञानकारणतानुपपत्तिः; यस्मात्—

अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयोः ।
दृष्टं संभूयकारित्वं विशिष्टानुमितिं प्रति ॥ १७ ॥

श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा लिंगस्याक्षनिरपेक्षस्यानुमानज्ञानहेतुत्वं दृष्टम्, दृष्टं चेन्द्रियस्यानपेक्षस्यापरोक्षज्ञानकरणत्वम्, तथापि संभूयोभाभ्यामयं पर्वतो वह्निमानित्येकमनुमानज्ञानं जायमानमुपलभामहे । नह्यन्तरेणेन्द्रियसंप्रयोगमयमिति पुरोवर्त्याकारोपलम्भसम्भवः । न च विरुद्धधर्म-

---

इति तत्राह—**नचान्यत्रेति** । किमन्यत्र निरपेक्षकारणत्वेनात्रापि नैरपेक्ष्यमनुमित्सितम् ; तर्ह्यनैकान्तिकम्, लिङ्गस्य श्रूयमाणतया स्मर्यमाणतया वा क्वचिदिन्द्रियनिरपेक्षतयानुमित्युत्पादकस्येन्द्रियस्य च घटादौ लिङ्गनिरपेक्षतयाऽपरोक्षज्ञानजनकस्यायमग्निमान्पर्वत इत्यनुमित्युत्पत्तौ संभूयकारित्वदर्शनादित्याह—**अन्यत्रेति** ।

इममेव श्लोकं विवृणोति—**श्रूयमाणस्येत्यादिना** । ननु किमित्यनुमितावपि तयोः साहित्यमिति, तत्राह—**नह्यन्तरेणेति** । यद्यप्ययं पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञात्मकोऽवयवो नानुमन्यते गोतमगोत्रिभिः, तथापीदृशं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयमन्यनुजायत इति न निदर्शने विप्रतिपत्तिः । यत्तु पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाद्भेद इति; तत्राह—**न च विरुद्धेति** । एतेन विषयभेदाद् भेदोन्नयनमपि निरस्तम् ।

कथन अयुक्त है । क्योंकि इन्द्रियसंप्रयोग (सम्बन्ध) और संस्कार दोनों संभूय (मिल कर) प्रत्यभिज्ञा रूप एक ज्ञान की सामग्री (पूर्ण साधन) होते हैं । यदि कहें कि प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र इन्द्रियसम्बन्ध और संस्कार परस्पर निरपेक्ष होकर प्रत्येक ज्ञान के कारण होते हैं, अतः उन दोनों में मिल कर एक ज्ञान के कारणता की अनुपपत्ति है, तो कहा जाता है कि अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि—

अन्यत्र परस्पर निरपेक्ष लिङ्ग और इन्द्रिय के मिल कर, कार्यहेतुत्व को विशिष्ट अनुमिति के प्रति देखा गया है, और देखा जाता है ॥ १७ ॥

जैसे कि श्रूयमाण या स्मर्यमाण नेत्रनिरपेक्ष लिङ्ग के अनुमिति ज्ञान के हेतुत्व को देखा गया है । तथा अन्यानपेक्ष इन्द्रिय के भी अपरोक्ष ज्ञानकरणत्व को देखा गया है, तो भी मिले हुए दोनों लिङ्ग और इन्द्रिय से जायमान (पर्वतोऽग्निमान्) पर्वत अग्नि वाला है, यह एक अनुमिति ज्ञान होता है, कि जिसको हम सब जानते हैं । इन्द्रियसम्बन्ध के बिना अयम् (यह) इस प्रकार से अग्रवर्ती आकार का ज्ञान नहीं हो सकता है । और यहाँ विरुद्ध धर्म के संसर्ग से भेद नहीं होता है, एक विशिष्ट ज्ञान होता है । इसी एक अनुमान ज्ञान में, वह्निमान्, इस अंश में परोक्षत्व और, अयम्, इस अंश में प्रत्यक्षत्व रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध

संसर्गाद् भेदः, अस्मिन्नेवानुमानवेदने वह्निमानिति चायमिति च पारोक्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मसंसर्गोपलब्धेः। तदेवं प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वेन प्रामाण्य-

---

अयं पर्वतो वह्निमानित्यत्रैव व्यभिचारात्, कथं चात्र पारोक्ष्यमधिगतम् ? नहि तदित्युल्लेखमात्रात्, पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोरप्यग्निमान्पर्वतः सोऽग्निमान् पर्वत इति ज्ञानयोस्तदन्वयानन्वयदर्शनात्। न च प्रत्यभिज्ञात्वादेव ज्वालाप्रत्यभिज्ञावदप्रामाण्यानुमानम्, विरुद्धधर्मसंसृष्टविषयत्वोपाधिहतत्वात्, अत्र च तदभावस्य निवेदितत्वात्, तथापि चाप्रामाण्ये सर्वत्रैकान्तात् क्वचिदेकक्षणस्याप्यसिद्धेः क्षणिकस्यापि क्षयरोगप्रसङ्गात्। प्रत्यभिज्ञाबाधमनुमानस्य समर्थितमुपसंहरति—तदेवमिति। एतेन विज्ञानक्षणिकत्वानुमानमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम्; विनष्टाविनष्टत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्योपाधेर्विपयतया असिद्धेः, नीलपीतादेश्च विज्ञानबहिर्भावात्। अस्तु तर्हि प्रत्यक्षम्, न स्वतः परतो वा, असिद्धेः। किं विज्ञानस्य स्वयमेवोत्पत्तिनाशौ सिद्ध्यतः ? ज्ञानान्तरेण वा ? न तावदन्त्यः, अपसिद्धान्तात्तद्विज्ञानस्योत्पत्तिविनाशौ गृह्णत्तद्विज्ञानमपि गृह्णीयादपरथा किमीयाविमावित्यावेदयेत्। नच विज्ञानस्य विज्ञानान्तरग्राह्यत्वं स्वप्रकाशदर्शने शोभनम्। स्वग्राहकं विज्ञानं स्वोत्पत्तिविनाशावप्यवगाहत इति चेत्, तत्किं स्वसमये ? स्वाभावसमये वा ? न तावदन्त्यः असंभवादतिप्रसङ्गाच्च। किं नाम न शक्यसाधनमसता ज्ञानेन ? नापि प्रथमः; संवित्समये तदुत्पत्तेरतीतत्वात् निधनस्य चानागतत्वादयोगिप्रत्यक्षस्य चातीताद्यगोचरत्वात्। कथं च तदिन्द्रियसन्निकर्षाजन्यस्य तत्प्रत्यक्षत्वम् ? न हि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् तद्ध्वंसोऽस्ति, येन तदिन्द्रियसन्निकर्षादुत्पद्येत। अस्तु तर्हि योगिप्रत्यक्षम्, तस्य च त्रैकाल्यगोचरत्वात्, यदाह कीर्तिर्न्यायबिन्दौ प्रत्यक्षचातुर्विध्यं वदन्—'तदनुभूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति, तेन न कोऽपि कलङ्कलेपः' इति, तदपि चार्तम्। तथाहि—किं तदीयनीलादिसंवेदनानामुत्पत्तिविनाशविषयत्वम् ? उत्पत्तिविनाशमात्रविषयस्य वा कस्यचित् ? नाद्यः, नीलादिसंवेदनानां तत्तन्मात्रविषयत्वेन स्वोत्पत्त्याद्यगोचरत्वात्। अथान्या संवित् ? सापि किं स्वोत्पत्त्यादिविषयिणी ? परोत्पत्त्यादिविषयिण्यपि वा ? नान्त्यः, परबुद्धीनां तदविषयत्वात्, विषयत्वे चापराद्धान्तात्। अथ सा स्वोदयाद्येव विषयीकरोतीति योगिज्ञाननिदर्शनेन चेतरास्वनुमीयत इति मतम्। अस्तु तर्हि तदीयतादृशसंविदि प्रमाणपर्यनुयोगः। ननु यो यदभिनिविशमानोऽभ्यस्यति, स तस्य परां काष्ठां प्राप्नोति, चित्रकार इव शिल्पकर्माभ्यासी। अभ्यस्यति च कश्चिदवहितो ध्यानमित्यनुमानं प्रमाणम्, न, नष्टमुष्टादिशोकवशेनातिभावयतः कूटसाक्षात्कार-

---

उपलब्ध होता है। और वस्तुज्ञान का भेद नहीं है, अतः भेदसाधक धर्म भेदव्यभिचारी है। अतः उक्त रीति से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के एक होने से, एकत्व रूप से प्रमाणता के सम्भव से, उससे विरुद्ध सब पदार्थों में क्षणिकत्व से भेद का अनु-

संभवात्तद्विरुद्धं न भेदानुमानं कालात्ययापदिष्टं न भेदप्रत्यायनायालम्।

कथं च व्याप्यव्यापकभावभेदोपलम्भाधीनात्मलाभमनुमानमसिद्धे भेदे भेदं गोचरयेत्? आगमोऽप्यभिधानाभिधेयभेदावगमपुरःसरस्तस्मिन्नेवासिद्धे कथं तत्र प्रामाण्यमश्नुवीत? शब्दान्तरादिकमपि सिद्धशब्दादिभेदोपजीवनेन प्रवर्तमानं तदसिद्धौ कथं कर्मोपासनादिभेदमावेदयेत्? न हि भेदासिद्धौ

स्यापि दर्शनात्। अभ्यस्यति च कश्चिदिति च शपथसाध्यम्। अस्तु तर्हि बुद्धिनिबद्धागमवशात्तादृशसर्वज्ञ इति सिद्धिः, स एव तर्हि सर्वज्ञः केन सिद्धः? ननु सोपि तदीयागमादेव, अहो दुर्भगोऽसि यत्तावकगोत्रधुराधुरैर्मारजिल्लोकजिदित्यादीन्युदारगुणग्रामनामान्युपार्जितानि, त्वया तु सांप्रतं मन्दाक्षजिदिति नाम निर्लज्जेनोपार्जितम्, कथमपरथा तत्प्रणीतागममेव तत्सिद्धावभिदधासि? परस्पराश्रयादपि न बिभेपि? तदित्थम्—

> स्वतस्तावन्न विज्ञप्तेः सिद्ध्येतामुदयव्ययौ।
> परतोऽपि न विज्ञप्तेः सिद्ध्येतामुदयव्ययौ॥

तदेवं विरुद्धधर्मसंसर्गाद्भेदानुमानं निरस्तम्, इदानीं भेदशङ्कितानुमानजातस्य साधारणं दूषणमाह—**कथं चेत्यादिना**। व्याप्यव्यापकयोर्यो भेदोपलम्भः, तमुपजीव्य प्रवर्तमानं कथं भेदमात्रे प्रमाणं स्यात्? अन्योन्याश्रयादित्यर्थः। इममेव दोषमागमेऽप्याह—**आगमोऽपीति**। **तस्मिन्निति**। अभिधानाभिधेययोर्भेद इत्यर्थः। यत्तु शब्दान्तरादि भेदसाधकमित्युक्तम्, तत्परिहरति—**शब्दान्तरादीति**। एतेषां चोदाहरणानि मिथ्यात्ववादे दर्शितानि। तत्र च शब्दान्तरेण धातुभेदेन धात्वर्थभेदात्तदुपरक्तभावनाभेदाधिगतिश्च, शब्दादिभेदोऽप्यसिद्धस्ततः कथं तदुपजीविनः समस्तभेदसाधकत्वम्? इत्यर्थः। उपलक्षणं चैतदभ्यासादेरपि, तेषामपि

मान कालात्ययापदिष्ट (बाधित) होता है, अतः भेदज्ञान के लिये समर्थ नहीं हो सकता है।

व्याप्य-व्यापकस्वरूप भाव (पदार्थ) के भेदोपलम्भाधीन स्वरूप को लाभ करने वाला अनुमान, भेद के असिद्ध रहते भेद को कैसे विषय करेगा? अर्थात् व्याप्यादि के भेदाधीन अनुमान होता है, और अनुमान से भेद को सिद्ध करना होता है, तो अन्योन्याश्रय हो जाता है, अतः अनुमान से भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। अभिधान (वाचक शब्द) और अभिधेय के भेद के ज्ञानपूर्वक सिद्ध होने वाला आगम भी उस भेद के ही असिद्ध रहते, उस भेदविषयक प्रमाणता को कैसे प्राप्त करेगा। सिद्ध शब्दादि के भेद को आश्रयण कर के प्रवर्तमान, शब्दान्तरादि प्रमाण भी, उस भेद की असिद्धि रहते कर्मोपासनादि के भेद को कैसे समझायगें, भेद की असिद्धि रहते, यजति, ददाति, जुहोति, आदि धातु के अर्थों

यजतिददातिजुहोत्यर्थानां भेदः सिद्ध्यति, येन 'धात्वर्थभेदे सर्वत्र विज्ञेयं भावनान्तरम्'–इति वार्तिककारोक्तो भावनाभेदः सिद्ध्येत् । उपमानमपि मानान्तरावसितगोगवयादिवस्तुद्वयावच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्, तदसिद्धौ न वस्तुभेदावभासनाय प्रभवति । तिलेभ्य एव तैलम्, पयस एव दधीत्यर्थक्रियान्यथानुपपत्तिप्रभवत्वादर्थापत्तिरपि नान्तरेण तिलादिकारणभेदावभासं व्यवस्थासिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयान्न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते । अभावोऽपि नेदमिह, नेदमिदमिति धर्मिप्रतियोगिभेदाधीनसिद्धिर्न वस्तुभेदं

हि पुनः श्रुतिसङ्ख्याविशेषसंज्ञान्तरगुणान्तरासन्निधिविशेषरूपाणामभ्याससङ्ख्यासंज्ञाङ्गप्रकरणान्तराणां भेदोपजीवनेनैव प्रवर्तमानानां तदसिद्धावप्रवृत्तेः । उपमानेऽप्युक्तन्यायमतिदिशति—**उपमानमपीति** । मानान्तरावसितं यद् गोगवयादिवस्तुद्वयं तदवच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्तस्य च वस्तुद्वयस्यासिद्धावुपमानमपि न समस्तभेदावभासनाय प्रभवतीति योजना । अर्थापत्तेरपि भेदेऽप्रामाण्यमाह—**तिलेभ्य एवेत्यादिना** । अर्थापत्तिरपि न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते, कुतस्तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीति तैलदधिलक्षणार्थक्रियाया व्यवस्था नियतिः, तदन्यथानुपपत्तिप्रभवत्वात् । भवतु, तावतापि किमायातमित्यत आह—**नान्तरेणेति** । तिलेभ्य एव दुग्धेभ्य एवेत्यत्र यदि तिलदुग्धयोर्भेदो न प्रतीतः, ततः किं कुत्र व्यवस्थाप्येत ? प्रत्युताव्यवस्थैव, तस्मात् तयोर्भेदसिद्धावेव व्यवस्थासिद्धिर्व्यवस्थान्यथानुपपत्तिलक्षणार्थापत्त्या च कारणयोर्भेदसिद्धिरभिप्रेतेत्यन्योन्याश्रयादिति योजना । न चाभावप्रमाणगम्योऽस्तु भेदः, तस्य च परस्परव्यावृत्तिरूपभेदे संभवति प्रवृत्तिरिति, तत्राह—**अभावोऽपीति** । संसर्गाभावेऽन्योन्याभावे वा प्रवर्तमानोऽभावो

का भेद भी नहीं सिद्ध हो सकता है कि जिससे (धात्वर्थ के भेद से सर्वत्र भावनान्तर विज्ञेय है) यह वार्तिककार से कथित भावना का भेद सिद्ध हो सके । अतः अन्योन्याश्रय से आगम भेद में प्रमाण नहीं हो सकता है । उपमान भी प्रमाणान्तर से सिद्ध गोगवयादि वस्तुद्वयवृत्ति सादृश्यविषयक होने से वस्तुभेद की सिद्धि के विना वस्तुभेद को प्रकाशने में समर्थ नहीं होता है । तिलों से ही तैल होता है, दूध से ही दधि होता है, इसप्रकार की नियत अर्थक्रिया का अन्यथा (भेद के विना) अनुपपत्तिजन्य होने से, अर्थापत्ति भी कारण के भेद के ज्ञान में प्रमाणता को नहीं प्राप्त होती है, क्योंकि तिलादि कारण के भेद के ज्ञान के बिना अन्योन्याश्रय से व्यवस्था की सिद्धि नहीं होती है । अभाव (अनुपलब्धिरूप प्रमाण) भी (यह वस्तु यहाँ नहीं है । यह इस स्वरूप नहीं है) इस प्रकार से संसर्गाभाव अन्योन्याभाव के अनुयोगी, प्रतियोगी के भेदाधीन सिद्धि वाला होता है, अतः अन्योन्याश्रय से वस्तु के भेद को नहीं सिद्ध करता है । अतः इन प्रमाणों से अद्वैता-

साधयत्यन्योन्याश्रयात् ।

अपि च—मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात् ।
तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम् ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणाधीना तत्प्रमेयव्यवस्थितिः, प्रमाणानि च लक्षणाधीनाधिगमानि, लक्षणं च दुर्निरूपणम् । तथाहि—तत्र न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीत्यक्षपादोदितं प्रत्यक्षलक्षणं घटते । अव्यभि-

---

धर्मिप्रतियोगिभेदज्ञानाधीनप्रवृत्तिस्ततश्च भेदसिद्धावन्योन्याश्रयतेत्यर्थः ।

निर्भग्नः क्षणभङ्ग एष विषमो बद्धोतिदुर्बुद्धिभि-
र्बौद्धैर्विभ्रमविभ्रमालयमहामायाविमूढान्तरैः ।
यं विध्वस्तसमस्तभावविकृतिं व्याकीर्णमायाकथं
लब्ध्वाऽविक्रियबोधमोदजलधिं स्थाणुं स्थिरं तं भजे ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां भेदविषयत्वाभावाद्भेदस्य च दुर्निरूपत्वान्नाद्वैतप्रतिपादकागमानां तैर्विरोध इत्यधस्तादभ्यधायि, इदानीं यैः प्रमाणैर्विरोधं ब्रूपे, तान्येव दुर्निरूपाणि, कैर्विरोधः स्यात् ? इत्याह—**अपि च मानाधीनेति । तच्चेति ।** तच्च लक्षणमध्यक्षादिषु देवैरपि वक्तुम् न शक्यत इत्यर्थः । अनेन प्रमाणादिषोडशपदार्थव्युत्पादनरूपन्यायदर्शनविरोधोऽपास्यते । वैशेषिकदर्शनविरोधो हि षट्पदार्थनिर्मथनेन पुरो निवारितः । श्लोकं विवृणोति—**प्रत्यक्षादीति ।** यद्यपि प्रमाणसामान्यलक्षणखण्डनानन्तरं तद्विशेषप्रत्यक्षादेः खण्डनं युक्तम्, तथापि प्रत्यक्षलक्षणखण्डनप्रसङ्गेन तदपि खण्डयिष्यत इति लाघवमभिप्रेत्यन्यायसूत्रोक्तं प्रत्यक्षलक्षणं दूषयति—**तत्रेति ।** तेषु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थः । यद्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्य-

---

गम का बाध या विरोध नहीं हो सकता है । और प्रमाणों के दुर्निरूप होने से विरोध का अभाव है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

प्रमाणों के अधीन प्रमेय की सिद्धि होती हैं, और लक्षण से प्रमाण की सिद्धि होती है, परन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों में (प्रमाणों के) वह लक्षण देवों से भी दुर्भर= कहने में अशक्य, है ॥ १८ ॥

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अधीन उनके प्रमेय की व्यवस्थिति (सिद्धि) होती है, और प्रमाणलक्षणाधीन अधिगत (ज्ञात) होते हैं, परन्तु लक्षण दुर्निरूपणीय है, यह दर्शाया जाता है कि, उन प्रमाणों में प्रथम अक्षपाद (गौतम) मुनि ने प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है कि (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्) इस लक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यभिचारी (भ्रमभिन्न) ज्ञान प्रत्यक्ष होता है—इतने में तात्पर्य है । अव्यपदेश्य पद निर्विकल्पक का बोधक है, व्यवसायात्मक पद सविकल्पक का बोधक है । परन्तु

चारित्वस्य दुरधिगमत्वात्। तदव्यभिचारित्वं किमदुष्टसामग्रीजन्यत्वेन ज्ञायते ? किं वा बाधरहितत्वेन ? आहोस्वित् प्रवृत्तिसामर्थ्येन ? उतान्येन केनचित् ? न प्रथमः, अप्रत्यक्षसामग्रीनिष्ठदोषाभावस्याध्यक्षेणाध्यवसातुमशक्यत्वात्। नापि ज्ञानाख्यलिङ्गेन, ज्ञानमात्रेणादुष्टसामग्रीजन्यत्व-

---

भिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रम्, तथापीयानेवांशो लक्षणोपयोगी। अव्यपदेश्यपदस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षभेदसूचकत्वात्। व्यवसायात्मकपदस्य रूपं रस इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानस्य शब्दानुवेधेन शाब्दत्वशङ्कानिवर्तनेन सविकल्पकप्रत्यक्षप्रामाण्यसमर्थनार्थत्वात्, इति हृदि निधायैतावदुदाहृतम्। तत्र चाव्यभिचारीति शुक्तिरजतज्ञानादिव्यवच्छेदः। सुखादिव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम्। अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थमाद्यं विशेषणम्। एकदेशस्य दुर्ज्ञानत्वादसिद्धिं लक्षणस्याह—**अव्यभिचारित्वस्येति**। अत्र प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा इदमधिगम्यते ? इत्यग्रे विकल्प्य दूषयिष्यते, इदानीं तूभयानुगुणतज्ज्ञापकत्वेनाभिमतान्धर्मान्विकल्प्य दूषयति—**तदव्यभिचारित्वमित्यादिना**। ननु कथं प्रत्यक्षपक्षे धर्माणामानुगुण्यमिति चेत्, रजतत्वोपदेशस्येव संप्रत्यक्षसाचिव्यमित्यवेहि। प्रवृत्तेश्चेष्टायाः फलेन तोयादिना अव्यभिचारस्तत्प्राप्तिनियमः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, अदुष्टसामग्रीजन्यत्वेनेति प्रथमपक्षे यदिदमदुष्टसामग्रीजन्यत्वं तत्किं प्रत्यक्षेण ज्ञायते ? उतानुमानेन ? आद्ये आह—**अप्रत्यक्षेति**। कार्यैकगम्यसामग्र्या दोषाणां च प्रत्यक्षत्वाभावात् तन्निष्ठदोषाभावोऽप्यप्रत्यक्षः, अतस्तज्जन्यत्वमपि ज्ञानगतमप्रत्यक्षमिति भावः। द्वितीयेति किं ज्ञानत्वलिङ्गेन तदनुमीयते ? किंवाऽव्यभिचारिज्ञानत्वेन ? नाद्य इत्याह—**नापीति**। तत्र हेतुः—**ज्ञानमात्रेणेति**। भावप्रधानो निर्देशः। द्वितीयं दूषयति—**नाप्यव्यभिचरितेति**। परस्पराश्रयमेव विवृणोति—**अदुष्टेति**। बाधरहितत्वेनाव्यभिचारित्वावगम इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापीति**।

अव्यभिचारित्व के दुरधिगम (दुर्ज्ञेय) होने से यह प्रत्यक्ष का लक्षण संघटित (लक्ष्य का बोधक) नहीं होता है। क्योंकि वह अव्यभिचारित्व विचारणीय है कि, क्या वह अव्यभिचारित्व, अदुष्ट सामग्री जन्यत्व से ज्ञात होता है, अथवा बाधरहितत्व से समझा जाता है, या प्रवृत्तिसामर्थ्य = सफलप्रवृत्तिजनकत्व से, या अन्य किसी से जाना जाता है। इनमें प्रथम पक्ष में निर्दोषता का प्रथम ज्ञान हो, तो निर्दुष्ट सामग्रीजन्यत्व का ज्ञान हो सकता है, उस निर्दोषता का ज्ञान प्रत्यक्ष से माना नहीं जा सकता है, क्योंकि अप्रत्यक्ष सामग्री के अन्तर्गत दोषाभाव का प्रत्यक्ष से निश्चय होना असम्भव है। कारण है कि कार्यगम्य सामग्री होती है, और दोष भी प्रत्यक्ष नहीं रहते हैं, ज्ञान मात्र के लिङ्ग से दोषाभाव का ज्ञान करें कि (यह ज्ञान, दुष्ट सामग्रीजन्य नहीं है, ज्ञान होने से) तो ऐसा दोषाभाव का ज्ञान नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ज्ञानत्व मात्र से अदुष्ट सामग्रीजन्यत्व के

साधने विभ्रमज्ञानेष्वनैकान्तिकत्वात् । नाप्यव्यभिचरितज्ञानेन तदवगमः, परस्पराश्रयत्वात्, अदुष्टकरणजन्यत्वेन ज्ञानस्याव्यभिचरितत्वसिद्धिरव्यभिचरितत्वज्ञानाच्चादुष्टकरणजन्यत्वसिद्धिरिति । नापि द्वितीयः, विकल्पासहत्वात् । किं सर्वपुरुषबीजरहितत्वम् ? उत प्रतिपत्तुः ? नाद्यः, सर्वपुरुषबाधरहित्वस्यासर्वज्ञाविज्ञेयत्वात् । न द्वितीयः, प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमननिधनादिना बाधानुदये तदीयमरुमरीचिकाविभ्रमाणामप्यर्थाव्यभिचारित्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः, तस्याप्यनिरुक्तेः । तथाहि--प्रवृत्तिर्नाम पुंसः समीहा, चेष्टा, तस्याः फलेनोदकादिनाभिसम्बन्धः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्,

---

उत प्रतिपत्तुरिति । यो हि येन प्रत्यक्षणार्थं प्रतिपद्यते तत्र तस्य बाधाभावादेरर्थः । **प्रतिपत्तुर्देशान्तरेति** । यदा हि मरुमरीचिकाविभ्रमोदयानन्तरं प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमनं देहव्यापत्तिर्वा भवति, तत्र तस्य न बाधोदय इति तद्भ्रमाणामव्यभिचारित्वं स्यादित्यर्थः । आदिग्रहणेन स्वस्थस्यैव जिज्ञासाद्यभावो गृह्यते । प्रवृत्तिसामर्थ्येनेति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । पूर्ववाद्यभिमतं प्रवृत्तिसामर्थ्यंतदनिरुक्तिं दर्शयितुं विवेचयति—**प्रवृत्तिर्नामेत्यादिना** । समीहेत्यस्यैव विवरणम्—**चेष्टेति** ।

साधने पर विभ्रम ज्ञान में हेतु की अनैकान्तिकता होती है, अव्यभिचरित ज्ञानत्व रूप हेतु से अदुष्ट सामग्रीजन्यत्व का (अवगम) अनुमान भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अव्यभिचरितज्ञानत्व भी साध्य है, अतः अदुष्ट सामग्रीजन्यत्व से साधने पर परस्पराश्रय होगा। अदुष्टकरणजन्यत्व से ज्ञान के अव्यभिचारित्व की सिद्धि होगी और अव्यभिचारित्व ज्ञान से अदुष्ट करणजन्यत्व की सिद्धि होगी। दूसरा बाधरहितत्व से भी अव्यभिचारित्व का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि वह विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि, क्या सर्व पुरुष से बाधरहितत्व विवक्षित है, या प्रतिपत्ता (ज्ञाता) से बाधरहितत्व विवक्षित है। उसमें प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि सर्वपुरुष से बाधरहितत्व को असर्वज्ञ कोई जान नहीं सकता है, वह असर्वज्ञ का ज्ञेय नहीं है, प्रतिपत्ता मात्र से बाधरहितत्व भी अव्यभिचरितत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि यह मरीचिका में विभ्रम होने के बाद कोई प्रतिपत्ता पुरुष देशान्तर में चला गया, या उसका मरण हो गया, अतः उसका उस भ्रमविषयक बाध का उदय (जन्म) नहीं हुआ, तो उसके मरुमरिकादि विभ्रमों को भी अर्थाऽव्यभिचारित्व प्राप्त होगा। प्रवृत्तिसामर्थ्य से अव्यभिचारित्व का ज्ञान होता है, यह तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रवृत्ति सामर्थ्य का ही निर्वचन नहीं हो सकता है, क्योंकि पुरुष की समीहा रूप चेष्टा का नाम प्रवृत्ति है, उसका फलरूप उदकादि के साथ अभितः सम्बन्धप्रवृत्तिसामर्थ्य है, उस प्रवृत्तिसामर्थ्य से उदकादि ज्ञान के अर्थाऽव्यभिचारित्व का ज्ञान होता है, और यह प्रवृत्ति सामर्थ्य लिङ्ग होने

तेनोदकादिविज्ञानस्यार्थाव्यभिचारित्वमवगम्यत इति स्थितिः। तच्चेदं प्रवृत्तिसामर्थ्यं लिङ्गत्वादवगतं सदव्यभिचारित्वं बोधयतीति वाच्यम्। तथा सति किं ज्ञानमात्रावगतं सत्तदव्यभिचारितां विज्ञानस्यावगमयेद्? उताव्यभिचारिज्ञानावगतम्? नाद्यः, भ्रान्तिस्वप्नादिज्ञानेनानैकान्त्यात्। नापि द्वितीयः, परम्पराश्रयत्वात्। किंचायमन्वयव्यतिरेकी हेतुः? केवलव्यतिरेकी वा? नाद्यः, सर्वज्ञानानामव्यभिचारित्वे विप्रतिपन्नं प्रति

भवत्विदं प्रवृत्तिसामर्थ्यं ततः किम्? तत्राह—तच्चेदमिति। लिङ्गत्वादिति। व्याप्तत्वपक्षधर्मतया ज्ञातं हि लिङ्गं भवति, इतरथाऽसिद्धत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। तच्च प्रवृत्तिसामर्थ्यं किं ज्ञानत्वलिङ्गेनावगतं सत्साध्यं बोधयति? किं वा अव्यभिचारिज्ञानत्वेनावगतम्? इति विकल्प्याद्येऽनैकान्तिकमाह—भ्रान्तीति। अत्र च प्रवृत्तिसामर्थ्यं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमभिमतमितरथा वैयधिकरण्यं स्यात्। पूर्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यलक्षणो हेतुर्दर्शित इत्युक्तम्, इदानीं भवतु सुज्ञानत्वं, तथापि कीदृशो हेतुः? इति विकल्पयति—किंचायमिति। चः किंचार्थः। पञ्चरूपः खल्वन्वयव्यतिरेकी। अत्र च सपक्षे सत्त्वलक्षणं द्वितीयं नास्तीत्यभिप्रेत्याह—सर्वज्ञानानामिति। न च तदनुभवाभावे संदेहाभावः; विपर्यासादपि प्रत्यवस्थानसंभवात्। न च सोऽपि, अन्यत्र

से, अवगत (ज्ञात) होकर ज्ञान के अव्यभिचारित्व का बोधक होता है—यह कहना होगा। उक्त रीति से लिङ्गरूप प्रवृत्तिसामर्थ्य के ज्ञात हो कर ज्ञान के अव्यभिचारित्व के अनुमापक सिद्ध होने पर, वह प्रवृत्तिसामर्थ्यज्ञान मात्र से अवगत (ज्ञात) हो कर ज्ञान की अव्यभिचारिता का बोधक होगा, या अव्यभिचारि ज्ञान से अवगत हो कर ज्ञान की अव्यभिचारिता का बोध करायेगा, यह विकल्प होता है, जहाँ प्रथम पक्ष में भ्रान्ति स्वप्नादि के प्रवृत्तिसामर्थ्यज्ञान में अनैकान्तिकता होती है, वहाँ प्रवृत्तिसामर्थ्य का ज्ञान हो जाता है, और उससे अवगत ज्ञान में अव्यभिचारित्व नहीं रहता है, अतः यह माना नहीं जा सकता। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि परस्पराश्रयता प्राप्त होती है। ज्ञान में अव्यभिचारिता से प्रवृत्तिसामर्थ्य का ज्ञान और प्रवृत्तिसामर्थ्य के अव्यभिचारी ज्ञान से पूर्व ज्ञान के अव्यभिचारिताज्ञान यह परस्पराश्रयता प्राप्त होती है। और प्रवृत्तिसामर्थ्य को हेतु मान भी लिया जाय तो, क्या यह अन्वयव्यतिरेकी हेतु होगा, या केवलव्यतिरेकी होगा, यह विचारणीय है। यहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि (ज्ञानम्, अव्यभिचारी, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्) इसप्रकार के अनुमान में, सब ज्ञानों के अव्यभिचारित्व में विप्रतिपत्ति युक्त के प्रति सपक्ष का असम्भव होता है। इस अनुमान में सभी ज्ञान पक्ष हो जाते हैं, तो दूसरा पक्ष केवल व्यतिरेकी अनुमान (हेतु) रहे ऐसा कहें, इसी प्रकार के तात्पर्य

सपक्षासंभवात्। अस्तु तर्हि द्वितीयः, तथाचार्यवाचस्पतेस्तात्पर्यटीकायां प्रयोगः—'विवादाध्यासितं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यदि पुनरेवं नाभविष्यन्न समर्थां प्रवृत्तिमकरिष्यद्यथा प्रमाणाभासः' इति, मैवम्; हेतोर्विरुद्धत्वात्। दृश्यते हि मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्तेः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, न चाव्यभिचारित्वम्।

उक्तं हि—

"मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति" ॥ इति

(प्रभा० वा० ३।५७)

सत एवानिर्वचनीयवादात्। न च सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गः उक्तवक्ष्यमाणसमाधानत्वात्, एतेनोदयनोद्गारोपि चिकित्सितः। केवलव्यतिरेकिपक्षं शङ्कते—अस्तु तर्हीति। तात्पर्यटीका न्यायवार्तिकटीका। उदाहृतश्चायं ग्रन्थः स्वतः प्रामाण्यवादे। भ्रान्तिव्यावृत्त्यै समर्थपदम्। तदेतद्दूषयति—मैवमिति। विरुद्धत्वं दर्शयति—दृश्यते हीति। या हि मणिप्रभायां मणिबुद्धिः, सा तावदर्थव्यभिचारिणी, अयथार्थत्वात्। न च मणिप्रभैव मणिः। अथ च समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमस्ति, मणिप्रापकत्वादित्यर्थः। अत्र सौगतवार्तिकसमतिं दर्शयति—उक्तं हीति। यदि हि मणिप्रभायां प्रदीपप्रभायां च मणिबुद्धिभ्यां पुरुषावभिधावतस्तदा तयोरुभयोरपि विज्ञाने एव, तथाप्यर्थक्रियां प्रति विशेषोस्ति, मणिप्रभायां मणिबुद्धेर्मणिप्रापकत्वात्, इतरत्र तदभावादित्यर्थः।

टीका में श्रीवाचस्पति आचार्य का प्रयोग भी है कि (विवादाध्यासित ज्ञान, अर्थाव्यभिचारी होता है, समर्थप्रवृत्ति के जनक होने से) यदि ऐसा अर्थाव्यभिचारी नहीं होता, तो समर्थप्रवृत्ति का जनक भी नहीं होता, जैसे प्रमाणाभास, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह हेतुविरुद्ध है (साध्याभावसाधक है) मणिप्रभा में मणिबुद्धि से प्रवर्तमान को मणि की प्राप्ति से प्रवृत्तिसामर्थ्य देखा जाता है, परन्तु अव्यभिचारित्व नहीं देखा जाता है, मणिज्ञान का विषय प्रभा मणि नहीं रहता है, अतः मणिप्रभा में मणिज्ञान अर्थ से व्यभिचारी रहता है, परन्तु सफल प्रवृत्ति का जनक रहता है, अतः प्रवृत्तिसामर्थ्य वहाँ विरुद्ध है उसीसे वहाँ मणिप्रभा में अमणित्व सिद्ध हो जाता है। कहा भी है कि—

मणिप्रभा और प्रदीपप्रभा में मणिबुद्धि से दो दौड़ने वाले के मिथ्या ज्ञानों में तुल्यता होते भी अर्थक्रिया के प्रति विशेष भेद हो जाता है।

कश्चायं फलाभिसम्बन्धः ? ज्ञानप्रतिभासितार्थस्य प्राप्तिः ? उत
तज्जातीयस्य ? नाद्यः, वृषभमहिषपरिवर्तनादिना क्रियाविभागन्यायेन
विज्ञानावभासितसलिलावयविनो विनाशेन ज्ञानस्य फलाभिसम्बन्धाभाव-
प्रसङ्गात् । न द्वितीयः, ग्रहतारादिविज्ञाने तस्य तज्जातीयस्य वा प्राप्त्य-

---

प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य हेतुविशेषान्तर्भावो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानीं प्रवृत्तिसामर्थ्य-
मेव सर्वज्ञानानुगतमशक्यनिरूपणमित्याह—कश्चायमिति । वृषभमहिषेति । अय-
मर्थः—वैशेषिकादिमते विज्ञानप्रतिभासितार्थप्रापकत्वं फलाभिसंबन्धरूपप्रवृत्तिसाम-
र्थ्यमित्ययुक्तम्; अव्यापकत्वात् । यदि हि दूरतरे सरसि यः सलिलं दृष्ट्वा तत्पि-
पासया सर्पति, तदा समसमयमेव यदि महिषेण वृषभेण वा तदम्भः क्षोभितं भवेत्त-
तस्तदम्भोवयवद्व्यारम्भकावयवेषु क्रियोत्पद्यते, ततश्च पूर्वतनद्रव्यारम्भकसंयोगविघात-
कविभागोत्पत्तिस्ततश्च संयोगनाशस्तदनु च तदारब्धावयविनाशः, उत्तरसंयोगो-
त्पत्त्या चावयव्यन्तरोत्पत्तिरिति तेषां दर्शनम्, ततश्च पूर्वज्ञातः सलिलावयवी विलीन
एव, पीयमानश्चान्य एवेति पूर्वज्ञानजनितप्रवृत्तेः फलाभिसंबन्धो न स्यात्, अस्ति
च तत्, इतरथा व्यभिचारितयाऽप्रामाण्यप्रसंगादिति । विज्ञानप्रतिभासितार्थसजा-
तीयार्थप्रापकत्वं फलाव्यभिचार इत्यप्ययुक्तम् । ग्रहतारकादिविज्ञानस्य सजातीयस्य
वा विजातीयस्य वा ग्रहादेः प्रापकत्वाभावेनाव्यापकत्वादित्याह—ग्रहेति । पक्षद्वये-
ऽप्युपेक्षाज्ञानस्य प्रामाण्यं न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम् । अन्येनेति पक्षं निषेधति—

प्रवृत्ति को यह फलाभिसम्बन्ध क्या है, ज्ञान से प्रतिभासितार्थ की प्राप्ति-
रूप है, या प्रतिभासित जातीय अन्य की प्राप्ति रूप है, यहां प्रथम पक्ष नहीं
सिद्ध हो सकता है, क्योंकि कोई प्यासा मनुष्य दूर से जल को देख कर जल पीने
के लिये चला, तब तक बैल, भैंसादि के जल में परिवर्तन (घूमने) आदि से
वैशेषिक मत के अनुसार परमाणु पर्यन्त जल में क्रिया और परस्पर विभाग की
रीति से दूर से अवभासित विज्ञान के विषय जल रूप अवयवी का नाश हो गया,
और पुनः द्व्यणुकादिपूर्वक दूसरा जलावयवी उत्पन्न हुआ, अतः उसके जल समीप
में पहुंचने पर, प्रथम ज्ञान से अवभासित अर्थ नहीं रहा, तो भी वह जल पीता है,
परन्तु प्रथम के ज्ञान को (फल) जलाभिसम्बन्धाभाव प्राप्त होता है । अर्थात्
प्रथम ज्ञान से अवभासित जल अर्थक्रिया का साधक नहीं होता है, तृषानाशक
अन्य जल होता है । अतः ज्ञान प्रतिभासित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है । प्रति-
भासित सजातीय की प्राप्ति को फलाभिसम्बन्ध कहें तो यह दूसरा पक्ष भी सिद्ध
नहीं हो सकता है, क्योंकि ग्रह, तारा आदि के ज्ञानस्थान में न उस प्रतिभासित
की प्राप्ति का सम्भव है, न उस प्रतिभासित के सजातीय की प्राप्ति होती है ।
वहां प्राप्ति का अभाव रहता है, अतः यह ज्ञान फलाभिसम्बन्ध वाला कैसे होगा ।

भावात्। नापि चतुर्थः, अन्यदप्यनुमानान्तरम्? उत प्रत्यक्षम्? नाद्यः, लिङ्गस्याव्यभिचरितत्वलक्षणसाध्येन व्याप्तिग्रहणदशायामेवाव्यभिचारस्य गृहीतत्वे पुनरनुमानानुपयोगात्, अगृहीतत्वे वानुमानस्याप्रवृत्तेः। न द्वितीयः, ज्ञानग्राहकेणैव मानसप्रत्यक्षेण तस्यार्थाव्यभिचारित्वग्रहणेऽभ्यासदशायामिवानभ्यासदशायामपि संशयानुदयप्रसङ्गात्।

नापीति। यत्तदयोचाम–प्रत्यक्षमनुमानं वेति विकल्प्य दूषयिष्यतीति, तदाह— **अन्यदपीति**। येन हि लिङ्गेनाव्यभिचारित्वमनुमीयते तस्य तेन व्याप्तिर्गृहीता? न वा? आद्ये प्राह—**लिङ्गस्येति**। नहि ज्ञानविशेषेऽव्यभिचारित्वं विप्रतिपन्नम्, येनाग्निमत्वादिवदन्यत्र प्रसिद्धमेवान्यत्रानुमीयेत, अपि त्वव्यभिचारित्वमात्र इति भावः। द्वितीये प्राह—**अगृहीतत्व इति**। प्रत्यक्षपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। प्रत्यक्षत्वे ज्ञानप्रतीतिसमसमयमेव तस्यापि निर्णीतत्वादनभ्यासदशायामव्यभिचारित्वे संशयो न स्यादित्यर्थः।

तदित्थमव्यभिचारित्वस्य ज्ञापकाभावादसिद्धिरभिहिता, इदानीमव्यभिचारित्व-

---

किसी अन्य से अव्यभिचारित्व जाना जाता है। यह चतुर्थ पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्य भी अनुमानान्तर होगा, या प्रत्यक्ष होगा, वहाँ आद्य अनुमान नहीं हो सकता है, क्योंकि जिस लिङ्ग से ज्ञान के अव्यभिचारित्व का अनुमान करना है, उस हेतु को अव्यभिचारित्वरूप साध्य के साथ प्रथम व्याप्ति गृहीत रहेगी या नहीं, यदि गृहीत रहेगी, तो लिङ्ग को अव्यभिचारित्व रूप साध्य के साथ व्याप्तिग्रहण काल में ही अव्यभिचार के गृहीत होने से फिर अनुमान का कोई फल नहीं हो सकता है। अर्थात् ज्ञानविशेष के अव्यभिचारित्व में विप्रतिपत्ति नहीं है कि जिससे अग्नि में कहीं व्याप्तिग्रह होता है, और कही अन्यत्र अनुमिति होती है, वैसे ही यहाँ भी हो सके, किन्तु यहाँ ज्ञान मात्र विषयक अव्यभिचारित्व की विप्रतिपत्ति है, वहाँ व्याप्ति के निश्चय होने पर अनुमान की आवश्यकता नहीं रह सकती है। और व्याप्ति के अगृहीत रहने पर अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। दूसरा प्रत्यक्ष से भी अव्यभिचारित्व का ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि बाह्यप्रत्यक्ष की विषयता का असम्भव कहा गया है, मानसप्रत्यक्ष ही कहना होगा, वहाँ ज्ञान के स्वरूप का ग्राहक मानसप्रत्यक्ष से उस ज्ञान के अर्थाव्यभिचारित्व के ग्रहण होने पर अभ्यास दशा के समान अनभ्यास दशा में भी अव्यभिचारित्व के संशय का अभाव प्राप्त होता है (संशय नहीं होना चाहिये)। अव्यभिचारित्व के बोधक का अभाव कहा गया, अब उसके स्वरूप को दुर्निरूप दर्शाया जाता है कि—

किंचेदमव्यभिचारित्वं नाम विज्ञानस्य ? किं प्रमात्वापरपर्याया जातिः ? उतोपाधिः ? न तावज्जातिः; जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तथाहि—सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इति वदद्भिरिदं रजतमिति विभ्रमज्ञानमिदमंशे प्रमाणमप्रमाणं च रजतांशेऽभ्युपगम्यते परीक्षकैः।

तथाच—

"अन्योऽन्यपरिहारेण भिन्नव्यक्तिनिवेशिनोः।
सामान्ययोः समावेशो जातिसङ्कर उच्यते॥"

इत्युक्तन्यायेन स्मृतौ प्रमात्वपरिहारेणैवाप्रमात्वस्य वृत्तेरप्रमात्वपरिहारेण च प्रत्यक्षादौ प्रमात्ववृत्तेरेकस्यां विभ्रमव्यक्तावुभयसमावेशे कथं न जातिसङ्करः स्यात् ? उपाधिश्चावाधितत्वाविसंवादित्वादिः प्रागुक्तप्रकारेणैवापाकरणीयः,

---

मेव दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमिति**। प्रमात्वमित्यपरः पर्यायो यस्याः सा तथोक्ता। प्रमात्वमितिनामिकेति यावत्। प्रमात्वरूपमव्यभिचारित्वं न जातिः। इदं रजतमित्यादिभ्रमेषु धर्म्यंशेऽव्यभिचारित्वरूपप्रामाण्याङ्गीकारादितरांशे चाप्रामाण्याङ्गीकारात्। उभयोश्च परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र वृत्तौ जातिसङ्करादित्याह—**न तावज्जातिरित्यादिना**। जातिसङ्करस्वरूपमेव वृद्धवचनेन द्रढयति—**अन्योऽन्यपरिहारेणेति**। नच स्वतःप्रामाण्यवादोक्तः परिहारः इदमंशे तद्व्यवहारस्यौपाधिकत्वेऽन्यत्रापि तत एव तद्व्यवहारोपपत्तौ जातिसद्भावे प्रमाणाभावात्। न च गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः; इष्टत्वात्। नचाप्रमात्वमुपाधिः, प्रमात्वं च जातिरिति वक्तुं युक्तम्, वैपरीत्यस्यापि संभवात्। उपाधिपक्षं दूषयति—**उपाधिश्चेति**। **प्रागुक्तप्रकारेणेति**। अबाधितत्वं किं सर्वस्य ? किं वा प्रतिपत्तुः ? एवमविसंवादित्वमपि

'किञ्चेदमव्यभिचारित्वं नाम विज्ञानस्य' विज्ञान का यह अव्यभिचारित्व नामक कौन स्वरूप है। क्या प्रमात्व अन्य नामवाली जाति है, या उपाधि है। जाति तो नहीं कही जा सकती है, क्योंकि जाति संकर प्राप्त होता है। यह दर्शाया जाता है। सर्वज्ञान धर्मी अंश में प्रमाण अभ्रान्त होता है। और प्रकार विशेषणांश में विपर्यय होता है, ऐसे कहने वाले परीक्षक भी इदं (रजतम्) इस शुक्तिविषयक ज्ञान को भी इदमंश में प्रमाण और जलांश में अप्रमाण मानते हैं।

परस्पर संग को त्याग कर भिन्न-भिन्न व्यक्ति में रहने वाले दो सामान्य का कहीं एक आश्रय में समावेश होना जातिसंकर कहा जाता है।

इस न्याय से इदं रजतं में जातिसंकर होता है, क्योंकि स्मृति में प्रमात्व को त्याग कर ही अप्रमात्व रहता है, और प्रत्यक्षादि में अप्रमात्व को त्याग कर प्रमात्व रहता है और एक विभ्रम व्यक्ति में अंशभेद से प्रमात्व, अप्रमात्व दोनों के समावेश होने पर जातिसंकर कैसे नहीं होगा और उपाधि तो अबाधितत्व

अस्तु वा यथाकथंचिदविचारितरमणीयमव्यभिचारित्वम्, तथापीश्वरज्ञाने-ऽव्याप्तिः। तस्य नित्यत्वादेवेन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वात्। जन्यप्रत्यक्षलक्षण-मिति चेत्, तथाप्यनुमितावतिव्याप्तिः, मनोलक्षणेन्द्रियस्यात्मलक्षणेनार्थेन सन्निकर्षादनुमितेर्जायमानत्वात्। संयुक्तेऽर्थे इति विशेषणान्नातिव्याप्तिरिति चेत्, न, युक्तावस्थायामुपजायमानपरमाणुविषययोगिप्रत्यक्षेऽव्याप्तेः। अयोगिप्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्, न, प्रत्यभिज्ञाने तत्तांशेऽव्याप्तेः। तत्रापि

किंसर्वेषाम्? उत प्रतिपत्तुः? इति विकल्प्योक्तदूषणेनेत्यर्थः। एवमवयवशो दूषण-मुक्त्वा समुदितेऽपि दूषणं वक्तुमुपक्रमते—**अस्तु वेति**। अनीश्वरप्रत्यक्षलक्षणमिदमतो नाव्याप्तिरिति शङ्कते—**जन्येति**। अनुमितावपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वं दर्शयन्नति-व्याप्तिमेव विवृणोति—**मनोलक्षणेति**। उपलक्षणं चैतत्सुखादेरपि। नन्विन्द्रि-यार्थसन्निकर्षोत्पन्नं संयुक्तेऽर्थे प्रत्यक्षमिति लक्षणं विवक्षितम्, नचैवमनुमानम्, अतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**संयुक्तेऽर्थ इतीति**। एतदुक्तं भवति—इन्द्रियार्थेत्या-दिविशेषणयुक्तं संयुक्तार्थावभासकं प्रत्यक्षमिति। तर्हि योगिप्रत्यक्षविशेषेऽव्याप्ति-रित्याह—**न, युक्तावस्थायामिति**। आत्ममनःसन्निकर्षमात्रादशेषार्थग्रहणमिति भवतामभ्युपगमः। युक्तं च। नहि तदा परमाण्वादीन्द्रियसंयुक्तम्; बहिरिन्द्रिया-व्यापारान्मनश्च बहिः स्वातन्त्र्याभावादिति भावः। तर्हि अयोगिप्रत्यक्षस्यैवेदं लक्ष-णमस्त्विति शङ्कते—**अयोगीति**। तर्ह्ययोगिप्रत्यक्षेऽप्यव्याप्तिरित्याह—**न, प्रत्य-भिज्ञान इति**। ननु कथमव्याप्तिः, यावता तत्तायामपीदानीं चक्षुषा संयुक्तदेवदत्त-विशेषणतया पारंपर्येणेन्द्रियसन्निकर्षोऽस्तीति शङ्कते—**तत्रापीति**। तर्हि प्रत्यक्ष-

---

अविसम्वादित्वादि विषयक पूर्वोक्त युक्तियों से निराकरणीय है कि अबाधितत्व या अविसम्वादित्व रूप प्रमात्व क्या सबके प्रति अबाधितत्वादि स्वरूप है या एक प्रतिपत्ता के प्रति अबाधितत्व अविसम्वादित्व स्वरूप है, उभयथा भी असम्भव है इत्यादि। अथवा किसीप्रकार का अविचारित रमणीयता वाला अव्यभिचारित्व माना जाय। तो भी ईश्वरज्ञान में लक्षण की अव्याप्ति होती है। क्योंकि ईश्वर के ज्ञान के नित्य होने से इन्द्रियसम्बन्ध से जन्यत्व नहीं रहता है। यदि कहा जाय कि यह जन्यप्रत्यक्षज्ञान का ही लक्षण है, तो भी अनुमिति में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि मनरूप इन्द्रिय का आत्मस्वरूप अर्थ के साथ सम्बन्ध में अनुमिति की उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाय कि इन्द्रियसम्बन्ध से इन्द्रियसंयुक्त अर्थविषयक जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष होता है, इसप्रकार से संयुक्तार्थ विशेषण से अनुमान में अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो भी लक्षणनिर्दोष नहीं होता है। क्योंकि योगी की युक्तावस्था में इन्द्रियसम्बन्ध के बिना जायमान परमाणु विषयक ज्ञान में अव्याप्ति रहती है। यदि कहें कि यह अयोगी के प्रत्यक्ष का लक्षण है, तो भी प्रत्यभिज्ञा

संयुक्तविशेषणतालक्षणः सन्निकर्षोऽस्तीति चेत्, मैवम्; अयमग्निमान्पर्वत इत्यनुमानेऽतिव्याप्ते, तत्रापि संयुक्तविशेषणतालक्षणसन्निकर्षस्य तत्तांश इव सद्भावात्। लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न, इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तेनाप्यतद्व्यावृत्तिमुखेन लिङ्गाद्यजन्यत्वमेवोच्यत इति चेत्, न, यत्किंचिदपेक्षया सर्वस्यापि लिङ्गत्वसंभवेन

धर्मिकानुमानेष्वतिव्याप्तिरित्याह—**मैवमिति**। ननु लिङ्गाद्यजन्यत्वे सत्युक्तविधसन्निकर्षजन्यत्वं तल्लक्षणम्, तथा च नानुमितावतिव्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि लिङ्गाद्यजन्यत्वे सति प्रमितित्वमित्येतावदेवास्तु प्रत्यक्षलक्षणम्, व्यभिचाराभावात्, वृथेतरदिति परिहरति—**नेन्द्रियार्थेति**। नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यत्र लिङ्गाद्यजन्यत्वं विवक्षितमतो न वैयर्थ्यम्। यदि हि लिङ्गाजन्यत्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वं चोभयं विवक्ष्येत, स्यात्तदा वैयर्थ्यम्, नन्वेवमिति शङ्कते—**तेनापीति**। तदसिद्धिरेव लक्षणस्य, चक्षुरादेरपि यत्किञ्चित् प्रति लिङ्गत्वेन सर्वप्रत्यक्षाणां लिङ्गजन्यत्वादित्याह—**न, यत्किंचिदिति**। तल्लिङ्गाजन्यत्वे सति तदिन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य लक्षणत्वविवक्षायां तच्छब्दार्थानुगत्यसंभवनं लक्षणस्याव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्।

ज्ञान के तत्तांश में अव्याप्ति होती है, क्योंकि इन्द्रिय के सम्बन्ध के विना तत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रकाश होता है। यदि कहें कि वहाँ भी इन्द्रिय संयुक्त विशेषणता रूप इन्द्रिय का तत्ता के साथ सम्बन्ध रहता है, अतः अव्याप्ति नहीं है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार से प्रत्यक्ष मानने पर (अयम्–अग्निमान् पर्वतः) इस अनुमिति में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि तत्ता के समान वहाँ भी संयुक्त विशेषणता स्वरूपसम्बन्ध का सद्भाव रहता है। यदि कहें कि लिङ्ग से अजन्य होता हुआ इन्द्रियार्थसम्बन्धजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, ऐसा लक्षण करेगें, कि जिससे दोष नहीं होगा, तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पद में व्यर्थता प्राप्त होगी। यदि कहें कि उस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पद से भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य से भिन्न की व्यावृत्ति द्वारा लिङ्गादि से अजन्यत्व ही कहा जाता है, कोई भिन्नार्थ नहीं कहा जाता है, किन्तु व्यावृत्तिद्वारा कहा जाता है। तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार से लक्षण की असिद्धि (असम्भव) दोष प्राप्त होता है। यत्किञ्चित् की अपेक्षा से सब इन्द्रियादि को लिङ्गत्व के सम्भव से लक्षण के असम्भावित्व का प्रसङ्ग होता है, लिङ्ग से अजन्य प्रत्यक्ष ही नहीं सिद्ध हो सकता है। यदि कहा जाय कि (प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि) इस प्रमाणविभाग के प्रकरण में प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण का साक्ष्यानधिकरणप्रमा फल है और उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सूत्र से लक्षण सूचित हुआ है। तो यह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि

लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात् । पारोक्ष्यानाधिकरणप्रमा प्रत्यक्षफलं तत्करणं च प्रत्यक्षप्रमाणमिति सूत्रेण सूत्रितं लक्षणमिति चेत्, न, प्रमात्वपरोक्षत्वयोर्दुर्निरूप्यत्वेन तदधीननिरूपणस्यापि लक्षणस्य दुर्निरूपत्वात् । न च प्रमात्वस्य जातित्वेन निरुक्तिः; भ्रमज्ञाने जातिसङ्करस्योक्तत्वात् । न तत्रेदमंशादिप्रत्यये प्रमात्वं जातिः, किंतूपाधिनिबन्धनः प्रमाव्यवहार इति चेत्, न, सर्वप्रमाव्यवहारस्यापि तथात्वोपपत्तौ जातेरपलापापत्तेः । न चैवं गोत्वापलापप्रसङ्गः, जातिमन्तरेणोपाधिमात्रनिबन्धनतया गोव्यवहारस्य क्वचिदप्यनङ्गीकारात् । मृद्गवादौ गोव्यवहारो न जातिनिबन्धनो नाप्यु-

---

फलद्वारा लक्षणं शङ्कते—**पारोक्ष्येति**। अनुमित्यादिव्यावृत्तये पारोक्ष्यानधिकरणेत्युक्तम् । भ्रान्तिविशेषव्यवच्छेदाय प्रमाणग्रहणम्, इन्द्रियेत्यादिविशेषणेन पारोक्ष्यानधिकरणत्वसूचनादव्यभिचारितया भ्रमादिव्युदासेन प्रमात्वलाभात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति सूत्रे करणस्य च प्रक्रान्तत्वादिदं लभ्यत इति भावः । **भ्रमज्ञान इति**। तत्र हीदमंशज्ञाने प्रमात्वमितरत्राप्रमात्वमिति जातिसङ्कर उक्त इत्यर्थः । ननु न तत्र प्रमात्वं जातिरस्ति, येन जातिसङ्करः स्याद्व्यवहारस्तूपाधिनिबन्धन इति शङ्कते—**न तत्रेति**। आदिग्रहणेन पीतः शङ्खः उष्णं जलमित्यादौ पीतोष्णतादिप्रत्ययाः संगृह्यते । ससर्गमात्रप्रत्यये हि तत्राप्रमात्वम्, तर्हि तेनैवोपाधिना सर्वत्र प्रमाव्यवहारोऽस्त्वनुगतनिमित्तलाभात्, अलं जातिकल्पनया अर्धजरतीयदृष्ट्येति परिहरति—**नेति**। ननु कथं क्वचिदपि गोत्वव्यवहारस्योपाधिनिबन्धनताऽभावः? यावता मृदादिविनिर्मितगवादौ गोत्वव्यवहारस्योपाधिकत्वात्, तत्र जातेरभावादिति, तत्राह—**मृद्गवादाविति**। न तावन्मृद्गवादौ गवादिबुद्धि-

---

प्रमात्व और परोक्षत्व के दुर्निरूप्यता के कारण तदधीन निरूपण वाले लक्षण में भी दुर्निरूपत्व है । प्रमात्व का जातिरूप से निरूपण नहीं हो सकता है, क्योंकि भ्रमज्ञान में जातिसंकर प्रथम कहा गया है । यदि कहा जाय कि भ्रमज्ञान के इदमंशादि रूप ज्ञान में प्रमात्व जाति नहीं रहती है कि जिससे जातिसंकर हो, किन्तु उपाधि से ही प्रमात्व का व्यवहार होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि सभी प्रमाव्यवहार क उसी प्रकार उपाधि निमित्तक सिद्ध होने से प्रमात्व जाति के अपलाप की आपत्ति होती है । यदि कहा जाय कि इसीप्रकार गोत्व जाति का भी अपलाप (निषेध) होगा, तो ऐसा नहीं कहा जासकता है, क्योंकि गोत्व जाति के विना उपाधिनिमित्तक गोव्यवहार को कहीं माना नहीं गया है । यदि कहा जाय कि मृत्तिका से रचित गो में उपाधिनिमित्तक गोव्यवहार होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि मिट्टी के गो आदि में गो आदि व्यवहार, न जातिनिमित्तक होता है, न उपाधिनिमित्तक ही होता है, किन्तु उपचार (सादृश्यमूलक

पाधिनिबन्धनः किन्त्वौपचारिक इति न किंचिद् दुष्यति ।

न च प्रमात्वजातेर्व्यञ्जकमस्ति । तथाहि—तत्किमबाधितानुभूतित्वम् ? किं वा यथार्थानुभूतित्वम् ? आहोस्विदव्यभिचार्यनुभूतित्वम् ? अविसंवाद्यनुभूतित्वं वा ? संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृत्वानधिकरणज्ञानत्वं वा ? एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतदधूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसंसयावृत्तिजातिमत्त्वं वा । न

रस्ति, शब्दप्रयोगस्तु परम्, नच सोऽपि जातिमुपाधिं वाऽवलम्ब्य, किंतूपचारात् । नहि सिंहशब्दो बलवर्मणि उपचारात्प्रयुक्त इति उपाधिनिबन्धनो जातिनिबन्धनो वा भवति, विभ्रमेदमशादौ पुनर्मुख्यत्वं प्रमाव्यवहारस्य स्वीक्रियत इति विशेष इति भावः ।

जातिसङ्कराश्न प्रमात्वं जातिरित्युक्तम्, इदानीं व्यञ्जकाभावाच्च न प्रमात्वं जातिरित्याह—**न चेति** । पक्षचतुष्टयेऽनुभूतिग्रहण स्मृतिव्यावृत्त्यर्थम् विपर्ययादिव्यावृत्त्यर्थम् । च विशेषणान्तरम् । संशयाद्विपर्ययाच्च व्यतिरिक्तत्वे सति स्मृतित्वस्याप्यनधिकरणं यज्ज्ञानं तत्त्वमिति पञ्चमः पक्षः । **एतद्घटज्ञानेति** । एतच्च घटज्ञानं चेति प्रत्यक्षज्ञानविशेषो विवक्षितः । एतच्च धूमजन्यवह्निज्ञानं चेत्यत्राप्यनुमानज्ञानविशेषः । तयोर्वर्तमानत्वे सति संशयावृत्तिर्या जातिः प्रमात्वं तदधिकरणत्वं प्रमात्वव्यञ्जकमित्यर्थः । अत्र च घटज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वमित्युक्ते अनुमेयघटज्ञानवृत्त्यनुमितित्वजातिमत्त्वमनुमितित्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता, तदर्थमेतद्घटज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्वम् प्रत्यक्षत्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षधूमज्ञाने पूर्वोक्तार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यवह्निज्ञानेत्युक्तम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तिस्तदर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यवह्निज्ञानेत्युक्तम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तिस्तदर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता, तदर्थम् संशयावृत्तीत्युक्तम् । संशयावृत्तित्वे सति परोक्षाऽपरोक्षानुभववृत्तिजातिमत्त्वमिति

गोत्वारोप) से सिंहो मनुष्यः, इत्यादि के समान व्यवहार होता है । अतः वहाँ कोई दोष नहीं प्राप्त होता है ।

प्रमात्व जाति का व्यञ्जक भी नहीं है । क्योंकि यदि व्यञ्जक है, तो क्या वह अबाधित अनुभूतित्व है, १ । या यथार्थाऽनुभूतित्व है, २ । या अव्यभिचारि अनुभूतित्व है, ३ । या अविसम्वादी अनुभूतित्व है, ४ । या संशयविपर्ययभिन्न स्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्व रूप है, ५ । या एतद्घटज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) वृत्तित्वयुक्त, एतद्धूमजन्य वह्निज्ञान (अनुमिति) वृत्ति, संशयावृत्ति जातिमत्त्व है, ६ । इनमें अबाधित अनुभूतित्व युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि इदानीं बाधरहित्व अतिप्रसञ्जक

प्रथमः, इदानीं बाधविरहस्यातिप्रसञ्जकत्वात् कालान्तरे बाधविरहस्य दुरवधारणत्वात्, सर्वपुरुषाबाधस्य पुरस्तादेव निरस्तत्वात् द्वितीयः; यथार्थत्वानिरुक्तेः, तत्किमर्थसत्तामात्रविषयत्वम्? उत यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वम्? आहोस्विदबाधितार्थवत्त्वम्? न तावदर्थसत्तामात्रविषयत्वम्; भ्रमस्यापि प्रमात्वप्रसङ्गात्। नापि यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वम्, प्रत्यभिज्ञायामतीतानागतानुमानेषु वैधज्ञाने च तदभावेन तेषामप्रमात्वापातात्। अबाधितार्थवत्त्वं तु पुरस्तादेवापहस्तितम्, नापि तृतीयः, ज्ञानार्थयोर्विभिन्नदेशकालयो-

---

लक्षणार्थः। तत्र प्रथमपक्षमबाधितत्वानिरुक्त्या दूषयति—**न प्रथम इति**। **अतिप्रसञ्जकत्वादिति**। विपर्ययादावपीदानीं बाधविरहसंभवेन प्रमात्वव्यञ्जकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। **पुरस्तादेव निरस्तत्वादिति**। असर्वज्ञाविज्ञेयत्वादित्यर्थः। वादीन्द्रस्तु बाधितत्वात्यन्ताभावोऽबाधितत्वमित्याह। तस्य वक्ष्यमाणबाधानिरुक्त्या निरासः। अथाबाधितमबाधितमित्यनुवृत्तबुद्ध्या जातिरुपाधिर्वाऽबाधितत्वम् न, बुद्धिमात्राद-सिद्धेः। अबाधितत्वे च चक्रकम्। **भ्रमस्यापीति**। भ्रमज्ञानेपीदमंशस्यार्थस्य विद्यमानत्वात्तथापि व्यञ्जकसत्तया व्यङ्ग्यप्रमात्वप्रसङ्गादित्यर्थः द्वितीयं दूषयति—**नापीति**। प्रत्यभिज्ञायां तत्ताविशिष्टोर्थः। प्रत्यभिज्ञोदसमये नास्त्यतीतत्वात्, तथातीतानागतार्थविषयानुमानेऽपि तदानीमर्थो नास्ति। तथा विधिवाक्यजन्यज्ञानेपि साध्यार्थविषयत्वात्तदानीमर्थो नास्तीति तेषामव्यञ्जकतयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयतृतीयौ दूषयति—**अबाधितार्थवत्त्वं त्विति**। अव्यभिचार्यनुभूतित्वमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीयः इति**। किं यत्रार्थस्तत्र ज्ञानमिति देशतोऽव्यभिचारित्वं विवक्षितम्? किं वा यदार्थस्तदा ज्ञानमिति कालतः? नोभयमपीत्याह—**ज्ञानार्थयोरिति**। यद्यपि सुखादिषु देशतोऽविनाभावो वर्तमानेषु च

(अतिव्याप्ति युक्त) है। वर्तमानकाल में बाधरहित के भी कालान्तर में बाध का अभाव दुरवधारणीय है, सर्व पुरुष के बाध का अभाव प्रथम ही निरस्त हो चुका है। दूसरा यथार्थानुभूतित्व भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि यथार्थत्व का निर्वचन नहीं हो सकता है, क्या वह यथार्थत्व, अर्थसत्ता मात्र विषयत्व है। या यावत् प्रतीयमान अर्थ का सत्त्व है। अथवा अबाधित अर्थसत्त्व है। अर्थसत्तामात्र विषयत्व प्रथम कोटियुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि भ्रम को भी प्रमात्व प्राप्त होगा, वह भी इदमंश का सत्तामात्र विषयक रहता है। यावत्प्रतीयमानार्थ सत्त्व कहने से यद्यपि भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि इदमंश से अन्य अंश का सत्त्व नहीं रहता है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा में अतीतानागत के अनुमानों में तथा-विधिवाक्यजनित साध्यार्थविषयक ज्ञान में, यावत्प्रतीयमान अर्थ के अभाव से भ्रमत्व की प्राप्ति होगी, तत्ता आदिक ज्ञानकाल में नहीं रहते हैं और अबाधितार्थ-

धूमाग्न्योरिवाविनाभावाभावात् । चतुर्थेऽपि पक्षे ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानत्वम् ? विपरीततया वाऽनुल्लिख्यमानत्वमविसंवादित्वम् ? नाद्यः, रजतं रजतमिति धारावाहिकविभ्रमेष्वपि भावात् । न द्वितीयः, असंजातबाधस्यापि भ्रमस्य प्रमात्वापातात् । नापि पञ्चमः, संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वस्य विभ्रमेऽपि धर्म्यंशे भावात् । अन्यथा "सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः" इत्यभ्युपगमपरित्यागप्रसङ्गात् ।

कालतः सम्भवति, तथापि न सर्वप्रमितीनामेवं भाव इतितात्स्वव्याप्तिरित्यर्थः । अविसंवाद्यनुभूतित्वमिति चतुर्थेऽपि पक्षेऽविसंवादित्वं विकल्प्य दूषयति—चतुर्थेऽपीति । किं संवादाभावो विसंवादित्वम् ? तदभावोऽविसंवादित्वम् ? इति प्रथमविकल्पाभिप्रायः । द्वितीये तु विपरीतसंवादो विसंवादस्तदभावोऽविसंवादित्वमिति । तत्र प्रथमं दूषयति—नाद्य इति । अस्ति हि इदं रजतमिति धारावाहिकविभ्रमे ज्ञानान्तरेण पूर्वज्ञानप्रतीतार्थस्य तथेत्युल्लेख इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये देशान्तरगमनादिनानुत्पन्नबाधे भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह—न द्वितीय इति । पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिः, सर्वभ्रमाणामधिष्ठानांशे त्वदुक्तलक्षणवत्त्वेन प्रमात्वप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः, जातिशङ्करोक्तेरित्यभिप्रेत्याह—नापि पञ्चम इति । किंच संशयादेरपि दुर्निरूप-

---

वत्व तो प्रथम ही अपहस्तित (निरस्त) हो चुका है । अव्यभिचारि अनुभूतित्व यह तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है । क्योंकि ज्ञान को अर्थ के साथ अव्यभिचारी कहना होगा, तो जहाँ अर्थ हो वहाँ ज्ञान रहे तो देश से अव्यभिचारी होगा या जब अर्थ रहे तब ज्ञान रहे तो काल से अव्यभिचारी होगा, परन्तु दोनों प्रकार का अव्यभिचार नहीं हो सकता है, क्योंकि भिन्न देश और काल में रहने वाले ज्ञान और अर्थ को धूम और अग्नि के समान अविनाभाव (अव्यभिचार) का अभाव रहता है । अविसम्वादि अनुभूतित्व रूप चतुर्थ पक्ष में भी, असम्वादित्व क्या है । ज्ञानान्तर से तथैव सम्बोधित विषयवत्व है । या विपरीत रूप से अबोधित विषयवत्व है । उनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि धारावाहिक, रजतमरजतम् इन विभ्रमों में पूर्ववर्ती ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानान्तर रूप भ्रम से तथैव सम्बोधित विषयवत्व का भाव रहता है । विपरीत रूप से अबोधितवत्व रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है । क्योंकि जिस भ्रम का बाध नहीं हुआ उस भ्रम को प्रमात्व प्राप्त होता है, इस लक्षण के अनुसार वहाँ अविसंवादी है । पञ्चम पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि (संशयविपर्ययभिन्नस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्व) का धर्म्यंशविभ्रम में भी भाव रहता है । अन्यथा यदि ऐसा नहीं माना जाय तो (सब ज्ञान धर्मी अंश में अभ्रांत रहता है । प्रकार अंश में विपर्यय होता है) इस अभ्युपगम (सिद्धान्त) का परित्याग प्राप्त होगा । और संशय विपर्यय स्मृति

संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तेश्च तदतिरिक्तत्वमपि दुर्भणम् ।

तत्र किमनवधारणज्ञानं संशयः ? विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिज्ञानं वा ? अनिर्द्धारितत्वविशेषितं वा ? जिज्ञासाजनकं मिथ्याज्ञानं वा ? विपर्ययेतर-मिथ्याज्ञानं वा ? संशयत्वजातियोगि वा ? सर्वथापि न निरूपणपथमवतरति ।

अनिरुक्तेरवधृतेरतिव्याप्तेर्द्वयोरपि ।
अव्याप्तेर्विभ्रमाभेदाज्जातिसाङ्कर्यसक्तितः ॥ १९ ॥

नाद्यः, अवधारणानिरुक्तावनवधृतत्वस्याप्यनिरूपणात् । तथाहि—किं

त्वात्तद्व्यतिरिक्तत्वमप्रसिद्धमित्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यभिप्रेत्याह—**संशयेति** ।

तत्र संशयलक्षणानि संभवन्ति विकल्पयति—**तत्र किमित्यादिना** । निश्चय-व्यावृत्त्यर्थमाद्यं पदम् । अवधारणाभावव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम् । घटपदौ स्थाणुरेवेत्या-दिव्यावृत्त्यै विरुद्धोभयग्रहणम् । **अनिर्धारितत्वविशेषितमिति** । अनिर्धारितोभय-कोटिसंस्पर्शि ज्ञानमित्यर्थः । मिथ्याज्ञानमित्युक्ते विपर्ययेति प्रसङ्गस्तदर्थं जिज्ञासा-जनकेत्युक्तम् । तावत्युक्ते तर्केऽपि प्रसक्तिः, तदर्थं मिथ्याज्ञानमिति । सर्वथापि दुर्नि-रूपणमित्युक्तम् । तत्र यथासंभवं दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**अनिरुक्तेरित्या-दिना** । प्रथमे पक्षेऽवधृतेरनिरुक्त्या अनवधृतेरप्यनिरुक्तेरसिद्धिः, तथा द्वितीय-तृतीययोरतिव्याप्तिः, चतुर्थे चाव्याप्तेः, पञ्चमे विभ्रमाभेदात्, षष्ठेऽपि जातिसङ्करः प्रसक्तित इति योजना ।

संगृहीतानि दूषणानि विवृणोति—**नाद्य इत्यादिना** । अवधारणानिरुक्त्याऽनव-धारणानिरुक्तिं दर्शयितुमवधारणलक्षणानि विकल्पयति—**किं ज्ञानमात्रमित्यादिना** ।

की अनिरुक्ति (अनिर्वचन) से उनसे अतिरिक्त भी दुर्वचनीय है। अतः उस अतिरिक्तत्व से युक्त लक्षण भी दुर्भर है ।

उनमें, क्या अनवधारणज्ञान संशय है १, या विरुद्ध उभयकोटि संस्पर्शिज्ञान है २, या अनिर्धारितत्व युक्त उभयकोटि संस्पर्शिज्ञान है ३, या जिज्ञासाजनक मिथ्या-ज्ञान है ४, या विपर्ययभिन्न मिथ्याज्ञान है ५, या संशयत्व ज्ञातियोगी है ६, किसी प्रकार भी निरूपण मार्ग में नहीं प्राप्त होता है । क्योंकि—

प्रथम पक्ष में अवधृति की अनिरुक्ति के कारण अनवधृति के भी अनिर्वचन से उसकी असिद्धि है और द्वितीय तृतीय में अतिव्याप्ति है चतुर्थ में अव्याप्ति है, पञ्चम में विभ्रम से अभेद प्राप्त होता है। षष्ठ में जातिसंकर प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

अर्थात् संशय का अनवधारणज्ञानरूप प्रथम लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि अवधारण की अनिरुक्ति रहते अनवधृतत्व का भी निरूपण नहीं हो सकता है, अतः अवधारण विचारणीय है, कि वह क्या है ? क्या ज्ञानमात्र अवधारण है, १ ।

ज्ञानमात्रमवधारणम् ? उत एकाकारप्रतिनियतम् ? आहोस्वित्संशयविरोधिज्ञानं वा ? संशयविरोधिप्रमाणज्ञानं वा ? आद्ये व्याघातः, ज्ञानं भवति चेत्युक्तत्वात् । द्वितीये चित्रः पटश्चैत्रो मैत्रश्चेत्यादिप्रमाणज्ञानानामपि संशयत्वापातः, एकाकारप्रतिनियमाभावात् । नापि तृतीयचतुर्थौ, संशयानिरुक्तौ तद्विरोधस्यानिरुक्तेः । किं चैवं सति संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं इत्यापतेत् । तथाचानुत्पन्नसंशयस्य संशयाविरोधिता, जायमानप्रमाण-

---

ज्ञानमात्रमवधारणमिति पक्षे ज्ञानत्वानधिकरणं ज्ञानमनवधारणज्ञानं स्यात्, तथाचानवधारणज्ञानं संशय इति वदतो न्यायभूषणकारस्य वदनसरोरुहं व्याहतिहिमाहतमित्याह–**आद्ये व्याघात इति** । नहि चित्रः पट इत्यादिज्ञानानामेकाकारप्रतिनियमस्ततोऽनवधारणज्ञानतापत्त्या संशयलक्षणमिति व्यापकमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति-**द्वितीय इति** । संशयविरोधिज्ञानत्वं तथाविधप्रमाणत्वं वेति यदिदमवधारणस्य लक्षणद्वयम्, तत्संशयानिरुक्त्या न सिद्धयति, आत्माश्रयप्रसङ्गादित्याह—**नापि तृतीयेत्यादिना** । किंच यदि संशयविरोधज्ञानमवधारणज्ञानम्, तदा संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञान संशय इति लक्षणं स्यात्तथा चानुत्पन्नसंशयस्योत्पद्यमानं निर्णयज्ञानमपि संशयः स्यात्तस्य सर्वसंशयाविरोधित्वादित्याह—**किंचेति** । तदेवमनिरुक्तेरवधृतेरित्ययमंशो विवृतः । एतेन च 'कोटिद्वयानवधारणज्ञानं संशयः' इति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम् ।

अथवा एकाकार-प्रतिनियत ज्ञान है अथवा संशयविरोधी ज्ञान है, या संशय-विरोधी प्रमाज्ञान है । यहाँ पर आद्य पक्ष में व्याघात है, क्योंकि ज्ञान के अवधारण होने पर, अनवधारण को संशय कहना है, वहाँ यही उक्त होगा कि ज्ञान होता है और नहीं होता है, अतः व्याघात होगा । अर्थात् ज्ञानमात्र अवधारण है इस पक्ष में ज्ञानत्वानधिकरण ज्ञान (अनवधारण ज्ञान) होगा वहाँ ज्ञान होते ज्ञानत्वानधिकरण होना स्पष्ट व्याघात है । दूसरा पक्ष एकाकार प्रतिनियत यह भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि चित्रपट है, चैत्र और मैत्र है । इत्यादि प्रमाणरूप ज्ञानों को भी संशयत्व की प्राप्ति होती है, ऐसे ज्ञान एकाकार में प्रतिष्ठित नहीं रहते हैं, अतः एकाकार के प्रतिनियम का अभाव रहता है । संशयविरोधी ज्ञान या संशयविरोधी प्रमाज्ञान ये तृतीय चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि संशय के निरुक्ति के बिना उसके विरोध का निर्वचन नहीं हो सकता है और दूसरी बात है कि ऐसा मानने पर संशयविरोधी ज्ञान से अन्य ज्ञान संशय होता है, ऐसा प्राप्त होगा, तब तो जिसको संशय नहीं हुआ, उसके प्रमाज्ञान को संशय का विरोधी नहीं होने से संशय स्वरूप होगा । विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिज्ञानसंशय होता है, यह लक्षण भी

ज्ञानमपि संशयः स्यात् । नापि द्वितीयः, भेदाभेदशीतोष्णादिविषयप्रमाणज्ञानानां विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिनां संशयत्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः, निर्धारणानिरुक्तावनिर्धारितत्वस्यैवानिरुक्तेः । अनिर्धारितत्वशब्देन कोटिद्वयस्याव्यवस्थितत्वं विवक्षितमिति चेत्, तदेव विविच्यताम् । किमव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयस्य स्वरूपम् ? उत धर्मः ? न प्रथमः, कोटिद्वयस्वरूपनिश्चयस्यापि संशयत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, तादृग्धर्मविशिष्टकोटिद्वयग्राहिज्ञानविषयप्रमाया अपि संशयत्वापातात् । नापि चतुर्थः, अजिज्ञासो-

---

अतिव्याप्तेर्द्वयोरपीत्येतद्यथाक्रमं विवृणोति—**नापीत्यादिना** । **निर्धारणेति** । निर्धारणविषयो हि निर्धारितं नाम, तद्विपरीतं चानिर्धारितं, निर्धारणं चावधारणापरपर्यायम्, तस्य च दुर्निरूपत्वमनन्तरमेव निवेदितमिति तदुपजीविलक्षणमपि दुर्निरूपमित्यर्थः । ननु कोटिद्वयाव्यवस्थितत्वमनिर्धारितत्वम्, तेन न पूर्वोक्तान्योयाश्रयत्वमिति शङ्कते—**अनिर्धारणेति** । यदि हि कोटिद्वयस्वरूपमव्यवस्थितत्वम्, तदा-स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति कोटिद्वयनिश्चयस्यापि संसयत्वापत्तेरतिव्याप्तिरित्याह—**कोटिद्वयेति** । अव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयधर्मः, इति द्वितीये पक्षे दूषणमाह—**तादृग्धर्मेति** । अव्यवस्थितत्वविशिष्टकोटिद्वयग्राहि यज्ज्ञानं तद्विषयप्रमाणमपि परंपरयाऽव्यवस्थितकोटिविषयज्ञानमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । यदि च पुरुषत्वादिवदव्यवस्थितत्वमपि पारमार्थिको धर्मः, तदा तद्विशिष्टकोटिद्वयप्रमाणेऽप्यतिव्याप्तिः । आरोपितत्वे तद्विपर्ययेऽपि प्रसक्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्, एतेन साक्षादिति विशेषणमपि

युक्त नहीं हो सकता है क्योंकि भेदाऽभेद शीतोष्णादि विषयक विरुद्ध उभय कोटि विषयक प्रमाण ज्ञानों को भी संशयत्व प्राप्त होगा । (अनिर्धारितत्त्व युक्त उभय कोटि संस्पर्शिज्ञान) यह तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि निर्धारणा की अनिरुक्ति रहते अनिर्धारितत्व का निर्वचन नहीं हो सकता है । यदि कहें कि अनिर्धारितत्व शब्द से कोटिद्वय के अव्यवस्थितत्त्व विवक्षित है, तो उसीका विवेचन किया जाय कि वह अव्यवस्थित्व क्या है । वह अव्यवस्थितत्व कोटिद्वय का स्वरूप है, या धर्म है । प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, अव्यवस्थित को कोटिद्वय स्वरूप मानने पर कोटिद्वय स्वरूप के निश्चय को भी संशयत्व की प्राप्ति होगी । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है । क्योंकि तादृक् = अव्यवस्थितत्व धर्मविशिष्ट कोटिद्वय विषयक ज्ञानविषयक यह पुरुष है या नहीं यह मैं नहीं जानता हूं । इस अनुव्यवसायरूप प्रमाज्ञान को भी संशयत्वापत्ति होगी । अनुव्यवसाय व्यवसाय के विषय को भी विषय करता है । अतः यह भी उस धर्म का ग्राहक होगा । जिज्ञासाजनक मिथ्या ज्ञान संशय होता है, यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि अजिज्ञासु को भी स्थाणु आदि में संशय के देखने से यहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी ।

रपि स्थाण्वादौ संशयदर्शनेन लक्षणस्याव्यापित्वात्। नापि पञ्चमः, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—संशयस्य विपर्यासाद्विषयविशेषेण ? कारणविशेषेण ? जातिविशेषेण वा भेदः स्यात् ? नाद्यः, विषयविशेषानिरुक्तेः। तथाहि—न तावदुभयविधिर्विषयः, एतौ स्थाणुपुरुषाविति समुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्वापातात्। नाप्युभयनिषेधः, न स्थाणुर्न पुरुष इति प्रत्ययप्रसक्तेः। नाप्यन्यतरनिषेधः, तदितरावधारणापत्तेः। नाप्युभयविधिनिषेधौ, स्थाणुर्भवति न भवति पुरुषो भवति न भवतीत्युभयविधिनिषेधावधारण-

---

निरस्तम्। अव्याप्तेरित्येतदपि विवृणोति—**अजिज्ञासोरिति**। नहि सर्वत्र संशयानन्तरं जिज्ञासोदेति, अपेक्षाया अपि संभवादिति भावः। विभ्रमाभेदादित्येतद्विवृणोति—**नापि पञ्चम इत्यादिना**। विषयविशेषनिमित्तः संशयस्य विपर्ययाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—**नाद्य इति**। तत्र संशयस्य किमुभयविधिर्विषयः यथा स्थाणुश्च पुरुषश्चेति ? किंवोभयनिषेधः ? किं वान्यतरनिषेधः ? उतोभयविधिनिषेधौ ? तत्राद्य इत्याह—**न तावदिति**। द्वितीयेऽसिद्धिमाह—**न स्थाणुरिति**। **तदितरेति**। यदि ह्यन्यतरनिषेधः स्यात्तदान्यतरस्यावधारणं पर्यवस्येत्, तथा च संशयत्वव्याघातः। चतुर्थेऽप्यसिद्धिमाह—**स्थाणुरिति**। तथाप्युभयविधिनिषेधयोरवधारणतया संशयत्वव्याघात इत्यर्थः। न केवलं व्याघातोऽसंभवश्चेत्याह—

विपर्ययेतर मिथ्या ज्ञान रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नहीं। क्योंकि वह विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि संशय को विपर्यय से विषयविशेष द्वारा भेद है, या कारणविशेष से, अथवा जातिविशेष से भेद है। विषयविशेष के द्वारा भेद नहीं कह सकते हैं, क्योंकि विषयविशेष का निर्वचन (निर्णय) नहीं हो सकता है। संशय का विषय उभय कोटि का विधि या उभय कोटि का निषेध, या एक का निषेध या उभयविधि निषेध कह सकते हैं। वहाँ उभय विधि युक्त नहीं, क्योंकि ये स्थाणु पुरुष हैं। इस समुच्चय (समूह) विषयक निश्चय को भी संशयत्व प्राप्त होगा। उभय निषेध संशय का विषय हो तो, न स्थाणु है, न पुरुष है, ऐसा संशयज्ञान का स्वरूप होना चाहिये। अन्यतर = एक का निषेध संशय का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि एक स्थाणुत्व के निषेध को संशय का विषय होने पर, पुरुषत्व का अवधारणरूप स्थाणुविषयक संशय प्राप्त होगा। विधि-निषेध उभयस्वरूप भी संशय का विषय नहीं हो सकता है। क्योंकि, विधि-निषेध दोनों को संशय का विषय होने पर (स्थाणुर्भवति न भवति, पुरुषो भवति न भवति) स्थाणु ठूंठ है नहीं है, पुरुष है नहीं है। इसप्रकार का चतुष्कोटिक उभय के विधि और निषेध का अवधारण स्वरूप संशय प्राप्त होगा कि जिससे संशयत्व का व्याघात होगा। और (शब्दो नित्योऽनित्यो वा) यहाँ एक का निषेध अन्य का विधि रूप, उभय

प्रसङ्गात् । नित्योऽनित्यो वेत्यत्रैकतरनिषेधस्यान्यतरविधिरूपतयोभयविधि-निषेधयोरसंभवाच्च । न द्वितीयः, कारणविशेषानिरुक्तेः । स हि सामग्री वा ? तदेकदेशो वा ? नाद्यः, अतीन्द्रियत्वेन तस्याः प्रत्यक्षत्वायोगात् । लिङ्गाभावेनानुमानतोऽप्यसिद्धेः । न च संशयज्ञानं लिङ्गम्; तस्येदानीमेव निरूप्यमाणत्वात् । नापि द्वितीयः, प्रत्यक्षस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविषयतयानुव्यवसायप्रत्यक्षजनकत्वेनातिव्यापकत्वात् , अप्रत्यक्षस्य

नित्य इति । नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादेकतरविधावेकतरनिषेध उभयविधानुभयनिषेधश्च न संभवति, उभयविधानातिरिक्तोभयनिषेधाभावादित्यर्थः । एवं विषयविशेषाद्विशेषं निराकृत्य कारणविशेषाद्विशेष इति पक्षं निराचष्टे—**न द्वितीय इति** । कारणशब्देन किं सामग्री विवक्ष्यते ? सामग्र्येकदेशो वा ? आद्ये प्रत्यक्षतस्तज्ज्ञानम् ? अनुमानतो वा ? नोभयथापीत्याह—**स हीत्यादिना** । ननु किमिति लिङ्गाभावः ? यावता कार्यात्संशयज्ञानात्सामग्र्याः शक्यमनुमानमिति, तत्राह—**न च संशयेति** । सामग्र्येकदेशः कारणमिति पक्षेऽपि किं प्रत्यक्षगम्यस्तदेकदेशः ? तदगम्यो वा ? नाद्य इत्याह—**प्रत्यक्षस्येति** । तदा हि तादृशकारणजनितं ज्ञानं संशय इति पर्यवस्येत् । तथाचातिव्याप्तिः । तस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविषयानुव्यवसायं प्रत्यपि जनकत्वात् । तस्य च प्रत्यक्षप्रमितित्वेन संशयत्वाभावादित्यर्थः । आदिशब्देन च विशेषस्मरणविशेषदर्शने गृह्येते ।

विधि निषेध में संशय का असम्भव होगा । क्योंकि यहाँ नित्यत्व अनित्य के परस्पर निषेध रूप होने से उभयविधि और उभयनिषेध का अभाव है । कारणविशेष से भेदरूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि संशय के कारण विशेष का निर्णय नहीं हो सकता है, क्योंकि कारणविशेष कारणों का समूहस्वरूप सामग्री हो सकता है या सामग्री का एकदेश (अंश) हो सकता है । उनमें आद्य, सामग्री के अतीन्द्रियत्व होने के कारण उसके प्रत्यक्षत्व का असम्भव है । सामग्री अतीन्द्रिय इन्द्रियादि युक्त होती है । अतः वह कार्य से अनुमेय होती है । और यहाँ लिङ्ग के अभाव से अनुमान से भी सामग्री की सिद्धि नहीं हो सकती है । यदि कहा जाय कि संशय ज्ञान ही उसका लिङ्ग है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि संशय अभी निरूप्यमाण (असिद्ध) है । द्वितीय = सामग्री का एकदेश, भी संशय का कारणविशेष नहीं हो सकता है । क्योंकि संशयज्ञान की सामग्री का एकदेश प्रत्यक्ष स्थाणु पुरुषादि के उच्चैस्त्वादि साधारण धर्म के दर्शनादि को माना जाय तो, वह साधारण धर्म दर्शनादि स्वविषयकता से स्वविषयक अनुव्यवसाय का भी जनक होता है, अतः अनुव्यवसाय में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, वह भी सामग्री एकदेश प्रत्यक्ष साधारण धर्मदर्शनादि से होता है । और अप्रत्यक्ष सामग्री एकदेश का तो

च तदेकदेशस्य सामग्रीनिरासेन निरस्तत्वात्। नापि तृतीयः, जातिसङ्करापत्तेः। अयं स्थाणुः पुरुषो वेत्यत्र धर्म्यंशे तस्यैव ज्ञानस्य निश्चितत्वम्, विशेषांशे विकल्पनांशे च संशयत्वमित्येकस्यैव ज्ञानस्य विरुद्धजातिद्वयलिङ्गिनः प्रसङ्गात्। एतेन षष्ठोऽपि पक्षो निरस्तः। तस्मान्न संशयलक्षणनिरुक्तिः।

नापि विपर्ययस्य। तथाहि—'मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः' इति भूषणकारभाषितं लक्षणं तावदयुक्तम्, मिथ्यात्वानिर्वचनात्—तत्किमप्रमात्वम्? उतोपदर्शितार्थाप्रापकत्वम्? अर्थक्रियाशून्यत्वं वा?

आद्यकल्पेष्वतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चान्त्ययोर्द्वयोः।

सामग्रीनिरासेनेति। न प्रत्यक्षतस्तत्सिद्धिः नाप्यनुमानतः, लिङ्गाभावात्। न च संशय एव लिङ्गम्, अन्योन्याश्रयादित्यर्थः। जातिविशेषाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। जातिसङ्करमेव विवृणोति—**अयं स्थाणुरिति**। संशयत्वजातियोगीसंशय इति षष्ठेऽपि पक्षे सङ्करप्रसङ्गमतिदिशति—**एतेनेति**।

एवं संशयानिरुक्तिमुपपाद्य विपर्ययानिरुक्तिं प्रतिज्ञातामुपपादयति—**नापि विपर्ययस्येति**। प्रमाणज्ञानसंशययोर्मिथ्याध्यवसायपदाभ्यां निरासः। **उपदर्शितेति**। यद्विज्ञानं स्वेन प्रकाशितमर्थम् न प्रापयितुं शक्नोति स विपर्ययः इति विवक्षितमित्यर्थः। अर्थक्रियेत्यत्रोत्तरार्थशब्दो विषयपरः, समासश्च बहुव्रीहिः। सर्वपक्षेषु दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**आद्येति**। प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वतिव्याप्ते-

---

लिङ्गादि के अभाव से सामग्री के निराकरण के समान ही निराकरण हो चुका है, जातिविशेष से संशय का भेदरूप तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि संशयत्व को जाति मानने पर जातिसंकर की प्राप्ति होती है (अयं स्थाणुः पुरुषो वा) यह ठूँठ है या मनुष्य है। यहाँ इस ज्ञान को धर्मी इदम् अंश में निश्चयत्व है, और विशेष विकल्पित अंश में संशयत्व है। अतः इस एकज्ञान को विरुद्ध जातिद्वयलिङ्गयत्व प्राप्त होता है। इसीसे संशयत्वजातियोगी संशयः यह षष्ठ पक्ष भी निरस्त हो गया। अतः संशय के लक्षण का निर्वचन नहीं हो सकता है, यह सिद्ध हुआ।

विपर्यय का भी निर्दोष लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि (मिथ्याऽध्यवसायो विपर्ययः) मिथ्या निश्चय भ्रान्ति है। यह भूषणकार से कथित लक्षण अयुक्त है, क्योंकि मिथ्यात्व का निर्वचन नहीं हो सकता है कि मिथ्यात्व क्या है। क्या अप्रमात्वरूप है, या अर्थव्यभिचारित्व है, या उपदर्शितार्थाऽप्रापकत्व है, अथवा अर्थक्रिया शून्यत्व है।

प्रथम के तीन पक्षों में अतिव्याप्ति है, अन्त्य के दो पक्षों में अव्याप्ति है।

न मिथ्याध्यवसायत्वं विपर्यासस्य लक्षणम् ॥ २० ॥

नाद्यः, अप्रमात्वे सत्यध्यवसायरूपायां स्मृतावतिव्याप्तेः। न द्वितीयः, देशतः कालतोऽर्थव्यभिचारिषु प्रमाणज्ञानेष्वपि विपर्ययत्वप्रसङ्गात्। न तृतीय; चन्द्रतारकादिप्रमाणज्ञानेष्वतिप्रसक्तेः। इदं रजतमित्यादिज्ञानेषु चोपदर्शितेदमंशप्रापकत्वादव्याप्तेः। नापि चतुर्थः, मिथ्याऽहिदंशप्रतिसूर्यकाद्यनेकार्थानां निधनप्रकाशनाद्यर्थक्रियादर्शनात्। न च ज्ञानमेवार्थक्रियाकारि

रन्त्ययोस्तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तेरिति योजना। चस्तु तृतीयपक्षस्यैवातिव्याप्तिं च समुच्चनोति।

संग्रहं विवृणोति—**नाद्य इत्यादिना**। अप्रमात्वं मिथ्यात्वमिति पक्षे अप्रमारूपाध्यवसायो विपर्यय इत्युक्तम् स्यात्, तथात्र स्मृतावतिव्याप्तिरित्याह—**अप्रमात्व इति**। अतीतादिज्ञानानामर्थव्यभिचारिणामध्यवसायरूपाणां विपर्ययत्वापत्त्यातिव्याप्तेर्द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्न इत्याह—**देशत इति**। **चन्द्रतारकेति**। नहि तदर्थाज्ञानसमये प्राप्तुं शक्यन्ते इति पूर्वमेवोक्तमिति भावः। अस्यैव पक्षस्याव्याप्तिं चाह—**इदं रजतमिति**। चतुर्थेऽव्याप्तिमाह—**मिथ्याऽहिदंशेति**। अस्ति तावन्मिथ्याहिदंशादपि कस्यचिन्मरणम्, दर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यस्य च प्रकाशकत्वम्, उपसूर्यं वा दृश्यमानः सूर्यः प्रतिसूर्यकः, 'तस्याप्युपरि नरपतिम्' इत्यादिशास्त्रान्मरणादिहेतुत्वावगमात्प्रकाशकत्वाच्चातस्तत्र त्वदभिमतमिथ्यात्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। ननु कथमव्याप्तिर्यावता तत्राप्यर्थस्यार्थक्रियाशून्यत्वाज्ज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वादिति, तत्राह—**न चेति**। किं ज्ञानमात्रं मरणादिहेतुः ? तादृशर्थविशेषितं वा ? आद्ये

अतः मिथ्याध्यवसायत्व, विपर्यय का लक्षण नहीं हो सकता है ॥ २० ॥

अर्थात् मिथ्यात्व के अप्रमात्वरूप होने पर; अप्रमात्वयुक्त अध्यवसायत्व, विपर्यय का आद्य लक्षण होगा, वह युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि उसकी स्मृति में अतिव्याप्ति होती है। दूसरा अर्थव्यभिचारित्वयुक्त अध्यवसायत्व लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अतीत दूरस्थ वस्तु के देश, कालादि द्वारा अर्थव्यभिचारी प्रमाज्ञानों में भी विपर्ययत्व की प्राप्ति रूप अतिव्याप्ति होती है। उपदर्शितार्थाऽप्रापकत्वयुक्त अध्यवसायत्व, यह तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि चन्द्र, तारकादि के प्रमाज्ञानों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वे ज्ञान चन्द्रादि के प्रापक नहीं होते हैं। और इदं रजतम्, इत्यादि भ्रमज्ञानों में अव्याप्ति होती है, क्योंकि भ्रमज्ञान भी उपदर्शित (प्रकाशित) इदम् अंश के प्रापक होते हैं। चतुर्थ अर्थक्रियाशून्य अर्थवदध्यवसायत्व, लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि मिथ्या अहि = सर्प, दंश और सूर्य के ऊपर दृश्यमान मिथ्या सूर्यरूप प्रतिसूर्यकादि अनेक मिथ्या अर्थों का भी मरण प्रकाशनादि अर्थक्रिया (फल) देखा जाता है, अतः उनके ज्ञानों में अव्याप्ति

नार्थं इति वाच्यम्, ज्ञानमात्रस्य तद्धेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात् अर्थविशेषितस्य तद्धेतुत्वे चार्थस्यापि तद्धेतुत्वापातात्। तदेवं तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तिः।

'अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः' इत्युद्द्योतकरीयमपि लक्षणमयुक्तम्, अतिव्याप्तेः—भवति हि वल्मीकादौ स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः, न स्थाणुर्न पुरुष इत्युभयबाधदर्शनात् अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, न चासौ विपर्ययः। अतस्मिन्निति च स्वात्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्ययविव-

---

प्राह—ज्ञानेति। द्वितीये प्राह—अर्थेति। प्रतिपादितामन्तिमयोरव्याप्तिमुपसंहरति—तदेवमिति। एतेनैककोटयवलम्बी जाग्रतो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति श्रीवल्लभीयमपि लक्षणं निरस्तम्; मिथ्यात्वानिरुक्तेः।

एवं भूषणकारलक्षणं दूषयित्वोद्द्योतकराभिमतं दूषयति—अतस्मिन्निति। वल्मीकादौ स्थाणुत्वपुरुषत्वरहिते स्थाणुर्वा पुरुष वेति प्रत्ययस्तावदतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवति। नच विपर्ययोऽसौ, संशयत्वात्। अतोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु प्रत्ययशब्देनावधारणं विवक्षितं तेन न संशयेऽतिव्याप्तिरिति मन्वानं प्रत्याह—अतस्मिन्निति। अतस्मिंस्तदिति प्रत्यय इति कोऽर्थः? यत्तदत्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्यय इति। तथा च मा भूत् संशयेऽतिव्याप्तिः, प्रत्ययशब्देनावधारणस्य विवक्षितत्वात्, तथापि प्रमाणज्ञानेष्वतिव्याप्तिः। प्रदेशवृत्तिविशेषगुणेषु संयोगविभागयोश्च स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया तत्प्रमितीनां विपर्ययत्वापातादित्यर्थः।

होगी। यदि कहा जाय कि मिथ्या सर्पादि के ज्ञान ही अर्थक्रियाकारी होता है, अर्थ नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सर्पादि के ज्ञानमात्र को मरणादि के हेतुत्व को मानने पर अन्य ज्ञानों में भी अतिप्रसक्ति होगी, मरणप्रदत्व प्राप्त होगा, अतः अर्थविशेषित को ही मरणादि हेतुत्व होने पर अर्थ को भी हेतुत्व प्राप्त होना है। अतः उक्त रीति से तृतीय और चतुर्थ में अव्याप्ति दोष है।

(अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः) रजतत्वादि धर्मरहित में रजतत्वादि का ज्ञानविपर्यय कहा जाता है। यह उद्योतकराचार्य का लक्षण भी अयुक्त है, इसलिए कि इसकी संशय में अतिव्याप्ति है, क्योंकि वल्मीक (दीमकरचित मृत्पिंड) आदि में स्थाणु है या पुरुष है। ऐसा संशय होता है, वहां स्थाणुत्व, पुरुषत्व दोनों का अभाव रहता है, अतः उभय के बाध देखने से अतस्मिंस्तत् बुद्धिरूप विपर्ययलक्षण की प्राप्ति होती है, और वह विपर्यय स्वरूप है नहीं, अतः अतिव्याप्ति है। यदि कहें कि 'अतस्मिन्' इत्यादि लक्षण से स्वात्यन्ताभाव के अधिकरण में तत् = स्वस्वरूप, का निश्चय विवक्षित है। अतः अनिश्चयरूप संशय में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो कहा जाता है कि ऐसी विवक्षा होने पर भी प्रदेशवृत्ति अव्याप्यवृत्ति,

क्षायां संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणेषु प्रदेशवृत्तिषु स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणेषु प्रमारूपोपि प्रत्ययो विपर्ययः स्यात् । एतेन बाध्यं ज्ञानम्, दुष्टकरणजन्यं वा ज्ञानं विपर्यय इति लक्षणं निरस्तम् , संशयेऽतिव्याप्तेर्दशितत्वात् बाधानिरुक्तेश्च । किं विरोधिप्रमाणज्ञानं बाधः ? किं वा विपर्ययविरोधिप्रमाणज्ञानम् ? विषयापहारो वा ? आद्ये पूर्वोत्तरप्रमाणज्ञानानां वध्यघातकलक्षणेऽतिव्याप्तिः । द्वितीये परस्पराश्रयता । न तृतीय; तथाहि--विषयापहारो नाम पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थासत्त्वबोधनमात्रम् ? उत तथा प्रमितिः ? उत यद्देशकालविशिष्टतया यत्प्रतीतं तस्य तत्रैवासत्त्वबोधनम् ? नाद्यः, नायं देवदत्तो न जीवतीति विभ्रमप्रत्ययेन देवदत्तादि-

---

एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**संशय इति**। सोऽपि हि बाध्यो दुष्टकरणजन्यश्चेति भावः । अथात्रापि ज्ञानशब्देनावधारणविवक्षा, तन्न, तदनिरुक्तेर्वर्णितत्वात् । भवतु वा, तथापि बाधानिरुक्तेरेवेदं दुष्टमित्यभिप्रेत्याह—**बाधेति**। पूर्वमेव बाध्यत्वं विकल्प्य दूषितं तथाप्यत्र भङ्ग्यन्तरेण दूषणं क्रियत इति । **पूर्वोत्तरेति**। यदि हि विरोधिज्ञानमात्रं बाधः, तदा पूर्वज्ञानानामुत्तरज्ञानविनाश्यतया बाध्यत्वात्सर्वज्ञानेषु लक्षणमतिपतेदित्यर्थः । उत्तरो ग्रन्थः स्पष्टार्थः । विषयापहारो बाध इति पक्षमपि विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना**। **तथाप्रमितिरिति**। पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थस्यासत्त्वप्रमितिरिति वार्थः । **नायं देवदत्त इति**। यदा हि देवदत्त इति

अपने अत्यन्ताऽभाव के साथ रहने वाले, संयोग, विभाग, शब्द, आत्मविशेष गुणविषयक प्रमारूप ज्ञानविपर्यय हो जायगें, क्योंकि स्वात्यन्ताभाव के अधिकरणत्व का निश्चय रूप सब होते हैं। इसीसे बाध्यज्ञानविपर्यय होता है, दुष्टकरणजन्य ज्ञानविपर्यय होता है, ये लक्षण भी निरस्त हो गये, क्योंकि संशय में इनकी अतिव्याप्ति दर्शाई गई है, संशय भी बाध्य और दुष्टकरणजन्य होता है। और लक्षणगत बाध की निरुक्ति भी नहीं हो सकती है। क्योंकि क्या, विरोधी प्रमाज्ञान को बाध कहते हैं या विपर्यय विरोधी प्रमाज्ञान को कहते हैं, या विषयापहार बाध है। आद्य पक्ष में पूर्वोत्तर प्रमाज्ञानों के बाध्य के घातक स्वरूप में अतिव्याप्ति होगी, वहाँ भी पूर्वज्ञान के विरोधी उत्तर का प्रमाज्ञान होता है। दूसरे पक्ष में ज्ञानों में परस्पराश्रयता होगी, क्योंकि विपर्ययज्ञान के ज्ञान होने पर उसके बाधक का ज्ञान होगा, और बाधक ज्ञान के ज्ञान होने पर उसके बाध्य विपर्यय का ज्ञान विषयापहार रूप तृतीय पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि विषयापहार पूर्व ज्ञान से उपदर्शित अर्थ के असत्त्व के बोधन मात्र का नाम है, या उक्त अर्थ के असत्त्व की प्रमिति (प्रमा) का नाम है, अथवा जिस देश-काल में वृत्तिरूप से जो प्रतीत हुआ है, उसका उसी देशकाल में असत्त्व बोधन अपहार है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ प्रथम किसी को प्रमाज्ञान होता है, कि देवदत्त है और जीवित है और पीछे

प्रत्ययानां बाधितत्वेनाप्रमात्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, देशान्तरकालान्तरयोस्तदसत्त्वप्रमित्या घटादिज्ञानानामप्रमात्वप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः, देशकालविषयबाधेष्वव्याप्तेः, देशकालयोर्देशकालान्तराभावात्। यत्तदादिशब्दानां च सर्वविषयत्वे कतिपयविषयत्वे चाव्याप्तिरेव। एतेन फलापहारोऽपि व्याख्यातः। अनुत्पन्नफलस्यापि ज्ञानस्य बाध्यत्वाज्जीका-

---

वा जीवतीति वा प्रतीतिरेकस्योदेति, अपरस्तु भ्रान्तः प्राह, नायं देवदत्तः, नच जीवतीति, तत्रोत्तरस्य बाधकत्वं पूर्वस्य बाध्यत्वाद्विपर्ययत्वं च स्यादितीष्टसिद्धिकारोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयेऽप्यतिव्याप्तिमाह—**देशान्तरेति**। अनित्याकारोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः। नामविभूनां कालान्तरदेशान्तरयोरसत्त्वप्रमितिरस्तीति तज्ज्ञानेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः। यदा हि देशकालविषयो भ्रमो जायते, न तत्र तद्बाधस्योक्तरूपत्वमित्यव्याप्त्या तृतीयपक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। किंच यद्देशकालेत्यत्र यत्प्रतीतमित्यत्र च तस्य तद्देशकालेत्यत्र च यत्तच्छब्दानां सर्वदेशकालसर्ववस्तुपरत्वे सर्वत्राधाव्याप्तिः, एकैकेन सर्वाबाधात्, निष्कृष्टविशेषविवक्षायां च तदितरबाधाव्याप्तिरित्याह—**यत्तदादीति**। लक्षणान्तरेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**। तत्राप्यभिवदनं प्रवृत्तिरुपादानमर्थक्रियेति चतुर्विधफलानामेकैकापहरे सर्वापहारे वाऽव्याप्तिरित्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरं चाह—**अनुत्पन्नेति**। प्रवृत्तेषु विपर्ययज्ञानेषु फलम्, प्राक् तस्याभावात्, तच्चानुत्पादितप्रवृत्तिकमपि क्वचिद्बाध्यं दृश्यते विरक्ता-

---

उसीको वा अन्य को भ्रमज्ञान किसी कारणवश हो जाता है कि यह देवदत्त नहीं जीवित है। वहां भ्रमज्ञान से प्रमाज्ञान के विषय का अपहार होने से उसमें अप्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि अनित्य अविभुपदार्थ घटादि के ज्ञान के विषय घटादि की देशान्तर कालन्तर में असत्त्व प्रमिति से उन घटादि के ज्ञानों में अप्रमात्व प्राप्त होगा, क्योंकि प्रमिति से उनके विषय का अपहार हुआ है (असत्त्व बोधन हुआ है) तद्देशकाल में ज्ञात का तद्देशकाल में असत्त्वबोधन रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि देशकाल वाली वस्तु के भ्रम का तो वह विषयापहार कहा जा सकता है, परन्तु देशकाल का ही जहां विपर्यय होगा वहां देशकाल का भ्रमविषय के बाधों में इस बाध लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि देश काल के देश कालान्तर का अभाव रहता है और लक्षणगत यत् तत् शब्दों के सर्व देश कालादि विषयत्व होने पर, या कतिपय विषयत्व होने पर अव्याप्ति ही है, क्योंकि एक-एक बाधक से सर्वदेशकाल वृत्ति सब बाध्य का बाध (अपहार) नहीं होता है, और कतिपय के ग्रहण करने पर अगृहीत में लक्षण की अव्याप्ति होगी। इसीसे (विषयापहार से) फलापहार भी व्याख्यात (निरस्त) हो गया। क्योंकि फल में भी अभिवदन प्रवृत्ति आदि

राच्च। विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इत्यपलक्षणम्, इदं रजतमित्यादौ धर्म्यंशे प्रत्यये जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तस्मान्न विपर्ययस्य लक्षणं पश्यामः।

तथा स्मृतेरपि। तथाहि–किं प्रमाकरणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः? उत दोषाजन्यत्वविशेषितम्? अथवा स्वसमानविषयसंस्कारजन्यं ज्ञानम्? किं वा प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमद्? आहोस्वित्स्मृतित्वजातियोगि?

आद्ये कल्पेऽधिकव्याप्तेर्द्वयोश्चासंभवित्वतः।
तुर्येऽतिव्याप्तितश्चान्त्येऽभावाद्व्यञ्जकमानयोः॥ २१॥

दीनाम्, तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इति, तत्राह—**विपर्ययेति**। संशयत्वसमानयोगक्षेमभिति भावः।

संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वं प्रमात्वव्यञ्जकमिति पञ्चमपक्षे संशयविपर्ययानिरूपणाल्लक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानीं स्मृत्यनिरूपणादपि तत्त्वानधिकरणत्वमप्रसिद्धमित्यभिप्रेत्याह—**तथा स्मृतेरपीति**। संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरित्युक्ते प्रत्यभिज्ञादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाकरणाजन्यत्वे सतीत्युक्तम्। अननुभूतविषयभ्रमनिवृत्त्यै द्वितीयं विशेषणम्। द्वितीये विपर्ययेतिव्याप्तिपरिहाराय दोषाजन्यत्वे सतीत्युक्तम्। ज्ञानपदेन घटादेः संस्कारजन्यपदेनानुवादस्य प्रत्यभिज्ञाया आद्येन पदेन निरासः। तृतीयेऽपि संस्कारजन्यत्वमिति भावः। चतुर्थेऽपि पदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वं शाब्दप्रमित्यादीनामस्तीति तद्वयवच्छेदाय प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। श्लोकेन दूषणानि संगृह्णाति—**आद्य इति**। अधिकव्याप्तेः, अतिव्याप्तेः द्वयोर्द्वितीयतृती-

---

रूप सर्वफलापहार वा एक-एक फल के अपहार में अव्याप्ति होती है। और अनुत्पन्न फल वाला ज्ञान के बाध्यत्व को भी माना जाता है, अतः जहाँ फलापहार रूप बाध का अभाव रहता है, वहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी। विपर्ययत्वजातियोगी (विपर्ययत्व जाति वाला) विपर्यय होता है, यह भी अपलक्षण (दुष्ट लक्षण) है, क्योंकि इदं रजतम् इत्यादि भ्रम के धर्मी अंश के ज्ञान में संशय के समान संकर प्राप्त होता है। अतः विपर्यय का निर्दुष्ट लक्षण नहीं दीखता है।

इसीप्रकार से स्मृति का भी लक्षण नहीं दीखता है। क्योंकि प्रमाकरणाऽजन्यत्वयुक्त संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति कहा जाता है या दोषाऽजन्यत्वयुक्त प्रमाकरणाऽजन्य संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति कहा जाता है, अथवा स्वसमान विषयक संस्कारजन्य को कहा जाता है, या प्रमा में अवृत्ति, पदजन्य ज्ञान में वृत्ति जो जाति तादृश जातिमद् ज्ञान स्मृति है, या स्मृतित्व जाति योगि ज्ञान है।

प्रथम पक्ष में अधिक व्याप्ति = अतिव्याप्ति है, द्वितीय तृतीय में असम्भव है, चतुर्थ में अतिव्याप्ति है, पञ्चम में व्यञ्जक और प्रमाण का अभाव है॥ २१॥

नाद्यः, भ्रमस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गात् । तस्यापि प्रमाणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वात् । नापि द्वितीयः; असंभवित्वापातात्, संस्कारस्यापि स्वसामग्र्यनुमापकतया प्रमाकरणत्वात् । नापि तृतीयः; असंभवित्वादेव, सा मे माता स मे पितेत्यादिस्मृतीनां पूर्वानुभवसंस्काराधिकविषयत्वात् । नहि पूर्वानुभवे स इत्याकारः; अयमितिवर्तमानताया एवानुभवात् । न च स इत्याकारः कारणान्तरोपनीतः पदात्पदार्थस्मृतौ हरिहरादिस्मृतौ चाभावा-

---

यत्वेः । आद्यपक्षेऽधिकव्याप्तिं निगदव्याख्यातग्रन्थेन दर्शयति—भ्रमस्यापीति । द्वितीयेऽसंभवं दर्शयति—संस्कारस्यापीति । इदं च प्रथमपक्षेऽपि समानम् । समानेऽप्यस्मिन्पक्षान्तरोपस्थापकं तदिति दूषणान्तरं तत्रोक्तम् । तृतीयेऽसंभवं दर्शयति—सा मे मातेति । अथ कथं स्मृतेः पूर्वानुभवसंस्कारादधिकविषयता ? तत्राह—नहीति । ननु स इत्यत्र तद्देशकालवैशिष्ट्यं प्रतीयते, स च देशादिः पूर्वानुभवसमयेऽप्यनुभूत इति कथं तमशमादायाधिकविषयताऽत आह—अयमितीति । न तद्देशादिवैशिष्ट्यमात्रं तत्ताश्रयं स इति अयमिति चोभयोरविशेषप्रसङ्गात्, किन्त्वसन्निहितदेशकालवच्छेदः, पूर्वानुभवसंभेदो वा । नच तत्पुरस्तादनुभूतम्, वर्तमानतयैवानुभवात्, स्वविशिष्टाग्राहकत्वाच्च पूर्वानुभवस्येति भावः । ,ननु स इत्यकारः स्मृतेविषय एव न भवति, पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्, तस्मात्कारणान्तरप्रयुक्त एवायमतो न स्मृतेरधिकविषयतेति, तत्राह—न चेति । कुतो न वाच्यमिति ? तत्राह—

अर्थात् प्रथम लक्षणयुक्त नहीं है, क्योंकि उस लक्षण के अनुसार भ्रम को भी स्मृतित्व प्राप्त होता है, भ्रम भी प्रमाकरण से अजन्य होता हुआ संस्कारजन्य होता है, अतः उसमें प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति है । द्वितीय, दोषाऽजन्य होता हुआ प्रमाकरणाजन्य संस्कारजन्यत्व लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह लक्षण असम्भावितायुक्त है । संस्कार भी अपनी सामग्री का अनुमापक होता है, अतः उस सामग्री की अनुमिति रूप प्रमा का संस्कारकरण होता है और उस प्रमाकरण संस्कार से स्मृतिजन्य होती है । असम्भावित्व से ही तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि (वह मेरी माता, वह मेरा पिता) इत्यादि स्मृतियों को पूर्वानुभवजन्य संस्कार से अधिक विषय रहता है, पूर्व के अनुभव में, स, वह ऐसा आकार नहीं रहता है, किन्तु, अयम्, यह, इसप्रकार से वर्तमानता का ही उस समय अनुभव होता है । अतः ऐसी स्मृति स्वविषय से समान विषय वाले संस्कार से जन्य नहीं होती है । यदि कहा जाय कि, स, वह ऐसा ज्ञान का आकार कारणान्तर (प्रमाणान्तर) से स्मृति में प्राप्त होता है, वह वस्तुतः स्मृति का विषय नहीं रहता है, क्योंकि पद से पदार्थ (वाच्य) के स्मरण में और हरिहरादि के स्मरण में, स, वह ऐसा आकार का अभाव रहता है, स्मृति का वह विषय हो, तो सब स्मरण में वह आकार रहना

दिति वाच्यम्; तत्कारणानिरूपणात्। सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यये तदित्यंशस्य संस्कारानुपनीतत्वे सत्ययमित्याकारस्य च संयोगमात्राधीनतया विशिष्टप्रत्यभिज्ञास्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात्। अनुमिततत्तायां स इत्यभिलाप इति चेत्, न; संस्कारस्य प्रत्यभिज्ञां प्रत्यकारणत्वप्रसङ्गात्। स इत्यंशेऽनुमानस्यैव सहकारित्वात् तं घटं स्मरामीत्यनुव्यवसायानुपपत्तेश्च।

तत्कारणेति। न च पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्कारणान्तरप्रयुक्तिकल्पना, पदजनितबुद्धेः। अनुवादो ह्ययं या पदात्पदार्थबुद्धिः। युक्तं चैतत्, इतरथा शक्तिवशादभिधायकत्वप्रसिद्धिर्न स्यात्। नह्युपाध्यायस्मारकस्य शिष्यस्य तदभिधायकत्वप्रसिद्धिरस्ति। सत्यपि स्मारकत्वे शक्तिवैचित्र्यादभिधायकत्वप्रसिद्धिरिति चेत्, तथैव तर्हि शक्त्याभिधानमात्रमेवास्तु, कृतं स्मारकत्वेन। अत एव चैतदन्यथानुपपत्त्या वाक्यार्थाभिधायकत्वं शालिकनाथोक्तं प्रत्युक्तम्। अनेकत्वाच्चाभिधात्रादीनां संबन्धिना न नियमेनार्थस्मृतिः स्मारकत्वपक्षे स्यात्। नच नियमेन संबन्ध्यन्तरदर्शने संबन्ध्यन्तरस्मृतिर्भवति, भवति च नियमेन गृहीतसंगतिकस्य शब्दस्य स्मरणेऽर्थबुद्धिः। तदुक्तं 'नियमाच्छब्दतो बुद्धिर्न तथान्वयिदर्शनात्' इति। तस्मादनुवादत्वात् पदजन्यबुद्धेर्न तथादर्शनात्तत्तायां करणान्तरप्रयुक्तिकल्पना। न केवलं कारणान्तरानधीनता, संस्कारानधीनत्वे बाधकं चास्तीत्याह—**सोऽयमिति**। तत्र तदित्यंशस्य संस्कारानधीनत्वे संप्रयोगस्य च तथासत्त्वात्तद्गर्भप्रत्यभिज्ञाशरीरं न स्यादित्यर्थः। ननु नखनेत्रपादच्छायादिना लिङ्गेनानुमानात्तत्तोपस्थापिता, सा च स इति परामृश्यत इति शङ्कते—**अनुमितेति**। तर्हि तत्ताया अनुमानसिद्धत्वादिदंतायाश्च संप्रयोगसिद्धत्वात्संस्कारस्य चाकारणतया राद्धान्तविरोधः, इति परिहरति—**न संस्कारस्येति**। आनुमानिकत्वे तत्ताया दूषणान्तरमाह—**तं घटमिति**। तत्र किं प्रथमतस्तत्तानुमानमथ घटस्मरणं ततस्तं स्मरामीत्यनुव्यवसायः? किं वा प्रथमतस्तत्स्मरणं ततस्तत्तानुमानं ततोऽनुव्यवसाय इति? न प्रथमः; निर्धर्मिकतत्ताग्रहणाशक्तेस्तत्ता-

---

चाहिये, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि, स, वह इस आकार की प्रतीति के लिये प्रमाणान्तर का निरूपण नहीं हो सकता है। और (सोऽयं देवदत्तः) वही देवदत्त यह है, इस प्रत्यभिज्ञान में तत् = तत्ता, इस अंश को संस्कार से अनुपनीतत्व (अजन्यत्व) होने पर तत्ता के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध नहीं होने से किन्तु अयम्, यह, इतना ही आकार के इन्द्रियसम्बन्धाधीन होने से तत्तायुक्त प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप की असिद्धि प्राप्त होगी। यदि कहें कि अनुमित तत्ताविषयक स, ऐसा अभिलाप (व्यवहार) होता है, तो ऐसा होने पर संस्कार को प्रत्यभिज्ञा के प्रति अकारणता प्राप्त होगी। और स, इस अंश में अनुमान के ही सहकारी हेतु होने से तं घटं (उस घट का) स्मरण करता हूं, इस स्मृति के अनुसार व्यवसाय की

न हि तत्रानुमानव्यवधानमस्ति, तथा सति स्मरणस्यातीतत्वेनानुव्यवसायविषयत्वानुपपत्तेः। संस्कारस्यासंविद्रूपत्वात्, निर्विषयत्वाच्च समानविषयत्वासिद्धिः। न ह्यसंविद्रूपस्य सविषयत्वम्। इच्छादिषु तज्जनकज्ञानविषयेण सविषयत्वोपचारात्।

तर्हि संस्कारजनकानुभवसमानविषयत्वे सति संस्कारजन्यत्वं लक्षणार्थं

विशिष्टघटविषयानुमानं घटमात्रविषयं च स्मरणमिति तत्ताविशेषितघटविषयस्मृतिग्राहकानुव्यवसायानुपपत्तिरिति। द्वितीयं निषेधति—**न हि तत्रेति**। अथ किमिति तत्रानुमानव्यवधानं न स्यात्तत्राह—**तथा सतीति**। तत्र हि घटस्मृतिरेवानुव्यवस्यते, सा चेत्स्वोदयेप्यानुमानिकतत्तावती सत्यनुव्यवस्येत, तथासति चिरातीततया विनश्यदवस्थात्वस्याप्यभावात्, वर्तमानस्मरणग्राहकानुव्यवसायविषयत्वं न स्यात्। अस्मार्षमित्येवानुव्यवसायप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। संस्कारस्य विषयभावादपि समानविषयत्वमसिद्धमिति प्रौढ्या प्राह—**संस्कारस्येति**। **असंविद्रूपत्वादिति**। ज्ञानत्वाभावादित्यर्थः। ननु तर्हि तत्कथमिच्छादिषु सविषयत्वम्? समानं हि तेषामप्यसंविद्रूपत्वमिति, तत्राह—**इच्छादिष्विति**। तदेवं स्वसमानविषयसंस्कारजं ज्ञानमिति लक्षणं दूषितमेव।

एतत्परिहाराय भङ्ग्यन्तरं शङ्कते—**तर्हीति**। न स्वसमानविषयसंस्कारजन्यत्वमत्राभिप्रेयते, येनासिद्धिरभिधीयते; किं तर्हि? संस्कारजनको योऽनुभवस्तेन समानविषयत्वे सति संस्कारजत्वमित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञाव्यावर्तनायाद्यं विशेषणम्।

अनुपपत्ति होती है, क्योंकि प्रथम स्मृति हो, फिर तत्ता का अनुमान हो, उसके बाद अनुव्यवसाय हो, तो वहाँ स्मृति अनुव्यवसाय के मध्य में अनुमान का व्यवधान होना चाहिये, परन्तु वहाँ अनुमान रूप व्यवधान नहीं रहता है, तथा सति, यदि अनुमान का व्यवधान हो तो स्मरण के अतीत (नष्ट) हो जाने से उसमें अनुव्यवसाय के विषयत्व की अनुपपत्ति होगी। वर्तमान स्मरण का ग्राहक अनुव्यवसाय नहीं हो सकेगा। और संस्कार के असम्विद् रूप होने से (ज्ञानरूप नहीं होने से) निर्विषयत्व होने के कारण ज्ञान के साथ समान विषयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। असम्विद् स्वरूप किसी को सविषयत्व नहीं होता है, प्रकाशक विषयी कहा जाता है, प्राकाश्य विषय कहाता है, ज्ञान से अन्य प्रकाशक नहीं होता है, अतः सविषय भी नहीं होता है, इच्छा आदि में इच्छा आदि के जनक ज्ञान के विषय से सविषयत्व का गौण व्यवहार होता है। अतः संस्कार के साथ स्वसमानविषयत्व युक्त लक्षण स्मृति का नहीं हो सकता है।

यदि कहा जाय कि, संस्कारजनक अनुभव के साथ समान विषयत्वयुक्त

इति चेत्, न, तत्तांशे समानविषयतायाः खण्डितत्वात्। गरुडादिसाक्षात्कारे चातिव्याप्तेः, तस्य दीर्घकालनैरन्तर्योपचितसंस्कारविषयविषयत्वात्। नापि चतुर्थः, अनाप्तवाक्योत्थविभ्रमप्रत्ययेऽनेकार्थाक्षादिपदजन्यसंशये चातिव्याप्तेः। नापि पञ्चमः, तज्जातौ व्यञ्जकप्रमाणानिरूपणात्। तदेवं संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तौ तदतिरिक्तत्वविशेषणं दुर्निरूपम्।

समानविषयत्वं चान्यूनानतिरिक्तविषयत्वम्। संस्कारजनकानुभवसमानविषयधारावाहिकज्ञानव्यावृत्त्यर्थं संस्कारजन्यपदम्। इदमपि पूर्वोक्तदूषणेन दूषितमित्याह—**न तत्तांश इति**। अतिव्याप्तिं चाह—**गरुडादीति**। गरुडादिध्यानाद्यः साक्षात्कारो जायते, स पूर्वपूर्वभावजनितः, संस्कारजनकपूर्वानुभवस्य साक्षात्कारस्य चास्ति समानविषयत्वम्। अथ च न स्मृतिः, साक्षात्कारिज्ञानस्य स्मृतित्वव्याघातादित्यर्थः। संस्कारशब्देनात्र तज्जनकानुभवो लक्ष्यते। संस्कारस्य सविषयत्वमङ्गीकृत्य वा। प्रमित्यवृत्तीत्यादि चतुर्थं लक्षणं दूषयति—**नापि चतुर्थ इति**। पदजन्येत्यत्र एकत्वमविवक्षितम्? विवक्षितं वा? उभयथापि क्रमेण व्यभिचारमाह—**अनाप्तेत्यादिना**। अनाप्तवाक्यजनितं यद्विज्ञानं विपर्ययरूपं तत्र विपर्ययत्वादिर्जातिः प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिर्भवति, तस्यैव ज्ञानस्याप्रमितित्वात्, पदजन्यत्वाच्च। अतस्तद्योगिनि विपर्यये चातिव्याप्तिः। तथाक्षगवादिशब्दैरनेकार्थवाचकैः श्रवणमात्राद्यः संशयो जायते, किं विभीतकम्? किंवा देवनम्? इति, तत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। स्मृतित्वजातियोगित्वमिति पञ्चमं पक्षं दूषयति—**नापीति**। प्रासङ्गिकस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तदेवमिति**।

संस्कारजन्यत्व लक्षण का अर्थ है, तो यह कहना भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्तांश में समान विषयता का खण्डन हो चुका है। और गरुडादि के साक्षात्कार में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह साक्षात्कार भी दीर्घकाल तक निरन्तर रूप से उपचित (दृढ़ प्रवृद्ध) संस्कार = अनुभवविषय-विषयक होता है। अर्थात् गरुडादि के ध्यान से जो साक्षात्कार होता है, वह पूर्व-पूर्व भावना से जन्य होता है, वहाँ संस्कारजनक पूर्व ज्ञान को और साक्षात्कार को समान विषयत्व रहता है, परन्तु साक्षात्कार में स्मृतित्व नहीं रहता है, अतः अतिव्याप्ति है। चतुर्थ = प्रमृत्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमत् ज्ञान, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनाप्त वाक्यजन्य विभ्रम ज्ञान में और अनेकार्थक अक्षादिपदजन्य संशय में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। पञ्चम—स्मृतित्वजातियोगिज्ञान, यह लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि स्मृतित्वजाति-विषयक व्यञ्जक और प्रमाण का निरूपण नहीं हो सकता है। अतः इस उक्त रीति से संशय, विपर्यय स्मृति की अनिरुक्ति होने पर, तदतिरिक्त रूप विशेषण प्रमात्वव्यञ्जक लक्षण में दुर्निरूप है।

नापि षष्ठः; तथाहि—एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्धूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमत्त्वमित्यपि न, विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं घटज्ञानवह्निज्ञानशब्दाभ्यां ज्ञानमात्रं विवक्ष्यते ? किं वा प्रमात्वेन व्यवह्रियमाणम् ? अहोस्विदबाधितप्रमाव्यवहारास्पदम् ? नाद्यः, विभ्रमज्ञानानामप्येव भावात्। नापि द्वितीयः; उक्तदोषानुषङ्गात्, विभ्रमज्ञानेष्वपि तात्कालिकप्रमात्वव्यवहारदर्शनात्। नापि तृतीयः, अबाधितत्वस्य दुर्निरूपताया प्रागेवाभिहितत्वात्। तदेवं प्रमात्वस्य न निरुक्तिः।

नापि परोक्षतायाः, तस्या जातित्वे जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तथाहि—

एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सतीत्यादिषष्ठं प्रमात्वव्यञ्जकमाशङ्कितं दूषयति—**नापि षष्ठ इति**। तमेवं पक्षं दूषयितुमतिव्यवहित इत्यनुवदति—**तथाहीति**। एतद्घटज्ञानैतद्धूमजन्यवह्निज्ञानशब्दार्थं विकल्पयति—**किं घटज्ञानेत्यादिना**। **विभ्रमेति**। येन हि विपर्ययत्वं नाम जातिरङ्गीक्रियते, तस्य विपर्ययेऽप्येतल्लक्षणं गच्छति। ज्ञानत्वाधिकरणवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमदिति हि तदा लक्षणार्थः। स च विपर्ययेऽप्यस्तीति भावः। प्रमात्वेन व्यवह्रियमाणं ज्ञानमिति द्वितीयपक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—**उक्तदोषेति**। ननु विभ्रमेषु कथं प्रमात्वव्यवहारः ? इति तत्राह—**विभ्रमज्ञानेष्वपीति**।

पारोक्ष्यानधिकरणप्रमाकरणं प्रत्यक्षमिति लक्षणे प्रमात्वदुर्निरूपतोपपादिता, पारोक्ष्यदुर्निरूपतां प्रतिज्ञातामुपपादयति—**नापि परोक्षताया इति**। जातिसंकरमेव

प्रमात्वव्यञ्जक जो षष्ठ कहा था कि (एतद्घटज्ञानवृत्तित्वयुक्त एतद्धूमजन्य वह्निज्ञानवृत्ति (प्रत्यक्षानुमानवृत्ति संशयावृत्ति जातिमत्त्व) व्यञ्जक है। वह कथन भी युक्त नहीं है। यह विकल्पाऽसह है। क्योंकि घटज्ञान वह्निज्ञान शब्दों से ज्ञानमात्र विवक्षित होता है, अथवा प्रमात्व रूप से व्यवह्रियमाण, या अबाधित व्यवहारास्पद विवक्षित होता है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षत्व अनुमानत्व रूप से व्यवहृत में वृत्ति और संशयावृत्ति जाति ज्ञानत्व रूप से विभ्रम ज्ञानों को प्रमाव्यञ्जकत्व प्राप्त होता है। प्रमाणत्वेन व्यवह्रियमाण रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, इस पक्ष में भी उक्त दोष प्राप्त होता है। क्योंकि विभ्रम ज्ञानों में भी तात्कालिक प्रमाव्यवहार देखा जाता है। तृतीय= अबाधित प्रमाव्यवहारास्पद भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अबाधितत्व की दुर्निरूपता का प्रथम ही प्रतिपादन किया गया है। अतः इस उक्त रीति से प्रमात्व की निरुक्ति नहीं हो सकती है।

पारोक्ष्यानधिकरणं प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। यह प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया था, उसमें प्रमात्व की दुर्निरूपता सिद्ध हुई, अब कहा जाता है कि, परोक्षता की निरुक्ति

किं प्रमात्वं परम्, पारोक्ष्यमपरम् ? विपरीतं वा ? नाद्य; पारोक्ष्यभ्रमाभावप्रसङ्गात्। यत्र परोक्षत्वजातिर्व्याप्या, तत्र व्यापकं प्रमात्वमस्त्येति नियमात्। नापि द्वितीयः; तथा सति प्रमात्वं परोक्षतां न व्यभिचरेदिति प्रत्यक्षप्रमाऽभावप्रसङ्गात्। न च विभ्रमेषूपाधिनिबन्धन एव परोक्षत्वव्यवहारः, तथा सति सर्वत्र तन्निबन्धनतयैव तद्व्यवहारोपपत्तौ जातिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तदेवमन्योन्यपरिहारेण वर्तमानयोर्मनोगगनवर्तिनोर्मूर्तत्वभूतत्वयोः पृथिव्यादावेकत्र समावेशे जातिसङ्करः स्यात्।

दर्शयति—**किं प्रमात्वमित्यादिना**। परोक्षभ्रमाभावप्रसङ्गमेवोपपादयति—**यत्रेति**। व्याप्यपरोक्षत्वजातिमत्त्वे सर्वत्र व्यापकप्रमात्वनियमात्पारोक्ष्यरूपभ्रमो न स्यादित्यर्थः। द्वितीये प्रत्यक्षरूपप्रमा न स्यात्; यत्र यत्र व्याप्यप्रमात्वम्, तत्र तत्र व्यापकपारोक्ष्यवृत्तित्वनियमादित्याह—**नापि द्वितीय इत्यादिना**। ननु प्रमात्वं परमेव, तद्रहितेषु विभ्रमेषु पारोक्ष्यव्यवहारस्त्वौपाधिक इति, तत्राह—**न च विभ्रमेष्विति**। प्रतिपादितजातिसङ्करं सनिदर्शनमुपसंहरति—**तदेवमिति**। यथाहि—भूतव्यतिरिक्ते मनसि वर्तमानमूर्तत्वस्यामूर्तेऽपि गगने वर्तमानस्य भूतत्वस्य चैकत्र पृथिव्यादा वृत्त्या जातिसङ्करप्रसङ्गात् न जातित्वम्, एवमनयोरपि परस्परपरिहारेण वर्तमानयोरेकत्रानुमित्यादौ वर्तमानतया जातिसङ्करप्रसङ्ग इति योजना।

का सम्भव नहीं है। क्योंकि परोक्षता के जातित्व होने पर, जातिसंकर की प्राप्ति होती है। वह दर्शाया जाता है कि, क्या प्रमात्व को पर = व्यापक, और परोक्षत्व को अपर (व्याप्य), माना जाय। या विपरीत, परोक्षत्व को पर, प्रमात्व को अपर, माना जाय, यह विचार होता है। वहाँ प्रथम पक्ष में परोक्ष भ्रम का अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि व्याप्य जहाँ रहता है, वहाँ व्यापक अवश्य रहता है ऐसा नियम होने से व्याप्य परोक्षता जहाँ रहेगी वहाँ व्यापक प्रमात्व अवश्य रहेगा, अतः परोक्ष भ्रम का अभाव होगा। दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दूसरे पक्ष में परोक्षता व्यापक होगी प्रमात्व व्याप्य होगा, अतः व्याप्य प्रमात्व परोक्षता को नहीं त्यागेगा, परोक्षता के बिना प्रमात्व नहीं रह सकेगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमा का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहें कि प्रमात्व ही पर है, और उसका व्याप्य ही परोक्षत्व है जाति है, किन्तु विभ्रम रूप परोक्ष में उपाधिनिमित्तक ही परोक्षता का व्यवहार होता है। अतः उसमें परोक्षता के व्यवहार का लोप रूप दोष भी नहीं है, न परोक्ष विभ्रम का अभाव प्राप्त होता है, तो कहा जाता है कि ऐसा कहना, मानना, युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार से सर्वत्र ही उस उपाधिनिमित्तक ही पारोक्ष्यादि व्यवहार की सिद्धि होने पर जाति की कल्पना में व्यर्थता की प्राप्ति होगी। इसीप्रकार से परस्पर के त्यागपूर्वक मन और आकाश में वर्तमान भूर्तत्व भूतत्व

न च परोक्षताया जातेर्व्यञ्जकमस्ति; तत्किमिन्द्रियार्थसन्निकर्षाजन्यत्वे सति प्रमात्वम्? उत लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वम्? नाद्यः, ईश्वरज्ञानस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, स्मृतेः परोक्षत्वाभावप्रसङ्गात्। एतेन परोक्षत्वस्योपाधित्वमपि निरस्तम्, व्यञ्जकनिरासेन तयोरुपाधित्वस्यापि निरस्तत्वात्। ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्ययोग्यनुव्यवसायातिरिक्तपरमाणुप्रमित्यवृत्तिर्जातिः साक्षात्वं तदधिकरणं प्रत्यक्षमित्यपि न, यतः—

नियतव्यञ्जकाभावदपि न पारोक्ष्यं जातिरित्याह—न चेति। प्रत्यक्षप्रमितेः परोक्षभ्रमस्य च निरासाय विशेषणद्वयम्। प्रत्यक्षप्रमितिव्यावृत्त्यै घटादिव्यावृत्त्यै वा विशेषणद्वयम्। नित्यस्येश्वरज्ञानस्य नेन्द्रियादिसन्निकर्षजन्यत्वमस्ति, अस्ति च प्रमात्वमिति तस्यापि परोक्षत्वप्रसक्तिरिति प्रथमं पक्षं दूषयति—ईश्वरेति। लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वं पारोक्ष्यव्यञ्जकमिति पक्षे स्मृतेः पारोक्ष्यं न स्याद्व्यञ्जकाभावादित्याह—स्मृतेरिति। एतेनेत्यस्य विवरणम्—व्यञ्जकेति। पारोक्ष्यस्योपाधिकत्वेऽप्यनयोरेवोपाधित्वसंभावनात्तच्च द्वय निरस्तमित्यर्थः। प्रत्यक्षफलस्य लक्षणान्तरं शङ्कते—ईश्वरेति। अत्र च साक्षात्कारत्वजात्यधिकरणं प्रत्यक्षमिति लक्षणम्। साक्षात्कारत्वस्य लक्षणमीश्वरेत्यादि, जातिः साक्षात्कारत्वमित्युक्ते सत्तादावतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। तथा च व्याघातः, प्रत्यक्षप्रमितिवृत्तित्वात्, तदर्थं परमाणुप्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। तथाप्यसिद्धिः; परमाणुमहं जानामी-

---

का पृथिवी जलादि में एकत्र सन्निवेश (स्थिति) होने से जातिसंकर होगा। और परोक्षता जाति का व्यञ्जक भी कोई नहीं है। यदि व्यञ्जक है, तो वह, क्या, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अजन्यत्व युक्त प्रमात्व है या लिङ्गादिरूप प्रमाकरणजन्यत्व है। प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त रीति से ईश्वर के ज्ञान में भी परोक्षत्व की प्राप्ति होती है। दूसरे पक्ष में स्मृति को परोक्षत्वाभाव प्राप्त होगा, क्योंकि लिङ्गादि प्रमाकरणजन्यत्वरूप व्यञ्जक नहीं है, उसमें संस्कार-जन्यत्व है। इसीसे परोक्षत्व के उपाधित्व का भी निराकरण हो गया। और व्यञ्जक के निरास से ही (इन्द्रियार्थसन्निकर्षाजन्यप्रमात्व और लिङ्गादि प्रमाण-करणजन्यत्व) इन दोनों के उपाधित्व का भी निराकरण हो गया। इसीप्रकार प्रमात्व परोक्षत्व के उपाधित्व का निराकरण हो गया। ईश्वरज्ञानवृत्ति होता हुआ योगी के अनुव्यवसाय से अतिरिक्त जो प्रमाणुप्रमिति उसमें अवृत्ति जाति साक्षात्व होता है, उसका अधिकरण प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् परोक्षज्ञानत्वान-धिकरण होता हुआ ईश्वरज्ञानवृत्तिजाति प्रत्यक्षत्व कही जाती है। सत्ता आदि के वारण के लिये विशेषण सब हैं। यह लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि—

प्रमितेर्दुनिरूपत्वाद् व्यञ्जकस्यानिरूपणात्।
साक्षात्त्वं जातिसाङ्कर्यान्न प्रत्यक्षस्य लक्षणम् ॥ २२ ॥

प्रमितेरेवानिरूपणे परमाणुप्रमित्यवृत्तिविशेषणस्य दुर्ज्ञानत्वात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादेश्चाभिव्यञ्जकस्यापास्तत्वात्, साक्षात्त्वस्य च प्रमात्वेन परापरभावाभावाज्जातिसङ्करप्रसङ्गाच्च नेदमपि प्रत्यक्षलक्षणम्।

स्यनुव्यवसायप्रत्यक्षस्य परमाणुविषयतया साक्षात्कारित्वस्य परमाणुप्रमितिवृत्तित्वात्। तदर्थमुक्तमनुव्यवसायातिरिक्तेति। तथाप्यनुव्यवसायातिरिक्तयोगिप्रत्यक्षमादायासिद्धिरत उक्तमयोगीति। तथापि घटत्वादावतिव्याप्तिस्तदर्थं ज्ञानवृत्तीत्युक्तम्। तथापि विपर्ययत्वस्मृतित्वादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमीश्वरज्ञानवृत्तीत्युक्तम्। न हि तेषामपरोक्षेश्वरज्ञानवृत्तित्वमित्यर्थः। ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्युक्तविधपरमाणुस्मरणरूपज्ञानावर्तिनि प्रमात्वे प्रसङ्गनिरासाय परमाणुप्रमितीत्युक्तम्। पारोक्ष्यानधिकरणत्वादिरूपोपाधिनिरासाय जातिपदम्। परोक्षज्ञानवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ईश्वरज्ञानवृत्तिजातिरिति फलितार्थः। दूषणानि संगृह्णाति—**प्रमितेरित्यादिना**।

प्रमितेर्दुनिरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—**प्रमितेरिति**। व्यञ्जकस्यानिरूपणं विवृणोति—**इन्द्रियार्थेति**। अव्यभिचारित्वखण्डनात्, ईश्वरज्ञानाव्यापकत्वाच्चेत्यर्थः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वासिद्धेश्च। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षतस्तदधिगमः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षयोरप्रत्यक्षत्वेन तज्जन्यत्वस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यनुमानतः, ज्ञानत्वप्रमितित्वादीनां व्यभिचारित्वात्, साक्षात्कारित्वस्याद्याप्यसिद्धेरिति। तृतीयं हेतुं विवृणोति—**साक्षात्त्वस्य चेति**। तथा—

'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा।
मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा ॥ १ ॥
सर्वविज्ञानहेतूत्थमितौ मातरि च प्रमा।
साक्षात्कारत्वसामान्यात्प्रत्यक्षत्वेन संमता ॥ २ ॥'

(प्र० पं० अमृत० ५, ७)

इति शालिकनाथलक्षणमपि परिणुन्नं मन्तव्यम्। एतेन "साक्षात्प्रतीतिसाधक-

---

प्रमिति के दुर्निरूप होने से, व्यञ्जक के अनिरूपण से जाति के सांकर्य से प्रत्यक्ष का साक्षात्त्व लक्षण नहीं हो सकता है ॥ २२ ॥

अर्थात् प्रमिति के ही अनिरूपण रहते, परमाणुप्रमिति में अवृत्ति इस विशेषण में दुर्ज्ञानत्व है। और इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादि अभिव्यञ्जक का अपाकरण हो चुका है। और साक्षात्त्व को प्रमात्व के साथ परापरभाव के अभाव से जातिसंकर की प्राप्ति होती है, अतः यह प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हो सकता है।

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमित्यपि न प्रत्यक्ष-लक्षणम्, प्रत्यक्षाभासेऽपि सत्त्वात् । वृत्तिकारमतेन तत्सतोर्व्यत्ययेऽपि लक्षणस्याव्याप्तिः, अतिव्याप्तिर्वा । तथा हि—यदाभासविज्ञानं तद्यदि

तममध्यक्षम्, सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम्" इत्यादिश्रीवल्लभभूषणप्रभृतिभिरभिहितं लक्षणजातं प्रत्याचक्षीत। साक्षात्त्वानिरुक्तेरेव, प्रत्यक्षभ्रमस्य परोक्षप्रमाया वाऽभावप्रसङ्गादिति भावः ।

एवं तार्किकप्रत्यक्षलक्षणानि दूषयित्वा मीमांसकाभिमतं लक्षणं दूषयति—**सत्संप्रयोग इति**। 'सतावर्तमानेनार्थेनेन्द्रियाणां संप्रयोगे सति पुरुषस्य यद्बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्, इति लोकसिद्धप्रत्यक्षलक्षणानुवादपरजैमिनीयसूत्रस्यार्थः। अत्र च जन्मग्रहणं जन्मैव बुद्धेर्व्यापार इति प्रदर्शनार्थम् । उक्तं हि—

'व्यापारः करणानां तु दृष्टो जन्मातिरेकतः ।
ज्ञानेऽपि हि तथा मा भूदिति जन्माभ्युपेयते ॥'

इति (श्लो० पा० ४।५४)

अस्यातिव्याप्तिमाह—**प्रत्यक्षाभासेऽपीति** । अस्ति हि तत्रापि वर्तमानेन संप्रयोगाद् बुद्धिजन्म । यथाहुः—'केनचित्संप्रयोगे हि भ्रान्त्यादि स्यान्नियोगतः।' इति, ततोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। स्यादेतत्, यद्यपीदं भाष्यकारमते दूषणं संभवति, तथापि वृत्तिकारमते न संभवति । ते हि तत्सतोर्व्यत्ययं कृत्वा व्याचख्युः । तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षमिति । तदा चायं सूत्रार्थः—'तत्संप्रयोगात्तद्विषयविज्ञानं सत्प्रत्यक्षमन्यसंप्रयोगादन्यविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षाभासः' इति। ततः कथमतिव्याप्तिः ? नहि शुक्तिकारजतज्ञानं रजतसंप्रयोगादुत्पन्नमिति, तत्राह—**वृत्तिकारमतेनेति** । अव्याप्त्यतिव्याप्ती दर्शयितुं सूत्रार्थमाह—**तथाहीति**।

(सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मतत्प्रत्यक्षम्) यह श्री जैमिनि जी ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। अर्थ है कि (सत् = वर्तमान अर्थ के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर जो पुरुष की बुद्धि का जन्म होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं) यह लौकिक प्रत्यक्ष के अभिप्राय से लक्षण कहा गया है। और बुद्धि के जन्मविशेष को बुद्धि के व्यापार रूप दर्शाया गया है, या ज्ञान को भी बुद्धि कहा जाता है (बुद्धिरुपलब्धिज्ञानमित्यर्थान्तरम्) इस सूत्रादि के अनुसार (ज्ञान का जन्म) यह अर्थ हो सकता है। परन्तु यह भी प्रत्यक्ष का लक्षण निर्दोष नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षाभास (प्रत्यक्ष भ्रम) में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती हैं, शुक्ति आदि अर्थ के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध से ही, 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम होता है। यदि कहा जाय कि यद्यपि भाष्यकार के मत से यह दोष होता है, तथापि वृत्तिकार के मत से यह दोष नहीं रहता है, क्योंकि उन्होंने सूत्रगत तत् सत् इन दोनों शब्दों के व्यत्यय =

तत्संप्रयोगादेव भवति तत्समीचीनं प्रत्यक्षमिति तदा सूत्रार्थः। तत्र किं प्रतिभासमानेनाकारेण कृत्स्नेन संप्रयोगाज्जायमानत्वं विवक्षितम्? उतैक-देशेनापि? नाद्यः, सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशे संप्रयोगाभावा-दव्याप्तेः। न च तत्रापि तत्तांशे संयुक्तविशेषणतालक्षणः संप्रयोगोऽस्तीति वाच्यम्, षष्ठप्रमाणवादिना तस्य प्रत्यक्षतानङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा निर्घटं भूतलमित्यत्र तथाभूतसन्निकर्षभावादभावस्य प्रत्यक्षतोपपत्तौ षष्ठप्रमाणा-भ्युपगमवैयर्थ्यापातात्। न द्वितीयः, विभ्रमेष्वपि भावादतिव्याप्तेः, तत्रा-

---

विकल्प्य दूषणे दर्शयति—**तत्रेत्यादिना**। ननु किमित्यभावप्रमाणवादिभिस्तस्य प्रत्यक्षांशत्वं नाङ्गीक्रियते, तत्राह—**अङ्गीकारे वेति**। इदं चासाधारणम्, साधारणं तु प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छेदात्मकं दूषणमनेकधारमुक्तमेव। एकदेशेनापि संप्रयोगे जन्मेति पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। विभ्रमेऽप्येकदेशसंप्रयोगमाह—**तत्रा-**

विपरीत, सम्बन्ध करके व्याख्यान किया है कि (तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि-जन्म तत्प्रत्यक्षम्) अर्थात् = जिस विषय का ज्ञान होता है, उसी विषय के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध से जब वह ज्ञान होता है, तब सत् प्रत्यक्ष होता है। अन्य के साथ सम्बन्ध से अन्यविषयक ज्ञान प्रत्यक्षाभास होता है। यह वृत्तिकार के मतानुसार सूत्रार्थ है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। तो यहाँ कहा जाता है कि वृत्तिकार के मतानुसार तत् सत् के व्यत्यय होने पर भी लक्षण की अव्याप्ति वा अतिव्याप्ति है ही। क्योंकि यदाभास (जिस विषयक) विज्ञान होता है, वह विज्ञान यदि उसके साथ सम्बन्ध से ही होता है, तब समीचीन प्रत्यक्ष होता है। यह सूत्रार्थ है। परन्तु यहाँ विचारणीय है कि जहाँ प्रतिभान = प्रत्यक्ष के विषय, सम्पूर्ण आकार के साथ इन्द्रियसम्बन्ध से जायमान समीचीन = सत्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, या एकदेश के साथ सम्बन्ध से जायमान सत्यज्ञान होता है, वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में अव्याप्ति होती है, (सोऽयं देवदत्तः), इस प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति में तत्ता अंश के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग के अभाव से अव्याप्ति होती है। यदि कहा जाय कि वहां भी तत्तांश में इन्द्रियसंयुक्तविशेष-णतारूप सम्बन्ध रहता ही है। अतः अव्याप्ति नहीं है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि षष्ठ प्रमाण अनुपलब्धि को मानने वाले कोई वादी उस संयुक्तविशेषणता-सम्बन्धजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। और यदि उस ज्ञान को प्रत्यक्ष माने तो (निर्घटं भूतलम्) घटाभाव वाला भूतल है। यहाँ भी तथाभूत = संयुक्तविशेषणता रूप इन्द्रिय को अभाव के साथ सम्बन्ध के भाव (सत्त्व) से अभाव के प्रत्यक्षता की प्राप्ति होने पर षष्ठ प्रमाण के स्वीकार में व्यर्थता की प्राप्ति होगी। दूसरा पक्ष एकदेश से संप्रयोग मानने पर निर्दोषता नहीं होती है, क्योंकि भ्रम में एक-

ष्यधिष्ठानसंप्रयोगस्य भावात् । अथोच्येत—संप्रयोग इत्यत्र समितिविशेषणेन दुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्वस्य व्यावर्तितत्वाद् दुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्येषु विभ्रमेषु नातिव्याप्तिः ।

यथाहुर्भट्टपादाः—'सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः ।
प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ॥
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात् ।' इति ।
(श्लो० वा० ४।३८)

तदपि न, उक्तोत्तरत्वात्, प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशेन तथाभूतसंप्रयोगा-

---

पीति । तत्संप्रयोग इत्यत्र समित्युपसर्गादतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते—**अथोच्येते-त्यादिना** । सम्यक् प्रयोगो हि संप्रयोग इति भावः ।

अत्र वार्तिकसंमतिमाह—**यथाहुरिति** । पादशब्दः पूजार्थः । 'पादा इति च नामान्ते देवा भट्टारकावपि' इत्यभिधानात् । सम्यगर्थे प्रसिद्धोऽयं समिति शब्दो दुष्प्रयोगस्य निवारकः । अथ कोऽयं प्रयोगः, यस्यायं सम्यक्त्वमाचक्षीत संशब्द इति ? तत्राह—**प्रयोग इति** । बुद्धीन्द्रियाणामर्थेषु यो व्यापारः स प्रयोगोऽभिमत इत्यर्थः । कस्तर्हि दुष्टप्रयोगोऽनेन निवर्त्यत इति ? तत्राह—**दुष्टत्वादिति** । कथं तर्ह्यस्य दुष्टत्वमिति ? तत्राह—**रजतेक्षणादिति** । तन्निमित्तं रजतं ज्ञायते इति दुष्टो योऽसौ प्रयोगोऽस्तस्तद्व्यावर्तकोयं संशब्द इति वार्तिकयोजना । अनेनापि हि सम्यक्प्रयोगः समर्थितः ।

स च तत्तांशे नास्तीति पूर्वमेवोक्तमित्याह—**तदपि नेति** । उक्तमेव दर्शयति—**प्रत्यभिज्ञायामिति** । ननु विस्मरणशील इव भवानालोच्यते, कथमन्यथा एकदेश-

---

देश धर्मी के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के भाव से अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि भ्रम की उत्पत्ति में भी इन्द्रिय को अधिष्ठान शुक्ति आदि के साथ सम्बन्ध का भाव रहता है । यदि कहा जाय कि, संप्रयोग, इस शब्द में सम्यगर्थक, 'सं' इस विशेषण से दुष्ट इन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्व के व्यावर्तितत्व (निवारितत्व) होने से दुष्ट इन्द्रियजन्य विभ्रमों में अतिव्याप्ति नहीं होगी—

जैसे कि पूज्य श्री भट्ट जी ने भी कहा है कि—(सम्यक् = सुन्दर अर्थ का बोधक यह शब्द है, यह दुष्ट प्रयोग = सम्बन्ध का निवारक है, और इन्द्रियों का अर्थविषयक ज्ञान में अर्थ के साथ (प्रयोग) सम्बन्ध रूप व्यापार कहा जाता है, भ्रम का हेतु जो शुक्तिका के साथ इन्द्रिय का योग (संयोग) होता है, उसकी दुष्टता 'सं' शब्द द्वारा उसका वारण किया गया है, वह दुष्ट इसलिये है कि उससे मिथ्या रजत देखा जाता है) ।

यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर कहा जा चुका है कि

भावादव्याप्तेः, इन्द्रियेषु दोषाभावस्य प्रागुक्तन्यायेन दुरवधारणत्वात् । तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्युक्तम् ।

नाप्यनुमानस्य लक्षणं निरूपयितुं शक्यम् । तथाहि—करणपक्षे तृतीयलिङ्गपरामर्शः, परामृश्यमानं वा लिङ्गमनुमानमिति नैयायिकाः । न

संप्रयोगपक्षमुपक्षिप्य तत्तांशे तादृशसंप्रयोगाभावादव्याप्तिमाचष्टे इति ? तत्राह—**इन्द्रियेष्विति** । प्रागुक्तन्यायो दुष्टसामग्रीजन्यत्वावधारणनिरसनन्यायः । इन्द्रियसंप्रयोगयोरप्रत्यक्षत्वेन तन्निष्ठदोषाग्रहणेन दोषाभावस्याप्यग्राह्यत्वादित्यर्थः । प्रत्यक्षखण्डनमुपसंहरति—**तदेवमिति** । प्रत्यक्षधर्मिकानुमानेप्येकदेशसंप्रयोगसंभवादतिव्याप्तिः । संप्रयुक्त एवार्थे इति विशेषणे च प्रत्यभिज्ञाव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथवा भाष्यकारपक्षे एवातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्क्येदमव्याप्तिदानम् । इन्द्रियेष्विति दूषणान्तरान्वाचयः ।

अध्यक्षे सर्वमानानामध्यक्षेऽस्मिन्प्रधर्षिते ।
अनुमानादिषु स्वक्षमनुमानेषु का कथा ? ॥ १ ॥

क्रमप्राप्तमनुमानलक्षणं खण्डयितुमुपक्रमते—**नाप्यनुमानस्येति** । प्रमाणखण्डनस्य प्रस्तुतत्वादनुमितिं विहाय तार्किकानुमितिकरणलक्षणमुद्भावयति—**करणेति** । इदमेव वाचस्पत्युदयनयोर्मतम् । इमं च तृतीयं परामर्शमुत्तरत्र स्वयमेव दर्शयिष्यति ।

प्रत्यभिज्ञा में तत्तांश के तथाभूत (सम्यक्) संप्रयोग के अभाव से अव्याप्ति है, अर्थात् इस कथन से भी सम्यक् सम्बन्धजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमासिद्ध होता है, वह सम्बन्ध तत्ता के साथ नहीं रहता है, यदि कहा जाय कि पूर्व प्रसंग तो है, एकदेश संप्रयोग का, और प्रत्यभिज्ञा में एकदेशसंप्रयोग रहता ही है, तो अव्याप्ति कैसे हो सकती है, तो यह कहना उचित नहीं क्योंकि एकदेशसम्बन्ध भ्रम में भी रहता है, और प्रत्यभिज्ञा में भी रहता है, वहाँ प्रत्यभिज्ञा में अदुष्टेन्द्रिय सम्बन्ध सिद्ध हो जाय तो अव्याप्ति नहीं होगी, परन्तु इन्द्रियों में पूर्वोक्त रीति से दोषाऽभाव का अवधारण होना दुर्गम है । क्योंकि इन्द्रिय और इन्द्रियसम्बन्ध के अप्रत्यक्ष होने से, उनके दोषों के ग्रहण नहीं होने से दोषाभाव का ज्ञान होना भी असम्भव है । अतः इस उक्त रीति से प्रत्यक्ष का लक्षण प्रत्युक्त = निरस्त, हो गया ।

अनुमान का लक्षण भी निरूपण के शक्य (योग्य) नहीं है । क्योंकि अनुमान शब्द का अनुमिति, प्रमा और प्रमाण (प्रमा-करण) दोनों अर्थ में प्रयोग होता है, वहाँ (अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्) इस करण पक्ष में, तृतीय लिङ्गपरामर्श (हेतु ज्ञान) को, या परामृश्यमान (ज्ञायमान) लिङ्ग (हेतु) को नैयायिक अनुमान प्रमाण कहते हैं, परन्तु तृतीय लिङ्गपरामर्श अनुमिति प्रमा का करण (प्रमाण) नहीं हो सकता है । क्योंकि व्यापार वाला असाधारणकारण करण कहा जाता है,

तावत्तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितेः करणम्, अव्यापारत्वात् । व्यापारवत एव हि सर्वत्र करणत्वम्, तदिह महानसादौ धूमधूमध्वजयोः प्रथमं संबन्धं गृहीतवतः शिखरिशिखरपरिवर्तितया पुनस्तमेव धूममवलोकयतस्तदनु चानुसंहितव्याप्तेर्योऽयं लिङ्गविषयः परामर्शः 'तथा चायं धूमवान्' इति न तस्य व्यापारान्तरमुपलभामहे, येन तस्यानुमितिकरणता स्यात्। न च व्याप्तस्य पक्षधर्मतावगमेऽप्यनुमानानुदयस्त्वयाभ्युपगम्यते, येन व्यापारान्तरं तत्र कल्प्येत । अथानुसंहितव्याप्तिकस्य लिङ्गविषयो निर्विकल्पक-

---

ननु मास्तु व्यापारः, करणत्वं किमिति न स्यात् ? अत आह—**व्यापारवत एव हीति**। व्यापारवत्कारणं हि कारकमुच्यते, कारकविशेषश्च करणम्, ततो व्यापारवत एव करणत्वमित्यर्थः । अस्तु तर्ह्यस्यापि व्यापार इति तत्राह—**तदिहेत्यादिना**। धूमध्वजो वह्निः, शिखरी पर्वतः । तृतीयलिङ्गपरामर्शमेवाभिनयति—**तथा चायमिति**। ननु यद्यपि व्यापारान्तरं तस्य न दृश्यते, तथापि करणत्वसिद्धये कल्पयाम इति, तत्राह—**न च व्याप्तस्येति**। यदि व्याप्ततया पक्षधर्मतया चावगतस्य लिङ्गस्य कदाचिदनुमितिजनकत्वं न दृश्येत, कल्प्येतापि तदा व्यापारान्तरम्, केवलव्यतिरेकवत्त्वात्, तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसक्तिरिति भावः । ननु द्विविधस्तृतीयलिङ्गपरामर्शो निर्विकल्पकः सविकल्पकश्चेति, तत्र निर्विकल्पकः करणम् सविकल्पकस्तु तस्य व्यापार इति शङ्कते—**अथेति**। अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञानम् । एतच्च लिङ्गपरामर्शस्य तृतीयत्वसिद्धये शक्यमेव लक्षयितुं प्रत्यक्षलिङ्गोपलब्धिस्थले । यत्र तु शब्दादनुमानाद्वा लिङ्गावगमः, न तत्रैवं द्वैविध्यम्, प्रत्यक्षगोचरत्वादस्याः कथायाः ।

और तृतीय लिङ्गपरामर्श का अव्यापारवत्त्व है । नियम है कि व्यापार वाले को ही सर्वत्र करणत्व होता है, परन्तु यहाँ प्रथम महानसादि में धूम और धूमध्वज = अग्नि, के सम्बन्ध को ग्रहण = ज्ञान, को प्राप्त करने वाले को फिर पर्वत शिखरवर्ती उस धूम का ही अवलोकन = दर्शन, होता है, फिर उसके बाद पूर्वगृहीत व्याप्ति वाले उस प्राणी को व्याप्ति के अनुसंधान (प्रत्यभिज्ञा) पूर्वक यह लिङ्ग का तृतीय परामर्श होता है कि (तथा चायम् धूमवान्) महानस के समान यह पर्वत धूम वाला है, अर्थात् (वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः) यह तृतीय परामर्श होता है, वहाँ अनुमिति की उत्पत्ति से प्रथम उस परामर्श का व्यापारान्तर नहीं उपलब्ध होता है कि जो परामर्श से जन्य होकर अनुमिति का जनक हो और जिस व्यापार से उस परामर्श को अनुमितिकरणता हो । और व्याप्त हेतु की पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्व) के ज्ञान होने पर भी अनुमिति के अनुदय को आप नहीं मानते हैं कि जिससे मध्य काल में व्यापारान्तर की कल्पना हो सके । यदि कहें कि व्याप्ति के प्रत्यभिज्ञा रूप अनुसंधान (स्मरण) वाले को लिङ्गविषयक निर्विकल्पक ज्ञान होता है, वह

प्रत्ययः करणं तस्य 'तथाचायं धूमवान्' इति सविकल्पकप्रत्ययो व्यापारः, मैवम्, शब्दानुमानाभ्यामवगतलिङ्गेष्वव्याप्तेः, आदावेव सविकल्पकेन तेषां विषयीकरणात्, शब्दानुमानयोर्निर्विकल्पकप्रत्ययाजनकत्वात्। अथोच्येत–– तस्मादयमग्निमानिति निगमनेन तस्मादित्युपनयार्थस्य लिङ्गाधिकरणत्वस्य परामर्शात्, उपनयार्थस्य पूर्वभाविनस्तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य तज्जनकतया तद्व्यापारोपपत्तिरिति, तदपि न, आप्तवाक्यादस्ति धूम इत्यधिगतवतोऽपि विनैव तस्मादिति परामर्शमात्रादस्ति धूमध्वज इति प्रतीतेरुदयात्।

न चैषा प्रतीतिः प्रत्यक्षा; अनैन्द्रियकत्वात्। नापि शाब्दी, आप्त-

---

ततस्तत्र करणस्यैवाभावप्रसङ्गादव्याप्तिरित्याह—**मैवमिति**। स्यादेतत् 'तथाचायं धूमवान्' इति च 'तस्मादग्निमान्' इति च याविमावुपनयनिगमनाख्यावयवौ तत्र निगमनगतः तस्मादिति परामर्शो व्यापारः तज्जनकश्चोपनयगतलिङ्गपरामर्शः सविकल्पकः करणमिति शङ्कित्वा, तादृशपरामर्शं विनैवाप्तवचनादवगतधूमादनुमित्युदयेऽव्याप्त्या परिहरति—**अथोच्येतेत्यादिना–उदयादित्यंतेन**।

ननु तादृशपरामर्शव्यतिरेकेणोत्पद्यमानप्रतीतिरनुमितिरेव न भवतीत्याशङ्क्य परिशेषादनुमितित्वमाह—**न चैषेत्यादिना**। परिशेषादनुमितित्वं दर्शयित्वा तत्रा-

---

अनुमिति का करण होता है, और उस करण का (तथाचाऽयं धूमवान्) यह सविकल्पक ज्ञान व्यापार होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष लिङ्गज्ञान के स्थान में तो ऐसी व्यवस्था हो भी सकती है, किन्तु शब्द या अनुमान से ज्ञात लिङ्गों में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उन लिङ्गों का प्रथम ही सविकल्पक ज्ञान से विषय = अनुभव किया जाता है, शब्द और अनुमान से सविकल्पक ही ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि 'तथाचायम् धूमवान्' यह प्रथम उपनयरूप प्रयोग का अवयव होता है, पश्चात् 'तस्मादग्निमान्' यह निगमन होता है, अतः लिङ्गाधिकरणस्वरूप उपनयार्थ का ही तस्मात् इस परामर्श शब्द से 'तस्मादयमग्निमान्' ऐसा निगमन होने के कारण, पूर्वभावी तृतीय परामर्श रूप उपनयार्थ को उस निगमन का जनक होने से उस निगमन को उस उपनयन के व्यापारत्व की सिद्धि हो सकती है। तो यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि आप्तवाक्य से धूम है, ऐसा ज्ञान वाले को भी 'तस्मात् इति' इसप्रकार से उपनय के परामर्श के बिना ही, धूम के ज्ञान रूप परामर्श मात्र से ही, अग्नि है, ऐसी प्रतीति का उदय होता है।

यह प्रतीति उक्त परामर्श के बिना होती है, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इन्द्रियजन्य नहीं होती है, शाब्दी=शब्दजन्य भी नहीं कही जा सकती है, क्योंकि आप्त वाक्य को धूम के सद्भाव मात्र में पर्यवसितत्व (तात्पर्यवत्त्व) है।

वाक्यस्य धूमसद्भावमात्रपर्यवसितत्वात्। नापि स्मृतिः, तत्राग्निसद्भावस्य पूर्वमननुभूतत्वात्। अतः परिशेषादनुमितिरेवेत्यास्थेयम्, तत्कथं तत्र व्यापारसंभवः? लिङ्गपरामर्शस्य करणत्वेन प्रमाणेषु ज्ञाताज्ञातकरणविभागश्च न स्यात्। नयनादीनामेव हि करणत्वमज्ञाततया, ज्ञाततया तु लिङ्गशब्दादीनामिति विभागः परामर्शस्य करणतायां न सिद्ध्येत्। न च परामर्शोऽपि ज्ञाततया करणम्, ज्ञानस्य निलीनस्यैव नयनादिवत्स्वरूपफलजनकताङ्गीकारात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ परामृश्यमानं लिङ्गमनुमितेः करणम्। तदपि न, तत्रासीद् धूम इत्याप्तादुपश्रुत्य वह्निरपि तत्रा-

---

व्याप्ति दर्शयति—**तत्कथमिति**। किंच यदि परामर्शः करणम्, तदा तस्याज्ञायमानतया करणत्वान्न प्रत्यक्षाद्वैलक्षण्यं स्यादित्याह—**लिङ्गपरामर्शस्येति**। अस्तु तर्हि परामर्शोऽपि ज्ञायमानतया करणमिति, नेत्याह—**न च परामर्शोऽपीति**। ननु निलीनतया फलजनकस्याप्यपेक्षितस्थले ज्ञायमानतया जनकता किं न स्यात्? इत्यत आह—**अन्यथेति**। स्वप्रकाशतानङ्गीकारादिति भावः। केवलव्यतिरेकाभावस्याप्युपलक्षणमिदम्। सति लिङ्गपरामर्शे तदवबोधापराधेनानुमित्यनुदयादर्शनात्। ननु न परामर्शः करणम्, येनायं दोषः स्यात्, अपि तु परामृश्यमानं लिङ्गम्, तस्य च ज्ञायमानत्वान्नोक्तदोष इत्युदयनमतं शङ्कित्वा अतीतादिधूमेनानुमानस्थलेऽविद्यमानस्य करणत्वाभावात् परामर्श एव करणं मन्तव्यम्, तत्सामान्याद्वर्तमानस्थलेऽपि तस्यैव करणत्वं वक्तव्यम्, तथा चापरिहार्य एव पूर्वोक्तदोष इत्याह—**अथ परामृश्यमानमित्यादिना**।

स्मृतिरूप भी यह प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि वहाँ अग्नि का सद्भाव प्रथम अनुभूत नहीं रहता है, अतः परिशेष से अनुमिति ही मन्तव्य है, तो वहाँ व्यापार का सम्भव कैसे है। और लिङ्गपरामर्श के करणत्व से ज्ञाताऽज्ञात रूप करण का विभाग भी नहीं होगा, नेत्रादि को ही अज्ञात रूप से करणत्व है, और लिङ्ग-शब्दादि को ज्ञातरूप से करणत्व है, परामर्श की करणता में यह विभाग नहीं सिद्ध होगा। यदि कहें कि परामर्श भी ज्ञात रूप से करण होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि परामर्श ज्ञानस्वरूप है, और निलीन (अव्यक्त = अज्ञात) ज्ञान को नेत्रादि के समान स्वरूप से फल का जनक माना जाता है, अन्यथा ज्ञातरूप से फलजनक मानने पर स्वप्रकाशता के अनङ्गीकार से अनवस्था की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि परामृश्यमान (परामर्श का विषय), धूमरूप लिङ्ग अनुमिति का करण है, वह ज्ञायमान करण होने से उक्त दोष नहीं है, तो वह भी कहना युक्त नहीं, क्योंकि वहाँ धूम था, इस आप्त वाक्य को सुनकर, वहाँ अग्नि भी थी, इसप्रकार की अनुमिति में अविद्यमान धूम के करणत्व की अनुपपत्ति होने पर उस परामर्श की

सीदित्यनुमितावविद्यमानस्य करणत्वानुपपत्तौ तत्परामर्शस्यैव कारणतायास्तस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । एकप्रयोजकतानुरोधेन धूमादेर्वर्तमानत्वदशायामपि तत्परामर्शस्यैव कारणतायाः स्वीकरणीयत्वात् ।

किंचेदं लिङ्गम्, यस्य परामर्शः परामृश्यमानं वा लिङ्गमनुमितिकरणम् ? व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गमिति चेत्, केयं व्याप्तिः ? किमविनाभावः ? किंवा स्वाभाविकः संबन्धः ? निरुपाधिकः संबन्धो वा ? नाद्यः, विकल्पासहत्वात् ।

तथाहि--

किं व्यक्त्योरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयोः ।
व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः ? ॥ २३ ॥

एवं लिङ्गमङ्गीकृत्य तत्परामर्शस्य करणत्वं नास्तीत्युक्तम्, इदानीं लिङ्गानिरूपणादपि तत्परामर्शस्य करणत्वं न संभवतीत्यभिप्रेत्याह—**किंचेदमिति**। लिङ्गस्य लक्षणमुद्भावयति—**व्याप्तीति** । व्याप्तिमल्लिङ्गमित्युक्ते करतलं स्पर्शवत् रूपवत्त्वात्, सुरभि गगनारविन्दम् अरविन्दत्वात्कासारारविन्दवदित्यादिसिद्धिसाधनताश्रयासिद्धयोरनित्यः शब्दः सावयवत्वादित्यादिस्वरूपासिद्धौ चातिव्याप्तिः, तदर्थं पक्षधर्मतावदित्युक्तम् । तावत्युक्ते चानित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, नित्यः शब्दः कृतत्वादित्यादिसव्यभिचारविरुद्धादिष्वतिव्याप्तिः, तदर्थं व्याप्तिग्रहणम् । अविनाभावो व्याप्तिरिति पक्षं दूषयति—**नाद्य इति**।

विकल्पदूषणं श्लोकाभ्यां संगृह्णाति—**किं व्यक्त्योरित्यादिना । तद्वतोरिति ।** जातिविशिष्टव्यक्त्योरित्यर्थः । **साध्यसाधनवत्त्वयोरिति ।** धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोरित्यर्थः । **तदानन्त्याद्व्यक्तीनामानन्त्यादसर्वज्ञेन** तत्संबन्धग्रहणाशक्तेरित्यर्थः । **तद-**

ही कारणता को वहाँ अवश्य आश्रयणीय होने से एक प्रयोजकता (कारणता) अनुरोध (लाघव) से धूमादि की वर्तमान अवस्था में भी उस परामर्श की ही कारणता स्वीकरणीय है ।

और यह लिङ्ग क्या है, कि जिसका परामर्श या स्वयं परामृश्यमान जो लिङ्ग अनुमिति का करण होता है । यदि कहा जाय कि व्याप्ति और पक्षधर्मता वाला लिङ्ग होता है, तो यह व्याप्ति क्या है । क्या अविनाभाव है, या स्वाभाविक सम्बन्ध है, अथवा निरुपाधिक सम्बन्ध है । विकल्पाऽसह होने से आद्य पक्ष युक्त नहीं है ।

तथाहि—

क्या व्यक्तियों में अविनाभाव है, या जातियों में है, या विशेष जातिमानों में है, अथवा साध्यवत्त्व साधनवत्त्व धर्मों में अविनाभाव व्याप्ति आप मानते हैं ॥ २३ ॥

सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसंभवात् ।
न तद्वतोरुक्तदोषान्न चतुर्थोऽनिरूपणात् ॥ २४ ॥

किं धूमधूमकेतनस्वलक्षणयोर्व्याप्तिः ? उत धूमत्ववह्नित्वजात्योः ? अथ तज्जातीययोः ? आहोस्वित् धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोः ? नाद्यः, व्यक्तीनामनन्तत्वात्तत्र संबन्धग्रहणासंभवात् । न ह्यसर्वज्ञेन सर्वा व्यक्तयो विशेषतो ज्ञायन्ते । अथ व्याप्तिग्रहणसमये सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तास्ता व्यक्तयस्तत्तदिन्द्रियैरवभासन्ते, अन्यथा सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेव नावगता इत्यानुमानिकोपादानादिव्यवहारविरहविरोधप्रसङ्गात्, न हि

संभवादिति । अग्नित्वधूमत्वयोरैकाधिकरण्याभावेन व्याप्तेरसंभवादित्यर्थः । आनन्त्यमुक्तदोषः ।

श्लोकं व्याकरोति—किं धूमेत्यादिना । धूमकेतनो वह्निः । असर्वज्ञेनापि प्रमेयत्वाद्याकारेण सर्वा व्यक्तयो ज्ञातुं शक्यन्ते इति तन्निवृत्त्यर्थं विशेषत इति । ननु यदा व्यक्तिद्वयं गृह्यते, तदा तद्गतसामान्यद्वयसंबद्धाः सर्वा व्यक्तयः प्रत्यक्षीक्रियन्ते; तत्र च सामान्यात्मिकैव प्रत्यासत्तिः, चक्षुःसंबद्धधूमवह्निव्यक्तिसमये तत्सामान्यद्वयद्वारा संबद्धविशेषणतया प्रत्यासन्नत्वाद्व्यक्तीनाम्, ततो व्यक्त्योरेव व्याप्तिग्रहेऽपि न कश्चिद्दोष इति शङ्कते—अथेति । ननु माभूत्सर्वोपसंहारवद्व्याप्त्यवगमः, किं नश्छिन्नमिति ? तत्र श्रीवल्लभोक्तबाधकमाह—इत्यानुमानिकेति । अथ कथमुपा-

---

वह व्याप्ति व्यक्तियों में गृहीत नहीं हो सकती, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। जातियों में असम्भव होने से अविनाभाव नहीं हो सकता है, जातिमान में भी वही असम्भव दोष है। चतुर्थ पक्ष का निरूपण नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

अर्थात् क्या धूम धूमकेतन (अग्नि) स्वरूप व्यक्तियों की व्याप्ति है, या धूमत्व वह्नित्व जातियों की है, या उक्त जातिमानों की है, अथवा धूमवत्त्व वह्निमत्त्व की है। इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि व्यक्तियों के अनन्त होने से उन सब में अविनाभाव रूप सम्बन्ध का ग्रहण होना असम्भव है, असर्वज्ञ कोई सब धूमादि व्यक्तियों को विशेष रूप से जान नहीं सकता है, और जाने बिना व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि महानसादि में व्याप्तिज्ञान के समय सामान्य = जाति स्वरूप सम्बन्ध, से धूमत्वेन वह्नित्वेन तत्तद् व्यक्ति तत्तदिन्द्रिय से अवभासित (ज्ञात) होता है। अन्यथा, यदि व्याप्तिग्रहण काल में सब व्यक्ति अवभासित नहीं हों, तो सर्वोपसंहारवती = सर्वविषयग्राहिका, व्याप्ति ही अवगत (ज्ञात) नहीं होगी, फिर व्याप्ति के ग्रहण नहीं होने से व्याप्तिग्रहण निमित्तक अनुमान भी नहीं होगा, तो आनुमानिक (अनुमाननिमित्तक) जो किसी पदार्थ के ग्रहणादि रूप व्यवहार होता है, उस व्यवहार का अभावरूप विरोध प्राप्त होगा

परिदृश्यमानकदलीफलादेः प्रत्यक्षेण दृष्टमिष्टसाधनत्वम्, येनैतदुपाददीत। किं नामानुमेयम्? न च प्रतिबन्धसिद्धिमन्तरेणानुमानप्रवृत्तिः, न चान्तरेण विशेषप्रतिभासं तन्नियमावगमः, तत्सिद्धं व्याप्तिग्रहणसमये एव सकलविशेषाः प्रतिभासन्ते।

तदयुक्तम्, प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्याप्तिं गृह्णतः सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। ननु

दानादीनामानुमानिकत्वमिति, तत्राह—न हि परिदृश्यमानेति। किं नाम। किन्त्वर्थः। प्रतिबन्धो व्याप्तिः। सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तिग्रहणसमर्थनमुपसंहरति पूर्ववादी—तत्सिद्धमिति। इदमोदनादि मम समीहितसाधनमोदनादित्वात् भुक्तनौदनादिवदित्यनुमाय तदादित्सते। एवं परिवर्जनीयेऽपि। न चैतत्सकलौदनादिगतहितसाधनतावगमं विना शक्यमनुमानमुदेतुम्। न च तदवगमे कथितोपायमन्तरेणोपायान्तरमस्तीति खण्डलकार्थः।

तदेतद् दूषयति—तदयुक्तमिति। ग्रहादि विमतं प्रत्यक्षं प्रमेयत्वादभिधेयत्वाद्वेत्यादौ यदा प्रमेयत्वादेर्व्याप्तिं गृह्णाति, तदा प्रमेयत्वादेः सर्ववस्तुनिष्ठत्वात्तद्ग्रहणे सर्वं गृहीतमेवेति क्वापि न ते संशयादि स्यात्, अस्ति च तन्मन्चित्तवर्तिपदार्थेष्वनभिधानलिङ्गानुमितम्, अत एव न प्रतिकृत्येति भावः। ननु प्रमेयत्वाक्रान्ताकारेण सर्वं ज्ञायते, तदाकारेण च व्याप्तिग्रहणम्, न तु रूपान्तरेण, तदभावादिति शङ्कते—न्विति। तत्र वक्तव्यम्—येनाकारेण तानि न ज्ञायन्ते स किं प्रमेयः? न वा? आद्ये सोपि ज्ञात एवेति न पूर्वोक्तदोषान्निर्मोक्षः। उत्तरस्मिंस्तु स एव नास्ति, येन

(व्यवहार नहीं हो सकेगा) परिदृश्यमान कदली फलादि के इष्टसाधनत्व प्रत्यक्ष से दृष्ट नहीं है कि जिससे उसका कोई उपादान (ग्रहण) करेगा, किन्तु कभी ज्ञात किसी कदली फल की इष्टसाधनता को वर्तमान काल में भी अनुमान से ही जान कर उसका ग्रहण किया जाता है, अतः वह इष्टसाधनता कैसे ज्ञेय होता है, तो कहना होगा कि इष्टसाधनत्व अनुमेय है। और प्रतिबन्ध (व्याप्ति) सिद्धि के बिना अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। और व्याप्य-व्यापक विशेष व्यक्तियों के व्याप्तिग्रहण काल में प्रतिभास (प्रतीति) के बिना उनके नियम (अविनाभाव) का ज्ञान नहीं हो सकता है इससे सिद्ध होता है कि व्याप्तिग्रहण काल में ही सब विशेष सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति से प्रतिभासित होते हैं।

यह उक्त कथन अयुक्त है। क्योंकि, (सर्वम्, अभिधेयम्, प्रमेयत्वात्) इत्यादि रीति से प्रमेयत्व अभिधेयत्व की व्याप्ति को ग्रहण करने वालों में उक्त रीति सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि प्रमेयत्व की व्याप्ति को ग्रहण करने वाला प्रमेयत्व रूप से सब को जान जाता है, परन्तु तत्तत् घटत्वादि रूपान्तर से नहीं जानता है, अतः सर्वज्ञता नहीं होती है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि जिन

प्रमेयतया सर्वं ज्ञायते न तु रूपान्तरेणेति चेत्, मैवम्, रूपान्तरस्यापि प्रमेयत्वाधारतया ग्रहणप्रसङ्गात्, अप्रमेयत्वे च सप्तमरसादिवत्तदसिद्धेः। येन येन रूपेण यद्यदस्ति तेन तेनाकारेण तत्तत्प्रमेयमिति स्यादेव सर्वज्ञता। किंच व्याप्तिसंदर्शनसमय एवाशेषग्रहणे पर्वतनितम्बगोचरोऽपि कृशानुर्गृहीत एवेति पुनर्धूमदर्शने तस्य स्मृतिगोचरतैव स्यान्नत्वनुमेयता। नापि द्वितीयः, यद्धूमत्वं यत्र वा धूमत्वं तद्वह्नित्वं तत्र वा वह्नित्वमिति नियमासंभवात्, तयोर्भिन्नत्वाद्भिन्नाधिकरणत्वाच्च। नापि तृतीयः, व्यक्तीनामिव तद्वतामपि अनन्तत्वात् संबन्धग्रहणानुपपत्तेः।

न ज्ञायेरंस्तानीत्याह—**मैवमिति**। **सप्तमेति**। रसषट्कव्यतिरिक्तद्रव्यादे रसत्वस्याप्रमेयस्यासिद्धिवदित्यर्थः। किंच व्याप्तिग्रहणसमये सर्वव्यक्तिग्रहणपूर्वकं तन्निष्ठव्याप्तिग्रहणमाशंसता पक्षीकृतपर्वतेऽपि सा गृहीता ? न वा ? न यदि, तदा सर्वोपसंहारिणी व्याप्तिरेव न गृहीता। अथ गृहीता, तत्राह—**किंच व्याप्तिग्रहणेति**। नितम्बः। सानुः। नच धारावाहिवत् संप्लववादेऽनुमानप्रवृत्तिः। परार्थानुमाने तं प्रति सिद्धसाधनतापातात्। जात्योरिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इत्यादिना**। वृक्षशिंशपयोरिव स्वभावाविनाभावो वा, धूमाग्न्योरिव सादेश्यनियमो वक्तव्यः, कालकृताविनाभावस्य जात्यन्तरेणापि साधारण्यात्। तच्च द्वयं न संभवति; भिन्नस्वभावत्वात्, भिन्नदेशत्वाच्चाग्नित्वधूमत्वयोरिति भावः। जातिविशिष्टव्यक्त्योरिति तृतीयं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। यत्वत्र लीलावतीकारे-

---

रूपान्तर से नहीं जानता है, वे रूपान्तर प्रमेय हैं, या नहीं, यदि प्रमेय हैं, तो उनमें भी प्रमेयत्व की आधारता के रहने से उनका भी प्रमेयत्वेन ग्रहण प्राप्त होता है, और यदि उनमें प्रमेयत्व नहीं है, तो सप्तम रसादि के समान उनके सत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, और जिस-जिस घटत्वादि रूप से जो-जो घटादि वस्तु है, सो-सो वस्तु उसी-उसी रूप से प्रमेय है, तो प्रमेयत्व रूप में जानने पर सर्वज्ञता कैसे नहीं होगी ? अवश्य सर्वज्ञता होगी। और दूसरी बात है कि व्याप्तिज्ञान के समय में ही सम्पूर्ण व्याप्य-व्यापक के ग्रहण होने पर पर्वत के नितम्ब (पास) वृत्ति अग्नि के भी उसी समय गृहीत हो जाने से फिर धूम के दर्शन होने पर उस ज्ञात अग्नि की स्मृतिविषयता होगी, अनुमेयता, नहीं होगी। धूमत्व-वह्नित्व जाति की अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्रहण रूप दूसरा पक्ष भी नहीं युक्त हो सकता है, क्योंकि, जो धूमत्व है, वह वह्नित्व है, या जहाँ-जहाँ धूमत्व है, वहाँ-वहाँ वह्नित्व है, ऐसे नियम का होना असम्भव है, क्योंकि दोनों भिन्न हैं। और भिन्न अधिकरण वाले हैं। तृतीय जाति वाले की व्याप्ति का ज्ञान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यक्तियों के समान जाति वालों के भी अनन्त होने से उनके सम्बन्धों का ग्रहण नहीं हो सकता है।

अस्तु तर्हि चतुर्थः, न हि तत्र संबन्धग्रहणानुपपत्तिः, धूमवत्त्ववह्नि-मत्त्वलक्षणयोरुपाध्योः कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि गोत्वादिजातीनामिव ग्रहणो-पपत्तेरिति चेत्, मैवम्, संभवेऽपि तत्संवेदनस्य, तत्समये एव पर्वतनितम्ब-

---

णोक्तम् 'न च प्रतिबन्धासंवेदनम्, व्यक्तिमात्रसहिततज्जातिनिर्भासात्' इति, तदसत् सर्वव्यक्तिग्रहणाग्रहणप्रयुक्तदोषापरिहारात् ।

धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोरिति चतुर्थं पक्षमुद्घाटयति—**अस्तु तर्हीति** । ननु तयो-रप्युपाधिसामान्यत्वात् समस्तधूमवदग्निमल्लक्षणोपधेयग्रहणव्यतिरेकेणाशक्यग्रहणत्वात् पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थ इति, तत्राह—**नहि तत्रेति** । यथाहि कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि समस्ता जातिर्गृह्यते, तत्कस्य हेतोः ? प्रत्येकं परिसमाप्यवृत्तित्वात्तद्वदत्रापीति भावः । अत्र तावत्कतिपयव्यक्तिग्रहणे जातिर्गृह्यते इत्यत्रापि नास्ति संप्रतिपत्तिः । अथ तत्र परिसमाप्यवृत्तित्वाद्गृह्यत इति मतम्, तर्हि वक्तव्यम्–केयं परिसमाप्तिः ? यदि तत्रैव वर्तमानत्वम्, गतं तर्हि गवान्तरगतगोत्वेन । अथ पर्यवसिततया प्रमीय-माणत्वम्, अर्थाभावे तत्प्रमितत्वे कथमाश्वासः ? किंच सा ? किं व्यक्तिसर्वगता असर्वगता वा ? अन्त्ये तु नैकस्यां व्यक्तौ परिसमाप्तिः । नहि सर्वगताया गृहोदरे परिसमाप्तिर्वास्तवी । व्यक्तिसर्वगतत्वपक्षे गोद्वये वर्तमाना तयोरन्तराले वर्तते ? न वा ? न यदि, तदवच्छिन्नदेशायाः कथमेकत्वम् ? द्वितीये तु प्रागुक्त एव दोषः, उत्पद्यमानायां च व्यक्तौ कुत एष्यति ? इति पतिष्यतीत्यपि चिन्तनीयम्, तत्रापि तत्सत्त्वे प्रागुक्तदोषः । प्रतीत्यप्रतीती वृत्त्यवृत्ती नान्ये इति चेत्किं योगाचारनगरगो-पुरं प्रविशसि ? अचिन्त्यमहिमेयं वस्तुस्वभाववैचित्री, यद्व्यक्तिद्वये वर्तमानाप्यन्त-राले न वर्तते, एकत्वं न जहाति, व्यक्त्यनुत्पत्तिदशायां तत्र तत्कारणेषु वा नास्ति, व्यक्त्युत्पत्तौ चास्तीत्यादीति चेत्सत्यम्; अचिन्त्यमहिमैव सा, न केवलं सैव, भवदन-वबोधोप्यचिन्त्यमहिमैव, यत्तस्यैवंविधमहामहेन्द्रजालता । नावकल्पयसि प्रमाणम्, युक्तीश्च तत्र संचारयन्विचारकताभिमानं च न मुञ्चसीति । वक्ष्यते चायमुपरिष्टात् सविस्तरोऽर्थः । तदेतादृशदोषराशिकालुष्यकर्पणमपिना सूचयन्दोषान्तरमाह—**मैवम्; संभवेऽपीति** । ननु वह्निमत्त्वमात्रमत्रापि गृहीतमेव पर्वतगतवह्निमत्त्वं तु

यदि कहा जाय कि उक्त तीनों पक्षों में व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है, तो धूमवत्त्व वह्निमत्त्व की व्याप्ति रूप चतुर्थ पक्ष रहे (माना जाय), क्योंकि इस चतुर्थ पक्ष में सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्रहण की अनुपपत्ति नहीं है, कतिपय व्यक्ति के ग्रहण होने ही पर गोत्वादि जाति के समान धूमवत्त्व वह्निमत्त्व रूप उपाधियों के ग्रहण (ज्ञान) की सिद्धि हो सकती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि कतिपय व्यक्ति के ग्रहण से धूमवत्त्व वह्निमत्त्व के ग्रहण के सम्भव होते भी उनके व्याप्तिग्रहण काल में ही पर्वत-नितम्ब सम्बन्धी वह्निमत्त्व के गृहीत हो जाने से

संबन्धिनो वह्निमत्त्वस्य गृहीतत्वात्पुनरनुमानाप्रवृत्तेः। वह्निमत्त्वमात्रमेव धूमवत्त्वव्यापकतया गृहीतम्, न तु पर्वतगतवह्निमत्त्वमिति चेत्, तत्किमिदानीं बहूनि वह्निमत्त्वानि ? हन्तैवं धूमवत्त्वान्यपि बहून्येवेति तदानन्त्यात् संबन्धग्रहणानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति घट्टकुट्यां प्रभातमनुसरति ! अथैकैव धूमवत्ता एकैव वह्निमत्ता न सा पर्वतसंबन्धिनी गृहीता, अतः सैवानुमानालम्बनमिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—संबन्धसंवेदनसमये यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्र वह्निमत्त्वमिति वीप्साविषयतया पर्वतादिप्रदेशोऽपि प्रतीतः ? न वा ? आद्ये पर्वतेऽपि वह्निमत्त्वमधिगतमिति कृतमनुमानेन। द्वितीये तु पर्वते धूमवत्त्वस्य प्रतीतावपि वह्निमत्त्वप्रतीतिर्न स्यात्, व्याप्तेरगृहीतत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन।

न गृहीतमित्यनुमानसार्थक्यमिति शङ्कते—**वह्निमत्त्वेति**। बहून्येवेति मन्यमानं प्रत्याह—**हन्तैवमिति**। शक्यते हि पर्वतगतधूमवत्त्वमन्यदेवेति वक्तुमिति भावः। अनेकत्वपक्षं परित्यज्यैकत्वपक्ष एव पूर्वोक्तदोषस्य परिहारं शङ्कते—**अथैकैवेति**। धूमवत्त्वव्यापकतया प्रतीतवह्निमत्त्वस्य पर्वतसंबन्धबोधनमनुमानार्थमिति भावः। तत्र धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहणसमयेऽपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरित्येव गृह्यते, वीप्सा चानुक्तोपसंहारार्था, तथा च तया संगृहीतार्थान्तर्भाविऽनन्तर्भावे च पर्वतस्यानुमानानुपपत्तिरिति दूषयति—**मैवम्; विकल्पासहत्वादित्यादिना**। **व्याप्तेरगृहीतत्वादिति**। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिग्रहणसमये यत्रेत्येतदर्थान्त-

---

(सर्वत्र वह्निमत्त्व के एक होने के कारण एकत्र के ज्ञान से सर्वत्र के ज्ञान के सम्भव से) फिर अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि कहें कि व्याप्तिग्रहण काल में धूमवत्त्व के व्यापक रूप से वह्निमत्त्वमात्र ही गृहीत होता है, और पर्वतगत वह्निमत्त्व नहीं गृहीत होता है, अतः उसके ग्रहण के लिये अनुमान की प्रवृत्ति होती है, तो कहा जाता है कि अब क्या आप बहुत वह्निमत्त्व मानने लगे हैं कि जिससे कहते हैं कि पर्वत के वह्निमत्त्व नहीं गृहीत होता है और वह्निमत्त्व बहुत होगा ? तो अब इसीप्रकार से धूमवत्त्व भी बहुत ही होगा। तब तो अनन्तता से सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्रहण की अनुपपत्ति तदवस्थ ही रहेगी, कि जिससे घाट कुटी प्रभात न्याय का अनुसरण होगा। यदि कहें कि धूमवत्त्व एक ही है। वह्निमत्त्व भी एक ही है, परन्तु पर्वतसम्बन्धी वे दोनों व्याप्तिग्रहणकाल में नहीं गृहीत हुए, अतः वही अनुमान का अवलम्बन (विषय) होता है। तो विकल्पाऽसह होने से यह कथन युक्त नहीं है। विकल्प है कि सम्बन्ध (व्याप्ति) ज्ञान के समय (यत्र यत्र धूमवत्त्व रहता है, तत्र तत्र वह्निमत्त्व रहता है) इस वीप्सा (द्विरुक्ति) के विषय रूप से पर्वतादि प्रदेश भी प्रतीत होता है, या नहीं, गृहीत होता है। इस आद्यपक्ष में पर्वत में भी वह्निमत्त्वव्याप्तिग्रहण काल में ज्ञात हो गया, यह सिद्ध

कश्चायमविनाभावः ? किं साधनसद्भावेन साध्यसद्भावः ? किं वा साध्याभावेन साधनाभावः ? उतोभयम् ? नाद्य, केवलव्यतिरेकिणि तदभावात्, पक्षादन्यत्रापि भावे केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात्। नापि द्वितीयः, केवलान्वयिन्यभावात्। न तृतीयः, अन्वयव्यतिरेकिणि तद्भावेऽपीतरयोस्तदभावात्।

गंततया अगृहीतव्याप्तिकत्वादित्यर्थः। एतेनास्य वह्निविशेषस्य पूर्वं प्रतीतत्वेऽपि एतत्पर्वतनिष्ठतया पूर्वमप्रतीतिरिति वदन्वादीन्द्रोऽपि विद्रावितः। अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानादेतद्वह्निमत्त्वसिद्धिः, तत्किमयं पर्वत एतद्वह्निमानेतद्धूमवत्त्वादिति सिसाधयिषसि?ओमिति चेद्, हन्तारमाश्रयता पर्वतस्यापि, पर्वताश्रितत्वप्रसक्तेरिति।

एवमविनाभावप्रतियोग्यनिरूपणाल्लक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानीमविनाभावशब्दार्थं विकल्प्य दूषयति—**कश्चायमित्यादिना।** किमविनेति विनाशब्दाभिधेयसाधनाभावस्याभावं साधनसद्भावं विवक्षित्वा तत्र साध्यसद्भावो भावशब्देनाभिधीयत इति साधनसद्भावे एव साध्यसद्भावरूपान्वयव्याप्तिस्त्वयाऽविनाभावशब्दार्थो विवक्षितः ? किं वा विनाभावः साध्यव्यतिरेकेण साधनस्य भावस्तदभावोऽविनाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तिर्विवक्षिता ? साध्याभावे साधनाभावस्य तत्त्वात्। उतोभयमपि रीतिः ? इत्यर्थः। ननु केवलव्यतिरेकिण्यपि साध्यसाधनयोः सत्त्वात्सम्भवत्यन्वयव्याप्तिरिति, तत्र वक्तव्यम्—किं पक्ष एवोभयोः सहभावनिश्चयः ? अन्यत्र वा ? नाद्यः, तत्र साध्यानिर्णयात्। द्वितीये प्राह—**पक्षादन्यत्रेति। केवलान्वयिनीति।** अविद्यमानविपक्षत्वादित्यर्थः। **इतरयोरिति।** केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोरित्यर्थः।

होता है, अनुमान का कोई फल नहीं। दूसरे पक्ष में पर्वत में धूमवत्त्व के ज्ञान होने पर भी वह्निमत्त्व का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि पर्वतीय धूमवत्त्व में पर्वतीय वह्निमत्त्व की व्याप्ति अगृहीत है, अब अधिक प्रसंग की आवश्यकता नहीं है।

यह अविनाभाव क्या है ? क्या साधन के सत्त्व से साध्य का भी सत्त्व होना है, या साध्य के अभाव से साधन का अभाव होना है, अथवा उभयस्वरूप है। आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि केवलव्यतिरेकी में वैसे अविनाभाव का अभाव रहता है, पक्ष से अन्यत्र भी साधन के सत्त्व से साध्य के सत्त्व होने पर केवलव्यतिरेकित्व का अभाव होगा, अतः पक्ष में निर्णय का अभाव ही रहता है, और अन्यत्र भी निर्णय नहीं हो सकता है कि यत्र हेतु तत्र साध्य रहता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि केवल अन्वयी में उस व्यतिरेक का अभाव रहता है (घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्) यहाँ प्रमेयत्व अभिधेयत्व के अभाव का उदाहरण नहीं मिलता है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्वय

एतेन स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः कल्पोऽपि परास्तः, तत्रापि जातिव्यक्त्यादिविकल्पानां दूषणानां तुल्यत्वात्, स्वाभाविकशब्दार्थानिरुक्तेश्च। स्वाभाविकशब्देन किं संबन्धिस्वभावजन्यत्वं विवक्ष्यते? यद्वा तत्स्वभावाश्रितत्वम्? अथवा तत्स्वभावप्रयुक्तत्वम्? आहोस्वित्तद्व्याप्यत्वम्? किं वा तदनतिरिक्तत्वम्? नाद्यः, एकार्थसमवायेन रसाद्रूपानुमाने

एवमविनाभावो व्याप्तिरिति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितीयेऽपि तदेवातिदिशति—**एतेनेति**। तस्यैव विवरणम्—**तत्रापीति**। स्वाभाविकोऽपि हि संबन्धः कयोः? इति विवेचनीयमिति भावः। उम्बेकस्तु—'संबन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिनः' इत्यत्र लिङ्गधर्मस्येति दर्शनाद् व्याप्यैकधर्मो व्यापकनिरूप्यो व्याप्तिर्न पुनरुभयनिष्ठेत्यब्रवीत्। अत्र किं निर्देशमात्रं प्रमाणम्? अन्यद्वा? नाद्यः, नहि घटेन पटस्य संबन्ध इति निर्देशात् पटैकनिष्ठ एवायं न घटनिष्ठ इति शक्याङ्गीकारम्। नाप्यन्यत्, प्रत्युत संबन्धत्वसिद्धिरेवोभयनिष्ठतां गमयेत्। भवतु वा यथातथा, तथाप्युक्तदोषान्न निर्मोक्षः। तत्रापि हि किं धूमव्यक्तिनिष्ठा? किं धूमत्वजातिनिष्ठा? किमग्निव्यक्तिनिरूप्या? इत्याद्युक्तविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वादिति। एवं साधारणं दूषणमुक्त्वाऽस्मिन्पक्षेऽसाधारणदूषणमाह—**स्वाभाविकेति**। स्वभावशब्दस्य असाधारणभावमात्रवाचकत्वात् प्रस्तुतसंबन्धद्वारोत्थापितसंबन्धिनोः स्वभावे विश्रान्तिस्तथाच तदुपरितनतद्धितप्रत्ययेन तज्जन्यत्वादिष्वन्यतमो वक्तव्यः, संबन्धमात्रविधानेऽपि विशेषपर्यवसितत्वादिति विकल्पयति—**स्वाभाविकशब्देनेत्यादिना**। नच जन्यत्वेन प्रयुक्तत्वस्य पौनरुक्त्यम्। अजन्यजनकयोरप्यनित्यत्वकृतकत्वयोः प्रयुक्तिदर्शनादित्यवगन्तव्यम्। **तदनतिरिक्तत्वमिति**। स्वार्थ एव विहितोऽयं प्रत्यय इत्यर्थः। **नाद्य इति**। विप्रतिपन्नं रूपवद्रसवत्त्वादित्यत्र ह्येकार्थसमवाय एव

व्यतिरेकी में—हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्व, साध्याभावे हेत्वभाव, ये उभय उदाहरण मिल सकते हैं, परन्तु केवल अन्वयी और केवल व्यतिरेकी में उभय उदाहरण (व्याप्ति) का अभाव रहता है।

इसीसे स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है, यह दूसरा पक्ष भी निरस्त हो गया। क्योंकि उस पक्ष में भी जाति, व्यक्ति आदि विकल्पसम्बन्धी दूषणों की तुल्यता है, क्योंकि इस पक्ष में भी विकल्प होगा, कि व्यक्तियों का स्वाभाविक सम्बन्ध है, या जातियों का है, इत्यादि। और अनन्तता से सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता है इत्यादि। और स्वाभाविक शब्द के अर्थ की अनिरुक्ति से भी यह पक्ष अयुक्त है। क्योंकि स्वाभाविक शब्द से क्या, सम्बन्धी (हेतुसाध्य) के स्वभाव (स्वरूप) से जन्यत्व अर्थ विवक्षित है, या सम्बन्धिस्वभावाश्रितत्व है, या सम्बन्धिस्वभावयुक्तत्व है, या सम्बन्धिस्वभाव-व्याप्यत्व है, अथवा सम्बन्धिस्वभाव से अनतिरिक्तत्व है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि एकार्थसमवाय-

तत्संबन्धस्य समवायस्याजन्यत्वेनाव्याप्तेः, व्यभिचारिणोर्घटपटयोः संयोगेऽतिव्याप्तेश्च। तस्य तद्रूपत्वेऽपि व्याप्तिरूपत्वाभावात्। नापि द्वितीयः; घटपटयोः संयोगे संयोगिस्वभावाश्रिते व्यभिचारात्। नापि तृतीयः; प्रयुक्तत्वशब्देन जन्यत्वविवक्षायामाद्यपक्षोक्तदूषणप्रसङ्गात्, तद्व्याप्तत्वविवक्षायां तु व्याप्तेरव्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः। अत एव न चतुर्थः। किंच संबन्धस्य

व्याप्तिरूपः संबन्धः, नच तत्र लक्षणमस्ति, तस्याजन्यत्वादित्यर्थः। घटपटसंयोगस्य लक्षणवत्तामलक्ष्यतां चाह—**तस्येति**। संबन्धिस्वभावाश्रितः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयपक्षेऽपि घटपटसंयोगेऽतिव्याप्तिमाह—**नापि द्वितीय इति**। न चाव्यभिचारिसंबन्धिस्वभावाश्रितत्वेन संबन्धो विशेषणीयः। अव्यभिचारस्यैव तथासति व्याप्तित्वसंभवेन तदितरवैयर्थ्यात्, अव्यभिचारस्य निरसिष्यमाणत्वाच्च। ननु तत्प्रयुक्तत्वं नाम न तज्जन्यत्वम्, येन पूर्वोक्ताव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषौ स्याताम्, किंतु संबन्धिस्वभावव्याप्तत्वम्, गुणवत्त्वप्रयुक्तत्वमिव द्रव्यत्वस्येति, तत्राह—**तद्व्याप्तत्वेति**। इममेवात्माश्रयं चतुर्थेऽप्यतिदिशति—**अत एवेति**। यदि च संबन्धिभ्यां व्याप्तः संबन्धः, तदा संबन्धिनोर्व्यापकयोरधिकवृत्तितापि संभाव्यत इति संबन्धं विनापि संबन्धिनोरवस्थानं स्यात्, तथा चान्यतरदर्शनादन्यतरानुमानं न स्यात्, तत्संबन्धं विनापि तयोः स्थितिसंभवादित्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यभिसन्धिराह—**किञ्चे-**

सम्बन्ध द्वारा रस से रूप के अनुभान में उन दोनों का सम्बन्धस्वरूप समवाय के अजन्य होने से अव्याप्ति होती है। क्योंकि वह समवाय ही व्याप्ति है; सम्बन्ध है। वह सम्बन्धी के स्वरूप से जन्य नहीं है। और व्यभिचारी (व्याप्तिरहित) घटः पट के सम्बन्ध (संयोग) में अतिव्याप्ति है, क्योंकि संयोगसम्बन्ध सम्बन्धि के स्वरूप से जन्य होता है परन्तु व्याप्ति स्वरूप नहीं होता। सम्बन्धिस्वरूपाश्रितत्व रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि संयोगिस्वरूप के आश्रित घट-पट के संयोग में व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होती है। सम्बन्धिस्वभाव प्रयुक्तत्व रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रयुक्तत्व शब्द से जन्यत्व की विवक्षा होने पर प्रथम पक्ष में वर्णित दोष की प्राप्ति होती है। और सम्बन्धिस्वभाव से व्याप्यत्वप्रयुक्तत्व से विवक्षित हो, जैसे गुणवत्त्व से प्रयुक्त द्रव्यत्व है, तो (यद्यपि) अभी व्याप्ति की अनिरुक्ति से आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है (स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति के निरूपण में व्याप्ति का आश्रयण करना पड़ता है) अत एव सम्बन्धिव्याप्यत्व रूप चतुर्थ पक्ष भी युक्ति युक्त नहीं हो सकता है। व्याप्ति आश्रय को व्याप्य कहते हैं, अतः आत्माश्रयता प्राप्त होनी है। और भी दोष है, क्योंकि सम्बन्धि के स्वभाव से व्याप्यसम्बन्ध के व्याप्यत्व

व्याप्यत्वे संबन्धिनोस्तद्व्यापकत्वेनाभिमतयोः क्वचित्तदधिकदेशकालावस्थानसंभवेन संबन्धं विनाप्यवस्थानोपपत्तौ व्यभिचारात्तदेकतरदर्शनेनान्यतरानुमानं न स्यात्। नापि पञ्चमः, भूतलघटाभावयोर्विशेषणविशेष्यभावलक्षणसंबन्धेऽतिव्याप्तेः। तस्य परैस्तदतिरिक्तत्वानङ्गीकारात्। समवायतद्वतोः संबन्धे च। रसाद्रूपानुमानादावेकार्थसमवायेऽव्याप्तेः, तस्य संबन्धिस्वरूपातिरिक्तस्यापि व्याप्तित्वात्।

अतोऽनौपाधिकः संबन्धो व्याप्तिरिति तृतीयः कल्पो न युक्तः; तत्रापि

स्यादिना। नच समव्याप्तितया व्याप्यत्वविवक्षायामदोषः, रूपरसयोरेकार्थसमवायलक्षणव्याप्तौ तदभावात्, समवायस्य नित्यत्वेन द्रव्यादिपञ्चकवृत्तित्वेन च कालतो देशतो वा रूपरसाधिकवृत्तित्वात्। संबन्धिस्वरूपानतिरिक्तत्वमिति पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिमाह—**भूतलेति**। नच तस्य व्याप्तित्वम्, भूतलघटाभावयोर्व्यभिचरितत्वादिति भावः। तस्य च स्वभावानतिरिक्तत्वे पराङ्गीकारमाह—**तस्य परैरिति**। नचाभावान्तर्भावः, निष्प्रतियोगिकत्वात्, अभावत्वसमानाधिकरणत्वादभाव इति वादीन्द्रमतेऽपि तद्व्यञ्जकतया सप्रतियोगिकत्वं मन्तव्यम्, अभाव इति बुद्धेश्चाप्रसिद्धत्वादिति भावः। अतिव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—**समवायेति**। तयोरपि स्वभाव एव संबन्धः। नच तयोर्व्याप्तिः; भूतलादौ घटसंयोगे तत्समवायाभावात्समवायेऽपि रूपादौ घटाभावादिति भावः। अव्याप्तिं चाह—**रसादिति**। तत्र लक्षणाभावं दर्शयति—**तस्येति**। एवं स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः पक्षो निरस्तः।

तृतीयं दूषयति—**अनौपाधिक इति**। **तत्रापीति**। अनौपाधिकः संबन्धो हि

(व्याप्तित्व) होने पर, उसके व्यापक रूप से अभिमत सम्बन्धियों की कहीं उस सम्बन्ध से अधिक देश काल में स्थिति के सम्भव से सम्बन्ध के बिना भी सम्बन्धी की स्थिति की सिद्धि होने पर व्यभिचार से सम्बन्धरहित सम्बन्धियों में से एकके दर्शन से अन्य का अनुमान नहीं होगा। समव्याप्तिता रूप से व्याप्यत्वविवक्षा में यह दोष नहीं होगा, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि रूप, रस की एकार्थसमवाय रूप व्याप्ति में उस समव्याप्तिता का अभाव है इत्यादि। सम्बन्धि-स्वभावानतिरिक्त रूप पञ्चम पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि भूतल और घटाभाव के विशेषण-विशेष्यभाव रूप सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है, अन्य लोग उसको स्वरूप से अतिरिक्त नहीं मानते हैं, व्याप्तिरहित समवाय और समवायवान् के सम्बन्ध में भी अतिव्याप्ति होती है। इनका सम्बन्ध भी स्वरूप से अतिरिक्त नहीं माना जाता है, रस से रूपादि के अनुमान में व्याप्ति रूप से विवक्षित एकार्थवृत्तिसमवाय में अव्याप्ति होती है, क्योंकि वह उभय सम्बन्धी स्वरूप से अतिरिक्त और व्याप्तिस्वरूप रहता है।

उक्त हेतुओं से, (अनौपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति है) यह तृतीय पक्ष भी युक्त

संबन्धिनोर्दुर्निरूपत्वात्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गाच्च। उपाधिर्हि साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकः, एवं च व्याप्तिसिद्धावुपाधिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तद्रहितसंबन्धस्य व्याप्तित्वसिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयत्वम्? अथ मतं साध्यव्यापकत्वं नामोपाधेरदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वम्, नतु वस्तुतो व्यापकत्वम्, तस्मान्नेतरेतराश्रयत्वमिति मैवम्, व्यभिचरितसाध्यस्यापि वस्तुगत्यापाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वापत्तेस्तस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गात्।

संबन्धिनिष्ठः, तथाच किं व्यक्त्योरित्यादिसंबन्धिविकल्पदूषणानि समानानीत्यर्थः। दूषणान्तरमाह—इतरेतरेति। अत्र ह्यनौपाधिकत्वज्ञानं व्याप्तेरुपाधिज्ञानाधीनमुपाधिज्ञानं च व्याप्तिज्ञानाधीनमितीतरेतराश्रयं विवृणोति—उपाधिर्हीति। व्याप्तिसिद्धाविति। अव्यापकत्वं व्यापकत्वं च व्याप्तिज्ञानाधीनज्ञानं, तत्प्रतियोगित्वादित्यर्थः। ननूपाधेः साध्यव्यापकत्वं नाम नाग्निमत्त्वादीनामिव व्याप्तिप्रतियोगि किंचिद्रूपम्, किं नाम? साध्येनादृष्टव्यभिचारित्वम्, तथा च नान्योन्याश्रयतेति शङ्कते—अथ मतमिति। अदृष्टव्यभिचारं साध्यं येनोपाधिना स उपाधिस्तथा, अत्र किमदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं व्यभिचारदर्शनविषयत्वाभावमात्रम्? किं वा व्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वम्? नाद्यः, वस्तुतः साध्यव्यभिचारिण्यपि तददर्शनसंभवेनोपाध्याभासे गततयातिव्यापकत्वादित्याह—मैवम्। व्यभिचरितेति। द्वितीयं शङ्कते—साध्येति। एवंविधसाध्यव्यापकत्वं क्वापि न संभवति

नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में भी सम्बन्धियों की दुर्निरूपता है, अनौपाधिक सम्बन्ध, सम्बन्धी में रह सकता है, वह सम्बन्धी व्यक्ति है या जाति है, इत्यादि विकल्प यहाँ भी हो सकता है। इससे सम्बन्धियों की दुर्निरूपता होती है। और इतरेतराश्रय = अन्योन्याश्रय, की प्राप्ति भी है, क्योंकि साधन का अव्यापक होता हुआ साध्य का जो व्यापक हो उसको उपाधि कहा जाता है, तो इसप्रकार से व्याप्ति की सिद्धि होने पर उसके ज्ञानपूर्वक उपाधि की सिद्धि हो सकती है। और उपाधि की सिद्धि होने पर उस उपाधि से रहित सम्बन्ध रूप व्याप्ति की सिद्धि हो सकती है (उपाधिरहित सम्बन्ध के व्याप्तित्व का ज्ञान हो सकता है) तो इसप्रकार से अन्योन्याश्रयता कैसे नहीं होगी। यदि मत हो कि उपाधि को साध्यव्यापक कहने से वस्तुतः उपाधि की साध्यव्यापकता नहीं विवक्षित है, किन्तु साध्य के साथ उपाधि के अदृष्ट व्यभिचारवत्त्व का नाम साध्यव्यापकत्व है (न दृष्टो व्यभिचारः साध्येन सह यस्य स उपाधिः) यह तात्पर्य है। अतः इतरेतराश्रयत्व नहीं है, तो ऐसा मानना युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार से वस्तुतः व्यभिचरित साध्य वालों के भी आपाततः अदृष्ट व्यभिचार साध्यत्व की प्राप्ति से उसको भी उपाधित्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् जो साध्य का व्यभिचारी हो परन्तु व्यभिचारप्राय दृष्ट नहीं

साध्यव्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वं विवक्षितमिति चेत्, न, तस्य दुरवधारणत्वात्। नहि देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरे वा तयोर्व्यभिचार दर्शनं न भविष्यतीत्येवेति शक्यं विज्ञातुमसर्वज्ञेन। किं च व्याप्तिग्रहण समयेऽग्निमत्त्वादेर्निश्चितत्वेन साध्यत्वाभावात् साध्यव्यापक उपाधिरिति निर्धारयितुमशक्यम्। व्यापकत्वमिह साध्यशब्देन विवक्षितमिति चेत्, न; व्याप्त्यनवगमे व्यापकत्वानिरुक्तेः।

एतेन साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं साधन-वन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वमित्याधुनिकानां वक्र-

---

दुरवधारणत्वादित्याह—**न तस्येति**। किंच साध्यव्यापक इत्यत्र किमिदं साध्यत्वम् विवक्षितम्? किं सिसाधयिषितत्वम्? किं वा व्यापकत्वम्? नाद्यः, उपाधेरग्नि-मत्त्वं प्रति व्यापकत्वनिश्चयसमये महानसादावग्निमत्त्वादेः सिद्धत्वेन साध्यत्वाभावा-दित्याह—**किं चेति**। द्वितीयं शङ्कते—**व्यापकत्वमिति**। धूमवत्त्वादि प्रति यदिदं व्यापकत्वमग्नित्वादेस्तदेव तस्य साध्यत्वं विवक्षितमित्यर्थः। तत्र लक्षणवाक्यस्ये-दृशोर्थः पर्यवस्यति। व्याप्याव्यापको व्यापकव्यापक उपाधिरिति। तथाच व्याप्ति-ज्ञाने उपाधिज्ञानम् उपाधिज्ञाने च व्याप्तिज्ञानमिति स एव दुरात्मा परस्पराश्रयः परावृत्त इत्यभिसन्धिराह—**न व्याप्त्यनवगम इति**।

यस्त्वत्र शिवादित्यमिश्रेण परिहारोऽभिहितः परस्पराश्रयस्य, तत्राप्युक्तं दूषण मतिदिशति—**एतेनेति**। साध्यवत्स्थलं तन्निष्ठात्यन्ताभवस्तदप्रतियोगित्वं त-

---

हो तो वह भी उपाधि होगा, और ऐसा होता नहीं है, यदि कहें कि साध्य के साथ व्यभिचार दर्शन के विषयत्व के अत्यन्ताभाववत्त्व विवक्षित है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसे उस साध्यव्यापकत्व में दुरवधारणता है, उस साध्य और उपाधि का देशान्तर, कालान्तर और पुरुषान्तर में भी व्यभिचार का दर्शन अवश्य नहीं होगा, इसप्रकार से असर्वज्ञ कोई जान नहीं हो सकता है। और व्याप्ति-ग्रहण के समय अग्निमत्त्वादि के निश्चित हो जाने से साध्यत्व का वह्निमत्त्व में अभाव हो जाता है, अतः साध्य का व्यापक उपाधि होता है, यह निर्णय = निश्चय, करना अशक्य है। और (साध्यव्यापक उपाधि होता है) यहाँ साध्य शब्द से व्यापकत्व विवक्षित है, अतः व्याप्तिग्रहण के समय निश्चित होने पर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि व्याप्ति के ज्ञान के अभाव रहते व्यापकत्व की भी निरुक्ति नहीं हो सकती है, अतः साध्य के स्थान में व्यापक भी नहीं कहा जा सकता है।

इस पूर्वोक्त रीति से साध्य-साधन की अनिरुक्ति से ही साध्यवान् पर्वतादि में रहने वाले घटादि के अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगित्व ही, (धूमवान् वह्नेः) इस

नयोऽपि निराकृतः, साध्यसाधनयोरनिरुक्तेरेव। तद्रूपेण संभावितत्वमुभयत्रापि विवक्षितमिति चेत्, मैवम्, तद्रूपस्यानिरुक्तौ तद्रूपेण संभावितत्वस्यापि दुर्भणत्वात्।

वर्तमानत्वं साध्यव्यापकत्वम्, तथा साधनवद्यत्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रावर्तमानत्वं साधनाव्यापकत्वमिति योजना। अस्यापि साध्यसाधनगर्भत्वात् न तत्प्रयुक्तपूर्वोक्तदोषः शक्यपरिहार इत्याह—**साध्यसाधनेति**। एतेन 'साध्यकृत्स्नसहचारिणः साधनैकदेशवृत्तित्वमुपाधित्व'मिति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम्, साध्यसाधनशब्दार्थानिरुक्तेरेव। ननु यद्यपि व्याप्तिनिर्णयदशायां साध्यत्वं साधनत्वं च नास्ति, तथापि तद्रूपेण संभावितत्वं विवक्षितम्, तच्च तदानीमप्यस्त्येवेति शङ्कते—**तद्रूपेणेति**। विद्यमानस्य खलु संभावना प्रमितिर्वा, न च व्याप्तिग्रहणदशायां साध्यत्वमप्यस्तीति केनाकारेण संभावनापि स्यात्, नापि व्यापकतया, परस्पराश्रयत्वादित्यर्थः। अथ वा सर्वोपसंहारवद्व्याप्तिग्रहणसमय एव धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोः सर्वत्र सिद्धत्वेन साध्यसाधनभावस्य दुर्निरूपतया संभावनाया सुतरामसिद्धेरित्यर्थः। किंच साध्यसाधनशब्दाभ्यामविशेषेण साध्यसाधनविवक्षा? तद्विशेषविवक्षा वा? नाद्यः, साधनस्यापि यत्किंचित्प्रति साध्यतया तद्व्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वव्याकोपात्, तथा साध्यस्यापि यत्किंचित्प्रति साधनतया तदव्यापकतया साध्यव्यापकत्वव्याकोपात्। नापि द्वितीयः, तथा सति धूमवत्त्वाव्यापकोऽग्निमत्त्वव्यापक उपाधिरित्युक्तं स्यात्, तथा च नानुगतलक्षणसिद्धिः। नच विशेषलक्षणत्वाददोषः, सामान्यलक्षणासिद्धौ तदसिद्धेः। नचात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मत्वं सामान्यलक्षणम्, व्यर्थविशेषणत्वात्। नच प्रमेयत्वादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वविशेषणम्, तस्याप्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, अन्ततः स्वस्मिन्नेवाभावात्, आत्माश्रयप्रसङ्गात्। नचोत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव तस्य दूषणता, संकोचे प्रमाणाभावात्, नियतानुपलब्धेरुभयत्र समानत्वात्। नच केवलान्वयिताभङ्गप्रसङ्गः, इष्टत्वात्,

---

अनुमान से आर्द्रेन्धनसंयोग को साध्यव्यापकत्व है, और साध्यवान् तप्त अयःपिण्ड में वृत्ति अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व साधनाव्यापकत्व है। इसप्रकार के आधुनिकों के वक्रन्याय भी निराकृत हो गया। यदि कहें कि साध्यव्यापक और साधनाऽव्यापक इन दोनों स्थानों में साध्यत्वेन सम्भावितत्व, और साधनत्वेन सम्भावितत्व विवक्षित है, अतः अभी साध्यत्व, साधनत्व के निश्चय नहीं होने पर भी सम्भावित के रहने से उपाधि का ज्ञान हो सकता है, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि कहीं सिद्ध ज्ञात की ही कहीं अन्यत्र सम्भावना होती है, और साध्य-साधन स्वरूप के सर्वथा अनिरुक्ति असिद्धि रहते, उनके साध्यत्व-साधनत्व रूप से सम्भावित्व को भी दुर्भणत्व (दुर्वाच्यत्व) है।

भवतु नाम या काचन व्याप्तिः, तस्या व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्येत्यात्माश्रयः। सत्यामेव व्याप्तावनुमितिभावादसत्यामभावात्। किंच तद्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणम्?

न प्रत्यक्षमशक्यत्वान्नानुमाप्यनवस्थितेः।

केवलान्वयिनि प्रमाणाभावात्। नहि प्रमेयत्वादीनां सकलवस्तुनिष्ठत्वे प्रत्यक्षप्रमाणमस्ति; अस्मदादेरसकलवेदितृत्वात्, सर्ववेत्तुश्च तद्विषयप्रमाणेऽस्मदादीनां प्रमाणाभावात्। नाप्यनुमानम्, अप्रसिद्धविशेषणतादिदोषप्रग्रासात्। सकलवस्तुनिष्ठत्वं प्रमेयत्वादिनिष्ठमित्यादेश्चाश्रयासिद्धत्वात्। सकलवस्तूनि प्रमेयत्वाधार इत्यादेश्चासिद्धिर्दृष्टान्ताभावग्रस्तत्वात्। किंच धूमानुमाने तत्साधनाव्यापकस्तत्साध्यव्यापकश्च कश्चिदुपाधिः प्रमितिः? न वा? आद्येऽनुमानभङ्गः। द्वितीये प्रतियोग्यप्रमित्या निरुपाधिकसंबन्धरूपव्याप्त्यसिद्धिः। यावन्त एतत्साधनाव्यापकास्तावन्त एतत्साध्यं प्रत्यप्यव्यापका यावन्तश्चैतत्साध्यव्यापकास्तावन्त एतत्साधनं प्रत्यपि व्यापका इति साधिते भवत्युपाधेरुद्धार इति चेन्, एतावतापि परिश्रमेण किं प्रतियोगिप्रमितिरापादिता? नवा? इत्यात्मनि परिभावयेत्यलमतिकलकलेन। विध्वंसिते च निश्चितोपाधौ शङ्कितोपाधिरिदानीं ध्वस्यत एवेति मन्तव्यम्। क्वचिदप्यनिश्चितस्य संशयायोगात्।

एवं व्याप्तिलक्षणं दूषयित्वात्माश्रयादितर्कबाधादपि व्याप्तेरनुमित्यङ्गत्वासिद्धिमाह—**भवतु नामेति**। व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरस्ति? न वा? यदि न, तदा तामन्तरेणाप्यनुमितिरुदियात्। अथास्ति तदा सैव व्याप्तिस्तत्र वर्तते तदात्माश्रयः ज्ञप्तौ चायम्, अथान्या तत्रान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थाश्चेति भावः। एष्टव्या च व्याप्तिरित्याह—**सत्यामिति**। नच व्याप्तौ प्रमाणमपि किंचन निरूपयितुं शक्यमित्याह—**किंचेति**। संभवत्प्रमाणानि श्लोकाभ्यां निरस्यति—**न, प्रत्यक्षमित्या-**

जो कोई व्याप्ति नामक हो, परन्तु उस व्याप्ति की और अनुमिति की व्याप्ति मन्तव्य होगी। अनुमिति की व्याप्ति में सम व्याप्ति मानना होगा, क्योंकि सम व्याप्ति नहीं हो तो व्याप्ति के बिना भी अनुमिति का उदय होगा, और यदि व्याप्ति है और व्याप्ति की व्यक्ति एक है तो आत्मा अपने में रहती है, इससे आत्माश्रय होगा, सो ज्ञान में और स्थिति में दोनों में आत्माश्रय प्राप्त होगा : अन्य व्याप्ति मानने पर अन्योन्याश्रयादि प्राप्त होंगे। और उस व्याप्ति को माने बिना निर्वाह नहीं हैं, क्योंकि व्याप्ति के रहते ही अनुमिति का भाव होता है, व्याप्ति के नहीं रहने पर अनुमिति का अभाव होता है। और व्याप्ति को मानने पर उस व्याप्ति का ग्राहक प्रमाण क्या है, यह भी निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि—

अशक्य होने से प्रत्यक्ष व्याप्तिग्राहक नहीं है, अनवस्था से अनुमान नहीं है।

नागमस्तदृते भावान्नोपमाऽतत्प्रमेयतः ॥ २५ ॥
नार्थापत्तिरनन्यत्वादनुमाफललोपनात् ।
नाभावो दुर्निरूपत्वान्न तर्कस्तर्कबाधनात् ॥ २६ ॥

न तावत्प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकम्, सर्वव्यक्तिनिष्ठस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा सर्वव्यक्तीनामग्रहे ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहे वाऽनुमानस्य वैयर्थ्यात्। नाप्यनुमानम्, अनवस्थानात्—अन्तरेण व्याप्तिग्रहमनुमानानुदये तत्तद्व्याप्तिग्राहकानुमानपरम्पराया दुर्वारत्वात्। नाप्यागमः, वेदाप्तवचनाक-

---

दिना। सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तेरसर्वज्ञेन ग्रहीतुमशक्यत्वान्न प्रत्यक्षस्तदधिगमः। नाप्यनुमानम्, अन्योन्याश्रयात्। अथान्यैवानुमानगता व्याप्तिस्तर्हि तत्राप्यनुमानान्तरमेवं तद्व्याप्तावपीत्यनवस्था स्यात्। नाप्यागमः, आगमव्यापारव्यतिरेकेणापि पामरपशुशकुन्तादीनामनुमित्युदयात्। नाप्युपमानम्, तस्य सादृश्यविषयतया संज्ञासंज्ञिसंबन्धविषयतया चैतादृशानां तत्प्रमेयत्वाभावात्। नाप्यर्थापत्तिः, अनुमानानन्यत्वात्। अथ परमतेन पार्थक्यम्, तर्थैवानुमानफलस्याग्निमत्त्वस्यापि सिद्धिः, शक्नोति ह्यग्निव्यतिरेकेण धूमोऽनुपपद्यमानस्तं कल्पयितुमित्यनुमानफललोपः स्यात्। नाप्यभाव, यस्य कस्यचिद्वा सर्वेषां वा योग्यानुपलब्धेर्वा अनुपलब्धिमात्राद्वा दुर्निरूपत्वात्। नापि तर्कः, तस्य व्याप्तिमूलत्वेऽनवस्थालक्षणतर्कबाधनात्, अतन्मूलत्वे तर्काभासतया तर्कबाधनात्। भावपरो निर्देश इति श्लोकार्थः।

संग्रहं विवृणोति—न तावदित्यादिना। अनवस्थामेव विवृणोति—अन्तरे-

---

आगम के बिना भी अनुमिति होती है, अतः आगम भी नहीं है। उपमान का तो यह विषय नहीं है ॥ २५ ॥

अर्थापत्ति अनुमान से अनन्य है, अर्थापत्ति को माने तो अनुमान का फल लोप होता है। दुर्निरूप होने से अभाव = अनुपलब्धि नहीं है। तर्क से बाध होने से तर्क व्याप्तिग्राहक नहीं है ॥ २६ ॥

अर्थात् प्रथम प्रत्यक्षप्रमाण व्याप्ति का ग्राहक नहीं है, क्योंकि सर्वसाध्यसाधनव्यक्तिवृत्ति अन्वय वा व्यतिरेकव्याप्ति का सर्वव्यक्ति के ग्रहण बिना ग्रहण होना अशक्य है, और सर्वव्यक्ति का प्रत्यक्ष से ग्रहण हो तो अनुमान निष्फल होगा, क्योंकि पर्वतवृत्ति अग्नि आदि का प्रत्यक्ष से ही ज्ञान हो जायगा। अनुमान भी व्याप्तिग्राहक नहीं हो सकता है, क्योंकि अनवस्था की प्राप्ति होती है। व्याप्तिज्ञान के बिना अनुमान का उदय नहीं होगा, अतः उसको दूसरे व्याप्ति की अपेक्षा होगी। उस दूसरी व्याप्ति का भी अनुमान से ग्रहण होगा, तो उस अनुमान को तीसरी व्याप्ति की अपेक्षा होगी, इसप्रकार से तत्तत् व्याप्ति के ग्राहक अनुमान का परम्परा दुर्वार होगा। आगम भी व्याप्तिग्राहक नहीं हो सकता है, क्योंकि

णनविधुराणामपि व्याप्तिदृष्टिदृष्टेः। नाप्युपमानम्, तस्य सादृश्यमात्रविषयतया व्याप्तिज्ञप्तावजागरूकत्वात्। नाप्यर्थापत्तिः, तस्या अनुमानानतिरेकात्। अतिरेकेऽपि तयानुमानावसेयार्थाधिगतेरनुमानस्यानुदयप्रसङ्गात्। तथा हि—व्यापकव्यतिरेकेण व्याप्यस्यानुपपत्तिरिहार्थापत्तिरभिमता, तथा च तयैवानुपपत्त्या लिङ्गिनोऽधिगतौ कृतमनुमानेन। नाप्यभावः, एवं हि स प्रमाणयितव्यः—यदि वह्निधर्मिव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलम्भः स्यात्तदभावान्नायं तद्व्यतिरेकेणेति। तच्च न। तथा हि—किं सर्वेषां व्यभिचारानुपलम्भः? किं वा स्वस्यैवानुपलम्भः? उत योग्यानुपलम्भः? नाद्यः, सर्वानुपलम्भस्य निश्चेतुमशक्यतया संशयानिवृत्तेः। न

णेति। वेदाप्तवचनेति विभागो मीमांसकमतेन। **अजागरूकत्वात्।** अप्रवृत्तत्वादित्यर्थः। अभावस्यात्रासम्भवं दर्शयितुं तत्प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—**एवं हीति। तथेति।** वह्निरहिततयेत्यर्थः। **तद्व्यतिरेकेणेति।** वर्तत इति शेषः। **स्वस्येति।** प्रतिपत्तुरित्यर्थः। स्वानुपलम्भपक्षेऽप्यनुपलम्भमात्रात्? उत योग्यानुपलम्भादित्याह—

वेद-वचन और लौकिक आप्त वचन के श्रवणरहितों को भी व्याप्ति दृष्टि (ज्ञान) देखी जाती है। उपमान भी व्याप्ति का ग्राहक नहीं होता है, क्योंकि उपमान के सादृश्य मात्र विषयक होने से व्याप्तिज्ञान में वह प्रबुद्ध प्रवृत्त नहीं होता है। अर्थापत्ति भी व्याप्तिग्राहक प्रमाण नहीं होता है, क्योंकि वह अनुमान से भिन्न नहीं है। यदि उसको अनुमान से भेद हो तो उसीसे (अनुमान से) ज्ञेय अर्थ के ज्ञान हो जाने के कारण अनुमान का अनुदय (अभाव) प्राप्त होगा। क्योंकि व्यापक के बिना व्याप्य की अनुपपत्ति, यहाँ अर्थापत्ति अभिमत (स्वीकृत) होगी। और ऐसा होने पर उस अर्थापत्ति से ही लिङ्गी (साध्य) के ज्ञान होने पर, अनुमान का क्या फल होगा। अभाव (अनुपलब्धि) भी नहीं प्रमाण हो सकता है। क्योंकि वह इसप्रकार प्रमाण रूप से मन्तव्य होगा कि, यदि अग्निरूप धर्मी = कारण = आश्रय के व्यतिरेक = अभाव रहते भी धूम रहता, तो वैसा=अग्नि के बिना भी उस धूम का, उपलम्भ = ज्ञान, होता, परन्तु अग्नि के बिना धूम का ज्ञान नहीं होता है, अतः धूम अग्नि के बिना नहीं रहता है। इसप्रकार से वह अनुपलब्धि प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि अग्नि के साथ धूम के व्यभिचार का अनुपलम्भ सब को होता है, तब वह प्रमाण होता है, या केवल ज्ञाता को अनुपलम्भ होता है, ज्ञाता का भी अनुपलम्भ मात्र अपेक्षित है, या योग्यानुपलम्भ अपेक्षित है, इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सबके अनुपलम्भ का निश्चय होना अशक्य है, धूम के व्यभिचार को कोई नहीं जानता है, ऐसा ज्ञान होना अशक्य है। अतः व्यभिचार के अनुपलम्भ के संशय की निवृत्ति नहीं होगी, न वह प्रमाण होगा। दूसरा पक्ष

द्वितीयः, व्यभिचारात्। नहि नगरगतेन स्वेनानुपलब्धमित्येतावतारण्यकोपलब्धगवयादेरपलापसंभवः। नापि तृतीयः। सार्वत्रिकयोग्यानुपलब्धेरसंभवात्। उक्तं च लीलावतीकारेण—

"सर्वादृष्टेश्च संदेहात्स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः।
योग्यादृष्टेरसत्वाच्च प्रतिबन्धो न सिध्यति॥"

इति (न्या० ली० पृ० २५२)

नापि विपक्षबाधकतर्कात्। तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेनानवस्थानात्, अतन्मूलत्वे च मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वात्। अथ मतम्, यदि धूमोऽग्नि

उतेति। **व्यभिचारादिति**। स्वानुपलम्भमात्रस्यार्थाभावेन नियमाभावादित्यर्थः। व्यभिचारमेवाह—**न हीति**। योग्यानुपलब्धिपक्षं दूषयति—**नापीति**। **उक्तं चेति**। उपाधिविधूननेन प्रतिबन्धसिद्धिमीश्वरानुमाने समर्थयता "कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणापि संबन्धः उपाधिविधूननेन" इत्युक्त्वा विपक्षबाधात्तत्र व्याप्तिसिद्धिमाशङ्क्य व्याप्त्यसिद्धावुक्तायां सहेतुकत्वकादाचित्कत्वयोर्व्यभिचारानुपलम्भाद्व्याप्तिसिद्धिमाशङ्कितां परिहरतेति शेषः।

अन्तिमपक्षं निराकरोति—**नापीति**। यदि व्याप्तिमूलस्तर्कस्तदा तद्व्याप्तावपि तर्कान्तरमेषितव्यमित्यनवस्था। इतरथा प्रशिथिलमूलत्वमित्यर्थः। तत्र यथा तर्कानवस्था नावतरति तथा कुसुमाञ्जलावुदयनेन बाधकस्तर्कोऽभिहितस्तमुद्भावयति—**अथ मतमिति**। यद्यदकारणकं तत्सदेकरूपमसदेकरूपं वा। आकाशवत्तत्कुसुमवच्च।

भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि एक किसी ज्ञाता के व्यभिचार के अनुपलम्भ से व्यभिचार का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है, जैसे नगरगत ज्ञाता से अनुपलब्ध हुआ गवयादि, इससे आरण्यक = वनवासी से उपलब्ध गवयादि का अपलाप नहीं हो सकता है. इसीप्रकार से किसी ज्ञाता ने धूम के व्यभिचार को नहीं देखा, इससे व्यभिचाराभाव का या व्यभिचार के अनुपलम्भ का निश्चय नहीं हो सकता है। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वदेशकालवृत्ति योग्यानुपलब्धि का असम्भव है। लीलावतीकार ने कहा है—

सब की अदृष्टि = व्यभिचारानुपलब्धि का संशय रहता है, अपनी ज्ञाता की अनुपलब्धि का व्यभिचार हो सकता है, धूम में व्यभिचार रहते भी उसकी अनुपलब्धि हो सकती है, और योग्यानुपलब्धि का अभाव है, अतः अनुपलब्धि से व्यभिचाराऽभाव रूप प्रतिबन्ध (व्याप्ति) नहीं सिद्ध हो सकता है।

विपक्षबाधक तर्क से भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि तर्क के व्याप्तिमूलक होने से अनवस्था होगी, अन्य व्याप्ति से तर्क की सिद्धि होने पर वह तर्क व्याप्ति का साधक होगा, तो तर्क का साधक व्याप्ति भी अन्य तर्क से

व्यभिचरेदकारणः सन्नित्यः स्यात्, न स्यादेव वा, न तु कदाचित्स्यात्। नच विनापि कारणं कार्यं शङ्कितु शक्यम्, व्याघातात्—तदेव हि कार्यं यत्कारणाधीनस्वात्मलाभम्, अतः कार्यं च कारणरहितं चेति व्याघातः। तदेव चाशङ्कितव्यं यस्मिन्नाशङ्कयमाने क्रियाव्याघातादयोपि नावतरन्तीति, मैवम्, अस्यापि तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेन तदसिद्धावसिद्धेः। तथाहि—यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकमिति व्याप्तौ सिद्धायां यदकारणं तन्नित्यं स्यादिति

तदिह यदि धूमाग्निं व्यभिचरेदकारणतया नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरत्वप्रसक्तिरित्यर्थः। उक्तं हि—

'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षया।
नियामकाद्धि भावनां कादाचित्कत्वसम्भवः' ॥ १ ॥ इति ॥

नन्वकारणकस्यापि सदातनत्वेन व्यभिचारशङ्कायां किमुत्तरमिति, तत्राह—**न च विनेति**। व्याहतिमेव दर्शयति—**तदेव हीति**। यो व्याघातादपि न बिभेति, तं प्रत्याह—**तदेव चेति**। यदि हि कारणं विना कार्योत्पादस्तदा परप्रत्ययोत्पादनार्थम् सामग्रीप्रयोगो व्याहतः। सेयमत्र क्रियाव्याहतिः। आदिशब्दान्मूकोऽहमिति वचनव्याहतिः स्वभावव्याहतिश्च संगृह्यते। उक्तं च तेनैव—

'शङ्का चेदनुमास्त्येव नो चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥' इति (न्या० कु० ३।७)।

एवमपि पूर्वोक्तदोषो दुष्परिहर इत्याह—**मैवमिति**। ननु किमिति कार्यस्य

सिद्ध होगी। इसप्रकार से व्याप्ति तर्क की अनवस्था होगी। और तर्क यदि व्याप्ति मूलक नहीं होगा, तो तर्काऽऽभास होगा, क्योंकि मूल की शिथिलता से तर्काभासता होती है। यदि मत = तर्क हो कि, यदि धूम अग्नि का व्यभिचार वाला होगा, तो कारणरहित होता हुआ नित्य होगा, या नहीं होगा, कादाचित्क नहीं होगा। कारण के विना कार्य की शंका भी होने के योग्य नहीं है, क्योंकि व्याघात=विरोध प्राप्त होता है, वही कार्य होता है कि जो कारणाधीन अपने स्वरूप का लाभ करता है। अतः कार्य है और कारण रहित है, यह कहना ही विरुद्ध है। वही आशङ्का भी कर्तव्य है कि जिस आशङ्का के करने पर क्रिया विरोधादि की प्राप्ति नहीं हो सके। यह तर्क भी ऐसा युक्त नहीं, क्योंकि इस तर्क के भी कार्यकारणभाव के व्याप्तिमूलक होने से उस व्याप्ति की सिद्धि के विना इस तर्क की सिद्धि नहीं हो सकती है. किन्तु, 'यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकम्', जो कार्य होता है वह कार्यपूर्वक ही होता है, इस व्याप्ति की सिद्धि होने पर, जो कारणरहित होगा, वह नित्य होगा, इस प्रसङ्ग का अवसर आता है, और वह व्याप्ति ही अभी सिद्ध नहीं हुई है। क्योंकि व्याप्ति के आश्रय के ग्रहण से व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, और व्याप्ति

प्रसङ्गप्रसरात्, सैवाद्यापि न सिद्धा। सर्वंकार्यंकारणव्यक्तिग्रहणस्याशक्यत्वात्, कतिपयव्यक्तिग्रहणे चादृष्टवज्रस्य पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरिव व्याप्तेरनिश्चयात्। नन्वेवंभूतोपि व्यभिचारो यत्र न दृश्यते, कतिपयव्यक्तिषु सहभावः प्रदृश्यते, न चोपाधिर्निरूप्यते, तत्र व्याप्तिर्निश्चीयते, तत्रैवंसति, "अन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्र चानुमितिरिति। एवं च षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिव" इति वाचस्पतेरुपालम्भोऽप्यनवकाशः,

---

कारणेन व्याप्तिरसिद्धेति, तत्राह—**सर्वकार्येति**। ननु कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि किमिति व्याप्त्यसिद्धिः, तत्राह—**कतिपयेति**। तथाहि—विमतं लोहलेख्यं पार्थिवत्वादित्यत्र स्तम्भादिकतिपयव्यक्तौ व्यभिचारादर्शनेपि न व्याप्तिनिश्चयः। प्रशिथिलावयवारब्धत्वोपाधिहतत्वात्। ननु तत्र वज्रमणौ व्यभिचारदर्शनादेव व्याप्त्यनिश्चयः, न पुनः सर्वव्यक्त्यपरिज्ञानात्, नचेह तथा व्यभिचारदर्शनमिति, तत्राह—**अदृष्टवज्रस्येति**। येन हि हीरमणिर्न दृष्टस्तेन यो व्याप्त्यनध्यवसायः न सर्वव्यक्त्यदर्शननिमित्तः। अध्यवसाये च भ्रान्तिमात्रत्वादित्यर्थः। कतिपयव्यक्तिग्रहणेपि व्याप्तिग्रहणोपायं नवीनमतावलम्बनेन शङ्कते—**नन्वेवमिति**। तर्हि हिंसात्वानर्थसाधनत्वयोरपि व्याप्तिरस्तु, अस्ति चात्र रूपद्वयमिति, तत्राह—**न चोपाधिरिति**। स्यादेतत्कतिपयव्यक्तिषु व्याप्तिग्रहणेऽनुमेयस्थले व्याप्तेरग्रहादन्यत्र व्याप्तिरन्यत्रानुमानमिति स्यात्, तथा च गृहीतापि यथावृत्तिः व्याप्तिरनुमित्यसमर्थेति वाचस्पत्युक्तोपालम्भप्रसङ्ग इति, तत्राह—**तत्रैवं सतीति**। षण्डकः षण्डः तत्र षण्डकः पुत्रा-

---

के आश्रय सर्व कार्यकारण व्यक्तियों का ग्रहण होना अशक्य है। और कतिपय व्यक्तियों (कुछ कार्यकारणों) के ग्रहण होने पर भी व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता है कि जैसे वज्रमणि (हीरा) को नहीं देखने वाले को पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व की व्याप्ति का निश्चय नहीं होता है। अर्थात् पार्थिव वस्तु, लोहलेख्य है, पार्थिव होने से, ऐसा निश्चय का अभाव उसको सर्वपार्थिव वस्तु के अदर्शन निमित्तक होता है, वज्रमणि के दर्शन निमित्तक नहीं, क्योंकि वज्रमणि को अभी वह देखा ही नहीं है, और यदि उसको निश्चय होता है, तो भ्रमरूप होता है। इत्यादि। यदि कहा जाय कि जैसे पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व का वज्रमणि में व्यभिचार देखा जाता है, पार्थिवत्व रहते भी वहाँ लोहलेख्यत्व नहीं रहता है, ऐसा भी व्यभिचार जहाँ नहीं दीखता हो, और कतिपय व्यक्तियों में सहभाव = सहचार दीखता हो, कोई उपाधि भी नहीं दीखता हो, वहाँ व्याप्ति निश्चित होती है, क्योंकि वहाँ (अन्यत्र महानसादि में) व्याप्तिग्रहण हो अन्यत्र (पर्वतादि) में अनुमिति हो, यह ऐसी कामना है कि जैसे कोई मुग्धा स्त्री नपुंसक से विवाह करके उससे पुत्र के लिये प्रार्थना करती हो। इस वाचस्पति के उपालम्भ (निन्दा) का भी

व्याप्तेः सर्वत्रैकत्वात्तस्याश्च कतिपयव्यक्तिषु गृहीतत्वात्। गृहीतव्याप्तिकलिङ्गसामर्थ्यादेव संदिग्धसाध्यधर्मिणि व्यापकस्यापि प्रतीतिः सिद्धेति चेत्, मैवम्, व्यभिचारादर्शनस्योपाध्यनिरूपणस्य च दुर्निरूपत्वात्, सर्वादृष्टेश्च संदेहादिति न्यायस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। उपाधेश्च व्याप्तिनिरूपणमन्तरेण दुर्निरूपत्वस्य दर्शितत्वात्। किंच विनापि धूमध्वजं धूमोऽन्यस्मादपि हेतोर्भविष्यतीति शङ्कायाः कः प्रतीकारः? अथ मन्यसे विभिन्नसामग्रीजन्यत्वे धूमस्यैकजातीयताप्रतीतिर्न स्यादिति, मैवम्, इन्द्रियलिङ्गा-

---

समर्थः समर्थश्च न वृत्तस्तद्वदित्येतावत्ययं दृष्टान्तः, तत्तु योगभाष्यकृदभिप्रायेण। ननु तथापि कथमन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्रानुमानमिति, तत्राह—**गृहीतेति**। स्यादेवं यदि व्यभिचारो न दृश्यत उपाधिश्च न दृश्यते इत्ययमर्थः सिद्ध्यति, स एव दुःसाध्य इति परिहरति—**मैवमिति**। **उभयत्रापीति**। व्यभिचारवदुपाधावपि सर्वादर्शनं यस्य कस्यचिद्देत्यादेस्तुल्यत्वादित्यर्थः। उपाधावधिकमप्याह—**उपाधेरिति**। एवं व्याप्त्यसिद्ध्या तर्काप्रवृत्तिमुक्त्वा धूमस्याग्निव्यभिचारशङ्कायामकारणकत्वापत्त्या व्याघातोऽव्यापादयितुं न शक्यत अन्यस्मादप्युत्पत्तिसम्भवेन विरोधासिद्धेरित्याह—**किंचेति**। स्यादेतद् यद्यन्यस्मादपि धूमोत्पत्तिस्तर्हि परिदृश्यमानधूमानामेकावान्तरजातीयता न स्यात्। कार्यैकजात्यस्य कारणैकजातिनियमात्, अन्यथा तदैकजात्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। अत एव हि तृणारणिमणिभ्योऽप्युत्पद्यमानदहनेष्ववान्तरजातिभेदकल्पनमिति, तदेतदुद्भावयति—**अथ मन्यस इति**। नियम एवायमसिद्धः इति परिहरति—**मैवमिति**। अस्ति तावत्सर्वज्ञानेषु ज्ञानैकजात्यम्, नचात्रानुगतमनतिप्रसङ्गि

अवसर नहीं रहता है, क्योंकि व्याप्ति के सर्वत्र एक होनेसे और के कतिपय व्यक्तियों में गृहीत होने से गृहीत व्याप्ति वाले लिङ्ग से ही सन्दिग्धसाध्य वाले धर्मी = पक्ष, में व्यापक साध्य की प्रतीति (अनुमिति) सिद्ध होती है। ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि व्यभिचाराऽदर्शन और उपाधि का अनिरूपण (अदर्शन) की दुर्निरूपता है। 'सर्वादृष्टेश्च सन्देहात्' इस न्याय की दोनों में तुल्यता है, सर्व व्यक्ति के गहण नहीं होने से व्यभिचार और उपाधि का संशय हो सकता है। और व्याप्ति के निरूपण के बिना उपाधि की दुर्निरूपता को प्रथम दर्शाया गया है, उस उपाधि के ज्ञान बिना उससे रहितत्व का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। और यदि शंका हो कि अग्नि के बिना किसी अन्य हेतु से भी धूम होगा, तो इस शंका का क्या प्रतिकार (निवारण साधन) है। यदि आप मानते हैं कि एक अग्नि से धूम न हो, किन्तु भिन्न सामग्री से जन्यत्व धूम में हो, तो धूम की एक जातीयता की प्रतीति नहीं होगी, भिन्न सामग्रीजन्य धूम में भिन्न जातीयता प्रतीत होगी, तो ऐसा मानना युक्त नहीं, क्योंकि इन्द्रिय लिङ्गादिजन्य ज्ञान के ज्ञानत्व के समान

दिजन्यविज्ञानस्येव तृणारणिमणिप्रभवस्याऽऽशुशुक्षणेरिव चैकजातीयतोपपत्तेः। तस्मान्न व्याप्तिलक्षणं नापि तद्ग्राहकं प्रमाणमस्तीति सिद्धम्।

पक्षधर्मत्वमपि दुर्निरूपम्। तथा हि—कोयं पक्षो, यद्धर्मता पक्षधर्मता ? संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मीति चेत्, किं वादिप्रतिवादिनोः संदेहः ? किं

कारणं शक्य निरूपयितुम्। इन्द्रियादीनां व्यावृत्तत्वात्, आत्ममनःसन्निकर्षस्य च सुखादिसाधारण्यात्। ततस्तत्र यथाकारणैकजात्याभावेपि कार्यैकजात्यम्, एवं तृणाद्युत्पन्नाग्नेरपि। यथा च तत्रावान्तरजातिभेदकल्पनाऽयुक्ता, तथाग्रे वक्ष्यते। तदिहाप्यनुगतकारणव्यतिरेकेण व्यावृत्तेभ्य एव कारणेभ्यः स्वभाववशात्सजातीयधूमाः समुत्पद्यन्तामिति भावः। ननु तद्वह्निप्रयोज्येषु धूमेष्वितरेभ्यो व्यावृत्तः कश्चिद्विशेषो दृश्येतेति चेन्न, तददर्शनस्य प्रतियोगिधूमादृश्यतयाप्युपपत्तेरिति शङ्काया निरङ्कुशत्वादिति, व्याप्तिखण्डनमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

इदानीं पक्षधर्मतालक्षणलिङ्गावयवं खण्डयति—**पक्षधर्मत्वमपीति**। अनवसरतां निराचष्टे—**यद्धर्मतेति**। संदिग्धसाध्यधर्मा पक्ष इत्युक्ते विशेषणीभूतसाध्यधर्मस्यापि पक्षता स्यान्नचैतद्युक्तम्, साध्यस्य पक्षनिष्ठत्वाभावप्रसङ्गात्, आत्माश्रयात्, हेतोर्वैयधिकरण्यापाताच्च। अतस्तद्धर्मित्वमात्रस्य पक्षत्वदर्शनाय धर्मीति विशेषणम्। अत्र यदिदं संदिग्धत्वं साध्यस्य तत्कं प्रतीति विकल्प्य दूषयति—**किं वादीत्यादिना**। किंच संदेहः किमुपलक्षणम् ? विशेषणं वा ? आद्ये कदाचित्संदिग्धे प्रत्यक्षेण निर्णीतेऽपि प्रवर्तमानानुमानस्य न सिद्धसाधनता स्यात्, तदापि पक्षत्वापातात्। द्वितीये त्वनुमित्यनन्तरमप्रवृत्तिः स्यात्। धर्मिनाशवद्विशेषणनाशेन पक्षस्य

और तृण-काष्ठमणिजन्य अग्नि के अग्नित्व के समान भिन्न सामग्रीजन्य धूम की भी एक जातीयता की सिद्धि हो सकती है। अतः व्याप्ति का लक्षण नहीं सिद्ध होता है। न उसका ग्राहक प्रमाण है। यह सिद्ध हुआ।

पक्षधर्मत्व भी दुर्निरूप है। क्योंकि यह पक्ष ही क्या है कि जिसकी धर्मता पक्षधर्मता कही जाती है। अर्थात् पक्ष की ही दुर्निरूपता है कि जिससे पक्षधर्मता की भी दुर्निरूपता होती है। यदि कहें कि, सन्दिग्धसाध्य रूप धर्म वाला धर्मी (साध्याश्रय) पक्ष कहा जाता है, तो पूछा जा सकता है कि वह संदेह किसका रहता है कि जिससे सन्दिग्धसाध्य वाला धर्मी होता है। क्या कथाकाल में वादी-प्रतिवादी का संदेह रहता है, या मध्यस्थ का रहता है, उनमें आद्य पक्ष नहीं माना जा सकता है। क्योंकि अपने सिद्धान्त में निश्चित = संशयरहित वादी-प्रतिवादी वाद = कथा करते हैं, ऐसा माना गया है। मध्यस्थ का संशय रूप दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वादी-प्रतिवादी दोनों के दर्शन द्वय के तत्त्व को जानने वाले उन मध्यस्थों के भी संशय की अनुपपत्ति है। दर्शन द्वयज्ञ मध्यस्थ में

वा मध्यस्थानम् ? नाद्यः, निश्चितौ हि वादं कुरुत इति स्वीकारात् । नापि द्वितीयः, तेषामपि दर्शनद्वयतत्त्ववेदिनां संदेहानुपपत्तेः, किंचान्तरेणापि संशयं धूमदर्शनमात्रादग्निमनुभिमानस्य संदेहविशेषितधर्मिणि हेतोरवृत्तेः पक्षधर्मत्वाभावादनुमानानुदयप्रसङ्गः । एतेन ज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मी पक्ष इति प्रत्युक्तम्, स्वार्थानुमाने प्रज्ञापनाभावात् । प्रमित्सितधर्मविशिष्टः पक्ष इत्यपि न; अप्रमित्सतोऽप्यनिष्टविषयेऽनुमानोदयदर्शनात् । साध्यधर्मविशिष्टः पक्ष इत्यपि न; साध्यपदेन संदिग्धत्वप्रज्ञापनीयत्वप्रमित्सितत्वान्यतमविवक्षायामुक्तदोषानुषङ्गात् । अप्रमितत्वं साध्यत्वमिति चेत्, न, प्रमाणसंप्लववादिनो नैयायिकस्य प्रमितेऽप्यनुमानप्रवृत्तेः अनुमितेऽप्यनु-

---

नष्टत्वात् । स्वार्थानुमानेऽव्याप्तिं चाह—**किंचेति** एतेनेत्येतद्विवृणोति—**स्वार्थेति** । प्रज्ञापनमित्यत्र णिचा यदिदं प्रयोजककर्तृत्वमभिधीयते न तत्स्वार्थानुमानेऽस्ति । तत्र परं प्रति बोधनाभावादित्यर्थः । तर्हि प्रमित्सितधर्मविशिष्ट इत्येवास्तु, तस्य स्वार्थानुमानेपि भावादिति, तत्राह—**प्रमित्सितेति** । तथाप्यव्याप्तिः । प्रमातुमनिच्छतोपि दुर्गन्धादीलिङ्गककुणपाद्यनुमानगतपक्षाव्याप्तेरित्यर्थः । सर्वंज्ञीयं लक्षणमुद्भाव्य दूषयति—**साध्येति** । अत्रापि साध्यपदेन पूर्वोक्तार्थविवक्षायां पूर्वोक्तदूषणानुषङ्ग एवेत्यर्थः । अर्थान्तरं शङ्कते—**अप्रमितत्वमिति** । एतदव्यापकमित्याह—**प्रमाणेति** । यस्य ह्येकस्मिन्नपि प्रमेये बहूनि प्रमाणानि वर्तन्त इति मतम्, तस्य प्रमितेप्यनुमानमिष्टमेव । यथाहुः—

'आगमेनानुमानेन ध्यानात् प्रत्यक्षणेन च ।
त्रिधात्मनि प्रमाणानां संप्लवः स्वार्थं इष्यते ॥' इति (खं० पृ० ४६२)

ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । ननु तत्रापि तत्तत्कालविशिष्ट एवानुमीयत इत्यप्र-

---

संशय होना असम्भव है, और जहाँ संशय के बिना ही धूम के दर्शन मात्र से कोई अग्नि का अनुमान करता है, वहाँ संदेहयुक्त धर्मी में हेतु की वृत्ति नहीं रहने से पक्षधर्मता का भी अभाव रहता है, अतः उस अनुमान करने वाले के अनुमान का अनुदय प्राप्त होता है । इसीसे ज्ञापनीय धर्म = साध्यविशिष्ट धर्मी पक्ष कहा जाता है, यह लक्षण भी प्रत्याख्यात हो गया । क्योंकि स्वार्थानुमान में शब्दप्रयोग द्वारा प्रज्ञापन (प्रबोधन) का अभाव रहता है । प्रमित्सित = प्रमातुम् इच्छित धर्मविशिष्ट पक्ष होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अप्रमित्सु=प्रमातुमनिच्छुक के भी अनिष्ट विषयविषयक अनुमान का उदय देखा जाता है । साध्य धर्म से विशिष्ट पक्ष होता है, यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि साध्य पद से सन्दिग्धत्व, प्रज्ञापनीयत्व, प्रमित्सितत्व इनमें से अन्यतम=किसी एक की विवक्षा करने पर उक्त दोषों का सम्बन्ध होता है, अप्रमितत्व साध्यत्व है, यह

मानप्रवृत्तेश्च। न च तत्रापि तत्तत्कालविशिष्टतयानधिगतिः, कालानुमाने तदभावात्।

अस्तु वा यः कश्चित्पक्षस्तथापि तद्धर्मता दुरधिगमा। तथाहि—पक्षाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वं चेत्, तथा सति प्रमेयत्वहेतौ तन्न स्यात्, प्रमेयत्वस्य प्रमाविषयत्वलक्षणस्य ज्ञानज्ञेयानतिरिक्तत्वाभ्युपगमेन तदाश्रितत्वायोगात्। प्रमान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयत्वं ततस्तस्य ज्ञानज्ञेयाश्रितत्वमुपपन्नमिति चेत्, न, अन्योन्याभावस्यैकत्वे तस्य तदवृत्तौ प्रमेयत्वहेतुना कस्य-

---

मितमेव तदिति, तत्राह—**न चेति**। यदा हि कालो बहुभिरनुमानैरनुमीयते, नच तत्रैतदस्ति, काले कालवैशिष्ट्यस्येवाभावादित्यव्याप्तिरित्याह—**कालेति**।

एवं पक्षं दूषयित्वा पक्षधर्मतां दूषयति—**अस्तु वेति**। प्रमेयत्वं नाम प्रमाविषयत्वम्, विषयविषयिभावश्च स्वभावानतिरिक्त इति प्रमातो विषयतश्च प्रमेयत्वं नातिरिक्तं तथा चादृष्टादि कस्यचित्प्रत्यक्षं प्रमेयत्वादित्यस्य हेतोरपक्षधर्मता स्यात्। आत्मव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य प्रमाश्रयत्वानुपपत्तेरर्थस्यापि स्वाश्रयत्वानुपपत्तेः। अतः पक्षाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वमित्यव्यापकमित्याह—**प्रमेयत्वेति**। ननु प्रमेयत्वं नाम प्रमाव्यतिरिक्तत्वम्, तेन नोक्तदोषः। नच प्रमायामव्याप्तिः, तस्या अपि यत्किंचित्प्रमाव्यतिरिक्तत्वादिति शङ्कते—**प्रमान्योन्येति**। तत्र किमेक एव प्रमान्योन्याभावः? किं वानेकः? आद्ये प्राह—**अन्योन्येति**। तदापि हि प्रमान्योन्याभावे

भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रमाणों के संप्लव (एक प्रमेय में अनेक प्रमाण की प्रवृत्ति) वादी के मत में प्रमित (प्रज्ञात) विषय में भी अनुमान की प्रवृत्ति होती है, अतः वह अप्रमितत्व रूप साध्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है, और अनुमित में भी अनुमान की हेत्वन्तरादि से प्रवृत्ति होती है। यदि कहें कि जहाँ प्रमित में वा अनुमित में अनुमान की प्रवृत्ति होती है, वहाँ तत्तत् काल विशिष्ट रूप से अनधिगति (अज्ञान) रहता है, अप्रमितत्व रूप साध्यत्व रहता ही है, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रमित काल के अनुमान में काल विशिष्ट रूप से भी अप्रमितत्व नहीं रहता है, क्योंकि काल में कालान्तर का अभाव रहता है।

अथवा जो कोई पदार्थ पक्ष हो, तो भी पक्षधर्मता दूरधिगम (दुर्ज्ञेय) है। क्योंकि पक्षाश्रितत्व यदि पक्षधर्मत्व (पक्षता) है, तो प्रमेयत्व हेतु में वह पक्षधर्मत्व नहीं होगा, क्योंकि प्रमाविषयत्वरूप प्रमेयत्व के ज्ञानज्ञेयाऽनतिरिक्तत्व (ज्ञानज्ञेय स्वरूपत्व) के स्वीकार से उसमें ज्ञेयादि स्वरूप पक्षाश्रितत्व नहीं हो सकता है। यदि कहें कि प्रमा अन्योन्याऽभाववत्त्व प्रमेयत्व है, अतः उसके ज्ञानज्ञेयाश्रितत्व उपपन्न (सिद्ध) होता है, प्रमा अन्योन्याभाववत्त्व ज्ञानज्ञेय दोनों में रहता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि अन्योन्याभाव के एक होने पर,

चित्प्रत्यक्षत्वानुमानं न स्यात्, तस्यैवान्योन्याभाववत्त्वाभावात्। अनेकत्वे चान्योन्याभावानां सर्वान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्? उतान्यतमवत्त्वम्? नाद्यः, सर्वग्रहणासंभवात्। न द्वितीयः, अन्यतमशब्देन निर्धारितैकविशेषोक्तौ तदितरप्रमेयशब्दप्रवृत्त्ययोगात्। एकं निमित्तमन्तरेण बहुष्वेकशब्दप्रवृत्तौ गोत्वादेरपलापप्रसङ्गात्।

प्रमेयत्वं न वर्तेत, स्वस्मिन्स्ववृत्त्यभावात्, अभिमता च स्ववृत्तिरायुष्मतः, इतरथाऽभावप्रत्यक्षतायां विप्रतिपन्नं मीमांसकं प्रति प्रत्यक्षता कथं भवता साधनीया? सर्वगं वा कथं समर्थ्यते? ततोऽव्याप्तिरिति भावः। अनेकत्वे दूषणमाह—**अनेकत्व इति। सर्वग्रहणेति।** तदा हि प्रमेयत्वादिति कोर्थः? सर्वप्रमान्योन्याभाववत्त्वादिति; न चैतदसर्वज्ञेन शक्यग्रहणमित्यर्थः। किंच यदैकां प्रमां पक्षीकृत्य प्रमेयत्वेन नित्यानुमेयस्वप्रकाशवादिनं प्रति प्रत्यक्षत्वं साध्यते, तदा तस्यां न सर्वे प्रमान्योन्याभावाः सन्ति, स्वान्योन्याभावाभावादित्यव्याप्तिः। अन्यतमपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति।** तदा किमन्यतमशब्देन नियतः कश्चिदभिधीयते? अनियतो वा? नियतपक्षे तदितरान्योन्याभावानां प्रमेयशब्दार्थत्वाभावात्तद्वतां प्रमेयत्वं न स्यात्। नच स एव सर्वत्र प्रवर्ततामिति वाच्यम्। स्वस्मिन्स्वप्रतियोगिनि च वृत्त्यभावादित्यभिसंधिराह—**अन्यतमशब्देनेति।** अथानियमेन कदाचित्कश्चित्प्रवृत्तिनिमित्तम्, तत्राह—**एकमिति।** दूषणान्तरं चेदम्। न चान्योन्याभाववत्त्वमनुगतं जातिरिति युक्तिमत्। उपाधित्वेपि तत्र प्रमेयत्वावृत्तिप्रसङ्गः। स्ववृत्त्यभावात्, उपाध्यन्तरस्वीकारे चाननुगतिरित्यपि द्रष्टव्यम्।

अतएव उस अन्योन्याभाव की उस अन्योन्याभाव में प्रवृत्ति रहते प्रमेयत्वरूप हेतु से किसी प्रमाऽन्योन्याभाव के प्रत्यक्षत्व का अन्योन्याभाव में अनुमान नहीं होगा, क्योंकि प्रमेयत्व हेतु अन्योन्याभाव रूप है, वह एक ही है, अतः पक्ष में रहेगा नहीं, अतः अव्याप्ति होगी। उसी अन्योन्याभाव को उसी अन्योन्याभाववत्त्व का अभाव है, आत्माश्रयता हो नहीं सकती है। और अन्योन्याभाव के अनेक होने पर, सर्व अन्योन्याभाववत्त्व प्रमेयत्व शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त (वाच्यार्थविशेषण) है, या अन्यतम (कोई एक) प्रमाऽन्योन्याभाववत्त्व प्रवृत्ति निमित्त है, प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता है, सर्व प्रमाऽन्योन्याभाव का असर्वज्ञ से ग्रहण होना असम्भव है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्यतम शब्द से निर्धारित एक किसी विशेष प्रमाऽन्योन्याभाव को प्रमेयत्व शब्द से कहने पर, उससे भिन्न में प्रमेय शब्दार्थता का अभाव होगा, अतः उन प्रमान्योन्याभाव वालों में प्रमेय शब्द की प्रवृत्ति का अभाव प्राप्त होगा। और यदि अनियम से कभी कोई अन्योन्याभाव प्रमेय शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त हो, तो एक निर्धारित निमित्त के बिना बहुत

व्याप्तिबलेन प्रवृत्ताया व्यापकसामान्यविषयायाः प्रतीतेर्विशेषपर्यवसानाय व्याप्यस्य सामर्थ्यं पक्षधर्मतेति चेत्, नैवम्, विकल्पासहत्वात्। किं प्रथमं सामान्यमात्रालम्बना प्रतीतिर्या सा सामर्थ्यात् पश्चाद्विशेषमवगाहत इति ब्रूषे ? किं वा विशेषविषयप्रतीतिरनन्तरं जायत इति ? नाद्यः, प्रतीतेर्विरम्यव्यापारापत्तेः। न द्वितीयः, प्रमाणान्तरप्रसङ्गात्। किंच पक्षधर्मता

लक्षणान्तरं शङ्कते—**व्याप्तिबलेनेति**। द्विविधं हि हेतोः सामर्थ्यम्, एकं व्याप्तिबलेन बोधकत्वम्। यथा हि यद्धूमवत्तदग्निमदिति सामान्येनाग्निमत्त्वप्रतीतिजनकत्वम्, तत्कस्य हेतोः ? विशेषाणां व्यभिचारित्वेनानन्त्येन च व्याप्तेरशक्यग्रहत्वात्। अपरं तु तामेव प्रतीतिं पर्वताग्निमत्त्वलक्षणविशेषे पर्यवसाययितुमनुगुणम्, निर्विशेषं न सामान्यमिति न्यायात्, तच्चेह पक्षधर्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः। दूषयति—**नैवमिति**। किं पक्षधर्मतया सामान्यविषयिण्येव प्रतीतिः पश्चाद्विशेषविषयिण्यपि क्रियते ? उत विशेषविषयिण्येव प्रतीतिरुत्पाद्यते ? इति विकल्पार्थे दूषणमाह—**प्रतीतेरिति**। शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावाज्जातस्य पुनर्जन्माभावाच्चेति भावः। यदि विशेषविषयं बुद्ध्यन्तरमुत्पाद्यते, तर्हि प्रमाणान्तरमेव। तद्व्यापकसामान्यप्रतीत्यनुपपत्तेः, प्रतीतिव्यापकसामान्यानुपपत्तेर्वार्थापत्तित्वादित्यनुमितित्वक्षतिरित्याह—**न द्वितीय इति**। पक्षधर्मताया विशेषप्रत्यायकत्वे बाधकान्तरमाह—**किंचेति**। यत्र हि सामान्यतो दृष्टेन सामान्यतः साध्यसिद्धौ केवल-

---

व्यक्ति में एक शब्द की प्रवृत्ति को मानने पर गोत्वादि के भी अपलाप (अस्वीकार) का प्रसङ्ग होगा, अन्योन्याभावत्व कोई अनुगत जाति भी नहीं है कि जिससे प्रमेय शब्द की प्रवृत्ति हो सके। अतः अन्योन्याभाव के पक्षाश्रितत्व से पक्षधर्मता नहीं हो सकती है।

यदि कहा जाय कि व्याप्ति के बल से प्रवृत्त (सिद्ध) व्यापक सामान्यविषयक (यद्यद्धूमवान् तत्तद् अग्निमान्) इस प्रतीति को विशेष पर्यवसान (पर्वताग्निमत्त्व विषयक) करने के लिये जो व्याप्य में सामर्थ्य होता (रहता) है, उसीको पक्षधर्मता कहते हैं, तो ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि यह कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि, क्या जो प्रतीति व्याप्ति बल से प्रथम सामान्य मात्र विषयक होती है, वही व्याप्यसामर्थ्य से पीछे विशेष को ग्रहण करती है, यह आप कहते हैं। या विशेषविषयक अन्य प्रतीति होती है, यह आप कहते हैं। इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रथम सामान्य मात्र विषयक प्रतीति को पीछे विशेषविषयक होने पर, प्रतीति को विरम्यव्यापाराऽऽपत्ति होगी, (विलम कर व्यापार करने वाली प्रतीति सिद्ध होगी) और शब्द, बुद्धि तथा कर्म के विलम कर व्यापार का अभाव माना जाता है। यदि विशेष-विषयक प्रतीत्यन्तर की

चेद्विशेषप्रत्यायिका, केवलव्यतिरेकी तर्हि निरवकाशः स्यात्, शब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वादित्यादिसामान्यतो दृष्टानुमानेषु हेतोः पक्षधर्मताबलादेवाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वस्यापि सिद्धेः । बाधकान्तराधीनमेव तदितरा-

---

व्यतिरेकिणा विशेषसमर्पणम् । यथा तावच्छब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वादिति किंचिदाश्रितत्वे सिद्धे केवलव्यतिरेकिणाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं साध्यते, तन्न स्यात् । सामान्यतो दृष्टहेतोः पक्षधर्मताबलादेव विशेषस्यापि सिद्धेरित्यर्थः । ननु यद्यप्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्वमिति सामान्यतोऽनुमानेनैव सिद्ध्यति, तथापि नानर्थकत्वं केवलव्यतिरेकिणः, आकाशव्यतिरिक्ताष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनार्थत्वात्तस्येति, तत्राह—**बाधकान्तरेति**। न तत्रापि केवलव्यतिरेकिणः कश्चिदुपयोगः। श्रोत्रं विशेषगुणग्राहकमिन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवदिति विशेषगुणत्वे सिद्धे शब्दो न दिक्कालमनोगुणः प्रत्यक्षत्वाद्विशेषगुणत्वाच्च रूपादिवत्, नापि स्पर्शवद्विशेषगुणः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात् । अयावद्द्रव्यभावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च । नचात्मगुणः, बाह्येन्द्रियवेद्यत्वादित्यादिबाधकान्तरनिबन्धनत्वात्तस्येत्यर्थः । पक्षधर्मताखण्डनेन महाविद्याजीवनमपि खण्डितं वेदितव्यम् । केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकि साध्यविशेषं वाञ्छितं साधयन् हि महाविद्येत्युच्यते । तथा च व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानानिरुक्ती

उत्पत्ति रूप दूसरा पक्ष को मानें तो वह भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाणान्तर की प्राप्ति होती है विशेष के बिना सामान्य की अनुपपत्ति से विशेष का ज्ञान होगा, तो उसमें अनुमितित्व नहीं रहेगा। और यदि पक्षधर्मताविशेष (अग्निमत्त्व) बोध का जनक हो तो केवल व्यतिरेकी अनुमान निरवकाश होगा। क्योंकि सामान्यतः दृष्टानुमान से सामान्य रूप से साध्य की सिद्धि होने पर, केवल व्यतिरेकी से विशेष का बोध होता है। जैसे कि (शब्द, किसी के आश्रित है, गुण होने से) इस सामान्यतो दृष्ट से शब्द के किसी के आश्रितत्व के सिद्ध होने पर केवल व्यतिरेकी से अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व सिद्ध किया जाता है, वह अब नहीं होगा, क्योंकि (शब्द, किसी के आश्रित है, गुण होने से) इत्यादि सामान्यतो दृष्टानुमानों में हेतु के पक्षधर्मता बल से ही अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व की भी सिद्धि होगी। यदि कहा जाय कि यद्यपि शब्द में अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व भी सामान्यतो दृष्टानुमान से ही हेतु सामर्थ्य से सिद्ध होता है, तथापि केवलव्यतिरेकी में अनर्थकता नहीं प्राप्त होती है, क्योंकि आकाश से भिन्न अष्टद्रव्याश्रितत्व का निराकरण के लिये केवल व्यतिरेकी की आवश्यकता होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि श्रोत्रग्राह्य शब्द में विशेष गुणत्व के सिद्ध होने पर, उसमें आकाश से अन्य अष्टद्रव्याश्रितत्व का निराकरण बाधकान्तराधीन ही होता

ष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनमित्युभयवादिसंप्रतिपन्नतया तदितराश्रितत्वनिरासेऽपि केवलव्यतिरेकिणो निरवकाशत्वात्।

तदेवं न व्याप्तिर्नापि पक्षधर्मता शक्यनिरूपणेति व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गं तत्परामर्शोनुमानमिति लक्षणं न सिद्ध्यतीति सिद्धम्। शाब्दव्युत्पत्तिशून्यस्य स्मृतिकरणिका प्रमितिरनुमितिस्तत्करणमनुमानमित्यपि न लक्षणम्; व्युत्पन्नस्यानुमितौ तत्करणे चाव्याप्तेः। तादृशप्रमृतिवृत्तिप्रमात्वा-

---

तासामप्यनिरुक्तेः, दग्धसारं चेदं वादीन्द्रदावानलेन महाविद्याविपिनमिति नास्माभिस्तद्भस्मीभावाय संरभ्यते। तथा—

पक्षधर्मत्वसामर्थ्यात् सर्वज्ञेश्वरसाधकम्।
ईश्वरानुमितीनां च ज्वरभारातुरं वपुः॥

व्याप्तिपक्षधर्मताखण्डनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयितुमुपसंहरति—**तदेवमिति**। तर्करीत्यानुमानलक्षणान्तरं शङ्कते—**शाब्देति**। अनुमितिकरणमनुमानम्, का पुनरनुमितिरित्यतस्तल्लक्षणमाह—**शाब्दव्युत्पत्तीति**। प्रत्यक्षव्यवच्छेदाय स्मृतिकरणिकेत्युक्तम्। शाब्दप्रमितेरपि पदार्थस्मृतिकरणत्वमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय शाब्दव्युत्पत्तिशून्यस्येत्युक्तम्। उभयोरप्यव्याप्तिमाह—**व्युत्पन्नस्येति**। शाब्दव्युत्पत्तिमत इत्यर्थः। व्युत्पन्नगतयोरपि संग्रहार्थम् विशेषं शङ्कते—**तादृशेति**। पूर्वोक्तप्रमितिवर्तिनी प्रमात्वावान्तरजातिरनुमितित्वं तद्योगिज्ञानमनुमितिः, अस्ति चेदं व्युत्पन्नानुमितावपीत्यर्थः। अत्र च प्रत्यक्षभ्रमसंशयव्यवच्छेदाय प्रमात्वावान्तरजातिग्रहणम्, प्रत्यक्षागमादिव्यवच्छेदाय तादृशप्रमितीत्युक्तम्, प्रमात्वजातेरित्युपलक्षणमनुमितित्वस्यापीति। तत्रानुमितित्वं तावन्न जातिः, अयमग्निमान्पर्वत इति ज्ञाने अयमंशे

है, यह उभयवादी से माना जाता है, अतः शब्द के आकाशातिरिक्त आश्रितत्व-निरास (निवारण) में भी केवल व्यतिरेकी को निरवकाशता रहती है।

इस उक्त रीति से न व्याप्ति का न पक्षधर्मता का निरूपण हो सका, अतः व्याप्तिपक्षधर्मता वाला लिङ्ग होता है, और उस लिङ्ग का परामर्श अनुमान होता है, यह लक्षण भी नहीं सिद्ध होता है, यह सिद्ध हुआ। शाब्दशक्ति व्युत्पत्ति (शब्दशक्तिज्ञान) रहित की स्मृति रूप करण वाली प्रमा अनुमिति होती है, और उसका करण अनुमान होता है, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस लक्षण के ; व्युत्पन्न (शक्तिज्ञ) की अनुमिति और उसके करण में अव्याप्ति होती है। यदि कहा जाय, कि शब्दशक्तिज्ञान रहित की स्मृतिकरणक प्रमिति वृत्ति जो प्रमात्व जाति का अवान्तर = व्याप्य जाति, उस जाति के अधिकरण ज्ञान को अनुमिति कहते हैं, और उसका करण अनुमानप्रमाण होता है। प्रमात्व अवान्तर जाति अनुमितित्व है, वह व्युत्पन्न की अनुमिति में भी रहती

वान्तरजात्यधिकरणज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानमिति चेत्, न; प्रमात्वजातेः पुरस्तादेव निरस्तत्वात्। एतेन—

"अनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥"
(वै० भा० पृ० १००)

"अनुमानं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्"। "ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धिः" इत्येवमादीनि वैशेषिकवैभाषिकजैमिनीयलक्षणान्यपि

प्रत्यक्षत्वेन सङ्करप्रसङ्गात्। नाप्युपाधिः, उद्भावितोपाधीनां निरसनादिति वर्णितानुमानलक्षणखण्डनं प्रशस्तपाददिङ्नागशबरस्वामिसंमतलक्षणेष्वतिदिशति—एतेनेत्यादिना। अनुमेयेन पक्षे सर्वस्मिन्संबद्धं पक्षधर्मतावदित्यर्थः। तदन्विते अनुमेयधर्मवति पदार्थान्तरे सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धम्। सपक्षे सदिति यावत्। चकारस्तु पक्षधर्मत्वेनेदं रूपं समुच्चिनोति। तथा तदभावे साध्याभाववति नास्त्येव। सर्वथा व्यावृत्तं विपक्षाद्व्यावृत्तमित्यर्थः। अत्रापि च, पक्षधर्मतयैतत्समुच्चिनोति, न तु सपक्षे सत्त्वेन, केवलव्यतिरेक्यभावापातात्। एवं पूर्वोऽपि, केवलान्वयिलाभात्। एवंविधं यल्लिङ्गं तदनुमापकमिति काश्यपः कणादोऽब्रवीदित्युत्तरश्लोकस्थेनान्वयः।

"विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसंदिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥" (वै० भा० पृ० १००)

इति ह्युत्तरश्लोकः। तथा त्रिरूपात्पक्षधर्मतादिरूपत्रयवतः। समासस्तु बहुव्रीहिः। यदर्थदृगर्थदर्शनं तदनुमानमिति वैभाषिकाणां सूत्रकृतो दिङ्नागस्य सूत्रम्। तथा ज्ञातसंबन्धस्य ज्ञाताविनाभावस्य पुंसः एकदेशदर्शनाद्धूमविशिष्टांशदर्शनादेकदेशान्तरे अग्निविशिष्टांशे बुद्धिरनुमानम्, एकस्यैव खलु पर्वतस्यैकदेशदर्शनेनैकदेशोऽनुमीयते। तथा चाहुर्वार्तिककृतः—

'स एव चोभयात्मायं गम्यो गमक एव च।
असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधकः'॥ इति।

यद्यपि—

'प्रमाता ज्ञातसंबन्ध एकदेशयथवोच्यते।
कर्मधारयपक्षे वा संबन्धिन्येकदेशता॥

है, अतः अव्याप्ति नहीं है। तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रमात्व जाति का प्रथम ही निराकरण हो चुका है। इन उक्त दोषों से ही—

अनुमेय से जो सम्बन्ध वाला=पक्षवृत्ति, हो और अनुमेय अन्वित में प्रसिद्ध = सपक्षवृत्ति, हो, अनुमेयाभाव स्थान में नहीं रहता हो (विपक्षावृत्ति हो) वह लिङ्ग अनुमापक (अनुमिति का हेतु) होता है, यह कणादानुयायी का लक्षण है।

प्रत्युक्तानि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वव्याप्यव्यापकसंबन्धानां पुरैव निरस्तत्वात्। तदेवं नानुमानलक्षणमपि निर्वोढुं शक्यमिति सिद्धम्।

एतेन परार्थानुमानमपि प्रत्युक्तम्, स्वार्थानुमानमुपजीव्य तत्प्रवृत्तेः। तथाहि—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयवात्मकं तत्। तत्र तावत्पक्षवचनं प्रतिज्ञा इत्यलक्षणम्।

पूर्वोदितेन न्यायेन पक्षस्यैवानिरूपणे।

द्वयं वा ज्ञातसंबन्धमुपलब्धं परस्परम्।
तस्यैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिनी ॥'

इति वार्तिककारैर्बहुविधं भाष्यं योजितम्। तथापि विस्तरभयादेकैव रीतिरत्र प्रदर्शिता। एतेनेत्यतिदिष्टांशं विशदयति—**पक्षेति**। अत्र हि त्रैरूप्यमुखेनाद्ये लक्षणे प्रवृत्ते तृतीयमपि व्याप्तिपुरस्कारेण, ज्ञातसंबन्ध इत्यत्र व्याप्तेर्विवक्षितत्वात्। तच्च रूपं पक्षधर्मता व्याप्तिश्चेति द्वयं पुरस्तादेव खण्डितम्। पक्षधर्मत्वखण्डनन्यायेन सपक्षविपक्षयोस्तत्र सदसत्त्वयोश्च खण्डितप्रायत्वादिति भावः।

यद्यप्यनुमानमात्रखण्डनेन परार्थानुमानमपि खण्डितमेव, तथाप्यधिकदूषणविवक्षया अखण्डितवदतिदिशति—**एतेनेति**। स्वार्थानुमानोपजीवनं दर्शयितुं परार्थानुमानं दर्शयति—**तथा हीति**। परोपदेशापेक्षमनुमानं तदित्यर्थः। तत्रोपजीवनदर्शनपूर्वकं दूषणमतिदिशन्प्रतिज्ञां खण्डयति श्लोकेन—**पूर्वेति**। तद्वचनं

और पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, इन तीन रूप वाले लिङ्ग से जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह अनुमान कहा जाता है, यह वैभाषिक मतानुयायी का लक्षण है। और व्याप्तिरूप सम्बन्ध जानने वाले को जो धूमयुक्त=हेतुयुक्त पक्ष के एक देश को देखने से अग्नि (साध्य) युक्त देशान्तर विषयक ज्ञान होता है, उसको अनुमान कहते हैं। यह जैमिनीय मतानुयायी का लक्षण है। परन्तु इस प्रकार के सब लक्षण प्रत्युक्त=प्रत्याख्यात हो गये। क्योंकि पक्षधर्मत्व=पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, व्याप्यव्यापकसम्बन्ध, इन सब का प्रथम ही निराकरण हो चुका है। अतः सिद्ध हुआ कि अनुमान का लक्षण अपने स्वरूप का धारण नहीं कर सकता है।

इसी स्वार्थानुमान के प्रत्याख्यान से परार्थानुमान भी प्रत्युक्त=खण्डित हो गया। क्योंकि वह स्वार्थानुमान को आश्रयण करके प्रवृत्त होता है, वह दर्शाया जाता है कि—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन, इन पाँच अवयवों का समूह स्वरूप वह परार्थानुमान होता है। उनमें प्रथम (पक्षवचनं प्रतिज्ञा) पक्ष का कथन प्रतिज्ञा कही जाती, यह लक्षण प्रतिज्ञा का कहा जाता है, यह लक्षण युक्त नहीं है। क्योंकि—

पूर्वोक्त रीति से पक्ष के ही अनिरूपण रहते, उस पक्ष का वचन प्रतिज्ञा है,

कथं तद्वचनं वाच्यं प्रतिज्ञेति विपश्चिता ॥ २७ ॥

किं पक्षप्रतिपादकं वचनमात्रं प्रतिज्ञा ? प्रतिपिपादयिषया वा तद्वचनम् ? उत हेत्वाकाङ्क्षाजनकम् ? किं वा साध्यधर्मविशिष्टधर्मिप्रतिपादकम् ? तदेव हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वविशिष्टम् ? निगमनान्यत्वविशिष्टं वा ? नाद्यः, अयं पक्ष इत्यादेरपि वचनस्य प्रतिज्ञात्वप्रसङ्गात्, पक्षलक्षणवचनस्यापि तत्त्वप्रसक्तेश्च । अत एव न द्वितीयः, प्रतिपादनेच्छया पक्षवचनत्वस्य तत्रापि भावात् । न तृतीयः; कस्मादयं पक्ष इत्यादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् । नापि चतुर्थः, निगमनस्यापि तद्भावप्रसङ्गात् । नापि पञ्चमः,

---

पक्षवचनम्, प्रतिज्ञेति विपश्चिता कथं वाच्यं न कथमपीत्यर्थः । इदानीमधिकदूषणं दर्शयितुं प्रतिज्ञालक्षणानि विकल्पयति—**किं पक्षेत्यादिना** । निगमनव्यवच्छेदाय द्वितीयतृतीययोर्विशेषणद्वयम् । **अयं पक्ष इत्यादेरपीति** । इदमपि वचनं पक्षप्रतिपादकमित्यर्थः । पक्षस्य यल्लक्षणवचनं तस्मिन्नप्यतिव्याप्तिरित्याह—**पक्षलक्षणेति** । अत एवेत्यस्यैव विवरणम्—**प्रतिपादनेति** । **कस्मादिति** । तदपि हेत्वाकाङ्क्षाजनकमित्यर्थः । **निगमनस्यापीति** । तत्रापि तस्मादयमग्निमानिति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादनमस्तीत्यर्थः । ननु यद्यपि कस्मादयं साध्यवानिति वचनस्य हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वे सति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकत्वमस्ति, तथापि प्रश्नरूप-

---

यह विद्वान् से कैसे कहा जा सकता है ॥ २७ ॥

अर्थात् प्रतिज्ञा का क्या—पक्षप्रतिपादक वचनमात्र लक्षण है, या पक्ष के प्रतिपादन की इच्छा से पक्ष का वचन रूप है, या हेतु की आकाङ्क्षा का जनक पक्षवचन रूप है, या साध्यरूप धर्मयुक्त धर्मी का प्रतिपादक पक्षवचन ही है, या हेत्वाकाङ्क्षा जनकत्वयुक्त साध्ययुक्त धर्मी का प्रतिपादक पक्षवचन रूप है, अथवा निगमनाऽन्यत्वयुक्त साध्यधर्मयुक्त धर्मी का प्रतिपादक वचन रूप है। इनमें प्रथम लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि उसके अनुसार, (अयं पक्षः) यह पक्ष है, इत्यादि वचन को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होगा। तथा पक्ष के लक्षणरूप वचन को भी प्रतिज्ञात्व की प्राप्ति होगी। अतएव द्वितीय लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि पक्ष के प्रतिपादन की इच्छा से पक्षवचनत्व उन पक्ष के लक्षणादिकों में भी है। हेत्वाकाङ्क्षाजनक पक्षवचन यह तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि (कस्मादयं पक्षः) किससे यह पक्ष हुआ है, इत्यादि वचनों को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होगा, यह वाक्य भी हेत्वाकाङ्क्षाजनक है। साध्य धर्मयुक्त धर्मीप्रतिपादक वचन रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसके अनुसार निगमन को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होगा। पञ्चम लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि (कस्मादय साध्यधर्म-

कस्मादयं साध्यधर्मवानिति वचनस्यापि तथात्वापातात्। अप्रश्नरूपं तथाभूतवचनं विवक्षितमिति चेत्, न, आक्षेपवचनस्यापि प्रश्नं मन्वानं प्रति तद्रूपत्वात्, लक्षणवचनेऽपि व्यभिचाराच्च। नापि षष्ठः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्—उपनयानन्तरं प्रतिज्ञावचनं निगमनम्, सहेतुकं प्रतिज्ञावचनमिति वा लक्षणम्, तथा च प्रतिज्ञासिद्धौ निगमनसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदन्यत्वविशेषितप्रतिज्ञासिद्धिरिनि कथं न परस्पराश्रयः? तस्मान्न प्रतिज्ञालक्षणनिरुक्तिः।

नापि हेतोः। तथा हि—किं लिङ्गवचनं हेतुः? उत तृतीयापञ्चम्योरन्यतरविभक्त्यन्तम्? साधनत्वव्यापकं लिङ्गवचनं वा? नाद्यः, अस्ति लिङ्गमयं

मिदम्, अप्रश्नरूपमप्यपेक्षितं लक्षणेऽतो नास्त्यतिव्याप्तिरिति शङ्कते—अप्रश्नरूपमिति। तथाप्याक्षेपवचनेऽतिव्याप्तिरित्याह—न; आक्षेपेति। ननु तस्य कथं हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वमिति, तत्राह—प्रश्नं मन्वानं प्रतीति। नचाभ्रान्तं प्रतीति विशेषणीयम्। भ्रान्तं प्रति प्रयुज्यमानप्रतिज्ञायामव्याप्तेः। लक्षणवचन इति। तत्रापि हेत्वाकाङ्क्षास्ति, लक्षणवचनमात्रादर्थासिद्धेरित्यर्थः। निगमनान्यत्वविशिष्टमिति पक्षं दूषयति—नापि षष्ठ इति। परस्पराश्रयमेवाह—उपनयानन्तरमिति।

द्वितीयमप्यवयवं खण्डयति—नापि हेतोरिति। लिङ्गवचनं हेतुरिति लक्षण-

---

वान्) यह किससे साध्य धर्म वाला है, इस वचन को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होता है। यह भी हेत्वाकांक्षाजनकत्वयुक्त साध्ययुक्त धर्मी का प्रतिपादक वचन है। यदि कहा जाय कि यह प्रश्न रूप वचन है, और अप्रश्न रूप तथाभूत वचन प्रतिज्ञा विवक्षित है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि तो भी आक्षेप (किसी पक्ष का निराकरण) रूप उक्त वाक्य में अतिव्याप्ति होगी, यदि कहा जाय कि आक्षेप रूप वचन हेत्वाकाङ्क्षाजनक नहीं होता है, तो कहना सत्य है, तथापि आक्षेपवचन को ही प्रश्न मानने वाले के प्रति वह वचन हेत्वाकाङ्क्षा जनक हो जाता है। और लक्षण वचन में भी व्यभिचार है, क्योंकि उसमें भी हेतु की आकाङ्क्षा होती है। षष्ठ लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसमें परस्पराश्रय की प्राप्ति होती है। क्योंकि उपनयानन्तर प्रतिज्ञा वचन निगमन कहा जाता है। या सहेतुक प्रतिज्ञा वचन निगमन होता है। यह निगमन का लक्षण है, अतः प्रतिज्ञा की सिद्धि होने पर निगमन की सिद्धि हो सकती है, और निगमन की सिद्धि होने पर निगमन से अन्यत्र प्रतिज्ञा की सिद्धि होने पर परस्पराश्रय कैसे नहीं होगा। अतः प्रतिज्ञा के लक्षण का निर्वचन नहीं हो सकता है।

हेतु का भी लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि, लिङ्ग वचन हेतु होता है, या तृतीया पञ्चमी विभक्त्यन्यतरान्त वचन हेतु होता है, अथवा साधनत्व

धूम इत्यादेरपि वचनस्य हेतुत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, अन्यतरशब्देनैकस्य द्वयोर्वाभिधाने तल्लक्षणस्याव्याप्तेः। न तृतीयः; साधनशब्देन हेतुविवक्षायामात्माश्रयात्, तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थाभिधाने पूर्वोक्तदोषापत्तेः, लिङ्गविवक्षायां त्वेतल्लिङ्गमस्ति वास्य लिङ्गमित्यादेरपि वचनस्य तथात्वापातात्।

नाप्युदाहरणलक्षणम्, दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमुदाहरणमिति वक्तुमयुक्तत्वात्। तथाहि--किं लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः? किं वा निश्चितसाध्यसाधनवान्? नाद्यः, स्वर्गापूर्वदेवतादीनां लौकिका-

---

वचनस्य लिङ्गमस्तीत्यादिवचनेऽतिव्याप्तिमुक्त्वा द्वितीये दूषणमाह—**अन्यतरशब्देनैति**। साधनत्वव्यापकं लिङ्गवचनमिति भासर्वज्ञाभिमततृतीयलक्षणे साधनशब्देन हेतुर्विवक्ष्यते तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थत्वं वा? लिङ्गत्वं वा? आद्ये दूषणमाह—**साधनेति**। द्वितीये प्राह—**तृतीयेति**। तृतीये प्राह—**लिङ्गेति**।

तृतीयमप्यवयवं खण्डयति—**नाप्युदाहरणलक्षणमिति**। तत्र सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणमिति भूषणप्रभृतयो बभाषिरे, तत्र दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमपि दुरुक्तीति दृष्टान्तलक्षणं विकल्प्य दूषयति—**किं लौकिकेत्यादिना**। **निश्चतेति**। निश्चिते साध्यसाधने यस्मिन्स दृष्टान्त इत्यर्थः। ननु साध्यसाधनशब्देन व्याप्यव्यापकावभिप्रेतौ, तथा च भाववदभावावपि व्याप्यव्यापकभूताविति वैधर्म्यदृष्टा-

---

बोधक लिङ्ग वचन हेतु कहा जाता है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, यह धूम लिङ्ग है, इत्यादि वचन को भी हेतुत्व प्राप्त होता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि अन्यतर शब्द से एक के या दोनों के कहने पर अव्याप्ति होती है क्योंकि तृतीयान्त के ग्रहण करने पर पञ्चम्यन्त में पञ्चम्यन्त के ग्रहण करने पर तृतीयान्त में और दोनों के ग्रहण करने पर एक-एक में अव्याप्ति होती है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं। क्योंकि साधन शब्द से हेतु की विवक्षा होने पर आत्माश्रयता प्राप्त होती है। तृतीय पञ्चमी विभक्ति अन्यतरान्त को साधन शब्द से ग्रहण करने पर पूर्वोक्त अव्याप्ति दोष की प्राप्ति होती है। साधन शब्द से लिङ्ग की विवक्षा करने पर तो (एतल्लिङ्गमस्ति वा अस्य लिङ्गमस्ति) यह लिङ्ग है, वा इस का लिङ्ग है, इत्यादि वचनों (वाक्यों) को भी हेतुत्व प्राप्त होगा।

उदाहरण का भी लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि दृष्टान्त की निरुक्ति के बिना (दृष्टान्त वचनम् उदाहरणम्) यह लक्षण कहना अशक्य है। क्योंकि दृष्टान्त का लक्षण क्या है? क्या लौकिक और परीक्षकों की जहाँ बुद्धि की समता हो, वह दृष्टान्त है, या निश्चित साध्य-साधनवान् दृष्टान्त होता है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि लौकिक पुरुषों के असम्मत = अमान्य भी स्वर्ग,

संमतानामपि दृष्टान्तत्वात्। नापि द्वितीयः, निश्चितसाध्यसाधनाभाववतो वैधर्म्यदृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात्। साध्यसाधनशब्दाभ्यां तदभावयोरपि संग्रहाददोष इति चेत्, न, निश्चितत्वानिरुक्तेः। तथा हि—किं वादिनो निश्चयः? उत प्रतिवादिनः? किं वा सर्वेषाम्? नाद्यः, साध्यधर्मिणोपि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्, वादिनस्तत्र निश्चयसद्भावात्। न द्वितीयः, विकल्पासहत्वात्। किं निश्चयमात्रम्? किं वानुमितिकालविशेषितो निश्चयः?

त्तोपि संगृहीत इति शङ्कते—**साध्येति**। शब्दयमत्र विवक्षितुं भावविवक्षायां वैधर्म्योदाहरणाव्याप्तिः, अभावविवक्षायां साधर्म्योदाहरणाव्याप्तिरुभयविवक्षायामुभयाव्याप्तिरिति, तथाप्यतिस्फुटमिदमिति दूषणान्तरमाह—**निश्चितत्वेति**। वाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यसाधनत्वं न दृष्टान्तः, पक्षस्यापि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्। 'निश्चितो हि वादं कुरुत' इति न्यायेन वादिनस्तत्रापि निश्चितसाध्यवत्त्वादित्याह—**नाद्यः। साध्यधर्मिणोऽपीति**। प्रतिवाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यवत्त्वमिति द्वितीयपक्षे

अपूर्व = अदृष्ट देवतादि को दृष्टान्त माना जाता है, अतः उनमें दृष्टान्तत्व की सिद्धि होती है, कहा जाता है कि (देववत् पितरौ पूज्यौ) इत्यादि। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि निश्चित साध्यसाधन के अभाव वाले को वैधर्म्य दृष्टान्तता के अभाव की प्राप्ति है, क्योंकि, यत्रैवं तत्रैवं, इसप्रकार साध्यवान् से विरुद्ध भी दृष्टान्त होता है। यदि कहें कि साध्यसाधन शब्द से उनके अभावों का संग्रह होने से यह दोष नहीं रहेगा, क्योंकि साध्यसाधन शब्द से व्याप्य-व्यापक विवक्षित हैं। अतः भावरूप व्याप्य-व्यापकाश्रय के समान अभावाश्रय भी गृहीत होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, तो भी निश्चतत्व की अनिरुक्ति से लक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि क्या वादी का निश्चय लक्षण में अपेक्षित है, या प्रतिवादी का, या सबका। आद्य पक्ष नहीं बन सकता है। क्योंकि 'निश्चितौ हि वादं कुरुतः'। इस सिद्धान्त के अनुसार पक्ष में भी निश्चित साध्य वाला वादी वाद करता है, अतः पक्ष के निश्चित साध्य वाला होने से साध्य वाला धर्मी पक्ष को भी दृष्टान्तत्व प्राप्त होगा। क्योंकि वादी को वहाँ निश्चय का सद्भाव रहता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि क्या निश्चय मात्र प्रतिवादी को होना चाहिये, या अनुमिति काल में निश्चय होना चाहिये। प्रथम पक्ष में कालान्तर में निश्चित साध्य-साधन वाले को, कालान्तर में अन्यथा स्वरूप, साध्यसाधनरहित, होने पर भी उसको दृष्टान्तत्व प्राप्त होता है। अर्थात् प्रतिवादी को जिस पक्ष आदि में प्रथम साध्य-साधन का निश्चय हो, परन्तु अनुमिति काल में संशय हो, तो वह भी दृष्टान्त हो जायगा, क्योंकि प्रथम उसको निश्चय था ही। अनुमिति काल में साध्य-साधनवान् प्रतिवादी को निश्चित

आद्ये, कालान्तरे निश्चितसाध्यसाधनवतोऽपि कालान्तरेऽन्यथाभूतस्य दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, कालस्य निश्चितसाध्यसाधनवतोऽपि दृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात् काले कालविशेषितनिश्चयस्याभावात् । नापि तृतीयः, सर्वनिर्णयस्यासर्वज्ञेन निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

यो यदा निश्चितसाध्यसाधनवान् स तदा दृष्टान्त इत्ययुक्तम्, यदा तदेति कालाभिधाने काले तदभावात्, यत्तच्छब्देन चानुगतरूपस्य तद्वतो

किं यदाकदाचिन्निश्चितसाध्यवत्त्वम् ? उत कालविशेषकथासमयादौ ? इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति—**कालान्तर इति** । तथासति कथाप्रवृत्तिसमये विप्रतिपन्नसाध्यस्यापि दृष्टान्तता स्यात्, यदाकदाचिदत्रापि निश्चयसंभवादित्यर्थः । द्वितीये तु कालस्य दृष्टान्तत्वं न स्यात् । नहि कालः कालविशेषे निश्चितसाध्यः, कालस्य कालान्तराभावादित्याह—**न द्वितीय इति** ।

सर्वनिश्चयपक्षमसंभवेन दूषयित्वा पक्षान्तरं शङ्कते—**यो यदेति** । यो यदेत्यादिलक्षणे यदातदेत्यंशं दूषयित्वा यः स इत्यशं दूषयति—**यत्तच्छब्देनेति** । अत्र किं यत्तच्छब्देन प्रत्येकं व्यावृत्ताः साध्यसाधनवन्तोऽभिधीयन्ते ? किंवा कौचिदनुगतौ धर्मौ तयोश्च दृष्टान्तत्वमिति विवक्ष्यते ? उत रूपवतः कस्यचित् ? आद्येऽनुगतलक्षणाभावः । द्वितीये रूपिणस्तृतीये रूपयोर्दृष्टान्तत्वं न स्यादित्यर्थः । दृष्टान्त-

---

हो, तो दृष्टान्त होता है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि इस पक्ष में निश्चित साध्य-साधन वाले काल को दृष्टान्तत्वाभाव प्राप्त होता है, क्योंकि अनुमिति काल में साध्य-साधन वाला अन्य दृष्टान्त तो हो सकता है, परन्तु कालविशेष रूप अनुमिति काल में निश्चित साध्य-साधन वाला काल नहीं रह सकता है, क्योंकि काल का कालान्तर नहीं होता है, अतः कालयुक्त काल के निश्चय का अभाव होता है, साध्य-साधनवत्त्वेन सब के निश्चय का विषय हो तो दृष्टान्त होता है, यह तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सब के निर्णय का असर्वज्ञ से निश्चय होना अशक्य है ।

जो जिस समय निश्चित साध्य-साधन वाला होता है, वह उस समय दृष्टान्त होता है, यह भी दृष्टान्त का लक्षण अयुक्त है । क्योंकि यदा-तदा इस शब्द से काल के कथन करने पर, काल रूप दृष्टान्त में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योंकि काल में काल नहीं रहता है । और यत्तत् शब्द से (यो = सो शब्द से) साध्य-साधनवान् गत अनुगत रूप (धर्म) को या रूपवान् के कथन करने पर, उन दोनों में ही प्रत्येक की अदृष्टान्तता प्राप्त होती है, क्योंकि धर्म को कहने पर धर्मी में अदृष्टान्तता प्राप्त होती है, धर्मी को कहने पर धर्म में अदृष्टान्तता प्राप्त होती

वाभिधाने तयोरेव प्रत्येकमदृष्टान्तत्वापातात्। एवं दृष्टान्तानिरुक्तौ तत्प्रतिपादकं वचनमुदाहरणमित्ययुक्तम्।

नाप्युपनयलक्षणम्। तथा हि—किं दृष्टान्तानन्तरं हेतुवचनमुपनयः? किंवा दृष्टान्ते प्रसिद्धाविनाभावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिख्यापकं वचनम्? व्याप्तस्य पक्षधर्मताप्रतिपादकं वा? नाद्यः, दृष्टान्तवचनानन्तरं धूमवत्त्वादित्यपि वचनस्योपनयत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, दृष्टान्तवैधर्म्येण न तथा चायमधूमवानित्यादिवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गात्। उपमानशब्देन च साधर्म्यवैधर्म्ययोरुभयोर्विवक्षितत्वेऽन्यतरवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गः। दृष्टान्ताविनाभावलक्षणयोः पुरस्तान्निरस्तत्वाच्च। नापि तृतीयः; व्याप्तो धूमः पक्षोऽस्तीति वचनस्यापि तथात्व-

---

खण्डनस्योदाहरणखण्डनशेषतामाह—**एवमिति**।

चतुर्थमवयवं खण्डयति—**नापीति**। **दृष्टान्तोपमानेनेति**। तथा चायमिति महानसाद्युपमानेनेत्यर्थः। **नापि द्वितीय इति**। द्विविधो ह्युपनयः, साधर्म्यवैधर्म्यभेदात्, तथा चायं धूमवानिति साधर्म्योपनयः, न तथायमधूमवानिति वैधर्म्योपनयः। तत्र वैधर्म्योपनये दृष्टान्तोपमानं नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः। **अथोपमानशब्देन**। वैधर्म्यमपि विवक्षितम्, तदैकैकाव्याप्तिरित्याह—**उपमानशब्देनेति**। दूषणान्तरमाह—**दृष्टान्तेति**। **व्याप्तो धूम इति**। व्याप्तस्य पक्षधर्मतां तदपि वचनं प्रतिपादयेदित्यर्थः। दूषणान्तरमाह—**व्याप्तीति**। पञ्चमावयवं खण्डयति—

है। इस उक्त रीति से दृष्टान्त की अनिरुक्ति होने पर, उस दृष्टान्त का प्रतिपादक वचन उदाहरण होता है, यह कथन भी अयुक्त हो जाता है।

उपनय का लक्षण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि (क्या, दृष्टान्तानन्तर हेतुवचन उपनय कहाता है, या दृष्टान्त में प्रसिद्ध व्याप्ति वाला साधन का दृष्टान्तरूप उपमान द्वारा पक्ष में व्याप्तिबोधक वचन उपमान होता है, या व्याप्य की पक्षधर्मता का प्रतिपादक वचन उपमान है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं। क्योंकि दृष्टान्त वचन के अनन्तर, धूमवत्त्वात्, ऐसा कहा जाय तो इस वचन को भी उपनयत्व प्राप्त होता है। और दृष्टान्त से पूर्व अनन्त तो हेतुवचन कहा ही जाता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि दृष्टान्त के विरोधी धर्म द्वारा (न च तथाऽयम् अधूमवान्) इत्यादि वचन को अनुपनयत्व प्राप्त होगा। और उपमान शब्द से साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों की विवक्षा करने पर, अन्यतर प्रत्येक वचन को अनुपनयत्व प्राप्त होगा। और दृष्टान्त तथा अविनाभाव (व्याप्ति) के लक्षणों का प्रथम ही निराकरण हो चुका है, अतः दृष्टादियुक्त लक्षण होना भी युक्त नहीं है। तृतीय उपनय लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि व्याप्त = व्याप्य धूम पक्ष में है,

प्रसङ्गात्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोश्च पुरैव निरासात्। नापि निगमनलक्षणम्। तत्किमुपनयानन्तरं प्रतिज्ञावचनम्? उत सहेतुकं प्रतिज्ञावचनम्? नाद्यः, उपनयानन्तरमग्निमान् पर्वत इत्येतावद्वचनस्यापि निगमनत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, व्युत्क्रमोदितस्यापि तथात्वापातात्, प्रतिज्ञाहेत्वोश्च पुरैव निरासात्।

किंच—अनुमानाङ्गयोः सिद्धेर्व्याप्तिपक्षगतत्वयोः।
उदाहृतेरुपनयात् पञ्चावयवता मुधा ॥ २८ ॥

पञ्चावयववाक्यमपि न प्रयोजनवदवश्यमिति पश्यामः। साधनानुप-

नापीत्यादिना। **अग्निमान् पर्वत इत्येतावदिति**। तस्मादित्येतदंशविधुरतयेत्यर्थः—**व्युत्क्रमेति**। यदा हि उपनयानन्तरमग्निमानयं तस्मादिति व्युत्क्रमेणोच्यते, तत्रापि प्रसक्तिः। नच तदपि निगमनमेव, विपर्यस्तवचनतया अप्राप्तकालत्वप्रङ्गादित्यर्थः। दूषणान्तरमाह—**प्रतिज्ञेति**।

तदेवं दण्डकसूत्रस्थावयवानां लक्षणानि खण्डितानि, इदानीं यत्तेषां पञ्चत्वं तैराद्रियते "स एव परमो न्यायो यद्विप्रतिपन्नं प्रति पञ्चावयवं वाक्यम्" इति वदद्भिः। सोऽप्ययुक्तः, प्रमाणाभावात्तत्प्रयोजनस्य च द्वाभ्यामेव शक्यसंपादनत्वादित्याह—**किं चेत्यादिना**। व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरनुमानाङ्गयोरुदाहृतेरुदाहरणात्, उपनयाच्च सिद्धेः। पञ्चावयवता, त्रित्वस्यापीदमुपलक्षणम्। मुधा वृथेति श्लोकयोजना।

एतदेव विवृणोति—**पञ्चेति**। न केवलमनुपयोगः, निग्रहस्थानं च स्यात्।

इस वचन को भी उपनयत्व प्राप्त होता है, और व्याप्ति पक्षधर्मता का प्रथम निराकरण हो चुका है, अतः तद्युक्त लक्षण होना भी युक्त नहीं। निगमन का लक्षण भी नहीं हो सकता है। क्योंकि, वह, यथा, उपनयानन्तर प्रतिज्ञा वचन रूप है, या सहेतुक प्रतिज्ञावचन रूप है। प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि उपनय के अनन्तर अग्निमान् पर्वतः, इतना ही 'तस्मात्' इससे रहित उच्चारित वचन को भी निगमनत्व प्राप्त होता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि, उपनय के अनन्तर, व्युत्क्रम से (विपरीत क्रम से) अग्निमानयं तस्मात्। इस प्रकार से उच्चारित को भी निगमनत्व प्राप्त होगा। और प्रतिज्ञा तथा हेतु का प्रथम निराकरण हो चुका है, अतः प्रतिज्ञा हेतुयुक्त लक्षण होना युक्त नहीं है।

और—अनुमिति के अङ्ग रूप व्याप्ति और पक्षधर्मता की सिद्धि उदाहरण और उपनय से हो जाती है। अतः नैयायिक सम्मत पञ्चावयवता परार्थानुमान में व्यर्थ है ॥ २८ ॥

अर्थात् पांच अवयववाला वाक्य को प्रयोजनवाला नहीं समझता हूँ, क्योंकि

युक्तवचनस्याधिकनिग्रहत्वात् । तथाहि—वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्ष-समयबन्धस्वीकारसमनन्तरं प्रतिवादिनः किमत्र प्रमाणमिति प्रमाणे एव जिज्ञासा। यावदङ्गविशिष्टं च प्रमाणं तावदेव वक्तव्यम्, अङ्गं च द्वयमेव—व्याप्तिः, पक्षधर्मता चेति, तच्चोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामेवाभिहितमिति किमपरमवशिष्यते, यदर्थमुपाददीत ? ननु पक्षधर्मत्वं सपक्षसत्त्वं विपक्षाद्-व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्चरूपाणि हेतोरवश्यं

हेतूदाहरणाभ्यामधिकमधिकमिति हि सूत्रम्। हेतूदाहरणग्रहणस्य चोपलक्षणत्वादुप-युक्तापुनरुक्तकृतकार्याभिधानमिति सूत्रार्थः संपद्यते, इतरथा निग्रहान्तरसंकरप्रस-ङ्गात्। तदिह द्वाभ्यां सिद्धस्यैवान्येभ्योऽपि साधनेऽधिकं प्रसज्यत इत्याह—**अधिक-निग्रहत्वादिति**। एतदेवाकाङ्क्षाक्रमेणोपयुक्ताङ्गजातं विवेचयन्विशदयति—**तथा-हीत्यादिना**। समयबन्धो नाम अपशब्दो वर्जनीयः एतावन्ति च निग्रहस्थानानि उद्भावनीयानीत्यादिरूपः। एतेनेत्यप्यपास्तम्। यदाह लीलावतीकारः—अत्यन्तं बुभुत्सितसाध्यप्रतिपादनोपयोगित्वादित्यादि, भङ्गीसहस्रेणापि साधनानुपयुक्तवचन-स्याधिकनिग्रहताया दुष्परिहरत्वादिति । यच्च न्यायवाचस्पतावुक्तम्—'अनित्यं शब्दं बुभुत्समानाय' इत्यादि तदप्येतेनैव परिहृतम्। पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहबलेनैव प्रतिज्ञार्थस्य बुभुत्सितस्य लब्धत्वादिति। अधिकोपयोगं निगमनस्य दर्शयति पूर्ववादी—**नन्वित्यादिना**। पक्षे व्याप्यवर्तनं पक्षधर्मत्वम्, संप्रतिपन्नसाध्यस्थलं सपक्षस्तत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा हेतोर्वृत्तिः सपक्षे सत्त्वम्। साध्यात्यन्ताभाववान्वि-पक्षः ततः सर्वस्माद्व्यावर्तनं विपक्षाद्व्यावृत्तिः, तथाऽबाधितविषयत्वं विषयशब्देन हेतोर्विषयः साध्यमभिधीयते, तस्मिन्मानान्तरेणाबाधिते प्रवर्तमानत्वम्, तथा सन्विद्यमानः प्रतिपक्षो यस्यासौ सत्प्रतिपक्षस्तद्रहितत्वमित्येतानि पञ्चरूपाणि हेतो

साधन में अनुपयुक्त वचन को अधिक नामक निग्रहस्थानत्व प्राप्त होता है (हेतूदा-हरणाभ्यामधिकमधिकम्) हेतु और उदाहरण से अधिक वचन अधिक कहाता है। कथा में वादी-प्रतिवादी के पक्षप्रतिपक्ष समय = नियम बन्धन के स्वीकार कर लेने के बाद, प्रतिवादी की प्रमाणविषयक ही जिज्ञासा होती है कि इस आप के पक्ष = सिद्धान्त में क्या प्रमाण है। अतः जितने अङ्गों से युक्त वचन प्रमाण होता है, उतना ही वादी को वक्तव्य होता है (उतना कहना चाहिये)। व्याप्ति और पक्षधर्मता दो ही अनुमान के अङ्ग होते हैं, और वे दोनों उदाहरण और उपनय से कथित होते हैं। फिर अवशेष क्या रहता है कि जिसके लिये अन्य अन्य अवयवों का ग्रहण किया जाय। यहाँ शंका होती है कि, पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व, ये पाँच स्वरूप हेतु के अवश्य वक्तव्य होते हैं। अन्यथा = इन स्वरूपों के बिना, असिद्धि, विरोध, अनैकान्तिकत्व, अनध्यवसितत्व=

वक्तव्यानि, अन्यथाऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमानामनिरासे हेतोरसाधकत्वप्रसङ्गात् । तत्र यद्यपि व्याप्तिपक्षधर्मताप्रदर्शनेन रूपत्रयोपपादनादसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानि परिहृतानि, तथापि बाधितविषयत्वसत्प्रतिपक्षत्वयोरवशिष्टयोरनिरासे कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमयोर्हेत्वाभासयोः परिहाराय निगमनमपेक्षणीयमेव, स च तस्मादयमग्निमानेव न पुनस्तस्मादन्यस्माद्वानग्निमानपीति निगमनेनाव-

---

वक्तव्यानीत्यर्थः । किमियं राजाज्ञा ? नेत्याह—**अन्यथेति** । तथाहि—पक्षधर्मत्वाभावेऽनिश्चितपक्षवृत्तिरूपासिद्धिप्रसक्तिः, सपक्षे सत्त्वाभावे पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानस्वरूपविरुद्धत्वप्रसक्तिः, विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावे पक्षत्रयवृत्तित्वलक्षणसाधारणानैकान्तिकता स्यात्, एवमितरयोरप्यभावे प्रकरणसमतातीतकालत्वयोः प्रसक्तिरित्यर्थः । ननूदाहरणोपनयाभ्यां व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरुपपादनादपि भवत्येवासिद्धयादीनां निरासः, व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रतीतस्यैवासिद्धयादिमत्त्वाद्, व्याप्तिनिर्णयेन च विरुद्धत्वादीनां निरासादिति तत्राह—**तत्र यद्यपीति** । तत्रोभयविधोदाहरणेनोभयविधव्याप्तेर्दर्शनाद् द्वितीयतृतीयरूपयोः सिद्धिरुपनयेन च पक्षधर्मतासिद्धिरिति विभागः । अनैकान्तिकग्रहणमनध्यवसितस्याप्युपलक्षणम् । तस्याप्यव्यभिचारविरहरूपत्वात्, सपक्षवृत्तिविपक्षव्यावृत्तिनिर्णयेन च तस्याप्यभावादिति । ननु निगमनवचनादपि कथं तयोर्निरासः ? तत्राह—**स चेति** । तस्मादग्निमानेवेति हि निगमनरूपम्, तत्र सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ इति न्यायेन तस्मादेवाग्निमान्नान्यस्मादिति सिद्धसाधनताव्युदासस्तस्मादयमग्निमानेवेति न पुनरन्यस्मादनग्निमानपीति द्विविधापि सत्प्रतिपक्षो निरस्तः । द्विविधो हि सत्प्रतिपक्षः, स्वात्मना परात्मना चेति । आद्यो यथाऽनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् । एवं नित्यः शब्द इत्यत्रापि । द्वितीयस्तु नित्यं मनो निरवयवद्रव्यत्वादाकाशवत्, अनित्यं मनो मूर्तत्वाद्घटवदिति । इदमेव विरुद्धव्यभिचारीत्यभिधीयते । तथाग्निमानेवेत्यनग्निमत्त्वनिषेधाद्बाधोऽपि विध्वस्त इत्यवश्यमपेक्षणीयं निगमनमित्यर्थः । एवं समर्थितं निगमनो-

---

सन्दिग्धत्व, और बाधितत्व, रूप दोषों के अनिराकरण से हेतु में असाधकत्व की प्राप्ति होती है। वहाँ व्याप्तिपक्षधर्मता के प्रदर्शन से, पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, इन तीन रूपों के ग्रहण द्वारा यद्यपि असिद्धि, विरोध, और अनैकान्तिकता परिहृत=निवारित हो जाते हैं। तथापि अवशिष्ट बाधितविषयत्व= बाधितत्त्व, सत्प्रतिपक्षत्व, के निराकरण के बिना प्राप्त कालात्ययापदिष्ट (बाघ) और प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) के परिहार के लिये निगमन अवश्य अपेक्षणीय है। उस निगमन से उन दोनों का वह निरास इस प्रकार से होता है कि (तस्मादेव = अग्निमानेव) तस्माद् अन्वस्माद् वा अनग्निमानपि न पुनः, इसप्रकार निगमन से

द्योत्यत इति चेत्, मैवम्, पूर्वमेव हि सिद्धत्वादसंभवित्वाच्च। तथाहि-- साधनसद्भावे साध्यसद्भावनियमलक्षणान्वयव्याप्तेः साध्याभावे साधनाभावलक्षणव्यतिरेकव्याप्तेश्चोदाहरणेनैव प्रदर्शितत्वेन कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेऽन्तर्भूतस्य कृत एव परिहारः। बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुर्हि कालात्ययापदिष्टः, बाधश्च पक्षनिष्ठसाध्याभावनिश्चय एवेति निश्चितसाध्याभाववद्वृत्तिः कथमनैकान्तिको न स्यात्? ननु साध्याभावनिश्चयो बाधः, स च पृथग्दूषणम्, अनैकान्तात्। निश्चिते साध्याभावे तद्वति वर्तमानोऽनैकान्तिकः, ततश्च पुरःस्फूर्तिकबाधेनैवोपहतो हेतुः, कथमनैकान्तिकेन

पयोगं दूषयति—**मैवमिति**। अन्यतः सिद्धिं विवृणोति—**तथाहीत्यादिना**। ननु यदि कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेऽन्तर्भावः स्यात्तदा तन्निरसने निरासः, स एव तु कथमिति? तत्राह—**बाधित इति**। सद्धेतुनिरासाय बाधितग्रहणम्। ततः किमत्ति, तत्राह—**बाधश्चेति**। पक्षत्रयवृत्तिर्ह्यनैकान्तिकः, यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति। तदिहाग्निरनुष्णः पदार्थत्वादित्यत्र प्रत्यक्षसिद्धोष्णिमतया विपक्षतामापन्नेऽग्नौ पक्षे सपक्षे च घटादिषु वर्तमानः कथमनैकान्तिकानन्तर्भूतः स्यात्? कथंतरां तन्निवर्तकोदाहरणेन न निवृत्तिः? कथंतमां च न तन्निवर्तकतया निगमनस्य सार्थक्यम्? इति भावः। बाधस्यानैकान्तिकाद्बहिर्भावमाह पूर्ववादी—**नन्विति**। बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः, तथा च बाधमुपजीव्य तद्विपक्षत्वनिर्णयानन्तरमनैकान्तिकत्वप्रतीतिः। तथाचोपजीव्यमेव निग्रहस्थानम्, प्रथमोद्भाव्यत्वात्। न चरमोद्भाव्यम्। इतरथा निग्रहस्थानानां संकरापत्तेरित्यर्थः। तदेतदति-

---

अवद्योतित (प्रकाशित) होता है। शंका का उत्तर है कि निगमन से प्रथम बाध और प्रतिपक्ष का निवारण हो जाता है, और अबाध का निरूपण असम्भावित भी है। क्योंकि साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव का नियम रूप अन्वय व्याप्ति और साध्य के अभाव में साधन के अभाव रूप व्यतिरेकव्याप्ति के उदाहरण से ही प्रदर्शित होने पर, अनैकान्तिक के अन्तर्गत बाध का परिहार हो ही जाता है, परन्तु बाधित हेतु अनैकान्तिक के अन्तर्गत कैसे है, तो कहा जाता है कि बाधित पक्ष में वर्तमान हेतु ही बाधित कहा जाता है, अर्थात् साध्य के बाध से हेतु का बाध कहा जाता है; क्योंकि पक्षवृत्तिसाध्याभाव का निश्चय ही बाध कहा जाता है, तो इस प्रकार से निश्चित साध्याभाववान् में वृत्ति हेतु अनैकान्तिक कैसे नहीं होगा। यदि कहें कि साध्याभाव निश्चय रूप बाध है, तो अनैकान्तिक से पृथक् दूषण है, साध्याभाव के निश्चित होने पर, उस साध्याभाववान् में वर्तमान हेतु अनैकान्तिक होता है। अतः प्रथम प्रभासित बाध से ही हेतु उपहत (नष्ट) हो जाता है, फिर

पुनरुपहन्येत ? नहि मृतो मार्यत इति चेत्; हन्तैवं बाधवदेव विपक्षग्राहक-प्रमाणमपि पृथक् दूषणं स्यात् ? प्रमिते विपक्षे तदुपजीविनस्तद्वृत्तेरनैकान्तिकत्वाङ्गीकारात् । व्याप्तिपक्षधर्मताप्रहारेणैव च सर्वदूषणजातस्य दूषणता, अन्यथा सिद्धसाधनताया अपि पृथग्दूषणत्वप्रसङ्गात् । सा हि सिद्धस्य साध्यत्वाभावेन पक्षत्वप्रच्युत्या दूषणमुपेयते, तया बाधोऽपीति ।

प्रसङ्गेन दूषयति—**हन्तैवमिति** । तत्साध्याभावज्ञापनं नाम विपक्षत्वज्ञापनमेव, तथा च बाधोऽपि दूषणमिति, किमुक्तं भवति ? विपक्षग्राहकं प्रमाणमपि भवति दूषणमिति, तथा च प्रसिद्धानैकान्तिकस्थले विपक्षग्राहकं प्रमाणमेव किमिति निग्रहस्थानं न स्यात् ? अस्ति हि तस्यापि केनोपजीव्यत्वमिति भावः । ननु यद्यपि बाधे विपक्षत्वज्ञानमप्यस्ति, तथापि न तेनाकारेण दूषणत्वम्, येनातिप्रसक्तिः स्यात्, किन्त्वनुमितिस्थले तदभावबोधकतया, तदेव ह्यनुमानप्रयोजनं यदनुमितसार्थसिद्धिस्तथा च तामेवापहरन्तो नाङ्गवैकल्यान्तर्भावेण दूषणत्वमपि तु शिरश्छेदनमिव स्वातन्त्र्येणेति, तत्राह—**व्याप्तिपक्षधर्मतेति** । अयं भावः—न तावद्बाधसहस्रेणापि स्वभावव्याप्तिकाविनाभाववति हेतौ जीवति साध्यमपहर्तुं शक्यम् । स्वभावव्याप्त्यपहारे पदार्थत्वादिति हेतावेवापहारप्रसङ्गात् । तस्मादनेन बाधेनापि निरुपाधिकसंबन्धाभाव एव बोधनीयः । एतमर्थमभिप्रेत्याहुः—'बाधेन चापाधिरुन्नीयते तथा चेति न कश्चिदन्यद्विशेषः' इति । तथा च व्याप्त्यपहारेण दूषणत्वान्नानैकान्तिकाद्भेदः । न चासिद्धावन्तर्भावः । व्याप्त्यपहारिलिङ्गत्वाभावात्तस्य, व्याप्त्यपहाररूपा ह्यसौ येयमसिद्धिः । उक्तं च लीलावतीकारेण—'सर्वोपसंहारप्रवृत्तबाह्याभ्यन्तरनियमस्यानुमानसहायस्यात्तद्देशप्रवृत्तेर्विपरीतपरिच्छेदस्य बाधस्य व्यभिचारत्वात्स च व्यभिचारो बहिरन्तश्चेति सव्यभिचारदेहान्तर्भूतत्वादिति । अथवा—'प्रतिज्ञादोषमेवाहुः केचित् प्रत्यक्षबाधनम्' इति वार्तिककारमतेन प्रतिज्ञादोषतैवास्यास्तु, नानैकान्तिकतेत्याशङ्क्य तथाप्यपक्षधर्मतयास्यासिद्धावेवान्तर्भावः, न पृथग्दूषणतेत्याह—**व्याप्तीति** । एवमनङ्गीकारे चातिप्रसक्तिमाह—**अन्यथेति** । तस्यापि पक्षत्वप्रच्यावकत्वसाम्यादित्याह—**सा हीति** । अतस्तस्य यथातथाविधस्याप्याश्रयासिद्धिलक्षणा-

---

अनैकान्तिक से कैसे उपहत होगा । क्योंकि मृत को नहीं मारा जाता है । तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि उक्त रीति से यदि बाध अनैकान्तिक से पृथक् प्रबल दूषण है । इसी प्रकार से बाध के समान ही विपक्षग्राहक प्रमाण भी पृथक् दुषण होगा । क्योंकि प्रमित विपक्ष में विपक्षग्राही प्रमाणोपजीवी (प्रमाणाश्रित) विपक्षवृत्ति हेतु के अनैकान्तिकत्व को माना गया है, अतः अनैकान्तिक से पूर्ववृत्ति विपक्ष ग्राहक प्रमाण भी होता है, और व्याप्त पक्षधर्मता के प्रहार = नाश द्वारा ही सब दूषण समूह की दूषणता होती है, अन्यथा सिद्धसाधनता को भी पृथक् दूषणत्व का

अबाधितविषयत्वस्य दुर्निरूपत्वाच्च । पक्षे विषयापहारलक्षणबाधस्य प्रमितौ तदभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अप्रमितौ चाप्रमितप्रतियोगितया तदभावस्यासिद्धेः ।

तदुक्तमभियुक्तैः—

'बाधश्च पक्षे विषयापहारो यद्यस्ति नाबाधितताऽत्र सिद्धा ।
नोचेदसिद्धप्रतियोगिकत्वादेतस्य सिद्धिर्न कथञ्चन स्यात् ॥' इति ।

सत्प्रतिपक्षप्रकरणसमावप्यसंभविनावेव, निरुपाधेस्त्वनुमानद्वयस्यैकत्रासंभवित्वात्, संभवे वा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तेः । प्रकरणसमेऽपि वस्तुनो

सिद्धावेवान्तर्भावः, एवमस्याप्यनैकान्तिकान्तर्भावः । इयांस्तु विशेषः—तस्य पक्षमात्रापहारकत्वादसिद्धयन्तर्भावः, अस्य व्याप्त्यपहारकत्वादनैकान्तिकान्तर्भाव इति । असंभवित्वाच्चेत्येतद्विवृणोति—**अबाधितेति** । प्रतियोगिप्रमितावप्रमितौ च नेदं संभवतीत्यर्थः ।

एतदेव वृद्धवचनेन द्रढयति—**तदुक्तमिति** । असत्प्रतिपक्षत्वस्यापि दुर्निरूपतां दर्शयितुं प्रतियोगिनो दुर्निरूपतामाह—**सत्प्रतिपक्षेति** । स्वात्मना सत्प्रतिपक्षः प्रकरणसम इति विवक्षितस्तत्र हि नित्यत्वानित्यत्वग्राहकमनुमानद्वयं निरुपाधिकम् ? सोपाधिकं वा ? आद्य आह—**निरुपाधेरिति** । कथमिति न संभवति ? तत्राह—**संभवे चेति** । स्वाभाविकसंबन्धव्यापकापहारे हेतोः स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात् । तदेवं मनो नित्यमनित्यं च स्यात्, न चैतत्संभवति, धर्म्यैव निषेधेत्यर्थः । प्रकारणसमे उभयत्र व्याप्तिरस्ति ? न वा ? प्रथमे पूर्वोक्तदूषणमतिदिशति—

प्रसङ्ग होगा, क्योंकि सिद्धसाधनता भी सिद्ध के साध्यत्व के अभाव से साध्यत्व रूप पक्षत्व का प्रच्युति द्वारा दूषण माना जाता है । इसी प्रकार से बाध भी पक्षत्व की प्रच्युति (निवृत्ति) द्वारा दूषण होता है । और अबाधित विषयत्व के अनिरूपण से भी बाध पृथक् दूषण नहीं हो सकता है । क्योंकि पक्ष में विषय का अपहारस्वरूप बाध की प्रमिति होने पर, उसके अभाव रूप अबाध को कहना अशक्य है, और यदि उक्त प्रमिति नहीं है, तो अप्रमिति रहते अप्रमित प्रतियोगिता से उस बाध के अभाव (अबाधित विषयत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

अभियुक्तों से कहा गया है कि—(पक्ष में विषयासाध्य) का अपहार बाध होना है, वह यदि है, तो पक्ष में अबाधितता (अबाध) नहीं सिद्ध हो सकती है, और यदि बाध नहीं है, तो अप्रसिद्ध प्रतियोगिकत्व से इस अबाधितत्व की सिद्धि किसी प्रकार से नहीं होगी ।

साध्य और तदभाव के साधक दो हेतु वाला सत्प्रतिपक्ष, और विरुद्धार्थसाधक एक हेतु वाला प्रकरण सम भी असम्भवग्रस्त हैं, क्योंकि निरूपाधि अनुमानद्वय का

द्वैरूप्यापत्तिरेव, पक्षविपक्षयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणसद्भावात् । अन्यतर-ग्राहकप्रमाणाभावे च तत एव व्याप्तिभङ्गात् । किंच नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वा, पक्षयोरन्यतरत्वात्सपक्षवदिन्येवंरूपोऽसाविष्यते, तत्र चार्थभेदान्न पक्षप्रतिपक्षयोरेकरूपो हेतुः । नित्यत्वप्रतिज्ञायां नित्यस्यानित्यत्वप्रति-ज्ञायामनित्यस्य सपक्षशब्देनाभिधानात् । शब्दसाम्यमात्रेण च हेतोरेक-

---

प्रकरणसमेऽपीति । उत्तरस्मिन्दूषणमाह—**अन्यतरेति** । एतेन सत्प्रतिपक्षे द्वितीयविकल्पोपि निरस्तः । एतेन हेत्वाभासान्तरान्तर्भावोपि वेदितव्यः । यच्च प्रकरणसमस्य लक्षणं तैरुच्यते, स्वपरपक्षसिद्धौ त्रिरूपो हेतुरेकः प्रकरणसम इति, तदप्यसिद्धमित्याह—**किंचेति** । अर्थभेदमेव दर्शयति—**नित्यत्वेति** । नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र हि शब्दनित्यान्यतरत्वादिति हेत्वर्थः । तथाऽनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र शब्दानित्यान्यतरत्वादित्यर्थः । तथा च नोभ-यत्रानुगतः कश्चिदेको हेतुरस्तीत्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थः । ननु पक्षत्वसपक्षत्वे कौचन धर्मौ, तदधिकरणे च पक्षसपक्षौ, तयोरन्यतरत्वं च हेतुः, अन्यतरत्वं च तदुभयान्यो-न्याभावानधिकरणत्वम्, तथाच कथमननुगतिः ? तत्राह—**शब्दसाम्यमात्रेण चेति** । अयं भावः—न तावदेवंविधौ भावाभावयोरन्तर्भूतौ शब्दनिरूपणौ सकल-

---

एकत्र होना असम्भव है, और वही सत्प्रतिपक्ष का स्वरूप माना जाता है, और यदि विरुद्ध अनुमान द्वय का सम्भव हो, तो वहाँ अनुमेय वस्तु में द्वैरूप्य (भेद) की प्राप्ति होगी (शब्दो नित्यः, श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत् । शब्दोऽनित्यो विशेषगुण-त्वात्, रूपवत्) इत्यादि से नित्य अनित्य दो प्रकार के शब्दादि सिद्ध होंगे। प्रकरण सम में भी वस्तु की द्विरूपतापत्ति ही होगी, क्योंकि पक्ष, विपक्ष दोनों की व्याप्ति के ग्राहक प्रमाण का सद्भाव रहेगा, यदि दोनों में से एक के ग्राहक प्रमाण का अभाव रहेगा, तो उसी से व्याप्ति का अभाव प्राप्त होगा । और प्रकरण सम का लक्षण कहते हैं कि (स्वपरपक्षसिद्धौ त्रिरूपो हेतुरेकः प्रकरणसमः) वादी प्रति-वादी के पक्षों की सिद्धि में, पक्षसत्व सपक्षसत्व और अबाधित्व इन तीनों रूप वाला एक हेतु प्रकरणसम होता है, उदाहरण है कि (शब्दो नित्यः, पक्षसपक्षान्य-तरत्वात्, सपक्षवत्, शब्दोऽनित्यः पक्षसपक्षाऽन्यतरत्वात् सपक्षवत्) इन दोनों अनुमानों में पक्ष तो एक है, परन्तु साध्य नित्य और अनित्य दो हैं, वहां नित्य साध्य वाले अनुमान में नित्य सपक्ष होगा, अतः हेतु का 'शब्दनित्यान्यतरत्वात्' अर्थ होगा, दूसरे अनुमान में अनित्य सपक्ष होगा, अतः हेतु का शब्दाऽनित्यान्य-तरत्वात् अर्थ होगा, इस रीति से एक स्वरूप वाला एक हेतु विरुद्ध नित्यत्व अनित्यत्व का साधक होने से प्रकरण सम है । यहाँ कहा जाता है कि नित्य शब्द है, या अनित्य शब्द है, इन दोनों में अन्यतरत्वात् हेतु एक है, तथा सपक्षवत् यह

रूपत्वे गोशब्दवाच्यत्वाद्वागादीनामपि विषाणित्वानुमा प्रसज्येत। तदेवं व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यामेव सकलहेत्वाभासनिरासे नावयवान्तरकृत्यमस्तीति पश्यामः, तेन पञ्चावयववाक्यं परार्थानुमानमिति प्रत्युक्तम्।

उपमानलक्षणमपि दुर्घटम्। तथाहि—नगरानुभूतचरगोपिण्डस्य वनमुपेयुषः साक्षाद्गवयमीक्षमाणस्यानेन सदृशी मदीया गौरिति प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टासन्निकृष्टगोपिण्डग्रहणमुपमानमिति मीमांसकाः।

भाववृत्तित्वेन षट्पदार्थबहिर्भावेन भावानन्तर्भावात्, निष्प्रतियोगिकत्वेनानिषेधात्मकत्वाच्चाभावानन्तर्भावात्, निष्प्रतियोगिकमभावमिच्छतो दत्तचरमुत्तरम्। अन्यतरत्वनिरुक्तिश्च खण्डितचरी। नच तद्धर्मसिद्धावपि तस्य हेतुता; अनित्यत्वप्रतिज्ञायामाकाशादावपि तद्भावेनानैकान्त्यात्। एवमितरत्रापीति। तस्मात्तत्तद्वस्तुविशेषवाचका एवैते शब्दा इति मन्तव्यम्। तथाचात्र यद्यनुगतिः स्यात्, परं शब्दमात्रेणैव सा चातिप्रसङ्गिनी। पशुत्वेन शशादीनामपि विषाणित्वानुमानापातात्, गोत्वेन च वागादीनामपीति नैरर्थक्यसमर्थनमुपसंहरति—**तदेवमिति**। अत्र च पक्षखण्डनेन च साध्यखण्डनेन चोपाधिखण्डनेन च व्याप्तिखण्डनेन चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमाः खण्डिताः। बाधखण्डनेन च कालातीतः खण्डित इति वेदितव्यम्। अवयवखण्डनस्यानुमानखण्डनोपयोगमाह—**तेन पञ्चेति**।

क्रमप्राप्तमुपमानं खण्डयति—**उपमानलक्षणमपीति**। तत्र सदृशदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमुपमानमिति मीमांसकानामुपमानलक्षणम्, तत्सोपपादनमनुवदति—**तथा हीत्यादिना**। उपेयुषः प्राप्तस्येत्यर्थः। **प्रत्यक्षदृष्टेति**। प्रत्यक्षदृष्टो यो

उदाहरण स्वरूप से यद्यपि एक है, ऐसा मानते हैं, तथापि वहाँ अर्थ के भेद होने से पक्ष-प्रतिपक्ष में एक स्वरूप वाला हेतु नहीं है, क्योंकि नित्यत्व की प्रतिज्ञा (शब्दो नित्यः) में नित्य को और अनित्यत्व की प्रतिज्ञा में अनित्य को सपक्ष शब्द से कहा जाता है। शब्द की समता मात्र से हेतु के एकरूपत्व हो, तो गोशब्दवाच्यत्व से वाक् (वाणी) आदि के भी शृङ्गित्व का अनुमान प्राप्त होगा। अतः उक्त रीति से व्याप्ति पक्षधर्मता द्वारा सब हेत्वाभास के निवारण होने पर अवयवान्तर का फल नहीं दीखता है, अतः पञ्चावयव वाला वाक्य रूप परार्थानुमान होता है, यह प्रत्याख्यान हो गया।

उपमान का लक्षण भी दुःसाध्य है, जैसे कि, जो मनुष्य नगर में गोशरीर को निज अनुभव का विषय करता है, वही वन में जाता है, तो वह प्रत्यक्ष गवय को देखता है, तब उस देखने वाले को ज्ञान होता है कि इनके सदृश मेरी गौ है, इस प्रकार से प्रत्यक्ष दृष्ट गवय के सदृशता से युक्त असन्निहित गो शरीर का ज्ञान उपमान है, यह मीमांसकों का कथन है। वहाँ सदृश के दर्शन से असन्निकृष्ट का

नचेदं स्मरणम्, पुरा गोपिण्डमात्रानुभवेऽपि प्रतियोगिगवयाद्यनवगतत्वेन तत्सादृश्यविशिष्टतयाननुभवात्। नाप्यनुमानम्; तद्व्याप्तलिङ्गाभावात्। नापि शाब्दम्; अन्तरेणापि शब्दव्यवहारमुपपत्तेः। मैवम्;

भूयोऽवयवसामान्यं सादृश्यं यच्च गोगतम्।
विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यतः॥ २९॥

गवयस्तत्सादृश्यविशिष्टतयाऽसन्निकृष्टस्य प्रमाणान्तरेणानधिगतस्य नगरगतगोपिण्डस्य ग्रहणमिति योजना। अत्र च गवयगतगोसादृश्यज्ञानस्य प्रतियोगिगोपिण्डज्ञानसापेक्षत्वादुक्तमनुभूतचरगोपिण्डस्येति। युगपत्प्रत्यक्षावगतगोगवयस्थलव्यवच्छेदायासन्निकृष्टपदम्। ननु नगर एव यदा गोपिण्डोऽनुभूयते, तदा गवयसादृश्यविशिष्टतयाऽनुभूत एव सः, गवयसादृश्यस्य गोगतस्येन्द्रियसन्निकृष्टतयाऽनुभवितुं शक्यत्वात्; अतोऽरण्यस्थस्य तत्र स्मृतिरेव परमुदेति, न प्रमितिरिति, न तत्करणं किञ्चित्प्रमाणमतिरिक्तमस्ति, तत्राह—**न चेदमिति**। यद्यपि सादृश्यमस्ति गोपिण्डे, तथापि प्रतियोगिज्ञानाधीनतया प्रतियोग्यनवगमेन पूर्वं नानुभूयते, तेन न स्मृतिरित्यर्थः। अथानुमानमेवेदं किं न स्यादित्यत्राह—**नाप्यनुमानमिति**। न तावत्सागारनेन सदृशी अस्य तत्सदृशत्वादिति शक्यानुमानम्, तस्य व्यधिकरणत्वात्। नापि गोत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानम्, गवान्तरे गवयग्रहणव्यतिरेकेण सादृश्याग्रहणादिति भावः। **अन्तरेणापीति**। न ह्यरण्यगतदशायामस्ति कश्चिदुपदेष्टेत्यर्थः। एवं समर्थितमुपमानं दूषयति—**मैवमिति**। भूयोवयवानां यानि सामान्यानि खुरत्वकर्णत्वादीनि, तानि गोगवयावयवेषु वर्तमानानि गोगवययोः सादृश्यं द्रव्यादिचतुष्टयतत्त्ववादिना भाट्टस्य तादृशसादृश्यगाश्रयग्रहणेन योग्यतया च पूर्वमेव गवि गृहीतम्,

---

ज्ञान, उपमान का (उपमिति का) लक्षण सिद्ध होता है, और गवय का दर्शन उपमान प्रमाण होता है। यह उपमिति स्मरण स्वरूप नहीं है, क्योंकि प्रथम गो-शरीर मात्र के अनुभव होने पर भी सादृश्य के प्रतियोगी गवयादि के अज्ञात होने से उसके सादृश्य युक्त स्वरूप से उस गौ के अनुभव का अभाव रहता है, और अनुभूत विषय का ही संस्कारजन्य स्मरण होता है। यह अनुमान (अनुमिति) स्वरूप नहीं है, क्योंकि गवय सदृश गो से व्याप्त लिङ्ग का अभाव है। यह शाब्दी प्रमा भी नहीं होती है, क्योंकि शब्द के व्यापार = उपदेशादि रूप व्यवहार के बिना इसकी उत्पत्ति होती है। यह मीमांसकों का कथन है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि—

भूयः बहुत अवयव की समानता ही सादृश्य होता है। जो गोगत अवयव सामान्य निर्विकल्प रूप से प्रथम विज्ञात रहता है कि जिससे गवयदर्शन के बाद प्रत्यभिज्ञा होती है॥ २९॥

न तावत्तौतान्तिकमते सादृश्यमस्ति पदार्थान्तरम्, किंतु भूयोवयवसामान्ययोग एव । तदुक्तम्--

"सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम् ।
भूयोवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत् ॥" इति

(श्लो० वा० उप० १८)

तच्च बुद्धयनारूढेऽपि प्रतियोगिनि गोत्ववन्निर्विकल्पकेनाकलितं पुनर्गवयस्य प्रतियोगिनो दर्शने परामृश्यते सविकल्पकेन, तत्किमपरमवशिष्यते यत्रोपमानमिष्येत ? ननु निर्विकल्पकेनापि न सादृश्यमनुभूतं सविकल्पक-

---

इयांस्तु विशेषः—पूर्वमनेन सदृशीति प्रतियोगिवैशिष्ट्यव्यतिरेकेण निर्विकल्पकमनुभूतम्, इदानीं तु सविकल्पतया प्रत्यभिज्ञा जायते यतोऽतो न पृथक्प्रमाणमिति श्लोकयोजना । श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । तौतान्तिकाः कौमारिलाः । प्राभाकरमते हि सादृश्यं द्रव्याद्यतिरिक्तमिति तौतान्तिकग्रहणम् । **पदार्थान्तरमिति** । सामान्यपदार्थादतिरिक्तमित्यर्थः । अत्रैव वार्तिकसंमतिमाह—**तदुक्तमिति** । गवयात्सकाशाज्जात्यन्तरस्य गोपदार्थस्य गवयगतभूयोवयवसामान्यैर्योगः सादृश्यमतस्तस्य वस्तुत्वमपबाधितुमशक्यं भाट्टमतानुसारिभिरिति योजना ।

ततः किमिति तत्राह—**तच्चेति** । तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकारेण—"नह्यन्यद्गवि सादृश्यमन्यच्च गवये, भूयः सामान्ययोगो जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते, सामान्ययोगश्चैकः, स चेद्गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति" इति । ननु यद्यपि भावरूपत्वान्निर्विकल्पकवेद्यत्वमस्ति, तथापि सप्रतियोगिक एव निर्विकल्पकेनापि गृह्यते, प्रतियोगिसापेक्षस्य निर्विकल्पके सविकल्पके वा स्वभावापरित्यागात्, नच प्रतियोगी पूर्वमुपलब्धः, तेन निर्विकल्पकेनाप्यननुभूतमेवेति शङ्कते—**नन्विति** । यथा हस्तवितस्त्यादिरस्मादयं दीर्घ इति व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षग्रहणेपि न स्वरूपमात्रग्रहणे प्रतियोगिनमपेक्षते, एवमत्रापीति

भाट्टमत में पदार्थान्तर रूप सादृश्य नहीं है, किन्तु बहुत अवयवों की तुल्यता का सम्बन्ध ही सादृश्य है, ऐसा कहा है—

सादृश्य के वस्तुत्व का बाध नहीं किया जा सकता है, किन्तु जात्यन्तर के बहुत अवयव की समानता का सम्बन्ध रूप वह सादृश्य है ।

वह गोगत सादृश्य गवय रूप प्रतियोगी के बुद्धि में अनारूढ (अज्ञात) रहते भी गोत्व के समान निर्विकल्पक ज्ञान से गृहीत होता है, फिर गवय रूप प्रतियोगी के दर्शन होने पर सविकल्पक ज्ञान से परामृष्ट (अनुभूत) होता है, इसप्रकार प्रत्यक्ष से ही सदृश के ज्ञान होने पर क्या परिशेष रहता है कि जिसके लिये उपमान प्रमाण मानना चाहिये । शंका होती है कि सविकल्पक के समान निर्वि-

वत्तस्यापि तदाकलने प्रतियोगिसापेक्षत्वादिति चेत्, न, हस्तवितस्त्यादिवत्कर्णखुरादिसामान्यस्य स्वरूपावधारणे प्रतियोगिनिरपेक्षत्वात्। अन्यथा भेदस्यापि निर्विकल्पकेनाकलनाभिनिवेशो भवतां प्रलीयेत।

ये तु प्रतिजानते—सादृश्यं नाम पदार्थान्तरम्, तद्धि न द्रव्यम्, गुणवृत्तित्वात्, अत एव न गुणोऽपि, नापि कर्म, नापि सामान्यादित्रयम्, तत्रापि वृत्तेः। नापि शक्तिः, शक्तेरप्रत्यक्षत्वात्, प्रत्यक्षत्वाच्च सादृश्यस्य।

परिहरति—**न हस्तेति**। अतश्चैतदङ्गीकर्तव्यमितरथा भेदस्यापि सप्रतियोगिकतया निर्विकल्पकवेद्यत्वाभावप्रसङ्गात्। स्वीकृतं च तत् "निर्विकल्पकबोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः ग्रहणम्" इति वदद्भिरित्यभिसंधायाह—**अन्यथा भेदस्यापीति**।

एवं भाट्टपक्षे दूषणमुक्त्वा प्राभाकरमतमुत्थापयति दूषयितुम्—**ये तु प्रतिजानत इत्यादिना**। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायशक्तिसंख्याऽपूर्वसादृश्यात्मका हि पदार्थास्तैः परिगणितास्तत्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वं परिशेषतः साधयामास शालिकनाथः प्रमाणपारायणे—'विषयोऽस्य वित्तिसिद्धो भिन्नो द्रव्यादिभावेभ्यः' इत्यादिना, तदनुवदति—**तद्धीति**। **गुणवृत्तित्वादिति**। केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्ध इत्यादावित्यर्थः। **अत एव** गुणवृत्तित्वादेव। अगुणा हि गुणा इत्यर्थः। नापि कर्म गुणवृत्तित्वात्कर्मवृत्तित्वाच्चेति द्रष्टव्यम्। **तत्रापीति**। सामान्यादिष्वपीत्यर्थः। अस्तु तर्हि शक्त्यन्तर्भावः, तत्राह—**नापि शक्तिरिति**। संख्यावृत्तितामेव दर्शयति—

कल्पक से भी प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना सादृश्य अनुभूत नहीं होता है, क्योंकि सादृश्य के आकलन (अनुभव) में प्रतियोगी सापेक्षत्व रहता है। अतः निर्विकल्पक से भी प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता है, परन्तु यह शंका युक्त नहीं। क्योंकि हस्तपरिमाण वितस्ति परिमाणादि के यह इससे दीर्घ है, इत्यादि ज्ञान के सापेक्ष होते भी उन प्रमाणों के स्वरूप के ज्ञान में किसी की अपेक्षा नहीं होती है, इसी प्रकार से कर्ण-खुरादि रूप सामान्य के स्वरूप ज्ञान में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होती है। अन्यथा भेद का भी निर्विकल्पक से अनुभव विषयक आपका अभिनिवेश (निश्चय) विलीन हो जायगा (नहीं रहेगा) और आप मानते हैं कि द्व्यात्मक वस्तु भेद का निर्विकल्पक से ग्रहण होता है। ऐसे ही सादृश्य का भी ग्रहण होगा।

जो प्राभाकरमतानुयायी मानते हैं कि सादृश्य नामक पदार्थान्तर है, वह द्रव्य नहीं है। क्योंकि गुण में रहता है, अतएव वह गुण भी नहीं है, न कर्म है, क्योंकि गुण में गुण और कर्म नहीं रहते हैं। सामान्य, विशेष, समवाय इन तीनों रूप भी सादृश्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें भी सादृश्य रहता है। शक्ति रूप नहीं है। क्योंकि कार्यानुमेय शक्ति अप्रत्यक्ष रहती है, और सादृश्य प्रत्यक्ष होता है। संख्या रूप भी

नापि संख्या, संख्यावृत्तित्वात्, इदमेकत्वमेकत्वान्तरसदृशमिदं च द्वित्वं द्वित्वान्तरसदृशमिति तत्रापि व्यवहारात्। तच्च सविकल्पकैकवेद्यम्, इदमनेन सदृशमिति प्रतियोगिघटितस्यैव व्यवहारनियमदर्शनादिति, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। तत्किं स्पर्शवत्? उत न? आद्ये, द्रव्यत्वम्। द्वितीये, एकवृत्तित्वे गुणकर्मविशेषाणामन्यतमत्वम्। अनेकवृत्तित्वे तु सामान्यसमवाययोरन्यतरत्वापत्तिः। एतेन पदार्थान्तरत्वं संख्याया अपि प्रत्याख्येयम्।

यत्पुनः षट्पदार्थान्तर्भावे सामान्यादिवृत्तित्वं न स्यादिति, तत्र ब्रूमः–

इदमेकत्वमिति। अपूर्वत्वं तु चोदनालक्षणत्वाभावादतिदूरनिरस्तमिति भावः। ननु भवतु पदार्थान्तरं तथापि पूर्वमेव गृहीतत्वात्प्रत्यभिज्ञान्तर्भावे किमुक्तमुत्तरमिति? तत्राह—**तच्च सविकल्पकेति**। तत्र, परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायेन षट्स्वेव सादृश्यमन्तर्भावयन्पदार्थान्तरतां दूषयति—**मैवमित्यादिना**। अत्र तावदाश्रिततया प्रतीतेर्न नित्यद्रव्यमिति स्थिते विकल्पयति –**तत्किं स्पर्शवदित्यादिना**। **द्रव्यत्वमिति**। गुणादीनां निर्गुणत्वादित्यर्थः। स्पर्शरहितत्वेऽपि किमेकवृत्ति? किं वानेकवृत्ति? प्रथमे प्राह—**गुणकर्मेति**। यद्यपि संयोगादेरनेकवृत्तित्वमस्ति, तथाप्येकवृत्तिगुणाद्यन्यतमादावतिव्याप्त्येर्न व्यभिचार इति भावः। द्वितीये दूषणमाह –**अनेकेति**। एतच्च नित्यत्वे, अनित्यत्वे तु द्वित्वादिगुणविशेषत्वापत्तिरपि द्रष्टव्या। नन्वस्पर्शवत्त्वे सत्येकवृत्तित्वमनेकवृत्तित्वं च न गुणादिपञ्चकव्याप्तम्, संख्यायां व्यभिचारादित्यत्राह—**एतेनेति**।

एवं षट्स्वेवान्तर्भावमुक्त्वा यत्तेनानन्तर्भावे कारणमुक्तं तद्दूषयति—**यत्पुनरिति**। **न द्वितीय इति**। विप्रतिपन्न सामान्याद्यनन्तर्भूत सामान्यादिवृत्तित्वादिति

सादृश्य नहीं है, क्योंकि संख्या में भी रहती है, यह एकत्व एकत्वान्तर के सदृश है, और यह द्वित्व द्वित्वान्तर के सदृश है। इसप्रकार से संख्या में सादृश्य का व्यवहार होता है, और यह सादृश्य एक सविकल्पक ज्ञान से ही वेद्य (ज्ञेय) होता है, क्योंकि यह इसके सदृश है, इसप्रकार से प्रतियोगियुक्त सादृश्य का व्यवहार नियम से देखा जाता है। ऐसा मानना युक्त नहीं। क्योंकि यह मत विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि वह सादृश्य स्पर्श वाला है या नहीं, प्रथम पक्ष में स्पर्श रूप गुण वाला होने से उसको द्रव्यत्व होगा। दूसरे पक्ष में स्पर्शरहित एकवृत्ति होने पर गुण कर्म विशेषों में किसी एक स्वरूप होगा। और अनेक वृत्ति होने पर सामान्य समवाय में किसी एकरूपता की प्राप्ति होगी। इसीप्रकार से संख्या के पदार्थान्तरत्व प्रत्याख्येय है।

और जो यह कहा था कि सादृश्य के द्रव्यादि छह पादार्थ के अन्तर्भाव होने पर सामान्यादि में उसके वृत्तित्व नहीं होगा। वहाँ कहा जाता है कि क्या यह कथन

किमिदं प्रसङ्गमात्रम् ? उत विपर्ययपर्यवसायितया प्रमाणमेव ? नाद्यः, तर्कमात्रस्यासाधकत्वात् । न द्वितीयः, सामान्यमेव सादृश्यमिति वादिनं प्रति सामान्यवृत्तित्वस्यासिद्धेः । ननु गवयत्वमिव गोत्वमित्यनुभवादेव सादृश्यस्य सामान्यवृत्तिता सिद्धेति चेत्, किमनुभवादेव सिद्धिः ? उताबाधितात् ? नाद्यः, गगननीलिमादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, प्रतिवादिनं प्रत्यबाधासिद्धेः । किंच यत्र सौवर्णकर्णाभरणया सौवर्णकर्णाभरणा सदृशीत्युपमीयते, तत्र द्रव्यं सादृश्यम्, नच तद्गुणवृत्ति । तथा रसः पनसशर्करयोः सादृश्यम्, तस्य च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वादित्यसिद्धो हेतुः । यत्र च हंसगमनेन हंसगमनमुपमीयते तत्र कर्मैव सादृश्यमिति तत्रापि

हि विपर्ययपर्यवसायि प्रमाणं, तत्र चासिद्धो हेतुः । सामान्यवादिनानङ्गीकारादित्यर्थः । वृत्तिमनुभवेन साधयति पूर्ववादी —**ननु गवयत्वमिवेति** । किं प्रतीतिमात्रं वृत्तिसाधकम् ? अबाधितप्रतीतिर्वा ? नाद्यः । अतिप्रसङ्गादिति दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—**प्रतिवादिनं प्रतीति** । एवं सामान्याद्यनन्तर्भावे हेतुमुद्धृत्य द्रव्यादित्रयानन्तर्भावे हेतुं गुणवृत्तित्वमप्यसिद्धयति—**किंचेत्यादिना** । **हंसगमनेति** । 'हंसीव सा गच्छति चारुहासिनी' इत्यादौ हंसगमनेन हेतुना हंसगमना हंसीत्युपमीयते

प्रसक्तिरूप तर्क मात्र है, या (सादृश्य, सामान्यादि में अनन्तर्भूत है, सामान्यादि में वृत्ति होने से) विपर्यय बोधक रूप से प्रमाण ही है कि जिनसे षट्पदार्थ अन्तर्वृत्तिता का अभाव सिद्ध हो । आद्यपक्ष युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाणरहित तर्कमात्र किसी अर्थ का साधक नहीं होता है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि सामान्य ही सादृश्य है, ऐसा कहने मानने वालों के प्रति सामान्य वृत्तित्व रूप अनन्तर्गतता का साधक हेतु असिद्ध है । यदि शंका हो कि 'गवयत्व के समान गोत्व है' इस अनुभव से सामान्य में सादृश्य की वृत्तिता सिद्ध होती है, तो इस शंका की निवृत्ति के लिये विचारना चाहिये कि उक्त अनुभव मात्र से सादृश्य की सामान्य वृत्तिता सिद्ध हो सकती है, या अबाधित अनुभव से सिद्ध हो सकती है । प्रथम पक्ष तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि अनुभव मात्र से तो गगन की नीलतादि की भी सिद्धि प्राप्त होगी । दूसरा पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि प्रतिवादी के प्रति उस अनुभव में अबाधितत्व की असिद्धि है, और यह दूसरी बात है कि, सुवर्ण रचित कर्णभूषण वाली किसी स्त्री के साथ, यह सुवर्णरचित कर्णभूषण वाली सदृश है । इसप्रकार से जहां उपमा दी जाती है, वहां कर्णभूषण रूप द्रव्य ही सादृश्य रहता है, वह गुण वृत्ति नहीं होता है । इसीप्रकार से पक्व पनस = कटहर और शक्कर का रस ही सादृश्य होता है, उसके द्रव्यवृत्तित्व से भी गुणवृत्तित्व, यह हेतु असिद्ध है । और जहां हंस तुल्य गमन वाले से हंस तुल्य गमन वाला उपमित होता है, वहां गमन

हेतोरसिद्धिः । किंच दृश्ये प्रतियोगिनि धर्मिस्वरूपग्रहणमेवाभावव्यवहार-निदानमिच्छन्किं नेच्छसि अधिगतविषयस्य गोस्वरूपावधारणमेव सादृश्य-व्यवहारकारणमिति ?

भवतु वा यत्किंचित्सादृश्यम्, तथापि गोपिण्डस्य तद्विशिष्टताप्रतीति-रनुमानमेव किं न स्यात् ? सा गौर्गवयसदृशी गोत्वात् गवयेन सहोपलभ्य-

---

यत्रेत्यर्थः । हंसगमनेन पुरुषेणेत्यन्ये । द्रव्यगुणकर्मणामेव तत्र तत्र सादृश्यव्यवहार-हेतुत्वात्तेषां च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वासिद्धिरिति खण्डलकार्थः । किंचास्तित्व-व्यवहारहेतौ प्राभाकराणामस्तित्वेऽप्ययं प्रसङ्गः समानः, तस्य भवदभिमतसर्वपदार्थ-वृत्तित्वात् । अथेतरान्तर्भूतस्यैव तस्य तथा व्यवहारहेतुत्वम्, तत्सादृश्येपि समान-मित्यपि द्रष्टव्यम् । इदानीमभावप्रतिबन्द्या वस्तुत्वमेव सादृश्यस्य नास्त्यतोपि पदार्थान्तरत्वं दूरापेतमित्याह —**किंचेति** । विषयो गवयः ।

इदानीं सादृश्यमुपेक्ष्य तत्प्रमितिकरणस्य प्रमाणान्तरत्वं दूषयति—**भवतु वेति** । इदं च पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञानान्तर्भावमङ्गीकृत्याधिकमभिधीयते, न त्वव्याप्तिमभिप्रेत्य । ननु नास्त्यत्र लिङ्गमित्युक्तम्, तत्राह —**सा गौरिति** । गवयसन्निधावुपलब्धगोपिण्डे प्रत्यक्षेण शक्या गोत्वस्य गवयसादृश्येन व्याप्तिर्ग्रहीतुमिति भावः । तथाप्यनुपलब्ध-

---

रूप धर्म ही सादृश्य रहता है, अतः उसकी जाति आदि में अवृत्ति होने से हेतु के स्वरूप की असिद्धि है । और दृश्य (योग्य) प्रतियोगी के रहते धर्मी = अनुयोगी के स्वरूपग्रहण को ही (घटः पटो न भवति) इत्यादि अभाव व्यवहार का हेतु को मानते हुए भी आप, अधिगत = ज्ञात गवय रूप विषय = प्रतियोगी वाले के गो स्वरूप के अवधारण (ज्ञान) को सादृश्य व्यवहार का कारण क्यों नहीं मानते हैं । अर्थात् गवय ज्ञान प्रथम गोस्वरूप का ग्रहण ही गवय के ज्ञान के बाद सादृश्य व्यवहार का हेतु होता है, जैसे प्रतियोगी का ज्ञान अनुयोगीस्वरूप अभाव के व्यवहार का हेतु होता है, अभाव के अनुयोगीस्वरूप होते भी और स्वरूप ज्ञान होते भी प्रतियोगी के ज्ञान के बिना उसका व्यवहार नहीं होता है, इसीप्रकार से गवय के ज्ञान के बिना गो में प्रथम सादृश के ज्ञान होते भी व्यवहार नहीं होता है, गवय ज्ञान के बाद व्यवहार होता है, इत्यादि ।

अथवा सादृश्य जो कुछ हो, तो शरीर की सादृश्ययुक्तता की प्रतीति अनुमान (अनुमिति) रूप से क्यों न हो (क्यों न माना जाय) क्योंकि (वह मेरी गौ, इस गवय के सदृश है, गौ होने से, इस गवय के साथ उपलभ्यमान इस अन्य गौ के समान) इस प्रयोग की सिद्धि से अनुमान सिद्ध होता है । यदि कहें कि जिसको गवय के ज्ञान काल में गृहगत गौ से अन्य गौ का ज्ञान नहीं हुआ है । उसको गो सदृश गृहगत गौ है । इस ज्ञान के लिये उपमान रूप प्रमाणान्तर चाहिये, क्योंकि

मानगवान्तरवदिति प्रयोगोपपत्तेः। गवयोपलम्भसहकालमप्रमीयमाणगवान्तरस्य गवयसदृशी गौरित्यवगतिरूपमिति चेत्, मैवम्, अर्थापत्तेरेव तत्रापि प्रामाण्योपपत्तेः। गवयनिष्ठगोसादृश्यस्य परिदृश्यमानस्य गोगवयसादृश्यव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। न च गवयनिष्ठं गोसादृश्यमप्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वाप्रतियोगिनो गोरिति वाच्यम्, स्मर्यमाणेऽपि प्रतियोगिनि धर्मिग्रहणादेव सादृश्यस्य भेदवत्प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः। सादृश्यज्ञानकरणमुपमानमित्यभ्युपगच्छता च सादृश्यप्रतीतेरवश्याभ्युपेयत्वात्। तथाचार्थापत्त्यैव तत्प्रतीत्युपपत्तेः कृतमुपमानेन, अन्यथा वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः।

गोपिण्डं प्रत्युपमानोपयोगं शङ्कते—**गवयोपलम्भेति**। अप्रमीयमाणगवान्तरस्य। पुरुषस्येति शेषः। अर्थापत्तिमेव सविकल्पिकां दर्शयति—**गवयनिष्ठेति**। स्यादेतत्, यदि गवयनिष्ठगोसादृश्यं प्रत्यक्षेण गृहीते ततस्तदन्यथानुपपत्त्या शक्यं गोगतं गवयसादृश्यं ज्ञातुम्, नत्वेददस्ति, तस्यापि प्रतियोगिगोसापेक्षग्रहणतया तद्व्यतिरेकेण ग्रहणमेवाशक्यमिति तत्राह—**न च गवयनिष्ठमिति**। माभूत्प्रतियोगिनस्तदानीं ग्रहणम्, गृहगृहीतगोः स्मरणसहायमिन्द्रियमेव संप्रयुक्तसादृश्यप्रत्यक्षकरणे समर्थम्, यथा प्रत्यभिज्ञायां यथा वाऽसन्निहितप्रतियोगिके सन्निहितभेद इत्यर्थः। यदि च तत्र धर्मिणो गृहीतत्वात्तद्गतभेदस्य संप्रयुक्तत्वाच्च युज्यते ग्रहणमिति मतिः, तदत्रापि समानमिति भावः। अथ सादृश्यमेव प्रत्यक्षायोग्यमिति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**सादृश्यज्ञानेति**। एवमनुपपन्नदर्शनं समर्थयित्वार्थापत्तिमुपसंहरति—**तथा चेति**। अवश्यं

इसको दृष्टान्त उपलब्ध नहीं है, पास में दूसरी गौ के रहने से वह दृष्टान्त बन जाती है। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि जहाँ दूसरी गौ नहीं है, वहाँ भी अर्थापत्ति को ही प्रमाणता सिद्ध होती है, अर्थापत्ति से वहाँ गृहगोगत सादृश्य का ज्ञान होता है, उपमान की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि परिदृश्यमान गवयवृत्ति गोसादृश्य की गोवृत्ति गवयसादृश्य के बिना अनुपपत्ति है, अतः गवयगत सादृश्य की अनुपपत्ति से गोगतसादृश्य का ज्ञान होता है। यदि कहें कि सादृश्य के प्रतियोगी गौ के अप्रत्यक्ष होने से गवयवृत्ति गोसादृश्य अप्रत्यक्ष रहता है, अतः उसकी अनुपपत्ति से भी गोगत सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता है, तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रतियोगी के स्मर्यमाण (अप्रत्यक्ष स्मृत) रहते भी जैसे धर्मी = अनुयोगी के ज्ञान से भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसीप्रकार से सादृश्य के प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है। और सादृश्य का ज्ञानरूप करण वाला उपमान होता है, ऐसा मानने वाले को भी सादृश्य की प्रतीति अवश्य मन्तव्य है। इस उक्तरीति से अर्थापत्ति से ही सादृश्य की प्रतीति की सिद्धि हो जाने से, उपमान से कुछ कर्तव्य नहीं रह जाता है, अन्यथा वैधर्म्य प्रतीति को भी प्रमाणान्तरत्व = प्रमित्य-

तथाहि—यत्र परोक्षादपरोक्षे भवति वैधर्म्यावगतिस्तस्मादयमन्यथेति, भवति एतस्मादन्यथा स इत्यपि मतिः, सापि प्रमाणान्तरं स्यात्। सार्थापत्तिरिति चेत्, प्रकृतेऽपि समानम्। यथोदितमुदयनेन—

"साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्जते।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत्प्रकृते न किम्॥ इति
(न्या० कु० ३।९)

तदास्तां मीमांसकाभिमतोपमानापाकरणप्रपञ्चः, नैयायिकोदीरितमुपमानमपि दुर्निरूपम्। अनवगतसंगतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थप्रमितिरुप-

---

चैवमङ्गीकर्तव्यम्, इतरथाऽतिप्रसङ्गादित्याह—**अन्यथेत्यादिना**। अतिप्रसक्तिमेव विवृणोति—**तथाहीति**। यदाहि परोक्षात्क्रमेलकादेः सकाशादपरोक्षहस्त्यादावनतिदीर्घाऽवक्रवन्धुरग्रीवासमपृष्ठस्थविष्ठशरीरस्थूलपादादि वैधर्म्यम् ज्ञातं भवति, तदा सन्निहितहस्त्यादेः सकाशादसन्निहितकरभादावपि वक्रातिदधिकृशग्रीवाविकटपृष्ठकृशशरीरदीर्घपादादिवैधर्म्यप्रतीतिर्भवति, तत्करणमप्यपरं प्रमाणं स्यादित्यर्थः। अत्र च शङ्किष्यमाणार्थापत्त्युपयोगितयाऽपरोक्ष इत्युक्तम्। एवं प्रतिबन्दीं गृहीत्वा परिहारसाम्यं वक्तुम् तन्मुखेन तमुद्भावयति—**सेति**। उदयनेन कुसुमाञ्जलावुक्तं चैतदित्याह—**यथोदितमिति**। अत्र साधर्म्यवैधर्म्यशब्दाभ्यां तज्ज्ञापकप्रमाणे विवक्ष्येते।

एवं मीमांसकाभिमतमुपमानं दूषयित्वा नैयायिकाभिमतमुपमानं फलविवेचनपूर्वकं दर्शयति दूषयितुम्—**अनवगतेति**। अनवगता संगतिः स्वार्थेन वाच्यवाचकभावो यस्याः गवय इति संज्ञायाः सा तथोक्तां तथा समभिव्याहृतं सहोच्चारितं यद्वाक्यं यथा गौस्तथा गवय इति तस्य योऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यो गवयशब्दार्थस्तत्प्रमिति-

---

न्तरत्व प्राप्त होगा, और उसके करणान्तर प्राप्त होगा। क्योंकि परोक्ष उष्ट्रादि के ज्ञान से पीछे अपरोक्ष हस्ती आदि में वैधर्म्य का ज्ञान होता है कि उससे यह अन्य प्रकार वाला है। फिर ज्ञान होता है कि इस प्रत्यक्ष से वह परोक्ष अन्यथा है, तो यह भी प्रमाणान्तर होगा। यदि इस वैधर्म्य ज्ञान को अर्थापत्ति माना जाय तो प्रकृत में साधर्म्य ज्ञान में भी अर्थापत्तित्व तुल्य है यह श्री उदयनाचार्य ने कहा है—

साधर्म्यग्राहक प्रमाण के समान वैधर्म्यग्राहक प्रमाण भी इसी प्रकार से प्राप्त होता है, यदि वह वैधर्म्य ग्राहक अर्थापत्ति है, तो प्रकृत में व्यक्त है ऐसा क्यों न माना जाय।

मीमांसक अभिमत उपमान अपाकरण का प्रपञ्च अब रहने दिया जाय। नैयायिकों से वर्णित उपमान भी दुर्निरूप है। जिस गवयसंज्ञा की स्वार्थ के सङ्गति नहीं गृहीत हुई है, उस अनवगत = अज्ञात सङ्गति वाली संज्ञा के सहित उच्चारित

मितिस्तत्करणमुपमानमिति ते वर्णयन्ति। तथाहि—नागरिकस्य यादृशी गौस्तादृशो गवय इति श्रुतातिदेशवचसः कानने वस्तुतो गोसदृश गवयमालोकयतो नूनमयमसौ गवयपदाभिधेयो यः पुराप्तेन गोसदृशो गवय इत्युपदिष्ट इति प्रमितिरुपजायते। नचेयमागमजा, अपरिदृष्टगवयस्यापि प्रसङ्गात्। भवत्येवाप्तवचनात्सामान्यतस्तन्निश्चय इति चेत्, मैवम्, सामान्यतः

स्तस्य तच्छब्दवाच्यताप्रमितिरुपमितिः। यच्च तादृशं प्रमितिकरणं तत्संज्ञास्मरणसहाय गोसादृश्यलक्षणार्थस्य संज्ञिन्यनुसंधानात्मकं तदुपमानमित्यर्थः। अत्र च शाब्दप्रमितिव्यवच्छेदार्थमनवगतेत्यादिविशेषणम्। प्रत्यक्षानुमितिव्यावृत्त्यै वाक्यार्थग्रहणम्। इममेवार्थम् विवृणोति—**तथाहीत्यादिना**। **श्रुतातिदेशवचस इति**। आरण्यकसकाशाद्यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं श्रुतवत इत्यर्थः। अत्र चालोकयत इत्यन्तेन करणशरीरमुक्तम्। शेषेण च फलकथनम्। ननु यथा गौस्तथा गवय इत्यारण्यकवचनादियं प्रमितिरुपपद्यतेऽतो न प्रमाणान्तरमिति, तत्राह—**न चेयमिति**। नेयं वचनजनिता। तथा सति नगरगतसमय एवोत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु नायमनिष्टप्रसङ्गः, यो गोसदृशोऽसौ गवयशब्दार्थ इति सामान्येन वाक्यार्थप्रत्ययस्य तथाप्युपपद्यमानत्वादिति शङ्कते—**भवत्येवेति**। न सामान्यप्रतीतिर्व्यवहारोपयोगिनी, विशेषनिष्ठत्वात्तस्य, अतो व्यक्तिविशेषस्य शब्दवाच्यत्वमेव बुभुत्सितम्, तत्प्रतीतिश्च न वाक्यजन्याऽतः करणान्तरनिबन्धनैवेति परिहरति—**मैव-**

वाक्यार्थ की प्रमिति उपमिति होती है, और उसका करण उपमान प्रमाण होता है, यह वे नैयायिक वर्णन करते हैं। अर्थात्—जैसी गौ है ऐसा ही गवय होता है इस प्रकार अतिदेस (सादृश्य बोधक) वचन को जिसने सुना है, वह नगरनिवासी यदि वन में जाता है, और वस्तुतः गोसदृश गवय को देखता है, उस देखने वाले को प्रमिति होती है कि यह अवश्य वह गवय पद का वाच्य है, कि जो प्रथम आप्त पुरुष ने गोसदृश गवय होता है, यह उपदेश दिया था। यह प्रमिति, आगम = शब्द से जन्य नहीं होती है, क्योंकि आगमजन्य हो तो गवय को नहीं देखने वाले को भी होना चाहिये। यदि कहें कि आप्त वचन से भी सामान्य रूप से उस गवय का निश्चय होता ही है, अतः शब्द कहा जा सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सामान्य रूप से प्रतीति होने पर भी व्यक्तिविशेष के गवय पद वाच्यत्व की प्रतीति उपदेश मात्र से नहीं होती है, उसके लिये उपमान को मानना पड़ता है। अन्यथा (जो-जो धूमवान्, सो-सो अग्निमान्) इस आप्तवचन से अविनाभाव (व्याप्ति) को जानने वाले की पर्वत में अग्नि की प्रतीति आगमजन्य ही होगी, अनुमान की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि कहा जाय कि गवय के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के सत्त्व से प्रत्यक्ष से ही गवय पदवाच्यता की प्रतीति हो सकती

प्रतीतावपि व्यक्तिविशेषस्य तत्पदाभिधेयत्वाप्रतीतेः। अन्यथा यो यो धूमवानसावसावग्निमानित्याप्तवचनाधिगताविनाभावस्य पर्वते वह्निप्रतीतिरागमजैव स्यात्। अस्तु तर्हि प्रत्यक्षेणैव गवयशब्दवाच्यत्वाधिगतिरिति चेत्, मैवम्, अश्रुतातिदेशवाक्यस्यापि प्रसङ्गात्। उपदेशसंस्कारसध्रीचीनं प्रत्यक्षमेव रत्नतत्त्वस्येव तदवगतिहेतुरिति चेत्, न, वाच्यत्वस्य प्रत्यक्षानवगाह्यत्वात्। नहि प्रत्यक्षेऽपि घटे घटशब्दवाच्यता प्रत्यक्षा, येन प्रकृतेऽपि तथा स्यात्। नाप्यनुमानतस्तदधिगतिः, गोसादृश्यस्य गव्यपि

मिति। ननु यद्यपि तदा नोत्पद्यते, तथापि श्रुतवाक्यसामर्थ्यादेव पश्चादुत्पद्यमानत्वादागमजन्यैवेति, तत्राह—**अन्यथेति**। अथवा सामान्यनिश्चायकादेव विशेषनिश्चयसंभवेनोपमानवैयर्थ्याशङ्कायामिदमुत्तरम्। स्यादेतत्संप्रयुक्तगवयनिष्ठं गवयशब्दवाच्यत्वं तद्गतसामान्यादिवत्प्रत्यक्षेण किमिति न गृह्यते? इति शङ्कित्वा परिहरति—**मैवमश्रुतेति**। अतिदेशवाक्योपदेशसहकृतप्रत्यक्षजन्यत्वं शङ्कते—**उपदेशेति**। विषम उपन्यासः। तंभतत्त्वे ह्यवयवविशेषो वा रूपविशेषो वा सामान्यविशेषो वा तच्चिह्नं प्रत्यक्षयोग्यम्, इह तु न वाच्यवाचकभावस्य प्रत्यक्षता, घटादावदर्शनात्, वृद्धव्यवहारलक्षणानुमानैकावसेयत्वात्तस्येत्यभिसंधाय परिहरति—**न वाच्यत्वस्येति**। अस्तु तर्हि घटादिगतवाच्यत्ववदत्राप्यनुमानगम्यत्वमिति, तत्राह—**नाप्यनुमानेति**। अयमभिसंधिः—न तावत् 'माणवक समिधमाहर' इति वाक्यश्रवणसमनन्तरमेव मध्यमवृद्धमाणवकसमिदाहरणप्रवृत्तिवदेतच्छ्रवणसमनन्तरमस्ति काचित्प्रवृत्तिर्येन मार्गेण गवादिशब्दानामिवानुमानादस्यापि गवये संगतिर्गृह्येत। तत्कस्य हेतोः? अप्रवर्तकत्वात्, तदिहैतावदवशिष्यते, विमतः पुरोवर्तिपिण्डो गवयशब्दवाच्यः गोसदृशत्वाद्य यदेवं न तदेवं यथा करभादीति व्यतिरेक्यनुमानादधिगतिरिति। तच्च न संभवति, गवान्तरेऽपि गवयशब्दावाच्ये गोसदृशत्वहेतोर्वर्तनेन

है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, यदि प्रत्यक्ष से गवय पद वाच्यता का ज्ञान होता, तो जिसने गोसदृशो गवयः, इस अतिदेश वाक्य को नहीं सुना है, उसको भी वाच्यता का ज्ञान होता और नहीं होता है, अतः इस प्रसक्ति से प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है। यदि कहा जाय कि उपदेशजन्य संस्कारसहित प्रत्यक्ष ही रत्नतत्त्व के ज्ञान के समान उस वाच्यता के ज्ञान का हेतु है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि रत्नतत्त्व में तो उसके अवयवादि प्रत्यक्ष के योग्य है, वाच्यत्व को प्रत्यक्षानवगाह्यता (प्रत्यक्षायोग्यता) है, क्योंकि प्रत्यक्ष घट में घटपदवाच्यता प्रत्यक्ष नहीं होती है, उपदेशादि से जानी जाती है, और घटगत वाच्यता प्रत्यक्ष नहीं है कि जिसकी सदृशता से भी प्रकृत में प्रत्यक्षता की सम्भावना भी हो सके। अनुमान से भी उस वाच्यता का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि गो के सादृश्य का दूसरे गो में भी

संभवेन विपक्षवृत्तित्वात् । नार्थापत्तिः, अनुमानाव्यतिरेकादिति चेत्, मैवम्, अनुमानतस्तथात्वप्रतीत्युपपत्तेः । तथाहि—

वाचको गवयस्यायं तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति ।
वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वाद्गोत्वे गौरिति गीरिव ॥ ३० ॥

यो यत्रासति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः प्रयुज्यते स तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चायमसति वृत्त्यन्तदे गवयशब्दः पुरोवर्तिनि, तस्मात्तस्य वाचक इत्यनुमानादेव संबन्धाधिगतिसिद्धेः । न च विशेपणासिद्धो हेतुः,

---

विरुद्धत्वादिति । **अनुमानाव्यतिरेकादिति** । तन्निरसनेन निरासादिति भावः ।

एवं समर्थितं नैयायिकोपमानलक्षणं दूषयति—**मैवम्, अनुमानत इति** । अनुमानमेव श्लोकेन संगृह्णाति—**वाचक इति** । **तत्र वृत्त्यन्तरेऽसतीति** । गोसदृशपदार्थे लक्षणागुणवृत्त्योरसंभवे सति तत्र प्रयुज्यमानत्वादित्यर्थः । निमित्तान्तरेण वृत्त्यन्तरम्, इदं च गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति सिंहो बलवमेंत्यादिषु लक्षणागुणवृत्तिभ्यामेवावाच्येष्वपि तीरादिषु प्रयुज्यमानगङ्गादिपदैर्व्यभिचारपरिहाराय विशेपणम् ।

संग्रहं विवृणोति—**यो यत्रेति** । ननु विशेपणासिद्धो हेतुः, असति वृत्त्यन्तरे इत्यस्य दुर्ज्ञानत्वादिति, तत्राह—**न च विशेपणेति** । अत्र तावल्लक्षणावृत्तिर्न

संभव होने से सादृश्य को विपक्षवृत्तित्व है । अतः (गवयः गवयपदवाच्यः, गोसदृशत्वात्) यह अनुमान नहीं हो सकता है, गवयसदृशत्व गवय में ही नहीं रहता है, अर्थापत्ति से भी गवयपदवाच्यत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है । अतः अनुमान की अप्रवृत्ति से ही अर्थापत्ति की वाच्यत्व में अप्रवृत्ति सिद्ध है । नैयायिकों का ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमान से तथात्व = गवय में गवयपदवाच्यत्व की प्रतीति की सिद्धि हो सकती है । जैसे कि—

यह गवय पद, गवय का वाचक है, क्योंकि लक्षणा गौणीवृत्त्यन्तर के बिना वृद्धों से यह गवय पद गवय में प्रयुज्यमान = प्रयुक्त होता है । जैसे गोत्व अर्थ में गो शब्द प्रयुक्त होता है ॥ ३० ॥

अर्थात् लक्षणा गौणीवृत्त्यन्तर के नहीं रहते जो शब्द जिस अर्थ में वृद्धों से प्रयुक्त होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है, जैसे गो शब्द । जातिशक्तिवादी के मत से तथा जाति-व्यक्ति उभय में शक्तिवादी के मत से गोत्व का वाचक होता है । वैसे ही गवय शब्द गवय का वाचक है, क्योंकि लक्षणा गौणीवृत्त्यन्तर के नहीं रहते भी यह गवय शब्द पुरोवर्ती (अग्रवर्ती) में प्रयुक्त होता है । अतः उसका वाचक ही है, इस अनुमान से ही गवय शब्द के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध की

शङ्क्यमानगोसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तेः, अप्रतीतगवामारण्यकानां गोसादृश्यानधिगतौ गवय इति व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। गवयत्वस्यापि निमित्तत्वाददोष इति चेत्, मैवम्; अप्रतीतगोपदार्थस्य गवयत्वं निमित्तम्, प्रतीतगोस्तु तत्सादृश्यं निमित्तमित्युभयत्र शक्तिकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्। गोविशेषितसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वे

शङ्कामप्यधिरोहति, तदा हि गोसादृश्यवाचकस्य सतो गवयत्वे तदविनाभूते लक्षणया प्रयोग इति शङ्कितव्यम्, तच्च न संभवति, अदृष्टगोपदार्थानामरण्यैकनिवासिनां गोसादृश्यानधिगमे गवयपदाप्रयोगप्रसङ्गादित्यर्थः। द्वितीययोजनायां तु सुगमम्। ननु किमित्यप्रयोगः; यावता गवयत्वमपि प्रवृत्तिनिमित्तम्, तच्च तैरप्यधिगतमिति शङ्कते—**गवयत्वस्यापीति**। अत्र किमुभयं मिलित्वा निमित्तम्? किं वा प्रत्येकम्? नाद्यः, पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। द्वितीये त्वन्याय्यश्चानेकार्थ इति मीमांसकमुद्राभङ्गः, कल्पनागौरवं च बाधके स्यातामित्याह—**मैवमित्यादिना**। गौरवान्तरं चाह—**गोविशेषितेति**। न सादृश्यमात्रं गवयशब्दार्थत्वेन शङ्क्यतेऽपितु गोसादृश्यम्, तथाच विशेषणस्यापि निमित्तत्वप्रसक्तिरिति भावः। किंचोपमानं पृथक्-

---

अधिगति (अनुभूति) होती है, अतः नैयायिक मत अयुक्त है। यदि कहा जाय कि (असति वृत्त्यन्तरे) अन्य वृत्ति (सम्बन्ध) के बिना, यह हेतु का विशेषण असिद्ध है, वृत्त्यन्तर भी हो सकती है। अतः विशेषण द्वारा असिद्ध होने से विशेषणासिद्ध हेतु है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि वृत्त्यन्तर यहाँ हो नहीं सकता है. लक्षणावृत्ति मानी जाय तो गोसादृश्य का वाचक होने पर, उस गोसादृय के व्याप्य = सम्बन्धी गवयत्व में लक्षणा मानना होगा, परन्तु वाच्यस्वरूप से शंकामान = शंका विषय गोसादृश्य की गवय शब्द की प्रवृत्ति निमित्तत्व (वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्व) वाच्य होकर वाच्य में रहना, अर्थात् विशेषण रूप से गवय शब्दार्थत्व की अनुपपत्ति है, क्योंकि यदि गोसादृश्य गवय शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त रूप वाच्य होगा, तो जिन आरण्यकों = वनवासियों को कभी गौ का ज्ञान नहीं हुआ है, उनको गोसादृश्य के ज्ञान नहीं रहने पर गवय इस व्यवहार (शब्द प्रयोग) का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि जो गौ को जानने वाला है, उसके गवय शब्द के प्रयोग में गोसादृश्य प्रवृत्ति-निमित्त रहता है, और गो को नहीं जानने वाले के व्यवहार में गवयत्व के भी प्रवृत्ति-निमित्तत्व से उक्त व्यवहाराभाव रूप दोष नहीं रहेगा, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि गौ को नहीं जानने वाले का गवयत्व प्रवृत्ति-निमित्त होगा, और जानने वाले का गोसादृश्य प्रवृत्ति-निमित्त होगा, तो दोनों में शक्ति की कल्पना रूप गौरव की प्राप्ति होगी, और गोविशेषण युक्त सादृश्य के गवय शब्द के प्रवृत्ति-निमित्तत्व होने पर गो में और सादृश्य में भी

गवि तत्सादृश्ये च शक्तिः कल्पनीयेत्यपि गौरवं स्यात्। अन्यथोपमानस्य मानान्तरत्वेऽपि गवयशब्दस्य गोसादृश्यस्य निमित्तताशङ्कायाः दुष्परिहरत्वात्, गवयत्वं निमित्तीकृत्य गवयशब्दोऽत्र प्रवृत्त इत्युपमानादपि निर्धारणा न सिद्ध्येत्। किंचानवगतसंगतित्वविशेषणं व्यर्थम्, अभ्युपगतप्रमाणसंप्लववादिनः प्रत्यक्षाधिगतेऽपि पुनः प्रत्यक्षवदनुमितेऽप्यनुमानवच्चोपमिते-

---

प्रमाणमिच्छतोऽपि गवयत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्, न गोसादृश्यम्, इतरथा शाब्दत्वप्रसङ्गात्। यथाहोदयनः—

> सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
> समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा॥' इति॥
> (न्या० कु० ३।११)

टीकाकृतापि 'किंतु गवयत्वं निमित्तीकृत्य पिण्डे प्रवर्तत इति परमार्थः' इति। तत्र तथाप्येता युक्तयः शरणमिति न त्वां प्रति विशेषणासिद्धिरित्याह—**अन्यथोपमानस्येत्यादिना**। एतेन—

> "संबन्धस्य परिच्छेदं संज्ञायाः संज्ञिना सह।
> प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥" (न्या० कु० ३।१०)

इत्युदयनीयः प्रयासोऽपहस्तितः। तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकृता—'यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः' यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैष गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति ज्ञानमनुमानमेवेति। अव्याप्तिं चाह—**किंचानवगतेति**। प्रमाणसंप्लववादिनोनुमितेऽनुमानप्रवृत्तिवदुपमितेप्युपमानप्रवृत्तिसंभवात्तस्मिन्नानवगत इति विशेषणाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। किंचेदमन-

---

गवय शब्द की शक्ति कल्पनीय होगी, यह भी गौरव होगा। अन्यथा इस गौरव के गोसादृश्य में शक्ति को मानने से उपमान को प्रमाणान्तर होने पर भी गवय शब्द के गोसादृश्य की प्रवृत्ति-निमित्तता की शङ्का के दुष्परिहरत्व से गवयत्व को निमित्त करके यहाँ गवय शब्द प्रवृत्त हुआ है, यह निश्चय उपमान से भी नहीं हो सकेगा। अतः उपमान को मानान्तर मानने वाले को भी गो व्यक्ति को नहीं जानने वाले वनवासी के निर्निमित्त सदा व्यवहार के अनुसार गवयत्व को ही गवय शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त मानना होगा, तब गोसादृश्य को प्रवृत्ति-निमित्त मानकर जो लक्षण से गवयत्व ज्ञान की शंका होती है, वह भी नहीं हो सकेगी, अतएव विशेषणासिद्धि के अभाव से अनुमान निर्दोष है। और आपके लक्षण में अनवगत संगतित्व विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि प्रमाणसंप्लव को मानने वाले आपके मत में जैसे प्रत्यक्ष से ज्ञात में भी फिर प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है, अनुमित में अनुमान की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही उपमित में भी फिर उपमान की प्रवृत्ति की सिद्धि हो सकती है।

ऽपि पुनरुपमानप्रवृत्त्युपपत्तेः। अपि च 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यत्राप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्य प्रसिद्धेतरपदार्थस्य च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्मधुकरशब्दार्थप्रतीतिवद् गवयशब्दार्थप्रतीतिः किं न स्यात्? नच सर्वत्र समभिव्याहारादधिगतिरुपमितिः, तत्करणस्य सादृश्यज्ञानस्य तत्राभावात्। असत्यपि च सादृश्यज्ञाने संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरेवोपमितिरित्याधुनिकमतानुप्रवेशे सूत्रवार्तिकप्रसिद्धसिद्धान्तविरुद्धाभ्युपगमो वज्रलेपायते। तथा च भगवदक्षपादप्रणीतं सूत्रम्—'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्' इति। व्याख्यातं चेतदुद्द्योतकरेण वार्तिककृता—

वगतसंगतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यमभिमतम्? किं सादृश्यबोधकम्? किं वा वैसादृश्यबोधकमपि? किं वा व्युत्पत्त्यौपाधिकधर्ममात्रबोधकम्? नाद्यः, वैसादृश्यप्रतीतिकरणेऽव्याप्तेः। अथ द्वितीयस्तत्राह—**अपिचेह प्रभिन्नेति**। विवृतोयमर्थः कार्यवादे, संभवति मधुपानकर्तरि भृङ्गे मधुकरपदव्युत्पत्तिवद्गोसादृश्यवति गवयपदव्युत्पत्तिः, कल्पनालाघवादिना च मधुकरत्ववद्गवयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तता चातोऽतिव्याप्तिरिति भावः। तृतीयं दूषयति—**न च सर्वत्रेति**। ननु केनोक्तं सादृश्यज्ञानमुपमितिरिति? यावता संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रमितिरुपमितिस्तत्करणं चोपमानमिति नवीनैरुन्नीयते। आह ह्युदयनः—'संबन्धस्य परिच्छेदम्' इति। टीकाकारोपि 'साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रोपलक्षणमिति करभसंज्ञाप्रतीतिफलमप्युपमानमेवेति नाव्याप्तिः' इति तत्राह—**असत्यपीति**। सूत्रं दर्शयति—**तथा चेति**। प्रसिद्धेन गवा गवयस्य साधर्म्यात्साध्यस्य प्रज्ञापनीयस्य गवयशब्दवाच्यत्वस्य ज्ञापनमुपमानमिति सूत्रार्थः। वार्तिकं दर्शयति—**व्याख्यातं चैतदिति**। आगमोऽतिदेश-

---

और कहा जा सकता है कि (इस विकसित कमलोदर में मधुकर मधु पीता है) यहाँ जैसे अप्रसिद्ध (अज्ञात) मधुकर पदार्थ वाले प्रसिद्ध ज्ञात इतर पदार्थ वाले को प्रसिद्ध पदसमभिहार से मधुकर शब्द के अर्थ की प्रतीति जैसे होती है, वैसे ही गवय शब्दार्थ की प्रतीति क्यों नहीं होगी, कि जिसके लिये उपमान प्रमाण मानते हैं। प्रसिद्ध पद के समभिहार से जहाँ-जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सर्वत्र उपमिति होती है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वहाँ उपमिति के करण सादृश्य ज्ञान का अभाव रहता है। और सादृश्य ज्ञान के नहीं रहते भी संज्ञा-संज्ञि के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमिति है, इस आधुनिक मत में अनुप्रवेश (उसका स्वीकार) करने पर, सूत्र, वार्तिक में प्रसिद्ध सिद्धान्त से विरुद्धाभ्युपगम (मत) अनिवार्य हो जायगा। क्योंकि भगवान् अक्षपाद (गोतम) प्रणीत सूत्र है कि (प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्) प्रसिद्ध गौ के साथ गवय का साधर्म्य (सादृश्य) से संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध रूप साध्य का साधनबोधन उपमान है। इसका उद्योतकराचार्य

'आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानम्' इति। अथावधीरितापसिद्धान्तप्रसङ्गभीतेरियं पृथिवीशब्दवाच्या गन्धवत्त्वाद्यन्नैवं तन्नैवमित्यादि केवलव्यतिरेक्यनुमानमपि संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानमापद्येतेत्यलमतिविस्तरेण।

शाब्दप्रमाणमपि दुर्निरूपम्। तथाहि 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' इति मीमांसकाः। शब्दविषयं विज्ञानं शब्दविज्ञानं

वाक्यम्। ननु प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तो नाम, प्रामाणिकश्चायमस्मत्पक्षः, सूत्रादीनि तु एतदनुसारेणोपलक्षणतया व्याख्येयानि, तथा च 'यथा मुद्गस्तम्बः तथा मुद्गपर्णीत्युपमानस्य सादृश्यं विषयमभिधायैवमन्योऽप्युपमानस्य विषयो लोके बुभुत्सितव्यः' इति भाष्यकारेण विषयान्तरेऽप्युपमानाभ्यनुज्ञानात् धिक् करभमतिदीर्घवक्रग्रीवं प्रलम्बोष्ठं कठोरकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपसदं पशूनामिति वाक्यश्रवणसमनन्तरं तथाभूते द्विरदादिसमवस्तुविसदृशे करभपदार्थे वैधर्म्यात्करभशब्दवाच्यत्वप्रतीतिमप्युपमानत्वेनैवोवाचाचार्यवाचस्पतिरुपमाविनोदे इति मन्वानं प्रति सर्वलक्षणवाक्येषु केवलव्यतिरेकितया प्रसिद्धेष्वतिव्याप्तिरित्याह—**अवधीरितेत्यादिना**।

क्रमप्राप्तं शब्दप्रमाणं खण्डयति—**शाब्देति**। तत्र शबरस्वामिसंमतं लक्षणमुद्भावयति—**तथाहीति**। ननु परार्थानुमानेऽतिव्यापकमिदं लक्षणम्, तस्यापि पञ्चावयवात्मकवाक्यजनिताद्विज्ञानादसन्निकृष्टं प्रमाणान्तरेणानधिगतेऽर्थे लिङ्गिनि बुद्धिरूपत्वादितामामाशङ्क्यां परिहरन्भाष्यं व्याचष्टे—**शब्दविषयं विज्ञानमित्यादिना**। नात्र शब्दजनितविज्ञानमिति विवक्षितम्, अपितु शब्दविषयं विज्ञानं तेन

वार्तिककार ने व्याख्यान किया है कि (आगमाहित-संस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानम्) अतिदेश=सादृश्यबोधक वाक्य रूप आगम से जन्य बोधजसंस्कारजन्य स्मृति की अपेक्षापूर्वक सादृश्यज्ञान को उपमान कहते हैं। और उक्त सिद्धान्तविरोध रूप अपसिद्धान्त की भीति (भय) जिससे अवधीरित (अनादृत) त्यक्त हो गई है (वह पुरुष) (यह भूमि, पृथिवी शब्द का वाच्य है। गन्ध वाली होने से, जो पृथिवी शब्द का वाच्य नहीं, वह गन्धवान् भी नहीं है) इत्यादि केवल व्यतिरेकी अनुमान को भी संज्ञा-संज्ञि के सम्बन्ध की प्रतीति रूप फल वाला उपमान समझेगा। अतः उसका मान्य लक्षण वाला उपमान युक्त नहीं, अब अतिविस्तार का फल नहीं है।

शब्दप्रमाण भी दुर्निरूपणीय है। क्योंकि मीमांसक का लक्षण है कि (शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्) अर्थात् शब्दविषयक विज्ञान को शब्द

तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे श्रोतुरनधिगतेऽबाधिते च विषये यद्विज्ञानं तच्छाब्द-प्रमाणमिति यावत्। उक्तं हि वार्तिककारैः—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्।
ताद्रूप्येण गृहीतत्वं तद्विपर्ययतोऽपि वा॥' इति।
(श्लो० वा० अनु० ५५, ५६)

यद्वा शब्दाज्जनितं पदार्थविषयं यद्विज्ञानं तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दमिति। तदयुक्तम्; शब्दलिङ्गकवक्तृविशेषानुमानेऽतिव्याप्तेः।

नातिव्याप्तिरिति भावः। असन्निकृष्टपदं व्याचष्टे—**श्रोतुरिति**। प्रमाणान्तरेण तथा वाऽतथा वानधिगत इत्यर्थः। अत्रैव वार्तिकसंमतिमाह—**उक्तं हीति**। अर्थ-ग्रहणं नार्थासंस्पर्शो वार्थापेक्षितस्वभावो वा शब्द इति वदतां बौद्धानां मतनिरा-सार्थम्। एवं हि वर्णयन्ति—अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति वचसोऽर्थं एव नास्ति। नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यादिवाक्यानां कदाचिदर्थवत्ता कदाचिन्ने-त्यर्थासंस्पर्शोऽर्थापेक्षितस्वभावो वा शब्दः। तस्मान्नार्थे प्रामाण्यम्, किंतु वक्तुरभि-प्राये, तत्रापि न शब्दतया, किंतु तत्कार्यतया तदनुमापकः। यथाह कीर्तिः—

'नान्तरीयकताऽभावात् शब्दानां वस्तुभिः सह।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्र्यभिप्रायसूचकाः'॥ इति

तन्निरासार्थमर्थग्रहणम्। निरासप्रकारश्चात्र एव विवक्षायां प्रामाण्यं निराकुर्वता स्वयमेवाचार्येण दर्शयिष्यते।

एवमन्विताभिधानाभिहितान्वयसाधारण्येन भाष्यं योजितम्, इदानीमभिहिता-न्वयानुसारेण योजयति—**यद्वेति**। पदात्पदार्थस्मरणस्य शब्दाभासस्य च निवृत्त्यर्थम-सन्निकृष्टाबाधितेति विशेषणद्वयम्। प्रत्यक्षानुमानादिव्यावृत्त्यै शब्दविज्ञानादिति। तत्र प्रथमं दूषयति—**तदयुक्तमिति**। शब्दादेव लिङ्गाद्वस्तुविशेषेऽनुमानं जायते, तदपि हि शब्दज्ञानादसन्निकृष्टार्थे बुद्धिर्भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। एतदेव

विज्ञान कहते हैं, उससे असन्निकृष्ट अनधिगत अबाधित अर्थविषयक जो श्रोता को विज्ञान होता है, उसको शाब्दप्रमाण कहते हैं। वार्तिककार ने कहा है—

असन्निकृष्ट शब्द से यहाँ दो का त्याग विवक्षित है, एक तो ताद्रूप से गृहीतत्व, और दूसरा तद्विपर्यय रूप से गृहीतत्व भी। अतः अधिगतत्व, बाधितत्व से रहित अनधिगत अबाधित असन्निकृष्ट अर्थ को कहा गया है।

अथवा शब्द से जन्य जो पदार्थविषयक विज्ञान होता है, उससे जन्य असन्नि-कृष्टार्थ विषयक ज्ञान को शाब्दप्रमाण कहते हैं। यह अभिहितान्वय वाद है। परन्तु यह कथन अयुक्त है। क्योंकि शब्द रूप लिङ्ग से वक्ताविशेष के अनुमान में प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। बहिःस्थित पुरुष को भी अध्ययन ध्वनि के

भवति हि वहिष्ठस्याध्ययनध्वनिश्रवणाद्भवनान्तर्वर्तिपुरुषविशेषानुमानम् । द्वितीयेऽपि धूमादिपदात्तदर्थविज्ञाने धूमध्वजादौ जायमानानुमानादावतिव्याप्तिः । लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, तर्हि तावदेवास्तु लक्षणं किमनेन शब्दविज्ञानादित्यादिना विशेषणेन कण्ठशोषकरेण ?

कश्चायं शब्दो नाम यद्विज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः । न तावत्पदम्, पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकान्न विशिष्यत इति स्वयमेव तस्यासन्निकृष्टार्थ-

---

विवृणोति — **भवति हीति**। तदुक्तं विशेषतोदृष्टविशेषानुमानं दर्शयता वार्तिककारेण ।

'स्वपुत्राद्यनुमानं यद् गृहाभ्यन्तरगोचरम् ।
वेदस्वरविशेषेण वहिष्ठस्येह लक्ष्यते' ।। इति ।

द्वितीययोजनायामप्यतिव्याप्तिमाह—**द्वितीयेऽपीति**। धूमादिशब्दप्रतीतधूमादिलिङ्गादनुमानमाग्न्यादिषु जायते तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। **तर्हि तावदेवेति**। लिङ्गाद्यजन्यत्वमित्यनेन शब्दव्यतिरिक्तप्रमाणजातं व्यावर्तते। प्रमितिशब्देन ताप्रमितिजातम्, लिङ्गाद्यजन्यं प्रमाणं शास्त्रमित्येवास्तु, वृथेतरदित्यर्थः ।

इदानीमवयवशो निर्वाच्यमाणमपि विशीर्यत एवेदं लक्षणमित्यभिसंधायाह— **कश्चायमिति**। ननु शाब्दप्रमाणविचारावसरे किमिति शब्दजिज्ञासा ? इति प्रकृतानुपयोगिशङ्कां वारयति— **यद्विज्ञानादिति**। शास्त्रप्रमाणत्वेन च विवक्षित शेषः किं पदम् ? किं वा वाक्यशब्दत्वेन विवक्षितम् ? नाद्य इत्याह— **न तावदिति**। पदं स्मारकान्न विशिष्यते, कुतः ? अभ्यधिकाभावाद् व्युत्पत्तिसमयगृहीतादर्थादभ्यधिकार्थबुद्धे; पदेभ्योऽभावात्, इतरथाऽगृहीतसंगतिकस्यापि बोधकत्वप्रसङ्गा-

---

श्रवण से भवनान्तर्वर्ति पुरुषविशेष का ज्ञान रूप अनुमान (अनुमिति) होता है। दूसरी योजना पक्ष में धूमादि पद से धूमादि अर्थ के ज्ञान होने पर जो उससे अग्नि आदि विषयक अनुमानादि होता है, उसमें अतिव्याप्ति होती है। यदि कहें कि लिङ्गाद्यजन्यत्वे सति, यह विशेषण लगाने से अतिव्याप्ति रूप दोष नहीं रहेगा, तो तावत् (लिङ्गाद्यजन्यं प्रमाणं शास्त्रम्) इतना ही लक्षण शब्दप्रमाण का रहना चाहिये । शब्दविज्ञानाद् इत्यादि कण्ठशोषण करने वाले इन विशेषणों का क्या फल है ।

और यह शब्दनामक कौन पदार्थ है कि जिसके विज्ञान से असन्निकृष्टार्थविषयक ज्ञान होता है। पद को शब्द नहीं कह सकते हैं, क्योंकि (सम्बन्धी दर्शनादि रूप अन्य स्मारक से पदविशेष-भिन्न नहीं होता है, उसमें अभ्यधिकार्थ का अभाव रहता है, सङ्गतिग्रहण काल में गृहीत अर्थ से अधिक अर्थ का बोधक शब्द नहीं होता है) इसप्रकार से स्वयं वार्तिककार ने ही पद के असन्निकृष्टार्थ विज्ञान-

विज्ञानजनकत्वानभ्युपगमात् । नापि वाक्यम्, तस्यानिरुक्तेः । तथाहि—किं पदसमुदायमात्रं वाक्यम्? उतैकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नः पदसमुदायः? उताकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि । नाद्यः, गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादेरपि वाक्यत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः, अर्थस्यैकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानामनिरुक्तेः । तत्रैकत्वं नाम किमेकत्वसंख्यावत्त्वम्? उताभेदः? किं वा स्वरूपमेव? नाद्यः, गौरश्वः पुरुष इत्यादेरप्येकत्वसंख्याविशिष्टतया तद्वाचकपदसमुदायस्यापि वाक्यत्वप्रसङ्गात्, एकत्वादिसंख्याप्रतिपादकवाक्याव्यापनाच्च, नह्येकत्वद्वित्वादावेकत्वसंख्यान्तरमस्ति, येन तत्प्रतिपादकपदसमूहो वाक्यं स्यात् । न द्वितीयतृतीयौ, गौरश्वः पुरुष इत्यादाव-

---

दिति वार्तिकार्थः । द्वितीयं दूषयति—**नापीति** । तत्र वाक्यलक्षणं विकल्पयति—**किं पदेत्यादिना** । प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह—**गौरश्व इति** । **अर्थस्यैकत्वेति** । एकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नत्वमित्यत्र यदिदमर्थस्यैक्यम्, यच्च तादृगर्थप्रतिपादकत्वविवरणलब्धतादृगर्थविषयप्रतिपत्तिजनकत्वान्तर्गतविषयत्वम्, यच्चैवंविधधर्मेणावच्छिन्नत्वम्, तदेतत्त्रितयं दुर्निरूपमित्यर्थः । एकत्वसंख्यावदर्थप्रतिपादकत्वमित्याद्यं पक्षं दूषयति—**गौरश्व इति** । तेषामपि पदार्थानां प्रत्येकमेकत्वसंख्यावच्छिन्नत्वादित्यर्थः । अव्याप्तिमेव विवृणोति—**नह्येकत्वेति** । द्वितीयतृतीयोरपि प्रथमपक्षोक्तामतिव्याप्तिमाह—**न द्वितीयतृतीयाविति** । एवमेकत्वं खण्डयित्वा विषयविषयित्वे

जनकत्व नहीं माना है । वाक्य भी शब्द नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी निरुक्ति (निर्वचन = लक्षण) नहीं हो सकती है । क्योंकि क्या, पद समुदाय मात्र वाक्य है, अथवा एकार्थप्रतिपादकत्व युक्त पदसमुदाय वाक्य है, या आकाङ्क्षा सन्निधि योग्यता वाले पद वाक्य हैं । प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि, गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती इत्यादि क्रियाकारकादि सम्बन्ध रहित में उसकी अतिव्याप्ति होती है । उनको भी वाक्यत्व की प्राप्ति होती है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि लक्षणगत अर्थ के, एकत्व, विषयत्व और अवच्छिन्नत्व (युक्तत्व) की निरुक्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि उनमें एकत्व नामक, क्या, एकत्वसंख्यावत्त्व है, या अभेद है, या स्वरूप ही है । इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि गौ, अश्व, पुरुष इत्यादि को भी एकत्वसंख्याविशिष्टता के कारण तद्वाचक पदसमुदाय को भी वाक्यत्व प्राप्त होगा, क्योंकि उन गौ आदि पदार्थों को भी प्रत्येक एकत्वसंख्या युक्तत्व है । और एकत्वादि संख्या के प्रतिपादक वाक्य में अव्याप्ति भी होगी, क्योंकि एकत्व द्वित्वादि में एकत्व रूप संख्यान्तर नहीं रहता है कि जिससे उसका प्रतिपादक पदसमूह वाक्य होगा । द्वितीय तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि गौ, पुरुष हस्ती इत्यादि प्रत्येक में अभेद और स्वरूप का सद्भाव है । और विषय-

भेदस्वरूपयोर्भावात् । विषयविषयिभावस्य च पूर्वमेव निरस्तत्वात् । किंचेदमवच्छिन्नत्वम् ? विशिष्टत्वमिति चेत्, तदेव किम् ? विशेषणेन संबन्धत्वमिति चेत्, संबद्धत्वमित्यत्रापि संबन्धेन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता । विशेषणव्यावृत्तसंबन्धाधारत्वोक्तौ को दोषः ? इति चेत्, व्यावृत्तशब्देन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता प्रथमः, विशेषणविशेष्ययोः प्रत्येकं विशिष्टत्वापत्तिः द्वितीयः, संबन्धस्य च विशिष्टत्वाभावः तृतीयः, तस्य संबन्धान्तराभावात्, भावे वानवस्था ।

किंच विशेषणविशेष्यतत्संबन्धेभ्यो विशिष्टं भिन्नम् ? अभिन्नं वा ?

प्रपञ्चमिथ्यात्ववादोक्तखण्डनं स्मारयति—**विषयेति** । अवच्छिन्नत्वं खण्डयति—**किंचेदमिति** । विशिष्टत्वं निर्वक्ति पूर्ववादी—**विशेषणेनेति** । किमिदं विशेषणसंबद्धत्वम् ? विशेषणसंबन्धविशिष्टत्वम् ? किं वा तत्संबन्धाधारत्वम् ? आद्ये प्राह—**संबद्धत्वमिति** । द्वितीयं शङ्कते—**विशेषणव्यावृत्तेति** । तत्र दोषत्रयं यथाक्रममाह—**व्यावृत्तेति** । विशेषणव्यावृत्तेत्यत्र व्यावृत्तत्वं विशिष्टत्वमिति वक्तव्यम्, तथाचात्माश्रयः । द्वितीयं चाह—**विशेषणेति** । यदि हि विशेषणसंबन्धाधारो विशिष्टम्, तदा विशेषमपि विशिष्टं स्यात्, विशेषणविशेष्यसंबन्धस्य द्विष्ठत्वेन विशेषणस्यापि तदाश्रयत्वादित्यर्थः । तृतीयं दूषणमाह—**संबन्धस्येति** । संबन्धाधारत्वं च यद्यपि विशिष्टत्वाद्विशेषणविशेष्यसंयोगस्य संभवति, तथापि समवायस्य तन्न संभवति, स्वाश्रयत्वाभावात्, अन्यत्वे चानवस्थानात् । अस्त्येव तस्यापि विशिष्टत्वं रूपसमवायो रससमवाय इत्यतोऽव्याप्तिरित्यर्थः ।

इदानीं विशिष्टस्वरूपमपि दुर्निरूपमित्याह—**किंचेति** । न केवलमनुपलम्भः,

---

विषयि भाव का प्रथम निराकरण हो चुका है, बाकी रहा अवच्छिन्नत्व, वह क्या है, यदि कहें कि विशिष्टत्व = अवच्छिन्नत्व है, तो वह विशिष्टत्व ही क्या है । यदि कहें कि विशेषण से सम्बन्धत्व विशिष्टत्व है, तो सम्बद्धत्व क्या है ऐसी जिज्ञासा होने से सम्बन्ध से विशिष्टत्व को कहने पर विशिष्टत्व में विशिष्ट की अपेक्षा से आत्माश्रयता होगी । यदि कहें कि विशेषण से व्यावृत्त सम्बन्ध का आधारत्व विशिष्टत्व है और वही परिच्छिन्नत्व है तो ऐसे कहने में क्या दोष है, तो कहा जाता है कि व्यावृत्त शब्द से विशिष्टत्व के कथन पर आत्माश्रयता रूप प्रथम दोष है । और सम्बन्ध के दो निष्ठ होने से विशेषण सम्बन्ध का आधार होगा, तो सम्बन्धाधार विशेषण भी विशिष्ट होगा और सम्बन्धाधार विशेष्य भी विशिष्ट होगा, इस प्रकार से प्रत्येक विशेषण विशेष्य को विशिष्टत्वापत्ति होगी यह दूसरा दोष होगा । और सम्बन्ध के सम्बन्धान्तर के अभाव से सम्बन्ध के द्विष्ठत्व का अभाव रूप तीसरा दोष होगा, सम्बन्ध के सम्बन्धान्तर का भाव हो, तो अनवस्था होगी ।

और यह भी विचारणीय है कि विशेषण विशेष्य और उनका सम्बन्ध इन तीनों

नाद्यः, अनुपलम्भपराहतत्वात्, दण्डिनमानयेत्युक्तेऽन्यस्यैवानयनप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीयः, त्रयाणामपि प्रत्येकं विशिष्टत्वात्। दण्डादीनामान्यतमानयने दण्डी समानीत इति व्यवहारप्रसङ्गात्।

किंचेदं विशेषणं नाम यद्विशेषितं तत्त्वान्तरं स्यात्? व्यावर्तकमिति चेत्, किं व्यावृत्तेर्भेदस्य जनकम्? उत तत्प्रतीतेः? नाद्यः, असंभवात्। नहि कठोरकुठारधारया तरोरिव देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विधीयते द्वैधीभावः। नापि द्वितीयः, नयनादेरपि भेदप्रतीतिजनकस्य विशेषणत्व-

---

व्यवहारविरोधश्च स्यादित्याह—**दण्डिनमिति**। द्वितीयेऽपि किं त्रितयमपि यथायथं विशिष्टम्? उत मिलितम्? आद्ये प्राह—**त्रयाणामपीति**। द्वितीयेऽपि किं मिलितमिति तदेवाभिधीयते? किं वा तदन्यत्? प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम्। अतिरिक्तपक्षे त्वनुपलम्भपराहतिः।

इदानीं विशेषणानिरूपणादपि तत्संबन्धविशिष्टमित्यनुपपन्नमित्याह—**किंचेदमिति**। व्यावर्तकत्वमित्यत्र कुतः किं व्यावृत्तिजनकत्वमर्थः? किं वा प्रत्यायकत्वम् इति? विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति**। असंभवमेव विवृणोति—**नहि कठोरेति**। यथा हि घोरकुठारधारया वृक्षस्य द्वैधीभावः क्रियते, न तथा देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विष्णुमित्राद्भेदः क्रियते, तत्पूर्वमभेदप्रसङ्गादित्यर्थः। द्वितीये नयनादावतिव्याप्तिस्तस्यापि व्यावृत्तिज्ञापकत्वादित्याह—**नापि द्वितीय इति**।

से विशिष्ट पदार्थ भिन्न है, या अभिन्न है, प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुपलम्भ से पराहत है, पृथक् का अनुभव नहीं होता है, अतः उसका अभाव सिद्ध होता है, यदि विशिष्ट पृथक् होता तो, दण्डी को ले आओ, ऐसा कहने पर दण्डादि से किसी अन्य का आनयन प्राप्त होता। द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि विशेषणादि से अनन्यता होने पर विशिष्ट की प्रत्येक तीनों से अनन्यता होगी, तो प्रत्येक तीनों को विशिष्टत्व होगा। और तीनों में विशिष्टत्व होने पर भी केवल सम्बन्ध का तो आनयन नहीं हो सकता है, तथापि उनमें से अन्यतम दण्ड या पुरुष के आनयन होने पर भी, दण्डी (दण्डविशिष्ट) प्राप्त हुआ आया, ऐसा व्यवहार का प्रसङ्ग होगा।

यह विशेषण नामक कौन वस्तु है कि जिससे विशेषित (व्यावृत्त) तत्त्वान्तर होगा। यदि कहें कि व्यावर्तक विशेषण है, तो व्यावृत्ति रूप भेद के जनक को व्यावर्तक कहते हैं, या व्यावृत्ति की प्रतीति के जनक को कहते हैं, यह भी वक्तव्य है। भेदजनक को व्यावर्तक नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जनक को विशेषण होना असम्भव है, अतः जैसे कठोर (तीक्ष्ण) कुठार धारा से वृक्ष के दो खण्ड रूप भेद किये जाते हैं, वैसे दण्ड, कुण्डलादि विशेषणों से देवदत्त के द्वैधीभाव (दो खण्ड) नहीं किये जाते हैं। व्यावृत्ति की प्रतीति का जनकत्व रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं

प्रसङ्गात्। तदपि क्वचित्कस्यचिद्भवत्येव विशेषणमिति चेत्, हन्त तर्हि वस्तुमात्रमित्येव विशेषणलक्षणमस्त्वलमनया ग्रन्थकथाकन्थया ? अस्तु तर्हि विषयीक्रियमाणतया यद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकं तद्विशेषणलक्षणमिति चेत्, मैवम्, विशेष्येऽपि प्रसङ्गात्। तदन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न, उपलक्षणेऽपि प्रसङ्गात्, विशेषणसिद्धौ तदुपजीविनो विशेष्यस्य सिद्धि-

---

नेयमतिव्याप्तिः, तस्यापि चाक्षुषं रूपं रसनाग्राह्यो रस इत्यादिव्यवहारविशेषणतया लक्ष्यत्वादिति शङ्कते—**तदपीति**। उत्तरो निगदव्याख्यातः। विशेषणलक्षणान्तरं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। येयं व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषणेन जन्यते तया विषयीक्रियमाणं सद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकं यत्तद्विशेषणम्, तथा च न चक्षुरादावतिव्याप्तिः। नहि घटः पटाद्व्यावृत्त इति बुद्धेश्चक्षुरादिर्विषयीभवतीत्यभिप्रायः। अस्यातिव्याप्तिमाह—**मैवमिति**। नीलमुत्पलमित्यादौ नैल्यविशिष्टमुत्पलादपि तद्बुद्धिविषय एव, तज्जनकं च, प्रत्यक्षप्रतीतित्वात्, अतस्तस्यापि विशेषणत्वं स्यादित्यर्थः। **उपलक्षणेऽपीति**। अस्ति हि मयूराधिकरणं श्रीसुन्दरदेवमन्दिरमित्यत्र मयूरस्यापि तद्बुद्धि-

---

हो सकता है, क्योंकि भेदप्रतीति के जनक नेत्रादि को भी विशेषणत्व प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि (चाक्षुषं रूपम्) नेत्र का विषय रूप है, नेत्रवान् देवदत्त है, इत्यादि स्थान में वह नेत्रादि भी कहीं किसीका विशेषण होता ही है, अतः लक्षण का लक्ष्य है। तो कहा जाता है कि इस प्रकार से तो वस्तु मात्र (सब पदार्थ) विशेषण हो सकता है। अतः वस्तुमात्र (वस्तुत्व) इतना ही विशेषण का लक्षण होना (करना) चाहिये, इस ग्रन्थात्मक कथाकन्था की आवश्यकता नहीं है। यदि कहा जाय कि तो भी जो वस्तु व्यावृत्ति बुद्धि का विषय होकर व्यावृत्ति (भेद) बुद्धि का जनक होती है, वह विशेषण है, यह विशेषण का लक्षण रहे। इस लक्षण की चक्षु आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि तो भी विशेष्य में अतिव्याप्ति होती है, विशेष्यविषय रूप से व्यावृत्ति बुद्धि का जनक होता है (नीलमुत्पलम) इस ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से नीलतायुक्त कमल इस ज्ञान का विषय और जनक होता है। यदि कहे कि, विशेष्य से अन्य होता हुआ उक्त बुद्धि का जनक हो, इस प्रकार से दोष नहीं रहेगा, तो यह कहना भी युक्त नहीं, तो भी उपलक्षण में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उपलक्षण का ज्ञान भी व्यावृत्ति बुद्धि का जनक होता है। और नियम से जो बुद्धि का विषय होकर व्यावृत्ति का जनक हो, इस प्रकार नियम पद लगाकर उपलक्षण का वारण भी किया जाय तो भी, विशेष्यादन्यत्वे सति, इस विशेषण युक्त विशेषण की सिद्धि होने पर उसके उपजीवी विशेष्य की सिद्धि होगी, क्योंकि विशेषण से व्यावर्त्य विशेष्य होता है। और विशेष्य की सिद्धि होने पर उससे अन्य रूप से विशेषण की

स्ततश्च ततोऽन्यत्वेन विशेषणसिद्धिरिति परस्पराश्रयता। एतेन 'स्वबुद्धया रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम्' इति भट्टपादीयमपि लक्षणं परास्तम्, परस्पराश्रयताया दर्शितत्वात्। यत्पुनरुदयनेनोदीरितम्—'सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं विशेषणम्, व्यधिकरणतया प्रतीयमानमुपलक्षणम्' इति, तदप्यसत्, विकल्पासहत्वात्। किमार्थिकं सामानाधिकरण्यं विवक्षितम्? उत शाब्दम्? नाद्यः, असंभवात्। नह्यस्ति दण्डदेवदत्तयोः शौक्लचपटयोश्चैकाधिकरण्यम्, तयोः प्रतिनियताधिकरणत्वात्। दण्डित्वदेवदत्तत्वयो-

---

विषयतया तज्जनकत्वमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अथ नियमेन विषयीक्रियमाणतया तज्जनकं विशेषणम्, न तदुपलक्षणस्यास्ति असतोऽप्युपलक्षणतया तत्र तस्यासंभवादिति ब्रूयात्तं प्रति दूषणान्तरमाह—**विशेषणेति**। विशेष्यादन्यत्वे सत्युक्तविधं विशेषणमिति हि लक्षणमभिधीयते, नचैतद्युक्तम्, परस्पराश्रयापातात्। यद्धर्मविशिष्टं गृह्णाति तदिति वा विशेषणव्यावर्त्यमिति वा विशेष्यलक्षणम्। आद्ये परस्पराश्रयः, विशिष्टत्वस्याद्याप्यसिद्धेः। द्वितीयेऽपि परस्पराश्रय एव, विशेषणस्याद्याप्यसिद्धेरिति भावः। उक्तं परस्पराश्रयं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति**। विशेष्यं येन पदार्थेन स्वबुद्धया रज्यते स रञ्जको विशेषणम्। नहि उपलक्षणस्योपरञ्जकत्वमस्ति, तटस्थत्वादिति निष्कर्षार्थः। अस्यापि विशेष्यगर्भत्वात्पूर्ववदन्योन्याश्रयत्वमित्याह—**परस्परेति**। विशेषणोपलक्षणयोस्तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्तं भेदमनूद्य निराचष्टे—**यत्पुनरिति**। **सामानाधिकरण्येनेति**। जटी तापस इतिवदित्यर्थः। विशेषणविशेष्ययोरेकाधिकरणत्वरूपसामानाधिकरण्यमसिद्धमित्याह—**नाद्यः असंभवादिति**। तदेव विवृणोति—**नह्यस्तीति**। **प्रतिनियतेति**। दण्डस्य पुरुषाधिकरणत्वात्पुरुषस्य भूतलाधिकरणत्वादेवं शौक्ल्यस्य पटाधिकरणत्वात्पटस्य च तन्त्वधिकरणत्वादिति भिन्नाधिकरणत्वादित्यर्थः। यद्यपि दण्डदेवदत्तयोर्नैकाधिकरण्यम्, तथापि दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरस्त्यैकाधिकरण्यमिति शङ्कित्वा परिहरति—

सिद्धि होगी, तो परस्पराश्रयता प्राप्त होती है। इसीसे (जो अपने ज्ञान द्वारा विशेष्य को रञ्जित करता है वह विशेषण होता है) यह भट्टपाद का लक्षण परास्त हो गया, क्योंकि परस्पराश्रयता दिखाई गई है। और जो उदयनाचार्य ने कहा है कि (सामानाधिकरण्य रूप से प्रतीयमान को विशेषण कहते हैं, व्यधिकरण रूप से प्रतीयमान = प्रतीति विषय, उपलक्षण होता है।) वह भी अयुक्त है, क्योंकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि क्या यह समानाधिकरणता आर्थिक = अर्थसम्बन्धी विवक्षित है। या शाब्दिक है। प्रथम पक्ष असम्भव होने से अयुक्त है, क्योंकि दण्डी देवदत्तः, यहाँ दण्ड देवदत्त की, शुक्लः पटः, यहाँ शौक्ल्य = शुक्ल रूप पट की समानाधिकरणता नहीं रहती है। विशेषण-विशेष्य दोनों को भिन्न-भिन्न

रैकाधिकरण्यमस्ति दण्डिन एव देवदत्तत्वादिति चेत्, तर्हि तयोरेवास्तु विशेषणविशेष्यभावो नतु दण्डदेवदत्तयोः। नहि दण्ड एव दण्डी। न द्वितीयः, तत्किमेकविभक्तिकानेकपदाभिधेयत्वम्? उत भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः? न प्रथमः, असंभवादेव। नहि विशेषणविशेष्यभावेन प्रसिद्धयोर्दण्डदेवदत्तयोर्दण्डो देवदत्त इत्येकविभक्तिकानेकपदाभिधेयत्वमस्ति। नापि चरमः, दण्डी देवदत्त इत्यत्रैवादर्शनात्। नहि यथा शुक्लः पट इति शुक्लगुणं पटत्वं च निमित्तीकृत्य पदद्वयं पटे प्रवृत्तम्, तथा दण्डित्वं दण्डं वा निमित्तीकृत्य दण्डपदं देवदत्ते प्रवृत्तम्, येन समाना-

---

तर्हीति। दण्डदेवदत्तयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रसिद्धो लोके, नतु दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरतस्तयोः सामानाधिकरण्यमनुपयोगीत्यर्थः। अथ धर्मद्वारा धर्मिणोरपि मतिः, तदापि दण्डिदेवदत्तयोरेव, नतु दण्डदेवदत्तयोः, दण्डित्वस्य दण्डिधर्मत्वात्, दण्डस्य च दण्डित्वाभावादित्याह—**नहि दण्ड एव दण्डीति** एवं विशेषणविशेष्ययोरार्थम् सामानाधिकरण्यमिति पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः पर्यवसानम्। असंभवमेवाह—**नहीति**। तथासति दण्डो देवदत्तः नैल्यमुत्पलमिति प्रयोगः स्यात्, न चैतदस्तीत्यर्थः। द्वितीयेऽव्याप्तिमाह—**दण्डा देवदत्त इति**। विशेषणीभूतदण्डवाची दण्डशब्दो न देवदत्तपदेन समानाधिकरणः। यश्च दण्डिशब्दः समानाधिकरणः नासौ दण्डवाचक इत्यर्थः। एतदेव पर्यनुयोगपरिहाराभ्यां विशद-

---

प्रतिनियत अधिकरणवत्त्व रहता है। यदि कहें कि दण्डित्व देवदत्तत्व उपाधि को एकाधिकरणवत्त्व है, क्योंकि दण्डी को ही देवदत्तत्व है, तो इसप्रकार से उन दोनों में विशेषण-विशेष्य भाव होगा, दण्ड देवदत्त को नहीं। क्योंकि जैसे जो दण्डी है, वही देवदत्त है, वैसे जो दण्ड है, वही दण्डी नहीं है। दूसरा पक्ष शाब्द सामानाधिकरण्य भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वह शाब्द सामानाधिकरण्य, यथा, एक विभक्ति वाले अनेक पदवाच्यत्व रूप है, या भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति (पर्यवसान-तात्पर्य) रूप है। असम्भव होने से ही प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि विशेषण-विशेष्य रूप से प्रसिद्ध दण्ड देवदत्त को (दण्डो देवदत्तः) इस प्रकार से एक विभक्तिक अनेक पदवाच्यत्व नहीं रहता है। चरम= अन्तिम पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, दण्डी देवदत्तः, यहां ही भिन्न-प्रवृत्ति निमित्त वाले शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति नहीं देखी जाती है, अर्थात् शुक्लः पटः इस वाक्य में शुक्ल गुण और पटत्व को भिन्न प्रवृत्ति-निमित्त करके जैसे दोनों पद एक पट अर्थ में प्रवृत्त होते हैं, वैसे दण्डित्व या दण्ड को निमित्त करके दण्ड पद देवदत्त में नहीं प्रवृत्त होता है कि जिससे दण्ड को देवदत्त के साथ

धिकरणता स्यात् । दण्डित्वं निमित्तीकृत्य दण्डिशब्दो देवदत्ते प्रवृत्त इति चेत्, प्रवर्ततां नाम, नतु तद्विशेषणम्, दण्डविशिष्टरूपत्वात्तस्य । किंच जटी तापसो जटाभिस्तापस इति वैकल्पिकप्रतिभासमात्रेण विशेषणोपलक्षणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणः "सर्वं एवायं मानमेयादिव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्म्यादिभावेन, न वहिःसदसत्त्वमपेक्षते" इति सौगतमतानुप्रवेशमात्मनस्तार्किकमन्यो नालोचयते । एतेन संवद्धमेव व्यावर्तकं विशेषणमसंवद्धमपि व्यावर्तकमुपलक्षणमित्यपि परास्तम् ।

अस्तु वा भवदिच्छया यत्किंचनावच्छेदकमवच्छिन्नं च, तथापि किं

यति—**दण्डित्वमित्यादिना** । किंच सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं वैयधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं चेति योऽयं विशेषो विशेषणोपलक्षणयोः स स तावन्नार्थकृतः, एकस्यैवार्थस्योभयथापि प्रतिभासात्, तस्मात्प्रतीतिकृत एवेति वक्तव्यम्, तथाच सर्वोपि धर्मधर्मिवर्गः प्रतीतिमात्रवैचित्र्यः स्यात्, सर्वस्यापि विशेषणोपलक्षणान्तर्भावात्, तथाच बुद्धिवैचित्र्यमेवार्थवैचित्र्यम्, नतु तदतिरिक्तमिति योगाचारमते निपात इत्याह—**किंच जटीत्यादिना** । उक्तदूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति** । व्यावर्तकत्वानिरुक्तेरित्यर्थः । अत्र चैवकार उपलक्षणव्यावर्तकः । अपिरव्याप्तिव्यावर्तकः ।

एवमवच्छिन्नत्वं दूषयित्वा पदसमुदाय इत्यत्र पदपदार्थं दूषयति—**अस्तु चेति** ।

समानाधिकरणता हो सके । यदि कहें कि दण्डित्व को प्रवृत्ति-निमित्त करके दण्ड शब्द देवदत्त में प्रवृत्त होता है, तो भले ही प्रवृत्त हो, परन्तु वह दण्डी विशेषण नहीं है, उसका दण्ड विशेषण है । अतः दण्डविशिष्टत्व उसका स्वरूप है, और, (जटी तापसः, जटाभिस्तापसः) जटा वाला तपस्वी, जटा द्वारा जटा से उपलक्षित तपस्वी, इस प्रकार के वैकल्पिक = नाना प्रकार की प्रतीति मात्र से विशेषण उपलक्षण व्यवहार को मानने वाले तार्किकाभिमानी अपने सौगतमतानुप्रवेश को नहीं देखते हैं । क्योंकि सब ही ये प्रमाण प्रमेयादि व्यवहार बुद्धि में आरोपित धर्म-धर्मी आदि भाव से कल्पित होते हैं, वह व्यवहारमान मेयादि की बहिःसत्त्व की अपेक्षा नहीं करता है । यह सौगत योगाचार का मत है, प्रतीति के अधीन विशेषण उपलक्षणादि के भेदों को मानने वाले तार्किकों का अंशतः इस मत में प्रवेश सिद्ध होता है । इसीसे सम्बद्ध = सम्बन्ध वाला व्यावर्तक विशेषण होता है, असम्बद्ध भी व्यावर्तक उपलक्षण होता है, यह भी निराकृत हो गया, क्योंकि व्यावर्तकत्व की निरुक्ति नहीं हो सकती है ।

अथवा आपकी इच्छा के अनुसार जो कुछ अवच्छेदक = विशेषण और अवच्छिन्न विशेष्य हो । तो भी वह पद क्या है, कि जिसका समुदाय वाक्य होता है,

तत्पदम् इति विवेचनीयम्, यत्समुदायो वाक्यम् ? ननु प्रसिद्धिसिद्धमेव सुप्तिङन्तं पदमिति, किमिह विवेचनीयमिति चेत्, मैवम्, एकैकस्य मिलितस्य वा लक्षणत्वे सुबन्तेऽपि तिङन्तस्य तिङन्तेऽपि सुबन्तस्योभयोरुभयत्र चाव्याप्तेः। उभयान्यतरदिति चेत्, न, अन्यतरशब्देनैकैकस्य मिलितस्य वाभिधाने पूर्वदोषानुषङ्गात्। उभयान्यान्यदिति चेत्, न, उभयशब्देनोभयत्वसंख्याविशिष्टत्वविवक्षायामन्यशब्देन चान्यत्वाधिकरणत्वविवक्षाया-

---

अनवसरशङ्कां निराचष्टे—**यत्समुदाय इति**। पाणिनीयं पदलक्षणमुद्भावयति—**नन्विति**। तत्र 'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्' इति सूत्रोक्तसप्तविभक्त्यात्मकैकविंशतिवचनानां प्रत्याहारन्यायेन सुबिति निर्देशः। तिङिति च 'तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्' इति सूत्रोक्ताष्टादशरूपाणां निर्देशः एतद्विभक्तिवर्गद्वयान्तं शब्दरूपं पदमित्यर्थः। तदेतद्दूषयति—**मैवमिति**। किमेतत्पदमात्रलक्षणम् ? किं वा तद्विशेषलक्षणम् ? नान्त्यः, पदमात्रलक्षणस्य पृष्टत्वात्सामान्यलक्षणासिद्धौ विशेषानिर्द्धेश्च। प्रथमे त्वव्याप्तिरेकैकस्य लक्षणत्वे सुबन्तत्वस्य तिङन्तेऽभावात्तिङन्तत्वस्य च सुबन्तेऽभावात्। मिलितस्य लक्षणत्वे चोभयत्राव्याप्तिरेकैकस्योभयात्मत्वाभावादित्यर्थः। अनुगतरूपसिद्धयै शङ्कते—**उभयान्यान्यदिति**। दूषयति—**नेति**। उभयत्वसंख्याविशिष्टादेतस्माद्यदन्यद्विश्वं तदन्यत्वाधिकरणं यदेतदुभयं तत्त्वमिह लक्षणे विवक्षितोऽर्थः। नचेदमुभयसाधारणमिति प्रत्येकमिलितविकल्पतद्दोषौ च समानावित्यर्थः। उभयान्यान्यशब्दानां च साधारणार्थविवक्षायां सर्वत्रातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। इदानीं तदन्तत्वानिरु-

---

वह पद विवेचनीय है। यदि कहें कि प्रसिद्धि से सिद्ध ही सुबन्त और तिङन्त पद है (सुप्तिङन्तं पदम्) यह सूत्र भी है, फिर यहाँ विवेचनीय क्या है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि, सुबन्तम् पदम्, तिङन्तं पदम्, इस प्रकार से एक-एक को लक्षण होने पर यह विशेष का लक्षण होगा, सामान्य पदमात्र का नहीं, पदमात्र का लक्षण माने तो सुबन्त पदम्, इसकी तिङन्त में अव्याप्ति होगी, तिङन्तं पदम् इसकी सुबन्त में अव्याप्ति होगी। और (सुप्तिङन्तं पदम्) इस मिलित को एक लक्षण माने तो दोनों में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उभयात्मत्व उभय में नहीं रहता है। यदि कहें कि, सुबन्त तिङन्त उभयान्यतरत् पदम्, ऐसा अनुगत लक्षण है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि अन्यतर शब्द से एक-एक को वा मिलित को कहने पर पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होती है। यदि उभयान्यान्यत्व, रूप उभयानुगत धर्म को लक्षण कहें, तो भी नहीं बन सकता है, क्योंकि उभय शब्द से उभयत्व (द्वित्व) संख्या से विशिष्टत्व की विवक्षा होने पर, और अन्य शब्द से अन्यत्व के अधिकरणत्व की विवक्षा होने पर, उभयत्व संख्या विशिष्ट उभय से अन्यत्व के अधिकरण संसार से अन्यत्व

मुभयोरपि तत्संभवेन पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। अपि च सुप्तिङन्तं पदमिति यत्र सुप्तिङौ स्तस्तत्पदम्? यत्र वा तौ विधित्सितौ, तत्पदम्? नाद्यः, विभक्तिसत्त्वस्य विशेषणत्वेऽव्ययानां लुप्तविभक्तिकानामपदत्वप्रसङ्गात्। उपलक्षणत्वे च प्रातिपदिकस्यापि पदत्वम्, भाविनापि विनाशेन विनाशी घट इतिवद्भाविनापि विभक्तिसत्त्वेनोपलक्षितत्वोपपत्तेः। अत एव न द्वितीयः, एतेन विभक्त्यन्ताः वर्णाः पदमित्यपि निरस्तम्।

वरयापि लक्षणं दूपयति—**अपि चेति**। किमयं बहुव्रीहिस्तद्गुणसंविज्ञानः? किं वाऽतद्गुणसंविज्ञानः? इत्यर्थः। आद्येऽपि किं विशेषणतया विभक्तिसत्त्वं विवक्षितम्? उपलक्षणतया वा? नाद्यः अव्यापनादित्याह—**नाद्यः, विभक्तीति**। स्नात्वा स्नातुमित्यादीनि प्रसिद्धानि, नचैतेषु विभक्तिसत्त्वमस्ति, 'अव्ययादाप्सुपः' इति विभक्तिलोपात्, 'कृन्मेजन्तः क्त्वातोसुन्कसुनः' इति चाव्ययसंज्ञाविधानादितरथाऽकार्यभोजीत्यादिष्वपि लुप्तविभक्तिकेष्वव्याप्तिरिति भावः। उपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—**उपलक्षणत्वे चेति**। प्रातिपदिकग्रहणं धातोरप्युपलक्षणम्। ननु तदानीमविद्यमाना विभक्तिः प्रातिपदिकस्य कथमुपलक्षणमिति? तत्राह—**भाविनापीति**। नाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्यत्र तदानीमविद्यमानेनापि नाशेनोपलक्षणदर्शनात्। एवं विनाशी घट इत्यत्रापीति भावः। विधित्सिताविति पक्षं दूषयति—**अत एवेति**। प्रातिपदिकमात्रस्यापि पदत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। उक्तदूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति**। विभक्तेर्विभक्त्यन्तत्वस्य चानिरूपणादित्यर्थः।

उभय को ही होगा। अतः सुबन्त तिङन्त दोनों की अन्यान्यत्व के सम्भव से पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती है। और (सुप्तिङन्तं पदम्) इसका सुप्तिङ् जहाँ वर्तमान हों, वह पद कहाता है, यह अर्थ है, या जहाँ सुप्तिङ् विधित्सित = विधि की इच्छा के विषय हों वह पद है, यह अर्थ है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि विभक्ति का सत्त्व विशेषण रूप से या उपलक्षण रूप से माना जा सकता है, वहाँ विभक्ति सत्त्व के विशेषणत्व होने पर, अव्ययों को और लुप्त विभक्ति वाले पदों को अपदत्व की प्राप्ति होती है। और विभक्ति के उपलक्षण पक्ष में प्रातिपदिक को भी पदत्व प्राप्त होता है। क्योंकि जैसे भावी विनाश से भी विनाशी घट कहा जाता है, वैसे ही भावी विभक्ति सत्त्व से प्रथम ही प्रातिपदिक को उपलक्षितत्व की सिद्धि हो सकती है। अतएव = इस प्रातिपदिक की पदत्व प्राप्ति से दूसरा (विधित्सित) पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है। इसी विभक्ति और विभक्त्यन्त के अनिरूपण से, विभक्त्यन्त वर्ण पद होते हैं, यह लक्षण भी निरस्त हो गया।

ननु शाब्दप्रतीत्यजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं पदमिति लक्षणम्, अत्र च शाब्दप्रतीतिजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वाक्यं प्रथमविशेषणेन व्यावर्त्यते, द्वितीयेन च प्रत्यक्षानुमानादावतिव्याप्तिर्व्युदस्यते, वर्णात्मकत्वविशेषणेन चादृष्टेश्वरादि। तदिहाधुनिकलक्षणे न कोऽपि दोष इति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्—तत्कि शब्दशब्देन पदं विवक्षितम्? उत वाक्यम्? नाग्रिमः, पदस्याद्याप्यसिद्धेः। न पश्चिमः, पदासिद्धौ तस्याप्य-

---

आधुनिकरीत्या पदलक्षणमुद्भावयति—**नन्विति**। शब्दजनिता या प्रतीतिस्तयाऽजन्यत्वे सति शाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं च यत्तत्पदमित्यर्थः। स्वयमेव विशेषणत्रयस्य कृत्यमाह—**अत्र चेत्यादिना**। पदसमुदायात्मकं वाक्यमतः समुदायिपदविषयप्रत्यक्षप्रतीतिजन्यं तच्छाब्दप्रतीतिजनकं च वाक्यार्थप्रतीतेरपि शाब्दत्वादतस्तद्व्यवच्छेदाय तयाऽजन्यत्वविशेषणमित्यर्थः। शाब्दप्रतीत्यजन्येत्यत्र प्रतीतिविशेषणीभूतशब्दशब्देन पदमभिधीयते? वाक्यं वा? इति विकल्प्याद्यमात्माश्रयत्वेन दूषयति—**नाग्रिम इति**। द्वितीयं दूषयति—**न पश्चिम इति**। पदसमुदायो हि वाक्यमतः पदासिद्धौ वाक्यमप्यसिद्धमित्यर्थः। वाक्ये चातिव्याप्तिः, तस्यापि वाक्यजन्यप्रतीत्यजन्यत्वे सत्युक्तविशेषणत्वात्। वर्णसमुदायरूपपदसमुदाये च वाक्ये वर्णात्मकत्वमप्यस्त्येवान्यथा पदस्यापि वर्णात्मकताभावप्रसङ्गादिति। नच शब्दत्वजातीयाजन्यशब्दत्वजातीयजन्यप्रतीतिजनकवर्णसमुदायः पदमिति युक्तम्। प्रथमविशेषणेन सर्वशब्दत्वजातीयविवक्षायां तदजन्यत्वविशेषणं द्वितीयेन व्याहतम्। द्वितीये वाक्येऽतिव्याप्तिः; तस्यापि यत्किंचित्पदाजन्यत्वे सत्युक्तरूपत्वादिति। किं पदसमुदायो वाक्यमित्यादिना त्रिधा वाक्यलक्षणं विकल्प्याद्यौ द्वौ दूषितौ, इदानीं तृतीयं

शंका होती है, कि (शाब्दप्रतीति से अजन्य शाब्दप्रतीति का जनक वर्णात्मक पद होता है। वह पद का लक्षण है, और इस लक्षण में, शाब्दप्रतीति = पदार्थ ज्ञान जन्य शाब्दप्रतीति जनक वाक्य, प्रथम विशेषण शाब्दप्रतीत्यजन्य इससे व्यावृत्त होता है। दूसरे शाब्द विशेषण से प्रत्यक्ष अनुमानादि में अतिव्याप्ति का वारण होता है, क्योंकि (शाब्द प्रतीत्यजन्य प्रतीति जनक) इतना ही कहने पर प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति होती, और वर्णात्मकत्व विशेषण से अदृष्ट ईश्वरादि का वारण होता है, अतः इस आधुनिक लक्षण में कोई दोष नहीं है। ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि यह लक्षण विचाराऽसह है, विचार है कि (शाब्द प्रतीत्यजन्य) यहाँ शब्द-शब्द से पद विवक्षित है, या वाक्य विवक्षित है, अग्रिम (पद) विवक्षित नहीं हो सकता है, क्योंकि पद की अभी सिद्धि नहीं हुई है, पश्चिम (वाक्य) भी विवक्षित नहीं हो सकता है, क्योंकि पद की असिद्धि रहते पदसमूह रूप वाक्य की

सिद्धेः । नाप्याकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति तृतीयः पक्षः, आकाङ्क्षायाः पुरुषधर्मस्याचेतनेषु पदेष्वभावात् । आकाङ्क्षा हि जिज्ञासा, उक्तं हि—

'अन्वितस्याभिधानार्थमुक्तार्थघटनाय वा ।
प्रतियोगिनि जिज्ञासा या साकाङ्क्षेति गीयते ॥' इति
(प्र० पं० परि० पृ० ७)

योग्यतापि किं पदानामेव सहप्रयोगयोग्यत्वम् ? उतान्योन्यान्वययोग्यार्थत्वम् ? नाद्यः, वह्निना सिञ्चेदित्यादावपि सहप्रयोगदर्शनात् । नापि द्वितीयः, वाक्याभासेऽपि प्रसङ्गात् । नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति विप्रलम्भकवाक्यस्थपदानामप्यन्योन्यान्वययोग्यार्थकत्वात् । अन्यथा प्रामा-

---

दूषयति—**नाप्याकाङ्क्षेति** । किमत्र योग्यतासन्निधिमदाकाङ्क्षाधिकरणत्वं विवक्षितम् ? उत तद्विषयत्वम् ? नान्त्यः, विषयविषयिभावस्य खण्डितत्वात् । आद्येऽसिद्धिमाह—**आकाङ्क्षाया इति । अन्वितस्येति** । कुत्र इत्यत्रान्वितस्याभिधानार्थं विश्वजिता यजेतेत्यादावुक्तार्थयागस्य घटनाय प्रतियोगिनि जिज्ञासा या पुंसः सा आकाङ्क्षेति गीयत इत्यर्थः । एतच्चोभयं विविच्य दर्शितमभिहितान्वयवादे ।

योग्यतामपि विकल्प्य दूषयति—**योग्यतेति** । किं पदगता ? पदार्थगता वा ? इत्यर्थः । आद्येऽतिव्याप्तिमाह—**वह्निनेति** । तयोरपि सहप्रयोक्तुम् योग्यतास्त्येवेतरथा तत्कार्यसहप्रयोगो न स्यादित्यर्थः । वाक्याभासे गमनमेव दर्शयति—**नद्यास्तीर इति** । ननु बाध्यमानस्य तदर्थस्य कथमन्वययोग्यता ? इति, तत्राह—**अन्यथेति** ।

भी असिद्धि ही रहती है । पदसमुदायादि रूप से तीन प्रकार के वाक्य के लक्षण विकल्पित हुए थे, उनमें दो का निराकरण हो चुका । अब कहते हैं कि (आकाङ्क्षासन्निधियोग्यता वाले पद वाक्य होते हैं) यह तृतीय भी वाक्य लक्षण पक्ष युक्त नहीं है । क्योंकि पुरुष के धर्मरूप आकाङ्क्षा (इच्छा) का अचेतन पदों में अभाव रहता है, आकाङ्क्षा जिज्ञासा को कहते हैं । कहा भी है—

अन्वित अर्थ को कहने के लिये या उक्तार्थ के संघटन = सम्बन्ध के लिये जो प्रतियोगी = सम्बन्धन्तर विषयक पुरुष की जिज्ञासा होती है, वही आकाङ्क्षा कही जाती है ।

योग्यता भी क्या है, पदों का ही सह = साथ प्रयोग योग्यत्व रूप है । या अन्योन्य = परस्पर अन्वय योग्य अर्थत्व रूप है । प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि (वह्निना सिञ्चेत) अग्नि से सेचन करे, इत्यादि में भी सह प्रयोग देखा जाता है । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वाक्याभास = मिथ्यार्थक वाक्य में भी योग्यत्व की प्राप्ति होती है, नदी के तीर पर फल हैं, इस विप्रलम्भक = वञ्चक के वाक्यस्थ पदों को भी अन्योन्यान्वययोग्यार्थकता रहती है,

णिकवाक्येऽपि तेषामनन्वयापत्तेः । प्रमाणान्तरविरोधादिह पदार्थानामन्वययोग्यता नास्तीति चेत्, न, संसर्गाभावेपि संसर्गयोग्यस्वभावस्याखण्डितत्वात् ।

अस्तु वा यत्किंचिदविचारितरमणीयं पदम्, तत्समूहश्च वाक्यम्, तथापि कुत्र प्रमाणम्, इति विवेचनीयम् ?

शब्दो मानं विवक्षायां ज्ञानेऽर्थे वा भवन्भवेत् ।
नाद्यौ तद्व्यभिचारित्वान्नान्त्यः संगत्ययोगतः ॥ ३१ ॥

अयं भावः—अत्र किं प्रमाणान्तरबाधादन्वयो नास्तीत्युच्यते ? किंवा तद्योग्यतैव नास्तीति ? आद्ये प्रकृतदोषापरिहारः; अन्वयाभावेपि योग्यतानपायात् । नहि यावद्योग्यत्वं कार्यदर्शनमस्तिः; नियमेन कार्यानिष्पत्तेरिति चेन्न, असिद्धेः, आप्तवाक्ये तेषामेवान्वयदर्शनात् । एतेन योग्यताभावपक्षोऽपि प्रत्युक्तः । न चाप्तवाक्यस्थपदार्थेभ्योऽनाप्तवाक्यस्थपदार्था अन्य एवेति वाच्यम्, तथा सति तेषामन्वयायोग्यत्वस्याप्यसिद्धेः, क्व दृष्टं तेषामन्वययोग्यतास्तीति ? संगतिग्रहणाभावदबोधकता च ? अख्यातिवादिनापि च पदार्थबोधाङ्गीकारात्, तस्मादस्त्येवानाप्तवाक्ये व्यभिचार इति । एतदेव चोद्यपरिहाराभ्यां विशदयति —**प्रमाणान्तरेत्यादिना ।**

एवं तावच्छब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेर्थे बुद्धिः शाब्दमिति लक्षणे शब्दविज्ञानादिस्यंशो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानीं तदपेक्षार्थविज्ञानमित्यत्रार्थशब्दार्थोऽपि विचारासह इत्याह—**अस्तु चेत्यादिना ।** मानं भवन् शब्दः किं वक्तृविवक्षाया पदार्थसंसर्गविषयिण्यां लिङ्गतया भवेत् ? यथाहुः सौगताः—'वक्तुरभिप्राय तु सूचयेयुः' इति । किंवा वक्तृप्रयोगमूलभूतज्ञाने लिङ्गतायां, यथा वैशेषिकादयः ? उपलक्षणं चैतत् रागाभिप्राययोरपि । किंवा वाक्यार्थे स्वभावत एव यथा मीमांसकाः ? न तावदाद्यौ; ताभ्यां शब्दस्य व्यभिचारात् । नाप्यन्त्यः; पदार्थेषु संगत्यसंभवेन तत्संसर्गरूपवाक्यार्थेपि प्रामाण्यायोगाद्दिति संग्रहश्लोकयोजना ।

अन्यथा प्रामाणिक वाक्य में भी उन पदार्थों के अनन्वय की आपत्ति होगी । यदि कहा जाय कि प्रमाणान्तर के विरोध से इस वञ्चक वाक्य में योग्यता नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वञ्चक कथित अर्थों के संसर्ग के अभाव रहते भी संसर्ग योग्य स्वभाव को अखण्डितत्व रहता है । अत एव आप्त वाक्य में उनका अन्वय देखा जाता है ।

अथवा अविचारित रमणीयता वाला यत्किञ्चित् पद हो, तथा पदसमूह रूप वाक्य भी हो, तो पद और वाक्य रूप शब्द किस अर्थ में प्रमाण होता है—

शब्द प्रमाण होता हुआ, क्या पदार्थसंसर्ग विषयक वक्ता की विवक्षा में प्रमाण लिङ्ग रूप से होता है, या वक्ता के प्रयोग कारण ज्ञान में लिङ्ग रूप से प्रमाण होता है, अथवा वाक्यार्थ में बोधक रूप से प्रमाण होता है । आद्य दो पक्ष यच नहीं

न तावद् 'देवदत्त गामभ्याज' इति पदनिचयस्तद्विवक्षायां तज्ज्ञाने वा लिङ्गतया मानम्, व्यभिचारित्वात्। भ्रान्तस्य पिपासोः पानीयविवक्षायां कुकुदं देहीति प्रयोगदर्शनात्। अन्यथा जानतोऽपि विप्रलम्भकस्यान्यथा-प्रयोगदर्शनाच्च। आप्तवाक्यमेव तयोर्लिङ्गं नेतरदिति चेत्, अस्तु तर्हि तदर्थस्यैव प्रतिपादकत्वं तस्य, तेनाव्यभिचारात्। किंच वाक्यं वाक्यार्थेना-विशेषितज्ञानविवक्षयोर्मानम्? उत विशेषितयोः। नाद्यः, व्यवहाराभाव-

---

इममेव सग्रहं विवृणोति—न तावदित्यादिना। विवक्षाव्यभिचारमुदाहृत्य ज्ञानव्यभिचारमुदाहरति—**अन्यथा जानतोऽपीति**। तदुक्तं भट्टपादैः—

'अन्यथा संविदानोपि विवक्षत्यन्यथा यतः।
तस्मादेकान्ततो नास्ति पुंवाक्यात्तद्धियां गतिः॥' इति

(श्लो० वा० २।१६०)

ननु नास्माभिः शब्दमात्रं विवक्षाज्ञानयोः प्रमाणमित्युच्यते, अपित्वाप्तवाक्यम्, तस्य च न ताभ्यां व्यभिचार इति शङ्कित्वा परिहरति—**अस्तु तर्हीति**। अनाप्त-वाक्येष्वर्थव्यभिचारदर्शनेन खलु विवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यमाश्रीयते, तत्रापि चेदाप्त-वाक्यत्वेन विशेषणम्, अर्थं एव किमिति तर्हि तादृशं वाक्यं प्रमाणं न स्यात्? अस्ति हि तेनापि तस्याव्यभिचार इत्यर्थः। इतोपि विवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यं न संभवती-त्याह—**किंच वाक्यमित्यादिना**। किं ज्ञानविवक्षामात्रयोर्वाक्यं प्रमाणम्? उत तत्तद्वाक्यार्थविशेषितज्ञानविवक्षयोः? इत्यर्थः। आद्यमसंभवेन दूषयति—**व्यवहा-रेति**। नहि ज्ञानमात्रविवक्षामात्रप्रतिपत्त्या गवानयनादौ प्रवृत्तिः संभवतीत्यर्थः। द्वितीये तु ते वाक्यार्था ज्ञाताः? न वा? आद्ये किमन्यतस्तेषां ज्ञानम्? शब्दत एव

सकता है, क्योंकि उनके साथ शब्द का व्यभिचार रहता है, अर्थ के साथ सङ्गति की अयोग्यता से अन्तिम पक्ष भी नहीं बन सकता है॥ ३१॥

देवदत्तः गामभ्याज = गौ ले आ, यह पदसमूह, उस वक्ता की विवक्षा में वा उसके ज्ञान में लिङ्ग रूप से प्रमाण नहीं होता है, क्योंकि विवक्षा और ज्ञान का व्यभिचारी पदसमूह होता है। पिपासा युक्त भ्रान्त पुरुष में पानी की विवक्षा रहते (कुकुदं देहि) अलङ्कृत कन्यादानी को दो, ऐसा कहता है। यहाँ विवक्षा का व्यभिचारी शब्द है। और अन्य प्रकार से सच्चे अर्थ को जानने वाले वञ्चक का अन्यथा = मिथ्या, प्रयोग देखा जाता है। अतः ज्ञान का व्यभिचारी शब्द सिद्ध होता है। यदि कहें कि आप्त का वाक्य ही विवक्षा और ज्ञान का लिङ्ग होता है, अन्य नहीं। तब तो जिस अर्थ के व्यभिचार से अनाप्त वाक्य अप्राण होता है, उस अर्थ का ही प्रतिपादकत्व उस वाक्य को होना चाहिये। अर्थ में ही वाक्य को प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि उस अर्थ के साथ वाक्य का अव्यभिचार रहता है। और

प्रसङ्गात्। द्वितीये तु तद्विशेषणभूतोऽर्थः केनाधिगतः? इति वाच्यम्, न तावत्प्रत्यक्षेण; नदीतीरे फलसत्तायाः श्रोतुरिन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्। नानुमानेन; तद्व्याप्तलिङ्गाभावात्। नाप्येतदवगतिः स्मृतिः, पूर्वमननुभूतत्वात्। नाप्युत्प्रेक्षा, तस्याः प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भावात्। नापि संशयः, कोटिद्वयानवलम्बित्वात्। नापि विपर्ययः, तत्र प्रवृत्तस्य तत्प्राप्त्यभावप्रसङ्गात्। शब्दादेव तु तदधिगमे परस्पराश्रयता, अनुमानवैयर्थ्यं च।

वा? न तावदन्यत इत्याह—**न तावत्प्रत्यक्षेणेत्यादिना**। **इन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्**। वाक्यप्रयोगसमये इति शेषः। ननु स्मृतिरेव सा अतः संस्कारादेव प्राप्तेति, तत्राह—**नाप्येतदवगतिरिति**। उत्प्रेक्षापक्षेपि न तावत्स्मृतिः निरस्तत्वात्। अनुभवपक्षे तु प्रमाणम्? न वा? आद्ये प्राह—**प्रत्यक्षेति**। द्वितीयेपि संशयः? विपर्ययो वा? नोभावपीत्याह—**नापि संशय इति**। अस्तु तर्हि शब्दादेव तदधिगम इति, नेत्याह—**शब्दादेवेति**। यदा शब्दतोर्थम् ज्ञात्वा तद्व्यावृत्तविवक्षा वा ज्ञानं वा शब्देन लिङ्गभूतेनानुमीयते ताभ्यां चार्थानुमानम्, तथाचार्थज्ञाने विवक्षाज्ञानं विवक्षाज्ञाने चार्थज्ञानमिति परस्पराश्रय इत्यर्थः। किंच प्रथमत एवार्थप्रतीतौ तद्विवक्षया तुनस्तदनुमानं च वृथेत्याह—**अनुमानेति**। अथवा न परस्पराश्रयः। अर्थव्यावृत्तविवक्षया पुनरर्थानुमानाभावाद्व्यवहारस्य प्राथमिकार्थप्रतीत्यैवोपपत्ते-

---

यह भी विचारणीय है कि वाक्यार्थ से अविशेषित = वाक्यार्थ विषयतारहित ज्ञान और विवक्षा में वाक्य प्रमाण होता है, अथवा वाक्यार्थ विशेषित में प्रमाण होता है। प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा, क्योंकि ज्ञानमात्र या विवक्षा मात्र के ज्ञान से यथाऽऽनयादि व्यवहार नहीं हो सकता है, किन्तु विषय विशेषित ज्ञानादि से व्यवहार की सिद्धि होती है। दूसरे पक्ष में उस ज्ञान वा विवक्षा के विशेषण रूप अर्थ किससे अधिगत (ज्ञात) होता है, यह भी वक्तव्य है। वाक्यार्थ का प्रत्यक्ष से ज्ञान तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि (नदीतीरे फलानि सन्ति) नदी के तट पर फल हैं, इस वाक्य के श्रोता के इन्द्रिय का नदीतीर की फलसत्ता से सम्बन्ध का अभाव रहता है। अनुमान से भी ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उससे व्याप्त लिङ्ग का अभाव रहता है। उसका ज्ञान स्मृति रूप नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रथम का अनुभूत अर्थ नहीं है। उत्प्रेक्षा (सम्भावना) रूप ज्ञान नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उत्प्रेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत होती है, अतः प्रत्यक्षानुमान के अभाव से उत्प्रेक्षा का अभाव भी सिद्ध होता है। कोटिद्वयानवलम्बी होने से संशय ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है। विपर्यय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विपर्यय होने पर वहाँ प्रवृत्त पुरुष को उस फल की अप्राप्ति का प्रसङ्ग होगा। शब्द से उनके ज्ञान हो तो परस्पर

अनधिगमे तु तद्विशिष्टज्ञानानुमानायोगः। नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायात्। नापि तृतीय; अर्थेन शब्दसंगत्यभावात्—शब्दार्थयोरेकदेशकालत्वनियमाभावात्। वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धोऽस्तीति चेत्, वाचकत्वं नाम तद्विषयप्रतीतिजनकत्वम्, वाच्यत्वम् तज्जन्यप्रतीतिविषयत्वम्, तदेवासति संबन्धे कथं स्यादिति पर्यनुयोगे तस्मात् इव तद्भवतीति ब्रुवाणः पण्डितगोष्ठीषु कथं नापत्रपेत्? अन्तरेण च संबन्धं शब्दस्यार्थविशेषप्रतीतिजनकत्वेऽध्यक्षानुमानयोरपि संबन्धसमर्थनवैयर्थ्यापातः।

रिति यदि परो ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अनुमानेति**। तर्हि प्राथमिकमर्थमतिलंघ्य विवक्षानुमानमनर्थकं तावन्मात्रादेव व्यवहारसिद्धेरित्यर्थः एवं ज्ञायमानार्थव्यावृत्तविवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यमिति पक्षं दूषयित्वाऽज्ञायमान इति पक्षं दूषयति—**अनधिगम इति**। अर्थे प्रमाणं शब्द इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। **अर्थेनेति**। पदार्थेन संगत्यभावात् पदनिचयस्य न पदार्थसमूहे प्रामाण्यमित्यर्थः। ननु माभूदेकदेशादिनियमलक्षणः संबन्धः, वाच्यवाचकलक्षणस्त्वस्ति संबन्ध इति शङ्कते—**वाच्येति**। संबन्धव्यतिरेकेणार्थस्य वाच्यत्वं शब्दस्य वाचकत्वं वा न संभवति तत्र तस्यैव संबन्धोक्तावात्माश्रयः स्यादिति परिहरति—**वाचकत्वमित्यादिना**। गोष्ठीषु सदःस्वित्यर्थः। असंबद्धस्यैव वाच्यत्वं वाचकत्वं वेत्याशङ्क्यातिप्रसक्तिः स्यादित्याह—**अन्तरेणेनेति**।

आश्रयता होती है (क्योंकि शब्द से अर्थ को जान कर अर्थविशेषित विवक्षा वा ज्ञान का शब्द रूप लिङ्ग से अनुमान होगा, फिर उस विवक्षा ज्ञान से अनुमान के होने पर। अर्थज्ञान से विवक्षा का ज्ञान, विवक्षा ज्ञान से अर्थज्ञान यह अन्योन्याश्रय होगा) और प्रथम ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होने पर, उस अर्थ की विवक्षा से उसका अनुमान में व्यर्थता होगी। और यदि विवक्षा वा ज्ञान का विशेषण अर्थ का प्रथम ज्ञान नहीं हो तो अनधिगम रहते अर्थविशिष्ट ज्ञान वा विवक्षा का शब्द से अनुमान नहीं हो सकता है, क्योंकि यह नियम है कि विशेषण को नहीं ग्रहण करने वाली बुद्धि विशेष्य-विषयक नहीं होती है (विशेष्य का ग्रहण नहीं करती है)। अर्थ में शब्द प्रमाण है, यह तृतीय पक्ष भी नहीं युक्त है। क्योंकि अर्थ के साथ शब्द की सङ्गति (सम्बन्ध) का अभाव रहता है, एकदेश काल से सम्बन्ध होता है, और शब्द और अर्थ को एक देशकालवत्त्व के नियम का अभाव रहता है। यदि कहें कि एकदेश काल वृत्तित्व के अभाव रहने भी वाच्यवाचक स्वरूप = अर्थात् वाच्यत्व वाचकत्व स्वरूप सम्बन्ध तो दोनों को रहता ही है। तो कहा जाता है कि वाचकत्व नाम है, अर्थविषयक प्रतीतिजनकत्व का। और वाच्यत्व नाम है शब्दजन्य प्रतीतिविषयत्व का, वह जनकत्व जन्यत्व ही संबन्ध के नहीं रहते कैसे होगा, ऐसा प्रश्न होने पर यदि कहें कि वाच्यवाचक भाव से ही वह हो

कस्य चायं शब्दो वाचकः ? किं जातेः ? उत व्यक्तेः ? किं वा जातिविशेषितायाः व्यक्तेः ? नाद्यः; विशेषविषयव्यवहाराभावप्रसङ्गात्। अथ जातावेवावसितसंगतिकानि पदान्यनाकलितविशेषायास्तस्या बोद्धुमशक्यत्वात्तत्रापर्यवसितव्यापाराणि विशेषानपि बोधयन्तीति मतम्, तदपि न; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—प्रथमं जातिमात्रमवबोध्यापर्यवसानादनन्तरं विशेषमवबोधयन्ति ? किं वान्तर्भावितविशेषामेव जातिम् ? नाद्यः, पद-

---

अस्तु वा वाचकत्वं तथापि कस्य वाचकः शब्द इति विकल्प्य दूषयति—**कस्यचायमित्यादिना**। यद्यप्याकृत्यधिकरणे, नियोगेन विकल्पेन द्वे वा सहसमुच्चितः "संबन्धः समुदायो वा विशिष्टा चैकयापि वा" इति वार्तिककारैर्बहवः पक्षा उपन्यस्ताः। तथापि तेषामत्यन्ताभासत्वात्तैरेव निरस्तत्वाच्च विस्तरभीरुणा चार्थेणेह नोपन्यस्य निरस्यन्ते। जातिमात्रे गृहीतसंगतिकस्य व्यक्तावपर्यवसानवृत्त्या बोधकत्वमिति प्राभाकररीत्या पूर्ववादिनोक्तं विकल्प्य दूषयति—**तथा हीति**। यदिदमपर्यवसानाद्व्यक्तिबोधनं तत्किं जातिप्रतीतेः पश्चात् ? किं वा जात्या सहैव ? इत्यर्थः। आद्यमसंभवेन निरस्यति—**नाद्य इति**। बुद्धिग्रहणं दृष्टान्तार्थम्, द्वितीयेपि किं व्यक्तावशक्तः ? शक्तो वा ? नाद्यः; अशक्तस्य तद्वाचकत्वाभावात् द्वितीयेपि व्यक्ति-

---

जायगा, तो ऐसा कहने वाला पण्डितसभा में क्यों न लज्जित होगा, अर्थात् इस प्रकार से आत्म आश्रयता होती है, वाच्यत्व वाचकत्व का सम्बन्ध भी वही सिद्ध होता है। और सम्बन्ध के बिना ही यदि शब्द को अर्थविशेष की प्रतीति के कारणत्व हो, तो प्रत्यक्ष और अनुमान को भी सम्बन्ध का समर्थन = प्रतिपाद व्यर्थ होगा।

किसी प्रकार से वाचकत्व होने पर भी यह शब्द किसका वाचक होता है, क्या जाति का वाचक होता है, या व्यक्ति का होता है, या जातियुक्त व्यक्ति का वाचक होता है। आद्य जाति वाचकत्व पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जातिवाचक शब्द से विशेष व्यक्तिविषयक व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि जाति में ही निश्चित सङ्गति (शक्ति = सम्बन्ध) वाले पद होते हैं, परन्तु अज्ञात विशेष = व्यक्ति वाली उस जाति के बोध कराने में अशक्यता से, तत्र उस जाति में अपर्यवसित (अचरितार्थ) व्यापार वाले होकर पर्यवसान के लिये विषयों का भी बोधक पद होते हैं। तो यह भी कहना युक्त नहीं। यह मत विकल्पासह है। क्योंकि विकल्प है कि प्रथम जातिमात्र के बोध कराकर फिर अपर्यवसान से विशेष के बोधक पद होते हैं। या अन्तर्भावित विशेष वाली ही जाति के बोधक साथ ही होते हैं। उनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्द और बुद्धि का विराम विश्रामपूर्वक व्यापार का अभाव होता है, दूसरे पक्ष में

बुद्ध्योर्विरम्य व्यापाराभावात्। द्वितीयेऽपि विशेषेषु पदानां शक्तिरस्ति ? न वा ? अस्ति चेत्, जातिरेव शब्दार्थं इत्यभ्युपगमभङ्गप्रसङ्गः। अस्तु तर्हि जातिरेव वाच्या, व्यक्तिस्तु तदविनाभावाल्लक्ष्येति चेत्, मैवम्, अविनाभावासिद्धेः। किं गोत्वजातेर्व्यक्तिमात्रेणाविनाभावः ? किं वा गोव्यक्त्या ? नाद्यः, गोत्वजातेर्घटादिव्यक्तिभिरविनाभावाभावात्। न द्वितीयः, आत्माश्रयत्वात्। गोत्वजातिविशिष्टायां गोत्वस्य वर्तनाङ्गीकारात्। विशिष्टस्य लक्ष्यत्वे विशेषणभूताया जातेर्लक्ष्यत्वप्रसङ्गात्। एतेन सास्नावता विशेषेणाविनाभाव इत्यपि प्रत्युक्तम्।

रपि शब्दवाच्येत्यपसिद्धान्तापत्तिरित्याह—**द्वितीयेपीति**। ननु व्यक्तावशक्तमेव पदम्, कथं तर्हि तत्र बुद्ध्युत्पत्तिः ? लक्षणयेति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। जातिव्यक्त्योः साधारण्येनासाधारण्येनोभयथापि चाविनाभावोऽसिद्ध इत्याह—**मैवमित्यादिना**। ननु जातिमात्रस्य न व्यक्तिमात्रेणाविनाभावः, किंतु तद्विशेषेणेति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। यदि गोत्वविशिष्टायां व्यक्तौ गोत्वस्याविनाभावस्तर्हि तत्रैव सा वर्तत इति वाच्यम्, तथा चात्माश्रयत्वमित्याह—**आत्माश्रयत्वादिति**। उपलक्षणं चैतज्जातेः जात्यविनाभावादात्माश्रयान्तरस्यापि। किंच गोत्वविशिष्टव्यक्तेरविनाभावाल्लक्ष्यत्वे तद्विशेषणजातेरपि लक्ष्यत्वमित्यभिधेयशून्यता शब्दस्य स्यात्तदभावे च लक्षणापि न संभवेदिति नैरर्थक्यमेव शब्दसामान्यस्य समर्थितं स्यादित्यभिसंधिराह—**विशिष्टस्येति**। ननु सास्नावता विशेषेण गोत्वजातेरविनाभावः, न गोत्वविशिष्टेन, तथाच नात्माश्रयतेति, तत्राह—**एतेनेति**। सोपि हि गोत्वविशिष्ट एवेति पूर्वोक्तदूषणद्वयं स्यादित्यर्थः। अनन्तव्यभिचाररूपो वा पूर्वोक्तदोषः।

भी विशेषों में पदों की शक्ति रहती है कि नहीं, यदि रहती है, ऐसा माना जाय, तो जाति ही शब्दार्थ है, इस अभ्युपगम (सिद्धान्त) का भङ्ग प्राप्त होता है। यदि कहें कि तो जाति ही वाच्य मानी जाय व्यक्ति तो जाति के साथ अविनाभाव से लक्ष्य होती है, तो यह भी कहना युक्त नहीं। क्योंकि अविनाभाव की असिद्धि है। क्या गोत्व जाति को व्यक्तिमात्र (सब व्यक्ति) के साथ अविनाभाव है, या गो व्यक्ति मात्र के साथ है। प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है। क्योंकि गोत्व जाति को घटादि व्यक्तियों के साथ अविनाभाव का अभाव रहता है, दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है, सामान्य व्यक्ति में न रह कर विशेष व्यक्ति में गोत्व को रहना होगा, तो गोत्व जाति विशिष्ट में गोत्व की वर्तना (स्थिति) का अङ्गीकार होगा और जाति के साथ अविनाभाव से व्यक्ति में लक्षणा मानने पर जातिविशिष्ट का अविनाभाव रहता है,

किंच सापि शक्तिरनधिगता न कार्याय पर्याप्तेति तदधिगतिरवश्याश्रयणीया। न च सा शक्या, विशेषाणामानन्त्याद् व्यभिचाराच्च। नास्ति चेद्, व्याघातः—तत्रासमर्थानि बोधयन्ति च तानीति। अपि च जातिरेव शब्दार्थं इति नियमे कालाकाशदिगादिशब्दानामवाचकत्वप्रसङ्गात्, कालाकाशादौ कालत्वादिजातेरभावात्। यत्र संभवति तत्र जातिरितरत्र तु व्यक्तिरिति व्यवस्थेति चेत्, न, पाचकादिशब्दानामुपाधिपरत्वस्वीकारात्। अस्तु तर्हि त्रितयं शब्दार्थं इति चेत्, न, जातिशब्दार्थत्वदोषाणामुपाधि-

किंच यया कयापि भवत्वविनाभावः, तथापि तासु व्यक्तिषु बोधनसामर्थ्यमस्ति? न वा? अस्तिचेदगृह्यमाणा वा? गृह्यमाणा वा? आद्ये प्राह—**किंच सापीति**। अनधिगतलक्षणापरिकरं प्रत्यपि बोधकत्वप्रसङ्गाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीये प्राह—**न च सेति**। ननु नास्त्येव तादृशी शक्तिरभिधेयनिष्ठत्वाच्छक्तेरिति तत्राह—**नास्ति चेदिति**। व्याघातमेव दर्शयति—**तत्रेति**। किंच सर्वशब्दानां जातिरर्थः? उत यत्र संभवति तत्रेति मतम्? नाद्य इत्याह—**अपि चेति**। नह्येकव्यक्तिषु कालादिषु जातिरस्तीति तद्वाचकशब्दानां नैरर्थक्यप्रसङ्ग इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—**यत्रेति**। एतदव्यापकमुभयव्यतिरिक्तस्योपाधेरपि क्वचिच्छब्दार्थत्वाश्रयणादित्याह—**न पाचकादीति**। अव्याप्तिद्वयं परिहरन् शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। त्रितयम्, जातिर्व्यक्तिरुपाधिश्चेत्यर्थः। एतदपि न संभवति, उपाधेः शब्दार्थतायां जातिवदुपहितेषु व्यक्तिष्विव प्रवृत्त्यसंभवादेस्तुल्यत्वादित्याह—**न जातीति**। किंच

जातिविशिष्ट में लक्ष्यत्व होने पर विशेषण रूप जाति को भी लक्ष्यत्व प्राप्त होगा, फिर कोई वाच्य नहीं रह जायगा, और वाच्य के नहीं रहने पर लक्षणा के असम्भव से शब्द निरर्थक होगा। इसीसे सास्ना वाला विशेष के साथ अविनाभाव है, पक्ष भी निरस्त हो गया। क्योंकि वह अविनाभाव गोत्वविशिष्ट में होगा कि जिससे पूर्वोक्त दोष प्राप्त होगा।

चाहे अविनाभाव किसी के साथ हो, परन्तु वह शक्ति अज्ञात रहकर अपने कार्य के लिये समर्थ नहीं होती है, अतः उसकी अधिगति (ज्ञप्ति) आश्रयणीय (मन्तव्य, प्राप्तव्य) है। परन्तु वह शक्य नहीं है। पदों की जिनमें शक्ति है, वे-वे विशेष पदार्थ अनन्त हैं, उनके ज्ञान के विना उन विषयक शक्ति का ज्ञान हो नहीं सकता है। और एक गो व्यक्ति में गो पद की शक्ति को जानने पर दूसरी गो व्यक्ति में उसी गो पद का प्रयोग होता है। इससे व्यभिचार भी है, उस व्यक्ति में शक्तिज्ञान के विना शब्द का प्रयोग नहीं हो, ऐसा नियम नहीं है। यदि कहें कि व्यक्ति में शब्दशक्ति नहीं है। तो व्याघात होगा। क्योंकि व्यक्ति में असमर्थ ये पद व्यक्ति के बोध कराते हैं, ऐसा प्राप्त होगा। और जाति ही शब्द का अर्थ है,

ष्वपि तुल्यत्वात् । नच त्रितयस्य मिलितस्यैकैकस्य वा शब्दार्थत्वप्रयोजकता, व्यभिचारित्वात्, अन्यतमत्वस्य च खण्डितत्वात् । एतेन व्यक्तेरपि शब्दार्थता प्रत्याख्याता, आनन्त्यव्यभिचारयोस्तत्रापि तुल्यत्वात् । विशिष्टस्यापि व्यावृत्तत्वाविशेषाद् व्यक्तेरिव तस्यापि शब्दार्थता निरसनीया । अथ जातिवैशिष्ट्यं सर्वत्रानुगतमेव शब्दार्थः, तदापि जातेः शब्दार्थतायामुक्तं दूषणं न प्रत्युद्ध्रियेत ।

त्रितयमपि किं मिलितं शब्दार्थः ? किं वैकैकम् ? नाद्यः, प्रत्येकस्थले तदभावात् । द्वितीयोऽसिद्धः, एकैकस्थले तदितरयोरभावादेव । अथान्यतमं शब्दार्थः स्यात्, न, अन्यतमस्य त्रितयातिरिक्ततया दुर्वचत्वस्याधस्तात्क्रियासमभिहारेणोदाहृतत्वादित्याह—**अन्यतमत्वस्य चेति** । तदेवं जातिः शब्दार्थ इति प्रथमः पक्षः प्रतिक्षिप्तः । द्वितीयं दूषयति—**एतेनेति** । लक्षणादिपक्षोक्तदोषविशेषमतिदिश्यमानं विशदयति—**आनन्त्येति** । जातिविशेषिता व्यक्तिः शब्दार्थः इति तृतीयपक्षेऽपि व्यक्तिपक्षोक्तदूषणमतिदिशति—**विशिष्टस्यापीति** । ननु न जातिविशिष्टा व्यक्तिः शब्दार्थः, येनानन्त्यादिदोषः स्यात्किन्तु सर्वविशिष्टेष्वनुगतं यज्जातिवैशिष्ट्यं तदेव शब्दार्थ इति, तदपि न, तस्यापि जातिवदेवानुगतत्वापावृत्तेषु प्रवृत्त्यभावादेस्तादवस्थ्यादित्याह—**अथ जातीत्यादिना** ।

ऐसा नियम मानने पर काल, आकाश, दिशा आदि शब्दों को अवाचकत्व प्राप्त होगा, क्योंकि काल, आकाशादि में व्यक्ति के अभेद से कालत्वादि जाति का अभाव रहता है । यदि कहें कि जहाँ जाति का सम्भव है, वहाँ जाति वाच्य होती है, और अन्यत्र व्यक्ति ही वाच्य रहती है । यह व्यवस्था है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वाचकादि शब्दों को उपाधि परत्व माना गया है, अतः आपकी व्यवस्था अव्यापक होगी । यदि कहें कि तो तीन जाति व्यक्ति उपाधि शब्दार्थ रहें । तो वह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि जातिशब्दार्थत्व पक्ष में वर्णित दोषों की उपाधि शब्दार्थत्व पक्ष में भी तुल्य ही प्राप्ति होती है । मिलित तीनों को वा एक-एक को शब्दार्थ प्रयोजकता (शब्दवाचकता) नहीं हो सकती है, क्योंकि इनमें परस्पर व्यभिचारित्व रहता है । मिलित में वाच्यता है, ऐसा कहने से मिलित में वाच्यता होगी प्रत्येक में नहीं, जाति में मानने पर अन्य में नहीं । और अन्यतमत्व का प्रथम खण्डन हो चुका है कि त्रितय से अतिरिक्त अन्यतमत्व दुर्वच है । इस जाति पक्ष के निराकरण से व्यक्ति शब्दार्थता निराकृत हो गई । क्योंकि अनन्तता और व्यभिचार वहाँ भी तुल्य ही है । जातिविशिष्ट व्यक्ति को भी परस्पर व्यावृत्तत्व तुल्य होने से व्यक्ति के समान उसकी भी शब्दार्थता निरसनीय है । यदि कहें कि जाति विशिष्ट व्यक्तियों के व्यावृत्त होते भी सर्वत्र सर्वविशिष्टों में जो अनुगत जाति

किंच वाच्यत्वमर्थस्य धर्मः, वाचकत्वं च पदस्य, तथा च प्रतिवस्तु-नियते वाच्यत्वे वाचकत्वे च संबन्धवाचोयुक्तिः कुतस्त्या? एतेन साङ्केतिकः शब्दार्थयोः संबन्ध इत्यपि परास्तम्; सङ्केतस्यापि जातौ व्यक्तौ विशिष्टे वाभिहितन्यायेन दुर्ग्रहत्वात्। तस्माच्छास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरिति लक्षणमलक्षणम्।

तथाप्तवाक्यं शब्दप्रमाणमिति नैयायिकानामपि।

आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु।
व्यभिचाराच्च तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तितः॥ ३२॥

स्वकपोलकल्पितमालतीमाधवादिवाक्येषु प्रामाण्याभावादतिव्याप्तिः।

यत्तु वाच्यवाचकत्वमेव संबन्ध इत्युद्भाव्य दूषितः पक्षः, तत्रैव सिद्धान्तोक्तिनेन दूषणान्तरमाह—**किंचेति**। संबन्धिद्वयवर्त्येको हि संबन्धो नाम, न चैतत्तथेतीदं संबन्ध एव न भवेदित्यर्थः। अत्र नैयायिकाः प्राहुः—'सांकेतिकः शब्दार्थयोः संबन्धः' इति। तदपि—**एतेनेति**। अतिदिश्यमानमेवाह—**संकेतस्यापीति**। एवं मीमांसकानां शाब्दप्रमाणलक्षणे दूषणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

नैयायिकसंमतमपि लक्षणं दूषयति—**तथेति**। लक्षणमलक्षणमित्यनुपज्यते। अस्यातिव्याप्तिमसिद्धिं च श्लोकेनाह—**आप्तेति**।

अनैकान्तिकतां विवृणोति—**स्वकपोलेति**। नन्वीत्प्रेक्षिकार्थे वचांसि नाप्त-

---

वैशिष्ट्य एक धर्म है वह शब्दार्थ है, वह व्यावृत्त नहीं है, तो भी जाति की शब्दार्थता में जो दूषण कहा गया है उसका प्रत्युद्धार = निवारण नहीं किया जा सकता है।

यह विचारणीय है कि वाच्यत्व अर्थ का धर्म है, वाचकत्व पद का धर्म है, अतः प्रति वस्तु वाच्य-वाचक में नियत वाच्यत्व वाचकत्व हैं, फिर उनमें सम्बन्ध वाक् की युक्ति (योजना) किससे हो सकती है। इसीसे सांकेतिक = संकेत जनित शब्दार्थ का सम्बन्ध होना है, यह पक्ष भी निराकृत हो गया। क्योंकि उक्त न्याय से जाति या व्यक्ति या विशिष्ट में संकेत का ग्रहण होना कठिन है। अतः (शास्त्रं शब्द-विज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः) यह लक्षण अलक्षण है।

इसी प्रकार से (आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणम्) यथार्थ वक्ता का वाक्य शब्द प्रमाण होता है। यह नैयायिकों का लक्षण भी अलक्षण है। क्योंकि—

आप्त कथित वाक्य रूप मालतीमाधवादि में व्यभिचार से वह लक्षण युक्त नहीं है, और आप्तत्व की अनिरुक्ति से भी अयुक्त है॥ ३२॥

अपने कपोल = गाल मुख से, कल्पित मालतीमाधवादि वाक्यों में प्रमाणता के अभाव से उसमें भी लक्षण की प्राप्ति रूप अतिव्याप्ति है। और प्रथम आप्त होता

नहि पुराप्त एव सन्नाटकर्नाटकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणानाप्तो भवति भवभूतिः। उक्तं चैतदुम्बेकेन—"यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति, न त्वयाननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यम्, यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते, इति तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः" इति। कश्चायमाप्तो नाम? यथादृष्टार्थवादीति चेत्, न, भ्रान्तवाक्येऽपि प्रसङ्गात्, प्रमाणदृष्ट इति विशेषणेऽपि, प्रमाणदृष्टस्य प्रमादादिनान्यथाकथनेऽपि प्रसङ्गात्। प्रमाणेन यथादृष्टं तथवादीति चेत्, मैवम्; एकदेशे तथाभूतवादित्वेप्यंशान्तरेऽन्यथाभूतवादिन्यपि प्रसङ्गात्। यावत्प्रमाणदृष्टं तावत एव वक्ताप्त इति चेत् न, अज्ञातसंदि-

---

वाक्यान्यतो नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—**नहि पुरेति**। नाटकादिकाव्ययोगान्ता नाटकविशेषाः। भवभूतिरुम्बेकः। एतदेव ग्रन्थान्तरस्थेन तद्वचनेन संमतयति—**उक्तं चैतदिति**। तत्र ह्यननुभूतार्थवाक्यस्योदाहरणत्वेन उच्यमानमप्यङ्गुल्यग्रादिवाक्यमाप्तोक्तवाक्यमेव इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। आप्तत्वस्यानिरुक्तित इत्येतद्विवृणोति—**कश्चायमिति**। **भ्रान्तवाक्य इति**। सोपि हि यथा स्वेन दृष्टं तथैव वक्तीत्यर्थः। ननु प्रमाणदृष्टार्थवक्ताप्तो नाम, ततो भ्रान्ते नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—**प्रमाणदृष्टेति**। ननु न प्रमाणदृष्टस्य वदनमात्रं विवक्षितं येनान्यथावदनमादायाव्याप्तिः स्यात्किंतु यथा दृष्टं तथैव वदनमिति शङ्कते—**प्रमाणेनेति**। अत्र किं प्रमाणदृष्टस्य तथावदनमात्रं विवक्षितम्? तिरिक्तावदनमपि वा? आद्ये प्राह—**मैवम्, एकदेशेति**। द्वितीयं शङ्कते—**यावदिति**। तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—**अज्ञातेति**। नहि तेषां प्रमाणदृष्टत्वम, व्याघातादित्यर्थः। किमिदं निर्दोषत्वं किं

हुआ ही नाटक-नाटकादि प्रबन्ध विरचनमात्र से भवभूति पीछे अनाप्त हो गये, प्रथम से जैसा रहे वैसा ही पीछे नहीं रहे। यह उम्बेक ने कहा है कि जो आप्त भी किसी के प्रति उपदेश देता है कि अननुभूतार्थ विषयक वाक्य का प्रयोग तुझे नहीं करना चाहिये, जैसे कि अङ्गुलि के अग्रभाग में हस्ति के यूथ सैकड़ों हैं। वहाँ अर्थ का व्यभिचार स्फुट है। अर्थात् भवभूति के आप्त होने भी उनके नाटकादि प्रमाण रूप नहीं माने जाते हैं, तथा आप्त का उपदेश रूप होते भी अंगुल्यग्र में हस्तियूथ रहता है, इस वचन को प्रमाण रूप नहीं माना जाता है, और लक्षण की व्याप्ति है। और यह आप्त नाम वाला भी कौन है। यदि यथादृष्टार्थवादी को आप्त कहा जाय, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भ्रान्त पुरुष भी यथादृष्ट अर्थ को कहता है, तो उसके वाक्यों में प्रमाणत्व की प्राप्ति होगी। प्रमाण से जैसा देखा हो वैसा कहने वाला आप्त है, ऐसा यदि कहें, तो यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि वाच्यार्थ के एकदेश में प्रमाप्तदृष्टार्थ का वक्ता होता हुआ, अंशान्तर में अन्यथा वस्तु वक्ता में भी आप्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि

ग्धानुवादादिवाक्यप्रयोक्तुरनाप्तत्वप्रसङ्गात्। अथ निर्दोष आप्त इति चेत्, मैवम्, आप्तानामपि क्वचिद्रागादिदोषसंभवात्। यत्र विषये यो निर्दोषः स तत्राप्त इति चेत्, न, यत्तच्छब्दयोर्विशेषविषयत्वेनासाधारण्यादव्याप्तेः। तस्मादाप्तवाक्यमागम इत्यप्यलक्षणम्। यथार्थवाक्यं शब्दप्रमाणमित्यपि न, यथार्थत्वस्य प्रमितिखण्डनावसर एव खण्डितत्वात्। एतेन 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनं शब्दः' इति भूषणस्यापि लक्षणमपास्तम्, ऊर्ध्वी-कृततर्जन्या दशसंख्यानुमाने शङ्खध्वनौ चानुविधेयपुरुषाभिप्रायानुमापके

सर्वविषये ? किं वा क्वचिद्दोषराहित्यम् ? आद्येऽव्याप्तिमाह—**मैवम्; आप्ताना-मिति**। क्वचिद्रागादिदोषवतोऽन्यत्र यथार्थवदनमप्याप्तवाक्यं न स्यादित्यव्याप्तिरिति भावः। द्वितीये त्वतिव्याप्तिर्यत्क्वचिद्दोषरहितस्यान्यथावदनेऽपि प्रसङ्गात्। ननु यत्र यो दोषरहितः स तत्राप्तो नान्यत्रेति शङ्किते परिहरति—**यत्तच्छब्दयोरिति**। असाधारणविषयत्वे च पूर्वोक्तातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। **यथार्थत्वस्येति**। प्रमात्वव्यञ्जकखण्डनसमय इत्यर्थः। भासर्वज्ञोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**। अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थं समयग्रहणम्। प्रत्यक्षव्यावृत्त्यै परोक्षग्रहणम्। संशयादिव्यावृत्त्यै सम्यग्ग्रहणम्, स्मृतिव्यावृत्त्यर्थमनुभवग्रहणम्। यत्र हि वणिजां समयबलेनोर्ध्वीकृता तर्जन्यङ्गुलिर्दशसंख्यामनुमापयति, तत्रानुमाने त्वदुक्तलक्षणमति-पतेदित्यर्थः। अतिव्याप्त्यन्तरमाह—**शङ्खध्वनौ चेति**। अनुविधेयः प्रभुः। तत्रापि

कहा जाय कि जितना प्रमाण से दृष्ट हो उतना ही का वक्ता आप्त होता है। तब तो अज्ञात सन्दिग्ध के अनुवादादि वाक्य के प्रयोक्ता को अनाप्तत्व प्राप्त होगा, अतः यह कथन भी युक्त नहीं। यदि कहें कि निर्दोष पुरुष आप्त कहा जाता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि आप्तों को भी कहीं राग द्वेष का सम्भव रहता है। यदि कहें कि जिस विषय में जो निर्दोष रहता है, वह उस विषय में आप्त कहा जाता है तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यत्तत् शब्द के विशेष-विषयक होने से असाधारण के कारण सब लक्ष्य में इस लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी। अतः (आप्तवाक्यमागमः) आप्त का वाक्य शब्द प्रमाण है, यह भी लक्षण नहीं हो सकता है। यथार्थ वाक्य शब्द प्रमाण होता है, यह भी लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि यथार्थत्व का प्रमिति खण्डन के अवसर में ही खण्डन किया गया है। इससे (समय = संकेत के बल से सम्यक् परोक्ष अनुभव का साधन शब्द प्रमाण होता है, यह भूषण का लक्षण भी अपास्त हो गया। क्योंकि ऊर्ध्व की गई तर्जनी अङ्गुलि द्वारा दश संख्या के अनुमान में तथा अपने अनुविधेय = स्वामी के अभिप्राय के अनुमापक शंखध्वनि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अर्थात् कोई व्यापारी संकेत कर देता है, कि मैं तर्जनी अङ्गुलि को ऊपर उठाऊँ तो दश समझना। सेना-पति संकेत कर देता है कि शंख बजाऊं तो सावधान हो जाना, तो व्यापारी के सम्बन्धी और सैनिकसंकेत बल से अङ्गुलि और शंखध्वनि द्वारा यथार्थ ज्ञान को

व्यभिचारात्, समयसम्यक्त्वयोश्च पूर्वमेव निरासात्। तदेवं शब्दलक्षणमपि दुर्भणमिति सिद्धम्।

तथार्थापत्तिलक्षणमपि। अन्यथानुपपन्नदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः। यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहान्तरभावमलोक्य बहिरवस्थानज्ञानम्। नन्विद-मनुमानमेवास्तु, देवदत्तो बहिरस्ति, जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभावात्, संप्रति-पन्नवदिति चेत्, मैवम्; देवदत्तप्रतियोगिकाभावस्य गृहाधिकरणतया देव-

---

हि प्रभोः सेनाग्नेरावृत्त्यर्थमभिप्रायं समयबलेन शङ्खध्वनिः सैनिकानामनुनायती-त्यर्थः। एवमधिकं दर्शयित्वातिदिष्टांशं विशदयति—**समयेति**।

तदित्थं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीत्यक्षपादसूत्रपरिगणनाक्रमेण प्रमाणचतुष्टयं खण्डितम्। इदानीं भाट्टप्राभाकराभिमतामर्थापत्तिं खण्डयति—**तथेति**। दुर्भणमित्यनुवर्तते। तत्र तावदर्थापत्तिलक्षणं दर्शयति दूषणाय—**अन्य-थेति**। प्रत्यक्षादिव्यवच्छेदार्थमनुपपन्नदर्शनादित्युक्तम्। अनुपपद्यमानविषयनिर्वि-कल्पकदर्शनात्। यत्सविकल्पकं तत्सदृशं स्मरणं वा भवति तद्व्यवच्छेदार्थमुपपादक इत्युक्तम्। तत्र द्विविधार्थापत्तिः—दृष्टार्थापत्तिः, श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र प्रथमा-मुदाहरति—**यथा जीवत इति**। अत्र हि जीवतो देवदत्तस्य बहिरवस्थानं विनानु-पपद्यमानगृहाभावदर्शनात्तदुपपादकबहिरवस्थानज्ञानमर्थापत्तिरित्यर्थः। तत्रैव वैशे-षिकादेरनुमानान्तर्भाववादिनो मतमाशङ्क्य मीमांसकः पार्थक्यं समर्थयते—**नन्वि-त्यादिना**। अस्ति हि मैत्रस्य जीवनवत्त्वेपि गृहेऽभावस्य बहिरवस्थानस्य च परस्परं व्याप्तिरिति भावः। मीमांसकः परिहरति—**मैवमिति**। अत्र जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभावादिति कोर्थः? किं गृहनिष्ठाभावाधिकरणत्वादिति? किं वा गृहनिष्ठा-भावप्रतियोगित्वादिति? आद्येऽसिद्धिः। नहि गृहाधिकरणश्चैत्रप्रतियोगिकोऽभाव-

---

प्राप्त करते हैं, अतः अग्नि और शंखध्वनि में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। समय और सम्यक्त्व का प्रथम ही निराकरण किया गया है। अतः इस उक्त रीति से शब्दप्रमाण का लक्षण भी दुर्भण (दुर्वचन) है।

अर्थापत्ति का लक्षण भी दुर्भण है। अन्यथा = उपपादक = कारण के बिना अनुपपन्न कार्य के दर्शन से परोक्ष उपपादक विषयक ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे कि जीवित देवदत्त का गृह के अभाव को देखकर बाहर स्थिति का ज्ञान होता है। शंका होती हो कि, यह तो अनुमान ही हो सकता है कि (देवदत्त, बाहर है, जीवित रहते गृह में अभाव से, बाहर निश्चितवत्) तो ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि देवदत्त प्रतियोगिक अभाव के गृहवृत्ति होने से देवदत्त स्वरूप पक्ष में हेतु का अभाव है, अतः हेतु असिद्ध है। गृहवृत्ति अभाव प्रतियोगित्व उक्त हेतु का अर्थ है, वह पक्ष वृत्ति है, उससे अनुमान होता है, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि

दत्तधर्मत्वाभावात्। गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं हेत्वर्थं इति चेत्, मैवम्, यदा जीवन्नस्ति क्वचिद्देवदत्त इत्याप्तवाक्यादनिर्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तसत्तावगता ग्रामाद्बहिरवस्थितेनैव चैत्रेण, स च तदागत्य गृहान्तस्तदभावमालोक्य बहिःसत्त्वमनुमिमीत इति वाच्यम्, तच्चानुपपन्नम्, साधारणदेशमात्रावस्थानविषयस्यागमस्यार्थापत्त्या यावन्न बहिर्देशसत्ताविषयत्वं परिकल्प्यते, तावदागमापबाधितविषयतयानुमानस्यानुत्थानात्। कल्पिते तु बहिर्देशविषयत्वेऽनुमानात्प्रागेवार्थापत्तिर्लब्धप्रमेयेति कृतमनुमानेनेति भाट्टाः प्रतिपेदिरे; तदिदमसुन्दरम्।

श्चैत्रे वर्तत इति संभवति अतोऽपक्षधर्मत्वादसिद्धो हेतुरित्यर्थः। देवदत्तग्रहणं चैत्रोपलक्षणम्। द्वितीयं शङ्कते—**गृहनिष्ठेति**। दूषयति—**मैवमिति**। अत्रानुमानाप्रवृत्तिं दर्शयितुं भूमिकां परिशोधयति—**यदा जीवन्निति**। यः खल्वनुमाता चैत्रः तेनैव चैत्रेण यदा ग्रामाद्बहिरेव जीवन्नस्ति क्वचिद्देवदत्त इत्याप्तवचनादनिर्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तोऽवगतो भवति, पुनश्च स एव चैत्रो ग्रामं प्रविश्य गृहमागत्य गृहान्तश्च तस्य जीवतोऽभावमलोक्य बहिःसत्तामनुमिमीत इति वक्तव्यम्। इतरथा आप्तवाक्याज्जीवनमात्रानधिगमे जीवनवत्त्वे सतीति विशेषणासिद्धिप्रसङ्गात्, गृहाभावमात्रस्य बहिर्भावेनाविनाभावाभावाच्च। प्रत्यक्षस्य च साधारण्येनाप्रवृत्तेरनुमानस्य च लिङ्गाभावात्, अत्राप्तवाक्येन सामान्येन जीवनमवगत्य पश्चादनुमिमीत इति वक्तव्यमिति योजना। भवत्वेवमेतावताऽनुमानाभावे किमायातमिति ? तत्राह—**तच्चेति**। यत्खल्वाप्तवाक्यं सामान्येन स्थितिमवबोधयति, तस्य किं गृहाद्बहिर्विषयतायां क्लृप्तायामनुमानमिदं प्रवर्तते ? अक्लृप्तायां वा ? न तावदक्लृप्तायाम्; तदा ह्यागमस्य गृहेऽपि स्थितिबोधकत्वसंभवेन तद्विरुद्धबहिरवस्थानानुमानस्य कालात्ययापदिष्टत्वादित्यर्थः। अथ क्लृप्तायाम्, तत्राह—**कल्पिते त्विति**। गृहेऽभावावेदकप्रमाणस्य सामान्येन स्थितिबोधकागमस्य च योऽयं विरोधस्तदनुपपत्त्यागमस्य बहिर्भावविषयत्वकल्पना ह्यर्थापत्तिर्नाम, तत्प्रवृत्तौ चानुमानं निष्फलमित्यनुमानाप्रवृत्तिरर्थापत्तेश्च पार्थक्यमिति भाट्टानां समर्थनप्रकार इत्यर्थः। अत्र सिद्धान्ती दूषयितुमुपक्रमते—**तदिदमित्यादिना**।

जब गृहग्राम से बाहर स्थित ही चैत्र, जीवित देवदत्त कहीं है। इस आप्त वाक्य से अनिर्धारित देशविशेष में वृत्ति रूप से देवदत्त की सत्ता को समझ लेता है कि देवदत्त कहीं जीवित है। फिर वह घर में आकर गृह के अन्दर देवदत्त के अभाव को देखकर बाहर सत्त्व का अनुमान चैत्र करेगा, यह कहना होगा, परन्तु ऐसा कहना अनुमान होना अयुक्त है। क्योंकि साधारण देशमात्र में देवदत्त की स्थिति विषयक आप्त वचन आगम को गृहाभाव दर्शन द्वारा अर्थापत्ति से बाह्यविषयत्व

आगमस्य बहिर्देशविषयत्वस्य कल्पनात् ।
प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा ॥ ३३ ॥
आद्येऽनुमानं तेनैव निष्प्रत्यूहं प्रवर्तताम् ।
द्वितीये कल्पकाभावादर्थापत्त्युदयः कुतः ॥ ३४ ॥

भाट्टानामप्याप्तवाक्यस्य वहिर्देशविषयत्वकल्पनात्प्रागेव देवदत्तस्याभावः प्रमितः ? अप्रमितो वा ? प्रमित्वे तत एवानुमानोदयादलमर्थापत्तिप्रकल्पनादुर्व्यसनेन । द्वितीये तु कल्पकाभावात् कुतोर्थापत्तेरुदयः ? इयांस्तु

आगमबाधपरिहारार्थमर्थापत्तिरपेक्षणीयेति हि तेनाभिहितम्, तत्रार्थापत्तिप्रवृत्तिव्यतिरेकेणैवागमबाधं परिहरन्ननुमानप्रवृत्तिं दर्शयति श्लोकद्वयेन—**आगमस्येति**। सामान्येन प्रवृत्तागमस्य बहिर्विषयत्वकल्पनात्प्रागेव गृहाभावः केनचित्प्रमाणेन प्रमितः ? न वा ? यदि प्रमितः, तर्हि तेनैवागमस्य निरुद्धत्वादनुमानं निर्विघ्नं प्रवर्ततां किमर्थापत्त्या ? अथ न प्रमितो गृहाभावः, तर्हि कयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्विषयत्वं कल्प्यते ? इत्यनुमानवदर्थापत्तेरप्यनुदय एवेति श्लोकयोजना ।

श्लोकौ विवृणोति—**भाट्टानामित्यादिना**। गुडजिह्विकया चेदमनुमानस्यार्थापत्तिसमानयोगक्षेमत्वमुक्तम्, वस्तुतस्तु भवदर्थापत्त्युदयात्तार्किकानुमानोदयस्याधिक्यमस्तीत्याह—**इयांस्त्विति**। प्रत्यक्षतः खलु गृहाभावस्तार्किकमतेऽधिगम्यते, दृश्याभावत्वात्, प्रत्यक्षसिद्धं सदनुमानमागमं तृणाय मत्वैव प्रवर्तते आदित्यवर्णाद्यागममिव

की कल्पना नहीं की जाय, तब तक आगम से बाधित विषय होने से अनुमान का उदय नही हो सकता है, अर्थात् आगम सामान्य रूप से सत्त्व को बताता = कहता है, उसका गृहसत्त्व भी विषय है, अतः गृह में सत्त्व होने पर बाहर सत्त्व बाधित होता है, उसका अनुमान हो नहीं सकता है। और बहिर्देश में अर्थापत्ति से कल्पना हो जाने पर तो अनुमान से प्रथम ही अर्थापत्ति लब्ध विषय वाली सार्थक होती है, अतः अनुमान का कोई फल नहीं रह जाता है। इस प्रकार से भट्टानुयायी प्रतिपादन करते हैं। परन्तु यह सुन्दर नहीं है। क्योंकि—

आगम के बहिर्देश विषयत्व की कल्पना से प्रथम ही देवदत्त के गृहाभाव किसी प्रमाण से प्रमित = ज्ञात होता है, या नहीं। यदि प्रमित होता तो उसीसे आगमगृह विषयता से विरुद्ध निवारित हो जाता है, निर्विघ्न अनुमान की प्रवृत्ति होती है। यदि अभाव प्रमित नहीं होता है, तो कल्पक के अभाव से अर्थापत्ति का उदय किससे होगा ॥ ३३–३४ ॥

भट्टों के मत में भी आप्त वाक्य के बहिर्देशविषयत्व की कल्पना से प्रथम ही देवदत्त के गृहाभाव प्रमित होता है, या नहीं। प्रमित होने पर उसीसे अनुमान का उदय होगा, अर्थापत्ति की कल्पना रूप दुर्व्यसन निरर्थक है, दूसरे = अप्रमित

विशेषः—प्रत्यक्षाभाववादिनो मते प्रत्यक्षस्यागमाद्बलीयस्त्वादागममवगण-य्यापि प्रत्यक्षाधिगतगृहाभावलिङ्गेन भवति बहिर्देवदत्तसत्त्वानुमानम्। अभावप्रमाणाधिगम्यत्वे पुनरभावस्यागमाद् दुर्बलतया तद्विरोधिगृहाभाव-स्यैव प्रमातुमशक्यतया नार्थापत्तिः प्रसरति, सदुपलम्भकप्रमाणप्रत्यस्तमय एवाभावप्रमाणप्रवृत्त्यङ्गीकारात्। यथाहुः—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥" इति।

(श्लो० वा० अ० १)

किंच यद्यस्य कल्पकमिष्यते, तत्तेनाविनाभूतमिष्यते? न वा? आद्ये

परमात्मन्यरूपत्वानुमानम्, भवतां त्वागमाद्दुर्बलमेव गृहाभावग्राहिप्रमाणमित्यर्था-पत्तेरुदय एव विचारणीय इत्यर्थः। तदुक्तं तत्त्वकौमुद्याम्—'प्रमाणेन निश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगादिति। 'तस्माद्गृहा-भावेन सिद्धेन बहिर्भावोनुमीयत इति युक्तमिति' च। योग्यानुपलब्धेरागमाद्दौर्बल्ये हेतुमाह—**सदुपलम्भकेति**। सतो भावस्योपलम्भकानि यानि प्रमाणानि तेषां प्रत्यस्तमयेऽनुदय एवाभावप्रमाणप्रवृत्तेरङ्गीकारात्, इतरथा सघटे भूतले निमीलित-लोचनस्याभावनिर्णयप्रसङ्गादिति भावः। अत्र च वार्तिकसंमतिमाह—**यथाहुरिति**। वस्तुसत्त्वं वस्तुतत्त्वम्। भावरूपतेति यावत्। तदवबोधार्थमित्यर्थः।

भङ्ग्यन्तरेणाप्यनुमानतामर्थापत्तेरनुदयं च विकल्पपूर्वकमाह—**किंचेति**। **कल्पकमिति**। गृहाभावादित्यर्थः। **तेनेति**। कल्प्येन बहिर्भावेनेत्यर्थः। स्यान्मतम्,

---

पक्ष में कल्पक के अभाव रहते अर्थापत्ति का उदय नहीं होगा। परन्तु इतना विशेष है कि अभाव को प्रत्यक्ष मानने वाले नैयायिकों के मत में प्रत्यक्ष को आगम से अतिबली होने के कारण आगम का अनादर करके प्रत्यक्ष से ज्ञात गृहाभावलिङ्ग द्वारा देवदत्त के बहिःसत्त्व का अनुमान होता है। अभाव को अभावप्रमाण = अनुपलब्धि गम्य (ज्ञेय) होने पर, अनुपलब्धि को आगम से दुर्बल होने के कारण, उस आगम से विरोधी होकर गृहाभाव को ही जानने में अशक्य होने से अर्थापत्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि सद् वस्तु भाव के बोधक प्रमाण के प्रत्यस्त-मय (अभाव) काल में ही अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति मानी जा सकती है। जैसा कि कहते हैं—

जहाँ वस्तुसत्त्व के ज्ञान के लिये वस्तु के स्वरूप में प्रत्यक्षादि भाव रूप पांच प्रवृत्त नहीं होते हैं। वहाँ ही अभाव की प्रमाणता होती है।

आप जिस गृहाभाव को बाह्यसत्त्व का कल्पक मानते हैं, वह गृहाभाव बाह्य-सत्त्व का अविनाभूत (व्याप्य) है, ऐसा मानते हैं, या नहीं। आद्य पक्ष में आपने

भङ्गचन्तरेण भवताप्यनुमानमेवाभिहितमिति, न प्रमाणान्तरावकाशः। द्वितीयेऽप्यनियतमेव यत्किंचित्कल्पयेदिति नार्थापत्तिप्रमेयसिद्धिः। अनुपपद्यमानस्योपपादकासत्त्वे विरोधो गमक इति नानुमानमिति चेत्, मैवम्; अनुपलब्धेरप्यनुपलभ्यमानसत्त्वे विरोध एवाभावगमक इत्यभावमानापह्नवप्रसङ्गात्। धूमोऽपि धूमध्वजस्यासत्त्वे विरोधादेव तद्गमक इत्यनुमानविलयापत्तेश्च। यत्र कार्यकरणभावं विनाऽविनाभावादेव गमकत्वं रसरूपादौ तत्र भवत्येवानुमानं लब्धावकाशमिति चेत्, न; तत्रापि रूपासत्त्वे रसस्य विरोधादेव गमकत्वोपपत्तेः।

कल्पकस्य कल्प्येन या व्याप्तिः सानुमित्युपादिका। यस्तु कल्पकस्य कल्प्यासत्त्वे विरोधः, सोऽर्थापत्तिजनक इति कारणभेदादनयोर्भेदः। स एव च विरोधो गमक इति नानुमितित्वमिति शङ्कते--**अनुपपद्यमानस्येति**। तदेतदनिष्टान्तरापत्त्या दूषयति--**मैवमिति**। एवं सत्यनुपलब्धिलक्षणषष्ठप्रमाणमर्थापत्तिरेव स्यात्, शक्यते हि तत्राप्यनुपलब्धेरनुपलभ्यमानघटसत्त्वे सति यो विरोधः, स एव गमक इति वक्तुमित्यर्थः। अनुमानापह्नवश्च स्यादित्याह--**धूमोऽपीति**। अनुमानस्यासाधारणं विषयं दर्शयन्ननन्तरदोषं परिहरति पूर्ववादी--**यत्रेति**। कारणाभावे हि कार्यस्य विरोधः। नच रसरूपादावकार्यकारणभूते स इत्यभिमानः पूर्ववादिनः। तत्रापि विरोधं संभावयन्नुक्तदूषणं सस्मारयति सिद्धान्ती--**नेति**।

रीत्यन्तर से अनुमान का ही कथन किया है, प्रमाणान्तर का अवकाश नहीं है। और यदि वहिःसत्त्व के साथ अविनाभाव गृहसत्त्व को नहीं है, ऐसा मानते हैं, तो इस दूसरे पक्ष में गृहाऽसत्त्व किसी अनियत की ही कल्पना करायेगा, देवदत्त के वहिःसत्त्व की ही नहीं। अतः अर्थापत्ति के प्रमेय = विषय की सिद्धि नहीं होती है, यदि कहें कि कल्पक गृहासत्त्व को कल्पनीय बाह्यसत्त्व के साथ व्याप्ति है वह अनुमिति का हेतु है, किन्तु उपपादक वहिःसत्त्व के असत्त्व होने पर जो अनुपपद्यमान गृहासत्त्व का विरोध होता है, वहिःसत्त्व का गमक (अर्थापत्ति) होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, ऐसा मानने पर अनुपलब्धि भी अर्थापत्ति के अन्तर्गत हो जायगी। क्योंकि अनुपलभ्यमान वस्तु घटादि के सत्त्व होते जो अनुपलब्धि का विरोध उपस्थित होता है, वही अभाव का बोधक होता है, अतः इसप्रकार से अभाव रूप प्रमाण का अस्वीकार प्राप्त होगा; और धूम को भी अग्नि के नहीं रहने पर विरोध प्राप्त होता है। अतः विरोध से ही धूम अग्नि का बोधक होगा, कि जिससे अनुमान का विलोप प्राप्त होगा। यदि कहें कि जहाँ कार्यकारणभाव के बिना अविनाभाव से गमकत्व होता है। जैसे कि रस, रूपादि में गमक-गम्यभाव होता है, वहाँ अनुमानलब्ध अवकाश वाला होता है। अतः उसका विलोप नहीं

कश्चायं विरोधः ? (१) किं प्रमाणयोः ? (२) उत प्रमाणत्वेनाभिमतयोः ? (३) अनिर्णीतप्रामाण्याप्रामाण्ययोर्वा ? (४) सामान्यप्रवृत्तप्रमाणेन विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थबाधसंशयो वा ? (५) तर्कयोरेव वा ?

तदसिद्धिरतिव्याप्तिः सक्तिः सप्रतिसाधने ।
असंभवोऽतर्कता च दोषास्तेषां क्रमादमी ॥ ३५ ॥

एवमुपपादकोपपाद्ययोर्विरोधोर्थापत्तिरित्यत्र प्रमाणान्तरेष्वपि भावादतिव्याप्तिरुक्ता। इदानीं विरोधानिरूपणादसिद्धिरेवेति दर्शयिष्यन्विरोधं विकल्पयति—**कश्चायमिति। सामान्यप्रवृत्तेति।** सामान्येन प्रवृत्तं यत्प्रमाणं जीवन्देवदत्तः क्वचिदस्तीति तेन विशेषे प्रवृत्तं यत्प्रमाणं गृहाभावग्राहि तदर्थस्य गृहाभावस्य बाधोस्ति ? नवा ? इति योऽयं संशयः स चेत्यर्थः। एवं विकल्प्य श्लोकेन संगृह्णाति दूषणानि—**तदसिद्धिरिति।** प्रमाणयोर्विरोध एवासिद्धः, अन्यतरस्याप्रमाणत्वात्। इतरथा वस्तुन एव द्वैरूप्यापत्तेरित्यर्थः। द्वितीये दूषणमाह—**अतिव्याप्तिरिति।** प्रमाणत्वेनाभिमतिर्नाम किं प्रमाणत्वेन भ्रान्तिः ? किं वा ज्ञानमात्रम् ? उभयथार्थापत्त्याभासे गमनादतिव्याप्तिरित्यर्थः। तृतीये दूषणमाह—**सक्तिः सप्रतिसाधने इति।** सप्रतिसाधनेष्वनिर्णीयमानप्रामाण्ययोरुभयोर्विरोधेर्थापत्तेरुदयप्रसक्तिः, ततश्चातिव्याप्तिरित्यर्थः। चतुर्थे प्राह—**असंभव इति।** नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रैव विपरीतप्रमाणविषयत्वसंशयः संभवति, स्थाणुत्वनिर्णयेपि पुरुषत्वसंग्राहकप्रमाणप्रवृत्तिसंशयापातादित्यर्थः। पञ्चमे दूषणमाह—**अतर्कता चेति।** मिथो विरोधेन तर्काभासतापातादित्यर्थः। एवमेते दोषास्तेषां पक्षाणां क्रमाद् द्रष्टव्या इति श्लोकयोजना।

प्राप्त होता, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जहां कार्यकारणभाव नहीं है, वहां भी रूप के नहीं रहने पर रस के विरोध से ही रस में रूपगमकत्व की सिद्धि हो सकती है।

उक्त रीति से अर्थापत्ति के लक्षण की अन्य प्रमाणों में अतिव्याप्ति, व्याप्ति कही गई है, अब उसकी असिद्धि दर्शाने के लिये विकल्प है कि, यह विरोध क्या है। क्या दो प्रमाणों का परस्पर विरोध है, या प्रमाण रूप से अभिमतों का विरोध है, या अनिर्णीत प्रामाण्य अप्रामाण्य वालों का विरोध है, या सामान्य रूप से प्रवृत्त जीवित सत्त्वबोधक प्रमाण से विशेष में प्रवृत्त गृहाऽभाव ग्राही प्रमाण के अर्थ का बाध विषयक संशयरूप विरोध है, या तर्कों का ही विरोध है।

(विरोध की असिद्धि) अतिव्याप्ति, सत्प्रतिपक्ष साधन में प्रसक्ति, असम्भव, अतर्कता, उन पक्षों में क्रम से ये दोष हैं ॥ ३५ ॥

न तावदाद्यः, उभयोः प्रामाण्ये विरोधस्य विरोधे वा प्रामाण्यस्यैवासंभवादसिद्धेः, अन्यथा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तेः। नापि द्वितीयः, अभिमतशब्देन भ्रमाभिधाने ज्ञानमात्रविवक्षायां वा भ्रमज्ञानयोः प्रमाणत्वेन गृहीतयोर्विरोधाद्विभिन्नविषयत्वकल्पनाया अप्यर्थापत्तित्वप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः, वायुर्बाह्यकरणाप्रत्यक्षः अरूपिद्रव्यत्वात् कालादिवत्, वायुः प्रत्यक्षः उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वात् घटादिवदित्यनिर्णीतप्रामाण्याप्रामाण्ययोरनुमानयोर्विरोधेऽप्यर्थापत्तेरुदयप्रसङ्गात्। नापि चतुर्थः, असंभवात्। नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रापि तद्विपरीतप्रमाणविषयत्वसंशयः। न खलु स्थाणुरयमिति निश्चयेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशेरते जनाः। नापि पञ्चमः, मिथोविरोधेन तर्कयोरेवाभासत्वात्। किंचोपपादकेन येन

संग्रहं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। विरोधस्यासिद्धेरित्युपरितनेनान्वयः। अनुव्यवसायद्वारा मानसप्रत्यक्षत्वं संभवति तथेश्वरप्रत्यक्षत्वमेव सर्वस्येत्यप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति बाह्यकरणग्रहणम्। रूपादिव्यावृत्त्यर्थं द्रव्यग्रहणम्। घटादिव्यवच्छेदार्थमरूपिग्रहणम्। द्वितीयेप्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वं साध्यम्। परमाण्वादिव्यभिचारवारणायोपलभ्यमानपदम्, तदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलौ—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः।
न मानयोर्विरोधोस्ति प्रसिद्धे चाप्यसौ समः' इति ॥ (न्या० कु० ३।१९)

प्रकारान्तरेणार्थापत्तिं दूषयति—**किंचोपपादकेनेति**। येन हि देवदत्तवहिर्भावेन

अर्थात् प्रथम पक्ष प्रमाण दो का विरोध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों की प्रमाणता रहते विरोध का असम्भव है, या विरोध रहते दोनों में प्रमाणता का असम्भव है, अतः प्रमाण के विरोध की असिद्धि है, अन्यथा यदि प्रमाण में विरोध होगा तो वस्तु को प्रमाण के अनुसार द्विरूपता की प्राप्ति होगी। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अभिमत शब्द से भ्रम या ज्ञान मात्र के कथन होने पर, प्रमाणरूप से गृहीत भ्रम ज्ञानों के विरोध से विभिन्न विषयत्व की कल्पना को भी अर्थापत्तित्व प्राप्त होगा। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि (वायु, बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, रूपरहित द्रव्य होने से, कालादि के समान, वायु, प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आधार होने से, घटादि के समान) इत्यादि अनिर्णीत प्रामाण्य, अप्रमाण्य वाले अनुमानों के विरोधों में भी अर्थापत्ति का उदय प्राप्त होगा। असम्भव से चतुर्थ पक्ष का सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि जो वस्तु जहाँ विशेष रूप से प्रमित है, उसका वहाँ ही उससे विपरीत प्रमाण के विषयत्व का संशय नहीं हो सकता है। यह स्थाणु है, ऐसा निश्चय होने पर भी, यह स्थाणु है, या पुरुष है, ऐसा संशय मनुष्य नहीं करते हैं। पञ्चम पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि

विनानुपपद्यमानत्वं तत्प्रमितम् ? न वा ? प्रथमे गृहीतग्राहिकार्थापत्तिर्न प्रमा स्यात्। द्वितीये तु विशेषणासिद्धेः तद्विशेषितानुपपद्यमानार्थाप्रतीतौ कल्पकाभावान्नार्थापत्तिरुदयमासादयेत् इत्यलमतिविस्तरेण।

अभावाख्यं प्रमाणमपि दुर्निरूपम्। एवं हि वर्णयन्ति—योग्यानुपल-

---

गृहाभावो नोपपद्यते स किं प्रमितः ? न वा ? आद्येऽर्थापत्तिवैयर्थ्यमित्याह—**प्रथम इति**। द्वितीये प्राह—**द्वितीये त्वित्यादिना**। अन्यथानुपपत्तिदर्शनं हि कल्पकम्। अन्यथेति च कोर्थः। बहिर्भावव्यतिरेकेणेति। तथाच बहिर्भावेऽज्ञाते तद्विशेषितं तदन्तरेणानुपपद्यमानत्वमपि न ज्ञातमिति कल्पकाभावादनुदय एवार्थापत्तेरित्यर्थः। तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः—'यतोन्यत्वं तदसिद्धे'रिति। एतेन श्रुतार्थापत्तिरपि प्रत्याख्याता वेदितव्या। अनुपपद्यमानवाक्यैकदेशदर्शनेन वाक्यैकदेशकल्पनं हि सा। तथाहि—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यैकदेशश्रवणाद्रात्रौ भुङ्क्ते इति वाक्यैकदेशकल्पनम्, न चैषा प्रयुज्यते। पूर्वोक्तन्यायेनानुमानताया दुष्परिहरत्वात्। किंच नात्र वाक्यस्यानुपपत्तिः। नन्वस्त्येवानुपपत्तिः। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूरणीया। नहि पचतीति पदं प्रत्यक्षौदनेन निराकाङ्क्षमपि त्वोदनपदात्, इह पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्त इति वाक्यस्याकाङ्क्षा रात्रौ भुंक्त इत्यनेनैव पूरणीयेति, न तस्य वाक्यस्य संपूर्णक्रियाकारकतया निराकाङ्क्षत्वेन दृष्टान्तवैषम्यात्। अथ पीनो न भुंक्त इत्यभोजनेन नान्वेति, भोजनकार्यत्वात्पीनताया इति मतम्, हन्त तर्हि नेयमाकाङ्क्षा, अपितु योग्यताविरहः। नच सोप्यस्ति त्रैकाल्यभोजननिषेधे हि स भवेत्। नह्यभुक्त्वा क्षणमपि पीनस्तिष्ठति इति। न चात्र तथा निषेधः, दिवा न भुंक्त इति विशेषनिषेधात्। यदि तु विशिष्टकार्यदर्शनाद्रात्रिभोजनानुमानमनुमन्यामहेतरां तदा तु रात्रिभोजनवाक्यकल्पनावकाशः। तदेतदखिलमितिना सूचयन्नुपसंहरति—**इत्यलमतिविस्तरेणेति**।

इदानीं भाट्टाभिमताभावप्रमाणं दूषयति—**अभावाख्यमिति**। तदभिमतं लक्षणं तावद्दर्शयति—**एवं हीति**। विषयविषयिभिनाभूतव्यतिरिक्तोपलब्धिकारण-

---

परस्पर विरोध से तर्कों में तर्काऽऽभासता हो जाती है। और यह भी विचारणीय है कि जिस बहिःसत्त्व रूप उपपादक के बिना, गृहाऽसत्त्व को अनुपपद्यमानत्व है, वह उपपादक प्रमित रहता है, या नहीं। यदि प्रथम ही गृहीत हो, तो गृहीत का ग्राहक अर्थापत्ति प्रमा नहीं होगी। यदि नहीं गृहीत रहता है, यह दूसरा पक्ष माने, तो बहिःसत्त्व रूप विशेषण की असिद्धि से उससे विशेषित अनुपपद्यमान अर्थ = गृहाऽसत्त्व की अप्रतीति रहते कल्पक हेतु के अभाव से अर्थापत्ति का उदय नहीं होगा। अब अतिविस्तार का फल नहीं है।

अभाव नामक = अनुपलब्धि प्रमाण भी दुर्निरूप है। उसका इसप्रकार से

ऽधिकरणकमर्थाभावज्ञानमभावः, यथेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानम्। न चेदं प्रत्यक्षम्, इन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वात्। नह्यभावेनेन्द्रियसन्निकर्षः संयोगः समवायो वा संभवति, तयोर्भावधर्मत्वात्। नापि विशेषणविशेष्यभावः, तस्यापि मूलसंबन्धगर्भतया तन्निवृत्तौ निवृत्तेः। अन्तरेणापि मूलसंबन्धं विशेषणविशेष्यभावाङ्गीकारेऽपि तस्य प्रत्यक्षाङ्गताया पुरैव निरासात्।

संपत्तिर्योग्यता तत्संपत्तौ सत्यां योग्यमर्थोपलब्ध्यभावस्तत्करणकं पदार्थाभावज्ञानं तदभावप्रमाणम्। भाट्टवेदान्तिनोर्हि ज्ञानमेव मुख्यं प्रमाणम्। प्राकट्यसंवेदनयोश्च फलत्वमक्षादौ त्वौपचारिकः प्रमाणव्यवहारस्तेनाभावज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः। शाब्दानुमानिकाभावज्ञानव्यवच्छेदायानुपलब्धिकरणकमित्युक्तम्। अयोग्यस्यानुपलब्धिमात्राद-भावमात्रव्यवच्छेदार्थं योग्यपदम्। उदाहरमि--**यथेति**। नन्वज्ञातकरणजत्वात्प्रत्यक्ष-मेतदिति, तत्राह—**न चेदं प्रत्यक्षमिति**। ननु संयुक्त विशेषणतालक्षणसंनिकर्षा-त्प्रत्यक्षमेतदिति तार्किकास्तत्कथं पृथक् प्रमाणमिति? तत्राह--**नापि विशेषणेति**। संबद्धयोर्हि दण्डदेवदत्तयोः पटशौक्ल्ययोर्वा विशेषणविशेष्यभावो दृष्ट इति भावः। ननु मूलसंबन्धं विनैव निर्घटं भूतलमित्यभावभूतलयोर्विशेषणविशेष्यभावो भवद्भिरे-वाङ्गीकृत इति, तत्राह—**अन्तरेणापीति। पुरैवेति**। प्रत्यक्षधर्मिकानुमानमात्रप्रवि-लयप्रसङ्गापत्तेर्बहुश उक्तत्वादित्यर्थः। नचासंबद्धस्यापि प्रत्यक्षत्वे को दोष इति वाच्यम्; अतिप्रसङ्गस्यैव दोषत्वात्। नच तत्परिहारिका दृश्यानुपलब्धिर्भविष्यतीति वाच्यम्। तथासति तावन्मात्रस्यैव करणत्वेनेन्द्रियवैयर्थ्यात्। नचान्धस्यापि शुक्ले पटे कार्ष्ण्याभावप्रमितिप्रसङ्गः; प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणैवाश्रयग्रहणस्याप्यङ्गत्वात्। नच व्योम्नि स्पर्शाभावाग्रहणप्रसङ्गः, प्रमाणान्तरनिबन्धनत्वात्तद्ग्रहणस्य। अत एव

वर्णन करते हैं कि (योग्यानुपलब्धि रूप करण वाला अर्थाभाव का ज्ञान, अभाव प्रमाण है, जैसे कि इस भूल में घट नहीं है, यह ज्ञान अभाव प्रमाण है) इन्द्रिय सन्निकर्ष से अजन्य होने से यह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रियों का संयोग या समवाय-सम्बन्ध का सम्भव नहीं है, वे दोनों सम्बन्ध भाव में रहते हैं, अतः उनको भाव का धर्मत्व है। अभाव के साथ इन्द्रिय का विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि, दण्डी देवदत्तः, शुक्लो-पटः, इत्यादि में उस विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्धान्तरगर्भित होने से उस सम्बन्धा-न्तर की निवृत्ति होने पर उस विशेषण-विशेष्य भाव की भी निवृत्ति होती है, अर्थात् सम्बन्धान्तर के बिना विशेषण-विशेष्य भाव का अभाव रहता है। यदि निर्घटं भूतलम्, इत्यादि के समान सम्बन्धान्तर निरपेक्ष सम्बन्ध का अङ्गीकार भी करें, तो भी उस सम्बन्ध की प्रत्यक्षाङ्गता = साधनता का प्रथम ही निराकरण किया गया है, कि धर्मी ग्राहक इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण सम्बन्धाभाव से नहीं हो

नचेदमनुमानाद्यावन्तर्भवति, चक्षुरादिवदनुपलब्धेरज्ञायमानाया एव करणत्वात्। अन्यथानुपलब्धेरप्यनुपलब्ध्यन्तरोपलभ्यमानतायामनवस्थानादिति।

तदयुक्तम्—

केवलानुपलम्भस्य व्यभिचारनिवारिणी।
योग्यता चेत्कुतो न स्यादनुमानमभावधीः॥ ३६॥

अनुपलम्भमात्रस्य सुषुप्त्यादावभावज्ञानाजनकतया तद्व्यभिचारवारणाय योग्यानुपलब्धिरिति विशेष्यतेति चेत्, तर्हि योग्यानुपलब्धेर्धूमादिवद-

---

स्मर्यमाणदेवदत्तकुण्डलादौ देवदत्ताभावग्रहणेपि नानुपपत्तिरिति। अस्तु तर्ह्यनुमान एवास्यान्तर्भावस्तथा च सौगतैरनुपलब्धिलक्षणं लिङ्गान्तरं स्वीक्रियत इति, तत्राह—**न चेदमिति**। ज्ञायमानकरणं ह्यनुमानम्, इयं तु न तथेत्यर्थः। अथ किमिति ज्ञायमानतयैव करणं न भवेत्तत्राह—**अन्यथेति**। अयमर्थः—अनुपलब्धेरभावत्वेन प्रत्यक्षत्वनिरासात्तद्विशेषमानसप्रत्यक्षत्वं दुरोत्सारितम्। नित्यानुमेयत्वाच्च ज्ञानस्य न दृश्यप्रतियोगिकत्वमत एव 'ज्ञानविकल्पानामप्यारमं भावाभावसंवेदनात्' इति सूत्रमप्यनवकाशम्, तस्मादनुपलब्धिरेवानुपलब्धिसंवेदनेपि शरणम्। तथाच तत्र तत्रापि यथेत्यनवस्था स्यादिति।

एवं समर्थितमभावप्रमाणं दूषयति सिद्धान्ती—**तदयुक्तमिति**। अस्य तावदनुमानान्तर्भावं श्लोकेन दर्शयति—**केवलेति**। अत्र तावदनुपलम्भमात्रस्याभावबोधने सुषुप्त्यादौ व्यभिचारात्तन्निवारणाय योग्यतालक्षणविशेषणं प्रक्षिप्यते भवद्भिः, तथाच धूमादिवदव्यभिचारेणाभावबोधकत्वात्तज्जन्याभावधीरनुमानं कुतो न स्यात्किन्तु स्यादेवेति योजना। एतदेव विवृणोति—**अनुपलम्भेति**। नन्वव्यभिचारेप्यज्ञात-

---

सकता है इत्यादि। यह अनुमानादि के अन्तर्गत नहीं हो सकता है। क्योंकि चक्षु आदि के समान अज्ञायमान अनुपलब्धि को करणत्व होता है। अनुमानादि के अन्तर्गत होने पर लिङ्गादि के समान ज्ञायमान होकर करण होगा। और ज्ञायमान होने पर अनुपलब्धि की अनुपलब्ध्यन्तर से ज्ञायमानता की सिद्धि से अनवस्था की प्राप्ति होगी।

यह अभाव का वर्णन अयुक्त है। क्योंकि—केवल अनुपलम्भ के व्यभिचार के निवारण करने वाली योग्यता यदि विशेषण होती है, तो अभाव का ज्ञान अनुमान रूप क्यों न होगा॥ ३६॥

अर्थात् अनुपलम्भ मात्र सुषुप्ति आदि में भी रहता है, परन्तु वह अभावज्ञान का जनक नहीं होता, अतः केवल अनुपलम्भ व्यभिचारी है, विषय के रहते भी ज्ञान का जनक नहीं होता है, अतः उसके व्यभिचार का वारण के लिये, यदि योग्यानुपलब्धि, इसप्रकार से विशेषित (विशेषण युक्त) किया जाता है, तो योग्यानुप-

व्यभिचारितयाऽभावज्ञानजनकत्वोपपत्तौ कुतः प्रमाणान्तरता ? न चाज्ञायमानतया करणत्वेनानुमानाद्बहिर्भावः, अन्यथानवस्थाप्रसङ्गादिति वाच्यम्, स्वतःसिद्धसाक्षिप्रसादादेवोपलब्धिवदनुपलब्धेरपि सिद्धावनवस्थादुस्थताऽभावात् ? अन्यथानवस्थायास्तवापि दुरुत्तरत्वात्। तथाहि—अनुपलब्धेः सर्वथानवगतत्वे तत्करणत्वस्य दुरधिगमत्वात्तदधिगतिरवश्याश्रयणीया। सापि चेदनुपलम्भान्तरात्सिद्ध्येत्तदपि तथैवेति कथं नानवस्था ? एवं तत्र तत्र प्रमाणानुपन्यासे तत्तदनुपलम्भसत्ताया एवासिद्धिः। प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात्।

करणत्वान्नानुमानमित्युक्तमिति, तत्राह—**न चेति**। स्यादयं दोषो भवन्मते, अस्मन्मते तु स्वप्रकाशसाक्षिवेद्यत्वाद्वृत्तिरूपज्ञानतदभावयोर्नाज्ञातकरणत्वम्, नाप्यनवस्थेत्याह—**स्वतःसिद्धेति**। ननु तादृक्साक्षिचैतन्ये सिद्धे सत्ययं परिहारो भागी तदेव डुलीक्षीरसदृशम्, प्रमाणाभावादिति तत्राह—**अन्यथेति**। सर्वथाऽज्ञायमानानुपलब्धेः प्रमितिकरणत्वमपि दुर्भणमिति कदाचिदपि ज्ञप्तिरवश्याश्रयणीया, तथाच त्वदुदीरितानवस्था कृत्या त्वय्येव प्रतिकृत्या स्यादिति साक्षिणैव तवापि रक्षा विधातव्येति खण्डलकार्थः। वक्ष्यते च साक्षिसिद्धौ प्रमाणगणश्चतुर्थपरिच्छेदे। **पुरस्तादिति**। ईदृश्यनवस्था स्वप्रकाशवादादौ प्रपञ्चिततरेत्यर्थः।

लब्धि को धूमादि के समान ही अव्यभिचारिता (हेतुता) से अभाव ज्ञान के जनकत्व की सिद्धि होने पर प्रमाणान्तरता कैसे सिद्ध हो सकती है। यदि कहें कि अनुपलब्धि में अज्ञायमानता रूप से करणता होने के कारण इसका अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, अन्यथा ज्ञायमान होकर करणत्व होने से अनवस्था होगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त में स्वतः सिद्ध साक्षी के प्रसाद (प्रकाश) से ही अन्तःकरण की वृत्तिरूप उपलब्धि के समान उसके अभाव रूप अनुपलब्धि की भी सिद्धि होने पर अनवस्था रूप दुरवस्था नहीं प्राप्त होती है। अन्यथा यदि साक्षी से प्रकाश नहीं मानो तो तुम्हारे मत में भी अनवस्था दुरुत्तर = दुर्निवार है। क्योंकि अनुपलब्धि के सर्वथा अज्ञात रहने पर उसके करणत्व का भी ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः उसके ज्ञान के बिना उसके करणत्व के दुरधिगम होने से उसके करणत्व के ज्ञान के लिये, उसका ज्ञान अवश्य आश्रयणीय (मन्तव्य) है। और वह उसका ज्ञान साक्षी से नहीं मानने के कारण यदि अन्य अनुपलम्भ से सिद्ध होगा, तो उस अन्य अनुपलम्भ का भी अन्य से तो अनवस्था कैसे नहीं होगी। इस प्रकार से तत् तत् अनुपलम्भ में प्रमाण के नहीं कहने पर तत्तत् उत्तर-उत्तर के अनुपलम्भ की सत्ता की ही असिद्धि होगी, फिर मूलपर्यन्त की असिद्धि की प्राप्ति होगी, यह प्रथम प्रपञ्चित हुआ है।

भवतु वा भिन्ने वानुपलब्धिरनुमानात्तथापि नाभावः प्रमितिकरणम्, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किमुपलब्धेः प्रागभावोनुपलब्धिः ? उत प्रध्वंसः ? किं वान्योन्याभावः ? अत्यन्ताभावो वा ? नाद्यः, दृष्टनष्टे घटे उपलब्धिप्रागभावाभावेऽप्यभावप्रमितिदृष्टेः । नापि द्वितीयः, प्रागभावात्यन्ताभावप्रमित्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । प्रतियोग्युपलब्धेरसंजातत्वादेव तत्प्रतियोगिकप्रध्वंसाभावात् । नापि तृतीयः, सत्यपि घटोपलम्भे तदभावप्रतीति-

---

एवं प्रौढवादेनानुमानान्तर्भाव उक्तः, इदानीं भवतु वानन्तर्भावस्तथापि नैतस्य प्रमाणत्वं प्रमाणाघातं सहते इति प्रामाणिकप्रपञ्चरुचीन्भाट्टान् प्रत्याह—**भवतु वेत्यादिना** । उपलब्धिप्रागभावलक्षणानुपलब्धेर्नाभावप्रमितिनियतिः, तदभावेपि घटोपलब्धिप्रध्वंससमयेऽभावप्रमितिदर्शनादित्याह—**नाद्य इति** । उपलब्धिप्रध्वंसोऽभावप्रमितिकरणमिति पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । कारणनिष्ठः कार्यसंसर्गाभावो हि प्रागभावः, नच तत्प्रमितिसमये प्रतियोग्युपलब्धिप्रध्वंसास्ति, उपलब्धेरसंजातत्वात् । प्रमितिर्ह्यत्र प्रतियोग्युपलब्धिरभिप्रेता । नच तादृशप्रतियोगिप्रमितिरस्ति, नित्यमविद्यमानार्थत्वादिति भावः । एवमत्यन्ताभावेपि । उपलब्ध्यन्योन्याभावपक्षं दूषयति—**नापीति** । नहि घटोपलब्धिरेव घट इति घटोपलब्धिसम-

---

अथवा अनुपलब्धि, अनुमानाद्, भिन्ना = इव भवतु । अर्थात् अनुमान से भिन्न नहीं, परन्तु आपको भिन्न तुल्य भासती हो तो भासे । तो भी अभाव (अनुपलब्धि) प्रमिति का जनक नहीं हो सकता है । क्योंकि विकल्पाऽसह है, वह दर्शाया जाता है कि, क्या उपलब्धि का प्रागभाव अनुपलब्धि प्रमाण है, या उपलब्धि का प्रध्वंस है, या अन्योन्याभाव है, या उपलब्धि का अत्यन्ताभाव है । इनमें प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि जहाँ घटदृष्ट = उपलब्ध होकर नष्ट हो गया, वहाँ उसकी फिर उपलब्धि होना नहीं है, कि जिसका प्रागभाव रहे, और जो घट की उपलब्धि हो चूंकि, उसका प्रागभाव नष्ट हो गया, इस प्रकार से उस घटोपलब्धि के प्रागभाव के अभाव रहते भी उस घट के अभाव की प्रमिति देखी जाती है, अतः प्रागभाव प्रमितिजनक नहीं सिद्ध हो सकता है । दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस पक्ष में प्रागभाव अत्यन्ताभाव की प्रमिति की अनुत्पत्ति प्राप्त होती है । जिस घटादि कार्य का प्रागभाव जब रहता है, तब उस घट की उपलब्धि नहीं रहती है, न घट रहता है, और उपलब्धि के हुए बिना उसके ध्वंस का भी अभाव ही रहता है, अतः घट रूप प्रतियोगी की उपलब्धि के भी असंजात (जन्माभाव) होने से ही उस उपलब्धि प्रतियोगिक ध्वंस का अभाव रहता है, अतः उससे घटप्रागभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है, और वायु में रूप के अत्यन्ताभाव का उपलब्धि के ध्वंस से ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि वायु में रूप की उपलब्धि हुई नहीं, कि जिसका ध्वंस हो । तृतीय, उपलब्धि का अन्योन्याभाव भी प्रमाण नहीं

प्रसङ्गात्। नापि चतुर्थः, दृष्टनष्टाद्यभावे प्रमित्यनुदयापत्तेः। एतेनोपलम्भसंसर्गाभावः करणमित्यपि निरस्तम्, तत्रापि प्रागभावादिविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वात्, अन्यतमत्वखण्डनस्य पूर्वमेव कृतत्वात्। नचानुपलब्धेः करणत्वम्, अवान्तरव्यापारानिरूपणात्। नच प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहणं वा तद्व्यापारः, तयोर्भावविषययोरनुपलम्भाजन्यत्वात्। तज्जन्यस्त-

---

येपि तदन्योन्याभावस्य सत्त्वात् घटाभावप्रमितिः स्यादित्यर्थः। उपलब्ध्यत्यन्ताभावपक्षे दूषणमाह—**दृष्टेति**। दृष्टः सन्नष्टो यो घटस्तदभावस्य प्रमितिर्न स्यात्। घटोपलब्धेर्जातत्वेन तदत्यन्ताभावाभावादित्यर्थः। आदिशब्दादनुत्पन्नग्रहणम्। ननूपलब्धिसंसर्गाभावोनुपलब्धिरभावप्रमितिकरणम्, तेन न पूर्वोक्तदोषः, प्रागभावादिव्यभिचारेपि संसर्गाभावस्याव्यभिचारादिति, तत्राह—**एतेनेति**। अतिदेशं विशदयति—**तत्रापीति**। किं संसर्गप्रागभावः? किं वा तत्प्रध्वंसः? इति विकल्पजालस्य तुल्यत्वादित्यर्थः। अस्तु तर्हि प्रागभावाद्यन्यतम इति, तत्राह—**अन्यतमत्वेति**। एवमनुपलब्ध्यनवधारणान्न सा अभावप्रमितिकरणमित्युक्तम्। इदानीं भवतु या काचिदनुपलब्धिस्तथापि तस्याः करणत्वं न भवति, तल्लक्षणरहितत्वादित्याह—**न चेत्यादिना**। व्यापारवद्धि कारणं कारकं तद्विशेषश्च करणमतो व्यापाराऽभावेनुपलब्धेः करणत्वं न स्यादिति भावः। ननु किमिति व्यापाराभावः, यावता प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहणं वा व्यापारोस्त्विति, तत्राह—**नचेति**। ननु यद्यपि भावविषययोरधिकरणग्रहणप्रतियोगिस्मरणयोः स्वविषयजन्यतया संस्कारजन्यतया चानुपलब्ध्यजन्यत्वम्, तथापि तद्व्यापारत्वं किं न स्यादित्यत आह—**तज्जन्य इति**। तेन करणेन जन्यत्वे सति तत्करणजन्यक्रियाजनको यः असौ तद्व्यापार इत्यर्थः। ननु मास्माभि-

---

हो सकता है, क्योंकि घट के उपलम्भ रहते भी उसके घट में अन्योन्याभाव के रहने से घटाऽभाव प्रमा की प्राप्ति होगी। चतुर्थ, उपलब्धि के अत्यन्ताभाव को भी प्रमाणत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि दृष्ट होकर जो घट नष्ट हो गया, उस दृष्ट नष्टादि के अभाव विषयक उपलब्धि के अत्यन्ताभाव से प्रमिति का अनुदय अभाव प्राप्त होगा, क्योंकि उसकी उपलब्धि के हो जाने से उपलब्धि का अत्यन्ताभाव ही नहीं रह जाता है। इसीसे उपलब्धि का संसर्गाभाव अभावज्ञान का करण है, यह कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि उसमें भी प्रागभावादि विकल्पों की अप्रतिबद्ध गति रहती है। प्रागभावादि अन्यतम कहें, तो अन्यतमत्व का प्रथम ही खण्डन हो चुका है। अनुपलब्धि कथञ्चित् अभावज्ञान में हेतु हो भी तो भी उसको करणत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि इसके अवान्तर व्यापार का निरूपण नहीं हो सकता है, प्रतियोगी का स्मरण वा अभावाधिकरण का ज्ञान अनुपलब्धि का व्यापार नहीं हो सकता है, क्योंकि भावविषयक उन दोनों को अनुपलम्भ से जन्यत्व नहीं रहता है,

ज्जन्यजनको व्यापार इति हि तद्विदः। केवलानुपलम्भस्य तदजनकत्वेऽपि योग्यता विशिष्टस्यास्त्येव तज्जनकता, तत्तदविनाभूतेतरप्रमाकरणसाकल्यं हि योग्यतेत्यङ्गीकारादिति चेत्, तर्हि भावप्रमितीनामिन्द्रियादिसहकृत-भावानुपलम्भकारणजन्यतया तासु तासु प्रमास्वसाधारणकरणत्वप्रवादः प्रत्यस्तमियात्। कश्चायमनुपलम्भः, किं प्रमाभावः? किं वा ज्ञानमात्रा-भावः? नाद्यः, इदं रजतमिति रजतारोपस्थले रजताभावप्रमित्यजनके

रनुपलम्भमात्रस्य करणत्वमभिप्रेयते, येन तद्व्यापारश्चिन्त्येतापितु योग्यतावतोनुप-लम्भस्य, तादृशस्य चान्तर्भूतभूतलादिरूपत्वेन तज्जन्याधिकरणग्रहणादिव्यापारकत्वा-दस्त्येव करणत्वमिति शङ्कते—**केवलेति**। योग्यतया व्यापारवत्तां दर्शयन् तत्स्वरूप-माह—**तत्तदविनाभूतेति**। तस्माद्विषयात्तदविनाभूताद्विषयसन्निकर्षादेश्चेतरद्यत्प्रति-योगिप्रमितिकरणं तत्साकल्यं योग्यता, तथा च तत्तज्ज्ञानान्यवान्तरव्यापाररूपाणि भविष्यन्तीत्यभिप्रायः। तदेतदतिप्रसक्त्या दूषयति—**तर्हीति**। अस्ति हि घटप्रत्य-क्षात्पूर्वक्षणेऽनुपलम्भः। अस्ति च प्रतियोगिप्रमापकमिन्द्रियादिसाकल्यम्। नच विषयसत्ताऽपराध्नीयात् भावप्रमिति प्रत्यनुगुणत्वादिति सर्वत्र तत्तदिन्द्रियादिसहिता-नुपलब्धिरेव करणम्। तथाचेन्द्रियादेः करणत्वप्रसिद्धिर्विरुध्येतेत्यर्थः। एवमनुपलब्धेः करणत्वं न संभवतीत्युक्तमिदानीमनुपलब्धिरित्यत्र नञा समस्यमानोपलम्भशब्देन प्रमितिर्वा ज्ञानमात्रं वाभिधीयते, उभयथाप्यनुपपत्तिरिति दूषयति—**कश्चायमिति**। **इदं रजतमिति**। अस्ति हि तत्र प्रतियोगिरजतप्रमित्यभावः। अस्ति च योग्यता,

---

और करण से जन्य हो करणजन्य का जनक हो उसको व्यापारज्ञ लोग व्यापार कहते हैं। यदि कहें कि केवल अनुपलम्भ को अधिकरणग्रहणादि के अजनकत्व होते भी योग्यता विशिष्ट अनुपलम्भ को उस अधिकरण ग्रहणादि की जनकता है ही, अतः अधिकरणादि व्यापार होंगे, क्योंकि, अभावप्रतियोगी घटादि और उसके अविना-भूत इन्द्रिय सन्निकर्षादि को छोड़कर उनसे अन्य जो प्रतियोगी प्रमा के अधिकर-णादि करण (साधन) समूह हैं, उनको ही योग्यता माना जाता है। अतः योग्यतान्तर्गत से जन्य ज्ञान अवान्तरव्यापार होंगे, योग्यता अन्तर्गत से जन्य ज्ञान अनुपलब्धिजन्य समझा जायगा। तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि घटादि के प्रत्यक्षादि ज्ञान से पूर्वकाल में घटादि का अनुपलम्भ रहता ही है, वही इन्द्रियादि रूप योग्यता से युक्त होकर, सब भाव प्रमिति का करण होगा, तो इसप्रकार से भावप्रमितियों को इन्द्रियादि सहकृत भाव के अनुपलम्भ रूप-कारण जन्य होने से तत्तत् प्रमाओं में इन्द्रिय लिङ्गादि के असाधारण करणत्व का प्रवाद (व्यवहार) लुप्त हो जायगा। और यह अनुपलम्भ क्या है, क्या प्रमा का अभाव है, या ज्ञान-मात्र का भाव है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, इदं रजतम्, इस रजत

रजतप्रमाभावेऽतिव्याप्तेः । अन्यथा रजतारोप एव न स्यात् । नापि द्वितीयः, शङ्खधवलिमप्रतिसंधानवतः पीत इति भ्रमानुदयप्रसङ्गात् ।

अपि च यत्राभाव एव लक्षणतो दुर्निरूपः, कुतस्तत्रेदं प्रमाणमिदं प्रमेयमिति विचारावतारः ? तथाहि—कोयमभावः ? (१) भावादन्यो वा ? (२) भावत्वानधिकरणं वा ? (३) भावविरोधी वा ? (४) भावेन स्वभावप्रत्यासन्नो वा ? (५) नास्तीति प्रत्ययविषयो वा ? (६) प्रति-

---

इन्द्रियादेर्विद्यमानत्वादितरथाधिष्ठानस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात् । अथ च न रजताभावप्रमित्युदय इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । अथ कथमभावप्रमित्यनुदयस्तत्राह—**अन्यथेति** । नह्यारोप्याभावप्रमितावपि तत्रारोपः संभवति । अतिप्रसङ्गादिति भावः । द्वितीयेप्यतिव्याप्तिमाह—**शङ्खधवलिमेति** । यदाहि कश्चिद्धवलः शङ्ख इति चेतसा शङ्खधवलिमानमनुसंदधाति, तदापि पीतपित्तोपहतनयनतया पीतः शङ्ख इति भ्राम्यति, तत्र धवलिमानुसंधानसमये पीतज्ञानं नासीत् । ज्ञानद्वययोगपद्याभावात् । ततश्च योग्यतोपेतपीतोपलम्भाभावस्तदानीमस्ति, नास्ति च पीतशङ्खाभावप्रमित्युत्पत्तिः । उत्तरक्षणे भ्रमदर्शनात् । अतस्तावकलक्षणं तत्रातिव्याप्तमित्यर्थः ।

इदानीमेतत्प्रसाङ्गादभावमात्रस्यैवानिरूपितत्वं दर्शयितुमुपक्रमते—**अपिचेत्यादिना** । अभाव इत्यत्र नञस्तदन्यत्वतदभावत्वतद्विरोधित्वार्थाभिप्रायेण विकल्पत्रयोत्थानम् । इतरे तु षडपि पक्षा वैवक्षिकाः । **स्वभावप्रत्यासन्न इति** । नहि भूतल-

---

के आरोप के स्थान में रजताभाव की प्रमिति के अजनक रजतप्रमाऽभाव में अतिव्याप्ति होती है । अन्यथा यदि रजतप्रमाभाव रजताभाव की प्रमिति का जनक (लक्षण का लक्ष्य) हो, तो रजत का आरोप ही नहीं हो सकता है, अतः अलक्ष्य से लक्षण की अतिव्याप्ति है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि चित्त से शंख की श्वेतता के स्मरण वाले को भी पित्त दोष से, पीतः शंखः, यह भ्रम होता है, उस भ्रम का अनुदय प्राप्त होता है । जिससे श्वेतता के अनुसंधान के समय पीत का ज्ञान नहीं रहता है, उसमें कारण है कि ज्ञान की युगपदता नहीं मानी जाती है । अतः उस समय पीत ज्ञान का अभाव रूप योग्य अनुपलब्धि रहती ही है, उससे यदि पीत के अभाव का प्रमा ज्ञान हो तो भ्रान्ति का उदय होना असम्भव होगा, परन्तु प्रमा नहीं होती है, भ्रम ही होता है । अतः ज्ञानाभावरूप अनुपलम्भ प्रमाण नहीं है ।

और जहाँ अभाव ही लक्षणपूर्वक दुर्निरूपणीय है, वहाँ यह अभाव प्रमाण है, यह प्रमेय है, इस विचार की प्राप्ति किससे हो सकती है, यह दर्शाया जाता है कि यह अभाव क्या है । क्या भाव से अन्य है, या भावत्वाऽनधिरण है, या भावविरोधी है, या भाव के साथ स्वभाव से प्रत्यासन्न = स्वरूप सम्बद्ध है, या नास्ति इस प्रतीति

योगिसापेक्षनिरूपणो वा? (७) अस्तीति बुद्धेरविषयो वा? (८) निर्विकल्पकबुद्धेरविषयो वा? (९) भावलक्षणरहितो वा? नाद्यः, भावस्यापि भावादन्यत्वेनातिव्याप्तेः। न द्वितीयः, अनधिकरणपदेनाधिकरणत्वाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात्। न तृतीयः, किंचिद्भावविरोधस्य भावेऽपि सद्भावादतिव्याप्तेः, सर्वभावविरोधित्वस्याभावेऽप्यभावेनासंभवित्वात्। न खलु घटाभावः सर्वभावविरोधी, सति घटाभावे विश्वाभावप्रसङ्गात्। विरोधिशब्देन च तादात्म्यासहिष्णुत्वविवक्षायां भावेष्वपि भावात्। नापि चतुर्थः, समवायादावपि भावात्। नापि पञ्चमः, इह भूतले घटो नास्तीति

घटाभावयोरन्यः संबन्धः प्रत्यासत्तिः, संबन्धान्तराभावादित्यर्थः। **न द्वितीय इति।** भावत्वानधिकरणत्वं नाम किं तदधिकरणत्वाभावः? किंवा तदधिकरणत्वान्यत्वम्? द्वितीये भावेष्वतिव्याप्तिः। नहि भावत्वाधिकरणत्वमेव भावः। प्रथमे प्राह— **अनधिकरणेति।** एतेन समवायान्यत्वे सत्यसमवाय्यभाव इति मानमनोहरलक्षणमपि निरस्तम्। असमवायित्वविवेचने एव यथोक्तदूषणप्रचारादिति। **भावेपीति।** गोत्वाश्वत्वादावित्यर्थः। अभावस्य सर्वभावविरोधित्वाभावमेव विवृणोति—**न खल्विति।** किंचेदं भावविरोधित्वं किं भावघातकत्वम्? किं वा भावासहस्थायित्वम्? किं वा भावतादात्म्यराहित्यम्? त्रिधापि भावेष्वतिव्याप्तिरित्यभिसंधिराह— **विरोधिशब्देन चेति। समवायेति।** नहि समवायस्य समवायिभ्यां स्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यासत्त्यन्तरमस्ति, अनवस्थादिदोषात्। आदिशब्देन च प्रमेयत्वादि गृह्यते। **इह भूतल इति।** एकं हीदं ज्ञानं भूतलघटघटिताभावग्राहीति तयोरप्येतत्प्रत्यय-

---

का विषय है, या प्रतियोगिसापेक्ष निरूपण वाला है, या अस्ति इस ज्ञान का अविषय रूप है, या निर्विकल्पक ज्ञान का अविषय है, अथवा भावलक्षणरहित है। भाव से अन्यत्व रूप आद्य लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि कोई भाव भी किसी भाव से अन्य होता है, अतः भाव से अन्यत्व के कारण उसमें अतिव्याप्ति होती है। दूसरा लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि अनधिकरण पद से अधिकरणत्वाभाव की विवक्षा होने पर अभाव के लक्षण में अभाव के आश्रयण से आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है। तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि किसी भाव के विरोधित्व भाव में भी रहने से उसमें अतिव्याप्ति होती है। सर्व भावविरोधित्व के अभाव में भी अभाव होने से इस लक्षण में असम्भवितत्व होगा, क्योंकि घटाभाव सब भाव का विरोधी नहीं होता है। अन्यथा घटाभाव के रहने पर विश्व का अभाव प्राप्त होगा। विरोधी शब्द से तादात्म्यासहिष्णुत्व (भावतादात्म्याभाव) की विवक्षा करने पर, भाव में भी उन तादात्म्य का अभाव रहता है, घट का पट से तादात्म्य नहीं रहता है। चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि समवायादि में भी स्वरूप से

घटभूतलयोरपि विशिष्टाभावबुद्धिविषयत्वात्, अनुगताकारानिरूपणाच्च नापि षष्ठः, ह्रस्वदैर्घ्यादिष्वपि भावात्। स सप्तमः, घटस्याभावोस्तीत्यभावस्याप्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनासंभवित्वात्। नाप्यष्टमः, ब्राह्मणत्वादिष्वपि भावात्।

"संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि जन्मतः।
क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्राजानुपालितात्॥
(श्लो० वा० वन० २९)
तैलाद्घृतं विलीनं च गन्धेन च रसेन च।" (वन० २७)

विषयत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। किंच प्रतीतिविषयत्वं नाम प्रतीतिश्च विषयश्च, तौ परस्परं व्यावृत्ताविति अनुगतलक्षणाभावादव्याप्तिरित्याह—**अनुगतेति**। निर्विकल्पकबुद्धयविषयत्वमिति पक्षं दूषयति—**नाप्यष्टम इति**। ब्राह्मणत्वादीनामपि न निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वम्, व्यञ्जकविशेषप्रतीत्यभावे तेषामप्रतीतेरतोतिव्याप्तिरित्यर्थः।

एतदेव भट्टवार्तिकेन द्रढयति—**संस्थानेनेति**। संस्थानं कम्बुग्रीवादिलक्षणं तत्सहकृतमिन्द्रियं च घटत्वादेर्ग्राहकमित्यर्थः। जन्मतः, अविप्लुतब्रह्मचर्यो ब्राह्मणः स्यादित्यादिविशेषणात्, क्वचिच्च युधिष्ठिरप्रभृतिसम्यग्राजानुपालितादाचारात्, विलीनं घृतं गन्धेन च रसेन च तैलाद्भेदेन ज्ञायत इति शेषः। भावलक्षणरहितो

सम्बद्धत्व रहता है। नास्ति इस प्रत्यय के विषयत्व रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नहीं। क्योंकि इस भूतल में घट नहीं है। भूतल घटयुक्त अभाव विषयक इस एक विशिष्टाभाव ज्ञान के विषयत्व घट और भूतल को भी रहना है। और प्रतीति विषयत्व में प्रतीति और विषय दो अन्तर्गत हैं, वह दोनों परस्पर व्यावृत्त हैं, अतः अनुगत आकार के निरूपण का अभाव है। षष्ठ लक्षण भी युक्त नहीं, ह्रस्व, दीर्घादि का भी प्रतियोगी सापेक्ष निरूपण होता है। अस्ति बुद्धि के अविषयत्व रूप सप्तम लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि घट का अभाव है, इस प्रकार से अभाव को भी अस्ति ज्ञान के विषयत्व होने से लक्षण में असम्भवित्व की प्राप्ति होती है। निर्विकल्पक बुद्धि के अविषयत्व रूप अष्टम लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि ब्राह्मणत्वादि में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। कहा भी है —

कम्बुग्रीवादि रूप संस्थान से अवयवों की विशेष रचना से, घटत्वादि गृहीत होता है। और विशेष माता-पितादि द्वारा जन्म ब्रह्मचर्यादि से ब्राह्मत्वादि का ज्ञान होता है। कहीं आचार से भी ज्ञान होता है, जो आचार धर्मात्मा राजा से पालित रहता है, उससे ब्राह्मणत्वादि का ज्ञान होता है। और पिघला हुआ घृत गन्ध और रस से भिन्न समझा जाता है।

इत्यादिन्यायेन तेषामपि सविकल्पकमात्रविषयत्वात्। न च नवमः; राहित्यशब्देनाप्यभावाभिधानादात्माश्रयत्वापत्तेः। किंच किंचिद्भावलक्षण-रहितत्वे च भावेष्वपि प्रसङ्गः, सर्वभावलक्षणरहितत्वशब्देन च सर्वभाव-लक्षणत्वानधिकरणत्वविवक्षायामेकैकस्यापि भावस्य तत्त्वादतिव्याप्तिः। सर्वभावलक्षणाभावाधिकरणत्वाभिधाने च तेष्वेव लक्षणाभावेष्वव्याप्तिः। तेषां स्वाधिकरणत्वाभावात्। तेष्वभावान्तराभ्युपगमे चाननुगमप्रसङ्गः।

वेति पक्षं दूषयति—**न च नवम इति**। अन्यत्वाभिधाने च भावेपि भावादतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। भावलक्षणशब्देन सर्वभावलक्षणमभिधीयते? किंचिल्लक्षणं वा? द्वितीये प्राह—**किंच किंचिद्भावेति**। प्रथमेति भावानां यानि सर्वाणि लक्षणानि तदनधिकरणत्वं विवक्षितम्? भावलक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणत्वं वा? आद्ये प्राह—**सर्वभावेति**। सर्वभावलक्षणत्वमिति च बहुव्रीहिः। सर्वभाव-लक्षणवत्त्वमिति यावत्। एकैकभावस्य सर्वभावलक्षणवत्त्वाभावादतिव्याप्तिरभाव-लक्षणस्येत्यर्थः। द्वितीये दूषणमाह—**सर्वेति**। भावलक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधि-करणमित्यभिधाने च तत्तल्लक्षणाभावेष्वव्याप्तिः, नहि तत्तदभावानां सर्वाभावाधि-करणत्वम्, स्वाधिकरणत्वाभावदित्यर्थः। अथ चैकैकभावलक्षणाभावा अपि बहवोऽत-स्तत्तल्लक्षणाभावान्तराधिकरणत्वात् तदभावानामप्यस्त्येव सर्वाभावाधिकरणत्वमिति मतम्, तथापि न सर्वाभावाधिकरणत्वम्, स्वाधिकरणत्वाभावादेव। अथ तत्तदभाव-विशेषाधिकरणत्वं लक्षणं तर्हि तेषामेव विशेषाणां स्वाधिकरणत्वाभावेनैकैकविशेषा-धिकरणत्वविवक्षायामितरेषु लक्षणाननुगतिः। एवमितरविशेषविवक्षायामपीत्य-व्याप्तिरित्याह—**अभ्युपगम इति**।

इत्यादि रीति से उन ब्राह्मत्वादिकों को सविकल्पक ज्ञानमात्र विषयत्व होता है, अतः उनमें अतिव्याप्ति होती है। भावलक्षणरहितता रूप नवम लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि राहित्य शब्द से भी अभाव के अभिधान (कथन) होने से आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है, और किञ्चिद् भावलक्षण रहितत्व को मानने पर भावों में भी अक्षण प्राप्त होता है, क्योंकि एक-एक भाव को सर्वभाव लक्षणवत्त्व का अभाव रहता है। और सर्वभाव लक्षणरहितत्व को माने, तो सर्वभाव लक्षणरहितत्व शब्द से सर्वभावलक्षणत्व के अनधिकरणत्व की विवक्षा होने पर एक-एक भाव को वह अनधिरणत्व होने से अतिव्याप्ति होगी। और सर्वभाव के लक्षणों के अभावाधिकरणत्व को कहने पर उन लक्षणाऽभावों में ही अव्याप्ति होगी, क्योंकि उन-उनको स्वाधिकरणता के अभाव से सर्वलक्षणों के अभावाधिकरणत्व नहीं रहता है, लक्षणाभाव में अन्य लक्षणाभाव को मानने पर अननुगम प्राप्त होगा, कौन लक्षणाभाव किसमें रहता है, यह निश्चय नहीं होगा।

किंचेदं भावत्वं यदनधिकरणत्वमभावः ? (१) किमस्तीतिप्रत्ययविषयत्वम् ? (२) नास्तीतिप्रत्ययाविषयत्वं वा ? (३) प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्वं वा ? (४) निर्विकल्पबुद्धिबोध्यत्वं वा ? (५) षड्लक्षणलक्षितत्वं वा ? (६) षड्लक्षणान्यतमलक्षणलक्षितत्वं वा ? नाद्यः, घटस्याभावोऽस्तीत्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनाभावेऽतिव्याप्तेः । न द्वितीयः, भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययविषयस्यापि घटादेर्भावत्वात् । न तृतीयः, प्रतियोग्यपेक्षनिरूपणे ह्रस्वदीर्घत्वादावव्याप्तेः । न चतुर्थः, निर्विकल्पबुद्धेः प्रागूर्ध्वमपि घटादेर्भावात् । तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वे चात्यन्ताभावे एवातिव्याप्तिः । तत्राप्यत्यन्ताभावान्तराभ्युपगमे लक्षणस्याननुगमः । न पञ्चमः,

---

किंच भावलक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तदधीननिरूपणाभावोऽपि दुर्निरूप इति हृदि निधाय भावलक्षणमपि खण्डयति—**किं चेदमिति । यदनधिकरणत्वमिति ।** यल्लक्षणानधिकरणत्वमित्यर्थः, अस्यैवानन्तरं प्रकृतत्वात् । **षड्लक्षणेति ।** द्रव्यादीनां षण्णां यानि लक्षणानि तैर्लक्षितत्वं चेत्यर्थः । नास्तीति प्रत्ययाविषयत्वमिति द्वितीयपक्षेऽव्याप्तिमाह—**भूतले घट इति ।** ननु निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वं नाम तद्विषयत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं विवक्षितम्, तेन न प्रागूर्ध्वप्रयुक्ताव्याप्तिरिति, तत्राह—**तदत्यन्तेति ।** योऽयमत्यन्ताभावो लक्षणत्वेनाभिहितस्तस्मिन्नेव स्वानधिकरणेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । उत्तरो ग्रन्थोऽनन्तरमेव कृतोपपादः । **न पञ्चम इति ।**

यह भावत्व क्या है कि जिस भावत्व का अनधिकरणत्व का अभाव का लक्षण होता है । क्या अस्ति इस प्रतीति का विषयत्व रूप भावत्व है, या नास्ति इस प्रतीति का अविषयत्व रूप है, या प्रतियोगि-निर्पेक्ष-निरूपणीयत्व है, या निर्विकल्पक बुद्धियोग्यत्व है, या द्रव्यत्वादि छः लक्षणों से लक्षितत्त्व है, या षड्लक्षणान्यतम लक्षणलक्षितत्व है । प्रथम लक्षण युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि घट का अभाव है, इस प्रकार से अभाव में अस्ति प्रत्यय के विषयत्व के रहने से उसमें अतिव्याप्ति होती है । दूसरा लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि भूतल में घट नहीं है, इस नास्ति प्रत्यय के विषय का घटादि को भावत्व रहता है, अतः यहां लक्षण की अव्याप्ति होती है : तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सापेक्ष निरूपण वाले ह्रस्वत्व, दीर्घत्वादि में अव्याप्ति होती है । चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि निर्विकल्पक बुद्धि से प्रथम और पीछे भी घटादि का भाव रहता है, अतः उस समय निर्विकल्पक बुद्धि विषयत्व रूप लक्षण की अव्याप्ति होती है । यदि निर्विकल्पक बुद्धिविषयत्वाऽत्यन्ताऽभावानधिकरणत्व की विवक्षा करें, तो अत्यन्ताभाव में ही लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, अत्यन्ताभाव को भी निर्विकल्पक बुद्धिविषयत्वात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व है । अत्यन्ताभाव में अन्य अत्यन्ताभाव माने तो लक्षण का अननुगम होगा, यह प्रथम कहा गया है । पञ्चम भी युक्त नहीं, क्योंकि षड्लक्षण लक्षितत्व

षड्लक्षणलक्षितत्वस्य प्रत्येकं द्रव्यादिष्वभावेनाव्याप्तेः। न षष्ठः, अन्यतमत्वस्य प्रागेव निरस्तत्वात्।

कश्चायं प्रागभावः? विनाश्यभाव इति चेत्, न, विनाशिशब्देनोत्पत्तिमदभाववत्त्वाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात्। नहि प्रागभावस्य घटव्यतिरेकेणोत्पत्तिमानान्योऽभावो निवृत्तिरन्यस्यानुपलम्भात्, 'अपोह्यमाने चाभावे भाव एवावशिष्यते' इत्यभ्युपगमाच्च। नन्वनिवृत्ते प्रागभावे घटजन्मन

षण्णां यानि लक्षणानि न तैरेकैकलक्षितत्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि षष्ठः, तथा च शिवादित्यमिश्रेणोक्तमिति, तत्राह—**न षष्ठ इति**। एवं भावलक्षणानिरूपणादपि तन्मुखेनाभावनिरूपणं न संभवति, प्रकारान्तरेण निरूपणं पुरस्तादेव निरस्तम्।

एवमभावमात्रलक्षणं खण्डयित्वा तद्विशेषलक्षणमपि खण्डयति—**कश्चायमिति**। प्रध्वंसेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विनाशिग्रहणम्। घटादिनिवर्तनायाभावग्रहणम्। अत्र किं विनाशिशब्देन विनष्टो घट इत्यादिष्विवोत्पत्तिमदभाववत्त्वमभिधीयते? किं वाऽभाववत्त्वम्? चरमे प्रध्वंसादावतिव्याप्तिः, तस्याप्यभावप्रतियोगित्वात्। आद्यस्त्वसंभवीत्याह—**विनाशिशब्देनेति**। प्रागभावस्य निवृत्तिरित्यन्वयः। अत्र किं प्रत्यक्षात् घटव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिः स्वीक्रियते? उपपत्तिबलाद्वा? नाद्य इत्याह—**अनुपलम्भादिति**। तदुक्तं तात्पर्यटीकायामाचार्यवाचस्पतिना—"नो खल्वभावाभावो नाम कश्चिदन्यो भावान्नापि भावाभावोन्योऽभावात्" इति। भट्टान्प्रत्याह—**अपोह्यमान इति**। द्वितीयपक्षमुद्भावयति—**नन्विति**। किं निवृत्ते प्रागभावे घट

का प्रत्येक द्रव्यादि में अभाव रहने के कारण उनमें अव्याप्ति होती है। षष्ठ लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्यतमत्व प्रथम ही निरस्त हो चुका है।

विशेषाभाव के खण्डन के लिये कहते हैं कि यह प्रागभाव क्या है। अर्थात् आपका माना हुआ प्रागभाव नहीं है। यदि कहें कि विनाशी अभाव प्रागभाव है, अर्थात् कार्य की उत्पत्ति से प्रथम कार्य के उपादान कारण में रहने वाला और कार्य की उत्पत्ति से प्रथम ही नष्ट हो जाने वाला अभाव प्रागभाव है, क्योंकि (ईशस्तज्ज्ञानयत्नेच्छा कालोऽदृष्टं दिगेव च। प्राक्प्रतिबन्ध का भावी कार्ये साधारणाः स्मृताः) ईश्वरादि कार्य के साधारण कारण हैं, उनमें प्रागभाव है, परन्तु भावाऽभाव के विरोध होने से घट का प्रागभाव घट के साथ नहीं रह सकता है, अतः घट की उत्पत्ति से प्रथम ही रहकर घट के लिये उपयोगी होकर घट की उत्पत्ति क्षण में नष्ट हो जाता है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विनाशी शब्द से यदि घटादि के समान उत्पत्तिमान् के ध्वंसरूप अभाववत्त्व को कहो तो लक्षण के असम्भावित्व होगा। क्योंकि घट से भिन्न उत्पत्तिमान् अन्य अभाव, प्रागभाव की निवृत्ति रूप

एवासंभवादन्यैव निवृत्तिरभ्युपेया। न च वार्तिकवचनविरोधः, निवृत्या प्रागभावेऽपोह्यमाने तत्प्रतियोगी घटादिरवशिष्यत एवेत्ययोगव्यवच्छेदपरत्वात्। अन्यथाऽभावापह्नवमात्रेण भावशेषे प्रागभावसमये प्रध्वंसस्यासंभवात्, प्रध्वंससमये च प्रागभावस्याभावाद्भावावशेषः प्रसज्येत इति चेत्, मैवम्, त्वदुक्तेन न्यायेनानिवृत्ते प्रागभावे तन्निवृत्तेरपि जन्मासंभवात्, तत्र

उत्पद्यते ? उतानिवृत्ते ? न तावदनिवृत्ते, विरोधिनि सति विरोध्यनुदयात्। तस्मान्निवृत्ते सतीति वक्तव्यम्। तथाच घटोत्पत्तेः प्राचीना काचन प्रागभावनिवृत्तिरभावरूपिणी स्वीकरणीया, अतः कथमसंभवो लक्षणस्येत्यर्थः। **अयोगेति**। यदि ह्यपोह्यमानेऽभावे भाव एवेति यथाश्रुतोऽन्वयः स्यात्तदा विरोधः। नचैवमन्वयः, अपि तु भावोऽवशिष्यत एवेति। तथाच भावोदयमात्रप्रतिपादनपरत्वान्न निवृत्तिनिराकरणपरतेत्यर्थः। ननु भावावशेष एव चेद्विधित्सितस्तर्हि निवृत्त्यवशेषादपि भावावशेषः सिध्यति, तद्रूपत्वाद्भावस्यातः पृथगभिधानवैयर्थ्यमिति, तत्राह—**अन्यथेति**। नाभावापह्नवमात्रं भावशेषः। यदि हि भावाकारेणावशेषो नामाभावापह्नवमात्रं स्यात्तदा भावावशेष एव स्यात्। न पुनः प्रागभावध्वंसावस्थातोऽतिरिक्तः कश्चित्प्रकारः। यतः प्रागभावसमयेऽपि प्रध्वंसापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वात्प्रध्वंससमये च प्रागभावापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वादभावापह्नवरूपो घटः सर्वदाऽस्तीति नोदकाहरणसमर्थघटसिद्धिरित्यर्थः। अथवाऽभावापह्नवमात्रत्वे भावस्य, प्रागभावध्वंसावस्थायामपि घटः स्यात्, एकैकनिवृत्तेरेकैकावस्थायामपि विद्यमानत्वादित्यर्थः। एतेन प्रागभावस्यैव निवृत्तिघट इत्यपि निरस्तम्। तदेतत्सिद्धान्ती दूषयति—**मैवमिति**। न तावद्विरोधिनिवृत्तावेव विरोध्युदय इति व्याप्तिः, निवृत्तेरपि प्रागभावा-

---

अन्य को उपलब्ध नहीं होता है, केवल आप मानते हैं। जैसे कि मीमांसक वार्तिककार ने माना है कि (अभाव के अपोह्यमान = निवृत्त होने पर भाव ही अवशेष रहता है। यदि शंका हो कि प्रागभाव के प्रथम निवृत्त नहीं होने पर विरोधी अभाव के रहते घट का जन्म होना ही असम्भव है, अतः घट से अन्य ही प्रागभाव का ध्वंस रूप निवृत्ति मन्तव्य है, अतः लक्षण का असम्भव नहीं है। और वार्तिक वचन से विरोध भी नहीं, क्योंकि निवृत्ति = ध्वंस से प्रागभाव के अपोह्यमान (निवृत्त) होने पर उसका प्रतियोगी घटादि अवशिष्ट रहता ही है। इसप्रकार से उस प्रतियोगी के अयोग = असम्बन्ध = असत्त्व का व्यवच्छेद = निवारणपरक वार्तिक है। इससे भाव के उदय = जन्ममात्र प्रतिपादन परक वार्तिक सिद्ध होता है, प्रागभाव की निवृत्ति के निराकरणपरक नहीं। अन्यथा = यदि उक्तार्थक वार्तिक न हो, किन्तु अभाव के अपह्नव (अभाव) मात्र से भाव शेष हो, तो घट प्रागभाव के समय में घटप्रध्वंस का असम्भव रहता है, अतः घटध्वंस के अपह्नव

तत्र निवृत्त्यन्तराभ्युपगमे चानवस्थापातात् । तस्मादुभयत्रानुपपत्तिसाम्येऽपि घट एव स्वप्रागभावनिवृत्तिरित्यङ्गीकरणीयम्, कल्पनालाघवात् । तथा चासंभवित्वदोषस्तदवस्थ एव । अस्तु वा प्रागभावस्य घटादन्यैव निवृत्तिस्तथापि प्रध्वंसेऽतिव्याप्तिस्तस्यापि विनाशित्वात् । न च ध्वस्तस्योन्मज्जनापत्तिः, प्रध्वंसवदेव तत्तत्प्रध्वंसमालाया अपि प्रध्वस्तभावविरोधित्वात् ।

निवृत्तावुत्पत्त्यसंभवेन निवृत्त्यनवस्थाप्रसङ्गात् । तस्मादनिवृत्ते एव च प्रागभावे विरोध्युदय इति वक्तव्यम् । तथा च तद्वदेव घटोऽप्युत्पत्तुम् शक्नोतीति नेयमुपपत्तिः काचन, प्रत्युत घटरूपैव निवृत्तिः कल्पनालाघवादाश्रयणीया, तथा चासंभवित्वमित्याह—**त्वदुक्तेनेत्यादिना** । असंभवमुपेक्ष्यातिव्याप्तिमाह—**अस्तु वेति** । ननु नास्ति प्रध्वंसस्य प्रध्वंसः, येनातिव्याप्तिः स्यात्, प्रध्वंसस्यापि प्रध्वंसे घटप्रागभावध्वंसरहितकालस्य घटकालत्वेन घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इति, तत्राह—**न च ध्वस्तस्येति** । यथा हि प्रथमध्वंसो घटविरोधी, एवं तत्प्रध्वंसमालापि घटविरोधिन्येव, तत्कस्य हेतोः ? उत्तरोत्तरध्वंसानामपि ध्वंससमानविरोधित्वात्, पूर्वपूर्वप्रतियोगिव्यावृत्तस्वध्वंसविरोधित्ववत् । इतरथा घटसंसर्गनिषेधे घटस्य निषेधो न स्यादिति घटनित्यतानित्यतयोः प्रसङ्गात्, ततो नोन्मज्जनापत्तिरिति भावः । अतश्चैवमेवाङ्गीकर्तव्यमितरथा घटध्वंसे घटप्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गात्, घटध्वंसस्य प्रागभाव-

---

से उस समय घट का अवशेष प्राप्त होता है, इसीप्रकार से घट प्रध्वंस के समय में घटप्रागभाव का अभाव रहता है, अतः प्रागभाव के अपलव से उस समय भी घट का अवशेषस्वरूप प्राप्त होता है । तो ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि आप से वर्णित रीति से प्रागभाव के निवृत्त हुए बिना उसकी निवृत्ति का जन्म होना भी असम्भव है, क्योंकि निवृत्ति भी प्रागभाव का विरोधी है, अतः उस निवृत्ति की सिद्धि के लिये निवृत्त्यन्तर को मानने पर, तत् तत् निवृत्ति में निवृत्त्यन्तर के स्वीकार से अनवस्था की प्राप्ति होगी । अतः दोनों पक्ष में अनुपपत्ति की समता होते भी घट ही प्रागभाव की निवृत्तिस्वरूप है, यह अङ्गीकार करने योग्य है, क्योंकि इसमें कल्पना का लाघव है । और ऐसा होने पर उत्पत्तिमदभावस्वरूप लक्षण के असम्भवित्व रूप दोष तदवस्थ ही रहता है । अथवा घटप्रागभाव की घट से अन्य ही निवृत्ति हो, तो भी उसके लक्षण की प्रध्वंस में भी अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि प्रध्वंस को भी विनाशित्व है (यदि कहें कि ध्वंस के विनाश होने पर ध्वस्त = नष्ट, प्रतियोगी की उन्मज्जन = उद्भूति की आपत्ति होगी । तो यह कहना युक्त नहीं, ध्वंस के समान ही ध्वंस के ध्वंसादि प्रवाह को भी ध्वस्तभाव का विरोधित्व रहता है । अन्यथा आपके मत में भी विरोधी प्रतियोगी के अभाव से

तवापि कथमन्यथा प्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गपरिहारः ? यत्पुनरुक्तं लीलावतीकारेण—'असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानबाधितत्वात् कल्पनालाघवाच्च न प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशौ' इति, तदसत्, कपालचूर्णरजःप्रभृतीनां संभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गाणां भिन्नतयैव प्रत्यक्षत्वात् त्वदुक्तप्रत्यभिज्ञाया असिद्धेः, प्रत्यक्षसिद्धे च भेदे कल्पनालाघवन्यायस्यानवसरदुःस्थ-

---

ध्वंसध्वंसत्वात्, घटानवच्छिन्नकालस्य घटप्रागभावव्याप्तत्वाच्चेत्याह—तवापीति। नच प्रागभावोन्मज्जनमस्त्येवेति वाच्यम्, तथा सति घटोत्पत्तेरवश्यंभावेनोष्ट्रलकुटवृत्तान्तापातादिति भावः। उक्तं च लीलावतीकारेण—'प्रागभावनिवृत्तिनिवृत्तौ तदुन्मज्जनापत्तिः' इति चेन्न। ध्वंसस्यापि तद्विरोधित्वादिति। यदत्र तेनैवोक्तम्—एवं सति ध्वंसोपि नश्येत कृतकत्वात्, प्रागभावोपि जायेत विनाशित्वादिति। प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशावाशङ्क्यं नासंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानप्रतिक्षिप्तत्वादिति। तदनुवदति—यत्पुनरिति। अस्ति हि घटोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं च नासीत् घटः, न भविष्यति घट इति, नास्ति च घट इति वा। स एवायं प्रागभावः स एवायं प्रध्वंस इत्येव वाऽबाधिताभावप्रत्यभिज्ञानम्। इदं च ज्वालाप्रत्यभिज्ञानवदमानमित्यत उक्तम्—असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गेति। न संभवो विरुद्धधर्मसंसर्गो यद्विषये तत्प्रत्यभिज्ञानं तथोक्तम्, एकाभावेनैव व्यवहारोपपत्तावनन्ताभावकल्पनायां गौरवं चेत्याह—कल्पनेति। दूषयति—तदसदिति। अत्र तावदुत्तरोत्तरकपालादिरेव पूर्वपूर्वघटादेः प्रध्वंसः पूर्वपूर्वपिण्डादिरेवोत्तरघटादेः प्रागभाव इति च वक्ष्यति। तथा च तेषां कपालप्रभृतीनां परस्परविरुद्धानामेवोपलभ्यमानत्वात् ज्वालाप्रत्यभिज्ञानवदाभासोऽयमित्यर्थः। कल्पनागौरवं परिहरति—प्रत्यक्षेति। कपाला-

---

प्रागभाव के उन्मज्जन रूप प्रसङ्ग का परिहार कैसे होगा, अर्थात् जैसे प्रतियोगी प्रागभाव का विरोधी होता है, वैसे प्रतियोगी का ध्वंसरूप अभाव भी प्रागभाव का विरोधी होता है, ऐसे ही प्रकृत में भी मानना होगा। और जो लीलावतीकार ने कहा है कि, प्रागभाव की उत्पत्ति और ध्वंस का विनाश रूप विरुद्ध धर्म के संसर्ग का असम्भव होने से, तथा घटोत्पत्ति से पूर्व घट नहीं था, और नाश के बाद नहीं रहेगा इस प्रागभावप्रध्वंस की प्रत्यभिज्ञा से प्रागभाव की उत्पत्ति के और ध्वंस के बाधित होने से तथा अनन्त प्रागभाव तथा ध्वंस की उत्पत्ति नाश की कल्पना की अपेक्षा लाघव से भी प्रागभाव और प्रध्वंस के उत्पत्ति-विनाश नहीं मन्तव्य है। यह कथन असत् है। क्योंकि जिनमें विरुद्धधर्मों के संसर्ग का सम्भव है, ऐसे कपाल-चूर्ण, रज आदि को भिन्न रूप से ही प्रत्यक्ष होने से आप से वर्णित उनमें एक ध्वंस की प्रत्यभिज्ञा की असिद्धि है। और भेद के प्रत्यक्षसिद्ध होते कल्पना लाघव रूप न्याय का अवसर नहीं रहता है। ऐसा ही पौराणिक उदाहरण

त्वात्। तथा च पौराणिकमुदाहरणम्—'मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः' इति। उत्पत्तिमानभावो ध्वंस इत्यप्यलक्षणम्, पिण्डादेर्घटप्रागभावत्वेनास्मदभिमतस्योत्पत्तिमत्त्वात्तदतिरिक्तस्य चानुपलब्धेः।

तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न, घटपटयोस्तादात्म्यस्यैवाप्रमितत्वेन प्रमितनिषेधनियमवादिनः तन्निषेधस्याशक्यत्वात्। प्रमिते घटे प्रमितपटत्वप्रतिषेधे च भूतले घटनिषेधवत् संसर्गाभावापत्तेः। प्रतियोग्यनिष्ठो नित्योऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न, विकल्पानुपपत्तेः।

दीनां घटादिध्वंसरूपाणां नानात्वे विष्णुपुराणसंमतिमप्याह—**मही घटत्वमिति**। मही घटत्वं प्रतिपद्यते, एवं यावदणु। अस्य च 'जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्त्वि'त्युत्तरार्धः। अयमर्थः—एवमागमापायितया स्वकर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिर्जनैर्विकारजातमालक्ष्यते, अतः किमत्र विकारजाते वस्तु ब्रूहि? न किमपीत्यर्थः। प्रध्वंसलक्षणमपि दूषयति—**उत्पत्तिमानिति**। यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—**पिण्डादेरिति**। तथाच प्रागभावेतिव्याप्तिरित्यर्थः।

एवं प्राक्प्रध्वंसाभावौ दूषयित्वाऽन्योन्याभावं दूषयति—**तादात्म्येति**। भेदखण्डनप्रस्तावोक्तं स्मारयत्यधिकविवक्षया—**घटपटयोरिति**। ननु घटे पटत्वमेव निषिध्यताम् तथाच नाप्रसिद्धप्रतियोगितेति, तत्राह—**प्रमिते घट इति**। लक्षणान्तरं शङ्कते—**प्रतियोगीति**। अत्यन्ताभावव्यावृत्त्यर्थं प्रथमं विशेषणम्, नित्यत्वं

भी है कि (पृथिवी घटरूपता को प्राप्त होती है, घट कपालिका हो जाता है, कपालिकाचूर्ण होती है, चूर्ण रज होता है। उससे अणु होता है) इससे ध्वंस में कपालादि अनेक रूपता की सिद्धि होती है, सादृश्यादि से कहीं प्रत्यभिज्ञा भी हो सकती है। उत्पत्ति वाला अभाव ध्वंस होता है। यह ध्वंस का लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि घट के प्रागभाव रूप से हमलोगों से अभिमत पिण्डादि के उत्पत्तिमत्त्व से, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि हमारे मत से प्रागभाव होने से अभाव रूप हैं, और उत्पत्ति वाले हैं। और उनसे अतिरिक्त अभाव की उपलब्धि नहीं होती है।

तादात्म्य (अभेद) प्रतियोगी वाला अन्योन्याभाव होता है। यह लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि जिसके तादात्म्य को प्रतियोगी माना जाता है, उस घट-पट के तादात्म्य के ही अप्रमित होने से प्रमितप्रतिषेधवादी से उसका निषेध होना अशक्य है। यदि प्रमितघट में प्रमितपटत्व का निषेध माने तो वह अन्योन्याभाव नहीं होगा, किन्तु भूतल में घट निषेध के समान संसर्गाभाव सिद्ध होगा। और (घटादन्यः पटः) इस प्रतीति के अनुसार लक्षण करें कि प्रतियोगी में अवृत्ति

प्रतियोगिशब्देन किमन्यदुच्यते ? किं वा निरूपकः ? विरोधी वा ? नाद्यः, धर्मिणोऽपि स्वास्मदन्यत्वेनासंभवित्वात्। धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति विवक्षितमिति चेत्, न, अत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः। यत्र यत्र वर्तते तस्यैव धर्मितया ततोऽन्यत्र तस्यावृत्तेः। न द्वितीयः, धर्मिणोऽपि निरूपकतया तत्रावृत्त्यसंभवात्। धर्मिव्यतिरिक्तनिरूपकावृत्तित्वं विवक्षितमिति चेत्, न,

---

चेदनुत्पत्तिविनाशरहितत्वम्, एतच्च प्रागभावप्रध्वंसयोर्व्यभिचारवारणार्थम्। नित्यभावव्यावृत्त्यर्थमभावपदम्। यत्तदधिकविवक्षयेत्युक्त तद्दर्शयिष्यन्विकल्पयति—**प्रतियोगिशब्देनेति। धर्मिणोऽपीति।** अन्यत्वं चेत्प्रतियोगित्वं तथा सत्यन्योन्याभावादित्यर्थाल्लभ्यते, तस्य प्राधान्येन प्रकृतत्वात्। तथात्र प्रतियोग्यनिष्ठ इति कोर्थः ? अन्योन्याभावव्यतिरिक्ते न वर्तत इति, तथा चाभावस्य धर्मिण्यप्यवृत्तिप्रसङ्गेन नित्यमसंभव्येव लक्षणमित्यर्थः। नन्वन्यत्वमेव न प्रतियोगित्वं किंतु धर्मिणोऽन्यत्वम्, तथा च धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति लक्षणार्थं इति शङ्कते—**धर्मिव्यतिरिक्त इति।** तत्र यद्यपि नित्यत्वविशेषणात्प्रागभावादी न गच्छति, तथाऽप्यत्यन्ताभावे गच्छत्येव, तस्यापि धर्मिव्यतिरिक्ते वृत्तिव्याघाताच्चास्ति; अस्ति च नित्यत्वमित्यभिप्रेत्य दूषयति—**अत्यन्तेति।** निरूपकत्वं प्रतियोगित्वमिति पक्षेऽप्यसंभव एव, धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्तेरसंभवादित्याह—**न द्वितीय इति।** न निरूपकत्वमात्रं प्रतियोगित्वम्, किं तर्हि ? धर्मिव्यतिरिक्तत्वे सति। तथाच नासंभव इति शङ्कते—**धर्मिव्यतिरिक्तेति।** किं धर्म्यन्यत्वं धर्मिव्यतिरिक्तत्वं वा ? धर्मित्वा-

---

नित्य अभाव अन्योन्याभाव = अन्य का अन्य में अभाव होता है, तो यह भी विकल्पाऽनुपपत्ति से युक्त नहीं है। क्योंकि प्रतियोगी शब्द से, क्या अन्य मात्र कहा जाता है, या निरूपक, अथवा विरोधी कहा जाता है, प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्य मात्र कहने पर प्रसङ्ग से अन्योन्याभाव से अन्य समझा जायगा, तब धर्मी को भी, स्वस्माद्, अन्योन्याभाव से अन्य होने से असम्भावित्व होगा। क्योंकि अन्योन्याभाव से अन्य में नहीं रहता है, ऐसा अर्थ होने से धर्मी में भी नहीं रहना अर्थ होगा वह असम्भव होगा। यदि कहें कि धर्मी से भिन्न में नहीं रहता है, यह भिन्न शब्द का विवक्षितार्थ है, तो अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जहां-जहां अत्यन्ताभाव रहता है, उसीको धर्मी होने से, अतः उस धर्मी से अन्यत्र अत्यन्ताभाव की भी वृत्तिता नहीं रहती है। दूसरा निरूपक पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि धर्मी भी भेद का निरूपक होता है, उसमें अवृत्तित्व का असम्भव है। यदि कहें कि धर्मी से भिन्न निरूपक में अवृत्तित्व विवक्षित है। तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि धर्मी को भी धर्म्यन्तर से अन्यत्व रहता है।

धर्मिणोऽपि धर्म्यन्तरादन्यत्वात्। धर्मित्वानधिकरणे न वर्तत इति चेत्, न, असंभवित्वात्, निर्धर्मकस्य वस्तुनोऽसंभवेन प्रतियोगिनोऽपि धर्मित्वात्। नापि तृतीयः, विरोधस्य दुर्घटतायाः पूर्वमेवाभिहितत्वात्। अस्तु वा यः कश्चिदविचारितरमणीयः प्रतियोगी, तथापीदं भवान् पृष्टो व्याचष्टाम्, किमेको जगत्यन्योन्याभावः? किं वा बहवः?

सर्वस्य प्रतियोगित्वाद् दुर्लभा तदनिष्ठता।
द्विधाप्यात्माश्रयत्वाच्च न स्वशब्दो विशेषणम्॥ ३७॥

अन्योऽन्याभावस्य सर्वत्रैकत्वे सर्व एव धर्मी सर्व एव प्रतियोगीति कथं

नधिकरणत्वं वा? आद्ये प्राह—**धर्मिणोपीति**। तथा चासंभवस्तदवस्थ इत्यर्थः। द्वितीयमाशङ्क्यासंभवेन दूषयति—**धर्मित्वेति**। असंभवमेव विवृणोति—**निर्धर्मकस्येति**। विरोधी प्रतियोगीति पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। **पूर्वमेवेति**। किं सर्वाभावेन? यत्किंचिदभावेन वा? इति विकल्प्य पूर्वमेव दूषितत्वादित्यर्थः। एवं प्रतियोग्यनिरूपणात् प्रतियोग्यनिष्ठत्वं दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण प्रतियोग्यनिष्ठतादुर्घटतां व्युत्पादयति—**अस्तु वेत्यादिना**।

एकत्वे बहुत्वे च यथाक्रमं दूषणं संगृह्णाति श्लोकेन—**सर्वस्येति**। यद्येको जगत्यन्योऽन्याभावस्तदा सर्व एव तस्य धर्मी, सर्व एव प्रतियोगी, घटप्रतियोगिकपटधर्मिकान्योन्याभावस्यैव घटेऽपि वर्तमानत्वात्। तथा च धर्मिनिष्ठत्वमेव प्रतियोगिनिष्ठत्वमिति प्रतियोग्यनिष्ठता दुर्लभा स्यात्। अथ बहवोऽन्योन्याभावास्तथापि प्रतियोगिमात्रानिष्ठत्वं वा? स्वप्रतियोग्यनिष्ठत्वं वा तदाभिप्रेयते? आद्यस्त्वसंभवी, धर्मिणोऽपि यत्किंचित्प्रति प्रतियोगित्वेन तदनिष्ठताव्याघातात्। द्वितीये चात्माश्रयत्वप्रसङ्गात् स्वशब्दो न विशेषणमिति। द्विधाप्येकत्वे बहुत्वे च दुर्लभा तदनिष्ठतेति श्लोकयोजना। विवृणोति—**अन्योन्येति**। अनवस्था चान्योन्याभावा-

---

धर्मित्वानधिकरण में नहीं वर्तता है, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि असंभावितत्व होगा। क्योंकि निर्धर्मक वस्तु के असम्भव होने से प्रतियोगी को भी धर्मित्व रहता है। तृतीय विरोधी पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि विरोध की दुर्घटता को प्रथम कहा गया है। अथवा जो कोई अविचारित रमणीय प्रतियोगी हो, तो भी आप से पूछा जाता है कि आप कहें कि क्या संसार में एक अन्योन्याभाव है, या बहुत है। वहाँ, एकत्व पक्ष में—

सब के प्रतियोगित्व होने से प्रतियोग्यनिष्ठता = अवृत्तिता, दुर्लभ है, और दूसरे पक्ष में आत्माश्रयता से स्वशब्द के विशेषण नहीं हो सकने से, एकत्व-अनेकत्व दोनों पक्ष में प्रतियोग्यनिष्ठता दुर्लभ है॥ ३७॥

अर्थात् अन्योन्याभाव के सर्वत्र एक होने पर सभी धर्मी और सभी प्रतियोगी

तदनिष्ठता संभवेत्? बहुत्वेऽपि यत्किंचिदपेक्ष्य धर्मिणोऽपि प्रतियोगित्वात्तदनिष्ठत्वासंभवस्तदवस्थः। स्वप्रतियोग्यनिष्ठ इति च विशेषणे स्वशब्दाभिधेयस्यान्योन्याभावस्याद्याप्यसिद्धेः कथं नात्माश्रयः? एतेन प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽत्यन्ताभाव इत्यपि निरस्तम्, प्रतियोग्यनिरूपणात्। प्रतिपादितन्यायेन सर्वस्य प्रतियोगित्वेनान्योन्याभावस्यापि प्रतियोगिनिष्ठतया विशेषणवैयर्थ्यात्, प्रागभावप्रध्वंसयोरपि तत्संभवादतिव्याप्तेश्च।

किंचाभाव एव दुर्निरूपः, कुतस्तत्र तत्प्रमाणलक्षणभेदाद् भेदचिन्तावतारः? तथाहि—यादृशे भूतलादौ धर्मिणि घटाभावोऽभ्युपेयते,

---

नेकत्वे स्यात्स्वरूपत्वे चानेकत्वासिद्धेः। एतेन सर्वत्र तदन्यत्वविशेपणं प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम्। अत्यन्ताभावलक्षणेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**। अतिदिश्यमानं विशदयति—**प्रतिपादितेति**। प्रतियोगिग्रहणं यत्किञ्चिन्निष्ठान्योन्याभावव्यावृत्त्यर्थम्, नच तेनापि तद्व्यावर्त्यते, तस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगिनि वात्यन्ताभावप्रतियोगिनि वा वर्तमानत्वादतो व्यर्थविशेषणता। अतिव्याप्तिश्च तत्रैवेति भावः। अतिव्याप्त्यन्तरं चाह—**प्रागभावेति**। तदधिकरणस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगित्वादिति भावः।

एवमभावलक्षणं दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं लक्ष्याभावे किंचित्प्रमाणमपि नास्तीत्याह—**किंचेति**। ननु भूतले घटो नास्तीत्यबाधितबुद्धिबोध्योऽभावः कथमपह्नोतुं शक्यत इति? तत्राह—**यादृश इति**। अभ्युपेयते, भवद्भिरिति शेषः। स्यादेतत्–सघटेपि भूतले किमिति घटो नास्तीति बुद्धिर्नोदेति, भूतलस्वरूपस्य तदापि

होंगे, तो प्रतियोगी में अवृत्तिता कैसे होगी, और बहुत्व होने पर भी किसी अन्योन्याभाव की अपेक्षा से धर्मी को भी प्रतियोगित्व होने से तदवृत्तित्व का असम्भव तदवस्थ (एकत्व पक्ष तुल्य) रहता है। स्वप्रतियोगी में अवृत्तित्वे सति, ऐसा विशेषण गाया जाय तो स्वशब्द का अन्योन्याभाव अर्थ होगा, उस अन्योन्याभाव की अभी सिद्धि नहीं है, अतः आत्माश्रयता होगी। इसीसे प्रतियोगी वृत्ति अभाव अत्यन्ताभाव होता है, यह अत्यन्ताभाव का लक्षण भी निरस्त हो गया, क्योंकि प्रतियोगी का निरूपण नहीं हो सकता है। और उक्त रीति से सब के प्रतियोगी होने से अन्योन्याभाव को भी प्रतियोगी वृत्ति होने के कारण, उसकी व्यावृत्ति के लिये कही गई प्रतियोगि निष्ठता विशेषण में व्यर्थता सिद्ध होती है, और प्रागभाव प्रध्वंस में भी जिस किसी के प्रतियोगी वृत्तित्व के होने से उसमें भी अत्यन्ताभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

और वस्तुतः अभाव ही दुर्निरूप है, तो उसमें उसके प्रमाण लक्षण के भेद से उसके भेद के विचार की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। जैसे भूतलादि धर्मी में घटाऽभाव माना जाता है, वैसे ही भूतलादि घटाभाव के व्यवहार का निदान (हेतु =

तादृशस्यैवाभावव्यवहारनिदानत्वमस्तु किमतिरिक्ताभावकल्पनया ? अस्ति तावद्भावाभावोदासीनमाश्रयस्वरूपम्, अन्यथा कीदृशेऽभावः संबध्येत ? न तावद्भाववति, भावाभावयोरविरोधापत्तेः । नाप्यभाववति, आत्माश्रयत्वादनवस्थाप्रसङ्गाच्च । ननु किमिदं प्रतिकूलतर्कमात्रम् ? उत विपर्ययपर्यवसायितयोदासीनाश्रयस्वरूपोपस्थापकम् ? नाद्यः, अनुग्राह्यप्रमाणविरहिणस्तर्कस्य साधनबाधनानङ्गत्वात् । न द्वितीयः, संबध्यते चाभाव इति विपर्ययपर्यवसानस्याभावमनिच्छतोऽसिद्धेः । सघटं भूतलमिति भावव्यवहा-

---

भावात् । अथ केवलभूतले ? किमिदं कैवल्यम् ? घटराहित्यमिति चेत्सोऽयं 'निन्दामि च पिबामि च' इति न्यायं नूतनयति, राहित्यस्यैवाभावत्वादिति, तत्राह—**अस्ति तावदिति** । इदं यादृश इत्यस्य विवरणम्, स च न घटरहिते, नापि घटवति, किंतु यत्र घटाभावसंबन्धः स्वभावतोऽन्यतो वा भवद्भिरभिमन्यते तस्मिन्नित्यर्थः । एतादृशं रूपं विपर्ययबाधकैरङ्गीकारयति—**अन्यथेति** । अथ सोऽभावोऽन्यस्तेन नात्माश्रयतेति तत्राह—**अनवस्थेति** । अत्र लीलावतीपतिरेताभिरेव युक्तिभिः पूर्वपक्षमारचय्य राद्धान्तयांबभूव—नैवम्, विचारासहत्वात्, किमेतत्परिपन्थितर्कमात्रमित्यादिना । तदुद्भावयति दूषयितुम्—**नन्वित्यादिना** । विपर्ययपर्यवसायितां दूषयति—**न द्वितीय इति** । अत्र हि यदि भूतलौदासीन्यं न स्यादभावो न संबध्येतेति तर्कः, संबध्यते चाभावस्तस्मादस्त्यौदासीन्यमिति च विपर्ययः । नचाभावमनिच्छतां संबध्यते

विषय) हो सकता है, उस भूतलादि से अतिरिक्त अभाव कल्पना का क्या फल है । और सघटं भूतलं निर्घटं भूतलं, इस प्रकार के भावाऽभाव से उदासीन आश्रय-स्वरूप भूतल है, कि जिसमें अभाव बुद्धि होती है, अन्यथा = यदि ऐसा भूतल के स्वरूप को नहीं मानें, तो कैसे भूतल में अभाव सम्बद्ध होता है, इसका निर्णय नहीं हो सकेगा । क्योंकि घट के भाव वाले भूतल में घट का अभाव नहीं रह सकता है । यदि रहेगा तो भावाभाव के अविरोध की प्राप्ति होगी । घटाभाव वाले भूतल में भी घटाभाव नहीं रह सकता है, क्योंकि एक अभाव को मानने पर आत्माश्रयत्व की प्राप्ति होगी, अधिक मानने पर अन्योन्याश्रय चक्रक अनवस्था की प्राप्ति होगी । यहाँ शंका होती है कि, क्या यह प्रतिकूल तर्कमात्र किया गया है कि (यदि भूतल का उदासीन स्वरूप नहीं होगा तो अभाव का सम्बन्ध नहीं होगा) या विपर्यय में पर्यवसायिता = स्थिरता, रूप से उदासीन स्वरूप का स्थापक यह तर्क है कि (अभाव सम्बद्ध होता है, अतः उदासीन स्वरूप है) इसमें आद्य = तर्कमात्र तो युक्त नहीं है । क्योंकि तर्क से जिसमें सहायता मिले ऐसे अनुग्राह्य प्रमाण के विरह युक्त तर्क को किसी वस्तु के साधन-बाधन की अङ्गता = साधनता, नहीं होती है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि, अभाव सम्बद्ध होता है, इस विपर्ययावसान की अभाव

रस्यापि प्रतिक्षेपकतया स्वव्याघातकरत्वेन जात्युत्तरतापत्तेः। तथाहि—किं भाववति भावः? किं वा तदभाववति? इति विकल्पदूषणयोस्तत्रापि तुल्यत्वादिति चेत्, मैवम्, अस्याः प्रभाकरविभीषिकाया लोकप्रसिद्धभावाभावव्यवहारिणं मायावादिनं प्रत्यनुत्थानात्। तथाह्यवधीरितसत्त्वासत्त्वानां हेत्वादीनां लोकप्रसिद्धं स्वरूपमात्रमुपादाय सर्वोऽयं मायावादिनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः, कस्तत्र परवादिप्रसिद्धं विपर्ययपर्यवसानमाश्रित्य प्रत्यवति-

---

चायमिति वक्तुं शक्यम्, अभावस्यैवाप्रमितत्वेनाप्रसिद्धविशेषणतापातादिति भावः। प्रतिक्षेपकतामेव दर्शयन् जात्युत्तरतां तर्कस्य विवृणोति—**किं भाववतीति**। न तावद्भाववति भूतले भावो वर्तते, आत्माश्रयात्, अनवस्थानाच्च। नाप्यभाववति, विरोधात्। तस्माद्भावाभावोदासीनमेव भूतलं भावाश्रय इति वक्तव्यम्, तथाच तदेव भावव्यवहारालम्बनमस्तु, कृतं तदतिरिक्तभावकल्पनयेति सुवचत्वात् जात्युत्तरमिदमित्यर्थः। एवमनूदितं दूषयति सिद्धान्ती—**मैवमित्यादिना**। यस्य प्राभाकरस्य प्रमाणसिद्धमेव साधनं दूषणाङ्गं न प्रतीतिसिद्धमिति मतम्, तं प्रत्येषा विभीषिका स्यान्नास्मान्प्रतीत्यर्थः। अस्यैव प्रपञ्च उत्तरो ग्रन्थः। यत्तु भावप्रतिक्षेपकत्वाज्जात्यु-

---

को नहीं मानने वाले के मत में असिद्धि है। अर्थात् अभाव को नहीं मानने वाले के प्रति यह नहीं कहा जा सकता है कि अभाव सम्बद्ध होता है, अतः उदासीन भूल है। इत्यादि, क्योंकि अभाव के अप्रमित होने से अप्रसिद्ध विशेषणता प्राप्त होती है। और सघट भूतल है, इस व्यवहार का भी यह तर्क प्रतिक्षेपक (बाधक) होता है, अतः स्वव्याघातकरत्व से तर्क को जात्युत्तरत्व की प्राप्ति होती है, इस तर्क का जात्युत्तर दिया जा सकता है, कि भाव क्या भाव वाले में रहता है, या भाव के अभाव वाले में रहता है। यहाँ भी विकल्प और दूषण की तुल्यता होने से उक्त तर्क युक्त नहीं है। अर्थात् भाव वाला भूतल में भाव रहेगा, तो आत्माश्रयता होगी, अन्य-अन्य भाव को मानने पर अनवस्था होगी, अभाव वाले में भाव के रहने पर विरोध होगा। अतः भावाभाव से उदासी नहीं भूतल भाव का आश्रय होता है, यह कहना होगा। तो वह भूतल ही भावव्यवहार का विषय हो सकता है, उससे अतिरिक्त भावकल्पना की आवश्यक्ता नहीं है, यह जाति उत्तर है। यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि जो प्राभाकर प्रमाणसिद्ध साधन को ही दूषणाङ्ग मानता है, प्रतीतिसिद्ध को नहीं, उस प्राभाकर के प्रति जो यह विभीपिका, जात्युत्तर है, उस विभीपिका का लोकप्रसिद्ध भावाभाव का व्यवहार करने वाले मायावादी के प्रति उत्थान (सम्बन्ध) नहीं हो सकता है। क्योंकि अनादृत सत्त्वासत्त्व विचार वाले हेतु आदि के लोकप्रसिद्ध स्वरूप मात्र को ग्रहण करके मायावादी का यह सब प्रमाण प्रमेय व्यवहार होता है, तो वहाँ परवादी से प्रसिद्ध विपर्ययपर्यवसान का

ष्ठमानस्योपालम्भसंभवः ? एतेन भावव्यवहारप्रतिबन्दिग्रहः परास्तः, तत्रापि दुर्घटतायाः स्वीकृतत्वात् । तदेवमवधीरितभावाभावभूतलादेरुपलम्भादेवाभावव्यवहारसंभवे तदतिरिक्ताभावाभ्युपगमो निष्प्रमाणक एव । ननु कथं निष्प्रमाणकता ? चक्षुश्चाक्षुषभावातिरिक्तग्राहकमिन्द्रियत्वाद् घ्राणवत्, निर्घटं भूतलमिति विज्ञानमेतद्विज्ञानालम्बनभावमात्रातिरिक्तालम्बनमेतद्भावमात्रालम्बननिर्विकल्पकेतरज्ञानत्वात्सघटं भूतलमिति ज्ञान-

---

त्तरमिति, तन्न, व्याघातकत्वाभावात्प्रत्युतानुगुणमेवेत्याह—**एतेनेति** । एवं त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तलोकप्रसिद्धिमादाय विपर्ययपर्यवसानसंभवेन दृढतरैस्तर्कैस्तात्त्विकाभावप्रतिक्षेपं प्रपञ्चितमुपसंहरति—**तदेवमिति** । मानमनोहरकारीयमनुमानमभावसिद्धावुदाहरति—**ननु कथमित्यादिना** । अत्रातिरिक्तत्वमनधिकरणत्वम्, तथा सति चाक्षुषभावत्वानधिकरणत्वं चाक्षुषत्वानधिकरणत्वाद्वा ? भावत्वानधिकरणत्वाद्वा ? आद्ये ग्राहकत्वं व्याहतमिति भावत्वानधिकरणमभावस्तच्चाक्षुषत्वं चेत्यभावसिद्धिः । दृष्टान्ते चाक्षुषत्वानधिकरणं गन्धमादाय साध्यसिद्धिः । अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यै चाक्षुषग्रहणम् । अनुमानान्तरं चाह—**निर्घटमिति** । अत्राप्येतद्विज्ञानालम्बनभावत्वानधिकरणत्वमेतज्ज्ञानालम्बनत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, एतद्विज्ञानस्य तादृशालम्बनत्वव्याघातात् । तस्माद्भावमात्रत्वानधिकरणमेवैतद्विज्ञानालम्बनमभावः सिद्धः । दृष्टान्ते त्वेतद्विज्ञानालम्बनत्वानधिकरणत्वमादाय साध्यसिद्धिः । अत्र चाप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यर्थमेतज्ज्ञानपदम् । निर्घटं भूतलमिति ज्ञानस्यालम्बनभूतो यो भूतलात्मकोऽभावस्तन्निष्ठगुणसामान्यादिश्च तन्मात्रालम्बनं यन्निर्विकल्पकं तद्व्यतिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वादिति हेत्वर्थः । एतद्विज्ञानालम्बनीभूतभूतलादिनिर्विकल्पकव्यभिचारनिरासार्थं निर्विकल्पकेतरेत्युक्तम् । घटादिव्यवच्छेदाय ज्ञानपदम् । एतच्च साध्यं

आश्रयण करके प्रत्यवस्थित (प्रतिवादी) होने वाले का उपालम्भ क्या हो सकता है, कि अभाववत् भूतल ही भावव्यवहार का विषय होगा । इस लोकसिद्ध व्यवहार के स्वीकार से ही भावव्यवहार विषयक प्रतिबन्दी का ग्रह (जाति उत्तर) परास्त हो गया, क्योंकि उस भाव में भी दुर्घटता का स्वीकार किया जाता है । अतः उक्त रीति से भावाभाव निरपेक्ष भूतलादि के ज्ञान से ही अभाव व्यवहार के सम्भव होते, उससे भिन्न अभाव का अभ्युपगम (स्वीकार) निष्प्रामाणिक ही है । यहाँ यदि शंका हो कि अभाव निष्प्रामाणिक कैसे है । क्योंकि (चक्षुः, चाक्षुष (चक्षुःग्राह्य) भाव वस्तु से अतिरिक्त (अभाव) का ग्राहक है, इन्द्रिय होने से, घ्राण के सामान । निर्घट भूतल है, यह विज्ञान । इस विज्ञान का विषय भावमात्र से अतिरिक्त (अभाव) विषय वाला है । इसका भावमात्र विषय निर्विकल्पक से अन्य का ज्ञान होने से, सघट भूतल है, इस ज्ञान के समान) ये दो अनुमान रूप

वदिति प्रमाणे जाग्रतीति चेत्, मैवम्, भावातिरिक्तग्राहकं भावातिरिक्तालम्वनमिति च तात्त्विकपदार्थान्तरस्य प्रसाधनम् ? उत व्यावहारिकस्य ? आहोस्वित्साधारणस्य ? आद्ये दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। इतरयोश्च सिद्धसाधनता। तदेवं प्रमाणलक्षणानां दुर्निरूपत्वादविचारितरमणीय एवायं प्रमाणव्यवहार इति सिद्धम्।

करणस्वरूपानिरूपणाच्च---प्रमितिकरणं प्रमाणमित्यपि न, तथा हि--

विकल्प्य दूषयति --मैवमित्यादिना। तथा चक्षुश्चाक्षुपभावग्राहकत्वे सत्यतिरिक्तग्राहकत्वानधिकरणं बाह्येन्द्रियत्वात् घ्राणवत्, निर्घटं भूतलमिति ज्ञानमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनत्वानधिकरणमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनान्यत्वात्। एतद्भावमात्रविषयनिर्विकल्पकवदिति सप्रतिसाधनत्वमपि द्रष्टव्यम्। एवं प्रमाणखण्डनप्रसङ्गे दण्डकसूत्रोक्ता बहवः पदार्थाः खण्डिताः। तथाहि—भावाभावखण्डने प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन प्रमेयजातं खण्डितम्, संशयदृष्टान्तावयवनिर्णया अपि प्रागेव खण्डिताः, प्रमाणखण्डनेन प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगततत्त्वलक्षणसिद्धान्तोपि खण्डितः, उपरिष्टाच्च क्वचित्खण्डयिष्यन्ते। तत्र प्रमाणखण्डनप्रघट्टकस्याद्वैतागमाविरोधोपयोगं दर्शयति --तदेवमिति। अत एव न वास्तवाद्वैतपरागमस्य तद्विरोध इति सिद्धमिति शेषः।

मुक्तेषु मानैर्निजलक्ष्मसूच्चैर्मुक्तेषुमानैः खरतर्कसार्थैः।
मुक्तेषु मानैः प्रतिवादिषु स्वैर्मुक्तेषुमानैः श्रुतिरन्यवैरैः॥

प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्। तच्च प्रमाणखण्डनेन पूर्वं खण्डितमिदानीं करणखण्डनादपि तद्गर्भलक्षणं खण्डितमेवेति मन्वानः करणलक्षणं खण्डयति—करणेति। चः समुच्चये, न केवलं प्रमितेरनिरूपणादपितु करणानिरूपणाच्चेत्यर्थः। तत्र प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति भाष्यं व्याचक्षाणेनोद्योतकराचार्येणो-

---

प्रमाण वर्तमान हैं। यह शंका होती है, परन्तु युक्त नहीं है, क्योंकि (भावातिरिक्तग्राहक = भावातिरिक्त आलम्बन वाला) इन वाक्यों को तात्त्विक (सत्य) पदार्थान्तर का प्रसाधन रूप मानते हैं, या व्यावहारिक का, अथवा साधारण का प्रसाधन रूप मानते हैं। यहाँ आद्य पक्ष में दृष्टान्त को साध्यविकलता है। दृष्टान्त में तात्त्विक साध्य नहीं है, और अन्य दोनों पक्षों में सिद्धसाधनता है, व्यावहारिक साधारण अभाव बुद्धि का विषय माना ही जाता है। अतः उक्त रीति से प्रमाण लक्षणों की दुर्निरूपता के अविचार से ही सुन्दर भासने वाला प्रमाणों का व्यवहार है। यह सिद्ध हुआ।

और करण के स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकने से प्रमिति का करण प्रमाण कहा जाता है, वह भी प्रमाण का लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि, क्या,

किं (१) कारकान्तरेऽचरितार्थं कारकं करणम् ? उत (२) अयोगव्यवच्छेदेन फलसाधनम् ? (३) कर्तृव्यापारगोचरो वा ? (४) व्यापारवत्त्वे सति फलाव्यभिचारि वा ? (५) चरमव्यापारं वा ? (६) अनन्तरफलं वा ? (७) यदाभावात्कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतस्तद्वा ? नाद्यः, कुठारादौ कारकान्तरे चरितार्थस्य हस्तादेरकरणत्वप्रसङ्गात्। न च तदकरणमेव, करेण कुठारेण देवदत्तश्छिनत्तीति करकुठारयोः करणत्वप्रसिद्धेस्तुल्यत्वात्। अन्यथा कर्मकर्तृकरणसंप्रदानापादानाधिकरणेष्वनन्तर्भावाद्धस्तादेः सप्तमकारकत्वाङ्गीकारापत्तेः। कारकान्तर इत्यत्रान्तरशब्देन करणं वा ?

पलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा प्रमातृप्रमेययोरतिव्याप्तावाशङ्कितायां तद्भेदनाय तदर्थं निर्वदता यानि लक्षणान्युक्तानि, तान्युद्भावयति—**कारकान्तरेत्यादिना**। कर्तुं खलूद्यमननिपतनव्यापाराविष्टकुठाररूपकरणं निष्पादयतः कारकान्तरेऽस्ति चरितार्थत्वम्, एवं कर्मणोऽपि, करणव्यापारस्य कर्मविषयतया कर्माभावे करणाभावात्। अधिकरणमपि कर्त्रादिपूपक्षीणम्। नहि निरधिष्ठानं छिनत्ति, तद्द्वारा च करणेऽपि, तेन कर्तृकर्माधिकरणव्यवच्छेदार्थं कारकान्तरेऽचरितार्थमिति विशेषणम्, अत्र च संप्रदानापादानयोर्व्यवच्छेदाय सार्वत्रिकमिति विशेषणं द्रष्टव्यम्। ते ह्यसार्वत्रिके, दानपतनयोरेव संप्रदानापादानापेक्षणादिति। अथवा तयोरपि कारकान्तरे चरितार्थत्वम्। नहि प्रतिग्रहीत्रभावे दातुरुद्योगः, नापि वृक्षाद्यभावे तद्देशस्थपर्णादिसिद्धिरिति व्यापारव्यवच्छेदार्थं कारकग्रहणम्। **अयोगेति**। नहि जातु साधकतमे करणे सति फलानिष्पत्तिस्तेन च कर्त्रादिव्यावृत्तिः, सत्स्वपि तेषु फलानिष्पत्तिसंभवात्। व्यापारस्य कर्तृकर्मणोश्च निरासाय व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिविशेषणद्वयम्। कर्त्रादिव्यावृत्त्यर्थं चरमेति विशेषणम्। **यदाभावादिति**। कर्तृकर्मणोः क्रियानिर्वर्तकत्वाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगि वेत्यर्थः। आद्येऽव्याप्तिमाह—**कुठारादाविति**। नन्वकरणमेव करादिस्तेन तदगमनं न दोषायेति, तत्राह—**न च तदिति**। इतोऽपि हस्तादेः करणत्वं वक्तव्यमित्याह—**अन्यथेति**। एवं समुदाये दूषणमुक्त्वाऽवयवविवेचनेनापि दूषयति—**कारकान्तर इत्यत्रेति**। अत्रान्तरशब्दोऽ-

---

कारकान्तर में अचरितार्थ कारक करण कहा जाता है, या अयोगव्यवच्छेद = व्यावृत्ति, द्वारा फलसाधन को कहा जाता है, या कर्ता के व्यापार का विषय को, या व्यापारवत्त्वयुक्त फलाऽव्यभिचारी को, या अन्तिम व्यापार वाले को, या अनन्तर फल वाले को अथवा जिसके अभाव रहते कर्ता और कर्म क्रिया को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, वह करण कहा जाता है, इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके अनुसार कुठारादि कारकान्तर में चरितार्थ हस्तादि को अकरणत्व प्राप्त होता है, यदि कहा जाय कि हस्तादि अकरण ही हैं, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि (करेण कुठारेण देवदत्तश्छिनत्ति) कुठार द्वारा हाथ से देवदत्त

कर्तृकर्मणी वा विवक्ष्येते ? न तावत्करणम्, करणस्यैवाद्याप्यसिद्धेरात्माश्रयत्वात्। नेतरे, तयोरेवातिव्याप्तेः। न हि कर्ता कर्तरि चरितार्थः, नापि कर्मणि कर्म, तयोः करणे चरितार्थत्वाङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः, सामग्र्यामतिव्याप्तेः। तस्यां सत्यां नियमेन फलस्य भावात्। अपूर्वादिव्यवहितफलस्य यागादेरकरणत्वापत्तेश्च। न तृतीयः, कर्तुरात्मनः प्रयत्नाख्यव्या-

---

विशेषवचनः ? अन्यवचनो वा ? आद्ये वैयर्थ्यम्। नहि कारकमात्रे चरितार्थं किंचिदस्ति, यद्वयवच्छेद्यते। द्वितीये किं कस्मादन्यत् ? किं कर्त्रादेरन्यत्करणं विवक्ष्यते ? किंवा करणादतिरिक्तकर्तृकर्मणी ? इत्यर्थः। **करणस्यैवेति**। एवं तदाऽर्थः संपद्यते—करणकारकेऽचरितार्थं कारकं करणम्, तथा चात्माश्रयत्वमित्यर्थः। कर्तृकर्मणोरचरितार्थं कारकं करणमिति द्वितीयपक्षे दूषणमाह—**तयोरेवेति**। अथ तयोः कर्तृकर्मणो क्व चरितार्थतेति ? तत्राह—**तयोरिति**। नच कर्तरि अचरितार्थत्वमपि, कर्तृव्यापारविषयतया कर्मवदस्यापि तत्र चरितार्थत्वात्। नचाधिकव्यापारत्वादचरितार्थता, तदनिरूपणात्। अयोगव्यवच्छेदेनेत्यादिद्वितीयलक्षणं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। सामग्र्याः फलेनायोगव्यवच्छेदं दर्शयति—**तस्यामिति**। नच सापि करणमेव, निर्व्यापारत्वात्, करणादिसाकल्यरूपत्वाच्च। अव्याप्तिं चाह—**अपूर्वादीति**। सति भवत्येवेति ह्ययोगव्यवच्छेदः। न चायमपूर्वव्यवधानेन विलम्बितफलसाधनस्य यागस्याऽस्तीत्यर्थः। कर्तृव्यापारगोचर इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**न तृतीय इति**।

काटता है, इस प्रकार से कर और कुठार में करणत्व की प्रसिद्धि की तुल्यता है। अन्यथा—यदि हस्तादि में करणता नहीं हो तो, कर्म, कर्ता, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण, इनके अन्तर्भाव नहीं होने से हस्तादि में सप्तम कारकत्व को मानना होगा। और कारकान्तर, इसके अन्तर्गत, अन्तर शब्द से करण की या कर्त्ता और कर्म की विवक्षा करते हैं, करण की विवक्षा तो हो नहीं सकती है। क्योंकि करण ही की अभी सिद्धि नहीं हुई है, और करण के साधन में करण के आश्रयण से आत्माश्रयत्व की भी प्राप्ति होती है। और कर्त्ता तथा कर्म की विवक्षा करने पर उन दोनों में ही अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि कर्त्ता कर्ता में चरितार्थ नहीं होता है, कर्म कर्म में चरितार्थ नहीं होता है, किन्तु उन दोनों को करण में चरितार्थ माना जाता है। अयोगव्यवच्छेद द्वारा फलसाधनत्व रूप दूसरा लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि इसकी सामग्री में अतिव्याप्ति होती है। सामग्री के रहने पर नियम से फल का भाव (सत्त्व) होता है। और अपूर्व (अदृष्ट), आदि के व्यवधानपूर्वक फल वाले यज्ञादि में अकरणत्व की प्राप्ति होती है, कर्तृव्यापार गोचरत्व रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्ता के अपने प्रयत्न

पारकर्मणि शरीरे तद्व्यापाराकरणे लक्षणस्य सद्भावात्। साक्षादिति विशेषणे च आत्मनो मनश्चालनव्यापारे मनसः करणत्वप्रसङ्गः। न च तत्र मनः करणम्, तद्व्यापारे कर्मतयैवावस्थानात्। हस्तादिव्यापारव्यवधानेन कर्तृव्यापारगोचरे कुठारादावव्याप्तेश्च। न चतुर्थः, कर्तुरपि करणत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि करणादिव्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वात्। अव्यवहितफलादर्शनान्न तस्य फलाव्यभिचारितेति चेत्, न, हस्तादेर्यागादेश्च व्यवहित-

---

यः खल्वात्मनः शरीरचलनाय प्रयत्नः, तस्य तावच्चलनक्रिया क्रियाविशिष्टं वा शरीरं विषयः। न च तस्मिंश्चलने तयोः करणत्वम्; प्रथमे स्वस्यैव स्वं प्रति करणत्वापातात्। द्वितीयेऽपि भविष्यतः पूर्वकालीनक्रियायां करणत्वापातादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु न कर्तृव्यापारमात्रगोचरत्वं विवक्षितमपि त्वव्यवहितो यः कर्तृव्यापारस्तद्गोचरत्वम्। नच प्रयत्नस्तादृशस्तस्यात्ममनःसन्निकर्षव्यापारव्यवहिततया तथात्वाभावादिति, तत्राह—**साक्षादिति चेति**। यदि च साक्षाद्विषयत्वं तदा कुठारादावव्याप्तिरपि स्यात्। नहि कुठारस्य साक्षादात्मव्यापारविषयत्वमस्तीत्याह—**हस्तादीति**। नच हस्तस्यापि कर्मन्तर्भावः, हस्तेनेत्यप्रयोगापातादिति भावः। साक्षाद्व्यापार्यमनःप्रभृतिक्रियायामपि करणतापत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिचतुर्थं पक्षं दूषयति—**न चतुर्थ इति**। कर्तरि लक्षणं वर्तयति—**तस्यापीति**। ननु स्वानन्तरक्षणफलवत्त्वं फलाव्यभिचारित्वम्, नचैतत्कर्तुः सार्वत्रिकमस्तीति शङ्कते—**अव्यवहितेति**। तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—**न हस्तादेरिति**।

नामक व्यापार के कर्मस्वरूप शरीर में उस व्यापार के अकरण में लक्षण की प्राप्ति होती है। साक्षात् विशेषण दिया जाय कि कर्ता के व्यापार का जो साक्षात् विषय होता है, वह करण होता है, तब तो शरीर में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि आत्मा के प्रयत्न के साक्षात् विषय मन होता है, और मन के व्यापार का विषय शरीर होता है, तो भी आत्मा के मन के चालन = प्रेरणा रूप व्यापार में मन को करणत्व प्राप्त होगा, क्योंकि उस चालन में आत्मा के व्यापार का मन साक्षात् विषय होता है, परन्तु उस व्यापार में कर्मरूप मन रहता है, करण नहीं, अतः अतिव्याप्ति होती है। और हस्तादि के व्यापार के व्यवधानपूर्वक कर्ता के व्यापार के विषय कुठारादि में लक्षण की अव्याप्ति भी होती है। व्यापारवान् होता हुआ फलाऽव्यभिचारी होना यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि कर्ता को भी करणत्व प्राप्त होता है, अतः करणादि रूप व्यापार वाले उस कर्ता को भी फलाऽव्यभिचारित्व रहता है, यदि कहा जाय कि कर्ता के व्यापार के अव्यवहित फल के नहीं देखने से उस कर्ता को फलाऽव्यभिचारित्व नहीं है, तब तो व्यवहित फल वाले

फलस्याकरणत्वापातात् । एतेन पञ्चमषष्ठविकल्पावप्यपास्तौ, चतुर्थपक्षोक्तदोषानुपङ्गादेव । नापि सप्तमोऽदृष्टेश्वरेच्छादेरपि करणत्वप्रसङ्गात् । तद्भाव एव क्रियानिष्पत्तेः । तदेवं करणानिरुक्तेः प्रमाकरणं प्रमाणमित्यलक्षणम् ।

अथाधुनिकनीत्या कर्तृत्वानधिकरणत्वे सति प्रमासार्वत्रिकं कारकं प्रमाकरणम् । न च कर्तृत्वानिरुक्तिः, प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात् । नापि सार्वत्रिकत्वानिरुक्तिः, प्रमाकारकाप्रमाकारकावृत्तिप्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्यैव सार्वत्रिकत्वपदेनाभिलापात् ।

चरमव्यापारमनन्तरफलमिति पक्षयोरप्युक्तदूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । कर्तुरपि करणत्वापातात् विशेषणत्वे हस्ताद्यव्यापनादित्युक्तदोषसाम्यादित्यर्थः । यदभावादित्यादिसप्तमपक्षेतिव्याप्तिमाह—**अदृष्टेति** । कर्तृकर्मणोरतिव्याप्तिश्च, तयोरपि स्वाभावे क्रियाजनकत्वाभावात् । सोपयोगं करणखण्डनमुपसंहरति—**तदेवमिति** ।

ननु कथं करणानिरुक्तिः ? जरद्रीतेरनिर्वाहेपि नूतनरीतेरपरिप्लुतत्वादिति—**अथेति** । इदं चानीश्वरप्रमाणस्यैव लक्षणम् । कर्मकारकव्यावृत्त्यर्थं सार्वत्रिकग्रहणम् । नहि सर्वा प्रमा कर्मजन्या, अनुमित्यादिष्वभावात् । सार्वत्रिककर्तृव्यावृत्त्यर्थं कर्तृत्वानधिकरणेत्युक्तम्, तदेवावयवश उपपादयति दूषणवैशद्याय—**न च कर्तृत्वेत्यादिना** । मुपुसिप्रत्ययादावव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावानधिकरणत्वग्रहणम् । कारकस्य प्रमायां सार्वत्रिकतां निर्वक्ति—**प्रमाकारकेति** । प्रमाकारकेषु वर्तमानत्वे सत्यप्रमा-

---

हस्तादि और यज्ञादि को भी अकरणत्व प्राप्त होगा । इसीसे पञ्चम और षष्ठ पक्ष भी अपास्त हो गये, क्योंकि चतुर्थ पक्ष में वर्णित दोषों का उनमें भी सम्बन्ध होता है । जिसके अभाव से कर्ता, कर्म, क्रिया नहीं कर सके, यह सप्तम लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि अदृष्ट ईश्वरादि को भी इस लक्षण के अनुसार करणत्व प्राप्त होता है, जिससे ईश्वर अदृष्ट देश, कालादि के रहते ही क्रिया की सिद्धि होती है । अतः उक्त रीति से करण की अनिरुक्ति होने के कारण प्रमा का करण प्रमाण होता है । यह लक्षण नहीं सिद्ध हो सका ।

आधुनिक रीति से प्रमाण का लक्षण है कि 'कर्तृत्वाऽनधिकरणत्वयुक्त' प्रमा का सार्वत्रिक कारक = हेतु, प्रमाकरण होता है । यह अनीश्वर प्रमा का ही लक्षण है । और कर्मकारक की व्यावृत्ति के लिये सर्वत्र होने वाला सार्वत्रिक का ग्रहण है । लक्षणघटक कर्तृत्व की अनिरुक्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि प्रयत्न के अत्यन्ताभाव के अनधिकरणत्व कर्तृत्व है । सार्वत्रिकत्व की भी अनिरुक्ति नहीं है, क्योंकि प्रमाकारक वृत्ति प्रमेयत्वादि, अप्रमाकारक वृत्ति दोषादि, भिन्नत्वयुक्त प्रमाकारक वृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगित्व को ही सार्वत्रिकत्व पद से कहा

न च कारकत्वानिरुक्तिः, व्यापारवत्कारणं कारकमिति निर्वचनात्। न च व्यापारानिरुक्तिः, तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति हि तन्निरुक्तेरिति मतम्, मैवम्, सर्वस्योदीरितखण्डनालङ्घनाऽजङ्घालत्वात्। तथा हि—न तावत्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्, विकल्पासहत्वात्। प्रयत्नात्यन्ताभावः किमेकः ? अनेको वा ? एकत्वे तत्रैवातिव्याप्तिः, तस्य तदनधिकरणत्वेऽपि कर्तृत्वाभावात्। नापि भावत्वे सतीति विशेषणाददोषः, भावत्वस्य

कारकवृत्तित्वं यत्तदनधिकरणत्वे सति प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावं प्रत्यप्रतियोगित्वमित्यर्थः। प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्तीति तत्परिहाराय प्रमाकारकेत्यादि। तस्य सर्ववृत्तित्वेन प्रमाकारकेन्द्रियादिवृत्तित्वे सत्यप्रमाकारकदोषादिवृत्तित्वादतस्तद्राहित्यविशेषणेन तन्निवृत्तिः। तावन्मात्रोक्तौ च प्रमाकारकैकदेशवृत्तिषु तत्कादाचित्कवृत्तिषु चाप्रमाकारकमात्रवृत्तिषु चातिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वग्रहणम्। अथ किमिदं कारकत्वं यद्विशेषस्येदं सार्वत्रिकत्वं निरुच्यते इति ? तत्राह—**न चेति**। कारकव्यापारे कारणलक्षणवति कारकत्वपरिहाराय व्यापारवदित्युक्तम्। अथ व्यापार एव कः इति ? तत्राह—**न च व्यापारेति**। तेन कारकेण जन्यत्वे सति तत्कारकजन्यक्रियां प्रति जनकश्च यः स व्यापार इत्यर्थः। तज्जन्यजनकत्वं कारकाणामस्तीति तन्निवृत्त्यर्थं तज्जन्य इत्युक्तम्। क्रियायामेवातिव्याप्तिपरिहाराय तज्जन्यजनक इत्युक्तम्। एवमुपपाद्य दूषयति—**मैवमिति**। उदीरितखण्डनाया लङ्घनाऽजङ्घालत्वात्, अजवत्वादित्यर्थः। उदीरितखण्डनमेव यथायथं दर्शयति—**तथा हीत्यादिना**। **तत्रैवातिव्याप्तिः**। प्रयत्नात्यन्ताभावस्यैकत्वेन स्वाधिकरणत्वाभावादित्यर्थः। ननु

जाता है। अर्थात् प्रमाकारक, अप्रमाकारक में अवृत्तित्व युक्त प्रमाकारक वृत्ति अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्व सार्वत्रिकत्व है। कारकत्व की भी अनिरुक्ति नहीं है। व्यापार वाला कारण कारक कहा जाता है। यह कारकत्व का निर्वचन है। व्यापार की भी अनिरुक्ति नहीं है, क्योंकि कारकजन्य हो और कारकजन्य का जनक हो वह व्यापार कहा जाता है, यही व्यापार की निरुक्ति मानी गई है। यह नवीन लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि इन सब को कथित खण्डना के लङ्घना में अजङ्घालत्व = अजवत्व = असमर्थत्व है। क्योंकि प्रयत्नाऽत्यन्ताऽभावानधिकरणत्व रूप कर्तृत्व नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वह विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि प्रयत्न का अत्यन्ताभाव एक है, या अनेक है, एकत्व होने पर उसीमें अतिव्याप्ति है। क्योंकि उस प्रयत्नाभाव को प्रयत्नात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व है, अपने में आप नहीं रह सकता है, तो भी कर्तृत्व नहीं है। अतः लक्षण की अतिव्याप्ति है। भावत्वे सति इस विशेषण से दोष नहीं रहेगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव

प्रागेव निरस्तत्वात्। अत्यन्ताभावानामनेकत्वेऽपि सर्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं लक्षणम्? उत यत्किंचित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्? न प्रथमः, लक्षणस्यासंभवित्वात्। स्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वेऽपि चेतनान्तरप्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणत्वात्। न चरमः, प्राचीनदोषानुषङ्गात्। किंचैकदेशवृत्तीनां संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानामव्याप्यवृत्तित्वं नाम स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमित्युपगच्छतां कथमात्मनः प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं संभवेत्? प्रयत्नात्यन्ताभावस्यापि तत्रैव वृत्तेः। न च स्वतन्त्रः कर्तेत्यपि युक्तम्, स्वातन्त्र्यानिरुक्तेः। तथाहि—किं

बहव एवात्यन्ताभावास्ततश्च तस्याप्यत्यन्ताभावान्तरवत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—**अत्यन्ताभावानामिति**। असंभवित्वमेव दर्शयति—**स्वप्रयत्नेति**। न ह्येकस्यैव सर्वपुरुषप्रयत्नाः संभवन्ति, सर्वसर्वशक्तित्वप्रसङ्गादित्यर्थः। **प्राचीनेति**। यत्किंचित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेकैकप्रयत्नात्यन्ताभावेष्वेवास्ति; स्वस्वाधिकरणत्वाभावादतोऽतिव्याप्तिस्तदवस्थेत्यर्थः। किंच त्वद्दर्शनपराहतं चेदं कर्तृलक्षणमित्याह—**किंचेति**। यदिदं संयोगादीनामव्याप्यवृत्तित्वं भवद्भिराद्रियते, तन्नांशवृत्तित्वम्, निरंशत्वादात्मादीनाम्, सांशेप्यप्रत्यक्षतापत्तेः। तस्मात्तत्रैव वृत्तिस्तत्रैवावृत्तिरिति, स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमेवाव्याप्यवृत्तित्वमिति मन्तव्यम्। तथा चात्मैव प्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणमिति तदनधिकरणत्वलक्षणकर्तृत्वमसंभव्येवेति खण्डनकार्थः। प्रसङ्गात्कर्तृत्वलक्षणान्तरमपि दूषयति—**न चेति**। **तत्प्रयोक्तृत्वं** कारकप्रयोक्तृत्वमित्यर्थः। कुठारादिकारकप्रयोक्तरि हस्तादावतिव्याप्तिवारणाय

भाव नहीं है, यह भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि भावत्व का प्रथम ही निराकरण किया गया है। प्रयत्नात्यन्ताभाव के अनेक होने पर भी सर्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व लक्षण है, या यत्किञ्चित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व लक्षण है। लक्षण के असम्भवितत्व होने से प्रथम पक्ष युक्त नहीं है। क्योंकि अपने प्रयत्न के अत्यन्ताभाव के अनधिकरण होते भी अन्य चेतन के प्रयत्न के अत्यन्ताभाव का अधिकरणत्व ही रहता है। पूर्व दोष की प्राप्ति से चरम पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि एक-एक प्रयत्नात्यन्ताभाव भी प्रयत्नात्यन्ताऽभाव का अनधिकरणत्व रहता है, अतः उनमें अतिव्याप्ति होती है। और दूसरी बात है कि अपने आश्रय के एकदेश में रहने वाले, संयोग, विभाग, शब्द, और आत्मा के विशेष गुणों के अव्याप्यवृत्तित्व नामक स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्व को मानने वाले के मत में आत्मा को प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व कैसे होगा, क्योंकि प्रयत्न रहते भी प्रयत्नात्यन्ताभाव की भी उसी आत्मा में वृत्तिता रहती है। (स्वतन्त्रः कर्ता) स्वतन्त्र कर्ता कहा जाता है। यह लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वतन्त्रता की निरुक्ति नहीं हो

कारकान्तरनिरपेक्षतया फलजनकत्वं स्वातन्त्र्यम् ? किं वा कारकाप्रयोज्यत्वे सति तत्प्रयोक्तृत्वम् ? नाद्यः, असंभवात्, न हि करणादिनिरपेक्षस्य कर्तुः फलसाधकता दृष्टचरी । न द्वितीयः, सेश्वरवादे सर्वचेतनानामीश्वरप्रयोज्यत्वात् । अनीश्वरवादेऽपि राजादिप्रेरितभृत्यादेरकर्तृत्वापत्तेः । न च तत्र शरीरादेरेव प्रेर्यत्वम्, नात्मन इति वाच्यम्, चेतनविशिष्टस्य शरीरस्य प्रेर्यतया चेतनस्यापि प्रेर्यत्वात् । प्रेरकत्वं च तदनुकूलप्रयत्नाधारत्वम्,

---

कारकाप्रयोज्यत्वविशेषणम् । असंभवमेव विवृणोति—**न हि करणादीति** । द्वितीयेऽपि तार्किकमतेऽस्मदादिकर्तृष्वव्याप्तिरित्याह—**सेश्वरेति** । तेष्वव्याप्तिरिति शेषः । अथानीश्वरवादिनः प्रति किं दूषणमिति ? तत्राह—**अनीश्वरेति** । तत्रापि भृत्यादिषु कर्तृष्वव्याप्तिरित्यर्थः । ननु तत्र कर्तुरात्मनो न प्रेर्यत्वमुभयत्र, किं तर्हि शरीरस्यैवातो नाव्याप्तिरिति, तत्राह—**न च तत्रेति** । न तावदीश्वरादिः शरीरमात्रं प्रेरयति, तस्यासमर्थत्वात्तत्र । ततश्चेतनविशिष्टं शरीरं प्रेरयतीति वक्तव्यम्, तथा च विशेषणीभूतचेतनस्यापि प्रेर्यत्वमस्त्येवेत्यर्थः । जीवस्य निष्क्रियत्वेनेश्वरस्य तत्प्रेरकत्वं कथं स्यादिति ? तत्राह—**प्रेरकत्वं चेति** । भृत्यशरीरप्रेरणानुकूलभृत्यप्रयत्नजननानुकूलप्रयत्नवत्त्वं राज्ञो भृत्यप्रेरकत्वं यथा लोके, तथा जीवप्रयत्नजननानुकूलं चेदं प्रयत्नवत्त्वमीश्वरेऽप्यस्तीति जीवप्रेरकत्वमीश्वरस्य संभवतीति भावः । अस्ति च साक्षादेव प्रेरकत्वमित्याह—**तदनुकूलेति** । ईश्वरनरेश्वरादेरपि तत्तज्जीवानुगुणप्रयत्नाधारत्वादस्ति तद्रूपं प्रेरकत्वमित्यर्थः । एतेन निष्क्रियस्य जीवस्य कथमीश्वरप्रेर्यत्वमिति प्रत्युक्तम् । ननु तर्हीश्वरव्यतिरिक्ताकारकाप्रयोज्यत्वं स्वातन्त्र्यं

सकती है । विकल्प है कि, क्या कारकान्तर की अपेक्षा के विना फलजनकत्व स्वतन्त्रता है, या कारकों से अप्रयोज्य = अप्रवर्तित होता हुआ कारकों का प्रयोक्ता होना ही स्वतन्त्रता है । असम्भव होने से प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि करणादि निरपेक्ष कर्ता की फलसाधकता दृष्टिविषय नहीं हुई है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सेश्वरवाद में सब चेतन (जीव) में ईश्वर प्रयोज्यत्व रहता है, और अप्रयोज्य ही यदि कर्ता हो, तो अनीश्वरवाद में राजा आदि से प्रेरित भृत्यादि को अकर्तृत्वापत्ति होगी । यदि कहा जाय कि ईश्वर से या राजा आदि से कर्ता चेतन की प्रेरणा नहीं होती है, अतः आत्मा को प्रेर्यत्व = प्रेरणा विषयत्व, नहीं होता है, किन्तु शरीरादि को ही प्रेर्यत्व होता है । तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि केवल शरीरादि कर्मादि के लिये असमर्थ हैं । अतः उनकी प्रेरणा नहीं हो सकती है, चेतनयुक्त शरीर की प्रेर्यता से चेतन के भी प्रर्यत्व होता है । चेतन युक्त शरीर की प्रेरणा से विशेषण चेतन का प्रेरणा भी सिद्ध होती है । और प्रेरकत्व, उसके अनुकूल यत्न के आधारत्व को कहते हैं, वह जीवविषयक प्रेरकत्व ईश्वर में रहता

तच्चेश्वरे जीवविषयमस्त्येव । न चेश्वरव्यतिरिक्तकारकाप्रयोज्यत्वम्, अनीश्वरवादे विशेषणवैयर्थ्यात्, भृत्यादेस्तु पूर्वोक्तन्यायेनाकर्तृत्वप्रसङ्गाच्च । प्रमात्वानिरुक्तेरेव तद्विशेषितसार्वत्रिकत्वानिरुक्तिः । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इत्यपि न, तच्छब्देन सर्वस्य कारणस्याभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात् । न ह्येको व्यापारः सर्वकारणजन्यः, सर्वकारणजन्यजनको वा । कारणविशेषाभिधाने तु लक्षणस्याननुगमः । तदेवं प्रत्यक्षादिप्रमाणानां दुर्निरूपत्वाज्जगत्कारणब्रह्मात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपराणां वेदान्तवचसां न तद्विरोधगन्धोपीति सिद्धम् ।

विवक्षितम्, तथा च नाव्याप्तिरिति, तत्राह—**न चेश्वरेति** । ईश्वरप्रयोज्यत्वसंग्रहार्थं हीदं विशेषणम्, न च तदनीश्वरवादिनां मीमांसकानामस्ति यदर्थं विशेषणमित्याह—**अनीश्वरेति** । भवतु तं प्रति दूषणम्, मां प्रति किं दूषणमिति ? तत्राह—**भृत्यादेस्त्विति** । यच्च प्रमासार्वत्रिकत्वनिर्वचनं कृतम् तदपि दूषयति—**प्रमात्वानिरुक्तेरिति** । व्यापारलक्षणमपि दूषयति—**तज्जन्य इति** । अत्र किं तच्छब्देन कारककारणमात्रमभिधीयते ? तद्विशेषो वा ? नाद्यः, असंभवादित्याह—**तच्छब्देति** । असंभवं विवृणोति—**न ह्येक इति** । द्वितीये प्राह—**कारणविशेषेति** । तच्छब्देन कारणविशेषाभिधाने कारणान्तरव्यापाराणां तज्जन्यत्वाभावात्तज्जन्यजनकत्वाभावाच्चाव्याप्तिः स्यादिति भावः । एवं सामान्यतो विशेषतश्च प्रमाणानां दुर्निरूपताप्रतिपादनस्याविरोधोपयोगमाह—**तदेवमिति** । अत्र चेश्वरो द्रव्योपादानवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमानश्रावणविशेषगुणवत्त्वात्तन्त्वादिवदिति तार्किकं प्रति तथा विप्रतिपन्नं कार्यद्रव्यमात्मोपादानकम् उपादानवत्त्वादात्मघटसङ्गवत् । नच विमतमात्मानुपादानकं द्रव्यत्वादात्मवदिति सत्प्रतिपक्षता, अनुपादानकत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् ।

ही है । अतः शरीररहित का भी ईश्वर से प्रेरक होता है । यदि कहें कि ईश्वर से अतिरिक्त कारक से अप्रयोज्यत्व विवक्षित है, तब अनीश्वरवाद में विशेषण की व्यर्थता प्राप्त होगी । और पूर्वोक्त रीति से भृत्यादि के अकर्तृत्व का प्रसङ्ग होगा । और प्रमात्व की अनिरुक्ति से ही प्रमात्व विशेषित सार्वत्रिकत्व की अनिरुक्ति सिद्ध होती है । तज्जन्य तज्जन्यजनक व्यापार होता है, यह लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि तत् शब्द से समस्त कारक के कथन करने पर लक्षण को असम्भवित्व होता है । क्योंकि एक व्यापार सब कारक से जन्य नहीं होता है, या सब कारक से जन्य का जनक भी नहीं होता है । तत् शब्द से कारण विशेष के कथन करने पर तो लक्षण का अननुगम होगा । अतः इस उक्त रीति से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के दुर्निरूपत्व से जगत् का कारण ब्रह्मात्मा के तत्त्व स्वरूप के ज्ञान परक वेदान्त वाक्यों को उन प्रमाणों से विरोध का लेश भी नहीं रहा यह सिद्ध हुआ ।

ननु तथापि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, परमाणूनामेव जगत्समवायिकारणत्वात्। ननु परमाणव एव न सन्ति, प्रमाणविधुरत्वात्। न तावदणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम् परिमाणतारतम्यत्वात् महत्परिमाणतारतम्यवदित्यनुमानं मानम्, अणुपरिमाणशब्देनाणुनिष्ठपरिमाणविवक्षायां त्वदभिमताणूनामेवासिद्धौ तत्परिमाणस्य तत्तारतम्यस्य वाऽप्रसिद्धत्वादा-

---

नच समवायिगतविशेषगुणस्य कार्ये समानजातीयारम्भनियमोऽपि, चित्रपटारम्भकनीलपीततन्तुषु तदभावादित्यादितर्कात्तदनुगृहीतागमाच्च ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमवगन्तव्यम्।

जगत्कारणं ब्रह्मात्मतत्त्वमित्युक्तमसहमानाः परमाणुकारणवादिनो वैशेषिकनैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तथापीति**। तर्हि किं परमाणूनामेव जगत्कारणत्वम्? तथा च नतमीश्वरस्य निमित्तकारणत्वेनेत्यपराक्रान्तस्तत्राह—**समवायिकारणत्वाद्विति**। उपादानत्वमेव हि भवता ब्रह्मणः सिषाधयिषितम्, इतरस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्। न च तच्छक्यसाधनम्, परमाणूनामेव तत्त्वादित्यर्थः। ननु लोकसिद्धं वा परमाणुकारणत्वमादाय ब्रह्मकारणत्वं निराक्रियते? वादिसिद्धं वा? नाद्यः, तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, तत्र कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभावितत्वात्। वादिनामपि प्रामाणिकतया संभावितं हि भ्रान्तिर्भवति, इतरथातिप्रसङ्गादित्याक्षिपति—**नन्विति**। **न सन्तीति**। पृथ्वीत्वादेरनित्यवृत्तित्वमूर्तनित्यवृत्तित्वादेरसंभवित्वात्। (**प्रामाण्याभावादिति**)। तन्नित्यवृत्तित्वज्ञानस्य भ्रान्तत्वादित्यर्थः। किमाणुगतपरिमाणतारतम्यमत्र पक्षः? किं वा महत्त्वस्य यदिदमाकाशाद्यपेक्षयापकर्षतारतम्यं तद्वा? नाद्य इत्याह—**अण्विति**। **त्वदभिमताणूनामिति**। परमाणूनां द्व्यणुकानां चेत्यर्थः। न केवलं परं प्रति, त्वां प्रत्यप्याश्रयासिद्धिः।

जगत्कारण ब्रह्मात्मतत्त्व के कथन से अभिन्न निमित्तोपादानता सूचित हुई है, उसको नहीं मानने वाले परमाणूपादानवादी शंका करते हैं कि तथापि = प्रत्यक्षादि प्रमाणों के दुर्निरूप होने पर भी जड़ जगत के उपादानकारणत्व ब्रह्म को नहीं हो सकता है, क्योंकि परमाणुओं को ही जगत् के समवायिकारणत्व है। यदि शंका हो कि प्रमाणु के अभाव से परमाणु ही नहीं हैं, क्योंकि अणु परिमाण का तारतम्य = न्यूनाधिक भाव, कहीं विश्रान्त (समाप्त) होता है, (परिमाण तारतम्य होने से, महत् परिमाण तारतम्य के समान) अर्थात् महत्त्व की वृद्धि = आधिक्य, जैसे आकाशादि में समाप्त होती है, वैसे न्यूनता का आधिक्य जहाँ समाप्त होता है वह परमाणु है, यह अनुमान प्रमाण है, यह भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि अणुपरिमाण शब्द से अणुवृत्ति परिमाण की विवक्षा होने पर, आपके अभिमत अणु की ही असिद्धि रहते उसके परिमाण के या उसके तारतम्य के असिद्ध होने से अनुमान में

श्रयासिद्धेः, तेषु परिमाणतारतम्यानङ्गीकाराच्च । महत्त्वापकर्षतारतम्यस्य च क्वचिद्विश्रान्तिसाधने त्रसरेणुष्वेव तद्विश्रान्तिसिद्धेः सिद्धसाधनत्वात् ।

"जालान्तरगते भानौ योऽणीयो दृश्यते रजः ।
परं तत्परमाणूनां परिमाणं प्रचक्षते ॥"

इति ब्रह्माण्डपुराणे दर्शनादिति चेत्, मैवम्, त्रसरेणुः सावयवश्चाक्षुपद्रव्यत्वान्महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा घटवदिति सावयवत्वानुमाने महत्त्वा-

---

न ह्यणुषु तारतम्यं परिमाणस्यास्ति, नापि द्व्यणुकपरमाणुपरिमाणयोः । नित्यत्वमात्रं हि पारिमाण्डल्यस्य परमाणुपरिमाणस्य द्व्यणुकपरिमाणाद्विशेष इत्यभिप्रेत्याह—**तेष्विति** । द्वितीयं शङ्कते —**महत्त्वेति** ।

ननु कथं त्रसरेणुभिरर्थान्तरता यतस्ततोऽप्यपकृष्टमहत्त्वस्य क्वचित्संभावनायां विरोधाभावादिति चेत्, न, पुराणवचनविरोधादित्याह—**जालेति** । जालं वातायनम् । भानुः किरणः । तत्र हि परमाणूनां परं परिमाणं प्रचक्षत इति दर्शनान्न ततोऽपकृष्टमेतदस्तीति भावः । अत्र तार्किकः सिद्धसाधनतां परिहरन् महत्त्वापकर्षतारतम्यमेव पूर्वानुमानपक्षतया परिगृह्णाति—**मैवमिति** । रूपादावनैकान्त्यपरिहाराय द्रव्यग्रहणम् । आत्मादावनैकान्तिकतानिवृत्त्यै चाक्षुपग्रहणम् । परमाणवो विभुद्रव्याणि च द्वितीये हेतुगतविशेषणाभ्यां व्यवच्छिद्यन्ते । एवं त्रसरेणुसावयवत्वानुमाने तदवयवानां ततोऽप्यणुतराणां संभवान्न त्रसरेणुषु तद्विश्रान्तिः । यद्यपीदं द्व्यणुके चरितार्थम्, तथापि महदारम्भकत्वेन तन्तुवत्तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तदवयवभूतपरमाणुसिद्धिरिति भावः । इदानीं साक्षात्परमाणुसाधकं सर्वदेवीयमनुमान-

---

आश्रयासिद्धि है, अतः अनुमान प्रमाण नहीं है । और द्व्यणुक से परमाणु में नित्यत्व मात्र विशेष माना जाता है, परिमाण का तारतम्य नहीं, क्योंकि उन परमाणुओं में परिमाण तारतम्य का अङ्गीकार नहीं किया गया है, परमाणु और द्व्यणुक में अणुत्व तुल्य माना गया है । और यदि उस अनुमान से महत्त्वापकर्ष = न्यूनता के तारतम्य, की विश्रान्ति (समाप्ति) को कहीं सिद्ध करना चाहें तो त्रसरेणु में ही महत्त्वापकर्ष के तारतम्य की विश्रान्ति होने से सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है । क्योंकि—

जालान्तर्गत = वातायनगत, भानु = सूर्य, किरणों में जो परम सूक्ष्म रज दीखता है, वही परमाणु का पर = अन्तिम, परिमाण कहा जाता है ।

यह ब्रह्माण्डपुराण में देखा जाता है । यह शंका युक्त नहीं है । क्योंकि (त्रसरेणु, सावयव है, चाक्षुष द्रव्य होने से, या महत्त्वयुक्त क्रिया वाला होने से, घट के समान) इस अनुमान से सावयवत्व के अनुमान होने पर महत्त्वापकर्ष की

पकर्षस्य तत्र विश्रान्त्यनुपपत्तेः। पृथिवीत्वं नित्यवृत्ति घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात्सत्तावत्। अयं घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः प्रमेयत्वात् पटवदिति प्रयोगसंभवाच्च। न च निरवयवयोः संयोगाभावादसमवायिकारणभावे कथं कार्यद्रव्यारम्भकत्वमिति वाच्यम्,

---

माह—**पृथिवीत्वमिति**। जातित्वे सतीत्युक्ते संयोगत्वकर्मत्वादावनैकान्तस्तन्निवृत्त्यर्थं घटवृत्तीत्युक्तम्। तथाऽपि घटत्वेऽनैकान्तिकस्तदर्थं पटग्रहणम्। पटत्वेऽनैकान्तिकतानिवृत्त्यर्थं घटग्रहणम्। महाविद्यानुमानमप्याह—**अयं घट इति**। एतद्घटातिरिक्तत्वे सति यदनित्यं मूर्तं तत्त्वानधिकरणं यन्मूर्तं ततोऽन्यः। मूर्तान्य इत्युक्ते पटान्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं मूर्तातिरिक्तमूर्तान्य इत्युक्तम्। तथा च व्याहतिर्मूर्तत्वानधिकरणत्वमूर्तत्वयोर्व्याघातात्। ततश्च ततोऽन्यत्वसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणता। अतिरिक्तपदेनानधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात्। इतरथार्थान्तरताया दुष्परिहरत्वात्तदर्थमनित्यमूर्तातिरिक्तेत्युक्तम्। तथाप्यप्रसिद्धविशेषणता, परमाणुसिद्धिव्यतिरेकेणानित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तस्यासिद्धेः। तत्परिहारायैतदतिरिक्तपदम्। अनित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तस्याप्रसिद्धत्वेऽप्येतदतिरिक्तत्वे सत्यनित्यमूर्तत्वानधिकरणस्यैतस्य घटस्य प्रसिद्धत्वात्तदन्यत्वस्य च पटादौ प्रसिद्धेः। तेन नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये, पक्षे त्वेतदतिरिक्तानित्यमूर्तत्वानधिकरणत्वमेतदतिरिक्तत्वानधिकरणत्वाद्वा? अनित्यमूर्तत्वानधिकरणत्वाद्वा? आद्ये तादृशमूर्तादन्यत्वमस्य व्याहतम्, तादृशमूर्तस्य तत्त्वेन स्वस्यैव स्वस्मादन्यत्वाभावात्। द्वितीयेऽप्यनित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तत्वं मूर्तत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, व्याघातादेव। ततोऽनित्यत्वानधिकरणं मूर्तं परमाणुमादाय तदन्यत्वमस्य सिद्ध्यतीति परमाणुसिद्धिः। नित्यमूर्तः परमाणुरिति तल्लक्षणादित्यर्थः। स्यादेतन्निरवयवास्तावत्परमाणवोऽभ्युपगम्यन्ते। तथा ह्यन्त्यावयविनमारभ्यानुभूयमानोऽयमवयवावयविविभागो यतः परावर्तते स हि परमाणुरिति। अन्यथा सुमेरुसर्षपयोरनन्तावयवतया समानपरिमाणत्वप्रसङ्गात्? नच निरवयवयोः संयोगो-

---

(सावयवत्व की) विश्रान्ति त्रसरेणु में नहीं सिद्ध हो सकती है। एवं (पृथिवीत्व, नित्यवृत्ति है, घटवृत्ति जाति होते पटवृत्ति जाति होने से, सत्तावत्) इससे परमाणु को मानने ही पर पृथिवित्व को नित्यवृत्तित्व होता है। और (यह घट, इससे अतिरिक्त अनित्य मूर्तपट से अन्य मूर्तस्वरूप मूर्त से अन्य है, प्रमेय होने से, पटवत्) यहाँ दृष्टान्त में तो घट से अन्यता से साध्य की सिद्धि होती है। परन्तु पक्ष में साध्य की सिद्धि के लिये, एतत् घट अतिरिक्त अनित्यमूर्त पटादि से अतिरिक्त नित्यमूर्त (परमाणु) मानना होगा कि इससे परमाणु की सिद्धि होती है। यदि कहें कि निरवयवों के संयोग के अभाव से असमवायिकारण संयोग के अभाव रहते परमाणुओं को द्रव्यारम्भकत्व कैसे होगा, तो यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि

परमाण्वसिद्धौ तत्पक्षीकारेणासंयोगित्वस्य साधयितुमशक्यत्वात्, सिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणवाधात्, द्रव्यत्वेन घटादिवत्संयोगित्वानुमानाच्च। न च सावयवत्वमुपाधिः, अर्थतः पक्षेतरत्वात्। कार्यद्रव्यत्वं वा समवेतत्वे सति द्रव्यत्वं वा सावयवत्वम्। तथा च द्रव्यत्वेनैव साध्यव्याप्तौ सिद्धायां कार्य-

---

ऽस्ति ? अव्याप्यवृत्तित्वात्तस्य। निरवयवे च यदि वर्तेत, किं तन्न व्याप्नुयात्। यदि च न व्याप्नुयात्तत्र वर्तेत ? विमतसंयोगि निरवयवत्वात्, रूपादिवदिति प्रयोगाच्च। तस्मादङ्गीकृतेष्वपि परमाणुषु तेषां परस्परसंयोगाभावात्तदसमवायिकारणकद्व्यणुकादिप्रक्रमेण जगत्समवायिकारणत्वाभावान्न तद्ग्राहिप्रमाणविरोधो वेदान्तानाम्। तथा चैकैकैव परमाणुभिरसंयुक्तैर्द्व्यणुकाद्यारम्भः, तथा सति तदुत्पन्नकार्यस्य विनाशहेत्वभावान्नित्यता स्यात्, असमवायिकारणनाशात्समवायिनाशाद्वा खलु द्रव्यनाशः। तत्र संयोगलक्षणासमवाय्यनङ्गीकारेऽणूनां च नित्यत्वात् द्व्यणुकादेर्नाशो न स्यात्। नित्यत्वे चान्त्यावयविपर्यन्ते नित्यतापत्त्या घटविनाशो नोपलभ्येतेति। तत्राह—**न चेति**। निरवयवपरमाण्वनङ्गीकारेऽङ्गीकारे वा संयोगित्वमप्रत्याख्येयमित्याह—**परमाण्विति**। एवं वाधकं परिहृत्य तत्संयोगित्वे प्रमाणमाह—**द्रव्यत्वेनेति**। एतेन पूर्वानुमानस्याद्रव्यत्वमुपाधिरित्युक्तम्। ननु सावयवत्वप्रयुक्तं घटादौ संयोगित्वमिति व्याप्यत्वासिद्धो हेतुरिति, तत्राह—**न चेति**। सावयवत्वमेव विवेचयन्नर्थतः पक्षेतरतां दर्शयति—**कार्येति**। आकाशादिगुणादिभ्यो भयत्र विशेषणद्वयव्यावर्त्यम्। नदयमर्थः—यथाह्यङ्कुरादि सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटादिवदित्यत्र शरीरिजन्यत्वस्योपाधित्वोद्भावने जन्यत्वमात्रस्य घटादौ साध्यव्याप्तौ सिद्धायां शरीरिग्रहणं पक्षीकृताङ्कुरादौ साधनव्याप्तिपरिहारार्थमिति पक्षेतरत्वम्, एवं द्रव्यत्वमात्रस्यैव संयोगित्वव्याप्तौ सिद्धायां कार्यत्वं समवेतत्व वा विशेषणं पक्षीकृतपरमाणुषु साधनव्याप्तिपरिहारार्थमतः पक्षेतरत्वमिति। ननु पक्षमात्रव्यावर्तकः पक्षेतरो नाम, न पुनरित्थंभूत इति, तत्राह—**साध्यव्याप्ताविति**। ननु निरंशस्य

परमाणु की असिद्धि रहते (परमाणु को नहीं मानने पर) परमाणु को पक्ष करके असंयोगित्व को सिद्ध करना अशक्य है। और परमाणु की सिद्धि होने पर धर्मी ग्राहक प्रमाण से बाध होने से उसके असंयोगित्वादि का अनुमान नहीं कर सकते हैं क्योंकि द्रव्यत्व हेतु से घटादि के समान संयोगित्व की अनुमान से सिद्धि होतीहै, कि (परमाणु, संयोग वाले हैं, द्रव्य होने से, घट के समान) सावयवत्व उपाधि इस अनुमान में नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सावयवत्व अर्थात् = पक्षेतरत्व रूप है। कार्यद्रव्यत्व वा समवेतत्व युक्त द्रव्यत्व सावयवत्व का अर्थ होता है, वहाँ संयोगत्व साध्य का व्यापक द्रव्यत्व ही हो सकता है, परन्तु द्रव्यत्व द्रव्यत्वहेतु का अव्यापक

पदस्य समवेतपदस्य च जन्यत्वेन सकर्तृकत्वानुमाने शरीरिजन्यत्वोपाधौ शरीरिपदस्येव साधनाव्यापकत्वमात्रप्रयोजनस्योपादाने कथं न पक्षेतरता ? साध्यव्याप्तौ सत्यां साधनाव्याप्त्यर्थं यत्र विशेषणमुपादीयते, स पक्षेतर इति तल्लक्षणात्। न च द्वितीयसंयोगासंभवात्प्रथिमानुपपत्तिर्दोषः, द्वयणुके प्रथिमाभावसाधने दोषाभावात्, तस्याणुत्वात्। त्र्यणुके तु कारणबहुत्वादेव महत्त्वोपपत्तिः, द्वयणुकानां सावयवत्वेन संयोगोपपत्तिश्च।

संयोगे सत्येकपरमाणुना संयुक्ते परमाणौ परमाण्वन्तरसंयोगो न स्यात्, संयुक्तप्रदेशातिरिक्तप्रदेशान्तराभावात्, तावन्मात्र एव च द्वितीयसंयोगे तदारब्धकार्ये प्रथिमा न स्यादिति, तत्राह—**न चेति**। तत्र तदारब्धकार्यशब्देन द्वयणुकं वा ? त्र्यणुकं वा विवक्ष्यते ? किं वा चतुरणुकमिति ? प्रथमे त्विष्टापत्तिरित्याह—**द्वयणुक इति**। द्वितीये प्राह—**त्र्यणुक इति**। कारणबहुत्वाद्वा कारणमहत्त्वाद्वा प्रचयविशेषाद्वा महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र कारणमहत्त्वप्रचययोरभावेऽपि कारणबहुत्वात् त्र्यणुके महत्त्वमुत्पद्यते। नहि द्वयणुकाभ्यां त्र्यणुकोत्पत्तिर्येन तदारब्धे महत्त्वं न स्यादपि तु बहुभिर्द्वयणुकैरिति भावः। यच्च द्वितीयसंयोगाभाव उक्तः, सोपि द्वणुकेषु नास्तीत्याह—**द्वयणुकानामिति**।

नहीं होता है। अतः हेतु की अव्यापकता की सिद्धि के लिये कार्यपद और समवेत पद को ग्रहण करने पर पक्षेतरता कैसे नहीं होती। क्योंकि यह उपाधि वैसी ही है कि जैसे जन्यत्व (कार्यत्व) हेतु से सकर्तृकत्व के अनुमान में शरीराजन्यत्व उपाधि में शरीर पद का ग्रहण साधनाव्यापकत्व मात्र प्रयोजन वाला होता है, और उसमें पक्षेतरता मानी जाती है। वैसे इसमें पक्षेतरता है। साध्य में व्याप्ति के रहते साधनाऽव्याप्ति की सिद्धि के लिये जहाँ उपाधि में विशेषण का ग्रहण किया जाता है, वही पक्षेतर होता है, अतः यह पक्षेतर का लक्षण है। यदि कहें कि परमाणु के निरंश होने से एक परमाणु के संयोग होने पर दूसरे संयोग के असम्भव होने से उससे उत्पन्न कार्य में प्रथम (पृथुत्व महत्व) की अनुत्पत्ति रूप दोष प्राप्त होता है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि परमाणुजन्य द्वयणुक में उक्त रीति से प्रथिमा के अभाव को सिद्ध करें, तब तो दोष का अभाव है, क्योंकि द्वयणुक को अणुत्व ही रहता है, यदि अणु से आरब्ध द्वयणुक में प्रथिमा के अभाव कहें, तो वह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि द्वयणुक में कारणगत बहुत्व से ही महत्त्व की उत्पत्ति होती है। और द्वयणुकों के सावयव होने से उनके संयोग की सिद्धि होती है, परमाणु से द्वयणुक और द्वयणुक से त्र्यणुक होते है, यह क्रम है।

न चावयविन एवाभावात्तदारम्भानुपपत्तिः, एकस्थूलनीलावभासो बाह्ये प्रमा प्रमात्वाद्रूपदर्शनवदित्यवयविसिद्धेः। न चार्थान्तरता, विकल्पासहत्वात्। तथाहि––किं परमाणुसमूहालम्बनत्वमभिप्रेतम् ? उतावयवसंहतिगोचरत्वम् ? नाद्यः, परमाणूनामतीन्द्रियाणामस्मदादिप्रत्यक्षगोचरताऽयोगात्। नापि द्वितीयः, अवयवानामनेकत्वादेक इतिप्रत्ययगोचरत्वा-

---

नन्वस्तु संयोगाद्युपपत्तिः परमाणूनाम्, तथापि न तदारभ्यं किंचित्, नहि परमाणुसङ्घातव्यतिरेकेणावयवी नाम कश्चिदास्ते युक्तियुक्तः, तस्मात्सन्तु नाम परमाणवः, तथाप्यारम्भकल्पनानुपपत्तिरिति, तत्राह—**न चावयवीति**। अवयविसद्भावे विज्ञानवादिनं प्रत्युक्तं मानमनोहरीयमनुमानमाह—**एकेति**। एकमिति स्थूलमिति नीलमिति च योऽयमवभासो बाह्ये विज्ञानाद्बहिर्भूते प्रमेत्यर्थः। सौगतनये विज्ञानस्य स्वग्राहकतयाऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै बाह्यग्रहणम्। ननु भवतु बाह्यप्रमात्वम्, तथाप्यवयविसिद्धिः कुतः ? यतो बहिरपि परमाणूनेव वा तत्त्वाद्यवयवान्वाऽवलम्बतामियं बुद्धिरिति, तत्राह—**न चार्थान्तरतेत्यादिना**। **परमाणूनामिति**। प्रत्यक्षः खल्वयं प्रत्ययः स्थूलाद्याकारः। नच परमाणूनां प्रत्यक्षयोग्यत्वम्, सूक्ष्मत्वाच्च न स्थूलप्रत्ययविषयत्वमिति न तैरर्थान्तरतेत्यर्थः। अवयवसमूहालम्बनत्वं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। ननु नावयवमात्रं विषयः, किंतु तत्समुदायः,

---

यदि कहें कि परमाणु हों, उनका संयोग भी हो, तो भी उनसे आरब्ध अवयवी अभाव ही है। परमाणुसमूह से ही व्यवहार होता है, क्योंकि अवयवी के आरम्भ की अनुपपत्ति है। यदि इसमें शंका हो कि (एक स्थूल नील की प्रतीति) बाह्यविषय = अवयवी में प्रमा = प्रमाण है, प्रमा होने से, रूपज्ञानवत्। इस अनुमान से अवयवी की सिद्धि होती है। इस अनुमान को परमाणुसमूह विषयत्व से ही अर्थान्तरता नहीं है। क्योंकि अर्थान्तरता विकल्पासह है, यह दर्शाया जाता है, क्या इस बाह्यप्रमा में परमाणुसमूहावलम्बनत्व (विषयत्व) अभिप्रेत है या अवयवसंघातगोचरत्व अभिप्रेत है। उसमें प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से हम लोगों के प्रत्यक्षविषयत्व का असम्भव है, दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है क्योंकि अवयवों के अनेक होने के कारण, एक स्थूल इस ज्ञानविषयत्व का उनमें असम्भव है। यदि कहें कि समुदाय के एक होने से यह दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि समुदाय कोई वस्तु नहीं है कि जिस विषयक एक बुद्धि हो सके, यदि कहें कि समुदाय वस्तु है, तो समुदाय

संभवात्। समुदायस्यैकत्वाददोष इति चेत्, न, तस्यावस्तुत्वाद्, वस्तुत्वे च तस्यैवावयवित्वात्, संज्ञामात्रे विवादः स्यात्।

यत्प्रकाशते तज्ज्ञानं यथा ज्ञानम्, प्रकाशते च विवादाध्यासितमित्यनुमानात्सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वसिद्धौ साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत्, न, उभयवादिसंप्रतिपन्नस्य धर्मिणोऽभ्युपगमेऽपसिद्धान्तापत्तेः, अनभ्युपगमे चाश्रयासिद्धिः। यत्प्रकाशते तदुभयवादिसिद्धैकविज्ञानमात्रम्, प्रकाशते च विवादाध्यासितमिति ज्ञानाद्वैतप्रसञ्जकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च।

स चैक इति शङ्कते—**समुदायस्येति**। **अवस्तुत्वादिति**। यस्य ह्यवयव्येवानिष्टः, स कथं समुदायिव्यतिरिक्तं वस्तुभूतं समुदायमङ्गीकुर्यादित्यर्थः।

एवमर्थान्तरतायां परिहृतायां विज्ञानवादी दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं शङ्कते—**यत्प्रकाशते इति**। प्रकाशमानत्वं ज्ञानस्वभावत्वेन रूपादिज्ञानेषु व्याप्तम्, तद्रूपादिरपि प्रकाशमानो विज्ञानस्वभाव एवेति ज्ञानस्वभावत्वावगते रूपज्ञानस्यापि बाह्यविषयत्वमसिद्धमित्यर्थः। अत्र हि प्रकाशते रूपमिति पक्षीकृतं रूपमुभयाभिमतमनभिमतं वेति विकल्प्य दूषयति—**नेति**। ज्ञानातिरिक्तरूपाद्यभ्युपगमेऽपसिद्धान्त इत्यर्थः। आभाससमानयोगक्षेमतां चाह—**यत्प्रकाशत इति**। अस्ति ह्यत्राप्येकस्मिन्विज्ञाने तन्मात्रत्वप्रकाशमानत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थः।

के वस्तुत्व होने पर उसीको अवयवित्व होने से संज्ञामात्र में विवाद रहेगा वस्तु में नहीं।

यहाँ विज्ञानवादी की शंका है कि (जो प्रकाशता-भासता है, वह ज्ञानमात्र है, जैसा ज्ञान है) विवादविषयरूपादि भी प्रकाशता है, अतः वह भी ज्ञानमात्र है, इस अनुमान से सबके ज्ञानमात्र सिद्ध होने पर, साध्यविकल उक्त दृष्टान्त हो जाता है (रूप ज्ञान रूप विषयक प्रमाण रूप नहीं रहता है) यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि इस अनुमान में उभयवादी से सम्प्रतिपन्न (स्वीकृत) रूपादि धर्मी को मानने पर अपसिद्धान्त (विज्ञानवाद का त्याग) प्राप्त होता है। नहीं मानने पर आश्रयासिद्धि होती है। और (जो प्रकाशता है वह उभयवादिसिद्ध एक विज्ञानमात्र है। विवादाध्यासित भी प्रकाशता है, अतः वह भी प्रकाशमात्र है) इस अनुमान को ज्ञानाद्वैत के प्रापक होने से आभास समान योगक्षेमता है। क्योंकि, बुद्धानुयायी ज्ञान नानात्व को मानते हैं, अतः उनके लिये यह अनुमान जैसे आभास रूप है, वैसे ही अन्य के लिये उनका अनुमान आभास रूप है।

न च कम्पाकम्पावृतत्वानावृतत्वरक्तत्वारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गात्तदाश्रयस्यैकत्वानुपपत्तिः, अवयवानां कम्पे तदावरणे तद्रक्तत्वे चावयविनोऽतद्रूपत्वेनैकस्य विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः। न चावयवावयविनोश्चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्ग, विकल्पासहत्वात्। (१) किं भेदो युतसिद्धिः ? (२) किं

ननु तथापि तर्कविरुद्धत्वाच्छङ्कितोपाधित्वमनुमानस्य, तथा हि —वृक्षे कासुचिच्छाखासु कम्पमानासु तदंशेऽवयवी कम्पते, अपरास्वकम्पमानासु तदंशे न कम्पते, नचैतदेकस्मिन्वृक्षावयविनि घटते। नहि संभवति तदेव कम्पते न कम्पते चेति। तथा घटादिष्वप्यर्धमाव्रियते नार्धम्, तथा पटादावप्यर्धंरक्तमरक्तमर्धं दृश्यते। नचैतदेकस्मिन्संभवति, विरोधात्, तस्मान्नास्त्येवावयवीति, तत्राह—**न च कम्पेति**। अवयवेभ्यो विभिन्नस्तावदवयवी। नच तस्मिन्विरुद्धधर्मसंसर्गः, भागनिष्ठत्वात् कम्पादीनां विरुद्धधर्माणाम्, अवयवी तु यथानुभवं कम्पत एव वा, आवृत एव वा, विपरीतमेव वा, न पुनरुभयाधिकरणमित्यर्थः। स्यादेतत्, यद्यवयवचलनादावप्यवयवी न चलनादिमान् तर्हि घटचलनेप्यचलितपटवद्युतसिद्धतावयवावयविनोः प्राप्नोति, तथा च न समवाय इति, तत्राह—**न चावयवेति**। विरुद्धधर्मवत्त्वेपि न युतसिद्धिरिति विकल्पपूर्वकमाह—**विकल्पासहत्वादित्यादिना**। अत एवेत्यतिदिष्टं

और जो बुद्धानुयायी कहते हैं कि अवयवी को मानने पर, एक ही वृक्ष के किसी शाखा में कम्प किसी में अकम्प, एक घट के अंश में आवृतत्व अन्यांश में अनावृतत्व, घट में रक्तत्व अरक्तत्व आदिरूप विरुद्धधर्म के सम्बन्ध से उन धर्मों के आश्रयों के एकत्व की अनुपपत्ति प्राप्त होती है, यदि अवयवी एक होगा तो कम्परूप धर्म काल में उससे विरुद्ध अकम्प का आश्रय नहीं होगा, परन्तु यह कथन अयुक्त है अवयवों के कम्प, उनके आवरण और उनके रक्तत्व होने पर अवयवी के तद्रूप (अवयव रूप) नहीं होने के कारण एक को विरुद्ध धर्म की असिद्धि होती है, अन्यथा यदि कम्पादि युक्त अवयवरूप, और अन्य अवयवरूप भी धर्मी होता तो विरुद्ध धर्मवत्ता की प्राप्ति होती, अवयवी अवयव से भिन्न है, अतः अवयवों में कम्पादि होते भी, अतद्रूपता से एक अवयवी को विरुद्ध धर्म का संसर्ग नहीं होता है। यदि शंका हो कि अवयव के चलने = कम्पयुक्त होने, पर भी अतद्रूप अवयवी नहीं चलता है, तो चलाचल अवयव और अवयवी को घटपट के समान युतसिद्धि का प्रसङ्ग होता है, अर्थात् उन्हें अयुतसिद्ध न होकर युतसिद्ध होना चाहिये, तो यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि युतसिद्धि विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, क्या भेद रूप युतसिद्धि है, या पृथगाश्रयाऽऽश्रितत्व स्वरूप है, या पृथक् क्रियावत्त्व है, या परस्पर संयोग-विभाग वत्त्व है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि अवयवावयवी के भेद को मानते ही हैं, तो भेद होने से युतसिद्ध (भेद) होगा, यह कहना नहीं बनता है

वा पृथगाश्रयाश्रितत्वम्? (३) पृथक्क्रियावत्त्वं वा? (४) परस्परसंयोगविभागवत्त्वं वा? न प्रथमः, अवयवावयविनोर्भेदाभ्युपगमेन सिद्धसाधनत्वात्। अत एव न द्वितीयः, अवयविनोऽवयवाश्रयत्वेप्यवयवानां स्वारम्भकावयवाश्रितत्वात्। न तृतीयः, पृथक्क्रियावत्त्वस्योभयोरिष्टत्वात्, एकद्रव्यं कर्मेति सूत्राच्च। न चतुर्थः, चलाचलयोरपि घटहिमाचलयोः परस्परसंयोगविभागानधिकरणत्वात्। अवयवावरणेऽवयविनोऽनावरणे पूर्ववत्कृत्स्नप्रतीतिः स्यादिति चेत्, सत्यम्, कृत्स्नः प्रतीयत एव तस्यै-

---

सिद्धसाधनत्वं विवृणोति—**अवयविन इति**। पृथक्क्रियावत्त्वं युतसिद्धत्वमिति तृतीयपक्षेऽपि सिद्धसाधनतामाह—**पृथक्क्रियावत्त्वेति**। अवयवेऽन्यत्कर्म अवयविन्यप्यन्यदेवेत्यत्र वैशेषिकसूत्रमपि प्रमाणयति—**एकद्रव्यमिति**। एकमेव द्रव्यं समवायिकारणं यस्य कर्मणस्तदेकद्रव्यं न पुनः संयोगादिवदनेकवृत्तीत्युक्तम्। परस्परसंयोगविभागवत्त्वं युतसिद्धिरिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—**न चतुर्थ इति**। तत्र हि चलाचलत्वेन संयोगविभागवत्त्वमापादनीयम्, नचैतच्छक्यापादनम्, व्याप्तेरभावेन प्रशिथिलमूलत्वादिति भावः। यत्त्वावृतत्वानावृतत्वविरुद्धधर्मसंसर्गो नास्ति अवयवावरणेप्यवयविनोऽनावृतत्वानुभवादित्युक्तम्, अवयवानां कम्पेऽपीत्यत्र, तत्र बाधकं शङ्कते—**अवयवेति**। केयं कार्त्स्न्येन प्रतीतिः? किमवयविस्वरूपस्यानवशेषेण प्रतीतिः? किं वा हस्तवितस्त्यादिमत्तया प्रतीतिः? आद्यामिष्टापत्त्या दूषयति—**सत्यमिति**। एकः खल्ववयवी न पुनरवयववदनेकः, स चेत्प्रतीयते, प्रतीत

(एक प्रकार का सिद्धसाधनत्व होता है। अत एव = सिद्धसाधनता से ही दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अवयवी को अवयवाश्रितत्व होते भी अवयवों को स्वारम्भक अवयवाश्रितत्व रहता है, अतः पृथगाश्रयाश्रितत्व रहता ही है। पट तन्तुओं में रहता है, तन्तु अंशुओं में रहते हैं। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसमें भी सिद्धसाधनता है, अवयवावयवी पृथक् क्रियावत्व इष्ट (मान्य) है। अवयव में अन्य कर्म और अवयवी में अन्य कर्म रहता है, इस अर्थ को वैशेषिक सूत्र से भी कहा गया है कि (एकद्रव्यं कर्म) एक द्रव्यरूप समवायिकारण वाला = एक द्रव्याश्रित कर्म रहता है, संयोगादि के समान अनेकाश्रित नहीं। चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि चलाचलत्व से परस्पर संयोग-विभागवत्त्व रूप युतसिद्धि आपदनीय (प्रासव्य) है, परन्तु घट और हिमालय, चल और अचल हैं, तो भी परस्पर संयोग और विभाग का अनधिकरणत्व रहता है। नियत संयोग विभागवत्त्व नहीं होता है। अवयव के काँपने पर भी अवयवी नहीं काँपता है, इसीके समान यदि अवयव के आवरण होने पर भी अवयवी के अनावरण रहने पर अवयवावरण से पूर्वकाल के समान सम्पूर्ण (सर्वाङ्गयुक्त) अवयवी की प्रतीति होनी चाहिये, यह

कत्वात्। तथात्वे द्विहस्तत्वादि किमिति न प्रतीयत इति चेत्, तदुचितावयवसन्निकर्षस्य तत्प्रतीतिहेतोरभावात्। रक्तत्वं तु महारजनादेरेव द्रव्यान्तरस्य नाप्यवयवानामिति दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्गः। तथापि तत्संयोगाद्रक्तिमप्रतीतिः सर्वत्र किं न स्यादिति चेत्, न, संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वात्।

एव कार्त्स्न्येनेति नायमनिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः। द्वितीयां शङ्कते—**तथात्व इति**। सहकारिवैकल्यादिति परिहरति—**तदुचितेति**। अवयव्युत्पादका एव येऽवयवास्तेषामिन्द्रियेण यः सन्निकर्षः सोऽप्येतस्यैकहस्तादेः प्रतीतावुचितो हेतुस्तस्याभावादित्यर्थः। यस्तु रक्तत्वारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्ग उक्तस्तं परिहरति—**रक्तत्वं त्विति**। यद्धि पाकादिवशाद् दृढतरं पटेन संयुक्तं कुसुम्भादिद्रव्यान्तरम्, तद्धर्म एव रक्तत्वादिः, न पटधर्मः, नापि तन्तुधर्मः, परं तत्संयोगात्पटस्थरक्तताप्रतीतिरित्यरक्तैकस्वभावत्वात्पटस्य दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्ग इत्यर्थः। स्यादेतत्—भवतु हरिद्रादिसंयोगात्पटे रक्तप्रतीतिस्तथापि किमिति न सर्वात्मना पटे रक्तिमप्रतीतिः? एकः खल्ववयवी तेन संयुक्त इति, तस्माद्रक्तप्रतीतिविषयत्वतद्रहितत्वलक्षण एवायं विरुद्धधर्मसंसर्गोऽस्त्विति शङ्कते—**तथापीति**। परिहरति—**नेति**। यद्यप्येकः एवावयवी तथापि द्रव्यान्तरसंयोगस्तस्मिन्न सर्वस्मिन्वर्ततेऽपि त्वव्याप्यवृत्तिर्यावति च स वर्तते भवत्येव रक्तप्रतीतिरियमप्यस्तीत्यर्थः।

संशय हो तो कहा जाता है कि आपका कहना सत्य ही है, अवयवी के एक होने से किसी अवयव के आवृत्त होने पर भी सम्पूर्ण अवयवी प्रतीत होना ही है, अवयव के समान अवयवी अनेक होता तो सम्भव था कि प्रतीत होता और नहीं भी होता, परन्तु एक है, अतः प्रतीत होगा तो हो होगा। यदि कहा जाय कि किसी अवयव के आवरण काल में भी सम्पूर्ण अवयवी प्रतीत होता है, तो द्विहस्तत्वादि परिमाण की प्रतीति प्रथम के समान क्यों नहीं होती है। तो कहा जाता है कि, उस परिमाण की प्रतीति का हेतु रूप उस अवयवी के उचित (योग्य) अवयव के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध के अभाव से परिमाण की प्रतीति नहीं होती है। रक्तत्वाऽरक्तत्व रूप विरुद्ध धर्म संसर्गात्मक दोष भी नहीं है, क्योंकि द्रव्यान्तर रूप महारजनादि को ही रक्तत्व धर्म रहता है, अवयवी का या अवयवों का भी नहीं, अतः अवयवी में विरुद्ध धर्म का संसर्ग दूर निरस्त हो जाता है। तो भी संशय हो कि उस महारजनादि के सम्बन्ध से रक्तिम=रक्तत्व की प्रतीति सर्वत्र क्यों नहीं होती है, किसी पट में हस्त-वितस्ति मात्र में ही रक्तत्व की प्रतीति क्यों होती है, पट के एक होने से एकाकार प्रतीति होनी चाहिये, तो यह संशय युक्त नहीं, संयोग के अव्याप्यवृत्ति होने से रक्त द्रव्य का संयोग जिस अंश में नहीं रहता है, वहाँ रक्तता की प्रतीति नहीं होती है।

नन्ववयवेषु वर्तमानोऽवयवो किं वा कात्स्न्र्येन वर्तते ? उतैकदेशेन ? नाद्यः, शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गात्, अवयविनः कार्येणान्वयात्, युगपदनेकत्र वृत्तावनेकवृत्तिरूपादिवदनेकत्वप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः, आरम्भकावयवव्यतिरिक्तैकदेशाभावात्, भावे वानन्तावयवतया मेरुसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणतापत्तेः, अवयवावयविनोर्दूरविप्रकर्षप्रसङ्गाच्चेति चेत्,

---

एवं विरुद्धधर्मसंसर्गे परिहृतेऽपि वृत्तिविकल्पानुपपत्त्याशङ्कितोपाधितां शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। ननु किमिति शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्तिः, नच शृङ्गस्य स्तनत्वमस्तीति ? तत्राह—**अवयविन इति**। अन्वयो जनकतया संबन्धित्वम् । अत्रैव दूषणान्तरमाह—**युगपदिति**। क्रमेणानेकत्र वर्तमानदेवदत्तादिव्यवच्छेदाय युगपद्ग्रहणम्, यदि हि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वर्तते, तदा प्रतिद्रव्यं परिसमाप्य वृत्तिरूपादिवदनेकत्वमपि स्यादित्यर्थः । ननु किमित्यारम्भकव्यतिरेकेण वृत्त्यर्थमप्यवयवा न स्युः, कोशावयवेषु वर्तमानासेः कोशावयवव्यतिरिक्तावयवत्वदर्शनादिति, तत्राह—**भावे चेति**। तदा हि तेष्ववयवेषु तद्वृत्त्यर्थमवयवान्तराणि कल्पेरन्, एवं तेषु तेष्वपीत्यनन्तावयवाः स्युरपरथान्तिमावयवेषूक्तदोषापातात् । तथा च सुमेरुसर्षपयोरनन्तावयवत्वं समानमिति परिमाणसाम्यमपि स्यादविश्रान्ततारतम्यपरिमाणाधिकरणेषु परिमाणवैषम्यस्यावयववैषम्यनिमित्ताव्याप्तेरित्यर्थः । अत्रैव दूषणान्तरमाह—**अवयवेति** । प्रथमावयवावयविनोर्मध्येऽनन्तावयवव्यवधानादित्यर्थः । एवं

फिर भी शंका होती है कि अनेक अवयव में एक अवयवी रहता है, तो क्या वह अवयवी अवयवों में रहता हुआ प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्ण रूप से रहता है, या एकदेश द्वारा रहता है । प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है क्योंकि गौ अपने शृङ्ग में सर्वरूप से रहेगी तो शृङ्ग से भी स्तन कार्य करना प्राप्त होगा, क्योंकि अवयवी को कार्य के साथ सम्बन्ध होता है, और अवयवी शृङ्ग में भी है, और एक काल में अनेक अवयव में रहने पर रूपादि के समान अनेक अवयवी सिद्ध होगा । प्रत्येक अवयव में पूर्णरूप से पृथक्-पृथक् गौ सिद्ध होगी । दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रत्येक अवयव में एक-एक देशद्वारा गौ नहीं रह सकती है । क्योंकि आरम्भक अवयवों से भिन्न अवयवियों में एकदेश का अभाव रहता है, अतः एकदेश द्वारा आरम्भक (कारण) स्वरूप अवयवों में वर्तना (रहना) नहीं बन सकता है । यदि अवयव से भिन्न अवयव = अंश का भाव (सत्व) हो, तो उसमें भी एकदेश द्वारा अवयवी रहेगा, तो इसप्रकार से सब अवयवी की अनन्तावयववत्ता से मेरु सर्षप की तुल्य परिमाणता की प्राप्ति होगी । और अनन्त अवयव के होने पर प्रथमावयवतन्तु और घट के मध्य में अनन्त अवयव के व्यवधान होने से दूर का विप्रकर्ष (विभाग) प्राप्त होगा (सम्बन्धाभाव होगा) ऐसी शंका विकल्प के

मैवम्, विकल्पस्यानवसरदुःस्थत्वात् । नह्येकस्मिन्नेवावयविनि समस्तोऽसमस्तो वेति विकल्पः कल्पते, बहूनां हि समस्तताऽसमस्तता वा संभवेत् । किंचायं वृत्तिविकल्पः स्वसिद्धां व्याप्तिमवलम्ब्योत्तिष्ठति ? उत परसिद्धाम् ? नाद्यः, सौगतैः सर्वस्य क्षणिकत्वेनाश्रयाश्रयिभावानभ्युपगमात् । वेदान्तिभिरपि कार्यस्य कारणे कल्पितत्वमभ्युपगच्छद्भिर्वृत्तेरनभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः, तेनाप्यनङ्गीकारात् । यद्वर्तते तत्संयोगेन समवायेन वा वर्तते इति परोऽङ्गीकरोति, न तु कार्त्स्न्यैकदेशाभ्याम् । अस्तु वा कार्त्स्न्येन वृत्तिस्तथापि न शृङ्गेण स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः, तत्तदवयव-

---

वृत्तिविकल्पदोषं परिहरति — **मैवमिति** । एकस्मिन्ननुपपत्तिमेव व्यतिरेकनियमेन दर्शयति — **बहूनामिति** । किंच यद्यद् वर्तते तत्कार्त्स्न्यैनैकदेशेन वेति किं सौगतसमये नियतिः ? किंवा वेदान्तदर्शने ? आहो मद्दर्शनेनैवं प्रसज्यते ? न सर्वथापीत्याह — **किंचायमित्यादिना** । ननु सौगतवेदान्तिदर्शनयोर्वृत्त्यनङ्गीकारादेव युक्तस्तत्प्रयुक्तनियमेऽप्यनादरः कर्तुम्, भवता तु वृत्तिमङ्गीकुर्वता कश्चिन्नियमोऽङ्गीकरणीयैवेति, तत्राह — **यद्वर्तत इति** । सम्बन्ध एव नियतिर्न कार्त्स्न्यादाविरयर्थः । ननु किमिति न प्रसङ्गः, यावताऽवयविन एव कार्यकरत्वादावत्येवेति, तत्राह — **तत्तदवयवेति** । यथा ह्यवयविनोऽन्वयव्यतिरेकौ तथा तत्तदवयवोपेततयापीत्यर्थः । किंच यद्येकदेशेन वर्तेत, यदि वा कार्त्स्न्येन, यदि वावयवेभ्योऽतिरिच्येत, तर्हीदमिदं स्यादिति यदिदं

अनवसरदुःस्थता (दुरवस्थिरता) से युक्त नहीं है । क्योंकि एक ही अवयवी में समस्त या असमस्त (एकदेश) ऐसा विकल्प सिद्ध नहीं हो सकता है, ऐसा विकल्प (प्रश्न) बहुत में ही होता है । क्योंकि बहुत के ही समस्तत्व या असमस्तत्व का सम्भव रहता है । और दूसरी बात है कि यह अवयवी की समस्त रूप से तथा एकदेश से वृत्ति (स्थिति) का विकल्प, बुद्धानुयायी की स्वसिद्धान्तसिद्धव्याप्ति को आश्रयण करके उत्थित (उत्पन्न) होता है । या पर=वेदान्त=न्यायानुयायी से सिद्ध व्याप्ति (नियम) को आश्रयण करके प्रकट होता है । वहाँ प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सुगतमतानुयी सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, और क्षणिकता से ही आश्रय-आश्रयी कारण कार्य को भी नहीं मानते हैं, अतः उनके मत से उक्त विकल्प नहीं हो सकता है । वेदान्ती भी कार्य को कारण में कल्पित (मिथ्या) मानते हैं, अतः वस्तुतः वृत्तिता को नहीं मानते हैं, अत एव विकल्प का अवसर नहीं रहता है । दूसरा नैयायिक के मतानुसार विकल्प नहीं बन सकता है, क्योंकि नैयायिकों ने भी सम्पूर्ण रूप से या एक-एक देश से वृत्ति को नहीं माना है, क्योंकि जो वर्तता है, वह संयोग या समवाय से वर्तता रहता है, कृत्स्नस्वरूप या एकदेश से नहीं, यह तार्किक मानते हैं । अथवा अवयवी की कृत्स्नस्वरूप से वृत्ति

विशिष्टस्यैवावयविनस्तत्तत्कार्यप्रसवसमर्थत्वात् । सर्वश्चायं प्रसङ्गहेतुराश्रयासिद्धः, अवयविनोऽनङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः । परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनमिति चेत्, न, परस्यापि प्रमाणतः सिद्धावसिद्धौ च पूर्वोक्तदोषद्वयानतिवृत्तेः । अस्त्येवेतरस्यापि कल्पनाकल्पितो धर्मीति चेत्, न, कल्पनायाः सर्वत्राव्याहतप्रसरतयाऽऽश्रयासिद्ध्यादिदोषप्रमोपप्रसङ्गात् । तदेवं परमाणूनामेव द्व्यणुकादिक्रमेण निश्चितनिखिलजगत्कारणतोपपत्तौ न ब्रह्मणस्तत्कारणत्वकल्पनावकाश इति ।

प्रभञ्जनं तमाश्रयभूतः कश्चिदवयवी स्वीकृतः ? न वा ? उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याह—**सर्वश्चायमिति ।** प्रसङ्गहेतुः प्रसञ्जको हेतुरित्यर्थः । अनङ्गीकारेऽप्याश्रयासिद्धिपरिहारं शङ्कते—**परेति ।** परस्यापि किं प्रमाणतः सिद्धं त्वया धर्मीक्रियते ? उत प्रतीतिमात्रसिद्धम ? आद्ये धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः, नहि परप्रमाणमप्रमाणं भवति, वस्तुनोऽन्यथाभावात् । द्वितीये त्वाश्रयासिद्धिरिति परिहरति—**न परस्यापीति ।** ननु किमित्याश्रयासिद्धिर्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधो वा ? यावता कल्पितः कश्चिदवयवी ममाप्यस्त्येवेति शङ्कित्वा अतिप्रसक्त्या परिहरति—**न कल्पनाया इति ।** उपपादितोऽयमर्थो मिथ्यात्ववादे । पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तदेवमिति ।**

हो, तो भी भङ्ग से तत्तत्कार्यकरण की प्राप्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि तत्तदवयवों से युक्त ही अवयवी को तत्तत् कार्य की उत्पत्ति के लिये व्यवस्थित भिन्नभिन्न शक्ति रहती है । और अवयवी को नहीं मानने के कारण बुद्धानुयायी का यह सब ही प्रसङ्ग हेतु (प्रसञ्जक = अनिष्टापादक हेतु) आश्रयासिद्ध है, अथवा अवयवी को मानने पर धर्मीग्राहक प्रमाण से हेतुओं का बाध हो जाता है । यदि कहें कि मैं अवयवी को नहीं मानता हूं किन्तु परमतसिद्ध अवयवी द्वारा पर के अनिष्ट का आपादन = प्रतिपादन करता हूं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि पर के प्रमाण से सिद्ध को धर्मी कहते हैं, या प्रतीति सिद्ध को । वहां पर प्रमाण भी तो प्रमाण ही है, उससे सिद्ध होने पर धर्मीग्राहक मान से हेतु का बाध होता है, प्रतीतिसिद्ध मात्र होने से धर्मी की मान से नहीं सिद्ध होने पर आश्रयासिद्धि होती है, इसप्रकार से पूर्वोक्त दोषद्वय की निवृत्ति नहीं होती है । यदि कहें कि इतर (बुद्धानुयायी) को भी कल्पना से कल्पित धर्मी है, अतः आश्रयासिद्धि नहीं है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि कल्पना सिद्ध को यदि आश्रयादि माना जाय तो कल्पना की सर्वत्र अव्याहत = निर्विघ्न, प्रगति होने से आश्रयासिद्धि आदि दोषों का प्रमोप (लोप) प्राप्त होगा । अतः इस उक्त रीति से परमाणुओं को ही द्व्यणुकादि क्रम से निश्चित सकल जगत की कारणता की सिद्धि होने पर, ब्रह्म में जगत्कारणत्व कल्पना का अवकाश नहीं रह जाता है ।

अत्रोच्यते—

अर्थान्तरत्वादाद्यस्य परस्योपाधिमत्त्वतः ।
अन्त्यस्याभासतुल्यत्वात्प्रतिसाधनरोधनात् ॥ ३८ ॥

यत्तावन्महत्त्वापकर्षतरतमभावस्य क्वचिद्विश्रान्तिसाधनम्, तदर्थान्तरम्, त्रसरेणुष्वेव तस्य विश्रान्तेः । न च चाक्षुषद्रव्यत्वात् महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तत्र विश्रान्त्यनुपपत्तिः, आद्यस्य योगिचक्षुर्गोचरेषु परमाणुष्वनैकान्तिकत्वात् । नचास्मदादीति विशेषणोपादानाददोषः, परमाणूनामिदानीमेव साधनीयतया तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेष-

---

तत्र तावत्परमाणुसाधकतया शङ्कितानुमानेषु दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**अर्थान्तरत्वादिति** । अणुपरिमाणतारतम्यमित्यनुमाने द्व्यणुकैरर्थान्तरता । यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानम्, तत्राह—**परस्येति** । यत्तु महाविद्यानुमानमुक्तं तत्राभाससमानयोगक्षेमतां सत्प्रतिपक्षतां चाह—**अन्त्यस्येति** । संग्रहं विवृणोति—**यत्तावदित्यादिना** । कश्चायं तरतमभावः ? न तावत्संख्यापरिमाणे, तयोर्निर्गुणे परिमाणेऽसंभवात् । नापि जातिः, महत्त्वाणुत्वाभ्यां परापरभावाभावात् । अभावत्वं त्वेतादृशानां पुरैव निवारितम् । ततश्चाश्रयासिद्धिरपि दुरुद्धरा । यत्तु द्व्यणुकानामपि सावयवत्वानुमानद्वारार्थान्तरत्वं परिहृतम्, तत्राह—**न चेति** । अत्र किं चाक्षुषत्वमात्रं विवक्षितम् ? किंवाऽयोगिचाक्षुषत्वम् ? आद्ये भवतामनैकान्तिकता स्यादित्याह—**आद्यस्येति** । परमाणुष्वित्युपलक्षणं कालादीनामपि । द्वितीयं दूषयति—**नचेति** । अत्र तावद्भाट्टानां कालाकाशदिशामप्यस्मदादिचाक्षुषत्वात्तद्व्या-

---

आरम्भवाद से पूर्वपक्ष हुआ, अब यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

परमाणुसाधक तीनों अनुमानों में आद्य को अर्थान्तरता है, और उससे पर द्वितीय को उपाधिमत्त्व है। अन्त्य को आभासतुल्यता और प्रतिपक्षसाधन से उसका निरोध होता है ॥ ३८ ॥

अर्थात् जो प्रथम महत्त्व अपकर्ष के तारतम्यभाव की कहीं विश्रान्ति का साधन = अनुमान किया गया है, वह परमाणु का साधन नहीं होकर अर्थान्तर का साधन होता है, क्योंकि त्रसरेणुओं में ही उस तारतम्य की विश्रान्ति हो जाती है। यदि कहें कि चाक्षुष द्रव्यत्व, या महत्त्वयुक्त क्रियावत्त्व हेतु से उन त्रसरेणु के भी सावयवत्व के अनुमान होने से उनमें अपकर्ष की विश्रान्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आद्य चाक्षुषद्रव्यत्व हेतु का योगी चक्षु के विषय परमाणुओं में अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) है, क्योंकि वह साध्य नहीं है, साधन प्राप्त हो जाता है। यदि कहें कि, अस्मदादि चाक्षुषद्रव्यत्वात्, हम लोगों के नेत्र के विषय द्रव्य होने से ऐसा हेतु करने से योगी के प्रत्यक्ष विषय में व्यभिचार नहीं

णस्य वैयर्थ्यात्। द्वितीयेऽपि महत्त्वे सतीति विशेषणस्य परमाण्वसिद्धौ वैयर्थ्यात्।

यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानम्, तत्र पृथिवीव्यतिरिक्ताधेयत्वमुपाधिः, सत्ताया अपि नित्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् साध्यविकलश्च दृष्टान्तः। अयं घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः इत्यनुमानमाभाससमानम्, अयं घट एतदतिरिक्ता नित्यसावयवातिरिक्तसावयवान्यो

वृत्त्यर्थं न स्यात्तस्माद्योगिनामेव प्रत्यक्षपरमाणुव्यावृत्त्यर्थमिदं विशेषणं तथा च वैयर्थ्यम्। योग्यनङ्गीकारादपि भाट्टान्प्रति वैयर्थ्यमित्यर्थः। द्वितीयं सावयवत्वसाधकं दूषयति—**द्वितीयेति**। निरवयवपरमाणुषु क्रियावत्त्वस्यानैकान्तिकतापरिहारार्थम्, महत्त्वे सतीति विशेषणम्। तथाच वैयर्थ्यमित्यर्थः। भवतु वा सावयवत्वम्, तथापि कथमर्थान्तरताऽभावः? नहि द्व्यणुकादौ महत्त्वापकर्षविश्रामसंभवः, तत्र महत्त्वस्यैवाभावात्।

परस्योपाधिमत्त्वत इत्येतद्विवृणोति—**यत्त्विति**। सत्तायां नित्यवृत्तित्वेपि पृथिवीत्वरहितवृत्तित्वमुपाधिः। नच पक्षेतरता, आकाशादेर्विपक्षस्य व्यावर्त्यस्य सत्त्वात्। वेदान्तिमते साध्यवैकल्यं चाह—**सत्ताया इति**। आकाशादिप्रपञ्चस्य नित्यत्वाभावात्सत्तायाः कल्पितत्वात्, आत्मनश्च सद्रूपतया तत्र सत्तावृत्त्यभावादित्यर्थः। अन्त्यस्येत्येतद्विवृणोति—**अयं घट इत्यादिना**। अत्र ह्येतदतिरिक्ता-

---

होगा, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अभी परमाणुओं की ही साधनीयता (असिद्धि) है, उनकी व्यावृत्ति के लिये विशेषण दिये गये विशेषण में व्यर्थता होगी। दूसरे हेतु में भी, महत्त्वे सति, यह विशेषण परमाणु की व्यावृत्ति के लिये है, अतः परमाणु की असिद्धि रहते उसमें व्यर्थता है।

जो पृथिवीत्व के नित्यवृत्तित्व का अनुमान किया गया है कि (पृथिवीत्वं, नित्यवृत्ति, घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात्, सत्तावत्) इसमें पृथिवीभिन्नवृत्तित्व उपाधि है, क्योंकि सत्ता में नित्यवृत्तित्व होते भी पृथिवीत्वरहित में उपाधि साध्य का व्यापक है। पृथिवीत्व में हेतु के रहते भी उपाधि के नहीं रहने से साधन का अव्यापक है। और वेदान्त में एक ब्रह्म ही सत्स्वरूप है अन्य वस्तु सत्य नहीं है। अतः सत्ता के नित्यवृत्तित्व के अनङ्गीकार से साध्यरहित दृष्टान्त सिद्ध होता है। और (यह घट, इससे अतिरिक्त अनित्यमूर्त (पट) से अतिरिक्त से अन्य है, प्रमेय होने से, पटवत्) यह अनुमान आभास तुल्य है। क्योंकि (अयं घटः, एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यो मेयत्वात्) इस प्रयोग को भी समयत्व हो सकता है। क्योंकि इस घट से अतिरिक्त अनित्य मूर्त पट होगा, उससे अतिरिक्त मूर्त यह घटरूप अनित्य होगा, नित्य मूर्त हो नहीं सकता है। उसे

मेयत्वादित्यपि प्रयोगस्य सुवचत्वात् । पृथिवीत्वमनित्यमात्रवृत्ति पृथिवी-

---

नित्यसावयवातिरिक्तः सावयवोऽयमेव वा घटोऽनित्यत्वानधिकरणसावयवो वा कश्चित् ? प्रथमेऽन्यत्वमेव तदघटस्य व्याहतमिति ततोऽनित्यत्वानधिकरणस्य सावयवस्य कस्यचिदप्यन्यस्य सिद्धिप्रशङ्गः इत्यर्थः । नचानित्यद्रव्यस्यैव सावयवत्वं स्यादनित्यसावयवत्वानधिकरणसावयवान्यत्वानुमानं व्याघातादेव नोदेतीति वाच्यम्, मूर्तस्याप्यनित्यताव्याप्त्या त्वदनुमानेपि व्याघातसाम्यात् । परिच्छिन्नापरिमाणमात्र-मेव मूर्तत्वमित्युक्ते द्रव्यत्वे सति द्रव्यसमवेतत्वमेव सावयवत्वं न पुनरनित्यत्वगन्ध इत्यपि वक्तुम् शक्यमिति भावः ॥ १ ॥ तथायं घट एतद्घटत्वे सति एतदतिरिक्ता-नित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तान्यो न भवति मेयत्वात्पटवदिति प्रकरणसमता ॥ २ ॥ तथा स्वद्धेतुः स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसमस्तहेतुदोषाधिकरणनिष्ठधर्मवान् मेयत्वात् ॥ ३ ॥ तथा नित्यत्वं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहितनिष्ठाधर्माधिकरणं मेयत्वात् ॥ ४ ॥ तथा निरवयवत्वं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहित-निष्ठधर्माधिकरणं मेयत्वात् ॥ ५ ॥ इत्यादिमहाविद्याभिरेवार्थतः सत्प्रतिपक्षता केन वार्यते ? तथापि यस्य कस्यचिदुपाधितामुद्भाव्य तत्साध्ये समत्वादिविप्रतिपत्तावप्ये-तयैव रीत्या समर्थनीयम्, तथा हेत्वादिकमपि पक्षीकृत्य वैपरीत्यमनुमातव्यम्, परमाण्वनङ्गीकारेप्येवमनुमानसंभव इष्यते, तथा रीत्यन्तरैरपि । नचैतेषां तर्कविद्या-विरोधादिदोषः शक्यशङ्कः, विमतान्यनुमानानि स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसकल-दूषणरहितनिष्ठधर्माधिकरणानि मेयत्वात् ॥ ६ ॥ इत्यपि शक्यप्रयोगत्वात् । नच मयाप्येवं वैपरीत्यमनुमातुं शक्यमिति वचनीयम्, ततोप्येवं वक्तुं शक्यत्वात् । एवं हि महाविद्याकोविदाः प्राहुः, श्रमादुपरमेपि न दोष इति । ननु तथापि महाविद्या-प्रामाण्यं सिद्धमेवेति चेत्, अप्रामाण्यमपि सिद्धमेव । तदित्थम्—

स्वपक्षपरपक्षाणामेषां पारिप्लवावहा ।
आरादेव परित्याज्या महाविद्याभिसारिका ॥ १ ॥

सप्रतिसाधनतां विवृणोति—**पृथिवीत्वमिति** । एतच्चोभयोरप्यनुमानयोः

स्वस्वरूप से अन्यत्व इस घट में बाधित है, अतः आभास रूप है । वैसे पूर्व अनुमान में स्वरूप से अन्यत्व बाधित है, तो नित्य की कल्पना करनी पड़ती है । और (पृथिवीत्व, अनित्यमात्रवृत्ति है, पृथिवीमात्र वृत्ति होने से, घटत्ववत्) इस प्रतिपक्ष का भी सम्भव है । यदि कहें कि (पृथिवीनिष्ठात्यन्ताऽभावाप्रतियोगिजात्यन्यत्व) अर्थात् घटादिरूप पृथिवीनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी जाति होगी पटत्वादि अप्रतियोगी होगा द्रव्यत्व सत्ता आदि से अन्यत्व उपाधि है, वह अन्यत्व घटत्व में है, वह अनित्यमात्रवृत्तित्व का व्यापक है, घटत्व अनित्य ही में रहता है । और पृथिवीमात्रवृत्तित्व का अव्यापक है, तथापि वह उपाधि नहीं हो सकता है । क्योंकि

मात्रवृत्तित्वात् घटत्ववदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च। न च पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजात्यन्यत्वमुपाधिः, व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धेः साध्याव्यापकत्वात्, सत्ताद्रव्यत्वयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः। न च निरवयवेषु संप्रयोगसंभवः, येनासमवायिकारणसंपत्त्या द्रव्यारम्भः संभाव्येत। परमाणुपक्षीकारासंभवेऽपि संयोगित्वं सावयवमात्रवृत्ति संयोगिमात्रवृत्तित्वात् घटत्ववदिति संप्रयोगोपपत्तेः। न च द्रव्यत्वेन संयोगित्वानुमानम्,

---

समानम्। **न च पृथिवीनिष्ठेति**। सकलपृथिवीनिष्ठा या जातयः पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातयः तदन्यत्वमुपाधिरिति नच वचनीयमित्यर्थः। कुत इत्यत आह— **व्यतिरेकेति**। यत्र हि पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातित्वं तत्र नित्यवृत्तित्वमिति व्यतिरेकव्याप्तिः कुत्र गृह्यते? न तावत्सत्ताद्रव्यत्वयोः, अद्वैतवादिनस्तयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः। अतः साध्याव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः। यत्तु निरवयवस्यापि परमाणोः संयोगसमर्थनं कृतं तद्दूषयति—**न चेति**। ननु परमाणुसंयोगाक्षेपस्य जगत्कारणत्वाभावे क उपयोगः? इति, तत्राह —**येनेति**। अवयवसंयोगः खल्ववयवव्युत्पत्तावसमवायिकारणम्, स हि लघुप्रत्यासन्नः, तदिह परमाणूनां तदभावे कारणत्रयाभावाद्र्व्येतैव द्व्यणुकाद्यारम्भ इत्यर्थः। परमाणुव्यक्तिमात्रपक्षीकरणमाशङ्क्य पूर्ववादिना यद्दूषणमुक्तं तदनङ्गीकारपरास्तमिति वदन् भङ्ग्यन्तरेणानुमानमारचयति—**परमाण्विति**। नच द्रव्यत्वेनानैकान्तिकता, तस्यापि पक्षतुल्यत्वात्। प्रतिप्रयोगमाशङ्क्य दूषयति —**न च द्रव्यत्वेनेति**। ननु

व्यतिरेकव्याप्ति की असिद्धि है। पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिजात्यत्व रूप उपाधि का जहाँ अभाव हो, वहाँ उक्त साध्य का भी अभाव हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है। क्योंकि सत्ता द्रव्यत्व में भी पृथिवीनिष्ठ अत्यन्ताभावाप्रतियोगि जाति रूप उपाधि की और नित्यत्व रूप साध्याभाव की वृत्तिता को नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वेदान्त के अनुसार द्रव्यत्व और सत्ता में नित्यवृत्तित्व नहीं है। अतः इस उपाधि को साध्यव्यापकत्व नहीं है, क्योंकि सत्ता द्रव्यत्व में भी नित्यवृत्तित्व की सम्प्रतिपत्ति = अनुभूति, नहीं हो सकती है। और निरवयव परमाणुओं में संयोग का सम्भव नहीं है कि जिससे असमवायिकारण की सिद्धि से द्रव्यारम्भ की सम्भावना हो सके। और जो कहा था कि परमाणु की सिद्धि के बिना परमाणु को पक्ष बनाकर उसके असंयोगित्व का अनुमान नहीं हो सकता है, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि परमाणु को पक्ष करना असम्भव होने भी (संयोगित्व, सावयवमात्र वृत्ति होता है। संयोगिमात्रवृत्ति होने से, घटत्ववत्) ऐसी प्रयोग की सिद्धि होती है, और इसीसे परमाणु के संयोग का अभाव सिद्ध हो जाता है। द्रव्यत्व से भी

उभयवादिसिद्धस्य धर्मिणोऽभावात् । न च संयोगित्वं निरवयववृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेयत्ववदिति सप्रतिसाधनता, संयोगिव्यापिनि सावयवत्वधर्मे परस्यानैकान्त्यात् । न च द्वितीयसंयोगानुपपत्तिदोषः, पार्थिवाप्यपरमाण्वोः संयुक्तयोः सजातीयाण्वन्तरसंयोगात्

किमित्युभयसिद्धधर्म्यभावः, त्वद्रीत्या संयोगित्वमेव पक्षीकृत्य शक्यप्रयोगत्वादिति, तत्राह—**न च संयोगित्वमिति** । संयोगिनिष्ठघटत्वादिव्यावर्तनायात्यन्ताभावपदम् । यस्य हि सावयवमेव संयोगीति मतं तन्मते सावयवत्वेऽनैकान्तिकमित्यर्थः । किंच संयोगित्वं गुणादिवृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेयत्वादिवदिति शक्यानुमानत्वादाभाससमानयोगक्षेमत्वम् । यच्च द्वितीयसंयोगाभावो न दोषाय प्रथिमानुपपत्तेरदूषणत्वादित्युक्तम्, तत्राह – **न चेति** । माभूत्प्रथिमानुपपत्तिर्दोषः, द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरेव दोषः, अपसिद्धान्तापत्तेरित्याह—**पार्थिवाप्येति** । यदा हि पार्थिवपरमाणोराप्यपरमाणौ संयोगो जायते, तदनन्तरं च पार्थिवस्यान्येन पार्थिवेन आप्यस्याप्यन्येनाप्येन संयोगो जायते, तदा पार्थिवाभ्यां पार्थिवद्व्यणुकम् आप्याभ्यां चाप्यद्व्यणुकमिति द्वयं युगपदारभ्यत इति भवतां समयः, ततश्च पार्थिवाप्यपरमाण्वोः प्रथमं संयोगः, संयुक्तयोरेव पुनः सजातीयाणुभ्यां संयोगनिष्पत्तिरिति तदनुपपत्ति-

---

परमाणु के संयोगित्व का अनुमान नहीं हो सकता है, क्योंकि उभयवादी से सिद्ध परमाणु रूप धर्मी का ही अभाव है (संयोगित्व, निरवयवद्रव्यवृत्ति हैं, संयोगिनिष्ठ अत्यन्ताऽभाव के अप्रतियोगी होने से, मेयत्व समान) इससे पूर्व अनुमान को सप्रतिसाधनता (सत्प्रतिपक्षता) है यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि संयोगी का व्यापक सावयवत्व धर्म में निरवयववृत्तित्व रूप साध्य नहीं रहता है, और पर हेतु (प्रतिपक्ष का हेतु) रहता है, अतः अनैकान्तिकत्व है, अर्थात् सावयव ही संयोगी होता है, ऐसा जिसका मत है, उसके मत में सावयवत्व में मेयत्व रूप हेतु अनैकान्तिक है । और परमाणु में द्वितीय संयोग का अभाव दोषावह नहीं होता है, क्योंकि परमाणुजन्य द्व्यणुक में प्रथिमा की अनुत्पत्ति से दोष का अभाव रहता है, यह कहा था, वहाँ कहा जाता है कि द्वितीय संयोग की अनुपपत्ति अदोष रूप नहीं हो सकता है, क्योंकि द्वितीय संयोग अवश्य अभ्युपेय (मन्तव्य) है, क्योंकि उसके बिना प्रथिमा की अनुत्पत्ति रूप दोष के नहीं होते भी द्वितीय संयोग की अनुत्पत्ति ही दोष है । क्योंकि जहाँ पार्थिव और जलपरमाणु संयुक्त रहते हैं पार्थिव परमाणु को सजातीय परमाण्वन्तर के संयोग से पार्थिव द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, जलीय परमाणु को सजातीय परमाण्वन्तर के संयोग से जलीय द्व्यणुक की

द्व्यणुकोत्पत्तौ द्वितीयसंयोगस्यावश्याभ्युपेयत्वात्, कारणाकारणसंयोगेन कार्याकार्यसंयोगस्येष्टत्वाच्च।

न चावयवी कश्चित्संभवति, यः परमाणुभिरारभ्यते। न चैकस्थूल-नीलावभासो बाह्ये प्रमेत्यनुमानात्तत्सिद्धिः, यादृगवयवानामवयव्यारम्भक-ताभ्युपेयते, तेषामेवैकस्थूलनीलावभासगोचरत्वोपपत्तेरर्थान्तरत्वात्। न

दोषायैवेत्यर्थः। अथेयमपि प्रक्रिया मा भूत्किं नश्छिन्नमिति? तत्राह—**कारणेति।** अयमर्थः—संयोगजसंयोगप्रकरणे ह्येकस्माद् द्वाभ्यां बहुभ्यश्चैकस्य संयोगस्योत्पत्ति-मुक्त्वा पुनरेकस्मात्संयोगाद् द्वयोः संयोगोत्पत्तावित्थमुदाहृतं भवद्भाष्यकृता—'यदा पार्थिवाप्यो' रित्यारभ्योक्तप्रकारेण द्व्यणुकयोरुत्पत्तिमुक्त्वा ततो 'यस्मिन्नेव काले द्व्यणुकयोः कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणगतात्संयोगा-दितरेतरकार्याकार्यगतौ संयोगौ युगपदुत्पद्येते' इत्यन्तेन। उपपत्तिरपि तैरेवोक्ता—'किं कारणम्? कारणसंयोगिना हि कार्यमवश्यं संयुज्यते इति हि न्यायः' इति। तस्मात्त्वयोदिता द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरनिष्टापत्तिरेवेति।

यच्चावयविसाधनं पूर्ववादिना कृतम् तदपि दूषयितुं क्रमते—**न चावयवीत्या-दिना।** यच्च मानमनोहरीयमनुमानम्, तत्र बाह्यविषयत्वेऽप्यवयवैरर्थान्तरतामाह—**न चैकस्थूलनीलेत्यादिना।** नन्ववयवानामनेकत्वादेकबुद्धिविषयत्वानुपपत्तिरिति,

---

उत्पत्ति होती है। अतः द्वितीय संयोग अवश्य मन्तव्य होता है, क्योंकि पार्थिव और जलीय परमाणु का एक प्रथम के संयोग रहते, दूसरे सजातीय परमाणु के साथ दूसरे संयोगों के बिना द्व्यणुक की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि दूसरे संयोग नहीं हो तो द्व्यणुक की अनुत्पत्ति दोष रूप ही है। और कारणाकारणसंयोग से कार्याकार्यसंयोग आप को इष्ट है, वह भी द्वितीय संयोग के बिना नहीं सिद्ध होगा। जैसे हस्त-तरुसंयोग से कायतरुसंयोग माना जाता है, उसको संयोगज संयोग भी कहते हैं, और शरीर का अवयव रूप कारण हस्त अकारण तरु के संयोग से हस्त का कार्य शरीर और अकार्य तरु का संयोग माना जाता है। वैसे ही पार्थिव परमाणु का जलीय द्व्यणुकादि से संयोग कारणाकारण संयोग होगा, और उससे जो परमाणु कार्य का अन्य के साथ संयोग माना जायगा वह कार्याकार्य संयोग होगा। वह द्वितीय संयोग के बिना नहीं हो सकता है।

किसी अवयवी का सम्भव नहीं है कि जिसका परमाणुओं से आरम्भ हो। एक स्थूल नील बाह्यवस्तुविषयक ज्ञान रूप प्रमा होती है, इस पूर्वोक्त अनुमान से अवयवी की सिद्धि होती है। यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जैसे अवयवों को अवयवी के आरम्भक मानते हैं, उन अवयवों में ही एक स्थूल नीलावभास = प्रतीतिविषयत्व, की सिद्धि से अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, यदि कहें कि अनेक

चानेकेषामेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तिः, एकप्रावरणाद्यर्थक्रियाहेतुत्वोपाधौ बहूनामपि तन्तूनामेकप्रत्ययत्वोपपत्तेः। दृश्यते हि बहूनामपि वर्णानामेकार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपाधावेकं पदमिति बुद्धिगोचरता। कम्पाकम्पावरणानावरणरक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गादवयविन एकत्वानुपपत्तेश्च। न चावयवानां तथात्वेऽप्यवयविनोऽतथात्वम्, तथात्वे सति युतसिद्धिप्रसङ्गात्। न च युतसिद्धेरनिरुक्तिः, घटपटयोरिव द्रव्ययोः समवायायोग्य-

---

तत्राह—न **चानेकेषामिति**। यथा हि बहूनामपि वर्णानां बहूनामपि पदानामेकपदार्थादिबुद्धिजनकत्वोपाधावेकं पदमेकं वाक्यमिति बुद्धिविषयत्वम्, न पुनस्तादृशः कश्चिद्वर्णाद्यतिरिक्तोऽर्थः, तथेहाप्येकार्थक्रियोपाधौ बहूनामेव तन्तूनामेकबुद्धिविषयत्वं किमिति न संभवतीत्यर्थः। न च परमाणूनामप्रत्यक्षत्वात्प्रत्यक्षबुद्धयविषयत्वमिति वाच्यम्, तादृशपरमाणूनामेवासिद्धेः। विरुद्धधर्मसंसर्गलक्षणतर्कविरोधमपि समर्थयते—**कम्पेति**। पूर्वोक्तं पूर्वपक्षाशयं निराचष्टे—**न चावयवानामिति**। ननु युतसिद्धत्वमेव विकल्पपूर्वं दूषितम्, तत्राह—**न च युतेति**। नात्र भेदादियुतसिद्धिरापादिता, घटपटयोर्द्रव्ययोर्यादृशी युतसिद्धिः समवायायोग्यत्वात्मिका सैवात्र चलाचलत्वादिनापादनीयेति, चलाचलयोरपि द्रव्यगुणयोस्तदयोग्यता नास्तीति द्रव्ययोरित्युक्तम्। इत्थमेव च युतसिद्धिरभ्युपेया भवतापि, इतरथा नित्यानित्यसाधारणयुतसिद्धेरभावात्, पृथगाश्रयाश्रयित्वस्य परमाण्वादिष्वभावात् पृथग्गतिमत्त्वस्य च गुणादावभावादननुगतिः स्यात्। नवानुगतनिमित्ताऽसंभवे साधारणशब्दता युक्ता। न चैवंविधयुतसिद्धिर्गुणादावपि शक्यप्रसञ्जना, कम्पादेस्तत्रापि समानत्वादिति वचनीयम्, इष्टत्वात्। नचाप्रमितस्य समवायस्य निषेधानुपपत्तिः, शुक्तिरजततादात्म्यवद् भ्रान्तिसिद्धस्यापि निषेधोपपत्तेः। एवं च यदाह किरणावलीकारः—

अवयवों में एक ज्ञानविषयता की अनुपपत्ति है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि बहुत तन्तुओं में एक प्रावरण = आच्छादनादि अर्थक्रिया (फलक्रिया) के हेतुत्व की सिद्धि होने पर एक ज्ञानत्व की भी सिद्धि होती है, जैसे कि बहुत वर्णों में भी एकार्थप्रतीति के हेतुत्व रूप निमित्त के होने पर, एक पद है ऐसी बुद्धि की विषयता देखी जाती है। और कम्प-अकम्प, आवरण, अनावरण, रक्तत्व, अरक्तत्व स्वरूप-विरुद्ध धर्म को सम्बन्ध से अवयवी के एकत्व की अनुपपत्ति से भी अवयवी सिद्ध नहीं होता है। यदि कहें कि अवयवों में कम्पादि होते भी अवयवी में अतथात्व (अकम्पादि) रहता है, अतः एक में विरुद्ध धर्म की प्राप्ति नहीं होती है, तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि तथात्व (ऐसा) होने पर युतसिद्धि का प्रसङ्ग होगा। युतसिद्धि की अनिरुक्ति नहीं कह सकते हैं, घट-पट के समान दो द्रव्य के समवायायोग्यत्व को युतसिद्धि पद से कहा जाता है। युतसिद्धत्व होने पर भागभागी

त्वस्य युतसिद्धिपदेनाभिलापात् । न च युतसिद्धत्वे भागभागिव्यवहारगोचरत्वानुपपत्तिः, पदवाक्यादिवदुपपत्तेः ।

यत्तूक्तं नावयविनोऽवयवानां वा रक्तत्वम्, किंतु महारजनादिद्रव्यस्यैव तत्संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वादेव रक्तारक्तत्वव्यवहारो विभागश्च सिद्धयतीति, तदसत्, अव्याप्यवृत्तित्वस्यानिरुक्तेः । तत्किं प्रदेशवृत्तित्वम् ? उत स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् ? नाद्यः, आरम्भकप्रदेशातिरेकेणावयविनः प्रदेशान्तराभावात् । प्रदेशवृत्तित्वे संयोगस्य, अवयविनः सर्वत्र संयोगानधिकरणत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशतद्वतोर्भिन्नत्वात् । न द्वितीयः, भावस्य स्वात्यन्ता-

---

'तस्माद्युतसिद्धिमजानन्नेव शब्दसिद्धिमात्रेण परो ध्वनयती'ति, तदात्मन्येव परावर्तितम् । ननु यदि युतसिद्धिस्तर्हि घटपटवदेव भागभागिव्यवहारो न स्यात् इति, तत्राह—**न च युतसिद्धत्व इति** । नहि पदादीनां वर्णादीनां वाऽयुतसिद्धिरस्ति, अथाप्यस्ति भागभाग्यादिव्यवहारः पञ्चावयवं वाक्यमित्यादिष्वेवमिहापीत्यर्थः ।

रक्तारक्तत्वयोरपि तदुक्तं परिहारमनूद्य दूषयति—**यत्तूक्तमित्यादिना** संयोगस्याव्याप्यवृत्तितया हि तदधीनरक्तारक्तव्यवहारस्य व्यवस्था क्रियते, तदसत्, अव्याप्यवृत्तिताया दुर्निरूपत्वादित्याह—**अव्याप्येति** । कोऽयं प्रदेशः ? किमारम्भकावयवव्यतिरिक्ताः केचिदवयवाः ? किं वा त एव ? आद्योऽसंभवतीत्याह—**नाद्य इति** । द्वितीये प्राह—**प्रदेशेति** । प्रदेशेभ्य आरम्भकावयवेभ्यो विभिन्नोऽवयवी, तथा च प्रदेशवृत्तित्वेन संयोगस्य न क्वचिदप्यवयविनां संयोगित्वमिति द्रव्यत्वव्याहतिः ।

(अंश-अंशी = अवयव-अवयवी) व्यवहारविषयत्व की अनुपपत्ति होगी, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि पद, वाक्यादि के समान भाग-भागी का व्यवहार होगा ।

और जो यह कहा था कि, अवयवी को वा अवयवों को रक्तत्व नहीं होता है, किन्तु महारजनादि रूप द्रव्य को ही रक्तत्व रहता है, और उस द्रव्य के संयोग के अव्याप्यवृत्ति होने ही से रक्तत्व-अरक्तत्व का व्यवहार और विभागसिद्ध होता है । यह कहना भी असत् है । क्योंकि अव्याप्यवृत्तित्व की निरुक्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि, वह अव्याप्यवृत्तित्व, क्या प्रदेश (एकदेश) वृत्तित्व रूप है, या स्वात्यन्ताभाव-समानाधिकरणत्व रूप है, प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि आरम्भक अवयव से भिन्न अवयवी के प्रदेशान्तर का अभाव रहता है, और आरम्भक अवयवों से अवयवी आपके मत में भिन्न माना जाता है, अतः संयोगों को प्रदेश = अवयववृत्तित्व होने पर, कहीं भी अवयवी को संयोगित्व नहीं होगा कि जिससे द्रव्यत्व का भी अभाव होगा इत्यादि । अर्थात् संयोग के अवयववृत्तित्व होने पर सर्वत्र अवयवी को संयोगानधिकरणत्व प्राप्त होगा, क्योंकि प्रदेश (अवयव) और अवयवी में भिन्नता रहती है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि

भावसमानाधिकरणत्वे भावाभावविरोधोच्छेदप्रसङ्गात्। प्रतियोगिसमानदेशकालत्वेऽत्यन्ताभावस्यान्योन्याभावत्वप्रसङ्गाच्च।

न च नेदमिह नेदमिदमिति विलक्षणबुद्धिवेद्यत्वाद् भेदः, असति प्रमेयवैलक्षण्ये बुद्धिवैलक्षण्यासंभवात्। न च प्रतियोगिनिष्ठानिष्ठत्वेन विशेषः,

---

तस्य तद्व्याप्यत्वात्, कारणसंयोगस्य कार्यसंयोगोपजनननियमाच्चेति भावः। **भावस्येति**। संयोगाख्यस्येत्यर्थः। किंचैवं सति रक्तत्वतदत्यन्ताभावयोरेकस्मिन्नेवावयविनि वृत्तिरित्युक्तं भवेत्तथा च स एव दुरात्मा विरुद्धधर्माध्यासो दुरुद्धरः स्यात्। न भावाभावयोर्विरुद्धत्वं किंतु तद्विशेषगोत्वादेरश्वत्वादाविति चेत्, नूनं पितृभ्यां शिक्षितोसि? कथमन्यथा भावाभावयोर्विरोधमननुमन्य तदाम्रातयोर्विरोधमनुमन्यसे? अस्ति चात्राभाणकः 'पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि' इति। इममेव विरोधोच्छेदप्रसङ्गं बाधकं संयोगतदत्यन्ताभावयोरेकत्र वृत्तौ बाधकमपश्यते श्रीवल्लभाय व्याचक्षीत। किंच संयोगादेरत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वेन्योन्याभावतैवास्य स्यात्, स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणनिषेधत्वस्यान्योन्याभावलक्षणत्वादित्याह—**प्रतियोगीति**। अत्र लीलावतीकारेणेममेव दोषमाशङ्क्य समादधे 'नेदमिदं नेदमिहेति विलक्षणबोधवेद्यत्वात्' इति।

तद्दूषयति—**न चेति**। न बुद्धिवैलक्षण्यमात्रमर्थसाधकम्, अतिप्रसङ्गात्, अपि त्वबाधितम्। नचेह तत्, लक्षणाद्यभावेन दुर्निरूपभेदत्वादित्यर्थः। ननु प्रतियोगिनिष्ठत्वमस्त्यत्यन्ताभावस्य, अन्योन्याभावस्य तु तन्नास्ति, नित्यत्वेन तु प्राक्प्रध्वंसयोर्व्युदास इत्ययमेवास्तु तयोर्विशेष इति, तत्राह—**न च प्रतियोगीति**। प्रतियोगित्वानिरुक्तेर्यत्किंचित्प्रतियोगित्वस्वप्रतियोगित्वविवक्षयोरनुपपत्तेश्चेदमभावखण्डन एव निरस्तमित्यर्थः। यत्तु वृत्तिविकल्पेन दूषणं पूर्वपक्षावसरे उक्तम्, तदपि समर्थयते—

भाव वस्तु को अपने अत्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरणत्व (एकाधिकरणवृत्तित्व) होने पर, भावाभाव के विरोध का उच्छेद (अभाव) प्राप्त होगा। और प्रतियोगी के साथ समान देशकाल वाला होने पर अत्यन्ताऽभाव को अन्योन्याभावत्व प्राप्त होगा।

यदि कहें कि (इदम् इह न) यह रूप इस वायु में नहीं है। और (इदम् इदम् न) यह रूप इस रजत स्वरूप नहीं है। इस प्रकार की विलक्षण बुद्धि से वेद्यत्व मात्र भेद रहेगा, तो यह कहना नहीं बन सकता है, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव रूप प्रमेय में विलक्षणता के बिना बुद्धि में विलक्षणता नहीं हो सकती है। यदि कहें कि अत्यन्ताभाव प्रतियोगी में भी रहता है, अन्योन्याभाव में नहीं, अतः प्रतियोगि-निष्ठत्व प्रतियोगि-अनिष्ठत्व से विशेष (भेद) होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उस प्रतियोगित्वादि का प्रथम अभाव है निराकरण प्रकरण में

तस्याभावप्रकरण एवापाकरणात्। किंचावयवेष्ववयवी व्यासज्य वर्तते ? यथा द्वित्वादि, किं वा प्रत्येकं परिसमाप्य ? यथा पराभिमता जातिः। आद्ये बहुत्वसंख्यादिवदेव समस्तावयवानामग्रहणे न गृह्येत। द्वितीये जातिवदेव पट इति प्रत्ययः प्रत्यवयवं स्यात्, तस्यैव च कार्यान्वयात् शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः। स्तनाद्यवयवविशिष्टस्यैव तत्तत्कार्यकरणत्वान्नाति-

---

किंचेत्यादिना। व्यासज्य परिसमाप्येत्यर्थः। आदिशब्दात्त्रित्वादित्रिपृथक्त्वादि-संयोगविभागाश्च गृह्यन्ते। **पराभिमतेति।** स्वपक्षे हि जातावेव व्यक्तीनां कल्पितत्वाद्वास्तवजातेरभावाच्चेत्यर्थः ? एतच्च द्वित्वादावपि समानम्। स्यादेतद्बहुत्वं नाम त्रित्वाद्यभिधीयते तच्चापेक्षाबुद्धिजन्यम्, तथाच समस्ताश्रयग्रहणाभावेऽपेक्षाबुद्धिलक्षणनिमित्तकारणाभावात् बहुत्वमेव नास्ति कस्याग्रहणं दृष्टान्त्यते ? तस्मादयुक्तमिवैतत् यद्बहुत्वसंख्यावदिति निदर्शनदानम्, मैवम्; युक्तं चैतत्। नहि उत्पादिकापेक्षाबुद्धिरेव बहुत्वज्ञानमपितूत्पन्नायां पश्चाद्भाविज्ञानान्तरम्, तथा च तदर्थमप्याश्रयग्रहणमपेक्षणीयम्। यथाहुः—'आश्रयग्राहकैरिन्द्रियैर्घटत्वसंख्यादिज्ञानम्' इति। तथा च तदवस्थबहुत्वाग्रहणं शक्यं दृष्टान्तयितुम्। न च समस्तावयवग्रहणं क्वचिदपि संभवतीत्यग्रहणमेव नित्यमवयविनः स्यादिति भावः। प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तिपक्षे दोषमाह—**द्वितीय इति।** यथा हि प्रतिव्यक्ति गौर्गौरिति जातिः प्रतीयते, एवं प्रतितन्तु पटः पट इति प्रतीयेत, नचैवमस्तीत्यर्थः। ननु न शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्तिः, तत्तदवयवविशिष्टस्यैवावयविनः कार्यकरत्वोक्तेरिति, तत्राह—**स्तनादीति।**

निराकरण किया गया है। और यह विचारणीय है कि द्वित्वादि के समान अवयवी अवयवों में व्यासक्त होकर रहता है, या जाति के समान प्रत्येक अवय में परिसमाप्त (पूर्ण) रूप से रहता है। प्रथम पक्ष में बहुत्व संख्या आदि के समान ही सम्पूर्ण अवयवों के ग्रहण नहीं होने पर अवयवी का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होगा। दूसरे पक्ष में जैसे प्रतिव्यक्ति में जाति गृहीत होती है, वैसे ही पद रूप अवयवी का प्रत्येक अवयव में पट ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है, होना ही चाहिये। और जाति के समान अवयव में अवयवी रहेगा तो उस अवयववृत्ति अवयवी को ही कार्य के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होने से शृङ्ग से भी स्तन का कार्य करना प्राप्त होगा। यदि कहें कि शृङ्ग से स्तनकार्यकरण की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि स्तनादि अवयवयुक्त ही अवयवी को तत्तत् कार्यकरणत्व (हेतुत्व) होता है, शृङ्ग में अवयवी रहता है, परन्तु स्तनविशिष्ट रूप से नहीं रहता है, अतः वहाँ स्तन कार्यकारी नहीं होता है। तो यह कहना युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जैसे संस्थान = संचय = स्थान रूप

प्रसङ्ग इत्यपि न वाच्यम्, यादृशसंस्थानेष्ववयवेष्ववयवी समवेत इष्यते, तेषामेव तत्तत्कार्यकरणत्वोपपत्तेरवयविनो वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। किंचावयविनः प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तौ कतिपयावयवनाशेऽपि जातिवदसाववतिष्ठेत। समवायिकारणमन्तरेण कथमवस्थानमिति चेत्, तर्हि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तावपि सकलसमवायिकारणसहित एवावतिष्ठेत, तथा च शृङ्गेणापि स्तनकार्यप्रसङ्गः पूर्वोक्त एवानुवर्तते, तत्तदवयवविशिष्टस्यैव तत्र तत्र भावात्। प्रत्यवयवं निखिलावयवोपलम्भश्च स्यात्। तदित्थं वृत्तिविकल्पस्य

हेतुमाह—**यादृशेति**। यदि ह्यवयविनमभ्युपेत्यावयववैशिष्ट्यं प्रार्थ्यते, तर्हि तैरवयवैरस्तु तत्तत्कार्यनिर्वृत्तिः, कृतमितरेण, तत्र च पारिप्लवपरिहारायोक्तम्—**यादृशसंस्थानेष्विति**। अस्मिन्नेव पक्षेऽनिष्टान्तरं चाह—**किंचेति**। **जातिवदिति**। यथा कतिपयव्यक्तिनाशेपि व्यक्त्यन्तरमवलम्ब्य जातिर्जीवत्येवमित्यर्थः। स्यादेतत्, विषम उपन्यासः, नित्या हि जातिरतः कतिपयव्यक्तिनाशेपि युक्तं तस्या व्यक्त्यन्तरावलम्बनेनाप्यवस्थानम्। अत्र त्ववयवैरारभ्योऽवयवी, ततश्चैकतरनाशेपि समवायिकारणस्य तन्तुसंयोगलक्षणासमवायिकारणस्य च नाशात्कथमस्यावस्थानमिति शङ्कते—**समवायीति**। एवं तर्हि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्त्यवयविनः सकलसमवायिकारणमपि। प्रत्यवयवं वर्तेत, इतरथा समवायिकारणव्यतिरेकेण तत्र वृत्त्ययोगात्। तथाच शृङ्गेपि स्तनादिसमस्तावयवाः सन्ति, स्तनादावपि च शृङ्गादय इति पूर्वोक्तपारिप्लवो वज्रलेपायते इति परिहरति—**तर्हीति**। तत्रैवाहेतुस्तत्तदवयवेनि। दूषणान्तरं चाह—**प्रत्यवयवमिति**। यत्तु स्वपरमतयोर्व्याप्त्यसिद्ध्या विकल्पानुत्थानमुक्तं तद्दूषयति—**तदित्थमिति**। बहुत्वगोत्वादावित्यर्थः।

अवयवों में अवयवी को समवेत मानते हैं, उन अवयवों को ही तत्तत् कार्यकरणत्व की सिद्धि होने से अवयवी की व्यर्थता की प्राप्ति होती है। और यह भी आपत्ति है कि जाति के समान अवयवी की प्रत्येक अवयव में परिसमाप्त (पूर्ण) रूप से वृत्ति होने पर कतिपय अवयवों के नाश होने पर भी अवयवी रहेगा, अतः यत्किञ्चित् अवयव के नाश से पट के नाशपूर्वक खण्ड पट की उत्पत्ति मानना युक्त नहीं होगा। यदि कहें समवायिकारण अवयव के नाश होने पर अवयवी की स्थिति कैसे रहेगी, उसका नाश होगा ही। तब तो सिद्ध होता है कि प्रत्येक अवयव में परिसमाप्त रूप से वृत्ति होते भी सम्पूर्ण समवायिकारण सहित ही अवयवी रहता है, और प्रत्येक अवयव में रहता है, तो ऐसा होने पर शृङ्ग से भी स्तन के कार्य की प्राप्ति रूप पूर्वोक्त दोष ही आवृत्त (पुनः प्राप्त) होता है। क्योंकि तत्तत् (सर्व) अवयव युक्त ही अवयवी का तत्तत् प्रत्येक अवयवों में भाव (सत्त्व) है। और सर्वावयवयुक्त का प्रत्येक अवयव में भाव होने पर प्रत्येक अवयव में सब अवयवों का ज्ञान भी होना चाहिये। अतः इस उक्त रीति से साकल्येन एकदेशेन वा इत्यादि वृत्तिविकल्प के

परसिद्धव्याप्त्युपजीवित्वात् स्वसिद्धां परसिद्धां वेति विकल्पोऽनवसरदुःस्थ एव ।

न च सर्वस्यास्य प्रसङ्गस्यावयविनः प्रमाणसिद्धावसिद्धौ च धर्मिग्राहक-प्रमाणबाधाश्रयासिद्धिदोषौ, यतः—

प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यात्सिद्धस्यैवाश्रयत्वतः ।
देहात्मतावन्नियमाल्लक्षणैश्च व्यवस्थितेः ॥ ३९ ॥

दूषणान्तरमप्यनूद्य दूषयति—**न च सर्वस्येति** । न दोषा इत्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**प्रमितत्वस्येति** श्लोकेन । सिद्धत्वे प्रमितत्वाभावापराधेनाश्रयत्वाभावादर्शनात्प्रमितत्वविशेषणं व्यर्थमतः सिद्धस्यैवाश्रयत्वं युक्तम् । ननु कल्पितश्चेदवयवी किमित्यवयवेष्वेव कल्प्यते, न पुनरन्यत्र ? शुक्तिरजतादिकल्पनावच्चानर्थक्रियाक्षमो वा किं न स्यादिति ? तत्राह—**देहात्मतावन्नियमादिति** । यथा देह एवात्मत्वं कल्प्यते, नतु घटादौ, तत्कस्य हेतोः ? अनुभवादेव । यथा च कल्पितत्वाविशेषेपि देहात्मत्वादेरेवार्थक्रियाक्षमत्वं न रजतादेरेवमत्रापीत्यर्थः । कथं तर्हि तत्त्वनिर्णयार्थं कथाप्रवृत्तिः ? नह्याभासवर्जनमनाभाससाधनदूषणस्वीकारं च विना कथाप्रवृत्तिः । इतरथा आभासप्रयोक्तुरिवानाभासप्रयोक्तुरपि पराजयः स्यादाभासप्रयोक्तुरपि चेतरवज्जयः स्यादिति, तत्राह—**लक्षणैश्चेति** । यद्यपि कल्पितत्वं समानम्, तथापि सत्तासत्ताभ्युपगमव्यतिरेकेणोभयसंप्रतिपन्नलक्षणस्वरूपमादायाभासानाभासव्यवस्थायां सिद्धायामनाभासैर्व्यवहर्तव्यम्, आभासा वर्जनीयाः । एवं निर्वोढुर्विजयः, इतरस्य तु पराजय इति व्यवहारनियमबन्ध एव कथाङ्गम्, नतु धर्म्यादिसत्ता । इतरथाऽसद्वादिनां परस्परं जयपराजयाव्यवस्थापातात् । नचासत आभासानाभासद्वैविध्यं न घटत इति वचनीयम्, सत्त्वव्यतिरेकेणापि लक्षणवत्त्वतद्राहित्याभ्यामनाभासाभासव्यवस्थो-

---

पर (प्रतिवादी) के मत में सिद्ध व्याप्ति के उपजीवित्व होने से पूर्वोक्त स्वसिद्धां परसिद्धां वा यह विकल्प अनवसर दुःस्थ ही है ।

और प्रथम कहा था कि अवयवी के प्रमित होने पर अवयवी के निषेधक हेतु बाधित होते हैं, अप्रमित होने पर आश्रयासिद्धि होती है । अतः अवयवी की प्रमाण से सिद्धि और असिद्धि दोनों अवस्था में क्रम से धर्मीग्राहक प्रमाण से बाध और आश्रयासिद्धि दोष इस सब प्रसङ्ग को प्राप्त होते हैं । यह कहना भी नहीं बनता है । क्योंकि—

प्रतीति मात्र से ही सिद्ध को आश्रयत्व होने से प्रमितत्व की व्यर्थता सिद्ध होती है । और अवयवी के कल्पित होते भी जैसे देह ही में आत्मत्व कल्पित होता है । लोष्ठादि में नहीं, वैसे अवयवों में नियम से अवयवी कल्पित होता है । और लक्षणों से व्यवस्था होती है ॥ ३९ ॥

प्रसिद्धतामात्रेणाश्रयत्वोपपत्तौ प्रमाणविशेषणवैयर्थ्यात् । न चैवमवयविनः शशविषाणतुल्यता, अपरोक्षप्रतीतिगोचरत्वेनार्थक्रियाकारितया च तद्वैलक्षण्यात् । न च कल्पनाकोशस्य निरङ्कुशप्रसरतयाऽतिप्रसङ्गः, देहात्मभाववत्प्रतिनियमोपपत्तेः । न हि देहादावात्मभावः कल्पित इति घटादावपि कल्प्यते । न च कल्पितोऽपि सोऽर्थक्रियाकारीति भवति शुक्तिरजताद्यर्थक्रियाकारि । एवमनभ्युपगमे कथायामप्रवृत्तिरेव स्यात्, उभाभ्यां धर्मिणः

पपत्तेः । तल्लक्षणरहितस्तद्वदवभासमानो हि तदाभासः । इतरथा सत्त्वाविशेषाद्भवतामप्याभासानाभासविवेकाभावापातादिति भावः ।

श्लोकं विवृणोति—**प्रसिद्धतेति** । देहात्मतावदित्येतद्विवृणोति—**न च कल्पनाकोशस्येति** । कोशो भाण्डागारम् । द्वितीयं नियमं विवृणोति—**न च कल्पितोऽपीति** । अथ किमित्यत्यन्तसत्त्वमेव नाश्रीयते इति ? तत्राह—**एवमिति** । अवश्यं तावत्सद्वादिना अनिर्वचनीयवादिनं प्रति सत एव कथाङ्गत्वमित्येतत्प्रसाधनायैवादासीनसदसत्त्वाभ्युपगमं किंचित्साधनमेकस्यां कथायामुररीकरणीयम् । इतरथा प्रथममेव मतिकर्दमे कथानारम्भप्रसङ्गात्, अनवतीर्णकथापथं प्रति च साधकबाधकप्रयोगायोगात् । तथा च कथान्तरेऽपि तादृश एव धर्म्यादित्वोपपत्तौ वृथा तदनुपयोगिसदसदादिकथेत्यर्थः । तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः—

अर्थात् अवयवी की प्रसिद्धता मात्र से आश्रयत्व की सिद्धि होने पर, प्रमाण विशेषण (प्रमितत्व विशेषण में व्यर्थता होती है । यदि कहें कि अवयवी में प्रमाण सिद्धत्व नहीं होने पर, अवयवी को शशशृङ्ग तुल्यता होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान के विषय होने से तथा अर्थक्रियाकारिता से शशविषाण से विलक्षणता सिद्ध हो जाती है । यदि कहें कि कल्पना कोश (भण्डार) की निरङ्कुशप्रसरता (विस्तार) से अतिप्रसङ्ग होगा (अवयवों से अन्यत्र भी अवयवी की कल्पना होगी) तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि देह में आत्मत्व की कल्पना के समान, अवयवावयवी के प्रति नियम की स्वाभाविक सिद्धि होती है । स्वभाव से ही देहादि में आत्मभाव कल्पित है, ऐसे घटादि में आत्मभाव नहीं कल्पित होता है । और कल्पित वह देहादि में आत्मभाव अर्थक्रियाकारी (फलसाधन) होता है । परन्तु कल्पित शुक्ति रजतादि अर्थक्रियाकारी नहीं होते हैं । इसप्रकार की व्यवहारसिद्ध व्यवस्था को नहीं मानने पर कथा में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है, क्योंकि वादी और प्रतिवादी दोनों एकस्वरूप से प्रमाणसिद्ध धर्मी को नहीं मान सकते हैं । आपको भी यदि प्रतिपक्ष प्रमित होगा, तो प्रमित सत्य का निषेध अनुपपन्न होगा । और अप्रमित रहते भी अज्ञात का निषेध नहीं हो सकेगा, अतः प्रमितत्व-अप्रमितत्व रहित व्यवस्थायुक्त प्रतीतिसिद्ध को कथा का अङ्ग

प्रमाणसिद्धत्वेनानङ्गीकारात् । तवापि प्रतिपक्षस्य प्रमितावप्रमितौ च निषेधानुपपत्तेश्च । उभयवादिसंप्रतिपन्नलक्षणैरेव धर्मिहेतुदृष्टान्ततदाभासव्यवस्थोपपत्तौ सत्यत्वानङ्गीकारेऽप्यतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात् । एकस्यानेकवृत्तेरवयविनो निरासेनैव संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वसामान्यादयोऽपि परास्ता वेदितव्याः ।

संयोगादिस्वरूपानिरुक्तेश्च । तथा हि—(१) किमप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः ? (२) अनित्यः संवन्धो वा ? (३) जन्यत्वविशेषितो वा ? (४) अव्याप्यवृत्तित्वविशेषितो वा ? (५) द्रव्यासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयो वा ? सर्वथापि नोपपद्यते ।

पूर्वसंवन्धनियमहेतुत्वे तुल्य एव नौ ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥ इति ।

आस्तां वायं वस्तुवृत्तविचारः । तेषु तेषु पूर्वपक्षेषु प्रतिषेधायानूद्यमानेष्वायुष्मतैव तावदेषा रीतिराश्रयणीया । नचारोपशस्त्रग्रहणम्, अन्यत्राप्रमितस्य तत्रारोपेऽनारोहात् । अत्यन्तालीकस्य च नभोमलिनवदनुपादेयतयाऽपरोक्षप्रतिभासायोगादित्यभिप्रेत्याह—**तवापि प्रतिपक्षस्येति** । तुरीयं चरणं विवृणोति—**उभयवादीति** । अवयविन्युक्तन्यायं संयोगादिष्वप्यतिदिशति—**एकस्येति** । आदिशब्देन त्रित्वादि गृह्यते ।

अनवधिविधमप्यबोधविद्धैरणुधिषणैः अधिरोपिताणुभावम् ।
अनणुमतिनिरूपणं त्रिलोकीनिकरपरप्रकृतिं प्रणौमि विष्णुम् ॥

इदानीं प्रसङ्गात्संयोगादिकमपि खण्डयति—**संयोगादिति** । न केवलमवयविवदनेकवृत्तित्वात्संयोगादेरनुपपत्तिः, स्वरूपानिरुक्तेश्चेति चार्थः । अत्र समवायनिवृत्तये चतुर्पु पक्षेष्वाद्यं विशेषणम्—**द्रव्येति** । द्रव्यं प्रत्यसमवायिकारणं यत् एतद्वृत्तिर्या

मानना ही होगा कि जिससे उभयवादी से निश्चित लक्षणों के द्वारा ही धर्मी (पक्ष) हेतु दृष्टान्त हेत्वाभासादि की व्यवस्था होने पर, धर्मी आदि को सत्य नहीं मानने पर भी अतिप्रसङ्ग की प्राप्ति नहीं होगी । और एक अवयवी के अनेक अवयव में वृत्तित्व के निराकरण से ही संयोग, विभाग, द्वित्व, द्विपृथक्त्व, सामान्यादि भी निरस्त हो गये, ऐसा समझना चाहिये ।

वृत्तिविकल्प उक्त दूषणों से तो संयोगादि निरस्त हो ही गये, संयोगादि के स्वरूप की अनिरुक्ति से भी उनका निराकरण हो सकता है । क्योंकि, यथा, अप्राप्त दो द्रव्य की प्राप्ति संयोग है, या अनित्य सम्बन्ध है, या जन्य सम्बन्ध है, या अव्याप्यवृत्ति सम्बन्ध है, या द्रव्यासमवायिकारणवृत्ति गुणत्वावान्तर = व्याप्यजातिमत्त्व है । सर्वथा ही संयोग की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि—

अन्योऽन्यसंश्रयापत्तेरतिव्याप्तिप्रसङ्गतः ।
अव्याप्तेरजसंयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥ ४० ॥

न तावदाद्यः, अप्राप्तिशब्देन संयोगाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात् । संबन्धाभावविवक्षायां तन्तुपटयोः संबन्धेऽतिव्याप्तेः । न हि पटोत्पत्तेः प्रावपटस्य तन्तुभिः संबन्धोऽस्ति, संबन्धिनः पटस्यैवाभावात् । समवायस्य

गुणत्वावान्तरजातिः संयोगत्वाख्या तदधिकरणं वेत्यर्थः । रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिपरिहारायाद्यं विशेषणम् । सत्तामादाय द्रव्यकर्मणारतिव्याप्तिपरिहाराय गुणत्वावान्तरजातीयग्रहणम् । तत्रैव वर्तमानावान्तरजातीय इत्येवाभिधानेऽपि गुणत्वजातिमत्तया रूपादावेवातिव्याप्तिस्तद्व्यावृत्त्यर्थम् गुणत्वग्रहणम् । अनुपपत्तिहेतून् श्लोकेन संगृह्णाति—**अन्योऽन्येति** । अप्राप्तयोरित्यत्र किमप्राप्तशब्देन संयोगाभाववान् ? संबन्धाभाववान् वा विवक्ष्यते ? प्रथमे संयोगसिद्धौ लक्षणसिद्धिर्लक्षणसिद्धौ संयोगसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः, संयोगस्याद्याप्यसिद्धेरित्याह—**अन्योऽन्येति** । द्वितीये तन्तुपटादिसमवायेऽतिव्याप्तिः । उत्पत्तेः प्रागसंबद्धयोरेवावयवावयविनोः समवायसंबन्धेऽतिव्याप्तिः । समवायनित्यत्वेपि प्राक् तदीयत्वाभावेन तस्याप्राप्तयोः प्राप्तित्वादित्याह—**अतिव्याप्तीति** । प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थेषु च दूषणमाह—**अव्याप्तेरजसंयोग इति** । नह्यजसंयोगस्य विभुमात्रवर्तिनोऽनित्यत्वं जन्यत्वमव्याप्यवृत्तित्वं वा संभवति ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । पञ्चमे दूषणमाह—**द्रव्यत्वादीति** ।

संग्रहं विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । आत्माश्रयग्रहणमन्योन्याश्रयस्याप्युपलक्षणम् । ननु माभूत्संबन्धिनः पटस्य पूर्वम् भावः, तथापि तत्संबन्धस्य समवायस्य नित्यतया प्रागपि सत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**समवायस्येति** । तत्र किं तन्तुपटविशेषित एव समवायः प्रागप्यस्ति ? किं वा स्वरूपेणैव ? नाद्य, कार्यसंसर्गस्य

अन्योन्याश्रय की प्राप्ति, अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग, तथा अज के संयोग में अव्याप्ति और द्रव्यत्वादि के अनिरूपण से लक्षणों की सर्वथा अनुपपत्ति है ॥ ४० ॥

अप्राप्त की प्राप्ति यह आद्य संयोग का लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि अप्राप्ति शब्द से संयोगाभाव की विवक्षा होने पर, संयोगाभाव का अभाव संयोग होता है, ऐसा अर्थ होने से आत्माश्रयत्व प्राप्त होता है, और अप्राप्ति शब्द से सम्बन्धाभाव की विवक्षा होने पर सम्बन्धरहित का सम्बन्धसंयोग होता है, यह अर्थ होगा, अतः तन्तु और पट के सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि पट की उत्पत्ति से पूर्वकाल में पट का तन्तु के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है । क्योंकि सम्बन्धी पट ही प्रथम नहीं रहता है, तो उसका सम्बन्ध कैसे रह सकता है । यदि कहें कि पट का तन्तु के साथ समवायसम्बन्ध माना जाता है, और वह समवाय नित्य सम्बन्ध है, अतः तन्तु के सम्बन्धी पट की उत्पत्ति से प्रथम भी समवाय रहता है । तो कहा जाता है कि इस-

नित्यत्वादसत्यपि संबन्धिनि स भवतीति चेत्, तर्हि पटस्य कारणेषु तन्तुषु सदा समवायात्प्रागपि सत्त्वप्रसङ्गः, तथा तन्त्वादीनामपि कारणानामिति न किंचित्कादाचित्कं स्यात्। अथापि कार्यविशेषितः प्राक् नास्तीति चेत्, तर्ह्यप्राप्तयोः प्राप्तिरिति सोऽपि संयोगः स्यात्। अप्राप्तयोः सतोरिति विशेषणाददोष इति चेत्, न, सदसतोः संवन्धासंभवेन सिद्धस्यैव पटस्य समवाय इत्यवश्याभ्युपेयत्वात् पूर्वदोषानतिवृत्तेः, अजसंयोगेऽव्याप्तेश्च। स एव नास्तीति चेत्, न, आकाशादिकमात्मना संयुज्यते संयोगित्वात् घटव-

---

नित्यतापत्त्या कापिलमतानुमतिकलङ्कलेपापातादित्याह—**तर्हीति**। द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—**अथापीत्यादिना**। ननु तर्ह्यप्राप्तयोः प्राप्तिरित्येतावन्न लक्षणमपित्व-प्राप्तयोः सतोः प्राप्तिरिति, तथाच किरणावलीकारः—'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' इति भाष्यं व्याचक्षाणः प्राह—'विद्यमानयोरप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' इति। तथा च न पूर्वातिव्याप्तिः, पटस्य विद्यमानत्वाभावादिति शङ्कित्वा पुनरपि तत्रैवाति-व्याप्तिमापाद्याह—**अप्राप्तयोरित्यादिना**। एतेनैतदपि निरस्तं यथाहोदयनः—'समवायस्त्वप्राप्तयोर्न संभवत्येव जातेः संबन्धोऽस्येत्येककालतावगमात्' इति। अव्याप्तेरित्येतद्विवृणोति—**अजसंयोग इति**। अजसंयोगे समवायखण्डनावसरोक्त-मेवानुमानं स्मारयति—**आकाशादिकमात्मनेति**। कृतोपपादनाश्च तत्रैवैते ग्रन्थाः।

प्रकार से, पट के सदा कारण रूप तन्तुओं में समवाय के रहने से पट का भी उत्पत्ति से पूर्व ही सत्त्व प्राप्त होगा। अर्थात् पट के सम्बन्ध को नित्य होने पर, पट में भी नित्यत्व प्राप्त होगा। इसीप्रकार से तन्तु आदि कारणों की अपने अवयवों में सदा वर्तमानता से कोई कादाचित्क (किञ्चित्कालवृत्ति) नहीं होगा। यदि कहें कि समवाय कार्य की उत्पत्ति से पहले स्वरूप से रहता है, तथापि कार्यविशेषित स्वरूप से प्रथम नहीं रहता है, अर्थात् कार्यप्रतियोगिक रूप से नहीं रहता है। तब तो प्रथम उसका रहना आकाशादि के रहने के समान हुआ। और अप्राप्त तन्तु पट की उस समवाय से अन्य प्राप्ति (सम्बन्ध) हुई, अतः वह अप्राप्त की प्राप्ति भी संयोग होगा। यदि कहें कि अप्राप्त विद्यमानों (सत् पदार्थों) का सम्बन्ध संयोग होता है, और तन्तुओं में पट प्रथम से नहीं रहता है, अतः उसके सम्बन्ध में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सत् और असत् का परस्पर सम्बन्ध होना असम्भव है, अतः सिद्ध ही पट का तन्तुओं में समवाय होता है, यह अवश्य मानना होगा कि जिससे समवाय में संयोगत्व प्राप्ति रूप पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। और अजों के अजसंयोग में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, इससे भी यह लक्षण अयुक्त है। यदि कहें कि वह अजसंयोग ही नहीं है कि जिसमें अव्याप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि (आकाशादि, आत्म के साथ संयुक्त होते

दिति प्रमाणसिद्धत्वात्। न च मूर्तत्वादिरत्रोपाधिरस्ति, व्यतिरेकासिद्धेः। यदमूर्तं तदात्मना न संयुज्यते यथा रूपमिति व्यतिरेकः, तत्र चासंयोगित्वस्यैवोपाधितया व्यतिरेकासिद्धेः। मूर्तत्वं चावच्छिन्नपरिमाणाधिकरणत्वम्, ततश्च परिमाणाधिकरणत्वेनैव व्याप्तिसिद्धेरवच्छिन्नविशेषणस्य पक्षमात्रव्यावृत्तिप्रयोजनस्य पक्षेतरता। अत एव न द्वितीयतृतीयौ, अजसंयोगाव्याप्तेः, क्रयादिजन्यस्वस्वामिसंबन्धादिष्वतिव्याप्तेश्च। तेषां जन्यत्वादनित्यत्वाच्च। नैते संबन्धाः, स्वत्वस्वामित्वादीनां द्विष्ठत्वाभावादिति चेत्,

---

ननूक्तस्य पुनः कथनं वृथा, नाधिकार्थत्वात्। कस्तर्ह्यधिकोर्थः ? तमाह—**मूर्तत्वं चेति**। अत्र हि परिमाणाधिकरणत्वमित्येतावतैव संयोगानर्हगुणादिव्यावृत्तेः पक्षीकृततत्तुल्यविभुद्रव्यमात्रव्यावर्तकावच्छिन्नविशेषणवत्त्वादयं पक्षेतर इत्यर्थः। अत एव एतस्य विवरणमजसंयोगेति। श्लोकोक्तामतिव्याप्तिं चाह—**क्रयादीति**। आदिशब्देन भृत्यस्वामिसंबन्धादयो गृह्यन्ते। तत्र लक्षणं च नयति—**तेषामिति**। समाना चेयं प्रथमेपि। स्वस्वाम्याधाराधेयादिपु विशेषणसंभवेपि संबन्धरूपविशेष्याभावादतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते—**नैत इति**। द्विष्ठत्वे चोभयत्राप्यविशिष्टबुद्ध्युत्पत्तिप्रस-

---

हैं, संयोगी होने से, घटवत्) इस अनुमानप्रमाण से अजसंयोग सिद्ध होता है। इस अनुमान में मूर्तत्वादि उपाधि हैं, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उपाधि व्यतिरेक (अभाव) से साध्यव्यतिरेक की सिद्धि नहीं होने से मूर्तत्वादि में साध्यव्यापकता नहीं सिद्ध होती है। अर्थात् (जो अमूर्त है, वह आत्मसंयुक्त नहीं होता है, रूपवत्) यह व्यतिरेक है. और उसमें असंयोगित्व के उपाधि होने से व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि व्यतिरेक में आत्मसंयोगाभाव साध्य है, अमूर्तत्व हेतु है। असंयोगित्व उपाधिरूप में साध्य का व्यापक है। और आकाश में अमूर्तत्व रहता है, असंयोगित्व नहीं रहता है, साधन का अव्यापक है। और मूर्तत्व के पक्षेतरत्व रूप होने से भी वह उपाधि नहीं हो सकता है, क्योंकि अवच्छिन्न (अमहत्) परिमाणाधिकरणत्व को मूर्तत्व कहते हैं, वहाँ परिमाणाधिकरणत्व रूप से ही साध्य की व्याप्ति के सिद्ध होते, विभुपक्ष मात्र की व्यावृत्ति के लिये अवच्छिन्न विशेषण है, अतः पक्षेतरता है। अर्थात् परिमाणाधिकरणत्व मात्र से संयोगानार्हगुणादि की व्यावृत्ति हो जाती है, पक्ष पक्षतुल्य विभु की व्यावृत्ति के लिये अवच्छिन्न विशेषण है, अतः पक्षेतर रूप है। अत एव द्वितीय, तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि दोनों की अजसंयोग में अव्याप्ति है, और किसी पदार्थ के क्रयणजन्य वस्तु और क्रेता के स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति है। क्योंकि उनमें भी जन्यत्व और अनित्यत्व रहता है। यदि कहें कि ये स्वत्व स्वामित्वादि सम्बन्ध ही नहीं हैं, क्योंकि ये प्रत्येक में रहने वाले हैं, संयोग के समान दो में स्थिर नहीं होते हैं, अतः इनमें

तत्किमिदानीं विशेषणविशेष्यभावोऽपि न संबन्धः? तथा च सुव्याहृतं विशेषणविशेष्यभावसंबन्धादभावसमवाययोर्ग्रहणमिति। अपि चैवं समवायोऽपि संबन्धो न स्यात्, घटः पटेन संयुक्तः पटश्च घटेनेतिवत्तन्तुषु पटः समवेतः पटे च तन्तवः समवेता इति तुल्यरूपव्यवहाराभावात्। तन्तुपटौ संबद्धावित्यस्त्येव व्यवहार इति चेत्, समं समाधानम्, स्वस्वामिनौ संबद्धाविति व्यवहारात्। नापि चतुर्थः, अजसंयोगाऽव्याप्तेः, न हि निरवयवेषु नित्येषु सन्ति प्रदेशाः, यानव्याप्यायमेकदेशे वर्तेत। नापि पञ्चमः, द्रव्यस्या-

---

ङ्गादिति भावः। तदिदमपसिद्धान्तेन दूषयति—**तत्किमिति**। किं चोभयत्र तुल्यबुद्धयजनकतयोभयनिष्ठत्वाभावेन स्वस्वाम्यादीनामसंबन्धत्वमभिमन्यमानस्य समवायोपि संबन्धो न स्यात्तस्यापि तदजनकत्वादित्याह—**अपि चैवमिति**। तुल्यरूपव्यवहारसद्भावं शङ्कते—**तन्तुपटाविति**। समाधानसाम्यमेवाह—**स्वस्वामिनाविति**। एतेन कार्यः संबन्धः संयोग इति लीलावत्यपि निरस्ता। अव्याप्यवृत्तिः संबन्ध इति चतुर्थपक्षमव्याप्त्या दूषयति—**नापि चतुर्थ इत्यादिना**। द्रव्यासमवायिकारणेत्यादिशिवादित्यमिश्रलक्षणं दूषयति—**नापीति**। द्रव्यानिरुक्तेः प्रागेवोक्तत्वात्कर्मखण्डनसमये चाऽसमवायिकारणत्वस्य निरासात् गुणलक्षणखण्डनाज्जातिखण्डनाच्च तद्गर्भितमिदमपि लक्षणं खण्डितमित्यर्थः। इदानीं गुणत्वावान्तरजाति-

---

अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है, तब तो अब इस प्रकार से विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध भी नहीं रहेगा, और अभाव तथा समवाय का विशेषण-विशेष्यभाव से ग्रहण होता है, इस निज सिद्धान्त का अत्यन्त व्याघात हो जायगा। और इसप्रकार से समवाय भी सम्बन्ध नहीं होगा, (सम्बन्ध नहीं कहा जायगा) क्योंकि, घट पट से संयुक्त है और पट घट से संयुक्त है, इसप्रकार से जैसे संयोग दोनों में प्रतीत होता है, वैसे तन्तुओं में पट समवेत है, और पट में तन्तु समवेत हैं इसप्रकार समवाय की दोनों में प्रतीति और व्यवहार नहीं होता है, किन्तु तन्तुओं में पट समवेत है, ऐसा व्यवहार होता है। अतः द्विष्ठ समवाय नहीं सिद्ध होता, इससे सम्बन्धत्व भी नहीं रहेगा। यदि कहें कि (तन्तुपटौ सम्बद्धौ) तन्तुपट सम्बन्ध वाले हैं। इसप्रकार से समवाय की द्विष्ठता प्रतीति होती है, तो कहना सत्य है, परन्तु समाधान तुल्य है कि स्वस्वामिनौ सम्बद्धौ, इस व्यवहार से स्वस्वामिभावसम्बन्ध सिद्ध होता है, और उसमें द्वितीय तृतीय लक्षण की अतिव्याप्ति रहती है। अव्याप्यवृत्ति सम्बन्धत्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि इसकी भी अजसंयोग में अव्याप्ति होती है। निरवयव नित्य पदार्थों में प्रदेश (अवयव) नहीं हैं, कि जिन भागों में अव्याप्त होकर एकदेश में संयोग रहेगा (द्रव्याऽसमवायिकारणवृत्ति-गुणत्वावान्तर-

समवायिकारणानां जातेश्चानिरुक्तौ तद्विशेषितलक्षणासिद्धेः। अपि च—

संयोगस्यापृथक्त्वेऽपि व्याहारव्यवहारयोः।
समवाय इवोत्थानाद् वृथा सामान्यकल्पना ॥ ४१ ॥

यथा तत्तत्संबन्धिनिरूपणाधीननिरूपणोऽपि समवायस्तत्र तत्रैको नित्यश्च, संयोगोऽपि तथा किं न स्यात्? तद्भेदव्याहारव्यवहारयोः समवायवदुपपत्तेः। तेन जातेरसभवाद् गुणत्वावान्तरजातीय इतीदं लक्षणमेव न संभवति। नन्वन्यतरकर्मणोभयकर्मणा संयोगेन वा संयोगस्य जन्म, तथा च नित्यात्कारणत्रितयजन्यत्वं व्यावर्तमानं तस्य संयोगत्वमपि व्यावर्त-

---

रित्यंशोप्यसिद्धस्तथाविधजातौ प्रमाणाभावादित्याह—**अपि चेति**। तत्र संयोगानेकत्वे सत्यनुगतव्यवहारान्यथानुपपत्तिः संयोगत्वसामान्यकल्पिका। अनेकत्वं च प्रत्यक्षाद्वा? घटसंयोगः पटसंयोग इति भिन्नशब्दप्रयोगाद्वा? बुद्धिभेदाद्वा? नाद्यः, तत्रासंप्रतिपत्तेः।

द्वितीयतृतीययोः समवायवदेकत्वेऽप्युपाधिवशादन्यथासिद्धेरिति श्लोकेनाह—**संयोगस्येति**। श्लोकं व्याख्याय संयोगत्वखण्डनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयति—**तेनेति**। या त्वजसंयोगेऽव्याप्तिश्चतुर्थे पक्षेपूदीरिता, तत्र सिंहावलोकितेन परिहारं शङ्कते—**नन्वन्यतरेत्यादिना**। स्थिरेण चलस्य संयोगोऽन्यतरकर्मजः, यथा स्थाण्वादिना श्येनादेः, चलयोः संयोग उभयकर्मजन्यः, यथामल्लयोर्मेषयोर्वा, कारणाकारणसंयोगात्कार्याकार्यसंयोगः संयोगजः, तथा चोक्तकारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तं संयोगत्वं तद्व्यावृत्तौ व्यावर्तत इत्यजस्य संयोगत्वं व्याहतमित्यर्थः। संयोगविशेषस्य कारणत्रयजन्यत्वेन व्याप्तिर्नतु संयोगमात्रस्यातो न व्याहतिरिति प्रतिबन्दीग्रहणपूर्वकं

जातिमत्त्व) रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि गुण की असमवायि-कारणों की और जाति की अनिरुक्ति रहते उनसे विशेषितलक्षण की सिद्धि नहीं होगी।

और संयोग में अपृथक्त्व = अनेकत्वाभाव रहते भी समवाय के समान व्याहार= कथन और व्यवहार=ज्ञान का उत्थान (जन्म) हो सकता है। अतः अनेक संयोग को मानकर उसमें सामान्य = जाति की कल्पना व्यर्थ है ॥ ४१ ॥

अर्थात् जैसे नित्य और एक भी समवाय तत्र-तत्र तत्तत् सम्बन्धि के निरूपण = ज्ञानाधीन ज्ञान वाला होता है, घटसमवाय, पटसमवाय इत्यादि समझा जाता है, संयोग भी वैसा ही क्यों न होगा। क्योंकि उस संयोग के भेद के व्याहार और व्यवहार समवाय के समान सिद्ध होंगे, अतः एकव्यक्तित्व से जाति के असम्भव होने से, गुणत्वावान्तर जातीय इस लक्षण का सम्भव ही नहीं है। यदि कहें कि अन्यतर कर्म से उभय कर्म से और संयोग से संयोग का जन्म होता है, अतः नित्य संयोग से व्यापक कारणत्रितयजन्यत्व व्यावर्तमान (निवृत्त) होता हुआ, उस

यति तत्कथमजसंयोगसिद्धिरिति चेत्, हन्त ! तर्हि कारणबहुत्वात् कारण-महत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महदिति महत्त्वस्य कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तत्वात्मादिपु तद् व्यावर्तमानं महत्त्वमपि व्यावर्तयेत् ! तथा संयोगे संबन्धत्वमनित्यत्वेन व्याप्तमिति समवायस्यापि संबन्धस्य नित्यता न स्यात् । ज्ञानस्य चास्मदादिपु शरीरेन्द्रियादिसाधनाधीनत्वादीश्वरे तद्विरहिणि तद् व्यावर्तेतेति भवतैव स्वसमयः सकलोऽपि व्याकुलीकृतः स्यात् । अथ कारण-निवृत्त्या कार्यस्य निवृत्तिर्न नित्यस्य अव्यापकनिवृत्तावव्याप्यनिवृत्तेरयोगा-

---

परिहरति—**हन्त तर्हीत्यादिना** । क्वचित्कारणबहुत्वात्कार्ये महत्त्वमुत्पद्यते यथा त्र्यणुके, यथा वा समानपरिमाणप्रशिथिलावयवसंयोगवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्बहुतन्त्वारब्धे, क्वचित्कारणमहत्त्वात् । यथा त्र्यणुकादुपरितनेपु, यथा वा समानसंख्याकैरप्रचयवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्स्थूलदीर्घतन्त्वारब्धे, तथा प्रशिथिलावयवसंयोगरूपप्रचयविशेषादपि क्वचिन्महत्त्वमुत्पद्यते, यथा समपरिमाणैः समसंख्यैश्च तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्, तथा चैतेपु कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तमिति नित्यष्वात्मादिपु महत्त्वं न स्यादित्यर्थः । स्थलान्तरयोरपि प्रतिबन्दिद्वयं सुबोधेन ग्रन्थेन गृह्णाति—**तथेति** । विशेषमादर्शयन् प्रतिबन्दीमाभासयति पूर्ववादी—**अथेति** । कारणनिवृत्त्या या निवृत्तिः सा कार्यस्यैव, तस्य तेनैव व्याप्तेः, न नित्यस्य, तस्य तेनाव्याप्तेः । तथापि विवृत्तावतिप्रसङ्गादित्यर्थः । नायं विशेषः—

नित्य संयोग के संयोगत्व को निवृत्त करता है, उसमें सत्य संयोगत्व नहीं सिद्ध होने देता है, तो अजसंयोग की सिद्धि कैसे हो सकती है। तो कहा जाता है कि इस प्रकार से नित्य महत्त्व परिमाण भी नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि कारणबहुत्व, कारण-महत्त्व और प्रचयविशेष से महत् होता है। वहाँ अणुक में कारण बहुत से होता है, घट पटादि में कारण महत्त्व से होता है। रूई आदि में प्रशिथिल संयोग रूप प्रचय विशेष से होता है, इसप्रकार से महत्त्व में कारणत्रितयजन्यत्व की व्याप्ति होने पर व्यापक कारणत्रितयजन्यत्व विभु आत्मादि में व्यावर्तमान होता हुआ व्याप्य महत्त्व को भी व्यावृत्त करेगा। इसीप्रकार से संयोग में सम्बन्धत्व अनित्यत्व से व्याप्त है, अनित्यत्व व्यापक है, अतः समवायसम्बन्ध को नित्यता नहीं होगी, व्यापक अनित्यत्व निवृत्त होता हुआ सम्बन्धत्व को निवृत्त करेगा। और हमलोगों में ज्ञान को शरीर, इन्द्रियादि अधीन होने से शरीरादिरहित ईश्वर में शरीरादि के अभाव से ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा, इसप्रकार से आप से ही आप का समस्त सिद्धान्त व्याकुलीकृत (अव्यवस्थित) हो जायगा। यदि कहें कि कारण की निवृत्ति से कार्यमहत्त्वादि की निवृत्ति होती है, नित्य की नहीं, क्योंकि अव्यापक की

दित्युच्येत, तदितोऽपि दीयतां दृष्टिः । तस्मान्न संयोगः संभवी ।

नापि विभागः । स हि प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिः ? किं वा संयोगविरोधी गुणः ? अथवा संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिदिग्वृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयः ? सर्वथापि न घटते ।

अस्मत्पक्षेऽप्यस्य समानत्वाददतो नाभासः प्रतिबन्दीति परिहरति—**तदितोपीति**। तर्हि इतोप्यत्रापीत्यर्थः ।

संयोगत्वनिरासे तद्गर्भलक्षणभाषिणौ ।
विप्रासितौ सर्वदेववादिवागीश्वरावपि ॥

गुणत्वावान्तरजात्या द्रव्यासमवायिकारणजातीयः संयोग इति प्रमाणमञ्जरीकारः । घटजनकतदवयवनिष्ठगुणत्वावान्तरजातीयः संयोग इति च मानमनोहरकारः । अनित्यः संबन्ध इति च तदीयं लक्षणं पूर्वमेव दूषितम् ।

यथाप्रतिज्ञं विभागं दुर्निरूपयति--**नापीति**। तत्र प्रशस्तपादसर्वदेवशिवादित्यमिश्रकक्षीकृतलक्षणान्युद्भावयति—**स हि प्राप्तिपूर्विकेत्यादिना**। विन्ध्यमेर्वोः संयोगाभावोप्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्तये प्राप्तिपूर्विकेति विशेषणम् । संयोगविरोधित्वसंयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरप्यस्तीति गुणग्रहणम् । बुद्ध्यादिव्यावृत्त्यै संयोगग्रहणम् । **संयोगावृत्तीति**। गुणत्वावान्तरजातीय इत्युक्ते रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिस्तदर्थं जातिरेव विशेषणद्वयेन विशेष्यते। दिग्वृत्तिर्यो गुणस्तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदधिकरणमित्यर्थः । तेन रूपादयो व्यावर्तिताः, रूपत्वादीनां तदभावात् । तथापि संख्यापरिमाणपृथक्त्वेष्वतिव्याप्तिस्तज्जातीनामपि तथात्वादत उक्तमनित्यमात्रवृत्तीति । नहि संख्यात्वादिजातिरनित्यमात्रे वर्तते, एकत्वैकपृथक्त्वयोर्नित्यवर्तिनोः परममहत्त्वस्य च नित्यतया तज्जातेरपि नित्यवृत्तित्वात् । तथापि

निवृत्ति होने पर भी अव्याप्य की निवृत्ति होना अयुक्त है, नित्य महत्त्वादि का न कार्यत्व व्यापक है, न नित्य महत्त्व कार्यत्व का व्याप्य है, तो इधर भी दृष्टि दीजिये कि कारण त्रितयजन्यत्व नित्य संयोग में नहीं रहता है, अतः त्रितयजन्यत्व संयोग का व्यापक नहीं है, अनित्य कार्यसंयोगत्व का भले ही व्यापक हो सकता है, अतः उस जन्यत्व की निवृत्ति से सामान्य संयोगत्व की निवृत्ति नहीं हो सकती है, और उस नित्य संयोग में अव्याप्ति आदि से संयोग के लक्षण का सम्भव नहीं है।

विभाग के लक्षण का सम्भव भी नहीं है। वह विभाग, क्या प्राप्तिपूर्वक अप्राप्ति रूप है, या संयोगविरोधी गुण रूप है, संयोगावृत्ति-अनित्यमात्रवृत्ति जो दिग्वृत्तिवृत्ति गुणत्वान्तर जाति तज्जातीय है, सर्वथा ही विभाग का लक्षण युक्त नहीं होता है ।

क्योंकि—

आत्माश्रयादतिव्याप्तेरयोगाद् व्यभिचारतः ।
विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभागः प्रसिद्ध्यति ॥ ४२ ॥

तत्र न तावदाद्यः, विकल्पासहत्वात् । अप्राप्तिशब्देन विभागोऽभिलप्यते ? किं वा संबन्धाभाव. ? विभागाभिधाने त्वात्माश्रयत्वम्, उत्तरत्र संयोगप्रध्वंसेऽतिव्याप्तिः । न द्वितीयः, विरोधशब्देन सहानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात्, वध्यघातकयोरेकाश्रयत्वस्य स्वेनैवाभ्युपगमात् ।

संयोगेऽतिव्याप्तिः, संयोगत्वजातेरेवंभूतत्वादत उक्तं संयोगावृत्तीति । संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिजातीय इत्युक्ते घटादावतिव्याप्तिस्तदर्थं गुणत्वावान्तरपदम् । गन्धत्वादिनिवृत्त्यै द्विवृत्तिवृत्तीति पदम् । गुणत्वावान्तरत्वं च गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वम्, तेन च द्वित्वत्वादिसामान्यानतिव्याप्तिः । दूषणानि संगृह्णाति—**आत्माश्रयेत्यादिना श्लोकेन**। प्राप्तिपूर्वकाऽप्राप्तिरित्यत्राप्राप्तिशब्देन विभागो वा संबन्धाभावो वा विवक्ष्यते, प्रथमे प्राह—**आत्माश्रयादिति**। उत्तरत्र संयोगप्रध्वंसेऽतिव्याप्तिरित्याह—**अतिव्याप्तेरिति**। द्वितीये दूषणमाह—**अयोगाद्व्यभिचारत इति**। अत्र हि विरोधशब्देन किं सहानवस्थानमभिमतम् ? विवर्त्यनिवर्तकत्वं वा ? आद्येऽसंभवः, वाध्यघातकयोरेकाश्रितत्वाङ्गीकारात् । उत्तरत्र त्वदृष्टादावतिव्याप्तिरित्यर्थः । तृतीये दूषणमाह—**विशेषणेति**। संयोगस्य पूर्वमेव दूषितत्वाद्गुणजात्योरपि खण्डितत्वाच्च तद्विशिष्टलक्षणमप्यसंभवीत्यर्थः ।

श्लोकं विवृणोति—**तत्र न तावदित्यादिना**। ननु न सहानवस्थानमत्र विरोधः, येनायोगोऽसंभवः स्यात्, किंतु वध्यघातकभावः । तथाच 'प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभाग इति भाष्यं व्याचक्षाणः किरणावलीकारः 'अप्राप्तिर्विरोधिगुण इत्यर्थः, अथ प्राप्तिः संयोगः, तेन सह किं देशकृतः कालकृतः स्वरूपकृतो वास्य विरोधः ? सर्वं चैतदनुपपन्नमित्यत उक्तं प्राप्तिपूर्विका' इत्येवं सहानवस्थानमेवापोद्य प्राह । तथाच प्राप्तेर्वध्यता विभागस्य घातकत्वं दर्शितम्, तेन संयोगघातको गुणो विभाग

आत्माश्रय, अतिव्याप्ति, अयोग, व्यभिचार और विशेषणासिद्धि से विभाग प्रसिद्ध नहीं हो सकता है ॥ ४२ ॥

उक्त तीनों लक्षणों में आद्य लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि अप्राप्ति शब्द से विभाग कहा जाता है, या सम्बन्धाऽभाव कहा जाता है। विभाग को कहने पर तो आत्माश्रय होता है। और उत्तरत्र = सम्बन्धाभाव पक्ष में संयोग प्रध्वंस में अतिव्याप्ति होती है। संयोगध्वंस संयोग रूप प्राप्ति = सम्बन्ध का अभाव रूप होता है। संयोगविरोधी गुण रूप दूसरा लक्षण भी नहीं बन सकता है। क्योंकि विरोध शब्द से सहानवस्थान (साथ स्थित्यभाव) के कहने पर लक्षण की असम्भाविता होगी, क्योंकि वध्य घातक = नाश्य नाशक के एक आश्रयत्व को

निवर्तकत्वविवक्षायां च तन्निवर्तकादृष्टेश्वरेच्छादावतिव्याप्तिः। समानाधिकरणो निवर्तको गुणो विवक्षित इति चेत्, न, आत्ममनःसंयोगनिवर्तकादृष्टेऽतिव्याप्तेः। कर्मजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न, तस्यापि तीर्थयात्रादिकर्मजन्यत्वात्। कर्मसमानाधिकरणः संयोगविरोधी गुणो विभाग इति चेत्, न, संयोगविभागयोरसिद्धौ कर्मणोऽप्यसिद्धेः, संयोगविभागासमवायिकरणं कर्मेति कर्मलक्षणाङ्गीकारात्, संयोगस्य चासिद्धौ तद्विरोधित्वस्याप्यसिद्धेः, कर्मण एव च पूर्वसंयोगनाशकत्वोपपत्तौ

इति संक्षेप इति। तत्राह—**निवर्तकत्वविवक्षायां चेति**। व्याख्यानरीतिरेवेयं चतुरा, ननु रीतिमल्लक्षणमतिव्याप्तत्वादिति भावः। एतेन व्यभिचारतः इति पद व्याख्यातम्। अत्र मानमनोहरकारः प्राह—'संयोगसमानाश्रयत्वे सति संयोगनाशको विभागः' इति। तदेतच्छङ्कते—**समानाधिकरण इति**। आत्ममनसोः संयोगस्य निवर्तकं यददृष्टं तच्च संयोगेन समानाश्रयमित्यतिव्याप्तिरित्याह—**नात्मेति**। अदृष्टेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते—**कर्मसमानाधिकरण इति**। अदृष्टस्य कर्मासामानाधिकरण्यं विभावात्मनि कर्माभावादित्यर्थः। कर्मणोऽप्यसिद्धेरित्युपलक्षणम्, अवयवविभागादुत्पद्यमानस्यावयविविभागस्य संयोगविरोधिनः कर्मसामानाधिकरण्याभावादव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। अथ किमिति संयोगाद्यधीनता कर्मनिरूपणस्य येन तदसिद्धावसिद्धिरस्येति? तत्राह—**संयोगेति**। तथाच विभागसिद्धौ कर्मसिद्धिस्तत्सिद्धौ च विभागसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयतेति भावः। संयोगविरोधित्वप्रयुक्तचाप्यन्योन्याश्रयमाह—**संयोगस्य चेति**। यच्चेदं विभागस्य संयोगविरोधित्वं निवर्तकत्वरूपमभिमतं लक्षणावयवत्वेन तदेव तावदसिद्धम्, अन्यत एव

आप स्वयं मानते हैं। अतः संयोग रूप वध्य और विभाग रूप घातक का सहानवस्थान कैसे होगा। विरोधी शब्द से निवर्तकत्व की विवक्षा करने पर, संयोगनिवर्तक अदृष्ट ईश्वर इच्छादि में अतिव्याप्ति होगी। संयोग समानाधिकरण वृत्तिगुण विवक्षित है, तो भी दोष नहीं जाता है, क्योंकि आत्मा में रहने वाले आत्ममनः संयोग के निवर्तक आत्मवृत्ति अदृष्ट में अतिव्याप्ति होती है। कर्मजन्य होता हुआ संयोगविरोधी हो, इसप्रकार से कर्मजन्यत्व विशेषण से अदृष्ट में अतिव्याप्ति नहीं होगी, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अदृष्टादि में तीर्थयात्रादिजन्य कर्मजन्यत्व रहता है। (कर्मसमानाधिकरणवृत्ति संयोगविरोधी गुणविभाग होता है) ऐसा लक्षण भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि संयोगविभाग की असिद्धि रहते कर्म की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। संयोगविभाग के असमवायिकारण को कर्म कहते हैं, ऐसा कर्म का लक्षण माना गया है, और संयोग की असिद्धि से संयोगविरोधित्व की भी असिद्धि ही है। और कर्म को ही पूर्वसंयोगनाशकत्व हो

विभागाभ्युपगमवैयर्थ्याच्च। कथं तज्जनकस्य तन्निवर्तकत्वमिति चेत्, मैवम्, प्राचीनकर्मजनितसंयोगस्योत्तरकर्मणा निवृत्तेः। नाङ्गुलिकर्मणस्तरुसंयोगनाशकत्वम्, व्यधिकरणस्य निवर्तकतायामतिप्रसङ्गादिति चेत्, न, स्वाश्रयाश्रितसंयोगस्यैव नाशकत्वेनातिप्रसङ्गाभावात्। विरोधिनः समानाधिकरणस्यैव नाशकत्वोपपत्तावसति बाधके यावत्संयोगवृत्तिसामानाधि-

---

संयोगनिवृत्तिसिद्धेरित्याह—**कर्मण एव चेति। प्राचीनेति।** येन हि कर्मणा संयोग उत्पन्नः, न तेन तस्य निवृत्तिरपितूत्तरकर्मणा। न च तदसिद्धिः, संयोगनाशकोत्तरप्रथमविभागजनककर्मणस्तत्वाव्यभिचारित्वादिति भावः। ननु न कर्मणः संयोगनाशकत्वसंभवः, तथा ह्यङ्गुलितरुसंयोगस्तावदङ्गुलितर्वोर्वर्तते, कर्म त्वङ्गुलिमात्रे तरुमात्रे वा वर्तते, तत्संयोगयावृत्तित्वात्तथा चैकत्र वर्तमानेन कथमुभयनिष्ठसंयोगनिवृत्तिः? व्यधिकरणत्वात्तथापि तथात्वेऽतिप्रसङ्गादेतदेव शङ्कते—**नाङ्गुलीति।** यद्यप्यन्यतरनिष्ठेन कर्मणोभयनिष्ठसंयोगस्य न सर्वात्मना सामानाधिकरण्यम्, तथाप्यन्यतराधिकरणमादायास्ति सामानाधिकरण्यम्। तथा च तदाश्रितसंयोगनिवर्तकत्वेऽप्युभयनिष्ठसंयोगोऽर्थान्निवर्तते। नाप्यतिप्रसक्तिरिति परिहृति—**न स्वाश्रयेति।** तत्र सामानाधिकरण्यं चेदवश्यं मन्तव्यम्, तर्हि सर्वथा सामानाधिकरण्यमप्युत्सर्गप्राप्तं नासति बाधके शक्यत्यागम्। तथाचोभयनिष्ठो विभाग एव स्वीकर्तव्यः, न कर्म, अतादृशत्वादिति श्रीवल्लभस्तदुद्भावयति—**विरोधिन इति।**

सकता है, तो संयोग का नाशक विभाग को मानना व्यर्थ है। यदि कहें कि संयोगजनक कर्म को संयोगनिवर्तकत्व कैसे होगा, तो ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि जो कर्म जिस संयोग का जनक है, वह उस संयोग का निवर्तक नहीं होगा, किन्तु कर्म अनेक होते हैं, अतः पूर्व कर्मजनित संयोग की उत्तर कर्म से निवृत्ति होती है। यदि शंका हो कि जहाँ अंगुलि और वृक्ष का संयोग होता है, वहाँ संयोग तो अङ्गुलि और वृक्ष दोनों में रहता है। और क्रिया केवल अङ्गुलि में होती है, वहाँ अङ्गुलि के कर्म को स्वसंयोगनाशकत्व हो सकता है, परन्तु तरुसंयोगनाशकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि व्यधिकरण (संयोगाश्रय वृक्ष से भिन्नाश्रय अङ्गुलि) वृत्ति कर्म की निवर्तकता होने पर अतिप्रसङ्ग होगा। अतः समानाधिकरण वाला विभाग को ही संयोगनाशकत्व की सिद्धि होते, बाधक के नहीं रहते, सब संयोगवृत्ति समानाधिकरणता का संकोच होना अनुपपन्न = अयुक्त है। अर्थात् अन्यत्र संयोगसमानाधिकरण कर्म से संयोग के नाश को मानना और तरुसंयोग नाश की व्यधिकरण अङ्गुलि कर्म से नाश मानना यह उचित नहीं है, अतः उसका नाशक विभागसिद्ध होता है। यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि आप कहते हैं कि बाधक नहीं रहते संकोच

करण्यस्य सङ्कोचोऽनुपपन्न इति चेत्, न, उभयवादिसिद्धकर्मण एवान्वयव्यतिरेकवतस्तन्नाशकत्वोपपत्तौ गुणान्तरकल्पनागौरवस्यैव बाधकत्वात् ।

न च विभक्तप्रत्ययादेव तत्सिद्धौ कल्पनैव नास्तीति वाच्यम्, हिमवद्वि-

---

असति बाधक इत्यसिद्धिः, गौरवस्य बाधकत्वादिति परिहरति—**उभयेति** ।

ननु न कल्प्यते सः, येन गौरवं दोषाय, अपि तु विभक्त इति प्रत्यक्षादेव तत्सिद्धिरिति, तत्राह—**न चेति** । यथा हि—हिमवद्विन्ध्ययोः प्राप्तेरभावात्तत्पूर्विकाप्राप्तिरूपविभागाभावेऽपि संयोगाभावमात्रमादाय विभक्त इति प्रत्ययशब्दयोः प्रवृत्तिस्तद्वद्घटादावपि स्यादिति नेयं प्रतीतिस्तत्प्रत्यायिकेत्यर्थः । एतेन भाष्यकारोक्तं विभागे प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं मन्तव्यम् । मनोहरस्तु 'तादृशस्थले प्रतीतिरेव नास्ति' शब्दप्रयोगस्तु गौणः इत्याह, तदसत्, एतादृशानुभवपरिहारपारिजातस्य प्रकृतेपि सुलभत्वात् । तात्पर्यटीकाकारकिरणावलीकारौ त्वङ्गुलिकर्मणोऽङ्गुलितरुसंयोगनाशकत्वमङ्गीकृत्यापि हस्ततरुसंयोगनाशानुपपत्त्या विभागं समर्थयामासतुः । तथा हि—हस्तादीनां निष्क्रियत्वान्न तद्गतकर्म तत्संयोगनाशकम्, नचाङ्गुलिगतं कर्मैव, तस्य हस्ततरुनिष्ठत्वाभावेनातिव्यधिकरणत्वात् । नचाङ्गुलितरुसंयोगनाशात् पाणितरुसंयोगनाशो भविष्यतीति वाच्यम्, कर्मजं करतरुसंयोगं प्रत्यङ्गुलितरुसंयोगस्याकारणत्वात्, अकारणनाशस्य विनाशकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । तस्मात् कर्मजनितविभागजविभागपरंपरया निष्क्रियकरशरीरतर्वादिसंयोगपरंपरा विनश्यतीत्यनिच्छन्नपि गलपादुकयाङ्गीकारयितव्य इति, तत्रापि स्वाश्रयेत्यादिग्रन्थेनैवोत्तरं देयम् । योजना तु स्वस्य कर्मणो य आश्रयोऽङ्गुल्यादिस्तदाश्रितश्च यो हस्तादिरवयवी तस्य यस्तर्वादिभिः संयोगस्तस्यैव नाशकत्वाश्रयणं वैयधिकरण्येऽप्यतिप्रसङ्गाभावादिति । अपि चात्रैतद्वक्तव्यम्—कथं हस्तादीनां निष्क्रियत्वावगम इति ? हस्तस्याकम्पमानत्वादिति चेत्, न, अङ्गुलिचलनमनु करचलनस्याप्यावश्यकत्वात्, तदितरावयवेषु चलनाभावादवयवी न चलतीति चेत्, किं समस्तावयवचलन एवावयविनि चलनोत्पत्तिः ?

होना युक्त नहीं है, और यहाँ उभयवादी सिद्ध कर्म को ही अन्वय-व्यतिरेक वाला होने से संयोगनाशकत्व की सिद्धि होते गुणान्तर की कल्पना रूप गौरव को ही बाधकत्व है । अर्थात् संयोगानुकूल पूर्व कर्म से जो संयोग होता है, संयोगप्रतिकूल उत्तर कर्म से ही उसका नाश होता है, संयोग के उभयनिष्ठ रहते भी उसका एकस्वरूप रहता है, अतः ऐसा नहीं होता कि अङ्गुलि कर्म से अङ्गुलिनिष्ठ संयोग की निवृत्ति होने पर तरुनिष्ठ संयोग की निवृत्ति के लिये विभाग की आवश्यकता से यावत् (सर्व) संयोगाश्रयवृत्ति विभाग को ही संयोगनाशक माना जाय, और कर्म को नहीं, इत्यादि ।

यदि कहें कि विभक्त इस प्रतीति से विभाग माना जाता है, कल्पना से नहीं

न्ध्ययोरिव संयोगाभावमात्रादेव विभक्तप्रत्ययोपपत्तेः। ननु स्फुटद्वेणुदल-शब्दात्तदसमवायिकारणतया विभागोऽवगम्यते, स हि न वंशदलद्वयसंयोग-नाशापेक्षवंशदलाकाशसंयोगजन्यः, संयोगजन्यस्य शब्दस्य संयोगनिमित्त-

---

ओमिति चेत्, हन्त समस्तावयवसंयोग एवावयविसंयोगोऽस्तीति न हस्तादेः संयोग एवास्ति कस्य विनाशाय विभागः कल्प्यते? तस्माद्यथावयवसंयोगानन्तरमवयवि-संयोगनियमः एवं कर्मण्यपि। इयांस्तु विशेषः—तत्र संयोग एव संयोगान्तरोत्पादकः, अत्र तु तन्नास्ति, किन्त्ववयवकर्मोत्पादकवदवयविन्यपि कर्मोत्पादकानि सन्ति। न ह्यस्ति संभवोऽवयवेषु गुरुत्वं द्रवत्वं संयोगो वा न पुनरवयविनीति, तस्मात् स्वकर्मणैव हस्तादिसंयोगोपि निवर्तते इति नानेन मिषेणापि विभागनिक्षुकस्य पादप्रसार इत्यलम्। ननु यद्यपि विभक्तप्रत्ययबलान्न विभागसिद्धिस्तथापि न कल्प्यत्वम्, शब्द-लक्षणकार्येण तदनुमानात्। उक्तम् हि भाष्यकृता—'विभागः शब्दहेतुश्चेत्' इति। तत्र विभागस्यैवासंप्रतिपत्तेः यद्यपि न तेन कारणविभागानुमानं संभवति, तथापि शब्दात्तदनुमानं भवतीति लीलावतीकारः शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। स्फुटतो वेणुकाण्डादुत्पद्यमानशब्दादित्यर्थः। तस्य विभागजत्वं परिशेषयति—**स हीति**। वंशदलद्वयस्य यः संयोगस्तन्न सापेक्षो यो वंशदलस्याकाशस्य संयोगस्तज्जन्या न भवतीत्यर्थः। अत्र च निमित्ततयापि विभागाननुप्रवेशाय वंशदलद्वयसंयोगनाशापेक्षे-त्युक्तम्। एष हि तेषामभ्युपगमः—वंशदलविभागान्निमित्तकारणाद्वंशदलाकाश-विभागादसमवायिकारणान्महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथमः शब्द उत्पद्यते इति। तत्र वंशदलसंयोगनाश एव निमित्तकारणमपि भवत्वित्यर्थः। कुतस्तेन न जन्यत इति? तत्राह—**संयोगजन्येति**। यः खलु संयोगासमवायिकारणकः शब्दः स

कि जिससे कल्पनागौरव हो, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि हिमालय और विन्ध्य पर्वत में प्राप्ति के अभाव से प्राप्तिपूर्वक अप्राप्तिरूप विभाग के नहीं रहते भी संयोग के अभाव मात्र से उनमें विभक्त शब्द का प्रयोग और ज्ञान होता है, वैसे ही घटादि में संयोगाभाव मात्र से ही विभक्त ज्ञान की सिद्धि होने से विभक्त ज्ञान विभाग का बोधक नहीं हो सकता है। यदि शंका हो कि विभक्तप्रतीति से विभाग की सिद्धि नहीं होने पर भी उसकी कल्पना नहीं की जाती है, किन्तु शब्दविशेष से उसका अनुमान होता है, क्योंकि फटते हुए बांस के दल (भाग) से शब्द होता है। उस शब्द से उसके असमवायिकारण रूप से विभाग अवगत (अनुमित) होता है। क्योंकि वह शब्द बांस के दो दल के संयोग के नाशपूर्वक जो वंशदल आकाश का संयोग होता है, उससे जन्य नहीं होता है। जिससे संयोगजन्य शब्द की संयोग-निमित्तकारणता भी उपलब्ध होती है। अर्थात् जो शब्द संयोग रूप असमवायि-कारण वाला होता है, वह संयोग रूप निमित्तकारण वाला भी देखा गया है। जैसे

कारणतोपलम्भात्, भेर्याकाशसंयोगजन्यस्य शब्दस्य भेरीदण्डसंयोगनिमित्तकतावदिति चेत्, न, वायुदलसंयोगनिमित्तकत्वोपपत्तेः। न च सर्वत्रातीन्द्रियवायुसंयोगकारणताप्रसङ्गः, भेरीदण्डसंयोगस्यान्वयव्यतिरेकवतः कारणतोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः। अन्यथा तत्रापि पलाशादौ शुकशुकशब्दो वेगवदनिलपलाशसंयोगनिमित्तो न स्यात्। कर्म संयोगातिरिक्तासम-

---

संयोगनिमित्तकारणकोऽपि दृष्टः। यथा भेर्याकाशसंयोगादसमवायिकारणादुत्पद्यमानशब्दस्य भेरीदण्डसंयोगो निमित्तम्, नचेह तथास्ति, तस्मान्नान्यथोपपत्तिरित्यर्थः। दूषयति—**न, वायुदलेति**। अभ्युपगम्यते च वायुवंशदलयोः संयोगो निमित्तमित्यर्थः। नन्वेवं सति भेरीदण्डसंयोगस्यापि क्वचिन्निमित्तता न स्यात्, तत्रापि वायुदलसंयोगस्य सुवचत्वादिति, तत्राह—**न चेति**। तत्रान्वयव्यतिरेकौ स्तः, न चेह तथेति भावः। अथाप्यतीन्द्रियकल्पनैवातिप्रसञ्जिकेति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अन्यथेति**। पलाशः पत्रम्, शुकशुकेति शब्दानुकारः। एतेनैतन्निरस्तम्, यदाह श्रीवल्लभः—'तस्य स्पर्शादिगम्यतया तदनुलब्धेरभावावधारणात्' इति, शब्दोपलम्भस्यापि तथात्वात्। एवं भाष्यकाराद्यभिमतमनुमानं दूषयित्वा मनोहरीयमनुमानं दूषयितुमुद्भावयति—**कर्मेति**। संयोगेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थं संयोगातिरिक्तेत्युक्तम्। संयोग-

---

कि भेरी और आकाश के संयोगजन्य शब्द का निमित्तकारण भेरी और दण्ड का संयोग होता है। वंशदल विभागजन्य शब्द में ऐसा निमित्तकारण नही है, अतः वह विभाग रूप असमवायिकारणजन्य होता है, उसके विना उस शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती है, वंशदल आकाश का संयोग यदि उसका असमवायिकारण हो तो निमित्तकारण रूप भी संयोग होना चाहिये वह नहीं है। यह शका युक्त नहीं है, क्योंकि वायु और वंशदल संयोग में निमित्तता होती है, अतः वायुदलसंयोग निमित्तकत्व की उस शब्द में सिद्धि होती है। यदि कहें कि कहीं भेरी दण्डसंयोग को निमित्त मानने का क्या फल है सर्वत्र शब्द में वायुसंयोग को ही निमित्त मानना चाहिये, तो कहा जाता है कि सर्वत्र अतीन्द्रिय वायुसंयोग की कारणता की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष अन्वयव्यतिरेक वाले भेरीदण्ड संयोग की कारणता की सिद्धि रहते वायुसंयोग की कल्पना नहीं हो सकती है। और अन्यथा =अतीन्द्रियता से यदि वायुसंयोग को कहीं भी कारण नहीं माना जाय, तो आपके मत में भी पलाशादि (पत्ते आदि) में होने वाला शुकशुक शब्द वेग वाले वायु और पत्रादि संयोगनिमित्तक नहीं मान्य होगा। (कर्म, संयोग से अतिरिक्त का भी असमवायिकारण है, संयोग से अतिरिक्त होता हुआ असमवायिकारण होने से, रूप के समान) कारणगत रूप कार्यगत रूप का असमवायिकारण होता है, इससे दृष्टान्त में साध्य की सिद्धि होती है। और कर्म में विभाग की कारणता की

वायिकारणं संयोगातिरिक्तत्वे सत्यसमवायिकारणत्वाद्रूपवदिति मानमनोहरकारोक्तमनुमानमिति चेत्, न कर्ममात्रपक्षीकारे वेगाख्यसंस्कारजनकतया सिद्धसाधनत्वात्। वेगाजनककर्मपक्षस्वीकारे च सप्रतिसाधनता—कर्म संयोगातिरिक्तद्विष्ठगुणासमवायिकारणत्वात्यन्ताभावाधिकरणम्, संयोगासमवायिकारणत्वात् संयोगवदिति प्रतिप्रयोगात्। वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। विवर्तवादाश्रयणेन तैः कार्ये गुणान्तरमनभ्युपगच्छद्भिः कारणगुणानां कार्ये गुणासमवायिकारणत्वानङ्गीकारात्। नापि तृतीयः, विशेषणाप्रसिद्धेः।

जनकसंयोगेऽनैकान्तिकतानिवृत्त्यर्थं हेतावपि विशेषणम्, द्रव्येऽतिव्याप्तिपरिहारायासमवायिकारणत्वादित्युक्तम्। यत्तत्संयोगातिरिक्तं स विभागः, अन्यस्याऽसंभवादित्यर्थः। अत्र किं कर्ममात्रं पक्षः? किं वा वेगाजनकं कर्म? आद्ये प्राह—**कर्ममात्रेति**। द्वितीये प्राह—**वेगेति**। प्रतिसाधनमेव दर्शयति—**कर्मेति**। संयोगजनकत्वेन बाधपरिहाराय संयोगातिरिक्तेत्युक्तम्। तथापि वेगजनकत्वाद् बाधः स्यात्तदर्थं द्विष्ठग्रहणम्। द्रव्यविशेषासमवायित्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थं गुणग्रहणम्। स्वविषयज्ञानजनकतया बाधपरिहारार्थमसमवायिकारणेत्युक्तम्। विभागजनकत्वेनार्थान्तरतापरिहारार्थमत्यन्ताभावग्रहणम्। द्वित्वाद्यसमवायिकारणैकत्वादावनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ संयोगग्रहणम्। अथ कथं वेदान्तिनं प्रति साध्यविकलता? यावता तेनापि कार्ये रूपादि स्वीक्रियते एव, तत्राह—**विवर्तेति**। सत्यम्, अर्थघटादिकार्येऽपि रूपं

इस अनुमान से सिद्ध होने पर विभागसिद्ध होता है, अतः यह मानमनोहरकार कथित अनुमान विभाग में प्रमाण है, ऐसा यदि कहें, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कर्ममात्र को पक्ष करने पर, वेग नामक संस्कार जनकता से सिद्ध साधनता होगी, क्योंकि वेग का भी असमवायिकारण कर्म होता है। और वेगाऽजनक कर्म को पक्ष करने पर, सत्प्रतिपक्षता होती है कि (कर्म, संयोगातिरिक्त द्विष्ठगुण = विभाग के असमवायिकारणत्व के अत्यन्ताभाव का अधिकरण है, संयोग के असमवायिकारण होने से, संयोगवत्) यह प्रतिप्रयोग है। और वेदान्ती के प्रति दृष्टान्त साध्यरहित है, क्योंकि विवर्तवाद के आश्रयण से कार्य में गुणान्तर को नहीं मानने वाले वेदान्ती कारण गुणों की असमवायिकारणता को कार्यवृत्ति गुणों के प्रति नहीं मानते हैं, अर्थात् घटादि कार्य में रूप मानते हैं, परन्तु उसको कारण रूप से रूपान्तर नहीं मानते, क्योंकि कार्य को कारण से अन्य रूप से अनिर्वाच्य कहते हैं। (संयोगावृत्ति-अनित्यमात्रवृत्ति-दिग्वृत्तिवृत्ति-गुणत्वावान्तरजातिमत्त्व) यह तृतीय भी विभाग का लक्षण युक्त नहीं है। क्योंकि संयोगाऽवृत्ति इत्यादि विशेषण की असिद्धि है। क्योंकि—

संयोगस्य निरस्तत्वाद् गुणानामनिरूपणात् ।
जातेश्च दुर्निरूपत्वात् स्यादसंभवि लक्षणम् ॥ ४३ ॥

नापि द्वित्वं संभवति । तत्किमिमौ द्वाविति प्रत्यक्षतः सिद्धयेत् ? उतानुमानतः ? नोभयथापि—

प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः स्यादेकत्वसमुच्चये ।
अनुमाप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्यदूपिता ॥ ४४ ॥

इमौ द्वाविति प्रत्यक्षं तावदेकैकसमुच्चयविषयतयाप्यन्यथोपपद्यमानं नापरं द्वित्वमवगमयितुमर्हति । ननु समुच्चयमात्रविषयमिदं प्रत्यक्षम् ?

स्वीक्रियते एव न तु तद्रूपान्तरम्, तस्य कारणविवर्ततया ततोन्यत्वेनाप्यनिर्वचनीयत्वादित्यर्थः ।

संयोगावृत्तीत्यादिलक्षणविशेषणाप्रसिद्धिमुक्त्वा श्लोकेन विवृणोति—**संयोगस्येत्यादिना** ।

अथ प्रतिज्ञातं द्वित्वं दूषयति—**नापीति** । लक्षणं तस्य खण्डयिष्यते । प्रमाणं तावद् दूषयति—**तत्रैकादिव्यवहारहेतुः संख्येति** । भाष्ये व्यवहारशब्देन ज्ञानाभिधानात्, 'एकं द्वे त्रीणीत्यादिप्रत्यक्षविषयः संख्या' इत्युदयनादिभिरभ्यधायि । अपरैः 'द्व्यणुकपरिमाणमसमवायिकारणजन्यं भावकार्यत्वात्कटवत्' इत्यनुमानमगायीति । तदुभयमपि विकल्प्य दूषयति—**तत्किमित्यादिना** ।

एकत्वसमुच्चय एव विषये प्रवर्तमानतयेमौ द्वाविति प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिरनुमानमप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्याभ्यां दूषितं स्यादिति श्लोकं विवृणोति—**इमावित्यादिना** । तत्र लीलावतीकारेण द्वाविति प्रत्यक्षस्यैकत्वसमुच्चयाविषयत्वमुपपादित-

---

संयोग का निराकरण हो चुका है, गुणों का निरूपण नहीं हो सकता है । जाति को भी दुर्निरूपत्व है, अतः उक्त लक्षण का होना असम्भव है ॥ ४३ ॥

द्वित्व की सत्ता का भी सम्भव नहीं है । क्योंकि क्या, वह द्वित्व प्रत्यक्ष से सिद्ध होगा, या अनुमान से सिद्ध होगा । दोनों प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि—

एकत्व के समुच्चय में = इमौ द्वौ, इस प्रत्यक्ष की अन्यथासिद्धि हो जाती है, और अनुमान भी आश्रयासिद्धि और साध्यविकलता से दूषित हो जाता है ॥ ४४ ॥

अर्थात् इमौ द्वौ, ये दो हैं, यह प्रत्यक्ष एक-एक के समुच्चयविषयक होने से द्वित्व विना ही सिद्ध होता हुआ समुच्चय से अपर = भिन्न, द्वित्व के बोध कराने के लिये समर्थ नहीं होता है, यदि द्वित्व के विना यह प्रत्यक्ष नहीं सिद्ध होता, तो द्वित्व का बोधक (द्वित्व में प्रमाण) होता, यह बात नहीं है । यहाँ शंका होती है कि इमौ द्वौ, यह प्रत्यक्ष एकत्व के समुच्चय मात्र विषयक होता है, या विशेष समुच्चय-

तद्विशेषविषयं वा ? नाद्यः, तस्यावैचित्र्ये द्वित्वत्रित्वादिव्यवहारवैचित्र्य-विरोधात् । नापि द्वितीयः, विकल्पानुपपत्तेः । स हि समुच्चितैकत्वभेदाद्वा ? तद्गतधर्मभेदाद्वा ? न प्रथमः, एकतायाः सर्वत्र तुल्यत्वात् । न चरमः, आरोपितस्य वा, पारमार्थिकस्य वा द्वित्वत्रित्वादेरनङ्गीकरणे तद्गतधर्म-भेदासिद्धेरिति चेत्, मैवम्, द्वित्वत्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिविषयेऽपि विकल्प-

---

मुद्भावयति—नन्विति । **तस्यावैचित्र्य इति** । एकत्वसमुच्चयमात्रस्य द्वित्वादि-व्यवहारस्थले विशेषाभावाद्व्यवहारविशेषो न स्यादित्यर्थः । समुच्चयविशेषविषय-मिति द्वितीयपक्षेऽपि समुच्चेतव्यैकत्वस्वरूपकृतविशेषाद्वा ? तदाश्रितद्वित्वत्रित्वादि-धर्मविशेषाद्वा ? नोभयमपीत्याह—**विकल्पेति** । प्रथमे खल्वसिद्धिः, न ह्येकत्वस्वरूपे विशेषोऽस्ति तादृशो येन द्वित्वादिविलक्षणव्यवहारः स्यादित्याह—**एकताया इति** । द्वितीये त्विष्टसिद्धिः, तस्यैव विशेषस्य द्वित्वत्वेनेष्टेरित्याह—**न चरम इति** । **आरोपितस्येति** । एकत्वसंख्याया गुणत्वेन द्वित्वादेर्गुणस्य तत्र वृत्त्ययोगात् । **पारमार्थिकस्येति** । संख्यायाः पदार्थान्तरत्ववाद्यभिप्रायेण, तमिममाक्षेपं प्रतिबन्द्या परिहरति—**मैवमित्यादिना** । एवं हि भवतां द्वित्वोत्पत्तिवर्णनम्—प्रथमं द्रव्यद्वय-गतं यदेकत्वसंख्याद्वयं तद्विषयं ज्ञानमेकमेकमुत्पद्यते सापेक्षाबुद्धिर्नाम निमित्तकारणं तदपेक्षं चैकत्वसंख्याद्वयमसमवायिकारणं स्वाश्रयद्रव्यद्वयं समवायिकारणं द्वित्वमुत्पा-दयति, एवं त्रित्वादिष्वेकत्वत्रयादीति । तदत्र येयमपेक्षाबुद्धिस्तस्याः किमेकत्वसमु-च्चयमात्रं विषयः ? किं वा तद्विशेषः ? नाद्यः, तादृशबुद्धेः सर्वत्र समानतया द्वित्व-त्रित्वादिपारिप्लवापत्तेः । नापि द्वितीयः, समुच्चितैकत्वस्वरूपकृतविशेषाभावात् ।

विषयक होता है । यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि समुच्चयमात्र में विचित्रता के अभाव से द्वित्व, त्रित्वादि व्यवहार की विचित्रता का विरोध (अभाव) होगा, समुच्चय के तुल्य होने से तुल्य व्यवहार की प्राप्ति होगी । विकल्पानुपपत्ति से दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है । विकल्प है कि वह एकत्व का समुच्चयविशेष, समुच्चित एकत्वस्वरूप भेद से होगा, या समुच्चित-गत धर्मभेद से होगा, प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि एकता के स्वरूप की सर्वत्र तुल्यता रहती है, उससे समुच्चय में विशेषता नहीं हो सकती है, धर्मभेद से समुच्चय रूप चरम = अन्तिम पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि आरोपित वा पारमार्थिक द्वित्व, त्रित्वादि को नहीं मानने पर, उस एकत्व समुच्चयगत धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती है, अर्थात् संख्या के गुण होने से एकत्वसमुच्चय में सत्य द्वित्वादि नहीं रह सकते हों, तो आरोपित मानने पर धर्म की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा पारमार्थिक मानने से हो सकती है, अन्यथा नहीं । इस शंका का उत्तर है कि ऐसा विकल्प करना युक्त नहीं है । क्योंकि द्वित्व-त्रित्वादि को आप भी अपेक्षा-

साम्यात् । अपेक्षाबुद्धेरेकत्वगुणसमुच्चयमात्रविषयत्वे द्वित्वत्रित्वादिसंख्याभेदोत्पादकता न सिद्ध्येत्, समुच्चयस्य सर्वत्राविशेषात् । आरोपितद्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालम्बना बुद्धिर्द्वित्वादिजनिकेतिचेत्, न, तथाभूताया एव बुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात् । आरोपितस्यानारोपपूर्वकत्वनियमाद् द्वित्वादेः क्वचित् सत्यतापत्तिरितिचेत्, न, शुक्तिरजतादिसंसर्गवत् क्वचित् सत्यताऽभावेऽपि भ्रान्तिविषयत्वोपपत्तेः ।

धर्मान्तराभ्युपगमेप्यनारोपितम् ? आरोपितं वा ? नाद्यः, द्वित्वानवस्थाप्रसङ्गात्, उत्तरोत्तरद्वित्ववैयर्थ्याच्च । विषयवैचित्र्याभावेपि स्वभाववैचित्र्याद्विचित्रकार्यजनकत्वमिति चेत्, न, अतिप्रसङ्गापत्तेः । तस्मादारोपितद्वित्वमेव तस्या विषयः, तथाच तादृगेव घटादिष्वपि द्वित्वबुद्धेर्विषय इति वृथा तव द्वित्वकल्पनेति संकलितार्थः । इमामेवार्थस्थितिं पर्यनुयोगपरिहाराभ्यां परिद्रढयति—**आरोपितेत्यादिना** । **न शुक्तीति** । उक्तमेतद्यथायथचिदपि सत्त्वमन्तरेणानाद्यनिर्वचनीयाविद्यावशादेतद्विभ्रमोऽनुय इति प्रथमपरिच्छेदेऽनिर्वचनीयख्यातौ । आस्तां तु मामकी रीतिः, आयुष्मतैव तावच्छुक्तिरजतसंसर्गेषु तत्तदत्यन्ताभावप्रतियोगिषु चात्यन्तमसत एव प्रतिभासोऽभ्युपगम्यत इति भावः । अथ तादृशबुद्धिर्ज्ञायमाना व्यवहारं प्रवर्तयेत् ? स्वसत्तया वा ? नान्त्योऽतिप्रसङ्गात् । नाद्यः, विषयनिरूपणे बुद्धेरेव तावदनिरूपणादिति चेत्,

---

बुद्धिजन्य मानते हैं, वहां द्वित्व-त्रित्वादि के जनक अपेक्षाबुद्धि के विषय में भी यह विकल्प तुल्य हो सकता है, क्योंकि अपेक्षाबुद्धि के एकत्व गुण के समुच्चय मात्र विषयक होने पर, द्वित्व, त्रित्वादि संख्या भेद की उत्पादकता नहीं सिद्ध हो सकेगी । क्योंकि समुच्चय को सर्वत्र तुल्यता रहती है । यदि कहें कि अनारोपित द्वित्वादि तो अनवस्था भय से माना नहीं जा सकता है, किन्तु आरोपित द्वित्व-त्रित्वादि से विशेषित (युक्त) एकत्व समुच्चयविषयक बुद्धि द्वित्वादि का जनक होती है, तो कहना युक्त नहीं, क्योंकि वैसी बुद्धि को ही द्वित्वादि व्यवहार के जनकत्व की सिद्धि हो सकने पर, उसमें द्वित्वादि जनकत्व की कल्पना व्यर्थ है । उक्त रीति से एकत्वसमुच्चय में जैसे आरोपित द्वित्वादि से द्वित्वादि बुद्धि होती है, इसीप्रकार से घटादि में भी आरोपित द्वित्वादि में ही द्वित्वादि की बुद्धि होती है, यह ज्ञातव्य है । अतः सत्य द्वित्वादि की कल्पना व्यर्थ है । यदि कहा जाय कि आरोपित सर्पादि को भी अनारोपित पूर्वकता के नियम से कहीं द्वित्वादि की भी सत्यता प्राप्त होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि शुक्ति आदि और कल्पित रजतादि के सम्बन्ध के समान कहीं भी सत्यता के नहीं रहने भी द्वित्वादि को भ्रान्तिविषयत्व की सिद्धि हो सकती है ।

नापि द्वितीयः, द्व्यणुकपरिमाणं जन्यासमवायिकारणजन्यं कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानस्याश्रयासिद्धत्वात्। द्व्यणुकतत्परिमाणयोरस्माभिरनङ्गीकारात्, पटस्यापि तन्तुसंयोगासमवायिकारणजन्यत्वासंप्रतिपत्तेर्दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च। "विवादाध्यासितो बुद्धिजन्यगुणयोराश्रयः द्रव्यत्वादात्मवद" इति मानमनोहरोदीरितमनुमानं मानमितिचेत्, न, अर्थान्तरत्वात्,

---

तदिदं बलीवर्दोल्ललनमन्तरेण भारोल्ललनम्, यतः स्वप्रकाशज्ञानवादिनोऽस्मान्विहाय जडज्ञानवादिषु भवादृशेष्वेवंविधविकल्पः। कल्पितशुक्तिरजतादिष्वपि वा कथंकारमित्यात्मनैवात्मा पर्यनुयुज्यताम्। तत्र बाधितत्वाद्यथातथास्त्वितिचेत्, अत्रापि किमुक्तानि साधकानि लक्षणानि मन्यसे ? गुणसमवायादिखण्डनानि वा विस्मरसि ? तदेवं न प्रत्यक्षं द्वित्वे प्रमाणमित्युक्तम्।

अनुमानानि दूषयति—**नापीति**। परिमाणमात्रपक्षीकारेण परमाण्वादिषु बाधः स्यात्तदर्थं द्व्यणुकपरिमाणग्रहणम्। यत्तज्जन्यं द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणं तद् द्वित्वम्। परमाणुद्वयगतद्वित्वाद्धि द्व्यणुकपरिमाणोत्पत्तिरिति भावः। आश्रयासिद्धिमेव विवृणोति—**द्व्यणुकेति**। साध्यवैकल्यं चाह—**पटस्यापीति**। अनैकान्तिकं चाप्यद्व्यणुकरूपादौ। अथ जन्यपदं विहायेदमनुमानम्, तदापि पारिमण्डल्यस्यैव तदसमवायिकारणत्वप्रसाधकतयार्थान्तरत्वम्। नच तस्य नित्यपरिमाणत्वात्परममहत्त्ववदनारम्भकतानुमानम्, परमाणुद्वित्वस्यापि वियदादिद्वित्ववदनारम्भकत्वप्रसङ्गात्। द्व्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यम्, बहुत्वप्रचयाजन्यत्वे सति कार्यपरिमाणत्वान्महत्त्ववदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। अनुमानान्तरमुद्भावयति—**विवादेति**। रूपादिभिरर्थान्तरतानिवृत्त्यै बुद्धिजन्यग्रहणम्। आत्मव्यतिरिक्तद्रव्यजातं च पक्षः। आत्मनश्च बुद्धिजन्येच्छाद्याधारतया सपक्षत्वम्, ततश्चापेक्षाबुद्धिजन्यतयानेकत्वसंख्यानेकपृथक्त्वकथासिद्धिरित्यर्थः। इतः आरभ्याश्रयासिद्धत्वादित्यन्तो ग्रन्थो निगदव्याख्यातः। ननु कथं चेतनत्वस्योपाधित्वम्, यावतेश्वरे नित्यज्ञानादिमति साध्यसम-

---

द्वितीय = अनुमान भी द्वित्व में प्रमाण नहीं हो सकता है। अर्थात् अनुमान से भी द्वित्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि (द्व्यणुक परिमाण, जन्य असमवायिकारण, द्वित्व, जन्य है, कार्य होने से, पटवत्) इस अनुमान को द्वित्व का साधक माना जाता है, परन्तु यह अनुमान द्वित्व का साधक नहीं हो सकता है, यह आश्रयासिद्धि से दूषित है, क्योंकि द्व्यणुक और उसके परिमाण को हम नहीं मानते हैं। और पट के भी तन्तुसंयोग रूप असमवायिकारणजन्यत्व की असम्प्रतिपत्ति (अस्वीकृति) से दृष्टान्त को साध्यवैकल्य (राहित्य) है। (विवादविषय= आत्मभिन्नद्रव्य, बुद्धिजन्य = द्वित्वद्विपृथक्त्व गुणों के आश्रय है, द्रव्य होने से, आत्मवत्) यह मानमनोहर कथित अनुमान द्वित्व में प्रमाण है। यह भी नहीं कह

सर्वस्यापि घटपटादेरीश्वरबुद्धिजन्यरूपादिगुणाश्रयत्वात् । अनित्यबुद्धिजन्यत्वस्य विवक्षितत्वाददोष इतिचेत्, न, घटपटादिगतरूपादेरप्यस्मदादिज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्यत्वेन पूर्वदोषानतिवृत्तेः । परमाणूनामेव पक्षीकरणे तेषामस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वात् तेषु बुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वसाधने नार्थान्तरतेति चेत्, न, तेषामेवासंमतत्वेनाश्रयासिद्धत्वात्, चेतनत्वस्योपाधित्वाच्च । न चेश्वरे साध्याव्याप्तिः, तस्यापि त्वन्मते तद्बुद्धिजन्यसंयोगविभागाश्रयत्वात् । निर्गुणात्मवादिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । अपि

व्याप्तिर्नास्ति तत्राह—**न चेश्वर इति**। साध्याव्याप्तिः साध्यसमव्याप्त्यभावः । यद्यपि न तस्मिन् ज्ञानदयो बुद्धिजन्यास्तथापि संयोगविभागौ ईश्वरबुद्धिजन्यौ कार्यत्वात् । तथाच साध्यसमव्याप्तिरिति भावः । नचानित्यबुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वविवक्षायां साध्यसमव्याप्तिर्नास्तीति वचनीयम्, ईश्वरस्याप्यनित्ययोगिबुद्धिजन्यद्वित्वाद्यधिकरणत्वात् । उक्तं चैतदधस्तात् । दूषणान्तरं चाह—**निर्गुणेति** । वेदान्ति-

---

सकते हैं, क्योंकि इसमें अर्थान्तरता दोष है । सभी घटपटादि द्रव्यों को ईश्वर की बुद्धि जन्य रूपादि गुण के आश्रयत्व है । अनित्य बुद्धि जन्यत्व अर्थात् जीवबुद्धि जन्यत्व की विवक्षा से यह दोष नहीं रहेगा, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि घटपटादिगत रूपादि के अस्मदादि, कुम्भकारादि के ज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्य होने से पूर्व दोष (अर्थान्तरत्व) रहता ही है । यदि कहें कि परमाणु रूप द्रव्य को ही पक्ष करने पर, परमाणुओं को हम लोगों की बुद्धि के अविषय होने से, उनमें बुद्धिजन्य गुण = द्वित्वादि अधिकरणत्व के साधने पर भी अर्थान्तरता नहीं होगी, क्योंकि अनित्य बुद्धिजन्य गुणाश्रयत्व परमाणुओं में नहीं रह सकता है, ईश्वरबुद्धिजन्य द्वित्वादि सिद्ध होंगे, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि उन परमाणुओं के ही सर्वसम्मत नहीं होने से आश्रयासिद्धि की प्राप्ति होती है । और उस अनुमान में चेतनत्व उपाधि भी है । क्योंकि चेतनत्व उपाधि आत्मा में साध्य = बुद्धिजन्य गुणाश्रयत्व का व्यापक है । और अन्य द्रव्यों में द्रव्यत्व हेतु का चेतनत्व अव्यापक है । यदि कहें कि ईश्वर में साध्य के साथ समव्याप्ति चेतनत्व को नहीं है, क्योंकि वहाँ चेतनत्व है, परन्तु साध्य नहीं है, यह समव्याप्ति का अभाव रूप साध्याव्याप्ति है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उस ईश्वर को भी योगी आदि की अनित्य बुद्धि से जन्य संयोग-विभाग द्वित्वादि गुण का अधिकरण न्यायमत में माना जाता है ; तथा सर्वकर्तृत्व से ईश्वर से जन्य बुद्धिजन्य संयोगादि की आश्रयता ईश्वर में सिद्ध होती है । अतः समव्याप्ति सिद्ध होती है । और निर्गुण आत्मवादी के प्रति दृष्टान्त में साध्य की विकलता है, क्योंकि वेदान्त में बुद्धि के धर्म इच्छा आदि माने जाते

चापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वे द्वित्वस्य कं दोषं पश्यसि, येन तज्जन्यतामङ्गीकुरुषे ? एकत्ववत् द्वित्वस्याप्यपेक्षाबुद्धेः प्रागेव सिद्धौ तत्प्रतीतिसमकालमेव द्वित्वप्रतीतिप्रसक्तिर्दोष इति चेत्, न, व्यञ्जकाभावादेव तदप्रतीत्युपपत्तेः। न च समानाश्रयसमानेन्द्रियग्राह्यसमानजातीयगुणानां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्य-

---

मतं बुद्धिधर्मा इच्छादयो नात्मनो गुणास्ततश्चात्मनि साध्यवैकल्यमिति भावः। एवमनुमानतोपि न द्वित्वाधिगतिरित्युक्तम्। इदानीं यद्भाष्यकारप्रभृतिभिः परिकल्प्यते "तस्याः खल्वेकत्वेभ्योनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः" इत्यादिनापेक्षाबुद्धिजन्यत्वं द्वित्वस्य, तदसंगतमित्याह—**अपि चेति**। नन्वयं दोषः यदेकत्ववद्द्वित्वस्यापि यावद्द्रव्यभावित्वेऽपेक्षाबुद्धेः प्रागपि तत्प्रतीतिप्रसक्तिरिति शङ्कते—**एकत्ववदिति**। नायं दोषः, यावद्द्रव्यभाविनोऽपि तद्व्यङ्ग्यतया तदनुविधानोपपत्तेरिति परिहरति—**व्यञ्जकेति**। यत्त्वत्रोदयनमानमनोहरकाराभ्यां बाधकमुक्तं तद् दूषयति—**न चेति**। समानाश्रयाणामपि गन्धरसादीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यतः **समानेन्द्रियग्राह्याणामित्युक्तम्**। समानाश्रयाणां समानेन्द्रियग्राह्याणामेकत्वमहत्त्वादीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यत उक्तं **समानजातीयाना-**

हैं। उक्त रीति से द्वित्वादि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण नहीं हैं, तो भी जो कि एकत्व का समुच्चयादि स्वरूपकल्पित द्वित्व है, उसको इदमेकमिदमेकम्, इत्यादि अपेक्षाबुद्धि से अभिव्यक्ति नहीं मानकर अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति मानते हैं, वहाँ कहा जाता है कि द्वित्व की अपेक्षाबुद्धि से व्यङ्ग्यत्व में किस दोष को देखते हैं कि जिससे अपेक्षाबुद्धि से जन्यता को मानते हैं। यदि कहें कि द्वित्व यदि अपेक्षाबुद्धि से जन्य नहीं हो किन्तु अपेक्षाबुद्धि से प्रथम ही एकत्व के समान वर्तमान हो (सिद्ध हो) तो उस एकत्व की प्रतीति के समकाल में ही द्वित्व की प्रतीति प्राप्त होगी, किन्तु होती नहीं है, यही दोष क्या नहीं है ? तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि द्वित्व के रहते भी व्यञ्जक अपेक्षाबुद्धि के अभाव से ही एकत्व के ज्ञानकाल में द्वित्व की अप्रतीति की सिद्धि होती है। यदि कहें कि, समान = तुल्य आश्रय वाले—समान इन्द्रिय से ग्राह्य—समान जाति वाले = द्वित्वादि गुणों को विचित्र व्यञ्जक (अपेक्षाबुद्धि) से व्यङ्ग्यत्व नहीं हो सकता है, अतः उनकी विचित्र अपेक्षाबुद्धि से उत्पत्ति मानी जाती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, महत्त्व और दीर्घत्व के समान विचित्र व्यञ्जक से व्यङ्ग्यत्व हो सकता है। समानेन्द्रियग्राह्य समानदेशवृत्ति सजातीय भी महत्त्व और दीर्घत्व विचित्र व्यञ्जक से व्यङ्ग्य होते हैं, अणुत्व से महत्त्व व्यङ्ग्य होता है, और ह्रस्वत्व से दीर्घत्व व्यङ्ग्य होता है, वैसे ही प्रकृत में भी होगा। और ह्रस्वत्व की अपेक्षा से जैसे

त्वानुपपत्तिः। महत्त्वदीर्घत्वयोरिव तदुपपत्तेः। नहि महत्त्वप्रतीतिर्दैर्घ्य-प्रतीतिवद्ध्रस्वमपेक्ष्य जायते, तत्प्रतीतेरणुप्रतियोग्यपेक्षत्वात्ततो न द्वित्व-स्यापेक्षाबुद्धिजन्यतापि।

न चैकत्वसंख्यासमुच्चयोऽपि द्वित्वम्, एकत्वस्यापि स्वरूपातिरेकेण दुर्निरूपत्वात्। न च स्वरूपाणां भिन्नत्वादेकमेकमित्यनुगतप्रत्ययानुपपत्तिः, एकत्वसंख्यास्वीकारेपि तस्याः प्रतिद्रव्यं भिन्नतया द्रव्येष्वेकमेकमिति प्रत्ययानुपपत्तेस्तुल्यत्वात्। एकत्वसंख्याविशिष्टतया चैकमिति प्रत्ययविष-यत्वे रूपादौ संख्यायां चेकमिति मतेरभावप्रसङ्गाच्च। तत्र स्वरूपत एवैक-

---

मिति। महत्त्वदीर्घत्वयोर्व्यभिचारमेव स्फोरयति—**नहीति**। यथा हि समानेन्द्रिय-ग्राह्यसमानदशसमानधर्मापन्नयोर्महत्त्वदीर्घत्वयोर्ह्रस्वाणुलक्षणप्रतियोगिप्रतीतिव्यङ्ग्य-त्वमेवमत्रापि द्वित्र्यादिसंख्यानामित्यर्थः। अथ तत्र महत्त्वदीर्घत्वगतजातिवैलक्षण्यात्स समानजातित्वमिति मतम्, तर्हि अत्राप्येकत्वद्वित्वादिजातिभेदोऽस्तीति समं समाधानम्।

ननु यदि न गुणान्तरं द्वित्वम्, तर्ह्येकत्वसमुच्चयरूपद्वित्वमेवमस्तु, न च द्वित्वादिसमानाकारापत्तिः, सैकमिदं सैकमिदं सैकैकमित्येकत्वसमुच्चयतारतम्येनापि तद्व्यवहारोपपत्तेरिति, तत्राह—**न चैकत्वेति**। अङ्गीकृत्य पूर्वमेकत्वसमुच्चयं तद्विषयतयाऽन्यथासिद्धिद्वित्वप्रत्ययस्योक्तेति न विरोधः।

एकत्वसंख्यैव दुर्निरूपा, कुतस्तत्समुच्चयरूपद्वित्वादिरित्येकत्वसंख्यां दूषयति—**एकत्वस्यापीति**। यदत्रोदयनश्रीवल्लभाचूचतुस्तद् दूषयति—**न च स्वरूपाणा-मिति**। स्वीकृतायामप्येकत्वसंख्यायामयं दोषोऽपरिहार्यः, तस्या अपि प्रतिद्रव्यं विभिन्नत्वादित्यर्थः। ननु तास्वनुगतमेकत्वसंख्यावैशिष्ट्यमुपाधिमादायानुगतिसमर्थन-मिति, तत्राह—**एकत्वसंख्येति**। किंच यत्रेयमेकत्वसंख्या वर्तते तत्किमेकम्? अनेकं वा? नान्त्यः, विरोधात्। आद्ये तदप्येकत्वं किमेकत्वसंख्या? स्वस्वरूपं वा?

दीर्घत्व की प्रतीति होती है, वैसे महत्त्व की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि महत्त्व की प्रतीति को अणु प्रतियोगी की अपेक्षा होती है। अतः द्वित्व की अपेक्षाबुद्धि-जन्यता भी नहीं हो सकती है।

प्रथम एकत्व का समुच्चय द्वित्व कहा गया है, तथापि एकत्व संख्या का समुच्चय रूप भी द्वित्व नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्य के स्वरूप से भिन्न रूप से एकत्व को भी दुर्निरूपत्व है, यदि कहें कि घटादि के स्वरूपों के भिन्न-भिन्न होने से पृथक् संख्या के बिना एक-एक इस प्रकार की अनुगत प्रतीति की अनुपपत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि एकत्व संख्या को पृथक् मानने पर भी प्रत्येक द्रव्य में उस संख्या के भी भिन्न-भिन्न होने से एक-एक इस अनुगत प्रतीति की अनुपपत्ति

त्वव्यवहारेऽन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात्। एकत्वसंख्याविशिष्टे चैकत्वसमवायस्यानवस्थादिदोषादयुक्ततया यादृक्स्वरूपे संख्यासमवायस्तादृशस्यैवैकव्यवहारविषयतोपपत्तौ संख्यास्वीकारवैयर्थ्यात्। न चैवं जात्यपलापानिष्टप्रसङ्गोऽद्वैतवादिनाम्, इष्टत्वात्।

न च प्रमाणं संख्यायामप्येकत्वादिबुद्धयः।
गुणादिष्वपि तद्भावात् तद्बाधस्यानिरूपणात् ॥ ४६ ॥

आद्येऽनवस्था स्वाश्रयत्वं वा स्यात्। तस्माद्यादृक्स्वरूपे सा वर्तते तादृक्स्वरूपादेव सर्वत्रैकत्वव्यवहारोऽस्तु, मुधाधिकार्थस्वीकारः इत्याह—**एकत्वेति**। नन्वेवं गोत्वाश्वत्वादयोपि तत्तदाश्रयस्वरूपमादाय शक्योद्धाराः। यदाह लीलावतीकारः—'जातेरपि विप्लवापत्तेः' इति, तत्राह—**नचैवमिति**। यत्त्वेकत्वसंख्यायां मानमनोहरोक्तमनुमानं तद्भेदखण्डनसमय एवैकपृथक्त्वदूषणप्रसङ्गेनानूद्य दूषितम्।

एवमेकत्वसंख्याऽनिरुक्तिमुक्त्वा संप्रति संख्यामात्र एव प्रमाणं नास्तीत्याह—**न च प्रमाणमिति**। एकादिव्यवहारहेतुः संख्येति हि तैरेकाद्यभिज्ञाव्यवहारस्य विषयतया हेतुरित्येकादिबुद्धयः प्रमाणमुच्यन्ते, ताश्चाप्येकत्वादिबुद्धयः संख्यायां न प्रमाणम्, तद्रहितेष्वपि गुणादिषु तादृशबुद्ध्युपपत्तेः। नच तत्र भ्रान्तत्वं गौणत्वं

तुल्य ही रहती है। एकत्व संख्याविशिष्टता से एकम्—इस अनुगत ज्ञान के विषयत्व को मानने पर संख्यारहित रूपादि में और संख्या में एकम्—इस बुद्धि का अभाव प्राप्त होगा। संख्यारहित उन रूपादिकों में स्वरूप से ही एकत्व के व्यवहार होने पर, अन्यत्र द्रव्य में भी तथा भाव=स्वरूप मात्र से एकत्व का व्यवहार सिद्ध होगा। यदि कहें कि द्रव्यों में संख्या भिन्न-भिन्न रहती है तथापि एकत्वसंख्याविशिष्टत्व रूप उपाधि से अनुगत व्यवहार होता है, तो भी अनेक में तो एकत्वसंख्यावैशिष्ट्य रह नहीं सकता है। अतः एकत्वसंख्याविशिष्ट में एकत्व के समवाय को मानने पर अनवस्था प्राप्त होगी, अतः एकत्वविशिष्ट में संख्या की अयुक्तता से जैसे स्वरूप में संख्या का समवाय माना जायगा, वैसे स्वरूप को ही एक व्यवहार के विषयत्व की सिद्धि होते, संख्या स्वीकार में व्यर्थता सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि इसप्रकार से जाति के अस्वीकार की प्राप्ति रूप अनिष्ट प्राप्त होगा, एकत्वादि के समान स्वरूप से ही गोत्वादि व्यवहार होगा, तो कहा जाता है कि अद्वैतवादी को जाति का अपलाप इष्ट है। और एकत्व ही का अभाव है, इतना ही नहीं, किन्तु वस्तुस्वरूप से भिन्न सभी संख्याओं का अभाव है, क्योंकि—

एकत्वादि बुद्धि संख्या में प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि संख्यारहित माने गये गुणादि में भी एकत्वादि बुद्धि का भाव होता है, और गुणादिविषयक संख्या बुद्धि को भ्रम भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इनका बाध नहीं होता है ॥ ४६ ॥

न च संख्यायामपि प्रमाणं पश्यामः। न चैकत्वादिबुद्धयः प्रमाणम्, संख्याभावेऽपि चतुर्विंशतिर्गुणाः, पञ्च कर्माणि, द्विविधं सामान्यमित्यादिवदुपपत्तेः। न च तत्र गौणः प्रयोगः, मुख्ये बाधानिरूपणात्। न हि निपुणमतयोऽपि निरूपका न चतुर्विंशतिर्गुणाः, न पञ्च कर्माणीति बाधमध्यवस्यन्ति। तदेवं द्वित्वादिसंख्यायां प्रमाणाभावात्, द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीया संख्या तादृग्वृत्तिसंख्यात्वावान्तरजातीयं द्वित्वमित्यादिलक्षणमसंभवित्वदोषेण परास्तम्।

तथा जातिरपि—

चेत्याह—तद्बाधस्येति। संगृहं विवृणोति—न चेति। ननु तथापि तल्लक्षणेषु किं दूषणमिति प्रमाणाभावादसंभव इत्याह—तदेवमित्यादिना। रूपादावतिव्याप्तिपरिहाराय द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्युक्तम्। द्व्यणुकस्य यत्परिमाणं तदसमवायिकारणं यत्परमाणुगतद्वित्वं तद्वर्तिनी या गुणत्वावान्तरजातिस्तदधिकरणमित्यर्थः। सत्तागुणत्वे समादाय द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिस्तद्वारणाय गुणत्वान्तरजातीयग्रहणम्। तादृग्वृत्तीति। द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्यर्थः। एतच्च त्रित्वादिव्यवच्छेदाय। एतेन द्विपृथक्त्वाद्यपि व्याख्यातम्, तत्राप्यपेक्षाबुद्धिमादाय अर्थप्रत्याख्यानस्य व्यञ्जकत्वसमर्थनस्य सुवचत्वात्। एकपृथक्त्वे चानुमानं भेदखण्डने एव दूषितम्।

नच पृथक्त्वमात्रे पृथगिति बुद्धिः प्रमाणम्, रूपादिष्वपि समानत्वादिति। अवयविखण्डनन्यायेन संयोगविभागद्विपृथक्त्वसामान्यादीन्यपि दुर्निरूपाणीत्युक्तम्। तत्र सामान्यव्यतिरिक्तेषु दुर्निरूपतोपपादिता। संप्रति तत्रापि तामुपपादयति—तथा जातिरपीति। षट्पदार्थखण्डनसमये तु सामान्यलक्षणानि खण्डितानि अत्र तु

अर्थात् संख्या में प्रमाण नहीं देखा जाता है, एकत्वादि बुद्धियाँ उसमें प्रमाण नहीं हो सकती हैं, क्योंकि गुणादि में संख्या के अभाव रहते भी चौबीस गुण हैं, पांच कर्म हैं, दो प्रकार के सामान्य हैं, इत्यादि प्रतीति की उत्पत्ति होती है। गुणादि में संख्यावाचक पद का गौण प्रयोग होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मुख्य में कोई बाध नहीं देखा जाता है। निपुण बुद्धि वाले परीक्षक भी चौबीस गुण नहीं हैं, ऐसे बाध का निश्चय नहीं करते हैं, न पांच कर्म हैं, इसके बाध का अध्यवसाय (निश्चय) करते हैं। अतः इस उक्त रीति से द्वित्वादि संख्या में प्रमाण के अभाव होने से, द्व्यणुकादि परिमाण के असमवायिकारणवृत्ति गुणत्वावान्तर जाति वाली संख्या है, और तादृश = वैसे समवायिकारणवृत्ति संख्यात्वान्तर जाति वाले द्वित्वादि हैं, इत्यादि लक्षण असम्भावित्व दोष से निरस्त हो गये।

इसीप्रकार से जाति की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि—

प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न जातिः सेद्धुमर्हति ।
व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेस्तद्वृत्तेश्चानिरूपणात् ॥ ४७ ॥

न तावद्गौर्गौरित्यभिन्नाकारग्राहिप्रत्यक्षं जातौ प्रमाणम्, विकल्पासहत्वात् । तत्किमेकव्यक्तिवद्व्यक्त्यन्तरे गौरित्यवभासः ? उत व्यक्तीनामेकगोस्वभावावभासः ? एकधर्मवत्तयावभासो वा ? नाद्यः, एकव्यक्तेर्गोस्वभाववद्व्यक्त्यन्तरस्यापि गोस्वभावत्वादेवान्तरेणापि सामान्यमनेकोदकभाजने-

---

प्रमाणं स्वरूपनिरुक्तिश्च खण्ड्यते इत्यपुनरुक्तिः । **तद्वृत्तेश्चेति** । तस्या जातेर्व्यक्तिषु वृत्तिप्रकारस्याप्यनिरूपणादित्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—**न तावदिति** । कोऽयमभिन्नाकारग्रहः ? किमेकव्यक्तौ यथा गौरिति प्रतीतिस्तथा व्यक्त्यन्तरेऽपि गौरिति प्रतीतिमात्रम् ? किं वा सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वप्रतीतिः ? उत व्यक्तीनामेकगोत्वलक्षणधर्मवत्त्वप्रतीतिः ? इति विकल्पयति—**विकल्पेति** । प्रथमे तु न जातिसिद्धिः, व्यक्तीनां तन्मात्रवृत्तिगोस्वभावमात्रसमर्पकतयानुगतार्थासमर्पकत्वादित्याह—**एकव्यक्तेरिति** । तत्रैकव्यक्तावेव गौरिति बुद्ध्युदयबलाद् गोत्वजातिसिद्धिं पूर्ववादी

न प्रत्यक्ष से, न अनुमान से जाति सिद्ध होने योग्य है, क्योंकि जाति के व्यञ्जकों से ही जाति का व्यवहार अन्यथा = जातिविना सिद्ध हो जाता है, और व्यक्तियों में जाति की वृत्तित्व का निरूपण नहीं हो सकता है ॥ ४७ ॥

अर्थात् गौ-गौ, इसप्रकार से ऐक आकार को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष जाति में प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि यह विकल्पाऽसह्य है, विकल्प है कि, क्या यह प्रत्यक्ष, एक व्यक्ति के समान व्यक्त्यन्तर में गौ ऐसा ज्ञान रूप होकर प्रमाण होता है, अथवा व्यक्तियों के एक गोस्वाभाव के अवभास रूप से होता है, अथवा एक धर्मवत्ता से होता है, प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि एक व्यक्ति के गोस्वभाव के समान व्यक्त्यन्तर के भी गोस्वभाव से ही, सामान्य = जाति के बिना भी गो ऐसा अवभास (ज्ञान) सिद्ध हो सकता है, जैसे कि अनेक जलपात्र में जाति के बिना ही यह चन्द्र है, यह चन्द्र है, ऐसी अनुगत प्रतीति होती है । यदि शंका हो कि सामान्य व्यक्तिमात्र गौ इस प्रतीति का विषय होता है, या गोव्यक्ति विषय होता है, वहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अश्वादि व्यक्ति में भी गौ इस प्रतीति प्राप्ति होती है, व्यक्तिमात्र के अन्तर्गत सब व्यक्ति है । गौ व्यक्ति ही गौ इस प्रतीति का विषय होती है, यह दूसरा पक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि उस प्रतीति की विशेष विषयता के लिये जाति का स्वीकार करना होगा । यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि गौ इस प्रतीति का विषय न व्यक्तिमात्र होता, न गोत्वविशिष्ट व्यक्ति होता है । किन्तु सास्नादि वाली व्यक्ति गौ इस प्रतीति का विषय होती है । अन्यथा व्यक्तिमात्र को गोत्व का व्यञ्जकत्व है, या गोत्ववद्

त्वयं चन्द्रोऽयं चन्द्र इतिवदवभासोपपत्तेः। ननु व्यक्तिमात्रं गौरितिमतिगोचरः? गोव्यक्तिर्वा? नाद्यः, तुरगादिव्यक्तावपि तत्प्रसङ्गात्। नेतरः, जातिस्वीकारापत्तेरिति चेत्, न, सास्नादिमद्व्यक्तेस्तन्मतिगोचरत्वात्। अन्यथा व्यक्तिमात्रस्य गोत्वव्यञ्जकत्वं गोत्ववद्व्यक्तेर्वेति प्रत्यवस्थानस्य जातावपि तुल्यत्वात्। नापि द्वितीयः, सर्वत्र गोस्वभावस्यैकस्यानिरूपणात्, निरूपणे वा जातिस्वीकारवैयर्थ्यात्। नापि तृतीयः, दण्डी दण्डवानितिवद्गोत्वी गोत्ववानिति प्रत्ययाभावात्। सास्नादिमत्त्वधर्मस्यैकस्य सर्वत्र प्रतिभासोऽस्तीति चेत्, कृतं तर्हि जात्या, तत एवानुवृत्तव्यवहारोपपत्तेः।

समर्थयते—**नन्वित्यादिना**। न व्यक्तिमात्रं तद्बुद्धिविषयः, नापि गोत्वविशिष्टव्यक्तिः, किंतु सास्नादिमती, ततो नोक्त दूषणमिति परिहरति—**न सास्नादीति**। भवतापि स्वीकर्तव्येयं रीतिरित्याह—**अन्यथेति**। **गोत्ववद्व्यक्तेरिति**। गोत्वविशिष्टव्यक्तेर्गोत्वव्यञ्जकत्वे स्वस्यैव स्वव्यञ्जकतयात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः। सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वावभास इति द्वितीयपक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। नहि सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यते, जातिव्यक्त्योर्भेदाङ्गीकारात्। **निरूपणे वेति**। एकशब्दप्रयोगानुपपत्त्या चैकस्वभावाङ्गीकारे वा तादृशस्वरूपेणैवानुगतव्यवहारसिद्धेर्व्यावृत्तस्वरूपाणामस्वरूपतयाऽद्वैतवादिनामेव विजयः स्यादित्यर्थः। एकधर्मवत्त्वावभास इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। प्रतीतिरेवेयमसिद्धा। नहि गौरिति प्रतीतिव्यतिरेकेण गोत्वग्राही प्रत्ययोऽस्तीत्यर्थः। यद्यपि गोत्वस्य धर्मत्वग्राहिणी प्रतीतिर्नास्ति, तथापि सास्नादिमत्त्वं नामैकानुगतो धर्मः प्रतीयते, अतस्तद्व्यङ्ग्यजातिसिद्धिरिति शङ्कते—**सास्नादिति**।

व्यक्ति को गोत्व व्यञ्जकत्व है। प्रथम पक्ष में अश्वादि व्यक्ति को भी गोत्व व्यञ्जकत्व प्राप्त होगा, दूसरे पक्ष में गोत्व को ही गोत्व का व्यञ्जक होने से आत्माश्रयता होगी, इस जाति पक्ष में भी प्रत्यवस्थान (संशय = विरोध) की तुल्यता है। सब व्यक्ति के गोस्वभाव = स्वरूप अवभास रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सब गो व्यक्ति में एक गोस्वभाव का निरूपण नहीं हो सकता है, यदि सब गो व्यक्ति में एक स्वभाव का निरूपण हो सके तो जाति का स्वीकार करना व्यर्थ होगा। एक धर्मवत्त्वावभास रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जैसे दण्डी दण्डवान्, यह एक दण्ड रूप धर्मवत्ता भासता है, वैसे गोत्वी गोत्ववान्, इसप्रकार से एक धर्मवत्ता की प्रतीति नहीं होती है। यदि कहें कि सास्नादिमत्त्व रूप एक धर्म का सर्वत्र अवभास (ज्ञान) होता है, तो जाति मानने की कोई फल नहीं। उस सस्नादिमत्त्व से ही अनुगत व्यवहार की सिद्धि हो सकती है।

किंच जातिं स्वीकुर्वता तद्व्यञ्जकं किंचिद्वाच्यम्? तदपि कुत्र वर्तते? इति पर्यनुयोगे यत्र जातिस्तत्र वर्तत इत्युक्तावन्योन्याश्रयता। उभयोर्वा कुत्र वृत्तिरिति पर्यनुयोगे यदि व्यञ्जकान्तरमभ्युपगच्छेत्तदानवस्था। यदि न, तदोभयोरपि वस्तुमात्रवृत्तितया सर्वत्र सर्वा जातिर्वर्ततेति जातिसाङ्कर्यप्रसङ्गः। यत्र यत्प्रतीयते तत्र तद्वर्तत इति प्रतीतिचरणशरणत्वेऽपि व्यञ्जकाङ्गीकरणवैयर्थ्यम्। प्रतीतिमात्राच्च तथात्वाङ्गीकारे, नभोनीलिमादेरपि तथात्वापातः। अबाधितप्रतीतेर्व्यवस्थापकत्वाङ्गीकारे चेहापि युक्तिबाधस्य

किंच सास्नादिमत्त्वलक्षणव्यञ्जकधर्मोऽपि दुर्निरूप इत्याह—**किंच जातिं स्वीकुर्वतेति। सर्वत्रेति।** यदि सास्नादिमत्त्वं गोत्वं चोभयं भाववस्तुमात्रे वर्तेत, तदा सर्वस्य सास्नादिमत्त्वं गोत्वं च स्यादिति विरोधविशेषोच्छेदः जातिसंकरश्च कार्यकारणभावाव्यवस्थितिश्चेत्यादिदोषाः प्रादुःष्युरिति भावः। ननु प्रतीतिरेव तत्सत्त्वव्यवस्थितौ शरणम्, नच सा सर्वव्यक्तिषु गोत्वावगाहिन्यस्ति, तत्कथमुक्तदोष इति, तत्राह—**यत्र यदिति।** जातीनां व्यञ्जकस्वीकारोपि वृथा, यत्र या प्रतीयते तत्र सास्तीति तत्रापि वक्तुं शक्यत्वादित्याह—**व्यञ्जकेति।** अथ मा भूत् व्यञ्जकाभ्युपगमः, किमेतावतेति? तर्हि वक्तव्यम्—प्रतीतिमात्रात्तदङ्गीकारः? उताबाधितप्रतीतेः, नाद्यः, अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, असिद्धेरित्याह—**प्रतीतिमात्रेत्यादिना।** किंच जातिवादिनोऽपि जातिष्वपीयं जातिरियं जातिरित्यनुवृत्तप्रतीतिनिर्वाहकः कश्चिदर्थोऽस्ति? नवा? अन्त्ये तद्वद् द्रव्यादिष्वपि प्रतीत्युपपत्तिः। आद्ये सा न जातिरनवस्थापातादपरान्तत्वाच्च, तस्मादुपाधिरेव स मन्तव्यः,

---

और विभु जाति मानने वाले को उसका व्यञ्जक भी कोई अवश्य कहना होगा। फिर वह व्यञ्जक भी कहाँ रहता है, ऐसा पूछने पर, यदि कहे, माने कि जहाँ जाति रहती है, वहाँ व्यञ्जक रहता है, तो दोनों में अन्योन्याश्रयता होगी। जाति और व्यञ्जक दोनों कहाँ रहता है, ऐसा पूछने पर, यदि व्यञ्जकान्तर को माने कि जहाँ व्यञ्जकान्तर रहता है, वहाँ दोनों रहते (व्यक्त होते) हैं। तो अनवस्था होगी, और यदि व्यञ्जकान्तर का स्वीकार नहीं करें, तो सास्नादिमत्त्व रूप व्यञ्जक और गोत्व दोनों ही वस्तु के स्वरूपमात्रवृत्ति होंगे कि जिससे सर्वत्र सर्वजाति की वृत्तिता से जातिसांकर्य की प्राप्ति होगी। जहाँ जो जाति प्रतीत होती है, वहाँ वह रहती है। इसप्रकार से प्रतीति के चरण शरण को लेने पर भी व्यञ्जक को मानना व्यर्थ होगा। और प्रतीति मात्र से गोत्वादि जातिमत्त्व को उसके व्यञ्जक को प्रतीति के अनुसार मानने पर, नभ की नीलिमादि को भी प्रतीति के अनुसार सत्त्वापत्ति होगी, अथवा अबाधित प्रतीति को वस्तु के सत्त्व के व्यवस्थापकत्व मानने पर, यहाँ जातिविषय में युक्ति से बाध के सुवच होने के

सुवचत्वेन न तादृशप्रतीतेरपि व्यवस्थापकता । किंच जातिस्वीकारवादिना-पीयं जातिरियं जातिरित्यनुवृत्तप्रत्ययसिद्धये कश्चिदुपाधिरेष्टव्यः, तथा च सार्वत्रिकः स एवानुवृत्तप्रत्ययकारणमस्तु तदलं जातिकल्पनादुर्व्यसनेन । तदेवं न प्रत्यक्षं जातौ क्रमते ।

अस्तु तर्हि गन्धवन्तो गन्धवदगन्धावृत्तिगन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्तः ।

यथा च तथाविधोपाधिभिरेव सर्वत्रानुगतिसिद्धेर्न जातिकल्पनोपयोग इत्याह—**किंचेत्यादिना ।**

एवं प्रत्यक्षं जातौ प्रत्याख्याय कुलार्कपण्डितोन्नीतमनुमानमुद्भावयति दूषयितुम्—**तर्हीति ।** गन्धवत्स्वगन्धवत्सु च ये वर्तन्ते धर्मास्तेषु गन्धवदगन्धवृत्तित्वं नाम धर्मः तदत्यन्ताभाववान्, तथा गन्धवत्सु वर्तमानाः सन्तस्तेषु न वर्तन्ते ये धर्मास्तेषु गन्धवद्वृत्त्यवृत्तित्वं नाम धर्मस्तदनधिकरणो यो धर्मस्तद्वन्त इति योजना । अत्र च गन्धवद्वृत्तिधर्मवन्त इत्युक्ते प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । गन्धवदगन्धावृत्तिधर्मवन्त इत्युक्ते घटत्वपटत्वादिभिरर्थान्तरता, तदर्थं गन्धवद्वृत्त्य-वृत्त्यन्येत्युक्तम् । घटत्वादीनां च गन्धवद्घटादिवृत्तित्वे सति गन्धवत्पटावृत्तित्वेन तद्राहित्याभावात् । गन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्त इत्युक्ते च प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । तावति चागन्धवत्सु साध्याननुगमादप्रसिद्धविशेषणता, अत उक्तं गन्धवदिति । गन्धवदगन्धावृत्तित्वं चावृत्तित्वाद्वा ? अगन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा ? गन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा ? प्रथमद्वितीयौ गन्धवत्सु व्याहतौ । तृतीयोऽपि कतिपयगन्ध-वद्वृत्तिर्वा ? समस्तगन्धवद्वृत्तिर्वा ? प्रथमो द्वितीयविशेषणेन व्याहतः । द्वितीयस्तु सिद्ध्यन्ननुगतजातिरूपः सिद्ध्यतीत्यभिमानः । अगन्धवन्मात्रवृत्तिश्चेत्तरत्र

कारण गौ इत्यादि प्रतीति को भी जातिव्यवस्थापकता नहीं हो सकती है। और जातिवादी को भी यह जाति, यह जाति, इस जातिविषयक अनुगत प्रतीति से उस प्रतीति की सिद्धि के लिये कोई उपाधि मानना ही होगा, क्योंकि जाति में जाति मानने पर अनवस्था होगी, तो जाति के समान सर्वत्र वह उपाधि ही अनुगत प्रत्यय का कारण मानने योग्य है, जाति की कल्पना रूप दुर्व्यसन (हठ) का कोई फल नहीं है। अतः उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि जाति में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

कोई कहते हैं कि प्रत्यक्ष जाति में प्रमाण नहीं है, तो अनुमान प्रमाण हो सकता है। और अनुमान का प्रयोग करते हैं कि (गन्ध वाले पदार्थ, गन्धवान् और अगन्धवान् में वृत्ति जो प्रमेयत्व सत्ता द्रव्यत्वादि, धर्म, उनसे अन्य, धर्म। तथा किसी गन्धवान् में वृत्ति, किसी गन्धवान् में अवृत्ति, ऐसा जो घटत्वादि धर्म उनसे भी अन्य पृथिवीत्व रूप धर्म वाले हैं, प्रमेय होने से, अग्नि आदि के समान) इसी

तथा शैत्यवन्तः शीतवदशीतावृत्तिशीतवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्तः प्रमेयत्वाज्ज्वलनादिवदित्यनुमानैः पृथिवीत्वजलत्वादीनां सिद्धिः। विवादाध्यासितानि द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवन्त्यनित्यत्वाद्गोवदित्यनुमानेन सत्तायाश्च सिद्धिरिति चेत्, न, प्रथमप्रयोगेषु तत्तज्जातिव्यञ्जकगन्धवत्त्वशीतस्पर्शव-

---

साध्यसिद्धिः। उदकत्वजातावपि समानामेव रीतिमाह—**तथा शैत्यवन्त इति**। व्याख्यानं तु पूर्ववत्। उभयत्र हेतूदाहरणे निर्दिशति—**प्रमेयत्वादिति**। एवमुष्णस्पर्शवन्तो नीरूपस्पर्शवन्तश्च पक्षीकृत्य तेजस्त्ववायुत्वे समर्थनीये। तथा सास्नादिमतः पक्षीकृत्य गोत्वादि समर्थनीयम्। सत्तायामनुमानमाह—**विवादेति**। कार्यवर्गश्चात्र पक्षः। तदितरेषु तु तद्द्वारा सिद्धिः। एकसामान्यवत्त्वं चात्र साध्यम्। तथा कर्म शावलेयवृत्तिजातिमत्कार्यत्वात् शावलेयवदित्याद्यपि द्रष्टव्यम्। एवमनुमानान्युपन्यस्य यथाक्रमं दूषयन् व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति श्लोकभागं विवृणोति—**न, प्रथमेति**। अस्ति हि गन्धवत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वादीनामप्युक्तरूपत्वं सर्वं तन्मात्रवृत्तित्वादित्यर्थान्तरमित्यर्थः। एतेन व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति विवृतम्। गन्धवत्पक्षीकारे कथं तस्य गन्धवत्त्वस्य संभवः? आत्माश्रयादतो नार्थान्तरतेतिचेन्न, पाकजरूपवत्त्वादिनार्थान्तिरत्वात्। अपि च कुत आगतोऽयं देवानां प्रियः? यो हि उपलक्षणन्यायेन गृहीतधर्म एव निबन्धं वधूमिलनगीतमाशास्ते, तत्किंपाकजरूपादिमन्त इत्यशक्यपक्षीकरणं ब्रवीति? भवतु भवतो निर्बन्धस्तथापि नैतावृशेऽप्यात्माश्रये किंचिद्दुष्यति, उत्पत्तिज्ञप्त्योरप्रतिबन्धकत्वात् तस्य चादूषणत्वात्, इतरथा केवलान्वयिविलयप्रसङ्गात्। नच जातिपदप्रक्षेपाद्दोषः, आकाशादौ दुःखसाध्यत्वात्।

प्रकार से (शीतस्पर्श वाले, शीतवद् वृत्ति अशीतवद् वृत्ति धर्म, किसी शीतवद् में वृत्ति किसी में अवृत्ति धर्मों से अन्य धर्म वाला है, प्रमेय होने से, अग्नि आदि के समान) इत्यादि अनुमानों से पृथिवित्व जलत्वादि की सिद्धि होती है। यह टीका के अनुसार अर्थ हुआ, परन्तु मूल से प्रतीत होता है कि (गन्धवद् अगन्ध में अवृत्ति, तथा गन्धवद् में वृत्ति होता हुआ धर्म से अन्य धर्म वाले, गन्धवाले हैं) इत्यादि। और (विवादविषय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य वाले हैं। अनित्य होने से, गोवत्) इस अनुमान से सत्ता जाति की सिद्धि होती है। यह कहना तथा प्रयोगयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रथम प्रयोगों में तत्तत् जाति के व्यञ्जक गन्धवत्त्व, शीतस्पर्शवत्त्वादि धर्मों से ही अर्थान्तरता होती है। और जाति को नहीं मानने वालों के प्रति गोवत् इस दृष्टान्त को साध्यविकलता प्राप्त होती है। और जिज्ञासा होती है कि सर्व पदार्थ में सर्वगत (विभु) जाति है। या व्यक्ति मात्र में सर्वगत है। अर्थात् व्यापक होने से गोत्व जाति घट, पटादि सब में रहती है, व्यञ्जक से गो मात्र में व्यक्त होता है, या गो व्यक्ति में ही सब व्यक्ति में रहती है, यहाँ प्रथम पक्ष नहीं

त्वादिधर्मैरेवार्थान्तरत्वात्। जात्यनङ्गीकारवादिनं प्रति गोवदिति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। किंच सर्वसर्वगता जातिः? उत व्यक्तिसर्वगता? नाद्यः, विकल्पासहत्वात्। किं सर्वसर्वगतत्वं नाम—सर्वत्र संयोगः? तादात्म्यं वा? समवायो वा? संबन्धान्तरं वा?

अद्रव्यत्वान्न संयोगः साङ्कर्यान्नेतरावपि।
पदार्थान्तरतापत्तेर्नान्यसंबन्धसंभवः ॥ ४८ ॥

न तावज्जातेः सर्वव्यक्तिसंयोगः, अद्रव्यत्वात्। न तादात्म्यसमवायौ, सर्वव्यक्तिषु सर्वजातीनां तादात्म्ये समवाये वा सर्वस्य सर्वात्मताप्रतीतिप्रसङ्गात्। व्यञ्जकाभावान्न तथेति चेत्, न, तादात्म्यसमवायस्वीकारे

वर्तते तेषां पक्षानुक्लता सिद्धान्ते क्षेमार्था, तस्मात्स धूक्तमर्थान्तरत्वादिति। सत्तासाधकानुमाने दूषणमाह—**जातीति**। यस्य हि जातिमात्रमेव प्रामाणिकं न संप्रतिपन्नं तस्य कथं गोत्वसंप्रतिपत्तिः? अतः साध्यवैकल्यमप्रसिद्धविशेषणत्वं चेत्यर्थः। तद्वृत्तेश्चानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**किंचेति**।

सर्ववस्तुषु सर्वगतत्वं विकल्प्य दूषणानि संगृह्णाति—**अद्रव्यत्वादित्यादिना**। न सर्वत्र जातेः संयोगः सर्वगतत्वमद्रव्यत्वात् सर्ववस्तूनां द्रव्यत्वाभावात्। नेतरावपि, कुतः? साङ्कर्यात्। यदि हि सर्वत्र गोत्वादितादात्म्यं समवायो वा स्यात्, तदा गवाश्वादिवस्तूनां तज्जातीनां च सङ्करः स्यादित्यर्थः। सुबोधमवशिष्टं श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। ननु किमिति सर्वत्र तज्जातिप्रतीतिः? यावता विद्यमानानामपि व्यञ्जकाभावादप्रतीतिसंभवेनासङ्करादिति शङ्कते—**व्यञ्जकेति**। यथा हि शाबलेयादिव्यक्तयो गोत्वजातेर्व्यञ्जकास्तत्कस्य हेतोः? तासु तस्यास्तादात्म्यं समवायो वास्तीति, तद्वदिह यदि सर्वव्यक्तिषु तस्यास्तयोरन्यतरदस्ति, तदा तासामेवाभिव्यञ्जकत्वादपरिहार्यैव सङ्करापत्तिरिति परिहरति—**न, तादात्म्येति**।

बन सकता है, क्योंकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि सर्वसर्वगतत्व नाम क्या है। सर्वत्र संयोग सर्वसर्वगतत्व है। या सर्वत्र तादात्म्य है, या सर्वत्र समवाय है, अथवा सम्बन्धान्तर है।

अद्रव्य होने से संयोग नहीं हो सकता है, साङ्कर्य होने से तादात्म्य समवाय नहीं हो सकते हैं। पदार्थान्तरता की प्राप्ति से अन्य सम्बन्ध का सम्भव नहीं है॥४८॥

अर्थात् जाति का सब व्यक्ति के साथ संयोग नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जाति द्रव्य नहीं है, द्रव्य का ही संयोगसम्बन्ध द्रव्य के साथ होता है। तादात्म्य और समवाय भी जाति के सम्बन्ध सर्वत्र नहीं हो सकते हैं, क्योंकि सर्व व्यक्तियों में सर्व जातियों के तादात्म्य वा समवाय के होने पर, सर्व पदार्थ में सर्वात्मता की प्रतीति की प्राप्ति होगी, सर्वत्र सर्व जाति के व्यञ्जक के अभाव से सर्वात्मता की

शावलेयादिव्यक्तिवदेव तद्व्यञ्जकताया अपि दुर्निवारत्वात्। स्वभावभेदात् कस्यचिदेव व्यञ्जकत्वं न सर्वस्येति चेत्, न, सिद्धे प्रमाणतः सर्वत्र संबन्धे स्वभावभेदालम्बनम्, न तु स्वभाववादपादप्रसारिकयैव वस्तुसिद्धिः, अन्यथास्त्येव पवनादावपि रूपसंभेदः, स्वभावभेदादेवाप्रतीतिरित्यनर्गलगल-गर्जनस्य कः प्रतीकारः स्यात्? नापि संबन्धान्तरम्, षट्पदार्थातिरिक्त-पदार्थस्वीकारप्रसङ्गात्। नापि पिण्डसर्वगता जातिः, प्रत्यग्रजायमानखण्ड-

---

न, सिद्धे प्रमाणत इति। यदि हि प्रमाणतः सर्वत्र जातिसद्भावावगमः स्यात्, तदा विद्यमानायास्तस्या अप्रतीतौ स्वभावभेदो नियामकः स्यात्। स्वमूलप्रमाणं विनैव स्वभावभेदकल्पनमतिप्रसङ्गीत्यर्थः। उत्तरार्धं विवृणोति—**नापीति**। अस्तु तर्हि व्यक्तिसर्वगता जातिः, यथाहुः भाष्यकाराः—'व्यक्तिसर्वगतम्' इति। तत्राह—**नापि पिण्डेति**। यदि हि व्यक्तिसर्वगता, तदा सर्वत्र जाते पिण्डे गोत्वजातिः किं

प्रतीति नहीं होती, जाति सर्वत्र रहती है, परन्तु सब के व्यञ्जक सर्वत्र नहीं रहते है, यदि ऐसा कहा जाय तो कहना युक्त नहीं, क्योंकि तादात्म्य समवाय के सर्वत्र स्वीकार करने पर गोत्व जाति के व्यञ्जक शाँवलेयादि व्यक्ति के समान उसकी व्यञ्जकता को भी दुर्निवारता होगी। अर्थात् गो में शाँवलेय व्यक्ति गोत्व का व्यञ्जक है, और उसमें गोत्व का तादात्म्य और समवाय है, तो गोत्व जहाँ रहेगा, वहाँ सर्वत्र वह उससे अभिन्न व्यञ्जक व्यक्ति रहेगी तो संकर होगा ही। यदि कहें सब जाति के सर्वत्र रहते भी स्वभावभेद से किसी के ही व्यञ्जकत्व व्यक्तियों को होता है, सबका व्यञ्जकत्व नहीं होता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि किसी प्रमाण से जाति के सर्वत्र सम्बन्ध के सिद्ध होने पर, सर्वत्र प्रतीति-निवारण के लिये स्वभाव का आश्रयण किया जा सकता है, स्वभाववाद की पादप्रसारिका = पैर फैलाने से ही वस्तु की सिद्धि (सर्वत्र जाति की सत्ता) नहीं हो सकती है। प्रमाण से सर्वत्र जाति की सिद्धि होने पर अप्रतीति में स्वभाव को नियामक माना जा सकता है। अन्यथा पवनादि में भी रूप का सम्बन्ध है, परन्तु स्वभावभेद से ही उसकी प्रतीति नहीं होती है, इस मिथ्या प्रलपन का क्या प्रतिकार होगा। जाति का सम्बन्धान्तर भी नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त सम्बन्ध रूप पदार्थ का स्वीकार करना प्राप्त होगा, पिण्ड सर्वगत = सर्व-व्यक्ति विशेषगत जाति रहती है, यह भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रत्यग्र= नूतन जायमान खण्ड मुण्डादि पिण्डों (शरीरों) में शरीरान्तरगत जाति के सम्बन्ध का अभाव प्राप्त होगा। क्योंकि पिण्डान्तर में वर्तमान वह जाति नूतन इन व्यक्तियों में उछल-कूद कर नहीं प्रवेश करती है, क्योंकि निष्क्रिय जाति होती है, और यदि प्रथम के आश्रय पिण्ड को त्याग कर किसी प्रकार से नूतन पिण्ड में

मुण्डादिपिण्डेषु पिण्डान्तरस्थितायां जातेः संबन्धाभावप्रसङ्गात्। न हि सा पिण्डान्तरादुप्लुत्यात्रानुप्रविशति, निष्क्रियत्वात्। तत्परित्यागे च पूर्वपिण्डे तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। न चांशाभ्यामुभयत्र वृत्तिः, अनंशत्वात्। स्वसामग्रीवशादुपजायमानः पिण्डस्तज्जात्यालिङ्गित एवोत्पद्यत इति चेत्, न, पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र तस्या अभावात्। भावे च सर्वसर्वगतत्वापत्तेः। तदुक्तं वाह्यैः—

"नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥" इति।

व्यक्त्यन्तरस्योपसर्पति ? तत्रस्था वा ? नाद्य इत्याह—नहि सेति। भवतु वोत्पत्त्यागमनम्, तथापि किं सर्वात्मना व्यक्त्यन्तरादुत्पतति ? अंशतो वा ? नोभयथापीत्याह—तत्परित्यागे चेत्यादिना। न, पिण्डोत्पत्तेरिति। नहि पिण्डवदेव साप्युत्पद्यते, नित्यत्वात्। न ततः प्रागपि च तत्रास्ति कथं, तदालिङ्गन-मुत्पद्यमानव्यक्तेरित्यर्थः। अथ तत्राप्यस्ति, तर्हि सर्वसर्वगतत्वापत्तिरित्याह—भावे चेति। एतेन तत्रस्था वेति पक्षोऽपि निरस्तः। वाह्याः बौद्धाः। व्यक्त्युत्पत्तिसमये तावन्न व्यक्त्यन्तरादायाति, निष्क्रियत्वात्। नच तत्र व्यक्त्युत्पत्तिप्रदेशे व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वं सा जातिरासीत्, व्यञ्जकाभावात्। तथापि तथात्वे सर्वसर्वगतत्वापत्तेः। नच पश्चादस्ति उत्पद्यते, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। यदा च व्यक्त्यन्तरादायातीति पक्षस्तदापि नांशवत्, येन व्यक्त्यन्तरमपरित्यज्य व्यक्त्यन्तरमुपक्रमेत। नच पूर्वतनमाधारं जहाति येन निरंशं सदन्यव्यक्तौ वर्तेत, पूर्वतनाश्रये तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गादिति सामान्यवादिनां महाव्यसनसन्ततिः। अहो इत्यनुकम्पायामिति कीर्तिवार्तिकार्थः। किंच भवतु यथातथा जातेर्वृत्तिः, तथापि किमाश्रितैकस्वभावा ? आश्रितानाश्रित-

---

जाति आ जाय, तो पूर्व सिद्ध पिण्ड में उस जाति के व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। यह जाति अंशों द्वारा नूतन प्राक्तन दोनों में रहती है, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि निरंश होती है। यदि कहा जाय कि अपनी सामग्री के बल से उत्पन्न होता हुआ पिण्ड उस जाति से युक्त ही उत्पन्न होता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पिण्ड की उत्पत्ति से प्रथम वह जाति वहाँ रहती नहीं है, और नित्य होने से उत्पन्न भी नहीं होती है, अतः जातिविशिष्ट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि वहाँ उसका भाव (सत्त्व) हो तो सर्वगतत्व की प्राप्ति रूप पूर्वोक्त पक्ष प्राप्त है। यह बुद्धानुयायियों ने भी कहा है—

न जाति पिण्डान्तर से आती है, न वहाँ थी, न पीछे उत्पन्न होती है, न अंश वाली है। न निरंश होते पूर्व आधार को त्यागती है, अतः जातिवाद में आश्चर्य रूप व्यसन का विस्तार है।

सर्वपिण्डप्रलये च घटत्वादिजातेरुच्छेदप्रसङ्गः । संबन्धिविगमेऽपि तस्याः स्वरूपेणावस्थानमिति चेत्, न, आधारविगमेऽप्याधेयावस्थाने रूपादेरपि तथावस्थितेर्नित्यत्वप्रसङ्गः । तदेवमणूनां तत्संयोगस्य तदनेकत्वस्य जातेश्चानिरूपणादनेकैः परमाणुभिः संयोगसचिवैः समानजातीयैर्द्व्यणुकादिक्रमेण सर्वं कार्यद्रव्यमारभ्यत इति मनोरथमात्रम् ।

किंच—

स्वभावा वा ? प्रथमे घटत्वादिजातीना प्रलयसमये समस्तघटादिविघटनादाश्रयरहितयोच्छेदप्रसङ्ग इत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—**संबन्धिविगमेऽपीति** । एवंविधजातिस्तावन्न केनापि प्रमाणेनोपस्थापिता । यदि भवदनुभवमनुरुद्ध्याभ्युपगच्छेम, तदा रूपादेरपि केन विषमबुद्धिनोन्नीतनीत्या नित्यानित्यतासमर्थनमभ्युपेतव्यं प्रसह्येत्यर्थः । तदेवं परमाणुनिराकरणमारभ्य प्रसक्तानुप्रसक्त्या प्रदर्शितसंयोगाद्यनिरूपणत्वस्य ब्रह्मकारणत्ववादिवेदान्तविरोधनिरासोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** । **संयोगसचिवैरिति** । समानजातीयानेकद्रव्याणि समवायिकारणानि द्रव्योत्पत्तौ तत्संयोगस्त्वसमवायिकारणमिति हि तेषां मतमित्यर्थः ।

एवं परमाणूनामारम्भकत्वमेव नास्ति, तेषां तत्संयोगस्य चासंभवादित्युक्तम् । यद्यपि भवतु नाम तेषामारम्भकत्वम्, तथापि द्व्यणुकारम्भो वृथा, प्रमाणप्रयोजनयोरभावादितीदमिदानीमुपपाद्यते—**किंचेत्यादिना** । तत्र वैशेषिकाः प्राहुः—"परमाणवः साक्षान्न महद्द्रव्यारम्भकाः आरम्भकपरमाणुत्वाद् घटोपगृहीतपरमाणुवत् । नच साध्यविकलो दृष्टान्तः, तत्रापि साक्षाद्घटारम्भकत्वे घटध्वंसानन्तरं न किंचिद् दृश्येत । तथा त्रसरेणुवदनुपलब्धेरेव परेषां घटे संस्थानविशेषानिष्पत्तिः, व्यञ्जकाभावात् घटत्वानुपलब्धिप्रसङ्गश्च, कपालादीनामनारब्धत्वात्, तस्मात्परमाणुभिरतीन्द्रियमेव किंचिद्व्यवधानेनारभ्यते । किंच महत्त्वरहितद्रव्यस्य न तावच्चाक्षुषत्वम्, परमाणुवत् । नच परमाण्वारब्धे महत्त्वसंभवः, कारणबहुत्वकारणमहत्त्वप्रचय-

---

और जाति यदि व्यक्ति के आश्रित रहने वाली है, तो सर्व पिण्ड के व्यक्ति के प्रलय होने पर घटत्वादि जाति का उच्छेद अभाव होगा । यदि कहें कि व्यक्ति रूप सम्बन्धी के नष्ट होने पर भी उस जाति की स्वरूप से वहाँ स्थिति रहती है । तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि आधार के अभाव होने पर भी आधेय की स्थिति हो, तो रूपादि की भी जाति के समान स्थिति से रूपादि में नित्यत्व की प्राप्ति होगी । अतः इस उक्त रीति से अणु = परमाणु के, परमाणु संयोग के, परमाणु संयोग अनेकत्व के और जाति के निरूपण नहीं हो सकने के कारण, संयोगसहित, समानजातीय अनेक परमाणुओं से द्व्यणुकादि क्रम द्वारा सब कार्य द्रव्य आरब्ध होता है । यह कथन मनोरथ मात्र है ।

परमाणुवहुत्वेन महत्त्वारम्भसंभवात् ।
त्र्यणुके द्वचणुकारम्भप्रक्रियापि न सिद्ध्यति ॥ ४९ ॥

द्वचणुकादिप्रक्रमप्रक्रियापि न प्रमाणपथमवतरति, अणुभिरेव त्र्यणुकाद्युत्पत्तेरुपपत्तेः। नन्वेवं सति त्र्यणुके महत्त्वं न स्यात्। परमाणुपरिमाणस्य नित्यपरिमाणतयाऽनारम्भकत्वात्, प्रचयस्य निरवयवेष्वनाशङ्कनीयत्वादिति चेत्, न, कारणवहुत्वादेव त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेः। न च परमाणु-

---

विशेषैर्हि महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र न तावत्कारणवहुत्वम्, परमाणुद्वयेनारम्भात्, अणुत्वादेव न कारणमहत्त्वम्, निरवयवत्वादेव न प्रचयविशेषः, द्वचणुकारब्धस्य तु त्रसरेणोर्महत्त्वादेव युक्तं चाक्षुषत्वम्, तस्य च न परमाणुद्वयवद्द्वचणुकद्वयमारम्भकम्, तथा सति तदारब्धेऽपि महत्त्वासंभवसाम्यात्। तस्मात्कारणवहुत्वादेव त्रसरेणोर्महत्त्वम्, तथाच "वहुभिरेव द्वचणुकैस्त्र्यणुकमारभ्यत इति त्र्यणुकमहत्त्वानुपपत्तिरपि द्वचणुकसाधिका" इति। तदेव श्लोकेन दूषयति—**परमाण्विति**। तत्र तावत्परमाणूनां सहसा महदारम्भे बाधकं स्वयमेवाशङ्क्य दूषयिष्यति। तथा च द्वचणुकमङ्गीकृत्यापि कारणवहुत्वादेव त्र्यणुके महत्त्वं प्रार्थनीयं तद्वहुभिः परमाणुभिरेवोपपाद्यं वृथान्तराले द्वचणुककल्पनेति भावः। श्लोकं विवृणोति—**द्वचणुकादीति**। ननु किमिति महत्त्वं न स्यात्परमाणुपरिमाणैरेवारम्भसंभवादिति, तत्राह—**परमाण्विति**। विप्रतिपन्नमनारम्भकं नित्यपरिमाणत्वात् परममहत्त्ववदित्यर्थः। **निरवयवेष्विति**। प्रशिथिलावयवसंयोगो हि प्रचयः, न स निरवयवेषु संभवतीत्यर्थः। **न च परमाणु-**

और परमाणुगत वहुत्व से महत्त्व के आरम्भ के सम्भव से द्वचणुक में त्र्यणुकारम्भ की प्रक्रिया भी नहीं सिद्ध हो सकती है ॥ ४९ ॥

अर्थात् परमाणु से द्वचणुक के आरम्भपूर्वक ही त्र्यणुकादि प्रारम्भ की प्रक्रिया भी प्रमाण से नहीं सिद्ध हो सकती है। परमाणुओं से ही त्र्यणुकादि की उत्पत्ति हो सकती है। यदि शंका हो कि इसप्रकार से द्वचणुक के विना परमाणु से त्र्यणुक की उत्पत्ति होने पर त्र्यणुक में महत्त्व नहीं होगा, क्योंकि परमाणु परिमाण के परम महत्परिमाण के समान नित्य परिमाण होने के कारण इसमें परम महत्त्व के समान ही अनारम्भकत्व भी है, अतः परमाणु से आरब्ध द्वचुक में द्वित्व संख्या से परिमाण की उत्पत्ति मानी जाती है, परमाणु परिमाण से नहीं, और निरवयव परमाणुओं में शिथिलावयवसंयोग रूप प्रचय तो शंका के योग्य नहीं है, अतः उनके प्रचय से भी त्र्यणुक परिमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतएव परमाणु से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानना युक्त नहीं, यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि जैसे परमाणु गत द्वित्व से द्वचणु में परिमाण की उत्पत्ति मानते हैं, इसीप्रकार से कारण रूप परमाणुगत वहुत्व से ही त्र्यणुकादि में महत्त्व की सिद्धि होगी। यदि कहें कि

गतानेकत्वसंख्या नारम्भिका, तद्गतद्वित्वस्यापि द्व्यणुकपरिमाणानारम्भकत्वप्रसङ्गात्। नन्ववयविनां परमाणूपादानकत्वे कपालशर्करादीनामनारब्धत्वात्परमाणूनां चादृश्यत्वादवयविनाशे न किंचिद् दृश्येतेति चेत्, न, द्व्यणुकारभ्यत्वेपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। त्र्यणुकचतुरणुकादिक्रमेणारम्भान्नायं प्रसङ्ग इति चेत्, न, चतुर्भिर्द्व्यणुकैश्चतुरणुकवत् द्व्यणुकसहस्रारब्धकार्यनाशेऽपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। तस्माद् द्व्यणुकसद्भावे न किंचिन्मान-

---

गतेति। अ॰ किं नित्यगतसंख्यात्वादनारम्भकत्वम्? अनेकत्वसंख्यात्वाद्वा? नाद्यः, परमाणुषु द्वित्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, द्व्यणुकगतबहुत्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गादिति भावः। एतेनाचाक्षुषत्वं प्रत्युक्तम्, महत्त्वादेवोपपत्तेः। यत्तु स्वयमेवाशङ्क्य निराकरिष्यतीत्युक्तम्, तत्करोति—**नन्विति**। इयमनुपपत्तिरणुद्व्यणुकारम्भेऽपि समाना। यथा द्व्यणुकारब्धत्र्यणुकध्वंसे द्व्यणुकशेषतया न किंचिद् दृश्यते, तथावयविनोपि द्व्यणुकारभ्यत्वे न किंचिद्दृश्येतेति नेयं द्व्यणुकसाधिकेत्यर्थः। ननु नास्माभिर्द्व्यणुकैरेवाव्यवधानेन, पटाद्यारम्भोऽभ्युपगम्यते, येनायमनन्तरो दोषः स्यात्, किंतु त्र्यणुकादिक्रमेण। तथाचोत्तरोत्तरनाशेऽपि पूर्वपूर्वस्य प्रत्यक्षत्वं घटते, त्र्यणुकविनाशे त्वन्यस्यादर्शनमनुगुणमेवेति शङ्कते—**त्र्यणुकेति**। स्यादेवं यद्येवमेवेति भवतां नियमः, न त्वेतदस्ति, चतुर्भिर्द्व्यणुकैश्चतुरणुकारम्भवद् द्व्यणुकसहस्रेणाप्येककार्यारम्भोऽनुमन्यत एव भवता। तथाच तत्रैवोक्तानुपपत्तिः समानेत्याह—**न चतुर्भिरिति**। न च चतुरणुकमपि त्र्यणुकचतुष्टयारब्धम्, अणुशब्दार्थाभावात्, अण्वारब्धेष्वणुषु नाणुशब्दप्रयोगः, द्व्यणुकत्र्यणुकयोस्तथा, तद्दर्शनात् परमाणुव्यतिरिक्तयोः। ननु किमिति मानाभावः? यावता किरणावलीकारोक्त-

---

परमाणुगत अनेकत्व संख्या आरम्भक नहीं होती है, तो परमाणुगत द्वित्व को भी द्व्यणुक परिमाणानारम्भकत्व प्राप्त होगा। यदि शंका हो कि घटादि अवयवियों (कार्यों) के परमाणु रूप उपादान से ही जन्य होने पर, उन अन्तिम अवयवी के आरम्भ के मध्यगत कपालशर्करा (कपालिकाठिकरा) के अनारब्ध होने से और परमाणुओं के अदृश्य होने से अवयवी के नाश होने पर, वह आरम्भक परमाणुरूपता को प्राप्त होगा, अतः कुछ भी नहीं दीख पड़ेगा, परन्तु कपालादि दीखना है, अतः परमाणु से महा अवयवी का आरम्भ मानना युक्त नहीं। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि द्व्यणुक से अवयवी के आरब्ध = जन्य होने पर भी प्रसङ्ग (आपत्ति) तुल्यता है, द्व्यणुक से आरब्ध का नाश होने पर भी कुछ नहीं दीखेगा, क्योंकि द्व्यणुक भी अदृश्य ही माना जाता है। यदि कहें कि द्व्यणुक से त्र्यणुक चतुरणुकादि क्रम से अवयवी का आरम्भ होता है, अतः नाश होने पर कपालादि दीखते हैं, उक्त दोष का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) नहीं होता है। तो यह कहना भी युक्त नहीं,

मस्ति। ननु त्र्यणुकं कार्यद्रव्योपादानकं महत्त्वे सति कार्यत्वात् घटवत्। तथारम्भकद्रव्यसंख्यापकर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमभावत्वात्परिमाणतरतमभाववत्। न चैकत्वसंख्यायामेव विश्रान्तौ सिद्धसाधनता, तथा सत्येकद्रव्यस्यैव द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात्। न चैकद्रव्यारब्धं द्रव्यम्, कार्यद्रव्यस्यानाशप्रसङ्गात्। कारणविभागस्य कारणविनाशस्य च तन्नाशहेतोरभावात्। ततो द्व्यणुकसिद्धौ न परमाणूपादानकत्वं त्र्यणुकस्येति चेत्,

---

मस्त्यनुमानमिति शङ्कते—**ननु त्र्यणुकमिति**। आकाशादौ व्यभिचारवारणाय कार्यत्वादित्युक्तम्। इच्छादिनित्यद्रव्यगुणैः स्वाभिमतद्व्यणुकेन च व्यभिचारवारणाय महत्त्वे सतीत्युक्तम्। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै प्रतिज्ञायां कार्यपदम्। **तथारम्भकेति**। तन्त्वारब्धपूर्वपूर्वारम्भकद्रव्येषु यदिदं संख्यापकर्षस्य तारतम्यं तत्क्वचिद्विश्रान्तम्। नचाश्रयासिद्धिः, यतोऽस्ति तावद्घटानुप्रविष्टपरमाणुसंख्यापेक्षया तदवयकपालमनुप्रविष्टपरमाणुसंख्यापकर्षः, इतरथा घटकपालयोगुंरुत्वादिसाम्यापातात्। नचायमपकर्षोऽनवधिः, एकत्वादपकृष्टसंख्याभावात्। नचैकत्वमेव तदवधिरित्यर्थान्तरता, तस्यारम्भकद्रव्यसंख्यात्वाभावात्। नह्येकद्रव्यमारम्भकम्, तथा सति संयोगलक्षणासमवायिकारणाभावात् विनाशहेत्वभावान्नित्यतापाताच्च। तस्मात्परमाणुगतद्वित्वं विश्रान्तिभूमिः। तथाच यत्परमाणुद्वयारब्धं कार्यं तद् द्व्यणुकमिति भावः। तदेनद्

क्योंकि जैसे चार द्व्यणुक से चतुरणुक होता है, वैसे सहस्र द्व्यणुक से भी कार्यारब्ध हो सकता है, वहाँ उसके नाश होने पर भी अदृश्यता का प्रसङ्ग तुल्य होता हैं। अतः द्व्यणुक के सत्त्व में कोई प्रमाण नहीं है। शंका होती है कि द्व्यणुक में प्रमाण का अभाव नहीं है, अनुमान प्रमाण है। जैसे कि (त्र्यणुक, कार्यरूप उपादान वाला होता है, महत् होते कार्य होने से, घटवत्) इसीप्रकार से (आरम्भक द्रव्य के संख्या अपकर्ष का तारतम्य, कहीं विश्रान्त है, तरतमभाव होने से, परिमाणतरतमभाव के समान) इन अनुमानों, से जो त्र्यणुक का उपादान रूप कारण सिद्ध होता है, जिसमें संख्या अपकर्ष की विश्रान्ति होती है, वह द्व्यणुक सिद्ध होता है। एकत्व संख्या में ही उक्त तारतम्य की विश्रान्ति से सिद्धसाधनता होगी ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वैसा होने पर एक द्रव्य (परमाणु) को ही द्रव्यारम्भकत्व प्राप्त होगा, और एक द्रव्य (परमाणु) आरब्ध द्रव्य होता नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य से आरब्ध कार्य का विनाशाऽभाव प्राप्त होगा, कारण का विभाग वा कारण का नाश रूप हेतु उस नित्य द्रव्यारब्ध द्रव्य के नाश के लिये नहीं हो सकता है, क्योंकि एक नित्य के विभाग और नाश का होना असम्भव है। अतः अनुमान से द्व्यणुक की सिद्धि होने पर, परमाणु उपादानवत्त्व त्र्यणुक को नहीं सिद्ध हो सकता है। अतः द्व्यणुक में ही त्र्यणुक की उपादानता युक्त है। यह शंका

न, प्रथमप्रयोगे महदुपादानकत्वस्योपाधित्वात्। ननु परिमाणावान्तरसामान्यस्य महत्त्वाद्यवान्तरसामान्यव्यतिरिक्तस्य कार्याकार्यवृत्तित्वं महत्त्वे दृष्टमतोऽणुत्वस्यापि कार्याकार्यवृत्तित्वसिद्धौ कार्याणुपरिमाणाधिकरणद्वयणुकसिद्धिरिति चेत्, न, ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरनैकान्त्यात्, तयोः कार्यैकवृत्ति-

---

दूषयति—न प्रथमेति। घटादौ कार्योपादानकत्वे त्वदुक्तहेतुर्न प्रयोजकः, किंतु महदुपादानकत्वम्, आकाशादौ व्यतिरेकसिद्धेर्न पक्षेतरतेति भावः। वस्तुतो नायमुपाधिर्महत्पदवैयर्थ्यात्। दूषणं तु सप्रतिसाधनं वक्ष्यते। अपि च घटत्वमत्रोपाधिः। नच साध्याव्यापकता, त्र्यणुकघटान्यतरत्वे सति कार्यद्रव्योपादानकत्वे घटत्वस्योपाधित्वात्, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधिवत्। तथाच साध्यव्यावृत्तिसिद्धिः, तदन्यतरत्वाव्यावृत्तेरशक्यत्वात्। सर्वानुमानभङ्गप्रसङ्गश्चानिर्वचनीयवादिनो न वचनीयः। श्रीवल्लभस्तु 'अनुग्राहकतर्काभावात्साध्यव्याप्तिः पूर्वस्य नास्ति, प्रत्युत बाधकापत्तिश्चे'ति मन्वानो बाधकमुक्तवान्, तमनुवदति—ननु परिमाणेति। परममहत्त्वादिषु व्यभिचारनिरासायोक्तं महत्त्वाद्यवान्तरेति। प्रयोगशरीरं तु—अणुत्वसामान्यं कार्याकार्यवृत्ति परिमाणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वान्महत्त्ववदिति भावः। नच साध्यविकलता, महत्त्वस्याकाशादिषु घटादिषु च वर्तमानत्वात्। तथा च यत् कार्यमणुत्वाधिकरणं परिमाणं तदधिकरणम्, द्वयणुकम्, यच्च नित्यपरमाणुपरिमाणं तदधिकरणं परमाणुरित्यर्थः। अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—तयोरिति। अस्तु तर्हि

भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रथम अनुमान में, महदुपादानकत्व, उपाधि है, वह घटादि में कार्यद्रव्योपादानक साध्य का व्यापक है, और त्र्यणुक में साधन का अव्यापक है, क्योंकि वहाँ महदुपादानकत्व नहीं है, और हेतु है। आकाशादि में व्यतिरेक की सिद्धि से पक्षेतरता दोष नहीं है। यहाँ शंका होती है कि (महत्त्वादि अवान्तर सामान्य (परम महत्त्वादि) परिमाणावान्तर सामान्य को महत्त्व में कार्य कार्याकार्यवृत्तित्व देखा गया है, जैसे कि महत्त्व जाति घटादि कार्य में भी रहती है, और नित्य आकाशादि में रहती है। अतः परम अणुत्व से अतिरिक्त अणुत्व को कार्याऽकार्यवृत्तित्व सिद्धि होने पर कार्यरूप अणुपरिमाण रूप द्वयणुक की सिद्धि होती है। क्योंकि कार्याणुत्व का अधिकरण द्वयणुक होता है, और नित्य परमाणु परिमाण का अधिकरण परमाणु होता है। अतः महदुपादानकत्व उपाधि व्यतिरेक से साध्याभाव के साधन में कोई अनुकूल तर्क नहीं है, और तर्क बाधक है (अणुत्व सामान्य, कार्याकार्य वृत्ति है। परिमाणत्व का साक्षात् व्याप्य जाति होने से, महत्त्ववत्) यह प्रयोग है। यह शंका भी युक्त नहीं, ह्रस्वत्व दीर्घत्व में अनैकान्तिकता है, हेतु है,

तयाऽकार्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् । न च तद्व्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणान्नानैकान्तिकता, तथापि प्रतिसाधनसद्भावात्, तथा हि—अणुत्वं कार्याकार्यवृत्ति न भवति महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सति परिमाणावान्तरजातित्वाद्ध्रस्वत्वादिवत् भवन्मतमाश्रित्य प्रयोगसंभवात्, त्रसरेणुनित्यत्ववादिनं भाट्टं प्रति हेतोर्विशेष्यासिद्धेश्च द्वितीयप्रयोगे च सिद्धसाधनता, त्रसरेणुयुगलादौ संख्यापकर्षतारतम्यविश्रान्त्युपपत्तेः । तदेवं परमाणुभिरारब्धे त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेर्न द्व्यणुकादिप्रक्रमप्रक्रियासिद्धिः ।

ह्रस्वत्वदीर्घत्वव्यतिरिक्तत्वे सति इति विशेषणम्, तत्राह—**न चेति** । ननु यदिदमणुत्वं प्रतिसाधने पक्षीक्रियते तत्तावन्न वेदान्तिनः सिद्धम्, परमाणुद्व्यणुकयोरसिद्धौ तत्परिमाणतत्सामान्ययोरसिद्धतरत्वादिति, तत्राह—**भवन्मतमिति** । अथवा महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणं व्यर्थम्, आकाशादीनामपि कार्यत्वादारम्भकत्वाच्च परिमाणानधिकरणतया महत्त्वस्यापि कार्यैकवृत्तित्वेनोक्तसाध्यवत्त्वादिति, तत्राह—**भवन्मतमिति** । यच्च प्रथमानुमाने महत्त्वे सति कार्यत्वादित्युक्तं तत्र विशेष्यासिद्धिमाह—**त्रसरेण्विति** । आरम्भकद्रव्यसंख्येत्यादिद्वितीयानुमानेऽपि दूषणमाह—**द्वितीयेति** । द्वित्वं ह्यारम्भकसंख्यापकर्षविश्रान्तिभूमिः, तच्च त्र्यणुकगतमपि संभवति, ततः परारम्भकस्याद्याप्यसिद्धिरित्यर्थान्तरमित्यर्थः । प्रपञ्चितं द्व्यणुकदूषणमुपसंहरति—**तदेवमिति** ।

साध्य नहीं है । ह्रस्वत्व, दीर्घत्व की एक कार्यमात्र वृत्तिता से अकार्य वृत्तिता नहीं मानी जाती है । यदि कहें कि हेतु में ह्रस्वत्व दीर्घ से भिन्नत्व विशेषण लगाने से व्यभिचार दोष नहीं रहेगा, तो भी सत्प्रतिपक्षता का सद्भाव है । क्योंकि (अणुत्व, कार्याकार्य उभय वृत्ति नहीं होता है । महत्त्व व्यतिरिक्त होता हुआ परिमाणावान्तर जाति होने से, ह्रस्वत्वादि के समान) यद्यपि अणुत्वादि वेदान्त में असिद्ध है । तथापि आपके मत को लेकर प्रतिवादी के मत का आश्रयण करके इस प्रयोग का सम्भव है । और त्रसरेणु को नित्यत्ववादी भाट्ट के प्रति प्रथम प्रयोग के हेतु (महत्त्वे सति कार्यत्व) का विशेष्यांश असिद्ध है, क्योंकि त्र्यणुक रूप पक्ष कार्योपादानक भट्ट मत में नहीं है । और दूसरे प्रयोग में सिद्धसाधनता है, क्योंकि त्रसरेणु के युगल (द्वित्वादि) में संख्यापकर्ष तारतम्य की विश्रान्ति की सिद्धि होती है । अतः इस उक्त रीति से परमाणुओं से आरब्ध त्रिणुकादि में महत्त्व की सिद्धि होने से द्व्यणुकादि से आरम्भ प्रक्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

किंच—

परिमाणस्य सिद्धत्वे तदारम्भविचारणा ।
नाद्यापि सिद्धस्तद्भावोऽभावाल्लक्षणमानयोः ॥ ५० ॥

परिमाणमेव न निरूपणपथमवतरति, कुतस्तदारम्भचिन्ता ? तल्लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणात्, तथा हि—किं (१) मानव्यवहारकारणं परिमाणम् ? (२) उत द्वित्वासमवायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयम् ? (३) आहोस्विदसमवायिकारणत्वानधिकरणनित्याकाशवृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत् ? (४) परिमाणत्वजातिमद्वा ? नाद्यः, अदृष्टेश्वरादेरपि

यस्य च महत्त्वस्योत्पत्त्यनुपपत्त्या द्व्यणुककल्पनं तदेवासिद्धम्, परिमाणमात्रस्य दुर्निरूपत्वे तद्विशेषमहत्त्वस्य दुर्निरूपत्वादित्याह—**किंचेत्यादिना** । अभावादिति च्छेदः । श्लोकं विवृणोति—**परिमाणेति** । द्वित्वमसमवायिकारणं यस्य द्व्यणुकपरिमाणस्य तद्द्वित्वासमवायिकारणकं तद्वृत्तिगुणत्वावान्तरजातिस्तद्वदित्यर्थः । रूपादिव्यवच्छेदाय प्रथमं विशेषणम् । द्रव्यादिव्यवच्छेदाय द्वितीयम् । **असमवायिकारणेति** । असमवायिकारणत्वानधिकरणं नित्यश्च य आकाशवृत्तिर्गुणः तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदीयं चेत्यर्थः । अत्रापि रूपत्वादिकमादाय रूपादिष्वतिव्याप्तिनिरासार्थमाकाशवृत्तिवृत्तीत्युक्तम् । तथापि द्वित्वादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यग्रहणम् । एतेन संयोगविभागशब्दा अपि व्यवच्छिन्नाः । तथाप्येकत्वपृथक्त्वयोरतिव्याप्तिस्तदर्थ-

---

और परिमाण के सिद्ध होने पर, उससे आरम्भ की विचारणा हो सकती है। वहाँ लक्षण और प्रमाण के अभाव से उस परिमाण का भाव (सत्त्व) ही नहीं अभी सिद्ध हुआ है ॥ ५० ॥

अर्थात् परिमाण ही निरूपण मार्ग में नहीं आता है। (परिमाण का निरूपण नहीं हो सकता है) तो तदारम्भ की चिन्तना कैसे हो सकती है। उसके लक्षण और प्रमाण के अनिरूपण से किसी प्रकार से उसकी विचारणा नहीं हो सकती है : क्योंकि यथा, मानव्यवहार का कारण परिमाण होता है, या द्वित्वाऽसमवायिकारण वाले में वृत्ति गुणत्वान्तर (व्याप्य) जातिमत्त्व है, या असमवायिकारणरहित नित्य जो आकाशवृत्ति गुण तद्वृत्ति गुणत्वावान्तर जातिमत्त्व है, अथवा परिमाणत्व जातिमत्त्व है। प्रथम लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि परिमाण व्यवहार के कारण अदृष्ट ईश्वरादि को भी परिमाणत्व प्राप्त होता है। अर्थात् परिमाण व्यवहार के साधारणकारण अदृष्टादि में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि कहें कि परिमाण व्यवहार में जो व्यवहार के विषय रूप से कारण होता है, वह परिमाण कहा जाता है, इसप्रकार से विषयता रूप से व्यवहार का विशेषण होने से उक्त दोष नहीं रहता है, तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसप्रकार से भी परिमाण

मानव्यवहारकारणस्य परिमाणत्वप्रसङ्गात्। विषयतयेति विशेषणाददोष इति चेत्, न, परिमाणत्वजातेरपि तथात्वापत्तेः। जातिमत्त्वे सतीति चेत्, न, द्रव्येऽपि प्रसङ्गात्। परिमाणत्वजातिमत्त्वे सतीति चेत्, न, तावन्मात्रस्यैव लक्षणत्वोपपत्तौ व्यर्थविशेष्यत्वापातात्। नापि द्वितीयः, द्वित्वस्य तदसमवायिकारणत्वस्य चानन्तरमेव निरस्तत्वात्। किंच विशिष्टजातिमत्त्वं ज्ञाततया तद्व्यवहारकारणं वक्तव्यम्, तच्च किंचिदुपसंग्राहकपुर-

---

मसमवायिकारणत्वानधिकरणेत्युक्तम्। न हि परममहत्त्वस्य किंचित्प्रत्यसमवायिकारणत्वमस्ति। एकत्वादेश्च द्वित्वादेरसमवायिकारणत्वाधिकरणत्वान्निरासः। ननु यद्यपि सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणादृष्टेश्वरादेरस्ति मानव्यवहारकारणत्वं तथापि न विषयतया, तादृशकारणत्वं चात्र विवक्षितमिति सङ्कते—**विषयेति**। 'गुणत्वे सति मानव्यवहारकारणम्' इत्युदयनस्तदपि गुणत्वखण्डनेन निरसनीयम्। यद्यपि परिमाणत्वजातेः परिमाणविशेषणतया व्यवहारविषयत्वमस्ति, तथापि जातिमत्त्वे सतीति विवक्षितम्, नच जातौ जातिरस्तीति नातिव्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि तदाधारद्रव्येऽतिव्याप्तिरित्याह—**न द्रव्येऽपीति**। न जातिमत्त्वमात्र विवक्षितम्, किंतु परिमाणत्वजातिमत्त्वम्, तेन न द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिरिति शङ्कते—**परिमाणत्वेति**। परिमाणत्वजातियोगीत्येतावदेवास्त्वित्यर्थः। ओमिति च न वाच्यम्, अन्त्यपक्षत्वेन दूष्यमाणत्वादिति भावः। शिवादित्यमनोहरयोरभिमतलक्षणं दूषयति—**नापीति**। यानि च जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तानि लक्षणानि, तेषां साधारणदूषणमाह—**किंचेति**। व्यवहारोऽपि लक्षणप्रयोजनम्, स च ज्ञातात्, इतरथातिप्रसङ्गात्, असत्त्वप्रसङ्गाच्च, केवलव्यतिरेकित्वाल्लक्षणस्य, तथा चैवंविधजातिमत्त्वमपि लक्षणं ज्ञातमेव व्यावर्तकमित्यर्थः। ततः किमिति तत्राह—**तच्चेति**। एतादृशामेवंविधजातिमत्त्वं न

व्यवहार के विषय परिमाणत्व जाति को भी परिमाण गुण रूपता की प्राप्ति होगी, जाति में अतिव्याप्तिवारण के लिये जातिमत्त्वे सति, कहें, तो भी अतिव्याप्ति नहीं जाती है, परिमाणविशिष्ट व्यवहार का विषय द्रव्य भी होता है, अतः द्रव्य में अतिव्याप्ति रहती ही है, परिमाणत्व जातिमत्त्वे सति परिमाण व्यवहार का विषय हो ऐसा लक्षण माने तो परिमाणत्व जातिमत्त्व इतना ही मात्र लक्षण की सिद्धि होते व्यर्थ विशेष्यत्व की प्राप्ति होता है। दूसरा (द्वित्वाऽसमवायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्त्व) लक्षण भी ठीक नहीं हो सकता है, क्योंकि द्वित्व का और द्वित्वासमवायिकारणत्व का प्रथम अभी निराकरण किया गया है। और यह भी वक्तव्य है कि उक्त अवान्तरविशिष्ट जातिमत्त्व रूप लक्षण को ज्ञात हो करके ही परिमाण व्यवहार का कारण कहना होगा। क्योंकि लक्षण का प्रयोजन (फल) व्यवहार होता है, वह अज्ञात लक्षण से नहीं हो सकता है। और (तच्च) वह

स्कारेणैव सर्वलक्ष्यव्यक्तिनिष्ठतयाधिगन्तव्यम्, अन्यथा व्यक्त्यन्तरे तथा प्रथाऽभावेन तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। तथा च तेनैवानुगतव्यवहारोपपत्तौ कृतं विलक्षणलक्षणपरीक्षाप्रयासेन। नापि तृतीयः, उक्तदोषानुषङ्गात्। नापि तुरीयः, जातिव्यञ्जकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। शक्यत्वे वा पूर्वोक्तदोषानुपक्तेश्च। तदेवं न लक्षणनिरुक्तिः।

नापि प्रमाणम्। नहि मानव्यवहार एव तत्र प्रमाणम्? तस्यानिरुक्तेः, तथा हि—कोऽयं मानव्यवहारः? किं (१) हस्तवितस्त्यादिव्यवहारः?

त्वनीदृशामिति यदिदं ज्ञानं तद्यदि व्यक्तिपुरस्कारेण तदा तद्रूपस्यान्यत्राभावेन तत्र तद्धेतुव्यवहारो न स्यात्, तथाच सर्वव्यक्तिनिष्ठमेकरूपसंग्राहकं पुरस्कृत्य स इति वक्तव्यमित्यर्थः। प्रथा प्रतीतिः। ततो वा किमित्यत्राह—**तथा चेति**। विलक्षणजातिविशिष्टं यल्लक्षणं तत्परीक्षणप्रयासेन कृतमलमित्यर्थः। असमवायिकारणेत्यादितृतीयलक्षणं दूषयति—**नापीति**। **अशक्यत्वादिति**। पूर्वोक्तलक्षणानां दूषितत्वादिति भावः।

ननु मानव्यवहारः किमिति न प्रमाणमिति, तत्राह—**न हीति**। **अव्यासे-**

लक्षण, कुछ उपसंग्राहक = विशेषण को स्वीकार करके ही सर्वलक्ष्यव्यक्तिवृत्तिरूप से ज्ञातव्य होगा, अन्यथा संग्राहक विशेषण को नहीं मानने पर, एक किसी व्यक्ति में लक्षण का ज्ञान होने पर भी व्यक्त्यन्तर में वैसी प्रथा (प्रतीति) के अभाव से उस जातिमत्त्व रूप परिमाण व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। अर्थात् जब विशिष्ट जातिमत्त्व परिमाण होगा, तो जैसे गोत्व जाति का संग्राहक सास्नादिमत्त्व है, वैसा इसका भी संग्राहक वक्तव्य है। और यदि वैसा कोई संग्राहक है, तो उसीसे अनुगत परिमाण व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, विलक्षण जातिमत्त्व लक्षण की परीक्षा-विचार का कोई फल नहीं है। तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि असमवायि-काणादि का प्रथम निराकरण हो चुका है, अतः उक्त दोष का यहाँ भी सम्बन्ध होता है। परिमाणत्व जातिमत्त्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जाति व्यञ्जक का निर्वचन करना अशक्य है। यदि शक्य हो, तो भी पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होती है, कि व्यञ्जक से ही परिमाणव्यवहार होगा, जाति की कल्पना व्यर्थ है। अतः उक्त रीति से परिमाण के लक्षण का निर्वचन (निर्णय= कथन) नहीं हो सकता है, यह सिद्ध हुआ।

परिमाण में कोई प्रमाण भी नहीं है, परिमाण व्यवहार ही उसमें प्रमाण है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उस व्यवहार की निरुक्ति नहीं हो सकती है। वह दर्शाया जाय कि यह मानव्यवहार क्या है? क्या हस्तवितस्ति (हाथ भर, बित्ता भर) आदि व्यवहार परिमाण व्यवहार है, या अणु महान् आदि, या असर्वगतत्व

(२) किं वाणुमहदादिव्यवहारः ? (३) असर्वगतत्वव्यवहारो वा ? (४) परिमितत्वव्यवहारो वा ? सर्वथा नोपपद्यते, अव्याप्तेः। अणुत्व-महत्त्वाद्यसिद्धौ तद्विशेषितव्यवहारासिद्धेः, असर्वगतत्वव्यवहारस्य विभुत्वेनापि संभवात्। परिमितत्वव्यवहारस्य दशपलपरिमितमित्यादौ गुरुत्वेनापि दर्शनात्, यादृगाश्रयेऽणुमहदादिपरिमाणसमवायः परेणाङ्गीक्रियते, तादृगाश्रयविशेषादेव तद्व्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपरिमाणकल्पनायां कल्पना गौरवाच्च।

अस्तु तर्ह्यनुमानं मानमनोहरकारोक्तम्—'विवादाध्यासितं द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठगुणाश्रयः द्रव्यत्वाज्जलाणु-

---

रिति। हस्तवितस्त्यादीनामेकैकस्यैकैकस्मिन्नभावात्परमाणौ परममहति वाऽभावादव्याप्तिरिति प्रथमपक्षे दूषणम्। द्वितीये दूषणमाह—**अणुत्वेति**। परिमाणमात्रासिद्धौ तद्विशेषोऽसिद्ध इति भावः। सकलपरिमाणाननुगतिश्च लक्षणस्य द्रष्टव्या। तृतीये दूषणमाह—**असर्वेति**। विभुत्वाभावमादायापि घटत इत्यर्थः। अत्रापि व्यापकपरिमाणेऽव्याप्तिर्द्रष्टव्या। चतुर्थं दूषयति—**परिमितेति**। कल्पनागौरवं च सर्वपक्षसाधारणदूषणमाह—**यादृगिति**।

एवं प्रत्यक्षं निराकृत्यानुमानमुद्भाव्य निराकरोति—**अस्तु तर्हीति**। अद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्ते एकत्वैकपृथक्त्वाश्रयत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं द्विष्ठगुणानसमवायिकारणेत्युक्तम्। तथापि शब्देन ज्ञानादिगुणैश्चार्थान्तरता, तदर्थमनित्यविशेषगुण-

---

व्यवहार है, या परिमित व्यवहार है, इन सब प्रकारों से सिद्ध नहीं होता है, अतः अनुपपन्न (असिद्ध) है। अव्याप्ति से कोई लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि हस्तवितस्ति आदि की परस्पर अव्याप्ति रहती है, और अणुत्व, महत्त्वादि की असिद्धि रहते, अणुत्वादि युक्त व्यवहार की भी सिद्धि नहीं हो सकती है, अविभुत्व से भी असर्वगतत्व व्यवहार का सम्भव हो सकता है। यह दश पल परिमित है। इत्यादि में परिमितत्व व्यवहार को गुरुत्व से भी देखा जाता है। और जैसे आश्रय में अणु महदादि परिमाणों का समवाय आप मानते हैं, वैसे आश्रयविशेष से ही परिमाण व्यवहार की सिद्धि हो सकने पर, अतिरिक्त परिमाण कल्पना में कल्पना गौरव भी है।

प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होने पर मानमनोहर का उक्त अनुमान प्रमाण हो सकता है कि (विवादास्पद, द्विष्ठ गुणों के असमवायिकारण से भिन्न, अनित्य विशेष गुण-भिन्न, अद्विष्ठ गुण का आश्रय है। द्रव्य होने से, जलाणुवत्) यहाँ अद्विष्ठ गुणाश्रय मात्र कहने पर, एकत्वादि से अर्थान्तरता होती, अतः द्विष्ठगुणाऽनसमवायिकारण कहा है, शब्द ज्ञानादि के वारण के लिये अनित्य विशेष गुणव्यतिरिक्त कहा है,

वत्, अत्र च जीवाकाशौ पक्षीक्रियेते। तथेश्वरो नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तानसमवायिकारणाद्विष्ठगुणाश्रय आत्मत्वाज्जीववदिति चेत्, न,

आद्यस्योपाधिमत्त्वेन साध्याभावान्निदर्शने।
द्वितीयस्योभयत्रापि प्रतिसाधनरोधनात्॥ ५१॥

प्रथमानुमाने मूर्तत्वस्योपाधित्वात्। न च पार्थिवपरमाणौ साध्याव्याप्तिः, तत्रापि द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ता-

---

व्यतिरिक्तेत्युक्तम्। द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तगुणाश्रयः इत्युक्ते संयोगविभागाजनकौ यौ घटादिनिष्ठौ संयोगविभागौ तदाश्रयत्वेन सिद्धसाधनता, अत उक्तमद्विष्ठेति। द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्ते कार्यद्रव्येषु व्यभिचारस्तेषामनित्यगुणमात्राश्रयत्वेनानित्यव्यतिरिक्तगुणाश्रयत्वाभावादत उक्तं विशेषगुणेति। ईश्वरे व्यभिचारवारणायानित्यग्रहणम्। अत्र च विवादाध्यासितपदेन विवक्षितं दर्शयति—**अत्र चेति**। तथा चानित्यविशेषगुणानामेव तथाभूतानां सत्त्वेनोभयेषामपि पक्षत्वाद्दिक्कालयोर्विशेषगुणशून्यतया नित्यविशेषगुणपदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गेन पक्षत्वासंभवात् जीवाकाशयोरेव पक्षत्वं दिक्कालयोस्तु पक्षतुल्यतयावस्थानमिति भावः। अनुमानान्तरमपि तदीयमाह—**तथेति**। अत्राप्यद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्त एकत्वादिनार्थान्तरता, तदर्थमनसमवायिकारणेत्युक्तम्। तथापि ज्ञानादिनार्थान्तरता, तदर्थं नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तेत्युक्तम्। द्वित्वादिभिरर्थान्तरतापरिहारायाद्विष्ठग्रहणम्। सामान्यादिभिरर्थान्तरतापरिहाराय गुणग्रहणम्। अनयोर्दूषणं संगृह्णाति—**आद्यस्येति**। द्वितीयस्य निदर्शने साध्याभावादित्यन्वयः। श्लोकं विवृणोति—**प्रथमेति**। यदत्र तेनैवोक्तम् 'नच स्पर्शवत्त्वमूर्तत्वे उपाधी, पवनपार्थिवपरमाणुव्यभिचारात्' इति तद्दूषयति—**नचेति**। साध्याव्याप्तिः साध्येनोपाधेर्व्याप्त्यभावः, साध्याधिकवृत्तितेति यावत्।

और यहाँ जीव और आकाश को पक्ष किया गया है। इसीप्रकार से (ईश्वर, नित्यविशेष गुण से भिन्न असमवायिकारण से भिन्न = अद्विष्ठ गुण का आश्रय है, आत्मा होने से, जीववत्) ये दोनों अनुमान प्रमाण हैं. ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि—

आद्य को उपाधिमत्त्व है, द्वितीय के दृष्टान्त में साध्य का अभाव है, और दोनों में प्रतिसाधन से निरोधन प्राप्त होता है॥ ५१॥

प्रथमानुमान में मूर्तत्व उपाधि है, क्योंकि पृथिवी, जलादि में जहाँ परिमाणवत्त्व प्रसिद्ध है, वहाँ दृष्टान्त में मूर्तत्व साध्य का व्यापक है, द्रव्यत्व का व्याप्य है। यदि कहें कि पार्थिव परमाणु में साध्याऽव्याप्ति है, साध्य के नहीं रहते उपाधि रहता है, अतः साध्य के साथ समव्याप्ति नहीं है; तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि

द्विष्ठगुणानां परत्वापरत्ववेगादीनां सद्भावात्। न चेश्वरे मूर्तत्वस्योपाधेः साध्याव्याप्तिः, तस्य वेदान्तिभिर्निर्गुणत्वाङ्गीकारात्। द्वितीयप्रयोगेऽपि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्। गुणानां नित्यत्वासिद्धावप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च। सप्रतिसाधनं चेदं प्रयोगद्वयम्, विवदाध्यासितमुक्तविशेषणविशेषितसाधारणगुणाश्रयो न भवत्यमूर्तत्वाद्रूपादिवदिति प्रयोगोपपत्तेः। न चाद्रव्यत्वमुपाधिः, तद्व्यतिरेके पृथिव्यादिषु मूर्तत्वस्यैवोपाधित्वात्।

साध्याव्याप्तिरिति साध्यसमव्याप्त्यभावो विवक्षितः। ननु विश्वेश्वरे नित्यज्ञानादेरुक्तरूपत्वेन साध्यवत्त्वमस्ति, नचास्ति मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्याव्यापक इति, तत्राह—**नचेश्वरे इति**। तत्र साध्यमपि नास्तीत्यर्थः। किं चात्र द्विष्ठविशेषगुणपदयोरपार्थकता, अनसमवायिकारणपदेनानित्यव्यतिरिक्तपदेन वाऽनभीष्टव्यावृत्तिसिद्धेः। अर्थान्तरता च, शब्दज्ञाननित्यतामादायापि विश्रामात्। ईश्वरान्यामूर्तान्यत्वस्य समव्यापकस्योपाधित्वाच्च। **साध्यवैकल्यादिति**। निर्गुणात्मवादित्वाद्वेदान्तिन इत्यर्थः। नित्यविशेषगुणेत्ययमप्यंशो मां प्रत्यसिद्ध इत्याह—**गुणानामिति**। उभयत्रापीत्यादिकं विवृणोति—**सप्रतिसाधनमिति**। जीवाकाशौ द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम्, तथेश्वरोऽप्युक्तविशेषणविशिष्टसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम्। उभयत्रामूर्तत्वादिति हेतुरवगन्तव्यः। **तद्व्यतिरेक इति**। एवं हि उपाधेर्व्यतिरेको वक्तव्यः—विप्रतिपन्नमेवंविधगुणाश्रयः द्रव्यत्वात् पृथिवीवदिति। तत्र मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्यव्याप्तिर्ना-

---

पार्थिव परमाणु में भी, द्विष्ठ गुणासमवायिकारण से भिन्न अनित्य विशेष गुण से भिन्न, अद्विष्ठ गुण परत्व-अपरत्व वेगादि का सद्भाव रहता है। यदि कहें कि ईश्वर में नित्यज्ञानादि रूप उक्त साध्यवत्त्व रहता है, और मूर्तत्व उपाधि का अभाव रहता है; अतः साध्यव्यापकता नहीं है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि उस ईश्वर को वेदान्ती वस्तुतः निर्गुण मानते हैं, अतः वहाँ साध्य भी नहीं रहता है। दूसरे प्रयोग के दृष्टान्त में साध्य की विकलता (अभाव) है, क्योंकि आत्मा को निर्गुण मानने वाले के मत में जीवात्मा भी गुणाश्रय नहीं है। और गुणों के नित्यत्व की असिद्धि रहते, नित्य विशेष गुण, रूप साध्य विशेषण की अप्रसिद्धि से अप्रसिद्ध विशेषणता है। और ये दोनों प्रयोग, प्रतिसाधन = प्रतिपक्षयुक्त है। प्रतिप्रयोग है कि (विवादविषय = जीव आकश द्विष्ठ गुण असमवायिकारण भिन्न अनित्य विशेष गुणभिन्न अद्विष्ठ साधारणाश्रय नहीं हैं, अमूर्त होने से, रूपादि के समान) यहाँ अद्रव्यत्व उपाधि नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उक्त अद्रव्यत्व के व्यतिरेक से उक्त साध्याभाव के साधन रूप व्यतिरेक में, जहाँ अद्रव्यत्व नहीं, वहाँ साध्य नहीं। इसके उदाहरणप्रदर्शन में पृथिवी आदि में मूर्तत्व ही उपाधि है।

तदेवं परिमाणस्यासिद्धेर्न तदारम्भविचारणाप्यवकाशं लभते।

न च कारणगुणपूर्वकतानियमः रूपादीनाम्, परिपक्वे लौहित्यस्याकारणगुणपूर्वस्यापि दर्शनात्। ननु निवृत्तः श्यामो घटोऽन्य एव च लोहितस्तत्रोत्पन्नः, तथा हि—श्यामत्वमाश्रयविनाशादेव नश्यति कार्यगतरूपत्वात् नष्टपटरूपवत्। तथा लौहित्यमाश्रयोत्पत्त्यनन्तरमेवोत्पद्यते कार्यगत-

---

स्तीत्यर्थः। किंच श्रोत्रमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन शक्यमाकाशे प्रकरणसमत्वं संपादयितुमात्मनि च मनोमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन, शब्दो वा ज्ञानादिकं वा दृष्टान्तः। परिमाणखण्डनस्य परिमाणकारणत्वनिराकरणोपयोगमाह—**तदेवमिति**।

यच्च 'कारणगुणप्रक्रमेण कार्ये गुणारम्भः' इति वैशेषिकैः परिभाष्यते, तदप्ययुक्तम्, पाकजप्रक्रियायामेव नियमस्याशक्यसमर्थत्वादित्याह—**नच कारणेति**। यो हि परिपक्वो घटस्तस्य पाकसमये रूपान्तरं तावदुत्पद्यते, नच तस्य कारणगुणपूर्वकत्वम्, पूर्वघटस्यानष्टत्वात्। स्थित एव तस्मिन् रूपान्तरस्याग्निसंयोगात्परमुत्पत्तेरित्यर्थः। ननु स्थित एव घट इत्यसिद्धं नष्टत्वादामघटस्येति शङ्कते—**नन्विति**। ननु स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञानात् घटैक्यावगमे कथं तस्य निवृत्तिरित्यत आह—**तथा हीत्यादिना**। नष्टघटरूपेणार्थान्तरतापरिहारायैवग्रहणम्। परमाणुगतरूपेऽनैकान्तिकतापरिहाराय कार्यग्रहणम्। कार्यगतसत्तादिव्यावृत्त्यै रूपग्रहणम्। एवमामघटध्वंसं प्रसाध्य कार्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनियमार्थम् लोहितघटस्योत्पत्तावप्यनुमानमाह—**तथा लौहित्यमिति**। लोहिततन्त्वारब्धः पटो लोहितपटः। पटग्रहणं चोदलक्षणार्थम्। एवं किरणावलीकारोदीरितानुमानविरोधाद् द्रव्यभेदाधिगतौ

अर्थात् कहना होगा कि (जीवाकाश, ऐसे गुण के आश्रय हैं, द्रव्य होने से, पृथिवी के समान) वहाँ मूर्तत्वोपाधि होने से साध्य की व्याप्ति नहीं है। अतः इस उक्त रीति से परिमाण की असिद्धि से उसके आरम्भ का विचार अवकाश नहीं पा सकता है।

वैशेषिक मत में कार्य गुण को कारण गुणपूर्वक = कारणगुणजन्य मानते हैं। परन्तु रूपादि गुणों को कारण गुणपूर्वकता का नियम नहीं देखा जाता है, क्योंकि रक्त तन्तु से रक्त पट को कारणगुणपूर्वक कार्यगुण होता है। किन्तु परिपक्व घट में अकारण पूर्वक भी लौहित्य (रक्तत्व) देखा जाता है। शंका होती है कि वहाँ भी कारण गुणपूर्वक ही कार्य गुण होता है, क्योंकि अग्नि में देने पर श्याम घट निवृत्त हो जाता है। अतः नष्ट श्याम घट के परमाणु रक्त होते हैं, उनसे अन्य ही लोहित (रक्त) घट वहाँ उत्पन्न होता है, यह दर्शाया जाता है कि (श्यामत्व, आश्रय के विनाश से ही नष्ट होता है, कार्यगत रूप होने से, नष्ट पटरूप के समान) इसीप्रकार से (लौहित्य, आश्रय की उत्पत्ति के अनन्तर ही उत्पन्न होता

रूपत्वात् कार्यलोहितपटरूपवदित्यनुमानतस्तद्भेदसिद्धेः। न च विनाशे हेतोरभावः, स्पर्शवद्वेगवदनिलसंचलनवलेन प्रज्वलज्ज्वलनस्य ज्वालाकलापस्यैव घटावयवसङ्घातविघटनहेतुत्वात्। अन्यथानलावयवानामन्तरानुप्रवेशासंभवेन पिठरलठरसंचारिसलिलोल्ललनतण्डुलविक्लेदनयोरसंभवप्रसङ्गात्। मृदुकठिनतालक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गोपलब्धेश्च तद्भेदावगतौ कथं न

प्रत्यभिज्ञा ज्वालाप्रत्यभिज्ञावद् भ्रान्तेत्यर्थः। नन्वत्र मुशलप्रहारादिरसमवायिकारणसंयोगनाशहेतुः पाकावस्थायां नास्ति तत्कथं विनाशः ? अनुमानद्वयं तु शङ्कितोपाधिव्याधिव्याहतं भविष्यतीति, तत्राह—**न च विनाश इति**। स्पर्शवान् वेगवांश्च योऽनिलस्तस्य संचलनेन यो प्रज्वलज्ज्वलनस्तस्य यो ज्वालाकलापस्तस्येति विग्रहः। अयमभिसंधिः—घटादिपार्थिवावयविनां तेजःसंयोगे सत्यग्न्याद्याघातान्नोदनात् वा परंपरया तदारम्भकेषु परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते तेभ्यो विभागः विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशस्ततश्च द्वयणुकमारभ्यान्त्यावयविपर्यन्तं द्रव्याणां विनाशः, तस्मिन् विनष्टे परमाणुष्वग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षाद् रूपरसगन्धस्पर्शानां विनाशः, पुनरन्यस्मादग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजरूपादयो जायन्ते, तदनन्तरं च भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद् द्वयणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिरिति पीलुपाकवादिप्रक्रिया। तथाच स्पर्शवद्वेगवदग्निसंयोगो द्रव्यासमवायिकारणसंयोगनाशहेतुरिति। नन्वविनष्टे एव कार्यद्रव्ये रूपादिमात्रस्यैव निवृत्तिरपरस्य चोत्पत्तिः किं न स्यादिति, तत्राह—**अन्यथेति**। अथवा तादृशज्वालासंपर्को बहिष्ठावयवानाम्, न पुनर्घटान्तरावयवानाम्, तत्कथमान्तरावयवसंयोगनाश इति ? तत्राह—**अन्यथेति**। उल्लघनम् ऊर्ध्वंचलनम्। विरुद्धधर्मसंसर्गादपि द्रव्यान्तरमेवावसीयत इत्यभिप्रेत्याह—**मृद्विति**।

है, कार्यगत रूप होने से, कार्यरूप लोहित पट रूपवत्) इस अनुमान से श्यामघट और रक्तघट का भेद सिद्ध होता है, अतः श्यामघट में कारणगुणपूर्वकता के कारण रक्त रूप पाक से नहीं सिद्ध होता है। श्यामघट के नाश में हेतु का अभाव नहीं कह सकते हैं, क्योंकि स्पर्श और वेग वाले वायु के संचलन बल से जो प्रज्ज्वलित अग्नि ज्वालासमूह होता है, उसी को घट के अवयव समूह के वियोजन का हेतुत्व होता है, कि जिससे अवयवों के विभाग से घट का नाश होता है। अन्यथा यदि अग्निसंयोग से अवयविभाग नहीं हो तो अग्नि के अवयवों के हण्डी आदि के अन्दर अनुप्रवेश के असम्भव से हण्डी के भीतर रहने वाले जल के उल्ललन = ऊर्ध्वंचलन उफान चावल का प्रपचन का भी असंभव प्राप्त होगा। और चावल घटादि में पाक-अपाक दशा में मृदुता-कठिनता स्वरूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध उपलब्ध होता है, इससे उस पक्व-अपक्व में भेद के ज्ञान होने पर, कारण गुण-

कारणगुणपूर्वकता रूपादीनामिति चेत्, मैवम्,

तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात्तदाधेयानिपाततः ।
संख्याप्रमाणयोरैक्यादन्यथा पाकसंभवात् ॥ ५२ ॥

स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्, उपरिस्थितशरावादीनामपातात्, तद्देशत्वतत्संख्यतातत्परिमाणतोपलब्धेश्च । अन्तःपाकस्यापि सच्छिद्रत्वादवयविनां स्फटिकान्तरिन्द्रियरश्मिप्रवेशवदुपपत्तेः । अन्यथा

तदेतद् दूषयति—मैवमिति । स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्तावदामपक्वावस्थयोरैक्यमवगम्यते, ततस्तद्विरुद्धतया कालात्ययापदिष्टमनुमानजातमित्यैक्यमेव युक्तम् । तदाधेयानिपाततः । यदि हि पाकसमये चुल्ल्यादीनां विनाशोत्पादौ स्याताम्, तदा तदन्तराकाले तदुपरिस्थितस्थाल्यादीनां निपातः स्यान्मुद्गरादिप्रहारे तथादर्शनात् । इतश्चैक्यमेव युक्तम्, संख्याप्रमाणयोरैक्यात्, यावन्तो यत्परिमाणाश्च घटा आमपाके निक्षिप्तास्तावन्तस्तत्परिमाणा एव च घटाः पक्वा अपि दृश्यन्ते । अपूर्वोत्पत्तौ हि कतिभिश्चित्परमाणुभिरधिका वा अधिकपरिमाणा वा किमिति नारभ्यन्ते ? यत्तु पाकानुपपत्तिर्बाधिकोक्ता, तथाह—अन्यथेति । द्रव्यविनाशव्यतिरेकेणापि सच्छिद्रत्वादवयविद्रव्याणां ज्वलनावयवानामान्तरेऽप्यनुप्रवेशसंभवेन पाकोपपत्तेरिति संग्रहश्लोकार्थः ।

तमिमं विवृणोति—स एवेत्यादिना । यथाहि सलिले विनष्टेषु बुद्बुदेषु बुद्बुदान्तराणां चोत्पत्तौ न तद्देशत्वादिनियमस्तथेहापि स्यात्, पूर्वस्य विनाशात्, न त्वेवमस्तीत्याह—तद्देशत्वेति । अथ किमिति सच्छिद्रतावयविनामिति, तत्राह—अन्यथेति । यथाहि सलिलस्यन्दनादिमात्रान्न तद्घटनाशस्त्वयाङ्गीक्रियते, तथा दहनानुप्रवेशेऽपि सच्छिद्रेषु पाकोपपत्तेर्न द्रव्यनाशः इति भावः । विरुद्धधर्मसंसर्ग

पूर्वकता रूपादि को कैसे नहीं होगी, किन्तु कारण गुणपूर्वकता होगी । यह शंका युक्त नहीं है, इसका उत्तर है कि—

पकने पर भी तद्रूप से प्रत्यभिज्ञा होती है, तथा पकते समय ऊपरिस्थित आधेय = आश्रित गिरता नहीं है, संख्या और परिमाण भी पकने पर एक-सा रहता है, और अन्यथा विनाश के विना भी पाक का सम्भव है । अतः पीलू (परमाणु) पाकवाद युक्त नहीं है ॥ ४२ ॥

अर्थात् स एवायं घटः । वही यह घट है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के विरोध से, घट के ऊपरस्थिर शराव = पुरवा आदि के अपतन से, अग्नि के अन्दर जिस देश में रखा गया उसी देश में पूर्व के संख्या-परिमाण की उपलब्धि से और अवयवों के छिद्रसहित होने से स्फटिक के अन्दर इन्द्रिय (नेत्र) रश्मि प्रवेश के समान अग्निप्रवेश की सिद्धि से श्याम घट के नाश के विना ही पाक की सिद्धि होती है, अन्यथा

सलिलस्यन्दनवह्निशैत्योपलम्भयोरभावप्रसङ्गात् । मृदुकठिनतालक्षणविरुद्ध-धर्मसंसर्गस्याप्यन्तरेणावयविनाशं छायातपविनिहितपटवदुपपत्तेः । न च वेगवद्द्रव्याभिघातमात्रादवयविनाशः, प्रबलपवनाभिमुखनिहितघटादेरपि विनाशापत्तेः । नियतहेतुभावकुलालादिव्यतिरेकेण घटजन्मासिद्धेश्च । अन्यथा शब्दसुखादयोऽप्याश्रयविनाशविनाश्याः, कार्यत्वे सति विशेषगुण-

---

परिहरति—**मृदुकठिनेति**। यद्यपि छायातपविनिहितपटस्यापि पाको वैशेषिकै-रङ्गीक्रियते, तथापि न विरुद्धसंस्पर्शवत्त्वेनावयविनो भेदोऽभिमतः, अवयविन एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानादिति भावः। यस्तु द्रव्यविनाशहेतुरुक्तः, सोऽप्यन्यथासिद्धत्वाद-सिद्ध इत्याह—**न चेति**। अथ तेजस एवायं स्वभावः यत्पूर्वव्यूहविनाशेन व्यूहान्तरो-त्पादनम्, तथाहोदयनः—'ईदृशो हि तेजसो वेगातिशयः स्पर्शातिशयो वा' इत्यादि, तदसत्, मुशलाभिघातेन तदभावप्रसङ्गात्। तेजस इत्येतदपि चानैकान्तम्, नहि चाक्षुषं चान्द्रं वा तेजो घटादि पाचयतीत्यनुमन्यन्ते। तस्माद्यत्र प्रबलं विनाशप्रत्या-यकमस्ति तत्र विनाशो नान्यत्रेत्ययमेव पन्थाः, न तु तेजस्त्वमिति युक्तमुत्पश्यामः। किंच घटाद्युत्पत्तौ कुलालादयश्चेतनविशेषाश्चक्रचीवरादयश्च हेतवो लोकप्रसिद्धास्तद-भावे कथमामपाके कलशाद्युत्पत्तिः ? नियतहेतुव्यतिरेकेण च तदुत्पत्तावाकस्मिकता-पातादित्याह—**नियतेति**। यदि चैवमबाधितप्रत्यभिज्ञापरिप्रापितेऽपि वस्तुतत्त्वेऽनु-मानाभासदुर्मदेन कश्चिदनाश्वासी स्यात्तमतिप्रसङ्गाङ्कुशेन वशयति—**अन्यथेति**। आश्रयविनाशः आश्रयोत्पत्तेरप्युपलक्षणार्थः, तथाचाभाससमानयोगक्षेमं प्रथमानुमान-

---

फुटने पर प्रत्यभिज्ञादि कुछ नहीं हो सकेंगे, देश, संख्या, परिमाणादि अवश्य परिवर्तित होते। अन्यथा = यदि स्थिर घट को सच्छिद्र मान कर ऐसी व्यवस्था नहीं मानी जाय, तो घट के अन्दर स्थिर जल के बाहर स्पन्दन = स्राव और शीतता के ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा। और अवयवी के नाश के बिना भी मृदुता कठिनता रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध हो सकता है, जैसे कि छाया और आतप में रखे हुए पट में विरुद्ध धर्म का संसर्ग होता है। और वेग वाले द्रव्य के अभिघात मात्र से अवयवी का नाश नहीं हो सकता है। अन्यथा प्रबल वायु के सामने रखे हुए घटादि का भी विनाश प्राप्त होगा। और यदि अग्नि में रखने पर घट नष्ट हो जाता है, और उसके परमाणुओं में पाक हो जाते हैं, तो फिर उनसे घट की उत्पत्ति मानी जाती है कि जिसमें कारणगुणपूर्वक कार्य में रक्तरूप माना जाता है, वहाँ घट के नियत (निश्चित) हेतुत्व वाले कुलालादि के बिना घटजन्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। अन्यथा यदि आश्रय के नाश से गुण का नाश हो, आश्रय की फिर उत्पत्ति आदि का कुछ विचार नहीं करना हो, तो यह भी अनुमान होगा कि (शब्द सुखादि भी, आश्रय विनाश से विनाश्य होते हैं। कार्य होते हुए विशेष गुण

त्वात् घटरूपादिवदित्यपि स्यात्। प्रत्यभिज्ञाविरोधस्तु प्रकृतेऽपि समानः। न चैवं पिठरकुहरसंचारितण्डुलानामनलसंपर्केऽप्यनाशप्रसङ्गः, परिमाणभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् विरोधिप्रत्यभिज्ञाभावाच्च। न च स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाविरोधः प्रदीपेऽपि तुल्यः, न्यूनाधिकपरिमाणभेदस्य तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भात्, तैलवर्त्यग्निसंयोगानां च प्रतिक्षणं भेदेन सामग्रीभेदाच्च कार्यभेदोपपत्तेः, तत्र प्रत्यभिज्ञायाः सादृश्यविषयतयान्यथासिद्धेः। न चैकत्र प्रत्यभिज्ञाया अन्यथासिद्धौ सर्वत्र तथाभावः, बाधाबाधाभ्यां तद्व्यवस्थोपपत्तेः, अन्यथातिप्रसङ्गात्। तस्मात्कारणगुणप्रक्रमो न विदुषां परितोषायेति सिद्धम्।

मिति भावः। अथ तत्र प्रत्यभिज्ञाविरोधमेव पुरो निदध्यात्तत्राह—**प्रत्यभिज्ञेति**। स्वमते त्वतिप्रसक्तिं परिहरति—**न चैवमिति**। प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्येऽप्यतिप्रसक्तिं वारयति—**न चेति**। तत्र संप्रतिपन्नं द्रव्यान्यत्वम्, सामग्रीभेदश्च, अतस्तत्र युक्ता सादृश्यविषयतयान्यथासिद्धिः, इह तु न तथा बाधकमस्ति, प्रत्यभिज्ञात्वेन च बाधकानुमानमतिप्रसङ्गापराद्धान्ताभ्यां ध्वस्तमित्यर्थः। एवमपि न्यायपदवीमनभिप्रापितमश्रद्दधानः किरणावलीकारोऽनुमिमे—'घटादिद्रव्येष्वग्निसंयोगाः नियमेन द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकक्रियाहेतवः अग्निसंयोगत्वान्मूषाग्निसंयोगवत्' इति, तदसत्। उदकाकाशाद्यग्निसंयोगेऽनैकान्त्यात्, पार्थिवाग्निसंयोगत्वादिति विशेषणेपि विपक्षे बाधकाभावात् शङ्कितप्रयोजकता, प्रत्यभिज्ञाविरोधश्च निर्वहते। अन्यदपि तदीयमनुमानद्वयमाचार्येण प्रत्यभिज्ञाविरोधातिप्रसङ्गाभ्यां निरस्तमेवेत्यलम्। उपसंहरति—**तस्मादिति**।

होने से, घट रूपादिवत्) इससे आत्मादि का नाश सिद्ध होगा। यदि कहें कि प्रत्यभिज्ञा से विरोध होगा, तो प्रत्यभिज्ञा का विरोध प्रकृत में भी तुल्य है। यदि कहें कि प्रत्यभिज्ञादि से घट के नाश को नहीं मानने पर, हण्डी के अन्दरवर्ती तण्डुलों (चावलों) का अग्निसम्बन्ध होने पर भी नाश नहीं होना प्राप्त होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनुभव के अनुसार यथासम्भव पदार्थ को मानना युक्त है। घट में तो, सोऽयं घटः, इत्यादि प्रत्यभिज्ञा आदि होते हैं, और उन चावलों में पाक से न्यूनाधिक परिमाण का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, तथा नाशविरोधी प्रत्यभिज्ञा का अभाव रहता है, अतः नाश माना जाता है। यदि कहें कि सोऽयम् इस प्रत्यभिज्ञा का विरोध क्षणिक प्रदीप में भी तुल्य है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि न्यूनाधिक परिमाण का प्रदीप में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तथा तेल, बत्ती अग्नि के प्रतिक्षण भेद से सामग्री भेद होने के कारण कार्यभेद की सिद्धि होती है, अतः वहाँ प्रत्यभिज्ञा की सादृश्य विषयता से अन्यथा = एकत्व अभेद के विना भी सिद्धि होती

कारणत्वानिरुक्तेश्च । तथा हि—किमिदं कारणत्वम् ? किं (१) पूर्वकालभावित्वम् ? किं वा (२) नियतप्राक्कालसत्त्वम् ? (३) सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा ? (४) अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वं वा ? (५) सामग्र्येकदेशत्वं वा ? (६) व्यापारवत्त्वं वा ? (७) यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तद्वा ? नाद्यः, रासभस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः,

---

किंच कारणत्वमेव यदा दुर्निरूपणम्, तदा कारणविशेषतया परमाण्वाद्यनुमानमसंभवि, नच जात्युत्तरता, ब्रह्मणः कारणत्वानङ्गीकारात्, वियदादिविवर्ताधिष्ठानमात्रत्वात् । नहि शुक्त्यादि रजतं प्रति कारणमिति प्रसिद्धिरस्ति । अधिष्ठानत्वमप्यनिर्वाच्यप्रतियोगिकत्वादनिर्वाच्यमेव, मृदादावपि निरूप्यमाणं कारणत्वमेवंविधाधिष्ठानत्वमेव । एतादृशाधिष्ठानत्वविवक्षया च "स कारणं करणाधिपाधिपः" "कारणत्वेन चाकाशादिषु" इत्यादिश्रुतिसूत्रभाष्यादौ ब्रह्मणि कारणशब्दप्रयोग इति हृदि निधाय कारणत्वं खण्डयति—**कारणत्वेति** । कारणत्वानिरुक्तेश्च न कारणगुणप्रक्रमो विदुषां परितोषायेत्यन्वयः । अङ्कुराजननलक्षणकार्याभाववत्त्वमतत्कारणस्याप्यस्तीत्युक्तम्—**सहकारीति** । जातीयपदं व्यक्तिसंग्रहार्थम् । **यदनभ्युपगम इति** । नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकं चेत्यर्थः । यस्य मृदादेः कारणत्वेनाभिमतस्यानभ्युपगमे निर्हेतुकतया भावत्वे सति खादिवत् घटादेः सत्त्वम्, अभावत्वे सति शशविषाणादिवदसत्त्वं च प्रपद्यते तन्मृदादिकारणमिति भावः । **रासभस्यापीति** ।

है । अब यह नहीं कहा जा सकता है, कि एकत्र प्रदीप में प्रत्यभिज्ञा अन्यथा सिद्ध है तो सर्वत्र वैसा ही होना चाहिये, क्योंकि बाध और अबाध से व्यवस्था की सिद्धि होती है, जहाँ प्रत्यभिज्ञा का बाध होता है, वहाँ सादृश्यमूलक अन्यथासिद्ध प्रत्यभिज्ञा मानी जाती है, और जहाँ बाध नहीं हो, वहाँ सच्ची प्रत्यभिज्ञा रहती है, अन्यथा प्रत्यभिज्ञा को सर्वत्र अन्यथासिद्ध मानने पर कोई पदार्थ स्थिर नहीं सिद्ध हो सकेगा और क्षणिक बाद प्राप्त होगा । अतः कारण गुण को कार्य में गुणजनकत्व की प्रक्रिया विद्वानों का परितोष के लिये नहीं है, यह सिद्ध हुआ ।

कारणत्व की अनिरुक्ति से भी यह प्रक्रिया युक्त नहीं है । क्योंकि यह कारणत्व क्या है ? क्या कार्य से पूर्वकालभावित्व कारणत्व है, या नियत प्राक्काल सत्त्व है, या सहकारि विकलता प्रयुक्त कार्याऽजनकत्व है, या अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्व है, या सामग्री एकदेशत्व है, या व्यापारवत्त्व है, अथवा जिसके अस्वीकारावस्था में कार्य के नित्य सत्त्व या नित्य असत्त्व की प्राप्ति हो, वह कारण है, आद्य लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि धूमोत्पत्ति से पूर्व जहाँ दैवयोग से रासभ = गदहा होगा, वहाँ उसमें भी धूम कारणत्व की प्राप्ति होगी, द्वितीय भी युक्त नहीं है, क्योंकि—

कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधितोऽन्योन्यसंश्रयात् ।
स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वान्नियतत्वानिरुक्तितः ॥ ५३ ॥

कालाव्याप्तेः, कालस्य कालान्तराभावात् । न चौपाधिकं कालस्य पौर्वापर्यम्, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । कालपौर्वापर्यं उपाधिपौर्वापर्यम्, तत्पौर्वापर्ये कालस्य तथात्वमिति । उपाध्यन्तराधीनमुपाधेः पौर्वापर्यम्,

---

अकारणस्यापि गर्दभादेर्धूमादिपूर्वभावित्वमस्तीति तस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिरित्यर्थः । नियतप्राक्कालसत्त्वमिति द्वितीयपक्षेऽपि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**कालस्येति** । नहि कालस्य कालभावित्वमस्ति, कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात् । अथौपाधिकः कालभेदोऽस्ति, तथाचोपाधिपौर्वापर्याभ्यामुपहितकालपौर्वापर्यमिति, तत्राह—**नाधित इति** । नाप्युपाधितः पौर्वापर्यम्, कुतः ? अन्योन्यासंश्रयात् । उपाध्यन्तरेपि पौर्वापर्यं किमुपाध्यन्तरात् ? किंवा पूर्वापरकालसंबन्धात् ? नाद्य', अनवस्थानात्, तैरेव चार्थेषु पूर्वापरादिव्यवहारसिद्धेः, कालवैयर्थ्याच्च । द्वितीयेऽन्योन्याश्रयः । कालपौर्वापर्यादुपाधिपौर्वापर्यम्, उपाधिपौर्वापर्याच्च कालपौर्वापर्यमित्यर्थः । यदि च किंचिदुपाधिविशिष्टकालेनोपाध्यन्तरविशिष्टकालसंबन्धादस्ति कालपौर्वापर्यमिति मतिः, तदा विशेष्यांश आत्माश्रयत्वं स्यात्, तच्चायुक्तम्, लोके तथाऽदर्शनादित्याह—**स्वात्मेति** । तत्र नियतत्वानिरूपणाच्च न तद्विशिष्टलक्षणमित्याह—**नियतत्वेति** ।

श्लोकं विवृणोति—**कालाव्याप्तेरित्यादिना** । स्वात्मवृत्तेरित्येतद्विवृणोति—

द्वितीय लक्षण के अनुसार काल को अहेतुता प्राप्त होती है, आधि = उपाधि से भी हेतुता नहीं हो सकती है, अन्योन्याश्रय होता है, आत्माश्रयता से अयुक्तता है, और नियतत्व की अनिरुक्ति से भी लक्षण अयुक्त है ॥ ५३ ॥

नियत पूर्व काल सत्त्व द्वितीय लक्षण है, यहाँ कारणों को तो कार्य से पूर्वकालवृत्तित्व हो सकता है । परन्तु काल को सब कार्य का साधारण कारण माना जाता है, और उसको एक माना जाता है । अतः उसको पूर्वकाल में वृत्तित्व नहीं हो सकता है, वृत्तिता भिन्न में होती है । उपाधि से भेद मानकर काल में पौर्वापर्य (आधाराधेय भाव) माना जाय तो भी अन्योन्याश्रयत्व प्राप्त होता है, क्योंकि काल के पूर्वापर भाव होने पर उपाधि के पौर्वापर्य होगा, और उपाधि के पौर्वापर्य से काल का होगा । काल के बिना उपाधि (कार्य) में स्वतः पौर्वापर्य हो नहीं सकता है । काल के बिना उपाध्यन्तर से उपाधि में पौर्वापर्य माना जाय तो अनवस्था प्राप्त होगी, युगपद् अनन्त उपाधि की उपस्थिति का प्रसङ्ग होगा । यदि कहें कि ऐसा ही (माना जाय) तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाण के अभाव से वैसा माना नहीं जा सकता है । व्यवहार से भी उपाधि को नहीं माना जा

न तु कालाधीनमिति चेत्, न, युगपदनन्तोपाध्यवस्थानप्रसङ्गात् । न चैवमस्त्विति वाच्यम्, प्रमाणाभावात्, व्यवहारस्य मायामयत्वेनोपपत्तेः, कल्पकाभावाच्च । अन्यथा तदुपाधेरेवातीतादिव्यवहारोपपत्तौ कालापलापप्रसङ्गात् । उपाधिभेदेऽपि किंचिदुपाधिविशिष्टस्य कालस्यान्योपाधिविशिष्टे काले न वृत्तिर्येन कालस्य पूर्वकाले भावित्वम्, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । न हि कुण्डलिनि देवदत्ते स एव दण्डविशिष्टो वर्तते ।

का चेयं नियतिः ? किं (१) तस्मिन्सत्येव भावः ? (२) अनन्यथासिद्धत्वं वा ? (३) तत्तत्कार्यानुगुणतया प्राक्कालसत्त्वं वा ? (४) तस्मिन्सति भाव एव वा ? नाद्यः, रासभस्यापि धूमविशेषं प्रति नियतत्वापत्तेः, स्वसत्तायां सत्यामेव जायमानधूमविशेषं प्रति तस्यापि नियतत्वात् । न

उपाधिभेदेऽपीति । स्वात्मवृत्तिविरोधमेवोपपादयति—**नहि कुण्डलिनीति** ।

अन्त्यदूषणं विवृणोति—**का चेति** । प्राक्कालसत्त्वमाकाशादेरप्यस्तीति कार्यानुगुणतयेत्युक्तम् । नच प्रथमचतुर्थयोः पौनरुक्त्यम्, धूमाग्न्योरन्ययोगव्यवच्छेदेऽप्ययोगव्यवच्छेदाभावात् । **रासभस्येति** । यद्यपि धूमजातीयस्य रासभे सत्येव भाव इति नास्ति, तथापि तदानीमुत्पन्नधूमविशेषस्यैव भावोऽस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । एतदेव विशदयति—**स्वसत्तायामिति** । अनन्यथासिद्धत्वमिति पक्षेऽपीदमेव दूषणमाह—

सकता है, क्योंकि व्यवहार की मायामयत्व से भी सिद्धि हो सकती है, काल में काल भ्रम से भी भास सकता है । और कल्पक के अभाव से उपाधि कल्पना नहीं हो सकती है । अन्यथा = यदि उपाधि की कल्पना हो तो उपाधि से ही अतीतादि व्यवहारों की सिद्धि होगी काल का अपलाप (अस्वीकार) प्राप्त होगा । और उपाधि के भेद होने पर भी किसी एक उपाधि युक्त काल की अन्य उपाधि युक्त काल में वृत्ति = स्थिति नहीं हो सकती है कि जिससे काल को पूर्वकालभावित्व हो, क्योंकि स्वात्मा में वृत्ति होना विरुद्ध है, अतएव कुण्डल युक्त देवदत्त में दण्डयुक्त वही देवदत्त नहीं रहता है ।

और नियत प्राक्काल सत्त्व लक्षण में यह नियति क्या है ? क्या, तस्मिन्, उस कारण के रहते ही कार्य का भाव (सत्त्व) होना है, या अनन्यथासिद्धत्व = अन्यथासिद्धभिन्नत्व है, या तत्तत् कार्यानुकूलतापूर्वक पूर्वकाल वृत्तित्व है, या कारण के रहने पर कार्य का होना ही नियति है । प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है । क्योंकि रासभ को भी धूमविशेष के प्रति नियतत्व (कारणत्व) होगा, जहाँ रासभ की अपनी सत्ता रहते ही धूमविशेष उत्पन्न होता है, वहाँ उस जायमान धूमविशेष के प्रति उस रासभ को भी नियतत्त्व रहता है । अनन्यथासिद्धत्व रूप दूसरा पक्ष

द्वितीयः, रासभाकाशादेरपि तथात्वापत्तेः। स्वकारणसत्त्वेन नित्यविभुतया च तेषां सन्निधिर्न त्वनन्यथासिद्ध इति चेत्, तत्किं स्वकारणसन्निधिप्रयुक्तसन्निधीनि बीजधरणीधामसलिलानीत्यकारणान्येवाङ्कुरोत्पत्तौ ? किं वा शब्दसुखाद्युत्पत्तौ ? नित्यविभुस्वभावा वियदात्मादयः ? नापि तृतीयः, प्राक्कालसत्त्वातिरिक्तानुगुणत्वस्याप्यनिरूपणात। न चतुर्थः, बीजादेरकार-

---

न द्वितीयः इति। नन्वनन्यथासिद्ध इति कोऽर्थः ? अन्यथासिद्धो न भवतीति, तथा च कारणत्वं नियतत्वं वा विना सिद्धो निष्पन्नो ज्ञातो वा न भवतीत्युक्तं भवति, नचैवं रासभ आकाशो वा, एकस्य स्वकारणप्रयुक्तसन्निधित्वादपरस्य च विभुतयाऽवर्जनीयसन्निधित्वम्, ततो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**स्वकारणसत्त्वेनेति**। तत्किं स्वकारणप्रयुक्तसन्निधिविभुत्वे एव वान्यथासिद्धिः ? किं वाभ्यामनुमीयमाना काचित् ? नोभयथापि, बीजादीनामङ्कुराद्युत्पत्तावाकाशादीनां च शब्दाद्युत्पत्तावुक्तरूपस्वभावेऽपि अनन्यथासिद्धत्वादिति दूषयति—**तत्किमित्यादिना**। धाम तेजः। तत्तत्कार्येत्यादि तृतीयपक्षं दूषयति—**नापीति**। **अनिरूपणादिति**। यथा काललक्षणकारणेऽपि संभवति, तथा निरुक्तेरशक्तेस्तन्निरूप्यमानुगुण्यमपि दुर्निरूपणमतोऽसिद्धिरित्यर्थः। प्राक्कालसत्त्वमात्रस्य रासभाकाशादावप्यविशिष्टत्वादित्यपि द्रष्टव्यम्। सति तस्मिन्भवत्येवेति चतुर्थपक्षेऽव्याप्तिमाह—**बीजादेरिति**। ननु यद्यपि बीजमात्रस्यैवंविधनियमो नास्ति, तथापि सहकारिसमेतस्यास्ति कदाचित्। अपि च

भी युक्त नहीं है, क्योंकि रासभ आकाशादि को भी अन्यथा सिद्धत्व है। अपने कारण के नियत सत्त्व के बिना गर्दभ नहीं सिद्ध होता है, और आकाश भी नियतत्व बिना सिद्ध वा ज्ञात नहीं है, अतः नियत स्वरूप से सिद्ध और अनन्यथा सिद्ध दोनों है। यदि कहें कि अपने कारण के सत्त्व से और नित्य विभुता से रासभ आकाश की कार्य के साथ सन्निधि = समीपता होती है, अतः अन्यथासिद्ध हैं। अनन्यथासिद्ध नहीं। यह कहा जाता है कि, अपने-अपने कारणों की सन्निनिधिनिमित्तक सन्निधि वाले, अपने-अपने कारणों से जन्य, बीज भूमि, तेज, जल होते हैं, अतः क्या अङ्कुर की उत्पत्ति में अकारण ही हैं। अथवा नित्य विभुस्वभाव वाले आकाशात्मादि क्या शब्द सुखादि की उत्पत्ति में अकारण है। अर्थात् बीजादि जैसे अंकुरादि के कारण होते हैं, आकाशादि शब्दादि के कारण हैं, लक्षण के अनुसार गर्दभ और आकाश वैसे ही घटादि के कारण प्राप्त होते हैं। तत्तत् कार्य अनुकूलता से पूर्वकालवृत्तित्व यह तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्वकाल में सत्त्व से भिन्न अनुकूलत्व का ही निरूपण नहीं हो सकता है। कारण के रहने पर कार्य का अवश्य भाव होना यह चतुर्थ भी नियति का लक्षण युक्त नहीं है। क्योंकि इसके अनुसार बीजादि में अकारणत्व की प्राप्ति होती है, बीजादि के रहते अवश्य

णत्वप्रसङ्गात् । न हि तस्मिन्सति भाव एवाङ्कुरादेः । सहकारिमध्यमध्यासीने तस्मिन्सति भवत्येवेति चेत्, मैवम्, रासभस्यापि कदाचित्सहकारिमध्यमध्यासीनतासंभवात् । सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं कारणत्वमिति तृतीयोऽपि न;

हेतुसाकल्यरूपायां सामग्र्यां तदसंभवात् ।
कारणत्वनिरुक्तौ च सहकार्यनिरूपणात् ॥ ५४ ॥

सामग्र्या अकारणत्वप्रसङ्गात्, तस्याः सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वाभावात्, सहकारिसकलताया एव सामग्रीत्वात् । किंच सह करोतीति

तदन्वयो यत्र तत्र प्रतिनियतमुच्यते इति शङ्कते—**सहकारीति** । तत्र किं सहकारिमध्यनिवेश एवैवंविधनियमः ? अतिरिक्तो वा ? नान्त्यः, अनिरुक्तेः । आद्येऽतिव्याप्तेः, गर्दभादेरपि क्षित्यादिसहकारिमध्यनिवेश एवैवंविधनियममात्रेणाङ्कुरं प्रतिनियतत्वापातादिति दूषयति—**मैवमिति** ।

एवं नियतत्वखण्डेन द्वितीयं कारणलक्षणं दूषयित्वा तृतीयं दूषयति—**सहकारीति** ।

तत्रापि दूषणानि संगृह्णाति—**हेत्विति** । कारणपौष्कल्यरूपा या सामग्री सापि तावद् बीजादिवत् कारणमेव । अथ च तत्र लक्षणं न संभवति, तस्यां सत्यां सहकारिवैकल्यस्यैवासंभवात् । किंच सह करोतीति सहकारी कारणविशेषः, तथा केनेत्यपेक्षायां च कारणेनेति वचनीयं तथा चात्माश्रयत्वमित्यर्थः । विवृणोति—**सामग्र्या इति** ।

अङ्कुरादि नहीं होते हैं । यदि कहें सहकारी के मध्य में बीजादि के रहने पर अङ्कुरादि होते ही हैं । अतः सहकारी मध्यस्थ के साथ ही अवश्यम्भावी कार्य का नियम है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, सहकारी मध्यस्थता कभी रासभ को भी हो सकती है । अतः उससे भी अङ्कुर की उत्पत्ति प्राप्त होगी । इसप्रकार से कारण का दूसरा लक्षण सिद्ध नहीं हो सका, सहकारी की विकलतानिमित्तक कार्याभाववत्त्व रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं है । क्योंकि—

हेतु की सकलता = पूर्णता रूप सामग्री में इस लक्षण का होना असम्भव है । और कारणत्व की अनिरुक्ति रहते सहकारी का निरूपण नहीं हो सकता है ॥ ५४ ॥

अर्थात् लक्षण के अनुसार सामग्री को अकारणत्व प्राप्त होता है, क्योंकि सामग्री को सहकारिविकलता निमित्तक कार्याभाववत्त्व का अभाव रहता है । सहकारिसकलता को ही सामग्री कहा जाता है । और दूसरी बात है कि सहकरोति, कारण के साथ होकर जो कार्य को सिद्ध करे, उस प्रधान की अपेक्षा कारणान्तर को सहकारी कहा जाता है, और कारणत्व ही की अभी निरुक्ति नहीं

सहकारि कारणान्तरम्, तथा च कारणत्वस्यैवाद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः। नापि चतुर्थः,

जातेरहेतुतापत्ते रासभेऽतिप्रसक्तितः।
गगनादिषु चाव्याप्तेरन्वयादेरयोगनः॥ ५५॥

जातेरकारणत्वप्रसङ्गात्, जातेर्जातिमत्त्वाभावात्। द्रव्यत्वादिना रासभादेरप्यन्वयव्यतिरेकवद्वह्न्यादिजातीयत्वेन धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात्। द्रव्यत्वावान्तरजातीयत्वं विवक्षितमितिचेत्, न, कालाकाशदिशामकारणत्वप्रसङ्गात्, तेषां द्रव्यत्वावान्तरजातिविधुरत्वात्। कौ चेमावन्वयव्यतिरेकौ? किं कालतः? उत देशतः? उतोभाभ्याम्? आद्ये, काले तदभावादव्याप्तिः। द्वितीये तु देशे तदभावः। न तृतीयोऽपि, उभयोरप्युभया-

---

अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वमिति चतुर्थे पक्षे दूषणानि संगृह्णाति—**जातेरित्यादिना**। नहि जातेर्जातिरस्ति येन तज्जातीयतया कारणता तस्याः स्यादित्यव्याप्तिः। किंच सत्त्वादिकमादाय गर्दभादेरपि बीजादिजातीयतयाङ्कुरादिकारणतापातादतिव्याप्तिः। अथ द्रव्यत्वावान्तरजात्या साजात्यं विवक्ष्येत, तदाकाशादावभावादव्याप्तिः, व्यतिरेकाभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। तथान्वयव्यतिरेकयोरपि कालतो देशतो वा दुर्निरूपणादयुक्तमिदं लक्षणमित्यर्थः।

संग्रहं विवृणोति विशदग्रन्थेन—**जातेरिति**। ननु न देशतः कालतो वान्वयव्य-

---

हुई है, अतः कारण के निरूपण में कारणत्व की अपेक्षा होने पर आत्माश्रयता प्राप्त होती है। अन्वय-व्यतिरेकवज्जातीयत्व यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि—

जाति को अहेतुता प्राप्त होती है, रासभ में अतिव्याप्ति होती है, गगनादि में अव्याप्ति होती है, अन्वयादि का अयोग है॥ ५५॥

जाति में अकारणत्व प्राप्त होता है, क्योंकि जाति में जातिमत्त्व का अभाव रहता है। और सत्ता द्रव्यत्वादि जाति द्वारा रासभादि को भी अन्वयव्यतिरेक वाले अग्नि आदि के सजाति होने से रासभादि में धूमादि कारणत्व प्राप्त होता है। यदि कहें कि द्रव्यत्व अवान्तर (व्याप्य) जातीयत्व विवक्षित है। अतः सत्ता द्रव्यत्व द्वारा अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना भी युक्त नहीं, ऐसी विवक्षा होने पर काल, आकाश, दिशा को अकारणत्व प्राप्त होगा, क्योंकि उनमें द्रव्यत्व व्याप्य जाति का अभाव रहता है। और ये अन्वयव्यतिरेक भी कौन विवक्षित हैं, क्या काल द्वारा कालिक विवक्षित है, या दैशिक विवक्षित है। या दोनों द्वारा विवक्षित है, प्रथम पक्ष में काल में कालिक अन्वयव्यतिरेक की अव्याप्ति होगी, दूसरे पक्ष में देश में दैशिक अन्वयव्यतिरेक के अभाव से अव्याप्ति होगी, तृतीय पक्ष में देशकाल

भावात् । सति भावोऽसत्यभाव एव ताविति चेत्, न, तदभावेऽपि तृणारणिमणीनां दहनहेतुत्वाङ्गीकारात् । तेषामेकैकाभावेऽपि दहनदर्शनात् । तत्रापि तज्जन्यदहनानामवान्तरजातिभेदान्न व्यभिचारः इति चेत्, न, जातिभेदे प्रमाणाभावात् । न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, इन्द्रियसन्निकर्षमात्रेण सुनिपुणैरप्यनुपलभ्यमानत्वात् । ननु तृणारणिमणिप्रभवत्वज्ञानसंस्कृतेन्द्रियसंनिकर्षाधिगम्योऽयं जातिभेदः, विशिष्टमातृपितृप्रभवत्वज्ञानसंस्कारसचिवलोचन-

---

तिरेकावभिमतौ, किं तर्हि ? तस्मिन् सति भावोऽसत्यभाव एवेति यो नियमौ ताविति शङ्कते—**सतीति**। तृणादिषु नियमाभावं विवृणोति—**तेषामिति**। नहि दहनस्तृणाभावे न जायते, मणेरपि जायमानत्वात् । नापि मणेरभावेऽभावः, अरणेरपि जायमानत्वात् । अथ च तेषामन्वयव्यतिरेकौ स्तः, कारणत्वप्रसिद्धेरतोऽव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र कुसुमाञ्जलिकारेण तृणादिप्रभवाग्निष्वप्यवान्तरवैजात्यमभ्युपगम्य कारणवैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यं समर्थितम्, तथाच तत्तद्विशेषं प्रति तृणादीनामुक्तनियमोऽस्तीति शङ्कते—**तत्रापीति** । प्रत्यक्षतो वैजात्यमनुपलब्धिपराहतमित्याह—**तत्रापीति**। प्रत्यक्षतो वैजात्यमनुपलब्धिपराहतमित्याह—**सुनिपुणैरिति**। ननु यद्यपीन्द्रियसन्निकर्षमात्रान्न ज्ञायते तथाप्यभिव्यञ्जकान्तरसचिवप्रत्यक्षेण शक्यं ज्ञातुमिति दृष्टान्तदर्शनपूर्वकं शङ्कते—**नन्विति**। तत्र वक्तव्यं किं तृणादिप्रभवत्व-

---

दोनों में अव्याप्ति होगी, काल में काल के अभाव से देश में देश के अभाव से ये दोष प्राप्त होंगे। यदि कहें कि, कारण के रहते कार्य का भाव होना, कारण के नहीं रहने पर कार्य का अभाव होना। ये ही क्रम से अन्वय और व्यतिरेक है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कारणत्व रूप से अभिमत किसी के नहीं रहने पर भी तृण, अरणि. मणि के अग्निहेतुत्व को माना जाता है। क्योंकि उनमें से एक-एक के अभाव रहते भी अन्य से अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे कि तृण के अभाव रहते भी अरणि और मणि से अग्नि होती है। यदि कहें कि वहाँ भी अग्नियों में भेद से तृणजन्य अग्नि का तृण ही कारण होता है, अन्य नहीं, इसीप्रकार से अन्यत्र भी नियम होने से, उन अग्नियों में अवान्तर जाति के भेद होने से व्यभिचार नहीं सिद्ध होता है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अग्नियों के जातिभेद में प्रमाण का अभाव है, प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। अत एव इन्द्रिय के सम्बन्ध मात्र से तृणादिजन्य अग्नियों में जाति के भेद का ज्ञान निपुण लोगों को भी नहीं होता है। यदि कहें कि इन्द्रियसन्निकर्ष मात्र से जातिभेद का ज्ञान यद्यपि नहीं होता है, तथापि तृणजन्यत्व अरणि-मन्थन-जन्यत्व मणिजन्यत्व के प्रकार भेद के ज्ञान से संस्कृत इन्द्रियसम्बन्ध से यह अग्नि के जातिभेद का ज्ञान होता है। जैसे कि विशिष्ट माता-पिता से जन्यत्व के ज्ञानजन्य संस्कारसहित नेत्र का विषय

गोचर इव ब्राह्मणत्वमिति चेत्, न, तेषां व्यभिचारादेव जनकत्वासिद्धेः। जातिभेदालिङ्गितव्यक्तिविशेषं प्रति न तस्य व्यभिचार इति चेत्, न, सिद्धे जातिभेदे जनकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जातिभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्। ननु कार्यविशेषेण तृणादिकारणविशेषप्रभवाणां वह्नीनां वैजात्यानुमानमस्तु, तथा हि—"प्रदीप एव प्रसादोदरव्यापकं प्रभामण्डलमारभते, न तथा ज्वालाजटिलोऽपि वह्निर्नेतरां च कारीषः" इति कुसुमाञ्जलिकार इति चेत्, न, एकजातीयत्वग्राहिप्रत्यक्षप्रतिहतस्यानुमानस्यानुत्थानात्। न च प्रत्यक्षायोग्यं वैजात्यम्, प्रत्यक्षव्यक्तिवृत्तिसामान्यस्याप्रत्यक्षत्वायोगात्।

मग्निमात्रदर्शनादवगम्यते? किं वा जातिभेदाऽऽलिङ्गिताग्निदर्शनात्? आद्येऽसिद्धिः। अग्निमात्रं प्रति तेषां परस्परव्यभिचारादित्याह—**न, तेषामिति**। द्वितीयं शङ्कते—**जातिभेदेति**। तर्ह्यन्योन्याश्रयः, प्रथमतोऽग्निषु जातिभेदे ज्ञाते तद्दर्शनात् तृणादिप्रभवत्वज्ञानम् तज्ज्ञानाच्च जातिभेदज्ञानमिति परिहरति—**न, सिद्ध इति**। ननु न प्रत्यक्षेण जातिभेदाधिगतिः, किंतु लिङ्गेनेति शङ्कते—**नन्विति**। कार्यविशेषमेव समर्थयते—**तथा हीति**। कारीषो गोमयेन्धनोद्भवः। प्रदीपप्रभामण्डलं कारीषादिकारणाद्विभिन्नजातीयकारणजन्यं तद्विभिन्नजातीयकार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाज्जातिभेदसिद्धिरित्यर्थः। नन्वतीन्द्रियजातिभेद एवानुमीयते तेन न प्रत्यक्षपराहतिस्तत्राह—**न चेति**। यदि हि प्रत्यक्षाश्रयापि जातिरप्रत्यक्षा, घटत्वादेः प्रत्यक्षत्वे कुत

ब्राह्मणत्व होता है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि व्यभिचार से ही अग्नि के प्रति तृणादि की कारणता ही नहीं सिद्ध होती है, तो तत्तत् कारणजन्य ज्ञान संस्कृत इन्द्रिय को होना दूर रह जाता है। यदि कहें कि अग्नि सामान्य के प्रति तृणादि के व्यभिचार होते भी जातिभेदयुक्त अग्नि व्यक्तिविशेष के प्रति उस कारण का व्यभिचार नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि जातिभेद की सिद्धि (ज्ञान) होने पर व्यभिचाराभाव से जनकत्व की सिद्धि होगी, और प्रत्येक में पृथक् जनकत्व के ज्ञान होने पर जातिभेद की सिद्धि होगी, अतः अन्योन्याश्रय होगा। यदि कहें कि अग्नियों के कार्यविशेष से तृणादि कारण विशेषजन्य बहुत अग्नियों की विजातीयता का अनुमान हो सकता है, मन्द, तीव्रादि प्रकाश के भेद से अग्नियों का भेद अनुमेय हो सकता है, जैसे कि प्रदीप ही गृह के अन्दर व्यापक प्रभामण्डल का आरम्भ करता है, ज्वालाजटिल भी काष्ठाग्नि वैसा नहीं कर सकती है, और कारीष-गोमयजन्य अग्नि तो मानो प्रकाश ही नहीं करती है। इस-प्रकार से कुसुमाञ्जलिकार का कथन है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तृणादि-जन्य अग्नियों में एक जातीयत्व का ग्राहक प्रत्यक्षप्रतिहत अनुमान का उत्थान नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष के अयोग्य विजातीयता का अनुमान करें, यह भी नहीं हो

प्रसादोदरव्यापिप्रभामण्डलादिकार्यभेदस्य तत्तत्सहकारिभेदादन्यथोपपत्तेश्च, एकजातीयेऽपि मृदादौ तत्तत्सहकारिसाहित्येन तत्तद्विजातीयघटशरावादिकार्योपलब्धेः। एकजातीयादपि घटाद्भिन्नजातीयानां रूपादीनामुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च।

नापि पञ्चमः, सामग्र्या दुर्निरूपत्वेन तदेकदेशस्यापि दुर्निरूपत्वात्। तथा हि—

अतिव्याप्तेः स्ववृत्तित्वाद् भेदेऽभेदेऽप्यसंभवात्।
कार्यस्य हेतुभिः सिद्धेर्वृथा साकल्यकल्पना ॥ ५६ ॥

आश्वासः ? व्यञ्जकस्य च पूर्वमेवोन्मूलितत्वादिति भावः। विपक्षे बाधकविधुरत्वाच्छङ्कितोपाधिता च, कार्यभेदस्य प्रकारान्तरेणाप्युपपत्तेरित्याह—**प्रासादेति**। न केवलमुपपत्तिः, दृश्यते च तत्र तत्र एकजातीयात् सहकारिभेदयुताद्विलक्षणद्रव्यस्य विलक्षणगुणस्य चोत्पत्तिस्ततश्चानैकान्तिकतेत्याह—**एकजातीयेत्यादिना**।

सामाग्र्येकदेशत्वमिति पक्षं दूषयति—**नापि पञ्चम इति** तत्र सामग्रीदूषणानि संगृह्णाति—**अतिव्याप्तेरित्यादिना**। किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री ? किं वा कारणानाम् ? आद्ये अङ्कुराद्यजनकानामपि शिलाशकलादीनामपि साकल्यस्याङ्कुरादिसामग्रीत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिः। द्वितीये कारणज्ञानात्सामग्रीज्ञानं सामग्रीज्ञानाच्च कारणज्ञानमित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः। किंच तत्साकल्यं कारणेभ्यो भिन्नम् ? अभिन्नं वा ? भिन्नत्वे नित्यं चेत् सदा कार्यजन्मप्रसङ्गः। अनित्यत्वेऽपि व्यस्तेभ्यः ? समस्तेभ्यो वा तस्य नोत्पत्तिसंभवः ? आद्ये, कार्यसामस्त्ययोः सदा जन्मप्रसङ्गः। द्वितीये, साकल्यात्साकल्योत्पत्तिरित्यात्माश्रयात्। अभिन्नत्वे तु प्रत्येककारणेभ्योऽपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्, तावन्मात्रत्वात्साकल्यस्य, तथाच सदा कार्यजन्मप्रसङ्गः।

सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष व्यक्तिवृत्ति जाति में अप्रत्यक्षत्व नहीं हो सकता है। और प्रसाद भीतर व्यापक प्रभामण्डलादि रूप कार्यभेद की तत्तत् सहकारि भेद से अन्यथा = जाति भेद के बिना सिद्धि होती है, क्योंकि एक जाति वाले मृत्तिकादि में तत्तत् सहकारिभेद की सहायता से तत्तत् विजातीय घट, शरावादि कार्य की उपलब्धि होती है। और एक जाति वाले घट से भी भिन्न जाति वाले रूपादि की उत्पत्ति मानी जाती है।

सामग्री के एकदेशत्व रूप भी कारण का पञ्चम लक्षण युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सामग्री के दुर्निरूप रहते उसका एक देश भी दुर्निरूप है।

जैसे कि—

वस्तुसाकल्य को सामग्री मानने पर अतिव्याप्ति होती है, स्ववृत्तित्व = आत्मा-

किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री ? किं वा कारणानाम् ? नाद्यः, अकारण-साकल्येऽपि प्रसङ्गात्। द्वितीये, कारणत्वस्याद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः। कारणसाकल्यं च कारणानां स्वरूपम् ? अतिरिक्तं वा ? आद्ये व्यस्तेभ्योऽपि कार्यमुत्पद्येत। द्वितीये, नित्यत्वे साकल्यस्य सदा कार्योत्पादः, अनित्यत्वेऽपि व्यस्तानामेव साकल्यकारणत्वे साकल्यस्यापि सदातनत्वेन कार्यस्यापि सदोत्पादः। समस्तानां हेतुत्वे चात्माश्रयः, अनवस्था वा। साकल्यजनकेभ्य एव च प्रधानकार्योत्पत्तेः, किमजागलस्तनायमानेन साकल्येन ? एतेन

किंचोत्पन्नायाः सामग्र्याः उत्पादकानि यानि कारणानि तैरेव कार्योत्पत्तिसिद्धेः, वृथा तेषां साकल्यकल्पनेति श्लोकार्थम् विवृणोति—**किं वस्तूनामित्यादिना।** **व्यस्तानामेवेति।** यदि व्यस्तान्येव कारणानि साकल्यमुत्पादयन्ति, तदा बीजादेर-नित्यत्वेऽपीश्वरादेर्नित्यतया सदा साकल्योत्पादात्कार्यस्यापि सदातनता स्यादित्यर्थः। ननु न व्यस्ता, अपि तु सर्वे संभूय साकल्यं जनयन्तीति, तर्हि साकल्यात्साकल्य-मुत्पद्यते इति वचनीयम्, तथा चाभेदे भेदे चात्माश्रयानवस्थे स्यातामित्याह— **समस्तानामिति।** समुदितानामित्यपि द्रष्टव्यम्। उत्तरार्धम् व्याचष्टे— **साकल्येति।** सामग्रीलक्षणान्तरेऽप्युक्तदूषणमतिदिशति—**एतेनेति।** तत्रापि वैशिष्ट्यं भिन्नमभिन्नं वेत्यादिदोषाणां समानत्वादित्यर्थः। ननु कारणानां योऽयं

श्रयता प्राप्त होती है, कारणों से भेदाभेद में भी असम्भवता होती है, और हेतुओं से कार्य के सिद्ध होने पर साकल्य रूप सामग्री की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है ॥५६॥

क्या वस्तुओं का साकल्य = सकलता का नाम सामग्री है, या कारणों का साकल्य सामग्री है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अकारण की सकलता में भी सामग्रीत्व प्राप्त होगा। और दूसरे पक्ष में कारणत्व की अभी निरुक्ति नहीं हुई है, अतः कारण की निरुक्ति में कारण की अपेक्षा से आत्माश्रयता प्राप्त होती है। और यह भी विचारणीय है कि कारण साकल्य कारणों का स्वरूप ही है, या भिन्न है। प्रथम पक्ष में व्यस्त प्रत्येक कारण से भी कार्योत्पन्न होगा, क्योंकि प्रत्येक सामग्री स्वरूप हैं। दूसरे पक्ष में साकल्य के नित्य होने पर सदा कार्य की उत्पत्ति प्राप्त होगी। साकल्य के अनित्यत्व पक्ष में भी व्यस्त = प्रत्येक हेतुओं को ही साकल्य के कारणत्व होने पर, हेतुगत ईश्वरादि के नित्य होने से तज्जन्य साकल्य की भी सदातनता से कार्य की भी सदा एक रस की उत्पत्ति होती रहेगी। समस्त हेतुओं को साकल्य का हेतु होने पर आत्माश्रयता होगी, या अनवस्था होगी, अर्थात् समस्त हेतुरूप साकल्य में ही साकल्य की अपेक्षा होने पर आत्माश्रय होगा, अन्य-अन्य साकल्य की कल्पना करने पर अनवस्था होगी। और साकल्य-जनक रूप से माने गये हेतुओं से ही साकल्य से होने वाले प्रधान कार्य की उत्पत्ति

कारणानामन्योऽन्यवैशिष्ट्यं सामग्रीति प्रत्यादिष्टम् । न च कारणसन्निधिः सामग्री, तदनिर्वचनात् । न तावदेककालत्वं सन्निधिः, काले तदभावात् । नाप्येकदेशत्वम्, देशे तदभावात् । नोभयम्, उक्तदोषानुषङ्गात् । नापि संयोगसमवायौ, तयोरेवाकारणत्वप्रसङ्गात् । नाप्येककार्यकारणत्वं सन्निधिः, कार्यकारणभावस्यैवाप्रसिद्धेरात्माश्रयात् । नापि कारणानां चरमो व्यापारः सामग्री, व्यस्तानां समस्तानां वा तज्जनकत्वे पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् । अपि च व्यापारे जनयितव्ये कारकाणि व्यापारवन्ति ?

सन्निधिः सैव सामग्री, नेत्याह—**न चेति** । **तयोरिति** । यदि हि कारणानां संयोगः सामग्री, तदा संयोगस्येतरकारणैः संयोगाभावात् सामग्र्यन्तःपातित्वाभावेनाकारणत्वं स्यादेवं समवायेपीत्यर्थः । ननु कारणानामपि कश्चिच्चरमो व्यापारो यदनन्तरं कार्यमुत्पद्यते सा सामग्रीति, तत्राह—**नापीति** । इमं पक्षं प्रकारान्तरेणापि दूषयति—**अपि चेत्यादिना** । यश्चायं चरमो व्यापारः कारणानां सोऽपि किं सव्यापारतया

हो सकने से अजागलस्तन समान व्यर्थ साकल्य से क्या होना है । इसीसे कारणों का परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव से सम्बन्ध सामग्री है, यह भी निरस्त हो गया । कारणों की सन्निधि सामग्री है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सन्निधि का निर्वचन नहीं हो सकता है । एक कालवत्त्व सन्निधि नहीं कही जा सकती है । क्योंकि काल में कालवत्त्व का अभाव रहता है । एकदेशवत्त्व भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि देश रूप कारण में देशवत्त्व का अभाव रहता है । उक्त दोष से ही एकदेशत्व एककालत्व उभय भी नहीं सन्निधि देश-काल में हो सकती है । देश का स्वरूप से कारण होते हैं, देश काल में रहकर नहीं । कारणों का संयोग वा समवाय भी सन्निधि नहीं हो सकती है, क्योंकि संयोग वा समवाय सन्निधि रूप होंगे तो उन दोनों को अकारणत्व प्राप्त होगा, क्योंकि कारणों का संयोग कारण से भिन्न होगा, संयोग भी यदि कारण हो, तो उसको अन्य कारणों के साथ संयोग होना चाहिये । और संयोग का संयोग होता नहीं है, अतः उसको सामग्री के अन्तर्गत नहीं होने से कारणत्व का अभाव प्राप्त होगा, इसीप्रकार से समवाय का समवाय नहीं होता है, अतः वह भी कारण नहीं होगा । एक कार्यकारणत्व रूप भी सन्निधि (सामग्री) नहीं कही जा सकती है, क्योंकि कार्यकारणभाव की अप्रसिद्धि से आत्माश्रयता होगी (कारण के निरूपण में कारण की अपेक्षा प्राप्त होगी) । कारणों का अन्तिम व्यापार सामग्री होती है, यह भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि व्यस्त (प्रत्येक) वा समस्त कारणों के उस व्यापार के जनकत्व होने पर पूर्वोक्त दोषों की प्राप्ति होती है । और यह भी विचार कर्तव्य है कि अन्तिम व्यापार को उत्पन्न

निर्व्यापाराणि वा ? आद्येऽनवस्था। द्वितीये, कार्यमेव प्रधानं तथा कुर्वन्तु कृतमन्तरा व्यापारेण ? व्यापारस्य च सव्यापारस्य जनकत्वेऽनवस्था, निर्व्यापारत्वे च कारकाणामेव तथात्वमस्तु, किं व्यापारेण ? यदनन्तरं कार्यं भवत्येव सा सामग्रीति चेत्, न, विभागानन्तरं पूर्वसंयोगनाशस्यावश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि तथा सामग्रीत्वप्रसङ्गात्, एवं कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसंयोगस्य च पटे तत्त्वप्रसङ्गाच्च।

नापि षष्ठः—

व्यापाराव्यापनादात्माश्रयत्वादनिरुक्तितः।

जनकः ? निर्व्यापारतया वा ? इति विकल्प्य दूषयति—**व्यापारस्येति**। सामग्र्याः लक्षणान्तरं शङ्कते—**यदनन्तरमिति**। कार्यं कारणे हि सत्येव भवतीति नियमः, न त्वसत्येवेति, ततो नातिव्याप्तिरिति भावः। तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**न, विभागानन्तरमित्यादिना**। **तत्त्वप्रसङ्गादिति**। सामग्रीत्वप्रसङ्गादित्यर्थः।

व्यापारवत्त्वमिति षष्ठे पक्षे दूषणानि संगृह्णाति—**व्यापारेत्यादिना**। व्यापारस्य व्यापारवत्त्वाभावादकारणत्वप्रसङ्गेनाव्याप्तिः। किंच जनकत्वमन्तरेण व्यापारस्य दुर्निरूपत्वादात्माश्रयत्वं स्यात्। किंचास्य व्यापारवत्त्वानिरुक्तितश्चासिद्धि-

---

करने में सब कारण व्यापार वाले होकर व्यापार द्वारा उस अन्तिम व्यापार को उत्पन्न करते हैं, या निर्व्यापार ही उत्पन्न करते हैं, प्रथम पक्ष में अनवस्था होगी, क्योंकि सब व्यापार के उत्पादन में व्यापारान्तर की अपेक्षा होगी, निर्व्यापार से कार्य होगा नहीं। यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि निर्व्यापार कारण से अन्तिम व्यापार होता है, उसके उत्पादन में व्यापारान्तर की अपेक्षा नहीं होती है, तो कहा जाता है कि कारण जैसे व्यापार रूप कार्य को व्यापार के बिना उत्पन्न करते हैं, वैसे प्रधान कार्य को ही कर ले, अन्तरा = मध्य में व्यापार को उत्पन्न करने का कोई फल नहीं है। और व्यापार को भी सव्यापार होकर कार्यजनक होने पर अनवस्था होगी, व्यापार को निर्व्यापार रहते भी जनक होने पर, कारणों को ही निर्व्यापार रहते कारणत्व हो, व्यापार से क्या मतलब है। यदि कहा जाय कि जिसके अनन्तर कार्य होता ही है, वह सामग्री है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि विभाग के अनन्तर पूर्व संयोग नाश की अवश्य उत्पत्ति होती है, अतः पूर्वसंयोग नाश के प्रति विभाग को भी इसप्रकार से सामग्रीत्व प्राप्त होगा, इसीप्रकार से कर्म को विभाग में और पट में अन्तिम तन्तुसंयोग को सामग्रीत्व प्राप्त होगा।

व्यापारवत्त्व रूप कारण का षष्ठ लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि—

व्यापार में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, आत्माश्रयता प्राप्त होती है।

समवायेऽस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गतः ॥ ५७ ॥

चरमव्यापारस्य व्यापारान्तरविधुरस्याकारणत्वप्रसङ्गात् । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति जनकत्वमन्तर्भाव्य व्यापारनिरुक्तेरात्माश्रयत्वाच्च । व्यापारवत्त्वं च व्यापारसमवायित्वम्? उत तज्जनकत्वम्? नाद्यः, यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वप्रसङ्गात् । ध्वस्तस्य यागादेरपूर्वादिव्यापारासमवायित्वात् । नेतरः, आत्माश्रयत्वात् । नापि सप्तमः,

असिद्धेः प्रतिबन्धस्य नृश्टङ्गादावभावतः ।

लक्षणस्य, तथाहि—व्यापारसमवायित्वम्? व्यापारजनकत्वं वा व्यापारवत्त्वमिति मतुपोऽर्थः? उभयत्र समवाये हेतुत्वे च पूर्वदोषानुषङ्गतः, अव्याप्तिरात्माश्रयत्वं च पूर्वदोषः । तथाहि—यागादेरपूर्वसमवायित्वाभावादव्यापारवत्त्वप्रसङ्गादव्याप्तिः । जनकत्वपक्षे च कारणत्वस्याद्याप्यसिद्धेरात्माश्रय इति श्लोकार्थः । विवृणोति—**चरमेत्यादिना** । अथ किमिति यागादेः स्वर्गाद्यकारणत्वम्, तत्राह—**ध्वस्तस्येति** ।

यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तत्त्वमिति सप्तमे पक्षे दूषणानि संगृह्णाति—**असिद्धेरित्यादिना** । यदि हि हेत्वभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याप्तिरवधार्यते ततस्तद्व्यञ्जकत्वं स्यान्न त्वेतदस्तीत्याह—**असिद्धेः प्रतिबन्धस्येति** । तस्यैवोपपादनम्—**नृश्टङ्गादावभावत इति** । आदिशब्देन प्रागभावो गृह्यते । तथा हि निर्हेतुत्वं शशविषाणेऽस्त्यथ च नित्यसत्त्वं नास्ति, तथा प्रागभावे

व्यापारवत्त्व की अनिरुक्ति है, समवाय में इसके हेतुत्व को मानने पर पूर्वोक्त दोष होता है ॥ ५७ ॥

अर्थात् व्यापारवान् को कारण मानने पर, व्यापाररहित अन्तिम व्यापार को अकारणत्व प्राप्त होता है, और कारण से जन्य होता हुआ कारण से जन्य का जनक हो, वह व्यापार कहा जाता है, इसप्रकार से जनकत्व को अन्तर्गत करके व्यापार की निरुक्ति होने से व्यापारवत् कारण के सम्पादक व्यापार के अन्दर कारण के आश्रयण से आत्माश्रय होता है। और व्यापारवत्त्व, व्यापारसमवायित्व है, या व्यापारजनकत्व है, यह विचारणीय है। आद्य पक्ष बन नहीं सकता है, क्योंकि इसप्रकार से यागादि को स्वर्गादि के अकरणत्व प्राप्त होता है, ध्वस्त कर्म रूप यागादि को अपूर्व (अदृष्ट) आदि रूप व्यापार का समवायिकारणत्व नहीं हो सकता है। व्यापारवत्त्व का व्यापारजनकत्व रूप दूसरा अर्थ भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जनकत्व के लक्षण में जनकत्व के प्रवेश से आत्माश्रय होता है। कारण का सप्तम (यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वाऽसत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिः) यह लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि—

नृश्टङ्गादि में प्रतिबन्ध = नियम की अप्रसिद्धि से, 'सत्त्वे सति' विशेषण के

सत्त्वे सतीति चायुक्तं दृष्टान्तादेरसिद्धितः ॥ ५८ ॥

निर्हेतुकस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रतिबन्धासिद्धौ नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गस्य दुर्वचत्वात्। अहेतुकत्वेऽपि प्रागभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभावात्, शशविषाणस्य नित्यसत्त्वाभावाच्च। ननु भावत्वे सत्यहेतुकत्वस्य सदातनत्वे व्याप्तिराकाशादौ सिद्धेति चेत्, न, अस्या व्याप्तेः स्वभाववादिनं प्रत्यसिद्धेः, भूतचतुष्टयतत्त्ववादिना तेनात्माकाशादीनामनभ्युपगमात्, विपर्ययापर्यवसानाच्च प्रसङ्गस्य। नहि यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधि-

---

निर्हेतौ नास्ति नित्यसत्त्वं विनाशित्वादतो नास्ति व्याप्तिरित्यर्थः। ननु सत्त्वे सति निर्हेतुकत्वमाकाशादौ नित्यसत्त्वेन व्याप्तमित्ति, तत्राह—**सत्त्वे सतीति चायुक्तमिति**। तत्र हेतुर्दृष्टान्तादेरिति। स्वभाववादिनं प्रत्याकाशादेरसिद्धेर्व्याप्त्यसिद्धिरिति भावः।

एतमेव श्लोकं व्याचष्टे—**निर्हेतुकस्येत्यादिना**। प्रतिबन्धासिद्धेरेव विवरणम्—**अहेतुकत्वे इत्यादिना**। उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—**नन्विति**। दृष्टान्तादेरित्यादिशब्दसंगृहीतं दूषणमाह—**विपर्ययेति**। यद्धि निर्हेतुकं तद्धि भावत्वे सति सदासत्त्वाधिकरणं स्यादिति तर्कः। तस्य चैवं विपर्ययः यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधिकरणम्, तत्सहेतुकमिति। नचैवं निर्हेतुकवादिनः संप्रतिपन्नस्थलमस्तीत्यर्थः। वेदान्तिनं

लगाने पर भी प्रतिबन्ध के अभाव से, और दृष्टान्तादि के अभाव से यह लक्षण अयुक्त है ॥ ५८ ॥

अर्थात् निर्हेतुकत्व को नित्य सत्त्व असत्त्व के साथ प्रतिबन्ध (सम्बन्ध) की असिद्धि रहते निर्हेतुकत्व से नित्य सत्त्वासत्त्व अन्यतर की प्रसक्ति को दुर्वचत्व है। क्योंकि प्रागभाव में अहेतुकत्व रहते भी नित्य सत्त्वाऽसत्त्व का अभाव रहता है, अहेतुकत्व को नित्य सत्त्वासत्त्व के साथ सम्बन्ध (व्याप्ति) होती, तो व्याप्य निर्हेतुकत्व के रहते वह अवश्य प्राप्त होता। इसीप्रकार निर्हेतुकत्व होते शशविषाण को नित्य सत्त्व नहीं होता है। यदि कहें कि केवल निर्हेतुकत्व को उक्त व्याप्ति नहीं है किन्तु 'भावत्वे सत्त्वे सति' निर्हेतुकत्व को नित्य सत्त्व के साथ आकाशादि में व्याप्ति प्रसिद्ध है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी अव्याप्ति है। यत्र अहेतुकत्वं तत्र नित्य सत्त्व ऐसी व्याप्ति नहीं है। स्वभाववादी (चार्वाक) के प्रति व्याप्ति के उदाहरण आकाशादि की असिद्धि से दृष्टान्त का अभाव है, क्योंकि भूतचतुष्टयवादी उन चार्वाकादि से आत्मा आकाशादि का अङ्गीकार नहीं किया गया है। और अहेतुकत्व से नित्यत्वादि प्रसङ्ग का विपर्यय पर्यवसान भी नहीं होता है। क्योंकि (जो निर्हेतुक होता है, वह भाव होता हुआ सदा सत्त्वासत्त्व का अधिकरण होता है)। इसका विपर्यय होगा

करणं तत्सहेतुकमित्युपसंहारस्थलमस्ति, लोकायतिकं बौद्धं प्रति कार्य-कारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धेः। ननु विमतं सहेतुकं प्रागभाववत्त्वाद्यन्निर्हेतुकम्, न तत्प्रागभाववदात्मवदिति वेदान्तिनं प्रति प्रयोगः इति चेत्, न, हेतुशब्दार्थानिरुक्तौ सहेतुकत्वस्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात्। कारणानिरुक्तौ च व्यापारवत्कारणं कारकमिति कारकलक्षणमप्यपास्तम्। तदेवं कारणलक्षणं दुर्भणम्।

तथा कार्यलक्षणमपि—(१) तत्किं कारणाधीनस्वात्मलाभम् ? (२) प्रागभावोपलक्षितसत्तायोगि वा ? (३) प्रागभावप्रतियोगि वा ? (४) प्रागभाववद्वा ? (५) प्रागसत्त्वे सत्युत्तरकालसंबन्धि वा ? सर्वथा न निरूपणपथमवतरति—

प्रति व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयन् कारणत्वं समर्थयति—**नन्विति**। ममापि तावन्न तात्त्विकमस्ति हेतुत्वं प्रामाणिकमतस्तद्गर्भसाध्यमप्रसिद्धमित्यर्थः। प्रसङ्गात्कारकलक्षणमपि दूषयति—**कारणानिरुक्ताविति**।

कार्यकारणात्मको ह्ययं द्वैतवर्गस्तत्र कारणस्य दुर्निरूपत्वान्न तद्वर्गग्राहकप्रमाणैर्विरोधोऽद्वैतश्रुतीनामित्युक्तम्, इदानीं कार्यवर्गस्य दुर्निरूपतया तद्विषयप्रमाणैर्विरोधो नास्तीति दर्शयितुं कार्यत्वं खण्डयति—**तथा कार्येति**। स्वात्मलाभः सत्तायोगि-

---

कि (जो भाव होता हुआ सदा सत्त्व का अनधिकरण होता है, वह सहेतुक होता है, इस विपर्यय रूप उपसंहार का स्थान नहीं है, क्योंकि चार्वाक और बौद्ध के प्रति कार्यकारण भाव ही अभी सिद्ध नहीं हुआ है। यदि कहें कि चार्वाकादि की कथा का सम्बन्ध युक्त नहीं है। अतः (विवाद विषय पदार्थ, सहेतुक हैं, प्रागभाव वाले होने से, जो निर्हेतुक होता है, वह प्रागभाव वाला नहीं होता है आत्मवत्) यह वेदान्ती के प्रति प्रयोग है, इससे कारण की सिद्धि होती है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि हेतु शब्द के अर्थ की अनिरुक्ति रहते सहेतुकत्व की भी असिद्धि से अप्रसिद्ध विशेषणता होती है। अर्थात् वेदान्त में भी सत्य हेतुत्व नहीं है, अतः हेतुत्व युक्त साध्य अप्रसिद्ध है। और कारण की अनिरुक्ति रहते व्यापार वाला कारण कारक होता है, यह कारक का लक्षण भी अपास्त हो गया। इस उक्त रीति से कारण का लक्षण दुर्भर है।

उक्त रीति से कार्य का लक्षण भी दुर्भर है, क्या वह कार्य, कारणाधीन स्वरूप लाभ वाला है, या प्रागभाव से उपलक्षित सत्तासम्बन्ध वाला है, या प्रागभाव का प्रतियोगी है, या प्रागभाव वाला है, या पूर्वकाल में असत् होता हुआ उत्तर काल में सम्बन्ध वाला है। सर्वथा निरूपण मार्ग में कार्य नहीं आता है। क्योंकि—

अनिरुक्तेरतिव्याप्तेरव्याप्तेस्तदसंभवात् ।
अतिप्रसङ्गतोऽव्याप्तेर्मतुबर्थानिरूपणात् ॥ ५९ ॥

न तावदाद्यः, कारणस्यानिरुक्तौ तदधीनस्वात्मलाभस्याप्यनिरुक्तेः । न द्वितीयः, आत्मादीनामपि कार्यत्वप्रसङ्गात् । घटादौ सत्ताया एव प्रागभावेनोपलक्षितत्वात्तस्याश्च तत्र भावात् । स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वमिति लक्षणविवक्षायामननुगम एव । सत्ताविरहिणः प्रध्वंसस्याकार्यत्वप्रस-

---

त्वम्, अभावप्रतियोगित्वमभाववत्त्वम्, उत्तरकालसत्त्वं चेत्येतत्सर्वं नित्यस्याप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं पञ्चस्वपि पक्षेषु प्रथमविशेषणानि ।

श्लोकेन दूषणानि संगृह्णाति —**अनिरुक्तेरित्यादिना** । प्रथमपक्षे कारणानिरुक्तौ तदधीनात्मलाभत्वमप्यनिरुक्तमित्यसिद्धिः । द्वितीये त्वात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गः । घटादिप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वादेकत्वात्सत्ताया इत्यतिव्याप्तिः । अथ स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वं विवक्षितम्, तत्राह—**अव्याप्तेरिति** । स्वशब्दार्थाननुगमादव्याप्तिरित्यर्थः । पूर्वोक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यं च । तृतीये दोषमाह—**तदसंभवादिति** । तत्र हि प्रागभावप्रतियोगित्वं किं प्रागभावेनैकदेशानवस्थानम् ? किं वैककालानवस्थायित्वम् ? आद्येऽसंभवः, प्रागभावकार्ययोरेकस्मिन्कारणे वृत्तेः । द्वितीये प्राह—**अतिप्रसङ्गत इति** । अस्ति हि कालस्यापि प्रागभावेनैककालानवस्थानम् । काले वृत्त्यभावादित्यर्थः । तथा प्रागभावेत्यत्र यत्किंचित्प्रागभावः प्रागभावत्वेन विवक्षितः ? स्वप्रागभावो वा ? आद्ये प्राह—**अव्याप्तेरिति** । घटादेरपि यत्किंचित्प्रागभावेन सहावस्थानात्तेष्वव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये त्वात्मादावतिप्रसङ्गं वक्ष्यति, स्वशब्दार्थाननुगमादव्याप्तेः । चतुर्थे प्राह—**मतुबर्थेति** । किं प्रागभावाधिकरणत्वं प्रागभाववत्त्वम् ? किं वा तत्प्रतियोगित्वम् ? आद्ये, सुखादिप्रागभावाधिकरणात्मादावतिव्याप्तिः । द्वितीये तु तृतीयपक्षोक्तदोष इति भावः । पञ्चमपक्षेऽव्याप्तिमनुपञ्जयिष्यति विशदग्रन्थेन । संग्रहं विवृणोति—**न तावदित्यादिना** ।

अनिरुक्ति, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, अतिप्रसङ्ग, अव्याप्ति, मतुबर्थ का अदर्शन से सर्वथा अनिरूपणीय है ॥ ५९ ॥

आद्य लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि कारण की अनिरुक्ति रहते तदधीन आत्मलाभ की भी निरुक्ति नहीं हो सकती है । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, सामान्य रूप से आत्मा आदि भी प्रागभावोपलक्षित सत्ता वाला है, अतः उसमें अतिव्याप्ति होती है । क्योंकि घटादि में सत्ता को ही प्रागभाव से उपलक्षितत्व है, और उसी सत्ता का आत्मादि में भाव (सत्व) है । और स्वप्रागभावोपलक्षित सत्तायोगित्व, लक्षण की विवक्षा करने पर अननुगम ही होगा । और सत्तारहित ध्वंसादि को अकार्यत्व

ङ्गाच्च। न तृतीयः, प्रतियोगिशब्देनैकदेशानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात्, कार्यतत्प्रागभावयोः कारणे वृत्तेः, एककालानवस्थाने तु कालस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, कालस्य कालान्तराभावेन प्रागभावेनैकस्मिन्कालेऽनवस्थानात्। घटादेरपि कार्यस्य यत्किंचित्प्रागभावेन सहावस्थानादसंभवदोषस्तदवस्थः।

स्वप्रागभावेन सहानवस्थाने चात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गः, तेषां प्रागभावाभावेन तेन सहानवस्थानात्। न चतुर्थः, मतुबर्थस्याधिकरणार्थतायामात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गात्। तेषामपि सुखादिकार्यप्रागभावाधिकरणत्वात्। प्रतियोगिपरत्वे पूर्वदोषानुषङ्गात्। न पञ्चमः, उत्तरकालस्याकार्यत्वप्रसङ्गात्। तस्योत्तरकालसंबन्धित्वाभावात्। अथ नोत्तरकालः कार्यं नित्यत्वात्तस्येति चेत्, न, प्रागभावस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, तस्य प्रागसद्रूप-

---

यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह-**स्वप्रागभावेनेति**। यच्चानुपञ्जयिष्यतीत्युक्तं तदाह-**उत्तरकालस्येति**। तस्मिन्नेव पक्षेऽतिप्रसङ्गान्तरमाह—**न प्रागभावस्येति**।

प्राप्त होता है, उनमें लक्षण की अव्याप्ति होती है। तृतीय भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रतियोगी शब्द से एकदेश में अनवस्थिति को कहने पर, लक्षण को असम्भावितत्व होगा। कार्य और प्रागभाव दोनों की कारण में वृत्ति होने से एकदेश में अनवस्थिति नहीं कही जा सकती है। प्रागभाव के साथ एककालानवस्थिति विवक्षित हो तो काल को भी कार्यत्व प्राप्त होगा, क्योंकि कालान्तर के अभाव से प्रागभाव के साथ एक काल में काल का अनवस्थान रहता है। और घटादि कार्य को भी यत्किञ्चित् गुणादि प्रागभाव के साथ स्थिति से असम्भव दोष तदवस्थ रहता है।

स्वप्रागभाव के साथ अनवस्थान के विवक्षित होने पर, आत्मादि को भी कार्यत्व प्राप्त होगा, क्योंकि आत्मादि के प्रागभाव के अभाव होने से, उसके साथ अनवस्थान रहता है। चतुर्थ (प्रागभाववत्त्व) लक्षण भी युक्त नहीं। क्योंकि मतुप् (मत् = वत्) को अधिकरणार्थता हो, तो आत्मादि को भी कार्यत्व प्राप्त होता है, क्योंकि आत्मादि को भी सुखादि कार्य के प्रागभाव का अधिकरणत्व रहता है। प्रतियोगिपरत्व होने पर भी पूर्वोक्त तृतीय लक्षण वर्णित दोष प्राप्त होता है। प्रागसत्त्वे सति उत्तर काल सम्बन्धि, रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नहीं। क्योंकि उत्तर काल को अकार्यत्व प्राप्त होता है, उसको उत्तरकालसम्बन्धित्व का अभाव है, यदि कहा जाय कि उत्तर काल के नित्य होने से उत्तर काल कार्य नहीं है, अतः उसमें अकार्यत्व प्राप्ति दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि काल को नित्य होने से यदि उत्तर कालत्व रूप औपाधिक रूप से कार्यत्व नहीं हो तो, प्रागभाव नित्य

त्वात्, किंचिच्चापेक्ष्योत्तरकालसंबन्धित्वाच्च। प्रागसत्त्वशब्देन प्रागभाववत्ता विवक्षितेति चेत्, न, मतुवर्थानिरूपणात्, कालसंबन्धपदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। एतेन नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्यमित्यपि परास्तम्, कारणानिवक्तौ तदपेक्षया नियतोत्तरक्षणवर्तित्वस्यानिरूपणात्। कालानिरूपणाच्च न पूर्वोत्तरक्षणभावः कारणकार्यभावः।

तथाहि—

प्रत्यक्षागोचरत्वेन परत्वादेरलिङ्गतः।
स्वरूपतोऽनिमित्तत्वादुपाधौ निष्फलत्वतः॥ ६०॥

वैयर्थ्येति। प्रागभाववत्त्वमित्युक्ते क्वाऽतिव्याप्तिर्योत्तरकालसंबन्धपदेन व्यावर्त्यतेत्यर्थः। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**कारणानिरुक्ताविति**। नहि किंचिदपेक्षया नियतत्वमपि विवक्षितमतिप्रसङ्गादिति भावः।

तत्र काले प्रमाणं दूषयति श्लोकेन—**प्रत्यक्षेति**। न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, रूपादिरहितद्रव्यत्वेन बाह्यत्वेन च बहिरन्तःकरणागोचरत्वात्। नाप्यनुमानम्, परत्वादेस्तल्लिङ्गत्वाभावात्। ननु तज्जन्यत्वात्परत्वादेः किमिति न तल्लिङ्गत्वम्? तत्राह—**स्वरूपत इति**। किं कालस्वरूपमात्रं परत्वादिनिमित्तम्? किं वा तद्विशेषः? नाद्यः, कालस्याविलक्षणत्वेन विलक्षणपरत्वादेस्ततोऽनुपपत्तेः। न द्वितीयः, स्वतो विशेषाभावात्। अथोपाधिकस्तत्राह—**उपाधौ निष्फलत्वत इति**। तैरेवोपाधिभिः परत्वादिव्यवहारसिद्धेर्विफला कालकल्पनेत्यर्थः। ननु दिवाकरपरिस्पन्दभेदास्तावदुपाधयः, नच तेषां पिण्डैः साक्षात्संबन्धः, परिस्पन्दक्रियाया दिवाकरवर्तित्वात्। नचासंबद्धानां पिण्डेषु व्यवहारजनकत्वमतिप्रसङ्गात्, अतस्तत्संबन्धकतया

नहीं है, प्रागभाव को भी कार्यत्व प्राप्त होगा, क्योंकि उसकी प्रागसत्त्व (प्रागभाव) रूपता है, और किसी की अपेक्षा से उत्तर काल सम्बन्धित्व भी प्रागभाव में रहता है। प्रागसत्त्व शब्द से प्रागभाववत्ता विवक्षित है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि मतुप् के अर्थ का निरूपण नहीं हो सकता है, और कालसम्बन्ध पद को व्यर्थता प्राप्त होती है। क्योंकि प्रागभाववत्त्व कहने ही से काम चल जाता है, कहीं अतिव्याप्ति नहीं होती है कि जिसका काल सम्बन्ध पद से निवारण हो। इसीसे नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्य होता है। यह लक्षण भी निरस्त हो गया। क्योंकि कारण की अनिरुक्ति रहते, कारण की अपेक्षा से उत्तरक्षणवर्त्तित्व का निरूपण नहीं हो सकता है। और काल के अनिरूपण से पूर्वोत्तरक्षणभाव रूप कारण कार्यभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि—

काल के प्रत्यक्ष के अविषय होने से, परत्वादि के अलिङ्ग होने से, स्वरूप से अनिमित्त होने से उपाधि के होने पर काल में निष्फलता से और सूर्य क्रिया का

दिवाकरपरिस्पन्दपिण्डसङ्गतिसंभवात् ।
व्यापिनश्चेतनादेव कथं कालः प्रसिद्धयति ॥ ६१ ॥

न तावत्काले प्रत्यक्षं प्रमाणम्, द्रव्यग्राहकयोश्चक्षुस्पर्शनयोस्तस्मिन् रूपविरहिणि स्पर्शविधुरे चाप्रवृत्तेः, मनसश्च बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य वहिरप्रवृत्तेः, अननुभवाच्च। नाप्यनुमानम्, तत्प्रतिवद्धलिङ्गाभावात्। परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययाः प्रत्येकं लिङ्गमिति चेत्, न, तेषां निरुपाधिककालनिवन्धनत्वे प्रत्ययवैलक्षण्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। तपनपरिस्पन्दभेदलक्षणोपाधिकवलितकालाधीनत्वे तूपाधिभिरेव तत्सिद्धेः, कृतं

कालकल्पनेति, तत्राह—**दिवाकरेति**। यः खलु विभुरात्मा परमेश्वरस्तत एव दिवाकरपरिस्पन्दानां पिण्डानां च संगतिसंभान्न तत्सिद्धयर्थमपिकालः कल्प्य इति श्लोकयोरर्थः।

यथाक्रमं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। परत्वादेरलिङ्गत इत्यस्य शङ्कामाह—**परापरेति**। तत्र परापरादिषट्कं किं कालगुणतया स्वसमवायित्वेन तं कल्पयति ? किं वा तदसमवायिकारणतया ? किं वा तन्निमित्तकतया ? नाद्यः, कालस्य विभुतया पञ्चमात्रगुणतया च तद्गुणकत्वाभावात्। नापि द्वितीयः, द्रव्यस्यासमवायिकारणत्वाभावात्। गुणकर्मणोरेव हि तत्त्वात्। नापि तृतीयः, अपेक्षाबुद्धेरेव निमित्तत्वोपपत्तेः। भवतु वा यथातथापि, किं कालमात्रं निमित्तम् ? तद्विशेषो वा ? नाद्य इत्याह—**न, तेषामिति**। द्वितीयेऽपि किं स्वतो विशेषः ? औपाधिको वा ? नाद्यः, अपराद्धान्तात्। द्वितीये प्राह—**तपनेति**। भेदो विशेषः। अत्र श्रीवल्लभोदीरितकालसमर्थनरीतिमुद्भावयति तन्निवर्तकतयोत्तरश्लोकमवतार-

---

शरीर के साथ सम्बन्ध संभव से, और व्यापक चेतन से ही सम्बन्ध सम्पादित हो सकता है। अतः काल कैसे सिद्ध होगा ॥ ६०–६१ ॥

अर्थात् काल में प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है। क्योंकि द्रव्यग्राहक नेत्र और त्वग् इन्द्रिय की रूप स्पर्शरहित उस काल में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। और वाह्य इन्द्रिय की अपेक्षारहित मन की बाहर प्रवृत्ति नहीं होती है, मन आदि से काल के ग्रहण का अनुभव भी नहीं होता है। काल में अनुमान भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि उस काल के साथ प्रतिवद्ध (सम्बद्ध व्याप्त) लिङ्ग का अभाव है। यदि कहें कि कालिक पर अपर=ज्येष्ठ, लघु, यौगपद्य, अयौगपद्य=समकालिकत्व, असमकालिकत्व, चिर क्षिप्र= विलम्ब शीघ्र का ज्ञान प्रत्येक कालानुमान में लिङ्ग हैं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उन ज्ञानों को निरुपाधिक एककाल निमित्तक होने पर, ज्ञानों में विलक्षणता की अनुपपत्ति होगी। सूर्य की क्रियाविशेष रूप उपाधि गर्भित कालाधीनत्व ज्ञानों में होने पर तो उपाधियों (सूर्यक्रियाओं) से ही उन भिन्न प्रकार वाले ज्ञानों के सिद्ध

कालकल्पनया ? ननु 'तरणिपरिस्पन्दभेदानां युवस्थविरादिपिण्डैः स्वतः संबन्धासंभवेन दिवसमासादिविशिष्टप्रत्ययजनकत्वायोगात्पिण्डचण्डरोचिः-परिस्पन्दयोः परंपरासंबन्धसंपादकः कालः स्वीकर्तव्यः। स च संबन्धः संयुक्तसंयोगिसमवायात्मा। न च तत्र पृथिव्यादिचतुष्टयं हेतुः, तस्य तपनपिण्डाभ्यां नियमेन संसर्गाभावात्। न च दिनकरकरनिकरस्तथा,

---

यितुम्—**नन्विति**। तरणिः सूर्यः। अनुभूयते तावदन्वयव्यतिरेकाभ्यां तरणिपरिस्पन्दविशेषाणां युवस्थविरशरीरादिपिण्डेषु मासादिविचित्रबुद्धिजननद्वारेण तदुपहितेषु परत्वापरत्वादिबुद्धिजनकत्वम्, न च तैरसंबद्धानां तत्र बुद्धिजनकत्वम्, नच साक्षात्संबन्धो रविपरिस्पन्दानां पिण्डैरस्त्यतः तत्संबन्धकतया कश्चिददृष्टद्रव्यविलक्षणो द्रव्यविशेषः स्वीकर्तव्यः, तस्य च काल इति संज्ञेति। ननु स्वीकृतेऽपि तस्मिन् किं तपनपरिस्पन्दाः पिण्डेषु समवयन्ति, तस्मात्कल्पितोऽप्यसत्कल्पः, इति तत्राह—**स च संबन्ध इति**। यद्यपि न साक्षात्संबन्धस्तथापि पिण्डसंयुक्तकालसंयोगवति तपने समवेतानां परिस्पन्दानां संयुक्तसंयोगिसमवायोऽस्ति संबन्धः अतः स्वसंयुक्तवनिधर्माणां स्वसंयुक्तवस्त्वन्तरे संक्रामकः कश्चित्कालनामा स्वीक्रियते इत्यर्थः। ननु तथापि कथं तस्य नवमत्वम् ? यावता पृथिव्यादिभिरेवायमर्थः शक्यसंपादन इति, तत्राह—**न च तत्र पृथिव्यादीति**। तेषु तावन्नित्यवर्गस्य परमाणुतया अतिदूरवर्तितपनपिण्डयोर्न संबन्धकत्वम्, अनित्यवर्गस्याप्यनवस्थिततया सकलवस्त्वसंसर्गाच्च न नियमेन संबन्धकत्वमित्यर्थः। ननु सवितृकिरणैरेव सवितृपिण्डसंबद्धैरयं संबन्धः संपाद्यतामिति, तत्राह—**न च दिनकरेति**। निखातवस्तुषु किरणसंबन्धाभावेऽपि मासादिवैशिष्ट्यप्रतीतेस्तत्रापि रविपरिस्पन्दसंबन्धसंपादनक्षमः कश्चित्कल्प्य इत्यर्थः। ननु तर्ह्याकाश आत्मा वा संबन्धसंपादकौ भवतस्तयोः सर्वसंसर्गितया सर्वोपपत्ति-

---

होने पर, काल की कल्पना का फल नहीं है। यहां शंका होती है कि सूर्य के क्रियाविशेषों का युवा, वृद्धादि शरीरों के साथ दूरता के कारण स्वतःसाक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता है। और सम्बन्ध के अभाव से शरीरादि में दिवसपरिमाणवत्त्व मासादियुक्त ज्ञान के जनकत्व के प्रयोग से, नहीं बन सकने से, शरीर और सूर्यक्रिया के परम्परा सम्बन्ध का साधक काल स्वीकर्तव्य है। वह सम्बन्ध (संयुक्तसंयोगि समवाय स्वरूप) है। वहाँ शरीर संयुक्त काल के साथ संयोगी सूर्य में सूर्यक्रिया का समवाय रहता है। और इस परम्परा सम्बन्ध से सूर्यक्रिया द्वारा दिवस, मासादि की सिद्धि और व्यवहार होता है। पृथिवी आदि चार भूत इस सम्बन्ध में हेतु नहीं हो सकते हैं। क्योंकि अविभु होने से शरीर और सूर्य के साथ नियम से इनके सम्बन्ध का अभाव रहता है, सूर्य के किरणसमूह से भी वैसा सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि सूर्यकिरण के अभाव रहते भी गृहगतादि

तदभावे गृहनिखातनिध्यादिषु मासाद्यवच्छेदप्रतीतेः। न चाकाशात्मानं तथा, विशेषगुणवत्त्वात् पृथिव्यादिवत्। न चाव्यापकत्वमुपाधिः, एकस्य व्यापकस्य संबन्धोपनायकत्वे व्यापकान्तरस्य तदहेतुतया व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वात्। ततः परिशेषात्पिण्डसंयुक्तः कालस्तपनेनापि संयुज्यमानस्तत्समवेतपरिस्पन्दानां परम्परया पिण्डसंबन्धहेतुः सिद्धः' इति लीलावतीकारः।

स्तत्राह—न **चाकाशेति**। **तथेति** संबन्धोपनायकौ। काले व्यभिचारवारणाय विशेषेत्युक्तम्। ननु पृथिव्यादिष्वेवंविधसंबन्धानापादकत्वं न विशेषगुणवत्त्वप्रयुक्तम्, किं तर्ह्यव्यापकत्वप्रयुक्तम्, ततस्तद्व्यावृत्तौ किमिति न संबन्धकत्वमनयोरिति, तत्राह—**न चाव्यापकत्वमिति**। अयमर्थः—त्वयापि तावदाकाशात्मनोरन्यतरस्यैव हेतुत्वं मन्तव्यम्, लाघवादनुगतिलाभाच्च। तथा च व्यापकस्याप्येकस्यासंबन्धकत्वे यत्राव्यापकत्वं नास्ति, तत्रासंबन्धकत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तिरेकव्याप्तिरशक्यसमर्थनेति नायमुपाधिरिति, तदित्थम्—प्रसक्तप्रतिषेधमन्यत्राप्रसङ्गं चोक्त्वा शिष्यमाणे संप्रत्ययं दर्शयिष्यन्परिशेषमुपसंहरति—**तत इत्यादिना**। नच दिगेव

में रखी गई निधि आदि में मासादि भेद की प्रतीति होती है। आकाश, आत्मा भी उक्त सम्बन्ध के साधक नहीं हो सकते हैं, विशेष गुण वाले होने से भूमि आदि के तुल्य विशेष कारण है। यहां शंका होती है कि (आकाश और आत्मा, सम्बन्ध सम्पादक नहीं है। विशेष गुण वाला होने से, भूमि आदि के समान) इस अनुमान में अव्यापकत्व उपाधि है, अर्थात् पृथिवी आदि में उक्त सम्बन्धानापादकत्व में विशेषगुणवत्त्व हेतु नहीं है, किन्तु अव्यापकत्व हेतु है, उस अव्यापकत्व के अभाव से आकाश और आत्मा में सम्बन्धापादकत्व सिद्ध होता है, कालकल्पना की आवश्यकता नहीं है। इस शंका का समाधान है, कि अव्यापकत्व उपाधि नहीं हो सकता है। क्योंकि एक काल न मानकर विभु होने से आत्मा और आकाश इन दोनों को सम्बन्धापादक नहीं माना जा सकता है, किन्तु लाघव से किसी एक ही को माना जायगा, तो इसप्रकार से एक के सम्बन्ध के उपनायक (हेतु) होने पर, व्यापकान्तर (आत्माकाश में से एक की सम्बन्ध अहेतुता) से व्यतिरेक व्याप्ति (यत्राव्यापकत्वाभावः = तत्रासम्बन्धकत्वाभावः) में साध्य के अव्यापकत्व होने से उपाधित्व नहीं हो सकता है। अर्थात् आत्मा और आकाश में से एक के सम्बन्धापादक होने पर भी एक में आपादकत्व का अभाव रहता ही है अतः उक्त व्यतिरेकी व्याप्ति नहीं हो सकती है। अतः अन्य सम्बन्धक न होने पर परिशेष से शरीर से संयुक्त काल सूर्य के साथ संयुक्त होता हुआ, उस सूर्य में समवेत परिस्पन्दों (क्रियाओं) का परम्परा से शरीर के सम्बन्ध का हेतु सिद्ध होता है, यह लीलावतीकार का कथन है।

मैवम्, उभयवादिसंप्रतिपन्नात्मनैव वस्तूनामुपाधिसंबन्धसिद्धेरतिरिक्तद्रव्यकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । न च विशेषगुणवत्त्वादात्मनः पृथिव्यादिवदुपाधिसंबन्धानुपनायकत्वम्, विशेषगुणवैधुर्येण मनोवदेव भवदभिमतकालेऽप्युपाध्यनुपनायकत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । अव्यापकत्वोपाधेस्त्वयैव निवारितत्वात् । ननूपाधिसंबन्धोपनायकत्वेनैव कालसिद्धेस्तत्पक्षीकारेण तद्विपर्ययप्रसञ्जने धर्मिग्राहकप्रमाणबाधस्तदसिद्धावाश्रया-

---

सिद्धिरिति वचनीयम् । कालविप्रतिपत्तुर्दिश्यपि समानत्वात्, सिद्धत्वेपि तत्कृतपरत्वापरत्वव्यवहारादेस्तत्कृतस्य विलक्षणत्वादिति ।

एतन्निरासपरतया द्वितीयश्लोकं योजयति—**मैवमित्यादिना** । पूर्ववाद्यनुशयमुन्मूलयति—**न च विशेषगुणेति** । न तावद्विशेषगुणवत्त्वानुपनायकत्वयोर्व्यभिचारे किंचिद् बाधकमस्ति, तस्मात्साधर्म्यसमेयम् । अथैवमपि न प्रतिबुध्यसे, तर्हि विशेषगुणराहित्यस्यानुपनायकत्वस्य चास्ति साहचर्यं मनसीति तावककालस्याप्यनुपनायकतापात इति व्याहृतिभारं वहत्वयं वावदूकवादिगर्दभ इत्यभिसंधिराह—**विशेषगुणवैधुर्येणेति** । ननु न विशेषगुणविधुरत्वमनुपनायकत्वे प्रयोजकम्, किं तर्ह्यव्यापकत्वम्, कालस्तु तद्विपरीत इति, तत्राह—**अव्यापकत्वेति** । अत्रापि हि पूर्ववदव्यापकत्वनित्यनिवृत्तावनुपनायकत्वस्याकाशादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः । ननु यदिदमभिधीयते यदि विशेषगुणवतामेवेदमनुपनायकत्वं तर्हि विशेषगुणरहितत्वादेव कालस्यापि मनोवदनुपनायकत्वं स्यादिति प्रसञ्जनं प्रसाधनं वा काल-

---

परन्तु ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि उभयवादी को निश्चित आत्मा द्वारा ही शरीरादि वस्तु और सूर्य परिस्पन्द रूप उपाधि के सम्बन्ध के सिद्ध हो सकने से अतिरिक्त काल रूप द्रव्य की कल्पना में कल्पनागौरव का प्रसङ्ग होता है । विशेष गुणवत्त्व होने से पृथिवी आदि के समान आत्मा को उपाधि सम्बन्ध जनकत्व नहीं हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि यदि पृथिवी आदि के समान विशेष गुणवत्त्व से आत्मा उपाधि सम्बन्ध का हेतु नहीं हो, तो कहा जा सकता है कि विशेष गुण के अभाव से मन के समान ही आपके अभिमत काल में भी उपाधि सम्बन्धाजनकत्व का प्रसङ्ग दुर्वार होगा । यदि कहें कि मन में उपाधिसम्बन्धाजनकत्व विशेषगुणरहित होने से नहीं है किन्तु अव्यापकत्व उपाधि से है, अतः मन के दृष्टान्त से काल में सम्बन्धाऽजनकत्व का अपादन नहीं हो सकता है, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि अव्यापकत्व उपाधि का आपने ही निवारण किया है । यदि शंका हो कि सूर्यक्रिया रूप उपाधि सम्बन्धजनकत्व से ही काल की सिद्धि होने पर, उस काल को पक्ष बनाकर, मन के समान उस काल में सम्बन्धजनकत्व के विपर्यय को साधने में धर्मीग्राहक प्रमाण से बाध प्राप्त होगा, और

सिद्धिरिति चेत्, न, प्रतिवादिप्रसिद्धतामात्रेणैवाश्रयतोपपत्तेरसकृदुपपादितत्वात्। विशेषगुणविधुरत्वं तरणिस्पन्दसंसर्गोपनायकवृत्ति न भवति विशेषगुणशून्यमात्रवृत्तित्वात् मनस्त्ववदिति कालवादिनं प्रति प्रकारान्तरेणापि निरुक्तिसंभवाच्च। न च परत्वापरत्वगुणासमवायिकारणसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिः, परत्वापरत्वयोरेवासिद्धेः। न च परापरत्वव्यवहारानुपपत्त्या

मधिकृत्य, तदयुक्तम्, कालसिद्धावसिद्धौ च तदनुपपत्तेरिति शङ्कित्वा परिहरति—न, **प्रतिवादीति**। एतेनेदमपास्तं यदाह स एव—'यदि गगनमात्मा वाऽन्यधर्मेणान्यदवच्छिन्द्यात्काश्मीरवर्तिना कुङ्कुमरागेण कर्णाटकचक्रवर्तिकरकमलमवच्छिन्द्यात्। नच कालेऽप्येष प्रसङ्गः, तस्यासिद्धावाश्रयासिद्धेः, सिद्धौ वा परापरनियतधर्मोपसंक्रामकत्वस्वभावेनैव सिद्धेरिति। देहात्मवादिवत्प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ दोषद्वयानास्कन्दनादिति। किंच कालमङ्गीकृत्यापि स्वभाव एव शरणम्, तदीश्वरस्यैवास्त्वयं स्वभावः वृथातिरिक्तकल्पना। किंचोभयसंप्रतिपन्नकिंचित्पक्षीकारेण कालपक्षीकारव्यतिरेकेणैव विशेषगुणशून्यस्योक्तधर्मानुपनायकत्वस्य शक्यानुमानत्वात्क्षुद्रतरोऽयं दोष इत्याह—**विशेषगुणेति**। सत्तादौ व्यभिचारनिवारणाय मात्रग्रहणम्। असिद्धिपरिहाराय विशेषपदम्। ननु याविमौ परत्वापरत्वगुणावनुभूयेते एतयोस्तावदसमवायिकारणेन केनचिद्भवितव्यम्, भावकार्यत्वात्। तच्च गुणः कर्म वा स्यात्, तत्राप्यन्यगतत्वेन प्रत्यासत्त्यभावान्न रविपरिस्पन्दः। अव्यवस्थितत्वाच्च न रूपादिः। नाप्येकत्वादि द्वित्वादि, वैषम्यात्। नच कारणनिष्ठपरत्वादि, अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात्। तस्मात्कालविशेषपिण्डयोः संयोगादसमवायिकारणात् समवायिकारणेषु पिण्डेष्विमावुत्पद्येते, दिग्विशेषपिण्डसंयोगाच्च दिक्कृतौ। यथाहुर्भाष्यकृतः—"परेण कालप्रदेशेन संयोगात्परत्वमुत्पद्यते, अपरेण कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति, तस्मादेतयोरसमवायिकारणभूतसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिः", इति, तत्राह—**न च परत्वापरत्वेति**। ननु कथं परत्वापरत्वयोरसिद्धिः? यावता यद्विशिष्टे द्रव्ये परम-

---

काल की असिद्धि रहते आश्रयाऽसिद्धि होगी। तो यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि प्रतिवादी की प्रसिद्धता मात्र से ही काल में आश्रयता की सिद्धि होती है, इसका कई बार उपपादन हो चुका है। और (= विशेषगुणशून्यता, सूर्यस्पन्दसम्बन्धजनकवृत्ति नहीं रहती है, विशेष गुणशून्यमात्रवृत्ति होने से, मनस्त्ववत्) इस प्रकार से कालवादी के प्रति प्रकारान्तर से (काल को पक्ष करने विना) भी निरुक्ति (प्रयोग) का सम्भव है। यदि कहा जाय कि परत्व, अपरत्व गुण के असमवायिकारण संयोग के आश्रय रूप से काल की सिद्धि होती है, तो कहना नहीं बनता है, क्योंकि परत्व, अपरत्व की असिद्धि है (कालिक परत्व, अपरत्व है नहीं) ज्येष्ठत्व, लघुत्वादि व्यवहार के हेतु परत्वापरत्व की सिद्धि सूर्यस्पन्द के

तत्सिद्धि, प्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वेनैव तत्सिद्धेः। अन्यथा परत्ववन्मध्यमत्वस्यापि गुणान्तरस्य स्वीकारः स्यादिति भूषणभाषितदूषणप्रसङ्गात्। न च तरणिपरिस्पन्दानां प्राचुर्यमल्पत्वं च न संख्याभेदो, नापि परिमाणविशेषो, निर्गुणे कर्मण्यसंभवादिति वाच्यम्, भवन्मते परत्वापरत्वहेतुभूताया अपेक्षाबुद्धेर्यद्विषयनिबन्धनं वैचित्र्यं तस्यैवास्माभिः प्रचुराल्पतरशब्देनाभिलापात्। अपेक्षाबुद्धेः स्वभावभेदादेव वैचित्र्यव्यवहारहेतुत्वं न

परमिति बुद्धी जायेते ते परत्वापरत्वे इति लक्षणप्रमाणयोर्भावात्, तत्राह—**न च परेति**। यस्य हि यदपेक्षया भूयोभिस्तरणिपरिस्पन्दैरन्तरितं जन्म तत्तदपेक्षया परन्, यस्य च यदपेक्षया स्तोकतरणिपरिस्पन्दान्तरितं जन्म तत्तदपेक्षयाऽपरमिति व्यवह्रियते इत्युपाधितोऽप्युपपन्नत्वान्नातिरिक्तगुणकल्पिकेयमित्यर्थः। अत एव च पूर्वोत्पन्नत्वं परत्वं पश्चादुत्पन्नत्वमपरत्वमिति भासर्वज्ञमते लीलावतीकारेण यद् दूषणमुक्तम्—'पूर्वपश्चाद्भावस्य परापरातिरिक्तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वा'दिति, तदपि परिहृतम्, पूर्वापरयोरुपरोधनात्तरणिपरिस्पन्दप्राचुर्याल्पत्वमात्रेणैव समर्थनादिति। अतश्चैवमेवाश्रयणीयम्, इतरथा मध्यमोऽयमिति व्यवहारान्मध्यमत्वमपि कश्चिद् गुणः स्यात्। नहि तत्रोक्तरीतिमन्तरेण शरणमित्याह—**अन्यथेति**। लीलावतीकारस्तु संयोगाल्पत्वभूयस्त्वे विकल्प्य दूषयांबभूव, तद्रीतिमत्राप्युद्भाव्य दूषयति—**न च तरणीति**। अवश्यं तावद्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते, स्थविरमवधिं कृत्वा यूनि च सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते इत्यपेक्षाबुद्धितः परत्वादिसंभवमभ्युपगच्छता परत्वापरत्वजनकबुद्ध्योः परस्परं विशेषो वक्तव्यः। स च विषयगतप्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मव्यतिरेकेण दुर्निरूपस्ततो यादृशं प्राचुर्याप्राचुर्यं तवाभिमतं तादृशमेव ममापीत्यर्थः। ननु न विषयविशेषकृतो बुद्ध्योर्विशेषः, किंतु स्वरूपसामर्थ्यनिबन्धनः, यथाह श्रीवल्लभः—'अपेक्षाबुद्धेर्विषयवैचित्र्यमन्तरेणापि विचित्रकार्यजननशीलत्वेन विलक्षणफलजनकत्वाविरोधा'दिति। तदेतदुद्भावयति—**अपेक्षेति**। एवंविधं स्वभाववैचित्र्यं परापरबुद्ध्योरेव कल्प्यताम्, लाघवादा-

---

न्यूनाधिक अन्तरित जन्मत्व से ही होती है। अतः परत्वादि के लिये काल को मानने की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा परत्व, अपरत्व के समान मध्यमत्व रूप गुणान्तर का भी स्वीकार करना प्राप्त होगा, यह भूषण कथित दोष का प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि कर्म रूप सूर्यपरिस्पन्दों को बहुत्व और अल्पत्व न संख्याविशेष रूप हो सकता है, न परिमाणविशेष रूप ही हो सकता है, क्योंकि निर्गुण कर्म (परिस्पन्द) में संख्या और परिमाण का होना असम्भव है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आपके मत में परत्वापरत्व के हेतु रूप अपेक्षाबुद्धि में जिस

विषयभेदापेक्षयेति चेत्, मैवम्, परापरबुद्ध्योरप्यन्तरेणैव विषयवैचित्र्यं स्वभावभेदादेव तथाविधव्यवहारहेतुत्वप्रसङ्गात्। तथा नीलपीतादिबुद्धीनामपीति तथागतानां त्वयैव दत्तः स्वहस्तः स्यात्। तदेवं न कालसद्भावसिद्धिः।

वश्यकत्वाच्च, वृथा तदतिरिक्तबुद्धिकल्पनापीत्याह—**मैवमिति**। अतिप्रसङ्गदर्शनपूर्वकमपराद्धान्तप्रसङ्गं चाह—**तथा नीलेति**। तथागताः बौद्धाः। भवेतां वा यथातथा परत्वापरत्वे, तथापि तदसमवायिकारणसंयोगाश्रयः परमेश्वर एव प्रागुपपादितरीत्या घटते इति वृथा कालकल्पना। नचातिप्रसङ्गः, कालवदेव पदार्थविशेष एव तत्प्रवर्तकत्वात्। किंच परम्परात्मकस्तावन्न संबन्धो भवन्मये, तस्मात् रविपरिस्पन्दपिण्डस्वाभाव्यतो ह्यसौ, स्वीकृतेऽपि काले न तत्संयोगमात्रात्परत्वादिगुणोत्पत्तिरविशेषात्, उपहितकालसंयोगाधीनत्वेऽप्युपाधिकालयोरुपाधिपिण्डयोर्वा न साक्षात्संबन्धः। नच संयुक्तसंयोगसमवायात्मकः कश्चित्संबन्धो भवन्मये भावाभावान्तर्गततया शक्यनिरूपणः। तस्माद्यथा समवायाभावयोः स्वभावादेव संबन्धव्यवहारजनकत्वमेवं तरणिपरिस्पन्दानामेव स्वभावविशेषवशात् पिण्डेषु परत्वापरत्वव्यवहारजनकत्वमस्तु, कृतमन्तरालेऽजागलस्तनायितकालकल्पनयेति। एतेन परत्वापरत्वासमवायिसंयोगाश्रयो विभुः कालः, परापरयौगपद्यायौगपद्यादिप्रत्ययलिङ्गः कालः, नित्यं परत्वापरत्वासमवायिकारणीभूतसंयोगाश्रयो, द्रव्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिजातिमत्त्वरहितः परत्वजनकसंयोगवान्कालः—इत्यादीनि श्रीवल्लभप्रशस्तपादशिवादित्यमिश्रादिकल्पितकाललक्षणान्यपि प्रतिक्षिप्तानि मन्तव्यानि, परत्वादिजनकसंयोगस्यात्मन्येवोपपादनेन विशेषणासिद्धेरिति।

अनुमानानि तु समनन्तरमेव दिक्खण्डने पुरा निरस्यन्ते। इदानीं दिशो

विषयनिमित्तक विचित्रता होती है, उसी को हम प्रचुर अल्पतर शब्द से कहते हैं। यदि कहें कि अपेक्षाबुद्धि को स्वभावविशेष से ही विचित्रता के व्यवहार का हेतुत्व होता है, विषयविशेष की अपेक्षा से नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार से परापर बुद्धि को ही विषय की विचित्रता के बिना ही स्वभावविशेष से ही तथाविध (परापर) व्यवहार हेतुत्व का प्रसङ्ग होगा, और इसी प्रकार से नील पीतादि बुद्धियों को भी विषय के बिना ही स्वभावभेद से विचित्र व्यवहार का हेतुत्व सिद्ध होगा, तो इसप्रकार से सौगतों (बौद्धों) को आप से स्वहस्त दत्त होगा। मानो आप बुद्धवश हो जायंगे। अतः इस उक्त रीति से काल के सत्त्व की सिद्धि नहीं होती है।

दिशा की भी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि—

इन्द्रियानधिगम्यत्वान्नाध्यक्षं नानुमा दिशि।
वर्णैरर्थान्तरत्वेन साध्यासिद्धिर्निदर्शने ॥ ६२ ॥

एतेन दिगपि व्याख्याता, तस्या अप्यनध्यक्षत्वादलिङ्गत्वाच्च। ननु पूर्वापरदक्षिणोत्तरादिदशप्रत्ययाः सन्ति तत्कथं लिङ्गाभाव इति चेत्, न, तेषां निरुपाधिदिगालम्बनत्वे सर्वत्र सर्वप्रत्ययप्रसङ्गात्। दिशां दशत्वप्रसङ्गे

निराकुर्वंस्तत्र प्रमाणानि श्लोकेन दूषयति—**इन्द्रियेत्यादिना**। न तावदध्यक्षं तत्र मानम्, पूर्ववदस्या अपीन्द्रियायोग्यत्वात्। नाप्यनुमानादिभिस्तत्सिद्धिः, तेषां सर्वगतवर्णसाधनेनाप्यर्थान्तरतापातात्। केषुचिद्दृष्टान्तेषु साध्यविकलता, एतच्च वक्ष्यमाणदूषणानामप्युपलक्षणम्। आदिग्रहणेनान्यथानुपपत्तिराप्तवचनं गृह्यते।

सावतारं श्लोकं विवृणोति—**एतेनेत्यादिना**। ननु सन्ति पूर्वापरादिप्रत्ययाः प्रत्यात्मवेदनीयाः, न च तेषां मूर्तद्रव्यनिबन्धनत्वम्, तेषामसार्वत्रिकत्वादनुगतविचित्रव्यवहारानुपपादकत्वात्, पूर्वादिप्रतीत्यनुपपत्तेश्च। नच विभुद्रव्यान्तरनिबन्धनाः, तेषामविचित्रतया विचित्रव्यवहारानुपपत्तेः। ततस्तेभ्योऽतिरिक्तं किंचिदेषामालम्बनं दिगभिधानं कल्प्यमिति शङ्कते—**ननु पूर्वेति**। तत्र किं निरुपाधिका दिगेषामालम्बनम्? किंवा तत्तदुपाध्युपहिता? अनौपाधिकपक्षेऽप्येका? अनेका वा? आद्ये पूर्वादिदिशां व्यवस्था न स्यात्, अविचित्रविषयत्वादित्याह—**न तेषामिति**। अथ पूर्वादिप्रत्ययविषयासंकराय विभिन्ना दिशः कल्प्येरंस्तत्राह—**दिशामिति**। यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—अनेकत्वेऽपि तत्क्रियोपनायकः कालः, संयोगोपनायिका दिक्। नच नवैवेति विरोधः, आत्मनामानन्त्येप्यात्मत्ववदविरोधादिति। तत्र कालसंग्रहोपाधिः पुरस्तादेव निरस्तः। दिक्संग्रहोपाधिमपि पुरा निराकरोति।

इन्द्रियों से ज्ञेय नहीं होने से दिशा में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, न अनुमान प्रमाण है, क्योंकि अनुमानों को शब्दविभुत्वसाधन से अर्थान्तरता होती है, और दृष्टान्त में साध्य की असिद्धि है ॥ ६२ ॥

अर्थात् इस काल के निराकरण से दिशा की भी निराकरण कहा गया है। उसीके समान इसके निराकरण को समझना चाहिये। क्योंकि दिशा को भी अप्रत्यक्षत्व है। और अनुमान हेतु लिङ्ग से रहितत्व है। यदि कहें कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तरादि दश दिशाओं के ज्ञान ही लिङ्ग है, फिर भी लिङ्ग का अभाव कैसे कहा जा सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि उन प्रतीतियों (ज्ञानों) को निरुपाधिक दिशाविषयकत्व हो, तो सर्वत्र सर्वज्ञान की प्राप्ति होगी, पूर्वादि ज्ञानों की विषयाधीन व्यवस्था नहीं हो सकेगी, और ज्ञानों की व्यवस्था के लिये दश दिशायें मानी जाय तो दिशाओं के दशत्व (दशसंख्यावत्त्व) प्राप्त होने पर नव ही द्रव्य हैं, इस सिद्धान्त से विरोध होगा। यदि कहें कि आत्मा के अनन्त होते भी

नवैव द्रव्याणीति व्याघाताच्च। न चात्मत्वेन संग्रहवद्दिशामपि दिक्त्वेन संग्रहाददोषः, शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया तत्कारणाकाशस्याप्यानन्त्यप्रसङ्गात्, आकाशत्वेन संग्रहस्य तत्रापि तुल्यत्वात्। न च तथैवास्तु को दोष इति वाच्यम्, आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तास्ताः संज्ञा आकाशं कालो दिगिति भाष्यविरोधात्।

सुरशिखरिशिखरपरिभ्रमन्मार्तण्डमण्डलप्रथमसंयोगाद्युपाध्युपधाने तेनैव

अत्राभ्युपगम्याप्युपाधिमेवं संग्रहेऽतिप्रसक्तिमाह—**न चात्मत्वेनेति**। यदि हि पूर्वादिप्रत्ययवैलक्षण्येन दिग्भेदकल्पनम्, तर्हि तारतरत्वादिरूपेण शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया गगनमपि किं विभिन्नं न स्वीक्रियते? शक्यते हि तत्राप्युपाधिपुरोधानेन विधातुं नवत्वव्याकोपपरिहार इत्याह—**शब्दलिङ्गानामपीति**। गुडजिह्विकायामेव विश्वसन्तं डिम्भकं प्रत्याह—**न च तथैवेति**। भाष्यं प्रशस्तपादीयम्। तथा काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम्, दिग्लिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपीति च तत्र तत्र भाष्यमुदाहरणीयम्।

एवममौपाधिकपक्षं दूषयित्वौपाधिकपक्षमाशङ्क्य तत्राप्युपाधेर्निष्फलत्वत इत्येतदतिदिशति—**सुरशिखरीति**। सुरशिखरी मेरुपर्वतः। तथाहि—"दिग्लिङ्गा-

---

आत्मत्वेन संग्रह होने से आत्मा एक द्रव्य माना जाता है, वैसे दश दिशाओं का दिक्त्वेन संग्रह होने से नव ही द्रव्य हैं, इस कथन से विरोध रूप दोष नहीं होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि लिङ्गभेद से दिशा के दश भेद हों, तो मन्द तार तारतरत्वादि शब्द रूप लिङ्गों की भिन्नता से शब्द के कारण आकाश को भी अनन्तता की प्राप्ति होगी, क्योंकि शब्द रूप लिङ्गों से आकाश के भेद को मानने पर भी, आकाशत्वेन संग्रह की तुल्यता वहाँ भी आत्मादि के समान होगी। यदि कहें कि तथैवास्तु, आत्मादि के समान आकाश भी अनन्त हो, और उसका आकाशत्व से संग्रह हो, ऐसा मानने में दोष क्या है, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं कह सकते हैं, ऐसा मानने में यह दोष है कि आपके मान्यभाष्य से विरोध है। आकाश, काल-दिशा के एक-एक होने से उनमें अपर=व्याप्य जाति का अभाव रहता है, अतः जाति के अभाव रहते उनके जातिनिमित्तक नाम नहीं हो सकने से उनकी पारिभाषिकी (सांकेतिकी) तत्तत् आकाश, काल और दिक् ये संज्ञा हैं, इससे भाष्य में दिशा और आकाश में जाति का अभाव कहा गया है उनकी अनेक व्यक्ति और उनमें जाति मानने पर स्पष्ट ही भाष्य से विरोध होगा।

उक्त रीति से दिशा एक या दश भी नहीं मानी जा सकती है। न दिशा कोई वस्तु है, तो भी सुरशिखरि = सुमेरु पर्वत के शिखरों पर परिभ्रमण करते हुए सूर्य मण्डल के प्रथम संयोगादि उपाधि के सम्बन्ध के स्वीकार करने पर, उसीसे पूर्वादि

पूर्वादिप्रत्ययानामन्यथासिद्धत्वात् । उपहितदिगालम्बनत्वे च परस्पराश्रयत्वात्—पूर्वादिप्रत्ययबलादुपाध्युपहितदिक्सिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदालम्बनपूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धिरिति । लिङ्गान्तरेण तत्सिद्धौ पूर्वापरादिप्रत्ययवैयर्थ्यात् । उपाधीनामादित्यादिगतत्वात् पूर्वापरप्रत्ययालम्बनवस्तुभिः

विशेषात् दिश एकत्वेपि दिशः परमर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोकसंव्यवहारार्थं मेरुप्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये संयोगास्तेषां संयोगानां लोकपालपरिगृहीतादिक्प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादिभेदेन दशविधसंज्ञाः कृताः" इति भाष्यात्सन्ति दशोपाधयः प्रागञ्चनमवागञ्चनं प्रत्यगञ्चनमुदगञ्चनमिति मेर्वपेक्षया सन्ति चत्वार उपाधयः, तथा तदन्तरालाश्चत्वारः, तथा नक्षत्रलोकाद्यपेक्षयाभिमुख्यं पृथिव्यादेः, पृथिव्याद्यपेक्षयाभिमुख्यं नक्षत्रलोकादेरिति द्वावुपाधी । तदेतैर्दशभिर्दिशो दशत्वं न स्वभावत इति यद्यभिमतम्, तर्हि तैरेवोपाधिभिः पूर्वापरादिप्रत्ययाः पदार्थेपूत्पद्यन्तां कृतमन्तरा दिशेत्यर्थः । किञ्चौपाधिकत्वेऽप्येतेषां प्रत्ययानां किं दिङ्मात्रं विषयः ? उपाधिमात्रं वा ? उपहितदिग्वा ? नाद्यः, विचित्रत्वात् । नोत्तरः, दिग्वैयर्थ्यात् । तृतीये दूषणमाह—**उपहितेति** । परस्पराश्रयं विवृणोति—**पूर्वापरेति** । अयमर्थः—तत्र किं पूर्वापरादिबुद्धय एव दिक्षु लिङ्गम् ? अन्यद्वा ? द्वितीये वक्ष्यति । प्रथमे तु ज्ञायमानतया तासां लिङ्गत्वम्, तत्रापि न रूपादिबुद्धिभिरिव चक्षुरादेरेताभिर्दिशामनुमानम्, तथा सति दिग्विषयत्वाभावप्रसङ्गात् । तथा च दिग्विषयाभिरेताभिरवगताभिर्दिशामनुमाने विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानात् दिगनुमितिः, दिग्ज्ञाने च विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानम्, नहि तद्विषयज्ञानव्यतिरेकेण तद्विशिष्टबुद्धिः शक्यज्ञानेतीतरेतराश्रयत्वमिति । दिग्ज्ञानाच्च दिग्ज्ञानमित्येतदपि कौतुकान्तरम् । यत्तु वक्ष्यतीत्युक्तम्, तदाह—**लिङ्गान्तरेति** । यत्तूपाधिमादायान्यथासिद्धिरुक्ता, तां परिहरति पूर्ववादी—**उपाधीनामिति** । तथाहि—पूर्वादिबुद्धयस्तावन्न दिङ्मात्र-

---

ज्ञानों की अन्यथा (दिशा बिना) सिद्धि होती है । उपाधियुक्त दिशा को पूर्वादि बुद्धि के अवलम्बन (विषय) मानने पर अन्योन्याश्रय प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्वादि ज्ञान से उपाधि से युक्त दिशा की सिद्धि होगी, और उन दिशाओं की सिद्धि होने पर उन विषयक पूर्व-पश्चिमादि बुद्धि की सिद्धि होगी । लिङ्गान्तर से उन दिशाओं की सिद्धि होती हो, तो पूर्वादि प्रत्ययों को व्यर्थता होगी, प्रत्ययादि दिशा अनुमान में हेतु नहीं होंगे । यदि कहें कि सुमेरु और सूर्य के संयोगक्रियादि रूप उपाधियों के आदित्यादि में रहने से पूर्वापर ज्ञान के विषय वस्तुओं के साथ उन उपाधियों का स्वरूप से सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः सम्बन्धशून्य उन उपाधियों के परम्परासम्बन्ध का साधक वस्वन्तर के स्वीकार करने पर दिशा की सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह सम्बन्ध आपके अभिमत काल से ही सिद्ध हो

स्वरूपतः प्रत्यासत्तिशून्यानां संबन्धापादकवस्त्वन्तरस्य स्वीकारे दिक्-सिद्धिरिति चेत्, न, त्वदभिमतकालेनैव तदुपपत्तेः। न च कालकृत-परत्वापरत्ववैलक्षण्यादस्य दिक्कृतत्वम्, दिक्कल्पनामन्तरेणैव व्यवहर्तुः स्वेन संयुक्तपृथिव्यादिभिर्हस्तदण्डादिसंयोगानामल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामेव

विषयाः, किं त्विदं पूर्वमिदमपरमिति घटादिवस्तुविषयाः, तत्रापि न तत्स्वरूपमात्र-विषयाः, घटस्वरूपव्यतिरेकेऽप्यस्य पटादिष्वपि विद्यमानत्वात्, घटस्वरूप एव च पूर्वादिविचित्रव्यवहारानुपपत्तेश्च। तस्मात्पदार्थान्तरविशिष्टघटादिस्वरूपनिबन्धनाः। विशेषणानि च मेरुप्रदेशैः सहस्ररश्मिप्रथमसंयोगादयः। न च ते घटादिषु समवयन्ति, आदित्यमेरुनिष्ठत्वात्। ततस्तेषां घटादिपूपसंक्रामकः कश्चिदेष्टव्यः। स च न मूर्तवर्गः, तस्योभयत्राननुसन्तानत्वादाकाशात्मानौ त्वतिप्रसङ्गिनौ विशेषगुणवन्तौ च, तस्माद्व्यापकं सूर्यसुमेरुराजप्रदेशसंयोगभेदानां स्वसंयुक्तसमवेतानां स्वसंयुक्तवस्त्वन्तरे संक्रामकम्। तस्य च दिगिति संज्ञा, कालस्य क्रियासंक्रामकत्वात्, सा चेतरेभ्यो भिद्यते एवंविधसंयोगसंक्रामकत्वात् न यदेवं न तदेवं यथा पृथिव्यादीति तत्सिद्धि-रित्यर्थः। दूषयति—न, त्वदभिमतेति। शक्यमत्रापि कालोन्मूलनवदाकाशमात्मानं वादायान्यथासिद्ध्या दिशोऽप्युन्मूलनं कर्तुम्, विशेषगुणत्वं च तत्रैव कृतसमाधानम्। अथापि भवतु नाम भवतः श्रद्धानुसारेण विशेषगुणरहितमेत्र व्यापकं किंचित्, तथापि त्वत्कल्पितकालत एव तत्सिद्धेर्न तद्विलक्षणकल्पनेत्यर्थः। ननु कालकृतपरापरत्वादि-लक्षणे परत्वापरत्वे तावदनुभूयेते, अस्ति हि नित्येष्वपि परमाणुषु दिक्कृतपरत्वा-परत्वव्यवहारः। अनित्येष्वपि, कालतस्त्वनित्येष्वेव, तथा कालतोऽपरेपि दिक्कृत-परत्वं कालतः परे च दिक्कृतमपरत्वमतस्तदसमवायिकारणसंयोगस्य विलक्षणस्या-श्रयतया दिक्सिद्धिरिति शङ्कित्वा परिहरति—**न च कालकृतेति**। नायं व्यवहारः परत्वापरत्वकल्पकः; किं तर्हि यदर्थस्य यदपेक्षया प्रमातुः संयुक्तसंयोगबाहुल्यं तत्ततः परं यस्य तु यदपेक्षया प्रमातुः संयुक्तसंयोगाल्पत्वं तत्ततोऽपरमिति ताभ्यामेवान्यथा-सिद्धत्वादित्याह—**दिक्कल्पनामिति**। **हस्तदण्डादीति**। व्यवहर्तुर्देवदत्तस्य संयुक्त-पृथिव्यादिनापि हस्तदण्डादिसंयोगाद्दशहस्तेन दण्डेन दशदण्डो निवर्तनमित्यादि-

---

सकता है। यदि कहें कि कालकृत परत्वापरत्व से इस दिक्कृत परत्वापरत्व में विलक्षणता से दिशा की सिद्धि होती है। अर्थात् नित्य परमाणुओं में भी दिशाकृत परत्व-अपरत्व होता है, और कालकृत परत्व-अपरत्व अनित्य ही में होता है। तो कहा जाता है कि दिशा के बिना भी यह विलक्षण परत्वापरत्व हो सकता है, दिशा की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दिशा की कल्पना के बिना भी परापर के व्यवहार (कथन) करने वालों के अपने से सम्बन्धी भूमि आदि के साथ हस्त-दण्डादि संयोगों की न्यूनता अधिकता से ही विलक्षण परापर व्यवहार की सिद्धि हो जाती

विशिष्टपरापरव्यवहारोपपत्तेः। न चाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोः संख्यारूपगुणत्वे परिमाणविशेषत्वे च संयोगाख्यगुणाधिकरणत्वासंभवादनुपपत्तिः, भवदभिमतपरत्वापरत्वजनकसन्निकृष्टविप्रकृष्टलक्षणापेक्षाबुद्धिविषयसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोरपि तुल्यत्वात्।

यच्च दिक्कालयोः प्रसाधनाय प्रमाणमुक्तं लीलावतीकारेण—'महत्परि-

---

शास्त्रोक्तपरिमाणज्ञापकास्तेषां संयुक्तपिण्डापेक्षया अल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामित्यर्थः। यत्तु किरणावलीकारेणैवमाशङ्क्योक्तम्—'न तदपेक्षया, प्रमातर्यपि परापरप्रत्यक्षप्रसङ्गात्, संयोगबाहुल्यादेरविशेषात्, भवति हि यावत्यध्वनि मत्तो वाराणसी तावति वाराणस्या अहमपि, न तु सा किंचिदपेक्ष्य मत्तः परापरेतिवदहमपि तस्याः परोऽपरो वा" इति, तदसत्, परत्वापरत्वोत्पत्तावप्यस्य प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। तथाह—संयोगाल्पत्वबहुत्वे पिण्डवत्प्रमातर्यपि समाने इति किमिति तयोः प्रमातर्यनुत्पत्तिः? पिण्ड एव वा किमित्युत्पत्तिः? अथ ब्रूयात्कारणशक्तिनियमादेव नियमोपपत्तिः, भेर्याकाशसंयोगस्योभयाश्रयत्वाविशेषेऽपि नभस्येव शब्दो न भेर्यामितिवत् संयुक्तसंयोगाल्पत्वबहुत्वाविशेषेऽपि प्रमेय एव परत्वापरत्वे न प्रमातरीति सर्वमुपपन्नमिति, तदप्यसत्, यद्धि संयुक्तसंयोगाल्पत्वबहुत्वविशेषावच्छिन्नसंयोगाधिकरणत्वेन प्रतिसन्धीयते तत्र परापरत्वव्यवहारः, न प्रमातरि, तस्य तथाप्रतिसन्धीयमानत्वाभावात्, यदा तु सोऽपि तदधिकरणत्वेनानुसन्धीयते तदा भवत्येव तत्रापि तद्व्यवहारः वाराणसीतः परोऽहमिति। यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—किं पुनः संयोगस्य भूयस्त्वमल्पत्वं चेत्' इत्यादि तदनूद्य निषेधति—**न चाल्पीयस्त्वेति**। भवतापि ह्यपेक्षाबुद्धिवैषम्यात्तज्जन्ययोरनयोर्वैषम्यमभ्युपेयते, बुद्धिवैषम्यं च संयुक्तसंयोगबहुत्वाल्पत्वलक्षणविषयवैषम्यात्। अत्रापि विप्रतिपत्तावुक्तमुत्तरं कालखण्डने, तस्मात्तद्विकल्पस्तन्निराकरणं च जात्युत्तरमित्यर्थः।

एवं चिरंतनप्रमाणं दूषितमिदानीमाधुनिकोन्नीतं दिक्कालसाधकानुमानजातमनूद्य निराकरोति—**यच्चेति**। अणुत्वे सिद्धसाधनतावारणाय महत्परिमाणसामान्यमित्युक्तम्। विशेषगुणशून्यं यद्द्रव्यं तदधिकरणा याऽनेकव्यक्तिर्महत्परिमाणानि

है। यदि कहें कि न्यूनत्व अधिकत्व को संख्या रूप गुण होने पर, या परिमाण-विशेष होने पर संयोग नामक गुण में वृत्तित्व के असम्भव होने से संयोग के न्यूनत्व अधिकत्व से परत्वापरत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आपके सम्मत परत्वापरत्व के जनक सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट = समीप दूर रूप की अपेक्षाबुद्धि के विषय अल्पत्व-अधिकत्व में भी यह अनुपपत्ति तुल्य है।

दिशा और काल की प्रसिद्धि के लिये लीलावतीकार ने जो प्रमाण कहा है कि (महत् परिमाण का सामान्य (जाति), विशेषगुणशून्य द्रव्य (= दिक्काल) रूप

माणसामान्यं विशेषगुणशून्यद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्ति परिमाणतारतम्यविश्रान्तिविषयनिष्ठजातित्वादणुत्ववत्। अस्ति हि विशेषगुणशून्यानेकमनोगतानेकाणुपरिमाणनिष्ठताणुत्वंजातेः। तथा विवादाध्यासितानि मूर्तद्रव्याणि युगपद्विशेषगुणशून्यानेकद्रव्यसंसर्गीणि द्रव्यत्वादात्मवदिति, तदयुक्तम्, अन्तरेणापि दिक्कालौ व्यापकपञ्चाशद्वर्णद्रव्यप्रसाधनेनार्थान्तरत्वात्। वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च, मनसो विशेषगुण-

---

तद्वृत्तीत्यर्थः। द्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तीत्युक्ते गगनात्मघटादिवृत्त्यनेकमहत्परिमाणनिष्ठतासाधनेनार्थान्तरता स्यात्, तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम्। अनेकव्यक्तिग्रहणेन च तदधिकरणविशेषगुणशून्यद्रव्यानेकत्वसिद्धौ कालदिशोः सिद्धिः। परिमाणवृत्तित्वेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्याधिकरणपदम्। घटत्वादिनिवृत्त्यै विश्रान्त्यादिविशेषणम्। ज्ञानत्वादिनिवृत्त्यै परिमाणेति। दृष्टान्ते साध्यप्रसिद्धिं दर्शयति—**अस्ति हीति। विवादाध्यासितेति।** शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमूर्तद्रव्याणीत्यर्थः। द्रव्यसंसर्गीणि इत्युक्ते गगनसंसर्गितयार्थान्तरता तदर्थमनेकद्रव्येत्युक्तम्। तथापि घटादिसंसर्गितयार्थान्तरता, तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम्। तथापि क्रममुक्तसंसर्गितयार्थान्तरता तदर्थं युगपदित्युक्तम्। तेषां क्रमेणैवमुच्यमानानां युगपद्विशेषगुणशून्यताभावात्, युगपत्संसर्गीणीति वा साध्यम्। तदा लोकान्तरं प्रतिष्ठमानैर्मनोभिः क्रमेण संबध्यमानपृथिव्यादिना सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थम् युगपदिति पदम्। बाधपरिहारार्थं विशेषपदम्। मनोभिः संसर्गेण चात्मसु साध्यसिद्धिः। एतद्दूषणपरतया वर्णैरर्थान्तरत्वेनेत्येतदवतारयति—**तदयुक्तमित्यादिना।** अधिगतमिदमपौरुषेयवादे यद्वर्णानां नित्यत्वं विभुत्वं च। न च तेषां विशेषगुणाः सन्ति। नादानामन्यधर्मत्वादन्यस्य चाभावादतस्तद्वृत्तिवृत्तितासाधनेनापि विश्रान्तेरर्थान्तरता प्रथमे। द्वितीयेऽपि तत्संसर्गसाधनेनार्थान्तरतेत्यर्थः। उभयोरपि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाह—

अधिकरण वाली अनेक व्यक्तियों में रहता है, परिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति (समाप्ति) के विषय में वृत्ति जाति होने से, अणुत्ववत्) विशेष गुणशून्य अनेक मनरूप द्रव्यवृत्ति अनेक अणुपरिमाणों में वृत्तित्व अणुत्व जाति को है ही, इससे दृष्टान्त में साध्य की प्रसिद्धि भी होती ही है। अनेक व्यक्ति के ग्रहण से उस अनेक परिमाण के अधिकरण विशेष गुणशून्य द्रव्यानेकत्व की सिद्धि से दिक्-काल की सिद्धि होती है। इत्यादि। इसीप्रकार से (विवादास्पद) शरीरेन्द्रियभिन्न, मूर्त द्रव्य, विशेष गुणशून्य अनेक द्रव्यों के साथ युगपत् सम्बन्ध वाले हैं। द्रव्य होने से, आत्मा के समान। यहाँ मन सब के साथ आत्मा के सम्बन्ध से आत्मा में साध्य की प्रसिद्धि होती है। गगनसम्बन्धिता से अर्थान्तरता के वारण के लिये, अनेक द्रव्य कहा है, घटादिसंसर्गिता से अर्थान्तरता के वारण के लिये विशेष गुणशून्य कहा

शून्यत्वे हि तद्गताणुत्वस्य विशेषगुणविधुरद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तित्वम्, आत्मनश्च युगपद्विशेषगुणशून्यद्रव्यसंसर्गित्वं च भवेत्तच्च वेदान्तिनं प्रत्यसिद्धम्, मनसोऽपि विशेषगुणवत्त्वात् । न च तत्र मानाभावाः मूर्तत्वस्यैव तत्त्वात् । न च विशेषगुणवत्त्वे द्रव्यारम्भकत्वमुपाधिः, घटादिष्वन्त्यावयविषु व्यभिचारात् । न च द्रव्यारम्भकवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमत्त्व-

---

वेदान्तिनं प्रतीति । तदेव विवृणोति—**मनस इति । मूर्तत्वस्येति ।** विप्रतिपन्नं विशेषं गुणवन्मूर्तत्वात् घटवदित्यनुमानेन मनसो विशेषगुणसिद्धिरित्यर्थः । अत्रोपाधिमाशङ्क्य निरस्यति—**न चेति ।** विशेषगुणवत्स्वप्यन्त्यावयविषु द्रव्यारम्भकत्वं नास्ति तत्त्वव्याघातादतः साध्याव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः । उपाध्यन्तरं निरस्यति—**न च द्रव्यारम्भकेति ।** द्रव्यारम्भकेषु वर्तमाना या द्रव्यत्वावान्तरजातिस्तद्वत्त्वम् । नच मनोगतमनस्त्वजातिर्द्रव्यारम्भकवृत्तिजातिरतो न साधनव्याप्तिः, नाप्यन्त्यावयविषु साध्याव्याप्तिः । पृथिवीत्वस्योक्तरूपस्य तत्रापि भावादिति भावः । तथापि साध्याव्याप्तिः, आकाशे विशेषगुणवत्त्वेऽपि द्रव्यत्वावान्तरजातेरभावात्, आत्मनि तु विशेषगुणवति तत्सत्त्वेऽपि द्रव्यारम्भकवृत्तित्वाभावादित्याह—**आत्मेति ।** उपाध्यन्तरं दूषयति—**न चेति ।** अस्ति च तत् गगनेऽपीति भावः । तथापि भवन्मते विशेषगुणवत्त्वेन स्वीकृतात्मनि साध्याव्याप्तिः, तद्गुणानां मानस-

---

गया है । शरीरेन्द्रिय की मन के साथ सम्बन्ध से सिद्धसाधनता होगी । अतः उसको वारण के लिये शरीरेन्द्रियभिन्न कहना युक्त है, शरीरेन्द्रियभिन्न कारण रूप मूर्त द्रव्य के साथ युगपत् सम्बन्ध के आश्रय दिक्काल सिद्ध होते हैं । इत्यादि । परन्तु यह लीलावतीकार का कथन अयुक्त है, अर्थात् इन अनुमानों से दिक्-काल की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि दिक्-काल के विना भी व्यापक नित्य पचास ककारादि वर्णरूप द्रव्य के प्रसाधन द्वारा अर्थान्तरता होती है । और वेदान्ती के प्रति दृष्टान्तों को साध्य शून्यत्व है । क्योंकि मन के विशेष गुणशून्यत्व होने पर, तद्गत अणुत्व को विशेष गुणरहित द्रव्य रूप अधिकरण वाली अनेक व्यक्तियों में वृत्तित्व होता । और आत्मा को युगपद् विशेष गुण शून्य (मनो) द्रव्य संयोगित्व भी होता । परन्तु वेदान्ती को वह मन के विशेष गुण शून्यत्व अप्रसिद्ध है, क्योंकि मन को भी विशेषगुणवत्त्व है । और मन की विशेषगुणवत्ता में प्रमाण का अभाव है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि मन के मूर्तत्व ही उसके विशेष गुणवत्त्व में तत्त्व (प्रमाणत्व) वाला है । अर्थात् (मनः, विशेषगुणवत्, मूर्तत्वात्, घटादिवत्) इस अनुमान से मन में विशेष गुण सिद्ध होता हैं । विशेष गुणवत्त्वसाध्य में द्रव्यारम्भकत्व उपाधि नहीं कहते हैं । क्योंकि घटादि रूप अन्त्यावयवी में विशेष गुणवत्त्व रूप साध्य के रहते भी द्रव्यारम्भकत्व रूप उपाधि के नहीं रहने से

मुपाधिः, आत्माकाशयोर्व्यभिचारात् । न च बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्, भवदभिमतात्मनि व्यभिचारात् । न वा भूतात्मनोरन्यतरत्वमुपाधिः, वेदान्तिनं प्रति तमसि साध्याव्याप्तेः । 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिरित्येतत्सर्वं मन एवे'ति मनसो विशेषगुणवत्त्वश्रुतेश्च । न च कामादीनां निमित्तकारणत्वान्मनसस्तथात्वव्यपदेशः, मुख्ये बाधकाभावात्, निमित्तनैमित्तिकत्वमात्रेण सामानाधिकरण्याश्रवणानु-

---

प्रत्यक्षत्वादित्याह—**भवदिति** । अस्तु तर्हि भूतात्मनोरन्यतरत्वं तथाचाकाशात्मनोरपि तदस्त्येवेति, तत्राह—**न वा भूतेति** । उपपादितं खल्वेतत्तमोवादे यद्विशेषगुणवत्ता तमसोऽस्तीति, अतः साध्यवत्त्वेऽपि तस्मिन्न भूतात्मनोरन्यतरत्वमिति साध्याव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र श्रुतिमपि प्रमाणयन् विशेषगुणानपि तदीयान्निष्टङ्कते—**काम इति** । ननु कामादि मन एवेत्यत्र न गुणगुणिभावेन शुक्लो घट इतिवत्सामानाधिकरण्यं विवक्षितम्, किं तर्ह्यात्मगुणानामेव सतां निमित्तिकारणत्वात्तत्प्रयुक्तमिति, तत्राह—**न च कामादीनामिति** । न तावन्निमित्तकारणकार्ययोः कुलालो घट इति सामानाधिकरण्य दृष्टचरम् । अथापि तच्छ्रमादिना कल्प्येत, यदि मुख्ये बाधकं स्यान्नत्वेतदस्तीत्यर्थः । एवं श्रीवल्लभानुमानं निरस्य मानमनोहरीयमनुमानं

व्यभिचार है, उपाधि में साध्यव्यापकता का अभाव है । द्रव्यारम्भक वृत्ति द्रव्यत्वावान्तर (व्याप्य) जातिमत्त्व उपाधि भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि विशेष गुण रूप साध्य वाले आत्मा और आकाश में इस उपाधि का भी व्यभिचार = अभाव है, आत्मा और आकाश में द्रव्यारम्भकत्व नहीं रहता है । बाह्य इन्द्रियग्राह्य विशेष गुणवत्त्व उपाधि भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि आपके अभिमत आत्मा में विशेष गुणवत्त्व साध्य रहता है, बाह्य इन्द्रियग्राह्य विशेष गुणवत्त्व के नहीं रहने से वहाँ व्यभिचार होता है (साध्यव्यापकता नहीं होती है)। भूत और आत्मा की अन्यतरता भी उपाधि नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वेदान्ती के प्रति तम में साध्य की अव्याप्ति है, वेदान्ती तम में नील रूपात्मक विशेष गुण मानते हैं, और भूतात्मान्यतरत्व नहीं रहता है । और (काम, संकल्प, विचिकित्सा = संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य) ये सब मनस्वरूप ही हैं, इस श्रुति से मन को विशेष गुणवत्ता सुनी जाती है । यदि कहें कि आत्मगुण कामादि के निमित्त कारण होने से मन की कामादि रूपता का व्यपदेश = कथन किया गया है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कामादि के साथ मन के सामानाधिकरण्य = अभेद की प्रतीति श्रुति से होती है, और उस मुख्य सामानाधिकरण्य में बाधक का अभाव है, और मन में निमित्तत्व कामादि में नैमित्तिकत्व मात्र से सामानाधिकरण्य हो नहीं सकता है, अतः निमित्त-नैमित्तिक भाव मानने पर श्रुति की अनुपपत्ति होगी । क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक

पपत्तेश्च। न हि भवति कुलालो घट इति सामानाधिकरण्यम्। एतेन मान-मनोहरप्रयोगोऽप्यपास्तः—विवादाध्यासितं कार्यं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां जन्यते कार्यत्वादन्तःकरणद्वयसंयोगवदिति, तत्रापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इति बहुवचनप्रक्षेपेणापि प्रयोगसंभवादतिरिक्तद्रव्यसाधकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च। न च दृष्टान्तासिद्धिः, अनेकान्तःकरणाधिकरणापेक्षाबुद्धिजन्यबहुत्वस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तेः, विवादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां न जन्यतेऽन्तःकरणा-

---

दूषयति—**एतेनेति**। अत्र घटादिः पक्षः, मृदादिद्रव्येनार्थान्तरतानिवृत्यर्थम् विशेष-गुणशून्यग्रहणम्। अदृष्टेश्वरेच्छादिभिरर्थान्तरताव्यावृत्यै द्रव्यग्रहणम्। एतेनेत्येतद्वि-वृणोति—**तत्रापीति**। किंचानयैव रीत्या विशेषगुणरहितं दशममपि शक्यसाधन-मित्याभाससमानयोगक्षेममित्याह—**विवादेति**। ननु विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इत्यत्र नास्ति दृष्टान्तः, नहि बहुभिरन्तःकरणैरेकः संयोगो जन्यत इति वैधर्म्यमुक्तं तेनैवेति, तत्राह—**न च दृष्टान्तेति**। अनेकान्तःकरणाधिकरणमपेक्षाबुद्धिजन्यं च यद्बहुत्वं तस्य दृष्टान्ततोपपत्तेरित्यर्थः। नच निमित्तकारणेति विशेषणेन निस्तारः, तदनुमाने साध्यवैकल्यापातात्। सत्प्रतिपक्षतां चाह—**विवादाध्यासितमिति**।

कुलाल और घट में = कुलाल घट है, ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं होता है, और प्रकृत में सामानाधिकरण्य है, अतः निमित्तानैमित्तिकभाव नहीं है। इसीसे मान-मनोहर का प्रयोग भी अपास्त हो गया। क्योंकि, उनका प्रयोग है कि (विवाद-विषयक कार्य, विशेषगुणरहित (दिक्काल) दो द्रव्यों से उत्पन्न होता है। कार्य होने से, अन्तःकरणद्वयसंयोग के समान) यहाँ घटादि कार्य पक्ष है, मृत्तिकादि द्वारा अर्थान्तर वारण के लिये विशेष गुणशून्य का ग्रहण है। अदृष्टादि द्वारा अर्थान्तर वारण के लिये द्रव्य का ग्रहण है। परन्तु इस प्रयोग में भी दृष्टान्त में साध्य विकलता है। क्योंकि अन्तःकरण (मन) विशेष गुण वाला है, यह प्रथम कहा गया है। और यह प्रयोग दशम द्रव्य को साधाने वाला आभास प्रयोग के समान है, क्योंकि (विवादविषय कार्य, विशेष गुणरहित बहुत द्रव्य से उत्पन्न होता है, कार्य होने से, अनेकाधिकरण वाले अपेक्षाबुद्धिजन्य बहुत्ववद्) इसप्रकार से बहुवचन का साध्य में प्रदान के द्वारा भी प्रयोग के सम्भव हो सकने से अतिरिक्त द्रव्य की साधनता द्वारा आभास प्रयोग के समान योगक्षेमता होती है। दृष्टान्त की असिद्धि इस प्रयोग में नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अनेकान्तःकरणरूप अधिकरण वाला अपेक्षाबुद्धिजन्य बहुत्व को ही दृष्टान्तत्व सिद्ध होता है। और इस अनुमान से दिक्काल से भिन्न दशम द्रव्यविशेष गुणरहित सिद्ध होगा। और (विवाद-विषय घटादि कार्य, विशेष गुणरहित द्रव्यों से नहीं उत्पन्न होता है। अन्तःकरण

कार्यत्वादाकाशवदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । न चाकार्यत्वमुपाधिः, वेदान्तवादिभिराकाशस्यापि कार्यताङ्गीकारात् । तदेवं कालानिरूपणान्न तत्कृतः पूर्वापरीभावः कार्यकारणभावः ।

भेदाभेदविकल्पानुपपत्तेश्च । तथा ह्यत्यन्तभिन्नयोरश्वमहिषयोरिव नोपादानोपादेयभावः । तथात्यन्ताभेदेऽपि, पूर्वसिद्धस्योपादानत्वादसिद्धस्य

अत्रापि तेनोक्तमकार्यत्वमनुपाधिरिति दूषयति—**न चाकार्यत्वमिति**। परत्वापरत्वखण्डनेन च परमाणुपरत्वजनकसंयोगाश्रयो दिगित्यादीनि तन्मुखेन शिवादित्यमिश्रोक्तानि दिग्लक्षणानि खण्डितान्येव । एवं कालखण्डनप्रस्तावेन दिक् खण्डिता, कालखण्डनस्य तु कारणखण्डनोपयोगमाह—**तदेवमिति**। अथ किमिति पृथिव्यादीनि न खण्डितानि ? न, खण्डितत्वात् । तथाहि—गन्धवती पृथिवीत्यादीनि गुणद्वारा यानि लक्षणानि, तानि गुणवद्द्रव्यमितिवदव्याप्त्या खण्डितप्रायाणि । पृथिवीत्वादिजातिखण्डनेन तत्प्रमाणदूषणेन च गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवी, स्नेहसमानाधिकरणद्रव्यत्वान्तरजातिमदुदकमित्यादीनि जातिपुरस्कारेण शिवादित्यमिश्रप्रभृतिभिरुत्प्रेक्षितान्यपि निरस्तानि । शब्दस्य च विभुत्वनित्यत्वसाधनात्, तदधिकरणतयाकाशानिरुक्तिः । सुखादीनां च साक्षिवेद्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुखादिग्राहकमिन्द्रियं मन इति मनोलक्षणासिद्धिः । ज्ञानरूपत्वसमर्थनात्सुखादीनामन्तःकरणगुणत्वात्प्रज्ञानाद्याधार आत्मेत्यात्मलक्षणानिरुक्तिरिति खण्डितान्येव नवापि द्रव्याणि ।

इदानीं कार्यकारणभावं प्रकारान्तरेण दूषयति—**भेदाभेदेति**। भिन्नयोरपि कलशकुलालयोः कार्यकारणभावोऽस्तीत्यत उक्तं—**नोपादानेति**। नचात्यन्तभिन्नयोरपि समवायवशादुपादानोपादेयभाव इति वाच्यम्, समवायाभावयोरत्यन्तभेदे किमिति मृद्घटयोरेव तमापादयति नाश्वमहिषयोरित्यत्र निरुत्तरत्वात् । स्वभाववशादिति चेत्, प्रमाणमन्वेषणीयम्, अन्यथानुपपत्तिरिति चेदन्यथैवोपपत्तेः । अत्यन्ताभेदपक्षेऽपि विरुद्धधर्माध्यासादसंभवमाह—**तथेति**। उभयानुपपत्ति समा-

---

से अजन्य कार्य होने से, आकाशवत्) ऐसा सत्प्रतिपक्ष भी उस अनुमान का है। अकार्यत्व उपाधि भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वेदान्तवादी आकाश को भी कार्य मानते हैं, अतः विशेष गुणरहित मनोद्रव्याजन्यत्व साध्य के आकाश में रहते भी अजन्यत्व का व्यभिचार है। अतः उक्त रीति से काल का निरूपण नहीं हो सकता है, अतः कालकृत पूर्वापरीभाव रूप कार्यकारणभाव भी नहीं सिद्ध हो सकता है ।

और कारण के साथ कार्य के भेदाभेद विकल्प की अनुपपत्ति (असिद्धि) से भी कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि कार्यकारण को अत्यन्त भिन्न होने पर, अश्व-महिष के समान कार्यकारणभाव रूप उपादान-उपादेयभाव नहीं

चोपादेयत्वात्, एकत्र युगपत्सिद्धत्वासिद्धत्वविरोधादेव तदनुपपत्तेः । अस्तु तर्हि भिन्नाभिन्नयोः कार्यकारणभावः, अत्यन्ताभेदे भेदे च तदनुपपत्तेर्दर्शितत्वात्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च । नहि भवति घटः पट इति सामानाधिकरण्यम्, नापि घटो घट इति । दृश्यते च मृद्घटः, शुक्लः पटः, गौः शावलेय इति सामानाधिकरण्यं ततो भेदाभेदसिद्धिरिति चेत्, न,

भेदेऽप्ययुतसिद्धत्वादुपादानत्वसंभवात् ।

धित्सुर्भेदाभेदवादी शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । इतश्च भेदाभेदः कार्यकारणानामित्याह—**सामानाधिकरण्येति** । नन्वत्यन्तभेदेऽपि किमिति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्तत्राह—**न हीति** । नच भेदेऽप्याधाराधेयभावादुपपद्यते इति वचनीयम्, कुण्डं दधीत्यपि प्रसङ्गात् । अभेददर्शनमाह—**नापि घटो घट इतीति** ।

एवं भेदेऽभेदेऽप्यनुपपद्यमानसामानाधिकरण्यस्य कार्यकारणगुणगुणिजातिव्यक्तिस्थलेषु सद्भावं दर्शयंस्तदुपपादकभेदाभेदमानयति—**दृश्यते चेति** । उपलक्षणं चैतद्विशिष्टस्वरूपांशांशिस्थलयोरपि । अत्र किं कार्यकारणभावमात्रं भेदाभेदगमकम् ? उपादानोपादेयभावो वा ? नाद्यः, सलिलादेः कलशस्य तत्प्रसङ्गात् । तथात्वे वा व्यर्थविशेषणत्वात् । न द्वितीयः, अत्यन्तभेदेऽपि तत्संभवादिति दूषयति सिद्धान्ती—**भेदेऽपीति श्लोकेन** । अत्यन्तभेदेऽप्ययुतसिद्धत्वमादायोपादानोपादेयभावसंभवात्,

---

हो सकता है । इसीप्रकार से अत्यन्त अभेद रहते भी नहीं बन सकता है, क्योंकि पूर्वकाल में सिद्ध तन्तु आदि को उपादानत्व (कारणत्व) होता है । और पूर्व असिद्ध को उपादेयत्व (कार्यत्व) होता है, एक वस्तु में एक काल में सिद्धत्व असिद्धत्व के विरोध से ही एक अभिन्न वस्तु में उस उपादान उपादेयभाव की अनुपपत्ति है । यदि कहा जाय कि अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त अभिन्न में कार्यकारणभाव नहीं हो सकने पर भिन्नाभिन्न को कार्यकारणभाव कहना चाहिये, क्योंकि अत्यन्त अभेद में और भेद में उस कार्यकारणभाव की अनुपपत्ति दर्शायी गई है । और अत्यन्त भेद वा अभेद पक्ष में सामानाधिकरण्य (एकविभक्तिबोध्यत्व) भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अत्यन्त भेद से ही (घटः पटः) यह सामानाधिकरण्य नहीं होता है । अत्यन्त अभेद से (घटो घटः) ऐसा भी सामानाधिकरण्य नहीं होता है । किन्तु, कार्य-कारण, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति में (मृद्घटः, शुक्लः पटः, गौः शावलेयः) इसप्रकार का सामानाधिकरण्य देखा जाता है, अतः कार्यकारण के भेदाभेद (कथञ्चिद्भेद कथञ्चिदभेद) की सिद्धि होती है । तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि—

भेद रहते भी अयुतसिद्ध होने से उपादानत्व का सम्भव हो सकता है, परन्तु

तस्यापि दुर्निरूपत्वात्समवायाद्यसंगतेः ॥ ६३ ॥

अन्तरेणापि भेदाभेदौ जन्यजनकयोरयुतसिद्धतयैवोपादानोपादेयतोपपत्तेः, भेदाभेदवादिनाप्ययुतसिद्धतायास्तन्नियामकत्वेनावश्याभ्युपेयत्वात्। न हि यत्रैव कार्यकारणभावस्तत्रैव भेदाभेदाविति शक्यं कल्पयितुम्। अतश्चावश्याभ्युपेयैवायुतसिद्धिरिति तत एवार्थापत्तेरन्यथासिद्धिः। न चान्तरेण भेदाभेदावयुतसिद्धिरेव न सिद्ध्यतीति वाच्यम्, अत्यन्तभिन्नयोरप्यात्माकाशयोर्भाट्टैरपीष्टत्वात्, उपादानोपादेयभावानिरूपणाच्च। तत्कि

उपादानत्वस्य च दुर्निरूपत्वात्तत्र हेतुः—**समवायाद्यसंगतेरिति।** आदिशब्देन वक्ष्यमाणविकल्पदूषणानि संगृह्यन्ते। समवायित्वे सति कारणत्वमित्यादिप्रकारं हि तत्। तच्च न संभवति, समवायाद्यसंगतेरिति श्लोकार्थः। विवृणोति—**अन्तरेणापीत्यादिना।** अयुतसिद्धत्वेऽपि जातिव्यक्त्यादेर्नोपादानोपादेयभाव इत्यत उक्तम्—**जन्यजनकयोरिति।** नन्वयुतसिद्धिरेवास्माकमसिद्धा, समवायानङ्गीकारात्स्वरूपेण दुर्निरूपत्वाच्चेति, तत्राह—**भेदाभेदेति।** दुर्निरूपत्वादिति तावदात्मानं विस्मृत्याभिहितम्, किं वा भवन्मते सुनिरूपम्, समवायस्तु यद्यपि नाङ्गीक्रियते, तथापि भेदाभेदनियामकतयाऽयुतसिद्धिराश्रयणीया, इतरथा अनयोरेव नान्ययोरिति नियमाभावापातादित्यर्थः। ननु कार्यकारणभाव एव नियामकोऽस्तु किमयुतसिद्ध्येति, तत्राह—**नहि यत्रैवेति।** नित्ययोरप्यात्मात्मत्वयोर्भेदाभेदाङ्गीकारादिति भावः। तत्रायुतसिद्धत्वसिद्ध्यर्थमेव भेदाभेदोऽस्तु, तत्राह—**नचेति। भाट्टैरिति।** जाति-

---

अयुतसिद्धत्व के भी दुर्निरूपत्व से तथा समवायादि की असङ्गति से कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं हो सकता है ॥ ६३ ॥

अर्थात् भेदाभेद के बिना भी जन्य-जनक की अयुतसिद्धता से ही उपादानोपादेयता की उपपत्ति से भेदाभेद मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भेदाभेदवादी को भी अयुतसिद्धता को उस कार्यकारणभाव के नियामक रूप से (साधक रूप से) अवश्य मानना होगा। क्योंकि जहाँ ही कार्यकारणभाव होता है, वहाँ ही भेदाभेद रहता है, ऐसी कल्पना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि कार्यकारणभाव के बिना भी नित्य आत्म और आत्मत्व के भेदाभेद को माना जाता है। अतः भेदाभेद से कार्यकारणभाव की सिद्धि नहीं हो सकने से अयुतसिद्धि कार्यकारणभाव का नियामक अवश्य स्वीकर्तव्य है। उस सिद्धि से अर्थापत्ति की अन्यथासिद्धि हो जाती है। अर्थात् भेदाभेद के बिना कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, इस अनुपपत्ति का अभाव हो जाता है। यदि कहें कि भेदाभेद के बिना अयुतसिद्धि नहीं हो सकती, यही अनुपपत्ति है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अत्यन्त भिन्न भी आत्मा और आकाश की अयुतसिद्धि भाट्ट ने माना है। और उपादान-उपादेय-

(१) समवायित्वे सति कारणत्वम् ? (२) उत कार्याधारत्वम् ? (३) जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वं वा ? (४) द्रव्यत्वविशेषितं वा ? (५) आहोस्वित्कार्याकारेण परिणतत्वम् ? (६) अथवा कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वम् ? नाद्यः, समवायस्यानङ्गीकारणान्निराकृतत्वाच्च । न द्वितीयः, कुण्डबदरयोराधाराधेयभावेऽपि तददर्शनात् । स्वजन्याधारत्वं तदिति चेत्, न, स्वजन्यघटाद्याधारे कुलालादावतिव्याप्तेः, आधारानिरुक्तेश्च । न तावदिहेति

व्यक्तिकार्यकारणगुणगुणिविशिष्टस्वरूपांशांशिरूपपञ्चसु स्थलेषु हि तैर्भेदाभेदोऽङ्गीक्रियते, न सर्वत्र । न चैतेषामन्यतमत्वमाकाशात्मनोरथं वायुतसिद्धिरस्ति, नित्यत्वेन स्वगतत्वेन च पृथगाश्रयाश्रितत्वपृथग्गतिमत्त्वलक्षणद्विविधयुतसिद्धेरभावादित्यर्थः । तस्यापि दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—**उपादानेति** । निमित्तकारणासमवायिनोर्व्यवच्छेदार्थं समवायित्वे सतीत्युक्तम् । आधारत्वं जात्यपेक्षयाप्यस्ति, न च तां प्रत्युपादानत्वमित्यत उक्तम्—**कार्याधारत्वमिति** । जन्येनेत्यस्यापीदमेव प्रयोजनम् । जन्येन घटेनायुतसिद्धत्वं घटादेरप्यस्ति, न च तदुपादानमित्यत उक्तम्—**जनकत्वमिति** । कुलालादिनिवृत्त्यै जन्यग्रहणम् । ज्ञानेच्छादीनामपि परस्परमिदमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय विशेषणं क्षिपति—**द्रव्यत्वेति** । सांख्यमतावलम्बनेन पञ्चमः । कार्यलक्षणो विभ्रमः तदधिष्ठानत्वं चेति वेदान्तिमतावलम्बनेन षष्ठः पक्षः । **समवायस्येति** । यः खलु कार्यकारणयोर्भेदाभेदवादी भाट्टस्तेन समवायो नाङ्गीक्रियतेऽतस्तद्विशेषितलक्षणं तस्यासिद्धमित्यर्थः । नैयायिकं प्रत्याह—**निराकृतत्वादिति** । कार्याधारत्वमुपादानत्वमित्यतिव्यापकम्, बदरकार्यम् प्रत्याधारेऽपि कुण्डे तदुपादानत्वादर्शनादित्याह—**कुण्डबदरयोरिति** । ननु न कार्याधारत्वमात्रं लक्षणम्, किंतु स्वकार्यम् प्रत्याधारत्वम्, न बदराणां कुण्डकार्यत्वमित्यभिप्रेत्याशङ्कते—**स्वजन्येति** । तथाप्यतिव्याप्तिः, धृतोदकुम्भस्य स्वजन्यकुम्भाधारत्वेऽपि कुम्भोपादानत्वाभावादित्याह—**न स्वजन्यघटेति** । नन्विह गवि गोत्वमिह पटे शौक्ल्यमिह मृदि घट इत्यादौ समवायाश्रय एवाधारस्तद्रहितेषु तु गौणः आधारशब्द-

---

भाव के अनिरूपण से भी उसके हेतुरूप से भेदाभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि वह उपादानत्व, क्या समवायित्व युक्त कारणत्व है, या कार्याऽऽधारत्व है, या जन्य के साथ अयुतसिद्ध होता हुआ जनकत्व है, या द्रव्यत्व युक्त जन्यायुतसिद्धत्व युक्त जनकत्व है, या कार्याकारण से परिणतत्व है, या कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्व है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि समवाय को माना नहीं जाता है, और उसका निराकरण किया गया है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि कुण्ड बैर में आराधेयभाव होते भी कुण्ड में बदर-उपादानत्व नहीं देखा जाता है। यदि स्वजन्य आधारत्व उपादानत्व है, यह कहें, तो भी स्वजन्य घटादि के आधार कुलालादि में

प्रत्ययविषयत्वम्, तत्रेति प्रत्ययाव्याप्तेः। नापि समवायित्वम्, शशे विषाणाभावः कुण्डे बदरमित्यादावव्याप्तेः। नापि संयोगित्वम्, गुणादौ तदसंभवात्, संयोगिनोरुभयोरन्योन्याधारत्वप्रसङ्गाच्च। नापि पतनप्रतिबन्धकत्वम्, गुणादावव्याप्तेः। अत एव नाधेयापेक्षया महत्परिमाणवत्त्व-

---

प्रयोग इति, तत्राह—**नापि समवायित्वमिति**। न च तत्र गौणतावैपरीत्यस्यापि संभवादिति भावः। अस्तु तर्हि संयोगित्वम्, तथाच कुण्डे बदरमित्यादिसंगृहीतमिति, तत्राह—**नापि संयोगित्वमिति**। न केवलमव्याप्तिरतिव्याप्तिश्चेत्याह - **संयोगिनोरिति**। यदि हि संयोगित्वमात्रमाधारार्थः, तदा तदुभयोरपि समानमिति घटे भूतलं बदरे कुण्डमित्यपि स्यात्, नचैवमस्तीत्यर्थः। श्रीवल्लभीयमाधारत्वं दूषयति—**नापि पतनेति**। नहि निर्गुणानां निष्क्रियाणां च गुणादीनां पतनमस्ति, येन तदाधारता द्रव्यस्य स्यात्। गुणादेश्च गुणत्वाद्याधारता च न स्यादिति भावः। **अत एवेति**। गुणादावसंभवादेव। यदि हि गुणस्य गुणत्वादेर्वा परिमाणवत्त्वं स्यात्, तर्ह्येव तदपेक्षया तदाधारद्रव्यादेर्महत्परिमाणवत्त्वं स्यात्, नत्वेतदस्तीत्यर्थः।

अतिव्याप्ति होती है। और आधार की अनिरुक्ति से भी इस लक्षण का असम्भव है। क्योंकि इह (यहाँ) इस प्रतीति के विषयत्व को आधारत्व नहीं कह सकते हैं। समीप के आधार में इह (यहाँ) प्रतीति होती है, परन्तु दूर के आधार में तत्र (वहाँ) ऐसी प्रतीति होती है, उसमें इह प्रतीतिविषयत्व की अव्याप्ति होती है। समवायित्व को भी आधारत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शश में शृङ्ग का अभाव रहता है, कुण्ड में बदर रहता है, अतः उनकी शश और कुण्ड में आधारता रहते भी समवायिता नहीं रहने से लक्षण की अव्याप्ति है। संयोगित्व = संयोगवत्त्व को भी आधारत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि गुणादि में असम्भव होगा, द्रव्यभिन्न में संयोग रहता नहीं है, और संयोग के द्विष्ठ होने से दोनों संयोगी को परस्पर आधारत्व प्राप्त होगा। अधःपतन प्रतिबन्धकत्व को भी आधारत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि गुरुत्व गुण से अधःपतन रूप क्रिया द्रव्य में ही होती है, निर्गुण निष्क्रिय गुणादि में पतन क्रिया नहीं होती है कि जिसका प्रतिबन्धक उसका आधार हो सके, अतः गुणादि के आधार में लक्षण की अव्याप्ति होगी, और गुणादि में भी गुणत्वादि की आधारता नहीं होगी। और अत एव = गुणादि में असम्भव से ही आधेय की अपेक्षा से अधिक (महत्) परिमाणवत्त्व भी आधारत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि गुणादि में वा गुणत्वादि में परिमाणवत्त्व हो, तो उनकी अपेक्षा उनके आधार द्रव्यादि में महत्परिमाणवत्त्व हो, वह गुणादि में परिमाण ही नहीं रहता है। अतः अव्याप्ति होती है। और करतल (हाथी के तलहती) में रखे गये करतल से अतिमहत् तूलपिण्डादि के आधार करतलादि में लक्षण का होना

मपि, करतलनिहितमहत्तरतूलपिण्डादावसंभवाच्च। नापि तृतीयः, ज्ञाने-च्छादीनां परस्परोपादानत्वप्रसङ्गात्। अस्ति हि तत्र जनकस्य ज्ञानजन्ये-नेच्छादिनाऽयुतसिद्धत्वम्, आत्मैकाश्रयतया पृथगाश्रयित्वलक्षणयुतसिद्ध्य-भावात्। नापि चतुर्थः, व्यर्थविशेष्यत्वापत्तेः। नहि द्रव्यमुपादानमित्यभि-हितेऽस्ति क्वचिदतिप्रसङ्गः, येन जन्येनायुतसिद्धत्वमिति पदान्तरमुपादी-येत। नापि पञ्चमः, निरवयवेष्वात्माकाशादिष्वव्याप्तेः। नह्यात्माकाशं वा ज्ञानेच्छादिरूपेण शब्दरूपेण वा परिणमते, कात्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वात्।

अव्याप्त्यन्तरं चाह—**करतलेति**। एवं कार्याधारत्वमिति पक्षं दूषयित्वा जन्येना-युतसिद्धत्वे सति जनकत्वमिति पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। ज्ञानेच्छादौ लक्षणं वर्तयति—**अस्ति हीति**। द्रव्यत्वविशेषितं वेति पक्षं दूषयति—**नापि चतुर्थ इति**। कार्याकारेण परिणतत्वमिति पक्षं दूषयति—**नापि पञ्चम इति**। अथ किमित्यात्मा ज्ञानादिरूपेण, आकाशश्च शब्दरूपेण न परिणमत इति, तत्राह—**कात्स्न्यैकदेशेति**। अयमर्थः—किमाकाशः सर्वात्मना परिणमत? एकदेशेन वा? नाद्यः, आकाशविनाशेनानित्यतापातात्। न विनाशस्तस्यैव शब्दत्वादिति चेत्, किं

असम्भव होगा। इसप्रकार आधारत्व के नहीं सिद्ध हो सकने से कार्याधारत्व रूप उपादान का द्वितीय लक्षण खण्डित हो गया। (जन्य के साथ अयुतसिद्ध होता हुआ जनकत्व) रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानेच्छादि को परस्पर उपादानत्व प्राप्त होता है। क्योंकि एक आत्मा में रहने के कारण पृथगाश्रयाश्रितत्व रूप युतसिद्धित्व इनमें नहीं रहता है, अतः इनमें ज्ञान रूप जनक (हेतु) को ज्ञान-जन्य इच्छादि के साथ अयुतसिद्धत्व रहता ही है। द्रव्यत्वयुक्त जन्यायुतयुक्त जनकत्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्यत्व विशेषित होने पर व्यर्थ विशेष्यता की प्राप्ति होती है, द्रव्य रूप कारण उपादानकारण होता है, इतना ही कहने पर कहीं अतिव्याप्ति नहीं रहती है कि जिससे उसका वारण करने के लिये, जन्य के साथ अयुतसिद्धत्व इस पदान्तर का ग्रहण किया जा सके, अतः व्यर्थ विशेष्यता है। कार्याकार से परिणत्व रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि, निरवयव = अपरिणामी आत्मा, आकाशादि में इस लक्षण की अव्याप्ति होती हैं। क्योंकि आत्मा वा आकाश ज्ञान इच्छादि रूप से या शब्द रूप से परिणत नहीं होता है। और न्यायमत से उपादान होता है। यदि आत्मादि का ज्ञानादि रूप से परिणाम माने तो वह युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि कृत्स्नस्वरूप से वा एकदेश से परिणाम होता है, इस विकल्प को यह परिणामवाद नहीं सह सकता है। निरवयवता से एकदेश से परिणाम नहीं कहा जा सकता है, और विनाशिता की प्राप्ति से सम्पूर्ण स्वरूप से भी परिणामित्व नहीं माना जा सकता है। और

तन्त्वादीनामपि पटाद्याकारेण गुणकर्माद्याकारेण वा परिणामादर्शनात्, नहि द्रव्यं गुणः कर्म वा भवति, तदाश्रयत्वात् । नापि षष्ठः, प्रपञ्चसत्यत्ववादिभिरनङ्गीकारात् । तदेवमुपादानोपादेयभावानिरूपणान्न तदन्यथानुपपत्त्या भेदाभेदसिद्धिः ।

कारणव्यापारवैयर्थ्यं समर्थयितुमध्यवसितोऽसि ? अभिव्यक्तौ सार्थक्यमिति चेत्, सत्यमस्तीयं किंवदन्ती कापिलानाम्, तत्र त्वदभिव्यक्तावपि किमुत्पादकतया कारणचक्रसार्थक्यम् ? अभिव्यञ्जकतया वा ? आद्ये घट्टकुटीप्रभातायितम् । द्वितीये त्वनवस्थेति न किंचिदेतत् । नचोत्पत्तिप्रतिबन्दी, अनङ्गीकारात् । एकदेशपरिणामे तु किमवयव एकदेशः ? किं वान्यत् किंचित् ? नाद्यः, निरवयवत्वात् । न द्वितीयः, अप्रसिद्धत्वात् । भवतु वा यथातथा, तथापि किमेकदेश आकाशादभिन्नः ? भिन्नो वा ? नाद्यः, पूर्वदोषात् । न द्वितीयः, आकाशस्यापरिणामात् । भिन्नाभिन्नं तदिति चेत्, सत्यं यदि विरोधो न स्यात्, विरुद्धं तु तत् । अथाविरुद्धौ कौचन धर्मौ भेदाभेदाभिधानौ, रूपरसादिषु मध्ये कयोः कश्चिद्भेदाभेदनामाभिधीयते, तथापि पर्यनुयुक्तयोः पक्षयोः कः परिगृहीतः स्यात् ? नोभयमिति चेत्, तत्किमनिर्वचनीयम् ? हन्त ? शब्दाकारेणाकाशो विवर्तत इति निरवद्यं निर्वद, किमिति परिणामभाषया दुर्भगया भास्करगोत्राभिसारिकया ? एतेन परिणामपक्षं प्रत्याचक्षीत । तदेवं कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वादाकाशादीनां न परिणामः, अथ च कारणप्रसिद्धिरस्ति शब्दादिप्रतीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । न केवलं निरवयवेषु परिणामानुपपत्तिः, सावयवेष्वपीत्याह—**तन्त्वादीनामपीति** । तत्रापि हि कार्त्स्न्यपक्षे तन्तुविनाशान्निरुपादानरूपः पटः स्यात् । स्यादेकदेशपक्षेऽपि भेदाभेदविकल्पकलान्तवातनिर्मूलोन्मूलनमिति भावः । आश्रयाश्रितप्रतीतिविरोधश्चेत्याह—**नहि द्रव्यमिति** । द्रव्यं यत्तन्त्वादि, तद्गुणः कर्म वा नहि भवतीत्यन्वयः । घटादिकार्यस्याप्युपलक्षणमिति, आश्रितत्वप्रतीतेस्तत्राप्यविशेषात् । कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वमिति षष्ठं पक्षं दूषयति—**नापीति** । यः खलु कार्यकारणभावनिर्वक्ता, न चासावनिर्वचनीयवादीति भावः ।

द्वे ह्यनुपपत्ती भेदाभेदसाधनाय कीर्तिते—एकोपादानोपादेयभावानुपपत्तिः, अपरा तु सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः । तत्र प्रथमे दूषणं प्रसारितमुपसंहृत्य द्वितीयं

तन्तु आदि उपादानों का भी पटादि कार्य रूप से वा गुण कर्मादि रूप से परिणाम नहीं देखा जाता है । क्योंकि तन्तु आदि रूप द्रव्य, गुण वा कर्म रूप नहीं हो जाता है । किन्तु द्रव्य को गुण और कर्म का आश्रयत्व रहता है । (कार्यविभ्रमाऽधिष्ठानत्व) रूप षष्ठ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है । क्योंकि प्रपञ्च सत्यत्ववादी इस लक्षण को नहीं मानते हैं । इस उक्त रीति से उपादान उपादेय भाव के अनिरूपण से उसकी अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा भेदाभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

नापि सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किं शाब्दस्य सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तिः ? उतार्थिकस्य ? नोभयथापि—

युक्तेः शब्दनिमित्तानामेकाधिकरणत्वतः।
शाब्दं न तावद्घटते भेदाभेदप्रसाधकम् ॥ ६४ ॥
धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तितः ।
अभेदानुभवाभावादार्थं नैवास्य साधकम् ॥ ६५ ॥

शुक्लः पट इत्यादौ शाब्दसामानाधिकरण्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तयोरेकाधिकरणसंबन्धादेवोपपत्तेः धर्मधर्मिभेदाभेदयोरौदासीन्यात्। आर्थिकस्यापि

दूषयति—**नापीति**। तत्र भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिरूपशाब्दसामानाधिकरण्यस्यैकाधिकरणत्वलक्षणार्थिकसामानाधिकरण्यस्य चात्यन्तभेदेऽप्युपपत्तिं श्लोकद्वयेन दर्शयति—**युक्तेः शब्दनिमित्तानामित्यादिना**। शौक्ल्यपटत्वादीनामेकपटाधिकरणत्वादेव शाब्दसामानाधिकरण्योपपत्तेर्न शाब्दसामानाधिकरण्यं गुणगुण्यादिभेदाभेदप्रसाधकमिति प्रथमश्लोकयोजना। तथाऽर्थमपि सामानाधिकरण्यमस्य न साधकम्, कुतः ? धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तितः। तथाहि—धर्मधर्मिणोस्तावत्सामानाधिकरण्यमेव नास्ति, अभेदानुभव इति सामानाधिकरण्यानुभवोऽत्र विवक्षितो, नह्यस्त्यनुभवो रूपं पट इति वा, चलनं पट इति वा। तथा धर्मयोरैकाधिकरण्यमेव सामानाधिकरण्यं नाम। तथा च धर्मधर्मिणोर्भेदेऽपि तत्संबन्धादेव तदधिकरणत्वोपपत्तेरिति द्वितीयश्लोकयोजना।

तत्राद्यं विवृणोति—**शुक्ल इत्यादिना**। **धर्मधर्मीति**। धर्मधर्मिणोर्यौ भेदाभेदौ तयोरौदासीन्यादित्यर्थः। द्वितीयं विभजते—**आर्थिकेति**। **अत एवेति**। धर्मधर्मि-

---

सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति भी भेदाभेद का साधक नहीं हो सकती है, क्योंकि वह विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, क्या शाब्दसामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति है, या आर्थिक सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति है समान = एक विभक्तिक पदों में शाब्दसामानाधिकरण्य रहता है, समानविभक्तिक बोध्य अर्थों में आर्थिक सामानाधिकरण्य रहता है। प्रकृत में दोनों प्रकार की अनुपपत्ति का सम्भव नहीं है। क्योंकि—

शब्दप्रवृत्ति-निमित्तों के एक अधिकरणत्व से युक्ति (अनुपपत्ति) को शाब्द-भेदाऽभेदसाधकत्व नहीं हो सकता है ॥ ६४ ॥

धर्मों की एकवृत्तिता मात्र से सामानाधिकरण्य की सिद्धि से और अभेद के अनुभव नहीं होने से आर्थिक सामानाधिकरण्य भी इस भेदाभेद का साधक नहीं होता है ॥ ६५ ॥

शुक्ल पट है। इत्यादि में समान विभक्तिकत्व रूप सामानाधिकरण्य की शब्द

धर्मयोरेकाधिकरणतालक्षणस्यात एवोपपत्तेः। धर्मधर्मिणोरभेदानुभवस्यासंप्रतिपत्तेश्चासाधकत्वात्, गुणो द्रव्यम्, कर्म द्रव्यम्, जातिर्व्यक्तिरिति सामानाधिकरण्यानुभवाभावात्।

भिन्नाभिन्नमित्यत्र भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्याभिन्नशब्देन तदभावस्याभिधाने च भावाभावयोर्युगपदेकत्र परस्परविरोधेनासंभवात्। अभेदे च

संबन्धादेवेत्यर्थः। अभेदानुभवाभावादित्यंशं विवृणोति—**धर्मेति**। अत्राप्यभेदानुभवः सामानाधिकरण्यानुभवः। असाधकत्वात्, भेदाभेदानुभवस्येति शेषः। अनुभवाभावमेव विवृणोति—**गुण इति**।

इदानीं भेदाभेद इत्यस्यैव तावदव्याहतः कश्चिदर्थो दुर्भणः, कुत्र प्रमाणचिन्तेत्यभिसंधिराह—**भिन्नेत्यादिना**। अत्र किं भिन्न इत्यनेन स्वरूपभेदो विवक्ष्यते, अभिन्न इत्यनेन तदभावः? किंवा भिन्न इत्यनेनान्योन्याभाववत्त्वमभिप्रेयते, अभिन्न इति च तदभावः? अथवा भिन्न इति स्वरूपभेदवत्त्वम्, अभिन्न इति चेतरेतराभावराहित्यमभिधीयते इति? नाद्य इत्याह—**भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्येति**। तदा हि स्वरूपत्वमस्वरूपत्वं च भेदाभेदशब्दार्थः स्यात्, तच्च विरुद्धम्, अविरुद्धत्वेऽपि धर्मिणोऽपि स्वापेक्षया तथात्वापातात्। पटश्चापटश्चेत्यव्यवस्थितिरेव पदार्थैरास्थिता स्यादितिभावः। किंच यदि शौक्ल्यपटयोः स्वरूपभेदो नास्ति तदा शुक्ल इति पदेन यावानर्थोऽभिहितः, तावानेन पट इत्यपीति पटबुद्धेस्तच्छब्दस्य च पौनरुक्त्यं स्यात्, बुद्धेश्च पौनरुक्त्यं वैयर्थ्यमेव, शब्दस्य च पौनरुक्त्ये सह प्रयोगानुपपत्तिः। नच व्याख्यायां

प्रवृत्तिनिमित्त शुक्लत्व पटत्व के एकाधिकरण में सम्बन्ध से ही उपपत्ति (सिद्धि) होती है। अतः धर्म-धर्मी के भेदाभेद में शाब्दसामानाधिकरण्य की उदासीनता रहती है, अर्थात् भेदाभेद के विना शाब्दसामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति नहीं होने से वह भेदाभेद का साधक नहीं होता है। धर्मों की एक अधिकरणता रूप आर्थिक सामानाधिकरण्य की भी प्रवृत्ति-निमित्त के एक अधिकरण में सम्बन्ध से ही सिद्ध होने से, और धर्म-धर्मी के अभेदानुभव की असिद्धि से, आर्थिक सामानाधिकरण्य भी भेदाभेद का साधक नहीं होता है। अर्थात् (गुण द्रव्य है, कर्म द्रव्य है, जाति व्यक्ति है) इसप्रकार के सामानाधिकरण्य के अनुभव के अभाव से आर्थिक सामानाधिकरण्य भेदाभेद का साधक नहीं होता है, क्योंकि भेद रहते भी धर्मों की एक अधिकरणता रूप आर्थिक समानाधिकरणता सिद्ध हो जाती है। और धर्म-धर्मी का भेदाभेद रहता है, इसका अर्थ है कि धर्म और धर्मी भिन्नाभिन्न रहते हैं।

वहाँ भिन्न शब्द से स्वरूपभेद का (भेदवान् स्वरूप का) और अभिन्न शब्द से उस स्वरूप के अभाव का कथन होने पर, एक काल में एकत्र भावाभाव का परस्पर विरोध से रहना असम्भव होगा। और अभेद होने पर, (शुक्ल पट है) इत्यादि

शुक्लः पट इत्यादिषु द्वितीयबुद्धिव्यपदेशयोः पौनरुक्त्यापत्तेः। न च भेदस्यापि भावात्सार्थकता, अभेदस्यापि भावे वैयर्थ्यस्यापि संप्रतिपन्नांश इव दुष्परिहरत्वात्। हेत्वभावे फलाभावादौत्सर्गिकाद्धेतुभावे फलभावस्य तदपवादतया बलीयस्त्वात्। अन्योन्याभावतदभावयोर्भिन्नाभिन्नशब्दाभ्या-

मूढप्रबोधनार्थमयं सहप्रयोगः; नियमेन व्युत्पन्नान्प्रत्यपि प्रयोगात्। यदि च शुक्लपदस्य पट एवार्थः तदा शुक्लो घट इत्यत्र घटस्यापि तत्त्वेन पटघटाद्वैतापात एवं सर्वत्रेति जितमस्माभिः। ननु भेदोऽपि धर्मधर्मिणोरस्तीति कथं नैरर्थक्यमिति, तत्राह—**न चेति**। **संप्रतिपन्नांश इवेति**। पटः पट इत्यत्रेवेत्यर्थः। ननूभयहेतुसद्भावे कोऽयमाग्रहो वैयर्थ्यं स्यादिति, तत्र नैरर्थक्यमेवेति विनिगमनायां हेतुमाह—**हेत्वभाव इति**। औत्सर्गिकं खल्विदं यद्धेत्वभावे फलाभाव इति, इतरथा तयोः प्रागभावयोरनादिनोरनिवर्त्यतया नित्यमनुत्पत्तिरेव कार्यस्य स्यात्, तस्मात्तदुभयबाधको हेतुभावे फलभावोऽपवादः, तदिहापि गुणगुणिनां भेदपक्षे गुणज्ञानहेतुसद्भावेऽपि गुणिज्ञानहेत्वभावात्तज्ज्ञानलक्षणफलाभावस्यौत्सर्गिकस्याभेदपक्षे गुणज्ञानहेतुरूपगुणिज्ञानहेतुभावाद् गुणिज्ञानलक्षणकार्यभावोऽपवादो बलीयानिति नैरर्थक्यमेव युक्तमित्यर्थः। द्वितीयपक्षे पूर्वमेव दूषणमाह—**अन्योन्येति**। समानो ह्यन्योन्याभावतदभावयोरप्येकोपाधौ विरोधः। अविरोधे गवाश्वत्वयोरश्वगोत्वयोश्च घटपटत्वयोः पटघटत्वयोश्चेत्येतादृशस्थलेष्वपि भेदाभेदापातात्, जगति विरोध एवोच्छिद्येत। नच तथा प्रमाणाभावादनुच्छेद इति वाच्यम्; अत्रापि तदसंप्रतिपत्तेः। किंच मद्वचनमेवात्र किमिति प्रमाणं न स्यात्? अथ विरुद्धार्थत्वादिदमप्रमाणम्, न, अप्रमाणप्रतीतेर्विरोधस्यैवाभावात्। एतेन विरुद्धमिति नः क्व संप्रत्ययो यत्प्रमाणपथमवतरतीत्यादि, तदपि प्रत्युक्तम्। माता मे वन्ध्येतिवद्भिन्नाभिन्नमित्यपि, व्याहतार्थत्वादिति। तथान्योन्याभावतद्राहित्ये पूर्ववत्पौनरुक्त्यं चेत्यर्थः। तृतीयं शङ्कते—

वाक्यों में शुक्ल पद से कथित अर्थ को ही पट पद से कहा जायगा, तो द्वितीय पद की बुद्धि और व्यपदेश (शब्द प्रयोग) में पुनरुक्ति की प्राप्ति होगी, अर्थात् पट बुद्धि और शब्द से कुछ विशेष अर्थ प्रकाशित और कथित नहीं होगा। दूसरा पद निरर्थक होगा। यदि कहें कि भेद के भी सत्त्व से सार्थकता होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भेद के भी रहने पर अभेद के भी रहने से सम्प्रतिपन्न (ज्ञात) अंश में (पटः पटः) इत्यादि के समान व्यर्थता की भी दुष्परिहरता है। क्योंकि हेतु के अभाव रहते फल का अभाव होना औत्सर्गिक (स्वाभाविक) होने से, हेतु के रहने पर, उस फलाभाव के अपवादता (बाधकता) रूप से फल के भाव को बलीयस्त्व होता है। अर्थात् भेद, अभेद दोनों के रहते अभेद पक्ष को मानकर पुनरुक्ति व्यर्थता का नियामक क्या है, ऐसी शंका होने पर यह कहा जाता है कि

मभिधाने, विरोधपौनरुक्त्ये पूर्वोक्ते एव पुनरुपावर्तेते। ननु भेदशब्देन स्वरूपभेदस्याभेदशब्देनेतरेतराभावराहित्यस्य वाभिधानादविरोध इति चेत्, मैवम्, इतरेतराभावस्यैवोच्छेदप्रसङ्गात्। स्वरूपभेदे विद्यमानेऽपि तदविरोधितया यदि क्वचिदितरेतरभावः स्यात्, तर्हीतरेतरभावस्यैव निरंकुशप्रसरतयेतरेतराभावविरह एव जगति स्यादित्यद्वैतवाद एव भेदाभेदवादिना समर्थितः स्यात्। तदेवं भेदाभेदादिपक्षेषु कार्यकारण-

---

नन्विति। तत्र तावत्स्वरूपभेदस्येतरेतरभावस्य च विरोधोऽस्ति? नवा? यद्यस्ति, तदा स्वरूपभेदे सतीतरेतरभावेन न भवितव्यम्, गत्यन्तराभावादित्यसंभव्येवायं पक्षः। अथ नास्ति विरोधस्तदा क्वचिदपीतरेतराभावो न स्यात्, स्वरूपभेदस्यातत्प्रयोजकत्वे प्रयोजकान्तरानिरूपणादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**मैवमिति**। एतदेवोपपादयति—**स्वरूपभेद इत्यादिना**। वादार्थोपसंहारपूर्वकं परिच्छेदार्थमुपसंहरति—**तदेवमित्यादिना**। भेदपक्षे, अभेदपक्षे, भेदाभेदपक्षे च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्स्वरूपतश्च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्सकलोऽयं कार्यकारणरूपद्व्यणुक-

---

व्यर्थता ही नियामक है, क्योंकि हेतु के अभाव और फल के अभाव का अपवाद रूप हेतु का भाव और फल का भाव सर्वत्र होता है, प्रकृत में भी गुण, गुणी के भेद पक्ष में, गुण शुक्लता के ज्ञान के हेतु के सद्भाव रहते भी गुणी पट के उस गुण से भिन्न होने से उस गुणी के ज्ञान के हेतु का अभाव रहता है, अतः उसके ज्ञान के लिये पट पद का प्रयोग सार्थक होता है, क्योंकि उसके ज्ञान के हेतु के अभाव से फल का स्वाभाविक अभाव रहता है। परन्तु अभेद पक्ष में तो गुण के ज्ञान का हेतु रूप ही गुण से अभिन्न गुणी के ज्ञान के हेतु के सद्भाव से गुणी के पृथक् ज्ञान रूप कार्य का अभाव रूप अपवाद बलीयान है, अतः निरर्थकता ही है। और अन्योन्याभाव और उसके अभाव को भिन्नाभिन्न शब्द से कहने पर विरोध और पुनरुक्ति पूर्वोक्त ही फिर प्राप्त होते हैं। अन्योन्याभाव और उसका अभाव एक अधिकरण में नहीं रह सकता है। यदि कहें कि भेद शब्द से स्वरूप भेद का और अभेद शब्द से इतरेतराभावराहित्य (भेदाभाव) के कथन से विरोध नहीं होगा तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि स्वरूपभेद के साथ इतरेतर भाव को विरोध है, तो स्वरूपभेद के सर्वत्र रहने से (इतरेतर) अन्योन्याभाव कहीं रह नहीं सकेगा, उसके स्वरूप का ही उच्छेद हो जायगा, और यदि स्वरूपभेद के रहते भी अविरोधी रूप से कहीं (इतरेतर) अन्योन्याभाव रहेगा, तो इतरेतर भाव की ही निरंकुश विस्तार से इतरेतराभाव (भेद) का अभाव ही संसार में होगा, इसप्रकार से अद्वैतवाद ही भेदाभेदवादी से समर्थित = प्रतिपादित होगा।

इस उक्त रीति से भेदाऽभेदादि पक्षों में कार्यकारणादि भावों के दुर्निरूप्यत्व से

भावस्य दुर्निरूपत्वात्, स्वरूपतोऽपि विचारागोचरत्वात्, अनाद्यविद्यातद्विलसितः सकलोऽप्ययं प्रपञ्च इति तद्ग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाभावाद्वेदान्तवाक्यं निरपवादमेवाद्वितीये ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञानं जनयतीति निरवद्यम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-
श्रीचित्सुखमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां
लक्षणभङ्गो नाम द्वितीयः परिच्छेदः

परमाण्वात्मकतया भावाभावभेदैश्च प्रमाणप्रमेयभेदेन च द्रव्यगुणादिभेदैश्च नैयायिकवैशेषिकप्रभृतितार्किकैः परिकल्पितो द्वैतप्रपञ्चः शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयाविद्याविलसितः । अविद्येति च अविद्याधिष्ठानचैतन्यमप्युपलक्ष्यते । तद्विलसितस्तद्विवर्तः । इतिः हेतौ । यस्मादेवं अत इति योजना । **अपरोक्षेति** चोत्तरवादे बीजावापः ।

भेदो द्रव्यादिषट्कं क्षणनिधनमतं षट्प्रमाणान्यभावो
भावः पश्चात्पराणुर्लयविसहितश्चान्ययोगो वियोगः ।
द्वित्वादिर्जातिमानं द्व्यणुपरिमिता पाकजप्रक्रियाथो
हेतुत्वं कालकाष्ठे जनिमदपि भिदाऽभेदवादो निरस्तः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य
प्रत्यक्स्वरूपभगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां
नयनप्रसादिन्यां द्वितीयः परिच्छेदः ।

तथा कार्यादि के स्वरूप से भी विचार के विषय नहीं होने से, अनादि अविद्या का कार्य ही यह सब संसार सिद्ध होता है । अतः उस प्रपञ्च के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ विरोध के अभाव से अपवादरहित वेदान्तवाक्य अद्वितीय ब्रह्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, यह निर्दोष सिद्धान्त सिद्ध हुआ ॥

मायागुणविनासात्मबन्धदं निखिलं जगत् ।
खण्डयित्वाविचारास्त्रैरखण्डं पदमश्नुते ॥ १ ॥
भेदं द्रव्यादिकं संख्यां प्रमाणं द्व्यणुकादिकम् ।
दिक्कालादिसमं चातो विखण्ड्याऽऽत्माऽवशेषितः ॥ २ ॥

श्री स्वामी हनुमानदासजी षट्शास्त्रीकृतचित्सुखीभाषानुवाद
द्वितीय परिच्छेद समाप्त ।

तृतीयः परिच्छेदः

ननु कथमपरोक्षज्ञानजनकता शब्दस्य ? तथा सत्यपरोक्षप्रमितिकरणतया प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मप्रतिपादकवाक्येष्वदर्शनाच्च। न च दशमस्त्वमसीति वाक्यमुदाहरणम्, तत्रापि केवलशब्दस्यापरोक्षज्ञानाजनक-

किं त्रैलोक्यसरोवरस्य नचिरादुन्निद्रमेकाम्बुजं
किं वा योगिमनःसरोरुहवनप्रोद्बोधको भानुमान्।
किं वा संसृतिसूरतप्तजनतामोदे सुधादीधिति-
र्देवोऽसौ विविधं विभावितवपुः श्रीसुन्दरः पातु वः॥ १॥

इति स्म निर्वैरकथं निरूपितं समस्तवेदान्तवचोभिरद्वयम्।
अथ स्वतःसिद्धविमुक्तये नयैरुपायविज्ञानशरीरचिन्तनम्॥ २॥

अनेन च हेतुहेतुमल्लक्षणः परिच्छेदयोः संबन्धोऽपि दर्शितः। अविरुद्धतया साध्येऽवधृते हि साधनान्वेषणावकाश इति। अपरोक्षज्ञानं जनयतीत्युक्तममृष्यमाणा वैशेषिकादयो मीमांसकाश्च केचिन्मण्डनमिश्रप्रभृतयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमिति**। न केवलं शब्दत्वहान्या प्रत्यक्षत्वापत्तिर्बाधिका, अनुपलब्धिपराहतिश्चेत्याह—**धर्माधर्मेति**। ननु यद्यपि ज्योतिष्टोमादिवाक्येष्वदृष्टम्, तथापि विषयविशेषप्रयुक्तया तत्र तथात्वं किं न स्यात् ? यथा दशमस्त्वमसीत्यत्र। स च भ्रान्तिविभ्रान्तचेताः परित्यक्तमात्मानं दशमतया वाक्यादेव साक्षात्करोति कश्चिदित्यत्राह—**न च दशम इति**। यथाहि रत्नतत्त्वादावुपदेशसहितं प्रत्यक्षमेव साक्षात्कारहेतुर्न

गुरुं देवं नमामीशं सच्चिदानन्दमव्ययम्।
परं ब्रह्म विभुं विघ्नं सर्वात्मानं विमोक्षदम्॥ १॥

वेदान्तवाक्य अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है, इस पूर्वप्रकरणान्त पठित प्रश्नबीज को पाकर, प्रतिवादियों का प्रश्न है कि, वेदान्तवाक्य रूप शब्द की अपरोक्ष ज्ञानजनकता कैसी है। तथा सति, शब्द में अपरोक्ष ज्ञान की जनकता के होने पर, उस शब्द में अपरोक्षप्रमितिजनकता के कारण उसका प्रत्यक्षप्रमाण में अन्तर्भाव प्राप्त होगा, उसमें शब्द रूप प्रमाणत्व ही नहीं रहेगा। यदि कहा जाय कि तथास्तु= वैसा ही हो, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि धर्माधर्म के प्रतिपादक वाक्यों में अपरोक्ष ज्ञानजनकता देखी नहीं जाती है, अर्थात् उसमें कोई भी अपरोक्ष ज्ञानजनकता नहीं मानता है, अतः उसके साहचर्य से वेदान्तवाक्य में भी अपरोक्ष ज्ञानजनकता नहीं मानना ही युक्त है। यदि कहा जाय कि (दशमस्त्वमसि) यह वाक्य

त्वादिन्द्रियसन्निकर्षस्यापि दशमशरीरगोचरस्य तत्र भावात्। न च सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे तस्यादावदर्शनात् पश्चाद्भाविशब्दजनिततैव तस्येति निश्चेतुं शक्यम्, रत्नतत्त्वाधिगमेऽपि तथात्वप्रसङ्गात्। तथाहि—सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे अनधिगतरत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्रः पुष्परागादिभेदं न प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, अधिगतशास्त्रार्थस्तु तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते। न चैतावता शास्त्रं तत्र प्रत्यक्षप्रमितिजनकमभ्युपेयते। यत्पुनरिह कैश्चिदुच्यते—विमतं शाब्दज्ञानमपरोक्षमपरोक्षविषयत्वात्सुखज्ञानवदिति। तत्र किमिदमपरोक्षत्वं शाब्द-

---

छेवलः शब्दस्तथेहापीत्यर्थः। प्राप्ताप्राप्तविवेकेन शब्दस्यैव करणतामाशङ्क्य रत्नतत्त्वप्रतिबन्द्या परिहरति—**नचेत्यादिना**। तत्रापि प्राप्ताप्राप्तविवेकसाम्यमाह—**तथा हीति**। अनधिगतं रत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्रं येन पुंसा स तथोक्तः। पुष्परागो रत्नविशेषः। न्यायरत्नदीपावलीकृतामनुमानमुद्भावयति—**विमतमिति**। ज्योतिष्टोमादिवाक्ये बाधासिद्ध्योः परिहाराय विमतमित्युक्तम्। तत्त्वमस्यादिशब्दजनित-

---

उदाहरण है, अर्थात् नव को जानते हुए भी स्वात्म दशम में भ्रान्त चित्त वाले के प्रति जैसे (दशमस्त्वमसि) यह वाक्य अपरोक्षात्म (दशम) ज्ञान का हेतु होता है, वैसे ही देहादि में आत्मबुद्धि वाले भ्रान्तों के प्रति (तत्त्वमसि) इत्यादि वाक्य अपरोक्षात्मा के अपरोक्ष ज्ञान का हेतु होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि (दशमस्त्वमसि) इस उदाहरण = दृष्टान्त में भी केवल शब्द को अपरोक्ष ज्ञानजनकत्व नहीं रहता है, किन्तु इन्द्रियसम्बन्ध को भी दशम शरीरविषयकत्व रहता है, अतः शब्दसहित इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु होता है, केवल शब्द नहीं। यदि कहा जाय कि भ्रान्त के इन्द्रिय का शरीर के साथ सम्बन्ध तो शब्दश्रवण से प्रथम ही रहता है, परन्तु उससे उसको स्वरूप का दर्शन = अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है, और पीछे शब्द सुनने पर ज्ञान होता है, अतः पश्चाद्भावि शब्दजनितता ही उस ज्ञान में निश्चय किया जा सकता है, इन्द्रियजनितता नहीं, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर रत्न के तत्त्व ज्ञान में भी तथात्व (शाब्दत्व) प्राप्त होगा। देखा जाता है कि रत्नों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध रहते भी रत्नतत्त्व की परीक्षा शास्त्र के अध्ययनरहित पुरुष पुष्परागादि रत्नों के भेदों को प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रथम नहीं समझता है। और रत्नपरीक्षा शास्त्र का अध्ययन वाला तो उस रत्नतत्त्व को समझता है। परन्तु इससे शास्त्र वहाँ रत्न प्रमा का जनक होता है, ऐसा नहीं माना जाता है, किन्तु प्रत्यक्ष ही प्रमाण को रत्नप्रत्यक्षप्रमा का जनक माना जाता है, शब्द को सहायक माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में मन्तव्य है। और भी जो कोई यहाँ कुछ कहते हैं कि (विमत = शाब्द तत्त्वमसि आदि शब्दजन्य ज्ञान) अपरोक्ष होता है। अपरोक्षविषयक होने से, सुखज्ञानवत्) वहाँ शाब्दज्ञान का

ज्ञानस्य ? किं साक्षात्कारत्वजातिमत्त्वम् ? अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वं वा ? नाद्यः, अयं घट इति शब्देऽनैकान्त्यात् । प्रतिपत्तिव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमपरोक्षविषयत्वमिति चेत्, न, अयं पर्वतोऽग्निमानिति परोक्षापरोक्षविषयानुमानिकज्ञाने व्यभिचारात् । अपरोक्षमात्रविषयत्वं विवक्षितमिति चेत्, न, सुखेच्छायां व्यभिचारात् । तज्जनकज्ञानस्य तद्विषयत्वादिच्छायास्तद्विषयत्वमुपचर्यते इति चेत्, मैवम्, तथाप्यविद्यायां व्यभिचारात्,

---

ज्ञानमित्यर्थः । प्रत्यक्षेणार्थान्तरतानिवृत्त्यै शब्दग्रहणम् । **अयं घट इतीति** । अस्ति ह्ययं घट इति शब्दस्य पुरोवर्त्यपरोक्षघटविषयत्वम् । अथ च न साक्षात्कारत्वजातिः, ज्ञानवृत्तित्वात्तस्या इत्यर्थः । नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यज्ज्ञानव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमिति । नच शब्दस्य तथात्वमस्ति । तद्विषयज्ञानजननद्वारा हि शब्दादीनामर्थविषयत्वम् । नच ज्ञानस्य ज्ञानजननद्वारा अर्थविषयत्वम् । तत्कुतोऽनैकान्तिकतेति शङ्कते—**प्रतिपत्तीति** । तथाप्यनैकान्तिकमित्याह—**अयमिति** । अग्निमत्त्वांशः परोक्षः, पर्वतांशोऽपरोक्षः, नह्यानुमानिकज्ञाने साक्षात्त्वजातिरिति भावः । ननु परोक्षाविषयत्वे सत्यपरोक्षविषयत्वं हेतुः, नचानुमानिकज्ञानमेवमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**अपरोक्षमात्रेति** । तथापि सुखेच्छायां व्यभिचारः, तस्या अपरोक्षसुखविषयत्वेऽपि साक्षात्त्वानधिकरणत्वादित्याह—**न, सुखेच्छायामिति** । इच्छायाः सविषयत्वमौपचारिकम्, मुख्यं च विवक्षितमिति शङ्कते—**तज्जनकेति** ।

यह अपरोक्षत्व क्या है ? क्या साक्षात्कारत्व जातिमत्त्व है, या अपरोक्ष व्यवहार हेतुत्व है । प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है । क्योंकि (अयं घटः) यह घट है, इसमें हेतु अनैकान्तिक = व्यभिचारी है, क्योंकि इस शब्द में साक्षात्कारत्व जातिमत्त्व रूप साध्य नहीं है । क्योंकि वह जाति ज्ञानवृत्ति रहती है । और अपरोक्ष विषयकत्व रूप हेतु है । इस शब्द का विषय अपरोक्ष घट है । यदि कहें कि, अयं घटः, इस शब्द की अपरोक्ष ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष घटविषयत्व होता है, क्योंकि शब्द का वाच्य होता हुआ भी पदार्थ विषय नहीं कहा जाता है; किन्तु ज्ञान का विषय कहा जाता है, अतः शब्दजनित ज्ञान द्वारा शब्द का विषय अर्थ होता है । और प्रकृत में ज्ञान रूप व्यवधान के विना अपरोक्ष विषयत्व रूप हेतु है । अतः अयं घटः इस शब्द में व्यभिचार नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार से उस शब्द में व्यभिचार नहीं होने पर भी (यह पर्वत, अग्निवाला है) इस परोक्ष अपरोक्ष = अग्नि-पर्वत दोनों विषयक अनुमिति में व्यभिचार है, क्योंकि इसमें साक्षात्कारत्व जाति रूप साध्य नहीं रहता है, और पर्वतांश में अपरोक्ष वस्तु विषयत्व हेतु रहता है । यदि कहें कि अपरोक्ष वस्तुमात्र विषयत्व हेतु विवक्षित है, तो भी युक्त नहीं, क्योंकि सुखेच्छा में तो भी व्यभिचार होता है, इच्छा में साक्षात्त्व

स्वतोऽपरोक्ष आत्मैवाविद्याया आश्रयो विषयश्चेति भवद्भिरभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः, अविद्यायामेव व्यभिचारात्, तस्या अपरोक्षात्मविषयत्वेऽपि तद्विपरीतव्यवहारहेतुतया तद्व्यवहारहेतुत्वाभावात् । अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमेव हेतुरिति चेत्, न, साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात् । प्रतिप्रयोगसंभवाच्च–विवादाध्यासितः शब्दः, अपरोक्षज्ञानजनको न भवति, शब्दत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवदिति । अत्रोच्यते––

साक्षात्करणहेतोरप्यप्रत्यक्षत्वसंभवात् ।

ननु कथमपरोक्षविषयत्वमविद्याया येनानैकान्तिकतेति, तत्राह—**स्वत इति । भवद्भिरिति ।** एकजीववादिभिरित्यर्थः । अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमपरोक्षत्वमिति द्वितीये पक्षेऽप्यविद्यायां व्यभिचारस्तत्र हेतुसद्भावेऽपि साध्याभावादित्याह—**नापि द्वितीय इत्यादिना ।** नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यदपरोक्षव्यवहारहेतुत्वादिति, तथा च नाविद्यायां विपरीतव्यवहारजनिकायामनैकान्त्यमिति शङ्कते–**अपरोक्षेति ।** परिहरति—**न, साध्येति ।** सत्प्रतिपक्षं चेदमनुमानमित्याह—**प्रतिप्रयोगेति ।** ज्योतिष्टोमादिवाक्येषु सिद्धसाधनतापरिहाराय विवादेति विशेषणम् । बाधसाध्यवैकल्ययोः परिहारायापरोक्षेति विशेषणम् ।

साक्षादिति । अत्र किं बाधकवशाच्छब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं नेष्यते ? अदर्श-

---

साध्य के नहीं रहते भी अपरोक्षमात्र विषयत्व हेतु रहता है । यदि कहें कि इच्छा में उसके जनक ज्ञान के साक्षात् सुख वस्तुविषयत्व से साक्षाद् सुख वस्तुविषयत्व उपचरित होता है, और यहाँ मुख्य विवक्षित है, तो भी हेतु सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अविद्या में व्यभिचार होता है । स्वतः अपरोक्ष आत्मा ही अविद्या का आश्रय और विषय है, ऐसा आप मानते हैं । शाब्दज्ञान को अपरोक्ष व्यवहार-हेतुत्व रूप अपरोक्षत्व है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है । क्योंकि अविद्या में ही व्यभिचार है, अविद्या में अपरोक्ष आत्मविषयत्व के रहते भी, उससे विपरीत (परोक्ष) व्यवहार के हेतुत्व होने से आत्मा के अपरोक्ष व्यवहार के हेतुत्व का अभाव रहता है । अतः साध्य के नहीं रहते भी हेतु रहता है । यदि कहें कि, अपरोक्षविषयत्व हेतु का अपरोक्ष व्यवहार हेतुत्व ही अर्थ है, अतः वही उक्त अनुमान में हेतु है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इसप्रकार से हेतु को साध्याविशिष्टत्व (असिद्धत्व) प्राप्त होगा, तो सिद्धः साध्याय कल्पते, यह नहीं रहेगा । और प्रतिप्रयोग के सम्भव से सप्रतिपक्ष यह अनुमान है, प्रतिप्रयोग है कि (विवाद-विषय शब्द, अपरोक्ष ज्ञान का जनक नहीं होता है, शब्द होने से, ज्योतिष्टोमादि वाक्य के समान) यह पूर्व पक्ष हुआ । अब यहाँ सिद्धान्त पक्ष कहा जाता है कि—

साक्षात् = अपरोक्ष ज्ञान के हेतु शब्द को भी अप्रत्यक्ष = प्रमाणत्व का

दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेव तदुद्भवात् ॥ १ ॥

यत्तावदुक्तमपरोक्षप्रमितिकरणत्वे प्रत्यक्षान्तर्भावः स्यादिति। तत्र ब्रूमः—अभ्युपगम्यते हि परेणापि योगिमनसो बाह्यविषयापरोक्षप्रमितिकरणता, तथापि न बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावस्तस्याभ्युपेयते, एवं शब्दस्यापरोक्षप्रमितिजनकत्वेऽपि प्रत्यक्षान्तर्भावो मा भूत्। अथ तत्र बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावे चक्षुरादीनामन्यतमत्वं योगिमनोऽन्यत्वे सति बाह्यप्रत्यक्षप्रमितिकरणत्वं वा प्रयोजकम्, हन्तेहापि तर्हि स्वतोपरोऽक्षब्रह्मात्मविषयशब्दान्यत्वे सत्यपरोक्षप्रमितिकरणत्वं प्रत्यक्षान्तर्भावे प्रयोजकमस्तु। सिद्धे शब्दस्यापरोक्षप्रमितिकरणत्वे तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणं युक्तं तदेव तु कथमिति चेत्, दशमस्त्वम-

---

नाद्वा ? नाद्यः, तदसिद्धेः। न तावत्प्रत्यक्षान्तर्भावो बाधकः, नहि साक्षात्कारिज्ञानहेतुतामात्रेण प्रत्यक्षत्वं संभवति, शब्दव्यतिरिक्तत्वे सति तादृशस्य तत्प्रयोजकत्वात्। ननु दृष्टे शब्दस्य तद्धेतुत्वे प्रयोजकसंकोचो युक्तस्तदेव कथमिति, तत्राह—**दशम इति**। ननु तत्रापीन्द्रियमेव करणमित्युक्तम्, तत्राह—**शब्दादेवेति**। श्लोकं विवृणोति—**यत्तावदित्यादिना**। अत्र प्रत्यक्षविशेषप्रयोजके प्रतिबन्दीं गृह्णाति—**अभ्युपगम्यते हीति**। विशेषणं दर्शयन्नाभासतां प्रतिबन्द्या शङ्कते—**अथ तत्रेति**। अनीश्वरप्रत्यक्षेषु चेदं प्रयोजकगवेषणमिति द्रष्टव्यम्। नायं विशेषः, प्रकृतेऽप्येवं शब्दसंकोचत्वादिति परिहरति—**हन्तेति**। उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—**सिद्ध इति**। एतत्परिहारहेतुत्वेन तृतीयपादमवतारयति—**दशम इति**। चतुर्थपादस्य शङ्कां

संभव है, क्योंकि दशमस्त्वमसि, इत्यादि में शब्द ही से उस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

अर्थात् जो यह कहा है कि शब्द में अपरोक्षप्रमा के करणत्व होने पर, शब्द को प्रत्यक्ष के अन्तर्भाव होना होगा। वहाँ कहा जाता है कि, आप भी बाह्यविषय की अपरोक्ष प्रमिति की करणता को योगी के मन में मानते हैं, तो भी उस मन को बाह्यप्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। इसीप्रकार से शब्द को अपरोक्षप्रमिति के जनक होते भी उसका प्रत्यक्षप्रमाण में अन्तर्भाव नहीं होगा। यदि कहें कि बाह्यप्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्भाव होने में चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का अन्यतमत्व प्रयोजक (हेतु) है, या योगी मन से अन्यत्व युक्त बाह्य प्रत्यक्षप्रमिति करण प्रयोजक है, अतः योगी के मन का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं होता है। तब तो यहाँ भी स्वतः अपरोक्षब्रह्मात्मविषयक शब्द से अन्यत्व युक्त अपरोक्षप्रमितिकरणत्व प्रत्यक्षान्तर्भाव में प्रयोजक हो सकता है। यदि कहें कि शब्द के अपरोक्षप्रमितिजनकत्व के सिद्ध होने पर, उस शब्द की व्यावृत्ति के लिये उक्त विशेषण (शब्दान्यत्व) युक्त हो सकता है। परन्तु वह शब्द के अपरोक्षप्रमिति जनकत्व धर्म ही

सीत्यादिवाक्येषु दर्शनादिति ब्रूमः। ननु तत्रापीन्द्रियसहितस्यैव तद्धेतुत्वं न केवलस्येत्युक्तमिति चेत्, अत्रापि तर्हि मनःसहायस्यैव शब्दस्यापरोक्षप्रतीतिहेतुताऽस्तु। ननु तत्रेन्द्रियस्यैव करणत्वं शब्दस्य तु सहकारितामात्रमिति चेत्, न, शब्द एव करणमिन्द्रियं सहकारीति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यात्? अन्वयव्यतिरेकयोस्तूभयत्राविशिष्टत्वात्। तथापि विनिगमनायां को हेतुरिति चेत्, क्वचिद्बहुलतमे तमसि क्वचिच्च लोचनविरहिणोऽपि वाक्याद्दशमोऽस्मीत्यपरोक्षप्रमितिदर्शनमेवेति वदामः। भवत्वेवम्, तथापि ब्रह्मसाक्षात्कारे करणं मन एव 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतेः।

दर्शयति—**ननु तत्रापीति**। तत्र किं शब्दः करणमिन्द्रियं तु सहकारीत्यभिधीयते? किं वा गुडजिह्विकयेन्द्रियस्यैव करणत्वं शब्दः सहकारीत्यभिधित्सितम्? आद्ये प्रकृतेऽप्यस्त्येवेन्द्रियं सहायमित्याह—**अत्रापीति**। तथाच शब्दस्य करणत्वं न व्याहतमिति भावः। द्वितीये शङ्कते—**ननु तत्रेति**। तदेतदविनिगमनेन दूषयति—**न शब्द एवेति**। **विनिगमनायां** शब्द एव करणमिति निर्णय इत्यर्थः। हेतुं दर्शयति—**क्वचिदिति**। लोचनविरहिणः सलोचनस्यापि गाढान्धकारनिरुद्धतया अव्यापृतलोचनस्य शब्दादेवापरोक्षज्ञानदर्शनमेव नियामकमित्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्स्पर्शनव्यापाराभावस्यापि। भवत्वेवं दशमस्त्वमसीत्यादौ, प्रकृते तु न युक्तं श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—**भवत्वेवमिति**। आदिशब्देन 'हृदा मनीषया मनसाभि-

---

कैसे सिद्ध हो सकता है, तो कहा जाता है कि (दशमस्त्वमसि) दशमां तू है। इत्यादि वाक्यों में अपरोक्ष ज्ञानजनकत्व के देखने से अपरोक्ष प्रमितिकरणत्व शब्द में सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि वहाँ दशम ज्ञान में भी इन्द्रिय सहित ही शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का हेतुत्व होता है, केवल शब्द को नहीं, यह कहा गया है, तो यहाँ भी मनरूप सहाय वाला शब्द (वेदान्त) को अपरोक्ष ज्ञान हेतुता होती है, यह मन्तव्य है। यदि कहा जाय कि (दशमस्त्वमसि) यहाँ इन्द्रिय को ही करणत्व रहता है, शब्द को तो सहकारिता मात्र रहती है, करणत्व नहीं। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वहाँ शब्द ही करण रहता है, और इन्द्रिय सहकारी रहता है, यह विपरीतता ही क्यों न होगा। क्योंकि अन्वयव्यतिरेक की उभयत्र तुल्यता है। तो भी यदि जिज्ञासा हो कि विनिगमना (शब्द ही करण है, इस निर्णय) में कौन हेतु है, तो कहा जाता है कि कहीं बहुत अन्धकार में नेत्र वाले को और कहीं नेत्र हीन को भी दशमा तुम हो इस वाक्य से अपरोक्ष प्रमा ज्ञान का दर्शन ही विनिगमक है। यदि कहा जाय कि उक्त रीति से दशम का ज्ञान शब्द से हो सकता है, तो भी ब्रह्मसाक्षात्कार में तो मन ही करण हो सकता है, शब्द नहीं, क्योंकि (मनसैवेदमाप्तव्यम्) मन से ही यह ब्रह्म प्राप्त कर्तव्य है। इत्यादि श्रुति से मन को

'यन्मनसा न मनुते' 'अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिश्रुतेश्चानधिकृतमनोविषयत्वादिति चेत्, मैवम्,

तद्धेत्यादिश्रुतेः क्वापि मनसस्तदयोगतः ।
शब्दत्वानुमितेर्बाधाद्व्यभिचारादनुत्थितेः ॥ २ ॥

'तद्धास्य विजज्ञौ' 'तमसः पारं दर्शयति' इति चोपदेशमात्रादेवापरोक्षप्रमित्युपपत्तिप्रतिपादनात् । नन्वेतानि वचनान्यागमाचार्योपदेशयोर्न साक्षात्कारहेतुतां प्रतिपादयन्ति, साक्षात्कारहेतोर्मनसः सहायताप्रतिपादनपरत्वे-

---

क्लृप्तः, दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्ये'त्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते । ननु 'यन्मनसा न मनुत' इत्यादिषु मनसा पुरुषो यद्ब्रह्म न मनुते' तथा वाचो मनसा सहाप्राप्य यतो निवर्तन्त इति मनोगम्यत्वमपि निषिद्धं तत्कथं मन एव करणमिति, तत्राह—**यन्मनसेति** । **अनधिकृतमनः** असंस्कृतमनः । सिद्धान्ती परिहरति—**मैवमिति** ।

'तद्धास्य विजज्ञौ' इत्यादिश्रुतेस्तावदुपदेशमात्रादपरोक्षज्ञानजन्मावसीयते, नचैताः श्रुतयो मनः प्रति सहायतामुपदेशस्य दर्शयन्ति, न तु करणतामिति युक्तम्; मनसः क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वायोगात् । यत्तु शब्दत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तत्राह—**शब्दत्वेति** । उक्तश्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाद्दशमस्त्वमसीत्यादौ व्यभिचाराच्च शब्दत्वादित्यनुमितेरनुत्थितेरित्यर्थः ।

श्लोकं विवृणोति—**तद्धास्येति** । अस्याचार्यस्योपदेशेन तदुपदिश्यमानं ब्रह्म विजिज्ञौ विशेषेण विज्ञातवान् शिष्य इत्यर्थः । **तमसः** शोकादिकारणाज्ञानस्य **पारम्** अन्तम् । निरवद्यं ब्रह्म दर्शयति—अदर्शयदित्यर्थः । मनननिदिध्यासनविधानसत्त्वेन

करणता सिद्ध होती है । और (यन्मनसा न मनुते । अप्राप्य मनसा ब्रह्म) जिसको कोई मन से नहीं जान सकता है । मन सहित वाक् जिसको जाने बिना निवृत्त होती है) इत्यादि श्रुति को अनधिकृत असंस्कृत = अशुद्ध मनविषयकत्व है । तो ऐसा कहना युक्त नहीं । क्योंकि—

(तद्धास्य) इत्यादि श्रुति से, तथा कहीं मन के करणत्व के अयोग से, और शब्दत्व से अपरोक्ष साधनत्वाभाव अनुमान के बाध से और व्यभिचार से अनुमिति के अनुत्थान से शब्द में करणत्व सिद्ध होता है ॥ २ ॥

अर्थात् (तद्धास्य विजज्ञौ, तमसः पारं दर्शयति) उस ब्रह्म को गुरु के उपदेश से शिष्य प्रत्यक्ष समझा । तम से परब्रह्म को गुरु उपदेश से दर्शाते हैं । इत्यादि श्रुतियाँ उपदेश मात्र से ही अपरोक्ष प्रमा की उत्पत्ति का प्रतिपादन करती हैं । यदि शंका हो कि ये उक्त वचन भी आगम और गुरुवचन में ही साक्षात्कार की हेतुता का प्रतिपादन नहीं करते हैं, क्योंकि साक्षात्कार के हेतु मन की सहायता के प्रतिपादन

नाप्युपपत्तेः। अन्यथा श्रवणोत्तरकालयोर्मननिदिध्यासनयोर्विधानानर्थक्यात्, श्रवणेनैव साक्षात्कारोत्पत्तेः, श्रुतवेदान्तानामपि पूर्ववत्संसारानुवृत्तिदर्शनाच्चेति चेत्, मैवम्, असंभावनाविपरीतभावनाख्यस्य चित्तविक्षेपलक्षणस्य च प्रतिबन्धस्य निरासद्वारेण मनननिदिध्यासनयोः फलोपकार्यङ्गतयापि श्रवणं प्रति विधानोपपत्तेः। पूर्ववत्संसारित्वोपलब्धेश्च प्रतिबद्धविज्ञानपुरुषविषयत्वात्। मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादिश्रुतेश्चित्तैकाग्र्यस्याङ्गताप्रतिपादनपरत्वात्। मनसश्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मसाक्षात्कारहेतुत्वस्यादृष्टचरतया तत्र शब्दस्य सहकारित्वकल्पनानुपपत्तेः।

श्रवणं न साक्षात्कारहेतुरित्याह—**अन्यथेति**। इतोऽपि न श्रवणरूपोपदेशमात्रात् साक्षात्कारोत्पत्तिरित्याह—**श्रुत इति**। तत्र तावच्छ्रवणं प्रति फलोपकार्यङ्गतयोपयोगं मनननिदिध्यासनयोर्दर्शयति सिद्धान्ती—**मैवमित्यादिना**। यद्यपि चित्तगतमललक्षणप्रतिबन्धो यज्ञादिभिः शुद्धयाधायकैर्निवारितः, तथापि दृष्टस्य विक्षेपलक्षणप्रतिबन्धस्य ताभ्यां निरासः, अनुयाजादिवच्च फलोपकार्यङ्गतयोत्तरकालत्वमपि न विरुध्यत इति भावः। अनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—**पूर्ववदिति**। नहि प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादकत्वं कारणतां विहन्ति। उक्तं च सूत्रकृता—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनादिति' इति भावः। या तु श्रुतिर्मनसः साक्षात्कारकरणत्वे प्रमाणमुक्ता तामन्यथयति—**मनसैवेति**। यत्तु तद्धेत्यादिश्रुतीनामुपदेशस्य मनःसहायताप्रतिपादकतयाप्युपपत्तेरिति, तत्राह—**मनसश्चेति**। **अदृष्टचरतयेति**। श्रुत्यादिष्विति

परत्व से भी इन वचनों की उपपत्ति (सार्थकता) होती है। अन्यथा यदि शब्दश्रवण को ही अपरोक्ष ब्रह्मात्मज्ञान हेतुता हो, तो श्रवण के उत्तर काल में होने वाले मनन और निदिध्यासन के विधान में अनर्थकता होगी। क्योंकि श्रवण से ही ज्ञान की उत्पत्ति के होने से मननादि का कोई फल नहीं होगा। और वेदान्त के श्रवण जिन लोगों ने कर लिया है, उन श्रुत वेदान्त वालों में भी संसार की अनुवृत्ति को देखने से भी सिद्ध होता है कि श्रवण मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता है, यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि असंभावना (संशय) और विपरीत भावना (विपर्यय) नामक चित्तविक्षेप स्वरूप प्रतिबन्ध के निरास = निवारण द्वारा फलोपकारिता रूप से ही मनन निदिध्यासन का श्रवण के प्रति विधान की सिद्धि होती है। अर्थात् संशय भ्रम के निवारण द्वारा श्रवणजन्य ज्ञान रूप फल में मनननिदिध्यासन साधन होता है, साक्षात् नहीं। और पूर्ववत् संसार उपलब्धि को प्रतिबद्ध विज्ञान वाले पुरुष विषयकत्व रहता है, सर्वत्र नहीं, और प्रतिबन्धक के रहते कार्य के अनुत्पादकत्व हेतुता को नष्ट नहीं करता है, अतः श्रवण में ज्ञान हेतुता अबाधित रहती है। और (मनसैवेदमाप्तव्यम्) इत्यादि श्रुति को चित्तैकाग्रता

तथात्वे श्रवणादीनामेव वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वादात्मनश्च स्वयंप्रकाशत्वात् मनसः क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तेः। भावना-सहायस्य तु मनसो गरुडादिसाक्षात्कारप्रमित्यनुत्पादकत्वात्, तदपरोक्षस्य च विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारवद्विभ्रमत्वात्। अप्रमारूपसाक्षा-त्कारस्यापि साक्षिरूपतया मानसत्वाभावात्। इह च "भिद्यते हृदयग्रन्थि-

---

शेषः। बाधकान्तरं चाह—**तथात्व इति**। इदानीं 'क्वापि मनसस्तदयोगतः' इत्येतद्विवृणोति—**सुखादीनामिति**। एतेन साक्षात्कारहेतुतया क्लृप्तस्य मनसः संभवे शब्दस्य तत्कल्पनानुपपत्तेरिति वाचस्पतिमिश्रैरुदीरितमपोदितं मन्तव्यम्। ननु कथं साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तिर्यावता भावनापरिपाकसहकृतमनसो दृष्टं गरुडादि-साक्षात्कारहेतुत्वमिति तत्राह—**भावनेति**। किं तर्हि तदित्यत आह—**तदपरो-क्षेति**। पूर्वं साक्षात्कारहेतुत्वमङ्गीकृत्य प्रमितिहेतुत्वं नास्ति इत्युक्तमिदानीं तदपि न मनोजन्यमित्याह—**अप्रमेति**। एतेनाप्रमारूपसाक्षात्कारहेतोर्मनसः क्वचित्प्रमाहेतु-त्वेनापि भवितव्यं नयनादिवदिति पर्यनुयोगोऽपि परास्तः। प्रस्तुतस्थले च प्रमारूप-साक्षात्कार एवाविद्यानिवृत्तिक्षमः श्रुतिभिरवगम्यते, तत्र च मनसः करणत्वनिषेधात् करणान्तरानिरूपणाच्च वेदान्तवाक्यमेव करणमित्याह—**इह चेत्यादिना**। अथवात्रापि साक्षिरूप एव साक्षात्कारोऽविद्यानिवर्तकः, अतस्तत्करणत्वेन शब्द-कल्पनमपि मनोवदेवायुक्तमिति, तत्राह—**इह चेति**। 'मामेव', 'तरत्यविद्या'मिति

की ज्ञानाङ्गता के प्रतिपादन परत्व है, मन के करणत्व प्रतिपादन परत्व नहीं। और श्रुति आदि में नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाले ब्रह्मात्मा के साक्षात्कार के हेतुत्व को मन सम्बन्धित्व रूप से अदृष्ट अश्रुत होने से मन में शब्द के सहकारित्व की कल्पना नहीं हो सकती है, अर्थात् मन करण है, और शब्द उसमें सहकारी हेतु है, ऐसी कल्पना नहीं हो सकती है। और वैसी कल्पना होने पर साक्षात्कार के साधन रूप से श्रवणादि को ही व्यर्थता प्राप्त होगी। और सुखादि के साक्षिवेद्य होने से आत्मा के स्वयं प्रकाश होने से मन के साक्षात्कार के हेतुत्व (करणत्व) कहीं प्रसिद्ध नहीं है, कि जिससे मन को करण मान कर शब्द को सहकारी माना जाय। यदि कहा जाय कि दृढ भावना युक्त मन में गरुडादि देव के साक्षात्कार के हेतुत्व को देखा गया है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भावना रूप सहाय वाला मन को भी गरुडादि के साक्षात्कार रूप प्रमा के उत्पादकत्व (जनकत्व) नहीं होता है, क्योंकि उस गरुडादि के अपरोक्ष को विधुर (स्त्री-विरही) से चिन्तित कामिनी के साक्षात्कार के समान विभ्रमत्व रहता है। और वस्तुतः मन में प्रमिति करणत्व नहीं है, इतना ही नहीं, किन्तु भ्रान्ति करणत्व भी नहीं है, क्योंकि अप्रमा रूप साक्षात्कार को भी साक्षिस्वरूप होने से उसमें मानसत्व का अभाव है। और इस

श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः," "तमसः पारं दर्शयति," भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः," "तरति शोकमात्मवित्," "योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि," "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते," तरत्यविद्यां विततां"-मित्यादिश्रुतिस्मृतिषु ब्रह्मविद्याया एवाविद्यानिवर्तकत्वश्रवणात् पारिशेष्या-त्तत्कारणं वेदान्तवाक्यमिति निश्चीयते। श्रूयते च—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्," "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि," "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इति। अत्र हि वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य विज्ञानमिति विशेषणेन विशेष-विषयत्वप्रतिपादनात्, निश्चयहेतुत्वे सिद्धेऽपि सुशब्दविशेषणेनापरोक्षनिश्चय-

---

स्मृती। शोककारणाविद्यामित्यर्थः। वेदादेव परमेश्वरज्ञानमित्यत्र साक्षादेव श्रुतिर-स्तीत्याह—**श्रूयते चेति**। तं बृहन्तम् अपरिच्छिन्नं परमेश्वरं अवेदवित् अवेदज्ञः पुरुषो न मनुते, अपितु वेदज्ञ एव जानातीत्यर्थः। अत्र च वेदशब्देन तदेकदेशा वेदान्ता विवक्ष्यन्ते। अथवा सप्रपञ्चनिष्प्रपञ्चप्रतिपादकतया सर्वे एव विवक्षिताः। उपनिषत्स्वेव वेद्यत इत्यौपनिषदः। वेदान्तजनितं विज्ञानं वेदान्तविज्ञानम्। नन्वत्र साक्षात्कारः कथं लभ्यते? नापि विज्ञानमित्युपसर्गबलात्, तस्य विशेषेण ज्ञानमिति निश्चयमात्रपर्यवसितत्वादिति, तत्राह—**अत्रेति**। चकारस्तूपपत्त्येदमुपसर्गसामर्थ्यं समुच्चिनोति। तां चोपपत्तिं वक्ष्यति।

वेदान्त वाक्य के करणता में तो श्रुति ही प्रमाण है। क्योंकि (भिद्यते हृदयग्रन्थि-श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। तमसः पारं दर्शयति। भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः। तरति शोकमात्मवित्। योऽस्माकमविद्यायाः परंपारं दर्शयति। मामेव ये प्रपद्यन्ते माया-मेतां तरन्ति ते। तरत्यविद्यां विततां) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों में ब्रह्मविद्या के ही अविद्या के निवर्तकत्व को सुना गया है। अतः परिशेषता से उस विद्या का करण वेदान्त वाक्य है, यह निश्चय होता है। जिस परावर के दर्शन से अविवेक कामादि ग्रन्थि = बन्धन कट जाता है, सर्वसंशय नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान के अन्तःस्वरूप ब्रह्म को गुरु दर्शाते हैं। देह के पतन होने पर फिर सब अविद्या निवृत्त हो जाती है। आत्मज्ञ शोकरहित हो जाता है। जो हमें अविद्या के परःपार को दर्शाता है। जो मुझे प्राप्त करते हैं, वे इस माया को तरते हैं, इत्यादि उक्त वचनों के संक्षिप्त अर्थ हैं। और भी सुना जाता है कि (वेद को नहीं जानने वाले उस बृहद् विभु को नहीं जानते हैं। किन्तु वेदज्ञ ही जानते हैं। उस उपनिषद् से ज्ञेय औपनिषद् पुरुष को मैं आप से पूछता हूं। वेदान्तजनित विज्ञान से सुनिश्चित अर्थ वाले सब परिमुक्त होते हैं। इन श्रुतियों में वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान के विज्ञान इस विशेषण से विशेषविषयत्व का प्रतिपादन किया है, उससे वेदान्तवाक्य में निश्चय हेतुत्व के सिद्ध होने पर भी सुशब्द रूप विशेषण से अपरोक्ष निश्चय हेतुत्वप्रतिपादन से यह

हेतुत्वप्रतिपादनाच्चायमर्थो निश्चीयते ।

यत्पुनः शब्दत्वादित्यनुमानम्, तच्छ्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टम्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्येऽनैकान्त्यं च ।

प्रतिप्रयोगयोगाच्च विपक्षे बाधसंभवात् ।
तस्याभाससमानत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ॥ ३ ॥

प्रतिप्रयोगश्च—अपरोक्षत्वं तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववत् । न च परोक्षत्वं तद्वृत्ति परोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वादिति सप्रतिसाधनता, सिद्धसाधन-

---

उत्तरार्धं विवृणोति—यत्पुनरिति । दूषणान्तरं चानुमानस्य श्लोकेनाह—**प्रतिप्रयोगेति** । अपरोक्षत्वमित्यादिप्रतिप्रयोगसंभवात् । नन्वपरोक्षत्वस्याग्निहोत्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्तित्वमप्येवं शक्यानुमानमित्याभाससमानतेति, तत्राह—**तस्याभाससमानत्वादिति** । तत्र हेतुः विपक्षे बाधसंभवादिति ।

श्लोकं विवृणोति—**प्रतिप्रयोगश्चेति** । ज्ञानवृत्तीत्युक्ते प्रत्यक्षवृत्तितया अर्थान्तरता, तदर्थं वाक्यजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि विवक्षितासिद्धिः, वाक्यान्तरमादायाप्युपपत्तेरित्यत उक्तम्—**तत्त्वमस्यादीति** । असिद्धिनिवृत्त्यर्थं हेतावपरोक्षग्रहणम् । सविकल्पकत्वादिना वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानानिष्ठेन व्यभिचारनिरासार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । द्वितीयेऽपि शाब्दावृत्त्यनुमितित्वादिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभाव-

---

उक्त अर्थ निश्चित होता है कि वेदान्तवाक्य ही ब्रह्मात्मा के अपरोक्ष ज्ञान का करण है ।

और जो शब्दत्व हेतु से अपरोक्ष ज्ञानजनकत्वाभाव का अनुमान कहा था, वह अनुमान श्रुतिविरोध से कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है । और (दशमस्त्वमसि) इत्यादि वाक्य में शब्दत्व हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि इस शब्द से दशम का अपरोक्ष ज्ञान होता है । अतः साध्य नहीं है, शब्दत्व हेतु है ।

और प्रतिप्रयोग के सम्भव से, विपक्ष में बाध के सम्भव से और उस अनुमान में आभास तुल्यता से शब्द रूप वेदान्त वाक्य से ही अपरोक्ष ज्ञान निश्चित होता है ॥ ३ ॥

और प्रतिप्रयोग (प्रतिपक्ष) है कि (अपरोक्षत्व = धर्म, तत्त्वमसि, आदि महावाक्यजन्य ज्ञान में रहता है । अपरोक्ष ज्ञानवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, ज्ञानत्व समान), यदि कहें कि इस अनुमान को सप्रतिसाधनता = सप्रतिपक्षता है, क्योंकि (परोक्षत्व, तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य ज्ञान में रहता है, परोक्षज्ञानवृत्ति अत्यन्ताऽभाव का अप्रतियोगी होने से, ज्ञानत्व समान) ऐसा प्रतिप्रयोग

त्वात्। इष्यते हि तस्यासंभावनाविपरीतभावनाप्रतिबद्धान्तःकरणे पुरुषे परोक्षज्ञानजनकत्वम्। 'तद्धास्य विजिज्ञौ' इति श्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। न चापरोक्षत्वमग्निहोत्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववदित्याभाससमानयोगक्षेमता, विपक्षे बाधकतर्काभावेन तस्याप्रयोजकत्वात्। किं वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिर्बाधिका? उतानुष्ठानानुपपत्तिः? स्वर्गादिफलासिद्धिर्वा? नाद्यः, अनुमानादिवत्प्रमाण्योपपत्तेः। न द्वितीयः, परोक्षनिश्चयादप्यनुष्ठानसिद्धेः। न तृतीयः, अनुष्ठानादेव फलसिद्धेः। इह त्वात्मविज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वश्रुत्यन्यथानुपपत्तिरेव बाधिका। तथाहि—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्, 'ब्रह्म

ग्रहणम्। असिद्धिनिवृत्त्यर्थं च परोक्षग्रहणम्। सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—**इष्यते हीति**। अथ ब्रूयाद्ध्रुवदभिमतज्ञानवृत्तित्वमनुमेयमिति, तत्राह—**तद्धास्येति**। तस्याभाससमानत्वादित्यस्याशङ्कां पठति—**न चापरोक्षत्वमिति**। विपक्षे बाधकमेव विकल्पयति—**किं वाक्येत्यादिना**। यदि ह्यपरोक्षज्ञानजनकं न भवेत् तर्ह्यप्रमाणं स्यादिति तावन्न बाधकम्, अनुमाने व्यभिचारादित्याह—**अनुमानेति**। विपक्षे बाधसंभवादित्येतद्विवृणोति—**इह त्विति**। श्रूयतां नाम ततः किमिति, तत्राह—

हो सकता है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रतिप्रयोग में सिद्धसाधनता होती है। असम्भावनाविपरीत भावना से प्रतिबद्ध (युक्त) अन्तःकरण वाले पुरुष में उस महावाक्य के परोक्ष ज्ञानजनकत्व को माना ही जाता है। यदि कहा जाय कि अप्रतिबद्ध अन्तःकरण वाले के ज्ञान में प्रतिप्रयोग से परोक्षता के अनुमान में सिद्धसाधनता नहीं होगी, तो कहा जाता है कि (तद्धास्य विजज्ञौ) इस श्रुति से विरुद्धता होने से प्रतिप्रयोग बाधित है। यदि कहें कि अपरोक्षत्व (अग्निहोत्रं जुहुयात्) इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान में रहता है। (अपरोक्षज्ञानवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, ज्ञानत्व समान) इस आभास के समान योगक्षेमता उक्त अनुमान में है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विपक्ष में बाधक तर्क के अभाव से उस आभास को अप्रयोजकत्व (साध्याऽसाधकत्व) है। यदि विपक्षबाधक तर्क है तो, वह क्या वाक्य प्रामाण्यानुपपत्ति बाधक है, या अनुष्ठानानुपपत्ति है, या स्वर्गादि फलाऽसिद्धि है, यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञानजनकता के बिना भी अग्निहोत्रादि वाक्यों में अनुमानादि के समान प्रमाणता की सिद्धि होती है। परोक्ष निश्चय से अनुष्ठान की सिद्धि से दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं। अनुष्ठान से ही स्वर्गादि फल की सिद्धि से तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, इससे प्रतिपक्ष रूप अनुमान में विपक्ष बाधक तर्क का अभाव है। और इस सिद्धान्त के अनुमान में तो आत्मविज्ञान के मोक्षसाधनत्व बोधक श्रुति की अन्यथा (अपरोक्ष ज्ञानजनकत्व के बिना)

वेद ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्'—इति वेदान्तवाक्यजनितात्मविज्ञानान्मोक्षः श्रूयते। स च सविलासाज्ञाननिवृत्तिलक्षणः। संसारस्य दुर्निरूपत्वेनाविद्यारूपत्वात्, तस्य चाहं कर्ता भोक्तेत्याद्यपरोक्षविभ्रमलक्षणस्य परोक्षज्ञानान्निवृत्त्यनुपपत्तेः। ब्रह्मणि च सकलकरणागोचरे प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षज्ञानानुत्पत्तेर्वाक्याच्चापरोक्षज्ञानानुत्पत्तावनिर्मोक्षः स्यादिति विपक्षे वाधकतर्कसंभवान्नाभाससमानतानुमानस्य, तस्माच्छब्दादेवापरोक्षज्ञानात् कैवल्यमिति सकलमनाविलम्।

ननु कथं ज्ञानात्कैवल्यं तस्य स्वर्गादिफलकर्मशेषतया स्वतन्त्रफलसाधन-

---

स चेति। यथा चाज्ञाननिवृत्तिर्मोक्षः तथा चतुर्थपरिच्छेदे वक्ष्यते। ननु संसारनिवृत्तिर्मोक्षः, किमिदमुच्यते अविद्यानिवृत्तिरिति, तत्राह—**संसारस्येति**। तथापि वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं विना किमनुपपन्नम्? तत्राह—**तस्य चेति**। दिङ्मोहादौ तथा दर्शनादिति भावः। एतेन योपपत्तिर्वक्ष्यतीत्युक्ता, सापि प्रदर्शिता। नन्वपरोक्षज्ञानमपि मनसैवोत्पद्यतामिति, तत्राह—**ब्रह्मणीति**। प्रत्यक्षेत्यपरोक्षज्ञानं विवक्षितम्। वादार्थमुपसंहरंश्चतुर्थम् पादं व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

ज्ञानात् कैवल्यमित्युक्तमसहमानः कर्ममीमांसकः आक्षिपति—**ननु कथमिति**। ननु कथमात्मज्ञानस्य कर्मशेषता? तद्बोधकप्रमाणाभावात्, नह्यात्मज्ञानेन कर्म कुर्यादिति काचित् श्रुतिरस्ति विनियोक्त्री, नापि लिङ्गमसमर्थत्वात्, नापि वाक्यम्, पदद्वयसमभिव्याहाराभावात्, नापि प्रकरणम्, साकाङ्क्षविधिसान्निध्यभावात्, नापि

अनुपपत्ति ही विपक्ष का बाधक है। क्योंकि (ब्रह्मवित् परब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है। आत्मवेत्ता शोकरहित होता है) इस प्रकार से वेदान्तवाक्य जनित आत्मविज्ञान से मोक्ष सुना जाता है। और वह मोक्ष कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति स्वरूप है। जन्मादि संसार के दुर्निरूप होने से संसार दुर्निरूप अविद्या स्वरूप = माया अविद्या का कार्य है। मैं कर्ता हूं भोक्ता हूं, इत्यादि अपरोक्ष वि भ्रम स्वरूप उस संसार की परोक्ष ज्ञान से निवृत्ति हो नहीं सकती है, प्रत्यक्ष भ्रम की प्रत्यक्ष ही ज्ञान से निवृत्ति होती है। और सब करणों के अविषय ब्रह्मविषयक प्रमाणान्तर से प्रत्यक्ष ज्ञान की अनुत्पत्ति होती है, और वाक्य से भी अपरोक्ष ज्ञान की अनुत्पत्ति होने पर अनिर्मोक्ष प्राप्त होगा। विपक्ष में इस बाधक तर्क के सम्भव से सिद्धान्त के अनुमान में आभास के साथ समानता नहीं है। अतः शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान होता है, उससे कैवल्य = मोक्ष होता है, यह सब अनाविल (अपङ्किल = अदूषित) वर्णन है।

कर्ममीमांसक की शंका है कि, ज्ञान से कैवल्य कैसे हो सकता है, देहादि से भिन्न उस आत्मज्ञान को स्वर्गादि फल वाले कर्मों की शेषता = अङ्गता से स्वतन्त्र

त्वाभावात्। देहव्यतिरिक्तात्मतत्त्वविज्ञानव्यतिरेकेण पारलौकिककर्मणि प्रवृत्त्ययोगात्, फलश्रुतेश्चापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वात्।

तथाचाहुः—

'आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम।

स्थानम्, कर्मसन्निधावपठ्यमानत्वात्, नापि समाख्या, संज्ञासाम्याभावात्, ततः कथं कर्मशेषत्वमिति, तत्राह—**देहव्यतिरिक्तेति**। यद्यपि श्रुत्यादीनि न सन्ति, तथापि सामर्थ्यलक्षणमस्ति लिङ्गं विनियोजकम्, भस्मीभूयमानदेहस्य पारलौकिकफलोपभोगासंभवादिति भावः। ननु मोक्षाख्यं फलमात्मज्ञानस्य श्रूयते, ततः श्रुताधिकारस्य कथमन्यशेषत्वमिति, तत्राह—**फलश्रुतेरिति**। यथाहि—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति', 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति छन्दसामेव रसेनावद्यती' त्यादौ पर्णमयीत्वाद्याश्रित्य श्रूयमाणापापश्लोकादिश्रवणमर्थवादः, तत्कस्य हेतोः? परार्थत्वात्। नह्यत्र साक्षात्फलश्रवणमस्ति कामशिरस्कत्वाभावात्। कीर्तनमात्रं ह्येतत्। तथा च न रात्रिसत्रवद्विपरिणेतव्यम्। नच स्वशेषिफलेनैव निराकाङ्क्षपर्णमयीतायाः फलान्तरापेक्षास्ति, यदर्थम् विपरिणेतव्यम्। नच वाक्यं क्रतुसंबन्धबोधनपरमपि भवति, तस्मादर्थवाद एवैतत् प्रतिबद्धफलश्रवणम्, तथेहापि स्वशेषिकर्मफलेनैव निराकाङ्क्षस्यात्मज्ञानस्य न ब्रह्मैव भवतीत्यादिवर्तमानोपदेशविपरिणामापेक्षेत्यर्थः। तथाह परमर्षिः—'द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्या'दिति। अत्र वार्तिककारसंमतिमप्याह—**तथा चाहुरिति**। अचोदितत्वे हेतुः—

फल साधनत्व का ज्ञान में अभाव रहता है। देह से भिन्न आत्मतत्त्व के विज्ञान के बिना पारलौकिक कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अतः देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म में प्रवृत्ति का हेतु होने से कर्म का अङ्ग है, स्वतन्त्र फल का हेतु नहीं है। ज्ञान के जो शोकनाश ब्रह्मप्राप्ति मुक्ति फलविषयक श्रुतियाँ है, वह (यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति) जिसका जुहूयज्ञपात्र पर्णमयी = पलाश काष्ठरचित होता है, वह यज्ञकर्ता पापश्लोक = अपना अपयश नहीं सुनता है। इत्यादि के समान अर्थवाद (स्तुति) रूप है। जुहूः स्वार्थ नहीं होता है, परार्थ (यज्ञार्थ) होता है। अतः उसका स्वतन्त्र फल नहीं होता है, तो भी जो फल श्रुति है, वह अर्थवाद मात्र है, वैसे ही आत्मज्ञान कर्माङ्ग है, अतः उसका स्वतन्त्र फल नहीं होता है, तो भी जो फल श्रुति है, वह स्तुति रूप अर्थवाद है, यह भट्टपाद कहते हैं—

आत्मा ज्ञातव्य इत्यादि मोक्ष के लिये नहीं कहा गया है, क्योंकि (आत्मज्ञान के कर्म में प्रवृत्ति के हेतुत्व आत्मा ज्ञातव्य इत्यादि श्रुतियों से लक्षित = ज्ञात होता है।

कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम् आत्मज्ञानस्य लक्ष्यते ॥
विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये याऽपि नाम फलश्रुतिः ।
सार्थवादो भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तरम् ॥' इति ।

(श्लो० वा० संवन्ध० १०३, १०४)

देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्य कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वेऽप्यशनायाद्यतीतब्रह्मविज्ञानस्य न तच्छेषत्वमनुपयोगादधिकारविरोधाच्चेति चेत्, मैवम्, आज्यावेक्षणव्रीहिप्रोक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपपत्तेः । न चाधिकारविरोधः, तथाभूत-

---

कर्मेति । फलान्तरश्रवणस्य गतिमाह—**विज्ञात इति** । **न स्वर्गादेरिति** । स्वर्गादेः सकाशात्फलान्तरमपि नास्तीत्यर्थः । स्यादेतत्–द्विविधं ह्यात्मज्ञानम्, एकं स्थूलदेहमात्रव्यतिरिक्ततया, अपरं सूक्ष्मदेहतत्कारणाविद्यातिरिक्ततया । तत्र प्रथमं कर्माङ्गम् भवति, इतरत्तु न तथा, अनुपयोगात्, प्रत्युताधिकारविरोध एव ।

नाहं भोक्तेत्यभिमन्यमानः कथं भोक्ता स्यात् ? नाहं कर्तेत्यभिमन्यमानो वा कथं कर्ता स्यात् ? इति शङ्कते—**देहव्यतिरिक्तेति** । अशनायादीत्यादिशब्देन ब्राह्मण्यादिशब्देन ब्राह्मण्यादिजातिराहित्यं गृह्यते, तेन चाधिकारान्वयः प्रतिपिध्यते । तत्रानुपयोगं परिहरति—**आज्यावेक्षणेति** । दृष्टोपयोगाभावेऽप्यदृष्टोपयोगोऽस्ति, शास्त्रैकगम्यत्वादस्येत्यर्थः । अधिकारविरोधं परिहरति—**न चाधिकारेति** । यथाहि तथाविधाभिमानेऽपि यमादौ प्रवृत्तिर्विहितत्वात् तथा कर्मण्यपि विहितत्वादेव प्रवर्तितव्यम्, शास्त्रेण च तथाविधाभिमाने विद्यमानेऽपि प्रवृत्तिरुपदिश्येत, को

और इस ज्ञान में परार्थता (कर्माङ्गता) के ज्ञात होने पर जो यह ज्ञानी के लिये, पापों के अफल (फलाभाव) की श्रुति है कि (अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते) इस ज्ञानी के सब पाप नष्ट हो जाते हैं । इत्यादि । यह अर्थवाद ही हो सकता है । क्योंकि स्वर्गादि से अन्य ज्ञान का फल नहीं होता है) ।

यदि शंका हो कि आत्मज्ञान दो प्रकार का होता है, एक तो स्थूल देह से भिन्न कर्ता, भोक्ता आदि रूप से आत्मा का ज्ञान होता है, वह ज्ञान कर्मप्रवृत्ति का हेतु होता है, यह कहना बनता है, परन्तु वेदान्तवाक्यादि से जन्य सूक्ष्म देह से भी भिन्न भूख, पिपासा कर्तृ भोक्तृत्वादि रहित आत्मा का ज्ञान दूसरा होता है, उस ज्ञान को कर्माङ्गत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि उस ज्ञान का कर्म में उपयोग = फल नहीं हो सकता है, उल्टा अकर्ता आदि स्वरूप आत्मज्ञान से कर्माधिकार का विरोध उपस्थित होता है, यहाँ मीमांसक कहते हैं, कि ऐसी शंका युक्त नहीं है, उस दूसरे ज्ञान का भी, कर्माङ्ग आज्यावेक्षण (यजमानपत्नी द्वारा घृत का दर्शन) व्रीहिप्रोक्षणादि के समान अदृष्ट द्वारा कर्म में उपयोग होता है । और उस आत्म ज्ञान से कर्माधिकार में विरोध भी नहीं होता है, क्योंकि क्षुधा आदि रहित ब्रह्म

ब्रह्मविदामपि यमनियमादौ प्रवृत्तिवत्कर्मप्रवृत्त्यविरोधात्। जनकोद्दालक-प्रभृतीनां तथाभूतानामपि कर्मणि प्रवृत्तिदर्शनाच्चेति चेत्, अत्रोच्यते—

अभावाच्छ्रुतिलिङ्गादेरुपयोगानिरूपणात् ।
अधिकारविरोधाच्च कर्माङ्गं नात्मतत्त्वधीः ॥ ४ ॥

न तावद् 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इतिवदात्मविज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे श्रुतिरस्ति। न च 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं

विरोधः? प्रत्युत प्रत्यवाय एव तदकरणे स्यादिति भावः। अस्ति चात्र लिङ्गं यदात्मज्ञाने विद्यमानेऽपि कर्मप्रवृत्तिर्न विरुध्यते इत्याह—**जनकेति**।

सिद्धान्ती समाधत्ते—**अत्रेति**। आद्यपादं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। यथा हि 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यैन्द्रयाः "कदाचन स्तरीरसि" इत्यृचो गार्हपत्यमिति गार्हपत्योपस्थाने तृतीयया विनियोगः, किंचित्प्रति हि शेपत्वं तृतीययावगम्यते, तच्च किंचित्किमित्यपेक्षायां गार्हपत्यमिति विशेषसमर्पणम्, गार्हपत्यमिति च द्वितीयया किंचित्प्रति शेपित्वं गार्हपत्यस्य प्रतीयते, ऐन्द्रीपदेन च शेषविशेषः समर्प्यते, अत एव च न वाक्यगम्यत्वशङ्कापि, न तथेहात्मज्ञानस्य कर्मशेपत्वबोधिका काचन विनियोजिका श्रुतिरस्तीत्यर्थः। ननु 'यदेव विद्यया करोति' श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या उपनिषदा रहस्यविज्ञानेन च करोतीति विद्यायाः कर्मण्यस्ति विनियोग इति, तत्राह—**न चेति**। अत्र तावत्सर्वविद्यानां सर्वकर्मसु विनियोगो न

ज्ञानियों की भी जैसे यम, नियमादि साधन में प्रवृत्ति होती है। वैसे कर्म में प्रवृत्ति में भी विरोध नहीं हो सकता है, क्योंकि अविहित कर्म में ज्ञानी प्रवृत्त नहीं हो सकता है, विहित में तो प्रवृत्त होगा ही, अन्यथा नित्यादि कर्मों के त्याग से दोषभागी होगा, अत एव उक्त आत्मतत्त्वज्ञ भी जनक, उद्दालकादि महापुरुषों की कर्म में प्रवृत्ति की कथा देखी-सुनी जाती है। यदि ऐसी शंका है, तो अब यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

ज्ञान की कर्माङ्गता में श्रुति, लिङ्गादि प्रमाणों का अभाव है, तथा उपयोग का निरूपण नहीं हो सकता है, और कर्माधिकार का भी विरोध होता है, अतः आत्मतत्त्व का ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

अर्थात् (ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते) इन्द्र जिसकी देवता हैं, उस (कदाचन-स्तरीरसि) इस ऋङ्-मन्त्र से गार्हपत्य नामक अग्नि के प्रति उपस्थित होना चाहिये, यहाँ इस मन्त्र की तृतीय विभक्ति श्रुति से गार्हपत्योपस्थान में अङ्गता सिद्ध होती है, और गार्हपत्य में द्वितीया विभक्ति श्रुति से गार्हपत्य में शेपित्व (अङ्गित्व) का बोध है। इसप्रकार से आत्मज्ञान के कर्माङ्गत्व का बोधक कोई श्रुति नहीं है। यदि कहें कि (जो ही कर्म विद्या, श्रद्धा, उपनिषद्-रहस्य ज्ञान से करता है, वह

भवति' इति श्रुतिः तस्याः प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वात्। श्रद्धादिवत्सार्वत्रिकं किन्न स्यादिति चेत्, तथाप्युपासनानुष्ठानस्यैव तदङ्गताऽस्तु, उपासनाप्रकरणे पाठात्। नापि 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इतिवच्छ्रुतिसामर्थ्यलक्षणं लिङ्गमस्ति। न चोद्दालकादीनां कर्मणा सहात्मविज्ञानसद्भावो लिङ्गम्,

---

यथाश्रुति प्रतिपिपादयिषितः, अशक्यत्वात्। तस्माद्योग्यविषये संकुचन्ती श्रुतिः प्रकरणमनुरुध्योद्गीथविद्याविषयतया च तिष्ठते, तेन नात्मविद्यामास्कन्दत इत्यर्थः। एतदेवाक्षेपसमाधानाभ्यां दर्शयति—श्रद्धादिवदित्यादिना। यथा स्वविशेषितश्रद्धामात्रस्य सर्वकर्माङ्गत्वमेवं विद्यामात्रस्यापि कर्ममात्रशेषता किं न स्यादित्यर्थः। तदङ्गतेति। सा विद्या अङ्गं यस्योपासनानुष्ठानस्य तत्तदङ्गं तद्भावस्तदङ्गता। अत्रापि हि न श्रद्धामात्रमुपयोगि, नहि कारीरीश्रद्धा ज्योतिष्टोमोपयोगिनी; तस्माद्योग्यतावशेन विनियोक्तव्यम्। तथाच पूर्वोक्तप्रकरणपीडने कारणाभावाद्विद्यात्वाविशेषेणात्मविद्याग्रहेऽपि तत्तत्प्रकृतोपासनायामेव शेषत्वम्, तत्रापि 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादिविद्यानां दहराद्युपासनानुष्ठानशेषत्वम्, निर्गुणविद्यापि परीक्षा भावनोपयोगिनी, अपरोक्षा तु न किंचित्प्रति, ततः परमनुष्ठानाभावादिति विवेक्तव्यम्। उक्तश्चायमर्थो व्याकरणाधिकरणे भट्टपादैः—

'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणा॥ इति।

नापीति। यथाहि 'बर्हिर्देवसदनम्' देवानां सदनभूतं बर्हिर्दर्भमुष्टिविशेषं दामि खण्डयामिति बर्हिर्लवनप्रकाशनसमर्थमन्त्रस्य सामर्थ्यलक्षणलिङ्गेन बर्हिर्लवने विनियोगः, न तथेह किंचित् श्रुतिसामर्थ्यमस्तीत्यर्थः। श्रुतिसामर्थ्यलक्षणलिङ्गाभावेऽपि लिङ्गान्तरमस्तीत्याशङ्क्य विपरीतलिङ्गस्यापि भावादिदमनिर्णायकमित्याह—न चोद्दालकेति। स्यादेतत्—आत्मा तावदव्यभिचरितक्रतुसंबद्धः, तत्संबन्धि

कर्म बलवत्तर होता है) यह श्रुति विद्या की कर्माङ्गता का बोधक है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सब विद्या सब कर्म का अङ्ग हो नहीं सकती है, अतः प्रकरण से इस श्रुति को प्रकृत उद्गीथ विद्या विषयत्व है, कि उद्गीथ रूप सामभाग की उपासना सहित जो कर्म किया जाता है, वह बलवत्तर होता है। यदि कहें कि श्रद्धा आदि शब्द से सामान्य श्रद्धा आदि का ग्रहण होता है, वैसे ही विद्या से सार्वत्रिक (सामान्य विद्या) का ग्रहण क्यों न होगा। अर्थात् जैसे सामान्य श्रद्धादि को कर्माङ्गता है, वैसे सामान्य विद्या को कर्माङ्गता होगी। तो भी उपासना प्रकरण में पाठ से उपासना अनुष्ठान को ही वह विद्या अङ्गत्व हो सकता है। अन्य को नहीं। और (बर्हिर्देवः सदनं दामि) हे देव ! आपके सदन = स्थान कुश का छेदन करता हूं इस पर बैठो। इस श्रुति का जैसे शब्दसामर्थ्य लिङ्ग से कुशछेदन में

'किं प्रजया करिष्यामः' 'किमर्थं वयमध्येष्यामहे', इति च वैपरीत्यस्यापि दर्शनात्। न च 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' इतिवद्वाक्याद्विनियोगः, पर्णमयीत्वादिवदात्मनोऽव्यभिचरितक्रतुसंबन्धाभावात्, तस्य लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्। न चात्मज्ञानं कर्मप्रकरणे श्रुतम्, येन प्रयाजादिवत्कर्माङ्गतामश्नुवीत। नापि स्थानम्, कर्मसंनिधावपठ्यमानत्वात्। नापि समाख्या,

---

चेदमात्मज्ञानम्, तदिह मा भूतां लिङ्गश्रुती, वाक्यमेवास्ति कर्मणि विनियोजकम्, यथाहि—पर्णमयीतायाः सिद्धरूपतया फलजननाय क्रियासंबन्धसाकाङ्क्षाया 'जुह्वा जुहोती'ति नियतप्रकृतिद्रव्यसाकाङ्क्षाव्यभिचरितक्रतुसंबद्धजुहूद्वारा वाक्येन कर्मसु विनियोगः तद्वदिति, तत्राह—**न च यस्येति**। व्यभिचारमेवाह—**तस्येति**। न च देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं वैदिककर्माव्यभिचारीति वाच्यम्, कारीर्यादावभावेन तस्यापि व्यभिचारसाम्यादिति भावः। प्रकरणाद्विनियोगं निराचष्टे—**न चात्मज्ञानमिति**। सन्निधिपठितैर्ह्याकाङ्क्षा भावनायाः पूर्यत इत्युसर्गः। यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितसमिदादिभिः कल्पनागौरवेण फलवत्संनिधावित्यादिन्यायेनेतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षप्रधानभावनाभिलापपोषणम्। नच पूषाद्यनुमन्त्रणवदात्मज्ञानस्य स्वप्रकरणसमवायः कर्मप्रकरणसमवायो वा, येनासंनिहितमपि तत्रोपयुज्येत, न च स्वप्रकरणपठितैरङ्गजातैर्निराकाङ्क्षस्य कर्मणः क्वचिदप्यपेक्षास्तीति भावः। स्थानसमाख्ययोस्तु संभव

विनियोग (सम्बन्ध) होता है, वैसा कोई ज्ञान की कर्माङ्गता में लिङ्ग भी नहीं है। यदि कहें कि श्रुतिसामर्थ्य रूप लिङ्ग के नहीं रहते भी, उद्दालकादि महापुरुषों में कर्म के साथ आत्मविद्या का सद्भाव ही अर्थसामर्थ्य रूप लिङ्ग है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि (प्रजा से कौन फल पाऊँगा। किस फल के लिये हम अध्ययन करेंगे) इत्यादि विपरीतता को भी देखा जाता है। ज्ञानी में कर्माभाव के लिङ्ग का दर्शन होता है। यदि कहें कि (यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति) इसको जैसे परस्पर आकाङ्क्षित सहपाठ रूप वाक्य से कर्माङ्गता होती है, क्योंकि (जुह्वा जुहोति) इसको जुहूकारण की आकाङ्क्षा रहती है। और पर्णमयी वाक्य को फलजनन के लिये क्रियासम्बन्ध की आकाङ्क्षा रहती है, अतः वाक्य से परस्पर सम्बन्ध होता है, वैसे ज्ञान को कर्माङ्गता ही तो कहा जाता है, कि ऐसी कर्माङ्गता भी नहीं हो सकती है, क्योंकि पर्णमयीत्व के समान आत्मा का क्रतु = यज्ञ के साथ अव्यभिचरित = नित्य सम्बन्ध का अभाव है, अतः उसके ज्ञान के सम्बन्ध का अभाव है। क्योंकि आत्मा को लौकिक, वैदिक सब कर्मों में साधारण हेतुत्व है। और आत्मज्ञान को भी साधारणत्व है। और आत्मज्ञान कर्मप्रकरण में नहीं पढ़ा गया है कि जिससे प्रकरण द्वारा प्रयाजादि के समान प्रधान किसी कर्म का अङ्ग हो सके। कर्म सन्निधि पाठ रूप स्थानात्मक प्रमाण नहीं है, यौगिक शब्द रूप समाख्या भी ऐसी

संज्ञासाम्याभावात्। न चात्मज्ञानस्य कर्मण्युपकारप्रकारो निरूप्येत। देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्योपयोगेऽप्यशनायाद्यतीतात्मविज्ञानस्य तत्रानुपकारित्वात्। न चाज्यावेक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपयोगः, स्वप्रकरणपठितसंसारनिवृत्तिलक्षणदृष्टफलनिराकाङ्क्षस्यादृष्टफलकल्पनानुपपत्तेः। न च क्रियाकारकफलशून्यमद्वैतमात्मानं विजानतः कर्मणि प्रवृत्तिरुपपद्यते। न च यमनियमादिप्रवृत्तिवदविरोधः, यमनियमादावप्यपरोक्षात्मविज्ञानवतो विधितः प्रवृत्त्यनङ्गीकारात्। 'तस्य कार्यं न विद्यते',

'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥'

(जा० द० उ० १।२३)

इति स्मरणात्। भिक्षाटनादावपि व्युत्थानदशायां यदृच्छयैव प्रवृत्तेः।

एव नास्तीत्युपेक्षा कृता। उपयोगानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**न चात्मज्ञानस्येति**। यस्त्वदृष्टद्वारेणोपयोग उक्तस्तत्राह—**न चाज्यावेक्षणेति**। उत्तरार्धं विवृणोति—**न च क्रियाकारकेत्यादिना**। उत्पन्नात्मापरोक्षस्यापि स्वभाववशाद्यमादीनामनुवृत्तिर्घटते नैवं कर्मणामिति भावः। ज्ञानिनो विधेयव्यापाराभावे स्मृतीराह—**तस्येति**। स्यादेतत्—भवतु निवृत्तिरूपाणां विधिव्यतिरेकेणाप्यनुवृत्तिः, भिक्षाटनादी प्रवृत्तिरूपे का वार्ता ? नहि तदौदासीन्यात्मकमिति, तत्राह—**भिक्षेति**। यथा

कोई नहीं कि जिससे आत्मज्ञान में कर्माङ्गता का ज्ञान हो सके। क्योंकि ज्ञान में कर्म के साथ संज्ञा की समता का अभाव है। और आत्मज्ञान के कर्म में उपकार के प्रकार का निरूपरूपण नहीं किया जा सकता है। देह से भिन्न आत्मज्ञान का कर्म में उपयोग होते भी क्षुधादिरहित आत्मज्ञान का उस कर्म में उपकार (फल) नहीं हो सकता है, आज्यावेक्षणादि के समान अदृष्ट द्वारा उपयोग कहा था, वह युक्त नहीं। क्योंकि स्व (ज्ञान) प्रकरण में पठित संसारबन्धनिवृत्ति रूप दृष्ट फल से निराकाङ्क्ष ज्ञान की अदृष्ट कल्पना की सिद्धि नहीं हो सकती है। और क्रियाकारक फलशून्य अद्वैत आत्मा को जानने वाले की कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यम, नियमादि में प्रवृत्ति के समान कर्म में प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं है, यह कहा था, वह युक्त नहीं है। क्योंकि यम, नियमादि में भी अपरोक्षात्म ज्ञानवान् की विधि से प्रवृत्ति नहीं मानी जाती है। क्योंकि, उस ज्ञानी का कर्तव्य नहीं है।

ज्ञानामृत से तृप्त कृतकृत्य तृप्त योगी का कर्तव्य कुछ नहीं है, यदि किसीका कर्तव्य है, तो वह तत्त्वज्ञ नहीं है।

इत्यादि स्मृति से ज्ञानी के कर्तव्य कर्मों का अभाव सिद्ध होता है। भिक्षा-

न चैवं कर्मणि प्रवृत्तिः, नियतदेशकालतया तस्य विधानात् ।

एतेन ज्ञानकर्मणोः समुच्चयोऽपि निराकृतो वेदितव्यः, विरोधादेव । उक्तं हि—

"यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते ।
तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद् गुणो यतः ॥"

(बृह० वा० ३।३।६८)

ह्यनियतदेशकालक्षुधाधीनतयाऽनियतवृत्तिर्भिक्षाहरणादिः, नैवं कर्म, तस्य 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत', 'सायंप्रातरग्निहोत्रं जुहोती'त्यादिनियतदेशकालतया विधानादित्यर्थः । एतेन 'भ्रान्त्या चेल्लौकिकं कर्म वैदिकं च तथा वदे'तिभास्करदुरुद्गारोऽपि चिकित्सितः । भ्रान्त्यविशेषेऽप्यवान्तरविशेषस्य दर्शितत्वादिति ।

एवं तावद्विद्यायाः कर्मशेषतानिरासेन कैवल्यफलता प्रसाधिता, इदानीं भवतु विद्यायाः कैवल्यसाधनता । तथापि कर्मसमुच्चिताया एव न केवलाया इति समुच्चयवादिनो मतं निराकुर्वन् ज्ञानिनः कर्मणि प्रवृत्त्यनुपपत्तिमुक्तां तत्राप्यतिदिशति—**एतेनेति** । अतिदिश्यमानं विशदयति—**विरोधादेवेति** । द्वेधा हि समुच्चयः संभवति—समप्राधान्येन वा षड्यागवत्, गुणप्राधान्येन वा प्रयाजदर्शपूर्णमासवत् । तत्रापि ज्ञानं गुणः कर्म प्रधानमिति वा ? विपरीतं वा ? तत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावावगमात्, न समसमुच्चयो, गुणप्रधानपक्षेऽपि परंपरया ज्ञानं प्रति कर्मणां गुणभावोऽभ्युपगत एव । यत्तु कर्मप्रधानं ज्ञानं गुण इति तन्न, स्वरूपविरोधादिति भावः । अत्रैव सुरेश्वराचार्यसंमतिमाह—**उक्तं हीति** । न **प्रधानादिति** । प्रधानमत्तीति प्रधानात् प्रधानविघातकः स तस्य गुणो न भवति यत

भोजनादि में भी व्युत्थान काल में यदृच्छा से ही ज्ञानी की प्रवृत्ति होती है, विधि से नहीं । यदि कहें कि इसीप्रकार से कर्म में प्रवृत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि नियत देश-कालता रूप से उस कर्म का विधान है । उसमें यदृच्छा से प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ।

इसीसे ज्ञान और कर्म का समुच्चय (सहभाव) भी निराकृत समझना चाहिये । क्योंकि विरोध होने ही से समुच्चय नहीं हो सकता है, गुणप्रधान भाव से सम्बन्ध रूप समुच्चय होता है, वह विरोधी में हो नहीं सकता है । अतएव श्री वार्तिककार ने कहा है कि—

जो जिसकी अनुकूलता से जिसके स्वभाव (सत्त्व) का अनुवर्तन = अनुसरण करता है, वह उसका गुणभूत = अङ्ग होता है । और प्रधान प्रतीति, प्रधानात् (प्रधान का घातक) यतः अङ्ग नहीं होता है ।

अपि च उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतयः कर्मणः फलम्, विद्यायाः पुनरविद्यास्तमयस्तत्कथमनयोः साहित्यम्? नहि शुक्तिकाशकलं सकलमाकलयतः कलधौतविभ्रमनिवृत्तिः स्नानाऽऽचमनादिकर्मापेक्षया विलम्बते। तदेवं लौकिकेन न्यायेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव तदविद्यानिवृत्तिहेतुरित्यास्थेयम्। श्रुतिस्मृतिषु कर्मणो निर्वाणकारणतानिराकरणाच्चैतदवसेयम्। श्रूयते हि—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'न कर्मणा न

इत्यर्थः। यत्कर्मप्रवृत्तिविघातकं ज्ञानम्, तन्न कर्म प्रति गुणो भवतीति भावः। विभिन्नविरुद्धफलत्वाच्च न गुणगुणिभाव इत्याह—**अपि चेति**। नह्यविद्यास्तमयात्मकस्य नित्यप्रत्यग्भूताविकार्यनाधेयातिशयनिर्दोषात्ममात्रस्य मोक्षस्य ज्ञानोत्पाद्यत्वं संभवति भवनेनेव पिण्डस्य, नाप्याप्यत्वं दोहनेनेव पयसः, नापि विकार्यत्वमभिषवेणेव सोमस्य, नापि संस्कार्यत्वं प्रोक्षणेनेव व्रीहीणाम्—एतावदेव च कर्मफलमतः कर्मफलविलक्षणमेव ज्ञानफलमित्यर्थः। इदानीमुत्पन्नस्य ज्ञानस्याविद्यानिवर्तने कर्मापेक्षैव नास्ति, ततो ज्ञानं प्रधानं कर्म गुण इति प्रयाजदर्शपूर्णमासवत्समुच्चय इति पक्षोऽपि न संभवतीति लौकिकन्यायेन दर्शयति—**नहि शुक्तिकेति**। कलधौतं रजतम्। निर्वाणो मोक्षः। **एतदिति**। ज्ञानकर्मणोरेकफलता नास्तीति। **'तमेव'** तं विदित्वैवेत्यपि योज्यम्। **अतिमृत्युमेति**। मृत्युं जन्ममरणात्मकसंसारमत्येतीत्यर्थः। **अयनं** मार्गः। तेन च गन्तव्यमुपलक्ष्यते। क्षेमप्राप्तये ज्ञानव्यतिरेकेणान्यो मार्गो नास्तीत्यर्थः। **अकृतो** नित्यो लोकः, **कृतेन** कर्मणा **नास्ति** न लभ्यते

और, किसीकी उत्पत्ति से प्राप्ति होती है, गमनादि से किसी की प्राप्ति, विकार=पाकादिजन्य, प्रच्छालनादिजन्य संस्कार, ये चार प्रकार के फल होते हैं। और विद्या का फल अविद्या का नाशमात्र होता है, तो इसप्रकार से विलक्षण फल वाले कर्म और ज्ञान का साहित्य रूप समुच्चय कैसे होगा। अतः समुच्चय को निराकृत समझना चाहिये। क्योंकि जिसने शुक्तिका के नील पृष्ठ त्रिकोणादि सम्पूर्ण शकल (आकार) का दर्शन कर लिया हो, उसकी कलधौत (रजत) भ्रम की निवृत्ति स्नान आचमनादि कर्म की अपेक्षा करके विलम्ब नहीं करती है, किन्तु शुक्तिका के ज्ञानमात्र से कलधौत भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। अतः इसप्रकार के लौकिक न्याय (दृष्टान्त) से ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार ही उसकी अविद्या की निवृत्ति का हेतु है, यह निश्चय करना चाहिये। और श्रुति, स्मृति में कर्म की मोक्षकारणता के निराकरण से भी यह उक्त निश्चय कर्तव्य है। क्योंकि सुना जाता है कि (उस पर ब्रह्म को जान करके प्राणी मृत्यु का उल्लंघन करता है, मरणरहित पद को पाता है, ज्ञान से अन्य गन्तव्य मोक्ष के लिये मार्ग नहीं है। कर्म, प्रजा

प्रजया धनेन', 'नास्त्यकृतः कृतेन', 'एतावदरे खल्वमृतत्व'मित्यादि। स्मर्यते च—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते।
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥' इति।

नन्वेतानि वचनानि केवलानामेव कर्मणां कैवल्यसाधनत्वनिराकरणपराणि समुच्चितानां तूपपद्यते तत्साधनभावः, तथा च 'अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥' इत्येकैकनिन्दापुरःसरं 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥' इति ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोर्मोक्षसाधनत्व-

---

इत्यर्थः। **अमृतत्व**ममृतत्वसाधनम्, **एतावत्** यन्मयोक्तमात्मज्ञानं नातः परमस्तीत्यर्थः। **पारदर्शिनः** संसारावसानरूपात्मतत्त्ववेदिन इत्यर्थः।

अत्र च समुच्चयवादी प्रदर्शितवचनानामन्यथासिद्धिमाह—**नन्वित्यादिना**। नन्वविशेषेण प्रवृत्तनिषेधस्य केवलधर्मपरया संकोचः किंनिबन्धन इति, समुच्चयश्रुतिबलादित्याह—**तथा चेति**। नन्वत्र मृत्युतरणेऽविद्याया उपयोगः, अमृतप्राप्तौ च

(पुत्र) वा धन (दान) से अमृतत्व नहीं मिलता है। नित्य स्वयं प्रकाश अकृत = ब्रह्माकृत (कर्म) से नहीं प्राप्त होता है। अरे = मैत्रेयि! एतावत् = यह ज्ञानमात्र ही अमृतत्व = मोक्ष का साधन है) इत्यादि। स्मृति भी है कि—

ज्ञान से ही कैवल्य = शुद्धस्वरूप को प्राप्त = अनुभूत किया जाता है कि जिससे मुक्त होना होता है। कर्म से प्राणी बँधता है, और ज्ञान से विमुक्त होता है। अतः संसार का पार = अन्त स्वरूप आत्मतत्त्व के ज्ञानी यति कर्म नहीं करते हैं। इत्यादि।

यहाँ ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी की शंका होती है कि (ये उक्त वचन सब केवल कर्मों के ही कैवल्यसाधनत्व के निराकरण (खण्डन) परक हैं) ज्ञानसमुच्चित = सहित कर्मों को तो कैवल्यसाधनत्व सिद्ध होता है। जैसे कि श्रुति है कि (जो केवल कर्म रूप अविद्या की उपासना = सेवन = अनुष्ठान करते हैं, वे अन्धतम = अविद्या में प्रवेश करते हैं। और जो केवल विद्या में ही रत = प्रवृत्त रहते हैं, वे उससे भी अधिक गाढतम में मानो प्रवेश करते हैं। इसप्रकार से एक-एक कर्म ज्ञान की निन्दापूर्वक कहा गया है कि (जो कोई विद्या और अविद्या = कर्म इन दोनों को साथ सेवते = प्राप्त करते हैं, वे अविद्या = कर्म से पाप रूप मृत्यु को तर कर = नष्ट करके विद्या से अमृत = मोक्ष सुख को पाते हैं) इससे समुच्चय युक्त ज्ञानकर्म के मोक्षसाधनत्व का प्रतिपादन किया गया है। अतः पूर्वोक्त वचन केवल

प्रतिपादनात्। तथा हि—संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च मुक्तिः। तत्र विद्येतरत्वेनाविद्यामूलत्वेन वा अविद्याशब्दवाच्यानां कर्मणां मृत्युपदवेदनीयकर्मक्षयद्वारेण संसारनिवृत्तावुपयोगः। ब्रह्मत्वात्मरूपतया नित्यप्राप्तमविद्यामात्रतिरोहितं कण्ठगतचामीकरवत्, न तत्राविद्यानिवृत्तेरधिकं कार्यमस्तीति, अविद्यानिवृत्तौ विद्यायाः उपयोगः। तदिदमुक्तम्—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति। यत्पुनः परेषां व्याख्यानं 'देवताज्ञानमिह विद्याशब्देन विवक्षितम्, ·स्य कर्मणा समुच्चयोऽनेन वाक्येन कथ्यते' इति। तदयुक्तम्, प्रक्रमाननुगुण-

---

विद्यायाः, तत्कथमनयोरेकफलतया समुच्चयोऽत्र प्रतीयते इति, तत्राह—**तथा हीति**। नहि ब्रह्मप्राप्तिमात्रमपवर्गः, तस्य पूर्वमपि विद्यमानत्वेन साधनानुष्ठानवैयर्थ्यात्। नाप्यविद्यानिवृत्तिमात्रम्, अभावरूपस्यापुरुषार्थत्वात्। तस्मादविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्मप्राप्तिरपवर्गः, तत्रचोभयमपि साधनमित्यर्थः। अस्त्वेवम्, तथापि कर्मणः किमायातं समुच्चये? अविद्यया मृत्युतरणं प्रतीयत इति, तत्राह—**तत्र विद्येतरत्वेति**। अन्यत्वं नञोर्थः, कारणवाची वा कार्ये लक्षणया प्रवर्तत इत्यर्थः। तथापि कथं कर्मणः संसारनिवर्तकत्वम्? यावता मृत्युतरणमेव तेन प्रतीयते, तत्राह—**मृत्युपदेति**। कर्मभिस्तु कर्मक्षयस्तद्द्वारा च मोक्षोपयोगः, ज्ञानेन तु साक्षादविद्यानिवृत्तिरिति ज्ञानोपयोगमाह—**ब्रह्मत्विति**। 'अमृतमश्नुते' इति प्रतिबन्धकाविद्यानिवृत्तिर्विवक्ष्यत इत्यर्थः। अत्र सिद्धान्त्यन्ययोजनामुद्भावयति पूर्ववादी—**यत्पुनरिति**। प्रक्रममेव दर्शयंस्तदननुगुणतां दर्शयति—**ईशावास्य**

कर्मविषयक हैं। अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति मात्र मोक्ष नहीं है, क्योंकि विभु (ब्रह्म) तो सदा प्राप्त ही है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये साधन करना व्यर्थ होगा. अविद्या की निवृत्ति भी अभाव रूप होने से अपुरुषार्थ स्वरूप ही है। अतः संसार की निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति स्वरूप मुक्ति है। वहाँ उक्त श्रुति में विद्या अन्यत्व से या अविद्या मूलकत्व से अविद्या शब्द के वाच्य कर्मों का मृत्यु पद से ज्ञातव्य संचित पापादि कर्मों के क्षय = नाश द्वारा संसार की निवृत्ति में उपयोग होता है। और ब्रह्म तो आत्मस्वरूप होने से नित्य प्राप्त ही है, तो भी कण्ठगत चामीकर = स्वर्णभूषण के समान अविद्या मात्र से ब्रह्म तिरोहित (आच्छादित) है। वहाँ अविद्या की निवृत्ति से अधिक = अन्य कार्य = कर्तव्य नहीं है, अतः अविद्या की निवृत्ति में विद्या का उपयोग (सम्बन्ध साफल्य) होता है। अतः यह कहा गया है कि (विद्या से अमृत को प्राप्त करता है) और जो अन्य का व्याख्यान है कि (देवता ज्ञान = उपासना यहाँ विद्या शब्द से विवक्षित है) और उसी देवज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय = मेल होता है। जो समुच्चय = त्यस्तद्वेदोभयं सह, इस वाक्य से कहा जाता है। इति। यह व्याख्यान युक्त नहीं है, क्योंकि यह व्याख्यान प्रकरण

त्वात्, ईशावास्ये परमात्मनः प्रक्रान्तत्वात्। तथा च श्रुतिः—'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च', 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' इति स्पष्टमेव समुच्चयं प्रतिपादयति। स्मृतिरपि—

"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥"

(मनु० १२।१०४)

तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने।
"यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्॥" इत्यादिकाः।

तेन च वाचनिकसमुच्चयानुसारेण कर्मनिन्दापराणां वाक्यानां केवल-

इति। अत्र हीष्ट इतीट् परमेश्वरः तेन परमेश्वरेणेशा वास्यमाच्छादनीयं व्याप्यम्। वस निवास इत्यस्माद्धातोर्ण्यति वास्यमिति रूपम्। कारणं हि कार्यं स्वस्मिन् वर्तयति। इदं सर्वमिति परमात्मैवोपक्रान्तस्तद्विरुद्धं च मध्ये देवताविज्ञानाश्रयण-मित्यर्थः। **तेनैतीति**। यस्तैजसो योगी ब्रह्मवित्पुण्यकृच्च भवति, असौ तेनोत्तर-मार्गेणैति गच्छतीति ब्रह्मवित्त्वपुण्यकृत्त्वयोरेकपुरुषसंबन्धकीर्तनात्, ज्ञानकर्मणोः समुच्चयोऽवसीयत इत्यर्थः। सत्यतपोब्रह्मचर्याणां च सम्यग्ज्ञानेन समुच्चयोऽपि क्वचित्प्रतिपाद्यत इत्याह—**सत्येनेति**। पराशरदक्षस्मृतिपर्यालोचनयाप्येवमेवा-वसीयत इत्याह—**स्मृतिरपीति**।

एवं निन्दावचनानां केवलकर्मविषयतायामुपपादितं हेतुमुपसंहरति—**तेनेति**।

के अनुसार नहीं है। ईशावास्य उपनिषद् में परमात्मा को ही प्रक्रान्तत्व = निरूप-णीय रूप से आरब्धत्व = प्रस्तुतत्व है। ऐसे ही अन्य श्रुति भी स्पष्ट ही समुच्चय का प्रतिपादन करती है कि (तैजस=योगी ब्रह्मवित् पुण्यकृत होकर, उस उत्तरायण मार्ग से जाता है। और सत्य तप नित्य ब्रह्मचर्य तथा सम्यक् ज्ञान से यह आत्मा प्राप्त किया जाता है। इत्यादि। इसीप्रकार से स्मृति भी समुच्चय का प्रतिपादन करती है कि—

तप और विद्या विप्र के ऊपर निःश्रेयस करने वाले होते हैं, क्योंकि तप से पाप को नष्ट करता है, और विद्या से अमृत = मोक्ष पाता है। हे महामुने! उस ब्रह्मात्मा की प्राप्ति का हेतु ज्ञान और कर्म दोनों कहा गया है। और जैसे अन्न मधु से संयुक्त और मधु अन्न से युक्त होकर, स्वादु पुष्टिकारक औषध हो जाता है, वैसे तप और विद्या संयुक्त होकर, संसार में रोग का महान् भेषज (औषध) होता है। इत्यादि।

इस उक्त श्रुति, स्मृति वचनानुसार समुच्चय के अनुसार से कर्म निन्दा परक

कर्मविषयतैवेति निश्चीयते। न च मोक्षस्य साक्षाज्ज्ञानं साधनं कर्माणि तु पापाऽपाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानीति वचनानां व्यवस्था, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय' इत्यादेस्तु लाङ्गलेन वयं जीवामहे इतिवत्पारं-पर्येणापि तत्साधनपरत्वोपपत्तेरिति युक्तम्, साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन प्राप्तस्य कर्मणः साधनसाधनत्वग्रहणे प्राप्तान्वयबाधप्रसङ्गात्। 'नान्यः पन्था'

स्यादेतत्—ज्ञानमेव साक्षान्मोक्षसाधनम्, कर्माणि तु पापलक्षणप्रतिबन्धापाकरण-द्वारेण ज्ञानसाधनानि, 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुतेः। तद्द्वारा च मोक्षसाधन-मतः साक्षादभावपराणि निन्दावचनानि समुच्चयवचनानि तु साधनतया पारंपर्येण समुच्चयपराणि इत्यस्तु व्यवस्थेति, तत्राह—**न च मोक्षस्येति**। ननु 'कर्मणैव हि संसिद्धिमि'त्यादीनि कर्मणामपि साक्षान्मोक्षसाधनतां दर्शयन्तीति, तत्राह—**कर्मणैवेति**। यथाहि साक्षात् जीवनसाधनौदनादिसाधने लाङ्गलादौ लाङ्गलेन वयं जीवामह इति जीवनसाधनत्वव्यपदेशस्तद्वदित्यर्थः। नच युक्तमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**साक्षादिति**। वचनतस्तावत् साक्षात्साधनत्वं प्राप्तम्, तस्य बाधोऽयुक्तः, रागतः प्राप्तं हि बाध्यते, न शास्त्रतः प्राप्तम्। 'तुल्यं हि सांप्रदायिकम्।' इतरथा षोडशिग्रहणादावपि विकल्पानवकाशप्रसङ्गात्, निषेधस्य निषेध्यसापेक्षतया दुर्बल-त्वाच्चेति भावः। ननु 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिवचनान्यपि ज्ञानव्यति-रिक्तं मोक्षसाधनं वारयन्ति, तथा च कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वे तेषु प्राप्तान्वयबाधः समान एवेति, तत्राह—**नान्यः पन्था इति**। यदिदं ज्ञानव्यतिरिक्तसमस्तनिवारक-वचनस्य तदेकदेशे केवलकर्मविषये व्यवस्थापनम्, नायं बाधोऽपि तु संकोचः,

---

वाक्यों की केवल कर्मविषयता ही निश्चित होती है। समुच्चित कर्म विषयता नहीं। यदि कहा जाय कि मोक्ष का साक्षात् साधन तो ज्ञान है, और कर्म तो चित्त-शुद्धिकारक पापों के अपाकरण = नाश के द्वारा ज्ञान के साधन होते हैं। इस प्रकार से समुच्चयप्रतिपादक वचनों की व्यवस्था हो जाती है। और (जनकादि कर्म से ही सम्यक् सिद्धि पाये) इत्यादि वचनों को (लाङ्गल = हल से हम जीते हैं) इत्यादि के समान परम्परा से भी संसिद्धिसाधन परत्व की सिद्धि हो सकती है। तो कहा जाता है कि यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि श्रुति आदि से साक्षात् मोक्षसाधन रूप से प्राप्त कर्म को मोक्ष के साधन ज्ञान के साधनत्त्व रूप से ग्रहण करने पर, वचन प्राप्त साक्षात् सम्बन्ध का बाध प्राप्त होता है, और रागादि से प्राप्त का बाधयुक्त होता है, वचनप्राप्त का नहीं। यदि कहा जाय कि (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इत्यादि वचन भी ज्ञान से भिन्न मोक्ष साधन का वारण करते हैं, तो कर्म के मोक्षसाधनत्व विषयक प्राप्त अन्वय का बाध होता ही है, तो कहा जाता है कि (नान्यः पन्थाः) इत्यादि निषेध श्रुति की केवल कर्मविषयता से

इत्यादेस्तु निषेधस्य केवलकर्मविषयतयान्तरेणापि प्राप्तान्वयबाधसंकोचेनाप्युपपत्तेः। न च वाच्यमन्वयबाध एवात्र युक्तः "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन", "धर्मात् सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते", "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये", "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यैः कर्मणां मोक्षसाधनसाधनत्वेन विनियोगादिति, ज्ञानस्यैव कैवल्यसाधनत्वे 'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता' इति केवलविद्यानिन्दानुपपत्तेः। न च समुच्चयपक्षे 'नान्यः पन्था विद्यते, न कर्मणा, नास्त्यकृतः कृतेने'ति कर्मनिषेधानु-

---

श्रुतार्थस्य सर्वथा परित्यागाभावादित्यर्थः। अत्र यदानन्दबोधाचार्यैरुक्तम्, तदनूद्य दूषयति—**न च वाच्यमित्यादिना**। अन्वयबाधे हेतुमाह—**तमेतमित्यादिना**। अत्र हि वेदानुवचनोपलक्षितब्रह्मचर्याश्रमकर्मणां यज्ञदानोपलक्षितगार्हस्थ्याश्रमकर्मणां तपउपलक्षितवानप्रस्थाश्रमकर्मणां च विविदिषन्तीति वेदनेच्छायां वेदने वा विनियोगः प्रतीयते, तत्रापि वेदन इति तत्त्वम्। इच्छाया विषयसौन्दर्यज्ञानाधीनत्वात्, तथा धर्माज्ज्ञानमिति चात्मनोऽन्तःकरणस्य शुद्धये कर्म कुर्वन्तीति च 'कर्मभिः कषाये पक्वे' इति च ज्ञानं प्रति चित्तशुद्ध्यादिद्वारेण विनियोगाच्छास्त्रेणैव व्यवस्थाया दर्शितत्वात्प्राप्तान्वयबाध एव युक्त इति भावः। नच वाच्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**ज्ञानस्यैवेति**। यदि हि केवलविद्यैव विधित्सिता ततस्तन्निन्दा नोपपद्येतेत्यर्थः। पूर्वं

प्राप्त अन्वय के बाध के विना ही संकोच से भी उपपत्ति होती है। अर्थात् उस श्रुति का भाव है कि केवल कर्म मोक्ष का मार्ग नहीं है, इससे सामान्य रूप से जो कर्म का मोक्ष के साथ अन्वय सिद्ध है, उसका बाध तो नहीं होता है, किन्तु ज्ञान-समुच्चित कर्म में संकोच हो जाता है। यहाँ आनन्द बोधाचार्य कहते हैं कि, कर्म के मोक्ष के साथ साक्षात् अन्वय का बाध होना ही युक्त है। क्योंकि (इस ब्रह्मात्मा को वेदानुवचन = अध्ययन, यज्ञ, दान द्वारा ब्राह्मण जानना चाहते हैं। धर्म से सुख और ज्ञान होता है, और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। सङ्ग को त्याग कर मन की शुद्धि के लिये योगिजन कर्म करते हैं। कर्मों से कषाय = दोषमल के पक्व = निवृत्त होने पर, ज्ञान की सिद्धि होती है) इत्यादि श्रुति, स्मृति वाक्यों से कर्म को मोक्ष के साधन ज्ञान के साधनत्व रूप से मोक्ष के साथ विनियोग (सम्बन्ध) सिद्ध होता है, साक्षात् नहीं। परन्तु यह उक्त आचार्य का वचन युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान को ही मोक्षसाधन होने पर (ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः) यह केवल विद्या की निन्दा की अनुपपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि समुच्चय पक्ष में (नान्यः पन्था विद्यते। न कर्मणा, नास्त्यकृतः कृतेन) इत्यादि कर्म निषेध की

पपत्तिः, तद्वचनानां षड्यागवत् साक्षात्समप्रधानतया साधनतानिषेधपरत्वात्। अभ्युपगम्यते हि व्यवधानेन कर्मणां मोक्षसाधनत्वम्। व्यवधानत्वं च करणोपकारो, न तदुत्पादकत्वम्।

न चैवमपि कर्मसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वदोषः 'तद्यथेहे'त्यादिश्रुतेः यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायाच्चेति युक्तम्, बन्धप्रध्वंसे कर्मणामुपयोगात्, बन्धप्रध्वंसस्य कृतकत्वेऽपि नित्यत्वात्, अन्यथा नष्टानिष्टप्रसङ्गात्।

कर्मनिषेधवचनानां केवलकर्मविषयतया गतिरुक्ता, संप्रति गत्यन्तरमप्याह—**न च समुच्चयेति**। ननु यदि न समुच्चयस्तर्ह्यभ्युपगतहानिरिति तत्राह—**अभ्युपगम्यत इति**। नन्वस्माभिरपि साधनसाधनतया व्यवधानमेवाङ्गीक्रियते, तत्किमधिकमाचरितमायुष्मतेति, तत्राह—**व्यवधानत्वं चेति**। प्रयाजादिवदेपामङ्गत्वम्, नतु प्रोक्षणादिवदित्यर्थः।

ननु यद्यपि समप्रधानतया मोक्षसाधनत्वं नास्ति, तथापि करणोपकारकत्वे करणेतिकर्तव्यतयोरेकविषयतया कर्मसाध्यत्वं मोक्षस्य स्यात्। नच तद्युक्तम् 'यत्कृतकं तदनित्य'मिति न्यायानुगृहीततया 'तद्यथेह कर्मचितो लोक, इत्यादिश्रुत्यवगतानित्यत्वापातेनापुनरावृत्तित्वव्याघातादिति, तत्राह—**न चैवमपीति**। हेतुमाह—**बन्धेति**। ततः किमिति, तत्राह—**बन्धप्रध्वंसस्येति**। ननु कारणोपकारकत्वकल्पनमप्ययुक्तम्, 'तमेत'मिति श्रुतौ साधकतमार्थतया तृतीयया करणत्वप्रतिपादनादित्यानन्द-

---

अनुपपत्ति होगी। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि उन वचनों को दर्शपौर्णमासगत आग्नेयादि यागों के समान साक्षात् समप्रधानता रूप से साधनत्व के निषेध परत्व है कि जैसे आग्नेयादि छः याग समप्रधानता रूप से स्वर्ग के साधन होते हैं, वैसे ज्ञान और कर्म समप्रधान होकर मोक्ष के साधन नहीं होते हैं। क्योंकि व्यवधान द्वारा तो कर्मों के मोक्षसाधनत्व को माना ही जाता है। और वह व्यवधान ज्ञान के करण रूप ज्ञान का उपकार रूप होता है, उस करण का उत्पादकत्व रूप उपकार नहीं।

यदि कहा जाय कि ज्ञान के उपकारक कर्म से भी मोक्ष के साध्य = जन्य होने पर, मोक्ष में अनित्यत्व दोष की प्राप्ति होगी, क्योंकि (तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते) इत्यादि श्रुति से कर्मजनित लोक को विनश्वर कहा गया है। और जो कृतक = कार्य होता है, वह अनित्य होता है, इस लौकिकन्याय से भी कार्य में अनित्यत्व सिद्ध होता है, तो यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि बंध (कर्मवासनादि) के ध्वंस = नाश में कर्म का उपयोग होता है। और बन्धध्वंस में कृतकत्व होते भी उसमें नित्यत्व = अविनाशित्व होता है। अन्यथा ध्वंस को नित्य नहीं मानने पर नष्ट वस्तु की अनष्टि (अनाश = पुनरुन्मज्जन) प्राप्त होगी। और

'वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यत्र सन्वाच्येच्छायाः करणसंबन्धानुपपत्तावश्वेन जिगमिषतीत्यादाविवोभयवादिसंप्रतिपन्नेष्यमाणवेदनोत्पत्तावेव कर्मणां करणत्वावगमात्, न कर्मणां करणोपकारकत्वम्, करणे मुख्यार्थायास्तृतीयाश्रुतेः करणोपकारकत्वे भङ्गप्रसङ्गादिति न वाच्यम्, 'यज्ञेन विविदिषन्ती'त्यत्रापूर्वत्वाद्विधिपरवाक्ये विध्यवच्छिन्नभावनारूप-

---

बोधाचार्योक्तमुद्भाव्य दूषयति—वेदानुवचनेनेति। करणसंबन्धानुपपत्ताविति। उपसर्जनं ह्येषा या सन्वाच्येच्छा। नचायं लिङाद्यर्थवद्वाच्यार्थः, येन प्रत्ययार्थप्राधान्यं स्यात् 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः सनोऽन्यत्रे'ति च न्यायः। तदुपसर्जनमेषा। नचोपसर्जनेनान्वयो युक्तः, नोपसर्जनं पदं पदान्तरेण संबध्यते' इति न्यायात्। तस्मात्प्रधानवेदनेनैव संबध्यत इत्यर्थः। अश्वेनेति। यथा ह्यश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वस्य गमनं प्रत्येव साधनता, नतु गमनेच्छां प्रतीत्यर्थः। अथ करणोपकारकत्वेऽपि साधनत्वात्तृतीया किं न स्यादित्यत्राह—करण इति। नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुं दर्शयन्करणोपकारकपरतया वाक्यं योजयति—यज्ञेनेति। नन्वत्र विविदिषन्तीति वर्तमानोपदेशाद्विधायकमेवेदं न भवति, तत्राह—अपूर्वत्वादिति। यथा हि 'आश्विनं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाती'त्यादौ 'वचनान्यपूर्वत्वा'दिति न्यायेन विधिपरतया विधिविभक्तित्वेन परिणामः कृतः, यथा च 'समिधो यजती'त्यादावपूर्वत्वादेव लिङ्परिग्रहः कृतः, एवमत्रापीति भावः। विध्यवच्छिन्नेति। प्रधानेन हि गुणानामन्वयः, भावना च प्रधानमिति तयैवेतरेषामन्वयः, पश्चाच्चारुणाधिकरणन्यायेन तमेवान्वयं

यहाँ आनन्दबोधाचार्य जो यह कहते हैं कि (वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति) यहाँ सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा ज्ञान का विशेषण है, अतः प्रत्ययार्थ होते भी लिङ्गादि के अर्थ के समान इच्छा प्रधान नहीं है, और अप्रधान सनार्थ इच्छा के साथ वेदानुवचनादि करण का सम्बन्ध हो नहीं सकता है। अतः जैसे अश्वेन जिगमिषति, यहाँ अश्व को योग्यता के अनुसार गमन क्रिया के साथ अन्वय होता है, सनर्थ के साथ नहीं, वैसे प्रकृत में उभयवादी सम्मत इच्छाविषय ज्ञानोत्पत्ति में ही कर्मों में करणत्व का ज्ञान होता है, कर्मों के करणोपकारकत्व का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि (वेदानुवचनेन) इत्यादि करण में मुख्यार्थक तृतीया विभक्ति श्रुति का करणोपकारकत्व पक्ष में भङ्ग (बाध) प्राप्त होगा। यह भी आनन्दबोधाचार्य का कथन अयुक्त है। क्योंकि (दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत) इत्यादि के समान (यज्ञेन विविदिषन्ति) इत्यादि भी अपूर्वार्थक = अलौकिकार्थक होने से विधि वाक्य है। यदि कहें कि विधि हो, तो विविदिषेत होना चाहिये, तो यह कहना उचित ही है, किन्तु जैसे (आश्विनं गृह्णाति) इत्यादि में गृह्णीयात्, विधिविभक्ति रूप से परिणाम होता है, वैसे ही यहाँ भी (यज्ञेन विविदिषेत) विपरिणाम से विधित्व

वाक्यार्थानुप्रवेशेनैव पदार्थानां परस्परसंबन्धात्, तस्याश्च भावनाया मोक्षभाव्यावच्छिन्नत्वात्, धात्वर्थस्य च स्वतोऽसमीहिततया भाव्यत्वानु-

---

निर्वोढुं योग्यतावशेन परस्परं पार्ष्ठिकोऽन्वय इत्यर्थः। अस्तु प्रकृते किमायातमिति, तत्राह—**तस्याश्चेति**। विविदिषन्तीत्यत्राख्यातविशेषलिङ्गा शाब्दभावनाभिधीयते, आख्यातविशेषेण च पुरुषप्रयत्नरूपार्थभावनाप्यभिधीयते। सा च किं भावयेत? केन भावयेत? केनोपकृत्येति? भाव्यकरणेतिकर्तव्यतालक्षणांशत्रयवती प्रतीयते, एतदाकाङ्क्षात्रयपूरकतयैव चेतरेषामन्वयः। तत्र च रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकमोक्षो भाव्यत्वेनान्वेतीत्यर्थः। ननु कथं मोक्षस्य भाव्यत्वम्? यावता समानपदोपात्ततया श्रौतस्य धात्वर्थस्य भिन्नपदोपात्ततया वाक्यप्राप्तात् प्राकरणिकाद्वा मोक्षाद्बलीयस्त्वेन तस्यैव भाव्यत्वमिति, तत्राह—**धात्वर्थस्य चेति**। अयमर्थः—चेतनसमीहास्पदं हि फलम्, तत्साधनविधायिना चानेन वाक्येन भवितव्यम्, उपदेशत्वात्। तथा च भवतु नाम समानपदोपात्तो धात्वर्थः, तथापि दुःखात्मकत्वेनासमीहास्पदत्वान्न तस्य भाव्यत्वम्। अपि च न फलस्य वाक्यार्थत्वम्। इष्टसाधनरूपभावना हि लिङ्गादिनाभिधीयते, तथा चेष्टमपि भाव्यमभिहितमेव, तेन पदान्तरेण तु परं तस्यैव विशेषसमर्पणम्। अत एव 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यादौ तृतीयायोगश्च, तस्मात् समानपदोपात्ताद् धात्वर्थात् समानप्रत्ययोपात्तमोक्ष एव बलीयान्। यथाहुः—'समानप्रत्ययश्रुत्या

होता है। और विधिवाक्य भावना प्रधान होती है, भावना = प्रेरणा को या प्रवृत्ति को कहते हैं, यहाँ (यज्ञेन स्वर्गं भावयेत्) के समान, (यज्ञेन दानेन वेदानानुवचनेन भावयेत्) ऐसा अर्थ होने पर तीन वस्तु की आकांक्षा होती है (किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्) किसको सिद्ध करे, किससे सिद्ध करे, किस-प्रकार से सिद्ध करे, तो इस आकांक्षा के भाव्य = साध्य, करण, और प्रकार रूप से भावना के साथ अन्य का सम्बन्ध होता है। अतः विधिपरक वाक्य में विधि के सम्बन्धी प्रधान भावना रूप वाक्यार्थ में अनुप्रवेश (सम्बन्ध) द्वारा ही पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है। वहाँ प्रकृत भावना में (किं भावयेत्) ऐसी आकांक्षा होने पर इस भावना को मोक्ष रूप भाव्य = साध्य से अवच्छिन्नत्व (सम्बन्धित्व) होता है कि (यज्ञादिभिः ज्ञानद्वारा मोक्षं भावयेत्) यज्ञादि से मोक्ष को प्राप्त करे। क्योंकि धात्वर्थ के स्वतः असमीहित (अनिच्छित) होने से उसमें भाव्यत्व नहीं हो सकता है, अर्थात् ज्ञानस्वतः ईप्सित (इष्ट) नहीं होता है, किन्तु मोक्ष के लिये होता है, अतः स्वतः ईप्सित मोक्ष ही भाव्य होता है। अन्यार्थं (मोक्षार्थं) प्रवृत्त भावना से साध्यत्व रूप करणत्व ही धात्वर्थ को होता है, कि (केन मोक्षं साधयेत् = ज्ञानेन मोक्षं साधयेत्)। इसप्रकार से समान पद का अर्थ रूप श्रुत धात्वर्थ करण को लाभ कर लेने वाली भावना में यज्ञादि की करण रूप से प्रवेश

पपत्तेः। ततश्चान्यार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वलक्षणकरणभाव एव धात्वर्थस्य। तथा च लब्धश्रौतधात्वर्थकरणायां भावनायां यज्ञादीनां करणत्वेनानुप्रवेशानुपपत्तेस्तदपेक्षितकरणोपकारद्वारेण तेषां संबन्धः, ततश्च यज्ञादिभिरुपकृत्येति वाक्यार्थः संपद्यते। न च शमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात् भावनाया यज्ञादीनां विधेयधात्वर्थकरणत्वेनैवान्वय इति वाच्यम्, उभयोरपि प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यत्वेनैवान्वयोपपत्तेः। तदेवं बाधकाभावात् साधकसद्भावाच्च कर्मसमुच्चितमेव ज्ञानं मोक्षसाधनमिति।

बलीयस्या हि बाध्यते' इति। तस्मान्मोक्षस्यैव भाव्यत्वं न धात्वर्थस्येति, कथं तर्हि धात्वर्थस्यान्वय इत्याशङ्क्य करणतयेत्याह—**ततश्चेति**। अन्यार्थं स्वर्गमोक्षोद्देशेन प्रवृत्ता या भावना तया चान्तराले भाव्यत्वलक्षणो यः करणभावः स एव धात्वर्थस्य भवति, अत्र च फलव्यवच्छेदार्थमन्यार्थपदम्। कुठारादेरपि द्वैधीभावाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषप्रयत्नभाव्यत्वमेव हि करणत्वं तदत्रापि समानमित्यर्थः। तथापि यज्ञादेरितिकर्तव्यत्वे किमायातमिति, तत्राह—**तथा चेति**। लब्धं श्रौतं समानपदश्रुतिसिद्धं धात्वर्थलक्षणं करणं यया भावनया सा तथोक्ता। अत्रोपपत्तिर्भिन्नपदोपात्तस्य समानपदोपात्ताद् दुर्बलत्वादिति भावः। अन्वयप्रकारमेवाभिनयति—**ततश्चेति**। अत्र 'शान्तो दान्तः' इत्यादिवाक्यपरिप्राप्तशमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात्तद्द्वारेणाप्यनुप्रवेशो न युक्तः, तथाच तृतीयानुसारेण कारणकरणतयैवैषामन्वय इत्यानन्दबोधाचार्याः, तन्निषेधति—**न चेति**। भावनया हि साक्षादन्वयः श्रेयान्, तथा च प्रकरणेन शमादिवदेव यज्ञादीनामपीतिकर्तव्यतयैवान्वय इत्यभिमानः।

की अनुपत्ति से, उस भावना से अपेक्षित करण (ज्ञान) के उपकार द्वारा यज्ञादि का भावना में सम्बन्ध होता है कि (कथं भावयेत्-यज्ञादिभिरुपकारं सम्पाद्य भावयेत्) अतः यज्ञादि से उपकार करके ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करे, यह वाक्यार्थ होता है। यदि कहा जाय कि शमदमादि रूप इतिकर्तव्यता = उपकारक से भावना के निराकाङ्क्ष होने से यज्ञादि को विधेय धात्वर्थ (ज्ञान) के करण रूप से ही अन्वय होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यज्ञादि और शम, दमादि दोनों में प्रयाज, अनुयाजादि यज्ञ साधनों के समान विशेषता के (भेद के) नहीं ग्रहण होने से इतिकर्तव्यता रूप से ही दोनों के अन्वय की सिद्धि होती है। अतः इस उक्त रीति से समुच्चय में बाधक के अभाव से और साधक श्रुति आदि के सद्भाव से कर्म समुच्चित ही ज्ञान मोक्ष का साधन होता है। यह समुच्चयवाद की चर्चा समाप्त हुई।

तदिदमसुन्दरम्,—

यज्ञादेः करणत्वेन श्रुत्यैव प्रतिपादनात् ।
शेषत्वाधिगतावेव प्रक्रमस्याप्युपक्षयात् ॥ ५ ॥

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेति तृतीयाश्रुत्या विधेयविज्ञानकरणत्वेन यज्ञादेः प्रतिपादनात्, तेषां फलोपकार्यङ्गत्वकल्पने श्रुतिबाधकप्रसङ्गात् । न च प्रकरणप्रमाणेन प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यतात्वमेव यज्ञादीनां शमादिवदिति वाच्यम्, प्रकरणस्य सामान्यतः शेषत्वबोधने-

---

पूर्वपक्षिणा एवमुपपादितं समुच्चयं दूषयति सिद्धान्ती—**तदिदमिति** । यज्ञादेस्तृतीययैव तावद्विधेयभावनां प्रति करणत्वं प्रतीयते, यद्यदि साक्षान्न संभवति, तर्हि परंपरयापि करणत्वमेव श्रेयः, श्रुतिलोभात् । इतरथा प्रकरणलोभेन श्रुतिबाधः स्यात्, नच तद्युक्तम्, श्रुत्यपेक्षया द्व्यन्तरितत्वात्तस्य । नच प्रकरणस्य श्रुतिविरोधशङ्काप्यस्तीत्याह—**शेषत्वेति** । सामान्यसंबन्धबोधकं हि प्रकरणम्, विशेषस्तु श्रुत्यादिभिरेव प्रार्थनीयः । क्वचित्तु श्रुतिलिङ्गवाक्यानामप्रवृत्तौ प्रकरणेन विशेषविनियोगः । यथाहुः—'असंयुक्तं प्रकरणाद्' इति । श्रुत्यादिनाऽसंयुक्तं प्रकरणाद्विनियुज्य इत्यर्थः । तस्मात्सामान्यसंबन्धबोधिनः प्रकरणस्य न करणतया विशेषसंबन्धबोधकश्रुत्या विरोधः । अत एव नागृह्यमाणविशेषता, यज्ञादेस्तृतीयाश्रुत्या करणत्वप्रतिपादनात्, शमादेश्च तदभावादिति भावः । श्लोकं विवृणोति—**विविदिषन्तीत्यादिना** । उत्तरार्धं व्याचष्टे—**न च प्रकरणेति** । प्रयाजानुयाजादिवदित्यगृह्यमाणविशेषतायां दृष्टान्तः । शमादिवदिति चेतिकर्तव्यतायाम् । **श्रुत्यादीनामेवेति** । प्रकरणेनैव शेषगतकर्मत्वकरणत्वादिलक्षणविशेषसिद्धौ तद्विशेषबोधकश्रुत्यादिवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति भावः । स्यादेतत्—यदि विधेयधात्वर्थकरणतया यज्ञादयो विधीयन्ते तर्हि भावनां प्रति धात्वर्थः, तं प्रति यज्ञादय इति वैरूप्याद्वाक्यभेद इति चेत्, न; विशिष्टविधान-

---

यह पूर्वोक्त समुच्चयवादी का कथन सुन्दर नहीं है । क्योंकि—

यज्ञादि का करण रूप से तृतीया विभक्ति से ही प्रतिपादन किया गया है । और प्रकरण को भी शेषत्व ज्ञान में ही चरितार्थता है उसके विशेष बोधन में प्रकरण उदासीन है ॥ ५ ॥

अर्थात् (विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन) इस वाक्यगत तृतीया विभक्ति रूप श्रुति से विधेय विज्ञान के करण रूप से यज्ञादि का प्रतिपादन होता है, अतः उनके फल के उपकारी अङ्गत्व की कल्पना करने पर तृतीया श्रुति का बाध प्राप्त होगा, और जो कहा था कि प्रकरण रूप प्रमाण से प्रयाजानुयाजादि के समान अगृहीत विशेषता के कारण यज्ञादि को शमादि के समान इतिकर्तव्यत्व ही होता है, यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि प्रकरण को सामान्य रूप शेषत्व (अङ्गत्व) बोधन द्वारा ही चरिता-

नैव चरितार्थत्वात्तद्विशेषं प्रति श्रुत्यादीनामेव प्रमाणत्वात्। तस्माद् 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादाविव करणशरीरनिर्वर्तकतया च यज्ञादीनां करणत्वं

त्वेन दोषाभावादित्यभिप्रेत्याह—तस्माद्व्रीहिभिरिति। यथाहि व्रीहिभिरित्यत्र यागलक्षणकरणशरीरनिर्वर्तकतया भावनान्वयस्तथेहापीत्यर्थः। इदं तु चिन्त्यं कथमुदाहरणसाङ्गत्यमिति? नहि व्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र यागो विधीयते येन विशिष्ट-विधानं स्यात्किंत्वधिकारवाक्यसिद्धयागानुवादेन व्रीहय एव विधीयन्ते, तस्मात्करण-करणतामात्र एवेदमुदाहरणम्। उदाहरणं तु 'सोमेन यजेत' इत्यादि। तथा चैक-भावनावरोधान्न वाक्यभेदप्रसङ्गः। अत एव च यज्ञाद्यनेकगुणा अपि शक्यन्ते विधातुम्, प्राप्ते हि कर्मण्यनेकगुणविधानानुपपत्तिः। यथाहुः—

'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः॥' इति।

(तं॰ वा॰ २।२।६)

तस्मात् 'सोमेन यजेते'तिवत् 'यज्ञेन विविदिषन्ती'ति विशिष्टविधानम्। अपरे तु 'प्रज्ञां कुर्वीते'ति हि विज्ञानानुवादेन यज्ञादिगुणो विधीयत इति वदन्ति, तत्पक्षे वाक्यभेदो दुष्परिहरः। एतच्च ज्ञानविधिमङ्गं कृत्योक्तम्, वस्तुतस्तु ज्ञाने नास्त्येव विधिः, पुरुषेच्छानधीनत्वात्। तथा च ज्ञानविधानं न घटते तथा कार्यवादे एव प्रपञ्चितम्। तस्मादपरोक्षज्ञानं परमसुखसाक्षात्कारतया फलमनूद्य चित्तशुद्धिद्वारा तत्साधनत्वेन यज्ञादयो विधीयन्ते, नच वाक्यभेदो दोषाय, गत्यन्तराभावात्। नच भावनाया वाक्यार्थता, तत्र संगत्यग्रहात्। सिद्धार्थनिष्ठवाक्यानां कार्यवाद एव समर्थनात्, प्रवर्तकवाक्यानामपीष्टसाधनत्वमात्र एव विश्रान्तत्वात्, प्रवृत्तेस्त्वर्थसिद्ध-त्वात्। यथा चेष्टसाधनमेव लिङर्थस्तथा दर्शितं कार्यवादे। शब्दभावना तु दूरोत्सा-रिता, प्रमाणाभावात्। नहि शब्दस्य सङ्गतिग्रहणं तत्संस्कारोद्बोधं चान्तरेण शब्द-

---

र्थता हो जाती है। उस अङ्ग के विशेष करणत्वादि के बोध के प्रति श्रुतिलिङ्गादि को ही प्रमाणत्व रहता है। अतः यदि शंका हो कि यज्ञादि करण मानने पर (यज्ञादिभिर्ज्ञानं भावयेत्, ज्ञानेन मोक्षं भावयेत्) यज्ञादि से ज्ञान को सिद्ध करे, और ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करे, ऐसा सम्बन्ध करने पर वाक्य भेद होगा, तो यह शंका युक्त नहीं, (व्रीहीभिर्यजेत) इत्यादि के समान, करण (ज्ञान) के शरीर (स्वरूप) निर्वर्तक, साधक, रूप से यज्ञादि के करण रूप से यज्ञेन इत्यादि तृतीया श्रुति से निश्चित होता है। अर्थात् (सोमेन यजेत) इत्यादि में, सोमेन यागं, यागेन इष्टं भावयेत्, ऐसा सम्बन्ध करने पर वाक्यभेद प्राप्त होता है, परन्तु (सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्) ऐसी विशिष्ट विधि में वाक्यभेद नहीं होता है। इसी प्रकार से मोक्ष को उद्देश करकर के यज्ञादि विशिष्ट ज्ञान के विधान से वाक्यभेद

यज्ञेनेतितृतीयाश्रुत्या निश्चीयते। यज्ञादिभिरुपकृत्येति व्याख्याने साध्याहारयोजनाप्रसङ्गात्। न च यज्ञादीनां श्रवणादिवत्साक्षाद्विज्ञानसाधनत्वाभावात् करणत्वानुपपत्तिः, परम्परासाधनेष्वपि लोके वेदेऽपि करणत्वाभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते हि ज्वालाव्यवधानेनैव काष्ठानां पाके करणत्वम्, अपूर्वव्यवधानेनैव स्वर्गे यागस्य। तथेहापि परिपन्थिदुरितशोधनव्यवधानेन यज्ञादेर्विज्ञानकरणतायां न कश्चिद्विरोधः। तदेवं तृतीयाश्रुत्या यज्ञादे-

---

भावना नाम कश्चिद्व्यापारः संभवतीति। किंच स्वपक्षे यज्ञादिभिरुपकृत्य वेदनेन मोक्षं भावयेदिति योजनीयम्। तथाचाश्रुतमध्याहरणीयम्, उपकृत्येत्यश्रुतत्वात्, मत्पक्षे तु न किंचिदध्याहार्यम्, तृतीयया करणतायाः श्रुतत्वादित्याह—**यज्ञेति**। ननु यद्यपि तृतीयया करणत्वं यज्ञादीनां ज्ञानं प्रति श्रूयते, तथापि तन्न संभवति, प्रमाणाधीनस्य ज्ञानस्य यज्ञाद्यजन्यत्वात्। नहि प्रत्यक्षादिमध्ये यज्ञादयः किंचित्प्रमाणम्, अतो यथाश्रुतार्थासंभवादध्याहृत्यापि योजनं श्रेय इति, तत्राह—**न च यज्ञादीनामिति**। यद्यपि साक्षाज्ज्ञानं प्रति न साधनम्, श्रवणादीनामेव तत्त्वात्, तथापि यज्ञादेः परंपरया संभवति, तदप्यभ्यर्हितमेव, इतरथा श्रुतिबाधप्रसङ्गात्। नच निर्देशायुक्तिः, लोकवेदयोर्दृष्टचरत्वादिति भावः। **परिपन्थीति**। परिपन्थिभूतं यद्दुरितं तत्प्रतिशोधनेन यद्व्यवधानं तेनेति योजना। एवं श्रुत्यैव साधनसाधनताया दर्शितत्वात्साधारणसमुच्चयवचनान्येतदानुगुण्येन परंपरया समुच्चये व्यवस्थापनीयानीत्याह—**तदेवमिति**। दुर्बलं हि वाक्यं श्रुतेरिति भावः।

नहीं होता है इत्यादि, और वस्तुतः तो ज्ञान भी विधेय नहीं है, इत्यादि। और (यज्ञादिभिरुपकृत्य ज्ञानेन मोक्षं भावयेत्) यज्ञादि से उपकार करके ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करे, ऐसा सम्बन्ध करने पर, इस व्याख्यान में, उपकृत्य, इसका अध्याहार सहित योजना (सम्बन्ध) प्राप्त होता है। सिद्धान्त के व्याख्यान में यह दोष नहीं आता है। यदि कहा जाय कि श्रवण, मननादि के समान यज्ञ-दानादि में साक्षात् विज्ञान के साधनत्व के अभाव से यज्ञादि में करणत्व की अनुपपत्ति है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि परम्परा से साधनों में भी लोक और वेद में भी करणत्व माना गया है, जैसे कि ज्वाला के व्यवधान द्वारा ही काष्ठों के पाक में करणत्व माना जाता है। अपूर्व = अदृष्ट के व्यवधान द्वारा ही यज्ञ के स्वर्ग में करणत्व माना जाता है। इसीप्रकार से यहाँ भी ज्ञान के परिपन्थि = विरोधि पाप के शोधन = निवारण रूप व्यवधान द्वारा यज्ञादि की विज्ञान करणता में कोई विरोध नहीं है। अतः इस उक्त रीति से तृतीया श्रुति के द्वारा यज्ञादि के विज्ञान करणत्व के ज्ञान होने पर, सभी समुच्चयबोधक वचन परम्परा से समुच्चय के प्रतिपादन परक हैं, यह मन्तव्य है। और जो कहा था कि, केवल ज्ञान मोक्ष का साधन

विज्ञानकरणत्वाधिगतौ सर्वाण्यपि समुच्चयवचनानि परम्परासमुच्चयप्रतिपादनपराणीत्यभ्युपेयम् ।

न च केवलविद्यानिन्दानुपपत्तिः,

निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेऽपि संभवात् ।

प्रक्रमस्यापि बाध्यत्वाद् बलीयस्या तृतीयया ॥ ६ ॥

निन्दाया देवताविज्ञानविषयत्वेनाप्युपपत्तेः । न च परमात्मोपक्रमविरोधः, 'यज्ञेन' इति तृतीयाश्रुतेः प्रक्रमाद् बलीयस्त्वेन तद्बाधेऽप्यविरोधात् । क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाप्युपपत्तेश्च, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति पौर्वापर्याभिधानात् । 'सह वेद' इति च वेदन एव सहभाव

यत्केवलविद्यायाः साधनत्वे 'ततो भूय' इति तन्निन्दा नोपपद्यते, विधित्सितस्य निन्दायोगादिति, तच्च श्लोकेन परिहरति—**निन्दाया इति**। यत्त्वीशावास्ये परमात्मोपक्रमविरोधान्न देवताविज्ञानस्य निन्दा वा समुच्चयो वोपपद्यत इति, तत्राह—**प्रक्रमस्येति** ।

विवृणोति—**निन्देति** । एवमुपासनाविषयत्वेन परिहारोऽभिहितः, इदानीमस्तु परमात्मविद्यैवोपक्रमानुसारेण, तथापि न विरोधः, उपायोपेयभावेन क्रमसमुच्चयपरतयाप्युपपत्तेरित्याह—**क्रमेति** । न केवलमुपपद्यत इत्येतावन्मात्रम्, अपि त्वेवमेवोपपद्यते, इतरथा क्रमश्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गादित्याह—**अविद्ययेति** । ननु परम्परापक्षे सह वेदेति फलं प्रति साहित्यमनुपपन्नमिति, तत्राह—**सहेति** । उपायत्वज्ञान एव सहभावो, नतु फलं प्रतीति भावः । नन्वस्मिन् पक्षे कथं निन्दोपपत्तिः ? नहि

हो, तो (ततो भूय इव ते तमः) इस निन्दा की अनुपपत्ति होगी । यह केवल विद्या की निन्दा की अनुपपत्ति भी नहीं है । क्योंकि—

निन्दा को देवताज्ञानविषयत्व का भी सम्भव है । और प्रकरण को भी बलीयसी तृतीया विभक्ति से बाध्यत्व होता है ॥ ६ ॥

अर्थात् केवल ज्ञान की निन्दा को देवताज्ञानविषयत्व से भी उपपत्ति होते, उस निन्दा को ब्रह्मात्मज्ञानविषयकत्व मानना युक्त नहीं है । और जो कहा था कि निन्दा को देवताज्ञाननिन्दापरक मानने पर, परमात्मोपक्रम विरोध होगा, यह उपक्रम विरोध नहीं है, क्योंकि, यज्ञेन, यह जो तृतीया श्रुति है, उसके प्रक्रम से बलीयस्त्व होने के कारण प्रकरण के बाध होने पर भी विरोध नहीं होता है । अर्थात् श्रुत्यन्तर में देवतोपासनायुक्त कर्म को बलवत्तर कहा गया है । उसके अनुसार ईशावास्य में भी देवताज्ञानयुक्त कर्म की स्तुति के लिये केवल ज्ञान की निन्दा है, और उसकी देवतापरता में (यज्ञेन विविदिषन्ति) यह श्रुति अनुकूल है, अतः प्रकरणबाध के बिना ही (क्रमसमुच्चयविषयत्व) से भी निन्दा

श्रवणात् । प्रक्रमानुरोधेनात्मविद्याविषयत्वेऽप्यपरिपक्वात्मज्ञानविषयतयाप्युपपन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—विद्यापरिपाकात्प्रागेव ये यथास्वं विहितं नित्यादिकर्म त्यजन्ति, तेषामुपात्तदुरितक्षयाभावाद्विहिताकरणनिमित्तप्रत्यवायस्याहरहरुपचीयमानत्वेनाशुद्धान्तःकरणतया परिपक्वात्मविद्यानुदयात्, न कैवल्यम् । शुभकर्मपरित्यागाच्च नाभ्युदय इत्यात्यन्तिक एवाधः पातः स्यादिति । तत्रैषाक्षरयोजना—विद्यां परिपक्वात्मज्ञानलक्षणाम्, अविद्यां

प्रक्रमानुसारेण परमात्मविद्याकर्मणोः परंपरया समुच्चयस्वीकारे साक्षात्साधनभूतकेवलविद्यानिन्दोपपद्येत इति, तत्राह—**प्रक्रमेति** । **उपपन्नत्वा**न्निन्दाया इति शेषः । अयमर्थः—नास्मिन्पक्षेऽविद्यानिवर्तनसमर्थकेवलात्मविद्याविषया निन्दा, किं तर्ह्यपरिपक्वात्मविद्याविषया । तथा च—यावत्परिपक्वब्रह्मविद्योदयमाश्रमादिविहितकर्माण्यनुष्ठेयानीति फलिष्यतीति । उक्तार्थे 'ततो भूय' इति वाक्यं योजयति—**एतदुक्तमिति** । अन्तःकरणशुद्धेः प्रागेवादृढापातज्ञानोदयमात्र एव कृतार्थमन्याः सन्तो ये यथाविहितानि चित्तशोधकानि कर्माणि त्यजन्ति उभयभ्रष्टाः समुपचितदुरितनिचयाश्चात्यन्तमधः पतन्तीत्यर्थः । एवं निन्दावाक्यं योजयित्वा 'विद्यां चाविद्यां चे'त्येतदपि क्रमसमुच्चयपरतया योजयति—**तत्रैषेति** ।

श्रुति की उपपत्ति हो सकती है कि कर्म से अन्तःकरण के संशोधन के बिना जो ज्ञानोपार्जन में लगता है । वह कर्म, ब्रह्म उभय से भ्रष्ट होकर भारी तम में प्रविष्ट होता है। इत्यादि। और क्रमसमुच्चय तो अवश्य अभ्युपगन्तव्य है, क्योंकि (अविद्या = कर्म से मृत्यु = हेतु पापादि को तर कर विद्या से अमृत पाता है। यहाँ पूर्वपरभाव के विधान से स्पष्ट ही क्रमसिद्ध होता है। और कर्म और विद्या के फल तथा अनुष्ठान में क्रम होते भी, उपायत्व ज्ञान में सहभाव होता है। अतः (यस्तद्वेदोभयं सह) यह वेदन (उपायज्ञान) में ही सहभाव के श्रवण से क्रम में विरोध नहीं है। अतः प्रक्रम (आरम्भ) के अनुसार से विद्या शब्द के आत्मविद्याविषयक होने पर भी अपरिपक्व आत्मज्ञान विषयता से निन्दा की उपपत्ति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि, जो लोग विद्या की परिपक्वावस्था से प्रथम ही अपने आश्रमादि के अनुसार विहित नित्यादि कर्मों को त्यागते हैं, उनके उपार्जित (सञ्चित) पापों के नाश नहीं होने से, तथा विहिताऽकरणनिमित्तक प्रत्यवाय (दोष) के प्रतिदिन = उपचीयमान = प्रवृद्ध होने से अशुद्धान्तःकरणवत्ता के कारण परिपक्व (शुद्ध) आत्मविद्या के अनुदय से कैवल्य नहीं होता है। और शुभ कर्मों के परित्याग से स्वर्गादि रूप अभ्युदय भी नहीं होता है। अतः उनका आत्यन्तिक अधःपात ही होगा। इस पक्ष में श्रुति की ऐसी अक्षरयोजना कर्तव्य है कि, जो अधिकारी, परिपक्व आत्मज्ञानरूप विद्या, और कर्म रूप अविद्या को

च कर्मलक्षणां यः सह उपायोपेयभावेन वेद। सोऽधिकृतः पुरुषोऽविद्यया कर्मलक्षणया विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं मृत्युपदवेदनीयं पापं तीर्त्वा विद्यया परिपक्वसाक्षात्कारलक्षणयाऽमृतं निर्वाणम् अश्नुत इति।

इदमत्राकूतम्——आविद्यापरिपाकाद्यथास्वं कर्मानुष्ठेयम्, विद्या तु परिपक्वा कर्मनिरपेक्षैव मोक्षं साधयिष्यतीति। समुच्चयवादिनोऽपि न तावत्काम्यकर्मणां समुच्चयः, तस्य मुमुक्षुणा परित्यागात्। नापि नित्य-

---

फलितं संकलय्य दर्शयति—**इदमिति**। अथवा स्वाश्रमविहितं कर्मानुष्ठेयम्, विद्या तु केवला मोक्षसाधनमिति विरोध इति, तत्राह—**इदमिति**। चित्तशुद्धिपर्यन्तं यज्ञाद्याश्रमकर्माण्यनुष्ठेयानि, शुद्धे तु चित्ते सर्वकर्मसंन्यासलक्षणं पारिव्राज्यमास्थितेन साधनचतुष्टयसम्पन्नेन श्रवणाद्यावर्तनीयम्। ततश्च मननिदिध्यासनशमदमाद्यनेकविधेतिकर्तव्यतोपेतपरिनिष्पन्नश्रवणस्यासति प्रतिबन्धे वर्तमानशरीर एवापरोक्षज्ञानं जायते, उत्पन्नं त्वपरोक्षज्ञानमन्यानपेक्षमेवाविद्यां निवर्तयतीति भावः। एतेन शिखायज्ञोपवीतत्यागोपलक्षितपारमहंस्यसन्यासोऽपि समर्थितः। कर्माङ्गभूतानां शिखादीनां शेषिकर्मपरित्यागे सुतरां परित्यागात्, श्रुतिस्मृतिशतेन च ज्ञानाङ्गत्वेन तत्त्यागस्य विधानात्। विचीर्णं चात्रापरिमितमतिभिस्तैस्तैराचार्यैरिति नास्माभिः पराक्रम्यते। किंचेदं समुच्चयवादी प्रष्टव्यः—किं काम्यकर्मभिः समुच्चयः? नित्यनैमित्तिकैर्वा? नाद्य इत्याह—**समुच्चयेति**। इहामुत्रार्थभोगविरक्तो हि मुमुक्षुरिति भावः। द्वितीयं दूषयति—**नापीति**। नहि सर्वेष्वाश्रमेषु समानानि कर्माणि। नहि गृहिणो यावन्ति तावन्तीतरेषाम्। उक्तं हि 'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार' इति। तस्मात्तदुत्कर्षापकर्षाभ्यां साध्यमोक्षेऽपि तौ स्याताम्, इतरथाधिकानुष्ठानस्य व्यर्थत्वेन निर्विकारतयानुष्ठानस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अत एव ह्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिफलस्वर्गेऽपि वैषम्यं कल्प्यते। यथाहुरर्थवादाधिकरणे वार्तिककृतः—

'कर्मणामल्पमहतां फलानां च स्वगोचरः।
विभागः स्थानसामान्यादविभागोऽपि चोदितः'॥ इति॥

उपाय-उपेय = साधन-साध्य रूप से साथ जानता (सींचता) है वह अधिकारी पुरुष कर्म रूप अविद्या द्वारा विद्या की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक मृत्यु पद से वेदनीय (ज्ञातव्य) पाप को तर कर (नष्ट करके) परिपक्व साक्षात्कार स्वरूप विद्या से अविनाशी निर्वाण को प्राप्त करता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि, विद्या के परिपाक (दृढत्व) पर्यन्त शक्ति आदि के अनुसार कर्म-कर्तव्य है। परिपक्व विद्या तो कर्म की अपेक्षा के बिना ही मोक्ष को सिद्ध करेगी। समुच्चयवादी के मत में भी काम्य कर्म का समुच्चय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि मुमुक्षु से उस काम्य कर्म का परित्याग ही किया जाता है।

नैमित्तिकैः, तत्तदाश्रमविहितानां तेषामुत्कर्षापकर्षवत्त्वात्कर्मभूयस्त्वात्फल-भूयस्त्वन्यायेन कैवल्यफले तावभ्युपेयाविति स्वर्गवदपवर्गस्यापि सातिशय-त्वेनानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । तस्माज्ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमित्यभ्यु-पेयम् ।

'सत्येन लभ्यस्तपसा' इत्यत्रापि सत्यादीनां ज्ञानसाधनत्वम्, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमित्यभ्युपेयम्, विविदिषावाक्ये यज्ञादीना विज्ञानसाधनत्व-स्यावधृतत्वात् । 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्' इति ब्रह्मवित् पुण्यकृतोर्मार्गे समुच्चयः, मार्गश्च कार्यब्रह्मगोचरः, 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' इत्यत्र

तस्मादुच्चावचतयाऽनित्यत्वादिदोषो मोक्षस्य स्यात्, नित्यनिरतिशयानन्दा-त्मकश्च मोक्षः श्रुत्यादिषु प्रसिद्ध इति भावः । या चापरा समुच्चये श्रुतिः प्रमाणिता, तामपि पारंपर्यपरतया योजयति—**सत्येनेति** । ननु सत्येन सम्यग्ज्ञान न ब्रह्मचर्येणैव आत्मा लभ्यत इत्यात्मलाभे समशिष्टानां सत्यादीनां मध्ये कस्यचित्पारंपर्येण कस्य-चित्साक्षादिति कल्पने वैरूप्यं स्यादिति तत्राह—**विविदिषेति** । अनन्यथासिद्धश्रुति-बलादेव वैरूप्यमपि न दोषायेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेऽप्यन्यथासिद्धिमाह—**तेनेति** । नेयं श्रुतिः परब्रह्मविषया, तेनैति गच्छति इति मार्गे समुच्चयश्रवणात्, परब्रह्मणि च गत्यानर्थक्यादसंभवाच्च । अविद्यामात्रव्यवहितं तत्, अविद्या चेहैव ब्रह्मतत्त्वविद्यया प्रविलीना । नच विगलितनिखिलस्थूलसूक्ष्मोपाधिजालस्य व्योमवत्सर्वगतचैतन्यैक-रसस्य गमनमुपपद्यते । सूत्रकारोऽपि 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वा'दिति पूर्वपक्षय्य 'कार्यं ब्रह्म गन्तव्यं बादरिराचार्यो मेने, कुतः ? अस्य हि ब्रह्मणे गतिरुपपद्यते, प्रदेशावच्छि-न्नतयोपासनात्, तत्फलस्यापि तादृशत्वादवधृतोपाधित्वाच्चे'ति सिद्धान्तयांबभूव, तथा गतेरर्थवत्त्वमुभयथा, अन्यथा हि विरोध इति निर्गुणविद्यासु गत्युपसंहारं वारयति । तस्मान्न परब्रह्मविषयेयमित्यर्थः । एवं श्रुतीरन्यथयित्वा स्मृतिव्यत्यति-

नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ भी समुच्चय नहीं हो सकता है । क्योंकि तत्तत् आश्रमविहित कर्मों के उत्कर्षापकर्षत्व = (श्रेष्ठत्वाश्रेष्ठत्व) से, कर्माधिक्य से फलाधिक्य न्याय द्वारा कैवल्य रूप फल में भी वह उत्कर्षाऽपकर्ष मानना होगा, और ऐसा होने पर स्वर्ग के समान मोक्ष के अतिशय = भेदयुक्त होने के कारण अनित्यत्वादि दोष प्राप्त होगा । अतः ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, यह मन्तव्य है ।

(सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा) यहां भी सत्यादि को ज्ञान साधनत्व है, और ज्ञान को ही मोक्षसाधनत्व है, यही मन्तव्य है । क्योंकि विविदिषा वाक्य में यज्ञादि के विज्ञानसाधनत्व का अवधारण = निश्चय हो चुका है । और (तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्) इस श्रुति से ब्रह्मवित् पुण्यकृत् के मार्ग में समुच्चय कहा गया है, और मार्ग कार्य ब्रह्मविषयक होता है परब्रह्मविषयक नहीं; अत एव (कार्यं

राद्धान्तितत्वात् । एवं चोदाहृताः स्मृतयोऽपि क्रमसमुच्चयपरतया

दिशति—एवं चेति । तदेवं तृतीयाश्रुत्येति ग्रन्थे साधारण्येनोपसंहारः, इह तु

बादरिरस्य गत्युपपत्तेः) इस सूत्र से कार्य ब्रह्मविषयक गति को सिद्धान्तित = निश्चित किया गया है । इसीप्रकार से उदाहृत स्मृतियाँ भी क्रमसमुच्चय रूपता से श्रुति के अनुसार योजनीय = व्याख्येय हैं । आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है, यह सिद्ध हुआ ।

अज्ञानं संशयज्ञानं मिथ्याज्ञानमितित्रयम् ।
संसारकारणं शोक-मोह-द्रोह-प्रवर्तकम् ॥ १ ॥

अविद्याहेतवः कामाः काममूलाः-प्रवृत्तयः ।
धर्माधर्मौ च तन्मूलौ देहोऽनर्थाश्रयस्ततः ॥ २ ॥

अतोऽविद्यानिरोधे स्यान्निरोधो विदुषः सदा ।
अशेषानर्थहेतूनां कामादीनां तदैव हि ॥ ३ ॥

मायामात्रमिदं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
ब्रह्मैव केवलं सत्यं चिदानन्दाऽद्वयात्मकम् ॥ ४ ॥

इति बुद्ध्वा गुरोः शास्त्रात्स्वानुभूत्या विचारवान् ।
कामादिबन्धनान्मुक्तो युक्तो ब्रह्मणि मोदते ॥ ५ ॥

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ६ ॥

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः ।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥ ७ ॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ८ ॥

अथर्ववेदः कां० १।४।८।४४ ।

(न विभाय = न बिभेति । धीरम्-सर्वज्ञम् । युवानम्-सर्वाधारम् = समर्थम् ।)

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥ ९ ॥

सत्येन तपसा भक्त्या योगैः शमदमादिभिः ।
आत्मलाभात्पुनर्जन्तुर्जायते नेह कुत्रचित् ॥ १० ॥

कर्माऽपमार्ष्टि पापानि भक्तिर्ज्ञानं ददाति वै ।

श्रुत्यनुसारेण योजनीयाः। तस्माज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति सिद्धम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-
श्रीचित्सुखाचार्यविरचिततत्त्वप्रदीपिकायां
तृतीयः परिच्छेदः।

विशेषतः स्मृतीनामित्यजामिता। वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति।

शब्दः साक्षात्कारहेतुर्विद्या मुक्तिफलप्रदा।
विद्यैव न तु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम्॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्स्वरूप-
भागवतः कृती तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां
तृतीयः परिच्छेदः।

ज्ञानं हन्ति निजाऽज्ञानं मोक्षस्तदिह कथ्यते॥ ११॥

श्रीस्वामी हनुमानदासजी महाराज षट्शास्त्री कृत चित्सुखी-
भाषानुवाद का तृतीय परिच्छेद समाप्त।

चतुर्थः परिच्छेदः

कः पुनरयं मोक्षः ? न तावद्विषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमः, तज्ज्ञानसंतानस्यात्मरूपतया तदुच्छेदस्यापुरुषार्थत्वात्, न हि सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छेदाय वाञ्छा कस्यचिदुपजायते, बन्धविमोकपर्या-

---

तृतीये त्रिविधोपायः परिच्छेदे परीक्षितः ।
तुरीयं तु तुरीयेस्मिन्मुक्तितत्त्वं परीक्ष्यते ॥ १ ॥

साधनविचारानन्तरं फलविचाराद्धेतुहेतुमल्लक्षणः संबन्धः परिच्छेदयोरतिस्फुटः, तावच्छून्यवादकक्षाकृतमोक्षं निराचष्टे—न तावदित्यादिना । विषयाकारैर्नील-पीताद्याकारैरुपप्लुतो दूषितो यो विज्ञानसन्तानः तस्योपरमो विनाशो मोक्षः । उक्तं हि—'प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य तायिन' इति, एवं न संभवतीत्यर्थः । हेतुमाह—तज्ज्ञानेति । नहि क्षणिकविज्ञानसन्ततिव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा भवद्भि-रुपगम्यते, तेन सन्तत्युच्छेदो नाम स्वरूपोच्छेद एव, नचैवंविधे प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः संभवति, अफलत्वात् । फलिनोऽभावे हि कस्य तत्फलं स्यादिति भावः । किंच मुक्ति-शब्दार्थपराहतश्चायं मोक्षः । नहि बद्धस्य नाशो मोक्षः, मुच्लृ मोक्षणे इति मुचेर्वि-श्लेषकर्मणो मुक्तिशब्दव्युत्पत्तेः, तस्मात्स्वतः सकाशाद्बन्धस्य विश्लेषो मोक्षशब्दार्थः, न पुनः स्वरूपनाशः, नचैवं भवन्मोक्ष इत्याह—बन्धेति । एवं माध्यमिकमुक्ति

यल्लाभान्न परो लाभो यत्सुखान्न परं सुखम् ।
नित्यमुक्तं निजात्मानं परं श्रेयस्करं श्रये ॥

साधनविचार के बाद फलविचार का अवसर आता है, अतः अब मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थ का विचार चतुर्थ परिच्छेद में करना उचित है । पूर्व परिच्छेद के अन्त में कहा गया है कि (ज्ञान ही मोक्ष का साधन है) वहाँ जिज्ञासा होती है कि यह मोक्ष क्या है । यदि शून्यवादी माध्यमिक मत के अनुसार कहा जाय कि विषयाकार से उपप्लुत = व्याप्त = दूषित विज्ञानसन्तान = प्रवाह का उपरम = नाश मोक्ष है, तो यह कहना युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञान का सन्तान ही उस मत में आत्मा माना जाता है, वहाँ आत्मा के उच्छेद (नाश) को पुरुषा-र्थत्व (मोक्षत्व) नहीं हो सकता है । सब से अतिप्रिय आत्मा के समुच्छेद=विनाश के लिये किसी की इच्छा नहीं होती है । और बन्ध के विमोचन = निवृत्ति पर्याय= वाचक मुक्ति शब्द का आत्मा का नाश अर्थ नहीं है, क्योंकि बद्ध = बन्धन युक्त का नाश मोक्ष शब्द का वाच्यार्थ नहीं होता है, किन्तु उस बद्ध के रहते ही बन्धन के

यस्य मुक्तिशब्दस्यातदर्थत्वाच्च । न हि बद्धनाशो मोक्षपदवाच्यः, किं तु सत एव तस्य बन्धविश्लेषः । नापि विधूतविषयाकारोपप्लवविशुद्धविज्ञान-सन्तानोदयः, विकल्पासहत्वात् । तथा हि—किमयं सन्तानिनां पुरुषार्थः ? किं वा सन्तानस्य ? नाद्यः, तेषां स्वरसपरिनिर्वाणात् । नोत्तर, तथाविध-सन्तानोदयेऽपि मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानरूपस्योपरमात् । बन्धमोक्षयोर्वैयधि-करण्यापाताच्च । उभयान्वयिनः सन्तानिनः सन्तानस्य वैकस्याभावात्,

---

दूषयित्वा योगाचारमुक्तिं दूषयति—**नापीति** । चतुर्विधभावनापरिपाकावसाने यो विषयाकारैरुपप्लवरहितो नाम स एव विशुद्धानां विज्ञानानां सन्तानोदयस्तद्रूपो मोक्ष इत्यपि नेत्यर्थः । **परिनिर्वाणं** नाशः । स्वरसभङ्गुरविज्ञानलक्षणसन्तानिनां चिरध्वस्ततया पश्चाद्भाविसन्तानान्तरोदयस्तेषां न पुरुषार्थः, फलिनोऽभावे फला-भावादित्यर्थः । **मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानस्येति** समानाधिकरणषष्ठी । अत्रापि पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तिः, उपप्लुतसन्तानरूपमुमुक्षोर्नष्टत्वादित्यर्थः । किंच यस्य बन्ध-स्तस्य मोक्ष इत्येतदपि न तव मते स्यात्, उपप्लुतानुपप्लुतसन्तानयोर्भेदात्, तथा च कः प्रवर्तेत ? इत्याह—**बन्धेति** । अथोभयसंतानान्वयी कश्चिदस्ति, तथा च सामानाधिकरण्यं बन्धमोक्षयोरिति, तत्राह—**उभयेति** । सन्तानिनस्तावत्क्षणिकत्वा-देवाऽननुवृत्तिः, सन्तानस्य सन्तानाभावादेकसन्तानापाताच्च सन्तानाननुवृत्ति-रित्यर्थः । किंच स्वत्पक्षे उपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमे विशुद्धविज्ञानसन्तानोदये च

विश्लेष = वियोग = अभाव को मोक्ष कहा जाता है । यदि योगाचार के मतानुसार, विषयाकार रूप दोषरहित विशुद्ध विज्ञान के सन्तान के उदय को मोक्ष कहा जाय, तो वह भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि यह मत विकल्पाऽसह है । विकल्प है कि क्या यह सन्तानियों, सन्तानगत व्यक्तियों का पुरुषार्थ = मोक्ष होता है, या सन्तान का होता है । प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि उन सन्तानियों = क्षणिक विज्ञान व्यक्तियों के स्वरस = स्वभाव से ही परिनिर्वाण (विनाश) रूप क्षणभङ्गुर होने से उनका शुद्ध सन्तानोदय रूप मोक्ष नहीं हो सकता है, भोक्ता के अभाव हो जाने पर उसको मोक्ष फल रूप भोग नहीं मिल सकता है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, विशुद्ध विज्ञान के उदय होने पर भी दोषों से उपप्लुत सन्तान रूप मुमुक्षु का उपरम = अभाव हो जाता है, अतः उसको मोक्ष इस पक्ष में भी नहीं प्राप्त होता है, अतएव बन्धमोक्ष में व्यधिकरणता = भिन्नाधिकरणता प्राप्त होती है, क्योंकि सन्तानादि सब के क्षणिक होने से बन्धमोक्ष उभय के अन्वयी = सम्बन्धी एक सन्तानी और सन्तान का अभाव रहता है । अतः अन्य के साधन से अन्य का मोक्ष नहीं हो सकता है । अत एव विशुद्ध सन्तान के उदय के कारण का भी अभाव है, क्योंकि भावना के प्रकर्ष को उस विशुद्ध सन्तान रूप मोक्ष का कारण माना

कारणाभावाच्च। भावनाप्रकर्षो हि तस्य कारणमिष्यते, तस्य स्थिरैकाधिकरणाभावे विशेषानाधायकत्वात्। सन्तानस्यावस्तुत्वात् सन्तानिनां च प्रतिक्षणमपूर्ववदुपजायमानत्वेनानासादितभावनाप्रकर्षतया विशुद्धविज्ञानजननासामर्थ्यात्।

कारणमपि दुर्निरूपमित्याह—**कारणेति**। नन्वस्ति चतुर्विधभावनाप्रकर्षपर्यन्तजनितसाक्षात्कार उपाय इति, तत्राह—**भावनेति**। ततः किमिति, तत्राह—**तस्येति**। नह्यन्यत्रानुभवोऽन्यत्र संस्कारोऽन्यत्र च तत्फलं स्मृतिरिति संभवति, नहि जातु यज्ञदत्तोऽनुभवति विष्णुमित्रश्च तत्संस्कारवान्, देवदत्तश्च तस्य स्मर्तेति दृष्टचरम्। तदिहानपायिनः कस्यचिदभावे क्व संस्कारः ? क्व वा तत्प्रकर्षं क्व च तत्फलं मुक्तिः ? स्थिरत्वेऽपि भिन्नाधिकरणत्वे न संभवति, किमु वक्तव्यमेकस्याप्यभाव इत्यर्थः। ननु सन्तानिषु सन्तान एवानुगतो विशेष आधीयतां उक्तं हि—

'यस्मिन्नेव हि संतान आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा' ॥ इति।

तत्राह—**संतानस्येति**।

अत्र तार्किकाः प्राहुः—'योगपरिभावनाभुवः परमेश्वरसाक्षात्काराच्छ्रवानामात्म-

---

जाता है। वहाँ स्थिर एक अधिकरण के अभाव रहते उस भावना प्रकर्ष को कहीं विशेषाऽऽधायकत्व (विशेष फल प्रदत्व) नहीं हो सकता है। क्योंकि सन्तानी से भिन्न स्थिर सन्तान कोई वस्तु नहीं है कि जिसमें भावनाप्रकर्ष विशेष गुण को उत्पन्न कर सके। और सन्तानियों को भी प्रतिक्षण अपूर्व (नूतन) उत्पन्न होने से भावनाजनित प्रकर्ष को नहीं प्राप्त करने से, अनासादित = अप्राप्त भावनाप्रकर्षता के कारण विशुद्ध विज्ञान जनन का सामर्थ्य उनमें नहीं हो सकता है। आत्यन्तिकी दुःख की निवृत्ति भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् नैयायिक कहते हैं कि (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः) बाधना = पीडा रूप दुःख है, उसका अत्यन्त अभाव हो जाना ही मोक्ष है, सुख ब्रह्म की प्राप्ति आदि नहीं। यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अतीत उस दुःख के स्वतः निवृत्त होने के कारण, उसको साधन से साध्यत्व नहीं हो सकता है। वर्तमान दुःख का विरोधी गुण के प्रादुर्भाव द्वारा निवर्त्यत्व = नाश्यत्व होता है। अनागत दुःख को निवृत्त करना अशक्य है। यदि कहा जाय कि आत्यन्तिकत्व शब्द से निवृत्त दुःख के सजातीय दुःख की फिर उस आत्मा में उत्पत्ति नहीं होना, यही निवृत्ति के आत्यन्तिकत्व विवक्षित है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अनुत्पाद के भी प्रागभाव रूप होने से अनादि प्रागभाव में अनुत्पाद्यत्व स्वयं रहता है, वह साधन से साध्य नहीं हो सकता है।

नाप्यात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः, अतीतस्य तस्य स्वत एवात्यन्तं निवृत्तत्वेनासाध्यत्वात्, वर्तमानस्य विरोधिगुणप्रादुर्भावनिवर्त्यत्वात्, अनागतस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । निवृत्तेरात्यन्तिकत्वशब्देन निवृत्तजातीयस्य दुःखस्य तस्मिन्नात्मनि पुनरनुत्पादो विवक्षित इति चेत्, न, अनुत्पादस्यापि प्रागभावतयानुत्पाद्यत्वात् । ननु दुःखात्यन्ताभावो मोक्षः । न च तस्य नित्यत्वादसाध्यत्वम्, तत्संबन्धस्य स्वात्मनि साध्यत्वात् । अशेषक्लेशहेतुना-

---

विशेषगुणानामात्यन्तिकी निवृत्तिरपवर्ग इति तद्दूषयति—**नापीति** । दुःखशब्देन चैकविंशतिप्रकारमपि दुःखं विवक्ष्यते, इन्द्रियषट्कम्, विषयषट्कम्, बुद्धिषट्कम्, शरीरम्, सुखम्, दुःखम् चेत्येकविंशतिप्रकारं हि दुःखम्, तत्र किमतीतवर्तमाने निवर्तेते ? अनागतं वा दुःखम् ? यथाह पतञ्जलिः—'हेयं दुःखमनागतम्' इति । त्रिधापि न संभवतीत्याह—**अतीतस्येत्यादिना** । **अशक्यत्वादिति** । विद्यमानस्य हि प्रध्वंस इत्यर्थः । पक्षत्रयप्रयुक्तदोषपरिहाराय तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनोदीरितामात्यन्तिकत्वनिरुक्तिमुद्भावयति—**निवृत्तेरिति** । चेतनान्तरे तथाविधोत्पत्तिसंभवेनासंभवनिवृत्त्यर्थं तस्मिन्नात्मनीति विशेषणम्, निवृत्तस्यानुत्पादः संसारदशायामप्यस्तीति तज्जातीयस्येत्युक्तम्, तथाप्युपायानुष्ठानं व्यर्थमित्याह—**अनुत्पादस्यापीति** । अत्र लीलावतीकारमतमुद्भावयति—**ननु दुःखात्यन्ताभाव इत्यादिना** । नन्वत्यन्ताभावपक्षे सुतरामानर्थक्यमुपायानुष्ठानस्य, नित्यत्वेनासाध्यत्वादिति, तत्राह—**न च तस्येति** । ननु भावाभावयोर्न मुख्यः संबन्धः संभवी, संयोगसमवाययोरभावात्, अथ विशेषणविशेष्यभावः तथापि तस्य स्वभावानतिरिक्ततया न साध्यत्वमिति, तत्राह—**अशेषेति** । य एतेऽविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा दुःखहेतवः पञ्च क्लेशास्तेषामशेषाणां निवृत्तिरेव दुःखात्यन्ताभावस्यात्मना संबन्धः, स च साध्य इत्यर्थः ।

यहाँ शंका होती है कि (दुःखों का अत्यन्ताभाव मोक्ष है) यदि कहा जाय कि अत्यन्ताभाव के नित्य होने से वह स्वतः सिद्ध रहता है, अतः यदि दुःख का अत्यन्ताभाव मोक्ष है, तो उसके लिये साधन करना व्यर्थ है, तो कहा जाता है कि उस अत्यन्ताभाव के नित्य होने से उसके असाध्यत्व को कहना युक्त नहीं, क्योंकि उस अत्यन्ताऽभाव के नित्य होते भी उसके सम्बन्ध को स्वात्मा में साध्यत्व होता है, अर्थात् उस अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध साधन से सिद्ध होता है, अतः साधन निष्फल नहीं होता है । यदि कहा जाय कि अभाव रूप अत्यन्ताभाव का भावस्वरूप आत्मा के साथ संयोगादि सम्बन्ध भी साधन से साध्य होने योग्य नहीं है, और स्वरूपसम्बन्ध विशेषण-विशेष्य भाव के स्वाभाविक होने से वह भी साधन से साध्य नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि, अशेष दुःखों = क्लेशों के हेतुरूप, अविद्या अस्मित (अविवेक मोह) राग, द्वेष, अभिनिवेश (देहासक्ति अहंकार

शस्य दुःखात्यन्ताभावात्मनोः संवन्धरूपत्वात्, तदुत्पत्तौ दुःखात्यन्ताभावस्य तदीयत्वेन व्यवहारात्। तदीयतया व्यवहारहेतुत्वेन च विषयविषयिभावादिवदस्यापि संवन्धव्यवहारगोचरत्वात्। तस्य च कृतकत्वेऽपि ध्वंसत्वादेवाविनाशित्वात्। न चात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी दुर्निरूपः, मुमुक्षुसमवेततया

नन्वयं संयोगाद्यनन्तर्भूतः कथं संबन्धः स्यादप्रसिद्धत्वादिति, तत्राह—**तदुत्पत्ताविति।** नहि संवन्धबुद्धिजनकत्वमन्तरेण सकलसंबन्धेष्वनपायि संबन्धत्वं नाम किंचिच्छक्यनिरूपणम्, तदिह यथा ज्ञानार्थयोस्तदीयबुद्धिजनकतया विषयविषयिभावसंबन्धः तद्वद्दुःखात्यन्ताभावस्यात्मीयत्वव्यवहारहेतुरसावपि संबन्ध इत्यर्थः। **तस्य चेति।** अशेषक्लेशहेतुनाशस्येत्यर्थः। ननु कस्य दुःखस्यायमत्यन्ताभावो मोक्षत्वेनाश्रीयते? न तावदतीतवर्तमानयोः, एतस्मिन्नुत्पन्नत्वेन तदत्यन्ताभावस्य तस्मिन्नसंभवात्। नापि भविष्यतः, अन्यदीयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावस्य संसारदशायामप्येतस्मिन्विद्यमानत्वेऽप्येतन्मुक्तेरभावात्। एतदीयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावोऽस्य मुक्तिरिति चेत्; तर्ह्येतदीयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतं प्रमितम्? न वा? आद्ये तदत्यन्ताभावोऽस्मिन्न संभवत्येव, प्रतियोगिसद्भावस्यात्र प्रमितत्वात्। द्वितीये त्वप्रतीतप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावरूपमोक्षस्याप्यप्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—**न चात्यन्तेति।** प्रामाणिकत्वाभावेऽपि संभावनोपनीतस्य संभवति प्रतियोगित्व-

---

मरणभय) के नाश को ही दुःखात्यन्ताऽभाव और आत्मा के सम्बन्धस्वरूपत्व है। क्योंकि उन क्लेशहेतुओं के नाश की उत्पत्ति होने ही पर दुःखात्यन्ताभाव का तदीयत्वेन (आत्मसम्बन्धित्व रूप) से व्यवहार होता है। और उस क्लेशहेतु के नाश में अत्यन्ताभाव के आत्मसम्बन्धित्वेन व्यवहार के हेतुत्व होने से विषयविषयिभावादि के समान इस क्लेशहेतुध्वंस को सम्बन्धव्यवहार के विषयत्व होता है। अर्थात् ज्ञान और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, तो भी सम्बन्ध के व्यवहार से विषयविषयिभाव सम्बन्ध माना ही जाता है, वैसे ही दुःखात्यन्ताभाव और आत्मा के सम्बन्ध का व्यवहार होता है, वहाँ इस अशेष क्लेशहेतुनाश को सम्बन्धत्व है, क्योंकि इसको भी सम्बन्ध व्यवहार विषयत्व है, और उस क्लेश हेतु ध्वंस को कार्य (कृतक) होते भी ध्वंश होने ही से अविनाशित्व है। यदि कहा जाय कि दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष कहने पर किस दुःख का अत्यन्ताभाव मोक्ष है, यह कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि अतीत दुःख नष्ट हो चुका है, वर्तमान स्वयं नष्ट होने वाला है, भावी अभी ज्ञात नहीं है कि जिसका साधन से नाश किया जाय, अतः अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी दुर्निरूप है, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि प्रमाणिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी रूप दुःख के अभाव होते भी मुमुक्षु में समवेत रूप से और मुमुक्षु की संभावना से मुमुक्षु में उपनीत =

संभावनोपनीतस्य दुःखस्य प्रतियोगित्वात्, असति योगाभ्यासे दुरितप्रवाहस्यानागतसमयवर्तिदुःखोत्पादकत्वात्। सर्वत्र चात्यन्ताभावनिरूपणे सामान्यतोऽवगतस्य विशेषतः समारोपविज्ञानविषयस्यैव प्रतियोगित्वात्, विशेषतस्तु प्रतियोगिसद्भावनिश्चयापेक्षायामत्यन्ताभावनिरूपणव्याघातात्, शशे विषाणं तदीयमन्यदीयं वा नास्तीति पर्यनुयोगस्य सुवचत्वात्। न चास्य

मित्यर्थः। संभावनामेवोपपादयति—**असतीति**। नन्वप्रामाणिकत्वे कथं तन्निरूप्याभावस्य प्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—**सर्वत्र चेति**। अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तस्थल एवायं नियमः, यत्प्रतियोगिनो विशेषतोऽपि प्रामाणिकतयाऽभावप्रामाणिकता इत्यर्थः। एतदेव विपक्षे बाधकेन द्रढयति—**विशेषतस्त्विति**। यत्र हि शशविषाणं नास्तीत्यादावत्यन्ताभावप्रमितिस्तत्रापि किमन्यदीयविषाणस्य संसर्गो निषिध्यते? किं वा एतदीयस्य? नाद्यः; अन्यदीयविषाणस्य शशमस्तकेऽपि निधातुं शक्यतया तत्संसर्गात्यन्ताभावस्यासंभवात्, शशमस्तकोत्पन्नविषाणानिषेधप्रसङ्गाच्च। द्वितीये, तत्प्रमित्यप्रमित्योरुक्तदूषणापात इत्यर्थः। स्यादेतत्—अशेषदुःख निवृत्तिवदशेषसुखनिवृत्तिरपि भवद्भिरङ्गीक्रियते मुक्तौ, सुखस्यापि दुःखानुरक्ततया दुःखान्तर्भावाभ्युपगमात्। तथा च समव्ययफलत्वान्न कोऽपि पुरुषार्थ इत्यप्रवृत्तिरेवात्र प्रेक्षावताम्। यथाहुः—

> "व्यसनानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च।
> अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः॥" इति।

तत्राह—**न चास्येति**। अत्र तावत्संसारदशायां सुखस्याल्पत्वाद् दुःखस्य च बहुलत्वात्तन्निवृत्तिः सुखादप्यधिकः पुरुषार्थ इति, न तु समव्ययफलता तथाऽत्यन्तसुखस्यापि विद्यमानत्वाल्लाभबाहुल्यमेव कुतो व्ययशङ्का? कुतस्तरां च समव्यय-

---

कल्पित भावी दुःख को प्रतियोगित्व होता है। क्योंकि मुमुक्षु में संभावना होती है कि योगाभ्यास के नहीं करने से दुरित (पाप) प्रवाह को अनागत = भावी समयवर्ती दुःखों का उत्पादकत्व = हेतुत्व होगा। इसप्रकार से सर्वत्र अत्यन्ताभाव के निरूपण में सामान्य रूप से ज्ञात और विशेष रूप से समारोप = कल्पना रूप विज्ञान के विषय को ही प्रतियोगित्व होता है। यदि अत्यन्ताभाव के निरूपण में विशेष रूप से प्रतियोगी के सद्भाव के निश्चय की अपेक्षा हो तो अत्यन्ताभाव के निरूपण का व्याघात (अभाव) प्राप्त होगा। क्योंकि (शशविषाणं नास्ति) शशशृङ्ग नहीं है, ऐसा कहने पर, सुवच प्रश्न हो सकता है, कि शश में विषाण किसका नहीं है, शश का विषाण नहीं है, या अन्य का नहीं है, वहाँ शशसम्बन्धी दोनों प्रकार के विषाण के अभाव से आरोपित का ही अभाव कहा जा सकता है, अतः आरोपित प्रतियोगी होता है। यदि कहा जाय कि अशेष दुःखनिवृत्ति के

समव्ययफलत्वेनापुरुषार्थत्वम्, योगप्रभावात् कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायां सकलसुखोपभोगाङ्गीकारात् ।

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' इति श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः सर्वकर्मणां ज्ञानेन विलयावगमात् सुखोपभोगो न युक्त इति न वाच्यम्, तद्वचनानामचिरविनश्वरतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्. अन्यथा सर्वकर्मणां विनाशाद्विदुषः सद्य एव शरीरपाते जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गात् । प्रारब्धकार्येतरकर्मणां ज्ञानादेव प्रक्षयो विवक्षित

फलता ? इत्याह—**योगप्रभावादिति** । जीवन्मुक्तिसहितायाः परममुक्तेः पुरुषार्थत्वादिति भावः ।

ननु ज्ञानेन सुखोपभोगो न घटते, कर्मनिमित्तत्वात् सुखोपभोगस्य, कर्मणां च ज्ञानेन प्रदाहादिति, तत्राह—**क्षीयन्त इति** । **परावर इति** । परमविद्यातीतम् । **अवरं** कारणतत्त्वम् । तदुभयात्मक इत्यर्थः । कुतो न वाच्यमित्यत आह—**तद्वचनानामिति** । क्षीयन्त इति कोऽर्थः ? न चिरात् क्षीयन्त इति, न पुनस्तत्क्षणमेव, भस्मसात् करणं च विनश्वरत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः । सद्यः शरीरपातं वेदान्ती परिहरति—**प्रारब्धेति** । तथा च प्रारब्धभोगैः कर्मभिः शरीरस्थितिर्घटत इत्यर्थः । नैतद्युक्तम्; अप्रारब्धफलकर्मणामपि भोगव्यतिरेकेण ज्ञानमात्रादनिवृत्तेरिति

समान सांसारिक अशेष सुखसाधन की भी मोक्ष में निवृत्ति मानी जाती है अतः इस मोक्ष के सम = तुल्य = व्यय = हानि और फल = लाभ रूप होने से इसमें पुरुषार्थत्व नहीं है । तो यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि योग के प्रभाव से काय-व्यूह = शरीर समूह के निर्माण द्वारा जीवनमुक्ति अवस्था में सब सुखभोग को माना जाता है, अतः सुख का नाश नहीं होता है । यदि कहें कि—

शुद्ध ब्रह्म और अवर कारण के अपरोक्ष ज्ञान होने पर इस ज्ञानी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं । ज्ञानाग्नि सब कर्म को भस्म कर देती है । इत्यादि सैकड़ों श्रुति, स्मृति से ज्ञान द्वारा सब कर्मों का विनाश अवगत (ज्ञात) होता है, अतः जीवन्मुक्ति अवस्था में सुख का उपभोग होना युक्त नहीं है, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि उन वचनों का अचिरविनश्वरता=शीघ्रविनश्वरता मात्र के प्रतिपादन में तात्पर्य है, सर्वथा विनाश में नहीं । अन्यथा ज्ञान से सर्व कर्म के विनाश होने पर, ज्ञानी के शरीर के शीघ्रपात होने पर, जीवन्मुक्ति का अभाव प्राप्त होगा । यदि कहें कि प्रारब्ध कर्म से भिन्न कर्मों का ज्ञान से ही उन श्रुति, स्मृतियों में विवक्षित है । अतः योगप्रभाव से सब सुखोपभोग का सम्भव नहीं है, किन्तु प्रारब्ध पर्यन्त शरीर की स्थिति जीवन्मुक्ति अवस्था में रहती है । तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि जिन कर्मों की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त नहीं किया

इति चेत्, मैवम्, अकृतप्रायश्चित्तानां कर्मणां देहारम्भककर्मवद्भोगैकनाश्यत्वनियमात् 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति स्मृतेः। न चानन्त्यात्कर्मणां भोगेन प्रक्षयानुपपत्तिः, योगप्रभावादनन्ततदुपभोगसाधनकायव्यूहनिर्माणेन तदुपपत्तेः। न चानियतकालविपाकतया कर्मणां युगपदुपभोगविरोधः, उपभोगानुकूलसहकारिसाकल्यादेव समानविपाकसमयतोपपत्तेः। अतः आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तावपि मुक्तौ न समव्ययफलता। न चाननुभूयमानतया दुःखनिवृ-

---

परिहरति पूर्ववादी—**मैवमिति**। तत्किं तत्र तत्र प्रायश्चित्ताम्नानं वृथेत्यत उक्तम्—**अकृतप्रायश्चित्तानामिति**। भोगो वा प्रायश्चित्तं वा निवृत्तिहेतुरित्यर्थः। विमतानि कर्माणि भोगैकविनाश्यानि अकृतप्रायश्चित्तत्वे सति कर्मत्वात् प्रारब्धफलकर्मवदित्यनुमानविरोधादिति भावः। स्मृतिविरोधमपि दर्शयति—**नाभुक्तमिति**। ननु भोगेन क्षयवादिनोऽनिर्मोक्ष एव, अनन्तभवपरम्परोपार्जितकर्मणामानन्त्येन भोगावसानाभावात्, न शुभकर्मविषयमस्ति प्रायश्चित्तम्, तस्मान्मोक्षमिच्छतानिच्छतापि ज्ञानमेव कर्मक्षयहेतुरेष्टव्यमिति, तत्राह—**न चानन्त्यात्कर्मणामिति**। अत्र किमेकस्यानेकविग्रहग्रहणानुपपत्तिर्बाधिका? अनियतविपाकत्वं वा? नाद्यः। सौभर्यादिवद्योगप्रभावादुपपत्तेरित्याह—**योगेति**। नोत्तरः, अनियतविपाकत्वं हि कर्मणां सहकारिसंपत्त्यनियमप्रयुक्तम्, सा च सहकारिसंपत्तिरस्य योगप्रभावात्संपत्स्यते अगस्त्यादेरिव पयोनिधिपानादाविति भवत्येव युगपदुपभोग इत्याह—**न चानियतेति**। उक्तं हि पतञ्जलिना 'योगप्रभावादृते नागस्त्य इव समुद्रं पास्यती'ति। उपपादितमसमव्ययफलत्वमुपसंहरति—**अत इति**। ननु दुःखाभावस्य न पुरुषार्थत्वम्, अननुभूयमानत्वात्, अनुभवे च नाशेषविशेषगुणोच्छेदः, ज्ञानस्यानुच्छिन्नत्वादिति, तत्र तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनोक्तं परिहारमाह—**न चाननुभूयमानेति**। अत्र किं दुःखनिवृत्तेरनुभूय-

---

गया हो उन कर्मों का भी देहारम्भक प्रारब्ध कर्म के समान ही भोगैकनाश्यत्व का नियम है, अतः उनकी भोग से निवृत्ति होती है, अतः कायव्यूह से ज्ञानी योगी उन सब को भोगता है, अतः (नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म) भोगे बिना कर्म नष्ट नहीं होता है। इस स्मृति का कहना भी युक्त होता है। यदि कहें कि कर्मों की अनन्ता से उनका भोग से एक शरीर में नाश होना असम्भव और अयुक्त है, अतः भोगपूर्वक मोक्ष ही नहीं हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि योग के प्रभाव से अनन्त उस भोग के साधन रूप शरीरसमूह के द्वारा उस अनन्त कर्म के भोगों की सिद्धि होती है। यदि कहें कि अनियत देशकालिक विपाक=फल वाले कर्मों का एक काल में उपभोग होने में विरोध है, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि योग के प्रभाव से ही उपभोग के सहकारियों की सफलता (पूर्णता) से समान=तुल्य फल समता की सिद्धि कर्मों में हो जाती है। अतः आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप भुक्ति में

त्तेरपुरुषार्थत्वम्, विकल्पासहत्वात्। किमनुभूयमानतामात्रं पुरुषार्थत्वोपयोगि ? यावद् दुःखनिवृत्तिसत्त्वं वा ? नाद्यः, चरमे जन्मनि योगप्रभावादनागताया अपि दुःखनिवृत्तेरनुभूयमानत्वसंभवात्। वर्तमानाया अप्यचिरमनुभवोपपत्तेः। तथाहि—योगिनश्चरमज्ञानेन सकलविषयेण दुःखतदभावौ युगपत्साक्षात्कृतौ तेनैव विरोधिगुणप्रादुर्भावेण निवृत्ते दुःखे विनश्यदवस्थज्ञानेन वर्तमानापि दुःखनिवृत्तिरनुभूतेति। नापि द्वितीयः, प्रसक्तकण्टकादिदुःखनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गात्, यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वात्। तथात्वे

मानत्वमात्रं पुरुषार्थत्वोपयोगि ? किं वा यावद्दुःखनिवृत्तेः सत्त्वं तावन्तं कालमनुभूयमानत्वम् ? इति विकल्प्याद्य आपादकमिद्धिमाह—**चरमे जन्मनीति। योगप्रभावादिति**। भूतभविष्यद्वर्तमानवेदनादित्यर्थः। ननु कथं वर्तमानायाः सकलदुःखनिवृत्तेरनुभवसंभवः ? येन हि चरमज्ञानेन दुःखनिवृत्तिरनुभूयते, तदपि तावदेकं दुःखम्, नच तत्समये तस्य निवृत्तिरस्ति, नापि तन्निवृत्तिसमये तदनुभवान्तरमस्ति, चरमत्वभङ्गादिति, तत्राह—**वर्तमानाया अपीति**। तस्यैवोपपादनम्—**तथा हीति**। विनश्यदवस्थेत्यत्र हृदयम्। नित्यद्रव्येष्वाश्रयविनाशाभावेन विरोधिगुणप्रादुर्भावेण पूर्वगुणनाशादुक्तम्—**विरोधिगुणप्रादुर्भावेणेति। प्रसक्तेति**। यद्यपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिस्त्विदानीमनुभूयते, तथापि न यावत्सत्त्वमनुभवः, विषयान्तरसंचाराद्यभावप्रसङ्गादतः प्रशिथिलमूलतेति भावः। ननु दुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वमेव

भी समन्वय फलता नहीं प्राप्त होती है। यदि कहा जाय कि सब दुःख की निवृत्ति रूप मोक्ष को अनुभव के साधन इन्द्रियविषयादि सहित सब की निवृत्ति रूप माना जाता है, अतः उसके अनुभव के साधन के अभाव से दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष की अननुभूयमानता के कारण उसमें अपुरुषार्थता (अफलता = अवाञ्छनीयता) की प्राप्ति होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह कथन विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, क्या दुःखनिवृत्ति की अनुभूयमानता मात्र पुरुषार्थता का उपयोगी होता है, या जब तक दुःखनिवृत्ति का सत्त्व हो तब तक अनुभूयमानत्व उपयोगी होता है। प्रथम पक्ष में कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्तिम जन्म में योग के प्रभाव से अनागत दुःखनिवृत्ति की भी अनुभूयमानत्व का सम्भव रहता है। और वर्तमान दुःखनिवृत्ति की भी अचिर, शीघ्र अनुभव की सिद्धि होती है। क्योंकि योगी के सर्वविषयक अन्तिम ज्ञान से दुःख और उसका अभाव दोनों समकाल में साक्षात् किये जाते हैं, वहाँ उसी विरोधी ज्ञान रूप गुण के प्रादुर्भाव = प्रकटता के कारण दुःख के निवृत्त होने पर, विनश्यदवस्था वाला उस ज्ञान से वर्तमान भी वह दुःखनिवृत्ति अनुभूत हो जाती है। दुःखनिवृत्ति की यावत्सत्त्व अनुभूयमानता रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि प्राप्त कण्टकादि दुःखनिवृत्ति को अपुरुषार्थता उस पक्ष

विषयान्तरावेदनप्रसङ्गात्। न च दुःखाभावस्य सुखशेषतया पुरुषार्थत्वम्, सुखस्यापि दुःखाभावशेषतया पुरुषार्थत्वमिति वैपरीत्यस्यापि वक्तुं सुकरत्वात्। कामनायाश्चोभयत्रापि समानोदयतयोभयोरपि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः। प्रयोगश्च—आत्मा कदाचिद् ध्वस्ताशेषविशेषगुणः, नित्यत्वे सत्यनित्यविशेषगुणाश्रयत्वात्, महाप्रलयावस्थायामाकाशवदिति लीलावतीकारः।

वक्रमतानुसारिणः पुनरेवं मोक्षलक्षणमाचक्षते—'एतज्जीवनिष्ठदुःख-

---

नास्ति, या तु तत्र प्रार्थना सा तस्य सुखशेषतया, तत्राह—**न चेति**। हेतुमाह—**सुखस्यापीति**। ननु काम्यमानत्वात् सुखस्यैव पुरुषार्थत्वमिति, तत्राह—**कामनाया इति**। **आत्मेति**। इदानीमुपलभ्यमानविशेषगुणकतया बाधपरिहारार्थं कदाचिदित्युक्तम्। पर्यायेण विशेषगुणध्वंसस्य संसारदशायां सिद्धत्वेनार्थान्तरत्वनिवृत्त्यर्थमशेषग्रहणम्। युगपदिति चात्र विवक्षितम्। संख्यापरिमाणादीनां मोक्षदशायामपि विद्यमानत्वेन बाधपरिहारार्थं विशेषग्रहणम्। पीलुपाकपक्षे घटादिषु विशेषगुणैः सहैव ध्वस्यमानेषु व्यभिचारनिवृत्त्यै नित्यत्वे सतीत्युक्तम्। ईश्वराप्यपरमाण्वादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनित्यविशेषगुणाश्रयत्वादित्युक्तम्। नित्यगुणादिध्वनैकान्तिकत्वपरिहाराय विशेषगुणग्रहणम्। दृष्टान्ते च शब्दव्यक्तिभेदापेक्षयाऽशेषपदसार्थक्यम्।

तदेवं दुःखात्यन्ताभावात्मनोः संबन्धरूपोऽशेषक्लेशहेतुनाशो मोक्ष इति श्रीवल्लभमतं दर्शयित्वाऽधुनिकरीतिं दर्शयति—**वक्रेति**। एतज्जीवनिष्ठं यद्दुःखं तेन समानकालीनो यो दुःखध्वंसः, ततोतिरिक्तः तत्त्वानधिकरणं य एतन्निष्ठो दुःखध्वंसः

में प्राप्त होगी, उस दुःखनिवृत्ति में यावत् सत्त्व अनुभूयमानत्व नहीं रहता है। यदि सदा उसके अनुभूयमानत्व रहे, तो विषयान्तर के ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि दुःखाभाव स्वयं पुरुषार्थ नहीं होता है, अतः सुख के शेष = अङ्ग साधन रूप से उसमें पुरुषार्थत्व होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि सुख को भी दुःखाभाव की शेषरूपता से पुरुषार्थत्व होता है, इसप्रकार से विपरीत कथन में भी सुकरत्व है। अतः कामना की दुःखाभाव और सुख दोनों में समानता से दोनों को पुरुषार्थत्व की सिद्धि होती है। प्रयोग भी हो सकता है कि (आत्मा, कभी प्रध्वस्त अशेष विशेष गुण वाला रहता है, नित्य होता हुआ अनित्य विशेष गुणाश्रय होने से, महाप्रलयकालिक आकाशवत्) इसप्रकार से लीलावतीकार सब विशेष गुण रूप दुःख के अभाव रूप मोक्ष का अनुमान करते हैं, संख्या, परिमाणादि मोक्ष अवस्था भी रहते हैं, परन्तु सामान्य गुण दुःख रूप नहीं है, इच्छा आदि दुःख रूप हैं, अतः उनके अभाव का अनुमान किया है।

उक्त रीति से मोक्षविषयक प्राचीन मत दर्शाकर, कहते हैं कि (वक्र = कुटिल=केवल तर्क परायण, इस वक्ष्यमाण रीति से मोक्ष का लक्षण कहते हैं कि—

समानकालीनदुःखध्वंसातिरिक्तैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य मुक्तिः' इति। प्रयोगश्च—देवदत्तोऽयमेवंविधदुःखध्वंसवान् दुःखित्वाच्चैत्रवत्। एतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य मोक्ष इत्यपरे। एवंविधसाध्येऽपि दुःखित्वादिति प्रयोगः पूर्ववदेव। अन्ये तु ज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयो दुःखध्वंसो मोक्ष इति मन्यन्ते। तत्र साक्षात्कारविषयो दुःखध्वंस इत्येतावति लक्षणे सांसारिकदुःखध्वंसेऽतिव्याप्तिर्मा

स एतज्जीवस्य मुक्तिरिति योजना। एतन्निष्ठदुःखध्वंस एतत्संसारदशायामप्यस्तीत्यतिव्याप्तिपरिहारायातिरिक्तेत्यन्तं विशेषणम्। जीवान्तरसंसारसमयदुःखध्वंसे तादृश्यतिव्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदुःखध्वंस इत्युक्तम्। असंभवपरिहारायैतज्जीवनिष्ठेत्युक्तम्। घटादिध्वंसव्यवच्छेदार्थं दुःखध्वंसेत्युक्तम्। **प्रयोगश्चेति**। अयं देवदत्त एतद्देवदत्तनिष्ठदुःखसमानकालीनदुःखध्वंसातिरिक्तदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् चैत्रवदित्यनुमातव्यमित्यर्थः। लक्षणान्तरमाह—**एतन्निष्ठेति**। एतद्देवदत्तनिष्ठो यो दुःखप्रागभावस्तेनासमानकालीनो य एतन्निष्ठदुःखध्वंसः स एतन्मुक्तिरित्यर्थः। अत्रापि सांसारिकैतद्दुःखध्वंसेऽतिव्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनेत्युक्तम्, संसारदशायां हि उत्पत्स्यमानदुःखप्रागभावसमानकालीनो हि दुःखध्वंसः। अत्रापि प्रयोगं दर्शयति—**एवं विधेति**। अयं देवदत्त एतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् पुरुषान्तरवदिति प्रयोग इत्यर्थः। **ज्ञानाजनकेति**। ज्ञानाजनको यः संस्कारस्तज्जनको जन्यश्च यः साक्षात्कारस्तेन विषयीकृतो यो दुःख-

---

(= इस जीववृत्ति दुःख समानकालिक दुःखध्वंस से भिन्न इस जीववृत्ति अन्तिम दुःखध्वंस इसकी मुक्ति है और प्रयोग है कि (यह मुक्त देवदत्त, दुःख समानकालिक स्वदुःखध्वंस से अतिरिक्त दुःखध्वंसवाला है, दुःखी होने से, चैत्र के समान) दृष्टान्त में देवदत्त दुःख के अभाव से साध्य की प्रसिद्धि होती है, और देवदत्त में अन्तिम दुःखध्वंस से साध्य सिद्ध होता है। दूसरे कोई मोक्ष का लक्षण कहते हैं कि (इस जीववृत्ति दुःख प्रागभाव के असमानकालिक एतद्वृत्ति दुःखध्वंस, इसका मोक्ष है) इस लक्षण के अनुसार साध्य में भी (दुःखित्वात्) इस हेतु से पूर्व तुल्य ही प्रयोग होता है। (यह देवदत्त, एतद्वृत्ति दुःखप्रागभाव के असमानकालिक दुःखध्वंस वाला है, दुःखी होने से, पुरुषान्तर के समान)। अन्य कोई मानते हैं कि (ज्ञान का अजनक जो संस्कार, उस संस्कार का जनक और साधनजन्य जो अन्तिम साक्षात्कार उसका विषयस्वरूप दुःखध्वंस मोक्ष है)। इस लक्षण का (साक्षात्कारविषयोध्वंसः) इतना ही स्वरूप होता, तो सांसारिक दुःखध्वंस में अतिव्याप्ति होती, वह नहीं हो, इसलिये, ज्ञानाजनक इत्यादि विशेषों से साक्षात्कार को विशेषित किया गया है, वहाँ जन्यपद से ईश्वर का साक्षात्कार

भूदिति ज्ञानाजनकेत्यादिना विशेषणेन साक्षात्कारो विशेष्यते। तत्र जन्यपदेनेश्वरसाक्षात्कारो व्यावर्त्यते, तस्यापि सकलजनकतया ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वात्। अस्ति च ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वं चरमसाक्षात्कारस्य दुःखध्वंसविषयस्य, तदनन्तरं मुक्तौ ज्ञानान्तरानुदयात्।

दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यत्र च "शरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इत्यादयो वेदान्ताः प्रमाणम्। प्रियशब्दाभिधेयस्य सुखस्यापि निराकरणात्। "यो वै भूमा तत्सुखम्" "एष एव परमानन्दः" इत्येवमा-

---

ध्वंसः स मोक्ष इति योजना। स्वयमेव विशेषणानां कृत्यमाह—**तत्रेत्यादिना**। ननु भावनासंस्कारस्यायं स्वभावः यत्स्मृतिजनकत्वम्, तत्कथं ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वम्? अतोऽसिद्धिर्लक्षणस्येति तत्राह—**अस्ति चेति**। प्रयोगस्तु—अयं देवदत्त एतद्देवदत्तनिष्ठज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् संप्रतिपन्नवदिति।

तदेव दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यनुमानैरुपपादितं संप्रति श्रुतिमपि तत्र प्रमाणयति—**दुःखेति**। वावेत्यवधारणे। अशरीरं च सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत एवेति दुःखवत्सुखस्यापि प्रतिषेधात्, दुःखनिवृत्तिमात्रमेव मुक्तिः, न पुनः सुखसंपत्तिरपीत्यवसीयत इत्यर्थः। स्यादेतत्—सन्ति मुक्तौ सुखप्रतिपादिका अपि श्रुतयस्ताः किं प्रमत्तगीता इति, इत्राह—**यो वै भूमेति**. यो नामादिभ्यः प्राणान्तेभ्यः परत्वेन प्रतिपादितः सत्याख्यो भूमा तत्सुखम्। भूमशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वेऽपि विधेयसुखापेक्षया तदिति निर्देशः। वै इत्यवधारणे। एवं छान्दोग्यश्रुतिमुक्त्वा वाजसनेयकश्रुतिमप्याह—**एष इति**। यः सुषुप्त्यादावपरिच्छिन्न आनन्दः प्रतिभासते एषोऽस्यात्मनः परम उत्कृष्ट आनन्द इत्यर्थः। ननु किमिति मुख्यार्थः परित्यज्यते असंभवदर्थत्वा-

---

व्यावृत्त होता है, क्योंकि ईश्वर ज्ञान को भी सकल जनकता से ज्ञानजनक संस्कारजनकत्व होता है। और ज्ञानाजनक संस्कारजनकत्व दुःखध्वंसविषय अन्तिम साक्षात्कार को रहता है, क्योंकि उसके अनन्तर मुक्ति में ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती है।

इस उक्त रीति से अनुमान प्रदर्शित दुःखनिवृत्ति ही मुक्ति है, सुखप्राप्ति नहीं। इस अर्थ में (अशरीरं वावसन्त न प्रियाप्रिये स्पृशतः) इत्यादि वेदान्त प्रमाण हैं, शरीर रहित ज्ञानी को प्रिय अप्रिय = सुख दुःख नहीं स्पर्श करते हैं, इस कथन से मोक्ष में सुख का भी अभाव स्पष्ट ही कहा गया है। अर्थात् प्रिय शब्द का वाच्य सुख का भी मोक्ष में निराकरण किया गया है। यदि कहा जाय कि मोक्ष में सुख के प्रतिपादक श्रुतियाँ हैं, जैसे कि (यो वै भूमा तत्सुखम्, ऐपोऽस्य परमानन्दः) जो नामादि से पर सत्य वस्तु है, वह विभु सुख स्वरूप है, जो सुषुप्ति आदि में

चास्तु श्रुतयो दुःखाभावविषयतयोपचरितार्था विषयाजन्यसुखस्यादृष्टचरत्वात्। न च सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरामर्शदर्शनाददृष्टचरत्वमसिद्धमिति वाच्यम्, पित्ताद्युपहतेन्द्रियस्य दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शात्, दुःखस्यापि नित्यताप्रसक्तेः। न च परमप्रेमास्पदत्वादात्मनःसुखरूपतानुमेया, दुःखाभावे व्यभिचारात्। आत्मनः सुखरूपत्वे च मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गात्, स्वयंप्रकाशस्य निरतिशयसुखरूपतया सदावभाससंभवात्। सुखं मे स्यादिति च प्रेमालोके, न सुखमहं स्यामिति, तथा

दित्याह—**विषयेति**। नन्वदृष्टचरत्वमसिद्धं सुप्तोत्थितेन परामृश्यमानत्वादिति तत्राह—**न च सुप्तेति**। ननु माभूदर्थापत्तिरनुमानं तु भविष्यति। तथाहि—आत्मा सुखं परमप्रेमास्पदत्वात् संप्रतिपन्नसुखवत्, व्यतिरेकेण दुःखवदिति वा तत्राह—**न च परमप्रेमेति**। अस्ति हि दुःखाभावस्यापि परमप्रेमास्पदत्वम्, नच तत्र सुखशेषतयेति वाच्यम्, वैपरीत्यस्य सुवचत्वात्, न च सुखरूपत्वमित्यनैकान्त्यमित्यर्थः। तर्कबाधितत्वं चाह—**आत्मन इति**। ननु स्वरूपभूतमपि सुखं संसारदशायां न प्रकाशते मुक्तौ तु प्रकाशतेऽतोऽस्ति विशेष इति तत्राह—**स्वयंप्रकाशेति**। प्रतिज्ञाविरोधलक्षणं निग्रहस्थानमप्याह—**सुखमिति**। पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

आनन्द प्रतीत होता है, वह परमानन्द आत्मस्वरूप है। इत्यादि। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ये श्रुतियाँ दुःखाभाव विषयता रूप से उपचरितार्थ हैं (अमुख्यार्थक है) क्योंकि विषय से अजन्य सुख अदृष्टचर है, अर्थात् नित्य सुख किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि, प्रथम सोकर पीछे जागने वाले के मैं सुखपूर्वक सोया था, इसप्रकार के सौषुप्तिक विषयाऽजन्य सुख के स्मरण के ज्ञान से सुख में अदृष्टचरत्व नहीं है। क्योंकि इस स्मरण से सुषुप्ति के सुख का अनुमान होता है, कारण है कि अनुभव के विना स्मरण नहीं होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि पित्तादि दोषों से उपहत (आवृत्त) इन्द्रिय (मन) वाले के मैं दुःखपूर्वक सोया था इस दुःख के स्मरण से दुःख को भी नित्यत्व प्राप्त होगा। यदि कहें कि उक्त रीति से नित्य सुखरूपता की आत्मा में नहीं सिद्ध होने पर भी, परम प्रेमविषयत्व से आत्मा की सुखरूपता अनुमेय है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि दुःखाभाव में व्यभिचार है, दुःखाभाव में सुखरूपता नहीं रहते भी परम प्रेमविषयत्व रहता है अतः (आत्मा, परमसुखस्वरूपः, परमप्रेमास्पदत्वात्) ऐसा अनुमान नहीं हो सकता है। और आत्मा यदि सुखस्वरूप हो, तो मुक्ति और संसार में अविशेषता = तुल्यता प्राप्त होगी। क्योंकि स्वयं प्रकाश निरतिशय = निर्विशेष सर्वोत्तम सुखस्वरूप से सदा अवभास (अनुभव) का सम्भव होगा। और मुझे सुख हो, इस प्रकार के (प्रेमाऽऽलोके) प्रेम को मैं देखता हूँ। मैं सुखी हो

चात्मनः सुखरूपत्वे प्रेमास्पदत्वमेत्र न स्यादिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधस्तत्र कुतस्ततः सुखरूपतानुमानम् ? तस्माद् दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति ।

अत्रोच्यते—प्रतियोगिहेतुनाशो न तदत्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजकः,

लीनशब्दनिदानेऽपि व्योम्नि तस्यानवस्थितेः ।

रूपाभावव्यवहृतेस्तदभावेऽपि चात्मनि ॥ १ ॥

सिद्धान्तमुपक्रमते—**अत्रेति** । दुःखात्यन्ताभावस्य स्वरूपतो नित्यत्वेऽपि तत्संबन्ध आत्मनि साध्यः, संबन्धश्च दुःखहेतूनामशेषक्लेशानां नाशस्तस्मिन् सति तदीयत्वव्यवहारादिति हि श्रीवल्लभेनोक्तम्, तत्र दुःखहेतुनाशो दुःखात्यन्ताभावस्यात्मीयतया व्यवहारे न प्रयोजको व्यभिचारादित्याह—**प्रतियोगीति** । प्रतियोगिनो दुःखादेर्हेतुभूतक्लेशनाशो, न दुःखात्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजक इति योजना । हेतुं श्लोकेनाह—**लीनेति** । प्रलयावस्थायां ह्याकाशेऽधिकरणे शब्दहेतवोऽसमवायिकारणसमवायिकारणनिमित्तकारणानि च कानिचित्प्रलीनानि, अथापि शब्दात्यन्ताभावस्य नाकाशसंबन्धः; नहि पूर्वोत्पन्नशब्दध्वंसानुत्पद्यमानशब्दप्रागभावावन्तरेण तत्र शब्दात्यन्ताभावोऽस्ति । नच शब्दोपादानाकाशस्य निमित्तभूतेश्वरादेश्च विद्यमानत्वात्, प्रलये कथं शब्दकारणाभाव इति वचनीयम्; दुःखेष्यात्मादीनां सत्त्वेन हेतुनाशरूपसंबन्धाभावस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वात् । तदेवमन्वयो नास्तीत्युक्तम् व्यतिरेकोऽपि नास्तीत्याह—**रूपेति** । रूपहेत्वभावस्यात्मन्यविद्यमानत्वेऽपि रूपात्यन्ताभावव्यवहाराच्चेति श्लोकयोजना ।

जाऊँ । ऐसा प्रेम को नहीं देखता हूं । तथा च आत्मा के सुख रूप होने पर प्रेमास्पदत्व ही नहीं होगा, क्योंकि मुझे सुख हो इस प्राप्तव्य सुख में प्रेम देखा जाता है । इस प्रतिज्ञा और हेतु को विरोध होगा, क्योंकि सुखरूपता हेतु है, प्राप्य सुख में, और सुखरूपता साध्य है, आत्मा में । अतः प्रतिज्ञा हेतु को समानाधिकरणता ही नहीं है, तो उस हेतु से सुखरूपता का अनुमान कैसे होगा, अतः दुःखों की निवृत्ति मुक्ति है, सुख की प्राप्ति नहीं । यहाँ पूर्व पक्ष समाप्त हुआ । अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि, प्रथम कहा है कि दुःखात्यन्ताभाव के नित्य होते भी उसका आत्मा में सम्बन्ध साध्य है, और अशेष क्लेशों का नाश ही सम्बन्ध है, वहाँ दुःख हेतु का नाश रूप प्रतियोगी हेतु नाश को दुःखात्यन्ताभाव के आत्मसम्बन्ध का प्रयोजक (हेतु) प्रथम कहा गया है, वहाँ कहा जाता है कि—प्रतियोगी नाश को दुःख अत्यन्ताभाव के आत्मसम्बन्धित्व में प्रयोजकत्व नहीं हो सकता है । क्योंकि—

शब्द के हेतुओं के प्रलयकाल में आकाश में लीन होने पर भी शब्द के अत्यन्ताभाव की आकाश में स्थिति नहीं होती है । और रूप हेतु के अभाव नाश

प्रलयदशायामशेषशब्दनिदाननाशेऽपि आकाशे न शब्दात्यन्ताभावः, पुनः सर्गे तत्रैव शब्दोत्पत्तेः। प्रतियोगिहेतुनाशाभावेऽप्यात्मनि रूपात्यन्ताभावव्यवहारात्। न चाभावत्वेऽपि विषयविषयिभावादिवत् ध्वंसस्य संबन्धरूपता, विषयविषयिभावादेरप्यभावत्वे संबन्धरूपत्वे चासंप्रतिपत्तेः।

न च विनाशस्याप्यविनाशिता, कृतकत्वात्। न च ध्वस्ताध्वस्तिप्रसङ्गः, पुरस्तादेव परास्तत्वात्। न च समारोपितप्रतियोगिकत्वे दुःखात्य-

---

विवृणोति—**प्रलयेति**। उत्तरार्द्धं विवृणोति—**प्रतियोगीति**। क्लेशहेतुध्वंसाभावेऽपि परमेश्वरे दुःखात्यन्ताभावव्यवहाराच्च। नच तदत्यन्ताभावविवक्षा, जीवेऽप्यभावात्। नच संसर्गाभावमात्रविवक्षा, गगने व्यभिचारोदीरणादिति। किंच भावविशेषस्यैव संबन्धत्वप्रसिद्धेः प्रतियोगिहेतुध्वंसस्य संबन्धत्वमेव नास्ति। नच विषयविषयिभावादिदृष्टान्तस्तस्याप्युक्तरूपत्वे विप्रतिपत्तेरित्याह—**न चाभावत्वेऽपीति**।

यत्तु ध्वंसस्य कृतकत्वेऽपि नित्यत्वसमर्थनं तद्दूषयति—**न च विनाशस्येति**। **पुरस्तादेवेति**। उत्तरोत्तरध्वंसमालाया अन्यस्मिन्नपि ध्वस्तपदार्थे विरोधित्वादिति प्रागभावखण्डने कृतसमाधानत्वादित्यर्थः। यत्तु दुःखात्यन्ताभावस्य संभावनोपनीततया विशेषतः समारोपसिद्धदुःखप्रतियोगिकत्वमुक्तं तद्दूषयति—**न च समारोपितेति**। ननु समारोपितद्विरदध्वंसस्यानत्यन्ताभावत्वादप्रामाणिकत्वम्, अत्यन्ता-

---

रूप प्रयोजक के आत्मा में नहीं रहते भी रूप के अत्यन्ताभाव का व्यवहार आत्मा में होता है ॥ १ ॥

अर्थात् प्रलय अवस्था में सम्पूर्ण शब्दहेतु के नाश होने पर भी आकाश में शब्द का अत्यन्ताभाव नहीं होता है, क्योंकि फिर सृष्टिकाल में उसी आकाश में शब्द की उत्पत्ति होती है। और प्रतियोगी रूप हेतु के नाश के अभाव रहते भी आत्मा में रूपात्यन्ताभाव का व्यवहार होता है। क्लेशहेतुध्वंस के परमेश्वर में अभाव रहते भी दुःखात्यन्ताभाव का व्यवहार होता है। और क्लेशहेतु नाश को अभाव रूप होते भी विषयविषयिभाव के समान सम्बन्धत्व कहा था, वह ध्वंस की सम्बन्धरूपता नहीं हो सकती है।

और प्रथम क्लेशहेतु नाश की अविनाशिता कही गई है, वह अविनाशिता नहीं हो सकती है, क्योंकि उसमें कृतकत्व है, यदि कहें कि ध्वंस का ध्वंस हो तो ध्वस्त प्रतियोगी की अध्वस्ति = उन्मज्जन प्रसङ्ग होगा। तो प्रथम ही इस दोष का निराकरण किया गया है कि घटादिप्रतियोगी का विरोधी जैसे ध्वंस होता है, वैसे उत्तरोत्तर के ध्वंस भी ध्वंसप्रतियोगी के विरोधी होते हैं। और कहा था कि दुःखाभाव का मुमुक्षु की संभावना से उपनीत विशेषप्रतियोगी रहता है, तो यह

न्ताभावस्य पारमार्थिकता, स्वप्नसमारोपितद्विरदध्वंसवदस्यापि पारमार्थिकत्वानुपपत्तेः। न च शशविषाणनिषेधप्रतिबन्दीग्रहः, तस्याप्यविचारितरमणीयत्वात्। न च कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायामशेषसुखोपभोगाङ्गीकारात् समव्ययफलत्वदोषपरिहारः, विदेहकैवल्ये दुःखाननुभववत्सुखानुभवस्याप्यभावात्। न च सर्वकर्मफलोपभोगसंभवः प्रारब्धकर्मेतर-

---

भावस्य त्वयं विशेषः यत्प्रतियोग्यप्रामाणिकतयापि प्रामाणिकत्वम्, इतरथा शशविषाणनिषेधासंभवादिति तत्राह—**न च शशेति**। समव्ययफलतामपि समर्थयते—**न च कायेति**। यद्यपि जीवन्मुक्तिदशायामेतच्छक्यपरिहारम्, तथापि विदेहकैवल्यावस्थायां दुष्परिहरमेतदित्याह—**विदेहेति**। एतेनैतदप्यपास्तम्, यदाह मानमनोहरः—'योगर्द्धिसमासादितचिरकालोपभोग्यसुखविशेषपरत्वेऽप्युपपत्ते'रिति तादृशसुखस्य मुक्तावभावात्। नच जीवन्मुक्तिदशायामपि सर्वकर्मणां फलोपभोगसंभवः येनाधिकसुखोपभोगः स्यादित्याह—**न च सर्वेति**। येन कर्मणा फलं प्रारब्धं तत्कर्म प्रारब्धं कर्म। यदि हि भोगैकविनाश्यानि कर्माणि तदा ज्ञानाग्निवृत्तिर्न श्रूयते, श्रूयते चातो न सर्वकर्मफलोपभोगस्तदेत्यर्थः। यत्तु ज्ञानाग्निवृत्तिर्न घटत

कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि दुःखात्यन्ताभाव के समारोपित प्रतियोगिकत्व होने पर, उसमें पारमार्थिकता नहीं होगी, क्योंकि स्वप्न में समारोपित हस्ती के ध्वंस के समान इस दुःखध्वंस में पारमार्थिकत्व की अनुपपत्ति होगी। यदि कहें कि स्वप्नहस्तिध्वंस को तो ध्वंसत्व ही नहीं रहता है। और कल्पित हो भी तो अत्यन्ताऽभाव के अभाव से अप्रमाणिकत्व रहता है। और अत्यन्ताभाव में यह विशेष प्रभाव है कि प्रतियोगी के अप्रमाणिक होते भी अत्यन्ताभाव में पारमार्थिकत्व होता है, अन्यथा शशविषाण का निषेध नहीं हो सकेगा, तो कहा जाता है कि शशविषाण के निषेध (अत्यन्ताभाव) रूप प्रतिबन्दी का ग्रहण भी (उसके असम्भवता का कथन भी) युक्त नहीं है, क्योंकि शशविषाणात्यन्ताभाव में अविचारित रमणीयत्व है, उसमें भी प्रामाणिकत्व नहीं है, क्योंकि शश में विषाण संसर्ग का निषेध माना जाता है। और योगप्रभाव से कायव्यूहनिर्माण के द्वारा जीवन्मुक्ति दशा में अशेष सुखोपभोग के स्वीकार से जो समव्ययफलत्व दोष का परिहार = निवारण किया था, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्ति अवस्था में कथञ्चिद् दोषपरिहार करने पर भी विदेह कैवल्यावस्था में दुःख के अननुभव के सुखानुभव के भी अभाव से समव्ययफलत्व दोष रहता ही है। और प्रारब्ध कर्म से अन्य कर्मों की ज्ञान से निवृत्ति सुनी जाती है। अतः सब कर्मों के फलों के उपभोग का सम्भव नहीं है। और जिन कर्मों की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त नहीं

कर्मणां ज्ञानान्निवृत्तिश्रवणात् । न चाकृतप्रायश्चित्तानां कर्मणां भोगैकनाश्यत्वनियमः, "क्षीराक्तैराम्रपत्रैस्तु ज्वरं सद्यो निवारयेत्" इत्यादिना अकृतप्रायश्चित्तानामपि ज्वरादिहेतुकर्मणां निवृत्तिस्मरणात् । न चाकृतप्रायश्चित्तत्वम्, 'एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, एवम् 'एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इत्यादिवाक्यशेषे श्रूयमाणपापक्षयस्य रात्रिसत्रन्यायेन ज्ञानफलत्वकल्पनया सगुणासु विद्यासु दुरितक्षयकामो ब्रह्मोपासनं कुर्यादिति प्रायश्चित्तविधित्वोपपत्तेः ।

इत्यप्युक्तम्, तत्परिहरति—**न चाकृतेति** । तत्र हेतोरनैकान्तिकतामाह—**क्षीरेति** । अत्र हि यः क्षीराभ्यक्ताम्रपत्रैर्होमः नासौ प्रायश्चित्तम्, नापि भोगः, अथापि निवर्त्यते ज्वरहेतुकर्म, ततो नायं नियम इत्यर्थः । नच तत्र ज्वरस्यैव कार्यस्य नाशः कर्मणस्तु प्रतिबन्धमात्रमेवेति वाच्यम्, तत्कार्यस्यात्यन्तानुत्पत्ती कर्मसद्भावे प्रमाणाभावात् । अभ्युपगम्य चेदमुक्तम्, वस्तुतस्तु कृतप्रायश्चित्तत्वमपि शक्यसंपादमित्यसिद्धिमाह- **न चाकृतप्रायश्चित्तत्वमिति** । ननु पापक्षयोद्देशेनाविहितस्य कथं प्रायश्चित्तत्वावधारणं तत्राह—**एवं ह्यस्येति** । ननु वाक्यशेषे श्रूयमाणमपापश्लोकश्रवणवदर्थवाद इति तत्राह—**रात्रीति** । यथा हि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यत्र विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात् कामपदविपरिणामेन प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्रं कुर्यादिति कल्पितं तद्वदित्यर्थः । **ज्ञानफलत्वेति** । ज्ञानं प्रति फलत्वेन कल्पनयेत्यर्थः ।

किया गया हो, उन कर्मों के भोगैकनाश्यत्व का नियम नहीं है, क्योंकि (दूध से भींगे हुए आम्र के पत्रों के हवन द्वारा ज्वर का शीघ्र निवारण करे) इस वचन के अनुसार प्रायश्चित्तरहित ज्वरादि हेतु कर्मों का विनाश कहा गया, यह होम प्रायश्चित्त रूप नहीं है, तो भी इससे कर्म की निवृत्ति मानी गई है । और ज्ञानी के कर्मों को अकृतप्रायश्चित्त नहीं रहता है । क्योंकि (एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते । एवं एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते) अग्नि में दिया तूल के समान ज्ञानी के सब पापादि कर्म नष्ट हो जाते हैं । पद्मपत्र पर जल के समान ज्ञानी में पापादि कर्म नहीं लिप्त होते हैं । इत्यादि वाक्यशेष में श्रूयमाण पापक्षय को रात्रिसत्र न्याय से ज्ञानफलत्व की कल्पना होती है । अर्थात् (प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति) यहाँ (वे लोग प्रतिष्ठा पाते हैं कि जो इन रात्रि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं) ऐसा होते भी विश्वजित न्याय से स्वर्गफल की कल्पना में गौरवता से माना जाता है कि (प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्रं कुर्यात्) प्रतिष्ठा की इच्छा वाला रात्रियज्ञ करे । इससे इस कर्म का श्रुत प्रतिष्ठा फल सिद्ध होता है । इसीप्रकार से श्रूयमाण पापक्षय के ज्ञानफलत्व की कल्पना से सगुण विद्याओं में

'उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च।
प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥' इति स्मरणाच्च।
सत्येनापि शपेद्यस्तु देवाग्निगुरुसंनिधौ।
तस्य वैवस्वतो राजा धर्मस्यार्द्धं निकृन्तति ॥'

इत्यादिस्मरणात्, सुकृतस्यापि भगैकनाश्यत्वनियमानुपपत्तेः। 'नाऽभुक्तं क्षीयते' इत्यादेरौत्सर्गिकत्वादपवादं परिहृत्यैव चोत्सर्गस्थितेः। निर्गुणब्रह्मविद्यायाश्च सर्वकर्महेतुभूताऽविद्यानिरासिकाया अदृष्टद्वारेणैव तत्कार्यपुण्यापुण्यनिवर्तकत्वोपपत्तेः। न च कायव्यूहनिर्माणेन युगपत् सर्वकर्मफलो-

---

साक्षादेव च पापक्षयोद्देशेने ध्यानविधायिका स्मृतिरप्यस्तीत्याह—**उपपातकेष्विति**। **रजनीपादः** रजन्याश्चतुर्थभागः। नन्वस्तु दुरिते न नियमः सुकृते तु भोगैकविनाश्यत्वनियमोऽस्त्येवेति तत्राह—**सत्येनापीति**। ननु तर्हि भोगैकविनाश्यत्वप्रतिपादकवचनस्य का गतिरिति तत्राह—**नाभुक्तमिति**। ननु तथापि निर्गुणज्ञानस्य कथं कर्मनिवर्तकत्वम्? नहि तदुद्देशेने ध्यानं विधातुमुचितमिति तत्राह—**निर्गुणेति**। नायं शास्त्रैकगम्योऽर्थः, वस्तुवृत्तेनैव तत्सिद्धेः, नहि रज्जुतत्त्वज्ञानस्य भयकम्पादिनिवर्तकत्वं शास्त्रमन्तरेण न बुद्ध्यत इति भावः। तदेवं ज्ञाननिवर्त्यत्वान्न जीवन्मुक्तिदशायां सर्वकर्मफलोपभोग इत्युक्तम्। इदानीमशक्यत्वादपि न सर्वकर्मफलोपभोगसंभव इत्याह—**न च कायेति**। देहदेशादिवत्कालोऽपि सहकारी, सहस्रसंवत्सरादिपरिमितभोग्यस्य तत्र तत्र फलत्वेन श्रवणात्, स च न योगीच्छामनुवर्तते,

---

पापक्षय की कामना वाला ब्रह्म की उपासना करे, इसप्रकार से प्रायश्चित्त विधित्व की सिद्धि होती है। और साक्षात् ही पापक्षय के लिये ध्यानविधायक स्मृति भी है कि—

सब पातकों के, और महापातकों के होने पर, उनकी निवृत्ति के लिये रात्रि के चतुर्थ भाग में प्रवेश करके ब्रह्म का ध्यान करे। और (जो कोई देव, अग्नि और गुरु के समीप में सत्य से भी साप देता है, शपथ करता है, उसके धर्म अर्द्धांश को धर्मराज नष्ट कर देते हैं।

इत्यादि स्मृति से पुण्य के भी भोगैक नाश्य के नियम की सिद्धि नहीं हो सकती है। और (नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म) अभुक्त कर्म नष्ट नहीं होता है। इत्यादि को औत्सर्गिकत्व (सामान्य शास्त्रत्व) है। और औत्सर्गिक होने से अपवाद (बाधक) के विषय को त्याग करके ही उत्सर्ग की स्थिति होती है, और सर्वकर्म के हेतु स्वरूप अविद्या के नाशक निर्गुण ब्रह्म विद्या को अदृष्ट द्वारा ही उस अविद्या के कार्य पुण्य-पाप के निवर्तकत्व सिद्ध होता है। अतः सर्वकर्म विषयक भोगैक निवर्त्यत्व का नियम नहीं है। और कायव्यूहनिर्माण द्वारा एक काल में

पभोगसंभवः, तत् तत् कल्पमन्वन्तरादिनियतकालोपभोग्यानां युगपदुपभोगे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणामेव मुक्तिः, येन कायव्यूहनिर्माणेन युगपदशेषकर्मफलोपभोगः स्यात्, न त्वेवम्। भगवता पतञ्जलिना नियमाभावाभिधानात्—'यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राकारं दग्धक्लेशबीजं भवति, तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति, एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वर-

---

युगपदेव च तस्योपसंहारे तादृशफलप्रतिपादकशास्त्रार्थपरित्यागादप्रामाण्यप्रसङ्गस्त-स्येत्यर्थः। किंचाव्यापिका चेयं कल्पना यत्कायव्यूहनिर्माणेन सर्वकर्मफलान्युप-भुक्तवतो मोक्ष इति, अप्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां कायव्यूहनिर्माणाप्रवीणानामपि योगशास्त्रकृतवचनबलात्तत्तदितिहासपुराणादिगतलिङ्गावगमाच्च मुक्तिविज्ञानात्, त्वत्पक्षे च तेषाममुक्तिरेव स्यात्। नच वद्धैकस्वभावाः केचन जीवा इति वचनीयम्, तथा सति तत्त्वशङ्कया सर्वेषामप्रवृत्त्यापातात्। नच शमदमविषयवैतृष्ण्याद्युपलम्भा-च्छङ्कोच्छेदेन विस्रब्धप्रवृत्तिरिति वचनीयम्, शमदमादेरपि निर्निमित्तमनुत्पत्तेः सनिमित्तत्वे च तन्निमित्तानुष्ठानदशायामेवैषा शङ्का निरङ्कुशा स्यात्तदेतदखिलं हृद्यालिख्याह—**न च प्राप्तेत्यादिना। यदा निर्धूतेति।** सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति विभूतिपादावसानसूत्रं व्याचक्षाणः परर्मापराह—**यदेत्यादिः।** रजस्तमोलक्षणे मले निर्धूते यस्मिन् बुद्ध्याकारपरिणते सत्त्वगुणे तत्सत्त्वं तथोक्तम्, अत एव पुरुषबुद्ध्योरन्यतैकाकारप्रत्ययमात्रेण परिणतम्, तथा क्लेशानविद्यादीन् प्रति दग्धो बीजभावो यस्य न पुनरकृतार्थचित्तवत्प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारक्लेशः कृतभोग-विवेकख्यातिलक्षणपुरुषार्थद्वयत्वात्, तत्तथोक्तम्, एवं यदा भवति चित्तसत्त्वं तदा पुरुषशुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति पुरुषशुद्धिसदृशशुद्धिमुद्भावयति। यथाहि पुरुष-श्चिन्मात्रतया स्वच्छः तथा सत्त्वमपि तन्मात्राकारत्वाद्भवति निर्मलतया सरूपम्,

---

सब कर्म के उपभोग का भी सम्भव नहीं है, क्योंकि तत्तत् कल्प, मन्वन्तरादि नियत काल में उपभोग योग्य कर्मों के एक काल में उपभोग होने पर, नियत काल में भोगप्रतिपादक शास्त्रों को अप्रमाणता प्राप्त होगा। और अणिमादि ऐश्वर्य (सिद्धियों) को प्राप्त करने ही वालों की ही मुक्ति होती है, ऐसा नियम नहीं है, कि जिससे कायव्यूह के निर्माण = सृष्टि द्वारा एक काल में सब कर्मों के फल का उपभोग हो जाय। भगवान् पतञ्जलि ने कायव्यूहादिसिद्धि के नियम का अभाव योगसूत्र में कहा है, और उसका भाष्यकर्ता भगवान् व्यास ने कहा है कि निर्धूत = निवृत्त रजोगुण तमोगुण वाला बुद्धिस्वरूप सत्त्व जब होता है, तब पुरुष के अन्यता = विवेक मात्र आकार वाला, तथा दग्ध क्लेश बीज वाला होता है। अतएव उस समय पुरुष की शुद्धिस्वरूपता के समान शुद्धि से युक्त होता है,

स्यानीश्वरस्य वा' इति। जनकजडभरतविदुरधर्मव्याधपिङ्गलादीनामप्राप्तैश्वर्याणामपि मुक्तिस्मरणाच्च।

न च युगपद्भोगे सहकारिसाकल्यम्, भविष्यत्तत्कल्पमन्वन्तरादीनां सहकारिणामिदानीमाहर्तुमशक्यत्वात्। न च प्रसक्तकण्टकादिदुःखनिवृत्तिवन्मुक्तौ दुःखनिवृत्तेर्वर्तमानतया साक्षात्कारसंभवः, अप्राप्तैश्वर्यस्यापि मुक्तिप्रतिपादनेन तदसंभवस्योपपादितत्वात्। न च दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः, सुखाभिव्यक्तिशेषत्वात्। न च विपरिवृत्तिप्रसङ्गः, विकल्पासह-

---

अथ कैवल्यं भवति कस्य ईश्वरस्य पूर्वोक्तसंयमविशेषैर्ज्ञानक्रियाशक्तिमतः, अनीश्वरस्य वा चक्षुरन्तःकरणयोः संबन्धसंयमाद्विवेकजज्ञानमित्यनन्तरोक्तसंयमाद्विवेकजज्ञानवतः ? इतरस्य वा उत्पन्नविवेकख्यातेरिति तदिहाप्राप्तैश्वर्यस्यापि इतरवदेव मुक्ति शास्तीत्यर्थः।

यत्तु युगपदुपभोगे सहकारीसाहित्यात्समानविपाकतेति तत्राह—**न च युगपदिति।** यत्तु यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वेऽपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिवदशेषदुःखनिवृत्तेरप्यनुभवमात्रात् पुरुषार्थत्वं संभवति योगर्धिसामर्थ्याच्च सकलदुःखाभावानुभवसंभव इति तदप्युक्तन्यायेन परिहरति—**न च प्रसक्तेति।** नन्वत्राप्युक्तं वैपरीत्यं किं न स्यादिति तत्राह—**न च विपरिवृत्तीति।** यदिदं दुःखाभावशेषत्वं सुखस्य तत्कि

इस अवस्था में ईश्वर (अणिमादि ऐश्वर्य वाला) या अनीश्वर, दोनों को कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है। और जनक, जडभरत, विदुर, धर्मव्याध, पिङ्गला आदि ऐश्वर्य रहितों को भी मुक्ति स्मृति में कही गई है।

और जो कहा था कि युगपद् भोग में सहकारी के सहाय से कर्मों में समान विपाकत्व (एकफलवत्ता) होती है, वहाँ कहा जाता है कि युगपद् भोग में सहकारी की सकलता (पूर्णता) नहीं हो सकती है, क्योंकि तत्तत् कल्पमन्वन्तरादि रूप सहकारियों को इदानीम् = इस समय, आहरण (प्राप्त करना) शक्य नहीं है। और जो कहा था कि दुःखध्वंस के यावत् सत्त्व अनुभव नहीं होने पर भी प्रसक्त कण्टकादि दुःख की निवृत्ति के समान योगसामर्थ्य से मुक्ति में दुःखनिवृत्ति की वर्तमानता से उसके साक्षात्कार का सम्भव है। यह कहना सम्भव नहीं। क्योंकि पतञ्जलि आदि के वचनों के अनुसार ऐश्वर्यरहित की मुक्ति के प्रतिपादन से उस दुःखध्वंस के साक्षात्कार के असम्भव का भी उपपादन हो चुका है। और सुखाभिव्यक्ति (प्राकट्य) का शेष (अङ्ग साधन) होने से दुःखाभाव स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। यदि कहें कि विपरीतवृत्ति प्रसङ्ग होगा = अर्थात् दुःखाभाव का सुख अङ्ग है, ऐसी कल्पना भी हो सकेगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आपका कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि सुख दुःखाभाव का अङ्ग कैसे है।

त्वात्। किं सुखं दुःखाभावस्योत्पादकम् ? उताभिव्यञ्जकम् ? नोभयथापि, आत्मनि समस्तदुःखाभावमनुभवतोऽप्यकस्मादुपनतविपञ्चीस्वरश्रवणादौ सुखोत्पत्तेः। न च संतापवतः शीतह्रदे निमग्नार्धकायस्य सत्येव दुःखे सुखोपलम्भात्, न दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषतेति वाच्यम्, सुखस्य दुःखाभावैकाभिव्यङ्ग्यत्वनियमानभ्युपगमात्, अनुभूयमानो दुःखाभावः सुखमभिव्यनक्त्येवेति नियमात्।

ननु वैषयिकसुखस्य कण्टकादिनिवृत्तावननुभवात्, आत्मनश्च सुखरूप-

तदुत्पादकतया ? तदभिव्यञ्जकतया वा ? इति विकल्प्योभयथापि व्यभिचारमाह—**आत्मनीति।** **विपञ्ची** वीणा। नहि विद्यमान एव दुःखाभावो वीणापणवादिनिनादैरुत्पाद्यते अनुभूयमान एव वाभिव्यज्यत इत्यर्थः। ननु दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषताप्युक्ता दुःखानुभवसमयेऽपि सुखानुभवदर्शनादिति तत्राह—**न च संतापवत इति।** मूर्च्छादौ सुखानुभवप्रसङ्गवारणायोक्तम्—**अनुभूयमान इति।**

स्यादेतत्—यदिदं दुःखाभावेनाभिव्यङ्ग्यतयाभिमतं सुखम्, तत् किं वैषयिकम् ? उत स्वाभाविकम् ? नाद्यः, कण्टकादिदुःखनिवृत्तिसमये चन्दनवनितादिसेवाऽभावेन तत्सुखस्य तदानीमभावात्। न द्वितीयः, तत्र प्रमाणाभावादिति शङ्कते—**नन्विति।**

क्या दुःखाभाव का उत्पादक सुख है, या अभिव्यञ्जक है। दोनों प्रकार का सम्भव नहीं है। क्योंकि अपनी आत्मा में समस्त दुःखों के अभाव को प्रथम से अनुभव करने वाले को भी अकस्मात् विपञ्ची = वीणा के स्वर श्रवणादि में सुख की उत्पत्ति = अभिव्यक्ति होती है। वह पूर्वकाल से ही वर्तमान दुःखाभाव का न उत्पादक होता है, न व्यञ्जक हो सकता है। यदि कहें कि संताप वाला जो मनुष्य शीत तालाब में निमग्न (प्रविष्ट) अर्ध शरीर वाला है, उसके कटि से ऊपर तापजन्य दुःख के रहते भी नीचे सुख का ज्ञान होता है। अतः दुःखाभाव को सुख के ज्ञान में अङ्गत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि वहाँ दुःख का अभाव नहीं है, तो भी सुख का अनुभव होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि एक दुःखाभाव मात्र ही से सुख के अभिव्यङ्ग्यत्व के नियम को नहीं माना जाता है कि दुःखाभाव मात्र से ही सुख की अभिव्यक्ति होती है, अतः वहाँ शीत स्पर्श से भी अर्द्ध काय में सुख की अभिव्यक्ति में कोई विरोध नहीं है, यह नियम माना जाता है कि अनुभूयमान दुःखाभाव सुख को अभिव्यक्त करता ही है।

यहाँ शंका होती है कि दुःखाभाव किस सुख का अभिव्यञ्जक है, विषयजन्य सुख का या आत्मसुख का अभिव्यञ्जक है, उभयथापि व्यञ्जकता नहीं सिद्ध होती है, क्योंकि कण्टकादि जन्य दुःखों की निवृत्ति होने पर विषयजन्य सुख का अनुभव नहीं होता है। और आत्मा के सुखस्वरूपत्व का ज्ञान नहीं होता है। अतः

त्वासंप्रतिपत्तेर्न दुःखाभावस्य सुखाभिव्यक्तिशेषतेति चेत्, न, आत्मनः सुखरूपत्वस्यानन्तरमेव निवेदयिष्यमाणत्वात्। प्रयोगश्चासमीचीनः, वेदान्तिनः प्रति हेतोरसिद्धत्वात्, दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनविकलत्वात्, आकाशस्यापि प्रलये लयाभ्युपगमात्। अस्तु तर्हि 'दुःखसंततिरत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वात् प्रदीपसंततिवत्' इति किरणावलीकारप्रयोग इति चेत्, न, पार्थिवपरमाणुरूपादिसंताने त्वन्मते व्यभिचारात्। ननु सर्वमुक्तौ सापि संततिः उच्छिद्यते, धर्माधर्माख्यनिमित्तस्य सुखदुःखोपभोगलक्षणप्रयोजनस्य

यत्तु लीलावतीकारानुमानं तद्दूषयति—**प्रयोग इति**। निर्गुणात्मवादिनो वेदान्तिनो हेतुरसिद्ध इत्यर्थः। साधनवैकल्यं सुबोधम्। आश्रयहीनश्च दृष्टान्तः। **अत्यन्तमुच्छिद्यत इति**। दुःखप्रागभावासमानकालीनध्वंसप्रतियोगिनीत्यर्थः। प्रलयावस्थायां दुःखसन्ततेरुच्छेदस्वीकारात् सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमत्यन्तग्रहणम्। **पार्थिवेति**। तत्र हि सन्ततित्वमस्ति, नचात्यन्तोच्छित्तिः सर्गान्तरेषु रूपाद्युत्पत्तेरित्यर्थः। अत्र तदीयमेव परिहारं समुद्भावयति—**नन्विति**। यदा हि सर्वेषां मुक्तिरिति पक्षः तदा क्रमेण सर्वेषु मुक्तेषु सत्सु निमित्तप्रयोजनयोरभावात् साप्यत्यन्तमुच्छिद्यत इत्यर्थः। स्यादेवं यद्येवमेव सर्वतार्किकाणां संमतिः, सैव तु नास्तीत्याह—

दुःखाभाव को सुखाभिव्यक्ति की शेषता (अङ्गता) नहीं हो सकती है, यह यदि सुखाभिव्यक्ति का जनक होता तो कण्टक दुःख के निवृत्त होते ही सुख अभिव्यक्त होता, यह नहीं होता है। यह शंका यहाँ युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा के सुख स्वरूपत्व को आगे अनन्तर में ही निवेदन (प्रतिपादन) करना है, और कण्टकादि दुःखों की निवृत्ति होने पर शान्तिस्वरूप आत्मसुख की अभिव्यक्ति होता ही है। और प्रथम जो प्रयोग किया था कि (आत्मा, कभी ध्वस्ताशेष गुणवाला रहता है। नित्य होता हुआ अनित्यविशेष गुण का आश्रय होने से, महाप्रलय कालिक आकाशवत्) यह प्रयोग समीचीन (सत्य) नहीं है। क्योंकि वेदान्ती के प्रति हेतु असिद्ध है, आत्मा में विशेषगुणाश्रयत्व नहीं है। और दृष्टान्त को भी साध्यविकलत्व है, क्योंकि आकाश का भी प्रलय में लय माना जाता है। यदि कहा जाय कि (दुःख सन्तति, अत्यन्त विच्छिन्न होती है। सन्तति होने से, दीपसन्ततिवत्) यह किरणावलीकार का प्रयोग माना जाय। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि पार्थिव परमाणुवृत्ति रूपादि के सन्तान में आपके मत में व्यभिचार होता है, क्योंकि सन्ततित्व रहता है, और उच्छेद नहीं होता है। सर्गान्तर में फिर उनमें रूपादि उत्पन्न होते हैं। यदि कहें कि सब की मुक्ति होने पर पार्थिव परमाणुगत रूपादि संतति भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि सब की मुक्ति होने पर, सुख-दुःख के उपभोग रूप प्रयोजन वाले धर्माधर्म नामक निमित्त का भी अभाव हो जाता है अतः

चाभावादिति चेत्, मैवम्, सर्वमुक्तचनङ्गीकारवादिनं प्रति एवं पर्यनुयोगायोगात्, कन्दलीकारलीलावतीकारप्रभृतिभिः कैश्चिद्वैशेषिकविशेषैः सर्वमुक्तेरनङ्गीकारात्, केषाञ्चिदात्मनां संसार्येकस्वभावताङ्गीकारात्। न चैवं सति सर्वेषां तथात्वशङ्कया मोक्षसाधनाननुष्ठानप्रसङ्गः, शमदमोपरमतितिक्षादिना मुमुक्षुचिह्नेन श्रुतिसिद्धेन तथात्वशङ्कानिवृत्तेः।

वक्रानुमानं पुनः सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम्, न हि मुक्तस्य दुःखनिवृत्तौ कश्चिद्विप्रतिपद्यते। तृतीयमपि मोक्षलक्षणमसंभवित्वदोषेण निरसनीयम्, योगप्रभावनियमनिराकरणात्, अनागतदुःखध्वंसस्य साक्षात्कर्तुमशक्यत्वात्, चरमदुःखध्वंसदशायां विज्ञानस्यापि विशेषगुणस्योच्छेदस्याङ्गीकारात्।

मैवं सर्वेति। ननु तर्हि कस्यापि मुक्त्यर्थां प्रवृत्तिर्न स्यात्सर्वेषामात्मानि बद्धैकस्वभावत्वशङ्कयेति तत्र श्रीवल्लभीयं परिहारमाह—**न चैवमिति।**

सिद्धसाधानतामेव विशदयति—**न हीति।** ज्ञानाजनकसंस्कारेत्यादिपक्षं दूषयति—**तृतीयमपीति।** चरमदुःखध्वंसः किमनागतः साक्षात्क्रियते ? किंवा वर्तमानः ? नाद्यः, योगप्रभावनियमनिरासेनानागतसाक्षात्कारनियमनिराकरणादित्याह—**योगेति।** द्वितीये प्राह—**चरमेति।** ततः साक्षात्कारविषयो दुःखध्वंस इत्यंशोऽसंभवीत्यर्थः। या तु दुःखनिवृत्तिमात्रमेव मोक्ष इत्यत्र श्रुतिरुदाहृता,

---

सृष्टि नहीं होती है, इससे रूपादि संतति का भी अभाव ही हो जाता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि सर्वमुक्ति को नहीं मानने वालों के प्रति ऐसी पर्यनुयोग (जिज्ञासा प्रश्न) का होना युक्त नहीं है। और कन्दलीकार, लीलावतीकार आदि कोई वैशेषिक विशेषों से सर्वमुक्ति मानी नहीं गई है। और किसी आत्माओं की संसारी एकस्वभावता को मानते हैं। यदि शंका हो कि ऐसा होने पर सब आत्मा को संसारी एकस्वभावता की शंका से मोक्षसाधन के अनुष्ठान में किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः मोक्षसाधन का अनुष्ठान प्राप्त होगा। तो यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि शम, दम, उपरति, तितिक्षादि श्रुतिसिद्ध मुमुक्षु के चिह्नों से ये सारी स्वभावता की शंका निवृत्त हो जाती है।

नक्र मंत से जो अनुमान किया था कि (यह देवदत्त, स्ववृत्ति दुःख समान कालिक दुःखध्वंस से भिन्न दुःखध्वंस वाला है, दुखी होने से चैत्रवत्) यह अनुमान सिद्धसाधनता से उपेक्षणीय है। क्योंकि मुक्त की दुःख निवृत्ति में किसी की विप्रतिपत्ति (विरोध) नहीं है। और (ज्ञान का अजनक जो संस्कार, उस संस्कार का जनक और साधनजन्य जो अन्तिम साक्षात्कार उसका विषयस्वरूप दुःखध्वंस मोक्ष है। यह तृतीय मोक्षलक्षण भी असम्भावित्व दोष से निरसनीय है, क्योंकि योगप्रभाव नियम के निराकरण से अनागत दुःखध्वंस को साक्षात् करना

प्रियस्पर्शनिषेधश्रुतिस्तु वैषयिकसुखनिषेधपरा, अन्यथा 'एषोऽस्य परमानन्दः', 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति सुखरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्। न चासामुपचरितार्थत्वम्, मुख्यार्थे बाधकाभावात्। न च नित्यसुखस्यानुपलब्धिर्बाधिका, नित्यज्ञानवदुपपत्तेः। सुखस्य विषयेन्द्रियादिजन्यत्वव्याप्तेश्च ज्ञानेच्छादेर्जन्यत्वव्याप्तिवदेव निरसनीयत्वात्, श्रुत्यवष्टम्भेन नित्यत्वा-

---

तामन्यथयति—**प्रियस्पर्शेति**। मुक्तिदशायामानन्दप्रतिपादकश्रुतिराशेर्मुख्यार्थप्रच्यवनेनोपचरितार्थत्वकल्पनाद्वरं प्रियस्पर्शनिषेधस्य वैषयिकप्रियस्पर्शतया संकोचमात्रत्वमिति भावः। **नित्यज्ञानेति**। यथाहि जीवज्ञानेच्छाप्रयत्नानामनित्यत्वेऽप्यैश्वरज्ञानादेर्नित्यत्वमिन्द्रियादेर्हेतुजातस्य च न ज्ञानादिमात्रं प्रति व्याप्तिः, किंतु तद्विशेषं प्रतीति भवद्भिः कल्प्यते, तत्कस्य हेतोः? योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावात्, अनन्यथासिद्धश्रुतिसमर्पितत्वाच्च, तथात्रापि स्वरूपभूतसुखस्य नित्यत्वेऽप्यविद्यावृततया

अशक्य है, चरम दुःखध्वंसावस्था में विज्ञान रूप विशेष गुण के उच्छेद को भी माना जाता है, अतः सर्व दुःखध्वंस का अनुभव हो नहीं सकता है। और जो कहा था कि दुःखनिवृत्ति मात्र ही मोक्ष है, क्योंकि ज्ञानी में सुखस्पर्श का भी श्रुति ही निषेध करती है, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वह प्रिय स्पर्श निषेधविषयक श्रुति वैषयिक = विषयजन्य सुख निषेधपरक है। अन्यथा यदि सब सुख को निषेधपरक माना जाय तो (एषोऽस्य परमानन्दः। यो वै भूमा तत्सुखम्) इस सुखरूपता के प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होगा। इन श्रुतियों को उपचरितार्थत्व = गौणार्थत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि मुख्यार्थ में बाधक का अभाव है। यदि कहें कि नित्य सुख की अनुपलब्धि ही सुखरूपता रूप मुख्यार्थ में बाधक है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनुपलब्ध ईश्वर के नित्य ज्ञान के समान श्रुति से नित्य सुख की भी सिद्धि होती है। ईश्वर के नित्य ज्ञानादि को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है, तो भी श्रुतिमूलक अनुमान से उसका स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार से इन्द्रियों का अविषय नित्यानन्द मन्तव्य है। और सुख के इन्द्रियजन्यत्व की व्याप्ति को ज्ञानेच्छादि के जन्यत्व की व्याप्ति के समान निराकरण करना चाहिये। अर्थात् जीव के ज्ञानेच्छादि के अनित्य होते भी श्रुति और योग्यता बल से जैसे ईश्वर के ज्ञानादि को नित्य माना जाता है, अनुपलब्धि रहते भी उनका अभाव नहीं माना जाता है, इसीप्रकार से वैषयिक सुख के अनित्य होते भी उससे भिन्न स्वरूप सुख को नित्यत्व है, और स्वरूप सुख में नित्यत्व होते भी अविद्या से आवृत्त होने के कारण संसारदशा में उसकी उपलब्धि नहीं होती है। विद्या से दुःख आदि के नाश से उस स्वरूप सुख की अभिव्यक्ति होती है। और उक्त व्याप्ति का इसलिये भी निराकरण करना चाहिये कि जिससे श्रुति के अवलम्ब द्वारा

ङ्गीकारस्योभयत्रापि तुल्यत्वाद्विषयाद्यभावेऽपि सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरामर्शदर्शनाच्च। न च दुःखपरामर्शस्यापि सत्त्वान्नित्यदुःखरूपत्वमपि तुल्यमिति वाच्यम्, नित्यदुःखरूपतायामात्मनः परमप्रेमास्पदत्वव्याकोपात। न च दुःखाभावे व्यभिचारादिदमसाधनमिति वाच्यम्, तस्य सुखशेषतया परमप्रेमास्पदत्वाभावात्।

परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम्। आत्मनः प्रेमास्पदतायां न कस्यचिद्विवादः, मा न भूवं भूयासमित्यात्मन्याशिषो लौकिकपरीक्षकसंमतत्वात्। न चेयमाशीः शरीरोपघातजन्मनो दुःखाद् बिभ्यतो न पुनरात्मानमानन्दं मन्यन्मानस्येति युक्तम्, शरीरोपघातजन्मनो

संसारदशायामुपलब्धुमयोग्यत्वात् श्रुतिबलाच्च नापलापसभव इति खण्डलकार्थः। अपि चोपलभ्यत एव संसारदशायामपि नित्यसुखमित्याह—**विषयाद्यभावेऽपीति**। या त्वत्रातिप्रसक्तिरुक्ता, तां परिहरति—**न चेति**। परप्रेमास्पदत्वमेव दुःखरूपतायां न घटत इत्यर्थः। अत्र यदुक्तम्—दुःखाभावेऽपि परप्रेम्णो दर्शनान्न सुखरूपतासाधकं परप्रेमास्पदत्वमिति, तत्राह—**न च दुःखेति**। निरुपाधिकत्वं हि प्रेम्णः परत्वं नाम, तथाच सुखशेषदुःखाभावे कथं परत्वमित्यर्थः।

एवं परामर्शान्यथानुपपत्त्या सुखरूपत्वमुक्तम्, संप्रति परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—**परमप्रेमेति**। इदानीं परप्रेमास्पदत्वस्यैव कल्पकं साधयति—**आत्मन इत्यादिना**। **शरीरेति**। शरीरस्य य उपघातः हिंसा तज्जन्यं यद् दुखं

नित्यत्व की स्वीकृति को ज्ञान और सुख दोनों में तुल्यत्व है। और विषयादि के अभाव रहते भी सुप्तोत्थित के सुखपूर्वक मैं सोया था। इस प्रकार का सुख का स्मरण देखा जाता है। जो कहा था कि दुःख परामर्श के भी सत्त्व से नित्य दुःख रूपत्व की प्राप्ति भी तुल्य ही है। यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि नित्य दुःखरूपता में आत्मा के परम प्रेम विषयत्व का विरोध होता है, दुःख स्वरूप में परम प्रेम विषयत्व नहीं हो सकता है, यदि कहें कि दुःखाभाव में इस परम प्रेमास्पदत्व का व्यभिचार है, अतः यह आनन्दरूपता साध्य का साधन नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उस दुःखाभाव की सुखानुभव के शेष (अङ्ग) होने से उसमें परम प्रेमास्पदत्व का अभाव रहता है। (श्रुति, स्मृति आदि तो आत्मा के सुखरूपता में प्रमाण है ही)।

परम प्रेम के आस्पदत्व की अनुपपत्ति भी आत्मा के सुखरूपत्व में प्रमाण है। क्योंकि आत्मा के परम प्रेम विषयता में किसी का विवाद नहीं है। मैं नहीं रहूं, ऐसी अवस्था नहीं हो, किन्तु मैं रहूँ, ऐसी स्थिति हो। इसप्रकार के आत्मविषयक आशिष, लौकिक परीक्षक सब को सम्मत है। यदि कहा जाय कि यह

भयस्याप्यात्मनः प्रेमास्पदत्वमन्तरानुपपत्तेः, न हि दुःखं दुःखतया भयहेतुरन्यगतस्यापि तथाभावप्रसङ्गात्। 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्' इति प्रेमास्पदत्वश्रुतेश्च। न च दुःखाभावतयात्मनः प्रेमास्पदत्वम्, भावरूपत्वात्। नापि तदाश्रयतया, दुःखदशायामप्यात्मनि प्रेमोपलम्भात्। नापि तत्साधनतया, साधने प्रेम्णो निरुपाधिकत्वासंभवात्। अत एव न सुखसाधनतयापि सुखस्याप्यात्मार्थतया प्रेमास्पदत्वात्। अतः सकललौकिकवैदिकसुखगोचर-

---

तद्भयादेवेयं प्रार्थनेत्यर्थः। ननु दुःखस्वभावादेव भयजन्मेति तत्राह—**नहि दुःखमिति**। परप्रेमास्पदत्वे श्रुतिमप्याह—**तदेतदिति**। तदेतदात्मतत्त्वं पुत्रादपि प्रियतममित्यादि बृहदारण्यकश्रुतेरर्थः। भवतु तर्हि दुःखाभावत्वादिति तत्राह—**न च दुःखेति**। अस्तु तर्हि दुःखाभावाश्रयतयेति नेत्याह—**दुःखेति**। **तत्साधनतयेति** दुःखाभावसाधनतयेत्यर्थः। **अत एव** निरुपाधिकत्वादित्यर्थः। **सुखस्यापीति**। तथापि कथं निरतिशयत्वमित्यत आह—**अत इति**। अप्रकाशमानस्य पुरुषार्थत्वं न

आशिष शरीरघात = नाशजन्य दुःख से डरने वालों की होती है। आनन्दस्वरूप आत्मा को मानने वाले को नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि शरीरनाशजन्य भय की भी आत्मा के प्रेमास्पदत्व के बिना अनुपपत्ति है। क्योंकि दुःख होने ही से (स्वभाव से) ही भय का हेतु नहीं है, किन्तु स्वसम्बन्धी रूप से भय का हेतु है, अन्यथा = स्वरूप से भय का हेतु हो तो अन्यगत दुःख को भी भयहेतुत्व प्राप्त होगा। अर्थात् शरीर में भी आध्यासिक आत्मत्व से ही प्रेम होता है, और प्रेम होने ही से (मा न भूवं भूयासम्) ऐसी भावना होती है। यद्यपि यह अभिनिवेश नामक अविद्या का स्वरूप है, तथापि आत्मा की आनन्दरूपता में प्रमाण रूप है। और आत्मसम्बन्ध से ही पुत्रादि में भी प्रेम होता है, इसीसे परम प्रेम का विषय आत्मा ही है, यह श्रुति कहती है कि (तदेतत्प्रेयः पुत्रात्) यह पुत्र से अतिप्रिय है। दुःखाभावरूपता से आत्मा को प्रेमास्पदत्व होता है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सत्यतादि के बोधक श्रुति आदि से तथा सर्वानुभव से सिद्धभाव स्वरूपत्व आत्मा में है। दुःखाभाव के आश्रय होने से आत्मा में प्रेम होता है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि दुःखावस्था में भी प्रेम का ज्ञान होता है। दुःखाभाव की साधनता से भी आत्मा में प्रेम नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साधन में निरुपाधिक (स्वाभाविक) प्रेम का होना असम्भव है। अतएव = स्वाभाविक होने से, सुखसाधनता निमित्तक भी आत्मा में प्रेम नहीं होता है, क्योंकि सुख को भी आत्मार्थकता से प्रेमास्पदत्व होता है। अतः सब लौकिक, वैदिक सुखविषयक प्रेम से भी अतिशय = उत्तम प्रेम स्वात्मा में होता है। लौकिक, वैदिक सुख भी आत्मस्वरूप सुख की ही अभिव्यक्ति रूप वैषम्य युक्त रहते हैं। स्वरूप सुख निरतिशय रहता है,

प्रेम्णोऽतिशयो स्वात्मनि प्रेमा, निरतिशयसुखगोचरप्रेमसमान एवात्मन्यव- कल्पत इत्यर्थापत्त्याऽऽत्मनो निरतिशयसुखस्वभावत्वसिद्धिः । प्रयोगश्च—

कुम्भः कुम्भेतराचित्कासुखान्यान्यः प्रसाध्यताम् ।
कुम्भत्वेन यदित्थं तत्तथा कुम्भान्तरं यथा ॥ २ ॥

कुम्भोऽयमेतदितरानात्मासुखान्यान्यः कुम्भत्वात्संप्रतिपन्नकुम्भवत् । न च कुम्भोऽयमेतदितरानात्मादुःखान्यान्यः कुम्भत्वात्संप्रतिपन्नकुम्भवदित्या

संभवतीत्यत उक्तम्—**समान इति** । आत्मस्वरूपसुखसद्भावे अनुमानमप्याह— **कुम्भ इति** । अत्र कुम्भविशेषः पक्षः ।

श्लोकं विवृणोति—**कुम्भोऽयमिति** । अयं कुम्भ एतत्कुम्भेतरत्वे सत्यनात्मत्वा- सुखत्वानधिकरणादन्यः कुम्भत्वात्कुम्भान्तरवदित्यर्थः । अत्र च सुखत्वानधिकरणादन्य इत्युक्ते सुखादन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थमनात्मासुखान्यान्य इत्युक्तम्, तथा चाप्रसिद्ध- विशेषणता, अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणस्यैकस्यासंप्रतिपत्तेर्नह्यात्मरूपं किंचित्- संप्रतिपन्नमस्ति सुखं प्रतिवादिनः । तस्मादप्रसिद्धविशेषणतापरिहारार्थमेतदितरेत्यु- क्तम् । एतत्कुम्भेतरत्वेन कुम्भान्तरे साध्यप्रसिद्धिः । अस्य हि कुम्भस्यानात्मत्वासुख- त्वाधिकरणत्वेऽप्येतदितरत्वे सति तदधिकरणत्वं नास्त्येव, एतस्यैवैतदितरत्वा- भावात् । पक्षे त्वेतदितरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वम्, एतदितरत्वानधि- करणत्वाद्वा ? अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वाद्वा ? प्रथमे व्याहतिः, नह्येतस्माद- स्यान्यत्वं संभवति । द्वितीये त्वेतदतिरिक्तमनात्मत्वासुखत्वानधिकरणं किंचिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यात्मरूपसुखसिद्धिः । नन्वाभाससमानयोगक्षेमोऽयमात्मस्वरूपभूत-

---

अतः निरतिशय सुखस्वरूप विषयक प्रेमसमान = एक रस आत्मा ही में सिद्ध होता है, अन्यत्र नहीं । इसप्रकार से अर्थापत्ति द्वारा आत्मा के निरतिशय सुख- स्वभावत्व = स्वरूपत्व की सिद्धि होती है । अनुमान भी प्रमाण है कि—

कुम्भ, कुम्भ से भिन्न अचेतन सुख = विषयजन्य सुख से भिन्न, चित्स्वरूप सुख से भिन्न है, ऐसा साधन करना चाहिये । कुम्भ होने से, जो इसके समान है, वह भी उक्त साध्य वाला है जैसे कि कुम्भान्तर है ॥ २ ॥

यहाँ कुम्भान्तर में तो, पक्ष कुम्भ से भिन्न जो अचेतन सुख उससे भिन्न पक्ष रूप कुम्भ से भिन्नता से ही साध्य की प्रसिद्धि हो जाती है । पक्ष में चित्स्वरूप सुख को मानने पर ही साध्य की सिद्धि होती है । अर्थात् (यह कुम्भ, इससे भिन्न अनात्म सुख से भिन्न से भिन्न है, कुम्भ होने से, निश्चित कुम्भ के समान) । यदि कहें कि (यह कुम्भ, इस कुम्भ से अन्य अनात्म दुःख = संसार दुःख से अन्य, चित्स्वरूप दुःख से अन्य है, कुम्भ होने से, निश्चित कुम्भवत्) इस आभास अनुमान के समान योगक्षेम वाला पूर्व अनुमान है, तो यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि इस

भाससमानयोगक्षेमता, तस्यागमार्थापत्तिबाधितविषयतयानुत्थानात्। किं च सुखप्रेम्णोः संबन्ध आत्मनिष्ठः सुखनिष्ठत्वात्संप्रतिपन्नलक्ष्यत्वादिवत्। न च सुखनिष्ठोत्कर्षापकर्षादिधर्मैरनेकान्तता, तेषां वेदान्तिभिः सुखनिष्ठतानङ्गीकारात् तत्प्रतीतेरौपाधिकत्वाभ्युपगमात्। न चेदृशसंबन्धोऽनात्मनिष्ठः प्रेमनिष्ठत्वात्सत्तादिवदिति सप्रतिसाधनता, प्रेमनिष्ठतयैव सिद्धसाधनत्वादनात्मनिष्ठ एवेति तु साधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। सत्तादेरात्माना-

---

दुःखस्यापि कस्यचिदेवं शक्यसाधनत्वादिति तत्राह—**न चेति**। आगम आनन्दरूपताप्रतिपादकस्तदेतत्प्रेय इति। अर्थापत्तिश्च परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिः, स्वापोत्थितपरामर्शान्यथानुपपत्तिर्वा। सुखरूपतायामनुमानान्तरमप्याह—**किंचेति**। इदं हि सुखरूपतां प्रेमरूपतां चात्मनः साधयति। तत्रापि प्रेमरूपतोभयवादिविप्रतिपिद्धेति सुखरूपतासिद्धिः। ननु 'ते ये शत'मिति श्रुतौ मानुषानन्दमारभ्योत्तरोत्तरोत्कर्षः श्रूयते, प्रतीयते च प्रत्यात्ममनुभवेन सुखस्य तारतम्यमिति, तत्राह—**तत्प्रतीतेरिति**। शुभकर्मोपस्थापितविषयविशेषसंपर्कात् सत्त्वप्रधाना येऽन्तःकरणपरिणामास्ते हि संसारदशायां स्वाभाविकानन्दाभिव्यञ्जकाः, तदवच्छेदाद्विषयतारतम्याच्चेदमानन्दे तारतम्यमध्यस्यत इत्यर्थः। ननु नानात्मनिष्ठत्वमात्रमत्र साध्यं येन प्रेमलक्षणानात्मानमादायार्थान्तरता, किंत्वनात्मनिष्ठ एवेति तथाच तदाधारसुखस्याप्यनात्मत्वं सिद्ध्यतीति तत्राह—**अनात्मेति**। पूर्वपक्ष्यनुशयं परिहरति—**न चेति**। नच स्वप्रकाशस्य तिरोधानमेव न संभवतीति वाच्यम्, मतद्वयेऽपि व्यासचसिद्धेः। यत्तु प्रेमास्पदत्वमेव सुखरूपत्वेन स्यात् सुखैकस्याप्रार्थनीयत्वादिच्छाया आत्मरूपस्योभया-

---

आभास अनुमान का विषय आगम और अर्थापत्ति से बाधित है, अतः इसका उत्थान नहीं हो सकता है। अतः समान योगक्षेमता नहीं होती है। आत्मा की सुखरूपता में अन्य भी अनुमान है कि (सुख और प्रेम का सम्बन्ध; आत्मनिष्ठ है, सुखनिष्ठ होने से, निश्चित लक्ष्यत्वादि के समान) यदि कहा जाय कि सुखवृत्ति उत्कर्ष, अपकर्षादि द्वारा अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि सुखनिष्ठत्व हेतु उत्कर्षादि में भी रहता है, और उत्कर्षादि में आत्मनिष्ठत्व साध्य नहीं रहता है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उन उत्कर्ष, अपकर्ष आदि की सुखनिष्ठता वेदान्ती नहीं मानते हैं, सुख में उत्कर्षता आदि प्रतीति को औपाधिक मानते हैं, उपाधि से ही मनुष्य से ब्रह्मा पर्यन्त के सुखों में भेद कहा गया है। यदि कहें कि (ईदृश सम्बन्ध = सुख प्रेम का सम्बन्ध, अनात्मनिष्ठ है, प्रेमनिष्ठ होने से, सत्ता के समान) इस प्रकार से पूर्वानुमान में सत्प्रतिपक्षता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रेमनिष्ठता से ही सिद्ध साधनता है। और अनात्मनिष्ठ ही सुख प्रेम का सम्बन्ध है, ऐसा साधन करें कि जिससे सुख में अनात्मत्व सिद्ध हो, तो दृष्टान्त को साध्यविकलता प्राप्त होती

त्मनिष्ठत्वस्य परैरङ्गीकारात्। न च नित्यसुखरूपत्वे मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गः, तस्याविद्यातिमिरतिरोधानातिरोधानाभ्यां विशेषोपपत्तेः। न चात्मनः सुखरूपत्वे सुखं मे स्यादिति प्रेमानुपपत्तिः, संबन्धव्यपदेशस्यान्यनिष्ठताव्यावृत्तिपरत्वात्। अन्यासंबन्धिसुखसाक्षात्कारे सत्यपि संबन्धाभावापराधेनापुरुषार्थत्वानुपलब्धेः। संबन्धस्य केवलव्यतिरेकाभावात्।

नभिमतत्वादित्युक्तम्, तत्परिहरति—न चात्मन इति। नन्वन्यनिष्ठताव्यावृत्तिवत्स्वनिष्ठत्वमपि पुरुषार्थोपयोगि तथा व्यपदेशस्यापि मुख्यत्वमिति तत्राह—अन्यासंबन्धीति। योगिनः परसुखसाक्षात्कारेऽपि पुरुषार्थता नास्तीत्यन्यासंबन्धीत्युक्तम्। नच सुखस्य संबन्धित्वे विद्यमानेऽप्यन्यासंबन्धित्वाभावापराधेनापुरुषार्थत्वादर्शनात्तदप्यप्रयोजकम्। सुखात्मनोरभेदवादे संबन्धस्यासंगतत्वादुभयसंमतान्यासंबन्धित्वस्यैव प्रयोजकत्वे लाघवान्मम स्वरूपमितिवन्मम सुखमिति व्यवहारस्यान्यासंबन्धित्वेनैवोपपत्तेः। किं सुखसंबन्धमात्रं पुरुषार्थः? किंवा स्वस्य सुखसंबन्धः? नाद्य इत्याह—

है, क्योंकि सत्ता आदि को अनात्मवृत्ति ही प्रतिवादी नहीं मानते हैं, किन्तु आत्मानात्म दोनों में वृत्ति मानते हैं। यदि कहें कि आत्मा के नित्य सुखस्वरूप होने पर मुक्ति और संसार में तुल्यता की प्राप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उस नित्य सुखरूपता का अविद्या रूप तम से आवरण और अनावरण के द्वारा विशेष=भेद की सिद्धि होती है। संसारावस्था में सुखस्वरूपता आवृत्त रहती है, मोक्षावस्था में अनावृत्त होती है। यदि कहा जाय कि आत्मा के सुखस्वरूप होने पर, मुझे सुख हो, ऐसा प्रेम (काम) की अनुपपत्ति होगी, तो कहा जाता है कि कल्पित भेदावस्था में सम्बन्ध का कथन को अन्यनिष्ठता की व्यावृत्ति परत्व रहता है, जैसे कि मेरा स्वरूप चेतन है, इत्यादि व्यवहार होता है, वैसा ही यह व्यवहार गौण होता है। यदि कहा जाय कि सुख की अन्यनिष्ठता की व्यावृत्ति के समान स्वनिष्ठता भी पुरुषार्थ के उपयोगी होता है, अतः 'सुखं मे स्यात्', यह मुख्य ही कथन होता है, गौण नहीं। तो कहा जाता है कि अन्य के असम्बन्धी सुख के साक्षात्कार होने पर भी, सम्बन्धाभाव रूप अपराध (दोष से=सम्बन्ध की अप्रतीति से) अपुरुषार्थत्व की उपलब्धि नहीं होती है, सुखरूपता मात्र से प्राणी तृप्त होता है। सुखरूप होते सुखसम्बन्धिता नहीं हो तो अतृप्त नहीं रहता है। सुषुप्ति में सुखस्वरूप ही में मग्न होता है। भाव यह है कि सुख और आत्मा के अभेदवाद में सम्बन्ध के अस्वीकार होने से उभय सम्मत अन्यासम्बन्धित्व ही, 'सुखं मे स्यात्' इस व्यवहार का हेतु है, वह 'मम सुखम्-ममस्वरूपम्'। इत्यादि के समान होता है, इत्यादि। और सम्बन्ध को केवलव्यतिरेक का अभाव है। अर्थात् सम्बन्ध नहीं हो, तो प्रेम नहीं हो, पुरुषार्थता नहीं हो, ऐसा व्यतिरेक नहीं है। सुख के साथ सम्बन्ध मात्र को यदि

सुखसम्बन्धमात्रस्य पुरुषार्थत्वे परकीयसुखसंबन्धस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। संवन्धे न संबन्धान्तरमभ्युपेयं तथा चानवस्था। तस्मादात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्ययुक्तम्।

एतेन प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्यपि परास्तम्।

आत्मनोऽसुखरूपत्वाद् बन्धस्यान्यगतत्वतः।
उपचारस्य वायोगात् संवन्धस्यानिरूपणात्॥ ३॥

सुखसाक्षात्कारस्यैव पुरुषार्थत्वोपपादनादात्मनश्च सुखत्वानभ्युपगमात् न पुरुषस्य स्वरूपमात्रावस्थानं पुरुषार्थः। अपि च यस्य बन्धस्तस्यैव

सुखसंबन्धेति। द्वितीये प्राह—संबन्धेति। वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति।

इदानीं सांख्यसंमतमोक्षं निराचष्टे—एतेनेति। महदादिविकृत्यन्ताकारपरिणामिनी त्रिगुणात्मिका जडा प्रकृतिः प्रधानापरपर्याया, स हि प्रकृतिरेव न पुनर्महदादिसप्तकवत् प्रकृतिविकृत्यात्मिका, नापि पृथिव्यादिषोडशवत् विकृत्येकरूपिणी। पुरुषस्त्वसङ्गोऽनाधेयातिशयः परमोदासीनश्चिच्छक्तिः। तयोर्विवेकाग्रहणात्संसारः। विवेकदर्शनात्त्वविवेकख्यातिनिवृत्तावुदासीनरूपावस्थानं मोक्ष इति यत्सांख्यैः समाख्यायते, तदप्येतेन दुःखनिवृत्तिमात्रलक्षणमोक्षप्रतिक्षेपेण प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम्; तत्राप्यानन्दानवाप्तेः समानत्वादित्यर्थः। एतस्य चान्यान्यपि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—आत्मन इति। आद्यपादं विवृणोति—सुखेति। द्वितीयपादं विवृणोति—अपि चेत्यादिना। अनाधेयातिशयोदासीनैकरसः स्वच्छः पुरुषः, नच तस्य सुखदुःखोपभोगलक्षणः संसारस्तत्प्रयोजकपुण्यापुण्यावेशो वा संभवति, भोक्तृत्वे

पुरुषार्थ माना जाय, तो अन्य के सुखसम्बन्ध को भी पुरुषार्थत्व प्राप्त होगा। और स्वसम्बन्धी सुख के सम्बन्ध को पुरुषार्थ माना जाय तो सम्बन्ध के साथ सम्बन्धान्तर मानना होगा। तो इसप्रकार अनवस्था होगी। अतः आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति मुक्ति है, यह कथन अयुक्त है।

इसीसे प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान से पुरुष का स्वरूप में अवस्थान मुक्ति है, यह मत भी निरस्त हो गया। क्योंकि—

आत्मा के वस्तुतः सुखस्वरूप होने, और बन्ध के अन्य बुद्धिगत होने से उपचार के भी नहीं बन सकने से, क्योंकि आत्मा के असङ्ग होने से सम्बन्ध का निरूपण नहीं हो सकता है॥ ३॥

अर्थात् सुख साक्षात्कार को ही प्रथम पुरुषार्थत्व प्रतिपादन किया गया है, और आत्मा के सुखस्वरूपत्व के अस्वीकार से सांख्य में पुरुष का स्वरूप मात्र में अवस्थान पुरुषार्थ (सुखसाक्षात्कार) नहीं सिद्ध हो सकता है। और जिसको बन्ध होता है,

मुक्तिः। न च पुरुषस्य बन्धः, बन्धस्य बुद्धिगतत्वाङ्गीकारात्। न चोपचाराद् बुद्धिगतावेव बन्धमोक्षौ पुरुषे व्यपदिश्येते, निमित्ताभावादुपचारानुपपत्तेः। न च स्वस्वामिभावो निमित्तम्, सर्वथोदासोनस्य स्वामिभावे दृष्टान्ताप्रसिद्धेः। न च बुद्धेः स्वत्वमपि, अनाधेयातिशयपुरुषेऽनुपकारक-

---

कर्तृत्वस्यापि तन्मार्गस्याशक्यवारणत्वात्। कर्तृत्वे च परिणामितया तद्व्याप्तजाड्यस्याप्यवर्जनीयतया चिच्छक्तिव्याघातेन जगत एव घोरान्धकारकूपे निपातः स्यात्। तस्माद्येयं बुद्धिः सत्त्वरजस्तमोमयी तत्रैव बन्ध इति वक्तव्यम्, तथाच बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यमित्यर्थः। स्यादेतत्—मोक्षोऽपि बन्धवद् बुद्धिगत एव, नह्यपूर्वः कश्चिदतिशयो मोक्षाख्यः पुरुषे आधायते, विद्यमानो वा कश्चिदाकारो निवर्त्यते असङ्गत्वात्। कथं तर्हि चेतने बन्धमोक्षप्रसिद्धिर्बुद्धिगतयोरपि तत्रोपचारात् स्फटिकमणाविवारुणिम्नः प्रसूनवर्तिनः, योद्धृगतस्येव विजयस्य राजनि। उक्तं हि—

"रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥" इति।

(सां० का० ६३)

तथा पतञ्जलिनापि—"एवं बन्धमोक्षौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तत्फलस्य भोक्ता" इति। तत्राह—**न चोपचारादिति**। एतेन तृतीयः पादो विवृतः। असाधारणसंबन्धं निमित्तीकृत्य हि उपचारः प्रवर्तते, यथा क्रौर्यशौर्यादिगुणगणशालिनि बलवर्मणि सिंहशब्दः। नचात्यन्तविलक्षणयोश्चैतयोरस्ति तादृशगुणयोग इत्याह—**निमित्तेति**। एतेन तुरीयचरणो विवृतः। धनदानादिना हि उपकुर्वतां वसुधापतिप्रभृतीनां स्वामित्वं दृष्टं युद्धादिनोपकुर्वतां च भृत्यादीनां स्वत्वम्, नचेह द्वयमित्याह—**न च स्वस्वामीत्यादिना**। ननु चिच्छक्तेः पुरुषस्य

उसीकी मुक्ति होती है। और बन्ध को बुद्धिगत मानने से, मुक्ति भी बुद्धि की होगी, पुरुष को बन्ध नहीं, अतः उदासीन असङ्ग को मोक्ष भी नहीं हो सकता है। यदि कहें कि बुद्धिगत ही बन्ध और मोक्ष उपचार से = गौण रूप से, पुरुष में व्यवहृत होते हैं। जैसे योद्धा के जयपराजय स्वामी में व्यवहृत होता है। तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि उपचार के निमित्त बुद्धि के साथ सादृश्य सम्बन्धादि के अभाव से उपचार की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि कहें कि स्वस्वाभिभाव पुरुष का बुद्धि के साथ सम्बन्ध है, वही उपचार का निमित्त है। तो कहा जाता है कि सर्वथा उदासीन के स्वामित्व में दृष्टान्त की असिद्धि है, बुद्धि के स्वत्व = सेवकत्व भी नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि जैसे राजा आदि स्वामी सेवा आदि उपकार से प्रसन्न आदि किया जाता है, वैसे अनाधेय = अनवस्थाप्य है अतिशय = फलविशेष जिसमें ऐसे पुरुष में अनुपकारकत्व होने से बुद्धि में स्वत्व

त्वात्। न च द्रष्टृदृश्ययोर्योग्यतालक्षणः संबन्धः, मुक्तावपि प्रसङ्गात्, तस्यास्तदाप्यनपायात्। न च पुरुषभेदेन प्रकृतिगतयोग्यताया अपायानपायौ, अनाधेयातिशयतया पुरुषं प्रति प्रकृतिविशेषाभावे तद्व्यवस्थानुपपत्तेः। तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्धः विद्यानिमित्तस्तदस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम्।

ननु कस्याविद्या? किं ब्रह्मणो? जीवानां वा? नाद्यः, सर्वज्ञस्य तदनु-

---

द्रष्टृयोग्यताऽस्ति जडबुद्धेर्दृश्ययोग्यता, अतो योग्यतालक्षण एवानयोः संबन्धोऽस्त्यलमितरैः। युक्तं चैतत्, इतरथोभयोर्वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति, तत्राह—**न च द्रष्टृदृश्ययोरिति**। एषा योग्यता मुक्तावप्यस्तीत्यनिर्मोक्ष एव स्यादित्यर्थः। अथ संसारावस्थायामेव योग्यता न मुक्ताविति ब्रूयात्तत्राह—**तस्या इति**। स्वरूपातिरेकिणी न योग्यता नामास्तीति भावः। यदि मुक्तौ सत्यामयोग्यैव प्रकृतिस्तर्ह्येकत्वात्तस्या न किंचिदपि तत्र योग्यतेत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात्। अथैकापि प्रकृतिर्मुक्तम् प्रत्येवायोग्या नेतरं प्रति, यथोक्तम्—"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" इति तत्राह--**न च पुरुषेति**। तत्र वक्तव्यं किमिमावपायानपायौ मुक्तामुक्तस्वलक्षणपुरुषविशेषप्रयुक्तौ? किं वा प्रकृतिरेवैवं जानाना तिरोदधाति कंचित्प्रत्यात्मानमिति? तत्र नाद्य इत्याह—**अनाधेयेति**। उत्तरस्तु जडत्वात् प्रकृतेरपास्यः। एवं पराभिमतं मोक्षं निरस्य स्वसिद्धान्तसिद्धमोक्षमुपसंहारव्याजेन दर्शयति—**तस्मादिति**।

अविद्यया तिरोधानं बन्धो, विद्यया चाविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इत्युक्तम्, तदेतद् द्वयमुपपादनीयम्। तत्राविद्यातिरोधानं निरूपयिष्यन्नविद्याश्रयविषयावाक्षिप्य समादधात्युत्तरवादेन—**ननु कस्येत्यादिना**। **सर्वज्ञस्येति**। यः खल्वविद्याश्रयोऽ-

---

नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि द्रष्टा पुरुष और दृश्य बुद्धि इन दोनों में द्रष्टृ दृश्य योग्यता ही सम्बन्ध है। तो यह कहना युक्त नहीं, योग्यता के स्वरूपात्मक नित्य होने से मुक्ति में भी सम्बन्ध की प्राप्ति होगी, क्योंकि उस सम्बन्ध का मोक्षावस्था में भी नाश नहीं होता है। यदि कहें कि पुरुषभेद से प्रकृतिगत योग्यता का अपाय और अनपाय रहता है, अर्थात् मुक्त के लिये प्रकृति अयोग्य हो जाती है, और बद्ध के लिये योग्य रहती है, तो ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है। क्योंकि पुरुष में, अनाधेय अतिशयता=विशेषता से पुरुष के प्रति प्रकृति विशेष (भेद) के अभाव रहते, उक्त व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः निरतिशय आनन्द स्वरूप आत्मा का अविद्या से आवरण ही बन्ध है। और विद्यानिमित्तक उस अविद्या का नाश ही मोक्ष है। यह सिद्ध हुआ।

उक्त स्वसिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये आगे की चर्चा है। वहाँ शंका होती है

पपत्तेः। न द्वितीयः, तेषां परमार्थतः परस्माद् भेदेऽद्वैतव्याघातात्। अभेदे च पूर्वदोषानुषङ्गात्, अविद्याकल्पितभेदत्वे चेतरेतराश्रयापातात्—अविद्याधीनो जीवविभागो, जीवाश्रया चाविद्येति। अनुपपत्तिरविद्याया न दूषणमिति चेत्, अनुपपत्त्यभावे मुक्तानां ब्रह्मणश्च सा किं न स्यात्? ननु न सा मुक्तानां ब्रह्मणश्च भाति, नापि कल्प्या, कल्पकाभावात्। मुक्तसर्वज्ञयोरविद्याश्रयत्वव्याघाताच्च। जीवानां तु न सा कल्प्या, अहमज्ञ इत्यनुभव-

---

सावज्ञो भ्रान्तो वा दृष्टः सर्वज्ञस्य च ब्रह्मणो द्वयमपि विप्रतिपिद्धमित्यर्थः। ननु यद्यपि वस्तुतोऽनिन्ना ब्रह्मणो जीवाः तथाप्यविद्याविकल्पितभेदा ह्येते। तेषामज्ञत्वेऽपि न ब्रह्मणस्तत्त्वमिति तत्राह—**अविद्येति**। जीवविभागे सिद्धे तदाश्रिताऽविद्यासिद्धिः, सिद्धायां च तस्यां जीवविभागसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वमित्यर्थः। मण्डनमिश्रोक्तिमनुवदति—**अनुपपत्तिरिति**। ननु तस्या मुक्तानां ब्रह्मणो वा अनुपपत्तिरस्तीति नास्माभिः परिकल्प्यते, किं तर्हि तन्निष्ठतयाननुभवात्कल्पकाभावाद्वेति शङ्कते—**नन्विति**। ननु कल्पकाभावो जीवेऽपि समानः। सत्यम्, कल्पनायामयं दोषः। अनुभूयते तु जीवे इत्याशयवानाह—**जीवानामिति**। ननु यद्यप्यहमज्ञ इत्यत्राविद्याकल्पिताऽऽश्रयत्वं न केनाप्युल्लिख्यते तथाप्यज्ञ इति प्रतीतिबलादज्ञानाश्रयस्याविद्या-

---

कि अविद्या किसकी है, ब्रह्म की है, या जीवों की है। ब्रह्म की तो कही नहीं जा सकती है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म की अविद्या की अनुपपत्ति है। जीव की अविद्या भी नहीं कही जा सकती है, क्योंकि अविद्या वाले उन जीवों का परमार्थ रूप से परब्रह्म से भेद होने पर अद्वैत का व्याघात होगा, जीवों का परब्रह्म से अभेद पक्ष में पूर्वोक्त दोष का सम्बन्ध होगा (सर्वज्ञ में अविद्या की अनुपपत्ति प्राप्त होगी) और अविद्या से कल्पित (सिद्ध) जीव भेद को मानकर उस जीव की अविद्या को मानने पर इतरेतराश्रय प्राप्त होगा। क्योंकि अविद्या के अधीन जीवों का विभाग = ब्रह्म से भेद सिद्ध होगा, और जीव के आश्रित अविद्या सिद्ध होगी। यदि कहें कि अविद्या माया आश्चर्य अनिर्वाच्य स्वरूप वाली है, अतः उस अविद्या की अनुपपत्ति दूषण रूप नहीं है, अविद्या की अनुपपत्ति भूषण ही है, क्योंकि वह मिथ्या है, उपपद्यमान स्वरूप वाली होगी, तब तो उसमें सत्यता की आपत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि अनुपपत्ति के नहीं रहने पर मुक्तों की और ब्रह्म की वह अविद्या क्यों नहीं होगी। वहाँ भी अविद्या प्राप्त होगी। यदि कहें कि मुक्तादि में अविद्या प्राप्त नहीं हो सकती है, क्योंकि मुक्त और ब्रह्म की अविद्या न प्रतीत होती है, न उस अविद्या का कोई कल्पक = साधक ज्ञाता है। अतः कल्पक के अभाव से मुक्त और ब्रह्म में कल्प्य स्वरूप भी अविद्या नहीं है। और मुक्त तथा सर्वज्ञ में अविद्या की कल्पना करने पर व्याघात प्राप्त होता है। जीवों की वह अविद्या कल्प्य नहीं है,

सिद्धत्वादिति चेत्, न, अविद्याकल्पितोऽहमज्ञ इत्यनुभवाभावात्। नन्वहमिति प्रतीतिः कल्पितताममविद्याश्रयस्य बोधयति, अहंकृतेः कल्पनामयत्वात्। सुषुप्ततुरीयादौ च सत्यपि चिदात्मनि तदभावात्। अहं ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यस्य योऽयं स्थाणुरसौ पुमानितिवद्बाधपरत्वात्। अहंशब्दस्य तत्र लक्षणया शोधितत्वं पदार्थविषयत्वाभ्युपगमाच्च अतः कल्पिताश्रयमज्ञानं प्रतीतित एव सिद्धमितिचेत्, न, प्रविलीनाहंकारेऽप्यात्मनि

कल्पिततास्तीति शङ्कते—**नन्वहमित्यादिना**। **अहंकृतेरिति**। अहमिति कृतिः करणमहमाकारेण परिणामो यस्मिन् यस्याहंकारस्य वेत्यर्थः। अथावदात्मभावित्वाच्च कल्पित इत्याह—**सुषुप्तेति**। तुरीयं मोक्षावस्था। नन्वहं ब्रह्मास्मीति वाक्येन ब्रह्मसामानाधिकरण्यमहंकारस्योच्यते नच कल्पितस्य वस्तुभूतेनैक्यं संभवतीति कथं कल्पितत्वमहंकारस्येति तत्राह—**अहमिति**। अन्यतरबाधायामपि भ्रान्तिस्थलेषु सामानाधिकरण्यं दृश्यत इत्यर्थः। ननु न तावदिदं वाक्यं बाधमात्रपरम्; ऐक्योपदेशपरत्वात् ऐक्यसाक्षात्कारेण ह्यविद्यानिवृत्तिरिति। सत्यम्, शोधितत्वं पदार्थस्य ब्रह्मैक्योपदेशपरं नत्वहंकारस्य। कथं तर्ह्यहंशब्दस्य तत्र प्रवृत्तिस्तत्राह—**अहंशब्दस्येति**। स्यादेवं यद्यहंकारविशिष्टाश्रितमज्ञानमिति ते मतं स्यात्। नत्वेवं सुषुप्तिप्रलययोरप्यस्ति दण्डायमानमज्ञानमिति हि ते मतम्, नच तदाहंकारोऽस्ति। विकारस्य तदा प्रविलयात्तदभावे कथं कल्पिताश्रयत्वमज्ञानस्येति दूषयति पूर्ववादी—**न प्रविलीनेति**। मण्डनवाचस्पतिमिश्राभिमतपरिहारं दूषयति—

क्योंकि (मैं अज्ञ हूं) इस अनुभव से अविद्या की सिद्धि होती है। यदि ऐसा कहा जाय तो, वह भी नहीं बन सकता है। क्योंकि (अविद्या से कल्पित मैं अज्ञ हूं) ऐसा अनुभव नहीं होता है, अतः जैसी अविद्या मानी जाती है, वैसी अविद्या की सिद्धि इस अनुभव से नहीं हो सकती है। यदि कहें कि (अहम्) यह प्रतीति ही अविद्या के आश्रय की कल्पितता को बोध कराती है। क्योंकि अहङ्कार को कल्पनामयत्व है। सुषुप्ति और तुरीय (मोक्ष) अवस्था में चिदात्मा के रहते भी अहङ्कार का अभाव रहता है। अतः उसके कल्पितत्व की सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि (अहं ब्रह्मास्मि) इस श्रुति से अहंकार को ब्रह्मस्वरूप कहा जाता है, कल्पित को ब्रह्मरूपता नहीं हो सकती है, अतः अहङ्कार में कल्पितत्व नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, अहं ब्रह्मास्मि, इस सामानाधिकरण्य (अभिन्नता) को जो यह स्थाणु (ठूंठ) था, वह पुरुष है, यहां जैसे भ्रमसिद्ध स्थाणुत्व के बाधपूर्वक पुरुषत्व की प्रतीति होती है। वैसे ही अहंकार के बाधपरत्व श्रुति के होने से कल्पितता से विरोध नहीं है। क्योंकि उस वाक्य में अहं शब्द को अहङ्कार के बाधपूर्वक लक्षण द्वारा शोधित त्वंपदार्थविषयकत्व के स्वीकार से विरोध का अभाव

सुषुप्तादावज्ञानस्य सद्भावाभ्युपगमादन्यथा सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तिप्रसङ्गात्। तस्मादविद्याधीनो जीवविभागस्तदधीना वाऽविद्येति दुर्वारा परस्पराश्रयता। न च बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव जीवाविद्ययोरनादित्वेन तत्परिहारः, दृष्टान्तवैषम्यात्। तत्र हि बीजाङ्कुरव्यक्तीनामन्योन्यकार्यकारणभावात्, तत्सन्तानयोः परस्पराधीनत्वव्यपदेशः, इह तु जीवाविद्याव्यक्त्योरेकत्वात् कार्यकारणभावाभावाच्च कथं तथा व्यपदेशः स्यात्? नन्वात्मनि गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरिवानादित्वेऽपि प्रयोज्यप्रयोजकभावो जीवाविद्ययोः किं

न चेति। वैषम्यमेवाह—तत्र हीति। नहि साक्षात्सन्तानयोरन्योन्यस्मादुत्पत्तिः, अनादित्वात्। ततो व्यक्तिद्वारा व्यक्तीनामप्यनेकतया नान्योन्यमुत्पत्तिः। नहि यतो बीजाद्योऽङ्कुरो जायते तदेव बीजं तस्मादङ्कुरात्, अपित्वङ्कुरान्तरात्; नचेह तथा। नहि प्रतिदिनमन्येऽन्ये जीवाः नाप्यविद्या, तस्मादस्त्येव वैषम्यमित्यर्थः। यद्यप्यनादित्वादेकत्वाच्च नान्योन्यमुत्पत्तिर्जीवाविद्ययोर्नाप्यन्योन्यज्ञप्तिः, एकस्य स्वप्रकाशत्वात्, अपरस्य साक्षिवेद्यत्वात्। तथाप्यन्योन्यनियम्यत्वं घटत इति दृष्टान्तमवष्टभ्य शङ्कते—नन्वात्मनीति। तर्हि यथा गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरेक आत्मा-

---

सिद्ध होता है। अतः कल्पित आश्रय वाला अज्ञान प्रतीति से ही सिद्ध होता है। तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रविलीन अहंकार वाले भी आत्मा में सुषुप्ति में अज्ञान के सद्भाव को स्वीकार करते हैं, अन्यथा सुषुप्ति प्रलय में मुक्ति की प्राप्ति होगी, अतः अविद्या के अधीन जीव का विभाग होता है, और विभागाधीन अविद्या की स्थिति होती है, अतः परस्पराश्रयता दुर्वार है। यदि कहें कि बीजाङ्कुर सन्तान के समान जीव और अविद्या के अनादि होने से अन्योन्याश्रय का परिहार होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में विषमता है, क्योंकि दृष्टान्त में बीज और अङ्कुर व्यक्ति के परस्पर कार्यकारणभाव से उन बीजाङ्कुर के सन्तानों के परस्पर अधीनत्व का व्यवहार होता है, और यहाँ दार्ष्टान्ति में तो जीव और अविद्या व्यक्ति के एक-एक होने से, और कार्यकारणभाव के अभाव से बीजाङ्कुर के समान व्यपदेश कैसे होगा, अर्थात् दृष्टान्त में अनेक बीज और अङ्कुर के होने से जिस बीज से जो अङ्कुर होता है, वहीं बीज उस अङ्कुर से नहीं होता है, किन्तु उस अङ्कुर से अन्य बीज होता है, उससे अङ्कुरान्तर होता है। प्रकृत में एक-एक व्यक्ति अनादि जीव अविद्या के होने से ऐसी सन्तति नहीं बन सकती है। यदि कहा जाय कि अनादि और एक-एक होने से परस्पर उत्पत्ति आदि के नहीं होने पर भी जैसे आत्मा में गुणवत्त्व और द्रव्यत्व के अनादि होते भी परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक भाव माना जाता है कि गुणवत्त्व से द्रव्यत्व सिद्ध होता है,

न स्यादिति चेत्, तर्ह्यविद्यावत्त्वजीवत्वयोश्चिन्मात्रं किमधिकरणम्? उताविद्याविशिष्टम्? आद्ये ब्रह्मण्येवाविद्येति प्राचीनदोषानुषङ्गः। द्वितीये पुनरविद्यावत्येवाविद्येत्यात्माश्रयः। ब्रह्मवज्जीवस्यानादित्वे च न ब्रह्मप्रतिबिम्बता।

अथ ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया च विमुच्यत इत्युच्येत, तदा तस्यैकत्वान्न विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थाः स्युः। तथा हि—यदि नोत्पन्ना विद्या कस्तदा गुरुरात्मान्तराभावाद। यद्युत्पन्ना कस्तदा शिष्यः? सर्वभेदप्रविलयात्। मायाविनिर्मितौ गुरुशिष्यौ स्त एवेति चेत्,

---

धिकरणम्, तथाऽत्राप्येकमधिकरणं वक्तव्यं तत्किं चिन्मात्रम्? किं वा अविद्याविशिष्टम्? इति विकल्प्य दूषयति—**तर्हीत्यादिना**। दूषणान्तरं चाह—**ब्रह्मवदिति**।

इष्टसिद्धिकारमतमुद्भावयति—**अथेति**। गुर्वादिविभागाभावमेव प्रपञ्चयति—**तथा हीत्यादिना**। यद्यप्युत्पन्नविद्यतया गुरोर्माया नास्ति तथापि शिष्यस्याविद्यास्ति, अनुत्पन्नविद्यत्वात्तदविद्याविजृम्भित एव तद्गुरुः। नच कल्पितस्योपदेष्टृ-

---

और द्रव्यत्व से गुणवत्त्व होता है। इसीप्रकार से जीव और अविद्या में प्रयोज्य-प्रयोजक (साध्य-साधक) भाव क्यों नहीं होगा, तो ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि इसप्रकार से भी दृष्टान्त में द्रव्यत्व और गुणवत्त्व का जैसे द्रव्य अधिकरण होता है, तैसे अविद्यावत्त्व और जीवत्व का कोई अधिकरण होना चाहिये, यह क्या चेतन मात्र अधिकरण है, या अविद्याविशिष्ट अधिकरण है, यहाँ प्रथम पक्ष में ब्रह्म में ही अविद्या सिद्ध होगी, कि जिससे सर्वज्ञ में अविद्या के होने में असम्भवता रूप पूर्वोक्त दोष प्राप्त होगा। और दूसरे पक्ष में अविद्या वाले में अविद्या की स्थिति से अंश में आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी। और ब्रह्म के समान जीव के अनादि होने से उसमें ब्रह्म की प्रतिबिम्बता नहीं हो सकती है।

और यदि ब्रह्म ही अपनी अविद्या से संसारी जीव होता है, और अपनी विद्या से मुक्त होता है, ऐसा कहें, तो उस ब्रह्म के एक होने से विद्वान् अविद्वान् गुरुशिष्य बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। क्योंकि यदि विद्या उत्पन्न नहीं हुई हो, तो अविद्या निमित्तक कल्पित या सत्य आत्मान्तर के अभाव से गुरु कौन होगा, किसका गुरु होगा। और यदि विद्या उत्पन्न हो गई, तो उस समय शिष्य कौन रहेगा, विद्या से सब भेद का ही प्रलय हो जायगा। यदि कहा जाय कि माया से विनिर्मित गुरु-शिष्य हैं ही, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उत्पन्न विद्या वाले में माया की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि विद्या वाले में माया नहीं रहती है, किन्तु अज्ञशिष्य की अविद्या से निर्मित गुरु होते हैं (कल्पित सिद्ध होते हैं) तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अविद्या निर्मित की जडता से उसमें

न, उत्पन्नविद्यस्य मायानुपपत्तेः। शिष्याविद्याविनिर्मितो गुरुरिति चेत्, न, अविद्यानिर्मितस्य जडत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्तेः। दृश्यत एवाविद्यानिर्मितस्य गुरुत्वं स्वप्न इति चेत्, तर्हि शिष्याविद्याविनिर्मितस्य गुरुत्वे तस्य तस्यापि शिष्यस्य स्वीयस्वीयशिष्यं प्रति गुरुत्वेन तत्तदविद्याविनिर्मितत्वान्न कोऽपि परमार्थः परमात्मतया निरूपितः स्यात्। यच्चाहुः––स्वात्मानमेव कल्पित-भेदं गुरुः शास्तीति, तच्चायुक्तम्, तस्य स्वात्मनो मुक्ति निश्चिन्वतः स्वव्यतिरेकेण तेषामभावं च पश्यतस्तदुपदेशार्थं प्रवृत्त्ययोगात्। प्रवृत्तौ च 'मन्मुक्त्यैवासि मुक्तस्त्वं मा यत्नं कुरु मुक्तये' (इष्ट० ७।७) इत्येवोपदेश-प्रसङ्गात्। किंचानादौ संसारे कस्यचिन्मुक्तिरासीत्? न वा? आद्ये नेदानीं संसारोपलम्भः स्यादात्मान्तराभावात्। द्वितीयेऽपि कथं भविष्यतीति

त्वानुपपत्तिः, स्वाप्नवदुपपत्तेरिति शङ्कते—**शिष्याविद्येति**। एवं शिष्याविद्या-विनिर्मितो गुरुरिति पक्षं दूषयित्वा गुर्वविद्याविनिर्मितः शिष्य इति पक्षं दूषयति—**यच्चाहुरिति**। तस्याप्यविद्यावस्थायामियं कल्पनेति वक्तव्यम्, सा चोत्पन्नविद्यया ध्वस्तेति शिष्यकल्पनैव नास्ति कथमनुशिष्यात्? भवतु तथाप्यधिगतपरमार्थत्वाच्छि-ष्यादितत्त्वं जानन्न पृथक्त्वमुपदिशेदित्याह—**तच्चायुक्तमित्यादिना**। एवं गुरुशिष्य-व्यवस्थानुपपत्तिमुक्त्वा बद्धमुक्तव्यवस्थानुपपत्तिमप्याह—**किंचेत्यादिना**। ननु पूर्वं विद्यैव नोत्पन्ना तेनोपपन्नः संसारः, शुकादीनां तु विद्योत्पत्तिशास्त्रमर्थवादमात्रमिति,

---

विद्यावत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, यदि कहा जाय कि स्वप्न में अविद्या-निर्मित के गुरुत्व को देखा ही जाता है, वैसे ही जाग्रत में भी होता है, तो कहा जाता है कि शिष्य की अविद्या से निर्मित में गुरुत्व होने पर, तत्तत् शिष्यों को भी अपने-अपने शिष्यों के प्रति गुरुत्व होने से वे सब भी अपने शिष्यों की अविद्या से ही निर्मित सिद्ध होंगे, तो इसप्रकार से सब गुरु-शिष्यों में अविद्यानिर्मितत्व होने से कोई भी परमात्म रूप से निश्चित परमार्थ स्वरूप नहीं सिद्ध होगा। और जो कोई यह कहते हैं कि गुरुकल्पित भेद वाले अपनी आत्मा को ही उपदेश देता है, यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि अपनी आत्मा की मुक्ति के निश्चय वाले अपने से भिन्न उन शिष्यों के अभाव को देखने वाले गुरु की उन शिष्यों के उपदेश के लिये प्रवृत्ति होनी अयुक्त है। यदि प्रवृत्ति भी हो तो (मेरी मुक्ति से ही तुम मुक्त हो, मुक्ति के लिये यत्न नहीं करो, तुम मेरा स्वरूप ही भिन्न नहीं हो) इसप्रकार के उपदेश की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। गुरुशिष्यभाव की अनुपपत्ति तो है ही एकात्म और एक अविद्यावाद में बन्धमोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि जिज्ञासा होती है कि अनादि इस संसार में किसी की मुक्ति हुई है, या नहीं, आद्यपक्ष में इस समय संसार का ज्ञान नहीं होना चाहिये, क्योंकि आत्मान्तर का अभाव है। दूसरे पक्ष में भी यदि

प्रत्याशा ? न च विद्याभावात्पूर्वममुक्तिः । शुकवामदेवप्रभृतीनामविद्यमाना विद्याऽन्यस्य भविष्यतीति प्रत्याशाऽसंभवात्, गुरुसंप्रदायाभावाच्च । तस्मादेकात्मवादे बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः पारमार्थिक एवात्मभेदः समाश्रयणीयः । प्रयोगश्च—आत्मा, आत्मप्रतियोगिकान्योन्या भाववान्, आत्मनिष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदवान्, वा लक्ष्यत्वाद् घटवत् । न च 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्याद्यागमविरोधः, तस्येश्वरैकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । न च तत्र सर्वभूतान्तरात्मत्वविरोधः, तस्यैव नियामकतया सर्वभूतान्तरावस्थानात् । तथा च श्रुतिः—'य आत्मनि तिष्ठन्य आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न

तत्राह—**न च विद्येति** । किंच पूर्वं कस्यचिदपि चेद्विद्या नोत्पन्ना, तर्हि गुरुसंप्रदायाभावादद्यापि विद्या नोत्पद्येतेति निर्णयस्यैव संभवादनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याह—**गुरुसंप्रदायेति** । तदेवमविद्याश्रयानिरूपणादविद्याधीनो जीवब्रह्मणोर्जीवानां च भेद इत्यसंबद्धम् । अतः पारमार्थिक एवात्मभेद इत्याह—**तस्मादिति** । घटान्योन्याभावत्वेन सिद्धसाधनतापरिहाराय—**आत्मप्रतियोगिकेत्युक्तम्** । आत्मनो भिद्यत इत्यर्थः । भेदमात्रसत्यत्वेऽप्यनुमानमाह—**आत्मनिष्ठेति** । अतिरिक्तत्वमनधिकरणत्वम्, सिद्धसाधनतापरिहारार्थं मिथ्याभेदातिरिक्तेत्युक्तम् । अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यर्थमात्मनिष्ठपदम् । 'नन्वेको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मे'ति सर्वभूतानामन्तरात्मत्वमप्यस्य कीर्त्यते, स च क्षेत्रज्ञ एवेति कथमस्येश्वरविषयता ? इत्याशङ्क्यान्तर्यामितया तस्यापि तत्संभवतीत्याह—**न च तत्रेति** ।

अनादि काल से अब तक किसी की मुक्ति नहीं हुई है तो आगे होगी, ऐसी मुक्ति के प्रति आशा कैसे की जा सकती है, और अभी किसी को विद्या नहीं हुई है तो गुरुसम्प्रदाय के अभाव से भी ज्ञान मोक्ष की आशा नहीं होगी । अतः एकात्मवाद में बन्ध मोक्ष की व्यवस्था की अनुपपत्ति से पारमार्थिक ही आत्मभेद स्वीकर्तव्य है, आत्मभेदविषयक अनुमान भी होता है कि (आत्मा, आत्मप्रतियोगिक भेद वाला है, आत्मवृत्ति मिथ्या भेद से भिन्न भेद वाला है, लक्ष्य (ज्ञातव्य) होने से घट के समान) यदि कहा जाय कि इस अनुमान में (एको देवः सर्वभूतेषु गूढः) इस श्रुति से विरोध प्राप्त होता है, तो कहा जाता है कि इस आगम (शास्त्र) के ईश्वर के एकत्वप्रतिपादन परक होने से विरोध नहीं है । यदि कहा जाय कि श्रुति में (सर्वभूतान्तरात्मत्व) का कथन है, अतः ईश्वर के एकत्व के प्रतिपादन परक मानने पर विरोध होगा ही, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उस एक ईश्वर को ही नियामक रूप से सर्वभूत के अन्तर स्थिति से सर्वभूतान्तरात्मत्व भी सिद्ध होता है, यह साक्षात् श्रुति कहती है कि (जो ईश्वर जीवात्मा में रहता हुआ, आत्मा के अन्तर में रहता है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता है) जिसका जीवात्मा शरीर है,

वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत' इति।

'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥'

इतिस्मृतेरपीश्वरपरत्वात्तस्य कायव्यूहनिर्माणेन बहुधा भावस्याप्युपपत्तेः। तत्त्वमसीत्याद्यैकात्म्योपदेशस्य चोपासनापरत्वात्। न चोपासनाविध्यश्रवणादतत्परत्वं शङ्कनीयम्, अपूर्वत्वेन 'पूषा प्रपिष्ठभाग' इत्यादाविव विधेः कल्प्यमानत्वात्। 'नेह नानास्ति किंचने'त्यादेश्चेश्वरभेदाभावपरत्वात्। 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्यस्य भेददर्शननिन्दया अभेदोपासनाविधि-

---

नन्वेक एव तु भूतात्मेति प्रतिभूतेभेदेन प्रतिभासमानजीवात्मनामेवैक्यप्रतिपादिका स्मृतिरस्तीति, तत्राह—**एक एवेति**। नन्वीश्वरस्यैकत्वात्कथं तत्र बहुधा दृश्यत इति निर्देशोपपत्तिस्तत्राह—**तस्येति**। ननु तत्त्वमसीति प्रकृतिविलक्षणेश्वरात्मतां श्वेतकेतूपलक्षितजीवस्य प्रतिपादयति तत्कथं जीवभेदस्तत्राह—**तत्त्वमसीति**। भिन्नेऽपि परमेश्वरे अभेददृष्टिः कर्तव्या योषितीवाग्निदृष्टिरित्यर्थः। **पूषेति**। यथाहि—"तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि सः" इतिवाक्येऽपूर्वत्वात्पूषोद्देशेन पिष्टभागविधिः कल्पितः एवमत्रापीत्यर्थः। आदिशब्देनोपरिधारणादि गृह्यते। श्रुत्यन्तरविरोधं परिहरति—**नेहेति**। यद्यप्येते श्रुती कृतसमाधाने तथाप्य-

---

और जो आत्मा के अन्तर रहता हुआ जीवात्मा का नियमन करता है। वही यह तेरी आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

और एक ही भूतों (प्राणियों) की आत्मा तत्तत् भूतों=शरीरों में विविध रूप से स्थिर है, वह चन्द्र और जलगत प्रतिबिम्ब रूप चन्द्र के समान एकधा=एकस्वरूप और बहुधा = बहुत स्वरूप दीखता है।

इस स्मृति को भी ईश्वरपरक होने से, उस ईश्वर को शरीरव्यूह निर्माण के द्वारा बहुधा भाव की भी सिद्धि हो सकती है, जीव में यह संघटित नहीं हो सकता है। और (तत्त्वमसि) इत्यादि एकात्मा के उपदेश को भी उपासनापरत्व है। यदि शंका हो कि उपासना विधि के अश्रवण से उपासनाविधि परत्व नहीं है, तो ऐसी शंका कर्तव्य नहीं है, क्योंकि अपूर्वता से (पूषाप्रविष्टभागोऽदन्तको हि सः) पूषादेवप्रविष्ट हवि के भागी होते हैं, क्योंकि पूषादेवदान्त रहित हैं) यहाँ जैसे पूषादेव के उद्देश से विधि की कल्पना होती है, कि (पिष्टं हविः कुर्यात्) वैसे ही यहाँ भी विधि की कल्पना होती है कि (स्वाभिन्नं ब्रह्मोपासीत) (नेह नानास्ति किञ्चन) इत्यादि श्रुति को ईश्वर के भेदाऽभावपरत्व है कि ईश्वर में कुछ भेद नहीं है। और (मृत्योः स मृत्युमाप्नोति) मृत्यु से मृत्यु को वह पाता है, जो नाना

परत्वात्। 'द्वासुपर्णा' 'अजामेकाम्' इत्यादिना च जीवेश्वरयोर्जीवानां च परस्परभेदस्य साक्षादेव प्रतिपादनात्। न च तत्र लोकसिद्धभेदानुवाद इति वाच्यम्, ईश्वरस्यालौकिकत्वादेव तद्भेदस्य लोकतोऽधिगमासंभवात्। जीवभेदस्य च लोकसिद्धत्वे प्रत्यक्षादिव्यतिरेकेण लोकशब्दार्थानिरूपणात्, प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेन जीवभेदस्य प्रामाणिकत्वसिद्धिः।

सुखदुःखव्यवस्थानुपपत्तिरपि जीवभेदं साधयति। अन्यथैकस्मिन्कस्मिश्चित्सुखिनि सुखिन एव सर्वे स्युर्दुःखिनि वा दुःखिन इति व्यवस्था न

स्युच्चयत्वेनात्रोपन्यस्येते। न केवलं श्रुत्यविरोधः, श्रुतिसिद्धश्चात्मभेद इत्याह—**द्वा सुपर्णेति**। अत्र हि द्वाविति जीवेश्वरौ द्वित्वेन निर्दिष्टौ तथा तयोरन्य इत्यनश्नन्नन्य इति च भोक्त्रभोक्तृतया परस्परमन्यत्वेन च निर्दिष्टौ। तथा अजामेकामित्यत्रापि तेजोऽबन्नलक्षणामविद्यामेको जहाति, अन्यश्च जुषमाणः प्रीयमाणोऽनुशेते इत्यजशब्दोपात्तजीवभेदः प्रतीयते बद्धाबद्धत्वलक्षणधर्मभेदश्चेत्यर्थः। यद्यपि जीवस्य लौकिकतया तद्भेदः शक्यानुवादः तथापि परमेश्वरस्यालौकिकत्वान्न तद्भेदः संभवदनुवाद इति तत्प्रतिपादनपरमिदं वाक्यमित्याह—**ईश्वरेति**। तर्हि जीवभेदप्रतिपादकत्वमुपेक्षितमस्य तथा चाप्रामाणिकभेदत्वाद् द्वैतसिद्धिरिति तत्राह—**जीवेति**। अस्यानुवादकत्वेऽपि यत्सिद्धमिदमनुवदति तदेव तत्र प्रमाणमित्यर्थः।

एवमनुमानागमाभ्यामात्मभेदं साधयित्वार्थापत्तिमप्याह—**सुखदुःखेति**। ननु यथैकस्मिन्देहे पादशिरःप्रदेशनिष्ठतया सुखदुःखव्यवस्थायामपि न भेदः, तत्कस्य हेतोः? औपाधिकभेदमादाय; तथा सर्वदेहेष्वप्येक एवात्मा तत्तद्देहोपाधिभेदाच्च

के समान देखता है। इस श्रुति को भेदज्ञान की निन्दा द्वारा अभेदोपासना विधिपरत्व है। और (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, अजामेकाम्) इत्यादि श्रुतियों से तो भोक्ता अभोक्ता जीवेश्वर के और मुक्तामुक्तादि जीवों से परस्पर भेद को साक्षात् ही प्रतिपादन किया गया है। इन श्रुतियों में लोक से सिद्ध भेद का अनुवाद मात्र है, ऐसा नहीं कहा जा सकता हैं। क्योंकि ईश्वर के अलौकिकत्व से ही ईश्वर के भेद को भी लोक से समझना असम्भव है। और जीवभेद के लोकसिद्ध होने पर भी, प्रत्यक्षादि से भिन्न लोकशब्दार्थ के अनिरूपण से प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्धत्व लोकसिद्धत्व का अर्थ होता है, तो जीवभेद के प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्धत्व होने पर उस भेद में प्रामाणिकत्व की सिद्धि होती है।

अनुमानागमादि से तो आत्मभेद सिद्ध होता ही है, सुखदुःख की व्यवस्था की अनुपपत्ति भी जीवभेद का साधक है, अन्यथा = एकात्मा के होने पर, एक किसी के सुखी होने पर, सभी सुखी होंगे, और एक के दुःखी होने पर सब दुःखी होंगे, कर्मादि के अनुसार सुखी, दुःखी आदि की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। यदि कहें कि

स्यात्। न च पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमितिवदुपाधिनिबन्धना व्यवस्था, तद्वदेव शरीरभेदेऽपि भोगानुसंधानप्रसङ्गात्। न च सुखादीनां साक्ष्यत्वेन साक्षिधर्मत्वाभावात् तद्भेदव्यवस्थापकत्वासिद्धिः। प्रमातृव्यतिरिक्तसाक्षिणो दुर्निरूपत्वात्। तथा हि—तस्य द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावाद-द्रष्टृत्वे सुखादिसाधकत्वासिद्धेर्ब्रह्मरूपत्वे च संसारदशायामनाविर्भावात्, साक्षिप्रत्यक्षं नाम व्यवहाराङ्गं न सिध्येत्। प्रमाणाभावाच्च। न

शीतादिव्यवस्थेति किं न स्यात्तत्राह—**न च पाद इति**। तर्हि यथा सकलावयवेष्वेकस्य तत्रानुसंधानं तथा सकलक्षेत्रेष्वप्येकोऽनुसंदधीत नचैतदस्तीत्यर्थः। ननु व्यधिकरणमिदमभिधीयते यत्सुखादिव्यवस्थयात्मभेद इति। अन्तःकरणधर्मा हि सुखादयः साक्ष्यत्वात्। नच साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्व तथा सति स्वधर्मग्राहकत्वे स्वग्राहकतया स्ववृत्तिविरोधप्रसङ्गादिति तत्राह—**न च सुखादीनामिति**। साक्षी द्रष्टा ? न वा ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—**द्रष्टृत्व इति**। नहि प्रमात्रतिरिक्तः कश्चिदस्ति संप्रतिपन्नो द्रष्टेति भावः। ननु द्विविधं द्रष्टृत्वं ज्ञानाकारेण परिणामित्वम्, अलुप्तचिद्रूपत्वं चेति। तत्र पूर्वममुख्यम्, अयःपिण्डस्येव संक्रान्ताग्नेर्दग्धृत्वम्। उत्तरं तु मुख्यं वह्नेरिव, तत्र मुख्यो द्रष्टा साक्षी तेन न प्रमाता, नापि सुखादिसाधक इति। तर्हि मुक्तिदशायामेवैतादृशमभिव्यज्यत इति व्यवहारनिर्वाहकत्वव्याहतिरित्याह—**ब्रह्मरूपत्व इति**। नच प्रमात्रतिरिक्ते साक्षिणि किंचित्प्रमाणमस्तीत्याह—**प्रमाणेति**। प्रत्यक्षपक्षे हि न तावद्बाह्यमबाह्यत्वात्, आन्तरत्वेऽपि

एकात्म पक्ष में भी, मेरे पैर में पीड़ा है, शिर में सुख है, इसके समान उपाधिनिमित्तक व्यवस्था होगी, आत्मा के एक रहते भी शरीरादि के भेद से सुखादि का भेद होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि पाद और शिर उपाधि भेद से जहाँ एक को सुखदुःख होता है, वहाँ उस आत्मा को दोनों का अनुसंधान, चिन्तन, स्मरण होता है, वैसे शरीरभेद में भी भोगानुसन्धान की प्राप्ति एकात्मवाद में प्राप्त होता है। यदि कहें कि सुखादिभेद से आत्मा का भेद नहीं हो सकता है, आत्मा तो साक्षी स्वरूप द्रष्टा है। और सुख दुःखादि साक्ष्य = दृश्य हैं, अतः ये साक्षी के धर्म नहीं हैं, किन्तु अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः सुखादि के भेद से अन्तःकरण का भेद हो सकता है, साक्षी का नहीं। अतः साक्ष्य सुखादि में आत्मभेद व्यवस्थापकत्व की असिद्धि है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाता = कर्ता भोक्ता जीव से भिन्न साक्षी का निरूपण नहीं हो सकता है, उस साक्षी में द्रष्टृत्व होने पर उसका प्रमाता = ज्ञाता जीव के अन्तर्भाव होगा। क्योंकि जीव से भिन्न द्रष्टा प्रसिद्ध नहीं है। अद्रष्टा होने पर सुखादि के साधकत्व = बोधकत्व की असिद्धि होगी। ब्रह्मस्वरूप होने पर संसारदशा में अनाविर्भाव = अप्रकटता से साक्षि प्रत्यक्ष नामक

तावत्प्रत्यक्षमत्र प्रमाणम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे प्रमात्रन्तर्भावप्रसङ्गात्। इच्छादय एतद्ग्राहकानित्यज्ञानातिरिक्तप्रत्यक्षवेद्याः, अर्थापरोक्षत्वात् रूपादिवदित्यनुमानं प्रमाणमिति चेत्, न, ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनत्वात्। अनीश्वरवादिनां चेच्छादय एतद्ग्राहकानित्यानुमानातिरिक्तानुमानवेद्याः वेद्यत्वादिति साधनादाभाससमानयोगक्षेमत्वात्।

अनित्यप्रत्यक्षवेद्यत्वे बाधकाभावाच्च। सुखादिविशिष्टस्यात्मनः स्वाश्रितज्ञानवेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधप्रसङ्गो बाधक इति चेत्, मैवम्,

---

नित्यम्? अनित्यं वा? अनित्यत्वे मानसमेव तदिति तद्वेद्यः प्रमातैव नित्यं च प्रत्यक्षं न जीवेऽस्तीति भावः। अस्तु तर्ह्यनुमानं साक्षिप्रत्यक्षे प्रमाणमिति शङ्कते—**इच्छादय इति**। प्रत्यक्षवेद्या इत्युक्ते मानसप्रत्यक्षमादायार्थान्तरता तदर्थमनित्यज्ञानातिरिक्तेत्युक्तम्। तथा चानीश्वरवादिनं प्रत्यप्रसिद्धविशेषणता तदर्थमेतद्ग्राहकेत्युक्तम्। अनेनैतद्ग्राहकानित्यप्रत्यक्षमादाय च साध्यप्रसिद्धिः पक्षे चैतद्ग्राहकानित्यज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतद्ग्राहकत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, तद्वेद्यत्वेन व्याघातात्, तस्मादनित्यज्ञानत्वानधिकरणं किंचिन्नित्यप्रत्यक्षमादाय तद्ग्राह्यत्वमिच्छादीनां सिध्यतीति नित्यसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धिरित्यर्थः। अत्र तार्किकः प्राह—**ईश्वरेति**। अनीश्वरवादी त्वाभाससमानयोगक्षेमतामाह—**अनीश्वरेति**। शक्यते हि नित्यमपि किंचिदनुमानमेवं साधयितुमित्यर्थः।

विपक्षे बाधकाभावाच्च शङ्कितात्रयोजकतामाह—**अनित्येति**। न केवलमस्मन्मत एवेयं गतिः यत्स्वरूपेण ग्राहकत्वं सुखादिविशिष्टाकारेण ग्राह्यत्वमित्यनु-

---

व्यवहार का अङ्गस्वरूप साक्षी नहीं सिद्ध होगा। और प्रमाता से भिन्न साक्षी में प्रमाण का भी अभाव है। क्योंकि रूपादिरहित में बाह्य प्रत्यक्ष प्रमाण तो हैं नहीं, और मानसप्रत्यक्ष से वेद्य होने पर प्रमाता में अन्तर्भाव प्राप्त होगा। यदि कहें कि (इच्छा आदि, अपने ग्राहक अनित्य ज्ञान से अतिरिक्त प्रत्यक्ष (साक्षी) से वेद्य हैं। अपरोक्षार्थ होने से, रूपादि के समान) यह अनुमान साक्षी में प्रमाण है। क्योंकि इच्छादि विषयक अनित्य ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति से भिन्न साक्षी स्वरूप ही ज्ञान हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष वेद्यता से सिद्धसाधनता होती है, ईश्वर प्रत्यक्ष इच्छादि विषयक अनित्य ज्ञान से भिन्न नित्य ज्ञान है। और अनीश्वरवादी के मत में (इच्छा आदि, इनके ग्राहक अनित्य अनुमान से अतिरिक्त अनुमानवेद्य है, वेद्य होने से) इसप्रकार से साधनाऽऽभास की समानता है।

और अनित्य ज्ञान वेद्यत्व में बाधक के अभाव से भी नित्य वेद्यत्व का अनुमान नहीं हो सकता है। यदि कहें कि सुखादियुक्त आत्मा के स्वाश्रित ज्ञान से वेद्यत्व

स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टस्वरूपेण कर्मत्वेऽप्यविरोधात्। अन्यथा त्वन्मतेऽपि कर्तृत्वकरणत्वयोरेकत्र समावेशो न स्यात्। अभ्युपगम्यते हि केवलाया बुद्धेः करणत्वमात्मविशिष्टरूपेण च कर्तृत्वम्, अविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वं केवलाविद्यायाश्च साक्ष्यत्वमिति च स्वीकारात्। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी'ति चात्मन एव वेद्यवेदकभाव-श्रवणात्। प्रमाणवत्त्वेन विरुद्धस्याप्यभ्युपगमे प्रकृतेऽप्यहं सुखीत्यनुभव-सद्भावात्, नासौ दण्डवारितः। एतेन—सुखादिप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिरपि

पहितोपहितभेदाश्रयणम्, भवतोऽप्येवंविधभेदाश्रयणमेव क्वचिच्छरणमित्याह—**अन्यथेति**। आत्मैक्याध्यस्तबुद्धिर्हि प्रमाता कर्तेति बोध्यत इत्यर्थः। उदाहरणान्तर-माह—**अविद्येति**। निर्विकल्पचैतन्यस्य सर्वसाक्षित्वादिविकल्पाभावादविद्याविशि-ष्टस्य साक्षित्वमित्यर्थः। श्रुतिरप्यात्मनो ग्राह्यग्राहकतां दर्शयतीत्याह—**ब्रह्मेति**। ननु तत्र तत्र श्रुत्यादय एव तथात्वे प्रमाणमिति न विरोधः, तत्रापि समानमिति परिहरति—**प्रमाणेति**। एवं प्रत्यक्षानुमाने साक्षिणि दूषयित्वा अर्थापत्तिं दूषयति—**एतेनेति**। **अन्यथापीति**। मानसवेद्यत्वेऽपि विरोधाभावस्योक्तत्वादित्यर्थः। ननु चक्षुरादिपरस्परव्यभिचारिकरणैर्जन्यानि यानि ज्ञानानि तेषु जानामि जानामी-

---

होने पर कर्मकर्तृत्व विरोध प्राप्त होता है, वही अनित्यज्ञान वेद्यत्व में बाधक है। अतः निर्धर्मा साक्षिवेद्यत्व का अनुमान हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि स्वरूप मात्र से ग्राहक प्रमाता को सुखादि विशिष्ट रूप से ग्राह्यत्व की सिद्धि से कर्ता के कर्मत्व में भी विरोध का अभाव है। अन्यथा विशिष्टरूपता से उक्त व्यवस्था को नहीं मानने पर आपके मत में भी कर्तृत्व, करणत्व का एकत्र समावेश नहीं होगा। और आप मानते हैं कि केवल बुद्धि में करणत्व रहता है, अध्यस्त आत्मभाव से आत्मविशिष्ट रूप से बुद्धि में कर्तृत्व रहता है। इसीप्रकार से अविद्याविशिष्ट के साक्षित्व को और केवल अविद्या के साक्ष्यत्व को स्वीकार करते हैं। और यह सब जगत् सृष्टि से प्रथम ब्रह्मस्वरूप ही था, वह ब्रह्म अपने ही को समझा कि मैं ब्रह्म हूं। इसप्रकार से आत्मा में ही वेद्यवेदक=ज्ञेयज्ञाता भाव श्रुति में सुना जाता है। अतः विरोध नहीं है। यदि कहें कि प्रमाणवत्त्व से श्रुति आदि वर्णित विरोध को भी माना जाता है, तो प्रमाणवत्व से विरुद्ध को भी मानने पर, प्रकृत में भी अहं सुखी इस अनुभव सद्भाव से विशिष्ट में वेद्यता और केवल में वेदकता वह पूर्व वर्णित सिद्धान्त दण्ड वारित नहीं हो सकता है, न साक्षी का अनुमान हो सकता है। क्योंकि सुखादि के ज्ञान की अन्यथा=साक्षी के बिना, अनुपपत्ति साक्षिसिद्धि में प्रमाण है, यह भी निरस्त हो गया। सुखादि प्रतीति की अन्यथा साक्षी के बिना मन से ही वेद्यत्व की उपपत्ति हो जाती है। और

साक्षिसिद्धौ प्रमाणमिति परास्तम्, अन्यथाप्युपपत्तेः। न च व्यभिचारिकरणजन्यज्ञानानां चैतन्यरूपमनुगनमनुसंधातारमन्तरेण प्रतिसंधानानुपपत्तिः साक्षिणि प्रमाणम्, ज्ञानानां स्वयंप्रकाशत्वात् तदाश्रयतया सिद्धस्य स्थिरस्यात्मनः पूर्वोत्तरकालीनज्ञानानुसंधानोपपत्तेः। एतेन प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरपि परास्ता:, त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे घटमहं जानामीति त्रितयप्रतिभासोपपत्तेः। नापि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यागमः प्रमाणम्, साक्षादीक्षत इतीश्वरस्य सर्वापरोक्षदर्शिनः प्रतिपादनात्।

त्यनुगतः कश्चिदनुसंधाता तावत्प्रमीयते। स च स्फुरन्नेवानुसंधातुमर्हति, इतरथा जानामिति व्यवहारानिष्पत्तेः। नच तस्य ज्ञानान्तरतःस्फुरणम्, अनवस्थाभयात्। तस्माद्यः स्वप्रकाशः सकलस्वान्तवृत्त्यनुसंधाता साक्षी सोऽर्थापत्तिसिद्धः। अथवा यदिदं व्यावृत्तज्ञानेष्वनुसंधानरूपमद्राक्षमित्यादि तत्स्फुरणमन्तरेण न घटतेऽनुव्यवसायश्च नोत्पन्नस्तत्सत्त्वं च विप्रतिपन्नम्, अतस्तत्तद्वृत्तिसाधकसाक्ष्यर्थापत्तिसिद्ध इति तत्राह— **न च व्यभिचारीति**। अत्र स्फुरतानुसंधात्रा हि भवितव्यं तच्च संविदाश्रयत्वेनापि संभवति। नचानवस्था, तस्याः स्वप्रकाशत्वादिति प्रभाकरः परिहरति— **ज्ञानानामिति**। तार्किकपक्षे तु पूर्वोक्तरीत्या वृत्तिविरोधपरिहारेण मानसप्रत्यक्षमादाय परिहर्तव्यम्। आगमं साक्षिणि निषेधयति— **नापि साक्षीति**। चेताचेतन इत्यर्थः। तटस्थेश्वरमादायाप्युपपत्तेरिति भावः। किंच साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वं न घटत इति वक्तुमेव न शक्यते, पश्वादीविरोधादित्याह —**सिद्धावपीति**। साक्षीरूपस्यात्मनो

विरोध नहीं रहता है। यदि कहें कि व्यभिचारी चक्षु आदि करणजन्य ज्ञानों की चेतन रूप अनुगत अनुसंधाता के बिना प्रतिसंधान=स्मरण=प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति ही साक्षी में प्रमाण है। अतः सर्व ज्ञानों का अनुसंधाता स्थिर साक्षी स्वरूप अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्राभाकर मतानुसार ज्ञान के स्वयं प्रकाश होने से उस ज्ञान के आश्रय रूप से सिद्ध जीव आत्मा को पूर्वोत्तरकालिक ज्ञानों का अनुसंधान हो सकता है, पृथक् साक्षी मानने की आवश्यकता नहीं है। इसीसे प्रमातृ प्रमाण प्रमेय रूप त्रिपुटी की अन्यथा अनुपपत्ति भी परास्त हो गई, क्योंकि त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद में (घट को मैं जानता हूं) इस प्रत्यक्ष से प्रमाता आदि तीनों के प्रतिभास = प्रत्यक्ष की सिद्धि हो जाती है। (साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च) यह आगम भी निर्गुण साक्षी में प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि, सक्षाद् ईक्षते, स साक्षी, इस अर्थ के अनुसार, सर्वापरोक्ष द्रष्टा ईश्वर का इस श्रुति से प्रतिपादन किया जाता है। अतः इस उक्त प्रकार से साक्षी की सिद्धि नहीं होती है, चेता = चेतन साक्षी की सिद्धि होने पर भी सुख इच्छा आदि साक्ष्यों के साक्षिधर्मत्व की क्षति नहीं हो सकती है, किन्तु सुखादि साक्षी के ही धर्म सिद्ध होते हैं,

तदेवं न साक्षिणः सिद्धिः । सिद्धावपि न साक्ष्याणां धर्मत्वक्षतिः, "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा" इति साक्ष्याणामपि तद्धर्मत्वस्वीकारात् । किञ्चाकाशो विशेषगुणवद्व्यापद्रव्यान्यः द्रव्यत्वाद् घटवदित्यनुमानादपि आत्मनां सुखादिविशेषगुणवत्त्वसिद्धिः । तथा च तद्व्यवस्थातस्तेषां नानात्वसिद्धिः ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वज्ञत्वाद् ब्रह्मणो नाविद्येति, तदयुक्तम्, यतः—

> स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् ।
> तच्चोभयं विना विद्यासंबन्धं नैव सिध्यति ॥ ४ ॥

विशेषगुणधर्मवत्त्वेऽप्यनुमानमाह—**किंचेति**। द्रव्यान्य इत्युक्ते घटाद्यन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं व्यापकद्रव्यान्य इत्युक्तम् । तथापि कालदिगन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं विशेषगुणवदित्युक्तम् । यस्माच्च विशेषगुणवतो द्रव्यादाकाशोऽन्यः स आत्मा आकाशस्य पक्षत्वेन तदन्यत्वासंभावात्, घटे त्वाकाशान्यत्वेन साध्यसिद्धिः । फलितमाह—**तथा चेति**।

सिद्धान्ती समाधातुमुपक्रमते—**अत्रेति**। तत्राविद्याया जडनिष्ठत्वं तावन्न संभवति । अविद्येतरजडस्य तज्जृम्भणतया कारणस्य कार्याश्रितत्वायोगादप्रतीतिप्रसङ्गाच्च । न हि सा स्वप्रकाशा, तस्या आश्रयोऽपि चेज्जडः, केनैषा प्रकाश्येत ? तस्मात्तन्निष्ठत्वं वक्तव्यं यत्प्रकाशादेषापि प्रकाशत इति चैतन्यनिष्ठत्वमायाति । तत्रापि न जीवाश्रया, पूर्वोक्तदोषात् । यथा वक्ष्यते—'अनङ्गीकारपरास्ता' इति । नच ब्रह्मपक्षेऽपि दोषसाम्यम्, तदसिद्धेरित्यभिप्रेत्य ब्रह्माश्रितत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहरति—**यत्तावादित्यादिना**। **स्वरूपत इति**। द्वेधा हि सर्वज्ञत्वं संभवति

क्योंकि (आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः) आनन्द, विषयानुभव और नित्यत्व आत्मा के धर्म हैं। इसप्रकार से पञ्चपादिका में साक्ष्यों के भी साक्षी धर्मत्व का स्वीकार किया है। और (आकाश, विशेष गुण वाला व्यापक द्रव्य = आत्मा से अन्य है। द्रव्य होने से, घटवत्) इस अनुमान से भी आत्मा के सुखादि विशेष गुणवत्त्व की सिद्धि होती है। और विशेष गुणवत्त्व की सिद्धि होने पर उन गुणों की व्यवस्था से उन आत्माओं के नानात्व की सिद्धि होती है।

(अत्रोच्यते) पूर्व पक्ष होने पर अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि जो कहा है कि ब्रह्म के सर्वज्ञ होने से ब्रह्म की अविद्या नहीं हो सकती है, यह कथन अयुक्त हैं, क्योंकि—

स्वरूप से और प्रमाण द्वारा दो प्रकार के सर्वज्ञत्व स्थिर होता है। वह दोनों प्रकार का सर्वज्ञत्व अविद्या के सम्बन्ध के विना नहीं सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

स्वरूपप्रज्ञया चेत्सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते, तदा असङ्गस्य ब्रह्मणो नाविद्यामन्तरेणाशेषार्थसंगतिरिति सर्वज्ञत्वोपपत्त्यर्थमेव साभ्युपगमनीया। प्रमाणतः सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसंबन्धस्य चाविचारितरमणीयानाद्यविद्यासंबन्धमन्तरेणासिद्धेः सर्वज्ञत्वमविद्यावत्तामाक्षिपति, न तु प्रतिपक्षिपतीति कुतो विप्रतिषेधः? ननु प्रकाशरूपस्य कथमप्रकाशरूपाविद्याश्रयत्वं परस्परविरोधिनोस्तमः प्रकाशयोरिवाधाराधेयभावानुपपत्तेरिति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। किमप्रकाशशब्देन प्रकाशाभावः?

स्वभावभूतप्रज्ञया वा यथा तावकेश्वरस्य, प्रमाणजनितप्रज्ञया वा यथा वा तावकयोगिनामुभयथाप्यविद्यासंबन्धमन्तरेण नोपपद्यते इति श्लोकार्थः। विवृणोति—**स्वरूपेत्यादिना**। यथा दृग्दृश्ययोराध्यासिक एव संबन्धो नान्यस्तथोपपादितं प्रथमपरिच्छेदे मिथ्यात्ववादे। **प्रमातृत्वस्येति**। प्रमाणजनितज्ञानाकारपरिणामी प्रमाता नाम। नच निर्विकल्पकचिन्मात्रात्मनः परिणामसंभवः, नापि केवलजडबुद्धेरनध्यस्तायाः प्रकाशाभासपरिणामः। तस्मादविद्यात्मनोरितरेतराध्यासविलसितः प्रमाता, स चेन्द्रियाद्यधिष्ठाता, इतरथा तेषां करणत्वमस्य कर्तृत्वं च नोपपद्यत इति। नच तेष्वहं ममाभिमानहीनस्य तदधिष्ठातृत्वमस्ति, परकर्णेष्वदर्शनात्। नचासङ्गस्याविद्याध्यासमन्तरेण तादृगभिमानसंभवः। प्रमाणप्रमेययोः संबन्धस्य चाध्यासिकत्वमधस्तादेवोपपादितं तत्प्रमाणजनितमपि सर्वज्ञत्वमविद्यावत्त्वकल्पकमेवेत्यर्थः। एवमविद्याश्रयत्वं सर्वज्ञत्वमनुरुणद्धि नतु विरुणद्धीत्युक्तम्, स्वरूपविरोधमाशङ्क्य परिहरति—**ननु प्रकाशेत्यादिना**। विद्यायाः प्रकाशत्वमभिप्रेत्य नञः कोऽर्थोऽभिप्रेत इति विकल्प्य प्रथमेऽसिद्धिमाह—**नाद्य इति**। द्वितीये व्यासज्यसिद्धिमाह—

अर्थात् स्वरूप प्रज्ञा (स्वरूप ज्ञान) और प्रमाणजन्य ज्ञान से सर्वज्ञत्व माना जाता है, जहाँ स्वरूप प्रज्ञा से ईश्वर में और प्रमाण प्रज्ञा से योगी में सर्वज्ञत्व माना जाता है। वहाँ स्वरूप प्रज्ञा से यदि ब्रह्म को सर्वज्ञ माना जाता है, तो असङ्ग ब्रह्म को अविद्या = माया के बिना, अशेष = सर्व अर्थ के साथ सङ्गति (सम्बन्ध) नहीं हो सकती है। और सम्बन्ध के बिना सर्वज्ञत्व नहीं हो सकता है। अतः सर्वज्ञता की सिद्धि ही के लिये वह अविद्या = माया ब्रह्म की स्वीकर्तव्य है। और प्रमाण से सर्वज्ञत्व में भी प्रमातृत्व = प्रमाणजनित ज्ञानवत्त्व की ओर तदर्थक प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध की अविचारितरमणीय (अनिर्वाच्य) अनादि अविद्या के सम्बन्ध बिना सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः सर्वज्ञत्व अविद्यावत्ता को आक्षेप करता है, प्रतिक्षेप, निवारण नहीं करता है। तो विरोध कैसे हो सकता है? यदि शंका हो कि प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को अप्रकाशस्वरूप अविद्या का आश्रयत्व कैसे होगा। क्योंकि तम और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी को आधाराधेयभाव बन नहीं

उत प्रकाशादन्यत् ? तद्विरुद्धं वा विवक्षितम् ? नाद्यः, अविद्याया भावाभाव-विलक्षणत्वेनाभावत्वानभ्युपगमात्। द्वितीये तु दृष्टान्ताभावः, किं खलु चित्प्रकाशादन्यत्तदाश्रयं न भवतीति मां प्रत्युदाह्रियेत ? सर्वस्य जडस्य चित्प्रकाशाश्रयत्वाभ्युपगमात्। तदेकाश्रयस्य तेन सह विरोधासंभवान्न तृतीयोऽपि। न चाविरुद्धत्वादनिवृत्तिः, वेदान्तवाक्यजनितेन ब्रह्मैकाकारेण विज्ञानेन तदवच्छिन्नेन वाचित्प्रकाशेन तन्निवृत्त्युपपत्तेः। न च विज्ञानस्य

द्वितीय इति। नाविद्या चैतन्याश्रया चैतन्यान्यत्वादिति हि तदा साधनीयम्। नचैवं क्वचिदपि व्याप्तिर्मां प्रति संप्रतिपन्नास्ति, प्रत्युत विरुद्धश्च, विद्यातिरिक्तस्य चिदेकायतनत्वेन व्याप्तेरित्यर्थः। चिदेकाश्रयतां मत्वा तस्य मम विरोधपक्षो दूरधृत इत्याह—**तदेकेति।** ननु यदि नाविद्याया विज्ञानेन विरोधस्तर्हि तेन न विनिवर्त्येतेत्यनिर्मोक्षो ब्रह्माश्रयवादिनामिति तत्राह—**न चाविरुद्धेति।** यद्यपि स्वरूपचैतन्यं न निवर्तकमविद्यायास्तदाश्रयत्वात्तत्प्रकाशकत्वान् नित्यनिवृत्तिप्रसङ्गाच्च, तथापि वाक्यजनितब्रह्माकारचित्तवृत्तिफलकारूढचैतन्यं तच्छायोपेता वा चित्तवृत्तिरविद्यानिवर्तिका. 'बुद्धीद्धो बोधो बोधेद्धा बुद्धिर्वा अविद्यानिवृत्तिहेतु.' इति हि वृद्धा इति भावः। **विज्ञानस्येति।** अन्तःकरणपरिणामस्येत्यर्थः। नन्वविद्याकार्येणान्तःकरण-

---

सकता है, तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि अप्रकाश शब्द से, क्या, प्रकाशाभाव विवक्षित है, या प्रकाश से अन्य विवक्षित है, अथवा प्रकाशविरुद्ध विवक्षित है, इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि अविद्या में भावाभाव से विलक्षणत्व होने के कारण उसमें अभावत्व नहीं माना जाता है, अतः प्रकाशस्वरूप का विरोध नहीं होता है। दूसरे पक्ष में तो दृष्टान्त का अभाव है, क्योंकि कौन चित्प्रकाश स्वरूप ब्रह्म से अन्य वस्तु है कि जिसका आश्रय ब्रह्म नहीं होता है, और उसका मेरे प्रति उदाहरण दिया जाय कि अमुक वस्तु ब्रह्म से अन्य है, यह ब्रह्माश्रित नहीं है, वैसे ही अविद्या भी ब्रह्माश्रित नहीं रह सकेगी। क्योंकि सभी जड वस्तु को चित्प्रकाश ब्रह्माश्रित माना जाता है, अतः वह एक ब्रह्म ही जिसका आश्रय है, उसको उस ब्रह्म के साथ विरोध असम्भव है, अतएव तद्विरुद्धत्व रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है। यदि कहा जाय कि अविद्या को विज्ञान स्वरूप ब्रह्म से यदि विरोध नहीं है, तो उसकी विज्ञान से निवृत्ति नहीं होगी। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सामान्य प्रकाश के समान सामान्य-चित्स्वरूप ब्रह्म अविद्या के आश्रय होने से अविद्या का निवर्तक नहीं है, तो भी वेदान्तवाक्य से जन्य ब्रह्मैकाकार विज्ञान से या उस विज्ञान युक्त चेतन से उस अविद्या की निवृत्ति की सिद्धि होती है। यदि शंका हो कि वेदान्तजन्य अन्तःकरण की वृत्ति रूप विज्ञान से अविद्या आदि की निवृत्ति होने पर भी वृत्तिरूप विज्ञान के

निवर्तकान्तराभावदनिवृत्तिः, भावे वा तन्निवर्तकान्तरस्याभ्युपगन्तव्यत्वादनवस्थेति वाच्यम्, कारणनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेरप्यत्र सिद्धत्वात्। न च कार्येण कारणस्यानिवृत्तिः। संस्कारेण तज्जनकस्य ज्ञानस्य स्मरणेन तज्जनकसंस्कारस्यान्त्यशब्देनोपान्तशब्दस्य च परीक्षकैर्नाशाभ्युपगमात्। लौकिके चारणिप्रभववेनाशुशुक्षणिनाऽरेणेः कदलीफलोद्गमेन वा कदलीकाण्डादेः प्रत्यक्षदर्शनाच्च।

ननु भवत्वेवं ब्रह्माश्रया अविद्या, तस्याश्च को विषयः? किं स्वयमेव ब्रह्म? उत द्वैतम्? उभयं वा? सर्वथाप्यनुपपन्नम्, सर्वज्ञस्य तत्तद्विषयज्ञाने

परिणामेन कथं कारणाविद्यानिवृत्तिरविरोधात्। नहि जातु घटेन मृन्निवर्तमाना दृष्टचरीति तत्र लौकिकपरीक्षकाणां बहुशः संमतत्वादित्याह—**न च कार्येणेत्यादिना**। ननु निमित्तनिवर्तकत्वेऽप्यसमवायिनिवर्तकत्वं न दृष्टमिति तत्राह—**अन्त्यशब्देनेति**। अथोपादाननिवर्तकत्वं न दृष्टचरमिति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**कदलीति**।

एवमविद्याश्रयं निरूप्य तद्विषयं निरूपयति—**ननु भवत्वेवमित्यादिना**। ज्ञायमाने विषये अविद्या न संभवतीत्युक्तं पूर्वपक्षिणा, तदसिद्धमित्याह—**मां न**

निवर्तकान्तर के अभाव से उस विज्ञान की मोक्षावस्था में भी निवृत्ति नहीं होगी, और यदि विज्ञानान्तर रूप निवर्तक का भाव हो तो अनवस्था होगी, तो यह शंका भी युक्त नहीं, क्योंकि आश्रयाश अग्नि के समान अविद्या अन्तःकरण रूप कारण की निवृत्ति से ही उस विज्ञान की निवृत्ति भी यहाँ सिद्ध होती है, उसकी मोक्ष में सत्ता नहीं रहती है। यदि कहें कि अविद्या के कार्य अन्तःकरण के परिणाम रूप विज्ञान से कारण रूप अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि घट से मृत्तिका की निवृत्ति नहीं होती है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि संस्कार से संस्कारजनक ज्ञान की निवृत्ति होती है, स्मरण से स्मरणजनक संस्कार की निवृत्ति होती है, अन्त्य शब्द से उपान्त (अन्त्य से अव्यवहित पूर्व) शब्द की निवृत्ति मानी जाती है, इसप्रकार से परीक्षकों ने कार्य से कारण का नाश माना है। और लौकिक व्यवहार में अरणिजन्य अग्नि से अरणि का, कदली फल की उत्पत्ति से कदली काण्डादि का नाश देखा जाता है।

यदि कहा जाय कि उक्त रीति से ब्रह्माश्रय वाली अविद्या हो, तो भी उसका विषय (उससे आवरणीय) क्या है, क्या स्वयं ब्रह्म ही विषय है, या द्वैत जगत् विषय है, या दोनों हैं। सर्वथा ही अविद्या विषयत्व अनुपपन्न (असिद्ध) है। सर्वज्ञ ब्रह्म को तत्तत् विषयों के ज्ञान रहते तत्तद् विषय के अज्ञान का असम्भव है, क्योंकि ज्ञायमान विषय की अविद्या नहीं रह सकती है। तो यह कहना युक्त नहीं है,

सति तत्र तत्राज्ञानासंभवादिति चेत्, मैवम्, मां न जानामि त्वदुक्तमर्थं न जानामीति चावभासमानेऽपि विषये तस्याः स्वानुभवसिद्धत्वात्। जडस्याविद्यानिर्मितत्वेन तद्विषयविद्यानुपपत्तौ तन्निवर्त्याविद्यायास्तत्रासंभवाच्च। जीवाश्रयाविद्यापक्षोद्भावितास्तु दोषास्तदनङ्गीकारादेव परास्ताः। यत्तु ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वे विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षव्यवस्था न स्यादिति, तदसत्, यावदविद्यं सर्वव्यवस्थानां स्वप्नवदुपपत्तेः। निवृत्तायां तस्यां न काचिदपि व्यवस्था। न चाविद्यानिर्मितस्य गुरोः कल्पितत्वेन विद्यावत्वा-

---

जानामीति। यथाच ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नविषयताऽसंभवः तथोपपादितं भावरूपाज्ञानवादे। किंच विद्याविद्ययोस्तावत्समानविषयत्वं वक्तव्यमितरथातिप्रसङ्गात्। नच जगद्विषयिणी विद्या संभवतीति विषयचैतन्यमेवाविद्याया अपि विषय इत्याह—जडस्येति। एवं ब्रह्माश्रयत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहृत्य जीवाश्रयत्वपक्षोक्तदोषाननङ्गीकारेण परिहरति—जीवेति। दूषणान्तरमनूद्य दूषयति—यत्त्वित्यादिना। तत्र किमनिवृत्तायामविद्यायां व्यवस्थाभावः? निवृत्तायां वा? आद्ये प्राह—यावदिति। द्वितीये प्राह—निवृत्तायामिति। ननु भवतु स्वप्नवद्विद्यावतो गुरोः कल्पितत्वं नापि कल्पितस्यार्थक्रियानुपपत्तिस्तथापि परमार्थः कोऽपि न निरूपितः स्यात्, तत्तच्छिष्याणामपि स्वस्वशिष्यगुरुतया कल्पितत्वादित्युक्तदोषोऽपरिहार्य इति, तत्राह—न च

क्योंकि (मां न जानामि। त्वदुक्तमर्थं न जानामि) मैं अपने को नहीं जानता हूं। आप से कहे अर्थ को नहीं जानता हूं। इस प्रकार से अवभासमान = सामान्य रूप से प्रकाशित ज्ञात विषय में भी उस अविद्या के स्वानुभव सिद्धत्व है। और जड़ वस्तु के अविद्या से निर्मित होने के कारण, जड़विषयक विद्या की अनुपपत्ति होने पर, उस विद्या से निवर्तनीय अविद्या का भी जड़ में होना असम्भव है, अर्थात् समानविषयक ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है, अतः ब्रह्मज्ञान से निवर्तनीय अविद्या ब्रह्म विषयक रहती है। और जीवाश्रित अविद्या को नहीं मानने से ही जीवाश्रित अविद्या पक्ष में कथित दोष निरस्त हो गये। और जो कहा था कि ब्रह्म विषयक ही अविद्या के होने पर ज्ञानी-अज्ञानी गुरु-शिष्य बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था नहीं होगी, यह कहना अयुक्त है। क्योंकि अविद्या जबतक रहती है, तबतक सब व्यवस्था की स्वप्न के समान सिद्धि होती है। और उस अविद्या के निवृत्त होने पर कोई व्यवस्था नहीं रहती है। न उसका फल रहता है। यदि कहें कि स्वप्नतुल्य व्यवस्था होने पर स्वप्नतुल्य अविद्या से निर्मित गुरु के कल्पित = मिथ्या होने से विद्यावत्त्व की गुरु में अनुपपत्ति होगी, तो यह कहना भी युक्त नहीं, स्वप्न के ही समान गुरु की विद्यावत्ता रूप से ही कल्पना की सिद्धि होती है। और यदि कहें

नुपपत्तिः, स्वप्न इव विद्यावत्तयैव कल्पनोपपत्तेः। न च गुरोः शिष्याविद्याकल्पितत्वे शिष्याणामपि स्वीयस्वीयशिष्याविद्याकल्पितत्वान्न कोऽपि परमार्थः स्यादिति वाच्यम्, विकल्पासहत्वात्। गुरुशिष्यादिशब्दैः किं केनचित्परिच्छेदेन कवलीकृतं चैतन्यमभिधीयते? किं वा निरस्तसमस्तभेदम्? नाद्यः, परिच्छिन्नस्य परिकल्पितत्वादेवाविद्याश्रयत्वानुपपत्तेः। द्वितीये तु सिद्धसाधनम्, यस्मादस्माभिरप्येतदेवाभिधीयते—विध्वस्तसमस्तविकल्पं चिन्मात्रमेव ब्रह्म स्वाविद्यापरिकल्पितांस्तत्तद्विकल्पान् पश्यत् संसरतीति। तादृशमेव चाकारमभिप्रेत्य गुरुरिति शिष्य इति चाभिलप्यते, न तु परिच्छिन्नं कंचनाकारम्। न चेत्परिच्छिन्नानामविद्या कथं तर्हि मदविद्यानिर्मितस्त्वं मदविद्यानिर्मितस्त्वमिति वादिप्रतिवादिनोरन्येषां च

गुरोरिति। शिष्याविद्याकल्पितो गुरुरिति वदतामस्माकं शिष्यशब्देन किमवच्छिन्नचैतन्यमभिप्रेतमित्यवुध्यत भवान्? अनवच्छिन्नं वा? आद्येऽनधिगतपराभिसंधिरायुष्मान्, नह्यस्माभिरविद्याकल्पितस्य चिदवच्छेदस्याविद्याश्रयत्वमभ्युपेयते। कस्तर्हि शिष्यशब्दार्थः? अज्ञातमात्रमनवच्छिन्नं चैतन्यमित्यवगच्छतु भवान्। द्वितीये त्विष्टप्रसक्तिस्तदेतदभिप्रेत्याह—**विकल्पासहत्वादित्यादिना**। अनुभवविरोधं शङ्कते—**न चेत् परिच्छिन्नानामिति**। यथाहि—स्वप्नदृश्यपुरुषाणामज्ञानितया शिष्यगुर्वादिभेदेन प्रतीयमानानामपि नाज्ञानित्वम्, किंतु यस्तान्सर्वानवच्छेदान् कल्पयन्पश्यति तन्निष्ठैवाविद्या तन्निवर्तकविद्या च। एवमिहापि सकलकल्पनासाक्षिभूतचैतन्यस्याविद्ययैव तथाविधकल्पनोपपत्तेर्नायं व्यवहारोऽवच्छेदेष्वविद्याकल्पक इति परिहरति—

कि गुरु के शिष्य की अविद्या से कल्पित होने पर, शिष्यों को भी अपने-अपने शिष्यों की अविद्या से कल्पित होने के कारण कोई भी परमार्थ नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि गुरु शिष्यादि शब्दों के द्वारा क्या किसी परिच्छेद = उपाधि से कवलीकृत = उपहित = उपाधिविशिष्ट चैतन्य कहा जाता है, या समस्त उपाधि भेदरहित कहा जाता है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि परिच्छिन्न के कल्पित = मिथ्या होने ही से उसको अविद्या के आश्रयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः शिष्यत्व भी नहीं हो सकता है। दूसरे पक्ष में सिद्ध का साधन है, क्योंकि मैं भी यही कहता हूं कि सब विकल्प = भेद से रहित चेतन मात्र ब्रह्म अपनी अविद्या से कल्पित (सिद्ध) तत्तद् विकल्पों = भेदों को देखता हुआ संसारी होता है। और वैसा ही आकार के अभिप्राय से गुरु और शिष्य यह भी कहा जाता है, परिच्छिन्न किसी आकार को नहीं कहा जाता है। यदि, शंका हो कि, यदि परिच्छिन्नों की = परिच्छिन्नाश्रित अविद्या नहीं है, तो मेरी अविद्या से निर्मित तुम हो। मेरी अविद्या से निर्मित तुम

कोलाहल इति चेत्, मैवम्, विनैव तत्तत्परिच्छेदेष्वविद्यां स्वप्ने इव परस्मिन्नेव ब्रह्मणि गुरुरिति शिष्य इति चायमिति चाहमिति चैकस्मिन्नेव नानाप्रतिभासः स्वप्नदृशीव चिदात्मनीत्युक्तत्वादित्यलं मतिकर्दमेन।

एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्तीत्यत्राभिहितोपालम्भः परास्तः, परमार्थत उत्पन्नविद्यो मुक्तश्च कश्चिच्छास्तीत्यनङ्गीकारात्। अविद्यानिर्मिते च गुरौ स्वाप्न इव कस्मादित्थं कुरुते कस्मान्नेति पर्यनुयोगायोगात्। यत्पुनरनादौ संसारे न कश्चिदपि मुक्तश्चेद्भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशा न संभवति, विद्योत्पत्तिरप्यनुपपन्ना गुरुसंप्रदायाभावादिति, तदपि प्रत्युक्तम्, शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशोपपत्तेः। न च गुरुसंप्रदायाभावः, विद्वत्तया परिकल्पितगुरोस्तदुपपत्तेरुक्तत्वात्। प्रथम-

---

मैवम्; विनेति। एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्तीत्येतदपि समर्थितम्।

गुरुशब्देनावच्छिन्नानभिलापादित्याह—एतेनेति। यत्तु न पृथगुपदिशेद् उपदिशन्वा मन्मुक्तचैव मुक्तस्त्वमित्युपदिशेदित्युक्तम्, तत्राह—अविद्यानिर्मिते इति। शास्त्रप्रामाण्यादेवेति। अत्र वामदेवादिमुक्तिप्रतीतेस्तावन्न विरोधः, स्वप्न इव

हो। इसप्रकार से वादी-प्रतिवादियों का या अन्य किसी का कोलाहल (विवाद) कैसे होता है, इससे तो स्पष्ट परिच्छिन्न वृत्ति अविद्या सिद्ध होती है, यह शंका भी युक्त नहीं, क्योंकि तत्तत् परिच्छेदों = उपाधियों में अविद्या के बिना ही स्वप्न के समान परब्रह्म में ही, गुरु यह, शिष्य यह, और यह है, मैं हूं। एक ही में नाना का प्रतिभास स्वप्नद्रष्टा के समान चिदात्मा में होता है, यह कह चुका हूं। आगे मतिमालिन्य की आवश्यकता नहीं है। उज्ज्वल मति से यह ज्ञातव्य है।

इसीसे कल्पित भेद वाली अपनी आत्मा को ही गुरु उपदेश देता है, इस विषयक उपालम्भ प्रशस्त हो गया, क्योंकि गुरु शब्द से निरुपाधिक ब्रह्म कहा जाता है। और परमार्थ रूप से उत्पन्न विद्या वाला कोई मुक्त पुरुष उपदेश देता है। यह नहीं माना जाता है। और जो प्रथम कहा था, कि एकात्मवाद में तत्त्वमसि, इत्यादि उपदेश गुरु को नहीं करना चाहिये, यदि उपदेश करें, तो भी तुम मेरी मुक्ति से हो मुक्त हो, साधनानुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि स्वप्न के समान अविद्या निर्मित गुरु में, ऐसा क्यों करता है, ऐसा क्यों नहीं करता है, इत्यादि प्रश्न नहीं बन सकता है। और जो कहा था अनादि संसार में यदि कोई मुक्त नहीं हुआ है, तो मुक्ति होगी, ऐसी मुक्ति की आशा नहीं हो सकती है, और गुरु सम्प्रदाय के अभाव से विद्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यह भी खण्डित हो गया, क्योंकि शास्त्रप्रमाण से ही मुक्ति होगी ऐसी प्रत्याशा की सिद्धि होती है, गुरुसम्प्रदाय का अभाव भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि विद्यावत्ता रूप से

प्रयोगे च पारमार्थिकान्योन्याभाववत्त्वसाधने साध्यविकलो दृष्टान्तः, अद्वैतवादिभिः घटस्यापि वास्तवान्योन्याभावानभ्युपगमात् । व्यावहारिक-साधने च सिद्धसाधनत्वात् । द्वितीयप्रयोगे च कालात्ययापदिष्टता, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इति श्रुत्या बाधात् । न चैषा श्रुतिरीश्वरपरा, अप्रसक्त-निषेधप्रसङ्गात् । नहीश्वरस्य प्रतिभूतं भेदो लोकतो वेदतः परीक्षकसंमत्या

मुक्तामुक्तकल्पनायाः संभवात् । नच तत्तच्छास्त्रप्रतिपादिततया स्वप्नवैलक्षण्यमपि मन्तव्यम्, तत्तच्छास्त्राणामतत्परत्वात् । नच देवताधिकरणन्यायः, अद्वितीयासङ्ग-चैतन्यब्रह्मविद्यासंबन्धप्रतिपादकश्रुतितदुद्भवयुक्तिजातविरोधे तन्न्यायानवतारात् । अखिलकल्पनानिवृत्तिस्तु चैतन्ये शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति । नच तदप्यतत्परम्, मुक्तौ तात्पर्यलिङ्गावगमात् भवदङ्गीकाराच्च । यथाच सर्वमुक्तिवादिनां द्वैतिनामितः पूर्वमसंजातापि मुक्तिः सर्वजीवानां शास्त्रप्रमाण्यादेव भविष्यतीत्यध्यवसीयते । अथानुमानात्तत्राध्यवसायस्तदत्रापि तुल्यम् । शक्यते हि यो यत्साधनमनुतिष्ठतीति व्याप्तिर्ग्रहीतुम्, विभ्रमत्यादिति वाऽविशेषत इति भावः । यत्त्वात्मभेदे प्रमाणमुक्तम्—आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववानिति, तत्र पारमार्थिकतद्वत्त्वं साध्यते ? व्यावहारिकं वा ? उभयथापि दूषणमाह—**प्रथमप्रयोग इत्यादिना** । द्वितीयानुमाने दूषणमाह—**द्वितीयेति** । तत्र तावदात्मनां परस्परभेदो न सिध्यति, आत्मनि भेदमात्रसाधनात्, तस्य च द्वयप्रतियोगिकतयाऽप्युपपत्तेः, तस्याप्यवस्थितिं वदतो भेदखण्डनोक्तदोषा आवर्तनीयाः । भवतु चात्मभेदपरता तथापि कालात्ययापदेश इत्यर्थः । सत्प्रतिपक्षत्वं चास्य मिथ्यात्ववादेऽस्माभिरुपदर्शितम् । ईश्वरेऽप्रसङ्ग-मेवाह—**न हीश्वरस्येति** । किंच सर्वभूतान्तरात्मत्वव्यपदेशादपि प्रत्यगात्मन एवाय-मेकत्वव्यपदेशः, न तटस्थेश्वरस्य । यात्वन्तर्यामितया तटस्थेश्वरपक्षेऽप्यन्यथासिद्धि-

---

कल्पित गुरु से ही उस उपदेश की सिद्धि को कहा जा चुका है। और जो आत्मभेद में अनुमान कहा है कि (आत्मा, आत्मप्रतियोगिक अन्योन्याभाववान्, लक्ष्यत्वात्, घटवत्) इस प्रथम प्रयोग में पारमार्थिक अन्योन्याभाववत्त्व को साधने पर दृष्टान्त में साध्यविकलता होती है। क्योंकि अद्वैतवादी घट को भी वास्तविक अन्योन्या भाववान् नहीं मानते हैं। और व्यावहारिक भेद को साधने पर सिद्धसाधनता होती है। और (आत्मा आत्मवृत्ति मिथ्याभेदातिरिक्त भेदवान्, लक्ष्यत्वात्, घटवत्) इस दूसरे प्रयोग में कालात्ययापदिष्ट (बाध) दोष है। क्योंकि (एको देवः सर्वभूतेषु गूढः) इस श्रुति से भेद का बाध होता है। यह श्रुति ईश्वरपरक है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि ईश्वरपरक होने पर, अप्रसक्त=अप्राप्त का प्रतिषेध-परत्व श्रुति को प्राप्त होगा। क्योंकि सब प्राणी में ईश्वर का भेदन लोक से प्राप्त है, न कि वेद से प्राप्त है, न परीक्षकों विद्वानों की सम्मति से प्राप्त है कि जिसका,

वा प्रसक्तः। न च तस्यापि नियन्तृतया सर्वभूतान्तरावस्थानं 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति श्रुतेरिति वाच्यम्, आत्मेश्वरभेदाभावस्य तत्र तत्र श्रुतिषु वहुशः प्रतिपादनात्। अन्तर्यामिब्राह्मणे च 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यात्मभेदनिराकरणात्, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति चौपाधिकस्यात्मनो घटाकाशस्य महाकाशाधीनत्ववत्स्वानुगतात्माधीनतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा नित्यद्रव्याणां स्वतन्त्राया परस्पराधाराधेयभावानुपपत्तेरनङ्गीकाराच्च श्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गात्।

रुक्ता, तामनूद्य निराचष्टे—**न च तस्यापीति**। नच वाच्यमित्यन्वयः। न केवलं श्रुत्यन्तरे, अन्तर्यामिब्राह्मण एवात्मभेदो निराकृत इत्याह —**अन्तर्यामीति**। ननु तर्हि 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यात्मेश्वरयोराधाराधेयभावस्य का गतिरित्यत्राह—**य आत्मनीति**। यथाहि घटाकाशे महाकाशो वर्तत इति व्यपदिश्यते, तत्स्वरूपतया तत्रानुगतत्वात्, अत एव च महाकाशाधीनो घटाकाश इति व्यवहारः, तद्वदत्राप्यौपाधिकजीवात्मनः स्वरूपत्वात्परमात्मा तत्र तिष्ठन्निति तन्नियमयतीति च परमेश्वराधीनताप्रतिपादनार्थोऽयं व्यपदेश इत्यर्थः। किंच त्वत्पक्षेऽपि न मुख्योऽर्थः संभवति, नित्यद्रव्ययोः परापरात्मनोः परस्पराधाराधेयभावानुपपत्तेः, व्यापित्वाच्च न कुण्डबदरन्यायः, तस्मादनिच्छतापि नैरर्थक्यपरिहारायोक्तपरिहारः स्वीकर्तव्य इत्याह—**अन्यथेति**।

एको देवः, इससे निषेध किया जा सके। अतः सर्वभूतान्तरात्मत्व के कथन से भी प्रत्यगात्मा का ही एकत्व श्रुति में कहा गया है, इसीसे अनुमान का बाध होता है। यदि कहें कि ईश्वर की भी सर्वभूतों के अन्तर में स्थिति है। यह (य आत्मनि तिष्ठन्) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आत्म, और ईश्वर के भेद के अभाव का तत्र तत्र बहुत श्रुतियों में प्रतिपादन किया गया है, अर्थात् अन्तर्यामी श्रुति में ही (एष त आत्मा) यह तेरा आत्मा है ऐसा कहा गया है। और भी अन्तर्यामी ब्राह्मण में ही (इस आत्मा से अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता आदि नहीं है) इत्यादि वचनों से भेद का निराकरण किया गया है। यदि कहें कि (य आत्मनि तिष्ठन्) इससे आत्मा और ईश्वर में आधाराधेयभाव सुना जाता है अभेद पक्ष में इस श्रुति की सङ्गति कैसे होगी तो कहा जाता है कि उपाधि युक्त आत्मा को घटाकाश को महाकाश अधीनत्व के समान स्वानुगत आत्माधीनता मात्र प्रतिपादन मात्र परत्व श्रुति को है, सत्यात्मभेदपरत्व नहीं। क्योंकि घटाकाश में महाकाश रहता है। यह व्यवहार होता है, परन्तु भेद नहीं रहता है। वैसे ही औपाधिक जीवात्मा के स्वरूप होने से श्रुति कहती है, कि परमात्मा उसमें रहता है, मुख्य आधाराऽऽधेय भाव का सम्भव नहीं है। अन्यथा मुख्य रूप से कुण्डबदरादि

न च तत्त्वमसीत्याद्युपासनापरम्, तथात्वे प्रमाणाभावात्। तथाहि किं प्रमाणान्तरविरोधादुपासनापरम्? उत स्वार्थे तात्पर्यावगमोपायाभावात्? नाद्यः, जीवब्रह्मणोः प्रमाणान्तरागोचरतया तद्भेदस्यापि प्रमाणान्तरागोचरत्वात्। बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव भेदावभासोपपत्तेश्च। नापि द्वितीयः। "तत्त्वमसि" इति नवकृत्वोऽभ्यासाद्, "अनेन जीवेन" इति चार्थवादोपादानाद्, "अथ ये अन्यथाऽतो विदुः" इति भेददर्शननिन्दनाद्, "अथ संपत्स्यते" इति फलश्रवणाद् "एकमेवाद्वितीयमैतदात्म्य" इति चोपक्रमोप-

---

श्रुत्यन्तरस्योक्तान्यथासिद्धिं परिहरति—**न च तत्त्वमसीति**। यदि जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रमाणान्तरगोचरस्तर्ह्यैकत्वग्राहिप्रमाणैरैक्योपदेशो विरुध्येत, न तदस्तीत्याह—**जीवब्रह्मणोरिति**। ननु परमेश्वरविरुद्धधर्मवत्तया तावत्कर्ता भोक्ता दुःख्यहमिति भेदप्रतीतिरस्ति ततस्तद्विरुद्धोऽयमागम इति, तत्राह—**बिम्बेति**। अथवा यदि जीवब्रह्मभेदः प्रामाणान्तरागोचरः, कथं तर्हि तत्प्रतिभास इति, तत्राह—**बिम्बेति**। न वास्तवभेदसाधिकेयमित्यर्थः। तात्पर्यावगमोपायाभावादिति द्वितीयपक्षेऽसिद्धिं दर्शयन्नुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तिलक्षणषड्विधतात्पर्यलिङ्गानि दर्शयति—**नापि द्वितीय इत्यादिना**। **अथ य इति**। 'अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' इत्यत्र ये अतः उक्तात् ऐक्यज्ञानात् व्यतिरेकेणान्यथा मत्तो भिन्नः परमेश्वरः अहं च तस्माद्भिन्नः संसारीति भेदेन परमेश्वरं विदुः तेऽन्यराजानः

के समान आधाराधेयभाव हो नहीं सकता है, क्योंकि नित्य द्रव्यों की स्वतन्त्रता से परस्पर आधाराधेयभाव की अनुपपत्ति है, और माना भी नहीं जाता है। उसका प्रतिपादन करने पर श्रुति को अनर्थकता प्राप्त होगी।

और (तत्त्वमसि) इत्यादि को उपासनापरक कहा था, वह कथन भी युक्त नहीं है। क्योंकि उन श्रुतियों के उपासनापरत्व में प्रमाण का अभाव है, यह दर्शाया जाता है कि, यथा प्रमाणान्तर विरोध से उपासनापरक है। या स्वार्थ में तात्पर्य ज्ञान के उपाय के अभाव से उपासनापरक मन्तव्य है, वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव ब्रह्म के शास्त्रान्य प्रमाण के अविषय होने से उसके भेद को भी प्रमाणान्तराविषयत्व है, अतः भेदग्राही प्रमाणान्तर से अभेद श्रुति को विरोध नहीं है. यदि कहें कि जीव में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि ईश्वर से विरुद्ध धर्म है, तो उसकी बिम्ब-प्रतिबिम्ब के समान भेदावभास से सिद्धि हो सकती है, यह धर्मादि की प्रतीति वास्तव भेद का साधक नहीं हो सकती है। तात्पर्यावगम के उपाय का अभाव रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि, तत्त्वमसि, इसका नव वार अभ्यास है, (अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य) इस अर्थवाद का उपपादन है, (अथ येऽन्यथा विदुः) यह भेददर्शन की निन्दा है। (अथ सम्पत्स्ये) इससे फल का श्रवण है।

संहारयोरैकरूप्याद्, अपूर्वत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्चोपपादनात् । अन्यत्रापि "अहं ब्रह्मास्मि" "स एष इह प्रविष्टः", "योऽन्यां देवतामुपास्ते", "स इदं सर्वं भवति" इत्यादि श्रवणादेकत्वे तात्पर्यावगमात् । "तद्धास्य विजज्ञौ" इति 'तरति शोकमात्मवित्" "तमसः पारं दर्शयति", "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति विद्याया अविद्यानिवृत्तिर्ब्रह्मात्मभाव फलकत्वश्रवणात्, उपासनाविज्ञानस्याप्रमाणत्वादविद्यानिवर्तकत्वायोगात् । परमार्थतो भिन्नस्यात्मनो ब्रह्मात्मत्वासंभवात्स्थितस्य नष्टस्य

सन्तस्तदधीनतया स्वाराज्याभावात् क्षय्यलोकाः भवन्ति अपुनरावृत्तिलक्षणमुक्तिं न प्रतिपद्यन्ते, मृत्युरूपं संसारं च प्रतिपद्यन्त इति भेदनिन्दाश्रवणादित्यर्थः। एवं छान्दोग्यश्रुतौ लिङ्गादि दर्शयित्वा बृहदारण्यकेऽपि दर्शयति—**अन्यत्रापीति**। अतोऽप्युपासनापरत्वमस्य नास्तीत्याह—**तद्धास्येत्यादिना**। ननूपासनापि विद्यैव, अतः सापि किमित्यविद्यानिवर्तिका न भवेत्, तत्राह—**उपासनेति**। न हि उपासनाविधिर्विषयतात्त्विकत्वमप्यपेक्षते, योषिदग्न्यादावदर्शनात् । क्रियैव चैषोपासना विधेयत्वान्न प्रमितिः, नहि प्रमितिः पुरुषाधीनात्मलाभा, वस्त्वधीनत्वात्, तस्मादुपासना नाविद्यानिवर्तिकेत्यर्थः । इतोऽप्युपासनापरत्वमयुक्तमित्याह—**परमार्थत इति**। किमभिन्नस्यैव सतो जीवस्य ब्रह्मणैक्यमुपासनयोत्पाद्यते ? भिन्नस्य वा ?

और (एकमेवाद्वितीयम् । एतदात्म्यमिदं सर्वम्) इससे उपक्रम उपसंहार की एकरूपता है, और अपूर्वता से मृदादि दृष्टान्तों के द्वारा अद्वैत का उपपादन (साधन) किया गया है, अतः तात्पर्यज्ञान के सब लिङ्ग वर्तमान हैं। इस छान्दोग्य श्रुति के समान ही (अन्यत्र) बृहदारण्यक में भी तात्पर्यलिङ्गयुक्त श्रुति है कि (अहं ब्रह्मास्मि, स इह प्रविष्टः। योऽन्यां देवतामुपासते, स इदं सर्वं भवति) इत्यादि सुनने से एकत्व में तात्पर्य का ज्ञान होता है। और (तद्धास्य विजज्ञौ) तरति शोकमात्मवित् । तमसः पारं दर्शयति । भिद्यते हृदयग्रन्थिः । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति) इत्यादि से विद्या के अविद्या की निवृत्ति और ब्रह्मात्मत्व (ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति) फलवत्त्व सुना जाता है। और उपासना विज्ञान के अप्रमाण रूप (तत्त्व ज्ञानाभाव रूप) होने से उसमें अविद्या निवर्तकत्व का अभाव रहता है, अतः भेद, निन्दा आदि को जो प्रथम उपासनापरक कहा है, वह युक्त नहीं हो सकता है। और इस वक्ष्यमाण रीति से भी वस्तुतः अभिन्न वा भिन्न जीव की ब्रह्मरूप से उपासना नहीं हो सकती है। क्योंकि यदि वस्तुतः अभिन्न है, तो भेद के भ्रान्ति से कल्पित होने से विद्या से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है, उपासना से नहीं। और यदि जीवात्मा परमार्थस्वरूप से भिन्न है, तो परमार्थ से भिन्न आत्मा के ब्रह्मस्वरूपत्व के असम्भव से, स्थित वा नष्ट ब्रह्म से अन्य जीव को, अन्यात्मत्व =

वान्यस्यान्यात्मत्वायोगात्, उपासनपरत्वस्य वक्तुमयुक्तत्वात्। 'वेद भवति; विद्वान् न विभेति, पश्यन् प्रतिपेदे, को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' इत्यादिना विद्यातत्फलयोः समकालीनत्वप्रतिपादनात्, विधेयज्ञानापूर्वजन्यत्वे च तदयोगात्। 'नेह नानास्ती'त्यत्र च त्वप्रत्ययाश्रवणेन नानात्वस्यानिषेधात्, अप्रसक्तप्रतिषेधप्रसङ्गस्य च पूर्वमेव दर्शितत्वात्। नानाभूतस्य कार्यस्य प्रतिषेधे च कारणादन्यत्र कार्यस्याभावेन वाक्यस्य तन्मिथ्यात्वे पर्यवसानात्। उपासनाविधिपरत्वस्य निषेधादेव भेददर्शननिन्दायास्तत्परत्वायोगात्।

नाद्यः, अभेदस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात्, भेदस्य च तत्र भ्रान्तिमात्रतया विद्यैकनिवर्त्यत्वात्। द्वितीये तु स्थित एव जीवे ब्रह्मैक्यम्? नष्टे वा? नोभयथापि, एकत्र विरुद्धत्वादपरत्र स्वरूपनाशेनापुरुषार्थत्वादित्यर्थः। इतोऽप्युपासनापरत्वं न घटते, यतो विद्योदयसमसमयमेव मोक्षः श्रूयते श्रुतिषु, उपासनापरत्वे ह्यपूर्वव्यवधानात्तदनुपपत्तेरित्याह—**वेद भवतीत्यादिना**। 'नेह नानास्ति किंचने'त्यस्यापि समस्तद्वैतनिषेधपरत्वमुपपादयति—**नेहेति**। व्याख्यातश्चायं मिथ्यात्ववादे ग्रन्थः। भवतु ब्रह्मणि नानाभूतवस्तुनिषेधस्तथापि कथं मिथ्यात्वसिद्धिर्यावतान्यत्रापि सत्त्वं संभाव्येतेह निषिद्धघटवादिति, तत्राह—**कारणादन्यत्रेति**। यत्तु भेददर्शननिन्दाऽभेदोपसनाविधिपरा न त्वतत्परेत्युक्तम्, तत्राह—**उपासनेति**।

ब्रह्मस्वरूपत्व हो नहीं सकता है, अतः अभेदबोधक श्रुतियों के उपासनापरत्व कथन अयुक्त है। और (वेद भवति, विद्वान् न विभेति, पश्यन् प्रतिपेदे। को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः) जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म होता है। विद्वान् किसी से डरता नहीं है। आत्मदर्शन करते ही सर्वात्मता को प्राप्त किया। एकत्व को प्रत्यक्ष जानने वाले को कौन मोह और शोक रहता है, कोई नहीं, इत्यादि श्रुतियों से विद्या और उसके फल की समकालता का प्रतिपादन किया गया है। विधेय उपासना ज्ञान (अनुष्ठान) जन्य अपूर्व (अदृष्ट) जन्यत्व फल में हो, तो यह फल की समकालता हो नहीं सकती है। और (नेह नानाऽस्ति किञ्चन) यह श्रुति ब्रह्म में सत्यद्वैत का निषेध करती है, ब्रह्म के नानात्व का नहीं। क्योंकि नाना शब्द के आगे त्व प्रत्यय के अश्रवण से नानात्व का निषेध नहीं सिद्ध हो सकता है, और नानात्व के निषेध में अप्रसक्त (अप्राप्त) के प्रतिषेध का प्रसङ्ग प्रथम दर्शाया गया है कि ब्रह्म में नानात्व किसी प्रमाणादि से प्राप्त नहीं है कि जिसका निषेध हो सके। और नाना स्वरूप कार्य के निषेध करने पर तो, सर्व कारण ब्रह्म से अन्यत्र कार्य के अभाव होने से, कारण ब्रह्म में भी कार्यों के निषेधक वाक्य का कार्य के मिथ्यात्व में पर्यवसान (तात्पर्य निश्चय) होता है। और उपासनाविधिपरत्व के

द्वासुपर्णेत्यादेश्च लोकसिद्धभेदानुवादकत्वात् लोकसिद्धत्वेऽपि भेदस्य देहात्मभाववत् सवितृप्रादेशिकत्वादिवच्च प्रामाणिकत्वाप्रसङ्गात्। व्यवस्थानुपपत्तेश्च दुर्निरूपतया भेदासाधकत्वात्। व्यवस्थाशब्देन धर्मभेदमात्राभिधाने दाहापाकादेरिव धर्मिभेदासाधकत्वात्। भिन्नाधिकरणधर्मभेदाभिधाने चान्योन्याश्रयत्वात्। परस्परविरुद्धधर्मोक्तौ च विरोधस्य विचारासहत्वात्, सहानवस्थानस्यासिद्धेः, एकस्मिन्नप्यात्मनि पादे मे वेदना

यास्त्वात्मभेदे श्रुतयः पूर्वपक्षिणोदाहृतास्तासां कल्पितभेदविषयतयान्यथासिद्धिमाह—**द्वासुपर्णेत्यादेश्चेति**। ननु लोकोऽपि प्रत्यक्षाद्यन्यतमो निर्धारितविशेष इति तत्सिद्धत्वेऽपि प्रामाणिकत्वमेवापतति—इत्युक्तम्, तदसत्, देहात्मभावादौ व्यभिचारादित्याह—**लोकसिद्धत्वेऽपीति**। या तु सुखादिव्यवस्थान्यथानुपपत्तिरुक्ता, तां परिहरति—**व्यवस्थेति**। दुर्निरूपतामेव दर्शयति—**व्यवस्थाशब्देनेति**। अत्र किं भिन्नधर्माणां युगपदेकत्रावस्थानानुपपत्तिरधिकरणभेदसाधिका? उत भिन्नाधिकरणधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिः? उत विरुद्धधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिरिति? अत्राद्यं दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—**भिन्नाधिकरणेति**। तृतीये प्राह—**परस्परेति**। कोऽयं विरोधः सुखादीनाम्, किं सहानवस्थानम्? किं वा वध्यघातकभावः? उत भावाभावरूपत्वम्? आद्ये प्राह—**सहानवस्थेति**। ननु कथमणुपरिमाणस्य मनसः

निषेध से ही भेद दर्शन निन्दा को भी अभेद उपासना परत्व नहीं हो सकता है।

और जो द्वा सुपर्णा, इत्यादि श्रुतियों को भेदप्रतिपादक कहा था, वह युक्त नहीं, क्योंकि इन श्रुतियों को लोकसिद्ध भेद का अनुवादकत्व है, भेदविधायकत्व नहीं है। यदि कहें कि प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध को ही लोकसिद्ध कहा जाता है, अतः भेद में प्रामाणिकत्व होने से वह मिथ्या नहीं हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भेद के लोकसिद्ध होने पर भी, देह में आत्मत्व तुल्य और सूर्य के प्रादेशिकत्व (अल्पदेशवृत्तित्व) आदि के समान उसमें प्रामाणिकत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। और सुख दुःखादि की व्यवस्था की अनुपपत्ति भेद के बिना कहा था, वह भी युक्त नहीं। क्योंकि व्यवस्था की अनुपपत्ति के दुर्निरूप होने से वह भेद का साधक नहीं हो सकती है। व्यवस्था शब्द से धर्मभेद मात्र को कहने पर, दाह, पाकादि के समान वह धर्मी के भेद का साधक नहीं हो सकता है, अर्थात् एक अग्नि में जैसे दाहकत्व, पाचकत्व, प्रकाशकत्व नानाधर्म रहते हैं, वैसे एक आत्मा में कल्पित नाना धर्म रह सकते हैं। यदि भिन्न अधिकरण में रहने वाले धर्मों को भेद व्यवस्था शब्द से कहें, तो अन्योन्याश्रयता प्राप्त होती है। धर्मों से भेद और भेद से धर्म की स्थिति रूप अन्योन्याश्रय है। यदि विरुद्ध धर्मों को व्यवस्था शब्द से कहें, तो विरोध को विचाराऽसहत्व है। क्योंकि सुखादि को विरोध क्या है।

शिरसि मे सुखमिति युगपत् सुखदुःखयोरनुभवात्। अणुपरिमाणस्य मनसो युगपत्प्रदेशद्वयेन सन्निकर्षाभावेऽपि त्वगिन्द्रियेण व्यापकेन युगपत्संनिकर्षात्। तत्तत्प्रदेशावच्छिन्नात्ममनःसंनिकर्षस्य च सुखदुःखनिदानत्वाङ्गीकारे सुखदुःखयोरणुमात्रतयोपलम्भप्रसङ्गात्, सकलदेहव्यापितया च तयोरनुत्पादप्रसङ्गात्। विनश्यदविनश्यतोश्च सुखदुःखयोः सहावस्थानस्य स्वयमेवाङ्गी-

---

शिरःपादप्रदेशाभ्यां युगपत्संबन्धः ? येन तत्तत्प्रदेशवर्तिसुखदुःखयोर्युगपदुत्पत्तिः स्यादतः समानाधिकरणक्रमेणोत्पन्नसुखदुःखयोर्भ्रान्तिरेव यौगपद्यप्रतीतिरिति, तत्राह—**अणुपरिमाणस्येति**। त्वगिन्द्रियं हि निखिलशरीरव्यापकत्वाद्युगपच्छीतोष्णाभ्यां सन्निकृष्यते, तच्चैकेन मनसाधिष्ठीयते, ततश्चोभयविषयज्ञानोत्पत्तौ युगपत्सुखदुःखयोरुत्पादो न विरुध्यते। त्वग्द्वारा च युगपत्संनिकर्षाधिष्ठानादुभयविषयमेकं ज्ञानं सामग्रीसंपत्त्या समुत्पद्यत इत्यर्थः। ननु भवतु युगपज्ज्ञानम्, तथापि नैकत्र द्वयोरवस्थानम्, नहि यावदात्मसुखदुःखोत्पत्तिः, अनुपलम्भात्, किं तर्हि येन शरीर प्रदेशेन कण्टकादिसंयोगः समजनि तदवच्छिन्नात्मप्रदेशेन मनःसंयोगात्तत्रैव दुःखादय उत्पद्यन्ते। ततश्च सुखदुःखयोर्भिन्नप्रदेशावस्थितत्वादस्त्येव सहानवस्थानमिति, तत्राह—**तत्तत्प्रदेशेति**। अथवाऽसमवायिकारणमनःसंयोगक्रमात् सुखदुःखयोः क्रमोत्पादः किं न स्यादिति, तत्राह—**तत्तत्प्रदेशेति**। **अण्विति**। पादादिव्यापितया नोपलभ्येतेत्यर्थः दूषणान्तरं चाह—**सकलेति**। मनःसंयुक्तप्रदेशस्याणुपरिमाणतया तत्र सुखस्य निखिलशरीरव्यापिता नोपलभ्येतेत्यर्थः। अलं वा विवादेन, विनश्यदविनश्यतोर्भवतैव सहानवस्थानमङ्गीक्रियत इत्याह—**विनश्यदिति**।

सहाऽनवस्थान रूप है, या वध्यघातक भावरूप है, अथवा भावाभावरूपत्व है। प्रथम सहाऽनवस्थान रूप विरोध की तो असिद्धि है, क्योंकि एक ही आत्मा में, मेरे पाद में पीड़ा है, शिर में सुख है। इस प्रकार से एक काल में सुख-दुःख का अनुभव होता है। यदि कहें कि अणुपरिमाण वाले मन के तत्तत् प्रदेश में युगपत् सम्बन्ध कैसे होगा कि जिससे शिर और पैर में युगपद् सुख-दुःख का ज्ञान होगा, वस्तुतः समानाधिकरण में क्रम से उत्पन्न सुख-दुःख का यौपद्य की भ्रान्ति होती है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि अणुपरिमाण वाले मन के युगपत् प्रदेशद्वय = शिरपाद के साथ सम्बन्ध के अभाव रहते भी मन से अधिष्ठित शरीर भर में व्यापक त्वगिन्द्रिय के साथ एक काल में सुखदुःख का सम्बन्ध होता है, इससे युगपद् ज्ञान की सिद्धि होती है। यदि कहें कि तत्तत् प्रदेश में भिन्न-भिन्न आत्मा और मन के संयोग से क्रम से ही सुख-दुःख की उत्पत्ति अनुभूति होती है, अतः सहानवस्थान है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तत्तत् देशवृत्ति आत्ममनःसंयोग को सुख का हेतु मानने पर, सुख-दुःख का भी अणुमात्रता रूप से ज्ञान प्राप्त होगा, और सम्पूर्ण देह

कारात्। वध्यघातकभावस्य च 'नाजात एकोऽन्यं हन्ति नाप्यन्याधारम्, इति न्यायेन सहावस्थानाक्षेपकत्वात्। व्यवस्थायाश्च कल्पितभेदाश्रयत्वेनाप्युपपत्तेः। अननुसंधानस्य च शरीरभेदादेवातीतशरीरेष्विव संभवात्। वर्तमानशरीरेष्वपि निदर्शनाभावादेव योगिनमनङ्गीकुर्वद्भिः अनुसंधानस्य

द्वितीयपक्षं प्रतिक्षिपति—**वध्यघातकेति**। नन्वस्त्वेवं युक्तिपरिनिष्पन्नः पन्थाः, अनुभवस्य तु का गतिः? नह्येकस्मिन् सुखिनि सर्वे सुखिनो दुःखिनि वा दुःखिन उपलभ्यन्त इति, तत्राह – **व्यवस्थायाश्चेति**। अङ्गीकृत्य सहानवस्थानमयं काल्पनिकभेदमादाय परिहारः। एतेन भावाभावपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तः, एकस्मिन्नप्यात्मनि सुखादेस्तदभावस्य च भवद्भिरेवाङ्गीकारेणाव्यवस्थापकत्वात्। नच भावाभावत्वमपि शङ्कामधिरोहति, उभयोरपि गुणत्वेनाङ्गीकारात्। यत्तु पादाद्यवयवेष्विव निखिलशरीरेष्वेकस्यैवानुसंधानं स्यादिति, तत्राह—**अननुसंधानस्येति**। नन्वतीतत्वमेव तत्रोपाधिः, नतु शरीरभेदः; इतरथा वर्तमानानेकशरीराधिष्ठातृयोगव्याघ्रस्य तेष्वननुसंधानप्रसङ्गादिति, तत्राह —**वर्तमानेति**। मीमांसकानां तावदयं न युक्तः

में व्यापक रूप से सुख-दुःख का अनुत्पाद (अनुत्पत्ति) और अनुपलब्धि प्राप्त होगा। और विनश्यत्=अविनश्यत्=(नष्टावस्था में प्राप्त होने वाला और वर्तमान) सुख-दुःख के स्वयं सहावस्थान के अङ्गीकार से भी सहानवस्थान अयुक्त है। और बध्यघातक भाव को तो (एक अनुत्पन्न होता हुआ अन्य का नाश नहीं करता है, न अन्य अधिकरण वाला होकर नाश करता है) इस न्याय से सहावस्थान का आक्षेपकत्व होता है, अर्थात् गुणों को यदि वध्यघातकभाव रूप विरोध होगा, तो घातक गुण आत्मलाभ किये विना और दूर रहकर घात नहीं कर सकेगा, अतः वध्य के स्थान में उत्पन्न होकर घात करेगा, तो सहावस्थान ही सिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि उक्त रीति से सुख-दुःखादि की एकत्र स्थिति हो, तो भी एक के सुखी होने पर सब सुखी नहीं होते हैं, एकात्मवाद में यह व्यवस्था कैसे बनेगी, तो कहा जाता है कि इस व्यवस्था की कल्पित भेदाश्रयत्व से भी सिद्धि हो सकती है, इसके लिये सत्यात्मभेद की आवश्यकता नहीं है। और जो कहा था कि एकात्मा के होने पर, पाद-शिर के दुःख-सुख को जैसे एकात्मा अनुसंधान = स्मरण प्रत्यभिज्ञा करता है, वैसे सब शरीरों के सुखादि का सर्वत्र अनुसंधान होना चाहिये, वह क्यों नहीं होता है, वहाँ कहा जाता है, कि अननुसंधान का तो शरीरभेद से ही अतीत शरीरों के समान सम्भव है, अर्थात् एक ही आत्मा जैसे अपने पूर्व शरीरों के ज्ञानादि का अनुसंधान नहीं करता है, वैसे वर्तमान अन्य शरीरों के ज्ञानादि का अनुसंधान नहीं करता है। योगी जैसे अपने वर्तमान अनेक शरीरों का अनुसंधान

प्रसञ्जयितुमशक्यत्वात्, योगिसद्भावाभ्युपगमेऽपि नयनावच्छिन्नस्यात्मनः शब्दाद्यननुसंधानवदेकशरीरविशिष्टस्य शरीरान्तरेऽननुसंधानोपपत्ते । उपलक्षितस्य परमात्मनः सर्वज्ञस्य सर्वत्रानुसंधानेऽपि दोषाभावात् । अनुसंधानेऽपि तस्याभोक्तृत्वादेव योगिवदीश्वरवच्च तस्य तत्तच्छरीरदुःखपरिहाराय प्रवृत्तेरप्रसङ्गात् ।

प्रसङ्ग इत्यर्थः । तार्किकान् प्रत्यप्याह—**योगीति** । ननु यद्यपि चक्षुरवच्छिन्नस्य शब्दाद्यनुसंधानं नास्ति तथाप्यस्त्येवैकस्तदुपलक्षितोऽनुसन्धाता, इतरथा य एवाहं रूपमद्राक्षं स एव शृणोमीति प्रतिसंधानाभावप्रसङ्गादिति, तत्राह—**उपलक्षितस्येति** । परमात्मानुसंदधात्येवेत्यर्थः । ननु कथं दोषाभावः ? यावता चरणतललग्नकण्टकोद्धरणाय पाणितलव्यापारवच्चैत्रगात्रवेदनापरिहाराय मैत्रगात्रव्यापारप्रसङ्गस्य दोषत्वादिति, तत्राह—**अनुसंधानेऽपीति** । यथाहि भवतां सर्वज्ञस्येश्वरस्य योगिनो वा सर्वत्रानुसंधानेऽप्यप्रवृत्तिः, तत्कस्य हेतोः ? अभोक्तृत्वात्, एवमस्मन्मतेऽपीत्यर्थः ।

यच्च साक्ष्यतया सुखादेः साक्षिधर्मत्वाभावाद् व्यधिकरणतयाऽव्यवस्थापकत्वं

करता है, वैसे आत्मा को अनुसंधान करना चाहिये, इसप्रकार से योगी को नहीं मानने वाले के लिये दृष्टान्त के अभाव से, वह वर्तमान शरीरों में भी अनुसंधान की प्रसक्ति (प्राप्ति की शंका) नहीं कर सकता है । योगी को मानने पर भी जैसे नेत्रोपाधि वाला आत्माशब्दानुसंधान नहीं करता है, अतः नेत्रावच्छिन्न आत्मा को शब्दाननुसंधान की सिद्धि होती है, इसीप्रकार से एक शरीरविशिष्ट आत्मा को शरीरान्तर में अननुसंधान की सिद्धि होती है । अर्थात् औपाधिक भेद से भिन्नात्माओं का ही यह संधानाननुसंधनादि धर्म है । शुद्धात्मा का नहीं ।

यदि शंका हो कि चक्षु से अवच्छिन्न आत्मा शब्द का अनुसन्धान नहीं करता हो, तो भी चक्षु से उपलक्षित श्रोत्रादि में सर्वत्र वृत्ति आत्मा एक है, वही अनुसंधाता है, अतएव (जो मैंने रूप देखा था वह मैं शब्द सुनता हूं । इत्यादि प्रत्यभिज्ञा होती है, ऐसे सब शरीरों में अनुसंधान होना चाहिये, तो इस शंका का उत्तर है कि नेत्रादि मे उपलक्षित सर्वज्ञ परमात्मा को सर्वत्र सर्वविषय का अनुसंधान होता ही है, ऐसा होने में कोई दोष नहीं है, इष्टापत्ति है, यदि कहा जाय कि यदि उसको सबका अनुसंधान होगा तो दुःखनिवारणादि के लिये प्रवृत्ति रागद्वेषादि रूप दोष प्राप्त होगा ही, तो कहा जाता है कि सन्धान होने पर भी उस उपलक्षित शुद्धात्मा के अभोक्तृत्व से ही योगी और ईश्वर के समान उसको तत्तत् शरीर के दुःखादि की निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

सुखादीनां च साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावेन तद्भेदासाधकत्वात् साक्षिणश्च प्रमाकरणासंनिधानेऽपि सुषुप्तावज्ञानसाधकस्य प्रमात्रन्तर्भावानुपपत्तेः। तस्य च जीवात्मान्तर्भावात्साक्षिप्रत्यक्षस्य लौकिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्तेः। न च साक्षिणि प्रमाणाभावः, यतः—

'चैत्ररागः स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा।
तदध्यक्षेण संवीक्ष्यः प्रत्यक्षत्वात्पटादिवत्' ॥ ५ ॥

विवादाध्यासिताः चैत्रेच्छादय एतद्ग्राहकाऽनित्यज्ञानातिरिक्तैतत्

पूर्वपक्षिणाशङ्क्य दूषितं तदपि समर्थयते—**सुखादीनां चेति**। यत्तु साक्षिणोऽपि द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावः, इतरथा व्यवहारानङ्गत्वमित्युक्तम्, तत्र द्रष्टृत्वेऽपि प्रमात्रन्तर्भावं परिहरति—**साक्षिणश्चेति**। प्रमाणैर्यः प्रमिणोति स प्रमाताऽयं नैवमसावित्यर्थः। ननु तर्हि जाग्रदादौ ज्ञानादिसाधकत्वं तस्य न स्यात्, अनुपरतप्रमाणव्यापारत्वात् तदानीम्, अतो व्यवहारानङ्गत्वं तदवस्थमिति, तत्राह—**तस्य चेति**। अन्तर्भावात्स्वरूपतयेत्यर्थः। साक्षिणि तार्किकं प्रत्यनुमानमाह—**चैत्रेति**। तदध्यक्षेण चैत्रप्रत्यक्षेणेत्यर्थः। इदं च विशेषणं पूर्वोक्तेश्वरप्रत्यक्षेणार्थान्तरतापरिहारार्थम्, नहीश्वरप्रत्यक्षं चैत्रप्रत्यक्षमिति भवतामङ्गीकारः।

श्लोकं विवृणोति—**विवादेति**। अत्राप्यनित्यज्ञानातिरिक्तेति अनित्यज्ञानस्यानधिकरणमित्यर्थः। ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतयार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थमेतत्प्रत्यक्षपदम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमेतद्ग्राहकेति पदम्, तथाचेच्छादिग्राहकनित्या-

---

सुखादि साक्ष्यों (विषयों) में साक्षिधर्मत्व के अभाव से सुखादि साक्षी के भेद के साधक नहीं हो सकते हैं। और प्रमा के करणों के असन्निधान रहते भी सुषुप्ति में अज्ञान का साधक = प्रकाशक साक्षी का प्रमाता के अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि जो प्रमाणों से जानता है, वह प्रमाता है। अतः पूर्वोक्त प्रमाताऽन्तर्भाव अयुक्त है। यदि कहें कि साक्षी यदि सुषुप्ति में अज्ञान का साधक है, तो जाग्रदादि में ज्ञानादि का साधकत्व उसको नहीं होगा, तो कहा जाता है कि उस साक्षी को स्वरूप से जीवात्मा के अन्तर्भाव होने से साक्षीस्वरूप प्रत्यक्ष को लौकिक व्यवहार के अङ्गत्व की सिद्धि होती है। साक्षी में प्रमाण का अभाव है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि—

चैत्र का राग, रागविषयक अनित्य ज्ञान से भिन्न (तदध्यक्ष) रागाऽध्यक्ष चैत्र प्रत्यक्ष साक्षी, से सम्वीक्ष्य = दृश्य है। प्रत्यक्ष होने से, पटादिवत् ॥ ५ ॥

दृष्टान्त में तो पटादि का प्रत्यक्ष ही साध्य रूप सिद्ध है, पक्ष में साक्षी से साध्य की सिद्धि होती है। अर्थात् (विवाद के विषय, चैत्र के इच्छा आदि, इस इच्छा आदि के ग्राहक अनित्य ज्ञान से अतिरिक्त एतत् = चैत्र प्रत्यक्ष से ग्राह्य हैं, चैत्र के

प्रत्यक्षग्राह्याः एतत्प्रत्यक्षत्वादेतत्प्रत्यक्षपटादिवत्। न चाभाससमानयोगक्षेमत्वम्, अनुमानस्य नित्यत्वप्रसाधने लक्षणव्याघातात्। व्याप्याद्व्यापके बुद्धिरनुमानम्, साधनधर्मदर्शनात् साध्यधर्मविशिष्टे बुद्धिरनुमानम्, लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैङ्गिकमनुमानम्, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृगित्यादिलक्षणैरनित्यस्यैव ज्ञानस्यानुमानत्वेन लक्ष्यमाणत्वात्, विपक्षे बाधकाभावाच्च। मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे इच्छादेः कर्मकर्तृभावस्यैव बाधकत्वात्। न च स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टरूपेण ग्राह्यत्वेऽप्यविरोधः। केवलस्य देवदत्तस्य

परोक्षसाक्षिसिद्धिः, परोक्षादिष्वेतत्प्रत्यक्षाविषयेषु व्यभिचारनिवृत्त्यै हेतावेतत्पदम्, अतीन्द्रियेष्वव्यभिचाराय प्रत्यक्षपदम्। यत्तु नित्यानुमानस्यापि साधकतयाभाससमानयोगत्वमुक्तम्, तत्राह—**न चाभासेति**। जन्यत्वगर्भमनुमानलक्षणमित्यत्र तार्किकसंमतिमाह—**व्याप्यादित्यादिना**। न च नित्यप्रत्यक्षाभ्युपगमेऽपि प्रत्यक्षलक्षणव्याघातः, साक्षात्कारिज्ञानत्वस्य तल्लक्षणत्वादीश्वरप्रत्यक्षस्य तार्किकैरङ्गीकारात्। मोक्षदशायां भाट्टैरविनाशिनोऽपरोक्षसुखज्ञानस्याङ्गीकारात्। गुरुमतेऽपि साक्षात्कारिज्ञानत्वस्यैव तल्लक्षणत्वाद्यथाह भाट्टः—'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्' इति। स्वानुमानस्य च विपक्षे बाधकतर्कमाह—**मानसप्रत्यक्षेति**। तत्र तदुक्तं साधनं दूषयति—**न च स्वरूपमात्रेणेति**। नायमविरोधनियामकः, एतस्मिन्विद्यमानेऽपि कर्तृकर्मत्वयोरेकत्र देवदत्तादौ विरोधदर्शनादित्यर्थः। यत्तु कर्तृकरणत्वयोरपि बुद्धौ विरोधस्तत्रापि समान इत्युक्तम्, तदसत्, लोके तयोर्बहुलमविरोधदर्शनादित्याह—

प्रत्यक्ष होने से, चैत्र प्रत्यक्ष घटादि के समान) और जो नित्यानुमान के साधकता रूप से समान योगक्षेमत्व कहा था कि (इच्छा आदि, एतद् ग्राहक अनित्य अनुमान से अतिरिक्त अनुमान से वेद्य हैं। वेद्य होने से, घटादिवत्) वहाँ अनुमान के नित्यत्व को साधने पर, अनुमान के लक्षण का व्याघात (बाध) होता है। (व्याप्य के ज्ञान से व्यापक के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। साधन रूप धर्म के देखने से साध्य धर्मविशिष्ट विषयक ज्ञान अनुमान होता है। लिङ्ग = हेतु के दर्शन से जायमान लैङ्गिक = लिङ्गजन्य ज्ञान अनुमान कहा जाता है। पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाऽसत्त्व रूप तीन रूप वाले लिङ्ग से अर्थ का ज्ञान अनुमान कहा जाता है) इत्यादि लक्षणों के द्वारा अनित्य ही ज्ञान को अनुमान रूप से लक्ष्यमाणत्व (ज्ञेयत्व) होता है। और अनुमानाभास के विपक्ष का बाध कोई तर्क नहीं है। और सिद्धान्त के अनुमान में इच्छादि के मानस वेद्यत्व रूप विपक्ष में, कर्मकर्तृभाव को ही बाधकत्व है। यदि कहें कि स्वरूप मात्र से मन रूप से ग्राहकत्व, और इच्छा आदि विशिष्ट रूप से ग्राह्यत्व (कर्मत्व) होने पर भी विरोध नहीं होगा। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर, केवल देवदत्त को गन्तृत्व और कुण्डलयुक्त

गन्तृत्वं कुण्डलविशिष्टस्य तु गन्तव्यत्वमिति तत्रापि विरोधाभावप्रसङ्गात्। दृश्यते च कर्तुरप्यन्यत्र करणता 'योधै राजा युध्यते', 'चारेण परसैन्यं कलयति' इत्यादिषु।

न चाविद्याविशिष्टः साक्षी, येन कर्तृकोटिनिविष्टाया अविद्यायाः कर्तृत्वं स्यात्, चिद्रूपस्यैवात्मनः साक्ष्यसंबन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात्, 'यद्वै-तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति' इत्यादिश्रुतेः। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्'

दृश्यत इति। अन्यत्र, लोक इत्यर्थः। अत्र हि भटा युद्धकर्तारः, अथ च करणतया निर्दिश्यन्त इत्यर्थः।

या त्वविद्यायां कर्तृत्वकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता, तां परिहरति—न चाविद्येति। नाविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वम्, नाप्युपलक्षितस्य, किंतु तदुपाधिकस्य। अथ कोऽयं विशेषणोपलक्षणोपाधीनां भेदः? शृणु—

कार्यान्वयित्वेन तु भेदकं यद्विशेषणं नैतदमिचोरत्लस्य।
अनन्वयित्वेन तु भेदकानामुपाधितालक्षणता प्रसिद्धा॥
तयोरपि—यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता।
कादाचित्कतया भेदधी हेतुरुपलक्षणम्॥

तेन नाविद्यायाः कर्तृभाव इत्यर्थः। यद्वैतदिति। इयं हि साक्षाद् द्वैताभाव-निबन्धनमदर्शनं स्वरूपतश्च दर्शनं वदतीत्युक्तिः। स्वाभाविकमेव सकलावभासक-चैतन्यं तस्य तत्तद्विषयानुपङ्गवशाच्च तत्तद्विषयानुभवत्वं विकल्प्य निदर्शयतीत्यर्थः। या तु तदात्मानमेवावेदिति ब्रह्मणि कर्तृकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता, तां परिहरति—ब्रह्म वा इति। ननु तथापि कर्मकर्तृत्वाभावे किमायातं यावतैकस्यैव वेद्यत्ववेदितृ-

---

को गन्तव्यत्व (कर्मत्व) होगा, और वहाँ भी विरोधाभाव प्राप्त होगा। और जो कहा था कि कर्तृकरणत्व के ज्ञान में आपको भी विरोध तुल्य है। यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कर्ता को अन्यत्र लोक में करणता देखी जाती है। जैसे योद्धाओं के द्वारा राजा युद्ध करता है। चार के द्वारा परसैन्य को गिनता है। इत्यादि युद्धादि के कर्ता में करणता का व्यवहार होता है।

और जो कहा था कि कर्तृ कोटि में प्रविष्ट अविद्या को कर्तृत्व, कर्मत्व प्राप्त होगा, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अविद्याविशिष्ट आत्मा साक्षी नहीं होता है कि जिससे कर्तृकोटि निविष्ट अविद्या को कर्तृत्व होगा। केवल चिद्रूप ही आत्मा में साक्ष्य विषय के सम्बन्ध से साक्षित्व का व्यवहार होता है। क्योंकि (जो सुपुप्ति आदि में आत्मा नहीं देखता है, वह देखता हुआ ही नहीं देखता है) इत्यादि श्रुति साक्षात् द्वैत के अभाव से अदर्शन और स्वरूप से दर्शन बताती है। और (यह सब जगत् प्रथम ब्रह्मस्वरूप ही था। तो ब्रह्म अपने को समझा) इत्यादि से भी

'तदात्मानमेवावेद्' इत्यादिना नात्मनः कर्मकर्तृभावो विवक्ष्यते, किं तर्हि—वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्तःकरणवृत्तिरूपया विद्यया स्वतःसिद्धस्यैवात्मनोऽब्रह्मत्वभ्रमकारणाविद्यानिवृत्तिः, तथा चान्तःकरणविशिष्टस्यैव प्रमातृत्वं विशुद्धस्य ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वमिति कुतस्तत्रैकस्य कर्मकर्तृभावः ? न च नित्यबोधमन्तरेण पूर्वापरबुद्धीनामनुसंधानसिद्धिः, ग्राहकतया सिद्धेर्निराकृतत्वात्। न च 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'ति वाक्यमीश्वरपरत्वादात्मनः साक्षित्वे न प्रमाणमिति युक्तम्, मायाविशिष्टरूपे तस्मिन् केवलो निर्गुण इति विशेषणानुपपत्तेः। तस्मात् सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्मात्र

त्वाङ्गीकारादिति, तत्राह—**तथा चेति**। नन्वेवं घट्टकुटीप्रभातायितम्, अन्तःकरणविशिष्टस्य प्रमातृत्वं स्वरूपेण च कर्मत्वमिति वदतैकस्यैव कर्मकर्तृत्वमौपाधिकश्च विरोधपरिहार इत्यङ्गीकारादिति, न, तदुभयस्याप्यसिद्धेः। न तावदन्तःकरणविशिष्टतयास्य कर्तृत्वम्, आरोपात्। अन्तःकरणगतं हि कर्तृत्वं धर्म्यध्यासद्वारा चैतन्ये परमारोप्यते, नहि दण्डदेवदत्तयोरिव विशेषणविशेष्यभावः। तस्मादारोपितत्वान्न कर्तृत्वम्, नापि कर्मत्वम्, तज्जन्यातिशताभावात्। अस्तु वा कर्म वृत्तिव्याप्यातामात्रेण, तथापि कर्तृत्वाभावादेव वैषम्यमिति, अनुसंधानान्यथानुपपत्तिमपि साक्षिणि प्रमाणं समर्थयते—**न च नित्येति**। निराकृतत्वात्स्वप्रकाशवाद इति शेषः। आगममपि समर्थयते—**न च साक्षीति**। किमिति न युक्तम् ? तत्राह—**मायाविशिष्टेति**। नहि निर्विकारचैतन्यस्य मायानिवेशमन्तरेण वियदाद्याकारविवर्तः संभवतीति भावः। तदेवं न साक्षात्सुखादेः साक्षिधर्मत्वमित्युक्तम्, यत्तु पञ्चपादीवचनमुदाहृतम्,

---

आत्म का कर्मकर्तृभाव विवक्षित नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्यजनित एक ब्रह्माकार अन्तःकरण की वृत्तिरूप विद्या से स्वतः सिद्ध ही आत्मा के अब्रह्मत्व भ्रम के कारण अविद्या की निवृत्ति विवक्षित है। अतः अन्तःकरण विशिष्ट को ही कर्तृत्व (प्रमातृत्व) है, और विशुद्ध ब्रह्म को वृत्तिव्याप्यत्व होता है, तो वहाँ एक को कर्मकर्तृभाव कैसे हो सकता है। और नित्य बोध के बिना पूर्वापर बुद्धि का अनुसंधान की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः नित्य साक्षी सिद्ध होता है, ग्राहक रूप से उसकी शिद्धि का प्रथम निराकरण किया गया है, अतः स्वयं प्रकाश चिद्रूप से सिद्ध होता है। और (साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च) यह वाक्य ईश्वरपरक होने से आत्मा के साक्षी स्वरूपत्व में प्रमाण नहीं है, ऐसा कहना युक्त नहीं है। क्योंकि मायाविशिष्ट ईश्वर परत्व यदि उस श्रुति को है, तो (केवलो निर्गुणः) इस विशेषण की अनुपपत्ति होगी। अतः सब का अन्तरात्मास्वरूप विशुद्ध ब्रह्म यहाँ जीव के साथ अभेदपूर्वक साक्षी इस शब्द से प्रतिपादित होता है। अर्थात् अविद्या से उपहित का निर्गुण ब्रह्मरूप से प्रतिपादन होने से अविद्या परित्यक्त हो जाती है।

जीवाभेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यते। न चानन्दादीनां साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वम्, आनन्दानुभवयोरात्मरूपत्वात्। न च नित्यत्वं धर्मः, विनाशराहित्येनोपलक्षितस्वरूपस्य तथा व्यपदेशात्। विशेषगुणवद्व्यापकान्यत्वसाधनं च प्रतिकल्पं जायमानाकाशभेदैरेव सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरञ्चेश्वरवादिनामीश्वरेण, अनित्यपदप्रक्षेपे च पूर्वोक्त एव दोषः। तथा च सुखादीनामात्मगुणत्वाभावान्न तद्व्यवस्थातस्तद्भेदसिद्धिः। तदेवं स्वाविद्या ब्रह्मैव संसरति

तत्परिहरति—**न चानन्दादीनामिति**। यच्चाकाशं पक्षीकृत्य विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यान्यत्वसाधनेनात्मनो भेदसाधनम्, तत्परिहरति—**विशेषगुणेति**। यस्य हि वेदान्तिनो वियदधिकरणन्यायेनाकाशोऽप्युत्पद्यते प्रलीयते चेति मतम्, तन्मते कल्पान्तरीयाद् विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यादाकाशादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरमित्यर्थः। ईश्वरादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरतामाह—**अर्थान्तरं चेति**। नन्वनित्यविशेषगुणवद् व्यापकद्रव्यादन्यत्वं सिषाधयिषितम्, नचेश्वरस्तथेति, तत्राह—**अनित्येति**। **पूर्वोक्त इति**। आकाशेनाऽर्थान्तरतेत्यर्थः। साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावप्रतिपादनमुपसंहरति—**तथा चेति**। समर्थितमेकजीववादमुपसंहरति—**तदेवमिति**। एकाविद्यापक्षे इति। अत्र चाविद्याशब्देन तदधीनो जीवो लक्ष्यते। एकजीवपक्षे इत्यर्थः—

पञ्चपादिका वचन से जो आनन्दादि साक्ष्य को साक्षी का धर्म कहा था, वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आनन्दादि साक्ष्यों को साक्षिधर्मत्व नहीं है, किन्तु आनन्द और उसका अनुभव = प्रकाश आत्मस्वरूप हैं, नित्यत्व भी साक्षी का धर्म = गुण नहीं है, किन्तु विनाशरहितता रूप से उपलक्षित स्वरूप आत्मा ही का नित्यत्व रूप से कथन किया जाता है। और (आकाश, विशेष गुण वाले व्यापक द्रव्य से अन्य है, द्रव्य होने से, घटवत्) इस अनुमान से जो आकाश को पक्ष करके विशेष गुण वाले व्यापक द्रव्य से अन्यत्व (आत्मा से अन्यत्व) का साधन किया था। वह प्रतिकल्प में जायमान आकाश के भेदों से ही सिद्धसाधनता को प्राप्त होता है। इस कल्प का आकाश कल्पान्तर के विशेष गुण वाला व्यापक आकाश से भिन्न होता है, अतः इस अनुमान से विशेष गुण वाला आत्मा नहीं सिद्ध हो सकता है। और ईश्वरवादी के मत में ईश्वर के द्वारा अनुमान में अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अर्थात् जीवात्मा की इस अनुमान से सिद्धि नहीं होकर ईश्वर की सिद्धि होती है। विशेष गुण के साथ अनित्य पद के लगाने पर, ईश्वर से अर्थान्तरता के वारण होने पर भी पूर्वोक्त = आकाश से अर्थान्तरता ही दोष रहता है। उक्त रीति से साक्ष्यों के साक्षिधर्मत्व के अभाव से सुखादि में आत्मगुणत्व के अभाव से उन सुखादिकों की व्यवस्था से आत्मभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि एकात्म पक्ष में एक ब्रह्मात्मा ही अपनी अविद्या से जीवस्वरूप होकर संसारी

स्वविद्यया च मुच्यत इति एकाविद्यापक्षे न कश्चिद्दोषः, तथा नानाविद्यापक्षेऽपि।

ननु नानाजीवानां किमेकाविद्या कल्पिका? उत प्रतिजीवं भिन्ना? नाद्यः, एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गतादवस्थ्येन नानाजीवकल्पनायामपि व्यवस्थानुपपत्तेः। न द्वितीयः, कल्पनागौरवात्। ननु व्यवस्थानुपपत्तौ कल्पिकायां न कल्पनागौरवं दोषः 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्य-

---

नानाविद्यापक्षेऽपीति। नानाजीवपक्षे इत्यर्थः। एवं हि किमेकाविद्या किं नानाविद्येत्युत्तरग्रन्थसामञ्जस्यम्।

एवं ब्रह्मस्वभावाविद्यासंबन्धाद्यनुरोधेन विशदमतीन्प्रत्येकजीवपक्षः समर्थितः, ये तु मन्दमतयो निबिडद्वैतवासनास्कन्दनजडतमशेमुषयो बद्धमुक्तादिव्यवस्थास्थेमनि बद्धास्था नानाजीवपक्षमेव रोचयन्ते तान्प्रति नानाजीवपक्षमप्याक्षेपसमाधानाभ्यामभिदर्शयति—नन्वित्यादिना। कल्पकसद्भावात्कल्पनागौरवं न दोषायेति शङ्कते—ननु व्यवस्थेति। किमियं पारमार्थिकी व्यवस्था याऽनेकाऽविद्यां विना नोपपद्यते? किं वा काल्पनिकी? पारमार्थिकीव्यवस्थायां नानाविद्यामभ्यर्थयमानः श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमान्। द्वितीये त्वेकाविद्ययापि तत्सिद्धिः। अथ कल्प्यगुर्वादीनामनेकत्वात्कल्पिकाविद्याया अपि नानात्वम्, तर्ह्येकस्याप्यनेकघटपटादिप्रतीत्यर्थमनन्ताविद्याः कल्प्येरन्, तथाप्येकजीवगताऽविद्याभिरेव तत्सिद्धेरनेकजीवकल्पनावैयर्थ्या-

---

होता है। और अपनी विद्या से संसारित्व से मुक्त होता है। इसप्रकार से एक अविद्या और उससे उपहित एक साक्षी आत्मा पक्ष में कोई दोष नहीं है। और इसीप्रकार से नाना अविद्या 'जीव' पक्ष में भी दोष नहीं है। दोनों पक्ष में भेद व्यवस्था स्वप्न के भेदादि के समान है, स्वरूप सत्य है।

नाना अविद्यामूलक नाना जीववाद में शंका होती है कि नाना जीवों की कल्पिका (साधिका) एक अविद्या (माया) है। अथवा प्रति जीव भिन्न-भिन्न है, वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि एक की मुक्ति से सर्व की मुक्ति का प्रसंग इस पक्ष में भी कल्पक अविद्या को एक मानने पर तदवस्थ (एक जीववाद तुल्य) रहता है। अतः नाना जीव की कल्पना करने पर भी व्यवस्था की सिद्धि नहीं होती है। कल्पना गौरव से दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है। यदि कहा जाय कि व्यवस्था की अनुपपत्ति होने पर कल्पिका = अविद्या में कल्पना गौरव दोष नहीं है, यह कहा है कि (प्रमाण वाली अदृष्ट भी अतिबहुत वस्तु कल्पनीय हैं) इस न्याय से गौरव दोष रूप नहीं होता है। यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि व्यवस्था के पारमार्थिक होने पर उसमें अविद्या के कार्यत्व की अनुपपत्ति है, अतः उसकी सिद्धि के लिये उस नाना अविद्या की कल्पना व्यर्थ है। और उस व्यवस्था के

पी'ति न्यायादिति चेत्, मैवम्, व्यवस्थायाः पारमार्थिकत्वे सत्यविद्याकार्यत्वानुपपत्तेस्तत्कल्पनावैयर्थ्यात्। अपारमार्थिकत्वे पुनरेकयैव तस्याः सिद्धेरविद्याभेदकल्पना व्यर्था। अन्यथैकस्याप्यनन्तभेदभानायानन्ताविद्याः कल्प्याः स्युः। सन्तु को दोष इति चेत्, तर्हि ताभिरेव सर्वकल्पनासिद्धेरात्मान्तरस्य न ताः कल्प्याः। न च तेषामप्यज्ञतया भानात् ताः कल्प्या इति वाच्यम्, अद्वैतवादिनस्तद्भेदभानस्य प्रामाणिकत्वाभावादप्रामाणिकस्य चैकाविद्याभिरेव सिद्धेर्नान्यस्याविद्याः कल्पनीयाः।

किं च यथान्तरेणैवार्थान्तरमविद्यान्तरं च स्वप्ने चराचरं जगत् त्वदविद्ययैव ते भाति, तथा जाग्रत्यपि किं न भायात्? अपि चोत्पन्नविद्यस्यात्मान्तरमोहस्तत्कार्याणि भान्ति? न वा? आद्ये निवृत्ताविद्यस्यापि

दित्याह—**मैवम्; व्यवस्थाया इत्यादिना। अद्वैतवादिन इति।** ये ते अज्ञाः प्रतीयन्ते तद्भेदस्याप्याविद्यत्वात् सकलकल्पनाकल्पिकाविद्यानामेकचैतन्यगतानामेव कल्पनात् स्थितिरित्यर्थः।

किञ्च नाविद्यावत्तया व्यवहारमात्रादविद्याभेदक्लृप्तिः, नापि दृश्यभेदादविद्याभेदः, स्वप्ने व्यभिचारादित्याह—**किंचेति।** किंचानेकजीवकल्पनायामपि गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिः समानेत्याह—**अपि चेति।** किंचानेकजीववादिनापि त्वया

अपारमार्थिक होने पर एक ही उस अविद्या से व्यवस्था की सिद्धि होने से अविद्या भेद की कल्पना व्यर्थ है। अन्यथा = एक से कार्य की सिद्धि होते अनेक की कल्पना हो, तो एक आत्मा के अनन्त भेद के भान (ज्ञान) के लिये अनन्त अविद्या कल्पनीय होगी। यदि कहें कि एक जीवात्मा के अनन्त अविद्या कल्प्य हो, दोष क्या है, तो कहा जाता है कि एक आत्मा के अनन्त अविद्या होने पर उसीसे सब कल्पना की सिद्धि हो सकती है। अतः आत्मान्तर की वह अविद्या कल्पनीय नहीं होगी। यदि कहें कि उन आत्मान्तरों की अज्ञ रूप से प्रतीति होती है, अतः उनकी वह अविद्या पृथक् कल्पनीय है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि अद्वैतवादी के मत में उस अज्ञ के भेद के भान को प्रामाणिकत्व के अभाव से और अप्रामाणिक भेद की एक जीव की अविद्याओं से ही सिद्धि होने से अन्य की अविद्या कल्पनीय है।

और जैसे अर्थान्तर के बिना ही और अविद्यान्तर के बिना ही स्वप्न में चराचर जगत् आपकी अविद्या से ही आपको भासता प्रतीत होता है, वैसे ही जाग्रत् में भी क्यों न भास होगा। और अनेक जीव कल्पना करने पर भी गुरु शिष्यादि व्यवस्था की अनुपपत्ति है, क्योंकि जिस जीव को विद्या उत्पन्न हो गई है। उसको आत्मान्तर मोह और मोह के कार्य भासते हैं, या नहीं। प्रथम पक्ष में निवृत्त अविद्या वाले को भी भेद के भान (ज्ञान) रहते विभुस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति

भेदभाने न भूमलक्षणब्रह्मप्राप्तिः । द्वितीये तु शिष्याद्यभानात् गुरोरुपदेशादिक्रिया न भवेत् । किं चैकस्य मोहो मोहान्तराणां तत्कार्याणां च भानहेतुः ? उत कल्पकः ? नाद्यः, मोहस्य प्रकाशरूपत्वाभावात् । न द्वितीयः, त्वन्मोहकल्पितस्य संप्रतिपन्नत्वन्मोहकल्पितवत्, अन्यमोहत्वतत्कार्यत्वानुपपत्तेः । न चान्यमोहकल्प्यत्वम्, क्लृप्तत्वात् । न च त्वत्कल्पितस्यान्यमोहकल्पकत्वम्, कल्पितत्वात् रजतादिवत् । मोहान्तरतत्कार्याणां च स्वात्म-

---

त्वद्व्यतिरिक्तजीवतदज्ञानादिप्रतिभासस्तेषां पारमार्थिको नेष्यते, तथाच त्वदविद्यानिर्मितत्वं वक्तव्यम्, त्वद्दृश्यत्वात् तथाप्यप्रकाशकत्वात् कल्पकत्वमेव त्वदविद्याया वक्तव्यम्, तथा चान्यमोहादित्वहानिः त्वन्मोहादित्वसिद्धिश्चेत्याह—**किञ्चैकस्येत्यादिना** । नन्वन्यमोहेनापि कल्प्यत्वादन्यमोहजन्यत्वमप्यस्ति, तत्राह—**न चान्येति** । **क्लृप्तत्वात्**, त्वन्मोहेनेति शेषः । इतरथानवस्थानात् । किंच त्वन्मोहकल्पितस्य मोहान्तरस्य स्वातन्त्र्येणान्यकल्पकत्वमपि नास्तीत्याह **न च त्वत्कल्पितस्येति** । दूषणान्तरमाह—**मोहान्तरेत्यादिना** । विमतमोहतत्कार्याणि देवदत्तीयानि दृश्यत्वात् संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । अथान्यदृश्यत्वाद्वैपरीत्यमपि शक्यानुमानम्, न, हेतुदृष्टान्तयोरसिद्धेरित्याह—**अन्यमोहेत्यादिना** । स्वपक्षे दृष्टान्त-

---

नहीं हो सकती है। दूसरे पक्ष में तो शिष्यादि के अभाव से (अज्ञान से) गुरु की उपदेशादि क्रिया (व्यवहार) नहीं सिद्ध हो सकेगी। और एक जीव का मोह-मोहान्तरों के और उनके कार्यों के मानव हेतु होता है, या उनका कल्पक = साधक होता है। आद्य पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि मोह के प्रकाश रूपत्व के अभाव से उसमें भान हेतुत्व नहीं हो सकता है। परापक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि तुम्हारे मोह से कल्पित को निश्चित तेरे मोहकल्पित के समान अन्य मोह को तेरे मोह कार्य के कल्पकत्व की अनुपपत्ति है, अर्थात् एक जीव का मोह जैसे अपने कार्य को उत्पन्न करता है, वैसे ही दूसरे जीव का मोह अपने कार्य को उत्पन्न करता है, एक जीव का मोह दूसरे जीव के मोह का उसके कार्यों का कल्पक साधक नहीं हो सकता है। अतएव किसी मोह में अन्य मोह कल्प्यत्व (साध्यत्व) नहीं रहता है, क्योंकि कल्पना के हेतु मोह में प्रथम से क्लृप्तत्व (सिद्धत्व) रहता है। अतएव तुम से कल्पित अन्य मोह को अन्य मोह कल्पकत्व नहीं हो सकता है, रजतादि के समान कल्पित होने से, अर्थात् एक के मोह से कल्पित रजतादि में अन्य से कल्पितत्व नहीं होता है, तैसे एक से कल्पित मोह या उसके कार्य में अन्य से कल्पितत्व नहीं हो सकता है। अतएव एक मोह-मोहान्तर या उसके कार्यों का कल्पक नहीं होता है। और दूसरे जीव के मोह का कार्य अन्य आत्मा का दृश्य (विषय) नहीं हो सकता है, क्योंकि मोहान्तर के कार्यों को स्वात्मा के दृश्य होने पर, उस

दृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत् तन्मोहत्वं तत्कार्यत्वं च स्यात्। अन्यमोहतत्कार्याणां चान्यदृश्यत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात्, स्वमोहतत्कार्याणां च स्वदृश्यत्वस्योभयवादिसिद्धत्वात्। न चेन्द्रजालादेर्बहुमोहकल्पितस्य बहुद्रष्टृकस्यैकस्य प्रसिद्धत्वात् दृष्टान्तसिद्धिः, तत्तन्मोहकल्पितस्य तत्तद्दृष्टस्य च भिन्नत्वात्। तदेव मया दृष्टं मयादृष्टमिति संवादस्य चैकरूपभ्रमोत्पादात् तन्निमित्तहर्षशोकादिकार्याणामेकरूपत्वाच्चोपपत्तेः, एकदृष्टौत्पातिकसवितृसुष्याऽदावन्येषां विसंवादादेकमोहकल्पितत्वस्य सिद्धेः, एकस्यैव प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वे चैकस्य धिया तन्नाशे सर्वमुक्तिरनाशेऽप्येकस्याप्यमुक्तिः, न

सिद्धिमाह—**स्वमोहेति**। ननु मायाविप्रदर्शितप्रासादादिनिगरणादेर्मोहविकल्पितस्यापि बहुदृश्यत्ववदत्राप्यन्यमोहादेरन्यदृश्यत्वं किं न स्यात्? तत्राह—**न चेन्द्रजालेति**। तत्रापि प्रतिपुरुषं भिन्नमेव दृश्यमित्यर्थः। तर्हि संवादः किंनिबन्धनः? तत्राह—**तदेवेति**। अथ केन बलेन प्रत्यभिज्ञा बाध्यत इति, अन्यत्र मोहकल्पितस्यासाधारण्यदर्शनादित्याह—**एकदृष्टेति**। एकमोहकल्पितस्य दृष्टान्तस्य सिद्धिर्याऽनेन समर्थ्यते। दूषणान्तरमाह—**एकस्यैवेति**। स्यादेतद्यस्य मोहो नष्टस्तं प्रति प्रपञ्चोऽपि नष्ट एव इतरं प्रति चानष्ट इत्यस्तु, नच विरोधलेशगन्धोऽपि, कल्पित-

---

मोहान्तर को और उसके कार्यों को भी निश्चित अपने मोह और मोहकार्य के समान आत्ममोहत्व और आत्ममोहकार्यत्व प्राप्त होगा, उनमें परकीयत्व नहीं रहेगा। और अन्य के मोह तथा मोहकार्यों को अन्य का दृश्य होना यह कहीं निश्चित नहीं है। और अपने मोह और उसके कार्यों में स्वदृश्यत्व उभयवादी से सिद्ध है। यदि कहें कि एक मायावी से प्रदर्शित मोह कल्पित इन्द्रजाल को जैसे अन्य लोग देखते हैं, वैसे अन्य मोहादि को अन्य दृश्यत्व होगा, क्योंकि बहुत द्रष्टा वाला और बहुतों के मोह से कल्पित एक इन्द्रजालादि के प्रसिद्ध होने से दृष्टान्त सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इन्द्रजाल में भी तत्तत् द्रष्टा के मोह से कल्पित तत्तत् दृष्ट वस्तु के भिन्न होने से एकत्व का अभाव रहता है। परन्तु एकरूप वाले भ्रम की उत्पत्ति से वही मैंने देखा, वही मैंने देखा इस संवाद की सिद्धि होती है, और तन्निमित्तक हर्षशोकादि कार्यों की भी एक रूपत्व से सिद्धि होती है। और एक से दृष्ट औत्पातिक = अशुभसूचक सूर्य छिद्रादि में अन्य के विसंवाद से (संवाद के अभाव से) एक मोह कल्पितत्व की सिद्धि होती है। प्रकृत में एक ही प्रपञ्च को बहुत के मोह (अज्ञान) से कल्पित होने पर, एक की धी (ज्ञान) से उस प्रपञ्च के नाश होने पर सबकी मुक्ति प्राप्त होगी, और एक के ज्ञान से नाश नहीं होने पर एक की भी मुक्ति नहीं होगी। यदि कहें कि एक ही प्रपञ्च

चैकमेव पुरुषभेदेन नष्टमनष्टं चेति युक्तम्, विरोधात्। अविरोधे वा तमेव प्रति युगपदेकमेव नष्टमनष्टं च स्यात्। द्विचन्द्रादेश्च युगपन्नष्टानष्टत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात्। भ्रान्तपुरुषभेदेन तस्यापि भेदात्। तस्मान्नाविद्याभेदो नापि तद्भेदाज्जीवभेदसिद्धिरिति स्थितम्।

अत्रोच्यते—यस्तावदेकैवाविद्येति पक्षे दोषः, सोऽनभ्युपगमादेव परास्तः, ब्रह्मण एवैकस्य तत्तदनाद्यनन्ताविद्यावच्छेदेनानन्तजीवनिर्भासास्पदत्वाभ्युपगात्। सति च कल्पके कल्पनागौरवस्यादोषत्वात्, एकस्यापि च

स्यान्नित्यस्वभावत्वादिति, तत्राह—**न चैकमेवेति**। ननु बहुदृष्टद्विचन्द्रादावप्येवंभाव इति, नेत्याह—**द्विचन्द्रेति**। अनेकजीवदूषणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

समाधातुमुपक्रमते—**अत्रेति**। ननु तर्हि कल्पनागौरवमुक्तम्, तत्राह—**सति चेति**। तर्ह्येकस्याप्यनेकाविद्याः कल्प्येरन् तत्कार्यभ्रमाणां विभिन्नत्वादिति, ओमित्याह—**एकस्यापीति**। एकजीववादिभिरप्ययमर्थोऽङ्गीक्रियत इत्याह—

मोहरहित के प्रति नष्ट होता हुआ भी मोह से रहित के प्रति अनष्ट रहता है, अतः एक के ज्ञान से सब का मोक्ष नहीं होता है, तो कहा जाता है कि एक ही को पुरुषभेद से नष्ट और अनष्ट कहना युक्त नहीं है। क्योंकि एक को एक काल में नष्ट और अनष्ट होना विरोध से सम्भव नहीं है। और यदि नष्ट-अनष्ट में अविरोध हो, तो जिस एक पुरुष के प्रति प्रपञ्च नष्ट होता है, उसीके प्रति एक ही काल में एक प्रपञ्च नष्ट और अनष्ट भी होगा, तो मोहाभाव का प्रसङ्ग रहेगा ही। और वह मोह कल्पित द्विचन्द्रादि के युगपद् नष्टानष्टत्व की अनुभूति भी नहीं होती है। क्योंकि भ्रान्त पुरुष के भेद से वहाँ भी कल्पित का भेद रहता है। अतः अविद्या का भेद नहीं है, न अविद्या के भेद से जीव के भेद की सिद्धि हो सकती है, यह स्थित हुआ।

अत्रोच्यते = अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि, जो प्रथम एक ही अविद्या है, इस पक्ष में दोष कहा है, वह दोष तो एक अविद्या के अस्वीकार से ही निरस्त है। क्योंकि एक ही ब्रह्म की तत्तत् अनादि, अनन्त अविद्या के भेद से अनन्त जीवरूप से प्रतीति विषयत्व को माना जाता है। और अनेक अविद्या पक्ष में कल्पना गौरव दोष कहा था, वह युक्त नहीं, क्योंकि कल्पक हेतु के रहते कल्पनागौरव दोष नहीं गिना जाता है, यदि कहें कि एक जीव को भी अनेक भ्रम होता है, अतः भ्रमभेद से एक में भी अनेक-अनेक अविद्या की कल्पना प्राप्त होगी, तो कहा जाता है कि एक जीव के अनेक अविद्या का सद्भाव माना ही जाता है, यह अनिष्ट नहीं है। इष्ट सिद्धिकार ने भी (जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही उससे निवर्त्य अज्ञान रहते हैं) इसप्रकार से अनेक अविद्या का स्वीकार किया है। यदि कहें कि भेदप्रतीति

जीवस्यानेकाविद्यासद्भावाभ्युपगमात्। इष्टसिद्धिकारैरपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यनेकाविद्यास्वीकारात् नन्वपारमार्थिकत्वे भेदभानस्यैकाविद्ययैव तत्सिद्धेरविद्यान्तरकल्पना व्यर्था। न व्यर्था, विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धेरेव प्रयोजनत्वात्। एकाविद्यापक्षेऽपि स्वप्न इव व्यवस्था सिद्ध्यत्येवेति चेत्, तत्किं स्वप्नकल्पिकैवाविद्या जाग्रद्व्यवहारकल्पिका? उतान्या? आद्ये प्रबोधे स्वप्नकल्पकाविद्यानिवृत्तौ जाग्रद्व्यवहारोऽपि सर्वो निवर्तेतेति विनैव ब्रह्मविद्यां मुक्तिः स्यात्। अनिवृत्तौ वाऽविद्यायास्तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ दृष्टान्ताभावाद् ब्रह्मज्ञानादज्ञाननिवृत्तिर्न

इष्टसिद्धीति। पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—नन्वित्यादिना। नन्वियमपि व्यवस्थैकाविद्यया शक्यसंपादेत्याशङ्क्य स्वप्नजाग्रत्प्रतिबन्द्या परिहरति—तत्किं स्वप्नेत्यादिना। ननु निवर्ततां नाम स्वप्नव्यवहारनिवर्तकप्रबोधेन जाग्रद्व्यवहारोऽपि किं नश्छिन्नमिति, तत्राह—विनैवेति। यद्यपि जागरावस्थायां तद्विरोधिबाधकोदयेऽपि तस्य न निवृत्तिः, तथापि तत्त्वज्ञानादज्ञाननिवृत्तावस्ति दृष्टान्तान्तरमिति शङ्कते—

के अपारमार्थिक होने पर एक अविद्या से ही उस भेद की सिद्धि होने से अविद्यान्तर की कल्पना व्यर्थ है, तो कहा जाता है कि व्यर्थ नहीं है। क्योंकि ज्ञानी अज्ञानी गुरु शिष्य बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था की सिद्धि ही उस अविद्या भेद का प्रयोजन (फल) है। यदि कहें कि एक अविद्या पक्ष में भी स्वप्न के समान उक्त व्यवस्था की सिद्धि हो ही जायगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, क्या वह स्वप्नकल्पिका अविद्या ही जाग्रद् व्यवहार की कल्पिका = कल्पना वाली होगी, या अन्य होगी। प्रथम पक्ष में जागने पर, स्वप्नकल्पक अविद्या की निवृत्ति होने पर, जाग्रत् के सब व्यवहार भी स्वप्न व्यवहार के तुल्य ही निवृत्त हो जायंगे। और ब्रह्मविद्या के बिना ही मुक्ति होगी। क्योंकि स्वप्नकालिक अविद्या ही जाग्रत व्यवहार और बन्ध का हेतु थी, जागने से उस अविद्या के नाश होने के कारण उसके कार्य रह नहीं सकते हैं। यदि जाग्रत के ज्ञान से स्वप्नकालिक अज्ञान का नाश नहीं हो, तो उस अज्ञान की अनिवृत्ति पक्ष में अविद्या की तत्त्व ज्ञान से निवृत्ति में दृष्टान्त के अभाव से वह्म ज्ञान से भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं सिद्ध होगी। यदि कहें कि तत्त्वज्ञान के विरोधी अग्रहण = अज्ञान और भ्रम = मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति शुक्ति ज्ञान से देखी जाती है। इसीप्रकार से ब्रह्मतत्त्व ज्ञान के विरोधी अज्ञान की ब्रह्मतत्त्व ज्ञान से निवृत्ति समझी जा सकती है। तो कहा जाता है कि क्या यह आपका अनुमान है, या अर्थापत्ति है। अथवा दृष्टान्त के दर्शन से सम्भावना मात्र है। प्रथम पक्ष में (विमतं = अविद्या तत्कार्यम्। तत्त्वज्ञान निवर्त्यम्। तत्त्वज्ञान

सिध्येत् । ननु तत्त्वावभासविरोधिनोरग्रहणमिथ्याज्ञानयोः शुक्त्यादितत्त्वज्ञानान्निवृत्तेर्दृष्टत्वाद्ब्रह्मतत्त्वावभासविरोधिनोऽज्ञानस्य ब्रह्मतत्त्वज्ञानान्निवृत्तिरवगन्तुं शक्यत इति चेत्, किमिदमनुमानम् ? आहोस्विदर्थापत्तिः ? अथवा दृष्टान्तदर्शनात् संभावनामात्रम् ? आद्ये तेनैवाज्ञानेनानैकान्तता, प्रबोधेऽपि तस्य निवृत्त्यनभ्युपगमात् । न द्वितीयः, ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेणैव तत्त्वावभासविरोधित्वस्य स्वप्नाविद्यावदुपपत्तेः । न तृतीयः, स्वप्नाविद्यावद्वैपरीत्यस्यापि संभवात् । अथ श्रुतिप्रामाण्यात् ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्यध्यवसायः, तर्हि 'भूयश्चान्ते विश्वमाया' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यादनेकान्यज्ञानानि

ननु तत्त्वेति। **तेनैवेति**। स्वप्नाज्ञानेनेत्यर्थः। तस्यैव विवरणं **प्रबोधेऽपीति**। विमतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यं तत्त्वावभासविरोधित्वात् संप्रतिपन्नवदिति ह्यनुमानम्, तच्चेदमनैकान्तिकं स्वप्नाज्ञाने इत्यर्थः। अर्थापत्तिपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। तत्त्वावभासविरोधित्वं हि तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वकल्पकम्। एतच्चानिवर्त्यत्वेऽप्युपपन्नं जागरप्रपञ्चवदित्यर्थः। **स्वप्नाविद्यावदिति**। स्वप्नजागरकल्पकाविद्यावदिति विवक्षितम्। संभावनापक्षं दूषयति —**न तृतीय इति**। वैपरीत्येऽपि दृष्टान्तोऽस्तीत्यर्थः। न वयं युक्तिबलात्कल्पयामः येनैते दोषाः प्रादुःष्युः किंतु; 'तरति शोकमात्मवि'दित्यादिश्रुतिबलात्तत्त्वज्ञानमज्ञाननिवर्तकमित्यवगच्छाम इति शङ्कते —**अथेति**। परिहरति—**तर्हीति**। अत्र हि विश्वशब्दान्मायाबाहुल्यं पुनः शब्दपर्यायभूयःशब्दात् क्रमान्निवृत्तिश्च प्रतीयत इत्यर्थः। तदेवं स्वप्नकल्पकाविद्याव्यतिरिक्ताविद्याकल्प्यत्वं

विरोधित्वात्, शुक्ति-अज्ञानवत्) इस हेतु का उस स्वप्न अज्ञान ही में अनैकान्तिकत्व है। हेतु के रहते भी उसकी जाग्रत् तत्त्वज्ञान से निवृत्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि वह जब जाग्रत् व्यवहारादि का हेतु है, तो उसके नाश से व्यवहारादि का अभाव प्राप्त होगा। अतः जाग्रत् में भी उसकी निवृत्ति नहीं मानी जाती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान से निवर्त्यत्व (नाश्यत्व) के बिना ही ब्रह्माऽज्ञान में तत्त्वावभास के विरोधित्व की स्वप्नाऽविद्या के समान सिद्धि हो सकती है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि स्वप्नज्ञान के समान विपरीतता (तत्त्वज्ञान से अनिवर्तता) का भी सम्भव हो सकता है। अर्थात् स्वप्न की अविद्या तत्त्वावभास के विरोधी होते भी जैसे प्रबोध = जाग्रत् ज्ञान से निवृत्त नहीं होती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान के ब्रह्मज्ञान के विरोधी होते भी ब्रह्मज्ञान से निवृत्त नहीं होगा। यदि (तरति शोकमात्मवित्) इत्यादि श्रुतिप्रामाण्य से ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति का निश्चय करते हैं। तो (भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः) इत्यादि श्रुतिप्रामाण्य से अनेक अज्ञान और उनकी क्रम से निवृत्ति भी स्वीकर्तव्य है, क्योंकि इस श्रुति में विश्व शब्द से माया

तन्निवृत्तयश्च क्रमेणेति स्वीक्रियताम्। द्वितीये तु तवाप्यनेकाविद्याकल्पना-दोषस्तदवस्थः। कार्यभेददर्शनस्य तत्कल्पकस्य भावाददोष इति चेत्, तर्हि किं भेददर्शनं पारमार्थिकम्? उत न? आद्ये विरोधान्न कल्पनासिद्धिः। द्वितीये त्वेकयैव तत्सिद्धेर्व्यर्थानेकाविद्याकल्पनेति त्वदुक्ता दोषास्त्वामेवोपहन्युः। कल्पितत्वाविशेषेऽपि किंचिद्व्यावहारिकं यद्देहाद्यात्मभावादिनिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्तमनुवर्तते, किंचित्प्रातिभासिकं यत्प्रमातृत्वादिव्यवहारे सत्येव निवर्तत इत्यवान्तरभेदसिद्धये अविद्याभेदः कल्पनीय इति चेत्, तर्हि—

अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत्स्वप्नविभेदिना।
यथा तथैव कल्प्यन्तामनन्ताः सति कल्पके॥ ६॥

ममापि मुक्तामुक्तादिरूपेण व्यावहारिकानन्तजीवानां शुकवामदेवपरा-

---

जागरस्येति द्वितीयः पक्षः परिशेषितः। संप्रति तस्मिन् स्वसाम्यमाह—**द्वितीये त्विति**। उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ।

ननु स्वप्नजागरयोः कल्पितत्वाविशेषेऽप्यवान्तरवैलक्षण्याद्विलक्षणाविद्यापरिकल्पितत्वमिति शङ्कयित्वापि साम्यं श्लोकेनाह—**अविद्येति**। **तर्हीति** च श्लोकस्योपकारः। सति कल्पक इत्येतद्विवरणपूर्वकमुत्तरार्धं विवृणोति—**ममापीति**।

के बहुत्व की और भूयः शब्द से क्रम से निवृत्ति की प्रतीति होती है। स्वप्नकल्पक अविद्या से भिन्न अविद्या जाग्रत् का कल्पक है, इस द्वितीय पक्ष में तो आपको भी अनेकाऽविद्या की कल्पना रूप दोष तदवस्थ है। यदि कहें कि कार्यभेद का दर्शन रूप उस अविद्या के कल्पक के भाव (सत्त्व) से दोष नहीं है। तो कहा जाता है कि वह भेददर्शन पारमार्थिक है, या नहीं। प्रथम पक्ष में विरोध होने से कल्पना की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि पारमार्थिक दर्शन, अविद्यामूलक कल्पना का विरोधी होता है। दूसरे पक्ष में तो एक ही अविद्या से कल्पित कार्यों की सिद्धि होने से अनेक अविद्या की कल्पना व्यर्थ है, यह आप से उक्त ही दोष आपका उपघात करेगा। यदि कहें कि स्वप्न और जाग्रत् पदार्थों में कल्पितत्व के तुल्य होने भी कुछ व्यावहारिक है कि जो देहादि में आत्मभावादि के निवर्तक आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त रहता है। और कुछ प्रातिभासिक है कि जो प्रमातृत्वादि व्यवहार के रहते ही निवृत्त हो जाता है, वहाँ इस प्रकार के अवान्तर भेद की सिद्धि के लिये अविद्या का भेद भी कल्पनीय है। तब तो—

जाग्रत् स्वप्न के भेदजनक अनेक अविद्या की जैसे कल्पना की जाती है, वैसे ही कल्पक के रहते अनन्त अविद्या कल्पनीय है॥ ६॥

अर्थात् मेरे मत में भी मुक्तामुक्तादि रूप से व्यावहारिक अनन्त जीव शुक,

शरप्रभृतीनां प्रतिभासनात्तदुपपत्तये तत्तद्धेतुभूतानेकाविद्याभ्युपगमेऽपि न दोषः। न चाद्वैतवादिनो मानतस्तेषामभावात्, भ्रान्तिसिद्धानां चैकयैवाविद्यया सिद्धेर्नानन्ताविद्याकल्पना युक्तेति वाच्यम्, विकल्पासहत्वात्। तत्किं तत्त्वावेदकमानस्यागम्यत्वम्? उत व्यावहारिकस्य? न प्रथमः, जाग्रत्स्वप्नव्यवहारभेदस्यापि तथात्वेन तवाप्यविद्याभेदस्यासिद्धेः। न चरमः, जीवभेदानामनुमानादिव्यावहारिकमानसिद्धत्वस्येष्टत्वात्। एतेन स्वप्ननिदर्शनेनैकाविद्ययैवालमिति प्रत्यवस्थानं परास्तम्। यश्चोत्पन्नविद्य-

---

कृतसमाधानमप्याक्षेपमनूद्य भङ्ग्यन्तरेण समादधाति—**न चाद्वैतेत्यादिना**। **जाग्रत्स्वप्नेति**। यत्तत्त्वावेदकमानागम्यं तदेकाविद्याकल्पितमिति नापि ते व्याप्तिः, जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यभिचारादित्यर्थः। व्यावहारिकप्रमाणागम्यत्वमसिद्धमित्याह—**न चरम इति**। **एतेनेति**। व्यावहारिकप्रमाणगम्यत्वेनेत्यर्थः। दूषणान्तरमप्यनूद्य

वामदेव, पराशरादि का प्रतिभास (ज्ञान) होता है, अतः उनकी सिद्धि के लिये तत्तत् प्रतिभास के कारणस्वरूप अनेक अविद्या के स्वीकार में कोई दोष नहीं है। और जो कहा है कि अद्वैतवादी को प्रमाण से तो उन अनेक जीवों का भाव है नहीं। अर्थात् श्रुतिप्रमाण से तो भेदों का अभाव ही सिद्ध होता है। और भ्रान्ति से सिद्ध जीवादिभेदों की एक ही अविद्या से सिद्धि हो सकती है, अतः अनन्त अविद्या की कल्पना युक्त नहीं है, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि, क्या वह जीवभेद तत्त्वावेदक (सत्य का बोधक) प्रमाण का अगम्य = अविषय है। या व्यावहारिक प्रमाण का अविषय है। अर्थात् उसमें किससे अगम्यत्व है, पारमार्थिक प्रमाण से, या व्यावहारिक प्रमाण से। प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जाग्रत् स्वप्न व्यवहारभेद को भी तत्त्वावेदक मान से अगम्यत्व होने से तुम्हारे मत में भी अविद्या के भेद की सिद्धि नहीं होगी। अर्थात् जो तत्त्वावेदक प्रमाण से अगम्य हो, वह एक अविद्या से कल्पित हो, यह नियम आपके मत में भी नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि जाग्रत् स्वप्न में तत्त्वावेदक प्रमाण गम्यत्व है, और एक अविद्या कल्पितत्व नहीं है। अन्तिम पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि जीव भेदों को अनुमानादि व्यावहारिक प्रमाणों से सिद्ध माना जाता है, अतः व्यावहारिक प्रमाण गम्यत्व नहीं होने से एक अविद्या कल्पितत्व भी नहीं हो सकता है। (एतेन) = इस व्यावहारिक प्रमाण गम्यत्व से ही, स्वप्न दृष्टान्त से एक अविद्या से ही अलम् = पर्याप्त है, सब भेद एक अविद्या से सिद्ध हुआ है, अनेक अविद्या की आवश्यकता नहीं है, ऐसा प्रत्यवस्थान = विरोध परास्त हो

स्याविद्यान्तरतत्कार्याणां भानाभानयोर्दोष उद्भावितः, स परस्यापि तुल्यः, त्वन्मते विदुषां द्वैतभाने भूमलक्षणब्रह्मप्राप्त्याभावप्रसङ्गात् । अभाने च यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्, भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ संपद्यत' इति सूत्रविरोधात्, अविद्यालेशस्वीकारवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । न चाविद्यान्तराणां तत्कार्याणां च तदविद्यात्वं तत्कल्पितत्वं चान्तरेणैव तस्य भानानुपपत्तिः, त्वदभ्युपगताविद्यान्तरतत्कार्ययोरपि पर्यनुयोगसाम्यात्स्वप्नाविद्यातत्कार्याणां जाग्रदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं चान्तरेण भानाभ्युपगमात् ।

साम्येन परिहरति **यावदधिकारमिति** । आधिकारिकाणामधिकारनिर्वर्तकानां सहस्राक्षसहस्ररश्मिव्यासवसिष्ठप्रभृतीनां यावदधिकारमेवावस्थितिः । अधिकारे तु परिसमाप्ते इहैव कैवल्यं प्राप्नुवन्ति, तेषां जीवन्मुक्तिसाधनद्वारा ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकफलत्वनिरासफलमधिकरणं भोगेनेति, **इतरे** प्रारब्धफले पुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा **संपद्यते** विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । यदि च प्रतिबुद्धतत्त्वस्य द्वैतभानमेव न स्यात् तदाऽविद्यालेशस्वीकारोऽपि वृथैकजीववादिनामित्याह—**अविद्येति** । पूर्वपक्षाशयं दूषयति—**न चाविद्यान्तराणामिति** । एवं वदतोऽव्यवस्थैव स्यात् त्वन्मोहादीनामप्यन्यमोहादित्वस्यैव शक्यसाधनत्वादित्यर्थः । पर्यनुयोगसाम्यमेव दर्शयति—**स्वप्नेति** । शक्यते हि वक्तुम् जागरेऽपि स्वप्नत्वं दृश्यत्वात्स्वप्नवदिति ।

गया । और जो उत्पन्न विद्या वाले ज्ञानी के अविद्यान्तर और उसके कार्यों के भान तथा अभान पक्षों में दोष उद्भावित = सिद्ध किया था, यह उस प्रतिवादी के मत में भी तुल्य दोष है । क्योंकि तेरे = प्रतिवादी के मत में भी विद्वानों को द्वैत के भान रहते विभुस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति का अभाव प्राप्त होगा । और विद्वान् को द्वैत का भान नहीं होता है, इन अभान पक्ष में (यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् । भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते) इन्द्र, सूर्यादि अधिकारी = नेता पुरुषों की अधिकार = स्वकर्तव्य पर्यन्त लोक में स्थिति रहती है । अधिकार की समाप्ति होने पर मुक्त होते हैं । भोग से इतर प्रारब्ध पुण्य-पाप को नष्ट करके विदेह मुक्ति को प्राप्त करते हैं । इन सूत्रों से विरोध होगा, क्योंकि ये सूत्र ज्ञानी के भेददर्शन व्यवहारादि को समझाते हैं । और यदि ज्ञानी को भेद का भान नहीं हो, तो अविद्यालेश का स्वीकार करना व्यर्थ होगा । और अविद्यान्तर तथा उसके कार्यों के तदविद्यात्व = कल्पक दर्शक अविद्यात्व तथा तत्कल्पितत्व के बिना उनके ज्ञान की ही अनुपपत्ति है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि तुम से अभिगत (ज्ञात) अविद्यान्तर और उसके कार्य में भी पर्यनुयोग (शंका) की समता है । अर्थात् तेरे अज्ञान और उसके कार्य को जो समझेंगे, उन अन्य के मोहादित्व तेरे मोहादि में भी प्राप्त होगा, इससे कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी । और स्वप्न के अविद्या और उसके कार्यों को, जाग्रत् के अविद्यात्व तथा जाग्रत् अविद्या के कार्यत्व के बिना भी जाग्रत् में भान माना जाता

यच्चाविद्यान्तरतत्कार्याणामन्यदृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत् तदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं च स्यादिति, तदपि जाग्रत्स्वप्नकल्पकाविद्याभेदेनैव व्याख्यातम्, एकपुरुषसंबन्धित्वेऽपि परस्परं भेदात्. अस्माभिरप्यविद्यानामेव ब्रह्मसंबन्धित्वाभ्युपगमाच्च । इन्द्रजालादिनिदर्शनं च पूर्वोक्तन्यायेन परास्तम्, परकल्पितस्य परं प्रत्यपरोक्षत्वाभावेऽपि परोक्षतावभाससंभवस्योक्तत्वात् । एतेन सवितृसुषिरनिदर्शनमपि परास्तम् । तत्रापि तद्वचनात् परोक्षत्वो-

---

अत्रापि यथा तयोरसंकरस्तद्वदत्रापीत्यर्थः ।

यच्चान्यदृश्यत्वे बाधकमुक्तम् तदप्यनूद्य दूषयति—**यच्चेति** । अतिदेशमेव विशदयति—**एकपुरुषेति** । ननु तथापि तयोरेकदृश्यत्वादेकपुरुषसंबन्धित्वमस्त्येव, तद्वद्विश्वाविद्यातत्कार्याणामपि स्यादिति तत्राह—**अस्माभिरपीति** । एकसंबन्धित्वमस्माकमपि सिद्धमित्यर्थः । यत्त्विन्द्रजालादावप्यसाधारण्यमुक्तं तत्परिहरति—**इन्द्रेति** । पूर्वोक्तन्यायमेवाह—**परेति** । यश्चेन्द्रजालादेरसाधारण्ये दृष्टान्त उक्तस्तमपि दूषयति—**एतेनेति** । कल्पितस्यैव प्रपञ्चस्यानेकसाधारणत्वगमकश्रुत्याद्याह—

है । जागने पर मनुष्य कहता है कि मैंने स्वप्न में अज्ञानमय जग्रत् को देखा था, इसीप्रकार से अन्य के अविद्या और उसके कार्य का अन्य को भान होना है, एतावता तदीय नहीं होता है, जैसे कि स्वप्न का जग्रत् जाग्रत् का नहीं होता है ।

और जो यह कहा था कि अविद्यान्तर और उसके कार्यों को अन्य के दृश्य होने पर, उस अन्य के निश्चित अविद्यात्व और उसको अविद्या के कार्यत्व हो जायगा, यह भी जाग्रत् स्वप्न के कल्पक अविद्या के भेद से ही व्याख्यात हो गया कि स्वप्न कल्पक अविद्या जाग्रत् में ज्ञात होते भी वह जाग्रत् की नहीं होती है, ऐसे ही अन्य की अविद्या अन्य के दृश्य होने पर भी जिसकी है, उसकी रहेगी, दर्शक की नहीं होगी । जाग्रत् और स्वप्न की अविद्याओं को एक पुरुष के साथ सम्बन्ध रहते भी परस्पर भेद रहता है, तो अन्य की अविद्या में कहना ही क्या है । यदि शंका हो कि स्वप्न जाग्रत् की एक पुरुष से दृश्यता होने पर, उन दोनों अविद्याओं को एक पुरुष के साथ सम्बन्ध भी रहता है, वैसे ही संसार की अविद्या और उसके कार्य को भी होना चाहिये, इस शंका का उत्तर है कि हम भी अविद्याओं के एक सर्वात्म ब्रह्म सम्बन्धित्व को मानते ही हैं, इससे एक सम्बन्धित्व सिद्ध ही है । और जो इन्द्रजालादि में असाधारणता कहा था, यह इन्द्रजालादि निदर्शन दृष्टान्त भी पूर्वोक्त न्याय से परास्त हो गया, क्योंकि परकल्पित को अन्य के प्रति अपरोक्षत्व के अभाव होते भी परोक्ष रूप से अवभास का सम्भव कहा गया है । इसीसे सूर्यच्छिद्र निदर्शन भी परास्त हो गया, क्योंकि वहाँ भी उस द्रष्टा के वचन से अन्य

पपत्तेः। तथापि गुरुशिष्ययोः परस्परमपरोक्षत्वाभावे कथमुपदेशः क्रियत इति चेत्, मैवम्, भूतभौतिकप्रपञ्चस्य कृत्स्नस्येश्वरमायाविनिर्मितत्वेऽपि सर्वापरोक्षत्वोपपत्तेः। 'यतो वा इमानि भूतानी'ति, 'अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः, जन्माद्यस्य यत' इति श्रुतिस्मृतिसूत्रभाष्यादिभिरस्यार्थस्य प्रतिपादितत्वात्। अन्यथा शुक्तिरजतादिवज्जीवाविद्यामात्रनिर्मितत्वे जगतो जीवादिकर्तृकत्वनिरासप्रयासवैयर्थ्यात्। जीवाविद्याकल्पितत्वे चेश्वरस्य जीवानामीश्वरो नियन्तेत्यादिश्रुतिस्मृतीनामप्रामाण्यप्रसङ्गात्। एकस्य प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वानङ्गीकारादेव तत्रोक्तदोषाणां दूरपरास्तत्वात्।

यत इत्यादिना। नन्वेतेभ्यः कथं साधारण्यं प्रतीयत इति, तत्राह—**जीवाविद्येति**। यदिहि कल्पितस्य साधारण्यं न स्यात् तदाऽसत्साधारणाभिर्जीवीभिरविद्याभिः परिकल्पितं स्यात्, तथा च सकलनियन्तृसाधारणपरमेश्वरकर्तृकत्वं न भवेत्, तथा च तत्प्रतिपादकश्रुत्यादिविरोधः। यश्च सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां जीवकर्तृकत्वनिरासप्रयासः कृतः सोऽपि वृथेत्यर्थः। दूषणान्तरं चाह—**जीवाविद्येति**। यस्तु बहुमोहकल्पितत्वे सत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिदोष उक्तस्तमनङ्गीकारेण परिहरति—**एकस्येति**। ब्रह्माश्रितसकलसाधारणैकमायाविजृम्भितः प्रपञ्च इत्यभिमानः। ननु प्रपञ्चस्य जीवाविद्याऽविजृम्भितत्वे जीवगततत्त्वज्ञानादनिवृत्तेरनिर्मोक्षापात इति, तत्राह—

के परोक्ष ज्ञान की सिद्धि होती है, तो भी गुरु और शिष्य के परस्पर अपरोक्षत्व के अभाव रहते उपदेश कैसे किया जाता है, ऐसा संशय हो तो कहा जाता है कि सम्पूर्ण भूत भौतिक प्रपञ्च के ईश्वर माया से विनिर्मित होने पर भी सबके अपरोक्षत्व की सिद्धि होती है, गुरु-शिष्य के व्यावहारिक स्वरूप ईश्वर माया निर्मित हैं, स्वविद्या कल्पित नहीं, अतः उनका परस्पर ज्ञान होता है, यह श्रुति कहती है कि (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते) जिससे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। स्मृति है कि (अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः) मैं = ईश्वर सब संसार का उत्पत्तिस्थान हूं। सूत्र है कि (जन्माद्यस्य यतः) इस जगत् के जन्मादि जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। इसप्रकार से श्रुति, स्मृति सूत्र भाष्यादि से इस उक्त अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा शुक्ति, रजतादि के समान जीव के अविद्या मात्र से जगत के निर्मित होने पर, संसार के जीवादि कर्तृकत्व के निराकरण का प्रयास व्यर्थ होगा। और ईश्वर को जीव की अविद्या से कल्पित होने पर, जीवों का ईश्वर नियन्ता है इत्यादि अर्थ को कहने वाले श्रुति स्मृतियों की अप्रमाणता सिद्ध होगी। और एक प्रपञ्च को बहुत के मोह से कल्पित नहीं मानने से ही जो कहा था कि बहुत के मोह से कल्पित संसार में एक के मोक्ष से सर्व को मुक्त होना चाहिये इत्यादि, यह उक्त दोष दूर निरस्त (त्यक्त) हो गये। और भूत भौतिक प्रपञ्च के

स्वीयस्वीयविद्यया च स्वस्वाविद्यानिर्मितकर्तृत्वभोक्तृत्वादेर्बन्धस्य सकारणस्य निरासेन नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाख्यब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तेरप्युपपत्तेः। ननु स्वस्वाविद्येति कथं जीवनिष्ठत्वेनाविद्या व्यपदिश्यते ? ब्रह्माश्रयत्वादविद्यानामिति चेत्, सत्यम्, ब्रह्मसंबन्धित्वेऽपि तासामवच्छिन्नजीवरूपपक्षपातितया प्रतिभानात्। दृष्टं हि लोके—मुखमात्रसंबन्धिनोऽपि दर्पणस्य प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, दृश्यते च घटस्याकाशमात्रसंबन्धिनोऽप्यवच्छिन्नाकाशपक्षपातित्वम्, तस्मान्न किंचिदवद्यमिति।

अपि च—

सूत्रभाष्यादिवाक्यानां श्रुतिस्मृतिगिरामपि।
मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्थैवाभ्युपेयताम्॥ ७॥

स्वीयस्वीयेति। असाधारणप्रपञ्चनिवृत्त्यैव मोक्षः, नतु साधारणनिवृत्त्या। विद्यमानोऽपि मुक्तं प्रति न भाति प्रविलीननिखिलकरणत्वादन्धं प्रतीव रूपादिरित्यर्थः। **स्वस्वाविद्येति**। निर्देशमाक्षिप्य समादधाति—**ननु स्वस्वेत्यादिना**। अहमज्ञ इति हि प्रतीतिः, नतु ब्रह्माज्ञमिति भावः। ननु चिन्मात्रसंबन्ध्यविद्यायाः कथं जीवपक्षपातित्वं न ब्रह्मपक्षपातित्वमिति शक्यं वक्तुम्, संबन्धाविशेषादिति, तत्राह—**दृष्टं हीति**। द्वेधा हि संप्रदायः—अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यं जीव इति वाऽविद्यावच्छिन्नमिति वा, तत्राद्यपक्ष उदाहरणमुक्तम्, अवच्छेद उदाहरणमाह—**दृश्यते चेति**।

इदानीं तु जीवातिरिक्तेश्वरमीश्वराधीनतां च जीवानां तदेकतां च सूत्रभाष्य-

---

ईश्वररचित होते भी अपनी-अपनी विद्या द्वारा अपनी-अपनी अविद्यानिर्मित कर्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप कारण सहित बन्ध के निराकरण से नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव नामक ब्रह्म की प्राप्ति रूप मोक्ष की सिद्धि होती है। यदि कहें कि स्वस्वाविद्या इस प्रकार से जीव वृत्तित्व रूप से अविद्या का निर्देश (कथन) कैसे करते हैं, क्योंकि अविद्याओं को तो ब्रह्माश्रितत्व है। तो कहना सत्य है, तो भी अविद्याओं को ब्रह्म सम्बन्धित्व होते भी अवच्छिन्न (एक देशी = अन्तःकरण युक्त) जीवस्वरूप की पक्षपातिता रूप से अविद्या का प्रतिभान (ज्ञान) होता है। अतः, अहमज्ञः, इस प्रतीति के अनुसार जीव की अविद्या कही जाती है (लोक में भी देखा गया है कि मुखमात्र सम्बन्धी भी दर्पण को प्रतिबिम्ब पक्ष पातित्व होता है। और आकाश मात्र सम्बन्धी भी घट को अवच्छिन्न आकाश पक्षपातित्व देखा जाता है। अतः इस प्रतिबिम्बवाद या अवच्छेदवाद के अनुसार नाना जीववाद में कोई दोष नहीं है।

और सूत्रभाष्यादि वाक्यों के तथा श्रुति स्मृति वचनों के भी मुख्यार्थत्व की सिद्धि के लिये व्यवस्था ही स्वीकर्तव्य है॥ ७॥

एवं च सति "नेतराऽनुपपत्तेः", "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः", "कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च", "परात्तु तच्छ्रुतेः", "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः", "यावदधिकारमवस्थितिः", "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ", "प्रकाशादिवन्नैवं परः" "असन्ततेश्चाव्यतिकरः" इत्येवमादीनि सूत्राणि तद्व्याख्यानपराणि भाष्याणि च सामञ्जस्येनोपपन्नार्थानि भवन्ति। "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च", तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारंदर्शयति भगवान् सनत्कुमारः,

---

श्रुतिभिः क्रमेण साधयति—**अपि चेति**। श्लोक विवृणोति—**एवं च सतीति**। इतरः शारीरः। 'कर्मकर्तृव्यपदेशा'दिति 'एवमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मी'तिप्राप्तृप्राप्तव्यतया जीवपरमेश्वरयोः कर्तृकर्मभावनिर्देशान्न कर्मीभूतो मनोमयत्वादिगुणकः शाण्डिल्यविद्याप्रतिपाद्यः शारीर इत्यर्थः। बद्धाबद्धव्यवस्थायामपि श्रौतलिङ्गमाह—**तद्यो य इति**। देवानां मध्ये यो यो वीप्सया चाधिकारसंपत्तौ सर्वेषामपि मुक्तिः,

---

एवं च सति (उक्त रीति से नाना जीव को मानने पर) (नेतरोऽनुपपत्तेः) इतर = जीव आनन्दमय नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें प्रकरणप्रतिपाद्य विशेष की अनुपपत्ति है। (अनुपपत्तेस्तु न शारीरः) शारीर = जीव में उपास्य गुण की असिद्धि से वह उपास्य नहीं है। (कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च तमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि), इसप्रकार से कर्मकर्तृभाव के कथन से शाण्डिल्य विद्या से प्राप्य जीव नहीं है। (परात्तु तत् श्रुतेः) जीव के कर्तृत्वादि ईश्वराधीन है, यह श्रुति से सिद्ध होता है। (कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः) पूर्वकृत कर्मापेक्षापूर्वक ईश्वर से फलादि प्राप्ति प्रवृत्ति होती है, तभी विहित प्रतिषिद्ध कर्मों की अव्यर्थता आदि सिद्ध होते हैं। (यावदधिकारमवस्थितिः) अधिकारपर्यन्त अधिकारियों की स्थिति रहती है। (पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ) ईश्वर के ध्यान से जीव के तिरोहित ज्ञानादि शक्ति प्रकट होती है, और उस ईश्वर से ही इसके बन्ध मोक्ष होते हैं। (प्रकाशादि वन्नैवं परः) सूर्यादि प्रकाश के समान जीव कर्म का सम्बन्धी ईश्वर नहीं होता है। (असन्ततेश्चाव्यतिकरः) जीव उपाधि की अव्यापकता से जीव कर्मों का व्यतिकर (संमिश्रण) नहीं होता है। इसप्रकार के सूत्रों का उनके भाष्यादि व्याख्यानों का उक्त भेद को मानने पर सामञ्जस्य = औचित्य रूप से अर्थवत्त्व सिद्ध होता है। और (देवों में जो-जो ब्रह्मात्मा को समझा वह उस ब्रह्मस्वरूप हो गया। तथा ऋषियों में, मनुष्यों में जो समझा वह ब्रह्मस्वरूप हुआ। और वह वामदेव ऋषि गर्भ ही में इस आत्मस्वरूप ब्रह्म को देखता हुआ सर्वात्मता के अनुभव को पाया कि मैं ही मनु हुआ और सूर्य हुआ।

"अभयं वै जनकं प्राप्तोऽसि", "एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज", "तद्धास्य विजज्ञौ", "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास", भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार", "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इत्येवमादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवाक्यानि च मुख्यार्थे प्रामाण्यमश्नुवीरन् । तस्मादेकमपि ब्रह्मावेकोपाधिभिरवच्छिन्नं लब्धनानाजीवभावं तत्र बद्धमिव, यत्र विद्यया अविद्योपाधिनिवृत्तिस्तत्र मुक्तमिव भवतीति नानाजीववादेऽपि बन्धमुक्तिव्यवस्थोपपद्यत इति केचिदाचार्याः प्रतिपेदिरे ।

नतु तार्किकाणामिव बद्धैकस्वभावाः केचिदिति दर्शितम् । तद्ब्रह्म प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्धवान् स एव तदभवत्, नतु स्वर्गादिष्विव भेदेन भोगमात्रम् । एवं मनुष्यादिष्वपि । **एकशतमिति** । मघवानिन्द्रः । प्रजापतौ प्रजापतिसकाशे । एकोत्तरशतं वर्षाणि ब्रह्मविद्यार्थं ब्रह्मचर्यमुवास उषितवान् । **स ब्रह्मविद्यामीति** । स ब्रह्मा ज्येष्ठपुत्रायाथर्वाय । अथर्वशब्दोऽयमकारान्तः । सर्वविद्याप्रतिष्ठां ब्रह्मविद्यां प्राह । स्मृतीतिहासादि बहिरेव द्रष्टव्यम् । अनेकजीववादमुपसंहरति—**तस्मादिति** । उपाधयोऽविद्याः । इवद्वयेन बन्धमोक्षयोरेकानेकपक्षद्वयेऽपि दुर्निरूपत्वं प्रदर्श्यते, उक्तं हि संप्रदायविद्भिः—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥" इति ।

केचिदाचार्या मण्डनमिश्रवाचस्पतिमिश्रमतावलम्बिनः ।

उस दोषरहित नारद के प्रति तम से पार वस्तु को भगवान् सनत्कुमार ने दर्शाया । हे जनक ! तुम अभय को प्राप्त हुए हो । अरे मैत्रेयि ! इतना ही अमृतत्त्व है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य ऋषि परिव्राट् हुए । वह इस आत्मा को समझा । इन्द्र ने एक सौ एक वर्ष प्रजापति के स्थान में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया । वरुण का पुत्र भृगु ने वरुण पिता के शरण में गया । वह ब्रह्मा ने सब विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्म विद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिये कहा । इत्यादि श्रुति, स्मृति इतिहास, पुराण वाक्य भी जीव के भेद को मानने पर ही अपने मुख्यार्थ में प्रमाणता को प्राप्त करेंगे । अतः एक भी ब्रह्म अनेक उपाधि से परिच्छिन्न होकर जीवभाव को प्राप्त होता हुआ वहाँ बद्ध के समान होता है, और जहाँ विद्या से अविद्या रूप उपाधि की निवृत्ति होती है वहाँ मुक्त के समान होता है । अतः नाना जीव वाद में भी बन्ध मोक्ष की व्यवस्था की सिद्धि होती है, ऐसा कोई आचार्य समझे हैं ।

का पुनरविद्यानिवृत्तिः। न तावत्सती, आत्मव्यतिरिक्तत्वे तस्याः सद्द्वैततापत्तेः। अव्यतिरिक्तत्वे चात्ममात्रत्वे सदानिवृत्तेः संसारानुपलब्धिप्रसङ्गात्। तन्मात्रत्वे चात्मनस्तस्या ज्ञानजन्यतया पूर्वमभावात्, अज्ञानस्य स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। नाप्यसति, तुच्छत्वे शशविषाणादिवत् ज्ञानाधीनत्वा-

---

सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसब्रह्मात्मनोऽविद्यया तिरोधानं बन्धः, विद्यया तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इत्युक्तम्, तत्र ब्रह्मण्यविद्याश्रयत्वविषयत्वोपपादनेन जीवापेक्षाविद्यातिरोधानरूपबन्धविधा निरूपिता। तिरोधानेन हि तत्पूर्वविपर्यासो विवक्ष्यते संप्रत्यविद्यानिवृत्तिलक्षणमोक्षतत्त्वं निरूपयत्याक्षेपसमाधानाभ्याम्—**का पुनरित्यादिना**। तत्र किं सद्रूपिण्यविद्यानिवृत्तिः। असद्रूपिणी वा? सदसद्रूपिणी वा अनिर्वचनीया वा? पञ्चमप्रकारा वा? आत्ममात्रं वा? सत्त्वपक्षेऽपि किमात्मातिरिक्ता? अनतिरिक्ता वा। प्रथमे चाह—**आत्मेति**। द्वितीये प्राह—**अव्यतिरिक्तत्वे चेति**। तत्रापि वक्तव्यं किमविद्यानिवृत्तेरात्ममात्रत्वम्? आत्मनो वा निवृत्तिमात्रत्वम्? आद्ये प्राह—**आत्ममात्रत्व इति**। आत्मनः सदातनत्वादित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**तन्मात्रेति**। अविद्यानिवृत्तेस्तात्कालिकतया तन्मात्रात्मनोऽपि तात्कालिकत्वेन पूर्वमभावादज्ञानस्य सांख्यप्रकृतिवत्स्वातन्त्र्यं स्यादाश्रयाभावात्, आत्मनित्यत्वादयश्च बहवः कुप्येरन्निति भावः। असत्त्वपक्षं दूषयति—**नापीति**। तत्रापि किं निरुपाख्यमसत्त्वेनाभिप्रेयते यथा शशविषाणादि? किंवा सोपाख्यं यथा घटाभावादि? आद्ये प्राह—**तुच्छत्व इति**। नहि उत्पत्तिस्तस्य संभवतीत्यर्थः। द्वितीये प्राह—**अभावत्वेति**। तत्रापि किं निर्वाच्यमिति पक्षः यथा तार्किकप्रभृतीनाम्? उतानिर्वाच्यमिति यथा भवन्मये शुक्तिरजतादि? उभयत्रापि क्रमेण दूषणमाह—

ब्रह्माऽज्ञान से ब्रह्म को आवृत्त करने वाली अविद्या की विद्या से निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। वहाँ शंका होती है कि वह अविद्या की निवृत्ति क्या है, अर्थात् सत् है, या असत् है, या अन्य कुछ है। वहाँ सत् तो नहीं कही जा सकती है। क्योंकि सत् उस अविद्या निवृत्ति को आत्मा से भिन्न होने पर, सत् द्वैत की प्राप्ति होगी। और उस निवृत्ति को आत्मा से अव्यतिरिक्त = अभिन्न होने पर, आत्ममात्रता के होने पर, आत्म रूप से निवृत्ति के सदा सत्त्व से संसार की अनुपलब्धि प्राप्त होगी। निवृत्ति को आत्मस्वरूप मानने पर यह दोष प्राप्त होता है। यदि आत्मा ही को तन्मात्र (अविद्यानिवृत्ति मात्र) माना जाय, तो आत्मा के तन्मात्र होने पर, उस अविद्या की निवृत्ति रूप आत्मा की ज्ञानजन्यता होने के कारण ज्ञान से पूर्व आत्मा के अभाव होने से अज्ञान (अविद्या) की प्रथम स्वतन्त्रता की प्राप्ति होगी। निवृत्ति को असत् भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शश, विषाणादि के समान तुच्छ होने पर, ज्ञानाधीनत्व = ज्ञानसाध्यत्व का असम्भव है। यदि अभाव

संभवात्। अभावत्वे च तस्य निर्वाच्यत्वे द्वैतापातात्, अनिर्वाच्यत्वे च तत्कारणाविद्यावस्थनादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। भावस्याभावो निवृत्तिरभावस्य च भावः भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्य कथमभावो निवृत्तिः स्यात्? नाप्यनिर्वचनीया, अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वापातात्। न चाविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वे निवृत्तिमत्त्वमुपाधिः, अनिर्वचनीयत्वेन निवृत्तिमत्त्वस्यापि

तस्य निर्वाच्यत्व इत्यादिना। तत्कारणेति। अविद्याकल्पिते ह्यनिर्वाच्यं नाम तथाच कार्यानिर्वाच्यस्थितौ तदुपादानेनापि स्थातव्यमित्यर्थः। नच भावाभावविलक्षणाविद्याया निवृत्तिरभाव इत्यपि युक्तिसहमित्याह—भावस्येति। भावनिवृत्तेरेवाभावत्वमभावनिवृत्तेस्तु भावत्वं प्रसिद्धं तदुभयविलक्षणाविद्यानिवृत्तिः कथमभावः स्यात्? एतच्च भावत्वेऽपि तुल्यम्। एतेन सदसद्रूपपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तः, अविद्यायाः सदसद्रूपत्वे हि तन्निवृत्तेः सदसद्रूपता स्यात्। अनिर्वचनीयपक्षं दूषयति—नापीति। ननु नानिर्वचनीयत्वस्याविद्यातत्कार्यत्वेन प्रतिबन्धः, निवृत्तिमत्त्वस्य तत्प्रयोजकत्वात्। नच निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वमस्ति, अनवस्थानादपुनरावृत्तित्वव्याकोपाच्च। अतो निवृत्तिमत्त्वं व्यावर्तमानमविद्यातत्कार्यान्यतरत्वमप्यतो व्यावर्तयतीत्यानन्दबोधाचार्योक्तं दूषयति—न चाविद्येति। साधनव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः। तत्र च बाधकं

रूप असत् कहा जाय, तो भी घटाऽभावादि के समान निर्वाच्य कहा जाय तो द्वैत की प्राप्ति होगी, अनिर्वाच्य होने पर, अनिर्वाच्य के कारण अविद्या की स्थिति की प्राप्ति होने से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होगा, अर्थात् अनिर्वाच्य अविद्या की निवृत्ति यदि अनिर्वाच्य होगी तो वस्तुतः अविद्या की निवृत्ति नहीं होगी अविद्या के अवस्थान्तर रूप होगी, और किसी प्रकार से अविद्या के रहते मुक्ति नहीं हो सकती है। और यह भी विचारणीय है कि भाव की निवृत्ति अभाव होता है, और अभाव की निवृत्ति भाव होता है, तो भावाभाव विलक्षण अज्ञान की निवृत्ति अभाव कैसे होगा, अर्थात् उभय विलक्षण की निवृत्ति न भाव रूप हो सकती है, न अभाव रूप हो सकती है। उस निवृत्ति को अनिर्वचनीय भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अनिर्वचनीय वस्तु अविद्या और उसके अन्तर्गत ही होती है। अतः निवृत्ति को भी तदन्तर्गतत्व प्राप्त होगा। यदि कहें कि अविद्या उसके कार्य के अन्तर्गतत्व में उभय अन्यतरत्व में निवृत्तिमत्त्व उपाधि (प्रयोजक धर्म) है, अनिर्वाच्यत्व नहीं, अतः अविद्या निवृत्ति के अनिर्वाच्य होते भी नैयायिकमान्य ध्वंस के समान निवृत्तिमत्त्व नहीं होने से अविद्यादि की अन्तर्भाविता नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनिर्वाच्यत्व से ही निवृत्तिमत्त्व का भी साधन (अनुमान) होगा। यदि कहें कि निवृत्ति के निवृत्तिमत्त्व होने पर अनवस्था होगी, तो कहा जाता है कि

साधनात्। न च निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वेऽनवस्था, निवृत्तिमत्प्रध्वंसपक्षे प्रध्वंसमालावदुपपत्तेः। प्रध्वंसप्रध्वंस इव प्रतियोगिनो बन्धस्यानुन्मज्जनादेवापुनरावृत्तिश्रुतेरप्यव्याकोपात्। तस्मादनिर्वचनीयत्वे अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं प्रसज्यत एव। नापि पञ्चमप्रकारा, सदसद्विलक्षणतया तस्या अप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गात्, सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमिति लक्षणाङ्गीकारात्।

ननु नेदं लक्षणं किंतु ज्ञाननिवर्त्यमनिर्वचनीयम्, न चाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञाननिवर्त्या, ज्ञानजन्यत्वात्। ज्ञानानिवर्त्यापि च सा बाधगोचराऽतो न प्रपञ्च-

---

परिहरति—**न च निवृत्तेरिति**। यथाहि प्रध्वंसध्वंसवादिनामनवस्था न दोष एवमित्यर्थः। अपुनरावृत्तित्वविरोधं परिहरति—**प्रध्वंसप्रध्वंस इति**। यथाहि उत्तरोत्तरध्वंसानामपि प्रथमपदार्थविरोधितया तथाऽनुन्मज्जनं तथाऽविद्यानिवृत्तिमालायाश्चापि प्राचीनाविद्याविरोधित्वादेव तदनुन्मज्जनादपुनरावृत्त्यविरोध इत्यर्थः। पञ्चमपक्षं दूषयति—**नापीति**। अथ सदसद्विलक्षणत्वेपि किमित्यनिर्वाच्यता? तत्राह—**सदसदिति**।

तत्र यदुक्तं न्यायरत्नावलीकारैस्तदुद्भावयति दूषयितुम्—**ननु नेदमित्यादिना**। नन्वियमपि ज्ञाननिवर्त्यैव, तत्राह—**नचेति**। स्यादेतत्—एवंविधाप्यविद्यानिवृत्तिर्दृश्या तावदभ्युपेयते आत्मव्यतिरिक्तत्वात्तथाच यदि नेयं ज्ञाननिवर्त्या तर्हि, दृश्यत्वहेतुरत्रैवानैकान्तिकमिति, तत्राह—**ज्ञानानिवर्त्यापीति**। ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्यत्

निवृत्ति वाला प्रध्वंस पक्ष में प्रध्वंस पक्ष में प्रध्वंसमाला (प्रवाह) के समान निवृत्ति माला की सिद्धि होगी। यदि कहें कि निवृत्ति की निवृत्ति से संसारापत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रध्वंस के प्रध्वंस होने पर भी प्रतियोगी की उद्भूति जैसे नहीं होती है, वैसे ही निवृत्तिप्रतियोगी बन्ध के अनुन्मज्जन = अनुद्भूति से ही अपुनरावृत्ति श्रुति से भी विरोध नहीं होगा। अतः अनिर्वचनीयत्व पक्ष में अविद्या और उसके कार्य में अन्यतर रूपता की प्राप्ति प्राप्त होता ही है। अविद्या निवृत्ति को सत्, असत्, सदसदुभय, और अनिर्वाच्य से विलक्षण पञ्चम प्रकार का मानना भी युक्त नहीं है। क्योंकि सदसद्विलक्षणता से उसको भी अनिर्वचनीयत्व ही प्राप्त होगा, सदसत् से विलक्षण होता है, वह अनिर्वचनीय होता है। यही अनिर्वचनीय का लक्षण माना जाता है।

यदि कहें कि यह सदसद्विलक्षणत्व अनिर्वचनीय का लक्षण नहीं है, किन्तु ज्ञान निवर्त्यत्व अनिर्वचनीय का लक्षण है। और अज्ञान की निवृत्ति ज्ञानजन्य होने से ज्ञान से निवर्त्य नहीं है, अतः ज्ञान से अनिवर्त्य है, भी वह आत्म भिन्न होने से

मिथ्यात्वसाधनं सव्यभिचारम् 'नेह नानास्ति किंचने'ति प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्मबाधोऽज्ञाननिवृत्तेरपि तुल्य इति चेत्, मैवम्, अज्ञाननिवृत्तेर्ब्रह्मज्ञानरूपतया तज्जन्यत्वाभावात्, 'ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वाऽज्ञानहानि'रितीष्टसिद्धिकारैरभिधानात्, विद्यैव वाऽद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते' इति ब्रह्मसिद्धिकारैरप्युक्तत्वात्, ज्ञानजन्यसंस्कारे च ज्ञाननिवर्त्ये व्यभिचारात् । ननु तत्र ज्ञानान्तरेण ज्ञानान्तरजन्यसंस्कारो निवर्तते नतु तेनैवेति वैषम्यमिति चेत्, मैवम्, ईश्वरज्ञानजन्यस्य जगतस्तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यत्वाङ्गी-

---

ज्ञानबाध्यत्वं चान्यदित्यभिमानः। अथ कथं बाध्यत्वमस्या इति, तत्राह—**नेह नानेति** । तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । नहि विरोध्युदयमन्तरेण विरोधिनिवृत्तिर्नाम्न्या दृश्यते युज्यते वेत्यर्थः । अत्राचार्यसंमतिमप्याह—**ज्ञातोऽर्थं इति** । मण्डनमिश्रसंमतिमप्याह—**विद्यैवेति** । तदस्तमयः अविद्यास्तमयः । किंच किं जात्युपाधावियं व्याप्तिः यज्ज्ञानजातीयजन्यं तत्तज्जातीयेन न निवर्त्यत इति ? किंवा व्यक्तौ ? आद्ये व्यभिचारमाह—**ज्ञानजन्येति** । द्वितीय मुद्भावयति—**ननु तत्रेति** । अत्रापि व्यभिचारमाह—**मैवमीश्वरेति** । जगत्संहारेऽपि सृष्टिवदीश्वरज्ञानं निमित्तमेवेति

बाध (मिथ्यात्व बुद्धि) का विषय होती है । अतः मिथ्यात्व का साधन (दृश्यत्व) वहाँ सव्यभिचार नहीं होता है, क्योंकि (नेह नानास्ति किञ्चन) यहाँ नाना कुछ नहीं है । इस प्रतिपन्न (निश्चित) उपाधि (अधिकरण) में निषेध स्वरूप बाध अज्ञान निवृत्ति को अज्ञानादि के तुल्य ही रहता है । यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अज्ञान निवृत्ति की ब्रह्मज्ञान रूपता से उसको ब्रह्मज्ञानजन्यत्व का अभाव है । अर्थात् अन्धकार की निवृत्ति जैसे प्रकाश स्वरूप ही होता है । वैसे ब्रह्मात्मा ज्ञान की निवृत्ति ब्रह्मात्मज्ञान स्वरूप होती है, उससे जन्य पृथग् वस्तु नहीं होती है । अत एव इष्टसिद्धिकार ने भी कहा है कि (ज्ञात अर्थ स्वरूप या अर्थ का ज्ञान स्वरूप अज्ञान की निवृत्ति होती है) और ब्रह्मसिद्धिकार ने भी कहा है कि अद्वय और शान्त स्वरूप विद्या ही उस अविद्या का अस्तमय = नाश कही जाती है) और अज्ञान की निवृत्ति ज्ञानजन्य होने से ज्ञान से निवर्त्य नहीं होगी, यह नियम नहीं है । क्योंकि ज्ञान से निवर्त्य ज्ञानजन्य संस्कार में इस नियम (व्याप्ति) का व्यभिचार है । क्योंकि पूर्व ज्ञान से जन्य संस्कार उत्तर ज्ञान से निवर्त्य होता है । यदि कहें कि वहाँ ज्ञानान्तर से जन्य संस्कार अन्य ज्ञान से निवर्त्य होता है, और नियम ऐसा है कि जो जिस ज्ञान से जन्य होता है, वह उस ज्ञान से निवर्त्य नहीं होता है, प्रकृत में ब्रह्मविद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति ब्रह्मविद्या ही से नहीं हो सकती है, यह संस्कार दृष्टान्त से विषमता है । तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि ईश्वरज्ञान से जन्य जगत् को उस ईश्वरज्ञान से ही

कारात्, उत्पाद्य घटं नाशयिष्यामि इत्यभिसंधानस्थले कुलालज्ञानजन्यघटस्य तेनैव ज्ञानेन निवर्त्यत्वदर्शनाच्च। अज्ञाननिवृत्तेश्च ज्ञानानिवर्त्यत्वे प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनस्य तत्र व्यभिचारात्। ज्ञानानिवर्त्यत्वेपि बाध्यत्वात् न व्यभिचार इतिचेत्, न, ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेण बाध्यत्वस्यानिरूपणात्। सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाध इत्यङ्गीकरणात्। नाप्यात्मैवाज्ञाननिवृत्तिः, आत्मनः सदातनत्वेनाज्ञाननिवृत्तेरपि तथात्वे संसाराभावप्रसङ्गात्, आत्मनस्तत्त्वज्ञानसाध्यत्वप्रसङ्गाच्च। ज्ञात आत्मा अज्ञाननिवृत्तिर्न स्वरूपेणैवेति चेत्, न; ज्ञानस्य विशेषणत्वे नित्यत्वे च मोक्षदशायामपि

भावः। अथाप्यनीश्वरज्ञान एवेयं नियतिरिति ब्रूयात्, तर्हि तत्रापि व्यभिचारमाह—**उत्पाद्य घटमिति**। एकं हीदं ज्ञानं यदुत्पाद्य नाशयिष्यामीति भावः। यच्च ज्ञाननिवर्त्यत्वज्ञानबाधयोर्भेदमादाय दृश्यत्वहेतोरनैकान्तिकतावारणम्, तदप्यसत्, ज्ञाननिवर्त्यत्वातिरिक्तस्य ज्ञानबाध्यत्वस्यानिरूपणादित्याह—**अज्ञानेत्यादिना**। अपसिद्धान्तश्चेत्याह—**सविलासेति**। षष्ठं पक्षं दूषयति—**नाप्यात्मैवेति**। आत्मनित्यत्वव्याहतिश्चेत्याह—**आत्मन इति**। **ज्ञानस्य विशेषणत्व इति**। ज्ञात आत्मेत्यत्र वृत्तिरूपं तावज्ज्ञानं वक्तव्यम्, स्वरूपज्ञानं प्रति कर्मत्वाभावात्ततश्च तद्यदि

निवर्त्य माना जाता है। यदि अनीश्वर ज्ञानविषयक उक्त नियम को मानें तो भी जहाँ (घट को उत्पन्न करके नष्ट करूंगा) ऐसा कुम्भकार संकल्प करता है, घट को बनाकर नष्ट करता है, वहाँ उसका एक ही निश्चय घट की उत्पत्ति और नाश का हेतु होता है। अतः कुलालजन्य घट का स्वजनक उसी ज्ञान से निवर्त्यत्व देखा जाता है। और अज्ञान निवृत्ति को यदि ज्ञान से अनिवर्त्यत्व होगा, तो प्रपञ्च मिथ्यात्व साधन दृश्यत्व का उसीमें व्यभिचार होगा। ज्ञान से अनिवर्त्य होते भी बाध्य होने से व्यभिचार नहीं होगा। यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि ज्ञान से निवर्त्यत्व के बिना बाध्यत्व का निरूपण नहीं हो सकता है, अर्थात् ज्ञाननिवर्त्यता ही बाध है, अन्य नहीं। सविलास = सकार्य अज्ञान की निवृत्ति बाध है, ऐसा माना जाता है। और आत्मस्वरूप ही अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि आत्मा के सनातन (नित्य) होने से, अज्ञान निवृत्ति को भी सनातनत्व होने पर, अज्ञानमूलक संसार का अभाव प्राप्त होगा। और आत्मा को तत्त्वज्ञान से साध्यत्व (जन्यत्व) प्राप्त होगा, यदि कहें कि ज्ञात आत्मा को अज्ञान निवृत्तित्व होता है, स्वरूप से ही नहीं, अतः स्वरूप में साध्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि ज्ञात आत्मा को अज्ञान की निवृत्ति रूप मानने पर, ज्ञान का विषय आत्मा ज्ञात होगा, वहाँ ज्ञान आत्मा का विशेषण होगा, या उपलक्षण होगा। ज्ञान के विशेषण होने पर और नित्य होने पर मोक्षावस्था में भी

अन्तःकरणादेरवस्थानप्रसङ्गात् । अनित्यत्वे चाज्ञाननिवृत्तिरूपाया मुक्तेरप्यनित्यत्वापातात् । न च ज्ञानोपलक्षित एवात्माज्ञाननिवृत्तिः, उपलक्षितत्वस्य नित्यत्वानित्वयोः प्राचीनदोषानुषङ्गात् । तस्मान्नाज्ञाननिवृत्तिरुपपन्नेति ।

अत्रोच्यते--निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः ।
उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तः पाचकादिवत् ॥ ८ ॥

यथा लोके सकारणस्य कलधौतविभ्रमस्य ज्ञाता शुक्तिरेव निवृत्तिः । न

विशेषण नित्यं च तदा जन्यस्य कथं नित्यत्वमित्यास्तां तावत् । सन्तानरूपेण चेन्नित्यत्वं तथापि तत्कारणान्तःकरणादेरवस्थानान्न संसारतो विशेषः स्यादित्यर्थः । अथैतद्दोषभयादनित्यमेवाङ्गीक्रियते तर्ह्यपुनरावृत्तिस्वव्याकोप इत्याह—**अनित्यत्वे चेति** । ननु ज्ञानोपलक्षितात्मरूपमविद्यानिवृत्तिस्तेन विशेषणपक्षप्रयुक्तदोषद्वयनिवृत्तिरिति, तत्राह—**न च ज्ञानेति** । अत्राप्युपलक्षितत्वधर्ममादाय दूषणद्वयं सुवचमित्यर्थः । पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति** ।

आत्मैवाज्ञानहानिरिति पक्षं परिगृह्णन्नुपपादयति--**उपलक्षणेति** । यथाहि लोके पचनलवनादिक्रियानिवृत्तावपि देवदत्तः पाचको लावक इति प्रतीयते व्यवह्रियते, तथेहाप्युपलक्षणज्ञातत्वनाशेऽपि मुक्तिः स्यादिति । श्लोकार्थं विवृणोति—**यथा लोक इति** । कलधौतं रजतम् । ननु न शुक्तिज्ञानं रजतविभ्रमनिवर्तकं येन ज्ञातशुक्तिरेव तन्निवृत्तिः स्यादपितु नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानम्, तथाच ज्ञातान्योन्याभाव एवान्यद्वा तन्निवृत्तिरिति कथमधिष्ठानमात्रत्वं तन्निवृत्तेरिति,

---

उस वृत्ति रूप ज्ञान के उपादान कारण अन्तःकरणादि की स्थिति प्राप्त होगी। और ज्ञान के अनित्य होने पर अज्ञान की निवृत्ति रूप मुक्ति को भी अनित्यत्व प्राप्त होगा। क्योंकि ज्ञान के नहीं रहने पर ज्ञानविषयत्व रूप ज्ञातात्मत्व रूप अज्ञान निवृत्ति भी नहीं रहेगी। अतः मोक्ष भी नहीं रहेगा। ज्ञान से उपलक्षित आत्मा अज्ञान की निवृत्ति रूप है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उपलक्षितत्व के नित्यत्व और अनित्यत्व पक्ष में पूर्वोक्त दोष का सम्बन्ध होता है। अतः अज्ञान की निवृत्ति सदादि किसी रूप से उपपन्न (सिद्ध) नहीं होती है।

(अत्रोच्यते) अब यहाँ शंका का समाधान कहा जाता है कि (ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा मोह = अज्ञान की निवृत्ति स्वरूप है। और उपलक्षण के नाश होने पर भी पाचकादि के समान मुक्ति स्वरूप आत्मा रहेगा, और रहता है ॥ ८ ॥

अर्थात् लोक में जैसे कारण सहित रजतभ्रम की निवृत्ति ज्ञात शुक्ति रूप ही होती है। यदि कहें कि वहाँ शुक्ति का ज्ञान रजतभ्रम का निवर्तक नहीं होता है

च तत्रापि नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानं तन्निवर्तकमिति युक्तम्। अपरिज्ञाते शुक्तिशकले धर्मिप्रतियोगिसव्यपेक्षस्य तस्यैवासंभवात्। परिज्ञाते तु तेनैव तदुपपत्तावितरस्य कृतकरस्य वैयर्थ्यात्। इदमाकारपरिज्ञानस्य च भ्रान्तौ विद्यमानस्य तदविरोधात्। यथेहाप्यनृतजडदुःखानात्मद्वैतविरोधिसत्यज्ञानानन्दानन्ताद्वयलक्षणं ब्रह्मैव वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्तःकरणपरिणामदर्पणप्रतिबिम्बितं सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति युक्तमभ्युपगन्तुम्। न च ज्ञाततालक्षणोपलक्षणनाशे तेन घटितस्य मुक्तस्याभावप्रसङ्गः,

---

तत्राह—**न च तत्रापीति**। कुतो न युक्तमित्यत आह—**अपरिज्ञात इति**। धर्मितया प्रतियोगितया वा अधिष्ठानस्य पूर्वभावित्वात्तेनैव च तदारोपनिवृत्तेः संसर्गमात्रारोपस्य चाधस्तादेव निरस्तत्वादन्योन्याभावज्ञानमर्थसिद्धानुवाद इत्यर्थः। नन्विदमाकारं ज्ञानमेवान्योन्याभावज्ञानजनकं न शुक्तिज्ञानम्, अतो न कृतकरत्वमिति, तत्राह—**इदमिति। तदविरोधात्** भ्रान्त्यविरोधात्तज्जनकत्वं न संभवतीति शेषः। इममेव न्यायं प्रकृतस्थलेऽपि योजयति—**तथेहापीति। अनन्तेति** चानात्मत्वविरुद्धाकारनिर्देशः। अप्रत्यग्भूतं हि वस्तुतः परिच्छिन्नं भवेदिति। उत्तरार्धं विवृणोति—**न च ज्ञातेति**। ये त्विमं पक्षं दोषबहुलतया मलीमसं मन्यमानः प्राहुः—अत्रकेचित्परिहारकातरतया परिहारमाचक्षते आत्मैवाज्ञानहानिरिति; तेषा-

---

कि जिससे ज्ञात शुक्ति ही भ्रान्ति की निवृत्ति रूप हो सके, किन्तु (नेदं रजतम्) यह रजत नहीं है, इस प्रकार का अन्योन्याभाव का ज्ञान भ्रान्ति का निवर्तक होता है। तो ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि शुक्ति शकल (अंश स्वरूप) के अपरिज्ञात रहते अनुयोगी-प्रतियोगी ज्ञानसापेक्ष उस अन्योन्याभाव के ज्ञान का ही असम्भव है। और शुक्तिशकल के परिज्ञात होने पर तो उसीसे सकारण भ्रम की निवृत्ति की सिद्धि होने पर, इतर = अन्योन्याभाव को ज्ञान, कृतकार्य का कारक होगा, अतः उस कृतकर की व्यर्थता है। यदि कहें कि इदमाकार का ज्ञान ही अन्योन्याऽभाव ज्ञान का जनक है, शुक्तिज्ञान नहीं, अतः अन्योन्याभाव में कृतकरत्व नहीं है। तो कहा जाता है कि भ्रान्ति में भी विद्यमान इदमाकार ज्ञान को भ्रान्ति से अविरोध रहता है, अतः उसको भ्रान्तिविरोधी अन्योन्याभाव का जनकत्व नहीं हो सकता है, तो शुक्ति ज्ञान ही से अन्योन्याभाव के ज्ञान होने पर कृतकरत्व होगा ही। (तथा) उक्त रजतभ्रम निवृत्ति तुल्य ही, प्रकृत में, अनृत, जड़, दुःख, अनात्म, और द्वैत का विरोधी सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त, अद्वय स्वरूप ब्रह्म ही, वेदान्तवाक्य जनित ब्रह्मैकाकार अन्तःकरण के परिणाम रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर, सविलास अज्ञान की निवृत्ति स्वरूप होता है, यह मानने योग्य है, ज्ञातता रूप उपलक्षण के नाश होने पर, उस ज्ञातता से घटित = युक्त मुक्त का

पाचकादिवदवस्थानोपपत्तेः, न हि लोके पचनलवनादिक्रियायामतिवृत्तायां देवदत्तः पाचको लावको न भवति, न वा तथा व्यवह्रियते। एतेनाज्ञाननिवृत्तेरनित्यत्वे पुनरज्ञानस्य संसारस्य चोन्मज्जनापत्तिरित्यादयो दोषाः प्रत्युदस्ताः, शुक्तिशकलादौ ज्ञाननाशेन ज्ञातत्वोपलक्षणनाशेऽपि निवृत्तस्याज्ञानस्य तद्विलासस्य वा पुनरुन्मज्जनादर्शनात्। पुनरुद्भवतो रजतादिविभ्रमस्याज्ञानान्तराधीनत्वात्, यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति तन्निवर्त्यान्यज्ञानानीत्यभ्युपगमात्। इह च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'-रिति श्रुतेरशेषाज्ञाननिरासात् पुनः संसारशङ्कातङ्कानवकाशात्। तस्मात्–

मनुशयमुन्मूलयति—**एतेनेति**। एतेनेत्येतद्विशदयति—**शुक्तीति**। ज्ञातत्वविशिष्ट-पक्षपरित्यागादेव तत्प्रयुक्तदोपशान्तेः पञ्चमप्रकारे च प्रमाणाभावात् परिशेपस्य चैतेनैवोपपत्तेरनुत्थानादिति भावः। ननु पुनरपि तत्रैव विभ्रमदर्शनादुन्मज्जन-मस्त्येवेति, तत्राह—**पुनरुद्भवत इति**। नन्वेकमेवाज्ञानमिति, तत्राह–**यावन्तीति**। अंशा वा प्रदेशा वा अवयवा वस्तुतन्त्राश्चाङ्गीक्रियन्त इति न तस्यैवोन्मज्जनमिति भावः। नन्वत्रापि संसारान्तरस्याज्ञानान्तरस्य च पुनरुद्भवोऽस्त्विति, तत्राह—**इह चेति**। आतङ्को भयम्।

भी अभाव प्राप्त होगा, ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि पाक आदि क्रिया की निवृत्ति होने पर भी जैसे पाचकादि की स्थिति रहती है, वैसे मुक्त की स्थिति की उपपत्ति होगी। क्योंकि लोक में पचन (पाक) लवन (छेदन) आदि क्रिया के अतिवृत्त (निवृत्त) हो जाने पर भी, वह पाचक लावक देवदत्त पाचक लावक नहीं रहता है, उसका अभाव हो जाता है, ऐसी स्थिति नहीं होती है, किन्तु क्रिया के अभाव होते भी पाचक लावक रहता है, और पाचक लावक नहीं है ऐसा व्यवहार भी नहीं किया जाता है। इसीसे अज्ञान निवृत्ति के अनित्य होने पर, फिर अज्ञान का और संसार का उन्मज्जन = प्रादुर्भाव की आपत्ति आदि रूप दोष प्रत्युदस्त = निरस्त हो गये। क्योंकि शुक्ति शकलादि में ज्ञान के नाश से ज्ञातत्त्व रूप उपलक्षण के नाश होने पर भी निवृत्त अज्ञान का या उस अज्ञान के कार्यों का पुनः उन्मज्जन (प्रादुर्भाव) नहीं देखा जाता है। यदि कहा जाय कि फिर कभी वहाँ रजतादि का भ्रम होता है, अतः उन्मज्जन होता ही है, तो कहा जाता है कि फिर रजतादि विभ्रम की उत्पत्ति अज्ञानान्तराधीन होती है, नष्ट अज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं होता है, क्योंकि जितने ज्ञान होते हैं, उतने उनसे निवर्तनीय अज्ञान माने जाते हैं। यदि कहा जाय कि इसी प्रकार से आत्मज्ञान होने पर भी अज्ञानान्तर से संसारान्तर का प्रादुर्भाव होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, यहाँ प्रकृत में तो (भूयश्चान्ते विश्व-मायानिवृत्तिः) इस श्रुति से आत्मज्ञान होने पर अशेष अज्ञान का नाश सिद्ध

विगीताज्ञानहानिः स्यात् ज्ञाताधिष्ठानमात्रकम् ।
तत्त्वाद्यदित्थं तत्तादृग्यथा शुक्त्यादिकं मितम् ॥ ६ ॥

एवं सति 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्याद्याः श्रुतयः सर्वस्य द्वैतजातस्यात्ममात्रतया प्रविलयमुपपादयन्त्यो मुख्यार्थतामश्नुवीरन् । इतरथाऽनिर्वचनीयस्य पञ्चमप्रकारस्य वा अज्ञाननिवृत्तिरूपस्याङ्गीकारे संसारदशायामिव केवलात्ममात्ररूपेणावस्थानासंभवादुदाहृताः श्रुतय उपचरितार्थाः कदर्थिताः स्युः । तस्मादुत्पन्नात्मविज्ञानस्य ज्ञात आत्मैव सविलासाज्ञाननिवृत्तिरितिस्थितम् ।

ननु भवत्वेवं संभावना किं पुनरत्र प्रमाणमिति, तदाह श्लोकेन—**विगीतेति** । लौकिकविभ्रमनिवृत्त्यार्थान्तरतापरिहाराय विगीतग्रहणम् । तत्त्वात् अज्ञानहानित्वात् । यथा शुक्त्यादिकमिति तदज्ञाननिवृत्तेरुपलक्षणम्, शुक्त्यादिमात्राज्ञाननिवृत्तिर्यथेत्यर्थः । एवमनुग्राहकतर्कस्थलीयमनुमानमुक्त्वानुग्राह्यमागमप्याह—**एवं सतीति** । विजानतः पुंसो यस्यामवस्थायां सर्वाणि भूतानि, भवन्तीति भूतानि कार्यमात्रम्, आत्मैवाभूत्तत्र तस्यामवस्थायां को मोहः कः शोक इति श्रुत्यर्थः । यदि हि पञ्चमप्रकारः स्यात्, तदा कथमात्मैवात्मव्यतिरिक्तं समस्तं वस्त्वभूदिति निर्दिश्येत ? अथ तस्याप्यारोपितत्वाद्वास्तववृत्तेनात्ममात्रत्वम्, तर्हिमनिर्वचनीया अथ च पञ्चमप्रकारेतिव्याहतं वक्तुमारब्धम्, एवं यत्रत्वस्येत्यादावपि, कदर्थिता उद्वेजिताः पीडिता इति यावत् । वादार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** ।

होता है, अतः पुनः संसार की शंका का आतङ्क = भय का अवसर नहीं रहता है । अतः—

विवाद विषय = अज्ञान निवृत्ति, ज्ञात अधिष्ठान (आश्रय) मात्र होती है, अज्ञान निवृत्ति होने से, जो ऐसा होता है, वह अधिष्ठान मात्र होता है, जैसे ज्ञात शुक्ति आदि रजत भ्रमाज्ञान निवृत्ति रूप होते हैं ॥ ६ ॥

इसप्रकार से अनुमान द्वारा अज्ञान भ्रमनिवृत्ति को अधिष्ठान स्वरूप सिद्ध होने पर (जिस विज्ञानावस्था में ज्ञानी को सब भूत आत्मा ही हो गये उस अवस्था में उन ज्ञानी को कौन मोह और कौन शोक रह सकता है । जिस अवस्था में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया, उस अवस्था में किससे किसको देखे) इत्यादि अर्थ वाली श्रुतियाँ सब द्वैतसमूह की आत्ममात्रता से सब के प्रविलय का उपपादन करती हुई मुख्यार्थता को प्राप्त होती है । अन्यथा अज्ञान की निवृत्ति के स्वरूप को अनिर्वचनीय या पञ्चम प्रकार मानने पर संसार दशा के समान मोक्षदशा में भी केवल आत्मस्वरूप से स्थिति के असम्भव से उदाहृत श्रुतियाँ गौणार्थक और कदर्थित = उद्वेजित = पीडित होंगी । अतः आत्मज्ञ का ज्ञात आत्मा ही सविलासाज्ञाननिवृत्ति स्वरूप रहता है, यह स्थिर हुआ ।

ननु ज्ञात आत्मैव चेत्सविलासाज्ञाननिवृत्तिस्तदोत्पन्नविज्ञानस्य शरीरादिप्रतिभासानुवृत्तिर्न स्यात्। न चाविद्यालेशात् तदनुवृत्तिः, निवर्तकतत्त्वज्ञानोदये तल्लेशस्यापि निवृत्तेः। प्रारब्धकर्मणा प्रतिबद्धं तत्त्वज्ञानं शरीरादिप्रतिभासहेतुमविद्यालेशं न निवर्तयतीति चेत्, मैवम्, कर्मणोऽप्यविद्या-

---

तदेवमविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिरित्ययमर्थ उपपादितः, इदानीं तत्रैव जीवन्मुक्तिलक्षणावान्तरविशेषमुपपादयति मुक्तिसिद्धये। तथाहि—ज्ञानं ह्यविद्यानिवर्तकम्, तच्च तदुदयसमसमयमेव भवितुमर्हति, अविधिलक्षणत्वेन कालान्तरफलत्वाभावात्, शुक्त्यादितत्त्वज्ञानेषु समसमयतादर्शनाच्च। तदिह यदि जीवति ज्ञानमुत्पन्नमप्यविद्यां न निवर्तयेत्, का वार्ता कालान्तरे तन्निवर्तने? जीवत एव च ज्ञानोत्पत्तिः, इतरथा तदुत्पादककरणाभावेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तद्यदि मुक्तिरस्ति अस्त्येव जीवन्मुक्तिः। अथ यदि न जीवन्मुक्तिः नास्त्येव मुक्तिरिति मुक्तिसिद्धयर्थमेवायं विचारः विद्यासंप्रदायसिद्धयर्थम्, इतरथा हि तत्त्वविदः सद्यः शरीरपाते शिष्याद्यप्रतिभासादसाक्षात्कृततत्त्वस्य चानुपदेष्टृत्वाद्विहीनसंप्रदायतयाऽनिर्मोक्ष एव पर्यवस्येत्। तदुक्तमाचार्यैजीवन्मुक्तिप्रकरणे—'जीवेन्मुक्तोऽस्ति मुक्तिर्यदी'त्यादिना। तत्र तावज्जीवन्मुक्तिमाक्षिपति—**नन्वित्यादिना**। अयमर्थः—यद्यात्मातिरिक्ता स्यादविद्यानिवृत्तिस्तदा देहपातानन्तरमपि शक्यसंभावनया स्याद्विदुषः शरीरादिप्रतिभासः, यदा तु ज्ञानोपलक्षितात्मैवेति समर्थ्यते तदोपलक्षितात्मनः सदातनत्वादुपलक्षणतत्संबन्धयोः सतोरुपलक्षणतानिष्पत्तेर्निवृत्तैवाविद्येति वचनीयम्, तथाच तदा क्रोडितस्थूलसूक्ष्मकलेवरयुगलविलयाच्छिष्यादिप्रतिभासाभाव इति भावः। नन्वविद्यायाः कश्चिदेकदेशोऽस्ति ज्ञानेनाप्यनिवर्त्यः तन्निबन्धनोऽयं शरीरादिप्रतिभास इति, तत्राह—**न चेति**। नहि समस्ताविद्याविनोदिविज्ञानमेकदेशेऽसमर्थमिति संभवतीत्यर्थः। समर्थस्यापि प्रतिबन्धं शङ्कते—**प्रारब्धेति**। यदि हि प्रारब्धकर्मणः स्थितिरेव स्यात्स्यात्तदा कारणवंशशरीररक्षणम्, तदेव तु नास्तीति परिहरति—**मैवं कर्मण**

उक्त रीति से जीवित दशा में ही अज्ञान की निवृत्ति से जीवन्मुक्ति कही गई है। वहाँ शंका होती है कि यदि ज्ञात आत्मा ही सविलास अज्ञान की निवृत्ति रूप है, तो उत्पन्न ज्ञान वाले को शरीरादि की प्रतीति की अनुवृत्ति (स्थिति) नहीं रहनी चाहिये। यदि कहें कि अविद्या की निवृत्ति होने पर भी प्रारब्ध पर्यन्त अविद्या के लेश रहता है, उससे शरीरादि प्रतीति की अनुवृत्ति होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि निवर्तक तत्त्वज्ञान के उदय होने पर उस अविद्यालेश की भी निवृत्ति होगी। यदि कहें कि प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध तत्त्वज्ञान शरीरादि की प्रतीति के हेतु अविद्यालेश को निवृत्त नहीं करता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि प्रारब्ध कर्म को भी अविद्या के कार्य होने से उस अविद्या की निवृत्ति होने

कार्यतया तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः, अनिवृत्तौ च कर्मणस्तत्कार्यस्य च शरीरादेः सत्यत्वप्रसङ्गात्। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'त्यविशेषेणाशेषकर्मणां ज्ञानात् प्रक्षयश्रवणाच्च। न च 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य' इति विदुषो देहपातावधिश्रवणात्, प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषयैषा श्रुतिरिति वाच्यम्, तस्याः परोक्षज्ञानिविषयत्वात्। ननु 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इत्यपरोक्षज्ञानिन एवोपदेष्टृत्वं दर्शयन्नीश्वरस्तत्त्व-

---

इति। सत्यत्वप्रसङ्गादिति। ज्ञानबाध्यत्वं हि मिथ्यात्वमिति भावः। ननु कर्माणि क्षीयन्ते इति सामान्यवचनमिदम्। अस्ति चापरा श्रुतिस्तस्य तावदेव चिरमिति विदुषोऽपि शरीरपातावधिं दर्शयन्ती तथा चैतदनुसारेण प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषये सा व्यवस्थापनीयेति, तत्राह—न च तस्य तावदेवेति। नेयं श्रुतिरपरोक्षज्ञानिविषया येन तदेकदेशविषयतया तां संकोचयेदपि तु परोक्षज्ञानिविषयेति विरोधशङ्कैव नास्तीत्याह—तस्या इति। स्मृतिबलाज्जीवन्मुक्तिं शङ्कयित्वा दूषयति—नन्वित्यादिना। स्यादेतत्—भवतु परोक्षज्ञानिविषयो ज्ञानिन इति निर्देशः तत्त्वदर्शिन इति कथं तेषु सङ्गतः स्यात्? साक्षात्कारो हि दर्शनं नाम तस्मादेतदेव तत्त्वसाक्षात्कारिणां शरीरादिप्रतिभासे प्रमाणमिति, तत्राह—तत्त्वदर्शिन इति चेति। अत्र हि तत्त्वं द्रष्टुं शीलमेषामिति ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययविधानात्तत्त्वदर्शनाभ्यासशीलाः प्रथीयन्ते। नचापरोक्षज्ञानोदयेऽभ्यासावसरः, तदर्थत्वादभ्यासस्य। तस्मात्परोक्षज्ञानाभ्यासशीलिन इह विवक्षिताः। अत एव तत्समभिव्याहृतज्ञानशब्दोऽपि परोक्षज्ञानविषय इत्यर्थः। ननु परोक्षज्ञानशीलिनां तत्त्वदर्शित्वमनुपपन्नम्,

---

पर उस कर्म की भी निवृत्ति होगी और यदि ज्ञान से उस कर्म की निवृत्ति नहीं हो, तो उस कर्म को और उसके कार्य शरीरादि को सत्यत्व की प्राप्ति होगी। और (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इस ज्ञानी के कर्म नष्ट हो जाते हैं, इस श्रुति से अविशेष (सामान्य) रूप से अशेष कर्म का ज्ञान से नाश सुना जाता है। अतः प्रारब्ध की भी निवृत्ति होगी। यदि कहा जाय कि (तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये) उस ज्ञानी को तब तक विदेह मोक्ष में विलम्ब रहता है, कि जब तक प्रारब्ध से मुक्त नहीं होता है। इस श्रुति से विद्वान् के देहपात की अवधि के सुनने से प्रारब्ध कर्म से भिन्न कर्म विषयक ही (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) यह श्रुति है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि (तस्य तावदेव चिरम्) इस श्रुति को परोक्ष ज्ञान विषयत्व है। अतः अपरोक्ष ज्ञानविषयक (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इसका संकोचक = प्रारब्ध विभिन्न विषयत्व का बोधक नहीं हो सकती है। यदि कहें कि (उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः) इस वचन से अपरोक्ष ज्ञानी के भी

र्शिनामपि शरीरादेस्तद्धेतूनां च कर्मणामवस्थानं सूचयतीति चेत्, मैवम्, ज्ञानिन इति परोक्षनिश्चयवतस्तत्त्वदर्शिन इति च तत्त्वदर्शनाभ्यासशीलस्य तत्र प्रतिपादितत्वात्। न चापरोक्षे परोक्षज्ञानविभ्रमः, स्वात्मनि स्वसुखादौ च परकीयानुमानादिज्ञानस्याविभ्रमत्वात्।

कश्चायमविद्यालेशः, किमविद्याया एकदेशः? किंवा तदाकारान्तरम्? नाद्यः, अविद्यायाः घटादिवत्सावयत्वानङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः स्वाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानानुपपत्तेः। अस्तु तर्हि संस्कारादेव द्वैतप्रतिभासानुवृत्तिः, विनिवृत्तसर्पविभ्रमस्यापि संस्काराद्भयकम्पाद्यनुवृत्तिदर्शनात्, 'तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीर' इति च तन्त्रान्तरेऽप्यभिधानादिति चेत्, मैवम्, तस्याप्यविद्याकार्यत्वात्तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः। अतथात्वे वा

अपरोक्षे परोक्षज्ञानस्यायथार्थतया विभ्रमत्वादित्यत्राह—**न चापरोक्ष इति**। स्वात्मा स्वसुखादि च स्वस्य तावदपरोक्षं इतरेषां च तत्रानुमानाच्छब्दाद्वा परोक्षज्ञानमुत्पद्यते, नच तद्भ्रान्तम्; अवितथार्थत्वाद् इतरथा प्रतिपाद्याप्रमित्या कथाऽप्रवृत्त्याद्यापात इति भावः।

एवमविद्यालेशस्थितिरनुपपन्नेत्युक्तम्, इदानीं लेश एवाविद्याया दुर्निरूप इत्याह—**कश्चायमिति**। **अनङ्गीकारादिति**। न निरवयवं न सावयवमित्यङ्गीकारात्, अद्रव्यत्वादनादित्वादवयवानारब्धत्वाच्चेत्यर्थः। मण्डनमिश्रमतमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति**। दृष्टचरं चैतदित्याह—**विनिवृत्तेति**। सांख्यसमतिमप्याह—**तिष्ठतीति**। तदेव दूषयति—**मैवमिति**। **अतथात्व इति**। अविद्यानाधीनतया

उपदेष्टृत्व (उपदेशकत्व) दर्शाते हुए ईश्वर (भगवान्) तत्त्वदर्शियों के भी शरीरादि की और उन शरीरादिकों के हेतु कर्मों की स्थिति को सूचित करते हैं। तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि (ज्ञानेन) इससे परोक्ष निश्चयवान् को और तत्त्वदर्शिनः, इससे तत्त्वदर्शनाऽभ्यासशील को वहाँ प्रतिपादितत्व है। अपरोक्ष ज्ञान को प्रतिपादितत्व नहीं है। यदि कहें कि परोक्षज्ञानशीली को तत्त्वदर्शित्व अनुपपन्न है, क्योंकि अपरोक्ष विषयक परोक्ष ज्ञान के अयथार्थ स्वरूप होने से उसे विभ्रमत्व रहता है। तो कहा जाता है कि अपरोक्ष विषयक परोक्ष ज्ञान विभ्रम नहीं होता है, क्योंकि अपनी आत्मा और अपने सुखादि में अपने अपरोक्षत्व के रहते भी अन्य के उन विषयक ही अनुमान ज्ञान को भ्रमत्व नहीं होता है।

और यह अविद्यालेश क्या है। क्या अविद्या का एकदेश है, या अविद्या का आकारान्तर है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि घटादि के समान अविद्या को सावयव नहीं माना जाता है, अनादि सावयव निरवयव से विलक्षण अद्रव्यस्वरूप अविद्या को माना जाता है, अतः उसके एकदेश का सम्भव नहीं है। दूसरा

सत्त्वे द्वैतसत्यत्वापत्तेः, मिथ्यात्वे च भावरूपकार्यस्योपादानमन्तरेणानुपपत्तेः, निराश्रयत्वानुपपत्तेश्च। न चात्मैवाश्रयः, निरविद्यासंगस्य स्वतः कार्याश्रयत्वानुपपत्तेः। न च स्थितप्रज्ञगुणातीतलक्षणानां जीवन्मुक्तविपय-

---

अनिवृत्तावित्यर्थः। नन्वविद्याजन्यत्वाभावेऽपि मिथ्यात्वान्नाद्वैतव्याघात इति, तत्राह—**मिथ्यात्व इति**। भावरूपेत्यभावविलक्षणेत्यर्थः। इदं च प्रध्वंसनिवृत्त्यर्थम्। दूषणान्तरमाह—**निराश्रयत्वेति**। ननु किमिति निराश्रयता? यावता अविद्यासंस्कारस्याप्यविद्याश्रयभूतात्मैवाश्रयः, संस्काराधायकसंस्कारयोरेकाश्रयत्वनियमादिति, तत्राह—**न चात्मैवेति**। यथा निरवयवस्यैवाविद्याश्रयत्वं तद्वत्संस्काराश्रयत्वं किं न स्यादित्यत आह—**कार्येति**। अपरिणामित्वादिति भावः। ननु स्थितप्रज्ञलक्षणपरासु गीतासु 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृह' इत्यादिना

पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वयं आकार वाली वस्तु अविद्या के निवृत्त हो जाने पर. उसके आकारान्तर के अवस्थान (स्थिति) की अनुपपत्ति है; विद्यमान का आकारान्तर रह सकता है, नष्ट का नहीं। तो अविद्या के संस्कार से ही ज्ञानी में द्वैत प्रतीति की अनुवृत्ति मानी जाय, क्योंकि जिसको सर्प का विभ्रम निवृत्त हो गया हो, उसमें भ्रम के संस्कार से भय, कम्पादि की अनुवृत्ति देखी जाती है। और तन्त्रान्तर (शास्त्रान्तर) सांख्य में भी कहा गया है कि, संस्कार के वश से ज्ञानी शरीरधारी होकर कुछ समय तक रहता है, जैसे कि कुम्हार का चक्र कुछ देर तक भ्रमते रहता है, तो कहा जाता है कि ऐसा मानना भी युक्त नहीं। क्योंकि संस्कार को भी अविद्या का कार्य होने से अविद्या की निवृत्ति होने पर उस संस्कार की भी निवृत्ति होगी। और (अतथात्व) अविद्या की अनधीनता से अविद्या की निवृत्ति होने पर भी संस्कार की निवृत्ति नहीं होने पर, यदि उस संस्कार का सत्यत्व हो, तो द्वैत के सत्यत्व की प्राप्ति होगी। और यदि संस्कार को मिथ्यात्व हो, तो भी भाव रूप (अभाव विलक्षण) संस्कार की उपादान कारण के बिना स्थिति को सिद्धि नहीं हो सकती है। निराश्रयत्व की भी अनुपपत्ति है, संस्कार किसी के आश्रित ही रहता है। आत्मा ही आश्रय है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अविद्यारहित असङ्गात्मा को स्वतः कार्याश्रयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि गीता के स्थितप्रज्ञ वाले के लक्षण में दुःखों में अनुद्विग्नता सुखों में निस्पृहता आदि का वर्णन किया गया है, तथा गुणातीत के लक्षण में प्रियाप्रियादि में समता कही गयी है, इससे तत्त्वज्ञ में भी सुख,दुःखादि, प्रियाऽप्रियादि का प्रतिभास होना सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षणों को जीवन्मुक्त विषयत्व नहीं है, अर्थात् ये लक्षण जीवन्मुक्त के नहीं है, किन्तु

त्वम्, साधकस्यैवावस्थाविशेषं प्राप्तस्य तत्राभिधानात् अतो न जीवन्मुक्ति-र्युक्तिमतीति ।

अत्र वदामः—

अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः ।
ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभिः ॥ १० ॥
लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मादेरनुवृत्तितः ।
उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिध्यति ॥ ११ ॥

एवं हि न्यायसुधायामाराध्यपादैरुपपादितम्, संसारमूलकारणभूताविद्या यद्यप्येकैव, तथापि तस्याः सन्त्येव बहवः आकारास्तत्रैकः प्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वभ्रमहेतुः, द्वितीयोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुकल्पकः, तृतीयस्त्वपरोक्ष-

---

तत्त्वसाक्षात्कारिणोऽपि दुःखाद्यनुद्वेगं दर्शयति । इतरथा क्वानुद्वेगं कुर्यात् ? तथा चतुर्दशाध्यायेऽपि गुणातीतलक्षणेषु—

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

तुल्यप्रियाप्रिय' इत्यादिना प्रीत्यादिप्रतिभासोऽवसीयते इति, तत्राह—**न च स्थितेति** । तत्र तावदनुष्ठापकत्वाद्वचनस्यैतेषां संपादनपरं शास्त्रं तथा च साधक एवैवंगुणको भवेदित्युच्यते ? अथवा अपरोक्षज्ञानादर्वागेव कांचिदुत्कृष्टामवस्थां प्राप्तोऽत्र विवक्ष्यते ? सर्वथापि न जीवन्मुक्तलिङ्गत्वमित्यर्थः ।

समाधत्ते—**अत्रेति** । राद्धान्तहृदयं श्लोकाभ्यां संगृह्णाति सुखप्रतिपत्त्यर्थम्—**अविद्येति** । पूर्वार्धेनाविद्यालेशं विशदयति, तस्य च ज्ञानोदयेऽपि स्थितिमुत्तरार्धेन समर्थयते, उत्तरश्लोकेन च फलितमाह—**लेशेति** । अपसिद्धान्तशङ्कानिवृत्त्यै गुरुसंप्रदायप्रदर्शनपूर्वकमविद्याया आकारानाकारिनिवृत्तावाकारस्थितिं च दर्शयन् प्रथमार्धं विवृणोति—**एवं हीत्यादिना** । आराध्यपादाः स्वगुरवः ज्ञानसिद्धिकाराः । पादशब्दश्च पूजार्थस्तत्प्रणीतं च वेदान्तप्रकरणं न्यायसुधा । **अपरोक्षेति** । अपरोक्ष-

---

अवस्थाविशेष को प्राप्त साधक का ही गीता में कथन है । अतः जीवन्मुक्ति युक्ति से सिद्ध नहीं होती है ।

उक्त शंका का समाधान कहा जाता है कि—

अविद्यालेश शब्द से मोह के आकारान्तर का कथन होता है । प्रबल प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध ज्ञान को अविद्यालेश निवर्तकत्व नहीं होता है ॥ १० ॥

और अविद्यालेश की अनुवृत्ति रहते तज्जन्य कर्मादि की भी अनुवृत्ति रहती है, अतः उत्पन्न आत्मबोध वाले की जीवन्मुक्ति प्रसिद्ध होती है ॥ ११ ॥

अर्थात् इस वक्ष्यमाण रीति से न्यायसुधा में आराध्य पद (पूज्यवर) ज्ञान सिद्धिकार ने उपपादन (अविद्या की व्यवस्था) किया है कि, संसार का मूल

प्रतिभासविषयाकारकल्पकः। तत्राद्वैतसत्यत्वाध्यवसायेन समस्तद्वैतसत्यत्वकल्पकाकारो निवर्तते। अर्थक्रियासमर्थप्रपञ्चोपादानमायाकारस्तत्त्वसाक्षात्कारेण विलीयते। अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाभासजनकस्तु मायालेशो जीवन्मुक्तस्यानिवृत्तः समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा देहाभासजगदाभासहेतुतयानुवर्तते। प्रारब्धकर्मफलोपभोगावसाने तु निवर्तते। श्रुतिरपि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इत्याद्या मायां विविधाकारां दर्शयति। न च लेशस्यापि विरोधितत्त्वज्ञानोदयान्निवृत्तिः किं न स्यादिति वाच्यम्, प्रबलैः

प्रतिभासविषयभूता य आकारः पारमार्थिकत्वार्थक्रियासामर्थ्यरहिततया ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतादिवत्तत्समर्थकस्तृतीय आकार इत्यर्थः। एतेषां च क्रमेण निवर्तकज्ञानशरीराणि दर्शयति—**तत्रेत्यादिना**। **तत्त्वसाक्षात्कारेणेति**। अद्वैतात्मवस्तुसाक्षात्कारेणेत्यर्थः। ननु यदि साक्षात्कारे जातेऽपि जीवन्मुक्तस्य समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा चोद्बुद्धो वर्तेत कश्चिदाकारः, केन तर्हि तस्य निवृत्तिस्तत्राह—**प्रारब्धेति**। उक्तार्थे श्रुतिमपि प्रमाणयति—**श्रुतिरपीति**। इन्द्रः परमेश्वरः। इदि परमैश्वर्ये इति भीमसेनिस्मृतेः। आदिशब्देन 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्याद्या गृह्यन्ते। 'मायां तु प्रकृति'मित्यादावेकत्वेन प्रतिपादितमायाया मायाभिरित्यादिबहुत्वाभिधानमाकारभेद एव घटत इति भावः। उत्तरार्धं व्याचष्टे—**न च लेशस्यापीत्यादिना**। इदानीं प्रारब्धकर्मणां ज्ञानापेक्षया प्राबल्यमुपजीव्यतयोपपादयति—

कारणस्वरूप अविद्या यद्यपि एक ही है, तो भी उसके बहुत आकार हैं ही। उनमें से एक आकार प्रपञ्च के परमार्थ सत्त्व भ्रम का हेतु होता है, दूसरा आकार अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का कल्पक होता है। तृतीय आकार तो अपरोक्ष प्रतीति का विषय जो आकार उसका कल्पक (साधक) होता है। वहाँ अद्वैत के सत्यत्व के निश्चय से समस्त द्वैत सत्यत्वकल्पक प्रथमाकार निवृत्त होता है। अर्थक्रियासमर्थ प्रपञ्चोपादान मायारूप दूसरा आकारतत्त्व साक्षात्कार से विलीन होता है। अपरोक्ष प्रतिभास योग्य अर्थाऽऽभास जनक मायालेश तो जीवन्मुक्त का होता है, वह निवृत्त नहीं होता हुआ समाधि अवस्था में तिरोहित होता है, और अन्य अवस्था में देहाभास और जगदाभास का हेतु रूप से अनुवृत्त रहता है। प्रारब्ध कर्म फलोपभोग के अवसान = अन्त होने पर निवृत्त होता है। और (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपमीयते) इन्द्र माया से बहुरूप होता है, इत्यादि श्रुतियाँ भी विविधाकार वाली माया को दर्शाती हैं। यदि कहें कि अविद्या लेश की भी विरोधी तत्त्वज्ञान के उदय से निवृत्ति क्यों न होगी, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रबल प्रारब्ध कर्मों से ज्ञान के प्रतिबद्ध होने के कारण अविद्यालेश की उससे निवृत्ति नहीं होती है, और प्रारब्ध कर्म अविद्यालेश तत्त्व ज्ञान का उपजीव्य भी है, अतः उसके साथ तत्त्व-

प्रारब्धकर्मभिर्ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वात्। तथाहि--विद्यार्थानि कर्माणि कर्मान्तरारब्धशरीरे फलं जनयन्ति। अन्यथा ज्ञानार्थानामपि कर्मणां भोगार्थत्वप्रसङ्गात्। तथा च शरीरारम्भककर्माण्युपजीव्य ज्ञानार्थानि कर्माणि तदविरोधेन स्वफलं प्रयच्छन्तीति युक्तम्। तथा च तैः प्रतिबद्धशक्तित्वात्तत्त्वज्ञानमविद्यालेशं न निवर्तयति।

न च कर्मणामप्यविद्याकार्यतया तन्निवृत्तौ निवृत्तिः, तज्जनकाविद्यालेशस्यानिवृत्तेः। नन्वेवं सतीतरेतराश्रयत्वम्--तत्त्वज्ञानशक्तिप्रतिबन्धक-

---

तथा हीत्यादिना। नन्वन्यैरेव कतिभिश्चित्कर्मभिर्ज्ञानार्थमेव देहमुत्पाद्य तत्त्वज्ञानमुत्पाद्यतां किमिति कर्मान्तरारब्धशरीरोपजीवनं ज्ञानोत्पादकानाम्, तथाच ज्ञानोत्पत्तौ देहनिवृत्तेर्न जीवन्मुक्तिरिति, तत्राह—**अन्यथेति**। भवतु कर्मान्तरारब्धशरीरे फलजनकत्वमेषां ततः किमिति, तत्राह—**तथा चेति**। ननु भवतु ज्ञानोत्पादककर्मणां प्रारब्धकर्मापेक्षया दौर्बल्यम्, ज्ञानस्य तु किमायातं येनोत्पन्नं ज्ञानं तानि न निवर्तयतीति, तत्राह—**तथा च तैरिति**। उत्पद्यमानमेव तावत्त्वंशे प्रतिबद्धशक्तिकं कारणवशादुत्पद्यतामिति भावः।

यत्तु प्रारब्धकर्मणां निरुपादानतया स्थितिरेव नोत्पद्यते, कुतः प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम्, तत् परिहरति—**न च कर्मणामिति**। निरुपादानकत्वमसिद्धमित्यर्थः। ज्ञप्तावितरेतराश्रयं शङ्कते—**नन्वेवमिति**। नात्र प्रारब्धकर्मभिरेवाविद्यालेशावगतिः

ज्ञान का विरोध नहीं रहता है, क्योंकि विद्यार्थक कर्म शमदमादि कर्मान्तर से आरब्ध (जन्य) शरीर में अपने फल (ज्ञान) को उत्पन्न करते हैं, स्वयं शरीरों का उत्पादक नहीं होते हैं, और जिस शरीर में ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, वह प्रारब्ध भोग के लिये भी रहता है, और ज्ञान का भी उपजीव्य होता है। वहाँ ज्ञानार्थक कर्म यदि शरीर का आरम्भक हों, तो ज्ञानार्थक कर्मों को भोगार्थकत्व प्राप्त होगा, अतः शरीराम्भक कर्मों को उपजीव्य (उन कर्मों से आरब्ध शरीरादि का आश्रय लेकर) ज्ञानार्थक कर्म उन प्रारब्ध कर्मों से अविरोधपूर्वक अपने फल का प्रदान करते हैं, यह उचित वचन है। यदि कहें कि ज्ञानार्थक कर्म को प्रारब्ध कर्म के आश्रितत्व होने पर भी उत्पद्यमान ज्ञान उन प्रारब्ध कर्मों को क्यों नहीं नष्ट करता है, तो कहा जाता है कि उन प्रारब्ध कर्मों से ही प्रतिबद्ध शक्ति वाला होने से तत्त्वज्ञान अविद्यालेश को निवृत्त नहीं करता है। यदि कहें कि कर्मों को भी अविद्या के कार्य होने से अविद्या की निवृत्ति से उन प्रारब्ध कर्मों की भी निवृत्ति होगी, फिर उनमें प्रतिबन्धकत्व कैसे होगा, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि उन प्रारब्ध कर्मों के जनक अविद्यालेश की तत्त्वज्ञान से निवृत्ति नहीं होती है। यदि कहें कि ऐसा होने पर अन्योन्याऽऽश्रय की प्राप्ति होती है। क्योंकि तत्त्वज्ञान की शक्ति के

कर्मणामवस्थानादविद्यालेशानुवृत्तिः, तदनुवृत्तौ च कर्मणामनुवृत्तिरिति, मैवम्, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्यत्र भूयोनिवृत्तिरिति विशेषणादुभयविधमायाकारनिवृत्तेराकारान्तरानुवृत्तेश्च मानान्तरेणाधिगमात्, प्रतीतावितरेतराश्रयत्वाभावात्। 'अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति च श्रवणात्, प्रारब्धफलकर्मलक्षणस्य विद्याशक्तिप्रतिबन्धकस्य फलोपभोगेन निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावे तत्त्वज्ञानान्निःशेषाविद्यानिवृत्तिरिति प्रतीतेश्च।

अतएव 'क्षीयन्ते चास्ये'ति सामान्यश्रुतेः प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मनिवृत्तिपरत्वोपपत्तिः, 'तस्य तावदेव चिर'मिति विदुषः प्रारब्धकर्मतत्कार्य-

---

श्रुतिवशादपि शक्याधिगमत्वादिति परिहरति—**मैवम्; भूयश्चेति**। 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते। अत्र च भूयोनिवृत्तिर्विश्वमायानिवृत्तिरिति प्रतीयते, तत्र विश्वग्रहणेनानेकमायाकारप्रतीतिस्तेषां च क्रमेण निवृत्तिर्भूयोनिवृत्तिरिति पौनःपुन्यापरपर्यायक्रियासमभिहाराभिधायिना भूयःशब्देनावगम्यते। अन्ते निवृत्तिरित्यनेन विदेहकैवल्यावस्थायां विलीयमानः कश्चिदाकारः प्रतीयते। **अन्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति** च पूर्वमशेषमायाऽनिवृत्तिरिति च प्रतीयते।

तदेवं प्रारब्धकर्मणां प्रमाणमार्गेण विदेहनिर्वाणावस्थानाधिगमात्, 'क्षीयन्त' इति सामान्यश्रुतिः संकोचमर्हतीत्याह—**अत एवेति**। ननु 'तस्य तावदेवे'ति श्रुतिः

प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्मों के अवस्थान से अविद्यालेश की अनुवृत्ति रहती है, और अविद्यालेश की अनुवृत्ति से कर्म की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् इनके ज्ञानों में परस्पराश्रयता प्राप्त होती है। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि प्रारब्ध कर्मों के ज्ञान से ही अविद्यालेश का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु श्रुति से भी उसका ज्ञान होता है। (भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः) यहाँ भूयोनिवृत्ति इस विशेषण से पूर्वोक्त माया के द्विविध आकार की निवृत्ति का और आकारान्तर की अनुवृत्ति का मानान्तर से ज्ञान होता है, अतः प्रतीति में परस्पराश्रय का अभाव है। और (अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः) इस श्रवण से प्रारब्ध फल वाला कर्मस्वरूप विद्या शक्तिप्रतिबन्धक की फलोपभोग से निवृत्ति होने पर प्रतिबन्धक के भी अभाव काल में तत्त्वज्ञान से अशेष अविद्या की निवृत्ति होती है, ऐसी प्रतीति से अन्योन्याश्रय नहीं प्राप्त होता है।

और (अत एव) प्रारब्ध कर्मों के विदेह मोक्ष से पूर्व काल तक प्रमाणों द्वारा अवस्थिति के ज्ञान से, (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इस सामान्य श्रुति को प्रारब्ध कर्मभिन्न कर्मपरत्व की सिद्धि होती है। और (तस्य तावदेव चिरम्) इस श्रुति से विद्वान् के प्रारब्ध कर्म उसके फल की अवस्थिति के ज्ञान से, तथा (तद्वास्य विजज्ञौ) इस श्रुति द्वारा विस्पष्ट ज्ञानोपजनन को आश्चर्य तुल्य प्रतिपादन से

योरवस्थानाधिगमाच्च, 'तद्धास्य विजज्ञा'विति विस्पष्टज्ञानोपजननस्याश्चर्यवत्प्रतिपादनात् परोक्षज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः। अन्यथा श्रुतवाक्यस्य परोक्षज्ञानस्यावश्यंभावितया तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात्। न च 'ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति स्मृतिः परोक्षनिश्चयवतस्तदभ्यसनशीलस्य प्रतिपादिका, दर्शनशब्देन साक्षात्कारस्यैव रूपादिदर्शनस्येवाभिधानात्। स्वात्मनि चापरोक्षे परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वात्। न च सुखादिविषयपरकीयानुमानादिज्ञाने व्यभिचारः। स्वापरोक्षस्य स्वपरोक्षज्ञानविषयत्वे विभ्रमत्वाङ्गीकारात्।

न चाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानासंभवः, सामान्यविशेषघटित-

परोक्षज्ञानविषयतया प्रत्याख्यातेति, तत्राह—**तद्धास्येति**। तेन ह्याश्चर्यं द्योत्यत इत्यर्थः। ननु परोक्षज्ञानोत्पत्ताविदमाश्चर्यमस्तु श्रुतेः, भवति हि मूर्खेष्वनुत्पद्यमानं परोक्षज्ञानमपि बुद्धिमत्सूत्पद्यमानमाश्चर्यहेतुरिति, तत्राह—**अन्यथेति**। अधीतवेदो विदितपदतदर्थसंगतिकः श्रवणेऽधिक्रियते, न च तस्य परोक्षज्ञानसाधनोत्पत्तिराश्चर्यहेतुः प्रत्युतानुत्पत्तौ गर्हैव स्यादिति भावः। स्मृतेरन्यथासिद्धिं परिहरति—**न च ज्ञानिन इति**। किंचापरोक्षे परोक्षज्ञानं विभ्रान्तमेव। नच परस्य परात्मानुमाने व्यभिचारः। स्वापरोक्षे स्वपरोक्षविज्ञानस्य विभ्रमत्वाव्यभिचारादित्याह—**स्वात्मनिचेति**।

यत्त्वाकार्यविद्यानिवृत्तावाकारावस्थितिर्न संभवतीत्युक्तम्, तत्परिहरति—**न चाकारीति**। अनुवृत्तव्यावृत्तात्मकं हि समस्तं वस्तु भाट्टैरभिप्रेयते। यथाहुः—

'कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा' इति।

(तस्य तावदेव चिरम्) इस श्रुति को पूर्वपक्षी मे वर्णित परोक्ष ज्ञानविषयत्व की अनुपपत्ति है। यदि कहें कि परोक्ष ज्ञान की उत्पत्तिविषयक ही उक्त आश्चर्य तुल्यता का प्रतिपादन हो, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि (अन्यथा) अपरोक्ष ज्ञान के विना, वाक्यार्थ को सुनने वाले के परोक्ष ज्ञान की अवश्यंभाविता से उसके आश्चर्य के प्रतिपादन में व्यर्थता होगी, क्योंकि पदपदार्थ की संगति के ज्ञानपूर्वक वाक्यश्रवण से परोक्ष ज्ञान होना आश्चर्यजनक नहीं है, अपरोक्ष ज्ञान ही आश्चर्यजनक है। (आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः)। इसीप्रकार से (ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः) यह स्मृति परोक्ष निश्चय वाला परोक्ष ज्ञानाभ्यासशील का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि रूपादिदर्शन के समान साक्षात्कार को ही दर्शन शब्द से कहा जाता है। और अपरोक्ष स्वात्मविषयक परोक्ष ज्ञान को विभ्रमत्व होगा। सुखादि विषयक अन्य के अनुमानादि ज्ञान में व्यभिचार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्व अपरोक्ष को स्वपरोक्षज्ञानविषयत्व होने पर विभ्रमत्व माना जाता है।

और जो यह कहा था कि, आकारी = आकार वाली अविद्या की निवृत्ति होने

स्यापि वस्तुनो विशेषनिवृत्तौ सामान्याकारावस्थानस्य परीक्षकैरभ्युपगमात्। न च साधक एवावस्थाविशेषं प्राप्तः स्थितप्रज्ञो गुणातीतश्च, 'प्रजहाति यदा कामा'नित्याद्यभिहितविशेषणानां तत्रानुपपत्तेः। नहि सर्वकामानां विमोकः परमात्मसाक्षात्कारमन्तरेणोपपन्नः। 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति स्मरणात्, 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इतिश्रुतेश्च।

तत्र यथा कटककेयूराद्याकारनाशेनाकारिनिवृत्तावप्याकारान्तरस्यानुवृत्त्यानिवृत्तिस्तथेत्यर्थः।

यदि चात्र तार्किको विप्रतिपद्येत तं प्रति सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदस्य समवायस्य च चिरातीतखण्डनस्मारणेन संमतिरानेतव्या। नचाकारादतिरिक्ताकार्येऽपि निरूपणसहिष्णुः यन्निवृत्त्याऽस्यापि निवृत्तिरापाद्येत। ननु तथाप्यविद्यायाः कोऽयमाकारः? किमवयवः? किं वा तद्धर्मः? नोभयथापि। किं तर्हि अविद्यैवावस्थान्तरमापन्ना। विचित्रशक्तिर्ह्यविद्याऽतः प्रारब्धभोगकर्मतत्कारणमात्ररूपेण तिष्ठतीत्यभ्युपेयम्। किंच स्थितप्रज्ञत्वेन च गुणातीतत्वेन च जीवन्मुक्तमेव भगवद्गीता प्रतिपादयति, न साधकं शमादिसम्पन्नमपि, तस्यात्मसाक्षात्काराभावेन तत्प्रयुक्तसकलकामप्रहाणाभावादित्याह—**न चेत्यादिना**। साधकः फलायोपात्तशमादिसाधनः। अवस्थाविशेषम् उपसर्जनीभूतमनोनाशवासनाक्षयाभ्यासशालित्वरूपम। अन्तःकरणधर्माणां कामानां निवृत्तिं प्रति विविक्तात्मसाक्षात्कार एव हेतुरित्येतदपि तत्रैव दर्शितमित्याह—**रसेति**। रसः कामः, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य।

पर उसके आकार की स्थिति का सम्भव नहीं है। यह कथन अयुक्त है। सामान्य विशेष घटित वस्तु के विशेष की निवृत्ति होने पर भी सामान्याकार के अवस्थान को परीक्षकों ने माना है, जैसे कि कटक, कुण्डलादि विशेष रूप की निवृत्ति होने पर भी सुवर्ण की स्थिति रहती है। इसीप्रकार से सामान्य स्वरूप वाली प्रारब्ध भोगानुकूल अविद्या रहती है। और साधक ही अवस्थाविशेष को प्राप्त होकर स्थितप्रज्ञ और गुणातीत नहीं कहा जाता है। क्योंकि (प्रजहाति यदा कामान्) इत्यादि वचनों से कथित विशेषणों का उक्त साधक में उपपत्ति (सिद्धि) हो नहीं सकती है, परमात्मसाक्षात्कार के बिना सब कामों का त्याग सिद्ध नहीं हो सकता है। कहा गया है कि निराहार देही के रस (राग, काम) रहित विषय निवृत्त होते हैं, और (परतत्त्व को जानकर स्थिर इस ज्ञानी का राग भी निवृत्त हो जाता है) यह स्मृति कहती है। और (जब जीव के हृदिस्थ सब काम निवृत्त हो जाते हैं, तब यह मर्त्य = प्राणी अमृत = मुक्त हो जाता है। और इस शरीर में ही ब्रह्म को प्राप्त करता है। इस श्रुति से ज्ञानी में कामाभाव का प्रतिपादन किया गया है।

तदेवं श्रुतिस्मृतिपुराणादिष्वाघुष्यमाणा जीवन्मुक्तिः प्रद्वेषमात्रेण नापलपितुं शक्यत इति सिद्धम् ।

इति श्रीगौडेश्वराचार्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीचित्सुखमुनिविरचितायां
तत्त्वप्रदीपिकायां चतुर्थः परिच्छेद. ।

एतदेव श्रुतिरारण्यकी प्रकाशयतीत्याह—**यदेति** । फलितमाह—**तदेवमिति** ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्स्वरूप-
भगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां
चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

इस उक्त रीति से श्रुति, स्मृति, पुराणादि में कथित जीवन्मुक्ति प्रद्वेष मात्र से अपलाप के योग्य नहीं है । यह सिद्ध हुआ ।

विद्यादिसारभूतोऽथ मूलं विद्याविवेकयोः ।
वेदाः परं प्रमाणं च नास्त्यत्र संशयो विदः ॥ १ ॥
सर्वोपनिषदः सारो वेदानां बुधसम्मताः ।
महावाक्यानि तत्सारः प्रणवः सार उत्तमः ॥ २ ॥
ओङ्कारार्थः परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
नामरूपे निषेध्यात्र तद् ब्रह्मावशेषितम् ॥ ३ ॥
नित्यानन्दः स्वयं ज्योतिः सर्वाधारो निराकृतिः ।
सर्वात्मैव विभुर्योऽच्छः सो वै वाङ्मनसः परः ॥ ४ ॥
चित्सौख्यमुनिना तस्य दर्शनार्था प्रदीपिका ।
रचिता विमला तस्याः पश्यन्तु द्योतनं बुधाः ॥ ५ ॥
अस्ति भाति प्रियं नाम रूपञ्चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम् ॥ ६ ॥
सत्यं बुद्ध्वा परं ब्रह्म मिथ्या बुद्ध्वा जगत्तथा ।
रागद्वेषभयान्मुक्तो जीवन्मुक्तो हि जायते ॥ ७ ॥

इति श्रीस्वामी हनुमानदासजी महाराज षट्शास्त्री विरचित
चित्सुखी-भाषानुवाद का चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ।

परिशिष्टम् (१)

मूलोक्तपूर्वोत्तरपक्षसंग्राहकश्लोकाः

प्रथमः परिच्छेदः

पृष्ठांकाः	श्लोकाः	श्लोकसंख्याः
	मंगलाचरणम्—	
१.	स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो, यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वारमतः। प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः, सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः॥	१
४.	ज्योतिर्यद् दक्षिणामूर्तिव्यासशंकरशब्दितम्। ज्ञानोत्तमाख्यं तद् वन्दे सत्यानन्दपदोदितम्॥	२
५.	विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्तध्वंसप्रगल्भवाचाला। क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका विदुषा॥	३
६.	प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये। नमस्कुर्मो नृसिंहाय स्वप्रकाशचिदात्मने॥	४
	संग्राहकश्लोकाः—	
३१.	अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य नः। संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः॥	१
३१.	सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे। कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः॥	२
५६.	चिद्रूपत्वादकर्मत्वात् स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः। आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥	३
६८.	संबन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानासमवायिनः। इन्द्रियत्वाविघाताच्च मनः प्रत्यक्षमात्मवत्॥	४
७३.	तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे। द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते॥	५
८०.	चक्षुः प्रकाशनाजन्यरूपवद् वीक्षणक्षमम्। रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम्॥	६
९४.	सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते। प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता॥	७

पृष्ठांकाः	श्लोकाः	श्लोकसंख्याः
१००.	अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः । अंशित्वादितरांशीव दिगेपैव . गुणादिषु	॥ ८ ॥
१४७.	अनादिभावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते । तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते	॥ ९ ॥
१४९.	देवदत्तप्रमा तत्स्थप्रमाभावातिरेकिणः । अनादेर्ध्वंसिनी मात्वादविगीतप्रमा यथा	॥ १० ॥
१६२.	स्वीकारे विभ्रमाणां स्यात् स्वीयसिद्धान्तवाधना । अनभ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता	॥ ११ ॥
१७३.	नयनं नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिणः । ज्ञानस्य कारणं तत्त्वाद्यथैव नयनान्तरम्	॥ १२ ॥
२०६.	प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् । गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः	॥ १३ ॥
२१५.	एकालम्बनसंसर्गनिपेधे सदसत्त्वयोः । धर्मत्वाद् रूपरसवत् सिद्धानिर्वचनीयता	॥ १४ ॥
२३१.	दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा । वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः	॥ १५ ॥
२३९.	विवादाध्यासितः सिद्धः शब्दव्युत्पत्तिगोचरः । मेयत्वान्न्यायगम्यत्वात् तवाभिमतकार्यवत्	॥ १६ ॥
२४९.	कार्यस्यावगतेर्हेतुर्यादृशं हितसाधनम् । प्रवृत्तेस्तादृशं हेतुर्व्यभिचारस्ततः कुतः	॥ १७ ॥
२७७.	विवादाध्यासिताः शब्दाः क्रियाकार्याभिधायिनः । कार्यप्रत्ययहेतुत्वाद् आनयेत्यादिशब्दवत्	॥ १८ ॥
२८८.	संसर्गासंगिसम्यग् धीहेतुता या गिरामियम् । उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता	॥ १९ ॥
३०१.	सत्यज्ञानादिगीरेतत् - संसर्गव्यतिरेकिणि । अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादि प्रमाणवत्	॥ २० ॥
३२३.	आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता । तदन्यतः प्रमायास्तत् स्वतस्त्वमिति तद्विदः	॥ २१ ॥
३२४.	प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतः । जायते व्यतिरिक्तत्वाद् अप्रमातः पटादिवत्	॥ २२ ॥
३५६.	परास्य शक्तिर्विविधा सर्गाद्या भावशक्तयः । इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्तिः केन निवार्यते	॥ २३ ॥

पृष्ठांकाः	श्लोकाः	श्लोकसंख्याः
३७२.	स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्ठसंश्रयः । दहनो गुणयोगित्वाद् गुरुत्वाश्रयकुम्भवत्	॥ २४ ॥
३८९.	विनाभिधेयस्मरणम् अन्वयाप्रतिपत्तितः । तत्तत्पदार्थस्मृतयः तेषामन्वयबोधिकाः	॥ २५ ॥
४०२.	शब्दास्तात्पर्यविषयव्यतिपन्नस्य लक्षकाः । तत्तात्पर्याभिधानत्वात् क्ष्वेलं भुङ्क्ष्वेतिशब्दवत्	॥ २६ ॥
४१४.	श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम् । मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना तु न मीयते	॥ २७ ॥

द्वितीयः परिच्छेदः

४३२.	सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसंगतः । एकाभावादसंदेहात् न रूपं वस्तुनो भिदा	॥ १ ॥
४३६.	युगपद् ग्रहणायोगाद् अनवस्थाप्रसंगतः । परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः	॥ २ ॥
४४१.	नान्योन्याभावरूपोऽयं द्वैताभावप्रसंगतः । तादात्म्यस्याप्यमानत्वात् प्रतियोग्यनिरूपणात्	॥ ३ ॥
४५२.	अव्याप्तेरतिव्याप्तेर्द्रव्यं नैव गुणाश्रयः । आद्ये क्षणे गुणाभावाद् गुणादावपि वीक्षणात्	॥ ४ ॥
४५८.	द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि नो द्रव्यलक्षणम् । तज्जातिव्यञ्जकाभावात् तन्मानस्यानिरूपणात्	॥ ५ ॥
४६५.	सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् । अन्योन्याश्रयतापत्तेर्गुणस्याद्याप्यसिद्धितः	॥ ६ ॥
४६७.	गुणत्वजातियोगोऽपि न भवेद् गुणलक्षणम् । अन्योन्याश्रयदुष्टत्वात् जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च	॥ ७ ॥
४७१.	यथा श्रुतेऽसंभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तितः । नानपेक्षतया हेतुः कर्मयोगविभागयोः	॥ ८ ॥
४८०.	नैवं व्याप्तेरसिद्धत्वात् अनध्यवसितत्वतः । यौगपद्यप्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम्	॥ ९ ॥
४८६.	अतिव्याप्तया निराकुर्यादाद्यं पक्षचतुष्टयम् । अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्त्यं प्रतिक्षिपेत्	॥ १० ॥
४९१.	जातेरव्याप्यसिद्धेश्च सत्तादेरप्यसिद्धितः । तदनाश्रयताऽन्यस्वलक्षणेऽन्योऽन्यसंश्रयः	॥ ११ ॥

पृष्ठांकाः श्लोकाः श्लोकसंख्याः

पृष्ठांकाः	श्लोकाः	श्लोकसंख्याः
६२१.	अनुमानांगयोः सिद्धेर्व्याप्तिपक्षगतत्वयोः । उदाहृतेरुपनयात् पञ्चावयवता मुधा ॥	२८ ॥
६२६.	भूयोऽवयवसामान्यं सादृश्यं यच्च गोगतम् । विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यतः ॥	२९ ॥
६३६.	वाचको गवयस्यायं तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति । वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वाद् गोत्वे गौरितिगौरिव ॥	३० ॥
६५७.	शब्दो मानं विवक्षायां ज्ञानेऽर्थे वा भवन्भवेत् । नाद्यो तद्व्यभिचारित्वात् नान्त्यः संगत्योगतः ॥	३१ ॥
६६५.	आसोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु । व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तितः ॥	३२ ॥
६७०.	आगमस्य बहिर्देशविषयत्वस्य कल्पनात् । प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा ॥	३३ ॥
६७०.	आद्येऽनुमानं तेनैव निष्प्रत्यूहं प्रवर्तताम् । द्वितीये कल्पकाभावाद् अर्थापत्त्युदयः कुतः ॥	३४ ॥
६७३.	तदसिद्धिरतिव्याप्तिः सक्तिः सप्रतिसाधने । असंभवोऽतर्कता च दोषाः तेषां क्रमादमी ॥	३५ ॥
६७७.	केवलानुपलम्भस्य व्यभिचारनिवारिणी । योग्यता चेत् कुतो न स्यादनुमानमभावधीः ॥	३६ ॥
६९३.	सर्वस्य प्रतियोगित्वाद् दुर्लभा तदनिष्ठता । द्विधाप्यात्माश्रयत्वाच्च न स्वशब्दो विशेषणम् ॥	३७ ॥
७२०.	अर्थान्तरत्वादाद्यस्य परस्योपाधिमत्त्वतः । अन्त्यस्याभासतुल्यत्वात् प्रतिसाधनरोधनात् ॥	३८ ॥
७३१.	प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यात् सिद्धस्यैवाश्रयत्वतः । देहात्मतावन्नियमाल्लक्षणैश्च व्यवस्थितः ॥	३९ ॥
७३४.	अन्योऽन्यसंश्रयापत्तेरतिव्याप्तिप्रसंगतः । अव्याप्तेरजसंयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥	४० ॥
७३८.	संयोगस्यापृथक्त्वेऽपि व्याहारव्यवहारयोः । समवाय इवोत्थानाद् वृथा सामान्यकल्पना ॥	४१ ॥
७४१.	आत्माश्रयादतिव्याप्तेरयोगाद् व्यभिचारतः । विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभागः प्रसिद्ध्यति ॥	४२ ॥
७४८.	संयोगस्य निरस्तत्वाद् गुणानामनिरूपणात् । जातेश्च दुर्निरूपत्वात् स्यादसंभवि लक्षणम् ॥	४३ ॥

पृष्ठांकाः	श्लोकाः	श्लोकसंख्याः
६११.	स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्व द्विधा स्थितम् । तच्चोभयं विना विद्यासम्बधं नैव सिद्धयति ॥ ४ ॥	
६२७.	चैत्ररागः स्वविपयानित्यज्ञानातिरेकिणा । तदध्यक्षेण संवीक्ष्यः प्रत्यक्षत्वात् पटादिवत् ॥ ५ ॥	
६३६.	अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत् स्वप्नविभेदिनी । यथा तथैव कल्प्यन्तामनन्ताः सति कल्पके ॥ ६ ॥	
६४४.	सूत्रभाष्यादिवाक्यानां श्रुतिस्मृतिगिरामपि । मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्थैवाभ्युपेयताम् ॥ ७ ॥	
६५२.	निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः । उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तः पाचकादिवत् ॥ ८ ॥	
६५५.	विगीताज्ञानहानिः स्याज्ज्ञाताधिष्ठानमात्रकम् । तत्त्वाद् यदित्थं तत्तादृग् यथा शुक्त्यादिकं मितम् ॥ ९ ॥	
६६०.	अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः । ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभिः ॥ १० ॥ लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मादेरनुवृत्तितः । उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिद्धयति ॥ ११ ॥	

परिशिष्टम् (२)

मूलोद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकाराः

परिशिष्टम् (३)

व्याख्योद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकाराः

परिशिष्टम् (४)

मूलोद्धरणवाक्यानि

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
मूलक्षयकारीं प्राहुः	४२८	
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति	९०	कठ. ४।१०
य आत्मनि तिष्ठन्	९०४, ९१९	श. प. १४।५।३
य एकोऽवर्णो बहुधा	३५६	श्वे. उ. ४।१
यतो वा इमानि भूतानि	९४३	तै. उ. ३।१
यत्र त्वस्य सर्वम्	९५५	बृ. उ. ४।५।१५
यत्राप्यतिशयो दृष्टः	२६	श्लो. वा. २।११४
यद्धि यस्यानुरोधेन	८५७	बृ. उ. ३।३।६८
यदा स्वतः प्रमाणत्वम्	३३०	श्लो. वा. २।५२
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	९६६	बृ. उ. ४।४।७
यदा निर्धूतरजः	८८५	यो. भा. ३।५५
यदेव विद्यया करोति	८४३	छां. उ. १।१।१०
यन्मनसा न मनुते	८३४	केन. १।६
यस्मिन् सर्वाणि कर्माणि	९५५	ईशा. ७
यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः	१३५	बृ. उ. ४।४।१७
यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति	८४५	तै. सं. ३।५।७
यावदधिकारमवस्थितिः	९४५	
यो वै भूमा ततः	८९०	छां. उ. ७।२३।१
योगिनः कर्म कुर्वन्ति	८५३	भ. गी. ५।११
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति	४०६	श्वेता. ६।१८
योऽनधीत्य द्विजो वेदम्	१२९	मनु. २।१६८
रसवर्जं रसोऽप्यस्य	९६५	भ. गी. २।४९
वध्यतां वध्यताम्	१९०	भा. पु.
वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे	३९६	प्र. पं. वा. परि.
वचा विरूप नित्यया	४०६, ४१६	तै. सं. २।६।११
विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत	१३५	बृ. उ. ४।४।२१
विद्ययाऽमृतमश्नुते	८५०	ईशा. ११
विद्याञ्चाविद्याञ्च	८४९	ईशा. १४
विद्वान् न बिभेति	९२१	तै. उ. २।९।१
विपर्ययाभावस्तु युक्तः	३६७	ब्र. सि. पृ. १४६
विमतं ज्ञानम्	३३१	न्या. वा. तात्पर्यटीका
विवादाध्यासितम्	३५५	न्या. ली. पृ. ६२
विवादाध्यासितम्	८१५	मानमनोहर.
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि	३९९	ब्र. सि. पृ. १११

परिशिष्टम् (५)

संस्कृतव्याख्योद्धरणवाक्यानि

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अकर्तव्यो दुःखफलः	२४३	
अत्यन्तं बुभुत्सित०	६२२	न्या. नी.
अथैप ज्योतिः	९५	
अन्धस्येवान्धलग्नस्य	३५	आभाणकः
अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र	३	काव्यादर्शः १
अन्यस्य चान्यथाभानम्	१५८	प्र. पं. नय. २५
अन्यथासंविदानोऽपि	६५८	श्लो. वा. १।१६०
अनित्यः शब्दः	४२३	मानमनोहरः
अनित्यं शब्दम्	६२२	न्या. वा. ता.
अनियम्यस्य नायुक्तिः	६७४	न्या. कु. ३।१९
अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रमः	७३	प्र. पं.
अभिधेयाविनाभूते	२२५	तन्त्रवा. १।४।१२
अमावास्यायामपराह्णे	१२२	
अयथार्थत्वपक्षे च	१५८	प्र. पं. नय. ७२
अयथार्थस्य बोधस्य	१५८	प्र. पं. नय. ७३
अर्थविप्रकर्षात्	३९१	जै. सू. ३।३।१४
अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्	४५५	जै. सू. १।४।२५
अर्थेऽनुपलब्धे	५८	जै. सू. १।१।४
अर्हे कृत्यतृचश्च	२३९	पा. सू. ३।३।१६९
अल्पस्य हेतोर्बहु	१५९	रघु. २।४७
अव्ययादाप्सुपः	६५४	पा. सू. ३।३।१६९
अविज्ञातं चाज्ञानम्	१७८	न्या. सू. ५।२।१७
अस्य महतः	५९	बृ. उ. २।४।१०
अत्र ब्रूमो य एवार्थः	११५, १५८	प्र. पं.
आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः	४८९	छां. ३।१४।३
आगमेनानुमानेन	६०७	खण्डन.

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)